प्रकाशक
मुनि श्रीहजारीमल स्मृति ग्रंथ
प्रकाशन समिति ब्यावर [राज]

वी स २०२१ सन् १९६५
प्रथम सस्करण १ प्रति

मूल्य चालीस रुपये

मुद्रक
उद्योगशाला प्रेस
किंग्सवे दिल्ली-९

प्रेरक . मधुकर मुनि

प्रधान-सम्पादक
शोभाचन्द्र भारिल्ल

शिल्प-संपादक
कुमार सत्यदर्शी

सम्पादक-परिवार

मधुकर मुनि	सुशील मुनि
मुनि कान्तिसागर	जैनेन्द्रकुमार
हरिभाऊ उपाध्याय	डॉ० नथमल टाटिया
डॉ० इन्द्रचन्द्र शास्त्री	पं० दलसुख मालवणिया
शान्तिलाल व० शेठ	डॉ० बूलचन्द

व्यवस्थापक
चिम्मनसिंह लोढा

प्रकाशन-समिति

निवेदन

सन्तों के सकीर्तन स्तवन गुणगान उनकी आराधना एव उपासना से जीवन का मं उदात्त एव दिव्यभाव का आविर्भाव होता है राजस और तामस भाव सन्तो के सान्निध्य में तथ्य की अनुभूति उन्हें अवश्य हुई होगी जिन्होने दिवगत स्वामी श्रीहजारीमलजी म कतिपय क्षण बिताये होगे मैंने तो उनके सान्निध्य मे एक अपूर्व चेतना का साक्षात्कार किय स्मृति को चिरस्थायी बनाना जगत् के कल्याण में एक प्रकार से योग देना है

ग्रन्थप्रकाशन समिति ने व्यवस्थापक का जो उत्तरदायित्व मुझे सौंपा उसका निर्वाह तो मगर उसकी पूर्ति मेरे सहयोगियो द्वारा हो गई है मैं उनका आभारी हूँ

प्रस्तुत ग्रथ को इस रूप में उपस्थित करने मे भिन्न-भिन्न महानुभावों ने प्रत्यक्ष परोक्ष सहयो के पात्र है

ग्रथ के मुद्रणसौंदर्य का श्रेय उद्योगशाला प्रेस देहली के व्यवस्थापक श्रीशान्तिलाल व सेठ आत्मीयभाव से गहरी दिलचस्पी ली है प्रेस के अन्य कर्मचारी वर्ग का सौजन्य भी सराहनी

विशेषत अर्थसहायको समिति के सदस्यो और कोषाध्यक्ष श्रीबूडचदजी गादिया आदि जिनके सप्रेम सहयोग से यह सफलता प्राप्त हो सकी है ग्रथ के प्रधान सम्पादक पण्डित शिल्पसम्पादक कुमार सत्यदर्शी ने ग्रथ के लिए जो श्रम किया है वह भुलाया नही जा स जैन सिद्धान्तशाला ब्यावर के अध्यक्ष सेठ गौरतनलजी काठारी ने समय-समय पर प सौ के लिए अवकाश देकर प्रशसनीय सहयोग दिया है सेठ श्री पुसराजजी शीशोदिया श्रीरतनचन्दजी मोदी आदि ने भी गहरी दिलचस्पी ली है उसके लिए भी हम आभारी है

सेठ पन्नालालजी पूनमचदजी काकरिया (ब्यावर) ने काकरिया ट्रस्ट की ओर से उत्कृष्ट नि पुरस्कार देने की उदारता प्रदर्शित की है यह पुरस्कार धर्म और दर्शन विषयक विद्वानो द्वा जाता है इस उदारता के लिए काकरियाजी साधुवाद के पात्र हैं

अन्तिम भाग बडी शीघ्रता मे मुद्रित हुआ है अत कतिपय त्रुटियाँ रह जाना असभव नह क्षमाप्रार्थना !

विन

१

समर्पण

ज्येष्ठ गुरुभ्राता

श्रद्धेय स्वामी श्रीब्रजलालजी महाराज के

कर-कमलों में,

जिनके प्रोत्साहन का ही

यह सुफल है.

—मधुकर मुनि

ग्रन्थ का कलापक्ष

- अदृश्यसत्ता सत्य है तो कला प्रेरक व स्फूर्ति है ! भारत का शिल्पविधान क्यापक स्थायी और प्राणवान् है ललित कला से लेकर सम्पादन-कला तक सर्वत्र ही मनुष्य कला की प्रतिष्ठा चाहता है ।
- तो सम्पादन और मुद्रण दोनो ही कला है—प्रत्यक्षकला नही कहा जा सकता कि इसका कहा तक सम्यक निर्वाह हो पाया है वैसे भारत की लगभग सभी ललित कलाओ के प्रति हमारी श्रद्धा है कला की प्रतिष्ठा और सवर्धन भावुको के हृदय का आनन्द है
- प्रस्तुत स्मृति ग्रंथ के कलापक्ष के सम्बन्ध मे कुछ कहा जाय इसकी अपेक्षा यह अधिक उत्तम है कि पारखी आयें स्वय उसे परखें मात्र दिशा सकेत कर देना ही पर्याप्त है
- भारत की कलाकृति की प्रतिष्ठा की दृष्टि से प्रस्तुत ग्रंथ में स्थान-स्थान पर चित्र-अकित किये हैं पाठक देखेंगे कि प्रत्येक पृष्ठ पर नीचे की ओर एक पट्टी ब्लॉक-चित्र है इनमें से अधिकांश पट्टिकायें जैसलमेर के शास्त्र भण्डार चित्तौड के शास्त्र भण्डार एव मुनि कान्तिसागरजी के व्यक्तिगत शास्त्र सग्रह म से ली गई है ।
- इन पट्टिकाओ में ९वी शती से लेकर १६वी शती तक की पट्टिकायें है ! मुद्रणकला के जन्म से पूर्व जैन मुनियो का लेखनकला और चित्रकला से अत्यन्त अनुराग रहा है ये पट्टिकायें इसका प्रमाण है जैन-मुनियों और यतियों के लिए कोई विषय अनछुआ नही रहा उन्होने सभी विषयो पर लिखा है उस लेखन को उन्होने कला का अविभाज्य अग भी माना है अपने लेखन को कलापूर्ण करना ललितकला के प्रति सम्मान का सूचक है
- प्रत्येक पट्टिका के सम्बन्ध मे अलग से लिखना और परिचय देना व्यापक विषय है
- प्रत्येक निबन्ध के प्रारम्भ में तत्तत् विषयक प्रतीक चित्र देने का सकल्प प्रारम्भ से था किन्तु वह अत्यन्त श्रम और कालापेक्षित था साथ ही व्ययप्रधान भी अत कुछ प्रारम्भिक निबन्धों के पश्चात् ही उस सकल्प का परित्याग करना पड़ा
- निबन्धो के अन्त में भी कुछ चित्र है इन में भी भारतीय और विशेषतः जैन-पुरातत्त्व से सम्बन्धित है इस श्रेणी के चित्रो म ७ वी शताब्दी तक के भी चित्र है । जिन चित्रो का पुरातत्त्व से सम्बन्ध न हो वसे चित्र स्वल्प है
- उक्त चित्रो म अधिकाश प्रो श्री परमानन्दजी चोयल ने रेखांकित किये है ! मुनिश्री का शेष चित्र मेरे मित्रवर्य श्री किशनजी वर्मा ने अत्यन्त स्नेहपूर्वक चित्रित किया है आवरण श्री सुखदेवजी दुग्गल की कलम का शिल्प है अपने स्नेहियो की कलाकृतियो का स्वागत है ।
- उदयपुर स्थित मुनि श्रीकान्तिसागरजी ने उक्त चित्रो को जुटाने मे पूर्ण सहयोग दिया है एव समय समय पर अपने सुझाव भेजे है एतदर्थ मुनि श्री के प्रति कृतज्ञ हूँ
- मनुष्य सर्वथा अप्रमत्त किसी विशिष्ट अवस्था में भले होता हो पर वह अवस्था सहज नही है श्वासोच्छ्वास जीवन धारण प्रणाली की सूचक हो सकती है परन्तु इसे मै क्रमश प्रमाद और अप्रमाद के क्षण मानता हू पाठको से निवेदन है कि वे अप्रमाद के क्षणो मे जो उपलब्धि की है उस ओर दृष्टिपात करें त्रुटियो का होना तो प्रमत्त व्यक्ति से सहज सभाव्य है
- पूज्य स्वामीजी से जीवन से मैने जो पाया वह यह कि 'जो उत्तरदायित्व ओढा है उसे जी-जान लगाकर जीवन की साझ तक करते रहो ।' यही मेरे सस्मरण की रेखा है इसी पर चला है ।

१४ अप्रैल १९६५
महावीर जयन्ती
१२ लेडी हार्डिंग रोड नई दिल्ली

—कुमार सत्यदर्शी

मदीयम्

प्रस्तुत स्मृति ग्रथ अध्येताओ के कर-कमलो मे है ग्रथ कैसा है, इसका निर्णय तो स्वय अध्येता ही करेगे, परन्तु मुझे जो कहना है वह यह है—

वि० स० २०१८ की चैत्र-कृष्णा दशमी की रात्रि मे पूज्य गुरुदेव श्रीहजारीमलजी महाराज का स्वर्गवास नोखा (मारवाड) मे हुआ था उस समय मेरे स्वान्त मे एक सकल्प आया कि स्वर्गीय गुरुदेव की स्मृति मे एक महत्त्वपूर्ण स्मृति-ग्रथ के निर्माण की योजना बनाई जाय

मैने अपना सकल्प परम श्रद्धेय पूज्यवर श्रीब्रजलालजी महाराज की सेवा मे रखा उनकी ओर से इसके लिए पूरा प्रोत्साहन मिला मेरा यह विचार गुरुदेव के परम श्रद्धालु धर्मप्रेमी सेठ खीवराजजी चोरडिया को भी रुचिकर लगा स्वय सेठजी स्वर्गीय गुरुदेव की स्मृति मे एक ट्रस्ट की स्थापना करना चाहते थे इस सम्बन्ध मे मत्रणा करने और योजना बनाने के लिए उन्होने अपने ग्राम नोखा मे एक सभा का आयोजन किया, उक्त सभा मे ट्रस्ट सम्बन्धी विचारणा के साथ-साथ स्मृति-ग्रथ के निर्माण के विषय मे भी विचार-विनिमय किया गया श्रीयुत चोरडियाजी की ओर से तथा सभा मे सम्मिलित सभी सज्जनो की ओर से स्मृति-ग्रन्थ के निर्माण के लिए पर्याप्त बल दिया गया

उक्त सभा मे श्रीयुत पडित शोभाचन्द्रजी भारिल्ल भी आये हुए थे उनसे यह सादर अनुरोध किया गया कि आपके नेतृत्व मे स्मृति-ग्रथ का सम्पादन होना चाहिए और आप एक सम्पादक-परिवार का गठन कर इस कार्य मे जुट जाय पूज्य गुरुदेव का प्रथम स्मृति-दिवस ब्यावर मे मनाया गया उस अवसर पर स्मृति-ग्रथ की योजना को कार्यान्वित करने के लिए एक स्मृति-ग्रथ प्रकाशन समिति का गठन किया गया ब्यावर नगरपालिका के अध्यक्ष श्रीयुत् चिम्मनसिंह जी लोढा समिति के व्यवस्थापक चुने गए समिति का कार्यालय ब्यावर मे रखा गया और कार्य प्रारम्भ किया

समिति के निर्णय के अनुसार श्रीयुत भारिल्लजी प्रधान सम्पादक बने उन्होने एक सम्पादक परिवार भी बनाया अपने परिवार के सहयोग से पण्डित जी का यह सम्पादन पूर्ण सफलता के साथ सम्पन्न हुआ

श्रीभारिल्लजी जैन समाज के एक मान्य मनीषी विद्वान् हैं प्रस्तुत ग्रन्थ मे पण्डित जी की मनीषिता का अच्छा परिचय यत्र-तत्र सर्वत्र मिल रहा है

कुमार सत्यदर्शीजी एक उत्साही नवयुवक लेखक है लेखन मे उनकी नव्या भव्या प्रगति है इस ग्रथ मे जो उत्तम कला-कौशल व साज-सज्जा दृग्गत हो रही है, इसका श्रेय आपको ही है स्मृति-ग्रथ का कार्य श्रम-साध्य था, अत इसके पीछे पूरा श्रम किया 'श्रेय सफलता' इस बात का यह ग्रथ एक उज्ज्वल उदाहरण है

भारत के तथा अन्य देशो के अधिकारी लेखको का सहयोग इस ग्रथ को खूब मिला है उसी सहयोग का यह सुफल है है कि इस ग्रथ ने स्मृति-ग्रथो मे अपना एक विशिष्ट रूप प्राप्त किया है

मैं तो अकिचन हू फिर भी अगर मेरा किंचिदपि सहयोग इस ग्रथराज को मिला है तो मैं स्वय को सौभाग्यशाली समझता हू प्राय जैनधर्म और जैनदर्शन एव सस्कृति से सम्मत निबन्धो का चयन ही अधिकृत रूप से इस ग्रथ मे किया गया है जैनदर्शन के प्राय सभी विषयो के निबन्धो के सकलन का प्रयास रहा है फिर भी व्यापक दृष्टि का परित्याग नही किया गया है

स्वर्गीय पूज्य गुरुदेव एक अजातशत्रु मुनिपुंगव थे जन-जन के हृदय में उनके प्रति अगाध श्रद्धा थी इसी श्रद्धा के बल पर उनकी स्मृति में निकलवाया इस ग्रंथ के प्रति जन-जन के हृदय में सत्कार-सम्मान की भावना की उदारता से प्रस्तुत ग्रंथ का मुद्रण का आर्थिक सहयोग से पूर्णत बना लिया है किन्तु समाज में ईर्ष्या तथा असहयोग की भावना की न्यूनता नहीं है अतएव मुझे काफी आलोचना का शिकार होना पड़ा है सम्भव है ऐसी कपकियाँ मुझे आगे भी मिलती रहेंगी परन्तु इस आलोचना को मैंने अमृत समझा और उसका पान कर अपने को अमर बनाने का ही प्रयास किया है और आगे भी मेरा यही प्रयास बना रहेगा

वर्तमान में विराजित मेरे ज्येष्ठ गुरुभ्राताजी श्रीब्रजलाल महाराज की बलवती प्रेरणा पर ही यह विराट् आयोजन सम्पन्न हो सका है अत मैं स्वामीजी महाराज का पूर्ण आभारी हूं

प्रधान सम्पादकजी सम्पादक परिवार तथा सह सम्पादकजी के सतत अविश्राम श्रम ने ही इस ग्रंथ को अधिक-से अधिक उपादेय बनाया है अत उनकी ओर तो मेरी कृतज्ञता सदा बनी ही रहेगी

उन मुनिराजो और सतियों का भी आभारी हूं जिन्होंने कुछ भी इधर सहयोग दिया है सती श्री उमरावकुंवरजी स्व गुरुणी की सुशिष्या हैं वे गुणज्ञा है विदुषी है समय-समय पर इस आयोजन में उनकी सुविचारणा से पर्याप्त सहयोग मिला है जन-संस्कृति की सुरक्षा का पूरा ध्यान रखा गया है फिर भी स्खलना होना असम्भव नहीं है इसके लिए क्षमापना है
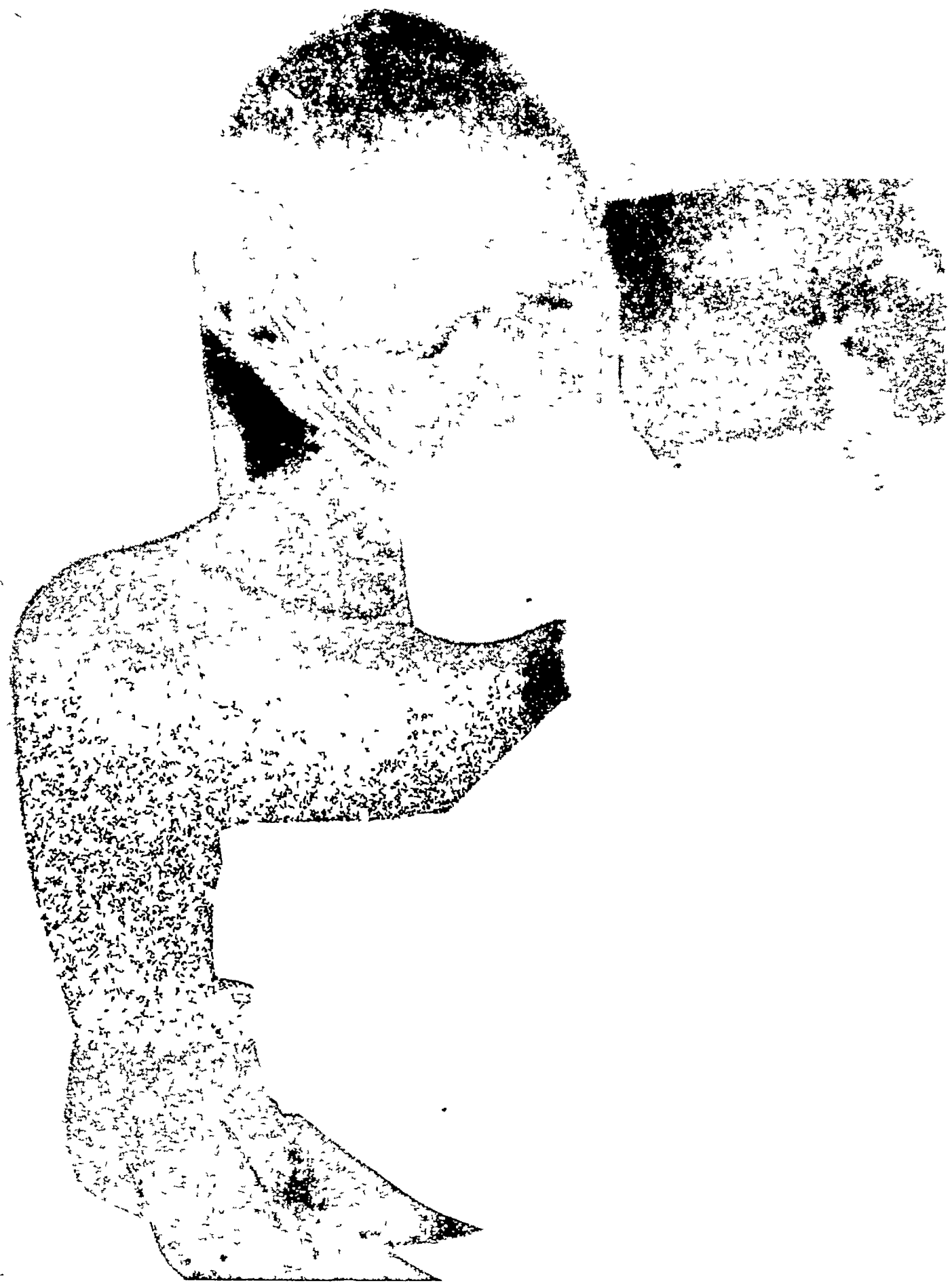
—मधुकर मुनि

सरलात्मा महामना मुनि श्री हजारीमलजी महाराज

प्र०सं० शोभाचन्द्र भारिल्ल
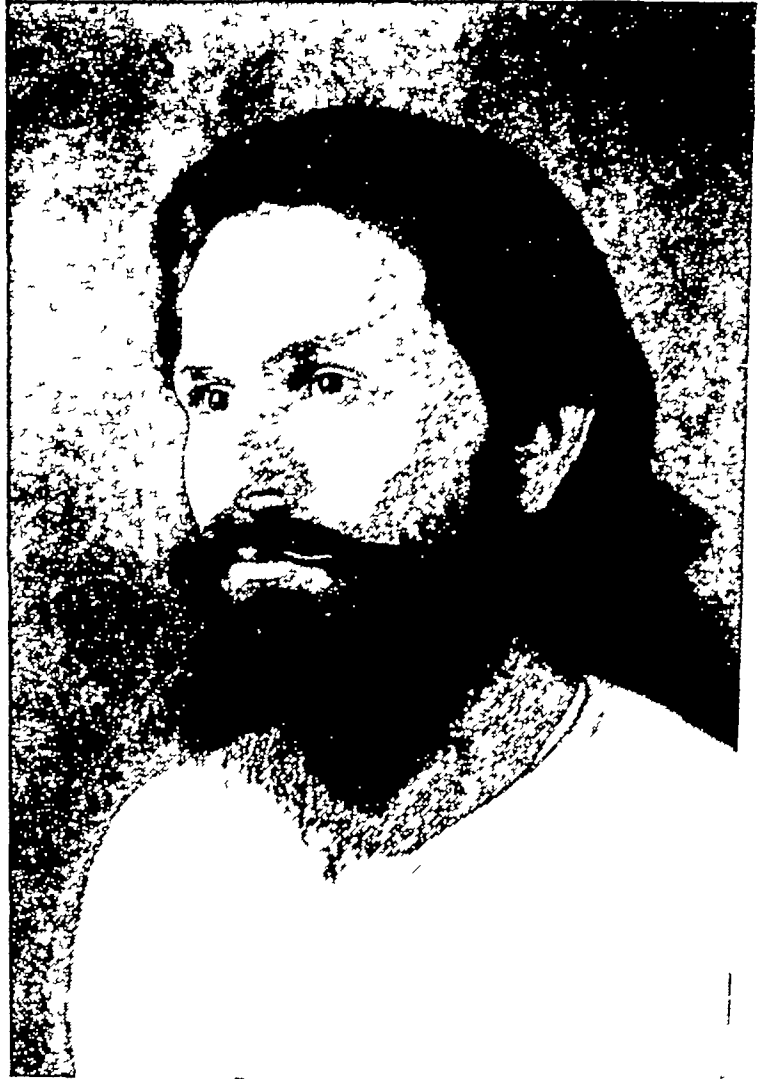
शि० सं० कुमार सत्यदर्शी

मन्त्री चिम्मनसिंह लोढ़ा

प्रधान सम्पादक का निवेदन

प्रथम बार आदरणीय श्रीमधुकर मुनि ने जब स्मृतिग्रथ को प्रकाशित करने और उसका दायित्व मुझे सौपने का विचार व्यक्त किया, तब उसे मैंने कुछ शर्तों के साथ स्वीकार कर लिया उस समय भी मैं अपने परिमित सामर्थ्य को जानता था, फिर भी मेरी स्वीकृति के पीछे अनेक हेतु थे मुनिजी के कथन से यह स्पष्ट था कि मेरी अस्वीकृति का अर्थ होगा—ग्रथ-प्रकाशन के विचार को सदा के लिए त्याग देना मेरे प्रति उनके इस विश्वास ने मुझे नतमस्तक कर दिया. इसके अतिरिक्त स्मृतिग्रथ के माध्यम से अगर मेरी साहित्यसाधना किंचित् अग्रसर होती है तो फिर और चाहिए ही क्या !

किन्तु सब से बडा आकर्षण था स्वर्गीय स्वामीजी के प्रति मेरे अन्तस्तल मे विद्यमान श्रद्धा और भक्ति दीर्घकाल पर्यन्त मैं उनके पावन सम्पर्क मे रहा हूँ वे अपने युग के आदर्श सन्त थे सन्त-जीवन की समग्र विभूतियाँ जैसे उनमे केन्द्रित हो गई थी शिशु का सारल्य, माता का कारुण्य, योगी की असम्पृक्तता उनमे ओतप्रोत थी हृदय नवनीत-सा मृदु, वाणी मे सुधा की मधुरता और व्यवहार मे अनायास ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेने वाला जादू ! आत्मनिष्ठा के साथ अशेष-निष्ठा का निर्वाह करनेवाला वह योगी सचमुच अनेकान्त का मूर्तिमान् उदाहरण था उस महान् आत्मा के प्रति श्रद्धा-निवेदन के इस अवसर को चूक जाना मैं नही चाहता था

प्रारभ मे यह कल्पना नही थी कि ग्रथ इतना विराट् रूप धारण कर लेगा पाँच-छह सौ पृष्ठो तक का ही प्रकाशन उस समय सोचा गया था किन्तु जब कार्य प्रारभ हुआ और सुविज्ञ साहित्यकारो से सामग्री की माँग की गई तो उन्होने बडी उदारता के साथ सहयोग दिया फलस्वरूप ग्रथ का जो विस्तार हो गया है, वह आपके सामने है

प्रारभ से ही हमारी नीति मौलिक—अन्यत्र अप्रकाशित रचनाओ को ही इस ग्रथ मे स्थान देने की रही है तदनुसार जो रचनाएँ हमे प्राप्त हुई और फिर अन्य पत्रो मे मुद्रित देखी गई या जानकारी मे आई, उन्हे कम कर दिया है अगर अनजान मे कोई ऐसी रचना छपी हो तो उसका उत्तरदायित्व उसके लेखक पर है जिनका प्रतिपाद्य अन्य रचनाओ मे गर्भित हो गया है, ऐसी भी कतिपय रचनाएँ कम कर देनी पडी है प्राप्त सब रचनाओ को स्थान दिया जाता तो ग्रथ के चार-पाँच सौ पृष्ठ और बढ जाते किन्तु अर्थराशि की परिमितता और ग्रथ के विस्तार को देखते हुए कमी करना अनिवार्य हो गया इन दोनो कारणो के अतिरिक्त तीसरा कारण समयाभाव भी था ग्रथ के मुद्रण मे समय बहुत लग गया और इससे अधिक समय लगाना समिति को सह्य नही था इस बीच लेखको और पाठको के अनेक तकाज़े हमे सहन करने पडे हैं आशा है ग्रथ के प्रकाशित होते ही प्रेमी पाठक और लेखक सन्तोष अनुभव करेंगे जिन विद्वान् लेखको की रचनाएँ हम नही प्रकाशित कर पाये, उनके प्रति विनम्रभाव से क्षमाप्रार्थी हैं कुछ रचनाओ का सक्षिप्तीकरण भी करना पडा है यह भी हमारी विवशता ही समझिए

ग्रथ पाँच अध्यायो मे विभक्त है प्रथम अध्याय मे स्वामीजी का सक्षिप्त जीवन परिचय, उनसे सम्बन्ध रखने वाले सस्मरण और श्रद्धाजलियाँ है अन्त मे स्थानकवासी जैन परम्परा एव लोकागच्छ के साहित्य और साहित्यकारो का परिचय आदि है दूसरे अध्याय मे धर्म और दर्शन सबधी रचनाएँ हैं तीसरे मे इतिहास, पुरातत्त्व, समाज और सस्कृति आदि विषयो सबधी और चौथे अध्याय मे साहित्य सबधी सामग्री निबद्ध की गई है पाँचवाँ अध्याय अगरेजी भाषा मे लिखित प्राय जैनधर्म सबधी रचनाओ के लिए है

विषय-क्रमांकन

प्रथम अध्याय १—२५४

जीवन, सस्मरण, श्रद्धांजलि और परम्परा दर्शन

द्वितीय अध्याय २५५—५२८

दर्शन और धर्म

तृतीय अध्याय ५२९—७१२

संस्कृति समाज इतिहास और पुरातत्त्व

चतुर्थ अध्याय ७१३—९१६

भाषा और साहित्य

परिशिष्ट

पचम अध्याय १-९४

अग्रेजी विभाग

कतिपय संदेश

PRESIDENT'S SECRETARIAT
PRESIDENT'S CAMP,
INDIA

September 30, 1963

The President is happy to know that the Muni Shri Hazarimal Ji Commemoration Volume Samiti is bringing out a souvenir in memory of Muni Shri Hazarimal Ji

The Muni's life and teachings serve to inspire many people and the president hopes that these teachings will not only be remembered but practised by the wide circle of his followers and admirers

S. Dutt.
Secretary to the President

VICE-PRESIDENT
INDIA
NEW DELHI

September 24, 1963

I am glad to know that you will bring out the Muni Shri Hazari Malji Commemoration Volume soon I wish the publication success

Zakir Husain

परिशिष्ट

पचम अध्याय १-९४

अंग्रेजी विभाग

कतिपय संदेश

PRESIDENT'S SECRETARIAT
PRESIDENT'S CAMP,
INDIA

September 30, 1963

The President is happy to know that the Muni Shri Hazarimal Ji Commemoiation Volume Samiti is bringing out a souvenir in memory of Muni Shri Hazarimal Ji

The Muni's life and teachings serve to inspire many people and the president hopes that these teachings will not only be remembered but practised by the wide circle of his followeis and admireis

S. Dutt.
Secretary to the President

VICE-PRESIDENT
INDIA
NEW DELHI

September 24, 1963

I am glad to know that you will bring out the Muni Shri Hazari Malji Commemoration Volume soon I wish the publication success

Zakir Husain

मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई है कि मुनि श्री हजारीमलजी को श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने हेतु एक स्मृति-ग्रन्थ का प्रकाशन किया जा रहा है। मुनिजी का जीवन त्याग और तपस्या का प्रतीक था। मुझे आशा है कि इस ग्रन्थ के प्रकाशन से श्रद्धालु जनों को प्रेरणा मिलेगी।

मोहनलाल सुखाड़िया
मुख्य मंत्री राजस्थान

CHIEF MINISTER
FORT ST GEORGE
MADRAS

June 5 1964

I am glad to know that a commemoration volume in memory of Muni Hazarimalji Maharaj is to be published This will enable people to know the simple and saintly life of Muniji I am confident that his life will be a source of inspiration to others

M Bhaktavatsalam

MEMBER OF THE
LOK SABHA
7 Rasina Road
NEW DELHI

I am glad to know that a Commemoration Volume is being brought out in the memory of Muni Shri Hazarimalji the great Jain saint of Rajasthan The Muni s message of love sympathy and compassion can be of great value at the present juncture when the whole world is strife torn I hope the Volume will be a comprehensive one and contain information about all aspects of the Muni s life and his teaching

Jagjivan Ram

MINISTER OF SUPPLY
INDIA
NEW DELHI
Sept 23, 1963

I am glad to know that you are publishing the Muni Shri Hazarimalji Commemoration Volume in memory of Muni Shri Hazarimal Ji India has produced great saints, sages, philosophers and yogis and they have kept the torch of Indian Culture and Spiritual knowledge burning through ages Muni Shri was one of such illustrious sons of India who studied the Jain canon and preached the truths of Jainism Those who came in contact with Muni Shri and heard him were inspired by his message of love, sympathy and compassion It is but proper that the Samiti has decided to publish a volume in his memory This is the best form of tribute the generation could pay to such a saint I hope the volume will be a source of inspiration to the people

J.L Hathi

MEMBER OF PARLIAMENT
(LOK SABHA)
38-South Avenue, NEW DELHI
September 30, 1963

I am happy to learn that "Muni Shri Hazarimalji Commemoration Volume" is progressing satisfactorily towards publication I deem it a great privilege to associate myself in paying an humble homage to that great Saint and Savant of revered memory, whose undying spiritual message and profound personal impact now forms a part of the magnificent heritage of the great teachers and preceptors of mankind To remember and to recollect him is refreshing To ponder over his teachings is truly uplifting and ennobling I hope this volume dedicated to that great Saint would assuredly serve as a beacon light to kindle the sublime spark within each of us and to enrich our outlook

The organizational efforts and the editorial labours of the Commemoration Volume Samiti are worthy of the highest approbation and I have great pleasure in sending my sincerest good wishes for the unbounded success of this venture

L.M. Singhvi

CHIEF MINISTER
MAHARASTRA

Sachivalaya Bombay-32

September 27, 1963

I am glad to know that Muni Shri Hazarimalji Commemoration Volume Samiti is bringing out a Commemoration Volume to commemorate the memory of late Muni Shri Hazarimalji, a great savant of Rajasthan whose memories are cherished by many I wish the Commemoration Volume all success.

M S. Kannamwar

CHIEF MINISTER
WEST BENGAL
CALCUTTA

October 4, 1963

We are living in a world of strange contradictions While we are discovering new ways of waging war we are forgetting the Ideals of peaceful living while we have mastered the means of destruction we have yet to learn how to build goodwill among mankind We know quitely a lot about atomic explosions and know so little about the philosophy of truth and non violence.

In a world tormented by lust and distrust the advent of noble souls like Muni Shri Hazarimal Ji was like the sudden appearance of a streak of spiritual light in the midst of material gloom

I should therefore congratulate the Committee on this publication of the Commemoration volume and I am sure this will carry far and wide the message that the late Muni ji conveyed during his life time.

Profulla Chandra Sen

मुनि श्री हजारीमल जी उन साधु-सन्तो की परम्परा में थे कि जिन्होने भारतवर्ष को हमेशा सही रास्ता दिखाया है। भारतवर्ष की विशेप देन आध्यात्मिक सेवा से ही हो सकती है और इस बात को हमारे साधु-सन्त समय समय पर बताते रहते हैं।

मुझे प्रसन्नता है कि मुनि श्रीहजारीमल जी की स्मृति मे एक विशेष ग्रथ निकाला जा रहा है। मैं इसकी पूर्ण सफलता चाहता हूँ।

कालूलाल श्रीमाली
भूतपूर्व शिक्षामत्री

DEPUTY MINISTER
INFORMATION & BROADCASTING
INDIA
NEW DELHI

September 27, 1963

I am glad that you are bringing out a commemorative volume in honour of Muni Shri Hazari-Malji

India has always honoured saint-scholars and it is heartening that the tradition continues

I wish the venture every success

Sham Nath

यह बडी प्रसन्नता की बात है कि एक विद्वान जैन सन्त श्री हजारीमल जी म० की स्मृति मे एक विशाल स्मृति-ग्रथ का प्रकाशन किया जा रहा है इस माध्यम से हम सन्त-जीवन के नजदीक पहुँचते हैं पवित्र जीवन-व्यवहार को हृदयगम करते हैं एक महान् जीवन का स्मरण-चिन्तन करते हैं इस कार्य से अवश्य ही हमारी आत्मा मे उच्च और पवित्र भावनाओ की जागृति होगी मैं **मुनि हजारीमल स्मृतिग्रथ** के प्रकाशन का स्वागत करता हूँ और पूर्ण सफलता की कामना करता हूँ

पी०एन० सेठ
डिप्टी सेक्रेटरी इडस्ट्रीज, राजस्थान

राजस्थान वीरप्रसविनी भूमि है। वीरता के इतिहास में राजस्थान का स्थान समग्र विश्व में अनुपम है। इस तथ्य को बहुत लोग जानते हैं। परन्तु संस्कृति और साहित्य के क्षेत्र में राजस्थान का जो गौरवपूर्ण स्थान है उसकी पूर्णता से कम लोग ही परिचित हैं।

प्रसन्नता का विषय है कि कुछ समय से इस क्षेत्र के सांस्कृतिक और साहित्यिक गौरव को प्रकाश में लाने वाली अनेक योजनाएं सामने आ रही हैं। मुनि श्रीहजारीमल जी म० का स्मृतिग्रंथ भी उन में से एक है। यह योजना भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

मुनिश्री राजस्थान के एक धर्मोपदेष्टा महापुरुष थे। उनकी वाणी से सहस्रों मानवों ने अपने जीवन को उच्च और सात्विक बनाया है। उनकी स्मृति में किया जाने वाला यह आयोजन प्रशंसनीय है।

मैं इसकी हृदय से सफलता चाहता हूँ।

गोविन्द नारायण

अध्यक्ष स्वायत्त शासन संस्था

भारतीय संस्कृति सन्तों की साधना से ही अंकुरित पल्लवित और पुष्पित हुई है सच पूछिये तो सन्त जनों की दिव्य चर्या और वाणी का इतिहास ही भारत की आध्यात्मिक संस्कृति का इतिहास है

सौभाग्य की बात है कि भारतवर्ष में अज्ञात अतीत काल से लेकर आधुनिक युग तक सन्तों की अनवच्छिन्न परम्परा कायम है इन सन्तों ने जन जीवन के विविध वर्गों को परिमार्जन करने में महत्त्वपूर्ण योग दिया है

श्री हजारीमलजी म० उसी परम्परा की एक कड़ी थे राजस्थान के गौरव गायक थे उन्होंने अपना समग्र जीवन स्वपर कल्याण के अर्थ ही उत्सर्ग कर दिया था आशा है उनकी स्मृति में प्रकाशित होनेवाला ग्रंथ भी जन जीवन को उन्नत बनाने में सहायक होगा ग्रंथ प्रकाशन का प्रयास प्रशंसनीय है मैं ग्रंथ की हृदय से सफलता चाहता हूँ

हरगोविंद मेवाड़ा

मीर टाउन प्लानर राजस्थान

मानव जीवन मे सर्वोत्तम है और जिसकी वदौलत ससार मे आज भी प्रशस्त भावनाएँ प्रभाव हीन नही हुई हैं, वह उच्च तत्त्व प्राणी मात्र को अपने ममान मान कर व्यवहार करने वाले महान् सन्तो की ही देन है सन्त का जीवन व्यवहार और उपदेश मानव जाति को अधकार से प्रकाश की ओर ले जाने वाला होता है ससार ऐसे मन्तो का सदा ऋणि रहा है

राजस्थान की एक निर्मल विभूति मुनि हजारीमलजी म० ऐसे ही मन्तो मे से एक थे

मैं उनके प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धाजलि अर्पित करता हूँ और उनकी स्मृति मे प्रकाशित होनेवाले विराट् ग्रथ के आयोजन की सफलता चाहता हूँ

भँवरलाल मेहता
डायरेक्टर स्वायत्त शासन विभाग

पवित्रता, सादगी और उच्चता भारतीय सस्कृति का मूल है हमारे सन्तो ने हमारी सस्कृति के उन मूल्यवान् तत्त्वो को को सदैव ही सुरक्षित रखा है और समय समय पर विकसित भी किया है उनके जीवन से प्रेरित हो कर हम लोग भी अपनी इस महान् सस्कृति की धारा के साथ चलते हैं और वढते रहे हैं

मुनिश्री हजारीमलजी म० का जीवन एक तपोनिष्ठ सन्त जीवन था स्मृति में प्रकाशित किये जा रहे स्मृतिग्रथ का महत्त्व तथा मूल्य इसलिए निर्विवाद है

मैं इस ग्रथ की पूणत मफलता चाहता हूँ

गुलावसिंह लोढा
डायरेक्टर समाज कल्याण राजस्थान

स्वामीजी महाराज के दर्शन पाने का सौभाग्य तो मुझे नही मिला, परन्तु उनके विषय मे जो कुछ सुना और पढा है, उससे मेरा हृदय उनके प्रति श्रद्धा से पूर्ण है ऐसे महानुभाव किसी भी सम्प्रदाय के क्यो न हो वे सव के आदरणीय होते हैं उनकी साधुता के प्रति मेरी हार्दिक श्रद्धाजलि अर्पित है

मेरी तुच्छ बुद्धि मे यही आता है—

पथ बहुत हैं, एक ही गन्तव्य, दिव्य की ही ओर उन्मुख भव्य ।

—मैथलीशरण

MINCHOSTER, MASS,
U.S.A

October 11 1963

However much I would like to contribute to the Commemoration Volume I have not time to write a paper for this Volume At my advanced age of 74 I am over burdened by the work I am carrying now I am sorry for this situation but it cannot be helped

Wishing the fullest measure of success to the Volume

P A Sorokin

J K ORGANISATION
KAMLA TOWN KANPUR

October 8 1963

Mahamuni Shri Hazari Malji Maharaj was a great savant who had practised what he has preached Born in a business community of Rajasthan he showed great asceticism and detachment from early boyhood and followed strict rules of jain order He engaged himself in preaching the truth enshrined in the order Very few saints of our age have attained such high standard of personal merit and sadhna as was done by him

On the occasion of publication of a Commemoration Volume for the savant of humanity I pay my reverential homage to him

Padampat Singhania

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि श्री हजारीमल जी म० की स्मृति में विशाल ग्रंथ प्रकाशित किया जा रहा है। मुनि का जीवन जितना पावन होता है—स्मरण भी उससे कम पावन नहीं होता। अतीत के अगणित सन्त महात्माओं की जीवनी आज भी प्रेरणा का प्रकाशमान प्रबल स्रोत है।

मैं आपके प्रयास की सफलता की कामना करता हूँ और चाहता हूँ कि स्मृतिग्रंथ राजस्थान के साहित्य संस्कृति धर्म नीति के क्षेत्र में किये गये अभिनन्दनीय महान् प्रयासों का एक उज्ज्वल प्रतिबिम्ब बन सके।

—बरकतुल्ला खां
स्वायत्तशासन मंत्री राजस्थान

पूज्यवर वागीश्वर सन्त स्वामी श्री हजारीमल जी म० की स्मृति में प्रकाशित होने वाले ग्रन्थ की मैं पूर्ण सफलता चाहता हूँ। स्वामी जी म० का पवित्र जीवन जगत् के लिए प्रेरणास्पद है। इससे अनेक जिज्ञासुओं को प्रसन्नता होगी।

—अमरचन्द मोदी

मुनि श्रीहजारीमल स्मृति-ग्रंथ

जीवनवृत्त, संस्मरण,
श्रद्धांजलि
और
परम्परा-दर्शन

प्रथम अध्याय

मुनि श्रीमिश्रीमलजी म०

'मधुकर'

मुनि श्रीहजारीमलजी : जीवनवृत्त

गृहीजीवन :

एक दिन अवनि पर आखें खुली,—यह जीवन का प्रारम्भ हुग्रा। एक दिन आँखो ने देखना बन्द कर दिया—यह जीवन का अन्त हुआ। जीवन किस तरह जीया गया—यह जीवन का मध्य है। कौन किस तरह जीवन जी गया—यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है इसी प्रश्न की चर्चाओ मे से जीवन चरितो का गठन, लेखन और परिगुफन होता है

मनुष्य-देह मे, जीवन धारण करने पर जिसका जीवन असाधारण गुणो की ओर अभिमुख होता है, उसके असाधारण व्यक्तित्व से मनुष्य प्रेरणा ग्रहण कर अपने जीवन को सुवास से परिव्याप्त करना चाहता है मनुष्य का विकल देवत्व सतत् काल से ऐसे ही जीवन की टोह मे रहा है

मानव दुर्वलताओ से अभिभूत रहता आया है मानवीय दुर्वलताओ मे जीते-जीते वह दुर्गुणो मे अत्यधिक आसक्त हो गया अत आसक्तियो पर विजय प्राप्त करने वाले जीवनो का अनुगमन करने मे ही आत्मा की समुपलब्धि सभाव्य है मेघ से सहस्रो बूदे, माँ धरती के प्रेमाक मे परित्राण प्राप्त करने के लिये—नि सृत होती है एक स्थान से अवतरण करने वाली सभी बूदें मुक्ता नही बनती। सीपी के सम्पुट मे प्रविष्ट होनेवाली बूद ही अखड सौभाग्यवती है कालातर मे मनुष्य उसे मुक्ता की सज्ञा प्रदान करता है

मरुधरा के जनवद्य, महामना मुनि श्रीहजारीमलजी महाराज का जीवन, राजस्थान की सूखी मिट्टी मे प्रकट हुआ था एक दिन इसी धरती के कणो मे उनकी काया समाहित हो गई भारतवर्ष की विमल सन्त-सस्कृति के प्रति, अर्पणभाव रखने वालो ने उनका पुण्यस्मरण कर-कर समर्पणभाव का तर्पण इन शब्दो मे किया **"उनकी पवित्र काया माटी में नहीं समाई, वह सोना बन गई"** वे देह धारे रहे—तब तक जनमानस उन्हे सन्त-रत्न कहता रहा

महामुनि श्रद्धेय श्रीहजारीमलजी महाराज के जीवन को हम अपनी लेखनी से कितना अकित कर पायेंगे—नही कह सकते हम जो लिखेगे जनता उसे नही सह सकती क्योकि हमारे कहने से भी अधिक उनका गरिमा-महिमा-युक्त जीवन और जीवन की घटनाओ का स्मरण चित्रालय—उनके पास है महापुरुषो का जीवन लेखनी से लिखे जाने का विषय नही होता सन्त का जीवन वैशिष्ट्यो का क्षीरसागर होता है मनुष्य किन-किन विन्दुओ का कलम की नोकसे सदर्शन करा-येगा ? लिखते-लिखते अनेक जीवन भी एक जीवन का सम्पूर्ण अकन नही कर सकते उक्त अकित अश मे सैद्धान्तिक दृष्टि से वहुत वडा सत्य सन्निहित है एक व्यक्ति सन्त के जीवन का वयान करने का दावा भी नही कर सकता क्योकि वाणी से सन्त-जीवन को परिज्ञापित कराते-कराते वाणी वेचारी क्लात हो जाती है अकनकार थक कर शीतल छाँह की प्रत्याशा करने लगता है

जीवन का प्रारंभ :

पूज्य श्रीहजारीमलजी महाराज ने अपने जीवन को कैसे जीया ? उन्होने अपने जीवन मे किन-किन विशेपताओ को किस-किस प्रकार से समाहित किया—यह उतना महत्त्वपूरित नही है वह महा व्यक्तित्व जनमानस मे किस प्रकार जीवित

किलकारियो से हृदय मे उल्लसित होने लगी हँसते-खेलते, भागते-गिरते, रोते और मीठी नीद मे सोते हजारी को देख-देख कर वे उल्लास से भर-भर जाती

स्नेहाधार :

माता ने माना था—यह मेरी ममता का मेरु है भगिनी ने भाई को बल का आधार माना था पिता ने निश्चय किया था—'मेरा सारा कर्म और धर्म हजारी के लिए है यह मेरी कीर्ति का युगातरकारी ध्वज है!'

स्नेह बँट जाता है धन लुट जाता है समय सरक जाता है. समय की करवट से, सब उलट-पुलट हो जाता है ! पिता न्यायनीति से धनोपार्जन के पक्षकार थे कृषि, गोपालन, वस्तु का आदान-प्रदान, विक्रय और विभाजन—ये उनके अर्थोपार्जन के स्रोत थे। वे इन पर आधारित थे स्वभाव के पूर्ण साधु समय ने अँगडाई ली—सब कुछ बिखर गया चल सम्पत्ति विभाजित हो गई अचल के हिस्से मे भी सबलो की आँखें गड गईं अदृष्ट अभाव, देह धारण कर सामने आ गया मोतीलालजी ने स्थिर मस्तिष्क और शान्त मन हो स्थिति पर विजय प्राप्त करनी चाही रोग का भयकर आक्रमण हुआ उन्होने धैर्यपूर्वक रोगाक्रमण से सघर्ष किया शारीरिक अस्वस्थता मे भी मानसिक स्वस्थता का अनुभव किया[1] तीन वर्ष तक रोग से जीर्ण काया के द्वारा घरका काम सँभाला गाँव के बडे-बूढे स्त्री-पुरुषो की आँखो का सुख हजारी पढने लगा पुत्र पाँच वर्ष का हुआ पिता काल की आँखो आ गए माता निराधार हो गई परिजनो के मुखमगल वचन, नन्दू की आवश्यकता और दु खी मन की मरहम न बन सके जैसे-तैसे माता ने दो वर्ष व्यतीत कर दिये माताने सोचा 'मेरा हजारी सात वर्ष का हो गया है किशनी साल दो साल मे अपने घर की हो जायगी तब तक यह भी समझने लगेगा जैसे-तैसे घर का काम चल जायगा 'उनकी' अतिम निशानी को देख-देखकर ही जीवन बिता दूंगी वृद्धावस्था का अब मेरा यही तो एक आधार है? घर-गृहस्थी की बातें समझने लगेगा तो क्या मेरे 'लाल' को गरीब घर की कन्या न मिलेगी ? जरूर मिलेगी

जननी पर विपत्ति :

माता जानती थी, स्वजन—वैसे तो सभी स्वार्थ मे डूबे हुए हैं सारा ससार ही स्वार्थ की आग मे जल रहा है निरर्थक परार्थचिन्तन किस को सूझता है ? वे दिन, वह समय अब नही है कि स्व और पर हित चिन्तन मनुष्य साथ-साथ किया करता था इसके पिता बार-बार कहा करते थे—"किशनी की माँ ! मेरी आँखें बन्द हो जाएगी तो हजारी का क्या होगा ?" मैं उन्हे कहा करती थी—"आप ऐसी अशुभ कल्पना क्यो करते हैं ?" मेरा यह कहना, आज सोचती हूँ झूठी सात्वना थी झूठी हो या सच्ची, वे तो अनन्त पथ के पथिक हो गए अपनी राह चले गए न जाने कौन-सी अज्ञात शक्ति है जो अनजाने मे ही हमारे 'अपने' को अपने पास बुला लिया करती है शायद उनको न्याय-नीतिमय जीवन जीते हुए यह दीखने लगा था कि मैं चला जाऊँगा और हजारी बेसहारा हो जाएगा मैं उनकी बात को टाल जाया करती थी जब-तब यह भी कहती—'वीरभूमि मेवाड का जाया जन्मा अपनी आन और शान पर मरता मिटता आया है विपन्नावस्था मे भी वह पराजय नही स्वीकार करता है श्रम के कण ही मेवाड के मोती है पिछला इतिहास बताता है, श्रुतिपरम्परा से, बडे-बूढोके मुँह सुनती आई हूँ—मेवाड की मिट्टी के रज कणो मे लोट-लोटकर बडा होने वाला मेवाडी हृदय का भोला, बडो का आदर करने वाला एव अपनी आन-शानको प्राण-प्रण से निभाने वाला होता है वह किसी के सामने अपेक्षा और आकाक्षा के लिए हाथ पसार कर अपनी दीनता नही दिखाता आज इस सत्य की कसौटी का दिन आ गया है

---

१ सम्यग्दृष्टि आत्मा, असातावेदनीय का तीव्रतम उदय होने पर भी शारीरिक चिन्ताओं में निमग्न न रहने के कारण निर्जरा का अधिकारी बनता है, जब कि ठीक वैसी स्थिति में वही कर्मोदय मिथ्यादृष्टि आत्माओं के लिए बन्ध का कारण है । एक वस्तु हो कर भी दृष्टिभेद से भिन्न स्थिति की सृष्टि होती है जैसा कि आध्यात्मिक सन्त महात्मा गाधी के आध्यात्मिक मार्गदर्शक श्रीमद् रायचन्द्रजी ने निम्न पक्तियों में अभिव्यक्त किया है—'ज्ञानी के अज्ञानी जन सुख दु ख थी रहित न कोय, ज्ञानी वेदे धैर्य थी अज्ञानी वेदे रोय ।'

है, जनता उसको किस रूप प्रारूप में याद करती है—यह महत्वमंडित है। इस निकष के आधार पर किसी भी व्यक्तित्व का अंकन ही खरा अंकन है। इस महाकसौटी पर उत्तीर्ण होने वाले कनक की शुद्धि असंदिग्ध है। लिखने को तो किसी के बारे में कुछ भी लिखकर प्रचारित किया जा सकता है, परन्तु ऐसा लेखन जिज्ञासुओं के जीवन में परिवर्तन नहीं ला सकता।

बड़ा कौन ?

बड़ा व्यक्ति कौन है ? जिस का नाम बड़ा हो वह बड़ा नहीं, जिसका काम बड़ा होता है वह महान् है। जीवनकाल में मनुष्य के बड़प्पन को मापने का तरीका—उसने काम क्या किया और कैसे किया—यह है। उसके स्वर्गवासी हो जाने पर उसके पुरुषत्व की पहचान का तरीका—उसकी स्मृति में पीछे से क्या होगा, उसकी अपूर्ण भावना की परिपूर्ति किस प्रकार होगी—यह है।

उनका जन्म

पूज्य मुनि श्रीहजारीमलजी महाराज की माता नन्दूबाई धन्य धन्य हो गई थी जिस दिन पुत्र 'हजारी' ने जन्म लिया था। पिता का पारिवारिक परिस्थितिवश अतृप्त पितृत्व भी पुत्रजन्म से पुलक उठा था, जब छोटे-छोटे हाथ हिलाते पैर पटकते—मोतीलालजी मुणोत ने—वीरपुत्र हजारी को प्रथम बार देखा था।

वसन्त का मन भावना मौसम ! शीत की विदाई और नैसर्गिक सुषमा का आगमन ! कल्पना करते ही मन अलौकिक उल्लास से भर उठता है। ऐसी ही उस उल्लासमयी वसंत पंचमी[1] को नन्दूबाई वात्सल्य में भीग गई थी, अपनी कूख को सराहने लगी। दो-दो पुत्रों की जुदाई भूल गई—मस्तिष्क में नाना कल्पनाओं के आधाररहित शब्दचित्र बन बिगड़े, उभरे और मिटे !

माता पिता : अन्य जन

पूज्य महामुनि के पिता दो भाई थे। गाँव के शब्दोच्चारण के अनुसार मोतीजी और पिथाजी। इनका सुसंस्कृत रूप मोतीलाल मुणोत और पृथ्वीचन्द्र मुणोत—होता है। पृथ्वीचन्द्रजी बड़े थे। मोतीलालजी हजारीमलजी सहित तीन पुत्र और एक पुत्री के पिता थे। हजारी के बड़े भाई, मध्यप्रदेश के प्रवेशद्वार 'जावद' में एक निकट के परिवार में दत्तक पुत्र के रूप में रहने लगे थे। मँझले को भी क्या जँची कि वे भी बड़े के पास ही रहने लगे थे। पिता का स्नेह किस पुत्र-पात्र में स्थान पाए ? उन्होंने अपनी ममता को पुत्री सिरदारी बाई में केन्द्रित कर समत्व-साधना प्रारम्भ की। समत्व-साधना के प्रतिफल में से एक दिन जन-जननी के ममत्वकेन्द्र परिभाषाधार 'हजारी' अवतरित हुए। पिता और माता ने उन्हें मात्र अपना ही हजारी मानने का स्वर्णिम स्वप्न देखा था, पर दोनों को ही पता नहीं था कि हजारी मात्र उन्हीं की ममता का केन्द्र रहेगा या जन-जन का पूज्य और श्रद्धा का आधार बनेगा।

पिता की स्नेहधारा

संसार में स्थायित्व के नाम पर क्या स्थिर है ? कुछ भी नहीं ! स्नेह और ममत्व भी बहकाए और बँटाए बँट जाते हैं और या आज एक दिशा में बहते-बहते दूसरी दिशा में बहने लगता है। पिता का सम्पूर्ण स्नेह सिरदारी में केन्द्रित था, पुत्र के आते ही पिता का स्नेह पुत्र पर आधारित हो गया। पिता घर से बाहर प्रतिपल श्रम करने लगे, मस्तिष्क से पुत्र हजारी के गुणी व शिक्षित करने के स्वप्नचित्र में रंग भरने लगे, पर घर में नन्दू और सिरदारी हजारी की किल्लोल और

---

१. वि. १९४३ [illegible] ग्राम (मेवाड़)

किलकारियो से हृदय मे उल्लसित होने लगी हँसते-खेलते, भागते-गिरते, रोते और मीठी नीद मे सोते हजारी को देख-देख कर वे उल्लास से भर-भर जाती

स्नेहाधार :

माता ने माना था—यह मेरी ममता का मेरु है भगिनी ने भाई को वल का आधार माना था पिता ने निश्चय किया था—'मेरा सारा कर्म और धर्म हजारी के लिए है यह मेरी कीर्ति का युगातरकारी ध्वज है!'

स्नेह बँट जाता है धन लुट जाता है समय सरक जाता है. समय की करवट से, सब उलट-पुलट हो जाता है! पिता न्यायनीति से धनोपार्जन के पक्षकार थे कृषि, गोपालन, वस्तु का आदान-प्रदान, विक्रय और विभाजन—ये उनके अर्थोपार्जन के स्रोत थे! वे इन पर आधारित थे स्वभाव के पूर्ण साधु समय ने अँगडाई ली—सब कुछ बिखर गया चल सम्पत्ति विभाजित हो गई अचल के हिस्से मे भी सबलो की आँखें गड गईं अदृष्ट अभाव, देह धारण कर सामने आ गया मोतीलालजी ने स्थिर मस्तिष्क और शान्त मन हो स्थिति पर विजय प्राप्त करनी चाही रोग का भयकर आक्रमण हुआ उन्होने धैर्यपूर्वक रोगाक्रमण से सघर्ष किया शारीरिक अस्वस्थता मे भी मानसिक स्वस्थता का अनुभव किया[1] तीन वर्ष तक रोग से जीर्ण काया के द्वारा घरका काम सँभाला गाँव के बडे-बूढे स्त्री-पुरुषो की आँखो का सुख हजारी पढने लगा पुत्र पाँच वर्ष का हुआ पिता काल की आँखो आ गए माता निराधार हो गई परिजनो के मुखमगल वचन, नन्दू की आवश्यकता और दु खी मन की मरहम न बन सके जैसे-तैसे माता ने दो वर्ष व्यतीत कर दिये माताने सोचा 'मेरा हजारी सात वर्ष का हो गया है किशनी साल दो साल मे अपने घर की हो जायगी तब तक यह भी समझने लगेगा जैसे-तैसे घर का काम चल जायगा 'उनकी' अतिम निशानी को देख-देखकर ही जीवन बिता दूँगी वृद्धावस्था का अब मेरा यही तो एक आधार है? घर-गृहस्थी की बातें समझने लगेगा तो क्या मेरे 'लाल' को गरीब घर की कन्या न मिलेगी ? जरूर मिलेगी

जननी पर विपत्ति :

माता जानती थी, स्वजन—वैसे तो सभी स्वार्थ मे डूबे हुए हैं सारा ससार ही स्वार्थ की आग मे जल रहा है निरर्थक परार्थचिन्तन किस को सूझता है ? वे दिन, वह समय अब नही है कि स्व और पर हित चिन्तन मनुष्य साथ-साथ किया करता था इसके पिता बार-बार कहा करते थे—"किशनी की माँ ! मेरी आँखे बन्द हो जाएगी तो हजारी का क्या होगा ?" मैं उन्हे कहा करती थी—"आप ऐसी अशुभ कल्पना क्यो करते है ?" मेरा यह कहना, आज सोचती हूँ झूठी सात्वना थी झूठी हो या सच्ची, वे तो अनन्त पथ के पथिक हो गए अपनी राह चले गए न जाने कौन-सी अज्ञात शक्ति है जो अनजाने मे ही हमारे 'अपने' को अपने पास बुला लिया करती है शायद उनको न्याय-नीतिमय जीवन जीते हुए यह दीखने लगा था कि मैं चला जाऊँगा और हजारी बेसहारा हो जाएगा मैं उनकी बात को टाल जाया करती थी जब-तब यह भी कहती—'वीरभूमि मेवाड का जाया जन्मा अपनी आन और शान पर मरता मिटता आया है विपन्नावस्था मे भी वह पराजय नही स्वीकार करता है श्रम के कण ही मेवाड के मोती है पिछला इतिहास बताता है, श्रुतिपरम्परा से, बडे-बूढोके मुँह सुनती आई हूँ—मेवाड की मिट्टी के रज कणो मे लोट-लोटकर बडा होने वाला मेवाडी हृदय का भोला, बडो का आदर करने वाला एव अपनी आन-शानको प्राण-प्रण से निभाने वाला होता है वह किसी के सामने अपेक्षा और आकाक्षा के लिए हाथ पसार कर अपनी दीनता नही दिखाता आज इस सत्य की कसौटी का दिन आ गया है

---

१ सम्यग्दृष्टि आत्मा, असातावेदनीय का तीव्रतम उदय होने पर भी शारीरिक चिन्ताओं में निमग्न न रहने के कारण निर्जरा का अधिकारी बनता है, जब कि ठीक वैसी स्थिति में वही कर्मोदय मिथ्यादृष्टि आत्माओं के लिए बन्ध का कारण है ! एक वस्तु हो कर भी दृष्टिभेद से भिन्न स्थिति की सृष्टि होती है जैसा कि आध्यात्मिक सन्त महात्मा गाधी के आध्यात्मिक मार्गदर्शक श्रीमद् रायचन्द्रजी ने निम्न पक्तियों में अभिव्यक्त किया है—'ज्ञानी के अज्ञानी जन सुख दु'ख थी रहित न कोय, ज्ञानी वेदे धैर्य थी अज्ञानी वेदे रोय ।'

हजारी के लिए मैं उनके जीते जी सोचा करती थी इसके हजार हाथ हैं पर आज सोचती हूँ—हजारी के हजार हाथ नहीं थे दो ही हाथ हैं इन दो आँखों की बाट हृदय में बसा हजारी अब किसका आधार गहे ? 'अच्छा व्यवहार बुरे अवसर पर काम आता है' इसके पिता यह कहा करते थे उनका अच्छा व्यवहार बेटी के हाथ पीले करने में सहयोगी न होगा ? आज इस बात की भी परीक्षा कर देखूं अगर किसी ने सहयोग किया तो ठीक अन्यथा जगन्नियन्ता जैसे चाहेगा वैसे ही रहना है होनी सामने आएगी होनी के हजार हाथ होते हैं होनी के खेल अब तक जीवन में क्या-क्या नहीं देखे हैं जो-जो देखा वह सब आज उभर-उभर कर याद आ रहा है दुःख की घड़ी तो मनुष्य की बिसात नापने आती है दो-दो पत्र हैं आज वे कमा खाने योग्य हैं गोद तो एक ही गया है वे चाहें तो कौन ऐसा है जो अपने भाई की हमदर्दी करने से रोक-टोक सकता है ? पर नहीं मेरा यह सोचना ही गलत है मेवाड़ का इतिहास बतलाता है—यहाँ खून के रिश्ते भी अतीत में टूटते रहे हैं मेवाड़ की यह शान है कि यहाँ का वासिंदा जिसके यहाँ भी रहे उसका पूर्ण वफादार बनकर रहे

आन और शान पर मरना मिटना तो यहाँ की पवित्र और पावनी परम्परा रही है शान और आन के लिए तो पन्ना धाय ने जिसे अपना मान लिया था उस अमरसिंह की रक्षा के लिये अधिकार के लोभी उदयसिंह को खड्ग हाथ लिए देख अपने पुत्र की ओर निस्संकोच भाव से संकेत कर दिया था प्रसन्नता है मेरा पुत्र दत्तक पुत्र के रूप में जिस माँ की सूनी गोद भरने गया है उसकी गोद अमर रहे मेरा क्या है ढलते सूरज की-सी जिन्दगी रही है—बिता ही लूंगी और वह कहने लगी 'मेरी कूख से जाये जन्मे बेटे ! तू जहाँ गया है वहीं का होकर रहना अपने देश की यह निर्मल परम्परा है भाई और माँ के मोह में आकर अपने कर्त्तव्य से जरा भी उपरत मत होना तेरे पिता का और मेरा मेरा और तेरे भाई हजारी का इसी में गौरव है

नन्दू का स्वाभिमान श्रमनिष्ठा

माता नन्दू ने कुछ समय बाद पुत्री किशनीबाई के हाथ पीले कर निश्चिन्तता अनुभव कर ली थी

मनुष्य की जब किसी भी कार्य या नियमपालन पर से निष्ठा समाप्त हो जाती है तब वह दूसरा की ओर देखता है ! अन्य को साधन-सुविधाओं पर निर्भर हो जाता है ! उसका सम्पूर्ण प्रयत्न इस पर आधारित हो जाता है कि सुविधाएँ किस प्रकार प्राप्त हो फिर वह यह नहीं देखता कि अमुक कार्य मेरी आत्मा और संस्कृति के अनुकूल रहेगा या प्रतिकूल !

वह परम निष्ठावान थी उस के हिए का हार हजारी भी पर का हो गया उसे स्मरण आया

'हजारी के लिए मोती की सम्पत्ति में से कुछ बचा-खुचा था वह भी धीरे-धीरे सामन्ती लोगों के कब्जे में हो गया भारत की असहाय नारी क्या करती ? मर तेरे से अपेक्षा ? पर यह कार्य मेवाड़ की स्वाभिमानिनी नन्दू को स्वीकार्य नहीं था तारानिर आखवाल जाति के विधि-निषेधों के अनुसार घर से बाहर जाकर श्रम के नाम पर कुछ करना सम्भव न था हाथ पसारने का विचार उसके रक्ताणुओं में भी प्रविष्ट न हुआ था

एक दिन माता नन्दूबाई हजारी के जन्मस्थान (नासरिया टाडगढ़ के समीप मेवाड़) से ४२ मील दूर रणभूमि राजस्थान के ब्यावर नगर में काम की तलाश में चली आई डामरिया में मोतीरामजी की खून पसीने की मेहनत का एक मकान और कुछ जमीन शेष थी ब्यावर में रहते रहते काम किया आत्मा के अणु अणु में विश्वास पुरुषार्थ में पूर्ण निष्ठा और स्वाभिमान की ज्योति ज्योतिमान हो गई कि मैं किसी पर आधारित नहीं सब ओर से आत्मीय सम्बन्ध की डोर का सिरा टूट गया तो क्या हुआ ? मैंने कभी किसी के आगे हाथ तो नहीं पसारा !

नन्दू को अपना मकान और जमीन हजारी की रिस्तोरम्यमी—जन्मभूमि—का ममत्व विकल करने लगा कुछ दिन के लिए डामरिया गई परन्तु अधिक दिन वहाँ रहना उसके मन को कचोटने लगा पुनः शीघ्र ही सब देखभाल कर पुनः मन्दिर और मार्ग काम करने लगी किसी से प्रीत न चाह धनीन के मनाने अनोखे मन स्वप्न बिसार, श्रम कर सुखपूर्वक

रहने लगी अपने छोटे-छोटे हाथो से पुत्र हजारी भी, माँ के काम मे हाथ बँटाने लगा इस तरह माँ सुखी थी वेटा सुखी था दोनो का एक छोटा-सा ससार था माँ अपने वेटे को वता देना चाहती थी कि 'स्वार्थ से सरावोर इस ससार का वरताव देख ले वडा होकर किसी से भी आस मत करना अपना किया ही अपने काम आता है'

नारी का सुख :

एक वस्तु भी विभिन्न अनुभूतियो या उसके पृथक् माध्यम के कारण, अनेक रूपो मे परिवर्तित हो जाती है सत्य एक होकर भी वैयक्तिक भेद से अनेक है दु ख और सुख भी वैयक्तिक भेद से अनेक रूपात्मक है, शब्दातीत है

नारी का सुख पुरुष से भिन्न है वात्सल्य उसके सुख को वढाता है वात्सल्य के अभाव मे नारी नारायणी नही कहलाती है सुसस्कार और स्वाभिमान उसके वात्सल्य मे स्थायित्व लाते है उस समय वह वात्सल्य को जन-जन मे अर्पित कर देती है वही उसका सुख, सुख है वह अपने जीवन की प्रत्येक घडी मे दूसरो को सुखी देखकर, दूसरो को सुखी वनाकर—अपने आपको सुखी व प्रसन्न अनुभव करती है त्याग और सेवा उसकी आत्मा का सरगम है उसे इसमे अखण्ड आनन्द की उपलब्धि होती है इस आनन्द मे डूब कर वह अपना दु ख, अपना सुख—सव कुछ भुला देती है तब वह अपने मे सीमित न रह कर विराट् बन जाती है पूज्य स्वामीजी महाराज की माँ भी एक ऐसी ही माँ थी, उस माँ ने अपने वात्सल्य को विराट् वनाया था वात्सल्य के उस विराट् आलोक मे खडी होकर एक दिन अपनी ममता के केन्द्र हजारी को स्व-पर कल्याण मे जुटे रहनेवाले परमादरणीय स्वामीजी श्रीजोरावरमलजी के चरणो मे सौंप कर अपने आपको धन्य-धन्य समझा था इस अर्पण की पूर्व कथा निम्न प्रकार है--

वर्तमान वर्ते सदा सो ज्ञानी जग माय :

माँ को एक दिन विचार आया—'हजारी को नौ महीने तक अपने पेट मे रखा, और कूख से जाया—जन्म दिया आज दु ख की सुख की अच्छी बुरी घडियो को पार कर के यह नौ वर्ष का, इस धरती पर लोटते-पोटते, भागते-दौडते—हो गया है इस अवसर पर मैं महासतीजी श्रीचौथाजी के दर्शनो का शुभ लाभ पुत्र सहित क्यो न लूं ?'

माँ नन्दूवाई ने जैनाचार्य श्रीजयमलजी महाराज की सम्प्रदाय की साध्वी श्रीचौथाजी के व्यावर मे दर्शन किए साध्वीजी ने बालक हजारी मे अलौकिक व्यक्तित्व की झलक देखी माता नन्दू का शोकपूर्ण अतीत सुना नन्दू को सान्त्वना दी "वहिन, अतीत को याद कर-करके हृदय-घट को दु ख व शोक से क्यो भरती हो ? बीती को भुला दो विधि के अदृश्य हाथो ने जो लिखा था—वह हुआ दु ख के घट को अव बूंद-बूद ही सही—रीता कर दो दु खी जीवन से मन और तन दोनो प्रकारकी शान्ति भग होती है इस तरह तो तुम अपनी आत्मा को शोक-सागर मे बोर-बोर जैनसिद्धान्तानुसार गुरु बना रही हो"

साध्वी चौथाजी की बात नन्दूबाई के सरल हृदय मे वैठ गई अतीत पर सोचना छोडकर वह वर्तमान मे सोचने और चलने लगी और इस सत्य को साकार कर दिया—"वर्तमान वर्ते सदा सो ज्ञानी जग माय"

स्वामी जी के मन का झुकाव :

हजारी ने अपना नौ वर्ष तक का जीवन दो सुकोमल हाथो और हृदय के मधुर उपालम्भो व प्रभूत स्नेह तथा वात्सल्य मे बिताया था साध्वी चौथाजी का विचारपूर्ण जीवन-दिशा सकेत सूत्र एव सात्विक वात्सल्य पाकर बालक हजारी का मन, साधु-जीवन की ओर झुक गया एक दिन पुत्र हजारी ने माँ से कहा

"मुझे गुरुणी माता के दर्शन तो कराए, किसी दिन श्रद्धेय गुरुजी के दर्शन भी करा दो न माँ"

माता को वर्तमान पर सोचने की दिशा साध्वीजी से मिली थी अत उसने अनुभव किया 'बीते अतीत को विसारना ही

हजारी के लिए मैं उनके जीते जी सोचा करती थी इसके हजार हाथ हैं पर आज सोचती हूँ—हजारी के हजार हाथ नहीं ये दो ही हाथ है इन दो आँखों की बाट हृदय में बसा हजारी अब किसका आधार गहे ? अच्छा व्यवहार बुरे अवसर पर काम आता है' इसके पिता यह कहा करते थे उनका अच्छा व्यवहार बेटी के हाथ पीले करने में सहयोगी न होगा ? आज इस बात की भी परीक्षा कर देखूं अगर किसी ने सहयोग किया तो ठीक अन्यथा जगन्नियन्ता जैसे चाहेगा वैसे ही रहना है होनी सामने आएगी होनी के हजार हाथ होते हैं हानी के खेल अब तक जीवन में क्या-क्या नहीं देखे हैं जो-जो देखा वह सब आज उभर-उभर कर याद आ रहा है दु ख की घड़ी तो मनुष्य की बिसात नापने आती है दो-दो पुत्र हैं आज वे कमा खाने योग्य हैं गोद तो एक ही गया है वे चाहें तो कौन ऐसा है जो अपने भाई की हमदर्दी करने से रोक-टोक सकता है ? पर नहीं मेरा यह सोचना ही गलत है मेवाड़ का इतिहास बतलाता है—यहाँ खून के रिश्ते भी अतीत में टूटते रहे हैं मेवाड़ की यह शान है कि यहाँ का वासिंदा जिसके यहाँ भी रहे उसका पूर्ण वफादार बनकर रहे

मान और शान पर मरना मिटना तो यहाँ की पवित्र और पावनी परम्परा रही है शान और आन के लिए तो पन्ना धाय ने जिसे अपना मान लिया था उस अमरसिंह की रक्षा के लिये अधिकार के लोभी उदयसिंह को खड्ग हाथ लिए देख अपने पुत्र की ओर निस्संकोच भाव से संकेत कर दिया था प्रसन्नता है मेरा पुत्र दत्तक पुत्र के रूप में जिस माँ की सूनी गोद भरने गया है उसकी गोद अमर रहे मेरा क्या है ढलता सूरज की-सी जिन्दगी रही है—बिना ही सूँघी और वह कहने लगी 'मेरी कूख से जाये जन्मे बेटे ! तू जहाँ गया है वहीं का होकर रहना अपने देश की यह निर्मल परम्परा है भाई और माँ के मोह में आकर अपने कर्त्तव्य से जरा भी उपरत मत होना तेरे पिता का और मेरा मेरा और तेरे भाई हजारी का इसी में गौरव है

नन्दू का स्वाभिमान श्रमनिष्ठा

माता नन्दू ने कुछ समय बाद पुत्री किशनीबाई के हाथ पीले कर निश्चिन्तता अनुभव कर ली थी

मनुष्य की जब किसी भी कार्य या नियमपालन पर से निष्ठा समाप्त हो जाती है तब वह दूसरों की ओर देखता है ! अन्य की साधन-सुविधाओं पर निर्भर हो जाता है । उसका सम्पूर्ण प्रयत्न इस पर आधारित हो जाता है कि सुविधाएँ किस प्रकार प्राप्त हो फिर वह यह नहीं देखता कि अमुक कार्य मेरी आत्मा और संस्कृति के अनुकूल रहेगा या प्रतिकूल !

वह परम निष्ठावान थी उस के हिए का हार हजारी भी पर का हो गया उसे स्मरण आया

'हजारी के लिए मोती की सम्पत्ति में से कुछ बचा-खुचा था वह भी धीरे-धीरे लालची लोगों के कब्जे में हो गया भारत की असहाय नारी क्या करती ? मेरे तेरे से अपेक्षा ? पर यह कार्य मेवाड़ की स्वाभिमानिनी नन्दू को स्वीकार्य नहीं था तात्कालिक ओसवाल-जाति के विधि निषेधों के अनुसार घर से बाहर जाकर श्रम के नाम पर कुछ करना सम्भव न था हाथ पसारने का विचार उसके रक्ताणुओं में भी प्रविष्ट न हुआ था

एक दिन माता नन्दूबाई हजारी के जन्मस्थान (डांसरिया टाडगढ़ के समीप मेवाड़) से ४२ मील दूर रणभूमि राजस्थान के ब्यावर नगर में काम की तलाश में चली आई डांसरिया में मोतीलालजी की खून पसीने की मेहनत का एक मकान और कुछ जमीन शेष थी ब्यावर में रहते-रहते काम किया आत्मा के अणु-अणु में विश्वास पुरुषार्थ में पूर्ण निष्ठा और स्वाभिमान की ज्योति ज्योतिमान हो गई कि 'मैं किसी पर आधारित नहीं सब ओर से आत्मीय सम्बन्ध की डोर का सिरा टूट गया तो क्या हुआ ? मैंने कभी किसी के आगे हाथ तो नहीं पसारा !

नन्दू को अपने मकान और जमीन हजारी की जिम्मेसम्पत्ती—जन्मभूमि—का ममत्व विकल करने लगा कुछ दिन के लिए डांसरिया गई परन्तु अधिक दिन वहां रहना उनके मन को कचोटने लगा पुन शीघ्र ही सब देखभाल कर, पुन सहित लौट आई काम करने लगी किसी से प्रीत न द्वेष मशीन के सलोने अलोने सब स्वप्न बिसार, श्रम कर सुखपूर्वक

तात्त्विक दृष्टि से चिन्तन करने पर प्रतिफलित होता है कि यथार्थत मुक्ति का आधार वियोग है सयोग नही श्रमण-परपरा बहुत प्राचीनकाल से वियोग के प्रति ही निष्ठावान रही है आत्मा और कर्म का वियोग अपरिहार्य तथ्य है वही शाश्वत सुख का आधार है, सयोग बध का कारण है जीवन मे आगत विषमताओ का सतुलन चारित्रिक शक्ति द्वारा ही सभव है स्पष्ट कहा जाय तो सयम ही कर्म और आत्माके वियोग का आधार है

"मा, मैं भी तुझे सुखी देखना चाहता हूँ तू मेरे सुख मे सुख देखती है, यही मातृ-हृदय का माहात्म्य है मैं दीक्षा लेकर सुख का अनुभव करूँगा तो निश्चय ही इससे तुझे भी सुख मिलेगा मैं गुरुदेव के सुख मे सुख खोजूंगा और गुरु को सुख निर्मल साधना से मिलता है यह भी सत्य है न ?"

"हा बेटा, गुरुको सुख तो निर्मल साधना से ही मिलता है" माँ ने बेटे की ममता को गुरुभक्ति मे समोकर कहा

"तो माँ, मुझे भी स्वसुख, तेरे सुख और गुरु-सुख हित-साधना करनी है आज तू मुझे त्रिविध सुख के लिये अन्त करण से आशीर्वाद दे—जिससे मै कभी साधना से विरत न हो सकू मैं जीवन की अन्तिम घडी तक साधना से विरत न होऊगा यह प्रतिज्ञा आज मैं तेरा चरण-स्पर्श कर, करता हूँ "

गृहजीवन में अध्ययन :

स्वामीजी महाराज ने गुरुचरणो मे पहुँचने से पहले महाजनी और हिन्दी भाषा का अध्ययन कर लिया था ग्राम्य जीवन और शिक्षण की पद्धति के मानदण्ड के अनुसार एव उस युग मे जो अध्ययन करने-कराने की सुविधा थी,—स्वामीजी की पढाई पूर्ण हो चुकी थी माता ने भी समझ लिया था कि पुत्र लिख पढ चुका है अब इसके लिये परी-सी बहू लाऊगी मैं चाद-सी अपनी बहूरानी को एक निमिष भी अलग नही करूगी परन्तु विधि ने अपने अदृश्य हाथो से स्वामीजी म० के लिए तो पूर्व पुण्य के प्रतिफल स्वरूप योग-साधना का विधान कर दिया था माता और पिता दोनो ही इस सत्य से अपरिचित थे

चरितनायक हजारीमलजी दीक्षा के उम्मीदवार होकर पूज्य गुरुदेव श्रीजोरावरमलजी महाराज की चरणसेवा मे रह रहे थे ज्ञान ध्यान मे मन निमज्जित था एक दिन माँ नन्दू के मस्तिष्क मे पुत्र की सस्मृति गहरी उभर आई भावना की उथल-पुथल मे पुत्र को पत्र लिखा

"प्रिय हजारी,

'आज बैठे-बैठे मन भर आया नही रहा जा रहा है. मन की दुखन आँखो की बाट फूट कर बाहर आती है तब अपना कोई होता है या जिसे अपना मान लिया जाता है— उसे मन की दो बात कह कर दु ख से उफनती छाती मे सबर आता है आज तुझे भी कुछ कहने को मन कर आया है

'बात भी ऐसी कुछ नही है पर बेसबर मन है इसमे सहनशक्ति नही रहती है तो यह अपने रास्ते चलता है मनुष्य सोचता है बस, अब कुछ हलकापन हो गया—मेरे मन की स्थिति भी ऐसी हो रही है

'तेरा बडा भाई गोद चला ही गया था मँझला था, वह भी उसके गोद जाते ही उसी के पास चला गया था बेटी थी, वह अपने घर की हो गई एक तू था, तू भी मुझसे अब दूर जा रहा है खैर बेटा छाती भर आई तो यह लिख दिया है !

बेटा, पत्र जल्दी-जल्दी दे दिया कर,

—नन्दूबाई"
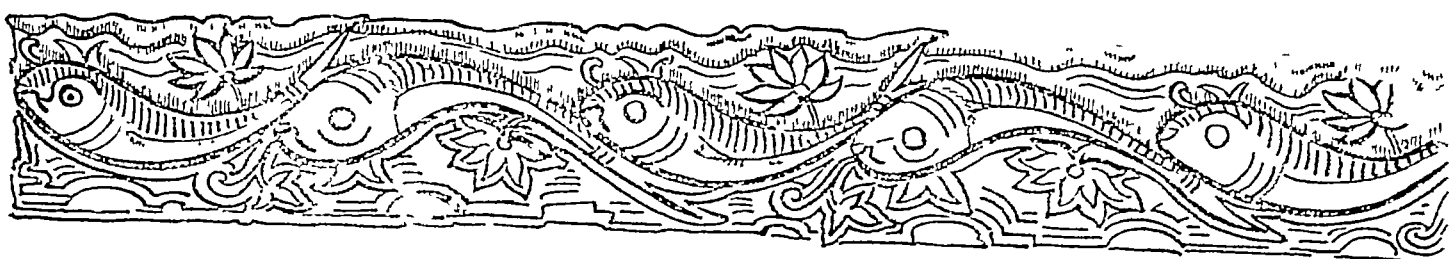
श्रेष्ठ है, भविष्य के कल्पित सुख मेरे हाथ के नहीं है, वे विधि के अधीन हैं, उनके बारे में कुछ भी सोचना मरूमरीचिका का अनुसरण करना ही तो है !

वर्तमान पर सोचना दर्शनजगत् का ठोस व स्थायी सत्य है, वर्तमान में सोचने वाला अतीत के अन्धेरे में ठोकर खाते दिमाग को बचा सकता है, भविष्य के अदृश्य गर्त में गिरने से बच जाता है, माता नन्दू दोनों किनारों से पल्ला बचाकर जीवन पथ पर अग्रसर होना सीख चुकी थी, माँ ने हजारी के कहे पर कान दिया, तत्कालीन सादा जीवन और उच्च विचारों के सपोषक प्रचारक व प्रसारक स्वामीजी मुनि श्रीजोरावरमलजी महाराजके दर्शनार्थ माँ नन्दू और पुत्र हजारी गए।[1] गुरुजी का उपदेश चल रहा था, ग्रहणशील हजारी ने सुना, उनकी सस्कारी आत्मा में गुरु का व्यापक दृष्टिकोण समाविष्ट हो गया, गुरु कह रहे थे, 'मानव जीवन की उच्च भूमिका 'भूमा' बनने से आती है, समस्त विश्व मेरा है, सब मेरे है, मैं सब का हूँ इस प्रकार व्यापक चिन्तन मनुष्यको मोह, द्रोह, राग, द्वेष, क्रोध और अशान्ति से मुक्त कर शाश्वत सुख शान्ति का अनुभव कराता है, गुरु के हृदय से नि सृत प्रभावोत्पादक धर्मदेशना सुनी, हजारी का मन स्वामीजी महाराज की निर्वेद व वैराग्य-मूलक वाणी में भीग गया, हजारी ने कहा, 'माँ मैं अब सबका बनना चाहता हूँ, मैं सबका हूँ, सब मेरे हैं, इस तरह मुझे विश्व प्रेम का अधिकारी बनने दो, माँ मौन हो गई

"माँ मौन क्या हो ! तुम तो वर्तमान पर सोचने में सत्य के दर्शन करती हो न, गुरुमाता (चौथांजी) ने कहा था, 'अतीत और भविष्य के बारे में सोचना छोड़ो, वर्तमान पर सोचना सत्य है, अतीत और भविष्य के काल्पनिक जाल में मन को फंसाने से आत्मा गुरु (कर्मबद्ध) होती है, पुत्र की पकड़ प्रबल और तर्क-सगत थी, माता ने कहा, 'गुरुणीजी का कहना ठीक था, तेरा कहना भी ठीक है

'मेरा कहना ठीक है, तो पूज्य गुरुजी के पास दीक्षा लेने की इजाजत दो, या हजारी ने अपने मन की बात कही

माँ और बेटा गुरुजी के दर्शन करके घर लौट गए, गुरु-दर्शन कर लेने पर प्रस्तुत जीवनी के आधार स्वामी श्रीहजारीमलजी महाराज ने भागवती दीक्षा का हृदय भूमि में बीज वपन कर लिया था, वह उनकी निरतर रट से अकुरित हुआ, पुत्र की विजय हुई, माता प्रसन्न हुई

एक दिन स्नेहमयी माँ ने अपने प्यारे बेटे को मन की एक अनुभूति के क्षणो में कहा था, 'मेरे हिये के हार ! तू मेरी ममता का केन्द्रबिन्दु है ! पर तेरा निश्चय भी पाषाण-सा अचल है, यह जानकर ही मैं तुझे जैन भिक्षु जीवन स्वीकार करने की अनुमति दे रही हूँ, तेरा हिया मेरा हिया है, तुझे साधना में सुख है, तो मैं बाधा नहीं बनूँगी। मुझे तेरे सुख से अलग कहीं सुख नहीं दीखता, वन्दनीय गुरुदेव की सेवा तन-मन की एकता साधकर करना। सेवा बहुत कठिन कार्य है, यह सुयोग नगर की कोलाहल भरी दुनिया से दूर रहकर एकान्त में योग साधना करने वाले योगी के लिये भी दुष्कर है, सेवा से बचे समय में आत्म-मन्दिर में भक्ति का स्नेह उडेलकर ज्ञान की ज्योति जगाना। और माँ नन्दूबाई की भोली भाली आँखो में ममता के दो धवल मोती छलक आये

'माँ ! तुमने गुरुदेव के समक्ष कहा था—मेरी छाती का धन (हजारी) आपके चरणों में सहर्ष अर्पित है, फिर आज ये विषाद के आँसू क्या उमड़ आये है—तुम्हारी करुणामयी आँखो में ?

माँ व बेटा अपने मन की कितनी बड़ी बात सहज बनती देख सहज भाव से बह गया

बेटा ये आंसू नहीं हैं, यह तो मातृत्व का लक्षण है, इनमें कायरपन नहीं है, यह तो मोह है, आंसू माता होने का प्रमाण है, "तो माँ ! मेरे सयम (मुनि-दीक्षा) स्वीकार करने से तेरा हिरदा कष्ट पाता है ? बेटे का विमल प्रश्न था 'जब हिरदा दूर होता है, तो कष्ट तो होना ही है, हृदय-से-हृदय दूर होने पर पीडा जन्म ही जाती है, पर तुझे साधना में सुख है तो मैं अपनी पीड़ा भुला दूँगी, हजारी बेटा, मेरा सुख तुझे सुखी देखने में अलग नहीं है

---

१ आगार (जन्मभूमि)

तात्त्विक दृष्टि से चिन्तन करने पर प्रतिफलित होता है कि यथार्थत मुक्ति का आधार वियोग है सयोग नही श्रमण-परम्परा बहुत प्राचीनकाल मे वियोग के प्रति ही निष्ठावान रही है आत्मा और कर्म का वियोग अपरिहार्य तथ्य है वही शाश्वत सुख का आधार है, सयोग बध का कारण है जीवन मे आगत विषमताओ का सतुलन चारित्रिक शक्ति द्वारा ही सभव है स्पष्ट कहा जाय तो सयम ही कर्म और आत्माके वियोग का आधार है .

"मां, मैं भी तुझे सुखी देखना चाहता हूँ तू मेरे सुख मे सुख देखती है, यही मातृ-हृदय का माहात्म्य है मैं दीक्षा लेकर सुख का अनुभव करूँगा तो निश्चय ही इससे तुझे भी सुख मिलेगा. मैं गुरुदेव के सुख मे सुख खोजूँगा और गुरु को सुख निर्मल साधना से मिलता है यह भी सत्य है न ?"

"हा बेटा, गुरुको सुख तो निर्मल साधना से ही मिलता है" मां ने बेटे की ममता को गुरुभक्ति मे समोकर कहा.

"तो मां, मुझे भी स्वसुख, तेरे सुख और गुरु-सुख हित-साधना करनी है आज तू मुझे त्रिविध सुख के लिये अन्त करण से आशीर्वाद दे—जिससे मैं कभी साधना से विरत न हो सकू मैं जीवन की अन्तिम घडी तक साधना से विरत न होऊगा यह प्रतिज्ञा आज मैं तेरा चरण-स्पर्श कर, करता हूँ ."

गृहजीवन में अध्ययन :

स्वामीजी महाराज ने गुरुचरणो मे पहुँचने से पहले महाजनी और हिन्दी भाषा का अध्ययन कर लिया था ग्राम्य जीवन और शिक्षण की पद्धति के मानदण्ड के अनुसार एव उस युग मे जो अध्ययन करने-कराने की सुविधा थी,—स्वामीजी की पढाई पूर्ण हो चुकी थी माता ने भी समझ लिया था कि पुत्र लिख पढ चुका है. अब इसके लिये परी-सी बहू लाऊगी मैं चाद-सी अपनी बहूरानी को एक निमिष भी अलग नही करूगी परन्तु विधि ने अपने अदृश्य हाथो से स्वामीजी म० के लिए तो पूर्व पुण्य के प्रतिफल स्वरूप योग-साधना का विधान कर दिया था. माता और पिता दोनो ही इस सत्य से अपरिचित थे

चरितनायक हजारीमलजी दीक्षा के उम्मीदवार होकर पूज्य गुरुदेव श्रीजोरावरमलजी महाराज की चरणसेवा मे रह रहे थे ज्ञान ध्यान मे मन निमज्जित था एक दिन मां नन्दू के मस्तिष्क मे पुत्र की सस्मृति गहरी उभर आई भावना की उथल-पुथल मे पुत्र को पत्र लिखा

"प्रिय हजारी,

'आज बैठे-बैठे मन भर आया नही रहा जा रहा है मन की दुखन आँखो की बाट फूट कर बाहर आती है तब अपना कोई होता है या जिसे अपना मान लिया जाता है— उसे मन की दो बात कह कर दुःख से उफनती छाती मे सबर आता है आज तुझे भी कुछ कहने को मन कर आया है

'बात भी ऐसी कुछ नही है. पर बेसबर मन है. इसमे सहनशक्ति नही रहती है तो यह अपने रास्ते चलता है मनुष्य सोचता है बस, अब कुछ हलकापन हो गया—मेरे मन की स्थिति भी ऐसी हो रही है

'तेरा बडा भाई गोद चला ही गया था मझला था, वह भी उसके गोद जाने ही उसी के पास चला गया था बेटी थी, वह अपने घर की हो गई. एक तू था, तू भी मुझसे अब दूर जा रहा है खैर बेटा . छाती भर आई तो यह लिख दिया है . . ।

बेटा, पत्र जल्दी-जल्दी दे दिया कर,

—नन्दूबाई"

पुत्र का पत्र माँ के उत्तर में

'पूज्य माँ,

'तुम्हारी माँ का पत्र आया है' गुरुदेव ने कहा तो माँ सुनते ही बड़ा हर्ष हुआ उतावले हाथों गुरुजी से पत्र लिया तुम्हारा पत्र पढ़ने को मन अधीर हो उठा था अपलक पत्र पढ़ गया आज उत्तर दे रहा हूँ !

'तुम कहती हो मैं दूर जा रहा हूँ पर माँ सच पूछो, तो मैं तुम्हारे निरन्तर निकट रहने का प्रयत्न कर रहा हूँ

'मैं दूर नहीं जा रहा हूँ निकट आ रहा हूँ'—तुमने कहा था—'इन आँसुओं में खारापन नहीं है—ये तो माँपन की पहचान है—और आज लिख रही हो— दूर जा रहा है

तुम्हारी आज्ञा के उन दो आँसुओं के माँपन को मैं सदैव याद रखूँगा उन दो आँसुओं को मैं कभी नहीं बिसारूँगा हर नारी में माँपन मानकर उसमें विश्व माँ के दर्शन किया करूँगा और फिर तुमने कहा था—'गुरु को सुख पवित्र साधना में मिलता है और आज दूर जा रहा है' —यह कहकर गुरु के सुख में बाधा डालने का प्रयत्न नहीं कर रही हो ?

स्पष्टवादिता के लिए क्षमा करना'

विनयावनत

—हजारी '

माँ का प्रतिपत्र

चि० हजारी

बेटा तेरा पत्र पढ़ते-पढ़ते आँखें बरस पड़ी थीं एक बात कहूँ ? गुरुजी के पास रहकर बातें तो खूब आ गई हैं तुझे स्पष्टवादिता के लिए क्षमा करना कैसे लिख दिया क्या बचपन के वे दिन याद नहीं हैं ? कहने पर भी सच तो क्या झूठ-मूठ भी क्षमा याचना नहीं करता था कोई बात हो जाती तो ? यह बात तो मैं यों ही कह गई अब तू अपनी माँ के मन की बात भी सुन ले

बेटा भूल जाता है पुत्र में अटकी भटकी माँ की ममता अनचाहे ही भूल करा देती है परन्तु गुरु का सुख तो तू साधना में आगे बढ़ेगा उसी से मिलेगा—यह सत्य है ! साधना करने पर तुझे जो आनन्दानुभव होगा, गुरु को उससे द्विगुणित आनन्द प्राप्त होगा—इसमें दो मत नहीं हो सकते

माँ का आशीर्वाद

—नन्दूबाई

पुत्र का प्रत्युत्तर

'पूज्य माँ

'पत्र मिल गया था 'बेटा भूल जाता है पुत्र में अटकी भटकी माँ की ममता अनचाहे ही भूल करा देती है' क्या ! ऐसी भूल कम हो जाती है ? कौन-सी शक्ति है जिसके वश अपनी होने पर भी मुझसे भूल कराता रहता है ! अब सच तुम मुझ में ही पुत्र की कल्पना

करती रहोगी तब तक तुमसे यह भूल सभव है तुम क्यो नही सोचती हो :

मै ही नहीं श्रौर भी तो है, बेटे तेरे धूल लपेटे ।
फिर क्यो घूम-घूम कर तेरी, ममता मुझसे ही श्रा भेंटे !

'माँ, जब तक तुम मुझको मेरी देह मे देखती रहोगी, तब तक बटमारो की तरह, तुम्हारी श्रात्मा का धन लुटता रहेगा ममता के हाथो—इसलिए परभाव से विरत रहने मे ही मेरा सुख, तुम्हारा हित श्रौर गुरुभक्ति की रक्षा-सुरक्षा है

'इस पत्र से मुझे एक श्रलौकिक स्फूर्ति मिली है, विशेषतः तुम्हारे इस वाक्य से 'साधना करने पर तुझे जो श्रानन्दानुभव होगा उससे गुरुको द्विगुणित श्रानन्द प्राप्त होगा'

'माँ, तुम्हारे कहे पर मैं श्रमर विश्वास लाता हूँ ! श्रब मैं साधना करूँगा ! गुरु-सेवा करूँगा तुम्हारे कहे पर चित्त धरूँगा

गुरुसेवक
—हजारी"

"सबकी ममता के श्राधार प्रिय हजारी,

'बहुत दिनो बाद पत्र मिला पत्र पढकर मन रजा हजारी के हाथ का पत्र है जान, पत्र पढा. पढते-पढते बेटा मेरा विश्वास श्रागे बढा ! श्रौर हृदय मे उच्चस्तरीय भावना ने जन्म लिया. किस प्रकार की भावना ने, यह बता रही हूँ पहले तू श्रपने पत्रका जवाब पढ ले !

'तुझे श्रब क्या बताऊँ कि कौन-सी शक्ति के वशवर्ती हो जाती हूँ श्रौर तेरी छविदर्शन को विकल हो उठती हूँ ? तू तो श्रब सब का बनने जा रहा है पर मेरी ममता बेटे से श्रब तक मिटी नही थी मिटती भी कैसे ? पट्टी (स्लेट) के श्राक थोडे ही थे जो बचपन मे पढते हुए तू कक्का (क) माडता श्रौर हाथ फेर कर मिटा देता था ऐसे सहसा ही मिट जाती ?

'श्राज के तेरे पत्रसे मेरा माँपन दिशा बदल चुका है तेरी कवि-कडी मैंने हिरदे की पाटी पर लिख ली है श्राखिर पुत्र बुढापे की लाठी होता है यह पुरानी कहावत तूने सच्चे श्रर्थों मे श्राज चरितार्थ कर दी है वह कवि कडी जिसने मेरा मन मोडा, विचार मोडा, श्रौर वाणी भी मोडी लिख रही हूँ मुझे ठीक से याद हुई है या नही, जाँच करना.

मै ही नहीं श्रौर भी तो है, बेटे तेरे धूल लपेटे,
फिर क्यो घूम-घूमकर तेरी, ममता मुझ से ही श्रा भेंटे !

'तूने ठीक ही तो श्रपना पुत्र धर्म निभाया है श्रौर मेरे श्रसहाय मन का सबल बना है ! तू विश्वास कर मैं श्रपने श्रात्म-धन को बटमारो के हाथो लुटने से बचाऊगी ! श्रब मैं धूल लिपटे हर बेटे मे तेरा ही प्रतिबिम्ब देखूगी तू भी विश्वमाता के पथ पर बढ रहा है न ?

'श्रपने निश्चय को बेटा, उस समय तक स्थिर रखना जबतक तेरे मनमे एक भी साँस, रक्तमे एक भी रक्ताणु शेष रहे मैं भी विश्वपुत्र के दर्शन ससार के सभी पुत्रो मे करूँगी !'
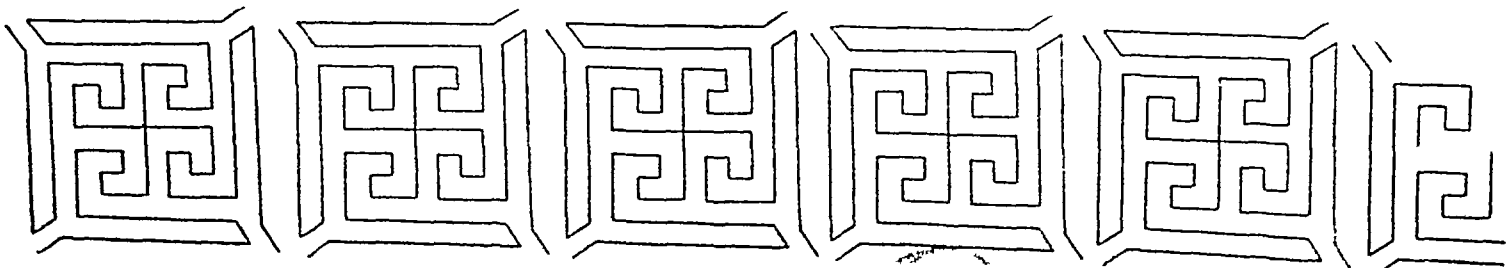
'मैं इधर बहुत दिनों से यह सोच भी रही थी जिस घरमें तीन-तीन पुत्र जन्मे वह घर आंगन एक की किलकारी से भी नहीं गूंज रहा है ऐसे घरमें रहकर मैं भी अब क्या करूं गी? क्यों न मैं भी जिन गुरुणीजी ने जीवन का जीना सिखाया, मेरा अतीतकालीन शोक मेटा—उनके चरणों में ही दीक्षा धारण कर अपने बेटे के पथ पर चलूं ?

मेरे ऐसे सोचने में क्यों न ? का द्वन्द्व था आज उस विकल्प को तेरे द्वारा लिखी कवि-कड़ी ने मेट दिया है बेटा तू खुश है न ? आज से तेरी मां भी सबकी मां बनने और सब में अपने हजारी के दर्शन करने की प्रतिज्ञा कर रही है

और क्या बस ! शेष सुख !

सबकी मां बनने को उत्सुक
नन्नू के आशीर्वाद'

"मेरी पूज्य मां

आज का तुम्हारा पत्र पढ़ कर मेरी आत्मा का कण-कण पुलकित हो गया ! मां मुझे तुम्हारा निश्चय पढ़कर असीम प्रसन्नता हुई है तुम्हारा निश्चय अत्यन्त शुभ है अब इससे तुम कभी भी पीछे की ओर मत मुड़ना ! अवश्य ही गुरुणीजी के पास भागवती दीक्षा धारण कर आत्मा का अनन्त आह्लाद खोजना !

'मैं आज अन्तिम बार तुम्हें मेरी पूज्य मां का सम्बोधन कर रहा हूं अब तुम सब की माता बनना चाहती हो तो मैं भी 'मेरी मां' इस घेरे से बाहर निकलता हूं ।

मां मैं तुम्हारे पवित्र निश्चय से प्रसन्न हूं परम प्रसन्न हूं

विश्वमाता के निश्चयाधीन
—हजारी"

मुनि-जीवन

हजारी का दीक्षा-ग्रहण :
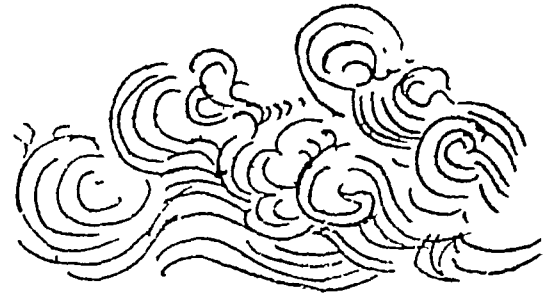
स्वामीजी महाराज ने एक दिन नागौर (मरुभूमि) मे अपने पूज्य प्रतापी गुरुवर श्रीजोरावरमलजी महाराज के दर्शन किए और वि० स० १९५४ ज्येष्ठ कृष्णा दशमी को उसी नागौर नगर मे नैतिकाचार के निष्ठावान् गुरु स्वामी श्रीजोरावरमलजी महाराज के कर-कमलो द्वारा भागवती दीक्षा ग्रहण की

दीक्षा धारण करने से पूर्व माता के चरण छुए पुत्र ने माता से कहा "माता, मैंने 'मेरी माता' सम्बोधन उस पत्र मे अन्तिम वार किया था आज तुम्हारे अन्तिम वार चरण-सस्पर्श कर रहा हूँ आज के वाद मैं तुम्हारे चरण का स्पर्श भी नही करूँगा गुरुदेव का कहना है—'ससार के समस्त नारीवर्ग का दीक्षा के बाद पल्ला भी नही भेटना है जिनत्वभाव की पूर्णता का यह प्रथम सोपान है नियम की इस दृढता के बल पर ही जिनत्व का अकुर प्रस्फुटित हो सकता है अत अब नेत्रो से चरण स्पर्श अनुभव किया करूँगा गुरु की आज्ञा मे जो विधि-निषेध होते है वे एक व्यक्ति को सलक्ष्य करके नही कहे जाते नेत्रो से नारी के चरण-स्पर्शन मे नारी का पल्ला भेटने की आवश्यकता नही पडती नेत्रो से नारी के चरण स्पर्श करने पर नारी मे पवित्रता और शुचिता का भाव अवतरण होता है"

माता ने पुत्र की ज्ञान-पूर्ण बात सुनी और कहा "बेटा, तूने गुरु के ज्ञान को ठीक ढग से हृदयाकित किया है तू स्वय ही गुरु चरणो मे रहते-सहते सुज्ञानवान हो गया है, तथापि एक माता पुत्र के लिए मगल और उन्नति की कामना रखती है तदनुसार आज मैं तुझे यही अन्तिम वार कहना चाहती हूँ कि मैं तो जब मेरी भव-भ्रमण की स्थिति का काल परिपाक होगा तब दीक्षा धारण करूँगी ही, परन्तु बेटा, तू साधना की वह स्थायी उपलब्धि करना जिससे दोबारा तुझे किसी माता के उदर मे जन्म धारण न करना पडे और न फिर तुझे किसी माता की कूख दुखाने का अवसर प्राप्त करना पडे फिर कभी किसी माता के आँसू तेरे ममत्व मे न ढुलके ! ! बस मेरा यही आशीर्वाद तेरी वीतराग-पथ की विमल साधना के प्रति है !"

माता से पुत्र कुछ दूर हटा माता की आँखो से मातृ-स्नेहवश आँसू छलक पडे विश्वपुत्रो मे हजारी के दर्शन का सकल्प करने वाली माता की चोली गीली हो गई माँ ने कहा "देख बेटा, महावीर के मार्ग पर चलते हुए कही साधना की श्वेत चादर मे कलक का काला धब्बा न लगने पाए इस सयम-ग्रहण को महावीर की विमल चादर मानना मेरी ओर से बस इतना ध्यान रख लेना कि माता के श्वेत दूध मे कायरता का काला दाग न लगने पाए"

बालमुनि की भीष्म प्रतिज्ञा और भाषण :

गुरु से दीक्षा-मत्र लेने से पूर्व चरितनायक दीक्षा-स्थल पर मुनिवेश धारण करके आए गुरु को विधिवत् वन्दन किया कर-बद्ध खडे होकर गुरुदेव से नम्र निवेदन प्रस्तुत किया

"हे परमपूज्य गुरुदेव ! रागद्वेष का नाश करने के लिए, धन-जन का मोह बिसारने के लिए, पाप-वृत्ति से निवृत्ति पाने के लिए—मैं आपका शिष्यत्व स्वीकार करना चाहता हूँ मुझे अपनी शरण मे लेकर कृतार्थ कीजिये आपकी कृपा का आश्रय लेकर मै इस ससार-सागर से, जिसमे जन्म मरण के भवर है, सकटो की अथाह सलिलराशि है—ऐसे आधि-व्याधि रूप

वृहद् सागर से पार उतर जाऊँगा। आपके चरण ग्रहण कर लेने पर मुझे जन्म-मरण रूप संसार की लम्बाई को देखकर भी भय नहीं रहा अन्त तक मुनिधर्म का पालन करूँगा अतः जन्म-मरण से मुक्ति दिलाने वाले वीतराग जीवन की दीक्षा प्रदान करने का अनुग्रह करें

गुरु ने सज्ञान विनयी शिष्य की विनती सुनी शिष्यत्व प्रदान करने की स्वीकृति दी

मुनिश्री ने जनता को सम्बोधित करते हुए कहा

"उपस्थित आत्मीयजनों !

'मैं अब तक गुरुदेव की सेवा में रहते-रहते ज्ञानार्जन करता रहा इस अवधि में नाना प्रकार के प्रलोभन देकर बाधा की बाड़ खड़ी करने वाले मुझे मिले परन्तु मेरी आस्था में उससे किसी प्रकार का अन्तर नहीं आया गुरु-चरणों में मेरा अचल अनुराग रहा फलस्वरूप बाट की बाधा मेरी शिव की बाट में बाधक न बन सकी और कुछ ऐसे भी मुझे मिले जिन्होंने कहा हजारी तुम इतनी छोटी उम्र में यह क्या साहस करने जा रहे हो ? ऐसी कोमल अवस्था में तुम से कठोर साधु-धर्म का पालन नहीं हो सकेगा अपनी चपलता के कारण कोई गलती कर बैठो इस से अच्छा है फिर से विचार कर लो समय आने पर फिर कभी साधु जीवन में प्रवेश करना पहले जीवन के उपलब्ध सुख-साधनों का उपभोग कर लो संसार का सुख देख लो

'मैंने उन्हें गुरु से जो ज्ञान सीखा है उसके बल पर उत्तर दिया 'भोग-उपभोग क्षणिक हैं वे पहले मधुर और बाद में कटु साबित होते हैं निर्वाण जैसा परम सुख वीतराग के मार्ग में ही है इसलिए जैसे भी हो मनुष्य को निर्वाण के मार्ग का ज्ञान प्राप्त कर इस ओर मुड़ जाना चाहिए क्योंकि जीवन का असली उद्देश्य वीतरागता ही है मृत्यु सिर पर आए उससे पहले ही कल्याण का मार्ग अपना लेना चाहिए

'मुझे माता-पिता और भाई-बहिन व अन्य सम्बन्धी जन निर्वाण मार्ग में शृंखला की बेड़ियों की तरह लगते हैं इन सब का साथ मुझे ऐसा लगता है जैसे प्रवास में साथ चलते व्यक्ति के साथ न चलते तो अवश्य है पथ के कष्ट भी साथ साथ उठा लेते हैं परन्तु वन में किसी प्रकार के भय का कारण उपस्थित हो जाता है तो सब अपनी-अपनी जान बचाकर भाग छूटते हैं—ऐसे मैं भाग जाते हैं इसी प्रकार मैं सगे संसार यात्रा में स्नेहवश सुख-दुःख भोगने एक दूसरे को सहायता करते आ जाते हैं किन्तु मृत्यु आने पर अलग हो जाते हैं इसलिए मेरी यह धारणा बन चुकी है कि संसार अनित्य है संसार का सुख वस्तुजन्य है वस्तु स्वयं अनित्य है इस कारण वस्तुजन्य सुख भी अनित्य है जो स्वयं अनित्य है वह मनुष्य की अनन्तकालीन भूखी आत्मा को भोजन देने में भी असमर्थ ही है अतः मैंने गुरु की शरण ग्रहण करना योग्य माना है

"इसी तरह मैंने उनको समाधान किया और मेरा अभिलषित दिवस आज आ गया माता सहित आप सबसे अन्तिम बार इस भाव के द्वारा मेरे से असुविधा पहुँची हो तो मैं उसके लिये क्षमायाचना करता हूँ

आज गुरुदेव मुझे वीतराग-पथपर चलने का मुकम्मल प्रदान करेंगे

गुरुवर ने जन-साक्षी से श्रीहजारीमलजी को विधिवत् भागवती दीक्षा प्रदान की और इस प्रकार हजारीमलजी मुनि हजारीमलजी हो गए.

उपस्थित श्रद्धालुओं में से कतिपय प्रमुखों ने नवदीक्षित मुनि को विनीत आलोचन कहे जिनका भाव इस प्रकार है नवदीक्षित मुनि प्रवर

'आपने यह मुनिव्रत अंगीकार कर लिया है तो हमारी आपके लिये मंगल करण से कामना है कि आत्मसंयम और तप के बल पर इस भवभ्रमण रूप समान पार उतरिये हम क्षणभंगुर संसार-समुद्र में से जन्म-मरणरूपी लहरों से उछ कर से दूसरी बार में आने के कष्ट से विराम-निरत हो अवश्य मुक्त हों।"

"आदरणीय बाल मुनि,

'धन्य तो आप हैं आपने कठिन व्रत अगीकार किया है क्लेशरूपी गृहजीवन छोडकर, स्नेह-बन्धन की बेडियो को तोडकर, मुक्त होने जा रहे है सुख-दुख मे समता और मोह-विमुक्त जो धर्मका स्वरूप है, उसे आपने धारण किया है आपकी भावना के अनुरूप ही हमारी आकाक्षा आपके साथ है"

"पूज्य गुरुदेव व बालमुनि,

'ससार-सुख से विरक्त होने वाली आत्मा ही इस ससार मे महान् है दीक्षित होने वाला मित्र हो, पुत्र हो, पति हो, पत्नी हो, परिचित हो या अपरिचित हो—उसे ससार की ओर अभिमुख करना वस्तुत उसका अहित ही सोचना कहलाता है हम सब की शुभकामना और भावना लघुमुनि के साथ है आपकी सयम-यात्रा निर्बाध हो यही हमारी विनयपूर्वक कामना है"

मुनि-मच से लघुमुनि का भाषण :

मुनिश्री, साधु-समूह के मध्य मे काष्ठ पट्ट पर आसीन हुए आशीर्वादात्मक भाषणो के अनतर मुनिश्री ने कहा "आप सब लोगो की शुभकामना मेरा पथ आलोकित करे यह दृढ विश्वास लाता हूँ और प्रतिज्ञा करता हूँ—"जीवन की अन्तिम घडियो तक मैं आत्म-साक्षीपूर्वक गृहीत वीतराग पथ पर प्रामाणिकतापूर्वक चलता रहूँगा एकदिन जीवन की साझ आ जाएगी पर साधना का अवसान नही आने दूँगा"

दीक्षा समारोह का सानन्द उल्लासमय वातावरण मे समापन हुआ गुरु, साधु-जीवनके परम काम्य की साधना मे निरत थे शिष्य को उस रस की अनुभूति कराई साथ लिया और ग्रामानुग्राम विचरण करने लगे

शिष्य की ज्ञान-त्वरा :

जैनागमो मे सुयोग्य शिष्य का लक्षण बताते हुए कहा है—गुरु का प्रिय शिष्य वह है जो विनयी, आराधक, जिज्ञासु और गुरु के सकेत-सूत्रो का चिन्तन कर अपने जीवन को उनकी व्याख्यामय बना लेता है मुनिश्री ने विनय को जीवन का मूल मत्र, गुरु-आज्ञा को धर्म की आधारशिला, जिज्ञासा को सयम की बाती और गुरु के सकेत सूत्रो मे अपना सारा चिन्तन केन्द्रित किया

उन्होने ज्यो-ज्यो गुरु की सेवा की त्यो-त्यो उनमे ज्ञान की ज्योति का प्रकाश विस्तार पाने लगा

अध्ययन-क्रम :

गुरुदेव के निर्देशन व पथ-प्रदर्शन मे मुनिश्री ने जैनागमो का अध्ययन प्रारभ किया प्राचीन शिक्षा पद्धति के अनुसार उस युग मे थोकडे सीखना मुनि के लिये अति आवश्यक माना जाता था थोकडे एक प्रकार से गणित के गुरु के सदृश होते है गुरो का ज्ञान हो जाने पर जो गणिताकन, आज के गणितपाठी घटो पेंसिल कागज लेकर भी नही कर पाते, वह कुछ ही पलो मे कर लिया जाता है लक्षण-ग्रथो को जिह्वाग्र करने वाले भी जिस ज्ञान की अतलता प्राप्त करने मे चक्कर खाने लगते है, उस अतल गहराई मे थोकडो की ज्ञान-प्राप्त पद्धति सरलता से पहुँचा देती है

तो उन्होने बहुसख्यक थोकडे सीखे प्राकृतभाषा के जैनशास्त्र कठाग्र किए शुकपाठवत् रटे ही नही अपितु उन पर गभीर चिन्तन के साथ मथन भी किया। गुरु से शकाओ, समस्याओ और प्रश्नो का समाधान मागा। गुरु ने भी उनके प्राणवान प्रश्नो का खुशी-खुशी तर्क सगत समाधान दिया गुरु को योग्य शिष्य मिला शिष्य को ज्ञानी गुरु मिले शिष्य के तार्किक प्रश्न समाधिस्थ हुए गुरु को मोद मिला इस तरह वे निरतर ज्ञान-प्राप्ति की दिशा मे आगे बढते रहे

सिद्धान्त चन्द्रिका व्याकरण का विधिवत् अध्ययन कर शब्दो के उद्गम का पता लगाया एक दिन उन्होने गुरुदेव से निवेदन

वृहत् सागर से पार उतर जाऊँगा। आपके चरण ग्रहण कर लेने पर मुझे जन्म-मरण रूप संसार की लम्बाई को देखकर भी भय नहीं रहा। अन्त तक मुनिधर्म का पालन करूँगा। अतः जन्म-मरण से मुक्ति दिलाने वाले वीतराग जीवन की दीक्षा प्रदान करने का अनुग्रह करें।

गुरु ने सज्ञान विनयी शिष्य की विनती सुनी। शिष्यत्व प्रदान करने की स्वीकृति दी।

मुनिश्री ने जनता को सम्बोधित करते हुए कहा:

"उपस्थित आत्मीयजनों!

मैं अब तक गुरुदेव की सेवा में रहते-रहते ज्ञानार्जन करता रहा। इस अवधि में नाना प्रकार के प्रलोभन देकर बाधा की बाड़ खड़ी करने वाले मुझे मिले परन्तु मेरी आस्था में उससे किसी प्रकार का अन्तर नहीं आया। गुरु-चरणों में मेरा अचल अनुराग रहा। फलस्वरूप बाट की बाधा मेरी निज की बाट में बाधक न बन सकी। और कुछ ऐसे भी मुझे मिले जिन्होंने कहा, "हजारी! तुम इतनी छोटी उम्र में यह क्या साहस करने जा रहे हो? ऐसी कोमल अवस्था में तुम से कठोर साधु-धर्म का पालन नहीं हो सकेगा। अपनी चपलता के कारण कोई गलती कर बैठो इस से अच्छा है फिर से विचार कर लो। समय आने पर फिर कभी साधु जीवन में प्रवेश करना। पहले जीवन के उपलब्ध सुख-साधनों का उपभोग कर लो। संसार का सुख देख लो।"

"मैंने उन्हें गुरु से जो ज्ञान सीखा है उसके बल पर उत्तर दिया, "भोग-उपभोग क्षणिक है। ये पहले मधुर और बाद में कटु साबित होते हैं। निर्वाण जैसा परम सुख वीतराग के मार्ग में ही है। इसलिए जैसे भी हो मनुष्य को निर्वाण के मार्ग का ज्ञान प्राप्त कर इस ओर मुड़ जाना चाहिए। क्योंकि जीवन का असली उद्देश्य वीतरागता ही है। मृत्यु सिर पर आए उससे पहले ही कल्याण का मार्ग अपना लेना चाहिए।

"मुझे माता पिता और भाई-बहिन व अन्य सम्बन्धी जन निर्वाण मार्ग में शृंखला की बेड़ियों की तरह लगते हैं। इन सब का साथ मुझे ऐसा लगता है जैसे प्रवास में साथ चलते व्यक्ति के साथ ये चलते तो अवश्य हैं, पथ के कष्ट भी साथ साथ उठा लेते हैं परन्तु वन में किसी प्रकार के भय का कारण उपस्थित हो जाता है तो सब अपनी-अपनी जान बचाकर भाग छूटते हैं—ऐसे ये भाग जाते हैं। इसी प्रकार ये सगे संसार माया में स्नेहवश सुख-दुख भोगने एक दूसरे की सहायता करने आ जाते हैं किन्तु मृत्यु आने पर अलग हो जाते हैं। इसलिए मेरी यह धारणा बन चुकी है कि संसार अनित्य है। संसार का सुख वस्तुजन्य है। वस्तु स्वयं अनित्य है। इस कारण वस्तुजन्य सुख भी अनित्य है। जो स्वयं अनित्य है वह मनुष्य की अनन्तकालीन भूखी आत्मा को भोजन देने में भी असमर्थ ही है। अतः मैंने गुरु की शरण ग्रहण करना योग्य माना है।

"इसी तरह मैंने उनको समाधान दिया और मेरा अभिलषित दिवस आज आ गया। माता सहित आप सबसे अन्तिम बार इस वाणी के द्वारा मेरे से असुविधा पहुँची हो तो मैं उसके लिये क्षमायाचना करता हूँ।

आज गुरुदेव मुझे वीतराग-पथपर चलने का गुरुमंत्र प्रदान करेंगे।"

गुरुवर ने जय-नादों से श्रीहजारीमलजी को विधिवत् भागवती दीक्षा प्रदान की और इस प्रकार हजारीमलजी, मुनि हजारीमलजी हो गए।

उपस्थित धर्मसभा में से कतिपय प्रमुखों ने नवदीक्षित मुनि को विनीत आशीर्वचन कहे, जिनका भाव इस प्रकार है:

"नवदीक्षित मुनि प्रवर!

आपने यह मुनिव्रत अंगीकार कर लिया है, तो हमारी आपके लिये मंगल करण से कामना है कि आत्मसंयम और तप के बल से इस भवसागर को समाप्त पार करेंगे। इस क्षण भंगुर संसार-समुद्र में से जन्म-मरणकी लहरों से एक बूँद से स्वर्गी बल से ज्ञान के बल से विराग सिद्ध से—सदा युक्त हो।

पच महाव्रतो (पचयाम) मे ज्ञाताज्ञात भाव से लगे दोषो का शुद्धीकरण किया नवीन व्रतो का मूलारोहण कर ठीक १०-१० पर बूढी देह मे मुनि हजारीमलजी के नाम से विद्यमान आत्मा अदृश्य हो गई !

वे चले गए और अपने गुरुभाई युगल को सयम का, समता का, धर्मदृढता का और विश्ववात्सल्य का कभी नही छीना जानेवाला अमूर्त आत्मधन सौप गए

नागौर-नगर की गौरवशाली परम्परा :

चरित्र नायक के तीन महत्वपूर्ण योग नागौर मे बने इसे नागौर का गौरव कहना चाहिए इस गौरव गरिमा-महिमा से पूर्व के सुसयोगो को देखकर कहना चाहिए नागौर मे उस प्रकार के सयोगो की परम्परा-सी चलती आई है यथा—

१ प्रत्येक धर्म व सम्प्रदाय मे आचार्य, सदाचार का गौरीशकर और प्रेरणा का स्रोत माना जाता है, उसका किसी भी नगर मे पहुचना परम सौभाग्य का सूचक होता है। पूज्य मुनिश्री के दीक्षा प्रसग पर आचार्य श्रीजयमल्लजी महाराज की परम्परा के ज्येष्ठ आचार्य श्रीकस्तूरचदजी महाराज भी उस समय वहाँ पधारे थे

२ पूज्य प्रवर श्रीजोरावरमलजी महाराज के गुरुदेव श्री फकीरचन्दजी महाराज ने स्वामी श्रीबुद्धमलजी महाराज के कर-कमलो द्वारा इसी नागौर नगरमे दीक्षा ग्रहण की थी

३ कैसे विधिसयोग बनते जा रहे है श्री फकीरचन्दजी महाराज ने अपने शिष्य जोरावरमलजी को स० १६४४ की अक्षय तृतीया के ऐतिहासिक दिवस पर नागौर मे ही दीक्षा प्रदान की तो बात कितनी स्वाभाविक रीति से बन रही है स्वामीजी बुधमलजी ने श्रीफकीरचन्दजी महाराज को, और स्वामी फकीरचदजी ने जोरावरमलजी को, श्रीजोरावरमलजी ने मुनि श्रीहजारीमलजी को नागौर मे दीक्षा प्रदान की

४ इससे भी अधिक महत्वमडित सत्य यह है कि आचार्य श्रीजयमल्लजी महाराज ने स्थिरवास के रूपमे रहना भी नागौर मे स्वीकार किया और वे १३ वर्ष तक महास्थविर के सम्बोधनपूर्वक स्थिर रहे स० १८५३ की वैशाख शुक्ला चतुर्दशी की दूध-सी चाँदनी मे उनकी तपोनिष्ठ काया भी नागौर नगर की भूरी मिट्टी मे विलुप्त हुई !

स्वामीजी महाराज ने स्थानकवासी सम्प्रदाय की जिस शाखा मे सयमशील जीवन व्यतीत किया, उस सम्प्रदाय का नाम 'आचार्य श्रीजयमल्लजी म० का सम्प्रदाय' है जिसके नाम से सम्प्रदाय का नामकरण है उसका आदि पुरुष नागौर मे स्वर्गस्थ हुआ इस तरह नागौर 'जय गच्छ' मे प्रारम्भ से ही जुडा हुआ है कहना चाहिए नागौर जयगच्छ के शुभ योगो की परम्पराका जयस्तम्भ या यश स्तम्भ है ! नागौर नगर कितना गौरवशाली रहा है आज भी नागौर के स्थानकवासी जैनबन्धु आचार्य श्रीजयमल्लजी महाराजके गौरव-गरिमायुक्त जीवनका पावन स्मरण करते है और अपने को धन्य-धन्य अनुभव करते हैं

पच महाव्रतो (पचयाम) मे ज्ञाताज्ञात भाव से लगे दोषो का शुद्धीकरण किया नवीन व्रतो का मूलारोहण कर ठीक १०-१० पर बूढी देह मे मुनि हजारीमलजी के नाम से विद्यमान आत्मा अदृश्य हो गई ।

वे चले गए और अपने गुरुभाई युगल को सयम का, समता का, धर्मदृढता का और विश्ववात्सल्य का कभी नही छीना जानेवाला अमूर्त आत्मधन सौप गए

नागौर-नगर की गौरवशाली परम्परा :

चरित्र नायक के तीन महत्वपूर्ण योग नागौर मे बने इसे नागौर का गौरव कहना चाहिए इस गौरव गरिमा-महिमा से पूर्व के सुसयोगो को देखकर कहना चाहिए नागौर मे इस प्रकार के सयोगो की परम्परा-सी चलती आई है यथा—

१ प्रत्येक धर्म व सम्प्रदाय मे आचार्य, सदाचार का गौरीशकर और प्रेरणा का स्रोत माना जाता है, उसका किसी भी नगर मे पहुचना परम सौभाग्य का सूचक होता है। पूज्य मुनिश्री के दीक्षा प्रसग पर आचार्य श्रीजयमल्लजी महाराज की परम्परा के ज्येष्ठ आचार्य श्रीकस्तूरचदजी महाराज भी उस समय वहाँ पधारे थे

२ पूज्य प्रवर श्रीजोरावरमलजी महाराज के गुरुदेव श्री फकीरचन्दजी महाराज ने स्वामी श्रीवुद्धमलजी महाराज के कर-कमलो द्वारा इसी नागौर नगरमे दीक्षा ग्रहण की थी

३ कैसे विधिसयोग बनते जा रहे है श्री फकीरचन्दजी महाराज ने अपने शिष्य जोरावरमलजी को स० १६४४ की अक्षय तृतीया के ऐतिहासिक दिवस पर नागौर मे ही दीक्षा प्रदान की तो बात कितनी स्वाभाविक रीति से बन रही है स्वामीजी बुधमलजी ने श्रीफकीरचन्दजी महाराज को, और स्वामी फकीरचदजी ने जोरावरमलजी को, श्रीजोरावरमलजी ने मुनि श्रीहजारीमलजी को नागौर मे दीक्षा प्रदान की

४ इससे भी अधिक महत्वमडित सत्य यह है कि आचार्य श्रीजयमल्लजी महाराज ने स्थिरवास के रूपमे रहना भी नागौर मे स्वीकार किया और वे १३ वर्ष तक महास्थविर के सम्बोधनपूर्वक स्थिर रहे स० १८५३ की वैशाख शुक्ला चतुर्दशी की दूध-सी चाँदनी मे उनकी तपोनिष्ठ काया भी नागौर नगर की भूरी मिट्टी मे विलुप्त हुई ।

स्वामीजी महाराज ने स्थानकवासी सम्प्रदाय की जिस शाखा मे सयमशील जीवन व्यतीत किया, उस सम्प्रदाय का नाम 'आचार्य श्रीजयमल्लजी म० का सम्प्रदाय' है जिसके नाम से सम्प्रदाय का नामकरण है उसका आदि पुरुष नागौर मे स्वर्गस्थ हुआ इस तरह नागौर 'जय गच्छ' मे प्रारम्भ से ही जुडा हुआ है कहना चाहिए नागौर जयगच्छ के शुभ योगो की परम्पराका जयस्तम्भ या यश स्तम्भ है । नागौर नगर कितना गौरवशाली रहा है आज भी नागौर के स्थानकवासी जैनबन्धु आचार्य श्रीजयमल्लजी महाराजके गौरव-गरिमायुक्त जीवनका पावन स्मरण करते हैं और अपने को धन्य-धन्य अनुभव करते हैं

जीवन प्रसग और अन्य पक्ष

जीवन की कला

कला कला के लिए या कला जीवन के लिए ? इस पचड़े में वे कभी नही पड़े आदर्शोन्मुख कला उनके जीवन का बीज मत्र थी जीवन किस प्रकार जीया जाय या जीवन को सुन्दर रीति से किस प्रकार व्यतीत किया जाय—इसकी कला क्या है ? इस गुत्थी पर अपना सरल किन्तु सुनिश्चित विश्वास प्रकट करते हुए कभी-कभी वे कहते थे

'विचार पूर्वक जीने वाला प्रत्येक व्यक्ति जीवन का एक आदर्श जीवन की एक कला को लेकर जीता है उसकी दृष्टि में कलारहित और आदर्शविहीन जीवन जीवन नही होता आदर्श रहित व्यक्ति भूलता है पथ से भटक जाता है उसके जीवन म कभी-कभी आदर्श के अभाव में ऐसी घडी भी आ सकती है जबकि वह अपने अस्तित्व को भी बिसार देता है मैं कौन हूँ ? किस लिये यहाँ आया हूँ ? मेरा गन्तव्य क्या है ? मेरा कर्तव्य क्या है ?—आत्मा के इस अन्तर्नाद को भी वह नही सुन पाता है कलारहित मनुष्य कर्म करते हुए उसमें एकाग्र नही हो पाता इसके अभावमें उसे कर्म से आनन्दानुभव भी नही होता ।

स्वामीजी महाराज ने ११ वर्ष की फूल-सी सुकोमल अवस्था में ही जीवन का आदर्श स्थापित कर लिया था उसी आदर्श पर जीवन की अतिम साँस खर्च करते समय तक वे अविराम चलते-बढते रहे

उनका ज्ञान शुष्क ज्ञान न था उनका आदर्श पक्षविहीन न था । वे जीवन की आवश्यक माग और भूख से भागने में भी विश्वास नही करते थे विश्वास एक ही बात पर करते थे "भूखे मन पर गुमराह न हो" और "पाप न मन में आ पाए" वे मानते थे कि समाज में रहकर पलकें बन्द करके योग साधना का नाटक नही खेला जा सकता है हमें समाज को अपनी दृष्टि से ओझल नही करना होगा एक जैन भक्त कवि की जीवन-व्यवस्था और जीवन-कला के अनुसार 'अतर घट न्यारा रहे ज्यूँ धाय खिलावे बाल' के वे जीवन्त उदाहरण ही थे उनकी जीवन-साधना का आदर्श और कला का सार—'आत्मभाव के अतिरिक्त ससार के समस्त परभाव से विमुक्त हो जाना ही परम काम्य और लभ्य है

उनके इस प्रकार के नि स्पृह जीवन के प्रति जनता में आकर्षण का कारण यह था कि जो भी एक बारगी उनके परिचय में आ गया उनके मन मे उनके प्रति श्रद्धा सदा-सदा के लिए स्थिर हो गई और उनमें जिनकी भी एक बार श्रद्धा उत्पन्न हुई वह सदा-सदा को मूर्तिमान हो गई

नाम की क्षुधा से परिमुक्त :

गोस्वामी तुलसीदास ने, मानवमन की दुर्बलता का कितना सुन्दर सजीव व्यक्ती करण किया था

'कचन तजिबो सहज है, सहज त्रिया को नेह, मान बडाई ईर्षा, तुलसी दुर्लभ एह ।'

मनुष्य घर से, परिजनो के दर से, अपने तन से, राग की केन्द्र-विन्दु नारी से, धन से और सौन्दर्याधार कञ्चन से—सम्बन्ध विच्छेद कर सकता है, इनसे ममत्व मेट सकता है, परन्तु यश, सम्मान और प्रतिष्ठा से ममत्व नही तोड सकता इसे जैन परिभाषा मे 'एषणा' कहा जाता है इसका घनत्व प्राय मुनिसूचक परिधान पहनने पर और भी घनीभूत हो जाता है परन्तु स्वामीजी महाराज इसके स्पष्टत अपवाद थे इसकी अभिव्यक्ति यह लेखनी ही नही कर रही है, पूरा जैन समाज ही, उन्हे इसी रूपमे पहचानता था, जानता है उनका मन, मगल आचरण, साधना, भावना सभी कुछ तो सुन्दर था फिर भी विश्वास किया जाता है कि उनका सर्वोपरि एक गुण था उसमे उनके सम्पूर्ण सन्तोचित गुण गर्भित हो जाते हैं वह यह कि महामना मुनि श्रीहजारीमलजी महाराज ने अपने आपको सदैव सीमित रखा था कर्म करने मे उनका विश्वास था उसका प्रकटीकरण उन्हे इष्ट न था

जप करना, तप करना, प्रवचन करना, लोकोपकार के अन्य अनेकविध कर्म करना—ये सब उनकी आत्मा के सरगम थे पर इन सब का हृदय था—'इनका प्रकट न होना' उनके योगनिष्ठ मन को आत्म-प्रकाशन कतई पसन्द न था वे अपने अतर्मन के अमर विश्वास को सक्षम कलाकार के इन शब्दो मे प्रकट करते थे—

केवल यश से कर्म नहीं नापा जाता है
मेरा मन तो एक माप का ही ज्ञाता है,
कौन कोष सस्कृति का कितना भर पाता है,
सागर-तल के सदृश कर्म के प्रति आस्था है ।
फल की इच्छा तट पर रोती हुई लहर है,
हार-जीत तो नश्वर केवल कर्म अमर हैं ।

सच यह कि उन्हे नाम की कभी भूख पैदा ही नही हुई थी यह केवल बात ही बात नही है जब भी उन्हे यह पता लगता—'मेरा नाम प्रचारित हो रहा है, लोग मुझे जान रहे हैं, तो वे तत्काल उस नगर या ग्राम को छोडकर अगले ग्राम या नगर मे चल दिया करते थे.

उनकी इस वृत्ति से लगता है कि वे मन के भी पूर्ण साधु थे वे जो कुछ करते या करना चाहते थे, वह सब कुछ 'स्वात सुखाय' ही करते थे

इस प्रकार वे परिचय, प्रदर्शन और प्रचार के सभी अवसरो से दूर रहा करते थे उनके हृदयकमल की किसी भी पुष्प-पखुरी पर यह कामना प्रवेश नही कर पाई थी कि 'लोग मुझे जानें ! मेरा नाम हो !! मेरी ख्याति हो !!!'

तोड चलो चट्टान, कगारों को भी ढहने दो यहीं मत रहने दो ॥
श्वासों पर विश्वास चला है, कर्मों पर इतिहास चला है,
छाया पर आभास चला है, सयम पर सन्यास चला है,
सुनो पुकार लक्ष्य की, जग जो कहता कहने दो यहीं मत रहने दो ॥

कवि अपनी कम, जग की अधिक कहता है इसलिए वह समाज का प्रतिनिधि है

'सन्यास की सफलता गोपन मे है इसके अभाव मे सयम सधता नही सयम के अभाव मे सन्यास मर जाता है आत्मा विलुप्त हो जाती है शरीर रह जाता है स्वामीजी महाराज के इन्ही विचारो मे से दो प्रकाशदीप प्रज्वलित हुए थे. एक दिन उन्होने कहा था—

से परिपूरित मानव को मुक्ति का विमल सदेश दे सकता है वह अपनी अध्यात्मविद्या के वल से उसके दिल की गाँठे खोल सकता है इसलिए जनमानस उस ओर अतीत काल से आज तक झुका है, झुकता आया है चाहिए उसके श्रद्धाशील मानस को झुकानेवाला मनुष्य का मन-मस्तिष्क वही झुकता है जहाँ उसे अलौकिकता दीखती है 'चमत्कार को नमस्कार' जैसी लोकमानस मे तैरती-उभरती भावना इसीलिए चलती आ रही है

स्वामीजी श्रीहजारीमलजी महाराज मे कुछ इसी प्रकार का चमत्कार विद्यमान था यही कारण है कि वे जहाँ भी वर्पावास विताया करते थे, वहाँ का वातावरण अत्यत शान्त और प्रेमयुक्त रहता था वहाँ एक विचित्र प्रकार की दिव्यता, भव्यता और पावनता-सी परिव्याप्त हो जाती थी उनके वर्पावास काल मे जनता का धर्मभाव मूर्तिमान् और स्फूर्त हो उठता था

वर्पाऋतु मे प्रकृति वरस कर तप्त भूमि को शीतलता प्रदान करती है। स्वामीजी म० के भद्रभाव, निष्पक्ष व्यवहार, प्रशान्त मुखमुद्रा, और विमल मन को देखकर—द्वेप, क्लेश व द्वन्द्व से घुटती उफनती उमडती सुलगती लोगो की हृदय-भूमि स्वत शान्त हो जाया करती थी वर्षों से चली आ रही द्वेप की लम्वी परपरा की लौहशृ खला, उनके समभावो से कहे वचनो की चोट से टूट जाया करती थी

मुनिश्री ने जहाँ-जहाँ भी वर्पावास किया, वहाँ-वहाँ सर्वत्र अखण्ड शान्ति रही ! सभी सम्प्रदायो और वर्गों के लोगो का, उनके प्रवचनो के पीयूष मे साम्प्रदायिकता का गरल विनष्ट हो जाया करता था उन का उदार व्यवहार, धार्मिक उन्माद को पनपने ही नही देता था भगवान् महावीर की धर्मसभा मे जन्मजात प्राणी भी अपना वैर-भाव भूलकर निर्वैर हो जाते थे, इसी प्रकार स्वामीजी के सानिध्य मे भी लोग अपने वैमनस्य एव वैर-विरोध को विस्मृत कर देते थे

उनका मन व हृदय, शान्त सरोवर के समान ही परिशान्त और विशाल था उनके हृदय-सरोवर मे प्रथम तो किसी व्यक्ति को ककरी डालने का असत् विचार ही उत्पन्न नही होता था, अगर कोई ककरी निक्षेप कर भी देता था, तो वहाँ चचलता की ऊर्मियाँ उठती उभरती फैलती और आगे वढती हुई दृष्टिगत नही होती थी

जहाँ-जहाँ भी उन्होने वर्षावास किया, वहाँ-वहाँ उन्हे सवने अपना कहकर ही पुकारा था एक सन्त की सव से वडी विशेपता यही होती है कि उसे जनता साम्प्रदायिक भेद-भाव भुलाकर कितनी श्रद्धा अर्पित करती है ! कितना चाहती है !!

उनके हृदय का प्रेम, वाल, युवा, वृद्ध, वाला, वृद्धा आदि सवके प्रति समान था हृदय-द्वार सबके लिए अनावृत था वहाँ जाति, सम्प्रदाय, प्रात और प्रदेश के व्यक्ति को लेकर किसी भी प्रकार की भेद-भावमूलक समस्या उनके मन मे नही थी लगता है उनके रेशे-रेशे-मे, पुष्प मे सुगन्ध, दुग्ध मे धवलता और अग्नि मे ऊष्मा समाई रहती है—ऐसे ही समा गया था उनमे सतत्व ! समत्व !! और निर्ममत्व सवके प्रति !!! इस तरह वे सवको चाहते थे, सब उनको चाहते थे वे सबके वन जाते थे और सव उनके अपने वन जाया करते थे

सन्त मे सन्तानुकूल आचरण हो तो जनता का नमन भाव और श्रद्धा क्यो न प्राप्त हो उच्चतम सात्विक जीवन-व्यवहार ही वह चमत्कार है जो जनमानस को स्वत नतमस्तक कर देता है इस प्रकार जीवन मे सात्विकता आने पर जन-समाज हृदय की समस्त श्रद्धा अर्पित करने को प्रतिपल उत्सुक और प्रस्तुत रहता है ।

जीवन यो बनते है :

जीवन कैसे बने ? यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है अध्ययनकाल समाप्त होते-होते ही उनके मस्तिष्क मे यह प्रश्न उभर आया था पुरानी पीढी का जीवन व्यक्तिश प्रयत्न करने पर बनाया जा सकता है परन्तु प्रश्न का यह बुनियादी और व्यापक हल नही है नई पीढी का जीवन बने यह अधिक स्पृहणीय है यह उन्होने मन मे तय कर लिया था । वे व्यक्तिश आत्म-साधना मे जुटे रहे, क्षणिक उत्साह मे आकर वे कोई कार्य नही करते थे बहुतो के पीछे यह लेविल चिपका रहता है 'इन्होने इतनी सस्थाओ को जन्म दिया है, इनके कार्यों का लेखा लम्बा है आदि '

मे परिपूरित मानव को मुक्ति का विमल सदेश दे सकता है वह अपनी अध्यात्मविद्या के वल मे उसके दिल की गाँठें खोल सकता है इसलिए जनमानस उस ओर अतीत काल मे आज तक झुका है, झुकता आया है चाहिए उसके श्रद्धाशील मानस को झुकानेवाला मनुष्य का मन-मस्तिष्क वही झुकता है जहाँ उसे अलौकिकता दीखती है 'चमत्कार को नमस्कार' जैसी लोकमानस मे तैरती-उभरती भावना इसीलिए चलती आ रही है

स्वामीजी श्रीहजारीमलजी महाराज मे कुछ इसी प्रकार का चमत्कार विद्यमान था यही कारण है कि वे जहाँ भी वर्षावास विताया करते थे, वहाँ का वातावरण अत्यत शान्त और प्रेमयुक्त रहता था वहाँ एक विचित्र प्रकार की दिव्यता, भव्यता और पावनता-सी परिव्याप्त हो जाती थी उनके वर्षावास काल मे जनता का धर्मभाव मूर्तिमान् और स्फूर्त हो उठता था

वर्षाऋतु मे प्रकृति वरस कर तप्त भूमि को शीतलता प्रदान करती है। स्वामीजी म० के भद्रभाव, निष्पक्ष व्यवहार, प्रशान्त मुखमुद्रा, और विमल मन को देखकर—द्वेष, क्लेश व द्वन्द्व मे घुटती उफनती उमडती सुलगती लोगो की हृदय-भूमि स्वत शान्त हो जाया करती थी वर्षों से चली आ रही द्वेष की लम्बी परपरा की लौहशृ खला, उनके समभावो से कहे वचनो की चोट से टूट जाया करती थी

मुनिश्री ने जहाँ-जहाँ भी वर्षावास किया, वहाँ-वहाँ सर्वत्र अखण्ड शान्ति रही ! सभी सम्प्रदायो और वर्गों के लोगो का, उनके प्रवचनों के पीयूष से साम्प्रदायिकता का गरल विनष्ट हो जाया करता था उन का उदार व्यवहार, धार्मिक उन्माद को पनपने ही नही देता था भगवान् महावीर की धर्मसभा मे जन्मजात प्राणी भी अपना वैर-भाव भूलकर निर्वैर हो जाते थे, इसी प्रकार स्वामीजी के सानिध्य मे भी लोग अपने वैमनस्य एव वैर-विरोध को विस्मृत कर देते थे

उनका मन व हृदय, शान्त सरोवर के समान ही परिशान्त और विशाल था उनके हृदय-सरोवर मे प्रथम तो किसी व्यक्ति को ककरी डालने का असत् विचार ही उत्पन्न नही होता था, अगर कोई ककरी निक्षेप कर भी देता था, तो वहाँ चचलता की ऊर्मियाँ उठती उभरती फैलती और आगे वढती हुई दृष्टिगत नही होती थी

जहाँ-जहाँ भी उन्होने वर्षावास किया, वहाँ-वहाँ उन्हे सवने अपना कहकर ही पुकारा था एक सन्त की सव से वडी विशेषता यही होती है कि उसे जनता साम्प्रदायिक भेद-भाव भुलाकर कितनी श्रद्धा अर्पित करती है ! कितना चाहती है !!

उनके हृदय का प्रेम, वाल, युवा, वृद्ध, वाला, वृद्धा आदि सवके प्रति समान था हृदय-द्वार सवके लिए अनावृत था वहाँ जाति, सम्प्रदाय, प्रात और प्रदेश के व्यक्ति को लेकर किसी भी प्रकार की भेद-भावमूलक समस्या उनके मन मे नही थी लगता है उनके रेशे-रेशे मे, पुष्प मे सुगन्ध, दुग्ध मे धवलता और अग्नि मे ऊष्मा समाई रहती है—ऐसे ही समा गया था उनमे सतत्व ! समत्व !! और निर्ममत्व सवके प्रति !!! इस तरह वे सवको चाहते थे, सब उनको चाहते थे वे सबके वन जाते थे और सव उनके अपने बन जाया करते थे

सन्त मे सन्तानुकूल आचरण हो तो जनता का नमन भाव और श्रद्धा क्यो न प्राप्त हो उच्चतम सात्विक जीवन-व्यवहार ही वह चमत्कार है जो जनमानस को स्वत नतमस्तक कर देता है इस प्रकार जीवन मे सात्विकता आने पर जन-समाज हृदय की समस्त श्रद्धा अर्पित करने को प्रतिपल उत्सुक और प्रस्तुत रहता है !

जीवन यो बनते है :

जीवन कैसे बने ? यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है अध्ययनकाल समाप्त होते-होते ही उनके मस्तिष्क मे यह प्रश्न उभर आया था पुरानी पीढी का जीवन व्यक्तिश प्रयत्न करने पर वनाया जा सकता है परन्तु प्रश्न का यह बुनियादी और व्यापक हल नही है नई पीढी का जीवन वने यह अधिक स्पृहणीय है यह उन्होने मन मे तय कर लिया था । वे व्यक्तिश आत्म-साधना मे जुटे रहे, क्षणिक उत्साह मे आकर वे कोई कार्य नही करते थे वहुतो के पीछे यह लेविल चिपका रहता है 'इन्होने इतनी सस्थाओ को जन्म दिया है, इनके कार्यों का लेखा लम्बा है आदि '

स्वामीजी सोचा करते थे 'हर साल जैसे बच्चा पैदा करने वाली स्त्री सन्तान की फौज तो खड़ी कर देती है परन्तु किस में शक्ति का संचार हो रहा है कौन योग्य बन रहा है—इस ओर वह बहुत कम ध्यान देती है अतः सन्तान की फौज खड़ी करने से कोई लाभ नहीं जब तक सन्तान की समुचित युगानुकूल शिक्षा-दीक्षा की एवं सपोषण की सुव्यवस्था न की जाए ऐसी *अवस्था में वह फौज ही उसे नोचना शुरू कर देगी फलस्वरूप तन और मन दोनों ही की शान्ति भंग हो जायगी* बहुत-सी संस्थाओं का जन्म भी ऐसा ही अल्प-स्थायी होता है

स्वामीजी म जो कहते वही समय आने पर करते थे पर जो करते उसकी नींव अत्यन्त गहरी रखते थे किसी की देखा-देखी एक कदम भी यहाँ से वहाँ रखना उन्हें इष्ट न था

स्वामीजी म नूतन पीढ़ी को सशिक्षा के साथ-साथ सुसस्कार देने के प्रबल समर्थक थे शिक्षा के साथ यदि सस्कार न आया तो शिक्षा को वे त्रुटिपूर्ण मानते थे सामूहिक रूप में सुसस्कार प्रदान करने की योजना तभी सफल हो सकती है जब बालको को धर्ममय वातावरण में रहने का अवसर दिया जाय इस हेतु स्वामीजी ने मेड़ता में प्रभावशाली प्रवचन किए *बात लोगो के गले उतरी मेड़ता सघ ने समय आने पर भक्ति-साधिका मीराबाई की जन्मभूमि मेड़ता में अपने आदि गुरु* (जिनके नाम से सम्प्रदाय का नामकरण हुआ) की सस्मृति का स्वामित्व प्रदान करने की दृष्टि से 'आचार्य जयमल जैन छात्रावास' की स्थापना का निश्चय किया जागरण आया छात्रावास स्थापित हुआ

आज भी उस छात्रावास में विद्यार्थी अपने भावी जीवन का निर्माण जैन सस्कारो में जीकर करते है जिनके नामपर छात्रा-*वास का नामकरण हुआ है वे पूज्य पुरुष एक जैन मे जिन जिन विशेषताओं के दर्शन किया करते थे वे सब बात छात्रा* वासीय बच्चो के जीवन-व्यवहार रहन-सहन बोलचाल आदि से प्रतिबिम्बित हो—ऐसा प्रयत्न जारी है सस्था अपने आदर्श की ओर अभिमुख होती हुई आज भी सुन्दर पद्धति से चल रही है

हृदय परिवर्तन

द्यूत-कर्म भारत में प्राचीनकाल से प्रचलित रहा है द्यूत-कर्म की अवहेलना भी तभी से सन्तों महात्माओं और ऋषियों मुनियो व धर्म ग्रथो के द्वारा होती आ रही है द्यूत कर्म मनुष्य की बिना श्रम के धनोपार्जन करने की लालसापूर्ण मनोवृत्ति का सूचक है अतीत की ओर उद्ग्रीव होकर देखिए सती द्रौपदी का दुर्योधन द्वारा पुरुष-समूह में चीर-हरण का घृणित कार्य जुवे का ही कुफल था राजा नल के लिए एक समय ऐसा था कि वह अपनी सगिनी को एक पल भी आँखों से ओझल नहीं कर सकता था इस कर्म का चस्का ऐसा पड़ा कि वह चारो ओर से निराश हो गया और उस स्थिति तक पहुँच गया जहाँ उसे अपनी जीवन-सगिनी को निस्सहाय और निराधार अवस्था में सुनसान जगल मे छोड़ देना पड़ा एक कवि ने द्यूत कर्म में फँसे मनुष्य की मनोवृत्ति का कितना सुन्दर चित्रण किया है !

> ना मुरीद इस खेल को जीत भली न हार
> जीते तो चस्का पड़े हारे खेल उधार।

इसीलिये जैनाचार की प्राथमिक भूमिका प्राप्त करने के लिए जैनाचार्यों ने सात कुव्यसनों का परित्याग करना अनिवार्य माना है सात दुर्व्यसनो का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए सर्वप्रथम द्यूत-कर्म परित्याग का उपदेश दिया

स्वामी श्रीहजारीमलजी महाराज के जीवन में एक जुवारी से वार्तालाप का प्रसग किस प्रकार एक जुवारी के जीवन में एक नया मोड़ लाता है और उसके जीवन की किस प्रकार दशा बदल जाती है इसका उदाहरण उनसे हुए एक कथोपकथन से जाना जा सकता है वह कथोपकथन निम्न प्रकार है

एक जुवा खेलने का अभ्यासी उनके पास आया। कहने लगा 'महाराज मैं जिन्दगी से निराश हो चुका हूँ

'क्या निराश कैसे हो गए ?

"महाराज, जो पूजी पास मे थी, वह मै आस-आस मे जुवे के दाव पर लगाता रहा इस तरह सब कुछ खो दिया अब स्थिति यह है कि कभी-कभी अन्न के दाने भी पेट के लिए नसीब नही होते है

ज्ञान-बोझिल और शुष्क ज्ञानी ऐसे प्रसगो के लिए कह दिया करते है कि किसका काम कैसे चलता है, किसको दो जून रोटी मिलती है और किसको एक जून, इससे हमे क्या ? ये तो अपनी-अपनी जन्म-पत्रीके भोग हैं इन्हे रोकर भोगो तो और हंसकर भोगो तो-भोगने तो होगे ही' । परन्तु ऐसे प्रसगो पर भी मुनिश्री का व्यक्ति के प्रति एक विशिष्ट प्रकार का व्यवहार व अत्यन्त सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि-कोण होता था जो उनकी दयार्द्रता का परिचायक था वे कहा करते थे

"मनुष्य जब सन्मार्ग से उन्मार्ग की ओर अभिमुख हो और अभिमुख हो चुकने पर भी, जब वह पश्चात्ताप की घडी मे बरत रहा हो—उस समय उसे जीवन का सत्य दिखा देने का स्वर्णावसर होता है ।"

उस धन हारे जुवारी को उन्होने आत्मीयतापूर्ण भाव से कहा "धन हार गये तो क्या हुआ, अब उस पथ को तज दो दूसरा विचारपूर्ण पथ अगीकार करो हार और जीत तो जीवन मे लगी ही रहती है सम्पूर्ण जीवन ही एक व्यापार है व्यापार मे हानि और लाभ, दिन-रात के समान अवश्यभावी हैं बिना महनत किये कमाई करने की सोचने पर ऐसा हो ही जाया करता है अब ही सही सकल्प कर लो—"श्रम करके ही कमाई करूगा और वही मेरी सच्ची कमाई होगी—ऐसी ध्रुवधारणा बना लो इस सकल्प से चलनेवाला कभी पराजित नही होता' स्वामीजी महाराज की वाणी उसके हृदय मे प्रवेश पा गई उसने कुमार्ग तज दिया.

पूज्य मुनिश्री के सम्पर्क व परिचय मे आनेसे पूर्व वह जुवारी, अनेक सन्तो के पास अपनी पराजय व निराश स्थिति की कहानी कहने गया था सर्वत्र उसे शुष्क ज्ञानोपदेश मिला था इससे वह लगभग अनास्थावादी हो चुका था पूज्य मुनिमना श्रीहजारीमलजी म० ने जुवारी की पीडा को आत्मीयता से सुना और फिर एक नेक सलाहकार की तरह हृदय-स्पर्शी उपदेश-वाक्यो से स्थायी प्रभाव डालकर उसका हृदय जीत कर जीवन-दिशा ही बदल दी थी

'बहुधा हारा और निराश व्यक्ति ही अदृश्य सत्ता को स्वीकार कर अपने अस्तित्व को उसमे लय कर देना चाहता है' स्वामीजी म०ने जुवारी कोनब्ज सभाली एव ताडना तर्जना रहित सीख देकर सदा-सदा के लिए सात्विक भावो का पुजारी बनाकर उसे अमर आस्थावान् बना दिया उनका यह सिद्धान्त था 'जीवन मे व्यक्ति को व्यक्ति से मृदु व्यवहार करना चाहिए क्योकि व्यवहार की मृदुता समुखस्थ मे भी मृदुता और कोमलता ला देती है, स्वामीजी के व्यवहार से उसके हृदय पर जो प्रभाव पडा वह असाधारण था वह सन्त-सस्कृति की ही विजय है इस प्रकार पहले का जुवारी और अब का सन्त-भक्त, एक मात्र सन्त स्वामी हजारीमलजी मुनि को ही नमस्कार नही करता है, अपितु सत-सस्कृति की अविच्छिन्न परम्परा को नमस्कार करता है' इस तरह वह व्यक्ति के प्रति ही आकृष्ट नही हुआ, समष्टि के प्रति भी दायित्व समझने लगा, बल्कि स्पष्ट कहा जाय तो वह व्यक्तिपूजक होकर भी गुणमूलक परम्परा का अनुयायी हो गया

बहुधा ऐसा कहा जाता है कि दूर से वस्तु या व्यक्ति मे सौदर्य और आकर्षण परिलक्षित होता है, समीप पहुँचते ही वह समाप्तप्राय हो जाता है इसके विपरीत कभी-कभी जो निकट से सुन्दर दीखता है, दूर से वह उतना सुन्दर नही दीखता पूज्य मुनिमना इन श्रेणियो से ही भिन्न थे उन्हे जिसने नजदीक से देखा, उसने तो सदैव के लिये उन्हे अपना आराध्य और आदर्श माना ही, परन्तु जो दूर रहे, वे भी आकर्षित हुए बिना न रहे

वे व्यक्तिगत रूप से जितने महान् व दिव्य थे, सामूहिक जगत् मे उससे भी महान् थे वे दूसरो के सुख-दु खको अपनेपन के भाव से सुनते थे । अपनी जीवन-गाथा कहने वाला यही अनुभव करता था कि मेरा परम शुभचिंतक यदि कोई है, तो यही परमपुरुष है

हम कब अपनीबात छुपाते ?

आज व्यक्ति दुमुही की तरह दुहरा व्यक्तित्व लेकर जी रहा है दुहरे व्यक्तित्व का अर्थ है कृत्रिम जीवन आज समाज के
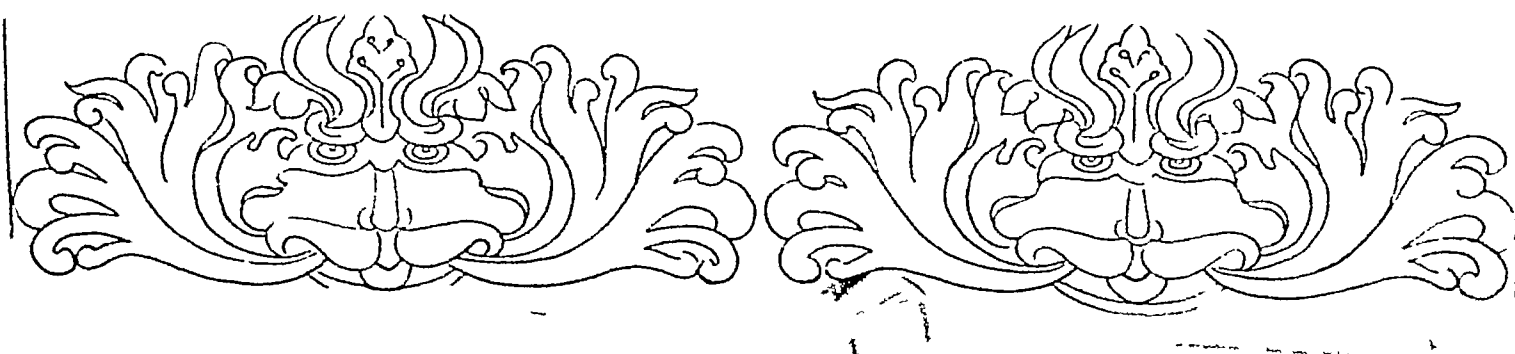
सामने जो व्यक्तित्व प्रदर्शित होता है वस्तुतः मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन उससे भिन्न होता है उसे वह छुपाये रखता है जैसा अन्दर में वह है उसे प्रकट नहीं करना चाहता

इस प्रकार के जीवन का राजनीति या चाणक्य-नीति में स्थान होगा परन्तु आत्म-चिन्तकों की दृष्टि में ऐसा जीवन क्षुद्र जीवन है कृत्रिमता प्रेमी छल बल और कल से काम लेता है मनीषियों का कहना है—ये तीनों शूल हैं बाण हैं इन त्रिमुख बाणों से आत्मा आहत हो जाती है इस तरह की त्रिकोण-आहत-आत्मा में सत्य की पूजा प्रतिष्ठा और सम्मान कहाँ ?

सत्य प्रतिबिम्बित नहीं तो सरलता नहीं सरलता नहीं तो निर्मलता कहाँ ? सरलता व निर्मलता नहीं तो आत्म-अर्पण नहीं आत्म-अर्पण नहीं तो धर्म का प्रतिबिम्ब कहाँ ? प्रतिबिम्ब नहीं तो मन के दाग कैसे मिटें ? बिना इसके मन में चमक कहाँ ? चमक नहीं तो आत्म-गुण की छाया कैसे पड़े ? और इसके बिना आत्मा में पवित्रता का उदय कैसे हो ? स्वामीजी म. का मन इतना निर्मल और सहृदय था कि प्रत्येक व्यक्ति अपने दोष उनके स्वच्छादर्श में देख सकता था उनके मन की स्वच्छता को देखकर मन कह उठता है

'कैसा मन पाया था उन्होंने चाँदनी-सा

उनके जीवन में गोपनीय तो कुछ था ही नहीं जो कुछ था वह एक खुली पुस्तक की तरह स्पष्ट था कवि बच्चन के शब्दों में कहूँ तो यों कह सकते हैं —

> हम अपना जीवन अंकित कर
> फेंक चुके हैं राजमार्ग पर
> जिसका जी चाहे सो पढ़ ले
> पथ पर चलते चलते !
> हम कब अपनी बात छुपाते !!

सच है प्रारम्भ से अन्त तक उन्होंने कभी कुछ छुपाया ही नहीं था—अपने जीवन में ! वे स्व और पर के भेद रहित बालक की तरह ही स्वच्छमना बने रहे !

उनकी प्रवचन-पद्धति

स्वामीजी म. की धर्मदेशना की अपनी एक असाधारण प्रणाली थी वे बात तो वही कहते थे जो अनादिकाल से मुनिजन कहते आये हैं किन्तु उनके कहने में न तो दार्शनिक सूक्ष्मता होती थी न अध्यात्मवाद की अज्ञेय गहराई और न लोकमानस के अनुरंजन की लोकैषणा। प्रवचन करते समय वे अन्तर्विलीन हो जाते थे उनके वाक्य-वाक्य से उनके हृदय की शुचिता सरलता मृदुता विरक्ति और आत्म-कल्याण की सहज स्पृहा टपकती थी इसलिए टपकती थी कि आगम समर्थित संयम मूलक व्याख्यामय उनका आचरण था !

वे आदर्श और व्यवहार के पार्थक्य में विश्वास नहीं करते थे यही कारण था कि उनकी वाणी न एकांत हवाई आदर्श तक सीमित रहती थी और न आदर्शनिरपेक्ष व्यवहार मात्र का अनुसरण करती थी उनके प्रत्येक प्रवचन में आदर्श और व्यवहार का अद्भुत सम्मिश्रण रहता था जो उपदेशक श्रोतृवर्ग की आसपास की परिस्थितियों जीवन प्रणालियों और मानसिक स्थितियों से अनभिज्ञ होता है उसका उपदेश ग्रन्थ दृष्टियों से कितना ही प्रशस्त क्यों न हो श्रोताओं के जीवन को प्रभावित नहीं कर सकता उससे उन्हें जीवन की दिशा नहीं मिलती और न वे सही व सीधी राह ही पा पाते हैं सूक्ष्म दर्शी स्वामीजी इस तथ्य से भली-भाँति परिचित थे अतएव उनकी देशना जीवन को गहराई से स्पर्श करने वाली होती थी उनकी वाणी से श्रोताओं के जीवन की समस्याएँ सुलझती थीं उन्हें जीवन की सही दिशा मिलती थी

स्वामीजी की भाषा में कोई बनावट नहीं थी अलंकारों से सुसज्जित होकर वह प्रकट नहीं होती थी सरस सुगम सुबोध अन्तस्तल में निमग्न होती थी और श्रोता के अन्तर् तक पहुँचकर उसे उद्बुद्ध कर देती थी अपढ़ से अपढ़ श्रोता भी

उसे अनायास ही हृदयगम कर लेता था भगवान् महावीर द्वारा अंगीकृत भाषा-नीति का वे पूरी तरह अनुसरण करते थे यही कारण है कि उनके प्रवचनो ने सहस्रो भद्रात्माओ को प्रभावित किया है न जाने कितने पापी पाप-पथ का परित्याग करके धर्म और नीति के मार्ग के राही बने है।

वे कभी राजस्थानी मे तो कभी खडी बोली मे प्रवचन करते थे जैसा रोगी, वैसा ही उपचार करना उन्हे खूब आता था जिन प्रदेशो मे उनका विचरण हुआ, वहाँ की जनता आज भी स्वामीजी की प्रवचनशैली को स्मरण करती है और मन मसोस कर रह जाती है आत्म-दृष्टि प्राप्त करा देने का उनका ढग और तौर-तरीका अलग था वे कहते थे आत्म-दृष्टिप्राप्त भक्त, मैं उसे मानता हूँ जिसके जीवन मे प्रस्तुत कवि-कडी का सार प्रतिबिंबित होता है—

पर-घर पाऊँ पूजा या, निज घर अपमान मिले,
दोनो में ही मुस्कान रहे, मन के भीतर भी आह न हो।
पर पीडा मे ही रोऊँ जीभर, पर सुख को अपना सुख समझूँ,
सुखियो से भी मुझको डाह न हो।

जीवन के प्रति उनकी दृष्टि थी कि ससार से भागकर तो तुम गिरि-कन्दराओ मे भी सुख प्राप्त नही कर सकते जीवन मे भागने की नही, दृष्टि वदलने की आवश्यकता है।

जीवन सरोज : कुछ पांखुरियां

एक .

वर्धमान महावीर के शब्दो मे सन्त, अप्रतिबद्ध विहारी होता है जीवन की ऐहिक शृखलाओ के वधन से मुक्त, उन्मुक्त आकाशचारी की तरह सर्वत्र विचरण करता है उसका लक्ष्य एक ही होता है कि स्व-साधना वर्धमान होती रहे और पर को आतमसाधना की प्रेरणा मिलती रहे।

स्वामीजी म० अपने गुरु-भाइयों सहित पद-विहार के पथ पर वढते-वढते अपनी जन्मस्थली टासरिया के समीप टाडगढ जा निकले।

साम्प्रदायिक वर्ग-विभाजन की दृष्टि मे स्वामीजी म० तेरापथी परिवार मे जन्मे थे टाडगढ मे आज भी विपुल मात्रा मे तेरापथी श्रावको के घर है उस समय भी पर्याप्त थे

स्वामीजी भिक्षार्थ पधारे अनेक घरो मे पदार्पण हुआ। कही-कही आहार नही मिला निवास पर आये आहार से निवृत्त हुये व्यावर के कुछ सज्जन भी आ गये कुछ जैनेतर वन्धुओ ने उनसे कहा "मुनिश्री को यात्रा मे पर्याप्त असुविधाओ का सामना करना पडा यहाँ पर भी दिक्कत उठानी पडी यहाँ पर तेरापथी लोगो ने मुनिश्री को पत्थर वहराये आगत व्यक्तियो के मस्तिष्क मे वात वैठ गई कि स्वामीजी म० को आहार के स्थान पर तेरापथी भाइयो ने पत्थर वहराये उन सज्जनो ने व्यावर मे उक्त वात कही व्यावर के स्थानकवासियो के मस्तिष्क उत्तेजित हो गये कि हमारे महाराज को पत्थर कैसे वहरा दिये। तेरापथ के आचार्य (तुलसी) व्यावर आ रहे है, हम भी उनका नगर प्रवेश के समय काले भण्डो से स्वागत करेंगे।

स्वामीजी म० जितने समय रहना था, वहाँ रहे आगे प्रस्थान कर दिया सयोग की वात कि घूमते हुए व्यावर ही पदार्पण हो गया चर्चा सामने आई स्वामीजी म० ने स्पष्टीकरण दिया "नही, टाडगढ मे हमारे साथ ऐसी कोई घटना नही हुई हमे किसी ने भी पत्थर नही वहराये।" व्यावर के तेरापथी श्रावको ने और स्थानकवासी श्रावको ने इस वात को लेकर रोटी-वेटी का सम्वन्ध विच्छेद करने का भीष्म निर्णय कर लिया था परन्तु मुनिश्री के स्पष्टीकरण से स्थिति स्पष्ट हो गई और अशान्त वातावरण शान्ति मे परिणत हो गया
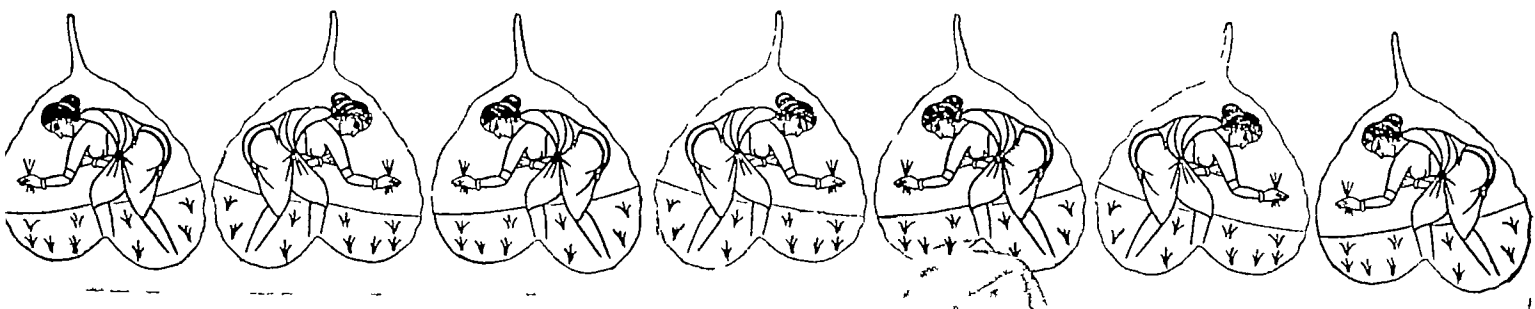
उन्होंने अपने साथी मुनियों से कहा "मैं वीतराग पथ का राहगीर हूँ समभाव साधना करने के लिए ही मैंने वीतरागपथ अनुसरा है मुझे ही निमित्त बना कर ये लोग विषम भाव के बीजारोपण करें यह मेरी साधना का ध्येय नहीं कलंक है अस्तु उक्त परम्परा स्वामीजी म० की दृढ़ता से कायम न हो सकी उनके जीवन में इस प्रकार की अनेक बार पारस्परिक द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न हुई परन्तु उन्होंने सब प्रसंगों पर अपनी विलक्षण बुद्धि द्वारा गलत परंपरा स्थापित न होने दी घटना वि स १९९१ ब्यावर.

दो

चरित्रनायक महामनस्वी स्वामीजी म के वक्ष में एक बड़ी गाठ थी एक दिन निश्चय हुआ डाक्टर कुंजबिहारी लाल से निरीक्षण कराया जाय'

वे अपने सहयोगी मुनि को लेकर निदान निमित्त चले गये डॉक्टर की राय हुई 'ऑपरेशन करना होगा स्वामीजी ने मन मन में सोचा 'जीना है संयम के लिये संयम और तप की साधना में यह व्याधि विघ्न उपस्थित करेगी तब क्यों न डॉक्टर की इच्छा पर ही छोड़ दूं सब कुछ ?

स्वामीजी ने कहा 'मैं तैयार हूँ आप अपनी सुविधानुसार ऑपरेशन कर सकते हो 'डॉक्टर ने पूछा क्लोरोफार्म का उपयोग किया जाय या इंजेक्शन का ?

एक का भी नहीं मैं सब तरह से तैयार हूं आप अपनी सुविधानुसार ऑपरेशन कर सकते हैं स्वामीजी का यह संक्षिप्त सा उत्तर था 'साहस संकल्प और विश्वास का ऐसा विकट धनी पुरुष आज तक मैंने नहीं देखा—कह कर डाक्टर आश्चर्य चकित हो गये उन्होंने अपना काम प्रारम्भ किया ४५ मिनिट में छाती के एक भाग से ६ तोले की गाठ निकाल कर मेज पर रख दी स्वामीजी से कहा गया 'तीन दिन तक यहीं पर रहना होगा ऑपरेशन काफी बजनदार था

महा सन्त का उत्तर था "मैं सकुशल अपने निवास पर पहुँच जाऊँगा और उसी समय पूरे चार फर्लांग का रास्ता पार करके जैन स्थानक (पीपलिया बाजार) में सानन्द पधार गये

घटना स २ ७ ब्यावर.

तीन

जैनधर्म के सभी सम्प्रदाय आध्यात्मिक पर्वों में संवत्सरी पर्व को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पवित्र आध्यात्मिक त्यौहार मानते हैं इस दिन सभी सम्प्रदायों के जैन बन्धु तपस्यापूर्वक अपने गत वर्ष के जीवन में लगे दोषों का प्रायश्चित करते हैं छोटे-छोटे बालक भी अपनी रसना पर नियन्त्रण कर यथाशक्ति अवश्य तप करते हैं

ब्यावर के स्थानकवासी संघ में और जैन-नवयुवक संघ में किसी मामले को लेकर संवत्सरी के दिन चर्चा चली। चर्चा-मंच तेज होता गया बात यहाँ तक आगे बढ़ी कि व्यक्ति दो दलों में बँट गए मुनिश्री अपने दोनों शिष्य स्वरूप गुरु-भाइयों सहित स्थान के बाहरे (सामूहिक धर्माराधना के निमित्त सार्वजनिक स्थान) में प्रवचन-मंच पर स्थित थे

संघर्ष बढ़ने की पूरी-पूरी सम्भावना तीव्र हो चली थी स्वामीजी म ने निष्पक्ष दृष्टि से सोचा और अपना अद्भुत निर्णय दिया अपने शिष्यों से कहा 'व्याख्यानमंच से उठकर तत्काल हमें अपने निवास (जैन स्थानक) पर पहुँच जाना चाहिए स्वामीजी का आदेश हुआ तीनों मुनि संवत्सरी का प्रवचन छोड़कर चले आये

स्थिति के अनुसार संघर्ष बढ़ता किन्तु मुनिश्री के प्रस्थान करते ही स्कूल की छुट्टी होने पर बच्चे विभिन्न दिशाओं में बिखर जाते हैं—वैसे ही दो दलों में विभाजित जैनबन्धु भी तितर-बितर हो गए संघर्ष का शमन हो गया

घटना स २ १६ ब्यावर

चार :

स्थानकवासी जैनो का अखिल भारतीय स्तर पर अजमेर मे एक मुनि-सम्मेलन हुआ सम्मेलन मे एकीकरण की दृष्टि से युग-पुरुष आचार्य श्रीजवाहरलालजी म० ने उस युग मे रहे सन्तो की मन स्थिति को समझा और पहले गणो मे सम्प्रदायो का केन्द्रीयकरण किया जाय—ऐसा मूल्यवान सुझाव प्रस्तुत किया उनके विचारो को समर्थन मिला राजस्थान की छ सम्प्रदायो ने मिलकर निश्चय किया 'छ सम्प्रदायो का एक गण बनना चाहिये और उसका फिर एक आचार्य भी' सबने मिलकर अपना विश्वास प्रकट करते हुए कहा 'स्वामीजी म० का हृदय पितृहृदय है अत छ सम्प्रदायो के आप ही आचार्य बनाये जायें'

स्वामीजी म० का यह ध्रुव विश्वास था कि शासन करनेवाला कोमल हृदय से काम ले तो व्यवस्था विगडती है कठोरता न बरती जाय तो अनुशासन स्थापित नही होता अत मुनि-पद ही मेरा सलौना पद है और फिर आचार्य-पद स्वीकार करने से मेरी एकान्त-साधना मे विक्षेप भी उपस्थित हो सकता है अत स्वामी जी म० का निर्णय था 'मै आचार्य-पद ग्रहण करना नही चाहता मैं साधक ही रहना चाहता हूँ, शासक नही

घटना १९९९ अजमेर, (राजस्थान)

पाच :

राजस्थान के स्थानकवासी जैनमुनि सम्प्रदायो के विभाजन को जितना महत्त्व देते रहे हैं, सगठन को भी उससे कम नही. इसलिये लीक-लीक चलने को वे सदैव गलत मानते रहे हैं एक समय ऐसा था जब वे अलग-अलग बँटे अपने नैतिक विचारो के विश्वासो के अनुसार उनका प्रचार करते रहे

आगे आनेवाली पीढी ने सोचा 'हमारे बडो ने विभाजित होना उचित माना था हम सगठित होने मे जैनधर्म का अभ्युदय मानते है विकेन्द्रित होने से नैतिक प्रचार की शक्ति विभाजित हो जाती है हम जो 'धर्माभ्युदय' को व्यापक बनाने का लक्ष्य लेकर चले है—इससे बाधा उत्पन्न होती है तब क्यो न शक्ति का केन्द्रीकरण किया जाय ? यह आज के युग की माँग है इस शुभ सकल्प से उत्प्रेरित होकर पाली (राजस्थान) मे छ सम्प्रदायोका एक मुनि सम्मेलन आयोजित किया गया छहो सम्प्रदायो के मुनिजन एकत्रित हुए सबने आचारगत हार्द पर चर्चा की सगठन सूचक नियम बनाये स्वामीजी को उन्होने अपने सम्प्रदाय का प्रवर्तक-पद प्रदान किया आचार्य की नियुक्ति का परिपाक काल न आया जान दोबारा बृहत् सम्मेलन मे इस बृहत् कार्य को करने का निश्चय किया

घटना स० १९९०, पाली

छः :

फल तो भावारे लारे है '**यस्मात् क्रिया प्रतिफलति न भावशून्या**' फल तो भावो के साथ है फल, मात्र साधुओ को देने मे नही है हम लोग तप करते हैं तो उस दिन का भी भोजनाश अभावग्रस्तो तक पहुँचना चाहिये सदयतावश दिया गया सहयोग अभाव का नही, साधन-सम्पन्नता का निमित्त बनता है इसे परिग्रह का प्रायश्चित्त भी कहा जा सकता है इस प्रकार उन्होने एक समय विश्वशाति की भावना का परिचय जनता को उद्बोधित करते हुए तो दिया ही था, साथ ही एक अधोवस्त्र, एक उत्तरीय, एक बारदाने का आसन और अन्य अनिवार्य उपकरणो के अतिरिक्त दुष्काल, सुकाल मे परिणत हो जाय तब तक के लिये सबका परित्याग कर दिया था एक बार राजस्थान मे भी दुष्काल पडा था वह समय, बगाल जितना कठिन-कठोर तो नही था परन्तु उस समय भी उन्होंने अपने शिष्यो को आदेश दिया था कि मारवाड मे सुकाल की स्थिति पुन स्थापित न हो जाय तब तक मेरे लिए घृत, दुग्ध-दधि, नवनीत आदि कोई भी बहुमूल्य खाद्य
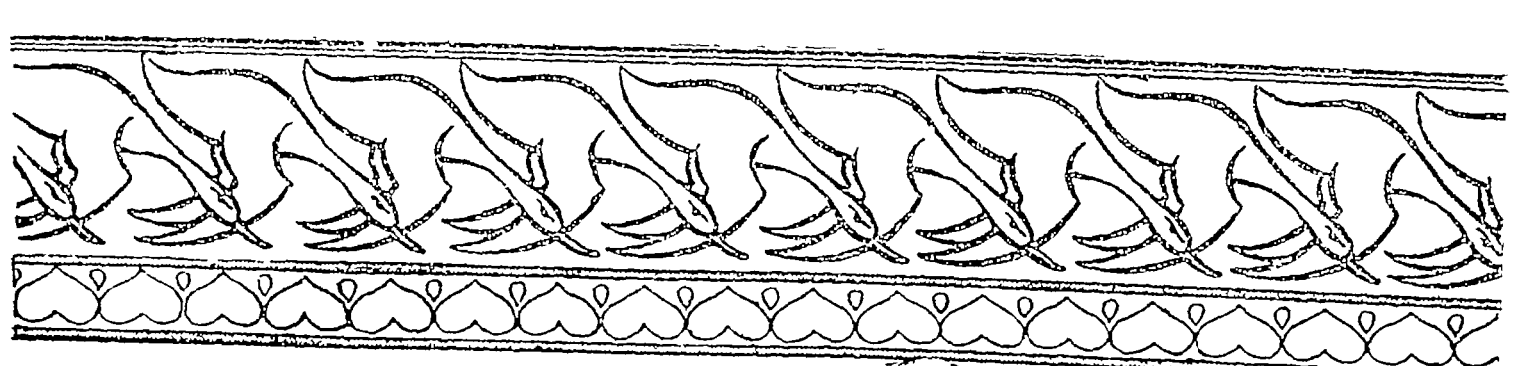
वस्तु न भाई साम यह दुष्काल स १९८६ में पड़ा था उस समय मारवाड़ के अधिकांश लोगों ने 'पग-पग रोटी डग-डग नीर' वाले हरे भरे मालव प्रदेश में आकर आश्रय ग्रहण किया था

घटना १९९६ मेड़ता

सात

'सक्खं खु दीसइ तवोविसेसा न दीसई जाइविसेस कोइ'

जातिगत उच्चता-नीचता की दीवारों में धर्म को कैद करने वालों के सामने धर्म की उदारता प्रतिपादित करते हुये श्रमण भगवान् महावीर ने अपनी देसना में कहा है—"ससार में तप एव नैतिक आचार की विशेषता प्रत्यक्ष ही दृष्टिगोचर होती है. जाति से उच्चता-नीचता को स्वीकार करना धर्म नीति सदाचार और सयम का अपमान है इस कल्पना में जाति सद्गुणों से ऊपर उठ कर दम्भ का कारण बनती है यही कारण है कि भगवान् महावीर ने सभवत सर्व प्रथम जातिवाद के विरुद्ध शखनाद किया था

हरिजन-मन्दिर-प्रवेश का आन्दोलन देशव्यापी था स २ १४ का वर्षावास स्वामीजी सिंहपोल जोधपुर में बिता रहे थे दो हरिजन बंधु सिंहपोल में स्वामीजी के पास इस इरादे से आये कि 'मदिर प्रवेश के लिए हमें बरजा जाता है यहा भी हमे रोका-टोका जायगा ! हम जबरदस्ती करेंगे तर्क करेंगे हमें अधिकार क्यों नहीं ?

कक्ष के बाहर तक आकर उनके पैर ठिठके मुनिराज ने हाथ से अन्दर आने का स्नेहपूर्वक सकेत किया

उन्होंने कहा 'स्वामीजी ! हम जैन धर्म में श्रद्धा रखते है इस नाते हम जैन हैं ! बहुत सुन्दर ! तब हम-तुम सहधार्मिक हुए स्वामीजी का नपा-तुला उत्तर था आगत बन्धुओं का सघर्षमूलक मनोरथ पिघल कर बह गया

स्वामीजी ने उन्हें धार्मिक पुस्तक प्रदान की ! जाते समय उनके नमस्कार के उत्तर में पुन आशीर्वादात्मक हस्त-मुद्रा की

घटना स २ १४ जोधपुर.

आठ

एक कन्दरा में दो सिंह कैसे रह सकते है ?

मारवाड़ के असहृद सन्त श्रीपूर्णमलजी म बाबाजी के नाम से प्रसिद्ध थ एक बार वे तिवरी मे विराजमान थे तिवरी ग्राम में स्वामी के भक्त श्रावक अधिक सख्या में निवास करते हैं अतएव उनका पदार्पण होने पर स्वाभाविक ही था कि श्रोता प्रवचन में अधिक सख्या में सम्मिलित होते मगर स्वामीजी तो सरलता उदारता और समता की प्रतिमूर्ति थे ! वे बाबाजी की साधना और मान्यता से भी परिचित थे अत उनकी उपेक्षा को सहन नहीं कर सकते थे स्वामीजी वर्षावास निमित्त वर्षावास प्रारभ होने के काफी दिन पहले विचरते हुए तिवरी पधारे थे

स्वामीजी ने तिवरी निवासियो को बाबाजी के प्रति अधिकाधिक आदर-भाव व्यक्त करने की दृष्टि से अपनी सहज उदारतावश आदेश दिया—बाबाजी जब तक तिवरी में है उन्ही का व्याख्यान होगा और आप सबको उनके व्याख्यान में जाना है

उनकी उदारता ने कहा एक गुफा मे दो सिंह नहीं रह सकते परन्तु एक क्षेत्र मे समभाव के साधक अनेक सन्त रह सकते हैं क्योंकि उन का समदय एक है

बाबाजी म जब तक वहाँ रहे दोनों का बड़ा स्नेहपूर्ण व्यवहार रहा स्वामीजी ने क्षण भर के लिये भी बाबाजी को अनुभव नहीं होने दिया कि वे अपने भक्तों के मध्य मे नहीं हैं

नौ :

मरुभूमि के आराध्य गुरुदेव, अत्यत सवेदनशील और अनुभूति-प्रवण थे स० १९९६ मे भयकर दुष्काल था स्वामीजी ने अपने साथी मुनियो को किसी प्रकार जताये विना ही एक दिन यह घोपित कर दिया

"देश मे दुष्काल है ! मैं घृत, दुग्ध-दधि और नवनीत का उपयोग करता रहूँ—यह नही हो सकता ! आजसे मेरे लिए ये वस्तुए तब तक मत लाना, जब तक सुकाल न हो जाय !

साथी मुनियो के हृदय को मुनिराज के विचारो ने स्पर्श किया ! उन्होने भी मुनि-प्रधान का पथ अनुसरा !

घटना स० १९९६

दस

स्वामीजी म० के गुरुदेव श्रीजोरावरमलजी म० को लम्बे समय से उदर-सम्बन्धी पीडा थी 'पीडा है तो हैं, यह कर्म-फल है इससे छूटने का उपाय क्यो किया जाय ? कुछ ऐसे व्यर्थ के आदर्शवादी भी होते हैं

कुचेरा निवासी श्रीहसराजजी भण्डारी उपचार-व्यवस्था के पक्ष मे नही थे स्वामीजी से उन्होने कहा "कर्म-फल को डाक्टर मिटा सकते है क्या ? क्यो व्यर्थ औषधोपचार करते हो ?' भण्डारीजी का कथन उनकी गुरुभक्ति को चुनौती थी उन्होंने भण्डारीजी से कहा

'हमारी व्यवस्था मे आपको हस्तक्षेप करने की क्या आवश्यकता है ?' स्वामीजी द्वारा दिये गये सटीक उत्तर ने जैसे करट का काम किया हो, अगले दिन से उन्होने स्थानक मे जाना स्थगित कर दिया

तीन समय उपाश्रय आने वाले भण्डारीजी जब दो समय उपाश्रय मे नही आए, तो स्वामी का मन यो मुडा

'मालूम होता है, मेरी वात उन्हे खल गई है' स्वामी म० तत्काल उक्त सज्जन के घर गए और क्षमायाचना की

गणधर गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर के समय आनन्द श्रावक के घर जाकर अपनी भूल की क्षमा-याचना की थी स्वामीजी महाराज ने भी भण्डारीजी के घर जाकर क्षमा-याचना की

ग्यारह :

घटना सवत् १९८५ कुचेरा

आचार्य श्री रघुनाथजी म० की सम्प्रदाय की परपरा के विद्वान् सन्त श्रीसन्तोषचन्द्रजी म०, पूज्य गुरुदेव श्रीजोरावरमलजी म०, श्री सतोषचद्रजी म० के शिष्य श्री मोतीलालजी म०, श्री जोरावरमलजी के शिष्य स्वामीजी म० आदि सन्त सावलिया (जवाली राजस्थान) से विहार करते हुए रानी (राजस्थान) से पहले, अजनेश्वर महादेव (वैष्णवसम्प्रदाय का प्रसिद्ध तीर्थस्थान) पहुँचने वाले थे साथ के सभी मुनिजन आगे निकल गये थे स्वामीजी म० और श्री मोतीलालजी म० पीछे रह गये थे सहसा श्रीमोतीलालजी म० का ध्यान गया देखा कि एक व्याघ्र आ रहा है ! मोतीलालजी मुनि भय-भीत हो उठे मुनिश्री ने कहा 'अहिंसा-व्रती को भयानुभव करने की क्या आवश्यकता है? अहिंसक को तो निर्भय और वीर होना चाहिये भय तो वह खाए जो दूसरो को भय पहुचाता हो यदि ऐसे प्रसगो पर अहिंसाव्रती ही डरने लगेंगे तो लोक-मानस के धरातल पर अहिंसा का अर्थ कायरता है—यह गलत विश्वास, और गहराई से उभर आएगा आत्मा के अहिंसास्त्र पर विश्वास लाकर ध्यानावस्थित हो जाओ साधु का आदर्श तो 'अर्घावतारण असिप्रहारण मे सदा समता धरन' होना चाहिये दोनो मुनि अर्ध-निमीलित नेत्रो से ध्यानावस्थित हो गये व्याघ्र आया जैसे उसके मन मे किसी प्रकार का भावोद्गम ही न हुआ हो—वह मुनियुगल से दो फुट की दूरी पर आकर एक निमिष को रुका और चला गया

घटना स० १९९६, स्थान जगल (मुनि रूपचन्द्र 'रजत'की गुरुमुखश्रुति)
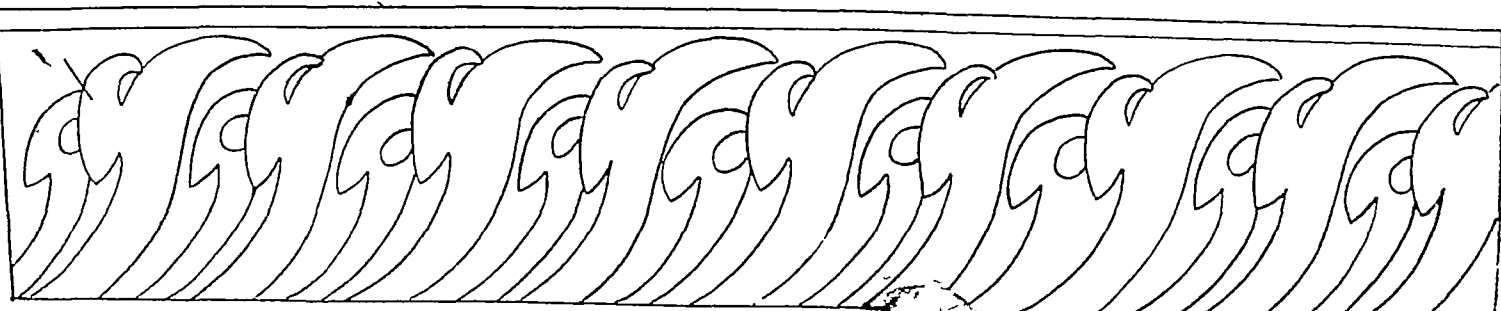
वचन सचय !

[स्वामी जी महाराज के द्वारा विभिन्न समयों और स्थलों पर उच्चारित कतिपय वचनों का संक्षिप्त सचयन प्रस्तुत किया जा रहा है विचारशीलो के लिये ये विचार चिनगारियाँ है चिनगारियों को चेता लेने वाला उनका चेला है श्रद्धाशीलों के लिये ये जीवनदीप है दीप मे भक्ति का स्नेह उडेलने वाला उनका श्रद्धालु भक्त है ! व्याख्यान मंच पर इनकी विवेचना करने वाला उनका व्याख्याता शिष्य है !!]

भाग्य से संघर्ष करो ! संघर्ष से भाग्य को सतोष मिलता है भागने से भाग्य की क्रूरता बढ़ती है भागने से जीवन की समस्याएँ नहीं सुलझती अत संघर्ष करते रहो सघर्ष ही जीवन है !

●

जीवन सयम के लिए है जीना है तो सयम के लिये जीओ भोग मे रोग के कांटे है योग में जिन्दगी के सुगन्धित फूल है फूलो का उपहार उसी को मिलता है जो भोग की मेंड़ पर बैठकर भी तप व सयम की आग तापता रहता है

●

मैं अब सबका बनना चाहता हूँ मैं सबका हूँ सब मेरे है विश्व प्रेम मेरा सर्वोपरि काम्य है

पर उपकार, हृदय का सहज गुण है कोई यह कहता हो कि मैंने अमुक को दुःख से उबारा है—तो यह उसका दम्भ है

●

अतीत और भविष्य के बारे मे सोचना छोड़ो ! वर्तमान पर सोचना और चलना सत्य है। अतीत और भविष्य के काल्पनिक जाल म मन को फँसाने से आत्मा गुरु (कर्मनिबद्ध) होती है

●

नारी माँ बहिन सेविका पत्नी और पुत्री है परन्तु इन सब रूपों म वह केवल वात्सल्य की अमर मूर्ति ही है वात्सल्य के अभाव में नारी केवल शून्य है वात्सल्य भावना नारी को नारायणी बनाती है

●

कानून या सिद्धांत के शिकंजे शरीर को जकड सकते है ! हृदय इनकी पकड़ से परे है ! पीड़ा की अनुभूति व सहानुभूति के भाव हृदय की अनुकम्पा म अकुरित होते है ! मस्तिष्क मनुष्य को तर्क की कटीली झाड़ियों में उलझाता है ! हृदय की पुकार मनुष्य को करुणा व आनन्द-लोक मे पहुँचाती है !

●

कपडे पहन कर सन्त होने वाले अनेक मिल जाते हैं। उन अनेको मे से कुछ ही ऐसे होते हैं जिनका सोचना और बोलना निसर्गत सन्ताचार के अनुकूल हो

●

सन्त सब का होता है। वह सन्त सबका निश्चय ही नही है, जिसकी वाणी मे सम्प्रदायवाद के काटे हो

●

वन्दनीय महावीर ने करुणा-भीगी पलको से दरिद्र ब्राह्मण को देखा था. उन्होने अपना उत्तरीय उतार कर उसके स्कध पर अपने हाथो स्वय रख दिया था वस्त्र प्रदान कर उनके साधनामूलक मन को परम मोदानुभूति हुई थी इस कार्य मे उनकी निस्पृह और निर्वृत्तिमूलक साधना मे तनिक भी अन्तर नही आया था इससे उनकी पवित्र आत्मसाधना उर्ज्जस्वल हो उठी थी।

●

जिस सन्त के रेशे-रेशे मे, पुष्प मे सुगध, दुग्ध मे धवलिमा और अग्नि मे ऊष्मा समाई रहती है—ऐसे ही सब के प्रति करुणा न हो वह गुणग्राही सतो रूपी हसो की पात मे बगुला है

●

जिस धनार्जन मे श्रम के मोती न चमकते हो वह धन एक दिन दुराचार के अन्धकार मे धकेल देगा प्रामाणिकता-पूर्वक अर्जित द्रव्य सदाचार की ओर बढने को उत्प्रेरित करता है

●

मुझे मनुष्य की नैतिकता मे अखण्ड आस्था है जहाँ विश्वासो की अमिट छाया है वही साया मिलता है साया और छाया सकल्पविजयी के लिये अलग-अलग नही है। व्यक्ति की सहज सरलता और नैतिकता मे हमारा विश्वास होना चाहिये कोई भी मनुष्य अनैतिक नही बनना चाहता है परावलम्बन की कठिनाई का ताप, मनुष्य को खेदखिन्न बना कर पश्चात्ताप की भट्ठी मे झुलसा देता है। परावलम्बी जीवन, स्वतत्रता का सुख नही भोग सकता।

●

कृत्रिमता, छल और बल के बाणो से आत्मा लहूलुहान हो जाती है इन बाणो से आहत आत्मा मे सत्य की पूजा प्रतिष्ठा और सम्मान कहाँ ? जहाँ आत्मा सम्मानित नही, वहाँ सत्य प्रतिबिम्बित नही, सत्य प्रतिबिम्बित नही तो सरलता नही, सरलता नही तो निर्मलता कहाँ ? सरलता-निर्मलता नही, वहाँ आत्मार्पण नही आत्मार्पण नही तो धर्म का प्रतिबिम्ब कहाँ ? प्रतिबिम्ब नही तो मन के दाग कैसे दिखें ? दाग दिखेगे नही, तो मिटाये कैसे जायेगे ? दाग नही मिटेंगे तो मन मे चमक कहाँ ? चमक नही तो उसमे आत्मगुण की छाया कैसे पडे ? आत्मगुणो की छाया न दीखने से ही उसे आत्मा मे पवित्रता नजर नही आ पाती

●

सरल, सुगम और सुबोध भाषा, हृदय की भाषा है अलकार के आवरण मे लिपटी भाषा श्रोता के हृदय-देश मे नही पहुँचती, वह इससे उद्बुद्ध भी नही होता अपढ से अपढ श्रोता भी हृदय की भाषा समझ लेता है। उसके पास भी अनुभूतिशील हृदय है

●

एक गुफा मे दो सिंह नही रह सकते क्योकि वे दूसरे के प्राणो का व्यपरोपण करते हैं वे प्राणियो के खून को चूस कर जीवन-पोषण करते हैं पर एक क्षेत्र मे दो भिन्न सम्प्रदायो के साधु रह सकते है क्योकि साधु समभाव साधना का समता-रस पीकर आत्म-पोषण करते हैं साधु अगर यश कीर्ति के लिये लडते है तो इसका साफ-साफ अर्थ यह है कि उन्होने सत्य के दर्शन नही किये ऐसे सन्त लिबास के सन्त हैं, पर बढ रहे है, वे अहकार की ओर ही वे मर-मर कर जीते है प्रकाश का पथ समता, विश्वममता और धर्मदृढता से मिलता है

●
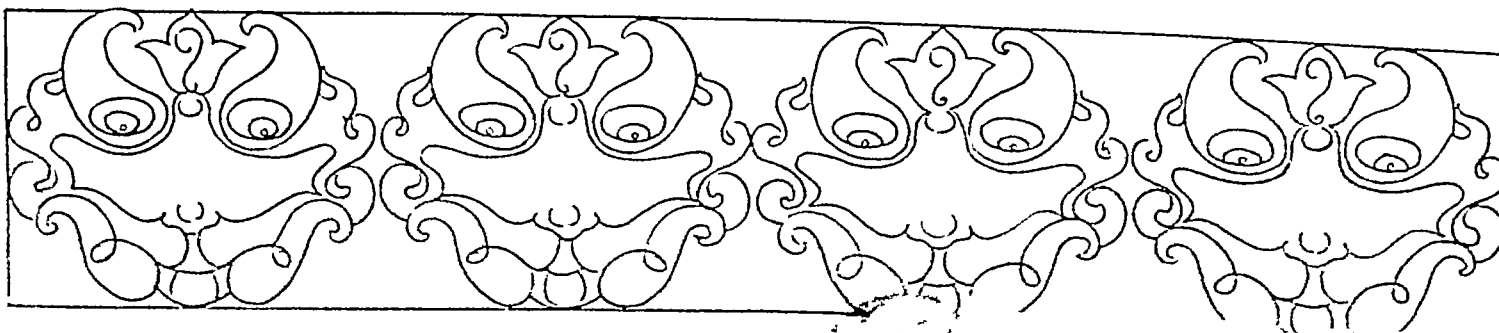
का उपदेशक श्रोताओं के जीवन में आने वाली समस्याओं परिस्थितियों जीवनप्रणालियों और मानसिक स्थितियों से अनभिज्ञ रहता है उसका उपदेश अन्य किन्हीं दृष्टियों से चाहे जितना प्रशस्त क्यों न हो पर वह जीवन नही बदल सकता श्रोता के जीवन को प्रभावित नही कर सकता इसीलिए जीवन की दिशा नही बदलती

●

ससार का मगल परिवर्तन है यहाँ स्थायित्व के नाम पर क्या स्थिर है ? स्नेह और ममत्व भी बहकाए और बँटाए बट जाते है स्नेह का स्रोत एक दिशा में बहते-बहते दूसरी दिशा में बहने लगता है बाल्यावस्था में माता के प्रति रहा हुआ ममत्व युवावस्था में पत्नी पर केन्द्रित हो जाता है पुत्री पर टिका स्नेह पुत्र प्राप्त होते ही दिशा बदल कर पुत्र म सिमट जाता है एक दिन पुत्र में सिमटी ममता भी स्वार्थ से निचुड़ने लगती है

●

स्नेह बँट जाता है मन मुट जाता है समय सरक जाता है ! समय की करवट से सब कुछ उलट पुलट हो जाता है मनुष्य का न स्नेह स्थायी है न सलोने बसाये सुनहरे स्वप्न ! सबमें स्वार्थ प्रबल है स्वार्थ के कच्चे धागों में रागी वैरागी त्यागी तपस्वी कवि विद्वान् और मुनि—सब जकड़े हुए है

●

ससार की प्रत्येक माता में विश्वमातृत्व विद्यमान है नारी के आँसुओं में दाहक ज्वाला नही पावस की शीतलता है आँसू नारी के हृदय का अमृत है ! आँसू उसके मातृत्व का प्रमाण है

●

धान्य की लहलहाती खेती कितनी सुखद है ! पता है आँखों का यह सौन्दर्य उपलब्ध करने के लिए किसान ने कितना पसीना बहाया है ? सस्कृत जीवन के सम्बन्ध में भी यही बात है किसी भी कार्य के प्रति दृढ निष्ठा का होना आवश्यक है निष्ठा प्रत्येक सुन्दर कार्य के नींव की ईंट है

●

भारत का अध्यात्मवाद अरण्य में भटकने की बात नही कहता वह यह भी नही कहता कि सांसारिक कार्य में अभिरुचि मत रखो ! वह यही कहता है कि नारी नरक की खान है वस्तु जैसी है उसे वैसा ही समझ लो पर वैराग्य व सन्यास के नाम पर अरण्य मे ठोकर खाते हुए मत फिरो !!

●

शरद ऋतु में बादल बरसता नही केवल गरजता है अनुदार व्यक्ति काम कम करता है बोलता भर है- इसके विपरीत सज्जन या उदार कहना कुछ नही बरसना जानता है या काम किए जाता है

●

कर्म करो ! आगमन मत करो !! रुचि अवश्य दिखाओ पर अहंकार त्याग दो कर्म करना तुम्हारा काम है, उसमें सौन्दर्य खोजना उसका मूल्यांकन करना—य सब दूसरों के काम हैं। तुम अपनी सीमा में काम करो वे तुम्हारा मूल्य अवश्य आँकेंगे।

●

तोता रामायण का चौपाइयाँ और गीता के श्लोक रट लेता है परन्तु इतने मात्र से वह किसी से अपनी रक्षा नही कर सकता भाग महान पण्डित और मुल्ला भी भाषण देकर जनता के मस्तिष्क में विचारों का छाप लगा सकते है परन्तु माया के पजे से वे अपनी रक्षा नहीं कर सकते

●

हमारे बड़े धर्माचार्यों ने भारतीय जनता को स्वार्थमय बना दिया है वे निरंतर यही उपदेश करते है कि ससार स्वार्थमय

है। तुम्हारा कोई सगा नही है। मृत्यु के समय कोई साथ नही देगा पर वे यह क्यो नही सोचते कि मृत्यु के समय नही पर आज तो साथ दे रहे है सारा ससार स्वार्थमय है यह सोचकर अगर एक दूसरे पर विश्वास ही मनुष्य को न रहेगा तो उस हालत मे ससार जरूर स्वार्थ की आग मे जलने लगेगा और उस आग मे पण्डित मुल्ला या साधु कोई भी नही बच सकेगा।

●

पराजय से मनुष्य निराश हो जाता है परन्तु वस्तुत पराजय से मनुष्य की बासी जिन्दगी मे ताजगी आती है वह मनुष्य की हलचलभरी जिन्दगी मे रगीनी ला देती है उसके खून मे उबाल आ जाता है साँसो मे गीत गूजने लगते है, यद्यपि विजय महान् है परन्तु आवश्यक हो तो पराजय महत्तर है

●

कल ! इस शब्द मे कितनी सभावनाए भरी पडी हैं भले ही आज का दिन कितना ही निराशा के मेघो से घिरा, भय, बीमारी तथा मृत्यु की आशका लिए है, किन्तु सौभाग्य की सभावना का कल कितना सुन्दर है ! इसलिये अच्छा हो हम मृत्यु को सिर्फ आनेवाले एक कल की तरह समझें जो असीम विश्वास और उत्साह से भरापूरा है

●

स्वामीजी के जीवनसूत्र

महास्थविर मुनिराज श्रीहजारीमलजी म को उनके जीवनकाल में और आजतक जनमानस एकात श्रद्धा स्नेह भक्ति और आदर की दृष्टि से देखता रहा मानता रहा तथा मान रहा है उसका कारण यह है कि उनका जीवन कुछ जीवन की उदात्त और दिव्य प्ररणाओ से प्रेरित था उनमें से कतिपय प्ररणाए निम्न प्रकार है—

(१) विश्वशान्ति (२) विश्ववात्सल्य (३) मातृजाति का उचित सम्मान (४) छोटों के प्रति स्नेह (५) गुणी जना के प्रति आदर (६) धम क प्रति जागरूकता (७) अखड ब्रह्मचर्य में एकात निष्ठा (८) हितमित व परिमित मधुर सभाषण (९) निष्काम एव नि स्पृह वृत्ति (१) सयम और तपश्चर्या में परायणता

ये वे जीवन-सूत्र है जिन पर उन्हे अपूर्व आस्था थी 'इन सूत्रों के अनुसार मेरी दिनचर्या निर्बाध व्यतीत हो—ऐसा वे अहर्निश चिन्तन किया करते थे इन सूत्रो की व्याख्यामय उनका जीवन था सूत्रो की सीमा में आनेवाली सीमित रेखा के अतिरिक्त भी उनके जीवन मे कुछ ऐसे विलक्षण सत्य देखे जाते थे जो उच्चकोटि क सन्तों में विरल ही पाए जाते है

एक उनकी दीन-बन्धुता !

वैसे जिससे भेंटना बोलने के प्रसग कभी भी किसी के भी हो वे नही टालते थ उन्होने अपने जीवन में गरीब और अमीर के साथ कभी भेद-व्यवहार नही किया तथापि वे दीन असहाय निराश और धनहीन से अधिक सम्बन्ध रखते थे इस क पीछे उनका यह विश्वास बोलता रहता था—'निराशा में घिरा व्यक्ति सन्त के सम्पर्क में आकर, सन्त के जीवन से साधना से उपदेश से—आशा और उत्साह का प्रकाश प्राप्त कर सकता है कर्तव्य की निष्ठा की पवित्र ज्योति जगा सकता है इसलिये सन्त पुरुषा का सग आवश्यक है स्वयं जिस विचार-पथ पर चलते थे उसी पर बढने का वे अन्य सम्पर्कस्थ व्यक्ति को बडी दृढतापूर्वक उपदेश करते थे 'पत्थर के भगवान् की पूजा कर तुम यह सोचते हो कि वे हमारी आत्मा का पाप शान्त कर देंगे यह कभी नही हो सकता अपने क्रूर कर्मों का यदि वस्तुत प्रायश्चित्त करना चाहते हो तो पहले झोपडी में रहनेवाले दरिद्रनारायण को प्रसन्न कर लो तभी दो हाथोवाला आत्मस्वरूप भगवान् तुम्हे सत्य-पथ पर बढने की सत्प्ररणा प्रदान कर सकता है

दो प्राणिमात्र के प्रति स्नेह !

मनुष्य अपने ही सुख की सोचे अपने ही आराम-विश्राम को महत्त्व दे आस-पास के मनुष्य और दूसरे प्राणी किस प्रकार

जीवन व्यतीत कर रहे है, इस ओर कभी ध्यान ही न दें तो निस्सदेह, उस मानव को मानव के परिधान मे पशु कहना होगा

स्वामीजी की करुणा-धारा आवश्यकता के अनुसार मनुष्यो और पशुओ की ओर मुड जाती थी क्योंकि 'खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा, वेर मज्झ न केणइ' भावना की इस भावगगा मे उन्होंने अपने आपको निमज्जित किया था स्वाभाविक ही था वह उनके जीवन के प्रत्येक व्यवहार व कर्म से प्रकट होती

एक वार उन्होने देखा कि 'निवरी' के आस-पास इस वर्ष सुकाल न होने के कारण साधारण जनता भारी सकट मे है व्यापक अभाव व्याप्त है रोटी-रोजी के और वस्त्र के अभाव मे तिवरी के आस-पास के अभावग्रस्त लोग रेलवेलाईन पर सामर्थ्य है तो और नही है तो, दिनभर खटते है—छोटे-छोटे वच्चो को साथ लेकर—मेहनत मजदूरी करते है

उन्होने गभीरतापूर्वक सोचा अपने प्रवचन को मोड दिया निपुण व्याख्याता वही कहलाता है जो मानव समस्या को लक्ष्य मे रखकर विवेचन करता है और सत्य के दर्शन कराता है अत उस समय उन्होंने अपने उपदेशों मे इस समस्या को सामने रखकर प्रवचन करने प्रारम्भ किये

'जो श्रम कर रहे है, उन्हे श्रम इस स्थिति मे ही क्या हर अवस्था मे करना होगा श्रम के विना किसी से दान स्वरूप सहयोग लिये जाने से तात्कालिक समस्या का हल होता है वह उस काल तक ही सीमित होकर रह जाता है यह स्पष्ट है कि वह स्थायी हल नही है साथ ही इस प्रकार से विना श्रम के प्राप्तव्य से श्रम के प्रति अनास्था उत्पन्न होती है तथापि साधनसम्पन्न मनुष्य का इस हालत मे धर्म हो जाता है कि वह अभावग्रस्तो को सुविधा पहुँचाये अस्तु, उनके सतर्क करुणाभाव प्रतिपादक उपदेशो से प्रेरित होकर प्रसिद्ध उद्योगपति श्रीजुगराजजी श्रीश्रीमाल ने अभावग्रस्त लोगों के लिये यथायोग्य वस्त्र व भोजनादि की व्यवस्था की'

प्रस्तुत प्रसग मे एक और करुणा का साकार घटित स्वरूप प्रस्तुत करना अप्रासगिक न होगा एक वार नागोर के समीपवर्त्ती क्षेत्रो मे चारे के अभाव मे पशुओ का जीना दूभर हो गया था उस समय उन्होंने दुष्काल के सकट के परिणामो को सामने रखकर अपने प्रवचनो मे पशुओ की उपयोगिता और उनके द्वारा मानव जाति के लिये होनेवाले लाभो का प्रतिपादन किया अनुदिन के प्रवचनो मे प्रकारान्तर से यह विषय उपस्थित किया कि 'धार्मिक पुरुषो के लिए इस समय इस समस्या का निराकरण करना ही आध्यात्मिक साधना का सार है !'

स्थानकवासी सम्प्रदाय का उद्‌गम, विकास और परम्परादर्शन

भारत की निर्गुण सन्त सम्प्रदायों की परपरा बुद्धिवादी परपरा कहलाती है भावविह्वलता का अतिरेक सदा नही रहता उसका एक समय होता है उम्र की सलवट ज्यो-ज्यो बढती जाती है त्यो-त्यो मनुष्य यथार्थवादी होता जाता है जैन-परम्परा मे भी महावीर के वाद सन्तो मे साकार और निराकार धारा का प्रस्फुटन हुआ लगभग सभी धर्मों मे उपासना की दो धाराएँ प्रवाहित हो रही है इन धाराओ को साकार और निराकार कहा जाता रहा है भक्ति युग मे इसे सगुण और निर्गुण नाम से अभिहित किया गया

भगवान् म० के सैंकडो वर्षों वाद भारत के वहुत वडे भाग मे भयकर दुष्काल पडा था उस समय अन्नसकट-जनित अस्त-व्यस्तता के परिणामस्वरूप जैनधर्म की निराकार धारा अन्त सलिला हो गई थी किंतु इस धारा का यह सौभाग्य रहा कि इसका साहित्य रह गया था पन्द्रहवी शती तक यह धारा अन्त सलिला ही वनी रही सोलहवी शती के तृतीय दशक मे लोकाशाह नामक क्रान्तिकारी वीर पुरुष का उदय हुआ वह परम वौद्धिक और विचारक था उसने तत्कालीन श्रमणो के भयकर पतन को देखा, तो उसका लौहपुरुष विद्रोह कर उठा

लोकाशाह ने धर्मग्रथो का अध्ययन प्रारम्भ किया, उसे निराकार की अन्त सलिला का निनाद सुनाई देने लगा उसने अधिक तत्परता व लगन से आगमो का गहन एव सूक्ष्म अध्ययन और चिन्तन किया लोकाशाह को पता लगा
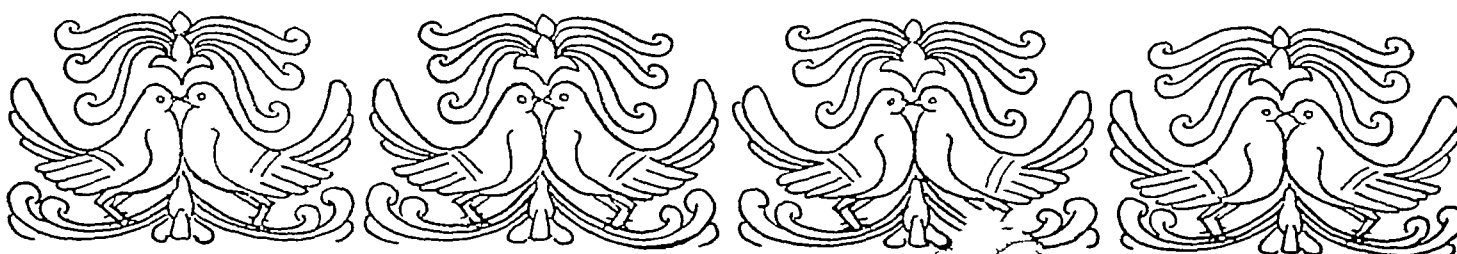
कि धर्म की आत्मा आडम्बर एवं दम्भ के आवरण में छिप गई है । उसे प्रकाश में लाना ही इस समय सबसे बड़ी शासन सेवा है कहा जाता है कि इसके बाद लोंकाशाह ने काफी समय तक पद यात्रा करते हुये अपने विचारों का 'शंखनाद' सर्वत्र सुनाया उनके विचारों को आशातीत समर्थन मिला

आराध्य की मूर्ति स्थापित न करके एक स्थानविशेष में सामूहिक रूप में या व्यक्तिगत रूप में निराकार उपासना करने के कारण उनके अनुगामियों का सम्प्रदाय स्थानकवासी सम्प्रदाय कहलाया

इस अर्थ में जैनधर्म में साकार और निराकार—ये दोनों प्रकार के सम्प्रदाय हैं स्थानकवासी सम्प्रदाय निराकार की उपासना में विश्वास रखता है

लोंकाशाह के विचारों में संशोधन करके श्रीधर्मदासजी श्रीलवजी ऋषि और श्रीधर्मसिंहजी इन तीन महापुरुषों ने इस सम्प्रदाय को सर्वांगीण और परिपुष्ट किया तीनों धर्म-स्तम्भों के विचार-आधार पर ही स्थानकवासी सम्प्रदाय टिका हुआ है आचार्य श्रीजयमलजी म आचार्य श्रीधर्मदासजी म की सम्प्रदाय की कड़ी थे श्रीहजारीमलजी म भी इसी सम्प्रदाय के एक उज्ज्वल रत्न थे

वि की अठारहवीं शती में आचार्य श्रीरघुनाथजी महाराज से दयादान के सैद्धान्तिक प्रश्नों में विचार सामञ्जस्य स्थापित न होने के कारण श्रीभीखणजी स्वामी ने गुरु से सम्बन्ध तोड़कर स्वतन्त्र सम्प्रदाय 'तेरापंथी' के नाम से स्थापित किया आचार्य श्रीजयमलजी महाराज श्रीभीखणजी के चचेरे गुरु थे आचार्यश्री नहीं चाहते थे कि भीखणजी गुरु से विमुख हों उन्होंने इस सम्बन्ध में पर्याप्त प्रयत्न किये और श्रीभीखणजी को समझाया भी किन्तु वैसा न हो सका

श्रीहजारीमलजी महाराज अपने समाज और सम्प्रदाय के अत्यन्त निष्ठावान् संत थे वे कहते थे—'मनुष्य जिस समाज सम्प्रदाय धर्म और परिवार से जब तक अनुबन्धित हो उसके प्रति उसे ईमानदारी के साथ कर्त्तव्य करना चाहिये यह कहना उनका कोरा उपदेश ही नहीं था व्यक्तिगत रूप से वे इस पर अत्यन्त दृढ़ भी थे

श्रीभीखणजी गणि की परंपरा के अष्टम आचार्य श्रीकालूगणि का एकदा पादू (राजस्थान) में आगमन हुआ उस समय पूज्य श्रीस्वामीजी महाराज भी पादू में ही विराजित थे श्रीकालूगणिजी ने सोचा हमारे आदिगुरु आचार्य श्रीभीखणजी स्वामी के चचेरे गुरु आचार्यश्री जयमलजी महाराज की सम्प्रदाय के बड़े सन्त प्रवर्तक श्रीहजारीमलजी म यहीं विराजमान हैं उनसे मिलना चाहिये उन्होंने अपने भक्तों से कहा—'स्थानकवासी मुनि श्रीहजारीमलजी महाराज को यहाँ आने का निमन्त्रण दे आओ

भक्त निमन्त्रण देने गये प्रश्न यहाँ आकर अड़ गया — कालूगणि मुनिश्री के निवास पर आयें या मुनिश्री कालूगणि के निवास पर आयें ? मुनिश्री ने निर्णय दिया—'तेरापंथी' सम्प्रदाय में यह प्रचारित करने की प्रथा है कि कोई भी स्थानकवासी मुनि उस पक्ष के चाहने पर भी मिलता है तो यही प्रचारित किया जाता है कि स्थानकवासी मुनि कालूगणि के दर्शन करने या दर्शनों का लाभ लेने आये जैसे भी हो यह परंपरा आज तक रूप बदल कर चल रही है अत उनकी मिलने सम्बन्धी इस भावना की तो मैं कद्र करता हूँ मगर उनके निवास पर नहीं जा सकता अच्छा यही है कि वे स्वयं ही यहाँ पधार जायें

मिलने वाला जिससे मिलना चाहता रहा है वह उसके निवास पर आकर ही उससे मिलता रहा है और इस प्रकार से मिलना व्यवहार भी कहलाता है एक दिन अन्य स्थान पर दोनों मुनियों का अत्यन्त स्नेहपूर्ण मिलन हुआ आचार्य श्रीजयमलजी म की उदारता और सौहार्दभाव की चर्चा हुई 'हम दोनों पूज्य पारिवारिक ऊर्जा के धनी आ रघुनाथजी म से संबंधित रहे हैं साम्प्रदायिक दूरी अवश्य है परन्तु सौहार्दगत दूरी नहीं है । इस प्रकार के वार्ता प्रसंग में उनकी मिलन-भेंट प्रमुदित ढंग से सम्पन्न हुई

घटना सं १९९१ पादू (राज)

स्वामीजी की आचार्यपरंपरा

भारतीय सस्कृति के जीवनाधार सन्त :

सन्त भारतीय सस्कृति के जीवनाधार हैं भारत के सन्तो ने अध्यात्मविद्या प्रदान कर ससार के भवारण्य मे भूले-बिसरो को जीवन का चरम लक्ष्य बताया है आज अध्यात्मविद्या विदेशो मे भी पल्लवित हो रही है इसका उद्गमस्थल भारत है यह अतिशयोक्ति नही कि भारत के सन्त अनुस्रोतगामी न बनकर प्रतिस्रोतवाहक बने और उन्होने भोगाकुल भयग्रस्त ससार को, दुनिया से स्वय दूर रह कर, ध्यान, धारणा, समाधि और लयावस्था की अनुभूति का अमृत बाट कर ससार मे महनीय उपकार किया है

सन्त, विचार मे आचार और आचार मे विचारो का पवित्र पावन सगम है सन्त का जीवन विचार, आचार, विवेक-क्रिया, साधना, सयम और तप आदि का बहुरगी चित्र है भारतीय जन-जीवन, सन्त का समादर करता है, उसकी पूजा करता है क्योकि सन्तो के तप पूत जीवन से उसे प्रेरणा मिलती है जीवन की सम्यग् दिशा का सुबोध प्राप्त होता है अत सन्त का जीवन एक आलोकस्तभ है उसके चारो ओर प्रकाश-किरणें बिखर रही है

सन्तसस्कृति के प्रभाव से भारत का समग्र भाग प्रभावित है कश्मीर से कन्याकुमारी तक व अटक से कटक तक सर्वत्र सन्तजीवन का सौरभ परिव्याप्त है दक्षिण भारत के जीवट के सन्त, गुजरात व महाराष्ट्र के भक्तिपरायण सत, पजाब के, उत्तर भारत के व मध्यभारत के सतो की कीर्तिकथा और गौरवगाथा सुनकर आज भी किस भद्र भावना वाले व्यक्ति का मस्तक श्रद्धानत नही हो जाता है ? और फिर राजस्थान तो एक प्रकार से सन्तो का ही देश है तप, त्याग की विख्यात रणभूमि राजस्थान के उद्भट अलबेले मस्त सन्त जो अपनी जीवन-ज्योति से जन-जन के मन को जागृत करते रहे है—कौन उन्हे भुला सकेगा ? जैन जगत् के सन्त, श्री आनन्दघन जी, योगिराज श्रीदेवचन्द्र जी जैसे पण्डित पुरुष और श्रीयशोविजयजी जैसे विद्वान् सन्त एव भक्ति के अद्वितीय कवि विनयचन्द्रजी, भूधर जी, द्यानत व दौलतराम जी एव बनारसीदासजी जैसे अमर सन्त जैन समाज मे भक्ति युग के यशस्वी कवि हुए हैं

राजस्थान सन्तभक्तो का देश है राजस्थान, जिसमे प्रेमदीवानी, स्नेहविह्वल मीराबाई की सरस स्वर-लहरी समस्त भारत मे गूंज रही है, जिस राजस्थान मे दादू की उदात्त विचारधारा, जिससे राष्ट्रीय कवि रवीन्द्र भी प्रभावित हुए हैं, वीर राजस्थान के उन आध्यात्मिक वीर सन्तो की अमर देन चिर नवीन है राजस्थान इसीलिये 'वीर राजस्थान' के रूप मे अमर है कि यहाँ के निवासी अन्याय के लिये रण मे अद्भुत पराक्रम भी दिखा सकते हैं और समय आने पर सयम के रण मे भी उसी वीरता से आगे बढते है जब तक राजस्थान के सन्तो का जादूभरा सगीत राजस्थानियो की हृत्तत्री के तारो को झंकृत करता रहेगा, तब तक नि सदेह वे समस्त उर्ज्जस्वल अतीत को साकार करते रहेगे
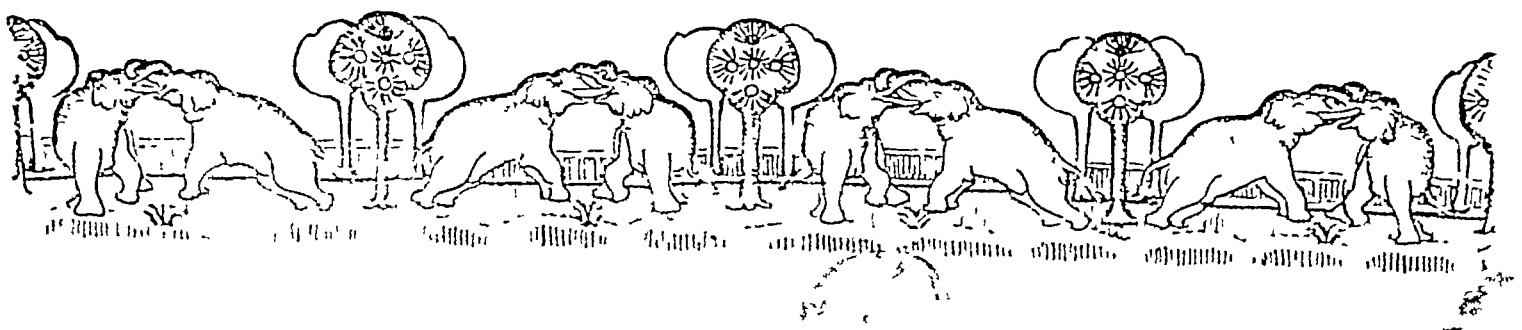
राजस्थान के सन्तजन लोकभाषा के बहुत बड़े हिमायती रहे हैं उन्होंने सदैव यह लक्ष्य अपने सामने रखा है कि जिस प्रांत में हमें जनता में जागृति उत्पन्न करनी है उस प्रांत में उसी भाषा में अपनी सदेश वाणी का प्रचार करें इस प्रकार राजस्थान के सन्तों ने जो सदेश दिये हैं वे निश्चय ही भारतीय सस्कृति को राजस्थानी सन्तों की अमर देन के रूप में सदैव उल्लेखनीय रहेंगे

इतनी भूमिका के बाद स्वामीजी म की आचार्यपरम्परा और सन्तपरम्परा का क्रमश उल्लेख किया जाता है

आचार्य श्रीजयमलजी म०

आचार्य श्रीजयमलजी म धर्मोद्धारक वीर पुरुष श्रीधर्मदासजी म की परम्परा के ज्योतिर्धर सन्तरत्न थे उन्होंने उफनते यौवन की तपती दुपहरी में ब्रह्मचर्य के कठोर व्रत को स्वीकार कर राजस्थान की वीर सन्तपरम्परा को गौरवान्वित किया था अपने कौटुम्बिक मोह को विश्व प्रेम में परिवर्तित कर दिया था और माता सरस्वती के विनीत पुत्र के रूप में ज्ञान की अखड लौ प्रज्वलित की थी वे माता जिनवाणी की जीवनपर्यन्त त्याग तपस्या वैराग्य आदि के द्वारा उपासना करते रहे

आपका जन्म मरु-प्रदेश के लाबिया ग्राम में हुआ था माता पिता का नाम क्रमश: महिमाबाई और मोहनदासजी था एक सभ्रात परिवार की कन्या (श्री लक्ष्मी बाई) के साथ इनका विवाह २२ वर्ष की अवस्था में हुआ था द्विरागमन का समय नवविवाहितो के लिये उमगो का गुलाल बरसाता हुआ-सा होता है आपके यहाँ भी द्विरागमन होने वाला था इसी बीच मेडता में आपको पूज्य श्रीभूधरजी म का वैराग्यमूलक उपदेश श्रवण करने का स्वर्ण-अवसर मिला मुनि श्री के मुख से सुदर्शन सेठ के ब्रह्मचर्य व्रत की महिमा का सगीत सुना विचार बदले जीवन बदला पूज्य श्री भूधर जी म से दीक्षा प्रदान करने की विनती की भूधर जी म ने कहा—'जीवन के महान् निर्णय को इस प्रकार सहसा कैसे कर रहे हो ?

जयमलजी ने कहा 'निर्णय तो सहसा और एक साथ ही होते है प्यास लगी हो तब पानी पीने के लिए सोचने विचारने की आवश्यकता नही होती अन्तत मेडता में ही रहकर परिवार की अनुमति प्राप्त की और सं १७८७ की मगसिर कृष्णा द्वितीया को मुनि-दीक्षा ग्रहण की

तो द्विरागमन का उल्लास भी सयमवीर के पथ का अवरोधक तत्त्व न बन सका

नवदीक्षित जयमल जी ने मुनिजीवन की साधना के साथ-साथ ही ज्ञानोपासना भी प्रारम्भ की आगे चलकर लोकगीतों व सामाजिक रगमच पर प्रचलित धुनो की रागों में स्वानुभूतिमूलक विपुल साहित्य सृजन किया इनके भक्ति वैराग्य स्तुति उपदेश एव तात्त्विक विषयो के फुटकल पद आज राजस्थान के विभिन्न ज्ञानागारों में पाए जाते है 'जयवाणी' के नाम से इनकी रचनाओं का एक बृहद् सग्रह सन् १९९ में आगरा से प्रकाशित हो चुका है

आचार्यश्री के जीवन और व्यक्तित्व के सम्बन्ध में डा नरेन्द्र भानावत का प्रस्तुत ग्रथ मे प्रकाशित निबंध यथेष्ट प्रकाश डालता है

आचार्य श्रीरायचन्द्रजी

उत्तराधिकार भौतिक और आध्यात्मिक दो प्रकार का होता है भौतिक चल-अचल सम्पत्ति के रूप में होता है जब कि आध्यात्मिक उत्तराधिकार तप त्याग एव सयम का होता है जिसको उत्तराधिकारी बनाया जाता है उसके विचार और आचार में यह प्रकट होता है आचार्य श्रीजयमलजी ने सघ-व्यवस्था का दायित्व रायचन्द्र जी को सं १८४१ म युवाचार्य घोषित करके प्रदान कर दिया था

अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करते समय आचार्यश्री ने सघ के समक्ष कहा मैं आज युवाचार्यपद रायचन्द्र जी को प्रदान

करता हूँ यह समय इनके पूर्वाभ्यास का है मैं अनुभव कर रहा हूँ कि ये आचार्य पद के उत्तरदायित्व को दक्षतापूर्वक निभा सकते हैं सघ इनके नेतृत्व मे रत्नत्रय की वृद्धि करता हुआ आध्यात्मिक पथ पर निरतर बढता रहे, यही मेरी आन्तरिक अभिलाषा है

आचार्यश्री रायचन्द्र जी का जन्म, स० १७९६ आसौज शुक्ला एकादशी को जोधपुर मे हुआ था माता नन्दादेवी और पिता विजयराज धाडीवाल थे

इन्होने किशोरावस्था व यौवनावस्था के सधिस्थल पर खडे होकर मुनिदीक्षा का भीष्म निर्णय किया था स्वामी श्री गोरधनदास जी द्वारा स० १८१४ आषाढ शुक्ला एकादशी को मारवाड के प्रसिद्ध पुरातन नगर पीपाड मे भागवती दीक्षा ग्रहण की थी ३९ वर्ष १० माह और ६ दिन तक मुनिजीवन के कठोर विधि-निषेधो मे रहकर आचार्य जयमल जी की दृष्टि मे युवाचार्य पद की योग्यता प्राप्त कर ली थी समग्र मुनि जीवन ५४ वर्ष ६ माह और १८ दिन तक अत्यन्त दृढतापूर्वक व्यतीत किया

इनके वैराग्योद्गम की कहानी अत्यत अद्भुत है किशोर और यौवन अवस्था के मदभरे दिन थे माता-पिता ने सुशील कन्या से पाणिग्रहण करने की तैयारी कर ली थी स्वजन-परिजन पर्याप्त मात्रा मे उपस्थित हो गये थे घर मे स्त्रियाँ मगलगीत गा रही थी अडोस-पडोस से विवाह की शुभ कामना स्वरूप भोजन (बिंदोला) के निमत्रण वश घर-घर क्रमश भोजन करने जाना पडता था एक दिन (बिंदोला आरोगणने पडोसी रे घरे पधारया हा) भोजन करते-करते अकस्मात् वैराग्य भाव के अकुर फूट पडे विवाह की तैयारी जहाँ की तहाँ रह गई और थोडे ही दिनो बाद दीक्षा का बिंदोला प्रारभ हो गया और आप मुनिव्रत धारण कर वीरव्रती बन गये

इन्होने ज्ञानधन का विपुल अर्जन किया था दर्शनशास्त्र पढा लक्षणग्रथो पर अधिकार प्राप्त किया वह युग, पद्य की प्रतिष्ठा का युग था अत इन्होने तत्त्वात्मक, उपदेशात्मक, स्तुत्यात्मक एव कथात्मक पद्यो की राजस्थानी भाषा मे रचना की वे रचनाएँ राजस्थान के विभिन्न प्राचीन भण्डारो मे आज तक बराबर मिलती जा रही है परन्तु इस यत्र-युग मे भी कोई ऐसा अन्वेषक नही उत्प्रेरित हुआ जिसने प्राचीन मुनियो की मूल्यवान रचनाओ को प्रकाशित कर जनता के समक्ष उपस्थित किया हो मैंने इनकी विपुल रचनाओ का एक सग्रह 'रायरचना' के नाम से तैयार किया है जो शीघ्र प्रकाश मे आने वाला है

आपने ७ भव्यात्माओ को दीक्षा प्रदान कर उनकी शिक्षा-दीक्षा, तप, त्याग, वैराग्य आदि का दायित्व वहन किया था आपकी सम्पूर्ण आयु ७२ वर्ष ३ माह की थी स० १८६८ माघकृष्ण चतुर्दशी को देहोत्सर्ग किया

आचार्य श्रीआसकरणजी

आचार्य श्री रायचन्द्र जी ने सवत् १८५७ आषाढ कृष्णा पचमी के दिन श्रीआसकरण जी म० को युवाचार्य पद प्रदान किया निरीक्षण करते रहे कि आचार्य-पद का महान् दायित्व परिवहन करने मे ये कितने सक्षम है कालातर मे आचार्यश्री को विश्वास हो चला कि आचार्य-पद का उत्तरदायित्व ये कुशलतापूर्वक वहन कर सकेंगे आचार्य श्री-रायचन्द्रजी म० के स्वर्गवास के पश्चात् आपने स० १८६८ माघ पूर्णिमा के दिन मेडता मे आचार्य-पद ग्रहण किया जयगच्छ सुयोग्य नेतृत्व प्राप्त कर प्रमुदित हुआ

आचार्य श्रीआसकरणजी का जन्म, तिवरी (तिमरपुर राज०) मे सवत् १८१२ मार्गशीर्ष कृष्णा द्वितीया को हुआ था माता गीगादे और पिता रूपचन्द्र जी बोथरा थे इनका गृही जीवन साढे सोलह वर्ष रहा आचार्य श्रीजयमलजी म० द्वारा स० १८३० वैशाख कृष्णा पचमी को तिवरी मे मुनिदीक्षा धारण की थी

इनके वैराग्योद्गम की कहानी बडी महत्त्वपूर्ण है आसकरणजी के वाग्दान की तैयारी हो चुकी थी माता परम प्रसन्न थी मेरे घर मे जिस चाद-सी बहूरानी का आगमन होनेवाला है, उसके अभिभावक आज वाग्दान कर वचनबद्ध होगे
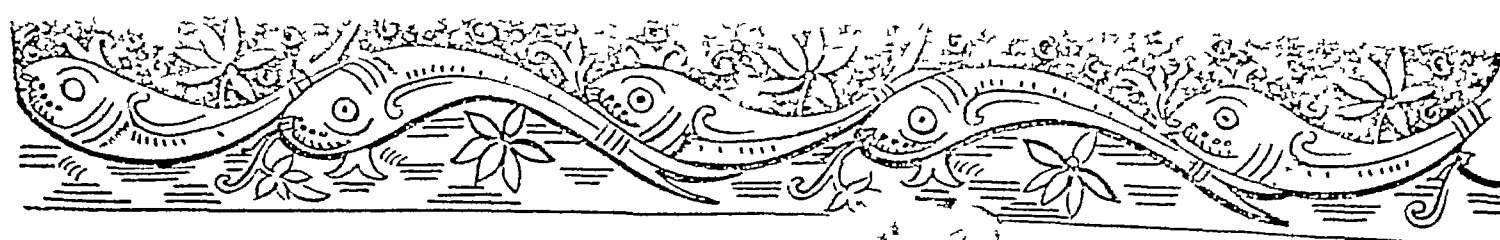
स० १८६४ आश्विन कृष्णा तृतीया को सोजत नगर मे मुनिदीक्षा ग्रहण की दीक्षोपरात विभिन्न विषयो का अध्ययन किया अपने द्वारा स्वीकृत आचारधर्म का अर्द्धशताब्दी से भी कुछ अधिक समय तक सुदृढ मन से पालन किया आपने बालवय मे ही दीक्षा धारण की थी इन्हे वैराग्य किन परिस्थितियो मे उत्पन्न हुआ था, इस बारे मे कुछ भी अविकृत रूप से ज्ञात नही होता है

आपका छन्द अलकार सम्बन्धी ज्ञान प्रसिद्ध है पद्य रचनाएँ कम ही मिली है पर जो मिली हैं वे परिपूर्ण है अन्वेषको से अनुरोध है कि जहाँ भी आपकी रचनाएँ प्राप्त हो सके, उन्हे प्रकाश मे लाने का प्रयास करे

आपकी सम्पूर्ण आयु ६६ वर्ष की रही स० १९२० फाल्गुन कृष्णा सप्तमी को आप स्वर्गवासी हुये

आचार्य श्रीकस्तूरचन्द्रजी

आचार्य श्रीसबलदासजी म० ने युवाचार्य-पद प्रदान करने की परम्परा उठा दी थी, अत आचार्य श्रीकस्तूरचन्द्रजी म० स० १९२० फाल्गुन शुक्ला पचमी को सघ द्वारा आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित हुए

आचार्य श्रीकस्तूरचन्द्रजी का जन्म स० १८९८ की फाल्गुन कृष्णा तृतीया को विमलपुर मे हुआ था माता कुन्दनादे और पिता नरसिंह जी थे आचार्य हीराचन्द्रजी द्वारा पाली नगर मे मुनिदीक्षा धारण कर सयम के अग्निपथ पर आप बढते रहे सयम की बाट मे आई अनेक बाधाओ पर साहस पूर्वक विजय प्राप्त की आपका गृहीजीवन ९ वर्ष १ मास और १९ दिन का था—ऐसा स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है मुनि जीवन, ६१ वर्ष ६ माह और २१ दिन का रहा है समग्र जीवनायु ७० वर्ष के लगभग है इस प्रकार दीक्षा का स० १९०७ फलित होता है इन्होने ५ भव्यात्माओ को मुनि-जीवन की दीक्षा प्रदान की थी

आपके द्वारा कोई साहित्य रचा गया या नही, इस विषय मे अभी तक कोई जानकारी प्राप्त नही हो सकी है सम्भव है अपने पूर्व आचार्यों की परम्परा का निर्वाह करते हुए आपने भी कुछ रचनाएँ की हो, जो किन्ही ग्रथागारो मे दबी पडी हो

आचार्य श्रीभीखमचन्द्रजी

सातवें आचार्य श्री भीखमचन्द्र जी म० भाद्रपद शुक्ला पूर्णिमा स० १९६० मे आचार्य-पद पर आसीन हुए मारवाड की प्रसिद्ध राजधानी जोधपुर मे आपको आचार्य पद प्रदान किया गया था

आपका जन्म, माता जीवनदे की रत्नकुक्षि से हुआ था पिता का नाम रत्नचन्द्र था, बरलोटा गोत्र के ये मूथाजी के नाम से अधिक प्रख्यात थे आचार्य श्रीकस्तूरचन्द्रजी के द्वारा मुनिदीक्षा ग्रहण की थी आप जन्मजात वैरागी थे आपने कुमार वय मे ही सयम व्रत स्वीकार कर लिया था आपके दो शिष्य हुये थे श्री कानमल जी अतीव प्रतिभाशाली थे आगे चलकर वे ही आपके उत्तराधिकारी हुये जन्म, आचार्य-पद व स्वर्गवास सवत् से दीक्षा स० का अनुमान किया जा सकता है स० १९६५ की वैशाख कृष्णा पचमी आपका देहोत्सर्ग दिवस है

आचार्य श्रीकानमलजी

आचार्य भीखमचन्द्र जी म० के पश्चात् आपके सुयोग्य शिष्य मुनि कानमल जी को स० १९६५ की ज्येष्ठशुक्ला द्वादशी को कुचेरा (कूर्मपुर) मे आचार्य-पद प्रदान कर जयगच्छ का आध्यात्मिक शासन सौंपा गया

इनका जन्म स० १९४८ की माघ शुक्ला पूर्णिमा के दिन धवा गाँव मे हुआ था माता तीजादे, पिता अगराजी पारिख थे आचार्य भीखमचन्द्र जी द्वारा १९६२ की कार्तिक शुक्ला अष्टमी को महामदिर (जोधपुर) मे लघु वय मे ही आपने मुनिव्रत स्वीकार किया था २३ वर्ष मुनि जीवन के रूप मे व्यतीत किये आपके बारे मे एक विशेष उल्लेखनीय घटना यह है कि सिर्फ तीन वर्ष की दीक्षापर्याय के पश्चात् ही आप आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित हुए इससे ज्ञात होता है कि आप मे असाधारण योग्यता, सयमनिष्ठा और सुशासन की अद्भुत योग्यता थी

स्वामीजी का वंश-परिचय

स्वामी श्रीबुधमलजी म०

आचार्य श्रीजयमल्लजी म०[1] के ५१ शिष्य होने का उल्लेख मिलता है उनके १६ शिष्यो के नाम भी पाए जाते है स्वामी श्रीगोरधनजी म० आचार्यश्री के ज्येष्ठ शिष्य थे मुनि श्रीरायचन्द्रजी आपके प्रतिभावान् तार्किक व चर्चावादी शिष्य थे आपको सघ द्वारा जयगच्छ का आचार्य पद प्रदान किया गया था आप द्वितीय आचार्य थे अपने समय के ज्योतिस्तभ थे आपके ५ शिष्य हुये प्रधान शिष्य श्रीआसकरणजी थे आचार्य रायचन्द्रजी के बाद आप तीसरे आचार्य हुए आपके १० शिष्य थे श्रीबुधमलजी म० पाचवें शिष्य माने जाते थे

स्वामी श्रीबुधमलजी म० का जन्म जोधपुर समीपस्थ लुणार ग्राम मे हुआ था माता पन्नादे और पिता श्रीकपूरचन्द्रजी थे आपके माता-पिता व स्वय इस प्रकार तीनो ने भागवती दीक्षा धारण की थी आपकी स्तुति व प्रशस्ति मे कवियो ने जो पद्य-रचना की है उसमे आपके माता-पिता और स्वय आपके दीक्षित होने का विस्तार से उल्लेख पाया जाता है आपके ही शिष्य स्वामी श्रीफकीरचन्द्रजी म० के उल्लेखानुसार जोधपुर के राजा मानसिंहजी और नवाब मीरखान मे युद्ध हुआ ग्राम मे जीवन की सुरक्षा मे सन्देह उत्पन्न होने लगा श्रीकपूरचन्द्रजी सपरिवार लुणार से जोधपुर आगये दोनो भूपतियो मे सघर्ष छिडा हुआ था एक दिन मीरखान-पक्ष की ओर से चलाया गया तोप गोला पन्नाजी के बराबर से गुजरा पन्नाजी को शारीरिक हानि तो नही हुई, केवल उनके वस्त्र भुलस गये यह गोला श्रीपन्नाजी के वैराग्य मे निमित्त बन गया जयगच्छीय श्रीगीगाजी साध्वी के पास पन्नाजीने जयपुर मे दीक्षा धारण कर ली श्रीकपूरचन्द्रजी का मन भी निर्वेद मे ढल गया, साथ ही पुत्र का भी

आचार्य श्रीआसकरणजी म० उन दिनो जोधपुर मे विराजमान थे पिता-पुत्र आचार्यश्री की सेवा मे पहुँचे आचार्यश्री ने पिता-पुत्र के वैराग्य-मूलक मन की गहराई नापी और दोनो को स० १८६६ की पौष शुक्ला षष्ठी को महामदिर (जोधपुर) मे दीक्षा प्रदान की

दीक्षानतर स्वामी श्री बुधमलजी ने जैनागमो का अध्ययन किया पहले जैसी परपरा थी तदनुसार जैनागमो व अन्य

---

१ स्वामीजी के वशपरिचय के प्रसग में आ० जयमल्लजी, आ० रायचन्द्रजी, आ० आसकरणजी का परिचय आवश्यक है यह अन्यत्र आचार्य-परपरा में दिया जा चुका है अत यहा स्वामी बुधमलजी म० से हजारीमलजी तक के अतीत परिवार का परिचय प्रस्तुत किया गया है
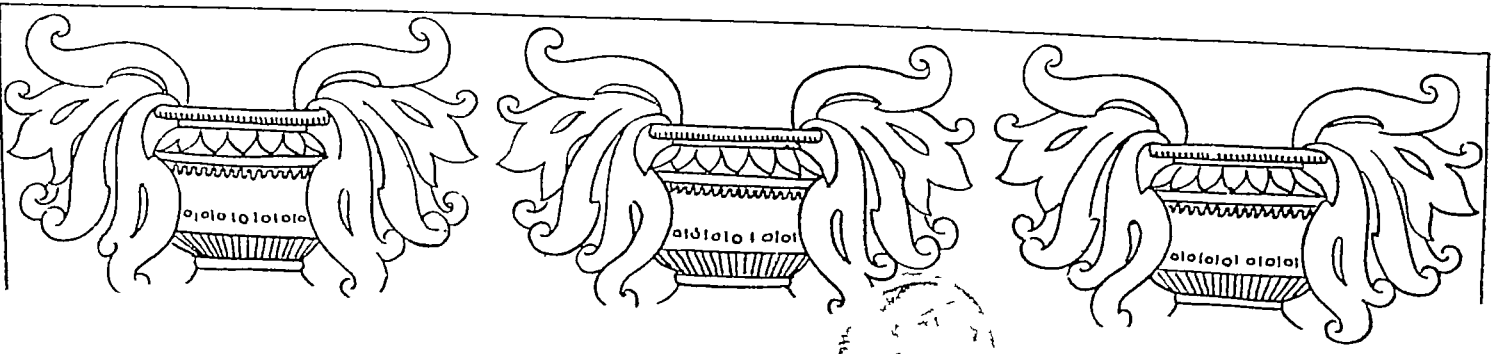
ग्रन्थों को कलापूर्ण ढंग से लिपिबद्ध किया। आपके जीवन की सर्वाधिक विशेषता यह थी कि आप निरन्तर श्रुतसाधना में निमग्न रहते थे जीवन में सदैव अप्रमत्त भाव की उपासना में लीन रहे एक मिनट भी व्यर्थ खोना आपको इष्ट नहीं था यही कारण है कि आपके लिखित ग्रंथ आज भी विपुल मात्रा में पाए जाते है

परवर्ती अनेक विद्वान् सन्त-सतियों ने आपके परिचय एवं प्रशस्ति के रूप में पद्य रचना की है—

> सुन्दराक्षरसंयुक्त-शास्त्र-लेखन-तत्परम्
> बुधमल्लं-महाराजं वन्दे भक्तिपुरस्सरम्।

आपने ३२ आगमों की अनेक बार प्रतिलिपियाँ मनोयोगपूर्वक की थी आज भी आप द्वारा लिखित ग्रंथ स्थान-स्थान पर खोज करने पर पाए जाते हैं ज्ञानाराधना में अत्यन्त निरत रहते हुए आप संयमसाधना में भी आस्थावान् थे संयम का अत्यंत दृढतापूर्वक आपने पालन किया सं १९२६ वैशाख शुक्ला दशमी के दिन नागौर नगर में विधिवत् संलेखना करके स्वर्गवासी हुये

स्वामी श्रीफकीरचन्दजी महाराज

आप स्वामी श्रीबुधमलजी म के एकमात्र विद्वान् शिष्य थे आपका जन्म जोधपुर समीपस्थ बिसलपुर ग्राम में हुआ था माता कुन्दना के अंगजात और पिता श्रीनरसिंहदासजी के आत्मज थे आपके एक छोटे भाई थे जो इसी गच्छ में आचार्य कस्तूरचन्दजी म के नाम से विख्यात थे पुत्रों और पत्नी का असमय में ही त्याग कर श्रीनरसिंहदासजी स्वर्गवासी हुए आपके पूरे परिवार ने जिसमें पत्नी भी सम्मिलित थी जिन-धर्म की दीक्षा धारण की

स्वामीजी की अध्यवसायशील प्रकृति के बारे में लिखे गये अनेक पद्यों में से एक इस प्रकार है—

> विनय करी गुरुदेव रिझायी भगत्या अंग भारा
> वेद सूत्र उपांग पइन्ना किया कंठ—धारा।
> व्याकरण छंद ज्योतिष स्वरोदय और वैद्य प्यारा
> पुराण कुराण ने डिंगल पिंगल न्याय नाममाला।

आगमों के अंग उपांग आदि का सूक्ष्म मनन किया आगमों के अतिरिक्त अन्य धर्मों के ग्रन्थों का भी गहन अध्ययन किया आपका व्याकरण संबंधी ज्ञान गंभीर मूल्यवान् था आप संस्कृत के उद्भट विद्वान् थे यही कारण है कि आपके पास अन्य सम्प्रदायों के सन्त भी अध्ययन करने में गौरव का अनुभव करते थे मूर्तिपूजक श्वेताम्बर सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य श्रीविजयानन्दजी सूरि (आत्मारामजी) ने सम्प्रदाय परिवर्तन कर लेने के पश्चात् भी आपकी विशिष्ट विद्वत्ता की ख्याति से प्रभावित व आकृष्ट होकर व्याकरण आदि का अध्ययन किया था सौराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त तपस्वी श्री माणकचन्दजी राजस्थान में[1] आये और आपके निकट लगभग दो वर्ष तक रहकर व्याकरण आदि का अध्ययन करते रहे तपस्वी श्रीमाणकचन्दजी म के गुर्जर भाषा में प्रकाशित बृहद् जीवन चरित्र में स्वामी श्रीफकीरचन्दजी म की अद्वितीय विद्वत्ता के बारे में पर्याप्त विस्तार से उल्लेख किया गया है

आप प्रखर तार्किक और उत्कृष्ट चर्चावादी भी थे किन्तु आपकी तत्त्वचर्चा कभी मनोमालिन्य का कारण नहीं बनी तत्त्व चर्चा तर्क और प्रमाणों के आधार पर बड़ी उदार व सममगत करते थे तेरापंथी (जैनों की एक उपशाखा) सम्प्रदाय के मुनियों के साथ भी आपने तत्त्वचर्चा अपने समय में की थी तेरापंथियों के गढ़ लाडनू में वर्षावास करना प्रथम

---

[1] [illegible] स्थानं में

प्रभाव, उन जैसे सयमशील और प्रकाण्ड पण्डित और तत्त्वज्ञानी के लिए ही सभव था आपका लाडनू-चातुर्मास धर्म-प्रभावना की दृष्टि से वडा सफल रहा अनेक भाइयो और वाइयो को दया-दान का उपदेश देकर जिनाज्ञामूलक सन्मार्ग प्रदर्शित किया आपके पश्चात् ही पूज्य श्रीजवाहरलालजी म० को इस क्षेत्र मे सफलता का गौरव प्राप्त हुआ था

उस युग के असाधारण प्रतिभाशाली इन विद्वान् सतशिरोमणि ने चैत्र कृष्णा त्रयोदशी के दिन समाधिमरणपूर्वक व्यावर नगर मे देहोत्सर्ग किया

स्वामी श्रीजोरावरमलजी म०

आप स्वामी श्रीफकीरचन्द्रजी म० के सबसे छोटे प्रतिभावान शिष्य थे. आपका जन्म सिहु (जोधपुर) की पवित्र धरती पर विक्रम सवत् १९३६ की वैशाख शुक्ला तृतीया के दिन माता मगना वाई की रत्नकुक्षि से हुआ था आप श्रीरिद्ध-करणजी के आत्मज थे स० १९४८ की अक्षयतृतीया के शुभ मुहूर्त मे स्वामी श्रीफकीरचन्द्रजी के द्वारा मुनिदीक्षा ग्रहण की थी आपकी यह दीक्षा जयगच्छीय परम्परा के गौरवशाली नगर नागौर मे हुई

दीक्षाग्रहणोपरात सस्कृत व्याकरण, आगम, टीका चूर्णि, छन्द शास्त्र, ज्योतिष और न्यायशास्त्र का गहन अध्ययन किया अध्ययन के साथ-साथ सूक्ष्म चिंतन करना आपके जीवन की एक उल्लेखनीय विशेषता थी प्रवुद्ध एव गभीर चिंतन का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि सम्प्रदाय मे रहते हुए भी आपके विचारो मे विराटता आगई और आप समन्वयवादी हो गये आपको लगा कि सव धर्मों का लक्ष्य एक ही है आपके जीवन मे समन्वयवृत्ति के महत्त्वपूर्ण कार्यो की एक लम्बी सूची जुडी हुई है सामाजिक क्षेत्र मे मानव के सर्वांगीण विकास पर सोचना और उसे कार्यरूप मे परिणत करना ही अन्त मे आपने अपने लोकहित का मूलाधार वना लिया था ।

आपने कुचेरा डेह नागौर आदि क्षेत्रो मे हरिजनो के सम्मान का प्रभावशाली आन्दोलन प्रारम्भ किया था स० १९९५ का प्रसग उल्लेख्य है साधारणतया सर्वत्र ही हरिजनो को जूठन देने की परपरा है स्वामीजी को यह व्यवहार मानवजाति का घोर अपमान प्रतीत हुआ उन्होने कुचेरा, नागौर डेह आदि क्षेत्रो मे हरिजनो के सम्मान का प्रभाव-शाली आन्दोलन प्रारम्भ किया सर्वप्रथम कुचेरा मे अनुदिन के प्रवचनो मे इसका विरोध किया निरन्तर के प्रवचनो के परिणामस्वरूप कुचेरा के जैन बन्धुओ ने हरिजनो को झूठा भोजन न देने की प्रतिज्ञा की साथ ही उन्हे शुद्ध भोजन अमुक परिमाण मे देने का भी निश्चय किया इसके वाद मे जहाँ कही भी आप पधारे सर्वत्र इस बुराई के उन्मूलन के लिये प्रयत्नशील रहे

मुनिश्री द्वारा किये गये अन्त्यजोद्धार के कार्य की उलटी प्रतिक्रिया हुई हरिजन-बन्धु मुनिश्री के पास आये और बोले—'महाराज, आपने यह क्या किया ? पहले हमे अधिक मात्रा मे भोजन प्राप्त होता था और अव सीमित ही मिलता है आपका यह सुधार हमारे किस काम आया ?'

स्वामीजी म० ने हरिजन-बन्धुओ की बात सुनी और विचारो मे गहरे उतर गए —'मनुष्य कितना हीन भावो मे डूब जाता है उसे अपने मानवीय महत्त्व का भी भान नही रहता है सच है, दासता मनुष्य के शरीर पर ही नही, मन, वाणी और आत्मा पर भी छा जाती है जब और जिन परिस्थितियो मे इस प्रथा का प्रारम्भ हुआ होगा उस समय अवश्य इन लोगो के मन मे यह चुभा होगा कि हमे उच्छिष्ट भोजन दिया जाता है धीरे-धीरे वे विचार मर गये दासता और दीनता इनके दिमाग पर आज किस कदर सवार हो गई है कि शुद्ध भोजन मिल रहा है तो भी उच्छिष्ट भोजन के बिना इन्हे सन्तोष नही मिल रहा है दैन्य कितना वडा पाप है वह मानव को अपना मूल्य और महत्त्व भी नही आँकने देता है आज उन्ही के हित की बात मे उन्हे हानि दिखाई दे रही है '

मुनिश्री ने आगत हरिजन-बन्धुओ को समझाया—'मनुष्य-मनुष्य सब समान है वर्णविभाजन का उद्देश्य समाज की सुव्यवस्था था सुव्यवस्था करने मे जिसके हिस्से मे जो कार्य आता है, उसे वह कार्य करना होता है आप लोग सेवा-

पचमी के दिन माता चम्पादेवी की पुण्यकुक्षि से जन्म हुआ श्रीअमोलकचन्द्रजी श्रीश्रीमाल को आपके पिता होने का गौरव प्राप्त हुआ वैशाख शुक्ला द्वादशी विक्रम स० १९७१ के दिन स्वामी श्रीजोरावरमलजी से आपने व्यावर मे दीक्षा अगीकार की
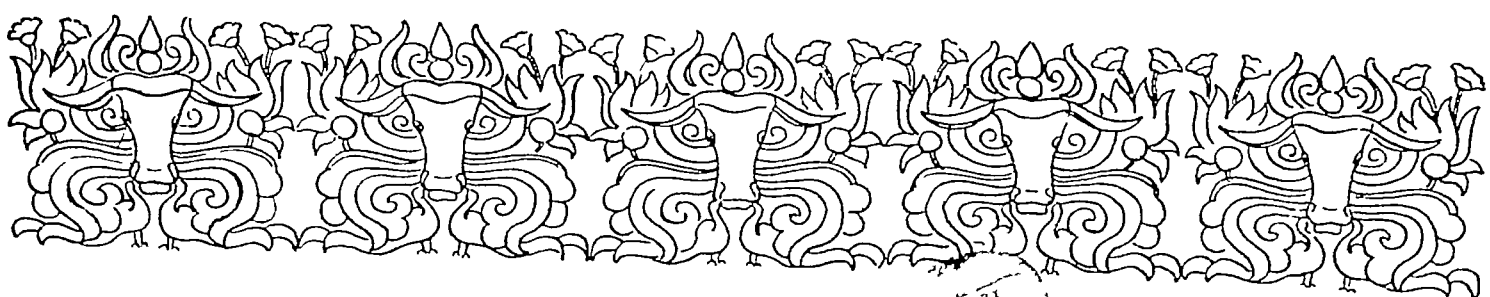
गुरु ने शिष्य को अपना विद्यावैभव प्रदान किया शिष्य ने गुरु की अपूर्व निष्ठापूर्वक सेवा की गुरु के आदेश-निर्देश से एक इच भी इधर-उधर होना आपके सेवापरायण मन ने कभी स्वीकार नही किया गुरु म० के समक्ष जैसी सयमनिष्ठा थी वैसी ही निष्ठा आज तक विद्यमान है दीक्षा के बाद आज तक सयम मे पराक्रम दिखाते हुये, साधुता की मस्ती का आनन्दोपभोग करते हुये, सयमशील जीवन की नैया को कर्त्तव्यशील माझी की तरह खेते चले जा रहे हैं आपको दीक्षा धारण किये ५० वर्ष से भी अधिक समय व्यतीत हो गया है इस बीच अल्हड जवानी आई, और गई परन्तु सयम मे हिमालय-सी अचलता, समुद्र-सी गम्भीरता और इस्पात-सी कठोरता जैसी प्रारम्भ मे रही वैसी ही आज भी विद्यमान है

थोकडो का ज्ञान आपका अद्भुत है कितने ग्रथो का ज्ञान प्राप्त किया या किसी ने कितने ग्रथ पढ लिये, इस बात को आपने कभी महत्त्व नही दिया आपने सदैव एक ही सिद्धात को अपने जीवन का आदि, मध्य और अन्त का केन्द्र माना है कि जो हम पढते हैं, समझते हैं वह हमारे जीवन को कितना स्पर्श कर पाया है यही कारण है कि आपने पढ-पढकर पठित ग्रथो की सख्या बढाने मे कभी विश्वास नही किया, जो पढा उसे जीवन की प्रयोगशाला मे ढाला है

आपके जीवन की सर्वाधिक विशेषता है–सेवा सेवा को आपने साधुता का शृ गार माना है इसलिए आप सेवाव्रती के रूप मे साधु समाज मे विख्यात हैं सेवा परम धर्म है यह धर्म, योगियो की योगसाधना से भी दुष्कर है, क्योकि इसके पालन करने मे अपनी मनोवृत्तियो का दृढतापूर्वक दमन करना पडता है मन पर विजय प्राप्त करने वाला ही सेवा-जैसे महान् गुण को जीवन मे साकार कर पाता है भर्तृहरि ने भी कहा है—'सेवाधर्म परमगहनो योगिनामप्यगम्य' गुरु की सेवा करना उतना प्रशसनीय नही है जितना प्रशसनीय है प्रत्येक छोटे-बडे सन्त की सेवा करना गुरु की सेवा समाज मे सम्मान पाने एव गुरु का प्रिय बनने को भी मनुष्य कर लेता है किन्तु आप समान भाव से छोटे-बडे सभी मुनियो की सेवा कर अपूर्व प्रसन्नता का अनुभव करते है अपने उपकारी के प्रति विनम्र भाव मे सेवकत्व जतलाना एक बात है और आकाक्षा रहित होकर गुणी जनो की सेवा मे प्रवृत्त रहना जीवन की दुष्प्राप्य सिद्धि है आपकी पुनीत सेवावृत्ति के परिणामस्वरूप ही मैं (मधुकर मुनि) साधु जीवन मे एकदम निर्द्वन्द्व और निश्चिन्त रह कर एकाग्रभाव से अध्ययन मे तत्पर रह सका वस्तुत मेरे जीवन के निर्माण मे स्वामीजी म० की अनुग्रहपूर्ण सद्भावना एक प्रधान कारण रही है, गुरुदेव श्रीजोरावरमलजी महाराज की और फिर स्वामी श्रीहजारीमल जी म० की सेवा के अवसरो को आप स्वय ओट आ लेते और मुझे सदैव ज्ञान-ध्यान करते रहने की प्रेरणा प्रदान करते रहे जीवन के ६३ वर्ष पूर्ण कर चुकने पर भी आप मे आज भी सन्तो की सेवा के प्रति वही तीव्र वेग है
आपके भाल पर ब्रह्मचर्य का तेज आज भी देदीप्यमान है आप अपनी धुन के धनी है आपमे साधुता की सहज मस्ती है श्रावक समाज पर आपका प्रभाव पर्याप्तमात्रा मे विद्यमान है

स्वामीजी म० के स्वर्गवास के बाद आपका स्वास्थ्य ठीक नही रहता है तथापि आपकी वाणी मे जो कडक है उसके पीछे विशुद्ध साधुत्व का बल बोलता दिखाई देता है आपने सौन्दर्यात्मक लेखन मे खूब प्रगति की है वर्तमान मे आपका जैनलिपि (प्राचीनशास्त्रो की पडीमात्रा लिपि) मे सुन्दर लेखन साधु-समाज मे प्रसिद्ध है

मुनि मिश्रीमल 'मधुकर'

(स्वामीजी म० के वर्तमान परिवार का परिचय यहाँ दिया जा रहा है मैं भी उसका एक सदस्य हूँ इसी नाते निम्न-लिखित पक्तियाँ लिखने की विवशता है—स्वय अपने बारे मे)
जन्म, तिवरी स० १९७० मे माता तुलसा जी पिता जमनालालजी धाडीवाल गुरुदेव श्रीजोरावरमल जी म० की कृपा
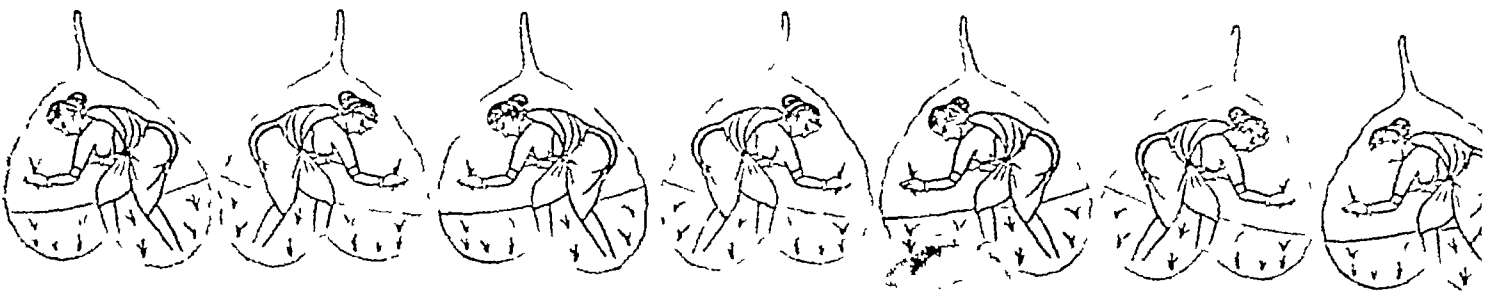
हुई । सं. १९८८ में भिणाय (मेरवाड़ा) में वैशाख शुक्ला दशमी को दीक्षा सम्पन्न हुई। जीवन को एक नई दिशा मिली।

दीक्षा के पश्चात् संस्कृत प्राकृत आदि भाषाओं का और व्याकरण, साहित्य, धर्म एवं दर्शन आदि विविध विषयों का अध्ययन किया। सौभाग्य से ऐसे समर्थ विद्वान् गुरुदेव का सान्निध्य प्राप्त हुआ, जो ज्ञान के महत्त्व से भली भाँति परिचित थे और जो अपने जीवन में ज्ञान की ज्योति स्वयं प्राप्त कर चुके थे। उन्होंने अध्ययन की प्रेरणा दी, समुचित व्यवस्था की। गुरुदेव के देहावसान के पश्चात् स्वामी श्रीहजारीमलजी म. की छत्र-छाया में आया। आपने भी गुरु का प्यार दिया और पथप्रदर्शन किया। प्राकृत भाषा के उद्भट विद्वान् पं. बेचरदास दोशी को भी अध्यापन के निमित्त बुलाया गया। बंगाल संस्कृत साहित्य-परिषद् की न्यायतीर्थ और काव्यतीर्थ आदि परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। साहित्यिक जीवन में प्रवेश हुआ। सर्वप्रथम श्रमण भगवान् महावीर की धर्मदेशनाओं का संकलन किया[1]। जयवाणी आदि ग्रंथों के सम्पादन का भी सुअवसर मिला। इसके पश्चात् अन्य सन्त कवियों की रचनाओं का अनेक वर्षों तक अन्वेषण करके रायरचना और आसकरण-पदावली का सम्पादन किया। संस्कृत तथा हिन्दी भाषा में अनेक प्रकीर्णक रचनाएँ की हैं जो विभिन्न संग्रहों और पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुकी हैं।

मुनि श्रीमांगीलालजी

आप स्वामी श्रीहजारीमलजी म. के ज्येष्ठ शिष्य थे। आपने ढलती उम्र में स्वामी म० द्वारा वि. सं. १९९४ मार्गशीर्ष कृष्णा एकादशी को मौजा ग्राम में दीक्षा ग्रहण की थी। आपका जन्म भाद्रपद शुक्ला दशमी को दांतिया (किशनगढ़) में हुआ था। माता का नाम पुष्पादेवी और पिता का नाम हजारीमलजी तातेड़ था।

आपका प्रारम्भ से ही धर्म के प्रति रुझान था। सात्त्विक भाव का बीजारोपण बचपन से ही हो गया था। परम विदुषी महासती श्रीउमरावकंवरजी म. आपकी ही सुपुत्री हैं, जिन्होंने स्वामीजी म. की परम्परा में दीक्षा ग्रहण की है। पुत्री की दीक्षा ने आपको संयम-जीवन की ओर मोड़ दिया। आप वृद्ध होते हुए भी तपस्या करते रहे। रसनाविजय के लिए एक उदाहरण स्वरूप रहे हुए। आपने तीन वर्ष के लगभग ब्यावर में स्थिरवास किया। अंत में सं. २०११ श्रावण कृष्णा दशमी को स्वर्गगमन किया।

तपस्वी श्रीमोहनमुनिजी

आप स्वामी म. के द्वितीय शिष्य हैं। आपका जन्म मेवाड़ के शाहपुरा नगर में हुआ था। माता गुलाबबाई और पिता मांगीलालजी पारख थे। स्वामीजी से महामंदिर (जोधपुर) में दीक्षा धारण की थी। दीक्षा के थोड़े समय पश्चात् ही तपश्चरण प्रारम्भ कर दिया था। आज भी आपकी तपश्चर्या का क्रम चलता ही रहता है। उग्र विहारी मुनियों में आप विशेष उल्लेखनीय माने जाते हैं।

श्रीसोहनमुनिजी

आप श्रीमोहनमुनिजी के शिष्य हैं। सांसारिक दृष्टि से आपके सहोदर लघुभ्राता भी हैं। आपने श्रीमोहनमुनिजी से इन्दौर में मार्गशीर्ष नवमी सं. २०१८ में दीक्षा ग्रहण की। अध्ययन और सेवा में आपकी विशेष अभिरुचि है। सब सन्तों की आपसे यह पूरी सद्भावना है कि आप अपने इस उद्देश्य में आगे बढ़ें। आपको भी पूरी लगन है। भविष्य में इसका सुन्दर परिणाम देखने को समाज उत्सुक है।

---

[1] धर्मवीर आगम भाग

जयगच्छीय विशिष्ट संत

आचार्यश्री जयमलजी महाराज की सन्तपरम्परा वैचारिक और आचारिक मामलो मे अपना विशिष्ट महत्त्व रखती है इस परम्परा मे होने वाले आचार्य और विशिष्ट सन्तो मे भूल से ही कोई ऐसा सन्त रहा होगा, जिसने साहित्य-मुक्ताओ मे चञ्चुप्रवेश न किया हो

प्रत्येक युग की एक सीमा होती है जयगच्छीय सन्तो ने माता सरस्वती के ज्ञानमदिर मे श्रद्धा और भक्ति के पद्यपुष्पो की मालाएँ अत्यत विनीत भाव से समर्पित की हैं माता सरस्वती को पुष्पमाला अर्पित करने पर भी समुचित अनुसधान के अभाव मे वे इतिहास के पृष्ठो पर अकित न हो सके, प्रकाशित न हो सके, ख्याति और यश के निकष पर चढाए न गए

परन्तु राजस्थान के प्राचीन ज्ञानागारो की खोज करने पर उनकी कृतियाँ रत्न की तरह चमकती दीख रही है यह अन्वेषको की पैनी दृष्टि का सत्य है साहित्य के कालविभाजन के अनुसार एक युग का नाम भक्तियुग है भक्तियुग मे आत्मविज्ञापन से दूर रहने का एक प्रवाह चल पडा था परिणामस्वरूप उस काल मे सन्त-भक्त कवियो ने अनत सत्ता के प्रति पद्य-पुष्पाजलियाँ अर्पित की परन्तु अपना एक निश्चित लक्ष्य निर्धारित कर रखा था कि जो रचनाएँ की जाएँ वे ख्याति के लिये नही अपितु स्वात सुखाय ही की जाएँ भक्तियुग अठारहवी सदी से कुछ अधिक दशको तक माना जाता है

जयगच्छ मे होनेवाले परवर्ती सभी सन्त भक्तियुग मे हुए है स्वय ने आनन्दानुभूति करके अपनी रचनाओ को जब जहा अवसर मिला वहाँ के भण्डारो मे रख दी कभी यह नही सोचा कि इनका प्रचार-प्रसार हो इनके प्रचार-प्रसार के साथ हमारा नाम हो आचार्य श्रीजयमलजी महाराज एक विशिष्ट चिन्तक और साहित्यकार सन्त थे वे सन्तपरम्परा का निर्वाह करने वाले सबल और सूक्ष्म साहित्यकार थे उनके साहित्य ने उनके पश्चाद्वर्ती सन्तो को इस दिशा मे बढने के लिये उत्प्रेरित किया था बहुत से ऐसे सन्त उनकी साहित्यिक परम्परा को निभानेवाले हुए परन्तु आज उनकी रचनाएँ अत्यल्प मात्रा मे ही पाई जाती है

जयगच्छ मे कुछ अन्वेषणप्रिय सत हुए और हैं जिन्होने उनकी कृतियो की खोज की है उन्हे इस परम्परा के सन्तो की अनेकानेक कृतिया मिली है 'मुनि श्रीहजारीमल स्मृतिग्रथ' मे जयगच्छ के उन समस्त विशिष्ट सन्तो का हम परिचय देना चाहते थे परन्तु दुर्दैवविपाक ही समझिये कि जिन सन्तो के पास इस सम्बन्ध की सामग्री है, प्रयत्न करने पर भी हमे वह उपलब्ध न हो सकी यदि वह सामग्री किसी पृथक् ग्रथ के रूप मे प्रकाश मे आए तो हम उनका अभिनन्दन करेंगे

जयगच्छ के जिन महामनीषी मुनियो का परिचय दिया जा चुका है उनके अतिरिक्त कतिपय विशिष्ट सन्तो का भी परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जाता है, जो इस प्रकार है—

(१) स्वामी श्रीशोभाचन्द्रजी महाराज (२) स्वामी श्रीदुरखचन्द्रजी महाराज (३) स्वामी श्रीचौथमलजी महाराज (४) स्वामी श्रीवक्तावरमलजी महाराज (५) स्वामी श्रीचैनमलजी महाराज (६) स्वामी श्रीरावतमलजी महाराज
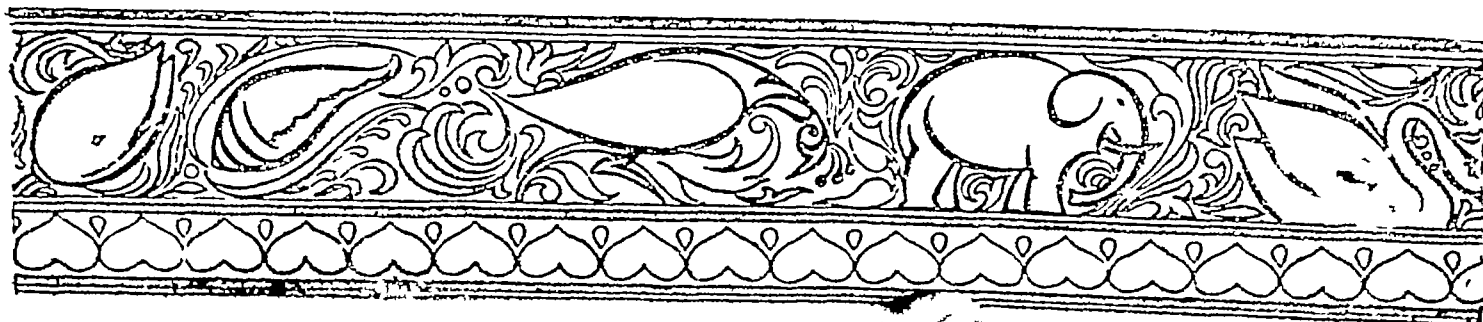
श्रीशोभाचन्द्रजी म०

जन्म बिचड़नी (जोधपुर) सं० १९१७ पिता श्रीशीतलमलजी माता धुराबाई की रत्नकुक्षि से जन्म ग्रहण किया हृदय की सुकोमल भूमि में बचपन से वीतराग वाणी का पानी साधु-सन्तों द्वारा पड़ता रहा फलस्वरूप धर्म का बीज अंकुरित हुआ जनक-जननी से भागवती दीक्षा धारण की अनुमति ग्रहण कर सं० १९२६ की भाद्रपद शुक्ला पूर्णिमा के दिन पाली (राजस्थान) क्षेत्र में आचार्य हीराचन्द्रजी म० का शिष्यत्व स्वीकार किया

ज्ञानाराधना की यौवन आया चुप-चाप चला गया ज्ञान की अखंड लौ से आपने अपने जीवन-पथ में प्रकाश पाया चारित्र की कठोर साधना स्वाध्याय त्याग और तप की अखंड आराधना के फलस्वरूप आपका स्वभाव अत्यन्त नम्र तथा जिज्ञासा जगती हुई स्व और पर सन्त परिवार की भेदक दीवारों को लांघ कर सब से स्नेह व सौजन्यपूर्ण व्यवहार करना—उस समय के सन्तों में आपमें विशेष रूप से पाया जाता था

आप के स्वभाव के आकर्षण ने तीन भव्यात्माओं को जिनधर्म की दीक्षा धारण की बलवती प्रेरणा प्रदान की मुनि श्रीचांदमलजी म० नरसिंहजी म० व श्रीमूल मुनिजी म०

वैशिष्ट्य

जिनके जीवन में हिमालय-सा उन्नत लक्ष्य व उद्देश्य होता है वह व्यक्ति परिवार की सीमाओं में बँधकर कभी नहीं रहता है सन्त परिवार की दृष्टि से आपका मुनि हजारीमलजी म० के दादा गुरु श्रीफकीरचन्दजी म० एवं गुरु श्रीजोरावरमलजी म० से निकट सम्बन्ध नहीं था तथापि आचार्य श्रीजयमलजी म० के पश्चाद्वर्ती होने जयगच्छ के नाम की मुद्रा सम्प्रदाय के सभी मुनियों के पीछे लगी होने के कारण उनका सम्बन्ध एक परिवार के सन्तों के समान ही था

युग और समय के अनदेखे प्रभाव बड़े विचित्र होते हैं काल का चक्र बीतता जा रहा है आज कालचक्र का यह पहलू हमारे सामने है कि जिसमें शोभाचन्द्रजी म० के सन्तपरिवार में से कोई भी दृष्टिपथ नहीं हो रहा है परन्तु उनका शिष्य एक भी न होने पर भी यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि उनका सन्तपरिवार है स्वामी श्रीजोरावरमलजी म० उनके स्नेही समकालीन थे अतः उनका सन्त या शिष्य न होने पर भी जोरावरमलजी म० के शिष्यों का सन्त परिवार विद्यमान है अतः वह उनका ही शिष्य परिवार है जोरावरमलजी म० का जब तक सन्तपरिवार है यह गौरव पूर्वक कहा जा सकता है कि श्रीजोरावरमलजी का सन्तपरिवार उनका भी परिवार है

स्वामी श्रीहरखचन्द्रजी म०

ब्रह्मचर्य भारतीय धर्मशास्त्रों में अत्यन्त पवित्र माना गया है वह इसलिये कि दुनिया के सब प्रपंच व मायाजाल से उसने अलग आपको परिमुक्त कर लिया है मानव अपने स्वार्थ व लाभवश इस प्रकार के बन्धनों में जकड़ा-जकड़ा हुआ पाया जाता है कि प्रयत्न करने पर भी वह इन बन्धन से मुक्त होने में अपने आपको दुर्बल अनुभव करता है अतः सामान्य मनुष्य में दुर्बलता सहज है पर यही भाव सन्त जीवन की ओर मनुष्य को आकर्षित करता है

मुनिश्री हरखचन्द्रजी म० के प्रति जन जन की सहज श्रद्धा थी इसका कारण यह था कि वे सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर अनन्य आत्मार्थी विशाल धरती पर धर्म का छत्र धारण कर चुके थे वाणी के वे जादूगर बन चुके थे भगवान् महावीर जैसी धर्मदेशनाओं में स्थान-स्थान पर आपका का सत्य का घोर बजाते हुये बढ़ गये—आपका बाह्य जीवन स्वच्छ वाणी अधिक कोमल पर अधिक प्रभावक जीवन होता प्रकृति निवृत्तिमूलक वीतराग धर्म में बाधा उपस्थित करती है सदाचार की यह धर्मदेशना उनके जीवन में साकार हो गई थी अतः उनके श्रीमुख से कहा गया प्रत्येक शब्द वचन सत्य प्रमाणित होता था यही कारण है कि उनका स्वर्गवास हुये आज अर्ध शताब्दी से भी अधिक समय व्यतीत हो गया है फिर भी उनके चारित्रिक जीवन पर आज भी श्रद्धालुओं की विपुल मात्रा में अगाध श्रद्धा पाई जाती है
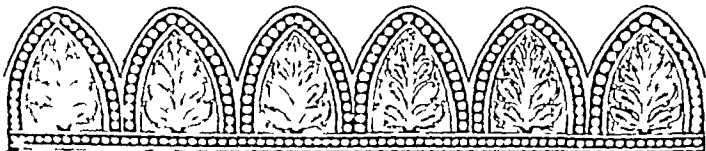
उन्होने जिसको जो कह दिया वह वैसा ही हो गया, यदि किसी को यह कहा कि व्यापार मे लाभ होगा तो वह निहाल हो गया यही कारण है कि आज भी उनके स्वर्गवास स्थान पर सच्चे मन से खडे होकर अगर कोई यह सोचता है कि मेरा यह कार्य हो जाना चाहिये तो वह हो जाता है सक्षेप मे उनकी वाणी से कहा गया प्रत्येक वचन जन-जन के लिये वरदान साबित होता था वचनसिद्ध महात्मा पुरुष के रूप मे वे अपने समय में बहुत प्रख्यात हुए

आपका जन्म सेठो की रीया मे स० १८८२ कार्तिक शुक्ला ६ मे हुआ था माता-पिता का नाम क्रमश श्रीनथमलजी भडारी और पाना बाई था आपने पूज्य श्रीकुशालचन्द्रजी म० द्वारा विक्रम स० १८६१ मे अपने जन्मस्थान रीया मे ही दीक्षा ग्रहण की थी विक्रम स० १६३६ वैसाख कृष्णा एकादशी को कुचामण मे नश्वर देह का परित्याग कर अपने सयमीय जीवन का अन्तिम काम्य प्राप्त किया था

स्वामी श्रीचौथमलजी म०

स्वामीजी की परिचय रेखा मे उनको सीमित या अकित करना असभव है वे नये युग की उजली रेखा को कल्पना की आखो से भविष्यद्दृष्टा की तरह देखते थे वे पुराने युग के सन्त कहलाते थे साधुत्व की मर्यादा और सीमा रेखा मे खडे रहकर भी भविष्य मे समाज को किस प्रकार के विचार-आचार का प्रतिपादन प्रिय होगा, इसके उन्होने बखूबी अपनी पद्य-रचनाओ मे सकेत दिये हैं वे सुधारक भी प्रथम कोटि के थे जडता या विचारशून्यता उन्हे कतई पसन्द नही थी. साधु समाज को भी उन्होने पर्याप्त सतर्क और सबल सुधारात्मक विचार दिये मारवाड प्रात के अत्यत निर्भीक सन्त थे अपनी बात को सचोट शब्दो मे कहना उनका स्वभाव था उन्होने साधुसमाज के सामने सबसे पहले यह विचार प्रस्तुत किये कि निवृत्तिप्रधान जैनमुनि आज जो काष्ठ के पात्र ग्रहण करते है, वे मकान और पानी उन्हे निर्दोष नही मिलते हैं जब उन्होने ये और इस प्रकार के सतर्क अन्य विचार प्रस्तुत किये तो साधु समाज मे काफी चर्चा रही पर उनके सटीक प्रश्न का किसी के पास कोई उत्तर नही था तब से साधु समाज मे एक विचारधारा इस श्रेणी की भी बनी जो स्वामीजी के विचारो का समर्थन करती है ये विचार उन्होने प्रवचन-मच से तो सैकडो बार उपस्थित किये ही परन्तु अपने उन विचारो को कविता की कडी में पिरोकर भी उपस्थित किये वे सुधारात्मक गीत आज भी विद्यमान है वैसे आपका कवित्वबल जागृत और प्राणवान था भक्तिप्रधान तत्त्वप्रधान सुधारप्रधान और कथाचरित प्रधान रचनाए की उनके निकटवर्ती स्वामी श्रीचादमलजी, श्रीजीतमलजी, बख्तावरमलजी, लालचदजी आदि ने प्रकाशित भी करावे हैं कुछ पुस्तकें विभिन्न नामो से उनके जीवनकाल मे भी प्रकाशित हो चुकी हैं

सस्कृत और प्राकृत भाषा के बल पर जैनागमो का गभीर अध्ययन और चिंतन किया

प्रवचनपद्धति श्रवणसुखद थी भाषा का माध्यम राजस्थानी था क्योकि राजस्थान का समूचा क्षेत्रफल उनका विहार क्षेत्र था सगठन की ओर उनका सर्वाधिक लक्ष्य था अलग-अलग सम्प्रदायो मे साधुओ का बँटे रहना उन्हे तनिक भी पसन्द नही था व्यक्तिश उन्होने सगठनो के लिये समय-समय पर विपुल प्रयत्न किये थे. वे मानते थे कि महावीर के उत्तराधिकारियो की शक्ति विकेन्द्रित हो रही है इसका केन्द्रीकरण होना नितान्त आवश्यक है यह युग सगठन का युग है सगठित होकर ही हम लोग नैतिक अभियान छेडकर जन-जने मे नैतिकता की पूजा प्रतिष्ठा कर सकते हैं

स० २००६ मे सादडी मे मुनियो का अखिल भारतीय स्तर पर सम्मेलन होने की घोषणा सुनी चर्चा, सुनी तो उनके मनका कोना-कोना प्रसन्नता, से परिव्याप्त हो गया था यद्यपि वे शारीरिक अवस्थावश उस सम्मेलन मे शरीक नही हो सके थे परन्तु अपने साथी मुनि श्रीचादमलजी श्रीजीतनमलजी व श्रीलालचन्दजी म० को बडे चाव व उत्साह से सम्मेलन मे भाग लेने के लिये भेजा था

सम्मेलन के पश्चात् अखिल भारतीय स्तर पर 'श्रमणसघ' के नाम मे साधुओ का सगठन हो गया है, जब उन्होने यह सुना

स्वामी महाराज परिवार

कस्तूराजी चूनाजी

पानकवरजी जमनाजी

काम-क्रोध मद मत्सर लोभथी, कपटी कुटिल कठोर।
इत्यादिक अवगुण कर हूं भर्यो, उदय कर्म क जोर। ध०

तेज प्रताप तुमारो प्रगटे, मुज हिवडा मे आय।
तो हू आतम निज गुण संभालने, अनत बली कहिवाय। ध०

'भानु' नृप 'सुव्रता' जननी तणो, अगजात अभिराम।
'विनयचन्द' ने वल्लभ तू प्रभु, सुध चेतन गुणधाम। ध०

●

[राग—रेखता]

कुथु जिनराज ! तू ऐसो, नही कोई देव तो जैसो।
त्रिलोकी-नाथ तू कहिये, हमारी बाह दृढ गहिए। कुं०

भवोदधि डूवतो तारो, कृपानिधि आसरो थारो।
भरोसा आपको भारी, विचारो विरुद उपकारी। कु०

उमाहो मिलन को तोसो, न राखो आंतरो मोसो।
जैसी सिद्ध अवस्था तेरी, तैसी चैतन्यता मेरी। कु०

करम-भ्रम जाल को दपट्यो, विषय सुख ममत मे लपट्यो।
भ्रम्यो हु चहू गती माही, उदयकर्म भ्रम की छाही। कु०

उदय को जोर जौलो, न छूटे विषय सुख तौलो।
कृपा गुरुदेव की पाई, निजातम भावना भाई। कुं०

अजव अनुभूति उर जागी, सुरत निज रूप में लागी।
तुम्हीं हम एकता जाणू, द्वैत भ्रम कल्पना मानूं। कु०

'श्रीदेवी' 'सूर' नृप नन्दा, अहो सरवज्ञ सुख कन्दा।
'विनयचन्द' लीन तुम गुन मे, न व्यापे अविद्या मन मे। कु०

●

[श्री नवकार जपो मन रगे—यह देशी]

श्री महावीर नमो वरनाणी, शासन जेहनो जाणरे प्राणी।
धन-धन जनक'सिद्धारथ'राजा,धन 'त्रसलादे'मात रे प्राणी। श्री०

ज्यां सुत जायो गोद खिलायो, 'वर्धमान' विख्यात रे प्राणी।
प्रवचन सार विचार हिया में, कीजे अरथ प्रमाण रे प्राणी। श्री०

सूत्र विनय आचार तपस्या, चार प्रकार समाध रे प्राणी।
ते करिये भवसागर तरिये, आतम भाव अराध रे प्राणी। श्री०

ज्यों कचन तिहु काल कहीजे, भूषण नाम अनेक रे प्राणी।
त्यो जग जीव चराचर जोनी, है चेतन गुण एक रे प्राणी। श्री०

अपनो आप विषै थिर आतम, 'सोह' हस कहाय रे प्राणी।
केवल ब्रह्म पदारथ परिचय, पुद्गल भरम मिटाय रे प्राणी। श्री०
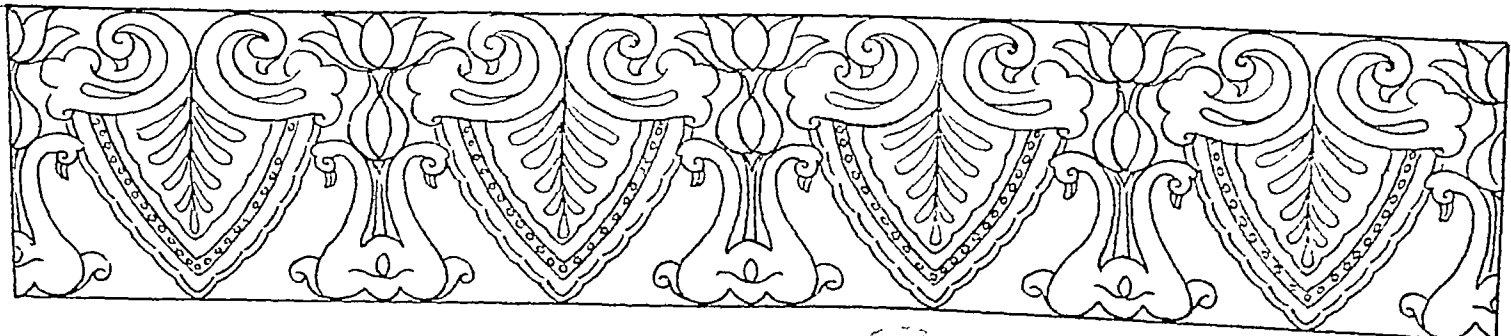
शब्द रूप रस गन्ध न जामें नाम परस तप छाँह रे प्राणी।
तिमर उद्योत प्रभा कछु नाहीं आतम अनुभव माँहि रे प्राणी। श्री

सुख दुःख जीवन मरन अवस्था ए दस प्राण संगात रे प्राणी।
इणथी भिन्न 'विनयचन्द' रहिये ज्यों जलमें जल आतर प्राणी। श्री

•

ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो रे और न चाहुं रे कंत
रीझ्यो साहेब संग न परिहरे रे भांगे सादि अनंत रे—ऋषभ

प्रीतसगाई रे जगमां सहु करे रे प्रीतसगाई न कोय
प्रीतसगाई रे निरुपाधिक कही रे सोपाधिक धन खोय—ऋषभ

कोई कंत कारण काष्ठ भक्षण करे रे मळशुं कंतने धाय
ए मेळो नवि कहिये संभवे रे, मेळो ठाम न ठाय—ऋषभ

कोई पति रंजन अति घणो तप करे रे पतिरंजन तन ताप
ए पतिरंजन में नवि चित धर्युं रे रंजन धातु मेळाप—ऋषभ

कोई कहे लीला रे अलख अलखतणी रे लख पूरे मन आश
दोषरहितने लीला नवि घटे रे लीला दोष विलास—ऋषभ

चित्तप्रसन्न रे पूजन-फल कह्यु रे पूजा अखंडित एह
कपट रहित थई आतम अरपणा रे आनन्दघन पद-रेह—ऋषभ

•

[राग—आसावरी]

पंथडो निहालुं रे बीजा जिनतणो रे अजित अजित गुणधाम
जे तें जीत्या रे ते मुझ जीतियो रे पुरुष किस्युं मुज नाम ?—पंथडो

चरमनयण करी मारग जोवतो रे, भूल्यो सयल संसार,
जे नयणे करी मारग जोइये रे नयण ते दिव्य विचार—पंथडो

पुरुष परम्पर अनुभव जोवतां रे अंधोअंध पुलाय
वस्तु विचारे रे जो आगमे करी रे चरण धरण नहीं ठाय—पंथडो

तर्क विचार रे वाद परम्परा रे पार न पहोंचे कोय।
अभिमत वस्तु रे वस्तुगते कहे रे, ते विरला जग जोय—पंथडो

वस्तु विचार रे दिव्य नयणतणो रे, विरह पड्यो निरधार
तरतम जोग रे तरतम वासना रे वासित बोध आधार—पंथडो

काल-लब्धि लही पंथ निहालशुं रे, ए आशा अवलम्ब
ए जन जीवे रे जिन जी जाणजो रे, 'आनन्दघन' मत अम्ब—पंथडो

•

[राग—धनाश्री सिंधुडा]

अभिनन्दन जिन दर्शन तरसिये, दर्शन दुर्लभ देव,
मत-मत भेदे रे जो जइ पूछिये, सहु थापे अहमेव—अभि०

सामान्ये करी दरिशण दोहिलु, निर्णय सकल विशेष,
मदमें घेर्यो रे अंधो केम करे, रवि शशि रूप विलेख—अभि०

हेतु विवादे हो चित धरी जोइए, अति दुर्गम नयवाद,
आगमवादे हो गुरुगम को नहीं, ए सबलो विषवाद—अभि०

घाती डुंगर आडा अति घणा, तुज दरिशण जगनाथ,
ढिठाइ करी मारग संचरु, सेंगु कोइ न साथ—अभि०

दर्शन-दर्शन रटतो जो फरु, तो रण रोझ समान,
जेहने पिपासा हो अमृत पाननी, किम भाजे विषपान—अभि०

तरस न आवे हो मरण जीवनतणो, सीजे जो दर्शन काज,
दरिशण दुर्लभ सुलभ कृपा थकी, 'आनन्दघन' महाराज—अभि०

•

[राग—केदारा-गौड]

देखण दे रे सखी मने देखण दे, चन्द्रप्रभ मुखचंद, सखी०
उपशम रसनो कंद, सखि गत कलिमल दुखदंद, सखी चन्द्र०

सूक्ष्म निगोदे न देखीओ, सखी बादर अतिहि विशेष, सखी०
पुढवी आउ न लेखियो, सखी तेउ वाउ न लेश, सखी चन्द्र०

वनस्पति अति घण दिहा, सखी दीठो नहीं दीदार, सखी०
बि,ति,चउरिंदिय जललीहा, सखी गतसन्नीपण धार, सखी चन्द्र०

सुर तिरि निरयनिवासमा, सखी मनुज अनारज साथ, सखी०
अपज्जत्ता प्रतिभासमा, सखी चतुर न चढ़ीओ हाथ, सखी चन्द्र०

एम अनेक थल जाणीए, सखी दर्शन विणु जिनदेव, सखी०
आगमथी मत जाणीए, सखी कीजे निर्मल सेव, सखी चन्द्र०

निर्मल साधु भक्ति लही, सखी योग अवचक होय, सखी०
क्रिया अवचक तिम सही, सखी फल अवचक जोय, सखी चन्द्र०

प्रेरक अवसर जिनवरु, सखी मोहनीय क्षय जाय, सखी०
कामित पूरण सुरतरु, सखी 'आनन्दघन' प्रभु पाय, सखी चन्द्र०

•

[राग—रामग्री-कडखा]

धार तरवारनी सोहिली, दोहिली चउदमा जिनतणी चरणसेवा,
धार पर नाचता देख बाजीगरा, सेवना-धार पर रहे न देवा—धा०

जिन सुर पादप पाय वखाणु, साख्य जोग दोय भेदे रे,
आतम-सत्ता विवरण करता, लहो दुग अग अखेदे रे—षड्०

भेद अभेद सुगत मीमासक, जिनवर दोय कर भारी रे,
लोकालोक अवलबन भजिये, गुरुगमथी अवधारी रे—षड्०

लोकायतिक कूख जिनवरनी, अश विचार जो कीजे रे,
तत्त्व-विचार जो कीजे रे, गुरुगमविरण किम पीजे रे—षड्०

जैन जिनेश्वर वर उत्तम अग, अतरंग वहिरगे रे,
अक्षर न्यास धरा आराधक, आराधे धरी सगे रे—षड्०

जिनवरमा सघळा दर्शन छे, दर्शन जिनवर भजना रे,
सागरमा सघळी तटिनी सही, तटिनीमा सागर भजना रे—षड्०

जिनस्वरूप थइ जिन आराधे, ते सही जिनवर होवे रे,
भृगी इलिकाने चटकावे, ते भृगी जग जोवे रे—षड्०

चूर्णि भाष्य सूत्र निर्युक्ति, वृत्ति परम्पर अनुभव रे,
समय पुरुषना अग कह्या ए, जे छेदे ते दुर्लभ रे—षड्०

मुद्रा बीजधारणा अक्षर—, न्यास अर्थ विनियोगे रे,
जे ध्यावे ते नवि वचीजे, क्रिया अवचक भोगे रे—षड्०

श्रुत अनुसार विचारी बोलु, सुगुरु तथाविध न मिले रे,
किरिया करी नवि साधि शकीये, ए विषवाद चित्त सघळे रे—षड्०

ते माटे उभो कर जोडी, जिनवर आगल कहिये रे,
समय चरण सेवा शुद्ध देजो, जिम 'आनन्दघन' लहिये रे—षड्०

●

(निद्रडी वेरण हुइ रही—यह देशी)

ऋषभ जिणदसु प्रीतडी, किम कीजे हो कहो चतुर विचार,
प्रभुजी जइ अळगा वस्या, तिहा को नवि हो कोई वचन उच्चार।

कागळ परण पहोंचे नहिं, नवि पहोचे हो तिहा को परधान
जे पहोचे ते तुम समो, नवि भाखे हो कीनो व्यवधान।

प्रीति करे ते रागिया, जिनवरजी हो तुमे तो वीतराग,
प्रीतडी जेह अरागीथी, मेलववी ते हो लोकोत्तर माग।

प्रीति अनादिनी विष भरी, ते रीते हो करवा मुज भाव,
करवी निर्विष प्रीतडी, किण भाते हो कहो बने बनाव।

प्रीति अनती पर थकी जे तोडे हो ते जोडे एह,
परम पुरुषथी रागता, एकत्वता हो दाखी गुण गेह।

प्रभु जीने अवलम्बता, निजप्रभुता हो प्रगटे गुणराश,
'देवचन्द्र' नी सेवना, आपे मुजे हो अविचल सुखवास।

●

अब हम अमर भये, न मरेंगे ॥
जा-कारन मिथ्यात दियो तज, क्यों करि देह धरेंगे ?
अब हम अमर भये, न मरेंगे ॥

उपजै-मरै काल तै प्राणी, तातै काल हरेंगे।
राग-दोष जग बन्ध करत है, उनको नाश करेंगे।
अब हम अमर भये, न मरेंगे ॥

देह विनाशी, मे अविनाशी, भेद-ज्ञान पकरेंगे।
नाशी जासी, हम थिरवासी, चोखे हो निखरेंगे।
अब हम अमर भये, न मरेंगे ॥

मरे अनन्तबार, बिन समझे, अब सब दुख बिसरेंगे।
'द्यानत' निपट निकट दो अक्षर, बिन सुमरैं सुमरेंगे।
अब हम अमर भये, न मरेंगे ॥

o

अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायौ।
ज्यो शुक नभ चाल बिसरि, नलिनी लटकायौ।
अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायौ ॥

चेतन अविरुद्ध शुद्ध, दरशबोधमय विशुद्ध।
तजि जड़ रस फरस रूप, पुद्गल अपनायो।
अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायौ ॥

इन्द्रिय सुख दुख मे नित्त, पाग राग-रुख मे चित्त।
दायक भव-विपत्तिवृन्द, बंध को बढ़ायौ।
अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायौ ॥

चाह-दाह दाहे, त्यागो न ताह चाहै।
समता-सुधा न गाहे, जिन-निकट जो बतायौ।
अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायौ ॥

मानुष भव सुकुल पाय, जिनवर शासन लहाय।
'दौल' निज स्वभाव भज, अनादि जो न ध्यावौ।

अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायौ।
ज्यो शुक नभ-चाल बिसरि, नलिनी लटकायौ ॥

o

अन्तर उज्ज्वल करना रे भाई।
कपट कृपान तजै नहिं तबलौं, करनी काज न सरना रे।
अन्तर उज्ज्वल करना रे भाई।

अपूर्व अवसर

अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ? क्यारे थईशु बाह्यान्तर निर्ग्रन्थ जो।
सर्व सम्बन्धनु बधन तीक्ष्ण छेदी ने, विचरशु कब महत्पुरुषने पथ जो।

सर्वभावथी ओदसीन्य वृत्ति करी, मात्र देह ते सयम-हेतु होय जो।
अन्य कारणे अन्य कशु कल्पे नहिं, पण किंचित् मूर्च्छा नव जोय जो।

दर्शनमोह व्यतीत थई उपज्यो बोध जे, देह भिन्न केवल चैतन्यनु ज्ञान जो।
एथी प्रक्षीण चारित्रमोह विलोकीए वर्त्ते एवु शुद्धस्वरूपनु ध्यान जो।

आत्मस्थिरता त्रण सक्षिप्त योगनी, मुख्यपणे तो वर्ते देह पर्यन्त जो।
घोर परिषह के उपसर्ग भये करी, आवी शके नहि ते स्थिरतानो अन्त जो।

सयमना हेतुथी योग-प्रवर्तना, स्वरूपलक्षे जिन-आज्ञा आधीन जो।
ते पण क्षण-क्षण घटती जती स्थितिमा, अते थाय निज स्वरूपमां लीन जो।

पच विषयमा रागद्वेष-विरहितता, पच प्रमादे न मले मननो क्षोभ जो।
द्रव्य, क्षेत्र ने काल, भाव प्रतिबन्ध विण, विचरवु उदयाधीन पण वीतलोभ जो।

क्रोध प्रत्ये तो वर्ते क्रोध स्वभावता, मान प्रत्ये तो दीनपणानु मान जो।
माया प्रत्ये माया साक्षीभावनी, लोभ प्रत्ये नहि लोभ समान जो।

बहु उपसर्गकर्ता प्रत्ये पण क्रोध नहिं, वदे चक्री तथापि न मळे मान जो।
देह जाय पण माया थाय न रोममा, लोभ नहि छो प्रबल सिद्धि निदान जो।

नग्नभाव, मुण्डभाव सह-अस्नानता, अदतधावन आदि परम प्रसिद्ध जो।
केश, रोम, नख के अग शृगार नहि, द्रव्य-भाव सयममय निर्ग्रन्थ सिद्धि जो।

शत्रु-मित्र प्रत्ये वर्ते समदर्शिता, मानअमाने वर्ते ते ज स्वभाव जो।
जीवित के मरणे नहि न्यूनाधिकता, भवमोक्षे पण वर्ते शुद्ध स्वभाव जो।

एकाकी विचरतो वली श्मशान मा, वळी पर्वतमा वाघ सिंह-सयोग जो।
अडोल आसन ने मनमा नहि क्षोभता, परम मित्रनो जाणे पाम्या योग जो।

घोर तपश्चर्यामा (पण) मनने ताप नहि, सरस अन्ने नहि मनने प्रसन्नभाव जो।
रजकण के रिद्धि वैमानिक देवनी, सर्वे मान्या पुद्गल एक स्वभाव जो।

एम पराजय करीने चारित्रमोहनो, आवुत्या ज्या करण अपूर्व भाव जो।
श्रेणी क्षपक तणी करीने आरूढ़ता, अनन्य चिन्तन, अतिशय शुद्ध स्वभाव जो।

मोह-स्वयभूरमणसमुद्र तरी करी, स्थिति त्या ज्या क्षीणमोहगुणस्थान जो।
अन्त समय त्या पूर्णस्वरूप वीतराग थई, प्रगटाऊँ निज केवलज्ञान-निधान जो।

चार कर्म घनघाती ते व्यवच्छेद ज्या, भवना बीज तणो आत्यन्तिक नाश जो।
सर्वभावज्ञाता द्रष्टा सह शुद्धता, कृतकृत्य प्रभु वीर्य अनन्तप्रकाश जो।

वेदनीयादि चार कर्म वर्ते ज्या, वळी सींदरीवत आकृतिमात्र जो।
ते देहायुष आधीन जेनी स्थिति छे, आयुष पूर्णे मटीए दैहिक पात्र जो।

मन, वचन, काया ने कर्मनी वर्गणा, छूटे जहा सकल पुद्गल सम्बन्ध जो।
एवु अयोगी गुणस्थानक त्या वर्ततु, महाभाग्य सुखदायक पूर्ण अबन्ध जो।

भाग मे कवि ने अजमेर के निकटवर्त्ती स्थानो का अच्छा परिचय दे दिया है वहाँ की प्राकृतिक सुपमा और प्रेक्षणीय स्थानो के अतिरिक्त तत्रस्थ पुरातन जल व्यवस्था पर भी सकेत किया है तारागढ के ऊपर जो पानी पहुचाने की व्यवस्था थी, उसका कवितावद्धसजीव और सागोपाग वर्णन इस रचना को छोड अन्य कही भी दृष्टिगोचर नही हुआ अत प्रशस्ति का भाग पूरा उद्धृत कर दिया है

कृति का पूरा विवरण इस प्रकार है

मुहूर्त्त कोश

आदि भाग—

श्रीगणेशाय नम

दोहा

विघन विडारन सुषकरन सेवित सकल जिनेस।
रिध सिध वर दे रिधु गवरीय नन्द गणेम ॥१॥
गुरु सारद नारद समर सिध सनकादि सहाय।
सह गण पडित पय प्रणव मो द्यौ उक्त उपाय ॥२॥
छद भग दीरघ लघु न घरो मो पर रोस।
कवि इणसु लवुता करै करिहू महूरत कोस ॥३॥
लगन वार ग्रह सात है रिष है अठावीस।
तिनके नाम जू फेरवु तौ हू म करौ रोस ॥४॥

अन्त—

अथ ग्रन्थ ओपमा कथन सवईया

गिरहू मैं मेर जैसै ग्रहा पजयर जैसै नागन मैं सै जैसै दनन मैं क्रीता हैं।
देवन मे इन्द्र जैसै नाषित मैं चन्द्र जैसै जतियन मैं हनु जैसै सतीनमैं सीता हैं ॥
रूप मैं राम जैसै करतामैं ब्रह्म जैसें घ्यानममैं ईस जैसे ज्ञाननमे गीता है।
तीरथमैं गग जैसै सासत्तमैं जैसै— — — — — — — —त वदीता है ॥६४॥
वाल बुद्धि पिंगल जू लाड रिष तामे रिषनाम हूँ तें देख डरा घरो है।
वसन जू वर्ण च्यार पवन अठार दूनें मे जतना कोय आको पोरस मे भरा है ॥
रावत सवाई आन प्रतपें अषड भान सूरन सुभट थाट घनी जिनवरौ है ॥
कोट गढ नाहि षाई बेरी सब त्रास जाई ऐसौं जू नगर यारौ अवर अरो है ॥
चली नगर अजमेर हू तें पतिपें मिलन चली नाल षाल पूत लेकै चली एह लूनी है।
षोह द्रह नीर वलें चालत जू वेग चलै रूष न उबेरे मूल मारे घर धूनी है ॥
सागी फुनि सूकरी जू दोहू सोक आय दिली रोस जब धर्यौ ताम भई रेल दूनी है।
नदी के जू एक पार सिवको सुथान सोहै बैठे जडधार सभू देवल पताल जू।
वडे वन वाडी बाग धुनि होत जा ल्यावत अनेक लोक फूलन की माला जू ॥
आठौं गिन आठौ याम सेवित सकल ताम देवन कौ देव एह प्रणमे भूपाल जू।
गोरी पुनि गग सीस चाद पर चढ्यौ ईस मेटत अनद अग टलहे जवाल जू ॥६७॥
नगर सौं पच्छिम नौं वनकौ सघन थान मारन अढार वृच्छ वडी राजधानी है।
वनकै जू मध्य ठौर षल नाल ताल भरै झील नर नारी जू जिहा विमल पानी है।
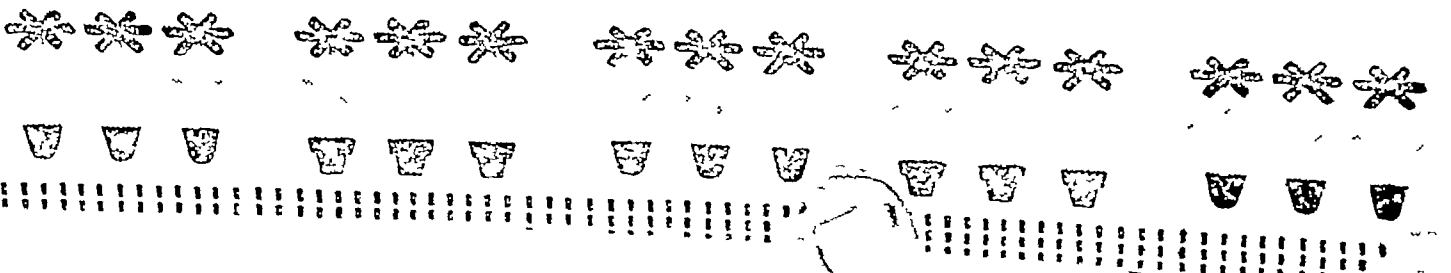
१ श्रेणिकचरित्र (रचनाकाल स १८२७)
२ कर्णामृतपुराण १८२६)
३ चपकषष्ठि व्रतोद्यापन
४ सरस्वती कल्प
५ नेमिचन्द जीवन

मेरी साहित्य-शोध-यात्रा मे निम्न कृतिया उपलब्ध हुई है जो अद्यावधि अज्ञात थी

भरत बाहुबली सवाद—वस्तुत यह विजयकीर्त्ति की मौलिक रचना नही है स १७ ४ भादों सुदि ११ भुसावर (राजस्थान) मे विश्वभूषण मुनि द्वारा रचित 'भरत बाहुबली रासो 'का सुसस्कृत रूप है जैसा कि वह स्वय ही इन शब्दो मे स्वीकार करते है—

> ए सवाद सुधारि लिख्यौ है श्रीमुनिराई ।
> विजयकीर्त्ति भट्टारक नागौर सवाई ।।
> मढ अजमेर सुपाट बाट रचना इह कीनी ।
> श्रीविश्वभूषण उगति जुगति विरला करि लहि ।।
> भणे भणावे भवि सुणै श्रीआदीश्वर थान ।
> भरत अवर बाहुबली हो करजो सुगत कल्याण ।।४४।।

गजसुकमाल चरित्र—यह विजयकीर्तिजी की दूसरी मौलिक रचना है इसमें गजसुकमाल मुनि का आदर्श चरित्र वर्णित है भले ही यह एक व्यक्ति का चरित्र हो पर मानवता का कवि ने साक्षात् खड़ा कर दिया है आत्मौपम्य की प्रशस्त और औदार्य भावनाओ का जो चित्रण एक सर्वजनकल्याणकामी सत के माध्यम से समुपस्थित किया गया है वह आज भी अनुकरणीय—अभिनन्दनीय है आध्यात्मिक साधना मे अनुरक्त साधक को कितनी यातनाओं का सामना करना पडता है ? पर अन्तमु खी जीवन व्यतीत करनेवाला पर बाह्य उत्पीडन का क्या प्रभाव पड सकता है ? जीवन में अहिसा और सत्य की पूर्ण प्रतिष्ठा होने पर ससार की भौतिक शक्ति ऐसी नही जो स्व मार्ग से विचलित करा सके गजसुकमाल महामुनि इसकी प्रतिमूर्त्ति थे अहिसा—उनके जीवन में साकार थी तभी तो मस्तक पर आग रखे जाने पर भी मुनिवर ने उफ तक न किया ऐसी थी उनकी आत्मलक्षी तपश्चर्या कविवर विजयकीर्त्तिजी ने आध्यात्मिक और भौतिक द्वन्द्वा का सामयिक परिस्थितिया के प्रकाश में जो विश्लेषण प्रस्तुत किया है वह एक कलाशिल्पी की स्मृति दिलाता है कृति का विवरण इस प्रकार है—

---

१ विश्वभूषण मुनि प्रणीत भरत रास का अन्तिम भाग इस प्रकार है—
सहर भुसावर मधि राजु जयसिंघ मोटे । माहि श्राव सौ प्रीति राव रानी मन मोटे ।।
ता मधि भगवानदास स्वधर्म सुजान । नाम नीमि कर भूषन चैत्यालय अधिकाई ।।
करै महाजन लोग भी दान मान सनमान । एक एक ते आगल रचै मचावै मान ।।१७।।
मूलसघ कुल प्रगट गच्छ सारद म रावै । जगभूषण मुनिराज वार विद्यापति छाजै ।।
ता पर कहो सुजान विश्वभूषण मुनिराई । जिन यह रच्यौ प्रबन्ध मति मुनिवो मनु भाई ।।
सत्रैहसे न चिन्तरचा भादौ सुदि सुक्वार । सुभग गच्छ देशमि भली गायौ मगलचार ।।

—निज सग्रहस्थ हस्तलिखित गुटके से उद्धत ।

विश्वभूषणजी अपने समय के विद्वान् ग्रन्थकार थे इनका विशेष परिचय मैने अपने 'राजस्थान का अज्ञात साहित्य वैभव' नामक ग्रंथ मैं दिया है
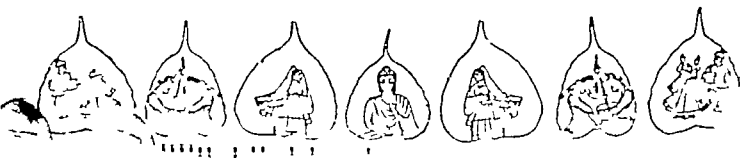
इतना ही पता चलता है कि ये मूलत ग्वालियर मडलान्तर्गत स्यौपुर[४] के निवासी छावडा गोत्रीय सा० हेमराज के पुत्र थे इनकी माता का नाम वेणी बाई था गीतकार के कथनानुसार इनने विधिवत् लोचकर मुनि दीक्षा अगीकार की थी पाडे दयाचन्द ने प्रस्तुत स्तुति स० १८२४ मे रची। इस समय मे विजयकीर्त्ति का यश सूर्य मध्याह्न मे था अव तक इनने कई कृतियो का सृजन कर लिया था २०० से अधिक स्फुट पद लिख चुके थे कई शिष्यो के गुरुत्व के सौभाग्य से मण्डित हो गये थे

इनके एक शिष्य देवेन्द्रभूषण भी थे जिनके बनाये स्तवन मिलते है कही-कही गुरुजी का भी स्वल्प उल्लेख कवि ने कर दिया है दो सूचन महत्त्व के मालूम दिये एक तो यह कि विजयकीर्त्तिजी ने स० १८२१ मे वडवाई के निकट बावनगजाजी की और मुक्तागिरि की यात्रा की थी, उस समय देवेन्द्रभूषण इनके साथ थे दोनो तीर्थों के तात्कालिक वर्णन उस समय की स्थिति का सुन्दर चित्रण समुपस्थित करते है

इनके इतने विद्वान् शिष्यो के रहते हुए भी किसी ने सही जानकारी नही दी कि ये भट्टारक और बाद मे मुनि कब बने ? और अजमेर की गद्दी पर कब आरूढ हुए ? इन पक्तियो के लेखक के सग्रह मे वृत्तरत्नाकर की एक हस्तलिखित प्रति है जो स० १८१६ मे विजयकीर्त्ति के शिष्य सदाराम द्वारा किशनगढ के समीप रूपनगर मे प्रतिलिपित है, इसकी लेखनपुष्पिका से इतना तो तय है कि स० १८१६ से पूर्व ग्वालियर मे अजमेर पधार गये थे और इनका धार्मिक शासन अजमेर प्रदेश मे भली प्रकार जम चुका था

विजयकीर्त्ति अजमेर और नागौर से सबद्ध थे ये परम सारस्वतोपासक रहे जान पडता है परिणामस्वरूप जहा कही भी ये स्वय या उनका शिष्य परिवार पहुचता वहा ज्ञान भडार की स्थापना अवश्य ही हो जाती थी कारण कि शिष्य वर्ग भी सुलेखक और परिश्रमी था अजमेर का जो दिगम्बर जैन भण्डार है, असभव नही वह विजयकीर्ति की सारस्वतोपासना का परिणाम हो, कारण कि अधिकतर प्रतियो का लेखन दयाराम, भागीरथ, सदाराम और गोकल मुनि द्वारा हुआ है जो सभी विजयकीर्ति के ही शिष्य थे प्रशस्तियो मे विजयकीर्ति का भी उल्लेख प्रमुख ज्ञानागारो के सस्थापको के रूप मे किया है रूपनगर, भिणाय, मसूदा और चित्तौड मे ज्ञान-भण्डार स्थापित किये थे

अद्यावधि विजयकीर्त्ति प्रणीत इन कृतियो का पता लगा है—

श्रीजी स्यौपुर शोभतो साह हेमराज सुत सार। सहे०
लोच करायो जुगत सु श्रीजो छावडा वश वखाण सहे० ॥२॥
श्रीजी मडल विध पूजा रची रङ्गा हेमराज सुत सार। सहे०
कर पहरावणी गुरु तणी फुनि देय भली जमणार सहे० ॥३॥
कर न्हवण भगवतो को कई माल लई तिण वर सहे०।
सा साहि मूलसग शोभतो काई पूज्या जिनअवतार सहे० ॥४॥
श्रीजी लाहण दीन्हीं भावसु बाई वेणि कर अधिकार सहे०।
छावडा कुल मैं ऊपनी काई काला घरवर नारी सहे० ॥५॥
श्रीजी सवत अठारामे चौबीसमें काई जेष्ठ वदि आठै सार। सहे०
पडित दयाचन्द इम वीनवै काई सघ सदा जयकार ॥ सहे० ॥६॥

निज सग्रहस्थ गुटके से उद्धृत

४ स्यौपुर एक समय जैन सस्कृति का और विशेषकर दिगम्बर-परम्परा का सुप्रसिद्ध केन्द्र था वहा के निवासी रुचिशील जैनों ने जैन साहित्य के निर्माण में उल्लेखनीय योग दिया है यद्यपि वहा की साहित्यिक एवम् सास्कृतिक प्रगति का मूल्याकन समुचित रूपेण नहीं हो पाया है, पर जो भी वहा की रचनाए प्राप्त हुई है उनसे हिन्दी जैन साहित्य पर नूतन प्रकाश पड़ा है ग्वालियरी भाषा का साहित्य अधिकतर यहा पर ही लिखा गया है स्यौपुर के गोलापूरब रायनद के पुत्र धनराज या धनदास ने स० १६९४ में भक्तामर-स्तोत का पद्यात्मक हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया था और इसका चित्रण स० १६९५ में करवाया गया था जैन स्तोत्र साहित्य में सचित्र कृति यही एक मात्र मानी जाती है इस कृति का जितना धार्मिक दृष्टि से महत्त्व है उससे भी कहीं तात्कालिक लोककला की दृष्टि से अनुपमेय है

राजाराम तिलोकसा मूणिया संघ वर्णन

आदि भाग—

प्रथम पत्र विलुप्त है—

वदत प्रणामि सधर्म आये पिमावस्थाण ।
मुख मगल प्रवृत मधन गीतारथ गुणवत ।।
सूत्रसिद्धात जाणै सकल भाष्या ज्य भगवत ।
श्रावक तपत विराजिया भावक वा सो,आया ।
वाणी अमृत अबमी जलधर वरसाया ।।

चाल गजलनी

प्रख्या धर्म श्रीजिन भाष विषसै होत है व्याख्यान ।
भरम हर सरसरा भरपूर कीन्है कर्म आठू दूर ।।
सागरचन्द विष मैं सार भव्यकूं करत है उपगार ।
ज्ञानी बहोत है गम्भीर निरमल जेम गगा नीर ।।
पायचन्दगच्छ रा परमाण राजै जेम राजा राण ।
वरध्या कारण मैं जगवीर जैसे बोलिया महावीर ।।

अन्त—

माया वरो मति मीको तप जोसवाल में टीको ।
फिर किसनगढ आया के गुणीमल बहोत गुण गया ।।
छासठ वरस बहत्तर मास आणद भयौ पूगी आस ।
आयें सघपति घर आय जपता जिनेश्वर को जाप ।।
धरमी धरम का घोरी क जैसे गुन तणीयोरी के ।
जैपूर कपूरचन्द आया के परमानद सुख पाया के ।।
सिंघवी आदि दे सव सघ आया भरा उछरग ।
सीधा सबी वछति काज चप एम कवि जसराज ।।

कलश

सकल काज भए सिद्ध रिद्ध वृद्धि घर आया ।
राजाराम तिलोकसी सघपति पद पाया ।।
पर्व ग्रन्थ मिद्धपेत्र साहो जगत मे सिद्धो ।
जगडु भाम तेजपाल जेम दान सुपात्रै दिद्धो ।।
नग वखतमल सक्ष्य तणा कता दान पूरव कीयौ ।
तीर्थंकर पचीसमो रघु नाम अवि अविचल रह्यौ ।।

इति श्री रामराज तिलोक सा मूणिया रा सघरी नीसाणी भत भाट जसराज की कायीस ।।

सवत १८७८ मगसीर वदि ११ लपतु जसराज अजमेर मध्ये ।।

निज सग्रहस्थ गुटके से उद्धृत

नथ गजसुकमाल चरित्र लिख्यते

करसन राज पद भोगवै कानुडा देपि देवकी मात रे गिरधारीलाल,
मो सम पापिण को नही कानुडा वालक नहि नहि मात रे गिर० ।।

अन्त —

धन-धन नरनारि जिके कानुडा गुण गावय मुनिराय रे।
विजयकीर्त्ति इम उच्चरै भणता नवनिद्धि थाय रे ।।गिर०।।

उपर्युक्त कृति मे कवि ने रचना समय सूचित नही किया है, पर इसका प्रतिलिपि काल स० १८२३ है अत इस पूर्व की रचना असदिग्ध है

स्फुट पद—दिगम्बर जैन परम्परा मे रात्रि के स्वाध्याय के अनन्तर एक पद गाया जाना आवश्यक है यदि कोई परम स्वाध्यायशील विद्वान् हो तो उनसे अपेक्षा रखी जाती है कि वह नित्य नव्य पद बनाकर स्वाध्याय सभा को अलकृत करें. विजयकीर्त्ति की पदसख्या को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि वह नित्य नवीन पद बनाकर श्रद्धालुओं के सम्यग्दर्शन की पुष्टि मे मगलमय योग देते रहे होगे कारण कि इनका पद साहित्य लगभग ५०० तक व्यापक है भक्ति, नीति, सयम, सदाचार, तीर्थवदना, गुरुभक्ति आदि अनेक विषयो का इसमे समावेश कर अपनी साधना मे औरो को भी सहभागी बनाया है आश्चर्य इस बात का है कि इतना विराट् जिनका पद साहित्य हो और वह जैनो की दृष्टि मे अभी तक ओझल कैसे रहे ? सिद्धान्त और भक्ति के मूल स्वरूपो का सफल प्रतिनिधित्व करनेवाला इनका पदसाहित्य प्रकाश मे आना चाहिए

यहा पर मैं एक बात विशेष रूप से कहना चाहता हू वह यह कि जैसे कविवर, विद्वान्, ग्रथकार और सयमशील वृत्ति के प्रतीक थे वैसे ही भारतीय सगीत के भी परम अनुरागी थे उनका शायद ही कोई पद ऐसा होगा जो शास्त्रीय राग-रागिनियो मे निबद्ध न होगा पदो का सग्रह इनके शिष्य पाडे दयाचद ने स० १८२३ मे जिस गुटके मे किया है वह विजयकीर्त्ति का निजी गुटका जान पडता है इसमे रागमाला एवम् सगीत के प्रसिद्ध २४ तालो का विशद चार्ट भी प्रतिलिपित है जो कविवर के सगीत विषयक अनुराग का परिचायक है कवि ने स्वय भी एक रागमाला का प्रणयन किया है उदाहरणो मे जिनचरित का समावेश किया गया है कवि के सास्कृतिक और आदर्श व्यक्तित्व का आभास इन पदो से मिल जाता है यदि शोध की जाय तो इनके पद और भी मिल सकते हैं यदि कहा जाय कि दिगम्बर जैन परम्परा मे यही एक ऐसे साहित्यसाधक और रुचिशील व्यक्ति अजमेर मे हुए हैं जिनका स्थान बाद मे रिक्त ही रहा तो कोई अत्युक्ति न होगी

जसराज भाट—१८-१९वी शताब्दी मे अजमेर की अपेक्षा किशनगढ अधिक समृद्ध था वहा जैनो का प्राबल्य था सभी सम्प्रदाय आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से सम्पन्न थे यहा के लूणिया परिवार ने पालीताना-सिद्ध क्षेत्र का विशाल सघ निकाला था जिसमे उपाध्याय क्षमाकल्याण के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदाय के मुनि भी सम्मलित थे राजाराम तिलोक शा सघपति थे जसराज भाट ने सघ का विस्तृत वर्णन अपनी नीसानी मे किया है इसका रचनासमय ज्ञात नही है पर सघ यात्रा कर वापस किशनगढ स० १८६६ मे आ गया था प्रति का लिपिकाल स० १८६६ और १८७८ का मध्य काल है

जसराज भाट के वैयक्तिक जीवन से सम्बद्ध उल्लेख उपलब्ध नही हुए विद्वत्परिचयार्थ नीसानी का विवरण दिया जा रहा है—

१ इस गुटके में हर्षकीर्ति सूरि रचित योग चिन्तामणि सटीक (टीकाकार मुनि नरसिंह) प्रतिलिपित है उन दिनों भट्टारक और इनके शिष्यों पर समाज के स्वास्थ्य और शिक्षा का दायित्व रहता था अत आयुर्वेद का ज्ञान उनके लिए नितान्त वाञ्छनीय था
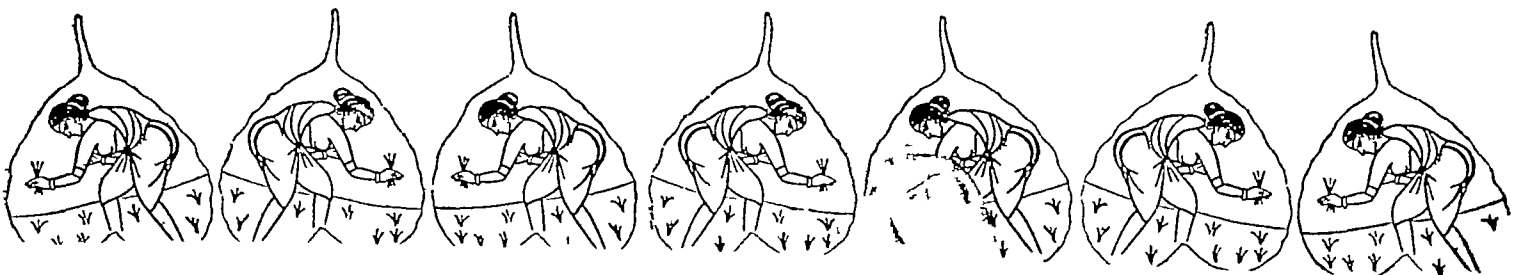
किया कि कोई कृति की रचना करो जिससे आपका यश स्थायी हो जाय इतने में हातिमताई की पुस्तक कवि के हाथ लग गई और हातमचरित्र नाम से अनुवाद प्रस्तुत कर डाला कृष्णचरित्र भागवत के दशमस्कन्ध के अनुवाद के लिये कोई ऐसी बात नहीं कही सम्भव है यह कवि की स्वान्तःसुखाय प्रवृत्ति का परिणाम हो

हातमचरित्र के आदि भाग के आठवें पद्य में परमसुख राय ने बीकानेर के ओसवाल कुलावतंस मेहता मूलचन्दजी के पुत्र हिन्दूमल का न केवल उल्लेख ही किया है अपितु उनके प्रति हार्दिक सद्भाव भी व्यक्त किया है इनके पूर्वज राजकीय कार्य में परम निपुण थे हिन्दूमलजी स्वयं कुशल प्रशासक और प्रतिभाशाली वकील थे सं १८८४ में बीकानेर राज्य की ओर से वकील के रूप में दिल्ली में रहा करते थे इनकी बुद्धिमत्ता से न केवल बीकानेर नरेश ही प्रभावित थे अपितु आंग्ल शासक भी अपने प्रिय और विश्वस्त व्यक्तियों में इन्हें मानते थे

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि हातमचरित्र और दशमस्कन्ध के अनुवाद का काल क्या हो सकता है ? कवि पर भी थोड़ा आश्चर्य होता है कि जब उसने ग्रंथानुवाद की पीठिका में ५ से अधिक छन्द लिखे हैं वर्णन भी विस्तार से किया है तो रचनाकाल पर मौन कैसे धारण कर लिया ? पर प्रति में प्रतिलिपिकाल विद्यमान है जिससे रचना समयपरक किंचित् अनुमान को अवकाश है इसका प्रतिलिपिकाल सं १८९३ है

कवि की हिन्दूमल से कब और कहाँ भेंट हुई यह तथ्य तिमिराच्छन्न है दोनों समानधर्मा व्यवसायी थे अतः अनुमित है कि अजमेर में ही परिचय हुआ हो और यह घटना सं १८९३ से पूर्व में घटित हुई है अमान्य ऐतिहासिक साधनों से प्रमाणित है कि उदयपुर के महाराणा व बीकानेर नरेश रत्नसिंहजी (राज्य काल सं १८८५ ११ ८) से विशिष्ट कार्यवश हिन्दूमलजी को वि सं १८९६ में मांगा था पर परमसुखराय का परिचय इतः पूर्व घनिष्ठ हो चुका था जैसा कि हातमचरित्र से स्पष्ट है हिन्दूमल द्वारा नावाधर में एकलक्ष मुद्रा व्यय कर मंदिर और दुर्ग निर्माण करवाने का उल्लेख हातमचरित्र में ही मिलता है

कृष्णचरित्र और हातमचरित्र का रचनाकाल सं १८९३ से पूर्व का है आगामी पंक्तियों में दोनों कृतियों का विवरण दिया जा रहा है

हातमचरित्र

दोहा

श्रीगणपति सिधि करन हे विघ्न हरन सुखदाय ।
तिनके चरन निवाइ सिर कहत परमसुखराय ।।१।।
पुन पद सरसिज सारदा बदौं प्रीत समेत ।
कहौ रुचिर पद हित सरस पर उपकारिनि केत ।।२।।

सवैया

सोचन सोससुग्योत करहि रसना रस स्वाद रचय सवई ।
पुन श्रान दोय हरि रूप लय पद-पंकज वद अनंतमई ।।
अब पीव लवे गुन आदि कियो कुचि-क्षीर भरे वव पेट मई ।
असिस स्वर्णनाथको नाम लिये सुख मंगल होत जिन्हें नितई ।।

चौपाई

मालम यह मुलक सकल सुपरासी नगर मरोरा के हम वासी ।
कायथ माथुर जात हमारी चगरोईया अल्ल अति प्यारी ।।

प्रेम-प्रेमसुख-परमसुखराय

एक ही व्यक्ति के विभिन्न नाम हैं जैसा कि कृति के अन्त परीक्षण से विदित है परमसुखराय तो रचना के प्रारम्भ में, कृति के अंतिम भाग में प्रेमसुख और मध्य में प्रेम[1] नाम से कवि ने नामाभिव्यक्ति की है

ये सटोरा[2] निवासी कायस्थ-माथुर-धगरोटिया किसुनचन्द के पुत्र थे कायस्थ होने के नाते इन्हे अरबी और फारसी भाषा का पारम्परिक ज्ञान था, विशिष्ट साहित्यिक रुचि के कारण सूचित भाषाओं के गम्भीर ग्रंथों का भी पारायण किया करते थे राज-कर्म में प्रवीण होने के कारण अजमेर में रहकर कम्पनी सरकार में वकालत का पेशा करते थे कवि ने आत्मवृत्त देते हुए यह स्वीकार किया है कि बडे-अडे अंग्रेज इनके बौद्धिक-कौशल का लोहा मानते थे तात्कालिक वरिष्ठ मुकदमों में इनकी उपयोगिता समझी जाती थी अजमेर में रीयावाले सेठ[3] के किसी गुमाश्ते ने प्रपच रचकर सेठ पर २ लाख रुपयों का दावा दायर किया जिसमे ग्रंथकार ने वकालत कर यशोपार्जन किया था

हातमचरित्र की आदिम कुछ पंक्तियों में कवि ने अंग्रेज सरकार की—कंपनी—राज की बहुत प्रशसा की है और अजमेर में उन दिनो लौकिक त्यौहारों पर निकलनेवाली शोभायात्राओं को भी खूब सराहा है अजमेर की मस्जिदें, मदिर, समीपस्थ-पुष्करराज तीर्थ, सरोवर और कूपादि का भव्य-वर्णन प्रस्तुत कर तात्कालिक अजमेर की सामाजिक, धार्मिक एवम् राजनैतिक परिस्थितियों का चित्रण किया है

सूचित "हातमचरित्र" और भागवत—"दशमस्कंध' अनुवाद परमसुखराय की दो अज्ञात रचनाएं हैं जिनका परिचय सर्व प्रथम इस प्रबंध में कराया जा रहा है कवि ने हातमचरित्र में सूचित किया है कि उनके किसी मित्र ने आग्रह

---

१ वृष्टी विटपादिघनें फल-फूल लगें सबके मन भाए ।
बर्षति मेघ सुगर्ज्ज प्रसन्न चराचर जीवन के हित आए ।।
पान अनेक सुवस्तु भरें धरनी दधि रत्न सुमुक्ति सुहाए ।
प्रेम कहैं सत्पुरुषनि कौ धन इसो हुवे सब हो सुप पाए ।।

२ इस नगर की अवस्थिति का ठीक-ठीक पता नहीं चला है, पर १९-१८ वीं शती के हस्तलिखित ग्रन्थों की पुष्पिकाओं में 'स टो रा' का नाम अवश्य आता है स्थानकवासी सम्प्रदाय के मुनियों की अधिकतर रचनाओं का सम्बन्ध इस नगर से रहा है सम्भावना तो यही की जा सकती है उदयपुर और कोटा मडल में ही इसका अस्तित्व हो

३ अच्छा होता यदि कवि ने सेठ का नाम भी अंकित किया होता, रीयावाले सेठ का सम्बन्ध स्थानकवासी परम्परा से रहा है मुन्शी देवीप्रसादजी ने अपने 'सवत् १९९८ के दौरे' में रीयावाले सेठों का उल्लेख इस प्रकार किया है 'पीपाट से एक कोस पर खालसे का एक बड़ा गांव रीया नामक है इसको सेठां की रीया भी बालते हैं क्योंकि यहाँ के सेठ पहले बहुत धनवान् थे कहते है कि एक बार महाराजा मानसिंह जी से किसी अंग्रेज ने पूछा था कि मारवाड़ में कितने घर हैं तो महाराज ने कहा था कि ढाई घर हैं एक घर तो रीया के सेठों का है, दूसरा मवलाडे के दीवाना का है और आधे घर में सारा मारवाड़

ये सेठ मोहणोत जाति के ओसवाल थे इनमें पहले रेखाजी बड़ा सेठ था, उसके पीछे जीवनदास हुआ, उसके पास लाखों ही रुपये सैंकड़ों हजारों सिक्के थे महाराजा विजयसिंहजी ने उनको नगरसेठ का खिताब और एक महीने तक किसी आदमी को कैद कर रखने का अधिकार भी दिया था जीवनदास के बेटे हरजीमल हुए, हरजीमल के रामदास, रामदास के हमीरमल और हमीरमल्ल के बेटे सेठ चाँदमल अजमेर में हैं

जीवनदास के दूसरे बेटे गोरधनदास के सोभागमल, सोभागमल के बेटे धनरूपमल कुचामण में थे जिनकी गोद में अब सेठ चादमल का बेटा है

सेठ जीवनदास की छत्री गाव के बाहर पूरब की तरफ पीपाट के रास्ते पर बहुत अच्छी बनी है। यह १६ खम्भों की है शिखर के नीचे चारों तरफ एक लेख खुदा है जिस का साराश यह है—

सेठ जीवनदास मोहणोत के ऊपर छत्री सुत गोरधनदास हरजीमल कराई नींव सवत १८४१ फागुन सुदि १ को दिलाई कलस माह सुदि १५ स० १८४४ गुरुवार को चढाया नागरी प्रचारिणी पत्रिका स० १९७७, पृष्ठ१९७-८

इनके वहाँ पर एक प्रतापजी नामक कवि के रहने का उल्लेख भी किया गया है
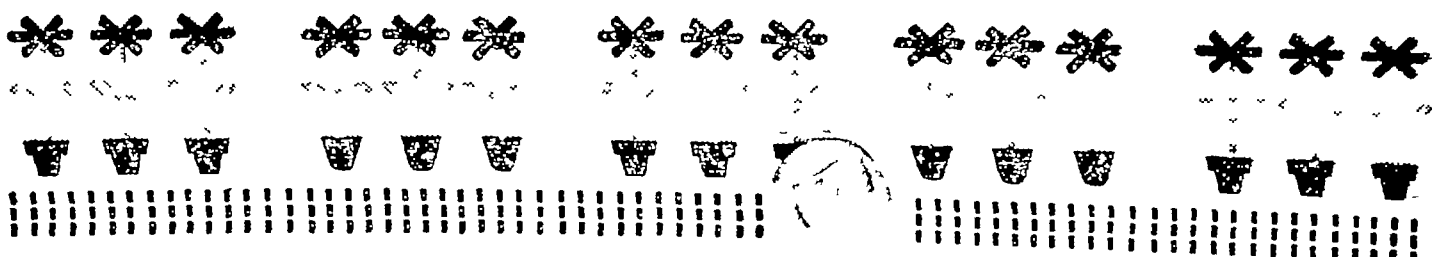
भागवत-दशमस्कन्ध-कृष्णचरित्र

आदि

छप्पय

गणपति सु सिद्धिकर रिद्धि सुख नवनिध्य मंगलदायकं ।
जिहिके सुमिर सु काज सुभ असि देव हेव सब लायक ।।
पद कंज वंद अनंद मनकहूं कृष्णचरित्र मनोहर ।
भवसिंधु तारन करन पावन देत सा सदगति पर ।।

दोहा

सरस्वति चरननि नाइ सिर मांगा बुद्ध रस सुद्ध ।
कहौ चरित्त श्रीकृष्ण के नवरस सरस प्रसिद्ध ।।

सवैया

पर्वत नीस मकस कर कज्जल सिंधु मिकी दावात बनावे ।
देव बिरछनि डारनि लेखिनि भूमि सपत्र बिसालउ भावे ।।
सारद तास लिखे हिनिसिबासर तो पि न ताको पार न आवे ।
नेति कहे ते बेद पुरान सु कृस्नचरित्र परमसुख पावे ।।

अन्त भाग

दोहा

देवी महिमा प्रथम को सुमिर सु बार-बार ।
उठ प्रग पोथ देय तब श्रीमुकंद करतार ।।

सोरठा

पुन-पुन माथ नवाइ हाथ जोड़ गदगद गिरा ।
प्रेम मगन मन भाइ मागै अस्तुति किरन की ।।

इति श्री भागवतमहापुराने दशमस्कन्धे परमहंस संहितायां वत्साहरणो नाम त्रयोदशोध्याय

उपसंहार

जैसा कि इस निबंध के प्रारम्भिक अंश में कहा जा चुका है कि विज्ञप्ति और आदेश पत्रों को स्वतन्त्र रचना के रूप में स्थान नहीं दिया है किशनगढ़ मालपुरा और रूपनगर जैन-संस्कृति के केन्द्र रहे हैं जो भी विद्वान् मुनिराज के सूचित स्थानों में चातुर्मास होते थे वे अपने पूज्य गुरुवर्यों को अपनी ओर से या श्रीसंघ की ओर से विस्तृत आमन्त्रण-पत्र भिजवाते थे ये पत्र भारतीय साहित्य की अमूल्य निधि हैं आज तो पत्र भी साहित्य की व्याख्या में समाविष्ट हैं पर उन दिनों के पत्र तो साहित्य संस्कृति और कला के अन्यतम प्रतीक समझे जाते थे तात्कालिक महत्त्वपूर्ण राजनैतिक सामाजिक और धार्मिक बातों का प्रामाणिक उल्लेख ऐसे पत्रों में मिलता है कतिपय पत्र तो महाकाव्य की संज्ञा से अभिहित किये जा सकते हैं अजमेर समीपवर्ती क्षेत्र से सम्बद्ध ऐसे दो पत्रों का उल्लेख करना आवश्यक जान पड़ता है प्रथम पत्र महोपाध्याय श्री मेघविजयजी का है जिनके जीवन का बहुमूल्य भाग किशनगढ़ में ही व्यतीत हुआ था इन्होंने कुमार संभव की पूर्ति स्वरूप एक पाण्डित्यपूर्ण विज्ञप्ति पत्र संस्कृत भाषा में अपने आचार्य के पास सं० १७२१ में भेजा था

किसुनचद पितु धर्म धुरधर सदावर्त्त हरि-भजन दयाकर ।
अनि सुमील वुधिवत घनेरा हीराचद भ्रात वड मेरा ।।
अमिल रत्न जिमि अर गुनसागर जगत विदित जस कीर्ति उजागर ।
महमदसाहि नवाब सु लपकर कपू सात सवारा बहादर ।।
पोतदार तो कते भए मारवार दु ढारहि गए ।
अह मेवाडहु देस विसेसा जानत सकल सेठ भा ऐसा ।।
अति हुसयार सुवुद्ध प्रवीना स्यामलाल सुत भगवती दीन्हौ ।
बीकानेर सुराज सुहायो हिन्दूमल वकील मन भायो ।।
करे नौकरी तिनकी मनसे रखै न और वासता किनमैं ।
मन वच कर्म काज कर सोई स्वामि धर्म ऐसा नहि कोई ।।
नावासेर मदिर करवायो एकलाष मैं किला वणायो ।
दुजा गढ टोंक सु तामे सवालाष लग रूपा सुवामे ।।
साभर मैं तीरथ दै दानी तहाँ मदर द्विजराज भवानी ।
सत्य सिधु मन कपट न ताके देई न सकै ।।

दोहा

सुषद भ्रात मझले सरस मानकचन्द सुनाम ।
घरकौ कारज ते करे सव सिधि रसप तमाम ।।

चौपाई

मे पढ हिन्दी और फारसी सेर कवित मिली आरसी ।
सव कामिन मैं सजी त्यारी ज्वाब स्वाल मे अति हुस्यारी ।।
वडनामी असि सेठ रीयाके वस अजमेर सुवाम ह्याके ।
राज कपनी सव सुपदारी अजा-सिंघ जल पिय इक ठाई ।।
दोईलाषका दावा तिन पृर कीयौ गुमास्ता जाल वणाकर ।
ता कारण हमको वुलवाये भयो निसाफ सेठ सुष पाये ।।
लाषनिकेर मुकदमा कीना रहे अदालति मैं जस लीना ।
साहिब लोग रहे नित राजी जे इन्साफ मार्ग सुष साजी ।।
हातम की किताब हम पाई लिषी फारसी बात सुहाई ।
करो हिन्दवी यो मन आवा चरित नीर जिमि होइ तलावा ।।

अन्त भाग

पर हित आपन दुष सहै करे और को काज ।
ताको साषी ग्रथ यही कहा वर्नौ तिहि राज ।।
वरनहु कहा तिहि राजको सापी सु सव यह ग्रथ है ।
जो सुनही पर हित ना करै पाषान ऊर मतिमद है ।।
कह प्रेम जगमैं सार दोईक नाम हरि ऊपगार है ।
इक व जीभ सै इक सक्तिसो जानै न मुसकल भार है ।।

सोरठा

लेवे तो लेहु राम नाम मोदा सरस । देत वने तो देहु दान मान उपिगार ।।
इति श्रीहातमचरित्र प्रेमसुषकृते सप्तम सवाल मिति भाद्रवमासे सुक्लपक्षे दोज सोमवासरे सवत १८९३ सम्पूर्ण।

इसकी एकमात्र प्रति मेरे सग्रह मे सुरक्षित है इसका आजतक कही उल्लेख नही हुआ है पत्र स्वलिखित है, इसमे इसका महत्त्व और भी बढ जाता है

दूसरा पत्र है कल्याणमदिर समस्यापूर्ति स्वरूप यह भी विज्ञप्ति पत्र है जो मसूदा से स० १७७८ मे आचार्य श्री क्षमा-भद्रसूरि की सेवा मे अजबसागर, ईश्वरसागर, अनूपसागर, तथा गोकल, गोदा और वपता की ओर से भेजा गया है उपर्युक्त मुनिवर अधिकतर सथाणा और मसूदा मे रहे हैं इनकी लिखी और रची कृतिया उपलब्ध हैं सथाणा मे भी अजबसागर ने स० १७७७ मे एक सस्कृत भाषा मे रचित वार्षिक पत्र प्रेषित किया था, जो मेरे सग्रह मे है

रूपनगर के बीसो आदेश पत्र तथा उदयपुर के यतियो पर समय-समय पर वहा के रहनेवाले यतियो द्वारा लिखित पत्रो की सख्या कम नही है ये पत्र उस समय की परिस्थिति के अच्छे निदर्शन तो है ही, साथ ही भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से भी उपादेय है

उपर्युक्त पक्तियो मे यथाशक्य जो कुछ भी अज्ञात साहित्यकार और उनकी रचनाओ पर प्रकाश डाला गया है, मेरा विश्वास है कि हिन्दी भाषा की व्यापकता को देखते हुए यदि शोध की जाय तो और भी प्रचुर और नव्य साहित्यिक सामग्री मिलने की पूर्ण सभावना है विज्ञो मे निवेदन है कि वे स्वक्षेत्र के उपेक्षित साहित्यिको पर अनुसधान कर नूतन आलोक से सारस्वतो की उज्ज्वल कीर्त्ति को प्रशस्त बनावें

निबध में उल्लिखित कवि और उनकी रचनाएं

१	जिनरगसूरिजी	धर्मदत्त चतुपदी	रचनाकाल स० १७३७, किशनगढ
२	मेघविजयजी गणि	मेघीयपद्धति	
३	मानसिहजी	स्फुट-पद	राज्यकाल स० १७००-१७६३
४	राजसिहजी	व्रजविलास	रचनाकाल स० १७८८
		राजा पचक कथा	रचनाकाल स० १७८७ के पूर्व
		स्फुट-पद, स्फुट कवित्त	
५	व्रजदासी-बाकावती	सालवजुद्ध, आशीष सग्रह	रचनाकाल स० १७८३
		स्फुट कवित्तादि	
६	विडदसिहजी	गीतिगोविद टीका	राज्यकाल स० १८३८-१८४५
७	कल्याणसिहजी	स्फुट-पद	राज्यकाल १८५४-९८
८	पृथ्वीसिहजी	,,	,, १८९७-१९३६
९	जवानसिहजी	रसतरग	
		जल्वये शहनशाह इश्क	रचनाकाल स० १९४५
		नखशिख-शिखनख	,, स० १९४६
		धमार शतक (सकलन)	
१०	यज्ञनारायणसिहजी	स्फुट पद, रसिया	राज्यकाल स० १९८३-९५
११	नानिग	मजलिस शिक्षा	रचनाकाल स० १७९०
१२	पचायण	मुहूर्त्त कोश	रचनाकाल स० १८१५, अजमेर
१५	विजयकीर्त्तिजी	भरत बाहुबली सवाद	रचनाकाल स० १८२३ के पूर्व अजमेर
		गज सुकमाल चरित्र	
१४	जसराज भाट	राजाराम तिलोकसी सघ नीसानी	रचनाकाल स० १८७८ के पूर्व

निबध में प्रयुक्त सभी हस्तलिखित ग्रन्थों की प्रतिया लेखक के निजी सग्रह की है

वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री
विद्यावाचस्पति व्याख्यान केसरीसमाजरत्न न्यायकाव्यतीर्थ

कर्नाटक साहित्य की प्राचीन परम्परा

कर्नाटक प्रान्त के प्राचीन विद्वानो ने जैनसंस्कृति व साहित्य की रक्षा के लिए अपना विशिष्ट योगदान दिया है आज भी जैन पुरातत्त्व साहित्य स्थापत्यकला आदि के दर्शन जो इस प्रान्त में होते हैं उनसे विश्व का समस्त भाग आश्चर्य चकित होता है

भगवान् बाहुबली की विशालकाय मूर्ति बेलूर हलेबीड के मन्दिर, मुडबिद्री की दर्शनीय नवरत्ननिर्मित अनर्घ्य रत्न-प्रतिमाएँ आदि आज भी इस प्रान्त के वैशिष्ट्य को व्यक्त करते हैं जैन साहित्य के सृजन और संरक्षण का श्रेय भी इस प्रान्त को अधिकतर मिलना चाहिये क्योंकि षट्-खण्डागम सदृश आगम-ग्रन्थ की सुरक्षा केवल इस प्रान्त के श्रद्धालु बन्धुओं की कृपा से ही हो सकी यह एक स्वतन्त्र विषय है इस लेख का विषय केवल कर्नाटकसाहित्य की परम्परा का अवलोकन करना है

कर्नाटक साहित्य की परम्परा

वैसे तो कर्नाटक-साहित्य की परम्परा का सम्बन्ध बहुत प्राचीन काल से जोड़ा जाता है भगवान् आदिनाथ प्रभु की कन्या ब्राह्मी ने कन्नड लिपि का निर्माण किया इस प्रकार का एक कथन परम्परा से इतिहासातीत काल से सुनने में आता है परन्तु आज हमें ऐतिहासिक दृष्टि से इस साहित्य की परम्परा कितनी प्राचीन है इसका विचार करना है

अनेक ग्रन्थों के अवलोकन से यह अवगत होता है कि प्राचीन आचार्ययुग में कर्नाटक ग्रन्थकर्ताओं का भी अस्तित्व था कर्नाटक-साहित्य निर्मिति का सर्वप्रथम श्रेय जैन ग्रन्थकारों को ही मिलना चाहिए इस विषय में आज के साहित्य जगत् में कोई मतभेद नहीं है केवल प्राचीनता के लिए ही नहीं विषय व प्रतिपादन महत्त्व के लिए भी आज कर्नाटक में जैन साहित्य को ही प्रथम स्थान दिया जा सकता है इसलिए आज अनेक विश्वविद्यालयों के पठन क्रम में जैन साहित्यग्रन्थ ही नियुक्त हुए हैं जैनेतर निष्पक्ष विद्वानों ने जैन साहित्य की मुक्तकण्ठ से अनेक बार प्रशंसा की है इस दृष्टि से कर्नाटक जैन साहित्य की परम्परा बहुत प्राचीन और महत्त्वपूर्ण है यह निर्विवाद सिद्ध होता है

प्राचीनकाल में इस साहित्य के निर्माता जैन कवियों को राजाश्रय मिला था अतः गंग पल्लव राष्ट्रकूट आदि राजवंशों के राज्यकाल में इन कवियों को विशेष प्रोत्साहन मिला इन कवियों से उन राजाओं को अपने राज्यशकट को निर्बाध रूप से चलाने के लिए बल मिला यह विविध घटनाओं से सिद्ध होता है

राष्ट्रकूट सम्राट् नृपतुंग का नौवीं शताब्दी में हुआ है उसने कविराजमार्ग की रचना की है उसके उल्लेखों से अनुमान किया जा सकता है कि उससे पहले भी कर्नाटक साहित्य की रचना हुई है उससे पहले पुरानी कन्नड जिसको हळे कन्नड के नाम से कहा जाता है उसमें ग्रन्थों की रचना होती थी कविराजमार्ग में नृपतुंग ने कुछ हळे कन्नड काव्यों का प्रकार का निर्देश किया है इसके अलावा कुछ प्राचीन कवियों का उल्लेख भी ग्रन्थकार ने किया है

श्रीविजय, कविपरमेश्वर, पडितचन्द्र, लोकपाल आदि कवियो का स्मरण किया है

महाकवि पम्प ने भी समन्तभद्र, कविपरमेष्ठी, पूज्यपाद आदि कवियो का उल्लेख किया है

समन्तभद्र और पूज्यपाद का समय बहुत प्राचीन है इन आचार्यों की जन्मभूमि और कर्मभूमि कर्नाटक की रही है, इसीलिए अनुमान किया जा सकता है कि इन आचार्यों ने भी कोई कर्नाटक भापा मे अपनी रचना की हो, परन्तु अभी कोई उपलब्ध नही है पूज्यपाद के कई ग्रथो पर कर्नाटकटीका उपलब्ध होती है, समन्तभद्र के ग्रथो पर भी पुराने कन्नड मे टीका लिखी गई है इसलिए यह सहज अनुमान हो सकता है कि इनके काल मे भी कर्नाटक साहित्य की सृष्टि हुई हो

नृ पतु ग के द्वारा उल्लिखित श्रीविजय ने भी कोई कर्नाटकग्रथ की रचना की होगी, यह भी स्पष्ट है, जिसका उल्लेख अनेक स्थलो मे उत्तर ग्रन्थकार करते है

इन कवियो के साथ कवीश्वर या कविपरमेष्ठी का जो उल्लेख आता है वह भी प्राचीन कवि मालूम होता है यह भी निर्विवाद है कि महापुराणकार भगवज्जिनसेन और गुणभद्र से भी पहिले इसकी रचना अस्तित्व मे होगी, और महत्त्वपूर्ण स्थान को लेकर, क्योकि भगवज्जिनसेन ने भी अपने आदिपुराण मे इसका उल्लेख आदर के साथ किया है—

स पूज्य कविभिर्लोके कवीना परमेश्वर
वागर्थ-सग्रह कृत्स्नं पुराण य समग्रहीत् ।[1]

इसी प्रकार उत्तरपुराण मे आचार्य गुणभद्र ने कवि परमेश्वर का उल्लेख किया है

इन उल्लेखो से स्पष्ट है कि त्रिषष्ठिशलाका पुरुषो के पुराण का कथन करने वाला ग्रथ आचार्य जिनसेन और गुणभद्र से भी पहले अवश्य कवि परमेष्ठी के द्वारा रचित रहा होगा, वह कर्नाटक भाषा मे था वह भले ही सक्षिप्त हो, परन्तु भगवज्जिनसेनाचार्य ने उसका विस्तार किया

इन सब बातो को लिखने का हमारा अभिप्राय यह है कि कर्नाटक साहित्य की परम्परा बहुत प्राचीन है जिनसेन गुणभद्रादिक से कई शती पहिले से ही कर्नाटक ग्रथो की रचना होती रही, इस बात के उल्लेख उत्तर कालवर्ती ग्रथो मे पाये जाते हैं तत्पूर्व के अनेक शिलालेख भी पाये जाते हैं यत्र-तत्र ग्रन्थो मे उन प्राचीन ग्रथो के उद्धरण भी मिलते है फिर भी दुर्दैव है कि समग्र साहित्य उपलब्ध नही होता है इस सम्बन्ध मे यहाँ पर हम दिग्दर्शन मात्र करा देते हैं. विशेष परिचय से स्वतन्त्र ग्रथ बन जायगा जैन कवियो ने कर्नाटक भाषा मे गद्यकाव्य और पद्यकाव्य की रचना की है, आदिकवि पम्प ने चम्पू काव्य से ही अपनी कला का श्रीगणेश किया है

पंप महाकवि

महाकवि ने क्रि० श० ९४१ मे आदिपुराण और पम्पचरित की रचना की है, उनकी ये रचनायें चम्पू मे है चम्पूकाव्य का यही जनक प्रतीत होता है इसकी रचना को कर्नाटक साहित्य मे विशेष महत्त्व का स्थान है.

पम्प मूलत वैदिक था, अर्थात् इसके पूर्वज वैदिक थे, परन्तु इसके पिता श्री अभिराम ने जैन धर्म की महत्ता से प्रभावित होकर उसे अगीकार किया इसलिए पम्प के जीवन मे जैन धर्म का ही सस्कार विशेषत दृष्टिगोचर होता है

सबसे पहले महाकवि ने आदिपुराण की रचना की है, आदिपुराण की रचना प्राय भगवज्जिनसेन के द्वारा विरचित आदिपुराण के कथा वस्तु को सामने रखकर पम्प ने की है परन्तु शैली उसकी स्वतन्त्र है जैसे सस्कृत महापुराण मे आचार्य ने केवल कथासाहित्य का ही निर्माण नही किया साथ मे धर्माचरण और तत्त्वबोध की दृष्टि भी रही, इसी प्रकार पम्प ने अपने ग्रन्थ मे साहित्य और धर्मबोध, दोनो उद्देश्यो को साधा है आदिपुराण मे भी भगवान् आदिप्रभु का चरित्र बहुत सरस ढग से चित्रित किया गया है, भोग और योग का सुन्दर सामजस्य करते हुए कवि ने ग्रथ मे

१ आदिपुराण पर्व १ श्लो० ६०

सवत्र भोग विरति का उपदेश दिया है इसकी दूसरी रचना पम्पभारत है इसका विषय भारत है अपने कालीन राजा अरिकेसरी को अर्जुन के स्थान पर रखकर कवि ने स्थान-स्थान पर उसकी प्रशंसा की है अर्जुन के साथ अपने राजा की तुलना करने की धुन मे कहीं-कहीं कथावस्तु में भी किंचित् अन्तर कवि को करना पड़ा है तथापि काव्य के महत्त्व में कोई न्यूनता नही है यह कर्नाटक साहित्य मे आद्य कवि माना जाता है जैन जैनेतर सबक्षेत्रों में पम्प के साहित्य के प्रति परमादर का स्थान है उत्तर ग्रथकारों ने पम्प को बहुत आदर के साथ स्मरण किया है आगे चलकर एक कवि ने अपने को अभिनव पम्प के नाम से उल्लेख किया है इससे भी आदि पम्प की महत्ता व्यक्त होती है

कवि पोन्न

पम्प के बाद पोन्न नाम का कवि हुआ इसका समय ई ९५ करीब माना जाता है इसने भी पम्प के समान ही एक धार्मिक और लौकिक तथा दूसरा धार्मिक इस प्रकार दो काव्यों की रचना की है इसकी रचना में मुख्यत शान्तिनाथ पुराण का उल्लेख किया जा सकता है दूसरा लौकिक ग्रन्थ भुवनैकरामाभ्युदय उपलब्ध नही है इसके अलावा जिनाक्षरमाला नामक स्तोत्र ग्रंथ की भी इसने रचना की है इस कवि का भी कर्नाटकसाहित्यक्षेत्र मे उच्च स्थान है इसे कविचक्रवर्ती उभयभाषा-कविचक्रवर्ती आदि उपाधियां थी उत्तर कवियों ने इसका भी सादर स्मरण किया है

कवि रन्न

पोन्न के बाद रन्न महाकवि का उल्लेख करना चाहिए वह करीब वि स ९९३ मे हुआ यह जैन वैश्य था सामान्य कासार कुल मे उत्पन्न होने पर भी संस्कृत और कन्नड में उद्दाम पाण्डित्य को प्राप्त किया था अनेक सुन्दर ग्रंथो की रचना कर कर्नाटक साहित्य-जगत् का इसने महदुपकार किया है इसकी रचनाओं में से कुछ उपलब्ध है अजितनाथ तीर्थंकर पुराण आदि उपलब्ध है अन्य उल्लिखित परशुरामचरित चक्रेश्वरचरित अनुपलब्ध है. यह भी कर्नाटक साहित्य मे उच्च स्थान मे गणनीय कवि है

पम्प रन्न और पोन्न ये कन्नड कवि रत्नत्रय कहलाते है इसीसे इनकी महत्ता का अनुमान किया जा सकता है.

कवि चामुण्डराय

इसी समय के कवि चामुण्डराय ने जो कि श ९९१ से ९८४ तक गंगवाडी के राजा मारसिंह राचमल्ल का सेनापति था चामुण्डरायपुराण की रचना की है यह चतुर्विंशति तीर्थंकरों के चरित्र को वर्णन करनेवाला गद्य-ग्रंथ है. इस प्रकार शिवकोटी ने वड्डाराधने नामक गद्यग्रंथ की रचना की है

कुछ अन्य कविगण

इसके बाद करीब ग्यारहवें शतमान मे धर्मामृत के रचयिता कवि नयसेन और लीलावती प्रबन्ध के रचयिता नेमिचन्द्र कबिगर काव्य के रचयिता अण्डय्य का उल्लेख किया जा सकता है इन्होने धर्मोपदेश देने के निमित्त से विविध प्रमेयों को चुनकर ग्रन्थ निरूपण किया है कथा-साहित्य के साथ अहिंसादि धर्मों का परिपोषण इन ग्रंथों से होता है इसी युग म कुछ अन्य कवि भी हुए है जिन्होने चतुर्विंशति तीर्थंकरो के पुराणग्रथो की रचना की है उनमे उल्लेखनीय कवियो का दिग्दर्शन मात्र कराया जाता है कविकर्णपार्य ने (१ १४) नेमिनाथ पुराण अग्गलदेवने (११८९) चन्द्रप्रभ पुराण कवि आचण्ण (११९५) ने वर्धमान पुराण कवि गुणवर्म (१२३५) ने पुष्पदंत पुराण कवि कमलभव ने (१२३५) शान्तीश्वरपुराण कविमहाबल ने (१२५४) नेमिनाथ पुराण मधुर कवि ने (१३८५) धर्मनाथपुराण की रचना की है इन सबकी रचनाएँ महत्त्वपूर्ण है

कवि चक्रवर्ती जन्न

वि स ११७ से १२३४ के बीच म जन्न महा कवि ने अपनी रचना से कर्नाटक साहित्यजगत् का उपकार किया

है इसने यशोधरचरित्र को लिख कर अपने रचनाकौशल को व्यक्त किया है इसका प्रमेय यशस्तिलकचम्पू महाकाव्य का है कर्नाटकसाहित्य मे जन्न की रचना के लिए भी वही स्थान प्राप्त है जो सस्कृत साहित्य मे यशस्तिलक चम्पू को है यह कविचक्रवर्ती उपाधि से विभूषित हुआ है

प्राय इसी समय हस्तिमल्ल हुआ, वह उभय भाषा कविचक्रवर्ती था, उसने गद्य मे आदिपुराण की रचना की है. यह करीब १२६० मे हुआ इसके कुछ सस्कृत ग्रथ है

अभिनव पम्प नागचन्द्र

१२ वे शतमान मे नागचन्द्र नामक एक विद्वान् कवि हुआ है जिसने रामायण की रचना की है जैन परम्परा के उपदेशानुसार निर्मित पउमचरिउ रविषेणकृति पद्मपुराण आदि के अनुसार ही इसने रामायण की रचना की है इसकी रचना भी सुन्दर हुई है इसने अपने को अभिनव पम्प के नाम से उल्लेख किया है इसने विजयपुर मे एक मल्लिनाथ के जिनालय का निर्माण कराया, उस की स्मृति मे मल्लिनाथपुराण की रचना की है

इसके बाद १४ वें शतक मे भास्कर कवि ने जीवधरचरित का निर्माण किया और कवि बोम्मरस ने सनत्कुमारचरित्र और जीवधरचरित्र की रचना की है

१६ वें शतक के प्रारम्भ मे मगरस कवि ने सम्यक्त्वकौमुदी, जयनृपकाव्य, नेमिजिनेशसगति, श्रीपालचरित्र, प्रभजनचरित और सूपशास्त्र आदि ग्रथो की रचना की है इसी प्रकार साल्वकवि ने भारत और कविदोड्ड ने चन्द्रप्रभचरित्र को इसी समय के लगभग निर्माण किया है

महाकवि रत्नाकर वर्णी

इसके बाद महाकवि रत्नाकर वर्णी का उल्लेख बहुत आदर के साथ साहित्य जगत् मे किया जा सकता है इसने भरतेश्वरवैभव नामक बहुत बडे आध्यात्मिक सरस ग्रथ की रचना की है इसमे करीब १० हजार सागत्य श्लोक है। कवि का वर्णनाचातुय, पदलालित्य, भोग-योग का प्रभावक वर्णन उल्लेखनीय है इस ग्रथ को कवि ने भोगविजय, दिग्विजय, योगविजय, मोक्षविजय और अककीर्तिविजय के नाम से पच कल्याण के रूप मे विभक्त किया है उसका समय क्रि० श० १५५७ का माना जाता है इस महाकाव्य मे कवि ने आदिप्रभु के पुत्र भरतेश्वर को अपना कथानायक चुनकर उसकी दिनचर्या का वृत्त अत्यन्त आकर्षक ढग से वर्णन किया है इस काव्य मे जैसे अध्यात्म का पराकाष्ठा का वर्णन है यह महाकाव्य आध्यात्मिक सरस कथा है लेखक के द्वारा उसका समग्र हिन्दी अनुवाद हो चुका है और उसकी कई आवृत्तिया प्रकाशित हो चुकी है गुजराती, मराठी और अग्रेजी मे भी यह प्रकाशित होने जा रहा है इसी से इस ग्रथ की महत्ता समझ मे आ सकती है इस महाकाव्य को भारतीय साहित्य अकादमीने भी प्रकाशित करने का विचार किया है उसने इस ग्रथ के अलावा रत्नाकरशतक, अपरजिनशतक और त्रिलोकशतक नामक शतकत्रय ग्रथ की भी रचना करके आध्यात्मिक जगत् का उपकार किया है

इसके बाद सागत्य छद मे अनेक कवियोने ग्रथरचना की है—बाहुबलि कवि ने (१५६०) नागकुमार चरिते, पायण्णव्रति ने (१६०६) सम्यक्त्वकौमुदी, पचबाल ने (१६१४) भुजबलचरित्र की रचना की इसी प्रकार चन्द्रभ कवि ने (१६४६) कार्कल के गोम्मटेशचरित्र, धरणीपडित ने (१६५०) विज्जणराम चरित्र, नेमि पडित ने (१६५०) सुविचारचरित, चिदानद ने (१६८०) मुनिवशाभ्युदय, पद्मनाभ ने (१६८०) जिनदत्तरायचरिते, पायण कवि ने (१७५०) रामचन्द्रचरिते, अनत कवि ने (१७८०) श्रवणबेलगोल के गोम्मटेश चरित्र, धरणी पडित ने वरागचरित्र, बहणाव ने जिनभारत, चन्द्रसागर वर्णी ने (१८१०) रामायण की रचना की है इसी के लगभग चारु पडित ने भव्यजन-चिन्तामणि, और देवचन्द्र ने राजावलीकथा नामक ऐतिहासिक ग्रथ की रचना की है पम्प के युग को हम चम्पूयुग कह सकते है तो रत्नाकर वर्णी के युग को हम सागत्य का युग कह सकते है दो युगपुरुष है

विभिन्न विषय में कर्नाटक साहित्य

नृपतुंग के द्वारा विरचित 'कविराजमार्ग' लक्षणग्रन्थों में कवियों के लिए राजमार्ग है इसी प्रकार नागवर्म का छंदोंबुधि नामक ग्रन्थ दूसरे नागवर्मका कर्नाटक भाषा भूषण (व्याकरण) काव्यावलोकन (अलंकार) वस्तुकोष (कोष) भट्टाकलंक का शब्दानुशासन (व्याकरण) केशीराज का (१२६) मणिदर्पण (?) और साल्व के द्वारा विरचित रस रत्नाकर (रसविषयक) देवोत्तमका नानार्थरत्नाकर (कोष) शृंगार कवि का कर्नाटकसंजीवन (कोष) आदि ग्रंथ कर्नाटक कवियों की विविध विभाग की सेवाओं को व्यक्त करते हैं

इसी प्रकार वैद्यक ज्योतिष और सामुद्रिकादि शास्त्रों की रचना कर्नाटक के कवियों ने की है उनमें बहुत से ग्रंथ अनुपलब्ध हैं कुछ उपलब्ध है कल्याणकारक (वद्यक) (सोमनाथ) हस्त्यायुर्वेद (शिवमार्गदेव) बालग्रहचिकित्सा (देवेन्द्र मुनि) मदनतिलक (चन्द्रराज) स्मरतंत्र (जन्न) आदि ग्रंथ भी उल्लेखनीय हैं इसके अलावा ध्यानसारसमुच्चय आदि ग्रंथों की भी रचना हुई है

इसी प्रकार ज्योतिषसंबंधी रचनाओं में श्रीधराचार्य का जातकतिलक (१ ४६) चाउण्डराय का लोकोपकारक (सामुद्रिक) जयबन्धुनन्दन का सूपशास्त्र राजादित्यका गणितशास्त्र अर्हद्दास के द्वारा विरचित शकुनशास्त्र आदि ग्रंथ भी उल्लेखनीय हैं

स्पष्ट है कि कर्नाटक प्रांतीय कवियों ने बहुत प्राचीन काल से ही साहित्य के विविध अंगों की सेवा कर महान् लोकोपकार किया है बहुत से साहित्य नष्ट भ्रष्ट हुए, अवशेष साहित्य भी विपुल प्रमाण में आज उपलब्ध हैं कर्नाटक प्रांत में जैन साहित्य और जैन साहित्यकारों के नाम हरएक सम्प्रदाय वाले बहुत गौरव के साथ स्मरण करेंगे ऐसी स्थिति का निर्माण इस परम्परा ने किया है जैन समाज के लिए यह अभिमान की चीज है परन्तु यदि हम इस पावन परम्परा की सुरक्षा करने में समर्थ हुए तो ही हमारे लिए भूषण है अन्यथा केवल बपौती का नाम लेकर जीनेवाली पुरुषार्थहीन सन्तति का ही स्थान हमारा है

श्रीसुशीलकुमार दिवाकर
एम० ए०, बी० काम०, एल-एल० बी०

काव्य में अध्यात्म

जबकि पश्चिमी सभ्यता ने अपनी उन्नति की नीव और कलश पर जड-वादिता का सस्कार डाला है, तब भारत ने भौतिकता की दृष्टि से पीछे होते हुए भी अध्यात्म की निरन्तर साधना की है इस आध्यात्मिकता मे ही जीवन की महानता और अमूल्यत्व निहित है भारत-मन्दिर मे आध्यात्मिकता का चित्ताकर्षक गीत निरन्तर गाया जा रहा है यह भारतीय अध्यात्म का ही प्रभाव है कि हमने पाश्चात्य विद्वानो के लिए पूर्ण-रूपेण अज्ञात आत्मा के अनत गुणो का पता पाया है आत्मा जो अदृश्य और केवल अनुभवगम्य है, भारतीय महर्षियो द्वारा देखी गई और पहचानी गई जब पाश्चात्य दार्शनिक कार्लाइल सदृश विद्वान् यह कहकर सन्तुष्ट हो गये कि 'मैं क्या हू' इसकी चिना छोडकर 'मुझे क्या करना है' पर ही विचार करना चाहिये, तब भारतीय महात्माओ और सर्वज्ञो ने आत्मा का पता लगाया उनके इस आत्मदर्शन मे उनका त्याग, ज्ञान, नि स्पृहता, ध्यान, तप, वैराग्य, अपरिग्रह, अहिंसा आदि पारस्परिक पर्यायवाची, सद्-गुणो का अवस्थित रहना अत्यन्त महत्त्व का है

उन महावीर, बुद्ध, प्रभृति महान् व्यक्तियो के समतादायक शुभ मार्ग को सस्कृत, पाली और प्राकृत के आचार्यों ने जनता तक पहुचाने का सफल प्रयत्न किया भारतीय विद्वानो ने अपने विशुद्ध जीवन के आधार पर सफल लेखनी द्वारा लोक-प्रिय भाषा मे जनरजन और जनहित के लिए असख्य काव्यो की रचना की न केवल रचना की वरन् उन गीतो को गाकर जन-जन की हृत्तन्त्री पर स्पष्ट प्रभाव अकित कर पवित्रता की ओर उन्मुख कर दिया भारतीय जीवन मे 'सन्तोष धन' की आवाज उन्ही विद्वानो ने बुलन्द की महाराष्ट्र के कवियो ने तानाजी मालमुरे की सेना मे वीर-काव्य गाकर जिस प्रकार ओज ओर जोश भरा, भूषण के रस से प्रभावित छत्रसाल और शिवाजी ने जिस प्रकार उत्साह पाया, उससे कितना ही अधिक तत्कालीन एव चिरस्थायी प्रभाव कवियो का भारतीय जीवन की दार्शनिकता पर पडा लोक-भाषा हिन्दी के कवियो न भी इस ओर कम प्रयत्न नही किये तुलसी ने जगमोह त्याग, काव्यकला की उपासना कर अध्यात्म की ओर ही अपनी प्रतिभा-शकट को मोडा यह बात तो कथानक के अनुसार ही हो गई कि राम का चरित्र-गान करने के लिए, उन्हे 'मानस' मे यदाकदा शृगार का भी आश्रय, 'तिरछे करि नयन दे सैन जिन्हे समझाय चली, मुसकाय चली' आदि के रूप मे लेना पडा कविवर बनारसीदास के बारे मे उनके 'अर्धकथानक' काव्य से पता लगता है कि वे पहले शृगारी कवि थे, परन्तु बाद मे वे चेते और जब उन्हे यह आभास हुआ कि शृगार-काव्य से न केवल अपना अहित कर रहे है वरन् आगे आने वाली अगण्य पीढियो को स्खलित मार्ग दिखा रहे हैं, तो उन्होंने अपना समस्त शृगार-काव्य गोमती नदी मे डुबाकर सन्तोष की सास ली देखिये—

एक दिवस मित्रन्ह के साथ, नौकृत पोथी लीना हाथ,
नीद गोमती के विच आइ, पुल के ऊपरि बैठे जाइ।

विभिन्न विषय में कर्नाटक साहित्य

नृपतुंग के द्वारा विरचित 'कविराजमार्ग' लक्षणग्रंथों में कवियों के लिए राजमार्ग है इसी प्रकार नागवर्म का छन्दोंबुधि नामक छंदग्रंथ दूसरे नागवर्मका कर्नाटक भाषा भूषण (व्याकरण) काव्यावलोकन (अलंकार) वस्तुकोष (कोष) भट्टाकलंक का शब्दानुशासन (व्याकरण) केशीराज का (१२६०) मणिदर्पण (?) और साल्व के द्वारा विरचित रस रत्नाकर (रसविषयक) देवोत्तमका नानार्थरत्नाकर (कोष) शृंगार कवि का कर्नाटकसंजीवन (कोष) आदि ग्रंथ कर्नाटक कवियों की विविध विभाग की सेवाओं को व्यक्त करते है

इसी प्रकार वैद्यक ज्योतिष और सामुद्रिकादि शास्त्रों की रचना कर्नाटक के कवियों ने की है उनमें बहुत से ग्रंथ अनुपलब्ध हैं, कुछ उपलब्ध है कल्याणकारक (वैद्यक) (सोमनाथ) हस्त्यायुर्वेद (शिवमारदेव) बालग्रहचिकित्सा (देवेन्द्र मुनि) मदनतिलक (चन्द्रराज) स्मरतंत्र (जन्न) आदि ग्रंथ भी उल्लेखनीय हैं इसके अलावा ध्यानसारसमुच्चय आदि ग्रंथों की भी रचना हुई है

इसी प्रकार ज्योतिषसंबंधी रचनाओं में श्रीधराचार्य का जातकतिलक (१ ४६) चाउण्डराय का लोकोपकारक (सामुद्रिक) वमबन्धुनन्दन का सूपशास्त्र राजादित्यका गणितशास्त्र अर्हद्दास के द्वारा विरचित शकुनशास्त्र आदि ग्रंथ भी उल्लेखनीय हैं

स्पष्ट है कि कर्नाटक प्रांतीय कवियों ने बहुत प्राचीन काल से ही साहित्य के विविध अंगों की सेवा कर महान् लोकोपकार किया है. बहुत से साहित्य नष्ट भ्रष्ट हुए, अवशेष साहित्य भी विपुल प्रमाण में आज उपलब्ध हैं कर्नाटक प्रांत में जैन साहित्य और जैन साहित्यकारों के नाम हरएक सम्प्रदाय वाले बहुत गौरव के साथ स्मरण करेंगे ऐसी स्थिति का निर्माण इस परम्परा ने किया है जैन समाज के लिए यह अभिमान की चीज है परन्तु यदि हम इस पावन परम्परा की सुरक्षा करने में समर्थ हुए तो ही हमारे लिए भूषण है अन्यथा केवल बपौती का नाम लेकर जीनेवाली पुरुषार्थहीन सन्तति का ही स्थान हमारा है

श्रीसुशीलकुमार दिवाकर
एम० ए०, बी० काम०, एल-एल० बी०

काव्य में अध्यात्म

जबकि पश्चिमी सभ्यता ने अपनी उन्नति की नीव और कलश पर जड-वादिता का सस्कार डाला है, तब भारत ने भौतिकता की दृष्टि से पीछे होते हुए भी अध्यात्म की निरन्तर साधना की है इस आध्यात्मिकता मे ही जीवन की महानता और अमूल्यत्व निहित है भारत-मन्दिर मे आध्यात्मिकता का चित्ताकर्षक गीत निरन्तर गाया जा रहा है यह भारतीय अध्यात्म का ही प्रभाव है कि हमने पाश्चात्य विद्वानो के लिए पूर्ण-रूपेण अज्ञात आत्मा के अनत गुणो का पता पाया है आत्मा जो अदृश्य और केवल अनुभवगम्य है, भारतीय महर्षियो द्वारा देखी गई और पहचानी गई जब पाश्चात्य दार्शनिक कार्लाइल सदृश विद्वान् यह कहकर सन्तुष्ट हो गये कि 'मैं क्या हू' इसकी चिंता छोडकर 'मुझे क्या करना है' पर ही विचार करना चाहिये, तब भारतीय महात्माओ और सर्वज्ञो ने आत्मा का पता लगाया उनके इस आत्मदर्शन मे उनका त्याग, ज्ञान, नि स्पृहता, ध्यान, तप, वैराग्य, अपरिग्रह, अहिंसा आदि पारस्परिक पर्यायवाची, सद्-गुणो का अवस्थित रहना अत्यन्त महत्त्व का है

उन महावीर, बुद्ध, प्रभृति महान् व्यक्तियो के समतादायक शुभ मार्ग को सस्कृत, पाली और प्राकृत के आचार्यों ने जनता तक पहुचाने का सफल प्रयत्न किया भारतीय विद्वानो ने अपने विशुद्ध जीवन के आधार पर सफल लेखनी द्वारा लोक-प्रिय भाषा मे जनरजन और जनहित के लिए असख्य काव्यो की रचना की न केवल रचना की वरन् उन गीतो को गाकर जन-जन की हृत्तन्त्री पर स्पष्ट प्रभाव अकित कर पवित्रता की ओर उन्मुख कर दिया भारतीय जीवन मे 'सन्तोष धन' की आवाज उन्ही विद्वानो ने बुलन्द की महाराष्ट्र के कवियो ने तानाजी मालसुरे की सेना मे वीर-काव्य गाकर जिस प्रकार ओज ओर जोश भरा, भूषण के रस से प्रभावित छत्रसाल और शिवाजी ने जिस प्रकार उत्साह पाया, उससे कितना ही अधिक तत्कालीन एव चिरस्थायी प्रभाव कवियो का भारतीय जीवन की दार्शनिकता पर पडा लोक-भाषा हिन्दी के कवियो ने भी इस ओर कम प्रयत्न नही किये तुलसी ने जगमोह त्याग, काव्यकला की उपासना कर अध्यात्म की ओर ही अपनी प्रतिभा-शकट को मोडा यह बात तो कथानक के अनुसार ही हो गई कि राम का चरित्र-गान करने के लिए, उन्हे 'मानस' मे यदाकदा शृगार का भी आश्रय, 'तिरछे करि नयन दे सैन जिन्हे समझाय चली, मुसकाय चली' आदि के रूप मे लेना पडा कविवर बनारसीदास के बारे मे उनके 'अर्धकथानक' काव्य से पता लगता है कि वे पहले शृगारी कवि थे, परन्तु बाद मे वे चेते और जब उन्हे यह आभास हुआ कि शृगार-काव्य से न केवल अपना अहित कर रहे हैं वरन् आगे आने वाली अगण्य पीढियो को स्खलित मार्ग दिखा रहे हैं, तो उन्होने अपना समस्त शृगार-काव्य गोमती नदी मे डुबाकर सन्तोष की सास ली देखिये—

एक दिवस मित्रन्ह के साथ, नौकृत पोथी लीना हाथ,
नीद गोमती के विच आइ, पुल के ऊपरि वैठे जाइ।

बांधे सब पोथी के बोस तब मन में यह उठी कसोस
एक झूठ जो बोले कोई नरक जाइ दुख देख सोइ।
मैं तो कल्पित वचन अनेक कहे झूठ सब सांच न एक
कैसे बने हमारी बात भई बुद्धि यह आकसमात।
यह कहि देखन लाग्यो नदी पोथी डार दई ज्यों रदी
तिस दिन सो बानारसी करै धर्म की चाह।
तजी आसिकी फासिकी पकरी कुल की राह॥

वैसे ही रत्नावली के सांसारिक शृंगार में उलझे और मदमाते तुलसी व्यावहारिक अध्यात्म में पड़ गया। श्रीकृष्ण के शृंगार में भी उन्होंने अध्यात्म रहस्य खोजा। सूफी मत के मुसलमान हिन्दी कवियों के बारे में तो यह बड़ी विचित्रता रही है कि प्रगाढ़ शृंगार का वर्णन करते हुए भी वे आध्यात्म खोज रहे हैं। मलिक मोहम्मद जायसी रचित 'पद्मावत' इसका ज्वलंत उदाहरण है। उसमें पद्मावती रानी-स्त्री नायिका में उन्होंने 'इष्टदेवता' की स्थापना की है। अलाउद्दीन आदि 'इष्टदेवता' से दूर करने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु 'गोराबादल' सद्‌गुणों की सहायता से आत्मदेव भीमसिंह इष्ट प्राप्ति में समर्थ होते हैं। जायसी का 'माहिबा हुलेसि कोहरिहि' उनकी अटूट ईश्वर भक्ति का परम परिचायक है। अपनी स्वाभाविक शैली से गम्भीर रहस्यों का उद्‌घाटन करते हुए उन्होंने सांसारिक प्रेम का दिग्दर्शन कराया है।

एक कवि ने केवल शृंगार पर लिख अपनी कलम पर कलंक लगाने वाले कवियों को 'कुकवि' कह उनकी खूब निंदा की है। 'कला के लिए कला' का इससे बढ़कर समर्थ विरोध और किस भाषाप्रणाली का हो सकता है? यथा—

राग उदय जग अंध भयो सहजे सब लोकन लाज गवाई।
सीख बिना नर सीख रहे बनिता-सुख-सेवन की चतुराई।
तापर और रचे रस काव्य कहा कहिये तिनकी निठुराई॥
अन्ध असूझन की अखिया मह मेलत हैं रज राम दुहाई।
कंचन कुम्भन की उपमा कहि देत उरोजन को कवि बारे।
ऊपर श्याम विलोकत कै मणि नीलम की ढकनी ढक छारे।
या सत बैन कहै न कुपण्डित ये युग आमिष पिण्ड उघारे।
साधुन डार दई मुह छार भए इस हेत किन्धौं कुछ कारे।

इसी प्रसंग में इस कवि श्रेष्ठ ने कविनिर्माता विधाता पर बहुत कटाक्ष किया है। वे लिखते हैं—

हे विधि! भूल भई तुमते समझे न कहां कस्तूरी बनाई।
दीन कुरंगन के तन में तिन दन्त धरे करुणा नहीं आई।
क्यों न करी तिन जीभन जे रस-काव्य करें पर को दुखदाई।
साधु अनुग्रह दुर्जन दण्ड दोऊ सधते बिसरी चतुराई।

व्यक्तिगत रूप से सभी हिन्दी कवियों ने 'अध्यात्म' पुरस्सर सद्‌भावना से प्रेरित हो अपनी काव्यकला का परिचय दिया है। सतसई में किनारियों के बाल कटि बली भौंह नयन नासिका अधर, कपोल वस्त्राभूषण आदि का वर्णन करने वाला महाशृंगारी बिहारी भी इस न भूला और (शायद अपनी पूर्ववृत्त गल्ती का विचार कर ही) उन्होंने सतसई के अन्तिम भाग में गम्भीर भाव करने वाले आध्यात्मिक दोहों का निर्माण किया। यथा—

को छूट्यो इहि जाल परि कत कुरंग अकुलात।
ज्यों ज्यों सुरझि भज्यो चहत त्यों-त्यों उरझत जात।

(राजीमती से विवाह करने के लिये जाते समय मार्ग में बाड़ों में और पिंजरों में संरुद्ध पशु और पक्षियों को देखकर भगवान् नेमिनाथ का सारथी से पूछना—)

भगवान्—कैसे मचाया शोर जीवों ने, कैसे मचाया शोर ॥ ध्रुव ॥

वनचर जीव को वन है प्यारा, मुरझा रहे पड़े बारा ।
देख रहे चहुँ ओर ॥ जीवों ने ॥

तड़फ रहे हैं प्राण इन्हों के, प्रबल सहाय न दीखे जिनों के ।
किम भेले किये इन ठौर ॥ जीवों ने ॥

सारथी—सारथी सज्जन वाक्य सुणी के, दयाभाव है हृदय जिन्हीं के ।
अरज करे कर जोर ॥ जीवों ने ॥

कारण आप विवाह के मांई, भोजन काज हनेंगे तांई ।
साच कहूँ शिरमोर ॥ जीवों ने ॥

भगवन् ! भारी दीन दयाला, सब जीवों के है रखवाला ।
बंधन दिये सब खोल ॥ जीवों ने ॥

उपदेशी भजन

आप मुवां जग सूना है तो ही पाप करत नर दूना है ॥ ध्रुव० ॥

एह कहावत सब नर भाखे, इन का भाव न घट से राखे ।
जैसे आहार अलूना है ॥ आप० ॥

मुख से कहना वैसा करना, इन बातों से होवे तिरना ।
धरना चित्त में करणा है ॥ आप० ॥

जाना है जग में नहीं रहना, उत्तम मारग में नित रहना ।
समजो आप सलूना है ॥ आप० ॥

[जैन-रामायण के अनुसार किष्किंधा के स्वामी बाली ने संयम ग्रहण किया था, उस अवसर पर प्रस्तुत रचना]

राज तज बाली भए मुनिराज ॥ ध्रुव ॥

राज-काज सब त्याग दियो है, साम्य-सुधा-रसपान कियो है ।
छोड़ विषय के साज ॥ राज० ॥

समिति गुप्ति शुद्ध आराधे, मनसा नित हित साधन साधे ।
सब जंतु हित काज ॥ राज० ॥

अष्टापद गिरि आप पधारे, विषम भाव सब दूर निवारे ।
तारण - तरण जहाज ॥ राज० ॥

सुर-नर मुनि की सेवा करत है, कर्म मैल निज दूर हरत है ।
सेवत भव्य-समाज ॥ राज० ॥
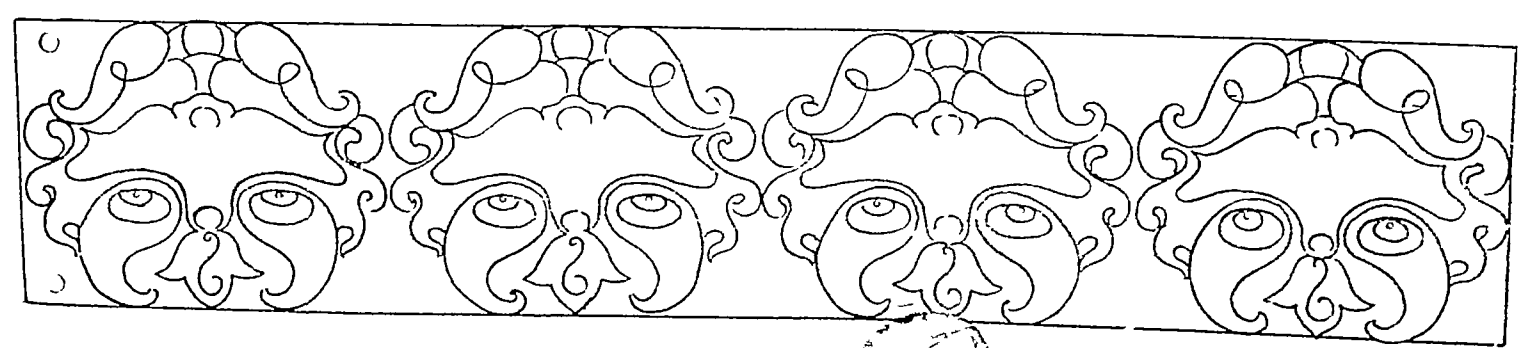
को ही अध्यात्ममार्ग के भीतर गर्भित करने लगे अहिंसा प्रतिपादन में उनका निम्न पद्यांश महत्त्व रखता है

पटकाय जीव न हनन ते सब विधि दरब हिंसी टरी।

क्योंकि बनारसी के शब्दों में छोटे बड़े जीव सब एक हैं यथा

ज्ञान नयन तें देखिए दीन हीन नहिं कोई।

अब दौलतराम आगे बढ़ते हैं वे संसार के चक्र में भौतिकता अर्थात् मिथ्याभाव में उलझे हुए प्राणी को संतोष सुख अर्थात् निराकुलता का वास्तविक मार्ग इन शब्दों में दिखा रहे हैं—

आतम को हित है सुख सो सुख आकुलता बिन कहिये।
आकुलता शिव माहिं न तातें शिव मग लाग्यो चहिये॥

इस शिव-मग में ही शाश्वत कल्याण होगा न कि पश्चिमी भौतिकता प्रचुर मिथ्यापूर्ण असंतोषदायक जड़ता में भला कोयला लोहा और सीमेन्ट आदि जड़ चीजें चेतनपुंज आत्मा को क्या दे सकती हैं ? हां जड़ता अवश्य दे सकेंगी इसीलिए तो अनन्त निधिधारी मानवात्मा आज जड़वादी अथवा जड़ बनता जा रहा है उसकी बुद्धि पर परदा पड़ गया है वह अगम्मिथ्यात्व में भूलकर अपनी अमूल्य मानव पर्याय को यों ही जड़ वस्तुओं की साधना में नष्ट कर रहा है अब दौलतराम जी अपनी 'अनुप्रेक्षाचिंतन' में उसे बताते हुए लिखते हैं

जोबन गृह गोधन नारी हय गय जन आज्ञाकारी।
इन्द्रीय भोग छिन-थाई, सुरधनु चपला चपलाई।
सुर असुर खगाधिप जेते मृग ज्यों हरि काल दलेते।
मणि मंत्र तंत्र बहु होई मरते न बचावे कोई॥
चहु गति दुख जीव भरे हैं परिवर्तन पंच करे हैं।
सब विधि संसार असारा तामें सुख नाहिं लगारा।
शुभ अशुभ करम फल जेते भोगे जिय एकहि तेते।
सुत दारा होय न सीरी सब स्वारथ के हैं भीरी।
जल-पय ज्यों जिय-तन मेला पै भिन्न भिन्न नहिं भेला।
ये तो प्रकट जुदे धन धामा क्या ह्वो इक मिल सुत रामा।
पल रुधिर राध मल थैली कीकस बसादि तें मैली।
नव द्वार बहे घिनकारी अस देह करे किम यारी।

इस प्रकार मिथ्यात्व और आत्मनिष्ठ आगनिष्ठता से हमें सचेत कर हिन्दी के सुकवियों ने भारतीय जीवन में संतोष आदि सद्गुणों का अविच्छिन्न साम्राज्य फैलाया है
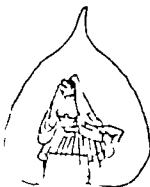
बुधि अनुमान प्रमाण सुति, किये नीठि ठहराय।
सुलभ गति परब्रह्म की, अलख लखी नहि जाय।

विहारी ने निम्न पद्याश मे तो सासारिक जीवो को परमात्मा की ओर सम्मुख करने मे कितनी सफलतापूर्वक कलम की कला दिखाई है

भजन कह्यो तासो भज्यो, भज्यो न एकी बार।
दूर भजन जाते कह्यो, सो तू भज्यो गवार।

इस प्रकार के गम्भीर पद्यो के आधार पर ही तो विहारी वडे घमण्ड से यह लिख पाये थे कि—

सत सैया के दोहरा, अरु नाविक के तीर,
देखत मे छोटे लगें, घाव करे गम्भीर।

इस प्रसग पर राष्ट्रकवि कबीर को कौन भूल सकता है ? उनके निम्न लिखित छन्द कामी और प्रगाढ ससारी के भी अतर-चक्षु खोल देते है—

कस्तूरी कुण्डल वसै मृग ढूँढे बन माहि,
ऐसे घट घट राम है दुनिया देखे नाहि।

पाखडियो आदि को कबीर की फटकार चेतावनी देती है—

मुड मुडाये हरि मिले, सब कोई लेय मुडाय, बार-बार के मूडते भेड न वैकुठ जाय।
नाम भजौ तो अब भजौ बहुरि भजौगे कव, हरिहर हरिहर रुखडे ईंधन हो गये सब।
कहा चुनावै मेढिया लाबी, भीति उसारि, घर तो साढे तीन हथ, घनात पौने चारि।
साधु भया तो क्या भया बोले नही विचार, हतै पराई आतमा बाधि जीभ तरवार॥

जहाँ हम शास्त्रो की वातो पर एकदम अविश्वास कर लेते हैं, वहा राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की तीर्थंकर महावीर के शरीर मे दुग्ध सदृश रक्त पर श्रद्धासूचक काव्य देखिए—

यह तनु तोहै रक्तमासमय, उसमे भरा हुआ है दुग्ध।
बाल्यभाव से ही, जिन, यह जन, आ जाता है हुआ विमुग्ध॥

उनकी 'भारतभारती' मे भारतीय आध्यात्मिक पतन और पाश्चात्य भौतिक आगमन पर जो हार्दिक दुख छिपा है वह एक महान् सन्देश भारतीयो को दे रहा है जयशकरप्रसाद ने तो भारतीय-परम्परा मे धर्म का कितना सुन्दर चित्रण किया है—

धर्म का ले लेकर जो नाम हुआ करती वलि, करदी वन्द।
हमी ने दिया शाति सन्देश, सुखी होते देकर आनन्द।
यवन को दिया दया का दान, चीन को मिली धर्म की दृष्टि।
मिला था स्वर्ण भूमिको रत्न, शील की सिंहल को भी सृष्टि।

इस प्रकार भारत ने अपने अध्यात्म-सदेश को देश-देशान्तर मे प्रसारित करने का सक्रिय प्रयत्न किया था हिन्दू-मुस्लिम अनैक्य के दिनो मे भी राष्ट्रकवि मैथिलीशरण ने क्या ही तर्कपूर्ण शब्दो मे 'गुरुकुल' मे स्नेह सवर्धन का प्रयत्न किया है

हिन्दू हो या मुसलमान, नीच रहेगा फिर भी नीच।
मनुष्यता सबके भीतर है मान्य मही मण्डल के बीच।

मानवता की पावन कल्पना को काव्य मे उतारकर कवि ने वडा उपकार किया दौलतराम कवि तो समूचे जीव-तत्त्व

उन्हें अपने (जैन) रूप में ढाल कर ही प्रस्तुत किया गया है जैनकथाकार बहुत कुछ स्वतन्त्र एवं उन्मुक्त होता है बौद्ध कथाकार की भाँति उसपर कोई प्रतिबंध नहीं होता प्राय प्रत्येक बौद्धकथा किसी न किसी बोधिसत्त्व को केन्द्रबिन्दु मानकर चलती है किन्तु कोई भी कथानक हो कोई और कैसे भी पात्र हों अथवा कैसा भी घटनाक्रम या स्थितिचित्रण हो जैन कथाकार मजे से अपनी कहानी एक रोचक एवं वस्तुपरक ढंग से कहता चलता है केवल कहानी के अन्त में प्रसंगवश कुछ दार्शनिकता का प्रदर्शन अथवा पुण्य के सुफल और पाप के कुफल की ओर संकेत कर दिया जाता है अथवा कोई नैतिक निष्कर्ष निकाल लिया जाता है या यह सूचित कर दिया जाता है कि प्रस्तुत कथा अमुक धार्मिक मान्यता या सिद्धान्त का एक दृष्टान्त है

अपनी इस उन्मुक्त स्वतन्त्रता के कारण जीवन की प्राय प्रत्येक भौतिक मानसिक बौद्धिक या भावनात्मक परिस्थिति को जैनकथाकार अपनी कथा मे आत्मसात कर लेता है और फलस्वरूप अनेक जैनकथाए जनजीवन के प्राय प्रत्येक अंग को स्पर्श कर लेती है अतः आबालवृद्ध स्त्रीपुरुष जनसाधारण के स्वस्थ मनोरंजन का साधन बन जाती हैं और लोकप्रिय हो जाती है मनोरंजन के मिस किसी तात्त्विक दार्शनिक सैद्धान्तिक या नैतिक तथ्य की छाप श्रोता के मस्तिष्क पर डालने के अपने उद्देश्य में उसके बहुधा सफल हो जाने की सम्भावना रहती है

टामे हर्टल ल्यूडर ल्यूमेन तस्सितोरि, जैकोबी आदि अनेक यूरोपीय प्राच्यविदो ने जैन कथासाहित्य के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण गवेषणाएँ की है पूर्वमध्यकाल में ही अनेक जैनकथाएँ भारत के पश्चिमी तट से अरब पहुँची वहाँ से ईरान और ईरान से यूरोप पहुँची अनेक जैनकथाओं का तिब्बत हिन्दएशिया रूस यूनान सिसली और इटली के तथा यहूदियों के साहित्य में चीन्ह लिया गया एवं खोज निकाला गया है जैनकथासाहित्य के अध्ययन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यह साहित्य अखिल भारतीय संस्कृति से घनिष्ठतया सम्बन्धित है और इसी कारण विभिन्न कालो एवं प्रदेशों के जनजीवन का जैसा प्रतिबिम्ब इन जैन कथाओं में मिलता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है

पुराणो पौराणिक चरित्रो खंडकाव्यों महाकाव्यों नाटको आदि को न गिनें तो भी सकड़ो स्वतन्त्र कथाएँ हैं और सैकड़ो ही छोटी-बड़ी कथाओ के संग्रह है केवल विक्रमविषयक ६ कथाएँ मिलती है और केवल मैना-सुन्दरी एवं श्रीपाल के कथानक को लेकर ५ से अधिक पुस्तकें लिखी जा चुकी है

अनेक कथासंग्रहो में १ से २ तक कथाएँ संग्रहीत है किसी किसी मे ३६ है जिससे कि वक्ता प्रतिदिन एक के हिसाब से पूरे वर्षभर श्रोताओ का नित्य नवीन कथा से मनोरंजन करता रहे

जैन कथा साहित्य के प्रधान मूलस्रोत पइन्नाओ को तथा शिवार्य की 'भगवती-आराधना' को माना जाता है. गुणाढ्य की प्रसिद्ध वृहत्कथा का आधार काणभूति द्वारा भूतभाषा मे रचित जिस ग्रन्थ को माना जाता है वह जैन विद्वान् काणभिक्षु का ही प्राकृत कथाग्रन्थ रहा प्रतीत होता है श्वे आगमसूत्र एवं दिग पौराणिक साहित्य भी अनेक जैन कथाओ के उद्गम स्रोत रहे है

प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण जैनकथा ग्रन्थो मे हरिषेण का बृहत्कथाकोष प्रभाचन्द्र श्रीचन्द्र नेमिदत्त आदि के आराधना कथाकोष जिनेश्वर सूरि एवं महेश्वरसूरि की कथावलियाँ रामचन्द्र का पुण्यास्रवकथाकोष इत्यादि उल्लेखनीय हैं. स्वतन्त्र कथाओ में तरंगवती कहा समराइच्चकहा धूर्ताख्यान कुवलयमाला उपमितिभवप्रपंचकथा धर्मपरीक्षा सम्यक्त्वकौमुदी तिलकमंजरी धर्मामृत मुक्तसप्तति रत्नचूड की कथा आदि विशेष महत्त्वपूर्ण है
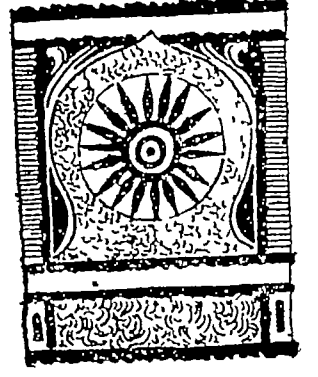
डा० ज्योतिप्रसाद जैन
एम० ए०, एल-एल० बी०, पी-एच० डी०, लखनऊ

जैन कथासाहित्य

विश्व के सम्पूर्ण साहित्य को लें, अथवा किसी भी देश, जाति या भाषा के साहित्य को लें, उनका बहुभाग एव सर्वाधिक जनप्रिय अश किसी न किसी रूप मे रचित उसका कथात्मक साहित्य ही पाया जाता है मात्र लौकिक साहित्य के क्षेत्र मे ही यह स्थिति नही है वरन् तथाकथित धार्मिक साहित्य के सम्बन्ध मे भी यही बात पाई जाती है साहित्य के साथ जैन विशेषण की उपस्थिति यह सूचित करती है कि यहाँ जैन नाम से प्रसिद्ध धार्मिक-परम्परा विशेष का साहित्य अभिप्रेत है यह परम्परा चिरकाल से उस अत्यन्त प्राचीन एव विशुद्ध भारतीय सास्कृतिक धारा का प्रतिनिधित्व करती आई है जो 'श्रमण' नाम से प्रसिद्ध रही है इस निवृत्तिप्रधान परम्परा मे आत्मस्वातन्त्र्य एव श्रमपूर्वक आत्मशोधन पर अत्यधिक बल दिया गया है और अपनी इन्ही विशेषताओ के कारण उसने तथाकथित हिन्दु धर्म की जननी भोग एव प्रवृत्तिप्रधान ब्राह्मण वैदिक सस्कृति से अपना पृथक् अस्तित्व बनाये रक्खा क्योकि इस जैन श्रमणपरम्परा का मूल उद्देश्य वैयक्तिक जीवन का नैतिक एव आध्यात्मिक उन्नयन था उसकी दृष्टि केवल सामूहिक लोकजीवन अथवा किसी वर्ग या समाज विशेष तक ही सीमित नही रही वरन् उसने प्रत्येक जीवात्मा को व्यक्तिश स्पर्श करने का प्रयत्न किया यही कारण है कि इस परम्परा द्वारा प्रेरित, सृजित, प्रचारित एव सरक्षित साहित्य भारतवर्ष की प्राय समस्त प्राचीन एव मध्यकालीन भाषाओ मे प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध है प्राकृत, सस्कृत, अपभ्र श, कन्नड, तामिल, राजस्थानी, गुजराती, हिन्दी आदि भाषाओ के विकास एव उनके साहित्यिक भडार की अभिवृद्धि मे जैन साहित्यकारो का महत्त्वपूर्ण योगदान है

विपुल जैन साहित्य केवल तात्त्विक, दार्शनिक या धार्मिक क्रियाकाण्ड से ही सम्बन्धित नही है, वरन् भारतीय ज्ञान-विज्ञान की प्राय प्रत्येक शाखा पर रचित अधिकारपूर्ण रचनाए उसमे समाविष्ट हैं तत्त्वज्ञान, अध्यात्म, लोकरचना, भूगोल, खगोल, ज्योतिष, मन्त्रशास्त्र सामुद्रिक, शिल्पशास्त्र, न्याय, तर्क, छन्द, व्याकरण, काव्यशास्त्र, अलकार, कोष, आयुर्वेद, पदार्थविज्ञान, पशुपक्षिशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, इतिहास, राजनीति आदि प्राय प्रत्येक तत्कालप्रचलित विषय पर जैन विद्वानो की समर्थ लेखनी चली और उन्होने भारती के भडार को भरा

किन्तु जैनसाहित्य का लोकदृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण, रोचक एव जनप्रिय अश उसका कथा-साहित्य है जैन-कथासाहित्य अत्यन्त विशाल, व्यापक, विभिन्न भाषामय एव विविध है लोककथाएँ, दन्तकथाए, नैतिक आख्यायिकाए, प्रेमाख्यान, साहसिक कहानियाँ, पशु पक्षियो की कहानियाँ, अमानवी-देवी देवताओ सम्बन्धी कहानियाँ, उपन्यास नाटक, काव्य, चम्पू, दूहा, ढाल, रासे, व्यङ्ग, रूपक, प्रतीकात्मक आख्यान, इत्यादि समय-समय एव प्रदेश-प्रदेश अथवा भाषा-भाषा मे प्रचलित विविध शैलियो एव रूपो मे जैन कथासाहित्य उपलब्ध है स्वतन्त्र कथाए भी हैं और अनेक कथाओ की परस्पर सम्बद्ध शृखलाए भी हैं कुछ छोटी-छोटी कहानियाँ हैं तो कुछ पर्याप्त बडी

जैन कथाओ की यह विशेषता है कि वे विशुद्ध भारतीय हैं और अनेक बार शुद्ध देशज हैं इसके अतिरिक्त पर्याप्त सख्या मे वे पूर्णतया मौलिक हैं कभी-कभी महाभारत आदि जैनेतर ग्रन्थो से भी कथास्रोत ग्रहण किये गये हैं (यथा नल-दमयन्ती की कथा) मौखिक द्वार से प्रचलित लोककथाओ को भी अनेक बार आधार बनाया गया है किन्तु

उन्हें अपने (जैन) रूप में ढाल कर ही प्रस्तुत किया गया है. जैनकथाकार बहुत कुछ स्वतंत्र एवं उन्मुक्त होता है. बौद्ध कथाकार की भाँति उसपर कोई प्रतिबंध नहीं होता. प्रायः प्रत्येक बौद्धकथा किसी न किसी बोधिसत्त्व को केन्द्रबिन्दु मानकर चलती है किन्तु कोई भी कथानक हो, कोई और कैसे भी पात्र हों अथवा कैसा भी घटनाक्रम या स्थितिचित्रण हो, जैन कथाकार मजे से अपनी कहानी एक रोचक एवं वस्तुपरक ढंग से कहता चलता है. केवल कहानी के अन्त में प्रसंगवश कुछ दार्शनिकता का प्रदर्शन अथवा पुण्य के सुफल और पाप के कुफल की ओर संकेत कर दिया जाता है अथवा कोई नैतिक निष्कर्ष निकाल लिया जाता है या यह सूचित कर दिया जाता है कि प्रस्तुत कथा अमुक धार्मिक मान्यता या सिद्धान्त का एक दृष्टान्त है.

अपनी इस उन्मुक्त स्वतन्त्रता के कारण जीवन की प्रायः प्रत्येक भौतिक, मानसिक, बौद्धिक या भावनात्मक परिस्थिति को जैनकथाकार अपनी कथा में आत्मसात् कर लेता है और फलस्वरूप अनेक जैनकथाएं जनजीवन के प्रायः प्रत्येक अंग को स्पर्श कर लेती हैं. अतः आबालवृद्ध स्त्रीपुरुष जनसाधारण के स्वस्थ मनोरंजन का साधन बन जाती हैं और लोकप्रिय हो जाती हैं. मनोरंजन के मिस किसी तात्त्विक, दार्शनिक, सैद्धान्तिक या नैतिक तथ्य की छाप श्रोता के मस्तिष्क पर डालने के अपने उद्देश्य में उसके बहुधा सफल हो जाने की संभावना रहती है.

टानी, हर्टेल, ब्लूमफील्ड, ल्यूमेन, टैस्सितोरि, जैकोबी आदि अनेक यूरोपीय प्राच्यविदों ने जैन कथासाहित्य के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण गवेषणाएँ की हैं. पूर्वमध्यकाल में ही अनेक जैनकथाएँ भारत के पश्चिमी तट से अरब पहुँचीं, वहाँ से ईरान और ईरान से यूरोप पहुँचीं. अनेक जैनकथाओं को तिब्बत, हिन्दएशिया, रूस, यूनान, सिसली और इटली के तथा यहूदियों के साहित्य में चीन्ह लिया गया एवं खोज निकाला गया है. जैनकथासाहित्य के अध्ययन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यह साहित्य अखिल भारतीय संस्कृति से घनिष्ठतया सम्बन्धित है और इसी कारण विभिन्न कालों एवं प्रदेशों के जनजीवन का जैसा प्रतिबिम्ब इन जैन कथाओं में मिलता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है.

पुराणों, पौराणिक चरित्रों, खंडकाव्यों, महाकाव्यों, नाटकों आदि को न गिनें तो भी सैकड़ों स्वतंत्र कथाएँ हैं और सैकड़ों ही छोटी-बड़ी कथाओं के संग्रह हैं. केवल विक्रमविषयक ६ कथाएँ मिलती हैं और केवल मैना-सुन्दरी एवं श्रीपाल के कथानक को लेकर ५ से अधिक पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं.

अनेक कथासंग्रहों में १ से २ तक कथाएँ संग्रहीत हैं. किसी किसी में ३६ हैं जिससे कि वक्ता प्रतिदिन एक के हिसाब से पूरे वर्षभर श्रोताओं का नित्य नवीन कथा से मनोरंजन करता रहे.

जैन कथा साहित्य के प्रधान मूलस्रोत पइन्नाओं को तथा शिवार्य की 'भगवती आराधना' को माना जाता है. गुणाढ्य की *प्रसिद्ध बृहत्कथा का आधार भद्रबाहु द्वारा भूतभाषा में रचित किसी ग्रंथ को माना जाता है. वह जैन विद्वान्* भद्रबाहु का ही प्राकृत कथाग्रन्थ रहा प्रतीत होता है. वैसे आगमसूत्र एवं विविध पौराणिक साहित्य भी अनेक जैन कथाओं के उद्गम स्थान रहे हैं.

प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण जैनकथा ग्रन्थों में हरिषेण का बृहत्कथाकोष, प्रभाचन्द्र, श्रीचन्द्र, नेमिदत्त आदि के आराधना कथाकोष, जिनेश्वर सूरि एवं भद्रेश्वरसूरि की कथावलियाँ, रामचन्द्र का पुण्यास्रवकथाकोष इत्यादि उल्लेखनीय हैं. स्वतन्त्र कथाओं में तरंगवती कहा, समराइच्चकहा, धूर्ताख्यान, कुवलयमाला, उपमितिभवप्रपंचकथा, धर्मपरीक्षा, सम्यक्त्वकौमुदी, तिलकमंजरी, धर्मामृत, गुणभद्र, रत्नचूड़ की कथा आदि विशेष महत्त्वपूर्ण हैं.

प० कुन्दनलाल जैन
आयुर्वेदाचार्य

आयुर्वेद का उद्देश्य : संयमसाधना

जैन तीर्थंकरो की वाणी—उपदेश—विषयो के विभागो के अनुसार मोटे-मोटे १२ विभागो मे विभक्त की गई है, जिन्हे जैन आगम की परिभाषा मे 'द्वादशाग' कहते हैं इन १२ अगो मे बारहवाँ अग 'दृष्टिवाद' है दृष्टिवाद के पाच भेद इस भाति हैं—१ पूर्वगत २ सूत्र ३ प्रथमानुयोग ४ परिकर्म ५ चूलिका पूर्व १४ हैं उनमे से १२ वें पूर्व का नाम 'प्राणावाय' पूर्व है इस पूर्व मे लोगो के आभ्यन्तर-मानसिक एव आध्यात्मिक-स्वास्थ्य एव बाह्य शारीरिक स्वास्थ्य की यथावत् स्थिति रखने के उपायभूत यम नियम आहार विहार एव उपयोगी रस रसायनादि का विशद विवेचन है तथा जनपदध्वसि, मौसमी, दैविक, भौतिक आधिभौतिक व्याधियो की चिकित्सा तथा उसके नियत्रण के उपायादि का विस्तृत विचार किया गया है[1]

यह प्राणावाय पूर्व ही आयुर्वेद का मूल शास्त्र है यही आयुर्वेद का मूल वेद है इसी के आधार पर हमारे लोकोपकारी प्रात स्मरणीय आचार्यो ने अथक श्रमद्वारा अनेको आयुर्वेदीय ग्रथो की रचना की है जो हमारे सरस्वतीभण्डारो की शोभा वर्तमान काल मे बढा रहे है बहुत थोडे ग्रथरत्न ही प्रकाश मे आये हैं उन समस्त ग्रथरत्नो को सकलित, परिष्कृत कर आधुनिक समय के योग्य टिप्पण आदि से युक्त कर प्रकाशित करने की महती आवश्यकता है

जैन आगम जीव-आत्मा के इह लौकिक एव पारलौकिक कल्याण एव अभ्युदय के मार्ग को बतलाता है जैन शास्त्रो मे जीव की तथा इस विश्व की सत्ता स्वयसिद्ध अनादिनिधन बतलाई है इनका उत्पादक रक्षक एव सहारक किसी व्यक्ति—ईश्वर—आदि को नही माना है ससार की परिवर्तित होने वाली अवस्थाएँ द्रव्यो के स्वय के स्व-परनिमित्तक परिवर्तन का परिणाम है प्रत्येक द्रव्य[2] की सत्ता पृथक्-पृथक् है एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के स्वभाव मे किसी प्रकार का परिवर्तन करने मे समर्थ नही प्रत्येक द्रव्य मे एक स्वाभाविक परिणमन की शक्ति रहती है जीव और पुद्गल की उस स्वाभाविक शक्ति के स्वाभाविक और वैभाविक परिणमनरूप दो विभाग हैं और इन दोनो के कारण दोनो द्रव्यो मे स्वभावपरिणमन एव विभावपरिणमन होता रहता है इस परिणमन मे उपादान एव निमित्त नाम के दो कारण-हेतु बतलाये गये हैं पदार्थ मे स्वय तत्-तत्कार्य रूप होने की योग्यता का नाम उपादान है अन्य द्रव्य की उस कार्य की पैदाइश के समय उपस्थिति का नाम निमित्त है वह सबल एव उदासीन रूप दो प्रकार का होता है अत जब कोई द्रव्य परिणमन को प्राप्त होता है तब उसकी स्वत की परिणमन कराने वाली (स्वत मे निहित) शक्ति के अनुसार ही परिणमन होगा—उसी को उपादान शक्ति कहते है शक्ति बाह्य सबल निमित्त को पाकर नियत परिणमन—कार्य का उत्पादन—करा देती है

इसी बाह्य निमित्त की सबलता एव उपयोगिता को हृदयगम कर आचार्य ने लोकहित की भावना से प्रेरित होकर "आयुर्वेद" की रचना मे अपना योगदान दिया यह लोक—ससार—जीव का निवासस्थान है इसे ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक

---

१ कायचिकित्साद्यष्टाङ्ग आयुर्वेद भूतिकर्मजाङ्गुलिप्रक्रम
प्राणापानविभागोऽपि यत्र विस्तरेण वर्णितस्तत् प्राणावायम्। —तत्त्वार्थराजवार्तिक अ० १ सू० २०

२ जैनागम में १ जीव २ पुद्गल ३ धर्म ४ अधर्म ५ आकाश ६ काल नाम के ६ द्रव्य माने है

और अधोलोक इन तीन भागों में विभक्त किया है लोक में जीव नाना योनियों एवं गतियों में निरंतर जन्म-मरण के द्वारा पैदा होते एवं मरते रहते है शुभ कार्यों द्वारा उपार्जित महान् पुण्य का भोग करने के लिए यह जीव देवगति में आता है वहाँ रोग धार जरा रहित होकर यथेष्ट इन्द्रियजनित भोगोपभोगों को भोगता है निकृष्टतम अशुभ कार्यों द्वारा संचित पाप के द्वारा नरकों में भूमिजन्य असुरजन्य और परस्परजन्य दैहिक एवं मानसिक अनेक प्रकार के दुखों का करोड़ों वर्षों तक भोगता है कुछ मंद कषाय एवं पाप की मन्दता से पशु-गति के दुखों को भोगता है. पुण्य पाप के मिश्रित उदय में मनुष्य-गति के सुख-दुखों का अनुभव करता है

इनमें देव और नारक अनपवर्तनीय आयु वाले होते हैं इनकी मृत्यु असमय में बीमारी विष शस्त्र रक्तक्षय आदि बाह्य कारणों से नहीं होती आयु पूर्ण होने पर ही ये मरते हैं जब बीमारी और बुढ़ापा देवों में है ही नहीं तब उनके वास्ते चिकित्साशास्त्र की आवश्यकता ही क्या है? नारकियों को इतना तीव्र पाप का उदय होता है कि उन्हें किन्हीं बाह्य वस्तुओं से सुखशांति पहुँचाना संभव ही नहीं भयंकर प्रवाह वाली नदी पर जिसके वेग को बड़ी से बड़ी शक्ति-वान यत्न से भी न रोका जा सके बाँध बाँधना श्रम और शक्ति का दुरुपयोग है इसी प्रकार नारकियों के लिए भी चिकित्साशास्त्र अनुपयोगी है

मनुष्य और तिर्यंचों में भी भोगभूमि में रहने वाले असंख्यात वर्ष की आयु वाले विष कंटक शस्त्रपात जरा रोग आदि उपद्रवों से रहित होते हैं उनको न बुढ़ापा आता है न बीमारी होती है वहाँ का जीवन इतना सरल सादा और सात्विक होता है कि वहाँ परस्पर रागद्वेष ईर्ष्यादि दुर्भाव नहीं होते इससे कलह या परस्पर शस्त्राघात का उनमें प्रसंग नहीं होता इसलिए उनकी भी अकालमृत्यु नहीं होती कर्मभूमियों में भी विशेष पुण्यशाली चरमोत्तमदेहधारी महापुरुषों में रोगादि नहीं होते इन सब को चिकित्सा की जरूरत नहीं शेष बचे हम सरीखे मनुष्यों को इसकी जरूरत है हमारे लिए इस आयुर्विज्ञान शास्त्र-आयुर्वेद के ज्ञान—का परम महत्त्व है

बहुत प्राचीन काल से अन्यों की यह धारणा चली आ रही है कि किसी की अकालमृत्यु होती ही नहीं है समय प्राप्त होने पर बीमारी विष शस्त्राघात वृक्ष से गिरना रेल मोटर या हवाई दुर्घटना आदि का नाम निमित्त मिल जाने से होने वाली मृत्यु को अकालमृत्यु कहना गलत है किन्तु जैनदर्शन के समर्थ और गंभीर विद्वान् भगवान् भट्टाकलंक ने अपने महान् दार्शनिक ग्रंथ तत्त्वार्थराजवार्तिक में इस भ्रान्त धारणा का निरसन करते हुए कहा है—जैसे तीव्र हवा के मार्ग में दीपक को बचाने के लिए लालटेन का उपयोग न किया जाय या हाथ वगैरह का आवरण न किया जाय तो वह बुझ जाता है यदि आवरण हो तो बच जाता है बुझता नहीं है इसी प्रकार तीव्र सन्निपातादि से ग्रस्त मनुष्य की यदि उपेक्षा की जाय उचित निदानपूर्वक चिकित्सा न की जाय तो वह मर सकता है इसके विपरीत यदि आयु शेष है तो उचित चिकित्सा उसे बचा लेगी इसी मूलभूत विचार से प्राणावाय पूर्व की रचना की गई है उसका मूलवार्तिक इस भांति है—आयुर्वेद प्रणयनान्यथानुपपत्तेः यदि रक्तक्षयादि से अकाल मौत न मानी जाय तो उससे बचाने के लिए भगवान तीर्थंकर आयुर्वेद -प्राणावाय पूर्व—की रचना नहीं करते रचना उन्होंने की है इसी से सिद्ध है कि अकाल मृत्यु से भी प्राणी का मरण होता है और रोग मरण को उचित उपाय द्वारा टाला जा सकता है

जब अकालमृत्यु बीमारियों की यन्त्रणा अशक्तता आदि मनुष्य के जीवन में सुख स्वास्थ्य के दुश्मन मौजूद हैं तब उनसे बच कर रहने के उपाय बताना आवश्यक है और इसी आवश्यकता की पूर्ति आयुर्वेद करता है

संसार में धर्म अर्थ काम मोक्ष ये चार पुरुषार्थ हैं—प्रत्येक मनुष्य के जीवन के लक्ष्य हैं इनमें मोक्ष और काम पुरुषार्थ साध्य हैं और धर्म तथा अर्थ पुरुषार्थ उनके साधन हैं इन पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिए शरीर की नीरोगता परम आवश्यक है कहा है धर्मार्थकाममोक्षाणां आरोग्यं मूलमुत्तमम्

आयुर्वेद-अवतार की प्रस्तावना करते हुए दिगम्बराचार्य उग्रादित्य ने अपने कल्याणकारक नामक ग्रंथ में इसी तथ्य को इस प्रकार प्रकट किया है— देवाधिदेव भगवान् आदिनाथ के पास समवसरण पर पहुँच कर भरत चक्रवर्ती

प० कुन्दनलाल जैन
आयुर्वेदाचार्य

आयुर्वेद का उद्देश्य : संयमसाधना

जैन तीर्थंकरो की वाणी—उपदेश—विषयो के विभागो के अनुसार मोटे-मोटे १२ विभागो मे विभक्त की गई है, जिन्हे जैन आगम की परिभाषा मे 'द्वादशाग' कहते है इन १२ अगो मे बारहवाँ अग 'दृष्टिवाद' है दृष्टिवाद के पाच भेद इस भाति हैं—१ पूर्वगत २ सूत्र ३ प्रथमानुयोग ४ परिकर्म ५ चूलिका पूर्व १४ हैं उनमे से १२ वें पूर्व का नाम 'प्राणावाय' पूर्व है इस पूर्व मे लोगो के आभ्यन्तर-मानसिक एव आध्यात्मिक-स्वास्थ्य एव बाह्य शारीरिक स्वास्थ्य की यथावत् स्थिति रखने के उपायभूत यम नियम आहार विहार एव उपयोगी रस रसायनादि का विशद विवेचन है तथा जनपदध्वसि, मौसमी, दैविक, भौतिक आधिभौतिक व्याधियो की चिकित्सा तथा उसके नियत्रण के उपायादि का विस्तृत विचार किया गया है[1]

यह प्राणावाय पूर्व ही आयुर्वेद का मूल शास्त्र है यही आयुर्वेद का मूल वेद है इसी के आधार पर हमारे लोकोपकारी प्रात स्मरणीय आचार्यो ने अथक श्रमद्वारा अनेको आयुर्वेदीय ग्रथो की रचना की है जो हमारे सरस्वतीभण्डारो की शोभा वर्तमान काल मे बढा रहे है बहुत थोडे ग्रथरत्न ही प्रकाश मे आये है उन समस्त ग्रथरत्नो को सकलित, परिष्कृत कर आधुनिक समय के योग्य टिप्पण आदि से युक्त कर प्रकाशित करने की महती आवश्यकता है

जैन आगम जीव-आत्मा के इह लौकिक एव पारलौकिक कल्याण एव अभ्युदय के मार्ग को बतलाता है जैन शास्त्रो मे जीव की तथा इस विश्व की सत्ता स्वयसिद्ध अनादिनिधन बतलाई है इनका उत्पादक रक्षक एव सहारक किसी व्यक्ति—ईश्वर—आदि को नही माना है ससार की परिवर्तित होने वाली अवस्थाएँ द्रव्यो के स्वय के स्व-परनिमित्तक परिवर्तन का परिणाम है प्रत्येक द्रव्य[2] की सत्ता पृथक्-पृथक् है एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के स्वभाव मे किसी प्रकार का परिवर्तन करने मे समर्थ नही प्रत्येक द्रव्य मे एक स्वाभाविक परिणमन की शक्ति रहती है जीव और पुद्गल की उस स्वाभाविक शक्ति के स्वाभाविक और वैभाविक परिणमनरूप दो विभाग है और इन दोनो के कारण दोनो द्रव्यो मे स्वभावपरिणमन एव विभावपरिणमन होता रहता है इस परिणमन मे उपादान एव निमित्त नाम के दो कारण-हेतु बतलाये गये हैं पदार्थ मे स्वय तत्-तत्कार्य रूप होने की योग्यता का नाम उपादान है अन्य द्रव्य की उस कार्य की पैदाइश के समय उपस्थिति का नाम निमित्त है वह सबल एव उदासीन रूप दो प्रकार का होता है अत जब कोई द्रव्य परिणमन को प्राप्त होता है तब उसकी स्वत की परिणमन कराने वाली (स्वत मे निहित) शक्ति के अनुसार ही परिणमन होगा—उसी को उपादान शक्ति कहते हैं शक्ति बाह्य सबल निमित्त को पाकर नियत परिणमन—कार्य का उत्पादन—करा देती है

इसी बाह्य निमित्त की सबलता एव उपयोगिता को हृदयगम कर आचार्य ने लोकहित की भावना से प्रेरित होकर "आयुर्वेद" की रचना मे अपना योगदान दिया यह लोक—ससार—जीव का निवासस्थान है इसे ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक

---

१ कायचिकित्साद्यष्टाङ्ग आयुर्वेद भूतिकर्मजाङ्गुलिप्रक्रम
प्राणापानविभागोऽपि यत्र विस्तरेण वर्णितस्तत् प्राणावायम् । —तत्त्वार्थराजवार्तिक अ० १ सू० २०

२ जैनागम मे १ जीव २ पुद्गल ३ धर्म ४ अधर्म ५ आकाश ६ काल नाम के ६ द्रव्य माने है

श्रीभँवरलाल नाहटा

एक जैनेतर संत कृत जम्बूचरित्र

भारत में अनेक धर्म-सम्प्रदाय है और विचारभेद के कारण ऐसा होना अनिवार्य भी है पर इसका एक दुष्परिणाम हुआ कि हमारी दृष्टि बहुत ही संकुचित हो गई एक दूसरे की अच्छी बातें ग्रहण करना तो दूर की बात पर साम्प्रदायिक विद्वेष भावना के कारण दूसरे सम्प्रदायों के दोष ढूंढना और उन्हें प्रचारित करना ही अपने सम्प्रदाय के महत्व बढाने का आवश्यक अंग मान लिया गया है पुराणों आदि में जैन धर्म सम्बन्धी जो विवरण मिलते हैं उनसे यह भली भांति स्पष्ट है कि जैनधर्म हजारों वर्षों से भारत में प्रचारित होने पर भी और उसके प्रचारक व अनुयायी अनेक विशिष्ट व्यक्ति हुए उन तीर्थंकरों आचार्यों व जैनधर्म के महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का उल्लेख तक पुराणादि ग्रन्थों में नहीं किया गया इतना ही नहीं महत्व के सिद्धान्तों को भी गलत रूप में बतलाया गया

मध्यकाल में अनेक संत और भक्त सम्प्रदायों का उद्भव हुआ और उन्होंने भक्ति वैराग्य और अध्यात्म का प्रचार करने के साथ-साथ समाज के अनेक दोषों का निराकरण करने का भी कदम उठाया कबीर आदि ऐसे ही संत थे जिनका प्रभाव परवर्ती अनेक धर्म-सम्प्रदायों पर दिखाई पड़ता है यद्यपि वे काफी उदार रहे हैं और जैनधर्म के कई अहिंसादि सिद्धान्तों को अच्छे रूप में अपनाया भी पर वे भी साम्प्रदायिक दृष्टि से ऊपर नहीं उठ सके अतः जैनधर्म के सम्बन्ध में उनके विचार जो भी थोड़े बहुत व्यक्त हुए वे कटाक्ष व हीन भाव के सूचक हैं रज्जब आदि कई संत कवियों ने जैन जजाल आदि रचनाएं की है उनसे यह स्पष्ट है

राजस्थान में निरंजनी दादूपंथी रामस्नेही आदि संत सम्प्रदायों का गत तीन चार सौ वर्षों में अच्छा प्रभाव रहा है और जैनधर्म का भी इसी समय बड़ा काफी प्रभाव था दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदाय अच्छे रूप में प्रचारित रहे कई जैनों का उन संत-सम्प्रदायों के संतों आदि से परिचय व सम्बन्ध भी रहा है फिर भी जैसा पारस्परिक सद्भाव रहना चाहिए था नहीं रहा इसका प्रमुख कारण साम्प्रदायिक मनोवृत्ति ही है जैन कथाएं कई बहुत प्रसिद्ध रही है और उन्होंने जैनेतर संतों को भी आकर्षित किया है इनमें से एक कथा जम्बू स्वामी की है शील की महिमा प्रचारित करने के लिए उस कथा को दादूपंथी संत तुरसी ने 'जम्बूसर प्रसंग' के नाम से हिन्दी में पद्यबद्ध किया है प्रस्तुत काव्य की कई हस्तलिखित प्रतियां मेरे अवलोकन में आई उनमें से एक प्रति की प्रतिलिपि तो जयपुर के उदारमना संत मंगलदास जी ने अपने हाथ से करके मुझे कुछ वर्ष पूर्व भेजी थी उसके बाद दो और प्रतियां भी जम्बूसर प्रसंग की मिली उन तीनों प्रतियों के आधार से संपादित करके यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है

अंतिम केवली जम्बू स्वामी की कथा जैन समाज में बहुत प्रसिद्ध है उनके सबंध में संस्कृत प्राकृत राजस्थानी गुजराती में अनेकों गद्य-पद्यमय रचनाएं प्राप्त है जहाँ तक मेरी जानकारी है उनके चरित्र के सम्बन्ध में सबसे प्राचीन और उपकथाओं के साथ वर्णन वसुदेव हिण्डी के प्रारम्भ में मिलता है जो पांचवी शताब्दी की रचना है तदनन्तर आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरि ने परिशिष्ट पर्व में जम्बू चरित्र विस्तार से लिखा है और उसके बाद तो लगभग २ २५ रचनाएं दिगम्बर श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों में लिखी गई जिनमें से कुछ प्रकाशित भी हो चुकी हैं महापुरुष जम्बू

ने निम्नलिखित प्रार्थना की—"हे प्रभो, पहले दूसरे और तीसरे काल मे इस भरत क्षेत्र मे भोगभूमि थी लोग परस्पर एक दूसरे को अत्यन्त स्नेह से देखते थे, उनमे ईर्ष्या द्वेष नही था अपने पुण्य के फल से प्राप्त समस्त इष्ट भोगो को भोग कर नियत समय पर आयु पूर्ण कर स्वर्ग मे देवगति के सुख भोगने को जाते थे भोगभूमि समाप्त होकर कर्मभूमि आई इसमे भी पुण्यात्मा चरमशरीरी उत्तम देहवाले भगवान् तीर्थकर दीर्घ आयु के धारक होते है परन्तु अधिकतर लोग विष शस्त्रादि से घात योग्य शरीर वाले होते है उनको वात पित्त कफ की हीनाधिकता से महान् बीमारिया उत्पन्न होती हैं उन्हे ठण्ड, गरमी वर्षा ऋतु की प्रतिकूलता दुखी करती है वे लोग अपथ्य आहार-विहार का सेवन करते हैं इसलिए हे नाथ! हमे इन दुखो से छूटने का उपाय बतलावे'

तब देवाधिदेव परमदेव आदिप्रभु ने कहा—"हे भरतेश्वर! स्वस्थ के स्वास्थ्य का रक्षण करने और अस्वस्थ के अस्वास्थ्य को मिटाने का उपाय इस प्रकार है—उचित काल मे हित, मित आहार-विहार का सेवन करता हुआ तथा क्रोध काम लोभ मोह मान आदि शाति के शत्रुओ से निरतर बचता हुआ जो व्यक्ति अपना जीवन व्यतीत करता है तथा समय-समय पर सतत स्वास्थ्य की रक्षा के लिए रसायन द्रव्यो को शरीर की शुद्धिपूर्वक उचित समय मे सेवन करता है, वह कभी बीमारियो या असामयिक वार्धक्य आदि के वशीभूत नही होता यह स्वस्थ का स्वास्थ्यरक्षण है

यदि कर्मयोग से, भूल आदि निमित्त के वश रोग आ ही जाएँ तो निदानज्ञ विद्वान् से वात पित्त कफादिक मे, जिसकी हीनाधिकता से रोग उत्पन्न हुआ हो, उसको समझ कर हीन को बढाने वाले शुद्ध द्रव्यो के सेवन द्वारा उचित परिमाण मे बढाना बृहण कहलाता है तथा यदि दोष बढे हुए हो तो उन्हे कम करने वाले द्रव्यो को उचित मात्रा में सेवन कर बढे हुए दोषो को कम करना कर्षण चिकित्सा कहलाती है इस प्रकार उभयप्रकारी चिकित्सा द्वारा स्वास्थ्य प्राप्त करना चाहिए तभी शरीर सयमसाधना के उपयुक्त होगा और सयम की आराधना द्वारा अतिम पुरुषार्थ मोक्ष की सिद्धि होगी"

आदिनाथ प्रभु की यही दिव्यध्वनि आयुर्वेदप्रणयन का मूल बनी और इसी आधार पर पूज्यपाद, समतभद्र, अकलक आदि प्राचीन जैनाचार्यो ने आयुर्वेद सबधी अनेक रस-ग्रथ लिखे रस और उसमे भी खासकर खल्वी रसायन आयुर्वेद को जैनाचार्यो की महान् देन है श्री हर्षगणि आदि द्वारा लिखित "योगचिन्तामणि" सरीखा महान् ग्रन्थ तो सस्ते आशुरोगापहारी सुलभ योगो का भण्डार है और आज के युग की अर्थहीन मध्यवित्त जनता के लिए चिन्तामणिरत्न का काम देता है

इस प्रकार जैनागम के महान् आचार्यों ने आयुर्वेद की सेवा विशुद्ध लोककल्याण की भावना के साथ स्वस्थ शरीर द्वारा सयमपालन की दृष्टि से की है

[अपनी दासी को चुराकर ले जाने वाले उज्जयिनीनरेश चण्डप्रद्योतन पर विजय कर उसे बन्दी
बना कर अपनी राजधानी वीतभय पाटन की ओर से आते समय मार्ग में आए
हुए सांवत्सरिक पर्व पर राजा उदायी—]

बार-बार मुझ अरजी एमी सुणो कीजो महिपत ! सारी ।
आज संवत्सरी पर्व मनोहर आप खमावो हितकारी । बार-बार ।

चार आहार तज अष्ट पहरिया पौषध व्रत कीधो धारी ।
वैर विरोध तजी समभावे खमा माफ करो म्हारी । बार-बार ।

चण्ड प्रद्योतन भूप न मानै किम वालो तुम अविचारी ।
मजर कैद कर दासीपति को विरुद दिया है उपकारी । बार-बार ।

धन्य धन्य जग में राय उदाई पूरण समता-रस-धारी ।
आप क्षमा (मा) मंजूर सरब है समत खामणा किया भारी । बार-बार ।

नोट—स्वामीजी महाराज ने अनेक रचनाएँ की थी उनमें कुछ उपलब्ध हुई है वे यहाँ दी गई है वे कभी अपनी
रचना पर अपना नाम नहीं लगाते थे

स्वामीजी के वर्षावास

नागौर — वि स १९ सौ ४४ ८१ ८५ २ ४
ब्यावर — वि स १९ सौ-६९ ७६ ७७ ८३ ८६ ८९, ९५ ९९ २ ७ ८ १६
तिंवरी — वि स १९ सौ ४९ ६२ ६४ ७ ७३ ७७ ८४ ८७ ९२, २ ६ २ १५
जयपुर — वि स १९ सौ-६१ ९१ २ २ १४
पाली — वि स १९ सौ ६६ ७१ ७४ ८ ९३ ९७
उदयपुर — वि स १९ सौ ६ २ १२
हरमाड़ा — वि स १९ सौ ५५ ५८ ६७ ७८
मदना — वि स १९-सौ ९६ २ १७
कालू — वि स १९ सौ ५६
रिमलपुर — वि स १९ सौ ६३
केह — वि स २ ३
भापालसर—वि स २ ५
विजयनगर—वि स ९
अजमेर — वि स २ १
आगरा — वि स १३
कुचेरा — वि स १९ सौ ५७ ६ ६५ ६८ ७२ ७५, ८२ ८८ ९४ ९८ २ १ २ ४ ६ ११ १ १७
भार — वि स १९ सौ ४ ७४ से ८५ तक गुरु महाराज के साथ और आप वर्षावास स्वतन्त्र

भगवान् महावीर के पचम गणधर सुधर्मा स्वामी के शिष्य थे, राजगृह नगर के श्रेष्ठी ऋषभदत्त की पत्नी धारिणी की कुक्षि से उनका जन्म हुआ १६ वर्ष तक घर मे रहे, फिर सुधर्मा स्वामी की देशना सुन कर वैराग्यवासित हुए और दीक्षा लेने का विचार किया एक समृद्धिशाली सेठ के घर मे जन्म लेने से, दीक्षा मे पहले ही अन्य धनी सेठो की ८ कन्याओ से उनका वैवाहिक सम्बन्ध निश्चित हो चुका था माता आदि कुटुम्बियो ने विचार किया कि किसी प्रकार उनका विवाह कर दिया जाय तो वे सासारिक विषयो मे मग्न हो जायेंगे पर जम्बूकुमार का वैराग्य दृढ था, इसलिए उन्होने कुटुम्बी जनो के अनुरोध से उन आठो कन्याओ से विवाह तो कर लिया पर विवाह से पूर्व उन्होने उन कन्याओ के पिताओ को स्पष्ट सूचित कर दिया कि मै दीक्षित होने वाला हू विवाह की प्रथम रात्रि मे ही उन्होने अपनी आठो स्त्रियों को प्रतिबोध देकर सहयोगी बना लिया और साथ ही विवाह मे जो ९९ करोड का धन आया था उसे चुराने के लिए ५०० चोरो के साथ आए हुए प्रभव चोर को भी उनके उपदेश ने प्रभावित किया इस तरह माता, पिता, स्त्रियो, सास-ससुरो व प्रभवादि ५०० चोरो के साथ उन्होने सुधर्मा स्वामी से दीक्षा ग्रहण की वही राजपुत्र प्रभव आगे चल कर उनका प्रधान पट्टशिष्य बना २० वर्ष तक जम्बू स्वामी छद्मस्थ अवस्था मे रहे तदनन्तर केवलज्ञान उत्पन्न हुआ और ४४ वर्षों तक केवली अवस्था मे विचरे भगवान् महावीर के निर्वाण के ६४ वर्ष बाद ८० वर्ष की आयु मे वे मोक्ष सिधारे इनके बाद इस भरतक्षेत्र से पचम काल मे कोई मोक्ष नही गया इससे वे अन्तिम केवली कहलाये वास्तव मे वर्तमान जैन आगमो के निर्माण मे जम्बू स्वामी का प्रधान हाथ रहा है भगवान् महावीर ने तीर्थंकर के रूप मे ३० वर्ष तक जो भी उपदेश दिया उसे १२ अगसूत्रो मे ग्रथित करने का काम गणधरो ने किया महावीर निर्वाण के दिन ही गौतम स्वामी को केवल ज्ञान हो गया यद्यपि वे इसके बाद १२ वर्ष तक और रहे पर सघ के सचालन का भार सुधर्मास्वामी ने ही सभाला और उन्होने ही जम्बू स्वामी को सबोधित करते हुए वर्त्तमान आगमो की रचना की फलत उन आगमो के प्रारम्भ मे सुधर्मा स्वामी के मुख से यह कहलाया गया है कि हे जम्बू ! इस आगम की वाणी भगवान् महावीर से जिस रूप मे सुनी, तुमे कहता हूँ ! जम्बू स्वामी का निर्वाण मथुरा मे हुआ और उनके ५०० से अधिक स्तूप सम्राट् अकबर के समय तक मथुरा मे विद्यमान थे उनके जीर्णोद्धार का वर्णन दिगम्बर विद्वान् कवि राजमल्ल ने अपने सस्कृत जम्बूचरित्र मे किया है

प्रस्तुत सत कवि तुलसी रचित जम्बूसर प्रसग मे जैनधर्म, सुधर्मा स्वामी, उनसे दीक्षा लेने आदि का उल्लेख नही किया है प्रारम्भिक विवाह के अनन्तर स्त्रियो से वार्त्तालाप और चोर का आगमन, सबको प्रतिबोध तथा ब्रह्मचर्य मे जम्बू स्वामी के दृढ रहने का वर्णन ही कवि ने किया है कई दृष्टान्तो का तो नाम निर्देश मात्र किया है पर अठारह नातो वाला सम्बन्ध कुछ विस्तार से दिया है, जो वसुदेव हिण्डी मे ही सबसे पहले मिलता है सत कवि तुलसी ने किसी मौखिक कथा को सुन कर ही अपने ढग से इस कथा की रचना की है जम्बू के नाम की जगह कवि ने जम्बूसर नाम का प्रयोग किया है हमे सत कवियो की अन्य रचनाओ मे भी जैन सम्बन्धी खोज करनी चाहिए

जम्बूसर प्रसग वर्णन

दूहा

शील व्रत की का कहू, महिमा कही न जाइ ।
ज्यू गजराज के सग तें, अनल न परही आइ ।।१।।†
ब्रह्मा विष्णु महेश लौं, करैं शील की सेव ।
शील पूज्य तिहु लोक मे, कोई लहै शील का भेव ।।२।।†
भेव लहै सो यह[1] लहै, जबूसर ज्यू जानि ।
सिप ताको प्रसग अब, कहू स निहचै मानि ।।३।।

[1] यू गहे

चौपाई

शील व्रत सब ही को टीको । शील बिना सब लाग फीको ।
तुरसी जो मुख सुन्दर होइ । नासा बिना न शोभ सोइ ॥४॥†

नासा बिना न शोभ हो सुन्दर नर को मुख ।
तुरसी शील धम बिन सब ही धर्म निरुख ॥५॥

दूहा

एकादशी जू आदि दे यावदेषु व्रत सार ।
तुरसी ता सब हीन में शील सुव्रत अधिकार ॥६॥†
तुरसी शील सुधम की महिमा वण न आई ।
ताहि जप तप यज्ञ व्रत रहे सकल सिर नाइ ॥७॥†

कथा प्रसंग : कवित्त

एक साह[1] धनवंत तास के पुत्र जी जोइ ।
जम्बूसर[2] तस[3] नाम शीलधर जनमत होइ ॥
पिता कियो हठ बहुत[4] परणिवा भारे कीन्हो[5] ।
परण तजू करि मारि आप उत्तर यू दीन्हो[6] ॥
इक[7] वणिया के धीइ आठ तिन्है सुणि मतो विचारै ।
करे पिता सु अरज पुरुष 'जम्बूसर म्हारै ॥८॥†
मान कलजुम भयो सुणत यह लागी खारी ।
कन्या कही धर्म बात तात तब जानि विचारी ।
दिया ताहि नालेर परणिवा चलि घर आयो ।
'जम्बूसर ताहि परण हाथ ताकी छिरकायो ॥
वणिय दियो द्रव्य बहुत तास[8] कं बरे न भारे ।
विर्ष बड यू जान आप निज ज्ञान विचारै ॥९॥
चल बहाँ ते आप आइ बठ निज भवना ।
तब त्रिया मतो विचार, कियो ताके ढिग गवना ॥
जम्बूसर बठ बहा सुमरै त्रिभुवन तात ।
आठा ही घर जार करि, पूछन लागी बात ॥१० ॥
जम्बूसर व्रत शील धर भर्जे राम नित्र एक ।
जोया तासै तास मन भागै प्रथम विवेक' ॥११
सा प्रसंग मय करन ह प्रथम त्रिया उवाच ।
याम समो माहि कछु परगट जानों साच ॥१२॥

प्रथम त्रियावचन—

त्रिया कहन यह शीलती काम अप्रवण जान ।
भागे जानी हादमी माग्न हार समान ॥१३॥

[illegible]
† [illegible]

मारूठोर—

सोरठा

थलिया गोहू वाई,[11] मूरख खोयो[12] अकल विन ।
कियौ बाजरौ ख्वार, 'मारूढोर' यू जानिये ॥१४॥

जवूसर वचन सोरठा—

ताजितखानें[13] भूलि, दुखी रह्यो दिन तीन लग
छूटा पीछे भूलि, वहुरि[14] न कवहु जाइ है ॥१५॥

त्रियावचन सोरठा—

न्हाइ नदी की सोइ, मरकट तें माणस हुवौ ।
वहुरयो[15] मरकट, होइ, कियो ज लालच देव पद ॥१६॥

जवूसर के वचन—

कोई सहारा नाइ, जग समदर मे डूबता ।
रह्यो गृहे उरझाइ, खोवर[16] कागज करककौ ॥१७॥

त्रियावचन—

भज्यौ न पूरण राम, गृह कौ सुख सो भी तज्यो ।
जा कौ ठौरन राम, बुगली ज्यो लटकता रह्यो ॥१८॥

जवूसर वचन—

इन्द्रया का सुख नास, या सगि नासत राम पद ।
रेलो चाटत ग्रास, खोयो मूरिख पाहुणै ॥१९॥

त्रियावचन—

नरपति सुत इक जान, चल्यौ ज चन्दन पानकु ।
आगें हुई ज हान, डेरौ खोयो गाठ को ॥२०॥

जम्बूसरवचन—

जगत सुख लोह आहि, तहि गहै अज्ञान नर ।
मूरख बोझ जनाहि, तजी कुदाली कनक की ॥२१॥
दीन्हो परसन सार,[17] सब कै मन आनन्द भयौ ।
कीन्हो गाढ विचार, 'जबूसर' सु पुनि कहै ॥२२॥

त्रियावचन—

दूहा

जवूसर सूं जोरि कर, त्रीया करत प्रणाम ।
पुत्र भए सब त्यागिए, सुजस बढै रहै नाम ॥२३॥

जबूसर वचन—

नामहेत सब जग पचै, तामे नही विचार ।
भक्ति छाड भ्रम सू लग्या, बूडा कालीधार ॥२४॥†

---

११ बाड़ १२ बोयो १३ तारतखाने १४ तहा १५ वोह्यो सु १६ मो नहि १७ सुनिप्रसग सार

चौपाई

शील व्रत सब ही को टीको। शील बिना सब लागै फीको।
तुरसी जो मुख सुन्दर होइ। नासा बिना न शोभै सोइ ॥४॥†

नासा बिना न शोभ हो सुन्दर नर को मुख।
तुरसी शील धर्म बिन सब ही धर्म निरख ॥५॥

दूहा

एकादशी जू आदि दे यावतेपु व्रत सार।
'तुरसी' ता सब हीन में शील सुव्रत अधिकार ॥६॥†
'तुरसी' शील सुधर्म की महिमा वण न आई।
ताहि जप तप यज्ञ व्रत रहे सकल सिर नाइ ॥७॥†

कथा प्रसंग : कवित्त

एक साहू धनवत तास के पुत्र जी जोइ।
जम्बूसर तस[1] नाम शीलधर धनमत होइ ॥
पिता किया हठ बहुत[2] परणिवा आरे कीन्हो[3]।
परण तजू करि नारि आप उत्तर यू दीन्हो[4] ॥
इक[5] वणिया के धीह आठ तिन्है सुनि मतो विचारै।
वरै पिता सु धरम पुरुष 'जम्बूसर म्हारै ॥८॥†
मान कसबुग भयो सुणत यह लागी प्यारी।
कन्या कही धर्म बात तात तब जानि विचारी।
विधा ताहि नासर परणिवा चलि कर आयो।
जम्बूसर ताहि परण हाथ ताको छिटकायो ॥
यद्यपि दियो द्रव्य बहुत तास[6] जू धरे न भारे।
दिये दड यू जाम आप निज ज्ञान विचारे ॥९॥
चल यहाँ त आप आइ बठ निज भपना।
तब त्रिया मतो विचार, कियो ताके त्रिय गवना ॥
जम्बूसर बठे जहा सुमरै त्रिभुवन तात।
माठा ही कर जोर करि, पूछन लागी बात ॥१० ॥
जम्बूसर धन शील धर, भजै राम निज एक।
बोया तासै ताम मम मागै प्रसंग विवक[7] ॥११
गा प्रसग भव काज ह प्रथम त्रिया उवाच।
याम मनी नाहि कछु परगट जानों साच ॥१२॥

प्रथम त्रियावचन—

त्रिया कहत यह शीलती नाम समुद्र जाम।
मागे जानी हानि मार दार गमान ॥१३॥

[illegible]
† [illegible]

अठारै नाता कौ व्यौरो

सुलता वाच—कवित

नगर नाइका[1] आदि, दूसरी माता मेरी ।[2]
तुम सुत की मैं नारि, प्रगट तू सासू[3] मेरी ।।
मम खावद घर नारि, सौक[4] तू सदा हमारी ।
तुम्है तात की सूता, तोहि दादी[5] मे धारी ।
मम भाई की जोय, लगै तू भावज[6] मेरे ।
एते लछ तुझ माहि, कन्या ऐसी विघ टेरे ।।
षट नाता षट विध भए, मानू धर्म दियौ खोइ ।
ज्ञान भगति वैराग ल्यो, जब भ्रम सावतौ होइ ।।४१।।

दूहा

सुलता के यह वचन सुनि, पूछन लागौ कुमेर ।
कहौ तें कहियौ कहा, सो अब भाखौ फेर ।।४२।।

सुलता वाच—कबित्त

वेश्या द्वारे वास, कहु तोहि भडवौ[1] भाई[2] ।
बाप[3] कहूँ मैं तोहि, तुम्हे घर मेरी माई ।।
खावद[4] प्रगट मोर, पलै मे बधी तेरै ।
सासू कौ भरतार, सदा सुसरौ[5] है मेरै ।।
मम दादी कौ खसम, तास विध दादौ[6] कहीए ।
ए साचौ अपराध, तज्या विन सुख नहि लहियै ।।
भगति विना भागै नही, ये षट पाप अघोर ।
अरक विना क्यूं नास ह्वै, रजनी तम कौ जोर ।।४३।।

सोरठा

इह सुण वचन कुमेर, वज्र मारयो सो ह्वै गयो ।
सुलता भाषै फेर, नानडीया कू लाडवै ।। ४४।।

कवित्त

शिशु भाइ[1] समभाई, वीर[2] मम माता जायौ ।
फुनि भाई कौ बीज, भतीजौ[3] तासू गायौ ।
जानि सौक कौ पूत, सोई साकूत[4] विचारौ ।
मम खावद को वीर, सही देवर[5] है म्हारै ।
दादी सुत काकौ[6] कहूँ, कैसी विधि तोहि लाडीए ।
ऐसो ज्ञान विचार कै, सग तुम्हारो छाडीए ।।४५।।

सोरठा

गणिका अरु कुमेर, कहै हम कैसे निसतरैं ।
सुलता कहे यू टेर, त्याग करौ रामैं भजौ ।।४६।।

दोहा

जबूंमर बुधिवान अति, दीयौ भारज्या ज्ञान ।
तिरीया मन आनद वढ्यौ, गयो सक्ल अज्ञान ।।४३।।

डॉ० के० ऋषभचन्द्र
एम० ए०, पी-एच० डी०

पउमचरियं के रचनाकाल-सम्बन्धी कतिपय अप्रकाशित तथ्य

जैन-साहित्य मे ही नही अपितु सारे प्राकृत-वाङ्मय मे सम्पूण रामकथा सम्बन्धी काव्यात्मक कृति होने का प्रथम श्रेय पउमचरिय को प्राप्त है, जो महाराष्ट्री प्राकृत मे लिखा गया है—जैन परम्परा मे आठवे बलदेव दाशरथी राम का अधिकतर प्रचलित नाम पउम (पद्म) है, अत उनके चरित को 'पउमचरिय' की सज्ञा दी गई है। उत्तरोत्तर काल के जैन-साहित्य मे विविध भाषाओ मे राम सम्बन्धी जो रचनाएँ उपलब्ध हैं वे अधिकतर पउमचरिय पर ही आधारित है पउमचरिय के इस महत्त्व को देखते हुए उसके रचना-काल पर कुछ विचार-विमर्श करना उपादेय ही होगा इस ग्रथ के रचयिता विमलसूरि नाइलवशीय विजय के शिष्य और आचार्य राहु के प्रशिष्य थे उन्होने पउमचरिय की प्रशस्ति मे बतलाया है कि इस ग्रथ की रचना महावीर-निर्वाण के ५३०[1] (या ५२०)[2] वर्ष पश्चात् की गई थी ग्रथ के अध्ययन से यह तिथि बिल्कुल असगत ठहरती है कितने ही विद्वानो ने इसके रचनाकाल के विषय मे अपने-अपने मन्तव्य प्रकट किये है कुछ लोग प्रशस्ति मे अकित समय को ही उचित मानते है परन्तु अधिकतर विद्वान् इसको तृतीय या चतुर्थ शताब्दी से लेकर सातवी आठवी शताब्दी तक की रचना ठहराते है इन विद्वानो ने जिन-जिन प्रमाणो के आधार पर पउमचरिय का कालनिर्णय किया है उनको यहाँ पर दुहराने की आवश्यकता नही[3] हम पउमचरिय मे ही उपलब्ध कुछ नवीन सामग्री पर विचार कर उसी के आधार पर पूर्वस्थापित विविध मन्तव्यो का ऊहापोह करते हुए इस ग्रथ का काल-निर्णय करने का प्रयत्न करेंगे

सर्वप्रथम पउमचरिय मे वर्णित उन जनजातियो, राज्यो, व राजनैतिक घटनाओ पर विचार करेंगे जिनका भारतीय इतिहास से सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है राम ने जब वानरदल के साथ रावण पर आक्रमण किया तब केलीगिलो और श्रीपर्वतियो ने राम की सेना मे सम्मिलित होकर उनकी सहायता की थी (पउम०५५-१७) रविषेण ने अपने पद्मपुराण [५५-२९] मे इन केलीगिलो को कैलीकिल बताया है इन लोगो को ऐतिहासिक किलकिलो से मिलाया जा सकता है[4] उनके राज्य की समाप्ति के तुरन्त बाद वाकाटक विन्ध्यशक्ति ने [२२३ ई०] उनके स्थान पर दक्षिण मे अपना राज्य स्थापित किया था[5] विमलसूरि श्रीपर्वत का बार-बार उल्लेख करते हैं श्रीपर्वतीयो ने राम की सहायता

---

१ पउमचरिय ११८ १०३ २ उपमितिभवप्रपचकथा में डा० जेकोबी की प्रस्तावना पृ० १०

३ विण्टरनित्ज—ए हिस्टरि ऑव इण्डियन लिटरेचर, भा० २, पृ० ४७७ पा० टि० ३ हरदेव बाहरी—प्राकृत और उसका इतिहास, पृ० ६० डा० जेकोबी—उपमितिभवप्रपच कथा, प्रस्तावना, पृ० १० और परिशिष्टपर्व, प्रस्तावना पृ० १९
डा० कीथ— ए हिस्टरि आव सस्कृत लिटरेचर, पृ० ३५ पउमचरिय (१९६२) की प्रस्तावना में डा० वी० एम० कुलकर्णी का लेख—दी डेट आव विमलसूरि
जैन युग, पुस्तक १, अक ५, पोष १९८२, पृ० १८० पर श्री के० एच० ध्रुव का लेख

४ बी० वी० कृष्णराव—ए हिस्टरि आव दी अर्ली डाइनेस्टीज ऑव आन्ध्र प्रदेश, पृ० ३९

५ डा० अल्टेकर—दी वाकाटक-गुप्ता एज (१९५४), पृ० ८९

निशाचर—

सोरठा
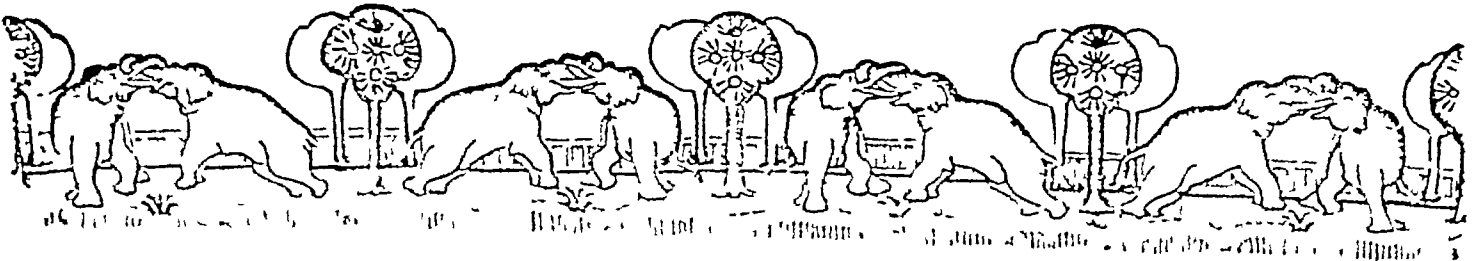
जंबूमर बड़भाग धनि तेरे माता पिता।
अम्मत ही जग त्याग छाड़ सम्यो पर ब्रह्म में ॥४८॥
ग्रन्थ सैन के पार, बांधी पोटल परीति करि।
ज्ञान भयो तिहि ठौर जंबूमर को ज्ञान सुणि ॥४९॥
अष्ट नारि यह ज्ञान सुणत ही सासो सब गयो।
पार भयो गसताम छोलताम का शब्द सुणि ॥५०॥
सुणत त्रास ज्यू नरक की मन में उपजो एह।
सीस न कबहू त्यागिए भावे आवो देह ॥५१॥

दोहा

भाग बिना पावे नहीं सीख पदारथ सोइ।
जो त्यागे या सीखको तो नरक प्रापति होइ ॥५२॥

कुण्डलिया

जो कोई त्याग सीख को सो पावे नरक अपार।
अपकीरति होइ जगत में मनिन माहिं नहिं ठौर।
भगत माहि नहिं ठौर और कहा कहीए भाई।
सहै बिपति भरपूर, सूर मुख पडै न काई।
देखा सदा फिरि तासक जम मारै करि आर॥
जो कोई त्याग सीखका सो पावे नरक अपार॥५३॥

॥ इति जंबूमर को प्रसंग संपूर्ण ॥

आधिपत्य स्वीकार कर लिया था कुमारगुप्त के अन्तिम काल मे गुप्त राज्य की नीव डावाडोल हुई थी[1] डा० राय चौधरी का अभिप्राय है कि इसी कुमारगुप्त का उपनाम व्याघ्रपराक्रम था[2] पउमचरिय के सिंहोदर और व्याघ्रपराक्रम मे काफी समानता है कुछ भी हो, पउमचरिय मे वर्णित घटना तथा ऐतिहासिक परिस्थिति मे इतना तो सुस्पष्ट है कि दशपुर ईसा की चौथी और पाचवी शताब्दियो मे ही राजनैतिक हलचल का विषय बनता है

पउमचरिय के अनुसार नद्यावर्तपुर के महाराजा अतिवीर्य ने अयोध्या के राजा भरत को अपने अधीन करना चाहा भरत ने यह आधिपत्य स्वीकार नही किया तब अतिवीर्य ने अनेक अन्य राज्यो से भरत के खिलाफ युद्ध करने के लिए सहायता मागी और विजयपुर के शासक को भी अपना एक दूत भेजा उस समय राम लक्ष्मण वहाँ पर ठहरे हुए थे यह समाचार पाते ही उन्होने अतिवीर्य की ओर कूच किया और छद्मरूप से उसको बन्दी बना लिया तथा उलटा भरत का आधिपत्य स्वीकार करने के लिए उसको विवश किया[3] इस नद्यावर्त का सबध प्रभावती गुप्ता के पूना के ताम्रपत्र मे आए हुए नदीवर्धन से बिठाया जा सकता है आजकल यह स्थान रामटेक के पास मे स्थित नगर्धन या नदर्धन के नाम से परिचित है[4] नदीवर्धन वाकाटको की राजधानी रही है प्रवरसेन द्वितीय के पुत्र नरेन्द्रसेन के राज्य पर पाचवी शती के मध्य मे नल राजा भवदत्त वर्मा ने आक्रमण करके उसके राज्य को हथिया लिया था[5] इससे सिर्फ इतना ही स्पष्ट है कि यह क्षेत्र पाचवी शती के मध्य मे राजनैतिक हलचल और सघर्ष का शिकार बना हुआ था

अब हम पउमचरिय मे आयी हुयी अन्य सामग्री का आलोचनात्मक पर्यवेक्षण करेगे इक्ष्वाकु राजाओ की वशावली मे आदित्ययश से राम का स्थान बासठवा है[6] सख्यात्मक दृष्टि से यह स्थान ब्राह्मण पुराणो के विवरण के अधिक नजदीक है वाल्मीकि रामायण मे जो वशावली आती है उसमे राजा इक्ष्वाकु से राम का स्थान पैंतीसवा है (वा० रा० १ ७० और २ ११०) जबकि पुराणो के अनुसार राम का स्थान अट्ठावनवा है (भागवत पुराण ९ १-१०) विमलसूरि अपने पउमचरिय को पुराण की भी सज्ञा देते है (पउम १ ३२), तथा प्रशस्ति मे स्पष्ट वर्णन है कि इस पुराण मे चारो पुरुषार्थो-काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष का वर्णन समाविष्ट है ब्राह्मण पुराणो की परिभाषा का ऐतिहासिक अध्ययन करने से मालूम होता है कि जैसे-जैसे पुराणो का विकास होता गया वैसे-वैसे उनके आवश्यक अग भी बढते गये ये चारो पुरुषार्थ परवर्ती काल मे ही पुराणो के आवश्यक विषय गिनाये गये है[7] कल्याणविजयजी का मन्तव्य है कि जैन परपरा मे भी ये विषय विक्रम की पाचवी शती के पूर्व प्रचलित नही हुए थे[8]

पउमचरिय मे केवल एक बार श्वेताम्बर मुनि का उल्लेख है इक्ष्वाकु राजा सोदास के सम्बन्ध मे कहा गया है कि अयोध्या मे निष्कासित होने पर वे दक्षिण देश की तरफ गये और वहा पर उन्होने एक श्वेताम्बर मुनि के पास श्रावक-व्रत ग्रहण किये (पेच्छइ परिब्भमन्तो दाहिणदेसे सियबर पणओ-पउम० २२ ७८) जैन परपरा की दोनो मान्यताओ के अनुसार उनका सघभेद ईसा की प्रथम शताब्दी मे हुआ था फिर भी श्वेताम्बर सघ का स्पष्ट उल्लेख हमे राजा विजय मृगेशवर्मा के देवगिरि के एक शिलालेख मे 'श्वेतपटमहाश्रमण सघ' के रूप मे मिलता है यह शिलालेख पाचवी शताब्दी का है पउमचरिय मे सलेखना को श्रावको के बारह व्रतो मे स्थान दिया गया है तथा उसे चतुर्थ शिक्षापद के रूप मे गिनाया

---

१ डा० अल्टेकर—वही, पृ० १५९, १६०, १६६, १६७

२ पॉलिटिकल हिस्टरि आव एशियट इण्डिया (चतुर्थ सस्करण), पृ० ४८०

३ पउमचरिय, अ० १७

४ बी० सी० ला० हिस्टोरिकल जोग्राफी आव एशिया इण्डिया, पृ० ३२३ और डी० सी० सरकार—सिलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स् भा० १ पृ० ४०७

५ डा० अल्टेकर—वही, पृ० १०५, १०७

६ पउमचरिय, अ० ५, २१ और २२

७ मत्स्यपुराण ५ ३ ६६ और ए० डी० पुसलकर—स्टडीज इन एपिक्स एण्ड पुराणान् आव इण्डिया, प्रस्तावना पृ० ४६

८ कल्याणविजयजी—श्रमण भगवान महावीर पृ० ३०४
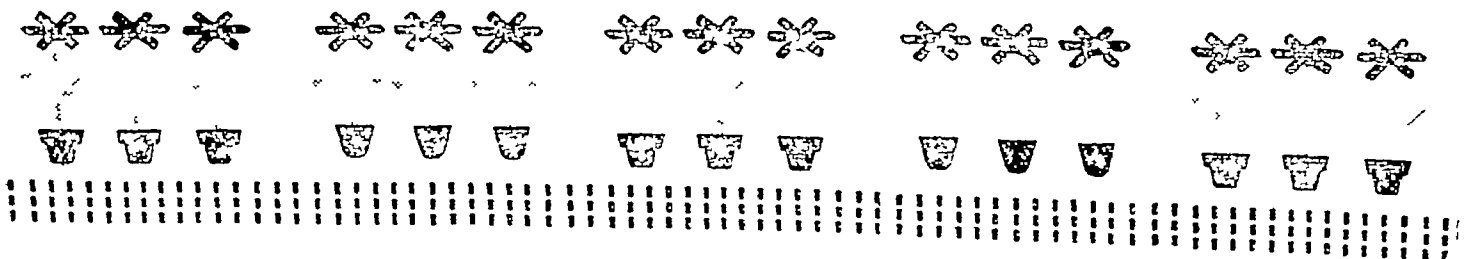
तो की ही थी साथ-साथ यह भी बतलाया गया है कि हनुमान श्रीपुर के राजा बनाये गये थे जो श्रीपर्वत की उपत्यका में बसा हुआ था हनुमान का अपर नाम श्रीशैल भी है [पउम १८ ४६, ५५ १६ ८५ २६] इस प्रकार बार-बार श्रीपर्वत का उल्लेख हमें पुराणों के उन श्रीपर्वतीय भाइयों की याद दिलाता है जो इतिहास में दक्षिण भारतप्रदेश के इक्ष्वाकु राजवंश के नाम से प्रसिद्ध है इस वंश के राजाओं का काल तृतीय ई शताब्दी माना गया है[१] लवण और अंकुश अपनी दिग्विजय में अनेक राज्यों को अपने अधीन करते हैं उन राज्यों में आनन्द लोगों और उनके राज्य का भी उल्लेख है [पउम ९८ ६६] भारतीय इतिहास स्पष्ट बतलाता है कि आनन्द राजवंश का उद्भव ईसा की चतुर्थ *शताब्दी में हुआ था और उनके राज्य का क्षेत्र गुण्टूर प्रदेश था बृहत्फलायन आनन्दों के पूर्ववर्ती शासक थे*[२] इस प्रकार स्पष्ट है कि विमलसूरि चौथी शताब्दी तक के राजवंशों व राज्यों से परिचित थे पउमचरिय में तीन ऐसी राजनैतिक घटनाएँ हैं जिनका भारतीय इतिहास से सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है ये सभी बिम्ब प्रतिबिम्ब रूप में पूर्ण सादृश्य तो नहीं रखते फिर भी उस काल की राजनैतिक हलचल की झलक पउमचरिय की घटनाओं में दृष्टिगोचर होती है पउमचरिय के अनुसार नर्मदा के दक्षिण में विन्ध्याटवी के क्षेत्र पर कागानन्द जाति का अधिकार था उस जाति के नेता रुद्रभूति ने कूबरपुर के शासक वालिखिल्य का अपहरण कर उसको बन्दी बना लिया वह उसके राज्य से अमकी पूर्वक द्रव्य उपार्जित करता था वालिखिल्य के मंत्री ने उज्जैनी के राजा सिंहोदर से सहायता मांगी परन्तु, उसने वालिखिल्य को मुक्त करवाने में अपनी असमर्थता प्रकट की राम-लक्ष्मण कूबरपुर आये तब उन्होंने अपनी सहायता का *वचन दिया वे वहाँ से आगे बढ़े विन्ध्याटवी में पहुँच कर उन्होंने रुद्रभूति को परास्त किया और वालिखिल्य को* उसके पंजे से छुड़वाया[३] इस सम्बन्ध में द्वितीयार्ध शताब्दी के भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध उज्जैनी के महाक्षत्रप रुद्रसिंह प्रथम आभीर सेनानायक रुद्रभूति तथा एक अन्य आभीरनेता ईश्वरदत्त से मेल बिठाया जा सकता है रुद्रभूति ने आभीरों की तरफ से जीवदामन को गद्दी से हटाने और रुद्रसिंह को महाक्षत्रप बनाने में भरपूर सहायता की थी ईश्वरदत्त ने कुछ समय पश्चात् नासिक में अपना अलग राज्य स्थापित किया और रुद्रसिंह को हटाकर स्वयं ही उज्जैनी का महाक्षत्रप बन बैठा परन्तु दो ही वर्ष के बाद रुद्रसिंह ने अपना पूर्व अधिकार वापिस प्राप्त कर लिया[४] इन दोनों वृत्तान्तों में रुद्रभूति समान है पउमचरिय में सिंहोदर का नाम है व इतिहास में रुद्रसिंह का यह अन्तर सिर्फ प्रथम दो वर्णों के हेर-फेर का है सिंहोदर ने रुद्रभूति के विरोध में कदम उठाने में आनाकानी की थी कारण स्पष्ट है कि रुद्रभूति ने ही रुद्रसिंह को महाक्षत्रप बनाया था ईश्वरदत्त के नासिक के आभीर राज्य का कागानन्द जाति के अधीनस्थ नर्मदा से दक्षिण की ओर के क्षेत्र के साथ सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है

दूसरी घटना इस प्रकार है दशपुर [मन्दसौर] का राजा वज्रकर्ण उज्जैन के राजा सिंहोदर के अधीन था चूंकि वह स्वतन्त्र बनना चाहता था इसलिए उज्जैनी के साथ एक भृत्य की तरह व्यवहार करने में आपत्ति करता था इस पर सिंहोदर ने वज्रकर्ण पर आक्रमण किया और उसको बन्दी बना लिया राम और लक्ष्मण का दशपुर पहुँचने पर वज्रकर्ण की दयनीय दशा का पता लगा उन्होंने सिंहोदर को ललकारा और वज्रकर्ण को उससे मुक्त कराया साथ ही सिंहोदर का कुछ राज्य भी वज्रकर्ण को दिलवा दिया यह घटना दशपुर की स्वाधीनता की ओर संकेत करती है[५] दशपुर की ऐतिहासिक जानकारी इस प्रकार प्राप्त होती है नासिक के गुहाभ के शिलालेखों में दशपुर का एक तीर्थ की तरह उल्लेख है उसका कोई खास राजनैतिक महत्त्व नहीं है गुप्तकाल में ही दशपुर राजनैतिक धरातल पर आता है जयवर्मा सिंहवर्मा और विश्ववर्मा वहाँ के उत्तरोत्तर स्वाधीन राजा थे तत्पश्चात् विश्ववर्मा के पुत्र राजा बन्धुवर्मा ने कुमारगुप्त प्रथम [४१४ ४५४ ई] का

---

१ वही पृ ४६ १
  इन्साइक्लो—वही पृ ४ ३६ ३६६
३ पउमचरिय ३४ २५ ४६
४ दा कल्चर—वही पृ ४
५ पउमचरिय ३३ ११

शत शत तुम्हें प्रणाम

शोकाकुल भयग्रस्त अति — त्रस्त विश्व के प्राण
त्राण करो दे ज्ञान धन — नभ्भो के ध्रुव ध्यान

भव्य वर्ण गोधूम सम — दीर्घ देह सित केश
विमल कमल सम नयन दल — त्रिकुटी भाल विशेष

सत्यरूप सुख वर्द्धिका — अति सुन्दर सुख शान्त
गुरुवर था यह आपका — बाह्य रूप शिव कान्त

गिरा ज्ञान अविरल सुभग — था व्यक्तित्व महान
स्वर विनीत चिर ओजमय — प्रिय पुनीत व्याख्यान

मनमें थी अति मधुरता — सीधा सादा वेश
समन्वयात्मक आपका — था शाश्वत सन्देश

जन जन के प्रति सहजता — सुहृद सौम्य सद्भाव
प्राणिमात्र उन्नयन हित — सजग सदा समभाव

मेरे पर थी आपकी — कृपा अतीव अपार
वरद हस्त अब हो कहां — मेरे करुणा धार

रहूं सदा संयत सतत — गौरव वर जयमान
शोभा शुभ हो साधना — मिले शक्ति वरदान

पूज्य हजारीमल तव — सच्चिदानन्द नाम
ब्रज के दिल के देवता — शत शत तुम्हें प्रणाम

मुनि ब्रजलाल
वि. सं. २०२१ द्वितीय चैत्र कृष्णा ११ ब्यावर

प्राचीन लिपि में लिखित मुनि श्री ब्रजलालजी की भावपूर्ण सहज अभिव्यक्ति
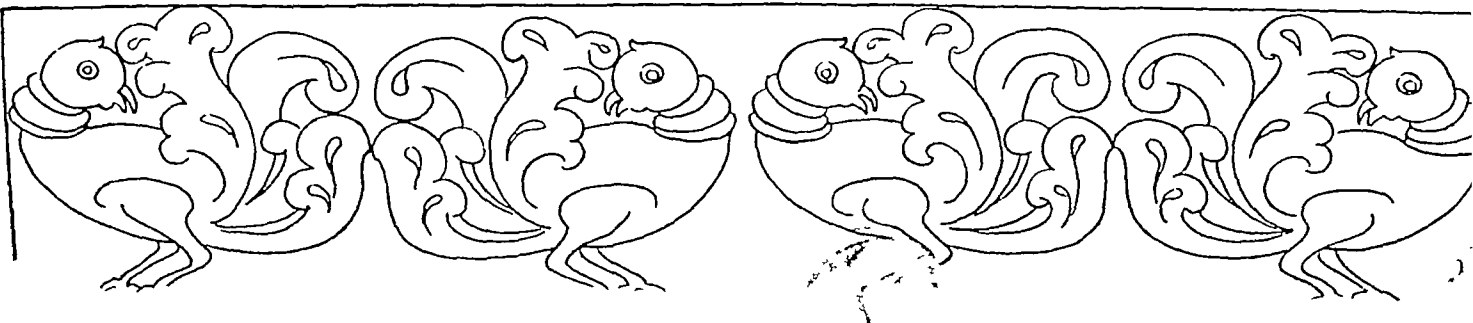
गया है (पउम १४ ११२ ६३ ४१) वसे सलेखना को बारह व्रतों में सम्मिलित नहीं किया जाता है यह परम्परा किस समय से प्रचलित हुई यह विचारणीय है आचार्य कुन्दकुन्द ने जिनका समय पांचवी शती के लगभग का है अपने चारित्रपाहुड (२५) म सलेखना को बारह व्रतों मे स्थान दिया है और इसी क्रम से गिनाया है पउमचरिय म 'रात्रिभोजनत्याग को श्रावको का छठा अणुव्रत बतलाया है ऐसा केवल एक ही बार उल्लेख है (पउम ६ १२) ऐसी परम्परा कहाँ किस समय चली और किसने चलायी यह भी अध्ययन का विषय है आगे चलकर चामुण्डराय ने अपने चारित्रसार और वीरनदि ने अपने आचारसार में इसे श्रावको का छठा अणुव्रत गिनाया है इतना सुस्पष्ट है कि यह व्रत पूज्यपाद के समय मे प्रचलित था वे अपनी सर्वार्थसिद्धि' मे इसका जिक्र करते है पउमचरिय में करीब बीस प्रकार की भिन्न भिन्न तपस्याओ का उल्लेख आता है आगम साहित्य व मूलाचार में इनमें से बहुतों का उल्लेख नही मिलता डा देव का अभिप्राय है कि तपश्चर्याओ की बहुलता बाद मे विकसित हुई है पउमचरिय के रचयिता ने अपने आपको सूरि की पदवी से विभूषित किया है 'सूरि कहलाने की परम्परा प्राचीन नही है कल्पसूत्र स्थविरा वली नन्दीसूत्र पट्टावली और मथुरा के शिलालेखों म किसी भी आचार्य का 'सूरि' के रूप मे उल्लेख नही है डा देव का मत है कि आचार्य के स्थान पर सूरि शब्द का प्रयोग मध्यकाल से ही अधिकाश रूप में नजर आता है [३]

पउमचरिय म जिनमन्दिर बनवाने व प्रतिष्ठा करवाने का काफी आग्रह है कई स्थानों पर इस सम्बन्ध मे उपदेश दिये गये है (पउम ८ १६७ ४ १ ८१ ५१) तीर्थंकरो की मूर्तियो की पूजा में अष्टद्रव्य का प्रचलन हो चुका था भरत को उपदेश देते हुए एक मुनि बतलाते है कि पुष्प धूप चन्दन सुगन्धितद्रव्य दीप दर्पण अभिषेक नैवेद्य इत्यादि से भगवान् की पूजा करने पर अत्यन्त पुण्य का उपार्जन होता है और अच्छी गति प्राप्त होती है (पउम ३२ ७२ ८१) भगवान् के अभिषेक करने की बहुत महिमा बतायी गयी है और अभिषेक के कई उदाहरण इस ग्रथ में उपलब्ध है कल्याणविजयजी का मन्तव्य है कि पूर्वकाल में जल का उपयोग आचमन के रूप म था स्नान के रूप में नही अभिषेक विलेपन इत्यादि बाद की परम्पराएँ है पउमचरिय के अनुसार वैसे तो मुनि लोग वन उपवन उद्यान उपत्यका गुफा और चैत्या मे ठहरते थे परन्तु जिन मन्दिरों म ठहरने की प्रथा भी चल पड़ी थी (पउम ८९ १४ १८ २) । इस प्रकार चैत्यवास की झलक पउमचरिय मे मिलती है कल्याणविजयजी का अभिप्राय है कि जीर्णोद्धार, प्रतिष्ठा साधुओ का जिन भवनों में ठहरना इत्यादि विषय विक्रम की पाँचवी सदी से प्रचलित हुए जान पड़ते है

पउमचरिय महाराष्ट्री प्राकृत भाषा में निबद्ध है और यह काफी विकसित रूप में है साथ ही साथ उस पर उस समय की बोलचाल की भाषा का प्रभाव भी है इस बोलचाल की भाषा की जो विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती है उनसे विश्लेषण करने पर मालूम होता है कि वे ही आगे चलकर अपभ्रश की मूल प्रकृतियाँ बन गयी इस क्षेत्र में निम्न लिखित विशेषताएँ ध्यान देने योग्य है

अव्ययो के साथ-साथ नामवाची रूपो तथा क्रियापदो में लघु और दीर्घ स्वरो का वैकल्पिक प्रयोग व श्रुति के बीसों उदाहरण क्रिया के पूर्वकालिक रूपो मे 'एवि' प्रत्यय का तीन बार प्रयोग कम से कम दस बार 'किह' और कवण' क्य' और कि' के स्थान पर प्रयोग नाम के प्रथमा व उससे भी अधिक द्वितीया एक वचन विभक्ति के लोप के यत्र तत्र फले हुए उदाहरण स्त्रीवाची आकारान्त शब्दों म पच्चीस प्रतिशत और इकारान्त तथा उकारान्त शब्दों में पचास प्रतिशत के औसत से द्वितीया एक वचन विभक्ति का साथ अनुस्वार सहित अतिम लघु स्वर के स्थान पर दीर्घ स्वर आने के कुछ उदाहरण उवम व नाम शब्द के तृतीया विभक्ति के दो उदाहरण उवमें' व नामें' और उपमा व उत्प्रेक्षा अलकार में सूचक शब्द णज्जइ' का प्रयोग

---

१ डा हरिवश्च जैन भारतीय संस्कृति में जनधर्म का योगदान पृ ५१ ६१ ६६ कल्याणविजयजी—वही पृ १४६
एस बी देव—हिस्टरि आफ जैन मोनासिज्म पृ १८७, २६१

३ वह पृ १ १० ५ ४

४ जनल आफ दि मद्रास पृ १ ४ १ ५

पउमचरिय की भाषा जिस लोकभाषा से प्रभावित हुई है उसको देखते हुए इसका रचना समय ईसा की प्रथम शताब्दियों मे नही रखा जा सकता इस ग्रथ मे प्रयुक्त गाथा छन्द भी इतने उत्कृष्ट रूप मे है कि वह सूक्ष्म से सूक्ष्म लक्षणो की कसौटी पर कसा जा सकता है इन सभी उपरोक्त तत्त्वो के आधार पर पउमचरिय का रचनाकाल ईशा की प्रथम शताब्दी उचित नही ठहरता जैसा कि प्रशस्ति मे कहा गया है अनेक प्रमाण यह साबित करते है कि इस ग्रन्थ पर विक्रम की पाचवी शताब्दी के आस-पास के वातावरण का प्रभाव है

पउमचरिय की परवर्ती सीमा निश्चित करने के लिए अब हम उद्योतनसूरि और रविषेण का सहारा लेगे उद्योतनसूरि अपने ग्रथ कुवलयमाला[1] मे, जिसका रचना काल ७७८ ईस्वी सन् है, विमलसूरि के पउमचरिय का उल्लेख करते है इससे एक तो यह प्रमाणित होता है कि पउमचरिय आठवी शती के पूर्व की रचना है, दूसरा यह कि यदि यह रचना बहुत पुरानी होती तो अन्य स्थान पर किसी पुराने ग्रथ मे इसका उल्लेख अवश्य होना चाहिए था उद्योतनसूरि ने रविषेण को भी स्मरण किया है पद्मचरितम् रविषेण का सस्कृत ग्रथ है पउमचरिय और पद्मचरितम् की तुलना करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि एक ग्रथ किसी दूसरे का रूपान्तर मात्र है प० नाथूराम प्रेमी ने यह सिद्ध किया है कि रविषेण ने अपना पद्मचरितम् पउमचरिय के आधार पर ही रचा[2] इसी मान्यता को दृढ करने वाले कतिपय नये प्रमाण प्रस्तुत करने योग्य है पउमचरिय मे हनुमान् के जन्मसबन्धी नक्षत्रो और लग्न का जो विवरण है वह ज्योतिषशास्त्र की दृष्टि से गलत है जबकि रविषेण के पद्मचरितम् मे वही वणन त्रुटिहीन है यदि विमलसूरि के ग्रथ का आधार पदमचरितम् होता तो उसमे त्रुटि आने की कोई गुजायश नही थी मालूम होता है कि रविषेण ने यह त्रुटि सुधार ली है ऐसा ही एक और उदाहरण है पउमचरिय मे भरत और भुवनालकार हस्ती के पूर्व भवो का वर्णन आता है (पउम० ८२-१७-१२१) आधे कथानक तक तो हस्ती को अपने पूर्वभवो मे मायावी बताया गया है जो कि तिर्यंच योनि मे भव प्राप्त करने के लिए उचित भी है, परन्तु बीच मे त्रुटि रह जाने के कारण बाद मे हस्ती के अन्य पूर्वभवो का सम्बन्ध भरत के पूर्वभवो से जुड गया है पद्म-चरितम् मे ऐसा नही है उसमे हस्ती के ही सभी पूर्व भवो मे मायावीपन है भरत के पूर्वभवो मे नही स्पष्ट है कि रविषेण ने पउमचरिय की इस असगति को अपने पद्मचरितम् मे सुलझा दिया है (पद्म०८५ २८-१७३) एक अन्य कथानक मे राजा का नाम पद्मचरितम् (पर्व ५) के अनुसार विद्युद्दष्ट्र है और प्रथम पर्व मे विषय की जो सूची है उसमे भी यही नाम है पउमचरिय मे वही नाम सब जगह विज्जुदाढ है, परन्तु पद्मचरितम् मे कथानक के उत्तर भाग मे उसी को विद्युद्दृढ कहा गया है (पद्म० ५, ३०, पउम० ५-२०-४१)

स्पष्ट है कि यह नाम प्राकृत विज्जुदाढ का गलत रूपान्तर है जो कि रविषेण ने पूर्वापर का ध्यान रखे बिना पउमचरिय के नाम के आधार पर अपनाया है, अन्यथा एक व्यक्ति के दो भिन्न नाम कैसे ? पउमचरिय मे एक कथा आती है जिसमे दो कास्तकार भाइयो का वर्णन है और उनको 'सहोयरा करिसया' कहा गया है (पउम० ३९,६८) रविषेण ने शायद नही समझने के कारण या भ्रान्त पाठ होने के कारण उन दो भाइयो के नाम 'सुरप' और 'कर्षक' कर दिये हैं (पद्म० ३९, १३७) कुछ व्यक्तियो के नामो का अध्ययन करने से पता चलता है कि रविषेण ने अपनी कृति मे छन्दो के वर्गो का नियमन करने के लिए पउमचरिय मे आये हुये नामो के लिए पर्यायवाची शब्दो का प्रयोग किया है, क्योकि पद्मचरितम् के नामो को यदि विमलसूरि वैसे के वैसे रखते तो भी उनके मात्रा छन्द मे कोई त्रुटि नही आती थी, परन्तु रविषेण के साथ यह स्थिति नही थी (उदाहरणार्थ-पउम-अरिदमणो जलन-जडी, रिउमहणो-अक्कतेओ-पद्म -अरिध्वसो वह्निजटी, अरिमर्दन , वह्नितेजा) इसके दोनो ग्रथो मे पाचवा अध्याय ध्यान देने योग्य है

रविषेणाचार्य कट्टर दिगम्बर थे यह सुविदित है दिगम्बर परम्परा मे दाशरथी राम यानि आठवें बलदेव राम के नाम से ही परिचित हैं, नवें बलदेव यानि कृष्ण के भाई का नाम पद्म पाया जाता है यदि पद्मचरितम् मौलिक रचना

---

१ पृ० ३, पक्ति २७, कुवलयमाला—डा० ए० एन० उपाध्ये

२ जैन साहित्य और इतिहास (१९५६), पृ० ९०

होती तो रविषेण साम्प्रदायिक भावना को देखते हुए, अपने ग्रन्थ का नाम रामचरितम् ही रखते न कि पद्मचरितम् जहाँ जहाँ पर भी त्रेसठ शलाकापुरुषों के सदर्भ आये है वहाँ-वहाँ पर बलदेवों के व्यक्तिगत नामों के उल्लेख छोड दिये गये है क्योंकि यदि उनके नाम अपनी परम्परा के अनुसार गिनाते तो वह मान्यता उनके ग्रन्थ के नामकरण से विपरीत ही ठहरती इन सब मुद्दों के आधार पर कहने की आवश्यकता नही कि पद्मचरितम् पउमचरिय का संस्कृत रूपान्तर मात्र है पद्मचरितम् का रचनाकाल ईस्वी सन् ६७७ है अतः पउमचरिय इससे पूर्व की रचना होनी चाहिए

पउमचरिय के अन्त परीक्षण तथा अन्य बाह्य आधारो पर से इतना सुनिश्चित हो जाता है कि यह रचना पाचवी शती के पूर्व की नही और सातवी शती के बाद की नही अब प्रश्न यह उठता है कि प्रशस्ति मे दिये गये महावीर निर्वाण के ५३ में वर्ष से क्या अर्थ निकालना चाहिए ? मालूम होता है कि यह महावीर निर्वाण का सवत् नही होकर और कोई दूसरा सवत् होना चाहिए इस दृष्टि से शकसवत् और कृत या विक्रमसवत् विचारणीय है शक सवत् के अनुसार पउमचरिय का रचनाकाल ६६५ ईस्वी होगा जो रविषेण के पद्मचरितम् से बारह वर्ष पूर्व ठहरता है इस सवत् को मानने में एक प्रबल आपत्ति आती है आचार्य रविषेण के ग्रन्थ को पढने से मालूम होता है कि वह एक साम्प्रदायिक ग्रन्थ बन गया है उसमें अनेक स्थानो पर दिगम्बरत्व का प्रदर्शन है दीक्षा को भी दैगम्बरी दीक्षा कहा गया है

पउमचरिय मे इस विषय सबधी उदारता है किसी सम्प्रदायविशेष की ओर आग्रह नही है सिर्फ एक ही स्थान पर श्वेताम्बर साधु का उल्लेख आ जाने से साम्प्रदायिकता नही आ जाती महत्व की बात तो यह है कि वे किसी सम्प्रदाय का पक्ष लेते है या नही ग्रन्थ में वर्णित अनेक तत्त्वों का पृथक्करण आज भी प्रचलित परम्पराओं की दृष्टि से किया जाय तो श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय सभी सम्प्रदायो का उस ग्रन्थ में समावेश हो जाता है इसीलिए कुछ विद्वान् विमलसूरि को अपने-अपने सम्प्रदाय का सिद्ध करने के लिए तत्-तत् तत्त्वो का सहारा लेते है वास्तव मे बात यह है कि विमलसूरि के ऊपर साम्प्रदायिकता का कोई प्रभाव नही है उन्होने जो कुछ सुना देखा पढा और परम्परा से प्राप्त किया उसी का वर्णन किया है यहा तक कि कुछ वस्तुएँ तो दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओ के प्रतिकूल जाती है और कुछ उनके अपने पूर्व कथन के भी विपरीत पडती है कल्याणविजयजी का अभिप्राय है कि साम्प्रदायिक पृथक्करण की प्रथा और एक दूसरे को श्वेताम्बर दिगम्बर कहने की परम्परा विक्रम की सातवी शताब्दी से प्रचलित हुयी है[1] इस कट्टरता का पउमचरिय में अभाव है जबकि पद्मचरितम् इस भेदपरक परम्परा का महत्व पूर्ण उदाहरण है और *ध्यान देने योग्य है कि इस भेदपरक परम्परा को दृढ बनने में काफी समय गुजरा होगा* सिर्फ दस या पन्द्रह वर्ष मे इतनी उग्रता नही बढी होगी दोनो सम्प्रदायो को यह मान्य है कि उनका विभाजन विक्रम की दूसरी शताब्दी मे हो गया था परन्तु इसका अर्थ यह नही कि उस विभाजन के तत्काल बाद ऐसी उग्रता आ गयी होगी इस कट्टरता का बीजारोपण एक तरफ कुन्दकुन्दाचार्य के समय से हुआ जान पडता है और इसके दृढ होने के प्रमाण दूसरी तरफ जिनभद्र के विशेषावश्यकभाष्य मे प्राप्त होते है इसलिए इन दोनो व्यक्तियों के बाद की तो यह रचना हो ही नही सकती यदि ऐसा होता तो उस समय की परिस्थितियो का प्रभाव अवश्य पउमचरिय में उपस्थित रहता कुन्दकुन्दाचार्य के बहुत पहले की यह रचना नही भी हो तो उनके आसपास या कुछ ही समय पूर्व या पश्चात् की होनी चाहिए

दूसरी दलील यह है कि क्या सिर्फ बारह वर्ष पश्चात् ही रविषेणाचार्य एक उदारचरित कथा को दिगम्बर रूप देने की हिम्मत कर सकते थे ? क्या किसी भी क्षेत्र से आलोचना या विरोध होने का उनको भय नही था और विशेषत उस अवस्था में जब कि उन्होने विमलसूरि का प्रत्यक्षत स्मरण भी नही किया था सभव यह प्रतीत होता है कि पउमचरिय समान रूप से दोनो पक्षो को पर्याप्त समय तक मान्य रहा होगा और समय व्यतीत होते-होते जैसे-जैसे साम्प्रदायिक कट्टरता बढती गयी तब रविषेणाचार्य ने अपने सम्प्रदाय मे रामचरित विषयक ग्रन्थ की आवश्यकता महसूस

---

1 श्रमण भगवान महावीर पृ ३ ४

पउमचरिय की भाषा जिस लोकभाषा से प्रभावित हुई है उसको देखते हुए इसका रचना समय ईसा की प्रथम शताब्दियो मे नही रखा जा सकता इस ग्रथ मे प्रयुक्त गाथा छन्द भी इतने उत्कृष्ट रूप मे है कि वह सूक्ष्म से सूक्ष्म लक्षणो की कसौटी पर कसा जा सकता है इन सभी उपरोक्त तत्त्वो के आधार पर पउमचरिय का रचनाकाल ईसा की प्रथम शताब्दी उचित नही ठहरता जैसा कि प्रशस्ति मे कहा गया है अनेक प्रमाण यह साबित करते है कि इस ग्रन्थ पर विक्रम की पाचवी शताब्दी के आस-पास के वातावरण का प्रभाव है

पउमचरिय की परवर्ती सीमा निश्चित करने के लिए अब हम उद्योतनसूरि और रविषेण का सहारा लेगे उद्योतनसूरि अपने ग्रथ कुवलयमाला[1] मे, जिसका रचना काल ७७८ ईस्वी सन् है, विमलसूरि के पउमचरिय का उल्लेख करते है इससे एक तो यह प्रमाणित होता है कि पउमचरिय आठवी शती के पूर्व की रचना है, दूसरा यह कि यदि यह रचना बहुत पुरानी होती तो अन्य स्थान पर किसी पुराने ग्रथ मे इसका उल्लेख अवश्य होना चाहिए था उद्योतनसूरि ने रविषेण को भी स्मरण किया है पद्मचरितम् रविषेण का सस्कृत ग्रथ है पउमचरिय और पद्मचरितम् की तुलना करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि एक ग्रथ किसी दूसरे का रूपान्तर मात्र है प० नाथूराम प्रेमी ने यह सिद्ध किया है कि रविषेण ने अपना पद्मचरितम् पउमचरिय के आधार पर ही रचा[2] इसी मान्यता को दृढ करने वाले कतिपय नये प्रमाण प्रस्तुत करने योग्य है पउमचरिय मे हनुमान् के जन्मसबन्धी नक्षत्रो और लग्न का जो विवरण है वह ज्योतिषशास्त्र की दृष्टि से गलत है जबकि रविषेण के पद्मचरितम् मे वही वर्णन त्रुटिहीन है यदि विमलसूरि के ग्रथ का आधार पद्मचरितम् होता तो उसमे त्रुटि आने की कोई गुजायश नही थी मालूम होता है कि रविषेण ने यह त्रुटि सुधार ली है ऐसा ही एक और उदाहरण है पउमचरिय मे भरत और भुवनालकार हस्ती के पूर्व भवो का वर्णन आता है (पउम० ८२-१७-१२१) आधे कथानक तक तो हस्ती को अपने पूर्वभवो मे मायावी बताया गया है जो कि तिर्यंच योनि मे भव प्राप्त करने के लिए उचित भी है, परन्तु बीच मे त्रुटि रह जाने के कारण बाद मे हस्ती के अन्य पूर्वभवो का सम्बन्ध भरत के पूर्वभवो से जुड गया है पद्म-चरितम् मे ऐसा नही है उसमे हस्ती के ही सभी पूर्व भवो मे मायावीपन है भरत के पूर्वभवो मे नही स्पष्ट है कि रविषेण ने पउमचरिय की इस असगति को अपने पद्मचरितम् मे सुलझा दिया है (पद्म०८५ २८-१७३) एक अन्य कथानक मे राजा का नाम पद्मचरितम् (पर्व ५) के अनुसार विद्युद्दष्ट्र है और प्रथम पर्व मे विषय की जो सूची है उसमे भी यही नाम है पउमचरिय मे वही नाम सब जगह विज्जुदाढ है, परन्तु पद्मचरितम् मे कथानक के उत्तर भाग मे उसी को विद्युद्दृढ कहा गया है (पद्म० ५, ३०, पउम० ५-२०-४१)

स्पष्ट है कि यह नाम प्राकृत विज्जुदाढ का गलत रूपान्तर है जो कि रविषेण ने पूर्वापर का ध्यान रखे बिना पउमचरिय के नाम के आधार पर अपनाया है, अन्यथा एक व्यक्ति के दो भिन्न नाम कैसे ? पउमचरिय मे एक कथा आती है जिसमे दो कास्तकार भाइयो का वर्णन है और उनको 'सहोयरा करिसया' कहा गया है (पउम० ३९,६८) रविषेण ने शायद नही समझने के कारण या भ्रान्त पाठ होने के कारण उन दो भाइयो के नाम 'सुरप' और 'कर्षक' कर दिये है (पद्म० ३९, १३७) कुछ व्यक्तियो के नामो का अध्ययन करने से पता चलता है कि रविषेण ने अपनी कृति मे छन्दो के वर्गों का नियमन करने के लिए पउमचरिय मे आये हुये नामो के लिए पर्यायवाची शब्दो का प्रयोग किया है, क्योकि पद्मचरितम् के नामो को यदि विमलसूरि वैसे के वैसे रखते तो भी उनके मात्रा छन्द मे कोई त्रुटि नही आती थी, परन्तु रविषेण के साथ यह स्थिति नही थी (उदाहरणार्थ-पउम-अरिदमणो जलन-जडी, रिउमहणो-अक्कतेओ- पद्म -अरिध्वसो वह्निजटी, अरिमर्दन , वह्नितेजा) इसके दोनो ग्रथो मे पाचवा अध्याय ध्यान देने योग्य है

रविषेणाचार्य कट्टर दिगम्बर थे यह सुविदित है दिगम्बर परम्परा मे दाशरथी राम यानि आठवें बलदेव राम के नाम से ही परिचित हैं, नवें बलदेव यानि कृष्ण के भाई का नाम पद्म पाया जाता है यदि पद्मचरितम् मौलिक रचना

१ पृ० ३, पक्ति २७, कुवलयमाला—डा० ए० एन० उपाध्ये
२ जैन साहित्य और इतिहास (१९५६), पृ० ९०

प्रो श्रीचन्द्र जैन
एम ए एल-एल बी
अध्यक्ष हिन्दी विभाग गर्व कालेज खरगोन

जैन कथा-साहित्य · एक परिचय

भारतीय लोक-कथाओं मे जैन कथाओ का विशिष्ट स्थान है उनकी सख्या भी पर्याप्त है और उनके विषय-विवेचन में भी विशिष्ट मौलिकता है ससार के समस्त अनुभवों को अपने आँचल में छिपाए हुए उन कथाओं ने विरक्ति और सदाचार को विशेषत प्रतिफलित किया है

यथार्थवाद के धरातल पर निर्मित इनकी रूप-रचना में आदर्शवाद का ही रंग गहरा है इन्होंने एक बार नही हजार बार बताया है कि मानव का लक्ष्य मोक्षप्राप्ति है और इसमे सफल होने के लिए उसे संसार से विरक्त होना पड़ेगा यद्यपि पुण्य सुखकर है और पाप की तुलना मे इसकी उपलब्धि श्रेयस्कर है फिर भी पुण्य की कामना का परित्याग एक विशेष परिस्थिति में आत्म-शुद्धि के लिए आवश्यक है

इस परम पुनीत उद्देश्य का स्मरण इन कथाओ के माध्यम से पाठकों को बारम्बार कराया गया है

इन कथाओं से स्पष्ट है कि समस्त प्राणियों की चिन्ता करने वाले जैन धर्म के सिद्धान्तो म 'सर्वभूतहिताय' की भावना सदैव स्पंदित रही है वर्ग भेद अथवा जाति-भेद की कल्पना के लिए यहाँ स्थान है ही नही पशु पक्षी देव-दानव राजा रक और श्वपच को भी समान रूप से धर्मोपदेश सुनाकर जैनमुनियों ने अपनी उदारता का परिचय दिया है जैन आचार्यों ने जैन-धर्म के सिद्धान्तो को समझाने के लिए जिन कथाओ का सहारा लिया है वे कोरी काल्पनिक नही है वरन उनकी कथावस्तु मे वास्तविकता है तथा आदर्शवाद की परिपुष्टि में उनका अवसान हुआ है

कर्मसिद्धान्त के निरूपण से इन कथाओ मे पाप-पुण्य की विशद व्याख्या भी हुई है प्रत्येक जीव को अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है इस अटल सिद्धान्त की परिधि के बाहर न देवता आ सकते है और न नरपति ऋषि-मुनियों को भी अपने कृत्यो के शुभाशुभ परिणामो का अनुभव करना पड़ता है जिस प्रकार एक पुण्यवान् मानव पावन कार्य करके स्वर्ग के सुखो को भोगता है उसी प्रकार एक वन-पशु भी सामान्य व्रतो के पालन से देव बन जाता है इसी प्रकार नरपालक अपने पापो के वशीभूत होकर नरकगामी हो जाता है

जैन धर्म पुनर्जन्म के सिद्धान्त म पूर्ण आस्थावान् है इसीलिए कर्मवाद की अभिव्यक्ति अधिक प्रभावशालिनी बन जाती है किसी कारण विशेष से यदि कोई जीव अपने वर्तमान जीवन में अपने कर्मों का फल नही भोग पाता तो उसे दूसरे जन्म में अवश्य ही भोगना पड़ता है

जैन लोक-कथा-साहित्य पर लिखते हुए श्रीमती मोहनी शर्मा ने कहा है कि— 'जैन कथा-साहित्य मात्रा म बहुत ही विशाल है उसमें रासास वृत्तान्त जीवजन्तु लोक परम्परा प्रचलित मनोरजक धर्मनात्मक आदि सभी प्रकार की कथाएँ, प्रचुर मात्रा मे मिलती है जनसाधारण मे अपने सिद्धान्तो का प्रचार करने के लिए जैन-साधु कथाओं को सबसे
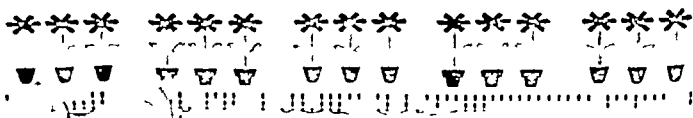
की होगी और उन्होने पद्मचरितम् की रचना से उस अभाव को पूरा किया प्रश्न यह भी हो सकता है कि श्वेताम्बरो ने भी अपना पृथक् साप्रदायिक ग्रथ क्यो नही रचा ? इसका उत्तर स्वय श्वेताम्बरीय परम्परा मे विद्यमान है आगम साहित्य के जो भी पुराने गथ थे उन सबको श्वेताम्बरो ने अपनाये रखा, चाहे भले ही उनमे श्वेताम्बरीय कट्टरता के विरोध की भी बातें हो, परन्तु भेदभाव और कट्टरता बढने पर दिगम्बरो ने उन ग्रन्थो को अप्रामाणिक घोषित करके अपने लिए पूर्व भित्ति पर नये ही साहित्य की रचना की इस दृष्टि से श्वेताम्बरो को यह अभाव खटक ही नही सकता था और उनको अलग कृति रचने की आवश्यकता भी नही पडी होगी इस तरह से ५३० शक सवत् विवादास्पद हो जाता है और उसको मानने मे आपत्तिया आकर खडी हो जाती है तब फिर यही मान्य हो सकता है कि ये ५३० वर्ष कृत सवत् के यानि विक्रम सवत् के होने चाहिए

उचित यही जान पडता है कि या तो किसी लिपिक ने इच्छापूर्वक या किसी भूल के कारण इसे विक्रम सवत् मे परिवर्तित कर दिया है ऐसी भूल का परम्परागत एक उदाहरण भी उपलब्ध है प्रबन्धकोष मे वल्लभी के पतन का समय महावीर निर्वाण ८४५ दिया गया है जबकि विविधतीर्थकल्प मे विक्रम सवत् ८४५ बतलाया गया है[1] वास्तव मे इसे विक्रम सवत् मानना ही ठीक है विक्रम सवत् के अनुसार पउमचरिय का रचना काल ५३०-५७-४७३ ईस्वी सन् आता है जो सभी दृष्टियो से उचित ठहरता है और यही पउमचरिय की रचना का प्रामाणिक समय माना जाना चाहिए

१ हरिप्रसाद शास्त्री, मैत्रक कालीन गुजरात, भाग १, पृ० १५७

सुलभ व प्रभावशाली साधन मानते थे और उन्होने इसी दृष्टि से उपरोक्त सभी भाषाओ मे, गद्य-पद्य दोनो मे ही कहानी कला को चरम विकास की सीमा तक पहुचाया उनकी कथाएँ दैनिक जीवन की सरल से सरल भाषा मे होती थी कोई-कोई कथाएँ तो केवल एक ही साधारण कथा हुआ करती थी पर अधिकाशत कथाओ मे बहुत सी गौण कथाएँ इस ढग से मिली रहती थी कि कथा का क्रम नही टूटने पाता था और काफी लम्बे समय तक वही कथा चलती रहती थी (जैसे पचतत्र)

'उनका कथा कहने का ढग अन्यो की अपेक्षा कुछ विशेषता युक्त है कथा के प्रारभ मे जैन साधु कोई प्रसिद्ध धर्मवाक्य या पद्याश कहते है और फिर बाद मे कथा कहना शुरू करते हैं कथा की लम्बाई या छोटाई पर वे जरा भी ध्यान नही देते उनकी कथाएँ बहुत ही रोमाटिक घटनाओ (अधिकाश घटनाएँ एक दूसरे से गुथी रहती हैं) से युक्त रहती है कहानी के अन्त मे वे पाठको का परिचय एक केवली-त्रिकालदर्शी जैन-साधु से कराते है जो कथा से सम्बद्ध नगर मे आता है और कथा के पात्रो को सन्मार्ग पर आने का उपदेश देता है केवली का उपदेश सुनकर कथा के पात्र पूछते है कि ससार मे प्राणियो को दु ख क्यो सहने पडते है, दुखो से छुटकारा पाने का उपाय क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर मे केवली जैनधर्म के प्रमुख तत्त्व कर्म का वर्णन करने लग जाता है—प्राणी के पूर्वकृत कर्मों के फलस्वरूप मे ही उसे सुख या दु ख की प्राप्ति होती है अपने इस कथन का सम्बन्ध वह कहानी के पात्रो के जीवन मे घटित घटनाओ से स्पष्ट करता है

भारतीय कथाकला की विशेषताओ के रूप मे हम जैन कथावृत्तान्तो को ले सकते हैं भारतीय जनता के प्रत्येक वर्ग के आचार-विचारो एव व्यवहारो के विषय मे उनसे यथार्थ एव सविस्तार परिचय मिलता है जैन-कथा-वृत्तान्त विशाल भारतीय साहित्य के एक प्रमुख अग के रूप मे अपना महत्त्व प्रदर्शित करते है वे केवल भारतीय लोककथाओ के क्षेत्र मे ही नही, वरन् भारतीय सभ्यता व सस्कृति के इतिहास के क्षेत्र मे भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं

जैनो के कथा कहने के ढग मे बौद्धो के ढग से कई बातो मे काफी अन्तर है जैनो की कथा की मूल वस्तु भूत को वर्त्तमान से सम्बद्ध रखती है वे अपने सिद्धातो का सीधा उपदेश नही देते, उनके कथानको से ही अप्रत्यक्ष रूप मे उनका उपदेश प्रकट होता है एक सब से बडा अन्तर जो है, वह यह कि उनकी कथाओ मे 'बोधिसत्व' के समान भविष्य के 'जिनके रूप मे कोई पात्र नही आता" (ब्र० प० चन्दाबाई अभिनन्दन-ग्रथ (पृष्ठ ४२८-४३०)

डा० सत्येन्द्र, एम० ए०, पी-एच० डी० ने भी जैन लोक-कथाओ पर विचार प्रकट किए है वे लिखते है—'जैन साहित्य मे तो बौद्ध-साहित्य से भी अधिक कहानियो का भण्डार मिलता है ये कहानियाँ कुछ तो धर्म के सिद्धात-ग्रथो मे आयी हैं ये बहुधा तीर्थंकरो तथा उनके श्रमण अनुयायियो तथा शलाकापुरुषो की जीवन-झाकियो के रूप मे जहाँ-तहाँ मिल जाती है कही-कही इन ग्रथो मे किसी कथा का सकेत-मात्र मिलता है आचाराग और कल्पसूत्र मे महावीर के जीवन पर प्रकाश पडता है नेमिनाथ और पार्श्वनाथ के सम्बन्ध मे भी इनमे वृत्त मिल जाते है 'नायाधम्मकहाओ' मे अनेको दृष्टात स्वरूप रूपक कहानियाँ (पैरेबल) भी है [1]

जैन कथाओ का वर्गीकरण

जैन कथाओ का विभाजन करना सुगम नही है, फिर भी पात्रो, एव वर्ण्य विषयो आदि के आधार पर इन्हे विभाजित किया जा सकता है पात्रो पर आधारित विभाजन इस प्रकार हो सकता है

१ महाराजा और महारानी सम्बन्धी कथाएँ
२ महाराजकुमार और महाराजकुमारी सम्बन्धी कथाएँ
३ उच्चवर्णीय मानव सम्बन्धी कथाएँ

१ ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन, पृष्ठ ४१६
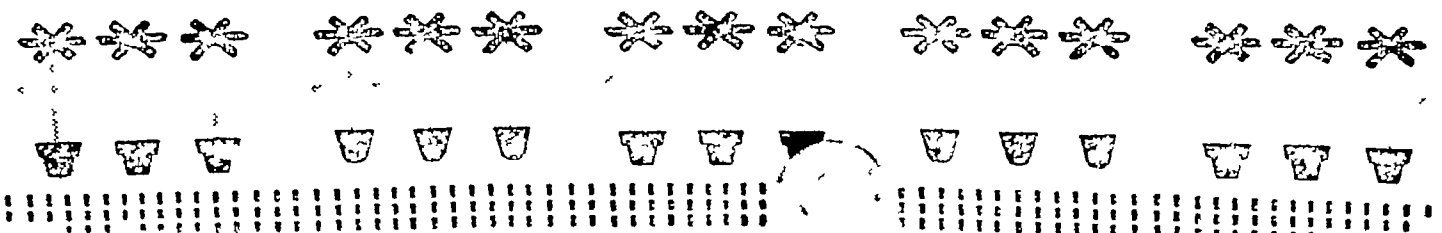
तत्काल की विशेषता कही जाय तो अनुचित न होगा नरपति तथा धनिक वर्ग अनेक पत्नियों का पति बन कर अपनी कामवासना की पूर्ति करता था हरिषेणवर्मा ने एक हजार कुमारियों को अपनी पत्नियों के रूप में रखा था [देखिए जयकुमार-सुलोचना की कथा] तत्कालीन नरेश अपनी प्रजा का पूर्ण रूपेण संरक्षण करते थे और निष्पक्ष न्याय के कारण बड़े लोक प्रिय थे सामाजिक जीवन सुखी और समृद्ध था तथा सांसारिक सुखों का भोग मानव-समाज सुरुचि से करता रहता था समय आने पर मुक्तकरों से दान भी देता था परोपकार-निरतता उस काल की विशेष देन थी सुन्दर वेश भूषा एवं सुगंधित पदार्थों का बाहुल्य धन संपन्न का प्रतीक था

विविध मान्यविश्वासों के साथ-साथ स्वप्नों के प्रति मानवों की प्राचीन काल में विशेष आस्था थी वे इन स्वप्नों के द्वारा शुभाशुभ का परिज्ञान कर लिया करते थे [देखिए नन्दिमित्र की कथा राजा चन्द्रगुप्त के १६ स्वप्न] पुरातन कथा-साहित्य के अध्ययन से प्रकट होता है कि जीवन सहचरी के चुनाव में जातिगत बन्धन नगण्य थे युवक अपनी इच्छानुसार युवती को चुन लेता था देखिए अवदान्ध महापुरुषों और बकरे की कथा-वसन्ततिलका और चारुदत्त की प्रणय-कथा] इन कथाओं के अनुशीलन से भी ज्ञात होता है कि जैनधर्म के पालनार्थ किसी जातिविशेष की परिधि निहित नहीं थी ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य के अतिरिक्त शूद्र और अन्त्यज भी जैन धर्म की आराधना से वंचित नहीं किये जाते थे [देखिए भील भीलिनी की कथा एवं माली की लड़कियों की कथा] पशु भी जैन धर्म के श्रद्धान से परमसुख को प्राप्त हो सकते हैं [देखिए सुग्रीव बैल की कथा एवं बन्दर की कथा][1]

इस प्रकार ये कथाएँ प्राचीन जैन संस्कृति का एक सुहावना बहुरंगी चित्र उपस्थित करती हैं

---

1 [illegible]
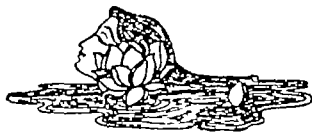
उनके विचार से यह अधिक सभव है कि जिन योरोपीय कथाओं में यह साम्य मिलता है उनमें से अधिकांश भारतीय कथा साहित्य [विशेषत जैन कथा साहित्य] के आश्रित हो प्रोफेसर मैक्समूलर वेन्फे तथा राइस डेविड्स ने अपने ग्रंथो मे इस बात के काफी प्रमाण दिये है कि भारतीय बौद्ध कथाएँ लोक कंठो के माध्यम से पश्चिम मे पहुँच गई

प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि जैन कहानिया इतने दूर-दूर के प्रदेशो मे कैसे पहुँची, जब कि जैनधर्म का विस्तार भारत तक ही सीमित है ? इसके उत्तर मे हम यही कहेगे [और यह सच है] कि ये कहानिया जैनो द्वारा नही, बल्कि बौद्धो द्वारा सुदूर प्रदेशो मे ले जाई गई है क्योंकि जैन और बौद्ध, दोनो ने ही ज्ञानोन्नति एव प्रचार के उद्देश्य से पूर्वीय भारत की लोक-कथाओ का समुचित उपयोग किया है[1]

अनेक जैन कथाएँ ऐसी है जो कुछ अन्तर [परिवर्धन एव परिवर्तन] के साथ वेदो और पुराणो मे भी प्राप्त होती है आचार्यों ने अपने अपने मतो की पुष्टि अथवा समर्थन के लिए यदि कथाओ मे कुछ परिवर्तन कर दिया हो तो आश्चर्य की बात नही है एक साधारण कथा जब धर्मविशेष की परिधि मे पहुँच जाती है तब वह उस धर्म की भावना से प्रभावित होकर ही बाहर निकलती है भगवान् राम तथा कृष्ण विषयक जैन कथाएँ भी उपलब्ध है, लेकिन उनमे और वैदिक कथाओ मे असाधारण अन्तर आ गया है ऐसी स्थिति मे यह कहना कठिन हो जाता है कि ये कथाएँ जैन साहित्य से अन्य धर्म मे पहुँची है अथवा जैन कथाकारो ने इन्हे अन्यत्र से उपलब्ध किया है

विदेशो की लोक-कथाओ के अनुशीलन से ज्ञात होगा कि अनेको जैन-कथाओ ने सागरो को पार करके वहा की मान्यताओ की वेश-भूषा से अपने को अलकृत कर लिया है, लेकिन उनका मूलभूत स्वरूप प्रकट हो कर ही रहता है

कथाओं मे तात्कालिक समाज का चित्रण

यद्यपि इन कथाओ का लक्ष्य सामाजिक अथवा राजनीतिक वातावरण को अकित करना नही है, फिर भी इनमे ऐसे अनेक विवरण सम्मिलित है जिनके माध्यम से पाठक तत्कालीन सामाजिक स्थिति का सहज ही अध्ययन कर लेता है मानव की स्वाभाविक वृत्तियो का न कभी नाश हुआ है और न होगा

वह सौन्दर्य-प्रेमी होता है और इसीलिए मनमोहक सुन्दरता की ओर स्वत आकर्षित हो जाता है अनेक कथाओ मे प्रदर्शित किया गया है कि अमुक राजा या वनिक या सम्पन्न व्यक्ति अमुक किसी सुन्दर स्त्री पर मोहित हो गया और उसकी प्राप्ति के लिए अनेक उपाय भी करने लगा, लेकिन देवी देवताओ ने सती की पुकार सुनी और वह नराधम अपने कुकर्म के लिए दण्डित किया गया[2] उस समय यातायात के साधन सीमित थे और व्यापारी बैलो, घोडो ऊँटो तथा जहाजो के द्वारा ही अपने व्यवसाय को समुन्नत बनाते थे लेकिन सरक्षण का पूर्ण प्रबन्ध न होने से वनो, पहाडो तथा निर्जन स्थानो मे वे धनिक व्यापारी अक्सर चोरो और डाकुओ द्वारा लूट लिए जाते थे अपराधो की वृद्धि को रोकने के लिए तत्कालीन शासक बडा कठोर दण्ड देते थे चोरी के लिए प्राचीन काल मे शूली की सजा दी जाती थी

कन्याएँ विविध कलाओ का अध्ययन करके अपनी इच्छानुसार अपने जीवन- साथी का चुनाव करने मे स्वतन्त्र थी वे कठिन परीक्षाओ मे सफल युवको को ही अपना पति बनाना चाहती थी [देखिए जयकुमार-सुलोचना आदि की कथा] समृद्धि और विलासिता के झूलो मे झूलते हुए भी मानवो का मानस एक साधारण घटना से प्रभावित हो जाता था और वे ससार का परित्याग करके आत्मोद्धार मे सलग्न हो जाते थे जलधर को अनन्त आकाश मे विलीन होते देखकर अथवा एक श्वेत केश के दर्शन मात्र से इन्सान का मन विरक्त हो जाया करता था बहुपत्नी-प्रथा का प्रचलन उस पुरा-

१ जैन लोक-कथा-साहित्य—श्रीमती मोहिनी शर्मा

२ श्रीपाल को सागर विषै जब सेठ गिराया,
उसकी रमा से रमने को आया वो बेहया
उस वक्त के सकट में सती तुमको जो ध्याया,
दुखद्वंद फन्द मेटके आनन्द बढ़ाया —सकटमोचन विनती
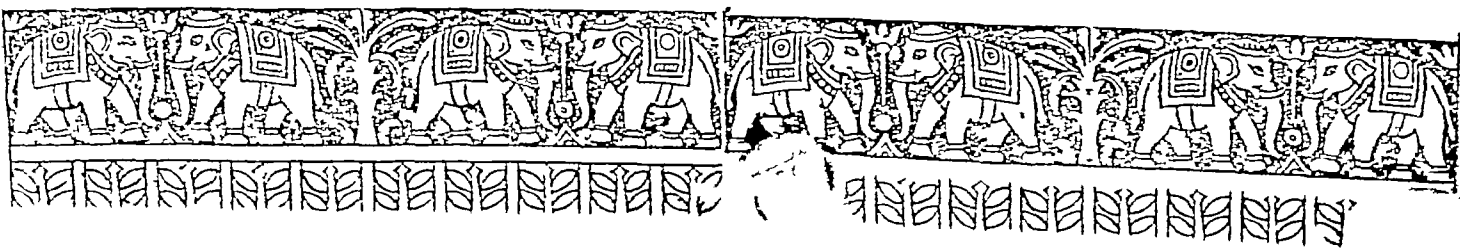
श्रमणसंघाचार्य श्रीआनन्दऋषिजी महाराज

सरल हृदय सन्त

स्वयं सन्मार्ग पर चलने और समाज को सत्पथ का बोध कराने के लिये सन्त-संस्था की उपयोगिता मानी गई है. ज्ञान दर्शन चारित्र्य की त्रिपथगा मानवमेदिनी में प्रवाहित कर सन्त जनसमुदाय में आध्यात्मिक अवगाहन की सुन्दर सुविधा प्रस्तुत करते हैं सन्तों की इस शीतल निर्मलसलिला-सुरसरिता के अमृतोपम पय-पान से—भव्य प्राणी अपनी परमार्थ पिपासा को शान्त करते हैं और इसीमें निमज्जनोन्मज्जन कर कषायकलुष का प्रक्षालन करके सत्य तथ्य और पथ्य की पुनीत प्रेरणा प्रदान करते हैं—जो उनके जीवन को प्रशस्त बनाने में सहायक सिद्ध होती है

अतएव समाज की सुव्यवस्था के लिये आदर्श संघ की स्थापना करते समय वीतराग तीर्थंकर महावीर ने अपने साधु—साध्वी श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध तीर्थ में संयमी वर्ग को मूर्धन्य स्थान देकर उसे आत्मकल्याण की साधना के दृढ़ संकल्प के साथ-साथ समाज में आत्मजागृति प्रस्तुत करने का उत्तरदायित्व भी सुपुर्द किया

श्रद्धेय स्वर्गीय श्रीहजारीमलजी महाराज आत्मसाधना के पवित्र पथ पर स्वयं चलते हुए सम्पर्क में आनेवाले जिज्ञासु जनों को भी सत्पथ की शिक्षा प्रदान करते थे आपका स्वभाव बहुत ही सरल था क्षमा मृदुता आदि साधुगुण आपके अन्दर विशेष रूपसे विद्यमान थे इन विशेषताओं के कारण मरुधरा (राजस्थान) के सुयोग्य सन्त के रूप में आप प्रख्यात हुए सम्मेलन के कार्य से राजस्थान में विचरते समय आपके दर्शन का शुभ अवसर प्राप्त हुआ था प्रत्यक्ष मिलन से आपके विशिष्ट स्वभाव का परिचय प्राप्त कर अन्तःकरण में प्रमोदभावना जागृत हुई

आप अपने शिष्यसमुदाय एवं संघाड़ा में रहे हुए सन्तों के साथ बहुत ही कृपापूर्ण मधुर व्यवहार रखते थे आपकी छाप आपके सुयोग्य शिष्य श्रीमधुकर जी पर अच्छी दिखाई दे रही है आप उच्चकोटि के विद्याभिलाषी संयमनिष्ठ महान् गुणी सन्त हैं आप गर्व से बहुत ही दूर रहते हैं

पृथक्-पृथक् सम्प्रदायों के कारण साम्प्रदायिकता के दाप समाज में कलह मतभेद आदि व्याप्त होते देख जब चतुर्विध संघ के नेताओं ने अपनी आवाज बुलन्द की तब जिन मुनिवरों ने अपने साम्प्रदायिक मोह का त्याग कर संगठनतत्त्व को प्रोत्साहन देने का निश्चय किया उनमें श्रद्धेय श्रीहजारीमल जी महाराज एक निष्ठावान् सन्त थे आपने अपनी संप्रदाय-परम्परा को श्रमणसंघ में विलीन कर सांप्रदायिक प्रवर्तक पदवी का परित्याग कर दिया था जो निष्ठा आपने संगठन के प्रति व्यक्त की उसका परिपालन जीवन-पर्यन्त किया

आपके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर श्रमणसंघ ने आपको संघ का प्रान्तीय मंत्री पद प्रदान किया इस उत्तरदायित्व का परिवहन भी आपने कुशलतापूर्वक किया

आज आप अपने पार्थिव देह में विराजमान नहीं रहे तथापि आपका यश शरीर आज भी समाज की अन्तर्दृष्टि का विषय बना हुआ है उस सन्त-जीवन की पुनीत पुष्पवाटिका से आज समाज सौरभान्वित हो रहा है

श्रमण के जिन आदर्श गुणों द्वारा आपने अपनी आत्मा को उत्कृष्ट बनाया श्रमणगण स्वामीजी के इन गुणरत्नों की समाराधना से अपनी आत्मा को मधुर बनाने की प्रेरणा प्राप्त करें इसी भावना के साथ उस परम श्रद्धेय महान् सन्त को मैं अपनी श्रद्धांजलि समर्पित करता हूँ
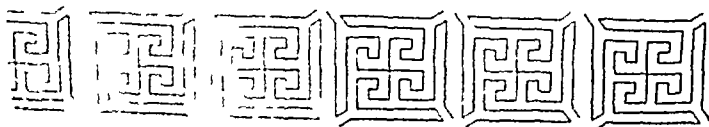
श्रीशान्तिलाल भारद्वाज 'राकेश'

मेवाड़ में रचित जैन साहित्य

धर्म-दर्शन और साहित्य

लोक-कल्याण और साहित्य—लोक-कल्याण जहा साहित्य की सार्थकता का एक विशिष्ट मानदण्ड है वहा जैन-साहित्य महती प्रतिष्ठा का अधिकारी है जैन-धर्म दया, सत्य, अहिंसा और त्याग जैसी धर्म की शाश्वत मान्यताओ का जितना प्रतिष्ठापक रहा है, लोकजीवन मे स्वस्थ सामाजिक व्यवस्था का भी वह उतना ही महान् मार्गदर्शक रहा जैन सन्तो ने, जो सामाजिक जीवन मे घुलकर भी असपृक्त रहे, एक ओर धर्म को तथा दूसरी ओर साहित्य को जो अपनी देन दी है, भारतीय चेतना को, इतिहास को, उसका ऋणी रहना पडेगा

धर्म और काव्य—धर्म, दर्शन, काव्य या साहित्य, समाज, तर्क और मनोविज्ञान—देखा जाय तो मानव की विचार-चेतना के यह विभिन्न पृष्ठ एक दूसरे से इतने असम्बद्ध नही है जितने दिखाई देते है धर्म का जिस क्षण जन्म है—काव्य का जन्म भी उसी क्षण है धर्म का अर्थ जब चोचलेबाजी बन गया तब कथित धार्मिकता ने भी काव्य को विकृत किया लेकिन निष्कर्ष फिर भी यह नही निकल सकता कि धर्म और काव्य मे कोई सामञ्जस्य नही

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी 'काव्य पर धार्मिक प्रभाव' के सम्बन्ध मे इन भयकर परिणामो की चेतावनी दी थी कि धम को काव्य से बहिष्कृत करने का अर्थ हिन्दी के लिए तुलसी और सूर जैसे कवियो के उत्तराधिकार से वचित रह जाना होगा और यह सत्य भी है कि हमारा काव्य और हमारा धर्म दोनो का प्रवाह हमे एक ही उद्गम से प्रकट दिखाई देता है

एक—धर्म की व्यवस्था होती है दूसरा—धार्मिक प्रभाव का काव्य होता है इनमे भेद होता है, अन्यथा भेद होना चाहिये काव्य के क्षेत्र मे धर्म को भी मर्यादित होना पडता है क्योकि काव्य के लिए रसज्ञता का निर्वाह प्रतिक्षण आवश्यक है हाँ—जहाँ धर्म काव्य को अपना आवरण ही मानकर चले वहाँ थोथी उपदेशात्मकता काव्य-धर्म-श्रोता या पाठक—सभी के लिए भारी पडती है काव्यसृजन भी सफल तभी होता है जब वह सृष्टा का धर्म बन जाय

समर्थ परम्परा—जैन-साहित्य एक लम्बी और समर्थ परम्परा का इतिहास सभालते हुए भी साहित्यालोचको के एक विशिष्ट वर्ग की उपेक्षा का पात्र रहा है इसके कई कारण समझ मे आते है

उपेक्षा के कारण—एक तो जैन सन्तो का, भाषा की रूढ मर्यादाओ मे बधे रहकर, जनभाषा के परिवर्तित स्वरूपो को अगीकार करते चले जाना वैष्णव धर्म की परम्परा मे सस्कृत-ग्रथ और जैन-धर्म की परम्परा मे प्राकृत और अपभ्रश—फिर वह युग भी धर्माधीशो के शास्त्रार्थ का—इसलिए सम्भव यह लगता है कि राज्याश्रय भोगने वाले पण्डित चाहे चौरासी आसनो की ही कसरत मे लगे रहे हो, लेकिन उन्होने इतर भाषाओ मे रचित जैन साहित्य को प्रतिष्ठा नही दी होगी दूसरा कारण यह भी कि धीरे-धीरे जैनधर्म भी अपने सकोच-धर्म का पालन करने लगा था
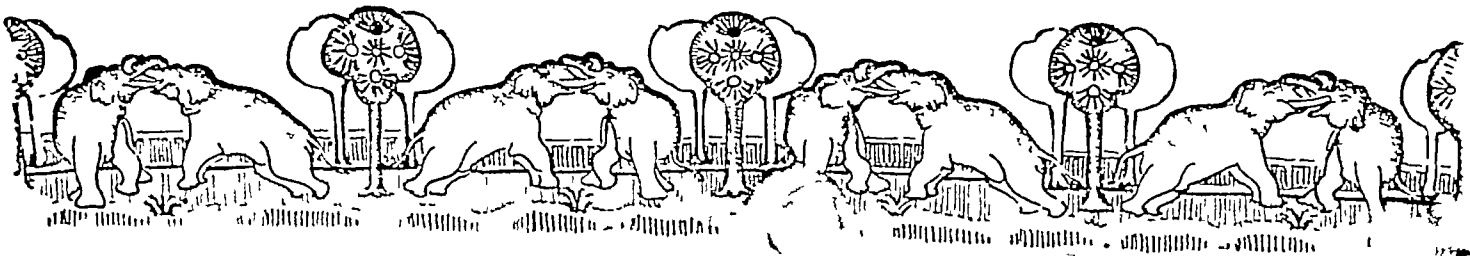
स्थिति ऐसी भी आई कि जैन मंदिर-साहित्य-जैनाचार्य और श्रावक बस इसी दुनिया में यह धार्मिक आन्दोलन चलता रहा और धीरे धीरे जन जीवन से हटकर जैन-साहित्य एक दिन अनुसन्धान की वस्तु बन गया

जनता का साहित्य—किस धर्म के सन्तों की परम्परा साहित्य-सृजन से इतनी बंधी रही है ? परलोक होता हो चाहे न होता हो इहलोक के कल्याण के लिए भी वे निरन्तर साहित्य का अमृत पिलाते रहे और विष के आकर्षण में न फंसने की सदैव चेतावनी देते रहे

भाषा के माध्यम का यह प्रगतिशील दृष्टिकोण धार्मिक सिद्धान्तों की प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से भी साधक रहा उसने युग यथार्थ के इतिहास के साथ भी न्याय किया और सिद्धान्तरूप मे उसने स्वयं अपने भीतर विकास की भी प्रबल सम्भावना छोड़ी इसीलिए आज का एक दिन ऐसा भी आया जहाँ जैन साहित्य अपना सर्वस्व स्थापित कर चुका है

जायसी और स्वयंभू—आज हिन्दी साहित्य की परम्परा का इतिहास खोजने जाते है तो प्राकृत अपभ्रंश के युगों में जैन साहित्य का गौरव ही हमारा हाथ थामता है और तब यह प्रश्न उठता है कि सूफी जायसी जब हमारे लिए पठनीय हो सकता है तो जन स्वयम्भू हमारे लिए पठनीय क्यों नही हो सकता ?

धार्मिक प्रतिस्पर्धा की कई दिनाग्नि बुझती जा रही है और जैन-साहित्य के विशद अनुसंधान की प्रवृत्ति आज तो एक आन्दोलन का रूप ले चुकी है.

अध्यात्मलक्षी दर्शन—भारतीय दर्शन अध्यात्मलक्षी है इसमें पश्चिम के दर्शन की भाँति बुद्धि को प्रधानता नही दी गई है. यहाँ आत्मतत्त्व की शुद्धि प्रधान है और भारतीय दर्शन का यही मूल संस्कार भारतीय धर्म और समाज की व्यवस्थाओं को प्रतिक्षण प्रभावित करता रहा है

श्रद्धा ज्ञान और क्रिया को जैनशास्त्रों में सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र के नाम से जाना गया है लेकिन साधना के सोपान अगर पूरे नही तो असमग्र समान है आस्था-विवेक और सक्रियता—इन्हें अपना लेने से जीवन का प्रशस्त पथ खुलता है और जैन साहित्य भी सिद्धि के इन विविध सूत्रों को जोड़ पाने का सदैव प्रयत्न करता रहा है

जैन दर्शन कहता है कि आत्मा और सच्चिदानन्द सत्य है इसमें अशुद्धि विकार, दुःखरूपता अज्ञान और मोह के कारण होती है जैनदर्शन एक ओर विवेकशक्ति को विकसित करने की बात कहता है तो दूसरी ओर वह रागद्वेष के संस्कारों को नष्ट करने को कहता है वहाँ अविवेक और मोह ही संसार है या उसके कारण है [1]

जैन-साहित्य लोकजीवन को उन्नत और चारित्र्यशील बनाने वाली नैतिक-शिक्षा का वाङ्मय है कहने को वह एक विशिष्ट धर्म है लेकिन किसी भी धर्म या देश के लोग उसका पालन कर सकते है अर्थात् उसकी कई मूल मान्यताएँ ऐसी हैं जो सभी के लिए आवश्यक है और रहेंगी

जैन-साहित्य विशाल है प्राकृत-संस्कृत और देशभाषा-साहित्य के नामकरण की तिथि से लेकर आज तक की गत सभी शताब्दियों में प्रतिष्ठित और सारमान्य भाषाओं में साहित्य रचना का श्रेय जैन साहित्यकारों को है तमिल तेलुगू कन्नड़ हिन्दी मराठी गुजराती बंगला और राजस्थानी—विभिन्न भारतीय भाषाओं में जैन साहित्य रचा गया है

जैन-साहित्य के विकास-पथ में अनेक सन्त साहित्यकारों और आचार्यों का योग मिला है

'पउमचरिउ' के रचयिता श्री विमलसूरि हरिवंश-पुराण के आचार्य जिनसेन 'पार्श्वचरित' के देवप्रभसूरि 'त्रिषष्टि-शलाका पुरुष चरित' के आचार्य हेमचन्द्र 'जम्बूस्वामिचरित' के महाकवि वीर 'रंभामंजरी' के नयचन्द्र 'भविसयत्त कहा' के धनपाल अपभ्रंश के वाल्मीकि महाकवि स्वयंभू 'धूर्ताख्यान' के श्री हरिभद्रसूरि 'बृहत्कथाकोश' के श्री हरिषेण जैसे अनेक विराट् रचनाकारों की सृष्टि का यह विशाल वाङ्मय अपने सुदृढ़ अस्तित्व का स्वतः प्रमाणित कर रहा है

---

1. जैन दार्शनिक साहित्य का सिंहावलोकन श्री दलसुख मालवणिया.

सिद्धसेन दिवाकर तथा अन्य—आचार्य सिद्धसेन दिवाकर जैन परम्परा मे तर्क-विद्या के प्रणेता और जैन परम्परा के प्रथम सस्कृत कवि के रूप मे सम्मानित हैं नयचन्द्र के सम्बन्ध मे स्वयभू ने कहा है कि उसके काव्य मे अमरचन्द्र का लालित्य और श्रीहर्ष की वक्रिमा—दोनो गुण हैं महापण्डित राहुल साकृत्यायन ने सस्कृत के भाष्यकारो मे श्री प्रभाकर गुप्त को महती प्रतिष्ठा दी है और दर्शन-व्याकरण और काव्य के आचार्य हेमचन्द्र का 'त्रिशष्ठिशलाकापुरुप चरित्र' विश्व-साहित्य का वेजोड काव्य माना गया है [१]

हरिभद्रसूरि के प्राकृत ग्रथ 'धूर्ताख्यान' के सम्बन्ध मे यह मान्यता प्रकट की गई है कि यह ग्रन्थ समुच्चय भारतीय साहित्य मे अपने ढग की मौलिक ग्रथपद्धति का एक उत्तम उदाहरण है [२]

अपभ्रंश का गौरव—हिन्दी की जननी अपभ्र श भाषा के साहित्य मे तो सर्वत्र जैन सन्तो का ही साहित्य मिलता है स्वयभू, धनपाल, जोइन्दु, मुनि कनकामर शालिभद्र, विजयचन्द्रसूरि, हरिभद्र सूरि, जिनदत्त सूरि, वर्द्धमान सूरि, शालिभद्र सूरि, देवसूरि, विनयचन्द्रसूरि, उद्योतनसूरि, सोमप्रभसूरि, जिनप्रभसूरि और रत्नप्रभसूरि' जैसे अनेक रचनाकारो ने अपभ्रश भाषा को श्रेष्ठ साहित्य दिया है जैन रचित अपभ्र श साहित्य के विभिन्न स्वरूपो मे हमे हिन्दी और उसकी सहायक भाषाओ तथा अन्य कई भारतीय भाषाओ के जन्म और विकास की कहानी मिलती है हिन्दी आज अपभ्र श की जितनी ऋणी है—जैन साहित्यकारो की भी उतनी ही ऋणी है

साहित्य की लगभग सभी समकालीन विद्याओ मे जैन-साहित्य की रचना हुई हैं वहाँ यशश्चन्द्र, वारिचन्द्र, मेघप्रभाचार्य रामचन्द्र, देवविजय, यशपाल, विजयपाल और हस्तिमल जैसे नाटककार, पादलिप्त, हरिभद्र, उद्योतनसूरि, जिनेश्वर, देवभद्र, राजशेखर और हेमहस जैसे कथाकार, चन्द्रप्रभसूरि, हेमतु ग, राजशेखर और जिनप्रभसूरि जैसे निवन्धकार एव इतिहासकार, ओडयदेव जैसे गद्यकाव्यकार, सोमदेव, हरिश्चन्द्र, अर्हद्दास जैसे चम्पूकार और वीर नन्दि, वादिराज, धनञ्जय, वाग्भट्ट, अभयदेव, और मुनिचन्द्र जैसे महाकाव्यकार बडी सख्या मे एक साथ मिलते है जिन्होने स्तर और परिमाण—दोनो दृष्टियो से सफल रचनाकारो मे अपना स्थान बनाया है

जैन-साहित्य के आकर्षण अनेक हैं लेकिन प्रस्तुत निवन्ध की मर्यादा मे उनकी विस्तृत चर्चा न अपेक्षित है और न समीचीन ही, इसलिए उचित यही होगा कि 'मेवाड मे रचित जैन साहित्य' का यथा उपलब्ध विवरण प्रस्तुत किया जाय

जैनाचार्य और मेवाड़

जैनाचार्य सिद्धसेन दिवाकर पहले आचार्य थे जिन्होने चित्तौड मे प्रवेश किया [३] जैन-ग्रन्थो के अनुसार वे यशस्वी भारत-सम्राट् विक्रमादित्य के प्रतिबोधक, प्रगाढ पण्डित और महान् दार्शनिक थे

आचार्य हरिभद्र और चैत्यवासी परम्परा—आठवी या नवी शताब्दी के विद्वान आचार्य हरिभद्रसूरि का राजस्थान से, विशेषकर चित्तौड से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है. जैन सतो मे यह एक ऐसे आचार्य थे जिन्होने धर्म को मार्ग भटक जाने से बचाया जैन सन्तो मे उन दिनो चैत्यवासियो का वडा प्रभाव था वे चैत्यो या मठो मे रहते थे और धीरे-धीरे अनेक आसक्तियो से बध गये थे मठो मे रहना, देवद्रव्य का उपयोग, रग-विरगे वस्त्र, स्त्रियो के आगे गाना, दो तीन बार भोजन, ताम्बूल व लवग का सेवन तथा ज्यौनारो मे शिष्ट आहार—उनमे मठाधीशो की विकृतियाँ पनपने लगी थी, वे मुहूर्त निकालते थे निमित्त बतलाते थे, शृगार करते थे, इत्र लगाते थे, क्रय-विक्रय करते थे और चेले बनाने के लिये बच्चो तक को खरीदते थे [४]

---

१ जैन साहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
२ कथाकोष प्रकरण की भूमिका—मुनि जिनविजय (सिन्धी जैन ग्रन्थमाला—ग्रन्थाक ११)
३ जैन साहित्य और चित्तौड—अगरचन्द नाहटा
४ जैन साहित्य और इतिहास—नाथूराम प्रेमी
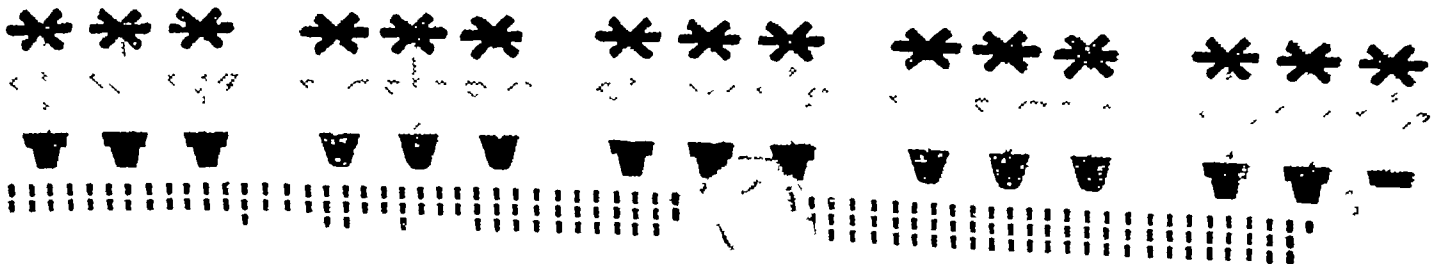
आचार्य हरिभद्र ने इन्हें भ्रष्ट और सत्यपथ का विरोधी घोषित किया और जैनधर्म को नई दिशा देने के इस आन्दोलन को लम्बे समय तक चलाया

प्रभाचन्द्रसूरि रचित प्रभावक चरित्र के अनुसार वे मेवाड़ के तत्कालीन शासक जितारि के पुरोहित थे वे जैनागमों में सबसे पहले संस्कृत टीकाकार और जैनेतर ग्रन्थों के भी सर्वप्रथम टीकाकार माने गये हैं

ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न श्री हरिभद्र सूरि ने चित्तौड़ में ही जन्म लिया और चित्तौड़ ही इनका प्रधान कार्यक्षेत्र रहा प्राप्त जानकारी के अनुसार इन्होंने १४४४ ग्रंथ बनाये जिनमें से लगभग ८ ग्रंथ प्राप्त है.

हरिभद्र का साहित्य—आचार्य हरिभद्र रचित ग्रन्थों का परिचय इस प्रकार है—

१ शास्त्रवार्त्तासमुच्चय
२ योगदृष्टिसमुच्चय
३ षड्दर्शन समुच्चय
४ योगशतक
५ योगबिन्दु
६ धर्मबिन्दु
७ अनेकान्तजयपताका
८ अनेकान्तवादप्रकाश
९ वेदबाह्यता निराकरण
१ सबोधप्रकरण
११ सबोधसप्ततिका
१२ उपदेशपद प्रकरण
१३ विंशतिका प्रकरण
१४ आवश्यक सूत्र बृहद्वृत्ति
१५ अनुयोगद्वार सूत्रवृत्ति
१६ दिग्नागकृत न्यायप्रवेश सूत्र वृत्ति
१७ नन्दीसूत्र लघुवृत्ति
१८ दशवकालिकवृत्ति
१९ प्रज्ञापना सूत्र प्रदेश व्याख्या
२ जम्बूद्वीप सग्रहिणी
२१ पचवस्तुप्रकरण टीका
२२ पचसूत्र प्रकरण टीका
२३ श्रावकधर्म विधि पचाशक
२४ दीक्षाविधि पचाशक
२५ ज्ञानपचक विवरण
२६ लग्नकुण्डलिका
२७ लोकतत्त्वनिर्णय
२८ अष्टक प्रकरण
२९ ध्यान सप्ततिका
३ श्रावकप्रज्ञप्ति
३१ ज्ञान चित्रिका
३२ धर्मसग्रहणी
३३ पाडषक
३४ ललितविस्तरा
३५ कथाकोष
३६ समराइच्च कहा
३७ यशोधर चरित्र
३८ वीरांगद कथा
३९ धूर्ताख्यान
४ मुनिपतिचरित्र आदि

हरिभद्रसूरि विरचित ग्रन्थों की संख्या प्रतिक्रमण अर्थदीपिका के आधार पर १४४४ 'चतुर्दशशत प्रकरण प्रोत्तग प्रासाद सूत्रणसूत्रधारै' इत्यादि पाठ के अनुसार १४ तथा राजशेखर सूरिकृत चतुर्विंशति प्रबन्ध के आधार पर १४४ मानी जाती है मुनि जिनविजयजी के कथनानुसार उनके उपलब्ध ग्रंथ २८ है जिनमें स २ ग्रंथ छप चुके हैं

सत्य के अन्वेषी—हरिभद्रसूरि के साहित्य में उनकी उदार धर्मभावना का परिचय मिलता है वे व्यवस्था या मान्यता के परम्परागत रूप को पहले अपने विवेक की कसौटी पर कसते थे जो चला आ रहा है वही सत्य है यह मान्यता आचार्य हरिभद्र की नहीं थी

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद् वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥

'मुझे भगवान् महावीर के प्रति कोई पक्षपात नहीं एव कपिल आदि महर्षियों के प्रति कोई द्वेष भी नहीं परन्तु जिनका

वचन युक्तियुक्त होता है वही ग्रहण करने योग्य है'[1]

आचार्य हरिभद्र की इन प्रगतिशील मान्यताओ ने जैनधर्म के आन्दोलन का बडा हित किया और यह सिद्ध है कि उन स्वय ने विपुल साहित्य की रचना की

उनका स्वर्गवास वि० स० ५८५ मे लिखा पाया गया है लेकिन मुनि जिनविजय जी ने उनका समय वि० स० ५५७ से ८२७ का माना है और डा० हर्मन याकोबी ने भी इसी मत का समर्थन किया है

'समराइच्च कहा' हरिभद्र की अमर कृति है 'धूर्ताख्यान' को भारतीय साहित्य मे अपने ढग की मौलिक ग्रथ पद्धति का एक उत्तम उदाहरण माना गया है

जिनवल्लभसूरि—बारहवी शताब्दी मे आचार्य जिनवल्लभसूरि ने चित्तौड मे कई वर्ष रहकर विधिमार्ग का प्रचार किया उनके विधिमार्ग ने चैत्यवासियो को बडी शक्तिशाली चुनौती दी वे छन्द, काव्य, दर्शन और ज्योतिष के विद्वान थे कवि, साहित्यकार और ग्रन्थकार के रूप मे उनकी बडी प्रतिष्ठा है चित्तौड ही जिनवल्लभसूरि के प्रभाव का उद्गम और केन्द्रस्थान बना

सघपट्टक और धर्मशिक्षा—इन दो रचनाओ को श्री जिनवल्लभसूरि ने स्वप्रतिष्ठित महावीर स्वामी के मदिर (चित्तौड) मे स० ११६४ मे शिलालेखो मे अकित करवाया

जिनवल्लभसूरि स० ११६६ मे आचार्य पद को प्राप्त हुये

चित्तौड का गौरव—इतिहास और पुरातत्त्व की दृष्टि से चित्तौड तथा उसके समीपवर्ती क्षेत्र (माध्यमिका) का बडा महत्त्व है पातञ्जलि-कालीन भारत (डा० प्रभुदयाल अग्निहोत्री) मे जिस माध्यमिका नगरी का उल्लेख मिलता है वह चित्तौड के समीप थी ई० पू० द्वितीय शताब्दी मे मिनाण्डर ने साकेत और माध्यमिका पर आक्रमण किया था डा० भण्डारकर के मतानुसार पुष्यमित्र ने साकेत और माध्यमिका की विजय के बाद ही पहला अश्वमेध यज्ञ किया चन्द्रभाषा और सिन्ध के मध्यवर्ती देश का नाम शैव देश था जिसकी राजधानी शिवपुर या शिविपुर थी शिवियो मे कुछ लोग अपना प्रदेश छोडकर उत्तर पजाब और राजपूताना मे चले आये एक दूसरी शाखा राजपूताना मे चित्तौड के पास जा बसी यहा इनकी राजधानी चेतपुर थी, यह स्थान चित्तौड से ११ मील उत्तर मे है और यही पातजलि की माध्यमिका है

माध्यमिका—माध्यमिका को नगरी नाम से भी जाना जाता है यह नगरी वही है जिसका उल्लेख 'अरुणदयवनोमाध्यमिकाम्' इत्यादि के रूप मे पातञ्जलि के महाभाष्य मे मिलता है यह शिवि जनपद की राजधानी थी इसी माध्यमिका के नाम पर जैन श्वेताम्बर सप्रदाय के एक मुनि-सघ की पुरातनकाल मे एक शाखा प्रसिद्ध हुई जिसका उल्लेख कल्पसूत्र की स्थविरावली मे 'मज्झिमा साहा (माध्यमिका शाखा) के रूप मे मिलता है इसी स्थान पर ऐतिहासिक महत्त्व के अनेक प्राचीन सिक्के मिले है किवदतियो के अनुसार इस नगरी के भग्नावशेषो की ईंटें महाभारत कालीन बताई जाती है

यह नगरी आज से २००० वर्ष से भी पूर्व के बौद्ध व जैनधर्म के प्रादुर्भाव का इतिहास अपने साथ जोडे हुये है शैव, शाक्त और वैष्णव के अतिरिक्त यह स्थान जैनियो और बौद्धो के धर्मप्रचार का भी प्रमुख केन्द्र रहा है
चित्तौड जैनाचार्यो के आचार्यत्व का दीक्षास्थल भी रहा है

जिनदत्तसूरि

आचार्य जिनवल्लभसूरि के उपरात उन्ही के पट्टधर श्री जिनदत्तसूरि का नाम प्रमुख रूप मे आता है इनका कार्यक्षेत्र

---

१ हरिभद्रसूरि—ईश्वरलाल जैन (जैन सत्यप्रकाश)
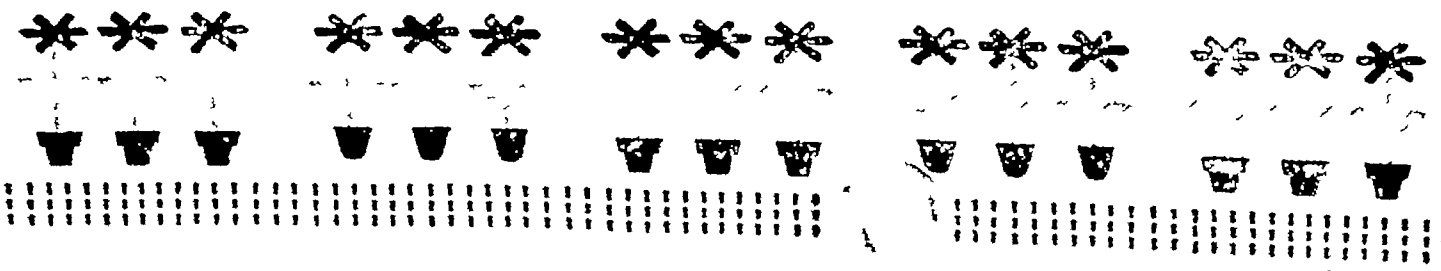
मेवाड़ मारवाड़ बागड़ सिन्ध दिल्ली और गुजरात रहा जिनदत्तसूरि व्याकरण कोष छन्द काव्य अलंकार, नाटक ज्योतिष कथक और दर्शन के प्रकाण्ड पण्डित और एक समर्थ साहित्यकार थे

प्राकृत संस्कृत और अपभ्रंश में इस विद्वान लेखक ने अनेक ग्रन्थों की रचना की

'गणधर सार्धशतक' उनका एक विख्यात ग्रन्थ है जिसमें प्रसिद्ध गणधरों की प्रशस्तियाँ हैं इस ग्रन्थ में १५ प्राकृत गाथाएँ हैं

श्री जिनदत्तसूरि की निम्न रचनाओं का उल्लेख मिलता है—

१ गणधर सार्धशतक (प्राकृत)
२ संदेह दोहावली
३ चैत्यवंदन कुलकम्
४ सुगुरुपारतन्त्र्यस्तव (प्राकृत)
५ उपदेश रसायनम् [अपभ्रंश]
६ चर्चरी [अपभ्रंश]
७ कालस्वरूप कुलकम् [अपभ्रंश]
८ सर्वाधिष्ठायि स्तोत्रं (प्राकृत)
९ विघ्नविनाशिस्तोत्र (प्राकृत)
१ विंशिका (संस्कृत)
११ उपदेशकुलकम्
१२ अवस्था कुलकम्
१३ श्रुतस्तव
१४ अध्यात्मगीतानि
१५ उत्सूत्र पदोद्घाटन[१]

कथित धर्मगुरुओं के विरुद्ध आन्दोलन करके उन्होंने नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा पर बल दिया वे विख्यात साहित्यसमालोचक मम्मट के समकालीन थे मम्मट काव्य में रस को प्रधानता देते हैं और जिनदत्तसूरि की रचनाओं में भी भावपक्ष प्रधान है उनका सृजन स्तुतिपरक भी रहा और औपदेशिक भी

सोमसुन्दरसूरि—तपागच्छ के प्रभावक और विद्वान आचार्य सोमसुन्दरसूरि का सम्बन्ध मेवाड़ के देलवाड़ा नामक स्थान से रहा है सन् १४५ से इन्हें उपाध्याय पद प्राप्त हुआ और उन्होंने तत्काल ही देवकुलपाटक (देलवाड़ा) में प्रवेश किया तब राणा लाखा के मंत्री रामदेव और चूण्डा ने प्रवेशोत्सव करवाया

आचार्य सोमसुन्दर ने देलवाड़ा में ही 'सतीकर स्तोत्र' की रचना की जिसका पाठ आज भी जैन समाज में प्रतिदिन किया जाता है इनके समय में देलवाड़ा में प्रचुर साहित्यसृजन और प्रतिलेखन हुआ

चित्रकूट (चित्तौड़) और देलवाड़ा के साथ-साथ मेवाड़ के आघाट [आयड़] करहेड़ा [करेड़ा] नागद्रह [नागदा] केशरिया जी कुम्भलगढ़ माण्डलगढ़ बिजौलिया जावर, उदयपुर कांकरोली आदि अनेक क्षेत्रों में भी विपुल जैन साहित्य की रचना हुई है

मेवाड़ का सृजन

१ शलाका सत्तरी—जैन आचार्य हेमतिलकसूरि रचित अपभ्रंश भाषा की इस रचना में सत्तर महापुरुषों के जीवन चरित्र है हेमतिलकसूरि को आचार्य पद सं १३८२ में प्राप्त हुआ

२ मातृकाक्षर चैत्य परिपाटी—फाल्गुन सु ९ सं १४७७ में आचार्य हेमहंस ने इस कृति की रचना की इसमें अकारादि क्रम से जैन तीर्थों की नामावली प्रस्तुत की गई है उक्त कृति की एक प्रति मुनि कान्तिसागर जी के संग्रह में देखने को मिली है जिसका लिपिकार भी लेखक स्वयं है

३ गुरुगुणषट्त्रिंशिका—श्री रत्नशेखरसूरि ने सं १४८५ में जैन गुरुओं पर यह अपभ्रंश का स्तुति काव्य लिखा मुनि कान्तिसागर जी के संग्रह में जो प्रति मिली उसके लिपिकार भी श्री रत्नशेखरसूरि ही हैं

---

१ गणधर सार्धशतक और उसकी बृहद् वृत्ति—मुनि कान्तिसागर

४ चित्रकूट प्रशस्ति—जिनसुन्दरसूरि के शिष्य श्री चारित्ररत्न गणि ने चित्तौड के महावीर-मदिर की यह प्रशस्ति स० १४६५ मे लिखी उक्त प्रशस्ति की स० १५०८ की प्रतिलिपित प्रति भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट पटना मे उपलब्ध है

५ ऐतिहासिक गुरु आवलिया—जैन मुनि हेमसार ने इसमे आचार्यो का चरित्र चित्रण किया है हेमसार स० १४६६ मे देलवाडा मे थे उक्त कवि की निम्न रचनाओ का भी उल्लेख मिलता है .

[अ] ज्ञान पचमी चौपाई

[ब] गुरु आवली

उल्लिखित पुस्तक की भी एक ही प्रति मुनि कातिसागर जी के सग्रह मे देखने को मिली है

६ वस्तुपाल चरित काव्य ७ रत्नशेखर कथा—उपरोक्त दोनो कृतियो की रचना आचार्य जयचन्द्रसूरि के शिष्य जिनहर्षगणि ने स० १४६७ मे चित्तौड मे की

८ ज्ञान प्रदीप—चित्तौड मे स० १४६७ मे विशालराज नामक मुनि ने इस ग्रन्थ की रचना सम्पन्न की

६ चित्रकूट-चैत्य-परिपाटी—विख्यात जैन गद्यकार श्री पाशुचन्द्रसूरि रचित 'चित्रकूट-चैत्य-परिपाटी' मे जैनमदिरो का सुन्दर वर्णन मिलता है

पाशुचन्द्रसूरि का जन्म स० १५३७, आचार्यपद स० १५६५ और स्वर्गारोहण स० १६१२ का रहा है इसलिये १६ वी और १७ वी शताब्दी के सधिकाल की मानी जानी चाहिए

१० विक्रम-खापर चरित्र चौपई—स० १५६३ मे राजशील नामक कवि ने चित्तौड मे उक्त कृति की रचना की यह एक लोककथाकाव्य है विक्रमादित्य और खापरिया चोर के प्रसिद्ध लोककथानक पर उक्त काव्य आधारित है

११ गोरावादल पद्मिनी चौपाई—प्रमुख जैनाचार्य श्री हेमरत्नसूरि ने वडी सादडी मे स० १६४५ मे उक्त कृति की रचना की हेमरत्नसूरि का समय स० १६१६ से स० १६७३ तक का माना गया है[1] यह पूर्णियागच्छ के वाचक पद्मराज के शिष्य थे

कृति मे जायसी के पद्मावत से मिलती-जुलती कथा है जिसमे इतिहास और कल्पना का सम्मिश्रण है प्रधान रस वीर है लेकिन गौण रुप मे शृगार भी समाविष्ट है

स्वामीधर्म की वडाई और पद्मिनी का शीलवर्णन उक्त काव्य की विशेषताएँ हैं

कवि के अनुसार यह 'लिखमी वर्णन' नामक केवल पहला ही खण्ड है तथापि कथा की दृष्टि से यह अपने आप मे पूर्ण काव्य प्रतीत होता है[2]

---

१ राजस्थानी भाषा और साहित्य—डा० हीरालाल महेश्वरी (पृ० २६६)

२ पद्मिनी की यह कथा काव्यरूप में सर्वप्रथम जायसी के पद्मावत में स० १५४० में आई इससे पूर्व भी लोककथा के रूप में यह कथा अत्यधिक प्रचलित रही है

जायसी के वाद फरिश्ता की 'तवारीख' में जायसी के कथानक से ही मिलती-जुलती कथा मिलती है नाहटा जी के सग्रह में भी 'गोराबादलकवित्त' नाम की कृति पाये जाने का उल्लेख मिलता है वि० स० १६४५ में हेमरत्नसूरि की उपरोक्त रचना मिलती है जो कथा की उसी परम्परा से सम्बद्ध है

इसके उपरात भी, स० १७६० में भागविजय नाम के एक जैन कवि ने इसी कथा का परिवर्धन किया स० १६८० में जटमल नाहर की 'गोरावादल चौपई' मिलती है स० १७०५-६ में लब्धोदय का 'पद्मिनी चरित' मिलता है जिसका उल्लेख इसी लेख में आगे किया गया है

आचार्य हेमरत्नसूरि की निम्न रचनाओं का भी उल्लेख मिलता है[1]

१ महीपाल चौपाई
२ अमरकुमार चौपाई
३ सीता चौपाई
४ लीलावती

१२ श्री पूज्य रत्नसिंह रास—देवगढ़ के पास स्थित तास नामक स्थान में पूजी कवि ने इस कृति की रचना की ग्रन्थ का रचनाकाल स १६४८ है

यह ४४ पदों की एक लघु कृति है जिसमें रत्नसिंह के व्यक्तित्व का चित्रण किया गया है आचार्य रत्नसिंह लोकागच्छ के एक प्रमुख आचार्य हुये हैं

१३ अञ्जना रास—आवरपुर[2] [जावर माइन्स] में उक्त रास की रचना स १६५२ में कवि नरेन्द्रकीर्ति ने की यह एक पौराणिक काव्य है जिसमे रामकथा के प्रमुख पात्र हनुमान की माता अञ्जना की कथा है

१४ शुकन चौपाई—इसका रचनाकाल स १६६० बताया गया है श्री जयविजय इसके रचनाकार हैं गिरिपुर [डूगरपुर] मे राजा सहस्रमल के राज्यकाल में शुकन चौपाई' की रचना हुई राजा सहस्रमल का राज्यकाल स १६१३ से १६६३ तक माना गया है[3]

इसी लेखक ने स० १६६८ में संग्रहणीसूत्र नामक भौगोलिक ग्रन्थ की प्रतिलिपि की

१५ वच्छराज हंसराज रास—कोटडा में कवि मानचन्द ने सं १६७५ में इस कृति की रचना की वच्छराज और हंसराज नामक दोनों भाई इस कृति की कथा के प्रमुख पात्र हैं यह मानचन्द या मानमुनि जैनाचार्य जिनराजसूरि के शिष्य थे

१६ शिवजी आचार्य रास—श्री धर्मसिंह ने स १६९७ मे उदयपुर में इस रास की रचना की यह एक ऐतिहासिक कृति है मूर्तिपूजा म विश्वास न रखने वाला भी एक पक्ष जैन समाज में है जिनके शिवजी नामक आचार्य हुये हैं मुनि धर्मसिंह ने इन्ही शिवजी आचार्य का वर्णन उक्त रास म किया है शिवजी आचार्य रास' का लोकागच्छ के ऐतिहासिक काव्यों में महत्त्वपूर्ण स्थान है

१७ जयकुमार आख्यान—सत्रहवी शताब्दी मे भट्टारक परम्परा[4] के नरेन्द्रकीर्ति के शिष्य कामराज ने 'जयकुमार आख्यान' की रचना की संस्कृत का यह ग्रन्थ डूगरपुर मे रचा गया कामराज की एक और रचना 'त्रिषष्ठि शलाका पुरुषचरित' का भी उल्लेख मिलता है

१८. सहस्रफणा पार्श्व जिन स्तवन—स १७ १ मे शाहपुरा में कवि विनयशील ने इस स्तवन की रचना की यह ४५ पदो का लघु स्तुतिकाव्य है

---

१ राजस्थानी भाषा और साहित्य—डा हीरालाल माहेश्वरी

२ भारत के प्रमुख दर्शनीय जावर को गत कई वर्षों पूर्व से काफी प्रसिद्धि प्राप्त है महाराणा लाखा के समय से ही यहाँ रांगा निकाला जाता रहा है जावर में जैन पुरातत्त्व की विपुल सामग्री पाई जाती है कई प्राचीन शिलालेखों और प्रतिमालेखों में जावर का उल्लेख मिलता है

३ डूंगरपुर राज्य का इतिहास—रायबहादुर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा

४ दिगम्बर सम्प्रदाय में मुनिपद के बाद भट्टारकों की प्रमुखता थी भट्टारकों की दो शाखायें मुख्य है (१) उत्तर भारतीय (२) पश्चिम भारतीय

पश्चिम भारतीय शाखा के पुरस्कर्ता भट्टारक सकलकीर्ति हुये है इस परम्परा ने वागड और गुजरात के सीमावर्ती प्रदेश में गद्दियाँ स्थापित की और भट्टारकों के प्रोत्साहन मे विपुल साहित्य की रचना हुई

१९ **सयोग बत्तीसी**—सुप्रसिद्ध जैनकवि मानमुनि ने उदयपुर मे 'सयोग बत्तीसी' की रचना की इस एक ही कृति को निम्न चार नामो से जाना जाता है ,

१ मानमजरी
२ सयोग द्वात्रिंशिका
३ सयोग बत्तीसी
४ मान बत्तीसी

यह मानकवि वही मानसिंह है जो 'बिहारी सतसई' के टीकाकार और राजविलास के रचयिता हैं

मानकवि नाम के एकाधिक कवि राजस्थान मे हुये है इसलिये कुछ विद्वान सतसई के टीकाकार और राजविलास के रचयिता को एक नही मानते मानकवि को अलकारशास्त्र का अच्छा ज्ञान था

सयोग बत्तीसी नायिका-भेद का एक श्रेष्ठ काव्य है मानमुनि विजयगच्छ के सत थे और विजयगच्छ का उदयपुर मे बडा प्रभाव रहा है.

२० **अञ्जनासुन्दरिका रास**—रास के रचनाकार का नाम भुवनकीर्ति है दिगम्बर और श्वेताम्बर समाज मे भुवनकीर्ति नाम के भी एकाधिक कवि मिलते है परन्तु 'अञ्जनासुन्दरिका रास' के रचयिता भुवनकीर्ति खरतरगच्छीय जिनरग सूरि के आज्ञानुवर्ती थे बीकानेर के मुख्यमत्री कर्मचन्द्र के वशज श्री भागचन्द्र के लिये उदयपुर मे इस ग्रन्थ की रचना की गई ग्रन्थ का रचनाकाल स० १७०६ है उन दिनो उदयपुर मे महाराणा जगतसिंह का शासन था

उक्त रास मे रामकथा के प्रमुख पात्र श्री हनुमान की माता अञ्जना की कथा है, जिस चरित्र को जैन पौराणिक मान्यताओ के अनुरूप ढाला गया है

२१ **पद्मिनी चरित्र**—स० १७०७ मे कवि लब्धोदय ने उदयपुर मे इस कृति की रचना की लब्धोदय की कवित्व शक्ति को जैनसाहित्य मे विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त है वे लगभग ४०-५० वर्षों तक साहित्यसृजन मे लगे रहे वे ६ उल्लेखनीय रासो के रचयिता माने गये है उनका विहार मेवाड मे अधिक हुआ पद्मिनी चरित्र की रचना स० १७०६ मे शुरु हुई और चैत्रीपूनम स० १७०७ को उसकी रचना समाप्त हुई

उदयपुर, गोगूदा और धूलेवा ही लब्धोदय की साहित्य-रचना के प्रमुख केन्द्र रहे है

२२ **धन्ना का रास**—कविखेता ने वैराठ (बदनोर के पास) स० १७३२ मे उक्त रास की रचना की रास मे विहार के राजगृहनगर के सुप्रसिद्ध श्रेष्ठ धन्ना के चरित्र तथा उसकी समृद्धि का वर्णन है समृद्ध और सम्पन्न व्यक्ति के लिये आज भी धन्ना सेठ की जो उपमा दी जाती है वह यही धन्ना श्रेष्ठी है

वैराठ वैसे जयपुर मे है लेकिन उक्त रास मे ही एक उल्लेख वैराठ नगर की स्थिति को स्पष्ट कर देता है .

"मेदपाट मे जाणिये रे वाको गढ वैराठ ।"

अर्थात् यह वैराठ मेदपाट (मेवाड) का ही है

२३ **आतरे का स्तवन**—कवि तेजसिंह ने १७३५ मे नादेस्मा (जिला उदयपुर) मे उक्त स्तवन की रचना की मुनि तेजसिंह लोकागच्छ के १८ वी सदी के प्रमुख आचार्य थे कवि ने कोठारी ठाकुरसी के लिये उक्त स्तवन की रचना की इनकी अन्य रचनायें भी उपलब्ध है जिनमे 'गुरुगुणमालाभास' एक ऐतिहासिक कृति है

२४ **भीमजी चौपाई**—प्रस्तुत कृति मे भीमजी का ऐतिहासिक वर्णन दिया गया है लेकिन प्रति सम्मुख न होने से भीमजी के सम्बन्ध मे अधिकृत रूप से कुछ नही कहा जा सकता भीमजी नाम का कोई आसपुर का शासक अवश्य हुआ है स० १७४२ मे पुजपुर (डूगरपुर) मे यह कृति रची गई कृति मे उल्लेख मिलता है कि इसका रचनाकार मुनि कीर्तिसागर सूरि का कोई शिष्य था

पुंजपुर डूंगरपुर के शासक श्री पुंजराज (स १६६४ १७११) द्वारा बसाया गया
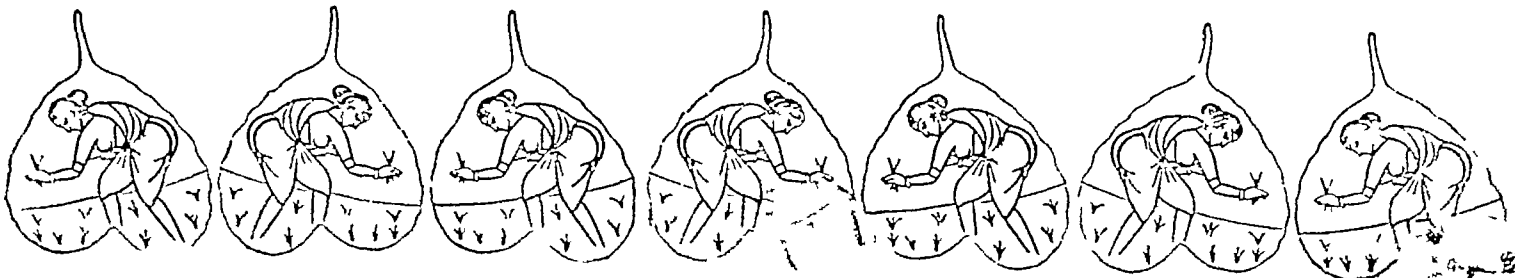
२१ अनाथी सधि—प्रसिद्ध जैनतीर्थ ऋषभदेव से ८ मील दूर कल्याणपुर नामक स्थान पर कवि हेम ने सं १७४५ में उक्त कृति की रचना की यह मुनि हेम लोकागच्छ के मुनि खेतसी के शिष्य थे अनाथी सधि से अनाथी नाम के एक जैन मुनि पर लिखा गया चरितकाव्य है

कल्याणपुर मेवाड के इतिहास का एक प्रमुख स्थान है जहाँ पुरातत्त्व की विपुल सामग्री मिलती है

२६ इषुकार सिद्ध चौपाई—इसका रचनाकार भी वही कवि हेम है जिसने अनाथि संधि की रचना की स १७४७ में यह कृति उदयपुर में रची गई यह एक चरितकाव्य है और उत्तराध्ययन सूत्र' के आधार पर रचा गया है

२७ कक्का बत्तीसी—अक्षर बत्तीसी—यह वस्तुत एक ही कृति के दो नाम हैं जिसकी रचना कवि महेश ने सं १७५० में उदयपुर मे की किसी-किसी प्रति म इसके रचयिता का नाम मुनि हिम्मत भी बताया गया है हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों के १८ वं त्रैवार्षिक विवरण मे भी इसका रचनाकार उदय नामक कवि दिया गया है जो संभवत अन्वेषक की लिपिविषयक भूल ही है यह एक उपदेशात्मक काव्य है

२८ वैरसिंह कुमार चौपाई—देवगढ़ में मोहन विमल कवि ने स १७५८ में इसकी रचना की देवगढ़ के तत्कालीन शासक कुवर पृथ्वीसिंह के लिये यह पौराणिक काव्य रचा गया

२९ चन्दन मलयागिरि चौपाई—सवत् १७७६ में लाठ नामक गाँव म केसर कवि ने यह कृति रची यह एक लोक-काव्य है इस लोककाव्य की प्रथम कृति भद्रसेन (सत्रहवी सदी) की है—ऐसा उल्लेख भी मिलता है यह एक प्रचलित लोकाख्यान है जिसकी सचित्र कृतियाँ भी मिलती हैं

३ ऋषिदत्ता चौपाई—देवगढ मे कवि चौथमल ने स १८६४ में 'ऋषिदत्ता चौपाई की रचना की यह एक पौराणिक काव्य है जो उपदेशमाला के आधार पर रचा गया है

३१ स्थानकवासी तेरापंथी मूर्तिपूजकों की चर्चा—नाथद्वारा में कविराज दीपविजय ने स १८७४ म इस कृति की रचना की इनकी और रचनायें भी मिलती है जिनमें मोहनकुल पट्टावलि रास मुख्य है

३२ केसरियाजी का रास—इस नाम की और भी स्तवनमूलक रचनायें मिलती हैं केशरिया जी में सं १८७७ में श्री तेजविजय ने इस रास की रचना की सीहविजय भी स १८८७ में केशरिया जी आये और धूलेवा (ऋषभदेव) में उन्होने भी 'केसरिया जी का रास' की रचना की

३३ रामजंबरी और रामरास—यह एक पौराणिक काव्य है धनेश्वरसूरि, हेमचन्द्रसूरि आदि आचार्यों द्वारा रचित प्राचीन कृतियो के आधार पर इस रास की रचना की गई सुज्ञानसागर ने उदयपुर म स १८८२ में इस कृति की रचना की

सत्रहवी शताब्दी में विजयगच्छीय मुनि केसराज ने भी राम यशोरसायन' नामक कृति म रामकथा का विस्तार किया है

नगरवर्णनात्मक काव्य

भारत के प्राचीन साहित्य म नगर-वर्णनात्मक अनेक उल्लेख मिलते है कथा-साहित्य में भी नगर रचना-विषयक प्रकरण मिलते हैं भव्य नगर वर्णन काव्य की महाकाव्योचित गरिमा की भी कसौटी माना गया है

नगरो के विभिन्न स्थानो पर सर्वांगपूर्ण प्रकाश डालने वाले स्वतत्र ग्रन्थो म जैनाचार्य श्री जिनप्रभसूरि रचित विविध तीर्थकल्प का स्थान सर्वोच्च है[1]

1 अगर चन्द नाहटा [ना व मानव म मुनि कान्तिसागर

उपाध्याय श्रीअमरमुनिजी महाराज

मगलमूर्ति सन्त

अन्तरजगत् का यात्री

जैन सस्कृति की साधना अत परिमार्जन की साधना है, आत्मपरिष्कार की उपासना है वह बाहर के वेष और कर्मकाण्ड की चमक-दमक मे ही परिसमाप्त नही होती है उसका मार्ग बाहर मे उतना नही, जितना कि अदर से होकर गुजरता है यही कारण है कि महाश्रमण भगवान् महावीर ने मुक्ति की विवेचना करते हुए—स्त्री, पुरुष, नपुसक, ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य, शूद्र, स्वलिग, अन्यलिग-सभी को आतरिक वीतरागभाव की चरमपरिणति मे मोक्ष होना प्रतिपादन किया है

मरुधरा के महान् सन्त श्रद्धेय हजारीमलजी महाराज इसी अन्तरग साधनापथ के प्रशस्त यात्री थे बाल्यकाल के पुनीत क्षणो मे वे साधुत्व की निर्मल भूमि पर अवतरित हुए तब से सतत, बिना किसी प्रकार का शोरगुल मचाये, विज्ञापन-बाजी से दूर, मौनभाव से अदर ही अदर सद्गुरु-निर्दिष्ट अध्यात्मपथ पर अग्रसर होते रहे आँधी आयी, तूफान आये, सुख-दु ख के भयकर झझावात उठे, परन्तु वे न कही रुके, न कही भटके यौवनकाल के घनान्धकार मे, विवेक एव वैराग्य की मसाल लेकर, जिस शानदार ढग से वे जीवन मे प्रकाश फैला सके, मजिल पर पहुँच सके—वह भविष्य के साधको के लिए मूर्तिमान् आदर्श बन गया

नख-शिख सरल

क्या गृहस्थ और क्या सन्त, सभी साधको की साधना का महाप्राण सरलता है, निष्कपटता है, अदभता है आत्मविशुद्धि के लिये सरलता जैसा अमोघ साधन, दूसरा और कौन है ? बाह्य आचार प्रचार न्यूनाधिक हो सकता है क्षेत्र काल आदि की परिस्थितियो के अनुसार क्रियाकलाप मे घटाव-बढाव सदा से क्षम्य रहा है और रहेगा परन्तु जो भी हो, जितना भी हो, वह सरल शुद्ध भाव से हो, इसमे कही भी कभी भी दो मत नही हैं घृतसिक्त पावक के समान सहज सरल साधना निर्धूम होती है, निर्मल होती है भगवान् महावीर ने कहा है—

> सोही उज्जुय-भूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई ,
> निव्वाण परम जाइ, घयसित्तेव पावए ।

श्रद्धेय हजारीमलजी महाराज, सरल भाव की ज्योतिर्मय मूर्ति थे वे काव्य की भाषा मे नख-शिख सरल थे, निर्दम्भ थे मैंने उन्हे निकट से देखा है, ब्यावर और जयपुर के वर्षावास मे उनके सतत् साहचर्य मे रहा हूँ मारवाड और मेवाड की दुर्गम विहार यात्रा मे कितनी ही बार उन्हे परखा है, वे शत-प्रतिशत, सरल और अदम्भभाव की कसौटी पर खरे उतरे हैं आचार सरल, विचार सरल, और परस्पर के सब व्यवहार सरल जो भी किया, वह साफ, जो भी कहा वह भी साफ कही छुपाव नही, दुराव नही वे नाक की सीधी राह चलने के आदी थे अगल-बगल की चाल उन्हे पसन्द नही थी अथवा यो कहिये कि वे टेढी-मेढी राह चलना ही नही जानते थे

सम्प्रदायातीत मानस

स्वर्गीय आत्मा स्थानकवासी परपरा के सन्त थे, ढुल-मुल नही, निष्ठावान् सन्त स्थानकवासी आचार और विचार के प्रति मैंने उन्हे काफी सजग और सतर्क पाया है परन्तु उसका यह अर्थ नही कि उनकी यह स्व-निष्ठा दूसरो के प्रति घृणा का भाव रखती थी स्व-निष्ठा होते हुए भी दूसरो के प्रति उदार और उदात्त भावना कोई उनसे सीखा होता मैंने उनके चरणो मे जहाँ एक ओर स्थानकवासी भक्त श्रद्धावनत बैठे देखे है, वहाँ दूसरी ओर श्वेताम्बर मूर्तिपूजक, वैष्णव, आर्य-समाजी आदि भक्त-जन भी भाव-विभोर मुद्रा मे दर्शन करते देखे है मुनिश्री की तत्कालीन प्रसन्न मुखमुद्रा की वह दिव्यछवि

डा गोवर्धन शर्मा
एम ए पी-एच० डी
अध्यक्ष हिन्दी विभाग गुजरात कालेज अहमदाबाद

अपभ्रंश का विकास

मध्यभारतीय आर्यभाषा के विकास के अन्तिम सोपान को अपभ्रंश के नाम से अभिहित किया जाता है अपभ्रंश मध्य भारतीय आर्य भाषाओं और आधुनिक आर्य भाषाओं यथा—हिन्दी बंगला मराठी गुजराती आदि के बीच की कड़ी है प्रत्येक आधुनिक आर्य भाषा को अपभ्रंश की स्थिति पार करनी पड़ी है[1] दूसरे शब्दों में इसे यों कहा जा सकता है कि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं—यथा गुजराती मराठी हिन्दी बंगाली पंजाबी सिन्धी असमी उड़िया आदि की जननी अपभ्रंश ही है[2] किन्तु अपभ्रंश शब्द का किसी भाषाविशेष के अर्थ में सदा प्रयोग नहीं होता रहा हमें ईसा की दूसरी शती पूर्व से इस शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया हुआ मिलता है हम आगे चल कर इस शब्द के इतिहास पर संक्षेप में विचार करेंगे क्योंकि इस से हम को अपभ्रंश भाषा के उद्गम और विकास का सम्यक वैज्ञानिक अध्ययन करने में पर्याप्त सहायता मिलेगी

अपभ्रंश शब्द का प्रयोग

अपभ्रंश शब्द का साधारण अर्थ होता है—भ्रष्ट च्युत स्खलित विकृत अथवा अशुद्ध भाषा के सामान्य मानदंड से जो शब्द-रूप च्युत हों वे अपभ्रंश हैं[3] ऐसी धारणा से विकसित एक विशेष भाषा की संज्ञा रूप में इस शब्द का व्यवहार अपने में बहुत-सी संभावनाएं छिपाये है अतः इसी दृष्टिकोण से हम अपभ्रंश शब्द के प्रयोग की विगत मंजिलों को टटोलने की कोशिश कर रहे हैं

अपभ्रंश शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख हमें पतंजलि (ईस्वी पूर्व दूसरी शती) से कुछ शताब्दी पूर्व मिलता है 'वाक्यपदीयम्' के रचयिता भर्तृहरि ने महाभाष्यकार के पूर्ववर्ती संग्रहकार व्याडि नामक आचार्य के मत का उल्लेख करते हुये अपभ्रंश शब्द का निर्देश किया है यथा—

शब्दसंस्कारहीनो यो गौरिति प्रयुयुक्षिते ।
तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थनिवेशिनम् ।

---

१ डा उदयनारायण तिवारी—हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास—पृ १ ।

२ मुनि जिनविजय—धम्मसिरिचरिउ किंचित् प्रास्ताविक पृ १
भारतवर्षनी आर्यकुलनी देश्यभाषाओना विकासक्रमनो जेमने थोड़ो पण परिचय छे तेओ जाणे छे के अपभ्रंश नामे ओळखाती मूली भाषा आपणा महान् राष्ट्रभाषी वर्तमान गुजराती मराठी हिन्दी पंजाबी सिन्धी, बंगाली आसामी, उड़िया विगेरे भारतना पश्चिम उत्तर अने पूर्व भागोमा बोलाती प्रसिद्ध देशभाषाओनी सगी जननी छे

३ नामवरसिंह, हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग पृ २

४ डा हरिवंश कोछड़ अपभ्रंश साहित्य पृ १

सत्रहवी शताव्दी मे पुन जैनो का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ हिन्दी साहित्य मे यह नगर वर्णन जैन कवियो की मौलिक देन है

मेवाड मे निम्न नगरवर्णनात्मक काव्य लिखे गये—

३४ **उदयपुर की गजल**—कवि खेतल ने स० १७५७ मे 'उदयपुर की गजल' नाम से उदयपुर नाम का पद्यबद्ध वर्णन किया ७८ छन्दो की इस गजल मे उदयपुर के जलाशयो, महलो, बाजारो, उद्यानो आदि का इतिवृत्तात्मक सुन्दर वर्णन मिलता है

३५ **चित्तौड की गजल**—इसके रचयिता भी कवि खेतल ही है वि० स० १७४६ मे चित्तौड की गजल की रचना की गई इसमे चित्तौड के किले, जैनमदिरो, प्रतिमाओ, महलो, आदि के भव्य वर्णन मिलते है. यह ५६ छन्दो की कृति है

इन गजलो मे प्रयुक्त प्रमुख छन्द को 'गजल चाल' नाम दिया गया है और सभवत इसीलिए इनका नामकरण गजल किया गया है

३६ **उदयपुर को छन्द**—तपागच्छीय जैनाचार्य जससागर के शिष्य श्री जसवतसागर ने स० १७७५-६० के आसपास इस काव्य की रचना की[1] स० १७७५ मे, महाराणा सग्रामसिंह के समय उदयपुर मे रहकर जसवतसागर ने कई ग्रन्थो की रचना की आपका अधिकतर निवास उदयपुर मे ही रहा जान पडता है

'उदयपुर को छन्द' कृति मे उदयपुर के किले, नगर, मदिरो आदि की विस्तृत जानकारी प्रस्तुत की गई उदयपुर के अन्य वर्णनो पर भी इस छन्द की छाप है

१८ वी से २० वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक उदयपुर पर ६ वर्णनात्मक प्रशस्तियाँ प्राप्त हो चुकी हैं

३७ **मेदपाठ देशाधिप प्रशस्ति वर्णन**—कवि हेम रचित यह प्रशस्ति मेवाड की तात्कालिक स्थिति का सुन्दर चित्र प्रस्तुत करती है

यह लगभग १५ मुद्रित पृष्ठो का काव्य है[2]

हेम नाम के एक और भी चारणकवि हुये हैं यह चारण हेम महाराज गजसिंह के समय मे जोधपुर मे हुये

मात्र इतना ही नही, मेवाड मे विपुल जैन साहित्य की रचना हुई है लेकिन वह सभी अभी प्रकाश मे नही आ पाई है
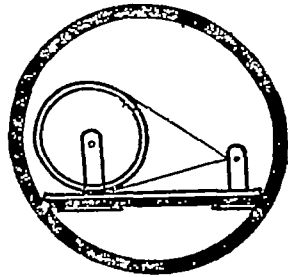
१ जसवत सागर कृत उदयपुर वर्णन—मुनि कान्तिसागर (मधुमती वर्ष ३-अक ३)
२ बुद्धिप्रकाश (अप्रेल से जून १६४२)

डा. गोवर्धन शर्मा
एम. ए. पी-एच. डी.
अध्यक्ष हिन्दी विभाग गुजरात कालेज अहमदाबाद

अपभ्रंश का विकास

मध्यभारतीय आर्यभाषा के विकास के अन्तिम सोपान को अपभ्रंश के नाम से अभिहित किया जाता है अपभ्रंश मध्य-भारतीय आर्य भाषाओं और आधुनिक आर्य भाषाओं यथा—हिन्दी बंगला मराठी गुजराती आदि के बीच की कड़ी है प्रत्येक आधुनिक आर्य भाषा को अपभ्रंश की स्थिति पार करनी पड़ी है[1] दूसरे शब्दों में हम यों कहा जा सकता है कि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं—यथा गुजराती मराठी हिन्दी बंगाली पंजाबी सिन्धी असमी उड़िया आदि की जननी अपभ्रंश ही है किन्तु अपभ्रंश शब्द का किसी भाषाविशेष के अर्थ में सदा प्रयोग नहीं होता रहा हमें ईसा की दूसरी शती पूर्व से इस शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया हुआ मिलता है हम आगे चल कर इस शब्द के इतिहास पर संक्षेप में विचार करेंगे क्योंकि इस से हम को अपभ्रंश भाषा के उद्गम और विकास का सम्यक् वैज्ञानिक अध्ययन करने में पर्याप्त सहायता मिलेगी

अपभ्रंश शब्द का प्रयोग

अपभ्रंश' शब्द का साधारण अर्थ होता है—भ्रष्ट च्युत स्खलित विकृत अथवा अशुद्ध भाषा के सामान्य मानदंड से जो शब्द-रूप च्युत हों वे अपभ्रंश हैं[2] ऐसी धारणा से विकसित एक विशेष भाषा की संज्ञा रूप में इस शब्द का व्यवहार अपने में बहुत-सी संभावनाएं छिपाये है अतः इसी दृष्टिकोण से हम अपभ्रंश शब्द के प्रयोग की विगत मंजिलों को टटोलने की कोशिश कर रहे हैं

अपभ्रंश शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख हमें पतंजलि (ईस्वी पूर्व दूसरी शती) से कुछ शताब्दी पूर्व मिलता है[4] 'वाक्यपदीयम्' के रचयिता भर्तृहरि ने महाभाष्यकार के पूर्ववर्ती संग्रहकार व्याडि नामक आचार्य के मत का उल्लेख करते हुये अपभ्रंश शब्द का निर्देश किया है यथा—

शब्दसंस्कारहीनो यो गौरिति प्रयुयुक्षिते ।
तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थनिवेशिनम् ।

---

१ डा उदयनारायण तिवारी-हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास—पृ १२ ।

२ मुनि जिनविजय-कुमारपालचरित संग्रह प्रास्ताविक पृ १
भारतवर्षनी आर्यवर्गनी देश्यभाषाओना विकासक्रमनो जेमने थोड़ो पण परिचय छे तेओ जाणे छे के अपभ्रंश नामे ओलखाती जूनी भाषा आपणा महान् राष्ट्रमानी वर्तमान गुजराती मराठी हिन्दी पंजाबी सिन्धी बंगाली असमी उड़िया विगेरे भारतनां पश्चिम उत्तर अने पूर्व भागोमां बोलाता प्रसिद्ध देशभाषाओनी सगी जननी छे

३ नामवरसिंह, हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग पृ २

४ डा हरिवंश कोछड़ अपभ्रंश साहित्य पृ १

वार्तिक–शब्दप्रकृतिरपभ्र श इति सग्रहकारो नाप्रकृतिरपभ्र श स्वतत्र कश्चिद्विद्यते सर्वस्यैव हि माधुरेवापभ्र शम्य प्रकृति प्रसिद्धेस्तु रूढितामापाद्यमाना स्वातन्त्र्यमेव केचिदपभ्र शा लभन्ते तत्र गौरिति प्रयोक्तव्ये अशक्त्या प्रमादिभिर्वा गाव्याद-यस्तत्प्रकृतयोपभ्र शा प्रयुज्यन्ते [1]

महाभाष्यकार पतजलि द्वारा भी 'अपभ्र श' शब्द का प्रयोग किया गया है उनके अनुसार अपभ्र श केवल सस्कृत के विकृत शब्द हैं किसी एक शब्द के अनेक भ्रष्ट रूप हो सकते हैं, यथा—संस्कृत शब्द गौ के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि विविध रुपान्तर [2] ये सभी रूपान्तर शिष्टसम्मत सस्कृत भाषा से विकृत या भ्रष्ट हैं, अत ऐसे अपाणिनीय असाधु शब्दो के लिये अपभ्र श सज्ञा का उपयोग किया गया

यह विचारणीय है कि महाभाष्यकार की दृष्टि मे अपभ्र श केवल उन शब्दो को दी जानेवाली सज्ञा है, जो सस्कृत शब्दो के साधु रूपों मे विकृत या भ्रष्ट स्वरूप है और जिन शब्दो का उन्होने अपभ्र श के उदाहरण मे उपयोग किया है बाद के प्राकृत वैयाकरणो ने उन्ही को प्राकृत के अन्तर्गत गिना है, यह चिन्त्य है [3]

ईसा की दूसरी अथवा तीसरी शती के लगभग भरत ने नाट्यशास्त्र मे सस्कृत, और देशी भाषा के भेद को स्पष्ट किया है साथ ही उन्होने प्राकृत के स्वरूप पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है

एतदेव विपर्यस्त सस्कारगुणवर्जितम् । विज्ञेय प्राकृत पाठ्य नानावस्थान्तरात्मकम् ।
त्रिविध तच्च विज्ञेय नाट्ययोगे समासत । समानशब्दविभ्रष्ट देशीगतमथापि च ।।

—नाट्यशास्त्र १७-२-३

अर्थात् प्राकृत तीन प्रकार की होती है—(१) जिसमे सस्कृत के समान शब्दो का ही प्रयोग हो (२) सस्कृत के विभ्रष्ट शब्दो का ही प्रयोग हो (३) जिसमे देश्य भाषा के शब्दो का प्रयोग हो दूसरे शब्दो मे इसी बात को इस प्रकार कहा जा सकता है कि नाट्यरचना मे तीन प्रकार के शब्दो का प्रयोग होता है—तत्सम तद्भव, अथवा विभ्रष्ट और देश्य यहाँ ऐसा लगता है कि पतजलि की अपभ्र श और भरत की विभ्रष्ट शायद एक ही हो
आगे चलकर भरत ने तत्कालीन सात भाषाओ का निर्देश किया है—

मागध्यवन्तिजा प्राच्या शौरसेन्यर्धमागधी ।
बाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्त भाषा प्रकीर्तिता ।। —नाट्यशास्त्र १७-४६

मागधी, अवन्ति, प्राच्य, शौरसेनी, अर्धमागधी, बाह्लीका और दक्षिणी, ये सात भाषायें हैं और अनेक विभाषायें हैं यथा—

शबराभीरचाडाल सचर द्रमिलान्ध्रजा ।
(शबराभीर चाडाल द्रविडोद्रा)
हीना वनेचराणा च विभाषा नाटके स्मृता ।। —नाट्यशास्त्र १७-५०

शबरो, आभीरो चाण्डालो, चरो, द्रविडो, ओड्रो और हीन जाति के वनचरो की बोलियाँ भरत के इस उल्लेख मे अपभ्र श का स्पष्ट नाम नही आया है, क्योकि उसने केवल भाषाओ का उल्लेख किया है इससे यह जान पडता है कि भरत के समय तक किसी भी भाषा को अपभ्र श की सज्ञा नही दी गई थी अर्थात् अभी तक अपभ्र श का विकास उस कोटि तक

---

१ भर्तृहरि, वाक्यपदीयम्—प्रथमकाड कारिका १४८ लाहौर सस्करण ।
२ Ed kielhorn, Vol I, Page 2
एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रशा तद्यथा–गौरित्यस्य गावी, गौणी गोता, गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रशा ।
३ (अ) चड—प्राकृतलक्षणम्—२—१६ 'गोर्गावि '
(आ) हेमचन्द्राचार्य प्राकृतव्याकरण—८—२—१७४
"गोणादय गौ , गोणी, गावी, गाव गावीओ"

नहीं हो पाया था कि उसे भाषा कह कर पुकारा जा सके विभाषाओं के उस समय कोई अलग नाम नहीं थे वे बोलने वाली जातियों अथवा समुदाय के नाम से ही पुकारी जाती थी जैसे—

> शकारभीराचण्डालशबरद्रमिलान्ध्रजाः ।
> ... काष्ठयन्त्रोपजीविनाम् ।
> योज्या शाबरभाषा तु किंचिद्वानौकसी तथा ।
> गवाश्वाजाविकोष्ट्रादिघोषस्थाननिवासिनाम् ।
> आभीरोक्तिः शाबरी वा द्राविडी द्रविडादिषु । —नाट्यशास्त्र १७-५४५५

अर्थात् शबर और वनौकसी जंगली भाषा का प्रयोग अंगारकारों-कोयला बनाने वाले शिकारियों और काष्ठयन्त्र द्वारा जीविका निर्वाह करने वाले व्यक्तियों द्वारा तथा आभीरोक्ति और शाबरी का उपयोग गौ अश्व ऊँट आदि पशुपालक और घोषनिवासी ग्वालों के गाँव में रहने वाले जनों द्वारा किया जाता है

इससे यह ज्ञात होता है कि आभीरादि पशुपालक जातियों की भाषा आभीरोक्ति नाम से जानी जाती रही है जैसा कि हम अन्यत्र देखेंगे यही आभीरोक्ति इतनी विकासमान हो गई कि इसने अपना स्थान प्राकृतादि अन्य साहित्यिक भाषाओं के समकक्ष बना लिया

सम्भवतया भरत के समय भाषा के रूप में अपभ्रंश को कोई महत्त्व प्राप्त नहीं था किन्तु जान पड़ता है कि आगे चल कर इसी आभीरोक्ति को ही अपभ्रंश की संज्ञा प्राप्त हो गई भरत ने नाटककार के लिये विभिन्न प्रदेश के निवासी पात्रों द्वारा किस प्रकार की बोली प्रयुक्त की जाय इस विषय में खुलासा निर्देश दिये हैं उन्होंने लिखा है कि गंगा और सागर के मध्य की भाषा एकार—बहुला है हिमालय सिन्धु और सौवीर के तटीय प्रदेश की भाषा उकारबहुला है विन्ध्याचल और सागर के मध्य की भाषा नकारबहुला है सौराष्ट्र अवन्ति और वेत्रवती के उत्तरीय प्रदेश की भाषा चकारबहुला है और चर्मवती के उस पार तथा अर्बुद के तटीय प्रदेश की भाषा टकारबहुला है[१] भरत ने इस प्रकार की उकारबहुला भाषा के उदाहरण भी दिये हैं यथा— मोरल्लउ नच्चन्तउ' इत्यादि दण्डी के इस कथन से कि काव्य में आभीरादि की भाषा अपभ्रंश कही जाती है यह अनुमान लग जाता है कि भरत की उकारबहुला आभीरोक्ति अपभ्रंश रही होगी भरत ने जो उदाहरण इस उकार-बहुला आभीरोक्ति के दिये हैं उनमें 'णेहु' 'णिच्च' 'ओष्ठउ' आदि शब्द हैं भी ठेठ अपभ्रंश के परन्तु भरत के इन उदाहरणों में प्राकृत प्रभाव इतना अधिक है कि इनको विशुद्ध अपभ्रंश का उदाहरण नहीं माना जा सकता हाँ अपभ्रंश को जन्म देनेवाली प्रवृत्तियों के बीज यहाँ अवश्य देखे जा सकते हैं[२]

लगभग छठी शताब्दी में पहलेपहल हमें अपभ्रंश का एक भाषाविशेष के रूप में उल्लेख मिलता है वलभी सौराष्ट्र के राजा धरसेन द्वितीय के एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि उसका पिता गुहसेन 'संस्कृत प्राकृतापभ्रंश भाषात्रयप्रतिबद्ध प्रबन्ध रचना निपुणान्तःकरण' था जिस गुहसेन का ऊपर उल्लेख किया गया है उसके शिलालेख ५५९ ई० से ५६९

१ भरत नाट्यशास्त्र—
गंगासागरमध्ये तु ये देशाः सम्प्रकीर्तिताः एकारबहुलां तेषु भाषां तज्ज्ञः प्रयोजयेत् ।५८।
विन्ध्यसागरमध्ये तु ये देशाः समुदाहृताः नकारबहुलां तेषु भाषां तज्ज्ञः प्रयोजयेत् ।५९।
सुराष्ट्रावन्तिदेशेषु वेत्रवत्युत्तरेषु च ये देशास्तेषु कुर्वीत चकारबहुलामिह ।६०।
हिमवत्सिन्धुसौवीरान् ये देशाः समाश्रिताः उकारबहुला तज्ज्ञस्तेषु भाषां प्रयोजयेत् ।६१।
चर्मण्वतीनदीपारे ये चार्बुदसमाश्रिताः टकारबहुलां नित्यं तेषु भाषां प्रयोजयेत् ।६२।
[illegible]

२ [illegible] हिन्दी साहित्य का उद्गम और विकास पृ० ?
३ Indian Antiquery Vol 10 Oct 1881 Page *84

वार्तिक–शब्दप्रकृतिरपभ्रंश इति सग्रहकारो नाप्रकृतिरपभ्रंश स्वतत्र कश्चिद्विद्यते सर्वस्यैव हि माधुरेवापभ्रंशस्य प्रकृति प्रसिद्धेस्तु रुढितामापाद्यमाना स्वातन्त्र्यमेव केचिदपभ्रंशा लभन्ते तत्र गौरिति प्रयोक्तव्ये अशक्त्या प्रमादिभिर्वा गाव्याद-यस्तत्प्रकृतयोपभ्रंशा प्रयुज्यन्ते [1]

महाभाष्यकार पतजलि द्वारा भी 'अपभ्रंश' शब्द का प्रयोग किया गया है उनके अनुसार अपभ्रंश केवल सस्कृत के विकृत शब्द है किसी एक शब्द के अनेक भ्रष्ट रूप हो सकते है, यथा—संस्कृत शब्द गौ के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि विविध रूपान्तर [2] ये सभी रूपान्तर शिष्टसम्मत सस्कृत भाषा से विकृत या भ्रष्ट है, अत ऐसे अपाणिनीय असाधु शब्दो के लिये अपभ्रंश सज्ञा का उपयोग किया गया

यह विचारणीय है कि महाभाष्यकार की दृष्टि मे अपभ्रंश केवल उन शब्दो को दी जानेवाली सज्ञा है, जो सस्कृत शब्दो के साधु रूपो मे विकृत या भ्रष्ट स्वरूप है और जिन शब्दो का उन्होने अपभ्रंश के उदाहरण मे उपयोग किया है बाद के प्राकृत वैयाकरणो ने उन्ही को प्राकृत के अन्तर्गत गिना है, यह चिन्त्य है [3]

ईसा की दूसरी अथवा तीसरी शती के लगभग भरत ने नाट्यशास्त्र मे सस्कृत, और देशी भाषा के भेद को स्पष्ट किया है साथ ही उन्होने प्राकृत के स्वरूप पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है

एतदेव विपर्यस्त सस्कारगुणवर्जितम् । विज्ञेय प्राकृत पाठ्य नानावस्थान्तरात्मकम् ।
त्रिविध तच्च विज्ञेय नाट्ययोगे समासत । समानशब्दविभ्रष्ट देशीगतमथापि च ।।

—नाट्यशास्त्र १७-२-३

अर्थात् प्राकृत तीन प्रकार की होती है—(१) जिसमे सस्कृत के समान शब्दो का ही प्रयोग हो (२) सस्कृत के विभ्रष्ट शब्दो का ही प्रयोग हो (३) जिसमे देश्य भाषा के शब्दो का प्रयोग हो दूसरे शब्दो मे इसी बात को इस प्रकार कहा जा सकता है कि नाट्यरचना मे तीन प्रकार के शब्दो का प्रयोग होता है—तत्सम तद्भव, अथवा विभ्रष्ट और देश्य यहाँ ऐसा लगता है कि पतजलि की अपभ्रंश और भरत की विभ्रष्ट शायद एक ही हो

आगे चलकर भरत ने तत्कालीन सात भाषाओ का निर्देश किया है—

मागध्यवन्तिजा प्राच्या शौरसेन्यर्धमागधी ।
बाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्त भाषा प्रकीर्तिता ।। —नाट्यशास्त्र १७-४६

मागधी, अवन्ति, प्राच्य, शौरसेनी, अधमागधी, वाह्लीका और दक्षिणी, ये सात भाषायें है और अनेक विभाषायें है यथा—

शबराभीरचाडाल सचर द्रमिलान्ध्रजा ।
(शबराभीर चाडाल द्रविडोद्रा)
हीना वनेचराणा च विभाषा नाटके स्मृता ।। —नाट्यशास्त्र १७-५०

शबरो, आभीरो चाण्डालो, चरो, द्रविडो, ओड्रो और हीन जाति के वनचरो की बोलियाँ भरत के इस उल्लेख मे अपभ्रंश का स्पष्ट नाम नही आया है, क्योकि उसने केवल भाषाओ का उल्लेख किया है इससे यह जान पडता है कि भरत के समय तक किसी भी भाषा को अपभ्रंश की सज्ञा नही दी गई थी अर्थात् अभी तक अपभ्रंश का विकास उस कोटि तक

१ भर्तृहरि, वाक्यपदीयम्—प्रथमकाड कारिका १४८ लाहौर सस्करण ।

२ Ed kielhorn, Vol I, Page 2
एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशा तद्यथा-गौरित्यस्य गावी, गौणी गोता, गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशा ।

३ (अ) चड—प्राकृतलक्षणम्—२—१६ 'गोर्गावि '
(आ) हेमचन्द्राचार्य प्राकृतव्याकरण—८—२—१७४
"गोणादय गौ , गोणी, गावी, गाव गावीओ"

प्राकृतसंस्कृतमागधपिशाचभाषाश्च शौरसेनी च ।
षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः ॥ —काव्यालंकार २ १२

इस प्रकार रुद्रट ने अन्य साहित्यिक प्राकृतों के समान ही अपभ्रंश को महत्वपूर्ण स्थान दिया है और देशभेद के आधार पर विविधता की स्थापना की है

पुष्पदन्त ने अपने महापुराण मे बताया है कि तत्कालीन राजकुमारियों को संस्कृत और प्राकृत के साथ ही अपभ्रंश का भी ज्ञान कराया जाता था [१] इस का अर्थ यह हुआ कि लगभग दसवीं शताब्दी में अपभ्रंश भरत की 'विभ्रष्ट शब्दावली' से विकसित होकर शिष्टसमुदाय की भाषा बन चली थी

राजशेखर ने अपने ग्रंथ काव्यमीमांसा में अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की भांति ही अपभ्रंश का उल्लेख एक काव्यभाषा के रूप में अनेक बार किया है काव्य पुरुष की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा है [२] शब्दार्थौ ते शरीरं संस्कृतं मुखं प्राकृतं बाहुः जघनमपभ्रंशः पैशाचं पादौ उरो मिश्रम्

अर्थात् शब्द और अर्थ तेरे शरीर है संस्कृत भाषा मुख है प्राकृत भाषाएं तेरी भुजाएं है अपभ्रंश भाषा जंघा है पिशाच भाषा चरण है और मिश्र भाषाए वक्ष स्थल हैं

इसी प्रकार राजशेखर ने काव्यविशेषताओं के अनुसार दरबार में कवियों के बैठने के स्थान भी निश्चित किये है—उत्तर में संस्कृत-कवि पूर्व मे प्राकृत कवि पश्चिम मे अपभ्रंश कवि व दक्षिण मे पैशाच कवि आसन ग्रहण करें [३]

आगे चलकर राजशेखर ने संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के क्षेत्र का निर्देश करते हुए सकल मरुभू टक्क और भादानक को अपभ्रंश या अपभ्रंश-मिश्रित भाषा का प्रयोग करनेवाला क्षेत्र कहा है [४] एक दूसरे स्थान पर उन्होंने मरुभू और सुराष्ट्र को अपभ्रंश भाषा भाषी कहा है [५]

नमि साधु ने रुद्रट के काव्यालंकार पर टीका करते हुये अपनी वृत्ति में लिखा है [६]

तथा प्राकृतमेवापभ्रंशः स चान्यैरुपनागराभीरग्राम्यात्वभेदेन त्रिधोक्तस्तन्निरासार्थमुक्तं भूरिभेद इति कुतो देशविशेषात् तस्य च लक्षणं लोकादेव सम्यगवसेयम्

ये अपभ्रंश को एक प्रकार से प्राकृत ही मानते है अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा निर्दिष्ट तीन प्रकार की अपभ्रंश—उपनागर, आभीर और ग्राम्या का निर्देश करते हुये स्वीकार करते है कि 'अपभ्रंश के इससे भी अधिक भेद है अपभ्रंश को जानने का सर्वोत्तम साधन लोक ही है इससे ज्ञात पड़ता है कि इस समय तक अपभ्रंश लोकभाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी भोजराज ने अपने सरस्वतीकंठाभरण' मे इसे गुर्जर प्रदेश की प्रिय भाषा के रूप मे ग्रहीत किया है

---

१ पुष्पदंत : महापुराण—५ १८-६
सक्कउ पायउ पुणु अवहंसउ वित्तउ उप्पाइउ सपसंसउ

२ राजशेखर काव्यमीमांसा—बि रा भाषा मण्डल पृ १४

३ राजशेखर काव्यमीमांसा—पृ १११ ११
तस्य चोत्तरतः संस्कृता कवयो निवेशेरन्, पूर्वेण प्राकृता
कवयः ।—पश्चिमेनापभ्रंशिनः कवयः—दक्षिणतो भूतभाषाकवयः ।

४ राजशेखर काव्यमीमांसा पृ १२४
सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च

५ राजशेखर काव्यमीमांसा पृ ८१
सुराष्ट्रत्रवणाद्या ये पठन्त्यर्पितसौष्ठवम्, अपभ्रंशावदंशानि ते संस्कृतवचांस्यपि

६ नमिसाधु काव्यालंकारवृत्ति— १

७ भोजराज सरस्वतीकंठाभरण—२-१३
अपभ्रंशेन तुष्यन्ति स्वेन नान्येन गुर्जराः

ई० के प्राप्त हुये है[1] बूलर प्रस्तुत शिलालेख को कुछ वर्ष बाद का मानते है[2] फिर भी यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ईसा की छठी शताब्दी मे अपभ्र श भाषा मे काव्यरचना होने लग गई थी, यद्यपि प्रमाणस्वरूप उस युग की कोई रचना अभी तक हमे प्राप्त नही हो सकी है

इसी शती के अन्तिम चरण मे एक और प्रमाण मिलता है आचार्य भामह ने अपभ्र श को काव्योपयोगी भाषा और काव्य का एक विशेष रूप माना है यथा—

शब्दार्थौसहितौ काव्यं गद्यं पद्य च तद् द्विधा।
सस्कृत प्राकृत चान्यदपभ्र श इति त्रिधा॥ —काव्यालकार, १ १६-२८

भामह का यह उल्लेख हमे केवल यही सूचित करता है कि अपभ्र श भी तत्कालीन एक काव्य-भाषा थी इस भाषा का प्रयोग कौन करते थे, यह कहा बोली जाती थी, आदि प्रश्नो का उत्तर हमे भामह से नही मिलता

चड ने अपने प्रसिद्ध व्याकरण 'प्राकृतलक्षणम्' मे अपभ्र श शब्द का प्रयोग 'न लोपोऽपभ्र शेऽधोरेफस्य' सूत्र मे, विशेष-भाषावाचक रूढ सज्ञा के रूप मे किया है[3]

दडी ने अपने ग्रथ 'काव्यदर्श' मे काव्य की भाषा के चार भेद बताये है—सस्कृत, प्राकृत, अपभ्र श और मिश्रित

तदेतद् वाङ्मय भूय सस्कृत प्राकृत तथा।
अपभ्र शश्च मिश्र चेत्याहुरार्यश्चतुर्विधम् ॥ —काव्यादर्श १-३२

आगे चलकर वह अपभ्र श का व्याकरण—सम्मत रूढ और भाषा के रूप मे होनेवाले प्रयोगो पर प्रकाश डालता हुआ कहता है

आभीरादिगिर काव्येष्वपभ्र श इति स्मृता ।
शास्त्रेषु सस्कृतादन्यदपभ्र शतयोदितम् ॥ —काव्यादर्श १-३५

अर्थात् भाषाशास्त्र या व्याकरण मे अपभ्र श का अर्थ है सस्कृत के विकृत रूप काव्य मे आभीरादि बोलिया अपभ्र श कहलाती है सस्कृत से इतर भाषाओ को अपभ्र श कहकर दडी ने पतजलि का समर्थन किया है और साथ ही उसने अपभ्र श और आभीरो के सबध का भी उल्लेख किया है इससे जान पडता है कि दडी के समय मे अपभ्र श साहित्यिक भाषा बन चली थी और इसका प्रयोग आभीरो के अतिरिक्त (आभीरादि) अन्य लोग भी करने लग गये थे इस प्रकार भरत के समय मे आभीरी नाम से प्रसिद्ध आभीरोक्ति दडी के समय मे अपभ्र श मे परिणत होकर बोलचाल तथा साहित्य की भाषा बन गई थी

'कुवलयमाला कथा' के रचयिता जैन लेखक उद्योतनसूरि ने [वि० की नवी शती] अपभ्र श का प्रयोग एक भाषा विशेष के अर्थ मे किया है वे अपभ्र श काव्य के बडे प्रशसक हैं, वे उसे प्राजल, प्रवाहमय और मनोहर मानते है[4]

रुद्रट अपने काव्यालकार मे काव्य को गद्य और पद्य मे विभाजित करने के पश्चात् भाषा के आधार पर उसका छह भागो मे विभाजन करता है सस्कृत, प्राकृत, मागधी, सौरसैनी, पिशाचभाषा और अतिम अपभ्र श, जो स्थान—भेदो से अनेक स्वरूप ग्रहण कर लेती है

भाषाभेदनिमित्त षोढा भेदोऽस्य सभवति। —काव्यालकार २-११

---

१ Bombay gazette Vol 1 Part 1, Page 90
२ Indian Antiquery Vol 10, Oct 1881, Page 277
३ चड प्राकृतलक्षणम्—पृ० २४, सूत्र ३७
४ ला० भा० गाधी अपभ्रश काव्यत्रयी भूमिका पृ० ९७ से उद्धृत—
ता कि अवहस होहिइ ? हू त पि णो जेण त सक्कय पाइय-उभय-सुद्धासुद्धपयसमतरगरगतवग्गिर णव पाउस जलयपवाहपूरव्वालियगिरि-णइसरिस समविसम पणयकुवियपियपणइणीसमुल्लावसरिस मणोहर

> प्राकृतसंस्कृतमागधपिशाचभाषाश्च शौरसेनी च ।
> षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः ॥ —काव्यालंकार २ १२

इस प्रकार रुद्रट ने अन्य साहित्यिक प्राकृतों के समान ही अपभ्रंश को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है और देशभेद के आधार पर विविधता की स्थापना की है.

पुष्पदन्त ने अपने महापुराण में बताया है कि तत्कालीन राजकुमारियों को संस्कृत और प्राकृत के साथ ही अपभ्रंश का भी ज्ञान कराया जाता था [1] इस का अर्थ यह हुआ कि लगभग दसवीं शताब्दी में 'अपभ्रंश' भरत की 'विभ्रष्ट शब्दावली' से विकसित होकर शिष्टसमुदाय की भाषा बन चली थी

राजशेखर ने अपने ग्रंथ 'काव्यमीमांसा' में अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की भांति ही अपभ्रंश का उल्लेख एक काव्यभाषा के रूप में अनेक बार किया है काव्य पुरुष की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा है *शब्दार्थौ ते शरीरं संस्कृतं* मुखं प्राकृतं बाहुः जघनमपभ्रंशः पैशाचं पादौ उरो मिश्रम्

अर्थात् शब्द और अर्थ तेरे शरीर हैं संस्कृत भाषा मुख है प्राकृत भाषाएं तेरी भुजाएं हैं अपभ्रंश भाषा जघा है पिशाच भाषा चरण है और मिश्र भाषाएं वक्षःस्थल हैं

इसी प्रकार राजशेखर ने काव्यविशेषताओं के अनुसार दरबार में कवियों के बैठने के स्थान भी निश्चित किये हैं—उत्तर में संस्कृत-कवि पूर्व में प्राकृत कवि पश्चिम में अपभ्रंश कवि व दक्षिण में पैशाच कवि आसन ग्रहण करें [3]

आगे चलकर राजशेखर ने संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के क्षेत्र का निर्देश करते हुए सकल मरुभू टक्क और भादानक को अपभ्रंश या अपभ्रंश-मिश्रित भाषा का प्रयोग करनेवाला क्षेत्र कहा है [4] एक दूसरे स्थान पर उन्होंने श्रवण और सुराष्ट्र को अपभ्रंश भाषा भाषी कहा है [5]

नमि साधु ने रुद्रट के काव्यालंकार पर टीका करते हुये अपनी वृत्ति में लिखा है [6]

तथा प्राकृतमेवापभ्रंशः स चान्यैरुपनागराभीरग्राम्यत्वभेदेन त्रिधोक्तस्तन्निरासार्थमुक्तं भूरिभेद इति कुतो देशविशेषात् तस्य च लक्षणं लोकादेव सम्यगवसेयम्

वे अपभ्रंश को एक प्रकार से प्राकृत ही मानते हैं अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा निर्दिष्ट तीन प्रकार की अपभ्रंश—उपनागर आभीर और ग्राम्या का निर्देश करते हुये स्वीकार करते हैं कि 'अपभ्रंश के इससे भी अधिक भेद हैं अपभ्रंश को जानने का सर्वोत्तम साधन लोक ही है इससे ज्ञात पड़ता है कि इस समय तक अपभ्रंश लोकभाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी भोजराज ने अपने 'सरस्वतीकंठाभरण' में इसे गुर्जर प्रदेश की प्रिय भाषा के रूप में ग्रहीत किया है [7]

---

१ पुष्पदन्त महापुराण—५ १८ ६
सक्कउ पाउउ पुण अवहंसउ वित्तउ उप्पाइउ सप्पंसउ
राजशेखर काव्यमीमांसा—बि रा भाषा प्रकाशन पृ १४
३ राजशेखर काव्यमीमांसा—पृ ११२ १३
तस्य चोत्तरतः संस्कृताः कवयो निविशेरन् पूर्वेण प्राकृताः
कवयः ।—पश्चिमेनापभ्रंशिनः कवयः—दक्षिणतो भूतभाषाकवयः ।
४ राजशेखर काव्यमीमांसा पृ १२४
सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च.
५ राजशेखर काव्यमीमांसा पृ [illegible]
सुराष्ट्रत्रवणाद्या ये पठन्त्यर्पितसौष्ठवम् अपभ्रंशावदंशानि ते संस्कृतवचांस्यपि
६ नमिसाधु काव्यालंकारवृत्ति— [illegible]
७ भोज [illegible] सरस्वतीकंठाभरण— [illegible]
अपभ्रंशेन तुष्यन्ति स्वेन नान्येन गुर्जराः ।

वाग्भट ने भी दडी के अनुकरण मे समस्त वाड्मय को चार भागो मे बाटा है दडी ने काव्य-भापा के चार भेद माने हैं, यथा सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश और मिश्रित वाग्भट का विभाजन इससे थोडा भिन्न है वह मिश्र भाषा के स्थान पर भूतभाषा का उल्लेख करता है—अन्य भाषाये वे ही है-सस्कृत, प्राकृत व अपभ्रश

सस्कृत प्राकृत तस्य अपभ्रं शो भूतभाषितम् ।
इति भाषाश्चतस्रोपि यान्ति काव्यस्य कायताम् ॥ —वाग्भटालकार २-१

आगे चल कर उसने भी अपभ्रश को देश्य भाषा के रूप मे स्वीकार किया है—

अपभ्र शस्तु यच्छुद्ध तत्तद्देशेपु भाषितम् । —वाग्भटालकार २-३

इसी प्रकार अन्य विद्वानो यथा मम्मट, पृथ्वीधर, मार्कण्डेय, रससर्वकार, विष्णुधर्मोत्तरकर्त्ता, हेमचन्द्र, नारायण, अमरचद, लक्ष्मीधर, नाट्यदर्पणकार, पिशेल, ग्रियर्सन, सुनीतिकुमार चटर्जी और मुनि जिनविजय आदि ने अपभ्रश पर मौलिक और परपरागत विचार व्यक्त किये हैं आगे चलकर उन पर यथावसर विचार किया जायेगा

अपभ्रशविषयक इन भिन्न-भिन्न निर्देशो से निम्न परिणाम निकलते है—

(१) आरभ मे अपभ्रश का प्रयोग शिष्टेतर अथवा अपाणिनीय शब्द रूपो के लिये होता था

(२) भरत ने इसी अर्थ मे 'विभ्रष्ट' शब्द का प्रयोग किया है

(३) भरत के समय मे अपभ्रश का विकास इतना नही हुआ था कि वह भाषा कहला सकती किन्तु उस समय मे अपभ्रश बीज रूप से वर्तमान थी और इसका प्रयोग एक बोली मात्र के रूप मे शबर, आभीर आदि अशिक्षित वनवासी ही किया करते थे

(४) छठी शताब्दी मे अपभ्रश शब्द साहित्यिक भाषा का द्योतक बन गया था और तत्कालीन आलकारिको और वैया-करणो द्वारा मान्यता पा चुका था अपभ्रश मे पर्याप्त साहित्य-सृजन होने लग गया था जो भामह और दडी जैसे आचार्यों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर चुका था इतना होने पर भी अभी तक अपभ्रश का आभीरादि से निकट सबध माना जाता था

(५) नवी शताब्दी मे अपभ्रश को अपेक्षाकृत अधिक सम्मान से देखा जाने लगा था अब वह केवल शबर, आभीरादि की बोली नही थी अपितु जनसामान्य की भाषा बन चली थी और उसका व्यवहार प्राय समूचे उत्तर भारत मे सौराष्ट्र से लेकर सुदूर पूर्व मे मगध तक होने लगा था स्थान-भेद से इसमे कुछ अन्तर होना स्वाभाविक ही था किन्तु काव्योपयोग मे आभीरी का ही प्रयोग होता था

(६) ग्यारहवी शताब्दी के मध्य तक आलकारिको, वैयाकरणो और साहित्यिको ने मान लिया था कि इस साहित्यिक भाषा के स्थान-भेद से अनेक प्रकार हैं अपभ्रश का प्रयोग व्यापक रूप से होने लगा था और उसमे विपुल साहित्य रचना होने लगी थी सिद्धो के 'दोहाकोश' व जैनो के 'चरिउ' अपभ्रश के ही दो भिन्न प्रकारो मे रचे गये इस प्रकार अपभ्रश सौराष्ट्रसे मगध तक फैल चली थी

अपभ्रंश भाषा का विकास

जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, मध्यकालीन-भारतीय आर्य भाषाओ की उत्तरकालीन अवस्था को अपभ्रश का नाम दिया गया है अपभ्रश का प्रचार और प्रसार कब से हुआ, इस सबध मे निश्चित तौर पर कुछ भी कहना कठिन है ढोला-मारू रा दूहा के सपादको के अनुसार[1] अपभ्रश का काल विक्रम की दूसरी शताब्दी से ग्यारहवी शताब्दी तक माना जा सकता है[1] श्यामसुन्दरदास मानते है कि अपभ्रश के बीज ईसा की दूसरी शताब्दी मे प्रचलित प्राकृत मे अवश्य

१ ठाकुर पारीक-स्वामी ढोला मारू रा दूहा-भूमिका पृ० ११०
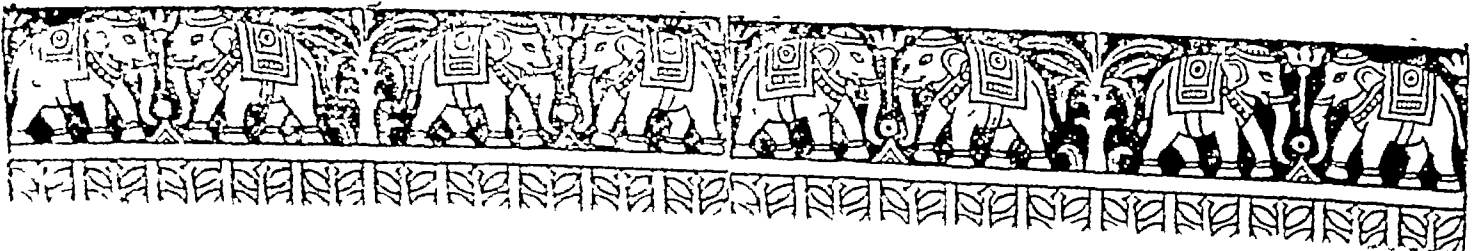
प्राकृत का साहित्य पाच सौ ईस्वी के वाद भी लिखा मिलता है वाक्पतिराज के 'गउडवहो' का समय सातवी, आठवी सदी माना जाता है कौतूहल कृत 'लीलावईकहा' भी नि सदेह उत्तरकालीन रचना है प्राकृत व्याकरण के अध्ययन के फलस्वरूप दक्षिण भारत के अठारहवी शती के एक कवि रामपाणिधाय ने 'कसवहो' व 'उसाणिरुद्ध' नामक दो ग्रथो का भागवत पुराण के आधार पर प्राकृत मे प्रणयन किया अर्थात् प्रथम ईस्वी शताब्दी से लेकर चौदहवी शताब्दी तक सामान्यत और अठारहवी शती के आरम्भ तक विरलत प्राकृत साहित्य लिखा जाता रहा [1] इसी प्रकार सस्कृत भाषा मे अद्यावधि काव्य सृजन होता ही है अपभ्रश के सबध मे भी प्राकृत की वात दोहराई जा सकती है डा० उपाध्ये ने योगीन्दु के परमप्पयासु और योगसार का समय छठी शताब्दी के लगभग माना है तब से लेकर तेरहवी शती तक विशेष रूप से और सत्रहवी शती तक अपवाद रूप मे अपभ्रश मे काव्यरचना होती रही है भगवतीदास का मृगाकलेखाचरित या चन्द्रलेखा विक्रम सवत् १७०० मे लिखा गया है [2]

जिस प्रकार सस्कृत और प्राकृत मे रचनायें कुछ काल तक समानान्तर रूप से लिखी जाती रही, उसी प्रकार अपभ्रश का भी प्राकृत के साथ प्रचार रहा उसी प्रकार अपभ्रश का आधुनिक आर्य भाषाओं के पूर्व रूपों के साथ भी प्रचलन रहा अपभ्रश यद्यपि १२ वी शती से बोलचाल की भाषा नही थी, केवल साहित्य की भाषा थी, फिर भी वह पन्द्रहवी शती तक स्वतत्र रूप से अथवा नव्यतर प्रादेशिक भाषाओ मे घुलमिलकर प्रयोग मे आती रही हैं इस तथ्य का समर्थन हमे सिद्ध-साहित्य से मिलता है

सिद्धो की रचनाओं के दो रूप उपलब्ध है—[१] दोहाकोष [२] चर्यापद डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने दोहाकोषो और चर्यापदो मे ही दो प्रकार की उपभाषाओं की ओर सकेत किया है, चर्यापदो की भाषा पूर्वी है, जिसे वे पुरानी बगाली कहते हैं क्यो कि उसमे बहुत से क्रियारूप, शब्दरूप तथा ऐसे मुहावरे हैं जिनकी परम्परा पुरानी बगाली मे चली आई है दोहाकोषो मे एक ही भाषा है पश्चिमी अथवा शौरसेनी अपभ्रश [3] 'डाकार्णव' के सम्पादक डा० नगेन्द्रनारायण चौधरी डाकार्णव की भाषा को शौरसेनी अपभ्रश पर आधारित मानते हैं किन्तु कही-कही पर उसमे पूर्वी बगाल के शब्दरूपो, उच्चारणो तथा मुहावरो का प्रभाव मानते हैं[4] इस तथ्य को ध्यान मे रखते हुए डा० धर्मवीर की मान्यता है—दोहा लिखते समय सिद्धो ने पश्चिमी या शौरसेनी अपभ्रश प्रयोग किया क्योकि वह भाषा दोहो मे मज चुकी थी, किन्तु जब उन्होने गेय पद लिखे तो स्थानीय बोली को आधार बनाया किन्तु चूकि वह बोली अभी काव्य मे मजी नही थी अत स्थान-स्थान पर उन्होने अभिव्यक्ति और काव्यपरिष्कार के लिये शौरसेनी का सहारा लिया [5]

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र मे उकारबहुला भाषा का प्रयोग हिमवत्, सिन्धुसौवीर और उनके आश्रित देशो के लोगो के लिये करने का आदेश दिया है [6] इससे ज्ञात होता है कि अपभ्रश की विशेषतायें भारतवर्ष के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशो मे प्रगट होने लग गई थी इस प्रकार उकार-बहुला अपभ्रश की प्रवृत्ति पर हाल मे शकाये उठाई गई है डा० परशुराम ल० वैद्य ने विद्वानो का ध्यान इस ओर आकर्षित किया है कि अपभ्रश के अतिरिक्त प्राकृत 'धम्मपद' 'ललितविस्तर' और 'सद्धर्मपुण्डरीक' जैसे बौद्ध ग्रथो मे भी उकार की प्रवृत्ति पाई जाती है अत उकार-बहुला भाषा का अर्थ केवल अपभ्रश ही लगाना ठीक नही होगा नामवरसिंह ने विस्तारपूर्वक बताया है कि प्राकृत धम्मपद की रचना पेशावर के

---

१ डा० हरदेव बाहरी प्राकृत और उसका साहित्य—पृ० १४२
२ डा० हरिवंश कोछड अपभ्रश साहित्य—पृ० १७
३ चटर्जी आरिजिन एड डेवलपमेंट आफ बेंगाली लग्वेज, पृ० ११४
४ डा० नागेन्द्रनारायण चौधरी—डाकार्णव पृ० १६
५ डा० धर्मवीर भारती सिद्ध साहित्य पृ० २८६
६ भरत नाट्यशास्त्र १७-६२
हिमवत्सिन्धु सौवीरान् ये जना समुपाश्रिता ।
उकारबहुला तज्ज्ञस्तेषु भाषा प्रयोजयेत् ॥

प्राकृत का साहित्य पाच सौ ईस्वी के बाद भी लिखा मिलता है ...
सदी माना जाता है कौतूहल कृत 'लीलावईकहा' भी नि सदेह ...
फलस्वरूप दक्षिण भारत के अठारहवी शती के एक कवि रामपाणिपाद ने '...' ...
भागवत पुराण के आधार पर प्राकृत मे प्रणयन किया अर्थात् प्रथम ईस्वी शताब्दी से ...
सामान्यत और अठारहवी शती के आरम्भ तक विरलत प्राकृत साहित्य लिखा जाता रहा ...
मे अद्यावधि काव्य-सृजन होता ही है अपभ्रश के सबध मे भी प्राकृत की बात दोहराई जा सकती है डा० ...
योगीन्दु के परमप्पपयासु और योगसार का समय छठी शताब्दी के लगभग माना है तब से लेकर तेरहवी शती तक विशेष
रूप से और सत्रहवी शती तक अपवाद रूप मे अपभ्रश मे काव्यरचना होती रही है भगवतीदास का मृगाकलेखाचरित
या चन्द्रलेखा विक्रम सवत् १७०० मे लिखा गया है[२]

जिस प्रकार सस्कृत और प्राकृत मे रचनायें कुछ काल तक समानान्तर रूप से लिखी जाती रही, उसी प्रकार अपभ्रश का भी प्राकृत के साथ प्रचार रहा उसी प्रकार अपभ्रश का आधुनिक आर्य भाषाओं के पूर्व रूपो के साथ भी प्रचलन रहा अपभ्रश यद्यपि १२ वी शती से बोलचाल की भाषा नही थी, केवल साहित्य की भाषा थी, फिर भी वह पन्द्रहवी शती तक स्वतत्र रूप से अथवा नव्यतर प्रादेशिक भाषाओ मे घुलमिलकर प्रयोग मे आती रही है इस तथ्य का समर्थन हमे सिद्ध-साहित्य से मिलता है

सिद्धो की रचनाओ के दो रूप उपलब्ध है—[१] दोहाकोष [२] चर्यापद डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने दोहाकोषो और चर्यापदो मे ही दो प्रकार की उपभाषाओ की ओर सकेत किया है, चर्यापदो की भाषा पूर्वी है, जिसे वे पुरानी बगाली कहते हैं क्यो कि उसमे बहुत से क्रियारूप, शब्दरूप तथा ऐसे मुहावरे है जिनकी परम्परा पुरानी बगाली मे चली आई है दोहाकोषो मे एक ही भाषा है पश्चिमी अथवा शौरसेनी अपभ्रश[३] 'डाकार्णव' के सम्पादक डा० नगेन्द्रनारायण चौधरी डाकार्णव की भाषा को शौरसेनी अपभ्रश पर आधारित मानते है किन्तु कही-कही पर उसमे पूर्वी बगाल के शब्दरूपो, उच्चारणो तथा मुहावरो का प्रभाव मानते है[४] इस तथ्य को ध्यान मे रखते हुए डा० धर्मवीर की मान्यता है—दोहा लिखते समय सिद्धो ने पश्चिमी या शौरसेनी अपभ्रश प्रयोग किया क्योकि वह भाषा दोहो मे मज चुकी थी किन्तु जब उन्होने गेय पद लिखे तो स्थानीय बोली को आधार बनाया किन्तु चूकि वह बोली अभी काव्य मे ... थी अत स्थान-स्थान पर उन्होने अभिव्यक्ति और काव्यपरिष्कार के लिये शौरसेनी का सहारा लिया[५]

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र मे उकारबहुला भाषा का प्रयोग हिमवत्, सिन्धुसौवीर और उनके आश्रित ... के लिये करने का आदेश दिया है[६] इससे ज्ञात होता है कि अपभ्रश की विशेषतायें भारतवर्ष के उत्तर-पश्चिमी ... प्रगट होने लग गई थी इस प्रकार उकार-बहुला अपभ्रश की प्रवृत्ति पर हाल मे शकाये उठाई गई है डा० ... ल० वैद्य ने विद्वानो का ध्यान इस ओर आकर्षित किया है कि अपभ्रश के अतिरिक्त प्राकृत 'धम्मपद ...' और 'सद्धर्मपुण्डरीक' जैसे बौद्ध ग्रथो मे भी उकार की प्रवृत्ति पाई जाती है अत उकार-बहुला भाषा ... अपभ्रश ही लगाना ठीक नही होगा नामवरसिंह ने विस्तारपूर्वक बताया है कि प्राकृत धम्मपद की रचना ...

---

१ डा० हरदेव बाहरी प्राकृत और उसका साहित्य—पृ० ...
२ डा० हरिवश कोछड़ अपभ्रश साहित्य—पृ० १७
३ चटर्जी ओरिजिन एड डेवलपमेंट आफ बेंगाली लग्वेज, पृ० ...
४ डा० नागेन्द्रनारायण चौधरी—डाकार्णव पृ० ...
५ डा० धर्मवीर भारती सिद्ध साहित्य पृ० ...
६ भरत नाट्यशास्त्र १७-६२
हिमवत्सिन्धु सौवीरान् ये जना समुपाश्रिता ।
उकारबहुला तज्ज्ञस्तेषु भाषां प्रयोजयेत् ।।

आसपास खेतान के निकट गोश्रृंग अथवा गोशीर्ष विहार मे प्राप्त हुई थी।[1] यह भरत के निर्देशानुसार उकार-बहुला भाषा का क्षेत्र था और इसलिए धम्मपद की प्राकृत पर स्थानीय प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। इसी प्रकार ललित विस्तर में अपभ्रंश की भरमार है। इसका रूप लगभग चौथी शती में स्थिर हुआ था। चूंकि चौथी शती में अपभ्रंश का उद्भव हो चुका था, इसलिये ललितविस्तर में इस उकार-बहुला भाषा का प्रभाव दीख पड़ता है। राजशेखर ने अपने ग्रंथ 'काव्यमीमांसा' मे अपभ्रंश का विस्तारक्षेत्र सकल मरुभूमि, टक्क और भादानक बताया है।[2] इससे प्रतीत होता है कि राजशेखर के समय तक अपभ्रंश का प्रसार राजस्थान, पंजाब, सौराष्ट्र, गुजरात तथा समस्त पश्चिमोत्तर भारत में हो गया था। धीरे-धीरे इसका प्रसार बढ़ता गया और नवीं शती में इसका प्रसार हिमालय की तराई से गोदावरी और सिन्धु से ब्रह्मपुत्र तक था।[3] अपभ्रंश कविता पर विचार करते हुए राहुल जी ने लिखा है— "जहां सरहपा और शबरपा बिहार—बंगाल के निवासी थे, वहां अब्दुररहमान का जन्म मुल्तान में हुआ था। स्वयम्भू और कनकामर शायद अवधी और बुन्देलीयुक्तप्रान्त के थे, तो हेमचन्द्र और सोमप्रभ गुजरात के और रसिक तथा आश्रयदाता होने के कारण मान्य खेट [मालखेड—दक्षिण हैदराबाद] का भी इस साहित्य के सृजन में हाथ रहा है। इस प्रकार हिमालय से गोदावरी और सिन्धु से ब्रह्मपुत्र तक ने इस साहित्य के निर्माण मे हाथ बटाया है।"[4] इससे जान पड़ता है कि अपभ्रंश के नाम से यह जानी जाती एक साहित्यिक भाषा होनी चाहिये जो इस विस्तृत भूभाग में कविता के लिये प्रयुक्त की जाती रही है और जिससे कालान्तर मे विभिन्न अर्वाचीन आर्य भाषाओं का विकास हुआ। लेकिन यह बिल्कुल संभव नहीं है कि एक ही प्राकृतोत्तर अपभ्रंश से आधुनिक विभिन्न आर्यभाषाएं विकसित हुई हों। उदाहरणार्थ मागधीप्राकृत से जो अपभ्रंश भाषा विकसित हुई वही आधुनिक बंगला, उड़िया, आसामी, मागधी, मैथिली और भोजपुरी के रूप मे बदल गई हो, यह संभव नहीं जान पड़ता है। इन सब की पूर्ववर्ती अपभ्रंश भाषायें निश्चय ही अलग अलग रूपों में रही होंगी।[5] इसी मत को ग्रियर्सन[6] पिशल, हर्नले[7] पंडित कामताप्रसाद गुरु[8] डा. धीरेन्द्र वर्मा प्रभृति[9] पण्डित मानते हैं।

आजकल प्रत्येक प्राकृत के अपभ्रंश रूप की कल्पना की जाने लगी है, किन्तु व्याकरण के प्राचीन ग्रंथों में इस प्रकार का विभाजन नहीं दिखाई देता। रुद्रट ने अवश्य अपने काव्यालंकार में देश-भेद के अनेक भेदों का निर्देश किया है।[11] अपभ्रंश में अनेकता की स्थापना बहुत से उत्तरकालीन वैयाकरणों द्वारा भी की गई है. नमि साधु,[12] रामचन्द्र गुणचन्द्र,[13] पुरुषोत्तम,[14] रामतर्कवागीश,[15] क्रमदीश्वर,[16] मार्कण्डेय[17] आदि ने अपभ्रंश में अपने-अपने ढंग से अनेकता की स्थापना

---

१. नामवरसिंह : हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ. १८
२. राजशेखर : काव्यमीमांसा, पृ. ५४
३. नेमिचन्द्र जैन : हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन, पृ.
४. राहुल सांकृत्यायन : हिन्दी काव्यधारा, भूमिका, पृ. १२
५. हजारीप्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य, पृ० ६
६. एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, भाग १, पृ. २१ पर निर्देश
७. पिशल : प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पृ. ५८, हिन्दी अनुवाद
८. हर्नले : कम्परेटिव ग्रामर आफ गौडियन लैंग्वेजेज—भूमिका—पृ. [illegible]
९. पं. कामताप्रसाद : हिन्दी व्याकरण—पृ. ३०
१०. डा. धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी भाषा का इतिहास, भूमिका—पृ. ४६, ५
११. रुद्रट : काव्यालंकार— [illegible] —'षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंश'
१२. नमि साधु : काव्यालंकार वृत्ति— [illegible]
१३. रामचन्द्र गुणचन्द्र : नाट्यदर्पण—
१४. पुरुषोत्तम : प्राकृतानुशासन—प्राकृतसर्वस्व, पृ. [illegible] पर उद्धृत
१५. रामतर्कवागीश : प्राकृतकल्पतरु—प्राकृतसर्वस्व, पृ. [illegible] पर उद्धृत
१६. क्रमदीश्वर : संक्षिप्तसार—प्राकृत पाद
१७. मार्कण्डेय : प्राकृतसर्वस्व, पृ. [illegible]

की है, किन्तु सभी का उल्लेख अपूर्ण और अपर्याप्त है शेषकृष्ण की प्राकृतचन्द्रिका मे अपभ्रंश के सत्ताईस भेद स्थापित[1] करने की चेष्टा की गई मार्कण्डेय ने अपने 'प्राकृतसर्वस्व' मे प्राकृतचद्रिका से जो लक्षण और उदाहरण उद्धृत किये हैं, वे इतने अपर्याप्त और अस्पष्ट है कि स्वय मार्कण्डेय ने इनको सूक्ष्म कहकर नगण्य बताया है और इनका पृथक्-पृथक् लक्षण-निर्देश न कर इन सभी को नागर, व्राचड और उपनागर इन तीन प्रधान भेदो मे ही अन्तर्भुक्त माना है[2] कुवलयमाला मे अठारह देशी बोलियो के नाम गिनाये है राहुलजी इनकी गणना अपभ्रंश के प्रकारो मे करते है[3]

अपभ्रंश का जो भी साहित्य मिलता है, वह बहुत कम भाषागत भेदो को लिए है यह समस्त साहित्य एक ही परिनिष्ठित भाषा का है, यद्यपि उसमे स्थानीय प्रभाव अल्प मात्रा मे मिल सकता है ग्यारहवी शती मे नमि साधु ने अपभ्रंश के तीन भेद-उपनागर, आभीर और ग्राम्य गिनाये है पुरुषोत्तम ने बारहवी शती मे अपभ्रंश के नागरक, व्राचड, और उपनागरक भेद माने है तेरहवी शती मे शारदातनय ने नागरक, उपनागरक और ग्राम्य ये तीन प्रकार माने सत्रहवी शती मे मार्कण्डेय ने नागर उपनागर और व्राचड ये तीन भेद माने, इसका उल्लेख हम पहले कर चुके है व्राचड अपेक्षाकृत अपरिष्कृत मानी गई है परिष्कृत अपभ्रंश को नागर पुकारा गया है जब यह प्राकृत से मिश्रित होती तो उसे उपनागर कहा जाता था[4] यह विभाजन देशगत न होकर सस्कार की दृष्टि से किया गया है, अत आधुनिक आर्य-भाषाओ की उत्पत्ति और विकास को समझने के लिये उपयुक्त नही है इसी समस्या के निराकरण के लिये प्राकृतो के अनुरूप ही विभिन्न अपभ्रंशो की कल्पना की गई है देशगत भेदो को सस्कार के आधार पर किये गये भेदो मे अन्तर्भुक्त मानना अनुचित है क्योकि जिन भाषाओ के उत्पत्तिस्थान भिन्न-भिन्न प्रदेश है और जिनकी प्रकृति भी भिन्न-भिन्न प्रदेश की प्राकृत भाषायें है तब वे अपभ्रंश भाषाएँ भी भिन्न-भिन्न ही हो सकती है और उन सब का समावेश एक दूसरी मे नहीं किया जा सकता[5] वास्तव मे बात यह है कि अपभ्रंश के देशगत कई प्रकार थे किन्तु चूंकि वे साहित्य मे गृहीत नही होते थे, अत परवर्ती और उत्तरकालीन वैयाकरण उनके नमूने न पा सके होगे उपयुक्त उदाहरणो के अभाव मे इसके अतिरिक्त और हो भी क्या सकता था ? डा० धीरेन्द्र वर्मा भी इसी धारणा को प्रकट करते दिखाई देते है[6] अवश्य ही बोलचाल की अनेक जनपदीय भाषाओ का प्रचलन रहा होगा किन्तु साहित्य मे अपभ्रंश का एक परिनिष्ठित रूप ही प्रयुक्त होता होगा

इसी धारणा की पुष्टि हमे 'रविकर' के कथन मे मिलती है रविकर ने अपभ्रंश के दो रूप दिये है—एक का विकास साहित्यिक प्राकृत के आधार पर हुआ परन्तु विभक्ति, समास, शब्द—विन्यास आदि की दृष्टि से वह भिन्न है और दूसरा देशी भाषा का रूप है[7] यह देशी स्वरूप साहित्य मे अधिक व्यवहृत नही होने के कारण आज अज्ञेय है किंतु अपभ्रंश का एक स्वरूप जो साहित्यिक भाषा के रूप मे मान्य था, उपलब्ध है अपभ्रंश के किन रूपो का प्रयोग साहित्य मे होता था, इसके विषय मे कुछ मतभेद अवश्य हैं किंतु—पश्चिमी वर्ग के वैयाकरणो ने साहित्य मे प्रयुक्त अपभ्रंश का आधार शौरसेनी ही माना है[8] और यह अनुमान किया जा सकता है कि शौरसेनी अपभ्रंश ही काव्य की भाषा के रूप

१ प्राकृतचन्द्रिका के भेद इस प्रकार हैं
व्राचटो लाटवैदर्भावुपनागरनागरौ, वार्बरावन्त्यपाचालटावकमालवकैकया ।
गोडोट्रहैपपाश्चात्यपाण्ड्यकौन्तलसह्वला , कालिग्यप्राच्यकार्णटकाञ्च्यद्राविडगौर्जरा ।
अभीरो मध्यदेशीय सूक्ष्मभेद व्यवस्थिता , सप्तविंशत्यपभ्रंशा वैतालादिप्रभेदत ।

२ मार्कण्डेय प्राकृत सर्वस्व—पृ० ३ तथा १००

३ राहुल साकृत्यायन हिन्दी काव्यधारा—भूमिका पृ० ७

४ कीथ हिस्ट्री आफ सस्कृत लिटरेचर—पृ० ३५

५ हरगोविंददास सेठ पाइयसद्दमहण्णवो—भूमिका पृ० ४५

६ डा० धीरेन्द्र वर्मा हिन्दी भाषा का इतिहास—भूमिका—पृ० ५०

७ डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल प्राकृतविमर्श—पृ० १७

८, रामसिंह तोमर प्राकृत व अपभ्रंश साहित्य का इतिहास और हिन्दी पर उसका प्रभाव, पृ० ६२-७२
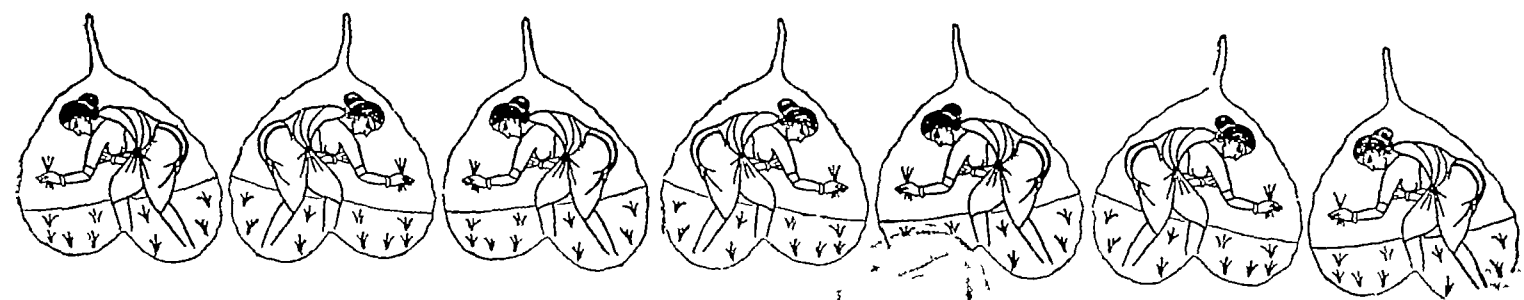
में प्रतिष्ठित थी ? डा सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का भी यही मत है कि पश्चिमी अथवा शौरसेनी अपभ्रंश ही समूचे आर्य—भारत गुजरात व पश्चिमी पजाब से बगाल तक प्रचलित 'लिंग्वा फ्रैंका' बन गई थी जो मधुर और काव्योप युक्त भाषा मानी जाती थी[१] फिर भी उस समय आधुनिक आर्यभाषाओं का स्वरूप गठित हो रहा था कुछ समय तक तो पुरानी शौरसेनी अपभ्रंश ही काव्य की भाषा के रूप म प्रयुक्त होती रही और विभिन्न प्रदेशों की बोलियाँ कभी-कभी उस प्रदेश में रचे जाने वाले साहित्य को प्रभावित करती रही बाद में वे बोलियाँ भी स्वतन्त्र काव्य भाषा के रूप में प्रयुक्त होने लगी[२] बाद में अक्सर ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं कि एक ही कवि नई काव्य-भाषा में भी रचना करता है और पुरानी अपभ्रंश में भी अपना काव्य-चमत्कार दिखाने का प्रयत्न करता है जैसे विद्यापति[३] इस प्रकार की दोनों भाषाओं यथा अपभ्रंश और देशी का प्रयोग इस बात का द्योतक है कि उस काल में ये दोनों भाषा रूप प्रचलित थ और शिक्षितो द्वारा समझे जाते थे[४]

भारतीय आर्यभाषा के विकास की जिस अवस्था को आज हम अपभ्रंश के नाम से पुकारते है उसके लिये सदा अपभ्रंश सज्ञा का व्यवहार नहीं हुआ है प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में उसका उल्लेख अपभ्रंश और अपभ्रष्ट के रूप में किया गया है अधिकाश संस्कृत विद्वानों ने अपभ्रंश शब्द का ही प्रयोग किया है अपभ्रष्ट शब्द का उल्लेख बहुत कम मिलता है 'विष्णुधर्मोत्तर पुराण' जैसे दो एक ग्रन्थों ने ही अपभ्रष्ट सज्ञा का व्यवहार किया है किन्तु अपभ्रंश ग्रंथो में अवब्भस अवहस अवहत्थ अवहट्टु अवहठ अवहट आदि नाम भी मिलते है परवर्ती कवियों द्वारा इन शब्दों का प्रयोग अधिकतर किया गया है अवहट्ट का अद्यावधि ज्ञात सबसे पहला प्रयोग ज्योतिरीश्वर ठाकुर के वर्णरत्नाकर—१३२५ ईस्वी मे मिलता है[५] यहाँ राजसभा म भाट द्वारा छह भाषाओं की गणना की जाती है विद्यापति ने कीर्तिलता की अपनी भाषा की प्रशसा करते हुये उसे 'अवहट्ट' कह कर पुकारा है[६] प्राकृत 'पैंगलम्' के टीकाकार वंशीधर की राय में 'प्राकृत पैंगलम्' की भाषा अवहट्ट ही है सन्देशरासक के रचयिता अब्दुर्रहमान ने अपने काव्य की भाषा को अवहट्ट कहा है कुवलयमालाकहा के रचयिता उद्योतनसूरि ने अवहस शब्द का प्रयोग किया है[९] इसी शब्द का प्रयोग कहीं *अवब्भस के रूप में भी हुआ है[१०] पुष्पदन्त संस्कृत और प्राकृत के साथ अवहस की गणना करते हैं.*[११] स्वयभू देव अपनी

१ चटर्जी ओरिजिन ऐंड डवलपमेंट आफ बंगाली लैंग्वेज—पृ ११३
२ वही पृ ११३-१४
३ डा धर्मवीर भारती सिद्ध साहित्य—पृ ३८८
४ डा भण्डारकर रिपोर्ट आन दी सर्च फार एम एस एस १८८३-८४ पृ ७१
५ ज्योतिरीश्वर ठाकुर वर्णरत्नाकर—४४ ख पृ ४४
पुनु कइसन भाट सँस्कृत प्राकृत अवहट्ठ, पैशाची शौरसेनी मागधी, छहु भाषा तत्त्वज्ञ
६ विद्यापति कीर्तिलता—प्रथम पल्लव
सक्कय वाणी बुहअन भावइ पाउँअ रसको मम्म न पावइ ॥२ ॥
देसिल वअना सबजनमिट्ठा त तैसन जम्पओ अवहट्ठा ॥२१॥
७ वंशीधर प्राकृत पैंगलम् टीका पृ ३
पढमं भासतरंडो णाओ सो पिंगलो जअइ गाथा १
टीका—प्रथमो भाषातरंड प्रथम भाषा भाषा अवहट्ठ भाषा
यथा भाषया अय ग्रन्थो रचितः स अवहट्ठ भाषा
८ अब्दुर्रहमान सन्देशरासक—प्रथम प्रक्रम छंद ६
अवहट्टय सक्कय पाइयमि पेसाइयमि भासाए लक्खणछंदाहरणे सुकइत्तं भूसियं जेहि
९ एम सी मोदी अपभ्रंश पाठावली—पृ १४ १८ पर उद्धृत
१० भण्डारकर इंस्टिट्यूट की एस ओ ले एम भाग १३ १
दि कि कथाभावनम्ब भा दा
११ पुष्पदन्त—महापुराण सधि ५ कड़वक १ —सक्कउ पायउ पुणु अवहं सउ

१ अवहट्ट वस्तुत अपभ्रंश ही है
२ अवहट्ट नाम से अपभ्रंश की विकसित अवस्था अथवा परवर्ती कनिष्ठ अपभ्रंश का बोध होता है जो अपभ्रंश के साहित्यिक आधार पर विकसित हुई
३ इसके विकास में दरबारी कविता की परम्परा का बड़ा भारी हाथ रहा है
४ अवहट्ट में स्थानीय प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक है

इसलिए प्रस्तुत प्रबन्ध में अपभ्रंश को व्यापक अर्थ में ग्रहीत किया गया है जिसमें अवहट्ट भी आ जाती है
विद्यापति के पूर्वोक्त उद्धरण 'देसिल बअना सब जन मिठ्ठा' को लेकर कुछ विद्वानों ने अपभ्रंश को देसी या देशी माना है इस दिशा में विभिन्न विद्वानों ने काफी काम किया है पिशेल ने अपने प्राकृत भाषाओं के व्याकरण में 'देसी' पर विचार किया है[१] ग्रियर्सन ने अपने एक विस्तृत निबन्ध 'आन दी माडर्न इण्डो-आर्यन वर्नाक्यूलर्स' में भी इस सम्बन्ध में प्रकाश डाला है[२] डा. उपाध्ये ने एन्साइक्लोपीडिया आफ लिटरेचर में प्रकाशित अपने निबन्ध 'प्राकृत लिटरेचर' में इस प्रश्न को उठाया है और डा. तगारे ने तो अपनी पुस्तक 'हिस्टारिकल ग्रेमर आफ अपभ्रंश' में 'देशी और अपभ्रंश' शीर्षक से अलग विस्तृत अध्याय लिख डाला है विद्यापति की उक्त पंक्तियों के आधार पर डा. बाबूराम सक्सेना देसी और अवहट्ट को एक ही मानते हैं[३] डा. हीरालाल जैन स्वयम्भू पुष्पदन्त पद्मदेव लक्ष्मण आदि अपभ्रंश के कवियों के लम्बे उद्धरण देकर सिद्ध करते हैं कि इनकी भाषा देसी थी[४] किन्तु प्रसिद्ध भाषा-विद् सुनीतिकुमार अपभ्रंश अर्थात् देसी—इस धारणा को सही नहीं मानते[५] अतः देसी शब्द के प्रयोग का विकास क्रम जानना ही ऐसी दशा में एक मात्र मार्ग हो सकता है जिससे हम सचाई तक पहुँच सकें

देसी शब्द का प्रयोग भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में भी किया है किन्तु वहाँ भाषा देसी नहीं है शब्द देसी हैं उनकी राय में जो शब्द संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों से भिन्न हों उन्हें देसी मानना चाहिए भरत के देसी शब्द की यह परिभाषा प्रायः बहुत पीछे तक आलंकारिकों और वैयाकरणों द्वारा मान्य रही है बारहवीं शती के प्रसिद्ध वैयाकरण हेमचन्द्राचार्य द्वारा रचित 'देसी नाममाला' ऐसे ही शब्दों का संकलन ग्रन्थ है जिनकी व्युत्पत्ति प्रकृति प्रत्यय के आधार पर सिद्ध न हो सके उन्होंने उन शब्दों को देसी माना है जो 'लक्षण' से सिद्ध नहीं होते हैं देसी शब्द के बारे में वैयाकरणों और आलंकारिकों की उपर्युक्त व्युत्पत्ति प्रणाली को ही लक्ष्य करके पिशेल ने कहा था कि ये वैयाकरण प्राकृत और संस्कृत के प्रत्येक ऐसे शब्द को देसी कह सकते हैं जिसकी व्युत्पत्ति संस्कृत से न निकाली जा सके[६] इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि 'देसी' का प्रयोग शब्द के लिए हुआ है और भरत रुद्रट हेमचन्द्राचार्य व त्रिविक्रम आदि वैयाकरण मानकर चलते हैं कि प्रत्यय प्रकृति-विचार के घेरे के बाहर के शब्द देसी हैं

भाषा अथवा बोली के लिए भी 'देसी' विशेषण अथवा संज्ञा का उपयोग किया जाता रहा है 'तरंगवई कहा' के प्रणेता पादलिप्त ने अपनी प्राकृत भाषा को 'देसी वयण'[७] कहा है उद्योतन सूरि ने अपनी रचना *कुवलयमाला* में *महाराष्ट्री*

---

१ [illegible] —पृ. ४४ ४४
[illegible]
२ [illegible] —पृ. ७
[illegible]
३ [illegible]
A regard the identification of Deshi = Apbhransha I feel doubts
६ [illegible]
७ [illegible] अनुसार पृ. [illegible]
[illegible]
[illegible] —[illegible] १०५८ १०९

प्राकृत को देशी नाम दिया है और उनका प्राकृत-सम्भवतः शौरसेनी से भेद स्थापित किया है[1] कोउहल ने 'लीलावई कहा' मे महाराष्ट्री प्राकृत को ही देशी भाषा कहा है[2] इन उदाहरणो से ज्ञात होता है कि भाषा के रूप मे देशी शब्द का यहा प्राकृत के लिए प्रयोग हुआ है, किन्तु परवर्ती कवियो ने अपभ्रश को भी देशी कह कर पुकारा है स्वयभू ने अपनी रामायण—पउमचरिउ—को ग्रामीण भाषा मे रचित बताया है[3] अपभ्रश के दूसरे एक महान् कवि पुष्पदन्त ने भी 'महापुराण' मे अपनी काव्यभाषा को देशी के नाम से पुकारा है[4] एक सहस्र ईसवी मे कवि पद्मदेव ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पासणाहचरिउ' की भाषा को 'देसी सद्दत्थगाढ' मे युक्त बताया[5] इन सब उल्लेखो से जान पडता है कि परवर्ती काल मे अपभ्रश देशी भाषा कहलाने लगी थी

जब अपभ्रश साहित्यिक सिंहासन पर आरूढ होकर रूढिग्रस्त हो गई तो उसकी तुलना में अवहट्ट को भी देसी कहा जाने लगा

इसी प्रकार जनपदीय बोलियाँ भी देसी नाम से पुकारी जाने लगी विद्यापति का,[6] उल्लेख हमारे कथन का समर्थन करता है महाराष्ट्र के सत कवि ज्ञानेश्वर ने भी[7] देसी शब्द का प्रयोग पुरानी मराठी के लिए किया है[8] इन निर्देशो से जान पडता है कि देसी शब्द का प्रयोग प्राकृत, अपभ्रश, अवहट्ट और जनपदीय बोलियो के लिए समय समय पर होता रहा है वस्तुत देशी विशेषण एक सापेक्षित शब्द है प्राकृत से भी पहले पाली के लिए इस सज्ञा का प्रयोग किया जाता था भगवान् बुद्ध ने अपना उपदेश देश भाषा मे ही किया था और उसी भाषा मे उन्हे सुरक्षित रखने का आदेश भी दिया था[9] तात्पर्य यह है कि प्रत्येक युग मे साहित्यारूढ भाषा के समानान्तर कोई न कोई देशी भाषा रही है—जो जनता के सामान्य समुदाय द्वारा प्रयुक्त होती रही है उसे ही सदा देशी कहा जाता रहा है, अत देशी का अर्थ केवल अपभ्रश मानना अनुचित है

डाक्टर कीथ ने अपने ग्रथ 'सस्कृत साहित्य का इतिहास' मे पहले खड मे भाषाओ का विवेचन किया है उन्होंने रुद्रट और दडी का आश्रय लेकर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि अपभ्रश किसी रूप मे कभी देशभाषा नही थी वह आभीर, गुर्जर आदि विदेशी आक्रमणकारियो की भाषा थी और उन्ही के साथ-साथ उसका प्रसार व उसकी प्रतिष्ठा हुई अत उसे मध्यकालीन प्राकृतो और आधुनिक आर्यभाषाओ की बिचली कडी मानना ठीक नही है,[10] यहाँ हम डाक्टर कीथ की मान्यता पर विचार करेंगे उनकी यह धारणा कि अपभ्रश मध्यकालीन प्राकृतो और आधुनिक आर्यभाषाओ के बीच की कडी नही है, आज कोई नही मानता भाषाविज्ञान की दृष्टि से यह मान्यता गलत है रुद्रट का उल्लेख

---

१ कोउहल—लीलावई कहा—स० आ० ने० उपाध्ये द्वारा भूमिका में उद्धृत—
 पायय भासारइया मरहट्ठय देसीवयणणिवद्धा

२ कोउहल—लीलावई कहा, गाथा १-३०
 भणिय च पिययमाए रइय मरहट्ट देसीभासाए

३ (क) स्वयभू—रामायण, हिन्दी काव्यधारा, पृ० २६ से उद्धृत
 छुडु होसि सुहासियवयणइ गामेल्लभास परिहरणाइ
 (ख) वही 'देसी भासा उभयतडुज्जल'

४ पुष्पदन्त—महापुराण, १-८-१० 'ण वियाणमि देसी'.

५ पद्मदेव पासणाहचरिउ—वायरणु,देखि सद् अगाढ, छदालकार विसाल पौढ

६ देसिल बयना सबजन मिट्ठा

७ ज्ञानेश्वर ज्ञानेश्वरी-अध्याय १८
 अम्हो प्राकृते देशीकारे बन्धे गीता

८ डा० कोलते विक्रम स्मृति ग्रन्थ, पृ० ४७६

९ नामवरसिंह हिन्दी के विकास में अपभ्रश का योग—पृ० ८

१० कीथ हिस्ट्री आफ सस्कृत लिटरेचर, पृ० ३३
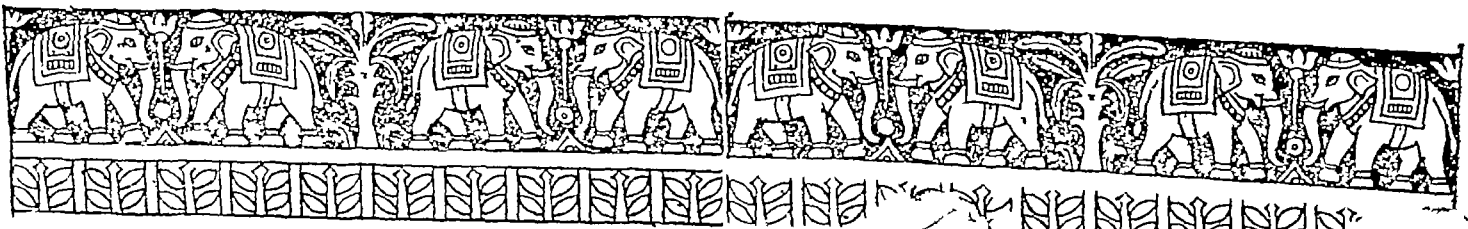
'पष्ठस्तु भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंश' और मार्कण्डेयका सत्ताईस प्रकार के विभाजन का आधार हमें अपभ्रंश को देशभाषा मानने को बाध्य करता है[1] उनकी यह मान्यता कि अपभ्रंश आभीर गुर्जर आदि विदेशी आक्रमकों की भाषा थी पूरा ठीक नही लगता हाँ अपभ्रंश के विकास विस्तार और प्रतिष्ठा में अवश्य इस समुदाय का हाथ रहा है उससे इन्कार नही किया जा सकता

आरम्भ में अपभ्रंश को आभीरो की भाषा माना जाता था आभीरोक्ति या 'आभीरादिगिर' का यही अभिप्राय है कि अपभ्रंश वह भाषा है जिसका काव्य में उस समय आभीरादि निम्नवर्ग के लोग प्रयोग करते थे इसका यह अभिप्राय नही कि अपभ्रंश आभीर लोगो की निजी भाषा थी या आभीरादि जन इस भाषा को अपने साथ कहीं से लाये वास्तव में आभीर या उनके साथी जहाँ-जहाँ गये उन्होने वहीं की स्थानीय प्राकृत को अपनाया और उसमें निज स्वभावानुकूल स्वर या उच्चारण सम्बन्धी परिवर्तन कर दिये आभीर-स्वभाव के कारण इसी परिवर्तित एवं विकृत अथवा[2] विकसित भाषा को ही अपभ्रंश का नाम दिया गया है इस प्रकार हमने देखा कि अपभ्रंश के साथ आभीरो का संबन्ध जुड़ा हुआ है अतः अपभ्रंश के विकास और प्रसार को समझने के लिए इस जाति के इतिहास पर दृष्टिपात करना बहुत सहायक होगा

आभीर जाति का उल्लेख सबसे पहले महाभारत में मिलता है नकुल के प्रतीची विजय प्रसग में आभीरो को सिन्धु के किनारे रहने वाला कहा गया है[3] शल्य-पर्व मे बलदेव की तीर्थ-यात्रा के सदर्भ में आता है कि राजा ने उस स्थान में प्रवेश किया जहाँ शूद्र आभीरो के कारण सरस्वती नष्ट हो गई[4] जब अर्जुन यादवियों को लेकर द्वारका से वापिस लौटते है तो दस्यु, लोभी और पापकर्मी आभीर हमला करके महिलाओं को छीन ले जाते हैं अर्जुन के साहसपूर्ण जीवन में यही एक ऐसा प्रसग है जब कि उसके विश्वविजयी गाण्डीव की कुछ भी न चल सकी[5] अन्यत्र उनको द्रोण के सुपर्णव्यूह में योद्धाओं की पक्ति मे रखा गया है[6] इन्हें शूद्र माना गया है

पाणिनि के समय मे भी इन्हे 'महाशूद्र' कह कर पुकारा गया है[7] मनुस्मृति मे आभीरो को ब्राह्मण पिता और अम्बष्ठ माताओं से उत्पन्न माना है[8] इसी से जयचन्द्र विद्यालंकार इन्हे मारवाड़ व राजपूताने का मूल निवासी गिनते है[9] किंतु अधिकांश विद्वान् इन्हे भारत में बाहर से आने वाले वर्ग में सम्मिलित करते है आचार्य केशवप्रसाद ने आभीरों के दो दलों की कल्पना की है पहली बार जो आभीर आये वे आर्यो की वर्णाश्रम व्यवस्था के भीतर गृहीत होकर 'शूद्राभीर' कहे जाने लगे[10] दूसरा दल बाद में आया वह उद्धत और लुटेरा था इसलिये वह भारतीय सस्कृति में अन्तर्भुक्त नही हुआ आगे यवन आक्रमण काल मे ये सब इस्लाम धर्म में दीक्षित हो गये[11] इन्हीं आभीरो की बोली स्थानीय भाषा का सम्बन्ध

---

१ श्यामसुन्दरदास हिन्दी भाषा पृ १८
२ हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य की भूमिका पृ २४ २५
३ महाभारत—पर्व २ अध्याय ३२ श्लोक १
४ महाभारत—पर्व ९ अध्याय ३७ प्रथम श्लोक
५ वही पर्व १६ अध्याय ७ श्लोक ४४ ४७.
६ वही—पर्व ७ अध्याय श्लोक ६
७. वासुदेव शरण अग्रवाल इण्डिया एज नोन टू पाणिनि—पृ ८
It may be noted that katyayana knows of a special caste (jāti) called Mahaśudra with its female Mahāśudrı The kasika explains the term to mean the Abhirās regarded as higher śudras
८ मनुस्मृति अध्याय १ श्लोक १५
९ देवेन्द्रकुमार अपभ्रंशप्रकाश—पृष्ठ १७
१० डा गुणे भविस्सयत्त कहा – भूमिका पृ ५३
११ देवेन्द्रकुमार अपभ्रंशप्रकाश—पृ १७

दिवगंत के वर्तमान प्रतिनिधि

श्रीब्रजलालजी महाराज और श्रीमधुकर मुनिजी, व्यावहारिक दृष्टि से स्वर्गीय आत्मा के गुरु-भ्राता होते हैं परन्तु उक्तमुनि ने उनमे भ्रातृत्व का नही, गुरुत्व का ही दर्शन किया है उनकी सेवा मे सदैव दत्तचित्त, उनकी आज्ञापालन के लिए सतत सतर्क, सर्वतोभावेन उनके श्रीचरणो मे सबकुछ अर्पण—यह सब गुरुशिष्य के पवित्र सम्बन्ध का मूल्याकन है, जिसमे मेरे दोनो स्नेही सहयोगी खरे उतरे हैं मैं अमर विश्वास के साथ कह सकता हूँ—स्वर्गीय आत्मा के पुनीत दर्शनो का लाभ आज भी उनका भक्तमडल, उक्त मुनि-युगल मे कर सकता है 'गुरुत्व शिष्यरूपेण चिर विजयतेतराम्'

डॉ० इन्द्रचन्द्र,
शास्त्री, एम०ए०, पी-एच० डी०

मुनि श्रीहजारीमलजी महाराज : कुछ सस्मरण

मैंने मुनि श्रीहजारीमलजी महाराज के सर्वप्रथम दर्शन १६३४ ई० मे किये थे ग्रीष्मावाकाश था, मै ब्यावर गुरुकुल मे गुरुवर प० श्रीशोभाचन्द्रजी भारिल्ल के पास ठहरा हुआ था आर्थिक आवश्यकता के कारण मैं किसी अस्थायी काम की खोज मे था और पण्डितजी ने मुनिश्री के अल्प-वयस्क गुरुभाई मधुकर मुनि को पढाने के लिए भेज दिया मुनिश्री नागौर (मारवाड) मे थे मैं वहाँ पहुँचा और छुट्टियाँ पूरी होने तक अध्यापन करता रहा यह सिलसिला भविष्य के लिए भी चल पडा और मैं प्रतिवर्ष ग्रीष्मावकाश मे उनके पास जाने लगा

मुनि श्रीहजारीमलजी का विहार-क्षेत्र मारवाड तक सीमित था नागौर, कुचेरा, खजवाना, नौखा, हरसोलाव, जोधपुर, तिंवरी, मथानिया, सोजत, किशनगढ, अजमेर तथा ब्यावर उनके प्रिय क्षेत्र थे दो-तीन नगरो को छोडकर मारवाड का प्रदेश प्राय अशिक्षित है अनेक स्थानो पर पानी का सकट बना रहता है ग्रीष्मऋतु मे यह और भी बढ जाता है ऐसे प्रदेश मे पैदल घूमकर धर्मोपदेश करना अपने आप मे बहुत बडी साधना है यदि एक शब्द मे कहा जाय तो मुनिश्री सच्चे स्थानकवासी साधु थे उनकी सरलता, निरभिमानता, सादगी का मुझ पर गहरा प्रभाव पडा मिथ्या आडम्बर धर्म-सस्था की बहुत बडी शक्ति है इसके बिना उसका प्रचार नही हो पाता और प्रचार के बिना धार्मिक सगठन नही टिक सकता किन्तु वही इसके पतन का कारण भी है साधक बाह्य-कामनाओ से विरक्त होकर त्याग का मार्ग अपनाता है किन्तु एक नये प्रकार की आसक्ति खडी हो जाती है शिष्य-मोह, प्रतिष्ठा-मोह, अनुयायियो का मोह आदि उस आसक्ति के विविध रूप है मुनिश्री मे आडम्बर का सर्वथा अभाव था उन्होने न कभी तपस्या का प्रदर्शन किया, न कभी ज्ञान का और न कभी चर्या का, मैले कपडे रखकर उन्होने कभी मल्लधारी बनने की भी चेष्टा नही की

साधु-समाज से मेरा सम्पर्क बचपन से रहा है और उसका अनुकूल-प्रतिकूल दोनो प्रकारका प्रभाव पडा है एक बार की बात है, जहाँ हमारा विद्यालय था, एक प्रभावशाली आचार्य का आगमन हुआ विद्यार्थियो के लिए नाश्ता करने से पहले व्यायाम करना होता था, फिर मुनिदर्शन उसके पश्चात् नाश्ते की अनुमति मिलती थी आचार्यश्री के साथ लगभग २० साधु थे व्यायाम के कारण थकावट और भूख पहले ही सताने लगती थी ऐसी स्थिति मे प्रत्येक साधु को तीन बार उठ बैठ-कर वन्दना करना अर्थात् साठ बैठकें और लगाना-बस की बात नही थी परिणामस्वरूप, पूरी विधि का पालन किये बिना केवल हाथ जोडकर उस नियम को निभाया जाने लगा इस बात की तुरन्त शिकायत हो गई एक दिन सस्था के अध्यक्ष की उपस्थिति मे आचार्यश्री के सामने हमारी पेशी हुई और यह पूछा गया कि हमे वन्दना करना आता है या नही ? प्रत्येक विद्यार्थी ने विधिपूर्वक वन्दना करके इस प्रश्न का उत्तर दिया आचार्यश्री ने पुन पूछा—प्रतिदिन प्रत्येक साधु को इस प्रकार वन्दना क्यो नही की जाती ? मेरे मन मे इस की भयकर प्रतिक्रिया हुई और उसके सस्कार अबतक

दसवी शताब्दी के मध्य तक उन्हे आमुखया के कारण भीनमाल छोड़ने को बाध्य होना पड़ा परिणाम स्वरूप ९५८ ई० में १८०० गुजरो ने सामूहिक रूप से एक साथ भीनमाल छोड़कर देशान्तर किया [1] इन गुर्जरो के अतिरिक्त अन्य पशु पालक एव यायावर जातियों के द्वारा भी अपभ्रंश को प्रसार-सुविधायें मिली होंगी कुछ भी हो अपभ्रंश अपनी प्रारंभिक अवस्था में चाहे इनकी बोली रही हो पर बाद में वह धीरे धीरे सारे भारत की भाषा हो उठी यह भाषा मूलतः जनता की बन चली थी और विदेशी नही थी

---

१ (क) बम्बई गजेटियर J B B R A S. Vol. 21 Page 41?
(ख) [illegible]
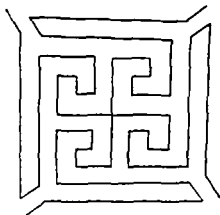
पाकर अपभ्रंश के रूप में विकसित हुई, ऐसा माना जा सकता है इन तथ्यों पर गम्भीरता से विचार करने पर एक प्रश्न उठता है, कि अशुद्ध शब्दों के लिये प्रयुक्त किया जानेवाला 'अपभ्रंश' विशेषण संस्कृत वैयाकरणों—उच्चवर्गी पण्डितों द्वारा आभीरों को 'म्लेच्छों' की भाषा मानकर—तिरस्कार व घृणा से 'अपभ्रष्ट' अथवा 'अपभ्रंश' संज्ञा के रूप में कहीं थोप तो नहीं दिया गया है, जो कि फिर प्रचलित हो गया जैसे हिन्दी की स्वच्छन्दवादी—रोमांटिक कविता के लिये दिया गया 'छायावाद' नाम

कुछ विदेशी इतिहासकारों ने, और उनके आधार पर अनेक भारतीय विद्वानों ने वैदिक और बौद्ध धर्म अथवा ब्राह्मण-क्षत्रिय के संघर्ष की पृष्ठ-भूमि पर इन आभीर, गुर्जर, हूण आदि नवीन आनेवाली दुर्दान्त और साहसी जातियों का क्षत्रियों के रूप मे सम्मान प्राप्त करने का उल्लेख किया है[1] ब्राह्मण वर्ग ने अपनी प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिये हूण, आभीर गुर्जर, आदि नवागन्तुकों को अपनी छाया मे ले लिया था उनको क्षत्रिय स्वीकार कर लिया और इस अर्थ कुछ यज्ञानुष्ठानों के विधान किये माउंट आबू के अग्निकुलीय क्षत्रियों का आविर्भाव इसी नये विधान का परिणाम था[2] कारण, कुछ भी रहे हों इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस जाति का प्रसार समस्त उत्तरापथ और मध्यभारत मे हो गया और इनके साथ ही अपभ्रंश भाषा को फैलने व विकास पाने का अवसर मिला

ईसा की दूसरी शताब्दी मे आभीरों का प्रसार काठियावाड़ तक था ऐसा अनुमान रुद्रदमन के एक अभिलेख मे लगाया जा सकता है काठियावाड़ मे 'गुन्द' नामक स्थान पर रुद्रदमन का एक अभिलेख मिला है, जिसमे उसके एक आभीर सेनापति 'रुद्रभूति' के दान का उल्लेख है विद्वान् उस अभिलेख को १८१ ई० का मानते है[3] एन्थोवेन ने ईसा की तीसरी शताब्दी के अन्त मे काठियावाड़ मे आभीरों के आधिपत्य की ओर संकेत करते हुये नासिक अभिलेख (३०० ई०) मे निर्देशित आभीर राजा ईश्वरसेन की ओर ध्यान आकर्षित किया है[4] समुद्रगुप्त के प्रयाग—स्तभ लेख मे (३६० ई०) आभीरों का आधिपत्य गुप्तसाम्राज्य की सीमा पर मालवा, गुजरात, राजस्थान आदि मे बताया गया है[5] पुराणो के अनुसार आन्ध्रभृत्यों के बाद दक्षिण आभीर जाति के ही हाथ आया और छठी शती के बाद हाथ से निकल गया उस समय ताप्ती से लेकर देवगढ तक का प्रदेश इन्ही के नाम पर विख्यात था आठवी शती मे जब काठी जाति ने सौराष्ट्र मे प्रवेश किया तब भी वहाँ आभीरों का अधिकार था[6] पन्द्रहवी शती मे खानदेश तक ये लोग फैले हुये थे आसा अहीर द्वारा आसीर-गढ के किले की स्थापना का उल्लेख फरिश्ते ने किया है[7] कुछ लोग मध्यदेश के मिर्जापुर जिले के आहिरौरा स्थान का सम्बन्ध आभीरों से मानते है[8]

दण्डी के 'आभीरादिगिर' मे 'आदि' के द्वारा किन जातियों की ओर संकेत है ? यह प्रश्न है भोज ने सरस्वतीकठाभरण मे लिखा है कि गुर्जर अपनी अपभ्रंश मे ही तुष्ट होते हैं इस आधार पर आभीरों के साथ गुर्जरों का सबध जोडा जाता है यद्यपि गुर्जरो की बोली गौर्ज्जरी का उल्लेख प्राचीन ग्रथो मे पाया जाता है फिर भी उनके द्वारा अपभ्रंश को सरक्षण और मान्यता मिली, इसे निश्चित तौर पर कहा जा सकता है भण्डारकर और जैक्सन की खोजो से पता चलता है कि छठी शताब्दी ईसवी मे गुर्जरो ने गुजरात और भडोच को जीता उनकी मुख्य शाखा की राजधानी भीनमाल थी और

१ डा० भगवतशरण उपाध्याय भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण—पृ० १०६

२ वही पृ० २२६

३ डा० भण्डारकर इंडियन एंटिक्वेरी—१९११ पृ० १६

४ एन्थोवेन ट्राइब्ज एण्ड कास्ट्स आफ बोम्बे—भाग-१ पृ० २१

५ विंसेंट स्मिथ अरली हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ० २८६

६ एथोवेन ट्राइब्ज एड कास्ट्स आफ बोम्बे—भाग १ पृ० २४

७ वही—पृ० २४

८ हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य की भूमिका—पृ० २४
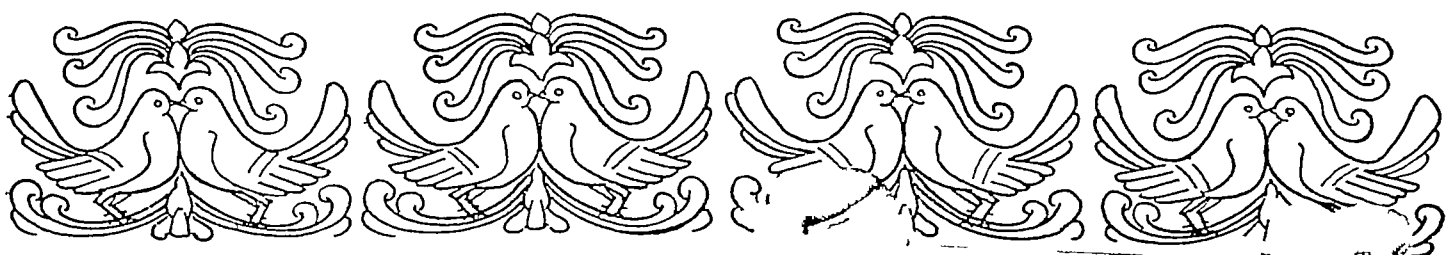
मुनि श्रीहजारीमल स्मृति-ग्रंथ

अंग्रेजी
विभाग

पंचम अध्याय

family both Mahāvīra and Pārśva were imbued with a philosophic outlook on life and therefore in the very early stages of their life, they took to renunciation and leaving behind the princely life of pleasures took to the forest to practise hard authorities, at the end of which they got Kevalajnāna or Perfect knowledge. In the light of this Kevalajnāna they formulated the form of new Religion with its basic principle of Ahimsā which they began to preach themselves living up to the ordeals of the ascetic life demanded by its doctrines and thus serving as perfect examples of what they taught. Like Buddha, the Magadha country was the centre of their religious propaganda and Mahāvīra wandered from place to place enlightening the people by his sermons delivered in their own language viz. Ardha māgadhī Severe privations of hunger and thirst, heat and cold, he suffered At times, he was beaten and belaboured by the angry and misguided masses who did not tolerate an attack on their religion. He was reviled and ridiculed spat upon and kicked but he never raised even his little finger in resistence. A perfect incarnation of Non violence and Passive Resistence indeed ! In his sermons he taught how highly valuable was this human lif which should be utilised in securing Emancipation instead of indulging in the transitory baneful pleasures of the sense Leave off this worldly life, become a monk and observe the Religion of the Five Vows (1) Do not kill or injure any living Being (2) Never depart from Truth in your speech and action (3) Do not take anything which is not given to you. (4) Observe a strictly pure life of celibacy and (5) Have no possessions except the religious requisites like the broom or the almsbowl. Practise severe penance curb the Kaṣāyas or Passions and destroy the Karmic matter which has thickly accumulated in the Soul and has thus prevented Right Knowledge. Then you will be free from this Samsāra or the migratory life and will enjoy perfect bliss and knowledge in the land of the Liberated !

This was the message of Lord Mahāvīra with which he approached the masses in the halo of his spiritual glory and converted them to his new Faith He reorganised and established the new order of monks on a sounder basis to which the laity was added later on, and thus it became a chaturvidha Samgha or Fourfold Order in which figured the monks and nuns on the one hand, and the Laymen and the Laywomen on the other Jainism, is, however essentially a religion for monks, as it promises Emancipation only after the renunciation of life A house holder can reach only the first few stages of the spiritual development, after which he must cut off all worldly ties to become a monk and to secure further development of the Soul leading up to Mokṣa The continuity of this Order has been maintained through an endless succession of disciple monks to this present day and it must be said to the credit of Jainism that it has been able to present to the world even today a very well-disciplined and pure Order of Sādhus who live the Religion in its austere rigour of all the details that characterise the daily life of a monk. The Jain Order came to be divided later on into two prominent sects, viz. the Svetāmbaras and Digambaras, with a third one of the Sthānakavāsis In spite of these schisms, however this religion has maintained its compactness and solidarity and having been able to possess a wealthy community among its adherents, it can hold up its head among the progressive religions of the world

The Jain Philosophy

The philosophy of Jainism may be briefly told as follows —

The wo ld is uncreated and exists from the beginning less Time It consists of Jīva and Ajīva

Prof N G Suru
Ruparel College, Bombay

JAINISM : A GREAT RELIGION

Introductory

Among the systems of Philosophy and Religion evolved in the land of the Aryans, Jainism occupies a high rank on account of its interesting religious and philosophic teaching, its high moral code, its varied literature, sacred and secular, written in the Ardha-māgadhī dialect, and its great prophets like Pārsva and Mahāvīra, who by their noble ascetic life and preaching of the Jain Principles have ennobled and elavated this Religion so as to be on par with Brahmanism, Christianity or Buddhism It is a religion that fully satisfies the vital spiritual cravings of more than fifteen lakhs of the Indian population, and has thus a living interest for us

Jainism—its origin and later development

Jainism is a Religion of Jina i e the Victor or the Conqueror, of the greatest enemies of man, viz , Passions Lord Mahāvīra, by his life of severe restraint and penance controlled and conquered the passions within, destroyed the Kārmic matter, obtained Perfect knowledge and Salvation and thus was able to preach to the masses this Path of Religion, which, after him, received the name of Jainism, formerly called the Religion of the Nigganthas or 'the Bondless ones' Its chief principle is the Principle of Ahimsā, common to the religion of Lord Buddha, and it certainly made its appeal to the masses who had come to develop a feeling of abhorrence and non-belief in the elaborate Brahmanical system of sacrifice which later on permitted and indulged in nauseating excesses of slaughter, not only of animals, but of human beings too A wide-spread reaction thus set in among the people, who with their losing faith in the existing religion of sacrifice hailed with enthusiasm this new form of Thought and accorded their full support to it, by gathering round its preachers In this way, were laid the foundations of this new Religion which won its universal appeal by reason of its inculcation of the Principles of Non-violence, Truthfulness, Purity of conduct and Asceticism, as also by its freedom from the barriers of caste in their social and religious life

Every religion has behind it a great personality who dominates and sways the opinions and beliefs of his contemporary public But for Jaimini, the Mīmāmsā school of thought would not have spread Kap la founded the system of the Sāmkhya philosophy, while Gautama and Kanāda were responsible for the Nyāya and the Vaiśesika systems The Upanisadic thought centres round the famous philosopher Yājnyavalkya, and without Bādarāyana, Gaudapada and Sankarācārya, the Advaita philosophy would never have dominated the philosophic thought of India with such a great driving force as it did in the first millenium after the Christian era And as Mahommedanism is identified with Mahomed, Christianity with Jesus Christ, or Buddhism with Lord Buddha, similarly do we find Jainism inseparably associated with the personal life or Lord Mahāvīra and his predecessor Pārśvanatha Born in the Ksatriya royal
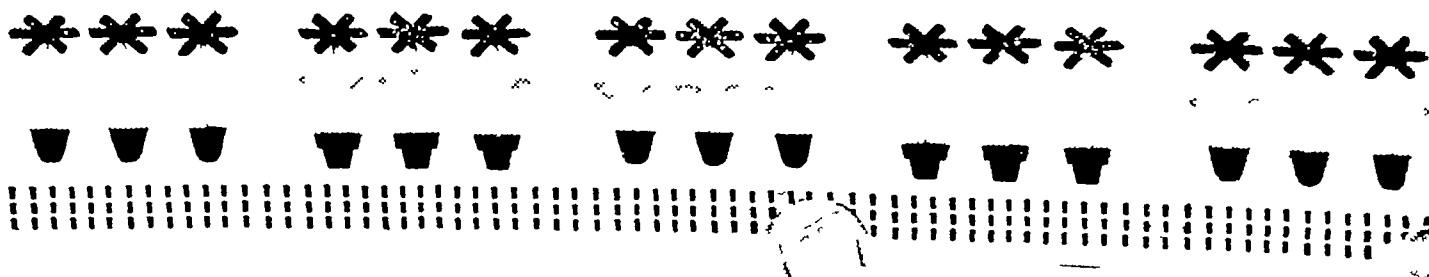
Prof G R. Jain
Head of the Deptt of Applied Physics,
Madhav Engineering College, Gwalior India.

MESSAGE TO HUMANITY

Jainism is one of the three most important religions which originated in India the other two being the Vedic religion, more popularly known as Hinduism and the Budhism Although there are historical evidences to show that Jainism was prevalent in the third millenium B.C. during the days of Indus Valley Civilisation but Lord Mahavir born in 599 B C., was the pioneer of this religion in modern times.

Lord Mahavir was born in the province of Bihar in a royal House belonging to a warrior clan at a time when there was a universal desire in the people for the birth of a reformer and a religious leader The bulk of the population of Northern India was greatly dissatisfied with the existing social and religious structure. The society was divided into four strata,—one, the Priesthood, called the Brahmins the warrior class called the Kshatriyas the agriculturists and the traders and the fourth for whom it was regarded as their sacred duty to serve the three upper classes The Church had become all supreme. The right of equality and fraternity was denied even to their patrons and associates In the Code of Manu—the first Law—Giver of Mankind—we read in Chapter II verse 135 that a ten year old Brahmin boy should be respected as a father even by a century old Kshatriya. In Chapter I verses 99-101 of the same work we read as follows —

> A Brahmin is born the master of the world the lord of all beings Whatever exists on earth belongs to a Brahmin, by his supreme birth he deserves everything Whatever a Brahmin enjoys or gives, is his the rest of the people enjoy only through the mercy of a Brahmin.

Thus we see that the Charter of Human Rights had been completely shattered to pieces and the people were anxious to throw off the yoke of aristocratic priesthood Not only that, people were gradually losing faith in the efficacy of the steriotyped and cumbrous ceremonials and animal sacrifices and were looking forward for their Saviour who would gently lead them on to the way of final liberation The policy of Caste superiority and racial discrimination was even worse in those days than in Nazi Germany or in the South Africa today Lord Mahavir was the first to proclaim boldly that all Humanity is One there are no such distinctions between man and man as between a cow and a horse in the animal Kingdom. Even the most servile class has the right of equality with a Brahmin and must be given the same facilities of reading, writing and worshipping the God It must be remembered that Brahmins had denied the right of studying religious text not only to the low caste called the Sudras, but also to the women Lord Mahavir said Even Sudras and women could study scriptures, become religious saints and attain the status of divinity

and Jīva is all that is animate, and includes along with other living beings, the Earth-bodies, Water-bodies, Fire-bodies, Air-bodies, as also the plants and trees The substance of Ajīva is Matter, which in itself is indestructible, although it takes over different modifications which have their production and destruction It is reducible to the state of fine atoms, called the Parmanus or Anus, which combine and develop into the diverse products that we see in the Universe By the Law of Karma, the souls or Jīvas get an embodiment to experience the results of their actions, and are thus born into any one of their fourfold Gatis or existence The ideal of the Jīva is to secure Mokṣa, which can be obtained only through human life, by the destruction of the Karmic matter which serves as an Āvarana or hindrance to knowledge Right Faith, Right Knowledge and Right Conduct, the three Gems of Jainism, are the essential requirements for Mokṣa Liberation consists of Freedom from the cycle of Birth and Death and is characterised by Perfect Knowledge and Perfect Bliss, which the Jīva enjoys in the Land of the Liberated

This, in a nutshell, is the Philosophy of Jainism, preserved to us in their sacred Literature called the Āgamas These books are in the ancient Ardha-māgadhī dialect, which is of great interest to a student of Linguistics, as it marks a definite stage in the development of the earlier Vedic language to its Modern Languages like Gujrati, Hindi and Marathi A study of this dialect is carried on in the Universities of India, but it suffers from a great handicap for want of good critical editions of the Jain texts,—a work that should be taken up by Jain Scholars with the financial assistance of the Jain Community Only then will Jainism be presented to the people at large in its true aspects This Religion, as we have seen, has a long tradition and is preserved to us in all its glory in the form of its literature, in the form of the best specimens of architecture, and lastly in the form of its considerable number of followers professing this creed A comparative study of all religions of the world will not, therefore, be complete unless Jainism is given its due share in it

there is no medium of motion, viz. luminiferous aether beyond Thus we see that Lord Mahavir gave a unique Scientific explanation of the transmigration of the soul without invoking the aid of any super natural agency The details of the theory are too many to be outlined here

Another special feature of the Jain Philosophy is its theory of *Anekantvad.* This theory tries to establish uniformity amongst the diversity of thoughts on a particular problem It inculcates a spirit of tolerance towards other religions of the world, so that they may sink their differences which are but apparent, for it is said by the ancients 'The Path is one for all the ways that lead thereto must vary with the pilgrim The theory of Anekantvad aims to co-ordinate unify harmonize and synthesise the individual view points into a practicable whole in other words, the discordant notes are blended so as to make a perfect harmony It has been compared to the Einstein s theory of Relatively but i much simpler and less elaborate. Relativity is mainly the theory of the physicist whereas the other has a philosophical bearing Still the contributions of both to the ultimate outlook on life and its problems are almost the same. According to Anekant the existence is a huge complexity- neither can human mind properly understand it nor can the human language adequately express it. As such the absolute statements are out of court and *all statements are true from a certain point of view only* According to Relativity all our terms of expression like east and west, right and left, up and down, are relative- they are not the same for all the observers and under all conditions they are not absolute but merely relative to something Relativity is therefore the theory of the Statement of general physical laws in forms common to all observers The theory of Anekant attempts in a similar way to reconcile the various conflicting schools of philosophy not by inducing them to abandon their favourite stand points but by proving to them that the stand point of all others are alike tenable and represent different aspects of truth.

The Cosmological Theory of the Jains

According to this theory the universe comprises of six substances. (1) the Soul, (2) the matter and energy (3) Space (4) Time, (5) Non material luminiferous aether which is the medium of motion for soul matter and energy and (6) the field through which the gravitational and electromagnetic forces operate and maintain the cosmic unity It is the field which keeps the electrons and protons bound down to the atom the atom to the molecule the molecules to a crystal and so on. It is worthy to note that the Jain School of thought was the first to recognise that atoms were composed of positive and negative electricity that the atoms were hollow and can give rise to extremely heavy matter called nuclear matter under certain conditions and the principle of equivalence between mass and energy was clearly enunciated centuries before Einstein who gave it a mathemetical form

Now before I conclude this note I must tell you something about the type of daily life that a layman is enjoined to lead The six essential duties are —

1 The worship of God by offering prayers.
• Service to the Teacher the Guru and listening to his sermons
3 Study of Holy books
4 Observations of vows for control mind.
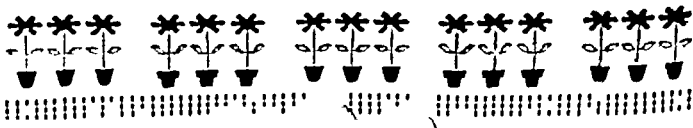
Another important teaching of Lord Mahavir was the Doctrine of Ahimsa,—non-injury and non-violance not only to the mankind but all living beings It is the doctrine of "Live and let live" He raised a strong voice against the Holy Vedas, because all over the country thousands of animals were being ruthlessly killed in the so-called religious sacrifices in the name of the Vedas The doctrine of Ahimsa was revived by Mahatama Gandhi in the same form in recent years and successfully applied in the field of politics The doctrine of Panch Sheel of Pandit Nehru is the doctrine of Ahimsa which will bring about world peace if all the Nations of the world practise it with a clean heart An observer of this principle is enjoined to speak very cautiously lest any work of his may injure the feelings of others, he is forbidden even to *think* evil of others, he must shun all such actions which are likely to cause bodily injury to others, he is not to kill or eat flesh, 'Do unto others as you would be done by' is his motto, he must do, as best as he can, to make those happy who are in pain But he will not tolerate any injustice done to him or to his country even at the cost of raising up arms against the oppressor

The Theory of Automatic Judgement

'As you think, so you become' and 'As you sow, so you reap' are aphorisms to which all schools of thought subscribe and the general belief is that an accurate record of all our actions is maintained in the annals of the Almighty or His agent, the judgement is pronounced on a particular day and we are doomed accordingly

According to Einstein's Cylinder theory of the Universe our three dimensional space is a curved space and a closed space enclosing a four—dimensional continuum One startling conclusion of this theory is that both space and time would vanish into nothing if there be no matter We cannot conceive of space and time without matter It is matter in which originate space and time and our universe of perception Under the circumstances it is difficult to think of a time when there was no matter In other words the universe is eternal Thinking along similar lines the Jain teachers came to the conclusion that this universe was not created by anybody at any special period of time Neither the Almighty, whom we regard as All-blissful, takes upon Himself the onerous duty of disbursing justice to the beings of this Globe He has evolved an automatic system of delivering judgement If we put this theory of automatic judgement in the language of modern science, it amounts to staying, that as every action of ours is preceded by a thought and every thought is preceded by a material vibration in the brain, the activities of the mind and the matter constitute a super-radio with the quintillion of living cells sending out their individual waves to be tuned in by the receiving Set in the brain (It has been possible in recent years to make a record of the brain waves, called the encephalogram and the principle of tuning is this if we want to tune in a particular waves from outside we must produce a wave of the same kind in our receiving set by turning the tuning know) According to Jain theory, the infiux of the tuned waves constitutes an influx of foreign matter which produces a subtle coat around the soul We know today that energy is matter and matter is energy This coat of fine matter, the composition of which depends upon the nature of our actions, is responsible for dragging the soul from one physical body to another and it keeps the soul bound to the confines of the universe owing to the gravitational forces of matter on matter on all sides When this coat of subtle matter is shed off the soul by following the Path of Liberation, the latter, being the lightest substance, rises to the top of the Universe like a balloon filled with hydrogen and rests there as Pure Effulgence Divine It cannot travel any further because

बने हुए है उसके पश्चात् प्राय ऐसा होता कि जब मैं दर्शन करने जाता था तो एक-दो साधुओं को जान-बूझकर छोड़ देता था वे देखते रहते थे और मैं उन्हे वन्दना किये बिना ही वापिस लौट जाता था इसकी कई प्रकार की प्रतिक्रियाएँ होती थी कुछ साधु इसकी उपेक्षा कर देते थे और जब दो-चार दिन बाद मैं उनके दर्शनार्थ जाता तो व्यवहार में कोई अन्तर नही दिखाई देता था उनके प्रति हृदय स्वाभाविक श्रद्धा से झुक जाता था कुछ ऐसे होते थे जो मिलने पर अपनी नाराजगी प्रकट करते थे और कुछ आचार्यश्री या बड़े साधु के पास शिकायत करते थे जो क्रमश सस्था के अध्यक्ष के पास पहुँचती थी

कुचेरे की बात है एकबार वहाँ कुछ साधुओं का आगमन हुआ आने के दो दिन बाद मैं दर्शनार्थ गया मेरे साथ सेठ माहनमल जी चोरड़िया के द्वितीय पुत्र पारसमलजी भी थे उन्हे देखकर साधुजी ने उनके भावी ससुराल के समस्त कुटुम्बियो के नाम बताने शुरू किये बालक चुपचाप सुनता रहा जब बाहर निकला तो पूछने लगा—साधुओं को इन नामों से क्या मतलब था ? दूसरी ओर जब साधुजी को यह ज्ञात हुआ कि मैं एक जैन सस्था का विद्यार्थी रहा हूँ तो पूछने लगे—कल दर्शन करने क्यो नही आये ? क्या बीकानेर में भी ऐसा ही करते थे ? मैंने उत्तर दिया वहाँ तो और भी अधिक विलम्ब हो जाता था मुझे यह मालूम नही था कि आप इसकी प्रतीक्षा कर रहे है उसके पश्चात् न मैं उनके दर्शनार्थ गया और न वह सरल हृदय बालक

मुनिश्री हजारीमलजी म इस प्रकार की लोकैषणा नही थी मैने कई बार जान-बूझकर ऐसा किया कि उन्हे वन्दना किये बिना ही श्रीमधुकर मुनि को पढाना प्रारम्भ कर दिया किन्तु उनके व्यवहार म मैने किसी प्रकार परिवर्तन नही देखा। वे अपने व्याख्यान मे आदर्श व्यक्तियों के चरित्र मारवाड़ी गीतो में गाकर सुनाया करते थे सरलहृदय भक्तों पर उनका सीधा प्रभाव पड़ता था मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि भगवान् महावीर ने लोकभाषा मे उपदेश देने की जो परम्परा प्रारम्भ की थी यह उसका वर्तमान रूप है सस्कृत के श्लोक लच्छेदार हिन्दी दार्शनिक चर्चा आदि बाते पाडित्य प्रदर्शन के लिए भले ही हो किन्तु उनका हृदय पर सीधा असर नही पड़ता मीरा तथा सूरदास के सीधे-सादे भजन भावनाओ को जितना तरगित करते है उतना शकराचार्य या धर्मकीर्ति का शब्दजाल नही कर सकता सक्षेप मे कहा जा सकता है कि मुनिश्री हृदय की भाषा म उपदेश देते थे बुद्धि की भाषा में नही उस परिवार में तीन साधु थे—स्वय मुनिश्री ब्रजलालजी महाराज और श्रीमधुकर मुनि तीनों का परस्पर स्नेह और सहृदयता अभिनन्दनीय थी न उनमें दिखावा था न मायाचार और न किसी प्रकार का अभिमान ऐसे मुनियो के प्रति हृदय अपने आप झुक जाता है इस परिवार का एक साथी और था जो साधु न होने पर भी उसका स्थायी सदस्य-सा बन गया था। वह था भानजी नाम का जाट। उस में सरलता थी और मस्ती थी सदा अपने आपमे तृप्त रहता था उसे देखकर ऐसा लगता था कि यदि जीवन का ध्येय सुख है तो वह तृप्ति से प्राप्त होता है जो ज्ञान अतृप्ति को उत्पन्न करता है उस ज्ञान से अज्ञान अच्छा कबीर का एक दोहा है कि भगवान् स्वप्न अर्थात् अर्ध निद्रित अवस्था में मिलते है और जागने पर लुप्त हो जाते है ऐसे जागरण से निद्रा अच्छी

मुनिश्री हजारीमलजी महाराज तथा उनके परिवार का स्मरण प्राय आता रहता है ग्रथ के द्वारा उनकी स्मृति स्थायी बनाना अभिनन्दनीय है इन शब्दो के साथ उस महापुरुष के प्रति हार्दिक श्रद्धाजलि अर्पित करता हूँ

O

मुनि श्रीमलजी महाराज

साधुता के गौरीशंकर

आत्मा की चरम उन्नति अन्तर्बाह्य तनावो की मुक्ति म है समस्त प्राणियों को अपनी आत्मा के समान समझने का उच्चतम भाव सच्चे सन्त मे होता है इसी आत्मीयम्य बुद्धि के परिणाम स्वरूप सन्त मनुष्यो के कल्याण-कार्य में जुटे

5 Contemplation and meditation in a lonely place morning and evening daily and

6 Charity which implies giving away of food and medicine to the needy, the giving of knowledge to the uneducated and defending the cause of the weak This habit of giving in charity gradually leads to complete renunciation of all wealth and worldly belongings which is so essential for the attainment of perfect bliss For it is said that 'it is easier for a camel to pass through the needle's eye than for a rich man to tread the path of bliss' In fact the teachings of Jainism on this point are based on what we call today the Socialistic pattern of Society

I pray to God O, Lord Make myself such that I may always have unlimited love for all beings, pleasure in the company of learned men, unstrinted sympathy for those in pain and tolerance towards those perversly inclined

Jai Mahavir, Jai Hind

Dr Nathmal Tatia
Director Research Institute of Prakrit Jainology and Ahimsa, Vaishali Muzaffarpur

A SURVEY OF JAINA RELIGION AND PHILOSOPHY

So far as tradition preserved in the Jaina Āgamas is concerned Jainism is to be traced to prehistoric times for its origin To be precise Jainism as a religious movement and philosophical attitude is undatable. In this respect, it is on a par with Vedic religion. It has been shown with overwhelming weight of evidence by Shrīmat Anirvānaji in his *Vedamīmāmsā* recently published that there were free thinkers contemporaneously with the Risis of the Samhitās, who did not profess allegiance to the religion of sacrifice. Whatever that may be, Jainism Buddhism and other protestant creeds took distinctive shape and structure several centuries before the Christian era, and this does not admit of dispute. Vardhamāna Mahāvīra was the elder contemporary of Gautama Buddha. Pārśvanātha, the immediately precedent Tīrthankara, is admitted on all hands to have been a historical figure. Mahāvīra s family was attached to the creed of Pārśvanātha. There are evidences in the Jaina Āgama that Mahāvīra succeeded in winning over the followers of Pārśvanātha to his reformed church Mahāvīra consolidated the monastic order as well as the lay community on strictly regulated code of religious observances This explains the survival of the Jaina religion, though Buddhism disappeared from the land of its birth after theMuslim conquest in the 13th century This is in a nutshell the historical background of Jaina religion and philosophy

The division of the Jaina church into Svetāmbara and Digambara schools is believed to have taken place at the time of Bhadrabāhu who was a contemporary of Chandragupta Maurya The points of agreement between the schools are overwhelming and those of difference are rather matters of detailed observance There are some credal divergences such as the problem whether a woman is capable of achieving final emancipation *(moksa)* and such other minor issues which may be slurred over by dispassionate students of Jainism as bagatelle In philosophy and ethics there is enormous unanimity The following are the cardinal doctrines of Jainism.

1 *Soul and God*

The Jaina believes in the immortality of the individual soul which does not owe its origin to a Personal Creator or combination of natural forces Jainism is frankly dualistic in so far as it distinguishes spirit from matter Both of them have parallel existence. The soul is bound in meshes of matter and its freedom from matter constitutes final emancipation liberty The soul
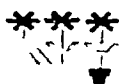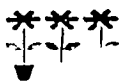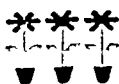
is consciousness compact, intuition, bliss and power, each infinite in its range The limitation of knowledge, power and happiness is adventitious and accidental, and not historical events In this, Jainism and Vedic religion are perfectly in unison Its difference from Buddhism is fundamental The Buddhist does not believe in unitary soul But the Jainas are emphatic on the real unitary character of the self Perfection is innate to the self which will manifest itself in its true character in the state of emancipation and the self will then realize its infinite knowledge, intuition, bliss and power In one word, the self will become God Godhood is the birthright of every self

2 *Ethics*

The Jaina is a believer in the five *mahāvratas*—non-injury *(ahimsā)*, truth *(satya)*, non-appropriation of what belongs to others *(asteya)*, continence *(brahmacharya)* and non-possession and non-acquisition of surplus material goods, *(aparigraha)* These ethical disciplines can be practised in excelsis by those who follow the life of homeless wanderers For the householder also these disciplines are compulsory, but can be practised with moderation and limits due to the exigencies of human life and conditions But this is only a concession which can be transcended only in the life of complete renunciation In the code of ethics, the agreement between the Jainas and Brahmanical schools is almost perfect The difference lies in emphasis on practical application and observance

The philosophy of *ahimsā* is liable to be misunderstood *Ahimsā* must proceed from perfectly disciplined mind All moral weaknesses, *pramāda*, are manifested in the animal impulses of anger, pride, deceit and greed, and unless these mental and moral weaknesses are completely overcome, mere practice of external code such as vegetarian diet and the like will not lead to the spiritual development In one word, a man aspiring for perfection must be spiritually free from animal passions and in external conduct must follow the path of non-resistance to evil. All discomforts, inconveniences and lack of creature comforts must be endured without resistance and with infinite forbearance This is of course the ideal which can be lived and fulfilled only by saints But the householder also has no immunity from the moral obligation Purity of conduct must be the exponent of perfectly pure mind

Truthfulness is also a necessary concomitant of non-injury Lying and deceit are resorted to by those who want to avoid the unpleasant consequences The tyrant must be disarmed not by recourse to physical violence, but by infinite forbearance Not a word of abuse should escape the lips of the saint Pride and greed are the signs of moral weakness They are the concomitants of the fear of loss, or the desire to be feared by the less fortunate creatures This weakness must be transcended by the realization of the truth that infinite greatness in knowledge, power and self-possession are the natural heritage of the individual soul, and until this consummation is reached, one has every reason to feel humble and ashamed of the limitations No pride of possession is legitimate and rational, because material power and wealth have their inevitable limitations Only one who has risen above greed can be really great and noble This is in sum and substance the ethical philosophy of the Jaina

The concept of *ahimsā* is not negative One has no right to take the life of another creature for his self-gratification Life cannot be restored to the victim, and it is nothing short of brutish barbarism to indulge in self-pleasure at the expense of other creatures who have the

Dr Nathmal Tatia
Director Research Institute of Prakrit, Jainology and Ahimsa, Vaishali Muzaffarpur

A SURVEY OF JAINA RELIGION AND PHILOSOPHY

So far as tradition preserved in the Jaina Āgamas is concerned Jainism is to be traced to prehistoric times for its origin To be precise Jainism as a religious movement and philosophical attitude is undatable. In this respect it is on a par with Vedic religion It has been shown with overwhelming weight of evidence by Shrīmat Anirvānaji in his *Vedamīmāmsā* recently published, that there were free thinkers contemporaneously with the Risis of the Samhitās who did not profess allegiance to the religion of sacrifice. Whatever that may be Jainism Buddhism and other protestant creeds took distinctive shape and structure several centuries before the Christian era, and this does not admit of dispute Vardhamāna Mahāvīra was the elder contemporary of Gautama Buddha Pārśvanātha, the immediately precedent Tīrthankara, is admitted on all hands to have been a historical figure Mahāvīra s family was attached to the creed of Pārśvanātha. There are evidences in the Jaina Āgama that Mahāvīra *succeeded in winning over the followers of Pārśvanātha to his reformed* church Mahāvīra consolidated the monastic order as well as the lay community on strictly regulated code of religious observances This explains the survival of the Jaina religion though Buddhism disappeared from the land of its birth after theMuslim conquest in the 13th century This is in a nutshell the historical background of Jaina religion and philosophy

The division of the Jaina church into Svetāmbara and Digambara schools is believed to have taken place at the time of Bhadrabāhu who was a contemporary of Chandragupta Maurya The points of agreement between the schools are overwhelming and those of difference are rather matters of detailed observance There are some credal divergences such as the problem whether a woman is capable of achieving final emancipation *(moksa)* and such other minor issues which may be slurred over by dispassionate students of Jainism as bagatelle. In philosophy and ethics, there is enormous unanimity The following are the cardinal doctrines of Jainism

1 *Soul and God*

The Jaina believes n the immortality of the individual soul which does not owe its origin to a Personal Creator or combination of natural f rces. Jainism is frankly dualistic in so far as it distinguishes spi t from matte Both of them have parallel existence The soul is bound in meshes of matte and its freedom from matter constitutes final emancipation liberty The soul

not put the telescope on the blind eye, but try to develop the correct vision which is within the reach of all, and can be acquired only if one chooses *Anekāntavāda* in metaphysics and ethics and so also in epistemology is thus an exponent of the broad liberalism of the Jaina thinker who however is never tired of preaching the infinitude of the modes and grades of the ultimate reality

The Jaina does not believe in vicarious emancipation Every man must realize his ultimate freedom and unless he is earnest in the quest of truth, he cannot help himself out of the rut Mahāvīra is merciful because he has shown us the way to truth, and not because he chooses to take the sins of erring souls on his head as their saviour He gives the saving knowledge which must be acquired and appropriated by every individual as his own Mercy is not exploited for giving an unlimited charter of a sinful career to the sluggards Every man has the power *(vīrya)* to achieve his perfection, and for this he has to depend on his own self He must be grateful to the great prophets who have shown the path to be followed for working off his load of accumulated sins The Jainas have produced a wonderful philosophy and a still more wonderful code of ethics and it is incumbent upon all seekers of truth to cultivate a deep acquaintance with this heritage left to humanity

Shri Ramchandra Jain

THE PRE-ARYAN SHRAMANIC SPIRITUALISM

1 *Aryan Migrations*

The Āryans *of History* began their historic migrations Circa 2500 B C. from their original habitat in the South of the Circumpolar region and to the North of the Caspian and Aral Seas covering the northern parts of the mountaneous Eurasian Steppes and the southern part of the thick Siberian forests extending upto the eastern sea-coast. This region was known to the post-Āryan ancients as Uttarakuru They reached West Asia circa 2000 B C. Greece circa 1500 B C. and Bhārata circa 1200 B C. The Āryan hegemony in this region was firmly established by circa 1000 B C. and in Egypt by Circa 500 B C. It has generally been held by the oriental scholars that the culture and civilization the Āryans annihilated, was definitely far superior both materially and spiritually than their own

2. *Spiritual Experiences*

We find a remarkable homegenous culture and civilization broadly speaking throughout the vast region stretching from Egypt to Bhārata, stronger at certain points and weaker at others, with necessary variations conditioned by geography and geology with no other culture opposed to it in any other part of the world till the rise, growth and hegemony of Āryanism. Such a significant and deep homogeneity could not be wrought and maintained by mere secular forces There was something deeper more serene fundamentally permanent that governed these forces and gave life, cheerfulness and vivaciousness to the material activities of the people. That underlying force of values, principles and standards forged their social ideology that determined the nature of their basic way

Human society through its long experiences, developed an understanding that in the motley of these ever-changing events, there is something permanent without which the changes would be unmeaningful There is grief, suffering and woe which none cherishes then why bring grief, suffering and woe to a fellow humanbeing nay to any being on earth enjoying life. The discovery of the identity of something permanent in the plurality of living beings became the foundation stone of the human society The permanent substance came to be called Ātmā or Soul The discovery of soul was the result of the dialectical historical efforts of the mankind. Human efforts conditioned the nature of society The efforts of individual members of the society reduced the woe and suffering of hi fellow beings to the minimum. The ideal indivi-

dual efforts began to be directed to the end which would cause the least suffering to the other living beings The second discovery of the Efficiacy of Effort became the driving force of the Soul These two discoveries combined, led to the third discovery of the Transmigration of Soul If Soul was a permanent substance, it has the capacity to attain its fullest purity This led to the Fourth Discovery of Siddhi or final attainment These four discoveries together constitute the fundamental basis of the Ideology of Spiritualism

3 *Definition of Shramana*

Ātmic or Inner Effort is the life qua non of the Ideology of the Spirit or Soul The right inner effort leads to Siddhi or Nirvāna Word Shramana stands for the right inner effort Shrama means exercise of the spirit and austerity which are the qualities of the Soul or Spirit The suffix word "N" stands for knowledge Knowledge signifies rightness, Shrama, thus, means "The Spiritual Way" and Sramana, as a follower of this way, is the individual or society pursuing activities in a righteous, spiritual way Soul is inherently free and self-existent and always effortive Shrama or inner effort, thus, allows no fear or compulsion The society founded on the "right inner effort" is a Shramanic society The word Shramana later came to denote an ascetic, a Muni or a Yati following the Jaina or Buddhist way The follower of Shramana came to be called Shramanopasaka But that was not the original meaning of the word Shramana Shramana in its origin, signifies "one who makes effort or exertion with a right inner prospective" The word originally applied to all the stages of life, householder's or ascetic, Shrāvakas or Munis The Shramanic society is one that is founded upon free, fearless and right individual and social effortiveness The pre-Āryan people of the region extending from Egypt to Bhārata had developed the homogenous spiritual way based on right inner effortiveness, hence we may call them the Shramanic people and their region, the Shramanic region The people followed the Shramanic way

4 *Egyptian Shramanism*

The Egyptians believed in Soul, its transmigration to future life and its final attainment When an Egyptian died, he 'went to his ka' This was his material body after death The actual personality of the individual in life consisted of visible body and invisible intelligence The Visible and the Invisible was depicted in one symbol—the human-headed bird with human arms This signified the fact that the material or physical existence of the individual is best typified in the animal while his spiritual existence is his innate intelligence This bird-man is called 'ba' 'Ba' has commonly been translated as Soul This symbolism of bird-man is of great far-reaching significance Egyptians held the animal sacred The immigrant Asiatic people engrafted a more elevated form of belief They believed that animals had certain attributes of divinity They had 'Souls' just like men This symbolism definitely establishes the unity and oneness of spirit in animal and man It is quite certain that the Egyptians believed in body and intelligence, Matter and Spirit [1]

These spiritual beliefs of the Egyptians are contained in the book "The Manifestation of Light" miscalled "Book of the Dead" The essential parts of this book originated in the most ancient times This book claims to be a revelation from Thoth The oldest monumental evidence of the existence of Thoth is available in the oldest existing Egyptian temple belonging to the reign of Chefren (Shafra), the builder of the second pyramid He belonged to the Fourth
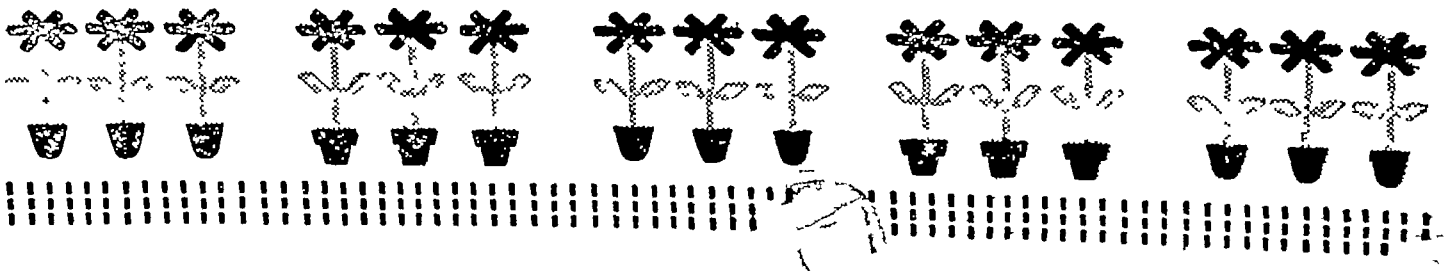
Dynasty and lived circa 2800 B C. Thoth is the same as Tet. Tet was son of Menes (Narmer of Petrie and Breasted) who flourished Circa ɔ350 B C. This Thoth was later regarded as essentially the God of learning· he was the master of the words of God i e. the heiroglyphs· he was the scribe and messanger of the Gods he was the measurer of time and the Mathematician. Hesepti or Hesep is mentioned in several copies of the Book as the author of the two of its most important chapters Thoth or Tet and Hesepti or Hesep the plebians, certainly do belong to the First Dynasty and lived *also during the times of Menes. The first peaceful* colonisers of Egypt under the leadership of Menes as elsewhere shown came from Bhārata. Hence it may saf.ly be alluded that the Bhāratīyan immigrants brought the truths contained in the Book with them in the middle of the fourth millenium. B C.[1]

The most ancient original chapters of the Book contained the fundamental conceptions of the continuance of Soul after death The thought of the future life occupied a very large space in the Egyptian thought It was felt so real and so substantial that no subsequent thought about future life could match it. *This process of birth and re birth re iterated until a mystic cycle* of years became complete when finally the good and the blessed attained the crowning joy of union with God God a later interpolation, in this context is a pure spirit, perfect in every respect all wise almighty supremely good. God is not abstract and he doth not manifest his forms He was neither the God of the Christians nor the Personal Brahma of the Brahmāryans He was the purest spirit of the individual, good and blessed attained due to continuous spiritual efforts after the numerous mystic cycle of years. Then he became 'Single among the Gods and Lord of the Gods 'God meaningless purer spirit than the purest but higher than the average individual The earliest Egyptians attempted to attain this true and full perfection of his being The purest Soul was the self-existent d ity[2] Thus we find that the final aim of the Egyptian was the attainment of full perfect purest and everlasting personality till the later part of third millenium B C.

The full and final purest attainment was achieved by the self propelled individual effort What were the guiding principles of this individual effort ? The Ideal life of an ancient Egyptian is best given in I—th Chapter of the Book. This chapter Hall of Truth is very significant. Temples Priests and Gods were a later growth The individual at his death appears before Osiris in the Hall of Truth The earliest monumental evidence of Osiris (Asura) occurs along with that of Thoth as alluded to earlier Osiris also came to Egypt with the earliest immigrants under the leadership of Menes Animals were sacred to Osiris. The original reading of the word Osiris is Us yri in the sense of the Occupier of the Highest Seat The word Us yri very intimately resembles the word Asura of Bhārata. The word Asura signified a pre Āryan Bhāratīya institution The Irānīryans borrowed this epithet for their leaders Agni Indra Varuṇa and others[3] in the beginning but after th separation, the Brahmāryans later abond ned its use for the illustrious powerful shining and great leaders of their Dī a and Dasyu ad er aries The Brahmāryans were accustomed to the arbitrary kind of word—analy i They created the w rd 'Sura in an unju tified manner by isolating the initial from A ura They then, pplied the word 'Sura f r their Ganapati and word A ur f r th Rāj f their d ersaries Th A ra were self criticing peopl The l g nd f O ri i centr d round th s lf sa rifice of O ri I m lf and hi regenerat n O i i wa r g rd d th I gh t pi itu l perso nage in Egypt and Har h was hi ule
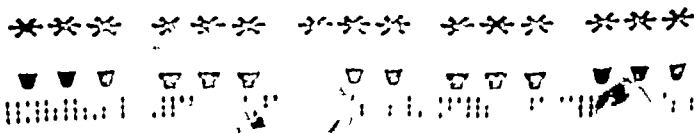
ordinate When the spiritual culture of Egypt began to decline, the later Pharaohs began to call themselves the son of Osiris or living Osiris[7] Osiris was the highest spiritual saint of Egypt and after his death, another such personage occupied his seat The cult of Osiris was the most important cult in Egypt because it belonged to all the classes from the highest to the lowest

5 *Egyptian Shramanic Tenets*

Osiris, by practice and precept, taught the people of Egypt certain basic truths When the individual at his death went before Osiris, he claimed a better future life because he had lived according to the way taught by him That basic way contains fundamental truths which I classify as follows [8]—

I Tenets of Non-Violence

1 I have not slain
2 I have not given orders to slay
3 I have not ill-treated animals
4 I have not driven cattle from their pastures
5 I have not hunted the birds
6 I have not caught fish in the marshes
7 I did not take away food
8 I have not made any one weep
9 I have not done violence to the poor
10 I have not made anyone sick
11 I have not made anyone suffer
12 I did not stir up strife
13 My voice was not very loud
14 I was not an eaves-dropper
15 I have not held up the water in the season
16 I have not dammed running water
17 I have not put out a fire that should have stayed a light

II Tenets of Truth

18 I did not speak lies
19 I did not make falsehood in the place of truth
20 I was not deaf to truthful words
21 I did not multiply words in speaking
22 My mouth did not wag
23 I did the truth (or righteousness) in the land of Egypt

III Tenets of Non-Stealing

24 I did not steal
25 I did not steal temple endowment and property
26 I have not stolen the cattle of Gods
27 I did not diminish food in the temple
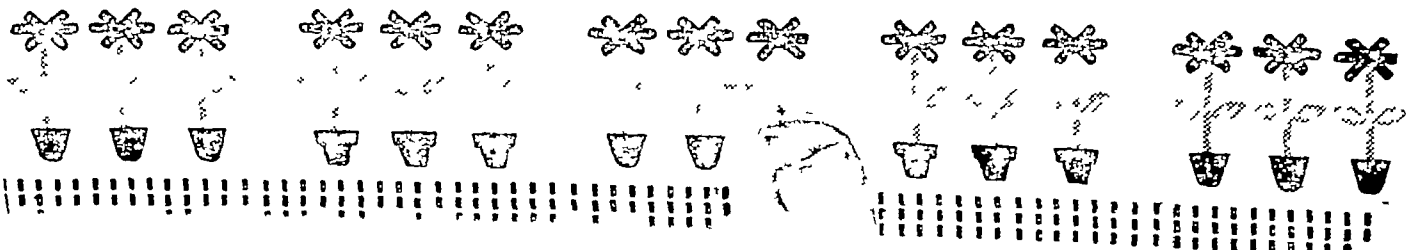
28 I have not harmed the food of the Gods
29 I have not falsified the measure of the grain.
30 I have not added weight to the scales
31 I have not taken the milk from the mouth of Children

IV Tenets of Continance

32 I did not commit adultery with women
33 I did not commit sex pollution.

V Tenets of Non Possessiveness

34 I did not rob.
35 *I did not rob* one crying for his possessions
36 My fortune was not great but by my (own) property
37 I was not avaricious
38 My heart devoured not (coveted not)

Ancillary Tenets

39 I did not stir up fear
40 I did not wax hot (in temper)
41 I did not revile.
42 I was not puffed up
43 I did not blaspheme the God.
44 I did not do any abomination of God
45 I have satisfied the God with that which he desires
46 I have bread to the hungry water to the thirsty clothing to the naked and a ferry to him who was without a boat.
47 I make divine offerings for the Gods.
48 I am one of pure mouth and pure hands.

Right Knowledge

49 I have not known what is not

Right Conduct

50 I live on righteousness (samyaktva) I feed on the righteousness of my heart.

Final Aim

51 I am blameless

These injunctions are self speaking Their human values are obvious *Life is sacred* as Soul resides in all living beings. The recognition of Soul in animal kingdom is significant It is for this reason that animals were sacred to Osiris. The religious calendar of the Egyptians contained a number of fasts, some of which lasted from seven to forty two days Throughout *the whole duration of every such period the priests (or anybody undergoing such fasts)* were required to abstain entirely from animal food, from herbs and vegetables and from wine Their diet on these occasions can have been little more than bread and water Some of the tenets of non violence are very subtle and go very deep Non-eating of vegetables, abstinance from violence to water and fire indicate that the Egyptians considered Vegetable Kingdom, Water bodies and Fire bodies to possess life Greed expropriation and exploitation are denounced.

रहते हैं सन्त मनुष्य की आकृति मे मनुष्यता का बीज बोनेवाला कुशल माली है लोकोत्तर पथ प्रदर्शक ही नही वह इसका शिक्षक भी है जगत्कल्याण के लिए भीषण से भीषण कष्ट सह कर भी वह सुख के ही दर्शन करता है विलुप्त होती हुई मानवता यत्र-तत्र उपलब्ध हो रही है, उसका सम्पूर्ण श्रेय सन्तो को ही है यदि सन्त-समाज का इस दिशा मे प्रयत्न न होता तो मनुष्य-समाज आज पशुओ की श्रेणी से अलग दृष्टिपथ न होता इसी लिए कहा जाता है कि सन्त मनुष्य मे मनुष्य के गुणो का जन्मदाता है महास्थविर श्रीहजारीमलजी महाराज महान् थे उक्त सन्तोचित सभी गुण उनमे विद्यमान थे उन्होने राजस्थान के विभिन्न भागो मे पैदल भ्रमण करके मानव समाज के विकास मे जो योगदान दिया है वह अपूर्व है उसका प्रत्यक्ष अनुभव करने का अवसर मुझे मिला है जब मैं उनके विहार-क्षेत्र मे गया तब मैंने देखा कि जैन-अजैन सभी मानवो मे श्री हजारीमलजी महाराज के उपदेश का असर है श्रीहजारीमलजी महाराज का नाम श्रवण करते ही उनके दिलो मे प्रसन्नता छा जाती थी अपने मधुर स्वभाव से वे हरएक को अपनी ओर आकर्षित कर लेते थे छोटे-से-छोटे साधु भी जब उनसे मिलने जाते तो उसे देखते ही सर्वप्रथम उनके दोनो हाथ जुड जाते और मधुर मुस्कान के साथ स्वागत करते उनके दर्शन करते समय और बातचीत करते समय अन्तर्मन को अवर्णनीय सन्तोष मिलता था ऐसे शील तथा मधुर स्वभाव के थे—श्रीहजारीमलजी महाराज

सादडी सम्मेलन के पहले इस महास्थविर के दर्शन का अवसर मिला था परन्तु सप्रदायवाद के आवरण मे होने के कारण उस महापुरुष को सम्यक् रूप मे पहचान नही पाया था सादडी सम्मेलन मे वह आवरण सर्वानुमति से हटा दिया गया, तब ही भिन्न-भिन्न सप्रदायो मे रहे हुए महास्थविरो के एव महामुनिवरो के निकट सम्पर्क मे आने का मगलमय अवसर मुझे प्राप्त हुआ ज्यो-ज्यो मैं श्रीहजारीमलजी महाराज के परिचय मे आता गया त्यो-त्यो उनमे मेरी श्रद्धा बढती गई

कुचेरा वर्षावास मे उपाचार्यश्री के साथ रहकर आपने सादडी-सम्मेलन-जन्य एकता को मूर्त्त रूप दिया दोनो महापुरुषो का वह अभेद रूप देखकर समाज का मनमयूर नाच उठा कितना अच्छा होता यदि मुझे भी दोनो महापुरुषो की सेवा का अपूर्व अवसर मिलता ? परन्तु उपाचार्यश्री की आज्ञानुसार इस वर्ष, सेवाभावी मुनि सुन्दरलालजी और प्रिय व्याख्यानी मुनि श्रीसुमेरमलजी के साथ—सरदारशहर चातुर्मास करना पडा

"आज्ञा गुरूणा खलु धारणीया" इस सिद्धान्तवाक्य पर विश्वास होने के कारण मैं सरदारशहर चला गया भीनासर सम्मेलन मे श्रमणसघीय विधानानुसार उपाचार्य श्री ने मत्री मडल का चुनाव किया महास्थविर श्रीहजारीमल जी महाराज को मत्रीपद मिला उपस्थित सर्व मुनिवरो ने इसका सहर्ष स्वागत किया किन्तु उस महापुरुष के मुख पर मत्रीपद के कारण प्रसन्नता नही थी उसके मुख को देखकर यही मालूम होता था कि सिर्फ आज्ञाराधना के लिए एव उपाचार्यश्री का सम्मान रखने के लिए ही उन्हे मन्त्रीपद की स्वीकृति देनी पडी है श्रमणसघ के मत्री बनने पर भी छोटे साधु के साथ आपका प्रेम-व्यवहार ज्यो का त्यो बना रहा आपके जीवन का यह एक वैशिष्ट्य था इसी कारण वे मेरी दृष्टि मे महान् थे

भीनासर बृहत्साधुसम्मेलन सम्पन्न होने के पश्चात् परम श्रद्धेय उपाचार्यश्री की आज्ञा से उपाध्याय कवि श्रीअमरचन्द्र महाराज की सेवा मे वर्षावास करने के लिये मैं और मुनि आईदान जी (समदर्शी) चल दिये, उपाध्यायश्री जी महाराज, मत्री हजारीमल जी महाराज के साथ कुचेरा विराजमान थे, हम दोनो मुनि भी कुचेरा पहुँचे मत्रीश्री जी म० का चातुर्मास नोखा क्षेत्र मे निश्चित हो गया था चातुर्मास मे सेवा का लाभ मिलेगा यह आशा तो निराशा मे बदल गई परन्तु अब कोई उपाय नही था फिर भी जितने दिन मत्री श्री जी कुचेरा मे विराजमान रहे, उतने दिन सेवा का एव ज्ञानचर्चा का लाभ तो हुआ ही, परन्तु उस समय यह नही ज्ञात हो सका कि महान् आत्मा के ये मेरे लिये अतिम दर्शन हैं चातुर्मास के पश्चात् हम दोनो मुनि उपाचार्यश्री की सेवा मे पहुँचे करीब दो महीने तक मैं उपाचार्यश्री जी की सेवा मे रहा उपाचार्यश्री की आज्ञा से मैंने तपस्वी मुनि केशूलाल जी एव शास्त्रज्ञ मुनि गोपीलाल जी इन तीन सन्तो के साथ महाराष्ट्र की तरफ विहार किया भौगोलिक दृष्टि से महाराष्ट्र और राजस्थान मे सैंकडो मील का अन्तर है, परन्तु
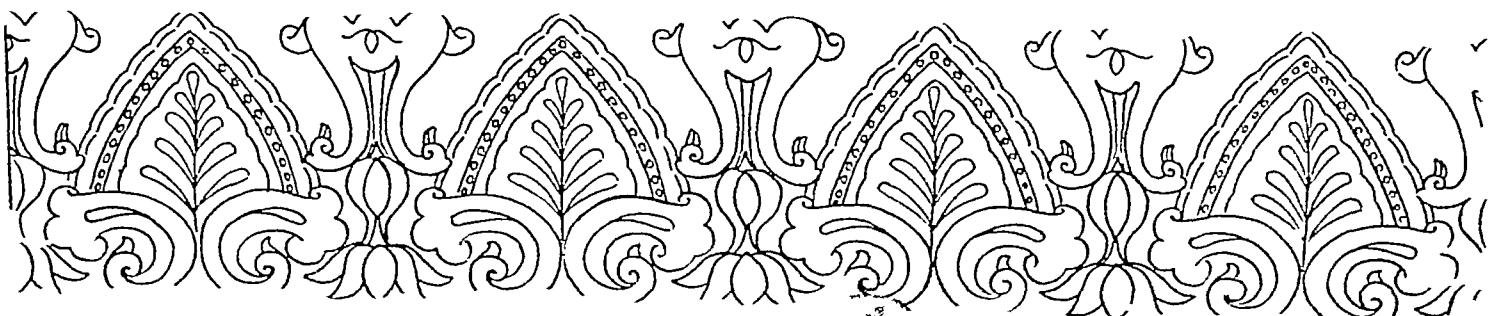
Gilgamesh went, was a country pure, clean bright where even utters no cries, the lion kills not, the wolf snatches not the lamb unknown is the kid-devouring wild dog, unknown is the grain-devouring, (unknown) is the widow without the sick eyed the sick headed, without old man and woman, having no wailing priests and singers The city of Dilmun was situated on the mouth of the rivers and possessed furrowed fields and farms. Dilmun was situated to the East where the sun rises Uruk was at a distance of forty five days journey to the West by sea from Dilmun There one day was equal to one month Grain was cultivated abundantly there The orchards of Dilmun were full of cucumbers apples, grapes and various other plants [15] Sumerologist Dr Kramer identifies Dilmun with the land of Indus Valley civilization [1] Bhārta was the land of non violence peace abundance and immortality referred to in these Sumerian accounts in the beginning of the third millenium B.C. Ancient Sumer looked to Bhārta for spiritual guidance

7 *Sumerian Shramanic Tenets*

A pure and clean life was attained by an individual soul through his or her personal efforts He had to follow an ethical code of conduct. He had to adhere to strict moral standards Misfortunes came as rerults of moral transgressions—such as lying, stealing defrauding, maliciousness adultery coveting the possessions of others, unworthy ambitions, injurious teachings and other misdemeanours [7] The Sumerian spiritual tenets are like the Egyptian not available at one place. They have been collected from various places and have been re-arranged in order here.[16]

I. Tenets of Non Violence

1 Shedding of blood is sin
2 Bringing of estrangement between father and son, son and father mother and daughter daughter and mother mother in law and daughter in law daughter in-law and mother in law brother and brother friend and friend, companion and companion is a sin
3 Keeping a person bound as a captive and a prisoner is a sin
4. The avoidance of light to a prisoner and torture to him is a sin
5 The neglect of father and mother and insult of elder sister is a sin.
6 Causing separation of a united family is a sin
7 Over stepping the just bounds is a sin
8 The following of the path of evil is a sin.
9 Be helpful, be kind to the servant.
10 Not releasing a freed man out of the family is a sin
11 Setting himself up against a superior is a sin
12 Tyranny cruelty and oppression are sins.
13 Protect the maid of the house

II. Tenets of Truth

1 Speaking no for 'yes and 'yes for 'no is a sin.
2 Frank mouth with a false heart is a sin.
3 The teaching of impure and instructing of improper is a sin
4 Drawing a false boundary not drawing the right boundary is a sin.

They believed in freedom from fear, balance of tempers, futility of blasphemy and reviling of others, harms of flattery and ill-speaking, help of fellow citizens and purity of speech and conduct He acquired right knowledge and was sincerely effortive to practically implement it in life He made supreme efforts to achieve his final attainment

6 *Sumerian Shramanism*

The Sumerians believed in Soul and its life after death Purer Souls went to the Island of the blest after death The Island of the blest may be compared to heaven The darker Souls went to the Nether Worlds, a dark, gloomy and damp place meant merely to trouble the living [10] The Sumerians believed in the plurality of Souls They had firm belief in the immortality of the Souls [11] Immortality was the permanent and ever-happy existence of the Soul

The Sumerians are described as pessimistic people unlike the optimistic Egyptians I do not think the Sumerians to be a pessimistic people In spite of the lamentation rituals and penitential hymns, they believed in the immortality of Soul through self-suffering The righteous man bore sufferings with joy Whatever suffering may come and however unjust it may seem, the righteous man confesses his sins and awaits his liberation from suffering When liberation is achieved, the suffering is turned into joy The suffering of the Sumerian originated from his convictions in self-control, conscious effacement, fellow-feeling and in the living belief in immortality The Sumerians did not enjoy life because they did not want to usurp to themselves alone the material benefits, thus depriving their fellow beings of them They believed that self-suffering would make their Souls purer accompanied with the firm assurance that the fruits of their suffering would ripen in a better future life They extended the quality of their suffering to this extent that they accepted voluntary death in the assurance of a life to come [12] The famous excavator of Ur Sir Leonard Woolley had dug many graves, which he calls Royal Cemetery, wherein many dead bodies are found in straight and happy postures Some bodies of women are wearing ornaments of gold, lapis lazule, silver and other precious metals No single grave has any figure of a God The graves contain many dead bodies indicating voluntary group deaths So many people could not be forced to accept death on the expiry of a single person, royal or otherwise, to accompany him in the future life Woolley also concedes that all this paraphernalia indicates that the dead persons had belief in future life [13] Compulsory death at the order of some one else does not bring a happy future life It is only voluntary suffering that assures a better future life This phenomenon goes very deep and nearer to the Jain belief in Samlekhanā Samthārā (Voluntary Spiritual Death)

Gilgamesh was the fifth ruler of the first post-diluvian *dynasty of Uruk* He was ordained to enjoy kingship but not the permanent immortality which he cherished most He took to journey through the forest along with his friend Enkidu whom he lost in the middle of the journey Gilgamesh repented his friend's death very much and set out in the search for ever-lasting life He reached the shores, with the help of a ferry man, of the land of Dilmun He went to Utnapishtim who alone possessed the ever-lasting life Utnapishtim imparted Gilgamesh these immortal words of wisdom, "There is no permanence All men are to die Despise worldly Gods Save your Soul alive Abhore sins and transgressions" This was the mystery, the secret revealed by Utnapishtim to Gilgamesh [14] The land of Dilmun, to which
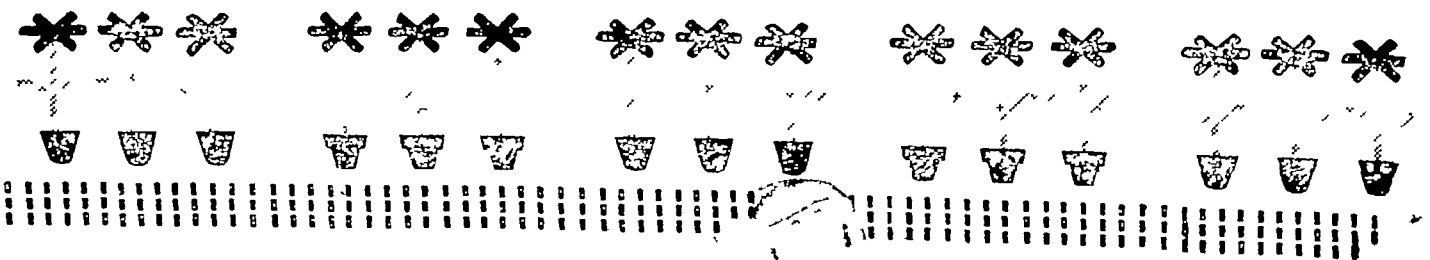
Chhāndogya Upaniṣad. Non Violence and Truthful-Speech here, are enumerated amongst the gifts of the priests Chhāndogya recommends only the truthful speech, not the truth in entirety The gift of non violence is done away with by another reference in the same Upaniṣad where violence is permitted at holy places[22] The pre Upanisadic Vedic thought is purely materialistic. Hence we cannot look to Upaniṣads for comparing the Bhāratiya spiritual thoughts with those of Egypt and Sumer

When the Brahmāryans penetrated the frontiers of Western Bhārata we find ascetics and Yogis surviving from pre Vedic and pre Āryan times. They are called 'Mun s in Vedic literature and Shramanas in the age of Buddha and Mahāvira Muni was to the Rigvedic culture an alian figure. Asceticism is directly opposed to the entire Weltanschauung of the Rigveda-Samhita The Shramaṇa sects held towards the world an attitude of ascetic pessimism, disbelieved in a personal cause or creator of the universe accepted plurality of souls and an ultimate distinction between Soul and Matter regarded the world of common sense as real as due to one or more real factors at least partly independant of the soul, and consequently regarded as indispensable for salvat on some form of strenuous practical discipline aiming at affecting a real alteration in the situation of Things The Shramanic culture was ascetic, atheistic, pluralistic and realistic in content This comes out clearest from a consideration of the earliest faith of the Jainas—one of the oldest living surviving sects of the Munis. The pre Upaniṣadic materialistic (Pravṛtti Dharmic) Vedic thought later evolved psuedo-spiritual thought (Nivṛtti Dharmic) mainly through the influences of the Muni Shramana culture in pre Buddhistic times within its fold.[23]

The Āchārānga is the most ancient extant Jaina Sūtra going probably to fourth century B.C. The pre Āryan spiritual ideology of the Muni-Shramana culture of Bhārata in its pristine glory has been preserved in this Sūtra Mahāvira s followers moulded in the past and mould in the present their conducts according to the precepts ordained in this Sūtra. We learn from Uttarādhyāyana Sūtra that Pārsva and his follower saints followed the same code of conduct which was later followed by Mahāvira and his follower saints. The Āchāra of both the Tirhamrkaas was of the same quality The integrity of the precepts enjoined upon saints in the Āchārānga Sūtra, thus goes back to the Ninth Century B C. Vṛṣabha has been unanimously accepted as the First Tirthamkara Rigveda knows Vṛṣabha who differentiated between Spirit and Matter[24] Āchārānga differentiates between Spirit and Matter Āchārānga, therefore, is entitled to more weight and authority from the scholars than it has hitherto been given

The pre Brahmāryan Bhārtiyan firstly believed in Soul[25] They divided the world in six substances Dharma (Motion Medium) Adharma (Rest Medium) Space, Time, Matter and Souls. *The characteristic of soul is knowledge, faith conduct, austerities* energy and reali sation. The characteristic of Matter is sound darkness lustre light, shade, sunshine colour taste smell and touch Dharma, Adharma and Space are each one substance only but time matter and soul are an infinite number of substances.[26] In the final analysis, the first four substances are included in the category of Matter The world thus remains constituted of Soul and Matte or Spirit and Matter Secondly they believed in the doctrine of the trans migration of soul A soul that does not comprehend and renounce the causes of sin takes manifold births.[27] All l ving beings owe thei present form of existence to their own Karma (Resultant Eff ctiveness) Imperfect men whirl in the cycle of births, old age and death[28]

5 Slander is a sin
6 Speaking of evil is a sin
7 Boasting and speaking in anger is a sin
8 Speaking of low and unkind words is a sin
9 Seeking of right and avoiding of wrong is a human virtue
10 Speaking of 'yes' with mouth and 'no' with heart is a sin

III Tenets of Non-Stealing

1 Using of false weights is a sin
2 The removing of limit, mark or boundary is a sin
3 To possess the neighbour's house is a sin
4 Stealing of a neighbour's garment is a sin
5 Taking of wrong sumand not taking the correct amount is a sin
6 Cheating and defrauding are sins

IV Tenet of Continence

1 Polygamy is a sin

V Tenets of Non-Possessiveness

1 Giving too little and refusing a larger amount is a sin
2 Not giving the promised is a sin

The spiritual tenets followed by the ancient Sumerians clearly reveal their basic spiritual character The Sumerians achieved Immortality through personal efforts, not by the grace of God or Brahma They moulded their earthly institutions in consonance with their basic beliefs

8 *Bhāratīya Shramanism*

Bhārata is the birth place of the ideology of Spiritualism We do not possess extent literature of the Pre-Āryan Bhārata The Harappa script, even if rightly deciphered, may only help a little

The present Bhāratīya spiritual thought may be divided into three currents, the Brāhmanic, the Buddhist and the Jainist The later two thoughts are well-known as Shramaṇa ideologies distinguished from the Brāhmana ideology The Jain and Buddhistic tenets are essentially similar Both believe in the spiritual tenets of Non-violence, Truthfulness, Non-stealing and Perfect Continance Buddha replaces non-possessiveness or non-attachment by Liberality The other spiritual tenets of both are strikingly similar [19] The Jain thought is pre-Buddhistic Twenty-third Tīrthamkara Pārsva preceded Buddha Pārsva is now accepted as a historical personage [20] Buddha fully accepted the Chuajjāma of Pārsva Buddha developed his religion on the foundation of the Chaujjāma of Pārsva [21] The Chaujjāma of Pārsva was developed into Pancha-Mahavrata of Mahāvīra Of these two Shramanic thoughts, we may safely rely upon Jaina Sūtras to represent the pre-Buddhistic spiritual thought

Upaniṣadas represent the Brāhmanical spiritual thought As shown elsewhere, the Brāhmaṇas did not accept spiritualism truthfully They borrowed spiritual thoughts from their pre-Āryan adversaries, now friends, in a perverted manner They never honestly accepted the Doctrine of Non-Violence The word Ahimsa occurs only once in the Pre-Mahāvīra Upaniṣad, the
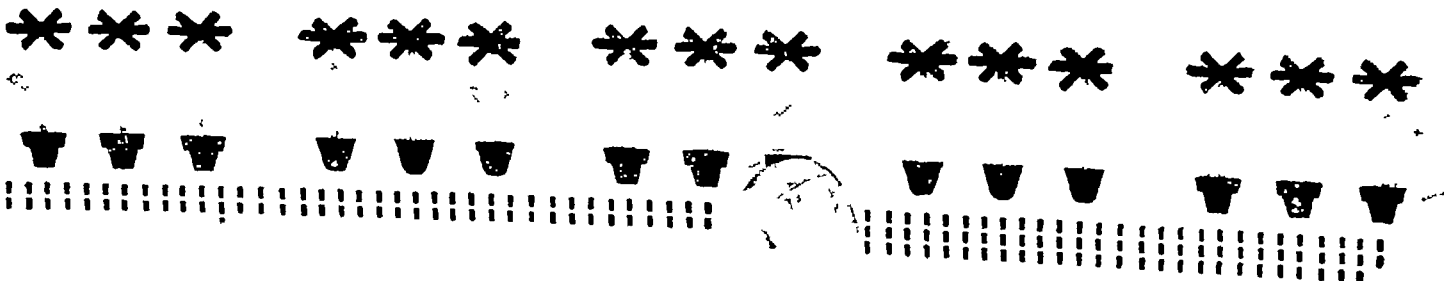
3 Speak with deliberation to avoid falsehood
4 Be not angry Anger brings falsehood
5 Be not greedy
6 Fear not
7 Renounce mirth

III. Tenets of Non Stealing[15]

1 Taking the life of others is thievery
2 A Nirgrantha does not accept anything without being given
3 A Nirgrantha *begs after deliberation for a limited ground.*
4. A Nirgrantha consumes his food and drink with permission.
5 A Nirgrantha should take ground only for a limited period
6 The grant should be constantly renewed

IV Tenets of Continance[16]

1 A Nirgrantha renounces all sexual pleasures.
2 There should be no discussion of topics relating to women
3 The lovely forms of women should not be contemplated
4. Former sexual pleasures and amusements should not be recalled.
5 Eating and drinking too much eating of highly seasoned dishes and drinking of liquors is forbidden to a Nirgrantha.
6 A bed affected by women animals or eunuchs should not be occupied.

V Tenets of Non Possessiveness[17]

1 The Nirgrantha renounces all possessions, all attachments.
2 There should be no attachment to pleasant and unpleasant sounds.
3 There should be no attachment to agreeable and disagreeable forms
4 There should be no attachment to agreeable and disagreeable smells
5 There should be no attachment to agreeable and disagreeable tastes.
6 There should be no attachment to agreeable and disagreeable touches.
7 A Nirgrantha should not accept food more in quantity then required.

These five tenets or Pancha Mahāvratas are ordained for a Nirgrantha, a Muni a Saint. He shall follow the precepts of non violence truth, non-stealing, continance and non attachment in totality without any exception in any condition at any time or place whatsoever But every member of the society cannot become a Saint Ordinary householders cannot completely follow this path They may tread a part of it but the path is the same. A householder follows these tenets in diluted forms. We have seen many more tenets being followed by the Egyptians and the Sumerians. Non-cruelty to cattle, birds and fish bringing not tear and suffering to others falsification of avarice and covetousness reviling, puffing and blaspheming; and many more such other tenets, followed by Egyptians and the Sumerians, are only lower forms of one or the other of the above five Supreme Tenets or Great Vows. The spiritual precepts were practised in totality without exception in Bhārata The ordinary citizens followed Smaller Vows o Anuvratas[18] just like the Egyptians and the Sumerians.
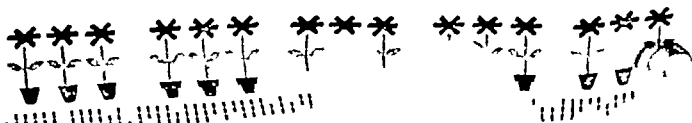
The Bhāratiyan divided the Samsāra (World), where the souls whirled, in Lower Regions, Central (Earthly) Regions and Upper Regions The Egyptians divided the world into Hades, Earth and Heaven and the Sumerians in to Nether World, Earth and Heaven or the Land of the Blest Thirdly, Bhāratīyans believed in the doctrine of Final Attainment The awakened persons having Right-View (Samyaktva)[23] shall, one day or the other, have Final Attainment Salvation and Liberation are imperfect words which do not carry the full significance of the concept of Siddhi The nature of the State of Siddhi is inexpressible in words The path of births is quitted [30] Soul completely detaches itself from Matter It is the state of spiritual perfection and consummation of knowledge Siddhi is known to the Egyptians as Blamelessness and to the Sumerians as Immortality, though the contexts make them only a diluted Siddhi The Bhāratīyans, fourthly, believed in the doctrine of Karma (Resultant-Effortiveness) The soul is inherently free It is free to do good or evil Matter is bondage and bondage is Samsāra (World) The freedom of soul rules out any interference by one soul in the freedom of the other soul All the living beings are like one's own self[31] No exterior force bestows upon man, Siddhi A man has to earn it by his own incessant and persistant right personal efforts The Right Knowledge in Truth and Existence is the first requisite The second requisite is Right Faith The third requisite is Right Conduct The path of Right Conduct, with Right Faith in the final aim and the path leading to it, armed with Right Knowledge leads to Final Attainment The Right Effort, thus, is of supreme importance in life

9 *Bhāratīya Shramanic Tenets*

Āchārānga Sūtras is the embodiment of the doctrines of Right Effort Āchāra means Right Effort The causes of sins and transgressions have to be removed by following the spiritual way This ideal right way is prescribed for a Muni (Saint) He follows these spiritual tenets in totallity A householder follows these spiritual tenets only partially There is only the difference of degree, not of the content The path is one and the same for both Bhāratīya Spiritual Tenets are thus prescribed in Āchārānga Sūtra

I Tenets of Non-Violence[33]

1 Do not injure earth-bodies
2 Do not injure water-bodies
3 Do not injure fire bodies
4 Do not injure plants
5 Do not injure animals
6 Do not injure wind-bodies
7 The learned kills not, nor causes other to kill, nor consents to the killing of others
8 Walk carefully to avoid injury to others
9 Purify mind to control blamable actions
10 Speak carefully not to hurt others
11 Lay down carefully to avoid injury to others

II Tenets of Truth[34]

1 Nirgrantha practises Truth constantly
2 Nirgrantha accepts Truth in totality

a snake a descendant of Imos, of the line of Chan of the race of Chrvim. 'Chan signifies snake Chivim refers to Tripoli, and that is same as Hivim or Givim, the Pheonician word for snake which again refers to Hivites the descendants of Heth son of Canean Votan expression means I am a Hiviti from Tripoli Votan peoples were the Sea faring people and expert international traders [41]

Mackenzie rejects the theory that Semities or Celts or Norsemen or any other people first discovered America Scholars, Mackenzie including hold the view that the Pheonimicans were the first immigrants to America. The question remained debatable for pretty long time whether Pheonicians reached America via Atlantic Ocean or via Pacific Ocean The latest view is that the Pheonician navigators reached America through Poloynesia via Pacific Ocean Phoenicians were the original Panis[42] of Bhārata who belonged to the Ahi or Nāga race of Bhārata [43] The inseparable association of the Quatzalcoatl people with snakes clearly identifies them with the Panis of the Ahi race of pre Āryan Bhārata.

The Quatzalcoatl people believed in peace penance chaste life and ordered progress They introduced agriculture industry and art of Government They were opposed to war and human sacrifice. Their leader Quatzalcoatl lived a chaste life practised penance He abstained from intoxicating drinks and was a celibate. He hated war and violence and instead of offering up in sacrifice animals or human beings, he offered bread, roses, other flowers, perfumes and incense The culture-hero Quatzalcoatl is represented in art sitting in a meditative mood in Padmāsana posture with eyes closed having two hooded horns [44] The horn emblem was taken to America by the Panis who took the same to Sumer Egypt and Crete They were the group of people who first arrived on the continent later to be known as America, driven by that mighty current that set out from India towards the East.[45] The figure of the representative Pani depicts a robust trader standing erect, with folded hands having Rajasthani features and whose head is adorned with a Marwari Pugaree (Head-dress) [46] May be, Panis of Rajasthan, having their seat of power at Arbuda (Modern Mount Abu) sailed off to America from some Indus port

1° *Epilogue*

We thus find that the basic spiritual way of the people inhabiting the region extending from East to West in the Southern hemisphere was founded upon the basic doctrines of non violence truth non stealing continance and non possessiveness This basic way increased the ever progressive free spirit of the person. The man is inherently free and fullest freedom is his final goal The free man completely depended upon his free personal efforts, unaffected by any external agency to attain his goal His liberation or salvation did lie with him alone and nowhere else The central driving force of the ancient Bhāratiyans, Sumerians, Egyptians and the rest was Right Personal Effort. Their society may be called Effortive Society their culture Effortive Culture and their civilization Effortive Civilization Theirs was the Effortive Way We may therefore rightly call the pre Āryan society of the region the Shramanic (Effortive) Society and its way the Shramanic (Effortive) Way Their way of life in essence was founded upon the ideology of Shramanic spiritualism.

The Shramanic Way of th pre Āryan ncients of this vast region of the Southern Hemisphere also reflected itself in the economic, social, political and administrative institutions of the
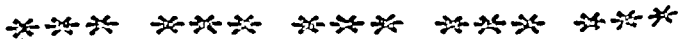
9 *Pre-Hellenic Ægean Shramanic*

The archaeological excavation in Greece, Crete and other Ægean islands have unearthed the Pre-Āryan Minoan culture in the Ægean but the Minoan script has not so far been satisfactorily deciphered and we gather the contents of the pre-Hellenic picture of Greek culture and civilization mainly through the material relics brought to light by the grace of archaeologists A bronze statue of 'Reshef' belonging to the 12th century B C discovered at Alasia near Enkoni in Cyprus has been discovered The statue has two significant horns This Reshef of Western Asia has been identified with Risabha of Bhārata who was the common inherited God of the Pheonicians, Amrorites and the Arameans He was a deified personage of history belonging to a hoary past beyond any historical date but he was a very popular God in Egypt, Western Asia and the Mediterranean Circa 3000 B C [39] Reshef or Risabha was the spiritual leader of the pre-Āryan neolithic Cretans He may safely by identified with the pre-Āryan Bhāratīya Risabha of the most ancient Hoary past, the founder of the Bhāratīya Shramanic Way The Greekāryans firmly rooted their final supremacy in Greece and the Ægean Circa 1000 B C The spiritual Risabha traditions still lingered on even after this event After the establishment of the Greekāryan authority, the synthetic forces acted and reacted upon each other and the foreign Āryan rulers borrowed much from the defeated erstwhile masters of the lands Thereafter a great Greek, Dionysus, son of Zeus and Persephone, developed a religion which was savage and repulsive in original form He was the God of primitive tribal Greek agriculturists following the ways of Ganapati Indra in tribal drinking of wine Dionysus was a great success in Greece, but under the new set of circumstances, that could not continue for long and another great Greek, Orpheus of Crete, influenced by the spiritual way of life gave the Greek religion an ascetic content Orpheus believed in soul and its transmigration The Orphics believed that Man is partly of earth and partly of heaven, meaning thereby that Man is the union of Spirit and Matter They believed that by a pure life, the heavenly part is increased and earthly part decreased The soul in the next world acheived salvation The Orphics abstained from animal food It is certain that Orphic doctrines contain much that seems to have its first source in Egypt and it was cheifly through Crete that Egypt influenced Greece Orpheus was torn to picence[40] for reforms in the Olympian religion Orphism was the Greek spiritual revivalism as Buddhism was the Bhāratīya spiritual revivalism

The belief of Orphism in Soul, Effortivism, Transmigration and final Attainment are not only peculiarly Egyptian but significantly enough, strikingly similar to the Bhāratīyan beliefs, and also with the Sumerian beliefs If these beliefs went to Crete via Egypt, they must have gone during the period of old Republic in the beginning of the third millenium B C

11 *Pre-Aztec American Shramanism*

The earliest immigrants, in point of time, to America were the Quatzalcoatl people who reached there Circa 2000 B C Quatzalcoatls mean "feathered serpants" or "bird-serpants" They came from the East and departed eastward Quatzalcoatl was the leader of these first immigrants, the earliest inhabitants of the land

What was the ethnic stock that they belonged to? Votan was, like Quatzalcoatl, the first historian of his people, and wrote a book on the origin of the race, in which be declares *himself*
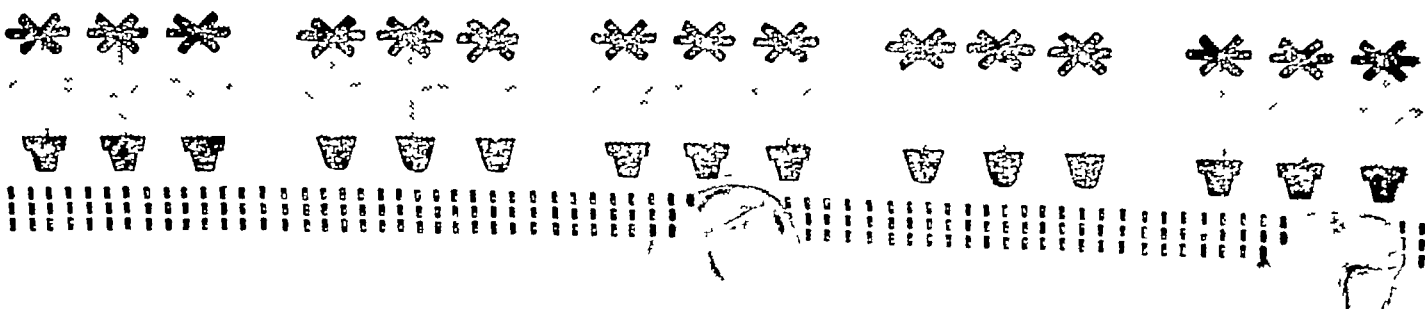
3° *Uttarādhyayana Sūtra* 28.2.28 30

33 *Achārāṅga Sūtra* 1 1 ° 6 1 1 3 7 1 1 1 7 1 1 5 7 1 1 0 0 1 1 7.5 1.3.2.4 2.15 1 1-5

34 *Achārāṅga Sūtra* 1 3 2.1 1.3 3 3 2 15.2 1-5

35 *Achārāṅga Sūtra* 1 1.3 7 2 15 3 1-5

36 *Achārāṅga Sūtra* 1.5 4 4 2 15 41-5

37 *Achārāṅga Sūtra* 1.2 5 3 2 15 5 1-5

38 *R C Jain* Ancient Egypt and Anuvrata (Hindi) Achārya Shri Tulsi Abhinandana Grantha 1962 Pages 103-112 The Egyptian and Bhāratīyan Spiritual Tenets have been comparatively studied in this paper

39 *R C Harshe* The Historic Importance of the Bronze Statue of Reshef Discovered in Cypress Bulletin of Deccan College Research Institute Vol XIV Pages 230-236 The Figure of Reshef has also been given in the beginning

40 *Bertrand Russell* History of Western Philosophy 1954 Pages 32-35

41 *D A Machenzie* Myths of Pre Columbian America, Pages 205-260.

42. (a) *A C Dass* Rigvedic India 1927 Page 102 ff
(b) *A C Dass* Rigvedic Culture; 10-5 Page 88

43 *Rigveda* 1 7 2 11 5 3.2 6-7 7 1 6 3.

44 *D A Mackenzie* Op. Cit Pages 257 258 *Figure 3 on Plate Facing Page 250*

45 *History of Mexico* (Mexican Government Publication) Page 3 Quoted on Page 16 of Chamanlal s Hindu America 1950

46 *D A Machenzie* Op Cit Figure Faces Page 28

people but that is a different subject of vast magnitude It has been properly dealt with in my unpublished book "The Most Ancient Āryan Society"

REFERENCES

1 *J H Breasted* Development of Religion and Thought in Ancient Egypt, 1959, Pages 52, 55, 56, 418

2 (a) *G Rawlinson* History of Ancient Egypt , 1881 , Vol I, Page 136, Vol II, Pages 38, 31, 28

(b) *M A Murray* The Splendour that was Egypt, 1959, Pages 330, 161

3 *G Rawlinson* Op Cit, Vol II, Page 39, 40, Vol I, Pages 314, 314 Note No 3, 319

4 *M A Muiry* Op Cit, Page 165

5 *Rigveda* 1 6 2 14, 1 21 12 4, 1 23 10 1, 2 3 5 10, 5 2 1 1, 5 2 13 1, 5 4 7 11, 5 6 11 6, 7 2 13 3, 7 4 1 24, 8 5 12 1, 9 4 6 1

6 *J Prayluski and Others* The Pre-Aryan and Pre-Dravidian in India, 1925, Page 132, Note I

7 *M A Murray* Op Cit, Pages 165-167

8 *James B Pritchard* Ancient Near Eastern Texts, Relating to the Old Testament; 1955, Pages 34, 36 The re-organisation of the Tenets is mire

9 *G Rawlinson* Op Cit Page 439

10 *Morris Jastrow* Aspect of Religious Beliefs and Practice in Babylonia and Assyria, 1911, Pages 149, 351, 353, 355

11 *H F Talbot* Babylonian and Assryrian Literature, Pages 117, 198

12 *S Moscati* The Face of the Ancient Orient, 1960, Pages 31, 45

13 *L Woolley* Excavations at Ur, 1955, Pages 55, 58 and Chapter III, "The Royal Cemetery"

14 *N K Sanders* The Epic of Gilgamesh, 1960, Pages 15, 104, 109

15 *James B Pritchard* Op Cit, Pages 38, 40, Enki and Ninhursag, A Paradise Myth

16 *Dr Kramer* Hindustan Times Dated 15-1-1962, Page 3

17 *M Jastrow* Op Cit, Page 377

18 *M Jastrow* Op Cit, Pages 307-309, 389-390

19 *H Jacobi* Jaina Sūtras, (S B E Series) Vol XXII, Pages 22-24

20 *H Jacobi* Jaina Sūtras, (S B E Series) Vol VI, Page 21

21 *Dharmanand Kaushambi* Parsvanātha Kā Chāturayāma Dharma (Hindi) , 1957; Pages 30-31

22 *Chhāndogya Upanishad* 3 17 4, 8 15 1

23 *G C Pande* Studies in the Origins of Buddhism, 1957, Pages 257-261

24 *Rigveda* 7 6 12 6

25 *Achārānga Sūtra* 1 1 1 5

26 *Uttarādhyayana Sūtra* 28 6 12

27 *Achārānga Sūtra* 1 1 1 6

28 *Sūtrakrtānga Sūtra* 1 2 2 2, 1 2 3 18

29 *Achārānga Sūtra* 1 4 4 3-4

30 *Achārānga Sūtra* 1 5 6 4, Book II Lecture 16

31 *Achārānga Sūtra* 1 3 3 1

Dr Bool Chand

AHIMSA, THE BASIC SOCIAL ETHIC

All thoughtful people in the world today are thinking more and more in terms of Ahimsa (Non-violence) as the only real solvent of world conflicts Occasionally they do so without actually employing the term 'Ahimsa' The great English philosopher Bertrand Russell has, for instance, in his book entitled 'New Hopes for a Changing World' spoken about the perplexities which torment mankind at present and tried to build up courage by pointing out that the rebuilding of 'all the impulses that are creative and expansive' would save men from moral perplexity and from remorse and the condemantion of others This is the new ethic which Russell offers to the world as a remedy of its difficulties , and it is nothing other than Ahimsa as preached by the leaders of religion in the East from quite immemorial times

This new ethic, says Bertrand Russell in his book, 'depends upon harmony with other men'. With its help 'it will be easy to live in a way that brings happiness equally to ourselves and to others' If man, says Russell could feel in the way indicated by this new ethic, not only his personal problems but also all the problems of world politics, even the most abstruse and difficult, will melt away Suddenly, as when the mist dissolves from a mountain top, will the landscape be visible and the way be clear

Bertrand Russell has acquired great reputation as a clear-headed philosopher His reasoning is at once penetrating and satisfying It is therefore a matter for some surprise that he should have failed to clearly mention that the new ethic described by him is only Ahimsa, which had been preached in India by the great savants Mahavira and the Buddha These religious teachers had made Ahimsa the basic idea of their thouhgt structure

That the acceptance of this ethic by the people will help man to solve his many conflicts, Bertrand Russell is quite clear and even rather dogmatic about In his book he has made anelaborate argument that it is in the nature of man to be in conflict with something and that there are three kinds of conflict in particular which pursue mankind, (1) the conflict of man and nature, (2) the conflict of man and man and (3) the conflict of man and himself, and in a statement which is full of learning and historical details he has reasoned out his optimistic conclusion that in our society which would be recreated consequent upon the acceptance of this new ethic not only shall we secure 'the happy man' but we shall also be in sight of 'the happy world' The happy man, according to Russell, would be a man without fear, and the happy world would be the world in which the three conflicts spoken of above have been effectually conquered, the conflict of man and nature by the establishment of an international authority controlling the production and distribution of food and raw materials and also tackling the population problem by the enforcement of a universal system of family planning, the conflict of man and man by
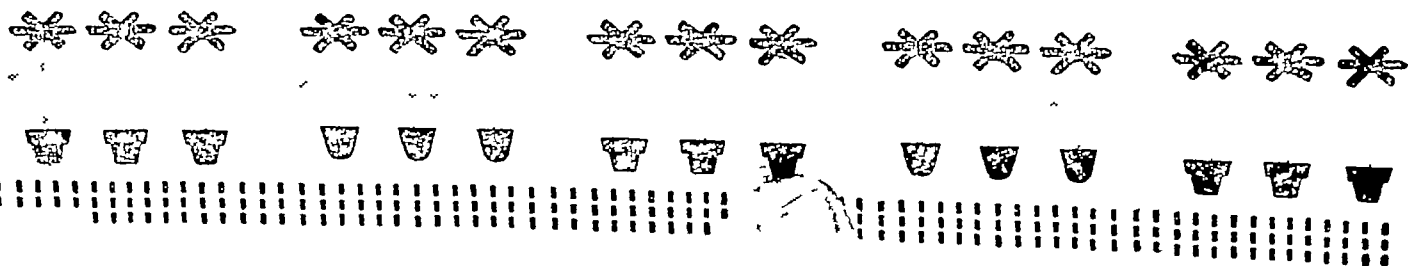
the concentration of all really serious weapons of war in the hands of the international authority so created and the conflict of man with himself by organising a world wide system of public education which would provide for the protection of the individual against at once the hostility of the herd and his own fears

Not only does Beftrand Russell give no name to this new ethic, he even feels that it can scarcely be called an ethic at all as {it primarily depends upon harmony between man and man. To this basic social ethic, of which the characteristic feature is harmony between man and man, the name that was given by the teachers of religion in the East was Ahimsa.

It is important to know that when some representatives of the major religions of the world met in Delhi in 1957 in a World conference of Religions and when they felt that it was high time for religions to give up their mutual bickerings and to strive to create an atmosphere of mutual respect and harmony in the world, they could not think of a better way of doing it other than by establishing an institute of research in the potentiality of Ahimsa Their reasoned faith was that as knowledge is power the mere bringing out the power of Ahimsa by an objective study of humanities and the great spiritual movements of the world through succeeding ages would act as an impelling force to foster love and brotherhood among men, races and the nations

Ahimsa is in reality the basic social ethic. It takes its birth in sociality in human nature, and it builds its whole edifice on that principle It emphasises all those qualities which would inexorably lead to the fortification of the social life of mankind by the ending of all conflicts based upon differences of race, religion or creeds. These conflicts so say the psychologists are born of human narrowness selfishness, greed suspicion, hatred and self-assertiveness. Ahimsa therefore aims at the eradication of all these proclivities of men. It forswears prejudice ignorance and short sightedness. Only by the preaching and practice of Ahimsa has the sway of civilisation shown itself in the history of human social evolution Of all the forces which have functioned in human history as solvents of conflict Ahimsa has naturally been by far the strongest and the most powerful Ahimsa alone has stood for integration and emotional under standing as distinguished from the superimposition of one specific belief or habit of life upon another

Conflicts of one kind or another have tormented the world only when the force of Ahimsa as a dominant factor in total human affairs has been allowed to grow weak. Bertrand Russell in his book has pointed his accusing finger to the fact that man s gregariousness is a limited instinct and that beyond a certain degree it is a product rather of self interest than of instinct. His argument runs as follows Ants and bees instinctively serve the purposes of their group, they have no need for morals and decalogues and apparently never feel any impulse to sin. Gregarious mammals are not so completely dominated by the herd instinct as ants and bees are, but have less tendency to individualism than human beings have In human beings there is a constant conflict between the individual and the herd instinct, a conflict which as a rule is subjecti e and waged in the mind of the indi idual but occasionally it breaks out into open dis agreement Russell f rth r says that the forms taken by this disagreem nt depend upon the size and character of the herd.

That naturally leads Bertrand Ru ell to the t ng of the evolution of social grouping from the family to the tribe and thenc to the national group Th re however he stops we th nk

quite improperly and unjustifiably Even his view of the psychological make up of man is not quite adequate, as he has related it to the prevailing social system today Human evolution has no doubt followed the line of social grouping from the family to the tribe and thence to the national group, but it does not end with the national group Trends are already noticeable, especially in America and Africa, towards the extension of the social ethos to a continental level The United Nations represents an international ethos which, even if it is not very strong today, is clearly indicative of the further line of development in the evolution of social grouping In consequence of man's space flights and inter-planentary travels, the horizons of the social units existing in the world at present would be further widened

Quite apart from any inadequacies in Bertrand Russell's argument as developed in this book, however, it is clearly evident that a world view of Ahimsa is fast developing Thinking people on all the continents are devoting their attention to this basic social ethos, and masses of people are anxiously waiting for its propagation In India, consequent upon the decision of the World Conference of Religions held in 1957, a research institute on Ahimsa, designated Ahimsa Shodh-Peeth, has been set up in Delhi , and the world is looking forward to a proper and successful flowering of its work It is a happy augury that this Institute has taken steps to seek the co-operation of thinkers and workers of all countries by enlisting them as Corresponding Members of the Ahimsa Shodh-Peeth Research on this basic social ethic may therefore be expected to be conducted with international co-operation from the very beginning

K. B. Jindal
M.A., LL.B. I.R.S. Calcutta

THE DOCTRINES OF JAINISM

The doctrines of Jainism can broadly be divided into three categories Metaphysics, Philosophy and Ethics which are being concisely dealt with in this chapter

A

METAPHYSICS

The Nine Cardinal Principles (Navatattwas)

The principal aim of Jainism is the attainment of the freedom of the soul by its perfect evolution But it is not possible to achieve the evolution of the soul unless one knows what the soul is, what its intrinsic attributes are how it has been compelled to bear the agonies of existence in its wheeling from birth to birth and by what means it can be freed from this wheeling And in order to know all this, one has also to acquire knowledge of the constituent elements of this world their mutual relations the why and the how of the soul s bondage and the means of its release All this knowledge is classified as nine Tattwas or cardinal principles in Jainism They are (1) Jiva or conscious Soul (2) Ajiva or inconscient Matter (3) Āsrava or the influx of Karma (4) Bandha or bondage (5) Punya or virtue, (6) Pāpa or sin, (7) Samvara or arrest of the influx of Karma, (8) Nirjarā or exhaustion of Karma, and (9) Moksha or liberation The two principles of Jiva and Ajiva comprise all the objects of the world The other seven principles explain how the Jiva or conscious soul is bound by *Ajiva or Inconscient* Matter what is the nature of the bonds, and by what means they can be got rid of

The Consc us Soul (Jiva)

The fir t pr nciple is Ji a The essential attribute of the Jiva is consciousness in other words that wh h possesses consciousness is Jiva Infinite Knowledge vision, power bliss etc are also the attributes of Jiva Each Jiva has an independent existence and the number of the Ji as is infinite The Jivas are of two kinds Samsāri or mundane and Mukta or liberated. Those that have atta ned to Nirvāna by exhausting all Karmas are called Mukta (free) or Siddha (perf ct) They are also called liberated souls. They are endowed with infin t know ledge infinite i n infinite power and infinite bliss and they nev r come back to this mortal world The suprem and ultimate goal of every terrestial being is to attain liberation The Jiva is also term d Ji āstikāya

The M d e S (Samsā Jivas)

Samsāri J a r th s that ha e been passing through b rth and d ath and have n t yet attain d l berat n Th y are born as Devas (God) Māna s (m n) N ak s (b ings f h ll) and Tiry as (bi d b asts insects egetation tc) nd wh n the nd f th r l e run out

they die and are born again So long as they do not attain salvation, they have to bear the agonies of birth, decay and death The Samsāri or mundane Jivas have been divided into five categories according to the number of the senses they possess, such as Edendriyas, Dwindriyas, Trindriyas, Chaturindriyas and Panchendriyas

Sthavara Jiva

Creatures that have only one sense, the sense of touch, and no other, are called Edendriyas They are also called Sthāvaras, because they are devoid of the power of locomotion The Sthāvara Jivas are again divided into five classes Prithwikāyas i e clay, stone, metal etc, Apkāyas i e water, dew, snow etc, Agnikāyas i e fire, burning coal etc, Vāyukāyas i e air, storm, whirlwind etc, and Vanaspatikāyas i e trees, creepers, herbs etc Earth, stones etc, all kinds of water, all kinds of fire, all kinds of air, and all kinds of trees etc in their natural states, are Jivas embodied in earth, water, fire, air and vegetation

Trasa Jiva

The other four kinds of Jivas from Dwindriyas to Panchendriyas are called Trasa, because they are endowed with the power of locomotion

The Dwindriya Jivas, such as worms, leeches etc, have two senses the sense of touch and the sense of taste The Trindriya Jivas, such as ants, lice etc, have the sense of smell along with the above-mentioned two senses Chaturindriya Jivas, such as bees, drones etc have the sense of sight along with the above-mentioned three Panchendriya Jivas, such as men, beasts, birds, Gods and the beings of hell, have the sense of hearing in addition to the other four According to the Jaina scriptures there are seven hells Those who commit gross sins enter into hell after their death and have to undergo unimaginable sufferings There are many kinds of Gods living in different heavens or Swargas Some of them possess more strength, happiness, influence and lustre than the others, particularly the Gods of the Anuttar Vimāna excel all others in these attributes The Gods live so long that they are usually considered as immortal, though in point of fact, no Gods are really immortal The Jivas comprising the first four categories have no mind, so they are called Amanaska Gods, beings of hell, men, beasts, birds etc possess the mind, and are, therefore, called Samanaska Jivas, though their mental development is not of the same order

Matter (Ajiva)

The second cardinal principle is Ajiva or Matter The Ajiva possesses characteristics which are contrary to those of the Jivas, that is to say, it is devoid of consciousness Ajiva is of five kinds (1) Dharmāstikāya, (2) Adharmāstikāya, (3) Akāshāstikāya, (4) Pudgalāstikāya, and (5) Kāla or Time All these five substances are eternal

Dharmāstikāya is a substance which contributes to the movements of the Jivas and Pudgalas (Matter) But for it, neither the Jivas nor the material objects could have been mobile. That is why it is known as the indispensable aid to motion or mobility It is formless, inconscient and pervasive of the entire Loka or Universe

Adharmāstikāya is a substance which helps the Jivas and Matter to stop their motion, if they are so inclined That is why it is known as an aid to stability or stoppage of motion It is also formless, inconscient and pervasive of the whole Loka Akāshāstikāya furnishes subsisting

K. B Jindal
M A., LL B I R.S Calcutta

THE DOCTRINES OF JAINISM

The doctrines of Jainism can broadly be divided into three categories Metaphysics, Philosophy and Ethics which are being concisely dealt with in this chapter

A

METAPHYSICS

The Nine Cardinal Principles (Navatattwas)

The principal aim of Jainism is the attainment of the freedom of the soul by its perfect evolution But it is not possible to achieve the evolution of the soul unless one knows what the soul is what its intrinsic attributes are how it has been compelled to bear the agonies of existence in its wheeling from birth to birth and by what means it can be freed from this wheeling And in order to know all this, one has also to acquire knowledge of the constituent elements of this world their mutual relations the why and the how of the soul s bondage and the means of its release All this knowledge is classified as nine Tattwas or cardinal principles in Jainism. They are (1) Jiva or conscious Soul (2) Ajiva or inconscient Matter (3) Āsrava or the influx of Karma, (4) Bandha or bondage, (5) Punya or virtue (6) Pāpa or sin, (7) Samvara or arrest of the influx of Karma, (8) Nirjarā or exhaustion of Karma and (9) Moksha or liberation The two principles of Jiva and Ajiva comprise all the objects of the world The other seven principles explain how the Jiva or conscious soul is bound by Ajiva or inconscient Matter what is the nature of the bonds, and by what means they can be got rid of

The Conscious Soul (Jiva)

The first principle is Jiva The essential attribute of the Jiva is consciousness in other words that which possesses consciousness is Jiva. Infinite Knowledge vision, power bliss etc. are also the attributes of Jiva Each Jiva has an independent existence, and the number of the Jivas is infinite The Jivas are of two kinds Samsāri or mundane and Mukta or liberated. Those that have attained to Nirvāna by exhausting all Karmas are called Mukta (free) or Siddha (perfect) They are also called liberated souls. They are endowed with infinite knowledge infinite vision, infinite power and infinite bliss and they never come back to this mortal world The supreme and ultimate goal of every terrestial being is to attain liberation The Jiva s also termed Jivāstikāya

The Mundane Souls (Samsāri Jivas)

Samsāri Jivas are those that have been passing through birth and death and have not yet attained liberation They are born as Devas (Gods) Mānavas (men) Nārakas (beings of hell) and Tiryakas (birds, beasts, insects vegetation etc.) and when the sands of their lives run out,

Vandha (Bondage)

The fourth principle is Vandha It is the envelopment of the soul by the Skandhas or aggregates composed of innumerable particles of certain categories of Karma There is a particular type of particles which, being attracted by the ignorance of the Jiva, the action of its mind, speech and body, and its reactions of attraction and repulsion, attach themselves to the soul and shroud it These particles are called particles of Karma Varganā In its essential nature the soul being pure, transparent, conscious and incorporeal, logically it cannot be bound by corporeal and unconscious particles, but from times immemorial it has undergone this bondage by forms kārmic matter It is a bondage mysterious and timeless This kārmic envelope is called in Jaina parlance Kārmana-sharira In some Indian philosophies it is called Linga-sharira The Jiva is encased in the Kārmana-sharira from times immemorial, and, in consequence, subject to the impulses and reactions, caused by Karma Attracted by these impulses and reactions, new kārmic atoms of Matter are constantly following in and attaching themselves to the kārmic envelope of the Jiva, and it is as a result of this instreaming and accumulating Karma that the Jiva has to whirl on the wheel of Samsāra and pass through the alternating experiences of pleasure and pain

Kārmic Matter attaching itself to the soul assumes four forms (1) Prakriti-vandha (2) Sthiti-vandha, (3) Anubhāva-vandha, and (4) Pradesha-vandha When kārmic Matter attaches itself to the soul, its development is determined by the then action of the Jiva's mind, speech and body, that is to say, by the goodness or badness, intensity or dullness of that action, and it assumes a nature having the capacity to cover up certain specific attributes of the soul This form of bondage is called Prakriti-vandha It develops infinite variants in itself according to the differing energies of the mind, speech and body of the Jiva But roughly they can be subsumed under eight heads (1) Jnānāvarniya, (2) Darshanāvarniya, (3) Vedaniya, (4) Mohaniya, (5) Āyu, (6) Nāma, (7) Gotra, and (8) Antarāya

Jnānāvarniya Karma covers up the soul's power of knowledge Darshanāvarniya clouds its power of perception Vedaniya Karma overcasts its intrinsic, infinite and unhorizoned bliss and makes the Jiva feel the evanescent pleasures and pains of the world That which generates delusion in the Jiva in regard to its own true nature and makes it identify itself with or be attached to a not-self, is called Mohaniya Karma The Karma which engulfs the soul's eternal poise in its unconditioned self-being and compels the Jiva to assume a body for a fixed period of time in each successive birth, is called Āyu Karma That which eclipses the soul's formlessness and constrains it to put on forms, and under whose influence the Jiva comes to have perfect or deformed limbs, fame or obloquy, and various other representations of itself, is called Nāma Karma That which covers up the soul's superiority to the worldly distinctions of high and low, and forces it to be born in superior or inferior strata of human society, is called Gotra Karma And that which envelops the soul's inherent force and obstructs the Jiva's free enjoyment of the riches of the world or its generosity in charity, is called Antarāya Karma There are many subdivisions of these eight principal categories of Prakriti Vandha, but it would be beyond our present scope to dwell upon them

The Kārmic matter which adheres to the soul for a long or short space of time according to

space to Jivas Pudgalas (Matter) and all things It pervades all Loka and Aloka, and is formless and inconscient

All objects big and small made of atoms, are called Pudgalāstikāya. The smallest indivisible particle of Matter is called an atom. The whole material world is made up of atoms and objects composed of atoms. The material objects are infinite in number Form taste smell, touch sound are the characteristics of the material substance Though the atoms are not apprehended by our senses yet they too have form taste smell and touch

The word Astikāya used in connection with Jivāstikāya, Dharmāstikāya Adharmāstikāya, Akashāstikaya and Pudgalāstikāya has a special significance The word Asti means that which always exists and Kāya means a substance having many Pradeshas i e spatial points A Pradesha is the minutest, indivisible section of a thing A combination or aggregate of such indivisible sections forms Kāya Astikāya means a substance which always exists and have many indivisible pradeshas or sections. Because the Jivas Dharma Adharma Akāsha and Pudgalas are made of the combinations of the smallest indivisible pradeshas and are permanent substances so each of them is called an Astikāya

Kāla or Time is an imaginary thing—it has no real existence It is deduced from the movements of the sun moon stars etc. The smallest indivisible fraction of the present time is called Samaya In Jaina metaphysics the word Samaya has this special connotation The past is dead and gone the future does not yet exist that is why it is the present time alone that is called Samaya Kāla is limited to only one Samaya that is to say it has only one pradesha (fraction) and not a combination or Pradeshas and is not therefore included in the Astikāyas. The imaginary combinations of such infinitesimal Samayas are variously classified as Avalikā moment day night fortnight month year etc According to another view it is held that Kāla or Time too has a real existence it is not something imaginary It has the size of an atom and is called Kālānu Because each Kālānu exists separately in a distinct pradesha or fraction of space (Akāsha) it is not called Astikāya It is instrumental in the metamorphoses of Jiva and Pudgala (Matter) It too is formless and inconscient.

So far [illegible] described the Jiva and the Ajiva the two essential principles which constitute the [illegible] What follows will give an idea of how the Jiva gets enmeshed in Karma and [illegible] the world and how it can be liberated It will thus be an exposition of the [illegible] principles

Asr[illegible] (Th[illegible] [illegible] of Karma)

Th[illegible] Asrava Th[illegible] lead to the influx of good and evil karma [illegible] called Asrava To put it briefly [illegible] an attr[illegible] in the J[illegible] Mithyātva (perverted belief or ignorance) Avrati (want of self [illegible] (pa[illegible] anger [illegible] deceit[illegible] [illegible] period [illegible] of the [illegible] Asrava [illegible] Asrava [illegible] Karma [illegible]

Nirjarā (Elimination of Karma)

The eighth principle is Nirjarā It means the sloughing off or elimination of the coating of Karma from the soul It has been said above that the Karma which has once attached itself to the soul becomes active when it is time for it to bear fruit, and is subsequently exhausted, but if one fails to throw it out just before it starts bearing fruit, it becomes difficult to attain liberation, for, new Karma flows in by the actions and re-actions of the old Karma while it begins bearing fruit Therefore, it is necessary for those who aspire for liberation to exhaust all Karma by the prescribed means of meditation, contemplation etc This process of exhaustion or elimination of Karma is called Nirjarā Nirjarā is effected by regorous austerities, which are of two kinds external and internal Fasting, abstemiousness, suppression of desire, renunciation of the Rasa or pleasure of the palate, physical mortification and sitting, tucked up, in a solitary place—these are the six kinds of external austerities Penance, humility, nursing the sick and ailing monks, study of the scriptures, giving up of all attachment to the body, and contemplation—these are the six kinds of internal austerities

Moksha or Liberation

The ninth or final principle is Moksha or liberation The soul's recovery of its own eternal self by the complete exhaustion or elimination of all Karma is Moksha or Mukti When the soul breaks out of the kārmic envelope, it realises its innate attributes of infinite knowledge, infinite perception, infinite power, infinite bliss, and infinite light, and ascending to the crest of the "Loka", remains there immersed in the termless beatitude of its unconditioned existence—it never returns again into the wheel of material existence made up of birth, decay and death Ascent is the natural movement of the soul Stripped of the covering of Karma, the pure soul wings straight upwards and settles upon the highest region of the Loka, that is to say upon the farthest frontiers of Dharmāstikāya and Adharmāstikāya This state of the soul is the liberated or perfected state—this is Nirvāna As a lamp lit in a house irradiates the whole house with its light, and if other lamps are lit, their lights too mingle with each other and remain there, so the liberated souls, which are each an effulgence, mingle with each other and remain on the crest of the Loka for ever For them there is no return to the agony of mortal existence

What is Karma, how it adheres to the soul, how, developing and fructifying, it determines the movements—the coming and staying and passing—of the Jiva, and its happiness and suffering etc , and how the soul becomes free by Nirjarā or the shuffling off of all Karma— these things have been minutely analysed and exhaustively described in the sacred books of Jainism What is given here is just a brief outline, and nothing more

Triratna or the Three Gems

I have dwelt in brief upon the nine essential principles including the last principle of liberation Now I propose to give an idea as to how liberation is attained A simultaneous practice of Samyak Darshana or right faith, Samyak Jnāna or right knowledge, and Samyak Chāritra or right character and conduct leads to liberation These are three gems of Jainism

Samyak Darshana or Right Faith

Samyak Darshana is also called Samyaktwa It is a faith in the nine essential principles
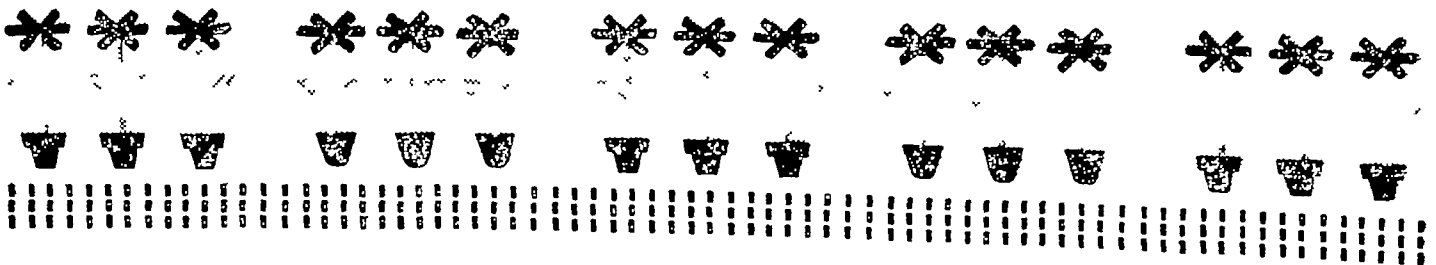
the intensity or dullness of the Jiva s passions like Rāga (attraction) or Dwesha (repulsion) etc. is called Sthiti vandha.

What fruits good or bad acute or dull the kārmic matter will produce is determined at the time of the Vandha by the varying degrees of the reactions of the passions (Rāga, Dwesha etc) of the Jiva. The vandha that is pregnant with the power of producing such fruits is called Anubhāva vandha or Rasa vandha.

The number of the kārmic particles that are drawn towards the Jiva for attaching themselves to it is determined by the nature of the Jiva s mind, speech and body that is to say if the action is on a large scale or intense, the number of the kārmic particles is large if it is on a small scale or lacking in intensity the number is small This particular kind of vandha of a varying magnitude is called Pradesha vandha.

Punya (Virtue)

The fifth principle is Punya or virtue. The Kārmic vandha which is brought about by the good or righteous action of the Jiva s mind, speech and body and is pregnant with the potentiality of bearing happy fruits, is called Punya Auspicious Karma attaches itself to the Jiva as a result of the letter s works of charity such as the gift of food, drinking water accommodation, bedding clothes etc. to the monks, its pious resolutions and homage to the Tirthankaras the religious gurus etc. As fruits of one s righteous Karma one comes to possess physical and mental happiness, health and beauty of the body property fame etc.

Papa (Sin)

The sixth principle is sin which is the very contrary of Punya or virtue. Sin is the bondage of Karma which is brought about by the evil actions and reactions of the mind, speech and body of the Jiva, and contains in itself the power to produce evil or unhappy results. Violence, telling of lies stealing sexual incontinence, attachment to the objects of enjoyment anger self-conceit, deceitfulness, avarice etc. are the evil propensities which entail the Jiva s bondage to the Karma of sin and the painful consequence of this kārmic bondage is suffering from various physical ailments deformed or ugly body birth in the animal life, as beast, bird, insect etc birth in hell or poverty and privation The soul, shrouded in sinful Karma cannot progress in self-evolution but gets more and more entangled in kārmic matter and drifts like a waif in the endless flux of Time These two principles of virtue and sin are in a sense two different aspects of the Vandha principle, so some exponents of Jaina philosophy include them in the Vandha principle thus reckoning the principles as seven, and not nine

Samvara (Arrest of the Influx of Karma)

The seventh principle is Samvara The methods by which the Asrava or influx of Karma is arrested are called Samvara It is a principle contrary to Asrava It is achieved by an undeviating practice of the discipline of m nd peech and body religious meditation suppres sion of des re forgivenness, tenderness purity of thought truthfulness austerities, renunciation, d tachment chastity abstent n from evil act on and avarice and by thinking that the world is impermanent and the body full of f lth, and that one has to suffer alone the sweet bitter fruits of one own Ka ma

साधना इतनी ऊँची थी कि उनके मधुर व्यवहारों से छोटे सन्तों के हृदय मे सहज आत्मिक भाव जाग उठता था. छोटे सन्तों से वे मिलते, उनकी समस्याएँ समझते और उन्हें योग्य मार्ग अपनाने का दिशासकेत करते

उनमे श्वेताम्बर, दिगम्बर, तेरापथी बीसपथी आदि जैनधर्म की शाखाओं के सन्त तो मिलते-जुलते ही, परन्तु कबीरपन्थी या दादूपन्थी, जो मिलता वह उनका अनुरागी बन जाता, क्योंकि वे समन्वयवादी विचारधारा के सपोषक थे यही कारण है कि नागौर, कुचेरा, खजवाना, रूण आदि के आसपास के छोटे-बडे सभी गाँवो मे जैनेतरो के द्वारा भी जैनो के समान ही उनका सर्वत्र स्वागत सत्कार और सम्मान होता था

अपने आस-पास श्रावक, श्राविकाओ का जमघट होना उन्हें पसन्द नही था वे सदा उन्मुक्त वातावरण मे रहना ही पसद करते थे श्रमण-जीवन का मौलिक प्रेरक सूत्र उनके जीवन मे साकार हो उठा था 'काले काल समायरे'' यह उनके जीवन का अत्यधिक प्रिय मत्र रहा है उनके मन मे यदा-कदा एकान्तवास का सकल्प आता तो वे हमे कहा करते—स्वाध्याय करते समय जब मैं गुणशील उद्यान, श्रीवन उद्यान आदि में ठहरे हुए श्रमण-निर्ग्रंथो के जीवन की झलक पाता हूँ तो मेरा मन अतीत के श्रमण-जीवन की परिकल्पना मे ऐसा निमग्न हो जाता है कि मानो थोडी देर के लिए सहज समाधि मे लीन हो गया हू विहार करते समय जब ... ठहरते तो अपूर्व शान्ति एव समाधि का अनुभव करते थे उन्होंने अनेक बार कहा था—मैं चाहता हूँ—मेरा ... एकान्त शान्त वातावरण मे बीते,स्वामी जी म०की यह भावना साकार हो कर ... उनका स्वर्गगमन ... म (नोखा चदावतो ... पारवाड) मे ही हुआ

इस प्रकार स्वामी जी ... श्रमण ... की प्रगति के ... प्रगतिवादी विचारधारा की अमूल्य ...

मेरे श्रमण-जीवन के ... आदि से ... महाराज थे ... उन विद्यानुरागी गुरुप्रवर के प्रति मेरा ... -युग तक ...

... रास्नी, ...

... म ...

जीवन की डगर पर चलता ... है,
जो सिनेमा की तस्वीर की ... न्तु
... व्यक्तित्व ऐसे उजागर ... जाते
... स-पटल पर ... ये नही

... र मे था
... ओर पूज्य
... वालो का
जन ... हर-वहर इस
बोलव, ... न्स के कुछ
१८५८ ... वर मे स्वीकार
प्रमुख
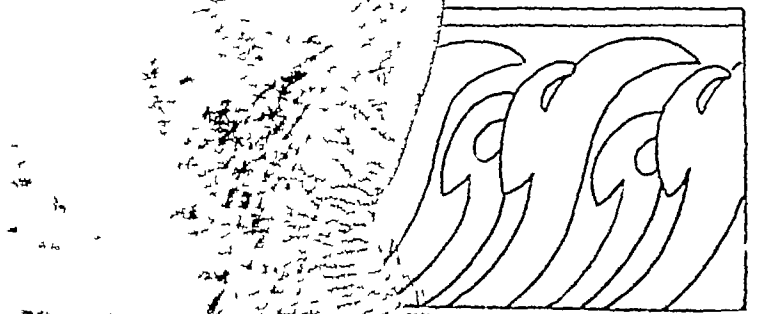
(Nava Tattwa) and an attitude of unbiased approach to the real nature of things. It can also be called Veveka drishti or discriminating perception Deluded by ignorance, the Jiva ordinarily takes falsehood for truth and truth for falsehood The faith-directed attitude of consciousness that can perceive truth as truth and falsehood as falsehood is Samyak Darshana or Samyaktwa. The spiritual life of the Jiva begins only when Samyaktwa emerges out of the darkness of its ignorance The Jiva then, develops an aspiration to know the Truth in its essential principles to renounce what is unwholesome and impure and to accept all that is high and noble and conducive to its spiritual progress. This is the state of Samyak Darshana

Samyak Jnāna or Right Knowledge

There is some form of knowledge in every Jiva, but so long as Samyak Darshana has not evolved in it, that knowledge can only be a wrong or false knowledge which is only a form of ignorance It is only after the emergence of the Samyak Darshana that knowledge can become true knowledge, for in the absence of Samyak Darshana the Jiva lacks the power of knowing the real nature of things, and hence what knowledge it has already acquired cannot be called true knowledge It is only after Samyak Darshana has evolved that the knowledge of the Jiva can be called Samyak Jnāna or right knowledge.

Knowledge is of five kinds Mati jnāna Shruta jnāna, Avadhi jnāna, Manahparyāya jnāna and Kevala jnāna. The knowledge which is acquired bv means of the sense organs and the power of the mind is called Mati jnāna. That which is acquired by the study of words and their meanings is called Shruta jnāna. Like Mati jnāna, Shruta jnāna is also acquired by means of the senses and the mental powers, and the Shruta jnāna of a thing cannot be had unless there has already been Mati jnāna of it But the scope and nature of Shruta jnāna is wider and more distinct than those of Mati jnāna, for Shruta jnāna comprehends a study of words and their meanings. The knowledge which is acquired by study of books and scriptures and by listening to men of wisdom is also called Shruta jnāna The knowledge by which one can know all embodied objects within certain limits of Space and without the help of the mind and the senses, is called Avadhi jnāna It is a kind of spiritual knowledge When this know ledge develops one can see even with one s eyes closed all things which are not formless, within certain boundaries of Space. The knowledge by which even without the help of the mind and the senses, one can know the psychological movements of the creatures within certain fixed limits is called Manah paryāya jnāna This too is a kind of spiritual knowledge. The knowledge by which, without any aid whatever of the mind and the senses, one can know all things contained in the Loka and the Aloka all things past, present and future possessing form and without form, and in all their attributes and categories, is called Kevala jnāna This is spiritual knowledge par excellence. When the four kinds of Karma—Jnānavaraniya, Darshanāvaraniya Mohaniya and Antarāya—are completely exhausted the intrinsic knowledge of the soul the Kevala jnāna, reveals itself This state of knowledge of the soul is called the Jivan mukta state Once this state is realised, the Jiva is sure to attain Mukti or Nirvāna (Liberation) when the remaining span of its life comes to an end The Tirthankaras were in this sense Ji anmuktas, and endowed with Kev la jnāna—all knowing and all seeing

Sam ak Cha t (R ght Cha acter and Cond ct)

Self-d scipl ne enunciation, repression of th senses and unblemished conduct are called

etc , practised after the development of Samyak
the monks, the tenfold religious observance of
-ipline, the twelve Vratas enjoined upon the lay
ıāritra Chāritra is of two kinds one is based
a partial renunciation As I have said before, a
l for the monks, and a partial renunciation for

e renunciation of each of the five kinds of
ence and craving for the possession of things,
unds, touch, form, taste and smell, quelling
-lf-conceit, deceitfulness and avarice, and the
s of mind, speech and body A perfect
nyak Jnāna and Samyak Chāritra inevitably
-ms of Jainism

itra are inter-related, and depend upon
faith (Darshana) is not purified, there is no
e, and if the faith and knowledge have not
Any one or even any two of these three
ne faith and knowledge, unaccompanied by
ore, by a simultaneous perfection of right
n attain to liberation, and not otherwise
ction in conduct and character on account
hat is why, the religious books of the Jainas
as one practices to perfection the five major
n-stealing, chastity and non-possession—one
nd conduct The Jaina ideal of monkhood
o say, in character and conduct, and it is non-

l eternal It cannot conceive of a time when the
l when it will return to it According to it,
stant change, but nothing ever perishes and dis-
orld are created and destroyed as a result of
les of Jiva and Ajiva (conscious soul and uncons-
ns as it si—it never vanishes out of existence

nscious soul and unconscious matter, and so
-tween the two, the beings have to wander
to propound the means by which this rupture
ted from the thraldom of Matter Ahimsā
ā (austerities) are the means by which every
piritual freedom
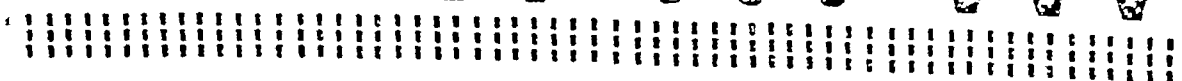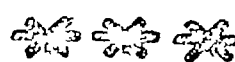
The Supreme Fulfilment of Man

As, in Jainism there is no conception of a Supreme Being Creator of the universe there is no room in it for any theory of Avatārahood or God appointed prophethood The great men who have attained spiritual freedom were nothing but men like us *They had developed their souls* by a steady practice of self-discipline through many lives and any man if he has the will, can do like wise Human birth is the only condition of perfect spiritual development even the gods are incapable of this perfection

B

PHILOSOPHY

The Jaina Philosophy is commonly known as Syādvāda Syādvāda or Anekāntavada views things from many angles and reveals their true nature by embracing their different aspects and attributes Syāt in the word Syādvāda means may be or it may be taken to mean somehow or relatively to The real sense of the compound word Syādvāda or Anekāntavada can, therefore, be said to be objective realism—viewing things under their diverse aspects by a multiple or many sided vision Every real object or Dravya is subject to the triple operation of birth persistence and dissolution This triple operation goes on at *all* times in an uninterrupted simultaneity in every object. The part of a thing which is stable or persistent is its very substance and the part which is mobile and changing is its modification. A thing in the form of a substance is permanent, but as a modification of that substance it is impermanent. Substance and its modifications are neither completely different nor completely indentical, which implies that every object possesses many attributes Syādvāda is nothing but admitting all these contrary aspects and attributes objects from different points of view By the absolute or categoric predication of a particular attribute one cannot arrive at the truth of a thing for all existent things are complex and composite in their qualities, Syādvāda or Anekāntavāda is that method of dialectic which reveals all the aspects of a thing by admitting from diverse *standpoints its conflicting or self-contradictory attributes*

By means of Syādvāda one can acquire the knowledge of the true nature of every object viewed in different perspectives The same man may be variously known as a father a son, an uncle, a nephew etc. In relation to his son he is a father but in relation to his own father he is a son in relation to his nephew he is an uncle, but in relation to his uncle, he is a nephew He is immortal in relation to his soul mortal relation to his body An earthen pot is at once permanent and transitory The object called pot is transitory but the substance of which it is made is eternal, for the particles composing clay or earth will always endure in some form or other—they can never perish A gold necklace is transitory but the metallic substance called gold is permanent, for the necklace can be broken and moulded into another form, and yet its substance called gold will abide unaltered in its essence Thus all objects of the world come into existance and perish but in their essential substance they remain unchanged they are therefore at once permanent and impermanent The essential substance is stable and permanent, but its modifications are impermanent—they are subject to constant mutation.

An absolute or exclusive predication of a particular quality or aspect of thing cannot bring out the truth of its composite nature A certain person is only a father and not a son—such an exclusive predication cannot be true for bes des fatherhood the person possesses other attri
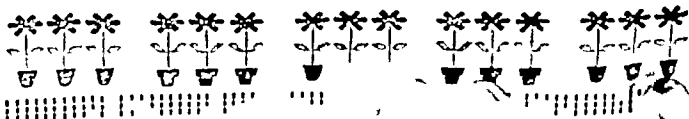
Chāritra The self-discipline, renunciation etc, practised after the development of Samyak Chāritra The five major Vratas practised by the monks, the tenfold religious observance of the Yatis, the seventeen forms of self-discipline, the twelve Vratas enjoined upon the lay disciples—all these are included in Samyak Chāritra Chāritra is of two kinds one is based upon a total and absolute, and the other on a partial renunciation As I have said before, a total and unreserved renunciation is precognised for the monks, and a partial renunciation for the householders

The seventeen constituents of Samyak Chāritra are renunciation of each of the five kinds of Āsrava-violence, untruth, stealing, sexual indulgence and craving for the possession of things, detachment from each of the five sense-objects—sounds, touch, form, taste and smell, quelling of each of the four principal passions—anger, self-conceit, deceitfulness and avarice, and the threefold discipline of subduing the evil propensities of mind, speech and body A perfect and synthetic practice of Samyak Darshaha, Samyak Jnāna and Samyak Chāritra inevitably leads to liberation These are the three priceless gems of Jainism

Samyak Darshana, Samyak Jnāna and Samyak Chāritra are inter-related, and depend upon each other for their perfection, that is to say, if the faith (Darshana) is not purified, there is no possibility of the development of pure knowledge, and if the faith and knowledge have not become pure, conduct cannot be pure and flawless Any one or even any two of these three gems cannot lead to liberation Even perfectly pure faith and knowledge, unaccompanied by pure conduct, fail to lead to liberation It is, therefore, by a simultaneous perfection of right faith, right knowledge and right conduct that one can attain to liberation, and not otherwise It is extremely difficult to realise anything like perfection in conduct and character on account of the perpetual seduction of the sense-objects, that is why, the religious books of the Jainas lay so much stress on the purity of conduct Unless one practices to perfection the five major vows (Mahāvratas)—non-violence, truthfulness, non-stealing, chastity and non-possession—one can never attain to a perfect purity of character and conduct The Jaina ideal of monkhood is an unimpeachable perfection in living, that is to say, in character and conduct, and it is non-violence that is the bed-rock of perfect conduct

Creation—Eternal and Infinite

Jainism regards the world as beginningless and eternal It cannot conceive of a time when the world first sprang out of a Supreme Being, and when it will return to it According to it, everything in the world is undergoing constant change, but nothing ever perishes and disappears out of existence All objects in the world are created and destroyed as a result of the modifications of the two cardinal principles of Jiva and Ajiva (conscious soul and unconscious matter), but the essential substance remains as it si—it never vanishes out of existence

The Birth and Wanderings of the Jiva

All embodied beings are compounded of the conscious soul and unconscious matter, and so long as a total separation does not take place between the two, the beings have to wander in the worlds The principal theme of Jainism is to propound the means by which this rupture can be effected, and the conscious soul can be liberated from the thraldom of Matter Ahimsā (non-violence), Samyama (self-control) and Tapasyā (austerities) are the means by which every human being can advance towards his spiritual freedom
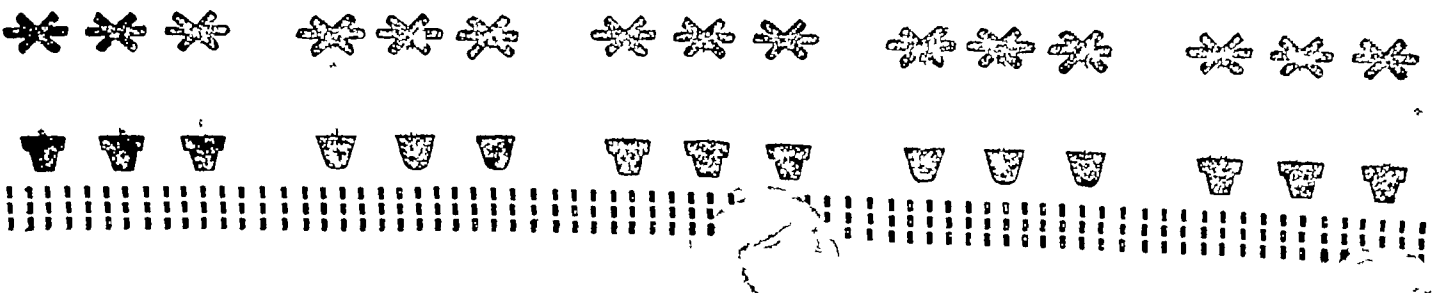
speaking the truth which is likely to lead to some kind of Himsā or violence, in such a case they had better hold their peace. If a man is subject to anger greed, fear or the habit of poking fun or cracking jokes, there is every chance of his having to tell a lie that is why it is enjoined upon the Sādhus to renounce anger greed etc. They do not indulge in falsehood or hypocrisy either in thought, word or deed nor do they make others indulge in it nor approve of others indulging in it.

The third major vow is non stealing It is also called Adattādāna Viramana Vrata. The Sādhus do not commit any form of stealing They do not take anything not given them by its owner They do not make others take such a thing nor do they approve of others taking it While taking alms, they are particular about the quantity they accept, so that it may not be more than what is just required Acceptance of more than the required amount renders them guilty of stealing

The fourth major vow is Brahmacharyya or chastity It is called Maithuna Viramana Vrata. The Sādhus give up all forms of sexual enjoyment in thought, word and deed They do not themselves indulge in sexual pleasures, do not make others indulge in them nor do they approve of others indulging in them They strictly eschew all thought of the sexual pleasures they may have had as householders. They do not sit or lie down on a seat [or bed used by a woman They do not eat palatable food or any food that is likely to excite carnal desires. These are some of the severe rules the Sādhus or monks follow in their practice of the fourth great vow

The fifth major vow is non possession or Aparigraha It is called Parigraha Viramana Vrata. The Sādhus renounce all possessions such as all kinds of wealth grains, land and other immovable properties house etc. They do not themselves possess these things do not ask others to possess them nor do they approve of others possessing them They practise the fifth great vow by giving up all attachment in thought, word and deed to all objects of sound sight smell taste and touch

The Jaina Sādhus practise also ten virtues or Yatis which are called Yati Dharma or the virtues of a self controlled Sādhu forgiveness, (Kshamā) humility (Mārdava) candour (Ārjava) non-covetousness (Nirlobhatā) poverty (Akinchanatā) truthfulness (Satya) self restraint (Samyama) austerities (Tapasyā) inner and outer purity (Shaucha) and chastity (Brahmacharya)

They have to subdue the wild impulses of their minds, speech, and bodies. They have to be always alert and vigilant in the observance of three Guptis or rules of self discipline The first is Manogupti which means inhibition or elimination of evil and impure thoughts, and the initiation of train of good thoughts The second Vachanagupti means a restraint over one's speech or if necessary the observance of total silence The third Kāyagupti is a regulation of all the mo[illegible]ments [illegible] body Again the Sādhus ha[v]e to observe fi[ve] Samities Iryyā Sam[i]ty Bhāshā Sam[i]t[y] E[s]h[a]nā Samity Ādāna Nikshepa Samity and Utsarga Samity They h[a]ve to walk w[i]th [illegible] that they may not tr[e]ad upon any creature—this is Iryyā Samity T[o] b[e] [illegible] [illegible] speech and speak only what i[s] true and beneficial is Bhāshā Samity To procure with [illegible] and [illegible] only the food which is pur[e] harmless and necessary for the maintenance [o]f th[e] bod[y] [illegible] Samity To take and keep things with care is Ādāna
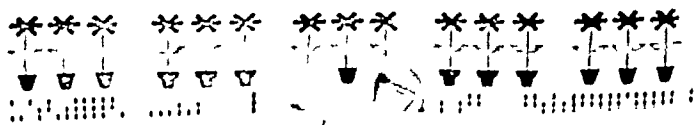
butes also, such as sonhood etc If a blind man, touching only a leg of an elephant, tries to prove that the elephant has the form of a pillar, he cannot be right Therefore, it can be safely asserted that the real nature of a thing can be revealed only by Anekāntavāda or many-sided and comprehensive predication, and not by Ekāntavāda or an exclusive and unilateral predication

The septuple formulation of Syādvāda is called Saptabhangi Each form is headed by the word, "syāt" If an attribute of an object has to be predicated, it must be done in such a way as not to nullify the possibility of affirming a contrary attribute If the imperishability of a thing is to be predicated, it must be formulated in such a way that it does not do away with the possibility of predicating the contrary attribute or perishability or transcience It is for this reason that the word "syāt" (somehow or may be) has to be used in the predication of every object For example, "may be the pot is imperishable"—this undogmatic predication leaves room for a contrary predication of the perishability of the pot

The septuple formulation is follows —

(1) syāt asti (may be it is)
(2) syāt nāsti (may be it is not)
(3) syāt asti nāsti (may be it is and is not
(4) syāt avaktavya (may be it is unpredictable)
(5) syāt asti avaktavya (may be it is and is unpredictable)
(6) syāt nasti avaktavya (may be it is not and is unpredictable)
(7) syāt asti nāsti avaktavya (may be it is, is not, and is unpredictable)

This is called Saptabhangi

C

ETHICS

The Sadhūs and their Mahavratas

It has been already mentioned that, while preaching Jainism, the Tirthankaras founded a fourfold community of monks (Sādhus) nuns (Sādhwis), lay brothers (Shrāvakas) and lay sisters (Shrāvikas) In this fourfold community the Sādhus or monks are the highest in rank Those who renounce the world and lead the life of contemplative mendicancy are called Sādhus, and such females are Sādhwis The Sādhus and Sādhwis or monks and nuns observe fully, in thought, word and deed, and all through their lives, the five major vows or Mahāvratas non-violence (Ahimsā), truthfulness (Satya), non-stealing (Achaurya), chastity (Brahmacharya), and freedom from all craving for worldly possessions (Aparigraha)

The Sādhus maintain an attitude of compassion and equality towards all creatures Himsā or violence means killing a creature, torturing it, or forcing it to do something etc. To desist from doing violence is Ahimsa or non-violence

The Sadhus themselves do not commit any violence by thought, word or deed, nor do make others commit it, nor do they approve of any violence committed by others, This is the first Mahāvrata or great vow This is called Ahimsa or Prānātipāta Viramana-vrata

The Second major vow is a total abstention from falsehood It is called truthfulness or Mrishāvāda Viramant-vrata The Sādhus always speak the truth They have to refrain from
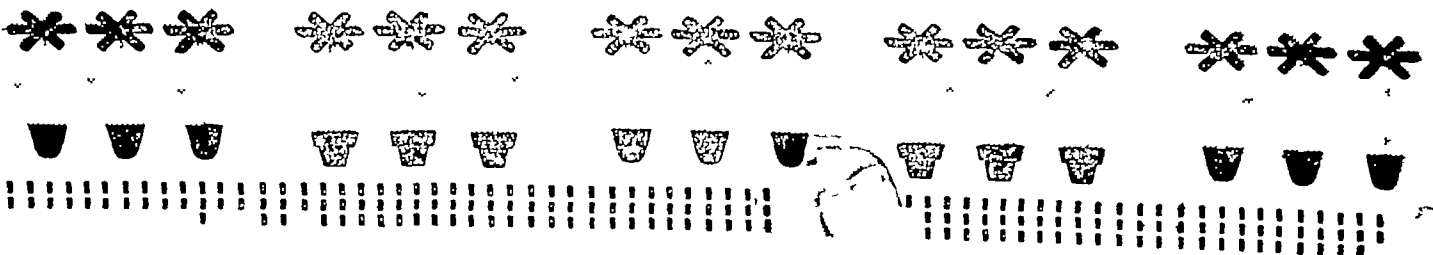
12. *Religion is the only refuge in this world* of the triple agony of birth decrepitude and death. This is Dharma Bhāvanā or meditation on the sustaining and saving power of religion.

By these meditations the monks have to turn their minds from evil thoughts. The nuns or Sadhwis also observe the same strict vows and rules of conduct as the monks. It is these monks and nuns who practise self-control and have given up all desires and earthly possessions that deserve to be ranked as Gurus or spiritual teachers

Lay Brothers (Shrāvakas) and Lay Sisters (Shrāvikās)

Male householders following Jainism are called Shrāvakas and female householders Shrāvikās. They do not adopt the life of a recluse by renouncing the world but live in it, earning their livelihood by honest means and performing the householders religious duties. They are expected to possess seriousness, a limpid serenity of nature modesty straightforwardness, kindness impartiality an admiring *openness to the good qualities of others* humility gratitude, benevolence etc. There are the twelve Vratas or vows prescribed for them

1 Sthula Prānātipāta Viramana Vrata, which means not to kill, injure or give trouble deliberately to any innocent Trasa creature

2 Sthula Mrishāvāda Viramana Vrata means not to speak such lies as may cause harm to others This vow also demands that one must abstain from the gross forms of lying like denying a pledge or a trust bearing false witness in a law court, representing somebody s property as one s own or as belonging to a third person, hiding other s defects and drawbacks sing false praises of a bride or a bridegroom etc.

3 Sthula Adattādāna Viramana Vrata is abstention from stealing The theft of somebody s things or the evasion of due taxes, or such stealing as entails censure at the hands of one s society or punishment by the ruling power must be eschewed.

4 Sthula Maithuna Viramana Vrata interdicts all kinds of sexual intercourse except with one s duly married wife and it imposes strict bounds within which enjoyment even with one s wife has to be kept

5 Parigrahaparimāna Vrata is to impose certain limits upon the possession of wealth, grains, animals and other forms of property and restrict one s enjoyment of them within those limits It forbids all infringement of the limits

6 Dik parimāna Vrata is to keep within certain fixed limits one s journeys in different directions for trade and other purposes.

7 Bhogopabhoga Parimāna Vrata is to restrict within certain bounds the enjoyment of the necessary material objects of daily use, such as food clothes house etc. The objects that can be enjoyed once only are called Bhogya such as food and those that are of constant or frequent use are called Upabhogya, such as clothes house furniture etc.

8 Anarthadand Viramana Vrata—The sins that are committed thoughtlessly without any reference to one s personal need or the benefit of one s family are called Anarthadanada. Abstention from such sins is called Anarthadanda Viramana Vrata It is *undertaken as a* safeguard against doing many unnecessary wrong things such as giving of arms poison etc to others instigating birds and beasts to fight among themselves counselling others
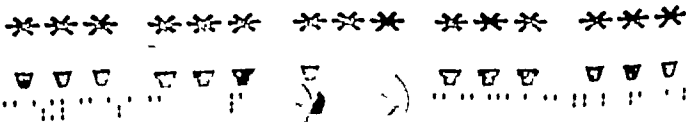
Nikshepa Samity And to be careful in the disposal of excrements, urine, cough, rags etc so that they may not fall upon or injure any sentient being, is Utsarga Samity

They observe equality towards all, friends, foes etc They do not take any food after nightfall, do not use any kind of conveyance, live by begging, do not accept money, and do not collect and hoard anything for themselves These are some of the hard rules of self-control they strive to practise

To inhibit the train of evil thoughts and engage the mind in good thoughts the Sādhus have to practise twelve kinds of meditation

1 Life, youth, wealth and property, everything is impermanent, therefore, one should not be attached to them-this thought-current is called Anityabhāvanā or meditation on the impermanence of all worldly things

2 As none can save a deer from the jaws of a lion, so none can save a man from the clutches of disease and calamity This kind of thought is called Asharana Bhāvanā or meditation on the forlorn helplessness of man

3 In this world there is none who is really my kindred, friend or enemy In the unnumbered succession of my lives, I may have had various relations with every creature This is the strange, peculiar nature of the world This kind of thought is called Samsāra Bhāvanā or meditation on the transitoriness of human relations

4 Alone was I born and alone must I die It is I alone and none else who have to suffer the consequences of my deeds This kind of reflection is called Ekattwa Bhāvanā or meditation on the solitariness of individual existence

5 The body and the soul are distinct and separate from each other The body is unconscious and the soul conscious This is Anitya Bhāvanā or meditation on the separateness of the soul from the body

6 The body is made up of impure substances such as blood, flesh etc and full of faeces, urine etc One should never be attached to such a body This is Ashuchi Bhāvanā or meditation on the intrinsic impurity of the body

7 Attached to the senses, if I remain engrossed in the enjoyment of worldly objects, it will entail my bondage to Karma and produce harmful consequences This is Āshrava Bhāvanā or meditation on the influx of Karma into the soul

8 To resort to good thoughts in order to rid oneself of evil propensities is Samvara Bhāvanā or meditation on the cessation of the influx of Karma

9 To reflect upon the various evil consequences of Karma and think of exhausting all accumulated Karma by contemplation and austerities is called Nirjarā Bhāvanā or meditation on the elimination of all Karma

10 To reflect upon the real nature of the universe and its fleeting appearances is called Loka Bhāvanā or meditation on the impermanence of the world

11 In this phenomenal world attainment of right faith and an immaculate character is a rare achievement This kind of thought is called Bodhidurlabha Bhāvanā or meditation on the difficult nature of the knowledge and perfection to be attained
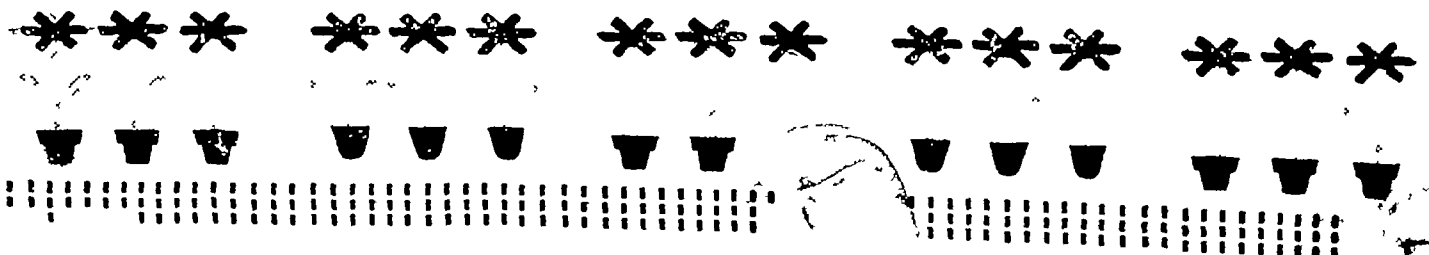
cause harm to themselves, their societies, their country and the larger interests of human society by their wild and unrestrained behaviour but rather advance step by step towards the ideal of monkhood, renouncing all craving for possession by the practice of a progressive self discipline. If we carefully study the rules and vows which a householder is expected to observe we shall easily see that a ceiling has been imposed upon the possession of wealth property and objects of enjoyment and that there is no possibility of an unceasing and excessive accumulation of wealth etc. at any single place for when earnings exceed the fixed ceiling instead of amassing the surplus, one is obliged to spend it away and such expenditure by householders, who have been observing religious vows and practising self-discipline cannot but flow in the direction of social welfare Besides, a ceiling imposed upon accumulation curbs the avaricious desire to earn money by unrighteous means Thus if desire is controlled, there is no further possibility of an enormous accumulation of wealth at a single place creating serious inequalities and causing upheavals in society If a similar rule which is so beneficial to an individual is applied to a collectivity or a nation it may put an end to all kinds of world wide misery murder and destruction.
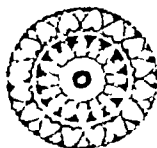
to do vicious acts, engaging in evil thoughts or immoral activities etc

9. Sāmājika Vrata—By this vow the layman undertakes to sit quietly for 48 minutes at one place and give up all sinfull activities and calmly meditate on the soul or chant hymns, quelling all evil propensities of one's mind, speech and body, and observing equality towards friends, foes and all creatures

10 Deshāvakāshika Vrata—This vow requires one to restrict further the scope allowed by the previous Dikparimāna Vrata, and the restriction varies according to the daily needs of one's life

11 Paushadha Vratra—According to this vrata the Shrāvaka has to live the life somewhat like that of an ascetic for a whole day or for a whole day and night or for whole night only by fasting, givining up all worldly pre-occupations and engaging in religious contemplation Because this vrata promotes and nourishes one's religious life, it is callrd Paushdha or nourishing

12 Atithi Samvibhāga Vrata—It means giving food, clothes etc to Sādhus and Sādhwis

Of these twelve Vratas, the first five are called Anuvratas or minor vows, because they are less difficult and rigorous than the Mahāvratas or major vows of the monks, the next three (from the sixth to the eighth) are called Gunavratas, as they forster the growth of the qualities engendered by the first five Anuvratas, and the last four vratas (from the ninth to the twelfth) are called Shikshā-vratas, as they constitute the preliminary training for the adoption of the ascetic life of the monks The houeholders have to lead the religious life and advance towards perfection by the practice of these twelve vratas

Ahimsa (Non-Violence)

Ahimsā or non-violence can be said to be the fulcrum of the whole institution of Jaina monkhood But as it is not possible to practise non-violence perfectly without a simultaneous practice of truthfulness, non stealing, chastity and non-possession, the above mentioned five major Vratas have been enjoined upon the monks Again, without a discipline of the mind and the senses, non-violence cannot be practised fully, and without austerities, discipline is out of the question It is for this reason that non-violence, self-discipline and austerities taken together, have been called Dharma in the Jaina scriptures The Sādhus (monks) have to be vigilant at every moment and in every movement of their lives, so that they may not be guilty of any violence whatsoever, may not injure or kill even a very minute sentient being It is impossible to desist from this kind of violence except by a perfect practice of the five major vows The monks endure with calm courage and equanimity all cruel persecution or oppression, and even deadly suffering—they do not cherish the slight feeling of hatred or anger against their persecutors Instances like the one in which a Jaina sādhu endured inhuman torture and laid down his life for saving the life of a little bird, are not rare

I have dwelt above on the vratas or religious vows of the Shrāvakas or Jaina householders The rules regulating their lives have been so framed as to enable them to lead an honest and pious existence by a gradual control of their cravings and desires They have been so framed that in earning their livelihood and saving their wealth and property and even when called upon to bear arms for the protection of their person, their families and their country from the oppressive hands of their enemies, the Shrāvakas may be able to observe self-restraint, and may not
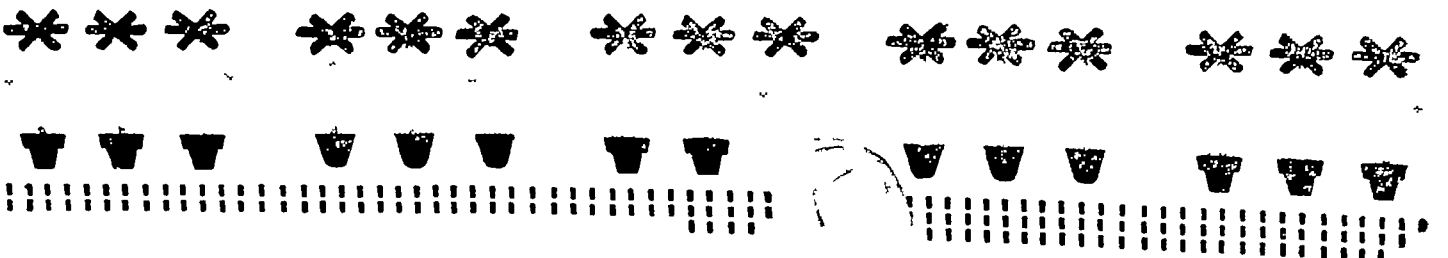
हुआ था और सब की इस मौलिक तथा दूरगामी भावना को मूर्त करने के लिए ही उपाध्याय कविरत्न श्रीअमरचन्दजी महाराज उमेशमुनि विजयमुनि तथा इन पंक्तियों का लेखक—हम चारों सन्त आगरा से दिल्ली और दिल्ली से ब्यावर की कठिन-कठोर यात्रा करके उस नयी दुनिया में पहुँचे थे

ब्यावर-क्षेत्र और वहाँ का रंगीला वातावरण हमारे लिए एकदम नया था ! हम भी बिल्कुल नए—सर्वथा अपरिचित ! पर, उस रंगीन और संगीन वातावरण में भी हम प्रसन्न और मस्त !

सन्तों के तीन पक्ष तो वहाँ पहले मौजूद थे ही इधर से हम पहुँच गए नए पक्षी—तटस्थ—बिल्कुल निष्पक्ष ! उन तीनों पक्षों का आपस में कोई तालमेल नहीं और हमारा सब से मेल जोल बोल चाल वार्ता-व्यवहार हिलन-मिलन यानी हम सबके और सब हमारे। तटस्थता की नीति इसीलिए तो स्पृहणीय तथा उपादेय है कि वह व्यक्ति-व्यक्ति समाज-समाज तथा राष्ट्र राष्ट्र को मिलाती है जोड़ती है एक मंच पर बिठाती है, सह-अस्तित्व एवं सह-जीवन का पाठ पढ़ाती है

उन्हीं दिनों प्रवर्तक श्रीहजारीमलजी म. से हमारा मिलन हुआ क्षमापना का पावन दिन था हम मिले घुल-मिल कर मिले तन से मिले मन से मिले बाहर से मिले अन्दर से मिले वन्दना क्षमापना की प्रथा चली भावना की उमंग चली वार्ता-व्यवहार का दौर चला खुलकर दिल के अरमान निकले-निकाले

और, मैंने देखा जैन-जगती के महान् सन्त श्रीहजारीमलजी महाराज के चेहरे पर एक प्रसन्न आभा खेल रही थी उनका रोम रोम खिल रहा था उनके मन की प्रसन्न लहर उनकी वाणी पर थिरक रही थी मधुर-मिलन की उस बेला में हम भी प्रसन्न वह भी प्रसन्न दर्शक भी प्रसन्न ! आस-पास के वातावरण पर प्रसन्नता तैर रही थी

उस सहज-शान्त जीवन सरल-सौम्य व्यक्तित्व तथा निश्छल-सात्त्विक स्वभाव की एक मधुर-स्मृति आज भी मेरे मन मानस में घूम रही है, आँखों के सामने झूम रही है ! और, उनके पुनीत चरण-कमलों में अपनी भाव-प्रवण श्रद्धांजलि अर्पित-समर्पित करते हुए, अन्तर्मन एक अमाप्य हर्ष की अनुभूति कर रहा है !

●

मुनिश्री नेमचन्दजी महाराज

सरलात्मा श्रीहजारीमलजी महाराज

बहुत दिनों से नाम सुना था और उनके दर्शन की प्यास थी मीराबाई के प्रसिद्ध भक्तिस्रोत मेड़ता नगर में सर्वप्रथम उनके दर्शन हुए मैंने उन सरलमति सरलगति और सरल हृदय के दर्शन किए आँखें अभी तक अतृप्त थी चाहती थीं कि उनके साथ बातचीत करके उनके वचन और हृदय की थाह ली जाय। बातचीत की पहल मैंने ही की—आप सुख शान्ति में हैं महाराज ! उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक प्रत्युत्तर में कहा हाँ देवगुरु—धर्म के प्रभाव से आनन्द है आप सन्तों के सुखसाता तो है न ? बस फिर तो लगभग आध-पौन घण्टे तक हमारी दिन चर्या अध्ययन प्रगति आदि के बारे में बात चली इस बातों में उन्होंने सरलभाव से प्रसन्न मुखमुद्रा में हमारे जीवन के विकास के लिए दिलचस्पी ली फिर तो मेड़ता में जितने दिन रहे कुछ न कुछ चर्चा सहजभाव से चलती रही इसके बाद ब्यावर में कई बार स्वामीजी महाराज के दर्शन हुए,मिलन हुआ

मैंने देखा कि वे एक सम्प्रदाय (स्थानकवासी सम्प्रदायान्तर्गत) के होते हुए भी कदापि साम्प्रदायिकता को उत्तेजित करनेवाली या छिद्रान्वेषण करने की एक बात भी नहीं करते थे

ब्यावर जो साम्प्रदायिक तनाव का गढ़ है और जहाँ साम्प्रदायिकता के नशे समय-समय पर दोष-छिद्र ढूंढने की दृष्टि

Dr Kamal Chand Sagani
M A B Sc, Ph D
Lecturer in Philosophy R R College, Alwar (Rajasthan)

THE CONCEPTS OF PARISAHA AND TAPA IN JAINISM
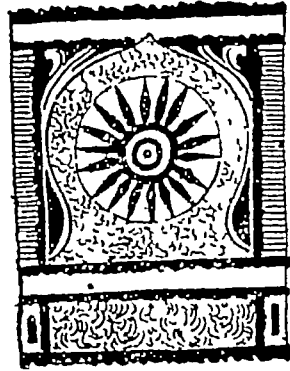
The householder and the saint are the two wheels on which the cart of Jaina ethical discipline moves on quite smoothly It is to the credit of Jaina Ācāryas that they have always kept in mind these two orders while prescribing any discipline to be observed They never confounded the obligations of the one with the other In consequence, Jainism could develop the Ācāra of the householder with as much clarity and precison as it developed the Ācāra of the Muni We shall, first, dwell upon the basic distinctions of these two disciplines before dealing with the concepts of Parisaha and Tapa in Jainism, inasmuch as the exposition of the distinctions will make us clear why the conquest of Parisaha and practice of Tapa have direct reference to the life of the saint or the Muni

First, the upshot of the householder's discipline is to alleviate Himsā to a partial extent, but the aim of the ascetic discipline is to adhere and conform to the standard of negating Himsā to the last degree In other words, the partial character of the householder's vows is disrupted by the potent life of the Muni, hence the Muni observes complete vows (Mahāvratas) in contrast to the householder's observance of partial vows (Anuvratas) Secondly, the life of complete renunciation adopted by the saint makes possible the extirpation of inauspicious Bhāvas, which remains unrealised in the householder's life of partial renunciation The consequence of this is that vice totally vanishes from the life of the Muni In a different way, the inauspicious Āsrava which occurs on account of the presence of the intense passions is stopped, and the Muni for the first time experiences complete cessation (Samvara) of inauspicious Karman Thirdly, the life of asceticism aptly illustrates the existence and operation of Shubha Yoga, Shubha Dhyāna, and Shubha Leśyā, which, in the life of the householder, are never found unmixed with their contraries We may mention in passing that the life of asceticism is not to recoil from the world of action, but from the world of Himsā, which fact lies in consonance with the general tenor of the Jaina religion As a matter of fact, action as such is not abandoned, but the supramundane character of action displaces its mundane form which inevitably entails Himsā Even the high discipline of asceticism associated with auspicious Bhāvas along with Samyagdarśana prevents the complete realisation of Ahimsā on account of the presence of spiritual enemies in the form of mild passions The ascetic life, no doubt, affords full ground for its realisation, but its perfect realisation is possible only in the plenitude of mystical experience

Thus the saint's life is an example of dedication of his integral energies to the cessation and shedding of Karmas In consequence, he regards the subjugation of Pariṣahas (afflictions) and practice of Tapas (austerities) as falling within the compass of his obligations The saint
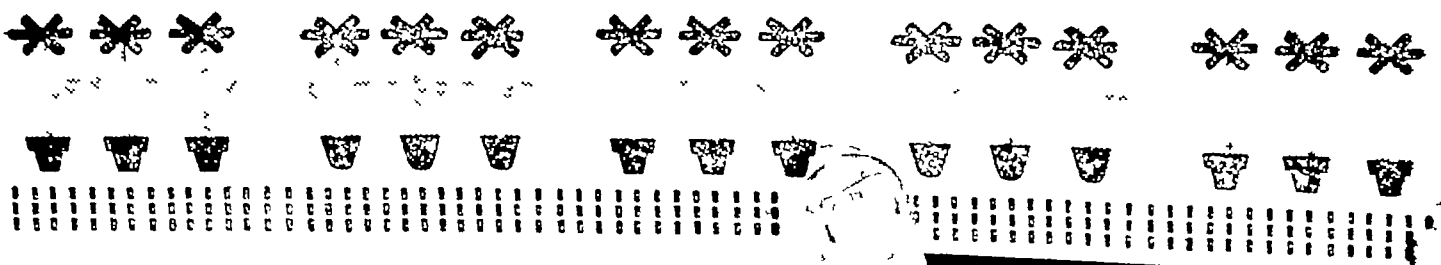
allows no compromise with anything entangling him in the mire of Samsāra His career is indicative of his complete detachment from mundane life and living Anything incompatible with and discordant to his second birth in a holy world anything which drags him down to breathe in the suffocating air of the profane world must needs be subdued, strangled and overthrown If the Parīṣahas are not met with the adequate attitude and disposition of mind, they would tend to mar the saintly life on the contrary if they are encountered with the inner conviction of truth and invaded with the non violent army of fortitude, meditation, and devotion, they would confer jubilation and yield the joy of victory And if the austerities are spiritedly practised they would bring about the inner rejection of desire which would let the aspirant experience unalloyed happiness far beyond the joys of this world or of any heaven. The overcoming of the Parīṣahas results in stopping the influx of Karmas,[1] whereas the observance of austerities serves two-fold purpose of holding up in the first instance, the inflow of fresh Karmas and wiping off on the other the accumulated filth of Karmas[2] We first Proceed to the question of getting over the Parīṣahas.

Parishas Their Enumeration and Exposition

Those afflictions that are to be endured for the purpose of not swerving from the path of stopping and dissociating Karmas are termed as Parisahas The Uttarādhyayana tells us that "a monk must learn and know bear and conquer in order not to be vanquished by them (Parisahas) when he lives the life of a wandering mendicant [4] The Parīṣahas are of twenty-two kinds[5] namely (1) hunger (Kṣudhā) ( ) thirst (Tṛṣā) (3) cold (Shīta) (4) heat (Uṣṇa) (5) insect bite (Daṁśa maśaka) (6) nudity (Nagnatā) (7) ennui (Arati) (8) woman (Strī) (9) walking (Caryā) (10) sitting (Niṣadyā) (11) sleeping place (Shayyā) (12) abuse (Ākrośa), (13) attack (Vadha) (14) begging (Yācanā) (15) non-obtainment (Alābha) (16) disease (Roga) (17) pricking of grass (Tṛṇasparśa) (18) dirt (Mala) (19) respect (Satkāra Puraskāra) (20) conceit of knowledge (Prajñā) (21) lack of knowledge (Ajñāna) and (22) slack belief (Adarśana) We now discuss the attitude of the saint towards these Parisahas[6] This will also make clear the meaning implied in them. (1 2) The saint accepts faultless food and water It is just possible that he may not get faultless food and water Then he, (a) who does not get perturbed by the distress caused by hunger and thirst, (b) who is not inclined to receive food and water in improper country and in improper times, (c) who does not bear even an iota of blemish in the observance of six essentials (d) who remains occupied with self-study and meditation (e) who prefers non-obtainment of food and water to their obtainment, is deemed to have swam over the affliction originating from hunger and thirst. Not to dwell upon pangs of hunger and pains of thirst amounts to the surmounting of hunger and thirst Parīṣahas. (3-4) It is evident that the saint has renounced resorting to external protections against cold and heat, and he remains undecided regarding his habitation like a bird and if, by his sojourn in the forests or at the peak of mountains, he is troubled by cold breeze or by frozen ice or by blasting hot wind, even then if he does not apply his mind to eschew them, but remains steadfast in his spiritual pursuit he is called the conqueror of cold and heat Parīṣahas. (5) In spite of the embarrasments caused by insects (flies, mosquitoes, scorpians snakes bugbears and the like) the saint who does not entertain the idea of their removal but who keeps in mind the fixed determination of spi itual advancement, is sa d to have got over insect bite Parīṣaha. (6) The saint who is stark naked like a newly born child, whose heart has transcended the lustful

thoughts, and who observes unchallangeable chastity conquers nudity Parisaha[7] Or "my clothes being torn, I shall go naked or I shall get a new suit, such thoughts should not be entertained by a monk At one time he will have no clothes at another he will have some, knowing this to be a salutary rule a wise monk should not complain about it"[8] (7) The saint who subjugates the feeling of ennui, which may be caused by the control of senses, by certain ills and maladies, by the behaviour of vicious persons, and by other formidable difficulties of ascetic life, is understood to subdue ennui Parisaha (8) If the saint is not seduced by the beautiful forms, the smile, charming talks, amorous glances and laughter of women, he is called the conqueror of woman Parişaha (9) In leaving one place for another according to the prescribed rules of ascetic discipline, if the saint bears hardships owing to sharp pointed pebbles and thorns lying on the path, he is said to have got over walking Parisaha (10) The saint who sits down in a burial-ground, or in a deserted house or in a cave, and there who is not frightened even by a roar of lion, and who is accustomed to difficult postures, is believed to have over-come sitting Parisaha (11) After getting tired from constant self-study and meditation, the saint resorts to sleep at a place which may be rough If his mind, inspite of this, is unruffled and is occupied with auspicious Bhavas, he is said to have conquered sleeping-place Parişaha (12) The saint who keeps an attitude of indifference towards reviles and remonstrations, and remains mentally undisturbed by them, overcomes abuse Parişaha (13) If the saint does not lose his serene disposition even if his body is being butchered, he is believed to have overcome attack Parişaha (14) The saint who does not meanly ask for food, place of stay, medicine etc, even if his Prānas part with him, has conquered begging Parişaha (15) The subjugation of non-obtainment Parisaha signifies the presence of mental placidity and composure when the saint does not obtain his food from the householder (16) In spite of being invaded by a number of diseases, the saint who conquers disease Parisaha endures them with fortitude without the neglect of his daily duties (17) The saint who remains undisturbed even if his body gets trouble by the pointed pieces of pebbles, thorns etc whose mind is always engaged in non-injuring living beings in walking, sleeping and sitting, is affirmed to have conquered pricking of grass Parisaha (18) If the accumulation of dirt and dust over the body does not cause the slightest mental disturbance to the saint who is engaged in cleansing the soul from the mire of Karmic impurities by the pure water of right knowledge and conduct, he has got over dirt Parişaha (19) If the saint is not disturbed or attracted by the disrespectful or respectful attitude of the persons around him, he has overcome respect Parisaha (20) By not allowing himself to be puffed up with pride of knowledge, the saint attains the designation of the conqueror of the conceit of knowledge Parişaha (21) The conquest of lack of knowledge Parisaha points out that the saint does not sucumb to despondency, even if he fails to acquire knowledge or inner illumination inspite of his severe austerities [22) If the saint is not shaken in faith in the doctrine of truth even if years of austerities prove to be of no avail in benefiting him with certain saintly acquisitions, he has overcome slack-belief Parisaha

Distinction between Parisahas and Austerities

After dealing with the kinds and characteristic nature of Parisahas and the attitude of the saint towards them, we now proceed to the exposition of the nature of austerities and their distinction with the Parisahas The difference between Parisahas and austerities consists in the fact that the former occur against the will of the saint, who endures them or rather turns them to

good account bv contemplating them to be the means for spiritual conquest while the latter are in concordance with the will of the saint to have the spiritual triumph Secondly most of the Parisahas mav be the creations of vicious man cruel nature and jealous gods, viewed from the common man s point of view but austerities are the enunciations and resolutions of the aspirant s soul Again, if Parisahas have enduring value austerities have pursuing value, Thirdly Parisahas which are obstacles to spiritual life, r pres nt themselves as the passing phase in the career of the aspirant, where as the austerities form the indispensable part and parcel of the discipline which is enjoined in order to escape from this distressed and sorrowful worldy life. Lastly we may say that the performance of austerities subscribes to the endurance of Parisahas with equanimity and unruffled state of mind.

Nature and Kind of Tapa (Austrity)

Austerity (Tapa) implies the renunciaton and rejection of desire as the real enemy of the soul The Satkhandāgamā pronounces that the extirpation of desire in order to actualize the triple jewels of right belief, right knowledge and right conduct is affirmed to be Tapa. Thus, in the Jaina view of Tapa, the idea of expelling all desires, the whole root of evil and suffering in favour of attaining to the freedom of the soul tranquillity and equality of mind is not only prominent but paramount. It is at the basis as well as at the summit of Jaina preachings. Despite the supremacy of this inward reference, Jainas do not ignore the outer physical austeri ties. In keeping with this trend of exposition Tapas are announced to be of two kinds,[10] namely the external and the internal The former is so called because of the preponderance of the physical and perceptible abandonment, while the latter is so called on account of the inner curbing of mind. Besides the designation external which is applied to a section of Tapas may be justified on the ground that they are capable of being pursued even by those who are not spiritually converted [11] We shall first dwell upon the austerities in their external forms.

External austerities

The external austerities are enumerated as six in kind, namely (1) Anaśana (2) Avamāudarya, (3) Vṛttiparisaṅkhyāna, (4) Rasaparityāga, (5) Viviktasavyyāsāna, and (6) Kāyakleśa.[12] The uttarādhyayana enumerates the six forms ot external austerities thus Anaśana, Unodarī, Bhiksacarī Rasaparityāga, Kāyakleśa, Saṁlīnatā i e instead of Bhikṣācarī and Saṁlīnatā there Vṛttiparisaṅkhyāna and Viviktasayyāsan respectively However these do not differ in meaning (1) Anaśana implies fasting or abstinence from food either for a limited period of time, or till the separation of the soul from the body It s performed for purpose of practising self control exterminating attachment, annihilating Karmas, performing meditation and acquiring scriptural knowledge and not for the purpose of any mundane achievement whatsoever It may be noted here that Anasana has been recognized as the simultaneous renunciation of food and the attachment to it. Mere maceration of the body is not fasting [7] (2) Avamaudarya means not to take full meals i e out of the normal quantity of thirty two morsel[1] for man, and twenty eight for woman the reduction of even one morsel will come within the range of this Tapa The observance of this usterity has been calculated to offer control over the senses and sleep to assist in the pra tising of Dharmas successfully to help in the performance of the six essential the self st dy and the like.[17] (3) Vṛttiparisaṅkhyāna[11] means the pre-determination of the saint regarding th number of houses to be visited the particular manner

of taken food, the specific type of food, the giver of specific qualification, when he sets out to beg for food[22] In other words, the saint adheres to his predecided things, if the things conform literally to his predecision he would accept the food, otherwise he would go without it for that day This is to uproot the desire for food[23] (4) Rasaparityāga indicates the abstinence from the one or more of the following six articles of food, namely, milk, curd, ghee, oil, sugar, salt, and from one or more of the following kinds of tastes, namely pacrid, bitter, astringent, sour and sweet[24] This is performed for the emasculation of the senses, subduing sleep, and the unobstructed pursuance of self-study[25] (5) Viviktasayyāśana[26] implies the choice of secluded place which is not frequented by women, eunuchs, she-animals, depraved householders etc and which may serve the real purpose of meditation, self-study and chastity and is not the cause of attachment and aversion[27] (6) Kāyakleśa mean the putting of the body to certain discomforts by employing certain uneasy and stern postures and by practising certain other bodily austerities of severe nature, for instance of remaining in the sun in the summer, and the like[28] The object of Kāyaklesa is to endure bodily discomfort, to alleviate attachment to pleasurs[29]

We have so far explained the nature of external austerities, and have seen that the performance of these austerities does not merely aim at the physical renunciation, but also at the overthrow of the thraldom of the body and senses In other words, the external asceticism is capable of being justified only when it contributes towards the inner advancement of man, otherwise in the absence of which it amounts to labour which is wholly lost The Mūlācāra says that the external austerity should not engender mental disquietude, abate the zeal for the performance of disciplinary practices of ethical and spiritual nature, but it should enhance spiritual convictions[30] This exposition brings to light the inward tendency of outward asceticism, or physical renunciation, and decries the mere flagellation of the body The enunciation of Samantabhadra that the external austerity serves for the pursuance of spiritual austerity also clearly shows the emphasis laid by Jainism on the internal aspect of Tapa[31] After vindicating the claims of the outward ascetic discipline in the ethical set up of Jaina preaching, we set out to discuss the nature of internal austerities

Internal austerities

The internal austerities are also enumerated as six in kind, namely, Prāyascitta (2) Vinaya, (3) Vaiyāvrtta (4) Svādhyāya, (5) Vyutsarga and (6) Dhyāna[32] (1) The process by virtue of which a saint may seek freedom from the committed transgressions may be termed as Prāyascitta[33] According to Kārtikeya, that is the real Prāyscitta wherein the commission of some fault is not repeated even if the body may be cut to hundred pieces[34] It is of ten kinds (a) Ālccanā, (b) Pratikramana, (c) Ubhaya, (d) Viveka, (e) Vyutsarga (f) Tapa, (g) Cheda, (h) Mūla, (i) Parihāra, (j) Sradhāna[35] The Tattvārthasūtra[36] enumerates only nine kinds, eliminating Sradhāna, and probably substituting the name Upasthāpana for Mūla To dwell upon them in succession (a) Ālocanā implies the expression and confession of transgression before the Guru after avoiding ten kinds of defects[37] (b) Pratikramana is self-condemnation for the transgression[38] (c) To perform both Ālccanā and Pratikramaṇa for certain major faults like bad dreams etc is Ubhaya[39] (d) To renounce a thing which has been wrongly used is Viveka, or when the Guru prescribes the renunciation of a certain place, time and object, that is also Viveka[40] (e) To engage oneself in Kayotsagra is called Vyutsarga[41] (f) To engage oneself in external
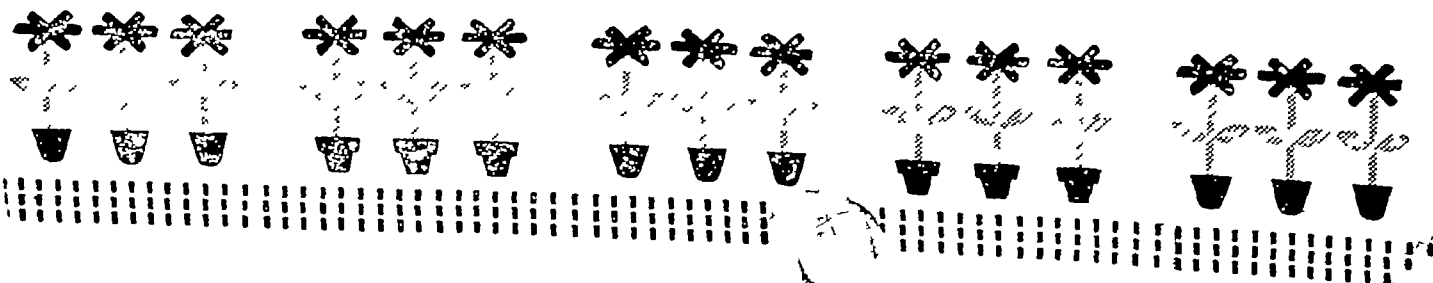
austerities or fasts is called Tapa.[43] (g) When the Guru cuts short the life of sainthood it is called Cheda [43] (h) To re-establish one in saintly life is Mūla.[44] (i) To expell a saint from the order of monks is called Parihāra [45] (j) To redevelop belief in the true order is Sradhāna.[46]

(2) Vinaya implies either the control of senses and the eradication of passions or the holding of humbleness for the triple jewelled personalities.[47] All scriptural study in the absence of Vinaya gose to the wall The outcome of the former should be the latter which in turn entails progress and prosperity [48] The outward and mundane consequences of Vinaya are wide recognition friendship respect grace of Guru obedience to the command of Jina, and destruction of ill will while the inward and supremundane fruits of Vinaya are easiness in Self restraint and penances th acquisition of knowledge, purification of self the emergence of the feeling of gratitude, simplicity and commendation of other man s qualities, the destruction of conceitedness, and lastly the attainment of emancipation [49] Fivefold classification of Vinaya (a) Darśana (b) Jñāna, (c) Cāritra, (d) Tapa and (e) Upacāra has been recognised [50] The Tattvārthasūtra speaks of the first four and probably includes Tapa Vinaya into Cāritra Vinaya.[51] In the Jaina writings we also find a mention of the five type of Ācār Darśanācāra, Jñānācāra Cāritrācāra, Tapācāra, and Vīryācāra The first four seem to be the quite same as the first four Vinayas. Really speaking Vinaya is a disposition while Ācāra is an activity The two are related as the inward and the outward only theoretically distinguishable (a) The disposition of observance of the eigth constituents of Samyagdarsana, of the devotion to the adorable five souls has been designated as Darśana Vinaya.[52] It is also regarded as belief in Dravyas and Paryāyas.[53] (b) He who reflects, preaches and utilises knowledge for higher progress is regarded as having Jñāna Vinaya.[54] (c) To control the senses and passions, to observe Gupti and Samiti are included in Cāritra Vinaya [55] (d) To be elated in presence of saints performing excellent penances, and not to depreciate others are called Tapa Vinaya.[56] (e) Upacāra Vinaya is worldly modesty It is the expression of modesty through body mind and speech To stand up out of respect for the saint to bow down, to offer him a seat to give him send off by following him a little distance—all these are included in bodily modesty [57] To speak beneficial, balanced sweet, respectful purposeful words is vocal modesty [58] The controlling of m nd from vices and the pursuing of virtues are regarded as mental modesty [59] The expression of Upacāra Vinaya should not only be limited to Guru but householders nuns and other monks are also required to be shown this sort of Vinaya.[60]

(3) The rendering of service to saints by means of medicine, preaching etc. when they are overwhelmed by disease, Parisahas and perversities is called Vaiyāvṛttya.[61] This austerity is performed for uprooting the feeling of abhorrence of dirt, disease etc. for spiritual realisation, and for revealing affection for the spiritual path [62]

(4) Scriptural study or Svadhyaya, in th first place comprises the fact of faultlessly making intelligible either the words or meaning or both to the person curious to learn without the expectance of any return,[63] secondly the asking of questions with a view to clear away doubts or to confirm ones conviction regarding words and meanings, or both [64] thirdly the constant dwelling upon the assimilated meaning to the extent that the mind may dive deep and submerge itself into the meaning so as to attain the same form like a hot iron ball,[65] fourthly the fact of memorising the scriptures and their repeated revision with unerring pronunciation,[66] fifthly the moral preachings illustrated with the life of great men without the desire to earn
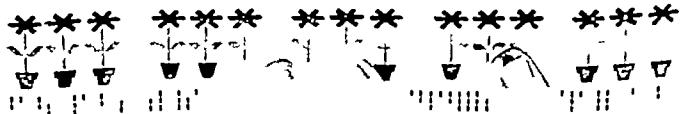
worldly benefits and prestige, but with the desire to eradicate the unworthy path, to remove doubts, and to illumine the essential aspects of life [67]

According to the Jaina, that is right knowledge which can enlighten the essence of life, foster self-control, direct the mind from the "abyss of sensuality to the plane of the spirit",[68] instill the spirit of detachment, inspire the pursuance of noble path, and develop fraternal feelings with all beings,[69] Scriptural study mav very well be equated with type of knowledge Besides, it confers upon the aspirant the benediction that senses are restrained, three Guptis are observed, mental concentration is obtained, and humbleness pours in [70] The man with the knowledge of Sutras saves himself from being led astray, just as the needle with thread is not lost [71] Kundakunda emphasizes the importance of scriptural study by pronouncing that it serves to exhaust the heap of delusion [72] Pūjyapāda points out that the purpose of Svādhyāya is to enrich intellect, to refine moral and spiritual efforts, to infuse detachment and fear from the mundane miseries, to effect an advancement in the practice of austerities, and to purify defects that may occur when one pursues the divine path [73] In addition to these objectives fulfilled by Svādhyāya, Akalanka recognises that it also serves to perpetuate the religion preached by the omniscient Tīrthankara, to uproot one's own doubts and those of the co-religionists, and lastly, to defend the basic doctrines against the onslaughts of antagonistic philosophers [74] For those who are fickle-minded, intellectually unsteady, nothing is so potent to terminate such a state of mind as the pursuance of Svādhyāya or the scriptural study, just as darkness can only be nullified by the light of the sun [75] It brings about mental integration and concentration, inasmuch as the aspirant overcomes the hindrances by ascertaining the nature of things through the study of the scriptures [76] Without the acquisition of scriptural knowledge, there always abides a danger of being led astray from the virtuous path, just as the tree full of flowers and leaves cannot escape its deadening fate for want of the root [77] Thus, the significance of Svādhyāya is so great that of the twelve kinds of austerities already discussed, Svādhyāya is unsurpassable [78] If scriptural study offers an incentive to the householder to lead the life of a saint by consecrating himself completely to meditation and devotion, it serves as a temporary help for the sojourn of the saint when he experiences meditational fatigue It imparts meditational inspiration and intellectual fund and satisfaction It is at once a "tonic to the brain and sauce to the heart [79] It bestows upon us philosophical satisfaction about the truths of mystical religion and creates an insatiable desire to have an actual experience of these truths "It brings home to the mystic's mind the sense of weakness, finitude and helplessness and awakens the Sadhaka to the need of making more efforts, of cultivating the moral virtues and of enhancing his meditations and devotions "[80]

(5) Vyutasarga signifies the relinquishment of external and internal Parigraha [81] The former comprises living and non-living Parigraha, and the latter, the fourteen kinds of passions [82]

General nature and types of Dhyāna

Having discussed the nature of five kinds of internal Tapas, we now proceed to dwell upon the nature of Dhyānas It well not be amiss to point out that all the disciplinary practices form an essential background for the performance of Dhāyana Just as the storage of water which is meant for irrigating the corn-field, may also be utilised for drinking and other purposes, so the disciplinary practices like Gupti, Samiti etc which are meant for the cessation of the inflow of the fresh Karman may also be esteemed as forming the background for Dhyāna [83]
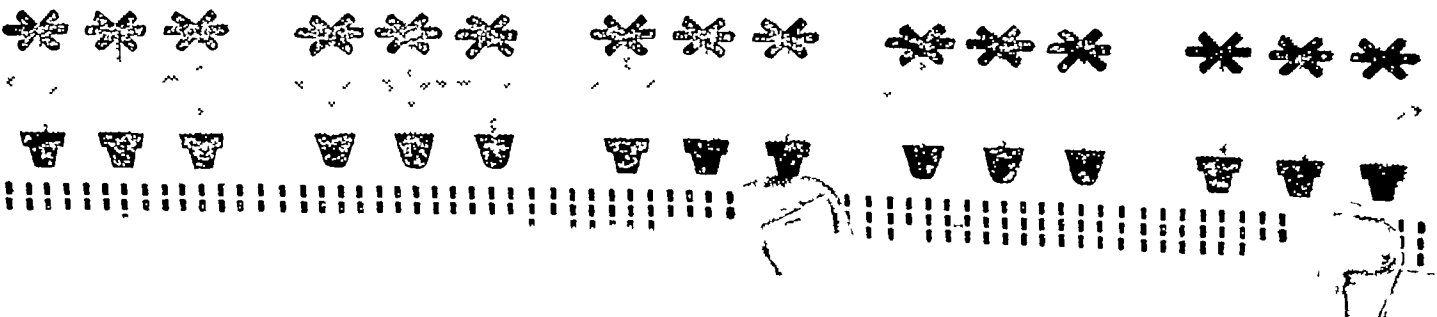
In other words, all the disciplinary observances find their culmination in Dhyāna Thus Dhyāna is the indispensable intergral constituent of right conduct, and consequently it is directly related to the actualisation of the divine potentialities It is the clear and single road by which the aspirant can move straight to the supreme good To define Dhyāna, it represents the concentration of mind on a particular object, which concentration is possible only for an Antarmuhūrta (time below forty-eight minutes) to the maximum and that too in case of such souls as are possessing the bodies of the best order [64] The stability of thoughts on one object is recognised as Dhyāna and the passing of mind from one object to another is deemed as either Bhāvanā, or Anupreksā or cintā [65] Now the object of concentration may be profane and holy in character [66] The mind may concentrate either on the debasing and degrading object, or on the object which is uplifting and elevating The former which causes the inflow of inauspicious Karman is designated as inauspicious concentration (Apraśasta) while the latter which is associated with the potency of Karmic annulment is called auspicious concentration (Praśasta) [67] To be brief Dhyāna is capable of endowing us with resplendent jewel or with the pieces of glass. When both things can be had which of these will a man of discrimination choose ?[68] Śubhacandra distinguishes three categories of Dhyāna good evil and pure in coformity with the three types of purposes viz; auspicious, inauspicious and transcendental which may be owned by a self [69] At another place he categories Dhyāna as Praśasta and Apraśasta.[70] These two modes of classification are not incompatible but evince difference of perspectives the former represents the psychical or psychological view the latter the practical or ethical view In a different way the Praśasta type of Dhyāna may be considered to include good and pure types of Dhyāna within it and this will again give us the two types of Dhyāna, namely Praśasta and Apraśasta The former category is divided into two types namely Dharma Dhyāna and Śukla Dhyāna and the latter also into two types, namely Ārata Dhyāna and Raudra Dhyāna The Praśasta category of Dhyāna has been deemed to be potent enough to make the aspirant realise the emancipated status [72] On the contrary the Apraśasta one *forces the mundane being to experience worldly sufferings.*[73] Thus those who yearn for liberation should abjure Ārta and Raudra Dhyānas and embrace Dharma and Śukla ones.[74] In dealing with Dhyāna as Tapa we are completely concerned with the Praśasta types of Dhyāna, since they are singularly relevant to the auspicious and transcendental living But we propose, in the first instance to discuss the nature of Apraśasta types of Dhyāna, since its exposition would help us to understand clearly the sharp distinction between the two categories of Dhyāna. To speak in a different way if Praśasta Dhyāna is the positive aspect of Tapa Apraśasta one repr nts the negative one

Apraśasta Dhyāna

(a) *Arta Dhyāna* The word Ārta implies anguish and affl ction, and the dwelling of the mind on the thoughts resulting fr m such a distressed state of mind is to b regarded as Ārta Dhyāna [75] In this world of sto m and tress though th re are illimitable things which may occasion pain and s ff ring t the empirical soul yet all of them cann t be expressed by the limited human und tanding Th f ur k nd of Ārta Dhyāna[76] hav b en recognised The first concerns itself w th th fact f one being con tantly occup ed w th the an eity of overthrowing the associ ted und able obj cts of ned nature In a diff rent way when the discomposure of m nd results on count of th bin ful soc t n f d e ble objects which are

either heard or perceived or which occur in mind owing to previous impressions, we have the first type of Ārta-Dhyāna, namely, Aniṣta-samyogaja[98] The parting with of agreeable objects may also occasion discomposure of mind To be overwhelmed by anxiety for restoring the loss is called the second type of Ārta-dhyāna, namely, Iṣṭa-viyogaja[99] The constant occupation of mind to remove the distressing state of mind resulting from the diseased condition of the body is called the third type of Ārta-dhyāna, namely, Vedanā-Janita[100] To yearn for agreeable pleasures and to contrive to defeat and slander the enemy constitute what is called as the fourth type of Ārta-dhyāna, namely, Nidāna-Janita[101] In other words, to make up one's mind for and to constantly dwell upon the acquisition of the objects of sensual pleasures is termed as the fourth type of Ārta-dhyāna, namely, Nidāna-Janita[102] It may be noted here that the Ārta-dhyāna in general is natural to the empirical souls on account of the evil dispositions existing from an infinite past[103] It discovers itself owing to the presence of inauspicious lesyās like Kṛṣna, Nīla, and Kāpota in the texture of the worldly self, and brings about sub-human birth where innumerable pain-provoking things inevitably arise[104] The Ārta-dhyāna with its four-fold classification may occur in the perverted, as also in the spiritually converted, and partially disciplined personalities Even the saint associated with Pramāda gets sometimes influenced by the above types except the fourth[105] It will not be amiss to point out that just as the householder cannot escape the Himsā of one-sensed Jīvas, even so he cannot avoid Ārta-dhyāna No doubt, he can reduce it to an irreducible extent, but cannot remove it altogether unlike the saint of a high order

(b) *Raudra-dyāna*

We now proceed to explain the Raudra-dhyāna which has also been enumerated as of four kinds To take delight in killing living beings, to be felicitous in hearing, seeing and reviving the oppression caused to sentient beings, to seek ill of others, to be envious of other man's prosperity and merits, to collect the implements of Himsā, to show kindness to cruel persons, to be revengeful, to wish defeat and victory in war-all these come within the purview of the first kind of Raudra-dhyāna, namely, Himsānandi Raudra-dhyāna[106] The individual whose mind is permeated by falsehood, who designs to entangle the world in troubles by dint of propagating vicious doctrines, and writing unhealthy literature for the sake of his own pleasure, who amasses wealth by taking recourse to deceit and trickery, who contrives to show faults fraudulently in faultless persons in order that the king may punish them, who takes pride and pleasure in cheating the simple and ignorant persons through the fraudulent language, may be considered to be indulging in the second type of Raudra-dhyāna, namely, Mṛṣānandi Raudra-dhyāna[107] Dexterity in theft, zeal in the act of thieving, and the education for theft should be regarded as the third type of Raudra-dhyāna, namely, Cauryānandi Raudra-dhyāna[108] The endeavour a man does to guard paraphernalia and pleasures of the senses is called the fourth type of Raudra-dhyāna, namely Viṣāyanandi Raudra-dhyāna[109] It deserves our notice that the undisciplined and partially disciplined persons are the subjects of Raudra-dhyāna[110] Though the partially disciplined persons are the victims of this Dhyāna on account of their observing partial conduct, i e partial Ahimsā, partial truth, partial non-stealing, partial non-acquisition and partial chastity, yet Raudra-dhyāna of such an unmitigable character along with Samyagdarśana is incapable of leadidg one to experience miseries of hellish beings[111] The life of the saint is exclusive of this Dhyāna, since in its presence conduct
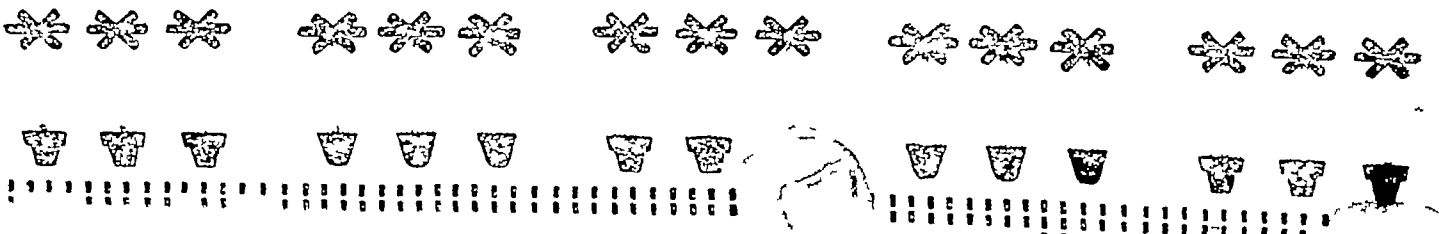
degenerates[111] Thus Dhyāna, also occurs in the self without any education and is the result of the intensest passion or the Kṛṣṇa Nīla and Kāpota Leśyās[112]

Pre requisites of Praśasta Dhyāna

Next in order comes the Praśasta type of Dhyāna which may be called Dhyāna proper This type of Dhyāna is contributive to Mokṣa or final release Before we directly embark upon the study of the types of Praśasta Dhyāna it is of primary and radical importance to delineate their pre requisites which will enforce banishment of all the inimical elements robbing the soul of the legitimate disposition and proper conduct for spiritual advancement. In consequence the self will gain strength to dive deep into the ordinarily unfathomable depths of the mysteri ous self Indubiously in the initial stages the purity of empirical and psychical background is the indispensable condition of Dhyāna. The necessary pre requistes, of Dhyāna in general, may be enumerated by saying that the subject must have the ardent desire for final liberation, be non attached to worldly objects, possess unruffled and tranqu l mind, be self-controlled, stable sense-controlled patient and enduring[114] Besides one should steer clear of (1) the worldly (3) the philosophico-ethical, and (3) the mental distractions, and look towards the suitability of (4) time (5) place and (6) posture and (7) towards the attainment of mental equilibrium, before one aspires for Dhyāna conducive to liberation We now deal with them in succession (1) The life of the householder is fraught with numberless disturbances which impede the development of his meditational disposition Subhacandra holds and antagonistic attitude towards the successful performance of Dhyāna in the life of the householder He expresses his view in very emphatic words that we may hope the occurrence of the flower of the sky and horn of the donkey at some time and place, but the adornment of the householder s life with the Dhyāna is never possible.[11] All this must not imply that the householder is outright incapable of performing Dhyāna, but it should mean that he cannot perform Dhyāna of the best order which is possible only in the life of the saint. (2) If the aspirant, despite his saintly garb suffers from the philosophical and ethical delusions he will like wise lose the opportunity of performing Dhyāna In other words, right belief and right conduct cannot be dispensed with, if Dhyāna is to be performed (3) The control of mind which in turn leads to the control of passions and senses is also the essential condition of Dhyāna Mental distraction like mental perversion hinders meditational progress, and to achieve liberation without mental purity s to drink water from there where it is not i.e from the river of mirage That is Dhyāna that is supreme knowledge, that is the object of Dhyāna by virtue of which the mind after transcending ignorance submerges in the self s own nature.[117] A man who talks of Dhyāna without the conquest of mind is ignorant of the nature of Dhyāna.[118] On the reflective plane the recognition of the potential divinity of the empirical self and the consciousness of the difference between the empirical self and the transcendental self will unequivocally function as the mental pre-requisite condition of Dhyāna.[119] The practice of the fourfold virtues of Maitrī (friendship with all creatures) Pramoda (appreciation of the merits of others) Karuṇā (compassion and sympathy) and Mādhyastha (indifference to the unruly) has also been prescribed as the mental pre requisite conditions of Dhyāna. These quadruple v rtues when practised in an earnest spirit, cause to disapper the slumber of perver sion nd to set in eternal tranquillity[120] (4-5) The selection of proper place, posture and time is no less importance fo the performance of Dhyāna. The aspirant should avoid those
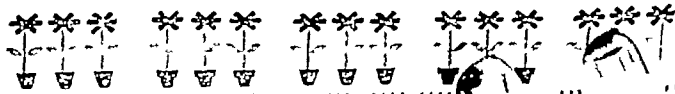
से मडराया करते है किन्तु स्वामीजी महाराज इन तत्त्वो से सतर्क रहा करते थे और जब भी साम्प्रदायिक मसला आता तो उनकी सरलात्मा उसे स्वीकार नही करती थी वे नही चाहते थे साम्प्रदायिक मोह मे घुटना, वे नही चाहते थे साम्प्रदायिक प्रतियोगिता मे उतरना वे नही चाहते थे बाह्याडम्बर द्वारा जनमानस को आकर्षित करना ।

वे चाहते थे सबके साथ मिल-जुलकर रहना, एक-दूसरे के आत्मोत्थान मे सहायक बनना, एक-दूसरे के गुणो से प्रेरणा लेना यही कारण था कि जहाँ साम्प्रदायिकता-ग्रस्त साधु दूसरे सम्प्रदाय या उपसम्प्रदाय के साधु के विशिष्ट गुणो को प्रत्यक्ष देखते हुए भी ग्रहण करने से या उन्हे प्रतिष्ठा देने से हिचकिचाते, वहाँ स्वामीजी महाराज गुणग्राही थे गुण प्रशसक थे 'गुणिषु प्रमोदम्' की भावना उन्होने जीवन मे चरितार्थ कर बताई थी 'उनकी सरलता दिखाऊ नही थी' प्रदर्शन करना तो उन्हे पसन्द ही न था उनकी सरलता हृदय के आचरण से, नम्रवाचा से भी प्रकट होती थी ऐसा मालूम होता है कि उनकी सरलता एव गुणग्राहिता मानो गुरुभ्रातृयुगल, (ब्रजलालजी महाराज व मिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर')मे प्रतिबिम्बित हुई हो काश ! स्थानकवासी सम्प्रदाय का जैन साधु वर्ग उन सरलात्मा का पथानुसरण करता

श्रीउमेश मुनिजी

श्रमण परम्परा के गौरव : श्रद्धेय मुनिहजारीमलजी

हमारी गौरवशालिनी मातृभूमि सन्तो, मुनियो, ऋषियो और महात्माओ की तपोभूमि रही है इसे मर्यादापुरुषोत्तम राम, महान् कर्मयोगी कृष्ण, महान् आत्म-साधक तथा आत्मवेत्ता श्रमण भगवान् महावीर और महात्मा गौतम बुद्ध जैसे मानव-रत्नो की अध्यात्म-क्रीडास्थली तथा आत्म-साधना भूमि होने का असाधारण गौरव प्राप्त है इसे हम योग-भूमि कहने मे भी सकोच का अनुभव नही करेंगे इसके कण-कण मे आज भी सन्त-साधना का साक्षात्कार कराने की क्षमता है, यदि कोई इसे जाने, पहचाने और माने तो ! इतिहास इस बात का साक्षी है कि एक साधारण से साधारण गृहस्थ के द्वार से लेकर बडे-से-बडे सम्राटो के राज-प्रासादो ने सन्तो की चरण-धूलि से अपने आपको सौभाग्यशाली माना है फलत हमारी सस्कृति और सभ्यता पर उनकी अमिट छाप का पडना सहज स्वाभाविक था इसीलिए विद्वज्जगत् मे भारतीय-सस्कृति को सन्त सस्कृति के नाम से प्रसिद्ध होने का गौरव प्राप्त हुआ है परिणामत हमारी सास्कृतिक परम्पराओ पर आज भी सन्तो की छाप अवशिष्ट है

एक समय था, जब भारत मे सन्तो का प्रत्येक क्षेत्र पर वर्चस्व था वह एक तरह से भारत का निर्माता और जनता का निर्देशक बनकर यहाँ के मैदानो मे नि सग भाव से इधर से उधर अर्थात् कश्मीर से कन्याकुमारी तक घूमा, और खूब घूमा ! भारतीय परम्परा के अनुसार सन्त-समाज घुमक्कडो का समाज रहा है जो एक प्रान्त की परम्पराओ को साथ जोडने मे और राष्ट्र को एकरूपता प्रदान करने मे एक महत्त्वपूर्ण कडी का कार्य सम्पादित करता रहा है इसीलिए वह भारतीय वाड्मय मे परिव्राट् या परिव्राजक के नाम से सम्बोधित किया गया है

प्रागैतिहासिक काल पर जब हम दृष्टिपात करते है तो वहाँ भी हमे साधारण गृहस्थ की समस्याओ से लेकर बडी-बडी राजनीतिक उलझनो को सुलझाने मे सन्त-परम्परा एक बहुत ही शानदार पार्ट अदा करती हुई नजर आती है उस समय सन्तो ने राजनीति मे भी प्रवेश किया, परन्तु तटस्थ भाव से, तथा जन-हित और जन-कल्याण के भाव-लहरी को हृदय मे सँजोकर वह किसी निजी स्वार्थ या राजसत्ता के प्रलोभन से खिचकर इधर नही आया, वरन् जनता-जनार्दन की सेवा का ही मुख्य लक्ष्य था—उसका लक्ष्यबिंदु था पथ-भ्रष्ट मानव को सही मार्गदर्शन कराना, उसके जीवन का दिग्भ्रम मिटा कर सही दिशा-निर्देश करना इस रूप मे वह सच्चे अर्थ मे एक पथ-प्रदर्शक था, गाइड था, हर दिशा और हर क्षेत्र का
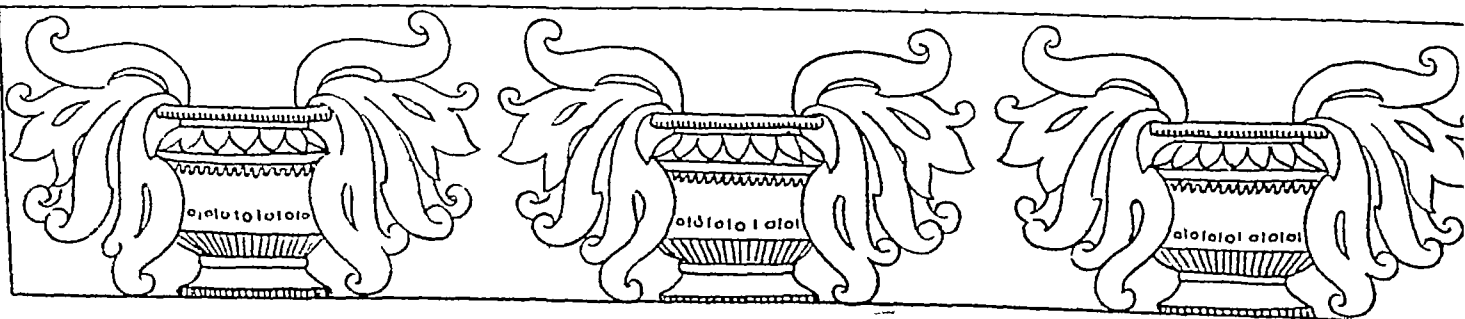
possessed of infinite power knowlede intuition and bliss he must not go away from his original nature.[1-7] Having determined in this manner the patient, enduring steadfast, and crystal pure Yogī should meditate upon the material and non-material objects as possessing the triple nature of origination destruction and continuance as also upon the omniscient embodied and disembodied souls.[138] Having meditated upon the six kinds of Dravyas in their true nature, the Yogī should either acquire the spirit of non-attachment or enrapture his mind in the ocean of compassion [139] Afterwards he should begin to meditate upon the nature of Paramātman who is associated with the number of original and unique characteristics.[140] The Yogī gets engrossed with these characteristics and endeavours, to enlighten his own self with spiritual illumination He gets immersed in the nature of Paramātman to such an extent that *the consciousness of the distinctions of subject, object and the process vanishes* [141] *This is* the state of equality (Samarasībhāva) and indentification (Ekīkaraṇa) where the self submerges in the transcendental self and becomes non different from it.[142] This sort of meditation is called Savīrya dhyāna [143]

There is another way of speaking about the process of Dhyāna Of the three states of self namely external internal and transcendental the Yogī should renounce the external self and meditate upon the transcendental self by means of the internal self [144] In other words, after abandoning the spirit of false selfhood and after attaining spiritual conversion, the Yogī should ascend higher through the ladder of the latter with the legs of meditation The ignorant is occupied with the renunciation and possession of external objects, while the wise is occupied with the renunciation and possession of internal ones; but the superwise transcends the thoughts of the external and internal [145] Hence, in order to attain this last state the Yogī after isolating the self from speech and body should fix his mind on his own self and perform other actions by means of speech and body without mental inclination [146] The constant meditation upon the fact, I am that I am that results in the steadfastness of Ātmanic experience.[147]

The author of the Jñānārnava, in addition elaborately expounds the process of Dhyāna by classifying Dhyāna into (1) Pindastha, ( ) Padastha (3) Rupastha and (4) Rupātīta.[1] Though the credit of their lucid exposition devolves upon Śubhacandra yet the credit of suggestion and enumeration in the history of Jaina literature goes to Yogīndu who is believed to have lived in the 0th century A D much earlier then Śubhacandra [1] We shall now dwell upon this fourfold classification. (1) Pindastha-dhyāna comprises the five forms of contemplation[1] (Dhāranās) which are explained in the following way (a) The Yogī should imagine a motion less noiseless and ice white ocean in Madhyaloka In the centre of the ocean he should imagine a finely—constructed resplendent and enchanting lotus of thousand petals as extensive a Jambūd īpa The centre of th lotus should then be imagined as having a pericarp which emanates yellowish radiance in all the ten directions In the pericarp the Yogī should imagine a raised throne resembling the resplendence of the moon. And then he should imagine himself seat d in a serence frame of mind He should then firmly believe that his self is potent enough to sweep away all the filth of passions and to demolish all the karmas. This type of contemplation is called Pārthī ī-dhāranā [1] (b) Afterwards the Yogī is required to imagine a beautiful well shaped lotus of sixteen petals in the egion of his own naval. He should then imagine that each petal is nscribed with one of the si teen vowels, अ आ इ ई उ, ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं, अः and that th pericarp of this lotus is inscribed with a holy
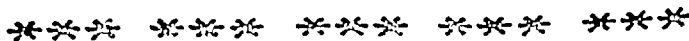
places which are inhabited by the vicious, hypocrites, and the acutely perverted persons, and by gamblers, drunkards, harlots etc and should also avoid those place which may be otherwise disturbing[121] He should choose those places which are associated with the names of holdy Tīrthaṅkaras and saints[122] A bank of a river, a summit of a mountain, an Island, and a cave and other places of seclusion and inspiration, should be chosen for practising spiritual concentration[123] As regards the posture for Dhyāna, for the people of this age who are generally deficient in energy, Paryaṅka or Padma and Kayotsarga postures are especially recommended[124] For him, every porture, every place and every time is fit for meditation, whose mind is immaculate, stable, enduring, controlled and detached[125] A place may be secluded or crowded, the saint may be properly or improperly seated, the stability of saints' mind is the proper time for meditation[126] Śubhacandra very beautifully protrays the mental and the physical picture of a saint preparing for meditation The mind of the saint should be purified by the waves of the ocean of discriminatory enlightenment, be destitute of passions, be like an unfathomable occean, be undeviating like a mountain, and should be without all sorts of doubts and delusions Besides, the posture of the saint should be such as to arouse suspicion in the mind of a wise man regarding his being a stone-status or apainted figure[127] The Yogi who attains sturdiness and steadfastness in posture does not get perturbed by being confronted with the extremes of cold and heat and by being harassed by furious animals[128] (7) The saint who has controlled his mind and purged it of perversion and passions may be said to have attained initial mental enquipoise by virtue of which he is not seduced by the sentient and non-sentient, the pleasant and unpleasant objects[129] The consequence of this is that his desires vanish, ignorance disappears, and his mind is calmed And above all he can sweep away the filth of Karman within a twinkle of an eye[130] The great Ācārya Subhacandra is so much overwhelmed by the importance of this sort of mental poise that he pronounces this as the Dhyāna of the best order[131] Thus mental enqanimity precedes Dhyāna

Process of Dhyāna

After dealing with the pre-requisites of Dhyāna, we now propose to discuss the process of Dhyāna For the control of the mind, and for the successful performance of Dhyāna the process of breath-control (Pranāyāma) may be necessary, but it being painful engenders Ārta-dhyāna which consequently deflects the saint from his desired path[132] Besides, the process of breath-control develops diverse supernormal powers which serve as hinderances to the healthiest developments of the spirit[133] Hence the better method is to withdraw the senses from the sensual objects and the mind from the senses, and to concentrate the mind on the forehead (Lalāta)[134] This proces is called Pratyāhāra The ten places in the body have been enumerated for mental concentration, namely the two eyes, the two ears, the foremost point of the nose, the forehead, the mouth, the navel, the head, the heart, the palate, the place between the two eye-brows[135] The Yogī should contemplate his original underived potency of the self, and compare his present state with the non-manifested nature of the self He should regard ignorance and Sensual indulgence as the causes of the fall Then, he should be determined to end the obstructions to the manifestation of the transcendental self by dint of the sword of meditation He should express his resolution by affirming that he is neither a hellish being, nor an animal, nor a man, and nor a celestial being, but a transcendental being devoid of these mundane transformations which result from the Karmic association[136] And again, being
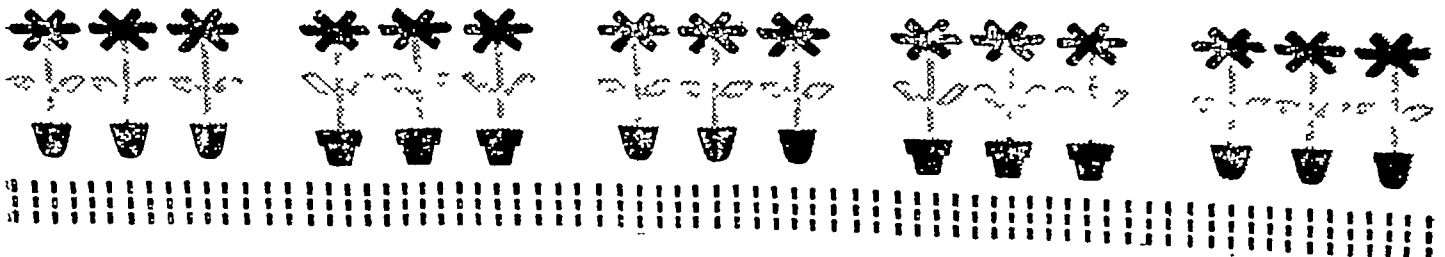
Or he who has understood the nature of objects and who therefore makes use of Naya and Pramāṇa for justifying certain doctrines may be believed to have performed Ājñā vicaya Dharma-dhyāna[166] We may here say that the purpose of this Dhyāna is to maintain intellectual clarity regarding the metaphysical nature of objects propounded by the Arahanta. (2) To ponder over the adeuqate ways and means of emancipating the souls from the wordly suffering caused by the perverted belief, knowledge and conduct,[166] and to meditate on the means of ascending the ladder of spiritual welfare[166] are designated as Apāya vicaya Dharma-dhyāna. Besides, the aspirant should give himself to serious contemplation 'who am I? Why there are inflow and bondage of Karmas? How Karmas can be overthrown? What is liberation? and what is the manifested nature of soul on being liberated?[167] If Ājñā vicaya establishes oneself in truth Apāya vicaya lays stress on the means of realising the essential nature of truth. (3) Vipāka vicaya Dharma-dhyāna implies the reflection on the effects which Karmas produce on the diverse empirical souls[168] (4) The reflection on the nature and form of this universe constitutes what is called as Samsthāna vicaya Dharma-dhyāna.[169] This kind of Dhyāna impresses upon the mind the vastness of the universe and the diversity of its constituents. By this Dhyāna the aspirant realises his own position in the universe These four types of Dhyāna serve twofold purpose namely that of suspicious reflection and self meditation, i e they supply the material for the intellect and offer inspiration to the self for meditation Though they do not seem to suggest any process of meditation, their subject matter is such as to evoke active interest for nothing but self realisation through self meditation. Thus Dharma dhyāna is meditation as well as reflection, the latter may pass into the former and the former may lapse into the latter In other words the four kinds of Dhyānas are reflective when intellectual thinking is witnessed and they are meditative when the mind attains stability in respect of them The best kind of Dharma-dhyāna is to meditate upon the self by fixing one's mind in it after renouncing all other thoughts[170]

Śukla-dhyāna

Dharma-dhyāna which has so far been expounded prepares a suitable ground and atmosphere for ascending the loftiest spiritual heights. It claims to have swept away every iota of inauspicious dispositions from the mind of the aspirant. The Yogī has achieved self mastery to the full and has developed a unique taste for the accomplishment of that something which is unique The Yogī, having brushed aside the unsteadiness of his mind now resorts to Śukla Dhyāna (Pure Dhyāna) which is so called because of its origination after the destruction or subsidence of the filth of passions[171] Not all Yogīs are capable of performing this type of Dhyāna Only those who are possessing bodies of the best order can have all the four types of Śukla dhyāna[172] Of the four types[173] of Śukla-dhyāna namely Pṛthaktva vitarka vicāra, Ekatva vitarka avicāra, Sūkṣmakriyāpratipātin and Vyuparatakriyānivartin, the first two occur up to the twelfth Gunasthana with the help of conceptual thinking based on scriptural knowledge and the last two crown the omniscient where conceptural activity of the mind abates to the last[174] To dwell upon these types the first type (Pṛthaktva vitarka vicāra) is associated with Pṛthaktva, Vitarka and Vicāra i e with manyness scriptural knowledge and transition from one aspect of entity to another for example substance to modifications and vice versa from one verbal symbol to another and from one kind of Yoga (activity) to another[175] In the second type (Ekatva vitarka [illegible]āra) Vicāra [illegible] absent consequently oneness displaces manyness. The mind
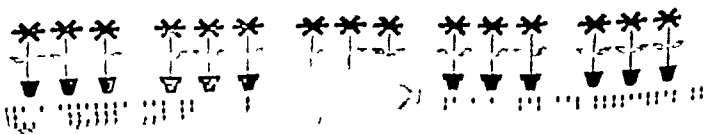
syllable, हूँ Afterwards he should imagine that the smoke is slowly coming out of the upper stroke of the holy syllable हूँ, and that after some-time the smoke turns itself into a flame of fire which burns the lotus of eight petals situated in the region of the heart After this lotus, which represents the eight kinds of Karmas, has been reduced to ashes, the Yogī should imagine a fire sorrounding the body After the body is reduced to ashes, the fire, in the absence of anything to burn, is automatically extinguished This type of contemplation is called Āgneyī-dhāranā [152] (c) The Yogī should then imagine the powerful winds which are capable of blowing away the ashes of the body After the ashes are imagined to be blown away, he should imagine the steadiness and calmness of the wind This type of contemplation is called Śvasanā dhāranā [153] (d) The Yogī should then imagine heavily clouded sky along with lightening, thundering and rain bow Such imagination should culminate in the constant downpour of big and bright rain drops like pearls These rain drops are required to be imagined as serving the holy function of washing away the remnants of the ashes of the body. This type of contemplation is called Vārunī-dhāranā [154] (e) Afterwards the Yogī should meditate his own soul as great as an omniscient, as bereft of seven constituent elements of the body, as possessed of radiance which is as immaculate as the full-orbed moon He should, then, contemplate his soul as associated with supernormal features, as seated on the throne, as adored and worshipped by Devas, Devils and the men After this he should meditate his soul as free from all kinds of Karmas, as possessed of all the divine attributes and qualities This is called Tattvarūpavatī-dhāranā [155] With this finishes the practising of the Pindastha-dhyāna which leads to the blissful life enduring and everlasting [156]

(2-4) The Padastha-dhyāna means contemplation by means of certain Matric syllables, such as 'Om', 'Arahanta' etc [157] Śubhacandra draws attention of the number of such syllables which need not be dealt with here The Rupastha-dhyāna consists in meditating on the divine qualities and the extraordinary powers of the Arahantas [158] The Yogī by virtue of meditating on the divine qualities imagines his own self as the transcendental self and believes that "I am that omniscient soul and not anything else [159] "The Rupātīta-dhyāna implies the meditation on the attributes of Sidhātman In other words, the Rupātīta-dhyāna is that wherein the Yogī meditates upon the self as blissful consciousness, pure, and formless [160]

We have thus dwelt upon the various processes of Dhyāna These different processes which may be brought under Prasasta-dhyāna are capable of leading us to the supreme state of transcendental existence All this was a digression from the traditional enumeration which recognises four kinds of Dharma-dhyāna and four kinds of Śukla-dhyāna We shall now deal with these kinds of Dhyāna

Dharma-dhyāna

The word 'Dharma' implies the veriable nature of things, the ten kinds of Dharma, the triple jewels and the protection of living beings [161] The four types of Dharma-dhyāna have been recognised, namely, (1) Ajña-vicaya, (2) Apāya-vicaya, (3) Vipāka-Vicaya, and Lastly (4) Sansthāna-vicaya [162] (1) When the aspirant finds no one to preach, lacks subtle wit, is obstructed by the rise of Karmas, is encountered with the subtleness of objects and experiences the deficiency of evidence and illustration in upholding and vindicating any doctrine, he adheres to the exposition of the Arahanta after believing that the Arahanta does not misrepresent things The aspirant may thus be said to have performed Ajñā-vicaya Dharma-dhyāna [163]
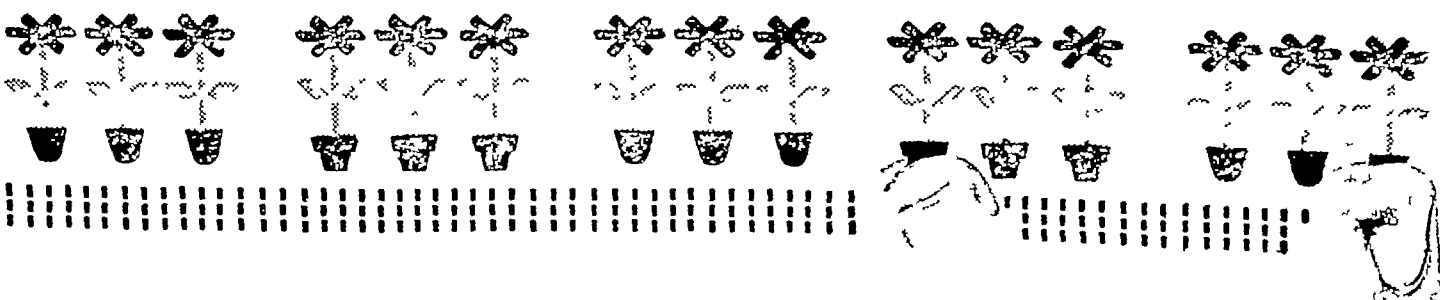
REFERENCES

1 T Sū. IX. 2.
2 T Sū. IX 3
3 T Sū. IX. 8
4. Uttarā. 2
5 T Sū. IX 9 Uttarā. 2
6 Sarvārtha. IX 9 Uttarā 2
7 Sarvārtha. IX. 9
8 Uttarā 2/12,13
9 Sat Vol XIII P 55 Anagā. Dharmā VII 2
10 Sarvārtha. P 439 Sat Vol. XIII P 54 Anagā Dharma. VII-6 Uttarā 30/7
11 Sarvārtha. P 439
12 Sat Vol XIII P 59 Anagā. Dharmā VII 6
13 T Sū IX. 19 Bhaga. Ārā. 208 Mūlā. 346
14. Uttarā. 30/8
15 Mūlā 347 Uttarā. 30/9 Bhaga. Ārā.209
16 Sarvārtha. P 438
17 Sat Vol VIII P 55
18 Morsel consists of 1000 rice grains. (Anaga Dharma. VII 22) Sat Vol XIII P 56
19 Mūlā. 350 Bhaga Ārā. 211 212 Anagā. Dharma. VII 22 Uttarā 30/15 Sat Vol. XIII P 56
20 Mūla. 351 Anaga. Dharma VII 22
21 The Uttarādhyayana calls it Bhiksācarī 'It consisted of imposing certain restrictions upon one self regarding the mode of begging or the nature of the donor or the quality of food or the way in which food was offered. (history of Jaina Monachism P 188)
22 Mūla 355 Karti 443 Anaga. Dharma, VII 6 Bhaga. Ārā 218 to 221 Sat Vol XIII P 57
23 Sarvārthi P 438
24 Mūlā 352 Uttarā 30/26 Bhaga Ārā. 215 Sat Vol XIII P 57
25 Sarvārtha. P 438
26 The Uttarādhyayana calls it Sanlīnatā It implies the choice of lonely place of stay devoid of women, enunuchs and animals (Uttarā 30/28)
27 Sarvārtha. P 438 Kārti. 445 447 Ācārasāra. VI 15 16 Mūlā, 357 Bhaga. Ārā. 228 Sat Vol XIII P 58
28 Mūlā. 356 Sarvārtha. IX 19 Uttarā. 30/27 Ācārasāra. VI 19 Kārti 448 Sat. Vol XIII P 58 Bhaga Ārā. 222 to 227
29 Sarvārtha. IX 19
30 Mūlā 358 Bhaga Ārā 236
31 Svayambhū. 83
32 T Sū. IX 20 Mūlā 360 Uttarā 30/30, Ācārasāra. VI 21
33 Sarvārtha. IX 20 Mūlā 361 Sat Vol XIII P 60
34 Kārti 452.
35 Mūlā. 362 Sat Vol XIII P 60 Ācārasāra. VI 23 24
36 T Sū. IX 22
37 Sarvārtha IX 22 Rājavā. IX 22/2
* (1) To express faults by providing the Guru with certain necessary things, and serving him in various ways in order to arouse sympathy in his mind so that he might give him less Prāyascitta, is known as Akampita Doṣa.[1]
(2) To reveal transgressions after expressing one's diseased condition and inferring Guru's attitude for less punishment is Anumānita Doṣa.[2]
(3-4-5) To manifest only open faults, great faults and minor ones is respectively called Drsta and Bādara and Sūksma Doṣa.
(6) To ask the Guru regarding the Prāyascitta of certain faults and then to express his own ones is called Channa Doṣa

1 Bhaga. Ārā 563. Ibid 570 to 573. 3 Ibid. 5 4 57 582 4. Ibid. 580
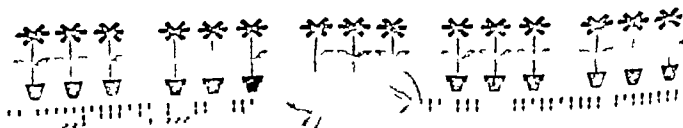
shortens its field of concentration to the effect that the Yogī meditates upon one substance, an atom, or a modification of substance with the assistance of only one kind of Yoga[176] Hence the second type of Dhyāna is associated with Vitarka and Ekatva, i.e with scriptural knowledge and oneness With the performance of this second type of Dhyāna the Yogī reduces to ashes the four types of obscuring (Ghātin) Karmas In consequence, the Yogī experiences infinite intuition, knowledge, bliss, and energy[177] Thus the state of Jīvanmukti is attained The omniscient occupies himself with the third type of Śukla-dhyāna (Sūksamakriyāpratipātin) when an Antarmuhūrta remains in final emanciparion[178] After establishing himself in gross bodily activity, he makes the activities of mind and speech subtle[179] Then after renouncing the bodily activity, he fixes himself in the activities of mind and speech, and makes the gross bodily activity subtle[180] Afterwards mental and vocal activities are stopped[181] and only subtle activity of body is left In the last type of Śukla-dhyāna (Vyuparatakriyānivartin) even the subtle activity of body is stopped The soul now becomes devoid of mental, vocal and physical vibrations, and immediately after the time taken to pronounce five syllables it attains disembodied liberation[182]

LIST OF ABBREVIATIONS AND WORKS

Amita Śrāva	Amitagati-Śrāvakācāra (Anantakīrti Digambara Jaina, Granthamālā, Bombay)
Anagā Dharmā	Anagāradharmāmrta of Āśādhara (Khusālacanda Gāndhi, Solapur)
Bhaga Ārā	Bhagavati-Arādhanā (Sakhārāma Nemacanda Digambara Jaina Granthamālā, Solapur)
Istopa	Iṣtopadeśa of Pūjyapāda (Rāyacandra Jaina Sastramālā, Bombay)
Jnānā	Jnānārnava of Śubhācandra (Rāyacandra Jaina Śāstramālā, Bombay)
Kārti	Kārtikeyānuprekṣā (Rāyacandrā Jaina Śāstramālā, Bombay)
Mūlā	Mūlācāra of Vaṭtakera (Aanantakirti Digambara Jaina Granthamālā, Bombay)
Prava	Parvacanasāra of Kundakunda (Rāyacandra Jaina Śāstramālā, Bombay)
Rājavā	Rājavārtika of Aklanka (Bhāratiya Jnāna Pitha, Kāsī)
Sat Vol VIII & XIII	Satkhandāgama of Puṣpadanta and Bhūtabati (Jaina Sahitya Uddharaka fund Karyālaya, Amraot)
Sarvārtha	Sarvārthāsiddhi of Pūjyapāda (Bhāratiya Jnāna Pitha, Kāsī)
Svayāmabhū	Svayamabhustotra of Samantabhadra (Viraseva Mandira, Sarasāvā)
T Sū	Tattvārthasūtra of Umāsvati under the title Sarvārthasiddhi (Bhartiya Jnānā Pitha, Kāsī)
Uttarā	Uttarādhyayana (Sacred Books of the east Vol XLV)
	Yoga of the saints by Dr V H Date (Popular Book Depot, Bombay-7)
	Yogasāra of yogīndu (Rāyacandra Jaina Sastramālā, Bombay, along with Paramatmapreksina)
	History of Jaina Monachism by S. B Deo (Deeran College, Poona)
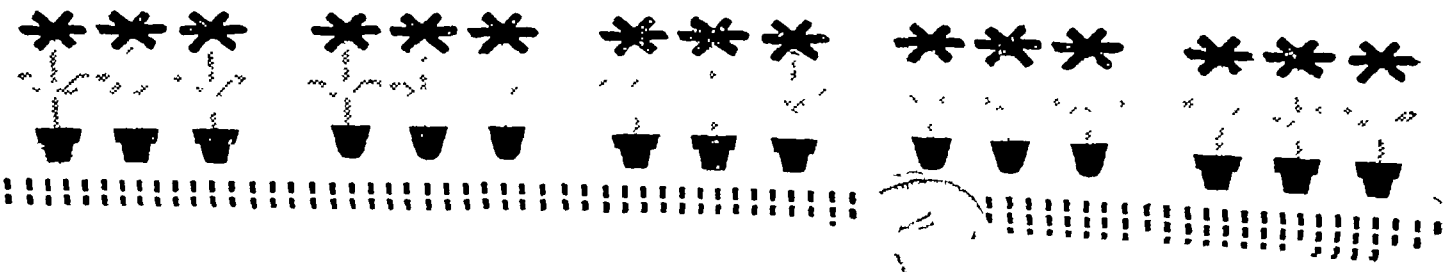
86 Kārti 468
87 Sarvārtha. IX 28.
88 Iṣṭopa. 20
89 Jnānā III 27 28
90 Ibid XXV 17
91 Kārti 469 T Sū. IX 28
92 T Sū. IX 29
93 Sarvārtha. IX 29
94. Tattvānuśāsana. 34 220
95 Sarvārtha. IX. 28
96 Jnānā. XXV 37 T Sū, IX 30 to 33.
97 T Sū. IX 30 Kārti 471 Jnānā. XXV 28
98 Jnānā. XXV 27 Kārti. 471
99 T Sū. IX 31 Jnānā. XXV 31 Kārti 472
100 T Sū. IX 32 Jnānā XXV 32
101 Jnānā. XXV 36
102 Sarvāratha IX 33
103 Jnānā. XXV-41
104 Jnānā XXV-40 42 Rājavā IX-33
105 Jnānā. XXV-39 T Sū. IX-34
106 Jnānā. XXV-4 9 10 11 13 15 Kārti 473
107 Jnānā. XXVI 10 17 18 20 22 Kārti 473
108 Jnānā XXVI 24 Kārti 474
109 Jnānā XXVI 29 Kārti. 474
110 T Sū. IX 36
111 Sarvārtha. IX-36.
112. Ibid
113 Kārti 460 Jnānā. XXVI-43 Rājavā. IX 35/4
114 Jnānā IV-6 XXVII-3
115 Jnānā. IV 17
116 Jnānā XXII 10
117 Jnānā XXII 20
118. Jnānā XXII 24
119 Jnānā. XXVII-4
120 Jnānā XXVII 18
121 Jnānā. XXVII 23 to 33
122 Jnānā XXVIII 1
123 Jnānā XXVIII 2 to 7
124 Jnānā XXVIII 12
125 Jnānā. XXVIII 21
126 Jnānā. XXVIII 22
127 Jnānā XXVIII 38 to 40
128 Jnānā XXVIII 32
129 Jnānā. XXIV 2
130 Jnānā. XXIV 11 12
131 Jnānā. XXIV 13
132 Jnānā XXX 9
133 Jnānā XXX 6 134 Jnānā XXX 3.
135 Jnānā. XXX 13
136 Jnānā. XXXI 12
137 Jnānā. XXXI 13, 14
138 Jnānā XXXI 17
139 Jnānā. XXXI 18 19
140 Jnānā XXXI 20 to 24
141 Jnānā. XXXI-37
142 Jnānā. XXXI 38
143 Jnānā. XXXI-42. 144. Jnānā. XXXII 10
145 Jnānā. XXXII-60 146 Jnānā. XXXII-61
147 Jnānā XXXII-42 148 Jnānā. XXXVII 1
149 Yogasāra. 98 150 Jnānā. XXXVII 2
151 Jnānā. XXXVII-4 to 9
152 Jnānā. XXXVII 10 to 19
153 Jnānā. XXXVII 20 to 23
154 Jnānā XXXVII 24 to 27
155 Jnānā XXXVII 28 to 30
156 Jnānā. XXXVII-31
157 Jnānā XXXVIII 1
158 Jnānā. XXXVIX 1 to 8
159 Jnānā. XXXIX-42, 43
160 Jnānā XL 16
161 Kārti. 476. 162 T Sū. IX-36.
163 Sarvārtha. IX-36. 164 Sarvārtha. IX-36
165 Sarvārtha. IX-36 166 Mūlā. 400
167 Mūlā. 11
168 Sarvārtha IX-36 Mūlā. 401
169 Sarvārtha IX 36 170 Kārti 480
171 Jnānā. XLII-3 6 172. Jnānā. XLII-5.
173 T Sū. IX 39 174 Jnānā. XLII 7 8.
175 Jnānā XLII 13 15 to 17
176 Jnānā. XLII 27
177 Jnānā. XLII 29 178 Jnānā XLII-41
179 Ibid. 48 180 Ibid 49
181 Ibid 50 182 Ibid 53, 59

(7-8) To express faults indistinctly amidst loud voice and to doubt and ask others regarding the authenticity of Prāyascitta given by the Guru is respectively called Sabdakulita[1] and Bhaujana Prccha Dosa [2]

(9-10) To express one's faults before the other person who is devoid of knowledge and conduct and to except Prāyascitta from a saint who is likewise a defaulter is respectively called Avyakta,[3] and Tatsevi Dosa [4] The monk expresses his transgression to the Guru in a secluded place, whereas the nun expresses in presence of three persons [5]

38 Anagā Dharmā VII-47, Ācārasāra VI 41, Sat Vol XIII-P 60
39 Anagā Dharma VII-48, Ācārasāra VI 42, Sarvārthā IX-22, Sat Vol XIII-P 60
40 Anagā Dharma VII 49, 50, Ācārasāra VI 43, 44, Sat Vol XIII-P 60
41 Sarvārtha IX 22
42 Sarvārtha IX 22, Ācārasāra VI 46, Anagā Dharmā VII 52, Sat, Vol XIII P 61
43 Sarvārtha IX 22, Ācārasāra VI 57, Anagā Dharma VII 54, Sat Vol XIII-P 61
44 Anagā Dharmā VII, 55, Ācārasāra VI 48, Saṭ Vol XIII-P 62
45 Sarvārtha IX 22
46 Anagā Dharma VII 57, Ācārasāra VI 65, Saṭ Vol XIII-P 63
47 Saṭ Vol XIII-P 63, Ācārasāra VI 69; Anagā Dharmā VII 60 Uttarā 30/32
48 Mūlā 385, Bhaga Ārā 128, Anagā Dharmā VIII 62
49 Mūlā 386 to 388, Bhaga Ārā 129 to 131
50 Mūlā 364, Bhaga Ārā 112, Ācārasāra VI 70, Anagā Dharmā VII. 64
51 T Sū. IX 23
52 Mūlā 365, Bhaga Ārā 114
53 Mūlā 366, 585
54 Mūlā 368, Sarvārtha IX 23
55 Mūlā 369, Bhaga Ārā 115
56 Mūlā 371, Bhaga Ārā 117
57 Mūlā 373 to 375, 382, Bhaga Ārā 119 to 122
58 Mūlā 377, 378, 383, Bhaga Ārā 123, 124
59 Mūlā 379, 383, Bhaga Ārā 125
60 Mūlā 384, Bhaga Ārā 127
61 Mūlā 391, 392, Sarvārtha IX 24
62 Sarvārtha IX 24
63 Sarvārtha IX 25, Rājavā IX 25
64 Ibid
65 Ibid
66 Ibid
67 Ibid
68 Yoga of the saint P 66
69 Mūlā 267, 268
70 Mūlā 410, 969
71 Ibid 971
72 Prava 1-86
73 Sarvārtha IX 25
74 Rājavā IX 25
75 Amita Śrāva XIII-83
76 Prava-III 32
77 Amita Śrāva XIII 88
78 Mūlā 409, 970
79 Yoga of the Saints P 64
80 Ibid 65
81 Mūlā 406, Sarvārtha IX 26
82 Mūlā 407
83 Rājavā IX-27/26
84 Rājavā IX-27/10 to 15
85 Saṭ Vol XIII-P 64

---

1 Ibid 591 2 Ibid 596 3 Ibid 599 4 Ibid 603

5 Rājavā 9/22 Anagāradharmāmrta, Ācārasāra and Rājavārtika express these faults in a similar way
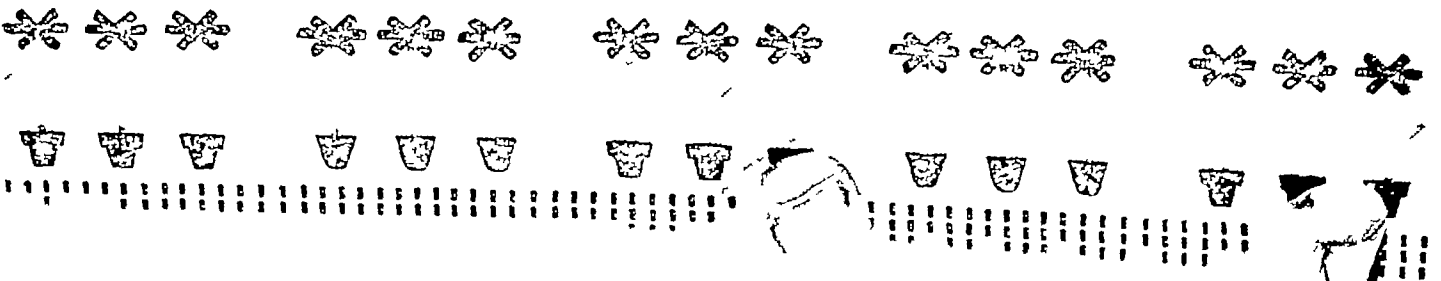
Creator God and refute the theistic arguments of the Naiyayikas. The Naiyayika argument that the world is of the nature of an effect created by an intelligent agent who is God (Iśvara) cannot be accepted because

1. I is difficult to understand the nature of the world as an effect as
   (a) if effect is to mean that which is made of parts (Sāvayava) then even space is to be regarded as effect,
   (b) if it means coherence of a cause of a thing which was previously non-existent, in that case one cannot speak of the world as effect as atoms are eternal
   (c) if it means that which is liable to change then God would also be liable to change and he would need a creator to create him and another and so on ad infinitum. This leads to infinite regress.[4]
2. Even supposing that the world as a whole is an effect and needs a cause, the cause need not be an intelligent one as God because
   (a) if he is intelligent as the human being is, then he would be full of imperfections, as human intelligence is not perfect
   (b) if his intelligence is not of the type of human intelligence but similar to it, then it would not guarantee inference of the existence of God on similarity as we cannot *infer the existence of fire on the ground of seeing steam which is similar to smoke;*
   (c) we are led to vicious circle of argument if we can say that the world is such that we have a sense that some one made it, as we have to infer the sense from the fact of being created by God
3. If an agent had created the world, he must have a body For we have never seen an intelligent agent without a body If a God is to produce intelligence and will, this is also not possible without an embodied intelligence
4. Even supposing a non-embodied being were to create the world by his intelligence will and activity there must be some motivation
   (a) if the motive is just a personal whim, then there would be no natural law or order in the world
   (b) if it is according to the moral actions of men, then he is governered by moral order and is not independent
   (c) if it through mercy there should have been a perfect world full of happiness
   (b) *if men are to suffer by the effects of past* actions (adṛṣṭa) then the adṛṣṭa would take the place of God

   But, if God were to create the world without any motive but only for sport it would be a motiveless mal gnity [5]
5. God s omn presence and omniscience cannot also be accepted because
   (a) if he is everywhe e he absorbs into himself everything into his own self leaving nothing to exist outside him
   (b) *his omniscience would make him experience* hell, as he would know everything and his knowledge would be direct experience
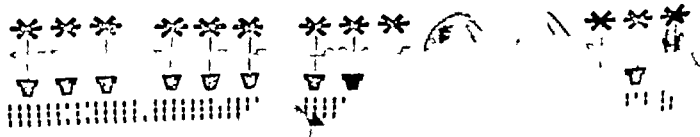
T G Kalghatgi
M A, Ph D Reader in Philosophy, Karnatak University, Dharwar

NATURE OF DIVINITY IN JAINA PHILOSOPHY

I *Introduction*

Religion, as a way of life and not merely as an institution, has been natural to man It is man's reaction to the totality of things as he apprehends it It implies an interpretation of nature and the meaning of the universe It seeks to go beyond the veil of visible things and finds an inexhaustible fund of spiritual power to help him in life's struggle And the 'presence' of God gave strength for man in his struggle in life The ways of God to man and man to God have been rich and varied It may be, as Prof Leuba pointed out, that fear was the first of the emotions to become organised in human life, and out of this fear God was born Perhaps love and gratitude are just as natural, as much integral parts of the constitution of man, as fear, and Gods were friendly beings It is still possible that men have looked at Gods with a living sense of kinship and not with the vague fear of the unknown powers [1] We do not know But one thing is certain that in higher religions fear is sublimated by love into an adoring reverence [2] From the fear of the Lord in *The Old Testament* to the worship of God 'with Godly fear and awe' is not a far cry

In the Vedic period, we find a movement of thought from polytheism to monotheism and then to monism The poetic souls contemplated the beauties of nature and the Indo-Iranian Gods, like Deus, Varuna, Uśas and Mitra were products of this age Other Gods like Indra were created to meet the needs of the social and political adjustments Many Gods were created, many Gods were worshipped Then a weariness towards the many Gods began to be felt as they did dot know to what God they should offer oblations [3] Then a theistic conception of God as a creator of the universe was developed out of this struggle for the search for a divine being In ancient Greece, Xenophanes was against the polytheism of his time Socrates had to drink hemelock as he was charged of denying the national Gods He distinguished between many Gods and the one God who is the creator of the universe

II *The Jaina arguments against God*

But the Jainas were against Gods in general and even the God as creator They presented several arguments against the theistic conception of God They deny the existence of a

6 It is not possible to accept the Naiyyayika contention that without the supposition of God, the variety of the world would be inexplicable, because we can very well posit other alternatives like (i) the existence of the natural order and (ii) a society of Gods to explain the universe

But if a society of Gods were to quarrel and fall out as it is sometimes contended, then the nature of Gods would be quite so unreliable, if not vicious, that we cannot expect elementary co-operation that we find in ants and bees

The best way, therefore, is to dispense with God altogether [8]

We find similar objections against the acceptance of a theistic God, in Buddhism also The Buddha was opposed to the conception of Īśvara as a creator of the universe [9] If world were to be thus created, there should be no change nor destruction, nor sorrow nor calamity

If Īsvara were to act with a purpose he would not be perfect and that would limit his perfection But if he were to act without a purpose his actions would be meaningless like a child's play

There is nothing superior to the law of karma The sufferings of the world are intelligible only on the basis of the law of karma Though the Buddha admits the existence of the Gods like Indra and Varuna, they are also involved in the wheel of Samsāra [10]

We have, so far, seen that the Jainas, so also the Buddhists, were against the theistic conception of God God as a creator is not necessary to explain the universe We have not to seek God there in the world outside, nor is God to be found in the 'dark lonely corner of a temple with doors all shut' He is there within us He is there with the tiller tilling the ground and the 'pathmaker breaking stones', in the sense that each individual soul is to be considered as God, as he is essentially divine in nature Each soul when it is perfect is God

III *The Jaina Conception of Soul*

The Jainas sought the divine in man and established the essential divinity of man This conception has been developed in specific directions in Jaina philosophy

The existence of the soul is persupposition in the Jaina philosophy Proofs are not necessary. If there are any proofs we can say that all the pramānas can establish the existence of the soul It is described from the phenomenal and the noumenal points of view From the phenomenal point of view, it possesses prānas, is the lord (prabhu), doer (kartā), enjoyer (bhoktā), limited to his body (dehamātra), still incorporeal and is ordinarily found with karma [11] From the noumenal point of view, soul is described in its sure form It is pure and perfect It is pure consciousness It is unbound, untouched and no other than itself We may also say that from this point of view it is characterised by upayoga which is a hormic force The joys and sorrows that the soul experiences are due to the fruits of karma which it accumulates due to the incessent activity that it is having This entanglement is beginningless, but it has an end The deliverance of the soul from the wheel of samsara is possible by voluntary means By the moral and spiritual efforts involving samvara and nirjarā, karma accumulated in the soul is removed When all karma is removed, the soul becomes pure and perfect, free from the wheel of samsāra Being free, with its upward motion it attains liberation or mokṣa Pure and perfect souls live in eternal bliss in the Siddhaśila in the 'alokākāśa'

Creator God and refute the theistic arguments of the Naiyayikas. The Naiyayika argument that the world is of the nature of an effect created by an intelligent agent who is God (Īśvara) cannot be accepted because

1 I is difficult to underatand the nature of the world as an effect as

(a) if effect is to mean that which is made of parts (Sāvayava) then even space is to be regarded as effect

(b) if it means coherence of a cause of a thing which was previously non-existent, in that case one cannot speak of the world as effect as atoms are eternal

(c) if it means that which is liable to change then God would also be liable to change and he would need a creator to create him and another and so on ad infinitum. This leads to infinite regress.[4]

2 Even supposing that the world as a whole is an effect and needs a cause the cause need not be an intelligent one as God because

(a) if he is intelligent as the human being is, then he would be full of imperfections, as human intelligence is not perfect

(b) if his intelligence is not of the type of human intelligence but similar to it, then it would not guarantee inference of the existence of God on similarity as we cannot infer the existence of fire on the ground of seeing steam which is similar to smoke

(c) we are led to vicious circle of argument if we can say that the world is such that we have a sense that some one made it as we have to infer the sense from the fact of being created by God

3 If an agent had created the world he must have a body For we have never seen an intelligent agent without a body If a God is to produce intelligence and will, this is also not possible without an embodied intelligence

4 Even supposing a non-embodied being were to create the world by his intelligence will and activity there must be some motivation

(a) if the motive is just a personal whim, then there would be no natural law or order in the world,

(b) if it is according to the moral actions of men, then he is goverened by moral order and is not independent

(c) if it through mercy there should have been a perfect world full of happiness

(b) if men are to suffer by the effects of past actions (adṛsta) then the adṛsta would take the place of God

But if God were to create the world without any motive but only for sport it would be a mot veless malignity

5 God s omnipresence and omniscience cannot also be accepted because :

(a) if he is everywhere h absorbs into himself everything into his own self leaving n thing t st out de h m

(b) h omn c ence w ould mak h m perience hell as he would know everything and hi kn l dg w uld b d re t perience

6 It is not possible to accept the Naiyyayika contention that without the supposition of God, the variety of the world would be inexplicable, because we can very well posit other alternatives like (i) the existence of the natural order and (ii) a society of Gods to explain the universe

But if a society of Gods were to quarrel and fall out as it is sometimes contended, then the nature of Gods would be quite so unreliable, if not vicious, that we cannot expect elementary co-operation that we find in ants and bees

The best way, therefore, is to dispense with God altogether [8]

We find similar objections against the acceptance of a theistic God, in Buddhism also The Buddha was opposed to the conception of Īśvara as a creator of the universe [9] If world were to be thus created, there should be no change nor destruction, nor sorrow nor calamity

If Īsvara were to act with a purpose, he would not be perfect and that would limit his perfection But if he were to act without a purpose his actions would be meaningless like a child's play

There is nothing superior to the law of karma The sufferings of the world are intelligible only on the basis of the law of karma Though the Buddha admits the existence of the Gods like Indra and Varuna, they are also involved in the wheel of Samsāra [10]

We have, so far, seen that the Jainas, so also the Buddhists, were against the theistic conception of God God as a creator is not necessary to explain the universe We have not to seek God there in the world outside, nor is God to be found in the 'dark lonely corner of a temple with doors all shut' He is there within us He is there with the tiller tilling the ground and the 'pathmaker breaking stones', in the sense that each individual soul is to be considered as God, as he is essentially divine in nature Each soul when it is perfect is God

III *The Jaina Conception of Soul*

The Jainas sought the divine in man and established the essential divinity of man This conception has been developed in specific directions in Jaina philosophy

The existence of the soul is persupposition in the Jaina philosophy Proofs are not necessary. If there are any proofs we can say that all the pramānas can establish the existence of the soul It is described from the phenomenal and the noumenal points of view From the phenomenal point of view, it possesses prānas, is the lord (prabhu), doer (kartā), enjoyer (bhoktā), limited to his body (dehamātra), still incorporeal and is ordinarily found with karma [11] From the noumenal point of view, soul is described in its sure form It is pure and perfect It is pure consciousness It is unbound, untouched and no other than itself We may also say that from this point of view it is characterised by upayoga which is a hormic force The joys and sorrows that the soul experiences are due to the fruits of karma which it accumulates due to the incessent activity that it is having This entanglement is beginningless, but it has an end The deliverance of the soul from the wheel of samsara is possible by voluntary means By the moral and spiritual efforts involving samvara and nirjarā, karma accumulated in the soul is removed When all karma is removed, the soul becomes pure and perfect, free from the wheel of samsāra Being free, with its upward motion it attains liberation or mokṣa Pure and perfect souls live in eternal bliss in the Siddhaśila in the 'alokākāśa'.

They are the perfect beings. There is nothing other which is as perfect. There is no other God. The freed souls are divine in nature, as they are perfect and omniscient.

For the Jaina it is not necessary to surrender to any higher being nor to ask for any divine favour for the individual to reach the highest goal of perfection There is no place for divine grace, nor is one to depend on the capricious whims of a superior deity for the sake of attaining the highest ideal There is emphasis on individual efforts in the moral and spiritual struggle for self realization. One has to go through the fourteen stages of spiritual struggle before one reaches the final goal in the ayoga kevali stage These stages are the guṇasthānas.

IV However the struggle for perfection is long and ardous. Few reached perfection, and perhaps, as tradition would say none would become perfect in this age. Among those who have reached omniscience and perfection are the tirthankaras, the prophets, who have been the beacon lights of Jaina religion and culture They have preached the truth and have helped men to cross the ocean of this worldly existence. They led men, like kindly light, to the path of spiritual progress.

Therefore they need to be worshipped The Jainas worship the tirthankaras not because they are Gods, nor because they are powerful in any other way but because they are human, and yet divine, as every one is divine in his essential nature. The worship of the tirthankaras is to remind us that they are to be kept as odeals before us in our journey to self realization No favours are to be sought by means of worship nor are they compentent to bestow favours on the devotees The main motive of worship of the tirthankaras, therefore is to emulate the example of the perfect beings if possible, atleast to remind us that the way to perfection lies in the way they have shown us Even this worship of tirthankaras arose out of the exigencies of social and religious existence and survival and possibly as a psychological necessity We find a few temples of Gandhiji today perhaps there would be many more The Buddha has been deified.

Apart from the worship of tirthankaras, we find a pantheon of Gods who are worshipped and from whom favours are sought. The cult of the 'yaksini worship and of other attendant Gods may be cited as examples This type of worship is often attended by the occult practices and the tantric and mantric ceremonialism. Dr P B Desai shows that in Tamilnad Yakṣiṇī was allotted an independent status and raised to a superior position which was almost equal to that of the Jaina. In some instances the worship of Yakṣiṇī appears to have superseded even that of Jina[12] Padmāvati Yakṣiṇī of Pārśvanāth, has been elevated to the status of a superior deity with all the ceremonial worship in Pombuccapura in Mysore area. These forms of worship must have arisen out of the contact with other competing faiths and with the purpose of popularising the Jaina faith in the context of the social and religious competition. The cult of Jwālāmālini with its tantric accompanishments may be mentioned as another example of this motivation The promulgator of this cult was perhaps, Heläcārya of Ponnur According to the prevailing belief at that time mastery over spells and mantravidyā was considered as a qualification for superiority The Jaina ācāryas claimed to be master mantravādins.[13] Jainism had to compete with the other Hindu creeds Yakṣī form of worship must have been introduced in order to attract the common men towards Jainism, by appealing to the popular forms of worship

However, such forms of worship are foreign to the Jaina religion They do not form an organic and constituent features of the Jaina worship The course of religion had to encounter many conflicting tendencies Some of the tendencies have been absorbed and assimilated in the struggle for existence and survival We may, here, refer to the inconceivable changes the Buddhist forms of worship have undergone in the various countries of the world, like the tantric forms of worship in Tibetan Lamaism

We have still some Gods in Jaina cosmogony They are the 'devas' the Gods living in heavens like the 'bhavanavāsi', 'vyantaravāsi', 'jyotiśvāsi', and 'kalpavāsi' But they are not really Gods in the sense of superior divine beings They are just more fortunate beings than men because of their accumulated good karma They enjoy better empirical existence than men But we, humans, can pride ourselves in that the 'Gods' in these worlds cannot reach mokṣa unless they are reborn as human beings [14] They are not objects of worship

V Struggle for perfection is a necessary factor in life Sorrow and imperfection are a flavour to the sauce They are necessary for onward journey in the spiritual struggle The efforts of self-realization will have meaning only when this world becomes a vale of soul making and the life a real fight in which something is eternally gained [15] Life is to be considered as a struggle towards perfection, and not merely an amusing pantomime of infallible marrionettes We should realise that 'man is not complete, he is yet to be' In what he is, he is small He is hungering for something which is more than what he can get In this struggle for perfection man need not depend on God or any superior being for favours, for he 'rolls as impotently as you or I' Man has to depend on his own self-effort The Jaina attitude is melioristic. Tagore writes, "In the midst of our home and our work, the prayer rises 'Lead me across' For here rolls the sea, and even here lies the other shore waiting to be reached "[16]

REFERENCES

1 Smith (U R) *Religion of the Semites*, pp 55
2 D Miall Edwards *The Philosophy of Religion*, pp 61
3 'Kasmai devāya haviṣam vidyema'
4 Gunaratna *Tarka-rahasya-dīpikā*
5 *Syādvādamanjari* of Mallisena with Hemacandra's *Anyayoga-Vyavaccheda-Dvatrimvisika* Edt Dhruva A B Introduction
6 Ibid 6
7 Gunaratna *Tarka-rahasya-dīpikā*
8 Gunaratna *Saḍdarsana-samuccaya*, pp 114
9 Aśvaghoṣa's *Buddhacarita* gives a detailed description of the topic Dialogues of Buddha Also refer to *Syādvada Mañjari* for similar view
10 Ibid
11 *Pancāstikāyasāra*, pp 27 and *Samayasāra* pp 124
12 Desai (P B) *Jainism in South India*, (1957), pp 72
13 Ibid pp 74
14 *Tiloya Pannati* gives a detailed description of the three worlds
15 William James *The will to believe* (1889), pp 61
16 Tagore (R) *Sadhana* The Realization of the Infinite

Miss Ruth M Weil
University of Wisconsin U S.A

THE NON-VIOLENCE OF MAHATMA GANDHI & GITA

The life of Mahatma Gandhi (1870-1948) the great architect of the contemporary social and political India, the saint, philosopher politician and religious reformer truly can be viewed as an expression of India s cultural heritage Unlike many contemporary western philosophers, who are sidetracked by the concept of historical relativism Gandhi sought the eternal truths a search which seems to have occupied Indian seers and philosophers throughout recorded history Gandhi said I do not claim to have originated any new principle or doctrine. I have simply tried in my own way to apply the eternal truths to our daily life and problems [1]

Of all the written sources which attempt to reflect these truths, Gandhi held the Bible, the Koran and the Bhagavadgita in highest esteem Although he recited quotations from all three of these at his evening prayers, he was probably most deeply influenced by the Gita. There is no doubt that Gandhi interpreted the teachings of the Gita in his own way trying to prove that its philosophy of life supported his creed of non violence. But that the Gita served as his guide at hundreds of moments of doubt and difficulty is evidenced by such words as

> I am a devotee of the Gita and a firm believer in the inexorable law of karma. Even the least little tripping or stumbling is not without its cause and I have wondered why one who has tried to follow the Gita in thought, word and deed should have any ailment. The fact that any event or incident should disturb my mental equilibrium, in spite of my serious efforts, means not that the Gita ideal is defective but that my devotion to it is defective The Gita ideal is true for all time [2]

It is evident that Gandhi made earnest efforts to follow the ideal of a sthitaprajna, as expressed in the Bhagavadgita. He was undisturbed in the midst of disturbed conditions, maintaining his balance of mind when others had lost it. When India was torn with communal riots and the hatred between Hindu and Muslim was causing the merciless massacre of hundreds of thousands of innocent people Gandhi preached love and brotherhood and underwent a fast unto death until peace was restored in the capital of India Even when his assassin appeared at his evening prayers, Gandhi maintained the calm and composure of a sthitaprajna Instead of attempting to escape or to retaliate he folded his hands, uttered the name of God three times and smilingly embraced death.

The Gita says of the sthitaprajna

> He whose mind is untroubled in the midst of sorrows and is free from eager desire and pleasure, he from whom passion fear and rage have passed away—he is called a sage of settled intelligence (56)
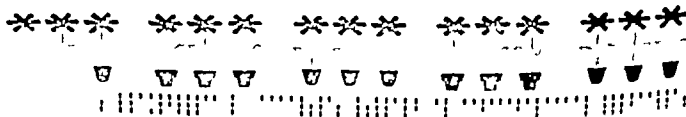
> "This is the divine state, O Partha, having attained thereto, one is not again bewildered, fixed in that state at the hour of death one can attain to the bliss of God " (2 72)

Gandhi had an unshakable belief in God, a belief he held throughout his life If we analyze his utterances about his theistic ideas, we reach the conclusion that his notion of, and faith in, God was partly borrowed from the Bhagavadgita, though his ethics based on this kind of metaphysics was his own interpretation While defining God, Gandhi wrote

> "To me God is Truth and Love, God is ethics and morality, God is fearlessness God is the source of Light and Life and yet He is above and beyond all these God is conscience He is even the atheism of the atheist For in His boundless love God permits the atheist to live He is the searcher of hearts He transcends speech and reason He is a personal God to those who need His personal presence He is embodied to those who need His touch He is the purest essence He simply is to those who have faith He is all things to all men He is in us and yet above and beyond us" [3]

In the Gita Truth and fearlessness are inseparable—the very purpose of the Gita was to shatter Arjuna's illusions about the nature of reality and thus enable him to act righteously, without doubt or fear God in the Gita is clearly the source of life (3 10, 10 20) and yet transcends life as we know it—the realm of Prakriti, in which multiplicity and tension among the gunas prevail Of God 'the searcher of hearts' and 'the source of Light', Krishna, speaking as the Cosmic Person, says "I, O Arjuna, am the self seated in the hearts of all creatures of the lights (I am) the radiant sun, of the stars I am the moon" (10 20-21)

As the disagreement among scholars testifies, the God of the Gita can be all things to all men The Gita ultimately accords no essential difference, or superiority in status, between the indescribable, eternal, unitive Brahman, and the Lord who takes a human form to guide all that exists in the realm of differentiation From a purely scholastic point of view, the concept of a personal God is incompatible with the second sophisticated metaphysics Similarly, the scholar cannot reconcile the role alloted to the ritualistic and liturgical Vedas (though indeed it is a small role), or the presence of three "separate" paths to God in the Gita But the iconoclastic spirit is foreign to Hinduism, for the sage knows that if the God search is sincere, no expression of this search is without some value and no guideposts without some function In addition, the reality of the Divine does not lend itself to direct verbal communication For these reasons Krishna says "Let no one who knows the whole unsettle the minds of the ignorant who know only a part " (3 29)[4]

Though the metaphysics of the Gita is not pure Monism, it certainly holds the unchanging, unitive Self to be the source of all existence It is noteworthy that Gandhi made an attempt to define God in his own way by adhering to a more pluralistic view of reality, saying "I talk of God as I believe Him to be, creative as well as non-creative This is the result of my acceptance of the doctrine of the manyness of reality He is one and yet many"[5] Of the immanence of God he would say

> "There is an indefinable mysterious Power that pervades everything I feel it, though I do not see it It is this unseen Power which makes itself felt and yet defies all proof, because it is so unlike all that I perceive through my senses It transcends the senses I dimly perceive that while everything around me is ever changing, ever dying, there is
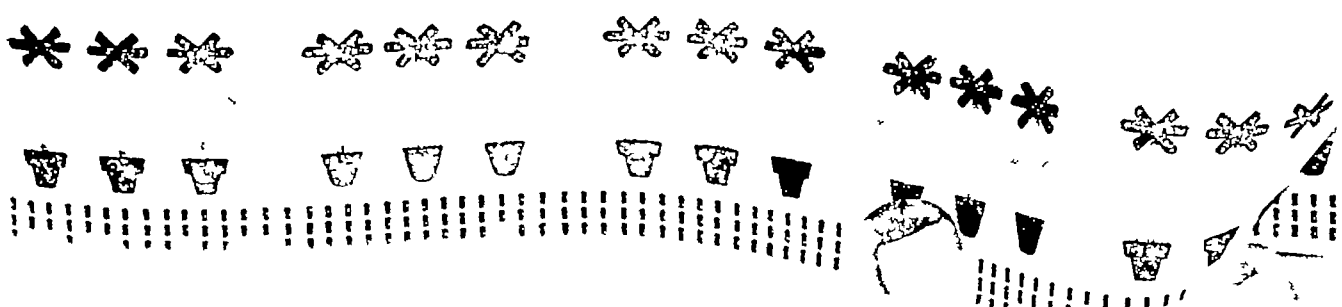
> underlying all that change a living power that is changeless, that holds all together that creates dissolves and recreates. That informing power or spirit is God' [6]

But Gandhi was never willing to define the whole in terms of its parts. The transcendence of God was just as clear as His immanence to Gandhi as we shall see when wed iscuss the relation of Gandhi s ethics to the Bhagavadgita

The final point to note regarding the relationship between the Gita and Gandhi s theistic views is that he accepted the theory of *avatara* or the periodic self incarnation of God as expressed in the Gita (15 7) and used the Gita s words Whenever there is a decline of righteousness and a rise of unrighteousness I create myself incarnate (4 7) to support his optimistic view about the vindication of truth.[7]

In the ultimate analysis of Gandhi s theistic views, we find an optimism born of intuition and firm conviction, an optimism which prompted him to say of the 'informing power or spirit which is God

> 'I see it is purely benevolent For I can see that in the midst of death life persists, in the midst of untruth truth persists, in the midst of darkness light persists. Hence I gather that God is Life, Truth Light. He is Love. He is the Supreme Good '[8]

Gandhi s philosophy of life rested greatly upon the Bhagavadgita, which he interpreted alle gorically

> 'The Gita is not a historical discourse. A physical illustration is often needed to drive home a spiritual truth It is the description not of war between cousins but between the two natures in us—the Good and the Evil I regard Duryodhana and his party as the baser impulses in man, and Arjuna and his party as the higher impulses. The field of battle is our own body An eternal bettle is going on between the two camps and the Poet seer vividly describes it. Krishna is the Dweller within, every whispering to a pure heart. '[9]

Being a fighter for the independence of his country and in the midst of the social and political life of India Gandhi was bound to be influenced by the efficacy of the Karma Yoga, which enjoins every individual to act without desire for the fruit of the action performed. But Gandhi wisely added 'The renunciation of fruit in no way means indifference to the result. In regard to every action one must know the result that is expected to follow and the means thereto and the capacity for it. He who being thus equipped is without desire for the result and yet wholly engrossed in the due fulfillment of the task before him is said to have re nounced the fruits of his action. [10]

It sounds self contradictory to say that a man may be without desire for the result, and may yet be wholly engrossed in the due fulfillment of the task before him. Gandhi tries to explain it only theoretically although he said that his own life was a practical experiment with truth He was intensely concerned with the justification of the means to the end, and thus speaks of the renunciation of fruit in this manner

> He who is ever brooding over result often loses nerve in the performance of his duty He becomes impatient and gives vent to anger and begins to do unworthy things; he jumps from action to action never remaining faithful to any He who broods over results is like a man given to objects of senses he is ever distracted he says good bye to all

या वर्ग मे आये खोली ? इन प्रश्नो मे हमे यहाँ कोई विशेष सरोकार नही हमे तो केवल इतना ही देखना और जानना है कि उन्होंने क्या कुछ प्राप्त किया इस निर्ग्रन्थ श्रमणपरम्परा मे अपने आपको दीक्षित-शिक्षित करके ? क्योकि हमारी गौरवशाली जैन सास्कृतिक परम्परा हमे बाह्यदर्शन के लिए नही, वरन् अन्तर्दर्शन के लिए प्रेरित करती है

उनकी अध्यात्म-साधना का काल काफी लम्बा रहा है गणना की दृष्टि से उनकी अध्यात्म-साधना के चौसठ वर्ष अपना कुछ अर्थ रखते है, आज के इस विलासिता-प्रधान भुक्ति-युग मे ! इस लम्बी अवधि मे उन्होंने बहुत कुछ उपलब्ध किया होगा उनका यह अनुभव-प्रकाश साधको के मार्ग-दर्शन का कार्य कर सकता है, यदि उसका सही मूल्याकन कर, उनका शिष्यवर्ग जन-मानस तक उसे पहुँचाने का सत्प्रयत्न करे

वे न तो शब्द-जाल के महारण्य मे भटकने वाले कोई वैयाकरणी ही थे, और न बाल की खाल उतारने वाले नैयायिक ही, और न वे दर्शन की गहन गुत्थियो मे उलझने वाले दार्शनिक ही थे वे तो एक अध्यात्म-निष्ठ सरलमना लोकोत्तर प्रवृत्ति के सन्त थे इस बात का अनुभव मुझे उनके साथ की गई कुछ समय तक की वीर-भूमि मेवाड की सहयात्रा मे हुआ अध्यात्म-रस मे पगे दोहे और पद जब कभी वे तरगित हृदय मे गाते थे तो मन-मयूर मस्त हो, मार्ग की सब थकावट भूल, नाच उठता था कभी-कभी तो वे छोटे-छोटे दोहो के माध्यम से राजपूती इतिहास की बडी ही सुन्दर सुनहरी कडियाँ खोलकर सामने रख देते थे उनकी वह सूक्तियाँ उस शुष्क पर्वतीय यात्रा को भी रसमय बना देती थी वे अतीत की घटनाएँ अपने मे सँजोये मौन पर्वत भी उनके मुख से मुखर हो अपने इतिहास की वीर-वाणी हमारे कर्ण-कुहरो मे डाल देते थे उन्होने जो एक सच्चे हितैषी की सी सहृदयता और एक बालक-सी निश्छलता तथा सरलता प्राप्त की थी, वह प्रत्येक साधक के लिए स्पृहणीय है यह शिशु की सी सरलता, भद्रता और भव्यता ही उनका व्याकरण था, यही उनका न्याय और दर्शन-शास्त्र था थोडे ही शब्दो मे उनका जीवन सागर की तरगो पर साहस की बिजली के प्रकाश मे बढते हुए नाविको के लिए एक प्रकाशस्तम्भ था जिसके प्रकाश मे प्रत्येक नाविक अपना मार्ग स्वय ढूँढ लेता है इस अनूठे जीवन सत्य को उर्दू के शायर के शब्दो मे यूँ समझ लीजिए

"खुशनुमा दुनिया मे वो हाजत रवा मीनार है।
रोशनी से जिनकी मल्लाहो के बेड़े पार है॥"

श्रीविजयमुनिजी, महाराज
शास्त्री, साहित्यरत्न

श्रमण सघ की विमल विभूति श्रद्धेय हजारीमलजी

मनुष्य के मन का विचार नि सन्देह मनुष्य से ऊँचा होता है जीवन मे उसे छूने का प्रयत्न ही साधना है आरम्भ अन्तर्जगत् से होता है और धीरे-धीरे बहिर्जगत् मे उसका विस्तार होता है वृक्ष का फैलाव बाहर होकर भी उसकी जडें धरती मे समाई रहती है मनुष्य का बाहरी जीवन, उसके विचार-बीज मे से फूटता है भारतीय सस्कृति मे 'सन्त' विचारो का केन्द्र माना जाता है

भारत की पुण्य-भूमि मे समय-समय पर सन्त पुरुषो के आगमन ने यहाँ की मिट्टी और हवा मे अपने जीवन से, अपने उज्ज्वल कर्म से और अपनी वाणी से जो सस्कार-बीज बोये थे, वे आज भी त्याग, तपस्या और ज्ञान के रूप मे यहाँ पर अकुरित है भारत ने सदैव ही सम्राट् के चरणो मे नही, सन्त के पावन चरणो मे ही अपना मस्तक झुकाया है इस प्रकार सन्त-जीवन, भारतीय सस्कृति का केन्द्र-बिन्दु रहा है

स्थानकवासी समाज के युग-पुरुषो की लम्बी परम्परा ने समाज को बहुत कुछ दिया है युग-पुरुषो की उसी लम्बी
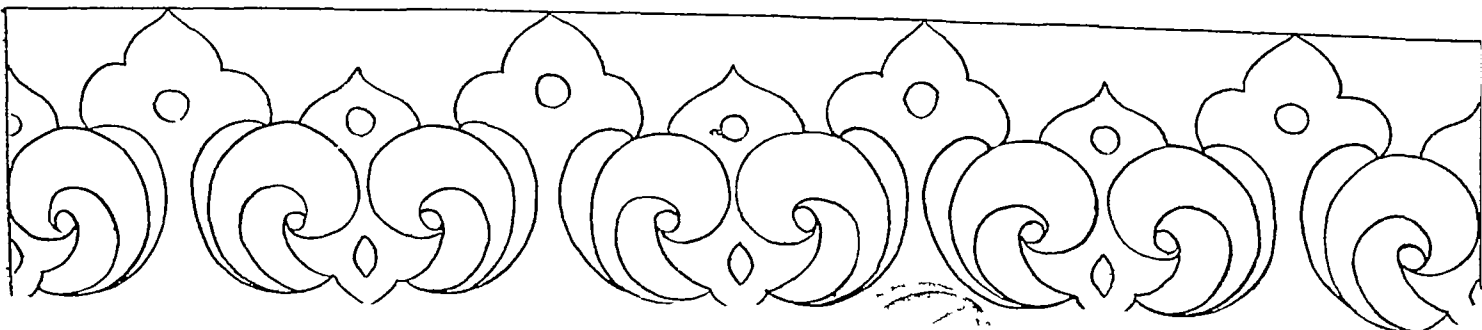
of the law of karma, or its equivalent—this verse, for example In whatever way men resort to Me, even so do I render to them. (4.11)—he said

> If it be true that God metes out the same measure to us that we mete out to others, it follows that, it we would escape condign punishment, we may not return anger for anger but gentleness against anger [18]

The *varnashrama dharma*, as found in the Gita, was an integral part of Gandhi's socio-individual ethic. Though his insistence on the necessary role of varna was misinterpreted and misused by the social reactionary it is true that his understanding of *varna* is the weakest spot of his whole philosophy

Gandhi's *life and words*[1] *are proof that he believed implicity that all men were born equal* His acceptance of the classical fourfold division of *varna* was based on a functional division for service and in his eyes, unrelated to status The basis of *varna* in the Gita, *gunas* and works, Gandhi interprets not solely as the character and ability *with* which one is born, but makes one's v rna synonymous with the varna *into* which one is born The law of varna is nothing, if not by birth [20] Thus Gandhi interpreted varna as the following on the part of us all of the hereditary and traditional calling of our forefathers, in so far as the traditional calling is not inconsistent with fundamental ethics, and this only for the purpose of earning one's livelihood [21]

Gandhi explained the importance of *varna* on the grounds that the humble acceptance of one's father's profession easily ensured one's livelihood, and by thus minimizing the energies used to create material wealth *varna* maximized one's energies for spiritual pursuits [22] Though admitting that qualities attached to *varna* can be acquired, he said "We need not ought not, to seek new avenues for gaining wealth *We should be satisfied with those we have* inherited from our forefathers so long as they are pure [23]

Gandhi's interpretation of *varna* in my humble opinion, does not correspond to that of the Gita, but rather reflects an unseemly obeisance to the bequest of the past. *Varna* in the Gita is not a tribal, but an occupational division, and one's *varna* does not necessarily correspond to the *varna* into which one is born [24]

Gandhi's emphasis on self-denial and the minimization of one's *material needs was undoubtedly* partially generated by his mission to minimize the suffering of the people The role Gandhi chose to play was a difficult one the distinction between religious and political motives is not always clear

Any other criticisms of Gandhi's understanding of the Gita must center around his allegorical interpretation of the Gita In my opinion the peculiar setting of the Gita defies mere allegorical interpretation Unlike the Upanishads which are dialogues between a forest dweller and an aspirant the Bhagavadgita's message is occasioned by a moral, spiritual intellectual, emotional and conative crisis in the life of a warrior a man of action. The setting and resolution of the problem emphasizes the intersection of the timeless with time and marks a distinct shift from Upanishadic speculative philosophy to practical religion. If the Kauravas are not solely the lower impulses in man and the battlefield not merely man's body then we must conclude that the Gita accepts warfare if the battle is a necessary one and demanded by a

> scruples, everything is right in his estimation and he therefore resorts to means fair and foul to attain his end "[11]

Gandhi was convinced that this path of unselfish, dedicated action commanded by the Gita teaches us to follow truth and *ahimsa* (non-violence) His entire ethic of non-violence, as the force of love, on which he based his political philosophy of *satyagraha*, or the protest of truth, was based on his understanding of the Gita, as well as on his optimistic view of the nature of God and the world He freely admits that the Gita was not written to establish *ahimsa* but implies that the omission of the emphasis on *ahimsa* was due to the fact that *ahimsa* was "an accepted and primary duty even before the Gita age "[12] In Gandhi's words

> "The message of the Gita is to be found in the second chapter of the Gita where Krishna speaks of the balanced state of mind, of mental equipoise In 19 verses at the close of the 2nd chapter of the Gita, Krishna explains how this state can be achieved It can be achieved, he tells us, after killing all your passions It is not possible to kill your brother after having killed all your passions I should like to see that man dealing death—who has no passions, who is indifferent to pleasure and pain, who is undisturbed by the storms that trouble mortal man "[13]

Though often convincing and eloquent, Gandhi's defence of *ahimsa* in the Gita, nevertheless, met formidable criticism and opposition Thus he qualified his defence of *ahimsa* in the Gita in this manner

> "When the Gita was written, although people believed in *ahimsa*, wars were not only not taboo, but nobody observed the contradiction between them and *ahimsa* Let it be granted, that according to the letter of the Gita it is possible to say that warfare is consistent with renunciation of fruit But after forty year's unremitting endeavour fully to enforce the teaching of the Gita in my own life, I have, in all humility, felt that perfect renunciation is impossible without perfect observance of *ahimsa* in every shape and form "

When Gandhi defends his ethics of non-voilence, the emphatic difference in his mind between the transcendent, omnipotent God, or even the *avatar*, the human Divinity, and the mortal man, becomes clearer Speaking of Krishna, he says "My Krishna is the Lord of the Universe, the creator, preserver and destroyer of us all *He* may destroy, because *He* creates "[14] Of the *avatar*, Gandhi comments "According to the verse [4 8 of the Gita] it is God the All-knowing who descends to the earth to punish the wicked I may be pardoned if I refuse to regard every revolutionary as an all-knowing God or an *avatara* "[15] Commenting on the verse in the Gita which says· "He who is free from all sense of 'I', whose motive is untainted, slays not nor is bound, even though he slays all these worlds," Gandhi emphatically states "If we believe in Krishna to be God, we must impute to Him omniscience and omnipotence Such an one can surely destroy But we are puny mortals ever erring and ever revising our views and opinions We may not without coming to grief, ape Krishna, the inspirer of the Gita "[16] And again he says , "Truth excludes the use of violence, because man is not capable of knowing the Absolute Truth and therefore not competent to punish God alone is competent "[17]

Wherever it is possible, Gandhi draws upon the Gita in support of his ethic While speaking
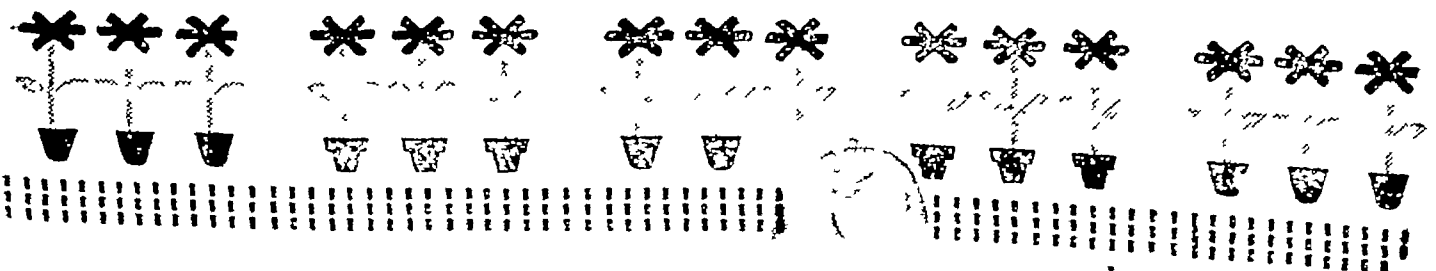
7 Cf the Commentary by Gandhi on this verse in *The Gita According to Gandhi* by Mahadev Desai p. 196
8 M. K. Gandhi *Hindu Dharma*, p 65
9 Mahadev Desai, *The Gita According to Gandhi*, p. 130
10 *Ibid.* p 131
11 Mahadev Desai, *The Gita According to Gandhi*, p 132.
12 *Ibid* p 13?
13 M K Gandhi, *Hindu Dharma* p 179
14 Mahadev Desai *The Gita According to Gandhi* p 196
15 *Ibid.* p 197
16 *Ibid.* p 369
17 *Ibid* p 369
18. *Ibid.* p 198
19 Cf M K Gandhi *Hindu Dharma*, p 360
20 M K. Gandhi *Hindu Dharma* p. 370
21 *Ibid.*, p 362
22 *Ibid.*, p 368.
23 *Ibid.* p 369 At this same site the following conversation is recorded
Q Do you not find a man exhibiting qualities opposed to his family character?
A That is a difficult question We do not know all our antecedents. But you and I do not need to go deeper into this question for understanding the law of varna as I have endeavoured to explain to you If my father is a trader and I exhibit the qualities of a soldier I may without reward serve my country as a soldier but must be content to earn my bread by trading
24 Due to lack of space the conclusion I have reached after examining this question is stated without elaboration However this conclusion has been reached after an honest consideration of varna in the Gita and could be substantiated if time permitted.
25 The historical circumstances explained in the *Mahabharata* leading to the battle clearly meet these qualifications
26. Sri Aurobindo, *Essays on the Gita*, (first series) p 0

clear violation of the laws of justice,[25] and that the duty of a soldier is to be considered divine, even though that duty involves killing

Gandhi s arguments in support of his ethic, based on his understanding of the Gita, are very convincing His life is a testament to the sincerity of this understanding of the Gita The Gita's message is still a moot question, and the ethics of the Gita has been understood differently by different commentators The diversity of interpretation is possible because the philosophy of the Gita is not a system but rather there is "a wide, undulating, encircling movement of ideas which is the manifestation of a vast synthetic mind and a rich synthetic experience [26]

Though Gandhi s understanding of the Gita is simply another interpretation, it can be considered a legitimate one There is no doubt that it is an appealing one

BIBLIOGRAPHY

"Bhagavadgita, *A Source Book in Indian Philosophy*, edited by Radhakrishnan, Sarvepalli, and Moore, Charles A , Princeton University Press, New Jersey, 1957

Bhave, Vinoba, *Talks on the Gita*, Macmillan Company, New York, 1960

Desai, Mahadev, *The Gita According to Gandhi*, Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1946

Fischer Louis, *Gandhi, His Life and Message for the World*, New York American Library (Signet Key Book), 1951

Gandhi, Mohandas Karamchand, *Hindu Dharma*, Navajivan Publishing House, Ahmedabad, 1950

Jones, Marc Edmund, *Gandhi Lives*, David McKay Company, Philadelphia, 1948

Radhakrishnan, Sarvepalli, *The Hindu View of Life*, Macmillan Company, New York, 1962

Sarma, D S , *The Gandhi Sutras The Basic Teachings of Mahatma Gandhi*, Devin-Adair Company, New York, 1949

REFERENCES

1 M K Gandhi, *Hindu Dharma*, p 3
2 *Ibid* , p 171
3 "Young India," 5-3-'25, quoted in M K Gandhi, *Hindu Dharma*, p 61
4 Radhakrishnan says so beautifully "Those who have seen the radiant vision of the Divine protest against the exaggerated importance attached to outward forms They speak a language which unites all worshippers as surely as the dogmas of the doctors divide The true seer is gifted with a universality of outlook, and a certain sensitiveness to the impulses and emotions which dominate the rich and varied human nature He whose consciousness is anchored in God cannot deny any expression of life as utterly erroneous He is convinced of the inexhaustibility of the nature of God and the infinite number of its possible manifestations " *The Hindu View of Life*, p 27
5 M K Gandhi, *Hindu Dharma*, p 63
6 *Ibid* , p 64

embodied in the Bhagavatī Sūtra which takes into consideration the noumenal and phenomenal aspects of beings viz. prānas (eternal force or beings) indriyas (sens -organs) bala (strength) vīrya (energy i e) mind—thought—force speech (vāk) and body (kāya—vocal and bodily activities) āyus (span of life) and ānaprāna (breathing or life expanding)

According to the principles as laid down in this canonical work there are two aspects of the psycho-physical activity viz. natural (visrasā) or pure and applied (prayoga) The latter is the delusion—deviation from its normal position when all activities are not in pure form, i e. it is delusive transformation Thus there are two kinds of transformation of the psychic process, viz. Rāga (attachment or feeling of attachment) and Devṣa (dislike or aversion)

'Siddhimajjhe nihandhi ya rāgadosamalle tavena.

These ar the two fundamental tendencies in Jain Psychology as revealed in the Bhagavatī Sūtra

The soul wants to maintain I whatever is conducive to its preservation (or identity) is liked by it and what is not helpful to it is disliked by it Rāga and Dveṣa are divided into four Kaṣāyas (decoction) i e passions, viz krodha (ang r) māna (pride) māyā (deceitfulness) and lobha (greed) [10]

These four Kaṣāyas have been discussed in the Kasāya Pāhudam (Pejjadosavihatti) from the points of view of different kinds of Nayas (logic) It is explained that Pejja and Dosa are called Kaṣāyas because the characteristics of these two are to destroy the state of soul (Jīvabhāva) i e. cāritradharma Pejjadosa (sa) be vi—jīvabhāvavinasanalakkhanattedo Kaṣāya nāma. [11] Rāga (attachm nt) originates from Pejja and Dveṣa from dosa [12]

According to the Naigama and Samgraha Nayas krodha (ang r) and māna (pride) are dosa and māyā (deceitfulness) and lobha (greed) are pejja

Negamasamgahanam koho doso māno doso māyā pejja, loho pejja [13]

Krodha (anger) and māna (prid) are dosa because they are accompanied by pain, and a man loses his conscience when he is under their control as a result of which evil consequences follow Māyā is pejja because its support is the d ar object of living after the attainment of which pleasure arises in one s mind. Thus lobha (greed) also is pejja because it is the cause of satisfaction and pleasure after the attainment of his dear objects.[14]

From the points of view of Vavahāra Naya krodha (anger) māna (pride) and māyā (deceitful ness) are dosa and lobha (greed) is pejja (dear)

Vavahāranayassa koho doso māno doso māyā doso loha pejjam [15]

Here it is explained that there lie the causes of disbelief and the public censure in the act of deceitfulness don by one The act which becomes censured cannot be dear to one, because pain is always born out of the publ c censure Lobha (greed) s pejja (dear) because life can happily be passed with enjoyable things sa ed b lobha (greed) i e out of greediness.

According to the Rju Sūtra Naya Krodha s dosa mana is no-dosa and no-pejja and lobha is pejja

Ujusudassa koho doso māno n doso no-pejjam māyā no-doso no-pejjam loho pejjam
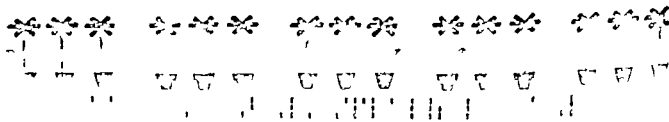
Dr J C. Sikdar
M A , Ph D , Research Officer, L D Institute of Indology, Ahmedabad

SOME ASPECTS OF JAIN PSYCHOLOGY AS REVEALED IN THE BHAGAVATI SUTRA

Psychology is one of the necessary aspects of Philosophy, as it is the scientific study of soul—the central theme of knowledge It is the whole scheme of experience which helps one understand the problem of being and matter It throws light upon the nature of life, the truth of which is pursued by the modern Psychologists The problem is very subtle to be explained, for there is a self-distinct bodily structure which is the basis of Psychology as revealed in the incidental evidences furnished by the Bhagavatī Sūtra

In the evolution of life and the Universe as reflected in this canonical work there are found two traditions, viz atom tradition (Paramānu) and self-tradition (ātmā), i e materialistic and spiritualistic Matter and soul are eternal substances[1] and they exist mutually bound together in the Universe

"Athi nam bhamte jīvā ya poggalā ya annamannabaddhā annamannaputthā annamannaghadattāe citthai" [2]

It is explained that Upayoga (consciousness or application) is the attribute of the soul which is the most fundamental characteristic of it "Gunao uvayogagune "[3] "Uvayoge lakkhane nam jīve" [4] There are stated to be two kinds of Upayoga (consciousness), viz Sākāropayoga (determinate consciousness) and anākāropayoga (indeterminate consciousness) "Sāgārovaoge ya aṇāgāroaoge" [5] Sākāropayoga (determinate consciousness) is Jñāna (knowledge) and anākaropayoga (indeterminate consciousness) is Darsana (self-awareness) "Sāgāre senāne bhavai anāgare se damsane bhavai" [6]

Darsāna is self—awareness, while Jñāna is the comprehension of external objects of the nature of the universal-cum-particulars, as the application of the psychic process comes in the forms Darśana and Jnāna It is revealed in the light of life and nature that the soul exhibits itself the state of being (i e manifests itself) by its own self

"Jīve āyabhāvenam uvadamseti" [7]

The same view on the principle of Upayoga (consciousness) is explained in the Dhavalā Tīkā[8] thus that the consciousness of the soul is called 'Cit' which is revealed in the forms of bahirmukha-cit (external consciousness) and antarmukha-cit (internal consciousness), i e knowledge and self-awareness

It is the principle of psycho-physical activities that all reactions of the soul are conditioned by the body, as it is the dual form, i e psycho-physical structure, according to the theory as
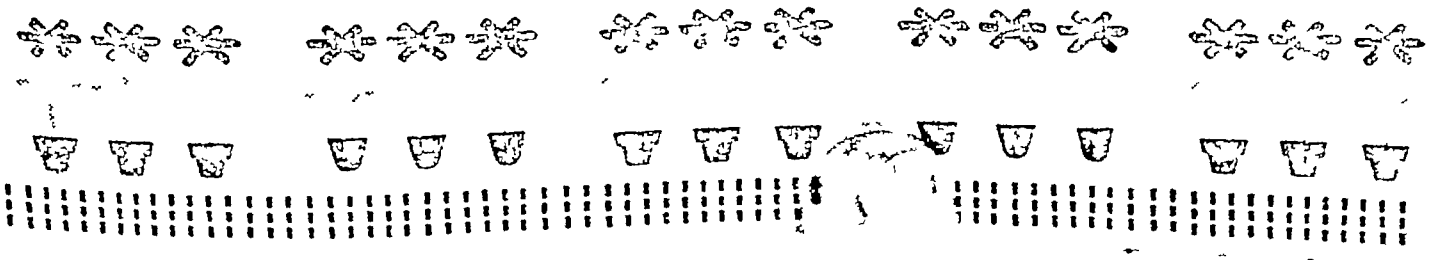
The study of these outlines of psychology reveals that the soul endowed with its inherent attribute—consciousness (upayoga) is the central theme of Jaina Psychology as embodied in the Bhagavatī Sūtra

Physical Basis of Mental Life

Psychology of a being particularly human being originates with the birth of a child in the mother's womb in the process of transformation of its psycho-physical matters Thus it is explained in this canonical work that a being may be born in its mother's womb with five sense-organs (saimdie) and mind (animdie) at the same time because with regard to the configuration and constituting matters of the physical sense-organs (dravyendriyāni) a psychic—sensed being (animdriya—a being having a physical mind) is born, while with regard to the faculty of cognition i e psychical mind (bhāvendriya) a sensed—being (saindriya) i.e a being possessed of physical sense organs, is born A dualism between mind and body is revealed here

> Siva saimdie vakkamai, siya animdie vakkamai davvaimdiyāim paducca animdie vakkamai bhāvimdiyāim paducca saimdie vakkamai '[21]

While being born in the womb, (gabbham vakkamamāne) a jīva (soul) is corporeal from the point of view of fiery (taijasa) and karmic bodies it is incorporeal from that of the gross physical— transformation— and translocation—bodies, while from that of fiery (luminous) and karmic bodies, a bodied being is born

> Orāliya veuvviya āhārayāim paducca asarīri vā
> Tevakamma o pa o sasao vakka o [23]

It is further explained that when the mother sleeps wakes up and becomes happy or unhappy the child born in her womb also does and feels the same things.

> Jī e gabbhagae samāne māue suyamānie suvai jāgaramāṇie jāgarai suhiyāe suhie bhavai duhiyāe duhie bhavai '[24]

According to the Bhagavatī Sūtra there are stated to be five kinds of bodies viz. gross physical body (audārika śarīra) transformation body (vaikriyika śarīra) transformation body (āhāraka śarīra) fiery body (taijasa śarīra) and karmic body (karmana śarīra) five sense—organs, viz. ear nose, eye, tongue and skin, and three kinds of activity viz. mental, vocal and bodily activities [27]

This canonical work[28] throws some light upon the outer and inner structures of the five sense organs and sensation created by the outside stimulus received through them

Thus it is explained that the shape of the ear is like that of a kalamba puspa (kadambo-flower) those of the eye nose tongue and skin are like those masura camda (lentil) atimuttaga camda (a kind of shrub) khurupa (khurpa—the weeding and mulching agricultural implement) and nāna (the skin of nana—a kind of bulbous plant) respectively

All these five sense—organs are individually an innumerableth part of on angula by thickness (bahall) while the ear is an innumerableth part by width (pohatta) thus upto that of the eye and nose the tongue is one angula (finger) by width (pohatta) and the skin is equal to the extent of the body These five sense-organs are endowed with infinite points (anantapradeśikas) and innumerable extensions (asamkhyeya pradeśāvagāḍha) The least of all these is the eye

It is further explained that māna (pride) and māyā (deceitfulness) are no-doso, because these two kasāyas are not the causes of bodily pain etc, but they originate directly from krodha (anger) born out of māna (pride) and from lobha (greed) arising from māyā (deceitfulness) respectively Similarly māna (pride) and māyā (deceitfulness) are also no-pejja because pleasure is not found to be caused by them

From the point of view of Sabda Naya Krodha (anger), māna (pride), māyā (deceitfulness) and lobha (greed) are dosa, the first three are no-pejja, but lobha (greed) is somewhat pejja

"Saddassa koho doso, māno doso māyā doso, loho doso, Koho māno māyā no-pejja, loho siya pejjam"[17]

The four kasāyas—krodha (anger), māna (pride) māyā (deceitfulness) and lobha (greed) are dosa, because they are the causes of the influx of eight karmas, viz jñānāvaranīya (knowledge—obscuring karma) upto antarāya karma (energy hindering karma) and those of dosa in this world and the next

"Koho-māna-māyā-loha cattāri vi doso,

atthakammasavattado ihaparaloya-visesadosa karanattado"[18]

One destroys love by krodha (anger), kills modesty by māna (pride), loses faith by Śāthya (deceitfulness) and lobha destroys all his qualities

"Krodhāt prītivināśam mānādvinayopa-ghātamāpnoti
Śāthyāt pratyayahānim sarvaguna—vināsako lobhah" [19]

The first three kasāyas—krodha (anger), māna (pride), and māyā (deceitfulness) are no—pejja, because one does not get satisfaction and great pleasure from them [20]

Lobha (greed) is somewhat pejja, because the attainment of heaven and liberation is found as a result of lobha (temptation or greed) regarding the achievement of the three jems, viz Samyagdarsana (right attitude of mind), Samyag—Jñāna (right knowledge) and samyag—cāritra (right conduct)

"Loho siya pejja, tirayanasahanavisaya lohado saggapavagganamuppattidamsanado"[21]

The psychological development is quantitative, if one goes inward, there is the natural psychology, if he goes outward, he reaches the natural manifestation, i e instinct This instinct needs stimulus from the outside world (i e psycho-physical), as it is revealed in the psycho-physical phenomena according to the conditions of the soul (leśyās)

Soul is studied and classified from eight points of view, viz substance (dravya), passion (kasāya), activity (yoga), consciousness (upayoga), knowledge (jñāna), self-awareness (darsana), conduct (cāritra) and enesgy (vīrya) Accordingly there are stated to be eight kinds of soul, viz dravyātmā (soul existing in matter), kasāyātmā (soul having passion), yogātmā (soul endowed with activity), upayogātmā (soul endowed with consciousness), jñānātmā (soul endowed with knowledge), darśanātmā (soul endowed with self-awareness), cāritrātmā (soul in conduct) and vīryātmā (soul endowed with energy),[22] as they are the different forms of manifestation of the soul There exists psychologically a mutual relation, among these eight kinds of soul, for they are inter-related as the different aspects of one substance, namely, the soul For example, he who has dravyātmā has in some respect kasāyātmā and he does not have it in other respect But he who is endowed with kaṣāyātmā, has invariably dravyātmā [23]

Memory and Imagination

Memory and imagination involve the process of Ihā (speculation or mental desire to know) apoha (exclusion) maggana and gaveṣanā (searching and fathoming) by thought transformation of thought conditions of soul and annihilation-cum subsidence of knowledge—obscuring karma [33]

In the process of memory the images of the past sensible exp riences accompanied by a belief are revived and recognized by an individual i e having familiarity of characteristics of images, as it is evidenced in the cas of D-vānandā [34] the Brāhmanī that she recognized in Lord Mahāvīra her former son

Thought (Cintā or mental activity)

The proc ss of mental activity (manayoga) is thought which is inter-connected with memory and imagination of the past events objects etc. and the imagination of the present and future acivities of life as the mind acts and reacts to new objects of thought at every moment Mind is matter (manadravya) and it is associated with the spiritual beings [35] Its activities are the passing phases of matter Mind when operating is mind (mane manijjamān maṇe) and it breaks forth, while operating (monijjamne man bhijjati) [36] Mind is studied and classified into four kinds according to the relativ objects of activity viz. satya (true) mithyā (false) satayamṛṣā (true cum false) asatya mṛṣā (untrue cum false) i e mind is related to true object false object true-cum false object and untru cum false object. Thus mind is the organ of apprehension of all s ns-objects and knowledge (sarvārtha grahanam manah) [37] while thought which implies comprehension is abstract representative mental activity involving analysis in the form of obstraction and synthesis in that of comparison and expressing itself through speech or language.

Dream

The Bhagavatī Sūtra throws a welcome light upon the principles of dream by explaining five kinds of dream visions viz. yathātathya, pratāna, cintāsvapna, tadviparīta and avyaktadarśana.

> "Ahātacce payāne cimtāsuvine tavvivarīe avvatta-damsane [38]

The *first one* *is the dream vision in accordance with truth or reality* the second one is rami fied dream vision (i e diffused) the third one is the dream vision according to the thought in the waking state the fourth one is the dream vision opposite to realities i.e actualities and the fifth one is the indistinct inexpressible dream vision.

It is further explained that sleeping-cum waking man experiences a dream vision but a sleeping or waking man does not behold it The self-controlled, not self controlled and the self-controlled-cum not-self-controlled men also experience dream vision in that state of sleeping-cum waking There are seventy two kinds of dream of which thirty are great dream, while fourty two are ordinary ones [39]

These broad principles of dream as embodied in the Bhagavatī Sūtra touch upon all the com bined theories on dream propounded by D Freud Jung, Adler and other scholars According to Dr Freud[40] d eam is th fulfilment of th repress d desire which does not peaceably leave the organism but inks to a level of unconscious state in which it is still active and apt to appear in th disguised and symbolic ways Abnormal worry queer dea hunting a nervous

The description of the shapes and structures of these five sense-organs as given here agrees with that of their actual anatomical shapes and structures, studied and exhibited by the modern medical science, e g the ear is constituted of three parts, external ear (or auricle), the middle ear or tympanum and the internal ear or labyrinth The middle ear with its drum covered with fine vibrating hairs, resembles the kadamba flower

Sensation and Modes of Sense organs

Sensation in the human brain is caused by the stimulus of the five sense-objects (indriya visaya),[29] received from outside, when the sense-organs come into contact with them This process involves the factors of discrimination, assimilation, association and localization of the sense-objects and leads to preceptual knowledge Thus it is explained that the ear hears the touched and entered sounds into it, the eye sees the touched and entered objects (i e the images of objects reflected on the retina of the eye), the nose smells the touched and entered smells, the tongue tastes the touched and entered objects, and the skin experiences the touches of the touched and entered objects

"Puṭṭhāim saddāim suneti pavitthāim saddāim suneti tahā pavitthānīvi "[30]

The power of the ear to hear a sound is in the minimum an innumerableth part of an angula (finger) and in the maximum it can hear sound from a distance of twelve yojanas, that of the eye is in the minimum an immunerableth part of an angula and in the mximum it can see an object lying at a distance of seven thousand yojanas, that of the nose is in the minimum an innumerableth part of an angula and in the maximum it can smell matter from a distance of nine yojanas Thus the accounts of the minimum and maximum powers of the tongue and the skin should be known

The principles of the theory of sensation as embodied herein agree with those of the modern psychology to a great extent For example, it is explained therein that the sensation of sound is created in the brain, when sound waves, being converged by the outer ear, strike upon, the outer membrance of the ear-drum and make it vibrate and the vibrations are transmitted to the auditory nerve through the chain of bones, the inner membrance and the—contents of the labyrinth Next, the disturbance of vibration is carried by the auditory nerve to the brain, causing finally the sensation of sounds

Sense-Perception

It is explained in the Bhagavatī Sūtra that when senses are applied to the sense—objects, the following psychological facts are involved in this process of perceptual knowledge (abhinibodhika jñāna)[31] or sense-perception, viz avagraha (perceptual judgement of generality of object), i e there is something (objectivity), īhā (desire to know or speculation), avāya (determination) and dhāranā (retention or memory) [32]

According to the modern psychology sensations caused by the stimulus of the five sense-objects lead to perceptual knowledge or sense-perception which is the result of the process of interpreting a sensation by differentiating it form the unlike sensation and absorbing it into the like by recalling to mind other connecting sensations and finally objectifying and localizing the whole aggregate of real and revived sensations backed by a belief in the real existence of the object

person, 'hysterical' paralysis, or blindness, etc, sometimes are the effects of this disguise In the case of a normal man a dream is the main venue of repressed desires which do not present themselves even in dreams in their true shape and colour but come up in the garb of an innocent appearing symbolism So all dreams whether adult or child are the fulfilments of repressed desires [41]

Adler[42] holds the view that a dream is not the revival and reappearance of the suppressed will of the distant past but a rehearsal for some impending action of an individual man to perform, and it reveals his characteristic mode of dealing with his new problems Jung[42] thinks that a dream is associated with the present difficulties of an individual and shows his unconscious attitude of mind towards the proplem of his life

According to the theory of dream as explained in the Bhagavatī Sūtra, the yathātathya and Cintā-svapnas (dreams) agree with those of the theories propounded by Adler and Jung, as they are the results of the process of the thoughts to deal with the future and present problems of life The pratāna, tadviparīta and avyaktadasana svapna (dreams) touch upon the theory of Dr Freud, as they are associated with some desires repressed by thought and they appear in some garbs of symbolism

From this analysis it may be defined that "dream whether awake or asleep is a free, passive, incoherent and constructive imagination often due to recent experience But it is an imagination confound with perception' [44]

Belief or Attitude of Mind (Drṣṭi)[45]

Attitude of mind or belief is the central theme of the process of thought for the whole intellectual operation is based on it and reasoning Epistemology and metaphysies and the doctrine of religion rotate round the attitude of mind on the view of which stands the whole philosophical approach to the problem of life and nature

Attitude (drsti) is characherized by truth (samyktva) or falsehood (mithyātva in regard to the objects of thought Thus it is endowed with the union of the intellectual, emotional and conational elements and is interrelated with knowledge (Diṭṭhidamsana-nānamana-sannā)

Vedanā (feeling in genaral)[46]

Vedanā (feeling) is relatively subjective and passive state of consiousness manifesting itself into the form of pleasure, or pain, or pleasure-cum-pain (Sāta or asāta or sātāsāta vendanā),[47] happiness, or suffering, or happiness-cum-suffering (sukha, or duhkha, or sukha-duhkha) Happiness, unhappiness and happiness-cum-unhappiness are eternal [48]

Sense-feeling

As a result of sensation accompanied by simple fealing of pleasure or pain there takes the sense-feeling which is congnitive and affective In can be divided into two kinds, viz organic feeling and special sense-feeling

This canonical work mentions ten kinds of feeling (vedanā), viz cold, warm, hunger, thirst, itching (kandu), servility (parajjham) fever (jvara), burning sensation (dāha), fear (bhaya) and sorrow (sogam) [49] The feeling of hunger, thirst, burning sensation (dāha), fever, itching, fear
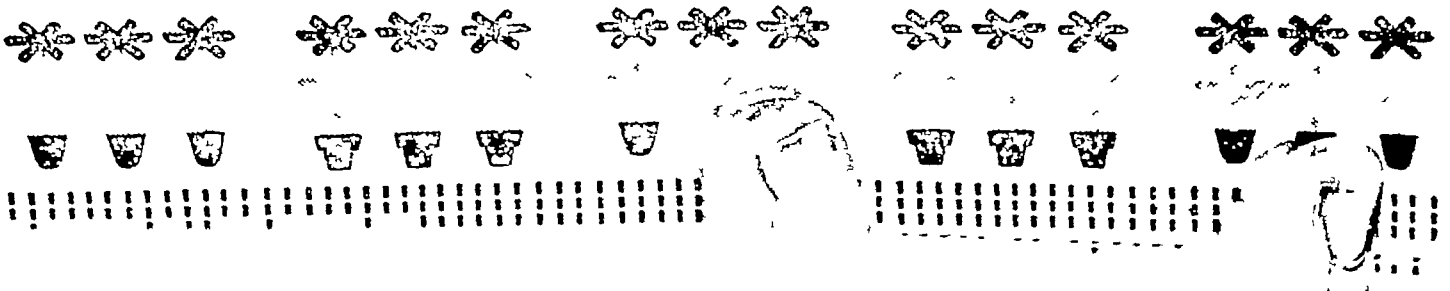
Memory and Imagination

Memory and imagination involve the process of Īhā (speculation or mental desire to know) apoha (exclusion) maggaṇa and gaveṣaṇā (searching and fathoming) by thought, transformation of thought conditions of soul and annihilation-cum subsidence of knowledge—obscuring karma [30]

In the process of memory the images of the past sensible experiences accompanied by a belief are revived and recognized by an individual i e having familiarity of characteristics of images, as it is evidenced in the cas of Devānandā [31] the Brāhmaṇī that she recognized in Lord Mahāvīra her former son

Thought (Cintā or mental activity)

The process of mental activity (manayoga) is thought which is inter connected with memory and imagination of the past events, objects etc. and the imagination of the present and future activities of life as the mind acts and reacts to new objects of thought at every moment Mind is matter (manadravya) and it is associated with the spiritual beings [33] Its activities are the passing phases of matter Mind when operating is mind (mane manijjamāne mane) and it breaks forth, while operating (monijjamne mane bhijjati) [34] Mind is studied and classified into four kinds according to the relative objects of activity viz satya (true) mithyā (false) satayamṛṣā (true-cum false) asatya mṛṣā (untrue cum false) i.e mind is related to true object false object, true-cum false object and untrue-cum false object Thus mind is the organ of apprehension of all sense-objects and knowledge (sarvārtha grahaṇam manaḥ) while thought which implies comprehension is abstract representative mental activity involving analysis in the form of obstraction and synthesis in that of comparison and expressing itself through speech or language

Dream

The Bhagavatī Sūtra throws a w lcome light upon the principles of dream by explaining five kinds of dream visions, viz. yathātathya pratāna, cintāsvapna, tadviparīta and avyaktadarśana.

Ahātacce payāne cimtāsuvine tavvivarīe avvatta-damsane [35]

The first one is the dream vision in accordance with truth or reality the second one is ramified dream vision (i e diffused) the third one is the dream vision according to the thought in the waking state the fourth one is the dream vision opposite to realities, i e actualities and the fifth one is th indistinct inexpressible dream vision

It is further explained that sleeping-cum waking man experiences a dream vision but a sleeping or waking man does not behold it The self controlled not self-controlled and the self controlled-cum not self-controlled men also experience dream vision in that state of sleeping-cum waking The e ar seventy two kinds of dream of which thirty are great dream while fourty two ar o dinary ones

Thes broad pr nc pl s of dr am a embodied in the Bhagavatī Sūtra touch upon all the combined theo ies on d am pr p und d by Dr Freud Jung Adler and other scholars. According to Dr Fr ud [40] d am i the f lfilment of the repress d desire which does not peaceably leav th rganis m but nk t l l ot unconscious state in which it is still acti e and apt to app r n th d guised and ymbolic way Abnormal worry queer idea hunting a nervous

it attracts something to have The self wants to express its nature and magnitude, but it is obstructed, so it takes the course of deceitfulness

Lobha

Lobha tries to appropriate everything

The divisions of these four kinds of passions into different stages according to their degrees of intensity throw light upon their respective characteristics with the psycho-physical phenomena Thus it is explained that there are stated to be different types of krodha (anger), manifesting themeselves into the following forms, viz anger, krodh), morbidness or irritation or wrath (kopa), fury (rosa), hatred (dvesa), unforgivcness (akṣamā), flaming up with the fire of anger (samjvalana), quarrel (kalaha), violence bearing the appearance of Rudra of wroth (candikā), fighting with sticks (bhāndana), dispute (or contest) vivāda or revilling each other with abusive words Māna is of twelvc kinds, viz pride (māna) hilarity (mada), haughtiness (or, conceit) (darpa) arrogance (thambhe ananmratā), pretension (garva), superiority complex (atyutkarsa), reviling others (paraparivāda), boasting (utkarsa), self-conceit or infamy (apakarsa), self-ego (unnāma) due to abhimana and unbending property or attitude of mind (dunnāma) due to abhimana Māyā (deceitfnlness) manifests itself into the following forms, viz deceitfulness (māyā), fraud (upadhi), dishonesty (nikrtih), cunningness or artfulness (valayam), imperviousness (hard to be understood) (gahana), basest work for deceiving others (nūma) hypocrisy (kalkam), ugly form of deceitfulness (kurupa), crookedness (jimha), guilt (kilviṣa) act of showing regard for deceiving others (ādaranatā), secrecy (gūdhanatā), cheating or deception (vañcanatā), refutation of the said word with simplicity (pratikuñcanatā), and mixing up of inferior thing (sātiyoga)

There stated to be the following kinds of lobha (greed), manifesting themselves into the forms of greed (lobha), desire (icchā), infatution (mūrchā), longing (kāmksā), attachment to the acquired wealth (grddhi), thirst for wealth (trṣnā), firm contemplation on wealth (bhijjhā-bhidhyā), unsteady (or unfirm) contemplation on wealth (abhijjhā-abhidhyā), hope (āsāsanayā), begging for wealth to other (prārthanatā), solicitieg again and again (talappanatā), hope for obtaining sweet sound and object of beautv (śabda rūpa prāptisambhāvanā, i e psychical gratification of desire), hope for obtaining smell, taste and touch (bhogāsā) (gandhādiprāpti sambhāvanā, i e physical gratification of desire), hope for living (or life) (jīvitāśā), hope for attaining death (maranāśā), and attachment to own property or joy in it after its attainment (nandirāga)

Leasyā (condition of soul)[58]

As already pointed out in the beginning the psychological phenomena mainfest themselves in to six conditions of soul in different degrees, viz krsna (black), nīla (blue), kāpota (grey), teja (red), padma (lotus) and sukla (white) They are the names to represent the conditions of the soul as if six persons want to enjoy the fruits of a tree (i e nature of feeling) The black are those who are cruel-hearted and kill living beings by voilating the vow of non-injury (ahimsā), the first of the five great vows of religion The blue are those who are engrossed in their passion or sex-intinct or greed and transgreess the fourth and fifth vows, i e continence and non-possession The grey are those who are deceitful and stealing other' things, violating the third vow of non-stealing (adinnadāna) The red (teja) are those who try to control themselves to observe the religion, i e the lay worshippers The lotus (or yellow) ones are firm in controlling them,
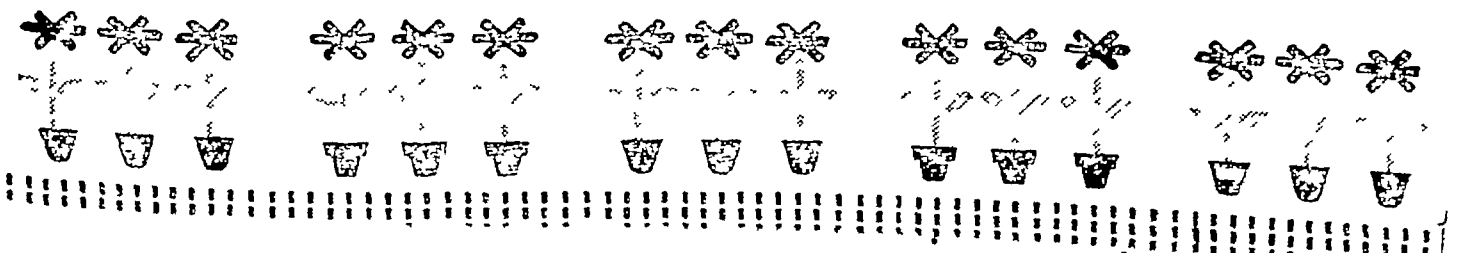
and sorrow come under the category of the organic feeling as they are connected with the discordant working of internal organs, while the feeling of cold and warmth belong to the special sense feeling for they are related to touch

Besides these thered are state to be other sense-feelings of hearing smell taste and touch,[50] because even the jIva (Soul or being) born in the mother s womb transforms five colours, five tastes two smells and eight touches [51]

Desire and Gratification of Desire (Kāmabhoga)[52]

The Bhagavatī Sūtra throws a welcome light upon the psycho-physical aspects of desire (Kāmā) and gratification of desire (bhoga) Kāmās, (desires) and bhogas (gratification of desire) are explained on the principal of the psycho-physical phenomena thus that they are corporeal (rūpī) and endowed with both consciousness, and unconciousness because they are of the beings (sacittāvi kāma acittāvi kāmā, acittāvi bhoga) [53]

They are stated to be two kinds of kāmā (desire) viz sound (śabda) and object of beauty (rūpa) while bhoga (gratification of desire) is of three kinds viz. smell taste and touch (gandha rasa and sparśa) as they involve the mental and physical enjoyments respectively

Emotion

An emotion is a complex feeling of mental agitation usually tinged with pleasure or pain, that is aroused by ideas or perceptions and attended with its characteristic bodily expression, and also reinforced by the organic sensations arising from it It is the experience of behaving in a certain way [54]

As already explained in the beginning there are two transformations of the psychic process, viz Rāga (feeling of attachment and Dosa (Dvesa dislike or aversion) Rāga and Dvese are divided into four Kaṣāyas,[55] i e. passions viz. krodha (anger) māna (pride) māyā (deceitfulness) and lobha (greed) This analysis shows the emergence of emotions in the form of passions and quasi passions appearing in different degrees due to the rise of karma.

Passion is correlated to colour which is associated with feeling because there is the material colour of the karmic matter of the body e.g the karma pudgalas (karmic matters) of these four kinds of passions are endowed with five colours, five tastes two smells and four touches.

Aha bhamte khoe Goyamā. Pamcavanne pamcarase dugamdhe cauphāse
pannatte māne māyā lobhe jaheva kohe [56]
"Pejje does jaheva kohe taheva cauphāse. [57]

Four Passions

Krodha (Anger)

Krodha is the self-expression aggravating the mind the first repulsive reation of it is resistance and resentment to any attempt from outside to flout it.

Māna

Māna is the consciousness of self respect to measure the self to maintain dignity and to show itself distinct from others i.e self maintenance.

Māyā

Māyā is the exp ession of the inner self self-display self-expression and self-exhibition and

instinct, (11) Acquisitive Instinct, (12) Constructive Instinct, (13) Instinct of Appeal and (14) Instinct of laughter

The first four instincts of the Bhagavatī Sūtra, viz āhāra (food), bhaya (fear), maithuna (sexual inter-course) and parigraha (possession), and lobha (greed) are the same as the food-seeking instinct the escaping instinct, the mating instinct and the acquistitive instinct respectively, while krodha samjñī (anger) and māna-samjñā (pride)and maya-samjña (deceitfulness) correspond to the instinct of combat and the instinct of repulsion, the instinct of self-assertion, the instinct of submission and the protective instinct respectively

The remaining instincts defined by Mc Dougall come under the category of Loka-samjñā and Ogha-samjñā

The scheme of instinct as laid down in the Bhagavatī Sūtra appears to be more sound than that of Mc Dougall, because some instincts, such as, instinct of repulsion, parental instinct, instinct of submission and instinct of appeal are not found among all beings (or animals)

Conation

The process of thought and feeling leads to will or action owing to the presence of Karma-matter in the corporate body They manifest themselves into the form of mental, vocal and physical activities of various kinds Thus the activity of soul is three-fold consisting of thoughts, words and deeds produced by the process of the mind the organ of speech and body respectively So there are stated to be three kinds of activities (yogas) of soul, viz mana-yoga (mental activity), vāk-yoga (vocal activity), physical activity[69] (kāyayoga), for all reactions of the soul are conditioned by the psycho-physical structure

Three kinds of activities have been divided into fifteen groups[70] according to the nature of realities, viz satya-manayoga (mental activity relating to true thing), (2) mrsāman-yoga (mental activity relating to false or, (untrue or unreal thing), (3) satya-mrśāmana-yoga (mental activity-relating to partly real (true) and partly untrue (unreal) thing, (4) asatya-mrsā-māna-yoga (mental activity relating to untrue (unreal-cum-false thing i e neiher true nor untrue thing) which is outside the sphere of true and untrue, (5) satya-vāk-yoga (vocal activity relating to true i e real object), (6) mrsā-vāk-yoga (vocal activity relating to worng or false or unreal or untrue object), (7) satya-mrsā-vāk-yoga (vocal activity relating to true (real) and false (wrong object), (8) asatya-mṛsā-vāk-yoga (vocal activity relating to untrue and false (wrong) object, (9) audārila-sarīra-kāya-yoga (activity of gross-physical body, (10) audārika-miśra śarīra-kāya-yoga (activity of the physical body mixed with the activity of the kārmana-body, (11) vaikriya-śarira-kāya-yoga (activity of the transformation-body), (12) vaikriya-misra-kāya-yoga (activity of transformation-body mixed with that of the kāmana-body or that of the audārika-body) (13) āhāraka-śarira-kāya-yoga (activity of the translocation-body, (14) āhāraka-miśra-śarira-kāya-yoga (activity of the translocations body mixed with that of the physical body), and (15) kārmana-śarira-kāya-yoga (activity of kārmana-body)

The study of these principles of the psycho-physical activities brings to light the noumenal and phenomenal aspects of beings, which form the basis of Jaina Phychology as revealed in the Bhagavatī Sūtra

i.e. the professional mendicants while the white (śukla) are those who have attained absolute self-control Jinakalpa like Lord Mahavira himself[59]

The division of mankind into six classes on the basis of possession of these six leśyās (conditions of soul) is found in both the Bhagavatī Sūtra and the Uttarādhyayana Sūtra[60] The system of spiritual colour of Jainism as revealed in the Bhagavatī Sūtra is the division of the psychic development of man and his virtue [1]

The six kinds of leśyās have been studied from different aspects, such as colour smell taste touch transformation, etc. e g Kṛṣṇa leśyā is stated to be of cloud colour of bitter taste like that Nimba,[62] etc.

Instinct (Saṁjñā)

Instinct is the natural manifestation of a being which is caused by the stimulus received from the outside world of sensation according to conditions of soul It involves an inter linked chain of actions directed to some definite and remote end conducive to self preservation, etc.

According to the Bhagavatī Sūtra[63] there are stated to be ten kinds of instinct (saṁjñā) viz. āhārasaṁjñā) (instinct of eating) bhayasaṁjñā (fear instincl) maithuna (sex instinct) parigraha saṁjña (possessing instinct or appropriating instinct) krodha saṁjñā (instinct of anger) mānasaṁjñā (pride instinct) māya-saṁjñā (instinct of deceitfulness) lodha-saṁjñā (instinct of greed) (self loka saṁjñā (consciousness of knowledge of particular objects) and ogha saṁjñā awareness of general objects) i e. the lobha saṁjñā arises from the social behaviourism and the ogha saṁjñā emerges from the stream (ogha pravāha) of innate disposition (past saṁskāra)

Loka saṁjñā tu jñānopayoga-ogha saṁjñā darśanopayoga [64]

Here Darśana) (self awareness) is the precondition to knowledge as it is the awareness of the mind ready with all attention to a positive object revealing the general condition of the self

It appears from the study of these ten instincts that there were formerly four kinds of instinct[65] and six more were added to the list of the original four with the subsequent development of Psychology These ten instincts are closely related to emotions, as it is evidenced in the case of fear anger pride deceitfulness, and greed.

This classification of instinct into ten categories agrees with that of the modern psychology as advocated by the scholar like Mc. Dougall[67] who has defined "an instinct as an innate disposition which determines the organism to perceive (or to pay attention to) any object of certain class and to experince in its presence a certain emotional excitement and an impulse to action which find expression in a specifi mode of behaviour in relation to that object [68] Thus he has made the analysis of instinct into three division—receptive, emotional and executive, i e. thinking, feeling and willing respectively

According to his theory there are fourteen kinds of instinct including laughter which belongs to human beings. viz. (1) Parental or protective Instinct (as that of a mother ape) (2) Instinict of combat (the mother will fight in defence of her young) (3) Instinct of curiosity (4) Food seeking Instinct, (5) Instinct of Repulsion or (disgust) (6) Instinct of escape from danger) (7) Gregarian Instinct, (8) Instinct of self assertion, (9) Instinct of submission, (10) Mating

instinct, (11) Acquisitive Instinct, (12) Constructive Instinct, (13) Instinct of Appeal and (14) Instinct of laughter

The first four instincts of the Bhagavatī Sūtra, viz āhāra (food), bhaya (fear), maithuna (sexual inter-course) and parigraha (possession), and lobha (greed) are the same as the food-seeking instinct, the escaping instinct, the mating instinct and the acquistitive instinct respectively, while krodha samjñā (anger) and māna-samjñā (pride)and maya-samjña (deceitfulness) correspond to the instinct of combat and the instinct of repulsion, the instinct of self-assertion, the instinct of submission and the protective instinct respectively

The remaining instincts defined by Mc Dougall come under the category of Loka-samjñā and Ogha-samjñā

The scheme of instinct as laid down in the Bhagavatī Sūtra appears to be more sound than that of Mc Dougall, because some instincts, such as, instinct of repulsion, parental instinct, instinct of submission and instinct of appeal are not found among all beings (or animals)

Conation

The process of thought and feeling leads to will or action owing to the presence of Karma-matter in the corporate body They manifest themselves into the form of mental, vocal and physical activities of various kinds Thus the activity of soul is three-fold consisting of thoughts, words and deeds produced by the process of the mind the organ of speech and body respectively So there are stated to be three kinds of activities (yogas) of soul, viz mana-yoga (mental activity), vāk-yoga (vocal activity), physical activity[69] (kāyayoga), for all reactions of the soul are conditioned by the psycho-physical structure

Three kinds of activities have been divided into fifteen groups[70] according to the nature of realities, viz satya-manayoga (mental activity relating to true thing), (2) mṛsāman-yoga (mental activity relating to false or, (untrue or unreal thing), (3) satya-mṛśāmana-yoga (mental activity-relating to partly real (true) and partly untrue (unreal) thing, (4) asatya-mrśā-māna-yoga (mental activity relating to untrue (unreal-cum-false thing i e neiher true nor untrue thing) which is outside the sphere of true and untrue, (5) satya-vāk-yoga (vocal activity relating to true i e real object), (6) mrśā-vāk-yoga (vocal activity relating to worng or false or unreal or untrue object), (7) satya-mrśā-vāk-yoga (vocal activity relating to true (real) and false (wrong object), (8) asatya-mṛśā-vāk-yoga (vocal activity relating to untrue and false (wrong) object, (9) audārila-śarīra-kāya-yoga (activity of gross-physical body, (10) audārika-misra śarīra-kāya-yoga (activity of the physical body mixed with the activity of the kārmana-body, (11) vaikriya-śarira-kāya-yoga (activity of the transformation-body), (12) vaikriya-miśra-kāya-yoga (activity of transformation-body mixed with that of the kāmaṇa-body or that of the audārika-body) (13) āhāraka-śarira-kāya-yoga (activity of the translocation-body, (14) āhāraka-miśra-śarira-kāya-yoga (activity of the translocations body mixed with that of the physical body), and (15) kārmana-śarira-kāya-yoga (activity of kārmaṇa-body)

The study of these principles of the psycho-physical activities brings to light the noumenal and phenomenal aspects of beings, which form the basis of Jaina Phychology as revealed in the Bhagavatī Sūtra

REFERENCES

1 Bhagavatl Sūtra 2 10 118 14-4-510 18 10-647
2. Ibid 1 6-55
3 Ibid 2-10 118
4 Ibid. -10-120
5 Ibid 16-7 583
6 Ibid 18-8-64
7 Bhagavatl Sūtra 2 10 120
8 Dhavalā Tīkā p 145 Ist Khanda
9 Bhagavatl Sūtra 9-33-985
10 Ibid., 18-4-625 see Kaṣāya Pāhuḍam, Bhāga—1 (Pejjadoso vihatti) Guṇadharācārya, edited by Pandit Phulchandra Siddhanta Shastri, p -57 (No. 20-) p. 258 (No. 208) pp. 364-5 366-‾-8-9 for the detailed treatment of Rāga pejja and Doṣa (dveṣa)
11 Kaṣāya Pāhuḍam (Pejjadoso vihatti) No -07 p 257
12 Ib d. No 08 p 258
13 Ibid p 65
14 Kaṣāya Pāhuḍam (Pejjadoso vihatti) p 366
15 Ibid., p 36
16 Ib d p 368
17 Kaṣāya Pāhuḍam, (Pejjadoso vihatti) p 369
18 Ibid No 341
19 Ibid 146
20 Ibid 342
21 Kaṣāya Pāhuḍam (Pejjadosa vihatti) No 34? p. 369
22 Bhagavatl Sūtra 12-10-467
23 Bhagavatl Sūtra 12 10-46
24 Ibid. 1 7 61
25 Bhagavatl Sūtra 1 7 61
26 Ibid 1 7 6
2 Ib d., 16-1-566
28. Ibid 2-4-99 see Prajñāpanā Sūtra 191 Pañcadaśa Indriyapada Prathama Uddeśaka.
29 Bhagavatl Sūtra, 3-9-1 0 Jīvābhigama Sūtra Joyiṣya Uddeśaka.
30 Bhagavatl Sūtra, 2-4-99 Prajñāpanā Sūtra (Pañcadaśa Indriyapada) 194
31 Bhagavatl Sūtra 2-4-99 Prajñāpanā Sūtra 195
32 Bhagavatl Sūtra 8 2-318
33 Ibid 11 11-432
34. Ibid. 9-3?-382
35 Bhagavatl Sūtra 13-7-494.
36 Ibid 13 7-494.
37 Pramāṇamīmāṃsā, 1 4
38 Bhagavatl Sūtra, 16-6-5 8-81
39 Bhagavatl Sūtra, 16-6-578-91
40 The Interpretat on of Dreams Dr Freud.

41 Ibid , see pp 344, 388, Psy by Robert S Woodworth, p 567
42 Vide Psychology by Robert S Woodworth, p 568
43 Ibid ,
44 Psychology, Suresh Chandra Datta, p 165
45 Bhagavatī Sūtra, 1-9-73
46 Bhagavatī Sūtra, 5-5-202, 6-10-255, 14-4-511
47 Ibid , 7-6-286
48 Ibid , 14-4-511
49 Ibid , 7-8-296
50 Bhagavatī Sūtra, 12-5-450
51 Ibid , 12-5-452
52 Bhagavatī Sūtra, 7-7-290
53 Psychology, S C Dutta, p 239
54 Psychology, Robert S Woodworth, p 429
55 Bhagavatī Sūtra, 18-4-625
56 Bhagavatı Sūtra, 12-5-449
57 Ibid
58 Bhagavatī Sūtra, 1-2-22, 12-5-450
59 See Jaina Sūtra, II—II (199-200)
60 Uttarādhyayana Sūtra, XXXIV
61 E R E I , 262, (Encyclopaedia of Religion and Ethics)
62 Bhagavatī Sutra, 1-7-22, 12-5-450, see Prajñāpanā Lesyāpada
63 Bhagavatī Sutra, 7-8-296
64 Ibid , 7-8-296
65 Bhagavatı Sutra, (Comm), 7-8-296
66 Ibid , 12-5-450
67 Outline of Psychology, Mc Dougall, p 110
68 Ibid , p 110
69 Bhagavatī Sutra, 17-1-593
70 Ibid , 25-1-719

REFERENCES

1 Bhagavatī Sūtra 2-10 118 14-4-510 18-10 647
2 Ibid 1-6-55
3 Ibid. 2-10 118
4 Ibid 2-10-120
5 Ibid 16-7 583
6 Ibid. 18-8-642
7 Bhagavatī Sūtra, 2-10 120
8 Dhavalā Tīkā, p 145 Ist Khanda
9 Bhagavatī Sūtra 9-33 985
10 Ibid 18-4-625 see Kasāya Pāhudam Bhāga—1 (Pejjadoso vihatti) Guṇadharācārya, edited by Pandit Phulchandra Siddhanta Shastri, p 257 (No 20) p 258 (No 208) pp 364- 366-7 8-9 for the detailed treatment of Rāga pejja and Dosa (dvesa)
11 Kasāya Pāhudam (Pejjadoso vihatti) No 207 p 257
1? Ib d. No .08 p 258
13 Ibid., p 365
14 Kasāya Pāhudam (Pejjadoso vihatti) p 366
15 Ibid p 367
16 Ib d p 368
1? Kasāya Pāhudam, (Pejjadoso vihatti) p 369
18 Ibid No 341
19 Ibid 146
20 Ibid 342
21 Kasāya Pāhudam (Pejjadosa vihatti) No 34. p 369
22 Bhagavatī Sūtra, 12-10-467
23 Bhagavatī Sūtra 12-10-46?
24 Ibid. 1 7-61
25 Bhagavatī Sūtra, 1 7-61
26 Ibid., 1 ?-62
27 Ibid 16-1-566
8 Ibid 2-4 99 see Prajñāpanā Sūtra 191 Pañcadaśa Indriyapada, Prathama Uddeśaka
29 Bhagavatī Sūtra, 3 9-1 0 Jīvābhigama Sūtra Joyisiya Uddeśaka.
30 Bhagavatī Sūtra 2-4-99 Prajñāpanā Sūtra (Pañcadaśa Indriyapada) 194.
31 Bhagavatī Sūtra 2-4-99 Prajñāpanā Sūtra, 195
32 Bhagavatī Sūtra 8 2-318
33 Ibid 11 11-432
34 Ibid., 9-32 38.
35 Bhagavatī Sūtra 13-7 494.
36 Ibid 13 7-494.
37 P amānamīmāmsā 1 .. 4
38 Bhagav tī Sūtra 16 6 578-81
39 Bhaga atī Sūtra 16-6 5 8 91
40 The Int p etation f Dreams Dr Freud
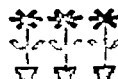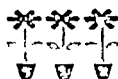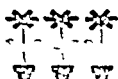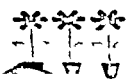
आपकी पुण्य-प्रेरणा का ही शुभ परिणाम था जयपुर मे आपने एक वर्षावास भी उपाध्यायजी महाराज के स्नेहवश ही किया था

मुझ जैसे एक अकिंचन व्यक्ति पर भी आपका अत्यत स्नेह था स्नेह की अपार सम्पत्ति, आपमे पाकर मैं तव भी धन्य था, और आज भी अपने आपको भाग्यशाली मानता हूँ मैं आपके उन असाधारण गुणो पर मुग्ध हूँ जो अन्यन्त्र दुर्लभ है बडप्पन के भार को ढोनेवाले वडो की आज भी कमी कहाँ है ? परन्तु दम्भ-रहित होकर जीवन जीने की कला आपसे कोई सीखे भीनासर सम्मेलन मे मत्री-पद पाकर भी आपने कभी उसका अहकार नही किया और अपने पद का दुरुपयोग भी नही किया, जवकि अपने पद का अहकार करनेवाले और उसका दुरुपयोग करनेवाले सन्त, आज भी अपने समाज मे विद्यमान है

श्रद्धेय हजारीमलजी महाराज प्रकृति से सरल थे, मन से उदार थे और बुद्धि मे विचक्षण थे गभीर विचार करना उनका सहज स्वभाव था मधुर वाणी और कोमल व्यवहार करना उनका सहज धर्म था न कभी किसी की निन्दा करना और न किसी की चापलूसी करना, उनका प्रकृति-सिद्ध गुण था जो भी उनके निकट आया, उनका होकर ही लौटा उनकी आत्मीयता की परिधि वहुत विशाल और व्यापक थी वहाँ पर सब 'स्व' थे, कोई भी 'पर' न था मधुर वाणी होने के कारण वे कभी किसी के साथ अप्रिय व्यवहार नही करते थे सवके हित मे ही वे अपना हित समझते थे सघ-हित मे और समाज-एकता मे उन्हे गहरी निष्ठा थी श्रमण-सघ से उनका सच्चा प्रेम था सघ-विरोधी लोगो की हरकतो को वे पसन्द नही करते थे स्वामीजी महाराज अवस्थासे वृद्ध होकर भी नये विचारो का समर्थन करते थे समाज और सघ का हित ही उनका लक्ष्य था भले ही वह नये विचार से हो अथवा पुराने विचार से यह है उनके अतरग जीवन का परिचय

शरीर दुबला-पतला होकर भी कद्दावर था गेहुँआ वर्ण मुस्कानभरा चेहरा हृदय की सरलता और सरसता को अभिव्यक्त करने वाले सुन्दर नेत्र, लम्बी नासिका सिर पर धवल-विरल केश-राशि श्वेत श्मश्रु धवल खादी के शुद्ध वस्त्र गज जैसी गम्भीर गति यह सब कुछ उनके दिव्यत्व का वाहरी रूप था, इसे मरुभूमि की जनता 'श्रद्धेय हजारीमलजी म० के नाम से पहचानती थी

सस्कृत और प्राकृत के वे पण्डित थे आगमो के मर्मज्ञ और ज्ञान के सागर उन्होंने कभी भी अपने ज्ञान का अहकार नही किया वोलने मे और व्याख्यान मे भी वे राजस्थानी भाषा का ही प्रयोग किया करते थे उनकी भाषा मे एक अद्भुत मिठास और आकर्षण था राजस्थानी सस्कृति मे उनका सम्पूर्ण जीवन रग चुका था वोलने मे, लिखने मे, खाने मे, चलने मे, फिरने मे, खाने मे, पीने मे हर जगह वे मारवाडी थे अपने को मारवाडी कहने मे वे एक प्रकार का सतोष अनुभव करते थे

स्वामी जी महाराज लेखक नही थे, परन्तु निश्चय ही वे अपने युग के एक सरस प्रवक्ता थे उनकी प्रवचन-शैली सीधी-सादी होकर भी मधुर थी ढाल और चरित्रो को वे बहुत ही सुन्दर ढग से तथा मधुर स्वरलहरी मे गाते थे रामायण बाँचने मे वे मारवाड के वे-जोड कलाकार थे मारवाड का प्रसिद्ध राग 'माड' उनके श्रीमुख से बहुत ही आकर्षक और प्रिय लगता था

जिन लोगो ने उनके मुख से देवचन्द जी, आनन्दघनजी और विनयचन्द जी की चौबीसी सुनी है, वे भली-भाँति जानते है कि उनके सगीत की स्वर-लहरी मे कितना आनन्द था ? कितना आकर्षण था ? कितनी तल्लीनता थी ? सुनने-वाला श्रोता अध्यात्मरस की सरिता मे डूब-डूब जाता था अन्तरग आनन्द मे झूम-झूम जाता था गाने वाला और सुनने-वाला आत्म-विभोर हो जाता था मुझको अनेक बार इस अध्यात्म-रस के अनुभव करने का परम सौभाग्य मिला था विहार-यात्राओ मे अनेक बार ऐसा आया, जव कि स्वामी जी महाराज और श्रद्धेय अमरचन्द्रजी महाराज-दोनो जम-कर वैठ जाते थे और एक-दूसरे को सुनते सुनाते 'स्वामी जी सुनाते आनन्दघन के अध्यात्म-पद और गुरुदेव सुनाते आचार्य सिद्धसेन दिवाकर की और आचार्य समन्तभद्र की दार्शनिक स्तुति' उस समय हम लोगो को ऐसा लगता, जैसे मानो अध्यात्म और दर्शन-शास्त्र का सुन्दर समन्वय होकर, दो धाराएँ मिल-जुलकर एक विशाल महानद के रूप मे प्रवाहित होकर जन-मन के ताप का परिहार कर रही हो कितने सुखद, कितने सुन्दर, कितने मधुर और साथ ही कितने

H. Bhattacharyya
M A B L PhD
Kailas Basu Lane Ram Krishnapura, Howrah

THE VRATA'S OTHER THAN AHIMSA–AS PROPOUNDED IN JAINISM

Ahimsā or non violence is the fundamental Vrata according to the Jainas

The next Vrata which is essential to a moral life is the vow of truthfulness or Satya. Its opposite i.e speaking falsely is the Anṛta, which is defined as telling something which is not factual. It should be noted that the Pramatta yoga or wicked intention which lies at the root of violence and which gives it the character of violence forms the basis of Anṛta or lying also Nothing is a falsehood unless it is a deliberate lie and nothing is true if an improper motive prompts its utterance It is accordingly said that even if a statement is true but made with the deliberate intention of hurting the hearer s feeling the statement is deprived of its character of truth On the contrary a false statement made for the purpose of doing some good to the hearer cannot be condemned as a downright lie

The character of a phenomena is determined with reference to its nature (Dravya) time (Kāla) place (Kṣetra) and modality (Bhāva) A particular cup for instance, exists only as a thing made of (say) silver during (say) winter at a particular place (say) Calcutta and as (say) a round article and you cannot think of it as constituted of an absolute substance persisting through all eternity existing simultaneously at all places and possessed of a universal shape A true statement presents a thing or phenomenon, as it is in respect of its own nature time place and modality So when a thing actually exists with reference to its own particular nature, modification, time and location and one says that it does not exist,—this is one form of lying to say that a thing exists, whereas as a matter of fact it does not exist, is the second manner of lying to speak about a thing as something which is really different from it, is the third kind of falsehood the fourth form of lying includes the three following manners of stating a fact, viz. –(1) The Garhita or the condemnable A true statement may be so made with scornful laughter as to give pain to the hearer it may be clothed in harsh and angry words its tone may be incivil and its words unconnected with each other it may be so delievered as to give rise to mistaken ideas in the hearer the words used may be ambiguous or meaningless or they may suggest something which contradicts the eternal verieties as disclosed by the competent masters All such statements though embodying true facts, are nevertheless Garhita or condemned ( ) The Sāvadya or faulty Statements, e g about cutting the limbs of an animal about piercing it, bout beating it, about tilling lands, about trading (especially trafficking in living animals) about stealing etc. etc —all bad to or are connected with injury to animals Such statements may not contain any falsehoods they may even be connected with truths but are nevertheless faulty and as such are to be avoided. (3) The Apriya or pain giving Words which create unpleasant feelings, envy and grief and exhaust one patience wh ch give rise to fear feelings of enmity sorrow and quarrelsome ness, are akin to falsehood even though they may contain a truth in them In connection with the

three forms of the fourth mode of lying, it is, however, to be noted that although harsh and cruel statements are here generally condemned, a teacher or a well-disposed man, when using unpleasant expressions to one whom he wants to reform, is not to be considered as a liar It is the Pramatta-yoga or the evil passions which make one's expressions false,—so that a teacher or a well-intending person, speaking harshly just to mind the manners of the person talked to and having the good of the person in his heart, cannot be accused of telling a lie in any of its forms

The Jaina teachers fully recognise the fact that a house-holder or an ordinary man of the world has to support himself, earn his livelihood any how and cannot do without collecting some articles to meet his necessities and that consequently, it is impossible for him to avoid lying absolutely Accordingly they lay down that a man should try to limit his false statements as much as possible The form of lying which has been described above as the Sāvadya may be unavoidable for him, but there is no reason why he should not give up the other kinds of false-speaking and why, in the case of the Sāvadya, he should go beyond what is barely necessary for his living

As in the case of the Ahimsā, the Jaina teachers prescribe five Bhāvanā's or meditations for stabilising and strengthening the vow of Satya These consist in the Pratyākhyāna or giving up of Krodha or anger, Lobha or avarice, Bhīrutā or cowardice, Hāsya or frivolity and in the Anuvici-bhāsana or talking in accordance with the scriptural injunctions The negative aspects of the vow of truthfulness are the avoidance of its transgressions in the forms of Mithyopadeśa or teaching false doctrines, the Rahovoākhyāna or giving publicity to secret actions of persons, the Kūta-likha-kriyā or forgery, the Nyāsāpahāra or breach of trust by taking advantage of one's forgetfulness,—[This is illustrated as follows A deposits Rs 500/- with B Subsequently, A forgetting the amount of his deposit asks for the return of Rs 400/- only, B takes advantage of A's forgetfulness and gives him the amount, demanded, thereby B misappropriates Rs 100/-], the Sākāra-mantra-Chīda, or the divulgence of what one supposes to be a fact, from his observation of the manners of some persons who hold consultations in private

Astīya or non-stealing is the third great Vrata or vow laid down in the Jaina religious books. Stealing has been defined as "appropriating what was not given" All appropriations, however, are not theft, misappropriations which are deliberate or wilful i e, actuated by the Pramatta-yoga are cares of theft A question may be raised whether a righteous man inviting the Karma-pudgala within him, can be accused of theft The Jaina moralists answer the question in the negative In the first place, a Muni introducing in himself the Karma is not actuated by any Pramatta-yoga or intention to have it Secondly, it is pointed out that Karma is a subtle form of matter which belongs to no body, so that its inflow in a Muni does not mean any appropriation of 'a thing which is not given', in legal phraseology, the inflow of Karma does not involve any 'wrongful gain' or 'wrongful loss' to any body Another point that is raised is whether such acts of a person as taking water from another man's well amount to stealing on his part, in as much as the water was not given to him by the owner of the well The Jainas affairm that all appropriations of things which have not been expressly given are essentially cases of thefts and in the case under consideration i e, in the case of water being taken without the express permission of the owner of the well, the taking of water is technically, a case of stealing They, however, point out that such technical stealing is unavoidable by

ordinary people of the world and recommend that all misappropriations which are not unavoidable in this way should be given up

The five Bhāvanā s or meditations rather acts,—which fix or stabilise one s practice of non stealing are —Śūnyāgāra or living in a solitary place, Vimocitāvās or living in a place, deserted by all people· Paroparodhākaraṇa or living in a place where one is not likely to be obstructed by others nor where one is likely to obstruct others· Bhaikṣya śuddhi or looking to the purity of what is given to one as alms and Saddharmāvisaṁvāda or not entering into disputations with one s brothers in faith, in respect of one another s belongings

The vow of non stealing is transgressed even when one instead of himself stealing abets it (Citana prayoga) or receives stolen property (Tādāhṛtādāna) or sells things at iniquitous prices i.e practises black marketing (Viruddha rājyāti Krama) or uses false weights and measures (Hīnādhika mānonmāna) or adulterates things (Prati rūpaka vyavahāra)

The Vrata of Brahma or sex abstinence is opposed to Abrahma which consists in the act of Maithuna or sexual contact The Pramatta yoga or deliberate inclination i.e sex hunger is the primal source of all sex activities. It is needless to point out that sex urge arouses the intensest of feelings in a person and as such it is responsible for his bad and undesirable states both here and hereafter Complete sex purity is possible only in homeless saints and sages a house holder cannot act upto that ideal of sex abstinence and he feels the need of a companion for the satisfaction of his sex hunger· this explains the validity of the custom of marriage in human society The Jaina moralists maintain that sex indulgence is always bad from a moral point of view· even a person who has his sex satisfaction exclusively through his wife cannot be looked upon as high placed in the scale of moral progress. Such a person is called the Kuśīla Tyāgī Although such a person stands lower in moral rank than the Muni, he is certainly better than a person wallowing in uncontrolled sex-endulgences At any rate the Jaina moralists recognise that living without a wife may be impracticabl in most cases of ordinary run but they emphatically urge that there is no reason why one should go after a woman who is not his legally married wife

As regards the Aticāra s or indirect tran gressions of the vow of Brahma-caryā, they are indicated as,—the Para vivāha karana or causing marriage between persons who belong to mutually prohibited families· the Itvabikā parigrahītāgamana or co habitation with a married woman of immoral disposition the Itvabikā-aparigrahitāgamana or co-habitation with an unmarried woman of immoral disposition the Anangi krīḍā or unnatural intercourse· the Kāmat [illegible] nivṛtta or surrender to strong sexual urge.

The following five Bhāvanā s, on the other hand stabilise one s vow against sexual unchastity viz —the Tyāga or refraining from hearing all talks which excite passions for women (the Strī rāga Kathā Śravana) from looking at th attract e limbs of a woman,—the Tanmanoharāng [illegible] sana fr m [illegible] liqu d which excite sexual urge —(the Vṛṣyleta rasa) and from making one [illegible] n body clean and attracti e (th S [illegible] sarīra saṁskāra)

The [illegible] of the V ata [illegible] th Apar grah or non attachment to w rldly aff irs It [illegible] Murc [illegible] king interest in the [illegible] or the [illegible] ld throu h [illegible] inclination It [illegible] clear that [illegible] th appr hensi n of the [illegible] this

three forms of the fourth mode of lying, it is, however, to be noted that although harsh and cruel statements are here generally condemned, a teacher or a well-disposed man, when using unpleasant expressions to one whom he wants to reform, is not to be considered as a liar It is the Pramatta-yoga or the evil passions which make one's expressions false,—so that a teacher or a well-intending person, speaking harshly just to mind the manners of the person talked to and having the good of the person in his heart, cannot be accused of telling a lie in any of its forms

The Jaina teachers fully recognise the fact that a house-holder or an ordinary man of the world has to support himself, earn his livelihood any how and cannot do without collecting some articles to meet his necessities and that consequently, it is impossible for him to avoid lying absolutely Accordingly they lay down that a man should try to limit his false statements as much as possible The form of lying which has been described above as the Sāvadya may be unavoidable for him, but there is no reason why he should not give up the other kinds of false-speaking and why, in the case of the Sāvadya, he should go beyond what is barely necessary for his living

As in the case of the Ahimsā, the Jaina teachers prescribe five Bhāvanā's or meditations for stabilising and strengthening the vow of Satya These consist in the Pratyākhyāna or giving up of Krodha or anger, Lobha or avarice, Bhīrutā or cowardice, Hāsya or frivolity and in the Anuvicī-bhāsana or talking in accordance with the scriptural injunctions The negative aspects of the vow of truthfulness are the avoidance of its transgressions in the forms of Mithyopadeśa or teaching false doctrines, the Rahovoākhyāna or giving publicity to secret actions of persons, the Kūta-līkha-kriyā or forgery, the Nyāsāpahāra or breach of trust by taking advantage of one's forgetfulness,—[This is illustrated as follows A deposits Rs 500/- with B Subsequently, A forgetting the amount of his deposit asks for the return of Rs 400/- only, B takes advantage of A's forgetfulness and gives him the amount, demanded, thereby B misappropriates Rs 100/-], the Sākāra-mantra-Chīda, or the divulgence of what one supposes to be a fact, from his observation of the manners of some persons who hold consultations in private

Astīya or non-stealing is the third great Vrata or vow laid down in the Jaina religious books. Stealing has been defined as "appropriating what was not given" All appropriations, however, are not theft, misappropriations which are deliberate or wilful i e, actuated by the Pramatta-yoga are cares of theft A question may be raised whether a righteous man inviting the Karma-pudgala within him, can be accused of theft The Jaina moralists answer the question in the negative In the first place, a Muni introducing in himself the Karma is not actuated by any Pramatta-yoga or intention to have it Secondly, it is pointed out that Karma is a subtle form of matter which belongs to no body, so that its inflow in a Muni does not mean any appropriation of 'a thing which is not given', in legal phraseology, the inflow of Karma does not involve any 'wrongful gain' or 'wrongful loss' to any body Another point that is raised is whether such acts of a person as taking water from another man's well amount to stealing on his part, in as much as the water was not given to him by the owner of the well The Jainas affairm that all appropriations of things which have not been expressly given are essentially cases of thefts and in the case under consideration i e, in the case of water being taken without the express permission of the owner of the well, the taking of water is technically, a case of stealing They, however, point out that such technical stealing is unavoidable by

branches of trees aimlessly the Himsādāna or distribution of offensive weapons among people and the Duhśruti or reading or hearing the reading of the bad books. The Anartha danda vrata is transgressed even when the vower makes fun of or with other (Kandarpa) when he throws mischievous and practical jokes at others (Kaut kucca) when he becomes garrulous (Mankharya) when he overdues a thing (Asamīkṣyādhikarana) when he keeps himself supplied with enjoyable things which are more than what are necessary for him (Upabhoga paribhogānarthakya)

The disciplinary or the Śikṣa vrata s have as said before, four forms The first is the Sāmāyika which consists in self-contemplation at stated times e.g sunrise, noon or sun set everyday for a stated period every time The Sāmāyika is transgressed by misdirection of mind (Mano-duspranidhānam) by misdirection of body (Kāya-duspranidhānam) by misdirection of speech (Vāk-duspranidhānam) by decreasing the interest in the Sāmāyika (Anādara) by forgetting the formalities connected with the Sāmāyika (Smṛtyanupasthānam)

The Poṣadhopavāsa is the second Śikṣa vrata and means a vow to fast on four days in a month viz. on the two eighth and the two fourteenth days in the two lunar fortnights in every month, by abstaining from food and drink and by making religious study etc. in those days of fasting The vow of fasting is violated by excerating in a place without inspecting and sweeping it before hand (Apratyavīkṣitāpramārjitotsara) by taking up a thing from or laying it down in a place, without first inspecting and sweeping it (Apratyavīkṣitāpramārjitadāna) |by arranging for sitting in a place within first inspecting and sweeping it (Apratyavīkṣitāpramārjita—Sam-staropakramana) by giving up interest in fasting (Anādara) and by forgetting the prescribed formalities for fasting (Smṛtyanupasthānam)

The Bhogopabhoga parimāna is a vow limiting one s enjoyment of both exhaustible (Upabhoga) and un-exhaustible (bhoga) things. It is the third of the disciplinary sub-vows and is trans gressed when the vower takes to eating living things even such as green vegetables (Sacittāhāra) when he uses for his own purpose, a thing which is connected with a living thing e.g when he uses a green leaf as a plate (Sacitta-Sambandhāhārata) when he consumes a mixture of living and non living things e.g hot and cold water together (Sacitta-Sammiśrāhāra) when he eats exciting or particularly invigorating food (Abhiṣavāhāra) or when takes an ill cooked food (Duhpakvāhāra)

The fourth sub-vow under the Śikṣa vrata is the Atithi-samvibhāga, which means taking a vow to take one s meals only after giving a part of them to deserving guest,—preferable, a man living the austere moral life of an ascetic, having right faith and right conduct, or failing him, a house holder having right conduct only or failing him, a person with right faith but without any observance of the vows These are called the Supātra s or worthy donees. Not so good a donee would be one whose outward conduct is good but who is devoid of right faith, he is a Kupātra. A person however whose conduct is not good but who is not possessed of right faith is an Apātra or unworthy donee The Jaina s lay down principles which determine the nature of the things to be given, (e g the things given should be helpful to study etc.) the manners in which they are to be given (e g by welcoming the guest etc. etc) and the attitude, both of the giver and of the taker at the time when the gifts are made (e g in all humility etc.) The Jaina s, however assert that the matter of Karuṇā-dāna or charities, no distinction is to be made as regards the persons who are to receive the gifts so that food

is mine', he has Parigraha or attachment, even though he may live in a forest, naked and destitute of all gross things On the other hand, if one's mind is devoid of all feelings of 'mine-ness', he has Aparigraha, even though he is surrounded by and lives in the midst of a number of possessions, moveable and immoveable

The absolute non-attachment to worldly things is obviously impossible for a house-holder and the Jaina thinkers recommend accordingly that the range of worldliness should be progressively shortened The five Bhāvanā's strengthening the practice of the vow of non-attachment consist in withdrawing one's liking to the pleasant objects of the five senses and his dislike for the unpleasant objects of these five senses The Aparigraha-vrata is transgressed even when a person confining his possessions within a certain number, changes their proportions without actually changing their number Thus suppose, a person takes the vow to be content with four pieces of cloth and four utensils, his vow would be transgressed if he takes to the possession of three pieces of cloth and five utensils The transgressions of the vow of non-attachment in this manner of interchanging are likely to be committed in respect of the following five pairs of possession viz ,—lands and houses, silver and gold, cattle and corn, male servants and female servants, and things for putting on and utensils

The above with Ahimsā are the five Vrata's or cardinal virtues for practice, according to the Jainas Besides these primary vows, the Jaina moralists speak of Śīla's, which are sub-vows, supplementing the practice of the Vrata's The Śīla's are seven in number, divided into two broad classes of the Guna-vrata's and the Śiksā-vrata's The former enhance the value of the Vrata's and are three in number There are four forms of the Śikṣā-vrata's The Śiksa-vrata's are so called, because they make the practice of the vows, perfectly disciplined

The first of the three Guna-vrata's is the Dig-vrata It consists in one's taking a vow to limit his activities throughout his life within fixed bounds in all the ten directions This sub-vow of the Dig-vrata may be transgressed in five different ways viz ,—(1) When negligently or deliberately one rises higher than his limit in the upward direction (hīrdha-vyatikrama), (2) When in the same manner he goes lower than his downward limit (Adhah-vyatikrama), (3) When in the same manner, he crosses his limits in the eight other directions (Tiryak-vyatikrama, (4) When in a fit of passion or negligence, he increases his limit in one direction, even though decreasing it in another direction (Ksītra-vrddhi), (5) When he forgets the limits, even though he does not cross them (Smrtyantarādhāna)

The Diśa-vrata is the second mode of the Guna-vrata and consists in one's taking a vow to still more limit his activities, already limited by the Dig-vrata vow, for a period of time The Diśa-vrata is violated,—1 if the vower sends for something from beyond the limited limit (Ānayana), 2 if he sends a person beyond the limited limit (Prīṣya-prayoga), 3 if he sends his voice (e g by telephone) beyond the limited limit (Śabdānupata), 4 if he communicates with persons beyond the limited limit by making signs to them (Rūpānupāta), 5 if he throws material things beyond the limited limit (Pudgala-kṣīpa)

The third mode of the Guna-vrata is the Anartha-danda-vrata which means a vow not to commit any aimless sin There are five forms of the Anartha-danda-vrata which consist in avoiding respectively the Apadhyāna or thinking ill of others, the Papāpadīsa or preaching sinful matter to others, the Pramāda-cāritra or thoughtless mischievous acts, such as breaking the
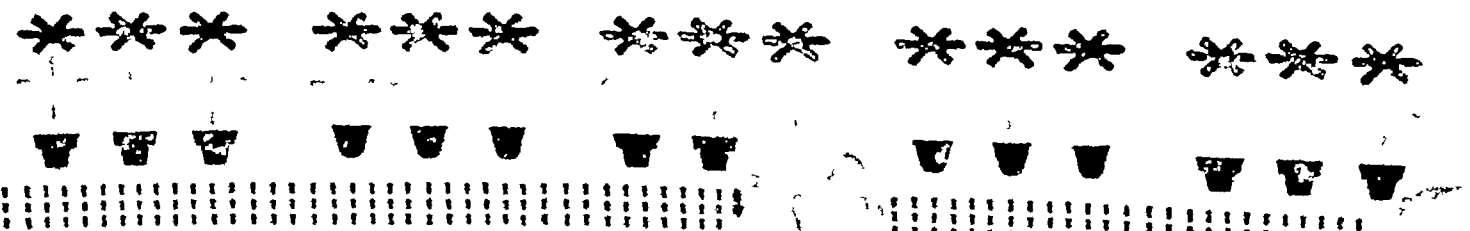
Prof N V Vaidya
Ferguson College, Poona

SHRAMADANA OR VOLUNTARY MANUAL LABOUR–THE OLD WAY

The Jain canonical as well as Non-canonical literature is a veritable mine of didactic tones parables and illustrations They reflect mostly the life of the common man and are narrated with a simplicity and facility which would appeal even to the Pundits and men of letters

It is proposed top oint out here only a minor incident narrated in the Antagadadasao(अंतगडदसाओ)* the eighth Anga of the Jain canon (III Varga Page 56 section 59ff)

Now as Krana Vasudeva was going out of the city of Dwarawati he saw a man, worn out, his body shattered by age, and weary and who was picking up one brick at a time from among a huge pile of bricks and was carrying it into the house Then Krana Vasudeva out of compassion for the old man got down from the back of the excellent elephant he was riding took a brick from that huge pile of bricks and carried it inside the house Now when Krana took one brick, hundreds of other people did the same and that huge pile of bricks was shifted inside the house in no time

Krana Vasudeva thus gave a helping hand to that old man purely out of compassion and as a matter of duty In the good old days people were taught that doing one s duty was a must for every body like the Nityakarma (नित्यकर्म) If you do it there is no special merit but if you fail to do it, there is sin. We find a strange spectacle to-day If some one has done his duty there are grand ceremonies held in his honour There is a lot of fan fare and publicity when a very important person or a minister is attending or rather presiding over a Shramdāna (श्रमदान) or similar function. But the manner in which Krana a royal prince of the ancient past has helped a poor old labourer is very touching and it leaves an indelible impression on the minds of the readers It is untrumpeted genuine and spontaneous Shramdāna (श्रमदान) giving help and succor where it is really needed

One can multiply similar other situations and incidents The so called courtesy weeks, Vana Mahotsava, children s Day and lots of other functions and ceremonies which seem to have been invented merely to satisfy the vanity and the insatiable craving for publicity of those in power or the upper strata of society does not impress the public genuine Shramdan is always done spontaneously is always untrumpeted and unadvertised and is done to give help and succor to the needy and its effect is ever lasting

---

* Edited by prof N V Vaidya Ferguson College Poona 1 with Introduction, Notes, English Transl tion and Appendics 1937

medicine, knowledge and removal of fears should be freely extended to all needy persons, Jaina or non-Jaina, human or sub-human This vow of 'giving to guests' is violated if one places food on a living thing e g on a green leaf (Sacittaniksipa), if one covers food with a living thing (Sacitapidhāna), if one delegates his duties as a host, to another (Para-vyapadiśa), if his charitable conduct is vitiated by disrespectfulness or by envious competition with another donor (Mātsarya), or, if his charity is not made at the proper time (Kālātikrama)

This finishes our survey of the Vrata's or the vows essential to moral progress The five Vrata's are vows of non-violence, sexual purity, non-attachment, non-stealing and truthfulness The The homeless saints practise the vows in their perfection, the practice of those vows by the house-holders must necessarily be imperfect, and hence, the Vrata's as performed by the house-holders have been called the Anu-vrata's,—the difference between the Vrata's and the Anu-vrata's being not one of kind but one of degree in successful observance The seven Śīla's including the three Guna-vrata's and the four Śikṣā-vrata's supplement the observance of the Anu-vrata's and are generally meant for the house-holders The observance of the Śīla's paves the way of the house-holder for the five cardinal virtues and makes his conduct well-controlled The Jaina's further maintain that the well ordered life which is the effect of the Śīla-practice should be crowned with a well-ordered death Such a death is called the Sallīkhanā by them and consists in a perfectly unattached and dispassionate attitude towards the world, during last moments of life This Sallīkhanā or contemplative death is marked by total abstinence from food, drink, medicine and all things worldly and unperturbed fixation of the dying man upon his self It is recommended for practice, not merely to a man observing the Śīla's (Na Śrāvakasyaiva dig-viratyādi-Śīlavatah) but also to one who has brought himself under self-control (Samyatasyāpi) The Sallīkhanā is not a form of suicide It is recommended only where the body is completely disabled by extreme old age or by endurable diseases or when it is rendered hopelessly helpless by the distruction or enfeeblement of the senses and such other causes and the man becomes conscious of the impending unavoidable death and of the necessity of concentrating himself upon his pure self Akalanka nicely illustrates the practice of Sallīkhanā by pointing out firstly how the traders in valuable articles never want the distruction of their store-house, that when causes arise to distroy the house, they try to remove these causes to the best of their ability and resources, that when they find that those distructive causes are irremovable, they do no longer care the house and concentrate their efforts upon the preservation of the valuable articles of the store-house, that it is in the same manner that a good man never wants to put an end to his body, that he tries to save his body when disease and other ailments threaten to distroy it, but that when all attempts to save the body prove to be finally unavailing, he dissociates himself from it and establishes himself exclusively upon his essential self This is Sallīkhanā or peaceful contemplative death, which is essentially different from any form of suicide It is clear that the calm and faultless character of the Sallīkhanā is distroyed and its practice becomes condemnable, if there is in the dying man Jīvitāśamsā or a desire to live, Maraṇāśmsā or a desire to hasten death, Mitrānurāga or attachment for his friends, Sukhānubandha or a lingering fond remembrance of the occasions of fast enjoyments, or, Nidāna or an expectant desire for enjoyments in the next world
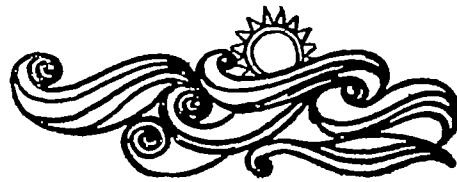
परिशिष्ट

स्वप्निल थे जीवन के वे क्षण ? मुझे आज भी याद है कि हल्दीघाटी का इतिहास प्रसिद्ध दुर्गम घाटियों को पार करते हुए, एक ऐसा प्रसंग आया था जिन दुर्गम घाटियों में कभी राणाप्रताप और बादशाह अकबर के वीर सैनिकों का तुमुल नाद सुना था आज वे ही घाटियाँ वो सन्तो की अहिंसा के साधकों की शान्त-स्वर-लहरी से प्रतिध्वनित होकर, जैसे अध्यात्म रस में डूब रही हों

क्या लिखूँ लिखना बहुत कुछ चाहता हूँ परन्तु अब लिखा नहीं जाता आज तो यह सब कुछ जैसे अनन्त अतीत की करुण-कहानी बनकर शेष रह गया है जैसे-जैसे अतीत में प्रवेश करता हूँ स्वामी जी महाराज के मधुर जीवन की उन मधुर स्मृतियों को खोजने के लिए वैसे-वैसे चित्र मेरे स्मृति-पट पर अंकित होते जा रहे हैं किन्तु क्या करूँ ? मैं अपने अन्तर-मन की भावनाओं को अभिव्यक्त नहीं कर पा रहा हूँ

स्वामीजी महाराज क्या थे उक्त प्रश्न का समाधान करने के लिए न मेरे पास कोई शब्द न कोई उपमा और न कोई वस्तु ही है जिसके तुल्य मैं उन्हें कह सकूँ वे अपने जैसे आप थे वे अपने ढंग के निराले थे अद्भुत थे और असाधारण भी थे इसलिए वे हमसे विशिष्ट थे

'आओ आप और हम-सब मिलकर एक स्वर से उस विमल विभूति के सद्गुणों का कीर्तन करलें

○

श्री गुलाबचन्द्र मुथा़त अजमेर

नमन हो मेरे कुल रत्न को

स्वर्गीय पूज्य मुनि श्रीहजारीमलजी म की और मेरी जन्मभूमि एक ही थी उनसे मेरा पारिवारिक दृष्टि से निकटतम संबंध था संसार पक्ष से वे मेरे काका थे तथापि मैं कई वर्षों तक उनके पुण्यदर्शनों से वंचित रहा उसका मुख्य कारण यह था कि मेरे जन्म से ९ वर्ष पूर्व ही आपने वि स १९५४ में ही जिनदीक्षा ग्रहण कर ली थी दस वर्ष की अल्पायु में अध्ययन के हेतु मुझे जन्मभूमि से दूर चला जाना पड़ा

मैं कभी-कभी चिन्तन करते हुए आश्चर्य में पड़ जाता हूँ कि इतने उच्च संस्कार आप में कैसे जागृत हुए ? स्पष्ट लगता है कि उनकी माता ही पुत्र के लिये सुसंस्कारों की जननी थी और उनकी प्रेरणा से ही वे ऐसे विकट पथ को अपना कर त्याग-मार्ग पर लगे थे

प्रथम बार जब मुझे आपके दर्शन का सौभाग्य अजमेर में प्राप्त हुआ तो हृदय गद्गद हो गया मैं सपरिवार आपके दर्शन निमित्त गया मैंने प्रथमबार ही पाया कि आपके विचार उच्च हैं शान्ति की आप सजीव प्रतिमा हैं, आपकी वाणी में मृदुता है, हृदय में कोमलता है, व्यवहार में कुशलता है

मैं स्वर्गीय मुनि श्रीहजारीमलजी म को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए अपना गौरव समझता हूँ कि आपने अपने परिवार को ही नहीं किन्तु हजारों व्यक्तियों के जीवन को उज्ज्वल कर दिया आप इतनी अल्पायु में त्याग मार्ग को अपना कर बाल-ब्रह्मचारी रहे आप अद्वितीय साहस के धनी थे सहन-शीलता धैर्य एवं समदर्शित्व आदि आपके विशेष गुण थे

उनके मन के विमल चिन्तन की ऊँचाई का कहाँ तक बयान किया जाय ? उन्हें सम्प्रदाय का आचार्य पद प्रदान करने का प्रस्ताव सब साधुओं व संघ द्वारा रखा गया था तथापि उन्होंने अस्वीकार कर दिया एक विशेषता आपके जीवन में यह थी कि आप प्रशंसा से हर्षित और प्रतिकूल आलोचनाओं से क्षुब्ध नहीं होते थे अपने कर्तव्य की ओर ही अग्रसर

लेखक-परिचय

श्री अगरचन्द नाहटा—जन्मस्थान—बीकानेर (राजस्थान)। नाहटा जी ने जितने विपुल साहित्य का सर्जन किया है, उतना कोई विरले ही कर पाते है। अढाई सौ पत्र-पत्रिकाओ मे दो सहस्र से अधिक निबंध लिख चुके हैं। राजस्थानी एव जैनसाहित्य के गिने-चुने साहित्य-सेवियो मे अन्यतम है। दर्जनो ग्रन्थो का सम्पादन कर चुके है। अपने ज्येष्ठ भ्राता श्री अभयराज नाहटा के नाम पर अभय जैन ग्रथालय की सस्थापना की है, जिसमे बीस हजार दुर्लभ महत्त्वपूर्ण हस्तलिखित और इतने ही मुद्रित ग्रथो का सग्रह है।

जैनसघ की ओर से 'साहित्य एव इतिहासरत्न' की उपाधि दिया जाना आप की योग्यता के अनुरूप ही है। आप भारत की पचासो साहित्यिक सस्थाओ के अध्यक्ष, डाइरेक्टर, ट्रस्टी या सदस्य है। व्यवसाय के हाथ महान् साहित्यसेवा का आदर्श कोई नाहटा जी से सीखे।

श्री अनूपचन्द न्यायतीर्थ—आप जयपुर-निवासी है। जैनसाहित्य, पुरातत्त्व और कविता की ओर विशिष्ट रुचि। गीताञ्जलि के बहुसख्यक गीतो के अनुवादक। आपकी अनेक अनूदित रचनाएँ प्रकाशित है। सुप्रसिद्ध विद्वान् प० चैनसुखदासजी के प्रमुख शिष्य हैं।

प० अम्बालालजी—जन्मस्थान दहेगाम (अहमदाबाद)। इस समय आप अहमदाबाद के ला० द० भारतीय सस्कृति विद्यामन्दिर मे कार्य कर रहे है। सस्कृत, प्राकृत, हिन्दी और अग्रेजी भाषाओ तथा व्याकरण, साहित्य, इतिहास-पुरातत्त्व और मत्रसाहित्य मे आपकी गहरी दिलचस्पी है। दिग्विजय-महाकाव्य, कालकाचार्यकथासग्रह, सूरिमत्रकल्पसन्दोह, मत्रराजरहस्य, अनुभूतसिद्धद्वात्रिंशिका आदि-आदि ग्रथो का सम्पादन किया है। अभी-अभी आपका Catalouge of Sanskrit and Prakrit MSS, part I नामक ग्रथ प्रकाशित हुआ है।

डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित—जन्मस्थान मेरठ (उ० प्र०)। सन् १९४८ से आप अध्यापन कार्य कर रहे है। वर्त्तमान मे राजस्थान विश्वविद्यालय मे रीडर हैं। आपका रससिद्धान्त उत्तरप्रदेश की सरकार द्वारा पुरस्कृत हुआ है। सौन्दर्यतत्त्व, वेलि क्रिसन रुक्मणी री, तुलसीदास—वस्तु और शिल्प आदि अनेक गभीर रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। मराठी, गुजराती, बगला और उर्दू भाषाओं के भी ज्ञाता हैं। शोध-छात्रो के सुयोग्य निर्देशक है।

श्री भालमशाह खान—जन्मस्थान उदयपुर (राज०) । हिन्दीभाषा भाषी परिवार में जन्म लेकर भी आप हिन्दी में एम० ए० करके हिन्दी साहित्य की अभिनन्दनीय सेवा कर रहे हैं। आपकी अनेक रचनायें प्रान्तीय और भारतीय स्तर पर पुरस्कृत एवं सम्मानित हुई हैं। राजस्थानी धवनि कार्ये नामक आपका ग्रन्थ राजस्थान साहित्य अकादमी से प्रकाशित हुआ है। आप कहानी पुरस्कार विजेता हैं।

डा० ईश्वरचन्द्र शर्मा—डॉ० शर्मा दर्शनशास्त्र के तलस्पर्शी विद्वान् हैं जिन्होंने अमेरिका जैसे विदेशों में भी अपनी योग्यता की छाप डाली है। इस समय आप उदयपुर वि० वि० में अध्यापक हैं।

प्रा० पु० वी० वैद्य—वैद्य महोदय संस्कृत और अर्द्धमागधी भाषा के विश्रुत विद्वान् हैं। सन् १९६२ से पूना के प्रसिद्ध फर्ग्युसन कॉलेज में अर्द्धमागधी विभाग के प्रधान और सांगली के विलिंग्डन कॉलेज के प्रिंसिपल रह चुके हैं। अनवरत साहित्यसेवा में निरत हैं। अतगडदसाओ और अणुत्तरोव वाइयदसाओ अगडदत्त-कथानक पउमचरिय नायकहा—वरुणकहा णायाधम्म कहाओ उवासगदसा रायपसेणियसुत्त आदि अर्धमागधी और प्राकृत के आगम ग्रन्थों का विद्वत्तापूर्ण सम्पादन आपने किया है विस्तृत प्रस्तावनाएँ और नोट्स लिखे हैं

डा० के० ऋषभचन्द्र जैन—जन्मस्थान पालडी (सिरोही राजस्थान) आप उदीयमान विद्वान् हैं। नागपुर वि० वि० से पाली एवं प्राकृत साहित्य में एम० ए० किया। वैशाली प्राकृत जैनशास्त्र संस्थान मुजफ्फरपुर से पी० एच० डी० की उपाधि ग्रहण की। इस समय ला० द० भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर में रिसर्च आफिसर पद पर कार्य कर रहे हैं।

डा० कन्हैयालाल सहल—जन्मस्थान नवलगढ़ (राजस्थान)। हिन्दी और संस्कृत में प्रथम श्रेणी में एम० ए० किया। 'राजस्थानी कहावतें—एक अध्ययन' नामक शोधप्रबन्ध पर पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। इस समय डी० लिट्० के हेतु शोधप्रबन्ध लिख रहे हैं। अनेक छात्र आपके निर्देशन में पी-एच० डी० कर चुके हैं। मरुभारती (त्रैमासिक) के प्रधान सम्पादक। राजस्थान साहित्य अकादमी के गवनिंग बोर्ड के केन्द्रीय हिन्दी पाठ्यपुस्तक समिति नई दिल्ली के तथा भारतीय हिन्दी परिषद् प्रयाग आदि के सदस्य। राजस्थान के विशिष्ट अग्रगण्य विद्वानों में अन्यतम आपकी सत्रह तीस रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं।

श्री कन्हैयालाल लोढा—जन्मस्थान धनोप (भीलवाडा-राजस्थान)। साधारण स्वास्थ्य और सादे रहन-सहन मे वैचारिक वैभव, विशाल अनुभव और प्रतिभा आप मे विद्यमान है। आप की मेधाशक्ति बडी तीव्र है। अनेक विषयो का तुलनात्मक अध्ययन रेखागणित मे प्रयोज्यमान निगमनप्रणाली से अध्यात्म जैसे निगूढ सिद्धान्त का सहज वर्णन कर देना आप की विशिष्ट प्रतिभा का परिचायक है।

श्री कमला जैन 'जीजी'—आप प० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल की ज्येष्ठ पुत्री है। गद्य और पद्य दोनो पर आपका अच्छा अधिकार है। आपके द्वारा सम्पादित 'नारीजीवन' पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है। अनेक कवितासग्रहो मे आपकी कविताएँ प्रकाशित हुई है। वर्त्तमान मे राणावास (राज०) के महावीर जैन बालिका-विद्यालय की प्रधानाध्यापिका है।

श्री कलावती जैन—बहिन कलावती जम्मू की निवासिनी, अतीव विनम्र, धर्मप्रिय और उत्साहमूर्त्ति महिला हैं। महासती श्री उमरावकुवरजी की काश्मीरयात्रा के समय आपने उनकी सराहनीय सेवा की। जम्मू मे बालिकाओ के धर्मशिक्षण को सूत्रधार है। स्वय स्वाध्यायशीला है।

डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल—डा० कासलीवाल सस्कृत, हिन्दी एव राजस्थानी भाषा के माने हुये विद्वान् है। आपने राजस्थान के ७०-८० जैन ग्रथ भण्डारो का शोधन करके उनकी विस्तृत सूचिया तैयार की हैं। 'राजस्थान के जैन ग्रथभण्डार' पर ही आपने अग्रेजी मे शोधप्रबन्ध लिखा है जिस पर राजस्थान विश्वविद्यालय ने सन् १९६१ मे पी-एच० डी० की उपाधि से सम्मानित किया। आप की इस खोज के फलस्वरूप अपभ्र श-हिन्दी-राजस्थानी की सैकडो अज्ञात रचनायें प्रकाश मे आ गयी हैं। अब तक निम्न पुस्तकें प्रकाशिक हो चुकी है—

१ राजस्थान के जैन शास्त्रभण्डारो की ग्रथसूची भाग प्रथम, द्वितीय, तृतीय एव चतुर्थ भाग। २ प्रशस्तिसग्रह। ३ प्रद्युम्नचरित। ४ बनारसी-विलास।

८० से भी अधिक खोज पूर्ण लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित हो चुके हैं

मुनि श्री कान्तिसागरजी—मुनिजी इतिहास और पुरातत्व के विगत विद्वान् भारतविख्यात लेखक और सम्पादक है। 'खंडहरों का वैभव' आदि अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाएं आपकी प्रकाशित है। पत्रिकाओं में भी आपके शोधपूर्ण निबंध जब-तब प्रकाशित होते रहते हैं।

प्रो के बी जिन्दल—आप जैनधर्म-मर्मज्ञ स्वर्गीय पण्डित अजित प्रसाद जी के कनिष्ठ पुत्र है आप का जन्म लखनऊ में हुआ १९१८ में आपने लखनऊ विश्वविद्यालय से एम ए एल-एल बी की उपाधि प्राप्त की एम० ए में सर्वप्रथम उत्तीर्ण होने के नाते विश्वविद्यालय से आपको स्वर्ण पदक प्राप्त हुआ आज कल आप कलकत्ता में आयकर-अधिकारी के पद पर नियुक्त है

साहित्य सिद्धान्त कानून—तीनों विषयों का आपने अच्छा अध्ययन किया है प्राय इन सभी विषयों पर आप की रचनायें प्रकाशित हो चुकी हैं आप की मुख्य कृतियां है—

A History of Hindi Literature The Prefaces Lordships Income-tax Past and Present.

श्री गजसिंह—श्री गि ज जैन पाठशाला ब्यावर से व्याकरण न्यायतीर्थ परीक्षायें उत्तीर्ण करने के साथ वहीं आपने जैन संकेतलिपि का शिक्षण प्राप्त किया वर्तमान में राजस्थान विधानसभा में रिपोर्टर है संकेत लिपि लेखन में अत्यन्त सिद्धहस्त है

श्रीगुलाबचन्द्र चौधरी—आप उदीयमान साहित्यकार है। आपकी अनेक गंभीर शोधपूर्ण रचनाएँ प्रकाशित हुई है। भविष्य में आपसे बड़ी बड़ी आशाएँ है।

श्री गोपीलाल अमर—जन्मस्थान पडवार (सागर-म० प्र०) अमरजी प्राचीन हृदय और नवीन मस्तिष्क के सगम तथा दर्शन और विज्ञान के समन्वय स्थल हैं सागर मे रह कर आपने शास्त्री, काव्यतीर्थ, साहित्यरत्न और एम० ए० परीक्षाये उत्तीर्ण की है सस्कृत, हिन्दी और अग्रेजी के लेखक है दर्शनशास्त्र मे विशेष रुचि रखते है प्रमेयरत्नमाला, प्रमेयरत्नालकार और अष्टसहस्री का सम्पादन कर चुके और कर रहे है अनेक अ० भारतीय स्तर की सस्थाओ के पदाधिकारी है
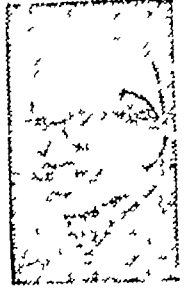
श्री गोवर्धन शर्मा—जन्मस्थान कटालिया (मारवाड) इस समय आप गुजरात कॉलेज अहमदाबाद मे हिन्दीविभाग के अध्यक्ष हैं सन् १६४२ से ही आप हिन्दी मे विभिन्न विषयो पर लिख रहे है कहानी, कविता, एकाकी शिक्षा, शोधपरक निबध, सभी मे समान दिलचस्पी है, एम० ए० (हिन्दी) मे प्रथम स्थान और स्वर्णपदक प्राप्त किया 'प्राकृत और अपभ्र श का डिंगल साहित्य पर प्रभाव' विषय पर राजस्थान वि० वि० मे पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की आप की अनेक रचनायें प्रकाशित हो चुकी हैं

प० चैनसुखदास न्यायतीर्थ—जन्मस्थान भादवा (जयपुर) बचपन मे ही लकवे की बीमारी से पैर अपग हो गए स्याद्वादमहाविद्यालय काशी मे रह कर दर्शन और साहित्य की उच्च शिक्षा प्राप्त की वर्षो मे जैन कालेज जयपुर के अध्यक्ष पद पर आसीन हैं. कुशल लेखक, सफल समालोचक, निर्भीक वक्ता और पारगत विद्वान् है जैन बन्धु और जैनदर्शन पत्रो के सम्पादक रहे 'वीरवाणी' के सम्पादक हैं भावनाविवेक, अर्हत्प्रवचन, जैनदर्शनसार और सर्वार्थसिद्धिसार आप की प्रकाशित रचनायें है प्राचीन शोध मे आप की गहरी रुचि है सस्कृतसाहित्य के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् है

डा० जगदीशचन्द्र जैन—जन्मस्थान बसेडा (मुजफ्फरनगर) दर्शनशास्त्र मे एम० ए० और समाजशास्त्र मे पी-एच० डी० किया सन् १६४२ के स्वातन्त्र्य सग्राम मे कारावास का अनुभव लिया पेकिंग विश्वविद्यालय मे हिन्दी के प्राध्यापक रहे वैशाली विद्यापीठ मे प्राकृत के प्राध्यापक रहे वर्त्तमान मे फिल्म सैसर की बम्बई ऐडवाइजरी पेनल के सदस्य हैं लगभग ४० पुस्तको के लेखक आपका 'प्राकृतसाहित्य का इतिहास' ग्रथ उत्तरप्रदेश शासन की ओर से पुरस्कृत हुआ है

श्री जयभगवान वकील—आपका ज्ञान सर्वतोमुखी था। साम्प्रदायिकता के समीप नही फटकते थे। समन्वयात्मक दृष्टि रहती थी। रूढिवादी नही थे किन्तु रूढिवादियो का विरोध भी नही करते थे। नगर मे तथा भारतीय दि० जैन समाज मे बडी प्रतिष्ठा थी। सफल साहित्यकार और अन्वेषक थे। खेद है आप अचानक ही हमारे बीच से उठ गए।

आचार्य मुनि जिनविजयजी—जन्मस्थान-रूपाहेली (मेवाड)। सामान्य वातावरण में से भी अध्यवसायी और प्रतिभाशाली पुरुष किस प्रकार अभ्युदय का मार्ग निकाल लेते हैं इसका उदाहरण आपका जीवन है। मुनि जी ने जैन एवं राजस्थानी साहित्य की अनुपम सेवा की है। इतिहास-पुरातत्त्व के महान् विद्वान् हैं। सिंघी जैन ग्रन्थमाला के संपादक हैं। राजस्थान प्राच्य विद्याप्रतिष्ठान जोधपुर आपके ही अध्यवसाय का फल है।

डा के सी सिकन्दर—सिकन्दर महाशय का जन्म पूर्व बंगाल में हुआ आपने पुरातन इतिहास और संस्कृति विषय मे एम ए कलकत्ता वि वि मे किया तत्पश्चात् शान्ति निकेतन में शोधछात्र रहे डा हीरालाल जैन की देखरेख म भगवतीसूत्र के सबन्ध में शोधकाय किया है आजकल आप जबलपुर वि वि में सीनियर रिसर्च फलो है

डा ज्योतिप्रसाद जैन—जन्मस्थान—मेरठ (उ प्र) निवासस्थान लखनऊ. वर्तमान म उत्तर प्रदेश राज्य के डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स के उपसम्पादक पद पर नियुक्त जैन सिद्धान्त भास्कर एवं जैन एन्टीक्वेरी तथा जैन सन्देश शोधाङ्क के अवैतनिक सम्पादक वायस आफ अहिंसा के भी सम्पादक मण्डल मे सम्मिलित

Jaina Sources after History of Ancient India

Jainism the oldest living Religion

भारतीय इतिहास-एक दृष्टि प्रकाशित जैनसाहित्य हस्तिनापुर, आदि पुस्तकों के प्रणेता।

लगभग तीस वर्ष से जैन इतिहास पुरातत्त्व साहित्य एवं संस्कृति पर शोध खोज एवं अध्ययन कार्य चालू है कई सौ लेख निबन्धादि अबतक विभिन्न जैनाजैन पत्र पत्रिकाओं म हिन्दी एवं अंग्रेजी मे प्रकाशित हो चुके हैं

श्रीराम भारिल्ल—जन्मस्थान—बरौदा (सागर-म प्र) राजस्थान के प्रथम श्रेणी के कवि प्रतिभाशाली लेखक और उपन्यासकार हैं आपकी कविताओं के कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें से 'आकाशकुसुम' अजमेर सरकार द्वारा प्रथम पुरस्कृत हुआ है 'प्यासे स्वर्णहिरण' उपन्यास भी आपकी ही रचना है कुछ समय से आपका झुकाव प्राचीन जैन कथाओं को आधुनिक शैली मे प्रस्तुत करने की ओर हुआ है अब तक 'तरंगवती' और 'भटकते भटकते' (कुवलयमाला का रूपान्तर) प्रकाश में आए हैं जैन साहित्य ऐसे क्षमताशाली सुलेखकों की प्रतीक्षा कर रहा है

श्री दरबारीलाल कोठिया—शास्त्राचार्य, न्यायाचार्य, न्यायतीर्थ, सिद्धांत-शास्त्री है आप्तपरीक्षा, स्याद्वादसिद्धि, न्यायदीपिका प्रमाणप्रमेयकलिका आदि अनेक जैनदार्शनिक ग्रथो का सम्पादन तथा अनुवाद किया है आपकी प्रस्ताव-नाएँ शोधपूर्ण तथा महत्त्व की है आप समाज के यशस्वी लेखक, सम्पादक, वक्ता और अध्यापक है काशी हिन्दू विश्व विद्यालय मे जैनदर्शन के प्राध्यापक है जैनदर्शन एव जैनन्याय के इने-गिने विद्वानो मे से एक है

श्री दलसुख मालवणिया—जन्मस्थान सायला (सौराष्ट्र) मालवणिया जी जैन समाज के चोटी के विद्वानो मे प्रमुख हैं। दर्शन, इतिहास आदि विविध विषयो मे आपकी अवाध गति है। हिन्दू वि० वि० बनारस मे जैनदर्शन के अध्यापक रहे। वर्त्तमान मे लाल भाई दलपत भाई भारतीय सस्कृति विद्या-मदिर के निदेशक है। आपकी साहित्यसाधना से विद्वज्जगत् सुपरिचित है।

श्री देवीलाल पालीवाल—जन्मस्थान—कांकरोली (उदयपुर-राजस्थान) एम० ए० (इतिहास) और पी०एच०डी० राजस्थान विश्वविद्यालय से किया पी०एच०डी० का विषय था "उदयपुर और अँग्रेज-१८५७-१९१९" इस समय टाडकृत राजस्थान का नवीन अनुवाद एव सम्पादन कार्य कर रहे हैं प्रथम भाग प्रकाशित हो चुका है बाल्य-काल से राजनैतिक आन्दोलन मे भाग लेना प्रारम्भ किया १९४६ तक मेवाड प्रजामडल की जनरल कौसिल के सदस्य रहे १९५०-५२ तक राजस्थान विद्यार्थी फेडरेशन के और १९४९ से १९५२ तक उदयपुर कम्युनिस्ट पार्टी के मत्री रहे है

डा० देवेन्द्रकुमार जैन—चिरगाव (झासी) के निवासी हैं उच्चकोटि के लेखक, सम्पादक, समालोचक और अध्यापक है सरस्वती, नागरी प्र० पत्रिका, सम्मेलनपत्रिका आदि प्रथम श्रेणी की पत्रिकाओ मे आपके शोधपूर्ण निबन्ध प्रकाशित होते रहते हैं विश्वप्रकाश, प्राकृतछन्दकोश, शब्दभेदप्रकाश, भविष्य-दत्तकथा, आदि का सम्पादन और राष्ट्रभाषा मे अनुवाद कर चुके हैं सस्कृत-साहित्य सबन्धी बहुसख्यक उपाधियो से विभूषित सुयोग्य विद्वान् है

डा० नरेन्द्रकुमार भानावत—जन्मस्थान—कानौड (राज०) श्रीभानावत उदीयमान विशिष्ट मेधावी विद्वान् है मेट्रिक से लेकर एम०ए० तक की सभी परीक्षाओ मे आपने प्रथम श्रेणी प्राप्त की साहित्यरत्न भी प्रथम श्रेणी मे ही हुए वेलिसाहित्य-राजस्थानी पर पी-एच०डी० की उपाधि ग्रहण की 'कविता, कहानी, एकाकी, निबन्ध, गद्यकाव्य आदि लिखने मे सिद्धहस्त है अनेक अ०, भारतीय निबन्धप्रतियोगिताओ मे स्वर्णपदक पुरस्कार प्राप्त कर चुके है आपकी अनेक ग्रथ-रचनाएँ अभी तक अप्रकाशित है, यह हिन्दीसाहित्य का दुर्भाग्य ही समझा जा सकता है वर्तमान मे आप राजस्थान वि०वि० मे हिन्दी विभाग मे अध्यापक पद पर आसीन है

श्री परमानन्द व्यास—हिन्दीसाहित्य में एम० ए० परीक्षा उत्तीर्ण की किन्तु चित्रकला की ओर आपका विशेष आकर्षण रहा जयपुर हाई स्कूल सर जे जे स्कूल ऑफ आर्टस तथा लन्दन युनिवर्सिटी से विशेष डिप्लोमा प्राप्त किये चित्रकला में राजस्थान अकादमी से पुरस्कार प्राप्त किये टैगोर चित्र प्रतियोगिता में भी आप पुरस्कृत हुए आप राजस्थान के वरिष्ठ चित्रकलाकार हैं।

श्री पारसमल प्रसून—प्रसून लघुकथाएं लिखने में अत्यन्त कुशल हैं हिन्दी में एम०ए० और साहित्यरत्न हैं। धार्मिक स्वाध्याय और शिक्षण में विशेष रुचिसम्पन्न है स्वाध्यायसंघ जयपुर के सदस्य होने के नाते पर्युषण पर्व के प्रसंग पर यत्र तत्र प्रवचन करने जाया करते हैं। 'जिनवाणी' (जयपुर) के सहसम्पादक हैं।

श्री परमानन्द शास्त्री—शास्त्रीजी ने गणेश जैन विद्यालय सागर में अध्ययन करके साहित्य के क्षेत्र म प्रवेश किया आप साहित्यिक एव ऐतिहासिक अनुसंधान म विशेष अभिरुचि रखते है लगभग १५ निबन्ध लिख चुके है समाधितन्त्र इष्टोपदेश आदि ग्रंथो का अनुवाद किया है 'अनेकान्त' के सम्पादक है और हिन्दी जैन कवियो का इतिहास तैयार कर रहे है

मुनि श्रीपुण्यविजयजी—मुनि श्री की कठोर साहित्यसाधना से विद्वद् वर्ग भलीभांति परिचित है। दर्शन इतिहास पुरातत्त्व एव संस्कृत प्राकृत आदि भाषाओ के तलस्पर्शी पण्डित है। जैसलमेर-शास्त्रभंडार के आप उद्धारक हैं। निरन्तर साहित्यसेवा में निमग्न रहने वाले और वृद्धावस्था में भी चैन न लेने वाले इस तपस्वी की जितनी सराहना की जाय थोड़ी ही रहेगी।

श्री पुरुषोत्तमलाल मेनारिया—जन्मस्थान उदयपुर (राज) हिन्दी मे एम ए और साहित्यरत्न करने के पश्चात् आप गहरी लगन के साथ राजस्थानी साहित्य की सेवा मे निरत हैं राजस्थान विद्यापीठ-शोधसंस्थान के संचालक शोधपत्रिका के सहायक-सम्पादक राजस्थान विद्यापीठ कालेज के प्रिंसिपल आदि पदो पर सफलतापूर्वक कार्य कर चुके है इस समय राजस्थान सरकार के राजस्थान प्राच्य विद्याप्रतिष्ठान जोधपुर मे प्रवर शोधसहायक है राजस्थान की रसधारा राजस्थानी भाषा की रूपरेखा और मान्यता ना दरा राजस्थान की मारवाड़ राजस्थानी वार्ता राजस्थानी लोकगीत राजस्थानी साहित्य आदि-आदि अनेक रचनायें प्रकाशित हो चुकी है राजस्थानी साहित्यजगत् मे आप की सेवायें प्रशस्य है

पं० के० भुजबली शास्त्री—श्री भुजबलीजी कन्नड भाषाभाषी हैं जन्म दक्षिण भारत के कर्णाटक प्रान्त मे हुआ परन्तु कर्मक्षेत्र विहार रहा है आप सस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, कन्नड एव अग्रेजी भाषाओ के विज्ञ हैं. पूर्वोक्त सभी भाषाओं मे शताधिक शोधपूर्ण निबन्ध लिखे हैं आपने सस्कृत के सुप्रसिद्ध मुनिसुव्रतमहाकाव्य, भुजबलीचरितम्, चित्रसेन-पद्मावतीचरितम् एव भव्यानन्द जैसी पाण्डुलिपियो का सशोधन, सपादन और हिन्दी अनुवाद किया है

कन्नड प्रान्तीय ताडपत्रीय ग्रथसूचि एव प्रशस्तिसग्रह आप की अनुसन्धानपूर्ण शोध-कृतिया है आदर्श जैन महिलेयरू, आदर्श जैन वीररू, आदर्श साहितिशन्नु, जैन वाड्मय, जैनर दैनिक षट्कर्म, जैनदर्शन, निबन्धसग्रह, महावीरवाणी, समवसरण, आदि कन्नड भाषा सम्बन्धी आप की कई रचनायें प्रकाशित हुई हैं आप की सृजनशील, मौलिक प्रतिभा द्वारा हिन्दी मे 'जैन प्राकृत वाड्मय' जैसे शोधपूर्ण गम्भीर निबन्ध भी प्रस्तुत किये गये है

शरणसाहित्य [कन्नड मासिक], वीरवाणी [कन्नड मासिक], विवेकाभ्युदय [कन्नड मासिक], जैनसिद्धान्त-भास्कर [हिन्दी त्रैमासिक] तथा जैन एन्टिक्वेरी [अग्रेजी त्रैमासिक] इन पत्रो के सम्पादकमण्डल मे रहकर, इनका सम्पादनकार्य भी सुचारु रूप से किया है इस समय भी 'गुरुदेव' [कन्नड मासिक] का सम्पादन कर रहे है

आप की 'जैन वाड्मय' नामक रचना को मैसूर सरकार ने बहुमानित किया है आप के 'वीर वकेय' नामक प्रवन्ध को मैसूर सरकार ने एव 'मूडबिद्री' नामक निबन्ध को केरल सरकार ने अपने पाठ्य-ग्रथो मे स्थान दिया है दक्षिण भारत के जैन आचार्य, जैन राजकुमार और जैन राजवशो का इतिहास आप के द्वारा प्रामाणिक रूप मे प्रस्तुत किया गया है

श्रीभुवनेश्वरनाथ 'माधव'—विहार मे आप का जन्म हुआ, हिन्दू वि० वि० काशी से अग्रेजी तथा हिन्दी मे एम० ए० किया और विहार वि० वि० से पी-एच० डी० सन्त साहित्य, मीरा की प्रेमसाधना, धूपदीप, पूजा के फूल, हँसता जीवन, मेरे जनम-मरण के साथी, रामभक्ति मे मधुर उपासना, श्रीअरविन्दचरितामृत आदि रचनायें प्रकाशित हो चुकी हैं भविष्य, चाँद, सनातनधर्म, कल्याण एव कल्याणकल्पतरु के सम्पादक रह चुके हैं इस समय विहार राष्ट्रभाषापरिषद् (विहार सरकार) के निदेशक हैं
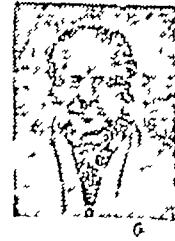
श्रीभँवरलाल नाहटा—जन्मस्थान बीकानेर [राज०] व्यवसायी परिवार मे जन्म लेकर भी आप राजस्थानी और जैनसाहित्य की प्रशसनीय सेवा कर रहे हैं सती मृगावती, राजगृह, युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि आदि आप के द्वारा लिखित अनेक ग्रथ प्रकाशित हो चुके हैं ऐतिहासिक जैन काव्यसग्रह, ठक्कुर फेरु ग्रथावली, हमीरायण, कृति कुसुमाजलि, रासपचक आदि आपके सम्पादन हैं आप सुप्रसिद्ध साहित्यसेवी श्रीअगरचन्द नाहटा के भ्रातृज एव सहयोगी हैं

रहते थे आप ६४ वर्ष तक निरन्तर स्व-पर कल्याण मे लीन रहे ऐसी दिवगत महान् आत्मा की पवित्र स्मृति किस विचारशील मानव को न आयेगी ? मेरे जीवन मे अन्तिम क्षण तक उनकी वालसुलभ सरलता स्मरण रहेगी ऐसे श्रद्धेय पुरुषो के चरणो मे मैं नतमस्तक हूँ

प्र० श्रीपुष्करमुनिजी महाराज

एक ज्योतिर्मय जीवन

बहुत शौक मे सुन रहा था जमाना,
तुम्हीं सो गए दास्ता कहते-कहते !

जोधपुर से आए एक सज्जन के मुख से मत्री हजारीमलजी महाराज के स्वर्गवास की हृदयवेधक सूचना सुनी तो सिर चकरा गया और एक क्षण तक विश्वास ही नही हुआ कि क्या यह सत्य है ? मैंने उनसे प्रश्न किया कि क्या कह रहे हैं आप ? उन्होंने स्वामी जी महाराज की रुग्णता का विस्तृत विवरण सुनाया और साथ ही यह भी बताया कि जोधपुर से अत्येष्टि-क्रिया मे सम्मिलित होने के लिये श्रद्धालु श्रावक वस लेकर पहुँचे है

मत्री मुनिश्री के स्वर्गवास के दु खद समाचारो ने सहसा चालीस वर्ष पुरानी स्मृतियाँ जाग्रत कर दी वि० स० १९८० का वर्षावास श्रद्धेय सद्‌गुरुवर्य महास्थविर श्रीताराचन्द जी महाराज का पाली मे था मैं भी उस समय गुरुदेवश्री के सान्निध्य मे दीक्षा लेने से पूर्व धार्मिक अध्ययन कर रहा था उस वर्ष पडित-प्रवर श्री जोरावरमल जी महाराज के साथ आप श्री का चातुर्मास भी वही था गुरुदेव से आप वय एव दीक्षा आदि मे लघु थे गुरुदेव के प्रति आपकी अपूर्व निष्ठा थी और उनका भी आप पर अपार स्नेह था आप समय-समय पर उनके पास भी पधारते रहते थे मुझ पर भी आपश्री की असीम कृपा थी आपने मुझे उस समय मधुर शिक्षाएँ प्रदान की—वे आज भी मेरे जीवन की अमूल्य थाती हैं

पिछले चालीस वर्षों मे बीसो बार स्वामी जी महाराज के दर्शनो का सौभाग्य सम्प्राप्त हुआ है जयपुर मे सयुक्त वर्षावास करने का अवसर भी मिला है उनकी नेत्र चिकित्सा के अवसर पर लम्बे समय तक सेवा का अवसर प्राप्त हुआ, आगमिक, सामाजिक, ऐतिहासिक आदि विविध विषयो पर वार्तालाप भी किया है वह अगणित शिष्ट वाग्विनोद—आज भी कानो के गहन गह्वरो मे प्रतिध्वनित हो रहा है

सन्त की दृष्टि से स्वामी जी म० की गणना प्रथम कोटि मे की जायेगी वे उच्चकोटि के सहृदय सन्त थे उनका जीवन आचार और विचार का पावन सगम था आज के युग मे प्रतिभा सम्पन्न विद्वानो की कमी नही है, यह फसल बडी तेजी से वढती जा रही है विचारको का बाजार भी वडा गर्म है ग्रन्थकारो का तो कहना ही क्या ! वे भी अल्प-सख्यक नही रहे है पर सच्चे सन्त वडे मँहगे हो गये हैं किन्तु स्वामी जी महाराज सच्चे सुसस्कारी सन्त थे इसी कारण जन-जन के वे हृदय के हार और जन-मन के सम्राट् थे

सहृदयता, नियमवद्धता, परिश्रमशीलता, परदुखकातरता इत्यादि जो सद्‌गुण सन्तजीवन मे अपेक्षित है, वे सभी स्वामी जी महाराज मे अत्यधिक मात्रा मे विद्यमान थे उनका हृदय कुसुम से भी अधिक कोमल और मक्खन से भी अधिक मृदु था उनकी नवनीत-सी स्निग्ध सहृदयता, विपण्य हृदयो के लिए मरहम का काम देती थी सुहावनी सुवह से भी ज़ियादा था उनमे आकर्षण

स्वामी जी महाराज का अपना एक केन्द्रीभूत विचार था कि अधिक वार्तालाप से समय और शक्ति का अपव्यय होता है, अत बहुत ही कम वोलो, और जव वोलो तो मधुर वोलो मधुर वाणी ही सन्तजीवन की शोभा है मुख को कवियो
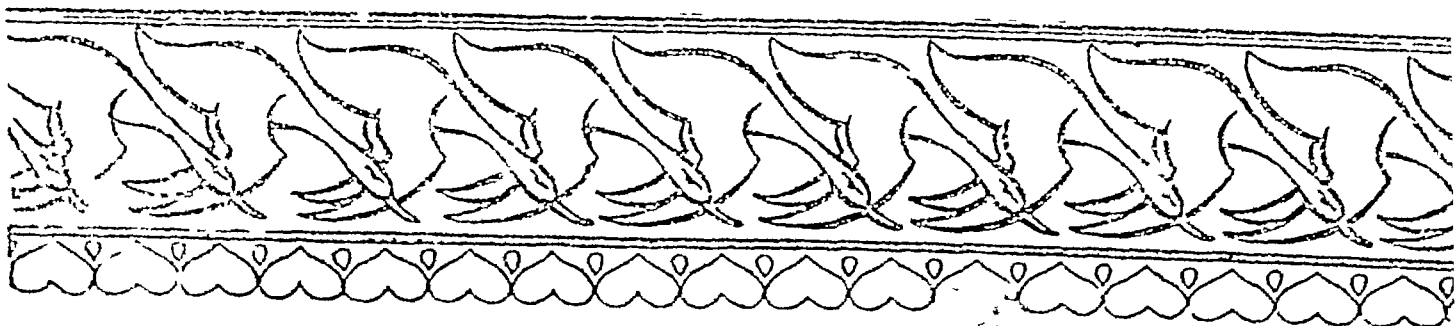
श्री रंजन सूरिदेव— देवजी साहित्याचार्य पुराणाचार्य व्याकरणतीर्थ जैनदर्शनशास्त्री साहित्यरत्न साहित्यालंकार और बी ए उपाधियों से विभूषित है। बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन पटना के सचालक और साहित्य मंत्री हैं। बिहार राष्ट्रभाषापरिषद् की त्रैमासिक 'परिषद् पत्रिका के सम्पादक तथा 'साहित्य' के स सम्पादक है। आपकी बहुतसी रचनाएं प्रकाश में आ चुकी है।

श्री बद्रीप्रसाद पचोली—जन्मस्थान-खानपुर (झालावाड़ राज) हिन्दी और संस्कृत में एम ए तथा साहित्यरत्न। वर्तमान में किशनगढ़ के शासकीय कालेज में प्रोफेसर है। 'स्वदेश' (कोटा) सम्पादक रह चुके है। शोधप्रधान निबन्धों की ओर विशेष रुचि है यों कविता नाटक आदि भी लिखते है।

श्री वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री—श्रीवर्धमान शास्त्री के पिताश्री का नाम पार्श्वनाथ शास्त्री है जैन-समाज के अग्रगण्य विद्वान है उच्च कोटि के लेखक और वक्ता है जैन बोधक एव जैनदर्शन नामक हिन्दी मासिकों के तथा कर्णाटक भाषा के 'विश्वबन्धु' के सम्पादक है धार्मिक परीक्षा-बोर्ड आचार्य कुन्थुसागर ग्रन्थमाला तथा आचार्य सम्भूसागर ग्रन्थमाला के अवैतनिक मत्री और अनेक सस्थाओ के ट्रस्टी है अहिन्दी भाषा भाषी होकर भी आप हिन्दी भाषा तथा समाज की बहुमूल्य सेवा कर रहे है

श्री विजयेन्द्र सूरिजी—सूरिजी पुरानी पीढी के इतिहास एवं पुरातत्त्व आदि अनेक विषयो और भाषाओ के प्रकाण्ड पडित है। भगवान् महावीर के जीवन पर आपने जो लिखा है उसी से आपके पाण्डित्य का पता चल सकता है। आपकी अनेकानेक विद्वत्तापूर्ण कृतियाँ प्रकाश में आ चुकी है। सूरिजी इस समय अत्यन्त वृद्ध नेत्रहीन और अस्वस्थ अवस्था में अंधेरी (बम्बई) म है।

श्री शांतिलाल भारद्वाज राकेश —जन्मस्थान—झालावाड़ (कोटा) राकेशजी राजस्थान के साहित्यकारो म अग्रगण्य है। आपके अनेक ग्रथ प्रकाशित और पुरस्कृत हो चुके है। वर्तमान में राजस्थान साहित्य अकादमी क कार्य निदेशक है।

श्री रतनलाल संघवी — संघवी जी छोटी सादड़ी (राज०) के निवासी हैं। सोलह वर्ष की उम्र से ही अध्यापन कार्य में निरत हैं। जैनपत्र-पत्रिकाओं में समीक्षात्मक तथा भावनात्मक शैली पर जैन दर्शन तथा अन्य विषयों पर लिखते रहते हैं। 'जैनागम सूक्ति सुधा' तथा प्राकृत व्याकरण की हिन्दी में वृहद् व्याख्या आपकी उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। 'अनेकान्त' में आपकी साहित्यिक एवं ऐतिहासिक लेखमाला प्रकाशित हो चुकी है।
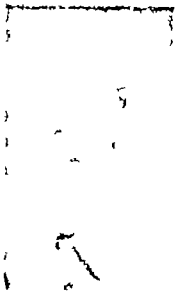
श्री रमेश उपाध्याय—राजस्थान के उदीयमान साहित्यकार हैं। आपकी भाषा प्राञ्जल और भावों की अभिव्यक्ति प्रभावपूर्ण होती है।

श्री राजाराम जैन—आप जबलपुर के निवासी नवोदित साहित्यकार हैं। अभी-अभी आपने डाक्टरेट किया है। आरा-कालेज में अध्यापक हैं। अपभ्रंश भाषा के विशेषज्ञ विद्वान् हैं।

कुमारी रूथ एम० वेल—कुमारी वेल का विशेष परिचय उपलब्ध नहीं है। इस ग्रन्थ में प्रकाशित निबन्ध से ही जाना जा सकता है कि आप पाश्चात्य होकर भी भारतीय साहित्य और संस्कृति में गहरी रुचि रखती हैं। आप डा० ईश्वरचन्द्र शर्मा की शिष्या हैं।
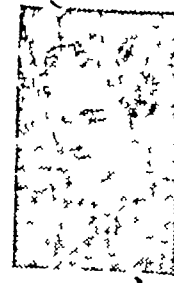
श्री रूपेन्द्रकुमार पगारिया—जन्मस्थान-खरवडी (महाराष्ट्र)। आप इस समय ला० द० भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर अहमदाबाद में सहायक संशोधक हैं। संस्कृत, प्राकृत, पाली आदि भाषाओं के तथा दर्शनशास्त्र के अभ्यासी हैं।

श्री हरीन्द्रभूषण जैन—सागर (म प्र) के निवासी सागर वि वि से पी एच डी की उपाधि प्राप्त की इस समय विक्रम वि० वि उज्जैन म प्राध्यापक है आपने कालिदास पर अनेक शोधपत्र लिखे है डी लिट के लिए 'आचार्य हेमचन्द्र' पर अनुसन्धान कर रहे है स्वाधीनता-संग्राम म सक्रिय भाग लेने के पुरस्कार स्वरूप चार मास का कारागार और चार वर्ष का गुप्त जीवन व्यतीत कर चुके है. जनदर्शन और संस्कृतसाहित्य के समस्पर्शी विद्वान है

डा इन्द्रचन्द्र शास्त्री—जन्मस्थान डबवाली मडी प्रारंभिक अध्ययन सेठिया विद्यालय बीकानेर में करके आप बनारस गए वहाँ संस्कृत अँगरेजी आदि भाषाओ का तथा दर्शन-शास्त्र का उच्चकोटि का अध्ययन किया न केवल जन समाज के वरन् समस्त भारत के प्रमुख विद्वानो मे आपकी गणना है वेदान्त और जैन-दर्शन के पारंगत पण्डित और प्रथम श्रेणी के लेखक हैं दु ख है कि आप चक्षुरिन्द्रियों से विहीन हो गए है फिर भी आपकी साहित्य साधना अविराम गति से चल रही है अँगरेजी और हिन्दी भाषा में आपके अनेक ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं

महासती श्रीउमरावकुंवरजी—जन्मस्थान दादिया (किसनगढ) दोराई (अजमेर) के श्री चम्पालालजी हीगड के साथ पाणिग्रहण हुआ अल्पकाल में ही पतिवियोग होने पर आपने मुमुक्षम महामार्ग का अवलम्बन लिया कुछ समय पश्चात् आपके पिता श्रीजगन्नाथसिंहजी ने भी जो मुनि मागीलालजी के नाम से प्रसिद्ध हुए, आपके पथ का अनुसरण किया

महासतीजी ने जैन सिद्धांताचार्य उपाधि प्राप्त की है अँगरेजी और संस्कृत प्राकृत भाषा की विदुषी है प्रवचन शैली मधुर और प्रभावक है राजस्थान तो आपका विहार क्षेत्र है ही युक्तप्रान्त हिमाचल प्रदेश और काश्मीर तक भ्रमण करके अद्भुत साहस का परिचय दिया है

साध्वी श्रीकुसुमवतीजी—आपकी जन्मभूमि मेवाड़ है आप साध्वीसघ मे अग्रगण्य विदुषी है संस्कृत प्राकृत हिन्दी आदि भाषाओं में निपुण जैन सिद्धान्ताचार्य परीक्षा गुरुकुल जैन सिद्धांतशाला ब्यावर से उत्तीर्ण की है प्रवचनदर्शी प्रभावक है सुलेखिका है विभिन्न पत्रों में आपकी रचनाएँ प्रकाशित होती रहती है आपकी मुख्य विहारभूमि राजस्थान है भविष्य मे आपसे बहुत आशाएँ है

श्री जैनेन्द्रकुमार—दो चार पक्तियो मे परिचय देना जैनेन्द्रजी के महत्त्व को कम करना है आप अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के विचारक और साहित्यकार हैं

आचार्य श्रीतुलसी—आचार्य श्री तुलसी का परिचय देने की आवश्यकता नहीं तुलसी अभिनन्दन ग्रथ आपके महान् व्यक्तित्व का परिचायक है आपने आचार्यत्व-काल म तेरापंथी समाज मे काम की नयी दिशाओ मे स्तुत्य एव सराहनीय प्रगति की है युग की पुकार के साथ धर्मव्यवस्था मे आपका स्थान बहुत ऊँचा है

श्री [illegible]—जन्मस्थान [illegible] (गढ़वाल) [illegible] [illegible] [illegible] के पश्चात् आप [illegible] के [illegible] पदों पर काम कर चुके हैं [illegible] में लिखित और [illegible] और सामाजिक संस्थाओं के [illegible] मंत्री [illegible] पद पर काम किया है आपकी गद्य-पद्य-रचनाएँ अनेक पत्रों में प्रकाशित होती रही हैं

श्री श्रीचन्द जैन—जन्मस्थान [illegible] (झाँसी) एम. ए., एल-एल. बी. परीक्षाएँ उत्तीर्ण करने के पश्चात् [illegible] राज्य में जिलाधीश के रूप में काम किया, मगर आन्तरिक रुचि आपको शिक्षा-साहित्य के क्षेत्र में खींच लाई इस समय आप गवर्नमेंट कालेज [illegible] में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हैं अनेक निबन्ध-रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं जिनमें से कई भारत सरकार, उत्तरप्रदेश सरकार और विन्ध्यशासन द्वारा पुरस्कृत हुई हैं

श्री सत्यकाम वर्मा—डाक्टर वर्मा, कांगड़ी गुरुकुल के स्नातक हैं हिन्दी और संस्कृत में एम. ए. की तथा 'भर्तृहरि के वाक्यपदीय का भाषा तात्त्विक अध्ययन' विषय पर पी. एच. डी. की उपाधि प्राप्त की इटली के रोम विश्वविद्यालय में संस्कृत के अध्यापक रहे वहाँ की सबसे बड़ी प्राच्य विद्यासंस्था में सम्पादन-कार्य किया आप हिन्दी में अनेक आलोचनात्मक ग्रंथों एवं निबंधों के लेखक हैं

श्री सुन्दरलाल जैन—जन्मस्थान पैगना (सागर म० प्र०) आप वैद्य भूषण, वैद्यरत्न, आयुर्वेदालंकार आदि अनेक उपाधियों से विभूषित कुशल चिकित्सक हैं इटारसी की तिलक फार्मेसी के संस्थापक हैं अनेक जैन संस्थाओं के मंत्री, उपाध्यक्ष और अध्यक्ष हैं अनेक स्वर्णपदक प्राप्त कर चुके हैं आयुर्वेदिक पत्रों में आपकी रचनाएँ समय-समय पर प्रकाशित होती रहती हैं आप प्रगतिशील विचारों के सदेशवाहक हैं श्री महेन्द्र राजा आपके ही सुपुत्र हैं.

श्री सौभाग्यमल जैन—जन्मस्थान शुजालपुर (मध्यप्रदेश) जैन-समाज और म० प्र० के राजनीतिक क्षेत्रों में बहुविख्यात, उच्च आदर्शों पर जीवन की प्रतिष्ठा करने वाले भावनाशील विद्वान् हैं सन् १९३० से राजनीति में सक्रिय हैं अनेक राजनीतिक संस्थाओं में अनेक उत्तरदायित्वपूर्ण पदों पर प्रतिष्ठित रहे हैं मध्यभारत-विधान सभा के उपाध्यक्ष, अध्यक्ष, वित्तमंत्री और राजस्वमंत्री रह चुके हैं

से कमल की उपमा से समलंकृत किया है अतः उससे ललित शब्दावली ही निकलनी चाहिये स्वामीजी महाराज जब भी बोलते थे तब ऐसा ही प्रतीत होता था कि उनकी वाणी में मिश्री घुली हुई है वे स्वयं कम बोलना पसन्द करते थे मौन के सम्बन्ध में उनके विचार मननीय थे उन्होंने एक बार कहा था— मौन केवल धर्म ही नहीं अपितु स्वास्थ्य के लिए भी एक अच्छा टॉनिक है ! स्वामी जी महाराज का रहन-सहन बड़ा ही सादा एवं सीधा था जहाँ तक शुद्ध खादी के वस्त्र उपलब्ध होते थे उन का ही उपयोग करना श्रेयस्कर समझते थे छोटा-सा और फटा-सा वस्त्र शरीर पर यों ही डाल लेते थे कभी कोई उन्हें कहता तो मुस्करा कर कह देते— भाई, शरीर ही तो ढँकना है वस्त्र नया हो या पुराना हो छोटा हो या बड़ा !

स्वामीजी महाराज की स्मरणशक्ति विलक्षण थी उन्हें पूज्य जयमलजी म आचार्य देवचन्दजी उपाध्याय यशोविजयजी आनन्दघनजी विनयचन्दजी आदि अनेक सन्तों के अध्यात्मरस से छलछलाते हुये पद कण्ठस्थ थे उनका गला भी सुरीला था जब वे गाते तो श्रोता झूम उठते थे रामायण महाभारत आदि के प्रसंगों को बहुत ही सुन्दर ढंग से सुनाया करते थे इसके अतिरिक्त कर्मग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र व आगम के सुन्दर स्थल उनके स्मृतिपट पर नाचते रहते थे राजस्थानी लोकगाथाएँ लोकोक्तियाँ चुटकुले आदि भी उन्हें बहुत से स्मरण थे जब वे उन्हें सुनाते थे तब श्रोता हँस-हँस कर लोट-पोट हो जाते थे

आज स्मृति के झरोखे से अनेक स्मृतियाँ झाँक रही हैं उन सभी पावन स्मृतियों को इस लघु संस्मरण में पिरोना कठिन है उनकी स्मृति तो सदा बनी ही रहनी चाहिए

○

श्रीज्ञान मुनिजी महाराज

दिव्य पुरुष के दर्शन

सन्त का वेष लेने वाले व्यक्तियों की संसार में कमी नहीं है अकेले भारत में ५६ लाख के लगभग साधु गिने जाते हैं. साधुओं की इतनी विशाल संख्या होने पर भी लोगों का आचार-विचार समुन्नत न होकर अवनत होता चला जा रहा है. यह आश्चर्य की बात है अकेला सूर्य अंधकार को नहीं छोड़ता फिर जहाँ लाखों सूर्य हों तब भी अंधकार बना रहे तो मानना पड़ेगा कि सूर्य अपने सूर्यत्व से विहीन हो गया है उसकी अंधकार को नष्ट करने की शक्ति समाप्त हो गई है ठीक यही बात आज के साधु वर्ग पर भी लागू होती है आज साधु वेष अवश्य है पर वास्तविक साधु बहुत कम है साधुता के नाम पर आज ढोंग अधिक पनप रहा है ऐसे वेषधारी साधुओं से समाज एवं राष्ट्र का हित सम्पन्न नहीं हो सकता समाज एवं राष्ट्र का हित उन्हीं साधु-सन्तों से संभव है जो मोह-माया के आवरण को दूर हटा कर अहिंसा संयम और तप के विराट् साधना-पथ पर—बढ़ते जा रहे हैं तथा आत्म भावना एवं जनहित-कल्पना में अपनी समस्त शक्तियाँ निछावर कर देते हैं ऐसे सन्तों का दर्शन बड़े सौभाग्य से ही होता है संस्कृत के एक आचार्य को यह कहना पड़ा—

निज-हृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ?

अर्थात् अपने हृदय में गुफा का विकास करने वाले सन्त मुनि कितने हैं ? उत्तर स्पष्ट है—बहुत थोड़े हैं चाणक्य नीति में इसी तथ्य को समझाया है—

साधवो न हि सर्वत्र चन्दनं न वने-वने हर किसी जगल में चन्दन के वृक्ष नहीं मिला करते हैं वैसे ही हर स्थान पर साधु पुरुष भी नहीं मिला करते हैं

हमारे श्रद्धेय श्रीहजारीमलजी म ऐसे ही त्यागी वैरागी मुनिवर थे वैराग्य जप-तप के विशाल सरोवर में वे गहरी डुबकी लगाने वाले सन्त थे त्याग की उग्रता के साथ-साथ उनका अन्तर्जगत् बाहर से भी अधिक सुन्दर था समुज्ज्वल

सन्त हृदय नवनीत समाना कहा कविन पर कहिय न जाना !
निज दुःख द्रवहिं सदा नवनीता पर दुःख द्रवहिं सन्त पुनीता !!

यह उक्ति इनके जीवन पर शत प्रतिशत सत्य प्रमाणित होती है गोसाईं जी का कहना है—कवियों ने सन्तों के हृदयों को नवनीत की उपमा दी है सन्त हृदय को वे माखन-तुल्य समझते हैं पर वस्तुस्थिति ऐसी प्रतीत नहीं होती क्योंकि माखन उस समय द्रवित होता है पिघलता है जब स्वयं ताप पाता है पर सन्तहृदय अपने ताप से कभी द्रवित नहीं होते दुःख-वेला में तो वे हँसते रहते हैं कभी घबराते नहीं हैं वे तो अन्य पीड़ित व्यक्तियों की पीड़ा को देखकर या उसका स्मरण होते ही द्रवित हो उठते हैं अतः सन्त हृदय और नवनीत दोनों में आपसी कोई मेल नहीं है एक पर-परिताप से द्रवित होता है और एक निज के परिताप से अपनी बात संक्षेप में कह दूं श्रद्धेय मन्त्री श्री हजारीमल जी म बड़े कोमल स्वभाव के महापुरुष थे माखन की कोमलता उनकी कोमलता के समकक्ष नहीं बैठ सकती थी

धन्य हैं वे महापुरुष जिन्होंने आत्मा और शरीर के वास्तविक भेद को समझ कर अपनी शान्ति को कभी भंग नहीं होने दिया इन मंगलमूर्ति महापुरुष की आदर्श कोमलता तथा वज्रमय कठोरता देखकर ही मेरे मन की परत पर यह संस्कृत-वाक्य उभर आया है—'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि

○

श्रीरोशनमुनिजी महाराज

एक वाक्य जीवन-दीप बन जाय

स्थविरपदविभूषित श्रीहजारीमलजी महाराज गुणागार के रूप में आज भी मेरे सम्मुख साकार हैं ब्यावर में ही उनके सामीप्य दर्शन और सेवा का शुभ अवसर प्राप्त हुआ था वह समय अल्प था परन्तु उस स्वल्प समय की पवित्र घड़ियों में ही मैंने उनमें कुछ ऐसे गुणों के दर्शन किये थे जिनके आकर्षण स्वरूप उनके दर्शन की शुभाशा पुनःपुनः किया करता था

वे हृदय से स्वच्छ कोमल करुणामूर्ति थे उनके विमल हृदय से निकले वे शब्द आज भी मुझे प्रतिक्षण याद आते हैं मैं सोचा करता हूँ उनके ये शब्द ही मेरी साधना का आधार बन जाएँ उन्होंने कहा था— रोशन मुनि तुम निर्मोही और अमायी हो' उन पूज्य आत्मा के इस स्वर्णिम वाक्य को स्मरण करके श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ उनका यह वाक्य ही मेरा जीवन-दीप बन जाय इस वाक्य को मैं जीवनपर्यंत न बिसरूँ

○

श्री रिखबराज कर्णावट एडवोकेट जोधपुर

सरलता के मूर्तिमान स्वरूप

स्वामीजी श्रीहजारीमलजी महाराज ने लगभग ६५ पैंसठ वर्षों तक जैन-साधु का जीवन बिताया प्रकाश-स्तम्भ की तरह निरभिमान ... ... जन-मन को सत्पथ पर चलने की प्रेरणा प्रदान करते रहे जीवन भर उनकी यही चेष्टा रही कि ... ... से पीड़ित मानव समाज का कल्याण हो स्वामीजी प्रतिपल इसी भावना में रहते थे कि—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात् ।
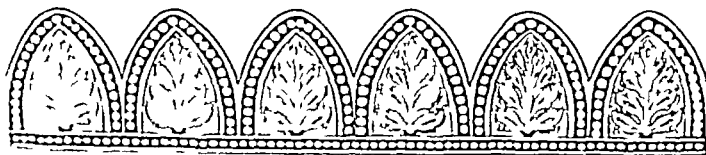
था चमत्कृतिपूर्ण था सयम साधना का परम पवित्र अनुराग उनके कण-कण मे व्याप्त हो रहा था उनके जीवन मे सयम अपनी पराकाष्ठा तक पहुँच चुका था इस तरह सयम-साधना के अध्यात्म आनन्द मे वे सदा अप्रमत्त भाव से निमग्न रहा करते थे

भगवती सूत्र मे भगवान् महावीर ने सयमी पुरुष के सुख का बडी विलक्षणतापूर्वक वर्णन किया है उक्त सूत्र के शतक १४, उद्देश्य ६ मे लिखा है कि 'एक मास की दीक्षा वाला श्रमण, निर्ग्रन्थ वाणव्यन्तर देवो के सुख को अतिक्रमण कर जाता है दो मास की दीक्षा वाला नागकुमार आदि भवनवासी देवो के सुखो का अतिक्रमण कर जाता है इसी प्रकार तीन मास की दीक्षा वाला असुरकुमार के देवो के सुख को, चार मास की दीक्षा वाला ग्रह नक्षत्र एव ताराओ के सुख को, पाँच मास की दीक्षा वाला ज्योतिष्क देव जाति के इन्द्र चन्द्र एव सूर्य के सुख को, छ मास की दीक्षा वाला सौधर्म एव ईशान देवलोक के सुख को, सात मास की दीक्षा वाला सनत्कुमार एव माहेन्द्र देवो के सुख को, आठ मास की दीक्षा वाला ब्रह्मलोक एव लान्तक देवो के सुख को, नव मास की दीक्षावाला, आनत और प्राणत देवो के सुख को, ग्यारह मास की दीक्षा वाला नव ग्रैवेयक देवो के सुख को तथा बारह मास की दीक्षा वाला श्रमण अनुत्तरोपपातिक देवो के सुख को अतिक्रमण कर जाता है"

जहाँ तक मैं जानता हूँ, वहाँ तक कह सकता हूँ कि भगवान् महावीर की उक्त मान्यता श्रद्धेय मत्री श्रीहजारीमलजी म० के जीवन मे व्यवहार का रूप ले रही थी महाराजश्रीजी अपनी सयम-साधना मे तथा त्याग-वैराग्य की आराधना मे सदा आनन्दविभोर रहा करते थे उनके मस्तक पर कभी सलवट नही देखी गई क्या बाल, क्या युवक, क्या वृद्ध, क्या नारी, क्या पुरुष सभी पर वे स्नेह की, प्रसन्नता की—मधुर वर्षा किया करते थे सयम का वे पूर्णतया आनन्द लूट रहे थे

परम आदरणीय, सन्तहृदय मत्री श्रीहजारीमलजी म० का परम पवित्र जीवन एक विस्तृत उपवन के समान था उसमे त्याग, वैराग्य, जप, तप, ब्रह्मचर्य, धैर्य, उदारता, सहृदयता, कठोरता, कोमलता, दु खी जनो के प्रति वत्सलता आदि ऐसे अनेको सुगन्धित गुण-पुष्प दिखाई देते थे, जिनकी सुगन्ध ने लाखो हृदयो को सुगन्धित बना दिया था मत्री श्री के जीवन का एक-एक गुण इतना विलक्षण और अद्भुत है कि कुछ कहते नही बनता सभी सद्गुणो के सम्बन्ध मे कुछ न कह कर आज मै श्रद्धेय मत्री श्री के एक गुण का वर्णन करूँगा वह गुण है—

"वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि"

मत्रीश्रीजी वज्र से भी अधिक कठोर थे, और पुष्प से भी ज्यादा कोमल वज्र और पुष्प दोनो के परस्पर विरोधी गुण एक स्थान पर कैसे टिक सकते है ? इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक है मैं समझता हूँ श्रद्धेय मत्री का जीवन इस प्रश्न का ही एक समाधान था उनकी जीवन-घटनाओ से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि इस पवित्र जीवन मे दोनो विरोधी गुण बिना किसी बाधा के स्पष्टतया देखे जा सकते हैं

मत्री श्रीजी म० अपने शरीर के लिए वज्र के समान कठोर थे अपने दु ख मे वे कभी घबराए नही भयकर-से-भयकर वेदना की घडियो मे भी इन्होने जबान से उफ तक नही की प्रत्युत् बडी शान्ति और धीरता से उसे सहर्ष सहन किया वस्तुत साधक की महत्ता इसी बात मे है कि सकट की वर्षा हो रही हो, प्रतिकूलता की भीषण आधियाँ चल रही हो, फिर भी यदि वह डावाडोल नही होता, धैर्य को अपने हाथ से जाने नही देता, तथा अपने बौद्धिक सन्तुलन को सर्वथा सुरक्षित रखता है, तो साधक की इन्ही वृत्तियो से पता चलता है कि वह ससार का एक महापुरुष है हमारे मत्री श्रीजी का महापुरुषत्व इन्ही बातो से अभिव्यञ्जित हो जाता है कि भीषण से भीषण दु ख मे भी वे स्वस्थ रहे जरा भी डावा-डोल नही हुए और प्रतिकूल से प्रतिकूल परिस्थिति मे भी सबको प्रसन्न मुद्रा मे दिखाई दिया करते थे पर जब वे (मत्री श्रीजी) किसी दूसरे को दु खी देख लेते तो एक दम सिहर उठते थे करुणा के मारे उनका हृदय व्याकुल हो उठता था जब तक उस दु खी के दु ख को दूर नही कर देते थे तब तक उनको शान्ति नही मिलती थी गोस्वामी तुलसीदासजी की—

ऐसे महात्माओ की गुणावलियो का स्मरण कर उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने मे लेखक अपने को कृतकृत्य समझता है

लेखक को स्वामीजी महाराज के प्रथम दर्शन का सौभाग्य अपने बचपन मे ही प्राप्त हो गया था लेखक के पिताजी ने स्वामीजी महाराज के सम्बन्ध मे उन दिनो बातचीत के दौरान मे कहा था कि—स्वामीजी 'चौथे आरे की बानगी' है तब से स्वामीजी के स्वर्गारोहण तक लेखक का स्वामीजी से परिचय रहा और इस बीच सैकडो बार स्वामीजी की सत्सगति का लाभ लेखक को मिलता रहा स्वामीजी से समाज को कुछ न कुछ सत्प्रेरणा व स्फूर्ति प्राप्त होती रहती थी उच्च भावो की प्रगति मे स्वामीजी के दर्शन सदा सहायक बने रहते थे स्वामीजी का सौम्य मुख-मण्डल और मीठे वचन अनायास ही सम्पर्क मे आनेवाले व्यक्ति को अपनी ओर आकृष्ट कर लेते थे व्यावहारिक रूप मे स्वामीजी मनोविज्ञान के महान् पण्डित थे सासारिक लोगो की स्थिति का विचार रखकर ही वे जनता को उपदेश करते थे जिससे शनै शनै श्रोता की अभिरुचि आध्यात्मिकता की ओर बढती रहे दुरूह शास्त्रीय भावो को लोकभाषा मे प्रकट करने और उन्हे जनमानस मे अकित करने की कला मे स्वामीजी निपुण थे सरलता स्वामीजी मे कूट-कूटकर भरी हुई थी । स्वामीजी सरलता के मूर्तिमान स्वरूप थे ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना मे वे उच्चतर भूमिका पर पहुँचे हुए थे किन्तु अपनी आराधना का इजहार उन्होने कभी नही किया स्वामीजी गोस्वामी तुलसीदासजी के इस कथन को मानते थे कि —

'पुण्य प्रकट ना कीजिये, करिये पाप प्रकाश,
प्रकट किये दोउ घटत है बरणत तुलसीदास ।'

स्वामीजी महाराज अपनी छोटी-सी कमजोरी को भी बृहद् रूप मे महसूस करते थे और यही कारण है कि कमजोरियाँ उनसे दूर भागती थी जागतिक प्रपच से वे कोसो दूर रहते थे इच भर भी वे सत्य और अहिंसा के मच से नीचे नही उतरे इस महापुरुष ने जिन्दगी मे जो पाया वह सब कुछ साँसारिक प्राणियो के उपकार के लिये बाँट दिया छोटे-छोटे ग्रामो मे भी स्वामीजी ने धर्म-प्रचारार्थ भ्रमण किया और भोले-भाले लोगो को सत्पथ पर आरूढ होने की प्रेरणा दी स्वामीजी उन इने-गिने साधुओ मे थे जिन्हे लोगो ने साम्प्रदायिक दृष्टि से नही देखा, जैन तथा जैनेतर सभी लोग स्वामीजी से धर्म श्रवण का अवसर पाने मे अपना अहोभाग्य समझते थे सकीर्ण परिधि को लाघकर विश्व कल्याणार्थ अपने जीवन को लगा देना स्वामीजी का लक्ष्य था वैसे स्वामीजी स्वय स्थानकवासी साधु परपरा के थे किन्तु दूसरे मजहब व सम्प्रदायो से स्वामीजी को द्वेष नही था न स्वामीजी को इस बात का कदाग्रह था कि 'मेरा सो सच्चा' बल्कि स्वामीजी तो 'सच्चा सो मेरा' कहने मे सतोष प्राप्त करते थे उनकी भव्य आकृति के दर्शन मात्र करने से ही श्रद्धा व भक्ति दर्शको मे प्रस्फुटित होती थी व्यक्तिगत महत्वकाक्षा स्वामीजी को छू तक न सकी प्रात स्मरणीय पू० जयमलजी महाराज की सम्प्रदाय के आचार्य बनाने का प्रश्न आने पर स्वामीजी ने आचार्यपद पर स्वय आसीन होने से इकार किया और अपने लघुभ्राता पण्डित रत्न मिश्रीमलजी महाराज का नाम निर्दिष्ट किया 'पुत्ताय सीसाय भवित्ता' की उक्ति के अनुसार पण्डित मुनि श्री मिश्रीमलजी की योग्यता बढाने का सम्पूर्ण श्रेय स्वामीजी महाराज को है जिनकी छत्रछाया मे पण्डित मिश्रीमल जी महाराज ने ज्ञान-ध्यान की आराधना की और जैन जगत् के समक्ष निर्मल प्रकाश देनेवाले सितारे के रूप मे जिन्हे हम आज देखकर गौरव अनुभव कर रहे है

स्वामीजी का समस्त जीवन ससार से विरक्त, उदासीन व निस्पृह था और वे स्वच्छ, निर्मल तथा उज्ज्वल मुनि जीवन के भोक्ता थे स्वामीजी उन सभी साधु के लक्षणो से ओत-प्रोत थे जो श्रमण भगवान् महावीर ने साधु के लिये बताये हैं

नाण-दसण-सम्पन्न सजमे य तवे रय,
एव गुणसमाउत्त सजय साहुमालवे ।

श्रमण सघ के निर्माण के समय भी स्वामीजी महाराज ने अपना पूर्ण लक्ष्य उस तरफ रखा स्वामीजी का विश्वास था
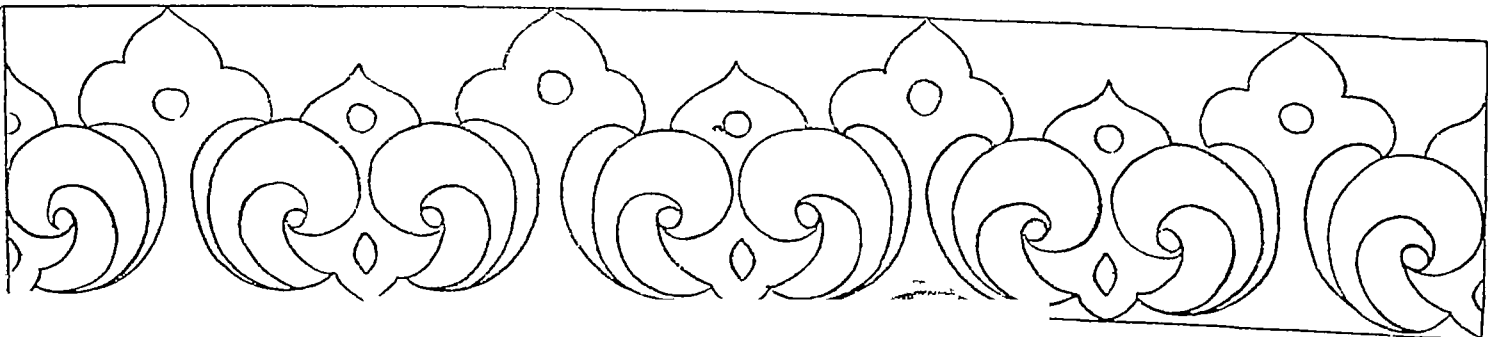
श्री पारसमल 'प्रसून'

संस्मरण : विष अमृत हो गया

गोरा लम्बा पतला शुभ्रवस्त्रावृत सुभग तन, आँखों में विहसती प्रभा, मुखपर मंद मृदु मुस्कान, वाणी में मधुरिमा का अक्षय कोष, इस कोष में छुपा था विष को अमृत में परिवर्तित करने वाला आत्मा—श्रीहजारीमलजी महाराज, एक शब्द में कहूं तो सच्चे सन्त, सरलता की प्रतिमूर्ति, कारुण्य एवं वात्सल्य के साक्षात् सिन्धु। जिस किसी ने एक बार भी उनका पावन मनभावन सुदर्शन किया, वह भला क्या पूज्यप्रवर के मुख पर प्रतिक्षण खेलने वाली मंद मधुरिमा को कभी विस्मृत कर सकेगा? कभी नहीं। पूज्य गुरुदेव की मधुर अमृतोपम वाणी तो आज भी शतसहस्र भावुक भक्तों के हृदय को उल्लसित कर रही है। गुरुदेव में स्फटिक मणि की भांति विमल ज्ञान के साथ गंगा-जल से भी विशेष निर्मल आचरण का कंचन-मणि का सुसंयोग था। उनका आदर्श जीवन आज भी हमारा पथप्रदर्शक है। उनके जीवन चित्रपट के वे स्निग्ध दृश्य कभी भी अदृश्य नहीं होंगे।

गुरुदेव क्षमा-शान्ति के सागर थे। उनके सम्पर्क में आकर अनेक पाषाण-हृदय भी द्रवित हो गये। उनके संस्मरण की एक झाँकी यहाँ प्रस्तुत है।

परम सौभाग्य से पूज्य गुरुदेव का सं० २ ५ का वर्षावास हमारे छोटे-से ग्राम भोपालगढ़ में हुआ था। उस समय विद्यालय के प्रधान अध्यापक के रूप में श्री बटुक जी नियुक्त थे। वे स्वभाव के कठोर थे। जो बात एक बार कह दी उसको उसी रूप में करवा लेना उनके जीवन की उल्लेखनीय विशेषता थी। जब उनकी क्रोध से तनी हुई भृकुटि देखते तो हम विद्यार्थी तो क्या ग्रामवासी भी भयभीत हो जाते थे।

प्रसंग का स्मरण नहीं है, एक बार उन्होंने किसी समस्या को लेकर विद्यालय हॉल के सामने भूख हड़ताल कर दी। सारे ग्राम में खबर फैल गई। पर्याप्त प्रयत्न इस बात के लिये किये गये कि वे किसी प्रकार अपनी भूख हड़ताल स्थगित कर दें पर सब प्रयत्न विफल सिद्ध हो चुके थे। दो दिन बीत गये थे। विद्यालय के इतिहास में यह एक प्रकार की अभूतपूर्व घटना थी। अध्यापक जी ने घोषित कर दिया था कि यह ब्राह्मण-शरीर तो अब प्राण तज कर ही उठेगा। स्थिति गंभीर हो गई थी।

पूज्यप्रवर का ध्यान इस ओर आकर्षित हुए बिना न रहा। स्वामी जी ने अत्यन्त स्नेहपूर्वक अध्यापक जी को एकान्त में बुलाकर समझाया। कुछ ही मिनट के बाद स्वामी जी म० से वार्ता करके वे बाहर आये तो देखा—उनके चेहरे पर प्रसन्नता की कान्ति परिव्याप्त थी। वे वैर भूल गये। क्रोधी चेहरे पर शान्ति व प्रसन्नता की लहरें चमकने लगीं। उनके नेत्र पश्चात्ताप से साश्रु हो रहे थे। उनकी आँखों से गंगा-यमुना की अविरल धारा प्रवाहित हो रही थी। ग्रामवासियों के मन में जो आशंका व अशान्ति छाई हुई थी वह क्षण मात्र में ही मिट गई और स्वामी जी म० ने समग्र ग्रामवासियों की श्रद्धा प्राप्त की।

प्रेम व शान्ति का यह अनोखा प्रत्यक्ष जादू था। प्यार के समक्ष क्रोध की पराजय थी। वातावरण में नया आनन्द और उत्साह था। जन-जन में सर्वत्र चर्चा थी कि इस अनोखी घटना ने तो चण्डकौशिक व भगवान् महावीर की घटना का स्मरण करा दिया है।

फिर तो जब तक गुरुदेव विराजे, बटुक जी प्रतिदिन मुनिश्री के प्रवचनों का लाभ लेते रहे। उन्होंने अनेक बार अनेकों से इस बात को दुहराया कि स्वामी जी मेरे जीवन के परम निर्माता हैं। मैं इनके उपकार को जीवन की आखरी घड़ी तक नहीं भूल सकता।

तो ऐसे थे हमारे परम पूज्य गुरुदेव श्रीहजारीमलजी म०, जिनके पवित्र परिचय से विष भी अमृत में परिणत हो गया। उस दिव्य आत्मा को मैं अपनी श्रद्धा के पुष्प अर्पित कर अपने को कृतकृत्य अनुभव करता हूँ।
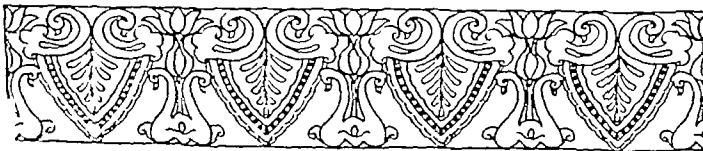
स्मृति के मधुर पृष्ठ

मुझे श्रद्धेय मत्रीजी महाराज के दर्शन करने एव उनके चरणो मे बैठकर सीखने का अनेक बार सुअवसर मिला है वि० स० २०११ मे गुरुदेव उपाचार्य श्रीगणेशीलालजी महाराज के साथ कुचेरा के वर्षावास के समय, आपका जो स्नेह रहा, वह अद्भुत था उसके बाद अजमेर मे, भीनासर सम्मेलन मे एव कुचेरा आदि क्षेत्रो मे मुझे आपकी सेवा मे रहने का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ है वे मेरे जीवन के मधुर क्षण रहे है, जिनमे मैं उनके चरणो मे बैठकर कुछ सीख सका आज वे मधुर क्षण केवल स्मृति के मधुर पृष्ठ ही रह गए हैं

डॉ० श्रीकुजविहारीलाल

पुण्य सस्मरण: सन्त हों तो ऐसे हों

पूज्य जैन मुनि श्रीहजारीमलजी महाराज के दर्शन व सेवा का शुभ अवसर मुझे चिकित्सा के सेवा-कार्य करने के प्रसग मे ही प्राप्त हुआ था गुणी व सन्त पुरुषो का मैं सदा से ही आदर करता आया हूँ

मुझे आज भी चित्रवत् स्पष्ट व साकार स्मरण है राजस्थान के व्यावर नगर मे उस सन्त पुरुष का एक दिन हॉस्पिटल मे आगमन हुआ था उनके सीने मे एक छोटी-सी गाठ थी. निदान निमित्त कक्ष मे वे पधारे मैंने निदान कर उनसे—कहा—महाराज ! ऑपरेशन करना पडेगा, लेकिन आपके साथ गारजियन !' वे निमिषभर मौन रहे फिर कहा—'मैं तैयार हूँ आप अपनी सुविधानुसार ऑपरेशन कर सकते है'

मैंने कहा—'महाराज, क्लोरोफार्म का उपयोग किया जाय या इजैक्शन का? मेरे प्रश्न का उन्होने सक्षिप्त उत्तर दिया—एक का भी नही मैं पूरी तरह तैयार हूँ आप अपनी सुविधापूर्वक आपरेशन कर सकते है

मैं उनके साहसपूर्ण उत्तर को सुनकर आश्चर्य से स्तभित-सा रह गया दोबारा कुछ न कह सका

उस अद्भुत पुरुष के ऑपरेशन की घटना मुझे याद है ३० मिनट मे उनके वक्ष के दक्षिण पक्ष से ५ तोले की गाठ "लोकल ऐनेस्थिसिया" से निकाली

ऑपरेशन कर चुकने पर मुझे तो पुन अपना चिकित्सक धर्म निभाना था मैंने मुनिश्री से कहा—'महात्मा जी ! आप तो सन्त पुरुष हैं किन्तु हमारे थ्योरिकल हिसाब से आपको ३ दिन तक यही रहना चाहिए—उन्होने ऑपरेशन से पूर्व जितनी साहस पूर्ण स्वीकृति बिना क्लोरोफार्म के ऑपरेशन करने की दी थी, उतने ही साहसपूर्वक कहा—हम जहाँ पर ठहरे है वह स्थान यहाँ से ४ फर्लांग ही है मेरा आत्मविश्वास कहता है कि मैं सकुशल वहाँ पर पहुँच जाऊँगा वे सचमुच ही जैनस्थानक मे पहुँच गये, ३ घन्टे बाद हॉस्पिटल का समय समाप्त होने पर उनके निवास-स्थान पर गया तो वे लकडी के पाट पर शयन करते मिले

इस ऑपरेशन के बाद भी मैंने अनेक जैनमुनियो की चिकित्सा-सेवा की आज मुनि श्रीहजारीमलजी म० सस्मरण लिखते हुए हर्ष होता है कि वे महान् सन्त थे वस्तुत भारत की आध्यात्मिक विद्या व योगविद्या की सतह तक ऐसे ही सन्त पहुँचे है ऐसे सन्तो की योगिक प्रक्रियाओ के द्वारा ही भारत ऋषि, मुनि, त्यागी व महात्माओ का देश कहलाता है मेरे मस्तिष्क व हृदय पर उनके पुण्य सस्मरण लिखते हुए जो भावोदय हुआ उनके आधार पर मैं कह सकता हूँ कि वे महान् सन्त थे सन्त हो तो ऐसे ही हो
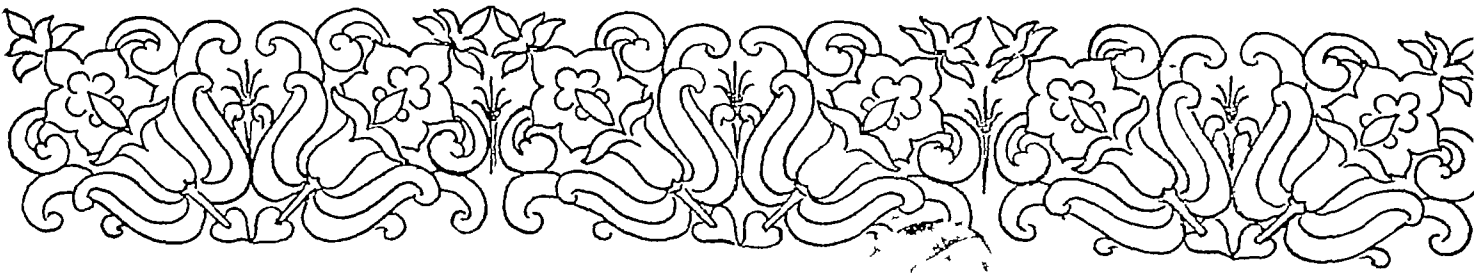
करते थे उस समय उनका अभिनय प्रेक्षणीय होता था दुनिया इसे कायरता कह सकती है परन्तु विचारक उसे उनका बहुत बड़ा गुण मानते और स्वभाव की कोमलता कहते हैं अपने स्वभाव की कोमलता के कारण वे संघर्षों से सदा दूर रहे और अंत तक जनप्रिय बने रहे सन् १९५५ में जयपुर में संयुक्त वर्षावास था उस वर्षावास के मधुर संस्मरण आज भी स्मृति-पटल पर चलचित्रों की भाँति आ रहे हैं पर उन सभी को वाक्यों की कड़ियों में पिरोना कठिन है एक शब्द में कहा जाय तो उस महापुरुष में पुरानी पीढ़ियों की सब खूबियों के साथ ही नवीन विचार भी पर्याप्त मात्रा में थे दुर्भाग्य से वे आज हमारे बीच में नहीं है पर उनका पावन चरित्र प्रकाशस्तम्भ की तरह सदा हमारा पथ प्रदर्शन करता रहे यही मंगल-कामना है

मुनि श्रीरामप्रसादजी

पुण्याः स्मृतयः

न योऽभूद् मादृशैः परिचिततरोऽतीतसमये न पूर्वं यस्यासीत्, प्रथिततरनामाऽप्यवगतम् ।
हजारीमल्लाख्यः मुनि-मधुप-भीनासर-भुवि मुनीन्द्रं त नेत्रैः निमिषमिह साक्षात्कृतवती[1] ॥

—जिन हजारीमलजी महाराज का हम पहले परिचय नहीं था तथा प्रसिद्ध होने पर भी जिनका नाम हमने कभी नहीं सुना था उन्हें भीनासर म-जहाँ बहुत से मुनि एकत्रित थे-हमारे अपलक नेत्रों ने देखा

कचाः शुक्लाः शुक्ला हिम इव हिमावास-शिरसि वपुः शुक्लं शुक्लं सित-पट परत्वाद्निकवम् ।
तथा शुक्लः शुक्लो मधुरतरहासश्च वदने समा शुक्ला तस्मात्स्फुरति हि मूर्तिः स्मृतिपथे ॥

—हिमालय पर पड़ी हिम के समान धवल उनके केश थे उनकी गौर-देह श्वेत-परिधान के कारण और भी उज्ज्वल लगती थी उनके चेहरे पर मधुरता-पूर्ण मुस्कान की धवलिमा थी इस प्रकार उनकी शुक्लाति-शुक्ल मूर्ति हमें स्मरण हो रही है

वयोभिर्दीक्षाब्दैर्जिन-वचन-शिक्षादि-सुगुणैः महत्त्वं बिभ्राणः परमपि दधानो गुरुपदम् ।
अपूर्वा साधूनामपि सहज-मुद्रां तु कलयन् कृते स व्याहार्षीद् हसितवदनः स्वागतमिति ॥

—वे आयु काल और दीक्षा काल से बड़े थे जिनागम की शिक्षाओं से परिपूर्ण थे तथा अन्य गुणों से भी महान् थे गुरुत्व का उत्कृष्ट पद उन्हें प्राप्त था फिर भी अपनी सहज मुद्रा अथवा स्वाभाविकता को बनाये रखते हुए वे छोटे मुनियों के लिए भी प्रसन्नवदन होकर स्वागत पद का प्रयोग करते थे

न विद्वत्त्वं तेषां न च विभु-प्रभावः प्रभवताम् पटुत्वं वा वाचां बहु-समय-संगेन विदितम् ।
तथापि व्याहारो हरति हि मनो मे मधुरता तथा वाक्सेवाऽऽहरति सहृ तेषां सरलता ॥

—उनके पाण्डित्य को उनके बड़प्पन के व्यापक प्रभाव को तथा उनकी वाणी के कौशल को बहुत थोड़े समय साथ रहने के कारण हम न भी जान सके तो भी उनकी वचन-माधुरी बड़ी हृदयहारी प्रतीत होती थी तथा उनकी बाल-सुलभ सरलता मन को आकृष्ट करती थी

मदीयैः स्वर्यातैः गुरुभिरपि व्याख्यातिपदः, पुरा तेषां प्रीतिः समजनि सुधासार सरिता ।
यदहं स्मार-स्मार निज-मनसि नाम्नेन नियतम्, पुरस्कुर्वे काव्यैरिममगुरुभ्याम निहितवान् ॥

—मेरे स्वर्गीय गुरुदेव व्याख्यानवाचस्पति श्रीमदनलालजी महाराज से उनका अमृत रस-वाही-स्नेह बहुत पहले हो गया था उसी स्नेह को आज मन म पुनः पुनः लाते हुए कुछ पंक्तियों द्वारा प्रकट करने का यह लघुतर प्रयत्न किया है

१ अनुमानित निज दिवस प्रसंग:

श्रीदेवेन्द्रमुनिजी, शास्त्री, साहित्यरत्न

वे एक महापुरुष थे

फ्रांस के विश्व-विख्यात विद्वान् रोम्या रोला ने कहा—"महापुरुष ऊँचे शैल-शिखरो के समान होते हैं हवा उन पर जोरो से प्रहार करती है, मेघ उनको ढँक देता है, परन्तु वही हम अधिक खुले तौर मे व जोर से साँस ले सकते है" वस्तुत महापुरुष की छत्रछाया मे और उनके पावन पादपद्मो मे बैठकर जो आनन्दानुभूति होती है वह अनुभवगम्य है महा-पुरुष स्वय कष्ट सहन करते है किन्तु आश्रित व्यक्ति को कभी कष्ट नही होने देते जहाँ वे स्वय के लिए 'वज्रादपि कठोर' होते है वहाँ दूसरो के लिए कुसुमादपि कोमल होते है वे स्वय विघ्नो और बाधाओ के वात्याचक्रो से विचलित नही होते परन्तु दुखियो के स्वल्प से करुण क्रन्दन से भी कॉप जाते है अनेकान्त की भाषा मे कहा जाय तो महापुरुष का जीवन विविधताओ का सुन्दर सगम है उसमे कोमलता है, कठोरता भी, सहिष्णुता भी आवेग भी, निष्ठा भी, तर्क भी, अपेक्षा भी, उपेक्षा भी, राग भी, विराग भी, आचार भी, विचार भी और सरलता भी होती है

यह एक शाश्वत सिद्धात है कि महापुरुष बनने के लिये जीवन को निखारना और चमकाना होता है तपे बिना कोई भी व्यक्ति ज्योति नही बनता और खपे बिना कोई भी व्यक्ति मोती नही बनता परम-श्रद्धेय श्रीहजारीमलजी महाराज इसी प्रकार के एक विशिष्ट महापुरुष थे उनका जीवन गगा की तरह निर्मल था, स्फटिक की तरह स्वच्छ था, सगीत की तरह सुखद था और उषा की तरह मोहक था

सन् १९४२ के मई के द्वितीय सप्ताह मे उस महापुरुष के दर्शनो का सौभाग्य सर्वप्रथम ब्यावर मे प्राप्त हुआ गेहुआँ वर्ण, लम्बा कद, एकहरा शरीर, उन्नत ललाट, पैनी नाक, उपनेत्र मे से गोल-गोल चमकती हुई आँखें, सजग कर्ण, अधरो पर खेलती स्निग्ध मधुर-मुस्कान, विरलरूप मे सुशोभित सिर पर बर्फ-सी धवल केशराशि—यह था उनका बाह्य व्यक्तित्व जिसे मै अज्ञात प्रेरणावश टकटकी लगाये कुछ क्षणो तक निहारता रहा मुझे अनुभव हुआ कि उनके प्रशस्त ललाट पर क्रोध और दुश्चिताओ की लिखावट नही है, सीधी और सरल भृकुटियो मे असहिष्णुता का कुचन नही है ऊँची व पैनी नासिका पर दम्भ का उतार-चढाव नही है अधरो पर निष्ठुरता की वक्रता नही है और न एवरेस्ट की तरह उनका व्यक्तित्व दुरूह है अपितु सरिता की सरसधारा के समान सहज ग्राह्य है जो अपने शीतल स्वच्छ शिखरो मे जन-जन के मन को आह्लादित करता है कवि की भाषा मे—

जिसके अधरो पर अगर, अमर मधुर मुस्कान,
उसके लिये जहान मे, सब कुछ है आसान

भारत के अनेक मूर्द्धन्य मनीषी महापुरुषो को अत्यन्त सन्निकट से देखने का इन पक्तियो के लेखक को अवसर प्राप्त हुआ है इस आधार पर अधिकार की भाषा मे कहा जा सकता है कि श्रीहजारीमलजी महाराज भी एक विशिष्ट महापुरुष थे कारलाइल ने महापुरुष की परिभाषा करते हुए लिखा है कि—"किसी भी महापुरुष की महानता का पता लगाना है तो यह देखना चाहिये कि वह अपने छोटो के साथ कैसा वर्ताव करता है ?" प्रस्तुत कसौटी पर श्रीहजारीमल जी महाराज पूर्ण खरे उतरते थे

भारत के विचारको ने मस्तिष्क को महत्त्व नही दिया है अपितु यह कहा कि हृदयशून्य विकसित मस्तिष्क—अभिशाप है. श्रीहजारीमल जी महाराज बाल की खाल निकालनेवाले प्रकाण्ड पण्डित नही थे और न धुँआधार प्रवक्ता ही, तथापि उनका हृदय इतना विशाल था और मन इतना विराट् था कि आबाल वृद्ध सभी उन्हे श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे वे हृदय के राजा थे, मनके सम्राट् थे

उस युग-पुरुष के जीवन मे अनेको गुण थे—सहृदयता, नियमबद्धता, परदुःखकातरता, सरलता सौजन्य-आदि उनका जगमगाता व्यक्तित्व, वस्तुत विभिन्न रगो से रजित एक कलामय चित्र की तरह रमणीय था किसी को उच्च स्वर मे वार्तालाप करते देखकर उनके रोगटें खडे हो जाते थे वे कभी-कभी मधुमक्षिकाओ के दश सदृश पीडा का अनुभव

उनके जीवन के पावन सन्देश और उपदेश मेरे जीवन को प्रकाशित कर रहे है मैं उनके प्रति अत्यन्त कृतज्ञ हूँ साथ ही उस दिव्य विभूति महान् आत्मा के चरणारविन्द में श्रद्धानत हूँ

○

श्रीनैनसुख हजारीमलजी बोथरा अहमदनगर

संस्मरण और श्रद्धा

जैन संस्कृति व्यक्ति पूजा की अपेक्षा गुण पूजा में विश्वास रखती है परम श्रद्धेय स्वामी जी महाराज भी निरन्तर तत्त्वचिन्तन सतत मनन आराधना एवं आत्म गुण के रमण में निमग्न रहते हुये ध्येय सिद्धि करने में ही प्रयत्नशील रहते थे भले ही आज वे अपने पार्थिव शरीर से हमारे मध्य नहीं रहे हों परन्तु उनकी जीवन-सुगन्ध आज भी हमें प्रेरणा दे रही है

मेरे जीवन में उस विरल विभूति के दर्शन करने का सुअवसर संवत् २ १ में स्वामीजी महाराज वर्षावास निमित्त कुचेरा (राजस्थान) क्षेत्र म विराजमान थे—तब आया था प्रथम दर्शन में जब मैंने अपना परिचय दिया तब वे शान्तमूर्ति मेरी तरफ देखते रहे मैं भी उनकी सरलता शान्त मुखमुद्रा व भद्रता पर मुग्ध था वे आलोकन करते रहे पश्चात् मधुर स्वर में कहने लगे 'मेरे गृहधर्म के सांसारिकपक्ष के बोथरा परिवार में से तुम्हें देखकर गुरुदेव की स्मृति जागृत हो जाती है और उन्होंने एक प्रपत्र जो मेरे दादाजी श्रीछोटमलजी बोथरा ने घोडनदी (पूना) से संवत् १९७२ में परम पूज्य गुरुदेव की सेवा में भेजा था मेरे पिता श्रीहजारीमलजी बोथरा के उनके आकस्मिक अवसान व व्यथितचित्तता, व्यग्र मनःस्थिति एवं कुटुम्ब पर आई हुई आपत्ति का उल्लेख करते हुए कुटुम्ब व परिजनों के साथ आत्मीय भाव से गुरु भक्ति के भाव का चित्र चित्रित किया था मुझे पढ़ने को दिया मैंने पढ़कर अनुभव किया कि मेरे प्रति गुरुदेव का कितना अपनत्व पूर्णभाव है ? उस हृदयस्पर्शी प्रसंग का स्मरण करते ही आज मेरा हृदय गद्‌गद हो रहा है उन्होंने जिस वात्सल्य भाव से मुझे अपनापन दिया था वह जीवन की अविस्मरणीय बात है

भीनासर (राजस्थान) के वृहत् साधु-सम्मेलन के अवसर दर्शन का पुनः अवसर प्राप्त हुआ था मैंने अपने जीवन को धन्य माना था ऐसे महान् पवित्र आत्मा को मैं श्रद्धा के सुमन समर्पित करते हुये आज परम आनन्द की अनुभूति कर रहा हूँ

○

श्रीचम्पालालजी बांठिया

एक मधुर संस्मरण

उष्णताप्रधान मरुधरा का कुचेरा ग्राम ! चौमासे का मौसम ! अन्य प्रान्तों में जब आसमान से पानी की वर्षा होती है तब यहाँ शरीर से पसीने की धाराएँ बहती है उन्हीं दिनों मैं कुचेरा गया था

स्वर्गीय पूज्य श्रीगणेशीलालजी म का और प्रवर्तक श्रीहजारीमलजी म का संयुक्त चौमासा था दोनों महान् सन्त एक ही मकान में ठहरे थे ऊपर की मंजिल में पूज्यश्री और नीचे की मंजिल में प्रवर्तकजी थे

जिन कमरों में हवा का नाम निशान न था उन्हीं में रात-दिन ज्ञानार्जन ध्यान और स्वाध्याय में निमग्न रहते हुए प्रवर्तक मुनिश्री को देखकर विस्मय के साथ अनायास ही उनकी तपोनिष्ठा एवं सहिष्णुता के प्रति हृदय में श्रद्धाभाव जागृत हो उठा हृदय ने कहा—सच्चे सन्त का यही लक्षण है ऐसी कसौटियों पर ही सन्त का जीवन कसा जाना चाहिए
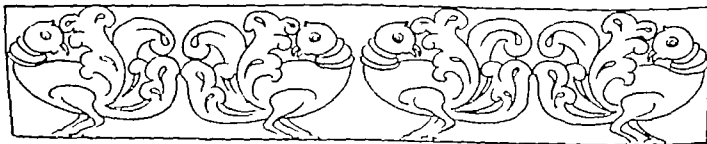
डा० सूरजनारायण जी,
भूतपूर्व सिविल सर्जन, अजमेर राज्य

नमन करो स्वीकार

भारत में ऋषियों की परम्परा न होती तो भारतीयों के पास अध्यात्मविद्या न होती तो भारतीय, अन्य देशों की तुलना में किस बात में महान् कहलाते ? आज अन्य देश भौतिक दृष्टि से अपना अस्तित्व अलग रखते हैं परन्तु अदृश्यशक्ति के अनदेखे सत्य, व दर्शन की गहरी गुत्थी और आत्मदृष्टि का जहाँ भी प्रसग आता है—उन्हें भारतीय दर्शनों की दृष्टि प्राप्त करनी होती है इस दृष्टि का उद्गम दुनिया से दूर रह कर सार्वभौम सत्य का साक्षा- त्कार करने वाले सन्त हैं

अत ऋषि परम्परा का, भारत ने सदैव ऋण स्वीकार किया है. ऋषि मुनियों की परार्थचिन्तनात्मक पावनी गगा में भारत स्नान कर आत्मस्फूर्त रहा आज भी सन्तसस्कृति के प्रति हम भारतीय लोग आकर्षित और श्रद्धावान् हैं—इसीलिये कि सन्तो के अनुभूतिमूलक अमृत ने हमारी आत्मा को परितृप्ति प्राप्त होती है.

मुझे चिकित्सा के माध्यम से जन-सेवा की दृष्टि अपने गुलाबी बचपन में महापुरुषों के जीवन-चरित्र पढ़ते-पढ़ते, प्राप्त हुई थी अपने जन-सेवा-कार्य में जैनमुनियों की चिकित्सा का भी अनेक बार शुभ प्रसग आया है पूज्य स्वामी श्रीहजारीमलजी महाराज की चिकित्सा करने के प्रसग में मैंने [illegible] अनेक बार धर्म चर्चा भी की है

मैंने अनुभव किया था—स्वामीजी के रक्ताणुओं में भी [illegible] त थी. भयकर रोगाक्रमण की कष्टपूर्ण वेला में भी उनके धैर्य का बांध फौला[illegible] रहा

जब-जब मुझे साधुओं का [illegible] आता है, [illegible] हजारीम[illegible] [illegible] और सरल मूर्ति स्मृति के आँगन में [illegible] जैसे पुरुषों [illegible] श्रद्धापूरित हो जाता है. पूज्य मुनिश्री को [illegible] भी हो, [illegible] रूँ ।।

सरल स्वभावी पूज्य [illegible]
उनके दर्शन किये, उनके [illegible]
प्रभति नगर साक्षी हैं
उनके स्नेह, औदार्य और
[illegible] राकर मैं,

स०
आघात
और
उनका [illegible]
चर्चा और

किसी भी प्रकार के प्रदर्शन की भावना ने उन्हे स्पर्श तक नही किया था वे अपने आप मे जो कुछ भी थे, उससे अन्यथा प्रदर्शित करने की वृत्ति उनमे नही थी सादगी, सरलता एव शिशु की-सी शुचिता उनके जीवन की सर्वोपरि विशेषता थी, जिसने उनकी साधना मे प्राणो का सचार कर दिया था

यद्यपि मेरा उनके साथ विशेष वार्तालाप नही हुआ तथापि उनके उच्च व्यक्तित्व का कुछ ऐसा प्रभाव मेरे मन पर पडा कि वह विस्मृत नही किया जा सकता आज भी वह भद्रात्मा मेरी कल्पना मे जैसे सशरीर अकित है

श्रीगुलाबचन्द्रजी जैन, दिल्ली

महामना मुनि श्रीहजारीमलजी

सन् १९३७ के वर्षाकाल की बात है जोधपुर मे दिल्ली वापस आते हुए कुचेरा ग्राम (मारवाड) मे श्रीमधुकरजी म० तथा उनके गुरुतुल्य ज्येष्ठ-गुरुभाई वयोवृद्ध मुनिराज श्रीहजारीमलजी म० का परिचय प्राप्त करने का सौभाग्य मिला

प्रथम परिचय मे ही आपकी सरलता, सज्जनता, साधुता और विद्याप्रेम की असाधारण छाप मेरे मन पर पडी इस घटना को २६-२७ वर्ष हो गए, अब भी ऐसा मालूम पडता है कि मानो यह घटना अभी घटी है फिर तो अनेक बार जब-जब मेरा मारवाड जाना होता तब-तब मैं प्राय आपके दर्शन करने का मन मे उत्साह रखता और फिर दर्शन करके ही लौटता

आपके विद्याप्रेम और अपने साधुओ को विद्या-अध्ययन कराने और कलात्मक लेखन की प्रेरणा देने का प्रत्यक्ष प्रमाण तो उस समय मिला जब पडित बेचरदासजी के द्वारा मुझे लगभग पाँच सौ वर्ष पुरानी स्वर्णाक्षरो की चित्राकित सस्कृत भाषा मे एक पुस्तक 'कालकाचार्य की कथा' प्रदान की इसके अन्तिम पृष्ठ पर अपने ज्येष्ठ-गुरुभ्राता मुनिराज श्रीब्रज-लालजी के हाथ से सुन्दर हिन्दी भाषा के अक्षरो मे स्नेहपूर्ण उपहार प्रदान करने के आशीष वचन अकित कराये

पुस्तक तो आज भी ऐसी मालूम होती है कि मानो अभी लिखकर तैयार की गई है पुरातत्त्ववेत्ता और भारतीय तथा विदेशी विद्वानो ने जब इस ग्रथ को देखा तब यही कहा कि ऐसी पुस्तक गुजरात और राजस्थान के प्राचीन जैन-भण्डारो मे भी देखने मे कम आती है, यह पुस्तक भारतीय एव जैन-कला का उच्चतम प्रतीक है

इसके थोडे समय बाद जब मै अपने मित्र फ्रांसीसी प्रोफेसर ओलीवर लुकुम्ब के साथ आबू पहाड के प्राचीन जैनमदिरो को देखकर लौट रहा था तो मैं पडित बेचरदासजी से मिलने ब्यावर जैन-गुरुकुल गया वहाँ भी मुनिश्री के दर्शन करने और वार्तालाप करने का अवसर मिला आपसे धर्म-कार्यों के सबध मे अनेको बार पत्र व्यवहार करने का भी गौरव प्राप्त हुआ इस लम्बी अवधि मे आप से कितनी ही बार कई स्थानो मे (गुलाबपुरा, अजमेर आदि) मे भेंट करने का भी अवसर मिला

यह आप ही की कृपा का परिणाम है कि आज मुनि श्रीमिश्रीमलजी 'मधुकर' प्राकृत, सस्कृत और हिन्दी भाषा के योग्य विद्वान् और कवि बन सके हैं। आप का हृदय अति कोमल, मधुर, निष्कपट और वात्सल्यमय था सम्प्रदाय मे रहते हुए भी वे साम्प्रदायिक सकीर्णता से कोसो दूर थे उम्र मे बहुत अधिक, कद लम्बा और वर्ण गौर था व्यवहार मे ऊँच-नीच या छोटे-बडे का भेद किंचित् भी देखने मे नही आता था वे पुराने जमाने के मुनिराज थे किन्तु विचारो मे आज के नवयुवक साधुओ से पीछे न थे आपके आचार-व्यवहार मे दृढता और प्राणिमात्र के प्रति दया के भाव भरे थे आडम्बर और ढोग से दूर थे वे मारवाड के प्रसिद्ध जैन-मुनिराज ऋषि श्रीजयमलजी महाराज की परपरा के उज्ज्वल नक्षत्र थे ऐसे महान् सन्त के प्रति मैं भी अपनी श्रद्धांजलि अर्पण करके अपने आपको कृतार्थ समझता हूँ साथ ही प्रार्थना करता हूँ कि मुनिराज श्री ब्रजलालजी और श्रीमिश्रीमलजी 'मधुकर' आपके चरणचिह्नो पर चलकर वीरशासन की सेवा करने मे आपही की तरह सामर्थ्यवान् बनें

आयुवृद्ध महात्मा थे सन् १६४३ मे सेठ इन्द्रचन्द्रजी गेलडा ने अपनी मातेश्वरी की स्मृति मे 'श्रीजिनेश्वर' धर्मार्थ औषधालय' की स्थापना की और औषधालय के द्वारा जन-सेवा करने का प्रारम्भ से ही मुझे अवसर मिला इस सुयोग के कारण ही स्वामीजी महाराज अपने गुरुभाई परम सेवाभावी श्रीब्रजलालजी महाराज तथा पडित-प्रवर श्रीमिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर' के साथ मुनित्रयी के रूप मे कुचेरा पधारे तभी महाराजश्री के दर्शन करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ

लम्बा कद, गोधूमवर्ण, प्रशस्त विशाल ललाट, आजानुबाहु, शात एव मुनि जनोचित कातिमयी मुखाकृति सर्व साधारण के हृदयो मे शान्ति का सचार करती थी,

साधारण व्यक्तियो को बाल्यकाल मे माता-पिता एव निकटतम सम्बन्धियो का स्नेह अपनी ओर खीचता है विविध प्रकार की बालसुलभ क्रीडाएँ तथा आमोद-प्रमोद व प्रलोभन सामने आते हैं काल गति करता जाता है, यौवन का आगमन हो जाता है व्यक्ति सुखो की कठोर शृखलाओ मे बँध जाता है किंतु सन्तहृदय आत्मा एक विशिष्ट आदर्श लेकर उपस्थित होता है

महामहिम मुनिराज को सासरिक भोग तथा सुख अपनी तरफ आकृष्ट नही कर सके आपने भौतिक वैभवो को तृणवत् त्याग दिया था और दुर्दमनीय चचल मन की गति को मोड कर अध्यात्म-साधना की ओर प्रेरित किया था इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि आपने केवल ११ वर्ष की सुकोमल वय मे ही भागवती दीक्षा धारण की थी दीक्षा लेने के उपरान्त ३२ वर्ष तक गुरुचरणो की सेवा मे रत रहते हुए मुनिवर ने सस्कृत, प्राकृत गुजराती, हिन्दी, ब्रज एव राजस्थानी भाषा का अध्ययन किया जैन-धर्म के अनेको ग्रथो को हृदयगम किया और गुरुवर के साथ मरुभूमि के विविध स्थानो पर भ्रमण करते हुए अपने जीवन को तपःपूत बनाया

गुरुवर का शरीर आत्मलीन होने के बाद सवत् १६८६ से स्वामीजी का स्वतत्र विचरण प्रारभ हुआ अपने सरल सुबोध उपदेशो की अमृतमयी वाणी की अजस्र धारा से जन-साधारण के हृदयो मे अध्यात्म और नैतिकता का सचार किया लगभग ६४ वर्ष तक मुनिवर ने सयमपूर्ण तथा कठिन साधनायुक्त साधु-जीवन बिताया

स्वामीजी बडे ही शान्त सरल, और उच्चकोटि के भद्र सन्त थे मुनिवर का जीवन सर्वजन प्रशसनीय रहा आप हृदय के इतने विमल और सरल थे कि ससार से पद्मपत्रवत् पूर्ण निर्लिप्त तथा पूर्ण विरक्त रहते हुये भी सपर्क मे आनेवाले साधारण तथा विशेष सभी व्यक्तियो से उनकी सुख सुविधा के विषय मे साधारणत सतोषजनक वार्तालाप कर, सबको शान्ति का उपदेश दिया करते थे

आपका स्नेह व सदुपदेश केवल जैन-जगत् तक ही सीमित नही था जैन व जैनेतर सभी के साथ आप सरल व मधुर बर्ताव के अभ्यासी थे उन्होने जहाँ भी चातुर्मास किया वहाँ के वातावरण मे सर्वत्र शान्ति तथा प्रेम का साम्राज्य स्थापित हो जाता था वर्षाऋतु मे तप्त भूमि पर मेघ उन्मुक्त रूप से बरस कर उसे हरी-भरी तथा शस्य-श्यामला बना देता है, वैसे ही दु ख क्लेश, द्वेष, वैमस्य, से दुखी हुए सर्वसाधारण के हृदय, स्वामीजी के उपदेशो की शीतल धारा से शान्ति प्राप्त करते थे विविध धर्मावलम्बी जनता दूर-दूर से आकर्षित होकर स्वामीजी के दर्शनार्थ और सदुपदेशो को श्रवण करने के लिये उत्सुकतापूर्वक आया करती थी जहाँ-जहाँ भी मुनिवर चातुर्मास के लिये या विचरण काल मे पधारे, वहाँ सबने उनको अपना ही माना और साम्प्रदायिक भेदभाव से दूर रहकर स्वामीजी के चरणो के दर्शन प्राप्त कर अपने को कृतार्थ किया उनका अपने गुरु-भाइयो के प्रति इतना स्नेह था कि आजतक बहुत से लोग यह भी नही जान पाये कि ये गुरुभाई हैं या गुरुशिष्य दोनो गुरुभाइयो ने भी आपको गुरु के समान ही समझा

पिछले पाँच-सात वर्षों से मुनिराज को हृदय-व्याधि का कष्ट विशेष रूप से रहा करता था चिकित्सको की यह राय थी कि स्वामीजी को अब विशेष परिभ्रमण छोडकर एक स्थान पर विराजमान हो जाना चाहिये श्रावको की भी अनेक बार यही विनती रही परन्तु स्वामीजी ने अपने उपदेशो से जनता को वचित रखना कभी उचित नही समझा
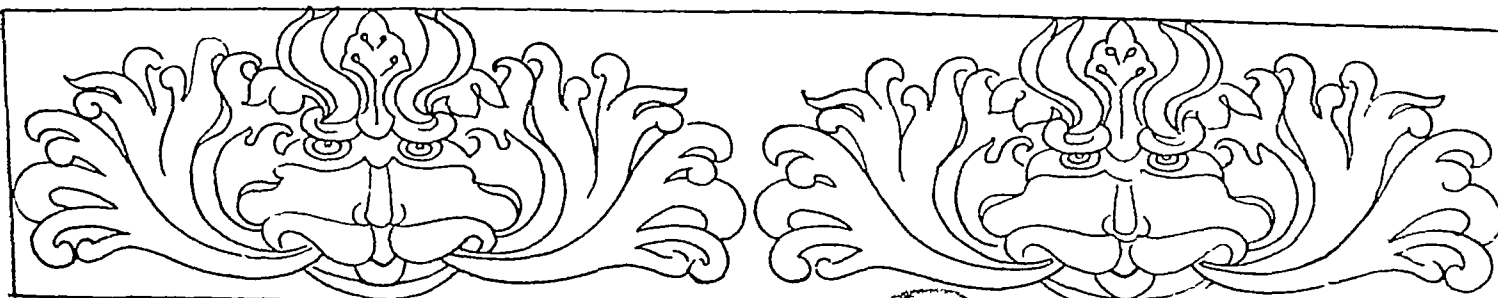
हृदय की श्रद्धा हाथों में

श्रद्धा मेरे हृदय में है ! श्रद्धा को हाथों से निकाल कर कैसे बता सकती हूँ—गुरुवर ! आपकी दृष्टि में आपके प्रति श्रद्धा रखने वाला और अश्रद्धावान दोनों ही समान थ आपको जीवन में यह ना पने-जोखने की आवश्यकता ही अनुभव नहीं हुई थी कि मुझमें किसकी कितनी श्रद्धा है ! तथापि मैं आपके प्रति कितनी श्रद्धा रखती आई हूँ—यह हाथ पर रखकर तो नहीं पर हाथ से लिखकर बतानी पड़ रही है ! पड़ ही क्यों रही है—यह मेरा परम पुनीत कर्त्तव्य है ! आपको नहीं समाजस्थों को बताने-जताने की आवश्यकता है मैं उन्हीं को बता-जता रही हूँ फिर भी हृदय में उफनती श्रद्धा हाथों से उठाकर बताने में असमर्थ हू !

मेरी श्रद्धा जितनी गहरी या उथली है—मेरी श्रद्धा की उतनी ही गहराई और जितना उथलापन है, उसका उतना ही मूल्यांकन कर वन्दना के सामूहिक उठते स्वरों में एक स्वर मेरा भी—अपनी जानकर—मिला लेना ! क्योंकि यह मेरा लोक व्यवहार गत श्रद्धार्पण है !

श्रद्धा हृदय की वस्तु है ! उसका स्थान हृदय ही है ! यह हाथों में निथार कर नहीं निकाली जाती श्रद्धा बाँटी भी नहीं जाती ! श्रद्धा भूषण की तरह हृदय में सजोकर रखने से हृदयान्धकार मिटता है ! मैं हृदय का अन्धकार मिटाना चाहता हूँ ! श्रद्धाप्रदर्शन से हृदय प्रकाश, प्रस्थान कर जाता है ! अन्धकार हृदय के अन्दर प्रवेश पाता

है ! मैं श्रद्धा देकर भी हृदय श्रद्धा से शून्य करना नहीं चाहती ! मेरी श्रद्धा के श्रद्धेय सब के श्रद्धेय बन गये—यह मेरा अचल-अखण्ड अमर सौभाग्य है !

—विदुषी महासती श्रीउमरावकंवरजी

आँखें कितनी ही बरसें, हृदय कितना ही पसीजे, मन कितना ही भीगे, पर काल की भयकर आँखें कभी नही भीगती उस दिन सुना पूज्य मुनिमना मरुधरा मत्री श्रीहजारीमलजी महाराज काल की आखो आ गये, तो विश्वास नही हुआ था परन्तु अविश्वास का महल जल्दी ही ढह गया

और फिर मैं सोचने लगा—"उनके स्वर्गवास से मरुधरा सूनी हो गई क्योकि मरुभूमि मे वे आध्यात्मिक भावो के केन्द्र-स्थल थे मरुभूमि का हर श्रद्धावादी उनमे अपनी श्रद्धा अर्पित करके स्वय को भवभ्रमण से मुक्त अनुभव करता था

मेरी जिन्दगी का वह सुनहरा दिन था, जिस दिन (स० २०१५) कृपालु गुरुदेव अपनी पद-रज से मेरे गाव सिरयारी (राणावास) को पावन करने पधारे थे मैंने इससे पहले उनके कभी दर्शन नही किये थे दर्शन करते ही मन स्वत ही उनके प्रति झुक गया था सिरयारी का प्रत्येक व्यक्ति उनका भाषण सुनकर सदा के लिये उनके प्रति आस्थावान् हो गया था उनके व्याख्यान की सर्वोपरि विशेषता थी—'मधुरता' और 'सरलता' धर्मजागरण और ज्ञानार्जन की वे जिन भावो मे भीगकर प्रेरणा प्रदान करते, उन भावो को सुनकर अपने हृदय-कक्ष मे धर्मनिष्ठा और ज्ञान की अखण्ड लौ प्रज्वलित करने की इच्छा बलवती हो उठती थी

उनका जन्म टाडगढ (मेवाड) के समीप डासरिया ग्राम मे हुआ था यह गाव पर्वतो के बीच बसा हुआ है इस गाव मे जन साधारण मे भी पर्याप्त स्नेह और सद्भाव है यह आन-शान पर प्राण देने वाले मेवाड की अपनी निजी विशेषता है यही कारण है कि स्वामीजी म० के स्वभाव को उसने अत्यन्त करुणामय बना दिया था

उनके पुण्य दर्शन करके मेरे मन मे इस कामना ने जन्म ले लिया था कि कुछ समय तक इस आत्मा के चरणो मे रहू पर दुर्दैव को वह स्वीकार न था उसने मेरे मनोदेवता को छीन लिया

मेरा मन उनके प्रथम दर्शन से ही झुक गया था आज भी मेरा मन श्रद्धा से उनके प्रति झुका जा रहा है

●

उपाध्याय श्रीहस्तीमलजी म०

कबहुं न बिसरु !

श्रमण-सस्कृति का मूल, समता पर अवलम्बित है क्षणभगुर-भुक्ति-पथ से मन मोडकर, अटल-सुखद-निर्मल-मुक्ति की ओर, सहज-सरल, सात्विक गति से बढना एव इसके अवरोधक अज्ञान और मोह को, वायु-प्रेरित-सघन-घन की तरह दूर करना ही, इस सस्कृति का पवित्रतम लक्ष्य माना गया है जो समभाव से ही सिद्ध हो सकता है स्वामी श्री हजारी-मलजी म० वस्तुत श्रमण-सस्कृति एव समत्व के एक मूर्तिमान्-सजीव प्रतीक थे

उनकी सहज-सरलता, भद्रता, सहनशीलता, आत्मीयता, समता और सहृदयता आज भी जन-मानस मे सम्मान पा रही है और उनकी सौम्याकृति नयनो मे नाच रही है अत गुणमय शरीर से आज भी स्वामीजी हमारे सामने है और आगे भी रहेगे

स्वर्गवास के कुछ मास पूर्व ही उनके पवित्र-दर्शन और सुखद-सहवास का सुअवसर प्राप्त हुआ था निकट से देखा तो पाया कि वे मान, सम्मान और महिमा पूजा की कामना से सर्वथा परे थे स्वामीजी के जीवन मे 'समयाए समणो होइ' इस सूत्र का साक्षात्कार होता था और 'समो निंदापससासु' का अन्तर्नाद गूँजता रहता था उनके निश्चल मन मे पद की कोई कामना नही थी, भीनासर सम्मेलन मे मत्रीपद से सुशोभित होने पर भी उनमे गर्वातिरेक नही दिखाई दिया सचमुच श्रमण-जीवन का ऐसा ही पुनीत आदर्श ससार को शान्ति का पाठ दिखाने मे सफल हो सकता है इस तरह आपका श्रमण-जीवन, उस विराट्-सत्य का एक खुला पृष्ठ है जो सदा सबके लिए परमोपयोगी सिद्ध हो सकता है

पूर्व परम्परा से उनका हमारा निकटतम सम्बन्ध रहा है जयमल्लजी म० और पूज्य कुशलोजीम० परस्पर गुरु भाई थे और उन दोनो मे प्रगाढ प्रेम और असाधारण वन्धुभाव था आप पूज्य आचार्य श्रीजयमल्लजी म० की सप्तम पीढी मे थे और हम कुशलोजी म० की सप्तम पीढी मे है

वे गुणागार थे उनके किन गुणो का वर्णन किया जाय! यहाँ तो 'कबहू न विसरु हो चितारु नही' का सगीत गूंज रहा है
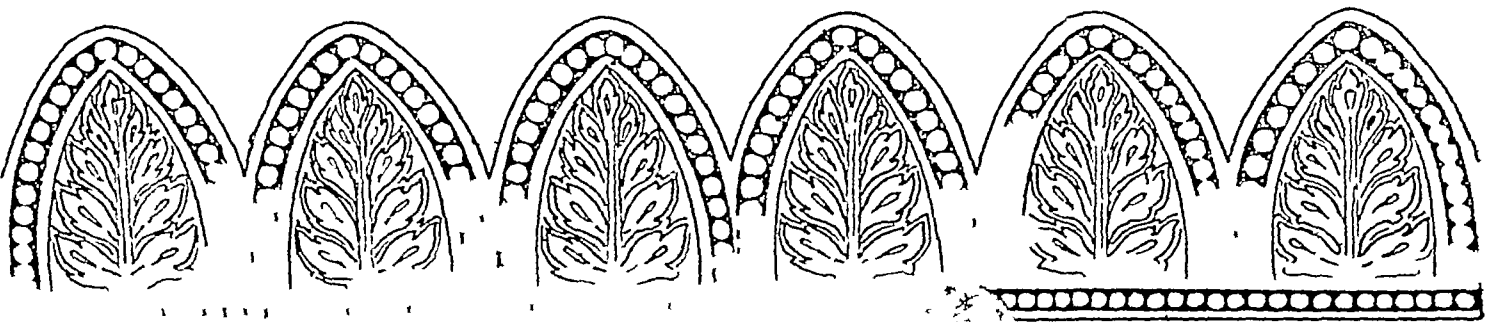
मेरा सौभाग्य है कि सन्त-समागम की अभिरुचि मुझे पूर्वजों से प्राप्त हुई है. उसके फल-स्वरूप ही मैं सन्तों की सेवा में समय-समय पर पहुँचता रहा हूँ और सन्तवचनों का लाभ उठाता रहा हूँ. अपने जीवन में कुछ सफलता के दर्शन किये हैं तो वह साधुकृपा का ही सुफल है. मेरे जीवन पर दो सन्तों का विशेष और चामत्कारिक प्रभाव है. एक पूज्य श्री शोभाचन्द्रजी म. तथा दूसरे जन-जन पूज्य स्वामी श्रीहजारीमलजी म. इनके अतिरिक्त भी मैं अनेक सन्तों के सम्पर्क में आया हूँ.

स्वामीजी म. में यह विशेषता थी कि वे स्वभाव से अत्यन्त सरल होने के साथ-साथ अत्यन्त उपशांतकषाय थे. स्वामी जी म. के प्रत्येक व्यवहार में शीतलता शान्ति एवं सरसता ही अभिव्यक्त होती थी. उन्हीं की कृपा का फल है कि मुनि मिश्रीमलजी म. 'मधुकर' जैसे एक विद्वान् और अभिमान के गरल से रहित महान् सन्त की उपलब्धि समाज को हुई है. यही कारण है कि वे जनता के विशेष श्रद्धा और आदर के पात्र बने हैं.

वर्तमान युग की सर्वाधिक आवश्यकता साम्प्रदायिकता के उन्मूलन की है. परस्पर प्रेम का प्रचार तथा स्याद्वाद के महान् सिद्धान्त द्वारा भेदभाव को मिटाकर समन्वय की चेष्टा की जाय. ऐसा न होने से धर्म को गहरा धक्का लगने की सम्भावना हो रही है और समय तथा शक्ति नष्ट हो रही है. जहाँ तक मेरी स्मृति काम कर रही है, श्रीहजारीमल जी म. भी मेरे इन विचारों को पसन्द करते थे और उनका व्यवहार भी इसीके अनुसार था. इन्हीं विचारों का पूर्ण प्रतिबिम्ब मैं मुनि श्रीमिश्रीमलजी म. 'मधुकर' में देख रहा हूँ. इस विचारधारा का अधिकाधिक प्रचार हो तो समाज बहुत लाभान्वित हो सकता है.

अस्तु, उस पूज्य पुरुष के प्रति मैं अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हुआ यह कामना करता हूँ कि स्वामीजी म. के जीवन व उपदेशों और विचारों के अनुरूप ही अपना जीवन बनाऊँ.

स्वामीजी म. की पवित्र स्मृति में मेरी श्रद्धा के ये पुष्प सादर अर्पित हैं.

मेहता रणजीतमल भूतपूर्व जज हाईकोर्ट जोधपुर.

●

श्रद्धासुमन-समर्पण

श्रद्धेय दिवंगत श्रीहजारीमल जी महाराज का 'स्मृतिग्रन्थ' प्रकाशित होने जा रहा है. इस अवसर पर मैं उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि के रूप में दो शब्द निवेदन करना अपना महान् सौभाग्य समझता हूँ.

चाहे वे किसी भी धर्म के हों, सन्त संसार में श्रेष्ठ हैं. जैन या अजैन सभी सन्त पुरुषों का जीवनस्तर, उनका आत्मिक ज्ञान ध्यान तथा दैनिक कार्यक्रम—एक ऐसे निर्मल अलौकिक स्तर पर चलता रहता है कि मेरी मान्यता है कि उनके जीवन को ठीक-ठीक आंकना मुझ जैसे साधारण व्यक्तियों के लिये वैसा ही है जैसे आकाश के सितारों को भूतल पर अवतरित करने का प्रयास.

फिर भी साधारण मानव का भी सन्त के प्रति एक दृष्टिकोण होता है और आज के युग में सभी को अपनी बात कहने की स्वतन्त्रता भी तो है. यही विचारधारा मेरी इन पंक्तियों की आधारशिला है.

महाराज श्री मुझे कैसे दिखाई पड़े ? त्याग और तप, ज्ञान और ध्यान का ओजस्वीपन उनकी प्रसन्न मुखमुद्रा पर सर्वत्र झलकता रहता था. वे बहुत ही मितभाषी थे. मेरा अनुमान है कि वे आवश्यकता होने पर ही कुछ कहने को तत्पर होते थे. उनका स्वभाव बहुत ही कोमल और सरल था. छल-कपट तो उनसे कोसों दूर था और जब भी मुझे उनके दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ मुझे ऐसा लगता था कि वे अगाध शान्ति और असीम आत्मानन्द के महासागर में अन्तःकरण डुबकियां लेते रहते थे. उनका शान्त-हृदय सांसारिक प्रपंचों से सर्वथा असम्पृक्त था. ऐसे सन्त जैन श्रमणपरम्परा के तो उत्कृष्ट उदाहरण होते ही हैं. लेकिन मेरी अल्पबुद्धि में वे किसी देश, जाति, धर्म व संप्रदाय विशेष की ही सम्पत्ति
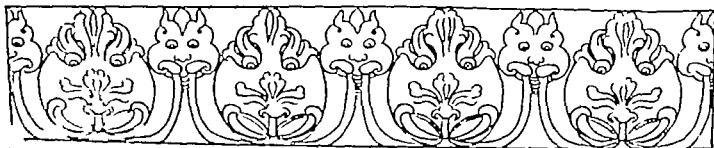
युगपुरुष : श्रद्धेय श्रीहजारीमलजी महाराज

युगपुरुष अपने युग की चेतना का प्रतिनिधि होता है. उसके चिन्तन मे युग का चिन्तन चलता है, उसकी वाणी मे युग की वाणी मुखरित होती है और उसके कर्म मे युग का कर्म प्रारम्भ होता है युग-पुरुष का जीवन जन-जन के जीवन मे प्रेरणा, स्फूर्ति और चेतना भर देता है

श्रद्धेय श्रीहजारीमलजी महाराज अपने युग की एक विमल विभूति थे वे क्या थे ? विचार मे गम्भीर, आचार मे प्रखर और वाणी मे मधुर ! उनका पावन और पवित्र जीवन, विचार और आचार का सुन्दर सगमस्थल था स्वामीजी म० अपने सिद्धान्त मे अडिग और अडोल थे. व्यवहार मे मृदु और मधुर होने पर भी वे किसी के प्रभाव मे नही आते थे प्रकृति से भावुक एव भावना-शील होते हुए भी व्यवहार मे उनकी चतुरता परिलक्षित होती थी दृष्टिकोण उनका इतना विशाल था कि उसमे सबको समाहित होने का सहज ही अवकाश मिल जाता था उस पावन व्यक्तित्व के प्रति मै अपनी श्रद्धाजलि समर्पित करता हूँ

प्र० श्रीपृथ्वीचन्द्रजी म०

●

श्रद्धापुष्प

स्वामीजी महाराज का जीवन सरलता, सरसता और आत्मसाधना से परिपूर्ण था उनका जीवन आज भी मेरे दृष्टि-पटल पर पूर्णत अकित है

जहाँ तक मैं स्वामीजी महाराज के जीवन-पहलुओ को देखभाल पाया हूँ—उसके आधार पर कह सकता हूँ कि उनके मन मे वदुव्रज-सी सरलता, वचन मे मिश्री-सी मधुरता और तन मे मधुकर-सी स्फूर्ति साकार थी और थी साधना के पथ पर आगे बढने मे वज्र-सी कठोरता

सौम्याकृति से सदा सर्वजनहितकर सोमरस की बूदे टपका करती थी उनका नाम 'हजारी' वस्तुत सार्थक था वह नाम आज भी हजारो अधरो से उच्चरित होकर कर्ण-कुहरो मे गूंज रहा है उस अलौकिक ऋजु पुरुष की छाप मेरे हृदय पर अनतकाल के लिए अकित रहेगी !

प्र० मुनि श्रीपन्नालालजी महाराज

●

अर्पित श्रद्धा-पुष्प

अवनी पर चन्दन शीतल है चन्दन से चन्द्र की चादनी शीतल है ! चन्द्र की चादनी से सन्त शीतल है ! पशुओ से मनुष्य श्रेष्ठ है ! साधारण मनुष्य से विद्वान् श्रेष्ठ है ! विद्वान् की विद्वत्ता से सन्त का मगल-आचरण श्रेष्ठ है ! हर तरह से सन्त सर्वश्रेष्ठ है ! उत्तम है ! सन्त का सोचना, बोलना और करना यह सब देव-कोटि का है ! क्योकि वह समाज से लेता कम और देता अधिक है देने वाला देव है जैन दृष्टि से सन्त के शुभाचरण की तुलना मे इन्द्रादि देवो की समृद्धि और पद फीका है क्योकि सन्त का कण-कण ज्ञान दर्शन और चारित्र मे सराबोर होता है

रत्नत्रय की साधना के लिये साधुजीवन उत्तम माना गया है क्योकि वह व्यक्ति मे केन्द्रित न होकर समष्टि मे व्याप्त होता है उसी के हित मे रत रहता है मगल आचरण केवल सन्तो के जिम्मे ही हो और सन्तत्ववृत्ति स्वीकार किये बिना वह सम्भव नही है—ऐसा नही है जैनधर्म मे उसके लिए दो पथ निर्धारित है सन्तवृत्ति और गृही (श्रावक) वृत्ति किन्तु हमे स्वीकार करना होगा—यह सब सद्विचारो और सुसस्कारो के बिना सम्भव नही है
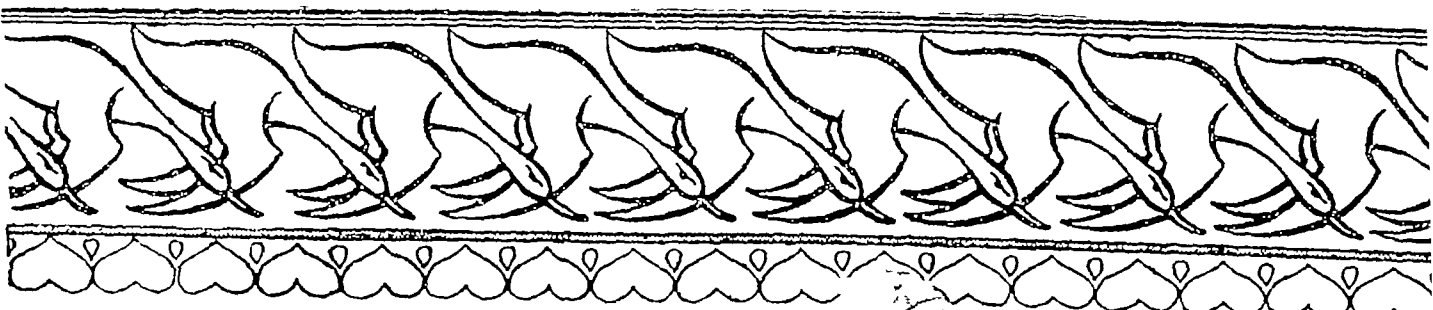
स्मरणाञ्जलि

हमारा देश आर्यावर्त आज भौतिक साधनों में सैनिक बल में आर्थिक समृद्धि में तथा यन्त्र विज्ञान में विश्व के अनेक देशों से कितना ही पिछड़ा हुआ क्यों न हो फिर भी वह एक ऐसी समृद्धि का धनी है जिसके कारण समग्र जगत् के विचारशील विद्वान् उसका आदर करते हैं उस समृद्धि की बदौलत आज भी उसका स्थान सर्वोपरि है और उसके कारण हम महान् गौरव की अनुभूति करते हैं यह समृद्धि हमारी आध्यात्मिक संस्कृति है अन्ततः भौतिकवाद से त्रस्त जगत को किसी समय यही शान्ति पहुँचाएगी यह हमारा सुनिश्चित विश्वास है अतएव हमें इसे सजीव और स्फूर्त बनाये रखना है

हम यह भूल नहीं सकते कि यह पुनीत संस्कृति भारत के ऋषियों की तपस्या और अनुभूति की ही देन है और उन्हीं की कृपा से यह आज भी जीवित है स्व मुनि श्रीहजारीमलजी म ने इस संस्कृति को जीवित रखने और फैलाने में जो महत्त्वपूर्ण योग दिया है उसके लिए वे सदैव अभिनन्दनीय अभिवन्दनीय और स्मरणीय हैं उनकी आत्मा हमारी इस स्मरणाञ्जलि को स्वीकृत करे

श्री सुगनचन्द मारिवाल पुखरोकर

मेरा युग-युग तक हो वन्दन !

अहर्निश साधना की अखण्ड-ज्योति प्रज्वलित रखकर साधना के चरम सत्य को प्राप्त करने वाले पूज्य मंत्री मुनिराज श्रीहजारीमलजी म के दर्शन कर मैं धन्य-धन्य हुई थी वह दिन याद आ रहा है वह समय था सं २०१२ भीनासर सम्मेलन का

पूज्या साध्वी श्रीउमरावकंवरजी के श्रीमुख से—जब आपका जम्मू आगमन हुआ था—परमश्रद्धेय गुरुदेवश्री की स्वभावगत विशेषताओं का वर्णन सुनते-सुनते मैं श्रद्धाभिभूत हो भक्तिनत हो गई थी

उनके भीनासर में दर्शन कर मैंने यह अनुभव किया था—'आज मेरे अखण्ड सौभाग्य का दिन है जिस परम पुनीत आत्मा के दर्शन कर रही हूँ इनके जीवन में मधुरता दृष्टि में वात्सल्य भाव और तेज है इनके जीवन में विवेक की सजीवमी है वृद्ध होते हुए भी स्वतः ही अपना काम कर रहे हैं कार्य कर चुकने पर भी प्रसन्नता का अनुभव करते हैं यही इनके जीवन की बड़ी विशेषता है

इन सब विशेषताओं के कारण ही वे जन-जन के मन में बस गए जन-जन की जिह्वा पर बस गए मेरा यह दुर्भाग्य ही रहा कि मैं पुनः उनके दर्शन न कर सकी भीनासर के दर्शन ही मेरे प्रथम और अन्तिम दर्शन सिद्ध हुए

परन्तु मेरे हृदय के कण-कण में आज भी यही अन्तर्ध्वनि गूँज रही है—

इस सन्त पुरुष के चरणों में हो मेरा युग-युग तक अभिवादन !

श्री कलावती जैन

मेरी श्रद्धा के आधार

विश्वासक में मनुष्य स्वयं अनुभव प्राप्त कर अपने जीवन की पुस्तक के पृष्ठों पर आचरण की मसि से अनुभव का अपनानुभवांकन करना चाहता है यह प्रयास अत्यन्त पवित्र है विकासोन्मुख व्यक्ति कभी-कभाई व सुनी-सुनाई बातों पर, पलकें मूँदकर चलना स्वीकार नहीं करता है यह मेरी समझ में प्रगति का प्रतीक है

नही, किन्तु विराट् मानवता के उच्चत्तम पवित्र प्रतीक भी होते है, जिन पर हमारे देश को ही नही, वरन् सारे विश्व को ही गौरव की अनुभूति होना स्वाभाविक है

ऐसे सन्त, जब अपनी जीवन-लीला को समाप्त कर दिव्यत्व की ओर प्रयाण करते हैं, तो उनका स्थान रिक्त हो उठता है सहज ही, एक न्यूनता का कटु अनुभव होता है उनका स्थान सहज मे भरा भी नही जा सकता है हम केवल उन्हे अपनी श्रद्धाजलि के भावपुष्प समर्पित करने के अतिरिक्त कर ही क्या सकते है ?

न्यायमूर्ति श्री इन्द्रनाथ मोदी

श्रद्धांजलि

परिवर्तिनि ससारे मृत को वा न जायते,
स जातो येन जातेन याति वश समुन्नतिम्

इस परिवर्तनशील ससार मे कौन नही जन्म लेते है और मरते है ? किन्तु जन्म और जीवन उन्ही का सफल है, जिन्होने अपने वश की प्रतिष्ठा मे चार चाद लगाए, जाति के अभ्युत्थान मे योगदान किया, कोई श्रेष्ठ कार्य करके जीवन मे क्रान्ति की

विश्ववाटिका मे नाना प्रकार के पुष्प खिलते हैं और अपना सौरभ दुनिया को लुटा कर मुरझा जाते है ऐसे ही महान् पुरुष भी इस ससार मे आते है और अपने सत्कृत्यो का सौरभ ससार मे फैलाकर चले जाते है जिस प्रकार मेघ वृष्टि करके चला जाता है, किन्तु पिछला वातावरण बहुत ही सुन्दर बना जाता है सम्पूर्ण वसुन्धरा को हरीभरी बना देता है महान् पुरुष विश्व मे आते है और पथभ्रान्त जनो को सत्यपथ प्रदर्शित करके तथा भूतल को अपनी वाणी-सुधा मे आप्लावित करके ससार से विदा हो जाते है जन-जन के हृदय मे सम्यक्ज्ञान का महान् प्रकाश फैलाकर जाते है

मुनि श्रीहजारीमलजी स्वामी भी ऐसे ही एक महान् विशिष्ट सन्त थे आपने निरन्तर ६४ वर्षो तक अप्रमत्तभाव से सयमसाधना मे प्रगति करते हुए भारत के विभिन्न प्रदेशो मे परिभ्रमण किया और अनेको भव्यात्माओ को अपने उपदेशामृत का पान कराया

आपके दर्शनो का सौभाग्य मुझे ब्यावर मे प्राप्त हुआ था आपका सौम्य चेहरा, भद्र स्वभाव, शान्त प्रकृति तथा वाणी का अनूठा प्रभाव सदा स्मरणीय है आपकी दृष्टि मे विलक्षण तेज और व्यक्तित्व मे असाधारण आकर्षण था ऐसे महापुरुष के चरणारविन्द मे मैं, श्रद्धा के सुमन अर्पित कर कृतार्थता अनुभव करती हूँ

सती श्री कुसुमवतीजी जैनसिद्धाताचार्या

अभ्यर्थना और श्रद्धांजलि

महापुरुष, मुनि श्रीहजारीमलजी म० की पावन स्मृति मे 'स्मृतिग्रथ' प्रकाश मे आ रहा है मेरी निश्चित धारणा है कि वे गुणपूजा के पक्षकार थे जीवन पर्यन्त उन्होने पच महाव्रतो का दृढता पूर्वक पालन किया था चरित्रनिष्ठ महामुनि के जीवन की दिव्य प्रेरणाओ को आधार मानकर हम भी वर्गों मे विभाजित वीतराग के अनुगामी गुण-पूजा व त्याग प्रतिष्ठा का श्रीगणेश करें यही शुभ अभ्यर्थना करते हुए अपनी विनीत श्रद्धाजलि प्रस्तुत करता हूँ

मुनि श्रीजनकविजयजी गणि
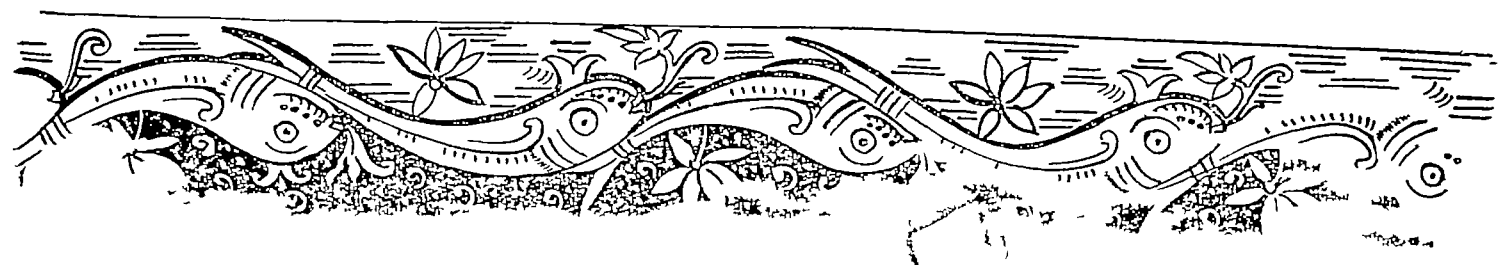
जिनकी कथनी और करनी समान हो ऐसे सत्पुरुष आज के युग में विरल हैं पर जितने भी हैं यह संसार उन्हीं पर टिका है

मुनिश्री के प्रति मैं अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ और आशा करता हूँ कि जिन गुणों के कारण हम उनका स्मरण और अभिनन्दन करते हैं वे गुण जन-जन में अवश्य फैलेंगे और आज का संतप्त मानव उनसे प्रेरणा ग्रहण कर सही मूल्यों की ओर अग्रसर होगा

श्रीयशपालजी जैन

⊙

मेरी श्रद्धा मेरा मन

राजस्थान के पूज्य श्रीहजारीमलजी महाराज का आध्यात्मिक जीवन अत्यन्त महान् और ऊंचा था वे हृदय के अत्यन्त सरल और विनम्र थे संसार में संतों की आध्यात्मिक पूंजी ही मनुष्य को सुख दे सकती है दुःख से त्राण कर सकती है मुनिश्रीजी आत्मयोगी और परमज्ञानी थे उनके ज्ञान और आत्म-योग पर राजस्थान का अधिकांश श्रद्धालुवर्ग गहरी आस्था और निष्ठा रखता था उनसे उन्होंने जो पाया वह उनके आत्म-सुख का परम कारण है

आज उनके अभाव में उनका श्रद्धालुवर्ग एक अभाव की अनुभूति कर रहा है पीड़ा का अनुभव करता है परन्तु दुःख जैसी क्या बात है ? उनकी विरासत को अपने जीवन में नैतिक आचरण के द्वारा खूब उतारें उसकी सुरक्षा करें यही उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि है

मेरा मन ! मेरी श्रद्धा मेरा विश्वास ऐसे सन्त चरणों का दास है !

श्रीजगन्नाथजी बाहर

⊙

वे क्या थे ?

करुणा के असीम सागर शान्ति के निर्भय प्रचारक अध्यात्मवाद के प्रबल प्रसारक अति सरल सत्य के तेज पुञ्ज छलकपट से अनभिज्ञ प्रवीण संगठनकर्ता अडिग कर्तव्यपरायण उच्चकोटि के सादगी प्रिय क्रोध से सहस्रों कोस दूर स्याद्वाद के सच्चे अनुयायी शास्त्र ज्ञान के निरभिमानी पंडित और थे वे अहिंसा के अमर पुजारी मुनि श्रीहजारीमलजी महाराज

ऐसे सन्त जन कम पैदा होते हैं उनको मेरे अनेकों प्रणाम !

श्री मिलापचन्द्र भुरट बी एम-सी ए जी

⊙

तुम केवल श्रद्धा हो !

पूज्य गुरुदेव मुनि श्रीहजारीमल जी म भी जीवन के राहभूले पथिकों को जीवन-दर्शन कराने वाले थे वे निरन्तर अपने मानसिक विचारों से उनका पथ आलोकित करते रहे संयमीय जीवन की मुस्कान से—आखिर तक

वे स्वभाव से सरल मन के विनम्र तन के तपस्वी और शुद्ध आचरण के धनी थे

सौभाग्य था मुझे उनके प्रति सम्पर्क का मैंने उस पुनीत आत्मा के अनेक बार शुभ दर्शन किये थे जब-जब भी उनके दर्शन किए तब-तब मैंने नयी अनुभव किया था सम्प्रदाय विशेष में रह कर भी उनके विशाल हृदय में संकीर्ण विचारों

कलाकार की कृति उसके अनुभव के बल पर ही हमारे नेत्र का सौंदर्याधार बनती है

परम श्रद्धेय श्रीहजारीमलजी महाराज भी अपने अनुभव के बल पर सयम के महामार्ग पर अग्रसर हुए थे उन्होने अनुभव की प्रयोगशाला मे अपने आपको निर्भय होकर प्रविष्ट कर दिया था तप करना उत्तम है पर क्यो उत्तम है ? इसका अनुभव तो तप करके ही किया जा सकता है इसीलिये उन्होने नाना प्रकार के तप तपे, बाल्यकाल से ही उन्होने सयमीय जीवन के नाना प्रयोग प्रारम्भ कर दिये थे प्रतिफल यह आया कि वे एक विशिष्ट सन्त-रत्न के रूप मे हम सब की श्रद्धा के आधार बने

उन्हे मैंने मरुभूमि मे शान्ति, क्षमा, ध्रुवधैर्य, कष्टसहिष्णु और करुणा के साकार रूप मे देखा था जिस दिन मैंने इन रूपो मे उनके दर्शन किये थे, तभी से उनके प्रति मेरे हृदय मे अपार श्रद्धा उत्पन्न हुई थी ज्यो-ज्यो कालक्रम बढा मेरी श्रद्धा भी वर्धमान होती गई आज मेरी श्रद्धा के उस आधार को श्रद्धाजलि अर्पित करते हुए मनमे बार-बार एक प्रश्न उभर रहा है—अब मेरी श्रद्धा का नया आधार कौन बनेगा ?

मुनि श्रीसौभाग्यमलजी महाराज, मालवकेसरी

सौम्यस्वभाव सन्त

जैनदर्शन के विद्वान्, लोकप्रिय मुनिराज पूज्य श्रीहजारीमलजी के दर्शन का सौभाग्य मुझे भी प्राप्त हुआ था उनके सौम्यस्वभाव की छाप मेरे हृदय पर आज भी गहरी अकित है पिछले वर्ष महाराजश्री के स्वर्गवास की सूचना सुनकर मन को गहरी व्यथा का अनुभव हुआ लेकिन सोचता हूँ—इस अनन्त-पथ पर एक न एक दिन तो सभी को सुनिश्चित जाना है ! यही सोचकर चुप हो रहता हूँ

उनका सम्पूर्ण जीवन जनहित और मानवता के नैतिक जागरण मे बीता मुझे विश्वास है कि महाराजश्रीका 'स्मृतिग्रथ' जनसमुदाय के लिए अवश्य ही लाभप्रद सिद्ध होगा इस शुभ प्रयत्न की मैं हृदय से सफलता चाहता हूँ

श्रीमूलचन्द्रजी देशलहरा

आचार के गौरीशकर

मुनि श्रीहजारीमलजी की स्मृति मे एक ग्रथ प्रकाशित करने के आयोजन का मैं हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ सन्त जनो का जीवन सार्वजनिक कल्याण के लिए समर्पित होता है अत उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना समाज का कर्तव्य है उन्होने ११ वर्ष की अवस्था मे सासारिक प्रलोभनो की ओर से मुँह मोडकर तपश्चर्या का मार्ग अगीकार किया था और ६४ वर्ष तक लगातार उसी पर अग्रसर होते गये अपनी अखण्ड साधना से उन्होने त्याग और तपस्या का जो ऊँचा आदर्श प्रस्तुत किया वह वास्तव मे अद्भुत है

आज हम सब भौतिकता की साधना मे लीन हैं और पश्चिम की हवा ने हमारे मापदण्ड बदलकर, ऐसे बना दिये है कि जीवन की सफलता भौतिक-उपलब्धियो मे आँकने लगे हैं पर सच यह है कि हम जिसके पीछे दौड रहे है, वह छाया मात्र है, उस मे सार नही है

मुनिश्री ने बताया कि वास्तविक आनन्द की सिद्धि भोग मे नही है, त्याग मे है और व्यक्ति का जीवन कृतार्थ तब बनता है, जब कि उसके कदम उत्तरोत्तर ऊँचाई की ओर बढते हैं जो साधना की चोटी पर पहुँच जाते हैं, वे जानते है कि ऊँचाई का कितना निराला आनन्द और कितना सुख होता है

मुनिश्री ने इस मर्म का उपदेश केवल शब्दो मे नही दिया आचरण से भी उसका दर्शन कराया

राजस्थान के उस जैन मुनिराज को मेरी रामजी म के स्मरणपूर्वक भावांजलि समर्पित है

स्वामी श्रीजैनूरामजी आयुर्वेदाचार्य

○

भावसमर्पित श्रद्धांजलि

भारतीय संस्कृति व्यक्तिपूजा में नहीं गुणपूजा में विश्वास करती है विशिष्ट गुणवान् व्यक्ति ही वस्तुत जन-जन के मन मे विशिष्ट श्रद्धा का केन्द्र बनता है

मानव की पूजा कौन करे, मानवता पूजी जाती है
साधक की पूजा कौन करे साधकता पूजी जाती है

श्रमण-संघ के महाप्राण सन्त ऋषिप्रधान भारत की महान् सम्पत्ति आध्यात्मिक क्रांति के संदेशवाहक श्रीहजारीमलजी महाराज एक ऐसे ही अनुपम व्यक्तित्व के धनी थे उन महान् सन्त के पुण्यदर्शन करने का सुअवसर मुझे ब्यावर में प्राप्त हुआ था उनके शुभ दर्शन पाकर मेरा रोम रोम पुलकित हो उठा उनकी पीयूष-वर्षिणी वाणी श्रवण कर मेरे हृदय मे अमन्द आनन्द की मन्दाकिनी प्रवाहित होने लगी ।

आज वे भौतिक रूप में हमारे सम्मुख नहीं रहे हैं परन्तु सद्गुणों के आदर्श के रूप में आज भी वे हमारे समक्ष ही हैं उनके सरल व सरस स्वभाव से मैं अत्यधिक प्रभावित हुई हूँ मैंने देखा उनके हृदय में अनुपम उदारता भावों में गाम्भीर्य और वाणी में माधुर्य ! उनका जीवन आचार-विचार से भरा हुआ व संयम-साज से सजा हुआ था त्याग तप और क्षमा उनके प्रधान आभूषण थे वे आध्यात्मिक सौन्दर्य के आलोक से आलोकित थे पौरुष की साक्षात् मूर्ति थे उनकी सरल प्रकृति और भव्य आकृति देख मेरा मन अपने आप बोल उठा—इस महान् सन्त के अंदर एक महान् आत्मा निवास करती है उनके जीवन की मधुर सुवास मेरे मन के कण-कण को आज भी सुवासित कर रही है आज वे हमारे चर्म-चक्षुओं के सामने नहीं रहे किन्तु उनके तप और त्याग का उज्ज्वल प्रकाश हमारे अंतश्चक्षुओं के सामने चमक रहा है मैं विश्वास करती हूँ कि उनकी मधुर स्मृति हमें युग-युग तक संयमीय जीवन के लिये पावन प्रेरणा प्रदान करती रहेगी

आर्या श्री कौशल्याकुमारीजी जैनसिद्धान्ताचार्या

○

बहुरत्ना वसुंधरा

दो पहलू हैं ! एक दिखावटी आडम्बर और कृत्रिमता से लबालब दूसरा आडम्बरहीन और वास्तविकता से ओतप्रोत दोनों में भिन्नता है दोनो के आकर्षण में भी पर्याप्त अन्तर है पहला चाकचिक्यपूर्ण है दूसरे आकर्षण मे सात्त्विकता है वहां चाकचिक्यता जैसी चौंधिया देने वाली कोई कृत्रिमता नहीं है स्वभावत ही उस ओर दर्शकों की आंखें कम पहुंचती हैं किन्तु जो कोई भी उसे पा लेता है सचमुच उसे अपूर्व सहजानन्द का अनुभव होता है क्योंकि वहाँ पर वास्तविकता के दर्शन होते हैं ।

स्वर्गीय स्वनामधन्य परम श्रद्धेय श्रीहजारीमलजी म का जीवन निर्लिप्त व निर्विवाद रूप से दूसरे उज्ज्वल पहलू-सा था यह बात मैं औपचारिक रूप से नहीं कह रहा हूँ बल्कि अनुभव के आधार पर ही इसका प्रकटीकरण है यों तो एक बार उनके दर्शन पहले भी हुए थे परन्तु उसे मैं एक झलक मात्र ही स्वीकार करता हूँ उनसे मैं पूरा-पूरा परिचय नहीं कर पाया था पुन भीनासर सम्मेलन के अवसर पर एक उद्यान में उनके शुभ दर्शन का सौभाग्य मिला उसे मैं उनके अन्तिम दर्शन भी कह सकता हूँ उसके बाद दोबारा उनके दर्शन का लाभ नहीं प्राप्त कर पाया प्रथम दर्शन में ही मन्त्री श्रीजी के सुभग व्यक्तित्व की छाप जो मुझ पर पड़ी तो सचमुच हृदय और मस्तक दोनों ही नतावनत हो गये

की दरिद्रता नही थी व्यक्तिगत साधना मे अत्यन्त दृढ थे, अन्य सन्तो के प्रति कृपा और स्नेह उनकी आँखो से अहर्निश बरसता रहता था यही कारण है कि साधुसमुदाय उन्हे अत्यन्त आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखता था

उनके कृतित्व-जगत् और व्यक्तित्व-जगत् के अनेक वैशिष्ट्य थे, मै कुशल कलाविद् नही कि उन गुणाकर के गुण-पुष्पो की माला गूथ सकू उनका पुण्य स्मरण हृदय-भूमि मे केवल श्रद्धा और आस्था ही अकुरित करता है उनका तप, त्याग और साधना इतनी कठोर थी कि आज मेरा मन यह कहने को विवश हो रहा है—गुरुदेव तुम केवल श्रद्धा हो

श्रीमगरूपचन्दजी भण्डारी

मेरे लिए

वे मरुधरा के धर्मप्राण आचार्य श्रीजयमलजी म० की सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक थे श्रमण सघ की अखण्डता के लिए प्रवर्त्तक पद का परित्याग कर श्रमणवर्ग मे उदाहरण सिद्ध हुए उनके असाधारण व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उन्हे श्रमण-सघ ने मारवाड प्रान्त का मत्री पद प्रदान किया पूर्ण उत्तरदायित्व पूर्वक उन्होने उसको निभाया साधको का समुचित मार्गदर्शन किया

वे आत्मविद्या के ज्ञानी साधक थे परमयोगी थे उनकी योग-साधना का प्रत्यक्ष रूप उनके दर्शन मात्र से प्रतिबिम्बित होता था मैंने उनके दर्शन किये—तो वे मेरे लिए श्रद्धा के अमर आधार बन गए वे गए मन को असीम कष्ट है, पर मेरी श्रद्धा का सुहाग मर कर भी वे अमर कर गए मै श्रद्धा सहित उस गुणी योगी पुरुष मुनि श्रीहजारीमलजी म० के प्रति नत हूँ

प्रवर्तक श्रीशुक्लचन्दजी म०

भावांजलि

वीर, रणभूमि मे लडकर देशरक्षा के स्वाभिमान का सुख पाता है वह वीर युद्ध मे काम आ गया यह जानकर भी उसके परिजन परिताप का अनुभव नही करते उसकी बहादुरी से प्रेरणा ही लेते हैं

सन्त भी जीवन भर युद्ध करता है सन्त महात्माओ का युद्ध राम और रावण का युद्ध है काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, मत्सर, छल आदि अनेक बुराइयाँ दशमुखी रावण की सूचक है प्रेम, जगत्वत्सलता, सदाचार और ईश्वरभक्ति आदि रामवृत्ति, भगवान् राम की सूचक हैं इसलिए सन्त, जीवन पर्यन्त राम का प्रतिनिधित्व करता हुआ युद्ध करता रहता है अत सन्त परम योद्धा है

देशरक्षा के लिये लडाई नियत समय तक ही होती है सन्तवृत्ति मे बुराइयो से जीवनपर्यन्त लडाई होती रहती है लौकिक लडाई मे मरने वालो का दुख नही मनाया जाता यह सब इसलिये कि उसने युद्धभूमि मे शत्रु को पीठ नही दिखाई

सन्त भी बुराइयो से अभिभूत होकर आत्मशत्रुओ को पीठ नही दिखाते

जैनमुनियो के नियम अन्य सम्प्रदायो की अपेक्षा कठोर होते है अत जैनमुनि की पोपाक पहनकर आत्मशत्रुओ से लडाई लडना और भी कठिन है प्रवर्तक मुनि श्रीहजारीमलजी म० से अपने राम—(नेनूराम) की कभी प्रत्यक्ष 'रामा श्यामा' नही हुई थी, परन्तु सन्तो की रामा श्यामा तो प्रभु भक्ति मे ही होती है

जैन समाज ने उनकी स्मृति को कायम रखने की दृष्टि से 'स्मृतिग्रन्थ' का आयोजन किया है यह बहुत सुन्दर काम है सन्तजीवन के अनुरूप है
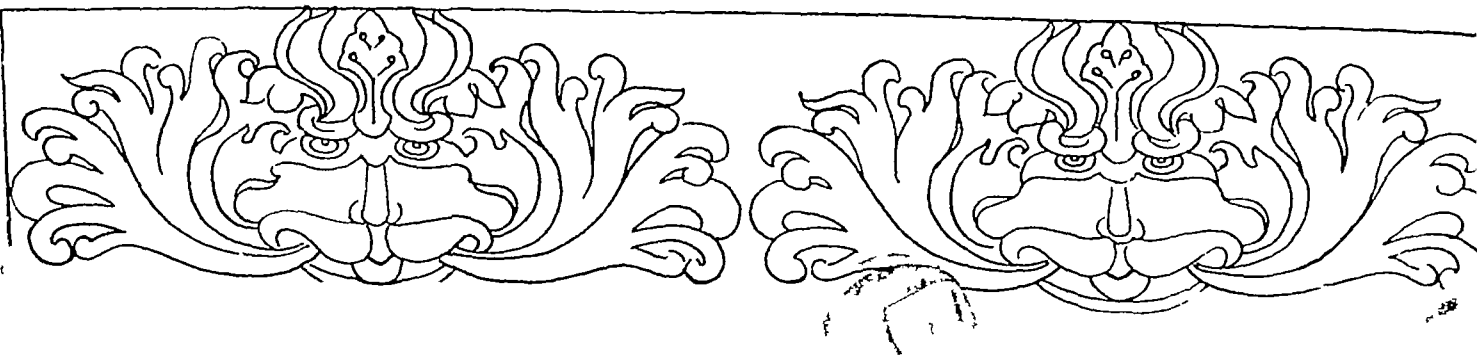
इससे उनका जीवन अतिशय भव्य और दिव्य था उन पुण्यश्लोक शान्त भद्रपरिणामी मन्त्री मुनि श्रीहजारीमलजी महाराज के चरणों में अपनी श्रद्धांजलि समर्पित कर धन्यता का अनुभव करती हूँ

श्रीसुमतिकुंवरजी आर्या

०

मेरे श्रद्धाप्रसून

यह सही है कि स्व महाराजश्री का कार्यक्षेत्र अधिकतर राजस्थान ही रहा परन्तु इससे उनके चारित्र्य में संगठन और अनुशासन की अनुभूति अधिक प्रखर हो उठी और उल्लेखनीय यह है कि श्रमण-संगठन की आवश्यकता और अनुशासन की कठोरता के पक्के हिमायती होने के बावजूद भी वे अत्यन्त संवेदनशील और भावनाप्रधान थे मेड़ता में पिछले दर्शन मेरे लिये अन्तिम ही सिद्ध हुए आज स्मृति टटोलता हूँ तो लगता है—मेड़ता में वे कितने भाव प्रवण और श्रावकों के अनुराग से अभिभूत थे

श्रीस्वामीजी की साहित्यरुचि और जैन आगमों के प्रति एकान्त-निष्ठा केवल औपचारिक न थी वे चाहते थे कि जैन साहित्य का अधिकाधिक प्रचार और प्रसार हो और गूढ तथा अप्राप्य ग्रन्थों को पूरे विश्लेषण और अनुसंधान का अवसर मिले आशा है हमारा समाज उनकी इन भावनाओं को क्रियात्मक रूप देने में पीछे न रहेगा

स्व महाराजश्री के सुयोग्य अंतेवासी प र मुनि श्रीमिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर' में हम मुनिवर के सारे गुण पा रहे हैं और स्वाभाविक ही इसका श्रेय अन्ततः स्व श्री १ ८ श्रीहजारीमलजी म को है और उनकी पुण्यस्मृति में इससे अच्छी श्रद्धांजलि और क्या होगी यदि हम सभी उन्हीं के बताये मार्ग पर केवल कहने और बोलने के बजाय-सच मुच म चलना शुरू कर दें

श्रीजवाहरलालजी मुणोत

०

श्रद्धांजलि

पूज्य मुनिराज श्रीहजारीमलजी म के प्रेरक उपदेश का ही सुफल है कि मैं सार्वजनिक सेवा के क्षेत्र में प्रवेश पा सका उनके उपदेशों ने मेरे हृदय में जनसेवा के भावों के अंकुर उत्पन्न किये स्थानीय जैन समाज में गति लाने के लिये श्रावकसंघ की स्थापना करवाई सेवक के नाते उसमें मेरा भी उल्लेख हुआ

उनका स २ १ का वर्षावास विजयनगर में था मेरा वह वर्ष उनके अधिक सम्पर्क म आने का था उसने मेरे जीवन को एक नई दिशा दी उनको अनेक बार अनेक प्रसंगों पर मैंने देखा कि वे दया और करुणा की साकार प्रतिमा हैं

श्रीकन्हैयालालजी मरेवड़ा विजयनगर

०

अर्पित है श्रद्धा मेरी

मनुष्य का जीवन अध्रुव और अशाश्वत है वह जिस क्षण जन्म लेता है उसी क्षण मृत्यु की ओर यात्रा प्रारम्भ हो जाती है जन्म और मृत्यु एक मुद्रा के दो पहलू हैं —यह सब होते हुए भी एक अलौकिक ज्योति मानव के सम्मुख है मृत्यु शरीर को हानि पहुँचाती है- आत्मा इन नश्वर से मुक्त है जन्म मरण के विवर्त से सन्त भी व्यतीत होता है परन्तु वह अपने आदर्श त्याग तपोमय जीवन के कारण मर कर भी अमर है

स्वर्गीय शास्त्रस्थविर श्रीहजारीमलजी महाराज हमारे सम्मुख नहीं है किन्तु उनके आदर्श और कार्य हमारे लिए प्रेरणा

उनके निष्कपट सरल व ममतापूर्ण व्यवहार ने मेरे मन को जीत लिया मैंने सुना है—'वहुरत्ना वसुधरा' आज उनके प्रति श्रद्धाजलि अर्पित करते हुए मन यो कहने को विवश हो रहा है—'वहुरत्ना मरुधरा' इस तरह मरुधरा के वे एक रत्न थे

स्वर्गीय श्रीहजारीमलजी म० हमारी गौरवमयी परम्परा के सन्त थे उनके प्रति नये सिरे से क्या श्रद्धा व्यक्त करूँ ? मेरी श्रद्धा के पुष्प तो उनके पवित्र चरणो मे पहले से चढ चुके थे उनका समुज्ज्वल 'मगलमय यश' स्मृतिग्रथ से भी ज्यादा व्यापक व स्थायी है फिर भी उनके सुयोग्य शिष्यरत्न श्रीमधुकरजी महाराज द्वारा श्रद्धास्वरूप स्मृतिग्रथ सवन्धी जो उपक्रम किया जा रहा है, उसके प्रति भी मेरी हार्दिक शुभ कामना व शुभ भावना है

प्रातमत्री श्रीअम्बालालजी महाराज

◉

समभावयोगी सन्त

सेयवरो वा आसवरो वा, वुद्धो वा तह व अन्नो वा ।
समभावभावियप्पा लहेइ मुक्ख न सदेहो ॥

साधक श्वेताम्वर हो या दिगम्वर, बौद्ध हो या वैष्णवादि, जाति और वर्ग का प्रश्न नही है—हिन्दू, यवन, सिख, पारसी, ईसाई, ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र, किसी भी धर्म का अनुयायी क्यो न हो, जिसमे समभाव की साधना का योग चल रहा है—वह अवश्य ही मोक्ष को प्राप्त होगा

समभाव सर्व सिद्धि का केन्द्र है समभाव से जातिगत, धर्मगत, वर्गगत, सम्प्रदायगत और राष्ट्रगत, सभी प्रकार के सघर्ष और द्वद्व समाप्त हो सकते हैं मेरी निश्चित धारणा है कि इस से विश्व-शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो सकता है मेरी यह शुभाशा है कि सभी वर्ग के लोग समभाव साधना के द्वारा जीवन का परम काम्य प्राप्त करें

स्मृतिग्रन्थ के नायक, समभाव व योग-साधना के वल पर ही जीवन मे श्रेष्ठता प्राप्त कर जन-जन वद्य वने थे मेरे श्रद्धा के नेत्रो मे वे मुझे समभाव योगी ही दीख रहे है शिवमस्तु सर्वजगत !

आचार्य श्रीविजयसमुद्रसूरिजी महाराज

◉

मरुधरा की एक महान् विभूति

भारतीय जनता ऋषियो, महर्षियो, सन्तो, साधुओ का सम्मान सदैव करती आई है क्योकि साधक का जीवन महान्, पवित्र, शीतल, शम, दम एव उपशम भाव से परिपूर्ण होता है वे अपने सहज सात्विक गुणो से अज्ञानी जीवो को मार्ग-दर्शन कराते रहते है

आर्यावर्त के इतिहास को इन्ही नव-रत्नो पर विश्वास है और इन्ही पर गर्व है ऐसी महान् विभूतियो द्वारा ही आर्य-सस्कृति को पोपण मिला और मिल रहा है सत्य तो यह है कि भारतीय सस्कृति, धर्म और दर्शन का इतिहास सन्तो का ही इतिहास है उन्ही की इस सात्विक देन के कारण भारतवर्ष का स्थान विश्व मे अद्वितीय माना जाता है

आज जिस महापुरुप को श्रद्धाजलि अर्पण करने की भावना हो रही है, वे ऐसे ही उच्चकोटि के सन्त थे, जिन्होने "मधुकर" मिश्री जैसे को समाज के लिए उपहार दिया है स्थानकवासी समाज का इतिहास ऐसे एक दो नही, सैकडो सन्तो के स्तुत्य जीवन और ज्ञान की अलौकिक प्रभा से भरा पडा है उन्ही महापुरुषो मे से मुनिराज श्रीहजारीमलजी महाराज थे उन्होने श्रमणसघ के मत्री पद का उत्तरदायित्व बडी खूबी से निभाया "मनस्येक वचस्येक कर्मण्येक महात्मनाम्" यह आदर्श उनका जीवनव्यवहार बन गया था
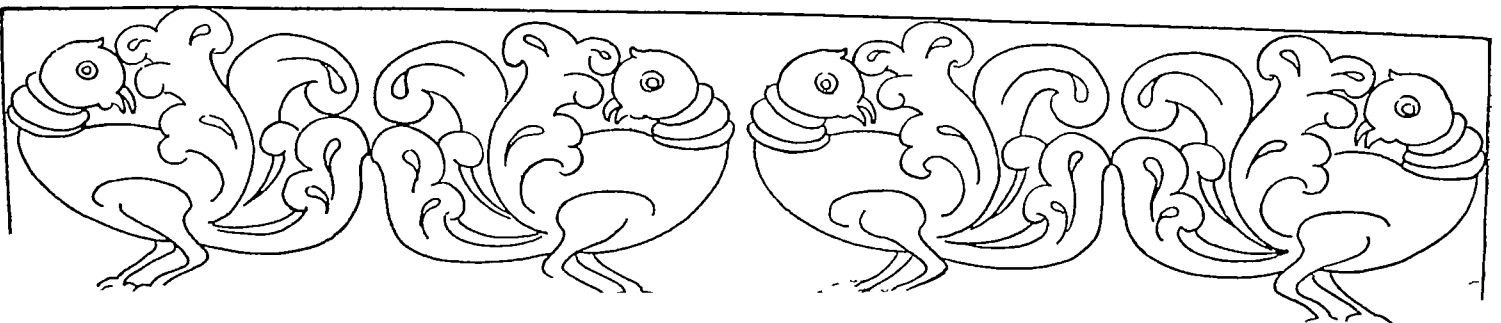
वस्त्र भी मधुर अर्थात् श्वेत थे जो निर्मलता और पवित्रता के प्रतीक थे 'बलितं मधुर' उनका आत्मबल असाधारण था इसलिये भक्तों के लिये वह भी मधुर था वे अपने आत्मबल का उपयोग अधिक से अधिक साधनात्मक जीवन को सुदृढ़ बनाने में करते थे

समरागण में हजारो शत्रुओं का सहार करने वाले हजारों मिलेंगे मगर षड्रिपुओं पर विजय प्राप्त करने वाले हजारों में से एक ही [हजारीमल जी म] थे इससे उनका बल भी मधुर था चलित मधुर हंस की धीमी गति से वे समय के साथ में पदन्न किया करते थे सन्तो का विहार भव्य जीवों के कल्याणार्थ ही होता है अपनी मर्यादानुसार चलते हुए जो जनकल्याण करते थे भ्रमित मधुर' उनका सादा-सा भ्रमण करना भी बड़ा मधुर लगता था जिस समय वे भ्रमण करते तो ऐसी अनुभूति होती मानो मानव मात्र के अभ्युत्थान का चिन्तन करते हुये एक सजग प्रहरी आत्ममस्ती एव मधुर मानस लिये भ्रमण कर रहा है मधुराधिपतेरखिल मधुर उनका समग्र जीवनव्यवहार मधुरतासे ओत प्रोत था

उनमें बालक-सी निश्छलता कर्मठ युवक-सी कार्यदक्षता प्रौढ-सी गभीरता और वृद्ध-सी अनुभवगरिमा थी सद्गुणित गुणो से और अपने तप त्याग वैराग्यमूलक व्यक्तित्व से वे बरबस ही मन मोह लेते थे उनके तप पूत शरीर पर सयमीय सौन्दर्य था चेहरे पर नि·सीम शान्ति थी वात्सल्य और मधुरता थी पद उन्हें आरम्भ लगते थे अनावश्यक धूमधाम उन्हे अखेरा लगती थी उनके जीवन मे निस्पृहता का सागर लहराता था मानवता की लहरें उठती थी वे साधुता के सुनहरी रगमहल मे निवास करते थे खुशामदियों के मीठे वचन उन्हे डिगा नही सकते थे वे अपने सयमीय जीवन के प्रति पूर्ण वफादार थे

उन्होने अपनी सफल साधना से जो उज्ज्वल ज्योति अपने जीवन म जगाई वह जैन समाज के लिये गौरव का विषय है इस प्रसग म एक पद्य स्मृतिस्थ हो आया है—

दूर न कोई हो कभी वह उपाय है कौन ? यही प्रश्न है विश्व में वहाँ विरव है मौन !

अन्त म मैं अपने श्रद्धासुमन उन महान् आत्मा को समर्पित करती हूँ

कुमारी श्रीकुमुदिनी सुधा

कैसे करू अर्पित तुम्हें श्रद्धा-सुमन मेरे ?

बड़ा होने का नाटक भी किया जाता है कुछ व्यक्ति ऐसे होते है कि उनका अहंकार दया और करुणा को भी कुचल देता है किन्तु परम श्रद्धेय श्रीहजारीमलजी महाराज ऐसे नही थे उन्होने बड़प्पन का कभी अभिमान नही किया उनके जीवन मे जो कुछ था वह सहज था वहाँ दिखावे और प्रदर्शन के लिए कुछ न था करुणा और दया उनके जीवन में पूर्णत साकार हुई थी किसी को कष्ट या पीड़ा से घिरा हुआ देखते तो उनका हृदय पिघल जाता था मैंने जीवन के कुछ क्षण उनके सान्निध्य में व्यतीत किये है अनेको बार पदयात्रा करते हुए ऐसे प्रसंग आए हैं जब अभावग्रसित भाग्य के ठुकराए हुए मनुष्य जीवन स निराश होकर अपना जीवनात करने की मलिन बुद्धि मे प्रेरित होकर इधर-उधर भटकते—मिले है मुनिश्री ऐसे व्यक्ति को तत्काल पहचान लिया करते थे और वार्ता द्वारा उसकी मर्मपीड़ा को छू कर साथ राज बुलवा लिया करते थे उसे जीवन जीने की कला सिखाते उनके जीवन के अनेक प्रसग ऐसे हैं जो मुझे प्रमाद और आलस्य के क्षणो मे प्रेरणा तो प्रदान करते ही है जीवन को समुज्ज्वल बनाने का पाठ भी पढ़ाते है उनका व्यवहार प्रत्येक मनुष्य के साथ चाहे वह छोटा हो या बड़ा—समान रहता था अत युवा वृद्ध बाल सभी उनके दर्शन कर अपूर्व आनन्दानुभव करते थे उनके विमल मन मे छोटे-बड़े का भेद था ही नही साथ वाले मुनियो का मुनिव्यवस्थानुसार जो कार्य उनको करने का होता था उसे वे स्वयं कर लिया करते थे

एक बार हम यात्रा कर रहे थे कुछ मुनि उनसे आगे-आगे चल रहे थे वे वृद्ध थे अत उनका पीछे और धीरे धीरे चलना स्वाभाविक ही था एक मुनि अपना पुस्तकों का थैला एक स्थान पर रख विश्राम करने के लिए रुककर चलने

का आधार है "यश से नही व्यक्ति कर्म से अमर रहता है" इस कथन के ध्रुवाधार पर कह सकती हूँ, वे अमर है और अमर ही रहेगे

साध्वी श्रीयशकुंवरजी

समर्पित हैं श्रद्धा-सुमन मेरे

इस धराधाम पर जव भास्करदेव अवतरित होते है तो प्रकृतिश्री मुस्कुरा उठती है चम्पा की सलौनी टहनी पर जव सुमन खिलते हैं तो समग्र वातावरण सुवासित हो उठता है आकाश मे वादलो की जव वारात सजती है तो काले कजरारे मेघ नृत्य करने लगते हैं, गर्जना करते हैं तो मनमौजी मयूर भी नृत्य करने लगते है वसत के शुभागमन पर आम्र-मजरी लहराने लगती है कोकिला स्वयमेव ही पचम स्वर मे मधुर राग आलापने लगती है रजनी के प्रिततम नभमडल मे उदित होते है तो अन्धकार विलुप्त हो जाता है इसी प्रकार जव कोई असाधारण, दिव्य भव्य विभूति का अवनीतल पर अवतरण होता है तो परिवार, समाज, राष्ट्र और यहाँ तक कि समग्र विश्व भी प्रफुल्लित हो उठता है

परम श्रद्धेय स्व० पूज्य गुरुदेव श्रीहजारीमलजी महाराज भी एक ऐसे प्रतिभासम्पन्न विभूति थे वे सचमुच हजारो मे से एक थे उनमे चरित्रनिष्ठा, व्रतो की दृढता, मानस की कोमलता, भावो की भव्यता और साथ ही उनके जीवनव्यवहार की प्रत्येक क्रिया मे आर्द्रता भी थी उनके सद्‌गुणो से परिपूर्ण जीवन के लिये तो मेरे मुख से कवि की ये पक्तिया वरवश ही प्रस्फुटित होती हैं—

अधर मधुर, वदन मधुर, नयन मधुर, हसित मधुर, हृदय मधुर, गमन मधुर, मधुराधिपतेरखिल मधुरम् ।
वचन मधुर, चरित मधुर, वसन मधुर, बलित मधुर, चलित मधुर, भ्रमित मधुर, मधुराधिपतेरखिल मधुरम् ॥

ठीक इसी प्रकार स्वामीजी म० का सव कुछ मधुर था 'अधर मधुर' उनके होठ मधुर थे क्योकि सत्य वचनो का उच्चारण करने के लिये ही वे खुलते थे 'वदन मधुर' उनका सारा शरीर ही मधुरता से ओतप्रोत था उनका चेहरा इतना मधुर और रसिक था कि देखने वाले को आत्मतृप्ति की अनुभूति होती थी इतना अद्‌भुत सौंदर्य उनमे लहराता था 'नयन मधुर' उनके नेत्रकमलो से करुणावर्षा सतत हुआ करती थी कमल-से कलात्मक नयनो मे अज्ञेय गहराई थी उनकी विशाल पलकें परदुख से जब बोझिल बन जाती तो नयनो से करुणा-विन्दु टपक पडते 'हसित मधुर' अपनी साधना मे, आत्मज्ञान मे आत्मरमणता मे अहर्निश मुस्कुराहट अठखेलियाँ करती थी 'हृदय मधुर' उनका हृदय नवनीत-सा सुकोमल और शर्करा-सा मधुर था उनके हृदय मे करुणा मैत्री और दया के भाव परिव्याप्त थे इसीलिये वे सरलता के सगम थे 'गमन मधुर' पतितो के उद्धार के लिये ही वे गमन करते थे ईर्यासमिति के पूर्णरूपेण पालन पर उनका अत्यधिक ध्यान था 'मधुराधिपतेरखिल मधुर' इस प्रकार उन मधुराधिपति का सब कुछ मधुमय था फिर 'वचन-मधुर' उनके वचनो मे चातुर्य, माधुर्य, औदार्य, विवेक और साथ ही साथ दिव्य एव भव्य जीवनसत्य था उनके चेतनामय वचन मुर्झाये हुए मानव-फूलो को नवचेतन एव नवस्फुरण प्रदान करते थे दुख-दुविधा से जिनका जीवन पत्र रहित वृक्ष-सा बन गया हो उसे वे अपने आर्द्रतापूर्ण वचनरूपी वर्षा से पुन पल्लवित कर देते थे उनकी वाणी मे एक अलौकिक प्रकार का जादू था जो सुनने वाले के समग्र जीवन को आलोकित कर देता था

उनकी वाणी के पीछे विलास नही विचार था विचारो के पीछे हृदय की शून्यता नही मगर भावभीनी भावना थी वाणी मे जिन्दगी के अनुपम लालित्य के दर्शन होते थे उन्होने वक्तृत्वकला की महान् साधना नही की थी किन्तु उनके सहज जीवन से ही वह निर्मित हुई थी 'चरित मधुर' उनका सम्यक्‌चारित्र सचमुच महान् और मधुर था वे अपने चरित्र की चमक लिए जहाँ भी जाते थे वहाँ अपनी आत्मसुवास से सारे वातावरण को सौरभान्वित कर देते थे 'वसन मधुर'-उनका वसना भी मधुर था जब आत्मज्ञानधारी वे सत अपनी आत्ममस्ती मे बैठते तो ऐसा लगता मानो भव्य विभूति प्रभु से साक्षात्कार कर रही हो सुदृढ सुस्थिर, सुसमाधिमय वैठने का उनका अपना निराला तरीका था उनके वसन अर्थात्
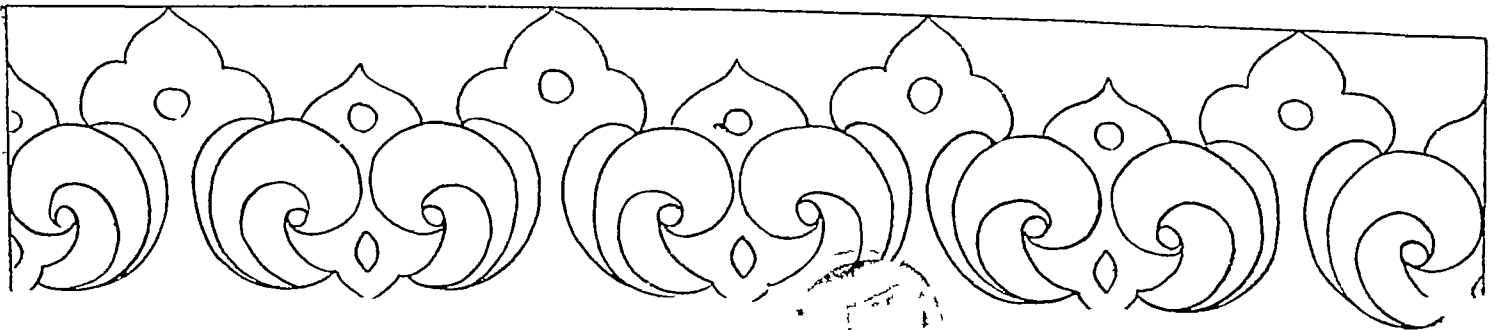
धन आने के उपक्रम से या बड़प्पन का मौन भाव से स्वीकार करने से तुम्हारा मन ही तुम्हें कचोटने लगेगा उस समय तुम सन्तों की सेवा न कर सकोगे

जीवन के तीसरे मोड़ पर खड़े होकर दिए उनके सन्देश को मैंने अपने दूसरे मोड़ पर सुना आज वही सन्देश मेरे जीवन का स्वर्णिम और प्रिय पृष्ठ बनता जा रहा है

जीवन के महानादर्श का दिशानिर्देश करनेवाले परम पूज्य चारित्रिक ऊर्जा के धनी मुनिराज श्रीहजारीमलजी महाराज को मेरे अमर्पित श्रद्धाभिवादन ! अभिनन्दन !! अभिनमन !!!

श्रीअशोक मुनि

○

वे महान् थे, महान् ही रहे

मनुष्य मात्र में महान् बनने की आकांक्षा स्वाभाविक होती है किन्तु सफलता प्राप्त करने वाले विरल ही होते हैं श्रमण संघ के महास्थविर मन्त्री श्रीहजारीमलजी महाराज महान् थे और महान् ही बने रहे अत तक उनकी महानता जैसे समुद्र परमाणु से महास्कन्ध बनता है—वैसे ही विकसित और पल्लवित हुई थी

मुनिश्री उस समय अपने स्वर्गीय पूज्य गुरुदेव श्रीजोरावरमलजी महाराज की चरणसेवा में तन्मयतापूर्वक संलग्न थे जवानी आकर उनके जीवन द्वार पर दस्तक दे रही थी इस अल्हड़ मादक अवस्था में आत्मसाधना कितनी दुष्कर होती है इसे कठोर साधना करने वाला साधक ही जान सकता है उस साधना में कितना आनन्द आता है यह भी साधक के अनुभव की ही वस्तु है यह मेरे शैशवकाल का समय था—जब मैंने उस पुण्य आत्मा के सर्वप्रथम दर्शन किये थे हरसोलाव व रामसागी में मुझे उनके प्रथम दर्शन हुए थे इसके बाद बाबारा ब्यावर, जोधपुर कुचेरा तथा अंत में भीनासर के मुनिसम्मेलन में

उस समय के पावन सस्मरण आज भी हृदयपटल पर सचित्र अंकित हैं जिनकी स्मृतियाँ यत्र-तत्र हुआ करती हैं वे शान्त सरल और निष्कपट सन्त थे कलह और कदाग्रह की वृत्ति से सदा दूर ही रहते रहे आज वे भौतिक शरीर से अदृश्य होगए हैं किन्तु उनके गुण उनकी गुण-गरिमा की महक खिले पुष्प की तरह ही महक रही है वह साधकों के हृदय में सदा स्थान पाती ही रहेगी

मुनि श्रीहजारीमल स्मृतिग्रन्थ प्रकाशन समिति ने उनके जीवन को व्यवस्थित रूप से लिखकर प्रकाशित करने का तथा आचार्य श्रीजयमलजी महाराज एवं परवर्ती सन्तों एवं कवियों आदि के कार्यों को प्रकाश में लाने का जो शुभ संकल्प किया निःसंदेह यह महान् कार्य होगा इससे इतिहासज्ञों के लिए महत्त्वपूर्ण सामग्री की उपलब्धि होगी

मुनि श्रीलक्ष्मीचन्द्रजी म

○

मेरी श्रद्धा, मेरी आस्था

महापुरुषों का यशःशरीर आचन्द्रार्क सजीवित रहता है उनका यह रूप रत्नत्रय को आत्मसात करने पर ही स्थायित्व पाता है अत महापुरुषों का जीवन अंधकारपूर्ण पथ में प्रकाशस्तम्भ का कार्य करता है.

महान् पुरुषों की परम्परा में से ही प्रातःस्मरणीय मरुधरामणी सरल स्वभावी उदारचेता श्रीहजारीमलजी म भी थे उनके अनेक जीवनप्रसंग समय-समय पर हृदय में उभरते रहते हैं उनका पितृवत् स्नेह स्मरण आता है तो हृदय गद्गद हो जाता है

लगे तो थैला भूल गए उन्होने आगे चले मुनियो को थैला उठाने को नही बुलाया और स्वय ही अपने स्कध पर धारण कर लिया दो-तीन माइल के करीब आगे चलने पर उन्हे अपना थैला याद आया पीछे लौटने लगे तो उन्होने कहा—"तुम्हारा थैला मेरे पास है, चले चलो" बात साधारण-सी लगती है परन्तु इस घटना ने काफी प्रभावित किया यह घटना याद आती है तो उनके प्रति श्रद्धा, स्नेह और भक्ति उमड आती है

वे मुनिसघ के नियता थे चाहते तो किसी भी मुनि को कह सकते थे उनके कहे से कौन मुकर सकता था ? किन्तु उन्होने वैसा न कर स्वय ही थैले का भार वहन कर लिया उस समय मैंने अनुभव किया श्रद्धेय गुरुवर कितने उदार, स्नेहशील और करुणा से ओतप्रोत है ।

मुनि श्रीमिश्रीमलजी 'मुमुक्षु'

करुणामूर्ति महामना मुनि श्रीहजारीमलजी ।

सत भारतीय सस्कृति के प्राण है । उस दिव्य पुरुष ने राजस्थान के रजकणो को पावन करते हुए इस सत्य को साक्षात् कर दिखाया था उनका हृदय किसलय-सा कोमल था सारे वृक्ष मे अनुभूतिशील या कवि-हृदयो को अपनी ओर खीचती है तो वह वृक्ष की कोमल पँखुरियाँ सन्तमना मुनि श्रीहजारीमलजी म० मे सर्वाधिक आकर्षण का कोई केन्द्र-स्थल था तो वह उनका पीडितो के प्रति अर्पित करुणाशील मन ।

उनके जीवन को मैंने पढा तो मन श्रद्धावनत हो गया उनके जीवन से मुझे यह अनुभव हुआ कि वे तन और मन दोनो से सन्त थे इसलिये यह कहने मे मुझे प्रसन्नता है कि सन्त भारतीय सस्कृति के प्राण है और वे उन प्राणो मे से एक थे वे चोला बदल कर साधु कहलाने वालो मे से नही थे वे मन से भी पूर्ण साधु थे

आज मेरा मन उनके प्रति भावाजलि अर्पित करते हुए हृदय के इस भाव को प्रकट करने के लिए विवश है कि वे सन्त-मना ही नही महामना भी थे उस महामना के प्रति मेरी श्रद्धा, उनके दिव्यलोक तक पहुँचे और वे मुझ अकिंचन के भावो को पहचान सकें

आज मै यही सोचकर यही पर रुक रहा हूँ कि उनको श्रद्धार्पण करने के अधिकारी हम तभी है जब स्वय भी प्रमाद तज उनके चरण-चिह्नो पर चलें

अत मे यही भाव उभर कर आ रहा है कि कैसे करूँ अर्पित श्रद्धा-सुमन तुम्हे मेरे ?

मुनि श्रीनन्दीषेणविजयजी 'विश्ववन्धु'

चारित्रिक ऊर्जा के धनी

मैंने पूज्य स्वामीजी महाराज के दर्शन, अपनी वासती वय मे किये

हृदय मे एक परम पुरुष का चित्र अकित हुआ । मैंने वीरपथिक बनकर दोवारा दर्शन किये । पिता का-सा वात्सल्य और प्रेम मिला मेरे अन्दर के बुद्धिवादी मुनि ने उनके स्नेह कृपा और वात्सल्य को परखा परखते-परखते ही मेरा अन्तर मानस झुक गया—उनके चरणो मे

मैं उन्हे साधना का प्रेरक सेतु मानने लगा

लोकैषणाओ के झझावातो से बच निकलने वाला उनका प्रेरक सन्देश तूफान मे फँसी नौका का सवल है—"वडे बनने का प्रदर्शन मत करो । अन्यथा असम्मान, घृणा और आलोचना की तीखी लोह-कीलें तुम्हारे हृदय को छेद देंगी वडा
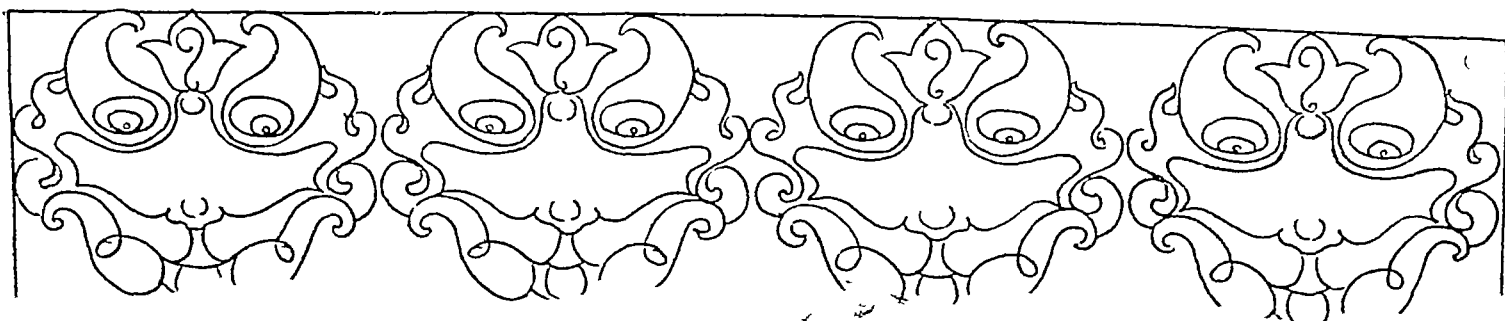
हृदयंगम हों उनकी शिक्षाएँ

पूज्य गुरुदेव श्रीहजारीमलजी म दया क्षमा विनय कर्मठता साहस स्फूर्ति दूरदर्शिता विवेक निर्भीकता विनोद प्रियता भावुकता और ऐसे ही न जाने कितने गुणों के भण्डार थे

वे वाणी मे मधुरिमा संयममार्ग में एकनिष्ठा विद्वत्ता एवं पांडित्य का वैभव लेकर सयमपथ पर अग्रसर हुए थे उनका यही रूप मुझे उनमें प्रारम्भ से अत तक दिखाई देता रहा

समय-समय पर मुझे दर्शन करने का सुअवसर मिला था वे श्रमणसंघ में मत्री पद पर विभूषित थे संघ की प्रगति के लिए उन्होने अविश्रान्त परिश्रम लगन और त्याग के साथ काम किया

गुरुदेव के चरणों में श्रद्धा-पूर्वक शत-शत वन्दन करके प्रतिज्ञाबद्ध होता हूँ कि उनकी अमृत-तुल्य शिक्षाएँ जीवन में उतारूँ

श्री पारसमल बाफना

०

सत्संग के दुर्लभ क्षण

स्वामी श्रीहजारीमलजी म के सत्सग के लिये उपलब्ध जीवन के अपने क्षणों को मैं परम पवित्र मानता हूँ आज भी उनके सत्सग में व्यतीत हुये क्षण मस्तिष्क में तैर जाते है तो आह्लाद की अनुभूति होती है

स्वामीजी म सरलता सहृदयता साधुता की सजीव मूर्ति थे आपके प्रभावक व्यक्तित्व से सहस्रों व्यक्ति लाभान्वित हुए है तथा आपके जीवन से अपूर्व प्रेरणा ग्रहण कर बहुत-से साधक सत्पथ पर आगे बढे है

मुनिश्री के मिलन की मधुर स्मृतियां अविस्मरणीय हैं

श्रीकन्हैयालाल बोरा कवी

०

उस पुण्य-पुरुष के प्रति

भारतीय सस्कृति जीवन के बाह्य और आन्तरिक दोनो पक्षो का सामजस्य साधती है इस संस्कृति की यह एक उल्लेखनीय और अभिनन्दनीय विशिष्टता है जीवन के दोनो पक्ष यथार्थ है और उनमें से किसी एक की उपेक्षा करके दूसरे पर ही बल देना जीवन की समग्रता को अस्वीकार करना है यह अस्वीकृति वैयक्तिक ही नहीं सामाजिक जीवन के लिए भी बाधक सिद्ध होती है इसी कारण भारत की सस्कृति में जीवन की समग्रता पर पूरा-पूरा लक्ष्य दिया गया है भारतवर्ष की सस्कृति चिर-पुरातन है उसके उद्गम का पता लगाने के लिए कोई साधन आज उपलब्ध नहीं है. ऐसा होने पर भी उसकी धारा सतत परिवर्तनशील रही है उसके निर्माण सशोधन और परिवर्तन में भारतीय सन्तों का प्रमुख हाथ रहा है

वास्तव में हमारी सस्कृति मे जो दिव्यता भव्यता अतर्मुखता और पूर्णता के तत्त्व है वे प्राय सन्तो की ही देन है उन सन्तो ने भोग-विलासमय जीवन से ऊपर उठकर त्यागमय जीवन अगीकार किया जन-कोलाहल से दूर रहकर एकान्त वनवास अगीकार करके जीवन के गहन रहस्यमय तथ्यो का चिन्तन मनन और निदिध्यासन किया और तब अपने अनुभवो को प्रकाशित किया उनकी इस तपश्चर्या के परिणामस्वरूप ही हमारी सस्कृति मे आध्यात्मिकता का अमृत प्रवाहित है

भारतवर्ष भौतिक विद्याओं में भले कई देशो से पीछे हो मगर अध्यात्मविद्या में वह सदैव सब से आगे रहा है और अपने इस वैशिष्ट्य के लिए आज भी गौरव का अनुभव कर सकता है
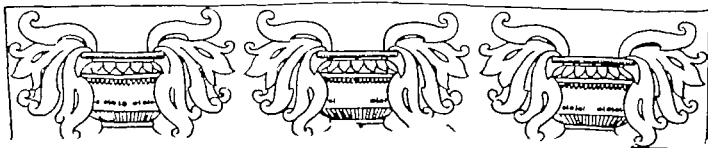
उनका त्यागतपमय जीवन, आज के साधु समाज के सम्मुख एक पावन आदर्श उपस्थित कर रहा है पूज्य स्वामीजी म० का यह मधुर वाक्य 'जीवन की इस सूनी वेला मे बार-बार स्मरण आता रहता है—"श्रीजमनाजी वृद्धा है, मुझे बार-बार यही ख्याल आता है कि इनके बाद तुम दो ही रह जाओगी" हुआ भी ऐसा ही स्वामीजी म० के १४ माह के बाद ही वे भी स्वर्गलोकवासिनी हो गईं

श्री स्वामीजी म० की कठोर सयम-साधना का सबसे बडा प्रमाण यही है कि शारीरिक दृष्टि से अत्यत वृद्ध होते हुए भी उन्होने स्थिरवास स्वीकार नही किया था अपना आवश्यक कार्य वे—शिष्य बराबर सेवा मे प्रस्तुत रहते हुए भी, स्वय करते थे मेरा अध्ययन और जीवननिर्माण उन्ही की शुभ प्रेरणा का सुफल है

आज उनके प्रति श्रद्धाजलि अर्पित करते हुए प्रभु से यही प्रार्थना है कि हमे भी उन्ही के पथ पर चलते रहने की प्रेरणा मिलती रहे और आत्मकल्याण की आस्था अचल बनी रहे

साध्वी श्रीचम्पाकुंवरजी

श्रद्धा-आंजुरी

राजस्थान के गावो और नगरो मे घूमते हुए पूज्यात्मा मुनि श्रीहजारीमलजी म० के दर्शन का मुझे अनेक बार अवसर प्राप्त हुआ उन्हे मैंने निकट से देखा उनकी मुझ पर बडी कृपा थी उनके शिष्यो से भी मेरा निकट का सम्पर्क रहा है

उस महामना मुनि की सरल और कोमल भावना ने मेरे अन्तस को आलोकित और प्रभावित किया है मुझे जब-जब जैन मुनियो से मिलने का प्रसग आता है तब-तब एक आदर्श मुनि के रूप मे उनकी पुण्य-स्मृति आये बिना नही रहती

आज मेरी उभरती श्रद्धा उनको स्मरण करके हृदय मे समाहित हो रही है वे जहाँ भी हो, मेरे स्नेह को स्वीकार करें, यही मेरी उनके प्रति श्रद्धा-आजुरी है

सन्त [illegible] शास्त्री, रामद्वारा समदडी

[illegible]र्पण

मेरे पूज्य पिताजी के साथ मुझे [illegible] श्रीहज[illegible] दर्शन [illegible] प्राप्त हुआ था उनके सतोगुणी स्वभाव और [illegible] मैं बहुत [illegible] मे [illegible] श्रद्धा रही है ऐसे सन्तो का आधार पा कर [illegible] इस ससार [illegible] ति [illegible] ऐसे महान् सन्त के लिये मेरी [illegible] नित [illegible]

वयोवृद्ध श्रद्धेय श्रीहजारीमलजी म० [illegible] पालन करते हुए बहुत से क्षेत्रों को [illegible] जीवन के प्रति [illegible]

जिन्हें उनके कंठविनियत पद और भजन सुनने का सौभाग्य मिला है वे भली भांति जानते हैं कि उनकी वाणी में कैसा अनोखा जादू था उनकी धर्मदेशना का अद्भुत प्रभाव होता था कि लम्बा समय भी व्यतीत होते पता नहीं चलता था मैंने लोगों को कहते सुना है 'बाबा मीठो बखाण सुणणने वालो काई' मधुरता के साथ-साथ उनकी भाषा में बड़ा ही ओज तथा प्रबल आकर्षण था

दयालुता वचनदृढ़ता और निममत्व उनके स्वाभाविक गुण थे संवत् २ ०१ में इसी महान् सरलात्मा के चरणकमलों में दीक्षा स्वीकार करने की मेरी इच्छा हुई किन्तु गुरुदेव व गुरुणीजी ब्यावर में नहीं थे इच्छा व्यक्त करते ही विद्युत् वेग की तरह सम्पूर्ण शहर में चर्चा फैल गई मेरे भाई गुलाबचन्द जी मुणोत गुरुदेव के पास अश्रुपूर्ण नेत्रों से पहुँचे उन्हें रोते देख गुरुदेव की आँखें भी सजल हो गई बोले—'गुलाबचन्द भाई, क्या बात है ? रोओ मत बात कहो।

गुलाबचन्दजी ने निश्वास छोड़ते हुए कहा—'गुरुदेव बड़ी आशा लेकर आया हूँ
गुरुदेव बोले—'कहो न फिर !

वे कहने लगे—गुरुदेव बाई संयम लेने को कहती है यह मेरे लिये ही नहीं दोनों परिवारों के लिए असह्य है हम इसे साध्वी के रूप में नहीं देख सकते ! बाई को बहुत समझाया पर वह नहीं मान रही है अपने विचारों में अडिग है ! अत मैं आपसे एक आश्वासन लेने आया हूँ

'वह क्या ?

मैं दीक्षा नहीं दूँगा बस यही आपसे सुनना चाहता हूँ हुजूर ! आप पर दृढ़ विश्वास है और मैं यहाँ से प्रसन्न चित्त होकर घर वालों को शुभ खबर सुनाऊँगा दयालु ! आपके मना कर देने पर दीक्षा नहीं हो सकेगी गुरुदेव ने फौरन कह दिया था—चिन्ता मत करो गुलाबचन्दजी मैं क्या मेरी आज्ञा में रहने वाला कोई संत या सती यहाँ तक कि राजस्थानी कोई भी साधु साध्वी तुम्हारी बहिन को दोनों घर वालों (सुसराल और पीहर पक्ष) की प्रसन्नता पूर्वक प्राप्त आज्ञा के बिना—दीक्षा नहीं देंगे फिर पीठ पर थपथपी लगाते हुए कहने लगे—'अब मत रोओ चिन्ता दूर हो गई न ?
गुलाबचन्दजी प्रसन्न थे उनकी कामना सफल हुई यह है गुरुदेव की दयालुता का ज्वलन्त उदाहरण दूसरा उनका गुण था—कहे हुए शब्दों पर दृढ़ता

इस आश्वासन का पता लगने पर मुझे बड़ा दु ख हुआ पर क्या किया जाय ? कुछ ही देर बाद बात दिमाग में आ गई गुरुदेव ने ठीक ही तो कहा—'आज्ञा के बिना जैन मुनि दीक्षा नहीं देते मैं आज्ञा प्राप्त करूँगी तो दीक्षा लेने की मनाई भी नहीं होगी

किन्तु आठ वर्षों तक अत्यन्त कोशिश करने पर भी आज्ञा नहीं मिली तब स्वयं दीक्षा ग्रहण कर ली किन्तु गुरुदेव व गुरुणी जी म ने मुझे स्वीकार नहीं किया तब मैंने गुरुदेव के समक्ष नम्रता पूर्वक प्रार्थना की गुरुदेव अब तो मैं घर जाने वाली नहीं हूँ महाव्रत दे दीजिये

उत्तर मिला—'मैं वचन दे चुका हूँ तुम्हें दीक्षा नहीं दे सकता किन्तु महान् सौभाग्य से उन दिनों पंजाब प्रान्तीय प श्रीविमलमुनि जी आ गए और दीक्षा हो गई यह थी गुरुदेव की वचनदृढ़ता

तीसरा गुण निर्ममत्व तो इसी से स्पष्ट है कि मैं गुरुदेव की शिष्या बनने जा रही थी गुरुदेव का ही परिवार बढ़ रहा था फिर भी वे चेली के मोह से ऊपर उठे रहे

दीक्षा के बाद मैं गुरुदेव के चरणों में पहुँची देखते ही कहने लगे—'काई ओ ! गुलाबचन्द जी की बहन साधुपणा सौरो है ? विहार अन लोच विशेष सोरो हुया ?

मैंने कहा—तहत तत्पश्चात् गुरुणी जी से कहा—बाई ओ भमकूजी मारग म आहार पाणीरी तकलीफ तो नहीं रही ? 'अब आपवाई ठीक कर गई गुरुदेव ?
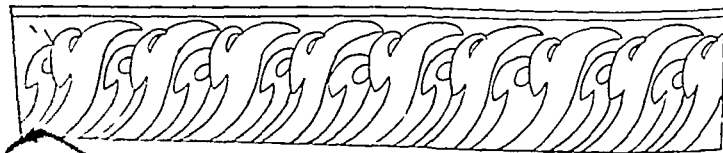
मुनि श्रीहजारीमलजी महाराज उन्ही अध्यात्मनिष्ठ सन्तो की परम्परा मे एक थे उनके हृदय मे नवनीत की मृदुता, वचनो मे सुधा का माधुर्य, नेत्रो मे पवित्रतम सात्त्विक तेज और व्यवहार मे सन्तजनोचित महृदयता थी साठ वर्षो से भी अधिक समय तक वे वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के उत्थान मे सलग्न रहे जनता को अपने जीवनव्यवहार से और वाणी द्वारा भी श्रेयस् का पथ प्रदर्शित करते रहे और स्वर्गवासी हो जाने के पश्चात् भी अपने मधुर एव प्रेरणाप्रद सस्मरण छोड गए

इस पुण्य-पुरुष के प्रति श्रद्धाजलि अर्पित करके मै अपने आपको गौरवशाली मानता हूँ

श्रीहरिभाऊ उपाध्याय, शिक्षामंत्री राजस्थान, जयपुर

महामुनि : एक श्रद्धांजलि

सन्तो का जीवन आदर्श और पवित्र होता है उनके दर्शन और सेवा मानव को शुभाचरण की प्रेरणा देते है सन्त का प्रत्यक्ष जीवन जितना पावन होता है उनका स्मरण भी उतना ही पावन होता है

तपोधन मुनि श्रीहजारीमलजी म० के प्रत्यक्षीकरण का मुझे अनेक वार सौभाग्य प्राप्त हुआ है उनसे दूर रहकर मैं जितना उनके जीवन से प्रभावित हुआ, निकट जाने पर मेरी श्रद्धा और भी वलवती होती गई

आज वे नही हैं उनके तप-त्यागमय जीवन का प्रतिविम्ब उनके शिष्यो मे पाकर मैं हार्दिक प्रसन्नता अनुभव कर रहा हूँ किसी भी सन्त के आदर्श हम मे कितने मुखरित हो रहे है ? यह है महत्त्वपूर्ण प्रश्न उनके उपदेशो के तथा उद्देश्यो के अनुरूप सामाजिक चले तो निश्चय ही समाज का आध्यात्मिक अभ्युदय हो सकता है

स० २०१४ मे उनका चौमासा जोधपुर था तव और इससे पहले अनेक वार उनकी चिकित्सा-सेवा करने का अवसर मुझे मिला है उस अलौकिक महापुरुष के साक्षात्कार से मेरे मन और आत्मा मे परमशक्ति और सतोष प्राप्त हुआ २०१४ के वाद उनसे शुभ मिलन नही हो पाया आज उस शान्त मनीषी का स्मरण करते हुए मेरी सन्त पुरुषो पर गहरी श्रद्धा उभर कर ऊपर आ रही है

उनकी स्मृति को चिरस्थायी करने के उद्देश्य से 'स्मृतिग्रथ' का आयोजन वहुत सुन्दर लगा उस अदृश्य पुरुष को मेरे अनेको भाव-प्रणाम और शुभ स्मरण

प० उदयचन्द्र भट्टारक, आयुर्वेदमार्तण्ड, प्राणाचार्य, वैद्यावतस महोपाध्याय, राजमान्य राजवैद्य

उनके तीन गुण

महान् पवित्र आत्मा मेरे गुरुदेव ! तुम्हे कैसे श्रद्धाजलि अर्पित करू ? गुरुजनो की आज्ञा है कि मैं अपने मनोभाव लिखू पर सोचती हूँ मुझ मे सामर्थ्य कहाँ ? गुरुदेव के गुण तो अनन्त है

कवीर के शब्दो मे अगर सम्पूर्ण पृथ्वी का कागज बनाया जाय, सम्पूर्ण वनराजि के वृक्षो की कलम और सभी समुद्रो की स्याही वनाई जाए तो भी हृदय मे उल्लसित भावो को लिखना सभव नही

गुरुदेव ! आपकी महिमा निराली थी आज मुझे अपना अतीत स्मरण हो उठा है, वाल्यकाल से ही आपकी कृपादृष्टि का सौभाग्य मुझे मिल गया था पिता, पति, स्वसुर आदि के वियोग के वज्र जव मुझ पर गिरे उस समय आप ही ने वडे आश्वासन भरे मधुर व हृदयस्पर्शी शब्दो मे सान्त्वना दी थी—'यह ससार परिवर्तनशील है सभी को काल के गाल मे समाना है, मृत्यु के सामने किसी का वश नही चलता, अत धैर्य धारण करो' आज मुझे वह सव कुछ याद आता है,

कितने मीठे और मधुर शब्द थे उस महापुरुष के

दीक्षा के बाद गुरुदेव की छत्रछाया मे दो चातुर्मास साथ-साथ किये, अजमेर और जोधपुर जोधपुर चातुर्मास के बाद हमे विहार करना पडा अजमेर जाकर गुरुणीजी म० को आचार्य की एव मुझे शास्त्री की परीक्षा देनी थी—पाथर्डी बोर्ड की अत गुरुदेव का शुभाशीर्वाद लेकर प्रस्थान किया उस समय कौन सोच सकता था कि यही गुरुदेव के अन्तिम दर्शन है ? गुरुदेव से आज्ञा लेकर जयपुर चातुर्मास करके अलवर, देहली, शिमला, भाखडा नगल होते हुए लुधियाना आचार्य महाराज की सेवा मे पहुँचे वहाँ चातुर्मास करके जम्मू-कश्मीर आदि स्थानो मे पहुचे वहाँ भी गुरुदेव की ओर से बराबर पत्र मिलते रहते थे हम जब तक उधर रहे, आपको हमारी बडी चिन्ता रही आने जाने वालो से आप हमारे समाचार पूछते, जिनमे छोटी-छोटी बाते भी सम्मिलित रहती थी

कश्मीर और पजाब का विहार समाप्त कर हम सब शीघ्र गुरुदेव की सेवा मे पहुँचने और साथ ही चातुर्मास करने को उत्कठित थी, परन्तु विधि को यह स्वीकार नही था देहली मे ही यह हृदय-वेधी समाचार सुनने को मिला कि गुरुदेव स्वर्ग सिधार गए श्रीआनन्दराजजी सुराणा तार लेकर आए गुरुदेव के स्वर्गप्रयाण के समाचार से दिल दहल उठा हृदय से चीख निकल पडी नेत्रो के आगे अधकार छा गया मानो सब कुछ लुट गया आशाओ पर पानी फिर गया. लोकोत्तर सरलता, सौजन्य और सयम की वह महनीय सजीव प्रतिमा सहसा विलीन हो गई।

आह, असीम सामर्थ्य का धनी मानव इस जगह, कितना विवश है ! यहाँ पर असहाय और क्षुद्र बन जाता है गुरुदेव, आप उसी उदारता करुणाशीलता और सौजन्य की प्रतिमूर्ति बनकर हमारी कोटि-कोटि वन्दना स्वीकार कीजिए

साध्वी श्रीउम्मेदकुवरजी

श्रद्धा पुरुष

स्वामीजी महाराज सूक्ष्म अहिंसावादी, कठोर ब्रह्मचारी, परमविनीत, अत्यन्त निरभिमानी थे उनका हृदय करुणा और वात्सल्य के अणु परमाणुओ से निर्मित हुआ था

आत्मा के उक्त स्वाभाविक गुण उन्होने फूल-सी कोमल अवस्था मे गुरुचरणो की छाया मे रह कर प्राप्त किये थे आज के जैन मुनियो को देख कर मैं मानता हूँ कि उनका जीवन परम आदर्शमय था वे करुणा-भावना से निर्मित हुए, कठोराचरण मे ढले और ब्रह्मचर्य के तेज से चमके थे

मैं और मेरी प्रत्येक शुभ प्रवृत्ति का क्षण उस श्रद्धापुरुष मुनिराज श्रीहजारीमलजी महाराज के प्रति श्रद्धानत है

अचलसिंह, एम० पी०
अध्यक्ष, अ० भा० स्था० जैन कॉन्फरेंस, देहली

वह सन्तपुरुष महान्

इस ससार मे अनन्तकाल से समय-समय पर ऐसे जगत् प्रसिद्ध सन्त महात्मा होते आये है जिनके प्रात स्मरणीय नाम आज तक चले आ रहे हैं परन्तु कुछ ऐसे भी सन्त हुये है जिनका नाम जगत्विख्यात नही हुआ किन्तु उन्होने अपनी आत्मा का परम साध्य पाकर उच्च स्थान प्राप्त किया है ऐसे ही सतो की पक्ति मे इस सदी की महान् आत्माओ मे श्रीहजारीमलजी म० भी है कवि शेक्सपीयर के शब्दो मे—'उनके जीवन का सदैव यही ध्येय था कि नाम मे क्या रखा है 'आत्मा का उद्धार या जीवन की सफलता तो सदैव कृतित्व मे है ' मेरी दृष्टि मे इसी कथन को उन्होने साकार रूप दिया था वे हमेशा उपदेश मे यही भाव दर्शाते थे कि जिनके हृदय मे लेशमात्र भी दया नही है वे यदि ज्ञान की बडी-

समता है मुझे यह गुरु का प्रसाद है—
तभी—
मन मेरे लाल का खोया है
सन गया है शायद—निर्वेद के भाव में
गुरु की वैराग्यमूलक वाणी से
तभी तो कहता है—कहा है अभी—
मां ! वर्तमान पर सोचने वाली हो तुम तो
छोड़ा अतीत और भविष्य के विचार का
सत्य है विचारना ही वर्तमान का
मन के—उलझने से—
अतीत और भविष्य के काल्पनिक जाल में
कर्मनिबद्ध होती है आत्मा
पुत्र सच कहता है—
वर्तमान सत्य है
ममता के विचार जगे
और होम में पलकें उठा कर देखा—
विनीत रूप में बालक हजारी खड़ा है
नेत्र झुकाकर—मां के सम्मुख
साधना की दिशा में बढ़ने को
पाने को आज्ञा मां की
पर मां खोई है विचारों में
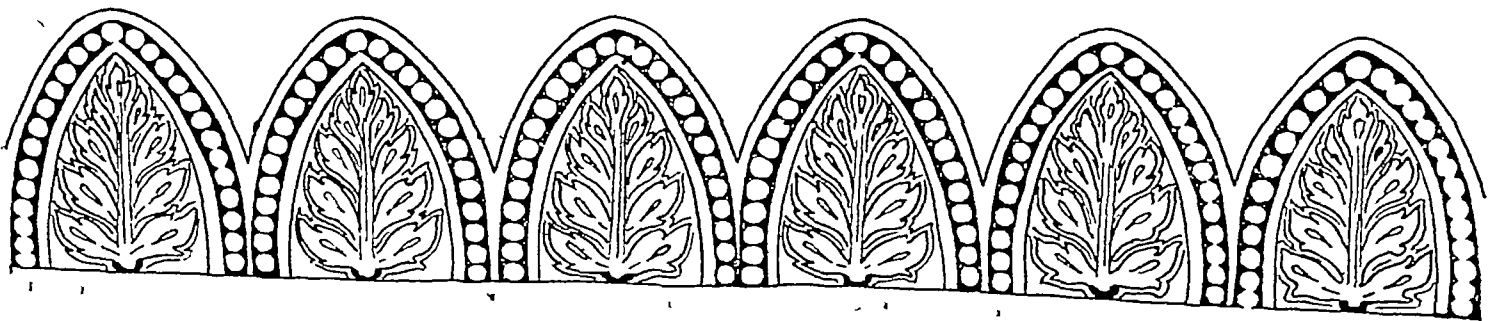
बालक हजारी ने सहसा ही तोड़ कर विराम कहा—
बोला मां 'बाबो तो—
तुम क्या मां मौन हो
कहा था—गुरुजी ने जो सत्य है—है न सत्य ?
हां वत्स ! वाणी भकार उठी मां के निश्चय की !
सत्य है—गुरुजी का कथन भी
और उचित है यह भी जो—तू कह रहा
तो मां
फिर आज्ञा दे दो न—दीक्षा की
चाहता हूँ धर्म की सेवा में समर्पित यह
जीवन हो
बात कह मौन हुआ हजारी
और फिर स्नेह-भरी ममत्व के सागर में
डूबी थी दीवार न लटकर
ताक रही थी शून्य में—ऊंचे आकाश को

सन्ध्या तब गहरी थी—उतर आई,
प्रकृति शान्त थी खामोश थी
हवा भारी थी—उदासी से डूबी हुई
और भारी था—मां का कलेजा भी
पर वह मां थी—स्नेहमयी
कर्तव्य और धर्म के भाव में पगी हुई
तभी एक—गर्जन हुआ—सन्नाटा चीरकर
बादल की कोख से बिजली गरज उठी
वेग उठा प्रभंजन का—प्रकृति मचल उठी
मां ने अपने को समेट कर
पुत्र को वक्ष से लगा कर
मस्तक पर प्यार का चुम्बन दे
बोली वह—करुणामयी—
तू मेरी ममता का केन्द्र है
लाल मेरे—जीवन का तू ही सर्वस्व है
पर पाषाण सा अचल है—निश्चय तेरा
यह मैं जानती हूँ
तेरे भावों को कर लिया है हृदयंगम मैंने
तुझे सुख है साधना में ही—
तो मैं आज्ञा देती हूं—
तेरा पथ प्रशस्त हो—सेवा कर जन जन की
कि सहसा एक झोंका—सा आया और
भर उठी धरती आलोक से—
बादलों में घूम कर लौटाकर
बरसी बूंदों को
मां तू कितनी अच्छी है—
मेरी मां गद्गद हुई वाणी हजारी की
मां के चरणों को चूम लगा मस्तक पर
पुत्र ने विदा ली ! सेवा व्रत लिया
लाल मेरे—पर कंठ अवरुद्ध हुआ
जननी का
भगवान् महावीर तेरा कल्याण करें—
और आनन्दमय—व्यथा के कोष से—
टपक पड़े—दो बड़ आंसू—
माह छोड़ ममता का

मा० राधेश्याम त्रिपाठी एम० ए०

दो बूंद आँसू

सध्या ने दोपहरी को टाल दिया था
क्योकि साझ सवरने लगी थी,
झुटपुटा फैलने की तैयारी मे था
और
आकाश नीरव था—कसावट गहरी थी उसमे
हवा भारी थी—बोझिल—और उदासी से बँधी हुई,
बादलो का जैसे मौनव्रत था
घर के द्वार पर देहरी के पास
दीवार से सटी हुई,
बैठी है एक नारी—मूर्तिवत् !
ललाट पर उभरी है चिन्तन की रेखायें,
कम्पन नही है उनमे
पर गहरी स्थिरता है
रेखाय जब बनती है चिन्तन की
तो सजीव हो उठता है वर्तमान
कर्मभाव मुखरता है—
दृढ सकल्प की निष्ठा तत्पर हो उठती है
ऐसा पल घुमडा है अभी
इस नारी की आँखो मे—
आँखो मे आकाशी चमक है,
सज्जित है सौम्य शृखला से वह
रजित है—सरलता—पवित्रता के अनुराग मे
ममत्व के बाध से बधी हुई, देवी वह
बैठी है—निर्विकार
पर, मथन विचारो का मथ उसे रहा है
वह मा है—नन्द की मा—
हजारी के वात्सल्य की दात्री
विचारो ने करवट ली—
लाल मेरा ! कैसा पगला है
सोचने लगा है क्या ? अभी से बात वर्तमान की
वर्तमान ! हाँ वर्तमान की बात जो कही है अभी
याद है मुझे वह वाणी—आज भी
मधुर स्वर वह चिरन्तन सत्य—सा,
वर्तमान को आस्था दो
वर्तमान सबल है मानव के मन का
कचोटती है तन और मन को—
अतीत की स्मृतियाँ, आकुल बना जाते है
विडम्बना के भाव जब वे भूत के जगते है—
कहा था साध्वी चोथाजी ने सुमधुर वाणी मे
ब्यावर मे
जब नौ का था पुत्र हजारी मेरा,
जाने क्या रेख पढी मेरे मस्तक की—
साध्वी ने और फिर कहा था—
वर्तमान प्रबल है
शक्ति का सबल है
कवल है शान्ति का—जो घटा देता है
अतीत के शीत को
तुम देवी मेरी ओर देखकर बोली थी
अतीत के दु ख मे डूबो मत
रिता दो पीडा के घट को
बूंद बूंद ही सही पर दु ख को बिसार दो
और फिर नन्द को—
हजारी को देखकर दुलार की वाणी मे कहा था—
इसमे अलौकिक शक्ति की प्रभा समाई है
सरले !
तुम सरल हो, सहृदय और सुकोमल हो
वर्तमान पर चलना ही श्रेय है—
इसी से गौरव बनोगी तुम हजारी से पुत्र की
श्रद्धा के भाव से उनके चरणो मे,
झुक गया था माथ तब मेरा अनायास ही
और आज वह कहने लगा है सयाना बन,
बात वर्तमान की
माँ ने देखा और ममत्व की धार बह चली
कैसा तल्लीन था आत्मलीन-सा हुआ
जब सुनी थी धर्मदेशना गुरुजी की
मुनि श्री जोरावरमल की
प्रवचन सुन उनका,
भीग गया था जैसे उसके प्रवाह मे

स्वागत प्रभात के प्रभा-पुत्र !

स्वागत ! जन-मानस के मानधनी,
स्वागत ! धरती के रज-कण रा,

नील गगन रा सुरज पवन रा
जन-जन रा स्वागत ! स्वीकारो
हे परम नमन प्रिय विमल

तुम्हारा सत्-शिव-सुन्दर—
स्वर-स्वर मधुर-मुखर मन
स्वागत ! श्रद्धा-भाव-भावना-भू
तुम्हारा शाश्वत स्वागत !

उतरो नीलाभ गगन से
निखरो मानस की लहरों पर
बैठा निमग्न तल मे डुबकी लगाकर

मुक्त करो स्नेहिल सीपी को—
चुन-चुन बीनो विवेक के मोती
ये अनमोल ! भोले ! ये मोती अनबोले !
शान्ति-क्षितिज पर सत्य-सूर्य चमका है

स्वागत ! प्रभात के प्रभा-पुत्र !

ये आकुल नयन हजारो दर्शन के प्यासे हैं,
हुलसो हिमहिय हरसो हे हितकारी
स्वागत ! सत हजारी !

श्री ओंकार पारीक

वह देवपुरुष महान्

सात्विकता के पावन प्रतीक,
महानता मे सूर्य सम,
दिव्य ज्ञान का दे प्रकाश,
मिटाया हृदय का घोरतम

याद रहेगा युग-युग तक वह,
अमरता का सुरम्य ज्ञान
दिया कभी था जो वसुधा को
तुमने देव-पुरुष महान्

सौ० मदनकुँवर पारख

गौरव-गान

[तर्ज —देश तेरे नगर की हालत]

स्वामी हजारीमल गुरुवर के, गाओ गौरव गान ।
जिससे होवे परम कल्याण ॥ टेर ॥

सम्यक् पाला संयम गुरुवर, सम्यक् पाया ज्ञान ।
निर्मल गुण रत्नों की खान ॥

नन्द कुँवर बाई रा जाया,
अखिल विश्व मे सुयश कमाया ।
संयम साध उच्च-पद पाया,
सत्-पुरुषों मे नाम कमाया,

जीवन मेरा उन्नत होवे ऐसा दो वरदान
जिससे होवे परम कल्याण—

जय गच्छ नायक पूज्य हजारी,
शुद्ध करणी कर आतम तारी ।
उज्ज्वल-यश की किरणें सारी,
फैल रही है देव ! तुम्हारी ॥

मेरे मन के पूरण करदो अब सारे अरमान
जिससे होवे परम कल्याण—

'व्रज' मुनिवर है 'मधुकर' प्यारे,
जगमग चमके शिष्य तुम्हारे ।
जैन जगत् के दिव्य सितारे,
जन मन गण के एक सहारे ॥

सयम-पथ के साधक स्वामी पाली जिनवर आन
जिससे होवे परम कल्याण—

तव चरणो मे शीश झुकाऊँ,
श्रद्धा के दो पुष्प चढाऊँ ।
मन मन्दिर मे तुम्हे बिठाऊँ,
विमल प्रेम की ज्योति जगाऊँ ॥

'हीरा मुनि' नित बलि २ जाये जैन धर्म की शान
जिससे होवे परम कल्याण—

श्री हीरा मुनि जी म० 'हिमकर'
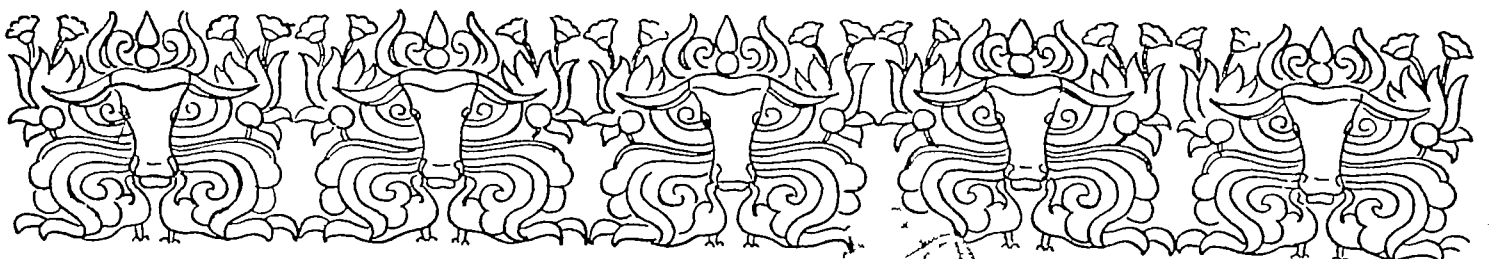
आज मस्तक स्वत: ही झुका जा रहा है

आज मस्तक स्वत: ही झुका जा रहा
कर रहा भक्ति के पुष्प अर्पित तुम्हें

किन्तु वाणी कहे आज क्या किस तरह
किस तरह वह तुम्हारी करे अर्चना ?
किस तरह वह तुम्हारे गुणों को कहे
क्या करे वह भये कोष की सर्जना ?

स्नेह भीने सहस्रों हृदय भावनों से
करेंगे सुस्वर्ण चर्चित तुम्हें
आज मस्तक स्वत: ही झुका जा रहा
कर रहा भक्ति के पुष्प अर्पित तुम्हे

था लहरता तुम्हारे नयन में सदा
स्नेह का एक निस्सीम निष्पाप सागर.
कि करुणा उमड़ती सदा बन तरंगें
गगन कांपता डोल जाता प्रभाकर.

जगत् के प्रलोभन सदा दूर रहते
कि मानो प्रताड़ित किया हो उन्हें
आज मस्तक स्वत: ही झुका जा रहा
कर रहा भक्ति के पुष्प अर्पित तुम्हे

सुकोमल वयस मे गहा मुक्ति का पथ
सदा अग्रसर किन्तु होते रहे वे
कभी भी न जिन्हे चरण डगमगाए,
महत् साधना भार ढोते रहे वे

दिखाया सदा पथ भटकते हुओं को—
किया आत्मरत और हर्षित उन्हें
आज मस्तक स्वत: ही झुका जा रहा
कर रहा भक्ति के पुष्प अर्पित तुम्हे

हजारी हजारों बरस तुम हृदय में
रहो प्रेरणा का सहज स्रोत बनकर.
सभी आत्माएं बन जाएं तुम-सी
तुम्हारे सुगुण ही रहें सब बिखर कर.

हुआ क्या न सशरीर हो जो यहां पर,
न करना कभी पर विसर्जित हुए
आज मस्तक स्वत: ही झुका जा रहा
कर रहा भक्ति के पुष्प अर्पित तुम्हें

तपोधन ! तुम्हे वन्दना बार सौ-सौ
सहस्र बार स्नेहांजलि भेंट तुमको
महाविज्ञ आत्मा महा प्राणयोगी
सहस्र बार श्रद्धांजलि देंय तुमको

हृदय में सदा छवि तुम्हारी रहेगी
दृगों मे किया क्योंकि चित्रित तुम्हें
आज मस्तक स्वत: ही झुका जा रहा
कर रहा भक्ति के पुष्प अर्पित तुम्हे

श्री कमला जैन 'जीजी' एम. ए.

म्हारि भाव आंजलि

परमपूजनिक महाभागवान श्रीहजारीमलजी महाराज सा० म्हारी परम्परा सु गुरु होता छता उण उत्तम पुरुषा ने परम्परा गुरु सम्बन्ध सु अलग राख ने देखता छता भी वा निर्मल चारितवान पुरुषा ने मानतो झुकतो लुलतो म्हारो मन उणा रो दास हो गयो

वडा सरल स्वभावी, भदरीक आत्मा श्रीहजारीमलजी म० सा० रा दरसण रो सौभाग म्हाने घणीवार मिलतो रयो हो स्वामीजी० सा० रो वी म्हारे उपरे घणो उपकार हो

असातारो उदो ससार मे सवा के लारे लागोडो है हू परम पवित्तर आतमा री सहण-सगती री काई तारीफ करूँ घोर सु घोर असाता रो उदो होता छता वी वे घणा मजवूत रहता हा म्है उणारी सहणसगती निहाल-निहाल घणो अचवो करतो करम-सिद्धांत पर वारी घणी अटूट सरधा ही

म्हे आपसू घणी वार ठाणापति विराजण री वीणती करी पण वा रो साहस अटूट हो ठाणापति विराजण री वीणती सिकारी कोनी, वे एक आ हीज कहता के ठाणापति रेवण सू गोडा थाक जावे म्हारो वस चालसी जठा तक ठाणापति रेवण रो मन कोनी इण तरह सू स्वर्गवास पेली भी घणी वार वीणती करी ही

"चारितवान निरमल आत्मा रो भव-भव मे सरणो होइजो" आ भावना भाता म्हारे हिरदे मे पूज गुरुदेव री खामी घणी खटके है वारी पवित्तर आतमा ने हू वार-वार म्हारी भाव-भरी आजली अरपण करू हू

सेठ श्रीमोहनमलजी चोरडिया

●

स्वामी श्रीहजारीमलजी म०

पूज्यश्री हजारीमलजी म० के लिये 'स्वामीजी' विशेषण योग्य था वे वस्तुत समाज के स्वामी ही थे स्वामित्व का अधिकार वहाँ शोभित होता है जहाँ सरलता होती है उनमे जितनी सरलता और विमलता थी वह और वैसी सरल आत्मा के आज कही खोजे भी दर्शन नही होते है जव-जव मुझे उनकी स्मृति आती है तो उनके साथ वीते वाल्यकालीन स्वप्नचित्र आखो मे तैर जाते है मस्तक श्रद्धा से झुक-झुक जाता है

आदरणीय श्रीहजारीमलजी म० मेरे कुलगुरु थे परन्तु कुलगुरु के ममत्वभाव से ऊपर उठकर भी एक अपरिचित मुनि की पक्ति मे खडे करके अनेक बार मेरे तर्कशील मस्तिष्क ने उन्हे जाचना तथा परखना चाहा तब भी उनकी सरलता ने मेरे हृदय की भक्ति एव स्नेह को ही प्राप्त किया है

आज उनकी माटी की काया हमारे मध्य नही है परन्तु मैं ऐसा मानता हू कि उनकी दृढ चरित्रनिष्ठा, प्रवल करुणा और निश्छल निष्कपट हृदय हमारे रक्ताणुओ मे प्रवेश कर जाय तो हम धन्य हो सकते है हम मे धन्यता उनके गुणो को स्मरण करने पर भी प्राप्त हो जाय तो इससे बढकर हमारा सौभाग्य क्या हो सकता है ?

मेरा सन्तार्पणभाव—मुनि श्रीहजारीमलजी महाराज जैसे सन्तो के लिए अर्पित है

श्रीआनन्दराजजी सुराणा

●

मेरे परम्परा गुरु।

पूज्य गुरुदेव श्री हजारीमलजी म० मेरी पैत्रिक परम्परा से गुरु रहे है उनमे स्नेह सौजन्य आदि कुछ ऐसे गुण थे जिन्होने मुझे एकान्त श्रद्धावादी वना दिया है वे हमारे परम्परा से गुरु तो थे ही, सेवा और भक्ति-केन्द्र भी वन गये थे

मुन्शी श्रीघेवरचन्द्रजी पारख

श्रद्धा-सुमन समर्पित तुमको

अगरबत्ती जब से जलती है तभी से सुवास विकीर्ण करना प्रारम्भ करती है अन्त तक सुवास देती है ! मुनिश्री अपने जीवन के प्रारम्भ से अन्त तक अपनी आत्मसाधना और समाज अभ्युदय के कार्यों की सुगन्ध से परिव्याप्त रहे उन्होंने स्वसाधना और जनकल्याण के कार्य किए परन्तु जल में कमल बन कर. कमल प्रारम्भ से अन्त तक पानी में रहता है परन्तु कमल पर पानी की बूंद भी दिखाई पड़ती है ? नहीं ! स्वामीजी म भी ठीक इसी प्रकार का साधु समाज में आदर्श जीवन व्यतीत कर अतीत हुये हैं

वह जीवन क्या है जो संसार को प्रेम का धन न बांट सके ? वह वक्ता और विचारक क्या वक्ता और विचारक है जो सम्प्रदाय और व्यक्ति को समाज के प्रति केन्द्रित करने का प्रचार न करे ? स्वामीजी म० ने जीवन भर सर्वत्र प्रेम की दृष्टि की शान्ति की पावनी गंगा बहाई उनकी वात्सल्य भावना में जिसने भी स्नान किया वह समभाव-साधना का अमर पुजारी बना

आज मैं चतुर्दिक देख रहा हूँ वैसा महामानव मुझे कहीं दृष्टि पथ नहीं होरहा है उनके संसार के लिये किये गये उपकार अमर हैं इसलिये वे स्वयं भी अमर हैं संसार उनका चिरऋणी है. मैं उनके उपकारी जीवन और गुणों के प्रति श्रद्धा अर्पित करते हुए अपने श्रद्धाशील हृदय में सुख अनुभव करता हूँ

श्रीमूल मुनिजी म

वह युगपुरुष महान्

उस युग पुरुष के निस्पृह जीवन की परिक्रमा करने पर मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ— युग युग तक उनकी कीर्ति कथा सहस्र-सहस्र कण्ठस्वरों से फूट कर उस पूज्य पुरुष तक पहुँचती रहेगी और वे अपनी सन्तजनोचित विशेषतावश उसे अस्वीकार ही करते रहेंगे ।"

श्रीसोहनमुनिजी म

जीवनधर्म के कुशल और यशस्वी कलाकार

कलाविहीन जीवन जीवन नहीं है कलामय जीवन ही सच्चा और सफल जीवन है वह जीवनकला कौन-सी है जो जीवन को धन्य कृतकृत्य और सफल बना देती है ?

इस सनातन प्रश्न का उत्तर जीवन के मर्मी शास्त्रकार एक ही वाक्य में इस प्रकार देते हैं —

सव्वा कला धम्मकला जिणइ

अर्थात् सभी कलाओं में धर्मकला सर्वश्रेष्ठ है प्राकृत जीवन को संस्कृत बनाने के लिए 'कला' की आवश्यकता होती है और कलामय जीवन बनाने के लिए धर्म की आवश्यकता रहती है.

पूज्य मुनि श्रीहजारीमलजी म सा निर्ग्रन्थ भिक्षु थे ज्ञानी त्यागी तपस्वी थे लेकिन सही अर्थ में वे वे जीवन-धर्म के यशस्वी और कुशल कलाकार मैंने हजारों जन-मन को अपने जीवन-धर्म की कला से संस्कृत और पावन पवित्र करते हुए उन्हें देखा है जीवन-धर्म के यशस्वी और कुशल कलाकार पू हजारीमलजी म की पावन स्मृति आज भी धर्म जीवन की कला जीवन का आदर्श प्रस्तुत कर जाती है और कलामय जीवन बनाने की प्रेरणा देती है

श्री शान्तिलाल वनमाली शेठ

म्हारि भाव आंजलि

परमपूजनिक महाभागवान श्रीहजारीमलजी महाराज सा० म्हारी परम्परा सु गुरु होता छता उण उत्तम पुरुषा ने परम्परा गुरु सम्बन्ध सु अलग राख ने देखता छता भी वा निर्मल चारितवान पुरुषा ने मानतो झुकतो लुलतो म्हारो मन उणा रो दास हो गयो

वडा सरल स्वभावी, भदरीक आत्मा श्रीहजारीमलजी म० सा० रा दरसण रो सौभाग म्हाने घणीवार मिलतो रयो हो स्वामीजी० सा० रो वी म्हारे उपरे घणो उपकार हो

असातारो उदो ससार मे सवा के लारे लागोडो है हू परम पवित्तर आतमा री सहण-सगती री काई तारीफ करूँ घोर सु घोर असाता रो उदो होता छता वी वे घणा मजवूत रहता हा म्है उणारी सहणसगती निहाल-निहाल घणो अचवो करतो करम-सिद्धांत पर वारी घणी अटूट सरधा ही

म्हे आपसू घणी वार ठाणापति विराजण री वीणती करी पण वा रो साहस अटूट हो ठाणापति विराजण री वीणती सिकारी कोनी, वे एक आ हीज कहता के ठाणापति रेवण सू गोडा थाक जावे म्हारो वस चालसी जठा तक ठाणापति रेवण रो मन कोनी इण तरह सू स्वर्गवास पेली भी घणी वार वीणती करी ही

"चारितवान निरमल आत्मा रो भव-भव मे सरणो होइजो" आ भावना भाता म्हारे हिरदे मे पूज गुरुदेव री खामी घणी खटके है वारी पवित्तर आतमा ने हू बार-बार म्हारी भाव-भरी आजली अरपण करू हू

सेठ श्रीमोहनमलजी चोरडिया

स्वामी श्रीहजारीमलजी म०

पूज्यश्री हजारीमलजी म० के लिये 'स्वामीजी' विशेषण योग्य था वे वस्तुत समाज के स्वामी ही थे स्वामित्व का अधिकार वहाँ शोभित होता है जहाँ सरलता होती है उनमे जितनी सरलता और विमलता थी वह और वैसी सरल आत्मा के आज कही खोजे भी दर्शन नही होते है जब-जब मुझे उनकी स्मृति आती है तो उनके साथ वीते वाल्यकालीन स्वप्नचित्र आखो मे तैर जाते है मस्तक श्रद्धा से झुक-झुक जाता है

आदरणीय श्रीहजारीमलजी म० मेरे कुलगुरु थे परन्तु कुलगुरु के ममत्वभाव से ऊपर उठकर भी एक अपरिचित मुनि की पक्ति मे खडे करके अनेक बार मेरे तर्कशील मस्तिष्क ने उन्हे जाचना तथा परखना चाहा तब भी उनकी सरलता ने मेरे हृदय की भक्ति एव स्नेह को ही प्राप्त किया है

आज उनकी माटी की काया हमारे मध्य नही है परन्तु मैं ऐसा मानता हू कि उनकी दृढ चरित्रनिष्ठा, प्रवल करुणा और निश्छल निष्कपट हृदय हमारे रक्ताणुओ मे प्रवेश कर जाय तो हम धन्य हो सकते है हम मे धन्यता उनके गुणो को स्मरण करने पर भी प्राप्त हो जाय तो इससे बढकर हमारा सौभाग्य क्या हो सकता है ?

मेरा सन्तार्पणभाव—मुनि श्रीहजारीमलजी महाराज जैसे सन्तो के लिए अर्पित है

श्रीआनन्दराजजी सुराणा

मेरे परम्परा गुरु ।

पूज्य गुरुदेव श्री हजारीमलजी म० मेरी पैत्रिक परम्परा से गुरु रहे है उनमे स्नेह सौजन्य आदि कुछ ऐसे गुण थे जिन्होंने मुझे एकान्त श्रद्धावादी बना दिया है वे हमारे परम्परा से गुरु तो थे ही, सेवा और भक्ति-केन्द्र भी बन गये थे

मुन्शी श्रीघेवरचन्द्रजी पारख

श्रद्धार्पण

तत्त्वज्ञो ने मानवजीवन की सफलता त्याग मे मानी है. जिसके जीवन मे त्याग है, अध्यात्मसाधना के लिए धर्म-परायणता है, वही व्यक्ति अखिल विश्व के लिए वन्दनीय और महनीय होता है

मरुधर देश के पावनकर्ता, तपोनिष्ठ स्वर्गीय श्रद्धेय स्वामी श्रीहजारीमलजी म० एक महान् आदर्श सतरत्न थे मैंने आपके दर्शन भीनासर-सम्मेलन मे किये थे वे क्षण अनिर्वचनीय आनन्दप्रद व दुर्लभ थे, जो सौभाग्य से मुझे मिले

आपके दिव्य जीवन मे मधुरता, तेजस्विता आदि अनेकानेक गुण विद्यमान थे आपश्री शरीर से वृद्ध होते हुए भी युवक की भांति उत्साहपूर्ण व कुशल कार्यकर्ता थे

आपका जीवन सरल एव निरभिमान था ज्ञानाभ्यास गहन था आप शासन सेवा मे सदैव तत्पर रहते थे आपने जैन सस्कृति को जीवित रखने व प्रसारित करने मे बेजोड श्रम किया बाधाओ से घबराना आपने सीखा ही न था इसीलिए आप आज भी जन-जन के हृदयमदिर मे विराजमान है

उस महान् आत्मा के चरण-कमलो मे मेरी श्रद्धा के पुष्प समर्पित है

श्री मदनमुनिजी "पथिक"

कलपे म्हाणो जीवडलो

(तर्ज—म्हाने जयपुरियारो लहरियो)

गुरुवर दीनानाथ, जोडा चरणा मे हाथ ।
म्हाणी झुक-झुक वन्दना होईज्यो म्हाणा स्वामी जी ।
कलपे म्हाणो जीवडलो—टेर

म्हाणा कालजा री कोर, म्हाणा माथा रा हो मौड ।
म्हाने छोडी ने अकेला, आप चाल्या ओ म्हाणा स्वामी जी ।
कलपे म्हाणो जीवडलो—१

मोतीलाल जी रा नन्द, नन्दू बाई रा कुल चन्द ।
गाव डासरिया मे आप, जनम लीनो म्हाणा स्वामी जी ।
कलपे म्हाणो जीवडलो—२

प्यारो नाम है हजारी, बोले सघला नर नारी ।
मोटी पुण्यवानी साथे लेई, आया ओ म्हाणा स्वामी जी ।
कलपे म्हाणो जीवडलो—६

छायो घट मे वैराग, देऊ ससार ने त्याग ।
मोह माया ने छोडी ने, सजम लीनो म्हाणा स्वामी जी ।
कलपे म्हाणो जीवडलो—४

मणियां आगमा रो सार, भरिया ज्ञान रा भण्डार।
सांचा जन रा अनमोल हीरा बणग्या ओ म्हाणा स्वामी जी।
कलपे म्हाणो जीवडलो—५

गांवा नगरां में पधारया भवि जीवा ने सुधारया।
जिनवाणी रा व मीठा प्याला पाया ओ म्हाणा स्वामी जी।
कलपे म्हाणो जीवडलो—६

मधाधारी गुरुदेव नाम लेवां नितमेव।
श्रमणसंघ में सितारो तेज चमक्यो म्हाणा स्वामी जी।
कलपे म्हाणो जीवडलो—७

जिन मारग ने दिपायो जीवन सफल बणायो।
थाणी महिमा रो पार नहीं आवे ओ म्हाणा स्वामी जी।
कलपे म्हाणो जीवडलो—८

म्हाने छोड़ मझधार गया स्वर्ग सिधार।
म्हाणो एक पल में जलतो दीपक बुझग्यो म्हाणा स्वामी जी।
कलपे म्हाणो जीवड़लो—९

सब रा दिल में शोक छायो हियो भर भर आयो।
दोई नेणा में पानीडो टप-टप आवे ओ म्हाणा स्वामी जी।
कलपे म्हाणो जीवड़लो—१०

पूरो आपरो आधार सब छूट्यो तारण हार।
म्हाणा मनडारी बाता कूण सुणसी ओ म्हाणा स्वामी जी।
कलपे म्हाणो जीवड़ला—११

अब या ही अरदास कीज्यो मुगत्यां में वास।
जुग-जुग में अमर आप रहिजो म्हाणा स्वामी जी।
कलप म्हाणा जीवड़लो—१२

व्रज मुनिजी महाराज मुनि मधुकर' म्हाणा ताज।
जाण चन्द्रमा सूरज भला उगा ओ म्हाणा स्वामी जी।
हरप म्हाणो जीवड़लो—१३

गुरुदेव सुन लीजो श्रद्धाञ्जली मान लीजो।
किरपा राखजो 'रसिक' दरशन दीजो म्हाणा स्वामी जी।
कलपे म्हाणो जीवड़लो—१४

श्रीमगनमुनिजी 'रसिक'

○

श्रद्धार्पण

तत्त्वज्ञो ने मानवजीवन की सफलता त्याग मे मानी है जिसके जीवन मे त्याग है, अध्यात्मसाधना के लिए धर्म-परायणता है, वही व्यक्ति अखिल विश्व के लिए वन्दनीय और महनीय होता है

मरुधर देश के पावनकर्त्ता, तपोनिष्ठ स्वर्गीय श्रद्धेय स्वामी श्रीहजारीमलजी म० एक महान् आदर्श सतरत्न थे मैंने आपके दर्शन भीनासर-सम्मेलन मे किये थे वे क्षण अनिर्वचनीय आनन्दप्रद व दुर्लभ थे, जो सौभाग्य से मुझे मिले

आपके दिव्य जीवन मे मधुरता, तेजस्विता आदि अनेकानेक गुण विद्यमान थे आपश्री शरीर से वृद्ध होते हुए भी युवक की भांति उत्साहपूर्ण व कुशल कार्यकर्त्ता थे

आपका जीवन सरल एव निरभिमान था ज्ञानाभ्यास गहन था आप शासन सेवा मे सदैव तत्पर रहते थे आपने जैन सस्कृति को जीवित रखने व प्रसारित करने मे बेजोड श्रम किया बाधाओ से घबराना आपने सीखा ही न था इसीलिए आप आज भी जन-जन के हृदयमदिर मे विराजमान है

उस महान् आत्मा के चरण-कमलो मे मेरी श्रद्धा के पुष्प समर्पित है

श्री मदनमुनिजी "पथिक'

●

कलपे म्हाणो जीवडलो

(तर्ज—म्हाने जयपुरियारो लहरियो)

गुरुवर दीनानाथ, जोडा चरणा मे हाथ ।
म्हाणी झुक-झुक वन्दना होईज्यो म्हाणा स्वामी जी ।
कलपे म्हाणो जीवडलो—टेर

म्हाणा कालजा री कोर, म्हाणा माथा रा हो मौड ।
म्हाने छोडी ने अकेला, आप चाल्या ओ म्हाणा स्वामी जी ।
कलपे म्हाणो जीवडलो—१

मोतीलाल जी रा नन्द, नन्दू बाई रा कुल चन्द ।
गाव डासरिया मे आप, जनम लीनो म्हाणा स्वामी जी ।
कलपे म्हाणो जीवडलो—२

प्यारो नाम है हजारी, बोले सघला नर नारी ।
मोटी पुण्यवानी साथे लेई, आया ओ म्हाणा स्वामी जी ।
कलपे म्हाणो जीवडलो—६

छायो घट मे वैराग, देऊ ससार ने त्याग ।
मोह माया ने छोडी ने, सजम लीनो म्हाणा स्वामी जी ।
कलपे म्हाणो जीवडलो—४

श्रीहजारीमल-मुनीनाम्

१

गातु गुणानद्य प्रवृत्ता
श्री हजारीमल मुनीनाम् ।
वन्द्यचरणानां वराणाम्
मरुधरामानसमणीनाम् ।

२

कीदृशी प्रतिमा प्रभाऽऽसीत्
कीदृशी प्रकृति कृतिर्वा ।
कीदृशी क्षान्तिश्च दान्ति
कीदृशी भणिति मतिर्वा ।

३

मन्त्रिपदवीमादधाना
येऽभ्रमन् बहुजनहिताय ।
सदयहृदया महात्मान·
केवल स्वान्त सुखाय ।

४

मनसि मनसि विराजते
पुण्यस्मृति सद्गुणखनीनाम् ।
गातु गुणानद्य प्रवृत्ता
श्रीहजारीमल-मुनीनाम् ।

५

मोहममतामुक्तिकामा
वयसि पथमे प्राव्रजन्ये ।
सिद्धजोरावरमलानाम्
शिष्यतामायन्नगण्ये ।

६

त्यागसीमान विलङ्घ्य
सत्य तत्त्वान्वेषणाय ।
ये समाधान्नाभिषेनु·
लोकविपदामनुभवाय ।

७

पोपका परमा अभूवन्
साधु मुनिजनजीवनीनाम् ।
गातु गुणानद्य प्रवृत्ता
श्री हजारीमल-मुनीनाम् ।

८

व्यथितहृदयाकृष्ट-केदा
रेषु भावान् यानभावान् ।
येऽवपन्नुपदेशकाले
प्रवचनार्हा प्रप्रभावान् ।

९

भक्त-मानस-मन्दिरेषु
साधनास्निग्धा विस्निग्धाम् ।
ज्ञानदीपासि महास्तो॰
ज्वालय महमाभिमुग्धाम् ।

१०

अतस्ते मैतृत्वमापु
परिषदो पथदर्शिनीनाम् ।
गातुं गुणानद्य प्रवृत्ता
श्री हजारीमलमुनीनाम् ।

११

दूरभेरयाऽपि स्वमातु
मेदीयांमो येऽभिजाता ।
एवमुत्सग विमुच्य
स्वनेत्राच्चश्रिया जाता ।

१२

व्यभिज्ञगतवात्सल्यविमुग्धा
प्राप्तवरमनताब्धि धारा ।
सीमितावापिता मपि
ये समाधा हृन्यहारा ।

उत्तमहीरयस्स जम्मणट्ठाणं

रायट्ठाणजणवयम्मि टाडगटमसीवे डागरिया नाम एगो गामो आसि तत्थ वि० स० १९४३ माहमासे, सुक्कपक्खे सुहे दिवहे, वसन्तपचमीए तिहीए बभमुहुत्ते एराकाए माआए कुच्छीए एगो पुत्तो जाओ तम्मि काले णवजायसिसुणो सुहलक्खण वजण च दट्ठूण सव्वे इत्थीओ पुरिसा य हरिसेण पुलकिअतणवो हवीअ तेहिं विण्णाय—अय वालो, उम्मुक्क-वालभावे अम्हाण कुलकेऊ कुलपईवो कुलमउलिभूओ कुलजसकरो होहिइ एण कारणेण अम्हे इयाणि कयत्था कयपुण्णा जाया आसि, एत्थन्तरे कइवया नेमित्तिया आगया तम्मि घरे, तेहिं नेमित्तिएहिं विण्णाय—कइवया गहा उच्चय गया चिट्ठन्ति, एण नज्जइ अय वालो जह सिग्घ समुज्जलणक्खत्त पिव ससारे पयासिहिइ, इमो य उच्चय पयपि पाविहिइ धणेण कित्तीए सिरीए पच्चह—वड्ढिहिइ अहव सजमेण तवसा सह अज्झत्थसिरीए सयय सोह लहिहिइ एत्तिअ वज्ज-रिऊण ज दिस पाउब्भूआ तमेव दिस पडिगया बारसाहे वइक्कन्ते तस्स बालस्स अम्मापिऊहिं गुणमहस्सुववेअ गुणणि-प्फण्ण नामधेज्ज हजारीमल त्ति कय पुव्वभवुवज्जिअपुण्णपहावेण उत्तमवालो स निव्वाघाएण कप्पतरु व्व विज्जालए अज्झावगाओ विज्ज पढन्तो स्वेण धम्मकलाहिं विज्जाए निम्मलगुणेहि दहवासेच्च विक्खाओ जाओ एगार-हवासे पविट्ठे समाणे मोहणिज्जकम्मस्सओवसमेण पुव्वसुहसक्कारो उवुद्धो हजारीमलस्स मणसि अपुव्वज्झवसाओ समुप्पन्नो परमत्थओ कम्मइ जीवस्स न माया, न पिया, न भाया, न भइणी, न भज्जा, न सुण्हा, न पुत्तो, न धूआ, न नत्तू मित्त च अत्थि लोए कज्जवसेण सव्वे जणा दीसन्ति ससारे रागविमोहियमणाण अदीहदसीण जीवाण सुलहाओ आवयाओ पुव्वकयकम्माणि च्च सुह—दुह—जणणम्मि समत्थाणि अत्थि अण्णेण न केणावि सुह दुह च दिज्जइ जीवस्स पुव्वकम्मकयाओ दोसाउ सव्वाइ दुक्खाइ जीवा वेदयन्ति अवराहेसु गुणेसु व परो निमित्तमेत्त होइ

अणिच्च एव जीविअ जोव्वण च विज्जुसम चवल, सव्वे वन्धवो सवन्वा, विरत्थु इमस्स ससारवासस्स, ज मूढा पच्च-क्ख अणिच्च जाणिऊण वि थिर भणेन्ति, नाऊण वि जिणवयण पुणो महारभ—परिग्गहेसु वट्टेन्ति ता ससार-निवासहेउभूएण गरुयदुक्खमूलेण गिहिवासेण अल

आयरियजयमलस्य सखित्तगुणपरिचओ

एत्थन्तरे किर राजट्ठाणजणवयरयणभूओ, गुणरयणाण आगरो सव्वगसुन्दराहिरामो, कुलहर पिव खत्तीए, वसुन्धराए मण्डण विव, आदेअभावस्स ठाण व, कुसलकम्मस्स विवागसव्वस्स व, सयलजणणअणाण आणन्दो पिव, धम्मनिरयाण पच्चाएसोव्व, परमवण्णयाए निलओ व, जेण तेअगुणेहिं नवसरयरवी, सोमगुणेहिं नवसरयससी, रूवगुणेहिं पुण्डरीअ विजिअ, महाणुभावो, घोरतवस्सी विजितिन्दिओ, आयरियपवरो पुज्जपाओ सणामधण्णो सिरी सामी जयमलजी महाराओ अहेसि

गुरुप्पवरो समोसरिओ

महाजसस्स तस्स गणे एगो थेरो अणेगसीसपरियालपरिवुडो डासरियागामे उवस्सयम्मि उग्गह उग्गिण्हिअ सजमेण तवसा च अप्पाण भावेमाणे विहरइ तेसिं मुणिपुगवाण दसणट्ठ विरत्तप्पा हजारीमल्लो वि निग्गन्थ पावयण च सोउ घराउ निक्खमई उवस्सय पाविऊण सव्वेसि मुणिसत्तमाण दसण करिअ कमसो मुणिवरे सविहिणा वन्दइ नमसइ सक्कारेइ सम्माणेइ, तप्पच्छा गुरुपामूले आगम्म पुणो तिहुत्तो आयाहिण पयाहिण काऊण गुरूण तिए उवविट्ठो पजलिउडो विण-एण वज्जरइ हजारीमल्लो-भन्ते ! अहय भवन्ताण पासे केवलिभासिअ धम्म सोउमिच्छामि, जइ न गिलाएति तत्थ-भवन्ता तओ पच्छा गुरुमुहाओ उवएस सोऊण महप्पणो हजारीमल्लस्स मणे वेरग्गो विगुणिओ जाओ ज वेरग्गबीअ उव-एसहाराए अकुरिओ जाओ, तप्पभावेण महप्पा हजारीमल्लो विणयेण बोल्लेइ-भवन्तेहिं ज कहिअ त सच्च, असदिद्ध अवि-तह च अत्थि, नो इहरा

अह णिअगेहिं अब्भणुण्णाए समाणे तुम्हाण तिए भगवइ जिणदिक्ख धारिउमिच्छामि गुरुणाहिअ—जहासुह देवाणुपिया ! माइ पडिबन्ध काहि त्ति निवेइऊण उट्ठाय उट्ठेइ गुरुवर नमिऊण महप्पा हजारीमल्लो जाए दिसाए समागओ त चिअ
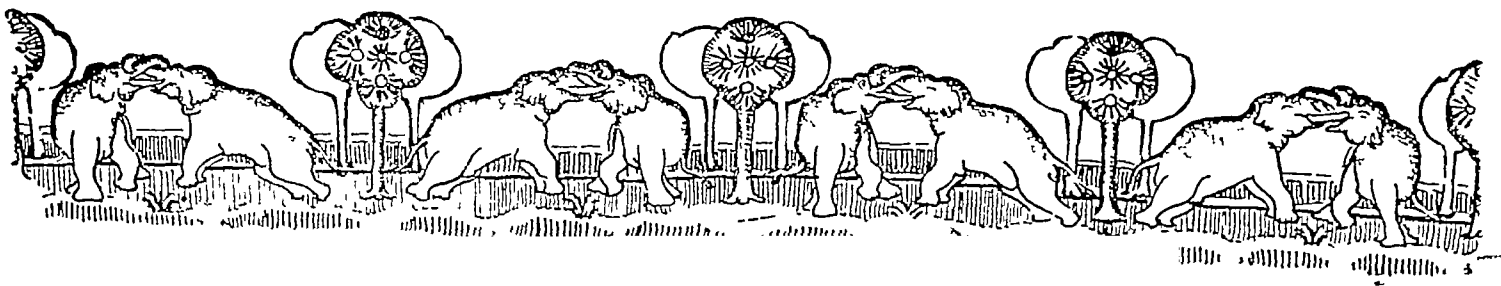
श्रीहजारीमल-मुनीनाम्

१

गातु गुणानद्य प्रवृत्ता
श्री हजारीमल मुनीनाम् ।
वन्द्यचरणानां वराणाम्
मरुधरामानसमणीनाम् ।

२

कीदृशी प्रतिमा प्रभाऽऽसीत्
कीदृशी प्रकृति कृतिर्वा ।
कीदृशी शान्तिश्च दान्ति
कीदृशी भणिति भृतिर्वा ।

३

मन्त्रिपदवीमादधाना
येऽभ्रमन् बहुजनहिताय ।
सदयहृदया महात्मान
केवल स्वान्त सुखाय ।

४

मनसि मनसि विराजते
पुण्यस्मृति सद्गुणखनीनाम् ।
गातु गुणानद्य प्रवृत्ता,
श्रीहजारीमल-मुनीनाम् ।

५

मोहममतामुक्तिकामा
वयसि प्रथमे प्राव्रज्ये ।
सिद्धयोरावरमखानाम्
शिष्यतामायन्नगण्ये ।

६

त्यागसीमान विलङ्घ्य
सत्य तत्त्वान्वेषणाय ।
ये समाजान्नाभिषेलु
लोकविपदामनुभवाय ।

७

पोषका परमा अभूवन्
साधु मुनिजनजीवनीनाम् ।
गातु गुणानद्य प्रवृत्ता
श्री हजारीमल-मुनीनाम् ।

८

व्यथितहृदयाकृष्ट-केशा
रेषु भावान् यानभावान् ।
येऽजपन्नुपदेशकाले
प्रवचनार्हाप्रप्रभावान् ।

९

भक्त-मानस-मन्दिरेषु
साधनास्निग्धा विदिग्धाम् ।
ज्ञानदीपाँस्ति महान्तोऽ-
ज्वालयन्महसाभिमुग्धाम् ।

१०

अतस्ते नेतृत्वमापु
परिषदा पथदर्शिनीनाम् ।
गातु गुणानद्य प्रवृत्ता
श्री हजारीमलमुनीमाम् ।

११

दूरमेत्याऽपि स्वमातु
नेदीयांसो येऽभिजाता ।
एकमुत्सर्गं विमुच्य
ह्यनेकाङ्कन्धियो जाता ।

१२

व्यक्तिगतवात्सल्यविमुखा
प्राप्तवत्सलताब्धि धारा ।
सीमिताधावचिता अपि
ये समाजा हृदयहारा ।

१३
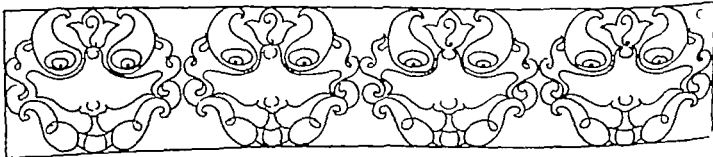
भवन-भूमीर्विलङ्घ्यापि,
महितनिजजन्माऽवनीनाम् ।
गातु गुणानद्य प्रवृत्ता,
श्रीहजारीमलमुनीनाम् ।

१४

स्वजननीजलदानदीना ,
अध्वपतिता पाययन्त ।
लोकमातरमम्बु सुतवत्,
काष्ठपात्र रिक्तयन्त ।

१५

वेपमाने वपुषि कम्बल-
मक्षिपन्येऽपरिचितस्य ।
शीतशीर्णां तनुमुपेक्ष्या-
प्यात्मनः करुणार्दितस्य ।

१६

एवमास्त उदात्तचरित,
सृतिव्यथाचिन्तामणीनाम् ।
गातु गुणानद्य प्रवृत्ता ,
श्री हजारीमलमुनीनाम् ।

१७

रोदनार्तिक धावन
वनसमस्या सम
भीत । भविता
प्रत्न प्रयत्ना श्र

१९

करतल कृतक न्त ।
सान्त्व तदोह
गातु गुणानद्य प्रवृत्ता
श्री ह री लमुनीन

२१

सिंहपालौ,
मु दानि ।
सत्य म-
मया ।

नो
सूक्ष्मता
तेन मूव
रीतय सरल

पूज्यवरो जयः

१—सुगुण-वृंद-विभूषित-भावनः, सुजनता-जनता-जय-जीवनः ।
मुनि-पतिः सुमतिः शम-संचयः, जयतु पूज्यवरो भुवने जयः ।
२—सुवितता भुवि यस्य विरागता, सुविहिता भुवि येन विशालता ।
स मुनि-मंडल-मोहन-मूर्तिकः, जयतु पूज्य-वरो भुवने जयः ।
३—सरलता-शुचिता-सरिता-पतिः, मधुरता-मृदुता-गुण-संततिः ।
मनन-वाचन-संस्कृत-वाङ्मयः, जयतु पूज्यवरो भुवने जयः ।
४—रिपुपु मार-ममत्व-मदादिषु, जय-मवाप्य निज 'जय'-नामकम् ।
प्रकटितं कृतमत्र हि येन सः, जयतु पूज्य-वरो भुवने जयः ।
५—स्मरणतो हृदि यस्य महामुनेः, लघुतरोऽपि सुयाति सुगौरवम् ।
स जिन-शासन-सम्मत-संयमः, जयतु पूज्य-वरो भुवने जयः ।
६—शान्तः सदा यो मुनि-माननीयः,श्रीमान् हजारीमल-मान्य-भागः ।
तत्सेवकोऽसौ मुनि 'मिश्रिमल्ल', व्यरीरचत् पद्य-सुपुंज-मेतत् ।

रचयिता श्रीमधुकरमुनि

गुरुदेवश्रीजोरावरमल्ल-मुनीश्वराणां परिचयः

१—मारवाडे महादेशे, 'मेडता'-मण्डले शुभे ।
प्रसिद्धो 'लाबिया' ग्रामः, आसीद्धर्म-विदां खनिः ।।
२—श्रावको न्यवसत्तत्र, 'मोहनदास'-संज्ञकः ।
महता-वंशजो धीमान्, दृढ-धर्मा गुण-प्रियः ।।
३—महिमानं सुतन्वन्ती पत्युः पितृ-कुलस्य च ।
संजाता 'महिमा' देवी, तस्य जाया शुभाशया ।।
४—जय-स्तम्भः सुधर्मस्य, जयो मुक्ति-पथार्थिनाम् । ।
'जयमल्लो'ऽभवत्तस्याः, पुत्रः संघ-ध्वजा-धरः ।।
५—स द्वाविंशति-वर्षीयान्, नूतनाऽऽरब्ध-यौवनः ।
परिणिन्ये प्रियां 'लक्ष्मीं', लक्ष्मीमिव मनोहराम् ।।
६—षण्मासानंतरं श्रीमान् आगतो मेडता-पुरे ।
वाणिज्याय, चतुर्दश्यां, कार्तिक्यां दैवयोगतः ।।
७—सार्द्धं सहचरैस्तत्र, तेन धर्म-हृदा किल ।
व्याख्यानं 'भूधर' मुनेः श्रुतं शील-प्रशंसनम् ।।
८—'सुदर्शन'-कथां श्रुत्वा, जातो भोग-विरक्तिमान् ।
त्यक्त्वा मोहं स्व-वधूनां, दीक्षामंगीचकार सः ।।
९—तपस्वी ज्ञानवान् शान्तः उग्रः संयम-पालने ।
तत्तद्देशे विहृत्याऽसौ जिन-धर्ममुपादिशत् ।।
१०—आषोडश-समा धीरः तपः एकान्तरं व्यधात् ।
पञ्चाशद्वर्ष-पर्यन्तं नैवाऽऽसेवत संस्तरम् ।।
११—'बीकानेरं' सुदुर्गम्यं आसीत् स्थानकवासिनाम् ।
तत्र गत्वा महाकष्टैः, श्रावकान् समबोधयत् ।।

१२—तत्र सयमिनां पूजां पुनरस्थापयन् मुनि ।
प्रसिद्धस्तस्य नाम्नाऽस्य सप्रदायो वरोऽभवत् ॥
१३—सप्तति-वय-पयत धृत्वा खलु सुसयमम् ।
द्योतयित्वा मुनेधम बोधयित्वा बहून् जनान् ॥
१४—सप हि वक्रमे योगे[1], वौण[2] 'सिद्धक'-सयुते ।
नर सिंह-वसुदस्यां देवालयमगाज्जय ॥
१५—तस्य पट्टे महामान्यो रायचद्रो मुनीश्वर ।
सघ-श्लाघ्यो गुणगीतो जातो पूज्य प्रिय-व्रत ॥
१६—तस्य पट्टे सुधी-मान्ये मध्ये धर्म-धुरा-धरे ।
आसकर्णो महाभाग आसीत् पूज्य प्रभा-पर ॥
१७—शिष्यस्तस्य गुणराढय बुधमल्ल-मुनि सुधी ।
गुरो भक्तो सदा लीन आसीत शान्ति-सुधाकर ॥
१८—'फकीरचन्द्र' इत्याख्य तस्य शिष्यो महायशा ।
आसीद्धम विशेषज्ञो वादी वाद-जयी व्रती ॥
१९—शास्त्रार्थ-कौशल तस्य दृष्ट्वा तक वितकणम् ।
मन्ये देव-गुरुर्विभ्यन् पूवमेव दिव गत ॥
२०—सयुत षोडश शिष्य सभौ मान्यो मुनिस्तथा ।
यथा भाति कला-कान्त पूर्णिमाया तिथौ विधु ॥
२१—लाडनू-नगरे गत्वा तेरहपथिनो बहून् ।
स्थानकवासि-सद्धर्मे ऽस्थापयत् मुनि-पुगव ॥
२२—तेरहपन्थिभि साध शास्त्रार्थं कृतवान् मुनि ।
विद्वत्ससदि लेभे च विजय धम-यशस्करम् ॥
२३—विहृत्याऽनेकदेशेषु कृत्वा धर्म-प्रचारणम् ।
धर्म-देव-पद स्वीय कृतार्थं कृतवानिह ॥
२४—तस्य शिष्यो यशस्वी तेजस्वी विदुषांवर ।
श्री 'जोरावरमल्लोऽभूत् मेदिन्यां मुनि-पुगव ॥
२५—जनमनाऽलकृतस्तेन सुग्राम सिंह-स ज्ञक ।
धन धान्यादि-सपन्न सव प्राणि-सुखावह ॥
२६—कवयश्चारणास्तत्र वसन्ति स्तुति-पाठका ।
येभ्यो ग्राम प्रसन्नेन राज्ञा दत्त प्रसादत ॥
२७—आसीत्तत्र महाभाग ओसवाल-कुलोद्भव ।
'बोथरा'-जाति श्रृगार श्रीपति सुख-सन्तति ॥
२८—उदारो नीति निष्णातो दीनार्थिभ्य सुर-द्रुम ।
ऋद्धि-करण इत्याख्य ऋद्धिधारी वणिग्वर ॥
२९—दीना जना यमाश्रित्य बभूवुर्वृद्धि-शालिन ।
ऋद्धि-करण इत्याख्या तस्यान्वर्थमुपागमत् ॥
३ —म यन्तेस्म जनास्तत्र श्रेष्ठ त परम जनम् ।
आसीव बन्धु स सर्वेषां पिता भ्राता सहायक ॥
३१—निमग्ना धर्म-कार्येषु समग्ना पति-सेवने ।
अमग्ना मोह-मायाया मग्ना' तस्य प्रियाऽभवत् ॥

पूज्यवरो जय:

१—सुगुण-वृ द-विभूषित-भावन, सुजनता-जनता-जय-जीवनः ।
मुनि-पति. सुमतिः शम-सचयः, जयतु पूज्यवरो भुवने जय ।
२—सुवितता भुवि यस्य विरागता, सुविहिता भुवि येन विशालता ।
स मुनि-मडल-मोहन-मूर्तिक, जयतु पूज्य-वरो भुवने जय ।
३—सरलता-शुचिता-सरिता-पति॰, मधुरता-मृदुला-गुण-सतति ।
मनन-वाचन-सस्कृत-वाड्मय, जयतु पूज्यवरो भुवने जयः ।
४—रिपुषु मार-ममत्व-मदादिषु, जय-मवाप्य निज 'जय'-नामकम् ।
प्रकटित कृतमत्र हि येन स, जयतु पूज्य-वरो भुवने जय ।
५—स्मरणतो हृदि यस्य महामुने॰, लघुतरोऽपि सुयाति सुगौरवम् ।
स जिन-शासन-सम्मत-सयम, जयतु पूज्य-वरो भुवने जय ।
६—शान्त सदा यो मुनि-माननीय ,श्रीमान् हजारीमल-मान्य-भाग ।
तत्सेवकोऽसौ मुनि 'मिश्रिमल्ल', व्यरीरचत् पद्य-सुपुज-मेतत् ।

रचयिता श्रीमधुकरमुनि

गुरुदेवश्रीजोरावरमल्ल-मुनीश्वराणां परिचयः

१—मारवाडे महादेशे, 'मेडता'-मण्डले शुभे ।
प्रसिद्धो 'लाबिया' ग्राम, आसीद्धर्म-विदा खनि ॥
२—श्रावको न्यवसत्तत्र, 'मोहनदास'-सज्ञक ।
महता-वशजो धीमान्, दृढ-धर्मा गुण-प्रिय ॥
३—महिमान सुतन्वन्ती पत्यु पितृ-कुलस्य च ।
सजाता 'महिमा' देवी, तस्य जाया शुभाशया ॥
४—जय-स्तम्भ सुधर्मस्य, जयो मुक्ति-पथार्थिनाम् । ।
'जयमल्लो'ऽभवत्तस्या, पुत्र सघ-ध्वजा-धर ॥
५—स द्वाविंशति-वर्षीयान्, नूतनाऽऽरब्ध-यौवन ।
परिणिन्ये प्रिया 'लक्ष्मी', लक्ष्मीमिव मनोहराम् ॥
६—षण्मासानतर श्रीमान् आगतो मेडता-पुरे ।
वाणिज्याय, चतुर्दश्या, कार्तिक्या दैवयोगत ॥
७—सार्द्धं सहचरैस्तत्र, तेन धर्म-हृदा किल ।
व्याख्यान' भूधर' मुने श्रुत शील-प्रशसनम् ॥
८—'सुदर्शन'-कथा श्रुत्वा, जातो भोग-विरक्तिमान् ।
त्यक्त्वा मोह स्व-वधूना, दीक्षामगीचकार स ॥
९—तपस्वी ज्ञानवान् शान्त उग्र सयम-पालने ।
तत्तद्देशे विहृत्याऽसौ जिन-धर्ममुपादिशत् ॥
१०—आषोडश-समा धीर तप एकान्तर व्यधात् ।
पञ्चाशद्वर्ष-पर्यन्त नैवाऽऽसेवत सस्तरम् ॥
११—'बीकानेर' सुदुर्गम्य आसीत् स्थानकवासिनाम् ।
तत्र गत्वा महाकष्टै, श्रावकान् समबोधयत् ॥

५१—मिथ्या-ज्ञान-तमो-व्याप्तान् वीक्ष्य सामाजिकान निजान् ।
सुविद्याया प्रचाराय प्रयत्न प्रचुर व्यधात् ॥

५२—कुचेरा'-ख्य-सुभे ग्रामे मुनेस्तस्य प्रभावत ।
स्थापितो ज्ञान भडारा' जिज्ञासुभ्यो हितावह ॥

५३—साधव श्रावकाश्चापि शिष्यास्तस्य गुणाऽऽग्रहा ।
अभवन् बहवो योग्या श्रद्धावन्तो दृढा व्रत ॥

५४—अनेके मानवास्तस्य पार्श्वे दीक्षार्थमागता ।
परन्तु तेषु ये योग्या तेन त एव दीक्षिता ॥

५५—बाण[१] सि[९]द्धि[८]क[१]-भू[१]-वर्षे वशाखे च महामुनि ।
ग्रामेऽतिष्ठन् कुचेराख्ये' सशिष्यो विहरन् मरौ ॥

५६—रोग-सक्रान्त-देहोऽभूत् तत्र कर्म प्रभावत ।
वैद्य श्चिकित्सितोऽनेकै' स्वास्थ्य नव यदाऽऽगमत् ॥

५७—बीकानेरात् समाहूत सुवैद्यश्चन्द्रशेखर ।
तेन स्वास्थ्य मुनिर्लेभे माद श्रीसघ प्राप्नवान् ॥

५८—श्रेष्ठिमोहन-मल्लेन कृतभूरिव्ययेन च ।
भूरि भूरि प्रयत्नेन स्व-गुरो स्वास्थ्य-लाभत ॥

५९—ग्रामेऽतिदुर्लभ दृष्ट्वा भैषज्यादि-सहायताम् ।
गुरो सस्मरणायैव स्थापित औषधालय ॥

६०—धर्म प्रभावनां कुर्वन् भावयन शुभ भावनाम् ।
विहरन्नेकदा सो हि ग्राम मवाल' मागत ॥

६१—तत्राऽकस्मादभूद्देव पक्षाघातेन पीडित ।
सा व्यथा तस्य सजाता जीवितस्य विनाशिनी ॥

६२—द्रव्य[६]-सिद्धि -निधि[९]-क्षोणी[१]-मिते वैक्रम-वत्सरे ।
सितायां ज्येष्ठ-तुर्यायां तिथौ पूर्ण-समाधिना ॥

६३—द्विचत्वारिंशदब्दान् हि पालयित्वा मुनेव्रतम् ।
धर्म-ध्यान-मना शीघ्र स्वर्गवासी बभूव स ॥

६४—तस्याऽधुना त्रय शिष्या सच्चरित्रा जन प्रिया ।
विहरन्ति मरौ देशे भान्ति शान्ताश्च मानिता ॥ ॥

६५—श्रीमान् हजारिमल्लोऽस्ति स मुनि सरल प्रिय ।
विशुद्धो बहिरन्तश्च प्रिय धर्मा गुणाकर ॥

६६—व्रजलाल'-मुनिर्नित्य सेवा-धर्म-परायण ।
सहिष्णुर्गणिताऽभ्यासी भाति सुन्दर-लेखक ॥

६७—मिश्रीमल्लस्तृतीयोऽस्य मधुकरोपनामक ।
एतत्पद्योष निर्माता विभाति प्रतिमा-युत ॥

६८—गुरोर्जोरावरस्यैते त्रय शिष्यास्त्रयीव ये ।
त्रिपदी च प्रदीप्यन्त सघ-सेवा प्रकुर्वते[१] ॥

रचयिता—श्रीमधुकर मुनि

---

१ [illegible]

३२—द्रव्य[६]-लोका[३]-ङ्क[६]-भू[१]-ख्याते, शुभे वैक्रम-वत्सरे।
अक्षयाया तृतीयाया, श्रेष्ठे शुभ-मुहूर्त्तके ॥
३३—पूर्वदिगिव भास्वत, भास्कर सुतमाप सा।
तेजस्विना सुपुत्रेण, दिदीपे च तयोर्गृहम् ॥
३४—श्री रिद्धकरणादासन्, प्रतिकूलास्तु ये जना।
प्रभावाद्वालकस्यास्य, प्रेम्णा प्राप्ता सुवन्धुताम् ॥
३५—वालकस्य प्रभाव त, सवीक्ष्य पितरौ मुदा।
जोरावरमलेत्याख्या चक्रतुस्तस्य हर्पितौ ॥
३६—वाल्येऽपि तस्य सद्वृत्ति, रुचि धर्मे विलोक्य च।
ऊचिरे वहवो वृद्धा, 'अय योगी भविष्यति' ॥
३७—ताते दिवगते शीघ्र वाणी सत्या वभूव सा।
जनन्या सह वाल स, जैन-योगी वभूव यत् ॥

३८—वेदा[४]-व्धि[४]-निधि[६]-शीतांशु[१]-मिते वैक्रम-वत्सरे।
स्वीय-जन्म-तिथावेव, नागौर-नगरे वरे ॥

३९—जनन्या सार्द्धमादृत्य, निर्ग्रन्थ-व्रतमुत्तमम्।
'फकीरचन्द्र'-शिष्योऽभूत्, वालो जोरावरस्तदा ॥

४०—गुरोरिव गुरोस्तस्य, शास्त्रज्ञस्य प्रसादत।
स्वल्पेनैव स कालेन, पाण्डित्य परम गत ॥

४१—व्याकृतावागमे तर्के, साहित्ये गणिते श्रुते।
निर्ग्रथाना समाचार्यां तथोत्सर्गापवादयो ॥

४२—व्याख्याने धर्म-चिन्ताया, श्रीसङ्घस्यानुशासने।
पाटव परम लेभे, सर्व-तन्त्र-स्वतन्त्रताम् ॥

४३—आकृतौ व्याकृतौ साक्षात्, भास्वत भास्कर भुवि।
अभिषिच्य निजे पट्टे, गुरुर्गुरोर्गृह गत ॥

४४—जोरावरो मुनिर्दीप्यन्, जैन-शासन-भास्कर।
उन्निनीषु समाज स्व, रेभे धर्म-प्रभावनाम् ॥

४५—अश्लीलानि कुगीतानि, गायन्तिस्म कुलागना।
उच्छिष्ट भोजयन्ति स्म, अस्पृश्यान् गृहिणो महे ॥

४६—वेश्या-नृत्य तथा रात्रौ, भोजन जिन-धर्मिषु।
विलोक्य हृदय तस्य, दुख लेभे पर यत ॥

४७—न्यषेधयन् मुनिस्तास्ता, कुरूढी स्वप्रभावत।
यानि निन्द्यानि कार्याणि, तानि सर्वाण्यभर्त्सयत् ॥

४८—बाल-वृद्ध-विवाहादीन् कन्याना विक्रय तथा।
मृत्यु-भोज, महात्माऽसौ, व्याख्यानेष्वनिन्दयत् ॥

४९—यदा लोक कुरीत्यादीन्, त्यक्त्वा शुद्धो भविष्यति।
तदैव जिन-धर्मस्य, स्थापना सभवा स्थिरा ॥

५०—इत्येव मन्यमानोऽसौ, नीति-शास्त्रस्य देशनाम्।
सार्द्ध धर्मोपदेशेन सतत कृतवान् मुनि ॥

आचार्यश्री जयमलजी महाराज का शास्त्र लिपिमें लिखित एक नमूना ।

स्वामीजी द्वारा प्रारंभिक अवस्थामें लिखित शास्त्रलिपि का नमूना ।
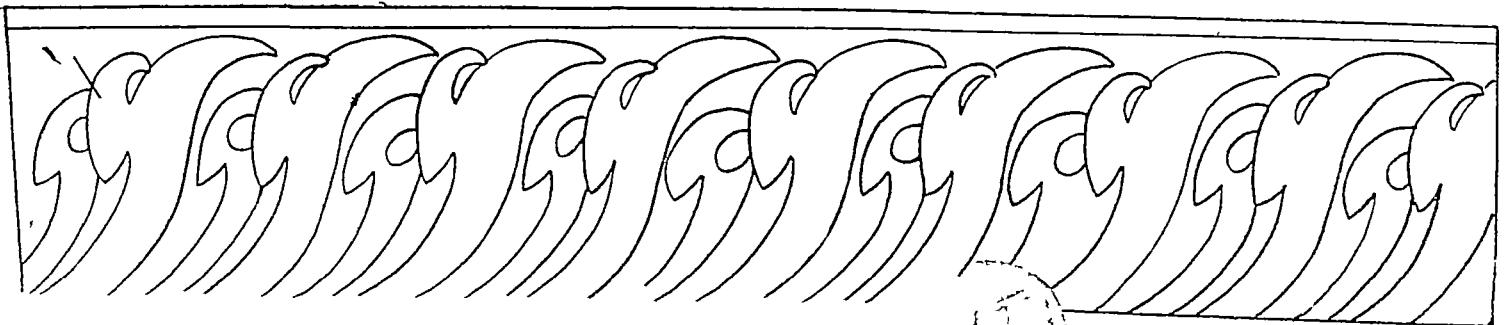
आचार्यश्री जयमल्लजी म० गृहस्थ-जीवन का रहस्य बताते हुए पीछे श्रीरायचन्द्रजी महाराज जो इस सम्प्रदाय के द्वितीय आचार्य हुए

स्वामी श्रीहजारीमलजी महाराज
युवावस्था मे

स्वर्गवास के पश्चात् विमान की तैयारी

अन्तिम संस्कार के लिए प्रस्थान

वह काष्ठ-पट्ट जिसपर संलेखना ग्रहण की
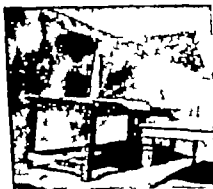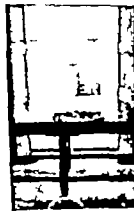
स्वामीजी के दो उपनेत्र

स्वामीजी का काष्ठ-पात्र स्वाध्याय-पुस्तक तथा पट्टिका

स्वामीजी के गुरुदेव श्रीजोरावरमलजी
महाराज

गुरुदेव के तीन शिष्य
क्रमश १ मुनि मधुकरजी २ स्वामीजी
३ श्री ब्रजलालजी

आचार्य श्री जयमल जी वंशावली

इस असाधारण कवि-व्यक्तित्व की गणना अब तक के किसी साहित्य के इतिहासकार ने नहीं की सर्वप्रथम इस सुकुमार कवि-पुष्प पर 'मधुकर' की तरह मंडराने वाले हैं मुनि श्रीमिश्रीमलजी महाराज[1]

जीवन वृत्त—कविवर जयमलजी का जन्म सं० १७६५ भादवा सुदि १३ को[2] जोधपुर राज्यान्तर्गत-मेड़ता से जैतारण की ओर जाने वाली सड़क पर अवस्थित 'लांबिया' नामक गांव में हुआ पिता और माता का नाम क्रमश मोहनदास जी एवं महिमा देवी था य समदड़िया महता गोत्रीय बीसा ओसवाल थे इनके पिता कामदार थे बड़े भाई का नाम रिड़मल था २२ वर्ष की अवस्था में[3] इनका विवाह रीयां निवासी शिवकरणजी मूथा की सुपुत्री लक्ष्मीदेवी के साथ हुआ

दीक्षा प्रसंग—जयमलजी की वैराग्य भावना सहज स्फूर्त थी वह आरोपित या विवश क्षणों की परिणति नहीं थी व्यापारी बनकर कर्मक्षेत्र में उतरे अवश्य पर व्यापार उनका लक्ष्य नहीं था धर्म की ओर रुझान होते हुए भी पागलों की तरह उसके पीछे भटके नहीं संयोग की ही बात थी कि वे अपने व्यावसायिक मित्रों के साथ सौदा करने के लिए मेड़ता गए वहां बाजार बन्द था अनायास ही स्थानकवासी परम्परा के आचार्य श्रीधर्मदासजी[4] की शाखा के प्रभावक पूज्यप्रवर भूधरजी[5] महाराज की सभा में उपस्थित हो गये भूधरजी महाराज अपने प्रवचन में ब्रह्मचर्य व्रत की दृढ़ता और महत्ता पर सेठ सुदर्शन का जीवन प्रसंग गा-गाकर सुना रहे थे युवकहृदय पहली बार इस संयम भावना से अभिभूत हुआ आषाढ़ की प्रथम वृष्टि का स्पर्श पाकर झुलसी धरती जिस प्रकार हरी भरी हो उठती है उसी प्रकार धर्मदेशना के अमृत का पान कर जयमल सांसारिक विषय-वासनाओं की ज्वाला को शान्त कर सका एकदम आजीवन ब्रह्मचर्य-व्रत अंगीकार कर लिया पर सन्तोष कहां ? वह तो पूर्ण साधक बनने की प्रतिज्ञा कर चुका था कैसे मेड़ता छोड़कर चला जाय ? मां की ममता और पिता का आक्रोश सबसे बढ़कर नवपरिणीता वधू का ज्वार भाटे की तरह उफनता हुआ प्यार-पर सब व्यर्थ ! कहीं उस ने राग सुना पत्नी द्विरागमन की तैयारी में तल्लीन और पति श्रमणजीवन की तैयारी में तत्पर[6]

साधना काल—श्रीजयमलजी साधना में वज्र की तरह कठोर थे विचारों में प्रेम और कर्तव्य का द्वन्द्व नहीं था इनकी विवाहिता पत्नी भी संयममार्ग की पथिका बन गई थी जीवन का एक ही लक्ष्य था—आत्म-कल्याण श्रमणजीवन में प्रवेश करते ही एकान्तर तप[7] की आराधना प्रारम्भ हो गई जो १६ वर्ष तक निरन्तर चलती रही
वे अध्यवसायी हो नहीं अथक अध्येता भी थे बुद्धि के धनी और स्मृति के चिरसहचर थे दीक्षा लेने के बाद स्वल्प समय में ही दशवैकालिक श्रमण-सूत्र कण्ठस्थ कर लिया था तभी तो सप्ताह भर बाद ही बड़ी दीक्षा हो गई मेधा के चमत्कार का क्या कहना ? एक ही प्रहर में पांच शास्त्र[8] कण्ठस्थ कर लिये थे[9]

धुन के पक्के थे गुरु के प्रति असीम श्रद्धा थी जब भूधरजी स्वर्ग सिधारे तभी प्रतिज्ञा कर ली थी कभी न लेटने की

---

१ इन्होंने 'जयवाणी' नाम से जयमलजी की रचनाओं का संकलन किया है जो सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा से प्रकाशित हुआ है
२ पूज्य गुणमाला [illegible] महाराज [illegible]
३ संवत् १७८८ [illegible] 'पूज्य गुणमाला' के अनुसार
४ [illegible] १७०१ [illegible] १७५९ में स्वर्गस्थ हुए. [illegible]
५ भूधरजी का जन्म [illegible]
६ [illegible] (गुणमाला के अनुसार [illegible]) [illegible] में दीक्षा [illegible]
७ [illegible]
(१) [illegible] (२) [illegible]
८ [illegible]

डा० नरेन्द्र भानावत,
एम० ए०, पी-एच० डी, साहित्यरत्न, हिन्दी-विभाग राजस्थान
विश्वविद्यालय, जयपुर

संत कवि आचार्य जयमल्लजी : व्यक्तित्व और कृतित्व

भारतीय वाङ्मय की वाटिका को सजाने-सवारने का जितना अधिक श्रम और तप जैन-साधक मनीषियो ने किया है उतना शायद ही किसी एक धर्मविशेष के साधकों ने किया हो काव्य, कोश, अलकार, ज्योतिष, आख्यान, वैद्यक, इतिहास, रूपक-सभी ओर इन दृष्टिसम्पन्न मालियों की दृष्टि दौडी है इनके विस्तृत लोक-ज्ञान और अगम शास्त्रीय विवेक ने कला और विज्ञान के क्षेत्रो मे रग-विरगे चटकीले फूल खिलाये हैं ये सुरभित पुष्प अपने सौन्दर्य से सबको आकर्षित करते हैं पर रूप-मोह मे नही डुबोते, अपने सौरभ से सबको मत्र-मुग्ध तो करते है पर विलास की निद्रा मे नही सुलाते. इन फूलो का सात्विक परिमल मन को पवित्र, हृदय को निष्कलुष और आत्मा को परमात्मोन्मुख बनाता है

हिन्दी साहित्य के इतिहास का अवगाहन करने पर सखेद आश्चर्य होता है कि इतिहास-लेखको ने इन फूलो (साहित्य सम्पदा) का उचित मूल्याकन नही किया साहित्य के ऐतिहासिक विकासक्रम मे इनके अस्तित्व तक की अवमानना की इस स्थिति का एक कारण यह भी रहा कि जैन साहित्य उपाश्रयो और मन्दिरो के गर्भ-गृहो मे प्राचीन हस्तलिखित ग्रथो के रूप मे लावारिस सम्पत्ति की तरह अस्त-व्यस्त विखरा पडा रहा न जाने कितने यशस्वी साहित्यकार और भावुक भक्त कवि काल-कवलित हो गये दीमक के ग्रास वन गये ! अव समय आया है कि प्राचीन हस्तलिखित ग्रथो का सम्यक् अध्ययन अनुशीलन कर हिन्दी-विद्वानो के सामने जैन साहित्य का प्रामाणिक सर्वांग-सम्पूर्ण इतिहास प्रस्तुत किया जाय

यो जैन साहित्य के इतिहास-लेखन के स्फुट प्रयत्न यदा-कदा अवश्य होते रहे स्वर्गीय नाथूराम 'प्रेमी' और मोहनलाल दलीचन्द देसाई के प्रयत्न इस दिशा मे उल्लेखनीय है श्रीकामताप्रसाद जैन ने भी इधर 'हिन्दी जैन साहित्य का सक्षिप्त इतिहास' लिखा है बीकानेर के श्रीअगरचन्दजी नाहटा की लेखनी से कई अज्ञात जैन ग्रथकार प्रकाश मे आये हैं पर ये सारे प्रयत्न 'ऊट के मु ह मे जीरा' जैसे है

जैन धर्म विविध शाखा-प्रशाखाओ मे विभक्त है श्वेताम्बर स्थानकवासी सम्प्रदाय, जैनधर्म की ऐतिहासिक एव साहित्यिक दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण परम्परा रही है इस सम्प्रदाय मे तप पुज बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न अनेक आचार्य और प्रभावक कवि हुए हैं दिगम्बर सम्प्रदाय के कतिपय कवियो का उल्लेख तो इधर के साहित्य-इतिहास मे हुआ है पर स्थानकवासी परम्परा के कवियो का नामोल्लेख जैन साहित्य के इतिहासग्रथो तक मे नही मिलता यह स्थिति विस्मय-जनक ही नही भयावनी भी है हमारे आलोच्य कवि आचार्य जयमल्लजी का सम्बन्ध इसी स्थानकवासी परम्परा से है
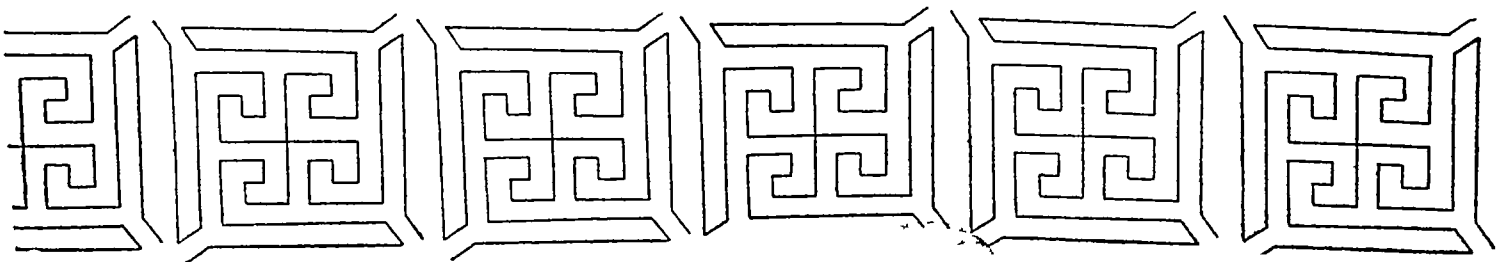
जयमल्लजी ने धर्मप्रचार करते समय अपने नये क्षेत्र भी बनाये बीकानेर ऐसा ही एक क्षेत्र था आप की पहुँच के पहले बीकानेर में स्थानकवासियों का कोई प्रभाव नहीं था सम्भवतः ये पहले सन्त थे जिन्होंने बीकानेर में आकर स्थानकवासी धर्म की ज्योति प्रज्वलित की इस धर्माभियान में इन्हें अनेक परीषहों का सामना करना पड़ा बीकानेर आने पर उन्हें प्रवेशद्वार पर ही यह कह कर रोक लिया गया—

> बीकानेर है क्षेत्र जत्यों का नहीं थारो पग फेर।
> आवो जल्दी पाछा जिससे हो आसी तुम लैर ॥[1]

संत की मर्यादा के कारण वे उलटे पाँव लौट पड़े और 'छतरी तलावरी पास' पर एक कुमकार के यहाँ आठ दिन तक रहे अन्तिम दिन आपकी श्रद्धालु श्राविका रामकंवर बाई को जब इस घटना का पता लगा तब उसने प्रतिज्ञा की कि 'जब तक पूज्यश्री नगर में पदार्पण नहीं करेंगे तब तक मैं अन्न-जल न लूंगी उसके दोनों पुत्रों का प्रतिदिन मां के साथ ही भोजन करने का नियम था मां को इस प्रकार चिन्तित देखकर उन्होंने तात्कालिक बीकानेर नरेश गजसिंहजी[2] से विशेष आज्ञापत्र प्रसारित करवा कर पूज्यश्री को नगर में प्रवेश कराया स्वयं गजसिंहजी जयमल्लजी के धर्मोपदेश से प्रभावित हुए और उन्हें एक माह तक अपने महल में ठहराया[3] उदयपुर के महाराणा रायसिंहजी[4] (द्वितीय) नागौर अहिपुर के राजा बखतसिंहजी[5] भी इनके सम्पर्क में आकर प्रभावित हुए

कई ठाकुर और सरदार भी जयमल्लजी के व्यक्तित्व और चारित्रिक गुणों से प्रभावित थे पीपाड़ से जोधपुर विहार करते समय आप मध्यवर्ती गांव 'बुचकला' में ठहरे वहाँ के ठाकुर के यहाँ गोचरी गये वहाँ नौकर ने मना कर दिया वे उलटे पाँव लौट पड़े ठाकुर को पता लगा तो उसने नौकर को बुरा भला ही नहीं कहा वरन् स्वयं दिन भर आचार्यश्री की सेवा करते हुए भविष्य में आखेटचर्या न करने की प्रतिज्ञा की[6] इसी प्रकार पोकरण के ठाकुर देवीसिंहजी चांपावत को भी शिकार वृत्ति से विमुख किया[7] देवगढ़ के जसवतराम और देलवाड़ा के राव रघु इनका उपदेश सुनकर धर्मानुरागी बने[8]

जयमल्लजी आगमों के विशिष्ट ज्ञाता थे एक बार पीपाड़ में एक पोतियाबन्ध[9] से आपका शास्त्रार्थ हो गया उसका कहना था कि इस काल में महावीर ने मुनिवृत्ति का निषेध किया है आपने भगवती सूत्र के आधार पर शंका-समाधान किया[10]

व्यक्तित्व—जयमल्लजी का व्यक्तित्व मधुर और प्रभावशाली था उनकी आंखों में तेज स्वभाव में सरलता हृदय में *करुणा और वाणी में ओज था कठोर से कठोर प्राणी भी इनके सम्पर्क में आकर क्षमाशील बन जाता था* ये सच्चे अर्थों में 'धर्म पथ के दीप-स्तम्भ' थे बाधाओं को हँसते हुए सहन करना इनका स्वभाव बन गया था तथापि धर्म-सुविधा

---

१ पूज्य गुणमाला पृ. ६१
२ इनका राज्यकाल सं. १ २ से १८४४ तक रहा
—बीकानेर राज्य का इतिहास पहला भाग, पृ. ३२१ २८—ओझा
३ पूज्य गुणमाला : पृ. ६१ १
४ वही पृ. १ ३
५ वही पृ. ८८
६ वही पृ. ६१
७ वही पृ. ७८
८ पूज्य गुणमाला पृ. १ १
९ [illegible] —[illegible] मरुधर केसरी [illegible] मिश्रीमलजी [illegible] पृ. १०—
१० पूज्य गुणमाला : पृ. १ १

५० वर्ष (जीवन-पर्यन्त) तक ये लेटकर न सोये इस सतत जागरुकता ने इन्हे अतर्मुख वनाया और इनकी अतर्दृष्टि ने काव्य का स्वरूप पाया जो 'स्वान्त सुखाय' वनकर ही नही रहा वरन् 'परान्त सुखाय' भी वना

स० १८०४ मे आसौज सुदी १० शुक्रवार को आचार्य भूधरजी का स्वर्गवास हुआ उनकी मृत्यु के बाद ये आचार्य[1] वने इनका व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली था कि इनकी आख्या पर ही इनके सम्प्रदाय का नामकरण हो गया लगभग ५० वर्ष तक आचार्य अवस्था मे धर्म-प्रचार करते रहे अतिम वर्षो मे ये अस्वस्थ रहे अत मे सवत् १८५३ की वैशाख शुक्ला चतुर्दशी को नागौर मे ३१ दिन के सथारे से स्वर्गवास हुआ

शिष्यसम्पदा—इनके शिष्यो की सख्या ५१ थी[2] श्रीरायचन्द्रजी महाराज को इन्होने अपना पट्टधर वनाया[3] इनका सम्प्रदाय 'जयमल्लसम्प्रदाय' के नाम से विख्यात हुआ जो आज भी प्रचलित है

विहारक्षेत्र—जैन सन्तो का वर्षावास के अतिरिक्त एक जगह ठहरने का विधान नही है तदनुसार वे आठ माह तक ग्रामानुग्राम विचरण कर जन-जन को धर्मोपदेश देते रहते थे आचार्य श्रीजयमल्लजी का विहारक्षेत्र प्रधानत राजस्थान रहा है राजस्थान के अतिरिक्त दिल्ली, आगरा, पजाव व मालवा मे भी विचरते रहे

जन-सम्पर्क और धर्म-प्रचार—आचार्य जयमल्लजी अपने समय के प्रमुख सन्तो मे से थे इनका साधारण जनता से लेकर राजवर्ग तक सम्पर्क था राजवर्गीयो द्वारा आखेटचर्या आदि मे होने वाली हिंसा से, मुनि श्री ने अपनी साधना-सिक्त ओजस्विनी वाणी द्वारा न केवल उन्हे विरत ही किया अपितु उनमे से अनेको को अपना दृढ अनुयायी भी वना लिया महाराजाओ मे जोधपुर नरेश अभयसिंह[4] जी आपसे तथा आचार्य भूधरजी से अत्यधिक प्रभावित थे जव ये पीपाड मे विराज रहे थे तव इनकी गौरव-गाथा सुनकर महाराजा ने अपने दीवान रतनसिंह भडारी को भेजकर (इनको) जोधपुर पधारने की विनती करवाई जव आप जोधपुर पधारे तव महाराजा अकेले ही दर्शन को नही आये वरन् अपनी रानियो और सरदारो को भी शाही ठाट से लाये[5] यही नही स० १७९१ मे जव ये दिल्ली विराज रहे थे तव जोधपुर नरेश ने ७ राजाओ के साथ आपका उपदेश श्रवण किया जयपुर-नरेश तो इनकी यश-गाथा से इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होने शाहजादे को भी यह शुभ सवाद सुनाया शाहजादे के हृदय मे मुनि-दर्शन की इच्छा वलवती हुई उसने दर्शन कर हिंसा अहिंसा सम्बन्धी कई प्रश्न किये और उनका समुचित समाधान पाकर निरपराध प्राणियो का वध न करने की प्रतिज्ञा की[6] जोधपुर-नरेश के साथ ही कविवर करणीदानजी[7] ने भी इनके दर्शन किये थे[8]

जैसलमेर मे आप के पधारने पर वहाँ कुछ विरोधियो ने आपकी मूर्ति बनाकर उस पर धूल उछाली यह समाचार सुनकर आपने मुस्करा कर कहा-मेरे कर्म धुल रहे हैं राजा ने अपने किले मे इनका ससम्मान स्वागत किया और साधुचर्या की जानकारी पाकर प्रसन्नता प्राप्त की उसने अपने ग्रथ-भण्डार भी इन्हे बतलाये[9]

---

१ स० १८०५ अक्षय तृतीया को जोधपुर में ये आचार्य वने

२ धामीरामजी, सुरतरामजी, गजराजजी, तुलसीदासजी, वगतमलजी, उदोजी, खेमचदजी, पृथ्वीराजजी आदि इनके प्रमुख शिष्य थे

३ रायचदन्जी का जन्म स० १७९६ में आसौज सुदि ११ जोधपुर में विजयराजजी धाडीवालके यहा हुआ था स० १८१४ की आषाढ शुक्ला ११ को पीपाड शहर में गोवर्द्धणदासजी महाराज से इन्होंने दीक्षा अगीकृत की स० १८६८ में इनका स्वर्गवास हुआ ये भी आचार्य जयमल्लजी की तरह प्रतिभाशाली कवि थे

४ इनका शासनकाल स० १७८१ से १८१६ तक रहा जोधपुर राज्यका इतिहास, द्वितीय खण्ड-ओझा

५ पूज्यगुणमाला चौथमल्लजी म० पृ० ६०-६३

६ वही पृ० ६९-७६

७ ये कविया शाखा के चारण मेवाड के शूलवाडा गाव के रहने वाले थे इन्होंने 'सूरजप्रकाश' नाम का वड़ा ग्र थ लिखा है जिसमें ७५०० छद हैं महाराजा अभयसिंहजी ने इन्हें लाखपसाव तथा कविराजा की उपाधि दी थी

८ पूज्य गुणमाला चौथमल्लजी म० पृ० ८२

९ वही पृ० ७८-८१ ।
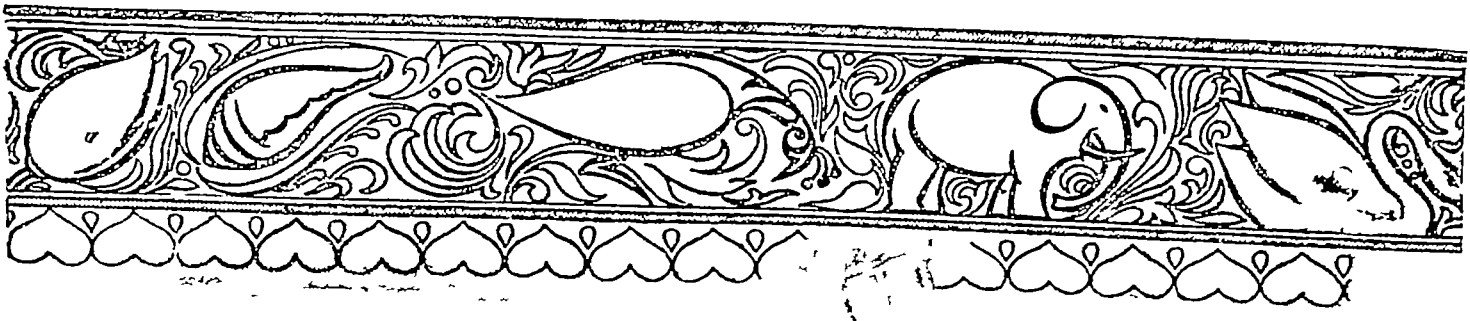
सार' के रूप मे 'मोह-मल्ल के प्रबल विजेता' को जो श्रद्धाजलि[1] अर्पित की गई है वह सोलह आना ठीक है ! कालजयी यह शूरवीर अपने आप मे अद्भुत था हाथ मे क्षमा-खड्ग और शील-सत्य की बरछी लेकर यह ज्ञान के अश्व पर आरूढ था

काव्य-साधना—आचार्य रूप मे जयमल्लजी जितने प्रभावक थे, कवि रूप मे उतने ही सहृदय भावुक इनके कवि-व्यक्तित्व मे सन्तकवियो का विद्राह और भक्त-कवियो का समर्पण एक साथ दिखाई पडता है समय की दृष्टि से इनका आविर्भाव रीतिकाल मे हुआ ये हिन्दी के प्रमुख रीतिकालीन कवि पद्माकर के समकालीन थे यो नागरीदास और चाचा हितवृन्दावनदास भी उसी समय राधा-कृष्ण के चरणो मे अपनी भाव-भरी काव्याजलि समर्पित कर रहे थे ठाकुर और बोधा जैसे कवि रीतिमुक्त होकर एक ओर प्रेम का सात्विक चित्रण कर रहे थे तो दूसरी ओर कविराय गिरधर जैसे सूक्तिकार भी थे जो नीति की बातो को कुडलियो मे गा-गाकर कह रहे थे कवि जयमल्ल ने इन सब सूत्रो से अपनी कविता का ताना-बाना बुना

हिन्दी साहित्य के रीतिकाल (स० १७०० से १६००) की यह प्रमुख विशेषता थी कि सस्कृत मे कवि और आचार्यों का जो अलग-अलग वर्ग था वह इस युग मे आकर एक हो गया कवि कर्म का सम्बन्ध केवल काव्य-रचना से था, जब कि आचार्यो का काम केवल काव्यगत सिद्धान्तो का निरूपण करना था अब रीति-युग मे कवि स्वय आचार्य बन गया वह पहले कविता के लक्षण आदि बताकर आचार्यधर्म का पालन करता, फिर उसके उदाहरण के रूप मे कवि-कर्म की पूर्ति के लिए कविता रचता परिणामत काव्यधारा एक निश्चित नियम, रीति या रूढि मे बँधकर बहने लगी हमारे आलोच्य कवि इस प्रकार के तथाकथित 'आचार्य' तो नही बने पर उनको 'आचार्य' का विरुद अवश्य मिल गया यह विरुद उनकी काव्याराधना का प्रतिफल न होकर उनकी धर्मसाधना, सयम-निष्ठा और आगमिक ज्ञान की गभीरता का परिणाम था

कवि जयमल्लजी रीतिकाल की बँधी बँधाई परिपाटी मे नही चले उन्होने रीतिकाल की उद्दाम वासनात्मक शृगार-धारा को भक्तिकाल की प्रशान्त साधनात्मक प्रेम-धारा की ओर मोडा इन्होने तीर्थंकरो, सतियो, विहरमानो, व्रती श्रावको आदि को अपना काव्य-विषय बनाया

काव्य-रचना—मुनि 'श्रीमिश्रीमल्लजी' मधुकर 'ने बडे परिश्रम से इनकी यत्र-तत्र बिखरी हुई रचनाओ का 'जय-वाणी' नाम से सकलन किया है इस सकलन मे आलोच्य कवि की ७१ रचनाएँ सग्रहीत है इन समस्त रचनाओ को विषय की दृष्टि से चार खण्डो मे-स्तुति, सज्झाय, उपदेशीपद और चरित, चर्चा-दोहावली मे विभक्त किया गया है उपाध्याय अमर मुनि ने इसकी चर्चा करते हुए लिखा है—स्तुतिखण्ड मे उन्होने अपने आराध्य देवो के सस्तवन मे अपनी भक्ति-भाव-भरित अनेकश श्रद्धान्जलिया गुम्फित की हैं 'सज्झाय' खण्ड मे आत्म-स्वातन्त्र्य के मार्ग को प्रशस्त करने वाले अनेक गहन चिन्तनो को काव्यमयी भाषा मे लिपिबद्ध किया गया है. इसी प्रकार 'उपदेशी पद' नामक खण्ड मे अनेक आत्म-विकासी एव मानवीय नैतिक धरातल को समुन्नत करने वाले उपदेश सहज-सुबोध शैली मे ग्रथित किये है अन्तिम खण्ड मे जिन महान् आत्माओ के पावन चरितो को काव्यमृत से सिंचित एव भावित किया गया है, उनके जीवन्त चित्र आत्मा को असत् से सत् की ओर, तम से ज्योति की ओर एव मृत्यु से अमरत्व की ओर ले जाने की अपूर्व क्षमता रखते हैं इसी भाति इस खण्ड की चर्चा एव दोहावली भी जीवन के अनेक उत्कर्ष-विधायक तत्त्वो से आपूर्ण है[2]

इन रचनाओ के अतिरिक्त भी आचार्यश्री की और कई रचनाए हस्तलिखित प्रतियो मे बिखरी पडी हैं खोज करते समय जो अतिरिक्त रचनाए हमारी दृष्टि मे आई है उनके नाम इस प्रकार हैं[3]—

(१) चन्दन बाला की सज्झाय (२) मृगालोढा की कथा (३) श्रीमतीनी ढाल (४) मल्लीनाथचरित (५) अन्जनानो

---

१ गुणगीतिका—प० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल, पृ० ३

२ जयवाणी पृ० ६ ('कवि और कविता' एक मूल्याकन)

३ ये सभी रचनाए आचार्य विनयचन्द्र ज्ञान-भडार, जयपुर में सग्रहीत है.

प्रियतमा की अश्रुपूर्ण आखें उसे सकल्प से डिगाना चाहती हैं[1] किन्तु वह मोहपाश को तोड कर कर्त्तव्य-पथ पर वढ जाता है यही 'प्राप्त्याशा' की स्थिति है कभी-कभी सयम-धारण करने की भावना को प्रोत्साहित करने के लिए प्रतिकूल परिस्थितियाँ भी अनुकूल वन जाती है कृष्ण, नेमिनाथ को विवाह के सूत्र मे वाँधने के लिए अथक प्रयत्न करते हैं राजमती के साथ उनका (नेमिनाथ का) वाग्दान भी हो जाता है यही नही, नेमिनाथ विवाह करने के लिए दूल्हा वन कर, वरात सजाकर, राजमती के प्रासाद तक भी चल देते हे पर अचानक परिस्थिति वदलती है और वे भोज के लिए वन्दी पशु-पक्षियो का कातर करुण क्रन्दन सुनकर तोरण से उल्टे पांव लौट दीक्षा धारण कर लेते हैं[2]

सयम लेने के वाद केवल-ज्ञान प्राप्त होने तक की स्थिति 'प्राप्त्याशा' से लेकर 'नियताप्ति' तक की स्थिति है 'नियताप्ति' तक पहुँचने के लिए साधक को कई प्रकार की कठिन परिस्थितियो (परीषहो) से गुजरना पडता है यदि वह इन परिस्थितियो से वीर योद्धा की भाँति जूझ सकता है तो 'फलागम' निश्चित है स्कदक ऋषि की उनके वहनोई द्वारा ही चमडी उतरवाई गई पर वह तनिक भी विचलित नही हुए[3] उदाई राजा ने अपने पुत्र को राज्य न देकर भागिनेय केशी को राज्य दिया और प्रव्रज्या ली पर केशी ने मुनि उदाई को विषमिश्रित औषध देकर मरवा डाला, इस पर भी उदाई मुनि समभावी वने रहे[4] मेघकुमार ने अन्य मुनियो के पैरो की ठोकरें खाई,[5] सताप भी हुआ पर पूर्वभव मे हाथी की शशक वचाने की भावना ने उसे सयम मे दृढ वना दिया कार्तिक सेठ ने अपनी पीठ पर खीर की गरम-गरम थाल झेली[6] गजसुकुमाल ने खैर के खीरे मस्तक पर रखे जाने पर भी ध्यान न छोडा[7] ये ही वे वाधाएँ है जो साधक को कसौटी पर कसती हैं जो इस परीक्षा मे खरा उतर जाता है वह 'नियताप्ति' की स्थिति मे पहुँच जाता है इन कथाओ

---

१. मेघकुमार को उसकी आठ रानिया रोकती हैं—जयवाणी पृ० ३७४-७५

२ भगवान् नेमिनाथ पृ० २१७-२२८—जयवाणी

३ तीखी पामणा नी धार,
मस्तक ऊपर फार, सुकोमल साध।
त्वचा उतारी देहनी ए ॥२३॥
पण सुधी खाल,
तो ही रह्या सयम मा लाल, सुकोमल साध।
ना केई सल घाल्यो नहीं ए ॥२४॥—जयवाणी पृ० ३०८

४ अटण करता आविया, वैद्य अकारज कीधो रे।
विष मिश्रित वस्तु तिका, मुनिवर पात्रे दीधो रे ॥३॥
निरदोषण जाणा थानक आय ने, रोग जावा औषध खायो रे।
जहर प्रगट्यो वेदन हुई ऊजल, सही न जायो रे ॥४॥—जयवाणी पृ० ३६०

५ कोई परठन जावेजी मातरो, रात तणे समय माय जी,
किण री ठोकर लागवे, कोई ऊपर पड़ी जाय जी ॥
कोई लेवा जावेजी वाचणी, पग तले आगु ली आय जी।
पगनी रज पड साथ रे, अरति आई मन माय जी ॥ मेघ० ॥२—जयवाणी पृ० ३७६ ढाल १३

६ ऊनी खीर परुसने, मोंरा ऊपर मूकी थाल।
सेठ मोर फेर्या नहीं, जिन थाल सू उपड्या छाल रे ॥१२॥
कठिन परीषह सेठ सह्यो, जाणे अजयणा थाय ॥
रखे थाल हेठो पड़े रे, तो नानाजीव मार्या जाय रे ॥१३॥—जयवाणी पृ० ३६०-३६१

७ मस्तक पाल वन्धी माटी की, मुनिवर समता रस भरिया।
झग झगता खयर ना खीरा, मुनिवर ने शिर धरिया ॥४॥
खदबद खीच तणी परे सीजे, तड़-तड़ नासा तूटे।
मुनिवर समता-भाव करी ने, लाभ अनतो लूटे ॥५॥—जयवाणी पृ० ३४८
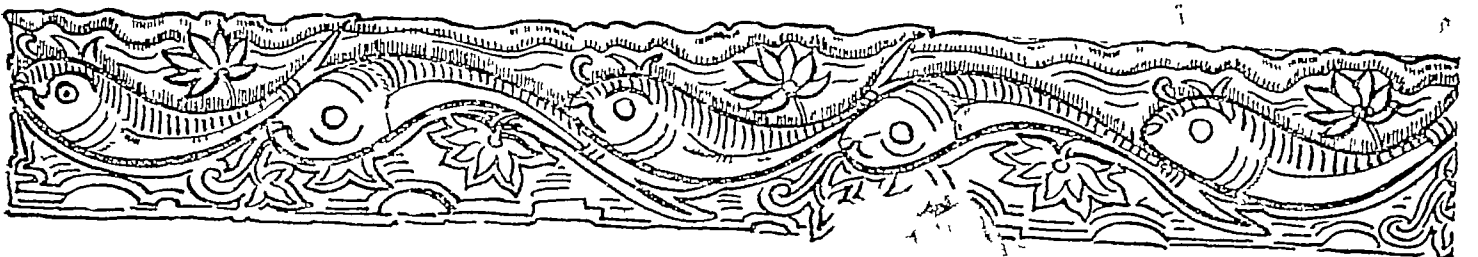
मुनि-दर्शन के लिए राजा-महाराजा अकेले नहीं जाते थे वे सामा-न्याजा के साथ सज-धजकर जाते थे देवकी नेमिनाथ को वन्दना करने जा रही है उसने धानदार रथ सजाया है वह बहुत ही हलका है और चार पहियों वाला है चारों ओर मोतियों की जाली लगी हुई है [1] उसमें जुते हुए बैलों का क्या कहना ? दोनों की समान जोड़ी है उन पर झूल सुशोभित है उनके सींगों में 'राखड़ी' गले में रजतघंटिकायुक्त स्वर्ण-शृंखला और सींगों पर सोने की खोल रेशम की मृदु 'नाथ' नाक में पड़ी है ताकि उन्हें पीड़ा न हो [2]

दीक्षा-वचन में वर्षीतप का दान देने का शोध करने का प्राय: वर्णन किया गया है

वस्तु-रूप में जो वर्णन आये हैं उनमें कुछेक बहुत ही सुन्दर बन पड़े हैं जैसे रथ-वर्णन भाव-रूप में जिन मनोवृत्तियों की अतुल गहराई में पैठकर कवि ने चित्रण किया है वह प्रभावोत्पादक और सरस बन पड़ा है कवित्व का स्फुरण इन्हीं स्थलों पर दिखाई देता है

जैन-संत-कवि की काव्य-कला का मूल्यांकन करते समय हमें लौकिक-काव्य को परखने की प्रचलित कसौटी से कुछ भिन्न कसौटी अपनानी होगी तभी हम उसके साथ ठीक-ठीक न्याय कर सकेंगे जैन-संत-कवि की मूल चेतना लौकिक-सुख से प्रेरित प्रभावित न होकर लोकोत्तर आनन्द से सचरित होती है इसीलिए प्राय: इन कवियों ने संसार की नश्वरता और असारता का वर्णन प्रभावोत्पादक ढंग से किया है

कवि जयमलजी ने इन कथाओं के माध्यम से भोगपरक जीवन की निस्सारता और योगपरक संयमनिष्ठ जीवन की श्रेष्ठता प्रमाणित की है कमलावती के माध्यम से उन्होंने कहलाया है—

> रतन जड़ित हो राजाजी पिंजरो सुवो तो जाणे छे फन्द ।
> इसड़ी पण हूँ थोरा राज में रति न पाऊँ आनन्द ॥ —पृ १२४ ॥

राजा प्रदेशी भी केशी श्रमण से सभी शंकाओं का समाधान पाकर इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि—

> कुण माता न कुण पिता कुण स्त्री प्रिय भाय र ।
> दुखे दुपमत कण्टा तीख रा जब करम उदय हुवे आय रे ॥ —पृ २१

अत: सुख का एक ही रास्ता है—

> इसड़ी जिम वचन सांभलने आणयो मन में सुरो जाय ।
> ज्यूं कर्म बंधन तोड़ी संजम ग्रह्यां—होस्यां ज्यूं सुखी मुगत मांय ॥—पृ १२२

पर यह संयम मार्ग सरल नहीं है 'कृपाण की धार के समान' दुस्तर है इसकी कठोरता भयंकरता और उग्रता का वर्णन देखिये—

> हाथे में आहरण सोभता कठे मक्कर हार ।
> पगे नेवर दीसता आवे रूपगना अणियार ॥१४॥—पृ १२७

1. रथ हलको बणो बाजणो, वली च्यार पेड़ा रो माय ।
   भमुत रा र करे नहीं लागे तोड़ी मे हुलाय ॥१॥
   हलका कन्ध मो झूलतो बने घोड़ा बैठा जोत ।
   मोत्यां री जाली लग रही, वली शोभा को ध्यान ॥२॥—पृ १११

2. बलदां रे मूंगत माथई जाई मन लोभ रे ।
   सागरा सींगां मे माबना गल बांधे घुघर मान रे ॥१॥
   माना रा मन में मोहता कना रे राछ'ल्यो आण रे ।
   गलां री गांठो भग में दाब हमता बनराज आल रे ॥२॥
   कनक रो म र पहरते अत मींगारे होय रे ।
   नाक मांने रेशम री धनी तिण्यूं मन्द वाले नहीं चन रे ॥३॥ —पृ १११ २०
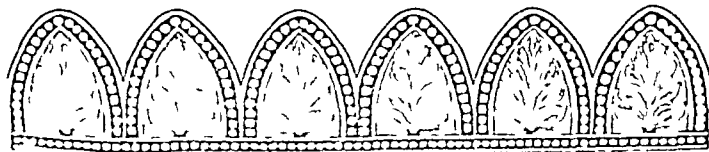
सकी इसका प्रायश्चित्त उसे वात्सल्य रस की सजीव प्रतिमा बना देता है और वह अन्तत आठवें पुत्र (गजसुकुमाल) की माता वनकर अपने मातृत्व को सार्थक करती है देव पात्रो मे देवता और यक्ष आते है ये सहायता भी करते है और आतकित भी पर इन दैविक शक्तियो के आगे भी ऊर्जस्वल मनुष्यत्व कभी नतमस्तक नही होता

इन कथा-काव्यो मे इतिवृत्त की प्रधानता है कथा मे वस्तु-वर्णन और दृश्य-वर्णन के कई अवसर आये है दृश्य-वर्णन-प्रमुख स्थल प्राय निम्नलिखित रहे हैं—

(क) वस्तु रूप मे —

(१) नगर-वर्णन (२) वैभववर्णन (३) जन्म-वर्णन (४) रूप-वर्णन (५) विवाह-वर्णन (६) मुनि-दर्शन-वर्णन, दीक्षा-वर्णन

(ख) भाव-रूप मे —

(१) मुनि-व्रत की कठोरता का वर्णन (२) शृगार के सयोग-वियोग रूप (३) वात्सल्य के सयोग-वियोग रूप (४) वीर और रौद्र रस के चित्र (५) करुण और शान्तरस के चित्र (७) मुक्त हास्य का सजीव चित्र

वस्तु रूप मे जो चित्रण है, वे इतिवृत्तात्मक बनकर ही रह गये है प्रकृति-चित्रण और उसकी आलकारिक क्षमता के कारण ये वस्तुवर्णन रस-परिपाक मे असमर्थ रहे हैं जैन मुनियो ने प्रकृति के उपादानो से ग्रहण करने का प्रयत्न किया है परन्तु उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम भिन्न रहा है अर्थात् वैष्णव कवियो ने कृष्ण-भक्ति के नाम पर विलासविवर्धक तथ्याभिव्यक्ति मे तनिक भी सकोच नही किया है, जब कि अध्यात्मसस्कृतिमूलक जीवनयापन करने वाले एव आत्मस्थ सौन्दर्यप्रवोधक सन्तो ने प्रकृति से साधना के प्रकाश मे सौन्दर्य ग्रहण तो किया है किन्तु उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम पार्थिव सौन्दर्यमूलक तथ्य न हो कर अन्तरग सौन्दर्य ही रहा है

नगर-वर्णन मे उसके वैभव का ही अधिक चित्रण है द्वारिका नगरी के वर्णन मे कवि ने उसके ऐश्वर्य को यो व्यक्त किया है—

'सोवन कोट रतन कांगुराजी, सोभे रूडा आवास ।
झिग मिग करने दीपताजी देवलोक जिम सुख वास ।। —पृ० ३१८

रूप-वर्णन के तीन प्रसग हैं जन्म के अवसर पर, विवाह के अवसर पर और मुनि-दर्शन के अवसर पर द्रौपदी का जन्म हुआ है उसके रूप का कोई पार नही उसकी वोली शकरकद-सी मीठी, उसका अर्ध चन्द्राकृति सम ललाट, नयन कमल से विकसित, भुजाएँ मृणालिनी-सी, नासिका दीपशिखा-सी और दत-पक्ति दाडिम-कुली-सी [1] विवाह के लिए नेमिनाथ वरयात्रा सजाकर चले हैं रथ में वैठे हुए वे ऐसे लगते हैं मानो ग्रह-नक्षत्रो के बीच चन्द्र हो' [2] देवकी भगवान् नेमिनाथ को वन्दना करने के लिए जा रही है उसने स्नान कर नया वेश धारण किया है, आभूषण पहने हैं—हाथो मे ककण, कठ मे नवसर हार, पैरो मे नूपुर, मानो साक्षात् देवागना हो [3]

---

१ कुवरी रूप माहे रलियामणी, मुख वोले अमृत-वाण ।
मीठी शाकरकद सीं, वले भासे हित मित जाण ।। नयणसलूणी रे कन्यका ।
अरध शशी सम सोभतो, पुनि पूरण भरियो भाल ।
नयन कमल जिम विकसता, वेहुँ वाह कमल नी नाल ।।
नासिका दीपे शिखा समी, नकवेसर लहे नाक ।
दत जिसा दाडिम कुली, मृग-नयनी सूरत पाक ।।—पृ० ३९७-९८

२ नगारा री धोरज वाजे, आकाशे जाणे अवर गाजे ।
नेम कँवर रथ वैठा छाजे, ग्रह नक्षत्र में जिम चद्र विराजे ।।—पृ० २२२

३. न्हाई ने मजन करी, पहिर्या नव-नवा वेश ।
माणक मोती माला मूदड़ी, गहणा हार विशेष ।।—पृ० २१३

मुनिवर मोटा अणगार, करता उग्र विहार।
पड रही तावडे री भोट, तिरसा सू सूग्पा होट।
कठिन परिसो साधनो ए ॥ तालवे कोइ नहीं थूक,
जीभ गई ज्यारी सूख, होठो रे आडे खरपटी ए ॥—पृ० १८३ ॥

निर्वेदप्रधान रचनाओ के होने पर भी शृगार-रस के सयोग-वियोग के कई रसीले चित्र यहाँ देखने को मिलते है सयोग का वर्णन अधिकतर वहाँ हुआ है जहाँ सयम लेने के पूर्व नायक सासारिक भोग भोगता है[1] विरह के चित्र वहाँ अकित है जहाँ नायक दीक्षित हो जाता है राजमती के प्रिय-वियोग के चित्र बहुत ही सुन्दर और स्वाभाविक बन पडे है उसके लिए 'महल अटारी भए कटारी' और 'चन्द-किरण तनु दाभतिया' है उसकी आँखे प्रियदर्शन को आतुर है—

तरसत अखिया, हुई द्रुम-पखिया।
जाय मिलो पिव सू सखिया॥
यादुनाथ रे हाथ री ल्यावे कोई पतिया ॥१॥ पृ० २२६

वह प्रिय को उपालभ देना चाहती है "ये तज राजुल किम भये जतिया" जो उसका उपालभ नेमिनाथ को देने जायगी, उस दूतिका को वह गहनो से लाद देगी—

जाकू दूगी जराबरो गजरो, कानन कू चूनी मोतिया ॥३॥
अगुरी कू मुदडी-ओढण कू फभडी, पेरण कू रेशमी धोतिया ॥४॥ —पृ० २२६-२३०॥

उसका यह विरह ही उसे अनन्य प्रेमिका[2] बनाकर मुक्ति-पथ पर ले दौडता है और वह अन्त मे साधिका बन जाती है इस प्रकार कहा जा सकता है कि यहाँ जो शृगार आया है वह शान्त रस की पीठिका बनकर ही

वात्सल्य-रस के सयोग के चित्र भी यहाँ उसी तन्मयता से अकित है देवकी के ६ पुत्र देवता के उपक्रम से मृत घोषित हो जाते है, कृष्ण का पालन-पोषण भी वह नही कर पाती पर जब भगवान् नेमिनाथ से उसे यह जानकारी मिलती है कि जो ६ साधु है वे जन्मत उसी के पुत्र हैं तो उसका मातृत्व उमड पडता है वह जब छहो मुनिवरो के पास पहुँचती है तो उसके सयोग-वात्सल्य का स्रोत उमड पडता है—

तड़ाक से तूटी कस कचू तणी रे, थण रे तो छूटी दूधाधार रे।
हिवडा माहे हर्ष मावे नहीं रे, जाणे के मिलियो सुझ करतार रे॥४॥
रोम-रोम विकस्या, तन-मन ऊलस्या रे, नयणे तो छूटी आसू धार रे।
विलिया तो बाहा माहे मावे नहीं रे जाणे तूट्यो मोत्या रो हार रे ॥५॥ —पृ० ३३०॥

इस सयुक्त अनुभूति पर न जाने सूर के कितने पद न्यौछावर किये जा सकते है सयोग-वात्सल्य का प्रत्यक्ष रूप वहाँ देखने को मिलता है जब देवकी की गोद मे गजसुकुमाल किलकारी करते है वह उसे यशोदा की तरह झुलाती है, आँखो मे अजन आँजती है, अगुली पकडकर चलाती है, खाने को दही-रोटी देती है[3] इस वर्णन को पढ कर तो ऐसा लगता है मानो कवि जयमल ने माता का हृदय पा लिया हो

---

१ चद्र-वदन मृग-लोयणीजी, चपल-लोचनी बाल।
हरीलकी, मृदु भाषिणीजी, इद्राणी-सी रूप रसाल ॥२॥
प्रीतवती मुख आगलेजी, मुलकनो मोहन वेल।
चतुराना मन मोहतीजी, हस-गमणी सू करता बहु केल ॥३॥ —पृ० ३२२

२ कुण ताके तारा ने, छोड़ शशा, म्हारे सावरिया सरीखी सूरत किसी, म्हें दूजा भरतार नी तृष्णा त्यागी॥ —पृ० २३०

३ जी हो खेलावण-हुलरावणे, लाला, चु गावण ने पाय।
जी हो न्हवरावण पेहरावणे, लाला, अगो अग लगाय ॥८॥

पीन्नि का पतिठे हु निस्तरि हा इसका प्रधान कारण कवि का एक सिद्धान्त-विशेष में आस्थावान् बने रहना है यों लगाय जगह 'रड़वड़िया जेम मैड़ि दड़ो' या 'पखी रह्या जिम तेल बड़ो' कहकर उसने ससार क परिभ्रमण की कठि नाइया और परेशानियों का मार्मिक चित्र खींच दिया है

कवि भगवान् क साथ अपना कोई विशेष पारिवारिक सम्बन्ध भी नहीं जोड़ता है कबीर की तरह 'हरि जननी मैं बालक तोरा' या 'हरि मोर पीव मैं राम की बहुरिया' जैसी भावना प्रकट करने का अवसर ही यहाँ नहीं वह तो स्वय ईश्वर बनने की साधना म सलग्न है ईश्वर का अश बनकर क्या रहे ? फिर भी सीमधर स्वामी के साथ 'फाग दिया दीपक रखना म वह दाम्पत्य सम्बन्ध जोड़ता है—

दूर दिसावर अहनो पिउ बसजी
ते नार सुहागण कहाय।
महाविदेह में चक्रिम विराजिया जी
पिउ निरखिया किम थाय ॥—प २१ २२

पर यह सम्बन्ध मिलन की खुशी का नहीं विरह की पीड़ा और विवशता का है—

आडा डूगर न नदियाँ बन घणाजी पीव विकट विदावर ग्राम।
कागी मुनजान दा थाम सर्क् नहीं यो ही लेसु तमारा नाम ॥ पृ २४

नीतिप्रधान मुक्तकों में सदाचार ज्ञान और उपदेश की बातें कही गई हैं इसकी दो धाराएँ दृष्टिगोचर होती हैं एक में आत्म-गुणों क महत्त्व का कथन है तो दूसरी म लौकिक व्यवहार और आचार का निरूपण आत्मतत्त्व के विकास के लिए जिन गुणों पर बल दिया गया है वे हैं धर्माचरण सम्यक्त्व भाव क्षमा ब्रह्मचर्य-पालन आदि आत्म-कल्याण की ओर व्यक्ति को अभिमुख करने क लिए शरीर की नश्वरता और जीवन की क्षणभंगुरता[1] का वर्णन कर साधु-जीवन की धारणा का प्रतिपादन किया गया है इस आध्यात्मिक जागरण-अभियान का ओजपूर्ण चित्र देखिये—

कुमत-रजनियाँ भाजिया जागो-जागो नर-नार।
सुगत-नगर में चालवा तुमे वेगा हुइजो त्यार ॥ —पृ १६

वस्तुत जो यह तयारी कर लेता है उस पारमार्थिक ज्योति का साक्षात् हो जाता है

मोती निपज्या चौक में र बांधो उजवाल्या आम।
ज्यानि पुर्णा जगदीस री र चतुराँ लिया उठाय ॥ —पृ १६

ससार को भी साधक की दृष्टि से देखा गया है वह हटवाड़ा[2] क मेला की तरह[3] है कभी यह भ्रम सपना समता[4] है तो कभी कलियुग क दुःखों का घर[5] 'जहाँ पापनी वाजा बरसन लागे परम सागे पारा रे सच तो यह है कि इस 'मिनख

---

१ [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] —पृ २४
२ [illegible] —पृ ६६
३ [illegible]
४ [illegible]
५ [illegible]

करी कुसामदी ताहरी पिण म्हारे दया न आयो-ए। न सुहायो ए—
कालो वर किण काम रो के सहिया ए—॥ पृ० २३२

यहाँ तक हमने आलोच्य कवि की प्रवन्ध-पटुता और वर्णन-क्षमता का विवेचन किया है अब उसकी मुक्तक रचनाओ पर विचार करेंगे

मुक्तक रचनाओ मे कथा की कोई धारा नही बहती यहाँ प्रत्येक मुक्तक अपने आप मे स्वतन्त्र होता है जयमल्लजी ने जिस सफलता के साथ कथाओ को प्रवन्धात्मक रूप दिया है, उसी सफलता के साथ भावनाओ को मुक्तक-रूप भी इनके मुक्तक-काव्य को तीन भागो मे बाटा जा सकता है—

(१) स्तुतिप्रधान मुक्तक (२) नीतिप्रधान मुक्तक (३) तत्त्वप्रधान मुक्तक

स्तुतिप्रधान मुक्तको मे तीर्थंकरो, विहरमानो, सतियो, साधुओ आदि की प्रधान रूप से स्तुति की गई है तीर्थंकरो मे कवि को विशेष रूप से सोलहवे तीर्थंकर शान्तिनाथ[1] और २३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ[2] अधिक भाये हैं विहरमानो मे प्रथम विहरमान श्री सीमधर स्वामी कवि के आराध्य रहे है सतियो मे आदर्श सतियो की नाम—गणना (६४ सतिया) कर उनका शील-माहात्म्य बतलाया है साधुओ मे आदर्श साधुओ के नाम गिना कर उनकी साधना का गुणानुवाद किया हैं चार मगल[3] (अरिहन्त, सिद्ध, साधु और धर्म) भी कवि के लिए स्तुति-योग्य रहे है प्रथम मगल मे अरिहन्त के ३४ अतिशय और ३५ वाणी की विशिष्टताएँ वर्णित है दूसरे मगल मे सिद्ध का स्वरूप निरूपित है तीसरे मगल मे साधु की ज्ञान क्रिया और महिमा दिग्दर्शित है चौथे मगल मे धर्म, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और रात्रि-भोजननिषेध का साधनात्मक रूप प्रदर्शित है

यहाँ जो स्तुत्य पात्र आये हैं वे शक्तिशाली, पुरुषार्थी और वीतरागभावी है उनकी स्तुति करने के मूल मे दो भावनाएँ निहित हैं एक तो स्तुति-योग्य पुरुषो के समान अपने आप को बनाने की ललक और दूसरे उनके नामस्मरण से दुख-मुक्ति की वलवती स्पृहा, कवि शान्तिनाथ का स्तवन इसीलिए करता है कि—

तुम नाम लिया सब काज सरे,
तुम नामे मुगति महल मले ॥—पृ० ७

ठीक यही बात सीमधर स्वामी के नाम-स्मरण के बारे मे भी कही गई है—

तुम नामे दु ख दोहग टले,
तुम नामे मुगति सुख मले ॥ —पृ० १३

इन स्तुतिप्रधान मुक्तको मे कवि अपने आराध्य के गुणकीर्तन मे ही विशेष लगा रहा है भक्त कवियो की सी दीनता, आर्त्तता, याचना, लघुता और विह्वलता के दर्शन नही होते न तो कवि तुलसी की भाँति राम के दरबार मे अपने हृदय की 'विनयपत्रिका' को खोल कर रखता है, न सूर की भाँति वह अपने आराध्य को चुनौती देता है कि 'हौ तो पतित सात

---

१ चालीम धनुष ऊँची रे देही
वलि हेमवरणी उपमा रे कही।
दीठे दिल दरियाव ठरो,
श्री शान्ति जिनेश्वर शान्ति करो ॥१६॥ पृ० ६

२ पाचे अगनी कमठे साभी,
देखण भीड मिली जाभी।
नागने काढ्यो काठतायी,
श्री पास भजो पुरुषादानो ॥८॥ पृ० ८

३ 'मगल' एक प्रकार का काव्य-रूप है जिसमें विवाह-वर्णन को प्रधानता रहती है विवाह के अवसर पर गाये जाने वाले गीत भी मगल कहलाते यहाँ 'मगल' शब्द भिन्न अर्थ में आया है

> महाराज चढ़े गज-रथ तुरियां इम गय रथ पायक-सुखदायक। गयन कमल हरसत ठरिया ॥महा०॥
> गूंज नगारा बजी-ध्यावन की। घोर घटा उमड़ी झरियां ॥महा॥ पृ० २२१

जहाँ तात्त्विक विवेचन किया गया है वहाँ पारिभाषिक शब्दों का बाहुल्य है ऐसे स्थल जैन-दर्शन से अपरिचित व्यक्तियों के लिए अवश्य दुर्बोध हो गये हैं पर जिसे जैन-दर्शन का थोड़ा-बहुत भी ज्ञान है वह रस लिए बिना नहीं रहेगा अस्सी प्रतिशत से अधिक शब्द राजस्थानी और हिन्दी के हैं कहीं-कहीं प्राकृत के वाक्यांश भी प्रयुक्त हुए हैं जिनसे सांस्कृतिक वातावरण के निर्माण में सहायता मिली है जैसे—'खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया' (पृ० १२५)

कवि की अभिव्यक्ति प्रतीकात्मक कम अभिधात्मक अधिक है यही कारण है कि जगह-जगह कवित्व में बाधा पहुँची है यहाँ कबीर की तरह चमत्कारपूर्ण और विरोधमूलक संख्यात्मक या सम्बन्धात्मक प्रतीकों का प्रयोग नहीं हुआ है केवल एक जगह ऐसे संकेत मिले हैं—

(क) संख्यात्मक प्रतीक—

> पांच[1] मेली र मोकली छहुं[2] री खबर न काय।
> सात[3] मती र खग रह्यो पहूंचो आठ मद माय॥

(ख) वर्ण प्रतीक—

> पायो सू परिचय मया इयो[4] रहे रे हजूर।
> ध[5] स किय लागी रही ददो[6] दिल सू दूर॥ पृ० १११

यद्यपि अलंकारों की ओर कवि का झुकाव अधिक नहीं रहा तथापि भावों को मधुर से मधुरतर और स्पष्ट से स्पष्टतर बनाने के लिए यथाप्रसंग अलंकारों का प्रयोग किया गया है सादृश्यमूलक अलंकारों का प्रयोग ही अधिक हुआ है इनमें भी उपमा और रूपक ही कवि को विशेष प्रिय रहे हैं उपमानों के चुनाव में कवि विशेष सजग रहा है उसकी दृष्टि *केवल मात्र कविकल्पना या शास्त्रीय ज्ञान में बंधकर नहीं रही इससे ऊपर उठकर भी* उसने देखा है लोकजीवन और लोक-मानस का गहन अध्ययन और सूक्ष्म निरीक्षण कवि द्वारा प्रयुक्त उपमानों से झांकता प्रतीत होता है शास्त्रीय और किताबी ज्ञान लोक-संस्कृति से पीछे छूट गया है यहाँ दोनों के कतिपय उदाहरण दिये जा रहे हैं—

(क) शास्त्रीय रूढ़िबद्ध उपमान —

(१) कुगुरु ता काला नाग ज्यु सरिसा (१२४–११)

(२) जासु पन्नी जाय छै, जिम अंजली मो पानी रे (१११–१८)

(३) जाया ना दिन घटी रे छ मास (२११–३)

(४) नैम कवर ज्यु बैठां छाजे
 ज्यु नखत्र में जिम चन्द्र विराज (२२२–३)

(५) कंवर मानै छै प्यारो
 उदर पून ज्यू सुगम हमारा हो (१२६–१)

---

[1] [illegible]
 [illegible]
[3] [illegible]
[4] दिल
[5] [illegible]
[6] [illegible]

जमारे' को सफल और सार्थक बनाने के लिए आत्मा को सन्नद्ध होना होगा 'दीवाली' शीर्षक कविता मे जो आध्यात्मिक रूप, दीवाली को दिया गया है,[1] वह महादेवी के 'क्या पूजा क्या अर्चनरे' गीत की याद दिला देता है

यह सही है कि इन नीतिपरक युक्तको मे काव्य की अपेक्षा उपदेश की अधिक प्रधानता है अन्य नीतिकार कवियो ने जहाँ सूक्तियो के माध्यम से लोकव्यवहार की बाते कहकर लोक-जीवन को सुखी बनाने का उपक्रम किया है, वहाँ कवि जयमलजी का लक्ष्य लोकोत्तर जीवन को सफल बनाने का रहा है एक ने लौकिक पक्ष के विविध रहस्यो का उद्घाटन किया है तो दूसरे ने आत्म-प्रदेश की यात्रा मे पडने वाले विभिन्न स्थलो का पर्यटन एक की दृष्टि यथार्थमूलक अधिक रही है तो दूसरे की पूर्णत आदर्शमूलक

तत्त्वप्रधान मुक्तको मे जैन-दर्शन के कतिपय तात्त्विक सिद्धान्तो को पद्यबद्ध किया गया है यहाँ कवित्व पीछे छूट गया है और दर्शन की पारिभाषिकता तथा दुर्बोधता उभर आई है ऐसे मुक्तको मे 'इरियावही नी सज्भाय', 'चौवीस दडक नी सज्भाय', 'पन्द्रहपरमाधर्मी देव', 'शास्त्र छत्तीसी', 'जीवा बयालीसी' आदि रचनाओ के नाम गिनाये जा सकते है

उपर्युक्त विवेचन से इस सत कवि की काव्य-साधना और भाव-व्यजना का विशद स्वरूप हमारे सामने प्रत्यक्ष हो उठता है कवि मे प्रवन्ध-पटुता, वर्णन-कौशल और रसोपलब्धि कराने की क्षमता के साथ-साथ मुक्तक-रचनाओ के सृजन की प्रतिभा भी है सक्षेप मे कहा जा सकता है कि जयमलजी की कविता मे कबीर का विद्रोह, सूर का वात्सल्य और तुलसी का लोकहित, साथ-साथ दिखाई देता है

काव्य-कला—साधक-कवियो की दृष्टि काव्य-कला पर उतनी नही रही जितनी जीवन-निर्माण की कला पर यही कारण है कि इनकी कविताओ मे आपको न तो कल्पनाओ का स्वच्छन्द विहार मिलेगा, न भावनाओ का शृगारपरक उद्दाम वेग न यहाँ 'भूषण विना न राजइ कविता वनिता मित्त' की मादक मनुहार मिलेगी, न छन्दो का सग्रहालय' ये कवि तो अनुभूति मे जितने सच्चे और खरे हैं अभिव्यक्ति मे भी उतने ही स्पष्ट और सीधे इन्हे चमत्कार प्रदर्शन कर किसी का हृदय जीतना नही था, काव्य के माध्यम से जीने की कला बताकर उनका उद्धार करना था इस कसौटी पर सत कवि आचार्य जयमलजी की काव्यकला खरी उतरती है

कविता करना इनका लक्ष्य नही था धर्मोपदेश देते समय जन-साधारण को आत्मा, परमात्मा, पाप, पुण्य, वध, मोक्ष आदि का स्वरूप समझाने के लिए जो भावनाएँ हृदय मे उठती थी, वे ही तन्मयता की स्थिति मे सरस और तीव्र बन-कर कविता बन गई

ये अपनी बात जनता की ही भाषा मे कहने के अभ्यस्त रहे हैं सस्कृत, प्राकृत के विशिष्ट ज्ञाता होते हुए भी इन्होने अपनी रचनाएँ सामान्यत राजस्थानी भाषा मे ही लिखी है जयमलजी का विहारक्षेत्र और कार्यक्षेत्र भी अधिकतर राजस्थान ही रहा है, अत यहाँ की लोकसस्कृति, लोक-व्यवहार और लोक-भावना का सही प्रतिविम्ब इनकी रचनाओ मे झलकता है[2]

भाषा पर कवि का अच्छा अधिकार है वह भावानुकूल उठती-गिरती है प्रबन्धात्मक रचनाओ मे भाषा का प्रवाह और माधुर्य है तो मुक्तक रचनाओ मे उसका गाभीर्य और सारल्य भाषा की प्रवहमानता और मधुरता का एक उदाहरण देखिए—

---

१ दीवाली जयवाणी, पृ० ५३

२ (क) विवाह में जिनको बुलाया जाता है उन्हें पीले चावल दिये जाते हैं

विगर बुलाया आविया रे, थाने किण पीला चावल दीधा'

(ख) अमगल होने पर स्त्री का दाया अग फड़कता है राजुल सखियों से कहती है :

'म्हारे जीमणो फरूके गातो ए, जग-नाथो-ए ॥ मिलसी के मिलसी नहीं क-पहिया ए ॥

(ग) अनिष्ट निवारण के लिए अमागलिक बात पर थूक दिया जाता है

राजुल की सखिया इसीलिए कहती हैं 'बाई ! बोलता मती चूको ए, परो थूको ए ॥

तोरण ऊपर आवियो क सहिया ए ॥

> महाराज थांरे नयन-रस भरियां हम गय रस पायक-सुखदायक। नयन-कमल हरमत करिया ।।महा०।।
> गूढ मराल धर्म-ध्यान की । धार धरा उनही करियां ।।महा ।। पृ २२१

जहाँ तात्त्विक विवेचन किया गया है वहाँ पारिभाषिक शब्दों का बाहुल्य है ऐसे स्थल जैन-दर्शन से अपरिचित व्यक्तियों के लिए अवश्य दुर्बोध हो गये हैं पर जिसे जैन-दर्शन का थोड़ा-बहुत भी ज्ञान है वह रस लिए बिना नहीं रहेगा अस्सी प्रतिशत म अधिक शब्द राजस्थानी और हिन्दी के हैं कहीं-कहीं प्राकृत के वाक्यांश भी प्रयुक्त हुए हैं जिनसे सांस्कृतिक वातावरण के निर्माण में सहायता मिली है जैसे—'खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया' (पृ १२५)

कवि की अभिव्यक्ति प्रतीकात्मक कम अभिधात्मक अधिक है यही कारण है कि जगह-जगह कवित्व में बाधा पहुँची है यहाँ कबीर की तरह चमत्कारपूर्ण और विरोधमूलक सख्यात्मक या सम्बन्धात्मक प्रतीकों का प्रयोग नहीं हुआ है केवल एक जगह ऐसे सकेत मिले हैं—

(क) संख्यात्मक प्रतीक—

> पांचूं[1] सखी र मानली छहुँ[2] री पकड़ न काय।
> सातां[3] सखी र संग रहा पहुंचा आठ मद माय ॥

(ख) वर्ण प्रतीक—

> पाछां सू परिचय करया हवो[4] रहे रे हजूर।
> ल[5] में लिव लागी रही दवो[6] दिल सू दूर ॥ पृ १९१

यद्यपि अलंकारों की ओर कवि का झुकाव अधिक नहीं रहा तथापि भावों को मधुर से मधुरतर और स्पष्ट से स्पष्टतर बनाने के लिए यथाप्रसंग अलंकारों का प्रयोग किया गया है सादृश्यमूलक अलंकारों का प्रयोग ही अधिक हुआ है इनमें भी उपमा और रूपक ही कवि को विशेष प्रिय रहे हैं उपमानों के चुनाव में कवि विशेष सजग रहा है उसकी दृष्टि केवल मात्र रूढ़िबद्धता या शास्त्रीय ज्ञान में पकड़कर नहीं रही इससे ऊपर उठकर भी उसने देखा है लोकजीवन और लोक-मानस का गहन अध्ययन और सूक्ष्म निरीक्षण कवि द्वारा प्रयुक्त उपमानों से झलकता प्रतीत होता है शास्त्रीय और रिवाजी ज्ञान लोक-संस्कृति में पीछे छूट गया है यहाँ दोनों के कतिपय उदाहरण दिये जा रहे हैं—

(क) शास्त्रीय रूढ़िबद्ध उपमान —

(१) समुद्र ज्यों गाजो गायन भरिया (१२४-११)

(२) भानु पच्छी आय छै, जिम अंजली को पाणी रे (१३१-१८)

(३) जावा ना दिन घटा र र मास (२११-३)

(४) मेघ बरस ज्यू अठी दाने
 ... ज्यूं बात से जिम घन विराज (२०२-३)

(५) बांका लागे ए प्यारो
 ... तूण उर दुःख हमारा हो (१२६-१)

---

1 [illegible]
2 [illegible]
3 [illegible]
4 [illegible]
5 [illegible]

(ख) लोक-जीवन से लिए गए उपमान —

(१) ओ जीव राय ने रक थयो, वलि नरक निगोदमा बहू रे रह्यो,
रडवडियो जेम गेडि दडो, श्री शान्ति जिनेश्वर शान्ति करो (६–१६)

(२) चार गतिना रे दुख कह्या, जीवे अनति अनति वार लह्या,
पची रह्यो जिम तेल वडो, श्री शान्ति जिनेश्वर शान्ति करो (६–२०)

(३) तामस तपियो नर इसो, आँख मिरच जिम आँजी रे
क्रोध विणासे तप सही, दूध विणासे काजी रे (६८–२०)

(४) आदि अनादि जीवडो, भमियो चऊ गति माय
अरहट घटिका नी परे, भरि आवे रीति जाय (८४–१)

(५) काल खडो थारे वारणे, जिम तोरण आयो वीद (११३–१०)

(६) डाभ अणी जल जेहवोजी, आगिया नो चमत्कार
तेहवो ए धन आउखोजी, बीजली नो झबकार (१२५–७)

(७) पिण परवश पडिया जोर न लागे,
जिम दबी साप नी ठोडी रे (१३५–७)

(८) ले जाई लक्कड मे दीधो, हुवो घर रो धोरी रे
घास फूस छाणा देई ने, फूंक दियो जिम होली रे (१३५–१६)

(९) अथिर ज जाणो रे थारो आउखो,
जिम पाको पीपल पान (१४०–४)

(१०) सडण-पडण-विघसण देहनी, तिणरी किसडी रे आस
खिण एक माही रे जासी बिगडी, जिम पाणी माहे पतास (१४१–१६)

(११) देव गुरु धर्म री नही पारखा,
सगलाई जाणे सारखा
जिम सरवर नी फूटी पाल (१५६–४)

लगभग सभी उपमान मौलिक और सटीक हैं इनसे कवि के विस्तृत ज्ञान और सच्चे अनुभव का पता चलता है विना मर्मभेदिनी दृष्टि के ऐसे उपमान ढूढे ही नही जा सकते जीव की परिभ्रमणशीलता का न जाने कितने कवियो ने वर्णन किया है पर उसकी विवशता को 'रडवडियो जेम गेडि दडो' और 'पची रह्यो जिम तेल बडो' कह कर इसी कवि ने पुकारा क्रोधी मनुष्य के स्वभाव का 'आख मिरच जिम आजी रे' से सुन्दर वर्णन और क्या होगा ? काल के आने की अनिवार्यता और निश्चितता का सकेत 'तोरण आयो वीद' से अधिक और क्या हो सकता है ? शरीर की नश्वरता का बोध 'पाणी माहे पतास' से अधिक कौन करा सकता है ? इन उपमानो मे जितना साधर्म्य निहित है उतना अन्यत्र बहुत कम देखा जाता है

रूपक-दृष्टि मे भी कवि पीछे नही रहा अधिकतर उसने सागरूपक बाधे है. कुछ उदाहरण यहाँ द्रष्टव्य हैं—

(१) साधूजी ऊठ्या सूरमा रे, ज्ञान घोड़े असवार
कर्म कटक दल जूझिया रे, विलम्ब न कीध लिगार (१६२–३३)

(२) म्हारे क्षमा गढ़-माय, फोजा रहस्यी चढ़ी-री माई
बारे भेदे तप तणी, चोको खड़ी
बारे भावना नाल, चढ़ाऊ कागरे-री माई
तोड़ू आठे कर्म, सफल कार्य सरे (३४३–२४,२५)
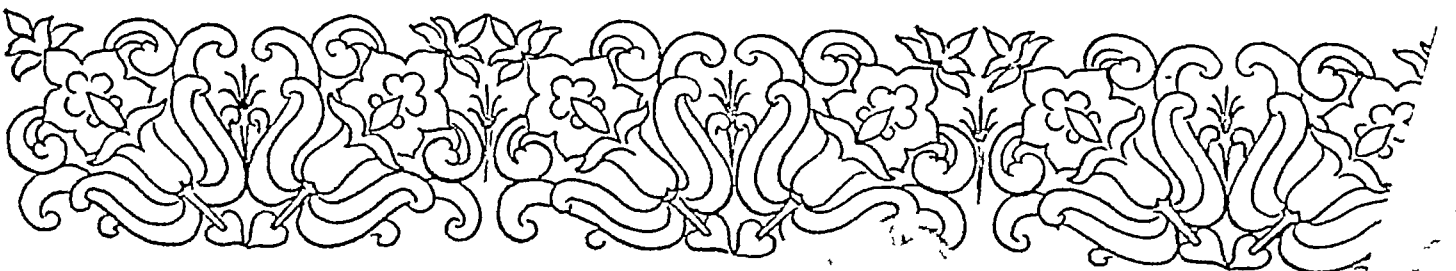
(३) काया रूपी हवेलियाँ तपस्या करने रेल
सु स' बरत कर मांडवों विनय भाव वर बेल।२८।
क्षमा रूप चामा करो वैराग्य घृतव पूर
उपशम मोवण घालने मदवो मोतीचूर।२९।
दिवाली दिन आवने जन पूजे घर मांय
इम तू धर्म ने पूज के ज्यों अमरापुर में जाय।३१।
राखे रूप चवदश दिने गहणा कपड़ा री चूंप
ज्यों चूंप राख धर्म सूं दीपे अधिको रूप।३२।
पर्व दिवाली ने दिने पूजे वही लेखण न दोत.
ज्यू तू धर्म ने पूजके दीपे अधिको जोत।३३।
पर्व दिवाली आवा ने उजवाले हवेली न हाट.
इम तूं बत उज्वाल के बन्धे पुन्यां ठाट।३४। पृ ३३

उपर्युक्त तीनों रूपक सुन्दर बन पड़े हैं। पहले में सत को शूरवीर का रूप दिया गया है। वह ज्ञान के घोड़े पर सवार है और बड़ी त्वरा के साथ कर्म-सैन्यदल का नाश करता है दूसरे में क्षमा-गढ़ में प्रविष्ट होने के लिए बारह भावना रूपी नाल की चढ़ाई और आठ कर्म रूपी किवाड़ों को तोड़ने का वर्णन है तीसरा रूपक आध्यात्मिक दिवाली का है दीपावली पर्व मनाने का यह तरीका पूर्णतः आध्यात्मिक है यहाँ काया की हवेली को तपस्या से उज्ज्वल करना है, क्षमा के चावे वैराग्य के घेवर तथा उपशम के मोवण से मोतीचूर बनाने है धर्म की बही और कलम दवात को पूजना है यही नहीं काय के मन्दिर मे जिनदेव को प्रतिष्ठित कर उनकी पूजा करनी है उन्हें धैर्य की धूप 'तपस्या' की अगर और 'श्रद्धा' के सुमन चढ़ाने है 'दया' के दीपक में संवेग की बाती जला कर, 'ज्ञान' का तेल डालकर 'समकित' का ऐसा उज्ज्वल प्रकाश करना है कि आठों कर्मों का अंधकार भस्म हो जाय —

काया रूप करो देहरो ज्ञान रूपी जिनदेव।
जस महिमा गंध आवरी करो सेवा नित्यमेव।१४।
धीरज मन करा धूपणों तप अगरज खेव।
श्रद्धा पुष्प चढावने इम पूजो जिन देव।१५।
दया रूपी दिवलो करो संवेग रूपणी बाट।
समकित ज्योत उजवाल के मिथ्या अंधारो जाय फाट।१६।
संवर रूपी करो ढांकणो ज्ञान रूपियो तेल।
आठों ही कर्म परजाल ने हो रे अन्धारो ठेल।१७। —उपदेशी पृ ४१

साधर्म्यमूलक अलंकारो में दृष्टान्त और उदाहरण के प्रयोग ही कहीं कहीं दिखलाई पड़ते हैं—

(१) दग्ध बीज जिम धरती न्हाया नहिं मेले अंकूरजी
तिम हीज सिद्धजी जन्म मरण री कर दी उत्पति दूरजी (२८—८)

(२) रुधिर नो कोई खरड्यो कपड़ो रुधिर सूं केम धोईजे रे
हिंसा कर हुवे जीव मेलो वले हिंसा धर्म करीजे रे (१११-६)

भाषा को प्रभावोत्पादक और भावों को प्रेषणीय बनाने के लिए लोकोक्तियों और मुहावरों का भी यथास्थान प्रयोग किया गया है यथा—

---

१ सैन्यदल, क्षत प्रत्याख्यान आदि

(१) जिण घर नो तूं टुकडो खावे सो घर नाखे ढाई रे (११७-१)

(२) वमिया आहार की हो, वाछा कुण करे ?
करे छे कूतरो ने काग (१९३-६)

(३) दिक्षा े पुत्र दोहिली, तो ने कहु छु जताय
मेण-दात लोहना चणा, कुण सकेला चाय (२१३-२)

(४) हुवे दुपमण कपडा डील रा, जब करम उदय हुवे आय रे (२९०-१)

(५) पाडव जीत माथौ मति घूण
पिण हू तोने करसू आटे लूण (४१९-२)

छन्द-विधान —जैन-मन प्रतिदिन व्याख्यान देते है इन व्याख्यानो मे मुख्य-भाग कथा-काव्यो का रहता है आलोच्य कवि आचार्य जयमल्लजी ने स्वय कई कथा-काव्य रचे जिन्हे वे व्याख्यानो मे गा-गाकर सुनाया करते थे गाने और सुनाने के उद्देश्य से लिखे जाने के कारण इनमे सगीत-तत्त्व की प्रधानता हो गई है यही कारण है कि यहाँ जो छन्द अपनाये गये है वे ढाल आदि है, जिनसे विभिन्न राग-रागिनियो[1] का बोध होता है अन्य छदो मे दोहा-सोरठा-सवैया आदि हैं प्रबन्धात्मक काव्यो मे जहाँ दो भावो या घटनाओ के बीच कथा-सूत्र सयोजित करना होता है वहा प्राय दोहा या सोरठा छन्द का प्रयोग किया गया है और जहाँ किसी भावना या घटना का चित्रण किया गया है वहा किसी राग विशेष मे बधी हुई ढाल मे

निष्कर्ष यह है कि सत कवि जयमलजी का व्यक्तित्व उस युग के कवियो मे अलग जान पडता है सूर ने जहाँ 'सौन्दर्य' को प्रधानता दी, तुलसी ने 'शक्ति' की प्रतिष्ठा की, वहाँ हमारे इस कवि ने 'शील' का निरूपण कर समाज को वासना की वेग-धारा मे वहने से बचाया पद्माकर जैसे कवि जिस युग मे 'नैन नचाय, कह्यो मुसकाय, लला फिर आइयो खेलन होरी' का निमन्त्रण दे रहे थे, उसी युग मे पैदा होकर इस साधक कवि ने 'च्यारूँ ई जाप जपो भला, मोटी दिवाली नी रात' का बोध देकर भक्ति और अध्यात्म की अवरुद्ध काव्य-सरिता को फिर से वहने का प्रवाह दे दिया यही उसकी उपलब्धि और महानता है

प्रसगत यह उल्लेख कर देना भी अनिवार्य जान पडता है कि रीतियुग मे एक ओर कविगण विलास-वैभव एव साम्पत्तिक जीवन को महत्त्व देकर पार्थिव सौन्दर्य का उद्घाटन कर रहे थे, वहाँ दूसरी ओर जैन कवि आध्यात्मिक सस्कृति को उद्दीपित करने वाली लोककल्याणकामिनी वाग्धारा द्वारा अन्त स्थ सौन्दर्य को निखारने मे तल्लीन थे वे किसी के आश्रित कवि नही थे जिससे कि उन्हे अपने स्वामियो की प्रसन्नता के लिए विकारपोषणार्थ शृगारधारा को साकार कर जनमानस को विशृखलित करना पडता उनका आराध्य और श्रेय नैतिक सिद्धान्तो की अभिव्यक्ति के द्वारा राष्ट्रीय चरित्र को उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित करना था यही जैन कवियो की मौलिक विशेषता रही है इस सत्योपलब्धि की एक कडी आचार्य जयमलजी है, जिन्होने जीवनरस और सिद्धि को न केवल तत्कालीन मनुष्यो के लिए ही प्रस्तुत किया अपितु काव्य द्वारा ऐसी सृष्टि की जिससे शताब्दियो तक मानवता अनुप्राणित होती रहे

---

१ कुछ रागों के तर्ज इस प्रकार हैं जो मुक्तक रचनाओं में प्रयुक्त हुई हैं —
(१) ते मुझ मिच्छा मि दुक्कड (२) आदर जोव चमा गुण आदर (३) वीर वखाणी राणी चेलणा (४) हिवे आश्चर्य थयो ए (५) कागदियो लिख मेजु हो सगू को नहीं (६) ते गुरु मेरे उर वसो (७) चर्णाली चामुडा रिण चढे (८) कोयलो पर्वत-धूधलो रे लाल (९) ढोला रामत ने परी छोड़ने (१०) सामी म्हारा राजा ने धरम सुणावजो (११) चितोड़ी राजा रे (१२) इम धण ने परचावे (१३) अधर्मी अविनीत (१४) तुझ विन घड़ी (१५) गज घोड़ा देख मुलाणो रे (१६) प्राणी कव ठाकुर फुरमायो रे (१७) दुनियां में वहुत दगाई रे (१८) कलजुग रो लोक ठगारो रे (१९) प्राणी किये कर साहिव रीजे रे (२०) प्राणी । ए जग सपनो लाधो रे (२१) चेतन चेतो रे मिनख जमारो पायो रे (२२) भवि जीवा करणी हो कीजो चित निर्मली (२३) जीवड़ला दुलहो मानव भव काई रे तू हारे (२४) वूढ़ा तिके पण कहिये वाल (२५) पुण्य रा फल जोयजो कायर मत होयज्यो रे (२६) कढ भाई रूड़ो ते स्यू कियो (२७) जीवा तू तो भोलो रे प्राणी, इम रुलियो ससार

प्रो श्रीराधेश्याम त्रिपाठी
एम ए

आचार्य रायचद्रजी म० की साहित्यसर्जना

भारतीय साहित्य में जैन साहित्य का जो लोकोपकारक और धर्मनिष्ठ स्वरूप है वह अनायास ही इस साहित्य के रूप वैभव की गरिमा का जीवन्त आभास देता है जो अपने साथ एक ऐसी परम्परा का सूत्र थामे हुए है जिसका एक सिरा विक्रम सवत् ११६७ से पूर्व का है जैनाचार्य जिनवल्लभ सूरि के 'वृहद् नवकार' के रूप में विक्रम सवत् १२२५ तथा १२४१ के क्रमश 'भरतेश्वर बाहुबलि घोर' तथा 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' से चलकर विक्रम की १५ वी शताब्दी में आकर गठित होता हुआ सूत्र वर्तमान तक सुगठित है

जैन-साहित्य के रचनाकार अधिकाश जैन मुनि हुए हैं जिन्होने मानव को जीवन का प्रकाश दिया वह प्रकाश जो सासारिक माया मोह लोभ क्रोध मद और जडता आदि मानसिक विकारों को दूर करने मे सामर्थ्यवान् हो सका है जीवन यदि धर्म की पवित्र रेखाओ से बन्धकर आचरण नही करता तो वह व्यर्थ है इस प्रकार जीवन को धर्ममय बनाने और लोक का कल्याण करने की भावना इस साहित्य मे विद्यमान है १२ वी शताब्दी से लेकर वर्तमान युग तक हमारे सामने जैन रचनाओ के अनेक स्वर्णिम पृष्ठ खुले पडे है जिनमें मानव-जीवन का सत्य झलक रहा है और जिसके निर्माता जैन मुनि है इसी परम्परा में आचार्य श्रीरायचन्द्रजी महाराज का योगदान जैन साहित्य की आधुनिक कडी के रूप में है

आचार्य रायचन्द्र जी का जन्म विक्रम सवत् १७९६ आश्विन शुक्ला एकादशी को हुआ था आपकी किशोर वय मे जीवन की सार्थकता को खोजने की स्पृहा जाग उठी और विक्रम सवत् १८१४ की आषाढ शुक्ला एकादशी को आपने दीक्षा ग्रहण कर ली आपका सन्त स्वरूप सौम्यता का प्रतीक था लोकमानस म जैन धर्म के उच्च आदर्श की प्रतिष्ठा करने के लिए लोकभाषा को अपने भावो का माध्यम बनाया लोकभाषा के रथ पर बैठकर आपके भाव काव्य-सृजन की वल्गा थामे बढते रहे आपने जैन चरित्र व कथा-काव्यों तथा स्तवनों की परम्परा में ऋषभ देव महावीर नेमिनाथ आदि तीर्थंकरों जम्बू स्वामी गौतम स्वामी शालिभद्र आदि उच्चवशी जैन साधुओं और देवकी चन्दनबाला मृगलेखा आदि सतियों के महत्त्व का एव उनके जीवन की विविध घटनाओं का वर्णन किया है उपदेशात्मक शैली पर लिखी चेतावनीयुक्त शिक्षाऐं, रास वाणी सज्झाय आदि विभिन्न पक्षो पर आपने बडा ही भावपूर्ण वर्णन किया है आपकी रचनाओ में काव्य का माधुर्य उदात्त चरित्रो की सृष्टि करता हुआ लौकिक भावभूमि पर रमण करता है आप प्रतिभासम्पन्न तो थे ही साथ ही आपके सरस व भावुक हृदय म सन्त के साथ जो कवि विद्यमान है वह लोकभावों का सदाचारपूर्ण चित्र खीचने म सफल और सक्षम हुआ है

सन्तो और मुनियो ने स्तवन द्वारा महान् पुरुषो और अवतारो का गुणानुवाद किया है "राय रचना" में मुख्य रूप से जिनका स्तवन है उनमें भगवान् ऋषभदेवजी चन्द्रप्रभ नेमिनाथ महावीर और गौतम सम्बन्धी जिनस्तवन उल्लेखनीय है। इन स्तवनो म आचार्य श्री ने यह प्रतिपादित किया है कि महान् आत्माओं की स्तुति करने से सासारिक कष्टों से छुटकारा होता है रोग शोक मिट जाते हैं तथा नामस्मरण से अनेक कार्य सिद्ध होते है ऋषभस्तवन का एक उदाहरण द्रष्टव्य है —

'मनवछितदाता मनोरथ पूरे
जे सुख चाहो ते सुख मिले
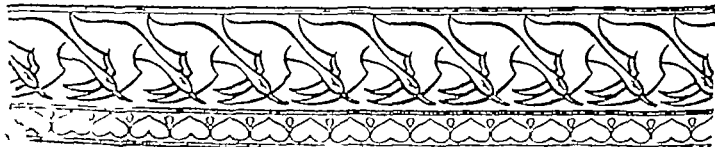
(१) जिण घर नो तूं टुकडो खावे मो घर नाखे ढाई रे (११७-१)

(२) वमिया आहार की हो, वाछा कुण करे ?
करे छे कूतरो ने काग (१६३-६)

(३) दिक्षा ने पुन दोहिली, तो ने कहु हु जताय
मेण-दात लोहना चणा, कुण सकेला चाय (२१३-२)

(४) हुवे दुपमण कपडा डील रा, जव करम उदय हुवे आय रे (२६०-१)

(५) पाडव जीत माथी मति घूण
पिण हू तोने करसू आटे लूण (४१६-२)

छन्द-विधान —जैन-मत प्रतिदिन व्याख्यान देते है इन व्याख्यानो मे मुख्य-भाग कथा-काव्यो का रहता है आलोच्य कवि आचार्य जयमल्लजी ने स्वय कई कथा-काव्य रचे जिन्हे वे व्याख्यानो मे गा-गाकर सुनाया करते थे गाने और सुनाने के उद्देश्य से लिखे जाने के कारण इनमे सगीत-तत्त्व की प्रधानता हो गई है यही कारण है कि यहाँ जो छन्द अपनाये गये है वे ढाल आदि है, जिनमे विभिन्न राग-रागिनियो[1] का वोध होता है अन्य छदो मे दोहा-सोरठा-सवैया आदि है प्रबन्धात्मक काव्यो मे जहाँ दो भावो या घटनाओ के बीच कथा-सूत्र सयोजित करना होता है वहा प्राय दोहा या सोरठा छन्द का प्रयोग किया गया है और जहाँ किसी भावना या घटना का चित्रण किया गया है वहा किसी राग विशेप मे बधी हुई ढाल मे

निष्कर्ष यह है कि सत कवि जयमलजी का व्यक्तित्व उस युग के कवियो से अलग जान पडता है सूर ने जहाँ 'सौन्दर्य' को प्रधानता दी, तुलसी ने 'शक्ति' की प्रतिष्ठा की, वहाँ हमारे इस कवि ने 'शील' का निरूपण कर समाज को वासना की वेग-धारा मे वहने से बचाया पद्माकर जैसे कवि जिस युग मे 'नैन नचाय, कह्यो मुसकाय, लला फिर आइयो खेलन होरी' का निमन्त्रण दे रहे थे, उसी युग मे पैदा होकर इस साधक कवि ने 'ग्यारूँ ई जाप जपो भला, मोटी दिवाली नी रात' का बोध देकर भक्ति और अध्यात्म की अवरुद्ध काव्य-सरिता को फिर से वहने का प्रवाह दे दिया यही उसकी उपलब्धि और महानता है

प्रसगत यह उल्लेख कर देना भी अनिवार्य जान पडता है कि रीतियुग मे एक ओर कविगण विलास-वैभव एव साम्पत्तिक जीवन को महत्त्व देकर पार्थिव सौन्दर्य का उद्घाटन कर रहे थे, वहाँ दूसरी ओर जैन कवि आध्यात्मिक सस्कृति को उद्दीपित करने वाली लोककल्याणकामिनी वाग्धारा द्वारा अन्त स्थ सौन्दर्य को निखारने मे तल्लीन थे वे किसी के आश्रित कवि नही थे जिससे कि उन्हे अपने स्वामियो की प्रसन्नता के लिए विकारपोपणार्थ शृगारधारा को साकार कर जनमानस को विशृखलित करना पडता उनका आराध्य और श्रेय नैतिक सिद्धान्तो की अभिव्यक्ति के द्वारा राष्ट्रीय चरित्र को उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित करना था यही जैन कवियो की मौलिक विशेपता रही है इस सत्योपलब्धि की एक कडी आचार्य जयमलजी है, जिन्होने जीवनरस और सिद्धि को न केवल तत्कालीन मनुष्यो के लिए ही प्रस्तुत किया अपितु काव्य द्वारा ऐसी सृष्टि की जिससे शताब्दियो तक मानवता अनुप्राणित होती रहे

---

१ कुछ रागों के तर्ज इस प्रकार हैं जो मुक्तक रचनाओं में प्रयुक्त हुई हैं —
(१) ते मुझ मिच्छा मि दुक्कड (२) आदर जीव क्षमा गुण आदर (३) वीर वखाणी राणी चेलणा (४) हिवे आश्चर्य थयो ए (५) कागदियो लिख भेजु हो सगू को नहीं (६) ते गुरु मेरे उर वसो (७) चर्णाली चामुडा रिण चढ़े (८) कोयलो पर्वत-धूधलो रे लाल (९) ढोला रामत ने परी छोड़ने (१०) सामी म्हारा राजा ने धरम सुणावजो (११) चितोड़ी राजा रे (१२) इम धण ने परचावे (१३) अधर्मी अविनीत (१४) तुझ बिन घड़ी (१५) गज घोड़ा देख मुलाणो रे (१६) प्राणी कब ठाकुर फुरमायो रे (१७) दुनियां में बहुत दगाई रे (१८) कलजुग रो लोक ठगारो रे (१९) प्राणी किये कर साहिब रीजे रे (२०) प्राणी ! ए जग सपनो लाधो रे (२१) चेतन चेतो रे मिनख जमारो पायो रे (२२) भवि जीवा करणी हो कीजो चित निर्मली (२३) जीवड़ला दुलहो मानव भव काई रे तू हारे (२४) वूढा तिके पण कहिये वाल (२५) पुण्य रा फल जोयजो कायर मत होयज्यो रे (२६) कठ माई रूड़ो ते स्यू कियो (२७) जीवा तू तो भोलो रे प्राणी, इम रुलियो ससार

कवि ने बड़ा ही मार्मिक किया है उनके व्यक्तित्व के प्रभाव से अनेक श्रेष्ठियों और नरेशों ने उनके प्रवचनों को सुनकर धर्म की दीक्षा ग्रहण की

स्तवन और चरित्रकाव्यों के अतिरिक्त रायमुनि ने अपनी वाणी का सार निम्नलिखित रूप में व्यक्त किया है—सज्झाय भिक्षुओं का वर्णन उपदेशी पद और गुरुमहिमा इसके साथ गौतम रासा की रचना भी की है साधुवन्दन सिद्ध स्वरूप चेतावनी आदि के द्वारा विविध पक्षों पर काव्यात्मक वर्णन किया है संसार की असारता के साथ-साथ अस्थिरता का संदेश भी आपने दिया है गुरुमहिमा के स्वरूप को प्रतिष्ठित करने के साथ ही शिष्य का विनय और अविनीत शिष्य को चेतावनी भी है यौवन की अस्थिरता का बोध कराते हुए अयोग्य दीक्षा का निषेध भी आपने किया है और उद्बोधन के द्वारा साध्वियों को चेतावनी भी दी है पाप कपट लोभ निन्दक कृपण आदि के स्वरूप को बतलाते हुए आपने दानशीलता और पुण्य का महत्त्व भी प्रतिपादित किया है इस प्रकार रायमुनि ने जीवन के सभी पक्षों को आध्यात्मिक दृष्टि से देखा है इनकी वाणी में मुख्यतः दान शील तप और भावना इन चार प्रकार के धर्मों के फल के दृष्टान्त हैं साथ ही क्रोध मान माया और लोभ इन चार दूषणों पर भी सुन्दर लिखा गया है इनके मुख्य विषय इस प्रकार है—

(१) ऋषभदेव महावीर नेमिनाथ आदि तीर्थंकर
(२) जम्बूस्वामी गौतम स्वामी स्थूलिभद्र शालिभद्र आदि जैन साधु
(३) तेजपाल वस्तुपाल आदि जैन श्रेष्ठी
(४) चन्दनबाला नर्मदा कलावती पुष्पचूला आदि सतियाँ
(५) स्तुति नीतिव्यवहार, उपदेश शिक्षा आदि

इस प्रकार रायमुनि ने अपनी भाषा जो कि लोकप्रचलित बोलचाल की थी में अपने उद्गारों को व्यक्त करके धार्मिक भावनाओं की सृष्टि की इनकी वाणी की मूल प्रेरणा धर्म है. सारा काव्य शान्तरस में अपनी रसात्मकता लिए हुए है विभिन्न राग रागिनियों के माध्यम से इनकी वाणी मुखरित है

लाभे निश्छुमी लील विलास
श्री शान्तिनाथ पूरो मेरी आस

तथा भवसागर से मुक्त होने की लोकोत्तर भावना भी इन स्तुतियों में विद्यमान है—

"प्रभु तुम चरणे म्हारो चित लागो
थारी मुगत महल मों सू ध्यान लागो
मुझ भवसागर थी वेगो तारो
प्रभु पार्श्वनाथ लागे प्यारो—पार्श्वनाथ स्तुति

इन स्तवनों में तीर्थंकरों के जीवन तथा कार्य व्यापारों की एक स्पष्ट झलक भी मिलती है —

"अनन्त बलि ताप दुष्कर किया
करमा ने दावानल दिया
रस, मस, तम ने धीमा धीर
मनवांछित पूरण महावीर"—श्री महावीरस्तवन

जैनागमों में चार अनुयोग बतलाये गए हैं, जिनमें प्रथमानुयोग का एक विशिष्ट स्थान है वह जनसामान्य के लिए सुगम और बोधगम्य भी है देखा जाय तो रायचन्द्रजी का साहित्य प्रधानतः चरितानुयोगी है उनके साहित्य में चरितों एवं कथाओं का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण है जैन साहित्य का बहुत बड़ा भाग तीर्थंकरों, मुनियों, आचार्यों, श्रेष्ठियों, सतियों और धर्मप्राण नरेशों से सम्बन्धित चरितकाव्यों और कथाकाव्यों के रूप में पाया जाता है इन कथाकाव्यों में विविध प्रकार से वर्णित पापों के दुष्परिणाम, पुण्य के प्रसार तथा धर्मपालन की महत्ता का दिग्दर्शन हुआ है जैन मुनियों का उद्देश्य जनसाधारण को धर्म की ओर प्रेरित करना था और साधारण मानसिक स्तर की जनता गहन धर्मतत्त्व को चरित के द्वारा जिस सुगमता से हृदयंगम कर पाती है, अन्य उपायों से नहीं अतएव जैन साहित्य में चरितों तथा कथाकाव्यों का विशेष महत्त्व है रायरचना में चरितकाव्य इसी परम्परा के अन्तर्गत आते हैं रायरचना में जिन चरित्रों को काव्यात्मक स्वरूप दिया गया है, वे इस प्रकार हैं—नव तीर्थंकर, मरुदेवी माता, बलभद्र, शालिभद्र, भगवान् ऋषभदेव, नन्दन मणियार, धन्वन्तरि वैद्य, भृगु, दुर्योधन, कोतवाल, उज्झित कुमार, हरिकेशी अणगार, अतिमुक्त कुमार, स्कंधक, धनमित्र, आषाढ-भूति, कलावती, मृगलेखा, नर्मदा, कुरुटगडु, पुष्पचूला, मेतार्य, रथनेमि, बहुपुत्तिया देवी और जिनरक्षित-जिनपाल

रायमुनि ने ऐतिहासिक और पौराणिक दोनों प्रकार के चरितकाव्य लिखे हैं
इन चरितकाव्यों में चरितनायक का जन्मस्थान, उसकी तपस्या तथा उसके व्यक्तित्व की महत्ता का वर्णन किया गया है कहीं-कहीं पर चरित्रनायक की महानता बतलाने के लिए दृष्टांतों का उपयोग भी किया गया है लोकमानस ने इन चरित्रों के प्रति जो श्रद्धाभाव व्यक्त किए हैं, उनका संकेत भी घटनाक्रम के अनुसार दिया गया है मरुदेवी माता के चरित्रांकन में रायमुनि ने उनके स्वरूप का सुन्दर पक्ष प्रस्तुत किया है मरुदेवी माता के सतीत्व का सुन्दर वर्णन इस प्रकार है

"कोड़ पूरब लगे हो सुहागण रही सती, नित-नित नवला वेस
भर जोवन रह्या हो माता जीवी ज्यां लगे, काला रह्या केस"

भगवान् ऋषभदेव, मेतार्य मुनि, कलावती और नर्मदा आदि का चरित्र रायमुनि ने विस्तार से चित्रित किया है भगवान् ऋषभदेव के चरितांकन में रायमुनि ने युगधर्म की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते हुए उनके जन्मस्थान, माता-पिता का नामोल्लेख, बाल्यजीवन की झांकी, उनकी दीक्षा, उनके उपदेश और उनके द्वारा किये गये प्रमुख कार्यों का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है सभी वर्णन 'ढाल' के अन्तर्गत विभिन्न राग-रागिनियों में हुए हैं उनके सिद्ध चमत्कारों का वर्णन भी
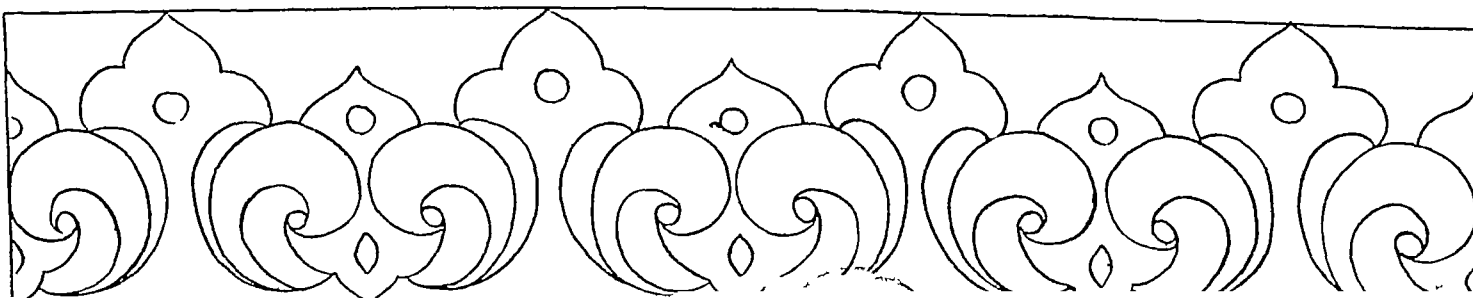
तप महिमा मे —

पूज्य श्री मोटा रायचन्द जी पोर्हच ज्यांरी है भारी रे।
ज्यारे प्रसाद गुरु मोडीमा प्रेपने आमोज मझारी रे।

रचनाकाल

आपका रचनाकाल वि स १८४ से शुरु हुआ और अंत तक आप इसमें संलग्न रहे मारवाड के ग्रन्थागारों म आपकी विभिन्न विषयो पर लिखी हुई अनेक रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं जिनका संकलन 'आसकरण-पदावली के नाम से विद्वद्वर्य श्रीमधुकरमुनि कर रहे है अभी भी अन्वेषण किया जा रहा है और आशा है शीघ्र ही वह प्रकाशित होकर पाठकों के हाथ म पहुँचेगा आप बडे ही कर्मठ व ममोयोगी सत थे आपकी रचनाएँ भी अत्यन्त प्रेरणाप्रद है दया दान विनय व तप आदि जैसे सरल से सरल व सगुण तथा निगुण पूजा जैसे कठिन से कठिन विषयों को भी आपने बडे ही सरल व सुन्दर ढग से समझाने का प्रयत्न किया है

काव्यकला

जैसा कि बतलाया जा चुका है सवत् १८१२ मे श्रीआसकरणजी का अपनी बहुमुखी प्रतिभाके साथ आविर्भाव हुआ आसकरण जी का काव्यकाल हिन्दी का रीतिकाल था जिसमे शृगारपरक काव्यो के साथ-साथ भक्ति की धारा भी बही चली जा रही थी सूर, तुलसी मीरा आदि प्रसिद्ध भक्त कवि अपनी अमर काव्यरचना कर चुके थे आसकरणजी की रचनाएँ भी भक्तिरस मे ओतप्रोत है आपकी रचनाओ में यदि एक ओर हम सूर, तुलसी का प्रभाव देखते है तो दूसरी ओर कबीर का प्रभाव भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है

रीतिकाल म उस समय दो धाराएँ प्रवहमान थी एक तो पुरातनवादी और दूसरी स्वच्छन्दतावादी प्रथम में तो शृगार व नीति आदि का परम्पराबद्ध वर्णन होता था और दूसरी में इष्ट के प्रति प्रम का सात्त्विक निरूपण श्रीआसकरणजी के साहित्य में इन दोनो का बाहुल्य है आपने अपनी रचनाओ के द्वारा जिस प्रकार अपने इष्टदेव की भक्ति की है उसी प्रकार मानव मात्र को धर्म नीति की भी भरसक शिक्षा दी है आपकी सुप्रसिद्ध ढाल (नेमिनाथ पार्श्वनाथ ऋषभदेव आदि २) उपास्य के प्रति अखण्ड भक्ति का परिचय देती है उसी प्रकार विनय का महत्त्व शील की महिमा दान तप आदि पर लिखी हुई रचनाएँ नीतिपूर्ण शिक्षा भी देती है

रचनाए

आपने खण्डकाव्य और मुक्तक दोनो प्रकार की काव्यरचनाएँ की है जिनमें से कतिपय इस प्रकार है—

(१) खण्डकाव्य—

श्रीजयमलजी म गजसुकुमाल केशी गौतम नमिराजजी बन्नाजी पार्श्वनाथजी कालीरानी मुनि जयघोष विजयघोष मियकुमार ढोकरी भरतजी की ऋद्धि नेमिनाथजी

(२) मुक्तक—

जीव परिभ्रमण तपमहिमा स्तुति साधुवदना सज्झाय स्वर्ग आयुष्य के बसबोल साधुसंगति गुरुमहिमा विनय का महत्त्व तेरह काठिया देवलोक का वर्णन पर्युषण पव शीलमहिमा दान सत उपदेशीपद काम का अविश्वास तेरा कोई नही चारगति परनारी गौतम को सदेश तृष्णा बारहमासा निदकइक्कीसी भवपच्चीसी सील-मोहबेरी ससार की माया काची सद्गुरु वाणी साची पचम आरे का सुख अपूर्ण धर्म की दलाली अष्टादश पाप सामायिकव्रत होनहार दृढप्रहारी श्रमण भद्र

अपनी लेखनी से आपने अनेक विषयो को छुआ है जो कि उपरोक्त रचनाओ के नामकरण से ही स्पष्ट है ढालो में

कमला जैन 'जीजी'
एम० ए०

आशाकिरण आचार्य आसकरणजी

भारत की सभ्यता और सस्कृति के इतिहास मे चिरकाल से चली आ रही सन्तपरम्परा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है यह कहने मे अत्युक्ति न होगी कि भारत की आदिम व उज्ज्वल सस्कृति के जन्मदाता यहाँ के योगी ऋषि और मुनि ही थे जैन, वैदिक और बौद्ध धर्म व सस्कृति की धाराओ को ऋषियो और सन्त भिक्षुओ ने ही प्रवाहित किया और युगो तक गतिशील रखा

भारत के सतो ने त्याग और वैराग्यमय जीवन बिताने के साथ-साथ साहित्य की भी श्रीवृद्धि की भारत का अधिकाश साहित्य मुनियो एव ऋषियो की ही तप पूत साधना का प्रसाद है हिन्दी साहित्य को भी सतो की अपनी निराली देन है तुलसीदास, मीरावाई, सूरदास, आनन्दघन आदि के द्वारा रचित साहित्य भारत मे ही नही वरन् विश्व-साहित्य मे भी महत्त्वपूर्ण है. इसी सन्त-परम्परा मे जैन आचार्य कवि आसकरण जी का स्थान आदरणीय है

आपका जन्म सवत् १८१२ मार्गशीर्ष कृष्णा द्वितीया को राजस्थान के तिंवरी नामक ग्राम मे हुआ था पिता का नाम रूपचन्द्रजी तथा माता का नाम गीगादे था बचपन से ही आप बडे प्रतिभाशाली व तेजस्वी थे आपके माता-पिता को आप पर बडा गर्व था तथा आपसे बडी-बडी आशाएँ थी किन्तु उन्हे स्वप्न मे भी सभावना नही थी कि उनका पुत्र ससार के भौतिक सुखो से भी ऊपर उठकर उनका व अपना नाम सदा के लिये अमर कर देगा साढे सोलह वर्ष की आसकरण जी की अवस्था होते ही माता-पिता ने उनका विवाह करना चाहा किन्तु उन्होने स्पष्ट इन्कार कर दिया और सब स्वजन-परिजनो को छोडकर सयम लेने का पक्का इरादा कर लिया और शीघ्र ही उस अल्प वयस् मे ही आपने आचार्य श्रीजयमलजी म० के श्रीचरणो मे वि० स० १८३० वैशाख कृष्णा पचमी को दीक्षा ग्रहण की

दीक्षा के बाद आपने जैनागमो का गम्भीर अध्ययन किया और बहुत जल्दी उन पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया अपने गुरु के प्रति आपके हृदय मे अगाध श्रद्धा थी आप स्वय अत्यन्त कठोर साधक व तपस्वी थे परिणाम स्वरूप आचार्य श्री रायचन्द्रजी म० की कसौटी पर आप खरे उतरे तथा उनके द्वारा सवत् १८५७ आषाढ कृष्णा पचमी के दिन युवाचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए तत्पश्चात् श्रीरायचन्द्रजी म० का स्वर्गवास होने पर स० १८६८ माघ शुक्ला पूर्णिमा के दिन आपको आचार्य पद प्रदान किया गया आचार्य रूप मे भी १४ वर्ष तक आपने जैन धर्म का प्रचार किया सयम के अभिलाषी १० श्रेष्ठ व्यक्तियो को मुनिदीक्षा दी तथा जन-जन को अपने असीम ज्ञान का लाभ दिया ७० वर्ष की उम्र मे स० १८८२ की कार्तिक कृष्णा पचमी को आपने देह त्याग किया

व्यक्तित्व

आपका व्यक्तित्व बडा ही प्रभावपूर्ण था अपने सरल स्वभाव के कारण आप सहज ही प्रत्येक को अपनी ओर आकर्षित कर लेते थे आपकी अत्यन्त मधुर व सरल ढग से कही हुई प्रत्येक बात श्रोताओ के मर्म तक सहज ही पहुँच जाती थी आपमे अति विनयशीलता और गुरुभक्ति थी बीस विहरमान रचना मे कहा है—

पूज्य जयमल जी प्रसाद थी, थाने सिमरु वारवारो जी ।

आलोच्य कवि की रचनाओं को देखते हुए स्पष्ट ज्ञात होता है कि उनका अध्ययन विशाल था उन्होंने सन्तसाहित्य का गम्भीर अध्ययन किया था सन्तों के परम्परागत विचारों को पचाया था जिनमें कबीर भी एक है

कब मठपति कब सिन्यासी कोई
कब रामानन्दी कबीर पंथी होई।
कब मंथन कब बयमे मती
कब पोडिया कब दादूपंथी ॥

उपरोक्त पद आचार्य श्रीआसकरण जी ने अपनी जीव परिभ्रमण रचना में लिखा है उन्होंने बताया है कि आत्मा अनादि है और वह ब्रह्माण्ड में परिभ्रमण करते हुए कभी सन्यासी कभी मठाधिपति कभी कबीरपंथी व कभी दादू पंथी के रूप में अवतरित होती है, किन्तु कर्मकांड के पाखंड में फसकर ही मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकी कबीर ने भी इसीलिए स्वयं मुसलमान होते हुए भी मुसलमानों को तथा हिन्दुओं को भी फटकारा है—

कांकर पाथर जोरि के मसजिद लई बनाय
ता चढ़ि मुल्ला बांग दे क्या बहिरा भया खुदाय।
पोथी पढ़ि २ जग मुआ पंडित भया न कोय
ढाई अक्षर प्रेम के पढ़े सो पंडित होय।

मुनि श्रीआसकरणजी ने मानव मात्र को सावधान होने का संदेश देते हुए बार-बार कहा है कि होनहार को कोई नहीं टाल सकता रावण जैसे बड़े-बड़े राजा हुए किन्तु काल का ग्रास बन गये —

लंका नगरी रो साहिबो रावण
कहता अमर हूं वालो।
काल बेताल विधातेई ले गयो
छक माई छिन में टालो।
आय मोसत जब काल री पहुँचे
तरे किंचित जोर न चाले।

काल की इसी प्रबलता को देखकर व जन्म-मरण की चक्की में मनुष्यों को पिसते देखकर कबीर का हृदय रो उठा था
चलती चाकी देखि के दिया कबीरा रोय।
दो पाटों के बीच में साबत बचा न कोय ॥

जीव माया से प्रेरित होकर धर्मविमुख हो जाता है और कभी उच्च तथा कभी नीच कर्म करता हुआ चौरासी लाख योनियों में भटकता फिरता है —

धर्म बिना जीव भम्यो अपारो
लाख चौरासी के मझारो।
क्वहिक ऊंचो क्वहिक नीचो
क्वहिक दुर्बल क्वहिक नीचो।

संत तुलसी ने भी यही बात कही है —

आकर चारि लाख चौरासी जाति भ्रमत यह जीव अविनासी
फिरत सदा माया करि प्रेरा काल करम सुभाउ गुन घेरा।

जैन परम्परा त्याग-वैराग्यमूलक परम्परा है इस परम्परा के अनुसार साहित्य एवं ज्ञान का प्रधान लक्ष्य आत्महित साधना है प्रत्येक जैन सन्त कवि ने त्याग वैराग्य के सुधासावी स्वरों को ही उद्गीर्ण किया है आचार्य श्रीआसकरणजी

आपने अधिकतर जीवनचरित वर्णित किये है तथा फुटकर रचनाओ के द्वारा अत्यत सुन्दर ढग से जीवननिर्माण की शिक्षा दी है यथा —

आत्मप्रशसक परनिंदक रचना मे आपने दर्शाया है कि स्वय की प्रशसा करना तथा औरो की निंदा करना घृणित कार्य है ऐसा करने वाला व्यक्ति कितना भी दान दे या सत्य बोले, न दानी कहलायेगा और नही सत्यवादी

दानतणो दातार न कहिजे,
न कहिजे सतवत सूरोजी।
सोभागवत तिणने नहिं कहिजे,
जिणने निंद्यारो पूरो जी।

इसी प्रकार होनहार तथा कालगति की अमिटता स्पष्ट की है—

निश्चय भाव कदे नहिं चूके,
भावे करो क्रोड प्रकार।
लाभ तोटो सुख दुख भुगते,
जीव बांध्या ते लार।
टले नही होवणहार॥

काल के क्रूर हाथो से कोई नही बच सकता —

काल तणो कोई नहीं भरोसो,
तू परमाद मे पसियो।
विषय थकी जीव चहु गत भमियो,
तो पिण भोग रो रसियो।

भावाभिव्यक्ति

मुनि आसकरण जी एक महान् जैन सत थे, अत सहज ही आपने सतमहिमा, चौबीस तीर्थंकर, सोलह सतियाँ, बीस विहरमान, पर्युषण पर्व, विनय, शील, दान, तप आदि २ विषय अपने लेखन के लिए चुने जैन परम्परा अपनी कठोर तपस्या के लिए विश्वविश्रुत है तपश्चर्या के बिना पूर्वबद्ध कर्ममल का प्रक्षय नही हो सकता इस तथ्य को ध्यान मे रखकर आपने स्पष्ट समझाया है कि तप का महत्त्व अत्यधिक है और उसके बिना साधना सफल नही हो सकती तपस्या तो अज्ञानपूर्वक करने पर भी निष्फल नही जाती फिर ज्ञान सहित तप के फल का तो पूछना ही क्या है उससे तो अनादिकालीन भवभ्रमण का अन्त ही आ जाता है और पुनर्जन्म का चक्र बद हो जाता है—

तप बड़ो ससार मे जीव उज्वल थावे रे,
कर्म रूप इंधन बले शिव नगरी सिधावे रे।
अज्ञान पणे तपस्या करे तो ही निर्फल न जावे रे,
ज्ञान सहित तप जे करे ते गर्भावास में न आवे रे।

तप की तरह ही आपने सतो की महिमा दर्शाते हुए बताया है कि सत एक महान् व निस्वार्थ साधक है जो जहाज की तरह खुद तो भवसागर से पार होता ही है, साथ ही अपने सम्पर्क मे आने वालो को भी बिना कुछ लिए पार कर देता है—

जिहाज समाणा सत ऋसेश्वर,
बैठे भवि जीव आय रे।
पर उपगारी मुनि कोई दाम न मागे,
देवे मुगत पहुँचाय रे।
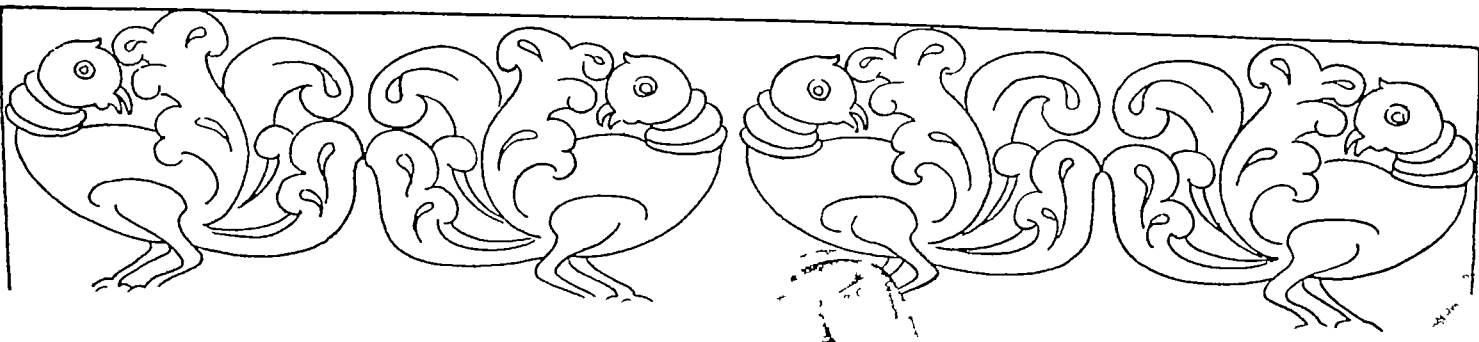
व्यवहार करता है, यह पढ़कर रौद्ररस हमारे सामने साकार हो उठता है—

> सोमल देली जारको दबी पाँची माटी मी पाव।
> मस्तक भीरा मेखिया अंगीरा वेदन भई असराल।
> नाड्यां तूटे मे मेजी फूटे बल रही नसां जाल।

छन्दों में आपने प्रचुर मात्रा में पद ही लिखे हैं पर सवैया और दोहा आदि छन्दों का भी प्रयोग किया है वास्तव में आचार्य श्रीआसकरणजी की रचनाएँ हिन्दी साहित्य भंडार की अनमोल निधि हैं. आपकी बहुमूल्य समस्त रचनाएँ उपलब्ध होने पर निश्चय ही भारतीय साहित्य की श्रीवृद्धि होगी व्रज भोजपुरी अवधी आदि भारत की विभिन्न भाषाओं के साहित्य की अपेक्षा निस्संदेह राजस्थानी का साहित्य अधिक समृद्ध है डिंगल में वीररस के अनेकानेक ग्रंथ उपलब्ध हैं आचार्य श्री की रचनाएँ वीररस के अलावा प्रेम त्याग वैराग्य आदि के क्षेत्र को अपनी रसमयी काव्य धारा से सिंचित करती हैं दुःख है कि अधिकांश राजस्थानी साहित्य अब तक अप्रकाशित है और काव्यप्रेमियों के लिए अनुपलब्ध है आशा है हिन्दी साहित्य-संसार आचार्य श्री के साहित्य का अध्ययन कर उसका यथोचित सम्मान करेगा वास्तव में आपकी रचनाएँ मुमुक्षुओं के लिए सान्त्वनाप्रद और आशा-किरण हैं

ने इसी पावन परम्परा का निर्वाह किया है इस कारण आपकी रचनाओ मे अनेक विशेषताएँ ममाविष्ट हुई हैं आपकी एक बडी विशेषता यह है कि आपने जो बारहमासे लिखे है वे रीतिकालीन परम्परा से बिलकुल भिन्न हैं रीतिकालीन बारहमासो मे नायक, नायिका, आलवन और प्रकृतिवर्णन का घिसा-पिसा राग अलापा जाता था नायिका प्रकृति के विभिन्न रूपो को देखकर नायक के अभाव मे विकल होती है किन्तु आसकरणजी ने ऋतु को वैराग्य व तपस्या के प्रेरणाप्रद भावो के प्रेरक के रूप मे लिया है यथा—

चैत्र मास मनुष्यो को चेतावनी देते हुए कहता है कि मनुष्य जन्म पाया है तो धर्म का आश्रय लो यह भव व्यर्थ मत करो—

चेत कहे तमे चेतज्यो, पायो नर अवतारो जी,
खरची लिजो धर्म ध्यान री, एसो जमारो म हारो जी ।

इसी प्रकार सावन भी सावधान करते हुए कहता है कि साधुओ की वाणी सुनो ताकि पाप व पुण्य को समझ सको और फिर कभी जन्म न लेना पडे —

सावण सुनो वाणी साध री,
सुणिया पातक जासे जी ।
खवर पडे जी पुण्य पाप री,
जिम गर्भावास न आसे जी ।

कलापक्ष

यद्यपि आपका लक्ष्य पाडित्य का प्रदर्शन करना नही था, जिससे कि केशवदास की भाति आपकी हर पक्ति मे अलकारो की भरमार होती फिर भी आपकी रचनाओ मे सहज ही अलकारो की सुन्दर छटा अपनी झलक दिखा देती है अनुप्रास का एक उदाहरण देखिये —

सहस अठारे साधजी समणि चालीस हजार,
एक लाख गुण न्हज ऊपरे श्रावक हुआ व्रतधार ।

उपमालकारो का बाहुल्य है —

आरीसा अपरा ऊपरी मेलिया,
जेहची पासलिया जाणो रे ।
हाथ रो पजो बड नो पानडो,
कुलथ फलिया सुखी अगुलिया रे ।

आपकी रचनाओ मे करुण, वीर, शृगार तथा रौद्र आदि रसो का भी सुन्दर परिपाक हुआ है

जब नेमिनाथजी वैराग्य हो जाने पर राजुल को छोड जाते है तब वह करुण विलाप कर उठती है —

नेणा नीरज नाखती, जाणे तूट्यो मोत्या नो हार,
मैं पाप किया भव पाछले, मोने तज गया नेम कुमार ।

शात रस के उदित हो जाने पर हृदय मे कैसी-कैसी भावनाएँ उठने लगती है, इसे आचार्यश्री ने बडे मार्मिक रूप मे दर्शाया है—

काया माया कारमी, काचो एहनो सग रें लाल,
जाता रे बार लागे नहीं, जिम हलदी नो रग लाल ।

तप और साधना के लिए कितना कष्ट और पीडा उठानी पडती है, यह हमे मुनि श्री द्वारा रचित गजसुकुमालचरित मे देखने को मिलता है गजसुकुमाल का ससुर उन्हे तप करते देखकर आगबबूला हो उठता है और उनके साथ कैसा
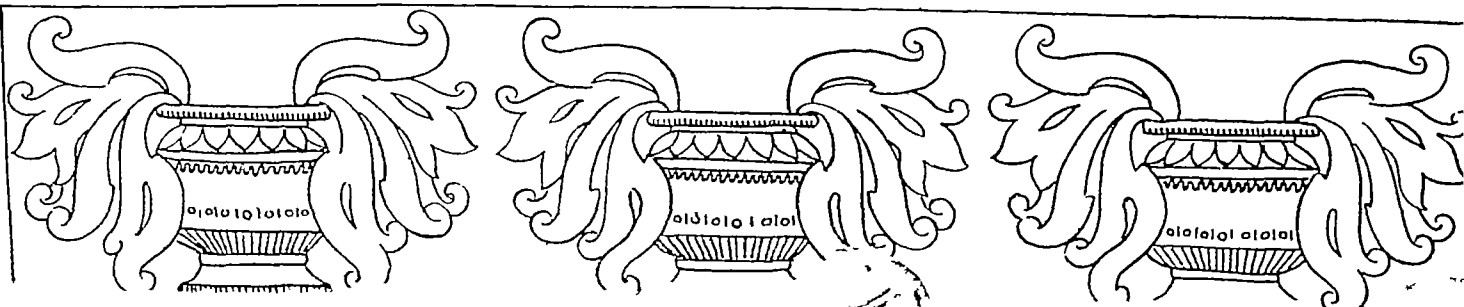
एक सीमा में उसमें दे साधना का क्षेत्र स्पष्ट और अहिंसावादी अपेक्षित है स्व के अतिरिक्त पर को आत्मोत्थान म स्थानकवासी परम्परा साधक बाधक नही मानती

स्थानकवासी मुनि-समाज ने भले ही विद्वद्भोग्य साहित्य की उल्लेखनीय सेवा न की हो पर सांस्कृतिक दृष्टि से जन-जीवन उन्नयन के लिए जो सूत्रात्मक एव गेय कृतियां रची है उनका अपना स्थान है सन्त-साहित्य का आलोचक वर्ग इसकी उपेक्षा नही कर सकता सामान्य पद्यो म अनुभवमूलक सत्य सीमित शब्दावली में समुपस्थित करना दीर्घकालीन सक्षम साधक के लिए ही सभव है परन्तु बडे ही खेद और परिताप के साथ सूचित करना पड रहा है कि आज के वज्ञानिक और शोधप्रधान युग म भी हमारा विद्वान् मुनि-समुदाय अपने ही पूर्वजो की कृतियो के प्रति उदासीन है यही कारण है कि हमारे पास साहित्यिक शृंखलाएं विद्यमान होने के बावजूद भी इसका व्यवस्थित व प्रामाणिक इतिहास सामने नही आया है किसी भी समाज की उच्चता और दर्शनमूलक परम्परा का वास्तविक परिचय उसके साहित्य में प्रतिबिम्बित होता है

प्रस्तुत प्रबन्ध में धर्मदासीय परम्परा के एक प्रतिभासम्पन्न मुनि श्रीरूपचन्दजी महाराज—जो आचार्य श्रीजयमलजी महाराज के सुशिष्य थे—के सम्बन्ध में कतिपय विचार उपस्थित किए जा रहे हैं.

जयपुर, जोधपुर, रतलाम बालोतरा आदि पश्चिमीय भारत इनका विहारक्षेत्र रहा था इनकी औपदेशिक वाणी का प्रभाव महलों से लगाकर झोपडों तक विस्तृत था उच्चादर्शमूलक संयममय जीवन व्यतीत करते हुए आत्मानुभूति को लिपिबद्ध कर इन्होंने जो विचारकण देश्य भाषा में प्रस्तुत किए हैं उनसे विदित होता है कि चारित्र की एकनिष्ठ साधना मे वे इतने तन्मय थे कि उसमें तनिक भी शैथिल्य क्षम्य नही मानते थे जैसा कि इनकी ४७ पद्यात्मक एक सपुकृति स अवगत होता है इसमें कोई सन्देह नही कि विक्रम की १८वी शताब्दी में समाज में बडा विषम वातावरण था कई सम्प्रदायो के उपसम्प्रदाय व्यक्ति विशेष के प्रभाव के कारण बनते जा रहे थे स्थानकवासी समाज भी इस प्रभाव से अपने आपको न बचा सका मुनिजीवन के दनिक आचारों में स्वल्प शैथिल्य प्रविष्ट हो गया था गुणो के स्थान पर व्यक्तिपूजा पनप रही थी मुनि रूपचन्दजी ने इनका विरोध करते हुए मुनि समाज को निरतिचार जीवनयापन करने की महती प्रेरणा दी घोषित किया कि जब हमे आत्मोत्कर्ष के स्वर्णिम पथ का अनुसरण करना है और जन जीवन का नये मानवता के आधार पर उच्च स्थान पर प्रतिष्ठापित करना है तो हमारा आतरिक जीवन अत्यन्त शुद्ध और उच्च आदर्शानुप्राणित होना चाहिए उच्चाचार ही साधुजीवन का सौरभ है समाज और राष्ट्र का वास्तविक उत्थान सदाचारिक और सयमशील मुनिपरम्परा पर ही अवलम्बित है निराकांक्षी जीवन ही प्रेरणा का स्रोत बन सकता है और राष्ट्रीय चरित्र का प्रतीक भी

मुनि रूपचन्द्रजी के समय राजस्थान सामतवादी भोगविलासों में अनुरक्त था उन दिनों सन्तो की साधना जनजीवन को उद्दीप्त करती हुई नैतिक कर्तव्य के प्रति आकर्षित कर रही थी यहाँ यह कहने की शायद ही आवश्यकता रह जाती है कि उपदेश के क्षेत्र में गद्य की अपेक्षा पद्यात्मक शैली राजस्थान के लिए अधिक उपयुक्त थी उच्चतम आध्यात्मिक व नैतिक भावो को अभिव्यक्त करने वाली मुनि रूपचन्द्रजी की जिस स्फुट रचना का उपर्युक्त पक्तियों मे उल्लेख किया गया है उसका निर्माणकाल स १८२ का चैत्र और रचनाक्षेत्र नवसर ग्राम है जैसा कि इन पक्तियों से प्रमाणित है

> सवत् अठारवीसा ने समे नवसर गाम मझार म ।
> जन महिमे र आदरा ए करी भव जीवां न उपकार (म ४५)।

राजस्थान म उन दिनो स्थानकवासी सम्प्रदाय कई उप-सम्प्रदायो मे विभक्त था जैसा कि तात्कालिक साधुमार्गीय पट्टावलियो मे स्पष्ट है आचार्य श्रीजयमलजी महाराज ने अपनी आध्यात्मिक साधना के बल पर उन दिनो बीकानेर और जोधपुर नगर एव तत्सन्निकटवर्ती बहुभाग में निवास करने वाले ओसवाल लोगों को स्थानकवासी परम्परा में दीक्षित

मुनि श्रीलक्ष्मीचन्द्रजी महाराज

मुनि रूपचन्द्रजी : एक खोज-पूर्ण आलेख

हिन्दी व राजस्थानी साहित्य के विकास और सरक्षण मे जैन मुनियो का विशिष्ट योग रहा है जैन मुनियो ने अपनी अनुभूति व्यक्त करने का माध्यम, लोकभाषा को बनाकर, न केवल जनसाधारण को मूल्यवान् दार्शनिक व धार्मिक विचारो से परिचित कराया अपितु प्रकारान्तर से लोकभोग्य या जनमगलकारी साहित्य की भी सृष्टि की, जिससे शताब्दियो तक मानवता अनुप्राणित होती आ रही है भगवान् महावीर और बुद्ध ने भी आत्मानुभूति को ऐसी ही बोधगम्य भाषा मे व्यक्त करना समुचित समझा कि सामान्य जन भी सरलता से उच्चतम विचार आत्मसात् कर जीवन के प्रशस्त पथ का अनुसरण कर सके

आज तक अधिकाशत साहित्य और इतिहास-समीक्षको ने इस प्रकार की मगलमय रचनाओ को केवल साम्प्रदायिक कृतिया घोषित कर उन्हे धार्मिक जगत् तक ही सीमित माना है जबकि भारतीय नैतिकता का जहाँ तक प्रश्न है, इन का गौरव किसी भी दृष्टि से कम नही है भले ही लाक्षणिक दृष्टि से ऐसी कृतियो का साहित्य में अन्तर्भाव न होता हो किन्तु मानवता के मूल्याकन एव उसे उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित करने मे इन रचनाओ का निर्विवाद महत्त्व है

आज के शोधप्रधान युग मे हिन्दी साहित्य और भाषा के मौलिक महत्त्व पर प्रकाश डालने वाले प्रचुर प्रयत्न हुए हैं पूर्वार्जित एव सचित सपत्ति-हस्तलिखित ग्रन्थो का अन्वेषण किया जा रहा है, और दिनानुदिन नव्य भव्य पुष्प माता शारदा के ज्ञानमन्दिर से समुपलब्ध होते ही रहते हैं प्रसगत यह सूचित कर देना आवश्यक जान पडता है कि अब भी बहुत-से ऐसे स्थान है जो अन्वेषण की प्रतीक्षा में हैं कई कवि ऐसे है जिनका उल्लेख अद्यावधि प्रकाशित किसी भी हिन्दी साहित्य और भाषा के इतिहास में नही हुआ है जब तक प्राचीन ज्ञानागारो का व्यापक रूप से सर्वेक्षण नही हो जाता तब तक हिन्दी का इतिहास अपूर्ण रहेगा

राजस्थान की सास्कृतिक परम्परा में जैन परम्परा शताब्दियो से मूर्धन्य रही है जैन सन्तो ने अपने लौकिक एव लोकोत्तर साधनामूलक विचारो से जनमानस को प्रभावित किया है तथ्य तो यह है कि एक समय था जब आचार्य हरिभद्र सूरि जैसे बहुश्रुत मनीषी ने सम्पूर्ण पश्चिम भारत को सस्कृति के सूत्र में बाध रखा था जिसकी परम्परा आशिक परिवर्तन के साथ आज भी विद्यमान है कालिक परिस्थितियो के अनुसार वह परम्परा कई सम्प्रदायो में विभक्त होने पर भी मौलिकदृष्ट्या एक है

जिस प्रकार हिन्दी के भक्त कवियो में सगुण और निर्गुण धाराएँ प्रवर्तित हैं उसी प्रकार जैन परम्परा में भी दोनो धाराएँ समान रूप से प्रचलित रही हैं यहाँ निर्गुण परम्परावादी सम्प्रदाय का उल्लेख विवक्षित है, जिसने राजस्थान के जनमानस को उल्लेख्य रूप से प्रभावित कर साहित्य-सृष्टि की है हमारा तात्पर्य स्थानकवासी सम्प्रदाय से है यह परम्परा साधना में वाह्याडम्बरो को महत्त्व नही देती शुद्ध ज्ञान और चारित्र के प्रति नैष्ठिक भावनाओ को जीवन मे साकार करना ही इसका लक्ष्य रहा है आत्मोत्थान के लिए वह किसी ऐसे निमित्त को महत्त्व नही देती जो साधक को
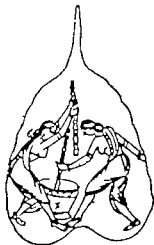
श्रीमती शान्ता भानावत

श्रीतिलोक ऋषि की काव्यसाधना

हिन्दी साहित्य में 'सन्त' शब्द सामान्यतः निर्गुणोपासक कवियों के लिए और 'भक्त' शब्द सगुणोपासक कवियों के लिए रूढ़ हो गया है। सन्त कवियों में कबीर का स्थान सर्वोपरि है। इधर जब से जैन साहित्य के प्रति विद्वानों की दृष्टि गई है तब से सन्तसाहित्य की परिधि अधिक व्यापक हो गई है। निर्गुणमार्गी सन्त कवियों की तरह जैन सन्त कवियों ने भी नामस्मरण, सद्गुरुमाहात्म्य, कषायपरित्याग, भावशुद्धि, ज्ञानोपासना, संयमवृत्ति, बाह्याडम्बर विरोध और अन्तरंग उपासना पर अधिक बल दिया है। सच तो यह है कि ये जैन कवि जीवन से भी उतने ही सन्त हैं जितने काव्य से। इनकी संयमसाधना ने ही उन्हें काव्यसाधना की ओर उन्मुख किया है। श्रीतिलोकऋषि ऐसे ही सन्त कवियों की माला में उज्ज्वल मनके के रूप में देदीप्यमान हैं। जैन समाज में उनकी लोकप्रियता कबीर से होड़ लेती है। इनके कवित्त, सवैये और मुक्तक पद अध्यात्मप्रेमी लोगों द्वारा इसी प्रकार गाये जाते हैं जिस प्रकार रसिकों द्वारा बिहारी के दोहे।

जीवनवृत्त

तिलोकऋषि का जन्म वि. संवत् १९०४ में पौष कृष्णा तृतीया बुधवार को रतलाम में हुआ। इनके पिता दुलीचन्दजी सुराणा नगर के प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। उन्हें भौतिक वैभव के सभी साधन उपलब्ध थे फिर भी उनकी धर्म के प्रति गहरी निष्ठा और जिनवाणी के प्रति उत्कट श्रद्धा थी। आलोच्य कवि की माता नानूबाई भी धर्मप्राण महिला थीं। माता पिता के इन धार्मिक संस्कारों ने 'बालक' तिलोक को 'ऋषि' तिलोक बनाने में बड़ा योग दिया। जन्म से चार मास पूर्व ही कवि के पिता इस लोक से कूच कर गये थे। जन्मजात पितृवियोगी बालक तिलोक के कवि-जीवन में इस अभाव ने अनेक भाव रत्नों की सृष्टि की।

जब कवि दस वर्ष का था तभी ज्ञान-क्रिया-सम्पन्न पंडित अयवन्ता ऋषिजी अपने शिष्य परिवार के साथ रतलाम पधारे। कवि अपनी माँ के साथ उनका प्रवचन सुनने गया। 'वैराग्य भावना' पर उनका प्रवचन इतना अधिक मर्मस्पर्शी और हृदयग्राही था कि कवि की माता नानूबाई आत्मविभोर हो गई और संयमपथ पर बढ़ने का दृढ़ संकल्प कर बैठीं। माँ को संयममार्ग पर बढ़ते देख बेटी हीराबाई कैसे रुक सकती थी? और बेटे तिलोक का क्या कहना? वह तो तीन लोक की कल्याणकामना का संस्कार लेकर इस भव में अवतरा था।

क्या हुआ यदि उसका वाग्दान मंदसौर निवासिनी श्रीमती कुन्नीबाई की लाड़ली बेटी गुलाबकुंवर के साथ निश्चित हो गया? तो वह भावी जीवन-संगिनी भी इस लोक से चल बसी। संसार की असारता और काया की नश्वरता के दो चित्र सामने थे। बालक तिलोक संयमपथ पर बढ़ चला। भाई कुँवरमल से न रहा गया, उसने भी संयम का रास्ता अपनाया। फलतः संवत् १९१४ में माघ कृष्णा प्रतिपदा गुरुवार को अयवन्ता ऋषिजी के सान्निध्य में एक ही परिवार के चार व्यक्ति (माँ, बहन और दो बेटे) दीक्षित हुए।

किया उनके द्वारा इस परम्परा मे दीक्षित होने वालो का समुदाय आगे चल कर जयमलजी सम्प्रदाय के नाम से अभिहित हुआ

कबीर, नानक नही चाहते थे कि मेरी सक्रिय विचारधारा को मेरे अनुयायी मेरे नाम से अभिहित करें ठीक इसी प्रकार मुनि श्रीजयमलजी महाराज ने स्वप्न मे भी कल्पना नही की होगी कि श्रमणसघ की इस धारा की उपशाखा के रूप मे मेरा नाम सयुक्त किया जाय पर तदुत्तरवर्ती मुनियो ने अपने परमोपकारी की स्मृति सुरक्षित रखने के लिये नाम सयुक्त कर लिया हो तो कोई आश्चर्य नही यो तो प्रत्येक सम्प्रदाय के जैन मुनियो का जीवनक्रम अतर्मुखी अर्थात् मूलगुण-मूलक ही होता है, फिर भी जयमलजी ने मूल गुण की रक्षा करनेवाले उत्तर गुणो को भी उल्लेखनीय प्रश्रय दिया और अपने सम्प्रदाय मे कुछ ऐसे सशोधन समुपस्थित किये जिनसे सयम की साधना को आन्तरिक बल प्राप्त हो सके

रहा सन्तों में यह व्यक्तिपरक सम्बन्ध कम और नाम का माहात्म्य अधिक रहा है तिलोक ऋषि ने चौबीस तीर्थंकरों पंच परमेष्ठियों गणधरों और सन्त-सतियों की स्तुति विशेष रूप से की है. स्तुतियों में उनके बाह्य रूपरंग का वर्णन कम और आन्तरिक शक्ति तथा गरिमा का वर्णन अधिक रहा है उदाहरण के लिये 'पंच परमेष्ठी वन्दना' को देखा जा सकता है

अरिहन्तों की वन्दना करते हुए कवि ने उनके कर्मक्षयकरण स्वभाव चौंतीस अतिशय पैंतीस वाणी शारीरिक सौन्दर्य अनन्तगुण निर्दोष भाव आदि का स्मरण किया है

> नमो श्री अरिहन्त कर्मों का किया अन्त हुआ सो केवलवन्त करुणा भंडारी है
> अतिशय चौंतीस धार, पतीस वाणी उच्चार, समझावें नरनार पर उपकारी है।
> शरीर सुन्दराकार, सूरज सो झलकार, गुण है अनन्त सार दोष परिहारी है
> कहत तिलोक रिख मन वच काया करि लुलि-लुलि बारम्बार वन्दना हमारी है।

सिद्धों की वन्दना करते हुए उनके अचल अटलरूप आवागमन चक्र-मुक्ति सर्व कर्मक्षयी एवं कालजयी व्यक्तित्व निर्विकार एवं निर्लेप स्वरूप आदि की स्तुति की है.

> सकल करम टाल वश कर लियो काल मुगति में रह्या माल आतमा को तारी है
> देखत सकल भाव हुआ है जगत राव सदा ही क्षायक भाव भये अविकारी है।
> अचल अटलरूप आवे नहीं भवकूप अनूप सरूप ऊप ऐसे सिद्धधारी है
> कहत है 'तिलोक रिख' बताओ वास प्रभु सदा ही उगते सूर, वन्दना हमारी है।

आचार्यों की वन्दना करते हुए उनके ३६ गुणों आचारनिष्ठा मधुर वचनामृत नेतृत्वगरिमा लोकहितभावना आदि का कीर्तन किया है

> गुण है छतीस पूर धरत धरम उर, मारत करम क्रूर, सुमत विचारी है
> शुद्ध सो आचारवन्त सुन्दर है रूप कन्त भण्या सब ही सिद्धान्त वाचनी सुप्यारी है।
> अधिक मधुर वैन कोई नहीं लोपे केण सकल जीवों का सेण कीरत अपारी है
> कहत है तिलोकरिख' हितकारी देत सीख ऐसे आचारज ताकू वन्दना हमारी है।

उपाध्यायों की वन्दना करते हुए उनके अंग उपांगादि शास्त्रों के पठन नीर-क्षीर विवेकी बुद्धि भ्रमविध्वंसक व्यक्तित्व तपतेजस्विता अगाध पांडित्य तर्कशक्ति आदि गुणों का स्मरण किया है

> पढत इग्यारे अंग करमो सु करे जंग पाखंडी को मानभंग करण हुसियारी है
> चवदे पूरब धार, जानत आगम सार, भविन के सुखकार, भ्रमता निवारी है।
> पढावे भविक जन स्थिर कर देत मन तप कर तावे तन ममता निवारी है,
> कहत है 'तिलोक रिख' ज्ञान भानु परतिख ऐसे उपाध्याय ताकं वन्दना हमारी है।

साधुओं की वन्दना करते हुए उनके आत्म-संयम समिति गुप्ति पालन छः काय की रक्षा महाव्रत पालन कषाय-त्याग ममता निवारण स्वाध्याय क्रिया प्रमुक्ति आदि विविध आचारों का बखान किया है—

> आदरी संजम भार, करणि करे अपार, समिति गुपतिधार विकथा निवारी है
> जयणा करे छः काय सावद्य न बोले वाय बुझाय कषाय लाय किरिया भंडारी है।
> ज्ञान भणे आठू याम लेवे भगवत नाम धरम को करे काम ममता क मारी है
> कहत है तिलोक रिख' करमों का टाले विख ऐसे मुनिराज ताकू वन्दना हमारी है।

(ग) आख्यानमूलक

स्तवनात्मक रचनाओं में गीतिनत्त्व अधिक सुरक्षित रह गया है आख्यानमूलक कृतियां प्रबन्ध काव्य की कोटि में आती है

जैन आचार के अनुसार चौमासा (वर्षावास) के अतिरिक्त जैन सन्त के लिए एक स्थान पर अधिक ठहरना निषिद्ध है जैन सन्त की चरण-गगा सतत प्रवहमान रहने मे ही आनन्द और तृप्ति का अनुभव करती है दीक्षा लेते ही कवि तिलोक अपने गुरु अयवन्ताऋषिजी के साथ विहार करते रहे. अपने गुरु के साथ ही कवि ने जावरा, शुजालपुर, प्रतापगढ, शाजापुर, भोपाल, बग्डावदा आदि स्थानों पर चातुर्मास किये स० १६२२ मे अयवन्ता ऋषि जी देवलोक-वासी हुए तब से कवि स्वतन्त्र चातुर्मास करने लगा कवि के ये चातुर्मास मालवप्रदेश तक ही सीमित न रहे एक ओर उसने वागड प्रदेश के धरियावद क्षेत्र को स्पर्श कर पिछडी जाति के लोगों, भीलो, मीणो आदि को सच्चा जीवन जीने की कला सिखाई तो दूसरी ओर दक्षिण भारत के अछूते क्षेत्रो को अपनी पद-रज से पवित्र कर विपरीत श्रद्वालु लोगो को धर्म का मूल तत्त्व बताया उसी तत्त्वसधान मे एकान्त लीन रहने वाला यह कवि ३६ वर्ष की अल्पायु मे ही इस लोक से चल बसा अन्तिम दिनों मे कवि तीव्र शिरोवेदना और भयकर व्याधि मे पीडित रहा स० १६४० मे श्रावण कृष्णा द्वितीया, रविवार को अहमदनगर मे इस सन्त कवि ने मानवलीला सवरण की श्री तिलोक-रत्न-स्थानकवासी जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी, आज भी इस ज्ञानरत साधक की यश सुरभि चारो ओर बिखेर रहा है

काव्य-साधना

तिलोकऋषि का जीवन जितना साधनामय और ज्ञानरत था, उनका काव्य उतना ही भावनामय और सगीत-तत्त्व मे पूर्ण उन्होंने अपनी काव्य-आराधना सहज भाव से की जहाँ कारीगरी है वहाँ भी उनका अकृत्रिम सत-स्वभाव ही आगे रहा है कविता करना उनका व्यवसाय नही था, उनका व्यवसाय तो था लोकमानस को प्रवुद्ध करना इस लोक-जागृति और आत्मोन्नति मे काव्य जितना सहायक होता, कवि उस अनुपात मे उसे आत्मसात कर आगे बढता दूसरे शब्दो मे ये सन्त पहले थे, कवि बाद मे

कवि तिलोक ऋषि ने विपुल परिमाण मे लिखा जन-साधारण के लिये भी लिखा और विद्वन्मडली के लिये भी लिखा स्वान्त सुखाय भी लिखा और लोकहिताय भी प्रबन्धकाव्य भी लिखा और मुक्तक भी स्थूल रूप से उनकी काव्य-सामग्री को दो भागो मे बाँटा जा सकता है—

(१) रसात्मक कृतियाँ और (२) कलात्मक कृतियाँ रसात्मक कृतियो को सामान्यत तीन भागो मे विभक्त किया जा सकता है (क) स्तवनमूलक (ख) आख्यानमूलक (ग) औपदेशिक कलात्मक कृतियो को भी दो भागो मे रखा जा सकता है (क) चित्रकाव्यात्मक और (ख) गूढार्थमूलक यहाँ प्रत्येक का सक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया है

(१) रसात्मककृतियाँ

ये कृतियाँ विशुद्ध साहित्यिक रसबोध की दृष्टि से रची गई है इनमे कवि की अनुभूति, उसका लोकनिरीक्षण और गेय व्यक्तित्व समाविष्ट है साधारणत सत कवियो के सम्बन्ध मे माना जाता है कि वे अधिक पढे लिखे नही होते जो कुछ आत्मानुभव करते उसे ही शब्दों का रूप दे देते इसलिये वहाँ कला के दर्शन नही होते पर हमारा आलोच्य कवि तिलोक ऋषि इस परम्परागत अर्थ मे सन्त कवि नही था वह आगमो का पडित, सस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, राजस्थानी आदि भाषाओ का विद्वान्, शास्त्रीय ज्ञान का धनी, विभिन्न छन्दो का जानकार तथा लोकप्रचलित रीति-रिवाजो, विश्वासो एव परम्पराओ का ज्ञाता था यही कारण है कि उसकी रचनाओ मे एक ओर सत कवि का सारल्य है तो दूसरी ओर शास्त्रज्ञ कवि का पाण्डित्य उनसे निरा निवृत्तिमूलक उपदेश नही मिलता वरन् प्रवृत्तिमूलक रसग्रहण भी होता है ये रसात्मक कृतियाँ तीन प्रकार की है—

स्तवनमूलक

भारतीय साधनामार्ग मे नामस्मरण एव ईश्वर-स्तुति का बडा महत्त्व है सन्तो एव भक्तो दोनो ने इस प्रकार की रचनाएँ लिखी हैं भक्तो ने भगवान् के साथ अपना पारिवारिक सम्बन्ध अधिक जोडा है कभी यह सम्बन्ध स्वामी और सेवक का रखा तो कभी माँ और बेटे का रहा, कभी यह सम्बन्ध पति और पत्नी का रहा तो कभी पिता और पुत्र का

पर ये महाकाव्य और खण्डकाव्य की कसौटी पर नही कसी जा सकती यद्यपि इनमे कई भावपूर्ण रसात्मक स्थल हैं पर प्रधान दृष्टि इतिवृत्त पर ही रही है कथानक अन्त की ओर दौडते प्रतीत होते है सभी मे धार्मिक दृष्टि और उपदेश की भावना प्रमुख रही है इन कथाओ के नायक वैभवशाली राजा भी है और नवयौवनसम्पन्न राजकुमार भी नगर के प्रख्यात सेठ-साहूकार भी है और शीलधर्म पर प्राण देनेवाली सद्नारियाँ भी इतना अवश्य कहा जायगा कि सारे पात्र ऊँचे कुल और वैभव-विलास से सम्बन्ध रखनेवाले हैं सामान्य पात्रो की ओर कवि का ध्यान शायद इसलिए नही गया, क्योकि वह भुक्ति से मुक्ति की ओर, भोग से योग की ओर, और राग से विराग की ओर जीवन-प्रवाह को गति देना चाहता है कही-कही तो ये आख्यान केवल पद्यबद्ध कथा-काव्य बनकर ही रह गये हैं

इन आख्यानपरक कृतियो मे कई काव्य-रूप दृष्टिगत होते हैं जिन आख्यानो को चार ढालो मे गुम्फित किया गया है वे 'चौढालिया' नाम से अभिहित किये गये है सुदर्शन सेठ, अर्जुनमाली, नदीपेण मुनि, वर्धमान स्वामी, खदक मुनि, मेतारज मुनि, आनन्द, कामदेव आदि रचनाएँ 'चौढालिया' सज्ञक रचनाओ का प्रतिनिधित्व करती है जो आख्यान पाँच ढालो मे लिखे गये है वे 'पचढालियाँ' नाम से प्रसिद्ध है 'महावीर स्वामी का पचढालिया' तथा 'भृगु पुरोहित पचढालिया' ऐसी ही रचनाएँ है, जिनमे प्रमुख नायक का चरित्र प्रधानत वर्णित है वे 'चरित्र काव्य' कहे गए है ऐसे चरित्र काव्यो मे आलोच्य कवि द्वारा लिखे गये श्रीचद केवली चरित्र, श्रीसीता चरित्र, श्रीनेमिचरित्र, हसकेशवचरित्र, धर्मबुद्धि पापबुद्धि चरित्र, श्रेणिक चरित्र, शालिभद्र चरित्र, समरादित्य केवली चरित्र आदि प्रमुख है 'लावणी' नाम से भी कई आख्यान पद्यबद्ध किये गये है, काल की लावणी, जीव-रक्षा की लावणी, गजसुकुमाल की लावणी, धन्नाजी की लावणी, पचम आरा की लावणी आदि ऐसी ही रचनाएँ है 'छद' सज्ञक रचनाओ मे श्रीआचार्य छद, श्रीपार्श्वनाथजी का छद, साधु छद आदि के नाम गिनाये जा सकते हैं राजमती बारहमासा, गौतम स्वामी रास, जयकुमार की चौपाई आदि रचनाएँ भी इसी वर्ग की हैं

इन आख्यानमूलक रचनाओ के सम्बन्ध मे इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि वे प्रभाव डालने मे बडी कारगर सिद्ध हुई हैं जन साधारण मे धर्म-प्रचार करने के साधन रूप मे इन रचनाओ की बडी उपयोगिता है

(ग) औपदेशिक

काव्य के माध्यम से उपदेश देना सत कवियो की सामान्य प्रवृत्ति रही है जिनमे कवित्वप्रतिभा नही होती वे सीधा औपदेशिक भाव प्रकट कर ही रह जाते हैं पर जिसे कविता का वरदान प्राप्त है वह लाक्षणिक अभिव्यक्ति द्वारा उस भावविशेष को सरल बना देता है यो तो कवि ने सामान्यत ससार की असारता, शरीर की नश्वरता, मन की चचलता कामभोगो की निस्सारता आदि का वर्णन कर साधक को कषाय-त्याग, व्रत-पालन, दया-दान, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि वृत्तियों की ओर अभिमुख किया है यदि कवि इन भावनाओ को अभिधेय अर्थ मे ही ग्रहण करके रह जाता तो वह पद्यकारो की श्रेणी मे ही गिना जाता है पर तिलोक ऋषि ने अपनी रूपकयोजना द्वारा सामान्य लौकिक भावो मे भी अलौकिक सौन्दर्य और अध्यात्मभावो का माधुर्य भर दिया है

यह रूपकयोजना सामान्यत चार रूपो मे व्यवहृत हुई है जितने भी लौकिक त्यौहार है उन्हे अध्यात्म भावना का रग दिया गया है इन त्यौहारो मे दशहरा, धनतेरस, रूपचवदस, दीपावली, होली, शीतला सप्तमी, वसन्तपचमी, अक्षयतृतीया, गणगौर, पर्युषण पर्व आदि त्यौहारो को कवि ने अपना वर्ण्य विषय बनाया है देश और काल को भी कवि ने आध्यात्म भावो मे बाधा है जिन-जिन गाँवो और नगरो मे कवि ने पद-यात्रा की है उनके नामो और गुणो को लोकोत्तर अर्थ मे ढालकर आत्मा को पवित्र बनाने का उपदेश दिया गया है काल की दृष्टि से कवि ने एक ओर बारहमासा को रूढिगत विरहालाप से बाहर निकाल कर अध्यात्म क्षेत्र की ओर मोडा है तो दूसरी ओर सात वारो सोम, मगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, रवि को भी आत्मधर्म से उपमित किया है सामान्य नाम सस्करण प्रणाली को भी अध्यात्म रग मे रग दिया गया है इस यह आशय का एक कवित्त उद्धृत किया जाता है

> प्रेमसी जुम्भारसिंह वश किया जीवराज, मानसिंह भाईदास मिल्या चारौ भाई है,
> कर्मचन्द्र काठा भया, रूपचन्दजी से प्यार, धनराजजी की बात चाहत सदाई है।
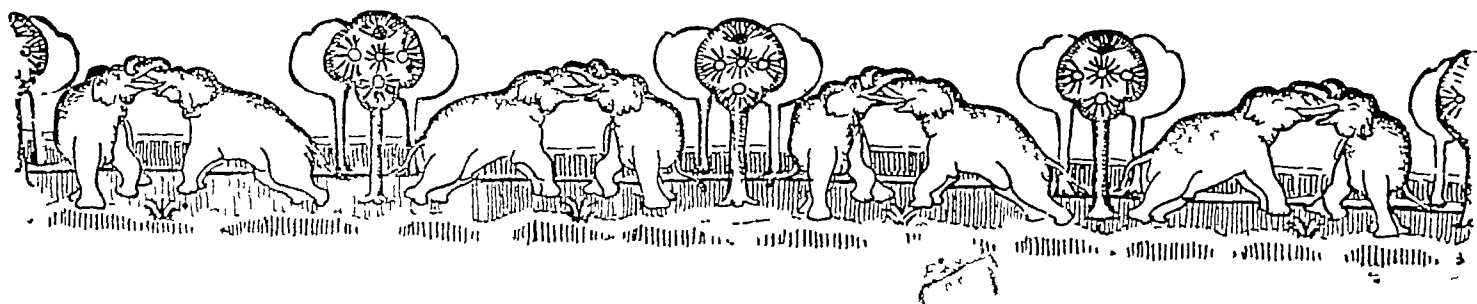
> ज्ञानचन्दजी की बात सुने न चेतनराय भावें नहीं दयाचन्द सदा सुखदाई है
> कहत तिलोकरिख मनाय कीजे नेमिचन्द नहीं तो कालूराम आयां विपत सवाई है।

विराट् सांग रूपक बाँधकर कवि ने जो उपदेश दिये हैं वे चमत्कार प्रकट नहीं करते वरन् उनमें निजीपन घरेलू वातावरण और लोकव्यवस्था का विशिष्ट चित्रण है राज्यव्यवस्था के कुत्सित और आदर्श दोनों चित्रों को कवि ने बड़ी खूबी के साथ अन्तरंग-आत्मपरक-व्यवस्था के साथ फिट बैठाया है

कुत्सित चित्र :

> काया रूप नगरी में चिदानन्द राज करे, क्रोध कोटवाल मान-सिंह प्रधान है
> कपट हजूरी लोभ चौकीदार बण्यो तामें मोह फौजदार अति करत गुमान है।

आदर्श चित्र :

> जीव रूप राजा समकित परधान जाके ज्ञान को भंडार शील रूप रथ सारके,
> क्षमा रूप गज मन हय को सामान वेग संजम की सेना तप आयुध अपार के।
> सज्झाय बाजित्र शुभ ध्यान नेजा फरकत रैयत जु काय सो बचाय कर्म मार के
> मोह गढ़ जीतवा को कहत तिलोकरिख करिये संग्राम ऐसी धीरजता धार के।

कलात्मक कृतियाँ :

तिलोकऋषि के कवि-व्यक्तित्व के साथ उनके चित्रकार-व्यक्तित्व ने मिल कर कई नवीन मौलिक कलात्मक कृतियों को जन्म दिया इन कलात्मक कृतियों में कवि की एकाग्रता उसकी सूक्ष्म लेखनकला चित्रण-क्षमता और अपार भाषा शक्ति का परिचय मिलता है ये कलात्मक कृतियाँ दो प्रकार की हैं

(क) चित्रकाव्यात्मक :

संस्कृत आचार्यों ने चित्रकाव्य को अधम काव्य कहा है और ध्वनिकाव्य को श्रेष्ठ काव्य विवेच्य चित्रकाव्य उस तथाकथित चित्रकाव्य से भिन्न है यहाँ "चित्रकाव्य" का प्रयोग काव्य की विशेष लेखनपद्धति द्वारा निर्मित चित्र के प्रसंग में किया गया है ऐसे चित्रकाव्य की सृष्टि वही कर सकता है जिसमें कवि का हृदय हो चित्रकार का साधन हो गणितज्ञ की बुद्धि हो और स्थितप्रज्ञ की तन्मयता हो कहना न होगा कि तिलोकऋषि ने इन सबका दायित्व कुशलता के साथ निभाया है इन चित्रों को 'काव्यात्मक चित्र' भी कहा जा सकता है पर प्रधान दृष्टि चित्र बनाने की रही है इसीलिये हमने इन कृतियों को 'चित्रकाव्यात्मक' संज्ञा दी है

ये चित्रकाव्य दो प्रकार के हैं सामान्य और रूपकात्मक सामान्य चित्रों में कवि ने स्वरचित या किसी प्रसिद्ध कवि की कविताओं-दोहे सवैये कवित्त आदि को इस ढंग से लिखा है कि एक चित्र सा खड़ा हो जाता है समुद्रबन्ध नागपाशबन्ध आदि कृतियाँ इसी प्रकार की हैं इन चित्रों के नामानुरूप भाव वाली कविताओं को ही यहाँ लिपिबद्ध किया गया है समुद्रबन्ध कृति में संसार को समुद्र के रूप में उपमित करने वाली कविता का प्रयोग किया गया है नागपाशबन्ध में भगवान पार्श्वनाथ के जीवन की उस घटना को व्यक्त करने वाला छन्द सन्निहित है जिसमें उन्होंने कमठ तापस की पंचाग्नि से मरणासन्न नागदम्पती का उद्धार किया था प्रमुख छन्द इस प्रकार है

> अमर उदरवा धीर गम्भीर भविक मन पार उतारन रथा करवा समंद कमठ तापस मद हारवा।
> मन्त्र उरगंगवाय नरग पदवी इसी मारवा जिनन्द कमठ दिया कष्ट नाहीं जलदस बिन्मारण।
> जब नागेन्द्र नस्ल मद दहन नाशिन म गया मान दिया त्रिविध त्रिविध नाहीं धारम गरू तारवा सदा।

'चित्रालंकार काव्य' कवि की एकाग्रता बौद्धिकता और श्रमशीलता का प्रत्यक्ष प्रमाण है इसमें प्रारम्भ से अंत तक की कुल ३६ पंक्तियों में ३६ दोहे लिखे गये हैं प्रथम पंक्ति में मंगलाचरण द्वितीय पंक्ति से पच्चीसवीं पंक्ति तक २४ तीर्थंकरों के स्तुतिपरक २४ दोहे हैं तदनन्तर क्रमश नमस्कार मंत्र के ५ दोहे त्रिरत्न के ३ दोहे और देव गुरु धर्म

विषयक ३ दोहे दिये गये हैं यही नही, बीच-बीच मे छत्रबध, दुर्गबध तथा गोमूत्रिका बध मे तीन प्रकार के नमस्कार मत्र दिये गये हैं रचनाकाल, रचनाकार आदि का नाम भी बडी खूबी से लिख दिया गया है अशोक वृक्ष, ज्योतिषचक्र आदि भी इसी प्रकार की कलाकृतियाँ हैं

रूपकात्मक चित्रकाव्यो मे कवि की रूपक योजक-वृत्ति ही काम करती रही है ज्ञानकुजर और शीलरथ के रूपकात्मक चित्र अत्यन्त सुन्दर बन पडे है हाथी कवि का प्रिय प्रतीक रहा है 'ज्ञानकुजर' उन लोगो के लिए, जो पढे-लिखे नही है, जैन धर्म के समग्र सिद्धान्तो को समझने की कुजी है विभिन्न आध्यात्मिक ज्ञान स परिपूर्ण अक्षरो द्वारा हाथी का यह चित्र बडा भव्य और विशाल है २४ तीर्थंकरो के नाम लिखकर हाथी की सूड, गणधरो के नाम लिखकर उसका कान, ज्ञान रूप उसकी आंख, धीरज और धर्म लिखकर उसकी दतूरे, बत्तीस आगमो के नाम लिखकर उसके पांव, पांच महाव्रतो के नाम लिखकर उस पर चढने की सीढियाँ आदि बनाई गई है दान दया रूपी महावत के हाथो में उपदेश और ज्ञान का अकुश दिया गया है उसके ऊपर देव, गुरु धर्म की छत्री है जिसमे सम्यक्त्व की डडी लगी हुई है अबाडी को विभिन्न शास्त्रीय गाथाओ से सजाया गया है अबाडी के ऊपर स्थित मन्दिर के दोनो ओर, ज्ञान, दर्शन, चरित्र और तप रूप चार स्तभ है इसके मध्य प्रतिभाशाली मुनि की आकृति है ऊपर धर्मध्यान और शुक्लध्यान की पताका लहरा रही है महाकवि तुलसी रूपको के बादशाह माने गये है आध्यात्मिक क्षेत्र मे रूपको की सृष्टि करनेवाला यह तिलोक कवि भी किसी बादशाह से कम नही है

(ख) गूढार्थमूलक

सत कवियो ने अपने सिद्धान्तो को कही कही बडी रहस्यात्मक भाषा मे प्रतिपादित किया है इस प्रकार की गूढ अभिव्यक्ति को 'उलट बासियो' के नाम से अभिहित किया गया है इसका कारण यह रहा कि यह अभिव्यक्ति सामान्य लोक-नियमो का अतिक्रमण ही नही करती, उसमे नितान्त विरोध और वैषम्यभाव भी प्रकट करती है आलोच्य कवि तिलोक के काव्य मे इस प्रकार की उलट बासिया तो नही मिलती जिस प्रकार की कबीर के काव्य मे फिर भी कवि-अपनी शब्द-क्रीडा करना नही भूला सगुण भक्त कवियो मे सूर ने जिस प्रकार दृष्टिकूट पद लिखे है उसी प्रकार तिलोकऋषि ने भी कतिपय गूढार्थ-व्यजक दोहे लिखे हैं. उन्हे कूटशैली के अन्तर्गत रखा जा सकता है यहाँ इस प्रकार का एक दोहा द्रष्टव्य है

दधिसुत-रिपु ते जाणिये, तस रिपु-रिपु ते जाण, कठ छबि तसु वाहने, लछण सो है सुजाण,

येह जिनराज ने भजो नित ।

अर्थ दधिसुत अर्थात् चन्द्रमा, उसका रिपु राहु, राहु का रिपु विष्णु (राम) विष्णु का रिपु रावण रावण का स्वामी शिव, उस कठ छविवाले शिव का वाहन वृषभ जिसके चिह्न रूप मे सुशोभित होता रहता है, ऐसे जिनराज अर्थात् ऋषभदेव भगवान का नित्य भजन करो

इस कूट शैली के साथ-साथ कवि ने सस्कृत की सूक्तियो पर भी कवित्त लिखे हैं इस शैली को 'समस्यापूर्ति' के अन्तर्गत रखा जा सकता है 'मनुष्यरूपेण मृगाश्चरति, मनुष्यरूपेण श्वानो भवति, मनुष्यरूपेण खराश्चरति' आदि पर लिखे गये इनके कवित्त बडे मर्मस्पर्शी और प्रभाव डालने वाले है

तिलोक ऋषि की इन काव्यगत विशेषताओ के आधार पर यह निस्सकोच कहा जा सकता है कि यह कवि सत कवियो मे अपना विशिष्ट स्थान बनाये हुए है सत कवियो ने सामान्यत अपनी रचनाएँ दोहा और पद मे की पर इस कवि ने रीतिकालीन कवियो के सवैया और कवित्त जैसे छन्द को अपनाकर उसमे जो सगीत की गूज और भावना की पवित्रता भरी वह अन्यतम है तिलोकऋषि के काव्य मे भक्तियुग की रसात्मकता और रीतियुग की कलात्मकता के एक साथ दर्शन होते हैं यह अपने आप मे कम वैशिष्ट्य नही है

डॉ आनन्दप्रकाश दीक्षित
एम ए (हिन्दी) एम ए (संस्कृत) पी-एच डी
रीडर हिन्दी विभाग राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर

कविवर्य अमीऋषिजी और अमृतकाव्यसंग्रह

'अमृत-काव्यसंग्रह' पण्डितरत्न मुनि श्रीअमीऋषिजी की कई काव्य रचनाओं का संग्रह है संग्रह के अन्तर्गत मुनिवर्य द्वारा रचित १ शिक्षा-बावनी २ सुबोध-शतक ३ विविधबोध-बावनी ४ चौरासी उपमायुक्त मुनि-गुण-बत्तीसी ५ एकल विहारी मुनि हितशिक्षा चालीसा ६ शारदा विनय ७ तीर्थंकर परिचय ८ श्री त्रिलोकाष्टक ९ हितमति हित-शिक्षा १० निश्चय-व्यवहार चर्चा ११ प्रश्नोत्तरमाला तथा १२ कतिपय समस्यापूर्तियाँ और अनेक प्रकीर्णक संगृहीत हैं संगृहीत रचनाओं के अतिरिक्त श्री अमीऋषिजी की और भी रचनाओं का पता चलता है मुनि श्रीमोती ऋषिजी ने ऐसे प्राप्त ग्रन्थों की संख्या २८ बताई है और निम्नलिखित रूप में उनकी तालिका प्रस्तुत की है —
१ स्थानक निर्णय २ मुखवस्त्रिका निर्णय ३ मुखवस्त्रिका चर्चा ४ श्रीमहावीरप्रभु के छब्बीस भव ५ श्रीप्रद्युम्न चरित ६ श्री पार्श्वनाथ चरित ७ श्री सीताचरित ८ सम्यक्त्व महिमा ९ सम्यक्त्व निर्णय १० श्री भावनासार ११ प्रश्नोत्तर माला १२ समाज स्थिति दिग्दर्शन १३ कषाय कुटुम्ब छहढालिया १४ जिनसुन्दरी चरित १५ लीलावती सती चरित १६ अमरकुमारजी की नवरस लावणी १७ भरतबाहुबली चौढालिया १८ जयवन्ता कुमार मुनि-छह ढालिया १९ विविध बावनी २० शिक्षा बावनी २१ सुबोध शतक २२ मुनिराजों की ८४ उपमाएँ २३ अम्बड सन्यासी चौढालिया २४ कीर्तिध्वज राजा चौढालिया २५ सत्यघोषचरित २६ भरणकचरित २७ मेघरथ राजा का चरित २८ धारदेवचरित

उक्त तालिका में ११ १९ २० २१ तथा २२ संख्या वाले नाम अमृतकाव्य-संग्रह के क्रमश ११ ३ १ २ तथा ४ पर दिये गये नामों से मिलते-जुलते हैं अतएव इन पाँच रचनाओं को कम कर दें तो प्रथम तालिका में प्रश्नोत्तरमाला तक के ११ तथा द्वितीय तालिका में से केवल २३ अर्थात् कुल १४ रचनाओं तथा इनके अतिरिक्त अनेकानेक समस्या पूर्तियों तथा प्रकीर्णकों का श्रेय मुनिवर्य श्रीअमीऋषिजी को दिया जायगा इन रचनाओं का अनेक दृष्टिबिन्दुओं से वर्गीकरण किया जा सकता है, यह इस प्रकार—इन्हें नीति साम्प्रदायिक वर्णन चरित वर्णन आदि जैसे कई वर्गों में रखा जा सकता है संग्रह-शैली भेद से भी इनके अनेक रूप यथा अष्टक चालीसा बावनी शतक आदि मिलते हैं छन्दभेद की दृष्टि से विचार करें तो केवल अमृत-काव्य-संग्रह में संगृहीत रचनाओं में ही दोहा कवित्त सवैया सोरठा पद्धरी हरिगीतिका शिखरिणी शार्दूलविक्रीडित मालिनी आदि छन्दों का सुचारु निर्वाह मिल जायगा सवैया और कवित्त पर तो इनका विशेष अधिकार जान पड़ता है प्राय अष्टक आदि के नाम से प्रस्तुत की जाने वाली रचनाओं में निश्चित रूप से सदैव केवल गिनती के ही छन्द नहीं रहते श्रीअमीऋषिजी की रचनाओं में भी इसी परम्परा के दर्शन होते हैं मंगलाचरण और समाप्तिसूचक छन्दों को छोड़ भी दें तो भी मूल-विषय से सम्बन्धित छन्दसंख्या में कहीं अधिक ही है छन्द और शैली की ऐसी विविधता के साथ-साथ विषय की विविधता और उसके कारण जीवन के विशाल निरीक्षण-परीक्षण के प्रति ऋषिजी की सजगता जितनी ही सराहनीय है उतनी ही साहित्य-शास्त्र की चमत्कारक प्रणालियों का ज्ञान और उन पर उनका अधिकार भी प्रशंसनीय है संत दार्शनिक और भावुक कवि प्राय चित्र-काव्य की रचना में प्रवृत्त होते नहीं दिखाई पड़ते कवियों के बीच भी जिन्होंने अपने काव्य में आलंकारिक चमत्कार को बहुत बहुमान दिया उन्होंने भी चित्र-काव्य रचना की ओर अपनी रुचि नहीं दिखाई जिन्हें शास्त्र-सम्पादन करना था उनमें से भी

विषयक ३ दोहे दिये गये है यही नही, बीच-बीच मे छत्रवध, दुर्गवध तथा गोमूत्रिका वध मे तीन प्रकार के नमस्कार मत्र दिये गये हैं रचनाकाल, रचनाकार आदि का नाम भी वडी खूबी से लिख दिया गया है अशोक वृक्ष, ज्योतिपचक्र आदि भी इसी प्रकार की कलाकृतियां है

रूपकात्मक चित्रकाव्यो मे कवि की रूपक योजक-वृत्ति ही काम करती रही है ज्ञानकुजर और शीलरथ के रूपकात्मक चित्र अत्यन्त सुन्दर वन पडे है हाथी कवि का प्रिय प्रतीक रहा है. 'ज्ञानकुजर' उन लोगो के लिए, जो पढे-लिखे नही है, जैन धर्म के समग्र सिद्धान्तो को समझने की कुजी है विभिन्न आध्यात्मिक ज्ञान स परिपूर्ण अक्षरो द्वारा हाथी का यह चित्र वडा भव्य और विशाल है २४ तीर्थंकरो के नाम लिखकर हाथी की सूड, गणवरो के नाम लिखकर उसका कान, ज्ञान रूप उसकी आंख, धीरज और धर्म लिखकर उसकी दतूरे, बत्तीस आगमो के नाम लिखकर उसके पांव, पांच महाव्रतो के नाम लिखकर उस पर चढने की सीढियां आदि वनाई गई है दान दया रूपी महावत के हाथो में उपदेश और ज्ञान का अकुश दिया गया है उसके ऊपर देव, गुरु धर्म की छत्री है जिसमे सम्यक्त्व की डडी लगी हुई है अवाडी को विभिन्न शास्त्रीय गाथाओ मे सजाया गया है अवाडी के ऊपर स्थित मन्दिर के दोनो ओर, ज्ञान, दर्शन, चरित्र और तप रूप चार स्तभ हैं इसके मध्य प्रतिभाशाली मुनि की आकृति है ऊपर धर्मध्यान और शुक्लध्यान की पताका लहरा रही है महाकवि तुलसी रूपको के वादशाह माने गये हैं आध्यात्मिक क्षेत्र मे रूपको की सृष्टि करनेवाला यह तिलोक कवि भी किसी वादशाह मे कम नही है

(ख) गूढार्थमूलक

सत कवियो ने अपने सिद्धान्तो को कही-कही वडी रहस्यात्मक भाषा मे प्रतिपादित किया है इस प्रकार की गूढ अभिव्यक्ति को 'उलट वासियो' के नाम से अभिहित किया गया है इसका कारण यह रहा कि यह अभिव्यक्ति सामान्य लोकनियमो का अतिक्रमण ही नही करती, उससे नितान्त विरोध और वैपम्यभाव भी प्रकट करती है आलोच्य कवि तिलोक के काव्य मे इस प्रकार की उलट वासिया तो नही मिलती जिस प्रकार की कबीर के काव्य मे फिर भी कवि-अपनी शब्द-क्रीडा करना नही भूला सगुण भक्त कवियो मे सूर ने जिस प्रकार दृष्टिकूट पद लिखे है उसी प्रकार तिलोकऋषि ने भी कतिपय गूढार्थ-व्यजक दोहे लिखे है उन्हे कूटशैली के अन्तर्गत रखा जा सकता है यहाँ इस प्रकार का एक दोहा दृष्टव्य है

दधिसुत-रिपु ते जाणिये, तस रिपु-रिपु ते जाण, कठ छवि तसु वाहने, लछण सो है सुजाण,

येह जिनराज ने भजो नित ।

अर्थ दधिसुत अर्थात् चन्द्रमा, उसका रिपु राहु, राहु का रिपु विष्णु (राम) विष्णु का रिपु रावण रावण का स्वामी शिव, उस कठ छविवाले शिव का वाहन वृपभ जिसके चिह्न रूप मे सुशोभित होता रहता है, ऐसे जिनराज अर्थात् ऋषभदेव भगवान का नित्य भजन करो

इस कूट शैली के साथ-साथ कवि ने सस्कृत की सूक्तियो पर भी कवित्त लिखे है इस शैली को 'समस्यापूर्ति' के अन्तर्गत रखा जा सकता है 'मनुष्यरूपेण मृगाश्चरति, मनुष्यरूपेण श्वानो भवति, मनुष्यरूपेण खराश्चरति' आदि पर लिखे गये इनके कवित्त वडे मर्मस्पर्शी और प्रभाव डालने वाले हैं

तिलोक ऋषि की इन काव्यगत विशेषताओ के आधार पर यह निस्सकोच कहा जा सकता है कि यह कवि सत कवियो मे अपना विशिष्ट स्थान वनाये हुए है सत कवियो ने सामान्यत अपनी रचनाएँ दोहा और पद मे की पर इस कवि ने रीतिकालीन कवियो के सवैया और कवित्त जैसे छन्द को अपनाकर उसमे जो सगीत की गूज और भावना की पवित्रता भरी वह अन्यतम है तिलोकऋषि के काव्य मे भक्तियुग की रसात्मकता और रीतियुग की कलात्मकता के एक साथ दर्शन होते हैं यह अपने आप मे कम वैशिष्ट्य नही है

म्लानता की अनुभूति जाग्रत करने वाला चित्र अंकित कर दिया है, 'कुम्हलाना' तथा 'कुमलाना' शब्द जैसे यहाँ आकर सार्थक हो गये हैं —

> 'मन में विचार कर आठवो अक्षय तामें करो यति आश न करोगा पल एक का
> पल में पलट जाय इन्द्रधनुष जिम संध्या का कुम्हलाना कुमलाना ज्यों कुसुम का।
> कोमल शरीर फूल पेश में खोमाय रखो निकसत दम देर होयगा भसम का
> जम डर भान के सयाने अमीरिख कहे धार ले शरण जिन प्रभु के कदम का। —शिक्षा बावनी।

प्रबुद्ध व्यक्ति को समझाना सरल है, मूढ़ या हठी को उपदेश देना कठिन, सन्तों ने बराबर इस बात का अनुभव किया है और इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि मूढ़ को बहुत समझाने का प्रयत्न न करे, साथ ही उनका अनुभव यह भी है कि किसी व्यक्ति का स्वभाव बाहरी उपचारों से नहीं बदला जा सकता, 'कहा होत पयपान कराये विष नहिं तजत भुजंग' सूरदास ने इस प्रकार का छन्द लिखकर इसी धारणा को पुष्ट किया है, श्रीअमीऋषि का अनुभव, मूल और पठित ज्ञान भी इसी के अनुकूल बैठा, अतएव उन्होंने भी बड़े ही सरस शब्दों में इस बात का निर्देश कर दिया है —

> 'सीख नहीं रीझे हठग्राही मूढ़ मानिन कू सार नहीं होवे जैसे पानी के मथाए से
> खर का चन्दन-लेप मुकुट भूषण तन हावत निकाम जैसे ओस बिन्दु बाए से।
> मर्कट के गले हार सार शोभादार बहु तोरी के तुरत फेंक फद जानी काये से
> अमीरिख कहे नहीं मान उपकार मन होवत है बैरी बात हित की बताए से। —शि० बा०।

सूरदास जी का खर को कहा अरगजा लेपन मरकट भूषण अंग भी आ गया और 'पानी को मथाए' 'ओस बिन्दु बाएसे' के द्वारा मुहावरों का निर्वाह ही नहीं हुआ उनके द्वारा निस्सारता और असम्भाव्यता का अविलम्ब अनुभव भी हो गया, उपदेश के साथ कवित्व का मेल प्रशंसनीय है, विशेषतः इसलिये भी कि ऐसा केवल एकाध स्थल पर ही नहीं हुआ है, अधिकांशतः हुआ है, संसार की असारता और नश्वरता का चित्र खींचते हुए निम्नलिखित दोनों छन्दों में मुनि जी ने इसी कौशल का परिचय दिया है, साथ ही प्रवाहमय शब्द-योजना का निर्वाह करके उक्ति को प्रभावपूर्ण बना दिया है —

> 'रीझ नहीं कीजे गुरुदेव के वचन सुधि छीजे छिन-छिन आयु अंजली के पानी ज्यू
> यह नरदेह हाथ आई है अरा नजीक नदी पूरवत जैसे बीते हे जवानी ज्यू।
> काचकूत काम तरे शीस पर काम रखो दृढ़ की समरथ नहीं होवे अभिमानी ज्यू
> अमीरिख कहे पाप कांप के मिथ्यायो तज जम हाथ नरक में पचेगा प्रानी ज्यू। —शि० बा०

अथवा 'आयु है अथिर जैसे अंजली का नीर सम दीसत चपलता ज्यों दामिनी झलक में।
यौवन पतंग रंग काया है नीकाम अति बार नहिं लागे ओस बिन्दु की ढलक में
सुपन समान यह सपना निदान सम सरिता को पूर बह जाय ज्यों पलक में।
कहे अमीरिख जग सुख है असार धार सुकृत सहीत यही सार है खलक में। —सुबोध शतक

नारी-निन्दा सन्तों का प्रिय विषय रहा है, कभी कभी बिहारी जैसे शृंगारप्रिय कवियों ने भी 'छवि-छायाग्राहिनी' तिय से बचे रहने की ओर संकेत कर दिया है, अन्यथा उनकी प्रवृत्ति 'हाँसी-फाँसी डालनेवाली' नायिका के सौन्दर्य का वर्णन करने की ओर ही अधिक रही है, तथा बिहारी का कथन है —

> हार अली-गार नहि मैन-बरोही नारि
> चितवन-चौपड़ में रूप-रंग हाँसी-फाँसी डारि।

अमीऋषिजी ने बिहारी के वचन का निर्वाह करते हुए भी उसकी योजना प्रशंसा के लिये नहीं उसकी निन्दा और

बहुतेरो ने उसकी उपेक्षा ही उचित समझकर मौनावलम्बन से काम लिया, किन्तु सत, दार्शनिक और कवि का एक-साथ सम्मिलित रूप प्रस्तुत करने वाले मुनिवर्य श्रीअमीऋषिजी ने इस दिशा को भी अछूता न छोडा, आपने खड्गबन्ध, कपाट-बन्ध, कदलीबन्ध, मेरुबध, कमलबध चमरबध, एकाक्षर त्रिपदीबध, चटाईबध, गोमूत्रिकाबध, छत्रबध, वृक्षाकारबध, धनुर्बन्ध, नागपाशबध, कटारबध, चौपटबध, चौकीबध स्वस्तिकबध आदि अनेक चित्रकाव्यो का सृजन किया है इस प्रकार उक्त रचनाओ के साथ इन चित्रकाव्य-रूपो की गणना करने तथा 'जयकुजर' नामक काव्य-कृति को सम्मिलित कर लेने पर तो ऋषि जी की बहुमुखी प्रतिभा और काव्य सृजन-क्षमता के साथ-साथ चमत्कार-चारुता-सम्पादन के प्रति भी विश्वास किए बिना नही रहा जा सकता प्रत्येक छद मे अमीरिख, अमृत, पीयूष, रिख अमृत, अथवा अमी की छाप देकर पूर्व-प्रचलित कविपरिपाटी को आपने सर्वत्र निवाहा ही नही है, उससे अपने कवित्व के प्रति अपनी सजगता को भी द्योतित करा दिया है सतो के बीच भी अपने नाम की छाप देकर लिखने या छन्द कहने की प्रवृत्ति प्रचलित रही है, अतएव आप कवि और सत दोनो के बीच भली-भाति बैठ जाते है

श्रीअमीऋषिजी का काव्य उनके सत तथा कवि दोनो रूपो के सम्यक् सम्मिलन का स्वय ही प्रमाण है सत की निश्छलता, स्पष्टोक्ति और हित-भावना ने उनके काव्य को शिक्षा और उपदेश से जिस प्रकार मण्डित किया है, प्रत्येक पक्ति से जीवन और जगत् के सबध मे सत्य के उद्घाटन का जैसा आग्रह उनकी रचनाओ मे छलक रहा है, वैसी ही भाषा की सुस्पष्टता एव सरलता और शब्द-योजना तथा छन्द-प्रवाह से उनकी काव्य-प्रतिभा भी फूटी पड रही है सत की वाणी अलकृति की राह नही अपनाती, सीधी, सरल राह से होकर चलती है, तिर्यक् उक्ति-भगिमाओ का प्रदर्शन नही करती उसकी वाणी अपने लक्ष्य को सीधे वेधती है, अलकारो, वक्रोक्तियो और ध्वनियो की आड लेकर आगे नही बढती सीधी बात मे ही उसका प्रभाव बढ जाता है, उसके लक्ष्य की सिद्धि उसी मे होती है स्पष्ट है कि श्रीअमीऋषि-जी की रचना भी इसीलिये इन सद्गुणो से युक्त है

सत का कार्य जीवन के नानाविध रूपो को निरावरण करके उन्हे जनता के सामने प्रस्तुत करना और इस रूप मे उसे सच्ची राह दिखाना है नीति और उपदेश का मार्ग ही उसका मार्ग है और इस मार्ग पर चलने के लिये कभी अपदार्थ पदार्थों की निन्दा, कभी मोह-भ्रम मे भटके हुए मनुष्य की चेतना को सबोधन, कभी अच्छे-बुरे के विवेक के लिये दो वस्तुओ की तुलना, कभी पूर्व-कथाओ की सूचना देकर काम-क्रोधादि के कुपरिणाम की ओर पाठक का ध्याना-कर्षण, कभी समाज के दूषणो पर कठोर प्रहार आदि अनेक कौशलो का प्रयोग करके उसे अपनी बात का प्रभाव-जमाना होता है श्रीअमीऋषिजी ने अपनी रचनाओ मे इन सभी साधनो का कुशल उपयोग किया है

सतो की दृष्टि मे ईश्वर के प्रति जीव की उदासी का मुख्य कारण उसका यह मोह एव भ्रम है कि वह कोमल और सुन्दर शरीर का है अथवा अभी क्या है, अभी तो बहुत आयु पडी है, भगवान् का भजन भी हो जायगा इस भ्रम को दूर करने का एक तरीका यह है कि ठेठ भाषा मे मनुष्य को सतर्क कर दिया जाय 'काल चबेना जगत् का कुछ मुख मे कुछ गोद", और यह भी है कि अन्योक्ति के सहारे उसे नश्वरता का ज्ञान कराते हुए कह दिया जाय

'माली आवत देख कर, कलिया करी पुकार। फूले-फूले चुन लिये, काल्ह हमारी बार।

अथवा, यह भी है कि चमत्कारक रूपक के सहारे मनुष्य को सावधान कर दिया जाय कि—

'जम-करि-मुह तरहरि पर्यो, इहिं धरहरि चित लाउ। विषय, तृषा परिहरि अजौं, नरहरि के गुन गाउ॥"

सत इनमे से पहले दो प्रकार की उक्तियाँ अपनाता है और कवि, विशेषत चमत्कार-प्रिय कवि, अन्तिम प्रकार की उक्ति का सहारा लेता है श्रीअमीऋषिजी ने सत होने के नाते पहले दो प्रकार की उक्तियो के मेल मे ही अपनी उक्तियो को उपस्थित किया है अमीऋषिजी ने निम्नलिखित छन्द मे इसी शरीर-सौन्दर्य के तीन आकर्षक उपमान और रग-वैचित्र्य को उपस्थित करके मोहकता, दर्शनीयता, विकसमानता और मृदुलता के साथ उन सबकी
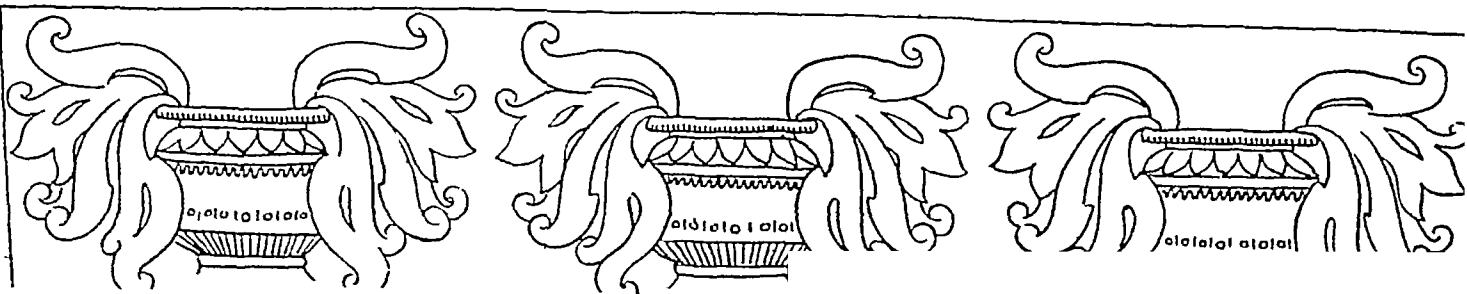
ममता के साथ-साथ उपदेश और व्यंग के लिये स्मरणीय हैं उदाहरणार्थ नीचे दो समस्यापूर्तियाँ दी जाती हैं जिनमें पहली शब्द-योजना के लिये और दूसरी उपदेश और चमत्कार रक्षण के लिये प्रमाण है—

१—विधवा सिर शीश सुहाग को टीको।

'कुब्ज काम कटा करिके कुवटा अधरामृत बूद चटा पर पीको
ठारि घटा तन धारि छटा करि बंक कटाक्ष कटा यम ही को।
वाम वटा लिख नेम पटा उलटा करि काज हटा सुमती को
है धिक तेरा पियूष गुथी विधवा सिर शीश सुहाग को टीको।

२—लोह के सुपिंजर में पारस पर्यो रह्यो।

'पाप भरदेह नेह कीनो ना धरम साथ पातक के काज दिन रैन ही भर्यो रह्यो
सुगुरु की वैन हितकारी उर धारो नाहिं अज्ञान मिथ्यात्व को विकार ही भर्यो रह्यो।
जीव पुद्गल को स्वरूप ना पिछान्यो कभी भ्रम को अगारम सो मन में भर्यो रह्यो
धर्मीरिख अमल अछेद्यो जिन गेह सदा लोह के सुपिंजर में पारस पर्यो रह्यो।"

कवि प्रतिभा का स्फुरण जिस प्रकार कल्पना भावुकता और वैचित्र्य-उत्पादन के हेतु होता है और शब्द-योजना जिस प्रकार भावावेशों क्रियाओं अन्तरानुभूतियों के चित्र और मजमून बांधने में प्रयुक्त की जाती है श्रीअमोलकऋषिजी की कवि-प्रतिभा का स्फुरण और उनकी शब्द-योजना की प्रयुक्ति दोनो ही उनके उद्देश्य के कारण वैसी नही हैं श्री अमोलकऋषिजी का उद्देश्य तो जीव और जगत् का उनके वास्तविक और सही रूप में उपस्थित करके मोहान्धकार में फँसे हुए मनुष्य का उससे उद्धार करना और उसके लिये उसे मार्ग दिखाना था हास-विलास आदि की नाना गतियों में न वे स्वयं मग्न हुए और न किसी दूसरे को ही उस ओर ले गये निर्वेद के द्वारा जिस शान्त रस को उपस्थित करना उनका उद्देश्य था उसी की सिद्धि की ओर उन्होंने ध्यान दिया और उसमें भी सफल हुए स्वाभाविक रूप से उनकी वाणी सहज मार्ग से होकर ही चली और उन्होंने जिस निर्व्याज भाव से अपने उद्गार प्रस्तुत किये उनमें प्रासादिकता और अनेक व्यवहृत भाषाओं के शब्दों का समावेश भी हो गया राजस्थानी के विभिन्न भेदों में तो उन्होंने कविता की ही उर्दू-फारसी और अंग्रेजी के प्रचलित शब्द भी उनकी पंक्तियों में स्वयमेव आकर बैठ-से गये इन शब्दों के आ जाने से ब्रजभाषा के सौन्दर्य की कहीं कोई हानि नहीं हुई बल्कि उल्टे अर्थ-सौकर्य और प्रवाह में सहायता ही मिली विदेशी शब्दों में केवल दम ऐश कदम हुश्यार, मौज कैद स्वारी तैयार या त्यार, जरूर मौत खुराक फरमाई खबर, दौलत लायक हाजर, हजूर, जुलम गरीब गरज सफा सफा कानून मजमून जैसे शब्दों का ही प्रयोग आपने नहीं किया है अंग्रेजी के 'नम्बर' का प्रयोग भी निःसंकोच कर दिया है. किन्तु इन शब्दों का मिश्रण सर्वत्र या बाहुल्य के साथ नहीं है शब्दों को अपने उच्चारण के या मात्रा के अनुकूल बना लेने में तो आप कुशल हैं ही नये-नये शब्दों को गढ़ लेने में भी प्रवीण हैं ब्रजरूप का इन्दर मनुष्य शोभा से शोभादार, निकम्मी या निष्काम से नीकाम सदैव से सदीव सजा से सजादार, जैसे शब्द भी उनके यहां मिलेंगे और मात्रा-लोप आगम या परिवर्तन से होने वाले विकार भी उनके शब्दों में बहुलता से दिखाई देंगे अति का अती मित्र का मित पीड़ा का पीड़ अग्नि का अगन सम्या या सेज का सिज्जा चिता का चिरया भाति का भांत ताको का ताकू ऊपर का उपर, ममता का ममत जैसे प्रयोग उनकी रचना में अति साधारण से ही समझने चाहिये देशज प्रयोग भी प्रायः दिखाई पड़ते हैं किन्तु इन प्रयोगों से काव्यपाठ और काव्यार्थ-बोध में सहायता ही मिली है बाधा उपस्थित नहीं हुई वस्तुतः श्रीअमोलकऋषिजी की उक्तियाँ इतनी सहज और उपदेश इतने सीधे हैं कि उनकी भाषा भी उसी सांचे में ढल गई है भाषा-परिष्कार और शाब्दिक एकरूपता की ओर उनका ध्यान नहीं है, भाव या विचार की निश्छल अभिव्यक्ति ही उनका उद्देश्य है और इसी दृष्टि से उनकी भाषा का विचार होना भी चाहिये श्रीअमोलकऋषिजी के कवि रूप पर छाए हुए उनके मुनि रूप को ही उनका वास्तविक रूप मानना चाहिये और जहां जहां इन दोनों रूपों का सम्मिलन दिखाई देता हो वहां उनकी काव्य प्रतिभा की भी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करनी चाहिये

निर्वेद के स्थायी उद्‌बोध के लिये की है —

"जोबन की झलक चलक तन भूषण की दरसाय चकित करत जे विचारे है,
सुमति भूलाय के भूराय करि लेत वश, तन धन जस लूटी पराधीन पारे है।
कहे अमीरिख निज समय निहारी सार, करत जुलम हिये करुणा न धारे है,
हासी फासी डारी नैन बानन ते मारी ऐसी, नारी है ठगोरी ठगी अधोगति डारे है।—सु० श०।

कबीर ने 'करमगति टारे नाहि टरी' की पुकार लगाई तो अमीऋषिजी ने भाग्यवाद के आधार पर व्यापारो से विरति और ताला-कुजी की अनावश्यकता पर जोर दिया है और स्याद्वाद की दुहाई दी है सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह आदि से बचाना, काम-क्रोधादि से अलिप्त रखना जहाँ सतो के उपदेश का विशेष उद्देश्य है, दर्शन-सिद्धान्तो का प्रतिपाद्य है, वहाँ परस्पर के भेद-भाव को नष्ट करके, जाति-पाँति और छुआछूत के द्वारा उत्पन्न वाह्याचार का निषेध भी उनका कार्य है या बना रहा है कबीर ने इस भेद-भाव पर बडी कडी दृष्टि डाली है और इसे माननेवालो की आडे हाथो खबर ली है, उनके नग्न रूप को प्रदर्शित करके उन्हे लज्जित किया है। श्रीअमीऋषिजी की दृष्टि से भी शुद्धतावादियो के विचित्राचार बच नही सके है और उन्होने शोध-मीमासा के रूप मे प्रकीर्ण छन्दो की रचना कर ही दी है किन्तु उनकी उक्ति मे कबीर की-सी कटुता नही है यथा—

"मेवा दाख मधु गुड खाड गोल लूण हींग, शर्वत मुरव्वा प्राय म्लेच्छ ही बनावे है,
डाक्टर की दवा खास बनत विलात माही, उत्तम कुलीन कोई पीवे अरु खावे है।
चाय घृत खावे कीडे युक्त फल चाबे, औ तमाल पत्र पीते खाते सूग हू न आवे है,
अमीरिख पुद्‌गल के लक्षण न जाने शठ, शोध-शोध गावे कछु भेद नहीं पावे है।"—प्रकीर्णक।

किन्तु ऐसे स्थलो पर उनकी प्रतिभा केवल तथ्योक्ति तक ही सीमित रह गई है, काव्यचातुरी की झलक वहाँ नही मिलती चमत्कार के लिये उन्होने बिल्कुल ही न लिखा हो, सो नही श्लेष अलकार के प्रयोग के आधार पर बारहो महीनो का नाम लेकर उपदेश के लिये मार्ग निकाल लेने मे अमीऋषिजी भी चमत्कारवादी कवियो से कम नही है—उदाहरणत,

"चेत भवि धार ज्ञान सजम वैसाख होय, जेष्ठ पर आषाढ़ समान सुविचारिये,
श्रवण आगम सुणी धार भद्र पद रोक, मन अश्विन को काती कपट को टारिये।
मृगशिर सिंह जैसे काल गही लेगो ताते, पोष षट्‌काय महामुनि पद धारिये,
फागुण में फाग सखी समता के साथ खेल, अमीरिख ऐसे बारे मास को उच्चारिये।"

इसी प्रकार मुनिवर्य मनुष्यो के नामो के द्वारा आध्यात्मिक उपदेश देने मे भी नही चूकते और काव्य मे चमत्कार ले आते हैं प्रकीर्णक ३७-४० इसके प्रमाण है इसी चमत्कार-प्रदर्शनेच्छा अथवा व्यापक अधिकार-लालसा के कारण उन्होने प्रकीर्णक तथा प्रश्नोत्तरमाला मे सर्व लघुवर्णकाव्य की जैसी रचना की है वैसे ही प्रकीर्णको मे सत्ताईस वकार काव्य भी प्रस्तुत किया है रूपक और अन्योक्तियाँ लिखने मे इनका मन अच्छा रमता है और दृष्टान्त देने तथा कथात्मक शैली मे बात कहने के आप अभ्यस्त है 'मधुबिन्दु दृष्टान्त' देते हुए आपने लिखा है—

"चउगति कानन में पथी जीव काल गज, नरभव वट आयु शाखा लटकानो है,
कूप है निगोद अहि क्रोध मान दम्भ लोभ, अजगर दोय रागद्वेष भीम जानो है।
मूसे दिन रैन परिवार मधुमक्खी सम, विद्याधर सत उपदेश फरमानो है,
अमीरिख कहे विषै सुख मधु बिंदु सम, महे एते सकट में मूढ़ ललचानो है।"

लोकप्रसिद्ध अथवा पचतन्त्र मे आई हुई कहानियो को लेकर उन्हे सवैया छन्द मे काव्यात्मक रूप देकर मुनिजी ने जीवनोपदेश के लिये अच्छा मार्ग निकाल लिया है इसी प्रकार प्रश्नोत्तरमाला के अतर्गत अनेक प्रकार के गोलो की कल्पना करके जीव की गति का वर्णन भी किया है कथा की कथा, उपदेश का उपदेश और काव्य का स्वाद अलग. ऐसे सभी छन्द पठनीय और मननीय है समस्यापूर्त्तियाँ भी शब्द-योजना के कारण उत्पन्न श्रवण-सुखदता और प्रवाह-

नगर, डगर-डगर, पैदल घूमकर अहिंसा संयम व त्याग की गंगा बहाने वाला घर-घर धर्म का अलख जगाने वाला निस्पृह त्यागशूर धर्मवीर, क्रियानिष्ठ जैन श्रमण-समूह आज परिग्रह बाह्य क्रियाकाण्ड और साम्प्रदायिकता आदि के चक्र में पड़ गया था धर्म का अन्तस्तल विलुप्त था मिथ्या आडम्बरों में ही धर्म साधना की इतिश्री समझी जाने लगी थी चैत्यवाद का जोर था चेतनपूजा के स्थान पर जड़पूजा का प्राबल्य था जैन-धर्म का सार तप त्याग व इन्द्रियनिग्रह तो अब बस कल की वस्तु बन गया था इस प्रकार उस समय सामाजिक व धार्मिक दशा शोचनीय थी

क्रान्तिका शुभागमन

प्रकृति का अपरिवर्तनशील विधान है कि क्रिया की प्रतिक्रिया होती है परिस्थितियाँ स्वयं समयानुसार महापुरुष को उत्पन्न करने की शक्ति रखती है धर्म का सच्चा स्वरूप सदा छिपा नहीं रह सकता आडम्बर एक दिन प्रकट होते ही हैं अतएव धर्म की मशाल जलती है आखिर सत्य की पूजा होती है

१५ वीं शताब्दी विश्व-इतिहास में धर्मक्रान्ति का काल है यूरोप में भी जब पोपशाही खूब फैली जनता गुमराह होने लगी स्वर्ग के प्रमाण-पत्र तक बिकने लगे पास-पोर्ट बनने लगे तब जर्मनी में मार्टिन लूथर चमका उस नर-नाहर ने बुलन्द गर्जना की इतिहास साक्षी है कि एक दिन इस नन्हें दिये ने तूफान को पराभूत कर दिया और लूथर की प्रचण्ड चट्टान से टकराकर पोप का बागी बेड़ा चूर चूर हो गया

इसी तरह भारतवर्ष में भी इसी काल में बिजली के महान् प्रकाश की तरह बाधा-उर्मंय का नया आलोक ले अवतरित हुए थे—समर्थ क्रियोद्धारक सत्य-पथ—प्रदर्शक वीर लोंकाशाह.

इस प्रकार भगवान् महावीर की भविष्यवाणी अक्षरशः सत्य हुई लोंकाशाह ने वि संवत् १५११ में क्रान्ति का बिगुल फूका धर्म के मूल रहस्यों को प्रकाशित किया और सत्-धर्म का डंका आलम में बजवा दिया

प्रारम्भिक जीवन

लोंकाशाह का बाल्यकाल खेमकूप में बीता वे बड़े होनहार थे जीवन प्रारम्भ से ही वैराग्यवृत्ति प्रधान था पर माता पिता के अत्यन्त आग्रहवश वे विवाह-सूत्र में बद्ध हुए उनका गृहस्थ-जीवन भी आदर्श था एक सुपुत्र रत्न की भी प्राप्ति हुई बाद में वे कुछ कारणों से अहमदाबाद में आकर बस गये जवाहिरात के व्यापार में खूब चमके गुलाब की सुवास सीमित क्षेत्र में अवरुद्ध कैसे रह सकती है ? प्रसन्न होकर तत्कालीन बादशाह मुहम्मद शाह ने लोंकाशाह को कोषाध्यक्ष के पद पर सुशोभित किया

सुख की कमनीय गोद में पलने वाले लोंकाशाह को क्या अभाव था ? उनका वर्चस्व जोरों पर था पर उनका धर्म दर्शी अन्तर्मन समाज व धर्म की विकृत अवस्था देखकर फूट-फूट कर रोता था वे एक महान् आत्मा थे उन्होंने समाज का भद्दा चित्र एकदम भाप लिया

यह सब देख उनके अंतस्तल में क्रान्ति की लहरें हिलोरें मारने लगी गहरा चिंतन किया हृदय में से पुकार उठी—लोंकाशाह ! समाज और धर्म में कुछ जागृति ला अभी समय है फिर तो बिगड़ा बनना मुश्किल हो जायेगा

सत्य की खोज में

उनकी दूरदर्शिता ने पाँव पसारे पहले विशद ज्ञान प्राप्त करने की अभिलाषा जागी लोंकाशाह सत्यान्वेषक बने सबै गुणों का क्रम बना वे स्वयं एक अच्छे लेखक थे उन्होंने एक लेखक-मण्डल बनाया शास्त्रों का लेखन प्रारम्भ हुआ पर उस समय शास्त्र श्रावकों को उपलब्ध कहाँ ? शिथिल श्रमणवर्ग ने अपनी सुरक्षा के लिए श्रावकों को उल्टी पट्टी पढ़ा रखी थी कि उनका शास्त्रों से क्या मतलब ? उन्हें तो शास्त्र पढ़ने ही नहीं चाहिये कितनी धाँधली थी ! और भोला भाला श्रावकसमुदाय "बाबावाक्यम् प्रमाणम्" के जाल में आबद्ध था अत लोंकाशाह को शास्त्र कठिनता से उपलब्ध हो रहे थे

पारसमल प्रसून
एम० ए०, साहित्यरत्न

दीर्घदृष्टि लोंकाशाह

विषय-प्रवेश

विक्रम सवत् १४७२ के कार्तिक मास की अमल रात्रि !

ऊपर नील गगन मे चन्द्रमा अपनी समग्र रश्मियो से जगमगा कर वसुधातल को उजला बना रहा था कितना सुन्दर सयोग था कि सौभाग्यवश इसी रात्रि मे धरती पर भी अरहटवाडा नगर मे, ओसवाल गृहस्थ सेठ हेमाभाई के घर, माता गगाबाई की कुक्षि से एक चन्दा का उदय हुआ कवि की बात सही हुई कि—"एक ही रात मे दो दो चाद खिले"

पर आश्चर्य कि इस सलौने चाद ने आगे जाकर प्रचण्ड प्रभाकर की तरह, धार्मिक जगत् मे व्याप्त रूढिवादिता के अज्ञानपूरित भीषण अधकार को क्षत-विक्षत कर, सत्य के प्रखर आलोक से आध्यात्मिक क्षेत्र को प्रकाशित कर प्रशस्त बनाया

यह चन्द्रमा और कोई नही, मध्यकालीन जगत् का अग्रगण्य, महाप्रभावक, निडर क्रातिकर वीर लोकाशाह था वही लोकाशाह जिसकी क्रान्ति जैन जगत् के इतिहास मे अद्वितीय एव अद्भुत है, और वही लोकाशाह जिसके पुण्य प्रयासो का ही सत् परिणाम है आज का स्थानकवासी समाज

तात्कालिक परिस्थितियाँ

कल्पसूत्र मे उल्लेख है—भगवन् ! आपके जन्म-नक्षत्र पर भस्मकग्रह का सक्रमण है—उसका क्या फल होगा ? शक्रेन्द्र ने भगवान् से नम्र जिज्ञासा की

भगवान् ने फरमाया—"हे इन्द्र ! इस भस्मकग्रह के कारण दो हजार वर्ष तक श्रमणसघ की उत्तरोत्तर सेवा-भक्ति क्षीण होगी धर्म की हानि होगी जडता बढेगी सच्चे गुणो की पूजा घटेगी भस्मकग्रह के हटने पर जैन धर्म मे नव चेतना का जागरण होगा उजडे उपवन मे एक नई बहार छा जायेगी

वीतराग के वचन मे कैसे सत्य नही ? वे तो सर्वज्ञ होते हैं भगवान् महावीर के निर्वाण के कुछ समय पश्चात् पचम आरा प्रारम्भ हो गया काल-प्रभाव से धर्म का भी क्रमश ह्रास होने लगा कल के चमकते दमकते धर्म-सूर्य को आज ग्रहण लग गया था दृढ वैराग्य व सर्वोच्च त्याग की मनहर भूमिका पर आधारित जैन धर्म आज आडम्बर व विलासिता के कीचड मे फँस गया था त्याग भोग से पराजित हो गया था, विराग के स्थान पर जैन-वीणा आज राग के मादक स्वर अलाप रही थी श्रमणवर्ग मे शैथिल्य का अखण्ड साम्राज्य था नगे पाँव, नगे शिर, गाव गाव, नगर

लखमसी का सहयोग

तत्कालीन एक सुसंपन्न व प्रख्यात श्रावक अनहिलपुर पाटण निवासी श्रीलखमसी भी लोंकाशाह को परखने आये बात इन्द्रभूति व महावीर की-सी हुई लखमसी ने अपने प्रश्न रखे लोंकाशाह ने शास्त्रसम्मत युक्तियों से सुस्पष्ट समझाया लखमसी पूर्ण प्रभावित हुए फिर खूब विचारविमर्श गहरा शंका-समाधान और अंततः लोंकाशाह के घनिष्ठ सहयोगी ! सह धर्मप्रचारक !

क्रांति की व्यापकता

अब तो शक्ति एकदम द्विगुणित फिर तो अरहटवाड़ा पाटण सूरत आदि चार संघों के संघपति भी लोंकाशाह की विचारधारा के कायल बने धनै धनै लोंकाशाह की धर्मक्रांति की लपटें फैलती गईं सत्य का बल प्रबल होता है कितने आश्चर्य का विषय है कि उस युग में बिना किसी रेल तार, प्रेस प्लेटफार्म प्रचार प्रसार यन्त्रों के मात्र सत्य दृढ़ता व दूरदर्शिता से लोंकाशाह के ये सत्य सिद्धान्त भारत के कोने-कोने में फैल गये

क्रांति की अंतिम आहुति

लोंकाशाह ने आगमानुसार साधुमार्ग का पुनरुद्योत किया वे स्वयं तो दीक्षित नहीं हुए क्योंकि वृद्ध हो चुके थे उनके साथियों ने दीक्षित होने की प्रार्थना भी की थी पर लोंकाशाह बहुत दूर की सोचने वाले थे वे जानते थे कि आचरण की सर्वांगसबलता ही अभी अपेक्षित है उनके साथियों ने स्वय दीक्षित होने की जब अत्यधिक भावना बार-बार व्यक्त की तो उन्हें सच्चे संयम का विकट स्वरूप सभी भांति समझाया फिर भी उनकी दृढ़ता व प्रबल इच्छा देखी तो लोंकाशाह ने जिन धर्म के उद्योत के लिये उनकी भावना का स्वागत किया और उनके उपदेश से लखमसी जगमाल आदि ४५ व्यक्ति एक साथ भागवती दीक्षा से दीक्षित बने लोंकाशाह की क्रांति की यह चरम परिणति थी इन ४५ व्यक्तियों में से कई बड़े-बड़े संघपति व लक्ष्मीपति थे इनके संयम तप तेज का खूब प्रभाव पड़ा

महत्त्व एवं मूल्यांकन

इस प्रकार लोंकाशाह ने धर्म के नाम पर प्रचलित पाखंड का पर्दाफाश किया उन्होंने क्रांति का भव्य सन्देश दिया सत्यमार्ग की प्ररूपणा हुई धर्म का पुनरुद्धार हुआ

यह धार्मिक क्रांति का सुप्रभात कितना आह्लादकारी था जब कि शताब्दियों की अंधकारमय रात्रि मे सुषुप्त जनमानस ने चेतना की प्रथम अंगड़ाई लेकर क्रांति-ज्योति के सर्वप्रथम अभिनव दर्शन किये यह नूतन मंगल प्रभात था सत्यधर्म का सूर्य चमक रहा था उसके भव्य दिव्य प्रकाश मे अविद्याचित्त रात्रि का आडम्बर-अंधकार एवं शैथिल्य के उलूक न जाने कहाँ विलुप्त हो गये ! जन-मानस का हृदय कमल प्रफुल्लित था

धर्मक्रांति की वीणा बजाने वाले सत्य का शंख फूकने वाले महान् निडर-दूरदर्शी वीर क्रांतिकारी लोंकाशाह ! तुम्हें हमारा भावपूर्ण शत-शत वन्दन अभिनन्दन है !

लोंकाशाह की यह क्रांति विलक्षण है ज्ञान-दर्शन-चारित्रप्रधान स्थानकवासी समाज' इसी वीर पुरुष की देन है उस विकट अंधकार के अटपटे कलयुग मे गुण-पूजा की सबल स्थापना कितनी उत्साहपूर्ण व आशा प्रद घटना है हम कल्पना तक नहीं कर सकते अगर लोंकाशाह ने यह धार्मिक क्रांति न की होती तो आज क्या होता ?

हमारा कर्तव्य

भारत के पूवर लोंकाशाह की क्रांति का मूल्यांकन सरल नही है पर दुर्भाग्य से हमारे समाज मे इतिहास के लेखन व प्रचार एव प्रसार की भावना न होने से एक ऐसा जबर्दस्त क्रांतिकर अतीत के अंधकार में आज भी विलुप्त है नही तो क्या इस सुधारक का महत्त्व मध्यकालीन किसी भी धर्म-सुधारक से कम है? इस महान् क्रांतिप्रणेता का आद्योपांत विशद

पर सज्जन की चाह सदा पूरी होती है जो ढूंढता है उसे मिलता है सयोग कि एक बार ज्ञान मुनि लोंकाशाह के घर गोचरी को गये उन्होने उनके मोती जैसे अक्षरो को देखकर सूत्रो की नकल करने का काम सौंपा ज्ञानजी को क्या पता था कि यह आज का सुलेखक कल का महान् क्रान्तिकारी बन धर्म का सत्य स्वरूप दृढ़ता से प्रतिपादित करेगा

ज्ञान की प्राप्ति

शास्त्रो की नकल चलती गई दो प्रतियाँ बनती थी एक मुनिजी को देते दूसरी अपने पास रखते स्वाध्याय, चिंतन, मनन, पठन-पाठन मे लोंकाशाह का ज्ञान बढता गया ज्ञान के प्रकाश मे रूढिवाद या आडम्बर कैसे टिक सकता है ? ज्यो-ज्यो शास्त्र-ज्ञान बढता गया त्यो-त्यो विलासिता व शिथिलता की पोल खुलती गई और दशवैकालिक सूत्र की प्रथम गाथा "धम्मो मगलमुक्किट्ठ " ने तो उनका पूरा पथ-प्रदर्शन कर दिया उनके नेत्र खुल गये शास्त्रों के विशुद्ध ज्ञान से, समाज मे व्याप्त अध-श्रद्धा से उन्हें ग्लानि हो गई शुद्ध जैन आगम पर श्रद्धा मजबूत हुई अब तो उन्हें समाज मे दिन-प्रतिदिन बढती शिथिलता स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगी उन्होंने देखा तो भली भाति ज्ञात हुआ कि—मदिरो, मूर्तियो, मठो की प्रतिष्ठा का उल्लेख आगमों मे कही नही है

अब दीर्घदृष्टि लोंकाशाह भला कैसे शात रहते ? सद्ज्ञान का प्रसार उनका लक्ष्य बन गया प्रथम तो वे पास आनेवालो को ही ज्ञानप्रसाद बाँटते पर शीघ्र ही उन्होने समझ लिया कि आज का जमाना विज्ञापन का है तब वे सार्वजनिक स्थानो पर अपने सत्य विचार निडरता से प्रकट करने लगे

उपदेशधारा

अपने सद्ज्ञान का सार विलक्षण मेधावी, दीर्घदृष्टा वीर लोंकाशाह ने इस प्रकार घोषित किया—

'शास्त्रो मे प्रमाणित अहिंसा, त्याग, सयम मे समन्वित सद्धर्म, आज शिथिल सम्प्रदायपोषक हाथो मे पडकर कलुषित बन गया है मोक्षसाधना के लिये आडम्बरभरी हिंसायुक्त जडपूजा की कोई आवश्यकता नही है मानसिक पूजा से ही आत्मकल्याण शक्य है वीतराग धर्मकी आराधना के लिये त्याग तपश्चर्या की आवश्यकता है मूर्तिपूजा आगमोक्त नही है अहिंसा मे ही धर्म है धर्म के नाम पर सूक्ष्मातिसूक्ष्म हिंसा भी अक्षम्य है सासारिक लालसाओ की पूर्ति हेतु देवार्चन मिथ्यात्व है रूढि एव अधपरम्परा को तोडना ही जैनत्व है जैन जन्म या जाति मे नही प्रत्युत गुण व आचरण से होता है जैन-धर्म का दीक्षा-प्रसग भी कम महत्त्वपूर्ण नही है केशमुडन तो वैराग्य का लक्षण है कषायविमोचन ही सच्चा वैराग्य है जैन श्रमण के तो क्षमा मार्दव आर्जव आदि १० निकट अभिन्न सहयोगी होते है वह तो ससार से अत्यल्प ग्रहण कर आत्मकल्याण करता हुआ विश्वकल्याण मे सतत निरत रहता है वह किसी को भारस्वरूप नही होता. साधु-साध्वी श्रावक-श्राविका ये जैन-सघ के चार सुदृढ स्तभ है यदि इनमे से कोई एक भी डगमगा जाय तो सारी भव्य इमारत हिल सकती है साधुवर्ग एव श्रावकवर्ग दोनो की धर्म को सुदृढ बनाने की समान जिम्मेवारी है अहिंसामय जैनधर्म की हानि से विश्वशाति को खतरा पहुँच सकता है और यह विश्व दुख के गहरे सागर मे गोते खा सकता है अत जैन-धर्म का सच्चा स्वरूप विश्व का सम्यक् पथप्रदर्शन करता रहे तथा जन-मानस मे प्रेम और शाति की भावना जागृत करता रहे, यह सर्वथा वाछनीय है

लोंकाशाह को कथन की मनहर शैली, सरलता, सज्जनता, विनम्रता समाज की हितभावना एव दूरगामी दृष्टि प्राप्त थी उनके उपदेशो का आशातीत प्रभाव होने लगा लोग खिंचे से आने लगे कुछ श्रद्धा से आते तो बहुत कुछ कौतूहल से या परीक्षा लेने या तमाशबीन बन दर्शक की तरह आते पर उनके पास आकर सत्य सदेश के समर्थक बन जाते

एक नई घटना थी पुराण पथी वर्ग के खेमे मे खलबली मच गई उनके लिये तो लोंकाशाह के ये प्रयास सर्वघाती थे सत्तालोलुप वर्ग इस प्रभावशाली दूरगामी धर्मक्रांति को देख घबरा गया लोगो को बहकाया जाने लगा कि—'लोंकाशाह नाम के एक 'लहिये' ने अहमदाबाद मे शासन के विरोध मे विद्रोह खडा कर दिया है वह धर्मभ्रष्ट है उत्सूत्र प्ररूपणा कर रहा है, ढोगी है, छलिया है'

लखमसी का सहयोग

तत्कालीन एक सुसंपन्न व प्रख्यात श्रावक अनहिलपुर पाटण निवासी श्रीलखमसी भी लोंकाशाह को परखने आये बात इन्द्रभूति व महावीर की-सी हुई लखमसी ने अपने प्रश्न रखे लोंकाशाह ने शास्त्रसम्मत युक्तियों से सुस्पष्ट समझाया लखमसी पूर्ण प्रभावित हुए फिर खूब विचारविमर्श गहरा शंका-समाधान और अंतत: लोंकाशाह के घनिष्ठ सहयोगी ! सह धर्मप्रचारक !

क्रांति की व्यापकता

अब तो शक्ति एकदम द्विगुणित फिर तो अरहटवाड़ा पाटण सूरत आदि चार संघों के संघपति भी लोंकाशाह की विचारधारा के कायल बने धर्नै धर्नै लोंकाशाह की धर्मक्रांति की लपटें फैलती गईं सत्य का बल प्रबल होता है कितने आश्चर्य का विषय है कि उस युग में बिना किसी रेल तार, प्रेस प्लेटफार्म प्रचार प्रसार यंत्रों के मात्र सत्य दृढ़ता व दूरदर्शिता से लोंकाशाह के ये सत्य सिद्धान्त भारत के कोने-कोने में फैल गये

क्रांति की अंतिम आहुति

लोंकाशाह ने आगमानुसार साधुमार्ग का पुनरुद्योत किया वे स्वयं तो दीक्षित नहीं हुए क्योंकि वृद्ध हो चुके थे उनके साथियों ने दीक्षित होने की प्रार्थना भी की थी पर लोंकाशाह बहुत दूर की सोचने वाले थे वे जानते थे कि आचरण की सर्वांगसंपन्नता ही अभी अपेक्षित है उनके साथियों ने स्वयं दीक्षित होने की जब अत्यधिक भावना बार-बार व्यक्त की तो उन्हें सच्चे संयम का विकट स्वरूप भली भांति समझाया फिर भी उनकी दृढ़ता व प्रबल इच्छा देखी तो लोंकाशाह ने जिन धर्म के उद्योत के लिये उनकी भावना का स्वागत किया और उनके उपदेश से लखमसी जगमाल आदि ४५ व्यक्ति एक साथ भागवती दीक्षा से दीक्षित बने लोंकाशाह की क्रांति की यह चरम परिणति थी इन ४५ व्यक्तियों में से कई बड़े-बड़े संघपति व लक्ष्मीपति थे इनके संयम तप तेज का खूब प्रभाव पड़ा

महत्त्व एवं मूल्यांकन

इस प्रकार लोंकाशाह ने धर्म के नाम पर प्रचलित पाखंड का पर्दाफाश किया उन्होंने क्रांति का नव्य भव्य संदेश दिया सत्यमार्ग की प्ररूपणा हुई धर्म का पुनरुद्धार हुआ

यह धार्मिक क्रांति का सुप्रभात कितना आह्लादकारी था जब कि शताब्दियों की अंधकारमय रात्रि में सुषुप्त जनमानस में चेतना की प्रथम अंगड़ाई लेकर क्रांति-ज्योति के सर्वप्रथम अभिनव दर्शन किये यह नूतन मंगल प्रभात था सत्यधर्म का सूर्य चमक रहा था उसके नव्य दिव्य प्रकाश में रूढ़िवादिता रात्रि का आडम्बर-अंधकार एवं शैथिल्य के उलूक न जाने कहाँ विलुप्त हो गये ! जन-मानस का हृदय कमल प्रफुल्लित था

धर्मक्रांति की वीणा बजाने वाले सत्य का शंख फूंकने वाले महान् निडर-दूरदर्शी वीर क्रांतिकारी लोंकाशाह ! तुम्हें हमारा भावपूर्ण शत-शत वन्दन अभिनन्दन है !

लोंकाशाह की यह क्रांति विलक्षण है ज्ञान-दर्शन-चारित्रप्रधान 'स्थानकवासी समाज' इसी वीर पुरुष की देन है उस विकट अंधकार के अटपटे जड़युग में गुण-पूजा की सबल स्थापना कितनी उत्साहपूर्ण व आशा प्रद घटना है हम कल्पना तक नहीं कर सकते अगर लोंकाशाह न यह धार्मिक क्रांति न की होती तो आज क्या होता ?

हमारा कर्तव्य

भारत के भूपर लोंकाशाह की क्रांति का मूल्यांकन सरल नहीं है पर दुर्भाग्य से हमारे समाज में इतिहास के लेखन व प्रचार एवं प्रसार की भावना न होने से एक ऐसा जबर्दस्त क्रांतिकर अतीत के अंधकार में आज भी विलुप्त है नहीं तो क्या इस सुधारक का महत्त्व मध्यकालीन किसी भी धर्म-सुधारक से कम है? इस महान् क्रांतिप्रणेता का आद्योपांत विवर

विवरण प्रस्तुत कर हम अब पुरानी भूलो का परिमार्जन कर सकते है अन्यथा आनेवाला कल हमे कदापि क्षमा नही करेगा

धर्मवेदी पर बलिदान

सुधारक का पथ कटकाकीर्ण होता है उन्हे पूजा मिलती है तो प्रहार भी मूर्ख जनता अपने वीर सुधारक का एकदम स्वागत कहाँ करती है ? ईसा को शूली पर चढना पडता है तो सुकरात को विषपान करना होता है पैगम्बर मुहम्मद साहब को मक्का से मदीना प्रयाण करना पडता है यही बात इस सुधारक लोकाशाह के साथ हुई चैत्यवासी एव स्वार्थी लोग लोकाशाह की विमल कीर्ति व उनका दिन प्रतिदिन बढता प्रभाव सहन नही कर सके एक दिन विषयुक्त आहार से इस वीर ने अपने प्राणो तक को समाज धर्म की बलिवेदी पर हँसते-हँसते न्यौछावर कर दिया क्राति की मशाल की कितनी दीप्ति ? लोकाशाह धर्म के लिये ही जिये व धर्म के लिये ही मरे वे क्राति की लपट बनकर आये और प्रकाशपुज फैला गये

अतिम आकाक्षा

नश्वर शरीर से न सही क्राति के अविनश्वर स्वर से वे आज भी अमर है उनकी क्राति के स्फुलिग आज भी वायुमण्डल मे इतस्तत व्याप्त है उनकी सिहगर्जना से आज भी दिशाएँ गूज रही हैं

लोकाशाह के क्रान्तिमय जीवन के अगारे आज भी मद नही हुए है उनकी ज्योति अखड है आवश्यकता है कि उस क्राति की ज्वाला मे से एक शोला फूटकर बाहर आये व चमके तथा पुन सशक्त नई क्राति करे ताकि आज का अज्ञान, भय, अविश्वास, द्वेष, फूट से जर्जरित विशृखल जैन-समाज पुन सयुक्त व सुदृढ बनकर इस आकुल विश्व मे नवमगल-सचारित कर सके

श्री दलसुखभाई मालवणिया
निदेशक ला० द० भारतीय संस्कृति-विद्यामंदिर अहमदाबाद

लोंकाशाह मत की दो पोथियाँ

[भारतवर्ष के सांस्कृतिक उत्क्रान्तिपूर्ण इतिहास में १५ १६वीं शताब्दी का विशिष्ट महत्त्व रहा है कबीर, नानक और तारणतरण स्वामी आदि महान् पुरुषों ने निर्गुण विचारधारा का प्रबलता से समर्थन किया है एवं सगुणोपासक समाज धर्म और पूजा के नाम पर फैले हुए अर्थहीन आडम्बरो पर प्रहार कर जनमानस को उद्बुद्ध किया है

श्रीमान् लोंकाशाह भी इसी युग की उपलब्धि हैं इसमे कोई सन्देह नही कि उनके मन में जैनधर्म की शुद्ध प्रभावना की बलवती भावना घर किये हुई थी और वे यह चाहते थे कि श्रमणसंस्कृति में आचारमूलक जो शैथिल्य प्रविष्ट हो गया है उसका उन्मूलन हो

यहाँ प्रश्न यह उपस्थित हो जाता है कि श्रीमान् लोंकाशाह ने आदर्शमूलक सम्प्रदाय प्रारम्भ तो किया पर उनकी मौलिक विचारधारा क्या थी ? वे संस्कार के रूप में समाज को क्या देना चाहते थे और उनका उच्चादर्श किस प्रकार और किस सीमा तक प्रतिस्फुटित हुआ ? एवं उनके परवर्ती विभिन्न आनुयायिकों ने उनके नाम पर किन सिद्धांतो का समर्थन करते हुए परिवर्तन परिवर्धन व परिशोधन किया ? इत्यादि तथ्य तिमिराच्छन्न हैं

प्रस्तुत निबंध इसी अनुसंधान में यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है इसके पश्चात् भी अन्वेषण का क्षेत्र प्रशस्त होता रहे एवं अन्य किन्हीं विद्वानों को एतद्विषयक प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध हो तो वे अवश्य ही प्रकाश में लाएं ताकि यह अन्धकारपूर्ण युग आलोकित हो सके

इस सम्बन्ध में निम्न सामग्री भी द्रष्टव्य है—

(१) सिद्धांत चौपई—मुनि लावण्यसमयकृत रचनाकाल १५४३
(२) सिद्धांतसारोद्धार-कमलसंयम उपाध्यायप्रणीत रचना-काल १५४४
(३) प्रमोदयवचन-पार्श्वचन्द्र सूरि रचित रचना सं १६ वीं सदी के करीब
(४) सिद्धांतबोल संग्रह-लेखन काल १५७१
(५) कुमतिविध्वंसन चौपई-हीरकलश गुम्फित रचनाकाल १६१७
(६) लोंक-मतनिराकरण चौपई-सुमतिकीर्ति कृत
(७) प्रवचन-परीक्षा-धर्मसागररचित रचनाकाल १६७५
(८) लुंपकमत-तमोदिनकर चौपई गुणविनयकृत रचना १६७५
(९) लोंकामत-स्वाध्याय-नयसागर रचना १७ वीं सदी
(१) रूपचन्द्र भारणि—टीकम कृत रचना १६९९
(११) दया धर्म चौपई—भानुचन्द्र कृत

इन के अतिरिक्त तात्कालिक जैन ग्रन्थों की पट्टावलियों में लोंकाशाह और तदनुयायियों के सम्बन्ध में भी कई उल्लेख उपलब्ध हैं जो समसामयिक स्थिति के अध्ययन में सहायक हो सकते हैं पुरातन ज्ञानागारों में भी विद्वानों के स्वाध्याय के स्फुट चर्चात्मक ग्रन्थों में इस विषय की चर्चा पाई जाती है —संपादक]

श्री लोकाशाह स्थानकवासी सम्प्रदाय के आदि सस्थापक माने जाते है किन्तु उनके विषय मे तथा उनके द्वारा रचित साहित्य के विषय मे हमारा ज्ञान अत्यल्प है उनके विरोधियो ने उनके विपय मे जो कुछ लिखा है, उसी को आधार मान कर अभी तक लोकाशाह का इतिहास लिखा गया है अब तक यह खोज नही हुई कि उन्होने स्वय या उनके अनुयायियो ने क्या कुछ लिखा है सही जानकारी के लिए और उनके प्रामाणिक इतिहास के लिए यह आवश्यक है कि उनका लिखा या उनका उपदिष्ट कुछ साहित्य खोजा जाय इस ओर मेरी अभी-अभी प्रवृत्ति हुई है मैंने कुछ हस्तलिखित प्रतियो का निरीक्षण किया तो पता लगा कि श्री लोकाशाह के विरोधियो ने जो लिखा है उसमे यह विवेक नहीं किया गया कि स्वय लोकाशाह ने क्या कहा और उसके बाद उनके अनुयायियो ने (जो कालक्रम से होते आये है) क्या कहा ? अतएव विपक्षियो के इस साहित्य से यथार्थ बात सामने नही आती किन्तु समग्र रूप से स्थानकवासी सम्प्रदाय की क्या-क्या बातें थी, यही केवल जाना जाता है

किस क्रम से यह सम्प्रदाय आगे बढा और लोकाशाह ने कितनी बातें कही और कितनी बातें बाद के आचार्यों ने उसमे जोडी, यह जानने का ठीक साधन अभी तक मुद्रित रूप मे हमारे सामने नही आया मैंने हस्तलिखित प्रतियो मे खोजना प्रारम्भ किया कि स्वय लोकाशाह को क्या बातें मान्य थी ? सद्भाग्य से मेरे सामने ऐसी दो हस्तलिखित प्रतिया आई है जिनके विषय मे यह कहा जा सकता है कि उनका सीधा सबन्ध लोकाशाह से है इन दो प्रतियो का परिचय यहा देना है और इनके फलितार्थ पर कुछ विवेचन करना है

इन दो प्रतियो की नकलें लोकाशाह के विरोधियो ने की है, क्योकि एक मे लुका के स्थान पर सस्कृत मे 'लुपक' लिखा हुआ है और दूसरी मे प्रति की समाप्ति के अनन्तर लिखा है—इसमे जो लिखा है वह श्रद्धा के लिए नही, अपितु लोकाशाह क्या मानते है, उसे दिखाने के मन्तव्य से लिखा है तथापि दोनो प्रतियो मे लिखित मूल मन्तव्य तो लोका के ही हैं, इसमे तनिक भी सदेह नही क्योकि एक मे स्पष्टरूपेण लिखा है कि यहाँ लोकाशाह के द्वारा जिन ५८ बोल-बातो की श्रद्धा की गई है तथा जो उन्होने किया है वही लिखा जाता है एक मे ५८ तो दूसरी मे ३३ बोल है.

इतनी सामान्य-चर्चा के बाद अब दोनो प्रतियो के आधार पर जो मत फलित होता है उसकी चर्चा की जाय

यह तो निश्चित है कि लोकाशाह ने मूर्ति का निर्माण, मूर्ति की पूजा, मूर्ति की प्रतिष्ठा, तीर्थयात्रा आदि मूर्तिपूजा के साथ सबन्ध रखने वाली सभी बातो मे हिंसा देखी है दया के नाम पर या अहिंसा के नाम पर उनका विरोध किया है उन्होने यह बताने का प्रयत्न किया है कि शास्त्र मे मूर्तिपूजा को कर्तव्य या आवश्यक कर्तव्य मे स्थान नही है द्रौपदी जैसी किसी व्यक्ति द्वारा मूर्तिपूजा करने का उल्लेख यदि शास्त्र मे है भी तो इसका तात्पर्य इतना ही है कि उसने मूर्ति की पूजा सासारिक प्रयोजनो से की है, मोक्ष के लिए नही मूर्तिपूजा हिंसा का काम है अतएव वह धर्म-कार्य नही है, इस बात की सिद्धि करने के लिए श्री लोकाशाह ने जहाँ कही से, जो भी आगम-वाक्य का सहारा मिला, उस सभी का उपयोग करके एक ही बात कह दी है कि दया मे धर्म है और हिंसा से ससार अतएव मूर्ति-पूजा अकरणीय है

उनके इस आग्रह का खडन कई विद्वानो ने योग्य उक्तियों द्वारा करने का प्रयत्न किया है और सम्भवत उन उक्तियो का ही फल है कि आज स्थानकवासियो मे मूर्तिपूजा का भले ही प्रचार न हुआ हो किन्तु लोका गच्छ मे तो मूर्ति-पूजा का प्रचलन हुआ ही है तत्कालीन धार्मिक इतिहास का पर्यालोचन किया जाय तो विदित होगा कि देश की धार्मिक आवश्यकताओ मे से ही मूर्तिपूजा जैन धर्म मे आई है और वह स्थिर रहने के लिए ही आई है उसका सर्वथा उन्मूलन नही हो सकता है मूर्तिपूजा मे कई प्रकार के आडम्बर आ गए है और उनका निराकरण जरूरी है किन्तु आडम्बरो के साथ मूर्तिपूजा को भी उठा देना सभव नही है

लेकिन लोकाशाह को तो एक बात का विरोध करना था अतएव अति आग्रह किये बिना उनका काम चल नही सकता था समाधान-वृत्ति को अपनाने पर या समन्वय-वृत्ति को अपनाने पर तो धर्म मे भी मूर्ति को स्वीकार करना पडता और ऐसी स्थिति मे मूर्तिपूजा का आत्यन्तिक विरोध सम्भव नही रह जाता, ऐसे आत्यन्तिक विरोध मे से ही सम्प्र-

मार्गों का जन्म होता है समाधान या समन्वय में से सम्प्रदाय उत्पन्न नहीं हो सकता इस प्रकार जैनधर्म में मूर्तिपूजा विरोधी लोंकाशाह सम्प्रदाय शुरू हुआ किन्तु आज के अमूर्तिपूजक जैन लोग अपने को लोंका सम्प्रदाय के नाम से नहीं परन्तु स्थानकवासी या तेरापंथी के नाम से कहते हैं ऐसा क्यों हुआ यह भी जानना जरूरी है लोंकाशाह की मूर्तिपूजा विरोधी मान्यता को कायम रखते हुए भी इन सम्प्रदायों के प्रवर्तकों ने कुछ नई बातें जोड़ी हैं उन नई बातों को जोड़ने के कारण ये सम्प्रदाय नये-नये नामों से पहिचाने जाते हैं स्वयं लोंकाशाह ने किसी भी साधु के पास दीक्षा नहीं ली वे भिक्षाजीवी थे किन्तु महाव्रतों का उन्होंने स्वीकार नहीं किया था इसलिए वे न श्रावक थे और न साधु ही थे। सं. १५३४ (मतान्तर से १५३१, १५३३) में भाणाजी जब उनके अनुयायी हुये तो भाणाजी ने महाव्रतों का स्वीकार किया था और फिर उन्हीं से वेषधरों की परम्परा शुरू हुई जो लोंका के नाम से प्रसिद्ध हुई आगे चल कर इसी लोंका-सम्प्रदाय में से गुरु के साथ मतभेद हो जाने के कारण भाणाजी ऋषि (ये प्रथमोक्त भाणाजी से भिन्न थे) सं. १६८७ में दूर में जाकर रहे अतएव उनका सम्प्रदाय 'ढूंढिया' के नाम से प्रसिद्ध हुआ इस सम्प्रदाय की भी कई शाखा प्रशाखाएं हुई किन्तु आज ये सभी स्थानकवासी कहलाते हैं परन्तु इनमें भी कुछ उप-सम्प्रदाय ऐसे हैं जो आज स्थानकवासी होते हुए भी स्थानक में ठहरने से इन्कार करते हैं ढूंढिया सम्प्रदाय में से ही सं. १८१८ में भीखण जी अलग हो गये उन्होंने तेरापंथ की स्थापना की इन सभी का इस विषय में एक मत है कि मूर्तिपूजा न की जाय किन्तु वेश और उपकरणों में बहुत थोड़ा ही भेद है कुछ शास्त्रीय बातों में भी भेद है लोंकाशाह के विषय में यह आक्षेप किया गया है कि वे तत्कालीन सुल्तान के साथ मिल गये और कई मन्दिरों का ध्वंस किया इस आक्षेप में सत्य का इतना ही अंश है कि सुलतान ने मूर्तिपूजा का विरोध मूर्ति का ध्वंस करके किया जबकि लोंकाशाह ने शास्त्रीय प्रमाणों से संभव है कि बढ़ते हुये मुस्लिम प्रभाव से भी लोंकाशाह ने कुछ प्रेरणा ली हो और जैनागमों के आधार पर विरोध किया हो

आज के स्थानकवासी तथा तेरापंथी सम्प्रदायों में ३२ मूल मात्र आगम प्रमाण रूप में स्वीकृत हैं किन्तु लोंकाशाह को ४५ मान्य थे यह बात विरोधियों के द्वारा लिखे गये ग्रन्थों से जानी जा सकती है प्रस्तुत ५८ बोल के और ३४ बोल के आधार पर तो यह भी कहा जा सकता है कि लोंकाशाह को ४५ आगमों की निर्युक्ति चूर्णि टीका आदि भी उतने अंश में मान्य थे जिनका आगमों के साथ विरोध नहीं है

लोंकाशाह रजोहरण दंड मुखवस्त्रिका तथा कम्बल नहीं रखते थे जो तत्कालीन यतियों और साधुओं के वेश में स्थान पा चुके थे पात्र रखते थे किन्तु अन्य यतियों की तरह उसमें लेप नहीं देते थे किन्तु यह भी स्पष्ट है कि मुखवस्त्रिका जैसी आज थोड़े से परिमाण भेद के साथ स्थानकवासी और तेरापंथी सदैव बांधते हैं लोंकाशाह या उनके अनुयायी भाणाजी नहीं बांधते थे यह भी स्पष्ट है कि मुखवस्त्रिका में धागा डालकर कान में बांधने की प्रथा लोंकाशाह के कई वर्षों के बाद जब ढूंढिया सम्प्रदाय चला तब शुरू हुई है इसके पहले मूर्तिपूजकों में भी कुछ लोग बांधते अवश्य थे परन्तु केवल व्याख्यान के समय ही बांधने के प्रकार में भी यह इतिहास बताया गया है कि सं. १७०८ में मुखवस्त्रिका के छोरों को कान के छेद में डालकर व्याख्यान के अवसर पर मुँह और नाक ढँका जाता था इसके बाद लोंकाशाह की परम्परा में धागा सीकर के उस धागे से कान में बांध कर व्याख्यान में मुंह और नाक ढँकना शुरू हुआ इसके बाद ढूंढिया सम्प्रदाय में आज की तरह मुँहपत्ती बांधना शुरू हुआ उसी के नाप में थोड़ा परिवर्तन करके तेरापंथी भी बांधते हैं लोंकाशाह के मन्तव्यों की चर्चा करने वाली दोनों हस्तलिखित प्रतियों में मुहपत्ती की कोई चर्चा नहीं है इससे भी पता चलता है कि उस समय यह कोई विवाद का प्रश्न नहीं था

विरोधियों ने लोंकाशाह को मूढ आदि अनेक विशेषणों से विभूषित किया है किन्तु इन दोनों हस्तलिखित प्रतियों के आधार से इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जैन आगमों और उनकी टीकाओं का ज्ञान उन्हें था व्याख्या उनकी अपनी थी पर उन्हें शास्त्र का ज्ञान ही नहीं था ऐसा नहीं कहा जा सकता

मूर्तिपूजा के विरोध के विषय में उनका अति आग्रह था यह सत्य है फिर भी उनकी वाणी में विवेक की मात्रा पर

श्री लोकाशाह स्थानकवासी सम्प्रदाय के आदि सस्थापक माने जाते है किन्तु उनके विषय मे तथा उनके द्वारा रचित साहित्य के विषय मे हमारा ज्ञान अत्यल्प है उनके विरोधियो ने उनके विषय मे जो कुछ लिखा है, उसी को आधार मान कर अभी तक लोकाशाह का इतिहास लिखा गया है अब तक यह खोज नही हुई कि उन्होने स्वय या उनके अनुयायियो ने क्या कुछ लिखा है सही जानकारी के लिए और उनके प्रामाणिक इतिहास के लिए यह आवश्यक है कि उनका लिखा या उनका उपदिष्ट कुछ साहित्य खोजा जाय इस ओर मेरी अभी-अभी प्रवृत्ति हुई है मैंने कुछ हस्त-लिखित प्रतियो का निरीक्षण किया तो पता लगा कि श्री लोकाशाह के विरोधियो ने जो लिखा है उसमे यह विवेक नही किया गया कि स्वय लोकाशाह ने क्या कहा और उनके बाद उनके अनुयायियो ने (जो कालक्रम से होते आये है) क्या कहा ? अतएव विपक्षियो के इस साहित्य से यथार्थ बात सामने नही आती किन्तु समग्र रूप मे स्थानकवासी सम्प्रदाय की क्या-क्या बाते थी, यही केवल जाना जाता है

किस क्रम से यह सम्प्रदाय आगे बढा और लोकाशाह ने कितनी बातें कही और कितनी बाते बाद के आचार्यों ने उसमे जोडी, यह जानने का ठीक साधन अभी तक मुद्रित रूप मे हमारे सामने नही आया मैंने हस्तलिखित प्रतियो मे खोजना प्रारम्भ किया कि स्वय लोकाशाह को क्या बातें मान्य थी ? सद्भाग्य से मेरे सामने ऐसी दो हस्तलिखित प्रतिया आई है जिनके विषय मे यह कहा जा सकता है कि उनका सीधा सबन्ध लोकाशाह से है इन दो प्रतियो का परिचय यहा देना है और इनके फलितार्थ पर कुछ विवेचन करना है

इन दो प्रतियो की नकलें लोकाशाह के विरोधियो ने की है, क्योकि एक मे लुका के स्थान पर सस्कृत मे 'लुपक' लिखा हुआ है और दूसरी मे प्रति की समाप्ति के अनन्तर लिखा है—इसमे जो लिखा है वह श्रद्धा के लिए नही, अपितु लोकाशाह क्या मानते है, उसे दिखाने के मन्तव्य से लिखा है तथापि दोनो प्रतियो मे लिखित मूल मन्तव्य तो लोका के ही है, इसमे तनिक भी सदेह नही क्योकि एक मे स्पष्टरूपेण लिखा है कि यहाँ लोकाशाह के द्वारा जिन ५८ बोल-बातो की श्रद्धा की गई है तथा जो उन्होने किया है वही लिखा जाता है एक मे ५८ तो दूसरी मे ३३ बोल है.

इतनी सामान्य-चर्चा के बाद अब दोनो प्रतियो के आधार पर जो मत फलित होता है उसकी चर्चा की जाय

यह तो निश्चित है कि लोकाशाह ने मूर्ति का निर्माण, मूर्ति की पूजा, मूर्ति की प्रतिष्ठा, तीर्थयात्रा आदि मूर्तिपूजा के साथ सबन्ध रखने वाली सभी बातो मे हिंसा देखी है दया के नाम पर या अहिंसा के नाम पर उनका विरोध किया है उन्होंने यह बताने का प्रयत्न किया है कि शास्त्र मे मूर्तिपूजा को कर्तव्य या आवश्यक कर्तव्य मे स्थान नही है द्रौपदी जैसी किसी व्यक्ति द्वारा मूर्तिपूजा करने का उल्लेख यदि शास्त्र मे है भी तो इसका तात्पर्य इतना ही है कि उसने मूर्ति की पूजा सासारिक प्रयोजनो से की है, मोक्ष के लिए नही मूर्तिपूजा हिंसा का काम है अतएव वह धर्म-कार्य नही है, इस बात की सिद्धि करने के लिए श्री लोकाशाह ने जहाँ कही से, जो भी आगम-वाक्य का सहारा मिला, उस सभी का उपयोग करके एक ही बात कह दी है कि दया मे धर्म है और हिंसा से ससार अतएव मूर्ति-पूजा अकरणीय है

उनके इस आग्रह का खडन कई विद्वानो ने योग्य उक्तियो द्वारा करने का प्रयत्न किया है और सम्भवत उन उक्तियो का ही फल है कि आज स्थानकवासियो मे मूर्तिपूजा का भले ही प्रचार न हुआ हो किन्तु लोका गच्छ मे तो मूर्ति-पूजा का प्रचलन हुआ ही है तत्कालीन धार्मिक इतिहास का पर्यालोचन किया जाय तो विदित होगा कि देश की धार्मिक आवश्यकताओ मे से ही मूर्तिपूजा जैन धर्म मे आई है और वह स्थिर रहने के लिए ही आई है उसका सर्वथा उन्मूलन नही हो सकता है मूर्तिपूजा मे कई प्रकार के आडम्बर आ गए है और उनका निराकरण जरूरी है किन्तु आडम्बरो के साथ मूर्तिपूजा को भी उठा देना सभव नही है

लेकिन लोकाशाह को तो एक बात का विरोध करना था अतएव अति आग्रह किये बिना उनका काम चल नही सकता था समाधान-वृत्ति को अपनाने पर या समन्वय-वृत्ति को अपनाने पर तो धर्म मे भी मूर्ति को स्वीकार करना पडता और ऐसी स्थिति मे मूर्तिपूजा का आत्यन्तिक विरोध सम्भव नही रह जाता, ऐसे आत्यन्तिक विरोध मे से ही सम्प्र-

दायों का जन्म होता है समाधान या समन्वय में से सम्प्रदाय उत्पन्न नहीं हो सकता इस प्रकार जैनधर्म म मूर्तिपूजा विरोधी लोंकाशाह सम्प्रदाय शुरू हुआ किन्तु आज के अमूर्तिपूजक जैन लोग अपने को लोंका सम्प्रदाय के नाम से नही परन्तु स्थानकवासी या तेरापथी के नाम से कहते है ऐसा क्यो हुआ यह भी जानना जरूरी है लोंकाशाह की मूर्तिपूजा विरोधी मान्यता को कायम रखते हुए भी इस सम्प्रदायो के प्रवर्तकों ने कुछ नई बातें जोड़ी हैं. उन नई बातों का जोड़ने क कारण ये सम्प्रदाय नये-नये नामो से पहिचाने जाते है स्वय लोंकाशाह ने किसी भी साधु के पास दीक्षा नही ली वे भिखाजीवी थे किन्तु महाव्रतों को उन्होने स्वीकार नही किया था इसलिए वे न श्रावक थे और न साधु ही स १५३४ (मतान्तर से १५३१ १५३३) में भाणाजी जब उनके अनुयायी हुये तो भाणाजी ने महाव्रतो का स्वीकार किया था और फिर उन्ही से वेशधरों की परम्परा शुरू हुई जो लोंका के नाम से प्रसिद्ध हुई आगे चल कर इसी लोंका-सम्प्रदाय में से गुरु के साथ मनमुटाव हो जाने के कारण भाणाजी ऋषि (ये प्रथमोक्त भाणाजी से भिन्न थे) स १६८७ में ढूढ में आकर रहे अतएव उनका सम्प्रदाय ढूढिया' के नाम से प्रसिद्ध हुआ इस सम्प्रदाय की भी कई शाखा प्रशाखाए हुई किन्तु आज ये सभी स्थानकवासी कहलाते है परन्तु इनमें भी कुछ उप-सम्प्रदाय ऐसे है जो आज स्थानकवासी होते हुए भी स्थानक में ठहरने से इन्कार करते है ढूढिया सम्प्रदाय में से ही स १८१८ में भीखण जी अलग हो गये उन्होने तेरापथ की स्थापना की इन सभी का इस विषय मे एक मत है कि मूर्तिपूजा न की जाय किन्तु वेष और उपकरणो में बहुत थोड़ा ही भेद है कुछ शास्त्रीय बातों मे भी भेद है लोंकाशाह के विषय में यह आक्षेप किया गया है कि वे तत्कालीन सुल्तान के साथ मिल गये और कई मन्दिरों का ध्वस किया इस आक्षेप मे सत्य का इतना ही अश है कि सुलतान ने मूर्तिपूजा का विरोध मूर्ति का ध्वस करके किया जबकि लोंकाशाह ने शास्त्रीय प्रमाणो से समव है कि अवश्य हुये मुस्लिम प्रभाव से भी लोंकाशाह ने कुछ प्रेरणा ली हो और जैनागमों के आधार पर विरोध किया हो

आज क स्थानकवासी तथा तेरापथी सम्प्रदायों म ३२ मूल मात्र आगम प्रमाण रूप मे स्वीकृत है किन्तु लोंकाशाह को ४५ मान्य थे यह बात विरोधियो के द्वारा लिखे गये ग्रथो से जानी जा सकती है प्रस्तुत ५८ बोल के और ३३ बोल के आधार पर तो यह भी कहा जा सकता है कि लोंकाशाह को ४५ आगमों की निर्युक्ति चूर्णि टीका आदि भी उतने अश म मान्य थे जिनका आगमो के साथ विरोध नही है

लोंकाशाह रजोहरण दड मुखवस्त्रिका तथा कम्बल नही रखते थे जो तत्कालीन यतियों और साधुओं के वेष में स्थान पा चुके थ पात्र रखते थे किन्तु अन्य यतियो की तरह उसमें लेप नही देते थे किन्तु यह भी स्पष्ट है कि मुखवस्त्रिका जैसी आज थोड़े से परिमाण भेद के साथ स्थानकवासी और तेरापथी सदैव बाधते है लोंकाशाह या उनके अनुयायी भाणाजी नही बाधते थे यह भी स्पष्ट है कि मुखवस्त्रिका में धागा डालकर कान मे बाधने की प्रथा लोंकाशाह के कई वर्षों के बाद जब ढूंढिया सम्प्रदाय चला तब शुरू हुई है इसके पहले मूर्तिपूजकों में भी कुछ लोग बाधते अवश्य थ परन्तु केवल व्याख्यान के समय ही बाधने के प्रकार मे भी यह इतिहास बताया गया है कि स १७ ८ में मुखवस्त्रिका क धारा को कान क छेद म डालकर व्याख्यान क अवसर पर मुंह और नाक ढंका जाता था इसके बाद लोंकाशाह की परम्परा म धागा सीकर के उस धागे से कान में बाध कर व्याख्यान में मुह और नाक ढंकना शुरू हुआ इसके बाद ढूढिया सम्प्रदाय मे आज की तरह मुंहपत्ती बाधना शुरू हुआ उसी के नाप में थोड़ा परिवर्तन करके तेरापथी भी बाधते है लोंकाशाह के मन्तव्यो की चर्चा करने वाली दोनो हस्तलिखित प्रतियों में मुहपत्ती की कोई चर्चा नही है. इससे भी पता चलता है कि उस समय यह कोई विवाद का प्रश्न नही था

विरोधियों ने लोंकाशाह को मूढ आदि अनेक विशेषणों से विभूषित किया है किन्तु इन दोनों हस्तलिखित प्रतियो के आधार से इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जैन आगमों और उनकी टीकाओं का ज्ञान उन्हे था व्याख्या उनकी अपनी थी पर उन्हे शास्त्र का ज्ञान ही नही था ऐसा नही कहा जा सकता

मूर्तिपूजा के विरोध के विषय में उनका अति आग्रह था यह सत्य है फिर भी उनकी वाणी म विवेक की मात्रा पर

पद पर दीखती है अधिकाश बोलो के अन्त मे वे यही कहते या लिखते है कि बुद्धिमान् लोग इस विषय मे सोचें या विवेकी जन इस पर विचार करे इससे यह सुस्पष्ट है कि उनके लेखन मे कटुता बढाने का भाव नही था

लोकाशाह का यह विरोध सफल हुआ है और धर्म मे जो मूर्तिविरोधी सम्प्रादय खडा हुआ है, इसके मूल मे लोकाशाह ही है, ऐसा नि सकोच कहा जा सकता है

जैनधर्म के अनुयायियो मे लोकाशाह के कारण कुछ लोग मूर्तिपूजक नही रहे किन्तु जो मूर्तिपूजक रहे उनमे भी आड-म्बरो का और साधुओ के आचारो मे आई हुई शिथिलता का विरोध हुआ और जैनधर्म अध्यात्मप्रधान ही बना रहे, इसलिए स्वय मूर्तिपूजक साधुओ ने भी प्रयत्न किये. जैनधर्म को मौलिक आध्यात्मिकता की ओर ले जाने का अनेक महानुभावो ने प्रयत्न किया है उनमे लोकाशाह का भी एक विशिष्ट स्थान रहेगा, इसमे दो मत नही हो सकते

इतना परिचय हो जाने के बाद अब उक्त दो प्रतियो का विवरण प्रस्तुत किया जाता है ये दोनो प्रतिया अहमदाबाद के श्री लालभाई दलपतभाई भारतीय सस्कृति विद्यामन्दिर के अन्तर्गत मुनिराज श्री पुण्यविजय जी के सग्रह की है

(१) न० ४१२१ लूंकानी हुडी ३३ बोलसग्रह, पत्र २ इसके आरम्भ मे लिखा है कि जो लोग यह कहते हैं कि हमे निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य, वृत्ति, प्रकरण आदि प्रमाण रूप से मान्य हैं, उन्हे ये बातें भी मान्य करनी होगी इस प्रकार प्रस्तावना करके निशीथचूर्णि मे से अहिंसा आदि महाव्रतो के जो अपवाद दिये है उनमे से कुछ का उल्लेख किया है जैसे कि गच्छ की रक्षा के लिए व्याघ्रादि पशु की हत्या की जाय तब भी शुद्ध अर्थात् उसे अप्रायश्चित्ती कहा है, इत्यादि ये अपवाद निशीथचूर्णि के उद्देशो के क्रम से चुने हैं और बोल १ से लेकर २५ तक इसी मे से है २५ वें बोल के अन्त मे लिखा है—"जिस निशीथचूर्णि मे ऐसी बातें हैं वह सम्पूर्ण रूप से कैसे प्रमाण मानी जाय ? अर्थात् उनमे जो अविरोधी बातें हैं वे तो प्रमाण हैं किन्तु कोई यह कहे कि जैसी लिखी है वैसी ही प्रमाण मानी जाएँ, तब लोकाशाह ने सदेह उठाया है

छब्बीसवाँ बोल उत्तराध्ययन (अ० ६) की टीका मे से है, जहा यह उल्लेख है कि मुनि, प्रसग आने पर चक्रवर्त्ती के सम्पूर्ण सैन्य को नष्ट कर सकता है अन्त मे लिखा है कि इस विषय मे बुद्धिमान् पुरुष सोचें इसी प्रकार के अपवाद की चर्चा २७ वें बोल से लेकर ३५ वे बोल तक व्यवहारवृत्ति, प्रज्ञापनावृत्ति और आवश्यकनिर्युक्ति मे से की गई है और प्रश्न किया है कि इस प्रकारकी बातें जिस आवश्यकनिर्युक्ति मे हो, वह चतुर्दशपूर्वी भद्रबाहु स्वामी की रचना कैसे मानी जा सकती है ? और ऐसी ऐसी बातें जिन ग्रन्थो मे हो उन्हे सम्पूर्ण रूप से प्रमाण कैसे माना जाय ? अतएव बुद्धिमान पुरुष इस विषय मे सोचें और मूल सिद्धान्तो के ऊपर श्रद्धा करें जिससे इस लोक और परलोक दोनो मे सुख प्राप्त करेंगे

इस प्रति के अन्त मे जो लिखा है उससे स्पष्ट है कि यह प्रति लोकाशाह के मत का यथार्थ निर्देश करती है साथ ही कापी करने वाले ने अपनी ओर से वाचक को उपदेश दिया है कि प्रतिमा मानने वाले के लिए तो सर्वयुक्तिओ से पचागी प्रमाण है और यहा जो यह लिखा है वह केवल जानने के लिए ही लिखा है यथा—"**ए सर्व लू कामतीनी युक्ति छइ प्रतिमा मानइ तेहने तो पचागी प्रमाणइ सर्व युक्ति प्रमाण छइ ' जाणवानइ हेतुइ** लिखु छइ' सार यह है कि प्रस्तुत ३३ बोल का विषय यह दिखलाना है कि मूल आगम ही प्रमाण है और निर्युक्ति आदि सर्वांशत प्रमाण नही हैं यह कहना इसलिए आवश्यक था कि विपक्षी लोग लोका के समक्ष आगमो की टीकाओ मे से प्रमाण उपस्थित करते होगे अतएव उन टीकाग्रन्थो के प्रामाण का परीक्षण करना लोका के लिए आवश्यक हो गया था ३३ बोल मे यही उन्होने किया है

(२) न २९८९ लूंकाना सद्दहिया अठावन बोल विवरण पत्र १५ इस प्रति के प्रारम्भ मे हरताल लगाकर गुरु का नाम निकाल दिया है और उसके बाद—'**गुरुभ्यो नम लू काना सद्दहिया अनइ कर्या बोल ५८ लिखिइ छइ**'—है इस प्रकार प्रारम्भ मे ही लू का की श्रद्धा जिन ५८ बोलो मे थी और जो उन्होने दूसरो के समक्ष रखे थे, उसकी
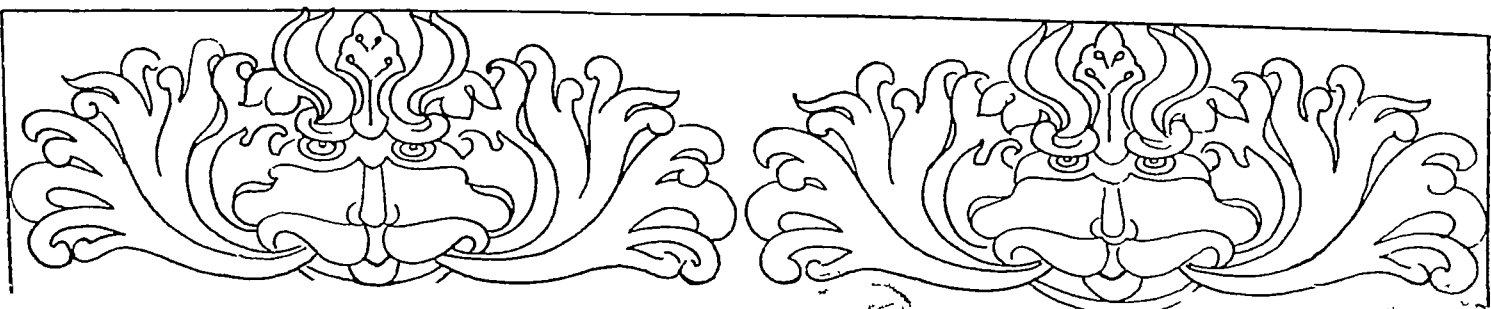
सूची दे दी है इसके बाद एक एक का विवरण लिखा गया है समाप्ति में प्रथम प्रतीत होता है कि इस ग्रंथ का संस्कृत नाम दिया है जिस पर हरताल लगा दी गई है उसका कारण यह है कि यह प्रति विरोधी ने लिखी थी और लुंका के नाम का संस्कृत रूप लुपक का निर्देश उसमें किया गया है प्रतीत होता है कि जब यह किसी लुंका के अनुयायी के पास आई तब उसने लुपक नाम के ऊपर हरताल लगा दी साथ ही संस्कृत नाम के ऊपर भी हरताल लगा दी फिर भी जो पढ़ा जाता है वह इस प्रकार है—

इति श्री लु पकेम कृताष्टपंचाशा त विचाररत्न लु काना सद्दिया थमई लु काना करिया अठावन बोल थमई लेहनु विचार लिखित चइ शुभं भवतु

यह प्रति पत्र १५ की प्रथम अर्ध बाजू में समाप्त होती है किन्तु उसके बाद ५४ बोल की एक सूची लिखी गई है और प्रारम्भ में प्रश्न किया गया है कि इन ५४ बातों का मूल आगम में कहा है ? इस सूची म तत्काल के आचार और विचार की ऐसी बातों का संग्रह किया गया है जो मूल आगमों में नहीं मिलती हैं किन्तु उस काल में जैन समाज में प्रचलित हो गई थी और जिनके विषय में लोंका और उनके अनुयायी प्रश्न उठाते होंगे इस प्रति को मुद्रित करने का विचार है अतएव विशेष विवरण मुद्रण के समय दिया जायगा

कुंवर लालचन्द्र नाहटा 'तरुण'

स्थानकवासी परम्परा की विशेषताएँ

शरीर विजातीय पदार्थों के प्रवेश मे विकारग्रस्त हो जाता है यही नियम भाषा, जाति, पथ, सप्रदाय, सस्कृति एव धर्म पर भी चरितार्थ होता है वातावरण मे व्याप्त विजातीय तत्त्वो की प्रचुरता एव अनतकालीन विभावपरिणति से उद्भूत मानव-मन की प्रमादप्रियता से जव धर्म मे विजातीय तत्त्व स्थान पा जाते है तो धर्म मे पाखड, आडवर एव गुरुडमवाद का वोलवाला हो जाता है धर्म का वास्तविक उद्देश्य विलुप्त हो जाता है नि सत्त्व क्रिया-काडो की भरमार हो जाती है, जिनपर आधारित विधि-निषेधो से मानव का मन कुठाग्रस्त हो जाता है धर्म के इस शव से उत्पन्न दुर्गन्ध से समस्त वातावरण विषम और विषमय हो जाता है ऐसे समय मे या तो उसमे क्राति होती है अथवा वह विनष्ट हो जाता है जैन-धर्म भी इसका अपवाद नही है भगवान् महावीर ने जिन रीति-रिवाजो या क्रियाकाण्डो का विरोध किया था उनके कुछ काल पश्चात् वे ही चोर दर्वाजो से इसमे प्रवेश करने लगे

जव धीरे-धीरे जैन-धर्म मे विकार अत्यधिक वढ गये, तो उसमे क्राति के लिये पूरी-पूरी पीठिका तैयार हो गयी ऐसे ही समय मे अहमदावाद के श्रीमान् लोकाशाह नामक महान् प्रतिभासपन्न, तेजस्वी, विद्वान् श्रावक को सयोगवशात् आगम-अवलोकन का अवसर उपलब्ध हुआ उनके सुन्दर अक्षरो पर मोहित होकर ज्ञानजी नामक यति ने उन्हे प्रतिलिपि करने के हेतु शास्त्र दिये सुज्ञ श्रावकजी ने उन शास्त्रो की दो-दो प्रतिलिपियाँ की एक-एक प्रति यतिजी को दी तथा एक-एक अपने पास सुरक्षित रखी तीव्र मेधावी और परम जिज्ञासु तो वे थे ही, यतियो एव पडितो के विशेष सपर्क से आगमो मे उनकी गति भी थी, फिर मिल गया उन्हे प्रतिलिपि करते समय आगमो के गहन अध्ययन, अनुशीलन और अनुसधान का अवसर ! फिर क्या था, उनकी प्रतिभा निखर उठी उनके ज्ञानचक्षु खुल गये उन्होने दृढ सकल्प किया कि जैन-धर्म मे प्रविष्ट आडवर और पाखड-प्रपच हटाकर शुद्ध जैन-धर्म का प्रचार करूँगा अपने भगीरथ-प्रयत्नो से उन्होने अपने जीवनकाल मे ही वहुसख्यक व्यक्तियो को अपना अनुयायी वनाया वर्तमान युग मे भगवान् महावीर द्वारा सस्थापित और श्रीमान् लोकाशाह द्वारा प्रचारित जैन धर्म की मौलिक धारा स्थानकवासी परम्परा के नाम से प्रख्यात है यह परम्परा जैन-धर्म की प्राचीन गरिमा से सयुक्त तो है ही, आधुनिकता से भी समन्वित है इसकी तीन मौलिक विशेषताएँ हैं —

(१) मूर्तिपूजा की अनुपादेयता (२) मुखवस्त्रिका की अनिवार्यता (३) आगमोक्त आचार का परिपालन

(१) मूर्तिपूजा की अनुपादेयता—जैसा कि भारत के माननीय प्रधानमत्री पडित जवाहरलालजी नेहरू ने अपनी विश्व-विख्यात पुस्तक 'हिन्दुस्तान की कहानी' मे सिद्ध किया है, मूर्तिपूजा का मूल स्रोत युनान है भारत मे बुद्ध के वचे हुए स्मृतिचिह्नो के आदर मान-सम्मान ने आगे जाकर उनकी और बुद्ध की मूर्तियो की पूजा को जन्म दिया इसी का अनुकरण अन्य सप्रदायो ने किया फारसी मे मूर्ति के लिये प्रयुक्त शब्द 'वुत' बुद्ध का अपभ्र श ही है, यह इसका प्रमाण है जैन-धर्म मे महावीर के बहुत काल पश्चात् मूर्ति-पूजा का प्रवेश हुआ प्रारम्भ मे केवल स्मारक आदि बने फिर धीरे-

धीरे उसमें मूर्तियां आईं और उनका पूजन प्रारम्भ हुआ और अब तो साधक की समस्त साधना ही इस पूजापाठ के आस-पास केन्द्रित हो गई किन्तु प्राचीन और आगमिक साहित्य का अवलोकन करते हैं तो यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि मूल जैनधर्म में मूर्तिपूजा को कोई स्थान नहीं था यदि मूर्तिपूजा मूलतः आगमसम्मत होती तो आगमों में अवश्य इसका उल्लेख होता कि मूर्ति किस धातु की होनी चाहिये किस आकार प्रकार की होनी चाहिये किस आसन और किस मुद्रा में होनी चाहिये ? किन्तु पूरे के पूरे आगमसाहित्य में किसी भी स्थान पर उक्त विषयों का वर्णन प्राप्त नहीं होता इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि आगमकारों को मूर्तिपूजा अभीष्ट नहीं थी, न जैनधर्म में उस समय मूर्तिपूजा प्रचलित ही हुई था

उपासकदशांग सूत्र में भगवान् महावीर के प्रमुख १० श्रावकों के जीवनचरित का तथा जीवन चर्या का विस्तृत वर्णन है उनके उपवास करने पोषधशाला में जाने पौषध करने के उल्लेख भी हैं किन्तु किसी भी श्रावक द्वारा किसी भी समय में मन्दिर जाने या मूर्ति पूजन का कोई उल्लेख नहीं है किसी श्रावक द्वारा मंदिर आदि के निर्माण कराये जाने का भी वर्णन नहीं है

अनेक आगमों में हमें भगवत्-वन्दनार्थ जानेवाले श्रावकों राजाओं और देवताओं का विशद वर्णन मिलता है किन्तु तीर्थंकरों या मूर्तिवन्दनार्थ जानेवालों का नहीं

भगवती और पुष्फिया सूत्र में सोमिल को उत्तर देते हुए महावीर फरमाते हैं—हमारे मत में ज्ञान-दर्शन चारित्र आदि में आत्मविकास करना ही यात्रा है 'ज्ञाताधर्मकथा' सूत्र में थावच्चा अनगार ने भी शुक परिव्राजक को ऐसा ही उत्तर दिया इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि जैनधर्म में मन्दिर-मूर्ति अथवा पर्वत नदी आदि पर जाने को कभी भी पुण्यकार्य या धर्मकार्य (तीर्थयात्रा) नहीं माना गया ज्ञान दर्शन चारित्र द्वारा आत्मविकास को ही जैनधर्म तीर्थयात्रा मानता है

हम देखते हैं कि भगवान् ने भिन्न भिन्न आगमों में भिन्न भिन्न नयविवक्षाओं से धर्मसाधना के भेद प्रभेदों का विस्तृत वर्णन किये किन्तु किसी भी नय से साधना के किसी भी स्तर पर मूर्तिपूजा की गणना नहीं की न ही उन्होंने कहीं मूर्ति पूजा का आदेश उपदेश रूप से विधिविधान ही किया [१] भगवती आदि सूत्रों में भगवान् के एवं गौतम आदि के विभिन्न विषयों पर अनेकों प्रश्नोत्तर हुए उनमें साधारण विषयों से लेकर गहन गम्भीर दार्शनिक गुत्थियों पर भी प्रश्नोत्तर हुए किन्तु मूर्तिपूजा के विषय में एक भी प्रश्नोत्तर नहीं हुआ इससे सिद्ध होता है कि उस समय जैनधर्म में मूर्तिपूजा को कोई स्थान नहीं था

समवायांग सूत्र एवं दशाश्रुतस्कन्ध में ३३ प्रकार की आशातनायें टालना आवश्यक बताया है किन्तु मन्दिर मूर्ति की कोई आशातना होना या टालना नहीं बताया इसी प्रकार छेदसूत्रों में अनेकों बातों के प्रायश्चित्त बताये किन्तु मूर्ति पूजा नहीं करने से अथवा मूर्ति नहीं बनवाने से अथवा मूर्तिपूजा का खण्डन करने से कोई प्रायश्चित्त आता हो ऐसा नहीं बताया

१. [illegible] जैन साहित्य में विकार नामक ग्रन्थ में लिखते हैं — [illegible]

धीरे उसमें मूर्तियां आई और उनका पूजन प्रारम्भ हुआ और अब तो साधक की समस्त साधना ही इस पूजापाठ के आस पास केन्द्रित हो गई. किन्तु प्राचीन और आगमिक साहित्य का अवलोकन करते हैं तो यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि मूल जैनधर्म में मूर्तिपूजा का कोई स्थान नहीं था. यदि मूर्तिपूजा मूलतः आगमसम्मत होती तो आगमों में अवश्य इसका उल्लेख होता कि मूर्ति किस धातु की होनी चाहिए, किस आकार प्रकार की होनी चाहिये, किस आसन और किस मुद्रा में होनी चाहिए? किन्तु पूरे के पूरे आगमसाहित्य में किसी भी स्थान पर उक्त विषयों का कथन प्राप्त नहीं होता. इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि आगमकारों को मूर्तिपूजा अभीष्ट नहीं थी, न जैनधर्म में उस समय मूर्तिपूजा प्रचलित ही हुई थी.

उपासकदशांग सूत्र में भगवान् महावीर के प्रमुख १० श्रावकों के जीवनचरित का तथा धार्मिक चर्या का विस्तृत वर्णन है. उनके उपवास करके पौषधशाला में जाने, पौषध करने के उल्लेख भी हैं किन्तु किसी भी श्रावक द्वारा किसी भी समय में मंदिर जाने या मूर्ति पूजने का कोई उल्लेख नहीं है. किसी श्रावक द्वारा मन्दिर आदि के निर्माण कराये जाने का भी वर्णन नहीं है.

अनेक आगमों में हमें भगवत् वन्दनार्थ जानेवाले श्रावकों, राजाओं और देवताओं का विशद वर्णन मिलता है किन्तु तीर्थंकरों की मूर्तिवन्दनार्थ जानेवालों का नहीं.

भगवती और पुष्पिका सूत्र में सोमिल को उत्तर देते हुए महावीर फरमाते हैं—हमारे मत में ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि में आत्मविकास करना ही यात्रा है. ज्ञाताधर्मकथा सूत्र में थावच्चा अनगार ने भी शुक परिव्राजक को ऐसा ही उत्तर दिया. इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि जैनधर्म में मंदिर-मूर्ति अथवा पर्वत नदी आदि पर जाने को कभी भी पुण्यकार्य या धर्मकार्य (तीर्थयात्रा) नहीं माना गया. ज्ञान दर्शन चारित्र द्वारा आत्मविकास को ही जैनधर्म तीर्थयात्रा मानता है.

हम देखते हैं कि भगवान् ने भिन्न भिन्न आगमों में भिन्न-भिन्न नयविवक्षाओं से धर्मसाधना के भेद प्रभेदों के विस्तृत वर्णन किये किन्तु किसी भी नय से साधना के किसी भी स्तर पर मूर्तिपूजा की गणना नहीं की. न ही उन्होंने कहीं मूर्ति पूजा का आदेश उपदेश रूप में विधिविधान ही किया.[1] भगवती आदि सूत्रों में भगवान् के एवं गौतम आदि के विभिन्न विषयों पर अनेकों प्रश्नोत्तर हुए. उनमें साधारण विषयों से लेकर गहन गम्भीर दार्शनिक गुत्थियों पर भी प्रश्नोत्तर हुए किन्तु मूर्तिपूजा के विषय में एक भी प्रश्नोत्तर नहीं हुआ. इससे सिद्ध होता है कि उस समय जैनधर्म में मूर्तिपूजा को कोई स्थान नहीं था.

समवायांग सूत्र एवं दशाश्रुतस्कन्ध में ३३ प्रकार की आशातनाएँ टालना आवश्यक बताया है किन्तु मन्दिर मूर्ति की कोई आशातना होना या टालना नहीं बताया. इसी प्रकार छेदसूत्रों में अनेक बातों के प्रायश्चित्त बताये किन्तु मूर्ति पूजा नहीं करने से, अथवा मूर्ति नहीं बनवाने से अथवा मूर्तिपूजा का खण्डन करने से कोई प्रायश्चित्त आता हो ऐसा नहीं बताया.

१. [illegible] में लिखते हैं :— [illegible]

बौद्ध ग्रथो मे जैन सिद्धान्तो के उल्लेख एव आलोचना दोनो ही मिलते है किन्तु कही भी जैनधर्म मे मूर्तिपूजा की चर्चा नही है इससे भी उस समय मे जैनधर्म मे मूर्तिपूजा का न होना सिद्ध होता है

भगवान् महावीर के विहार के एव उनके ठहरने के स्थानो के विशद वर्णन आगमो मे स्थान-स्थान पर प्राप्त होते है किन्तु एक भी स्थान पर उनके जैन मदिर मे ठहरने का वर्णन नही है यदि उस समय जैन मदिर थे तो भगवान् उनमे कभी भी क्यो नही ठहरे या गये ?

आगमो मे कई नगरो का, और यहा तक कि यक्षायतनो और वागवगीचो तक का भी वर्णन अनेको स्थलो पर विस्तार से उपलब्ध होता है किन्तु किसी भी नगर मे तीर्थंकर-मदिर का होना नही वताया है

प्रश्नव्याकरण सूत्र के प्रथम आश्रवद्वार मे देवालय, मदिर, मूर्ति, स्तूप, चैत्य आदि वनवाने को हिंसाकारी कृत्य और उसका अनिष्ट फल वताया इससे स्पष्ट है कि जैनधर्म मे मूर्तिपूजा का कोई प्रश्न ही नही उठता

जैनधर्म मे मूर्तिपूजा घुसने के वाद भी अनेक विद्वानो ने उसकी कडी आलोचना की है जिससे मूर्तिपूजा का पक्ष अत्यन्त निर्वल हो जाता है

(२) मुखवस्त्रिका की अनिवार्यता—स्थानकवासी जैन मुनि सर्वदा और श्रावक धर्मक्रिया करते समय मुख पर मुखवस्त्रिका वाँधे रहते है, क्योकि—

(१) भगवती सूत्र मे स्वय भगवान् महावीर ने फरमाया है कि 'जीवहिंसा करके वोली गयी भाषा सावद्य (पापमय) होती है [१]

(२) महानिशीथ नामक सूत्र मे भी कहा है—कान मे डाली गयी मुहपत्ती के विना या सर्वथा मुहपत्ती के विना इरियावही क्रिया करने पर साधु को मिच्छा मि दुक्कड का या डेढ पहरसी का दण्ड आता है [२]

(३) मुख से निकलने वाले उष्ण श्वास से वायुकायिक जीवो की तो विराधना होती ही है किन्तु त्रस जीवो के मुख मे प्रवेश की भी सभावना सदा रहती है[3] तथा अचानक आई हुई खासी, छीक आदि से थूक आदि शास्त्रो या कपडो पर गिरने की भी सभावना रहती है मुखवस्त्रिका इन सब कठिनाइयो का समीचीन प्रतीकार है

(४) आगमो तथा अन्य साहित्य मे स्थान-स्थान पर मुखवस्त्रिका मुँह पर वाधने के पुष्कल प्रमाण प्राप्त होते है, यथा—

(१) ज्ञाताधर्मकथा के १४ वें अध्ययन मे लिखा है कि जब तेतली प्रधान को उसकी स्त्री अप्रिय हो गयी तो वह दानादि देकर समय विताने लगी उस समय तेतलीपुर मे आया हुआ सुव्रताजी का सघाडा नगर मे भिक्षार्थ घूमता हुआ तेतली प्रधान के घर आया तव तेतली प्रधान की अप्रिय पत्नी पोट्टिला ने उन साध्वीजी को अशनादि वहराया और पूछने लगी—आप अनेको नगरो मे भ्रमण करते है कही ऐसी जडी वूटी या मत्रादि उपाय देखा हो तो बताइये जिसके प्रयोग से मैं पुन स्वपति की प्रिया वन जाऊँ ऐसा सुनते ही उन महासतीजी ने अपने दोनो कानो मे दोनो हाथो की अगुलियाँ

१ गोयमा ! जाहेण सक्के देविदे देवराया सुहुमकाय अणिज्जूहित्ताण भास भासति ताहेण सक्के देविदे देवराया सावज्ज भास भासइ जाहेण सक्के देविंदे देवराया सुहुमकाय णिज्जूहित्ताण भास भासइ ताहे सक्के देविंदे देवराया असावज्ज भास भासइ—श्री व्याख्याप्रज्ञप्तौ षोडश शतकस्य द्वितीयोद्देशे

२ कन्नेट्ठियाए वा मुहणतगेण वा विणा
इरिय पडिक्कमे मिच्छुक्कड पुरिमड्ढ ॥ महानिशीथ सूत्र अ० ७

३ तथा सपातिमा सत्त्वा, सूक्ष्म च व्यापिनोऽपरे ।
तेषा रक्षानिमित्तच विज्ञेया मुखवस्त्रिका ।
—योगशास्त्र का हिन्दी भाषातर पृ० २६० ।
अर्थात् सपातिम और सूक्ष्म जीवों का रक्षा के लिये मुखवस्त्रिका समझनी चाहिए ।
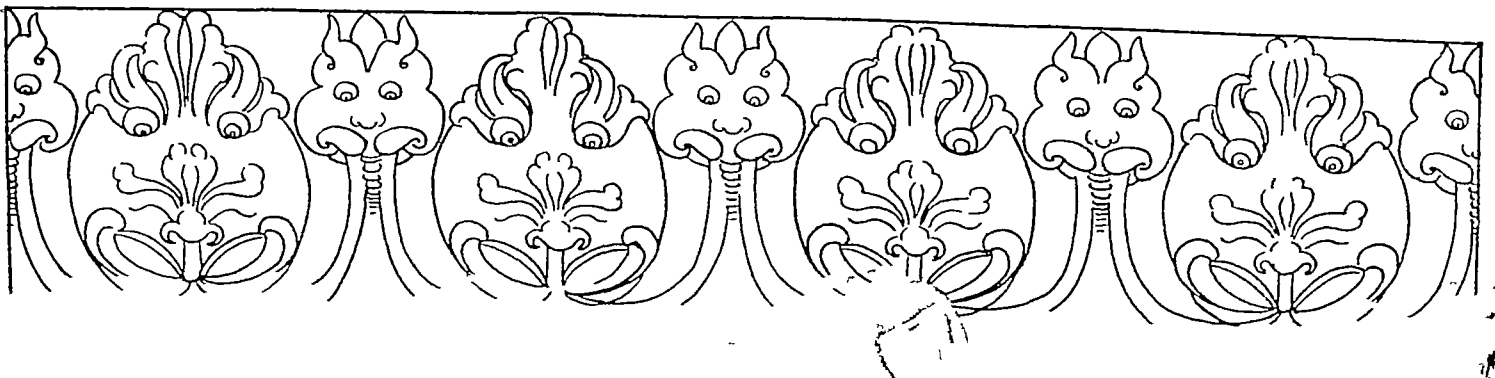
लगाकर कहा—अहो देवानुप्रिये ! हमें इस प्रकार के लम्ब कानों से सुनना भी नहीं कल्पता है फिर ऐसा मार्ग दिखाना तो रहा ही कहाँ ?

इससे यह सिद्ध होता है कि साध्वीजी के मुह पर मुखवस्त्रिका बंधी हुई थी क्योंकि उनके दोनों हाथ तो दोनों कानों को बंद करने के लिये उन पर लगे हुए थे और खुले मुह वे बोल नहीं सकती थी ऐसी स्थिति में बोलने से उनके मुख पर मुखवस्त्रिका बधी होनी चाहिए

(२) निरयावलिया सूत्र म लिखा है कि जैनधर्म से निकले सोमिल ब्राह्मण ने काष्ठ की मुहपत्ती मुँह पर बाधी किन्तु सन्यास धर्म म कही भी काष्ठ-पट्टी बाधने का विधान नही है इससे सिद्ध होता है उस समय जैनधम में मुहपत्ती मुह पर बाधी जाती थी जिसकी नकल सोमिल ने काष्ठपट्टी बांधकर की

(३) भगवतीसूत्र शतक ८ उद्देशा ३३ म जमालि के दीक्षाधिकार में उल्लेख है "सुद्धाए अट्ठपडसाए पोत्तिए मुह बधइ गृहस्थ नाई से सबधित इस पाठ से भी यही सिद्ध होता है कि उस समय आठ पडत वाली मुखवस्त्रिका मुख पर बाधी जाती थी यह भी सिद्ध होता है कि व्यावहारिक कार्य में भी आठ पडत की मुहपत्ती चाहिये तो वायुकायिक जीवों की विराधना से बचने के लिए तो इसका होना अनिवार्य ही है

आगमसाहित्य का गहन अध्ययन करने पर और भी अनेको प्रमाण मुखवस्त्रिका बाधने के मिल सकते हैं

(४) आगमेतर साहित्य म—

(क) शिवपुराण ज्ञानसहिता में जैन मुनि के लक्षण बताते हुए कहते है—

हस्ते पात्र दधानाश्च तु डे वस्त्रस्य धारका·
मलिनान्येव वासांसि धारयन्त्यल्पभाषिणः ।

हाथ म काष्ठ पात्र वाले मुह पर धारण की हुई मुखवस्त्रिका वाले मलीन वस्त्र वाले और अल्पभाषी को ही जैनमुनि कहा है तथा आगे चलकर यह भी बताया है कि ऐसे (मुखवस्त्रिका मुह पर बाधने वाले) जैन मुनि ऋषभावतार के समय भी थे उस समय भी आज की ही भाति सब यही समझते थे कि मुखवस्त्रिका बाँधने की परम्परा भगवान् ऋषभदेव के समय से ही चली आरही है

(ख) श्रीमालपुराण अध्याय ७-११ में भी मुह पर मुहपत्ती धारण करने वाले को ही जैनमुनि कहा है.

(ग) इनके अतिरिक्त आचारदिनकर भुवनभानुकेवली चरित्र हरिबल मच्छी नो रास अवतारचरित्र सम्यक्त्वमूल बारा व्रत नी टीप हितशिक्षा ना रास ओघनियुक्ति जैनकथारत्नकोष समुत्थान सूत्र मुहपत्तिचर्चासार आदि अनेकानेक ग्रन्थ ऐसे है जिनके लेखक स्थानकवासी नही होते हुए भी उनमे मुखवस्त्रिका बाधने के प्रमाण प्राप्त होते है

(५) मुखवस्त्रिका स्थानकवासी जैन साधु का परिचय-चिह्न है ससार के सभी प्रकार के साधुओ के अलग-अलग चिह्न है कोई लम्बा कोई आडा तिलक कोई त्रिशूलधारी तो कोई मयूरपखधारी कोई भगवां कपडे वाले तो कोई लाल कपड वाले होते हैं मुखवस्त्रिका देखते ही स्थानकवासी जैन मुनि की पहचान हो सकती है

इस प्रकार हमने देखा कि स्थानकवासी परम्परा की मुखवस्त्रिका धारण करने की विवेचना आगमसम्मत युक्तियुक्त एव वैज्ञानिक है अब स्थानकवासी परम्परा की अहिंसा-साधना या आचार-परिपालन की ओर दृष्टिपात करें—

(१) आचार-पालन-स्थानकवासी परम्परा का आचार-पालन-अहिंसा-साधना सारे विश्व मे अनुपम वैज्ञानिक एव व्यावहारिक है. साधु त्रिकरण त्रियोग से हिंसा के सर्वथा त्यागी होते हैं स्थावर काय से लेकर पचेन्द्रिय तक किसी भी प्राणी की न तो स्वय हिंसा करते है न करवाते है न ही करने वाला को अच्छा ही समझते है और न ही वे ऐसा उपदेश देते है जिससे किसी भी हिंसामय (सावद्य) कार्य को प्रोत्साहन मिले इसी अहिंसा-साधना के लिए वे आगमोक्त मुखवस्त्रिका धारण

करते हैं और रजोहरण रखते है आगमो मे साधुओ के लिए जिन आचारो का निर्देश किया गया है, स्थानकवासी जैन मुनि प्राय सभी का पालन करते हैं विहार के समय उनके सामान को ढोने के लिए कोई आदमी साथ नही होता, अत स्वभावत वे कम से कम उपकरण रखते है साथ मे कोई भक्त नही चलते जो उनके लिए आहार-पानी की व्यवस्था करें अतएव उन्हे मार्ग की कठिनाइयो का भारी सामना करना पडता है

दो-दो मास तक सर्वथा निराहार रहने की कठोर-तम तपस्या इसी समाज के साधु और श्रावक करते हैं समग्र विश्व मे धार्मिक तपस्याओ के इतने बडे-बडे रिकार्ड खोजने पर भी नही मिल सकते पर्वों, त्योहारो और विशेष अवसरो पर इस परम्परा मे नृत्य गाजे बाजे आदि का आयोजन नही किया जाता, न ही किसी प्रकार का आडम्बर किया जाता है तप-त्याग, प्रत्याख्यान, स्वाध्याय आदि सात्विक कार्य ही किये जाते है.

इस समाज के सभी साधु साध्वी पाद-विहारी, त्यागी, तपस्वी, क्रोध, मान, माया एव परिग्रह के सर्वथा त्यागी, प्रबल विरागी, अल्प एव मृदु भाषी, ससार को आत्म-कल्याण का पथ-प्रदर्शन करने वाले, धर्म के प्रेरणास्रोत, सत्य के पुजारी, ज्ञान के देवता होते है इनके उपदेश निवृत्ति-साधना से अनुप्राणित और वैराग्यरग से अनुरजित तो होते ही है, किन्तु ससार मे सुख, शान्ति और समृद्धि की वृद्धि मे सहायक एव पारस्परिक विद्वेष, कटुता, घृणा, प्रतिस्पर्द्धा एव ईर्ष्या-द्वेष की समाप्ति के लिए अमोघ अस्त्र रूप भी होते है इनके प्रवचन-श्रवण से मन की दुष्प्रवृत्तियां शात हो जाती हैं विकारो, भ्रान्त-धारणाओ, शकाओ, कुठाओ और अन्तर्द्वन्द्वो के ज्वार समाप्त होकर मन और आत्मा शान्त एव निर्मल वन जाती है

स्थानकवासी समाज की साहित्यिक मान्यता कुसुमादपि कोमल और वज्रादपि कठोर है इसे ससार का सभी सत्साहित्य मान्य है, चाहे वह किसी भी देश के किसी भी धर्म के किसी भी विद्वान् द्वारा लिखा गया हो इसके साथ ही वज्र के समान एक कठोर शर्त भी जुडी हुई है कि वह आत्म-कल्याण और आत्म-विकास मे बाधक न हो अर्थात् आगम-विरुद्ध न हो इस कोमलता और दृढता के फलस्वरूप ही यह अपने (जैन धर्म के) मौलिक स्वरूप को सुरक्षित रख सका है भीषणतम झझावातो, भयकर तूफानो, घोरतम भूकम्पो के दुस्सह दुर्निवार झटको के बीच भी आज यह समाज अडोल अकम्प खडा है वातावरण मे पनपने वाली विकृतियो से बहुत कुछ अछूता रहा है सनातन और चिरन्तन सत्य का प्रतीक, आधुनिकतम विज्ञान की अभिनव उपलब्धियो से परिपुष्ट, आत्म-विकास का सबलतम मार्ग-प्रदर्शक यह अत्यन्त प्रगतिशील सम्प्रदाय है

मरुधरकेसरी श्रीमिश्रीमलजी महाराज

स्थानकवासी जैन समाज रा साचा सपूत

स्थानकवासी जैन समाज रा साचा सपूत म्हारा प्यारा दयाधर्म रा लाडला भाइयो! श्रमण भगवान् श्रीमहावीर स्वामीरो सासण २१ ०वर्षों ताइ अखंड चालसी इसो भगवती सूत्रमें दाखलो आया है जिणसू पूरो-पूरो भरोसो है कि ओ दयामय धर्म धीवरी तरह सु चालतो हीज रेवेला पिण लोसे सुपणा रा करतारा सू कणेही मंद ने कणे ही तेज वेतो वरवेला जिणरा प्रत्यक्ष दाखला गया कालरा पढ़वा में तथा सुणवा में आया है और अबार भी ओहिज ढग देख रया हां समय समय पर धर्म में सिथिलता आइ जरे चमत्कारी पुरुष पैदा हुआ ने नीचो पड़ता धर्म ने फेरुने ऊंचो चढ़ायो एड़ा पुरुष त्यागी वैरागी क्रियापात्र एक हीज नहीं घणा हुआ है जिणोरा थोडासाक नमूनारूप दाखला आप लोगां रे सन्मुख राखूं हूं सो ध्यान सू पढ़जो

(१) धर्मदासजी म —वावरा मावसार, जीवणदास भाइरा बेटा ने हीराबाई रा अंगजात हा वे संवत् १७ सौ में पोतियाबंध पंथ ने छोडने साचो साधुमार्ग अपणायो आपरे चेला ६६ हुआ २२ सम्प्रदायरी थापना किवी दयाधर्म दिपायो घणा चमत्कारी-उग्रविहारी-घोर तपस्वी ने क्रियोद्धारक हा ग्वालियर महाराजा आपरा पूर्ण भक्त बणिया ने खूब सेवा कीवी कारण एक बार आप ग्वालियर पधारिया ने मसाणा में रूखरे नीचे स्वाध्याय कर रया हा उण समें सिकार म गयोडा सिंधिया दरबार ने सर्प काट खायो ने बेहोस होय गया सारा सरदार दिलगीर होय ने पाछा सहर में आवता मसाणा रे पास मे आया ने श्रीधर्मदासजी म ने देखिया जरे सरदारा पूछियो के महाराज अठे काइ कर रया हो ? स्वामीजी फुरमायो कि आत्मा रो साधन कर रया हां सरदारा कयो के महाराज ! थांरो पगफेरो चाखो नहीं हुवो कारण के थारे आवासू म्हारा राजाजी ने सर्प काट खायो ने उपाय लागे कोयनी दरबार लासरे ज्यु होय गया है सो या तो आप इणा ने साजा करो नहीं तर थाने घणी तस्दी देवाला

स्वामीजी फुरमायो के भाई, थारी वे जाणो म्हा तो इसा पचपच मे पड़ा कोयनी पिण एक बात है के जो राजाजी आज सू सिकार खावता बंध हो जावे तो सर्प रो जहर तो काइ बडी बात है—म्होटा जहर पिण अमृत सरीखा हो जावे है- सरदारा मंजूर कर दरबार ने चरणा में सुवाणिया न आपरा पगा हेटली धूड लेनि लगावे सरदारां लाली धर्मरा प्रतापसू केवो या स्वामीजी रा त्यागबलसू केवो राजाजी रो जहर उतर गया ने उठने बैठा होय गया सारा ने घणो अचभों आयो राजाजी सुण ने खुशी मानी ने स्वामीजी ने गुरुपणे धारण किया तथा मदिरा-मांसरा त्याग कर पाछा सहर में आया स्वामीजी ने पिण सहर में आया घणो धर्मरो उद्योत कियो आ बात संवत् १७६४ रा असाढ़ सुदी ७ री है श्रीधर्मदासजी म सा रो नाम घणो वधियो सकडा साधु-साधवी हुया ने संवत् १७७२ में धार नगर में २२ सम्प्रदाय स्थापित करी उणहीज वर्ष एक आपरो शिष्य मूलचन्दजी धार मे संथारो कियो उण समय आचार्य श्रीजी म उज्जैन बिराजता हा चेलारा भाव संथारा में ढीला पड गया समझाया समझे नहीं जरे समाचार उज्जैन पूज्यजी म सा ने भेजिया सुणता पाण उठा सु बिहार करायो सिताब पगासु चालता एक गाम मे अहार कियो अहार में

करते हैं और रजोहरण रखते है आगमो मे साधुओ के लिए जिन आचारो का निर्देश किया गया है, स्थानकवासी जैन मुनि प्राय सभी का पालन करते हैं विहार के समय उनके सामान को ढोने के लिए कोई आदमी साथ नही होता, अत स्वभावत वे कम से कम उपकरण रखते है साथ मे कोई भक्त नही चलते जो उनके लिए आहार-पानी की व्यवस्था करें अतएव उन्हे मार्ग की कठिनाइयो का भारी सामना करना पडता है

दो-दो मास तक सर्वथा निराहार रहने की कठोर-तम तपस्या इसी समाज के साधु और श्रावक करते हैं समग्र विश्व मे धार्मिक तपस्याओ के इतने बडे-बडे रिकार्ड खोजने पर भी नही मिल सकते पर्वों, त्योहारो और विशेष अवसरो पर इस परम्परा मे नृत्य गाजे बाजे आदि का आयोजन नही किया जाता, न ही किसी प्रकार का आडम्बर किया जाता है तप-त्याग, प्रत्याख्यान, स्वाध्याय आदि सात्विक कार्य ही किये जाते हैं

इस समाज के सभी साधु साध्वी पाद-विहारी, त्यागी, तपस्वी, क्रोध, मान, माया एव परिग्रह के सर्वथा त्यागी, प्रबल विरागी, अल्प एव मृदु भाषी, ससार को आत्म-कल्याण का पथ-प्रदर्शन करने वाले, धर्म के प्रेरणास्रोत, सत्य के पुजारी, ज्ञान के देवता होते है इनके उपदेश निवृत्ति-साधना से अनुप्राणित और वैराग्यरग से अनुरजित तो होते ही है, किन्तु ससार मे सुख, शान्ति और समृद्धि की वृद्धि मे सहायक एव पारस्परिक विद्वेष, कटुता, घृणा, प्रतिस्पर्द्धा एव ईर्ष्या-द्वेष की समाप्ति के लिए अमोघ अस्त्र रूप भी होते है इनके प्रवचन-श्रवण से मन की दुष्प्रवृत्तियाँ शात हो जाती हैं विकारो, भ्रान्त-धारणाओ, शकाओ, कुठाओ और अन्तर्द्वन्द्वो के ज्वार समाप्त होकर मन और आत्मा शान्त एव निर्मल बन जाती है

स्थानकवासी समाज की साहित्यिक मान्यता कुसुमादपि कोमल और वज्रादपि कठोर है इसे ससार का सभी सत्साहित्य मान्य है, चाहे वह किसी भी देश के किसी भी धर्म के किसी भी विद्वान् द्वारा लिखा गया हो इसके साथ ही वज्र के समान एक कठोर शर्त भी जुडी हुई है कि वह आत्म-कल्याण और आत्म-विकास मे बाधक न हो अर्थात् आगम-विरुद्ध न हो इस कोमलता और दृढता के फलस्वरूप ही यह अपने (जैन धर्म के) मौलिक स्वरूप को सुरक्षित रख सका है भीषणतम झझावातो, भयकर तूफानो, घोरतम भूकम्पो के दुस्सह दुर्निवार झटको के बीच भी आज यह समाज अडोल अकम्प खडा है वातावरण मे पनपने वाली विकृतियो से बहुत कुछ अछूता रहा है सनातन और चिरन्तन सत्य का प्रतीक, आधुनिकतम विज्ञान की अभिनव उपलब्धियो से परिपुष्ट, आत्म-विकास का सबलतम मार्ग-प्रदर्शक यह अत्यन्त प्रगतिशील सम्प्रदाय है.

मरुधरकेसरी श्रीमिश्रीमलजी महाराज

स्थानकवासी जैन समाज रा साचा सपूत

स्थानकवासी जैन समाज रा साचा सपूत म्हांरा प्यारा दयाधर्म रा लाडला भाइयो! श्रमण भगवान् श्रीमहावीर स्वामीरो शासन२१० वर्षों ताइ अखंड चालसी इसो भगवती सूत्रमें चालतो आयो है जिणसू पूरो-पूरो भरोसो है कि ओ दयामय धर्म सीधरी तरह स चालतो हीज रेवेला पिण सोल सुपना रा करतारा सू कणेही मद ने कणे ही तेज वेतो वरतेला जिणरा प्रत्यक्ष दाखला गया कालरा पडथा में तथा सुपना मे आया है और अबार भी ओहिज ढग देख रया हा समय समय पर धर्म मे सिथिलता आइ जरे चमत्कारी पुरुष पैदा हुआ ने नीचो पडता धर्म ने झेलने ऊचो चढायो एडा पुरुष त्यागी वैरागी क्रियापात्र एक हीज नही घणा हुआ है जिणोंरा जीवनसार नमूनारूप दाखला आप लोगां रे सन्मुख राखू हू सो ध्यान सू पढजो

(१) धर्मदासजी म —जातरा भावसार, जीवणदास भाइरा बेटा ने हीराबाई रा अंगजात हा वे संवत् १७ सौ में पोतियाबध पथ मे छोडने साचो साधुमाग अपणायो आपरे चेला ९९ हुआ २२ समदायरी थापना किवी दयाधर्म दिपायो घणा चमत्कारी-उग्रविहारी-घोर तपस्वी ने क्रियोद्धारक हा ग्वालियर महाराजा आपरा पूर्ण भक्त बणिया ने खूब सेवा कीधी कारण एक बार आप ग्वालियर पधारिया ने मसाणा मे रूखरे नीचे स्वाध्याय कर रया हा उण समें सिकार मे गयोडा सिंधिया दरबार ने सर्प काट खायो ने बेहोश होय गया सारा सरदार दिलगीर होय ने पाछा सहर में आवता मसाणा रे पास मे आया ने श्रीधर्मदासजी म ने देखिया जरे सरदारा पूछियो के महाराज अठ काइ कर रया हो ? स्वामीजी फुरमायो कि आत्मा रो साधन कर रया हा सरदारा कयो के महाराज ! थारो पगफेरो चोखो नही हुवो कारण के थारे आवासू म्हारा राजाजी ने सर्प काट खायो ने उपाय लागे कोयनी दरबार आखरे ज्यु होय गया है सो या तो आप इणा ने साजा करो नही तर थाने घणी तखी देवासा

स्वामीजी फुरमायो के भाई, थारी वे जाणो म्हा तो इसा परपंच मे पडा कोयनी पिण एक बात है के जो राजाजी आज सू सिकार खावता बन्द हो जावे तो सर्प रो जहर तो काइ बडी बात है—म्होटा जहर पिण अमृत सरीखा हो जावे है सरदारा मजूर कर दरबार ने चरणा मे सुवाणिया ने आपरा पगा हेटली धूड लेईने नाखे सरदारा नाखी धर्मरा प्रतापसू केवो या स्वामीजी रा ध्यानबलसू केवा राजाजी रा जहर उतर गयो ने उठने बैठा होय गया सारां ने घणो अचंभो आयो राजाजी घुघ ने खुशी मानी ने स्वामीजी ने गुरुपणे धारण किया तथा मदिरा-मासरा त्याग कर पाछा सहर में आया स्वामीजी ने पिण सहर में लाया घणो धर्मरो उद्योत कियो आ बात संवत् १७६४ रा असाडसुदी ७ री है श्रीधर्मदासजी म सा रो नाम घणो चालियो सैकडा साधु-साध्वी हुया ने संवत् १७७२ में धार नगर में २२ सम्प्रदाय स्थापित करी उणहीज वर्ष एक आपरो शिष्य मूलकरणजी धार में सथारो कियो उण समय आचार्य श्रीजी म उज्जैण बिराजता हा चेलारा भाव सथारा मे ढीला पड गया समझायां समझे नही जरे समाचार उज्जैण पूज्यजी म सा ने भेजिया सुणता पाण उठा सु बिहार करायो सिताब पधासु चालता एक गाम मे अहार कियो अहार में

तेलरा भुजिया अरोगिया ने फेर विहार कर साजरे पेली आप धार पधारिया पाणी पी सकिया नही ने पडिकमणो ठाय दियो बाद मे पच्चखाण कर चेलाने समजायो, स्वर्गारा सुख बताया, पिण डिग्योडो मजवूत नही हुवो जरे उण ने उठाय ने उणरी ठौर आप सथारो करने पोढ गया गर्मीरा जोग सू वडी खेद उत्पन्न हुइ पिण वीर माता रा वीर पुरुष धर्म रे उपर आप वलिदान दे दियो-तीन दिनरो सथारा आयो ने चैत सुदी ११ ने स्वर्ग पधार गया उणो रो वो पाट आज-ताइ धार मे मौजूद केवे है धन्य इसा पुरुषा ने

(२) **श्रीलवजी ऋषिजी म०**—सूरतरा वासी, फूला वाइ रा अगजात, वोहरा वीर जी रा दोहिता हा लोका गछरा यति वजरगजी रे पास ज्ञान पढना वैराग्य उत्पन्न होय गयो ने यति दीक्षा लिवी, पिण उन्हारो सिथिलाचार सहन नही हुवो, जरे आप आज्ञा ले ने स्वतत्र विहार कर दियो ने सोमजी सेठ ने वैराग भाव जाग्रत कर सजम दिरायो ने तीसरा भाणजी भाई भी सजम लियो तीना स्वय भगवानरी साक्षी सू दयाधर्म धारण कर सुद्ध दीक्षा अगीकार करी आप लोकाशाह रे वाद पेला क्रिया सुद्ध करने वाला महा उत्तम पुरुष ज्ञानरा धणी ने प्रभावशाली क्षमारा अवतार हा घणो प्रचार कर सैकडा भवि जीवा ने समकितरो स्वरूप ओलखायो आपरा घणा लाडला सोमजी स्वामी ने धर्मरा द्वेषी मार नाखिया पिण आप घणी शाति रखाइ ने धर्म ने उचो लाया

(३) **श्रीधर्मसिंहजी म०**—उत्तर गुजरातरा सरवानिया गामरा रेवासी, रेवा भाइ रा पुत्र ने रभा वाइ रा अगजात हा आप अष्टावधानी हा, ने दो पगा सू ने दो हाथा सू अर्थात् चार कलमा सू एक साथ लिखता हा आपरी बुद्धि घणी निर्मल ही ३२सूत्रा रा टव्वा आप वणाया जिका आज दरियापुरी टव्वा नाम सू समाज मे मौजूदा है आप तीसरा प्रचारक हा, क्रिया उद्धार करने शासण ने दिपायो

(४) **श्री आ० जीवराजजी म०**—आप कुवरजी यतिरा चेला हा घणा विद्वान् भाग्यशाली और विचारक पुरुष हा एक वार, गर्मी री मौसम मे रातरा प्यास लाग गइ, जिण सू वडी वेदना हुई जतिजी चेलारा मोह मे आय ने पानी पीवण रो इशारो कर दियो ने कयो कि एडी तकलीफ हो जावे तो पानी पी लेवे तो चौविहार मे टटो नही लागे आ वात सुण ने जीवराजजी म० फुरमायो के—गुरु महाराज, आपने सहाय देणो तो दूर रह्यो, उल्टो म्हने कायर वनाओ हो चेलारो मोह डुवावण वालो है मै तो मर जाऊ पर व्रत भागु कोनी रात ज्यो-त्यो पूरी करी प्रभात होता ही गुरुजी ने नमस्कार कर चालता रहिया ने स्वय दीक्षा लेइने दया धर्म रो प्रचार शुरू कियो आप रो परिवार भी घणो वढियो ने त्याग तपस्या रा जोर सू हजारा लोगो ने धर्मरे सन्मुख किया

(५) **श्री दौलतरामजी म०**—कोटा सम्प्रदायरा सस्थापक हा वडा सूत्रो रा जाण, क्रियापात्र और महा म्होटा पुरुष हा उण जमाना मे दिल्ली मे दलपतराजजी श्रावक द्रव्यानुयोग रा प्रखर विद्वान् हा मा वेटा दो जणा हा धनमाया घर मे घणी ही, पिण व्याव कियो नही ने श्रावक धर्म मे घणा मजवूत हा सारो धन माताजी ने सभलाय दियो ने बादशाहरे साथ जूवे रमता रोजिना ५ रूपिया जीतता, जिण माय सू १ रुपिया खावन सारु, ने २ रुपिया स्वधर्मि भाई वहिनारी सहायता मे देता २ रुपिया ज्ञान खाता मे लगावता आप रा वणायोडा ग्रथ, नवतत्त्व प्रश्नोत्तर, दलपतराय ना प्रश्नोत्तर, समकितछप्पनी, नय निक्षेप प्रमाण आदि ग्रथ आज है वे सूत्रा सू वरावर मिलता तथा प्रमाणिक है सुणण मे एडी भी आई के महाविदेह क्षेत्र मे सीमधर स्वामीजी रे श्रीमुख सू पहिला देवलोकरा इन्द्र निगोदरो स्वरूप सुणियो जरै उछरग भाव सू इन्द्र पूछियो के भगवान् ऐडो निगोदरो स्वरूप समजावण वालो भरत क्षेत्र मे कोई है ? भगवान् फरमायो के दिल्ली मे दलपतराज श्रावक है, उणरो ज्ञान निर्मल है इन्द्र महाराज ने सुणने घणो इचरज आयो ब्राह्मण रो रूप वणायने श्रावकजी कने पहोचिया ने विनय सू कयो के मैं आप कने निगोद रो स्वरूप सुननो चावू हू श्रावक जी कयो के खुशी सू सुणो श्रावक जी भिन्न-भिन्न तरहसू निगोद पद सुणायो सुणने इन्द्र महाराज तो आनन्द मे मगन होय गया ने पाछो कयो के श्रावक जी, धन्य है आप रा ज्ञानने श्रावकजी कयो के ज्ञानीरो ज्ञान तो घणो गहन है, म्हारा क्षयोपशम प्रमाणे सुनायो हू पछे श्रावकजी रे सामने आपरो हाथ लबो कर ने पूछियो के श्रावकजी, म्हारो आउखो आपरा ध्यान मे कितरोक जचे है ? श्रावकजी हाथ देखने उपयोग

(८) **पूज्य श्रीरघुनाथजी महाराज**—आप भूधरजी महाराज रा चेला, सोजतरा रहवासी जातरा वलावत, नथमलजी रा बेटा ने सोमादेजीरा अगजात हा आप वेद पुराण उपनिषदो रा ने भगवत्-गीता रा आछा ज्ञाता हा सोजतरी हाकमी और कियोडो सगपण छोड आपरा मित्ररो मरणो सुन चामुण्डा देवी ने माथो चढावण ने जाय रया हा अमर होवणारे वास्ते रास्ता मे पूज्य श्री भूधरजी महाराज मिलिया तीन दिन तक चर्चा करने समजाया उसी टेम चार खद कर लिया माता पिता रे काल किया रे बाद सासरा वाला घणो झमेलो कियो कारण आपसू सम्बन्ध कियी वा बाई रत्नवती दूजा ने परणीजे नही, पिण आप तो रातरा मकान सु कूद ने जोधपुर पोंचिया ने भडारी जी सीवसी जी सू मिलिया ने पूज्य महाराज रे पास १७८७ रा जेठ वद २ बुधवार ने साधूपणो घणा ठाठ-बाट सू लियो दीक्षा मे सारो खर्च श्री जी दरबार का खजाना सू हुवो आप दीक्षा लेवतां ही पाच-पाच रो पारणो करणो ने ४ विगय नही लगावणरो नियम लियो १८ वडा-वडा मुसद्दीयो ने समकितरो दान दियो आपरो प्रताप घणो बधियो और धर्मरा प्रचार मे भाटा खाया, काटण कुता री वेदना भी सहन कीवी, जहर रो भोजन भी अरोगियो आपने मारण सारू पर पक्ष वाला घणा उग्र परिषह दिया पिण जालोर समदडी पाली सादडी मेडता आदि सात सौ गावो मे दया-धर्म को झडो रोप दियो आपरा परचा भी घणा है ५२५ दीक्षा आपरा हाथ सू हुई ३२ सूत्रो री हुडिया भी आप वनाई आपरा गुरु भाई श्री जेतसीजी महाराज, श्री जयमल्लजी महाराज, श्री कुशलोजी महाराज आदि नव हा चेला श्री टोडरमलजी नगराज जी आदि घणा विद्वान् ने क्रियापात्र हा तेरापथ रा प्रवर्त्तक श्री भीषणजी भी आपरा चेला हा सवत १८१६ चैत्र सुद ६ शुक्रवार ने शास्त्रीय मतभेद होणा से सम्बन्ध विच्छेद कर दियो आपरा जमाना में जतियोरो जोर घणो हो उणासू शास्त्रीय चर्चा कर सुद्ध मार्ग री थापना की, जिण पर अवालाल सेवग मेडतावालो दूहो कयो के—

जति धर्म जातो रह्यो, थानक लागा थाट,
उपाश्रय आडा जड्या, पढिया रे गया पाट।

इसा उग्रभागी वैरागी महा म्होटा पुरुष हा आपरो जन्म १७६६ माघ सुद ५ रो हो ने पाली मे आप काल आयो जाण ने सथारो कियो १७ दिन रो सथारो दिपायो अस्सी वर्ष मे १८४६ रा माघ सुदी ११ ने दिवगत हुवा

(६) **पूज्य श्रीजयमलजी महाराज**—आप उदावतोरी लाविया रा वासी, जातरा समदडिया मूथा, मोहनदास जी रा बेटा, ने महिमा देवीरा अगजात हा आपरा बडा भाई रिडमलजी हा उणोरो परिवार नानणा मारवाड मे है आपरो जन्म सवत् १७६२ भादवा सुदी १४ शनिवार ने हुवो आपरो ब्याह १७८७ रा आषाढ सुदी ६ ने लाछा देवी रे साथ हुवो आप माल खरीदण वास्ते मेडते आया पूज्य भूधरजी रे पास वैरागी वण गया १ पोर मे पडिकमणो शीखीया १७८७ मिगसर वदी २ ने दीक्षा मेडता मे लीवी वडी दीक्षा आप री विखरणिया मे तलाब रे पास वडला रे हेटे हुई वो वडलो भी आज तइ दुनियां रे वास्ते प्रभावशाली होय गयो खासी खुलखुलीयो नीचे जावता ही मिट जावे आप वेले २ पारणो कियो, आडो आसण करता नही, अतापना भी लिरावता हा आप घणा चमत्कारी पुरुष हा नागोर डेह बीकानेर आदि घणा गावो मे धर्म-प्रचार कियो, केइ परिषह सहन किया आप कवि प्रसिद्ध हा शास्त्रानुसार कविता करता हा ने घणा तवन चोपिया वणाई ही नागौर मे एक महीना रो सथारो कर स्वर्ग पधारिया

(१०) **पूज्य श्री कुशलोजी महाराज**—आप वडलूरा निवासी हा घणी सुखशाहवी छोडने सोजत मे सवत् १७८८ रा जेठ मे सयम लियो पूज्य भूधरजी रे पास मे आप भद्रीक सरलात्मा और पोच्योडा पुरुष था कई जगा आपरा प्रताप सु धर्म री उन्नति हुई आप आत्मा पर जोर लगाय ने उत्तम गति मे पधारिया

(११) **पूज्य श्री रत्नचन्दजी महाराज**—कूड (राजस्थान) रा निवासी और भद्दाणे गोद गया हा आप श्री गुमानचन्द जी महाराज रा चेला हा कविता भी आप घणी रसभरियोडी करता ने व्याख्यान आपरो मीठो ने अमरकारक हो जिणसु घणा जीव प्रतिबोध पाया आप शास्त्रज्ञ हा सम्प्रदाय आपरा नाम सु चाली आपरा सिंघाडा मे तपस्वी जी

(८) पूज्य श्रीरघुनाथजी महाराज—आप भूधरजी महाराज रा चेला, सोजतरा रहवासी जातरा वलावत, नथमलजी रा वेटा ने सोमादेजीरा अगजात हा आप वेद पुराण उपनिषदो रा ने भगवत्-गीता रा आछा ज्ञाता हा सोजतरी हाकमी और कियोडो सगपण छोड आपरा मित्ररो मरणो सुन चामुण्डा देवी ने माथो चढावण ने जाय रया हा अमर होवणारे वास्ते रास्ता मे पूज्य श्री भूधरजी महाराज मिलिया तीन दिन तक चर्चा करने समजाया उसी टेम चार खद कर लिया माता पिता रे काल किया रे वाद सासरा वाला घणो झमेलो कियो कारण आपसू सम्वन्ध कियो वा वाई रत्नवती दूजा ने परणीजे नही, पिण आप तो रातरा मकान सु कूद ने जोवतुर पोचिया ने भडारी जी सीवसी जी सू मिलिया ने पूज्य महाराज रे पास १७८७ रा जेठ वद २ वुधवार ने साधूपणो घणा ठाठ-वाट सू लियो दीक्षा मे सारो खर्च श्री जी दरवार का खजाना सू हुवो आप दीक्षा लेवतां ही पाच-पाच रो पारणो करणो ने ८ विगय नही लगावणरो नियम लियो १८ वडा-वडा मुसद्दीयो ने समकिनरो दान दियो आपरो प्रताप घणो वधियो और धर्मरा प्रचार मे भाटा खाया, काटण कुता री वेदना भी सहन कीवी, जहर रो भोजन भी अरोगियो आपने मारण मारू पर पक्ष वाला घणा उग्र परिषह दिया पिण जालोर समदडी पाली सादडी मेडता आदि सात सौ गावो मे दया-धर्म को झडो रोप दियो आपरा परचा भी घणा है ५२५ दीक्षा आपरा हाथ सू हुई ३२ सूत्रो री हुडिया भी आप वनाई आपरा गुरु भाई श्री जेतसीजी महाराज, श्री जयमल्लजी महाराज, श्री कुशलोजी महाराज आदि नव हा चेला श्री टोडरमलजी नगराज जी आदि घणा विद्वान् ने क्रियापात्र हा तेरापथ रा प्रवर्त्तक श्री भीषणजी भी आपरा चेला हा सवत १८१६ चैत्र सुद ६ शुक्रवार ने शास्त्रीय मतभेद होणा मे सम्वन्ध विच्छेद कर दियो आपरा जमाना मे जतियोरो जोर घणो हो उणासू शास्त्रीय चर्चा कर सुद्ध मार्ग री थापना की, जिण पर अवालाल सेवग मेडतावालो दूहो कयो के—

जति धर्म जातो रह्यो, थानक लागा थाट,
उपाश्रय आडा जड्या, पडिया रे गया पाट।

इसा उग्रभागी वैरागी महा म्होटा पुरुष हा आपरो जन्म १७६६ माघ सुद ५ रो हो ने पाली मे आप काल आयो जाण ने सथारो कियो १७ दिन रो सथारो दिपायो अस्सी वर्ष मे १८४६ रा माघ सुदी ११ ने दिवगत हुवा

(६) पूज्य श्रीजयमलजी महाराज—आप उदावतोरी लाविया रा वासी, जातरा समदडिया मूथा, मोहनदास जी रा वेटा, ने महिमा देवीरा अगजात हा आपरा वडा भाई रिडमलजी हा उणोरो परिवार नानणा मारवाड मे है आपरो जन्म सवत् १७६२ भादवा सुदी १४ शनिवार ने हुवो आपरो व्याह १७८७ रा आषाढ सुदी ६ ने लाछा देवी रे साथ हुवो आप माल खरीदण वास्ते मेडते आया पूज्य भूधरजी रे पास वैरागी वण गया १ पोर मे पडिकमणो शीखीया १७८७ मिगसर वदी २ ने दीक्षा मेडता मे लीवी वडी दीक्षा आप री विखरणिया मे तलाव रे पास वडला रे हेठे हुई वो वडलो भी आज तइ दुनियां रे वास्ते प्रभावशाली होय गयो खासी खुलखुलीयो नीचे जावता ही मिट जावे आप वेले २ पारणो कियो, आडो आसण करता नही, अतापना भी लिरावता हा आप घणा चमत्कारी पुरुष हा. नागोर डेह वीकानेर आदि घणा गावो मे धर्म-प्रचार कियो, केइ परिषह सहन किया आप कवि प्रसिद्ध हा शास्त्रानुसार कविता करता हा ने घणा तवन चोपिया वणाई ही नागौर मे एक महीना रो सथारो कर स्वर्ग पधारिया

(१०) पूज्य श्री कुशलोजी महाराज—आप बडलूरा निवासी हा घणी सुखशाहवी छोडने सोजत मे सवत् १७८८ रा जेठ मे सयम लियो पूज्य भूधरजी रे पास मे आप भद्रीक सरलात्मा और पोच्योडा पुरुष था कई जगा आपरा प्रताप सु धर्म री उन्नति हुई आप आत्मा पर जोर लगाय ने उत्तम गति मे पधारिया

(११) पूज्य श्री रत्नचन्दजी महाराज—कूड (राजस्थान) रा निवासी और भट्टारो गोद गया हा आप श्री गुमानचन्द जी महाराज रा चेला हा कविता भी आप घणी रसभरियोडी करता ने व्याख्यान आपरो मीठो ने असरकारक हो जिणसु घणा जीव प्रतिबोध पाया आप शास्त्रज्ञ हा सम्प्रदाय आपरा नाम सु चाली आपरा सिंघाडा मे तपस्वी जी

श्री रामचन्दजी महाराज घणा चमत्कारी हा जोधपुर रा घणा मुसद्दी आपरी आस्था राखता हा पंडित श्री फतीराम जी महाराज कवि ऊँचा दर्जा रा हा ने चर्चावादी आप मोटा हा आपरा बनायोड़ा ग्रंथ भाज मौजूद है स्वामीजी श्री नन्दलाल जी महाराज लेखक नामी हा बत्तीस सूत्र घणा विस्तार सूं लिखिया अक्षर मोत्यां जिसा हा आचार्य श्री विनयचन्द जी महाराज आचार्य श्री शोभाचन्द्र जी महाराज स्वामी जी श्री चन्दनमल जी महाराज घणा होशियार ने सरल पुरुष हा अम्म बीजा में घणा व्हाला लागता हा

(१२) पूज्य श्रीटोडरमलजी म —पूज्य श्रीरघुनाथजी म रा चेला हा म्होटा पुरुष महा विद्वान् और लिपिकार भी प्रसिद्ध हा सात बत्तीसीयां आप हाथां सू लिखी ने और भी ग्रंथ घणा लिखिया आप सोजत रा वासी जातरा कोठारी हा भाइ रे सासरे पगड़ी भूवाइ ने लेवण सारू गया ने उठे ही वैरागी वन ने दीक्षा लेली आप कवि हा टोडरसतसई बनाई क्रिया आपरी घणी उंची ही विदेशों सू घणा प्रश्न आवता जिणा रा उत्तर आछा ढग सू दिरावता हा आपरी नेश्राय में सैकड़ो साधु-साध्वी हा प० टीकमचन्दजी महाराज व्याकरण रा वेत्ता ने चर्चावादी हा उणारा भी ग्रन्थ घणा है श्री रूपचन्दजी महाराज श्रीदीपचन्दजी म श्रीभोपतरामजी म तीनों ही चमत्कारी पुरुष हा घणा घणा चमत्कार लोगां देखिया जिणसू धर्म पर मजबूत हुआ श्रीटोडरमलजी म रा दियोड़ा ने कयोड़ा वरदान भाज तांई बराबर मिल रया है आछो साधुपणो पाल ने ऊची गति मे पधारिया

(१३) आचार्य श्रीरायचन्दजी म —श्रीजयमलजी म रा पाटवी चेला हा घणा चतुर कवि ने क्रियापात्र हा लेखक भी आछा हा स्वा श्रीकुशालचन्दजी म महातपस्वी उग्रभागी और आचार्य पदीरे लायक होता खर्ता भी आप पदी नही लिवी आपरे ८ चेला हुआ वचनसिद्ध भी पूरा हा स्वामीजी री शाखा सू प्रसिद्ध है कविया री न पंडितों री तथा सुन्दर अक्षर वाळारी तो श्रीजयमलजी म सा री सम्प्रदाय प्रसिद्ध ही है प श्रीफकीरचदजी म उन समय रा नामी पंडित हुआ घणा प मुनिराज उनासे पूछता हा आप व्याकरण तथा दर्शनशास्त्र में भुर धर हा पं मुनि श्रीरामचन्द्रजी म सा भी कमाल रा कवि हा

(१४) पूज्य श्रीचौथमलजी म —पूज्य श्रीरघुनाथजी म रा सम्प्रदाय में आशुकवि हा चेला भी घणा हुआ व्याख्यान भी आपरा घणो सुन्दर हो आप मवाल रा वासी जातरा ब्राह्मण हा सैकड़ा म्होटा २ चरित्र न चोपीया बनाइ स्तवना रा तो ढर लगाय दिया उत्तम पुरुष सयम पाल ने स्वर्ग पधारिया

(१५) पूज्य श्रीअमरसिंहजी म —श्रीनराजजी म री शाखा म हुआ हजारो नवा श्रावक बणाया प्रचार आपरो पजाब मू पी मारवाड़ म जोरदार रयो चमत्कारी भी जोरावर हा कोइ पाखडी सामने टिक नही सकता हा आपरा सिघाडा मे प श्रा श्रीजीतमलजी म नामी लेखक चित्रकार ने विद्वान् हा संस्कृत फारसी रा पण्डित हा लेखनकला तारीफ रे जैडी ही छोटा सू छोटा चित्रा मे म्होटी बाता बताय दीवी भण्डारी रघुनाथसीजी आप रा पूर्ण भक्त हा वखतावरजी पटवा आपरा श्रावका म प्रसिद्ध हा मुनि श्रीज्ञानचदजी म मुनि श्रीजेठमलजी म पिण वचन सिद्ध पुरुष हा वे पुरुष उत्तमगति में जावण री साधना घणी चोखी करी ही परिवार साधु-साध्वी रो घणो बढियो

(१६) पूज्य श्रीनानकरामजी म —श्री अमरसिंहजी म री शाखा में हा उंचा क्रियापात्र हा धर्म अजमेरा प्रात मे घणो दिपायो अजमेर किशनगढ टोक सवाई माधोपुर, भीलवाड़ा कोटा बूदी तक प्रचार कियो आप रा सिघाड़ा मे स्वा श्रीसुखलालजी म स्वा श्रीनिहालचन्दजी म श्रीगजमलजी महाराज घणा प्रभावशाली हुआ तपस्वीजी माधोलालजी महाराज री क्रिया तो अनोखी ही आप स्याला म सुबे और जेठ में दोपहर रा विहार करावता अजयणा बचावण सारु दोनो हाथ भेला करने चालता हा मासखमण तो आपरे साधारण-सी चीज ही एक पात्र राखता हा एक चादर ओढता और ४ द्रव्य जावजीव ताइ लगाया ऐसा घोर तपस्वी हा एक बार आप पुष्कर पधारण ने तैयार हुआ अजमेर रा श्रावका मना किया के पुष्कर मती पधारो उठे जन साधा ने देखण देवे नही पडा बडा फुरापाती है तपस्वी फुरमायो क भले तो पुष्कर जरूर जावाला आप पुष्कर पधारता हा जिण वेला उंचा ने देखने ४ पडा २ सन्यासी १६ उदासी १४ निरबी २ रामाबावा आदि कुल १ घना लाठिया लेइ ने आया और क्यो कि—मोड़ा।भाजना

सू परो जाइजे, नही तो थारा हाडका-हाडका बिखेर देवाला म्हारे तीर्थ मे थारो जैनीयो रो काइ काम है माधूजी म० समता राखने नाग पहाड मे चलीया गया ने तपस्या ठाय ने बैठ गया और मन मे धारणा कर ली के पुष्करने सर कर ने ही आहार करूला, नही तो जावजीवरा आहार करवारा त्याग है पूरा दिन २५ नही निकलिया ने पुष्कर मे जोर सू बेमारी पैदा हो गई ने घणा उत्पात हावण लागा सारारा होशहवास उड गया ने विचार कियो के आ काइ बात है ? कठे ही असवाडे पसवाडे बेमारी नही, बैचेनी नही तो अठेईज क्यो है? पत्तो पडता मालूम हुई के एक जैन रा फक्कड ने सतायो ने वो महात्मा नाग पहाड मे तपस्या नप रयो है लोग भेला होय ने साधुजी महाराज रे पास गया वा तपस्या ने ध्यान देख ने घणो अचरज पाया लोग कहियो कि बाबाजी, आप गाव मे पधारो म्हा पर दया करो म्हा दुखी हो गया हा साधुजी कयो-आप आपरा कर्म भुगते हैं, जैन रा साधा ने पुष्कर मे कुण आवण दे लोग कह्यो-बाबाजी, आप पधारो, कोई नही रोकेला साधुजी महाराज कहियो के जीके १०० जणा मणे रोकियो वे आय ने केवे तो चालण मे कइ हरज नही पाछा सारा जाय ने गाव भेलो कियो ने पूछियो के जैनरा फक्कड ने कुण रोकियो है ? सो चौडे केवो, नही तो महात्मा घोर तपस्वी है धर्म पर मर मिटेला ने आपारा गाव भी बरबाद हो जावेला जरै वे १०० जणा चौडे हुआ वाने साथे लेण आया माफी मगाइ ने गाव मे साधुजी ने लाया गाव मे पधारया ने पारणो करता ही शाति होय गइ घणा जीव सुलभ हुआ ने तलाक खा गया के आज पछे कोई धर्म रा महात्मा ने आवता म्हा नही वर्जाला उण दिन सु दुनिया केवण ने लाग गई के—'सौ साधु ने एक माधू' एडा महापुरुष हा वे खेत्र निकाल दियो आज ताइ खेत्र साताकारी है और भी श्रीनानकरामजी म० रे सम्प्रदाय मे साधु घणा प्रभावशाली हुआ है

(१७) आचार्य श्रीस्वामीदासजी म०—श्रीअमरसिंह म० रा भतीजा चेला हा आप सोजत रा वासी, जातरा रातडिया मुथा हा आप वडा कडक हा जैपुर वाटी, किशनगढ, रूपनगढ, साभर, पर्वतसर आदि गावा मे प्रचार कियो आपरा सिंघाडा मे स्वामी श्रीमहकरणजी म० भी प्रसिद्ध हुवा है पू० श्रीरेखराजजी म० व्याख्यानवाचस्पति हा कविता घणी सुदर ही जोधपुर रा राजकवि मुरारदानजी सु शास्त्रार्थं कर विजय प्राप्त करी ही स्वा० श्रीनथमलजी महाराज कवि, क्रियापात्र और समयज्ञ पुरुष हा स्वा० श्रीबखतावरमलजी म० चमत्कारी हा बवई जावणरो मार्ग वे सरल कियो लिपिकार भी चोखा हा पडित नामी हा घणा सवेगी सतो ने पिण ज्ञान पढायो गोडवाड प्रात मे आप रो जोरदार धाको जमीयोडो हो, पिण हा घणा सरल और सेवाभावी ऐ धर्म ने दीपायो ने आछी गति प्राप्त करी

(१८) पूज्य श्रीशीतलदासजी म०—और तेजसिंहजी म० दोनो गुरुभ्राता हा वडा सरल और पुण्यवान पुरुष हा आपरा सिंघाडा मे श्रीदौडजीस्वामी तथा प्रतापमलजी म० प्रभावशाली हुआ ने आत्मा-रो कल्याण कियो

(१९) पूज्य श्रीनरसिंहजी म०—मेवाड मे प्रचार जबरो कियो सैकडो गावो मे धर्म री जड रोप दी आपरा सिंघाडा मे पूज्य श्रीमानमलजी म० वडा काकडाभूत तपस्वी हुआ मणिभद्रजी यक्ष आपरी सेवा मे रेतो हो राणाजी आपरा पूर्ण भक्त हा ने मेवाड का घणा सरदार, देलवाडे रावजी, देवगढ रावजी, आदि सोला सरदार सेवा मे हाजिर रहता हा घणी बार सैकडो बकरा ने कुडकी घलाई आपरा शरीर रो अग्नि-सस्कार हुवो जरे एक चादर, मुहपत्ती ने पूजणी-रे अग्नि सु आल नही आइ लोगा पर घणो प्रभाव पडयो मेवाड मे मान बाबाजी री केई लोग आण दिरावण ने लाग गया आपरा सिंघाडा मे तपस्वी वेणीदासजी महाराज ५० वर्ष अन्न नही लियो घोर तपस्वी हा, अभिग्रह भी आप घणा आकरा किया के हाथी कदोई री दुकान सु लाड्डु लेने वहरावे तो पारणो करणो उदेपुर मे अभिग्रह फलियो और भी घणा अभिग्रह किया पडित बालकिसनजी मुनि महाराज भी नामी हुआ पिण छोटी उमर मे काल कर गया कवि ऋषभदासजी पिण ग्रन्थ केइ बणाया है पूज्य एकलिंगदासजी म० भी घणा सरल पुरुष आपरी साधना सफल करी

(२०) पूज्य श्रीमनोहरदासजी म०–जमनापार रा क्षेत्र सुधारिया घणो उपकार कियो आपरा सिंघाडामे श्रीरत्नचदजी म० पिण चमत्कारी पुरुष हुआ हजारो अग्रवाला ने तथा पल्लिवाला ने जैन बणाया आगरा मे आपरो घणो प्रभाव हो और आज पिण उन्होरी पुण्य तिथि मनावे ने आपरे नाम पर जैनरत्नमुनि कोलेज हाई स्कूल आदि चाले है पूज्य
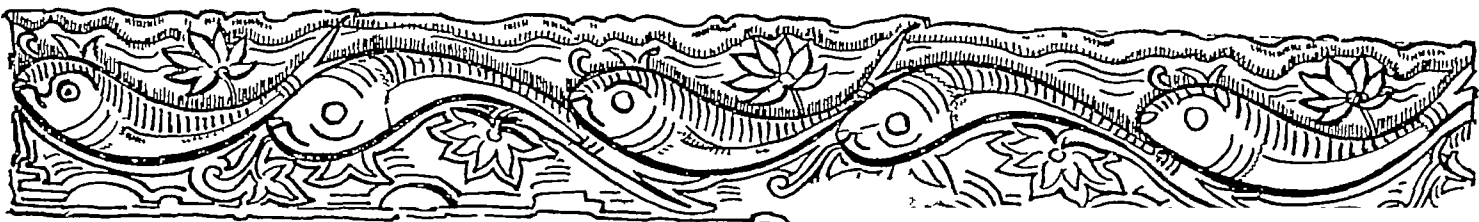
मोखमजी स्वामी पूज्य श्रीमोतीरामजी म० पिण प्रभावशाली होई ने धर्म ने ऊंचो लाया

(२१) पूज्य श्रीनाथूरामजी म —और श्रीरूपचन्दजी म० पिण गुरु भाई हा प्रचार घणो कियो यू पी प्रान्त भरत पुर धोलपुर भटिंडा बीकानेर आदि म प्रसिद्ध पुरुष हा प श्रृषिराजजी म० म जूसासजी म श्रीविनैचन्दजी म० बडा कविरत्न पंडितराज और वादीमानमर्दन हा उणा रा बनायोडा ग्रंथ अनेक है श्रीअमरचन्दजी म अलबेला मस्त चमत्कारी साधु धर्म रा पालक हा

(२२) पूज्य श्रीमाधवमुनिजी म —आप जाति रा ब्राह्मण हा और धर्मदासजी म री सम्प्रदाय रा आचार्य हा महा विद्वान क्रियापात्र तथा बड़ा वीर पुरुष हा व्याख्यान भी घणो असरकारक हो ने चर्चावादी ने कवि महान हा केइ ग्रंथ आपरा बनायोडा है बड़ा-बड़ा पंडितां सु टक्कर लीवी ने उन्हांने आगे नहीं आवण दिया पत्नीवाल माखा ने दिगम्बर लोगा ने समझाय ने धम में दृढ किया एक बार एक दिगबरी भाई पूछियो के आप मडा ऊपर पाटी क्यो बाधो हो ? आप फरमाया के पहली तो या धम री चिन्ह है दूसरी बात जीवारी जतना रे वास्ते है तीसरी बात कोई जीवजंतु मुडा म बडे नहीं इण वास्ते बाधा हां जो भाई मजाक करी के यो कोई मुडा में घोड़ा ही बडे है आ तो बात गलत है इतरा म तो उणरा खुला मुडा मे माखी बड गई मे नीचे उतर गइ वमन होवण लागी ने घणो दुख पायो अब तो साची मानी के महाराज आज सु मैं मुखपत्ति जरूर बाधूला केणो साचो है कविता मे अनुप्रास अलंकारा री झड बाध देता हा अनुशासन आपरो कडो करडो हो छोटी उमर में ही सर्वधर्म सम्मेलन म जैन-समाज रा प्रतिनिधि बण ने मथुरा जयपुर चौमासो कर पधारता हा मार्ग में अकस्मात् स्वर्ग पधार गया और धर्मदासजी म रा सिघाडा मे श्रीनरोत्तमदासजी महाराज श्रीकाशीरामजी महाराज श्रीज्ञानचन्दजी महाराज श्रीचपालालजी म पूज्य श्रीमदनलालजी म श्रीचुन्नी लालजी म श्रीपूर्णमलजी म श्रीताराचन्दजी म तपस्वी श्रीभगवानदासजी म० श्रीइन्दरमलजी महाराज आदि घणा उत्ता क्रियापात्र प्रभावशाली चमत्कारी और मद्धाशील पुरुष हुवा ने धर्म ने घणो दिपाय न आछी गति में पधारिया

(२३) पूज्य श्रीतिलोक ऋषिजी महाराज—महाकवि सुन्दर लेखक चित्रकार, पडित और सरस प्रकृति रा धणी हा आप लाखा श्लोका रा ग्रंथ बनाया महाराष्ट्र में घणो नाम दिपायो आयुष्यो थोड़ा पाया पिण आपरी कृतियां सु अमर हो गया पू श्रीरत्नऋषिजी म पिण विद्वान् हा पूज्य श्रीअमोलकऋषिजी म तो महा उपकारी हा समाज रो बच्चो बच्चो जाण रयो है सब स बडी बात तो आ किवी के महामगसीक १२ सूत्रा रो हिन्दी अनुवाद करने छपाया पांच वर्षां रा थोड़ा समय म इणरे सिवाय और भी घणा ग्रंथ बनाया ऐडा आप उद्योगी पुरुष हा आपरा भक्त लालाजी सुखदेवसहाय ज्वालाप्रसादजी सरीखा दानेश्वरी ने आप सरीखा ज्ञान रा उद्योगी शायद ही समाज में फिर पैदा होवेला आप सरस कवि हा अनेक चरित्र बनाया हा जिण पर भी आप में मान री मात्रा नहीं ही विनय रो गुण तो इतो उचो हो के प्रभात रा वेगा उठ ने छोटा सु छोटा सन्तां ने पिण आप वदन कर लेता धन्य है ऐडा महा पुरुषां ने इता पुरुषा सू ही जैनधर्म दीपे है तपस्वीजी देवजी ऋषिजी महाराज ज्योतिर्विद श्रीदौलतरामजी म कवि श्रीअमी ऋषिजी म पिण क्रियापात्र तथा निर्भीक आचारी हा

(२४) पूज्य श्री भगवानदास जी म —खभात सम्प्रदाय में घणा प्रभावशाली हुवा हजारां भावसार जातिरा लोगा ने दया-धर्मरा अनुयायी तथा मजबूत बणाया पूज्य श्री छगनलालजी म पिण उग्र विहारी हा तथा सम्प्रदाय री व्यवस्था आछी राखी ही

(२५) पूज्य श्रीमूलचन्दजी म —श्री धर्मदासजी म रा चेला हा आप काठियावाड में धर्म रो प्रचार कियो घणा परिषह खमिया घणी चर्चा वार्त्ता कर वादियों ने पेमाल किया पूज्य श्रीअजरामरजी महाराज लिंबडी सम्प्रदाय रा प्रवर्तक हा आपरो आतापनाकर्म घणा बधियो स्वामीजी श्रीसाधाजी म श्रीछोटीदासजी म श्री अजादास जी म यह तीनों ही गुजराती भाषा रा ऊंचा लेखक तथा कवि हा आ मूलचन्द जी म रा अनुयायी गोंडल गो सिंघाडो साइल गे सिंघाडो छोटा स्वामी जी रो सिंघाडो बरवाला रो सिंघाडो आठ कोटी छोटी पक्ष बडी पक्ष आदि घारा है—इणा में उपाध्याय देवचन्द्रजी म० श्री ज्ञानचन्दजी म नागचन्द्रजी म घणा प्रसिद्ध पुरुष हुवा है
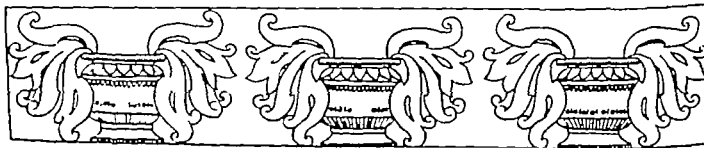
शतावधानी श्री रत्नचन्दजी म० री विद्वत्ता तथा कृति तो समाज रे वास्ते गौरव री चीज है आपरो साहित्य जैन अजैन दोनो विद्वानो ने हिया रो हार हो रयो है ज्यादा काइ केवा अनमोल रत्न हा, सरस्वती रा अवतार तथा भारत-भूषण री पदवी मिली ही

(२६) **दरियापुरी सम्प्रदाय**—रा अनुयायी पूज्य श्री उत्तमचन्दजी म०, ईश्वरलाल जी महाराज, तपस्वी चतुरलाल जी म० पिण आपरी जोड रा अनोखा पुरुष हा पडित हर्षचन्द जी म० पिण कवि सुन्दर हा और भी महापुरुष धर्म दिपावण मे कसर नही राखी—आप तिरिया ने ओरा ने तारिया

(२७) **पूज्य श्री अमरसिंह जी म० (पजाबी)**—घणा म्होटा प्रचारक हा अनेक परिषा सहन किया सारी पजाब मे डको बजायो आपरा सिंघाडा मे श्री गैंडाराय जी महाराज, शालिगरामजी म० मयाचन्दजी म०, पूज्य श्री मोतीराम जी महाराज, पूज्य श्री ज्योतिर्विद सोहनलालजी महाराज, पूज्य श्री काशीराम जी म०, वादिमानमर्दन गणी श्री उदयचन्दजी महाराज आदि जैन शासन रा स्तभ हा परम्परा धर्म री निभावण मे घणा कट्टर हा चमत्कारी पुरुष हा पूज्य श्री आत्माराम जी म० तो समाज मे चमकता कोहनूर हीरा हा आप न्याय-व्याकरण रा प्रौढ विद्वान् हा लेखक तो श्रीशतावधानी जी म० सा० रे जोडरा हा अनेक ग्रथो सूत्रा रा प्रसिद्ध लेखक अनुवादक हा २२ सम्प्रदाय रा सन्त ऐडा उत्तम पुरुषा ने आपरा आचार्य बणाया आपरी सादगी नम्रता सहनशीलता और सूत्रा री स्वाध्याय तथा मौखिक याददासती घणी ऊची ही एक बार दर्शन करने मात्र सू दर्शक ताजिन्दगी भूले जिसी वस्तु नही ही आपरा सिंघाडा मे सतीजी श्री पार्वतीजी सिंहणी समान निडर चर्चावादी ही आचार पिण ऊचो हो श्री राजीमती जी, श्री चन्दाजी आदि सतियाँ पिण सतो रा प्रभावसूँ अविकी ही पिण किणी तरह कम नही

(२८) **आचार्य श्री श्रीलालजी महाराज**—टोक रा निवासी, जातरा बब हा वैरागी बेजोड रा क्रियापात्र हा, सहन-शीलता, सादगी, नम्रता आपरी आछी घणी ही, आपरी वैरागरी छाप सुणने वाला ऊपर घणी पडती ऐडो वर्ष नही निकलियो के १०–१५ दिक्षा आप नही दीवेला साधुमार्गी सघ मे आप दीपता पुरुष हुवा आचार्य श्री जवाहिरलाल जी म० तात्त्विकव्याख्यानी, तर्कभूषण, निर्भीक वक्ता हा साहित्य रा पूरा रसिक हा चर्चावादी घणा प्रशसनीय हा अनुशासण करडो घणो हो उत्पातिया बुद्धि आपरी ऐडी ही के कोइ भी विकट सू विकट प्रश्न रो जवाब दे देता जो ऐडो सागोपाग होवतो के सुनने वाला चकित रे जावता शिष्या ने ज्ञान पढावण रो पिण आपने शोख घणो हो अने आज आपरा शिष्य टीकाकार श्री घासीलालजी महाराज सरीखा आगमरी सेवा करने अमर नाम कर रया है और कृतिकार भी मामुली नही है पूज्य श्री हुक्मीचन्द जी महाराज री सम्प्रदाय मे पूज्य श्री उदयसागर जी म० पिण घणा गभीर ने प्रभावशाली पुरुष हुवा हा आचार्य श्री गणेशीलाल जी म० घणा सरल भद्रीक और पुण्यशाली हा प्रभाव आपरो भक्ता उपर घणो हो आचार री पूरी पूरी हिमायती राखण वाला पुरुष हा आप श्रमणसघरा उपाचार्य पद माये भी रह्या हा

(२९) **पूज्य श्रीमुन्नालालजी म०**—आप भद्रीक आत्मा, सूत्रा रा ज्ञाता हा सौम्यमूर्ति, श्रद्धा रा निरूपण करने वाला हा आपरा सिंघाडा मे तपस्वी श्रीवालचन्दजी म० दयारा रूखडा हा हजारा जीवा ने अभयदान दिरायो बडा चमत्कारी हा स्वामी श्रीनदलालजी महाराज, श्रीदेविलालजी म०, श्रीहीरालालजी महाराज कवि तथा लेखक तथा समयज्ञ पुरुष हा श्रीजैनदिवाकर चौथमलजी म० तो जगतवल्लभ हा वाणी आपरी घणी रसीली ही घणो परिवार वढायो, घणा राजा-महाराजा सेठ साउकारा ने तथा अन्यमतावलवीया ने आप री जादुसरिकी वाणी सुणाय-सुणाय ने सुलभ बणाया आप जैनधर्म रा झडा हा कविता करने मे तो बडा कुशल हा सगीत मे कविता विना पार री किवी, वचन घणा लागणा हा आप कोटा मे स्वर्ग पधारिया

(३०) **स्वामीजी श्रीपीरचन्दजी म०**—आप पूज्य श्रीरघुनाथजी म० सा० रे सिंघाडे मे घोर तपस्वी हा साथ मे सन्त ३१ठाणे हा जोजावर सू घाणेराव पधारता तावडो घणो चढगयो ने सन्त पूरा-पूरा थाक गया ने प्यास घणी जोर सू लागी जरे पूज्य महाराज फुरमायो के—पीरदानजी, ये आगे गाव मे जावो ने धोवण पाणी छाछ मिले सोही लेने आवो तपस्वी
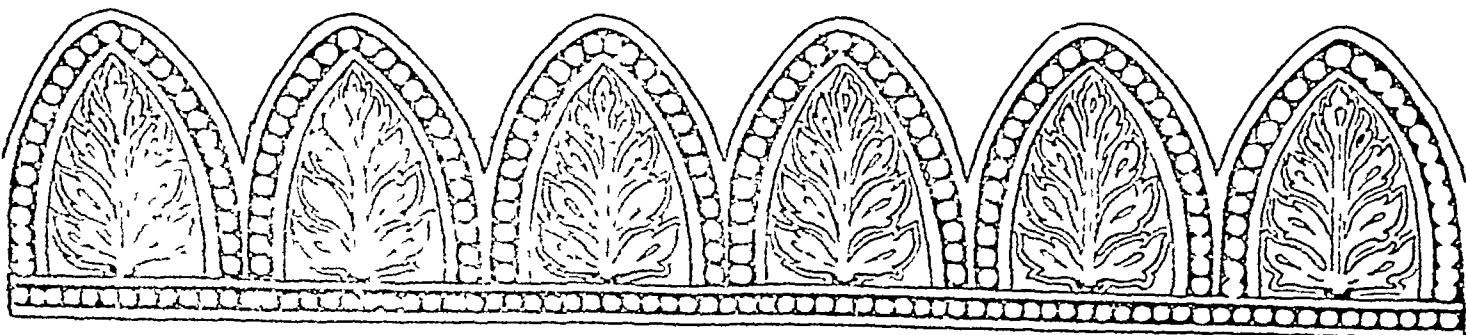
पी म० पधारिया अने धर्म रा द्वेषी गांव में बढतां ही एक ठाकर ने सिक्षा दियो यो राजपूत आडो फिरयो ने अर्ज करी के म्हारे रावल पधारो—खाख घाट मिल जावेला तपस्वीजी रावले पधारिया खाख सूं पातरो भर दियो ने फेर घाट रो केन अलग वरायियो वेहर ने बाहरे आवतां ही महाजना कह्यो के सांधा मांस वेहर ने लाया हो ? तपस्वीजी कह्यो के साधु-सन्त कदे ही आ चीज नहीं लेवे महाजनां कह्यो नहीं लाया तो पातरो दिखावो तपस्वीजी सोचियो-वगो होय गयो दिने है सन्त कह्यो—थाने नहीं दिखावां जरे झमेलो बघो हुओ खुद बाणेराव ठाकुर सा० पिण मांजनां रो पक्ष कर ने आया ने कह्यो के सांधां मास बहरतां शम नहीं आयी तो बतावता क्यों शर्म आवे ? मावना सूं झोली खोलने दिखा दो तपस्वीजी फुरमायो के ठाकरां आपरे तो सारा सरिखा है क्यो खाली पक्षपात करो हो झोली थे जिद करो तो दिखाय देसूं पिण थे कई दिखा नहीं लावी तो ? ठाकुर कह्यो के नहीं लाधी तो थाने साबासी देवां सा ने आज पछे कोई सापाने नहीं सतावां ला बड़ा चमत्कारी पुरुष झोली खोलने चौडे में बताई देखे तो असल कमोदनी चावल सारा डरिया ने महात्मा ने करामाती समजने पगां पडिया ने सिक्षा लेख लिख दियो के थांनरा मुहुबजाने आज पछे छेड़ा तो तीन सौ तगाव है ने पापारी हत्या लागे एडो प्रबन्ध कराय दियो बाद में लोग सामा आयने पूज्य महाराज ने सामा एकांत जाय वा चीज परठ ने पूज्य महाराज कने आया ने प्रायश्चित्त मागियो पूज्य महाराज फरमायो के तपसीजी थारे बजाय में यो करम हुओ जिण रो 'मिच्छा मि दुक्कड' देवो और प्रायश्चित नहीं लुमा तो धर्म री बात ऊची लाया हो सो धन्यवाद है इसा उत्तम पुरुष हा श्रीपोमाजी स्वामीजी तपस्वी श्रीपृथ्वीराजजी स्वामी श्रीनेतसीजी स्वामीजी श्रीफोजमलजी श्रीमाणकचन्दजी म , श्रीधर्मचन्दजी म श्रीसंतोषचन्दजी म प्रभावशाली कवि और क्रियापात्र हुआ तपस्वी श्रीमानमलजी म पिण मारवाड में बड़ा अवधूत करामाती हा आप घणा निस्पृही हा आपरा घणे ठिकाणे परचा पडिया चार चार महिना और छ-छ महीना री तपस्या अभिग्रह सहित करता हा आप अक्सर मसाणा में ही चौमासो करता हा तपस्वीजी श्रीहजारीमलजी म० भी फाकड़ाभूत हा पाली में घणा चमत्कार लोगा रे देखण में आया इसा स्थानकवासी समाज रा अवधूत घणा हुआ केई परचा पडिया लेख मोटो हो जाय इणीसु थोड़ी बाता बताई है इणरो इतिहास तो स्वतन्त्र निकलेला

श्रीआलमशाह खान,
एम० ए०, रिसर्च स्कालर,
हिन्दी विभाग, महाराणा भूपाल कालेज, उदयपुर

लोंकागच्छ की साहित्य-सेवा

भारतीय साहित्य परम्परा के निर्माण मे जैनो का योग-दान निरन्तर एव अक्षुण्ण रहा है सस्कृत से लेकर प्राकृत, अपभ्र श तथा अन्यान्य देश्य-भाषाओ तक जैनो की सृजन-सलिला का प्रवाह कभी नही सूखा वह अबाध गति से प्रवहमान रहा जैन-साहित्य जितना प्रचुर है उतना ही प्राचीन भी, जितना परिमार्जित है उतना ही विपय-वैविध्यपूर्ण भी और जितना प्रौढ है उतना ही विविध-शैली-सम्पन्न भी यदि एक इकाई के रूप मे कभी समस्त भारतीय साहित्य का इतिहास लिखा जायेगा तो इसका आधार यही जैन-साहित्य बनेगा, इसमे सशय नही आचार्य शुक्ल जैसे पूर्वाग्रही आलोचक भले ही इस साहित्य को 'धार्मिक नोटिस मात्र' कह कर उपेक्षित कर दें किन्तु अद्यावधि शोधित तथ्यो के आलोक मे हमे यह स्वीकार करना ही पडेगा कि भारतीय चिंतना की मूल्यवान धारा अपने समस्त ज्ञान-वैभव के साथ जैन साहित्य मे उतरी है कहने की शायद ही आवश्यकता रह जाती है कि जितना गौरव शुद्ध साहित्य का है उतना ही सम्प्रदायमूलक साहित्य-राशि का

जैन-साधक सदैव देश-काल एव तज्जन्य परिस्थितियो के प्रति जागरूक रहे है उनकी ऐतिहासिक बुद्धि कभी सुपुप्त नही रही वे आध्यात्मिक परम्परा के अनुगामी एव आत्मलक्ष्यी सस्कृति मे विश्वस्त रहने के बावजूद भी लौकिक चेतना से विरक्त नही थे क्योकि उनका अध्यात्मवाद वैयक्तिक होकर भी जन-कल्याण की भावना से अनुप्राणित था यही कारण है कि सम्प्रदायमूलक साहित्य का सृजन करते हुए भी वे अपनी रचनाओ मे देश-काल से सम्बन्धित ऐतिहासिक एव सास्कृतिक टिप्पण दे गये है जिनका यदि वैज्ञानिक पद्धति से अध्ययन किया जाय तो भारतीय इतिहास के कई तिमिराच्छन्न पक्ष आलोकित हो उठें आचार्य नरचन्द्र सूरिकृत 'हम्मीर-मद-मर्दन महाकाव्य' और भावकलश रचित हम्मीरायण अथवा हमीर देव प्रभृति जैन-रचनाए आज भी राजपूत इतिहास के कई निष्कर्षों को चुनौती दे रही है विविध तीर्थ-कल्प, प्रभावक-चरित्र, प्रबन्धकोष, विज्ञप्ति-पत्र, प्राचीन तीर्थमालाए, जैन गच्छो और परम्पराओ की पट्टावलिया, शिला-लेख आदि ऐसी उपलब्धिया है जिनसे तत्कालीन भौगोलिक, सास्कृतिक एव राजनैतिक धाराओ का प्रामाणिक विवेचन प्राप्त होता है

मौलिक साहित्य-सृष्टि के साथ-साथ जैन-साधको ने विभिन्न मूल्यवान कृतियो पर नितात ही सारगर्भित और पाण्डित्य-पूर्ण टीकाए रचकर साहित्य-परम्परा की अविस्मरणीय सेवा ही नही अपितु सरक्षा भी की है जैन मुनियो की रचनाओ को पिष्टपेषण से पूर्ण माना गया है इसमे कोई सदेह नही कि औपदेशिक वृत्ति के कारण जैन रचनाओ मे विषयान्तर से परम्परागत बातो का वर्णन-विवरण रहता है पर सम्पूर्ण जैन-साहित्य पिष्ट-पेषण मात्र नही है और जो है वह भी न केवल लोक-पक्ष बल्कि भाषा-विकास की दृष्टि से भी बडा महत्त्वपूर्ण है जैनो ने भारतीय चिंतना की आदर्श सस्थापक नैतिक एव धार्मिक मान्यताओ को जन-भाषा-समन्वित शैली मे ढाल कर राष्ट्र के आध्यात्मिक स्तर को बडा बल दिया है और हमारी धर्म-मूलक थाती की रक्षा की है उन्होने इस प्रकार साहित्य परम्परा को सस्कृत के कूप-जल से निकाल कर भाषा के बहते नीर मे अवगाहन कराया है—उसे अभिव्यक्ति के नये पथ पर अग्रसर किया है

विभिन्न जैन-गच्छो ने साहित्य की जो सेवा की है उसका पूरा-पूरा लेखा-जोखा लेने का न यहाँ अवसर ही है और न
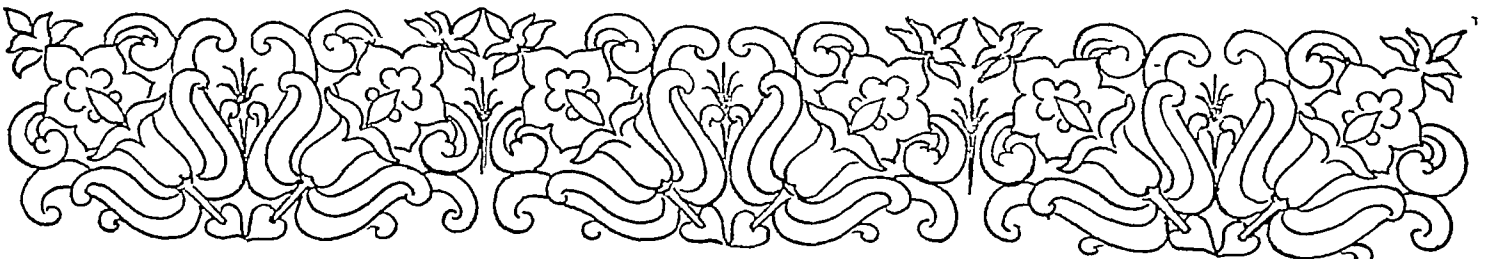
अवकाश ही यहाँ केवल लोंकागच्छ द्वारा की गई साहित्य-सेवा के विषय में कतिपय सूचनात्मक संकेत वर्णानुक्रम से प्रस्तुत किये जा रहे हैं.

अमोलक ऋषि—इस नाम के दो व्यक्ति हुए हैं. प्रथम तो 'भीमसेन चौपई' के रचयिता जिनका विशेष परिचय नहीं मिल सका और द्वितीय बत्तीस सूत्रों के उद्धारक ऋषि सम्प्रदाय के आचार्य इन्हीं की साहित्य-साधना एवं दीर्घदर्शिता का परिणाम है कि उन दिनों आगम सानुवाद सबसुलभ हो सके यद्यपि तत्पश्चात् इस दिशा में सर्वश्री मुनि आत्मारामजी एवं मुनि घासीलालजी के प्रयास अभिनन्दनीय हैं तथापि एतद्विषयक प्राथमिक प्रयास का श्रेय द्वितीय अमोलक ऋषि जी को ही है

आणंद—इनका सं १६६२ के बाद रचित 'शिवजी का सिलोका' प्राप्त है जो एक ऐतिहासिक १४ पद्यात्मक कृति है इसमें आचार्य शिवजी का वर्णन है जो गुजराती लोंकागच्छीय द्वितीय पक्ष अर्थात् कुंवरजी पक्ष के पाटानुक्रम से ११ वें आचार्य थे तथा जिनका जन्म सं १६५४ माघ सुदि दूज को जामनगर निवासी श्रीमाली संघवी अमरसी की धर्मपत्नी तेजबाई की रत्नकुक्षि से हुआ था संवत् १६७ में दीक्षा और संवत् १६८८ जेठ सुदि ५ सोमवार को पाटण में पद-स्थापन सं १७३३ मिगसर दूज रविवार को स्वर्गवास इन्हीं आचार्य श्री का एक रास नाकर ऋषि के प्रशिष्य और देवजी ऋषि के शिष्य धर्मसिंह ने सं १६९२ में उदयपुर में रचा आचार्य श्री के समय—सं १६८५—में ही उनके शिष्य धर्मसिंह ने नवीन पक्ष की स्थापना की इन्हीं की परम्परा में एक और आणंद हुए हैं जिनका परिचय आगे दिया जा रहा है

आणंद—कुंवरजी पक्ष के त्रिलोकसिंहजी के शिष्य आणंद (आनन्द) मुनि ने सं १७३१ माघ सांगपुर (देहली) में एवं सं० १७३८ कार्तिक सुदि पूर्णिमा राधनपुर में क्रमशः 'गणितसार' और 'हरिबलचरित्र' की रचना की दोनों रचनाओं की अंतिम प्रशस्तियां ऐतिहासिक तथ्यों से परिपूर्ण हैं

'गणितसार' में दिल्ली का वर्णन करते हुए छत्रपति औरंगजेब सिद्दी पोलादखां काजी शेख सुलेमान के न्याय की कवि ने भूरि भूरि प्रशंसा की है साथ ही उसने रामचन्द्र (नागौरीगच्छीय) मानसिंह हरिकृष्ण भागीरथ और रूपचंद का उल्लेख भी किया है जिनकी अभ्यर्थना से गणि त्रिलोकसिंह जी जो आचार्य शिवजी के पट्टधर थे ने सांगपुर में चातुर्मास व्यतीत किया था

'हरिबलचरित्र' में कुंवर जी श्रीमलजी केशवजी रत्नागरजी शिवजी त्रिलोकसिंह आदि पुण्यात्माओं का स्मरण किया गया है राधनपुर के श्रमणोपासक महसाणी सूरजी के पुत्र भीमजी के आग्रह से उत्तराध्ययन सूत्र सटीक ज्ञाता समवायांग और अन्तगड आदि शास्त्रों के सार स्वरूप प्रस्तुत कृति का सृजन किया गया था

आनन्द जम्मत—यह जयपुर निवासी ओसवाल जैन गृहस्थ थे इन्होंने 'जम्बूस्वामी गुणरत्नमाल (सं १९ २) पैंतीस ढालों में लिखकर महर्षि के प्रति आदर भाव व्यक्त किया है

आसकरण—यह रायचन्द ऋषि के शिष्य थे इनका अस्तित्व समय १९ वीं शती है 'नेमिराज रास' और 'चूंदडी रास' आदि इनकी रचनाएं हैं

उम्मेदचन्द—स्थानकवासी सम्प्रदाय के गुजराती साहित्य-सेवी मुनियों में इनका स्थान महत्त्वपूर्ण है इन्होंने प्रचुर परिमाण में महामुनियों के आदर्श चरित्र लिखकर जन-मानस को नैतिकता का पाठ पढ़ाया इनकी कवित्वशक्ति सहज थी जो उनकी बृहत्तर काव्य रचनाओं और नाना औपदेशिक स्फुट-पदों से स्पष्ट है. स्थानकवासी भीमजी मानसिंह ने उम्मेदचन्दजी कृत काव्य-संग्रह कई भागों में प्रकाशित किये हैं

कवि का साहित्य-साधना-काल बीसवीं शती का प्रथम चरण है यह उनकी कृतियों की अंतिम प्रशस्तियों से सिद्ध होता है इनकी कृतियाँ इस प्रकार हैं—

१ आर्द्रकुमार का रास (सं १९२२ विजयादशमी सोमवार, भावनगर)

श्रीआलमशाह खान,
एम० ए०, रिसर्च स्कालर,
हिन्दी विभाग, महाराणा भूपाल कालेज, उदयपुर.

लोंकागच्छ की साहित्य-सेवा

भारतीय साहित्य परम्परा के निर्माण मे जैनो का योग-दान निरन्तर एव अक्षुण्ण रहा है संस्कृत से लेकर प्राकृत, अपभ्रंश तथा अन्यान्य देश्य-भाषाओं तक जैनो की सृजन-सलिला का प्रवाह कभी नही रूका वह अबाध गति से प्रवहमान रहा. जैन-साहित्य जितना प्रचुर है उतना ही प्राचीन भी, जितना परिमार्जित है उतना ही विषय-वैविध्यपूर्ण भी और जितना प्रौढ है उतना ही विविध-शैली-सम्पन्न भी. यदि एक इकाई के रूप मे कभी समस्त भारतीय साहित्य का इतिहास लिखा जायेगा तो उसका आधार यही जैन-साहित्य बनेगा, इसमे सशय नही. आचार्य शुक्ल जैसे पूर्वाग्रही आलोचक भले ही इस साहित्य को 'धार्मिक नोटिस मात्र' कह कर उपेक्षित कर दे किन्तु अद्यावधि शोधित तथ्यो के आलोक मे हमे यह स्वीकार करना ही पडेगा कि भारतीय चिंतना की मूल्यवान धारा अपने समस्त ज्ञान-वैभव के साथ जैन साहित्य मे उतरी है कहने की शायद ही आवश्यकता रह जाती है कि जितना गौरव शुद्ध साहित्य का है उतना ही सम्प्रदायमूलक साहित्य-राशि का

जैन-साधक सदैव देश-काल एव तज्जन्य परिस्थितियो के प्रति जागरूक रहे है उनकी ऐतिहासिक बुद्धि कभी सुषुप्त नही रही वे आध्यात्मिक परम्परा के अनुगामी एव आत्मलक्ष्यी सस्कृति मे विश्वस्त रहने के बावजूद भी लौकिक चेतना से विरक्त नही थे क्योकि उनका अध्यात्मवाद वैयक्तिक होकर भी जन-कल्याण की भावना से अनुप्राणित था यही कारण है कि सम्प्रदायमूलक साहित्य का सृजन करते हुए भी वे अपनी रचनाओं मे देश-काल से सम्बन्धित ऐति[illegible] एव सास्कृतिक टिप्पण दे गये है जिनका यदि वैज्ञानिक पद्धति से अध्ययन किया जाय तो भारतीय इतिहास [illegible] तिमिराच्छन्न पक्ष आलोकित हो उठें आचार्य नरचन्द्र सूरिकृत 'हम्मीर-मद-मर्दन महाकाव्य' और भावकलश [illegible] हम्मीरायण अथवा हमीर देव प्रभृति जैन-रचनाए आज भी राजपूत इतिहास के कई निष्कर्षों को चुनौती दे रही है [illegible] तीर्थ-कल्प, प्रभावक-चरित्र, प्रबन्धकोष, विज्ञप्ति-पत्र, प्राचीन तीर्थमालाए, जैन गच्छो और परम्पराओ की पट्टा[illegible], शिला-लेख आदि ऐसी उपलब्धिया है जिनसे तत्कालीन भौगोलिक, सास्कृतिक एव राजनैतिक धाराओ का [illegible] विवेचन प्राप्त होता है

मौलिक साहित्य-सृष्टि के साथ-साथ जैन-साधको ने विभिन्न मूल्यवान कृतियो पर नितात ही सारगर्भित [illegible] पूर्ण टीकाए रचकर साहित्य-परम्परा की अविस्मरणीय सेवा ही नही अपितु सरक्षा भी की है जैन [illegible] नाओ को पिष्टपेषण से पूर्ण माना गया है इसमे कोई सदेह नही कि औपदेशिक वृत्ति के कारण [illegible] विषयान्तर से परम्परागत बातो का वर्णन-विवरण रहता है पर सम्पूर्ण जैन-साहित्य पिष्ट-पेषण [illegible] जो है वह भी न केवल लोक-पक्ष बल्कि भाषा-विकास की दृष्टि से भी बडा महत्त्वपूर्ण है जैनो ने [illegible] आदर्श सस्थापक नैतिक एव धार्मिक मान्यताओ को जन-भाषा-समन्वित शैली मे ढाल कर राष्ट्र के [illegible] को बडा बल दिया है और हमारी धर्म-मूलक थाती की रक्षा की है उन्होने इस प्रकार साहि[illegible] सस्कृत के कूप-जल से निकाल कर भाषा के बहते नीर मे अवगाहन कराया है—उसे अभिव्यक्ति [illegible] अग्रसर किया है

विभिन्न जैन-गच्छो ने साहित्य की जो सेवा की है उसका पूरा-पूरा लेखा-जोखा लेने का न यहां [illegible]

६ नेमिनाथ स्तवन (रचनाकाल स १७७ कासावड़)
७ मेघमुनि स्वाध्याय (रचनाकाल स० १७७ कासावड़)
८. स्थूलभद्र स्वाध्याय

किशनदास—स्थानकवासी जैन सम्प्रदाय में 'बावनी' संज्ञक रचना लिखने वाले यह तीसरे कवि हैं इनकी किशनबावनी हिन्दी की सुन्दर, भावपूर्ण और विचारोत्तेजक रचना स्वीकार की जा सकती है इसका निर्माण समरथजी के समय में स १७५८ विजया दशमी को साध्वी रतनबाई के देहावसान पर आमरा में हुआ

कुंवरजी—यह लोकागच्छीय परम्परा के ८ वें आचार्य जीवराजजी के शिष्य थे अहमदाबाद के श्रीमाली वणिक लहुआजी की धर्मपत्नी रूडी बाई की रत्नकुक्षि से इनका जन्म हुआ सात व्यक्तियों के साथ स १६ २ जेठ सुदि पचमी को दीक्षा अंगीकार की स १६१२ में गुरुपट्टस्थान हुआ और स १६२८ दीपावली को स्वर्गगमन हुआ कुंवरजी ने अपने गुरु से पृथक हो एक स्वतन्त्र पक्ष स्थापित किया था

कुंवरजी ने आत्मशुद्धि एवं जीवनोत्कर्ष के लिए स १६२४ श्रावण सुदि १३ गुरुवार को 'साधुवन्दना' का प्रणयन किया स १६२७ एव स १६६१ की इसकी प्रतिलिपित प्रतियां इन्हीं की परम्परा के मुनियों को उपलब्ध है

कुशल—लोकागच्छीय रामसिंहजी के शिष्य कवि कुशल ने स १६८६ सोजत में दशाणभद्र 'चौढालिया' स १७८६ चैत्र सुदि दूज को मकता में सनत्कुमार चौढालिया 'लघु साधुवन्दना' एव सीता आलोयणा' का प्रणयन किया

केशवजी—यह कुंवरजी पक्ष के तीसरे और पाटानुक्रम से १२ वें आचार्य थुणादा के विजा की पत्नी जमवन्ती के पुत्र थे जन्म स फागुन वदि ५, आचार्य पद स १६८६ जेठ सुदि १३ गुरुवार और तदनन्तर स्वल्प समय में देहावसान केशवजी ने कुंवर के पट्टधर श्रीमल्लजी के समय में लोकाशाह का सिलोका की रचना की २४ पद्य की इस ऐतिहासिक कृति में लोकाशाह और उनकी परम्परा के कतिपय मुनियों का सकेतात्मक परिचय है

खीममुनि—पचमहाव्रत 'पचढालिया सज्झाय' के प्रणेता खीममुनि उपाध्याय कान मुनि के शिष्य थे खीममुनि ने अपने रचना-काल का कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है पर 'जैन गुर्जर कवियो' भाग ३ पृ १३३ पर एक अज्ञातकर्तृक रचना 'निम ऋषि पारणा' का उल्लेख है जिसका लेखन-काल स १७८२ है यदि यह पारणा पचमहाव्रत के कर्ता खीम मुनि से सबद्ध मान लिया जाय तो इन्हें स १७८२ के पूर्व का कवि मान लेने में कोई अनौचित्य नहीं है

खुशालचन्द—सम्यक्त्वकौमुदी चौपाई' अथवा 'अरहद्दासा चरित्र' के प्रणेता खुशालचन्द रायचन्द्र के शिष्य और पुण्यात्मा जेठमलजी के प्रशिष्य थे सम्यक्त्व जैन-दर्शन की आत्मा है बिना इसे प्राप्त किये जीवन शून्यवत् है । इसी विषय को लेकर सम्यक्त्वकौमुदी चौपाई की रचना हुई है जिसमें समकित की विशद विवेचना द्वारा जन-मानस को धर्म भावनाओं की ओर आकृष्ट किया गया है इस चौपाई की रचना नागौर में स १८७१ वैशाख सुदि ३ को हुई

खेतसी—लोकागच्छीय ११ वें पट्टधर दामोदरजी के शिष्य कवि खेता ने वि० स० १७३२ में बैराट (मेवाड़) में 'धन्ना महर्षि के रास' का प्रणयन किया और स १७४५ में अनाथी ऋषि की ढालें बनाई

गोरीदास-गाडाजी स्वामी—यह स्थानकवासी गोडल संप्रदाय के साधु थे इनका जन्म राजकोट में बीरजी की पत्नी राही से स १८६२ कार्तिक सुदि ११ को हुआ था स १६ ८ आषाढ सुदि ११ को दीक्षा अंगीकार की और स १६२७ भादो सुदि ११ शनिवार को गोडल में स्वर्गवास हुआ

गोरीदासजी अपने क्षेत्र के माने हुए सत और कवि थे तत्रस्थित जैनेतर समाज पर इनका प्रभाव था इनकी रचनाओं में जैनधर्म के मौलिक सिद्धान्तों को बोधगम्य भाषा में उपस्थित करने का प्रयास परिलक्षित होता है इनका काव्य सग्रह दो भागों में गोडल से प्रकाशित हो चुका है गोरीदासजी की रचनाएं इस प्रकार हैं—

१ निरजन पच्चीसी (स १६१६ आसोज सुदि १३ जैतपुर)
२ तस्कर पच्चीसी (स १६१६ आसोज)

२ गजसुकुमार की ढाल (स० १६२२ आश्विन शुक्ला १२, मगलवार, भावनगर)
३ अर्जुन माली की ढाल (स० १६२२ आसौज सुदि १४ शुक्रवार, भावनगर)
४ अयमता मुनि की ढालें (स० १६२२ आसौज वदि ८, शनिवार भावनगर)
५ अमरकुमार की ढालें (स० १६२५ मिगसर वदि अमावस्या, रविवार, बोरसद)
६ हरिकेशि मुनि का रास (स० १६२५ फागुन, गणपुर—गढा)
७ मेतार्य मुनि का चौढालिया (स० १६२५ वैशाख सुदि ६ सोमवार खभात)
८ नीषढ कुमार की ढाल (स० १६२५ भादो, खभात)
६ सुकोशल की ढाल (स० १६३०)
१० नेमराजुल का पट् ख्याल
११ ऋषभदेव का किस्सा (स० १६२८ कार्तिक वदि ११)

कनीराम—इनका 'तिलोकसुन्दरी चौपाई' का नामोल्लेख स्व० मोहनलाल दलीचन्द देसाई ने अपने ग्रथ 'जैन गुर्जर कविओ' भाग ३ पृ० २२२ पर किया है इसकी एक प्रति मुनि श्री कान्तिसागरजी के सग्रहालय मे सुरक्षित है, जिसकी प्रशस्ति का ऐतिहासिक भाग नीचे दिया जा रहा है—

इग्यारे वसु ममत कहायो इन्दुहर सबरस पायो रे लो,
धन तेरसे भोमवार सुहायो विजय महूर्त मन भायो रे लो।
शासन मडण धन ज्यूं गाजे पूज गुमान गुरू राजे रे लो,
तास दिवाजै विसुराज लाजै सासा सुहना भाजे रे लो।
तस लघु बाधव पाट सुहाया दुरगदास मुनिरायो रे लो,
च्यारू सिध निज द्रष्ट चलाया आदित्य तेज सवायो रे लो।
रतनेसर तस पाट वैरागी पुद्‌गल रसना त्यागी रे लो,
वाण अभी ज्यारी सुणावण भागी बहु थया धरम लागी रे लो।
तस सुखदाता जिण गुणगाता दलीचन्द गुरभ्राता रे लो,
मकल सिंध ज्यारो जगत विख्यात नेह परसपर ज्ञाता रे लो।
ऋष कनिराम जश सिणगायो पीपाड्पुर मन लायो रे लो,
ढाल बाईस कर गाय सुणायो श्रावक-जन-मन भाया रे लो।
वरणव नै वक्ता जो भणसी श्रोता हित धर सुणसि रे लो,
सील नवल रस जाणीं गणसी सिव सुफल लणसी रे लो।

कान्हजी—यह लोका गच्छ के सुप्रसिद्ध १६ वें आचार्य तेजसिंह के शिष्य थे स० १७४३ मे इन्हे गणिपद प्राप्त हुआ इनका मूल निवास-स्थान नाडोलाइ था तेजसिंह की अपूर्ण 'गुरुगुण-मालाभास' की पूर्ति इन्ही द्वारा हुई यद्यपि इनकी कोई बडी कृति आज तक देखने मे नही आई पर अनेक स्फुट पद्य उपलब्ध हैं इन्ही के समय मे गग मुनि तथा इनकी परम्परा के अन्य मुनियो ने भी साहित्यिक रचनाए की हैं, जिनका उल्लेख यथास्थान किया जायेगा।
कान्हजी की रचनाए इस प्रकार हैं—

१ अर्जुनमाली स्वाध्याय (रचनाकाल स० १७४८ राणपुर)
२ गजसुकुमार स्वाध्याय (रचनाकाल स० १७५३)
३ शान्तिनाथस्तवन (रचनाकाल स० १७५६ सूरत)
४ सुदर्शन सेठ स्वाध्याय (रचनाकाल स० १७५६ सूरत)
५ समायक दोप स्वाध्याय (रचनाकाल स १७५८ सूरत)

६ नेमिनाथ स्तवन (रचनाकाल स १७७ कामावड़)
७ मेघमुनि स्वाध्याय (रचनाकाल स० १७७ कामावड़)
८. स्थूलभद्र स्वाध्याय

किशनदास—स्थानकवासी जैन सप्रदाय में 'बावनी' सज्ञक रचना लिखने वाले यह तीसरे कवि है इनकी किशनबावनी हिन्दी की सुन्दर, भावपूर्ण और विचारोत्तेजक रचना स्वीकार की जा सकती है इसका निर्माण सबराजजी के समय में स १७५८ विजया दशमी को साध्वी रतनबाई के देहावसान पर आगरा में हुआ

कुवरजी—यह लोकागच्छीय परम्परा के ८ वें आचार्य जीवराजजी के शिष्य थे अहमदाबाद के ओसवाली वणिक लहुओजी की धर्मपत्नी रूडी बाई की रत्नकुक्षि से इनका जन्म हुआ सात व्यक्तियो के साथ स १६ २ जेठ सुदि पचमी को दीक्षा अगीकार की स १६१२ में गुरुपट्टस्थान हुआ और स० १६२८ दीपावली को स्वर्गगमन हुआ कुँवरजी ने अपने गुरु से पृथक हो एक स्वतन्त्र पक्ष स्थापित किया था

कुँवरजी ने आत्मशुद्धि एव जीवनोत्कर्ष के लिए स १६२४ श्रावण सुदि ११ गुरुवार को 'साधुवन्दना' का प्रणयन किया स १६२७ एव स १६६१ की इनकी प्रतिलिपित प्रतियाँ इन्ही की परम्परा के मुनियो की उपलब्ध हैं

कुशल—लोकागच्छीय रामसिहजी के शिष्य कवि कुशल ने स १६८६ सोजत मे दशार्णभद्र 'चौढालिया स० १७८६ चैत्र सुदि दूज को मेड़ता में सनत्कुमार चौढालिया 'लघु साधुवन्दना' एव सीता आलोयणा' का प्रणयन किया

केशवजी—यह कुँवरजी पक्ष के तीसरे और पाटानुक्रम से १२ वें आचार्य गुणाढ्य के जिन की पत्नी जयवन्ती के पुत्र थे जन्म स फागुन वदि ५ आचार्य पद स १६८६ जेठ सुदि १३ गुरुवार और तदनन्तर स्वल्प समय में देहावसान केसवजी ने कुँवर के पट्टधर श्रीमल्लजी के समय में लोंकाशाह का सिलोका की रचना की २४ पद्य की इस ऐतिहासिक कृति म लोकाशाह और उनकी परम्परा के कतिपय मुनियों का सकेतात्मक परिचय है

खीममुनि—'पचमहाव्रत' 'पचढालिया सज्झाय' के प्रणेता खीममुनि उपाध्याय कान मुनि के शिष्य थे खीममुनि ने अपने रचना-काल का कही स्पष्ट उल्लेख नही किया है पर 'जैन गुर्जर कवियो' भाग ३ पृ १५३ पर एक अज्ञातकर्तृक 'रचना खिम ऋषि पारणा' का उल्लेख है जिसका लेखन-काल स १७८२ है यदि यह पारणा पचमहाव्रत के कर्ता खीम मुनि से सबद्ध मान लिया जाय तो इन्हे स १७८२ के पूर्व का कवि मान लेने में कोई अनौचित्य नही है

खुशालचन्द—सम्यक्त्वकौमुदी चौपाई अथवा 'अरहदासा चरित्र' के प्रणेता खुशालचन्द रायचन्द्र के शिष्य और पुण्यात्मा जेठमलजी के प्रशिष्य थे सम्यक्त्व जैन-दर्शन की आत्मा है बिना इसे प्राप्त किये जीवन शून्यवत् है । इसी विषय को लेकर सम्यक्त्वकौमुदी चौपाई की रचना हुई है जिसमें समकित की विशद विवेचना द्वारा जन-मानस को धर्म भावनाओ की ओर आकृष्ट किया गया है इस चौपाई की रचना नागौर में स १८७६ वैशाख सुदि ३ को हुई

खेतसी—लोकागच्छीय १ म पट्टधर दामोदरजी के शिष्य कवि खेता ने वि० स १७३२ मे बैराट (मेवाड़) मे 'धन्ना महर्षि के रास' का प्रणयन किया और स १७४२ मे अनाथी ऋषि की रास बनाई

गगारामगोकाजी स्वामी—यह स्थानकवासी गोडल सप्रदाय के साधु थे इनका जन्म राजकोट में वीरजी की पत्नी टाही से स १८६२ कार्तिक सुदि ११ को हुआ था स १६ ८ आषाढ सुदि ११ को दीक्षा अगीकार की और स १६२७ भादा सुदि ११ शनिवार को गोंडल मे स्वर्गवास हुआ

गोडीदासजी अपने क्षेत्र के माने हुए सत और कवि थे तत्कालीन जैनेतर समाज पर इनका प्रभाव था इनकी रचनाओ म जनधम क मौलिक सिद्धान्तो को बोधगम्य भाषा में उपस्थित करने का प्रयास परिलक्षित होता है. इनका काव्य सग्रह दो भागो मे गोडल स प्रकाशित हो चुका है गोडीदासजी की रचनाएं इस प्रकार है—

१ निरंजन पच्चीसी (स १६१६ आसोज सुदि ११ जैतपुर)
२ तस्कर पच्चीसी (स १६१६ आसोज)

३ जोवन पच्चीसी (स० १९१६ पोस सुदि पूर्णिमा गोंडल)
४ भीमजी स्वामी जी का चोढालिया (स० १९१६ पोस सुदि १ गोंडल)
५ वोहत्तरी (स० १९१८ ज्ञान पचमी)
३ तीर्थंकर चौढालिया (स० १९१८)
७ अजना सती का रास (स० १९१९ वैशाख सुदि ३ गोंडल)
८ ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का रास (स० १९२७)
९ चौवीसी
१० जुगत (ट ?) पच्चीसी
११ सत्यवाईसी

गग-गागजी—यह लोकागच्छीय १७ मे पट्टधर कानजी की शिष्य-परम्परा मे लक्ष्मीचरजी के शिष्य थे उनकी रचनाएँ ये है—

१ रत्नसार तेजसार रास (स० १७६१ जेठ सुदि ६ गुरुवार, हालार (सौराष्ट्र)
२ जम्बू स्वामी स्वाध्याय (स० १७६५ श्रावण सुदि २ राणपुर)
३ गौतम स्वामी स्वाध्याय (स० १७६५ प्रथम भाद्रवदि ५, बुधवार, मागरौल)
४ सीमघरविनति (स० १७७१ भादो सुदि १३ कुन्तलपुर)

गुलाल—यह गुजराती गच्छ के नगराज के प्रशिष्य केशर के शिष्य थे इन्होंने नोवा मे स० १८२१ मे श्रावण सुदि ८ रविवार को तेजसार कुमार चौपाई की रचना की

गोधा-गोवर्धन—इनकी ६८ पद्यो की 'रतन-सी ऋषि की मनभास' उपलब्ध है यह कृति ऐतिहासिक दृष्टि से उपादेय है

चौथमल—इन्होने उपदेशमाला के आधार दर 'ऋषिदत्ता चौपाई' (स० १८६४ कातिक सुदि १३ देवगढ-मेवाड) की रचना की. इसमे आदर्श नारी का चित्रण हुआ है इस रचना की प्रतिलिपि इनके शिष्य सूरजमल ने पाली नगर मे की

जगजीवन—यह थराद के ओसवाल चौपडा गोत्रीय पिता जोइता की पत्नी रत्ना के पुत्र थे. इनके निम्नाकित स्फुट स्तवन उपलब्ध हैं—

१ सभवजिन स्तवन (स० १८००)
२ मल्लीजिन स्तनवन (स० १८१४)
३ ऋषभ जिनस्तवन (स६ १८१५)
४ नेमि जिन स्तवन (स० १८२५)

जगन-जगन्नाथ—यह लोकागच्छीय ऋषि शेखा के शिष्य थे इन्होने स० १७६१ मे 'सुकोमल मुनि चौपाई' की रचना की जिसकी कवि के हाथ की लिखी प्रति राजस्थान प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान मे सुरक्षित है इसमे सुकोशल मुनि के माध्यम से अहिंसामाहात्म्य प्रकट किया गया है

जयमल—ये लोका-गच्छीय मुनि थे और राजस्थान मे विचरण किया करते थे 'साधुवन्दना' (स० १८८७ जालौर) इनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना है इसके अतिरिक्त 'परदेसी राजा का रास' 'अर्जुनमाली का छ ढाला' (स० १८२० कार्तिक सुदि पूर्णिमा) 'अवन्ति सुकुमार चौढालिया' (स० १८२५ असोज सुदि ७ नागौर) 'दीपावली स्वाध्याय' 'खदक चौढालिया', (स० १८११ चैत्र ७ लाडूया) 'चन्द्रगुप्त सोलह स्वप्न 'स्वाध्याय' 'नेमि चरित्र चौपाई'-स० १८०४ भादो सुदि ५), 'कमलावती स्वाध्याय' 'स्थूलभद्र स्वाध्याय' आदि अन्य रचनायें है

मुनि जयमलजी अपने समय मे एक आदर्श मुनि के रूप मे मान्य रहे इनकी यशोगाथा को किसी अज्ञात कवि ने स्वर

३ जोवन पच्चीसी (स० १६१६ पोस सुदि पूर्णिमा गोंडल)
४ भीमजी स्वामी जी का चोढालिया (स० १६१६ पोस सुदि १ गोंडल)
५ वोहत्तरी (स० १६१८ ज्ञान पचमी)
३ तीर्थकर चौढालिया (स० १६१८)
७ अजना सती का रास (स० १६१६ वैशाख सुदि ३ गोंडल)
८ ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का राम (स० १६२७)
६ चौवीमी
१० जुगत (ट ?) पच्चीसी
११ सत्यवाईसी

गग-गागजी—यह लोकागच्छीय १७ मे पट्टधर कानजी की शिष्य-परम्परा मे लक्ष्मीधरजी के शिष्य थे उनकी रचनाएँ ये है—

१ रत्नसार तेजसार रास (स० १७६१ जेठ सुदि ६ गुरुवार, हालार (सौराष्ट्र)
२ जम्बू स्वामी स्वाध्याय (स० १७६५ श्रावण सुदि २ राणपुर)
३ गौतम स्वामी स्वाध्याय (स० १७६५ प्रथम भाद्रवदि ५, बुधवार, मागरौल)
४ सीमधरविनति (स० १७७१ भादो सुदि १३ कुन्तलपुर)

गुलाल—यह गुजराती गच्छ के नगराज के प्रशिष्य केशर के शिष्य थे इन्होने नोवा मे स० १८२१ मे श्रावण सुदि ८ रविवार को तेजसार कुमार चौपाई की रचना की

गोधा-गोवर्धन—इनकी ६८ पद्यो की 'रतन-सी ऋपि की मनभास उपलब्ध है यह कृति ऐतिहासिक दृष्टि से उपादेय है

चौथमल—इन्होने उपदेशमाला के आधार दर 'ऋषिदत्ता चौपाई' (स० १८६४ कातिक सुदि १३ देवगढ-मेवाड) की रचना की. इसमे आदर्श नारी का चित्रण हुआ है इस रचना की प्रतिलिपि इनके शिष्य सूरजमल ने पाली नगर मे की

जगजीवन—यह थराद के ओसवाल चौपडा गोत्रीय पिता जोइता की पत्नी रत्ना के पुत्र थे. इनके निम्नाकित स्फुट स्तवन उपलब्ध हैं—

१ सभवजिन स्तवन (स० १८००)
२ मल्लीजिन स्तनवन (स० १८१४)
३ ऋपभ जिनस्तवन (सं० १८१५)
४ नेमि जिन स्तवन (स० १८२५)

जगन-जगन्नाथ—यह लोकागच्छीय ऋषि शेखा के शिष्य थे इन्होने स० १७६१ मे 'सुकोमल मुनि चौपाई' की रचना की जिसकी कवि के हाथ की लिखी प्रति राजस्थान प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान मे सुरक्षित है इसमे सुकोशल मुनि के माध्यम से अहिंसामाहात्म्य प्रकट किया गया है

जयमल—ये लोका-गच्छीय मुनि थे और राजस्थान मे विचरण किया करते थे 'साधुवन्दना' (स० १८८७ जालौर) इनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना है इसके अतिरिक्त 'परदेसी राजा का रास' 'अर्जुनमाली का छ ढाला' (स० १८२० कातिक सुदि पूर्णिमा) 'अवन्ति सुकुमार चौढालिया' (स० १८२५ असौज सुदि ७ नागौर) 'दीपावली स्वाध्याय' 'खदक चौढालिया', (स० १८११ चैत्र ७ लाडूया) 'चन्द्रगुप्त सोलह स्वप्न 'स्वाध्याय' 'नेमि चरित्र चौपाई'-स० १८०४ भादो सुदि ५), 'कमलावती स्वाध्याय' 'स्थूलभद्र स्वाध्याय' आदि अन्य रचनायें हैं

मुनि जयमलजी अपने समय मे एक आदर्श मुनि के रूप मे मान्य रहे इनकी यशोगाथा को किसी अज्ञात कवि ने स्वर

दिया है जिसका उल्लेख जैनगुर्जर कविओ भाग ३ पृ १५३६ पर किया गया है भाव यह है कि सांबिया में मुहता मोहनदास की धर्म-पत्नी महमादे की रत्नकुक्षि से इनका जन्म हुआ व्यापारिक प्रसग को लेकर मेडता पधारे और भूधरजी मुनि की आध्यात्मिक वाणी का श्रवण कर स १७८८ मिग वदि दूज अर्थात् २२ वें वर्ष में संयम ग्रहण कर लिया इससे सिद्ध है कि इनका जन्म स १७६६ है इन्होंने जयपुर आगरा दिल्ली बीकानेर फतेहपुर, मारवाड़ मेवाड़ किसनगढ़ आदि नगरों में चातुर्मास किये

तिलोक ऋषि—लोंका-गच्छीय विशिष्ट कवियों में तिलोक ऋषि ऐसे कवि है जिनकी प्रचुर कृतिया पाई जाती हैं यह लवजी ऋषि की परम्परा के अयवन्ता ऋषि के शिष्य थे रतलाम निवासी सुराणा गोत्रीय दुलीचन्दजी की धर्मपत्नी नानू बाई की रत्नकुक्षि से इनका जन्म स १९०४ चैत्र वदि ३ बुधवार को हुआ था

तिलोकचन्दजी ने स १९१४ में अर्थात् १ वर्ष की कोमल वय में अयवन्ता ऋषि से दीक्षा ग्रहण की साधना के कठिन मार्ग पर चलते हुए भी सरस्वती के प्रति इनका आकर्षण बना रहा जिसकी परिणति निम्नांकित कृतियों में हुई—

१ पचवाणी काव्य (सं १९३ व म १ सोमवार मदसौर)
२ धम जयकुमार चौपाई (स १९३ आषाढ़ सु ३ शुक्र मदसौर)
३ तिलोक बावनी (स० १९३३ में सु ९ शनि रतलाम)
४ श्रेणिक रास (स १९३१ आषाढ़ सुदि ३ पूना)
५ चन्द्र केवली चरित्र
६ समरादित्य केवली चरित्र
७ सीता चरित्र
८ धमबुद्धि पापबुद्धि चरित्र
९ हस केसव चरित्र
१० अजन मासी चरित्र
११ धन्ना शालिभद्र चरित्र
१२ भृगु पुरोहित चरित्र
१३ हरिबल काव्य
१४ अमरकुमार चरित्र
१५ नन्दनमणिहार चरित्र
१६ महावीर स्वामी चरित्र
१७ प्रतिक्रमण सत्यबोध
१८ ज्ञान प्रदीपक

तत्र-नत्रमुनि—यह लोकागच्छीय भीमजी के शिष्य थे इनकी रचनाए है—
१ चदराज का रास (स १७ ७ दीपावली सोमवार, राणपुर)
२ जितारि रास (स १७३४)

नत्रराम—यह लोंकागच्छीय दामजी के शिष्य थे इनकी रचनाएँ य हैं—
१ रास पचीसी रत्नचूड चौपाई (स १७३५ रविवार मेहमन्पुर)
२ चारचन्द्रमुनि स्वाध्याय

नवनिध—यह लोकागच्छीय मूल परम्परा क १६व आचार्य पचेरिया निवासी दामैड गोत्रीय ताराचन्द की धर्म-पत्नी सरगमादे क पुत्र थ जन्म सवत् अज्ञात है इनकी दीक्षा स १७ ६ आषाढ सुदि १ गुरुवार को हुई पन्नपातन बोरा बीरजी द्वारा गुरुप स स १७?? वैसाख सुदि ७ गुरुवार को हुआ यह केशवजी के शिष्य थ इनके समय में
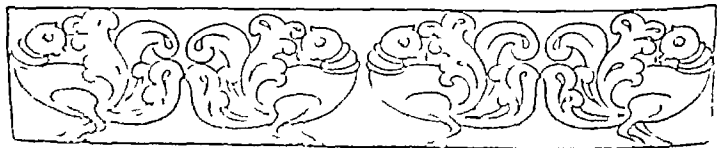
सप्रदाय सघर्ष की स्थिति मे थी तथापि ये साहित्य-रचना मे लगे रहे इतिहास के प्रति इनका विशिष्ट अनुराग था तेजपाल इन्ही के शिष्य थे इनकी निम्नाकित रचनाएँ प्राप्त हैं—

१ नेमिनाथ स्तवन (स० १७११)
२ ऋषभजिन स्तवन (स० १७२७ चैत्र पूर्णिमा जालौर)
३ शातिनाथ स्तवन (स० १७३३ बुरहानपुर)
४ वीर स्तवन (स० १७३३)
५ जिन स्तवन (स० १७६४ रतलाम)
६ अतराका स्तवन (स० १७३५ नादेसमा-मेवाड)
७ श्रीसीमधर स्तवन (स० १७४८)

अज्ञात रचनाएँ—

१ सत्ताईस पीठ स्वाध्याय
२ हरिवशोत्पत्तिरास
३ सोलह स्वप्न स्वाध्याय
४ सुविधिजिन स्तवन
५ तमाखू की स्वाध्याय

श्रीतेजसिंह सस्कृत के भी अच्छे ज्ञाता थे दृष्टातशतक इनकी सर्वज्ञात रचना है

त्रिक्रम—यह नागौरी गच्छीय आसकरण के प्रशिष्य और वणवीर के शिष्य थे इनका 'रूपचन्द ऋषि का रास' (स० १६९९ भादो बदि ३ बुधवार, अकबरपुर) लोकागच्छीय इतिहास की दृष्टि से अपना स्वतन्त्र स्थान रखता है जीवन-चरित लेखन की दृष्टि से भी यह रचना महत्त्वपूर्ण है इनकी रचनाये इस प्रकार हैं—

१ अमरसेन रास (स० १६९८)
२ वगचूल का रास (स० १७०६ भादो सुदि ११ गुरुवार किशनगढ)

दीप—यह लोकागच्छ की १३-१४ वी गद्दी के आचार्य के समय स्वतत्र मत चलाने वाले श्रीधनराज की परम्परा मे थे. इनकी रचनायें है—

१ सुदर्शन श्रेष्ठि रास
२ वीर स्वामी का रास
३ पाचम चौपाई
४ गुणकरण्ड गुणावली रास (स० १७५७)

कुलैथ मे इन्होने एक धमार भी लिखी थी

धर्मदास—यह लोकागच्छीय जीवराज के शिष्य थे इनकी कृति 'जसवत मुनि का रास' स० (१६५२ भादो वदि १०, खण्डेहरा) प्राप्त है

धर्मसिंह—इन्होने स० १६९२ मे, उदयपुर मे चातुर्मास रहकर आचार्य शिवजी का ऐतिहासिक रास निर्मित किया स० १६८५ मे इन्होने लोकागच्छ से अलग एक स्वतत्र शाखा स्थापित की जो 'दरियापारी (पुरी) शाखा' के नाम से विख्यात है इनकी परम्परा मे कई स्वतन्त्र ग्रन्थकार मुनि हुए है

नन्दलाल—यह रतिराम के शिष्य थे इन्होने 'लब्धिप्रकाश चौपाई (स० १९०३ कपूरथला) और 'ज्ञानप्रकाश' (स० १९०६) की रचना की

नरसिंह मुनि—यह असंदिग्ध सत्य है कि संशोधन के क्षेत्र में कभी-कभी सामान्य गीत का भी बहुत बड़ा महत्त्व प्रमाणित हो जाता है यहां जिन नरसिंह मुनि का उल्लेख किया गया है वे न तो स्वयं बहुत बड़े ग्रन्थकार थे और न साहित्यकार ही किंतु इनकी एक मात्र अद्यावधि अज्ञात कृति उपलब्ध हुई है जिसमें १६वीं शती के एक महान् व्यक्तित्व की यशोगाथा वर्णित है हमारा तात्पर्य रोड़जी स्वामी से है. ये अपने समय के विशिष्ट कोटि के संयमशील तपस्वी स्थानकवासी मुनि थे रायपुर, सनवाड़ उन्दपुर नाथद्वारा और आमेट में रहकर इन्होंने जो-जो उपसर्ग सहन किये और सूचित स्थानों में इनके संबंध में प्रचलित जन प्रवादों पर इस गीत म प्रकाश डाला गया है. इसकी रचना सं १८७० मे रायपुर (मेवाड़) में की गई है भले ही यह गीत लघुतम है पर महामुनि की यश कीर्ति को ज्योतित करने म अनुपम है

मानजी—यह कंवरजी पक्ष क तृतीय आचार्य रतनसी के शिष्य थे इन्होंने पचावरण स्तवन स १६७१ दीपावली-ग्राम नगर) और नेमिनाथ स्तवन (स १६७२ दीपावली-अहमदाबाद) की रचना की

नारायण—यह लोकागच्छीय अष्टम पट्टधर जीवराजजी के शिष्य थे इन्होंने कल्याणस्सी में चातुर्मास रहकर स० १६८४ आसोज वदि ७ गुरुवार को 'धन्निरास' की रचना की

परमा—यह राजसिंघ के शिष्य थे इन्होंने 'प्रभावती चौपाई (सं १६४८ आश्विन शुक्ला १० शनिवार) की रचना की

प्रकाशसिंह—यह स्थानकवासी सम्प्रदाय के प्रथम कवि हैं जिन्होंने स्वतंत्र छप्पय लिखे रचना-काल स १८७५ आषाढ़ सुदि ८ (नौड़स) है यह स्थानकवासी सम्प्रदाय के सद्गृहस्थ थे

पाना परेख—यह बना के प्रशिष्य और जीवा के शिष्य थे इन्होंने स १८१८ पौ अमावस्या को सीमड़ी में रहकर 'भरत चक्रवर्ती रास' लिखा

प्रेम—इन्होंने सं १६६१ में 'द्रौपदी रास और स १६६२ में मगल कलश रास की रचना की

प्रेम—यह नृसिंह के शिष्य थ इन्होंने 'हरिचंद चौपाई (स० १८५८ मगसिर वदि ६ रविवार-जोधपुर) की रचना की स्व मोहनलाल दलीचंद देसाई ने 'वंधर्मी चौपाई' को भी इनकी रचना मान लिया है जो स्पष्टतः भूल है क्योंकि वधर्मी चौपाई-जिसकी १८वी शती की प्रतिलिपि प्राप्त है—के प्रणेता प्रेमराज सूरि थे जब कि हरिचंद चौपाई' के प्रणेता १६वी शती के कवि थे

भाणुचन्द्र—यह लोकागच्छ क प्राचीन कवियों में प्रमुख ऐतिहासिक कवि हैं इन्होंने 'दयाधर्म चौपाई' (सं १५७८ माघ सुदि ७) की रचना की जिसमें अपने सम्प्रदाय का ऐतिहासिक वर्णन एवं तात्कालिक साम्प्रदायिक मान्यताओं का उल्लेख है

भीम—यह लोकागच्छीय बड़े वीरसिंह के शिष्य थे इन्होंने तीन खण्डों मं श्रेणिक रास लिखा जिसका क्रमशः रचना काल इस प्रकार है—

प्रथम खण्ड स १६२१ माघ सुदि २ बड़ोदा

द्वितीय खण्ड स १६१२ माघ वदि २ बड़ोदा

तृतीय खण्ड स १६१६ भाद्रपद वदि ७ रविवार

इनकी एक अन्य रचना नागकुमार—नागदत्त का रास (स १६१२ आसोज सुदि ५ गुरुवार बड़ोदा) प्राप्त है

बालचन्द्र—यह कंवरजी पक्ष क श्रीमल्ल क प्रशिष्य और रतराग क शिष्य थे हिन्दी भाषा पर इनके अद्भुत प्रभुत्व का परिचय इनकी 'बालचन्द बत्तीसी (स १६८५ दीपावली अहमदाबाद) मे मिलता है गृहस्थोचित कर्त्तव्यों का सम्यक् विवेचन एव नैतिक उपदेश मे परिपूर्ण यह एक आदर्शवादी रचना है स्मरणीय है कि एक और बाल कवि स १६१० में हुए हैं जिनकी 'बाल-बावनी' प्रसिद्ध है खरतरगच्छ मे भी इस नाम के दो कवि हो गये हैं

मयाचन्द—यह मानाचन्दजी क शिष्य और रूपचन्द जी क प्रशिष्य थे इन्होंने नरसिंह राजा का रास (स १८१५ चैत्र वदि ८ गुरुवार जामनगर) की रचना की

स्मरणीय है कि इसी समय मयाचन्द नाम के दो अन्य कवि भी हुए हैं जिनमे एक तो रत्नसिंह के शिष्य मयाचन्द जिनकी रचना 'बुद्धिरास स्वाध्याय' प्राप्त है और दूसरे सिद्धिवल्लभ के शिष्य मयाचन्द जो 'नवरत्न स्तवन' (स० १८५२ जेष्ठ सुदि ४, मुलतान) के प्रणेता थे इन मयाचन्द का मतिलाभ नाम भी था

मानमुनि—'ज्ञानरस' के प्रणेता मानमुनि नवल ऋषि के शिष्य थे जो स० १७३९ मे विद्यमान थे

माल—यह खूबचन्द सन्तानीय नाथाजी के शिष्य थे, जैसा कि उनकी रचनाओ की अन्त्य प्रशस्तियों से प्रमाणित है प्राप्त कृतियो के आधार पर इनका साहित्यसाधना-काल स० १८१० से स०१८५७ का मध्यकाल जान पडता है इनकी रचनाये इस प्रकार है—

१ आपाढभूति चौढालिया (स० १८१० आपाढ सुदि २, भुज)
२ राजीमती स्वाध्याय (स० १८२२, मुन्द्रा)
३ इलाचीकुमार छ ढाला (स० १८५५, जेठ, अजार)
४ इशुकार कमलावती छ ढाला (स० १८५५, जेठ वदि ३, अजार)
५ पट्वावनरास छ ढाला (स० १८५७, कार्तिक, माडवी)

'जैन-गुर्जर कविओ' भाग ३ पृ० २२८ पर 'अजनासुन्दरी चौपाई'—जिसका प्रतिलिपिकाल स० १८०९ है—को स्व० देसाई ने नाथाजी शिष्य मान की रचना माना है, जो स्पष्टत भूल है कारण कि 'अजनासुन्दरी चौपाई' के प्रणेता मुनि माल वड गच्छीय भटनेर शाखा के थे और इनका अस्तित्व समय १७ वी शती का प्रथम चरण उनकी कृतियो मे स्पष्ट है सूचित माल की इसी कृति का उल्लेख 'जैन गुर्जर कविओ' भाग प्रथम पृ० ४६३ पर भी किया गया है जिसका प्रतिलिपिकाल स० १६६३ है अत यह स्पष्ट है कि देसाई महोदय की भूल के कारण ही १७ वी शती के माल की रचना १९ वी शती के लोकागच्छीय माल के नाम पर चढ गई है भाषा और वर्णनशैली की दृष्टि से भी दोनो का भिन्नत्व स्पष्ट प्रतीत होता है इसी मुनि माल की रचनाओ को नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित हिन्दी हस्तलिखित पुस्तको के १८ वें त्रैवार्षिक विवरण (१९४१–४३) मे अज्ञातकर्तृक रचनाए मान लिया गया है जब कि इनका नाम अतिम पक्तियो मे स्पष्टत सूचित है इस माल की एक दर्जन से अधिक अन्य रचनाए भी प्राप्त हैं यह राजस्थानी के कवि थे जब कि नाथाजी के शिष्य गुजराती के

मालसिंह—यह लोकागच्छीय करमसी के शिष्य थे इनकी रचना 'कलावती चौढालिया' प्राप्त है जिसका रचना-काल स० १८३५ श्रावण सुदि ५ है

मेघराज—लोकागच्छीय जगजीवन के शिष्य मेघराज ने 'ज्ञानपचमी स्तवन' (स० १८३०–वीरमगाम) और 'पार्श्वनाथ स्तवन' (स० १८४१) की रचना की

उल्लेखनीय है कि इस नाम के चार और कवि भी हुए हैं प्रथम दिगम्बर सम्प्रदाय के ब्रह्मशाति के शिष्य, जिनका 'शातिनाथचरित्र' (स० १६१७ मे प्रतिलिपित) प्राप्त है द्वितीय दिगम्बर सुमतिकीर्ति के शिष्य जिनका 'कोहलद्वादशी रास' (स १७५४ मे प्रतिलिपित) उपलब्ध है तृतीय पार्श्वचन्द्रगच्छीय श्रवण ऋषि के शिष्य जिनकी नलदमयन्ती रास (स० १६६४) सोलह सती का रास, राजचन्द्र प्रवहण (स० १६६१) पार्श्वचन्द्र स्तुति, रायपसेणी वालाववोध और स्थानाग वालाववोध आदि रचनाए मिलती है चतुर्थ मेघराज आचल गच्छीय भानुलब्धि के शिष्य थे जिनके 'सत्तर भेदी पूजा' और 'ऋषभजन्म' ग्रथ उपलब्ध हैं इनका समय १७ वी शती का उत्तरार्द्ध है

रत्नचन्द्र—यह गुमानचन्द के प्रशिष्य और दुर्गादास के शिष्य थे इन्होने चतुर्दश ढालबद्ध 'चन्दनबाला चौपाई' स० १८५२) और पचढालवद्ध निर्मोहीढाल (स० १८७४ पाली मे) लिखी

इस नाम के दो अन्य विद्वान् भी हुए है जिनमे से एक वडगच्छीय समरचन्द्र के शिष्य 'पचाख्यान चौपाई' (स० १६४८) के प्रणेता और दूसरे तपागच्छीय शातिचन्द्र के शिष्य 'सूरत सग्रामसुर कथा' (स० १६७८) के रचयिता हैं

स्मरणीय है कि इसी समय मयाचन्द नाम के दो अन्य कवि भी हुए हैं जिनमे एक तो रत्नसिंह के शिष्य मयाचन्द जिनकी रचना 'बुद्धिरास स्वाध्याय' प्राप्त है और दूसरे सिद्धिवल्लभ के शिष्य मयाचन्द जो 'नवरत्न स्तवन' (स० १८५२ जेष्ठ सुदि ४, मुलतान) के प्रणेता थे इन मयाचन्द का मतिलाभ नाम भी था

मानमुनि—'ज्ञानरस' के प्रणेता मानमुनि नवल ऋषि के शिष्य थे जो स० १७३६ मे विद्यमान थे

माल—यह खूबचन्द सन्तानीय नाथाजी के शिष्य थे, जैसा कि इनकी रचनाओ की अन्त्य प्रशस्तियो से प्रमाणित है प्राप्त कृतियो के आधार पर इनका साहित्यसाधना-काल स० १८१० से स०१८५७ का मध्यकाल जान पडता है इनकी रचनाये इस प्रकार है—

१ आपाढभूति चौढालिया (स० १८१० आपाढ सुदि २, भुज)
२ राजीमती स्वाध्याय (स० १८२२, मुन्द्रा)
३ इलाचीकुमार छ ढाला (स० १८५५, जेठ, अजार)
४ इशुकार कमलावती छ ढाला (स० १८५५, जेठ वदि ३, अजार)
५ पद्मावधवरास छ ढाला (स० १८५७, कार्तिक, माडवी)

'जैन-गुर्जर कविओ' भाग ३ पृ० २२८ पर 'अजनासुन्दरी चौपाई'—जिसका प्रतिलिपिकाल स० १८०६ है—को स्व० देशाई ने नाथाजी शिष्य मान की रचना माना है, जो स्पष्टत भूल है कारण कि 'अजनासुन्दरी चौपाई' के प्रणेता मुनि माल वड गच्छीय भटनेर शाखा के थे और इनका अस्तित्व समय १७ वी शती का प्रथम चरण उनकी कृतियो मे स्पष्ट है सूचित माल की इसी कृति का उल्लेख 'जैन गुर्जर कविओ' भाग प्रथम पृ० ४६३ पर भी किया गया है जिसका प्रतिलिपिकाल स० १६६३ है अत यह स्पष्ट है कि देशाई महोदय की भूल के कारण ही १७ वी शती के माल की रचना १६ वी शती के लोकागच्छीय माल के नाम पर चढ गई है भाषा और वर्णनशैली की दृष्टि से भी दोनो का भिन्नत्व स्पष्ट प्रतीत होता है इसी मुनि माल की रचनाओ को नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित हिन्दी हस्तलिखित पुस्तको के १८ वें त्रैवार्षिक विवरण (१९४१–४३) मे अज्ञातकर्तृक रचनाए मान लिया गया है जब कि इनका नाम अतिम पक्तियो मे स्पष्टत सूचित है इस माल की एक दर्जन से अधिक अन्य रचनाए भी प्राप्त हैं यह राजस्थानी के कवि थे जब कि नाथाजी के शिष्य गुजराती के

मालसिंह—यह लोकागच्छीय करमसी के शिष्य थे इनकी रचना 'कलावती चौढालिया' प्राप्त है जिसका रचना-काल स० १८३५ श्रावण सुदि ५ है

मेघराज—लोकागच्छीय जगजीवन के शिष्य मेघराज ने 'ज्ञानपचमी स्तवन' (स० १८३०–वीरमगाम) और 'पार्श्वनाथ स्तवन' (स० १८४१) की रचना की

उल्लेखनीय है कि इस नाम के चार और कवि भी हुए हैं प्रथम दिगम्बर सम्प्रदाय के ब्रह्मशाति के शिष्य, जिनका 'शातिनाथचरित्र' (स० १६१७ मे प्रतिलिपित) प्राप्त है द्वितीय दिगम्बर सुमतिकीर्ति के शिष्य जिनका 'कोहलद्वादशी रास' (स १७५४ मे प्रतिलिपित) उपलब्ध है तृतीय पार्श्वचन्द्रगच्छीय श्रवण ऋषि के शिष्य जिनकी नलदमयन्ती रास (स० १६६४) सोलह सती का रास, राजचन्द्र प्रवहण (स० १६६१) पार्श्वचन्द्र स्तुति, रायपसेणी बालावबोध और स्थानाग बालावबोध आदि रचनाए मिलती है चतुर्थ मेघराज आचल गच्छीय भानुलब्धि के शिष्य थे जिनके 'सत्तर भेदी पूजा' और 'ऋषभजन्म' ग्रथ उपलब्ध हैं इनका समय १७ वी शती का उत्तरार्द्ध है

रत्नचन्द्र—यह गुमानचन्द के प्रशिष्य और दुर्गादास के शिष्य थे इन्होने चतुर्दश ढालबद्ध 'चन्दनबाला चौपाई' स० १८५२) और पचढालबद्ध निर्मोहीढाल (स० १८७४ पाली मे) लिखी

इस नाम के दो अन्य विद्वान् भी हुए है जिनमे से एक वडगच्छीय समरचन्द्र के शिष्य 'पचाख्यान चौपाई' (स० १६४८) के प्रणेता और दूसरे तपागच्छीय शातिचन्द्र के शिष्य 'सूरत सग्रामसुर कथा' (स० १६७८) के रचयिता हैं

मुनि श्रीकान्तिसागरजी

श्रीलोंकाशाह की परपरा और उसका अज्ञात साहित्य

सन्त-परम्परा के समुज्ज्वल इतिहास में सोलहवी शती का विशेष महत्त्व है इस युग को धार्मिक क्रान्तिकारियों का स्वर्ण-काल कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी कबीर धर्मदास नानक सत रविदास तरण-तारण स्वामी और श्रीमान् लोकाशाह आदि आदर्श प्रेरक व्यक्तियो ने इसी समय मे क्रान्ति की शंखध्वनि से भारतीय जनमानस को नवजागरण का दिव्य सन्देश दिया था धर्म के मौलिक तत्त्वों के नाम पर जो विकार असमतियाँ और साम्प्रदायिक-कलहमूलक धारणाए पनप रही थी उनके प्रति तीव्र असतोष का ज्वार इन्ही सन्तों की अनुभवमूलक वाणी म फूटा था स्वाभाविक था कि आकस्मिक और अप्रत्याशित क्रान्तिपूर्ण विचारधारा के उदय से स्थितिपालक समाज म हलचल उत्पन्न हो परिणाम स्वरूप प्रतिक्रियावादी भावनाए जाग्रत हुई यह सर्वसिद्ध ऐतिहासिक सत्य है कि मानव-सस्कृति का वास्तविक पल्लवन एव सवर्द्धन सघर्ष की पृष्ठभूमि म ही होता है शान्तिकाल मे ऐहिक और भौतिकमूलक प्रवृत्तियाँ प्रोत्साहित होती है क्रान्ति नवसृजन का न केवल प्रेरक सदेश ही देती है अपितु समत्व की मौलिक भावना द्वारा श्रमणसस्कृति का जन-जीवन में प्रतिष्ठित भी करती है जो जनतन्त्र का मुख्य आधार है यही कारण है कि सन्त-परम्परा का विकास विपरीत परिस्थितिया म ही हुआ है वह पाशविकता से लडी और पूरी शक्ति के साथ लडी पर मरी नही क्योकि उसका आदर्श विशाल और उदार भावनाओ पर आधारित था वहा व्यक्ति की अपेक्षा गुणों का प्रामुख्य था वह किसी सम्प्रदाय या उच्च व्यक्ति के प्रति नही पर समीचीन तत्त्वो के प्रति वफादार थी इसीलिए सुदृढ और सौंदर्य सम्पन्न परम्पराए वह डाल सकी जिस पर शताब्दियो तक मानवता गर्व कर सकती है

यद्यपि श्रीमान् लोकाशाह के क्रान्तिकारी विचारो का समर्थन उनके अनुयायिवर्ग द्वारा किस सीमा तक और कितना हुआ इस पर ऐतिहासिक मौन है कहने का तात्पर्य यह है कि जिस समय विचारक्रान्ति का सूत्रपात हुआ उसकी पृष्ठभूमि को द्योतित करने वाली तात्कालिक साम्प्रदायिक साधन-सामग्री तिमिराच्छन्न है, तथापि उनकी परम्परा का इतिहास इस बात का साक्षी है कि अपने युग में उत्पन्न धार्मिक विकृतियो के प्रति उनका विद्रोह जन सम्प्रदाय को दूर तक प्रभावित कर एक नवमार्ग का निर्माता और पोषक सिद्ध तो हुआ ही इसका अकाट्य प्रमाण लोंकाशाह और उनकी परम्परा के विरुद्ध रचा गया विपुल साहित्य है जिसके सृजन में उस युग के चेतना-सम्पन्न मस्तिष्को को सजग होकर सक्रिय होना पडा था इनमे लावण्यसमय कमलसयम उपाध्याय पार्श्वचन्द्र सूरि आदि प्रमुख है.

किसी नवमत प्रवर्तक व्यक्ति की विचारधारा का भले ही उस सम्प्रदाय मे तात्कालिक स्वरूप लिपिबद्ध न किया हो पर समसामयिक साहित्य म भले ही उसके विपरीत ही क्यो न लिखा गया हो जो उल्लेख आते है या उसके निरसन के लिए जो पूर्व पक्ष प्रस्तुत किया गया है उससे उसकी मूल विचारधारा का आंशिक अनुभव तो हो ही जाता है लोकाशाह की मूल मान्यताएँ क्या रही होगी ? उनका सीमित समय में ही क्षेत्र कितना व्यापक हो गया ? आदि बातों का उत्तर उस सम्प्रदाय का तात्कालिक साहित्य भले ही न दे सकता हो पर उस समय म जो पर्याप्त साहित्य विरोधियो द्वारा रचा गया उसम बहुत कुछ सकेत तो मिल ही जाते है परन्तु इन महत्त्वपूर्ण साधनो पर अभी तक बहुत कम विद्वानो का ध्यान आकृष्ट हुआ है मैंने प्रसगवश जितना भी अध्ययन-अन्वेषण किया उसके आधार पर मै इस निष्कर्ष पर पहुचा हू कि यदि सूचित विषय का मौलिक ज्ञानस्य प्रकट करना है तो विरोधी साहित्य के अध्ययन की नितान्त आवश्यकता है अन्यथा गच्छ की 'गुर्वावली' इस रहस्योद्घाटन में सफल साधन सिद्ध हो सकती है
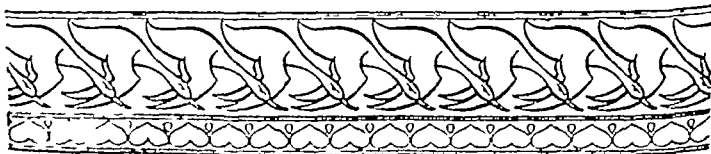
श्रीअनोपचन्दजी तास शिष्या आदरी आणद धरी,
तस चर्ण सेवा श्री वनेचन्दजी ढाल ए पाचू करी।
गज नह ए वसु धरा वीते सम्त १८७० पोष से सीत द्वादसी,
जैयपुर जिनपद पूरी स्वच नें अषड चन्द कला जसी।

वस्तो—यह वढवाण के श्रावक थे इन्होने 'भूठा तपसी का सिलोका' (स० १८३६ भादो सुदि रविवार) की रचना की भूठा तपसी सौराष्ट्र के अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्ति थे इनके विषय मे राणपुर आदि नगरो मे कई किंवदतिया प्रचलित हैं

सबलशाह—इन्होने 'तिलोकसुन्दरी ढाल' (स० १८६२ फलौदी) की रचना की

समरचन्द्र—यह कुंवर जी पक्ष के रत्नागर के शिष्य थे इन्होने 'श्रेणिक रास' की रचना की

सावतराम—यह स्थानकवासी सम्प्रदाय के क्रियाशील मुनि थे इनकी निम्नलिखित रचनाए प्राप्त है—

१ द्रौपदी चौपाई (स० १८६३, कार्तिक कृष्णा ७, जयपुर)
२ मदनसेन चौपाई (स० १८६८ फ़ागुन सुदि ७, वीकानेर)
३ सतीविवरण चौढालिया (स० १६०७ चैत्र वदि ७, लश्कर)

सुजाण—यह भीमजी के शिष्य थे इन्होने सूरत मे रह कर स० १८३२ मे 'शीयल स्वाध्याय' का प्रणयन किया

सुन्दर—इन्होने 'नेमराजुल के नवभव' (स० १७६१) की रचना की

सूजी—सूजी ने 'श्री पूज्य रत्नसिह रास' (स० १६४८ वैशाख वदि १३ तालनगर, मेवाड) की रचना की, यह ऐतिहासिक महत्त्व की रचना है आचार्य रत्नसिह कुंवरजी पक्ष के अर्थात् मूल पाटक्रमानुसार ११ वें पट्टधर थे जामनगर निवासी वीसा श्रीमाली वणिक् सोलाणी गोत्रीय सुरा की पत्नी सोहवदे की रत्न-कुक्षि से स० १६३२ मे इनका जन्म हुआ था दीक्षा स० १६४८ वैशाख वदि १३, अहमदावाद, पदस्थापन स० १६५४ जेठ वदि ७ एव स्वर्गवास स० १६८६ विदित होता है

स्वराज—सायला निवासी हरखा के पुत्र स्वराज लोकागच्छीय सद्गृहस्थ थे इन्होने मूली वाई के वारह मास (स० १८६२ मिगसर सुदि १३ गुरुवार, सायला) ५२ पद्यो मे रचे वर्णित मूली वाई दशा श्रीमाली रतनशाह की पत्नी अमृत वाई की पुत्री और कोठारी नानजी की पत्नी थी इन्होने आर्या आणद वाई से प्राथमिक ज्ञान प्राप्त करने के उपरात स० १८६५ मे लीमडी मे रतनवाई से दीक्षा ग्रहण की इनका जीवन नितात ही तपश्चर्यापूर्ण था यह सथारा लेकर स० १८६० आषाढ सुदि १४ शुक्रवार को परमधाम सिधारी

हुलासचन्द—यह नागोरी लोकागच्छीय लक्ष्मीचन्द सूरि की परम्परा के शिवचन्द के शिष्य थे इन्होने 'राजसिंघ रत्नावली चौपई' (स० १६४७ माघ सुदि ११ बुधवार) की रचना की

उपर्युक्त पक्तियो मे इगित सकेतो का सीमाक्षेत्र अत्यन्त विस्तृत और व्यापक रहा है अभी लोकागच्छ-स्थानकवासी परम्परा के आधीनस्थ प्राचीनतम ज्ञान-भण्डारो का वैज्ञानिक सर्वेक्षण होना तो दूर रहा, कही-कही तो व्यवस्थित सूची-पत्र तक नही वन पाये है अत. वर्णित ग्रथराशि को देखते हुए सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि अन्वेपण करने पर लोकागच्छीय साहित्यकारो की और भी अनेक कृतियाँ उपलब्ध हो सकती हैं

इनका स्वर्गगमन देसाई ने सं १५३७ सूचित किया है पर यह सत्य प्रतीत नहीं होता कारण कि अनुश्रा मत पट्टावली के अनुसार सं १५४ में माडोलाई में कडवा शाह इन से मिले थे और वार्तालाप हुआ था अत इस समय तक तो भाणाजी का अस्तित्व असदिग्ध है इस पट्टावली में और भी लोकाशाह के अनुयायियो के संबंध में कतिपय महत्त्वपूर्ण उल्लेख है जिनका स्वतन्त्र पर्यवेक्षण अपेक्षित है

२ भीदाजी—सिरोही के ओसवाल साथरीया गोत्रीय स्व सोला के भाई अहमदाबाद में सं १५४ में ४५ व्यक्तियो के साथ दीक्षा भाणाजी के पास ग्रहण की

३ नूनाजी—सिरोही के ओसवाल दीक्षा स १५४५ या ४६

४ भीमाजी—पाली निवासी लोढा गोत्रीय संयम ग्रहण स १५५

५ जगमालजी—उत्तराधवासी ओसवाल सुराणा गोत्रीय दीक्षा ग्रहण स १५५ खंभणनगर मे

६ सरवाजी—दिल्ली निवासी श्रीश्रीमाल ज्ञातीय सिघूड गोत्रीय सयम ग्रहणकाल स १५५४ 'लोंकागच्छ की बड़े पक्ष की पट्टावली' में उल्लेख है सरवाजी ने एक माह का सथारा पचखा था

विजयगच्छ --सरवाजी के समय में लोकागच्छ मे प्रथम क्रान्ति हुई और परिणामस्वरूप विजय ऋषि ने विजयमत' की स्थापना की सस्थापन काल पर विद्वज्जगत् मे भिन्नत्व है कोई तो स १५६५ या १५७ मानते है जैनधर्म और साहित्य की दृष्टि से यह परम्परा प्राणवान् रही तात्कालिक मुगल शासकों पर भी कतिपय आचार्यों का प्रभाव अन्यान्य स्फुट ऐतिहासिक पद्यो से प्रमाणित है विजय ऋषि की परम्परा मे आचार्य धर्मदासजी खेमसागरजी पद्मसागरसूरि, गुणसागरसूरि, कल्याणसागरसूरि सुमतिसागरसूरि विनयसागरसूरि, मनोहर दास मल्लीदास विजयसिंह मोहन ऋषि पन्नालाल सुजान गिरधर, केशराज आदि आचार्य और ऐसे स्थविर हुए हैं जिनने धार्मिक प्रभावना के साथ-साथ अपनी प्रतिभा द्वारा पर्याप्त साहित्य सृजन कर भारतीय भाषा ग्रन्थो मे अभिवृद्धि की तात्कालिक ही नही आज भी इनकी कृतिया—ज्ञानसागर और रामयशोरसायण—का समाज म सर्वत्र आदर है विशेषकर राजस्थान मेवाड में इस परम्परा का इतना प्रभाव था कि राज-सभाओ में भी इनके अनुयायियो का सम्मान होता था जयपुर के सुप्रसिद्ध कवि मानजी की रचनायें-सयोगद्वात्रिंशिका राजविलास और बिहारी सतसई की हिन्दी टीका—आदि स्फुट आज भी साहित्यिक जगत् का अभिमान है आज तक केवल यही माना जाता था कि इस परम्परा का साहित्य केवल केशराज और गुणसागरसूरि द्वारा ही रचित है पर मेरे सग्रहस्थ एक विजयगच्छ के गुटके मे इस सम्प्रदाय का प्रचुर भाषासाहित्य उपलब्ध हुआ है जिससे कई अज्ञात कवियों का पता चला है सत्रहवी शताब्दी से लगाकर उन्नीसवी सदी तक विजयगच्छीय यति-मुनियो ने जो सारस्वतोपासना की है वस्तुत वह अभिमान की वस्तु है मेवाड के जैन-सास्कृतिक इतिहास में इनका अनुपम योग रहा है अन्वेषण का क्षेत्रप्रशस्त होने पर और भी रचनायें उपलब्ध हो सकती है कोटा बयाना में इनके सुविशाल साहित्यसग्रह विद्यमान है

७ रूपजी—अणहिलपुर पाटण निवासी ओसवाल बद गोत्रीय पिता देवा माता मिरघाई जन्म स १५४१ स्वयमेव दीक्षा स १५६८ माह शुक्ला पूर्णिमा इनने पाटणगच्छ-गुजराती लोकागच्छ की स्थापना की लोंकागच्छ की बडे पक्ष की पट्टावली में विशेष उल्लेख है कि रूपा शाह ने शत्रुजय का सघ निकाला था और बाद में सरवाजी का अहमदाबाद में व्याख्यान सुनकर प्रव्रजित हुए और वह भी २ ० व्यक्तियो के साथ अन्य प्रमाण इस के समर्थन में अपेक्षित है

रूपजी ने स १५७८ म जीवराजजी का सयम देकर स्वपद पर स्थापित किया ७ वष तक गुरु-शिष्य साथ में विचरण करते रहे

इनके समय में होरा मामक व्यक्ति ने— 'नागोरी लोकागच्छ' की स्वतन्त्र स्थापना की और मूर्तिपूजा स्वीकार की इन के परवर्ती अनुयायियो ने भी जैन सस्कृति का सौम्यान्वित किया अनुसधान की दृष्टि से यह परम्परा भी उपेक्षित ही रही है वर्ति स्थानाग ने इस शाखा की विस्तृत पट्टावली सस्कृत भाषा में लिखी है जो इतिहास की दृष्टि से बहुत ही

लोकाशाह किन परिस्थितियो मे उठे-उभरे, उन्होने जन-चेतना के किन निगूढ गह्वरो मे अपनी क्रान्ति के स्वरो का प्रतिनिधित्व किया ? उसका कहाँ कब कितना और कैसे प्रभाव पडा ? उसकी परम्परा की दौड मे अन्य क्या कुछ हुआ है ? इन सब विषयो पर विचार करने का न यह अवसर है, न अपेक्षा ही है यहाँ तो केवल मुझे अपनी शोध-यात्रा मे प्राप्त उस सम्प्रदाय के मुनिवरो के ऐतिहासिक गीतो पर ही विचार करना अपेक्षित है

आगामी पक्तियो मे समुपलब्ध गीतो से सबद्ध व्यक्तियो के सबन्ध मे प्राप्त साहित्यिक और ऐतिहासिक साधनो के आधार पर जैसा भी परिचय प्राप्त हो सका, दिया जा रहा है उद्धृत गीत यद्यपि गुरुभक्ति से प्रेरित होकर लिखे गये है, जिन्हे आचार्य शुक्ल जैसे आलोचक भले ही 'धार्मिक नोटिस' कहकर टाल दे, और इनका लाक्षणिक दृष्टि से साहित्यिक मूल्य न हो परन्तु भाषा-शास्त्र और सस्कृति की दृष्टि से ये बहुत ही उपादेय है उस समय की ऐतिहासिक उलझनो को सुलझाने मे पर्याप्त सहायक सिद्ध हुए है। उदाहरणार्थ गुजरात के सुलतान महमूद बेघडा के दाहोद के स० १५४५ वाले लेखान्तर्गत उल्लिखित 'अहम्मदपुर' की भौगोलिक समस्या प्रस्तुत प्रबन्ध मे दिये हुए 'जसवत चातुर्मास' से ही सुलझी है भले ही ये गीत लघुकाय और प्रशसात्मक हो पर सबद्ध आचार्य के विषय मे कोई न कोई प्रामाणिक नवीन ज्ञातव्य समुपस्थित करते है। मैंने आगामी पक्तियो मे अपने आपको गणि तेजसिंह के शिष्य और उनके पट्टधर कानजी तक ही अर्थात् १७ वें पाट तक ही सीमित रखा है, क्योकि अन्य मुनियो के गीत प्राप्त न थे और पूरी परम्परा पर प्रकाश डालना सभव न था

साहित्य के और विशेषकर राजस्थानी-गुजराती भाषाओ के क्षेत्र मे स्थानकवासी मुनियो ने जो योग दिया है, सचमुच अभिमान की वस्तु है इस पवित्र कार्य से जनमानस आश्वस्त हुआ है कहा जाता है कि अद्यावधि इस दिशा मे समुचित मूल्याकन की ओर कदम नही उठाया गया है, पर मेरी विनम्र सम्मत्यनुसार अभी वह समय भी परिपक्व नही हुआ है, कारण कि अभी तो अनुसधान ही कहा हो पाया है ? जब तक लोकागच्छीय और स्थानकवासी समाज द्वारा सग्रहीत एव सरक्षित पुरातन ज्ञानागारो का समुचित पर्यवेक्षण न हो जाय, तब तक नव्य दृष्टिकोण की कल्पना असभव है ज्ञात से भी अज्ञात अभी बहुत कुछ शेष है मेरे निजी सग्रह मे भी स्थानकवासी समाज के प्रतिष्ठित मुनियो और साध्वियो द्वारा रचित व प्रतिलिपित साहित्य पर्याप्त है यह मुझे सखेद कहना पडता है कि मुनि-समाज ने इस विषय पर आज के शोधप्रधान युग मे भी कम ही ध्यान दिया है

मूल ऐतिहासिक गीतो के पूर्व तत्सबधी मुनियो की परम्परा पर विचार अपेक्षित है—

भाणाजी—सिरोही के निकट अरहटवाल-अटकवाडा के निवासी, जाति से पोरवाल, स० १५३१ मे स्वयमेव दीक्षा, लोकागच्छ के आदि मुनि भाणाजी के वैयक्तिक जीवन और उनके विहारप्रदेश आदि के विषय मे अधिक ज्ञातव्य तिमिराच्छन्न है साम्प्रदायिक पट्टावलिया भी इस सबध मे मौन हैं, पर समसामयिक अन्यगच्छीय पट्टावलियो से किंचित् प्रकाश मिलता है स्व० मोहनलाल दलीचद देसाई ने इनका दीक्षाकाल स० १५३१ अहमदाबाद दिया है, पर 'तपागच्छीय पट्टावलियो' मे दीक्षा समय स० १५३३ उल्लिखित है, जैसे—

'तन्मध्ये वेषधरास्तु वि० त्रयस्त्रिंशदधिकपचदशशत १५३३ वर्षे जाता तत्र प्रथमो वेषधारी भाणाख्योऽभूतदिति'

—पट्टावली समुच्चय पृष्ठ ६७

उपाध्याय रविवर्द्धन ने अपनी पट्टावली मे दीक्षाकाल स० १५३८ दिया है—

'तद्वेषधरास्तु स० १५३८ वर्षे जाता, तत्र प्रथमो वेषधारी ऋषि भाणाख्यो ऽभूदिति'

—पट्टावली समुच्चय पृष्ठ १५७

उपर्युक्त उल्लेख अधिक विश्वसनीय प्रतीत नही होता स० १५३३ का समर्थन कुवरजी पक्षीय केशवजी रचित (स० १६८८ लगभग) 'लोकाशाह सिलोके' की इन पक्तियो से होता है—

शत पन्नर तेत्रीसनी सालइ, भाणजी नें दीक्खा आलइ।

—जैनगूर्जरकविओ भाग ३, पृष्ठ १०९४,
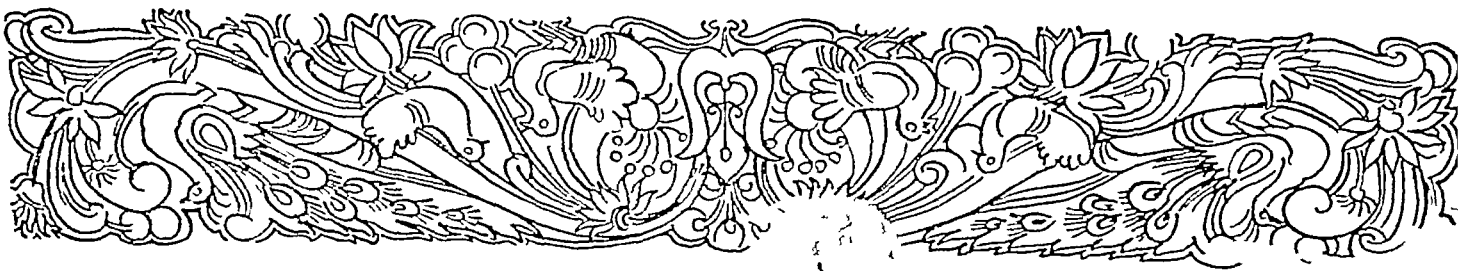
एक ग्रंथकर्ता श्री मल्लूक ऋषि शिष्य श्रीपाल ने 'दसवैकालिक' बालावबोध की रचना सं. १६६४ में की जिसकी कर्ता के हाथ की प्रति उपलब्ध है, पुष्पिका इस प्रकार है—

श्रीमन्महावीरशासनविरतिमविसहशा आचार्य श्रीरूपऋषि तत्पट्टे गच्छाधिपो मुनिश्रीजीवराजस्तत्पट्टे मुनि श्री कुंवरजीगच्छाधिपस्तत्पट्टे मुनि श्री श्रीमल्लगच्छाधिपस्तत्पट्टे आचार्य श्रीरत्नसिंह विराजमाने आचार्य श्रीजीवऋषि हस्तदीक्षितऋषि श्रीमल्लूकशिष्य मुनि श्रीपालेन श्रीगुरुप्रसादात् विरचित श्रीदशवैकालिक बालावबोधः ॥ सं. १६६४ वर्षे श्रीविक्रम महानगरे आसो मासे शुक्लपक्षे द्वितीया दिने शुक्रवारे प्रथम दिने प्रथम प्रहरे शुभ वेलायां सम्पूर्ण कृत लिखितं श्रापाल मुनिना स्वपठनार्थं

इनके अतिरिक्त कुंवरजी प्रमुख मुनियों द्वारा रचित साहित्य इस प्रकार उपलब्ध है—

१ कवरजी साधु वंदना र. का. सं. १६२४

२ मानजी पचवरण स्त र. का. सं. १६६६

३ समरचन्द्र श्रेणिक रास र. का. सं.

४ भार्लचन्द्र बालबावनी र० का सं. १६८५

५ केशवजी लोकाशाह सिलोका र. का० सं. १६८८ लगभग

६ धर्मसिंह श्रा शिवजी रास र. का. सं. १६६२ उदयपुर,

धर्मसिंहजी शिवजी ऋषि के शिष्य थे इनसे दरियापुरी सम्प्रदाय अलग चला इन्होंने कई प्राकृत भाषा की रचनाओं पर स्तबकादि लिखकर सामान्य मुनियों को स्वाध्याय की सुविधा की ये कवि भी थे इनकी परम्परा २ वीं सदी तक विद्यमान रही है

७	आणंद	गणितसार	र. का. सं० १७२१ बालापुर
८	आणंद	हरिवंश चरित्र	र. का. सं. १७३८ राधनपुर.
९	किशन मुनि	कृष्णबावनी स्फुट स्तुति	र. का. सं. १७६७
१	रामचन्द्र	वैदरभार रास	र. का. सं. १८६ नवानगर.

एक महत्त्वपूर्ण गुटका—

तात्कालिक अन्यान्य ऐतिहासिक साधनों से प्रमाणित है कि लोंकागच्छ के अष्टम आचार्य श्रीवाजी के एक शिष्य कुंवरजी को बालापुर के श्रीसंघ ने आचार्य पद देकर लोंकागच्छ नानी पक्ष की स्थापना की बालापुर और तत्सन्निकटवर्ती प्रदेश में इनका वर्चस्व था बालापुर और बुरहानपुर सत्रहवीं शताब्दी से ही जैन संस्कृति के व्यापक केन्द्र रहे हैं दोनों स्थानों के श्रावकों में प्रारम्भ से ही स्वाध्याय के प्रति स्वाभाविक आकर्षण रहा है सतत सत्समागम के कारण संस्कार शील परम्परा का प्रादुर्भाव एवं विकास स्वाभाविक कार्य है मैं यहाँ पर एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हस्तलिखित गुटके का परिचय देने जा रहा हूं जिसमें कुंवरजी पक्ष के मुनियों द्वारा रचित अज्ञात रचनाएं संकलित हैं इसका लेखनकाल सं. १७ ४ से १७२१ है सुप्रसिद्ध सैद्धान्तिक कवि जीवराजजी के शिष्य लालजी लालस और श्रीपति ने इसे विभिन्न समयों में यहां के प्रतिष्ठित श्रावक श्री अमरसी पुत्र अजयराज विजयराज रूपराज और जीवराज के लिए प्रतिलिपित किया नित्य स्वाध्याय के गुटके के शीर्ष भाग में 'गुरु केशवजी गुरुभ्यो नमः' आलेखित है भक्तामर, कल्याणमन्दिर स्तोत्र और सबोधसत्तरी के अतिरिक्त साम्प्रदायिक रचनाओं का सुन्दर संग्रह है श्रीपति जीवराज लालस बालचन्द आदि मुनियों की कृतियाँ सन्निविष्ट हैं गुटका सुचित परिवार के कलाप्रेम का परिचायक है चारों ओर सुन्दर बोर्डर बनाकर विविध अलंकरणों से सुसज्जित है इसमें जो लेखनपुष्पिकाएं दी हैं वे मुनिपरम्परा की नामावली उपस्थित करती है केसवजी शिष्य भीमा ठाकुरसी ऋषि पूनराजजी बाघजी हीरानन्द (मीरपुरीय) आदि अन्य नाम कृतियों के साथ है

काम की है इसका प्रणयन स० १८६० मे पटियाला मे हुआ रघुनाथ स्वय सस्कृत साहित्य के विशिष्ट अभ्यासी और ग्रन्थकार महानुभाव थे ये इस गच्छ के आचार्य लक्ष्मीचन्द्र जी के समय मे विद्यमान थे इनका स० १८६३ मे चूरु मे चातुर्मास था तब रघुनाथ ने इनकी सेवा मे एक बृहत्पत्र सस्कृत भाषा मे प्रेषित किया था, जो पत्र-साहित्य की दृष्टि से अन्यतम है ये आचार्य हरखचदजी के पट्टधर थे इनका नाम पट्टावलियो (रघुनाथ कृत पट्टावली के अतिरिक्त) नही मिलता है सूचित पत्र इन पक्तियो के लेखक द्वारा "जैन सत्यप्रकाश वर्ष १६ अक १२ मे प्रकाशित है

इसी समय उत्तरार्द्ध लाहोरी लुकागच्छ स्थापित हुआ सरवाजी के अनुयायी लोकागच्छ की मूल मान्यताओ के अनुगामी बने रह

सूचित उत्तरार्द्ध गच्छानुयायी सरवाजी के शिष्य अर्जुन के शिष्य दुर्गादास ने स० १६३५ मे "खधक चौपाइ" की रचना की जिसका परिचय" 'जैन गूर्जर कविश्रो" भाग ३ पृष्ठ ७४० पर दिया है सुप्रसिद्ध कलासमीक्षक डा० आनन्दकुमार स्वामी के समीप स० १६८० के चित्रित समवरण-चित्र मे उत्तरार्द्ध गच्छीय आचार्य कृष्णचद्र और मुनि ताराचन्द के नाम आते है

८ **जीवराजजी**—रूपऋषिजी ने जीवराज जी को स० १५७८ मे स्व पद पर स्थापित किया ये सूरत के देशलहरा गोत्रीय तेजल-तेजपाल की पत्नी कपूरा बाई के पुत्र थे जन्म स० १५५०, दीक्षा स० १५७८ माह शुक्ला २ गुरुवार, रुपऋषि-भास मे इनका दीक्षा समय स० १५७८ सूचित किया है और जीवराजजी-भास मे वही कवि स० १५६८ सूचित करता है—जब कि स० १५६८ मे तो रूपजी स्वय सयम स्वीकार करते बताये गये है स० १६१२ वैशाख सुदि ६ को बडे वरसिंघजी को पद पर स्थापित किया, एव स्वय स० १६१३ ज्येष्ठ शुक्ला ६ सोमवार को ५ दिन का अनशन लेकर ६३ वर्ष की आयु मे परम धाम प्रस्थित हुए इनके नाम से "गुजराती लोकागच्छ" प्रसिद्ध हुआ जीवराजजी के एक शिष्य मोल्हा की अज्ञात रचना "लोकनालिका बालावबोध" प्राप्त है जिसका आदि और अन्त भाग यहां उद्धृत किया जा रहा है—

> **आदिदेव नमस्कृत्य बालाना बोधहेतवे ।**
> **क्रियतेनुपकाराय नालिकायास्तुवार्त्तिक ।।१।।**
> **जीवऋषि महापूज्य तस्य पादप्रसादत ।**
> **कृत मोल्हा मुनिंद्रेण नालिकायास्तुवार्त्तिक ।।२।।**

अन्त भाग —-

इत्याचार्य श्रीजीवऋषिचरणाभोजसेवक मोल्हाभिधानेनकृत लोकनालिकाया वार्तिकावबोध समाप्त ।।
श्रीरस्तु । स० १६०६ ।।

स्मरणीय है कि गुजराती लोकागच्छ मे एक और मुनि इसी नाम के प्रसिद्ध रहे हैं जो चतुर कवि कृत "चदन मलयागिरि चौपाई" (र० का० स० १७७१) मे उल्लिखित हुए हैं लोकनालिका के वार्त्तिककार पूर्ववर्त्ती है

जीवराजजी के दो शिष्य कुवरजी और श्रीमल्लजी[1] थे, जिनसे कुवरजी पक्ष की स्थापना हुई इनकी परम्परा भी विद्वान्

---

१ श्रीमल्लजी के एक शिष्य सुन्दरऋषि थे जिनकी अज्ञात रचना हीराचक्र भाषा" मेरे सग्रह में सुरक्षित है यद्यपि कवि ने आत्मवृत्त नहीं दिया है, पर अहमदाबाद से प्रकाशित "श्रीप्रशस्ति सग्रह" में एक लेखनपुष्पिका स० १७५७ (पृष्ठ २६८) की आई है जिसमें सुन्दरऋषि का नामोल्लेख श्रीमलजी के शिष्य के रूप में हुआ है, इसी आधार पर इन्हें उनका अन्तेवासी माना है होराचक्र भाषा का अन्तिम पद्य इस प्रकार है—

> **कछुक पराई उक्त हरि कछु निज हिय विमास**
> **सुन्दरऋषि भाषा रची होडाचक्र बिलास ।**

कृति साधारण होते हुए भी सामान्य ज्योतिषी का मार्ग प्रशस्त कर सकती है होराशास्त्र को कवि ने सक्षेप में समझाने का प्रयास किया है, 'जैन गूर्जर कविश्रो' के तीसरे भाग में सुन्दर ऋषि का उल्लेख है नहीं कहा जा सकता है कि वह यही है या कोई अन्य ?

महाश्रीवबरसुरतरु धर्म्मधीरं वरेण्य ।
श्रीमत्पूज्यैर्वरगणिपदस्थापितसाधु सार ।।८।।

श्रीश्रीपूज्यैर्वरगणियुतैरग्रकश्रीपुरीम ।
कृत्वाएक सकलमुलद भावकार्यांग्रमीना ।।
भागत्य मुगुयनगरे दर्शमेहरचमो ।
यस्मात्तस्मात् सफल मुवसोर्म पुकार्योपुमात्र ।।१।।

बंदे के पुनः । श्रीवरअपिना शिष्य पुनः । श्रुत क सिद्धान्तरूप प्रधान सरोवरई रमवामई विषइ राजहंस समान पुन शिक्षा क मिक्षा ग्रहण आसवण रूपना व्यवहार साधु श्रीसिंह स्थविर मिव क मोक्षसुखना देयहार सुन्दर क सुशोभित साधुनइ वदइ करी सयुक्तनइ हूं वांदू ।।६।।

हिवइ श्री आचार्य वरसिंहमा काव्य बणावइ यह अभिमत क मता सदा क सदा काल अथवा सोमसिक आचार्य ऋषि श्रीवरसिंहमइ हु वांदु पुन किं विशिष्टैः श्री आचार्य सारा क तत्त्व अतत्त्वना विचारवहार पुन किं विशिष्टं गणि क आचार्यनी आचार सूत्रादिक सपदाए करी संयुक्त वंदं क तेहमइ हु वांदु वादि क वादि रूप दुष्ट हस्तीना चंकुम समान ।।७।।

वदि क० हु वांदु वाद क मनाहर श्रीवरसिंह गणिमइ पुनः वादि क. वादी रूप दुष्ट हस्ती दीपवामइ विषइ सिंह समान पुनः शान्तमा क० उपशमना धर, पुनः शुमकः क भले प्रधान गयइ करीनइ सहित, सापुक माधु रूप कमल त्रिम्नावामइ विषइ चन्द्रमा सामान प्र क बुधे करी बृहस्पति पुनः वरकः प्रधान कल्पवृक्ष धर्मक क० धर्मनइ विषइ अक्षोभ्य व क प्रधान भीम क श्रीपूज्य वरसिंह ऋषि प्रधान आचार्य पदइ थापउ साधु मोहै ते सार आचार्य ऋषि वरसिंहनई हु वांदु श्रीश्री क श्रीपूज्येवर क प्रधान आचार्य वरसिंह सहित रच क कपदेशान विषइ शीघ्र अवावया ए क दयाकरीनइ—सुखना दयहारी —गुवनगरनई विषइ दर्शन क दर्शननी वांछा करइ यइ संघ तम्मा भिवाई कारवइ सफल मनोरथ शीघ्र करउ ।।

श्रीरस्तु सवत १६४१ वर्षे वैशाख वदि अमावस्यायां सोमवासरे विमीतक ग्रामे लिखित मुनि मोटाकेन ।। छ । विगतवर्त क्ष २ अयमसमी ।।

१० ऋषु वरसिंघजी—सादड़ी निवासी ओसवाल पिता अभ्रमण माता सुन्दर बाई, जन्म सं १५८६ दीक्षा सोलहवें वर्ष सं १६ ६ सिरोही पदस्थापन स १६२७ महमदपुर, साठवें वर्ष में जसवंतजी को सं १६४१ सोजत में दीक्षा दी १२ वर्ष तक गुरु-शिष्य साथ में विचरे स १६६२ मे माही पूर्णिमा के दिन अनशन द्वारा समाप्त में वेहोत्सग स्व मोहनलाल भाई देसाई ने अपने 'जैनगूर्जर कविओ' भाग १ पृष्ठ २२ ६ पर इनका स्वर्ग स्थान उसमापुर, सोजत मा दिल्ली बताया है

११ जसवन्तजी—राजस्थान प्रान्तान्तर्गत सुप्रवतीपुर-सोजत-के निवासी ओसवाल लोंकड़ गोत्रीय पिता परवत माता सहोदरा जन्म स १६१४ दीक्षा स १६४१ माह सुदि १३ सोजत सं १६८८ मगसिर पूर्णिमा को रूपसिंह को अहमदपुर नगर में स्वपद पर स्थापित किया

अभी तक गुजराती मूलागम में जितने भी सयमी महापुरुष हुए है उन सब में जसवतजी अधिक प्रभावशाली व्यक्ति ज्ञात पडते हैं इन्होने राजस्थान गुजरात और सौराष्ट्र में विहार कर जिनशासन की महती प्रभावना की इनका शिष्य परिवार विशाल और विद्वान् प्रचारक था संघर्षमूलक युग में जहा चारों ओर धर्म के नाम पर अमानवीय तत्त्वों का पोषण होता हो वहा इस सम्प्रदाय के आचार्य का इतना व्यापक प्रभाव इस बात का परिचायक है कि यह संयम की साधना के साथ पाण्डित्य-गुणसमन्वित व्यक्तित्वसम्पन्न थे जो ज्ञान और चारित्र की समन्विति ही सदा जन-मानस म प्रतिष्ठित करती है

६ बड़े वरसघजी—प्रभास पाटण निवासी, ओसवाल नाहटा गोत्रीय, पिता सुमीया माता कस्तूरा बाई, जन्म स० १५६४ दीक्षा स० १५८७ चैत्र वदि ५, पदस्थापन स० १६१२ वैशाख शुक्ला ६, सवा वर्ष जीवराजजी के साथ विहार, स० १६४४ कार्त्तिक शुक्ला ३ को स्तम्भतीर्थ-खभात मे स्वर्ग-गमन

जिस प्रकार जीवराजजी के एक शिष्य कुवरजी को बालापुर के श्रावको ने आचार्य पद प्रदान कर 'लोकागच्छ नानी पक्ष' की स्थापना की, उसी प्रकार वटपद्रीय-वडौदा के भावसारो ने इन्हे श्रीपूज्य की पदवी देकर 'गुजराती लोकागच्छ बडी-पक्ष' का प्रादुर्भाव किया कवि नेम प्रणीत इनकी प्रशसा मे एक छन्द स० १७७१ के पूर्व लिखा गया जो इसी प्रवन्ध मे आगे दिया जा रहा है इसमे विशेष ऐतिहासिक तथ्य तो नही है, केवल माता-पिता के नाम हैं स० १५३६ मे लोकाशाह की साधना की सफलता मानी है और प्रथम चारित्र की उपलब्धि का श्रेय रूपऋषि को दिया है जो विचारणीय है लोकागच्छ मे प्रथम मुनि तो भाणाजी ही माने जाते रहे है, पर अनुमान है कि कवि गुजराती लोकागच्छ का अनुयायी था और इसकी सस्थापना रूपऋषि द्वारा हुई थी अत इस अपेक्षा से मुनित्व की प्राथमिक सज्ञा दी जान पडती है पर लोकाशाह द्वारा १५३६ की सफलता का रहस्य समझ मे नही आया सूचित काल मे ऐसी कोई उल्लेख्य घटना का पता नही लगता कही इसका सकेत लोकाशाह के स्वर्गवास से तो नही है ?

तात्कालिक जैन परम्परा के इतिहास से विदित होता है कि वह समय जैन समाज के लिए बडा ही विषम था नित नई क्रान्तिया हुआ करती थी, जिसका तनिक भी व्यक्तित्व उभरा कि उसने अपनी नव्य प्ररूपणा प्रारम्भ कर दी यह सनातन सत्य है कि एक क्रान्ति दूसरी क्रान्ति की पृष्ठभूमि हुआ करती है पूर्वजो के चरण-चिह्नो पर चलना भारतीय परम्परा रही है स० १६१६ मे सिसु प्रमुख बारह व्यक्तियो ने विभिन्न मान्यताओ के रहने के बावजूद भी वरसघजी से विरुद्ध होकर नया मार्ग निकाला कुवरजी[1] ने भी इसी समय अपना पक्ष स्वतन्त्र स्थापित किया ये कवि थे इनकी स० १६२४ श्रावण सुदि १३ गुरुवार, रचित साधु वदना उपलब्ध है

बडे वरसघजी स० १६२७ मे गच्छ का दायित्व अपने शिष्य लघु वरसघजी को सौपकर २७ वर्ष साथ विचरण करते रहे खभात मे इनका स्वर्गवास स० १६४४ मे हुआ

बडे वरसघजी के समय मे भीमाजी भावसार ने, जो वाद मे मुनि हो गये थे, ३ खडो मे श्रेणिक रास क्रमश स० १६२१ भाद्रपद शुक्ला २ बडौदा, स० १६३२ भाद्र पद कृष्णा २ बडौदा, और स० १६३६ आश्विन कृष्णा ७ रविवार को पूर्ण किया इसी बीच भीमजी ने स० १६३२ मे नागलकुमार-नागदत्त रास भी बनाया

मेरे सग्रह मे वरसघ की प्रशसा मे लिखा गया एक अपूर्ण सार्थ पद्य है जिसका लेखनकाल स० १६४१ है वह पद्य इस प्रकार है—

रमुनियुत मालवेलातदीच ।
वदे श्रीवीरशिष्य श्रुतवरसरसी खेलने राजहस ॥
शिवाद साधुसिंहं शिवपुरसुखद सुन्दरसाधुयुक्त ॥६॥
इति स्रग्धरा छन्द

अभिनवंसदाचार्यं सारासार विचारक ।
गणिसगत्समायुक्त वदे वादीवराकुशम् ॥७॥
वदे चारुवरं वरहगणिवादिव्यालेमृगारिं ।
शात्यागार शुभवरगुण साधुपद्मेशशाक ॥

1 लोंकागच्छ की बड़े पक्ष की पट्टावली में बताया गया है कि कुवरजी ने अपने पक्ष की स्थापना स० १६३६ में बीकानेर में की पर यह कथन युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता
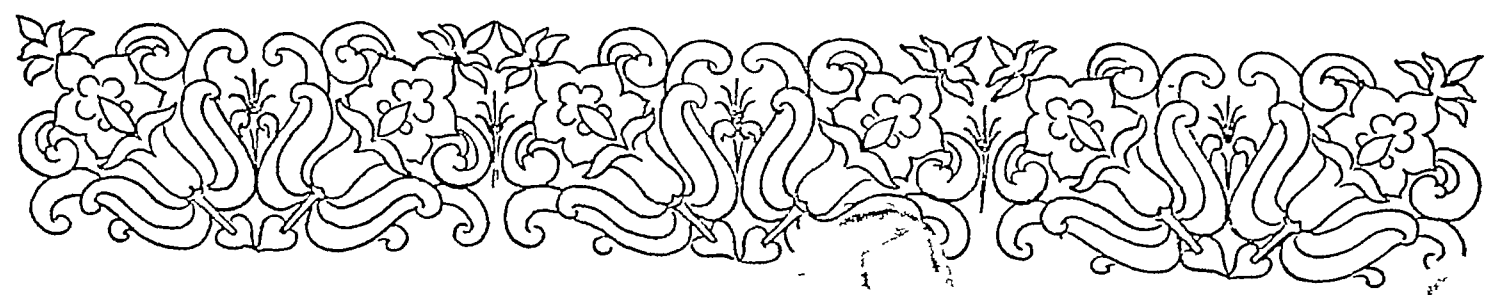
आचार्य तेजसिंह द्वारा संवत् १७५१ में रचित 'गुरु-गुणमाला भास' में जसवंत के विषय में कतिपय संवत् भ्रामक दिये हैं जिनका परिमार्जन अपेक्षित है भास में बताया गया है कि आचार्यश्री ने रूपसिंह को स्वपद पर सं १६८८ मार्गशीर्ष पूर्णिमा को स्थापित किया और अनशन सं १६८८ मार्गशीर्ष कृष्णा २ का ग्रहण किया (देखें गुरु गुणमाला भास में जसवंत भास संख्या ७) जब कि 'जसवंत चातुर्मास' और आचार्य के प्रशिष्य मुनि बाघाजी रचित द्वारा 'रूपऋषि भास' में पद स्थापन समय सं १६८८ मिगसर सुदि ८ सूचित किया है और अनशन सुदि पूर्णिमा को बताया है

> ऋषि रूपसीह नि पट्ट थापीइ सुष्ठ मनि हरष अपार
> संवत सोल अठासीइ मागसिर शुदि अष्टमी सोमवार।
> चढति दिन चढति कला निज पट्ट दीधु सार
> —मुनि माधव—जसवंत चातुर्मास।

> रूडा रूपसिंह नी पदवी परतग दीध
> अविरल मूरती अष्टमी मागसिर सुदि सोमवार।
> —मानू रचित रूपसी छन्द।

> श्री पूज्य जसवंत पट्ट योग्य रूपसिंह परखिया ए
> अहमदपुर मझारि सघ समिध्यिइ हरखिया ए।
> संवत सत्रे रस सार अमीय ऊपरि आठ आगला ए
> मिगसर सुदि सोमवार आठिमें तिथि गुरु गुण निरमला ए।
> —बाघ मुनि प्रणीत 'रूपऋषि भास'

अनशन विषयक उद्धरण इस प्रकार है—

> संवत सोल सार अठ्यासिए अहिमदपुरि ए
> श्री जसवंत सुजाण अणसण नी मति ऊपनी ए।
> पूरवा पुण्य प्रधान रूपऋषीश्वर गुरु मिलने ए
> जो दियो अनुमति आदर संथारो संघ साखि करू ए।
> मागसिर सुदि पुण्यम आदि पविकम आसि अणसण करु ए
> —जसवंत चातुर्मास

> तेह जसवंत आदीइ मिगसर सुदि सोमवार
> पुनिमि तिथि अति निरमली अणसण कीधो उदार।
> पमाय पमादि सघली बत्तीस वचन भ्रम मोडि
> सिद्ध यथा लवि माहरा चिन्तव्या सुरतरु तोडि।
> —बाघ मुनि रचित भास

उपर्युक्त सभी उद्धरण तेजसिंह की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय हैं कारण कि इन में से कई तो आचार्य के शिष्य-प्रशिष्य द्वारा रचित रचनाएं हैं माधव तो प्रत्यक्षदर्शी ही थे जब कि तेजसिंह का आधार पारम्परिक जनश्रुति रहा है

संवत् १५५२ वर्षे वैशाख वदि २ शुक्रे श्री अहमदपुरे मरराव सुवनर विजयराज्ये
भुवनेश्वरी पौंड-अम्बपुरी, १ १ गोंडल

जैन-ग्रन्थों की प्रशस्ति और लेखनपुष्पिकाओं में अहमदपुर का उल्लेख अहमदाबाद से भिन्न ही मान्य है अतएव इसकी भौगोलिक अवस्थिति कहां और किस मंडल में है, यह अन्वेषणीय है
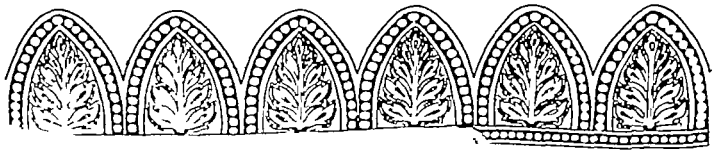
आचार्य तेजसिंह ने परम्परानिर्वाहार्थ उनका संक्षिप्त परिचय अन्य आचार्यों के समान वृद्धों के मुख से सुनकर दिया है इनके विषय में ३ और कृतियां भी प्राप्त हैं जिनमें विस्तृत विवरण उपलब्ध है एक रचना तो इनकी दीक्षा के ३ वर्ष बाद ही जीवराज-शिष्य धर्मदास ने सं० १६७२ में 'जसवंत मुनि का रास' नामक रची, जिसका परिचय 'जैन गूर्जर कविओ' भाग ३ पृष्ठ ८१६ पर दिया है अन्य दो कृतियां, जो अद्यावधि अज्ञात थीं, इस प्रबंध में सर्वप्रथम उद्धृत की जा रही हैं इनमें उनके जीवन की ऐतिहासिक घटनाओं पर अभिनव प्रकाश ही नहीं पड़ता अपितु भ्रामक बातों का परिमार्जन भी हो जाता है

प्रथम कृति में इनकी दीक्षा का भव्य वर्णन प्रस्तुत किया गया है उत्साह के साथ संयम ग्रहण करने का निश्चय हो जाने पर गुरुवर्य श्रीवरसिंघजी को तथा अन्य प्रमुख श्रीसंघों को आमंत्रित किया जाता है और उस आध्यात्मिक समारोह में बीकानेर, जैसलमेर, कालू, निम्बाहेड़ा, अजमेर, बगड़ी, जयतारण, जोधपुर आदि नगरों का संघ श्रद्धा के साथ सम्मिलित होता है पिता ने विवाह के समान प्रचुर व्यय कर सांसारिक बंधनों से जसवंत को मुक्त कर गुरु के श्रीचरणों में समर्पित किया

दूसरी रचना है—'जसवंत चातुर्मास' जिसके प्रणेता हैं आचार्यश्री के शिष्य विद्या मुनि के शिष्य मुनि माधव इनने सं० १६६१ कार्तिक कृष्णा ६ गुरुवार को खंभात में रचना की प्रतिलिपिकार हैं कर्ता के शिष्य मुनि वीरजी अतः यह रचना सभी दृष्टियों से विश्वस्त और प्रामाणिक है ६४ पत्रों की इस कृति में आचार्यश्री के सिरोही, खंभात, पाटण, सविपुर, वटपद्र-वड़ौदा, अहमदपुर, राजनगर-अहमदाबाद, उसमापुर, जालौर, अजमेर, आगरा, बगड़ी, गुन्दवच, पीपाड़, दीव, गौरी (?) सुदामापुरी-पोरबन्दर, और मंगलपुर-मांगरोल आदि चातुर्मासों का वर्णन किया है सूरत के बोहरा हांपा, वीरजी, बुरहानपुर के सानी माणकदास, पोरबन्दर के सोमजी, मंगलपुर के मालजी और अहमदपुर के धर्मदास व जिणदास के नाम भी सम्मिलित हैं प्रति किसी श्रद्धाशील गुरुभक्त के लिये ही लिखी गई है, चतुर्दिक् सुन्दर सुशोभन और पृष्ठि तो उत्तम ग्रंथ-चित्रकला की परिचायिका है

जसवंतजी को गुंदवच का १४ वां चातुर्मास धार्मिक दृष्टि से विशेष लाभप्रद सिद्ध हुआ, वहीं पर पेथड-पुत्र रूपकुमार को आचार्यश्री की वाणी ने अपना बना लिया सं० १६७५ मार्गशीर्ष शुक्ला द्वादशी को दीक्षा अंगीकार की और सं० १६८८ मार्गशीर्ष शुक्ला अष्टमी को स्वपद पर अहमदपुर में स्थापित किया अपना आयुष्य निकट जानकर सं० १६८८ मार्गशीर्ष पूर्णिमा को आठ प्रहर का अनशन लिया अहमदपुर[1] में ही देहोत्सर्ग हुआ

---

१ ऐतिहासिक साधन चाहे अत्यन्त लघुतम या सामान्य ही क्यों न हो पर किसी वस्तुविशेष के साथ घनिष्ठ संबंध निकल आने पर कभी-कभी इतना क्रान्तिकारी और मार्गदर्शक सिद्ध होता है कि तद्विदों को वर्षों की साधनोपरान्त स्थिर सम्मति को बदलना पड़ता है सूचित 'जसवंत चातुर्मास' यद्यपि एक विशुद्ध धार्मिक और वह भी सूचनात्मक कृति है तथापि उपर्युक्त पंक्तियां सोलह आना इस पर चरितार्थ होती हैं उदाहरणार्थ राजस्थान के सम्माननीय गवेषक श्री गोपालनारायणजी बहुरा द्वारा संपादित एवं महाकवि उदयराज प्रणीत 'राज-विनोद' के समीक्षात्मक संस्करण में गुजरात के शासक महमूद बेघड़ा का वि० सं० १५४५ का दाहोदवाला शिलोत्कीर्ण लेख अविकल प्रकाशित है, उसके विवेचन में मित्रवर्य डा० एच० टी० साकलिया ने पृष्ठ ३८ पर लेखान्तर्गत 'अहमदपुर' को अहमदाबाद मानने की संभावना प्रकट की है प्रश्न होता है कि इस नगर की स्थिति कहां है? पुरातत्त्व के अनुसंधाता के लिये यह एक पहेली थी 'जसवंत-चातुर्मास' से यह उलझन सरलता से सुलझ जाती है लोंकागच्छ के आचार्यों का इस नगर से घनिष्ठ संपर्क रहा है जसवंतजी ने इस नगर को कई बार पावन किया ३७ वां चौमासा दीव में व्यतीत कर अहम्मदपुर पधारते हैं, वहां से खंभात होकर पुनः अहम्मदपुर आते हैं दशवां चातुर्मास भी वड़ौदा होते हुए अहम्मदपुर ही करते हैं और ११ वां अहमदाबाद इससे स्पष्ट प्रमाणित है कि सूचित नगर की अवस्थिति खंभात और वड़ौदा के बीच कहीं रही होगी आचार्यश्री का जब देहान्त अहम्मदपुर में हुआ तो सर्वप्रथम खंभात के श्राद्ध पहुँचे और समुचित रूप से मरणोत्तर व्यवस्था की अहमदाबाद और अहम्मदपुर तो सर्वथा भिन्न नगर हैं, कारण कि जसवंत चातुर्मास में दोनों का भिन्न उल्लेख स्पष्ट है हां 'कड़ुआ मत पट्टावली' के अनुसार अहमदाबाद का एक उपनगर अहमदपुर सोलहवीं शती में विख्यात था पर वह भी सूचित अहम्मदपुर से पृथक् ही था सं० १५५२ का एक स्वतन्त्र उल्लेख भी इस नगर को अहमदाबाद न मानने की प्रेरणा देता है—

चन्द्रप्रभु स्तवन—

संवत् सोल सित्याचरा मावृषा सुदि आठम सार ए
मगसवार तवन कीधु वाबापुर मझार ए ॥
मयल भाव भावी भगति सावी तवन भणइ जे एक मना।
कर जोडी जीवराज बोलइ काज सरसइ तेहनां ॥

सप्त जिन स्तवन—

सतमा जिनवर उदय दिनकर सोभागी महिमा मिलो।
भगति वच्छलविरद जेहनो धम्म स्वामी त्रिभुवन तिलो ॥
संवत सोल उगणासी वरषे विजयदशमी सोमवार ए।
वाड पुरपुर मांहि तवन कीधु भणतां सुणतां जयकार ए ॥
सुबुद्धि भावी सहज पावी जिन तवां गुण भाषी ए।
ऋषि सोमजी का सीस जीवराज बोले कृपा तवां फल दाषी ए ॥

इस उद्धरण से कवि के विहारप्रदेश पर भी प्रकाश पड़ता है कवि कब तक जीवित रहे यह कहना कठिन है पर इतना असन्दिग्ध तथ्य है कि स० १७ ४ तक विद्यमान थे जैसा कि उपर्युक्त महत्त्वपूर्ण गुटके की एक कृति दीपावली-स्वाध्याय (जो इसी कवि की रचना है और इन्हीं के शिष्य लालजी द्वारा प्रतिलिपित है) से ज्ञात होता है

प्रश्न होता है कि ये सोमजी कौन थे ? धर्मसिंहजी की परम्परा में एक सोमजी का नाम आता है पर कवि-काल को देखते हुए तो वह पर्याप्त परवर्ती ज्ञान पड़ते है संभव है कि रूपसिंह या दामोदरजी कालिक कोई मुनि रहे हों

११ रूपसिंह जी—ओसवाल साहलेचा गोत्रीय पिता साह यवड़ माता कनकादे जन्म स० १६५८ संयमग्रहण सं १६७४ मार्गशीर्ष शुक्ला द्वादशी गुरुवार पदस्थापन सं १६८८ मार्गशीर्ष शुक्ला अष्टमी सोमवार अहमदपुर, सं १६९७ आषाढ कृष्णा १ सिरानगढ में स्वर्गवास

इसी प्रबन्ध में रूपऋषि के प्रशंसात्मक ३ गीत दिये हैं जिनमें प्रथम मानू कृत (रचनाकाल स १७७१ के पूर्व का है) दूसरी रचना इन्हीं के शिष्य प्रशिष्य गोवर्द्धन और बाघ मुनि की है ऐतिहासिक दृष्टि से इनका विशेष मूल्य है.

रूपऋषि के जीवन-वृत्त पर विस्तृत प्रकाश डालनेवाली सामग्री अत्यल्प ही है तथापि जो भी तात्कालिक स्फुट उल्लेख हैं उनमें उनका वैशिष्ट्य झलकता है इनसे पूर्वकालिक आचार्य संस्कृत के कितने विद्वान् और साहित्यसेवी थे ? कहने के साधन नहीं है पर रूपऋषि संस्कृत साहित्य से भलीभाँति परिचित रहे है यह एक असंदिग्ध तथ्य है इनके द्वारा रचित 'नाममाला' संस्कृत भाषा में गुम्फित प्राप्त है जिसका परिचय यहाँ कराया जा रहा है—

प्रणम्य प्रमादेन जिनं यथार्थं प्रसिद्ध गुरु कीर्तिमंत विदग्धं।
प्रतीयात्पराभ्यासया सम्यगार्थां प्रवक्ष्यामि काव्यस्य नाममालां ॥१॥
पुरोमुक्तिधर्मो च तीर्थकरस्या चतुर्विंशतिराजाइकोशालपुत्रः।
चतुर्भिः प्रत्याधितुक्तानितापा ऋषिरूपजातामसिः स्यामि मौन ॥२॥

× × × ×

श्रीमत् नागपुरीयतपागच्छोत्तंस श्रीरूपचन्द्रसरि पट्टभूषण श्रीवच्छराजगणि शिष्य रूपऋषिनाममालायां संक्षिप्तशब्दाः ॥

यथा नाम —

दया १ निवृत्ति २ अहिंसा ३ निर्वृति ४। शांति ५ समाधि ६ समितिरक्ष ७ शांति ८।
कल्याण ९ कीर्ति १ रति ११ शांति १० भद्रा १२ पुष्टि १३ प्रतिष्ठा १४ च निविष्ट दृष्टि १६॥११॥

जीवराजजी—प्रसगत, यहाँ एक ऐसे कवि का परिचय देना आवश्यक जान पडता है जो अद्यावधि उपेक्षित रहा और लोंकागच्छ के साहित्यकारो मे जिसका अपना स्वतन्त्र स्थान है मेरा तात्पर्य सोमजी शिष्य कवि जीवराजजी से है इनका नाम किसी भी प्रकाशित जैन इतिहास विषयक कृति मे नही आया है आचार्य जसवत की विद्यमानता मे ही इनने पर्याप्त ख्याति अर्जित कर ली होगी, पर पट्टावलियो मे तो वही स्थान पाता है जो सम्प्रदाय का नेता हो या किसी विशिष्ट घटना से जिसका सीधा सम्बन्ध रहा हो सामान्य मुनिजन, चाहे प्रतिभासम्पन्न ही क्यो न हो, का उल्लेख सम्भव ही नही उन पक्तियो के लेखक की दृष्टि मे जीवराज वह मुनि और कवि है जिसने लोंकागच्छीय परम्परा को समुज्ज्वल किया है यद्यपि उन्होने कोई बृहदाकार कृति का सर्जन नही किया, न वे आचार्य पद से समलकृत थे, पर इन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है इनकी जिन चौवीसी की रचना, जो इस सम्प्रदाय का गौरव है यो तो और भी भक्तिमूलक जीवन के अभिलाषियो ने प्रभु के चरणो मे आत्म-निवेदन स्वरूप स्तुतिपरक रचनाए अवश्य की होगी, पर जीवराजजी का इस दिशा मे जो प्रयास है वह अपने ढग का अकेला ही है इस एक ही कृति ने कवि को गुणमूलक परम्परा के कारण अमरत्व प्रदान किया है,

कवि आत्मवृत्त पर मौन है केवल एक स्थान पर अपने गुरु सोमजी का नाम निर्देश किया है वैयक्तिक जीवन, दीक्षा आदि सभी कुछ भौतिक परिचय तिमिराच्छन्न है पर उनकी वाणी उनके हार्द और ऊर्जस्वल व्यक्तित्व का परिचय भली भाँति दे देती है वस्तुत साहित्यिको का जीवन-मापदण्ड उनकी कृतिया ही होती है—जिनमे जीवन के विविध अनुभवो का सचय सुरक्षित रहता है इनकी चौवीस तीर्थंकरो की स्तुतियो का सग्रह मेरे हस्तलिखित चित्कोश मे है इसे देखते हुए तो यही पता लगता है कि कवि को चौवीसी लिखने का विचार नही था, जब कुछ स्तवन रचे गये तो बाद मे अवशिष्ट तीर्थंकरो के स्तवन भी सम्मिलित कर चौवीसी का रूप दे दिया, यह मैं इसलिये लिख रहा हू कि जिन स्तवनो मे रचनाकाल है उनसे यह विचार स्वय बन जाता है उदाहरणार्थ भगवान् ऋषभदेव का बृहत्स्तवन स० १६७६ की रचना है तो महावीरस्तवन स० १६७५ की कृति है

आनदघन और देवचदजी के स्तवनो मे जितनी आत्मपरक भावनाए प्रस्फुटित हुई है उतनी अन्यत्र नही आध्यात्मिक भावो का उद्दीपन ही तो भक्ति मे वाछनीय है इसके विपरीत केवल आकाक्षाओ को बलवती बनाने की भावनाओ को प्रोत्साहन देना स्तुति-साहित्य के लिये कलक है जीवराजजी की चौवीसी इन अपवादो से परे है इसमे केवल तीर्थंकरो के गुणो का ही विशद् विवेचन है सैद्धान्तिक दृष्टि से यह कृति अनुपम है चौवीसियो मे प्राय देखा गया है कि एक ही गेय पद मे एक स्तवन समाप्त हो जाता है, पर इस की विशेषता है कि एक ही तीर्थंकर का स्तवन कई ढालो मे है ऋषभदेव-स्तवन ७५ गाथाओ मे है

जिन स्तवनो मे रचनाकाल है उनका ऐतिहासिक दृष्टि से थोडा महत्व होने से उद्धरण देना आवश्यक जान पडता है—

१ आदिनाथ स्तवन का अन्तिम भाग—

> सवत् सोल छिहोत्तरा वरषे श्रावण सुदि पचमी सार ए।
> वावेलो चौमासि मन उल्लसिं करयु स्तवन रविवार ए।
> जे भावे भणसइं नित्य थुणसइ सिद्ध थाय तस काज ए॥
> कर जोडी हरष कोडी गुण जंपै ऋषि जीवराज ए॥

वीर स्तवन—अन्त भाग—

> सवत सोल पचोत्तरा वरषे आषाढ सुद दसमी सार ए
> शुक्रवारे तवन रच्यु जेतपुर नगर मझार ए
> ऋषि सोमजी सदा सोभागी जेहनो जस अपार ए
> तास सेवक ऋषि जीवराज जपै सकल सघ जयकार ए॥

आश्वास्म १७ विश्वास १८ शिवानि १९ शूको २०, लब्धि २१ विशुद्धया २२ यतने २३ च पूता २४ ।
वुद्धि २५ समृधि २६ विरति २७ समाधि २८ स्त्राण २९ शुचि ३० संयम ३१ सगरो च ३२ ॥ १४ ॥

गति ३३ सुगुप्ति ३४ व्यवसाय ३५ यज्ञो ३६, द्वीप ३७ श्चद्वीप ३८ शरण ३९ स्वहिंसा ४० ।
निर्वाण ४१ शोले ४२ विमलप्रभाग्या ४३, स्थिति ४४ शुभागा ४५ यजन ४६ च रक्षा ४७ ॥ १५ ॥

अनाश्रवो ४८ निर्वृत्ति ४९ स्प्रमादो ५० धुति ५१ श्चतृप्ति ५२ यंतन च पूजा ५४ ।
ऋद्धि ५५ श्चवृद्धि ५६ करुणो ५७ छयो ५८ च ज्ञाति ५९ श्चवोधि ६० स्वपिमगल च ६१ ॥ १६ ॥

कृपा ६२ चतुक्रोश ६ घृणा ६४ नुकपा ६५ ॥

अन्त भाग—

ग्रास नाम—

ग्रास १ श्चपिंड २ कवलो गडोल ४

आदि नाम—

आदि १ श्चपूर्व २ प्रथमा ३ दिमानि ॥२५॥

इतिश्रीलु कागच्छतिलकतुल्य श्रीपूज्यवरसिंहपट्टभूषण श्रीयशस्विगणि शिष्य रूपकृत नाममालाया विस्तर. प्रवाद सम्पूर्ण ॥छ॥

इनमे १२५ श्लोको मे कवि ने लोकप्रचलित नामो का समावेश कर दिया है ऐसा प्रतीत होता है कि अपने साधुओ के ज्ञानवर्द्धनार्थ ही इसकी सृष्टि हुई है रचना सुन्दर है और इसका प्रकाशन वाछनीय है इसके अतिरिक्त स्फुट स्तवन भी प्राप्त हैं जिनकी सख्या एक दर्जन लगभग है

रूपऋषि के सम्प्रदाय के मुनि रामदास ने स० १६९३ ज्येष्ठ कृष्णा १३ सारगपुर (मालवा) मे "पुण्यपाल रास" निर्मित किया इस कृति की अतिम प्रशस्ति मे अपने पूर्वाचार्यो की विस्तृत नामावली दी है कवि चतुर भी इसी परम्परा के है जिनकी रचना "चदनमलयागिरि रास" (र० का० स० १७७१) प्राप्त है अनुसधान करने पर अन्य कवि भी उपलब्ध हो सकते हैं

१३ दामोदरजी—अजयमेरु-अजमेर निवासी, लोढा गोत्रीय, पिता रतनसिंह-रतनशाह माता रत्नादे, जन्म स० १६७२ दीक्षा स० १६८९ ज्येष्ठ शुक्ला ७, पदस्थापन स० १६९७ आपाढ कृष्णा ६, स्वर्गगमन स० १६९७ माह सुदी १३. सतीचद नामक किसी मुनि ने इनका छद लिखा है कवि ने प्रारम्भ मे लोकाशाह द्वारा स० १५२८ मे पुस्तक-वाचना की चर्चा कर स० १५३१ मे "लोकागच्छ" की स्थापना वताई है दामोदरजी अजमेर निवासी होने के कारण कवि ने वहाँ के प्रसिद्ध स्थानो का वर्णन किया है जब छन्द ही उद्धृत किया जा रहा है तब वर्णन का पिष्टपेषण व्यर्थ है

इसमे ऐतिहासिक तथ्य केवल इतना ही है कि इनकी दीक्षा किशनगढ मे हुई थी और छन्दकार ने दीक्षातिथि ज्येष्ठ सुदि ५ सूचित की है जब अन्यत्र ७ का उल्लेख है आचार्य पद भी इन्हे किशनगढ मे ही मिला जिसमे वहाँ के वेणीदास आदि श्रावको ने विशेष भाग लिया

कवि ने अपना समयसूचक कोई स्पष्ट उल्लेख नही किया है, पर "साहिजिहा तणी जिहा राई" शब्दो से पता चलता है कि यह रचना उनके समय मे अर्थात् स० १६८४-१७१५ के मध्य भाग मे हुई होगी और विचार करने पर पता लगता है कि इसमे दामोदरजी के आचार्य पद की चर्चा भी है और उनका आचार्यत्वकाल अत्यन्त सीमित रहा है अत इन बातो से अनुमान तो यही होता है कि निश्चित रूप से इनका रचनाकाल लगभग स० १६९७ ही होना चाहिए छन्द पर भाषा की दृष्टि से डिंगल का प्रभाव परिलक्षित होता है कविता सारगर्भित और भावो से ओतप्रोत है

दामोदरजी के शिष्य खेता की दो रचनाएँ—धन्नारास (र० का० स० १७३२ वैराट, मेवाड) और अनाथी मुनि की ढाले (र० का० स० १७४५)—उपलब्ध है
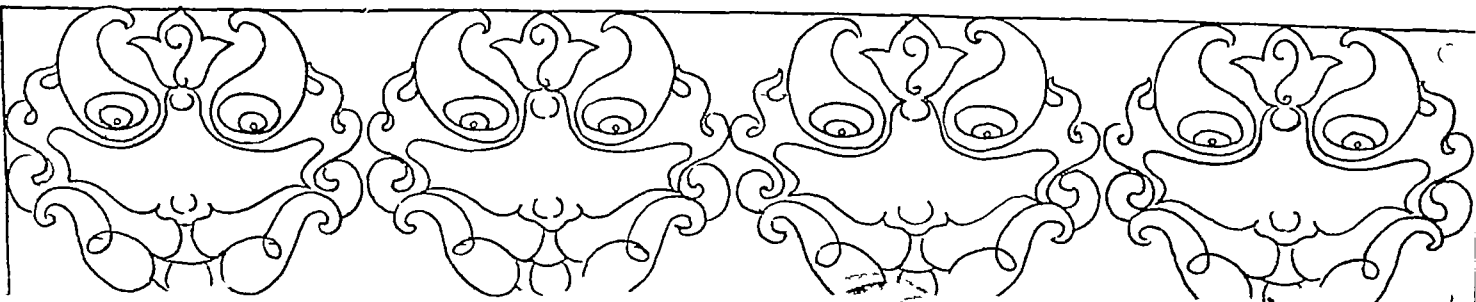
शुभ महूरत सोमवार सुयश मयाद सुर करंता। गणपतिर्गा गुण माख मासहदि पहिरे सुप हरता॥
आचार्य केशव ईशा प्रबल सुकृति बाल सह गुरु वर्या। प्राकार प्रादि पावन प्रकर सकल सप मगल कर्यो॥

१६. गणि तजसिंह—पंचेटिया निवासी ओसवाल छाजेड गोत्रीय पिता लक्ष्मण माता लखमादे दीक्षा स. १७ ९ (लोकागच्छ पट्टावली मे इनका संयम-ग्रहण-स्थान जयपुर बताया गया है पर यह गलत है कारण कि जयपुर की स्थापना ही स. १७८४ में हुई है) पद स्थापना स. १७२१ बैसाख सुदि ७ गुरुवार स्वर्गगमन सं. १७५१ के बाद यद्यपि देसाई महोदय ने इनका स्वर्गवास स. १७४२ माना है पर इनकी रचनाओं से प्रमाणित है कि स. १७५१ तक वे जीवित थे

गणिवय तेजसिंह को इतिहास के प्रति विशिष्ट अनुराग था अपनी रचनाओं मे भी वह रचनाकाल स्थान और किस की अभ्यर्थना से किस कृति का सृजन किया आदि बातो का उल्लेख करने मे कम चूके है इससे इनके जीवनपट पर भी सामान्य प्रकाश पड़ा है और फैली हुई भ्रान्तिया का परिमार्जन हुआ है यद्यपि इनकी रचनाए साहित्यिक दृष्टि से उतनी महत्त्वपूर्ण नही हैं पर सामान्य जैन श्रद्धालुओं को उनसे मार्गदर्शन मिलता है आत्मशुद्धि और जीवनवर्धन के स्वर दृग्गोचर होते हैं

इनकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और इतिहास की दृष्टि म विशिष्ट मूल्य रखने वाली कृति गुरुगुणमाला भास' है जो इस विषय की प्रेरक शक्ति रही है इसकी प्राप्ति मुझे स. १९९३ के मेरे सूरत चातुर्मास वरम्यान तत्रस्थ एक प्रभावशाली परिवार से हुई थी साथ ही कई स्फुट रचनाए, जिनका सबध स्थानकवासी परम्परा से रहा था उपलब्ध हुई दूसरी प्रति सं. १७७१ के स्थानकवासी परम्परा के मुनियो द्वारा प्रतिलिपित गुटके में प्राप्त हुई इन्ही के आधार पर स्व. मोहनलाल दलीचद देसाई ने अपने जैन गुर्जर कविओ में लोकागच्छ की पट्टावली दी है कवि ने पूर्वजो से सुनकर पूर्वाचार्यों का इतिहास लिपिबद्ध कर जैन इतिहास की एक काल विशेष से संबद्ध घटनावली को सुरक्षित रखा यद्यपि इसमें आये उल्लेखो को तात्कालिक अन्यान्य ऐतिहासिक साधनों के प्रकाश मे विश्लेषण करने पर कुछ तथ्य सदिग्ध प्रतीत हुए, पर इससे कृति का महत्त्व कम नही होता और न गणिवय के प्रयास पर ही आच आती है रूपसिंह से लगाकर १६ वें पाट तक का व्यवस्थित वर्णन एक स्थान पर प्राप्त होना अन्यत्र दुर्लभ ही है इस रचना के अतिरिक्त भी २७ पाट स्वाध्याय नामक एक और रचना स. १७१४ मे रची थी पर मुझे इसका केवल अतिम पत्र ही प्राप्त हो सका है—

पाट सत्तावीस ए कह्या र जिनशासन क सुखिया।
अधिक प्रत्यय मुहता तखा नयमल सुत र मागचद हीरचद कि॥
सवत सत्तर चावीस में र गणिगुण गाया चौमास।
श्रावकों हीराचद की माही रतनपुरी मझा सुखवास॥

इनकी गुर्जर गिरा में परिगुम्फित रचनाओं का परिचय जैन गुर्जर कविओ म आ चुका है तदनन्तर कतिपय अन्य कृतिया मेरे सग्रह में इस प्रकार उपलब्ध है—

१ हरिवशोत्पत्ति रास २ मुनिपति जिन भावना ३ सोलह स्वप्न सज्झाय (सं. १७११ आश्विन कृष्णा १४ ऋषि रामाजी शिष्य मनोहर द्वारा प्रतिलिपित) ४ स्वाध्याय ५ प्रतिक्रमण स्वाध्याय तमाखू स्वाध्याय आदि

इनकी रचनाओ से पता चलता है कि इनका विहार प्रदेश बहुत ही विस्तृत था मेवाड़ मारवाड़ मालवा और गुजरात के प्रमुख नगरो का उल्लेख स्वकृतियों में किया है

संस्कृत भाषा में रचित इनका एक 'दृष्टान्त शतक' नामक ग्रथ भी उपलब्ध है—जिसकी अन्त्य प्रशस्ति इस प्रकार है—

"सवत १७१८ वर्षे कार्तिक सुदि १४ दिन वार मंगले स. १८४ कार्तिक वदि ३

श्रीमल्लोकागच्छे गणाधिराजगुरु श्रीकेशवाख्य शिष्यः
शिष्यशास्त्र कृते वर सिंहविधिया दृष्टान्तकानां शतम्

"इति श्रीमदाचार्यजी श्री ६ केशवजी कृतानि काव्यानि ॥ लिपिकृत पूज्यऋषि श्री नोमजी तच्छिष्य पू० ऋषि श्री ५ : महिराजी ऋत्सिष्य पू० ऋषिश्रीटोडरजी तत्सिष्य पवित्रात्मा श्री ४ भीमजी तच्छिष्येण मुनि दामाख्येणालेखि। शुभ श्रेय सवद्वसुगगनससुद्रचन्द्रवर्षे (स० १७०८) कार्त्तिकमासे त्रयोदशीगुरुवासरे राणपुरे लिपिकृत्वा प्रतिरिय शुभ श्रेय ॥

—राज० प्रा० ग्रन्थसूची भाग २ पृष्ठ ३०५, जोधपुर

ये गीत वस्तुत केशवजी रचित हैं या क्या ? विना मूल प्रति का अवलोकन किये कुछ भी कहना सम्भव नही पुष्पिकान्तर्गत मुनियों की अन्य प्रतिलिपित रचनाएँ भी इन पक्तियो के लेखक के सग्रह मे सुरक्षित है भीमजी दामाजी के गुरु थे, केशवजी शिष्य महीराज के प्रशिष्य और तेजमुनि के गुरु थे तेजमुनि कृत "चदराजा का रास" (र० का० स० १७०७ कार्तिक, राणपुर) उपलब्ध है एक हीरानन्द नामक कवि की रचनाएँ स० १७७० पाई जाती है, पर निश्चित रूप मे नही कहा जा सकता कि ये किस केशवजी के शिष्य थे ? कारण कि कुवरजी पक्ष मे भी एक केशवजी का उल्लेख मिलता है, जो अपनी शाखा के १३ वें आचार्य थे

यहाँ पर प्रसगत विवक्षित १५ वें पट्टधर केशवजी के एक शिष्य कवि बाल कृत बावनी का परिचय देना इस लिये अनिवार्य है कि यह रचना सर्वथा अज्ञात और अन्यत्र अनुल्लिखित है इसका रचनाकाल स० १७१५ है अत आचार्य श्री की विद्यमानता मे ही प्रणीत है रचना के प्रारभिक भाग मे सक्षेप मे कवि ने आत्मीयो की परम्परा दी है उसमे जसवत ऋषि के शिष्य-पट्टधर प्रभावसपन्न आचार्य रूपसिहजी का नाम नही है, यह एक आश्चर्य है यद्यपि उनके समय मे ऐसी कोई अवाछनीय घटना भी नही घटी, फिर भी उनका नाम न होना खटकता है

जैन साहित्य मे सख्यावाचक कृतियो का बाहुल्य रहा है बल्कि कहना यह चाहिए कि एतद्विषयक परम्परा को जितना प्रोत्साहन और प्रेरणा जैन मुनियो ने दी है, शायद ही किसी ने कल्पना तक की हो लोकागच्छ के साहित्यकारो मे इत पूर्व बालचद और किशन मुनि ने सफल प्रयास किया था जैसा कि ऊपर की पक्तियो से स्पष्ट हो चुका है उन्ही के अनुकरण स्वरूप कवि बाल का यह सुप्रयत्न जान पडता है इसकी भाषा हिन्दी और भाव आध्यात्मिक रस से ओतप्रोत हैं जनता के दैनिक जीवन की शुद्धि पर विशेष बल दिया गया है

इसका आदि और अन्त भाग इस प्रकार है—

। पद्य ५६ । कर्ता कवि बाल । सं १७१५ आश्विन शुक्ला ५।

ओकार अनत अलख अवगत अवनासी। अकपट अमिट अघट अप्रगट पद जोत प्रकासी॥
नर सुरवर राजेन्द्र आन चित अतरै आवै। अमरन सरन नाथ नाथ अन्य नाथ न भावै॥
ससार पार तट पामीओ उत्तम जस जपे अवर। देवाधिदेव भत्र सयमेव शिव सो सुप्रसन केशव सुगर ॥१॥
नमो साधु निकलक मान भीदा सूय भम्भल। नुन भीम गुरु नमो अनग मगो जिन अगल॥
जगमल सरखो जति नमो रूपा जीवा ऋषि। सिंघ त्रे जसवतसीह नमो दामोदर दीपक दष्ष॥
कर्मसीह नमो षोटे कलौ सुखदायक सुरतरु समो। गछ तिलक गुज्जरगछै नर नायक केशव नमो ॥२॥
महियल धन मरुधरा उतनछ पडयापुर आषा। उस वस अवतार सोहै चौरासी साषा॥
कोठारी कासिप गोत्र गढपति गरथे। उचितापति अपीया हेंम हय वर लष हथे॥
आचार सुर आगे लगै दातारा उपम देउ। प्रगटाया तीयारा पटतरे वीसलने तोगा देउ ॥३॥
सिरहर वलि सपनो तिये कुलमें कलपतरु। सुभ कर सुत नेतसी सघ मिकिरा वरस घर॥
नवरगदे ता नाम प्रीया सत्य सील पीयारी। उयरे तेण उपनौ कुयर केशव सुखकारी॥
सुपनराऊ ससार सुख-सुवेमे सजम लीयौ। कममी सुगर केशव नें धम गछपति थपीयो ॥४॥

अन्त

कहे बाल सुगुर केशव तणी बावन अक्षर बावनी ॥५५॥
सतरा सय सवत वरस पनरा वषाणु। हैला भाम आसौज शुकल पचम शुभ जाणु॥

छदोऽलकृतिशब्दशास्त्ररहित काव्य यदा निर्मितं
तत्सर्वं मुनितेजसिंहगणिभिधीरैर्विशोध्य वरैः ॥१०२॥

राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर के हस्तलिखित ग्रथो की सूची मे 'ज्ञानप्रकाश स्तवक' तेजसिंह कृत सूचित है, पर मूल प्रति के विना निरीक्षण कैसे कहा जाय कि वह इसी तेजसिंह द्वारा प्रणीत है या अन्य किसी द्वारा

इनकी रचनाओ के आधार पर कहा जा सकता है कि तेजसिंह का साहित्य-साधना-काल स० १७११ से १७५१ के लगभग रहा है स० १७५१ का उल्लेख एक सज्झाय मे इन शब्दो मे हुआ है—

सवत सतर एकावना वरषे कहे तेजसिंह गणधारी ।
दीव नगर सघ दीपतो धरमी नें धनधारी ॥

इनके प्रशिष्य तेजपाल 'रत्नपचवीसी' और 'रत्नचूड चौ०' (र० का० स० १७३५) के प्रणेता थे

इनके समय मे और केशवजी के आचार्यत्व काल मे पूर्वोलिखित धनराज आदि ३ मुनि वोहरा वीरजी के सुप्रयत्न से सूरत मे आकर गच्छ मे सम्मिलित हुए धनराज के सतानीय दीप मुनि सुदर्शन रास, गुणकरड चौ० और धमार (मेरे सग्रह मे, कुलैश नगरे रचित,) के प्रणेता थे

१७ कानजी—नाडोलाई के ओसवाल पिता कचरा माता जगीमा इनका सयम ग्रहण समय अनुपलब्ध है, देवमुनि रचित भास मे केवल इतना ही सकेत है कि बाल्यकाल मे दीक्षित हो चुके थे इनकी कृतिया औपदेशिक ही मिलती है एक स्थूलिभद्र स्वाध्याय (पद्य १५) मेरे सग्रह मे है

इनके समय मे गागजी मुनि ने स० १७६१ मे रत्नसार तेजसार रास, स० १७६१ मे राणपुर मे जबू स्वाध्याय का निर्माण किया इन्ही के शिष्य दाम-वरसिंह ने स० १७६६ मे नवतत्व चौपाई रची तदनन्तर भीमसेन-सुजाण और महानद आदि मुनियो ने गुजराती मे कई कृतिया विनिर्मित की

कानजी के बाद तुलसीदासजी, जगरूपजी, जगजीवनजी, मेघराजजी, सोमचदजी, हरखचदजी, जयचदजी, कल्याणचदजी, खूबचदजी और न्यायचदजी आचार्य हुए, विस्तार भय से इनका नामोल्लेख ही पर्याप्त समझा गया कुवरजी पक्ष, धर्मसिहजी, लवजीऋषि और धर्मदासजी आदि की परम्परा का इतिहास भी गौरवपूर्ण रहा है और इनके मुनियो ने समय-समय पर जैन सस्कृति के विकास मे योग भी दिया है, पर उन सभी का नव्य मूल्याकन सीमित समय और साधन द्वारा सभव नही मेरी मर्यादा कानजीऋषि तक ही सीमित थी

यहाँ पर लोकाशाह के परवर्ती मुनियो के जीवन पर मार्मिक प्रकाश डालनेवाले जो कतिपय काव्य प्रकाशित किये जा रहे है, इनके अतिरिक्त भी स्थानकवासी मुनियो की प्रशस्ति स्वरूप कई पद्य लिखे गये है, जिनका मारवाड और मेदपाट से सबध रहा है किसनमुनि, पूज्य लालचदजी, विजयचदजी आदि अनेक प्रभावशाली आचार्य और मुनियो द्वारा विविध विषयक साहित्य भी निर्मित हुआ है, जो अद्यावधि अज्ञात ही रहा है, पर उन सभी का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना, समय और श्रमसाध्य कार्य है इतना कह देना आवश्यक है कि चाहे जैन सप्रदायो मे कितना ही मनोमालिन्य हो, पर मेवाड जैसे कठिन विहार के प्रदेश मे स्थानकवासी-मुनियो ने जैन-सस्कृति की व्यापक एव सार्वभौमिक भावनाओ को बनाए रक्खा है शताधिक कृतियो की प्रतिलिपि कर भाषा साहित्य की परम्परा को गतिमान किया और अपनी औपदेशिक वाणी से जन-मानस को विचारपूर्ण क्रान्ति के लिये प्रोत्साहित किया

जो ऐतिहासिक काव्य उपलब्ध हुए हैं वे मूल रूप मे इस प्रकार हैं—

१

नेम कवि रचित

बड़ा वरसिंघ जी का छंद

पास जिणद परम पद पहिलो करीस प्रणाम । गुण व्रणवु वरसघ रा नेज गुण ताहारि नाम ॥
पाटण यादे अनादे पुर दीपे गूजर देस । लाधो द्रुम श्रावक लकि प्रवचन तणें प्रवेस ॥

वरसंघ रपे तणी मुणो वाण, मदन महा चढ्यो भड प्राण ।
उलसे आयो आप अणग जतीस रे साथे जवगे जग ।।
जपै ऋषि वरसघ जीत जू यार अरिहत देव तणो आधार ।
अपूरव भाव अतर न आणे पच व्रत पवग पलाणे ।।
बाजि पट त्रीस वाजित्र घन सजि अगे सियल तणो ते मत ।
सजोडा भारथे पच सुभत पूइसन मावि त्रिण गुपति ।।
मुनिसर भोटि जुध मडाणो अनग सरे सकरे अवासण ।
प्रवचन सूत्र मुखिम प्रहार धर्मचक्र नवाडो व्रत धार ।।
सुदृढ खिमावत खेडो साहि मदन हि कप हुओ मन माहि ।
दीठो जीव रिषि तणो प्रसाह मडी दोहो वर कियो मदराअ ।।
नपेसर तुझ खमि कोण ताप परठे परज व्यामी पाप ।
छके मयण गीओ वल छड मोटा सु कोअ न सके माड ।।
जीतो वरपघ हुओ जिकार स सव जपि सयल समार ।
करि जन शासन कोडि कल्याण वदे पठत्रीसे वृत्त वपाण ।।

कलश

पूज्य प्रतपो ससार सयल जीव सुखकारी ।
उत्तम रिपि अणगार ध्यान शुद्धे व्रतधारी ।।
शासन नध्य सानध वस्यो सघले खियाती ।
उत्कृष्टो आचार गच्छ वधज्यो गुजराती ।।
नाहरें तापि समया तणा दोषी दह वाटे गया ।
वरसघ रिषि कव्य नेंम कहे सदा प्रतिपालो दया ।।

इति श्री वरसघजी रो छद ।

सवत १७७१ वर्षे चैत्र मासे कृष्ण पक्षे चतुर्थी तिथौ द्राफा मध्ये लि० पू० ऋ० श्री वेलजी तच्छिष्य पू० ऋ० श्री कान्ह जी तच्छिष्य लि० मुनि भोजा । भोजा नदा पठनार्थं ।।

२

आचार्य जसवत—छद

श्री जिनशासन सलहि ए साधा तणा समध, जैन तणा जाणि जकै नर ता न्यान वध ।।
जेहा जसवत जपीए आचारज अणगार, वाणि अमिरस जे वयण सहु वदे ससार ।।
जेहा जसवत जपीए आचारज अणवीह, धन्य महुरति तिं घन घडी धन्य वेला धन्य दीह ।।
नयरी धन्य नवि साहसी निज निरखत निधान, सलहा आवै सारसा उत्तम पुरुष समान ।।
जहा एवि पधारिया परबत नें प्रथेराज, परबत घरे सहोदरा अलि पडि अम आवाज ।।
उदर तिहारे ऊपनो मही पडि महिमावत, जोति महा धण जागीयो जिन शासन जसवत ।।
रषभ तणा वसीआ रदे सुधा शास्त्र सार, मागे मा वित्राकनें अनुमति जस उदार ।।

छंद

माता दीओ अनुमती तुझ गुण नवजसो दाखि ।
मुझ नत्थ ससार रा सुख त्याग चित्तमा धारीयो वैराग ।।

तिम मुझ उलट उपनो भुरू गुण गावा अवदात ते भवीयण तुम्हो सांभलो जेहनो जस विख्यात ॥३॥
रूप ऋषीवर गुण निलो जीवजी युगप्रधान वड वरसिंघ वरसिंघजी जस्स महिमा मेरु समान ॥४॥
तास पाटि पटोधर परवत पुत्र पवित्र सती सहोदरां जनमीयां कहिसूं तास चरित्र ॥५॥
मरुधर देसि आवीइ, सोझित मोटु गाम वसि तिहा विवहारिया उसवस अभिराम ॥६॥
परवत घरणी सहोदरां जनमो पुत्र रतन अनुक्रमि वरागीयो संयम उपरि मन ॥७॥
श्रीपूज्य स्वहस्तें करी सजम दीधू सार तिहाथी अनुक्रमि आवीया सविपुर नगर मझारि ॥८॥
सब तेडी श्रीपूज्यजी पूछा पुरुष प्रधान ऋषि जसवतनि पद आपीइं, एह सह गुण निधान ॥९॥
सघ सहु वसतु कहि वाची सहि गुरु पाय पूज्य पटोधर थापीइ जस नामि नव निध पाय ॥१ ॥
सघ समक्षि श्रीपूज्यजी निज पद दीधु सार, सघ सहु आणदीया तव वरत्यो जयजयकार ॥११॥
विहार करी चवाडतां आव्या गुजर देस श्रावक सहु आणदीया सुणी सदगुरु उपदेस ॥१२॥
जस कीरति वाधी घणी जसवतजीनी जागि जिन शासन दीपाववा उदयो अवनी भाण ॥१३॥
श्रीपूज्य पाटि दीपावता ऋषि जसवंत जगि भाण तास चउमास्यां गायसु सुणयो चतुर सुजाण ॥१४॥

राग वेशाष

श्रीपूज्य सीरोही आवीया पूज्य प्रथम चउमास
सकल संघ आणंदीया पोहोचि मनानी आस । १५ श्री
श्रीपूज्य बीजें वविर चमासथि चउमासुं सार
सघ सहु उछव करि, हइड हरष अपार । १६ श्री
पाङिव पूज्य पधारीया प्रभू पूरण आस
भवासाथी भगति करि घणी तृतीए चउमासि ।१७ श्री
उसमांपुरि चउथुं कर्रु पाचमुं खंभाइति
ऋषि निधानइ वि कर्यां सविपुरि सधाति । १८ श्री
खंभाइति कर्रु आठमु, श्रावक सुवकार
धर्म दीपति घइ घणी आंबावती मझारि । १९ श्री
वडपद्र पटोधर आवीया सघ हरष अपार
तप जप बहु साहवा नवमि ते सार । २ श्री
ऋहिमदिपुरि गुरु आवीया दसमि सुवसार
अग्यारमि राजनगरमां सोभी समभ्र अपार । २१ श्री
उसमापुरि उछव घणा विसगतां सार
सात सात वर्षा चमाइति गातां हरष अपार । २२ श्री

राग सारंग

ऋहिमदिपूरि पनरहवारे पाङिव रहा नव सात
जालोरे सतम चावीइरे, जेहनी बहुली ख्यात । २३
सुगुण नर सेवो एह गुरु सार
जस नामि सुप अपार । सुगुण आंचली
आठ वसनी चौदइ वर्षा रे भागरि उगणीसमु उदार
अजमेर महिमा घणु रे, दश वरामें कर सार । २४ सुगुण

ओघो मुहपत्ति करि आणि पारभ वडो हुव्य प्रमाण ।
रूपगि सोहि जसवंत रपि शुदगर तणो साचो रिषि ।।
वदहि जेम ज साहे वचन विकसे तेम सुगर वदन ।
वरसघ कियो एम विचार भूज जू दीओ गच्छ रो भार ।।

पूरव छाई

नयरी सीरोही नयर पडिया जसु गट ।
थरि तेण थानक थपीउ महीपद ठवण प्रगट ।।

छद

पद ठवण शुदग तणो प्राभो ठामि तेण उछव थयो ।
मालवो गुजर धा मडल गछ सघ लोग हि गह्यो ।।
साध-साधवी अनेक श्रावक वसहि सहि सजस वेंचाइयै ।।
चारित्र खडाधार चलि चति चोखि नवि चलि ।
नव धन्य धूना गच्छनायक नवो नेह अमृत नलि ।।
दरीयाउ शुदगई तणो दरसण पुन्य पाप नि पाइएँ ।
श्रीपूज्य वरसघ पाट शुदगर ए आकणी ।।
पुन्यवत प्रज्ञावत प्राभो ध्यानि शुद्ध मनि धरि ।
अगियार अग उपाग बारह उग्र करणी आदरि ।।
आगम नीगम अरथ अनोपम सकल सूत्र सराहीए ।।
महाव्रत पच मूल मडे करम आठे कापीआ ।
कषाय च्यारि दूर कीधी भला शुदगर भेटीया ।।
वेराग वेलि समु द्रव्य सुद्धा ध्यान निर्मल ध्याइए ।
श्रीपूज्य वरसघ पाट खुदगर गुण जसवत गाइए ।।

कलश

गाइजे गुण जाण गुण गिरवो गितारथ ।
प्रतपो चारित्र पात्र पुन्य अकोरे पदारथ ।।
परबत पिता प्रचड उदर सहोद्रा ऊपनो ।
निरमल मति निधान सकल श्रीसाध सपनो ।।
रूप ऋषि जीव ऋषि वरसघ ऋषि तेहनें प्रताप अध्यकार तिम ।
श्रीपूज्य पाट वरसघजी जसो जोति जग वसि ज्यम ।।
।। इति श्री जसवतजी नो छन्द ।।

३

मुनि माधव रचित जसवत चतुर्मास

श्री वीतरागाय नम

दुहा

प्रथम जिणेसर पायकमल, पहिलू प्रणमी पाय, गछनायक गुण गायवा, मुझ मनि उलट थाय ।।१।।
मास वसति कोकिला, देपी चकवो चद, मोर मेघ गार्जि करी पामि परमाणद ।।२।।

जेहनि नामि परिमाणदजी श्री गछ ।
पोरिबंदिर पूज्य पधारा सकल संघ सुखकारी जी ।
विसा मामजी चित्त मावरि, हुया हरष अपार जी । श्री गु० ४४
पोरबंदिरि बार ग्रमि करी करीनि मगळपुरि बदामिजी ।
बोहरा माबजी प्रमुख संघहरषि वदन काजि आविजी । श्री गु ४५
बुधि मीवान वीबबंदिरि आव्या सकल संघ मनि भाव्याजी ।
नगरलोक सहु साहमा आव्या मातीइ थाल वधाव्याजी । श्री गु ४६
सातत्रीसमु सदगुरुहोनि संघ सहु सतोप्याजी ।
दानादिक बहु विधइ करीने पंथ मयूत पोषांजी । श्री गु ४७
श्री अहिमदपुरि आठत्रीस करीनइ, धमाइति पूज्य आव्याजी ।
त्रीस नवम एह जाणयो संघ सहु मनि भाव्याजी । श्री गु ४८

दुहा

धमाइति संघ पूछी करी श्रीगुरु करि विहार अहिमदपुरि पूज्य आवीया हुयो हरष अपार । ४६
साहा गरा सुत सरदार सह धर्म्मीजन धर्मवृत्त विधदना धीरदास वयाणोइ पुरवी सहुनी आस । ५०
तास तणी भाज्ञा लही सब सुकरी विचर ऋषि रूपमीहनि पट्ट आपीइ मुझ मनि हरष अपार । ५१
संवत साब अठत्रीइ मागसिर शुदि अष्टमी सामवार चढति दिन चढति कला तिज पद दीधुं सार । ५२
श्रीपूज्य संघ तेडी करी बोला बुधि नीधान ऋषि रूपमीहनि मानयो एह छइ गुण नीधान । ५३
श्रीपूज्य श्रीजसवंतजी आचार्य अब बीह तास पाट दीपावबा ऋष्यांपति रूपसीह । ५४

ढाल धवल धन्यासी

संवत मोलि सार अठ्यामीए अहिमदपुरि ए ।
श्रीजसवंत मुजाण अणसणनी मति उपनी ए । ५५
पूज्या पुरुष प्रधान रूप ऋषीस्वर गुण निलो ए ।
जो दीयो अनुमति भारज सपारो संघ साषि करू ए । ५६
मागसिर शुदि पुन्यम जाणि पछिम आमि अणसण करसुं ए ।
श्री जसवंत सुजाण सथारा निज मुखि करो ए । ५७
स्वरगी परपवी जाणि माबि उमट अति घणो ए ।
बार बार वंदेव पस महिमा वाचा घणो ए । ५८
अणमण पासीमार आठ पोहोरनु अति भम ए ।
उगमचालीसमू सार आराधी अमर थया ए । ५९
दिन दिन दीपयो ज्यो एह चन्द्रपरि चडती कला ए ।
आचार्य उदयवत दिनकरनी परि दीपज्या ए ।६
धम्म धवनी धनराज माहा देन गुण वखाणी ए ।
गाारि मद्गुना बाज प्रधान पनी गुरू भणी ए ।६१

कलसलो

श्री रूप जीवजी वर मधुरसिध आचार्य जसवंत ए ।
नाग पाटि बेवद नरम उरबी अ...... ए । ६२

बगडी एकवीसमु हवु रे, बावीसमु करू षभाइति
साहा नरा सील व्रत उचरेरे, जहनो जस विष्यात । २५ सुगुण०
उसमांपुरि महिमा घणे रे, त्रेवीसमि थयो सार
भवीक जन समभाय घणा रे, कहिता नावि पार । २६ सुगुण०
चउमासि चउवीसमि रे, गुदवचि गुणनो ठाम
साहा पेथड पुत्र भणि घणु रे, जेहनु रूपसीह नाम । २७ सुगुण०
पटोधर पचवीसमि रे, सवि पुर सदगुरू सार
दानादिक उछव घणा रे, वरत्यो जयजयकार । २८ सुगुण०
साल दशमु गुदवचि रहा रे, श्रावक हर्ष अपार
रूपकुमर तिहा सज थया रे, वरवा सजम सार । २९ सुगुण०

राग सामेरी

गुदवचि नगरि उछव घणा, साह पेथड पुत्र दिक्षा तणा
तेह तणा मनोरथा पहाचि अति घणाए । ३०
रूपकुमर तव सज थया, सामग्री सहुइ गहि गया
उछव करवा सघ सहु मलाए । ३१
सवत साल पचोतरि, मागसिर श्रुदि बारसि सही करि
स्वहस्ते श्रीजसवत सजम दीएए । ३२
दिनदिन प्रति चढती कला, रूपऋषि गुणे भला
गुण निला सास्त्र सुविध भणा भलाए । ३३
पीपाडि पूज्य पधारीया, सतावीसमु घरीया
गुदवचि अठावीस पुरा थया ।३४
सीरोही सदगुरू आवइ, सघ सहु मली वधावि
गोरि गावि उगणत्रीसमि उछव थाविए । ३५
जालोरे त्रीस पुरा थया, सीध गुणे सीरोही रह्या
योग सग्रहे पाटिण पूज्य पधारीयाए । ३६
वडोदरि वारू धरी, सामग्री पोति पुण्य भरी
तेत्रीसमि सदगुरूनी सेवा करी । ३७

ढाल फागनी

सूरति सदगरू आवीया श्रीसघ हरष अपार, वधावि वर कामनी बोली जयजयकार । ३८
वोहरा हापा हरष घणो थयो वीरजी वारू विचार दानादिक विध साचवि पारिष प्रमुष उदार । ३९
वुधि निवान बुहरानपुरि सानी माणिकदास घायतादिक सघ सहु मली वादवा आवि उल्हास । ४०
सघ सहु सतोषीया पोहोती मननी आस, अतीसइ समु सहु जाणयो श्री गुरू रह्या चउमास । ४१
पात्रीसमु पूज्य आवीया त्राबावती मभारि सघ सहु साता घणी उलटि अगि अपार । ४२

राग मारूणी

कोणीक राजा रजीयो, आव्या जाणी वीर जिणदजी ।
तेम सोरठ सघ हरपीउ, सुणी आगम महा मुणिदजी, श्री गुरु धन्य धन्यजी । ४३

भव भवे समम सीधो भार धरी विधि चालि वडाचार।
वस्तु वड शास्त्र जाणे वेद भर्मा कवि पाजा वासा भेद ॥
सदा मगी सायर जेम सधीर हुवेइ तेमी कोय न सापि हीर।
भुजे जसराज मनायो भारि अनोपम भाज वडो अणगार ॥
पीधावत पत्रमुपा पांणी भमो गहु मूके ऊगो भाण।
मानि शुभ आंण वडा मुनिराय मसपथ चारित्र हे कण माय ॥
भुजे जसराज मनायो भार सोहे अगि सील सभो सभगार।
पूरवं साइ सील तो ममि सासतो साधो कियो समाह।
पेधाउत वेहु पपि सहो भम करइ सराह।
परवत सुत मोटो पुरुष करणी उत्तम कीध।
रुडा श्रीरूपसीह भी पदवी परतग दीध ॥
अविचल मूरति अष्टमी मागसिर सुद सोमवार।
वडा वडा मसिया वरव मूज गछि सोप्या भार ॥
मूज भार सौंप्यो गच्छनायक कर्पे वधीयो रूपसी।
प्रथीराज समम पेप पदवी जयत सहू कासि जिसी ॥
ते हो राय वसत बोल बाचे माहु सयम निरम सीमें।
प्रभात श्रीरूपसींह प्रणमे वडो मुनिवर वदिये ॥
गाइ अमो तिम किमा गुण भर पाप सघला परहरि।
देपिइ दरसण हु कमना सिपरि भरम वे पपि धरो ॥
धायो मूसमद्र आणि भाउ जस धरि नदिमै।
परमाति श्रीरूपसींह प्रणम।
वास ब्रह्मचारी विरुद माटा धार पग पडा वरै।
बावीस परीसा जेणि ओप्या काम निरम उत्तम करइ।
ताहरी पीपड ठाणा पुथवी होड कुण हासिवी ए।
परमाती श्रीरूपसिंह प्रण मैं वडो मुनिसर वदिए ॥

कलस

वडो साच वदिये मोहु जिणि जीती माया।
क्षिमा तणो भडार कोप नहु आणि काया ॥
नमवत रो पाटवी अमत सघलो ही जाणें।
कायदायी निकलंक वडा कवि पाम वपाण ॥
देपीइ दरसण जाय दुप बीती वाम्य मांनु बीमे।
भाजक भद्रा पदमार्थ। लि मुनि भोजा

५

भोजा ऋषि प्रणीत

रूपसिंह ऋषीश्वर भास

॥ पूज्य ऋषि श्री भोजराजजी गुरुभ्यो नमः ॥
राग गोरठ वाम बाधवा मी
वादु श्री वीरजिणंद हे सगी वाद श्री वीरजिणद।
त्रात भत जगवंतजी तणो जी नाय नमल सिणगार हू सगी ॥
आनद आणी अति अति घणो जी ॥

सवत सोल एकाणया वर्षे कार्त्तिक वदि छठि गुरू ।
आवावतीइ रचा चउमासा पाठक जननि सुपकरू । ६३
श्रीपूज्य जसवत शिष्य सुन्दर ऋषिविज्जा गुण धार ए ।
तास शिष्य माधव जपइ श्रीसघ जयजयकार ए । ६४

इति श्री ६ आचार्य ऋपि श्री ६ जसवतजी ना चतुर्मासा सम्पूर्ण ॥

श्री आचार्यजी ऋषि ६ जसवत जी । तस्य शिष्य ऋपि श्री ५ विज्जाजी तस्य शिष्य ऋषि श्री ५ माधवजी तयोरंते-वासी लिखितं मुनि वीरजी पठनार्थं सुश्रो जय चातरया सुता बा० मघीबाई शुभ भवतु । कल्याणमस्तु ॥

४

मानू रचित

रूपजी का छन्द

सरसती समरू सदा गवरी नद गणेश ।
रुडें विरदि रूपसी जसह थल जस जपेस ॥१॥
गुणसागर जस गह गहि गोतम जमडो गात्र ।
रवजै प्रतपो रूपचद चावो चारित्र पात्र ॥२॥
गरवो गछ गुजरातिया गाइजें गुण जाण ।
रूप सीह जिम रूपसी वचि वडे वषाण ॥३॥
पाट तपि जसवतरी जस प्रगट्यो कुल एक जीह ।
दावि मोटि दापजी दन-दन चढता दीह ॥४॥
रूप सपिसर पाट तहु जीवराज जस हाथ ।
त्या आसुहु तेजपालरि गणी गण घे वोहोथ ॥५॥
वडा वरसघरा चाकसू वाचीजै वाषाण ।
माभी अविरल म—यु मोटा प्रसणा माण ॥६॥
वरसघ रे पाट वली वरसघ हुयो व्रीआन ।
क्रीया पात्र कहीज तू नरा सिरोमणि नाम ॥७॥
तेणे पाटे परवत तणो जसडु थयो जसराज ।
माझि चोरासी महि मेर समी वेड वाभ ॥८॥
तेणें वर कर रूपो थपीऊ काअम कोड वरीस ।
साधा मोटो जेम सही दिन दिन आणें रीस ॥९॥

छद मोतीदाम

दिन आणें रीस लगार भूले भल लीधो सयम भार ।
वचि वरी आब वडा वषाण म जेम चद मनावि आण ॥१०॥
सुण्या जसवत तणा उपदेश लीयो सयम लघु मति वेश ।
पधारिया पूय गुदावि गभीर निरमल वस वडायो नीर ॥११॥
करि कर जोड वीनती कीध रूडी परि रूपसी सयम लीध ।
पर हर नारि न कीधो प्रेम जस हथ जाण गउतम जेम ॥१२॥
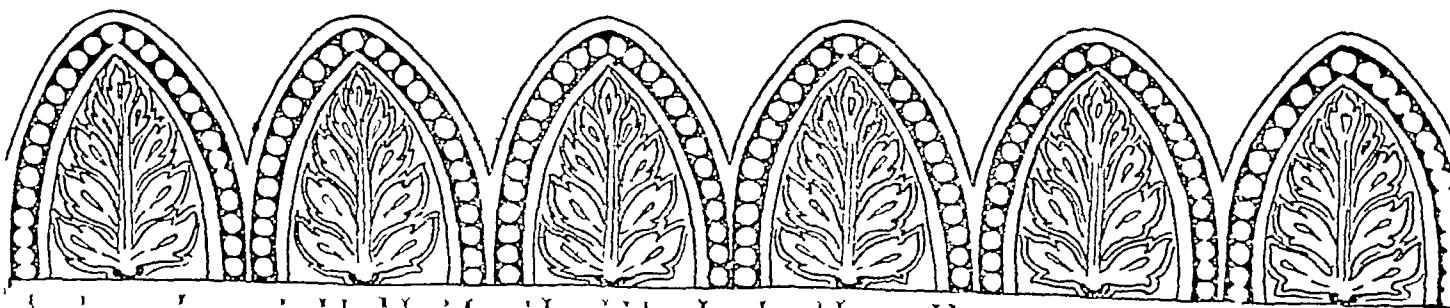
जनम महोच्छव जन सवि पोपि रूपसिंह नाम उदार ।
गुण सागर गंगा जननी परि निरमल नाण अपार ॥
बालपणि बहु बुद्धि मनोहर वाणी अमीय रसाल ।
हाटक ऊपरि हार विराजइ दिनकर तेज झमाल ॥
वचन सुधारस सरिया सांभलि श्रीगुरुजी ना सार ।
मेघ तणी परि मोटि महोच्छवि आदर्यो उत्तम भार ॥
जनम नगर बीकैवि दीपि पुण्यवंत बहु परिवार ।
गुजरात नगरि सोहू बडाबी लीधोय संजम भार ॥

राग धन्यासी

संवत सोल रसाल अब्द पच्चासरा आणीइ ए ।
मिगसिर सुदि गुरुवार दस-दोइ तिथि वपाणीइ ए ॥
शिष्या वेद सार जसवंतजी जयकारीया ए ।
बवावि मारुयाडि गुज्जर देसि पधारीया ए ॥
विचरइ श्रीमुनिराइ भवि जननि प्रतिबोधता ए ।
साथि श्रीरूपसिंह बहु परिवारि सोभता ए ॥
हालार सोरठ देस विहार करी बदावीया ए ।
साम तणि भेद कोडि अनुक्रमि गुज्जर आवीया ए ॥
श्रीपूज्य जसवंत पद योग्य रूपसींह परखीया ए ।
अहिमदपुर मझारि सब समिच्छइ हरषिया ए ॥
सवत सस्ति रस सार अमीय ऊपरि आठ आगना ए ।
मिगसिर सुदि सोमवार आठिमें तिथि गुरु गुणनिला ए ॥
दे पदवी मुनि पाल अमृत वाणी उचरइ ए ।
सार आतम काज भव जल निधि जीव निस्तरइ ए ॥

ढाल धनही नी

वचन सुणी गुरु तणा रूपसींहजी इम बोलि ।
जयवता सब शासक विचरो जिम जिन तोलि ॥
जसवतजी जयकारीया गुण निधि गुणह भडार ।
पट्टाधरनि बुझवी अणसण उचरइ सार ॥
तेह जसवत आणीइ मिंगसिर सुदि सोमवार ।
पुनिमि तिथि अति निरमली अणसण कीधो उदार ॥
पमाय पमावी सघनि वसीय वचन इम बोलि ।
सिद्ध क्षमा सवि माहरा चितम्या सुरतरु तोलि ॥
युगप्रधान रूपमाइ ना करयो बहुला जतन ।
पट्टोधर नी आगिना धारयो जेम रतन ॥
इम अनेक शिष्या कही धरीय परम शुभ ध्यान ।
आठ पहोर अणसण करी पामीया अमर विमान ॥
एहवा गुणवत गुरु तणा नाम जपि नर-नारी ।
इह भवि सुष संपद लहि परभवि शिव सुषकारी ॥

सेवो रूपसिंघ हे सखी युगप्रधान जसवत जिसो जी ।
वैरागी वड भाग हे सखी कुण कहीजइ त्रिभुवन माहि तिसो जी ।
साह पेथड सुत सार है सखी मात कनकादे उरि ऊपना ।
जाणो जवूकुमार हे सखी गुणनिधान गछपति नीपना जी ।।
गुरु गौतम अवतार हे सखी जसवतजीइ पूरा परषीया जी ।
आचारिज पद आपि हे सखी सघ समीक्ष्यइ हीयडि हरषीया जी ।।
जसवतजी जगि जाण हे सखी आठ पहोर नो अणसण आदरी जी ।
सार्या सघला काम हे सखी पाटि पट्टोधर रूपसिंघजी करी जी ।।
वरत्यौ जय-जयकार हे सखी दरसण दीठइ दोलति होइ घणी जी ।
हरष धरि मन माहि हे सखी आण मानयो सहुको एह तणीजी ।।
सुरतरु सरिषो सुजाण हे सखी पार न पामि गुरु गुण ते कही जी ।
तो मानव कुण मात है सखी गुण सपूरण वोलिजे सुहीजी ।।
श्रीरूपसिंघ ऋषिराइ हे सखी पुहवी प्रतपो अविचल ।
भोज भणइ कर जोडि नाम वपु निज गुरु तुम्ह तणुजी ।।
मेह समरइ जिम मोर हे सखी ।
तिम समरू तुम्ह नाम हे सखी हरष धरीनि गिरुया गछपति ।।
मेह तणी परि वाट हे सखी सघजी जोइ सदगुरु तुम्ह तणी जी ।
मया करी मुनिराइ हे सखी वेगइ वदावो गुरुजी गच्छ घणी जी ।।

कलशलो

श्री
तस पाटि दिनकर जिसो दीपइ श्रीरूपसिंघ वषाणीइ ।।
नर नारि भणिस्यइ अनि सुणस्यइ गछपतिना गुण घणा ।
श्रीपूज्य शिष्य कर जोडि जपइ फलइ मनोरथ तस तणा ।।
इति श्री भास सपूर्ण
लिखतं ऋषि ५ भोजाजी तस्य शिष्य ऋषि वाघा । वाई अमृतदे पठनार्थ ।।

६

वाघ मुनि रचित

रूप ऋषि भास

ढाल धूआरिनी
प्रथम जिनेसर पाय प्रणमीनि श्रीगुरु लागु पाइ ।
श्रीपूज्यना पट्टोधर गाऊ पात्तिक दूरि पुलाय ।।१।।
गुणायर गछपति गाइइ हो श्रीरूपसिंघ साधु सुजाण गु० आकणी ।।
ओसवस अवनीतल उदयो साह पेथड सुत सार ।
दिनकरनी परि दीपइ दिन-दिन गुरु ज्ञान तणा भडार ।।
स्वर्ग तणा सुष सुदर अनुभवि कनकादे उरि अवतार ।
उत्तम ग्रह अनुसारि अनोपम जनम हुउ तिण वार ।।

जिहां बहुधां नायकी धंम सेवा जिहां जैन संघीये सधी केवां ।
जिहां प्रम प्यारे वसें सम रेवां जिहां धर्म सोभा वडी सामरेवां ॥१५
जिहां चोहटा बिच नीकी बिराजै जिहां साह द्रव्येसरी घ द छाजे ।
जिहां मस्त हाथी कीधू मेघमाला जिहा जोध वार्में कीधू कांन काला ॥१६
जिहां मर्द चापसबी मान वासा जिहां ऊट असवारी कीनसासा ।
जिहां उसवस महाराज राजें जिहां प्रम मीसांण वाण बीर गाजे ।१७
किधु मागरी जोपुरी जोत ठाणी कीधू मग सीसा कीधू ईस वाणी ।
जिहां पोषवसाला भाखि मिठाई जिहा साह रवन बसै प्रमधारी ॥१८
सदा साधवा साधवी प्रेम मसे भाषा सील वानि दया रंग गसै ।
कीधूं उपमांन कामदेवा विचारी कीध अंम धर्मेंसरां व्रतधारी ॥ १६

दुहा

तस बरणी गुण आमला सतिया सिर सिरदार । रतनादे सिपमी जिसी सोभा गुण गुणकार ॥ २०
तस नदन प्यारे सरस तिन में एक प्रमाण । दांमोदर महिमा जिसौ सोभागी महिमान ॥ २१
सवत सोल तिनासीएं क्या गुर गुणधार । गढ अजमेर समासर्‌यां सब जीवन सुखकार ॥ २२

छंद हाटकी

मै हूं नागर सागर आगर आगम आवक रंग सुरंग कीयं ।
पाटबर मन सु धम धना धन जाचिक जिन बहु दान दीय ॥
कु मर दामोदर पुन्य जिसौं वर वदि सदगुर पाटकीयं ।
अमृतम रस वाणी सुगुरु बखांणी सुमतां सयम सार दीय ॥
बिहुस भमकार असार तसो बग जोवन सजम बिन यय ॥
सपमी सुपन तरी भोग किसो अवा जिसो पय बदकीय ।
सुगै उपदेस करे उर बरध आयो वर वैराग सीयं ॥
अमृत रस वाणी सुगुरु बखाणी सुमता सयम सार दीय ।
माता पम आगी कही सुवाच पिय दो उनमति मुझ माग हियं ॥
सुणहि कुसवती उहि कुलमंडन ए सविण परवार हियं ।
कीजें घर वरणि सुकल ववारणि भोगवी सुष बाल कीय ॥
अमृत रस वाणी सुगुरु बखाणी सुमता सजम सार दिय ।
बसतो नहै कु मर पाप तजै सब मारग मोष चित रचीय ॥
समभावें मात पिता गुण सुदर दीधी उनमति सुष कीयं ।
सब मप विचारी सयमधारी कीमनगढ दीपा सविय ॥
अमृत रस थोकवी— ।

चपल चपल तुरगम तेज मगम मे मत घन रचिय ।
वारण पायक मायक लायक प्रोढ उदधि बिमाद कीयं ॥
धपमप धपमप बजें मदल मजे भणाट झणाट ताल दिय
भर भरर विलगमदन मेरी भभभ कि भणण रिन बिब विब विवय ।
संवत तिवामी मात बिगामी जड मुनि पोषम गणीय ॥

जसवतजी ना पाटवी रूपसिंह जी चिर जीजो
गौतम नी परि गाजता भविजन श्रीगुरु वदौ ।।

कलशलो

तीरथ नायक रूप ऋषिजी जीवोजी दोइ वरहरी ।
जसवतजीनी पाटि प्रतपइ श्री रूपसींह तेजि करी ।।
जसवतजी ना शिष्य दीपइ भोजराज चचडती कला ।
ताम शिष्य मुनि वाघ प्रणमि पाय पकज निर्मला ।।
।। इति श्री भास समाप्त ।।

७

सतीचद कृत

दामोदर छद

दुहा

परम पुरुष पय अनुसरी समरू श्रीगुरू नाम, आचारय गुण गावता सीझै विछत काज ।१।
वीर जिन मध्रह भिर गति दोय हजार वरीस, विक्रै सवत वेत सुत पनरसें अठावीस ।२।
लकें पुस्तक वाचा करी जाण्यो श्रीजिनधर्म, जीव दया चित मे वसी टाल्यो मोह भ्रम ।३।
लुकागछ जगमे प्रगट पनरसें ईकतीस भार्णे सजम आदरो पोती मन जगीस ।४।
प्रागवस भीमो जती नुन भीम जगमाल सरवा रूप मुणिंद पटि जीवराज उसवाल ।५।
सात मे पाटि ए व्रनमुं मरुधर देश निधान, तिहा मण्डल अजमेर गढ महिमा ईक्कउ ठान ।६।

छद अडयल्ल

मैं देस नगर अविचल अविठाण गीरवर मेर सिषर उपमान ।
सषर कोट प्राकार सुजाण भीतर कोट वाहिर जग ठाण ।७।
विषम ठाम गढ विमान दरवाजा उचा असमान
षार्जेपीर कुवा जलषाई केसी सा रची हार गलाई । ८
नौवति सबद सदा वरदाई साहाजिहान तणी जिहा राई ।
अदलि नाम काहावें न्याई चोडी चाड नही दुष दाई ।। ९
दिन दुनि सवको मन भाई आरियण कोइ नही तीन ठाइ ।
तीन धन धमी जीण मोटा पाषडी नर दिसें छोटा ।।
नाना विघ मडप तिहा छाया नित्य नित्य उछव मगल माया ।। ११

दुहा

वावि सरोवर कूप जल पोहकरणी बोधाल । जलनिधि मोटा भालरा चोषडी चौसाल ।। १२
घरि घरि कलस सोहामणा तोरण घर घर वार । सषर वध प्रासाद पर धजा सुरग नीहार ।। १३

छद भुजगप्रिया

जिहा वाग वाडी बगीचे वणाए जिहा रग नाटिक गीत सुहाए ।
जिहा दिज दुनी पढे छत्र नीका जिहा वस्त्र अवार व्योपार टीका ।।१४

थावचा जेम जमालि उच्छव आगम वेण यथा कथिय ।
चोवीमे सापें इणी पर भापें धन कुप जिण अवतरीय ।।
रूपा गुरु पासे नव जण सजम चारित्त गाणी हथ आदरीय ।
जे जे जस बोले अमृत तोले दामोदर महिमा भिलीय ।।

दोहा

श्रीसदगुरू नी सेवा करें सीपे अर्थ विचार, छद तरक परवीण गुण व्याकरणादिक मार ।
चवदे विदा अविस बहोतर कला प्रधान, सोभागी महिमा निलो ग्यान दे रहे लीन ।।
सवत सोल सताणुवे आपाढे शनिवार, विघनादिक पदवी रची कीसनगढ सुविचार ।

छंद अडयल

तो रूपा गुरु सुन्दर धर्म धुरधर थाप्यो निज पटधार ।
दामोदर नीको दीधो टीको रूपां सवे गछ भार ।।
श्रावक महिमा सागर कलासागर वेणीदास उदार ।
उच्छव बहु किधा वछित सीधा भरिया पुन्य भडार ।।
महिमा जग भीतर आणदनि पर सघ सर्वे सिरदार ।
गछपति सुपकारी जग हितकारी दामोदर दिनकार ।।
व्रत पाच सिपावे सुमति चढावें दशविध धरम प्रकार ।
सतरे विध सयम तिर्थ जगम पचें पचाचार ।।
नौविध ब्रमचारी उग्रविहारी दूरें दोप अढार ।
सपति गुण पुरा तेज सनूरा निरदोपण आहार ।।
तिहु गुपतें पिवित्र मगह चित्रा त्यागें विपय विकार ।
मनथ मद धुरा सील सनुरा जिन सासन सिरदार ।।
क्रोधा विकथा टाले भव अजुवाले सोहै गुण छत्तीस ।
वारो तप तापन भावन भावन लक्षण अग बत्रीस ।।
मुनिवर वड प्रत्तमा द्वादश धर्मा धिन धिन तो पोहवीस
भवि जिन जे वदे ते चिर नदे पौहचै मन जगीस ।।
पावन पुरूपोत्तम पोहवी उत्तिम तरण तारण ससार ।
गोइम जिम ग्यानी मधुरा वाणी केसी गोयम तीर ।।
ठकर जस करणी पुन्यम भरणी समता रस भडार ।
रतना कुल मडण कुमति निपडण जगजीवन अणगार ।।

दोहा

जग तारण जग उद्धरण श्रीधनराज उजीर, मानु श्रीजिन वीर के गोतिम नाम सधीर ।
गछ नायक गुणवत नर अति सेवत मुणिंद, महिमा महियल विस्तरी जागें जोति जिणद ।।
ज्ञान जोति जगमग जगी वटालें कर्म्म ददुल । कुमति विडारण केहरी वालौं बोल अमोल ।

छद नाराचक

सुकाम धाम ईस वीस ग्यान ध्यान सोही ए ।
निरद इद भूप चद दुष विभ मोही ए ।।

१०

देवमुनि रचित

आचार्य तेजसिंह भास

ढाल चूनडी नी

शान्ति जिणेसर सुखकर प्रणमं अहनिसि पायो रे ।
श्रीगुरुना गुण गावता सुख संपति घर आयो रे ।
श्री तेजसिंह गुरु सेविये ।।१।।
इला मांहि अति शोभतो नगरां महि सिरदारो रे ।
साह कपमल तिहां वसें नगर पचेटीयो सारो रे ।।२।।
तस घर कसमा दे सति जायो सुत कुल चन्दो रे ।
दिन दिन अति शोभा करु तेजें करी दिणंदो रे ।।३।।
अनुक्रमें दीक्षा आदरी श्रीपूज्यजी ने पासो रे ।
व्याकरणादिक सहु भण्या आगम अरथ अभ्यासो रे ।।४।।
सूरति बहोरा वीरजी पद दीधो गुण पेखी रे ।
संघ सकल सेवें सदा अवर्ते भाव विशेषी रे ।।५।।
व्यवहार करता आवीयां सीरोही सुखदायो रे ।
चरण-कमल श्रीगुरु तणा प्रणम्यां पाप पुलायो रे ।।६।।
संवत-सतरै बैतालीसै सीरोही चौमासो रे ।
सकल मवनी वीनती देवमुनि कहे भासो रे ।।७।।

११

आचार्य श्रीतेजसिंह भास (अपूर्ण)

ढाल फागनी

श्रीपारस प्रणमुं मुदा हो माता गुण गज राय ।
श्रीपूज्य श्रीगुरु तेजसी हो नाम थयां सुख थाय ।।
धन्य धन्य श्रीगुरु तेजसी हो ।।१।।
छत्रपति मरुधर जाणिइ हो पचेटीयो पुर ठाम ।
उत्तम कुल सु रत हो कपमलसी शुभ नाम हो ।।२।।
तसु सुत श्रीतेजसिंहजी हो कसमादे प्रभु माय ।
लघु वयसें सजमि जिणि लीधो श्रीपूज्य केशव पाय ।।३।।
गंभायति चौमासें श्रीगुरु पूरें सघ मनि खाति ।
वचन कमल देखि हरषज पामें कोकिल मास वसंत ।।४।।
गौतमनी परि श्रीगुरु वांचें जिनवर वचन विचार ।
भवकों सुणीनें सघ करें हो धाम धियम तप सार ।।५।।

८

रवि मुनि रचित

आचार्य श्री केशवजी ऋषि भास

गुरु गुण गाईये रे श्री केशवजी गुणधार।
प्रबल प्रताप पुन्ये जेहनो सहु जाणइ ससार ।। गुरु गुण १ ।।
श्री जिनवर पाटि सुषकारी जिम सोहम गणधार।
तिम श्रीपूज्ये क्रमसीह पटोधर दुषहरण सुपकार ।। गु० २ ।।
सुमति गुपति गुण अगइ सोभित षट्जीवन हितकार।
कुमति मिथ्थात्व तिमिर दल चूरण नेम जाणइ दिनकार ।। गु० ३ ।।
सुरपत्य वाहण अरि कुण कहिये सामिनी तस भरतार।
मुष मडण वाधव मुत पेत्ती सा सोहइ मृषि सार ।। गु० ४ ।।
जिम जगती धरतीपते तिम गुरु गुण गभीर उदार।
सीहने ताकुले कीरतीकारी नवरग देउरे अवतार ।। गु० ५ ।।
जनपद माहि सोहइ जिम मरूधर जायतारणें जयकार।
सघ सवे दरसण इम वछइ कोईल जिम सहकार ।। गु० ६ ।।
जिहा लगी उडुपति दिनकर तिहा लगै प्रतपो श्रीगुरु सार।
मानू दास सेष गुण श्रीगुरुना रविमुनि कहइ अपार ।।७।।

९

राजसिह रचित

केशवजी भास (अपूर्ण)

श्री सूरती
श्री सूरति नयर सिणगार ।।५।।
वोहरा श्री वीरजी सघ सिरोमणि, पुण्यवत वहु परिवार।
श्रीपूज्यजी नो वचन विचारी, करिय पद महोछव सुविचार ।।६।।
अनुक्रमि गुरु विहार करता, गुजर मरुधर सार।
मेदपाट मालवनइ सोरठ, सिंघ सतोषी सुविचार ।।७।।
सूरति नगरि सिंघ सिरोमणि, वोहरा सुत बहु परिवार।
श्री सि सेवा करइ गुरु नी, दिन-दिन अधिक आणद ।।८।।
मन सुधइ सेवा करता सदा पामइ परमानन्द।
सेवा करइ सद् गुरु नी साह पुनसी गुण निवास ।।९।।
साह कर्मचन्द नी वीनती ए भास रचि अति उल्लास।
श्रीपूज्यजी केशवजी गुणागुर वहु गणा निवास।
तास सेवक राजसिंह इम जपइ आणी अगि उल्लाहास।
लि० ऋषि वस्तपाल। बाई मेघवा पठनार्थं।

संवत हैंताळे उल्लास समायति नयर चौमास हो ।
धनमुनि गुरु नामें भणतां सुख पाम हो गुरु० ॥७॥

संवत १७७१ में प्रतिलिपित एक गुटके में निम्न पद्य है जिसके लिपिकार आचार्य श्रीतेजसिंह के शिष्य केसजी हैं—

१४

सोरठ देश सिरोमणि आनंद आवत देश धको पटधारी ।
सब सकल जू मोती वधावत गावत गीत बड़ी बहु नारी ॥
वखांण सुणावत सब रिझावत दीपत देश तपे धुम तारी ।
कान्हजी कीरति चंद जू गावत पावत हैं सुख संपति प्यारी ॥

१५

आचार्य श्री तेजसिंह रचित

गुरु-गुणमाला भास

१

राग धन्यासी ढाल तु मेरे मन तु अभिनंदन देवा
राग रामकली ढाल अवर दे हो मुरारी ।
सके जिम वचननी सवम ते पाई
पोरवाड सिद्ध पाटण में ढका नामें लु का कहाई
सके जिन वचन नी सवम ते पाई ॥१॥
संवत पनर अट्ठावीस वडगच्छ सूत्र सिद्धान्त सिखाई ।
सिली परति दोई एक आप राखी एक दिये गुरु ने से थाई ॥२॥
वोम वरस सूत्र अर्थ सर्व समझी धर्म विध सब में बताई ।
ढके मूल मिथ्यात उथापी देव गुरु धर्म समझाई ॥३॥
भीसे धीर राशि ग्रह भस्म उतरतां जिम धीर कह्यो तिम थाई ।
उदे उदे पूजा जिनशासन नी ति दया धर्म दीपाई ॥४॥
इगतीसे मास्यात्री ए संजम लेई लु कागच्छे आदि अति थाई ।
लु कागच्छे नी उत्पति इम विधे कहे तेजसंघ समझाई ॥५॥
इति गच्छ संबंध भास

२

ढाल अवसर आज है रे भाई
लु कागच्छ आदि दया अधिकारी
भाणां भीदा नूम भीम जगमाल साथ सरवा सुविचारी ।
भगवत भाख्यो तिम सरव राख्या दया परम चित धारी ॥
केसी गौतम नी परि मिलिनें विचार्यो सुध आचारी ॥
विनयादिक विवेक सब विविध करो जिन वचन विचारी ॥
देश-देशना श्रावक समझाव्या दया सबे उग्रविहारी ।
संवत पनर पैंसठे लु काथी रिख बीदी विध प्यारी ॥

१२

रविमुनि रचित

आचार्य श्रीतेजसी भास

म्हारी सही रे समाणी, ए देशी

प्रथम नमी जिन पाय सुमति ना तो गुण गाउ गच्छपतिना रे ।
माहरो गुरु रे वैरागी श्रीतेजसिंहजी सुगण सुजाता तो । नाम लही सुखसाता रे माहरो ॥१॥
गुरु रे वैरागी अनइ रागी गुणना तो सुदर साध सोभागी रे माहरो, आकणी ।
वदन सोहइ जिम पुन्यमचद तो दीठा हो ए आनन्द रे माहरो ।
नयन कमल सम सोभाकारी तो सपदा सहु अति सारी रे ॥२॥
वाल-ब्रह्मचारी सदा सुखकारी तो श्रीपतिजी नो पट्टधारी रे मा० ।
सरस सुधारस सारसी वाणी तो सुणता रीझइ वहु प्राणी रे मा० ॥३॥
साह लखमण सुत वसुधा विख्याता तो करणी अधिक तुम्हारी रे मा० ॥४॥
तप सयम गुण अविको अगि तो सत्य सवेग धरइ रगी रे ।
नय निगमादिक न्याय विचारी तो आगम अरथ सुधारी रे ॥५॥
युगतिवत देखी वहु अन्य तो सहु को कहइ धन्य धन्य रे ।
सरस वखाण कला जन पेखी तो प्रसरइ गुरजीनी निरखी रे ॥६॥
पार न पामु हु गुण प्रभुजीना तो गुण अनन्त गुरुजीना रे ।
सुदर सुरति नयर सुहावइ तो रविमुनि तुम्ह गुण गावइ रे ॥७॥
॥ इति भास समाप्त ॥
लेखन काल स० १७३२ पोप वदी १ रविवार ।

१३

देवमुनि रचित

आचार्य श्री कानजी भास

ढाल बिदलानी

प्रथम नमु जिन पाय गुण गावु तास पसाय हो ।
गुरु नें भापणडें श्रीपूज्यना, पटधार नामे कांहन उदार हो गुरु० ॥१॥
मरुधर देश मझार नडुलाई नयर सिरदार हो गु० ।
कचरा तात सुखदाई जगीसा गुरुजी नी माई हो गुरु० ॥२॥
बाल पणे व्रत, लीधो श्रीपूज्यजी निज कर दीद्धो हो गुरु० ।
सिद्धान्त भण्या न्याय सार व्याकरण काव्य विचार हो गुरु० ॥३॥
सूरत नयर पद दीधो पूरवली पैरे कीधो हो गुरु० ।
वरसघ वरसघ दीठो वरसघ जम्मवत कीद्धो हो गुरु० ॥४॥
श्रीपूज्यजी एम विचारी कीद्धा निज पटधारी हो गुरु० ।
अविचल जोडी जग माहि जेहनें वाद्या अति सुख थाय हो गुरु० ॥५॥
सघनी विनती जाणी श्रीपूज्यजी चित्तमा आणी हो गुरु० ।
खंबावती नयरे आया सकल सघ सुख पाया हो गुरु० ॥६॥

विजामति तिणें नाम कहायो जाणो सुजाण विचारी ।
साध-साधवी सहस्र दोय सख्या, श्रावक वहु धनधारी ।।
अठतीस वर्ष इणि परि विचर्या पछे रूपऋषि थया गणधारी ।

३

रूप ऋषि भास

राग धन्यासी तथा सोरठ

ढाल रावण रे तोकु कवण मति आई,
रूपा ऋषि मरवण नो सिणगारी,
देवो पिता मात मिरधाई जाया पनर त्रयाले सुखकारी । रूपा० ।
पनर अठसठ माही पून्यम स्वयमेव सजमधारी ।।
मोदिक पात्र सासूए मूक्यो गच्छ वधेज सुकन विचारी ।
तिण समे सहु माघ-साधवी श्रावक वहु धनधारी ।।
पद देई पाटण गछ थाप्यो जिनशासन जयकारी ।
पनर अठ्योत्तरें जीवजी ने सजम पद दे किया पटधारी ।।
सात वरस गणि साये विचर्या समझाव्या वहु नरनारी ।
महा पन्नवणा उदे ग्रथ माहे आगम कह्यो ते उदारी ।।
रूपा जीवाना भेद आचरिया थया तेजउ विचारी ।
चोरासी गच्छ माहे केई गछना थया उग्र विहारी ।।
ज्ञान ध्यान तप तेहनो देखी थिर थया श्रावक तिण वारी ।
लुंका नागोरी पनरसें अमीइ जूदा थया नागोर मझारी ।।
हीरो आचार्य थयो तेणि चौदस पाखीमा निवारी ।
उतराध देसे गछ उतराधी ते जूदा थया तेण वारी ।।
साथ सरवानो परिवार सघलो लुका विरुद नामधारी ।
पनर पच्यासीए रूपऋष अणसण दिन पचवीस चउविहारी ।।
अणसणमा उदोत कियो देवे सातवार जाणे ते ससारी ।
पचवीस ग्रीहावास वर्ष वली सतरे साध सजमपदधारी ।।
वरस सर्व आयु पाली थया देव स्वर्ग मझारी ।।

४

जीवजी भास

राग धन्यासी, काफी,

जीव ऋषि सासन उदयो दिणदा जीव ऋषि जिणदा ।
पनर पच्यासे कपूराई जनम्या दोषी तेजपाल फूलचद ।। जीव० १ ।।
अठसठ माह सुदि पचमी दिवसे सजम मन मानदा ।
तिणे समे रूपऋषि पदवी देता धन विलस्या लाख लेखता जी ।। जीव० २ ।।
विहार कर्यो जीवजीए जिण देशै समझाव्या नर-नारिंदा ।
सोल बारोत्तर वैशाख सुदि सातम, जीवें वरसघ ने पद देही ।। जीव ० ३ ।।

सोलछके सजम ले विचरिइ, सत्तावीसें गणि पद लीजें।
विचरता वर्ष साठे चिंतव्यो कौन हिवे पद थापीजें ॥ वर० २ ॥

रात्रे देव सुपन माहे कहियो पर्वत सुत पद दीजें।
अगुणपचासै जसवतजीनें दीक्षा दे पद ठवीजें ॥ वर० ३ ॥

वार वरस भाभेरा गणी वे विचर्या ने हव दीजें ।
सोले बासठे माहि पुन्य जे अणसण अगि आदरीजे ॥ वर० ४ ॥

सोल गृहवास सोल वर्ष सजम पेंत्रीस पद पालीजे।
बोहोत्तेर वर्षनो आयु पाली पाम्या स्वर्ग सहीजें ॥ वर० ५ ॥

७

आचार्य जसवंतजी-भास

राग धन्यासी, नट
ढाल पीया तेरे अखिया उपर वारी,

जसवंतजीइ जग माहे जश पायो,
चौरासी गछ माहे जस चावो सगले देस सवायो ॥ जस० १ ॥

पर्वत पिता सहोदर माता सोलें चोत्रीसे जायो।
उगणपचासे सयम लेई पद त्रीग्मी दिने आयो ॥ जस० २ ॥

सोल अठ्यासीए मगसिर पुन्यम रूपसाहजी ने पद ठायो ।
मिगसिर वदि बीज बुद्धे अणसण, आराधी देव पद पायो ॥ जस० ३ ॥

सोल गृहावास वर्ष अठत्रीस नें सजम पद धरायो।
चोपन वरस सर्वे आयु पाल्यौ गणि तेजसघ गुण गायो ॥ जस० ४ ॥

८

रूपसाह भास

राग धन्यासी, सारग,
ढाल रे वनचर कौन देश थैं आयौ

जसवतजी पाट पर रूपसाह नीको,
जसनो जिहाज जाणी जसवतजी दियो आचार्य पद टीको ॥ जस० १ ॥

पिथड पिता कनकाई जनमो सोले अठाणवे कीको ।
सजम पच्योत्तरे सोल अठ्यासी धणी थयो गणि पदवीको ॥ जस० २ ॥

सोल छन्नुइ अणसण कीधो पच्चख्खाण भात पाणीको।
दामोदर ने पद देई देव पद पाम्या जग माहे जस जाको ॥ जस० ३ ॥

सतर गृहावासइ इकवीस सजम सात वर्ष आयु पदवीको।
अठवीस वर्षनो आयु जाणी कहे तेजसिंह रूपसाह को ॥ जस० ४ ॥

सघ वदावता धर्मनो महिमा गुरुभाई सु सतोष थयाथी ।
गणि तेगसिंघनें सुगुरु प्रसादें सरव सपति सुख सयाथी ।। हमारे० ३ ।।
पूरवे पचपाट विद्ध जाणी विचार्या मन नी मयाथी ।
कानजी मे पौतासम कीधो गणि तेजसिंघ पासे रह्याथी ।। हमारे ४ ।।
स वत सतर त्रैंतालीसै स'वच्छर चौमासो सूरति थयाथी ।
दिन-दिन दौलति अधिकी दीसै दुसमन दोप गया थी ।। हमारे ५ ।।

कलशलौ

लु'कागच्छ उतपति कही ते सत्य सघ सेवे साभलौ सही ।
वली साध सारा गुण भडारा थया पटनाम ते कही ।।
वली वाट पाटोघर धरम धुरधर गाम नामे सवे कह्या ।
तेहना पोच कल्याणक माता पिता नाम जाणी परम्पराए लह्या ।।
स वत सतर एकावनां सवछर दीवनगर चोमासए ।
ए भण गुणे जे कहे गणि तेजसिंघ तस घर सपति सुखवासए ।।
इति श्रीगुरु-गुणमाला भास सम्पूर्ण ।। सर्वगाथा ६६ ।।

इस प्रति मे अतिम एक और सामूहिक गीत है जो इस प्रकार है—

राग देशाख

लवधवत लु का सही श्रावक समझाव्या ।
सिद्धान्त वचन सुणाविनें मिथ्यात मुकाया ।। ल० १ ।।
असयत पूजन उथापिनें दया धर्म दीपाव्या ।
साते आतरैं जिम जिणे मिथ्यात मिटाया ।। ल० २ ।।
भाण भीम दनु भीमजी जगमल मुनि सरवा ।
रूपऋषि सजम लियो भवसायर तरवा ।।ल० ३ ।।
तस पाटे जीवऋषि थया पाटे वरस'घ जाणे ।
वरसघ तस पाट वली माने सहु सघ आण ।।ल० ४ ।।
जसवत रूप दामोदरू कर्मसिंह कुल भाण ।
तस पाट केशव गणि तेज अधिके वान ।। ल० ५ ।।

इन ऐतिहासिक स्फुट गीतो के अतिरिक्त भी स्वामी श्रीजेठमलजी द्वारा अहमदावाद के किसी अग्रेज उच्च अधिकारी को प्रेषित पत्र प्राप्त है पर स्थानाभाव के कारण उसे अविकल रूप से उदृत करना सभव नही

अन्त मे लोकाशाह के अनुगामियो से निवेदन करना चाहूँगा कि वे इतस्तत विश्रृखलित महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर अपने पूरे इतिवृत्त के प्रकाशन पर ध्यान दें मेरा विश्वास है यदि ऐसा किया गया तो अनेक मूल्यवान् नव्य और भव्य तथ्य प्रकाश मे आने की पूर्ण सभावना है

दर्शन और धर्म

द्वितीय अध्याय

पक्षपातता था जीवन के मर्म और सार्थकता को अधिक जानता था और अपने अन्तिम और एक मात्र लक्ष्य पर सीधा चलने का प्रयत्न करता था इस युग में जैनधर्म—जो एक चिर-तन ज्योति के समान प्राणी-मात्र के पथ को आलोकित करता है—के अनुयायी करोड़ों की संख्या में थे इतिहास उलटने पर ऐतिहासिक तथ्यों और अनुसंधानों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि मौर्य-सम्राट् चन्द्रगुप्त और सम्प्रति महाराजा के शासनकाल में जैनियों की संख्या २ करोड़ से अधिक थी मि फरग्युसन (Ferguson) ने लिखा है कि भारत भर में जैन संस्कृति के स्मारक स्थान-स्थान पर बिखरे पड़े हैं किसी स्थान पर एक चिह्न बना कर यदि हम खोज करें तो चार कोस के घेरे में हमें जैन संस्कृति का कोई न कोई स्मारक अवश्य उपलब्ध होगा श्रीगंगानाथ बेनर्जी की मान्यता के अनुसार भी ईस्वी पूर्व की सदियों में जैनों की संख्या करोड़ों तक पहुंचती थी

तात्पर्य केवल इतना ही है कि किसी भी धर्म अथवा दर्शन की सत्यता और श्रेष्ठता की परीक्षा करने का यह तरीका नहीं कि उसके अनुयायियों की संख्या की गिनती की जाय उसकी श्रेष्ठता उसमें प्रतिपादित किये गये उन तत्त्वों में निहित होती है जो मनुष्य को अपने जीवन की उच्च भूमिका पर पहुँचने के लिए प्रेरित करते हैं जैन दर्शन के उन विश्वप्रसिद्ध सिद्धान्तों का जिनके अनुसरण और पालनसे मात्र पग-पग पर आशंका युद्ध और विनाश से संत्रस्त मानवता सुरक्षित हो सकती है का विचार हम आगे करेंगे जैसा कि हमने पहले कहा मनुष्य-स्वभाव सरलता को पकड़ने की कोशिश करता है और कठिनाई से बचना चाहता है सत्य का मार्ग इतना सरल ही होता तो फिर कठिनाई शेष क्या रहती ? और यदि गम्भीरता से विचार किया जाए तो कठिनाई जो हमें मालूम पड़ती है वह हमारी कमजोरी में से आई है हम ज्ञान से अज्ञान की ओर चलें प्रकाश से अन्धकार की ओर बढ़ें और मार्ग में ठोकरें खाकर रुक जाएँ तो वह हमारी ही नासमझी है हमारा ही अज्ञान है

आइये हम अज्ञान से ज्ञान की ओर चलें अन्धकार से प्रकाश की ओर बढ़ें— जैनदर्शन के आलोक-लोक में अपने अंधकारग्रसित नेत्र खोलें जैनदर्शन की ज्ञानाञ्जन-शलाका से अपनी 'अज्ञानतिमिरान्ध' आँखें उन्मीलित करें

धर्म और दर्शन

धर्म और दर्शन परस्पर इतने सम्बन्धित हैं कि यदि उन्हें एक ही वस्तु मान लिया जाए तब भी अनुचित नहीं होगा धर्म का सम्बन्ध आचार से है और यह एक स्पष्ट बात है कि आचार और विचार का बहुत ही प्रगाढ़ संबंध है अच्छे विचारों के बिना अच्छे आचरण की आशा नहीं की जा सकती और अच्छे आचरण के बिना अच्छे विचारों का मन में उठना असंभव है आचार और विचार परस्पर एक दूसरे को शक्ति देते हुए चलते हैं। यदि कोई मनुष्य निरन्तर अच्छा आचरण रखता है तो उसकी विचारधारा भी धीरे-धीरे शुद्ध होती चलती है और इसी तरह यदि कोई मनुष्य निरन्तर अच्छे विचार रखता है तो उसका आचरण भी यदि वह शुद्ध नहीं है तो धीरे-धीरे शुद्ध और अच्छा होता जाता है

यहाँ हमें दर्शन की आवश्यकता और उपयोगिता का अनुभव होता है हमें यह विचार करना आवश्यक है कि अच्छा आचरण किसे कहें ? प्रत्येक व्यक्ति को अपने ही मनोनुकूल जैसा भी आचरण अच्छा लगे वही 'अच्छा' हो यह आवश्यक नहीं ऐसा हो तो मनुष्य अपनी वृत्तियों और इन्द्रियों को अच्छा लगने वाला प्रत्येक आचरण अच्छा समझ कर व्यवहार करने लग और परिणामत समाज म एक उच्छृङ्खलता व्याप्त हो जाय अत हमें इस परिणाम पर आना ही होगा कि अच्छा वह है जो सत्य हो और सत्य क्या है इसका निर्णय करने के लिये हमें एक निश्चित और व्यवस्थित दर्शन की आवश्यकता है

अब जो प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होता है वह यह कि वह कौन-सा दर्शन है जिसका आश्रय लेकर हम सही मार्ग पर आगे बढ़ सकते हैं ?

यों तो संसार म जितने भी दर्शन हैं सभी मनुष्य को सुविचार प्रदान करते हैं किन्तु जैन दार्शनिकों ने इस विश्व को अनेकान्तवाद नाम से जो दर्शन भेंट किया है उसकी समता कोई अन्य दर्शन नहीं कर सकता क्योंकि यह दर्शन एक

श्री ज्ञान भारिल्ल, एम० ए०

अनन्य और अपराजेय जैनदर्शन

जैनदर्शन इस विश्व मे आज तक प्रचलित और प्रतिपादित हुए समस्त दर्शनो मे अद्भुत, अनन्य और अपराजेय है. इस ससार का वह सर्वश्रेष्ठ दर्शन है इस कथन की सत्यता उन सुधी और धैर्यवान् पाठको के समक्ष स्पष्ट हुए विना नहीं रह सकती जो वास्तव मे सत्य के अन्वेषी है और जो तटस्थ भाव से, किसी भी पूर्वाग्रह से रहित होकर जैनदर्शन के विषय मे जानना चाहते हैं इससे पूर्व कि हम इस निवन्ध मे जैनदर्शन की उन विशेषताओ पर विचार करे जो अन्य किसी भी दर्शन मे हमे देखने को नही मिलती, इतना स्पष्ट कर देना अनिवार्य है कि हमारी इस विचारणा के पीछे शुद्ध सत्य और वास्तविकता के ज्ञान की भावना ही है, किसी अन्य धर्म के प्रति उपेक्षा या ईर्ष्या का लेश मात्र भी नही है एक-एक तथ्य जो इस निवन्ध मे प्रस्तुत किया जा रहा है, उसे देख कर पाठक स्वय भी ऐसा ही अनुभव करेंगे— ऐसा हमारा विश्वास है

कभी-कभी एक विचित्र प्रश्न पूछा जाता है यदि जैनदर्शन ऐसा श्रेष्ठ है, इतना सम्पूर्ण दर्शन है, तो फिर उसका अनुसरण करनेवाले व्यक्तियो की सख्या इतनी कम क्यो है ? इस प्रश्न का उत्तर सीधा और स्पष्ट है मनुष्य का स्वभाव है कि वह कठिनाई से वचना चाहता है और सरल मार्ग पर चल निकलना है आज के इस स्व-केन्द्रित भौतिक युग मे तो यह प्रवृत्ति अपने चरम-विन्दु पर है आज का भौतिकवादी मनुष्य-समाज अपने लिए और इस ससार के इस जीवन के लिए सारी सुख-सुविधाएँ वटोर लेना चाहता है और उसमे अपने जीवन की चरम सार्थकता समझता है, जब कि जैनदर्शन, स्वार्थ से परे परमार्थ और सत्य की ओर दृष्टि रखता है, मनुष्य को त्याग के मार्ग की ओर सकेत करता है और भौतिक नही, आध्यात्मिक सुख प्रदान करने का मार्ग है यही कारण है कि आज जैनदर्शन के अनुयायियो की और जैनदर्शन को समझने और स्वीकार करनेवालो की सख्या न केवल कम है, वल्कि प्रतिदिन कम होती जा रही है यह असमर्थता, अयोग्यता और दुर्भाग्य आज के भौतिकवादी मनुष्य का है,—दर्शन अथवा धर्म की स्थिति इससे परिवर्तित नही होती वल्कि इससे यही प्रमाणित होता है कि यह दर्शन कोई काम चलाऊ दर्शन नही, हमारे सासारिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए ओढ ली गई कोई वनावटी नकाव नही—यह वह ठोस, दृढ और अचल आधार है जिसके सहारे आगे वढकर और ऊपर चढकर हम अपने वास्तविक और अन्तिम लक्ष्य—आध्यात्मिक विकास और सम्पूर्ण आत्मविशुद्धि तक पहुँच सकते हैं

और यह चित्र तो आज की स्थिति का है, जव कि मनुष्य विगत कुछ शताब्दियो से धीरे-धीरे किन्तु स्पष्ट रूप से अवनति की ओर वढा है, जहाँ तक मानवोचित गुणो का सम्वन्ध है विज्ञान और सभ्यता (जिसे आज सभ्यता कहा जाता है, की दृष्टि से वह चाहे स्वय को आगे वढा समझे, किंतु मानवता के जो महान् और स्वाभाविक और स्थायी गुण है उनकी दृष्टि से आज के युग का मानव पीछे की ओर ही चला है, कमजोर और अयोग्य ही हुआ है लेकिन वह भी युग था जव मनुष्य भौतिक स्वार्थों मे इस तरह और इतना लिप्त नही था और तव वह अपनी आत्मा को आज से अधिक

जैनदर्शन की विशिष्टता और श्रेष्ठता उसके दर्शन उसके तत्त्वज्ञान में निहित है. जैनदर्शन का यह विशिष्ट और सर्वोच्च सिद्धान्त अनेकान्तवाद है. अनेकान्तवाद की एक विशिष्ट महत्त्वपूर्ण तथा प्रमाणयुक्त पद्धति है. संसार के जितने भी विद्वान् इस तर्कपद्धति के परिचय में आते हैं वे सभी इस पर मुग्ध हो जाते हैं. हर्मन जेकोबी डा० स्टीनकोनो डा० टेसीटोरी डा० पारोल्ड बर्नार्ड शा जैसे कोटी के पाश्चात्य विद्वानों ने इस दर्शन और इस तर्कपद्धति की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है.

अनेकान्त के विषय में हम आगे विस्तार से विचार करेंगे. यहाँ हमें इतना ही कहना अभीष्ट है कि जैनदार्शनिकों ने प्रत्येक वस्तु का एक स्थान पर अनेक दृष्टियों से निरीक्षण करने की अपनी अद्वितीय पद्धति से न केवल अपने ही दर्शन को किन्तु संसार के सभी दर्शनों की छानबीन की है और यह सिद्ध किया है कि ये सारे दर्शन केवल एक ही अन्त (एकान्त) पर आधारित हैं. अलग-अलग दृष्टिबिन्दुओं पर विचार किये बिना ही सिर्फ एक ही ओर से विचार करके इन दर्शनों की रचना की गई है. जैनदार्शनिकों ने यह सिद्ध किया है कि जैनदर्शन सातों नयों (जिन्हें सात अन्त अथवा सात छोर कहा जा सकता है) पर आधारित है. इसलिए सम्पूर्ण और अविचल है. जबकि शेष मुख्य-मुख्य दर्शन एक ही अन्त अथवा छोर पर आधारित हैं. इसलिए अपूर्ण और ऐकान्तिक हैं. हम यहाँ पर उल्लेख करना उचित और संगत समझते हैं कि भिन्न-भिन्न दर्शन किस किस एक-एक नय पर रचित हैं. यथा—

(१) अद्वैत वेदान्त और सांख्य संग्रह नय पर आधारित हैं.

(२) नैयायिक और वैशेषिकदर्शन नैगम नय पर आधारित हैं.

(३) चार्वाकमत सिर्फ व्यवहार नय पर आधारित है.

(४) बौद्धमत ऋजुसूत्र नय पर आधारित है.

(५) मीमांसक मत शब्द नय पर निर्भर है.

(६) वैयाकरणदर्शन समभिरूढनय का आधार लेकर चलता है.

(७) इनके अतिरिक्त अन्य कई Extremist (उद्दाम) तत्त्वज्ञान हैं जो सब एवंभूत नय के अनुसार चलते हैं.

उपरोक्त स्थिति को देखते हुए जैनदर्शन हमें एक महासमुद्र की भांति प्रतीत होता है जो इन सातों नयों को अपने में समाहित किए हुए है.

आइये अब हम अनेकान्तवाद के विषय में कुछ विचार करें जिसकी समातन शक्ति के बल पर जैनदर्शन संसार का सर्वश्रेष्ठ और विभिन्नमी दर्शन माना जाता है.

अनेकान्तवाद और स्याद्वाद

अनेकान्त शब्द का यदि हम विग्रह करें तो हमें उसमें तीन शब्द मिलते हैं—अन्+एक+अन्त. अर्थात् जिसका एक अन्त नहीं—जिसमें अनेक अन्त हैं—वह अनेकान्त. किसी भी वस्तु के विषय में निर्णय करने से पूर्व हमें उसके अलग अलग पहलुओं तथा उसकी विभिन्न सीमाओं को अपनी दृष्टि में रखना चाहिये. ऐसा करने पर जो निश्चय हम करेंगे उसमें हमें वस्तु का सच्चा स्वरूप जानने को मिलेगा. यह सुनहरी शिक्षा हमें अनेकान्तवाद देता है. श्री सिद्धसेन दिवाकर ने कहा है—

> जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा न निव्वडइ
> तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स ॥

भावार्थ—जिसके बिना लोकव्यवहार भी सर्वथा नहीं चलता. उस भुवन के श्रेष्ठ गुरु अनेकान्तवाद को नमस्कार हो.[१] जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान् डा० थामसन ने कहा है कि—Jain logic is very high. The place of syadvad

---

१. स्मर्ण १३

ऐसी पद्धति से युक्त है जो मनुष्य को किसी भी वस्तु के विषय मे भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणो से विचार करने की समझ प्रदान करता है

आज पश्चिम भौतिकवादी हो चुका है भौतिक सुख और विकास ही उसका लक्ष्य है उसका दर्शन भौतिक एव सासारिक सुखो के चारो ओर ही घूमता है परिणामत पश्चिम के देश दर्शन के पूर्ण विकास से बहुत ही दूर पडे हुए हैं जबकि भारत मे धर्म तथा दर्शन भौतिक विकास या सुख के साधन न माने जाकर आत्म-विकास के साधन माने गए है प्रकृति की कोई साकेतिक लीला ही समझा जा सकता है कि दुनिया भर के सभी धर्मों का उद्भवस्थान एशिया खण्ड ही रहा है हिन्दूधर्म, जैनधर्म, बौद्धधर्म, ईसाई धर्म, और इस्लाम धर्म—ये पाचो धर्म आज के विश्व के मुख्य धर्म हैं इनमे से ससार ने जैन, बौद्ध और हिन्दू-धर्म को तो भारत मे विकसित होते देखा है जब कि इस्लाम और ईसाई धर्म भी एशिया से ही अस्तित्व मे आए हैं[1]

इस्लाम, ईसाई और बौद्ध धर्म तो पिछले दो ढाई हजार वर्ष से ही अस्तित्व मे आए हैं इसे सारा ससार जानता है शेष रहते है हिन्दू तथा जैनधर्म इन दोनो के अनुयायी अपने-अपने धर्म को अनादिकालीन होने का दावा करते हैं हमे इस निबन्ध मे इस चर्चा मे नही पडना है कि कौन-सा धर्म प्राचीन या अनादि है और कौन-सा अपेक्षाकृत नया. और किसी भी धर्म अथवा दर्शन की श्रेष्ठता केवल इस बात पर निर्भर नही करती कि वह कितना पुराना है ठीक वैसे ही जैसे कि वह अपने अनुयायियो की सख्या पर भी निर्भर नही करती किन्तु यदि हम खोज करें तो यह प्रकट होता है कि वेदो और भागवत आदि ग्रथो मे, जो कि हिन्दू धर्मशास्त्रो मे अधिक से अधिक प्राचीन माने गए है, जैनो के वर्तमान तीर्थंकरचौवीसी के पहले तीर्थंकर श्रीऋषभदेव के सम्बन्ध में उल्लेख मिलते है इससे सहज ही यह सिद्ध होता है कि इन दोनो धर्मों मे भी जैन धर्म ही अधिक प्राचीन है ऐतिहासिक प्रमाणो द्वारा सिद्ध इस बात को अनेक पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानो ने स्वीकार किया है जैन अनुश्रुति के अनुसार भगवान् महावीर ने किसी नये तत्त्वदर्शन का प्रचार नही किया है पार्श्वनाथ के तत्त्वज्ञान से उनका कोई मतभेद नही किन्तु जैन अनुश्रुति इससे भी आगे जाती है उसके अनुसार श्रीकृष्ण के समकालीन तीर्थंकर अरिष्टनेमि की परम्परा को ही पार्श्वनाथ ने ग्रहण किया था और स्वय अरिष्टनेमि ने प्रागैतिहासिक काल मे होने वाले नमिनाथ से इस प्रकार यह अनुश्रुति हमे ऋषभदेव, जो भरत चक्रवर्ती के पिता थे, तक पहुँचा देती है इसके अनुसार तो वर्तमान वेद से लेकर उपनिषद् पर्यन्त सम्पूर्ण साहित्य का मूल स्रोत ऋषभदेव द्वारा प्रणीत जैनतत्त्वविचार ही है[2]

जहाँ तक दर्शन का प्रश्न है, हिन्दू-धर्म में उसकी अनेक शाखाएँ है और हिन्दू दार्शनिको मे हिन्दू-दर्शन के सिद्धान्तो के सम्बन्ध मे मतभेद है वेदान्त, नैयायिक, वैशेषिक, साख्य, योग, मीमासा, चार्वाक आदि—ये भिन्न-भिन्न शाखाएँ हिन्दू धर्म मे हैं इसके अतिरिक्त वेदान्त मे अद्वैत और विशिष्टाद्वैत आदि भी अनेक उपशाखाएँ है वैदिकधर्मसम्मत चौवीस अवतारो मे आद्य जैनतीर्थकर ऋषभनाथ और बौद्धधर्मप्रणेता बुद्ध भी सम्मिलित किये गये है इन सब बातो पर विचार करने से ऐसा लगने लगता है कि वैदिकधर्म कोई एक धर्म ही नही है

किन्तु इन सब मे एक मात्र जैनदर्शन ही एक ऐसा दर्शन है जिसमे स्थिरता, एकता, और मूलभूत दृढता विद्यमान है. इस दर्शन मे तत्त्वाश्रित शाखाएँ अथवा उपमार्ग नही है धर्माचरण की दृष्टि से जैनधर्म मे दिगम्बर, श्वेताम्बर स्थानकवासी आदि शाखाएँ है किन्तु दर्शन की भूमिका पर ये सभी शाखाएँ एक हैं और एकमत ही है हजारो वर्षों पूर्व, नही, अनादि काल से जैन तीर्थंकरो ने ठोस सिद्धान्त ससार के समक्ष रखे है वे आज भी ज्यो के त्यो मौजूद है स्पष्ट है कि ऐसा होने का कोई विशेष कारण भी होना चाहिये यही कारण जैनदर्शन की विशिष्टता है

केवल प्राचीनता की दृष्टि से जैनदर्शन की विशिष्टता का दावा नही किया गया है यह निवेदन हम पूर्व कर चुके है.

---

१ अनेकान्त व स्याद्वाद—स्व० चन्दुलाल शाह

२ न्यायावतार वार्तिकवृत्ति (प्रस्तावना)
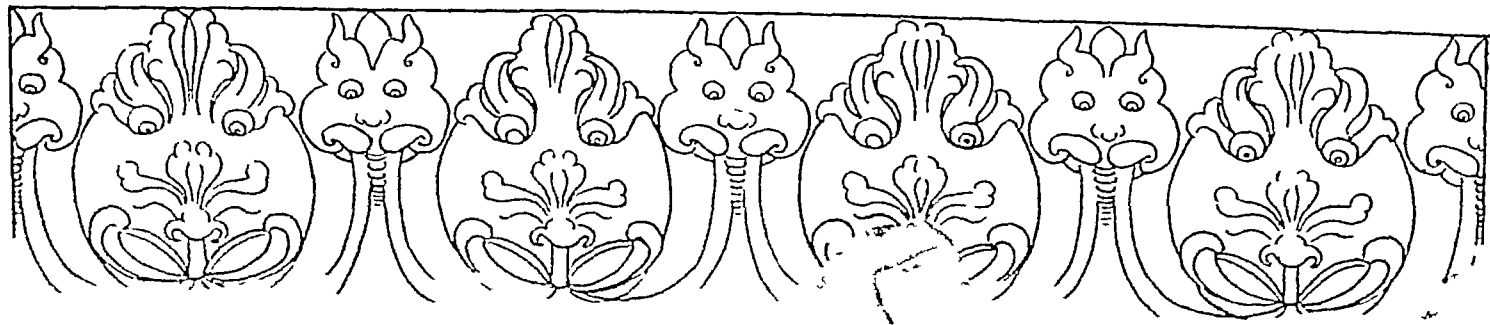
आवश्यक है इस पद का अर्थ ठीक नहीं समझ कर संसार के बड़े-बड़े विद्वानों ने भूल की है और परिणामतः स्याद्वाद को संशयवाद अथवा विवर्तवाद कहा है जैन ग्रन्थों में अनेक ऐसे विवेचन है जो इस पद का सही रहस्य अथवा अर्थ बताते है फिर भी यह भ्रान्तिपूर्ण परम्परा अब तक चली आ रही है

जो शब्द जिस अर्थ मे प्रयुक्त हुआ हो उसी अर्थ में उसे ग्रहण किया जाना चाहिए अन्यथा यदि अर्थ का अनर्थ हो तो उसमे क्या आश्चर्य है ? भाषा के अनुसार स्यात् शब्द का अर्थ भले ही 'सम्भवत अथवा कदाचित होता हो किन्तु यहाँ पर 'स्यात् शब्द इस अर्थ मे प्रयुक्त नहीं हुआ है इसका प्रयोग कथचित् अर्थात् 'विशिष्ट अपेक्षा से' इस अर्थ मे हुआ है इस तरह मे जब हम स्यात् अस्ति घट अथवा स्यात् नास्ति घट कहते है तब उसका यह अर्थ नहीं होता कि सम्भव है यहाँ घडा है अथवा सम्भव है यहाँ घडा नहीं है किन्तु इसका अर्थ होता है 'कथचित् अर्थात् 'किसी विशिष्ट अपेक्षा से' यह घडा है और कथचित्—किसी विशिष्ट अपेक्षा से यह घडा नहीं है अस्तु, स्यात् पद किसी प्रकार सशय अथवा सम्भावना प्रकट करने के लिए नहीं अपितु एक निश्चित अपेक्षा का दृष्टिकोण प्रकट करने के लिये प्रयुक्त किया गया है

अंग्रेजी भाषा में स्यात् पद का अर्थ (It may be perhaps perchance) इस प्रकार किया जाता है जो कि सर्वथा गलत है सगत और सही अर्थ है—(Under certain circumstances) अत जहाँ स्यात् अस्ति और स्यात् नास्ति ऐसे पद कहे गए हो वहाँ (Perhaps it is Perhaps it is not) ऐसा गलत अर्थ करने के स्थान पर (Under certain circumstances it is) तथा (Under certain circumstances it is not) ऐसा अर्थ करना चाहिए सर मोनियर विलियम्स की विश्वविख्यात सस्कृत इगलिश डिक्शनरी में यह अर्थ दिया हुआ है[1] फिर भी हम यदि इसका अर्थ (Regarding certain aspects) अर्थात् अमुक अपेक्षा से कर तो वह अधिक व्यावहारिक होगा

आचार्य मल्लिषेण ने स्याद्वादमजरी मे स्पष्ट कहा है कि 'स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकम्' अर्थात् स्यात् अव्यय अनेकान्त का द्योतक है[2]

उपरोक्त विवेचन से इतना तो अब हम समझ ही चुके है कि किसी भी एक वस्तु को किसी एक ही पक्ष से देखकर उसके स्वरूप के सम्बन्ध म निर्णय करना एकान्त निर्णय है और इसीलिये वह गलत है अनेकान्तवाद हमे यही शिक्षा देता है कि किसी भी विषय का निर्णय करने से पहले उसके हर पहलू की जाच करना चाहिए

किन्तु इतना ही समझ लेना पर्याप्त नहीं है कि वस्तु के अनेक पक्ष अनेक अन्त होते है हमे यह भी जानना चाहिए कि प्रत्येक वस्तु में आपस मे विरोधी अनन्त-गुण-धर्मात्मक अनेक प्रकार की विविधताए भरी हुई है इस दृष्टि से जैन दार्शनिको का कहना है कि जो वस्तु तत्त्वस्वरूप है वह अतत्त्व रूप भी है जो वस्तु सत् है वह असत् भी है, जो एक है वह अनेक भी है जो नित्य है वह अनित्य भी है इस प्रकार हर एक वस्तु परस्पर विरोधी गुण धर्मों से भरी हुई है

इस महत्त्वपूर्ण बात को ठीक तरह से समझ लेने पर ही हम अनेकान्त अथवा स्याद्वाद के सही अर्थ को समझ सकते है स्वाभाविक रूप से यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि 'जो सत् है वही असत् कैसे हो सकता है ?

सामान्य दृष्टि से देखने पर हमें प्रतीत हो सकता है कि यह विरोधाभास इतना प्रबल है कि इसे देखने से जैन दार्शनिको द्वारा कही गई बात में सशय ही उठता है किन्तु वास्तव मे ऐसी बात नहीं है जैन दार्शनिकों ने अनेकान्तवाद की दृष्टि से अनेक भिन्न-भिन्न दृष्टिबिन्दुओ तथा विचारधाराओ का एक साथ विचार करने के बाद ही यह

---

१ पृष्ठ १२०३
जैनधर्मसार—२२ कनुभाव राव

२ पाचव श्लोक की व्याख्या

in it is very important It throns a fine light upon the various conditions & states of the things

(न्यायशास्त्र मे जैनन्याय अति उच्च है उसमे स्याद्वाद का स्थान अति गम्भीर है. वस्तुओ की भिन्न-भिन्न परिस्थितियो पर वह सुन्दर प्रकाश डालता है)

महामहोपाध्याय रामशास्त्री ने कहा है—'स्याद्वाद जैनधर्म का अभेद्य किला है उसमे प्रतिवादियो के मायामय गोले प्रवेश नही कर सकते हैं "

प० हसराज शर्मा कहते है—"अनेकान्तवाद-स्याद्वाद अनुभवसिद्ध स्वाभाविक और परिपूर्ण सिद्धान्त है "

महात्मा गाधी स्याद्वाद के विषय मे कहते है—"अनेकान्तवाद (स्याद्वाद) मुझे बहुत प्रिय है उसमे मैंने मुसलमानो की दृष्टि से उनका, ईसाइयों की दृष्टि से उनका, इस प्रकार अन्य सभी का विचार करना सीखा मेरे विचारो को या कार्य को कोई गलत मानता तब मुझे उसकी अज्ञानता पर पहले क्रोध आता था अब मैं उनका दृष्टिबिन्दु उनकी आँखो से देख सकता हूँ, क्योंकि मैं जगत् के प्रेम का भूखा हूँ अनेकान्तवाद का मूल अहिंसा और सत्य का युगल है " गाधीजी द्वारा कही गई बात राजनीति के क्षेत्र मे कितनी उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है, यह स्पष्ट है वैज्ञानिक क्षेत्र मे स्याद्वाद ने अपनी उपयोगिता सिद्ध की है वस्तुओं को अनेक दृष्टि से देखना, जाँचना और उनके विविध गुण-धर्मो से परिचित होना अनेकान्त दृष्टि के अतिरिक्त और क्या है ? यदि विज्ञान अपनी पहले से चली आ रही मान्यताओ से ही जकडा रहता और कई-अनेक दृष्टियो को नही अपनाता तो क्या वह अपनी कोई भी शोध कार्यान्वित कर सकता था ? लोहा बहुत भारी होता है और पानी मे डूब जाता है, ऐसी एकान्त रूढ मान्यता बहुत समय से चली आ रही है किन्तु विज्ञान ने उसे अन्य दृष्टियो से देखने का प्रयत्न किया इस प्रयत्न और प्रयोग मे लोहा हल्का भी बन जाता है और इस कारण से पानी पर तैर सकता है उसके इस अनेकान्तज्ञान ने लोहे के जलयान समुद्र मे चला दिए इसी प्रकार बिजली, ध्वनि, अणुशक्ति आदि मे सम्बन्धित सभी चीजे अनेकान्त दृष्टि पर ही अवलम्बित है

वैज्ञानिक जगत् मे अनेक समस्याएँ घिरी हुई थी किन्तु सन् १९०५ मे जब प्रो० आइन्सटीन ने ससार के सम्मुख अपना सापेक्षवाद सिद्धान्त (Theory of Relativity) रखा, तब उनमे से अधिकाँश समस्याओ का समाधान सहज ही मे हो सका यह सापेक्षावाद क्या है ? स्याद्वाद अथवा अनेकान्तवाद का ही दूसरा नाम सापेक्षवाद है जैनशास्त्रो मे स्याद्वाद को स्पष्ट रूप से अपेक्षावाद या सापेक्षवाद कहा गया है [1]

जैन दार्शनिको द्वारा स्यादवाद और अनेकान्तवाद, इन दोनो शब्दो का प्रयोग समान अर्थ मे किया गया है अत उनमे कोई भिन्नता नही है [2]

किसी वस्तु का एक ही अन्त अथवा छोर अथवा पहलू अथवा गुणधर्म देखकर जब उसके समस्त स्वरूप का निर्णय कर लिया जाय तो वह एकान्तवाद है किन्तु जब वस्तु के अनेक अन्त, छोर, पहलू अथवा गुणधर्मों का अवलोकन करके उसके सम्बन्ध मे निर्णय किया जाय तो वह अनेकान्तवाद है कहा गया है कि "एकस्मिन् वस्तुनि सापेक्षरीत्या विरुद्ध-नानाधर्मस्वीकारो हि स्याद्वाद " एक ही पदार्थ मे सापेक्ष रीति से नाना प्रकार के विरोधी धर्मों का स्वीकार करना ही स्याद्वाद है [3]

यहाँ हमे स्याद्वाद शब्द की व्युत्पत्ति करके उसके सही अर्थ को समझ लेना चाहिए स्याद्वाद शब्द 'स्याद्' और 'वाद' इन दो पदो से बना हुआ है अत इसका अर्थ हुआ—स्यात् शब्द की मुख्यता वाला वाद—स्याद्वाद वाद का अर्थ तो स्पष्ट है—कथन अथवा प्रतिपादन किन्तु स्याद् शब्द अत्यन्त रहस्यपूर्ण है और उसके ठीक अर्थ को समझ लेना अत्यन्त

---

१ जैनधर्मसार

२ अनेकान्तात्मकार्थकथन स्याद्वाद' लघीयस्त्रयटीका

३ स्याद्वादोऽनेकान्तवाद —स्याद्वादमजरी
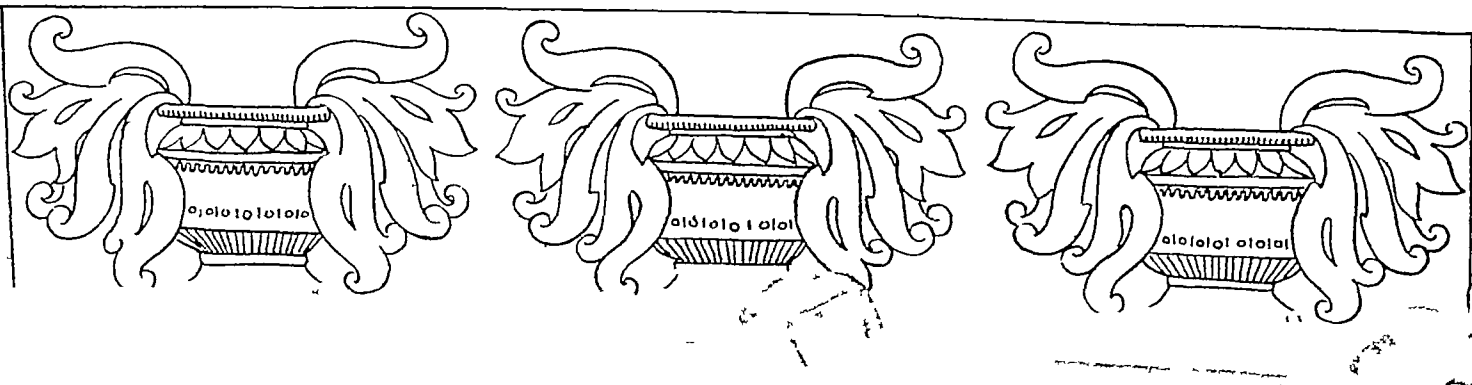
ही मान्यता और कल्पना को काटकर वे इस बात को स्वीकार नहीं करते और यदि करें तो जैनदर्शन ने जो यह बात बताई है कि 'प्रत्येक वस्तु परस्पर विरोधी गुणधर्म से युक्त है' उसे भी उन्हें स्वीकार करना होगा

इतने विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनदर्शन द्वारा प्रतिपादित अनेकान्तदृष्टि ही एक ऐसा मार्ग है जो हमें इस संसार की प्रत्येक वस्तु को उसके सच्चे और वास्तविक रूप में समझ सकने में सहायता करता है बल्कि यदि ऐसा कहा जाय कि अनेकान्तदृष्टि ही एक मात्र दृष्टि है शेष अज्ञान है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी अनेकान्तदृष्टि प्राप्त होते ही हमारे जीवन में समभाव का उदय स्वाभाविक रूप से हो जाता है क्योंकि ऐसा होने पर हम किसी भी वस्तु अथवा घटना की समस्त मर्यादाओं विभिन्न पहलुओं को जानते और विचारते हैं हम यह जान जाते हैं कि अवस्था-स्वरूप बदलने से ही वस्तु में परिवर्तन आता है इसी प्रकार द्रव्य क्षेत्र काल भाव इत्यादि के बदलने पर उस वस्तु के स्वरूप में परिवर्तन आता है अथवा यों कहें कि इन भिन्न भिन्न अपेक्षाओं से एक ही वस्तु भिन्न भिन्न स्वरूपों में दिखाई पड़ती है एक ही देह काल की अपेक्षा से बाल्यावस्था यौवन अधेड़ावस्था वृद्धावस्था आदि अवस्थाओं में पहचानी जाती है द्रव्य की अपेक्षा से वही देह कोमल मजबूत स्वस्थ पीड़ित सशक्त अशक्त आदि दीख पड़ती है क्षेत्रभेद से वही अंग्रेज अमरीकन हिन्दुस्तानी आदि रूप में जानी जाती है भाव की अपेक्षा से वही मनुष्य सौम्य रौद्र शान्त अशांत स्थिर-अस्थिर रूपवान-कुरूप आदि दिखलाई पड़ता है

तात्पर्य यह है कि किसी भी पदार्थ में परस्पर विरोधी गुणधर्मों का अस्तित्व होता ही है जैन दार्शनिक जब यह कहते हैं कि एक ही वस्तु है भी और नहीं भी है तब अनेकान्त दृष्टि द्वारा ही यह बात कहते हैं और यह यथार्थ है अनेकान्त दृष्टि की ये बातें इतनी महत्त्वपूर्ण और समझने योग्य हैं कि यदि हम इन्हें ठीक प्रकार से समझ लें तो हमारे सम्पूर्ण जीवन और सारे संसार की समस्याओं का हल आसानी से हो जाय आज के विज्ञानवादी अणु-परमाणुओं के संशोधनयुग में हमें यह बात समझने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि एक और अनेक दोनों एक ही साथ एक समय में ही रहते हैं जैनतत्त्वज्ञानियों ने सर्वथा असंदिग्धता से भारपूर्वक यह बात कही है कि एकान्त नित्य से अनित्य का या एकान्त अनित्य से नित्य का स्वतंत्र उद्भव असंभव है यह ज्ञान हमें द्वैत अद्वैत और उसकी सभी शाखाओं से तथा क्षणिकवाद आदि सभी एकान्त तत्त्वज्ञानों में नहीं मिल सकता क्योंकि इनकी रचना एकान्तज्ञान के आधार पर तथा ऐकान्तिक निर्णय द्वारा की गई है इन सब दर्शनों के सम्मुख जैनदर्शन का अनेकान्तवाद एक महान् समुद्र की भाँति खड़ा है उसके द्वारा दी गई समझ और ज्ञान ही एक मात्र सच्ची समझ और ज्ञान है वस्तु के विभिन्न पक्ष तथा उसी वस्तु में रहे हुए परस्पर विरोधी गुणधर्म हमें एकान्त दृष्टि से समझ में नहीं आते दिखाई ही नहीं देते अनेकान्तदृष्टि द्वारा ही हम उन्हें देख और समझ सकते हैं जैनदर्शन जहाँ तक दर्शन का सम्बन्ध है एक महान् सिद्धि है यही कारण है कि अनेकान्तवाद को तत्त्वशिरोमणि की उपाधि दी गई है[1]

सुवर्ण और कसौटी

वैसे तो अनेकान्तवाद स्याद्वाद और अपेक्षावाद (सापेक्षवाद) एक ही है फिर भी यदि हम अनेकान्तवाद को और भी बारीकी से समझना चाहें तो हम यह कह सकते हैं कि अनेकान्तवाद के इस तथ्य को कि प्रत्येक वस्तु में परस्पर विरोधी अनेक गुण-धर्म होते हैं युक्तियुक्त एवं तार्किक ढंग से प्रस्तुत करने के लिए जिस पद्धति की आवश्यकता है वह पद्धति स्याद्वाद है हम अनेकान्त को सुवर्ण तथा स्याद्वाद को कसौटी की उपमा दे सकते हैं अथवा अनेकान्त को हम एक किले की तथा स्याद्वाद को उस किले तक जाने वाले मार्गों को बतलाने वाले नक्शे की उपमा भी दे सकते हैं किन्तु भूलना नहीं चाहिए कि अनेकान्तवाद तथा स्याद्वाद एक ही तत्त्वज्ञान के अंग हैं इस कारण वे वस्तुतः एक ही हैं[2]

---

१ अनेकान्तवाद व स्याद्वाद—चन्दूलाल शाह
२ स्याद्वादोऽनेकान्तवादः —स्याद्वादमंजरी

बात कही है द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की चारो अपेक्षाओ, सातो नयो द्वारा की गई तुलना और सप्तभगी से मिलान करने के पश्चात् ही जैन शास्त्रकारो ने यह विचित्र किन्तु सम्पूर्ण रूप मे सत्य बात कही है उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो सकेगी

(१) कोई दवाई है वह एक विशेष बीमारी से पीडित मनुष्य के लिए उपयोगी है, लेकिन वही दवाई दूसरे पीडित मनुष्य के लिए व्यर्थ होती है यह स्वीकृति तथ्य है अत एक ही दवाई उपयोगी भी है और व्यर्थ भी

(२) विष एक ही है किन्तु वह अलग-अलग स्थितियो मे बिलकुल विपरीत कार्य करता है वह मनुष्य को मार भी देता है और विशेषरूप मे, विशेष सयोग मे प्रयोग मे लिये जाने पर वह मनुष्य को जिलाने का भी कार्य करता है इस तरह विष, जो एक ही पदार्थ है, विष और अमृत दो पदार्थों का कार्य करता है अर्थात् उस एक ही पदार्थ मे दो सर्वथा विरोधी गुणधर्म उपस्थित रहते है

जैनदर्शन के अनेकान्तवाद के विरुद्ध अन्य मत स्वीकार करने वालो का सबसे बडा विरोध यह है कि जो वस्तु सत् है वही वस्तु असत् कैसे हो सकती है ? जो नित्य है वही अनित्य कैसे हो सकती है ? इसका मुख्य कारण यही है कि उन्होने एक वस्तु को एक ही पहलू से, एक ही स्वरूप मे देखा है, जब कि जैन दार्शनिको ने वस्तु के पूर्ण स्वरूप को अपनी दृष्टि मे रख कर यह बात कही है, किसी एक पहलू अथवा स्वरूप के सम्बन्ध मे यह बात उन्होने नही कही है

गम्भीरता से विचार करने पर प्रतीत होगा कि ये जो विरोधी दिखने वाले गुणधर्म हैं वे वस्तुत अलग-अलग नही, एक ही हैं जो सत् है वही असत् है, दोनो एक दूसरे मे मिले हुए है, एक के बिना दूसरे का अस्तित्व न केवल निरर्थक ही बल्कि असभव हो जाता है एक का अस्तित्व दूसरे के कारण—दूसरे के आधार पर ही है यदि उनमे से एक का नाश हो जाय तो दूसरे का अस्तित्व भी नही रह सकता जगत् मे यदि असत्य न होता तो सत्य की क्या आवश्यकता थी ? असत्य है, इसीलिये सत्य भी है परस्पर विरोधी दिखाई पडने वाले ये सत्त्व और असत्त्व आदि धर्म तत्त्व के दो स्वरूप है अनेकान्त दृष्टि से देखे जाने पर ये दोनो भिन्न भी है और अभिन्न भी

इसी प्रकार नित्य-अनित्य, एक-अनेक आदि परस्पर विरोधी गुणधर्म होते हुए भी वास्तव मे एक ही है प्रकाश और अन्धकार को ही लीजिये वैसे तो ये भिन्न तत्त्व है इनका कार्य एक दूसरे का विरोधी है यदि यह कहा जाय कि एक ही वस्तु मे प्रकाश और अन्धकार दोनो साथ रहते हैं, तो क्या यह बात स्वीकार की जायेगी ?

विचार करने पर मालूम होगा कि यह सत्य है जब आकाश मे प्रकाश था तब अन्धकार कहाँ था ? प्रकाश के आने पर अन्धकार कहाँ गया ? क्या अन्धकार के छिपने के लिए अन्य कोई स्थान है ? नही तब फिर यह मानने मे आपत्ति क्यो कि ये दोनो तत्त्व एक ही है अथवा एक दूसरे मे ही समाहित है ? अन्धकार जो था वह प्रकाश मे ही विलीन हो गया, उसी तरह जो प्रकाश था वह अन्धकार के आगमन पर उसमे ही विलीन हो गया अत जो परिवर्तन हमे दिखाई देता है वह सिर्फ अवस्था का है रात की अपेक्षा से अन्धकार और दिन की अपेक्षा से प्रकाश को हम देखते है अत जैन दार्शनिको ने अन्धकार और प्रकाश के मूलभूत पुद्गलो को एक माना है केवल अवस्थाभेद के कारण ही वे अन्धकार और प्रकाश के रूप मे आते हैं इससे यह स्पष्ट होता है कि परस्पर विरोधी गुणधर्म वाले ये तत्त्व वास्तव मे एक ही तत्त्व के अन्तर्गत है यदि हम अनेकान्त दृष्टि से देखें तो हमे इसे समझने मे कठिनाई नही हो सकती है

बहुत बडा आश्चर्य तो हमे तब होता है जब वेदान्त के अनुयायी इस बात का विरोध करते है उनकी मान्यता है कि प्रथम जो था वह शुद्ध विशुद्ध निर्गुण ब्रह्म था उसमे से माया का सर्जन हुआ ब्रह्म शुद्ध है, माया अशुद्ध है ब्रह्म और माया परस्पर विरोधी गुण धर्म वाले तत्त्व है यदि माया की उत्पत्ति ब्रह्म से हुई तो इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि उत्पत्ति के पूर्व यह माया ब्रह्म मे बसी हुई थी और यदि ऐसा ही है तो उस शुद्ध ब्रह्म के भीतर ही एक अशुद्ध तत्त्व मौजूद था इस तरह वेदान्त की कल्पना के अनुसार शुद्ध और अशुद्ध—दो परस्पर विरोधी तत्त्व एक साथ ही थे अपनी
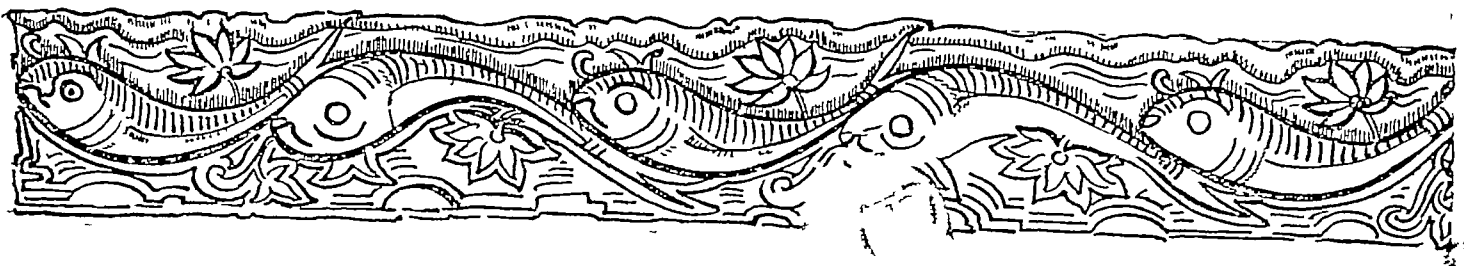
तात्पर्य यह है कि मनुष्य-समाज के समक्ष आज जो समस्याएँ, जो भी कठिनाइयाँ हैं उनका अस्तित्व इसीलिये है कि हमें जीवन का जीवन के उद्देश्य का जीने की पद्धति का स्पष्ट ज्ञान नहीं है यदि हमें यह ज्ञान हो जाय तो आज ध्वंस के कगार पर खड़ी हुई मानवता की रक्षा निश्चित रूप से हो सकती है

और इस ज्ञान की मशाल को मजबूती से अपने हाथों में चिर काल से-अनादि काल से थामें हुए जैनदर्शन एक अचल ज्योतिस्तम्भ के समान खड़ा है

आइये हम जरा विचार करें कि जैनदर्शन हमारे सामने क्या सिद्धान्त उपस्थित करता है

जैनदर्शन की विशिष्ट आचारपद्धति

कौन नहीं जानता कि हमारा मन मनुष्य मात्र का मन आँख कान नाक जीभ और त्वचा इन पाँचों इन्द्रियों के सहयोग से कार्य करता है यदि इनमें से एक भी इन्द्रिय काम नहीं करती तो जीवन खंडित हो जाता है ठीक इसी प्रकार जैन दार्शनिकों ने मनुष्य के आचरण—मनुष्य के जीवन-व्यवहार के लिए एक ऐसी विशिष्ट आचारपद्धति बनाई है जिसका अनुसरण और पालन यदि हम करने लग जाय तो यह निश्चित स्पष्ट और अवश्यम्भावी है कि हमारे सामने आज जो हमारे विनाश का भय उपस्थित हो गया है उससे हमें सहज ही मुक्ति मिल जाय तथा मानव-समाज एक सुखी समाज बन जाय इस आचारपद्धति के प्रमुख सिद्धान्त निम्न प्रकार हैं — (१) अहिंसा (२) सत्य (३) अस्तेय (४) ब्रह्मचर्य (५) अपरिग्रह

इन महान् गम्भीर और परम कल्याणकारी सिद्धान्तों के विषय में धार्मिक दृष्टि से हम प्रायः लोगों को बात चीत करते देखते हैं लेकिन उनमें से कितने हैं जो इनके वास्तविक मर्म को समझते हैं ? कितने हैं जो गम्भीरता से इनके मर्म पर विचार करते हैं ? इनका पालन करना तो दूर—बहुत दूर की बात है

ये सिद्धान्त इतने महान् हैं कि इनमें से प्रत्येक पर अलग-अलग विशाल ग्रंथों की रचना की जा सकती है किन्तु हम यहाँ पर उनका अत्यन्त संक्षेप में विवेचन करेंगे और देखेंगे कि आज के जगत् को यह कितनी बड़ी शक्ति कितना अनन्त प्रकाश और सुख देने की सामर्थ्य रखते हैं

अहिंसा शब्द आज विश्वव्यापक बन चुका है किन्तु अहिंसा का बहुत स्थूल अर्थ ही अधिकतर लोगों ने समझा है लोग समझते हैं कि दूसरे मानव को दुख पहुँचाने वाला कोई काम नहीं करना ही अहिंसा है यह बहुत ही सीमित अर्थ है हिंसा के सच्चे अर्थ में केवल मनुष्य ही नहीं बल्कि पशु-पक्षी कीड़े-मकौड़े इत्यादि सूक्ष्म जीवों की हिंसा भी वर्ज्य है क्योंकि उनकी हिंसा करने से भी हमारा हृदय कठोर और क्रूर बनता है और कठोर और क्रूर हृदय में सात्त्विक भाव जाग्रत नहीं होते पूर्णतया और सही अर्थ में अहिंसा का पालन करना ही जीवन को शीघ्र से सुन्दर और सुखी बनाने का उपाय है जैन दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित अहिंसा के सिद्धान्त की यही विशेषता है कि वह अपनी इस महान् भावना को न केवल मनुष्य तक ही बल्कि जीव मात्र तक विस्तारित करता है इस सृष्टि में अपना सूक्ष्म से सूक्ष्म भी अस्तित्व रखने वाले प्रत्येक प्राणी को जैनदर्शन एक स्वतन्त्र आत्मा स्वीकार करके उसके हित और उपकार की भावना पर बल देता है जैन अहिंसा का यही वास्तविक व्यापक और विशिष्ट स्वरूप है यदि संसार इस व्यापक स्वरूप में इसका पालन करे तो यह संसार ही स्वर्ग के समान सुख का स्थान बन जाय

सत्य का अर्थ है असत्य कथन अथवा विचार न करना असत्य में हिंसा भी निहित है हमारे असत्य कथन अथवा असत्य आचरण से किसी अन्य को दुःख अवश्य होगा और धर्म तथा दर्शन का विचार करने वाले पाठकों को विस्तार से यह समझाने की आवश्यकता नहीं कि अन्य को दिया गया दुःख स्वयं हमारे लिये क्या लेकर आएगा ?

अस्तेय का अर्थ है चोरी न करना यहाँ इस चोरी शब्द का अर्थ केवल मामूली सी भाषा के अर्थ तक ही सीमित नहीं समझना चाहिए इसका अर्थ है—जो हमारा नहीं है न्यायपूर्वक हमारा नहीं है उसे स्वीकार नहीं करना ऐसी कोई भी वस्तु लेना जिस पर न्यायपूर्वक हमारा अधिकार न हो चोरी माना गया है

आज का संकटग्रस्त संसार, जीवन और जैनदर्शन

आजका युग, आज का संसार—यह भौतिक वाद की ओर अन्धा होकर दौडता चला जा रहा मानव-समाज विनाश के अतल गर्त के कितना समीप आ पहुँचा है, इस बात को कौन समझदार व्यक्ति नही जानता ? आज के मनुष्य का जीवन कितना संदिग्ध और उलझनो से भरा हुआ प्रतीत होता है ? ऐसा लगता है कि चारो ओर सघन अन्धकार परिव्याप्त है और कही किसी दिशा मे कोई एक भूली भटकी किरण भी दिखाई नही देती

हम आँखें होते हुए भी अन्धे बने हैं प्रकाश की उपेक्षा करके अन्धकार की ओर दौडे तो यह हमारा ही अज्ञान है किन्तु यदि अपनी सहज बुद्धि का उपयोग करें, तटस्थ तथा निष्पक्ष भाव से विचार करें तो हमारे लिए निराशा का कोई कारण नही है

अनन्त और अमर आशा का संदेश लिये हुए जैनदर्शन और जैनधर्म के युग-युगान्तरो से चले आ रहे अटल सिद्धान्त हमारे द्वार पर खडे है आवश्यकता इतनी ही है कि हम अपने हृदय के, मन के अवरुद्ध कपाट उन्मुक्त करें और उन सिद्धान्तो का स्वागत करें जो हमारे जीवन को, हमारी सृष्टि को, हमारे अस्तित्व को सुरक्षित तथा उन्नत करने के लिये उपस्थित है

आज हमे जीवन एक समस्या के समान प्रतीत होता है हम चारो ओर से परेशानियो और झझटो से अपने आपको घिरा हुआ अनुभव करते है क्या इसका कारण कभी हमने शान्त चित्त से विचारा है ?

इसका एक मात्र कारण है कि हम अपने सहज स्वभाव को भूल बैठे हैं मनुष्य जीवन के जो वास्तविक और हितकारी सिद्धान्त हैं उन्हे हमने त्याग दिया है और हम इन झूठे और भ्रामक आकर्षणो की ओर दौड रहे है जो मात्र भौतिक है, अस्थायी है, और इसीलिए असत्य हैं

सत्य का मार्ग जैनदर्शन जब हमे बतलाता है तो हम, चूकि हमे बुद्धिवादी होने का भ्रम और गर्व है, अपना मुह बना-कर कहते हैं—यह साधु-सन्यासियो की बातें हैं, भला इस ससार मे यह कही चलता है !

यह साधु सन्यासियो की बातें भला आपके इस असाधु, इस जड-अनुरक्त ससार मे कैसे चल सकती है ? और नही चल सकती तो न चलने दीजिए इससे सत्य को हानि नही है आप हिंसक बने रहिए, अपने ही हाथो मानवता का खून कीजिए, अपने ही अस्तित्व को अपने ही हाथो विनष्ट कर दीजिए—इसमे अहिंसा के पवित्र तत्त्व की कोई हानि है ? आप शायद विचार कर रहे है, विचार बडी उपयोगी वस्तु है, विचारिए आज की मानवता, मानवसमाज के सन्मुख जो समस्या है वह मनुष्य के अपने ही स्वार्थ, दुर्बलता और अज्ञान के कारण है आज का मनुष्य कठिनाई का सामना करने को तैयार नही है वह कठिनाई से तो मुह मोड कर भागता ही है, स्वय अपनी दुर्बलताओ को भी स्पष्ट रूप से समझने से कतराता है यह मनुष्य की पलायनवृत्ति (Escape tendency) है और विश्वास कीजिये जब तक यह वृत्ति मनुष्य मे है तब तक वह किसी भी प्रकार अपना हित नही कर सकता उसे निरन्तर अवनति और विनाश की ओर ही खिसकते चले जाना होगा

जीवन मे किसी भी दु ख अथवा समस्या के आ पडने पर उसे दूर करने, उसका समाधान ढूढ निकालने का मार्ग क्या है ? जैनदर्शन कहता है कि अपने विवेक का उपयोग करो यह विचार करो कि वह दुख क्या है, उसका स्वरूप कैसा है, उसका कारण क्या है, उसे दूर करने का उपाय क्या है ? दुख आया है तो उसके सामने हमारे पास जो सुख हो उसका विचार हमे करना चाहिए ऐसा विचार हमारे मन को शान्त और सुव्यवस्थित करेगा इस तरह शान्त बने हुए चित्त से अपनी विवेक-बुद्धि का उपयोग करके यदि हम विचार करने लगेगे तो हमे साफ दिखाई देगा कि आया हुआ, अथवा माना हुआ वह दुख दूर किया जा सकता है उस दुख के पीछे ही सुख भी रहा हुआ है हम उस दुख के कारणो को जान सकेगे और कारण जानने के बाद हम उसे दूर करने का पुरुषार्थ भी कर सकेंगे इस प्रकार की समझ और उस समझ से दिखाई पडने वाला उन्नति का एव सुख का राजमार्ग हमे केवल स्याद्वाद के द्वारा ही मिलेगा
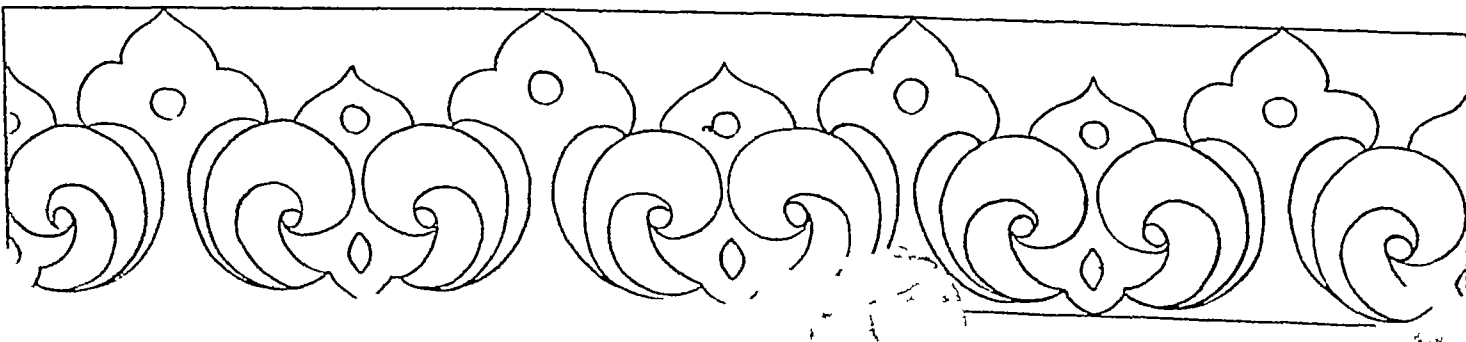
कुछ अन्य दर्शन (उदाहरण के लिये बौद्धदर्शन) यह स्वीकार करते है कि आत्मा अन्ततोगत्वा किसी दीपक की लौ के समान बुझ जाती है और शून्य मे विलीन हो जाती है यह विलीनीकरण उस जीवात्मा का पूर्ण अनस्तित्व (Total Extinction) है

इसके विपरीत जैनदर्शन की यह विशिष्ट मान्यता है कि प्रत्येक जीवात्मा का स्वतंत्र अस्तित्व है. जीव मुक्ति के पश्चात् आत्मा सिद्ध (परमात्मा) बन जाती है और सिद्धात्माओं के निवास (सिद्धशिला) पर वह एक स्वतन्त्र सिद्ध—परम आत्मा के रूप मे स्थित रहती है इस तरह जैनदर्शन प्रत्येक आत्मा के उच्चतम विकास और अस्तित्व के लिये एक अनन्त अवकाश की मान्यता रखता है जैनदर्शन की यह मान्यता विशिष्ट तो है ही साथ ही पूर्णतया तर्कयुक्त और व्यापक भी है

जैनदर्शन और जगत्

मानव-मस्तिष्क में ये प्रश्न सदा से उठते आये है कि जिसमें हम सदा से रहते आये है और रहते हैं वह जगत् क्या है ? कब से है ? इसका निर्माण किसने किया ? किन उपादानो से किया ? अथवा क्या यह अनादिकालीन है ? अकरणीय है ? इन प्रश्नों के उत्तर खोजने और देने का प्रयत्न विभिन्न दर्शनो ने किया है भिन्न भिन्न समय पर और भिन्न कारणो से ससार के निर्माण किये जाने की बात मे भिन्न भिन्न दर्शन कहते है किन्तु जैसा तर्कयुक्त और सगत समाधान जैनदर्शन इस सम्बन्ध में प्रस्तुत करता है वह इन सब में विशिष्ट और श्रेष्ठ है महात्मा बुद्ध ने जो भगवान् महावीर के प्राय समकालीन थे ऐसे प्रश्नो पर अधिक कुछ भी नही कहा है परन्तु भगवान् महावीर ने उनका सरल और बुद्धिगम्य स्पष्टीकरण किया है जहाँ वस्तुएँ इतनी अधिक हों कि प्रत्येक की पृथक-पृथक गणना संभव न हो वहाँ वर्गीकरण का सिद्धान्त उपयोगी होता है जगत् का वर्गीकरण करने से हमे दो तत्त्व—मौलिक पदार्थ—उपलब्ध होते है (१) जीव और (२) जड इनके अतिरिक्त और कोई मौलिक वस्तु है ही नही अतएव यह कहा जा सकता है कि जीव और जड के समूह को ही जगत् कहते है

प्रत्येक प्राचीन दर्शनशास्त्र और आधुनिक विज्ञान इन दोनों की मान्यता है कि नासतो विद्यते भाव नाभावो विद्यते सत अर्थात् जो सत् नही असत् है वह कभी सत् नही हो सकता और जो सत् है उसका कभी अभाव नही हो सकता इस सर्वसम्मत सिद्धान्त को स्मरण रखते हुए विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि जगत् यदि सत् है (और उसकी सत्ता निर्विवाद सिद्ध है) तो वह अनादिकालीन अवश्य है इसका निर्माण न किसी ने किया है और न करने की आवश्यकता ही थी इस प्रकार दो मौलिक पदार्थो का समूहात्मक ससार सदा से विद्यमान था है और रहेगा इसमें दिखलाई देने वाली विविधता इन्ही दोनो वस्तुओ के अमुक भांति के सम्मिश्रण आदि पर निर्भर है एक उदाहरण लीजिए— *मिट्टी जड वस्तु है कुम्हार उसे लेता है चाक पर चढाता है और घडा बना देता है अब वह मिट्टी घडे के रूप में* आ जाती है इसी प्रकार अन्यान्य वस्तुएँ अमुक प्रकार के सयोगो म पडकर भिन्न भिन्न रूप धारण करती रहती हैं यही जगत् की विविधता का रहस्य है किन्तु इस बाह्य विविधता के आवरण को चीर कर भीतर नजर डालने से हमें उल्लिखित जड और चेतन यही दोनो मौलिक पदार्थ उपलब्ध होते है ये अनादिकालीन है और अनन्तकाल तक रहेंगे अत ऐसा कहना सर्वथा उचित ही है कि जगत् अनादिकालीन है और अनन्त काल तक रहेगा इसका न तो कोई कर्ता है न हर्ता है

जगत् की उत्पत्ति अथवा रचना के सम्बन्ध में जैनदर्शन का यह सबका मौलिक तर्कसम्मत बुद्धिगम्य और विशिष्ट दृष्टिकोण है

क्या ईश्वर कर्ता है ?

कुछ लोग ऐसे है जिनकी मान्यता के अनुसार यह सारी सृष्टि परमात्मा के ही द्वारा उत्पन्न की गई है किन्तु जैसा कि हम पहले कह चुके हैं सृष्टि अनादिकालीन है अत इसके बनने का प्रश्न ही नही उपस्थित होता फिर भी तर्क के लिये

ब्रह्मचर्य एक अत्यन्त व्यापक व्रत है, इसका पूर्णतया पालन ससारी मनुष्यो के लिये सभव नही है किन्तु व्यवहार मे इसे दो प्रकार से लागू किया गया है एक तो परस्त्री के प्रति कुदृष्टि अथवा कुविचार न करना, दूसरे स्वपत्नी के साथ अब्रह्मचर्य का सेवन सीमित करना इसमे मन, वचन काय तीनो पर अकुश रखना आवश्यक माना गया है

अपरिग्रह अन्तिम आचार माना गया है आज जो ससार की स्थिति है उसमे अपरिग्रह के सिद्धान्त का पालन कितना उपयोगी है, यह बहुत आसानी से समझा जा सकता है अपरिग्रह का अर्थ है—अपनी आवश्यकता से अधिक सग्रह न करना आज इस भौतिक जगत् मे हमारे चारो ओर जो सामाजिक और राजनैतिक दुर्दशा दिखाई पडती है, उसका एक प्रधान कारण अपरिग्रह व्रत का पालन न करना भी है

आज के ससार मे धनवान् तथा गरीब वर्ग के बीच असह्य असमानता मे से कार्ल मार्क्स (Karl Marx) का नया अर्थशास्त्र उत्पन्न हुआ उससे प्रेरणा पाकर लेनिन (Lenin) ने रूस मे एक जबरदस्त क्रान्ति उपस्थित की उसमे से साम्यवाद तथा समाजवाद उत्पन्न हुये और उनसे रक्तमय क्रान्तियाँ हुईं

जैन समाज-शास्त्रियो ने आज से हजारो-लाखो वर्षों पूर्व अपरिग्रह का जो अर्थशास्त्र बनाया था, यदि उसका पालन किया गया होता तो द्वेष, विद्वेष मारकाट और व्यापक हिंसा से पूर्ण घटनाएँ विश्व मे न होती कार्ल मार्क्स, लेनिन, स्टालिन, चाउ एन लाई आदि साम्यवादियो द्वारा अपनाई गई विचारधाराएँ तथा कार्यप्रणालियाँ भी घातक ही है. क्योकि इनके पीछे अहिंसा की कोई भावना नही है

शोषको की हिंसा के विरुद्ध साम्यवादियो की हिंसा आई किन्तु हिसा से हिंसा नही मिटती, हिंसा से दुख समाप्त नही होता, हिंसा से सुख प्रकट हो ही नही सकता यह एक भयानक विषमचक्र है, और अपरिग्रह का अभाव इसके मूल मे है. मानव जाति को यदि सुख और शान्ति चाहिए तो इसका सच्चा और सफल उपाय अपरिग्रह का पालन ही है सादगी और सन्तोष की वृत्ति विकसित करना ही है परिग्रह से कभी सन्तोष-सुख नही मिलता है

सक्षेप मे इसी प्रकार कह सकते है कि जैनतीर्थंकर भगवन्तो ने ससारी मनुष्यो के पालन करने के लिये उपरोक्त पाँच आचार-सिद्धान्त बताए है, उनके पालन के अतिरिक्त समूची मानव-जाति की रक्षा, अस्तित्व और उद्धार का कोई अन्य मार्ग नही है

इन सिद्धान्तो पर बडी गम्भीरता से विचार किया जाना चाहिए जैनदर्शन के ये अक्षत सिद्धान्त परस्पर जुडे हुए हैं इनमे से आप एक को छोडिए तो दूसरा स्वत छूट जाता है

इतने विवेचन मे यह बात अब हमारी समझ मे सहज ही आ जाती है कि यदि मनुष्य, मानवता एव ससार की सुरक्षा और उन्नति का कही कोई मार्ग है तो वह मार्ग हमे जैनदर्शन ही दिखाता है इन विशिष्टताओ को अपने भीतर समाहित किए हुए इस अद्भुत जैनदर्शन को यदि विश्व का सर्वश्रेष्ठ, अनन्य और अपराजेय दर्शन कहा जाय तो न इसमे कोई अतिशयोक्ति है और न कोई असत्य का अश यह बात एक निर्विवाद तथ्य के रूप मे हमारे सामने स्पष्ट हो जाती है

जैनदर्शन में आत्मविकास का अनन्त अवकाश

आत्मा और परमात्मा के विषय मे विभिन्न दर्शनो की भिन्न-भिन्न मान्यताएँ हैं जैनदर्शन की भी इस सम्बन्ध मे अपनी एक विशिष्ट मान्यता है और विचार करने पर हम देखेंगे कि वह मान्यता अन्य दर्शनो की सीमित मान्यताओ से कितनी विशिष्ट व्यापक और उच्च है

कुछ दर्शन आत्मा के विषय मे यह मानते है कि विभिन्न जीवात्माएँ वस्तुत किसी एक ही परम-आत्मा (ईश्वर) का विस्तार है अपना विकास और शुद्धि करते करते वे अत मे मुक्त होकर उसी परम-आत्मा मे विलीन हो जाती हैं, हो सकती हैं इस तरह ये दर्शन भिन्न-भिन्न जीवात्माओ की स्वतत्र सत्ता स्वीकार न करते हुए एक ही ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते है

दूं फिर भी अजन का सेवन करने वाले की दृष्टि निर्मल हो जाती है इसी प्रकार वीतराग होने के कारण भगवान् की इच्छा नही होती कि मैं अपने भक्त का कल्याण करू तो भी उनकी भक्ति करने वाले का कल्याण अवश्य होता है दूसरे शब्दों म हम यह कह सकते है कि किसी कार्य का कर्त्ता हो या न हो परन्तु कारणों की पूर्णता होने पर कार्य की निष्पत्ति हो ही जाती है अत वीतराग भगवान् की भक्ति करना ही चाहिए वह कभी निष्फल नहीं हो सकती

जैनदर्शन नित्य नूतन है

जैनदर्शन सम्बन्धी अपनी इस विवेचना में हमने देखा कि इस महान् दर्शन का प्रत्येक सिद्धान्त चाहे वह सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थ—अणु-परमाणु के विषय मे हो अथवा सर्वव्यापी सर्वशक्तिमान् परमात्मा तथा अनन्त और अनादि सृष्टि के विषय में अकाट्य तर्कयुक्त और विशिष्ट है यही कारण है कि इस विश्व का यह दिग्विजयी दर्शन चिरनवीन नित्य-नूतन है मानो वर्षो स जो सिद्धात इस दर्शन के द्वारा प्रतिपादित किये गए है वे आज भी जीवन क हर क्षेत्र में जीवन की प्रत्येक समस्या के विषय म सीधा सच्चा और स्पष्ट समाधान प्रस्तुत करते है हमने देखा कि जैनदर्शन का अनेकान्त वाद जिसे युग-युग के पूर्व से जैन दार्शनिको ने ससार को भेंट किया है एक ऐसा दृष्टिकोण है जिसे अन्ततोगत्वा विज्ञान ने स्वीकार किया है उसके अतिरिक्त कोई दृष्टिकोण नही है जिसके आधार पर चल कर हम वस्तु, जीवन सत्य को उसके सच्चे स्वरूप म जान सकें हमने देखा कि जैन दर्शन ने जो आचार-पद्धति हमे बताई है वही केवल वही आचार पद्धति है जिसका पालन करने से ही मात्र की मानवता की सृष्टि की रक्षा और अस्तित्व सम्भव है यह असम्भव है कि मानव-समाज उस आचार-पद्धति को त्याग दे और त्याग कर अपना अस्तित्व कायम रख सके हमारे जीवन की समस्त कठिनाइयाँ हमारी समस्याएँ हमारे दुख सर्वनाश का भय जो हमारे द्वार तक आ पहुचा है यदि दूर किया जा सकता है तो केवल इसी आचार-पद्धति के अनुसरण द्वारा ही हमने देखा कि जीवन जगत् और जगत् की रचना क विषय में जैनदर्शन ने जो समाधान उपस्थित किए है वे अकाट्य है और उन्हे स्वीकार किए बिना हमारे पास अन्य कोई मार्ग नही है इसीलिए हम यह मानना ही पड़ेगा कि जैनदर्शन इस ससार का एक अनन्य दर्शन है कोई अन्य दर्शन नही जो इसकी समता म रखा जा सके जनदर्शन का चिन्तन उसके सिद्धांत किसी भी तर्क द्वारा अवास्तविक प्रमाणित नही किए जा सकते ऐसा सुदृढ सुविचारित ठोस वज्ञानिक दर्शन यदि इस ससार का अपराजेय दर्शन है तो इसमें कोई आश्चर्य नही

हम अपनी ओर से यही भावना कर सकते है कि संसार के इस अनन्य अपराजेय और नित्य नूतन दर्शन—जैनदर्शन—का ज्ञान और अनुसरण इस विश्व के सन्मुख कल्याण का मार्ग मुक्त करे.

यदि हम यह मान ले कि परमात्मा ही इसे बनाता और बिगाडता है तो यह शका उत्पन्न होती है कि आखिर इन झझटो मे पडने की उसे क्या आवश्यकता है ? इसमे उसका क्या अभिप्राय है ? ईश्वर कोई बालक नही है कि अपने मनोरजन के लिये वह सृष्टि को बनाए और बिगाडे फिर यदि सृष्टि को बनाने का उसका स्वभाव है तो वह उसे बिगाडता क्यो है ? बिगाडने का स्वभाव है तो बनाता क्यो है ? बनाने और बिगाडने के दोनो स्वभाव परस्पर विरोधी है, अत दोनो एक ही परमात्मा मे नही हो सकते परमात्मा सब प्रकार की इच्छाओ से मुक्त है उसे सृष्टि बनाने की इच्छा नही हो सकती तब कौन बलात् उससे बनवाता है ? यदि कोई बलात् उससे बनवा लेता है तो वह ईश्वर ही कैसे रहा ? वह बलात्कार करने वाली शक्ति ही क्या ईश्वर नही हुई ? ईश्वर तो उसके हाथ का एक कठपुतला हुआ इस प्रकार ईश्वर के ईश्वरत्व मे ही बट्टा लगता है

ईश्वर को दयालु माना जाता है यदि वह दयालु भी है और कर्त्ता भी है तो उसने भाँति भाँति के दुखो का सृजन क्यो किया ? अपने माता-पिता के सर्वस्व, निर्दोष जीवनाधार पुत्र को असमय मे ही मार कर उन्हे असह्य वेदनाओ मे पटक कर उनकी छटपटाहट देखता रहता है, तब ईश्वर की दयालुता कहाँ चली जाती है ? इस प्रकार सृष्टि को अनन्त दु ख देता हुआ क्या ईश्वर दयालु कहा जा सकता है ?

यहाँ यह कहा जा सकता है कि यह जीव के पूर्वोपार्जित कर्मो का फल है न पहले पाप करता न ऐसा दु खमय परिणाम भोगना पडता इसमे ईश्वर क्या कर सकता है ? किन्तु यह बचाव भी विचार करने पर छिन्न-भिन्न हो जाता है ईश्वर सर्वज्ञ है और सर्वशक्तिशाली भी माना जाता है जब उन जीवो ने पाप करने का विचार किया तो सर्वज्ञ ईश्वर ने जाना ही होगा वह दयालु है इसलिए उन्हे पाप से बचाने का प्रयत्न वह कर सकता था और वह सर्वशक्तिमान् है इसलिए किसी प्रकार उन्हे पाप से रोक भी सकता था किन्तु उसने ऐसा कुछ नही किया—वह सर्वज्ञ-दयालु, सर्व-शक्तिमान् और कर्ता ईश्वर केवल देखता ही रहा ! यह विचार कहाँ तक उचित है इसे पाठक स्वय ही सोच सकते है अस्तु, जैनदर्शन ईश्वर को इन प्रपचो से, इस क्रूरता मे मुक्त रखता है वह ईश्वर को इन कलको से बचाता है वह मानता है कि ईश्वर सर्वज्ञ है, पूर्ण वीतराग है, कृतकृत्य है, अपुनरावृत्ति है, सासारिक झझटो से उसका कोई सम्बन्ध नही है

एक मात्र शका, जो यहाँ उपस्थित की जा सकती है, वह यह है कि यदि ईश्वर वीतराग है, निग्रह और अनुग्रह नही करता, रुष्ट और तुष्ट नही होता, तो वह अपने भक्तो की भलाई नही करेगा तब उसकी आराधना करने की क्या आवश्यकता है ?

इसका स्पष्ट और सरल उत्तर यह है कि ईश्वर हमारी भलाई करे, इसलिए हम उसकी आराधना करें, यह स्वार्थ-पूर्ण हृदय की वासना है ऐसी भावना के साथ ईश्वरभक्ति करना वास्तविक भक्ति नही है बल्कि रिश्वत देकर उसे फुसलाना ही है भक्ति मे आदान-प्रदान की भावना नही होती, सर्वस्व दान की कामना होती है भक्ति व्यापार नही है अत निष्काम भक्ति ही वास्तविक भक्ति है कल्याण स्वय ही इस प्रकार की भक्ति द्वारा आकर चरणो पर लोटता है कहा गया है—'देवा वि त नमसति जस्स धम्मे सया मणो' (जिसका मन सदा धर्म मे लीन रहता है, देवता भी उस के चरणो पर लोटते हैं)

तात्पर्य यह नही है वीतराग की भक्ति से कुछ लाभ नही होता मानसशास्त्र का यह नियम है कि जो व्यक्ति सदैव जिसका स्मरण करता है, जैसा बनने की भावना करता है, वह कालातर मे वैसा ही बन सकता है इस नियम के अनु-सार वीतराग का स्मरण करने से और वीतराग बनने की प्रबल भावना से भक्त भी वीतराग बन जाता है इसके अतिरिक्त वीतराग भगवान् आत्मविकास के सर्वोत्तम आदर्श हैं हमे उस आदर्श तक पहुँचना है अत हमारा ध्यान सदैव उस आदर्श पर रहना चाहिए

जड होने के कारण अजन की इच्छा नही होती कि अमुक व्यक्ति मुझे सेवन करता है, इसलिए उसकी दृष्टि निर्मल कर

'एन एनसाईक्लोपीडिया आफ रिलीजन'[1] में चार्ल्स एस ब्रेडन जैनधर्म सम्बन्धी परिच्छेद में लिखते हैं 'कि जैनधर्म स्पष्ट ही बौद्धधर्म से कुछ पुराना है और उसका प्रारम्भ छठी शताब्दी से बहुत पहले का माना जा सकता है जैनधर्म में हिन्दू धर्म के कर्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त को कुछ परिवर्तित रूप में अपनाया गया है विश्व के किसी भी अन्य धर्म की अपेक्षा जैनधर्म में 'अहिंसा' या किसी को कष्ट न देने के सिद्धान्त को सर्वाधिक प्रमुखता दी गई है जैनधर्मानुयायियों के मंदिर बहुत ही आकर्षक एवं विश्व के अन्य मतानुयायियों के पूजास्थलों की अपेक्षा भव्य होते हैं वास्तुकला की दृष्टि से भी उनका अलग महत्त्व है कोई भी अपरिचित व्यक्ति उन्हें प्रथम बार देखकर सहसा स्तंभित रह जाता है

विश्वप्रसिद्ध अमेरिकी पाक्षिक पत्रिका 'लाइफ' में समय-समय पर जो लेखमालाएं प्रकाशित होती हैं बाद में अधिकांश का प्रकाशन सदर्भ-ग्रन्थ के रूप में भी होता है १९५१ में इन पत्रिका के संपादकों की ओर से 'वर्ल्ड्स ग्रेट रिलीजियन्स'[2] नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था वैसे तो इस ग्रंथ में प्रायः सभी धर्मों के सम्बन्ध में लम्बे-लम्बे सचित्र लेख दिये गए हैं तथा विश्व के अनेक धर्मों का परिचय अलग-अलग परिच्छेदों में है कम संख्या वाले मतानुयायियों का परिचय एक प्रारम्भिक परिच्छेद में दिया गया है इसी परिच्छेद में जैन सिख और पारसी धर्मों के लिए भी एक-एक पैराग्राफ दिया गया है

अन्य प्रसिद्ध लेखकों के समान 'लाइफ' के संपादकों के मत से भी जैनधर्म का प्रारम्भ ईसापूर्व छठी शताब्दी में हिन्दूधर्म की बुराइयों के विरुद्ध एक आंदोलन के रूप में हुआ था एक शब्द में जैनधर्म का मुख्य सिद्धान्त 'अहिंसा' है जिसे बहुधा जैन लोग इस सीमा तक मानते हैं कि पाश्चात्य वातावरण में पले लोगों को हास्यास्पद सा जान पड़ता है ऐसी स्थिति में यह समझने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि जैन लोग गांधीजी को किस प्रकार अपने मत का अनुयायी मानने का दावा करते हैं

'लाइफ के मत से जैनत्व धर्म की अपेक्षा 'नीति' अधिक है भले ही जैनियों के अपने तीर्थंकर हों विशाल मन्दिर हों तथा उनमें वे पूजन-अर्चन करते हों आधुनिक युग में जैनधर्म एक नए रूप में विश्व के समक्ष आ रहा है विश्व बन्धुत्व तथा युद्ध की समाप्ति की पृष्ठभूमि में जैनधर्म का अपना अलग महत्त्व है तथा रहेगा

दी न्यू शेफ—हर्जोग एनसाईक्लोपीडिया ऑफ रिलीजियस नालेज'[3] में श्री ज्याफ्र डब्ल्यू गिसमोर ने जैनधर्म के संबन्ध में लिखा है कि जैनधर्म के संस्थापक पार्श्वनाथ थे जिन्होंने यद्यपि एक स्वतंत्र विचारधारा को जन्म दिया पर वह विचारधारा उनके बाद दो शताब्दी तक कार्यशील नहीं हो पाई उनकी इस विचारधारा को आगे बढ़ाने का श्रेय महावीर को है जो उनके करीब २५ साल बाद हुए

इसके बाद जैनधर्म एवं बौद्धधर्म की समानता बतलाते हुए लेखक ने मुख्यरूप से अहिंसा का उल्लेख किया है और यह ठीक ही लिखा है कि 'दोनों धर्मों में अहिंसा मुख्य सिद्धान्त होते हुए भी जैनधर्म इस अर्थ में अधिक महत्त्व रखता है कि अहिंसा के सिद्धान्त को जैन लोग जिस कट्टरता से मानते हैं और उसका व्यवहार में जितना प्रयोग करते हैं उतना बौद्ध लोग नहीं इसका प्रमाण केवल इस तथ्य से मिल जाता है कि जैन मुनि अहिंसा का पालन करने में इतने आगे बढ़े हुए हैं कि वे अपने मुंह पर हमेशा एक पट्टी बांधे रहते हैं ताकि सांस लेने या बाहर निकालने में किसी जीव की हत्या न हो जाए इसी प्रकार जब वे उठते-बैठते या सड़क पर चलते हैं तो एक छोटा सा झाड़ू[4] साथ में लिए रहते हैं जिससे वे रास्ता साफ करते चलते हैं और इस प्रकार किसी सम्भावित हिंसा से बचे रहते हैं

---

१ Encyclopedi of Religion edited by vergilius Ferm (New york Philosophical Library 1945)

Wo ld s G eat rel gions by the editors of Life' International

३ The New Schaff Herzog encyclopedia of religious Knowledge, edited by Samuel Macaulay Jackson (Baker Book House Michigan,1050

४ लेखक का आशय रजोहरण से है जो पाद उन का होता है —सम्पादक

महेन्द्र राजा
एम० ए०, डिप० लिप-एस-सी०, एफ० एल० ए० (लदन)

कुछ विदेशी लेखकों की दृष्टि में
जैनधर्म एवं भगवान् महावीर

लगभग ७ वर्ष तक इग्लैड के सार्वजनिक पुस्तकालयो के सपर्क मे रहने के बाद मुझे आज यह लिखने मे जरा भी सकोच नही कि भारत और भारतीयो के विषय मे जितनी पुस्तकें अग्रेजी मे प्रकाशित हुई हैं, उतनी हिन्दी तो बहुत दूर, भारत ही नही, ससार की भी किसी अन्य भाषा मे उपलब्ध नही होगी इतना होने पर भी अग्रेजी मे प्रतिवर्ष भारत सम्बन्धी २०-२५ पुस्तकें प्रकाशित होती ही रहती है इन पुस्तको के रचयिता कोई ऐरे-गैरे लोग नही होते जो इग्लैंड या युरोप मे रहते हुए भारत के सपने देखते रहते है और फिर भारत के सबध मे इधर उधर से कुछ पढकर स्वय के नाम से कोई पुस्तक तैयार कर लेते हैं इन पुस्तको के लेखक वस्तुत वे लोग होते हैं जिन्हे भारतीय परिवारो के सपर्क मे आने का भले ही कोई अवसर न मिला हो, पर उन्होने भारत के बाहरी रूप को अच्छी तरह देखा है

आज अग्रेजी के उपलब्ध प्रकाशित साहित्य की स्थिति यह है कि आपको प्राय प्रत्येक विषय की पुस्तक मिल जाएगी कुछ विषयो के एक-एक अग पर बडे-बडे ग्रथ प्रकाशित हो चुके हैं किसी भी देश का इतिहास, सस्कृति, धर्म, आचार-विचार, आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था आदि के सम्बन्ध मे उस देश की किसी भाषा मे भले ही कोई पुस्तक न मिले, पर यदि आप अग्रेजी साहित्य की ओर दृष्टि करें तो आपको शायद ही निराश होना पडे

सूचीकार एव वर्गीकार (Cataloguer and classifier) के रूप मे कार्य करते हुए प्रतिवर्ष लगभग दस हजार से ज्यादा पुस्तकें मेरे हाथ स गुजरती है इन पुस्तको मे मैंने उपन्यास एव कथासाहित्य की पुस्तके सम्मिलित नही की हैं इतनी अधिक पुस्तकें पढने का अवसर भले ही न मिला हो पर इन पुस्तको की विषयवस्तु, उनके लेखक का परिचय, उनकी उपादेयता, विषय-विश्लेषण आदि को समझने का अवसर अवश्य मिला है इसके अतिरिक्त कभी-कभी पुस्तक के किसी अध्याय मे अकस्मात् भारत सम्बन्धी कोई बात नजर आ गई तो फिर उत्सुकतावश उसे पढने का मोह भी सवरण नही कर पाया हूँ

इस प्रकार अपने कार्य के दौरान मे मेरे हाथो से ऐसी अनेक पुस्तकें गुजरी हैं जिनमे यथावसर भगवान् महावीर एव जैन धर्म सम्बन्धी चर्चा भी आई है इन पुस्तको के जैनधर्म सम्बन्धी अध्यायो या पेरेग्राफो को मैंने रुचिपूर्वक पढा है उन्हे पढ कर कई बार मेरे मन मे यह इच्छा हुई कि मैं "विदेशी लेखको की दृष्टि मे जैनधर्म एव महावीर" शीर्षक एक लेख लिख डालू, पर आलस्यवश ऐसा नही कर सका पिछले वर्ष जब श्री हजारीमल स्मृति-ग्रथ के लिए किसी लेख की माग की गई तो अकस्मात् ही मुझे उक्त विषय स्मरण हो आया और मैं इस लेख की तैयारी करने लगा

अभी तक मुझे जितनी भी पुस्तको मे जैन धर्म सम्बन्धी उल्लेख देखने को मिले है, उन सभी के लेखक इस मत से सहमत है कि जैनधर्म बौद्धधर्म से पुराना है पर इन दोनो ही धर्मों का विकास एव उत्थान छठी शताब्दी मे विशेष रूप से हुआ प्राय सभी लेखक इस मत के भी हैं कि ये दोनो धर्म ब्राह्मणत्व के विरोध मे उठे और अपने उद्देश्य मे बहुत कुछ सफल भी हुए

हिन्दू देवताओं को जैन लोग भी पूजते हैं तथा जैनियों के यहाँ जन्म मृत्यु व शादी के अवसर पर विविध संस्कारों के लिए ब्राह्मणों को भी बुलाया जाता है

इसके बावजूद भी Theism से जैनधर्म ने कभी समझौता नहीं किया जैन धर्म जैसा आज से करीब ढाई हजार वर्ष पूर्व था वैसा ही अपने उसी मूल रूप मे आज भी है

यद्यपि संख्या में जैन लोग भारत के अन्य किसी भी धर्म के मतानुयायियों की अपेक्षा कम हैं पर भारत के धनिक सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन म ये बड़े ही प्रभावशाली रहे हैं इसका मुख्य कारण इनकी सम्पन्नता इनका अनुभव एवं शिक्षा का उच्च स्तर है इस बात की किंचित् भी सम्भावना नहीं की जानी चाहिए कि ये लोग हिन्दुत्व के विशाल सागर में समाकर अपना स्वतन्त्र अस्तित्व समाप्त कर देंगे

इनके अहिंसा सिद्धान्त का आधुनिक भारत पर जो प्रभाव पड़ा है उसका पूरा-पूरा श्रेय उन्हें नहीं मिल सका है महात्मा गांधी के जीवनदर्शन पर जिन कुछ मुख्य बातों के प्रभाव का अभी तक पता चल सका है उसमे जैनधर्म का प्रमुख स्थान है अपनी युवावस्था में ही गांधीजी जैन साधुओं से प्रभावित हो चुके थे इस बात में कोई संदेह नहीं कि गांधीजी का अहिंसा का सिद्धान्त वस्तुत जैन धर्म की ही देन है तथा इस बात के लिए गांधीवादी जैनियों के सदा ऋणी रहेंगे

करीब दो वर्ष पूर्व बालकों के लिए उपयोगी एक छोटी सी पुस्तक यहाँ प्रकाशित हुई थी इस पुस्तक का नाम है एनसियेण्ट इण्डिया'[1] और इसके लेखक हैं श्री ई रायस्टन पाइक १३ से १५ वर्ष तक के बालकों के लिए लिखित इस पुस्तक मे प्राचीन भारत का परिचय १ परिच्छेदों में दिया गया है इसमें से एक परिच्छेद भगवान् महावीर के सम्बन्ध में है जिसका शीर्षक है दी प्रिंस हू बिकेम ग्रेट हीरो The prince who became great hero (अर्थात् वह राजकुमार जो महावीर बना) 'ग्रेट हीरो' वस्तुत महावीर का ही अंग्रेजी अनुवाद है पर मैं समझता हूँ कि हिन्दी मे 'महावीर का जो शाब्दिक अर्थ होता है, अंग्रजी मे ग्रेट हीरो' का अर्थ उससे कही अधिक प्रभावोत्पादक है ऐसा लिखने का मेरा अभिप्राय मात्र इतना ही है कि इस पुस्तक के लेखक की दृष्टि में महावीर का स्थान काफी ऊंचा है

जैसा कि मै पहले लिख चुका हूं उक्त पुस्तक प्राचीन भारत से संबन्धित है अत भगवान् महावीर सम्बन्धी इस परिच्छेद मे भी तत्कालीन भारतीय पृष्ठ भूमि में ही भगवान् महावीर का विवरण दिया गया है

लेखक ने बड़ी ही सरस एवं सुबोध शैली में पहले महावीर के समय के भारत का परिचय देते हुए बिम्बसार अजातशत्रु, वैशाली कोशल आदि का विवरण दिया है अजातशत्रु का उल्लेख करते हुए लेखक ने लिखा है कि उसने महावीर और बुद्ध दोनो के दर्शन किये थे और वह उनसे काफी प्रभावित भी हुआ था

महावीर के अवतरण के पूर्व सर्वत्र हिंसा का बोलबाला था पशुबलि चरम सीमा पर थी मंदिरों मे इस कार्य के लिए विशेष स्थान नियत कर दिये गए थे और देवताओं के नाम पर प्रतिदिन अनेक मूक पशुओं की बलि दी जाती थी जातिवाद की प्रथा भी उन दिनों इस प्रकार व्याप्त थी कि कुछ इने गिने लोगों को छोड़कर अधिकांश का जीवन बड़ी विपन्न अवस्था म बीतता था केवल ब्राह्मणों को ही वेद पढ़ने-पढ़ाने या तत्सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार था इतना ही नही भगवान् की पूजा—आराधना भी हर कोई नही कर सकता था केवल ब्राह्मणों की कृपा से ही कोई व्यक्ति किसी प्रकार का धार्मिक कार्य कर सकता था इसका एक मुख्य कारण यह भी था कि उन दिनों ब्राह्मणों ने धर्म को इतना जटिल बना दिया था धर्म सम्बन्धी प्रत्येक क्रियाकलाप ऐसी-ऐसी रूढ़ियों एवं संस्कारों से ग्रसित कर

[1] Ancient India by E Royston Pike (London, Weidenfeld and Nicolson 1961) Young enthusiast library The young historian series. No. 5

बाद मे जैनधर्म एव ब्राह्मण धर्म की समानता का विलक्षण उदाहरण देते हुए लेखक ने जैनधर्म का मूल ब्राह्मण धर्म मे बतलाया है लेखक का मत है कि जैनधर्म का अधिकाश आचार-विचार ब्राह्मण धर्म पर आधारित है उदाहरणत ब्राह्म ण धर्म मे साधुओ को वर्षाकाल मे विहार करना मना है तथा किसी एक स्थान पर निश्चित काल से अधिक समय तक ठहरने का भी निषेध है यही बात जैन धर्म मे भी है ब्राह्मण एव जैन धर्म दोनो मे ही साधुओ को केश न कटवाने का विधान है तथा दोनो ही धर्मों मे पानी छान कर पीने तथा साधुओ को साथ मे एक भिक्षापात्र रखने का नियम है अत जैनधर्म को ब्राह्मण धर्म के विरोध मे खडे दो आन्दोलनो मे से एक ही माना जा सकता है, जैनधर्म की नीव, विचारधारा एव आचार-विचार का आधार ब्राह्मण धर्म ही है"

कहने की आवश्यकता नही कि लेखक के उक्त मत से विशेषकर 'पानी छानकर पीने की बात' से शायद ही कोई व्यक्ति सहमत होगा अहिंसा के समान ही पानी छानकर पीने की बात भी जैनधर्म की अपनी विशेषता है तथा उसका उद्देश्य भी अनावश्यक हिंसा से बचाव ही है आज तक ऐसा कही कभी सुना या पढा नही गया कि ब्राह्मण धर्म मे भी पानी छानकर पीने का एक आवश्यक नियम बतलाया गया है

जैनधर्म को इतनी जल्दी महत्त्व कैसे मिल गया तथा महावीर को अपने सिद्धातो का प्रचार करने मे इतनी अधिक सफलता क्यो मिली, इसका समाधान भी लेखक ने अपनी विलक्षण सूझ-बूझ से किया है लेखक का मत है कि चूकि महावीर को समाज मे महत्त्व प्राप्त था तथा धनी लोगो से उनका परिचय था अत उन्हे उन सभी का सहयोग आसानी से प्राप्त हो गया दूसरी ओर उनके सरल जीवन एव विचारधारा से निम्न वर्गों के लोग भी उनकी ओर आकर्षित हुए जैनधर्म को ब्राह्मण धर्म के विरोध मे सफलता केवल इसीलिए मिली कि जैनधर्म ने सभी वर्गों के लिए अपना द्वार खोल दिया और तथाकथित जातिवाद को कोई प्रश्रय नही दिया

जैनधर्म के सिद्धातो का जितना स्पष्ट, निष्पक्ष एव सही सही परिचय लदन विश्वविद्यालय के प्रोफेसर श्री ए० एल० बाशम ने 'कान्साइज एन्साइक्लोपीडिया आफ लिविंग फैथ्स' मे[१] दिया है, वैसा सभवत अब तक कोई अन्य आधुनिक लेखक नही दे पाया है

श्री बाशम का मत है कि हिन्दू धर्म से अपने आपको अलग एव स्वतन्त्र माने जाने का जितना दावा बौद्ध धर्म का है, करीब उतना ही, बल्कि उससे कुछ अधिक ही, दावा जैन धर्म का भी है

जैन धर्म प्रारम्भ से ही विशुद्ध रूप मे एक भारतीय धर्म रहा है बौद्धधर्म के विपरीत जैन धर्म Theism से कभी समझौता नही किया और वह अपनी जन्मभूमि मे ही फलता-फूलता रहा बौद्ध धर्म यदि जीवित रह सका तो इसका मुख्य श्रेय उन बौद्ध मठो को मिलना चाहिए जो बाद मे मुस्लिम आक्रमणकारियो द्वारा नष्ट कर दिये गये इसके विपरीत जैनधर्म यदि जीवित रह सका तो केवल उन इने-गिने शिक्षित एव सुसस्कृत अनुयायियो के कारण जो अपने भिक्षुओं के कडे आचरण के कारण उनसे प्रभावित रहे तथा अपने सिद्धान्त एव विश्वास पर दृढ रहे जैन धर्म के सिद्धान्तो को उन्होंने अपने जीवन मे उतारा इन थोडे से धर्मभक्त नागरिको एव उनकी भावी पीढी ने आज तक जैन धर्म को जीवित रखा है

लेखक का मत है कि जैन धर्म का आत्मा एव मोक्ष का सिद्धान्त हिन्दुओ के साख्यदर्शन से बहुत कुछ मिलता-जुलता है और इस बात की भी सम्भावना की जा सकती है कि जैन एव साख्यदर्शन दोनो का ही आधार कोई एक प्राचीन मूल सूत्र रहा हो अन्य धर्मों की अपेक्षा जैन धर्म की एक मुख्य विशेषता यह है कि इस धर्म ने ही सर्व प्रथम यह मत प्रतिपादित किया कि सपूर्ण विश्व जीवमय है

वैसे देखा जाय तो अब बहुत कुछ बातो मे जैन धर्म ने हिन्दू धर्म से अप्रत्यक्ष रूप मे समझौता कर लिया है कुछ

---

१ Concise encyclopedia of living faiths, edited by R C Zaehner (London, Hutchinson, 1959)

दिया गया था कि उन विधि-विधानो की क्रिया ब्राह्मणों के अतिरिक्त और कोई नही जानता था ब्राह्मणो के अभाव मे किया गया कोई भी कार्य व्यर्थ और महत्त्वहीन समझा जाता था.

ब्राह्मणो की ही इच्छानुसार देश मे स्थान-स्थान पर कुछ ऐसे स्थल नियुक्त कर दिये गए थे जहा बडे समारोह के साथ पशुबलि दी जाती थी ब्राह्मणो ने जनसाधारण के मन मे ऐसी धारणा उत्पन्न कर दी थी कि भगवान् बलि से प्रसन्न होते है उनका ऐसा कहना सच हो या नही, पर यह निर्विवाद है कि धर्म की आड लेकर उस समय ब्राह्मण लोग अनेक प्रकार से अपना स्वार्थ साधन करते थे

ब्राह्मणो का इस प्रकार का बाह्य आडम्बर और भ्रष्टाचार देखते-देखते जब लोग तग हो गए, लगातार बलि के दृश्य देखते-देखते जब लोगो के मन मे भी कुछ समझ आई तो यह स्वाभाविक था कि उनके हृदय मे ब्राह्मणो के एकाधिकार के विरुद्ध भावना जागृत हो पर इतना ही पर्याप्त नही था ईसापूर्व छठी और ५वी सदी मे लोगो के मन मे धर्म और दर्शन के प्रति आस्था बढ रही थी और लोग स्वय इन बातो मे रुचि लेने लगे थे 'ब्राह्मणवाक्य प्रमाणम्' मानने के लिए अब वे तैयार नही थे अब वे प्रत्येक बात के विषय मे क्यो और कैसे ?' कहा व क्या ? आदि प्रश्न पूछने लगे थे

जब ब्राह्मण लोग उनकी इस जिज्ञासा का समाधान नही कर सके तो उनके मन मे ब्राह्मणो के प्रति अविश्वास और अश्रद्धा हो उठी ऐसे ही समय महावीर का अवतरण हुआ

'महावीर' शब्द का अर्थ है 'ग्रेट हीरो' (Great hero) यह उपाधि उन्हे उनके अनुयायियों द्वारा दी गई है उनका असली नाम वर्द्धमान था तथा उनका जन्म गणतन्त्र की राजधानी वैशाली के लिच्छवि वश मे हुआ था कुछ लोगो का यह भी मत है कि वे वैशाली-नरेश के नाती थे तथा कुछ लोग राजा बिम्बसार से भी उनका सबध जोडते है महावीर का जन्म कब हुआ, इस सम्बन्ध मे लोगो मे मतभेद है पर आधुनिक अनुसधान के आधार पर उनका जन्म ई० पू० ५८० मे हुआ माना जाता है क्षत्रियवश मे जन्म लेने के कारण उनकी शिक्षा-दीक्षा भी तत्कालीन रीति-रिवाजो के अनुसार हुई शिक्षासमाप्ति के बाद युवावस्था मे उनका विवाह हुआ और उनको एक पुत्री भी हुई लेकिन महावीर एक महान् विचारक थे घर-गृहस्थी मे उनका मन अधिक समय तक नही रह सका तीस वर्ष की अवस्था मे वे अपनी पत्नी, पुत्री तथा घर-बार छोडकर कुछ ऐसे साधुओ के साथ चले गए जो पार्श्वनाथ के उपासक माने जाते थे[1] पार्श्वनाथ लगभग २५० वर्ष पूर्व हुए थे तथा वे जैनो के महापुरुषो की श्रेणी मे २३वें माने जाते हैं कहा जाता है कि उनके पूर्व २२ अन्य महापुरुष हो चुके थे

लगभग १२ वर्ष तक महावीर सारे देश मे इधर-उधर घूमते रहे अपनी दैनिक जीवन की आवश्यकताए उन्होने बहुत कम कर दी तथा वे तपस्या मे अधिक समय बिताने लगे कभी-कभी वे ध्यानावस्था मे कई दिनो तक भूखे-प्यासे रह जाते थे पहले तो वे कुछ वस्त्र पहने रहे पर कुछ समय बाद उन्होने सभी प्रकार के परिग्रह का त्याग कर दिया उन्होने वस्त्रो को भी अनावश्यक कहकर त्याग दिया कहा जाता है कि इसके बाद वे मृत्यु पर्यन्त निर्वस्त्र रहे

इस प्रकार रहते-रहते वे १३वें वर्ष मे जिन हो गए 'जिन' का अर्थ है 'विजेता' यह एक प्रकार से ठीक ही है, क्योकि इस अवधि मे उन्होने प्रत्येक विषय का ज्ञान प्राप्त कर लिया था और सभी प्रकार की मानवीय भावनाओ, आकाक्षाओं पर विजय प्राप्त कर ली थी इसी 'जिन' शब्द से ही जैन शब्द बना जो आज उनके अनुयायियो के लिए प्रयोग किया जाता है

महावीर यद्यपि जैन धर्म के सस्थापक नही थे, पर अन्य किसी व्यक्ति की अपेक्षा उन्होने ही इसके प्रसार-प्रचार मे सर्वाधिक योगदान दिया उन्हे 'तीर्थंकर' भी कहा जाता है उनके पहले २३ तीर्थंकर हो चुके थे, अत उन्हे २४वा

---

१ महावीर ने कुछ साधुओं के साथ नहीं, एकाकी ही अभिनिष्क्रमण किया था और दीर्घ काल तक वे एकाकी ही साधनानिरत रहे थे, यह तथ्य इतिहास से प्रमाणित है किन्तु यहाँ श्रीपाठक के विचार दिये जा रहे हैं —सम्पादक

लेखकों के समान इस लेख का लेखक भी यह मानता है कि पहले के २२ तीर्थंकर भले ही पौराणिक चरित्र हों पर पार्श्वनाथ एवं महावीर वास्तविक व्यक्ति थे पहले २२ तीर्थंकर कहाँ तक ऐतिहासिक है यह विचार का विषय है श्वेताम्बर दिगम्बर विवाद पर कुछ विचार करते हुए तथा तत्सम्बन्धी ऐतिहासिक तथ्यों की पुष्टि अपुष्टि पर अपना मत व्यक्त करते हुए लेखक ने जैन साहित्य की अलभ्यता पर खेद प्रकट किया है लेखक का मत है कि जैन साहित्य प्रचुर मात्रा में अस्तित्व में है पर उसका अधिकांश अभी तक अप्रकाशित है तथा आलमारियों में बन्द है इसी कारण जन-साधारण को इस संबंध में अधिक जानकारी नहीं हो सकी

लेखक का मत है कि जैन वास्तुकला विशेषकर मन्दिरनिर्माणकला की अपनी अलग शैली है इस कला में जैनियों से आगे बढ़ना अन्य किसी के लिए कठिन है यद्यपि कुछ जैन गुफा मन्दिरों एवं स्तूपों पर बौद्ध-शैली का प्रभाव है पर पत्थरों पर खुदाई की कला को उन्होंने चरम सीमा पर पहुँचाया था जिस पर अब तक अन्य कोई नहीं पहुँच सका है

एक छोटे से लेख में यह संभव नहीं कि अंग्रेजी में प्राप्त प्रत्येक ऐसे ग्रन्थ का संदर्भ दिया जा सके जिसमें जैन धर्म या महावीर संबंधी कुछ चर्चा हो पाठकों की सुविधा के लिए इस लेख के अन्त में कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रकाशनों का विवरण दिया गया है जिनमें जैन धर्म सम्बन्धी चर्चा विस्तार से की गई है इच्छुक व्यक्तियों को उन्हें देखने का प्रयत्न करना चाहिए यहाँ उपसंहार के रूप में मैं अमेरिका में प्रकाशित एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'दी आर्कियोलाजी आफ वर्ल्ड रिलीजियन्स'[१] का उल्लेख करने का मोह संवरण नहीं कर पा रहा हूँ

इस पुस्तक में करीब १ पृष्ठों में जैन धर्म एवं महावीर सम्बन्धी विवरण तथा विषय से सम्बन्धित करीब २ चित्र दिये गए हैं अभी तक मुझे जैन धर्म सम्बन्धी जितने भी ग्रंथ देखने को मिले हैं उनमें सबसे अधिक विस्तृत एवं स्पष्ट विवरण इसी ग्रंथ में देखने को मिला है

विद्वान् लेखक ने जैन धर्म सम्बन्धी प्रायः प्रत्येक प्रश्न पर जैन धार्मिक ग्रन्थों के आधार पर विचार किया है जैन धर्म के २४ संस्थापक विपुल जैन साहित्य सभी तीर्थंकरों का वर्ण चिह्न आयु, ऊँचाई काल तथा एक दूसरे के बीच की अवधि का उल्लेख करते हुए निष्कर्ष निकाला है कि एक के बाद दूसरे प्रत्येक तीर्थंकर की आयु एवं बीच की अवधि तथा ऊँचाई में क्रमशः कमी होती गई प्रारम्भिक कुछ तीर्थंकरों के सम्बन्ध में तो जैन साहित्य में ऐसे कल्पनातीत आँकड़े दिए गए हैं जो स्पष्ट ही अतिशयोक्तिपूर्ण माने जाएँगे पर लेखक का अनुमान है कि अन्य धर्मों के देवताओं के समान ये भी पौराणिक चरित्र ही हैं

अन्तिम दो तीर्थंकरों के विवरण सहज सामान्य मानते हुए लेखक का मत है कि केवल पार्श्वनाथ एवं महावीर को ही ऐतिहासिक चरित्र माना जा सकता है तथा उन्हें ही इस धर्म का संस्थापक माना जाना चाहिए

यद्यपि पार्श्वनाथ के संबंध में लेखक का मत है कि अधिकांश बातें बढ़ा चढ़ाकर कही गई हैं पर वह यह स्वीकार करता है कि पार्श्वनाथ के जीवन की घटनाएँ तत्कालीन भारतीय सामाजिक स्थिति देखते हुए सत्य हो सकती हैं तथा उनके संबंध में जो कुछ लिखा गया है अधिकांश ऐतिहासिक माना जा सकता है

इसके बाद पार्श्वनाथ एवं महावीर की जन्मतिथि एवं काल जैनधर्म के मूल सिद्धान्त जैनधर्म के आधार पर विश्वरचना कालक्रमानुसार विश्व विवरण जीव अजीव पुण्य-पाप आस्रव आदि का विस्तृत परिचय धर्म का विश्लेषण भारतीय इतिहास की पृष्ठभूमि में जैनधर्म का विकास प्रचार, शिशुनाग नन्द काल मौर्यकाल कुषाणकाल गुप्तकाल तथा मध्यकाल में जैनधर्म के इतिहास पर अलग अलग परिच्छेदों में विचार किया गया है

जैन धर्म का इतिहास तथा उक्त सभी कालों में जैन वास्तु एवं चित्रकला का जितना विशद विवरण इस पुस्तक में दिया

---

१ Finegan Jack The archeology of world Religions (Princeton, princeton university press 195)
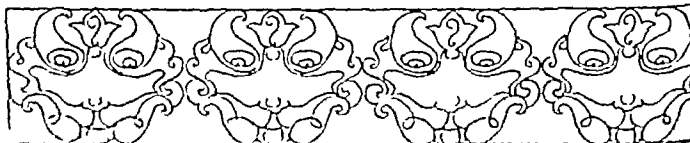
करीब दो हजार वर्ष से भी अधिक समय पहले एक उच्च क्षत्रिय वंश के राजकुमार ने साधारण जन की भांति रहकर जनसाधारण को इतना अधिक प्रभावित किया और उन्हें ऐसा नैतिक उपदेश दिया कि उनके बाद से अब तक वह उपदेश अमिट रहा है संसार के सभी धर्मों में महावीर के सिद्धान्त किसी-न-किसी रूप में विद्यमान हैं जिस व्यक्ति ने 'आत्मा' का महत्त्व बतलाया, सरल और सादे जीवन पर जोर दिया, जिसने पशु-पक्षियों को भी मानव के समकक्ष रखा तथा यह बतलाया कि वे भी मानव के समान सुख-दुख का अनुभव करते है, उसे हम सर्वोच्च सम्मान व श्रद्धा नहीं दें तो फिर और किसे देंगे ?

एक ओर जहाँ श्री पाइक ने जैनधर्म एवं महावीर की प्रशंसा में इतना अधिक लिखा है, तथा बच्चों के लिए लिखी गई उक्त पुस्तक में जैनधर्म की बहुत प्रशंसा की है, तो दूसरी ओर अमेरिका में प्रकाशित कालेज स्तर की एक पाठ्य पुस्तक में केवल कुछ ही पैराग्राफों में जैनधर्म को नगण्य कर दिया गया है इस पुस्तक के लेखक हैं श्री जार्ज ए० बार्टन और पुस्तक का नाम है 'दी रिलिजियन्स आफ दी वर्ल्ड'[१] श्री बार्टन लिखते हैं—बौद्धधर्म के समान ही जैनधर्म भी ब्राह्मण धर्म के विरोध से एक आंदोलन के रूप में प्रारम्भ हुआ जहाँ तक ईश्वरों का प्रश्न है, महावीर गौतम से भी बढ गए गौतम ईश्वरों का अस्तित्व मानते थे लेकिन उनकी पूजा के हिमायती नहीं थे महावीर ईश्वरों को मानते ही नहीं थे पर गौतम के समान पुनर्जन्म एवं कर्म के सिद्धान्त को उन्होंने माना

जैनधर्म के ५ मुख्य (आचारसबधी) सिद्धान्त हैं, जिनके आधार पर उसके अनुयायियों को हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह से बचाने का प्रयास किया गया है यद्यपि बौद्धधर्म में भी कुछ इसी प्रकार के ५ नियम हैं, पर यह कहना गलत होगा कि जैन धर्म ने उन्हें बौद्धधर्म से लिया या बौद्धधर्म ने जैनधर्म से प्रसिद्ध लेखक जैकोबी[२] के मतानुसार इस बात की सभावना अधिक है कि दोनों पर हिन्दू धर्म का प्रभाव पड़ा

जैन लोग अहिंसा के सिद्धान्त को इतना अधिक आगे मानते हैं कि वे (मनुष्येतर) जीवहत्या को भी बहुत ही बड़ा मानते हैं शायद यही कारण है कि भारत के प्रत्येक ग्राम और नगर में, जहाँ जैनियों की कुछ बस्ती है, कोई न कोई पशु-चिकित्सालय अवश्य है

ई० डब्ल्यू० होपकिन्स[३] तो जैन धर्म को धर्म ही नहीं मानते उनका कहना है कि जो धर्म ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करता वरन मानवपूजा का हिमायती है, उसे जीवित रहने का कोई अधिकार नहीं

"एन्साईक्लोपीडिया अमेरिकाना"[४] में जैन धर्म को भारत के बहुत से धर्मों में से एक मानते हुए लेखक का मत है कि केवल अहिंसा के कारण ही जैन धर्म का जन्म व विकास हुआ मुख्य ब्राह्मणों की बलिप्रथा के विरोध में जन्मे इस धर्म ने लोगों को शीघ्र ही आकर्षित किया और इसी का परिणाम है कि भारत में अधिकांश पशुचिकित्सालय जैनधर्मावलम्बियों द्वारा खुलवाए गए हैं जैन मन्दिरों की प्रशंसा में लेखक ने लिखा है कि वे अत्यन्त सुन्दर चित्ताकर्षक, भव्य एवं वास्तुकला की दृष्टि से उच्चकोटि के होते हैं जैनियों की अपनी स्वतन्त्र वास्तु कला है

"एन्साईक्लोपीडिया ब्रिटानिका"[५] में लेखक ने जैनियों को भारत का एक महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय माना है अपनी सपन्नता के कारण जैन लोग अपनी सख्या की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली हैं

"ब्रिटानिका' के लेखक को यह मानने में कोई आपत्ति नहीं कि जैनधर्म बौद्धधर्म की अपेक्षा कुछ पुराना है अन्य

---

१ Barton, George A The Religions of the world (Chicago, University of Chicago Press, 1919) 2nd edition
२ Jacobi, H in "Sacred Books of the East Vol xxii
३ Hopkins E W Religions of India (Bostan,1895)
४ Encyclopedia Americana vol Xv, 1958 edition
५ Encyclopedia Brittanica vol XII 1961 edition

मुनिश्री भीमसवजी
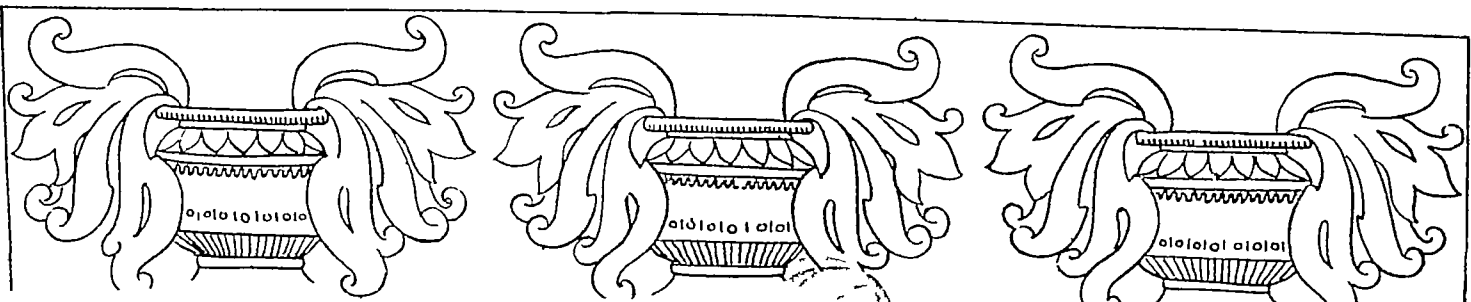
आर्हत आराधना का मूलाधार सम्यग्दर्शन

सम्पूर्ण मानवसभ्यता विकासक्रम का सुपरिणाम है मानवजाति के आज तक के रूप पर यदि दृष्टिपात किया जाय तो क्रमिक विकास की अजस्र प्रवाहित होनेवाली स्रोतस्विनी का दर्शन दिग्दर्शन किया जा सकता है विकास की गति सीमिता स्वय मानव पर ही निर्भर रही है उसकी आवश्यकताओ एव आकांक्षाओके साथ उसका अविच्छिन्न सम्बन्ध है समस्त धम दर्शन और सस्कृति इसी शाश्वत प्रक्रिया के अग है केवल धम दर्शन और सस्कृति ही क्यों समस्त मानव ज्ञान विज्ञान ही इसी प्रक्रिया क अन्तगत है

प्रत्येक युग मे इनका स्वरूप भिन्न-भिन्न परिलक्षित होगा स्थिति काल और वातावरण के अनुसार हर युग इनका सजन करता रहा है मिट्टी मिट्टी है पर कलाकार अपने मनोभावो के अनुसार उसे विभिन्न रूप देता रहता है सृजन की यह प्रक्रिया सदैव गतिशील रही है कभी मद तो कभी तीव्र यदि यो कहा जाय तो अधिक स्पष्ट होगा कि मनुष्य ने अपने निर्माण क लिए समस्त ज्ञान-विज्ञान का सृजन किया है धर्म दर्शन और सस्कृति भी मानव क मस्तिष्क की सहज उपज है और इसका आविष्कार भी उसने अपने लिए ही किया है

भारतीय धर्म परम्परा में जीवन के प्रत्येक अनुष्ठान का केन्द्रबिंदु मनुष्य है धम दर्शन तथा सस्कृति के क्षेत्र में सदव मनुष्य ही उपास्य रहा है जिस धमक्रिया का फल मानवीय जीवन के लिए उपयोगी न हो वह न भारतीय सस्कृति के लिए अनुकूल है और न आधुनिक जीवनपद्धति के लिए उपादेय विज्ञान साहित्य कला राजनीति आदि की उपयोगिता की एक मात्र कसौटी मानव का प्रत्यक्ष परोक्ष लाभ है जीवन के इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण से जहाँ एक ओर मानव की प्रतिष्ठा बढी है वहाँ दूसरी ओर स्वर्ग की कल्पनाओ में खोये रहने वाले लोगो को धरती का कुशल-मंगल पूछने का पाठ पढना पडा है

आज क स ज्ञान-गहुवाले विश्व के समग्र विचारो का मध्य बिन्दु मानव के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नही है विश्व क्षितिज का प्रत्येक ग्रह-उपग्रह मानव रूपी केन्द्र के चारो ओर मडराता है विश्व की गति विधि का मूल आधार है मनुष्य

जो मनुष्य इतना महनीय और विश्वपरिधि का केन्द्र-बिन्दु है वह यथार्थ म है क्या ? हम इसे मिट्टी पानी भाप हवा आदि का समाय मात्र मानें ? क्या यह जल मे से उत्पन्न होने वाला और फिर जल ही में विलीन हो जाने वाला क्षण भगुर एक बुदबुद मात्र है ? नही मनुष्य मात्र वही नही है जो देखा जाता है उसम एक ऐसा अदृष्ट तत्त्व भी विद्यमान है जो इतर भी दृष्टिगोचर नही होता ।

इसी तत्त्व का अन्वेषण करने के लिए भारत मे कई ऋषि महर्षि एव आचाय उत्पन्न हुए इसी के साक्षात्कार के लिए उन्होने अपने जीवन तक को उत्सग कर दिया भारत मे जो भिन्न-भिन्न मत-मतान्तर तथा वाद दृष्टिगोचर होते है वे इसी अदृष्ट क साक्षात्कार का निर्देश कर रहे है

भारतवर्ष इसका भी विचारधारा के अनुसार मनुष्य मर्त्य और अमृत का सुन्दर सयोग है इसम कुछ ऐसा है जो बार-बार बनता है बिगडता है सडता है और मिटता है परन्तु साथ ही उसम कुछ ऐसा भी सन्निहित है जो न उत्पन्न

गया है उतना अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। इस पुस्तक के लेखक श्री फाइनगेन बर्कली (कैलीफोर्निया) में पेसिफिक स्कूल आफ रिलीजियन में लेक्चरर है

कुछ अन्य ग्रन्थ जिनका उल्लेख लेख में नहीं हो सका—

1. Brown, W. Norman The story of Kalka, Texts, History, Legends, and Miniature Paintings of the Svetambara Jain Hagiographical Work, The Kalkacharyakatha (Smithsonian Institution, Freer Gallery of Art. Oriental Studies 1)

2 Smith Vincent A · The Jain Stupa and other antiquities of Mathura (Archeological Survey of India, New Imperial Series, xx) 1901

Griffin, Lepel Famous monuments of Central India 1886

Macdonell, A A · India's past a survey of her literatures, languages and antiquities 1927

Brown, Noman Brown A descriptive and illustrated catalogue of the miniature paintings of the Jain Kalpasutra as executed in the early Western Indian style

(Smithsonian Institution, Freer Gallery of Art, Oriental studies, Vol 2) 1934

Brown, W Norman Manuscript illustrations of the Uttradhyayana Sutra reproduced and described (American Oriental Series 21) 1941

Moore, George Foot History of religions International Theological Library 1919-1920

का साध्य नहीं बनता. भोग से योग की ओर अग्रसर होने में ही उसकी सफलता है. वह सदा अन्धकार से प्रकाश की ओर बढ़ने का विश्वास लेकर चलता है.[१] वह शरीर को मारता नहीं, साधता है. शरीर के बिना केवल शरीरी धर्म साधना नहीं कर सकता. शरीर का सम्यक् विकास करते हुए अन्तर्मुख होना ही आत्मवाद को अभीष्ट है.

आत्मतत्त्व इन्द्रियग्राह्य नहीं है. उस पर श्रद्धा कैसे की जाय, यही एक मुख्य प्रश्न है. इसे भौतिक व्यायाम के जरिये हम प्रत्यक्ष अनुभूति का विषय नहीं बना सकते. आत्मा की अनुभूति संवेदना से की जा सकती है. 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' ऐसी जो अनुभूति है, वह आत्म प्रत्यक्ष है. यह अनुभूति सिर्फ शरीर को नहीं हो सकती. शरीर पंच भूतों से बना हुआ है. इन पंच भूतों का जो उपयोग करता है, वही आत्मा है. कोई मनुष्य अन्धा हो जाय तो क्या उसे आँखों से देख न पाने के कारण पदार्थों का अनुभव नहीं होता? होता है. यह अनुभव करने वाला तत्त्व ही आत्मा की संज्ञा से अभिहित होता है. इन्द्रियों से भिन्न यह आत्मानुभव ही संवेदना का प्रधान अंग है.

रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द आदि आत्मा में नहीं हैं और इन्द्रियाँ रूप, रस, गंध, स्पर्शादि को ही ग्रहण करती हैं. इसीलिए आत्मा इन्द्रियों के प्रत्यक्ष दर्शन का विषय नहीं हो सकती. तथापि अन्तर-आत्मा में स्पष्ट रूप से अनुभूयमान जो संवेदना है, उसके द्वारा शरीर तथा इन्द्रियों से भिन्न आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को समझा जा सकता है.

आत्मा सत् स्वरूप है. उसका कभी विनाश नहीं होता. इसी प्रकार आत्मा चिद्रूप भी है. चिद्रूप का अर्थ ज्ञानमय होता है. आत्मा अपने आपको जानता है और संसार में जितने पदार्थ हैं, उन्हें भी जानने की क्षमता रखता है. यह क्षमता जड़ पदार्थों में नहीं होती.

श्रमण संस्कृति में आत्मवादी को सम्यक्-दृष्टि कहा गया है. सत्य-दृष्टि, सम्यक्-दृष्टि, सम्यक्-दर्शनी और सम्यक्त्वी ये पर्यायवाची हैं. इन सबको एक ही शब्द में कहना हो तो 'विवेक-दृष्टि' कहा जा सकता है. आत्मवादी विवेक-दृष्टा होता है. वह सत्य की उपासना, साधना और आराधना के लिए अपना सर्वस्व उत्सर्ग कर देता है.

सत्य ही लोक में सारभूत है.[२] जो मनुष्य सत्य का पालन करता है, वह मुनि होता है. सत्याचरण करने से जीवन में आत्मविश्वास, आत्म-सन्तोष तथा आत्म-शान्ति बढ़ती है. सत्यशोधक वस्तुस्थिति को जानने का प्रयत्न करता है. आत्मा ज्ञान का सदन है. ज्ञान मानवता का सार है. ज्ञान का भी सार सम्यक्त्व अर्थात् सच्ची आत्मश्रद्धा है.[३] सत्य शोधक के श्रद्धामय जीवन व्यापार में से सम्यक्त्व फलित होता है. सम्यक्त्वी के लिए सत्य सत्य है. वह सत्य अपने शास्त्रों में है तब भी उपादेय है और यदि वह पर शास्त्रों में है, तब भी उपादेय है. सम्यक्त्वी के लिए सत्य की साधना ही भगवान् की आराधना है. सत्य ही भगवान् है. सत्याचरण में स्वत्व, परत्व की कल्पना तथा आग्रह सबसे बड़ा मिथ्यात्व है. सत्य दृष्टि प्रतिकूलता में अनुकूलता का सृजन करती है. सत्य की आराधना करने वाले सम्यग्दृष्टि के लिए मिथ्याश्रुत भी सम्यक्श्रुत बन जाते हैं.[४] सत्यसाधक राग-द्वेषात्मक संसार से पार हो जाता है.[५]

सत्य को पहचानने तक पाने के लिए अनेकान्तदृष्टि की नितान्त आवश्यकता है. पूर्वाग्रही व्यक्ति सत्य के यथार्थ रूप को पहचानने में असमर्थ रहता है. उसका एकान्त दृष्टिकोण सत्य के समस्त पहलुओं पर ध्यान केन्द्रित नहीं होने देता है और इस प्रकार वह समग्र सत्य का साक्षात्कार नहीं कर पाता. अपनी स्थूल दृष्टि से भ्रम ही कोई व्यक्ति सत्य के अंश को

१ [illegible]
२ [illegible]
३ [illegible]
४ [illegible]
५ [illegible]
६ [illegible]
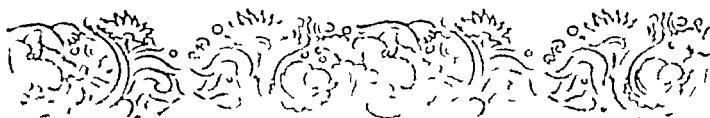
होता है, न विकृत होता है और न नष्ट ही होता है वह चिरतन सुन्दर है देह मर्त्य है और आत्मा अमृत मनुष्य का देहमूलक मर्त्य अश ही उसे पार्थिव जगत् मे सम्बद्ध रखता है भारतीय दर्शन का यह कथन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है कि "जब तक मर्त्य और अमृत अशो को ठीक से नही समझा जायगा एव उनका सम्यक् विकास नही किया जायगा तब तक मनुष्य अपूर्ण ही रहेगा"

यदि किंचित् सम्यक् दृष्टि से सोचा जाय तो कहा जा सकता है कि आदर्श और यथार्थ के कगारो मे जीवन-सरिता प्रवहमान होनी चाहिए इनका सम्यक् समन्वय ही जीवन को सत्यम् शिवम् सुन्दरम् से अभिहित कर सकता है यथार्थ और आदर्श, मर्त्य और अमृत का सयोग ही मानव जीवनको उन समस्त मानवीय मूल्यो से अवगत करा सकता है जिसने मनुष्य को देवतातुल्य बनाया है।

आज जिनकी सर्वाधिक आवश्यकता अनुभव की जा रही है वे यही मानवीय मूल्य है जो भौतिकता के अतिरेक मे प्राय नष्ट होते जा रहे है स्वार्थ, दम्भ, मोह एव तृष्णा ने आज इन्हे अपरूप बना डाला है, लिप्सा और वासना के आधिक्य ने विरूप कर दिया है

भोगवादी मनुष्य केवल अपने भौतिक स्वरूप को ही जानता-पहचानता है शरीर का सुख उसका सुख है शरीर का दुःख उसका दुःख है शरीर के ह्रास-विकास मे ही उसके ह्रास-विकास की सीमा है वह मानता है कि शरीर सुन्दर है तो वह सुन्दर है और यदि शरीर विकृत है तो वह भी विकृत है भोगवादी मात्र भोग के जाल मे आबद्ध रहता है वह सोचता है कि पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि आदि सब मेरे हैं और मैं उनका हू इन भूतो के सयोग से ही मेरा अस्तित्व है और इनका बिखराव ही मेरा मरण है भोगवादी अमृत अश को मानने से इन्कार करता है और मर्त्य अश को मानने के लिए इकरार करता है इसीलिए भोग-विलास, दैहिक सुख, अर्थ, काम इत्यादि उसके साध्य बन जाते है इन सबकी प्राप्ति और इनके उपभोग मे ही वह अपने जीवन की सार्थकता समझता है

पाश्चात्य राष्ट्रो मे इस दर्शन अथवा दृष्टि का चरम विकास हुआ है शायद सदियो की घुटन, कुठा, उत्पीडन, शोषण एव रक्तलोलुपता की यह प्रतिक्रिया है पाश्चात्य साहित्य एव इतिहास के अनुशीलन से यह और भी स्पष्ट हो जाता है यह सब वहा इसलिए सभव हुआ कि वहा मानव की वृत्तियो पर कोई प्रतिबन्ध नही लगाया गया

हमारे यहा नीति, धर्म, सभ्यता एव सस्कृति के आलोक मे उनको सस्कारित करने का प्रयत्न किया गया है इस प्रकार के प्रयत्न वहा स्वल्प दृष्टिगत होते हैं यह भी हो सकता है कि जिस प्रकार की भूमिका की उसके लिए अपेक्षा होती है वह शायद वहा नही बन पाई हमारे यहा तो हमारा आद्य इतिहास भी उसकी एक भूमिका है हमारे धर्माचार्य भी सदैव इसके लिए सजग रहे हैं

अध्यात्मवादी मनुष्य शरीर की सत्ता से इन्कार नही करता उसकी विवेक-दृष्टि शरीर के अन्त स्थित दिव्य अश का भी साक्षात्कार करती रहती है इसीलिए शरीर मे स्थित होने पर भी वह आत्मा को शरीर से भिन्न मानता है[1]

यह एक चेतन तत्त्व है यही चेतना प्राणीमात्र को सचालित करती है मानव के उद्भव मे इसी तत्त्व का सर्वाधिक योग है मानवीय उत्क्रान्ति के मूल मे भी यह समाहित है यही चेतना मानवी वृत्तियो को दुष्प्रवृत्तियो की ओर से पराङ्मुख कर शिवत्व की ओर उन्मुख करती है सामाजिक हित व श्रेय-मार्ग की ओर प्रेरित करती है स्व के अतिरिक्त अन्य का भी अस्तित्व है एव उसका सम्यक् ज्ञान भी इसी के आलोक का परिणाम है व्यक्ति समाज का अग है, समाज विराट् है अत यह व्यक्तित्व, यह सत्त्व समाज मे घुल-मिल कर एक रस हो जाना चाहिए अहम् से वयम् की यह प्रक्रिया इसका प्राण है

आत्मवादी के जीवन मे भोग-विलास आदि का अस्तित्व भी रहता है, परन्तु इनकी प्राप्ति एव उपभोग ही उसके जीवन

---

१ आया वि काया, अन्ने वि काया —भगवती सूत्र

मनु-संहिता में भी इसे परम तत्त्व के रूप में निर्दिष्ट किया है. महर्षि मनु कहते हैं कि सम्यग्दर्शन से सम्पन्न व्यक्ति कर्मबद्ध नहीं होता. संसार में परिभ्रमण वही करता है जो सम्यग्दर्शनविहीन होता है.[१] सम्यक्त्वी का जीवन-व्यापार गुणप्रधान होता है. आत्मा और जगत् के हित की दृष्टि से तर्कसंगत विचार कर जो किया की जाय वही सम्यक्त्वी का आधार है. सम्यक्त्वी का आधार पापप्रधान नहीं होता है.[२]

'मैं मनुष्य हूँ. जो कुछ मानवीय है उसे मैं अपने से पृथक् नहीं कर सकता.' सम्यक्त्वी में ऐसी अभेददृष्टि होती है. वह जल में रहकर भी कमलवत् निर्लिप्त रहता है. स्वादु भोजन, मधुर पेय, सुन्दर वसन, अच्छे अलंकार और भव्य भवन भी उसे पथभ्रष्ट नहीं कर सकते. सभी को अपने समान मानना और समतामय जीवन का विकास करना ही सम्यक्त्वी की पहिचान है.

सम्यक्त्वी को पहचानने के पाँच लक्षण हैं—सम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा और आस्तिक्य.

समता जीवनव्यवहार का एक मुख्य गुण है. जो पदार्थ, जो प्रवृत्तियाँ और दृष्टि मनुष्य को मनुष्य से पृथक् करती है, वह असमता की द्योतक है. सम्यक्त्वी भाषा, प्रान्त, जाति, धन, वर्ग, शास्त्र, ईश्वर, पंथ आदि किसी भी क्षेत्र में आवेश, आग्रह या पक्षपात के वशीभूत होकर असमता को मान्य नहीं कर सकता. जीवननिर्वाह के लिए जो आवश्यक पदार्थ हैं वे सारे समाज के लिए हैं. उन पर एकाधिपत्य स्थापित कर वैषम्य पैदा करना सम्यक्त्वी का लक्षण नहीं है. जो समभाव बाह्य जीवन को स्पष्ट करता है वही अन्तर्जीवन में 'समभाव' का रूप धारण कर लेता है. समभाव का अर्थ है उदय में आये हुए क्रोधादि कषायों को असफल करना. क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, घृणा आदि विकार किस में नहीं होते ? इनके परित्याग की बात श्रवण करने में सभी को अच्छी लगती है किन्तु आचरण में लाना अत्यन्त कठिन होता है. सम्यक्त्वी साधक उपशम से क्रोध को, विनय से मान को, सरलता से माया को, संतोष से लोभ को,[३] समभाव से ईर्ष्या को और प्रेम से घृणा को जीतने का अभ्यास करता है. क्योंकि क्रोध प्रेम का नाश करता है, मान विनय का, माया मित्रता का और लोभ समस्त सद्गुणों का घात करता है.[४] क्रोधादि विकार जीवन भर स्थिर रह जाए अथवा वर्षभर से भी अधिक रह जाए तो वे आत्मा के सम्यक्त्व गुण का घात कर सकते हैं. अतः इन पर विजय पाना ही सम्यक्त्वी की प्राथमिक साधना है. इसी साधना को प्रशम भी कहते हैं.

यह साधना व्यक्ति के लिए शीघ्र ग्राह्य हो सकती है किन्तु समष्टि के लिए कठिन सी प्रतीत होती है. हालांकि व्यक्तियों से ही समष्टि का निर्माण होता है. किन्तु समष्टि में विषमता होती है अतः यह कठिनाई स्पष्ट है.

व्यक्तिमूलक या इकाईपरक भावनाओं का समाजीकरण आज आवश्यक होगया है. जब तक इनका समाजीकरण नहीं होगा तब तक समता का स्वराज्य-स्थापन भी एक कल्पना या स्वप्नवत् रहेगा. क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या, घृणा के जो मूल कारण हैं उनका उच्छेदन आवश्यक है. इनके उच्छेद पर ही समता के भव्य सामाजिक भवन का निर्माण संभव है.

इनके उच्छेद का क्या उपाय है ? इस संबन्ध में यह बताना अपेक्षित है कि वैयक्तिकता का तिरोभाव सामूहिकता में करना होगा. सामाजिक हित को सर्वोपरि महत्त्व देकर व्यक्ति को स्वार्थ, मोह, तृष्णा आदि का विसर्जन करना होगा.

---

१. सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते —मनुसंहिता
२. सम्यक्त्वी न करोति पापं
३. उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे
मायमज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे —दश. अ० ८
४. कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्वविणासणो —दश. अ० ८

समझने का दावा कर सकता है किन्तु वह व्यापक एव अनेकात दृष्टि के अभाव मे उसके प्रति न्याय करने मे समर्थ नही हो सकेगा

वर्तमान मे वादो एव मताग्रहो का जो भीषण कोलाहल एव सघर्ष दिखाई पड रहा है उसका भी मूल कारण सत्य को सम्पूर्ण रूप मे जानने का अभाव है "मेरी स्थापना ही सत्य है" यह अहम् भावना ही वस्तुत इन समस्त विग्रहो का मूल कारण है अत सम्पूर्ण सत्य का साक्षात्कार आवश्यक है और वह तभी सम्भव है जब व्यक्ति अपने एकान्त दृष्टिकोण को छोडकर अनेकात दृष्टि का वरण करेगा

वर्तमान मे सत्य को आवृत करने की प्रथा-सी चल पडी है अनावृत सत्य सामाजिक अहित का कारण हो सकता है, इस तर्क के अवलम्बन से आवृत सत्य को अगीकार करने का प्राय उपदेश दिया जाता है किन्तु इस यथार्थोन्मुख युग मे यह प्रवचना स्थायी नही हो सकती है जो सत्य है, स्पष्ट है, उसको आवृत रूप मे जानने, पहचानने मे क्या प्रयोजन है ? अनावृत सत्य की आराधना ही सही सत्य-साधना है, वही प्रयोजनीय है

श्रमणसस्कृति सम्यक्त्वमूलक है सम्यक्त्व है तो ही श्रावक श्रावक है और श्रमण श्रमण है सम्यक्त्व रहित श्रावक और श्रमण का आत्मसाधना की दृष्टि से कोई मूल्य नहीं है किसी भी साधक ने जब कभी भी आत्मा के शुद्ध एवं निर्मल स्वरूप को पाया है तो वह सम्यक्त्वमूलक सत्याचरण के द्वारा ही श्रमण सस्कृति मे जीव, जीवन और जगत् की प्रत्येक प्रक्रिया एव प्रयोग को सम्यक्त्व की कसौटी पर ही कसकर परखा जाता है जैन आगमो मे यह कहा गया है कि जिसने जीवन मे सम्यक्त्व नही पाया, उसने ज्ञान और चारित्र भी नही पाया सम्यक्त्वहीन का ज्ञान अज्ञान है[1] सम्यक्त्वहीन का चारित्र भी कुचारित्र है[2] सम्यक्त्व धर्म के प्रभाव से नीच-से-नीच मनुष्य भी देव हो जाता है और उसके अभाव मे उच्च-से-उच्च भी अधम हो जाता है[3]

आज समता और साम्य की स्थापना के नारो का गगनभेदी उद्घोष प्राय सुनाई पडता है मनुष्य के स्वार्थ, वासना लिप्सा ने वैषम्य का साम्राज्य स्थापित किया है और मनुष्य-मनुष्य मे अन्तर उत्पन्न कर दिया है उसके बीच एक गहरी खाई का निर्माण कर दिया है, भेद की दुर्भेद्य दीवार खडी कर दी है इसी वैषम्य का निराकरण करने के लिए प्राय समता अथवा साम्य का आयोजन किया जाता है

यह युग यात्रिकयुग, वैज्ञानिकयुग एव आर्थिकयुग के नाम से सम्बोधित किया जाता है मानव के विधि-विधान भी इन्ही के द्वारा परिचालित होते हैं जिन भावनाओ एव मनोविकारो की प्रेरणा से मनुष्य ने इतनी उत्क्रान्ति की है, उनकी इन विधि-विधानो एव रचनाओ मे प्राय उपेक्षा की गई है] विज्ञान एव अर्थशास्त्र के नियम एक निश्चित फार्मूले पर नियोजित हो सकते है किंतु भावप्रवण मानव को इन बधनो मे कैसे घेरा जा सकता है ? इसी भ्रममूलक दृष्टि ने इन वर्गसघर्षों का नियोजन किया है आज जिस साम्य व समता की बात बार-बार दोहराई जाती है उसमे भी ये कमजोरिया समाहित है और फिर इसके पीछे मानवहित की विशुद्ध भावना नही अपितु राजनैतिक षड्यत्रो एव छलछन्दो की धूल उड रही है अत सम्यक्त्व के विशुद्ध रूप का वरण ही इन सबका समाधान कर सकता है और अशान्ति मे भटकने वाले विश्व को शान्ति प्रदान कर सकता है

श्रमण-साहित्य के अतिरिक्त वैदिक-साहित्य मे भी सम्यग्दर्शन की महिमा कम नही है वहाँ ऋत, सत्य, समत्व आदि शब्दो से इसी की ओर इगित किया गया है सम्यक्दर्शन शब्द भी प्रयुक्त हुआ है, परन्तु बहुत कम श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते है—हे अर्जुन ! जीवन को शान्त और पवित्र बनाने के लिए समत्व प्राप्त करो समत्व सब से बडा योग है[4]

---

१ नादसणिस्स नाण —उत्तराध्ययन अ० २८ गा० ३
२ नत्थि चरित्त सम्मत्तविहूण—उत्तराध्ययन अ० २८ गा० २९
३ सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातगदेहजम्, देवा देव विदुर्भस्मगूढागारान्तरौजसम् —आचार्य समतभद्र
४ समत्व योग उच्यते —गीता

प्रशस्त पथ पर दृढ़ विश्वास का होना ही आस्तिकता की व्यावहारिक भूमिका है आस्तिकता आस्था और श्रद्धा सभी एक ही अर्थ का द्योतन करने वाले शब्द हैं विश्वास भी इन्ही के अन्तर्गत आता है बहुत से व्यक्ति आस्तिकता का सही अर्थ न समझने के कारण अपने आप को नास्तिक कहते हैं अस्ति का अर्थ है स्थिति या अस्तित्व को स्वीकार करना इस अर्थमूलक दृष्टि से सभी आस्तिकता के अन्तर्गत आ जाते हैं नास्तिकता जैसी कोई चीज फिर अस्तित्व में नही रहती पर आस्तिकता को किसी पथ विशेष में रूढ़ कर देने के कारण ये सभी विकृतियाँ उत्पन्न हो गई हैं आस्था के अभाव में व्यक्ति का विकास निश्चित रूप से अवरुद्ध हो जायेगा जब लक्ष्य और उद्देश्य के प्रति ही व्यक्ति की आस्था नही रहेगी तब दृढ़ता और संकल्प भी उसे सिद्धि के सोपान तक नही पहुँचा सकते साधना के पाव लड़खड़ा उठेंगे और विकास की गति अवरुद्ध हो जाएगी अत आस्तिकता आस्था अथवा श्रद्धा की सूक्ष्म स्मित रेखा में साधना और विकास को अंकित करना होगा आस्था के इस सूत्र में बंधित होने पर सम्यक्त्व की भूमिका प्रशस्त और प्रकाशित हो जायगी

इस प्रकार शम संवेग निर्वेद अनुकम्पा और आस्तिक्य ये पाच लक्षण सम्यक्त्वी के हैं इनका स्वरूप सम्यक्त्वी के जीवन में परिलक्षित होना ही चाहिये

सम्यक्त्वी साधक सम्यक्त्व की रक्षा के लिए सतत सावधान रहता है जागृति जीवन का लक्षण है अजागृति मरण का प्रतीक है जागृत मनुष्य ही विकृतियों से अपनी रक्षा कर सकता है असावधानता की अवस्था में जो शिथिलता या विकृति आती है उसे अतिचार कहते हैं सम्यक्त्व भी एक व्रत है उसे शुद्ध व निर्मल रखने के लिए पाच अतिचारों से बचना चाहिए वे अतिचार ये हैं—शंका कांक्षा विचिकित्सा पर-पाषण्डप्रशंसा और पर-पाषण्डसंस्तव

सम्यक्त्वप्राप्ति के साधन एव साधना में संशय करना शंका है शंकाशील व्यक्ति किसीभी विषयका विशेषज्ञ नही हो सकता क्योंकि मूल तत्त्वों पर अविश्वास रखने के कारण वह पुरुषार्थ की साधना करने में असमर्थ रहता है संशयात्मा विनश्यति[1] इस उक्ति के अनुसार संशयी अपनी शक्ति का नाश करता है और स्वय का भी नाश करता है सम्यक्त्वी साधक शंकाशील नही रहता वह सदसद् विवेकिनी बुद्धि के द्वारा तत्त्वों का यथार्थ समाधान प्राप्त करता है[2] जो अदृष्ट तत्त्व बुद्धि की पकड़ में नही आते उन्हें आप्तोपदिष्ट मानकर अपनी शंकाओं का निरसन कर लेता है आप्तपुरुष यथार्थ ज्ञाता एव वक्ता होते हैं क्षीणदोष होने के कारण उनकी वाणी में किसी प्रकार की अपूर्णता नही होती सम्यक्त्वी की यह दृढ़ श्रद्धा होती है कि "तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं"[3] ज्ञानप्राप्ति एव तत्त्वनिर्णय के लिए जो शंका की जाती है वह अतिचार की कोटि में नही आती 'न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति'

जो सिद्धान्त साधना तथा क्रियाकाण्ड सम्यक्त्व के परिपोषक न हों वे सभी परधर्म हैं पर-धर्म की चाह करने को 'कांक्षा' कहते हैं गीता में स्वधर्मे निधनं श्रेय परधर्मो भयावह कहकर इसी तथ्य का समर्थन किया गया है धर्म के दो रूप हैं स्वधर्म और परधर्म आत्मगुणों की अभिव्यञ्जक एव स्वस्वरूप रमण में स्थिर करने वाली प्रक्रिया स्वधर्म है परधर्म की प्रक्रिया इससे प्रतिकूल है स्व-पर धर्मात्मक परस्पर विरोधी साधना में मनोयोग बिखर जाने से कांक्षाशील साधक सम्यक्त्व को न तो सुरक्षित रख सकता है और न पुष्ट ही कर सकता है

आराधना के फल के प्रति सन्देह करना विचिकित्सा है मेरी साधना जप तप एव पुरुषार्थ का फल मिलेगा या नहीं ऐसा सन्देह विचिकित्सा का परिणाम है इससे पुरुषार्थ के प्रति श्रद्धा या रुचि कम होती है

तन्मयता के द्वारा ही साधक अपनी मन स्थिति को केन्द्रित कर सकता है लक्ष्य के प्रति वह तन्मयता ही एकतानता

---

१ भगवद्गीता [illegible]
२ [illegible]
३ आचा [illegible]

तभी सग्रहवृत्ति नष्ट होगी एक उदाहरण से इसे समुचित रूप मे समझा जा सकता है—

शरीर के विभिन्न अगो मे यदि एकात्मता न हो तो शरीर निर्जीव हो जायगा माना कि चोट लगने के कारण हाथ कार्य करने मे असमर्थ हैं और पैर चलने मे अशक्त ! तो उन पर क्रोध कर उन्हे काटा नही जा सकता अपितु उन की परिचर्या कर पुन उन्हे कार्य योग्य बनाना पडता है इसी प्रकार समाज का प्रत्येक व्यक्ति शरीर के विभिन्न अवयव के सदृश है उसके व्यसनो को घृणा से नही वरन् स्नेह एव सहानुभूति से अवसन्न करना है इस के लिए प्रशम की साधना अति उपयोगी है

प्रशम की सिद्धि मे 'सवेग' सहायक है रागद्वेषात्मक ससार की ओर से हटाकर इन्द्रियो की गति को वीतराग भाव की साधना की तरफ मोडना ही सवेग है वेग का अर्थ है गति यदि वह गति वासनापोषण की ओर है तो वह कुवेग है. और यदि वह गति वासनाक्षय की ओर है तो सवेग है सम्यग्दृष्टि सवेग का आराधक होता है वह इस तथ्य से भलीभाति परिचित होता है कि इन्द्रियो के द्वारा प्रवाहित जो वासना का वेग है, वह वर्षाकालीन नदी की भाति स्व-पर-सहारक है शरत्कालीन नदी दो तटो के बीच बहती हुई जैसे सृजन और पोषण मे योग देती है, वैसे ही त्याग और भोग रूपी तटो के बीच प्रवाहित जीवन सवेग साधना के लिए उपयुक्त है त्याग और भोग के बीच मे वही साधक विवेकपूर्वक खडा रह सकता है जिस की आत्मा पर प्रबल मोह का साम्राज्य न हो मोह की प्रबलता ही सवेग गुण की घातक है सवेगसाधना मे सजग रहने से ही प्रबल मोह को हटाकर प्रशम गुण का विकास किया जा सकता है

सवेग की अन्तिम परिणति 'निर्वेद' मे होती है मोहोदय को 'वेद' कहते हैं उसके तीन रूप हैं—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुसकवेद पुरुष के साथ रति-सुख की कामना स्त्रीवेद है स्त्री के साथ रतिसुख की कामना पुरुषवेद है उभय के साथ की कामना नपुसकवेद है इस प्रकार कामवासना का क्षय होना ही 'निर्वेद' है सम्यक्त्वी का जीवन भोगलक्षी नही होता वह न इह लोक के भोग चाहता है और न स्वर्ग आदि के ही प्रशम और सवेग की साधना करते-करते वेदोदय की प्रवृत्ति उसी प्रकार क्षीण हो जाती है, जिस प्रकार ज्ञानाभ्यास मे रत विद्यार्थी का मन बचपन मे खेले हुए गदे खेलो से उपरत हो जाता है

सम्यक्त्वी कोमलहृदय होता है दूसरे को पीडा और कष्ट मे देखकर वह द्रवित हो उठता है क्योकि वह प्राणीमात्रके साथ आत्मीयता की अनुभूति करता है आत्मीयता के कारण दूसरो का सुख दु ख भी अपना हो जाता है इसी सवेदनशीलता तथा सहानुभूतिने मनुष्य के हृदयमे दया और दान भावना की सृष्टि की है मानव को पशु और दानव बननेसे बचाने मे इसी का सर्वाधिक योग है किसीको पीडित अवस्था मे देखकर हृदय मे करुणा का उत्स प्रवाहित होना स्वाभाविक है आत्मा का यही एक ऐसा सहज गुण है—जिसने पृथ्वी पर बार-बार प्रलय होने से रोका है इसका विस्तार यदि समुचित रूप से किया जाय तो आज दुनिया को परेशान करने वाला शीत युद्ध भी उपशान्त हो सकता है इसका स्वाभाविक विकास इन समस्त गत्यवरोधो को समाहित कर शान्ति और सौरम्य का निर्झर प्रवाहित कर सकता है दूसरो के सुख दु ख को आत्मीय भाव से ग्रहण कर उनके कष्टो को मिटाने का प्रयास ही अनुकम्पा है अनुकम्पा सामाजिक जीवन एव सहजीवन का स्नेहसूत्र है अनुकम्पा के कारण ही मनुष्य अपनी तथा अपने परिवार की तरह ही, अपने अधीनस्थ व्यक्तियो की योग्य और उचित आवश्यकताओ की पूर्ति सम्यक् रूप से करता है दूसरो की आवश्यकताओ का ध्यान न रखकर अपनी आवश्यकताओ को बढाते रहने से अनुकम्पा का घात होता है सम्यक्त्व-आराधक अपनी आजीविका का अर्जन करने के लिए जो साधन अपनाता है, उसमे किसी प्रकार की अप्रामाणिकता न आ जाय, इसके लिए सतत जागरूक रहता है

सम्यक्त्व गुण के विस्तार के लिए आस्तिकता आवश्यक होती है मनुष्य ज्यो-ज्यो सद्गुणो को जीवन मे अपनाता है त्यो-त्यो आस्तिक्य गुण का विकास होता है आस्तिकता श्रद्धा को बलवती बनाती है श्रद्धा कभी मनुष्य को विपथगामी नही होने देती श्रद्धा और अश्रद्धा मे अन्तर है अश्रद्धालु दूसरो के प्रति अशिष्ट व्यवहार कर सकता है, किन्तु श्रद्धालु ऐसा नही कर सकता उसमे करुणा, मुदिता, मैत्री और, तटस्थता विद्यमान रहती है आत्मा और उसके विकास के
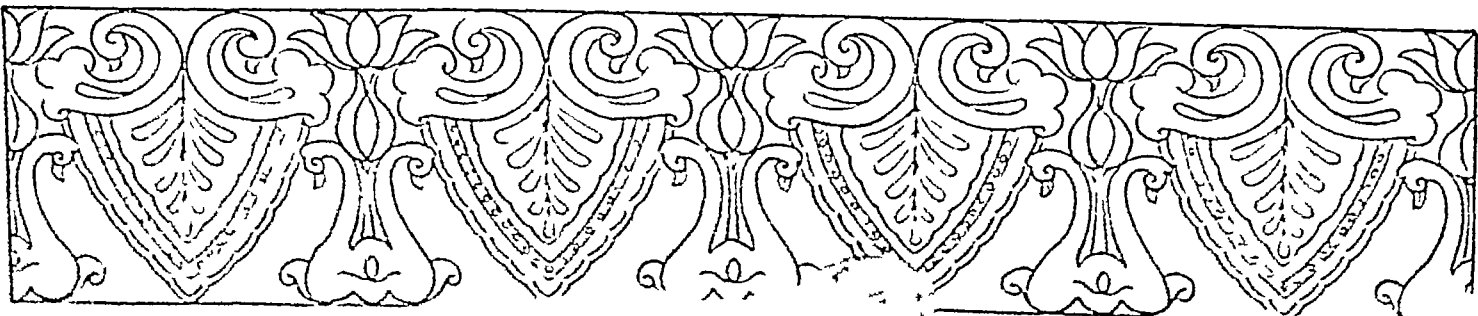
प्रशस्त पथ पर दृढ़ विश्वास का होना ही आस्तिकता की व्यावहारिक भूमिका है। आस्तिकता, आस्था और श्रद्धा सभी एक ही अर्थ का द्योतन करने वाले शब्द हैं। विश्वास भी इन्हीं के अन्तर्गत आता है। बहुत से व्यक्ति आस्तिकता का सही अर्थ न समझने के कारण अपने आप को नास्तिक कहते हैं। अस्ति का अर्थ है स्थिति या अस्तित्व को स्वीकार करना। इस अभेदमूलक दृष्टि से सभी आस्तिकता के अन्तर्गत आ जाते हैं। नास्तिकता जैसी कोई चीज फिर अस्तित्व में नहीं रहती, पर आस्तिकता को किसी अर्थ विशेष में रूढ़ कर देने के कारण ये सभी विकृतियाँ उत्पन्न हो गई हैं। आस्था के अभाव में व्यक्ति का विकास निश्चित रूप से अवरुद्ध हो जायगा। जब लक्ष्य और उद्देश्य के प्रति ही व्यक्ति की *आस्था नहीं रहेगी तब दृढ़ता और संकल्प भी उसे सिद्धि के सोपान तक नहीं पहुँचा सकते। साधना के पाँव लड़*खड़ा उठेंगे और विकास की गति अवरुद्ध हो जाएगी। अतः आस्तिकता, आस्था अथवा श्रद्धा की सहज स्नेह-रेखा में साधना और विकास को ग्रथित करना होगा। आस्था के इस सूत्र में ग्रथित होने पर सम्यक्त्व की भूमिका प्रशस्त और अबाधित हो जायेगी।

इस प्रकार शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये पाँच लक्षण सम्यक्त्वी के हैं। इनका स्वरूप सम्यक्त्वी के जीवन में परिलक्षित होना ही चाहिये।

सम्यक्त्वी साधक सम्यक्त्व की रक्षा के लिए सतत सावधान रहता है। जागृति जीवन का लक्षण है, अजागृति मरण का प्रतीक है। जागृत मनुष्य ही विकृतियों से अपनी रक्षा कर सकता है। असावधानता की अवस्था में जो शिथिलता या विकृति आती है उसे अतिचार कहते हैं। सम्यक्त्व भी एक व्रत है, उसे शुद्ध व निर्मल रखने के लिए पाँच अतिचारों से बचना चाहिये। वे अतिचार ये हैं—शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, पर-पाखण्डप्रशंसा और पर-पाखण्डसंस्तव।

सम्यक्त्वप्राप्ति के साधन एवं साधना में संशय करना शंका है। शंका-शील व्यक्ति किसी भी विषय का विशेषज्ञ नहीं हो सकता क्योंकि मूल तत्त्वों पर अविश्वास रखने के कारण वह पुरुषार्थ की साधना करने में असमर्थ रहता है। 'संशयात्मा विनश्यति' इस उक्ति के अनुसार संशयी अपनी शक्ति का नाश करता है और स्वयं का भी नाश करता है। सम्यक्त्वी साधक शंकाशील नहीं रहता, वह सम्यक् विवेकिनी बुद्धि के द्वारा तत्त्वों का यथार्थ समाधान प्राप्त करता है।[1] जो अदृष्ट तत्त्व बुद्धि की पकड़ में नहीं आते उन्हें आप्तोपदिष्ट मानकर अपनी शंकाओं का निरसन कर लेता है। आप्तपुरुष यथार्थ ज्ञाता एवं वक्ता होते हैं, क्षीणदोष होने के कारण उनकी वाणी में किसी प्रकार की अपूर्णता नहीं होती। सम्यक्त्वी की यह दृढ़ श्रद्धा होती है कि "तमेव सच्चं णीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं"[2] ज्ञानप्राप्ति एवं तत्त्वनिर्णय के लिए जो शंका की जाती है वह अतिचार की कोटि में नहीं आती। 'न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति'।

जो सिद्धान्त, साधना तथा क्रियाकाण्ड सम्यक्त्व के परिपोषक न हों वे सभी परधर्म हैं। पर धर्म की चाह करने को 'कांक्षा' कहते हैं। गीता में 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' कहकर इसी तथ्य का समर्थन किया गया है। धर्म के दो रूप हैं, स्वधर्म और परधर्म। आत्मगुणों की अभिव्यंजक एवं स्वस्वरूप रमण में स्थिर करने वाली प्रक्रिया स्वधर्म है। परधर्म की प्रक्रिया इससे प्रतिकूल है। स्व-पर-धर्मात्मक परस्पर विरोधी साधनों में मनोयोग बिखर जाने से कांक्षाशील साधक सम्यक्त्व को न तो सुरक्षित रख सकता है और न पुष्ट ही कर सकता है।

आराधना के फल के प्रति संदेह करना 'विचिकित्सा' है। मेरी साधना, जप, तप एवं पुरुषार्थ का फल मिलेगा या नहीं ऐसा संदेह विचिकित्सा का परिणाम है। इससे पुरुषार्थ के प्रति अनास्था पैदा होती है।

तन्मयता के द्वारा ही साधक अपनी मनःस्थिति को केन्द्रित कर सकता है। लक्ष्य के प्रति यह तन्मयता ही सफलता

---

१ व्यवहारसूत्र
२ तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् —तत्त्वार्थसूत्र अ० १ १
३ आचारांग अ० ५

का सुलक्षण है लक्ष्य के प्रति क्षण मात्र का प्रमाद स्खलना का कारण होगा[1] लक्ष्यभ्रष्ट कभी अपने सदुद्देश्य को प्राप्त नही कर सकता अतएव लक्ष्य के प्रति तन्मयता आवश्यक है किसान वादलो की तब तक प्रतीक्षा करता रहता है, जब तक कि वे वरस न जाए वे न भी वरसें, तब भी वह अपने कृषि-कर्म से पराङ्मुख नही होता उसकी सतत चलने वाली पुरुषार्थमयी प्रवृत्तियो से सम्यक्त्वी साधको को शिक्षा लेनी चाहिए और अपनी असफलताओ पर विजय प्राप्त करते हुए विचिकित्सा से बचना चाहिए 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'[2] इस सिद्धान्त को जीवन मे व्यवहृत करने से विचिकित्सा नही पनप सकती

सम्यक्त्वी की साधना भोगप्रधान नही होती, इन्द्रिय और विषयो के सयोग से प्राप्त होने वाले सुख परापेक्षी होने से 'पर' कहलाते है इन सुखो की आकाक्षा से किये जाने वाले व्रत' पर-पाखण्ड' है आचार्य हरिभद्र ने पाखण्ड शब्द का अर्थ व्रत किया है[3] ऐसे व्रत स्वीकार करने वाले 'पर-पाखण्डी' कहलाते है 'परपाखण्डी' धर्मविहीन होते है वे इन्द्रिय-सुखो को ही महत्त्व देते है और वही तक केन्द्रित रहते है सम्यक्त्वी इन से आगे वढता है वह आत्मदर्शन चाहता है इस प्रकार दोनो का साध्य भिन्न होने के कारण सम्यक्त्वी न तो परपाखण्ड रूप व्रतो को स्वीकार करता है और न पर-पाखण्डी की प्रशसा या परिचय ही करता है

मनकी वृत्तिया चचल होने के कारण पतन की ओर शीघ्रता मे अग्रसर हो जाती है ऊर्ध्व की ओर उन्मुख करने मे आयाम करना पडता है किन्तु ऐहिक प्रलोभन ऊर्ध्व की ओर गति नही होने देते यहाँ ऐसे व्यक्तियो का अभाव नही है जो स्वार्थ के वशीभूत होकर दूसरो की झूठी प्रशसा कर अपना उल्लू सीधा करते रहते है वे अपने को अधिक चतुर और प्रवीण समझते हैं तथा दूसरे को मूर्ख और वेवकूफ ऐसे व्यक्तियो को सहयोग देकर आत्मा को पतनोन्मुख वनाना भीषण पाप है समाज मे आज इस प्रकार का एक वर्ग ही बन गया है राजनीति मे तो स्पष्ट ही उसका वोल-वाला है धर्म भी इसका शिकार हो गया है अपनी उच्चता की प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिए भी इसका अधिकाधिक प्रयोग किया जा रहा है परपाखडप्रशसा और परपाखडसस्तव क्लीवो का हथियार है अमोघ मानकर ही वे इसे सगर्व धारण करते है परपाखण्ड प्रशसा और और परपाखण्ड सस्तव मन को अधोमुख वनाते हैं सम्यक्त्व-साधना-मार्ग के ये शूल है इनका उच्छेद करके ही आत्मा सम्यक्त्व के साथ एकाकार हो सकती है

देव, गुरु, तथा धर्म के प्रति जो श्रद्धा है, उसे भी सम्यक्त्व कहते है जिन्होने राग, द्वेष, मोहादि आत्मशत्रुओ को जीत लिया है, वे देव हैं देव तत्त्व की कल्पना आदर्श के रूप मे की जाती है इस तत्त्व मे किसी प्रकार की साम्प्रदायिकता या सकुचित वृत्ति नही है प्रत्येक आत्मा उत्क्रान्ति करता हुआ परमात्मा बनता है इसीलिए जैन परम्परा मे जिस आत्मा ने अपना पूर्ण विकास कर लिया है उसको देव माना है ऐसे देव के प्रति आत्म-कल्याण के प्रत्येक अभिलाषी का मस्तक झुक जायगा

गुरु हमारे सामने साधना का मार्ग उपस्थित करता है साधु स्व-पर-कल्याण के साधक होते है वे महाव्रतो, समितियो तथा गुप्तियो का पालन करते हैं उन्हे देखकर हम अपनी साधना का व्यावहारिक रूप निश्चित कर सकते हैं ऐसे साधु के चरणो मे किसका मस्तक नत नही होगा ?

तीसरा तत्त्व धर्म है वह अहिसा सयम और तप रूप है इस धर्म को स्वीकार करने मे किसी को कोई आपत्ति नही हो सकती

देव गुरु और धर्म की ऊपर जो व्याख्या की गई है वह सिद्धान्तत सुन्दर और उदार होते हुए भी उसका उपयोग पथ तथा सम्प्रदायवाद की पुष्टि मे जब किया जाता है तब आत्मगुणो के स्थान पर मिथ्यात्व को ही प्रोत्साहन मिलता है अन्त -

---

१ समय गोयम ! मा पमायए —उत्तराध्ययन

२ गीता

३ पाखण्ड व्रतमित्याहु —दशवैकालिकटीका

दृष्टि के स्थान पर बाह्य दृष्टि को ही प्रधानता मिलती है उस समय आत्मा को न देखकर उसका कलेवर ही देखा जाता है

सम्यक्त्व जीवन का चिरंतन सत्य है यह सत्य जब जीवन में संपूर्ण अभिव्यक्ति पाता है तब व्यवहार और आदर्श की खाई पटती जाती है सम्यक्त्वी के आचार विचार मे एक विशिष्ट प्रकार की समानता होती है मानव मानव है उसमें कमजोरिया भी है परन्तु सम्यक्त्वी का जीवन उन कमजोरियो पर विजय पाने के लिए सतत संघर्षशील रहता है मानवीय दुर्बलताओ के कारण आदर्शो को न निभा पाना अलग बात है और सकल्पपूर्वक अपने व्यक्तित्व का आदर्श तथा व्यवहार में विभाजन करना अलग बात है सम्यक्त्वी जीवन को इस प्रकार विभाजित नही करता इसीलिए वह साधना की चरमस्थिति तक पहुच कर शाश्वत सिद्धि प्राप्त कर सकता है

आत्म-साधना करने वाले ऋषि महर्षि आचार्य और धर्मगुरु सम्यक्त्व का यह पाठ चिरकाल से समाज को पढा रहे है फिर भी समाज पर इसका कोई प्रभाव परिलक्षित नही हो रहा है धर्मगुरु इस साधना के द्वारा समाज को परिवर्तित करने का प्रयत्न करते रहे है और उधर समाज म शोषण उत्पीडन तृष्णा और वासनाओं का वही दौर चालू है इसके कारण का यदि विश्लेषण किया जाय तो प्रत्यक्ष हो जायगा कि इन सिद्धातो को व्यवहार की भूमिका पर उतारने के स्वल्प प्रयत्न किये गये जनसाधारण तक उन्ही की भाषा में पहुँचाने की ओर ध्यान केन्द्रित नही किया गया व्यक्ति और उसके हितो की उपेक्षा करके कोई भी आदर्श अथवा सिद्धात व्यावहारिकता की परिधि मे अपना स्थान नही बना सकता उसकी सीमाओ में प्रवेश पाने के लिए व्यावहारिकता का परिवेश धारण करना ही होगा

यहाँ यह उल्लेख भी आवश्यक है कि देश काल और वातावरण की ओर ध्यान केन्द्रित नही किया गया है प्रत्येक युग की अपनी मान्यताए होती है उसकी उपेक्षा कर कोई भी सिद्धात अपना क्षेत्र नही बना सकता अत युग के माग को अस्वीकार करना उचित नही कहा जा सकता

इस आलोक मे यदि आज सम्यक्त्व की आराधना की जाय तो निश्चित ही विश्व समता की भूमिका प्राप्त कर सकेगा सत्य अनन्त है व्यक्ति सान्त है परन्तु जब व्यक्ति सीमाओ को क्षुद्रताओ को पार करके ससीम से असीम बन जाता है, तब उसका सत्य भी अनन्त हो जाता है अनत में ही अनत गुणों की अभिव्यक्ति होती है

का सुलक्षण है लक्ष्य के प्रति क्षण मात्र का प्रमाद स्खलना का कारण होगा[1] लक्ष्यभ्रष्ट कभी अपने सदुद्देश्य को प्राप्त नही कर सकता अतएव लक्ष्य के प्रति तन्मयता आवश्यक है किसान बादलो की तब तक प्रतीक्षा करता रहता है, जब तक कि वे बरस न जाए वे न भी बरसें, तब भी वह अपने कृषि-कर्म से पराङ्मुख नही होता उसकी सतत चलने वाली पुरुषार्थमयी प्रवृत्तियो से सम्यक्त्वी साधको को शिक्षा लेनी चाहिए और अपनी असफलताओ पर विजय प्राप्त करते हुए विचिकित्सा से बचना चाहिए 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'[2] इस सिद्धान्त को जीवन मे व्यवहृत करने से विचिकित्सा नही पनप सकती

सम्यक्त्वी की साधना भोगप्रधान नही होती, इन्द्रिय और विषयो के सयोग से प्राप्त होने वाले सुख परापेक्षी होने से 'पर' कहलाते है इन सुखो की आकाक्षा से किये जाने वाले व्रत' पर-पाखण्ड' है आचार्य हरिभद्र ने पाखण्ड शब्द का अर्थ व्रत किया है[3] ऐसे व्रत स्वीकार करने वाले 'पर-पाखण्डी' कहलाते है 'परपाखण्डी' धर्मविहीन होते हैं वे इन्द्रिय-सुखो को ही महत्त्व देते है और वही तक केन्द्रित रहते है सम्यक्त्वी इन से आगे बढना है वह आत्मदर्शन चाहता है इस प्रकार दोनो का साध्य भिन्न होने के कारण सम्यक्त्वी न तो परपाखण्ड रूप व्रतो को स्वीकार करता है और न पर-पाखण्डी की प्रशसा या परिचय ही करता है

मनकी वृत्तिया चचल होने के कारण पतन की ओर शीघ्रता से अग्रसर हो जाती हैं ऊर्ध्व की ओर उन्मुख करने मे आयास करना पडता है किन्तु ऐहिक प्रलोभन ऊर्ध्व की ओर गति नही होने देते यहाँ ऐसे व्यक्तियो का अभाव नही है जो स्वार्थ के वशीभूत होकर दूसरो की झूठी प्रशसा कर अपना उल्लू सीधा करते रहते है वे अपने को अधिक चतुर और प्रवीण समझते हैं तथा दूसरे को मूर्ख और बेवकूफ ऐसे व्यक्तियो को सहयोग देकर आत्मा को पतनोन्मुख बनाना भीषण पाप है समाज मे आज इस प्रकार का एक वर्ग ही बन गया है राजनीति मे तो स्पष्ट ही उसका बोल-बाला है धर्म भी इसका शिकार हो गया है अपनी उच्चता की प्रतिष्ठा स्थापित करने के लिए भी इसका अधिकाधिक प्रयोग किया जा रहा है परपाखडप्रशसा और परपाखडसस्तव क्लीबो का हथियार है अमोघ मानकर ही वे इसे सगर्व धारण करते है परपाखण्ड प्रशसा और और परपाखण्ड सस्तव मन को अधोमुख बनाते हैं सम्यक्त्व-साधना-मार्ग के ये शूल है इनका उच्छेद करके ही आत्मा सम्यक्त्व के साथ एकाकार हो सकती है

देव, गुरु, तथा धर्म के प्रति जो श्रद्धा है, उसे भी सम्यक्त्व कहते हैं जिन्होने राग, द्वेष, मोहादि आत्मशत्रुओ को जीत लिया है, वे देव हैं देव तत्त्व की कल्पना आदर्श के रूप मे की जाती है इस तत्त्व मे किसी प्रकार की साम्प्रदायिकता या सकुचित वृत्ति नही है प्रत्येक आत्मा उत्क्रान्ति करता हुआ परमात्मा बनता है इसीलिए जैन परम्परा मे जिस आत्मा ने अपना पूर्ण विकास कर लिया है उसको देव माना है ऐसे देव के प्रति आत्म-कल्याण के प्रत्येक अभिलाषी का मस्तक झुक जायगा

गुरु हमारे सामने साधना का मार्ग उपस्थित करता है साधु स्व-पर-कल्याण के साधक होते हैं वे महाव्रतो, समितियो तथा गुप्तियो का पालन करते हैं उन्हे देखकर हम अपनी साधना का व्यावहारिक रूप निश्चित कर सकते हैं ऐसे साधु के चरणो मे किसका मस्तक नत नही होगा ?

तीसरा तत्त्व धर्म है वह अहिंसा सयम और तप रूप है इस धर्म को स्वीकार करने मे किसी को कोई आपत्ति नही हो सकती

देव गुरु और धर्म की ऊपर जो व्याख्या की गई है वह सिद्धान्तत सुन्दर और उदार होते हुए भी उसका उपयोग पथ तथा सम्प्रदायवाद की पुष्टि मे जब किया जाता है तब आत्मगुणो के स्थान पर मिथ्यात्व को ही प्रोत्साहन मिलता है अन्त -

---

१ समय गोयम ! मा पमायए —उत्तराध्ययन

२ गीता

३ पाखण्ड व्रतमित्याहु —दशवैकालिकटीका

के समर्थकों ने यह अनुभूत किया कि इस योजना की सफलता मे दो मुख्य बाधाएँ थीं प्रथम बाधा यह थी कि जब व्यक्ति एक बार गृहस्थजीवन में प्रविष्ट हो जाता है तो उसके लिये विषयभोग आदि का त्यागना तथा काम क्रोध मोह एव लाभ से मुक्त होना अत्यत कठिन हो जाता है तृष्णा अनन्त है और उसकी तृप्ति कदापि सभव नही है इस दृष्टिकोण को उत्तराध्ययन सूत्र मे निम्न लिखित शब्दों म अभिव्यक्त किया गया है—

और यदि कोई व्यक्ति एक मनुष्य को सम्पूर्ण पृथ्वी भी दे दे तो भी यह उसके लिये काफी न होगी किसी भी व्यक्ति को तृप्त करना अत्यत कठिन है तुम जितना अधिक प्राप्त करोगे उतनी ही अधिक तुम्हारी आवश्यकता बढ़ेगी तुम्हारी वासनाएँ तुम्हारे साधनों के साथ-साथ बढ़ती चली जायेंगी

दूसरी बाधा यह है कि सन्यासजीवन की यह क्रमिक योजना यह मानकर चलती है कि जीवन की कम से कम अवधि एक सौ वर्ष है वास्तव में जीवन अस्थिर है और किसी भी क्षण एक धागे की भांति टूट सकता है यदि एक बार व्यक्ति, अपने आध्यात्मिक विकास के अवसर से चूक जाय तो उसे पुन मनुष्य का जन्म लेने के लिये युगों की प्रतीक्षा करनी पड़ सकती है विख्यात जैन आगम उत्तराध्ययन सूत्र में लिखा है—

"जिस प्रकार वृक्ष का सूखा पत्ता किसी भी समय गिर जाता है इसी प्रकार मनुष्य का जीवन भी समाप्त हो जाता है हे गौतम ! तुम हर समय सावधान रहो ! जिस प्रकार कुशा के तिनके पर लटकी हुई ओस की बूंद क्षण भर के लिये ही अस्तित्व रखती है मनुष्य का जीवन भी वैसा ही अस्थिर है गौतम ! तुम हर समय सावधान रहो !

विश्व के अनेक विचारकों ने जीवन की अनिश्चितता से प्रभावित हो कर क्रियात्मक सांसारिक जीवन को निरर्थक घोषित किया है

बुद्ध ने दु ख तथा जीवन की अनिश्चितता से प्रेरित हो कर ही ससार को त्याग दिया वह अशोक महान् जिसका नाम विश्व के इतिहास म प्रेम और शान्ति का प्रतीक माना जाता है इसी प्रकार दु ख तथा जीवन की अनिश्चितता से प्रभावित हुआ विख्यात पाश्चात्य दार्शनिक काण्ट की उदात्त नैतिकता और विश्वव्यापी शुभ संकल्प की धारणा भी मानवीय दु ख के अनुभव से ही प्रेरित थी काण्ट एक कड़े नैतिक अनुशासन में विश्वास करता था यही कारण है कि जैनवाद म कठोर नैतिक अनुशासन पर बल दिया गया है इसलिये महावीर ने साधुओं के लिये ऐसे नैतिक नियम निर्धारित किये जो उन्ह पूर्णतया विरक्त बना दें

जैनवाद के नैतिक सिद्धात की व्याख्या करते हुए हमे यह स्मरण रखना चाहिये कि विशेषकर साधु अथवा मुमुक्षु के लिये सत्य अहिंसा ब्रह्मचर्यादि महाव्रतों का पालन विशेष महत्त्व रखता है और उनका अनुसरण करने के लिये विशेष सावधानी की आवश्यकता है एक साधु अथवा साध्वी के लिये अहिंसा का व्रत स्वयं धारण करना ही पर्याप्त नही है अपितु इस के साथ-साथ उसके लिये स्वय हिंसा न करना और न ही किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा किसी प्रकार की हिंसा करवाना अभिप्राय है इसी प्रकार एक साधु के लिये स्वय असत्य न बोलना ही पर्याप्त नही है अपितु हर प्रकार के असत्य का बहिष्कार करना और मन वचन तथा काया से असत्य का साधन न बनना भी आवश्यक है इसी प्रकार अस्तेय अथवा अचौर्य के महाव्रत को धारण करने का अर्थ न स्वयं चोरी करना और नही प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में चोरी का समर्थन करना है ब्रह्मचर्य का महाव्रत एक साधु से यह आशा रखता है कि वह हर प्रकार के काम प्रवृत्त्यात्मक सम्पर्क से मुक्त हो और ऐसे कर्मों का साधन भी न बने जैनवाद के अनुसार पाचवां महाव्रत अपरिग्रह का है इस के अनुसार साधु के लिये स्वय किसी भी सम्पत्ति को न रखना और किसी अन्य व्यक्ति द्वारा संचित सम्पत्ति का साधन न बनना भी आवश्यक है इन पाच महाव्रतों का पालन करना प्रत्येक मुमुक्षु के लिये आवश्यक है इस प्रकार का कड़ा नैतिक अनुशासन इसलिये प्रतिपादित किया गया है कि जैनवाद मोक्ष को चरम सत्य मानता है इससे पूर्व कि हम जैनवाद की आचारमीमांसा की व्याख्या करें हमारे लिये यह आवश्यक है कि हम तत्त्ववाद तथा आचारशास्त्र के अन्त-सम्बन्ध पर एक बार दृष्टि डालें

डा० ईश्वरचन्द्र शर्मा
एम० ए०, पी-एच० डी०

जैनधर्म के नैतिक सिद्धान्त

जैन दर्शन ऐतिहासिक दृष्टि से बौद्ध धर्म की अपेक्षा अधिक प्राचीन है इसमे कोई सन्देह नही कि यह दर्शन अहिंसा को जीवन का परम लक्ष्य और मोक्ष का अनिवार्य साधन मान कर चलता है इस प्रकार भारतीय दर्शनो मे जैनवाद को प्राचीनतम अहिंसावादी दर्शन स्वीकार किया जाता है जैनियो की यह धारणा है कि उनका धर्म तथा उनका दर्शन वैदिक विचारधारा से भी अधिक प्राचीन है इसमे कोई सन्देह नही कि वर्द्धमान महावीर जैनधर्म के प्रवर्तक नही थे, अपितु एक सुधारक थे यह सत्य है कि महावीर से पूर्व जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे और महावीर के माता-पिता पार्श्वनाथ के अनुयायी थे महावीर ने निस्सदेह जैन दर्शन को एक व्यवस्थित रूप दिया है और साधुओ तथा गृहस्थ अनुयायियो के लिए अहिंसा धर्म पर आधारित ऐसे नैतिक नियमो का प्रतिपादन किया है, जो आज तक जैन समाज द्वारा आदर्श स्वीकार किए जाते है जैन आचारमीमासा अत्यन्त कठिन और कडे नैतिक नियमो का प्रतिपादित करती है इससे पूर्व कि हम जैन आचारशास्त्र की विस्तृत व्याख्या करें, हमारे लिए यह बताना आवश्यक है कि जैन आचारशास्त्र कडे अनुशासन पर क्यो बल देता है ?

जैनवाद में कठोरता का कारण

हमे यह स्मरण रखना चाहिए कि जैनवाद निवृत्तिमार्ग को अपनाता है और उस प्रवृत्तिमार्ग का विरोध करता है, जो वैदिक दृष्टिकोण के अनुसार क्रियात्मक सामाजिक जीवन को वाछनीय स्वीकार करता है जिन प्राचीन वैदिक मत्रो का आर्य लोग गान करते थे, देवताओ और परमेश्वर के प्रति सासारिक जीवन की सफलता के लिये प्रार्थना मात्र थे किन्तु धीरे-धीरे वैदिक विचारको ने यह अनुभव किया कि त्याग की भावना विना वे मोक्ष प्राप्त नही कर सकते इसके फलस्वरूप उन्होने चार आश्रमो की प्रथा को प्रचलित किया ये चार आश्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास हैं इसी प्रकार वैदिक धर्म के अनुसार अर्थ, काम, धर्म तथा मोक्ष इन चार पुरुषार्थों को भी स्वीकार किया गया है वैदिक दृष्टिकोण के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति क्रमिक हो सकती है, यद्यपि उस प्राप्ति के लिये सन्यास अत्यत आवश्यक है जीवन के पहले तीन आश्रम सन्यास की उस अन्तिम अवस्था की तैयारी मात्र है, जिस पर पहुँच कर मोक्ष की अनुभूति हो सकती है ब्रह्मचर्य अवस्था मे व्यक्ति के लिये अपने समय और शक्ति को विद्या प्राप्त करने मे लगाना इसलिये आवश्यक है कि वह गृहस्थ आश्रम मे प्रविष्ट होने के लिये योग्यता प्राप्त करके अर्थ तथा काम को अनुभूत कर सके पच्चीस वर्षो तक पर्याप्त धन उपार्जन करने के पश्चात् वानप्रस्थ आश्रम मे पच्चीस वर्ष धर्माचरण मे लगाना आवश्यक है इस अवस्था मे व्यक्ति नैतिकता का उपदेश करता है तथा उसका आचरण करता है और सामाजिक कल्याण मे प्रवृत्त हो जाता है अन्तिम पच्चीस वर्ष ध्यान तथा आत्मानुभूति के लिये इसलिये नियत है कि व्यक्ति सन्यास की अवस्था मे जीवन्मुक्त हो जाय और अन्त मे विदेह मुक्ति को प्राप्त करे

वेदवाद अथवा ब्राह्मणवाद इस प्रकार अनासक्त तथा त्याग के जीवन की ओर क्रमश अग्रसर होने मे विश्वास रखता था जीवन की यह योजना नि सदेह आकर्षक और व्यापक थी लेकिन उस समय के विचारको ने विशेष कर जैन सिद्धान्त
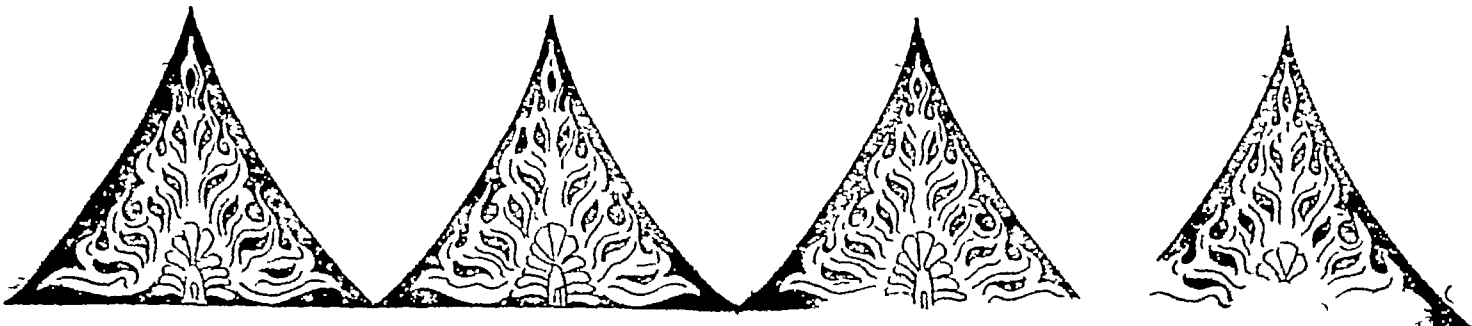
उच्चार दिया गया महात्मा बुद्ध की उदात्त आचारमीमांसा उनका अमूर्तिय सरसतम नैतिक विधान अहिंसा की आध्यात्मिक धारणा पर आधारित होता हुआ भी भारतीय जनता द्वारा इसलिये स्वीकार न किया गया कि उसमे तत्त्वात्मक प्रेरणा न थी हमारे देश में केवल वे ही सिद्धान्त स्थिर रह सकते है जिनकी तत्त्वात्मक पृष्ठभूमि अत्यन्त दृढ़ है. भारतीय दर्शन के सिद्धान्त और व्यवहार का इतिहास यह प्रमाणित करता है कि तत्त्व-विज्ञान के बिना आचार शास्त्र अन्धा है और आचारशास्त्र के बिना तत्त्व विज्ञान शून्य है

जैनवाद की सभी धारणाए आचार सम्बन्धी तथा पूजा सम्बन्धी मतभेद रखते हुए भी इस बात मे सहमत हैं कि आधारभूत सत्यों का यथार्थ ज्ञान मोक्ष की प्राप्ति के लिये नितान्त आवश्यक है उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार—'वही व्यक्ति सत् का आचरण करने वाला है जो आधारभूत सत्य ज्ञान में विश्वास रखता है' जैनवाद के अनुसार जीव के बन्धन का एक मात्र कारण मिथ्यात्व अथवा आधारभूत सत्यों के प्रति मिथ्याज्ञान है यही कारण है कि जैन आचार शास्त्र का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिये जैन तत्त्वमीमांसा पर प्रकाश डालना नितान्त आवश्यक है वर्द्धमान महावीर ने जिन नव तत्त्वों को प्रतिपादित किया है वे आजतक जैन सिद्धान्त की आधारशिला हैं ये नवतत्त्व निम्नलिखित है—(१) जीव (२) अजीव (३) पुण्य (४) पाप (५) आस्रव (६) बन्ध (७) संवर (८) निर्जरा (९) मोक्ष इन तत्त्वो की व्याख्या जैनवाद में इसलिये की जाती है कि हम यह जान सकें कि जीव किस प्रकार ससारचक्र में फसता है और उसे किन विधियों द्वारा मुक्त किया जा सकता है यहाँ पर यह बता देना आवश्यक है कि वास्तव में जैनवाद के अनुसार जीव तथा अजीव दो मुख्य तत्त्व है और अन्य सभी तत्त्व इन दोनों के विभिन्न स्तर है दूसरे शब्दों मे जीव तथा अजीव दो आधारभूत सत्ताए हैं पुण्य पाप आदि उनकी उपाधियां है

जीव—जीव को चैतन्य माना गया है और ज्ञान तथा दर्शन उसके दो मुख्य लक्षण बताए गए हैं जीव मे पांच प्रकार के ज्ञान है जिन्हे मति श्रुत अवधि मन पर्याय और केवल ज्ञान कहा गया है दर्शन चार प्रकार के हैं—चक्षु, अचक्षु अवधि तथा केवल किन्तु कर्म रूप पौद्गलिक द्रव्य के साथ सम्बद्ध रहने के कारण जीव का वास्तविक ज्ञान तथा वास्तविक दर्शन आच्छादित रहता है इसलिये जीवनमुक्ति प्राप्त करने के लिये कर्म-पुद्गल का सम्बन्ध हटा देना आवश्यक है जीव का चरम लक्ष्य केवलज्ञान तथा केवलदर्शन एव सर्वज्ञता प्राप्त करना है यह तभी सम्भव हो सकता है जब जीव पूर्णतया उन कर्मो से पृथक हो जाय जिनमें वह वासनाओं के द्वारा लिप्त है प्रत्येक अवस्था में जीव बन्ध में होता है. जीव की ये अवस्थाए पृथ्वीकाय (पृथ्वी सम्बन्धी जीव) अप्काय (जल सबधी जीव) वनस्पतिकाय (वनस्पति सम्बन्धी जीव) पशु, मनुष्य देवता तथा दैत्यादि है ये सभी जीव कर्मबन्धन में होते है केवल मुक्त जीव ही कर्मपुद्गलरहित होता है

अजीव—जैनदर्शन के अनुसार धर्म अधर्म पुद्गल आकाश तथा काल पांच ऐसे द्रव्य है जिन्हे अजीव कहा गया है धर्म तथा अधर्म जैन परिभाषा के अनुसार विशेष अर्थ रखते है यहा पर धर्म का अर्थ सद्गुण अथवा धार्मिक विश्वास न होकर गति का आधारभूत नियम है धर्म वह द्रव्य है, जो एक विशेष रूप से गति को सहायता देता है वह सूक्ष्म-से सूक्ष्म द्रव्य है और सूक्ष्म-से-सूक्ष्म गति को सभव बनाता है इसी प्रकार अधर्म वह द्रव्य है जो विशेष रूप से वस्तुओं की स्थिति मे सहायक होता है दूसरे शब्दो में धर्म का लक्षण गति है और अधर्म का लक्षण स्थिति है पुद्गल निस्सदेह विशुद्ध भौतिक द्रव्य का नाम है इसमें रस रूप गन्ध आदि के गुण उपस्थित रहते है इसका विश्लेषण तथा सम्मिश्रण हो सकता है यह आणविक है और इसका आकार होता है इसलिये पुद्गल को रूपी कहा गया है इसका सूक्ष्म-से सूक्ष्म रूप अणु है और स्थूल-से-स्थूल रूप समस्त भौतिक विश्व रूप है जैनदर्शन के अनुसार लम्बाई, चौड़ाई सूक्ष्मता स्थूलता हल्कापन और भारीपन बन्ध पार्थक्य आकार, प्रकाश तथा अन्धकार और धूप एव छाया सभी पौद्गलिक तत्त्व है जीव के बन्ध का अर्थ कर्मपुद्गल से प्रभावित होना है और निर्जरा का अर्थ पुद्गल का क्षय है पुद्गल के इस रूप की व्याख्या करना इसलिये आवश्यक है कि जैन आचारशास्त्र का मुख्य उद्देश्य कर्मपुद्गल का क्षय करना है. अभ्यास के नियमों का कठोरता से पालन करने एव सम्यकज्ञान सम्यकदर्शन तथा सम्यकचारित्र के अनुसरण करने का
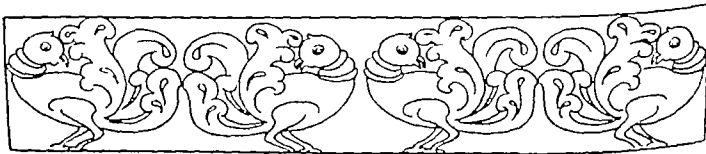
इसका कारण यह है कि जैनवाद एक नैतिक तत्त्वात्मक (Ethico-Metaphysical) सिद्धात है यह बात सदैव स्मरण रखनी चाहिये कि तत्त्वविज्ञान के बिना आचारशास्त्र न केवल अव्यावहारिक है, अपितु असगत और असभव भी है एक वास्तविक नैतिक मनुष्य वही है जो दार्शनिक भी है और एक यथार्थ दार्शनिक वह नही है जो केवल सत्य का ज्ञान रखता हो, अपितु वह है जो दार्शनिक सिद्धान्तो को अपने व्यावहारिक जीवन पर लागू करता हो इसी दृष्टिकोण को पुष्ट करते हुये विल ड्यूरैंट (Will Durant) ने एक दार्शनिक का दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुये लिखा है—"To be a philosopher is not merely to have subtle thought, nor even to found a school, but so to love wisdom as to live according to its dictates, a life of simplicity, independance magnanimity and trust"

अर्थात् दार्शनिक होने का अर्थ केवल सूक्ष्म विचार रखना नही है और न ही कोई सिद्धान्त प्रतिपादन करना मात्र है, अपितु उसका अर्थज्ञान से उस प्रकार प्रेम रखना है कि उसके आदेश के अनुसार सरलता, स्वतत्रता, सम्मान तथा सत्य-परायणता का जीवन व्यतीत किया जाय

यदि हम पाश्चात्य दर्शन के इतिहास पर दृष्टि डालें, तो इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि दर्शन का प्रत्येक उदात्त सिद्धान्त, स्पाइनोजा के सिद्धान्त की भाति तत्त्ववाद से आरम्भ होता है और आचारशास्त्र मे समाप्त होता है जहाँ तक भारतीय दर्शन के सिद्धान्तो का सबध है, हम यह कह सकते है कि नास्तिक तथा आस्तिक सिद्धान्त, समान नैतिक दृष्टिकोण रखते हुये भी एक-दूसरे से इसलिये विभिन्न हैं कि उनकी तत्त्वात्मक मान्यतायें समान नही हैं चार्वाक जैसे नास्तिक सिद्धान्त भी अपनी सुखवादी आचारमीमासा को उन तत्त्वात्मक धारणाओ पर आधारित करता है जो पूर्णतया भौतिक हैं यह एक खेद की बात है कि भारतीय दर्शन मे यह प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त सामग्री उपलब्ध नही कि चार्वाक दर्शन एक पूर्ण विकसित सिद्धान्त था तथापि हम चार्वाकज्ञानमीमासा, तत्वमीमासा तथा आचारमीमासा के विषय मे, भारतीय दर्शन के अन्य ग्रन्थो मे उल्लेख प्राप्त करते है. अन्य सभी ग्रन्थो ने तो चार्वाक धारणाओ का विरोध करने के लिये ही चार्वाक दर्शन का प्रकरण दिया है और इसलिये भारतीय दर्शन के इस भौतिक सिद्धान्त के प्रति जो सामग्री उपलब्ध है वह चार्वाक ज्ञानमीमासा तत्त्वमीमासा तथा आचारमीमासा को निषेधात्मक सिद्धान्त ही प्रमाणित करती है

हमे यह स्मरण रखना चाहिये कि अन्य सभी भारतीय दार्शनिक सिद्धान्तो की भाँति चार्वाकसिद्धान्त भी यह मानकर चलता है कि आधारभूत सत्ताका यथार्थ ज्ञान ही हमारे जीवनका मार्गदर्शन कर सकता है क्योकि हम यथार्थ ज्ञान को केवल प्रत्यक्ष द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं, इसलिए चार्वाकदर्शन के अनुसार कोई भी ऐसी वस्तु वास्तविक नही है जिसका कि हम प्रत्यक्ष अनुभव नही कर सकते हैं परन्तु इसका अभिप्राय यह नही कि चार्वाक दार्शनिको ने आधारभूत सत्ता को अस्वीकार किया है, यद्यपि उनका उद्देश्य अन्य सिद्धान्तो द्वारा स्वीकृत ईश्वर, आत्मा तथा अमरत्व की धारणाओ का विरोध करना था चार्वाकदर्शन नि सन्देह भौतिक द्रव्य को सत्ता मानकर चलता है, यद्यपि यह भौतिक द्रव्य वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी तक ही सीमित माना गया है क्योकि चार्वाकदर्शन के अनुसार भौतिक द्रव्य ही वास्तविक है, इसलिये हम अधिक-से-अधिक सुख केवल भौतिक विपयो से ही प्राप्त कर सकते है इस प्रकार चार्वाकदर्शन का मोक्ष के प्रति निपेधात्मक दृष्टिकोण भी विशेप महत्त्व रखता है और यह प्रमाणित करता है कि चार्वाकदर्शन के अनुसार आचारशास्त्र तत्त्वमीमासा पर निर्भर है

अन्य सिद्धान्तो ने चार्वाक-आचारशास्त्र को अप्रमाणित करने के लिये उसकी तत्त्वात्मक धारणाओ पर ही आक्षेप किया है और ऐसा करके ही चार्वाक-आचारशास्त्र को निराधार बताने की चेष्टा की है भारतीय स्वभाव से तत्ववादी हैं इस आध्यात्मिक ऋषिभूमि मे कोई भी ऐसा दर्शन नही पनप सकता जो तत्त्वात्मक न हो अथवा जिसका तत्त्वात्मक आधार निर्बल हो , क्योकि दर्शन शब्द का अर्थ आधारभूत सत्ता का प्रत्यक्षीकरण है यही कारण है कि भारतीय दर्शन के इतिहास मे अनेक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक सिद्धान्तो का उत्थान-पतन हुआ है यही तथ्य भारतीय सस्कृति के इतिहास के उस विरोधाभास की व्याख्या करता है जिसके अनुसार उदात्त नैतिक बुद्धधर्म, विश्वप्रिय होता हुआ भी अपनी जन्मभूमि से
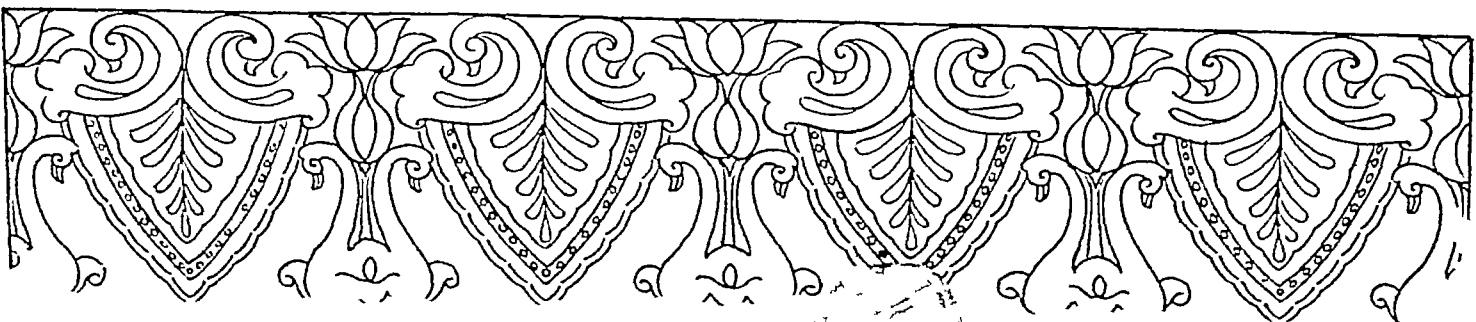
बन्ध—बन्ध का अर्थ जीव का उसी प्रकार कर्मपुद्गल से मिश्रित होना है जिस प्रकार दूध में पानी का मिश्रण होना जीव का कर्मपुद्गल से सम्बद्ध होना अनादि माना गया है किन्तु ऐसा होते हुए भी यह बन्ध अनन्त नहीं है व्यक्ति इस बन्ध को तोड़ सकता है और निर्जरा प्राप्त कर सकता है उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है— चरित्रसम्पन्न होने के कारण साधु मेरुपर्वत की भांति स्थायित्व प्राप्त कर लेता है और कर्म के उन अंशों को नष्ट कर देता है, जो केवली में भी उपस्थित होते हैं उसके पश्चात् वह पूर्णत्व ज्ञान मुक्ति तथा परम निर्जरा को प्राप्त करता है और सभी दुखों का अन्त कर देता है यही अवस्था बन्ध से मुक्त होने की अवस्था है बन्ध चार प्रकार के माने गए हैं—(१) प्रकृति बन्ध (२) स्थितिबन्ध (३) अनुभागबन्ध (४) प्रदेशबन्ध बन्ध के ये विभिन्न वर्ग वास्तव में कर्मपुद्गल तथा जीव के परस्पर संयुक्त होने के विभिन्न स्तर हैं प्रकृतिबन्ध का अर्थ है बंधनेवाले कर्म का स्वभाव उदाहरण—ज्ञानावरणीय कर्म की प्रकृति ज्ञान को आच्छादित करने की है इसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म की प्रकृति दर्शन (सामान्यज्ञान) को आच्छादित करने की है स्थितिबन्ध कर्मपुद्गल तथा सायुज्य (Unity) को बतलाता है अनुभागबन्ध कर्म के फल की तीव्रता और मन्दता को निर्दिष्ट करता है प्रदेशबन्ध कर्मपुद्गल तथा जीव के सायुज्य के ऐसे प्रकार को बतलाता है जो दूध-पानी के मिश्रण की भांति हो सकता है

आस्रव—आस्रव जीव का वह स्वाभाविक गुण है जो कर्म को आकर्षित करता है इसे आत्मा का वह विकार एवं भाव कहा गया है जो शुभ तथा अशुभ कर्मपुद्गल तथा जीव को अपनी ओर आकर्षित करता है और जो उसे जीव में विलीन कर देता है आस्रव कर्म की जीव में आगति अथवा अन्दर की ओर प्रवाह है आस्रव की परिभाषा देते हुए श्रीपूर्णचन्द नाहर ने लिखा है— Asrava is the influx of the Karma particles into the Soul, or it may be said as the acquirement by the soul of the fine Karma matter from without अर्थात् आस्रव कर्म पुद्गल का जीव में प्रवाह है अथवा उसे जीव के द्वारा बाहर से सूक्ष्म कर्मपुद्गल को ग्रहण करने की क्षमता कहा जा सकता है आस्रव को प्रायः दो वर्गों में विभक्त किया जाता है (१) भावआस्रव अथवा अन्तरात्मक प्रवाह (२) द्रव्य आस्रव अथवा विषयात्मक प्रवाह

भाव-आस्रव का प्रवाह वह मानसिक अवस्था अथवा परिवर्तन है जो जीव को इस प्रकार आकर्षक बना देता है मानों वह चुम्बक की भांति कर्मपुद्गल को ग्रहण करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है द्रव्य-आस्रव का अर्थ वह कर्मपुद्गल है, जो जीव के द्वारा आकर्षित किया जाता है और संचित किया जाता है

आस्रवों की एक और प्रकार की व्याख्या भी की गई है इस दृष्टि से उनकी एक जलाशय की उन मोरियों से तुलना की गई है जिनके द्वारा जल अन्दर की ओर प्रवाहित होता है इस दृष्टि से निम्नलिखित पांच प्रकार के आस्रव माने गए हैं—(१) मिथ्यात्व (२) अविरति (३) प्रमाद (४) कषाय (५) योग

मिथ्यात्व का अर्थ आधारभूत सत्ता के प्रति विपरीत धारणा एवं मिथ्या धारणा रखना है अविरति का अर्थ त्याग के विपरीत भुगतान है प्रमाद का अर्थ सत् कर्म के प्रति आलस्य है कषाय का अर्थ राग-द्वेष का उत्पन्न होना तथा प्रभाव शाली होना है और योग का अर्थ शरीर मन तथा वचन की क्रिया है योग को भी दो अन्य वर्गों में विभक्त किया गया है जिन्हें शुभ योग तथा अशुभ योग कहा गया है शुभ योग पुण्यबन्ध को उत्पन्न करता है और अशुभ योग पाप बन्ध को शुभ योग जो शुभ पुण्य का संचय करने वाला है और कर्मपुद्गल के बन्ध का कारण है जीव को निर्जरा की ओर अवश्य ले जाता है यों तो जैन दर्शन में आस्रवों की बहुत बड़ी सूचियां दी गई हैं किन्तु अन्य सब आस्रवों को ऊपर दिये गये पांच आस्रवों के अन्तर्गत किया जा सकता है

संवर—आस्रव को बन्ध का कारण माना गया है जैनदर्शन का मुख्य उद्देश्य बन्ध से पूर्णतया मुक्त होकर मोक्ष की प्राप्ति है इसलिये जैनवाद की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व वह है जो कर्म को पूर्णरूप से नष्ट कर देता है इसी महत्त्वपूर्ण तत्त्व को जैनवाद में संवर कहा गया है क्योंकि आस्रव जीव के वास्तविक रूप एवं उसकी स्वतन्त्र तथा निहित निष्प्र सत्ता को आच्छादित करता है इसलिये संवर वह तत्त्व है जो आस्रव का विरोधी है और जीव की वास्तविक

उद्देश्य कर्मपुद्गल से निवृत्ति प्राप्त करना है आकाश को भी जैनदर्शन मे सर्वव्यापी द्रव्य स्वीकार किया गया है. आकाश के दो भाग है, लोकाकाश तथा अलोकाकाश लोकाकाश, आकाश का वह भाग है जिसमे धर्म, अधर्म, पुद्गल जीव तथा काल स्थित होते हैं अलोकाकाश वह (शून्य) द्रव्य है, जो लोकाकाश से परे है और जिसमे उपरोक्त पाचो द्रव्य नही है अलोकाकाश मे धर्म, अधर्म न होने के कारण किसी प्रकार की गति या स्थिति नही होती है

जैनदर्शन मे काल भी ऐसा द्रव्य स्वीकार किया गया है, जो पुद्गल तथा जीव के परिवर्तन का आधार है हमे यह देखना है कि आकाश के लोक भाग मे धर्म अधर्म पुद्गल तथा जीव होते है पुद्गल और जीव गति और स्थिति से प्रभावित होते है पुद्गल जीव को बन्ध मे डाल देता है और जीव अपने आपको पुद्गल से मुक्त करके निर्जरा एव जीवनमुक्ति प्राप्त करने की चेष्टा करता है किन्तु इस प्रकार पुद्गल से निवृत्त होने की प्रक्रिया मे, जीव अनेक परिवर्तनो से गुजरता है पुद्गल मे भी सूक्ष्मसे स्थूल बनने मे परिवर्तन होते हैं पुद्गल तथा जीव का यह परिवर्तन, जो कि इन दोनो के विकास का कारण है, काल तत्त्व पर आधारित है

पुण्य—पुण्य का अर्थ शुभ कार्य माना जाता है जैनदर्शन मे भी पुण्य की यही परिभाषा स्वीकार की जाती है किन्तु पुण्य के दो अग हैं क्रियात्मक दृष्टि से तो पुण्य एक शुभ कर्म है, जो जीव द्वारा किया जाता है यदि शुभकर्म का अर्थ वह कर्म-पुद्गल हो जो जीव द्वारा सचित किया जाता है और जिसका आगामी काल मे भोग किया जाता है, तो हम पुण्य के पौद्गलिक अग की ओर सकेत कर रहे होते हैं वास्तव मे पुण्य एक प्रवृत्ति भी है और सस्कार भी यहा पर प्रवृत्ति का अर्थ क्रियाशीलता और सस्कार का अर्थ कर्मपुद्गल है जो क्रियाएँ शुभ सस्कारो को सचित करने मे सहायता देती है वे पुण्य कहलाती हैं जैनदर्शन के अनुसार नौ प्रकार के पुण्य स्वीकार किये गये है—(१) अन्नपुण्य (२) पान-पुण्य (३) वस्त्रपुण्य (४) लयनपुण्य (५) शयनपुण्य (६) मनपुण्य (७) शरीरपुण्य (८) वचन पुण्य (९) नमस्कार-पुण्य अन्नपुण्य का अर्थ किसी ऐसे भूखे या दरिद्र या अकिंचन तपस्वी को भोजन देना है जो उसका पात्र है इसी प्रकार पानपुण्य का अर्थ किसी प्यासे व्यक्ति की प्यास को बुझाना है वस्त्रपुण्य का अर्थ उन लोगो को वस्त्र दान देना जिन्हे शरीर को ढकने के लिये आवश्यकता है जैनदर्शन के अनुसार यद्यपि अन्न, जल और वस्त्र का दान किसी भी सुपात्र व्यक्ति को दिया जा सकता है, तथापि ये तीनो सयमशील महाव्रती साधुओ के प्रति किये जाय तो उनका महत्त्व और भी अधिक हो जाता है लयन तथा शयन पुण्यो का अर्थ ठहरने का स्थान तथा शयन के लिये पट्टा आदि देना है मनपुण्य शरीर पुण्य तथा वचन पुण्य का अर्थ शरीर मन और वाणी का इस प्रकार प्रयोग करना है कि व्यक्ति हर प्रकार की हिंसा से बचे और दूसरो को धर्म तथा नैतिकता की ओर आकर्षित करे नमस्कारपुण्य का अर्थ गुणी जनो को श्रद्धापूर्वक नमस्कार करना है

पाप—जैनदृष्टिकोण के अनुसार पाप का अर्थ राग द्वेष आदि भावो से प्रभावित होकर निकृष्ट कर्म करना है यह वास्तव मे मनुष्य की नीच प्रवृत्तियो का उसकी शुभ प्रवृत्तियो के विरुद्ध आन्दोलन है जैनदर्शन के अनुसार निम्नलिखित अठारह पाप माने गये हैं– (१) प्राणवध अथवा जीवहिंसा जिसका अर्थ किसी भी जीवधारी को अथवा उसकी जीवनशक्ति को क्षति पहुचाना है (२) असत्य अथवा मृषावाद अर्थात् असत्य बोलना (३) अदत्तादान पाप अथवा प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से चोरी करना (४) अब्रह्मचर्य पाप जिसका अर्थ मन अथवा शरीर द्वारा कामवृत्ति की तृप्ति करना है, (५) परिग्रह पाप,जिसका अर्थ अपनी सम्पत्ति मे आसक्ति है (६) क्रोधपाप (७) मान पाप अर्थात् अहकार (८) माया पाप अथवा छल-कपट (९) लोभपाप अथवा लालच करना (१०) रागपाप अथवा आसक्ति (११) द्वेषपाप, जिसका अर्थ किसी भी जीव के प्रति घृणा रखना है (१२) क्लेश पाप अथवा कलह (१३) अभ्याख्यान पाप, जिसका अर्थ किसी व्यक्ति का अपमान करने के लिये अपवाद फैलाना है (१४) पैशून्य पाप, जिसका अर्थ चुगलखोरी है (१५) पर-परिवाद पाप, जिसका अर्थ दूसरो की निन्दा अथवा उनके दोषो पर बल देना है (१६) रति-अरति पाप, जिसका अर्थ सयम मे अरुचि और विषयभोग आदि मे रुचि है (१७) मायामृषा पाप, जिसका अर्थ औचित्य और सद्गुण के आवरण मे अनुचित तथा दूषित कर्म करना है (१८) मिथ्यादर्शनशल्य पाप जिसका अर्थ असत् को सत् स्वीकार करना है
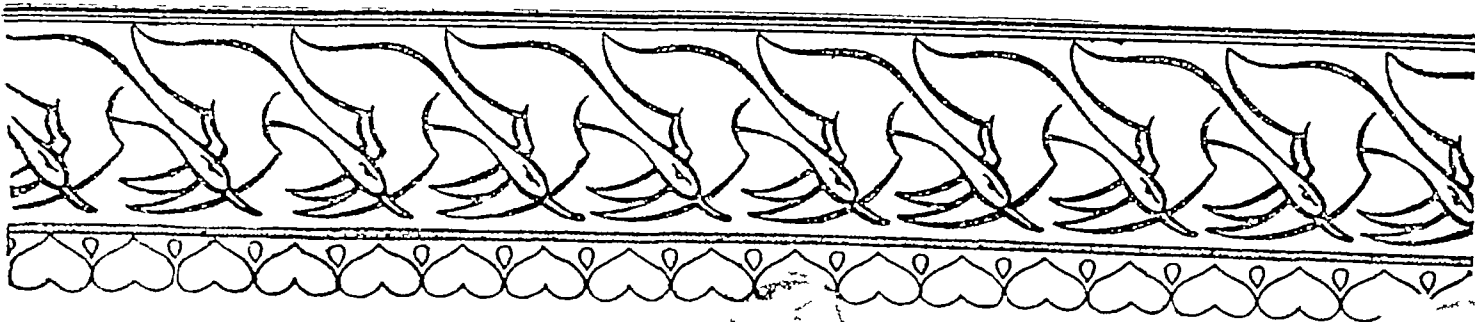
जैन आचारशास्त्र में सन्यासवाद

जैन आचारशास्त्र की विशेषता यह है कि वह अत्यन्त कठोर है, क्योंकि उसका परम उद्देश्य मोक्ष है जिसका अर्थ अनन्त सुख अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन तथा अनन्त शक्ति है इस असाधारण अवस्था की प्राप्ति स्वार्थ का पूर्णतया त्याग किये बिना कदापि नहीं हो सकती जैनदृष्टि से केवल सन्यासी ही इन कठोर नैतिक नियमों का अनुसरण कर सकता है क्योंकि वह सभी सांसारिक बन्धनों को त्याग देता है वास्तव में भारतीय दर्शन में प्राय सभी सिद्धान्तों द्वारा सन्यास की भावना को अनन्त अवस्था प्राप्त करने का साधन माना गया है आत्मानुभूति के लिये सभी सांसारिक वस्तुओं का त्याग करना आवश्यक माना गया है इस प्रकार के उच्च सन्यासवाद की ओर प्रवृत्ति आत्मा की अनन्त बनने की प्रबल इच्छा से ही प्रेरित होती है यह सन्यासवाद आत्माको विशाल बनाता है व्यक्ति को उसकी स्वार्थ की भावनाओं से मुक्त करता है और एक ऐसे जीवन का निर्माण करता है, जिसमें मानवमात्र के लिये प्रेम तथा सहानुभूति की भावना की प्रधानता होती है

सन्यासवाद का अर्थ सेवा तथा आत्मत्याग है सेवा तथा आत्मत्याग का अनुसरण कायर तथा निर्बल व्यक्ति नहीं कर सकता अपितु इस मार्ग पर वीर और साहसी आत्मा ही चल सकती है एक सामान्य व्यक्ति को भले ही सन्यास का जीवन अपूर्ण प्रतीत होता हो किन्तु यह तथाकथित अपूर्ण जीवन वास्तव में पूर्ण जीवन है इसी दृष्टि को लाओत्सू जैसे चीनी दार्शनिकों ने भी अपनाया है लाओत्सू के अनुसार सरल जीवन ऐसा निष्कपट जीवन है जिसमें लाभ को एक ओर फेंक दिया जाता है चातुर्य का त्याग किया जाता है स्वार्थ तथा इच्छाओं का बलिदान कर दिया जाता है यह पूर्णता का ऐसा नियम है जो अपूर्ण प्रतीत होता है ऐसी सम्पन्नता है जो रिक्त दिखाई देती है ऐसा पूर्ण सीधा मार्ग है जो टेढ़ा दिखता है ऐसी दक्षता है जो असुन्दर दिखाई देती है और ऐसी वाक्पटुता है जो मौन दिखाई देती है यह ऐसा जीवन है जो तलवार की धार की भांति तीखा है किन्तु जो चुभता नहीं है यह एक रेखा की भांति सीधा है किन्तु प्रसारित नहीं है प्रकाश की भांति चमकदार है परन्तु आंखों को चुंधियाता नहीं है यह वस्तुओं के उत्पादन तथा उनके पालन का वह जीवन है जिसमें उन वस्तुओं को अपना नहीं बनाया जाता है यह कर्म में प्रवृत्त होने की विधि है जिसमें स्वाभिमान नहीं रहता है यह एक ऐसा साम्राज्य है, जिसमें प्रभुत्व नहीं जमाया जाता

सन्यास जीवन का यह विचित्र वर्णन जो कि एक विरोधाभास को प्रकट करता है ऐसी जटिलता उत्पन्न करता है जिसको सुलझाना सामान्य व्यक्ति का काम नहीं है इस जीवन के मर्म को समझने के लिए ऐसे जीवन का गम्भीर अध्ययन करना चाहिए हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि सन्यासी के जीवन का उद्देश्य मानवमात्र का उत्थान तथा उसका आदर्श एक सम्पूर्ण जीवन की प्राप्ति होने के कारण निराशावाद को वह प्रश्रय नहीं दे सकता इसमें सन्देह नहीं कि सन्यासी जीवन के तथाकथित सुखों को घृणा की दृष्टि से देखता है किन्तु उसका उद्देश्य परम सुख होता है वह अपने वातावरण के प्रति असन्तुष्ट या कम से कम तटस्थ दिखाई देता है तथापि उसका मुख्य उद्देश्य परम सत्ता की अनुभूति होता है भारतीय दर्शन को समझने के लिये हमें बुद्ध द्वारा प्रस्तुत चार आर्यसत्यों को नहीं भूलना चाहिए जो निम्नलिखित हैं —

(१) विश्व में दुःख है (२) उस दुःख का कारण है (३) उस दुःख का अन्त होता है तथा (४) इस उद्देश्य की प्राप्ति का उपाय है इससे यह स्पष्ट होता है कि भारतीय दर्शन सन्यासवाद को निराशावाद के रूप में ग्रहण नहीं करता अपितु उसे मोक्ष का साधन मात्र ही मानता है

जैनधर्म का सन्यासवाद इसलिए कहा जाता है कि इसके अनुसार केवल सन्यासी अथवा साधु ही अहिंसा का निर्दोष अनुसरण करके मोक्ष प्राप्त कर सकता है यद्यपि इसमें गृहस्थों के लिए भी नैतिक नियमों का प्रतिपादन किया गया है तथापि जैन आचारशास्त्र प्रधानतया सन्यासवादी आचार शास्त्र है गृहस्थ श्रावकों के लिये जिस प्रकार के आचार का प्रतिपादन किया जाता है उसे अणुव्रत कहते हैं किन्तु जो आचार साधुओं के लिये प्रतिपादित किया गया है उसे महाव्रत कहा जाता है महाव्रतों तथा अणुव्रतों की व्याख्या करने से पूर्व यह बताना आवश्यक है कि जैन आचारशास्त्र

सत्ता की स्थापना करता है सवर के द्वारा आस्रव रूपी कर्मपुद्गल के प्रवाह को रोक दिया जाता है सवर का अर्थ जीवन के उन नियमो का अपनाना तथा तपश्चर्या करना है, जो जीव को आस्रवो मे मुक्त करे और नवीन कर्म-बन्धन का अत कर दे निम्नलिखित पाच मुख्य सवर उल्लेखनीय है—(१) सम्यक्त्व अथवा आधारभूत सत्ता मे दृढ विश्वास (२) विरति अथवा अनासक्ति (३) अप्रमाद अथवा सावधानी (४) अकषाय अथवा क्रोधादि विकारो से निवृत्ति (५) अयोग अथवा शरीर, मन और वाणी की क्रियाओ से मुक्ति

ये पचविध सवर जीव का अन्तरात्मक परिवर्तन कर देते है जैन शास्त्रो मे इन सवरो की भी विस्तृत सूचिया दी गई है और ५७ सवर सबधी नियम निर्धारित किये गये हैं ५७ नियम निम्नलिखित रूप मे सक्षेप मे बताए जा सकते है (क) पाच समितिया (ख) तीन गुप्तिया (ग) दस यतिधर्म (घ) बारह भावनाए (ङ) बाईस परीषह और (च) पाच चारित्र

इन ५७ नियमो की व्याख्या का हमारे विषय से विशेष सबध नही है, क्योकि ये सभी सवर विशेषतया साधुओ के व्यवहार से सम्बन्ध रखते हैं यहा पर इतना कह देना पर्याप्त है कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाच महाव्रतो का अनुसरण करने से और इन्हे किसी भी प्रकार भग न होने देने से जीव कर्म के प्रभाव से मुक्त हो जाता है, और जब उसके कर्मो का क्षय हो जाता है, तो उसे मुक्त अवस्था की प्राप्ति होती है

निर्जरा—निर्जराका अर्थ जीव की वह अवस्था है जिसमे कर्मपुद्गल का आशिक क्षय हो जाता है निर्जरा को स्पष्ट करने के लिये निम्नलिखित तीन उदाहरण उपयोगी सिद्ध होते है—(१)[जिस प्रकार जलाशय का गन्दा पानी मोरियो के द्वारा बाहर निकाल दिया जाता है, उसी प्रकार जब कर्म रूपी पानी आध्यात्मिक शासन के द्वारा बाहर निकाल दिया जाता है, तो व्यक्ति निर्जरा प्राप्त करता है (२) जिस प्रकार घर से झाडू के द्वारा कूडा-कर्कट बाहर निकाल दिया जाता है, उसी प्रकार जब कर्म रूपी पानी आध्यात्मिक अनुशासन के द्वारा बाहर निकाल दिया जाता है, तो व्यक्ति निर्जरा प्राप्त करता है (३) जिस प्रकार नाव मे एकत्रित जल को हाथो से बाहर फेक दिया जाता है, उसी प्रकार आत्मा मे सचित कर्म को बाहर निकाल देना निर्जरा है

मोक्ष—मोक्ष नि सदेह जीव की कर्मपुद्गल से पूर्ण रूप से निवृत्ति है हम ने यह पहले ही बतलाया है कि चार प्रकार के बन्धो के द्वारा जीव कर्मपुद्गल से जुडा रहता है यद्यपि हमने बन्ध की व्याख्या ऊपर की है, तथापि मोक्ष की धारणा को उदाहरणो द्वारा अधिक स्पष्ट करने के लिये बन्ध के निम्नलिखित तीन उदाहरण देना आवश्यक है

(१) जिस प्रकार दूध और मक्खन एक दूसरे मे ओतप्रोत होते है उसी प्रकार जीव और कर्म बन्ध द्वारा एक दूसरे मे विलीन होते है

(२) जिस प्रकार धातु और मिट्टी एक दूसरे मे विलीन होते हैं, उसी प्रकार आत्मा और कर्म बन्ध द्वारा एक दूसरे मे जुडे होते हैं

(३) जिस प्रकार तिल और तेल एक दूसरे मे ओतप्रोत होते हैं उसी प्रकार बन्ध द्वारा जीव और कर्म एक दूसरे मे समाविष्ट होते है

क्योकि मोक्ष की अवस्था हर प्रकार के कर्म से जीव की पूर्ण निवृत्ति है, इसलिए निम्नलिखित उदाहरणो द्वारा मोक्ष की उचित व्यवस्था की जा सकती है—(१) जिस प्रकार तेल को कोल्हू के द्वारा तिल से निकाल लिया जाता है, उसी प्रकार जब आत्मसयम और तपश्चर्या के द्वारा जीव को कर्म से पृथक् कर दिया जाता है, मनुष्य मोक्ष को प्राप्त करता है (२) जिस प्रकार मक्खन को बिलोने के द्वारा छाछ से पृथक् कर दिया जाता है उसी प्रकार जब जीव को तपश्चर्या और आत्मसयम द्वारा कर्म से पृथक् कर दिया जाता है, तो मोक्ष प्राप्त करता है
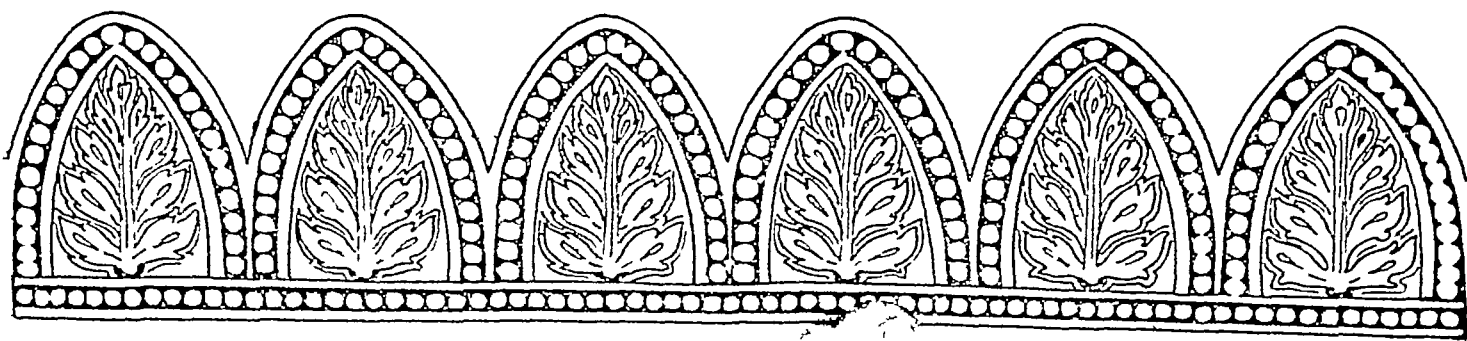
मनुष्य को पूर्णता तथा समरूपता प्राप्त करने के योग्य बनाती है एवं उसे मोक्ष की अनुभूति कराती है केवल ऐसी मोक्ष की धारणा के द्वारा ही आकार तथा सामग्री सत् तथा असत् शुभ तथा अशुभ तर्क तथा सुख सामाजिक तथा वैयक्तिक कल्याण के विरोध को दूर किया जा सकता है नैतिकता के आदर्श के रूप में मोक्ष हमें आकार तथा सामग्री तर्क तथा सुख देता है इस प्रकार जैनवाद के अनुसार मोक्ष ही एक मात्र नैतिक आदर्श है इस दृष्टिकोण को सामने रखते हुए हमें जैन आचारशास्त्र का अध्ययन करना चाहिए

सन्यासी अथवा साधु की आचार-मीमांसा

जैनसिद्धांत के अनुसार अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह इन पांच महाव्रतों का अनुसरण करना मोक्ष का साधन है जैनधर्म में इन्हीं पांच नियमों को साधुओं के आचार के आधारभूत नियमों के रूप में स्वीकार किया गया है अहिंसा का अर्थ हर प्रकार की हिंसा से बचना है चाहे वह हिंसा सूक्ष्म से सूक्ष्म अदृश्य जीवों की हो चाहे वह पशुओं की हो और चाहे मनुष्यों की हिंसा का अर्थ केवल शरीर द्वारा हिंसा करना ही नहीं है अपितु मन और वचन द्वारा भी हिंसा करना है जब जैन साधु अहिंसा का पालन करता है वह हर प्रकार से यही चेष्टा करता है कि इस महाव्रत का यथासम्भव निरपेक्ष रूप से अनुसरण करे और मन वचन तथा काया से किसी भी जीवधारी को दुःख न दे यह तीन प्रकार की अहिंसा तीन गुप्तियों पर आधारित मानी जाती है दूसरे शब्दों में मन वचन तथा कर्म द्वारा महाव्रतों के पालन करने को तीन गुप्तियां कहा गया है हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि सभी महाव्रतों का मूल आधार अहिंसा महाव्रत है इस अहिंसा का निरपवाद अनुसरण करने के लिये ही अन्य चारित्र सबंधी नियमों को स्वीकार किया गया है सत्य बोलना इसलिये आवश्यक है कि किसी के प्रति झूठ बोलने से उस व्यक्ति को कम से कम मानसिक आघात अवश्य पहुँचता है यदि कोई व्यक्ति सत्य की अवहेलना करके केवल अहिंसा को अपनाने की चेष्टा करे तो वह कदापि ऐसा नहीं कर सकता असत्य बोल कर हम निःसंदेह वचन द्वारा हिंसा करते है और दूसरे व्यक्ति के मन को दुःखी करते है इसी प्रकार किसी व्यक्ति की सम्पत्ति को चुराना एव तीसरे महाव्रत को भंग करना हिंसा है जिस व्यक्ति की सम्पत्ति चुराई जाती है निःसंदेह उसको मानसिक आघात पहुँचता है अत अस्तेय भी अहिंसा पर आधारित है आधुनिक विज्ञान भी इस दृष्टिकोण को पुष्ट करता है कि ब्रह्मचर्य पर न चलने से अर्थात् काम की तृप्ति से असंख्य जीवों की हिंसा होती है अत ब्रह्मचर्य अहिंसा को पुष्ट करने का साधन है अपरिग्रह का अर्थ आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति न रखना है यह स्पष्ट है कि जो व्यक्ति आवश्यकता से अधिक धन-धान्य आदि रखता है वह निःसंदेह उन निर्धनों और भूखों को जीवन की आवश्यकताओं से वंचित रख रहा है जिनकी रक्षा करने के लिये अतिरिक्त धन और धान्य का सदुपयोग किया जा सकता है अत अपरिग्रह का अनुसरण करना अहिंसात्मक जीवन को पुष्ट करता है

साधुओं का आचार पूर्णतया अहिंसात्मक माना गया है इसलिये प्रत्येक जैन साधु को पांच महाव्रतों और तीन गुप्तियों के साथ साथ निम्नलिखित पांच समितियों का भी अनुसरण करना पड़ता है —(१) ईर्यासमिति अर्थात् जीवों की हिंसा से बचने के लिए सावधानी से चलना (२) भाषासमिति—वचन द्वारा हिंसा से बचने के लिये भाषा पर नियंत्रण रखना (३) एषणासमिति—साधु द्वारा भोजन तथा जल का सावधानी से निरीक्षण किया जाना और यह निश्चित करना कि जो अन्न तथा जल उसे दिया जा रहा है वह उसी के लिये तो प्रस्तुत नहीं किया गया (४) आदान निक्षेपणसमिति— सूक्ष्म जीवों को आघात न पहुँचाने की दृष्टि से नित्य की आवश्यक वस्तुओं को सावधानी से प्रयोग में लाना (५) परिष्ठापनिका-समिति—अनावश्यक वस्तुओं को सावधानी से विसर्जित करना

ये पांच समितियां साधु को अहिंसा के मार्ग पर चलने में सहायता देती है और यह प्रमाणित करती है कि साधु का जीवन हर प्रकार से एक तटस्थता का जीवन होना चाहिए। साधु आचार की यह तटस्थता इसलिये आवश्यक है कि इसी के द्वारा वह हर प्रकार के राग द्वेष से मुक्त हो सकता है जब तक साधु संसार के द्वन्द्वों से ऊपर उठ कर निर्लेप रूप से अहिंसा का पालन नहीं करता तब तक वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता साधारणतया अहिंसा का अर्थ अन्य प्राणियों की रक्षा भी माना जाता है यही कारण है कि अधिकतर जैन गृहस्थ अथवा श्रावक पशुओं का दाना डालने
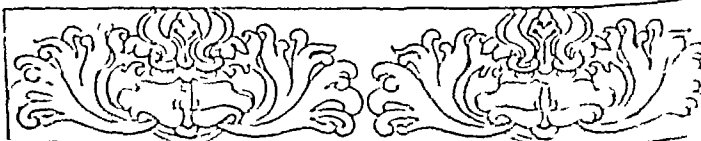
मोक्ष को ही एक मात्र पुरुषार्थ मानता है और मोक्ष की यह तत्त्वात्मक धारणा ही उसे पाश्चात्य आचारशास्त्र के सिद्धान्तो की अपेक्षा उत्कृष्ट प्रमाणित करती है

जैनवाद के अनुसार मोक्ष की धारणा एक ऐसा अमूर्त आदर्श नही है, जो कि मनुष्यो को केवल इच्छाओ का अन्त करने की आज्ञा दे, और न ही वह पश्चिमी सुखवाद की भाँति इच्छाओं की निरकुश तृप्ति को वाछनीय स्वीकार करता है जब मोक्ष की प्राप्ति होती है तो व्यक्ति अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त दर्शन और अनन्त वीर्य प्राप्त करने के कारण पूर्णत्व का अनुभव करता है और उसकी इच्छाए स्वत ही समाप्त हो जाती है इस प्रकार शाश्वत और व्यापक आत्मानुभूति मे कान्ट द्वारा प्रस्तुत तर्कात्मक आकार तथा पश्चिमी सुखवाद द्वारा प्रतिपादित सुख की भौतिक सामग्री दोनो सम्मिलित होते है मोक्ष नि सन्देह एक तर्कात्मक एव प्रत्ययात्मक धारणा है और साधारण दृष्टि से भौतिक नही कहा जा सकता, किन्तु इसके साथ ही साथ मोक्ष की अनुभूति, जिसका अर्थ आत्मानुभूति है, नैतिकता को विश्वव्यापी आत्मा से सम्बन्धित करती है और इस व्यापक आत्मानुभूति मे तर्क तथा सुख दोनो का समन्वय हो जाता है

यह सत्य है कि एक पूर्ण नैतिक सिद्धात के लिये एक ऐसी तत्त्वात्मक धारणा की आवश्यकता है, जो आदर्श होते हुए भी वास्तव मे अनुभूत किया जा सके और जो व्यापक होते हुए भी अन्तरात्मक हो यद्यपि कान्ट ने सद्गुण के आन्तरिक अग पर वल दिया है, तथापि उसने एक वाहरी ईश्वर की मान्यता को अपने नैतिक सिद्धात को पूर्ण वनाने के लिये ही स्वीकार किया है कान्ट एक व्यापक दृष्टिकोण को ही आदर्श दृष्टिकोण मानता है और कहता है कि हमे अपने आपको तथा अन्य मनुष्यो को कदापि साधन न मान कर स्वलक्ष्य-साध्य ही स्वीकार करना चाहिए वह एक उद्देश्यात्मक साम्राज्य स्थापित करने की चेष्टा करता है, यद्यपि उसका यह उद्देश्यवाद कुछ अस्पष्ट है तथापि कान्ट की धारणा है कि सदाचार तथा सुख दोनो मिल कर पूर्ण शुभ का निर्माण करते हैं, तथापि वह यह स्पष्ट नही करता कि इन दोनो का परस्पर समन्वय कैसे किया जा सकता है ? इस जटिल समस्या को सुलझाने के लिये वह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वर की धारणा को स्वीकार करता है, जो प्रत्येक व्यक्ति को उसके सदाचार के अनुरूप सुख प्रदान करने वाला है यह एक विचित्र वात है कि वह कान्ट, जो उद्देश्यात्मक साम्राज्य का समर्थक है और जो इस वात पर बल देता है कि मनुष्य स्वलक्ष्य है, वह स्वय ईश्वर को सदाचार तथा सुख के समन्वय के उद्देश्य की पूर्ति के लिये साधन मात्र स्वीकार करता है कान्ट मनुष्य को स्वलक्ष्य मानते हुए भी सदाचार के आत्मसगत सिद्धात को इसलिये सगत प्रमाणित नही कर सका क्योकि वह आत्मानुभूति के सिद्धात से अनभिज्ञ था, वह मोक्ष की धारणा का ज्ञान नही रखता था

पश्चिमीय नैतिक सिद्धात, नैतिकता को सापेक्ष स्वीकार करते है और उसे एक विरोधाभास मानते है ब्रैडले ने अपनी पुस्तक 'नैतिक अध्ययन' (Ethical Studies) मे लिखा है 'नैतिकता मे विरोधाभास तो है ही, वह हमे उस वस्तु को अनुभूत करने का आदेश देती है जिसकी (पूर्ण) अनुभूति कदापि नही हो सकती और यदि उसकी अनुभूति हो जाय तो वह स्वय नष्ट हो जाती है कोई भी व्यक्ति कभी भी पूर्णतया नैतिक नही रहा है और न भविष्य मे हो सकता है जहा पर अपूर्णता नही है, वहा पर कोई नैतिक औचित्य नही हो सकता नैतिक औचित्य एक विरोधाभास है'

क्योकि मोक्ष की प्राप्ति की धारणा पाश्चात्य विचारको को ज्ञात नही है, इसलिये वे इस तथ्य से अनभिज्ञ है कि नैतिकता के विरोधाभास को ऐसे स्तर पर पार किया जा सकता है, जो कि तर्क और बुद्धि से ऊचा स्तर है कान्ठ तत्त्वात्मक दृष्टि से तो अनुभवातीत सिद्धात प्रस्तुत करता है किन्तु वह अनुभवातीत नैतिक सिद्धात (Transcendentalism in Ethics) प्रस्तुत नही कर सका यही कारण है कि उसे धर्मवाद का आश्रय लेना पडा और वाह्यात्मक तथा वैयक्तिक ईश्वर की धारणा को स्वीकार करना पडा जैनवाद मनुष्य के विरोधाभास और उसकी अपूर्णता से सन्तुष्ट नही रहता उसके अनुसार मनुष्य स्वभाव से विरोधाभास से परे है और उसमे पूर्णत्व निहित है उसके जीवन का उद्देश्य नैतिक तथा आध्यात्मिक अनुशासन के द्वारा इस अव्यक्त पूर्णत्व को व्यक्त करना है मनुष्य मे विरोधाभास नही है हमे ऐसी नैतिकता को स्वीकार ही नही करना चाहिए, जो एक विरोधाभास हो ब्रैडले ने स्वय स्वीकार किया है "मनुष्य विरोधाभास से कुछ अधिक है" मेरी यह धारणा है कि यह आधिक्य वह आध्यात्मिक क्षमता है, जो
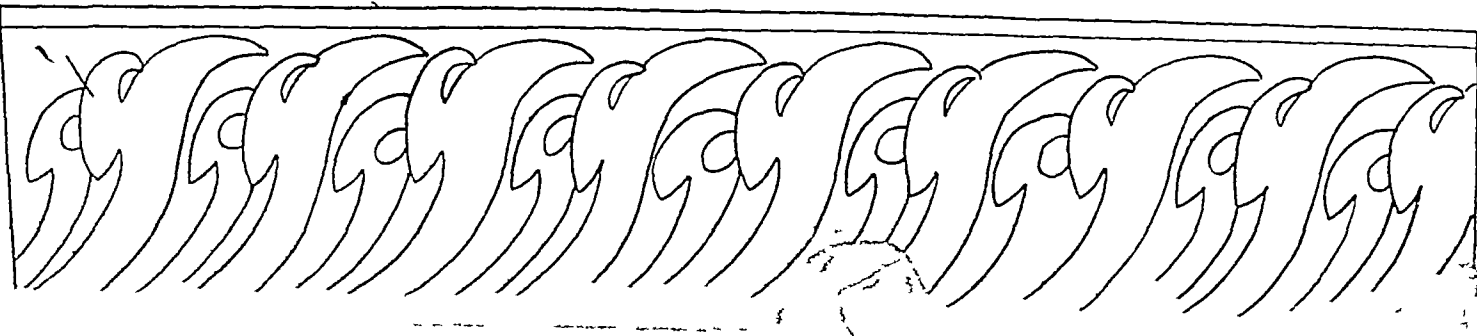
की रक्षा करता है उसकी सराहना की जा सकती है किन्तु यदि मोक्ष के स्थान पर दया को कर्म का प्रेरक माना जाय तो ऐसा कर्म आध्यात्मिक दृष्टि से अनुचित होगा दया से प्रेरित होकर प्राण की रक्षा अहिंसा के अतिरिक्त अन्य साधनों से भी की जा सकती है ऐसी अवस्था में दया को मोक्ष के लिए उपयोगी नहीं माना जा सकता क्योंकि साधु न तो धन रख सकता है और न किसी अन्य व्यक्ति को धन दे सकता है यदि धन के स्थान पर व्याध को समझा-बुझा कर उसके मन को परिवर्तित कर दिया जाय तो यह कर्म आत्मा की रक्षा से प्रेरित होने के कारण मोक्ष-धर्म समझा जायेगा यद्यपि इसमें प्राणी की रक्षा स्वतः ही हो जायेगी इससे यह प्रतीत होता है कि केवल अध्यात्म और और अनुभवातीत दृष्टि से ही आत्मा की रक्षा को जीव की रक्षा की अपेक्षा उत्कृष्ट माना जा सकता है

यहाँ पर स्मरण रखना चाहिये कि जहाँ तक साधु-आचार का सम्बन्ध है कुछ सीमा तक प्राण रक्षा की ओर तटस्थता को धर्म स्वीकार किया जा सकता है क्योंकि साधु मुमुक्षु होता है उसे शुभ अशुभ से ऊपर उठना पड़ता है और अहिंसा का पालन करते समय जीवों के प्रति तनिक मात्र राग-द्वेष से भी मुक्त रहना पड़ता है शुभ तथा अशुभ कर्मों को जैन दर्शन में बन्ध माना गया है जैनदर्शन के विख्यात विद्वान् श्री ए एन उपाध्ये ने लिखा है 'शुभ तथा अशुभ कर्मों की लोहे तथा सोने की हथकड़ियों से उपमा दी जा सकती है मोक्ष प्राप्त करने के लिये इन दोनों से मुक्त होना चाहिये यह आवश्यक है कि आसक्ति को त्याग दिया जाय और व्यक्ति अपनी विशुद्ध आत्मा में ही स्थित हो जाय अन्यथा समस्त तपश्चर्या और धार्मिक कर्म निरर्थक हैं किन्तु तेरापंथी इस तटस्थता पर आवश्यकता से अधिक बल देते हैं और प्राणरक्षा को केवल व्यावहारिक दया स्वीकार करते हैं इस कर्त्तव्य को केवल व्यावहारिक कर्त्तव्य कह कर और उसका उत्तरदायित्व गृहस्थों पर छोड़ कर तेरापंथी आध्यात्मिक तटस्थता पर आवश्यकता से अधिक बल देते हैं वे इस बात को भूल जाते हैं कि प्राणरक्षा करते समय भी एक साधु तटस्थ रह सकता है और इस प्रकार प्राणरक्षा भी आत्मा की रक्षा की भाँति आध्यात्मिक दया हो सकती है विशेष कर साधु के लिए यह अनिवार्य नहीं है कि वह प्राणियों की रक्षा करते समय उनके प्रति राग अथवा आसक्ति रखे आध्यात्मिक आदर्श पर चलते हुए भी और प्राणों की रक्षा करते हुए घृणा द्वेष भय आदि से निवृत्ति की प्राप्ति की जा सकती है

ऐसा आदर्श हमें भगवद्गीता की स्थितप्रज्ञ की धारणा में मिलता है भगवद्गीता के अनुसार स्थितप्रज्ञ वही है जो दुखों का अनुभव करते समय उद्वेगरहित है जो सुख का अनुभव करते समय अभिमान एवं आत्मप्रशंसा से रहित है और जिसके मन क्रोध आदि नष्ट हो गए हैं एक साधु को भी दुख-सुख का अनुभव करना पड़ता है क्योंकि ये अनुभव उसके पूर्व जन्म का फल होते हैं किन्तु उसमें और गृहस्थ में अन्तर होता है कि गृहस्थ भावावेश से असन्तुलित अवस्था में होता है जब कि साधु स्थितप्रज्ञ होने के कारण शांत होता है वह न किसी व्यक्ति से प्रसन्न होता है न अप्रसन्न शुभ अशुभ वस्तुओं के प्रति वह अनासक्त और तटस्थ रहता है भगवद्गीता का यह आदर्श जैन साधु के आदर्श के सदृश है कुन्दकुन्दाचार्य के शब्दों में—'अज्ञानी के लिये कर्म बन्ध का कारण बनता है जब कि ज्ञानी आध्यात्मिक होने के कारण उस समय हल्का एवं सात्त्विक होता है, जब कि वह कर्म के फल को भोगता है वह साधु जो जीवित प्राणियों की रक्षा करते समय आध्यात्मिक दृष्टिकोण से भावशून्य होता है और जिसका दृष्टिकोण विश्वातीत होता है कदापि कर्म से आसक्त नहीं हो सकता और न ही उसका कर्म बन्ध को उत्पन्न कर सकता है

स्थितप्रज्ञ की यह धारणा जैन धारणा के विपरीत नहीं है कुन्दकुन्दाचार्य ने ज्ञानी की जो धारणा प्रस्तुत की है वह स्थितप्रज्ञ की धारणा के सदृश है कुन्दकुन्दाचार्य ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि ज्ञानी को अपनी आत्मा में ही स्थित रहना चाहिये और यह आत्मस्थिति ही उसे आनन्द देती है इसी आत्मानुभूति के लिए ही अनासक्त रहना आवश्यक है कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार में इस दृष्टिकोण की पुष्टि करते हुए स्पष्ट रूप से लिखा है—'परमाणु के बराबर तनिकमात्र आसक्ति भी आत्मानुभूति के लिए महान् आपत्ति का कारण है, यद्यपि किसी व्यक्ति ने सभी आगमों को कण्ठस्थ भी क्यों न कर लिया हो व्यक्ति को अपनी आत्मा में तल्लीन हो कर आत्मस्थित रहना चाहिए क्योंकि आत्मा ही ज्ञान का भण्डार है इस प्रकार सन्तुष्ट रहना ही उत्कृष्ट एवं परम सुख है. भगवद्गीता के दूसरे

है और बीमार पशु-पक्षियो के लिये चिकित्सालय आदि बनवाते हैं इस प्रकार दया को अहिंसा के समकक्ष स्वीकार किया जाता है किन्तु जैनवाद मे श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे "तेरापन्थ" नाम का मत अहिंसा की विचित्र व्याख्या करता है और उसे जीवन की रक्षा से पृथक् मानता है अहिंसा की इस परिभाषा का निष्पक्ष विश्लेषण करना आवश्यक है, क्योकि अहिंसा ही जैन नैतिकता का आदर्श है जहा तक साधु-आचार का सम्बन्ध है निरपेक्ष दृष्टि पर आधारित अहिंसा की व्याख्या विशेष महत्त्व रखती है

निरपेक्ष दृष्टि से जो अहिंसा की व्याख्या की जाती है, वह नि सदेह जनसाधारण की परिधि से बाहर है और उसके अनुसार साधारण हिंसा और अनिवार्य हिंसा मे कोई भेद नही है इस दृष्टि से हिंसा हर अवस्था मे और हर समय पर हिंसा ही है यदि एक बार हम सूक्ष्म जीवो के अस्तित्व को स्वीकार कर लेते हैं तो कोई कारण नही कि कुछ मानवीय जीवो की रक्षा करने के लिये अनन्त सूक्ष्म जीवो की हिंसा को आध्यात्मिक दृष्टि से अनैतिक न समझा जाय इस बात को तो स्वीकार किया जा सकता है कि इस प्रकार की निरपेक्ष अहिंसा का पालन करना एक बुद्धिमान् मनुष्य के लिये इस-लिए असम्भव है कि वह सूक्ष्म जीवो के सहार के विना अपने आपको जीवित नही रख सकता किन्तु तत्त्वात्मक आधार पर इस प्रकार की सापेक्ष हिंसा को अहिंसा कहना और ऐसे कर्म को मोक्ष की दृष्टि से सगत स्वीकार करना भी एक भूल है तेरापथियो की यह धारणा है कि मनुष्य विवश होकर सापेक्ष अहिंसा के मार्ग को अपनाता है और उसका ऐसा करना मोक्ष मार्ग के अनुकूल नहीं कहा जा सकता उनकी यह धारणा है कि आध्यात्मिक जीवन मे तथा व्यावहारिक जीवन मे भेद है मनुष्य को यह स्वीकार करना चाहिए कि वह निर्बल है और वह हर समय आध्यात्मिक नैतिकता का पालन नही कर सकता निरपेक्ष अहिंसा, जो कि सूक्ष्म तथा स्थूल हर प्रकार के जीवो की हिंसा को समान रूप से अनैतिक मानती है, साधुजीवन का ही आदर्श बन सकती है अहिसा की यह धारणा तेरापथ के अनुसार सूक्ष्म जीवो के प्रति तथा मनुष्यो के प्रति दया के भेद को स्वीकार नही करती

यह तो स्वीकार किया जा सकता है कि मनुष्य निरपेक्ष रूप से अहिंसा को नही अपना सकता महात्मा गाधी ने भी निरपेक्ष अहिंसा के विषय मे इस प्रकार के विचार प्रकट किए है उनके शब्दो मे "निरपेक्ष एव पूर्ण अहिंसा का अर्थ सभी जीवो के प्रति हर प्रकार की दुर्भावना से मुक्त रहना है और इसलिए उसके क्षेत्र मे मानवेतर भयानक पशु तथा कीडे भी सम्मिलित हो जाते है" एक और स्थान पर गाधीजी ने कहा है—"अहिंसा एक अत्यन्त भयानक शब्द है मनुष्य बाह्यात्मक हिंसा के विना जीवित ही नही रह सकता वह खाते, पीते, बैठते, उठते समय अनायास ही किसी-न-किसी प्रकार की हिंसा करता रहता है उसी व्यक्ति को अहिंसा का पुजारी मानना चाहिए, जो इस प्रकार की हिंसा से निवृत्त होने का सतत प्रयास करता है, जिसका मन दया से पूर्ण है और जो सूक्ष्म जीवो की हिंसा की भी इच्छा नही करता ऐसे मनुष्य का नियन्त्रण तथा उसके हृदय की कोमलता सदैव प्रवृद्ध होते चले जायेंगे किन्तु इसमे कोई सन्देह नही कि कोई भी जीवित प्राणी बाह्यात्मक हिंसा से पूर्णतया मुक्त नही है"

महात्मा गाधी ने तो निरपेक्ष अहिंसा को असम्भव मानकर सापेक्ष अहिंसा को ही सामान्य मनुष्य के लिये आदर्श माना है उन्होने अपने लेखो तथा भाषणो मे अनेक बार यह अभिव्यक्त किया है कि उनकी अहिंसा एक विशेष अहिंसा है वह उन जीवधारियो के प्रति दया को अहिंसा नही मानते जो मनुष्यो का भक्षण कर जाते हैं किन्तु तेरापन्थी साधु यह मान कर चलते है कि विरक्त सन्यासी के लिए निरपेक्ष अहिंसा का पालन करना नितान्त आवश्यक है इसलिये वे आध्या-त्मिक दृष्टि से जीवरक्षा को अहिंसा नही मानते उनका कहना यह है कि जीवरक्षा व्यावहारिक दृष्टि से सराहनीय मानी जा सकती है किन्तु आध्यात्मिक एव मोक्ष की दृष्टि से उसे धर्म स्वीकार नही किया जा सकता है इस मत के वर्तमान आचार्य तुलसी ने दया की परिभाषा करते हुए लिखा है "दया का अर्थ अपनी तथा अन्य प्राणियो की आत्मा की अधर्म से रक्षा करना है व्यावहारिक जीवन मे जीव की रक्षा को भी दया कहा जाता है"

हम यह कह सकते है कि जब आध्यात्मिक पूर्णता की तुलना मे दया का मूल्याकन किया जाता है तो वह अहिंसा की अपेक्षा न्यून स्तर का मूल्य प्रमाणित होती है अत इस मत के अनुसार जो व्यक्ति दया से प्रेरित होकर दूसरे के प्राणो
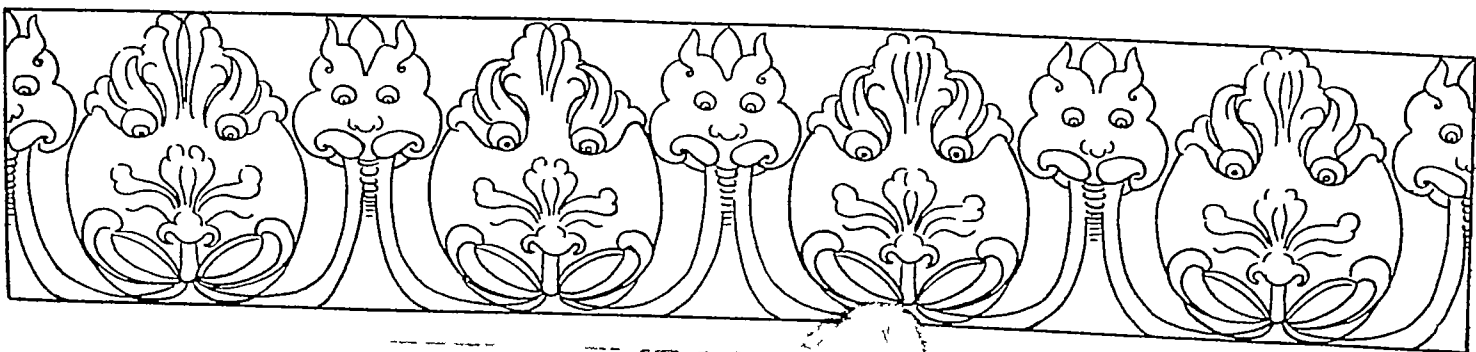
तीनों नियमों को रत्नत्रयी कहा जाता है सर्वप्रथम सम्यक्दर्शन एवं सम्यक् निष्ठा को इसीलिए स्थान दिया गया है कि निष्ठा के बिना न तो यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है और न सम्यक् चरित्र का अनुसरण किया जा सकता है गीता के अनुसार भी यह कहा गया है 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानं संशयात्मा विनश्यति' अर्थात् निष्ठा वाला व्यक्ति ही यथार्थ ज्ञान को प्राप्त करता है और सन्देह करने वाला व्यक्ति नाश को प्राप्त होता है सम्यक् ज्ञान का आदर्श जैनदर्शन में प्रतिपादित उन नवतत्त्वों का ज्ञान है जिनकी व्याख्या हमने ऊपर दी है सम्यक् चारित्र का अर्थ उन सत्यों को जीवन में अवतरित करना है जिनको कि यथार्थ स्वीकार किया गया है क्योंकि जैनवाद बन्धन से मुक्ति प्राप्त करने का साधन संवर मानता है इसलिए इन्हीं महाव्रतों का अनुसरण करना अथवा उन पर आधारित अणुव्रतों को जीवन में अपनाना सम्यक्चरित्र माना जायगा

हमने ऊपर दिये गए विवेचन में यह देखा कि जैनवाद का आचारशास्त्र अहिंसा को परम धर्म मान कर चलता है और अहिंसा एक निषेधात्मक धारणा प्रतीत होती है किन्तु जब इस महान् आदर्श को जीवन में अपनाया जाता है तो यह निषेधात्मक आदर्श से कहीं अधिक प्रभावित होता है इस आदर्श को निरपेक्ष रूप से जीवन में अपनाना कठिन ही नहीं अपितु व्यावहारिक दृष्टि से असंभव प्रतीत होता है किन्तु अन्तरंग में पूर्ण अहिंसावृत्ति जागृत हो जाने पर अहिंसा के आचरण में भी पूर्णता आ जाती है अतः अहिंसा का मार्ग सरल मार्ग नहीं अपितु एक तलवार की धार की भाँति कठिन मार्ग है महात्मा गांधी ने भी अहिंसा की व्याख्या करते हुये अनेक बार कहा है 'यह मार्ग निर्बल व भीरु व्यक्ति के लिए नहीं अपितु वीर और साहसी व्यक्ति के लिये निर्धारित किया गया है' जैनवाद एक ऐसा सिद्धान्त है जिसने युगों से अहिंसा के मार्ग को अपनाया है और जो आज तक भी इस उच्च आदर्श को जीवन में अवतरित कर रहा है अहिंसा का अर्थ न ही केवल किसी व्यक्ति को आघात न पहुँचाना है अपितु दूसरों की क्रियात्मक सेवा करना भी है यद्यपि जैनवाद व्यक्तिगत रूप से अहिंसात्मक आदर्शों को जीवन में उतारने पर बल देता है तथापि यह स्पष्ट है कि उसका उद्देश्य मानवसमाज का कल्याण और सामाजिक प्रगति है आज विश्व आर्थिक दृष्टि से पूँजीवाद और साम्यवाद की दलबन्दी में ग्रस्त है पूँजीवाद व्यक्ति को आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति एकत्रित करने की आज्ञा देकर न ही केवल लोभ के अवगुण को प्रोत्साहन देता है परन्तु आर्थिक विषमताएं उत्पन्न करने के कारण असंख्य मनुष्यों को भोजन से भी वंचित करता है पूँजीवाद निःसन्देह परोक्ष रूप से हिंसा और शोषण को प्रोत्साहन देता है साम्यवादी हिंसा का प्रयोग करके बलपूर्वक सम्पत्ति का वितरण करते हैं और व्यक्ति की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का दमन करते हैं इस पूँजीवाद और साम्यवाद के पारस्परिक संघर्ष का एक मात्र विकल्प आध्यात्मिक साम्यवाद है जो निःसन्देह जैनवाद द्वारा प्रतिपादित अहिंसात्मक मार्ग की स्वाभाविक उत्पत्ति है विनोबा भावे ने भारत में भूदान के पक्ष में जो श्वेत क्रान्ति उत्पन्न की है वह वास्तव में अहिंसा और अपरिग्रह के नियमों पर आधारित है

यहाँ पर यह कहना अनुचित न होगा कि महात्मा गांधी जी ने स्वतन्त्रता-संग्राम में जिस अहिंसात्मक मार्ग को अपनाया और जिसका अनुसरण करके उन्होंने अपने तथा अपने साथियों के उदात्त चरित्र का निर्माण किया उसकी प्रेरणा उन्हें जैनवाद से अवश्य प्राप्त हुई है अहिंसा को राजनीति में अपना कर और सत्याग्रह की प्रथा को सर्वप्रिय बनाकर महात्मा गांधी ने यह प्रमाणित कर दिया कि अहिंसा अणुव्रत के रूप में करोड़ों व्यक्तियों द्वारा एक साथ व्यावहारिक जीवन में अवतरित की जा सकती है इस अहिंसात्मक मार्ग को अपनाना निःसन्देह स्वतन्त्रता संग्राम में अद्वितीय साहस और वीरता का काम था, क्योंकि इस समय में सत्याग्रही को दमन का सामना करना पड़ता था—घोर दुःख सहन करना पड़ता था किन्तु महात्मा गांधी की सफलता ने यह प्रमाणित कर दिया है कि नैतिक शक्ति भौतिक शक्ति से अधिक बलवती है और सत्य पर आधारित अहिंसा की सदैव विजयी होती है

अध्याय का ५५ वाँ श्लोक, जो स्थितप्रज्ञ की ऐसी व्याख्या करता है, निम्नलिखित है—

"हे अर्जुन ! जब एक व्यक्ति मन से उत्पन्न अपनी सभी इच्छाओ को त्याग देता है और जब अपनी आत्मा के द्वारा अपनी आत्मा मे स्थित हो कर सन्तुष्ट एव तृप्त हो जाता है, तब वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है"

यह आदर्श श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को यह समझाने के लिए प्रतिपादित किया गया है कि यदि अर्जुन जैसा योद्धा निष्काम भाव से अपने कर्तव्य का पालन करे, तो वह कर्म के बन्धन मे नही पडता इसी प्रकार जैन मुमुक्षु एव साधु भी प्राणो की रक्षा करता हुआ सन्तुलित रह सकता है और कर्म-पुद्गल मे मुक्त हो सकता है साधु तथा योद्धा के कर्तव्यो मे भेद अवश्य हो सकता है, किन्तु साधु आचार का मार्गदर्शन करने वाले जैन सिद्धान्त तथा योद्धा के मार्ग-दर्शन करने वाले भगवद्गीता के सिद्धान्त का लक्ष्य एक ही है, भगवद्गीता के अनुसार मुमुक्षु एक साधु की भाँति फल की इच्छा से रहित होकर युद्ध-क्षेत्र मे अपने कर्तव्य का पालन करता हुआ भी मोक्ष प्राप्त कर सकता है किन्तु जैन साधु एवं मुमुक्षु एक विरक्त की भाँति प्राणरक्षा के भौतिक फल के प्रति तटस्थ रह कर आध्यात्मिक क्षेत्र मे अपने कर्तव्य का पालन करता है, उसका उद्देश्य भी मोक्ष की प्राप्ति है यदि एक सैनिक द्वारा आध्यात्मिक दृष्टि से किया गया देश की रक्षा का कर्तव्य मोक्ष प्राप्त करने मे सहायक हो सकता है, तो अहिंसा के मार्ग पर चलने वाले साधु द्वारा तटस्थ दृष्टि से किया गया प्राणरक्षा का कर्तव्य भी अवश्य ही आध्यात्मिक माना जा सकता है तेरापथी अनासक्ति पर आवश्यकता से अधिक बल देते हुये यह भूल जाते हैं कि आत्मा की रक्षा की भाँति जीवरक्षा भी निष्काम भाव से हो सकती है

जिस प्रकार मुमुक्षु के लिए प्राणरक्षा पर आवश्यकता से अधिक बल न देना इसलिए आवश्यक है कि वह कही मोक्ष के परम लक्ष्य को विस्मृत न करदे, उसी प्रकार उसके लिये आत्मा की रक्षा पर आवश्यकता से अधिक बल न देना भी इसलिये ही महत्त्वपूर्ण है कि वह कही प्राणरक्षा जैसे शुभ साधन की उपेक्षा न करदे यदि आध्यात्मिक अग की ओर उपेक्षा प्राणरक्षा को स्वलक्ष्य मानने की भ्रान्ति उत्पन्न कर सकती है, तो प्राणरक्षा को मोक्ष का साधन न मानने की प्रवृत्ति भी मुमुक्षु मे प्राणरक्षा के प्रति घृणा उत्पन्न कर सकती है यदि जीवित प्राणियो के प्रति राग, बन्ध का कारण है तो उनके प्रति घृणा भी बन्ध का ही कारण है वास्तव मे ये दोनो दृष्टिकोण एक दूसरे के पूरक हैं जैनदर्शन मे आत्मा की रक्षा तथा प्राणरक्षा दोनो को प्रतिपादित किया गया है आत्मा की रक्षा नि सन्देह इस सिद्धान्त के तत्त्वात्मक लक्षण पर बल देती है, जब कि प्राणरक्षा तथा आत्मा की रक्षा दोनो ही साधु के लिये महत्त्वपूर्ण है और इन दोनो का समन्वय यह प्रमाणित करता है कि जैनवाद एक नैतिक तत्त्वात्मक (Ethicometaphysical) सिद्धान्त है

श्रावकाचार (Ethics for laymen)

यद्यपि जैनवाद का यह मत है कि मोक्षप्राप्ति के लिये गृहस्थ तथा वानप्रस्थ आश्रमो से गुजरना अनिवार्य नही है उनमे गुजरने से पूर्व ही सन्यास अपनाना आवश्यक है, तथापि एक गृहस्थ पाच महाव्रतो का आशिक अनुसरण करके त्यागाश्रम के जीवन का अभ्यास कर सकता है सभी जैन सम्प्रदाय यह स्वीकार करते हैं कि गृहस्थियो एव श्रावको के लिये अणुव्रतो का अनुसरण करना भी वास्तव मे त्याग के जीवन का अभ्यास करना है अणुव्रत का अर्थ महाव्रत का सूक्ष्म अश अथवा अणु है अणुव्रत वास्तव मे महाव्रतो पर आधारित सरल नियम है

इसमे कोई सन्देह नही कि अणुव्रतो की जैनमत मे जो व्याख्या की गई है उसे देखते हुए वह हमारी अनेक नैतिक और सामाजिक समस्याओ को सुलझा सकते है ये अणुव्रत न ही केवल एक मनुष्य को आत्मशुद्धि के द्वारा आत्मानुभूति करा सकते है, अपितु सत्य, अहिंसा, न्याय तथा साहस पर आधारित एक दृढ चरित्र का निर्माण कर सकते हैं

जैनवाद के उपरोक्त अध्ययन से यह सिद्ध होता है कि इस दर्शन का विशेष लक्षण इसकी व्यावहारिकता है इसका सुनिश्चित नैतिक अनुशासन व्यक्ति को सामान्य स्तर से ऊपर उठाता है और उसे सच्चरित्र द्वारा यथार्थ ज्ञान से अवगत कराता है जैनवाद को सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र के तीन नियमो पर आधारित माना गया है इन्ही
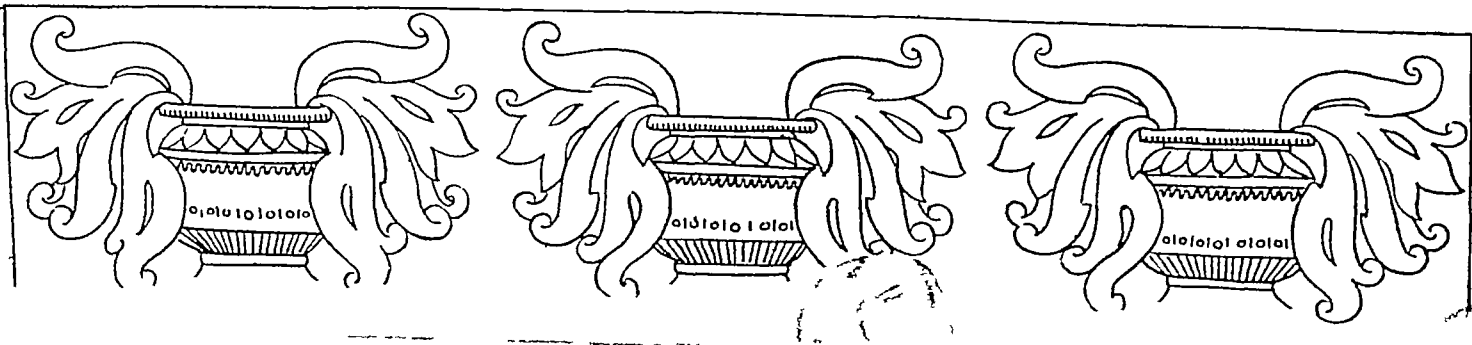
शरीर है तब तक वेदना भी होती है उसके लिये आयु नाम गोत्र तथा वेदनीय कर्मों का आवरण हटना आवश्यक होता है उनके हटने पर जिसे शुद्ध ज्ञान हो गया है उसे फिर से बंध नहीं होता क्योंकि साधक सच्चा स्व रूप जान जाता है. शुद्ध निर्मल तथा पूर्ण सद्गुण युक्त बन जाता है यही मानवता का पूर्ण विकास है मनुष्य जीवन की अन्तिम सिद्धि और सार्थकता है

सिद्धों के प्रकार

इस प्रकार मानवता का विकास करने वाले दो प्रकार के होते हैं एक अपनी ही मानवता का विकास करते हुए उसकी सिद्धि करने वाले सिद्ध और दूसरे अपनी मानवता की सिद्धि के साथ-साथ दूसरों की मानवता की वृद्धि का मार्गदर्शन करनेवाले जिन्हें जैन तत्त्वज्ञान तीर्थंकर सिद्ध कहता है वे तीर्थ की स्थापना कर दूसरों के विकास का मार्गदर्शन कर मानवता के विकास का मार्ग प्रशस्त करते हैं दूसरों के दुःख से द्रवित होकर उन्हें कल्याण-पथ का प्रदर्शन करते हैं.

कर्मों के आवरण

आत्मा पर आवरण डालने वाले कर्मों के विषय में ज्ञानियों ने इस प्रकार विवरण दिया है दृष्टि और ज्ञान ढकने वाले कर्मों को मोहनीय और ज्ञानावरण कर्म कहा है उनके कारण मनुष्य अपने सही रूप को भूलकर अज्ञानी बनता है सत्य को पहचान नहीं सकता उसे क्या करना चाहिए, इसका सही ज्ञान नहीं होता यदि ज्ञान हो भी जाय तो वैसा आचरण हो नहीं पाता मोहनीय कर्म बाधक बनते हैं इन कर्मों के आवरणों को हटाना और नये कर्म के बंधन न हों इसकी सावधानी ही साधना है वह साधना इस प्रकार बताई है—

मन वचन और शरीर द्वारा होने वाली बुराई को रोकना साधक के लिये प्राथमिक आवश्यकता है मन कभी खाली नहीं रहता वह किसी न किसी विषय में लगा ही रहता है दिन भर मन में वृत्तियों का प्रभाव चलता ही रहता है उसमें से अनिष्ट के विचार को वह अपने मन में स्थान नहीं देता यहाँ तक कि जिसने उसका अहित किया हो ऐसे शत्रु को भी वह अपना उपकारकर्ता ही मानता है क्योंकि उसने अहित करके सहनशीलता को बढ़ाया विचारों पर संयम रखकर बुरे विचार मन में न आने से वाचासंयम आता है साधक के मुंह से असत्य दूसरे का अकल्याण या अनिष्ट करने वाली व कठोर भाषा नहीं निकलती वह सत्य परिमित हितकर व मीठी भाषा ही बोलने का प्रयत्न करता है

जब मन पर काबू हो जाता है वाणी में संयम आ जाता है तो शरीर से भी कोई ऐसा कर्म नहीं होता जिससे दूसरे को कष्ट पहुँचे या दूसरे का अकल्याण हो बल्कि उसके द्वारा ऐसे ही कार्य होते हैं जिनमें दूसरों की भलाई हो इस प्रकार सत्प्रवृत्ति करते हुये भी उसकी उसमें किसी प्रकार की आसक्ति नहीं होती वह सहज भाव से अपने आत्मगुणों के विकास के लिये सत्प्रवृत्ति करता रहता है

व्रत

जब मनुष्य आत्मविकास का पथ लेकर अपने आपको साधनापथ का पथिक बनाता है तो अहिंसा ब्रह्मचर्य अममत्वादि गुणों की आराधना करता है दूसरों के प्रति आत्मभाव होना अहिंसा है इस साधना का अभ्यास दृढ़ करने के लिये प्रथम व्रत लेना आवश्यक हो जाता है वह दूसरों के प्रति समभाव रखकर जीवन-व्यवहार करता है किसी को दुःख या कष्ट नहीं पहुँचाता वैसे ही सत्य का उपासक बनकर भाषा-संयम का अभ्यास बढ़ाता है समता व सत्य के उपासक के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह दूसरे का शोषण न करे अन्याय से दूसरे की वस्तु का अपहार न करे पर यह साधना तभी संभव है जब वह अपरिग्रह या सादगी को अपनाता है उसकी जरूरतें सीमित होती हैं तृष्णापाश काटे बिना मनुष्य उचित परिग्रह की सीमा की ओर जा नहीं सकता और परिग्रह सीमित हुये बिना आत्म विकास की ओर प्रवृत्ति नहीं बनाई जा सकती इसीलिये उचित परिग्रह की सीमा साधक को बांध ही लेनी पड़ती है जैसे परिग्रह को सीमित बनाना साधक के लिये आवश्यक है वैसे ही ब्रह्मचर्य व्रत को भी साधना में महत्त्वपूर्ण स्थान है उसके बिना

श्रीरिषभदास रांका

जैन साधना

हर प्राणी सुख की अभिलाषा रखता है और सुख प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील भी रहता है किन्तु इच्छा और प्रयत्नो के बावजूद भी अधिकाश लोगो को सुख और सतोष नही प्राप्त होता. इसलिए यह मानना पडता है कि सुखप्राप्ति के मार्ग मे कुछ न कुछ भूल अवश्य हो रही है मानव को सच्चे सुख का मार्ग अनुभवी साधक व सिद्ध पुरुषो ने बताया है वे कहते हैं कि मनुष्य के अधिकाश दु ख उसके तथा दूसरो के अज्ञान, तृष्णा, मूर्खता या असमता के कारण ही निर्माण होते है हमारे पास सुखप्राप्ति के सभी साधन मौजूद है आत्मा मे सुखप्राप्ति की शक्ति है इसलिये आत्मा को सत् चित् व आनद रूप माना है उसमे श्रेय-साधन की अनत शक्ति भरी हुई है वह चैतन्य-स्वरूप है पुरुषार्थ से वह अपने श्रेय-साधन की शक्ति मे वृद्धि कर सकता है और उसे आनद की अवस्था प्राप्त हो सकती है उसने जो चित्-चैतन्य व शरीर मे शक्ति पाई है उसका योग्य उपयोग करके उन्नत व सुखी हो सकता है पर वह शक्ति निरर्थक बर्बाद हो रही है उसे साधना द्वारा योग्य काम मे लगाना चाहिए

भारतीय सस्कृति की साधना

भारतीय सस्कृति की तीन धारायें है- वैदिक, बौद्ध और जैन हम देखते है कि वैदिक सस्कृति की साधना मे पतञ्जलि ने योग के द्वारा दु खमुक्ति व सुखप्राप्ति का रास्ता बताया बौद्ध साधना मे भी समाधि-मार्ग का वर्णन मिलता है जिससे निर्वाण-प्राप्ति हो सकती है और जैन साधना मे भी कर्मबधन और उसके परिणामो से मुक्ति पाने का रास्ता बताया है

जैनसाधना

जैनदर्शन ने दु ख का कारण कर्म माना है आत्मा पर कर्म का आवरण आ जाने से मनुष्य सच्चे सुख का रास्ता भूल जाता है और शरीर के प्रति उसका ममत्व हो जाता है वह शारीरिक सुखो को ही महत्त्व देकर उन्हे पाने के लिए गलत रास्ता अपनाता है दूसरो को दु ख देने पर कोई सुखी नही बनता पर वह अपने सुखो के लिये सब जीव समान है, इस तथ्य को भूलकर दूसरो को कष्ट देने लगता है जैनदर्शन कहता है कि दूसरो को दु खी बनाकर सुखप्राप्ति का प्रयत्न अज्ञान है इस अज्ञान के कारण दु खवृद्धि के साथ-साथ जन्म-मरण के चक्कर भी बढते है इसलिए आत्मा पर से कर्म का आवरण दूर करना चाहिये तभी आत्मा की सुप्त शक्तिया जाग्रत होती हैं, जिससे मनुष्य सच्चे सुखका स्वरूप जानकर शारीरिक सुख-दु खो मे विवेक करना सीखता है अज्ञान, तृष्णा या कषायो द्वारा निर्माण होने वाले दु ख से वह मुक्ति पा जाता है और दूसरो के द्वारा दिये हुए दु खो को वह शातिपूर्वक सहन करने की शक्ति पा लेता है वह दु खो से विह्वल या क्षुब्ध नही बनता

मानवता का पूर्ण विकास

कर्मों के आवरण हट जाने पर भी शेष आयु तो उसे भोगनी पडती है, नाम से भी वह पुकारा जाता है और जब तक

विविक्तशय्यासन
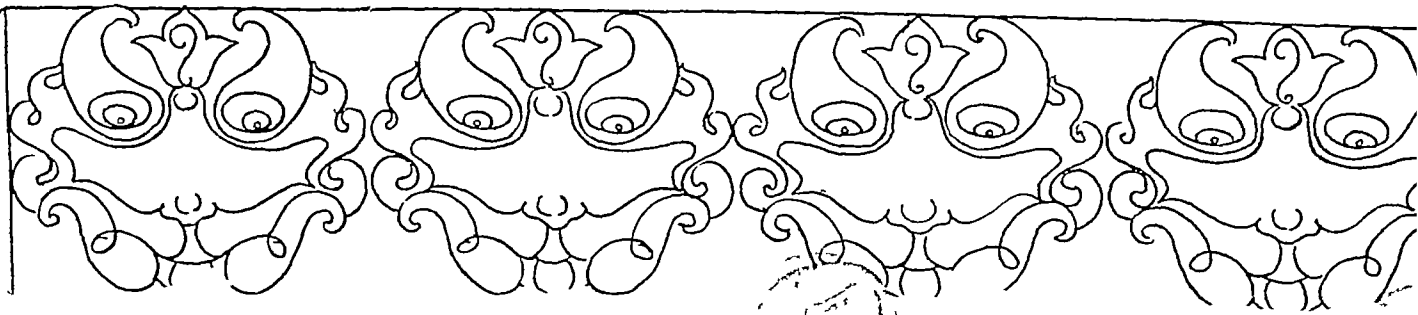
साधना में स्थान का भी महत्त्व है. वह ऐसे स्थान में रहे जहाँ का वातावरण और परिस्थिति साधना के लिये अनुकूल हो. इसलिये उसका एकान्त निरुपाधिक स्थान में रहना आवश्यक है. इसलिये तप में विविक्त शय्यासन का स्थान है.

कायक्लेश

सर्दी-गर्मी के उपद्रव साधना में बाधक न हों और सदा अप्रमत्त अवस्था बनी रहे इस दृष्टि से शरीर को सहनशील बनाना आवश्यक है. नहीं तो वसे प्रसंग आने पर साधक विचलित हो जाता है. सदा स्फूर्ति रहे और प्रतिकूल परिस्थिति का मन पर असर न हो इसलिये आसनादि द्वारा शरीर को कष्टसहन के योग्य बनाने की आवश्यकता है. इस तप का यही उद्देश्य है.

आभ्यन्तर तप

प्रायश्चित्त

शारीरिक बाह्य तपों की अपेक्षा साधनामार्ग में मानसिक तपों का अधिक महत्त्व है. जीवनशुद्धि तथा आत्मविकास की दृष्टि से सभी धर्मों ने मानसिक अभ्यास पर जोर दिया गया है. साधक जब साधना-क्षेत्र में आगे बढ़ता है तब आत्म-आलोचना कर अपनी प्रत्येक शारीरिक क्रिया और मानसिक वृत्ति का शोधन करता है. जब उसे अपने द्वारा हुई भूल मालूम देती है तो प्रायश्चित्त कर फिरसे वह भूल न हो इसका संकल्प करता है. वैसे तो प्रायश्चित्त का श्रमण परम्परा में महत्त्व था पर भ. महावीर ने उसे दैनिक कार्यक्रम में जोड दिया. उनके पहले २२ तीर्थंकरों की परम्परा में भूल हो तब प्रायश्चित्त लेने का विधान था. पर भगवान् महावीर ने मनुष्य स्वभाव की दुर्बलता को जानकर इसमें यह परिवर्तन किया कि मनुष्य सावधान होकर अपने दैनिक कार्यों का निरीक्षण करे. जान या अनजान में होने वाली भूलों की आलोचना कर वैसी भूलें फिरसे न हों इसके लिये संकल्प करे. आत्मविकास के लिये व्रतों में कहीं दोष आ जाय, प्रतमग हो जाय, संकल्पों में ढिलाई आवे तो उसका स्मरण कर आलोचना और प्रायश्चित्त साधक को आगे बढ़ाता है. वह अपने मन, वचन और शरीर से होनेवाले दोषों के लिए जो कुछ करना आवश्यक हो वह करता है.

विनय

साधना में विनय का अत्यन्त महत्त्व होने से आभ्यन्तर तप में अनुभवियों ने उसे भी स्थान दिया है. अहंकार मनुष्य को नीचे गिराता है और विनय साधना में सहायक होता है. अहंकार ज्ञानियों, अनुभवियों तथा गुरु से ज्ञान व अनुभव प्राप्त करने में बाधक बनता है. जब साधक अपने आपको पंडित या ज्ञानी मान लेता है, मुझे सब कुछ मालूम है, ऐसा समझता है तब उसका विकास रुक जाता है. साधक को हमेशा जिज्ञासु और विद्यार्थी रहना चाहिये. गुणियों के प्रति आदर भाव रखना चाहिये. जाति, कुल और उम्र से कोई श्रेष्ठ नहीं बनता पर गुणों से ही श्रेष्ठ और पूज्य बनता है. इसलिये ज्ञान, दर्शन और चारित्र के विनय भी बताये गये हैं. सतत ज्ञानप्राप्ति का अभ्यास और स्मरण को ज्ञानविनय कहा है. वैसे ही ज्ञानियों के प्रति आदर भी ज्ञान का विनय है.

जब तक सिद्धान्त या तत्त्व के प्रति दृढ निष्ठा नहीं होती तब तक साधना-पथ में आगे नहीं बढ़ा जा सकता. इसलिये यथार्थ तत्त्व को जानना और उसके प्रति दृढ निष्ठा होना आवश्यक है. यदि शंका हो तो ज्ञानियों और गुरु से शंका-निवारण कर लेना चाहिये. यह दर्शन एवं ज्ञान विनय है. ज्ञान से तत्त्व का ठीक निर्णय हो जाय तब तदनुकूल आचरण या अभ्यास करना चारित्रविनय है.

साधक सदा नम्र होता है, उसे अपनी अपूर्णता का ध्यान होता है. वह अपने से वृद्ध तथा अनुभवियों के प्रति सदा विनयी होता है, जिसे जैन साधना में उपचार-विनय कहा गया है. विनय को मोक्ष का मूल माना गया है.

वह आत्मशक्तियो का पूर्ण विकास नही कर पाता जैसे जैन साधना मे, अहिंसा सत्य, अपरिग्रह व ब्रह्मचर्य को स्थान है वैसे ही वैदिक विचारपरम्परा की साधना मे भी यम नियम को स्थान दिया है और बौद्ध साधना मे भी उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है

तप

योगदर्शन मे यम नियम के बाद शरीर को साधना के योग्य बनाने के लिये आसन प्राणायाम बताया है तो जैन साधना मे तप के द्वारा शरीर को कसने का विधान है आज तप का अर्थ शरीर-कष्ट बन गया है पर उसका उपयोग शरीर और मन को साधना के योग्य बनाने मे होना चाहिए जैनसाधना मे तप के दो प्रकार हैं—बाह्य और आभ्यन्तर बाह्य तप के छह भेद हैं—अनशन, अवमोदर्य, वृत्तिपरिसख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश

साधक अपनी सारी शक्ति को आत्मविकास मे लगावे, उसका वासना मे क्षय न करे, इस दृष्टि से वासनाओ को क्षीण बनाने के प्रयत्नो को तप कहा जा सकता है यह प्रयत्न मन और शरीर दोनो की ओर से होने चाहिए, तभी सफलता प्राप्त हो सकती है तप मे मनका साथ न मिला तो शरीर से किया हुआ तप देह-दड या कायक्लेश मात्र ही बन सकता है शरीर से मन की शक्ति विशेष होने से शारीरिक या बाह्य तपश्चर्या से मानसिक-आभ्यतर तपश्चर्या को अधिक महत्त्व दिया गया है फिर भी साधक को अभ्यास मे बाह्य तप भी उपयोगी होता है, उसकी आवश्यकता होती है उस पर भी विचार करना आवश्यक है

अनशन

शरीर व आहार का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है आहार के बिना शरीर चल नही सकता लेकिन यह आहार कितना और कैसा लेना चाहिये, इस जानकारी के अभाव मे मनुष्य अधिकतर जरूरत से ज्यादा ही खाता है इसलिये उसे उपवास करना भी आवश्यक हो जाता है उपवास मे अन्नपाचन मे लगने वाली शक्ति बचाकर आत्मचिंतन मे लगाई जा सकती है इसीलिये उपवास को आत्मा के निकट वास करना माना गया है भोजन को त्याग कर उसके पचाने के लिये खर्च होने वाली शक्ति का उपयोग आत्मचिंतन मे किया जाय तो वह अनशन साधना मे लाभदायक होता है पर यदि प्रतिष्ठा या दभ का कारण बन जाय तो निश्चित ही वह बाधक बनता है वह कर्ममल को दूर करने के बदले उसे बढाता है

अवमोदर्य

साधक शरीर को जितना आवश्यक हो उतना ही आहार देता है कम से कम आहार के सहारे अपनी जीवनचर्या चलाता है उससे अधिक आहार से पैदा होनेवाला प्रमाद नही आता और साधना के प्रति जाग्रति बढती है अप्रमत्तता साधना के विकास मे आवश्यक होने से वह भूख से कम खाता है

वृत्तिपरिसख्यान

अवमोदर्य की साधना के लिये वस्तुओ की सीमा आवश्यक है मनुष्य स्वादवश जो जरूरत से अधिक खा लेता है उसके लिये खाने की वस्तुओ का सक्षेप करना आवश्यक हो जाता है और साधक इस आदत को बढाने के लिये व्रत का सहारा लेता है खाने की वस्तुए असख्य हैं पर साधक उन्हें सीमित करता है

रसपरित्याग

मिताहार के लिये रसपरित्याग भी आवश्यक हो जाता है इसीलिये तपश्चर्या मे रस-त्याग का स्थान महत्त्वपूर्ण है हमारे विकारो पर नियत्रण आवे, इद्रियाँ प्रबल न हो, इसलिये रसपरित्याग साधना मे सहायक होता है इसलिये साधक यह मानकर कि खाने के लिये जीना नही है पर जीवन के लिये भोजन है, ऐसा आहार करे जिससे मन स्वस्थ रहे
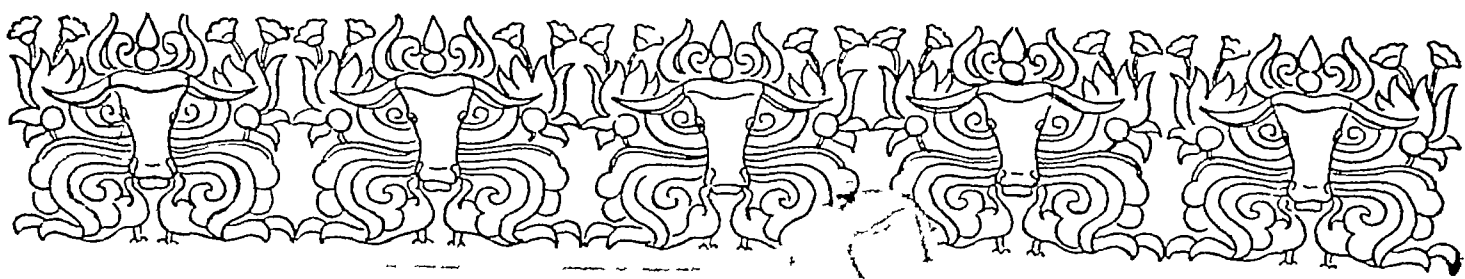
आर्तध्यान

संसार में इष्टवियोग, अनिष्टयोग, बीमारी तथा वस्तुओं की प्राप्ति की अभिलाषा स्वाभाविक रूप से पाई जाती है। उसके लिए लोग चिंता करते हुए भी पाये जाते हैं। अप्रिय की प्राप्ति सुखकर नहीं होती, दुखदायक होती है। मनुष्य अपने आप को उसके चिन्तन में लगाता है। अनिष्टयोग, इष्टवियोग, बीमारी, वेदना आदि को सर्वथा टालना असंभव है। ऐसे अवसरों पर विवेक और धीरज रखकर उन्हें सहन करना चाहिए। वैसा न कर यदि वह व्याकुल बनकर उस विषय की चिंता करता है तो अपनी शक्ति व्यर्थ खोता है। उस शक्ति को आत्मविकास में लगाए यही इष्ट है। और नये विषयों की प्राप्ति में चित्त को लगाना यह विवेक से टाला जा सकता है क्योंकि तृष्णा के पीछे चित्त को लगाना हानिकर है।

ध्यान किसी भी विषय का किया जा सकता है। चित्त को एकाग्र करने से शक्ति प्राप्त होती है। शारीरिक सुखप्राप्ति के लिए तपश्चर्या कर उन्हें प्राप्त करने के उदाहरण पुराणों में मिलते हैं। पर यह ध्यान मनुष्य को नीचे गिराता है और दुःखों का कारण बनता है। इसलिए आर्तध्यान को अनिष्ट माना गया है।

रौद्रध्यान

हिंसा, असत्य, दूसरों का शोषण तथा परिग्रह के सतत चिंतन को रौद्रध्यान कहा गया है। जैसे आर्तध्यान का मूल लालसा या तृष्णा है वैसे ही रौद्रध्यान का आधार क्रूरता-हिंसा है। अपने स्वार्थ के लिए दूसरों का अनिष्ट चिन्तन, दूसरों को ठगना, असत्य, बेईमानी आदि तरीके सोचने में चित्त को एकाग्र बनाना, दूसरे के धन के अपहार का मार्ग सोचना, परिग्रह की रक्षा का चिंतन करना आदि रौद्रध्यान में आते हैं। रौद्रध्यान साधक की दृष्टि से अनिष्ट है।

जो ध्यान मनुष्य को ऊंचा उठाते हैं वे धर्म और शुक्लध्यान हैं। ऐसे ध्यान के लिये वज्रऋषभनाराचसंहनन जैसा बलिष्ठ शरीर आवश्यक होता है। निर्बल रोगी तथा पंगु शरीर में वह सहनशक्ति नहीं होती। इसलिए उत्कृष्ट ध्यान के लिये स्वस्थ शरीर का होना आवश्यक है।

धर्मध्यान

जो ध्यान समता को बढाने और दृढ करने के लिये किया जाता है वह धर्मध्यान है। इसके लिये जिन्होंने रागद्वेषादि शत्रुओं पर विजय पाई है, ऐसे अनुभवी पुरुषों के वचनों का, चित्र का तथा उनकी मूर्ति का आलंबन लिया जा सकता है।

जब मनुष्य आत्मनिरीक्षण कर अपने दोष या कमजोरियों को समझकर उन्हें दूर करने की कोशिश करता है, राग द्वेषादि कषायों को अपने विकास-पथ में बाधक समझकर उन्हें दूर कर सत्यमार्ग पर चलने का चिंतन करता है, उसपर अपने चित्त को केंद्रित कर अभ्यास बढ़ाता है तब उस ध्यान को धर्मध्यान कहा जा सकता है।

शुभ अशुभ कर्मों के फल का चिंतन शुद्धि की ओर अग्रसर करने में सहायक होता है। संसार का स्वरूप, उसकी विशालता, शाश्वतता, स्थिति या विनाश-शीलता का चिंतन, विविध द्रव्यों की परिवर्तनशीलता जान लेने पर अनासक्ति बढ़ती है, फिर उसमें व्याकुलता नहीं आती।

इस तरह के ध्यान से भावनाओं की शुद्धि होती है। अनासक्ति और धर्म के चिंतन से आयुकर्म के बन्धन ढीले पड़ जाते हैं और वह शुक्लध्यान में प्रवेश कर पूर्ण मानवता को प्राप्त होता है। विकासक्रम में धर्मध्यान के बाद शुक्ल ध्यान आता है।

शुक्लध्यान

साधक जड़ चेतन के भेद को समझकर चिन्तन करता है और गहराई में जाकर परमाणु तथा चेतन द्रव्य के संबंधों का भिन्न भिन्न दृष्टि से विचार करता है तो उसके फलस्वरूप मोहनीय कर्मों का नाश होता है।

सेवा

साधक के लिये सेवावृत्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योकि चित्तशुद्धि के साथ-साथ गुणो की उपासना ही उसकी आत्म-शक्ति को बढाती है विवेकी साधक अपनी आवश्यकताए घटाकर दूसरो स कम से कम सेवा लेता है और अधिक से अधिक दूसरो के लिये उपयोगी बनता है जीवन मे एक दूसरे की सेवा और सहयोग आवश्यक होता है पर साधक सदा यह ध्यान रखता है कि वह किसी पर बोझरूप न बने और दूसरो से जो सेवा ले उसे चुकाने का प्रयास करे जैन-साहित्य मे सेवा के लिये 'वैयावृत्य' शब्द का प्रयोग किया गया है उसके दस प्रकार बताये गये हैं, जिसका अर्थ यही है कि जहाँ जैसी सेवा की जरूरत हो वह की जाय

स्वाध्याय

साधना मे स्वाध्याय का भी अत्यन्त महत्त्व है अपने ध्येय की जाग्रति और उस पथ मे आगे बढने के लिये अनुभवियो के अनुभवयुक्त वचन या ग्रथो का स्वाध्याय अत्यन्त उपयोगी होता है यदि साधनामार्ग मे कही कुछ शका हो तो अपने से अधिक ज्ञानी और जानकार से शकानिवारण कर लेना चाहिये पढे हुये अनुभवो तथा पाठो का चिंतन तथा शुद्धतापूर्वक उच्चारण और आये हुये अनुभवो का या धर्म का उपदेश आदि बातें ज्ञानप्राप्ति मे नि शक बनाने, उदात्त तथा परिपक्व बनाने मे सहायक होती है इसलिये स्वाध्याय का अत्यन्त महत्त्व है स्वाध्याय एक प्रकार की प्राचीन-काल मे हुये महापुरुषो की सत्सगति है स्वाध्याय करते समय यदि यह दृष्टि रहे तो हम बहुत लाभान्वित हो सकते है

व्युत्सर्ग

ममता, अहकार, रागद्वेष तथा क्रोधादि कपायो का त्याग व्युत्सर्ग है व्युत्सर्ग के दो प्रकार बताये गये हैं—बाह्य और आभ्यन्तर घर, खेत, धन, सपत्ति, परिवार आदि की आसक्ति का त्याग बाह्य व्युत्सर्ग है और राग, द्वेष, क्रोध, अहकार आदि आन्तरिक दुर्गुणो का त्याग आभ्यन्तर व्युत्सर्ग है चित्त शुद्धि के लिये इन सब बातो का त्याग आवश्यक होता है साधक प्रात काल तथा सध्या समय मे, एकान्त मे, निरुपाधिक होकर ममतात्याग का चिंतन करे और उसे त्यागने का प्रयास करता रहे तो साधना-पथ मे आगे बढता है

इस प्रकार साधक अपनी तैयारी कर लेता है तब वह ध्यान की ओर आगे बढता है पतजलि की साधना मे यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, यह साधनाक्रम बताया है प्रकारान्तर से वैसा ही जैन साधना मे भी है आसन शरीर को अप्रमत्त बनाते है और प्राणायाम चित्त को स्थिर बनाने मे उपयोगी होता है प्रत्याहार फैली हुई वृत्तियो को एकाग्र बनाता है तो धारणा सकल्प को धारण करने की शक्ति देती है इतनी तैयारी हो जाने पर साधक ध्यान की साधना कर चित्त को स्थिर दृढ एकाग्र और निर्मल बनाता है जिससे समाधि प्राप्त होती है

ध्यान

जैन साधना मे पूर्व बताई पार्श्वभूमि तैयार होने पर ध्यान की साधना करने को कहा है कर्मक्षय के लिए ध्यान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधना है

ध्यान चित्त को एकाग्र बनाता है चित्त का स्वभाव है—वह खाली नही रहता किसी न किसी विषय का चिंतन करता ही रहता है ध्यान के दो प्रकार जैन साधना मे बताये गये हैं—एक अशुभ और दूसरा शुभ चित्त एकाग्र और स्थिर करने से उसकी शक्ति मे वृद्धि होती है चित्त की बढी हुई शक्ति से मनुष्य इच्छित कार्य कर सकता है यदि इस शक्ति का उपयोग वह अशुभ के लिए करना चाहे तो वैसा भी कर सकता है और उसका उपयोग शुभ के लिए भी कर सकता है इसलिए जैन साधना ने ध्यान के प्रकार बताकर इस विषय का स्पष्टीकरण किया है आर्त्त और रौद्रध्यान ये अशुभ ध्यान है धर्म तथा शुक्ल ध्यान ये शुभध्यान माने गये हैं
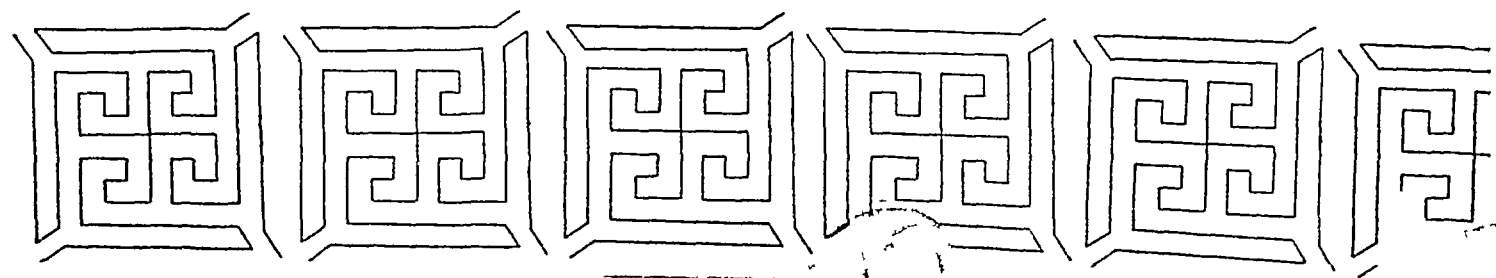
डा० मोहनलाल मेहता
एम ए पी-एच डी

जैनाचार की भूमिका

आचार और विचार परस्पर सम्बद्ध ही नही एक-दूसरे के पूरक भी है संसार म जितनी भी ज्ञान-शाखाएँ है किसी न किसी रूप मे आचार अथवा विचार अथवा दोनों से सम्बद्ध है व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए ऐसी ज्ञान-शाखाएँ अनिवार्य है जो विचार का विकास करने के साथ ही साथ आचार को भी गति प्रदान करें दूसरे शब्दो म जिन विद्याओ में आचार व विचार दोनो के बीज मौजूद हों वे ही व्यक्तित्व का वास्तविक विकास कर सकती हैं जब तक आचार को विचारो का सहयोग प्राप्त न हो अथवा विचार आचार रूप में परिणत न हों तब तक जीवन का यथार्थ विकास नही हो सकता इसी दृष्टि से आचार और विचार को परस्पर सम्बद्ध एव पूरक कहा जाता है

आचार और विचार

विचारो अथवा आदर्शों का व्यावहारिक रूप आचार है आचार की आधारशिला नैतिकता है जो आचार नैतिकता पर प्रतिष्ठित नही है वह आदर्श आचार नही कहा जा सकता ऐसा आचार त्याज्य है समाज में धर्म की प्रतिष्ठा इसीलिए है कि वह नैतिकता पर प्रतिष्ठित है वास्तव में धर्म की उत्पत्ति मनुष्य के भीतर रही हुई उस भावना के आधार पर ही होती है जिसे हम नैतिकता कहते हैं नैतिकता का आदर्श जितना उच्च होता है, धर्म की भूमिका भी उतनी ही उन्नत होती है नैतिकता केवल भौतिक अथवा शारीरिक मूल्यों तक ही सीमित नही होती उसकी दृष्टि म आध्यात्मिक अथवा मानसिक मूल्यों का अधिक महत्त्व होता है सकुचित अथवा सीमित नैतिकता की अपेक्षा विस्तृत अथवा अपरिमित नैतिकता अधिक बलवती होती है वह व्यक्तित्व का यथार्थ एव पूर्ण विकास करती है

धर्म का सार आध्यात्मिक सर्जन अथवा आध्यात्मिक अनुभूति है इस प्रकार के सर्जन अथवा अनुभूति का विस्तार ही धर्म का विकास है जो आचार इस उद्देश्य की पूर्ति मे सहायक हो वही धर्ममूलक आचार है इस प्रकार का आचार नैतिकता की भावना के अभाव मे सभव नही ज्यो-ज्यो नैतिक भावनाओ का विस्तार होता जाता है त्यो-त्यो धर्म का विकास होता जाता है इस प्रकार का समविकास ही आध्यात्मिक विकास है आध्यात्मिक विकास की चरम अवस्था का नाम ही मोक्ष अथवा मुक्ति है इस मूलभूत सिद्धान्त अथवा तथ्य को समस्त आत्मवादी भारतीय दर्शनो ने स्वीकार किया है

दर्शन का सम्बन्ध विचार अथवा तर्क से है जबकि धर्म का सम्बन्ध आचार अथवा व्यवहार से है दर्शन हेतुवाद पर प्रतिष्ठित होता है जबकि धम श्रद्धा पर अवलम्बित होता है आचार के लिए श्रद्धा की आवश्यकता है जबकि विचार के लिए तर्क की आचार व विचार अथवा धर्म व दर्शन के सम्बन्ध में दो विचारधाराएँ है एक विचारधारा के अनुसार आचार व विचार अर्थात् धर्म व दर्शन अभिन्न है इनमे वस्तुत कोई भेद नही है आचार की सत्यता विचार में ही पाई जाती है एव विचार का पर्यवसान आचार में ही देखा जाता है दूसरी विचारधारा के अनुसार आचार व

जड और चेतन द्रव्य पृथक् है, फिर भी सयोग से मिल गये है इनमे मे किसी एक तत्त्व का आलबन लेकर उस पर चित्त को निश्चल या एकाग्र किया जा सकता है इससे ध्यान मे एकाग्रता आती है और मन की सुप्त शक्तियो का विकास होता है अनेक विषयो मे भटकनेवाले मन को एकाग्र करने के लिए ऐसी उपमा दी जाती है कि जैसे चूल्हे मे जलने वाली एक एक लकडी के निकाल लेने पर अपने आप आग बुझ जाती है वैसे ही मन को चचल बनाने वाले एक एक विषय को दूर कर देने से चचलता दूर होकर वह निष्प्रकप बन जाता है आत्मा पर जो अज्ञान के आवरण थे वे दूर होकर ज्ञान का प्रकाश फैल जाता है

ऐसी अवस्था प्राप्त होने पर श्वासोच्छ्वास आदि शारीरिक क्रियाए चलती रहती है पर वे सहज भाव मे प्राकृतिक धर्म के रूप मे चलती रहती है उनसे बन्धन नही होता साधक शैल की तरह अकप बन जाता है जिसे जैन साधना मे शैलेशी अवस्था कहा है उस समय ऐसी अपूर्व अवस्था उत्पन्न होती है जिसमे अन्दर और बाहर की समस्त सूक्ष्म और स्थूल क्रियाए रुक जाती हैं मन का व्यापार भी निरुद्ध हो जाता है आत्मा पूर्ण रूप से परमात्मस्थ हो जाता है यही साधना का अन्त होता है और साधक सिद्ध बन जाता है

आध्यात्मिक विशुद्धियों का भी विचार किया गया है संक्षेप में कहा जाय तो इनमें भौतिक सुखों एवं आत्मिक गुणों का समन्वय करने का प्रयत्न किया गया है सूत्रों व धर्मशास्त्रों में मानव-जीवन के चार सोपान चार आश्रम निर्धारित किये गये हैं जिनके अनुसार आचरण करने पर मनुष्य का जीवन सफल माना जाता है इन चार आश्रमों के पारिभाषिक नाम ये हैं —ब्रह्मचर्याश्रम गृहस्थाश्रम वानप्रस्थाश्रम व संन्यासाश्रम ब्रह्मचर्याश्रम में शारीरिक व मानसिक अनुशासन का अभ्यास किया जाता है जो सारे जीवन की भूमिका का काम करता है गृहस्थाश्रम सांसारिक सुखों के अनुभव व कर्तव्यों के पालन के लिए है वानप्रस्थाश्रम सांसारिक प्रपंचों के आंशिक त्याग का प्रतीक है आध्यात्मिक सुखों की प्राप्ति के लिए सांसारिक सुख-सुविधाओं के हेतु किये जाने वाले प्रपंचों का सर्वथा त्याग करना संन्यासाश्रम है प्रथम तीन आश्रमों का पर्यवसान संन्यासाश्रम में ही होता है इन चार आश्रमों के साथ ही साथ चार प्रकार के वर्णों अर्थात् मनुष्यवर्गों का भी निर्धारण किया गया इन वर्णों के कर्तव्याकर्तव्यों के लिए आचारसंहिता भी बनाई गई आचार के दो विभाग किये गये सब वर्णों के लिए सामान्य आचार और प्रत्येक वर्ण के लिए विशेष आचार. जिस प्रकार प्रत्येक आश्रम के लिए विभिन्न कर्तव्यों का निर्धारण किया गया उसी प्रकार प्रत्येक वर्ण के लिए विभिन्न कर्तव्य निश्चित किये गये जैसे ब्राह्मण के लिए अध्ययन-अध्यापन क्षत्रिय के लिए रक्षण-प्रशासन वैश्य के लिए व्यापार व्यवसाय एवं शूद्र के लिए सेवा-शुश्रूषा इसी व्यवस्था अर्थात् आचारसंहिता का नाम वर्णाश्रमधर्म अथवा वर्णाश्रम व्यवस्था है

कर्ममुक्ति

भारतीय आचारशास्त्र का सामान्य आधार कर्मसिद्धान्त है कर्म का अर्थ है चेतनाशक्ति द्वारा की जाने वाली क्रिया का कार्य-कारणभाव जो क्रिया अर्थात् आचार इस कार्य-कारण की परम्परा को समाप्त करने में सहायक है वह आचरणीय है इससे विपरीत आचार त्याज्य है विविध धर्मग्रन्थों दर्शनग्रन्थों एवं आचारग्रन्थों में जो विधिनिषेध उपलब्ध हैं इसी सिद्धान्त पर आधारित हैं योग-विद्या का विकास इस दिशा में एक महान् प्रयत्न है भारतीय विचारकों ने कर्ममुक्ति के लिए ज्ञान भक्ति एवं ध्यान का जो मार्ग बताया है वह योग का ही मार्ग है ज्ञान भक्ति एवं ध्यान को योग की ही संज्ञा दी गई है इतना ही नहीं अनासक्त कर्म को भी योग कहा गया है आत्मनियन्त्रण अर्थात् चित्तवृत्ति के निरोध के लिए योग अनिवार्य है योग चेतना की उस अवस्था का नाम है जिसमें मन व इन्द्रियां अपने विषयों से विरत होने का अभ्यास करते हैं ज्यों-ज्यों योग की प्रक्रिया का विकास होता जाता है त्यों-त्यों आत्मा अपने-आप में लीन होती जाती है योगी को जिस आनन्द व सुख की अनुभूति होती है वह दूसरों के लिए अगम्य है वह आनन्द व सुख बाह्य पदार्थों पर अवलम्बित नहीं होता अपितु आत्मावलम्बित होता है आत्मा का अपनी स्वाभाविक विशुद्ध अवस्था में निवास करना ही वास्तविक सुख है यह सुख जिसे हमेशा के लिए प्राप्त हो जाता है वह कर्मजन्य सुख दुःख से मुक्त हो जाता है यही मोक्ष मुक्ति अथवा निर्वाण है

कर्म से मुक्त होना इतना आसान नहीं है योग की साधना करना इतना सरल नहीं है इसके लिए धीरे-धीरे निरन्तर प्रयत्न करना पड़ता है आचार व विचार की अनेक कठिन अवस्थाओं से गुजरना होता है आचार के अनेक नियमों एवं विचार के अनेक अंकुशों का पालन करना पड़ता है इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए विभिन्न आत्मवादी दर्शनों ने कर्ममुक्ति के लिए आचार के विविध नियमों का निर्माण किया तथा आत्मविकास के विभिन्न अंगों तथा रूपों का प्रतिपादन किया

आत्मविकास

वेदान्त में सामान्यतया आत्मिक विकास के सात अंग अथवा सोपान माने गये हैं प्रथम अंग का नाम शुभ इच्छा है इसमें वैराग्य अर्थात् सम्यक् पथ पर जाने की भावना होती है द्वितीय अंग विचारणारूप है इसमें शास्त्राध्ययन सत्संगति तथा तत्त्व का मूल्यांकन होता है. तृतीय अंग तनुमानस रूप है जिसमें इन्द्रियों और विषयों के प्रति अनासक्ति होती

विचार अर्थात् धर्म व दर्शन एक-दूसरे से भिन्न हैं तर्कशील विचारक का इससे कोई प्रयोजन नही कि श्रद्धाशील आचरणकर्त्ता किस प्रकार का व्यवहार करता है इसी प्रकार श्रद्धाशील व्यक्ति यह नही देखता कि विचारक क्या कहता है तटस्थ दृष्टि से देखने पर यह प्रतीत होता है कि आचार और विचार व्यक्तित्व के समान शक्ति वाले अन्योन्याश्रित दो पक्ष हैं इन दोनो पक्षो का सतुलित विकास होने पर ही व्यक्तित्व का विशुद्ध विकास होता है इस प्रकार के विकास को हम ज्ञान और क्रिया का सयुक्त विकास कह सकते हैं जो दु खमुक्ति के लिए अनिवार्य है

आचार और विचार की अन्योन्याश्रितता को दृष्टि मे रखते हुए भारतीय चिन्तको ने धर्म व दर्शन का साथ-साथ प्रतिपादन किया उन्होने तत्त्वज्ञान के साथ ही साथ आचारशास्त्र का भी निरूपण किया एव बताया कि ज्ञानविहीन आचरण नेत्रहीन पुरुष की गति के समान है जबकि आचरणरहित ज्ञान पगु पुरुष की स्थिति के सदृश है जिस प्रकार अभीष्ट स्थान पर पहुचने के लिए निर्दोष आंखें व पैर दोनो आवश्यक है, उसी प्रकार आध्यात्मिक सिद्धि के लिए दोषरहित ज्ञान व चारित्र दोनो अनिवार्य है

भारतीय विचार-परम्पराओ मे आचार व विचार दोनो को समान स्थान दिया गया है उदाहरण के लिए मीमासा परम्परा का एक पक्ष पूर्वमीमासा आचारप्रधान है जब कि दूसरा पक्ष उत्तरमीमासा (वेदान्त) विचारप्रधान है साख्य और योग क्रमश विचार और आचार का प्रतिपादन करने वाले एक ही परम्परा के दो अग हैं बौद्ध परम्परा मे हीनयान और महायान के रूप मे आचार और विचार की दो धाराएँ हैं हीनयान आचारप्रधान है तथा महायान विचारप्रधान जैन परम्परा मे भी आचार और विचार को समान स्थान दिया गया है अहिंसामूलक आचार एव अनेकान्तमूलक विचार का प्रतिपादन जैन विचारधारा की विशेषता है

वैदिक दृष्टि

भारतीय साहित्य मे आचार के अनेक रूप उपलब्ध होते हैं वैदिक सहिताओ मे लोकजीवन का जो प्रतिबिम्ब मिलता है उससे प्रकट होता है कि लोगो मे प्रकृति के कार्यो के प्रति विचित्र जिज्ञासा थी उनकी धारणा थी कि प्रकृति के विविध कार्य देवो के विविध रूप थे, विविध देवप्रकृति के विविध कार्यों के रूप मे अभिव्यक्त होते थे ये देव अपनी प्रसन्नता अथवा अप्रसन्नता के आधार पर उनका हित कर सकते थे और इसलिए लोग उन्हे प्रसन्न रखने अथवा करने लिए उनकी स्तुति करते, उनकी यशोगाथा गाते स्तुति करने की प्रक्रिया अथवा पद्धति का धीरे-धीरे विकास हुआ एव इस मान्यता ने जन्म लिया कि अमुक ढग से अमुक प्रकार के उच्चारणपूर्वक की जाने वाली स्तुति ही फलवती होती है परिणामत यज्ञ-यागादि का प्रादुर्भाव हुआ एव देवो को प्रसन्न करने की एक विशिष्ट आचार-पद्धति ने जन्म लिया इस आचार-पद्धति का प्रयोजन लोगो की ऐहिक सुख-समृद्धि एव सुरक्षा था लोगो के हृदय मे सत्य, दान, श्रद्धा आदि के प्रति मान था विविध प्रकार के नियमो, गुणो, दण्डो आदि के प्रवर्तको के रूप मे विभिन्न देवो की कल्पना की गई

औपनिषदिक रूप

उपनिषदो मे ऐहिक सुख को जीवन का लक्ष्य न मानते हुए श्रेयस् को परमार्थ माना गया है तथा प्रेयस् को हेय एव श्रेयस् को उपादेय बताया गया है इस जीवन को अन्तिम सत्य न मानते हुए परमात्म तत्त्व को यथार्थ कहा गया है आत्म-तत्त्व का स्वरूप समझाते हुए इसे शरीर, मन, इन्द्रियो आदि से भिन्न बताया गया है इसी दार्शनिक भित्ति पर सदाचार, सतोष, सत्य आदि आत्मिक गुणो का विधान किया गया है एव इन्हे आत्मानुभूति के लिए आवश्यक बताया गया है इन गुणो के आचरण से श्रेयस् की प्राप्ति होती है श्रेयस् के मार्ग पर चलने वाले विरले ही होते हैं ससार के समस्त प्रलोभन श्रेयस् के सामने नगण्य है—तुच्छ है

सूत्र, स्मृतियाँ व धर्मशास्त्र

सूत्रो, स्मृतियो व धर्मशास्त्रो मे मनुष्य के जीवन की निश्चित योजना दृष्टिगोचर होती है इनमे मानव-जीवन के कर्तव्य-अकर्तव्यो के विषय मे विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया है वैदिक विधि-विधानो के साथ ही साथ सामाजिक गुणो एव

है इसके बाद की जो अवस्था है उसमे मानसिक विपयो का निरोध प्रारम्भ होकर मन की शुद्धि होती है इस अवस्था का नाम सत्यापत्ति है इसके बाद पदार्थभावनी अवस्था आती है जिसमे बाह्य वस्तुओं का मन पर कोई प्रभाव नही पडता सातवा अग तुरीयगा कहलाता है इसमे पदार्थों का मन से कोई सम्बन्ध ही नही रहता तथा आत्मा का सत् चित् व आनन्दरूप ब्रह्म से एकाकार हो जाता है यह अवस्था निर्विकल्पक समाधिरूप है

योगदर्शन का अष्टाग योग प्रसिद्ध ही है प्रथम अग यम मे अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह का समावेश होता है द्वितीय अग नियम मे शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय व ईश्वरप्रणिधान का समावेश किया जाता है तृतीय अग का नाम आसन है चतुर्थ अग प्राणायामरूप है पाचवा अग प्रत्याहार, छठा धारणा, सातवा ध्यान व आठवा समाधि कहलाता है निर्विकल्प समाधि आत्मविकास की अतिम अवस्था होती है, जिसमे आत्मा अपने स्वाभाविक रूप मे अवस्थित हो जाती है

कर्मपथ

मीमासा व स्मृतियो आदि मे क्रियाकाण्ड पर अधिक भार दिया गया है जबकि साख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, वेदान्त आदि आत्मशुद्धि पर विशेष जोर देते हैं बौद्धो के अनुसार हमारी समस्त प्रवृत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं—ज्ञात और अज्ञात इन्हे बौद्ध परिभाषा मे विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति कहा जाता है जब कोई व्यक्ति परोक्ष अर्थात् अज्ञात रूप से किसी अन्य द्वारा किसी प्रकार का पापकार्य करता है तो वह अविज्ञप्ति-कर्म करता है जो जानबूझ कर अर्थात् ज्ञातरूप से पापक्रिया करता है वह विज्ञप्ति कर्म करता है यही बात शुभ प्रवृत्ति के विषय मे भी है अत शील भी विज्ञप्ति व अविज्ञप्ति रूप दो प्रकार का है बौद्ध दर्शन के अनुसार प्रत्येक क्रिया के तीन भाग होते हैं—प्रयोग, कर्मपथ और पृष्ठ क्रिया की तैयारी करना प्रयोग है वास्तविक क्रिया कर्मपथ है अनुगामिनी क्रिया का नाम पृष्ठ है उदाहरण के रूप मे चोरी को ले जब कोई चोरी करना चाहता है तो अपने स्थान से उठता है, आवश्यक साधन-सामग्री लेता है, दूसरे के घर जाता है, चुपचाप घर मे घुसता है, रुपये-पैसे व अन्य वस्तुए ढूढता है और उन्हे वहा से उठाता है यह सब प्रयोग के अन्तर्गत है चोरी का सामान लेकर वह घर से बाहर निकलता है, यही कर्मपथ है उस सामान को वह अपने साथियो मे बाटता है, बेचता है अथवा छिपाता है ये तीनो प्रकार विज्ञप्ति व अविज्ञप्तिरूप होते हैं इतना ही नही, एक प्रकार का कर्मपथ दूसरे प्रकार के कर्मपथ का प्रयोग अथवा पृष्ठ बन सकता है इसी प्रकार अन्य पापो एव शुभ क्रियाओ के भी तीन विभाग कर लेने चाहिए वस्तुत प्रयोग, कर्मपथ व पृष्ठ प्रवृत्ति की अथवा आचार की तीन अवस्थाए है इन्हे प्रवृत्ति के तीन सोपान भी कह सकते हैं किस प्रकार की प्रवृत्ति अर्थात् कर्म मे किस प्रकार का फल प्राप्त होता है, इसका भी बौद्ध साहित्य मे पूरी तरह विचार किया गया है यह विचार बौद्ध आचारशास्त्र की भूमिकारूप है

जैनाचार व जैन विचार

जैनाचार की मूल भित्ति कर्मवाद है इसी पर जैनो का अहिंसावाद, अपरिग्रहवाद एव अनीश्वरवाद प्रतिष्ठित है कर्म का साधारण अर्थ कार्य, प्रवृत्ति अथवा क्रिया है कर्मकाण्डी, यज्ञ आदि क्रियाओ को कर्म कहते हैं पौराणिक व्रत-नियम आदि को कर्मरूप मानते है जैन परम्परा मे कर्म दो प्रकार का माना गया है -द्रव्यकर्म व भावकर्म कार्मण पुद्गल अर्थात् जडतत्त्व विशेष जो कि जीव के साथ मिल कर कर्म के रूप मे परिणत होता है, द्रव्यकर्म कहलाता है यह ठोस पदार्थ-रूप होता है द्रव्यकर्म की यह मान्यता जैन कर्मवाद की विशेषता है आत्मा के अर्थात् प्राणी के राग-द्वेषात्मक परिणाम अर्थात् चित्तवृत्ति को भावकर्म कहते हैं दूसरे शब्दो मे प्राणी के भावो को भावकर्म तथा भावो द्वारा आकृष्ट सूक्ष्म भौतिक परमाणुओ को द्रव्यकर्म कहते है यह एक मूलभूत सिद्धान्त है कि आत्मा और कर्म का सम्बन्ध प्रवाहत अनादि है प्राणी अनादि काल से कर्मपरम्परा मे पडा हुआ है चैतन्य और जड का यह सम्मिश्रण अनादिकालीन है जीव पुराने कर्मों का विनाश करता हुआ नवीन कर्मों का उपार्जन करता जाता है जब तक उसके पूर्वोपार्जित समस्त कर्म नष्ट नही हो जाते-आत्मा से अलग नही हो जाते तथा नवीन कर्मों का उपार्जन बद नहीं हो जाता-नया बध रुक नही जाता तब

चाहे वह कीट अथवा पतंग के रूप में हो चाहे वह पशु अथवा पक्षी में हो चाहे उसका वास मानव में हो—तात्त्विक दृष्टि से समान है सुख दुःख का अनुभव प्रत्येक प्राणी को होता है जीवन-मरण की प्रतीति सबको होती है सभी जीव जीना चाहते हैं वास्तव में कोई भी मरने की इच्छा नहीं करता जिस प्रकार हमें जीवन प्रिय है एवं मरण अप्रिय सुख प्रिय है एवं दुःख अप्रिय अनुकूलता प्रिय है एवं प्रतिकूलता अप्रिय मृदुता प्रिय है एवं कठोरता अप्रिय स्वतन्त्रता प्रिय है एवं परतन्त्रता अप्रिय लाभ प्रिय है एवं हानि अप्रिय उसी प्रकार अन्य जीवों को भी जीवन आदि प्रिय है एवं मरण आदि अप्रिय इसीलिए हमारा कर्त्तव्य है कि हम मन से भी किसी के वध आदि की बात न सोचें शरीरसे किसी की हत्या करना अथवा किसी को किसी प्रकार का कष्ट पहुँचाना तो पाप है ही मन अथवा वचन से इस प्रकार की प्रवृत्ति करना भी पाप है मन वचन और काया से किसी को सताप न पहुँचाना सच्ची अहिंसा है पूर्ण अहिंसा है वनस्पति आदि एकेन्द्रिय जीवों से लेकर मानव तक के प्रति अहिंसक आचरण की भावना जैन विचारधारा की अनुपम विशेषता है इसे अहिंसक आचार का चरम उत्कर्ष कह सकते हैं आचार का यह अहिंसक विकास जैन संस्कृति की अमूल्य निधि है

अहिंसा को केन्द्रबिन्दु मानकर अमृषावाद अस्तेय अमैथुन एवं अपरिग्रह का विकास हुआ आत्मिक विकास में बाधक कर्म बंध को रोकने तथा बद्ध कर्म को नष्ट करने के लिए अहिंसा तथा तदाधारित अमृषावाद आदि की अनिवार्यता स्वीकार की गई इसमें व्यक्ति एवं समाज दोनों का हित निहित है वैयक्तिक उत्थान एवं सामाजिक उत्कर्ष के लिए असत्य का त्याग अनधिकृत वस्तु का अग्रहण तथा संयम का परिपालन आवश्यक है इनके अभाव में अहिंसा का विकास नहीं हो पाता परिणामतः आत्मविकास में बहुत बड़ी बाधा उपस्थित होती है इन सबके साथ अपरिग्रह का व्रत अत्यावश्यक है परिग्रह के साथ आत्मविकास की घोर शत्रुता है जहा परिग्रह रहता है वहां आत्मविकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है इतना ही नहीं परिग्रह मनुष्य के आत्मपतन का बहुत बड़ा कारण बनता है परिग्रह का अर्थ है पाप का संग्रह यह आसक्ति से बढ़ता है एवं आसक्ति को बढ़ाता भी है इसी का नाम मूर्च्छा है ज्यों-ज्यों परिग्रह बढ़ता है त्यों त्यों मूर्च्छा-गृद्धि-आसक्ति बढ़ती जाती है जितनी अधिक आसक्ति बढ़ती है उतनी ही अधिक हिंसा बढ़ती है यही हिंसा मानव-समाज में वैषम्य उत्पन्न करती है इसीसे आत्मपतन भी होता है अपरिग्रहवृत्ति अहिंसामूलक आचार के सम्यक् परिपालन के लिए अनिवार्य है

अनेकान्तदृष्टि

जिस प्रकार जैन विचारकों ने आचार में अहिंसा को प्रधानता दी उसी प्रकार उन्होंने विचार में अनेकान्तदृष्टि को मुख्यता दी अनेकान्तदृष्टि का अर्थ है वस्तु का सर्वतोमुखी विचार वस्तु में अनेक धर्म होते हैं उनमें से किसी एक धर्म का आग्रह न रखते हुए अर्थात् एकान्तदृष्टि न रखते हुए अपेक्षाभेद से सब धर्मों के साथ समान रूप से न्याय करना अनेकान्तदृष्टि का कार्य है अनेक धर्मात्मक वस्तु के कथन के लिए 'स्यात्' शब्द का प्रयोग आवश्यक है 'स्यात्' का अर्थ है कथंचित् अर्थात् किसी एक अपेक्षा से—किसी एक धर्म की दृष्टि से वस्तु के अनेक धर्मों अर्थात् अनन्त गुणों में से किसी एक धर्म अर्थात् गुण का विचार उस दृष्टि से ही किया जाता है इसी प्रकार उसके दूसरे धर्म का विचार दूसरी दृष्टि से किया जाता है इस प्रकार वस्तु के धर्म भेद से दृष्टि-भेद पैदा होता है दृष्टिकोण के इस अपेक्षावाद अथवा सापेक्षवाद का नाम ही स्याद्वाद है चूंकि स्याद्वाद से अनेक धर्मात्मक अर्थात् अनेकान्तात्मक वस्तु का कथन या विचार होता है अतः स्याद्वाद का अपर नाम अनेकान्तवाद है इस प्रकार स्याद्वाद व अनेकान्तवाद जैनदर्शनाभिमत सापेक्षवाद के ही दो नाम हैं

जैनधर्म में अनेकान्तवाद के दो रूप मिलते हैं—सकलादेश और विकलादेश सकलादेश का अर्थ है वस्तु के किसी एक धर्म में तदितर समस्त धर्मों का अभेद करके समग्र वस्तु का कथन करना दूसरे शब्दों में वस्तु के किसी एक गुण में उसके शेष समस्त गुणों का संग्रह करना सकलादेश है उदाहरणार्थ 'स्यादस्त्येव घटम्' अर्थात् कथंचित् घट है ही ऐसा जब कहा जाता है तो उसका अर्थ यह होता है कि अस्तित्व के अतिरिक्त अन्य जितने भी धर्म हैं सब किसी दृष्टि से

आत्मा के स्वाभाविक सुख मे बाधा पहुचाती है अन्तराय प्रकृति से वीर्य अर्थात् आत्मशक्ति का नाश होता है वेदनीय कर्मप्रकृति शरीर के अनुकूल एव प्रतिकूल सवेदन अर्थात् सुख-दु ख के अनुभव का कारण है आयु कर्मप्रकृति के कारण नरक, तिर्यच देव एव मनुष्य भव के काल का निर्धारण होता है नाम कर्म प्रकृति के कारण नरकादि गति, एकेन्द्रियादि जाति,औदारिकादि शरीर आदि की प्राप्ति होती है गोत्र कर्मप्रकृति प्राणियो के लौकिक उच्चत्व एव नीचत्व का कारण है कर्म की सत्ता मानने पर पुनर्जन्म की सत्ता भी माननी पडती है पुनर्जन्म अथवा परलोक कर्म का फल है मृत्यु के बाद प्राणी अपने गति नाम कर्म के अनुसार पुन मनुष्य, तिर्यञ्च, नरक अथवा देव गति मे उत्पन्न होता है आनुपूर्वी नाम कर्म उसे अपने उत्पत्तिस्थान पर पहुचा देता है स्थानान्तरण के समय जीव के साथ दो प्रकार के सूक्ष्म शरीर रहते है तैजस और कार्मण औदारिकादि स्थूल शरीर का निर्माण अपने उत्पत्तिस्थान पर पहुचने के बाद प्रारम्भ होता है इस प्रकार जैन कर्मशास्त्र मे पुनर्जन्म की सहज व्यवस्था की गई है

कर्मबन्ध का कारण कषाय अर्थात् राग-द्वेषजन्य प्रवृत्ति है इससे विपरीत प्रवृत्ति कर्ममुक्ति का कारण बनती है कर्म-मुक्ति के लिए दो प्रकार की क्रियाएँ आवश्यक है —नवीन कर्म के उपार्जन का निरोध एव पूर्वोपार्जित कर्मका क्षय प्रथम प्रकार की क्रिया का नाम सवर तथा द्वितीय प्रकार की क्रिया का नाम निर्जरा है ये दोनो क्रियाए क्रमश आस्रव तथा बन्ध से विपरीत है इन दोनो की पूर्णता से आत्मा की जो स्थिति होती है अर्थात् आत्मा जिस अवस्था को प्राप्त होती है उसे मोक्ष कहते है यही कर्ममुक्ति है

नवीन कर्मों के उपार्जन का निरोध अर्थात् सवर निम्न कारणो से होता है —गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, चारित्र व तपस्या सम्यक् योगनिग्रह अर्थात् मन, वचन व तन की प्रवृत्ति का सुष्ठु नियन्त्रण गुप्ति है सम्यक् चलना, बोलना, खाना, लेना-देना आदि समिति कहलाता है उत्तम प्रकार की क्षमा, मृदुता, ऋजुता, शुद्धता आदि धर्म के अन्तर्गत है अनुप्रेक्षा मे अनित्यत्व, अशरणत्व, एकत्व आदि भावनाओ का समावेश होता है क्षुधा, पिपासा, सर्दी, गर्मी आदि कष्टो को सहन करना परीषहजय है चारित्र, सामायिक आदि भेद से पाच प्रकार का है तप बाह्य भी होता है व आभ्यन्तर भी अनशन आदि बाह्य तप है, प्रायश्चित्त आदि आभ्यन्तर तप कहलाता है तप से सवर के साथ-साथ निर्जरा भी होती है सवर व निर्जरा का पर्यवसान मोक्ष-कर्ममुक्ति मे होता है

आत्मवाद

कर्मवाद का आत्मवाद से साक्षात् सम्बन्ध है यदि आत्मा की पृथक् सत्ता न मानी जाय तो कर्मवाद की मान्यता निर-र्थक सिद्ध होती है जैन आचारशास्त्र मे कर्मवाद के आधारभूत आत्मवाद की भी प्रतिष्ठा की गई है आत्मा का लक्षण उपयोग है उपयोग का अर्थ है बोधरूप व्यापार यह व्यापार चैतन्य का धर्म है जड पदार्थों मे उपयोग-क्रिया का अभाव होता है क्योकि उनमे चैतन्य नही होता, उपयोग अर्थात् बोध दो प्रकार का है —ज्ञान और दर्शन सुख और वीर्य भी चैतन्य का ही धर्म है इसीलिए आत्मा को अनन्त-चतुष्टयात्मक माना गया है अनन्त चतुष्टय ये हैं—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य बद्ध अर्थात् ससारी आत्मा मे ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म के सम्पूर्ण क्षय से क्रमश विशेष बोधरूप अनन्त ज्ञान, सामान्य बोधरूप अनन्त दर्शन, अलौकिक आनन्दरूप अनन्त सुख व आध्यात्मिक शक्तिरूप अनन्त वीर्य प्रादुर्भूत होता है मुक्त आत्मा मे ये चार अनन्त-अनन्त-चतुष्टय सर्वदा बने रहते हैं ससारी आत्मा स्वदेहपरिमाण एव पौद्गलिक कर्मों से मुक्त होती है, साथ ही परिणमन-शील, कर्त्ता, भोक्ता एव सीमित उपयोगयुक्त होती है

अहिंसा और अपरिग्रह

जैनाचार का प्राण अहिंसा है, अहिंसक आचार एव विचार से ही आध्यात्मिक उत्थान होता है जो कर्ममुक्ति का कारण है अहिंसा का जितना सूक्ष्म विवेचन एव आचरण जैन परम्परा मे उपलब्ध है उतना शायद ही किसी जैनेतर परम्परा मे हो अहिंसा का मूलाधार आत्मसाम्य है प्रत्येक आत्मा—चाहे वह पृथ्वी सम्बन्धी हो, चाहे उसका आश्रय जल हो,
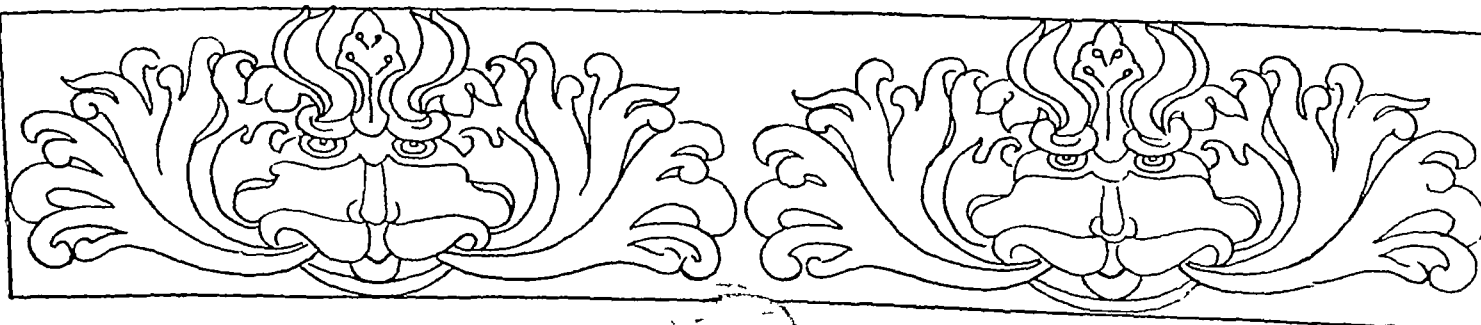
डा० जगदीशचन्द्र जैन
एम० ए० पी-एच० डी०

महावीर और उनके सिद्धान्त

कल्पना कीजिये आज से अढाई हजार वर्ष पहले के जीवन—की उस समय की—आर्थिक सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों की आजकी अपेक्षा उस समय की आर्थिक परिस्थितियाँ सीमित थीं जिनका प्रभाव तत्कालीन समाज व्यवस्था पर पडना अवश्यम्भावी था यातायात वणिज—व्यापार के साधन बहुत अल्प थे जिससे दूर के लोगों के साथ सपर्क रखना कठिन था देवी देवताओं सम्बन्धी अनेक मान्यतायें प्रचलित थीं खेती-बारी और वणिज-व्यापार में समृद्धि प्राप्त करने और परलोक में शान्ति प्राप्त करने के लिये लोग यज्ञ-यागो में पशु-हिंसा को धर्म मानते थे मनुष्यो के वर्ण अर्थात् रगभेद पर आधारित और कार्य-विभाजन के लिये उपयोगी वेदकालीन वर्ण-व्यवस्था बदलती हुई आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों के कारण अहितकर सिद्ध हो रही थी मनुष्य-मनुष्य में अन्तर बढ रहा था ज्ञातृपुत्र महावीर ने ऐसे ही समय में वैशाली नगरी के कुण्डग्राम में जन्म लेकर विहार की भूमि को पवित्र किया था वैशाली म लिच्छवी गण का राज्य था जहाँ कि राजसत्ता नागरिको द्वारा चुने हुए अनेक गणराजाओ के अधिकार में थी वर्धमान के पिता सिद्धार्थ वैशाली के ऐसे ही गणमान्य राजाओ में से थे उनकी माँ त्रिशला लिच्छवी घराने की थी 'पूत के पाँव पालने म ही दीख जाते हैं' इस कहावत के अनुसार वर्धमान शुरू से ही कुशाग्र बुद्धि थे कोई चीज जानने और समझने में उन्हे देर न लगती थी वे अपने माता-पिता और गुरुजनों के आज्ञाकारी और सयमी प्रकृति के थे दूसरे को दुखी देख उनका हृदय पिघल जाता और दुखियों का दुख दूर करने के लिये वे सदा प्रयत्नशील रहते वर्धमान बडे वीर और साहसी थे उनके वीरतापूर्ण कृत्यों से मुग्ध होकर ही लोग उन्हे महावीर कहने लगे थे

महावीर का मन ससार म नही लगता था ससार के अन्याय और अत्याचारों को देख उनका कोमल हृदय रो उठता जितना ही वे विचार करते उतना ही उन्हें यह संसार दुखमय प्रतीत होता कही वे धन-सम्पत्ति की लालसा से युद्ध में सलग्न गणराजाओ को देखते कही उन्हे राजकर और राजदण्ड से पीडित लोग दिखाई देते और कही भूख-मार अकाल और दुर्भिक्ष से ग्रस्त अन्न की मारे चलते-फिरते मानव नजर आते कही पशु से भी बदतर जीवन व्यतीत करने वाले दास थे कही समाज से बहिष्कृत नीच समझे जाने वाले शूद्र और कही मनुष्योचित अधिकारों से वचित अपना सर्वस्व समर्पण कर देने वाली नारियाँ धर्म के नाम पर आडम्बर और शुष्क क्रियाकाण्ड फैला हुआ था तथा जाति-मद से उन्मत्त बने उच्चवर्ण के लोग अपने ही धर्म-कर्म को सर्वोत्कृष्ट प्रतिपादन करते थे

यह सब देखकर महावीर के मानस हृदय म उथल-पुथल मच गई एकात में घण्टों बैठ वे बडी गम्भीरता से जीवन की समस्याओ पर विचार करते लेकिन कोई रास्ता उन्हें न सूझता अनेक बार उन्होने गृहत्याग कर दीक्षा ग्रहण करने का विचार किया लेकिन बडों की अनुज्ञा न मिलने से विचार स्थगित कर देना पडा

महावीर अब तीस वर्ष के हो गये थे उन्होने सोचा-ऐसे तो सारी उम्र बीत जायेगी आखिर उन्होंने लोककल्याण करने का निश्चय कर लिया उन्होने एक से एक सुन्दर नाक के श्वास से उड जाने वाले कोमल वस्त्रों और बहुमूल्य आभूषणों को त्याग दिया सोना चाँदी और मणि-मुक्ताओ को छोड दिया स्वादिष्ट भोजन-पान को तिलांजलि दे दी अपने मित्रो का त्याग किया भाई-बन्धुओ को छोड दिया और स्वजन-सम्बन्धियों की अनुमति पूर्वक पालकी में सवार हो ज्ञातृषड नामक उद्यान मे पहुँच श्रमण-दीक्षा स्वीकार की

महावीर ने बारह वर्ष से अधिक समय तक घोर तप किया वे पुण्यपूर्ण उद्यानो श्मशानो अथवा वृक्षों के नीचे एकासन

अस्तित्व से अभिन्न हैं इसी प्रकार, नास्तित्व आदि धर्मों का भी तदितर धर्मों से अभेद करके कथन किया जाता है यह अभेद काल, आत्मरूप, अर्थ, सम्बन्ध, उपकार आदि आठ दृष्टियों से होता है जिस समय किसी वस्तु मे अस्तित्व धर्म होता है उसी समय अन्य धर्म भी होते हैं घट मे जिस समय अस्तित्व रहता है उसी समय कृष्णत्व, स्थूलत्व आदि धर्म भी रहते हैं अत काल की दृष्टि से अस्तित्व व अन्य गुणो मे अभेद है यही बात शेष सात दृष्टियो के विषय मे भी समझनी चाहिये वस्तु के स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्व धर्म का विचार किया जाता है एव परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्तित्व धर्म का. सकलादेश मे एक धर्म मे अशेष धर्मों का अभेद करके सकल अर्थात् सम्पूर्ण वस्तु का कथन किया जाता है विकलादेश मे किसी एक धर्म की ही अपेक्षा रहती है और शेष की उपेक्षा जिस धर्म का कथन करना होता है वही धर्म दृष्टि के सम्मुख रहता है अन्य धर्मों का निषेध तो नही होता किंतु प्रयोजनाभाव के कारण उनके प्रति उपेक्षाभाव अवश्य रहता है विकल अर्थात् अपूर्ण वस्तु के कथन के कारण इसे विकलादेश कहा जाता है इस प्रकार अहिंसा और अनेकान्तवाद की मूल भित्ति पर ही जैनाचार के भव्य भवन का निर्माण हुआ है

केवलज्ञान होने के पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर तीस वर्ष तक उपदेश देते रहे राजगृह से विहार करते-करते वे चतुर्मास व्यतीत करने के लिए पावापुरी पधारे. कार्तिक अमावस्या को प्रात काल मकायक ईसवी सन् पूर्व ५२७ के दिन ७२ वर्ष की अवस्था में उनका उपदेश बन्द हो गया और अमावस्या की रात्रि के पिछले पहर में उन्होंने निर्वाण पद पाया

बात की बात में महावीर निर्वाण की चर्चा सर्वत्र फैल गई भुवन प्रदीप संसार से सदा के लिये बुझ गया उस समय काशी कौशल के मल्ल और लिच्छवी गणराजा उपस्थित थे उन्होंने इस पुनीत अवसर पर सर्वत्र दीपक जला कर दीपावली का उत्सव मनाया किसी ने कहा—संसार की एक दिव्य विभूति उठ गई है किसी ने कहा—अब दुर्बलों का कोई मित्र नहीं रहा किसी ने कहा—श्रमण भगवान् आज कूच कर गये हैं तो क्या ! वे हमारे लिये बहुत कुछ छोड़ गये हैं, उनके सदुपदेशों को आगे बढ़ाने का काम हम करेंगे दुनिया को सत्पथ हम दिखायेंगे

[1]आज भी अणुशक्ति के इस युग में महावीर के लोकप्रिय सिद्धान्त विश्व को मार्गदर्शन करने और हमें राष्ट्र की समस्याओं को सुलझाने में सहायक होंगे इसमें सन्देह नहीं लेकिन यह कार्य उनके धर्म के तत्त्व को ठीक-ठीक समझ कर हृदयगम करने से हो सकता है उनके नाम पर चली आई रूढ़ियों को पालने से नहीं [1]

---

[1] आकाशवाणी बम्बई के सौजन्य से

से खडे रहते कोई उन्हे कठोर वचन कहता तो मौन भाव से सहन करते भोजन-पान मे उन्हे आसक्ति नही रह गई थी, अपने लिये तैयार न किया हुआ, रूखा-सूखा भोजन खाकर ही वे काम चला लेते थे कई दिन तक वे उपवासे रहते बीमार पडने पर चिकित्सा न कराते कभी कोई ऐसा काम न करते जिससे किसी को कष्ट पहुँचे महावीर की तपश्चर्या और कष्टसहिष्णुता महान् थी जिसे देखकर बडे-बडे साधु-मुनियो के आसन डोल जाते थे

अपने दीर्घकालीन तपस्वी जीवन मे महावीर ने दूर-दूर तक यात्रा की विहार मे घूमे, पूर्वीय उत्तरप्रदेश के बनारस, साकेत, श्रावस्ती और कौशाबी आदि नगरो को उन्होने अपने पाद-विहारो से पवित्र किया लेकिन सबसे अधिक कष्ट उन्हे पश्चिमी बगाल के लाढ देश मे सहन करना पडा इस देश मे अनार्य जातिया बसती थी और वे श्रमणो के आचार-विचार को हेय समझती थी लेकिन महावीर यातनाओ से जरा भी न घबराये और अपने उद्देश्य पर अटल रहे परिश्रम का फल मीठा होता है आखिर एक दिन जभियग्राम मे वालुका नदी के किनारे ध्यान-मुद्रा मे अवस्थित महावीर ने बोध प्राप्त किया—उनके ज्ञान-चक्षु खुल गये

केवलज्ञान प्राप्त करने के बाद महावीर की ख्याति दूर-दूर तक फैल गई जन-समूह उनके दर्शन के लिये उमड पडा कोई उनका उपदेश सुनने, कोई कुशल-वार्ता पूछने, कोई शकानिवारण करने और कोई कौतूहल वृत्ति शात करने के लिए आया वैदिक दर्शन के प्रकाण्ड पडित अर्थ-निर्णय के लिये उनके समीप उपस्थित हुए महावीर की विद्वत्ता और सर्वतोमुखी प्रतिभा से चकित होकर उन्होने उनका शिष्यत्व स्वीकार किया आगे चलकर ये ही शिष्य गणधर पद से विभूषित किये गये

गण और सघ के आदर्श पर महावीर ने अपने अनुयायियो को चार सघो मे विभाजित किया था—साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविका सघ के सगठन को दृढ बनाने के लिये चारो के चार नेता चुने गये जिससे सघ सुसगठित रूप से आगे बढता रहा

निर्ग्रन्थ श्रमण, मठो या उपाश्रयो मे रहते और सैकडो की सख्या मे एक साथ विहार करते वर्षा ऋतु मे चार महीने वे एक स्थान पर ठहरते, बाकी आठ महीने जन-पद विहार करते विहार करते समय उन्हे देश-देश की भाषाओ का ज्ञान लोकरिवाजो का ज्ञान तथा जन साधारण के मनोविज्ञान का परिचय आवश्यक था

महावीर ने अहिंसा पर सबसे अधिक जोर दिया इस समय खेती-बारी मे उन्नति हो जाने से पशु-हिंसा के स्थान पर अहिंसा की उपयोगिता स्वीकार की जाने लगी थी महावीर का कथन था कि सब जीव सुख-शातिपूर्वक रहना चाहते हैं, इसलिए हमे किसी भी प्राणी को कष्ट नही पहुँचाना चाहिए अपने विकारो पर विजय प्राप्त करने, इन्द्रियो का दमन करने और अपनी प्रवृत्तियो को सकुचित करने को ही वे वास्तविक अहिंसा मानते थे इसलिए उन्होने अपने भिक्षुओ को बोलने-चालने, उठने-बैठने, सोने और खाने पीने मे सतत जागरूक रहने का उपदेश दिया है

महावीर की मान्यता थी कि यदि सोने-चादी के असख्य पर्वत भी खडे हो जायें तो भी मनुष्य की तृष्णा शान्त नही होती इसलिए मनुष्य को अपना परिग्रह कम करना चाहिए उनके अनुसार सच्चा त्यागी वही हो सकता है जो सुन्दर और प्रिय भोगो को पाकर भी उनकी ओर से पीठ फेर लेता है, उन्हे धता बता देता है.

महावीर ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता नही मानते उनके अनुसार आत्म-विकास की सर्वोच्च अवस्था ही ईश्वरावस्था है महावीर जाति-पाति और छुआछूत के सख्त विरोधी थे मनुष्य मात्र की समानता पर वे जोर देते थे उन्होने बार-बार अपने शिष्यो को सबोधन करके कहा था—हे शिष्यो ! सच्चा जैन अथवा सच्चा ब्राह्मण वही है जिसने राग-द्वेष पर विजय प्राप्त की है, जो पाचो इन्द्रियो पर निग्रह रखता है, जो मिथ्या भाषण नही करता और जो सब प्राणियो के हित मे रत रहता है वास्तव मे कर्म से ही मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होता है जन्म से नही महावीर के निर्ग्रन्थ धर्म को कोई भी पाल सकता था और उन्होने स्वय म्लेच्छ, चोर, डाकू, मछुए, और वेश्याओ आदि को अपने धर्म मे दीक्षित किया था
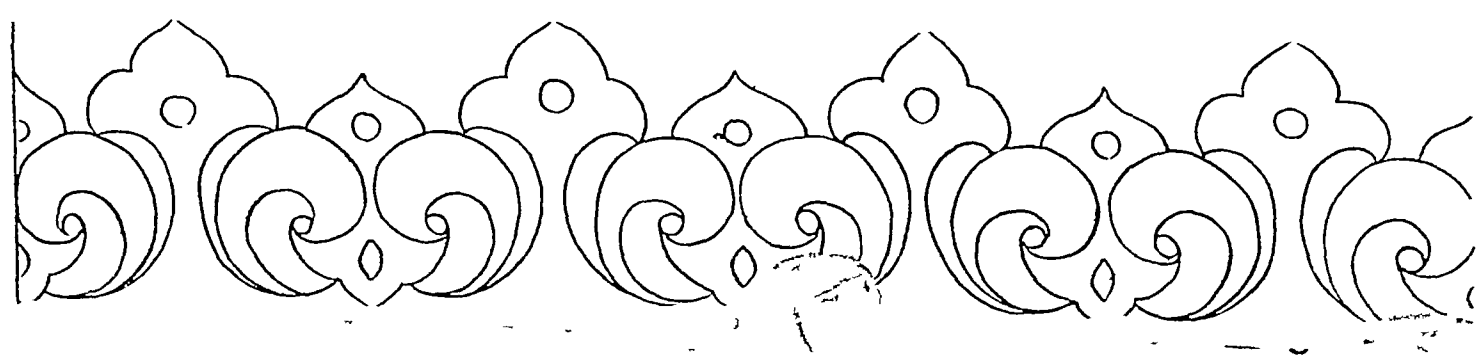
स्याद्वाद की मर्यादा के अनुसार काल स्वभाव आदि कार्य की निष्पत्ति में कारण है पर वे वियुक्त होकर किसी कार्य को निष्पन्न नही करते इनका समुचित योग होने पर ही कार्य निष्पन्न होता है आचार्य सिद्धसेन के शब्दो में—'काल स्वभाव नियति पूर्वकृत और पुरुषार्थ —ये पांचों कारण परस्पर निरपेक्ष होकर अयथार्थ बन जाते हैं और ये ही परस्पर सापेक्ष होकर यथार्थ बन जाते हैं'[1]

वस्तुस्थित्या कर्तृत्व स्वय पदार्थ में होता है प्रत्येक पदार्थ का परिणमन स्वयं सचालित होता है काल आदि उसके सचालन में निमित्त कारण बनते है पदार्थ और उसकी कारण-सामग्री से अतिरिक्त किसी शक्ति में कर्तृत्व का आरोप करने की कोई अपेक्षा नही फिर भी कुछ दार्शनिक ईश्वरकर्तृत्व की स्थापना करते है हरिभद्र सूरि ने स्याद्वाद भाषा में कहा— 'कर्त्ता वही होता है जो परम ईश्वर है आत्मा परम ईश्वर है वह अपने स्वभाव-कार्य का कर्त्ता है कर्तृवाद अमान्य ही नही हमें मान्य भी है'[2]

कोई दार्शनिक स्थायित्व का आग्रह करता है, कोई परिवर्तन का किन्तु स्याद्वादी दोनों का प्रत्येक वस्तु में समाहार करता है इसीलिए उसकी दृष्टि में केवल स्थायी या केवल परिवर्तनशील पदार्थ होता ही नहीं जिसमें विरोधी धर्मों का सह-अस्तित्व न हो वह असत् है—वैसी वस्तु का कोई अस्तित्व ही नही है समभाव स्याद्वाद का पूर्व रूप है और सह-अस्तित्व उसका फलित है

यदि सब पदार्थ या एक पदार्थ के अनेक धर्म अविरोधी ही होते तो पदार्थ एक ही होता और एक पदार्थ भी एक धर्म से युक्त होता किन्तु ऐसा नही है और इसीलिए नहीं है कि अनेक विरोधी पदार्थ और हर पदार्थ मे अनेक विरोधी धर्म है जिनकी दृष्टि विषम होती है वे ऐसा मानते है कि विरोधी वस्तुओं या धर्मों का सह-अस्तित्व हो ही नही सकता किन्तु समदृष्टि वाले ऐसा मानते है कि सह-अस्तित्व उन्हीं का होता है जो विरोधी धर्मों से युक्त अस्तित्व रखते हैं यह वस्तु-जगत् के प्रति स्याद्वाद का सह-अस्तित्व सिद्धान्त है

धार्मिक जगत् के प्रति भी स्याद्वाद का फलित यही है यह देखकर कष्ट होता है कि कुछ जैन विद्वान् स्याद्वाद का पूरा निर्वाह नही कर सके वाद-विवाद के क्षेत्र में वैसे उतरे जैसे एकान्तवादी दार्शनिक उतरे वे समदृष्टि उतनी नही रही जितनी स्याद्वाद की पृष्ठभूमि मे रहनी चाहिए इसीलिए उसका फलित सह-अस्तित्व उतना विकसित नही हो सका जितना होना चाहिए

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो एक ही महावृक्ष की महान् शाखाएं है उनके सिद्धान्त निरूपण में भी कोई बहुत मौलिक अन्तर नही है फिर भी दोनो शाखाओ के विद्वानो ने मतभेद की समीक्षा में ऐसे शब्द प्रयोग किये है जो वांछनीय नही थे लगता है कि स्याद्वाद की मर्यादा अब विकसित हो रही है श्वेताम्बर और दिगम्बर धारा की दूरी मिट रही है सह-अस्तित्व निष्पन्न हो रहा है

स्याद्वाद एक समुद्र है उसमे सारे वाद विलीन होते है जितने वचन-पथ है उतने ही नयवाद हैं और जितने नयवाद हैं उतने ही दर्शन है[3]

---

१ सम्मतिप्रकरण ३ ५३
कालो सहाव णियई पुव्वकयं पुरिस कारणेगंता ।
मिच्छत्त ते चेवा (उ) समासओ होंति सम्मत्त ।।
२ शास्त्रवार्तासमुच्चय ३ १३
परमैश्वर्ययुक्तत्वाद् मत आत्मैव चेश्वरः ।
स च कर्तेति निर्दोष कर्तृवादो व्यवस्थितः ।।
३ सन्मतिप्रकरण ३।४७
जावइया वयणवहा तावइया चेव होंति णयवाया ।
जावइया णयवाया तावइया चेव परसमया ।।
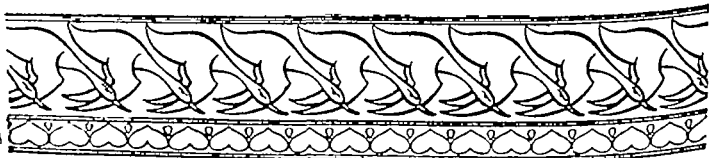
आचार्य श्रीतुलसी

सर्व-धर्म-समभाव और स्याद्वाद

धर्म एक ही है इसलिए 'सर्व-धर्म' ऐसा प्रयोग सही नहीं है जब धर्म अनेक नहीं तब समभाव किन पर हो ? निश्चय-दृष्टि से यह धारणा उचित है व्यवहार की धारणा इससे भिन्न है जब हम धर्म और सम्प्रदाय को एक ही शब्द से अभिहित करते हैं, तब धर्म अनेक हो जाते हैं और उन सब पर समभाव रखने का प्रश्न भी उपस्थित होता है पर प्रति-प्रश्न यह है कि जो धर्म सम नही है उन पर समभाव कैसे रखा जाए ? कोई धर्म अहिंसा का समर्थन करता है और कोई नही करता क्या उन दोनो को सम-दृष्टि से देखा जाए ? यह कैसे हो सकता है ? प्रकाश और धूमिल को सम नही माना जा सकता जो विषम है, उन्हे सम मानना मिथ्या दृष्टिकोण है

किन्तु स्याद्वाद के सदर्भ मे समभाव का अर्थ होगा अपने भावो का समीकरण जिसका दृष्टिकोण अनेकान्तस्पर्शी होता है वही व्यक्ति प्रत्येक धर्म के सत्यांश को स्वीकार और असत्यांश का परिहार करने मे सम (तटस्थ) रह सकता है

धर्म के विचार अनेक है कोई कालवादी है, कोई स्वभाववादी कोई ईश्वरवादी है, कोई यदृच्छावादी कोई नियति-वादी है, कोई पुरुषार्थवादी कोई कर्मवादी है, कोई परिस्थितिवादी कोई प्रवृत्तिवादी है, कोई निवृत्तिवादी

श्वेताश्वतर-उपनिषद् मे उल्लेख है कि—काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूत और पुरुष—ये अलग-अलग विश्व के कारण नही है और इनका सयोग भी आत्मा के अधीन है, इसलिए वह भी विश्व का कारण नही है आत्मा सुख, दुःख के हेतुओ के अधीन है, इसलिए वह भी विश्व का कारण नही हो सकता [1]

ब्रह्मवादी विचारधारा प्रवृत्त हुई तब उसके सामने ये अभिमत प्रचलित थे महाभारत मे हमे काल, स्वभाव आदि का समर्थन करनेवाले असुरो के सिद्धात मिलते हैं प्रह्लाद स्वभाववादी थे इन्द्र ने उनसे पूछा—"आप राज्य-भ्रष्ट होकर भी शोक-मुक्त कैसे हैं ?"[2]

प्रह्लाद ने कहा—"मेरी यह निश्चित धारणा है कि सब कुछ स्वभाव से ही प्राप्त होता है मेरी आत्म-निष्ठ-बुद्धि भी इसके विपरीत विचार नही रखती [3]

इसी प्रकार इन्द्र के प्रश्न पर असुरराज बलि ने काल के कर्तृत्व का समर्थन किया [4] नमुचि ने नियतिवाद के समर्थन मे कहा—"पुरुष को जो वस्तु जिस प्रकार मिलनेवाली होती है, वह उस प्रकार मिल ही जाती है जिसकी जैसी भवित-व्यता होती है, वह वैसा ही होता है"[5]

---

१ श्वेताश्वतर १ २
काल स्वभावो नियतिर्यदृच्छा, भूतानि योनि पुरुष इति चिन्त्या।
सयोग एषा न त्वात्मभावा-दात्माप्यनीश सुखदु खहेतो ।

२ महाभारत शान्तिपर्व २२३ ११

३ महाभारत शान्तिपर्व २२३ २३, २२७ ७३
काल कर्त्ता विकर्त्ता च, सर्वमन्यदकारणम्।
नाश विनाशमैश्वर्य, सुख दु ख भवाभवौ ॥

४ महाभारत शान्तिपर्व २२४। ५-६०

५ महाभारत शान्तिपर्व २२६ १०

समन्वय या समभाव की दिशा में हरिभद्र सूरि का दृष्टिकोण बहुत प्रशस्त है उन्होंने लिखा है— 'जिस प्रकार अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त कर्म का सम्बन्ध जैन दृष्टि से घटित होता है अमूर्त आकाश के साथ घट का सम्बन्ध होता है अमूर्त ज्ञान पर मूर्त मदिरा का आघात होता है वैसे ही सांख्य का प्रकृतिवाद घटित हो सकता है कपिल मुनि दिव्य ज्ञानी थे वे भला असत्य कैसे कहते ?[1]

महात्मा बुद्ध ने क्षणिक-वाद का उपदेश आसक्ति मिटाने के लिए, विज्ञान-वाद का उपदेश बाह्य-पदार्थों से विमुक्त रखने के लिए दिया वे भला बिना प्रयोजन के ऐसी बात कैसे कहते[2]

अद्वैत की देशना समभाव की सिद्धि के लिए की गई[3] इस प्रकार विरोधी प्रतिभासित होने वाली दृष्टियों में अविरोध ढूंढना और उनके प्रवर्तकों के प्रति आदरभाव प्रकट करना एक समदर्शी स्याद्वादी महातार्किक का ही काम है

आज जैन मनीषियों के लिए यह सद्य प्राप्त काम है कि वे समभाव की साधना से समन्वित स्याद्वाद का प्रयोग कर जीवन के हर क्षेत्र में उठने वाले विवादों और संघर्षों का शमन करें

---

१ शास्त्रवार्तासमुच्चय २३६-२३७

मूर्तयाप्यात्मनो योगो घटेन नभसो यथा ।
उपघातादिभावश्च ज्ञानस्येव सुरादिना ॥
एवं प्रकृतिवादोऽपि विज्ञेयः सत्य एव हि ।
कपिलोक्तत्वतश्चैव दिव्यो हि स महामुनिः ॥

२. शास्त्रवार्तासमुच्चय ४६४-६६ ।

३ शास्त्रवार्तासमुच्चय ६५ ।

धर्म या दर्शन की तालिका बहुत लम्बी है उनके विचारो का भेद भी बहुत तीव्र है उनका समन्वय करना कोई सरल काम नही है पर स्याद्वाद का मूल समन्वय की गहराई मे नही है उसका मूल भावना की गहराई मे है वह वहा तक पहुचती है जहा सत्य ही आधार है प्रोफेसर कीथ का मतव्य है—"दर्शन के प्रति जैनियो की देन, जहाँ तक वह मौलिक थी, इस प्रयत्न के रूप मे है कि जो स्थिर वस्तु है और जो अस्थिर है उन दोनो के विरोध का समाधान कैसे किया जाए ? उनका समाधान इस रूप मे है कि एक स्थिर सत्ता के रहते हुए भी वह बराबर परिवर्तनशील है यही सिद्धान्त न्याय मे प्रसिद्ध स्याद्वाद का रूप धारण कर लेता है इस वाद को मूलत इस रूप मे कह सकते है कि एक अर्थ मे किसी बात को कहा जा सकता है, जबकि दूसरे अर्थ मे उसी का निषेध भी किया जा सकता है परन्तु जैनदर्शन का कोई गम्भीर विकास नही हो सका क्योकि यह आवश्यक समझा गया कि जैनदर्शन जिस रूप मे परम्परा से प्राप्त था, उसको वैसा ही मान लेना चाहिए और इस अवस्था मे उसे बौद्धिक आधार पर खडा नही किया जा सकता [1]

प्रो० कीथ का निष्कर्ष पूर्णत यथार्थ नही है तो पूर्णत अयथार्थ भी नही है जैन विद्वान् परम्परा-सेवी रहे है परन्तु जैनदर्शन का गम्भीर विकास नही हुआ, यह सही नही है इसमे कोई सन्देह नही कि जैन-परम्परा मे तर्क- शास्त्र का उतना विकास नही हुआ जितना नैयायिक और बौद्ध धारा मे हुआ इसका कारण यही मान्यता थी कि सत्य की उपलब्धि तर्क के द्वारा नही, किन्तु साधना के द्वारा होती है

स्याद्वाद एक तर्क-व्यूह के रूप मे गृहीत नही हुआ, किन्तु सत्य के एक द्वार के रूप मे गृहीत हुआ

केवल स्याद्वाद को जानने वाला सब धर्मों पर समभाव नही रख सकता, किन्तु जो अहिसा की साधना कर चुका, वही सब धर्मो पर समभाव रख सकता है स्याद्वाद अहिसा का ही एक प्रकार है जो अहिसक न हो और स्याद्वादी हो, यह उतना ही असम्भव है कि कोई व्यक्ति हिसक हो और शुष्क तर्कवादी न हो

कौटिल्य ने तर्कविद्या को सब धर्मो का आधार कहा है [2] इसके विपरीत भर्तृहरि का मत है—"कुशल अनुमाता के द्वारा अनुमित अर्थ भी दूसरे प्रवर तार्किक द्वारा उलट दिया जाता है [3] इसी आशय के सन्दर्भ मे आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा था—"कोरे ज्ञान से निर्वाण नही होता, यदि श्रद्धा न हो कोरी श्रद्धा से भी वह प्राप्त नही होता, यदि सयम न हो"[4] जैन विद्वानो ने सयम और श्रद्धा से समन्वित ज्ञान का विकास किया, इसलिए उनका तर्कशास्त्र स्याद्वाद की परिधि से बाहर विकसित नही हो सकता था

तर्क से विचिकित्सा का अन्त नही होता वही तर्क जब स्याद्वादस्पर्शी होता है, तो विचिकित्सा समाप्त हो जाती है तर्कशास्त्र के सारे अगो का जैन आचार्यों ने स्पर्श किया और हर दृष्टिकोण को उन्होने मान्यता दी उनके सामने असत्य कुछ भी नही था असत्य था केवल एकान्तवाद और मिथ्या आग्रह आग्रह न हो तो चार्वाक का दृष्टिकोण भी असत्य नही है, वह इन्द्रियगम्य सत्य है वेदान्त का दृष्टिकोण भी असत्य कैसे है? वह अतीन्द्रिय सत्य है इन्द्रिय-गम्य और अतीन्द्रिय दोनो का समन्वय पूर्ण सत्य है

---

१ सस्कृत साहित्य का इतिहास पृष्ठ ५८९
२ कौटलीय अर्थशास्त्र १।२
आश्रय सर्वधर्माणा, शश्वदान्वीक्षिकी मता ।
३ वाक्यपदीय १।३४
यत्नेनानुमितोप्यर्थ कुशलैरनुमातृभि ।
अभियुक्ततरैरन्यै रन्यथैवोपपाद्यते ।।
४ प्रवचनसार चारित्राधिकार । ३७
ण हि आगमेण सिज्झदि सद्दहण जदि ण अत्थि अत्थेसु ।
सद्दहमाणो अत्थे, असजदो वा ण णिव्वादि ।।

समन्वय या समभाव की दिशा में हरिभद्र सूरि का दृष्टिकोण बहुत प्रशस्त है उन्होंने लिखा है— 'जिस प्रकार अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त कर्म का सम्बन्ध जैन दृष्टि से घटित होता है अमूर्त आकाश के साथ घट का सम्बन्ध होता है अमूर्त ज्ञान पर मूर्त मदिरा का प्रभाव होता है वैसे ही सांख्य का प्रकृतिवाद घटित हो सकता है कपिल मुनि दिव्य ज्ञानी थे वे भला असत्य कैसे कहते ?[1]

महात्मा बुद्ध ने क्षणिक-वाद का उपदेश आसक्ति मिटाने के लिए, विज्ञान-वाद का उपदेश बाह्य-पदार्थों से विमुक्त रखने के लिए दिया वे भला बिना प्रयोजन के ऐसी बात कैसे कहते[2]

अद्वैत की देशना समभाव की सिद्धि के लिए की गई[3] इस प्रकार विरोधी प्रतिभासित होने वाली दृष्टियों में अविरोध ढूंढना और उनके प्रवर्तकों के प्रति आदरभाव प्रकट करना एक समदर्शी स्याद्वादी महातार्किक का ही काम है

आज जैन मनीषियों के लिए यह सद्य:प्राप्त कार्य है कि वे समभाव की साधना से समन्वित स्याद्वाद का प्रयोग कर जीवन के हर क्षेत्र में उठने वाले विवादों और संघर्षों का शमन करें

---

१ शास्त्रवार्तासमुच्चय २३६–२३७
मूर्तयाप्यात्मनो योगो घटेन नभसो यथा ।
उपघाताद्विभावश्च, ज्ञानस्येव सुरादिना ॥
एवं प्रकृतिवादोऽपि विज्ञेयः सत्य एव हि ।
कपिलोक्तत्वतश्चैव दिव्यो हि स महामुनिः ॥
२ शास्त्रवार्तासमुच्चय ४६४–६६ ।
३ शास्त्रवार्तासमुच्चय ५५ ।
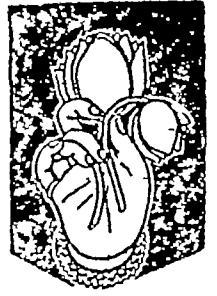
श्री सौभाग्यमल जैन

स्याद्वाद और अहिंसा

स्याद्वादो वर्तते यस्मिन्, पक्षपातो न विद्यते,
नास्त्यन्यपीडनं किंचित् जैनधर्मः स उच्यते ।

आचार्य ने सक्षिप्त मे जैन धर्म का अतस्तल उक्त श्लोक मे व्यक्त कर दिया है. वास्तव मे 'स्याद्वाद और अहिंसा' जैन धर्म का प्राण है जिस प्रकार किसी प्राणधारी के शरीर मे से प्राण निकल जाने पर वह निष्प्राण हो जाता है, उसका जीवन समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार "जैनधर्म" मे से उक्त दोनो महान् सिद्धान्त यदि कम minus कर दिये जावें तो उसका अस्तित्व ही नही रहेगा वैसे सूक्ष्म पर्यवेक्षण करने से ज्ञात होगा कि उक्त दोनो सिद्धान्त वास्तव मे एक ही है स्याद्वाद मे अहिंसा की भावना निहित है और अहिंसा मे स्याद्वाद की जैन दर्शन मे अहिंसा का सिद्धान्त सर्वोपरि है जैन दर्शन ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे अहिंसा का प्रयोग किया है जैन दार्शनिक विचारमन्थन ने प्राणी के वधनिषेध मात्र को अहिंसा की परिपूर्णता नही मानी अपितु यह भी आवश्यक समझा कि मनुष्य मे "बौद्धिक अहिंसा" भी जरूरी है मनुष्य मे जब तक विचार करने की क्षमता है उसके दृष्टिकोण मे अतर रहेगा इसी प्रकार विश्व मे प्रत्येक वस्तु अनत धर्मात्मक है और यह भी स्वाभाविक है कि मनुष्य के सीमित ज्ञान के कारण वस्तु का भिन्न-भिन्न स्वरूप अथवा प्रश्न के समस्त पहलू एक समय ही मनुष्य के मस्तिष्क मे नही आ सकते इस कारण मनुष्य का किसी वस्तु अथवा प्रश्न के सम्बन्ध मे अभिप्राय आशिक सत्य ही हो सकता है यदि मनुष्य आशिक सत्य पर ही परस्पर विवाद करता रहे तथा स्वय द्वारा अनुभूत सत्य (आशिक) को ही पूर्ण सत्य होने का दावा करता रहे तो यह परिपूर्ण सत्य नही हो सकता वास्तव मे आशिक सत्यो को यदि एकत्रित कर लिया जाये तो ही पूर्ण सत्य का दर्शन हो सकता है यही स्थिति विश्व के धर्मों की विभिन्न मान्यताओ के सम्बन्ध मे है

विश्व के धर्माचार्यों ने अपनी तात्कालिक परिस्थिति से प्रभावित होकर सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया था इस कारण यह स्वाभाविक था कि देश, काल, क्षेत्र की भिन्नता के कारण उन सिद्धान्तो मे वैषम्य होता और यही हुआ भी किन्तु मनुष्य अपने धर्माचार्यो के प्रति ममता, उनके मन मे व्याप्त आग्रह तथा अहकार ने उसको उस आशिक सत्य को पूर्ण सत्य मानने के लिए प्रेरित किया परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक धर्म का अनुयायी अपने द्वारा स्वीकृत आशिक सत्य को पूर्ण सत्य, अन्तिम सत्य मानता रहा यहा तक भी ठीक था किन्तु उसके आग्रह तथा अहकार मे वृद्धि हुई और उसने स्वय द्वारा स्वीकृत आशिक सत्य को दूसरे धर्मानुयायी से पूर्ण सत्य के रूप मे मनवाने के लिए प्रयत्न प्रारम्भ किया परस्पर प्रतिस्पर्द्धा हुई, उससे कटुता निर्मित हुई और विश्व ने देखा कि धार्मिक असहिष्णुता ने विश्व मे जघन्य दुष्कृत्य कराये और धर्म के नाम पर उनको स्वर्ग-प्रवेश का साधन बताया गया

विश्व के इतिहास मे रुचि रखने वाले सज्जन भलीभाति जानते है कि धर्म के नाम पर धार्मिक असहिष्णुता के कारण जितने अत्याचार हुए हैं उतने किसी अन्य कारण से नही हुए यह आश्चर्य का विषय है कि 'धर्म' मनुष्य को आतरिक शक्ति प्रदानकर्त्ता होते हुए भी मनुष्य ने उसका दुरुपयोग किया विचार करने पर यही फलित होता है कि मनुष्य मे आग्रह अहकार तथा तज्जनित 'बौद्धिक हिंसा' काम कर रही है धार्मिक असहिष्णुता के कारण हिंसक कृत्यो की हमारे देश मे कमी नही रही यूरोप आदि देशो मे भी कमी नही रही

जैनधर्म के अतिम तीर्थंकर 'महात्मा महावीर' के हृदय मे इस परिस्थिति के निराकरण के लिए आन्दोलन प्रारम्भ हुआ
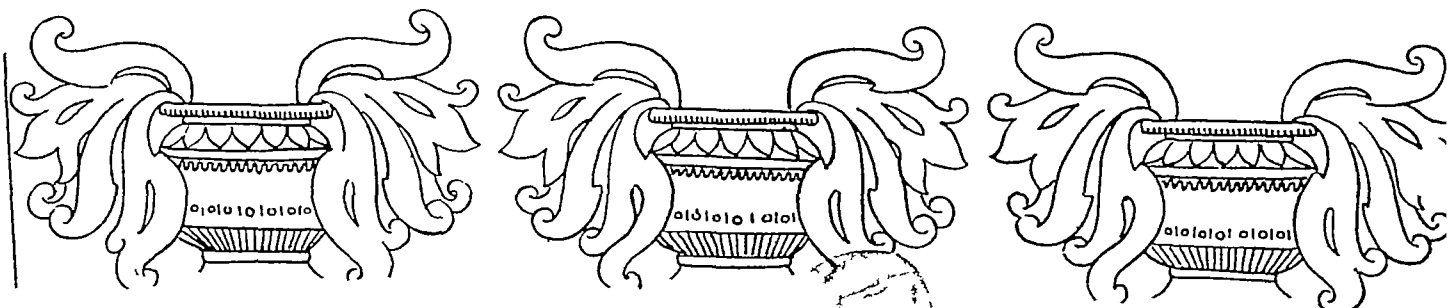
पाठक भलीभांति जानते हैं कि महात्मा महावीर के समय में विभिन्न सिद्धान्तों (मतों) का प्रतिपादन करने वाले दार्शनिक तथा धर्माचार्य वर्तमान थे और वह अपने अपने मतों का प्रचार करते थे इस कारण यह स्वाभाविक था कि परस्पर जय-पराजय की भावना से वाद विवाद होता परस्पर कटुता निर्मित होती और परिणाम स्वरूप धर्म की आत्मा का हनन होता जैन शास्त्रों से यह स्पष्ट है कि महात्मा महावीर के समय में ३६३ मत प्रचलित थे बौद्ध साहित्य से भी यह स्पष्ट है कि उस समय ६२ या ६३ मत प्रचलित थे *संख्या का महत्त्व नहीं है किन्तु उस समय जन* साधारण में मतिभ्रम था और परस्पर धार्मिक असहिष्णुता विद्यमान थी महात्मा महावीर ने इस स्थिति पर गम्भीर विचार किया और यह प्रतिपादित किया कि यह सब आंशिक सत्य प्रतिपादित करते हैं यदि पूर्ण सत्य का दर्शन करना चाहते हो तो एकांत का आग्रह तज दो इसी सन्दर्भ में ३६३ मतों का समन्वय किया

सूक्ष्म विचार करने पर यह भलीभांति स्पष्ट होगा कि महात्मा महावीर ने विश्व के प्रत्येक प्रश्न तथा वस्तु के सम्बन्ध में विचार करने की एक नई पद्धति को जन्म दिया जिसे 'अनेकान्त विचारधारा' कहा जाता है संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि *महात्मा महावीर ने प्रत्येक वस्तु तथा प्रश्न पर ७ नयों की अपेक्षा से विचार करके अपना मत स्थिर करने की* जिस पद्धति का आविष्कार किया उसे सप्तभंगी' अथवा अनेकान्त-विचारपद्धति' कहा गया उसे वाणी द्वारा स्पष्ट करने को स्याद्वाद नाम से अभिहित किया सत्य यह है कि इस 'अनेकान्त विचार पद्धति' में किसी पक्षविशेष के प्रति आग्रह नहीं होता अनाग्रह होता है किसी वस्तु अथवा प्रश्न के प्रति एक दृष्टिकोण अपनाने वाला उसी वस्तु तथा प्रश्न के प्रति अन्य दृष्टिकोण अपनाने वाले के प्रति उदार विचार रखता है वह मानता है कि उसमें भी सच्चाई है मेरे द्वारा अपनाया दृष्टिकोण जहां सत्य है वहां अन्य दृष्टिकोण में भी सत्यता हो सकती है यह उदारता का लक्षण है एकान्त विचार-धारा का व्यक्ति जहां अपने द्वारा अपनाये दृष्टिकोण के प्रति 'ही' का आग्रह रखता है वहां अनेकांत विचारधारा वाला 'भी' का मत रखता है वास्तव में महात्मा महावीर ने इस सिद्धान्त का आविष्कार करके विश्व के सम्मुख 'धार्मिक असहिष्णुता' या सर्वधर्मसमभाव का उदाहरण प्रस्तुत किया है

महात्मा महावीर के निर्वाण से १ वर्ष पश्चात् का काल साहित्य की दृष्टि से 'आगमयुग' कहा जाता है अर्थात् विक्रमपूर्व ४७ से लेकर विक्रम पश्चात् ५ वी शताब्दी तक का काल आगम युग' है उसके पश्चात् ५ वी शताब्दी से ८ वी शताब्दी तक का काल साहित्यनिर्माण की दृष्टि से अनेकान्तयुग' कहा जाता है इस युग में महात्मा महावीर के पश्चात्-वर्ती आचार्यों ने अनेकान्त पर प्रचुर साहित्य का निर्माण किया महात्मा महावीर द्वारा प्रतिपादित स्याद्वाद" सिद्धान्त का ही यह प्रताप था कि जैनाचार्यों ने जो तार्किक दृष्टिकोण अपनाया उस प्रकार का निष्पक्ष तथा उदार दृष्टिकोण अन्य के लिए अपनाना सम्भव नहीं था श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य ने शिवमन्दिर में निम्नप्रकार की स्तुति की थी—

> भवबीजांकुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य ।
> ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥

उक्त श्लोक में आचार्य ने उस महापुरुष को नमस्कार किया है जिसने रागद्वेष नष्ट करके पुनर्जन्म की सम्भावना समाप्त कर दी हो चाहे वह ब्रह्मा हो विष्णु हो हरि हो या जिन हो इस उदारता का उदाहरण अन्यत्र मिलना सम्भव नहीं है जैनाचार्यों के तार्किक दृष्टिकोण के सम्बन्ध में निम्न उद्धरण पर्याप्त होगा जो एक जैनाचार्य ने इस श्लोक में व्यक्त किया था—

> पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु ।
> युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥

उक्त आचार्य का न तो महावीर के वचनों के सम्बन्ध में पक्षपात है और न कपिलादि मुनियों के सम्बन्ध में द्वेष है उनकी केवल एक कसौटी तक है वह तर्क-युक्त वचनों को प्रमाण के रूप में मान्य करते हैं इसी प्रकार एक अन्य आचार्य स्वयं महात्मा महावीर के अनुयायियों द्वारा अपनाई गई एकान्त विचारधारा के कारण क्षुब्ध होकर स्पष्ट मन्तव्य देते हैं कि —

नाशाम्बरत्वे न सिताम्बरत्वे, न तत्त्ववादे न च तर्कवादे,
न पक्षसेवाऽऽश्रयणेन मुक्ति कषायमुक्ति किल मुक्तिरेव ।

उक्त आचार्य ने केवल कषाय से मुक्तता को ही मोक्ष का कारण प्रतिपादन किया है यदि हम जैनेतर दृष्टिकोण पर विचार करे तो वहाँ पर भी ऐसे सूत्र-वाक्य मिल जाते हैं जिनमे स्याद्वाद अथवा अनेकान्तविचार पद्धति का प्राधान्य है उदाहरण के लिए "एक सद्विप्रा वहुधा वदति" एक ही सत्य को विप्रगण अनेक प्रकार से प्रतिपादन करते हैं वास्तव मे विश्व ही भिन्नता का समूह है उसमे किसी के दुराग्रह के लिए कोई स्थान नही है

हो भिन्न सब भिन्नत्व तो ससार का है नियम ही,
पर भिन्न होना नहिं किसी से बुद्धिमत्ता हे यही ।

जैनाचार्यों ने इस सिद्धान्त का जनसाधारण को सरलता मे वोध कराने के लिए कई उदाहरण अपने साहित्य मे प्रस्तुत किये है स्याद्वाद के सम्बन्ध मे कुछ अजैन विद्वानो ने भ्राति उत्पन्न करने का प्रयत्न किया है कुछ विद्वान् इसे सशय-वाद (ढिलमिल यकीनी) वताते हैं यह भी कहा जाता है कि इसमे जब मनुष्य अपने से भिन्न दृष्टि को सत्य होने का विचार करता है तब वह अपने द्वारा अपनाये हुए दृष्टिकोण को असत्य मानता है इसी प्रकार किसी समय एक दृष्टिकोण को सत्य मानता है किसी समय अन्य को यही ढिलमिल यकीनी तथा सशयवाद कहा जाता है किन्तु जैनाचार्यों ने दधि-मथन का उदाहरण देकर इसका निराकरण किया है युरोपीय विद्वानो ने "सापेक्षवाद" (Principle of relativity) का आविष्कार करके उक्त सिद्धान्त की उपयोगिता मानी है एक विद्वान् का कहना है कि यह सिद्धात अत्यन्त सरल तथा तर्कपूर्ण है यदि एक लकीर स्लेट पर खीच कर परीक्षा की जाये कि यह वडी है या छोटी ? तो निश्चित रूप-से उसके दोनो उत्तर होगे अन्य लकीर (जो उससे छोटी हो) खीचकर उसे वडी कहा जा सकता है और अन्य (जो उससे वडी हो) खीचकर उसे छोटी कहा जा सकता है यही तो सापेक्षवाद है

स्याद्वाद सिद्धात की पृष्ठभूमि मे जो भावना काम करती है वही भावना प्रजातत्रीय पद्धति मे कार्य करती है लोक-तत्रात्मक राज्य मे पार्लियामेट मे "विरोधी दल" का वडा महत्त्व है उसमे भी यही भावना काम करती है "सत्तारूढ दल" अपनाई गई नीति मे आलोचना की गुजायश स्वीकार करता है सत्तारूढ दल अपने द्वारा अपनाई नीति तथा कार्य-क्रम मे विश्वास रखते हुए भी इस बात की गुजायश स्वीकार करता है कि अन्य नीति तथा कार्यक्रम देशहित के लिए अपनाया जाना उचित हो सकता है उक्त आलोचना को सुनकर वह लाभ उठाता है हम इसे 'राजनीतिक स्याद्वाद' के नाम से अभिहित कर सकते है

जैसा कि ऊपर व्यक्त किया गया है स्याद्वाद एक अग है अहिंसा का स्याद्वाद वास्तव मे बौद्धिक अहिंसा ही है ऊपर यह भी बतलाया जा चुका है कि जैनदर्शन मे "अहिंसा" सर्वोपरि है यदि यह कहा जाए कि "अहिंसा" जैन-दर्शन का पर्यायवाची नाम है तो भी अत्युक्ति न होगी भगवान् महवीर ने स्पष्ट कहा था कि जो तीर्थंकर पूर्व मे हुए, वर्तमान मे हैं, तथा भविष्य मे होगे, उन सबने अहिंसा का प्रतिपादन किया है अहिंसा ही ध्रुव तथा शाश्वत धर्म है इस प्रकार जैनदर्शन मे अहिंसा का स्थान सर्वोपरि पाया जाता है जैनदर्शन द्वारा प्रतिपादित "अहिंसा" के सम्बन्ध मे देश मे काफी भ्रम रहा किसी ने उसे अव्यवहार्य बताया, किसी ने उसे वैयक्तिक बताकर सामाजिक, राजकीय प्रश्नो के लिए अनुपयोगी बताया इस प्रकार का भ्रम उत्पन्न करने वालो ने जैनदर्शन द्वारा प्रतिपादित "अहिंसा" का पूर्ण अध्ययन किये विना ही उसकी आलोचना की है जो जैनदर्शन मनुष्य अथवा प्राणधारी के जीवन की प्रत्येक क्रिया मे हिंसा का आभास पाता है और कहता है कि विश्व मे किसी भी प्राणधारी की, पृथ्वी, अप, तेज, वायु, वनस्पति तथा त्रस जीवो की हिंसा से विरत रहना चाहिए, उसी जैनदर्शन के व्याख्याता आचार्यों ये यह भी प्रतिपादित किया कि—

"जय चरे, जय चिट्ठे, जयमासे, जय सये,-
जय भु ज तो, भासतो, पावकम्म न बधई ।
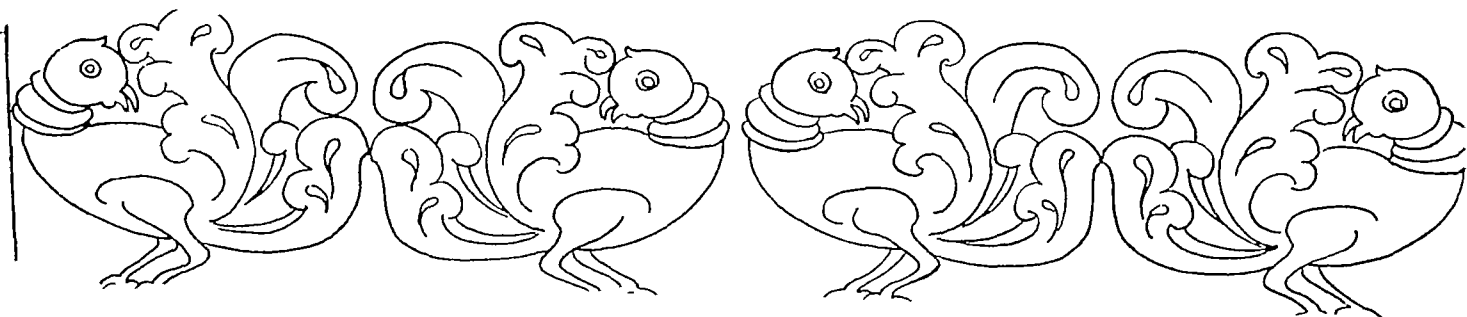
तात्पर्य यह है कि जैनदर्शन यह मानता है कि किसी भी प्राणधारी का जीवन सर्वथा अहिंसक होना असम्भव है क्योंकि प्राणधारी द्वारा जीवित रहने के लिए वायु काय आदि के जीवों का संहार बिना इच्छा ही हो जाता है इसी कारण उपरोक्त व्याख्याकार ने *यत्नपूर्वक जीवनयापन में पापकर्म के बंधन न होने का प्रतिपादन किया है* हमारे देश के जीवन में अहिंसा की जो छाप दृष्टिगोचर होती है वह जैनधर्म की देन है सामूहिक प्रश्नों के निराकरण के लिए अहिंसा का प्रयोग हमारे देश में काफी सफल रहा जैनदर्शन मे मनुष्य को केवल वैयक्तिक जीवन व्यतीत करने का ही विधान नहीं किया है अपितु सामूहिक जीवन में उसके कर्त्तव्य भी बतलाये है जैनशास्त्र 'स्थानांग सूत्र' में ग्रामधर्म नगरधर्म राष्ट्र धर्म आदि का उल्लेख करके मनुष्य को सामूहिक जीवन के कर्त्तव्यों का बोध कराया गया हमारे देश में विदेशी सत्ता के विरुद्ध महात्मा गांधीजी के नेतृत्व में 'अहिंसक युद्ध' ही लड़ा गया जिसके परिणामस्वरूप देश स्वतन्त्र हुआ और आज हम स्वतन्त्रता के फल भोग रहे है वास्तव में यह प्रयोग था हमारे इतिहास में शायद ही अहिंसा के सामूहिक प्रयोग का उदाहरण उपलब्ध हो सके प्राचीन ग्रन्थों में हार तथा हाथी के लिए स्वजनो का युद्ध एक प्रसिद्ध घटना है रामायणकाल में रावण को सत्पथ पर लाने के लिए श्रीरामचन्द्र ने युद्ध का ही माध्यम लिया महाभारत में भी भ्रातृजनो में व्याप्त कलह के कारण युद्ध को अनिवार्य माना गया महाभारत युद्ध के एक पात्र के द्वारा निम्न वाक्य कहलाये जो तत्कालीन स्थिति पर प्रकाश डालते हैं और जिससे युद्ध की अनिवार्यता स्पष्ट होती है

'सूच्यग्रं नैव दास्यामि बिना युद्धं न केशव'

वास्तव मे अहिंसा के प्रयोग में गांधी-युग ने एक नई दिशा का श्रीगणेश किया था किन्तु गांधीयुग के उक्त श्रीगणेश को आज विश्व में अधिक प्रोत्साहन नहीं मिल रहा है आज पूज्य गांधीजी के स्वर्गवास को १५ वर्ष हो गये उनके अभूतपूर्व व्यक्तित्व के अभाव के कारण 'अहिंसा' का विचार गति नहीं पा रहा है विश्व के राजनीतिज्ञ अपने प्रश्नों के निपटाने के लिए अहिंसा का माध्यम स्वीकार नहीं करते अपितु हिंसक युद्ध को माध्यम मानते है यही कारण है कि कुछ समय पूर्व चीन ने सीमा विवाद के नाम पर भारत पर हिंसक आक्रमण किया और शांतिप्रेमी भारत को अपने रक्षण के हेतु शस्त्रों का उपयोग करना पड़ा दुर्भाग्य से हमारे बीच अहिंसा का अपूर्व हामी पूज्य गांधी जी जैसा प्रभावशाली व्यक्तित्व नहीं है इसी कारण अहिंसा के तत्त्वदर्शन को हमारे जीवन में जो स्थान मिलना चाहिए था वह नहीं मिल पा रहा है काश समाज कोई ऐसा नररत्न पैदा कर सके

न्हैयालाल लोढा, बी० ए०

ानदर्शन और विज्ञान

मान युग विज्ञान का युग है इसमे प्रत्येक सिद्धात विज्ञान के प्रकाश मे निरखा-परखा जाता है विज्ञान की कसौटी पर खरा न उतरने पर उसे अधविश्वास माना जाता है और उस पर विश्वास नही किया जाता है आज अनेक प्राचीन धार्मिक एव दार्शनिक सिद्धान्त विज्ञान के समक्ष न टिक सकने से धराशायी हो रहे है परन्तु जैनदर्शन इसका अपवाद है वह विज्ञान के प्रकाश से शुद्ध स्वर्ण के समान अधिक चमक उठा है

विज्ञान के विकास के पूर्व जैनदर्शन के जिन सिद्धातो को अन्य दर्शनकार कपोल-कल्पित कहते थे वे ही आज विज्ञान-जगत् मे सत्य प्रमाणित हो रहे है जिस युग मे प्रयोगशालाएँ तथा यान्त्रिक साधन न थे, उस युग मे ऐसे सिद्धातो का प्रतिपादन करना निश्चय ही उनके प्रणेताओ के अलौकिक ज्ञान का परिचायक है

जैनदर्शन के सिद्धातो से विश्वविख्यात साहित्यकार श्री जार्ज वर्नार्ड शा इतने अधिक प्रभावित थे कि महात्मा गाधी के पुत्र श्रीदेवदास गाधी ने जब उनसे पूछा कि आप से किसी धर्म को मानने के लिए कहा जाय तो आप किस धर्म को मानना पसद करेंगे ? शा ने चट उत्तर दिया— 'जैनधर्म' इसी प्रकार प्रसिद्ध विद्वान् डा० हर्मन जैकोबी आदि ने जैनदर्शन के सिद्धातो की भूरि-भूरि प्रशसा की है

जैनदर्शन के उन कतिपय सिद्धातो पर, जो पहले इतर दार्शनिको के बुद्धिगम्य न थे और आज विज्ञान जिन्हे सत्य सिद्ध कर रहा है, प्रस्तुत निवन्ध मे प्रकाश डाला जायेगा

जीव तत्त्व

पृथ्वी, पानी, पावक, पवन और वनस्पति की सजीवता—जैनदर्शन विश्व मे मूलत दो तत्त्व मानता है —जीव[1] और अजीव इनमे से जीव के मुख्यत दो भेद माने गये हैं[2]--त्रस और स्थावर वे जीव जो चलते फिरते हैं त्रस और जो स्थिर रहते है वे स्थावर कहे जाते हैं केंचुआ, चिउटी मक्खी, मच्छर, मनुष्य, पशु आदि त्रस जीवो को तो अति प्राचीन काल से ही प्राय सभी दर्शन सजीव स्वीकार करते रहे हैं परन्तु स्थावर जीवो को एक मात्र जैनदर्शन ही सजीव मानता रहा है स्थावर जीवो के भी पाँच भेद है[3]-पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति

कुछ समय पूर्व तक जैनदर्शन की स्थावर जीवो की मान्यता को अन्य दर्शनकार एक मनगढत कल्पना मानते थे परन्तु आज विज्ञान ने इस मान्यता को सत्य सिद्ध कर दिया है

---

१ जीवा चेव अजीवा य एस लोए वियाहिए —उत्तराध्ययन अ० ३६ गाथा २

२ ससारिणस्त्रसस्थावरा —तत्त्वार्थसूत्र अ० २ सूत्र १२

३ पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतय स्थावरा —तत्त्वार्थसूत्र अ० २ सूत्र १३
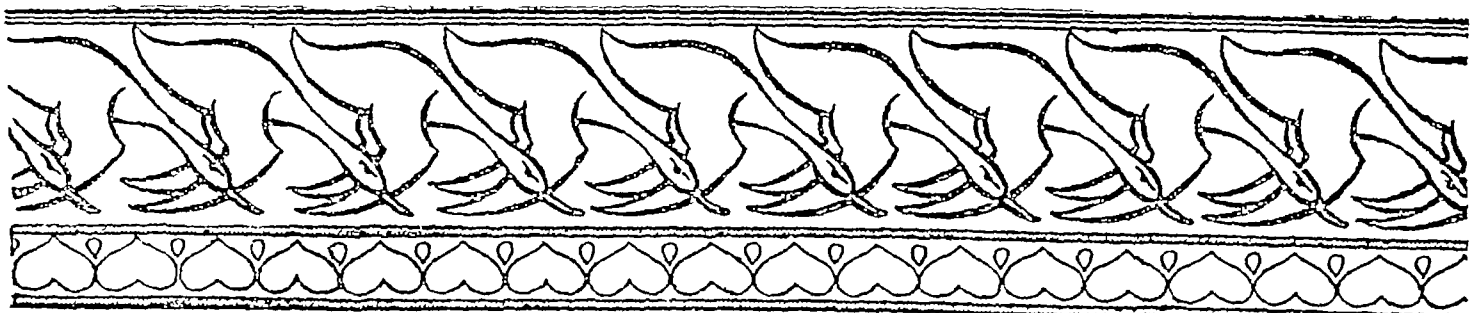
है—'जैसे जीवित (चलते-फिरते) प्राणी परिश्रम के बाद रात मे सोकर थकावट दूर करते है वैसे ही पेड-पौधे भी रात को सोते है सूडान और वेस्ट इडीज मे एक ऐसा वृक्ष मिलता है जिसमे से दिन मे विविध प्रकार की राग-रागिनिया निकलती है और रात मे ऐसा रोना-धोना प्रारम्भ होता है मानो परिवार के सब सदस्य किसी की मृत्यु पर बैठे रो रहे हो या सिसक रहे हो डा० जगदीशचन्द्र वसु ने तो वनस्पति की क्रोध, घृणा, प्रेम, आलिंगन आदि अनेक अन्य प्रवृत्तियो पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है जैन ग्रथो मे वनस्पति की उत्कृष्ट आयु दस हजार वर्ष कही गई है प्रसिद्ध वैज्ञानिक एडमड शुमाशा के कथनानुसार आज भी अमेरीका के केलीफोर्निया के नेशनल वन मे ४६०० वर्ष की आयु के वृक्ष विद्यमान हैं

आत्म-अस्तित्व और विज्ञान

आज के विज्ञान-जगत् मे आत्म-अस्तित्व पर भी विश्वास प्रकट किया जाने लगा है विश्व के महान् वैज्ञानिक अपनी शोध-खोज के आधार पर आत्म-अस्तित्व स्वीकार करने लगे हैं यथा[1] —

"वह युग निश्चय ही आयेगा, जब विज्ञान अज्ञात-अज्ञेय के सभी बन्द दरवाजे खोलने मे समर्थ होगा जितना हम पहले सोचते थे, ब्रह्माण्ड उससे भी अधिक आध्यात्मिक तत्त्वो पर टिका है सच तो यह है कि हम ऐसे आध्यात्मिक जगत् मे रहते है, जो भौतिक ससार से अधिक महान् और सशक्त है"—सर ओलिवर लॉज

कोई अजानी शक्ति निरन्तर क्रियाशील है, परन्तु हमे उसकी क्रिया का कुछ पता नही मै मानता हूँ कि चेतना ही प्रमुख आधारभूत वस्तु है पुराना नास्तिकवाद अब पूरी तरह मिट चुका है और धर्म, चेतना तथा मस्तिष्क के क्षेत्र का विषय बन गया है इस नयी धार्मिक आस्था का टूटना सभव नही है"—सर ए० एस० एडिंग्टन

"कुछ ही समय पहले तक यह बात वैज्ञानिक क्षेत्रो मे एक हद तक फैशन बन गई थी कि अपने को नास्तिक (एग्नौस्टिक) कहा जाए, लेकिन अब अगर कोई आदमी अपनी नास्तिकता की नासमझी पर गर्व करता है, तो यह लज्जा और तिरस्कार की बात है नास्तिकता का फैशन अब मिट चुका है और, यह विज्ञान के श्रम का ही फल है"—साइन्स एड रिलिजन

"सच्चाई तो यह है कि जगत् का मौलिक रूप जड (Matter), बल (Force) अथवा भौतिक पदार्थ न होकर मन और चेतना ही है—जे० बी० एस० हेल्डन

अजीव तत्त्व

अब दूसरे तत्त्व 'अजीव' को लीजिए जैनागमो मे अजीव के पाँच भेद कहे है—(१) धर्म (२) अधर्म (३) आकाश (४) काल (५) पुद्गल ये पाँच द्रव्य तथा जीव कुल छ द्रव्य रूप यह लोक[2] कहा गया है यहाँ न तो धर्म, शब्द कर्त्तव्य, गुण, स्वभाव व आत्म-शुद्धि के साधन का अभिव्यजक है और न अधर्म शब्द दुष्कर्म या पाप का अभिव्यजक यहाँ ये दोनो ही जैन दर्शन के विशेष पारिभाषिक शब्द है और दो मौलिक द्रव्यो के सूचक है जैनागमो मे धर्म शब्द उस द्रव्य के लिए प्रयुक्त हुआ है जो जीव और पुद्गल की गतिक्रिया मे सहायक होता है और अधर्म उस द्रव्य के लिए प्रयुक्त हुआ है जो जीव और पुद्गल की स्थिति मे सहायक होता है इसी प्रकार 'आकाश' और 'काल' को भी मौलिक द्रव्यो मे स्थान दिया है

धर्म और अधर्म—विज्ञान की एक महत्त्वपूर्ण शोध 'ईथर' है ईथर और जैनदर्शन मे कथित धर्म द्रव्य के गुणो मे

१ ज्ञानोदय अक्टूबर १९५९

२ धम्मो अहम्मो आगास, कालो पुग्गल जतवो
एस लोगोत्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदसिहिं । —उत्तराध्ययन अ० २८ गा ७
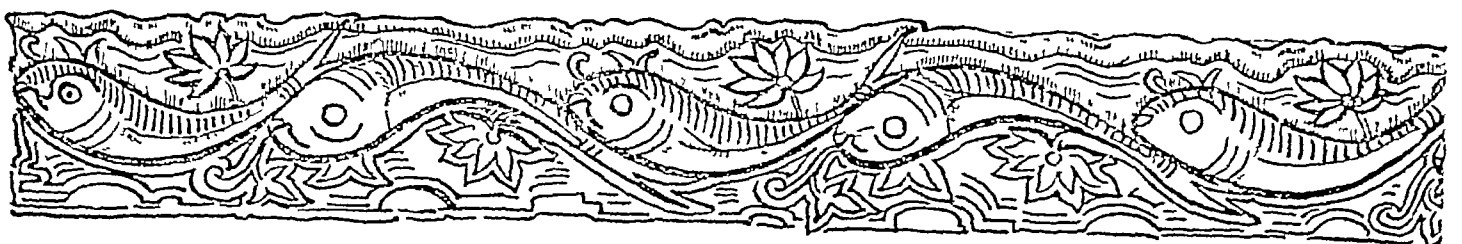
इतना अधिक साम्य है कि ये दोनों एक द्रव्य के दो पृथक-पृथक नाम हैं ऐसा कहना असमीचीन न होगा ईथर के विषय म भौतिक विज्ञानवेत्ता डा एο एस एडिंगटन लिखते है —[1]

'आज कल यह स्वीकार कर लिया गया है कि ईथर भौतिक द्रव्य नही है भौतिक की अपेक्षा उसकी प्रकृति भिन्न है— भूत में प्राप्त पिण्डत्व और घनत्व गुणो का ईथर में अभाव होगा परन्तु उसके अपने नये और निश्चयात्मक गुण होंगे— ईथर का अभौतिक सागर

अलबर्ट आईन्स्टीन के अपेक्षावाद के सिद्धान्तानुसार ईथर अभौतिक (अपारमाणविक) लोकव्याप्त नही देखा जा सकने वाला अखड द्रव्य है प्रोफेसर जी आर जैन एम एस-सी धर्म द्रव्य और ईथर का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए लिखते है —[2]

'यह सिद्ध हो गया है कि विज्ञान और जैन दर्शन दोनों यहाँ तक एकमत है कि धर्मद्रव्य या ईथर अभौतिक अपारमाणविक अविभाज्य अखड आकाश क समान व्यापक अरूप गति का अनिवाय माध्यम और अपने आप में स्थिर है

इसी प्रकार स्थिति म सहायक अधर्म द्रव्य (Medium of rest) के विषय में वैज्ञानिकों की खोज जारी है.

आकाश और काल

जैन दर्शन के समान ही विज्ञान-जगत् में आकाश और काल का भी द्रव्य के रूप में अस्तित्व स्वीकार कर लिया गया है विश्वविख्यात वैज्ञानिक आइन्स्टीन का कथन है कि देश और काल स्वतंत्र पदार्थ है और य भी घटनाओं म भाग लेते है नयी भौतिकी सकेत करती है कि देश और काल के भीतर केवल द्रव्य और विकिरण ही नही बहुत सी और भी चीजें है जिनका महत्त्व है डा हेमरा का मत है—

These four elements (Space Matter Time and Medium of motion) are all seperate in our mind We cannot imagine that the one of them could depend on another or converted into another

अर्थात् 'आकाश पुद्गल काल और गति का माध्यम (धर्म) ये चारो तत्त्व हमारे मस्तिष्क में भिन्न-भिन्न हैं हम इसकी कल्पना भी नही कर सकते कि ये एक दूसर पर निर्भर रहते हो या एक दूसर में परिवर्तित हो सकते हो इससे जैनदर्शन के इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है कि सभी द्रव्य स्वतंत्र परिणमन करते है और कोई किसी के अधीन नही है

उत्तराध्ययन सूत्र अ २८ गाथा ८ के अनुसार अणताणि य दव्वाणि कालो पुग्गल जतवो' अर्थात् काल द्रव्य अनन्त है. तथा अलोकाकाश म काल आदि द्रव्य नही है जैनदर्शन की इन दोनों मान्यताओं की पुष्टि एडिंग्टन ने की है —

The World is closed in space dimensions (लोकाकाश) but it opens at both ends its time dimensions. I shall use the phrase arrow to express this one way property which has no analogue in space

---

1 Now a days it is agreed that ether is not a kind of matter being non material its properties are quite unique characters such as a mass and rigidity which we meet with in matter will naturally be absent in ether but that ether will have new definite characters of its own non material ocean of ether

The Nature of the physical world P 31

Thus it is proved that Science and Jain physics agree absolutely so far as they call Dharm (ether) non material, non atomic non-discrete continuous, co-extensive with space indivisible and as a necessary medium for motion and one which does not it self move.

जैन दर्शन लोक को परिमित मानता है और अलोक को अपरिमित लोक को छ द्रव्य रूप मानता है और अलोक केवल एक आकाश द्रव्यमय है प्रो० अलवर्ट आइंस्टीन ने भी लोक और अलोक की भेद-रेखा खीचते हुए जो व्यक्त किया है उससे जैन दर्शन की लोकविषयक उपर्युक्त मान्यता का पूर्ण समर्थन होता है आइंस्टीन का कथन है —"लोक परिमित है, अलोक अपरिमित लोक के परिमित होने के कारण द्रव्य अथवा शक्ति लोक के बाहर नही जा सकती लोक के बाहर उस शक्ति (द्रव्य) का अभाव है, जो गति मे सहायक होती है" जैन दर्शन ने भी अलोक मे द्रव्यो के अभाव का कारण गति मे सहायक धर्मास्तिकाय के अभाव का ही बताया है कितनी आश्चर्यजनक समानता है दोनो के सिद्धान्तो मे !

पुद्गल-परमाणु

अजीव का पाँचवाँ भेद पुद्गल (Matter) है विश्व के दृश्यमान सपूर्ण पदार्थ इसी के अतर्गत आते हैं पुद्गल वर्ण, गध, रस व स्पर्श युक्त होता है पुद्गल का सूक्ष्मतम अविभागी अश 'परमाणु' कहा गया है जैन दर्शन सोना, चादी, शीसा, पारा, मिट्टी, लोहा, कोयला, पत्थर, भाप, गैस आदि सर्व पदार्थो को एक ही प्रकार के परमाणुओ से निर्मित मानता है पदार्थो की भिन्नता का कारण केवल परमाणुओ के स्निग्धता और रूक्षता आदि गुणो के अतर मे निहित मानता है उसके अनुसार परमाणु परमाणु के बीच कोई भेद नही है कोई भी परमाणु कालातर मे किसी भी परमाणु रूप परिणमन कर सकता है आधुनिक विज्ञान पहले इस तथ्य को स्वीकार नही करता था तथा ९२ प्रकार के मौलिक परमाणु मानता था परन्तु अणु की रचना के आविष्कार ने सिद्ध कर दिया कि सब पदार्थो की रचना एक ही प्रकार के परमाणुओ से हुई है और इनका अन्तर केवल उनके अतर्हित धनाणु (Proton) और ऋणाणु (Electron) की सख्याभेद से है यही नही, प्रयोगशाला मे वैज्ञानिको ने एक तत्त्व को दूसरे तत्त्व मे परिवर्तित कर उक्त सिद्धान्त को व्यावहारिक सत्य प्रमाणित किया वैज्ञानिक वैजामिन ने पारे को सोने मे बदल दिया अनेक प्रयोगशालाओ मे प्लेटिनम् को सोने मे बदलने के प्रयोग सफल हो चुके है

ठाणाग सूत्र, स्थानक २ उ० ३ मे पुद्गल के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है—'दुविहा पोग्गला पण्णत्ता, तजहा परमाणुपोग्गला चेव नोपरमाणुपोग्गला चेव, अर्थात् पुद्गल के दो भेद हैं (१) परमाणु—जिसका विभाग न हो तथा (२) स्कध-बहुत से परमाणुओ का समुदाय अभिप्राय यह है कि परमाणुओ से स्कन्ध और स्कन्धो के समुदाय से वस्तुनिर्माण होता है परमाणुओ मे स्कन्ध का निर्माण कैसे होता है, इस विषय मे पन्नवणासूत्र के त्रयोदश परिणामपद मे वर्णन आया है—'गोयमा ! दुविहे परिणामे पण्णत्ते तजहा समणिद्धयाए बधो न होई, समलुक्खयाए वि ण होई, वेमायणिद्धलुक्खत्तणेण णिद्धस्य णिद्धेण दुयाहिएण, लुक्खस्स लुक्खेण दुयाहिएण णिद्धस्य लुक्खेण उवेइ बधो, जघन्नवज्जो विसमो समो वा' यहाँ आगम मे अनेक परमाणुओ मे निहित स्निग्धता और रूक्षता बतलाते हुए कहा है—'समान गुण वाले स्निग्ध और समान गुण वाले रूक्ष परमाणु बध को प्राप्त नही होते बध स्निग्धता और रूक्षता की मात्रा मे विषमता से होता है दो गुण अधिक होने से स्निग्ध का स्निग्ध के साथ तथा रूक्ष का रूक्ष के साथ बध हो जाता है स्निग्ध का रूक्ष के साथ भी बध हो जाता है किन्तु जघन्य गुण वाले का विषम या सम किसी के साथ बध नही होता अर्थात् एक गुण स्निग्ध और एक गुण रूक्ष परमाणुओ मे बधन नही होता

जैन दर्शनिको ने जैसे स्निग्धता और रूक्षता को बधन का कारण माना, वैज्ञानिको ने भी पदार्थ के धनविद्युत् और ऋणविद्युत्, इन दो स्वभावो को बधन का कारण माना तथा जैसे जैन दर्शन परमाणु मात्र मे स्निग्धता और रूक्षता मानता है, आधुनिक विज्ञान भी पदार्थ मात्र मे धनविद्युत् तथा ऋणविद्युत् मानता है तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय ५ सूत्र ३४ की सर्वार्थसिद्धि टीका मे आकाश मे चमकने वाली विद्युत् की उत्पत्ति का विवेचन करते हुए कहा है[1]—"स्निग्धरूक्षगुण-

१ डा० बी० एल० शील का कथन है कि जैन दार्शनिक इस बात से पूर्ण परिचित थे कि पोजेटिव और नेगेटिव विद्युत्कणों के मिलने से विद्युत् उत्पन्न होती है

निमित्तो विद्युत्' अर्थात् विद्युत् स्निग्ध रूक्ष गुणों के मिलन का परिणाम है यों कहें कि स्निग्ध गुण से धन (Positive) विद्युत् और रूक्ष गुण से (Negative) विद्युत् उत्पन्न होती है और इन दोनों की विद्यमानता प्रत्येक पदार्थ में अनिवार्य है इस प्रकार आणविक बंधन के कारणभूत सिद्धान्त मे जैन दर्शन और विज्ञान दोनो एक मत है जैन दर्शन की भाषा मे उसे स्निग्ध और रूक्ष गुणों का संयोग कहा है जब कि विज्ञान की भाषा धन और ऋण विद्युत् का संयोग कहती है यही नही विज्ञान ने जैन दर्शन के इस सिद्धान्त को—कि दो गुण से अधिक होने पर स्निग्ध का स्निग्ध के साथ और रूक्ष का रूक्ष के साथ बंध होता है—स्वीकार कर लिया है विज्ञान मे भारी ऋणाणु (Heavy Electrons) को स्वीकार किया है उसे नेगेट्रोन (Negatrons) कहा जाता है यह साधारण ऋणाणु का ही समुदाय है इस प्रकार यह ऋणाणु का ऋणाणु के साथ अर्थात् रूक्ष का रूक्ष के साथ बंधन है इसी प्रकार प्रोटोन स्निग्ध का स्निग्ध के साथ तथा न्यूट्रोन स्निग्ध का रूक्ष के साथ बंधन का परिणाम है

जैनदर्शन परमाणु को निरंतर गतिशील मानता है विज्ञान भी कहता है कि प्रत्येक परमाणु में ऋणाणु (इलेक्ट्रान) है और प्रत्येक इलेक्ट्रोन प्रति सेकिण्ड अपनी कक्षा पर १३ मील की चाल से चक्कर काटता है प्रकाश की गति प्रति सैकिण्ड १८६ मील है जैन शास्त्रों मे पुद्गल का वर्णन करते हुए कहा है —

> सद्दन्धयार-उज्जोओ पभा छायाऽऽतवे इ वा
> वण्णरसगन्धफासा पुग्गलाणं तु लक्खणं । —उत्तराध्ययन सूत्र अ २८ गा १२

अर्थात् शब्द अंधकार उद्योत प्रभा छाया आतप एवं वर्ण गंध रस स्पर्श ये पुद्गल हैं इनमें से शब्द अंधकार, प्रकाश प्रभा छाया और ताप को पौद्गलिक मानना जैन दर्शन की निजी विशेषता थी जो अन्य दर्शनो से निराली ही थी शब्द' ही को लीजिए । पहले यह आकाश का गुण माना जाता था इस विषय में प्रो० ए चक्रवर्ती का मत देखिए —

The Jain account of sound is a physical concept All other Indian systems spoke of sound as a quality of space But jainism explains in relation with material particles as a result of concission of atmospheric molecules To prove this the jain thinkers employed arguments which are now generally found in the text Book of physics

यहाँ यह दिखलाया गया है कि अन्य सब भारतीय विचारधाराएं शब्द को आकाश का गुण मानती रही है जब कि जैन दर्शन उसे पुद्गल मानता है जैन दर्शन की इस विलक्षण मान्यता को विज्ञान ने पुष्ट कर दिया है और अब यह पाठ्य पुस्तकों पर भी उतर रही है

आधुनिक वैज्ञानिक मानते है कि शब्द शक्ति (energy) रूप है और यह प्रति घंटा ११ मील की गति से आगे बढता है परन्तु विज्ञान के नये आविष्कारो ने शक्ति को पदार्थ का ही सूक्ष्म रूप स्वीकार कर लिया है अत शक्ति अब पदार्थ से भिन्न प्रकार की कोई वस्तु नही रह गई है प्रोफेसर मैक्सबोर्न लिखते है-Energy and mass are just different names for the same thing—अर्थात् शक्ति और पदार्थ एक ही वस्तु के दो अलग-अलग नाम हैं यही नही आईन्स्टीन के सापेक्षवाद के अनुसार शक्ति भार सहित प्रमाणित हो चुकी है साथ ही पदार्थांतर (mass) कार्य भी

विज्ञान अंधकार, प्रकाश छाया ताप को शक्ति (energy) रूप मानता है और पहले कह आये है कि शक्ति पुद्गल का ही रूपान्तर मात्र है अत ये पुद्गल ही है इस प्रकार जैनदर्शन के इनको पौद्गलिक मानने के सिद्धांत की पूर्ण पुष्टि हो जाती है अंधकार छाया और प्रकाश का विवेचन करते हुए लिखा है —

अंधकार केवल प्रकाश तथा व्यतीकरण पट्टियां (Interferance bands) पर गणना यंत्र (counting machine) चलाया जाय तो काली पट्टी मे भी विद्युत् रीति से विद्युत्कण गिनत होने है इससे सिद्ध होता है कि काली पट्टी केवल प्रकाश का अभाव ही नहीं किन्तु शक्ति (energy) का रूपान्तर भी है अतः अंधकार और छाया उर्जा के भी

जैन दर्शन लोक को परिमित मानता है और अलोक को अपरिमित लोक को छः द्रव्य रूप मानता है और अलोक केवल एक आकाश द्रव्यमय है. प्रो० अलवर्ट आइन्स्टीन ने भी लोक और अलोक की भेद-रेखा खीचते हुए जो व्यक्त किया है उससे जैन दर्शन की लोकविषयक उपर्युक्त मान्यता का पूर्ण समर्थन होता है आइन्स्टीन का कथन है —"लोक परिमित है, अलोक अपरिमित लोक के परिमित होने के कारण द्रव्य अथवा शक्ति लोक के बाहर नही जा सकती लोक के बाहर उस शक्ति (द्रव्य) का अभाव है, जो गति मे सहायक होती है" जैन दर्शन ने भी अलोक मे द्रव्यो के अभाव का कारण गति मे सहायक धर्मास्तिकाय के अभाव को ही बताया है कितनी आश्चर्यजनक समानता है दोनो के सिद्धान्तो मे !

पुद्गल-परमाणु

अजीव का पाँचवाँ भेद पुद्गल (Matter) है विश्व के दृश्यमान संपूर्ण पदार्थ इसी के अंतर्गत आते है पुद्गल वर्ण, गंध, रस व स्पर्श युक्त होता है पुद्गल का सूक्ष्मतम अविभागी अंश 'परमाणु' कहा गया है जैन दर्शन सोना, चादी, शीशा, पारा, मिट्टी, लोहा, कोयला, पत्थर, भाप, गैस आदि सर्व पदार्थो को एक ही प्रकार के परमाणुओं से निर्मित मानता है पदार्थो की भिन्नता का कारण केवल परमाणुओ के स्निग्धता और रूक्षता आदि गुणों के अंतर मे निहित मानता है उसके अनुसार परमाणु परमाणु के बीच कोई भेद नही है कोई भी परमाणु कालांतर मे किसी भी परमाणु रूप परिणमन कर सकता है आधुनिक विज्ञान पहले इस तथ्य को स्वीकार नही करता था तथा ९२ प्रकार के मौलिक परमाणु मानता था परन्तु अणु की रचना के आविष्कार ने सिद्ध कर दिया कि सब पदार्थो की रचना एक ही प्रकार के परमाणुओं से हुई है और इनका अन्तर केवल उनके अंतर्हित धनाणु (Proton) और ऋणाणु (Electron) की संख्याभेद से है यही नही, प्रयोगशाला मे वैज्ञानिकों ने एक तत्त्व को दूसरे तत्त्व मे परिवर्तित कर उक्त सिद्धान्त को व्यावहारिक सत्य प्रमाणित किया वैज्ञानिक वैंजामिन ने पारे को सोने मे बदल दिया अनेक प्रयोगशालाओ मे प्लेटिनम् को सोने मे बदलने के प्रयोग सफल हो चुके है

ठाणांग सूत्र, स्थानक २ उ० ३ मे पुद्गल के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है—'दुविहा पोग्गला पण्णत्ता, तंजहा परमाणुपोग्गला चेव नोपरमाणुपोग्गला चेव, अर्थात् पुद्गल के दो भेद है (१) परमाणु—जिसका विभाग न हो तथा (२) स्कंध-बहुत से परमाणुओं का समुदाय अभिप्राय यह है कि परमाणुओ से स्कन्ध और स्कन्धों के समुदाय से वस्तुनिर्माण होता है परमाणुओ से स्कन्ध का निर्माण कैसे होता है, इस विषय मे पन्नवणासूत्र के त्रयोदश परिणामपद मे वर्णन आया है—'गोयमा ! दुविहे परिणामे पण्णत्ते तंजहा समणिद्धयाए बंधो न होई, समलुक्खयाए वि ण होई, वेमायणिद्धलुक्खत्तणेण णिद्धस्य णिद्धेण दुयाहिएण, लुक्खस्स लुक्खेण दुयाहिएण णिद्धस्य लुक्खेण उवेइ बंधो, जघन्नवज्जो विसमो समो वा ' यहाँ आगम मे अनेक परमाणुओ मे निहित स्निग्धता और रूक्षता बतलाते हुए कहा है—'समान गुण वाले स्निग्ध और समान गुण वाले रूक्ष परमाणु बंध को प्राप्त नही होते बंध स्निग्धता और रूक्षता की मात्रा मे विषमता से होता है दो गुण अधिक होने से स्निग्ध का स्निग्ध के साथ तथा रूक्ष का रूक्ष के साथ बंध हो जाता है स्निग्ध का रूक्ष के साथ भी बंध हो जाता है किन्तु जघन्य गुण वाले का विषम या सम किसी के साथ बंध नही होता अर्थात् एक गुण स्निग्ध और एक गुण रूक्ष परमाणुओ मे बंधन नही होता

जैन दार्शनिको ने जैसे स्निग्धता और रूक्षता को बंधन का कारण माना, वैज्ञानिको ने भी पदार्थ के धनविद्युत् और ऋणविद्युत्, इन दो स्वभावो को बंधन का कारण माना तथा जैसे जैन दर्शन परमाणु मात्र मे स्निग्धता और रूक्षता मानता है, आधुनिक विज्ञान भी पदार्थ मात्र मे धनविद्युत् तथा ऋणविद्युत् मानता है तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय ५ सूत्र ३४ की सर्वार्थसिद्धि टीका मे आकाश मे चमकने वाली विद्युत् की उत्पत्ति का विवेचन करते हुए कहा है[1]—"स्निग्धरूक्षगुण-

१ डा० बी० एल० शील का कथन है कि जैन दार्शनिक इस बात से पूर्ण परिचित थे कि पोजेटिव और नेगेटिव विद्युत्कणों के मिलने से विद्युत् उत्पन्न होती है

रूपान्तर है[1] वैज्ञानिकों ने अब प्रकाश और ताप की मात्रा को भी नाप लिया है उनका कहना है कि प्रकाश विद्युत् चुम्बकीय तत्व है और एक वर्ग मील क्षेत्र पर एक मिनिट में सूर्य से गिरने वाले प्रकाश की मात्रा का तौल ढाई तोला है तथा तीन हजार टन पत्थर के कोयले जलाने से उत्पन्न ताप का वजन लगभग एक माशा के बराबर होता है

जैन शास्त्रों में द्रव्य का लक्षण बताते हुए कहा—'सद् द्रव्यलक्षणम् उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्' (तत्त्वार्थ सूत्र अ० ५ सूत्र २९-३०) अर्थात् द्रव्य सत् है और सत् उसे कहते हैं जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य गुण युक्त हो अर्थात् जैनदर्शन यह मानता है कि वस्तु अपने अस्तित्व रूप में नित्य रहती है, उसका नाश कभी भी नहीं होता उत्पत्ति और विनाश तो उसकी पर्यायें मात्र हैं जैसे स्वर्ण के मुकुट को तोडकर कुडल बना देने पर भी स्वर्णत्व यथावत् बना रहता है यह स्वर्णत्व ध्रौव्य है और मुकुट के आकार का नाश और कुडल के आकार का निर्माण इसकी व्यय और उत्पाद पर्यायें अर्थात् रूपान्तर मात्र हैं इसी प्रकार सब द्रव्य ध्रुव है, न तो शून्य से किसी द्रव्य का निर्माण ही सभव है और न कोई द्रव्य अपना अस्तित्व खोकर शून्य बनता है इसी मत का समर्थन करते हुए वैज्ञानिक लेवाईजर (Lavoiser) लिखते हैं - Nothing can be created in every process there is just as much substance (quality of matters) present before and after the process has taken place There is only change of modification of matter (from law of indestructibility of matter as defind by Lavioser)

अर्थात् किसी भी क्रिया से कुछ भी नवीन उत्पत्ति नही की जा सकती और प्रत्येक क्रिया के पूर्व और पश्चात् की पदार्थ की मात्रा मे कोई अतर नही पडता है क्रिया से केवल पदार्थ का रूप परिवर्तित होता है

डेमोक्राइटस का अभिमत है—विज्ञान के 'शक्ति स्थिति' (conservation of Energy), वस्तु अविनाशित्व (law of Indestructibility) 'शक्ति की परिवर्तनशीलता' (Transformation of Energy) आदि सिद्धात स्पष्ट प्रमाणित करते हैं कि नाशवान पदार्थ मे भी ध्रुवत्व है Nothing can never become some thing and some thing can become nothing अर्थात् कुछ नही से किसी पदार्थ की उत्पत्ति नही हो सकती और कोई पदार्थ अभाव को प्राप्त नही हो सकता

जैन दर्शन के परमाणुसिद्धात की सचाई से प्रभावित होकर Dr G S Mallinathan लिखते है—A Student of Science, if reads the Jain treatment of matter will be surprised to find many corresponding ideas

अर्थात् एक विज्ञान का विद्यार्थी जब जैनदर्शन का परमाणुसिद्धात पढता है तो विज्ञान और जैनदर्शन मे आश्चर्यजनक समता पाता है रिसर्चस्कालर प० माधवाचार्य का कथन है कि आधुनिक विज्ञान के सर्वप्रथम जन्मदाता भगवान् महावीर थे

लेश्या

जैन दर्शन 'मन' को आत्मा से भिन्न अनात्म,जड, और एक विशेष प्रकार के पुद्गलो (मनोवर्गणा के द्रव्यो)से निर्मित पदार्थ मानता है तथा उसमे उन गुणो को स्वीकार करता है जो पुद्गल मे विद्यमान है अर्थात् मन को भी पुद्गल की भांति वर्ण, आकार व शक्ति युक्त मानता है आगमो मे मन के विभिन्न स्तरो का वर्गीकरण लेश्याओ के रूप मे किया गया है लेश्याएँ ६ प्रकार की होती है — (१) कृष्ण लेश्या (२) नील लेश्या (३) कापोत लेश्या (४) पीत(तैजस्) लेश्या (५) पद्म लेश्या (६) शुक्ल लेश्या ये क्रमश (१) अशुभतम भाव (२) अशुभतरभाव(३) अशुभभाव (४) शुभभाव (५) शुभतरभाव (६) शुभतम भाव की अभिव्यजक है

अत्यन्त महत्त्व की बात तो यह है कि लेश्याओ का नामकरण काले, नीले, कबूतरी, पीले, हल्का गुलाबी, शुभ्र आदि

---

१ नवनीत ५५ सितम्बर, पृष्ठ २८
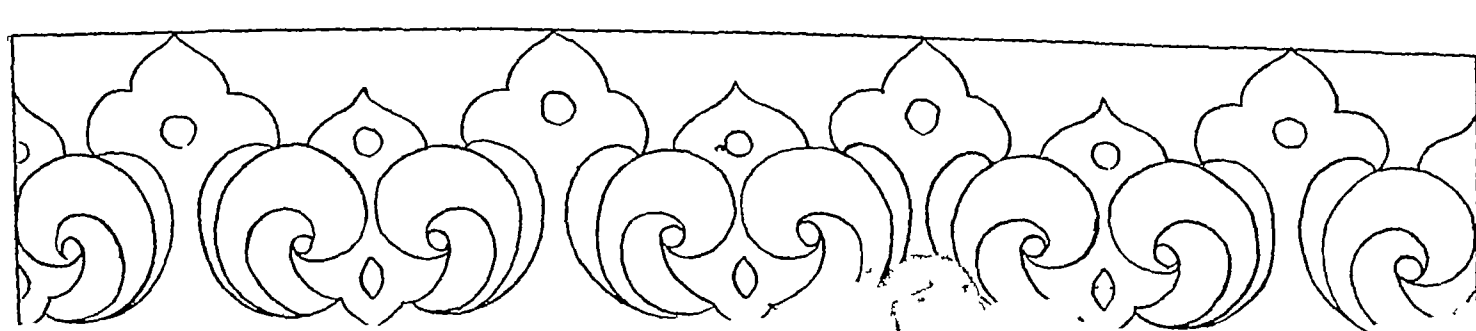
लोग मूर्ख मानते थे लेकिन इधर सुप्रसिद्ध विज्ञानवेत्ताओं ने काफी शोधकार्य के पश्चात् इस तथ्य में विश्वास करना आरम्भ कर दिया है कुछ विद्वानों का विश्वास है कि प्राचीन काल में इस शक्ति का बहुत विकास हुआ था इसी के समर्थन में एक अन्य वैज्ञानिक का मन्तव्य[1] है— 'अनदेखी और अनजानी चीजों के बारे में सही-सही बता देने की ताकत को ही अंग्रेजी में 'सिक्स्थ सेंस' अर्थात् छठी सूझ कहते हैं समय और दूरी की सीमा में ही नहीं बल्कि किसी दूसरे के मन और मस्तिष्क की अभेद्य सीमा के अन्दर भी आप इस सूझ के जरिये आसानी से प्रवेश पा सकते हैं क्या यह सच है ? क्या सचमुच ही ऐसी ताकत किसी में हो सकती है ? बात कुछ असम्भव सी दीखती है पर है यह सत्य इससे इन्कार नहीं किया जा सकता'

दूरस्थ मानव के मन को बिना किसी भौतिक माध्यम (रेडियो तार टेलीफोन आदि) के हजारों मील दूरस्थ व्यक्ति के साथ केवल मन के माध्यम से विचारों का आदान प्रदान प्रषण-ग्रहण करने की प्रक्रिया को टेलीपैथी कहते हैं आज टेलीपैथी के विकास में अमेरीका और रूस में होड लगी है कुछ समय पूर्व अमेरीका के प्रयोगकर्त्ताओं ने हजारों मील दूर सागर के गर्भ में चलने वाली पनडुब्बियों के चालकों को टेलीपैथी प्रक्रिया से सदेश भेजने में सफलता प्राप्त कर विश्व को चकित कर दिया है अभिप्राय यह है कि दूरस्थ व्यक्ति के मन के भावों को जानना आज सिद्धांतत स्वीकार कर लिया गया है

प्रसिद्ध वैज्ञानिक आईन्स्टीन का कथन है कि यदि प्रकाश की गति से अधिक (प्रकाश की गति एक सेकिंड में १८६ मील है) गति की जा सके तो भूत और भविष्य की घटनाओं को भी देखा जा सकता है

अभिप्राय यह है कि विज्ञान अवधि मन पर्यव व केवलज्ञान के अस्तित्व में विश्वास करने लगा है

दर्शन

जैनागमों में 'तत्त्वार्थश्रद्धानम् सम्यग्दर्शनम्'[2] अर्थात् तत्त्वों की यथार्थ श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा है. तत्त्वों की यथार्थ श्रद्धा स्याद्वाद के बिना होना असम्भव है कारण कि स्याद्वाद ही एक ऐसी दार्शनिक प्रणाली है जो तत्त्व के यथार्थ स्वरूप का दिग्दर्शन करती है प्रत्येक तत्त्व या पदार्थ अनन्त गुणों का भडार है उन अनन्त गुणों में वे गुण भी सम्मिलित हैं जो परस्पर में विरोधी हैं फिर भी एक ही देश और काल में एक साथ पाये जाते हैं इन विरोधी तथा भिन्न गुणों को विचार-जगत् में परस्पर न टकराने देकर उनका समीचीन सामञ्जस्य या समन्वय कर देना ही स्याद्वाद सापेक्षवाद या अनेकान्तवाद है अलबर्ट आइन्स्टीन के सापेक्षवाद (Theory of Relativity) के आविष्कार (जैनागमों की दृष्टि से आविष्कार नहीं) के पूर्व जैनदर्शन के इस सापेक्षवाद सिद्धांत को अन्य दर्शनकार अनिश्चयवाद संशयवाद आदि कहकर मखौल किया करते थे परन्तु आधुनिक भौतिक विज्ञान ने द्वन्द्वसमागम (दो विरोधों का समागम) सिद्धांत देकर दार्शनिक जगत् में क्रान्ति कर दी है

भौतिक विज्ञान के सिद्धान्तानुसार परमाणु मात्र आकर्षण गुणवाले धनाणु (Proton) और विकर्षण गुण वाले ऋणाणु (Electron) के सयोग का ही परिणाम है अर्थात् धन और ऋण अथवा आकर्षण और विकर्षण इन दोनों विरोधों का समागम ही पदार्थरचना का कारण है पहले कह आये हैं कि जैसे जैनदर्शन पदार्थ को नित्य (ध्रुव) और अनित्य (उत्पत्ति और विनाश युक्त) मानता है उसी प्रकार विज्ञान भी पदार्थ को नित्य (द्रव्य रूप से कभी नष्ट नहीं होने वाला) तथा अनित्य (रूपान्तरित होने वाला) मानता है इस प्रकार दो विरोधी गुणों को एक पदार्थ में एक ही देश और एक ही काल में युगपत् मानना दोनों ही क्षेत्रों में सापेक्षवाद की देन है

---

1 नवनीत जुलाई ६ पृष्ठ ४
2 तत्त्वार्थसूत्र अ १ सूत्र २

"विचार[1] शक्ति की परीक्षा करने के लिए डाक्टर वेरडुक ने एक यत्र तैयार किया है एक काच के पात्र मे सुई के सदृश एक महीन तार लगाया है और मन को एकाग्र करके थोडी देर तक विचार-शक्ति का प्रभाव उस पर डालने से सुई हिलने लगती हैं यदि इच्छा-शक्ति निर्बल हो तो उसमे कुछ भी हलचल नही होती विचार-शक्ति की गति विजली से भी तीव्र है पृथ्वी के एक कोने से दूसरे कोने तक एक सैकेंड के १६ वें भाग मे १२००० मील तक विचार जा सकता है"

विचार के समय मस्तिष्क मे विद्युत् उत्पन्न होती है और उसका असर भी मिकनातीसी सुई द्वारा नापा गया है जिस प्रकार यत्रो द्वारा विद्युत् तरगो का प्रसारण और ग्रहण होता है और रेडियो, टेलीग्राम, टेलीफोन, टेलीप्रिंटर, टेलीवीजन आदि उस विद्युत् को मानव के लिए उपयोगी व लाभप्रद साधन बना देते हैं, इसी प्रकार विचार-विद्युत् की लहरो का भी एक विशेष प्रक्रिया से प्रसारण और ग्रहण होता है इस प्रक्रिया को टेलीपैथी कहा जाता है यह पहले लिखा जा चुका है कि टेलीपैथी के प्रयोग से हजारो मील दूरस्थ व्यक्ति भी विचारो का आदान-प्रदान व प्रेषण-ग्रहण कर सकते है भविष्य मे यही टेलीपैथी की प्रक्रिया सरल और सुगम हो जनसाधारण के लिए भी महान् लाभदायक सिद्ध होगी, ऐसी पूरी सम्भावना है

आशय यह है कि अति प्राचीन काल ही से जैन जगत् के मनोविज्ञानवेत्ता मन के पुद्गलत्व, वर्ण, विद्युतीय शक्ति आदि गुणो से भलीभाँति परिचित थे जब कि इस क्षेत्र मे आधुनिक विज्ञानवेत्ता अभी तक भी उसके एक अश का ही अन्वेषण कर पाये है

ज्ञान

जैनशास्त्रो मे ज्ञान का वर्णन करते हुए कहा है —

तत्थ पचविह नाण, सुय आभिणिवोहिय ।
ओहिनाण तु तइय मणनाण च केवल ॥—उत्तराध्ययन अ० २८ गाथा ४

अर्थात् ज्ञान पाच प्रकार का है—मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यव और केवल ज्ञान इनमे से मति और श्रुत ज्ञान तो प्राय सर्वमान्य हैं परन्तु शेष तीन ज्ञान के अस्तित्व पर अन्य दार्शनिक आपत्तिया उपस्थित करते रहे हैं लेकिन आधुनिक वैज्ञानिक अन्वेषण ने इनको सत्य प्रमाणित कर दिया है ज्ञान के स्वरूप का वर्णन करते हुए भगवती सूत्र श० १ उ० ३ मे कहा है—अवधि ज्ञान से मर्यादा सहित सकल रूपी द्रव्य, मन पर्यवज्ञान से दूरस्थ सज्ञी जीवो के मनोगत भाव तथा केवलज्ञान से तीन लोक युगपत् जाना जाता है इसी विषय पर वैज्ञानिको के विचार व निर्णय द्रष्टव्य है—डा० बगार्नडथिगा लिखते है[2] "पीनियल आई" नामक ग्रन्थि का अस्तित्व मानव मस्तिष्क के पिछले भाग मे है ग्रथि हमारे मस्तिष्क का अत्यत सबल रेडियो तन्त्र है जो दूसरो की आतरिक ध्वनि, विचार और चित्र ग्रहण करती है इसका विकास होने पर व्यक्ति दुनिया भर के लोगो के मन के भेद जान सकने मे समर्थ हो जायेगा मनुष्य-मनुष्य के बीच कोई दुराव न रह सकेगा कोई किसी से कुछ छिपा कर न रख सकेगा" लेखक का यह भी कहना है कि यह शक्ति प्राचीन काल मे विद्यमान थी, बाद मे लुप्त हो गई तथा डा० कर्वे का कथन[3] है—"पाच इन्द्रियो के अतिरिक्त एक छठी इन्द्रिय भी है जो अगम्य है, जिसे हम अतीन्द्रिय भी कह सकते हैं मनुष्य प्रयत्न करे तो इस छठी इन्द्रिय का विकास हो सकता है इस इन्द्रिय या शक्ति के कारण हम दूसरो के मन की बात जान सकते हैं मन के विचार जानने के अतिरिक्त ऐसे लोग दूर घटी घटना की सूचना भी प्राप्त कर सकते हैं कुछ वर्षो पूर्व ऐसी बातें करने वालो को

---

१ देखिये-सकल्प सिद्धि -अध्ययन-विचारशक्ति
२ नवनीत अप्रैल ५३
३ नवनीत जुलाई ५५
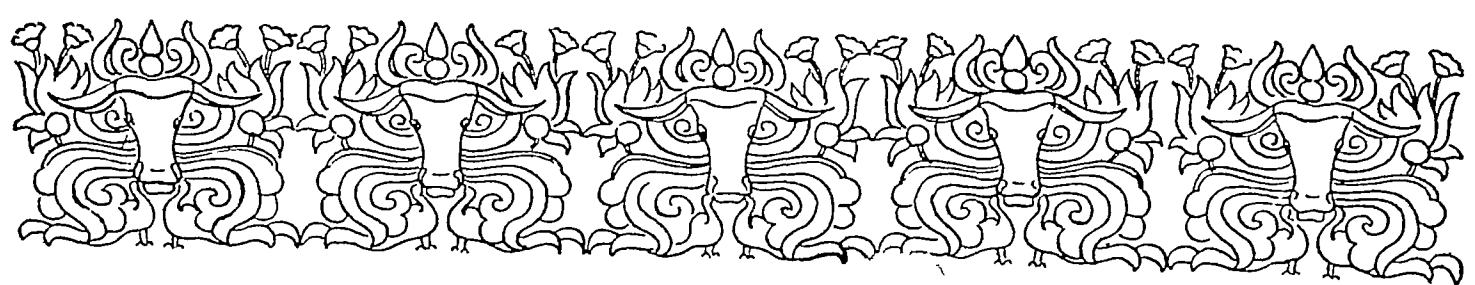
जाति मानवीय गुणों पर आधारित होगा विज्ञान का विकास आध्यात्मिक क्षेत्र में होगा इसका समर्थन करते हुए विश्व के महान् वैज्ञानिक डा० चार्ल्स स्टाइनमेज लिखते हैं—महानतम¹ आविष्कार आत्मा के क्षेत्र में होंगे एक दिन मानव जाति को पुनः प्रतीत हो जायगा कि भौतिक वस्तुएँ आनन्द नहीं देती और उनका उपयोग स्त्री पुरुषों को सृजनशील तथा शक्तिशाली बनाने में बहुत ही कम है तब वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं को ईश्वर और प्रार्थना के अध्ययन की ओर उन्मुख करेंगे जब वह दिन आयेगा तब मानव जाति एक ही पीढ़ी में इतनी वैज्ञानिक उन्नति कर सकेगी जितनी आज की चार पीढ़ियाँ भी न कर पायेंगी आशय यह है भविष्य में आत्मज्ञान और विज्ञान के मध्य की भेद-रेखा मिटकर दोनों परस्पर घुल मिल जायेंगे वह दिन विश्व के लिए वरदान सिद्ध होगा

---

१ नवनीत : जनवरी १९५४

दो रेलगाडिया एक ही दिशा मे पास-पास ४० मील और ३० मील की गति से चल रही है—तो ३० मील की गति से चलने वाली गाडी की सवारियो को प्रतीत होगा कि उनकी गाडी स्थिर है और दूसरी गाडी ४०-३० = १० मील की गति से आगे वढ रही है, जब कि भूमि पर स्थित दर्शक व्यक्तियो की दृष्टि मे गाडिया ४० मील और ३० मील की गति से चल रही है इस प्रकार गाडियो का स्थिर होना व विभिन्न गतियो का होना सापेक्ष ही है

जिस प्रकार स्याद्वाद मे 'अस्ति' और 'नास्ति' की बात मिलती है उसी प्रकार 'है' और 'नही' की वात वैज्ञानिक क्षेत्र के सापेक्षवाद मे भी मिलती है पदार्थ के तोल को ही लीजिए जिस पदार्थ को साधारणत हम एक मन कहते है सापेक्षवाद कहता है यह 'है' भी और 'नही' भी कारण कि कमानीदार तुला से जिस पदार्थ का भार पृथ्वी के धरातल पर एक मन होगा वह ही पदार्थ, मात्रा मे कोई परिवर्तन न होने पर भी पर्वत की चोटी पर तोलने पर एक मन से कम भार का होगा पर्वत की चोटी जितनी अधिक ऊँची होगी भार उतना ही कम होगा अधिक ऊँचाई के कारण ही उपग्रह मे स्थित व्यक्ति, जो पृथ्वी के धरातल पर डेढ-दो मन वजन वाला होता है, वहाँ वह भारहीन हो जाता है पदार्थ या व्यक्ति का भिन्न-भिन्न स्थानो पर भिन्न-भिन्न वजन का होना अपेक्षाकृत ही है

दूसरा उदाहरण और लीजिए-एक आदमी लिफ्ट मे खडा है उसके हाथ मे सतरा है जैसे ही लिफ्ट नीचे उतरना शुरू करता है वह आदमी उस सतरे को गिराने के लिए हथेली को उल्टी कर देता है परन्तु वह देखता है कि सतरा नीचे नही गिर रहा है और उसी की हथेली से चिपक रहा है तथा उसके हाथ पर दवाव भी पड रहा है कारण यह है कि सतरा जिस गति से नीचे गिर रहा है उससे लिफ्ट के साथ नीचे जाने वाले आदमी की गति अधिक है ऐसी स्थिति मे वह सतरा नीचे गिर रहा है और नही भी लिफ्ट के वाहर खडे व्यक्ति की दृष्टि से तो वह नीचे गिर रहा है परन्तु लिफ्ट मे खडे मनुष्य की दृष्टि से नही

आधुनिक विज्ञान इसी सापेक्षवाद के सिद्धात (Theory of relativity) का उपयोग कर दिन दूनी और रात चौगुनी उन्नति कर रहा है सापेक्षवाद न केवल विज्ञान के क्षेत्र मे वल्कि दार्शनिक, राजनैतिक आदि अन्य सव ही क्षेत्रो की उलझन भरी समस्याओ को सुलझाने के लिए वरदान सिद्ध हो रहा है अमेरिका के प्रसिद्ध विद्वान् प्रो० डा० आर्चा पी० एच० डी० अनेकात की महत्ता व्यक्त करते हुए लिखते है —The Anekant is an important principle of Jain logic, not commonly asserted by the western or Hindu logician, which promises much for world place through metaphysical harmony

इसी प्रकार जैन दर्शन के 'कर्मसिद्धात' और विज्ञान की नवीन शाखा 'परामनोविज्ञान', अणु की असीम शक्ति का आविर्भाव करने वाले विज्ञान की अणु-भेदन प्रक्रिया और आत्मा की असीम शक्ति का आविर्भाव करने वाली भेद-विज्ञान की प्रक्रिया आदि गणित सिद्धातो मे निहित समता व सामञ्जस्य को देखकर उनकी देन के प्रति मस्तक आभार से झुक जाता है

साराश यह है कि जैनागमो मे प्रणीत सिद्धात इतने मौलिक एव सत्य है कि विज्ञान के अभ्युदय से उन्हे किसी प्रकार का आघात नही पहुँचने वाला है, प्रत्युत् वे पहले से भी अधिक निखर उठने वाले है तथा विज्ञान के माध्यम से वे विश्व के कोने-कोने मे जन-साधारण तक पहुँचने वाले है

विज्ञान-जगत् मे अभी हाल ही की आत्मतत्त्वशोध से आविर्भूत आत्म-अस्तित्व की सभावनाएँ एव उपलब्धियाँ विश्व के भविष्य की ओर शुभ सकेत हैं विज्ञान की वहुमुखी प्रगति को देखते हुए यह दृढ व निश्चय के स्वर मे कहा जा सकता है कि वह दिन दूर नही है जब आत्म-ज्ञान और विज्ञान के मध्य की खाई पट जायेगी और दोनो परस्पर पूरक व सहायक बन जायेंगे विज्ञान का विकास उस समय विश्व को स्वर्ग बना देगा, जिस मे अभाव, अभियोग तथा ईर्ष्या, द्वेष, वैयक्तिक स्वार्थ, शोषण आदि बुराइयाँ न होगी मानव का आनद भौतिक वस्तुओ पर आधारित न होकर प्रेम, सेवा,

होता रहता है अतः द्रव्यदृष्टि से पदार्थ नित्य है किन्तु विगम और उत्पाद दृष्टि से अर्थात् पर्यायदृष्टि से प्रतिक्षण बदलने वाला परिणामी है सुवर्ण के कङ्कण को तोड़कर उसका कटिसूत्र बनाया जाता हुआ क्या ? आकृति बदल गई परन्तु उसका सुवर्णत्व नहीं बदला वह तो ज्यों का त्यों है जैसा पहले था वैसा अब भी सिद्धान्त यह रहा कि—द्रव्य नित्यं आकृति पुनरनित्या'

प्रमाण और नय—पदार्थ को समझने की ज्ञानपद्धति दो प्रकार की है स्वार्थ और परार्थ मति आदि रूप ज्ञानपद्धति स्वार्थरूप है और शब्दरूप पद्धति परार्थरूप है परार्थ-पद्धति के दो भेद हैं प्रमाण रूप और नय रूप अनन्त धर्मात्मक वस्तु-तत्त्व के समस्त धर्मों को अथवा उसके अनेक धर्मों को ग्रहण करने वाला ज्ञान प्रमाण है और उसके किसी एक धर्म को ग्रहण करने वाला ज्ञान नय है जैसे अयं घट यह ज्ञान प्रमाण है क्योंकि इसमें घट के रूप रस गन्ध और स्पर्श का एवं लघुगुरु छोटे-बड़े आदि आकाररूप धर्मों का ज्ञान हो जाता है 'रूपवान् घट यह ज्ञान नय है क्योंकि इसमें घट के अनन्तधर्मों में से केवल एक धर्म अर्थात् रूप का ही प्रतिभास है, अन्य रस गन्ध आदि धर्मों का नहीं 'नयवाद' जैनदर्शन की व्यापक विचारपद्धति है जैनदर्शन हर बात को 'नय' पद्धति से सोचता है उसका विश्लेषण करता है जैनदर्शन में ऐसा कोई भी सूत्र या अर्थ नहीं जो नयशून्य हो— नत्थि नएहिं विहूणं सुत्तं अत्थो य जिणमये किंचि

नय को प्रमाण माना जाय या अप्रमाण ? यह जैन दार्शनिकों के सामने एक गम्भीर प्रश्न था यदि नय प्रमाण है तो वह प्रमाण से भिन्न क्यों है ? और यदि अप्रमाण है तो वह मिथ्याज्ञान होगा फिर मिथ्याज्ञान का मूल्य ही क्या है ? इस का समाधान जैनदार्शनिकों ने बड़े अच्छे ढंग से किया है वे कहते हैं—नय न तो प्रमाण है और न अप्रमाण वह प्रमाण का एक अंश है जैसे समुद्र का एक बिन्दु समुद्र नहीं कहा जा सकता परन्तु समुद्र का अंश तो कहा जा सकता है प्रमाण का विषय अनेकान्तात्मक वस्तु है और नय का विषय उस वस्तु का एक अंश यहाँ यह प्रश्न भी हो सकता है कि यदि नय अनन्तधर्मात्मक वस्तु के किसी एक ही अंश का ग्रहण करता है तो वह मिथ्याज्ञान ही रहेगा फिर उससे पदार्थ का यथार्थ ज्ञान कैसे हो सकता है ? इसका समाधान आचार्यों ने असंदिग्ध भाषा में कर दिया है वे कहते हैं— यद्यपि नय अनन्तधर्मात्मक वस्तु के एक ही धर्म को ग्रहण करता है परन्तु इतने मात्र से उसे मिथ्याज्ञान नहीं कह सकते एक अंश का ज्ञान यदि वस्तु के अन्य अंश का निषेध करता हो तो उसे मिथ्या कह सकते हैं किन्तु जो अंशज्ञान अपने से अतिरिक्त अंश का निषेध न कर केवल अपने दृष्टिकोण को ही बताता है उसे मिथ्याज्ञान नहीं कहा जा सकता है. जो नय अपने स्वीकृत धर्म का प्रतिपादन करते हुए अपने से भिन्न धर्म का निषेध करता है वह निस्संदेह नय न होकर नयाभास या दुर्नय होता है निरपेक्ष नय दुर्नय है और सापेक्ष नय सुनय है

सप्तभंगी का रूप :—जैसा कि हम कह आये हैं पदार्थज्ञान के लिए प्रमाण और नय ये दो पद्धतियाँ हैं इन दोनों पद्धतियों का समावेश 'सप्तभंगी' में हो जाता है सप्तभंगी का अर्थ है सात वाक्यों का समूह अर्थात् एक प्रश्न का सात ढंग से उत्तर. किसी प्रश्न का उत्तर या तो 'हाँ' में दिया जाता है या नहीं में हाँ और नहीं के औचित्य को लेकर ही सप्तभंगी' वाद की रचना हुई है किसी भी पदार्थ के लिए अपेक्षा के महत्त्व को ध्यान में रखते हुए सात प्रकार के वचनों का प्रयोग किया जाता है वे इस प्रकार है—

(१) कथंचित् घट है
(२) कथंचित् घट नहीं है
(३) कथंचित् है और नहीं है
(४) कथंचित् घट अवक्तव्य है
(५) कथंचित् घट है और अवक्तव्य है
(६) कथंचित् घट नहीं है और अवक्तव्य है
(७) कथंचित् घट है नहीं है और अवक्तव्य है

प्रश्न के वश से एक ही वस्तु में अविरोध रूप से विधि-प्रतिषेध की कल्पना ही 'सप्तभंगी है किसी भी पदार्थ के विषय

श्रीरूपेन्द्रकुमार पगारिया, न्यायतीर्थ

सप्तभंगी
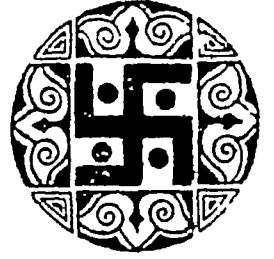
जैनधर्म जितना आचार-जगत् मे गहरा उतरा है, विचार-जगत् मे भी उतना ही गहरा उतरा है जन्म और मृत्यु जैसे विकट सकट से सर्वथा मुक्ति पाने के लिए साधक के जीवन मे आचारशुद्धि और विचार शुद्धि दोनो की आवश्यकता है आचार और विचार दोनों एक दूसरे के पूरक हैं एकान्तक्रियावाद की पगडण्डी पर चलने वाला साधक सही विचार के अभाव मे अपने गतव्य स्थल पर नही पहुँच सकता विशुद्ध आचार को समझने के लिए तत्त्व-ज्ञान की आवश्यकता होती है जब तक साधक को पदार्थ के सही स्वरूप का ज्ञान नही हो जाता तब तक वह कितनी ही क्रिया की गहराई मे क्यो न गया हो, ज्ञान के अभाव मे उसकी साधना की सफलता मे सन्देह ही रहता है उसे तत्त्व-ज्ञान रूप दीपक की आवश्यकता है इसी दीपक से सहारे वह अपने गतव्य स्थल पर पहुँच सकता है

वस्तु की अनन्तधर्मात्मकता — किसी भी वस्तु के सच्चे ज्ञान के लिए उसके सही स्वरूप को जानना नितान्त आवश्यक है वस्तु अनन्तधर्मात्मक है हमारा ज्ञान ज्यो-ज्यो आगे बढता जाता है त्यो-त्यो अज्ञात धर्म ज्ञात होते जाते है वस्तु का पूर्ण ज्ञान होना ही सर्वज्ञता है भौतिक विज्ञान पदार्थ के पर्यायो की खोज करता है उसके गुण-धर्मों को बताता है उसमे कौन-कौन सी प्रक्रियाएँ होती है, यह भी बताता है तत्त्वज्ञान ऐसा नही करता वह तो पदार्थ के गुणो को स्वीकार करके ही आगे बढता है इन वस्तुओ के गुणधर्मों का पदार्थ के साथ कैसा सम्बन्ध है, यह बताने का काम तत्त्व-ज्ञान का है वस्तु मे अगणित गुण-धर्म होते है, जिनमे कुछ तो ज्ञात होते हैं, कुछ अर्वज्ञात और कुछ अज्ञात ऐसी अवस्था मे यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति मे कठिनाई अवश्य सामने आती है

इस कठिनाई के कारण तत्त्वज्ञान के इतिहास मे अनेक सशयवादो का जन्म हुआ है दार्शनिक तत्त्व-विचार मे सशयवाद लम्बे समय तक नही टिक सकता उसका समाधान कही न कही निकल ही आता है जो लोग यह कहते हैं कि सत्य हमेशा अज्ञात रहता है, उनका यह कथन भी निर्णीत सत्य ही तो है भगवान् महावीर ने अपने समय के एकातवादो को खण्डित सत्य कहा उन खण्डित सत्यो के एकीकरण के लिए उन्होने समन्वयात्मक एव सापेक्ष दृप्टि रखी यही व्यापक दृष्टि तत्त्व-चिनक साधक को सत्य की ओर ले जाती है

सत्य विशाल, व्यापक, अखण्ड और अनन्त होता है, परन्तु सामान्यत मानव का परिमित ज्ञान उसे सम्पूर्ण रूप मे जान नही पाता, खण्डरूप मे अथवा अनेक अशो मे ही वस्तु का ज्ञान कर पाता है सत्य के परिज्ञान के लिए अथवा ज्ञात सत्य को जीवन मे उतारने के लिए व्यापक दृष्टिकोण की आवश्यकता है

व्यष्टि, समष्टि और परमेष्ठी-जीवन विकास की यह क्रमपद्धति है जैनदर्शन की सत्योन्मुखी अनेकान्तदृष्टि, जैनधर्म का सर्वसहिष्णु अहिंसासिद्धात और जैन परम्परा का चिरागत समन्वयवाद, ये तीनो मिलकर एक ही कार्य करते हैं और वह है व्यक्ति समष्टि के विकास मे अवरोधक न बने बल्कि समझौता करके परमेष्ठी से रूप मे परिणत हो जाय-परम-ज्योति बन जाय

इस श्रेयस् एव विशाल दृष्टिकोण को जीवन मे ढालने से पूर्व वस्तु-तत्त्व के स्वरूप को समझ लेना आवश्यक है चेतन-अचेतनमय इस जगत् की प्रत्येक वस्तु अनन्तगुण-धर्मो का अखण्ड पिण्ड है वह कभी नही रही-यह नही कहा जा सकता वह नही है—यह भी नही कहा जा सकता, लेकिन कहा यह जायगा कि वह थी, है और रहेगी वृत्त, वर्तमान और वर्तिष्यमान् इन तीनो कालो मे कभी भी उसका अभाव नही होता अत वस्तु सत् है, शाश्वत है, नित्य है, परन्तु कूटस्थ नित्य नही, अपितु परिणामी नित्य है, क्योकि प्रत्येक वस्तु मे प्रतिक्षण पूर्व पर्याय का विगम और उत्तर पर्याय का उत्पाद
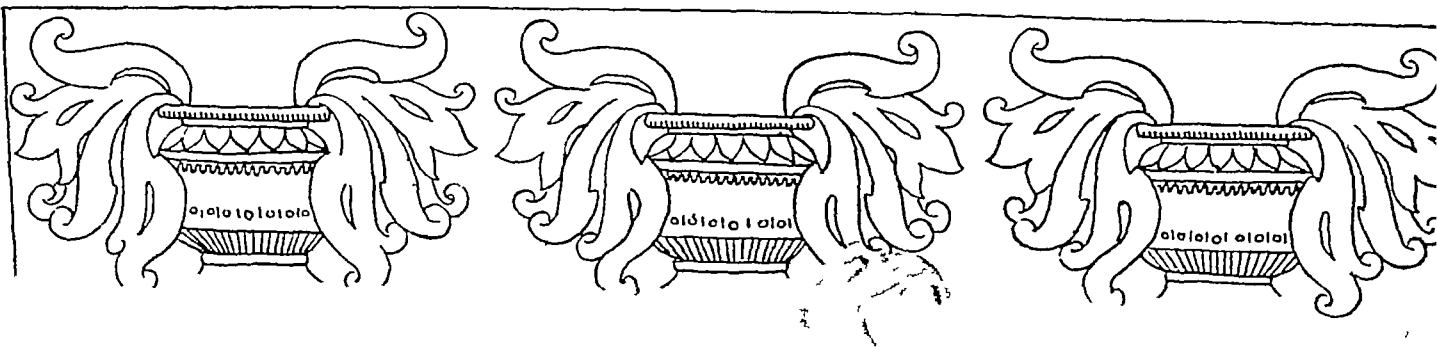
प्रश्न—क्रम से योजित सत्त्व-असत्त्व उभयरूप की अपेक्षा से सहयोजित सत्त्व असत्त्व इस उभयरूप का भेद कैसे सिद्ध हो सकता है ?

उत्तर—क्रम से योजित कल्पना सहयोजित कल्पना से भिन्न ही है क्योंकि पूर्व कल्पना में पदार्थ की पर्याएँ क्रम से कही जाती है जबकि उत्तर कल्पना में युगपद् उन पर्यायों का कथन है यदि भेद नहीं माना जायगा तो पुनरुक्ति दोष की संभावना रहेगी क्योंकि एक वाक्य जन्य जो बोध है उसी बोध के समान बोधजनक यदि उत्तर काल का वाक्य हो तो यही पुनरुक्ति दोष है यहाँ पर क्रम से योजित तृतीय भंग है और अक्रम से योजित चतुर्थ भंग है तृतीय भंग के द्वारा उत्पन्न ज्ञान-विकल्प अस्तित्व के साथ नास्तित्व रूप स्थिति को बतलाता है इस प्रकार से स्वयंसिद्ध है कि तृतीय और चतुर्थ भंग से उत्पन्न ज्ञानों में समान-आकारता नहीं है अतः दोनों भंग अलग-अलग ही है

प्रश्न—भंग सात ही नहीं किन्तु नौ होते है जैसे तृतीय भंग में रहे हुये 'अस्तित्व-नास्तित्व' के क्रम का परिवर्तन कर देने से 'नास्तित्व अस्तित्व' रूप नया भंग बन जायगा इसी प्रकार सातवें भंग में प्रदर्शित क्रम को भी पलट दिया जाय अर्थात् 'स्यादस्ति नास्ति च अवक्तव्य' के स्थान में 'स्यान्नास्ति अस्ति च अवक्तव्य' बना दिया जाय तो एक और नया भंग बन जाता है इस प्रकार भंगो की संख्या नौ हो जाएगी नूतन बने हुए भंगों में तीसरे और सातवें भंग की पुनरावृत्ति नहीं कही जा सकती है क्योंकि अस्तित्वविशिष्ट नास्तित्व का बोध तृतीय भंग से होता है जबकि नवीन भंग से नास्तित्वविशिष्ट अस्तित्व का बोध होता है विशेषण-विशेष्यभाव की विपरीतता हो गई है जो विशेषण था वह विशेष्य बन गया है और जो विशेष्य था वह विशेषण बन गया है यही बात सातवें भंग के सबंध में भी नूतन भंग के साथ समझना चाहिये अर्थात् उसमें भी क्रम बदल गया है, विशेषण विशेष्यभाव की विपरीतता आ गई है अतः भंग सात नहीं किन्तु नव बनते है ?

उत्तर—उपरोक्त शंका में केवल समझ का ही फेर है वह इस प्रकार है—तृतीय भंग में रहे हुए 'अस्तित्व और नास्तित्व' दोनों ही धर्म स्वतंत्र है परस्पर सापेक्ष रूप से रहे हुए नहीं है इसीलिये प्रधानता होने के कारण से ही पदार्थ में अवक्तव्यता धर्म की उत्पत्ति होती है तदनुसार विशेषण विशेष्य जैसी कोई स्थिति नहीं है किन्तु पर्यायों में भूतकालीन-भविष्यत्कालीन और वर्तमानकालीन दृष्टिकोण से ही अस्तित्व नास्तित्व और अवक्तव्यत्व जैसे वाचक शब्दों की आवश्यकता पड़ती है अवक्तव्यत्व रूप धर्म अस्ति नास्ति से विलक्षण पदार्थ है सत्त्व मात्र ही वस्तु का स्वरूप नहीं है और केवल असत्त्व भी वस्तु का स्वरूप नहीं है सत्त्व-असत्त्व ये दोनों भी वस्तु का स्वरूप नहीं है, क्योंकि उभय से विलक्षण अन्य जातीय रूप से भी वस्तु का होना अनुभवसिद्ध है जैसे दही शक्कर काली मिरच इलायची नागकेसर तथा लवंग के संयोग से एक नवीन जाति का पेय रस तैयार हो जाता है जो कि उपरोक्त प्रत्येक पदार्थ से स्वाद में और गुण में एक स्वभाव से भिन्न ही बन जाता है फिर भी सर्वथा भिन्न नहीं कहा जा सकता है और न सर्वथा अभिन्न भी कहा जा सकता है एवं सर्वथा अवक्तव्य भी नहीं कहा जा सकता है इस प्रकार सातों ही भंगो में परस्पर में विलक्षण अर्थ की स्थिति समझ लेना चाहिये अतएव पृथक्-पृथक् स्वभाव वाले सातों धर्मों की सिद्धि होने से उन उन धर्मों के विषयभूत संशय जिज्ञासा आदि क्रमो की श्रेणियाँ भी सात-सात प्रकार की होती है इस प्रकार प्रत्येक धर्म के विषय में सात-सात भंग होते है

सकलादेश और विकलादेश—यह सप्तभंगी दो प्रकार की है—एक प्रमाणसप्तभंगी और दूसरी नय-सप्तभंगी प्रमाण वाक्य को सकलादेश वाक्य अर्थात् सम्पूर्णरूप से पदार्थों का ज्ञान कराने वाला वाक्य कहते है और नयवाक्य को विकलादेश अर्थात् एक अंश से पदार्थों का ज्ञान करानेवाला वाक्य कहते है

प्रश्न—आगम प्रमाण और नय-सप्तभंगी के भी सात-सात भेद माने है किन्तु सात-सात भेद एक-एक के नहीं सिद्ध होते है क्योंकि प्रथम द्वितीय व चतुर्थ भंग वस्तु के एक धर्म का ही बताते है अतः ये तीन भंग नयवाक्य या विकलादेश रूप हैं और तृतीय पंचम षष्ठ और सप्तम भंग वस्तु के अनेक धर्मों का बोध करानेवाले होने से प्रमाणवाक्य या सकलादेश रूप है
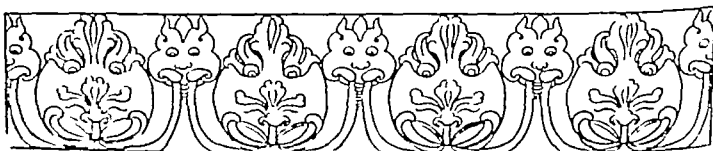
मे सात प्रकार के प्रश्न हो सकते हैं इसीलिए सप्तभगी कही गई है 'सात प्रकार के प्रश्नो का कारण है सात प्रकार की जिज्ञासा और सात प्रकार की जिज्ञासा का कारण है सात प्रकार के सशय, तथा सात प्रकार के सशयो का कारण है उसके विषय रूप वस्तु के धर्मो का सात प्रकार से होना उपरोक्त परिभाषा मे यह स्पष्ट हो जाता है कि सप्तभगी के सात 'भग' केवल शाब्दिक कल्पना ही नही किन्तु वस्तु के धर्मविशेष पर आश्रित है इसलिए सप्तभगी का विचार करते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उसके प्रत्येक भग का स्वरूप वस्तु के धर्म के साथ सबद्ध हो यदि किसी भी पदार्थ का कोई भी धर्म दिखलाया जाना जरूरी हो तो उसे इस प्रकार दिखलाया जाना चाहिये जिससे कि उन धर्मो का स्थान उस वस्तु मे से विलुप्त न हो जाए जैसे कि आप घट मे नित्यत्व का स्वरूप बतलाना चाहते हैं तो आपको घट के नित्यत्व का बोध करवाने के लिए ऐसे उपयुक्त शब्द का प्रयोग करना चाहिये जो घट का नित्यत्व तो बताता ही हो किन्तु उसके अनित्यत्व आदि अन्य धर्मो का विरोध न करता हो यह कार्य सप्तभगी द्वारा ही हो सकता है

शका—भग सात ही नही किन्तु अधिक भी हो सकते हैं—जैसे कि प्रथम और तृतीय विकल्पो का एक साथ उल्लेख करने से नया भग बन सकता है इसी तरह सातो भगो मे से एक दूसरे के साथ दो-दो या तीन-तीन भग के जोडने से और भी नवीन भग बन सकते हैं ?

उत्तर—प्रथम और तृतीय धर्म को मिलाने से उत्पन्न नवीन भग के अनुसार नवीन वाच्य पदार्थ की प्रतीति लोक मे नही पाई जाती इसी प्रकार अन्य भग के लिए भी समझना चाहिये ऐसी अवस्था मे सात से अधिक भगो की उत्पत्ति का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता

इस प्रकार एक धर्म के आधार से सात ही भग बनते हैं, किन्तु पदार्थ अनन्तधर्मात्मक है, अत अनन्त सप्तभगियाँ भी बन सकती है, किन्तु भगो की मर्यादा सात ही है

शका—माना कि सप्तभग से अधिक भग नही हो सकते किन्तु उनसे कम तो हो सकते है ? क्योकि जो घट स्वरूप से सत् है वही अन्य पटादि रूप से असत् भी है, इसलिए 'स्यादस्त्येव' तथा 'स्यान्नास्त्येव' ये दो धर्म नही घटित हो सकते इन दोनो का एक दूसरे मे समावेश हो जाता है अत इन दो भगो मे से किसी एक ही भग को मान लो दूसरे की आवश्यकता नही

समाधान—यह कथन अयोग्य है क्योकि सत्त्व और असत्त्व दोनो एक दूसरे से भिन्न है जो सत्त्व है वह असत्त्व नही हो सकता और जो असत्त्व है वह सत्त्व नही हो सकता ऐसी स्थिति मे दोनो को अलग-अलग ही मानना चाहिये अगर इन्हे एक दूसरे से अलग नही माना जायगा तो स्वरूप से सत्त्व ग्रहण के सदृश पर रूप से भी सत्त्व मानने का प्रसग आजायगा और पर रूप से असत्त्व की तरह स्वरूप से भी असत्त्वग्रहण का प्रसग आजायगा साथ ही बौद्ध लोग जो त्रिरूप हेतु तथा नैयायिक पचरूप हेतु मानते है वे भी सत्त्व और असत्त्व की अपेक्षा से ही मानते है अर्थात्-हेतु का सपक्ष मे पाया जाना यह सत्त्व की अपेक्षा से और विपक्ष मे न पाया जाना यह असत्त्व की अपेक्षा से माना है उन्होने भी सत्त्व और असत्त्व को भिन्न-भिन्न ही माना है यदि ऐसा न मानकर सत्त्व और असत्त्व मे से किसी एक को ही मानते तो त्रिरूप व पचरूप हेतु की हानि होती अत उनके सिद्धान्त से भी सत्त्व का भेद ही सिद्ध होता है

शका—सत्त्व और असत्त्व को भले ही भिन्न-भिन्न मान ले किन्तु सत्त्वासत्त्व स्वरूप तीसरे भग को अलग मानने की क्या आवश्यकता ? क्यो कि जैसे घट और पट इन दोनो को अलग-अलग कहने पर या एक साथ उभय रूप से घट-पट कहने पर भी घट-पट का ही ज्ञान होता है, भिन्न ज्ञान नही होता है, अत 'स्यादस्ति और स्याद् नास्ति' मानने के बाद तीसरा भग अस्ति नास्ति मानना व्यर्थ है

समाधान—प्रत्येक की अपेक्षा उभयरूप समुदाय का भेद अनुभवसिद्ध है जैसे भिन्न घ और ट की अपेक्षा से समुदाय रूप 'घट' इस पद को सब वादियो ने भिन्न माना है यदि भिन्न नही माना जाय तो 'घ' इतना कहने मात्र से ही 'घट' का बोध हो जाना चाहिये जिस प्रकार प्रत्येक पुष्प की अपेक्षा से माला कथचित् भिन्न है उसी प्रकार क्रमार्पित 'उभय-रूप-सत्त्व असत्त्व', 'सत्त्व' और 'असत्त्व' की अपेक्षा से कथचित् भिन्न ही है
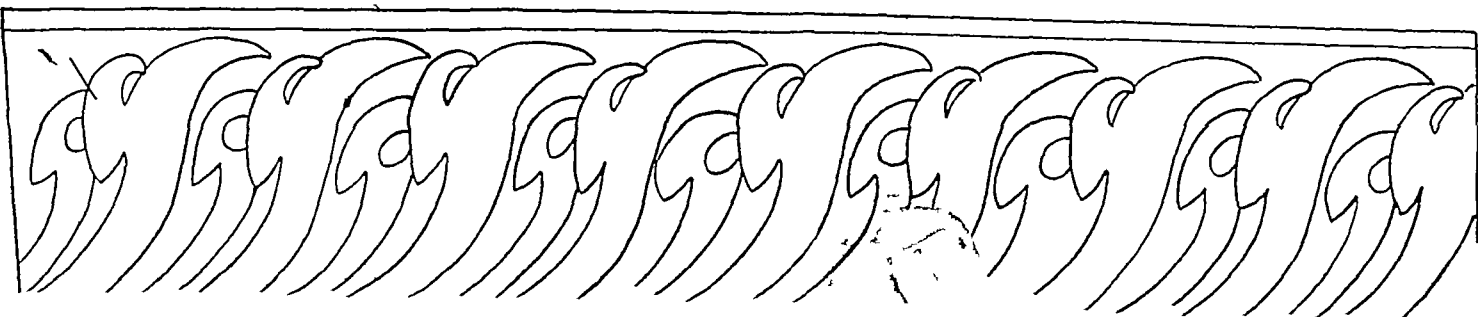
महत्त्व है अनेकान्त विधि विचार आदि अनेक अर्थों में 'स्यात्' शब्द का प्रयोग होता है किन्तु यहाँ पर केवल अनेकान्त के अर्थ में ही 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया है अनेकान्त अर्थात् अनेक धर्म स्वरूप

प्रश्न—स्यात् शब्द से ही जब अनेक धर्म-स्वरूप घट आदि पदार्थों का बोध हो जाता है तब अस्तित्व आदि शब्दों की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—स्यात् शब्द से अनेकान्त रूप अर्थ का सामान्य रूप से बोध होने पर भी विशेष रूप से अर्थ का बोध कराने के लिए वाक्य में अस्तित्व आदि अन्य शब्द का प्रयोग करना भी आवश्यक है अतः विवक्षित अर्थ का निश्चयपूर्वक ज्ञान करने के लिए जैसे 'एव' शब्द लगाना अनिवार्य है वैसे ही सर्वथा एकान्त पक्ष की व्यावृत्तिपूर्वक अनेकान्त रूप अर्थ का ज्ञान करने के लिए स्यात् शब्द का जोड़ना अनिवार्य है

प्रश्न—जो घट आदि पदार्थ हैं वे सभी अपने-अपने द्रव्य क्षेत्र काल और भाव से अस्तित्व रूप ही हैं न कि अन्य पदार्थ में गर्भित द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के कारण से अस्ति रूप हैं क्योंकि अन्य द्रव्य क्षेत्र काल भाव आदि की निवृत्ति तो अप्रमाण होने से अपने आप ही हो जाती है ऐसी अवस्था में 'स्यात्' शब्द जोड़ना निरर्थक है

उत्तर—किसी दृष्टिकोण से यह सत्य हो सकता है परन्तु जिस पदार्थ का विवेचन किया जा रहा है उसमें रही हुई अनेकान्तात्मक स्थिति किस शब्द से प्रकट होगी ? यह जानने के लिए और बतलाने के लिए एवं वस्तुस्थिति को ठीक समझने के लिए 'स्यात्' शब्द जोड़ना जरूरी है इसके सिवाय प्रत्येक द्रव्य में द्रव्यत्व अभेदवृत्ति से रहता है तथा पर्यायें भी अभेद के उपचार से द्रव्य के ही आश्रित होती हैं इस प्रकार द्रव्य अनेकान्त रूप वाला होता है यह स्थिति 'स्यात्' शब्द से प्रतीत होती है अतः सकलादेश सप्तभंगी और विकलादेश सप्तभंगी में 'स्यात्' शब्द जोड़ना अनिवार्य है

क्रम और यौगपद्य—सकलादेश प्रमाणात्मक वाक्यप्रणाली है और विकलादेश नयात्मक वाक्यप्रणाली सकलादेश प्रणाली घटादि रूप पदार्थ का सामूहिक रूप से पदार्थ में स्थित सभी धर्मों को एक रूप से काल आदि आठ द्वारों द्वारा अभेद वृत्ति से और अभेद रूप उपचार से विषय करती है जबकि विकलादेश प्रणाली काल आदि आठों द्वारों द्वारा भेद वृत्ति से और भेद रूप उपचार से पदार्थ में स्थित अनेक धर्मों में से किसी एक धर्म को ही अपेक्षा द्वारा वर्णन करती है

प्रश्न—क्रम और यौगपद्य से आपका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर—प्रत्येक पदार्थ में अस्तित्व और नास्तित्व आदि अनेक धर्म हैं उनका वर्णन देश काल आदि की अपेक्षा से जब करना हो तब केवल अस्तित्व आदि किसी एक शब्द के द्वारा उस पदार्थ में स्थित अनेक धर्मों का एक साथ वर्णन नहीं किया जा सकता है और न एक शब्द द्वारा ही उन सब धर्मों का कथन हो सकता है अतः निश्चित पूर्वापरभाव प्रणाली द्वारा अथवा अनुक्रम शैली द्वारा उस पदार्थ का कथन करना क्रमावृत्ति है क्रमावृत्ति से विपरीत यौगपद्य है पदार्थ में स्थित अस्तित्वादि अनेक धर्मों की काल आदि [illegible] एक शब्द के आधार से धर्मविशेष का कथन करके उसी से शेष धर्मों की स्थिति समझ ली जाती हो इस प्रकार का प्रतिपादन एक समय में भी सम्भव है इस तरह का जो वस्तुस्वरूप का निरूपण है वही यौगपद्य है

काल आदि आठ द्वार—१ काल २ आत्मरूप ३ अर्थ ४ सम्बन्ध ५ उपकार ६ गुणिदेश ७ संसर्ग और ८ शब्द इन आठ द्वारों से वस्तु के किसी एक धर्म से शेष धर्मों का अभेद माना जाता है

(१) [illegible] — [illegible] जिस काल में घट द्रव्य में अस्तित्व धर्म रहता है उसी काल में शेष अनन्त धर्म भी [illegible] है इस प्रकार एक काल [illegible] से शेष अनन्त धर्मों को अस्तित्व धर्म से अभिन्न [illegible] है

(२) [illegible] अस्तित्व [illegible] गुण [illegible] रहता है वैसे ही अन्य अनेक गुण—जैसे नास्तित्व आदि भी [illegible] रहते हैं [illegible] आत्मरूप [illegible] द्वारा [illegible]

उत्तर—यह कथन अयोग्य है, क्योकि ऐसा मानने पर तो स्याद्वाद-सिद्धान्त का विरोध होगा

प्रश्न—अन्य लोग यह शका करते है कि सप्तभगी के सप्तवाक्य अलग-अलग तो विकलादेश रूप ही है किन्तु सातो मिल कर सकलादेश रूप है

उत्तर—पृथक् पृथक् वाक्य सम्पूर्ण अर्थों के प्रतिपादक नही होने से विकलादेश है, यह कथन अयुक्त है, क्योकि ऐसा मानने पर तो सातो वाक्य भी विकलादेश हो जावेंगे कारण सातो वाक्य मिलकर भी सम्पूर्ण अर्थ के प्रतिपादक नही हो सकते सम्पूर्ण अर्थप्रतिपादक तो सकलश्रुतज्ञान ही हो सकता है सिद्धान्त के ज्ञाता तो यह कहते है कि अनन्त-धर्मात्मक सम्पूर्ण वस्तु के बोध कराने वाले वाक्य को सकलादेश और एक धर्मात्मिक वस्तु का बोध कराने वाले वाक्य को विकलादेश कहते है कहने का तात्पर्य यह है कि सकलादेश की दृष्टि मे पदार्थ अनन्त गुण रूप है, जब कि विकलादेश की दृष्टि मे पदार्थ एक गुण रूप है सकलादेश समष्टि रूप है, जब कि विकलादेश व्यष्टि रूप है परन्तु दोनो ही अपेक्षा पूर्वक पदार्थ की विवेचना करते है

'एव' पद की सार्थकता—इन सप्तभगो मे अन्य धर्मों का निषेध नही करके विधि-विषयक अर्थात् सत्ता के विषय मे बोध उत्पन्न कराने वाला वाक्य प्रथम भग है जैसे 'स्यात् अस्ति एव घट ' इसी प्रकार अन्य धर्म का निषेध न करके निषेध-बोध-जनक वाक्य द्वितीय भग है जैसे 'स्यात् नास्ति एव घट ' 'स्यादस्त्येव' मे अस्ति के बाद 'एव' लगाने का अर्थ यही है कि प्रत्येक पदार्थ स्वरूप की अपेक्षा से अस्तित्व रूप ही है न कि नास्तित्वरूप स्वरूप की अपेक्षा से नास्तित्व का निषेध करने के लिए ही 'एव' शब्द लगाया गया है बौद्धदर्शन का कथन है कि सभी शब्दो मे अन्य से व्यावृत्ति कराने की शक्ति होने से घट-पट आदि शब्दो द्वारा घट से भिन्न अथवा पट से भिन्न पदार्थो की व्यावृत्ति हो जाया करती है अत अवधारणवाचक 'एव' शब्द का प्रयोग करना व्यर्थ है

उत्तर—सामान्यत शब्द विधि रूप से ही अर्थ का बोध कराते है किन्तु सशय, अनिश्चय, अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि दोषो की निवृत्ति के लिए एव अन्य की व्यावृत्ति के लिए 'एव' शब्द का प्रयोग अनिवार्य है यह अवधारणवाचक 'एव' तीन प्रकार का होता है—

१—अयोगव्यवच्छेदबोधक अर्थात् धर्म-धर्मी के सबध को समान अधिकरण रूप से बतानेवाला, एव धर्म-धर्मी की एकाकारता, एकत्र-स्थिति-धर्मता अथवा एकरूपता बताने वाला 'एव' अयोग-व्यवच्छेदबोधक कहलाता है

२—अन्ययोगव्यवच्छेदबोधक—अर्थात् अधिकृत पदार्थ मे इष्ट धर्मो के अतिरिक्त अन्य पदार्थों का अथवा अन्य पदार्थों के धर्मों का अस्तित्व नही है, इस प्रकार दूसरे के सबध की निवृत्ति का बोधक 'एव' शब्द अन्ययोगव्यवच्छेदबोधक है

३—अत्यन्तायोगव्यवच्छेदबोधक—अर्थात् अत्यन्त असबध की व्यावृत्ति का ज्ञान करानेवाला 'एव' शब्द अत्यन्तायोग-व्यवच्छेदबोधक है यह दोषपूर्ण सबधो की एव इतर सबधो की भी सर्वथा व्यावृत्ति करता है

(१) यही 'एव' शब्द विशेषण के साथ लगा हुआ हो तो 'अयोग' की निवृत्ति का बोध कराने वाला होता है जैसे शख: पाण्डु एव—शख सफेद ही है यहाँ पर शख मे सफेद धर्म का ही विधान उसके असबध की व्यावृत्ति के लिए है यही अयोगनिवृत्ति है

(२) 'एव' शब्द विशेष्य के साथ लगा हो तो 'अयोग व्यवच्छेद रूप' अर्थ का बोध कराता है जैसे कि पार्थ एव धनुर्धर' अर्थात् धनुष्यधारी पार्थ ही है इस उदाहरण से पार्थ के सिवाय अन्य व्यक्तियो मे धनुर्धरत्व का व्यवच्छेद किया गया है

(३) यदि क्रिया के साथ 'एव' लगा हुआ हो तो वह 'अत्यन्तायोग के व्यवच्छेद का बोधक होता है जैसे 'नील सरोज भवत्येव—कमल नीला भी होता है यहाँ पर इतर वर्णों का निषेध न करते हुए नीलत्व धर्म का विधान भी है

'स्यात्' शब्द का प्रयोजन—सप्त-भगी वाक्य-रचना मे जितना 'एव' शब्द का महत्त्व है उतना ही 'स्यात्' शब्द का भी

(३) जैसे 'अस्तित्व' नामक गुण का घट द्रव्य आधार है वैसे ही अन्य अनन्त धर्मो का आधार भी वही घट द्रव्य है अत अर्थ की दृष्टि से अस्तित्व और अन्य गुणो मे अभेदवृत्ति है

(४) जैसे अस्तित्व नामक गुण का घट द्रव्य के साथ सम्बन्ध है वैसे ही अन्य गुणो का भी उसके साथ सम्बन्ध है, अत सम्बन्ध की दृष्टि मे भी अस्तित्व और अन्य गुणो मे अभेदवृत्ति है

(५) जैसे अस्तित्व नामक गुण पदार्थ के प्रति सत्ता के प्रदर्शन मे और अपनी विशिष्टता के सम्पादन मे सहायता करता है, वैसे ही अन्य गुण भी अस्तित्व की तरह अपनी अपनी क्रियारूप सहायता करते है और पदार्थ की विशिष्टता के सम्पादन मे सहयोग प्रदान करते है अत गुणो की 'उपकार' वृत्ति समान होने से उपकारदृष्टि से भी अभेदवृत्ति पाई जाती है

(६) जैसे अस्तित्व नामक गुण घट द्रव्य के जिस क्षेत्र मे रहता है उसी क्षेत्र मे अन्य शेष धर्म भी रहते है अत अस्तित्व की तरह अन्य धर्म भी एक ही देश मे रहने वाले होने से गुणिदेश की अपेक्षा से अभेदवृत्ति है

(७) जैसे—'अस्तित्व' नामक गुण का घट द्रव्य के साथ ससर्ग है वैसा ही शेष अनन्त धर्मो का भी एक ही वस्तुत्व स्वरूप से उसी घट के साथ ससर्ग है वह ससर्गदृष्टि मे अभेदवृत्ति हुई

प्रश्न—सबध और ससर्ग पर्यायवाची जैसे शब्द प्रतीत होते है, अत इनमे परस्पर मे क्या अन्तर है ?

उत्तर—जहाँ अभेदवृत्ति की प्रधानता हो और भेदवृत्ति की गौणता हो, वह 'सम्बन्ध' अभेदवृत्ति है और जहाँ भेद-वृत्ति की प्रधानता और अभेदवृत्ति की गौणता हो वह ससर्ग अभेदवृत्ति है अर्थात् भेद की गौणता और अभेद की प्रधानता 'सबध' है जबकि अभेद की गौणता और भेद की प्रधानता 'ससर्ग' है

(८) यह 'है' ऐसा शब्द जैसे अस्तित्व गुण वाले घट पदार्थ का वाचक है, वैसे ही शेष अनन्त गुणो वाले घट पदार्थ का वाचक भी यही है इस प्रकार सभी गुणो की एक शब्द द्वारा वाचकता सिद्ध करने वाली 'शब्द' नामक अभेद वृत्ति है

द्रव्यार्थिक नय की गौणता और पर्यायार्थिक नय की प्रधानता होने पर इस प्रकार के गुणो की अभेदवृत्ति की सभावना नही होती, जैसे—

(१) एक ही पदार्थ मे परस्पर विरोधी अनेक गुणो की स्थिति एक साथ मे होना असभव है, क्योकि प्रत्येक क्षण मे वस्तु का परिवर्त्तन होता रहता है वह कालकृत भिन्नता है

(२) नाना गुणो का स्वरूप परस्पर मे भिन्न होता है अत आत्मरूप अभेदवृत्ति परस्पर की भिन्नता मे नही पाई जाती है

(३) अपने आश्रय रूप अर्थ (पदार्थ) अनेक रूप होता हुआ पदार्थ रूप से सभी गुणो के लिए भिन्न-भिन्न रूपवाला ही है, क्योकि परस्पर मे विरोधी गुणो का एकत्र होना असभव है इस प्रकार अर्थ रूप से भिन्नता होती है

(४) सबधी के भेद से सबन्ध का भी भेद देखा जाता है, अत सबध से भी अभेदवृत्ति नही दिखाई देती है

(५) अनेक गुणो द्वारा किए हुए वा क्रियमाण, उपकार भी अनेक हैं, अत उपकार से भी अभेदवृत्ति नही दिखाई देती

(६) प्रत्येक गुण की अपेक्षा से गुणी के देश का भी भेद माना गया है अत गुणिदेश की अपेक्षा से भी भेदवृत्ति ही सिद्ध होती है

(७) ससर्ग की भिन्नता से ससर्गी मे भी भिन्नता आ जाती है, अत ससर्ग की दृष्टि से भी भेदवृत्ति सिद्ध होती है

(८) अर्थ के भेद होने से शब्द का भी भेद अनुभवसिद्ध है यदि शब्दभेद नही मानोगे तो वाच्य का अर्थभेद कैसे प्रतीत होगा ? अत शब्द से भी भेदवृत्ति सिद्ध होती है इस प्रकार पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से कथचित् भेद-रूप वर्णन होने

भी है। स्याद्वाद में स्यात् का अर्थ है—किसी अपेक्षा से किसी दृष्टि से और 'वाद' का अर्थ है—कथन करना। किसी अपेक्षा विशेष से वस्तु-तत्त्व का निर्वचन करना ही 'स्याद्वाद' है।

ही और भी का अन्तर'—अनेकान्तवाद की यह सर्वोपरि विशेषता है कि वह किसी वस्तु के एक पक्ष को पकड़कर यह नहीं कहता कि 'यह वस्तु एकान्ततः ऐसी ही है। वह तो 'ही' के स्थान पर 'भी' का प्रयोग करता है जिसका अर्थ है इस अपेक्षा से वस्तु का स्वरूप ऐसा भी है। 'ही' एकान्त है तो 'भी' वैमनस्य एवं संघर्ष के बीज का मूलतः उन्मूलन करके समता तथा सौहार्द के मधुर वातावरण का सृजन करती है। 'ही' में वस्तु-स्वरूप के दूसरे सत्यांशों का इनकार है तो 'भी' में इतर सब सत्यांशों का स्वीकार है। 'ही' से सत्य का द्वार बन्द हो जाता है, तो 'भी' में सत्य का प्रकाश आने के लिए समस्त द्वार अनावृत रहते हैं।

जितने भी एकान्तवादी वचन हैं वे सब वस्तु-स्वरूप के सम्बन्ध में एक पक्ष को सर्वथा प्रधानता दे कर ही किसी तथ्य का प्रतिपादन करते हैं। वस्तु-स्वरूप के सम्बन्ध में उदारमना होकर विविध दृष्टि-कोणों से विचार करने की कला उनके पास प्राय: नहीं होती। यही कारण है कि उनका दृष्टिकोण अथवा कथन 'जन-हिताय' न होकर 'जन-विनोदाय' हो जाता है। इस के विपरीत जैन-दर्शन के तत्त्व-पारखी आचार्यों ने खुले मन-मस्तिष्क से वस्तु-स्वरूप पर अनेक दृष्टि-बिन्दुओं से विचार करके चौमुखी सत्य को आत्मसात् करने का दूरगामी यत्न किया है। अतः उनका दृष्टिकोण सत्य का दृष्टिकोण है, शान्ति का दृष्टि-कोण है, जन हित का दृष्टि-कोण है, सह-अस्तित्व का दृष्टि-कोण है। उदाहरण के लिए, आत्म-तत्त्व को ही ले लीजिए। सांख्य-दर्शन आत्मा को कूटस्थ (एकान्त एकरस) नित्य ही मानता है। उसका कहना है—'आत्मा सर्वथा नित्य ही है'। बौद्ध-दर्शन का कथन है—"आत्मा अनित्य (क्षणिक) ही है"। आपस में दोनों का विरोध है। दोनों का उत्तर-दक्षिण का रास्ता है। पर जैन-दर्शन कभी एक करवट नहीं पड़ता। उसका विचार है—यदि आत्मा एकान्त नित्य ही है तो उसमें क्रोध, अहंकार, माया तथा लोभ के रूप में रूपान्तर होता हुआ कैसे दीख पड़ता है? नारक, देवता, पशु और मनुष्य के रूप में परिवर्तन क्यों होता है आत्मा का? कूटस्थ नित्य में तो किसी भी प्रकार पर्याय-परिवर्तन अथवा हेर-फेर नहीं होना चाहिए। पर परिवर्तन होता है—यह दिन के उजेले की तरह स्पष्ट है। अतः 'आत्मा नित्य ही है'—यह कथन भ्रान्त है और, यदि आत्मा सर्वथा अनित्य ही है तो 'यह वस्तु वही है जो मैंने पहले देखी थी'—ऐसा एकत्व-अनुसन्धानात्मक प्रत्यभिज्ञान नहीं होना चाहिए। परन्तु, प्रत्यभिज्ञान तो अबाध रूप से होता है, अतः आत्मा सर्वथा अनित्य (क्षणिक) ही है—यह मान्यता भी त्रुटिपूर्ण है। जीवन में एक करवट पड़कर 'ही' के रूप में हम वस्तु-स्वरूप का तथ्य-निर्णय नहीं कर सकते। हमें तो 'भी' के द्वारा विविध पहलुओं से सत्य के प्रकाश का स्वागत करना चाहिए और इस सत्यात्मक दृष्टि से आत्मा नित्य 'भी' है, द्रव्य की दृष्टि से आत्मा नित्य है और पर्याय की दृष्टि से आत्मा अनित्य है।

कहने का तात्पर्य यह है कि 'ही' के एकान्त प्रयोग से सत्य का तिरस्कार एवं बहिष्कार होता है। आपस में वैर-विरोध, कलह-क्लेश तथा वादविवाद बढ़ते हैं और 'भी' से ये सब द्वन्द्व एकदम शान्त हो जाते हैं। 'ही' से संघर्ष एवं विवाद कैसे उत्पन्न हो जाते हैं, इस विषय में एक बड़ा सुन्दर कथानक है। दो आदमी नाच देखने गए, एक अन्धा दूसरा बहरा। रातभर तमाशा देखकर सुबह वे दोनों अपने घर वापस लौट रहे थे। रास्ते में एक आदमी पूछ बैठा—क्यों भाई नाच कैसा था? अन्धे ने कहा—आज केवल गाना ही हुआ है, नाच तो कल होगा। बहरा बोला—'अरे आज तो नाच ही हुआ है, गाना तो कल होगा। दोनों लगे अपनी-अपनी तानने। मैं-तू के साथ खींचतान और कहा-सुनी हो गयी और मार-पीट तक की नौबत आ गयी।

बस अनेकान्तवाद यही कहता है कि एक ही दृष्टि-कोण अपना कर अन्धे बहरे मत बनो। दूसरे की भी सुनो—दूसरों के दृष्टि-बिन्दु को भी देखो-परखो। तमाशे में हुई थी दोनों चीजें—नाच भी और गाना भी। पर अन्धा नाच न देख सका और बहरा गाना न सुन सका। 'आज गाना 'ही' हुआ है अथवा नाच 'ही' हुआ है'—इस 'ही' के झमेले में पड़कर दोनों उलझ गए—दोनों में लड़ाई ठन गई। यदि वे एक-दूसरे को देख लेते, समझ लेते और 'ही' के चक्कर में पड़कर

श्रीसुरेश मुनि, शास्त्री, साहित्यरत्न
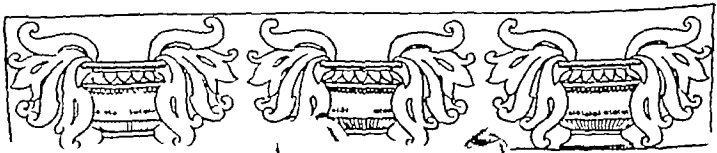
अनेकान्तवाद
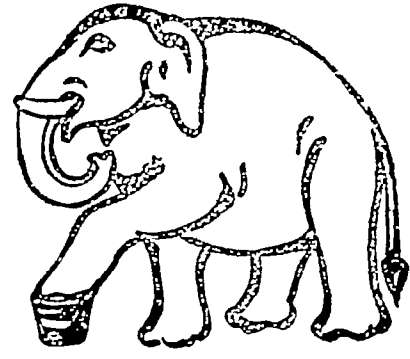
जैन तत्त्व-ज्ञान का मूलाधार—मानव-जीवन का सर्वतोमुखी उन्नयन एव विकास करने के लिए श्रमण भगवान् महावीर की अहिंसा त्रिवेणी के रूप मे प्रवाहित हुई थी पहली जीव-दयारूपी अहिंसा-जिसके द्वारा स्व-पर के क्लेश तथा मन-स्ताप को शान्त करने के लिए, जीवन के कण-कण मे दया, करुणा, मैत्री, उदारता तथा आत्मोपमता का निर्मल झरना बहने लगता है दूसरी, अनेकान्त रूपी बौद्धिक अहिंसा—जिसके द्वारा विचारो का वैषम्य, मालिन्य एव कालुष्य धुलकर पारस्परिक विचारसघर्ष तथा शुष्कवाद-विवाद का नामशेष हो जाता है और अन्तर्मन मे पारस्परिक सौहार्द तथा शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का प्रकाश चमकने लगता है तीसरी, तपस्यारूपी आत्मिक अहिंसा—जिसके द्वारा पूर्व-सञ्चित कर्म-मल का शोधन-परिशोधन करके आत्मा को माजा जाता है, पूर्णत शुद्ध, स्वच्छ, निर्मल तथा साफ किया जाता है उपर्युक्त विचार-पृष्ठभूमि मे अनेकान्तवाद जैन-सस्कृति का तत्त्व-ज्ञान-निरूपण का मूलाधार है जैन-सस्कृति मे जो भी बात कही गयी है, वह अनेकान्तात्मक विचार एव स्याद्वाद की भाषा मे तोलकर ही कही गयी है । इसी दृष्टिबिन्दु से सस्कृति के क्षेत्र मे जैन-सस्कृति का दूसरा नाम 'अनेकान्त-सस्कृति' भी है

अनेकान्त का स्वरूप—जैन-सस्कृति का मन्तव्य है कि प्रत्येक वस्तु के अनन्त पक्ष है उन पक्षो को जैनदर्शन की भाषा मे धर्म कहते है इस दृष्टि से ससार की प्रत्येक वस्तु अनन्त-धर्मा है —

"अनन्तधर्मात्मक वस्तु"—स्याद्वादमजरी

अनेकान्त मे 'अनेक' और 'अन्त' ये दो शब्द है 'अनेक' का अर्थ अधिक—बहुत और 'अन्त' का अर्थ धर्म अथवा दृष्टि है किसी भी पदार्थ को अनेक दृष्टियो से देखना, किसी भी वस्तु-तत्त्व का भिन्न-भिन्न अपेक्षाओ से पर्यालोचन करना 'अनेकान्त' है एक ही पदार्थ मे भिन्न-भिन्न वास्तविक धर्मों का सापेक्ष रूप से स्वीकार करने का नाम "अनेकान्त' है

जैन-सस्कृति मे एक ही दृष्टि-बिन्दु से पदार्थ के पर्यालोचन करने की पद्धति को एकागी, अधूरा एव अप्रामाणिक माना गया है, और एक ही वस्तु के विषय मे भिन्न-भिन्न अपेक्षाओ से कथन करने की विचार-शैली को पूर्ण तथा प्रामाणिक स्वीकार किया गया है इस सापेक्ष विचारपद्धति का नाम ही वस्तुत अनेकान्तवाद है अपेक्षावाद, कथचिद्वाद, स्याद्वाद, अनेकान्तवाद ये सब शब्द प्राय एक ही अर्थ के वाचक हैं

अनन्त-धर्मात्मक वस्तु को यदि कोई एक ही धर्म मे सीमित करना चाहे, किसी एक धर्म के द्वारा होने वाले ज्ञान को ही वस्तु का ज्ञान समझ बैठे, तो इससे वस्तु का यथार्थ स्वरूप बुद्धि-गत नही हो सकता कोई भी कथन अथवा विचार निरपेक्ष स्थिति मे सत्यात्मक नही हो सकता सत्य होने के लिए उसे अपने से अन्य विचार-पक्ष की अपेक्षा रखनी ही पडती है साधारण ज्ञान, वस्तु के कुछ धर्मों—पहलुओ तक ही सीमित रहता है केवल ज्ञान की स्थिति मे ज्ञान के परिपूर्ण होने पर ही वस्तु के अनन्त धर्मों का ज्ञान होना सभव है दूसरे शब्दो मे, केवलज्ञान ही वस्तु स्वरूप को समग्र रूप मे साक्षात् कर सकता है इस पूर्ण ज्ञान को ही जैन-सस्कृति मे प्रमाण माना गया है । इसके अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार का ज्ञान अपूर्ण एव सापेक्ष है सापेक्ष स्थिति मे ही वह सत्य हो सकता है, निरपेक्ष स्थिति मे नही हाथी को खभे जैसा बतलाने वाला अन्धा व्यक्ति अपने दृष्टि-बिंदु से सच्चा है, परन्तु हाथी को रस्से-जैसा कहने वाले दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा से सच्चा नही हो सकता हाथी का समग्र ज्ञान करने के लिए, समूचे हाथी का ज्ञान कराने वाली सभी दृष्टियो की अपेक्षा रहती है इसी अपेक्षादृष्टि के कारण 'अनेकान्तवाद' का नाम अपेक्षावाद और स्याद्वाद

अपनी-अपनी न तानते, तो कोई बात ही न होती, सघर्ष की नौबत ही न आ पाती अनेकान्तवाद परस्पर मे सघर्ष उत्पन्न कराने वाली 'ही' का उन्मूलन करके उसके स्थान पर 'भी' का प्रयोग करने की बलवती प्रेरणा प्रदान करता है अनेकान्त कानेपन को मिटाता है —जैन-दर्शन की अनेकान्तदृष्टि मानव-मन को यही प्रकाश देती है कि मनुष्य को दो आखें मिली है अत एक आँख से वह अपना, तो दूसरी से विरोधियो—दूसरो का सत्य देखे जितनी भी वचन-पद्धतिया अथवा कथन के प्रकार हैं, उन सब का लक्ष्य सत्य के दर्शन कराना है जैसे द्वितीया के चन्द्रमा का दर्शन करने वाले व्यक्तियो मे से कोई एक तो ऐसा बतलाता है कि—"चन्द्रमा उस वृक्ष की टहनी से ठीक एक बित्ता ऊपर है" दूसरा व्यक्ति कहता है—"चन्द्रमा इस मकान के कोने से सटा हुआ है" तीसरा बोलता है—"चन्द्रमा उस उडते पक्षी के दोनो पखो के बीच मे से दीख रहा है" चौथा व्यक्ति सकेत करके कहता है—"चन्द्रमा ठीक मेरी अगुली के सामने नजर आ रहा है" इन सभी व्यक्तियो का लक्ष्य चन्द्र-दर्शन कराने का है और वे अपनी साफ नीयत से ही, अपनी-अपनी प्रक्रिया बतला रहे है पर एक-दूसरे के कथन मे परस्पर आकाश-पाताल का अन्तर है

ठीक इसी प्रकार सत्य-गवेषी दार्शनिक विचारको का एक ही उद्देश्य है—साधको को सत्य का साक्षात्कार कराना सब अपने-अपने दृष्टि-बिन्दु से सत्य की व्याख्या कर रहे है परन्तु, उनके कथन मे भेद है 'अनेकान्त' की सतेज आँख से ही उन तथ्याशो के प्रकाश को देखा-समझा जा सकता है

वस्तुत अनेकान्तवाद सत्य का सजीव भाष्य है यह सत्य की खोज करने और पूर्ण सत्य की मज़िल पर पहुँचने के लिए प्रकाशमान महा मार्ग है दूसरे शब्दो मे, जैन-दर्शन का अनेकान्त-विचार, सब दिशाओ से खुला हुआ वह दिव्य मानस-नेत्र है, जो अपने से ऊपर उठकर दूर-दूर तक के तथ्यो को देख लेता है अनेकान्त मे एकागिता तथा सकीर्णता को पैर टेकने के लिए जरा भी स्थान नही है यहाँ तो मन का तटस्थ-भाव एव हृदय की उदारता ही सर्वोपरि मान्य है यहाँ स्व-दृष्टि नगण्य है, हेय है और सत्य-दृष्टि प्रधान है, उपादेय है जो भी सच्चाई है, वह मेरी है, चाहे वह किसी भी जाति, व्यक्ति अथवा शास्त्र मे क्यो न हो—यह ज्योतिष्मती दिशा है, अनेकान्त के महान् सिद्धान्त की

अनेकान्तवाद का आदर्श है कि, सत्य अनन्त है हम अपने इधर-उधर चारो ओर से जो कुछ भी देख-जान पाते हैं, वह सत्य का पूर्ण रूप नही, प्रत्युत अनन्त सत्य का स्फुलिंग है, अश-मात्र है अत जैन-धर्म की अनेकान्त-धारा, मनुष्य को सत्य-दर्शन के लिए आखें खोलकर सब ओर देखने की दूरगामी प्रेरणा प्रदान करती है उसका कहना है कि, सारे ससार को तुम अपने ही विचार की आँखो से मत देखो-परखो दूसरे को हमेशा उसकी आँख से देखिए, उसके दृष्टि-कोण से परखिए सत्य वही और उतना ही नही है जो-जितना आप देख पाए है फिर भी यह तो सम्भव है कि हाथी के स्वरूप का वर्णन करने वाले वे छहो अन्धे व्यक्ति अपने-आप मे शत-प्रतिशत सच्चे होकर भी इसलिए अधूरे हो कि एक ने हाथी को देखा था सूड की तरफ से, दूसरे ने पूछ की तरफ से, तीसरे ने देखा था पेट छूकर, चौथे ने देखा था कान पकडकर, पाँचवें ने देखा था दातो की ओर से और छठे ने पाव की तरफ से जीवन के इस कानेपन को, एकागी सत्य को देखने की वृत्ति को ही तो दूर करता है—अनेकान्तवाद ! काना व्यक्ति एक ओर के सत्य को ही देख सकता है सत्य का दूसरा पहलू, वस्तुतत्त्व की दूसरी करवट उसकी आँख से लुप्त ही रहती है !

एक पुरानी लोक-कथा है किसी मा का काना बेटा हरद्वार गया लौटा तो मा ने पूछा—हरद्वार मे तुझे सब से अच्छा क्या लगा रे ? कौन-सी नयी चीज देखी तूने वहाँ पर ? गाव के भोले बेटे ने तब तक कही बाजार देखा नही था ! बोला मा, मैंने नयी बात यही देखी कि हरद्वार का बाजार घूमता है माँ हरद्वार हो आई थी चौंक कर उसने पूछा कैसे घूमता है रे हरद्वार का बाजार ?

बेटे ने नए सिरे से आश्चर्य मे डूबकर कहा मा, जब मैं हर की पैडी नहाने गया तो बाजार इधर था और नहाकर लौटा तो देखा—बाजार उधर हो गया

रूठ कर भी माँ हँस पड़ी और अपने भोले बेटे को छाती से लगा लिया।

बाजार तो दोनों ओर था परन्तु कानेपन के कारण वह माँ का भोला बेटा एक ओर ही देख सका। ऐसे ही वे विचारक भी काने ही हैं जो एकान्त के भ्रमजाल में पड़कर अपनी एक दृष्टि—आँख से वस्तु-स्वरूप के सत्य को देखने का यत्न करते हैं। वे वस्तु-स्वरूप के एक-एक पहलू को ही देख पाते हैं पर वह सत्य होता है दूसरी ओर भी। अपने कानेपन के कारण दूसरी ओर का सत्य उन्हें दीख नहीं पड़ता। एकान्त का पक्षाग्रह भला प्रकाश का दर्शन कैसे कर सकता है?

अनेकान्तवाद मनुष्य की दृष्टि के इस कानेपन को मिटाकर, वस्तु-स्वरूप को विविध दृष्टियों से देखने की प्रेरणा प्रदान करता है। अपने घर के आँगन में खड़ा व्यक्ति अपने ऊपर ही प्रकाश देखता है। छत पर चढ़कर देखे तो सब जगह प्रकाश ही प्रकाश। अनेकान्त खिड़की या आँगन का धर्म नहीं, छत का धर्म है।

पदार्थ के त्रिरूप स्वरूप की झाँकी—जैन-दर्शन की विचारधारा के अनुसार जगत् के सब पदार्थ उत्पत्ति, विनाश और स्थिति—इन धर्मों से युक्त हैं। आगम की भाषा में इन्हें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य कहते हैं। वस्तु में जहाँ उत्पत्ति तथा विनाश की अनुभूति होती है वहाँ उसकी स्थिरता का भान भी स्पष्ट होता है। सुनार के पास सोने का कंगन है। उसने उस कंगन को तोड़कर मुकुट बना लिया। इससे कंगन का विनाश हुआ और मुकुट की उत्पत्ति हुई। परन्तु उत्पत्ति-विनाश की इस लीला में मूल-तत्त्व सोने का अस्तित्व तो बराबर बना रहा। वह ज्यों-का-त्यों अपनी स्थिति में विद्यमान रहा। इससे यह तथ्य निखर कर ऊपर आया कि उत्पत्ति और विनाश केवल आकार विशेष का होता है, न कि मूल-वस्तु का। मूल वस्तु तो हजार-हजार परिवर्तन होने पर भी अपने स्वरूप से च्युत नहीं होती। कंगन और मुकुट सोने के आकार-विशेष हैं। इस आकार विशेष के ही उत्पत्ति एवं विनाश देखे जाते हैं। पुराने आकार का नाश हो जाता है और नए आकार की उत्पत्ति हो जाती है। अतः उत्पत्ति, विनाश और स्थिति तीनों ही पदार्थ के स्वभाव सिद्ध हुए। सोने में कंगन के आकार का विनाश, मुकुट की उत्पत्ति और सोने की स्थिति ये तीनों धर्म एक साथ मौजूद हैं। संसार का कोई भी पदार्थ मूलतः नष्ट नहीं होता, वह केवल अपना रूप बदलता रहता है। इस रूपान्तर का नाम ही उत्पत्ति और विनाश है और पदार्थ के मूल-स्वरूप का नाम स्थिति है।

उत्पत्ति, विनाश और स्थिति—ये तीनों गुण प्रत्येक पदार्थ के स्वाभाविक धर्म हैं। इस तथ्य को हृदयंगम कराने के लिए जैन-दर्शन के ज्योतिर्धर विचारकों ने एक बहुत सुन्दर रूपक हमारे सामने प्रस्तुत किया है। तीन व्यक्ति मिलकर किसी सुनार की दुकान पर गए। उनमें से एक को सोने के घड़े की जरूरत थी, दूसरे को मुकुट की और तीसरे को मात्र सोने की। वहाँ जाकर वे क्या देखते हैं कि सुनार सोने के घड़े को तोड़कर उसका मुकुट बना रहा है। सुनार की इस प्रवृत्ति को देखकर उन तीनों व्यक्तियों में अलग-अलग भाव धाराएँ उत्पन्न हुईं। जिस व्यक्ति को सोने के घड़े की चाह थी वह घड़े को टूटा हुआ देखकर शोक-सन्तप्त हो गया। जिसे मुकुट की आवश्यकता थी वह हर्ष से नाच उठा। और जिस व्यक्ति को केवल सोने की जरूरत थी उसे न शोक हुआ और न हर्ष ही। वह तटस्थ भाव में स्थिर रहा।

उन तीनों व्यक्तियों में यह भिन्न-भिन्न भावों की तरंग क्यों उठी? यदि वस्तु उत्पत्ति, विनाश तथा स्थिति से युक्त न होती तो उनके मानस में इस प्रकार की भाव-धाराएँ कभी न उभरतीं। घड़ा चाहने वाले व्यक्ति के मन में घड़े के नाश से शोक हुआ, मुकुट की इच्छा वाले को हर्ष हुआ और मात्र सोना चाहने वाले को शोक या प्रमोद कुछ भी नहीं हुआ क्योंकि सोना तो घड़े के विनाश और मुकुट की उत्पत्ति दोनों ही अवस्थाओं में विद्यमान है। अतः यह मानना ही होगा कि अलग-अलग भावनाओं के भेद का कारण वस्तु में उत्पत्ति, विनाश और स्थिति तीनों धर्मों का होना है।

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्॥ —समन्तभद्र, आप्तमीमांसा

वस्तु के इस त्रयात्मक रूप को और अधिक स्पष्ट करने के लिए एक दूसरा उदाहरण भी जैन-दर्शनकारो ने उपस्थित किया है किसी व्यक्ति ने दूध को ही ग्रहण करने का नियम ले लिया है, वह दही नही खाता और जिसने दही ग्रहण करने का ही व्रत लिया है वह दूध ग्रहण नही करता, परन्तु जिसने गोरस-मात्र का त्याग कर दिया है, वह न दूध लेता है और न दही ही खाता है इस नियम के अनुसार दूध का विनाश, दही की उत्पत्ति और गोरस की स्थिरता, ये तीनो तत्त्व अच्छी तरह प्रमाणित हो जाते है दही के रूप मे उत्पाद, दूध के रूप का विनाश और गोरस के रूप मे ध्रौव्य, तीनो तत्त्व एक ही वस्तु मे स्पष्टत अनुभव मे आते है—

पयोव्रतो न दध्यत्ति, न पयोऽत्ति दधिव्रत,
अगोरसव्रतो नोभे, तस्मात्तत्त्व त्रयात्मकम् ।—वही पूर्वोक्त

पदार्थ के उत्पत्ति, विनाश और स्थिति, इन तीनो धर्मो से यह स्पष्ट हो जाता है कि, वस्तु का एक अश बदलता रहता है—उत्पन्न और विनष्ट होता रहता है तथा दूसरा अश अपने रूप मे बना रहता है वस्तु का जो अश उत्पन्न एव नष्ट होता रहता है, उसे जैन-दर्शन की भाषा मे 'पर्याय' कहा जाता है और जो अश स्थिर रहता है वह 'द्रव्य' कहलाता है कगन से मुकुट बनाने वाले उदाहरण मे, कगन तथा मुकुट तो 'पर्याय' है और सोना 'द्रव्य' है द्रव्य की दृष्टि से विश्व का प्रत्येक पदार्थ नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है मिट्टी का घडा नित्य भी है और अनित्य भी है घडे का जो आकार है, वह विनाशी है, अनित्य है, परन्तु घडे की मिट्टी अविनाशी है, नित्य है क्योकि, आकार-रूप मे, घडे का नाश होने पर भी, मिट्टी-रूप तो विद्यमान रहता ही है मिट्टी के पर्याय-आकार परिवर्तित होते रहते है किन्तु मिट्टी के परमाणु सर्वथा नष्ट नही होते

यही बात वस्तु के 'सत्' और असत्' धर्म के सम्बन्ध मे भी है कुछ विचारको का मत है कि वस्तु सर्वथा 'सत्' है और कुछ का कहना है कि वस्तु सर्वथा 'असत्' है किन्तु जैन-दर्शन के महान् आचार्यों का मन्तव्य है कि प्रत्येक पदार्थ सत् भी है और असत् भी दूसरे शब्दो मे, वस्तु है भी और नही भी अपने स्वरूप की दृष्टि से वस्तु 'सत्' है और पर स्वरूप की दृष्टि से 'असत्' है घट अपने स्वरूप की अपेक्षा से 'सत्' है, विद्यमान है, परन्तु पट के स्वरूप की अपेक्षा से घट असत् है, अविद्यमान है ब्राह्मण 'ब्राह्मणत्व' की दृष्टि से 'सत्' है, लेकिन क्षत्रियत्व की दृष्टि से 'असत्' है प्रत्येक पदार्थ का अस्तित्व अपनी सीमा के अन्दर है, सीमा से बाहर नही यदि प्रत्येक वस्तु प्रत्येक वस्तु के रूप मे सत् ही हो जाए, तो फिर विश्व-पट पर कोई व्यवस्था ही न रहे एक ही वस्तु सर्व-रूप हो जाए

अनेकान्तवाद 'सशयवाद नहीं हे—अनेकान्तवाद के सम्बन्ध मे अजैन जगत् मे कितनी ही भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं किसी का विचार है कि अनेकान्तवाद सशयवाद है परन्तु जैन-दर्शन के दृष्टिबिन्दु से यह सत्य से हजार कोस परे की बात है सशय तो उसे कहते हैं जो किसी भी बात का निर्णय न कर सके अधेरे मे कोई वस्तु पडी हैं उसे देखकर अन्तर्मन मे यह विचार आना कि "कि यह रस्सी है या साप ?" इस अनिर्णीत स्थिति का नाम है सशय इसमे 'रस्सी' अथवा 'साप' किसी का भी निश्चय नही हो पाता कोई वस्तु किसी निश्चयात्मक रूप से न समझी जाए, यही तो 'सशय' का स्वरूप है परन्तु अनेकान्तवाद मे तो 'सशय' जैसी कोई स्थिति है ही नही वह तो सशय का मूलोच्छेद करने वाला निश्चितवाद है यहा जिस अपेक्षा से जो बात कही जाती है, उस अपेक्षा से वह बात वैसी ही है यह सौ फी सदी निश्चित है 'अनेकान्तवाद' अपेक्षा की दृष्टि से अपनी बात जोर देकर 'ही' पूर्वक कहता है उदाहरण के तौर पर, अनेकान्तवादी द्रव्य की दृष्टि से आत्मा को नित्य ही मानता है और पर्याय की दृष्टि से 'अनित्य' ही मानता है द्रव्य की दृष्टि से आत्मा नित्य भी है और अनित्य भी है अथवा पर्याय की अपेक्षा से आत्मा अनित्य भी है और नित्य भी है—ऐसे अनिश्चयात्मक घपले की बात अनेकान्तवादी कभी नही कहता-मानता 'ही —पूर्वक अपनी बात को कहता हुआ भी, वह 'स्यात्' पद का प्रयोग इसलिए करता है कि आत्मा द्रव्य की दृष्टि से जैसे नित्यत्व धर्म वाला है, उसी प्रकार पर्याय की दृष्टि से अनित्यत्व-धर्म वाला भी है सत्य का यह पहलू कही आंखो से लुप्त न हो जाए यदि यह सत्य-दृष्टि विचारक के मानस-नेत्र से ओझल हो जाए तो फिर वहा एकान्तवाद आकर अपना आसन जमा

वस्तु के इस त्रयात्मक रूप को और अधिक स्पष्ट करने के लिए एक दूसरा उदाहरण भी जैन-दर्शनकारो ने उपस्थित किया है किसी व्यक्ति ने दूध को ही ग्रहण करने का नियम ले लिया है, वह दही नही खाता और जिसने दही ग्रहण करने का ही व्रत लिया है वह दूध गहण नही करता, परन्तु जिसने गोरस-मात्र का त्याग कर दिया है, वह न दूध लेता है और न दही ही खाता है इस नियम के अनुसार दूध का विनाश, दही की उत्पत्ति और गोरस की स्थिरता, ये तीनो तत्त्व अच्छी तरह प्रमाणित हो जाते है दही के रूप मे उत्पाद, दूध के रूप का विनाश और गोरस के रूप मे ध्रौव्य, तीनो तत्त्व एक ही वस्तु मे स्पष्टत अनुभव मे आते हैं—

पयोव्रतो न दध्यत्ति, न पयोऽत्ति दधिव्रत,
अगोरसव्रतो नोभे, तस्मात्तत्त्व त्रयात्मकम् ।—वही पूर्वोक्त

पदार्थ के उत्पत्ति, विनाश और स्थिति, इन तीनो धर्मो से यह स्पष्ट हो जाता है कि, वस्तु का एक अश बदलता रहता है—उत्पन्न और विनष्ट होता रहता है तथा दूसरा अश अपने रूप मे बना रहता है वस्तु का जो अश उत्पन्न एव नष्ट होता रहता है, उसे जैन-दर्शन की भाषा मे 'पर्याय' कहा जाता है और जो अश स्थिर रहता है वह 'द्रव्य' कहलाता है कगन से मुकुट बनाने वाले उदाहरण मे, कगन तथा मुकुट तो 'पर्याय' है और सोना 'द्रव्य' है द्रव्य की दृष्टि से विश्व का प्रत्येक पदार्थ नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है मिट्टी का घडा नित्य भी है और अनित्य भी है घडे का जो आकार है, वह विनाशी है, अनित्य है, परन्तु घडे की मिट्टी अविनाशी है, नित्य है क्योकि, आकार-रूप मे, घडे का नाश होने पर भी, मिट्टी-रूप तो विद्यमान रहता ही है मिट्टी के पर्याय-आकार परिवर्तित होते रहते है किन्तु मिट्टी के परमाणु सर्वथा नष्ट नही होते

यही बात वस्तु के 'सत्' और असत्' धर्म के सम्बन्ध मे भी है कुछ विचारको का मत है कि वस्तु सर्वथा 'सत्' है और कुछ का कहना है कि वस्तु सर्वथा 'असत्' है किन्तु जैन-दर्शन के महान् आचार्यों का मन्तव्य है कि प्रत्येक पदार्थ सत् भी है और असत् भी दूसरे शब्दो मे, वस्तु है भी और नही भी अपने स्वरूप की दृष्टि से वस्तु 'सत्' है और पर स्वरूप की दृष्टि से 'असत्' है घट अपने स्वरूप की अपेक्षा से 'सत्' है, विद्यमान है, परन्तु पट के स्वरूप की अपेक्षा से घट असत् है, अविद्यमान है ब्राह्मण 'ब्राह्मणत्व' की दृष्टि से 'सत्' है, लेकिन क्षत्रियत्व की दृष्टि से 'असत्' है प्रत्येक पदार्थ का अस्तित्व अपनी सीमा के अन्दर है, सीमा से बाहर नही यदि प्रत्येक वस्तु प्रत्येक वस्तु के रूप मे सत् ही हो जाए, तो फिर विश्व-पट पर कोई व्यवस्था ही न रहे एक ही वस्तु सर्व-रूप हो जाए

अनेकान्तवाद 'सशयवाद नही है'—अनेकान्तवाद के सम्बन्ध मे अजैन जगत् मे कितनी ही भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं किसी का विचार है कि अनेकान्तवाद सशयवाद है परन्तु जैन-दर्शन के दृष्टिविन्दु से यह सत्य से हजार कोस परे की बात है सशय तो उसे कहते हैं जो किसी भी बात का निर्णय न कर सके अधेरे मे कोई वस्तु पडी है उसे देखकर अन्तर्मन मे यह विचार आना कि "कि यह रस्सी है या साप ?" इस अनिर्णीत स्थिति का नाम है सशय इसमे 'रस्सी' अथवा 'साप' किसी का भी निश्चय नही हो पाता कोई वस्तु किसी निश्चयात्मक रूप से न समझी जाए, यही तो 'सशय' का स्वरूप है परन्तु अनेकान्तवाद मे तो 'सशय' जैसी कोई स्थिति है ही नही वह तो सशय का मूलोच्छेद करने वाला निश्चितवाद है यहा जिस अपेक्षा से जो बात कही जाती है, उस अपेक्षा से वह बात वैसी ही है यह सौ फी सदी निश्चित है 'अनेकान्तवाद' अपेक्षा की दृष्टि से अपनी बात जोर देकर 'ही' पूर्वक कहता है उदाहरण के तौर पर, अनेकान्तवादी द्रव्य की दृष्टि से आत्मा को नित्य ही मानता है और पर्याय की दृष्टि से 'अनित्य' ही मानता है द्रव्य की दृष्टि से आत्मा नित्य भी है और अनित्य भी है अथवा पर्याय की अपेक्षा से आत्मा अनित्य भी है और नित्य भी है—ऐसे अनिश्चयात्मक घपले की बात अनेकान्तवादी कभी नही कहता-मानता 'ही'—पूर्वक अपनी बात को कहता हुआ भी, वह 'स्यात्' पद का प्रयोग इसलिए करता है कि आत्मा द्रव्य की दृष्टि से जैसे नित्यत्व धर्म वाला है, उसी प्रकार पर्याय की दृष्टि से अनित्यत्व-धर्म वाला भी है सत्य का यह पहलू कही आंखो से लुप्त न हो जाए यदि यह सत्य-दृष्टि विचारक के मानस-नेत्र से ओझल हो जाए तो फिर वहा एकान्तवाद आकर अपना आसन जमा

सता है और एकान्तवाद' से तत्त्व की सत्य की पूर्ण झांकी कभी मिल नहीं सकती अतः जैन-दर्शन का अनेकान्तवाद 'संशयवाद' नहीं प्रत्युत वस्तु तत्त्व का यथार्थ निर्णय करने वाला सुनिश्चितवाद है

अनेकान्तवाद असत्समन्वयवाद नहीं —कुछ आधुनिक शिक्षा-दीक्षा में पले हुए विचारकों का कहना है कि अनेकान्तवाद कोरा समन्वयवाद है जैन-दर्शन की विचार-सरिणी से उनका यह कथन एक विशुद्ध भ्रान्ति से अधिक मूल्य महत्त्व नहीं रखता अनेकान्तवाद एक ही पदार्थ में अनन्त धर्मों को स्वीकार करता है इस अपेक्षा से उसे वस्तु के समस्त धर्मों का समन्वय करने वाला कह दिया जाए तो यह दृष्टिकोण अनेकान्तदृष्टि का दूषण नहीं भूषण है किन्तु एकान्तवाद की मूल भित्ति पर खड़े किए गये सब धर्म सब धर्ममार्ग सच्चे हैं सब धर्ममार्ग मोक्ष के साधन हैं यह कहना सत्य का गला घोटना है एकान्त और अनेकान्त का तो अन्धकार तथा प्रकाश की तरह शाश्वत विरोध है अनेकान्तवाद असत् बातों का समन्वय कभी नहीं करता क्या अनेकान्तवाद यह भी सिद्ध करेगा कि आदमी के सिर पर सींग होते भी हैं और नहीं भी होते ? अनेकान्त का समन्वय सत्य की खोज पर आधारित होता है सत्य के अनुकूल होता है असत्य के साथ उसका समझौता कभी हो नहीं सकता अंध समन्वय जीवन में बेमेलपन उत्पन्न कर देगा

वास्तव में सच और झूठ को द्वन्द्व-रूप में स्वीकार कर लेना अनेकान्त नहीं है. जैन-धर्म के जिन महान् विचारकों ने अनेकान्त की प्रतिष्ठा की थी उनका यह आशय कभी नहीं था कि विधि निषेध अथवा आचार-शास्त्र की कुछ समान बातों के आधार पर सब धर्म-मार्ग एक रूप ही हैं समान ही हैं ऐसा मानना तो गुड़ गोबर एक करना है समानता को समानता और असमानता को असमानता स्वीकार करने वाला व्यक्ति ही अनेकान्त का उपासक हो सकता है सब धर्मों में आचार विषयक जैसे कुछ समानताएं दृष्टिगोचर होती हैं उसी प्रकार असमानताएं भी तो बहुत हैं भक्ष्य अभक्ष्य पेय-अपेय कृत्य-अकृत्य की सब मान्यताएं समान ही हैं—यह विचार अविवेकपूर्ण है सर्वथा भ्रान्त है एकान्त और अनेकान्त के जीव अजीव तत्त्वों के सम्बन्ध में किये गये विवेचन विश्लेषण में उत्तरी ध्रुव तथा दक्षिणी ध्रुव जैसा अन्तर होते हुए भी इनमें परस्पर कोई भेद नहीं सब धर्मों और प्रवर्तकों में पूर्ण साम्य है यह कह बैठना अनेकान्तवाद नहीं मृषावाद है

अनेकान्तवादी का सर्व-धर्म-समन्वय एक भिन्न कोटि का होता है वह सत्य को सत्य और असत्य को असत्य के रूप में देखता है मानता है और असत्य का परिहार तथा सत्य का स्वीकार करने के लिए सतत उद्यत रहता है असत्य का पक्ष न करना और सत्य के प्रति सदा जागरूक रहना ही अनेकान्तवादी की सच्ची मध्यस्थ-दृष्टि है सत्य-असत्य में कोई विवेक न करना यह मध्यस्थ-दृष्टि नहीं अज्ञान-दृष्टि है जड़-दृष्टि है सत्य और असत्य दोनों को एक ही पलड़े में रख देना एक प्रकार से असत्य के प्रति पक्षपात और सत्य के प्रति द्वेष ही है सत्य के प्रति अन्याय न होने पाए और असत्य को प्रश्रय न मिलने पाए इस अपेक्षा से अनेकान्त-सिद्धान्त के मानने वाले व्यक्ति का मध्यस्थ भाव एक अलग ही ढंग का होता है जिसकी स्पष्ट झांकी हम निम्न श्लोक में देख सकते हैं—

तत्रापि न द्वेषः कार्यो विषयस्तु यत्नतो मृग्यः ।
तस्यापि च सद्वचनं सर्वं यत्प्रवचनादनन्यत् ॥ —षोडशक १६।१३

दूसरे शास्त्रों के प्रति द्वेष करना उचित नहीं है परन्तु वे जो बात कहते हैं उसकी यत्नपूर्वक खोज करनी चाहिए और उसमें जो सत्य वचन है वह द्वादशांगी-रूप प्रवचन से अलग नहीं है

अनेकान्तवाद का गाम्भीर्य और मध्यस्थ भाव दोनों उपयुक्त श्लोक में मूर्त हो उठे हैं अनेकान्तवादी के लिए कोई भी वचन स्वयं न प्रमाणरूप है और न अप्रमाणरूप ही विषय के शोधन परिशोधन से ही उसके लिए कोई वचन प्रमाण अथवा अप्रमाण बनता है चाहे वह स्व-शास्त्र का हो या पर शास्त्र का जिसका विषय प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण से अविरुद्ध है वह वचन प्रमाण है और जिसका विषय प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से बाधित हो वह वचन अप्रमाण है वस्तु अनन्त धर्मात्मक है किसी भी एक धर्म को लेकर कहा गया वचन उस धर्म की दृष्टि से प्रमाण है अन्य धर्मों का अपलाप करके कहा हुआ वचन अप्रमाण है असत्य है मिथ्या है

वस्तु के इस त्रयात्मक रूप को और अधिक स्पष्ट करने के लिए एक दूसरा उदाहरण भी जैन-दर्शनकारो ने उपस्थित किया है किसी व्यक्ति ने दूध को ही ग्रहण करने का नियम ले लिया है, वह दही नही खाता और जिसने दही ग्रहण करने का ही व्रत लिया है वह दूध ग्रहण नही करता, परन्तु जिसने गोरस-मात्र का त्याग कर दिया है, वह न दूध लेता है और न दही ही खाता है इस नियम के अनुसार दूध का विनाश, दही की उत्पत्ति और गोरस की स्थिरता, ये तीनो तत्त्व अच्छी तरह प्रमाणित हो जाते है दही के रूप मे उत्पाद, दूध के रूप का विनाश और गोरस के रूप मे ध्रौव्य, तीनो तत्त्व एक ही वस्तु मे स्पष्टत अनुभव मे आते हैं—

पयोव्रतो न दध्यत्ति, न पयोऽत्ति दधिव्रत,
अगोरसव्रतो नोभे, तस्मात्तत्त्व त्रयात्मकम् ।—वही पूर्वोक्त

पदार्थ के उत्पत्ति, विनाश और स्थिति, इन तीनो धर्मो से यह स्पष्ट हो जाता है कि, वस्तु का एक अश बदलता रहता है—उत्पन्न और विनष्ट होता रहता है तथा दूसरा अश अपने रूप मे बना रहता है वस्तु का जो अश उत्पन्न एव नष्ट होता रहता है, उसे जैन-दर्शन की भाषा मे 'पर्याय' कहा जाता है और जो अश स्थिर रहता है वह 'द्रव्य' कहलाता है कगन से मुकुट बनाने वाले उदाहरण मे, कगन तथा मुकुट तो 'पर्याय' है और सोना 'द्रव्य' है द्रव्य की दृष्टि मे विश्व का प्रत्येक पदार्थ नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है मिट्टी का घडा नित्य भी है और अनित्य भी है घडे का जो आकार है, वह विनाशी है, अनित्य है, परन्तु घडे की मिट्टी अविनाशी है, नित्य है क्योकि, आकार-रूप मे, घडे का नाश होने पर भी, मिट्टी-रूप तो विद्यमान रहता ही है मिट्टी के पर्याय-आकार परिवर्तित होते रहते हैं किन्तु मिट्टी के परमाणु सर्वथा नष्ट नही होते

यही बात वस्तु के 'सत्' और असत्' धर्म के सम्बन्ध मे भी है कुछ विचारको का मत है कि वस्तु सर्वथा 'सत्' है और कुछ का कहना है कि वस्तु सर्वथा 'असत्' है किन्तु जैन-दर्शन के महान् आचार्यो का मन्तव्य है कि प्रत्येक पदार्थ सत् भी है और असत् भी दूसरे शब्दो मे, वस्तु है भी और नही भी अपने स्वरूप की दृष्टि से वस्तु 'सत्' है और पर स्वरूप की दृष्टि से 'असत्' है घट अपने स्वरूप की अपेक्षा से 'सत्' है, विद्यमान है, परन्तु पट के स्वरूप की अपेक्षा से घट असत् है, अविद्यमान है ब्राह्मण 'ब्राह्मणत्व' की दृष्टि से 'सत्' है, लेकिन क्षत्रियत्व की दृष्टि से 'असत्' है प्रत्येक पदार्थ का अस्तित्व अपनी सीमा के अन्दर है, सीमा से बाहर नही यदि प्रत्येक वस्तु प्रत्येक वस्तु के रूप मे सत् ही हो जाए, तो फिर विश्व-पट पर कोई व्यवस्था ही न रहे एक ही वस्तु सर्व-रूप हो जाए

अनेकान्तवाद 'सशयवाद नहीं है'—अनेकान्तवाद के सम्बन्ध मे अजैन जगत् मे कितनी ही भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं किसी का विचार है कि अनेकान्तवाद सशयवाद है परन्तु जैन-दर्शन के दृष्टिबिन्दु से यह सत्य से हजार कोस परे की बात है सशय तो उसे कहते है जो किसी भी बात का निर्णय न कर सके अधेरे मे कोई वस्तु पडी है उसे देखकर अन्तर्मन मे यह विचार आना कि "कि यह रस्सी है या साप ?" इस अनिर्णीत स्थिति का नाम है सशय इसमे 'रस्सी' अथवा 'साप' किसी का भी निश्चय नही हो पाता कोई वस्तु किसी निश्चयात्मक रूप से न समझी जाए, यही तो 'सशय' का स्वरूप है परन्तु अनेकान्तवाद मे तो 'सशय' जैसी कोई स्थिति है ही नही वह तो सशय का मूलोच्छेद करने वाला निश्चितवाद है यहा जिस अपेक्षा से जो बात कही जाती है, उस अपेक्षा से वह बात वैसी ही है यह सौ फी सदी निश्चित है 'अनेकान्तवाद' अपेक्षा की दृष्टि से अपनी बात जोर देकर 'ही' पूर्वक कहता है उदाहरण के तौर पर, अनेकान्तवादी द्रव्य की दृष्टि से आत्मा को नित्य ही मानता है और पर्याय की दृष्टि से 'अनित्य' ही मानता है द्रव्य की दृष्टि से आत्मा नित्य भी है और अनित्य भी है अथवा पर्याय की अपेक्षा से आत्मा अनित्य भी है और नित्य भी है—ऐसे अनिश्चयात्मक घपले की बात अनेकान्तवादी कभी नही कहता-मानता 'ही'—पूर्वक अपनी बात को कहता हुआ भी, वह 'स्यात्' पद का प्रयोग इसलिए करता है कि आत्मा द्रव्य की दृष्टि से जैसे नित्यत्व धर्म वाला है, उसी प्रकार पर्याय की दृष्टि से अनित्यत्व-धर्म वाला भी है सत्य का यह पहलू कही आँखो से लुप्त न हो जाए यदि यह सत्य-दृष्टि विचारक के मानस-नेत्र से ओझल हो जाए तो फिर वहा एकान्तवाद आकर अपना आसन जमा

यह जो आज परिवारों में लड़ाई झगड़े और कलह-क्लेश हैं सार्वजनिक-जीवन में क्रूरता तथा कल्मष है धार्मिक क्षेत्र में 'मैं-तू' का बोलबाला है अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण मे गहरी तनातनी है यह सब अनेकान्त के दृष्टि-कोण को न अपनाने के कारण ही है दुनिया का यह एक रिवाज-सा बन गया है कि वह अपनी आँखों से अपनी कल्पना तथा विचार दृष्टि के अनुसार ही सब कुछ देखना-समझना चाहती है समाज का प्रत्येक व्यक्ति यही चाहता है कि सब जगह मेरी ही चले समूचा समाज मेरे इशारे पर ही नाचे और जब यह नहीं हो पाता तो आपस मे एक-दूसरे के दोष निकालते हैं टीका टिप्पणी के रूप में एक-दूसरे पर छींटा-कशी करते हैं इससे 'मैं-तू' का वातावरण गरम हो जाता है और सर्वत्र अशान्ति की लहर दौड़ जाती है.

राजनीति के क्षेत्र को ही ले लीजिए राजनीति के पचड़े में पड़कर सारा ससार वादो के चक्कर में फँसा हुआ है अपनी अपनी बात को खींच रहा है कोई कहता है समाजवाद ही विश्व की समस्याओं को सुलझा सकता है दूसरा कहता है साम्यवाद से ही विश्व मे शान्ति हो सकती है. तीसरा पुकार रहा है पूँजीवाद की छत्रछाया मे ही ससार सुख की सांस ले सकता है कोई किसी वाद से और कोई किसी वाद से विश्व-शान्ति की रट लगा रहा है इस पारस्परिक तनाव और खींचतान से ही विश्व के राजनीतिक मच पर ईर्ष्या कलह सघर्ष भय तथा द्वन्द्व अपनी-अपनी छाती तान कर खड़े हो जाते हैं और ससार अशान्ति का अखाड़ा बन जाता है

यही स्थिति धार्मिक क्षेत्र म है वहाँ भी अपनी अपनी डफली अपना-अपना राग है प्रत्येक धर्म अपनी उच्चता सच्चाई तथा मुक्ति की ठेकेदारी का राग अलाप रहा है अपने-आप को सच्चा और दूसरे को झूठा बतला रहा है

यदि ये सब विचारक एक मच पर बैठकर सहिष्णुता और प्रेम के साथ एक-दूसरे की बात सुनें और अपनी ही दृष्टि को दूसरों पर बलात् थोपने का यत्न न करें तो फिर सत्य-तथ्य इनकी आंखों के सामने न तैरने लगे! इनमे परस्पर मेल न हो जाए! समझौते और समन्वय का द्वार न खुल जाए! सर्वोदय की पगडंडी साफ न हो जाए! सबका शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व और सहजीवन का प्रकाश न फैल जाए!

और यही सिखाता है जैन-सस्कृति के तत्त्व ज्ञान का मूलाधार अनेकान्तवाद जैसे प्रकाश के आते ही अन्धकार अदृश्य हो जाता है उसी प्रकार अनेकान्त का आलोक मन मस्तिष्क में आते ही कलह द्वेष वैमनस्य कालुष्य पारस्परिक तनाव सकीर्णवृत्ति एव सघर्ष बात की बात में शान्त हो जाते हैं और शान्ति तथा समन्वय का एक मधुर वातावरण बनता-बढ़ता चला जाता है पारस्परिक विरोध और सघर्षात्मक तनाव के जहर को निकालकर अविरोध शांति सह-अस्तित्व के इस अमृतवपन मे ही अनेकान्तवाद की सर्वोपरि उपयोगिता निहित है
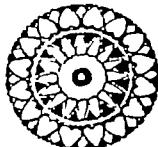
सार-तत्त्व यह है कि जैन-दर्शन का मौलिक अनेकान्तवाद असत् पक्षों का समन्वय-हेल-मेल नहीं साधता इससे तो जीवन मार्ग मे अन्ध-स्थिति उत्पन्न हो जाती है. केवल सत्पक्षों और तथ्यांशों का समन्वय ही अनेकान्त है

क्या एक ही वस्तु मे विरुद्ध धर्म रह सकते हैं ?—'एक ही पदार्थ नित्य भी है, अनित्य भी है, सत् भी है, असत् भी है, एक भी है, अनेक भी है, जैन-धर्म के मेरुमणि अनेकान्तवाद का यह वज्र आक्षेप है नित्यत्व, अनित्यत्व सत्त्व, असत्त्व, एकत्व, अनेकत्व आदि परस्पर-विरोधी धर्म एक ही पदार्थ मे कैसे रह सकते हैं ? इस आशंका का होना सहज है पर जरा गहराई से विचार करने पर यह तथ्य उजागर हो जाएगा कि विरुद्ध धर्मों का एकत्र पाया जाना कोई नई अद्भुत अथवा आश्चर्यकारी बात नहीं है यह तो हमारे दैनिक अनुभव मे आने वाली बात है कौन नहीं जानता कि एक ही व्यक्ति मे अपने पिता की दृष्टि से पुत्रत्व, पुत्र की अपेक्षा से पितृत्व, भ्राता की अपेक्षा मे भ्रातृत्व, छात्र की अपेक्षा से अध्यापकत्व और अध्यापक की दृष्टि से छात्रत्व आदि परस्पर विरुद्ध धर्म पाये जाते हैं

हां, विरोध की आशंका तब उचित कही जा सकती है, जब एक ही अपेक्षा मे, एक पदार्थ मे परस्पर विरुद्ध धर्मों का निरूपण किया जाए पदार्थ मे द्रव्य की दृष्टि से नित्यत्व, पर्याय की दृष्टि से अनित्यत्व, अपने स्वरूप की दृष्टि से सत्त्व और पर-स्वरूप की दृष्टि से असत्त्व स्वीकार किया जाता है अत अनेकान्त के सिद्धान्त को विरोधमूलक बतलाना अपनी अज्ञानता का परिचय देना है अनेकान्त विरोध का तो कट्टर शत्रु है—

'सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ।' —अमृतचन्द्र, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

—सकल नयो के विरोध को विनाश करने वाले अनेकान्त को मैं नमस्कार करता हूँ

किसी भी पदार्थ मे नित्यत्व, अनित्यत्व, सत्त्व, असत्त्व, एकत्व, अनेकत्व आदि विरुद्ध धर्मों का रहना यदि असम्भव होता, तो उस पदार्थ मे उनका प्रतिभास भी नहीं होना चाहिए था परन्तु, प्रतिभास तो सहज अबाध रूप से होता है उदाहरण के लिए घट को ही ले लीजिए घट अपने स्वरूप की दृष्टि से 'सत्' है यदि ऐसा न होता, तो घट है, यह ज्ञान नहीं होना चाहिए था 'घट' घट है, पट नहीं, ऐसी ज्ञानानुभूति भी होती है अत घट मे पट का अभाव भी ठहरता है और इसी अपेक्षा से घट को पट की दृष्टि से 'असत्' कहा जाता है यदि वस्तु को अपने स्वरूप की अपेक्षा मे 'सत्' और पर-स्वरूप की अपेक्षा से 'असत्' स्वीकार न किया जाएगा, तो किसी भी विशेष पदार्थ मे प्रवृत्ति नहीं हो सकती जिस प्रकार अपने स्वरूप की दृष्टि से 'सत्त्व' उस पदार्थ का धर्म है, उसी प्रकार अन्य पदार्थ की दृष्टि से 'असत्त्व' भी उस पदार्थ का धर्म है यदि ऐसा न होता तो उसमे इन दोनो बातो का व्यवहार भी नहीं हो सकता था किन्तु, 'सत्त्व' की तरह 'असत्व' का भी व्यवहार उसमे निरन्तर होता है अत पदार्थ को 'असत्' भी माना जाता है

हां, पदार्थ को जिस अपेक्षा से 'सत्' माना जाता है, यदि उसी अपेक्षा से उसे असत् माना जाता, तब तो असम्भव दोष को अवकाश हो सकता था पदार्थ को जिस दृष्टिकोण मे सत् स्वीकार किया गया, उस दृष्टिकोण से वह 'सत्' ही है और जिस दृष्टिकोण से 'असत्' माना गया है, उस दृष्टिकोण से 'असत्' ही है यही बात 'नित्यत्व' और 'अनित्यत्व' के सम्बन्ध मे भी है जिस अपेक्षा से हम पदार्थ को नित्य मानते हैं, उस अपेक्षा से वह नित्य ही है और जिस अपेक्षा से 'अनित्य' स्वीकार किया जाता है, उस अपेक्षा मे वह 'अनित्य' ही है यदि नित्यवाली दृष्टि से ही अनित्य माना जाता, तो विरोध हो सकता था पदार्थ को द्रव्य की दृष्टि से नित्य और पर्याय की दृष्टि से अनित्य माना जाता है ये दोनो धर्म पदार्थ मे ही हैं इसलिए पदार्थ नित्यानित्यात्मक है

अनेकान्तवाद की उपयोगिता —अहिंसा का विचारात्मक पक्ष अनेकान्त है राग-द्वेषजन्य संस्कारो के वशीभूत न होकर एक-दूसरे के दृष्टि-बिन्दु को ठीक-ठीक समझने का नाम ही तो 'अनेकान्त' है इससे मनुष्य के अन्तर मे तथ्य को हृदयंगम करने की वृत्ति का उदय होता है, जिसमे सत्य को समझकर, उस तक पहुंचने मे सुगमता होती है जब तक मनुष्य अपने ही मन्तव्य अथवा विचार को सर्वथा ठीक समझता रहता है, अपनी ही बात को परम सत्य माना करता है, तब तक उसमे दूसरे के दृष्टिकोण को समझने की उदारता नहीं आ पाती और वह कूप-मण्डूक बना रहता है फलत, वह अपने को सच्चा और दूसरे को सर्वथा मिथ्यवादी समझ बैठता है
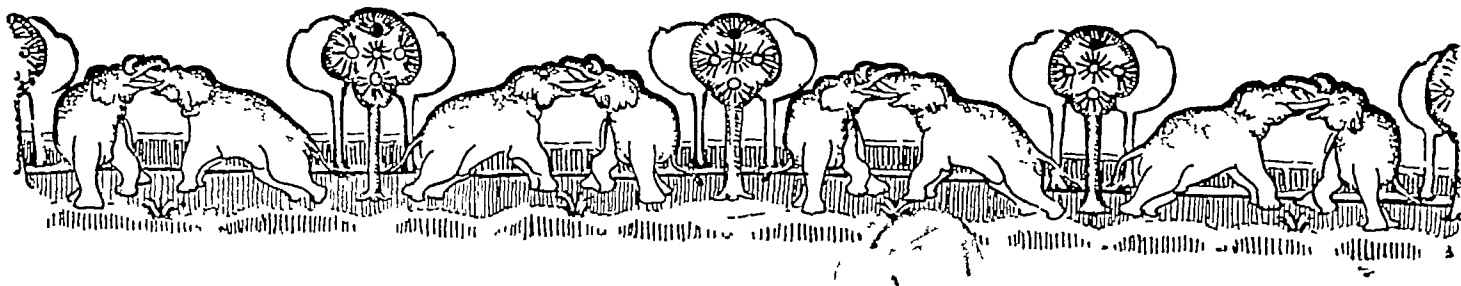
दर्शनयुग का प्रारम्भ ५वीं शताब्दी में माना जाता है इसी समय सिद्धसेन दिवाकर और समन्तभद्र मल्लवादी और पात्रकेसरी नामक आचार्य हुए सिद्धसेन श्वेताम्बर थे और समन्तभद्र दिगम्बर दोनों ने जैनदर्शन के प्राण अनेकान्तवाद की स्थापना की भगवान् महावीर ने नयवाद का प्रतिपादन किया था सिद्धसेन ने उसे आधार बनाकर सन्मतितर्क की रचना की जो अनेकान्तवाद पर प्रथम ग्रंथ माना जाता है उनकी दूसरी रचना न्यायावतार जैनतर्कशास्त्र का प्रथम ग्रंथ है सिद्धसेन ने ३२ द्वात्रिंशिकायें भी रची उनमें से २२ उपलब्ध हैं इनमें स्तोत्र के रूप में दार्शनिक चर्चा की गई है समन्तभद्र की दर्शनशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाली ३ रचनाएँ हैं—

(१) आप्तमीमांसा में उन्होंने यह चर्चा की है कि आप्त अर्थात् विश्वास एवं पूजा के योग्य महापुरुष वही हो सकता है जो राग द्वेषादि से परे हो तथा जिसकी वाणी में पूर्वापर विरोध न हो इस कसौटी पर बुद्ध कपिल कणाद आदि नहीं उतरते अतः उन्हें आप्त नहीं कहा जा सकता साथ ही नित्यानित्य भेदाभेद सामान्य विशेष गुण और गुणी का परस्पर सम्बन्ध आदि विषयों को लेकर प्रचलित एकान्त दृष्टियों का खण्डन और अनेकान्त का प्रतिपादन किया है इस पर अकलंक की अष्टशती और विद्यानन्द की अष्टसहस्री नामक टीकाएँ हैं उनका दार्शनिक साहित्य में भूधन्य स्थान है समन्तभद्र के अन्य ग्रन्थ (२) युक्त्यनुशासन और (३) स्वयम्भूस्तोत्र हैं सभी में उनकी प्रौढ़ तार्किकता का परिचय मिलता है मल्लवादी ने नयचक्रम् तथा वादन्याय की रचना की उनका कथन है कि विभिन्न मत चक्र में आरों के समान हैं सभी एक-दूसरे का खण्डन करते रहते हैं किन्तु निष्कर्ष पर कोई नहीं पहुँचता सम्पूर्ण सत्य चक्र के समान है और समस्त मत उसके घटक हैं अपने आप में अर्थात् निरपेक्ष होने पर मिथ्या हैं और सापेक्ष होने पर सत्य के अंग बन जाते हैं क्षमाश्रमण (७वीं शताब्दी) ने नयचक्र पर बृहद् टीका लिखी है पात्रकेसरी या पात्र स्वामी ने त्रिलक्षण कदर्थन नामक ग्रंथ रचा इसमें बौद्धों द्वारा प्रतिपादित हेतु के स्वरूप का खण्डन है

अकलंक (८ ईसवी) ने दिग्नाग धर्मकीर्ति आदि बौद्ध आचार्यों का खंडन करते हुए जैनदृष्टि से प्रमाणव्यवस्था का प्रतिपादन किया उनके मुख्य ग्रंथ हैं—अष्टशती प्रमाणसंग्रह न्यायविनिश्चय लघीयस्त्रय तथा सिद्धिविनिश्चय इसी समय श्वेताम्बर आचार्य हरिभद्र सूरि हुए उन्होंने बहुसंख्यक ग्रन्थों की रचना की दर्शनशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाले ग्रन्थ हैं—अनेकान्तजयपताका शास्त्रवार्तासमुच्चय षड्दर्शनसमुच्चय तथा लोकतत्त्व निर्णय उनके षोडशक और अष्टकों में भी दार्शनिक चर्चाएँ हैं योगदृष्टिसमुच्चय योगबिन्दु तथा योगविंशिका योगविषयक ग्रंथ हैं वसमसहस्री प्राकृत में है हरिभद्र ने दिङ्नाग के न्यायप्रवेश पर टीका लिखकर अपनी उदारदृष्टि का परिचय दिया है अकलंक के भाष्यकार विद्यानन्द हुए अष्टसहस्री के अतिरिक्त उनके मुख्य ग्रंथ हैं—प्रमाणपरीक्षा आप्तपरीक्षा पत्रपरीक्षा सत्यशासनपरीक्षा तथा श्लोकवार्तिक आदि इस समय अनन्तकीर्ति ने लघुसर्वज्ञसिद्धि बृहत्सर्वज्ञसिद्धि तथा जीवसिद्धि और अनन्तवीर्य ने उस पर सिद्धिविनिश्चय टीका रची

माणिक्यनन्दी (१ वीं शताब्दी) का परीक्षामुख जैन तर्कशास्त्र का प्रथम सूत्र ग्रंथ है इसी समय सिद्धर्षि ने सिद्धसेन कृत न्यायावतार पर टीका रची अभयदेव (१ ५४) की सन्मतितर्क पर वादमहार्णव' नामक विशाल टीका भी इसी समय की है प्रभाचन्द्र (१ १७ से ११२२) ने परीक्षामुख पर प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा लघीयस्त्रय पर न्यायकुमुदचन्द्र नामक टीकायें रची वादिराज ने न्यायावतार पर न्यायविनिश्चयविवरण और जिनेश्वर (११ वीं शताब्दी) ने न्यायावतार पर प्रमाणलक्ष्म नामक वार्तिक तथा उस पर टीका रची अनन्तवीर्य (१२ वीं शताब्दी) की परीक्षामुख पर प्रमेयरत्नमाला नामक संक्षिप्त टीका है वादी देवसूरि (११४३ १२२६) ने प्रमाणनयतत्त्वालोक नामक सूत्र ग्रंथ और उस पर स्याद्वादरत्नाकर नामक विशाल टीका लिखी कहा जाता है कि इसकी श्लोक संख्या ८४ थी किन्तु संपूर्ण उपलब्ध नहीं है वादी देव श्वेताम्बर थे उनकी रचनाएँ परीक्षामुख और प्रमेयकमलमार्तण्ड की प्रतिक्रिया हैं उन्होंने स्त्रीमुक्ति और केवली के आहार को लेकर विस्तृत चर्चा की है कहा जाता है इन विषयों को लेकर कुमुदचन्द्र और वादी देवसूरि में शास्त्रार्थ हुआ था प्रमाणनयतत्त्वालोक पर वादी देव के शिष्य रत्नप्रभ ने रत्नाकरावतारिका टीका लिखी इसी समय हेमचन्द्राचार्य (११४२ से १२२६) हुए उन्होंने स्वोपज्ञ टीका के साथ प्रमाणमीमांसा नामक सूत्र ग्रंथ तथा
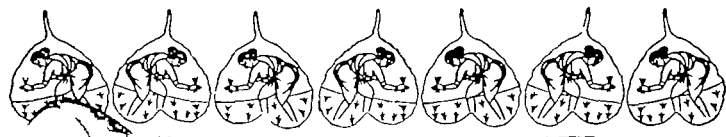
श्री इन्द्रचन्द्र शास्त्री
एम० ए०, पी-एच० डी० दिल्ली

जैनदर्शन

'जैन' शब्द का अर्थ है जिन के अनुयायी और 'जिन' शब्द का अर्थ है जिसने राग द्वेष को जीत लिया है उसे अर्हत् अर्थात् पूजनीय भी कहा जाता है इसी आधार पर जैनधर्म का दूसरा नाम आर्हद्धर्म है जैनसाधु परिग्रह या सपत्ति नही रखते उनके पास ऐसी कोई वस्तु नही होती जिसे गाठ बाधकर रखा जाय इसलिये वे निर्ग्रन्थ कहे जाते है और उनका धर्म निर्ग्रंथ धर्म ईस्वीपूर्व छठी शताब्दी मे भारतीय सस्कृति की दो मुख्य धाराएँ थी एक ओर यज्ञ तथा भौतिक सुखो पर बल देने वाली ब्राह्मण परपरा और दूसरी ओर निवृत्ति तथा मोक्ष पर बल देनेवाली श्रमण परपरा जैनधर्म श्रमणपरपरा की एक प्रधान शाखा है

जैनधर्म न विकासवादी है और न ह्रासवादी जगत्कर्त्ता के रूप मे किसी अतीन्द्रिय सत्ता को नही मानता विश्व परिवर्त्तनशील है उसकी उपमा एक चक्र से दी जाती है जिसमे उन्नति और अवनति, उत्थान और पतन का क्रम निरन्तर चलता रहता है इस क्रम को बारह आरो मे विभक्त किया गया है उत्थान को उत्सर्पिणी काल और पतन को अवसर्पिणी काल कहा जाता है प्रत्येक मे छह आरे हैं प्रत्येक काल के मध्य मे धर्म की स्थापना होती है

प्रस्तुत काल अवसर्पिणी ह इसमे सभी बातें हीयमान है इसके मध्य मे अर्थात् तृतीय आरे के अत मे प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव हुये वे ही जैनधर्म की वर्तमान परपरा के सस्थापक माने जाते है उनका वर्णन भागवत तथा वैदिक साहित्य मे भी आया है ज्ञात होता है वे सर्वमान्य महापुरुष रहे होंगे उनके समय के विषय मे ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ नही कहा जा सकता

ऋषभदेव के पश्चात् २३ तीर्थंकर हुये बाईसवें नेमिनाथ भगवान् कृष्ण के चचेरे भाई थे छादोग्य उपनिषद् मे उनका निर्देश घोर अगिरस के रूप मे आया है तेईसवे तीर्थंकर पार्श्वनाथ ईस्वीपूर्व ८५० मे हुये वे वाराणसी के राजकुमार थे अतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ईस्वीपूर्व ६०० मे हुये वर्तमान जैनधर्म उन्ही की देन है

महावीर के पश्चात् एक हजार वर्ष का समय आगमयुग कहा जाता है उस समय श्रद्धाप्रधान आगम ग्रन्थो की रचना हुई दार्शनिक दृष्टि से उनका इतना महत्त्व है कि यत्र-तत्र विभिन्न मान्यताएँ मिलती हैं, किन्तु प्रतिपादनशैली दार्शनिक नही है

दर्शनयुग का प्रारम्भ ईसा की ५वी शताब्दी मे हुआ महावीर के कुछ समय पश्चात् जैनधर्म मे श्वेताम्बर और दिगम्बर दो सम्प्रदाय हो गये दोनो ने दार्शनिक साहित्य का विकास किया

जहा तक जैन मान्यताओ का प्रश्न है उनका सग्रह करने वाला प्रथम सूत्रग्रन्थ तत्त्वार्थ सूत्र है इसे मोक्षशास्त्र भी कहा जाता है यह उमास्वाति या उमास्वामी (तृतीय शताब्दी) की रचना है इस पर उनका स्वोपज्ञ भाष्य, पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि, सिद्धसेनगणी का भाष्य, अकलक की राजवार्तिक, विद्यानद की श्लोकवार्तिक तथा श्रुतसागर की आत्मख्याति नामक टीकाए है ये रचनायें आगम साहित्य मे सम्मिलित की जाती है

कुदकुद ने प्रवचनसार समयसार, नियमसार, अष्टपाहुड आदि अनेक ग्रथो की रचना की उनमे खण्डन-मण्डन न होने पर भी आत्मा, ज्ञान आदि विषयो का सूक्ष्म विवेचन है दिगम्बर परम्परा मे उन्हे आगम माना जाता है दार्शनिक दृष्टि मे भी उनका महत्त्व कम नही है
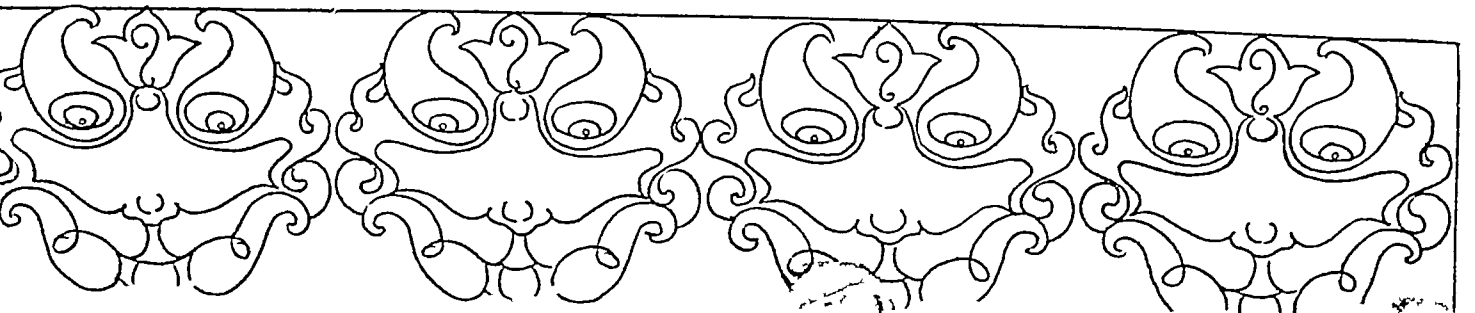
जैनदर्शन के अनुसार आत्मा कमरे में बैठे हुए व्यक्ति के समान है और मन तथा इन्द्रियाँ खिड़की के समान उनका काम इतना ही है कि थोड़ी देर के लिए ज्ञाता और ज्ञेय के बीच पड़े हुए आवरण या पर्दे को हटा दें जानने का काम आत्मा स्वयं करता है इसी दृष्टि को सामने रखकर प्राचीन आगमों में प्रत्यक्ष और परोक्ष का भेद नहीं किया गया सर्वप्रथम यह भेद उमास्वाति ने किया उसका आधार था कि जिस ज्ञान में इन्द्रिय मन या शब्द आदि की सहायता होती है वह परोक्ष है और जहाँ उस सहायता की आवश्यकता नहीं है वह प्रत्यक्ष है अन्य दर्शनों के साथ संपर्क होने पर इन्द्रियज्ञान को भी साधारण व्यवहार की दृष्टि से प्रत्यक्ष मान लिया गया

प्रत्यक्ष का क्रम

जब हम किसी वस्तु को देखते हैं तो एकदम अंतिम निर्णय पर नहीं पहुँचते पहले सामान्य ज्ञान होता है धीरे धीरे विशेषता की ओर बढ़ते हैं जब किसी दूर की वस्तु को देखते हैं तो यह क्रम स्पष्ट प्रतीत होता है किन्तु परिचित एवं निकटस्थ वस्तु का ज्ञान शीघ्र हो जाता है स्पष्टतया मालूम न पड़ने पर भी वहाँ इस क्रम का अभाव नहीं होता जैनदर्शन में इस क्रम की पाँच अवस्थाएं बताई गई हैं

(१) *दर्शन—सामान्यज्ञान जहाँ केवल इतना ही भान होता है कि कुछ है*

(२) अवग्रह—इन्द्रिय के द्वारा वस्तु का ग्रहण इसकी भी दो अवस्थाएं हैं १ व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह व्यंजनावग्रह का अर्थ है इन्द्रिय और पदार्थ का परस्पर सम्बन्ध यह केवल चार इन्द्रियों में होता है मन और चक्षुरिन्द्रिय से होने वाले ज्ञान में नहीं होता दूसरा अर्थावग्रह है—इसका अर्थ है वस्तु का प्रतिभास

(३) ईहा—विशेष जानने की इच्छा

(४) अवाय—विशेष का निश्चय

(५) धारणा—ज्ञान का संस्कार के रूप में परिणत होना जिससे कालान्तर में स्मरण हो सके

इन अवस्थाओं में प्रथम दर्शन निराकार होने के कारण ज्ञान कोटि में नहीं आता शेष चार मतिज्ञान की अवस्थाएं हैं

परोक्ष के भेद

परोक्ष का निरूपण मुख्यतया तर्कयुग की देन है इसके ५ भेद हैं

(१) स्मृति—पूर्वानुभूत वस्तु का स्मरण न्यायदर्शन इसे प्रमाण कोटि में नहीं रखता

(२) प्रत्यभिज्ञान—इसका शब्दार्थ है पहिचान पूर्वानुभूत वस्तु को पुनः देखने पर हम यह ज्ञान होता है कि यह वही है इसे एकत्व प्रत्यभिज्ञान कहते हैं कभी तत्सदृश दूसरी वस्तु को देखकर यह ज्ञान होता है कि यह उसके सदृश है भिन्न वस्तु को देख कर यह ज्ञान होता है कि यह उससे भिन्न है इस प्रकार पूर्वानुभूत और प्रत्यक्ष तुलना का संकलन करने वाले सभी ज्ञान प्रत्यभिज्ञान हैं वैदिक दर्शनों में इसका प्रतिपादन उपमान के रूप में किया गया है

(३) तर्क—धुआँ अग्नि का काम है और अग्नि धुएं का कारण कार्य कारण के बिना नहीं होता इसी प्रकार जहाँ आम होगा वहाँ वृक्ष अवश्य होगा क्योंकि आम वृक्ष की अवान्तर जाति अर्थात् व्याप्य है इस प्रकार कार्य-कारण भाव व्याप्य-व्यापकभाव आदि सम्बन्धों के आधार पर यह निश्चय करना कि एक वस्तु दूसरी वस्तु के होने पर ही हो सकती है तर्क है इसे व्याप्तिज्ञान भी कहा जाता है

(४) अनुमान—तर्क के आधार पर स्थान विशेष में एक वस्तु को देखकर दूसरी वस्तु की सत्ता या अभाव सिद्ध करना अनुमान है इसका निरूपण न्यायदर्शन में किया गया है यहाँ इतना ही बता देना पर्याप्त है कि जैनदर्शन हेतु और साध्य के परस्पर सम्बन्ध के लिये इतना ही आवश्यक मानता है कि साध्य के बिना हेतु नहीं रहना चाहिए बौद्धों के समान उसे कार्य तथा स्वभाव तक सीमित नहीं करता उदाहरण के रूप में जैनदर्शन का कथन है कि जिस प्रकार कार्य से कारण का अनुमान किया जा सकता है उसी प्रकार कारण से कार्य का भी अनुमान किया जा सकता है हम

दो द्वात्रिंशिकाये रची उनकी 'अन्ययोग-व्यवच्छेदिका' नामक द्वात्रिंशिका पर मल्लिषेण की स्याद्वादमजरी नामक टीका है १२ वी शताब्दी मे ही शात्याचार्य ने न्यायावतार पर स्वोपज्ञ टीका के साथ न्यायवार्तिक की रचना की गुणरत्न (१५ वी शताब्दी) की षट्दर्शनसमुच्चय पर टीका दार्शनिक साहित्य के इतिहास मे महत्वपूर्ण स्थान रखती है भट्टारक धर्मभूषण (१५ वी शताब्दी) की न्यायदीपिका जैनन्याय का प्रारम्भिक ग्रथ है

सत्रहवी शताब्दी मे यशोविजय नामक प्रतिभाशाली आचार्य हुए उन्होने जैनदर्शन मे नव्य न्याय का प्रवेश किया उनके मुख्य ग्रथ है—अनेकातव्यवस्था, जैनतर्कभाषा, ज्ञानबिन्दु, नयप्रदीप, नयरहस्य और नयामृततरगिणी, सटीक नयोपदेश न्यायखडखाद्य तथा न्यायालोक मे नव्य न्याय शैली मे नैयायिकादि दर्शनो का खडन है अष्टसहस्री पर विवरण तथा हरिभद्रकृत शास्त्रवार्तासमुच्चय पर स्याद्वादकल्पलता नामक टीकाए है भाषारहस्य, प्रमाणरहस्य, वादरहस्य नामक ग्रन्थो मे नव्यन्याय के ढग पर जैन तत्वो का प्रतिपादन है उन्होने योग तथा अन्य विषयो पर भी ग्रथ रचे इसी युग मे विमलदास गणी ने 'सप्तभगीतरगिणी' नामक ग्रथ नव्यन्याय शैली पर रचा

ज्ञानमीमासा

वेदान्त मे आत्मा को सत् चित् और आनद स्वरूप माना गया है इसी प्रकार जैनदर्शन मे उसे अनत चतुष्टयरूप माना गया है वे है अनतज्ञान, अनतदर्शन, अनतसुख और अनतवीर्य प्रथम दो—ज्ञान एव दर्शन चेतना ही के दो रूप है प्रत्येक आत्मा अपने आप मे सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी है उसके ये गुण बाह्य आवरण के कारण छिपे हुए है

ज्ञान का स्वरूप —जैनदर्शन के अनुसार ज्ञान प्रकाश के समान है अर्थात् वह अपने आप मे विद्यमान वस्तु को प्रकाशित करता है नई रचना या अपनी ओर से उसमे कोई सम्मिश्रण नही करता यहाँ एक प्रश्न होता है किसी व्यक्ति को देखकर हमे यह प्रत्यक्ष होता है कि वह हमारा शत्रु है क्या शत्रुत्व उस व्यक्ति मे है ? यदि ऐसा है तो वह दूसरो को भी शत्रु के रूप मे क्यो नही दिखाई देता ? उत्तर मे जैनदर्शन का कथन है कि व्यक्ति या वस्तु मे प्रतीत होने वाले सभी धर्म सापेक्ष होते हैं एक ही वस्तु एक व्यक्ति को छोटी दिखाई देती है और दूसरे को बडी दोनो की अपनी-अपनी अपेक्षाए होती है और उस दृष्टि से दोनो सच्चे है इसी प्रकार वही व्यक्ति एक को शत्रु दिखाई देता है और दूसरे को मित्र दानो का यह ज्ञान अपनी-अपनी अपेक्षा को लिए हुए है यदि मित्रता का दर्शन करने वाला व्यक्ति शत्रुतादर्शन करने वाले की अपेक्षा को दृष्टि मे रख कर विचार करे तो उसे भी शत्रुता का ही दर्शन होगा एक ही स्त्री एक व्यक्ति की दृष्टि मे माता है, दूसरे की दृष्टि मे बहिन, तीसरे की दृष्टि मे पत्नी, चौथे की दृष्टि मे पुत्री इनमे से कोई भी दृष्टि मिथ्या नही है मिथ्यापन तभी आयगा जब अपेक्षा बदल जाये सभी ज्ञान आशिक सत्य को लिए रहते है और यदि उन्हे आशिक सत्य के रूप मे स्वीकार किया जाय तो सभी सच्चे है वे ही जब पूर्ण सत्य मान लिये जाते है और दूसरी दृष्टि या अपेक्षा का निराकरण करने लगते हैं तो मिथ्या हो जाते हैं जैनदर्शन के अनुसार पूर्ण सत्य का साक्षात्कार सर्वज्ञ को ही हो सकता है और उसी का ज्ञान पूर्ण सत्य कहा जा सकता है

ज्ञान के भेद

ज्ञान के ५ भेद है (१) **मति**—इद्रिय और मन से होने वाला ज्ञान (२) **श्रुत**—शास्त्रो से होने वाला ज्ञान (३) **अवधि**—दूरवर्त्ती तथा व्यवधान वाले पदार्थों का ज्ञान, जो विशिष्ट योगियो को होता है इसके द्वारा योगी केवल रूप वाले पदार्थों को ही देख सकता है (४) **मन पर्यय**—दूसरे के मनोभावो का प्रत्यक्ष (५) **केवलज्ञान**—सर्वज्ञो का ज्ञान, जिसके द्वारा वे विश्व के समस्त पदार्थों को एक साथ जानते है

प्राचीन परपरा मे इनमे से प्रथम दो को परोक्ष माना गया और अतिम तीन को प्रत्यक्ष कालातर मे अन्यदर्शनो के समान इन्द्रिय से होने वाले ज्ञान को भी प्रत्यक्ष मे सम्मिलित कर लिया गया अकलक ने इस बात को लक्ष्य मे रखकर प्रत्यक्ष के दो भेद कर दिये साव्यवहारिक और पारमार्थिक इन्द्रिय तथा मन से होने वाले प्रत्यक्ष को प्रथम कोटि मे ले लिया और अवधि आदि तीन ज्ञानो को द्वितीय कोटि मे

संग्रह का क्षेत्र अपेक्षाकृत न्यूनाधिक होता है जैसे मनुष्यत्व का क्षेत्र ब्राह्मणत्व की अपेक्षा विस्तृत है और जीवत्व की अपेक्षा संकुचित

व्यवहार नय—साधारण व्यवहार के लिए किया जाने वाला भेद इस नय का प्रकट करता है जैसे मनुष्य का ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य आदि जातियों में विभाजन करना संग्रह म दृष्टि अभेद की ओर जाती है और यहां भेद की ओर.

ऋजुसूत्रनय—ऋजु अर्थात् वर्तमान अवस्था को लेकर चलने वाला नय ऋजुसूत्र की दृष्टि में जिस व्यक्ति का मुख्य व्यवसाय अध्यापन है उसे अध्यापक कहा जा सकता है जिस समय वह सो रहा है या भोजन कर रहा है उस समय भी अध्यापक है

शब्दनय—ऋजुसूत्र केवल वर्तमानकाल पर दृष्टि रखता है शब्दनय लिंग कारक संख्या आदि का भेद होने पर वस्तु में परस्पर भेद मानता है उदाहरण के रूप म नगर और पुरी शब्द को लिया जा सकता है शब्द नय की दृष्टि से दोनों में परस्पर भेद है

समभिरूढनय—यह नय समानार्थक शब्दों को स्वीकार नहीं करता अर्थात् जहां एक ही अर्थ को प्रकट करने वाले कई शब्द है उनके अर्थ म भी भेद मानता है

एवंभूतनय—इस नय की दृष्टि क्रिया पर रहती है व्यक्ति विशेष को अध्यापक तभी कहा जायगा जब वह अध्यापन कर रहा है सोते या भोजन करते समय नहीं हमारा साधारण व्यवहार ऋजुसूत्र नय को लेकर चलता है ७ मे से प्रथम ३ अर्थनय माने जाते है और अंतिम ४ शब्द नय

नयो का विभाजन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के रूप में भी किया जाता है द्रव्यार्थिक में मुख्य दृष्टि अभेद की ओर रहती है और पर्यायार्थिक मे भेद की ओर. प्रथम चार नय द्रव्यार्थिक माने जाते है और अन्तिम ३ पर्यायार्थिक

चार निक्षेप

निक्षेप शब्द का अर्थ है रखना या विभाजन करना शब्द का अर्थ करते समय विभाजन की चार दृष्टियां है और हमें यह सोचकर चलना पड़ता है कि प्रस्तुत प्रसंग में किस दृष्टि को लिया जा रहा है ?

(१) नाम निक्षेप—हम किसी व्यक्ति का नाम राजा रख लेते है भिखारी होने पर भी वह राजा कहा जाता है और इस कथन को असत्य नहीं माना जाता यह नाम निक्षेप अर्थात् नाम की दृष्टि से शब्द का प्रयोग है

(२) स्थापना निक्षेप—हम मंदिर में रखी हुई मूर्ति को भगवान् कहते है शतरंज के मोहरो को हाथी घोड़े कहते हैं यह सब स्थापना निक्षेप है अर्थात् वहां उन्हें उस रूप म मान लिया जाता है नाम निक्षेप में केवल उस नाम से पुकारा जाता है वैसा व्यवहार नहीं किया जाता स्थापना निक्षेप में पुकारने के साथ व्यवहार भी होता है प्रतीकवाद स्थापना निक्षेप का एक रूप है.

(३) द्रव्य निक्षेप—भावी या भूत पर्याय की दृष्टि से किसी वस्तु को उस नाम से पुकारना जैसे युवराज को राजा कहना या भूतपूर्व अधिकारी को उस पद के नाम से पुकारना

(४) भावनिक्षेप—गुण या वर्तमान अवस्था के आधार पर वस्तु को उस नाम से पुकारना जैसे सिंहासन पर बैठे हुए व्यक्ति को राजा कहना या पदाधिकारी को उसके कार्य काल मे उस नाम से पुकारना

तत्त्वमीमांसा

जैनदर्शन विश्व को ६ द्रव्य या ७ तत्त्वो के रूप में विभक्त करता है प्रथम विभाजन ज्ञेय जगत् को उपस्थित करता है और द्वितीय म मुख्य दृष्टि आचार या आत्मविकास की है ७ तत्त्वों में प्रथम दो अर्थात् जीव और अजीव द्रव्यरूप

आग देख कर यह अनुमान कर सकते है कि यहा उष्णता होगी इतना ही नही, आज रविवार है तो यह अनुमान किया जा सकता है कि दूसरे दिन सोमवार होगा क्योंकि सोमवार रविवार का उत्तरचर है इस प्रकार हेतु के पूर्वचर सहचर आदि अनेक रूप हो सकते हैं

(५) आगम—आप्त अर्थात् विश्वसनीय पुरुष के वचन को आगम कहा जाता है इसके दो भेद हैं माता,पिता, गुरुजन आदि लौकिक आप्त हैं उस सम्बन्ध मे दर्शनकारो का मतभेद नही है किन्तु अलौकिक आप्त के विषय मे पर्याप्त मतभेद है मीमासादर्शन का कथन है कि शब्द मे दोष तभी आता है जब उसके वक्ता मे कोई दोष हो वेद अनादि है, उनका कोई वक्ता नही है अत वे दोषरहित है न्याय तथा वेदान्त का कथन है कि वक्ता मे दो गुण होने चाहिए वह निर्दोष हो और साथ ही अपने विषय का पूर्ण ज्ञाता हो उनके मत मे वेद ईश्वर के बनाये हुये है उसमे कोई दोष नही है साथ ही उसका ज्ञान परिपूर्ण है जैनदर्शन ईश्वर को नही मानता उसकी मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति साधना द्वारा आत्मा का पूर्ण विकास कर सकता है उस अवस्था मे वह वीतराग और सर्वज्ञ हो जाता है आगम उसकी वाणी है, अत प्रमाण है

जैन परम्परा की मान्यता है कि सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी तीर्थंकर उपदेश देते है उनकी ग्रथ के रूप मे रचना गणधरो अर्थात् मुख्य शिष्यो द्वारा की जाती है उनके पश्चात् ज्ञानसम्पन्न अन्य मुनियो द्वारा रचे गये ग्रथ भी आगमो मे सम्मिलित कर लिये गये श्वेताम्बर मतानुसार यह क्रम भगवान् महावीर के पश्चात् १००० वर्ष अर्थात् चौथी ईस्वी तक चलता रहा वे अपने आगमो को बारह अग, बारह उपाग, छह मूल, छह छेद तथा दस प्रकीर्णको मे विभक्त करते हैं इनमे से दृष्टिवाद का लोप हो गया शेष ४५ आगम विद्यमान हैं

दिगम्बरो का मत है कि अग उपागादि सभी आगम लुप्त हो गये वे षट्खडागम और कषायप्राभृत को मूल आगम के रूप मे मानते है ये ग्रथ महावीर के ४०० वर्ष पश्चात् रचे गये इनके अतिरिक्त कुदकुद, उमास्वामी, नेमिचद सिद्धान्त-चक्रवर्ती आदि आचार्यों की रचना को भी आगमो के समान प्रमाण माना जाता है

जैनदर्शन मे ज्ञान के जो भेद किये गये है, उन्ही को प्रमाण के रूप मे स्वीकार किया गया है और यह बताया गया है कि ज्ञान वस्तु के समान अपने आप को भी ग्रहण करता है अर्थात् एक ज्ञान को जानने के लिए दूसरे ज्ञान की आवश्यकता नही होती

सात नय

व्यक्ति अपने विचारो को प्रकट करते समय निजी मान्यताओं को सामने रखता है एक ही स्त्री को एक व्यक्ति माता कहता है, दूसरा बहिन, तीसरा पुत्री और चौथा पत्नी इसी प्रकार विभिन्न परिस्थितियो मे भी एक ही व्यक्ति को भिन्न-भिन्न रूप मे प्रकट किया जाता है एक ही व्यक्ति परिवार की गणना करते समय राम या कृष्ण के रूप मे कहा जाता है जातियो की गणना के समय ब्राह्मण या क्षत्रिय, व्यवसाय की गणना के समय अध्यापक या व्यापारी इस प्रकार अनेक अभिव्यक्ति की दृष्टिया हैं उन सब को नय कहा जाता है जैनदर्शन मे उनका स्थूल विभाजन ७ नयो के रूप मे किया गया है इनमे मुख्य दृष्टि विस्तार से सक्षेप की ओर है अर्थात् एक ही शब्द किस प्रकार विस्तृत अर्थ का प्रतिपादन होने पर भी उत्तरोत्तर सकुचित होता चला जाता है यह प्रकट किया गया है

नैगमनय—इसकी व्युत्पत्ति की जाती है 'नैक गमो नैगम' अर्थात् जहा अनेक प्रकार की दृष्टिया हो यह नय वास्तविकता के साथ उपचार को भी ग्रहण कर लेता है उदाहरण के रूप मे हम तागेवाले को तागा कहकर पुकारने लगते है क्रोधी को आग तथा वीर पुरुष को शेर कहने लगते हैं इस उपचार का आधार कही गुण होता है, कही सादृश्य और कही किसी प्रकार का सबध जैसे तागे और तागे के मालिक मे स्व-स्वामिभाव सबध है इस नय का क्षेत्र अधिक विस्तृत है

सग्रहनय—इस का अर्थ है सामान्यग्राही दृष्टि अर्थात् अधिकाधिक वस्तुओ को सम्मिलित करने की भावना इसके दो भेद है परसग्रह और अपरसग्रह परसग्रह मे सभी पदार्थ आ जाते है इसके द्योतक हैं सत्, ज्ञेय, आदि शब्द अपर

रहते हैं पुद्गल के दो रूप हैं परमाणु और स्कन्ध अर्थात् अवयवी दृश्यमान समस्त जगत् पुद्गल परमाणुओं का संघटन या रचना विशेष है न्यायदर्शन के अनुसार परमाणु म रहने वाले रूप रस आदि गुण नित्य हैं उनमें परिवर्तन नही होता स्थूल वस्तु म जब परिवर्तन होता है तो परमाणु ही बदल जाते है उनके गुण नही बदलते घड़ा पकने पर जब मिट्टी अपना रग छोड़कर नया रग लेती है तो मिट्टी के रग वाले परमाणु बिखर जाते है और उसका स्थान लाल रग के परमाणु स लते है किन्तु जैनदर्शन ऐसा नही मानता वहा परमाणु वही रहते हैं किन्तु उनके रूप रस आदि गुण बदल जाते हैं

आठ वर्गणायें

जैनदर्शन मे पुद्गल का विभाजन आठ वगणाओ के रूप में किया गया है वर्गणा का अर्थ है विभिन्न प्रकार के वग या श्रेणिया यह विभाजन उनके द्वारा होने वाले स्थूल पदार्थों के आधार पर किया गया है

(१) औदारिक वर्गणा—स्थूल शरीर के रूप म परिणत होने वाले परमाणु जैनदर्शन के अनुसार पृथ्वी पानी अग्नि वायु तथा वनस्पतियो मे भी जीव है इनके रूप में प्रतीत होने वाले स्थूल पदार्थ उन जीवों का शरीर है यह शरीर कहीं सजीव दिखाई देता है और कही निर्जीव इसे औदारिक शरीर माना जाता है इसी प्रकार पशु-पक्षी तथा मनुष्यों का शरीर भी औदारिक है

(२) वक्रियक वर्गणा—देवता तथा नारकी जीवों के शरीर के रूप में परिणत होने वाले परमाणु योगी अपनी योग शक्ति के द्वारा जिस शरीर की रचना करत हैं वह भी इन परमाणुओ से बनता है

(३) आहारकवर्गणा—विचारो का सक्रमण करन वाल शरीर के रूप में परिणत होने वाले परमाणु

(४) भाषा वगणा—वाणी के रूप में परिणत होने वाले परमाणु

(५) *मनोवर्गणा—मनोभावो के रूप म परिणत होने वाले परमाणु*

(६) श्वासोच्छ्वास वर्गणा—प्राणवायु के रूप में परिणत होने वाले परमाणु

(७) तजस वगणा—तैजस नामक सूक्ष्म शरीर के रूप म परिणत होने वाले पुद्गल परमाणु

(८) कार्माण वर्गणा—कार्माण या लिंग शरीर के रूप में परिणत होने वाले परमाणु कार्माण शरीर का अर्थ है आत्मा के साथ लगे हुए कर्मपुद्गल ये ही जीव को विविध योनियो म ले जाकर स्थूल शरीर के साथ सबन्ध जोड़ते है और सुख दु ख का भोग कराते है सांख्यदर्शन में जो स्थान लिंग-शरीर का है वही जैनदर्शन में कार्माण शरीर का है और वहां जो सूक्ष्म शरीर का है यहां वही तैजस शरीर का मरने पर जीव स्थूल शरीर को छोड़ देता है तैजस और कार्माण उसके साथ जाते है

आठ वगणाओं म से वक्रियक और आहारक का देवता नारकी या योगियों के साथ संबन्ध है शेष ६ हमारे व्यक्तित्व का निर्माण करती है

(३ ४) धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय—धर्म द्रव्य जीव तथा पुद्गल की गति में सहायक है और अधर्म स्थिति म वतमान विज्ञान विद्युत् शक्ति क दो रूप मानता है धन (Positive) और ऋण (Negative) धम और अधर्म वही कार्य करते ह

(५ ६) आकाशास्तिकाय और काल—आकाश जीव और पुद्गल को स्थान प्रदान करता है और काल उनमें परिवर्तन लाता है कुछ आचार्यों का मत है कि परिवतन जीव और पुद्गल का स्वभाव है अत उसके लिए अलग द्रव्य मानने की आवश्यकता नही है

वर्तमान विज्ञान की दृष्टि से हम इन द्रव्यो को नीचे लिखे अनुसार विभक्त कर सकते हैं —

है और शेष ५ जीव की आध्यात्मिक अवस्थाओ से सम्बन्ध रखते है उनका निरूपण आचारमीमासा मे किया जायगा यहा ६ द्रव्यो के रूप मे जीव और अजीव तत्त्व का प्रतिपादन किया जाता है

छह द्रव्य

द्रव्य का लक्षण है वह पदार्थ जिसमे गुण और पर्याय विद्यमान हो जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक द्रव्य मे अनेक गुण होते है और वह प्रतिक्षण बदलता रहता है बौद्धदर्शन केवल गुण और पर्याय अर्थात् अवस्थाओ को मानता है उनके आधार के रूप मे किसी पृथक् सत्ता को नही मानता दूसरी ओर अद्वैत वेदात आधारभूत सत्ता को वास्तविक मानता है और उसमे दिखाई देने वाले गुण एव अवस्थाओ को कल्पित जैनदर्शन दोनो को वास्तविक मानता है ६ द्रव्य निम्नलिखित है

(१) जीवास्तिकाय (२) पुद्गलास्तिकाय (३) धर्मास्तिकाय (४) अधर्मास्तिकाय (५) आकाशास्तिकाय और (६) काल अस्तिकाय शब्द का अर्थ है परमाणु, प्रदेश, या अवयवो का एक पिण्ड होकर रहना जीव, पुद्गलादि मे वे एक साथ रहते है किन्तु काल के अश एक साथ नही रह सकते वहा एक के नष्ट होने पर ही दूसरा अस्तित्व मे आता है इसलिए उसे अस्तिकाय नही कहा गया

(१) जीवास्तिकाय—जीव का अर्थ है चेतन या आत्मा जैनदर्शन मे इसका स्वरूप अनत चतुष्टय अर्थात् अनत ज्ञान, अनत दर्शन, अनत सुख और अनत वीर्य के रूप मे किया जाता है साथ ही वह अमूर्त्तिक है अर्थात् उसमे रूप, रस, गध और स्पर्श नही है प्रत्येक शरीर मे पृथक्-पृथक् आत्मा है और वह जिस शरीर मे प्रवेश करता है उतना ही बडा आकार ले लेता है चीटी के शरीर मे चीटी जितना आत्मा है और हाथी के शरीर मे हाथी जितना इस प्रकार उसमे सकोच और विस्तार होते रहते है प्रत्येक जीव अपने भाग्य का स्वय निर्माता है अर्थात् वह कार्य करने मे स्वतन्त्र है और तदनुसार फल भोगता है काय और फलभोग का स्वाभाविक नियम है उस पर किसी अतीन्द्रिय शक्ति का नियत्रण नही है उदाहरण के रूप मे यदि कोई आखो पर पट्टी बाध कर कुए की ओर बढेगा तो उसमे गिर जाएगा उसे गिराने वाली कोई उच्च सत्ता नही है, वह स्वय अपने आपको गिराता है साथ ही यह भी निश्चित है कि कार्य करने पर फल अवश्य भोगना होगा यह कार्य-कारण का स्वाभाविक नियम है भूख न करने पर यदि हम भोजन करते है तो अजीर्ण हो जाता है पेट दुखने लगता है इस अजीर्ण और उदरशूल के लिए किसी बाह्य सत्ता को नियामक मानने की आवश्यकता नही है उसके लिये हम स्वय उत्तरदायी है

साख्य और वेदातदर्शन मे भी पुरुष अथवा ब्रह्म को चित् स्वरूप माना गया है किन्तु वहा चेतना का अर्थ शुद्ध चैतन्य है अर्थात् उसमे विषय का भान नही रहता यह भान प्रकृति या माया के कारण होता है मुक्त अवस्था मे वह नही रहता किन्तु जैनदर्शन मे ज्ञान और दर्शन अर्थात् निराकार और साकार दोनो प्रकार की चेतना जीव का स्वाभाविक गुण है इसी को उपयोग कहते हैं जो जीव का लक्षण माना गया है अर्थात् बाह्य जगत् को सामान्य तथा विशेष दोनो रूपो मे जानना जीव का स्वभाव है और वह मुक्त अवस्था मे भी बना रहता है इसी तथ्य के कारण इन परम्पराओ मे कैवल्य शब्द का अर्थ भिन्न-भिन्न हो गया है साख्यदर्शन मे कैवल्य का अर्थ है प्रकृति के सम्पर्क से रहित शुद्ध चेतना जैनदशन मे उसका अर्थ है सर्वज्ञता अर्थात् बाह्य तथा आभ्यन्तर समस्त जगत् की अनुभूति

(२) पुद्गलास्तिकाय—साख्यदर्शन मे जो स्थान प्रकृति का है वही जैनदर्शन मे पुद्गल का है जीव के ससार मे भ्रमण और सुख दु ख भोग का सारा कार्य पुद्गल द्वारा सपादित होता है किन्तु साख्यदर्शन के समान यहा इसका विकास बुद्धि के रूप मे नही होता जैनदर्शन के अनुसार वह चेतना का गुण है और उसी के समान अनादि तथा अनन्त है न्यायदर्शन मे पृथ्वी आदि चार भूतो के परमाणु भी भिन्न-भिन्न प्रकार के माने गये है जल के परमाणुओ मे गध नही होती, अग्नि के परमाणुओ मे गध और रस नही होते तथा वायु के परमाणुओ मे केवल स्पर्श ही होता है, किन्तु जैनदर्शन पृथ्वी आदि के परमाणुओ मे मौलिक भेद नही मानता सभी मे रूप, रस, गध तथा स्पर्श चारो गुण

(ग) आयुष्य—विभिन्न गतियों में अल्प या दीर्घ जीवन प्रदान करने वाला
(घ) गोत्र—उच्च या नीच कुल में उत्पन्न करने वाला
(२) प्रदेशबंध—प्रत्येक कर्म के प्रदेश अर्थात् परमाणु
(३) स्थितिबंध—प्रत्येक कर्म की आत्मा के साथ रहने और फल देने की काल मर्यादा
(४) अनुभागबंध—न्यूनाधिक फल देने की शक्ति

आध्यात्मिक विकास के साथ मुख्य सम्बन्ध मोहनीय का कम है इसके दो भेद है (१) दर्शन मोहनीय और (२) चारित्र मोहनीय दर्शन मोहनीय का अर्थ है मिथ्यात्व या दृष्टि का विपरीत होना चारित्र मोहनीय का अर्थ है क्रोध मान माया और लोभ आदि दुर्बलताएं जो हमारे चारित्र को पनपने नही देती उत्कटता की दृष्टि से इसकी चार श्रेणियां है जिन्हे लांघते हुए साधक विकास की उत्तरोत्तर उच्च अवस्थाओं को प्राप्त करता है प्रथम श्रेणी अनन्तानुबंधी है जिसके मिथ्यात्व मोहनीय तथा इसका उदय रहता है वह श्रद्धा तथा चारित्र दोनो से गिरा हुआ होता है और आध्यात्मिक विकास का अधिकारी नही है दूसरी कोटि अप्रत्याख्यान की है इसके उदय वाला सम्यग्दृष्टि तो हो सकता है किन्तु आंशिक या पूर्ण किसी भी रूप म व्रत ग्रहण नही कर सकता तीसरी कोटि प्रत्याख्यानावरण है इसका उदय होने पर पूर्ण या महाव्रतो का पालन नही हो सकता चौथी कोटि सज्वलन है इसके उदय वाला महाव्रत तो अंगीकार कर सकता है किन्तु सूक्ष्म दोष लगते रहते है इसका नाश होने पर केवल्य या आत्मा की शुद्ध अवस्था प्राप्त हो जाती है

संवर—इसका अर्थ है आस्रव अर्थात् कर्मबंध के कारणों को रोकना मिथ्यात्व को रोकना अर्थात् सुदेव सुगुरु और सुधर्म मे विश्वास करना सम्यग्दर्शन है तत्वार्थ सूत्र म इसे तत्त्वार्थश्रद्धान के रूप मे बताया गया है इसका अर्थ है जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित ७ तत्त्व और ६ द्रव्यों में विश्वास अविरतिरूप आस्रव को रोकने की २ कोटियां है प्रथम कोटि श्रावक की है वह अहिंसा सत्य आदि व्रतो का आंशिक रूप में पालन करता है इसे देशविरति भी कहा जाता है दूसरी कोटि सर्वविरति या मुनि की है वह महाव्रतो का पूर्णतया पालन करता है इनके पालन के लिए समिति गुप्ति परीषहजय अनुप्रेक्षाएँ आदि अनेक बातो का प्रतिपादन किया गया है आस्रव के अंतिम तीन द्वारो का निरोध इन्ही म आ जाता है

निर्जरा—निर्जरा शब्द का अर्थ है संचित कर्मों का नाश इसके लिए १२ प्रकार के तप बताये गये है उनमें से ६ बाह्य है और ६ आभ्यंतर बाह्यतप का सम्बन्ध मुख्यतया शारीरिक अनुशासन से है और आभ्यतर तप का मनोनिग्रह से

मोक्ष—इसका निरूपण पहले किया जा चुका है

१४ गुणस्थान—जनधर्म मे आध्यात्मिक उत्थान की भूमिकाओ को १४ गुणस्थानों मे विभक्त किया गया है प्रथम अर्थात् मिथ्यात्व गुणस्थान अविकसित अवस्था को प्रकट करता है द्वितीय से लेकर १२वें तक विकास की विविध अवस्थाओ को तेरहवा और चौदहवां पूर्णतया विकसित अवस्था को विकास या उच्चतर भूमिकाओं को प्राप्त करने के दो मार्ग है उपशमश्रेणि अर्थात् विकारो को दबाते हुए आगे बढ़ना वहा दोष संस्कार के रूप में विद्यमान रहते है और अवसर पाकर उभर आते है परिणाम स्वरूप साधक नीचे गिर जाता है दूसरा मार्ग क्षपक श्रेणि है इसम साधक विकारो का नाश करता हुआ आगे बढ़ता है उसके पतन की संभावना नही रहती

द्वितीय गुणस्थान पतनकाल म प्राप्त होता है यह मिथ्यात्व प्राप्त करने से पहले की अवस्था है उस समय संस्कार के रूप म सम्यग्दर्शन का क्षीण प्रभाव बना रहता है तृतीय गुणस्थान डावाडोल मन वाले मिश्रदृष्टि जीव का है जहां कभी सम्यक्त्व की ओर झुकाव होता है और कभी मिथ्यात्व की ओर योगदर्शन की दृष्टि से प्रथम गुणस्थान को क्षिप्त और मूढभूमिका कहा जा सकता है तथा तृतीय गुणस्थान को विक्षिप्त भूमिका चतुर्थ गुणस्थान सम्यग्दृष्टि जीव का है जो श्रद्धा ठीक होने पर भी व्रतो को अंगीकार नही कर पाता पांचवा देशविरति श्रावक या गृहस्थ का
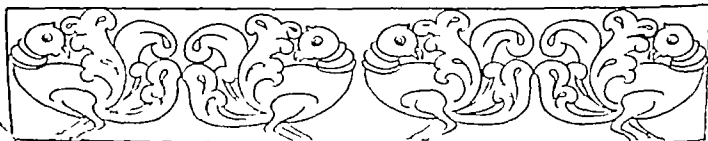
जीव (Mind) पुद्गल (Matter) धर्म (positive Energy) अधर्म (Negative Energy) आकाश (Space) काल (Time)

आचार मीमांसा

ऊपर बताया गया था कि जैनधर्म मे ७ तत्त्व माने गये है उनमे से प्रथम २ अर्थात् जीव और अजीव विश्व के स्वरूप को बताते है शेष ५ का सबध आचार अर्थात् आध्यात्मिक विकास के साथ है

जैन दर्शन भी मोक्ष को जीवन का चरम लक्ष्य मानता है इसका अर्थ है आत्मा के स्वरूप का पूर्णविकास प्रत्येक जीव अपने आप मे अनत चतुष्टय रूप है अनतज्ञान, अनतदर्शन, अनतमुख और अनतवीर्य उसका स्वभाव है किन्तु यह स्वभाव बाह्य प्रभाव के कारण दबा हुआ है उस प्रभाव को कर्म कहते है कर्मो का बन्ध जिन कारणो से होता है उन्हे आश्रव कहते है इस बन्ध का रुक जाना सवर है और सचित कर्मो का नाश निर्जरा है जैन आचार इन ५ तत्वो पर विकसित हुआ है अब हम इनका विवेचन करेंगे

आस्रव—कर्मबन्ध के कारणो को आस्रव कहते है इसके ५ भेद है

(१) मिथ्यात्व—विपरीत श्रद्धा तात्त्विक दृष्टि से इसका अर्थ है सत्य को छोडकर असत्य को पकडे रहना इसी प्रकार कुदेव कुगुरु या कुधर्म को मानना भी मिथ्यात्व है

(२) अविरति—पाप कर्मो मे निवृत्त न होना पापाचरण न करने पर भी जब तक साधक उसमे अलग रहने की प्रतिज्ञा नही करता, जब तक मन मे डाँवाडोल है तब तक अविरत कहा जाता है

(३) प्रमाद—आलस्य या अकर्मण्यता, जो जीवन मे अनुशासन नही रहने देती अगीकार किए हुए व्रत मे किसी प्रकार की भूल-चूक होना भी प्रमाद है

(४) कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभ

(५) योग—मन, वचन और काया की अशुभ प्रवृत्तियाँ

आस्रव का शब्दार्थ है आने का मार्ग आत्मा अपने आप मे शुद्ध है इन ५ कारणो से कर्म-परमाणुओ का बन्ध होता है और वह मलीन हो जाता है कर्म एक प्रकार का जड पदार्थ है जो आत्मा के साथ मिलकर उसे मलिन कर देता है

बध—बन्ध का अर्थ है कर्मो का आत्मा के साथ चिपकना और शुभाशुभ फल देने की शक्ति प्राप्त करना इसके चार भेद है

(१) प्रकृति बध—आत्मा के साथ जो कर्म-पुद्गल बन्धते है वे आठ प्रकार के है उनमे से चार आत्मा के अनत चतुष्टय को आच्छादित करते है शेप योनि विशेष मे जन्म, शारीरिक सगठन, तथा आयु आदि का निर्माण करते है प्रथम प्रकार के कर्म आत्म-गुणो का घात करने के कारण घाति कहे जाते है और शेष चार अघाति घाति कर्म नीचे लिखे अनुसार हैं

(१) ज्ञानावरण—ज्ञान को ढकने वाला. (२) दर्शनावरण—दर्शन को ढकने वाला (३) मोहनीय—आत्मा को विपरीत दशा मे ले जाने वाला वेदान्त तथा योगदर्शन मे अविद्या का तथा बौद्धदर्शन मे तृष्णा का जो स्थान है वही जैनदर्शन मे मोहनीय कर्म का है (४) अतराय—आत्मशक्ति को कुठित करने वाला ४ अघाति कर्म निम्न प्रकार है

(क) वेदनीय—शारीरिक सुख दु ख उत्पन्न करने वाला

(ख) नाम कर्म—उच्च नीच गतियो मे ले जाने, शरीर रचना करने एव अन्य अनुकूल तथा प्रतिकूल सामग्री उपस्थित करने वाला
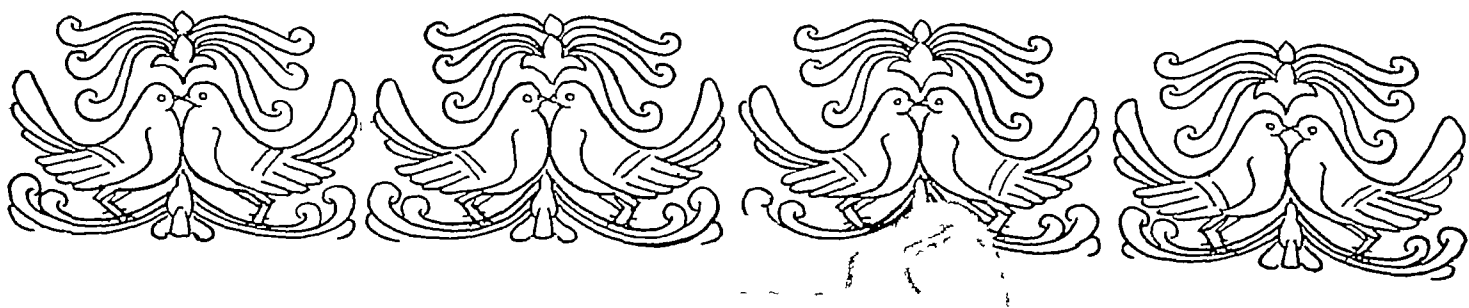
श्रीगोपीलाल अमर
एम ए शास्त्री काव्यतीर्थ साहित्यरत्न
जैन संस्कृत डिग्री कालेज सागर (म प्र)

दर्शन और विज्ञान के आलोक में पुद्गल द्रव्य

प्रारम्भिक—जैन दर्शन ने विश्व को जहाँ स्याद्वाद और अनेकान्त के अखण्ड सिद्धान्त दिये हैं वहाँ पुद्गलद्रव्य की अद्वितीय मान्यता भी दी है उधर जैनेतर दर्शनों ने पुद्गल द्रव्य को तत्तत् रूपों में स्वीकार किया है और इधर विज्ञान भी इस द्रव्य को स्पष्ट रूप से मान्यता देता आ रहा है

हम यहाँ पुद्गल द्रव्य का एक सुस्पष्ट विश्लेषण प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे सर्वप्रथम हमें जैन दर्शन के अनुसार इस का अध्ययन करना होगा फिर जैनेतर दर्शनों में उसकी तह खोजनी होगी और तब उसका वैज्ञानिक विश्लेषण करना होगा

जैन सिद्धान्त विश्व (Universe) को छह द्रव्यों (Substances) से निर्मित मानता है जो सत् (Existent) हो या जिसकी सत्ता (Existance) हो वह द्रव्य है जिसमें पर्यायों (Modifications) की दृष्टि से उत्पाद (Manifestation) और विनाश (Disappearance) प्रतिसमय होते रहते हों और गुणों (Fundamental realities) की दृष्टि से प्रतिसमय ध्रौव्य (Continuity) रहता हो वह सत् (Existent) है[1] द्रव्य छह हैं[2]

(१) जीव (Soul substance possessing consciousness)

(२) पुद्गल (Matter & Energy)

(३) धर्म (Medium of motion of souls matter and energies)

(४) अधर्म (Medium of rest of souls matter and energies)

(५) आकाश (Space medium of location of soul etc.) और

(६) काल (Time)

पुद्गल का स्वरूप—पुद्गल शब्द एक पारिभाषिक शब्द है अकिम रूढ नहीं इसकी व्युत्पत्ति कई प्रकार से की जाती है

पुद्गल शब्द में दो अवयव हैं 'पुद्' और 'गल' पुद् का अर्थ है पूरा होना या मिलना (Combination) और

---

१ सद् द्रव्यलक्षणम् । —आचार्य उमास्वामी तत्त्वार्थसूत्र अ ५, सू २९

२ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् । —वही अ ५ सू ३ ।

३ जीवा पुग्गलकाया धम्माधम्मा तहेव आयासं —आचार्य कुन्दकुन्द पंचास्तिकाय

है, उनके जीवन मे प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वय होता है छठे से लेकर दसवें तक पाच गुणस्थान निवृत्तिप्रधान मुनि की भूमिकाओ को प्रकट करते है, जो कषायो को क्षीण करता हुआ उत्तरोत्तर ऊपर चढता जाता है ११ वा उपशात मोहनीय है वहाँ मोहनीय पूर्णतया दब जाता है किन्तु दूसरे ही क्षण उसका पुन उभार आता है और साधक नीचे गिरने लगता है १२ वाँ गुणस्थान क्षीणमोहनीय है, जो मोहनीय कर्म के पूर्णतया क्षय हो जाने पर प्राप्त होता है तत्पश्चात् साधक ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अतराय कर्म का भी क्षय कर डालता है और तेरहवें गुणस्थान मे पहुच जाता है उस समय वह वीतराग और सर्वज्ञ कहा जाता है कषायो का सर्वथा नाश होने पर भी योग अर्थात् मन वचन और काय की हलचल बनी रहती है चौदहवे गुणस्थान मे वह भी रुक जाती है ५ ह्रस्व अक्षरो के उच्चारण मे जितना समय लगता है साधक उतनी ही देर जीवित रहता है और शरीर का परित्याग करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है

पुद्गल के एक स्कन्ध (Molecule) में एक साथ स्निग्ध और रूक्ष में से कोई एक मृदु और कठोर में से कोई एक शीत और उष्ण में से कोई एक तथा लघु और गुरु में से कोई एक ऐसे कोई चार स्पर्श अवश्य पाये जाते है लेकिन अणु (Ultimate atom) में स्निग्ध और रूक्ष में से कोई एक तथा शीत और उष्ण मे से कोई एक ऐसे कोई दो स्पर्श ही पाये जाते है क्योकि वह पुद्गल का सूक्ष्मतम अश है अत उसके मृदु या कठोर और लघु या गुरु होने का प्रश्न ही नही उठता

रस (स्वाद) :—रस पाँच होते हैं मधुर अम्ल (खट्टा) कटु, तिक्त (तीखा चरपरा आदि) और कषायला (जैसे आवले का स्वाद)

इन रसों का सम्बन्ध भोजन से है साहित्यशास्त्र में भी नौ रसों की मान्यता है. इन दर्शन नौ रसा का अन्तर्भाव जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य दोनों म करता है इनमें से प्रत्येक के हम दो भेद कर सकते है अनुभूतिरूप और शब्दरूप अनुभूति चूकि जीव (आत्मा) करता है अत अनुभूतिरूप रस जीव में और शब्द जिसकी चर्चा आगे की जायेगी चूकि पुद्गल की पर्याय है अत शब्दरूप रस पुद्गल मे अन्तर्भूत होता है

गन्ध :—गन्ध दो प्रकार की है सुगन्ध और दुर्गन्ध

वर्ण (रग) :—वर्ण मुख्यत पाँच प्रकार का होता है कृष्ण (काला) रक्त (लाल) पीत श्वेत और नील

दो या दो से अधिक रगों के मिश्रण से बहुत-से नये रग बन जाते हैं उनका अन्तर्भाव यथासभव इन्ही पाँच रंगों में होता है

पचवर्णों का सिद्धान्त

जैन दर्शन के अनुसार वर्ण पाँच होते है जब कि सौर वर्णपटल (Solar-spectrum) में सात वर्ण होते है और प्राकृतिक (Natural) और अप्राकृतिक (Pigmetory) वर्ण तो अनेको होते हैं. इसका समाधान यह है कि यहाँ वर्ण शब्द से जैनाचार्यो का तात्पर्य सौर वर्णपटल के वर्णों से अथवा अन्य वर्णों से नही प्रत्युत पुद्गल के उस मूलभूत (Fundamental Property) गुण से है जिसका प्रभाव हमारी आख की पुतली पर अकित होता है और हमारे मस्तिष्क में कृष्ण रक्त आदि आभास कराता है आप्टिकल सोसायटी ऑफ अमेरिका (Optical society of America) ने वर्ण की यह परिभाषा दी है—वर्ण एक व्यापक शब्द है जो आख के कृष्ण पटल और उससे सम्बद्ध सिराओ की क्रिया से उद्भूत आभास को सूचित करता है रक्त नील पीत श्वेत और कृष्ण इसके उदाहरण है[1]

पञ्चवर्णों का सिद्धान्त यही तो है कि यदि किसी वस्तु का ताप बढाया जावे तो उसमें से सर्वप्रथम अदृश्य (Dark) ताप किरणें (Heat Rays) निस्सरित (Emitted) होती हैं और फिर ज्यों-ज्यों उसके ताप को बढ़ाया जावेगा त्यों-त्यों उसमें से क्रमश रक्त पीत श्वेत और यहा तक कि नील किरणें निस्सरित होने लगती है मीमेघनाद साहा और बी एन श्रीवास्तव ने लिखा है कि कुछ तारे नील-श्वेत रश्मियां छोड़ते हैं जिससे स्पष्ट है कि उनका तापमान बहुत है तात्पर्य यह कि ये पाच वर्ण ऐसे प्राकृतिक वर्ण हैं जो किसी भी पुद्गल से विभिन्न तापमानों (Temperatures) पर उद्भूत हो सकते हैं और इसलिए इन्हे पुद्गल के मूलगुण मानना पडेगा

जैन जैन विचारको ने वर्ण के अनन्त भेद माने हैं हम सौर वर्णपटल (Solar Spectrum) के वर्णों (Colours)

---

[1] Colour is a general term for all sensations, arising from the activity of retina and its attached nervous machanisms. It may be examplified by the enumeration of characteristic in tances such as red, yellow blue black and white
Prof G R Jain Cosmology old & New

'गल' का अर्थ है गलना या मिटना (Disintegration) जो द्रव्य प्रतिसमय मिलता-गलता रहे, बनता-बिगडता रहे, टूटता-जुडता रहे वह पुद्गल है[1]

सम्पूर्ण विश्व मे पुद्गल ही एक ऐसा द्रव्य है जो खण्डित भी होता है और पुन परस्पर सम्बद्ध भी पुद्गल की एक सबसे बडी पहिचान यह है कि वह छुआ जा सकता है, चखा जा सकता है, सूघा जा सकता है और देखा भी जा सकता है अत कहा जा सकता है कि जिसमे स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण, चारो अनिवार्यत पाये जावे वह पुद्गल है[2]

पुद्गल (Matter of Energy) के गलन-मिलन स्वभाव (Disintegration and combination phenomena) को वैज्ञानिक शब्दो मे भी समझाया जा सकता है पुद्गल के मिलने या सम्बद्ध होने (Combination) का अर्थ है कि एक स्कन्ध (Molecule) दूसरे स्निग्ध-रूक्ष गुणयुक्त स्कन्ध से मिल सकता है और इस प्रकार अधिक स्निग्ध-रूक्ष गुणयुक्त स्कन्ध उत्पन्न हो सकता है पुद्गल के गलने या खण्डित होने का अर्थ है कि एक स्कन्ध मे से कुछ स्निग्ध-रूक्ष गुणयुक्त देश (भाग) अलग हो सकता है और इस प्रकार कम स्निग्ध-रूक्ष गुणयुक्त स्कन्ध उत्पन्न हो सकता है

ईसा की उन्नीसवी शती तक वैज्ञानिको का मत था कि तत्त्व (Elements) अपरिवर्तनीय (Non-transformable) है एक तत्त्व दूसरे तत्त्व के रूप मे परिवर्तित (Transformed) नही हो सकता किन्तु अव तेजोद्गरण (Radio activity) आदि के अनुसन्धानो से यह सिद्ध हो गया है कि तत्त्व परिवर्तित भी हो सकता है

किरणातु (Uranium) के एक अणु (Atom) मे से जब तीन अ-कण (Particles) विच्छिन्न हो जाते है तो वह एक तेजातु (Radium) के अणु के रूप मे परिवर्तित हो जाता है इसी तरह जब तेजातु का एक अणु पाँच अ कणो मे विच्छिन्न हो जाता है तो वह सीसा (Lead) के अणु के रूप मे परिवर्तित हो जाता है यह तो हुई विगलन या खण्डन (Disintegration) की क्रिया और अब देखिये पूरण या मिलन (Combination) की क्रिया-भूयाति (Nitrogen) के एक अणु की न्यष्टि (Nuclues) मे जब एक अ-कण मिल जाता है तो एक जारक (Oxygen) का अणु बन जाता है यही प्रक्रिया लघ्वातु (Lithium) और विडूर (Beryllium) मे भी सभव है

पुद्गल के गुण —जैसा कि उक्त परिभाषा से स्पष्ट है, पुद्गल के मूलत चार गुण होते हैं, स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण इन चारो के भी बीस भेद होते है यह वर्गीकरण अत्यन्त स्थूल रूप मे किया गया है, वास्तव मे तो ये गुण अपने विभिन्न रूपो मे अगणित होते है

स्पर्श —पुद्गल मे आठ प्रकार का स्पर्श पाया जाता है—स्निग्ध, रूक्ष, मृदु, कठोर, शीत, उष्ण, लघु (हलका) और गुरु (भारी)

---

१ (१) पूरणात् पुद् गलयतीति गल । —शब्दकल्पद्रुमकोप

(२) पूरणगलनान्वर्थसंज्ञत्वात् पुद्गला

आचार्य अकलकदेव तत्त्वार्थराजवार्तिक, —अ० ५, सू० १, वा० २४

(३) छव्विहसठाण वहुविहि देहेहि पूरदित्ति गलदित्ति पोग्गला —धवला ग्रन्थ

(४) पुगिलनात् पूरणगलनद्वा पुद्गल इति । —आचार्य अकलक देव तत्त्वार्थराजवार्तिक, अ० ५, सू० १९, वा० ४०

(५) वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शै -पूरण गलन च यत् ।

कुर्वन्ति स्कन्धवत् तस्मात् पुद्गला परमाणव । —आचार्य जिनसेन हरिवशपुराण, सर्ग ७, श्लो० ३६

(६) पूरणाद् गलनाच्च पुद्गला । —गणी सिद्धसेन तत्त्वार्थभाष्य की टीका, अ० ५, सू० १

(७) पूरणाद् गलनाद् इति पुद्गला । —न्यायकोष, पृ० ५०२

२ स्पर्शरसगन्धवर्णवन्त पुद्गला । —आचार्य उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र, अ० ५, सू० २३
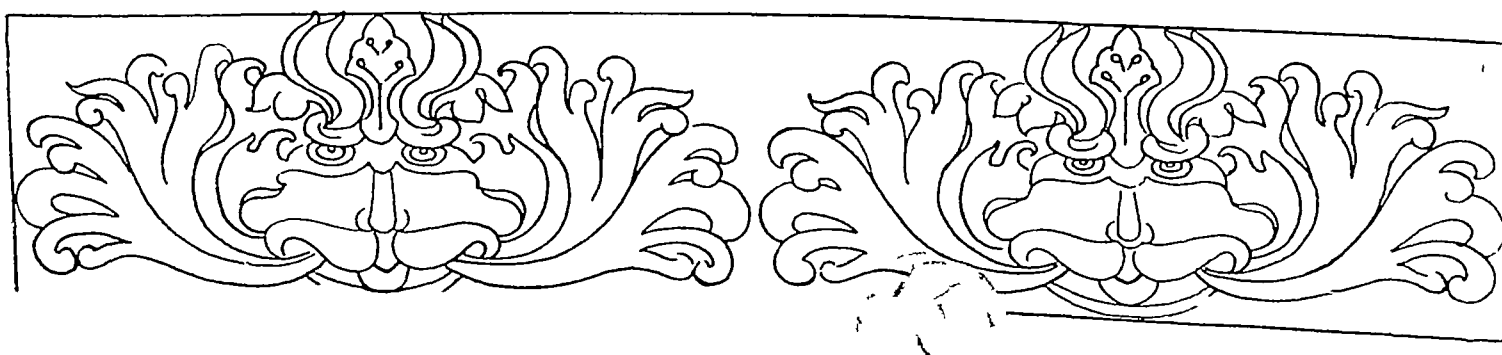
पुद्गल नित्य और अवस्थित है

जिसका तद्भाव-अव्यय हो अर्थात् जिसकी मौलिकता (Fundamental reality) कभी नष्ट न हो वह वस्तु नित्य कहलाती है।[1] पुद्गल की मौलिकता स्पर्श रस गन्ध और वर्ण में है और ये चारों उससे एक समय के लिए भी पृथक नहीं होते अतः वह नित्य है। यह एक अलग बात है कि यह मौलिकता रूपान्तरित (Modified) हो जाती है। कच्चा आम हरा और खट्टा होता है और वही पककर पीला हो जाता है लेकिन वह वर्णहीन और रसहीन नहीं हो सकता। सोने की चूड़ी को पिघलाकर हार बनाया जा सकता है लेकिन सोना फिर भी कायम रहेगा वह तो हर हालत में नित्य है.

जो संख्या में कम या बढ न हो जो अनादि भी हो और अनन्त भी और जो न स्वयं को अन्य द्रव्य के रूप में परिवर्तन करे वह वस्तु या द्रव्य अवस्थित कहलाती है। अनादि अतीत काल में जितने पुद्गल-परमाणु थे वर्तमान में उतने ही हैं और अनन्त भविष्य में भी उतने ही रहेंगे पुद्गल द्रव्य की अपनी मौलिकता यथावत् कायम रहती चली आवेगी

पुद्गल द्रव्य की अपनी मौलिकता (स्पर्श आदि गुण) किसी अन्य द्रव्य में कदापि परिवर्तित नहीं होती और नहीं किसी अन्य द्रव्य की मौलिकता पुद्गल द्रव्य में परिवर्तित होती है

पुद्गल की एक अद्वितीय विशेषता है उसका रूप। यहाँ रूप शब्द का अर्थ है शरीर अर्थात् प्रकृति और ऊर्जा (Matter & energy) जिसमें स्पर्श रस गन्ध और वर्ण स्वयं सिद्ध है।[2]

पुद्गल का छोटा या बड़ा दृश्य या अदृश्य कोई भी रूप हो उसमें स्पर्श आदि चारों गुण अवश्यभावी हैं। ऐसा नहीं कि किसी पदार्थ में केवल रूप या केवल गन्ध आदि पृथक-पृथक हों जहाँ स्पर्श आदि में से कोई एक भी गुण होगा वहाँ अन्य शेष गुण प्रकट या अप्रकट रूप में अवश्य पाये जावेंगे

न्यायदर्शन की मान्यता

लेकिन न्यायदर्शन के अन्तर्गत केवल पृथ्वी में ही चारों गुण माने गये हैं जल में केवल स्पर्श रस और रूप तेज में केवल स्पर्श और रूप तथा वायु में केवल स्पर्श ही माना गया है। इस भ्रान्ति का कारण यह है कि न्यायदर्शन में पृथ्वी जल तेज और वायु को पृथक-पृथक द्रव्य माना गया है जबकि वास्तव में ये सब अपने परमाणुओं (ultimate atoms) की दृष्टि से एक पुद्गल द्रव्य के ही अन्तर्गत आते हैं

न्यायदर्शन की इस मान्यता के खण्डन में मुख्यतः चार तर्क दिये जाते हैं प्रथम यह कि यदि पृथ्वी आदि चारों पृथक पृथक द्रव्य होते तो उनमें से एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होनी चाहिए थी जबकि होती अवश्य है। उदाहरणार्थ मोती पृथ्वी द्रव्य के अन्तर्गत है लेकिन उत्पन्न होता है वह जल द्रव्य से। बांस पृथ्वी द्रव्य के अन्तर्गत है लेकिन जंगल में देखते हैं कि दो बांसों की रगड़ से अग्नि द्रव्य उत्पन्न हो जाता है। दियासलाई आदि का दृष्टान्त भी ऐसा ही है जौ नामक अन्न भी पृथ्वी द्रव्य के अन्तर्गत है लेकिन उसके खाने से वायु द्रव्य उत्पन्न होता है उद्जन (Hydrogen) और जारक (Oxygen) ये दो वायुएँ (Gases) हैं और वायु द्रव्य के अन्तर्गत आती हैं लेकिन उनके रासायनिक संयोग से जल द्रव्य बन जाता है

दूसरा तर्क यह है कि जिस प्रकार पृथ्वी में चारों गुण हैं उसी प्रकार जल तेज और वायु में से प्रत्येक में भी चारों चारों गुण हैं। विज्ञान ने भी यह सिद्ध कर दिया है और जब सभी में समान-समान (चारों चारों) गुण हैं तो उन्हें पृथक-पृथक द्रव्य मानकर द्रव्यों की मूल संख्या बढ़ाना उचित नहीं। न्यायदर्शन जल में गन्ध का निषेध करता है लेकिन

1. तद्भावाव्ययं नित्यम् । —तत्त्वार्थसूत्र अ ५ सू ३०
   रूपिणः पुद्गलाः —अ ५ सू ५
2. स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः । —तत्त्वार्थसूत्र अ ५ सू २३
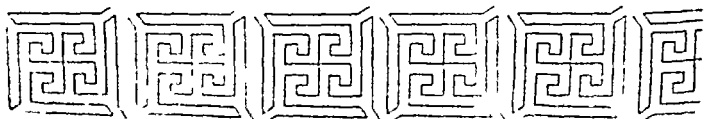
मे देखते है कि यदि रक्त से लेकर कासनी (Violet) तक तरगप्रमाणो (Wavelengths) की विभिन्न अवस्थितियो (Stages) की दृष्टि से विचार किया जाय तो ये अनन्त सिद्ध होगी और इनके अनन्त होने के कारण वर्ण भी अनन्त सिद्ध होगे इसका भी कारण यह है कि यदि एक प्रकाशतरग प्रमाण मे दूसरी प्रकाशतरग से अनन्तवें भाग (Infinitesimal amount) भी न्यूनाधिक होती है तो वे तरगें दो विसदृश वर्णो को सूचित करती है

पुद्गल की विशेषताएँ

वैसे तो पुद्गल की मुख्य विशेषता उसके स्पर्श आदि चार गुण ही है, ये चारो उसके असाधारण भाव हैं अर्थात् उसके अतिरिक्त किसी अन्य द्रव्य मे सम्भव नही हैं ऐसी विशेषताएँ मुख्यत छह कही जा सकती है पुद्गल द्रव्य के स्वरूप का विश्लेषण करना ही इन विशेषताओ का उद्देश्य है

पुद्गल द्रव्य है—द्रव्य की परिभाषा हम पहले प्रस्तुत कर चुके हैं और उस की कसौटी पर पुद्गल खरा उतरता है इसे समझाने के लिए हम एक उदाहरण देंगे सुवर्ण पुद्गल है किसी राजा के एक पुत्र है और एक पुत्री राजा के पास एक सुवर्ण का घडा है पुत्री उस घडे को चाहती है और पुत्र उसे तोडकर उसका मुकुट बनवाना चाहता है राजा पुत्र की हठ पूरी कर देता है पुत्री रुष्ट हो जाती है और पुत्र प्रसन्न लेकिन राजा की दृष्टि केवल सुवर्ण पर ही है जो घडे के रूप मे कायम था और मुकुट के रूप मे भी कायम है अत उसे न हर्ष है न विषाद[1] एक उदाहरण और लीजिए लकडी एक पुद्गल द्रव्य है वह जलकर क्षार हो जाती है उससे लकडीरूप पर्याय का विनाश होता है और क्षाररूप पर्याय का उत्पाद, किन्तु दोनो पर्यायो मे वस्तु का अस्तित्व अचल रहता है, उसके आगारत्व (Carbon) का विनाश नही होता मीमासा-दर्शन के प्रकाण्ड व्याख्याता कुमारिल भट्ट ने इस सिद्धान्त का समर्थन ऐसे ही एक उदाहरण द्वारा मुक्तकण्ठ से किया है[2]

द्रव्य की परिभाषा एक-दूसरे ढग से भी की जा सकती है जिसमे गुण (Fundamental realities) और पर्यायें (Modifications) हो वह द्रव्य[3]

जो द्रव्य मे रहते हो और स्वय निर्गुण हो वे गुण कहलाते है[4] चूकि गुण द्रव्य मे अपरिवर्तनीय (Non-transformable) और स्थायी रूप से रहते है अत वे द्रव्य के ध्रौव्य (Continuity) के प्रतीक है सज्ञान्तर या भावान्तर अर्थात् रूपान्तर को पर्याय (Modification) कहते है[5] पर्याय का स्वरूप ही चूकि यह है कि वह प्रतिसमय बदलती रहे, नष्ट भी होती रहे और उत्पन्न भी, अत वह उत्पाद और विनाश, दोनो की प्रतीक हैं द्रव्य की इस परिभाषा की दृष्टि से भी पुद्गल की द्रव्यता सिद्ध होती है

---

१ घट-मौलि-सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोक प्रमोद-माध्यस्थ्य जनो याति सहेतुकम् ।। —आचार्य समन्तभद्र आप्तमीमासा, श्लोक ५९

२ वर्धमानकभगे च रुचक क्रियते यदा ।
तदा पूर्वार्थिन शोक प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिन ।
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्य तस्मात् वस्तूभयात्मम् ।
नोत्पादस्थितिभगानामभावे स्यान् मतित्रयम् ।
न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम् ।
स्थित्या विना न माध्यस्थ्य तेन सामान्यनित्यता ।। —मीमासाश्लोकवार्तिक, श्लोक २१-२३

३ गुणपर्ययावद् द्रव्यम् । —आचार्य उमास्वामी तत्वार्थसूत्र, अ० ५, ० ३८ ।

४ द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणा । —वही, अ० ५, सू० ४१

५ सज्ञान्तर भावान्तर च पर्याय । —आचार्य सिद्धसेन गणी तत्वार्थभाष्य टीका, अ, ५, सू० ३७
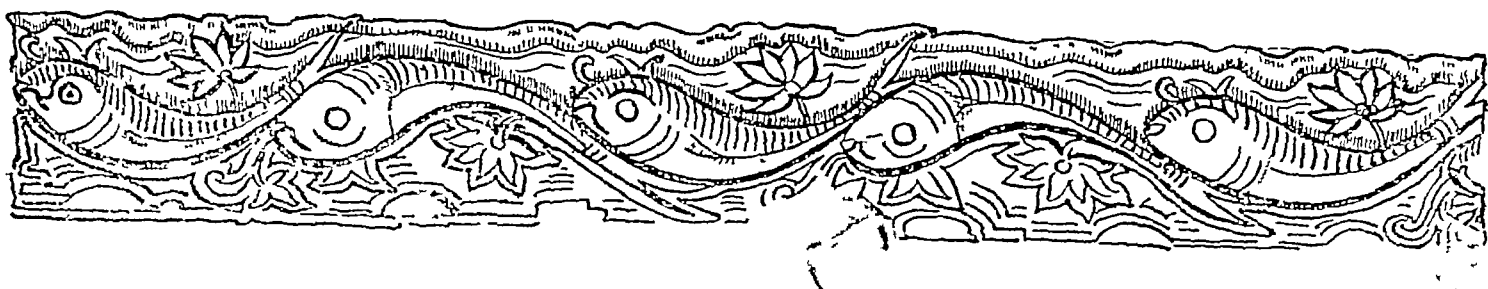
कारण परमाणु और स्कन्ध सभी सूक्ष्मरूप परिणत हो जाते हैं और इस प्रकार एक ही आकाशप्रदेश मे अनन्तानन्त पुद्गल रह सकते है[1]

उदाहरणार्थ एक कमरे म एक दीपक का प्रकाश पर्याप्त होता है लेकिन उसमें सकड़ो दीपकों का प्रकाश भी समा सकता है अथवा एक दीपक का प्रकाश जो किसी बड़े कमरे में फैला रहता है किसी छोटे बर्तन से ढँके जाने पर उसी में समा जाता है[1] इससे स्पष्ट है कि पुद्गल के प्रकाश-परमाणुओ में सूक्ष्म परिणमन शक्ति विद्यमान है उसी प्रकार पुद्गल के प्रत्येक परमाणु की स्थिति है परमाणु की भांति स्कन्धों में भी सूक्ष्म परिणमन और अवगाहन शक्ति होती है अवगाहन शक्ति के कारण परमाणु अथवा स्कन्ध जितने स्थान में स्थित होता है उतने ही उसी स्थान म अन्य परमाणु और स्कन्ध भी रह सकते है[2]

सूक्ष्म परिणमन की क्रिया का अर्थ ही यह हुआ कि परमाणु में सकोच हो सकता है, उसका घनफल कम हो सकता है

वैज्ञानिक समर्थन

यह सूक्ष्म परिणमन क्रिया विज्ञान से मेल खाती है अणु (Atom) के दो अग होते है एक मध्यवर्ती न्यष्टि (Nucleus) जिसम उद्युत्कण (Protons) और विद्युत्कण (Neutrons) होते है और दूसरा बाह्यकक्षीय कवच (Orbital Shells) जिसमें विद्युदणु (Electrons) चक्कर लगाते है न्यष्टि (Nucleus) का घनफल पूरे अणु (Atom) के घनफल से बहुत ही कम होता है और जब कुछ कक्षीय कवच (Orbital Shells) अणु म विच्छिन्न (Disintigrated) हो जाते है तो अणु का घनफल कम हो जाता है ये अणु विच्छिन्न अणु (Stripped atoms) कहलाते हैं ज्योतिष सम्बन्धी अनुसन्धानाओ से पता चलता है कि कुछ तारे ऐसे हैं जिनका घनत्व हमारी दुनिया की घनतम वस्तुओ स भी २ गुणित है एडिंग्टन ने एक स्थान पर लिखा है कि एक टन (२८ मन) न्यष्टीय पुद्गल (Nuclear matter) हमारी वास्केट के जेब में समा सकता है कुछ ही समय पूर्व एक ऐसे तारे का अनुसन्धान हुआ है जिसका घनत्व ६२ टन (१७३६ मन) प्रति घन इंच है इतने अधिक घनत्व का कारण यही है कि यह तारा विच्छिन्न अणुओं (Stripped atoms) से निर्मित है उसके अणुओं में केवल न्यष्टियां ही है कक्षीय कवच (Orbital shells) नही जैन सिद्धान्त की भाषा में इसका कारण अणुओं का सूक्ष्म परिणमन है

पुद्गल द्रव्य का जीव द्रव्य स सयोग भी होता है

आगे पुद्गल द्रव्य के वर्गीकरण (Classification) का विषय आने वाला है यह वर्गीकरण कई प्रकार से सम्भव है एक प्रकार स पुद्गल को २३ वर्गणाओ या वर्गों में रखा जाता है इन वर्गणाओं में से एक है कार्मण वर्गणा कार्मण वर्गणा का तात्पर्य ऐसे पुद्गल परमाणुओ से है जो जीव द्रव्य के साथ संयुक्त हुआ करते हैं

पुद्गल परमाणुओ का सयोग जीव द्रव्य के साथ दो प्रकार स होता है, प्रथम अनादि और द्वितीय सादि सम्पूर्ण जीव द्रव्यो का सयोग पुद्गल परमाणुओ के साथ अनादिकाल से है या था इस अनादि सयोग से मुक्त भी हुआ जा सकता है मुक्त जीव को फिर यह सयोग कदापि नही होता—लेकिन अमुक्त या बद्ध (ससारी) जीव को यह प्रतिक्षण होता व मिटता रहता है इसी होने-मिटने वाले सयोग को सादि कहते है

---

१ सूक्ष्मपरिणामावगाहनशक्तियोगात् परमाण्वादयो हि सूक्ष्मभावेन परिणता एकैकस्मिन्नप्याकाशप्रदेशेऽनन्तानन्ता अवतिष्ठन्ते अवगाहन-शक्तिश्चैषामव्याहतास्ति तस्मादेकस्मिन्नपि प्रदेशेऽनन्तानन्तानामवस्थानं न विरुध्यते। —आचार्य पूज्यपाद-सर्वार्थसिद्धि अ ५ सू १६
प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत्। —आचार्य उमास्वामी तत्त्वार्थसूत्र अ ५ सू १६

२ जावदियं आयासं अविभागी पुग्गलाणुवट्ठद्धं
तं खु पदेसं जाणे सव्वाणुट्ठाणदाणरिहं। —आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती द्रव्यसंग्रह

उसीमे गन्ध तव कितनी स्पष्ट हो उठती है जब खेतो मे पहली वरसात होती है ? चूंकि यह गन्ध जल के सयोग से उत्पन्न होती है अत उसे केवल पृथ्वी का ही गुण न मानकर जल का भी गुण मानना होगा वायु मे न्यायदर्शन ने केवल स्पर्श गुण ही माना है लेकिन जब उद्जन (Hydrogen) और जारक (Oxygen) वायुओ का सयोग होकर जल बनता है तो उसके सभी गुण प्रत्यक्ष हो जाते हैं

तीसरे तर्क मे हम यह वताएँगे कि न्यायदर्शनकार अग्नि के तेजस्वी रूप के समान सुवर्ण के तेजपूर्ण वर्ण को देख उसमे अप्रकट अग्नितत्त्व की अद्भुत कल्पना करता है[1] यह वात यदि शक्ति की अपेक्षा कही जाय तो जल के परमाणुओ तक मे अग्निरूप परिणत होने की शक्ति सिद्ध होती है

चौथा तर्क वैज्ञानिक है विज्ञान सिद्ध करता है कि जिस वस्तु मे स्पर्श, रस, गन्ध और रूप, इन चारो मे से एक भी गुण होगा उसमे प्रकट या अप्रकट रूप मे शेष तीन गुण अवश्यमेव होगे सम्भव है कि हमारी इन्द्रियो से किसी वस्तु के सभी गुण अथवा उनमे से कुछ गुण लक्षित न हो सके जैसे उपस्तु किरणे (Infrared rays) जो अदृश्य ताप-किरणे हैं, हम लोगो की आखो से लक्षित नही हो सकती, किन्तु उल्लू और विल्ली की आँखे इन किरणो की सहायता से देख सकती है कुछ ऐसे आचित्रीय पट (Photographic plates) होते हैं जो इन्ही किरणो से अविष्कृत हुए हैं और जिनके द्वारा अन्धकार मे भी आचित्र (Photographs) लिए जा सकते हे इसी प्रकार अग्नि की गन्ध हमारी नासिका द्वारा लक्षित नही होती किन्तु गन्धवहन-प्रक्रिया (Tele-olefaction phenomenon) से स्पष्ट है कि गन्ध भी पुद्गल का (अग्नि का भी) आवश्यक गुण है एक गन्धवाहक यत्र (Tele-olefactory cell)का आविष्कार हुआ है जो गन्ध को लक्षित भी करता है यह यत्र मनुष्य की नासिका की अपेक्षा वहुत सग्रहूप (Sensitive) होता है और सौ गज दूरस्थ अग्नि को लक्षित करता है इसकी सहायता से फूलो आदि की गन्ध एक स्थान से ६५ मील दूर दूसरे स्थान तक तार द्वारा या विना तार के ही प्रेपित की जा सकती है स्वयचालित अग्निशमक (Automatic fire Control) भी इससे चालित होता है इससे स्पष्ट है कि अग्नि आदि वहुत से पुद्गलो की गन्ध हमारी नासिका द्वारा लक्षित नही होती किन्तु और अधिक सग्रहूष (Sensitive) यत्रो से वह लक्षित हो सकती है

पुद्गल सक्रिय और शक्तिमान् है पुद्गल मे क्रिया होती है शास्त्रीय शब्दो मे इस क्रिया को परिस्पन्दन कहते हैं यह परिस्पन्दन अनेक प्रकार का होता है इसका सविस्तार विवेचन भगवती सूत्र के टीकाकार अभयदेव सूरि ने किया है[2] पुद्गल मे यह परिस्पन्दन स्वत भी होता है और दूसरे पुद्गल या जीव द्रव्य की प्रेरणा से भी परमाणु की गतिक्रिया की एक विशेषता है कि वह अप्रतिघाती होती है, वह वज्र और पर्वत के इस पार से उस पार भी निकल जा सकता है पर कभी-कभी एक परमाणु दूसरे परमाणु से टकरा भी सकता है

पुद्गल मे अनन्त शक्ति भी होती है एक परमाणु यदि तीव्र गति से गमन करे तो काल के सबसे छोटे अश अर्थात् एक समय (Timepoint) मे वह लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक जा सकता है आधुनिक वैज्ञानिक अनुसधानो द्वारा भी सिद्ध है कि पुद्गल मे अनन्त शक्ति होती है एक ग्राम (Gram) पुद्गल मे जितनी शक्ति (energy) होती है उतनी शक्ति ३००० टन (८४००० मन) कोयला जलाने पर मिल सकती है

पुद्गल में सकोच-विस्तार होता है—पुद्गल आदि द्रव्य लोक मे अवस्थित हैं लोक मे असख्यात (Countless) प्रदेश (absolute units of space) ही होते है जबकि पुद्गल द्रव्य ही केवल अनन्तानन्त (Infinite in number) है अब प्रश्न यह उठता है कि अनन्तानन्त पुद्गल असख्यात प्रदेश वाले लोक मे कैसे स्थित हैं जबकि एक प्रदेश, आकाश का वह अश है जिससे छोटा कोई अश सभव ही न हो ? उत्तर यह होगा कि सूक्ष्म परिणमन और अवगाहनशक्ति के

---

१ सुवर्णं तैजसम् , असति प्रतिबन्धकेऽत्यन्ताग्निसयोगेऽपि अनुच्छिद्यमानद्रवत्वाधिकरणत्वात् । —आचार्य अन्नभट्ट तर्कसग्रह, पृ० ८
२ शतक ३, उद्देश ३
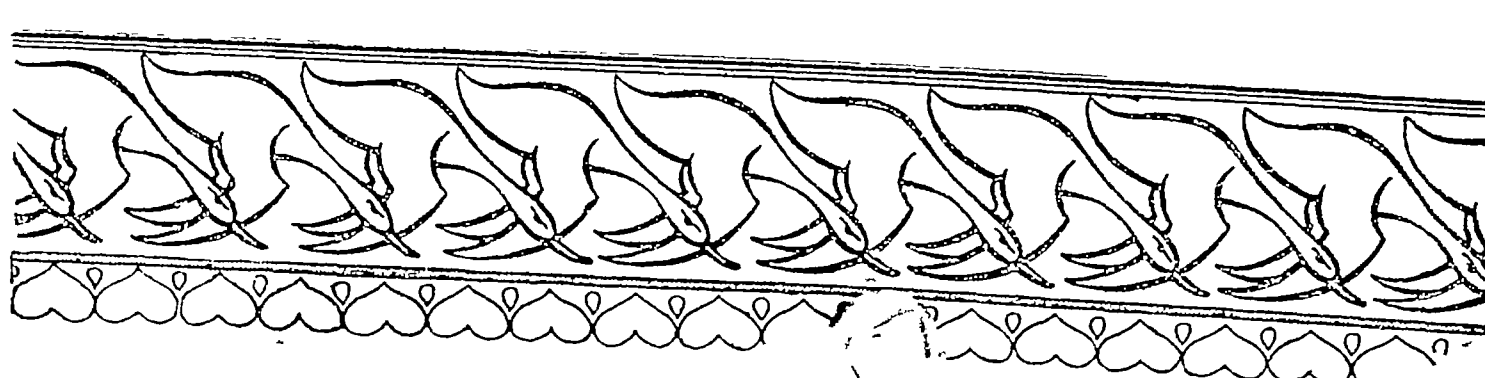
अन्तर्लीन हो जाते हैं जीव द्रव्य के साथ कार्मणवर्गणायें अपना एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध स्थापित कर लेती है अर्थात् आकाश के जिस और जितने प्रदेशों में जीव स्थित होता है अपनी सूक्ष्म-परिणमन शक्ति के बल पर ठीक उन्हीं और उतने ही प्रदेशों में उससे सम्बन्धित कार्मणवर्गणाएँ भी स्थित हो जाया करती है इस स्थिति (एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध) का यह तात्पर्य कदापि नहीं कि वे दोनों एक दूसरे में परिवर्तित हो जाते है. इस सम्बन्ध के रहते हुए भी जीव जीव ही रहता है और पुद्गल पुद्गल ही दोनों अपने-अपने मौलिक गुणों (Fundamental realities) को एक समय के लिए भी नहीं छोड़ते

संवर—जीव अपने ही पुरुषार्थ से निरन्तर संयुक्त होती रहने वाली कार्मण वर्गणाओं पर रोक लगा सकता है और यही रोक संवर तत्त्व कहलाती है [१]

निर्जरा—इसी प्रकार, जीव अपनी पूर्व-संयुक्त कार्मणवर्गणाओं को क्रमशः निर्जीर्ण या दूर भी कर सकता है और यही निर्जरा तत्त्व है

मोक्ष—अपनी कार्मणवर्गणाओं से सदा के लिए पूर्णरूपेण मुक्त हो जाना जीव का मोक्ष कहलाता है [२]

पुद्गल का वर्गीकरण

पुद्गल क्या है यह हम जान चुके है वह एक द्रव्य है उसके परमाणु-परमाणु में प्रतिसमय उत्पाद-व्यय ध्रौव्य की अनवरत प्रक्रिया वर्तमान है इस प्रक्रिया की दृष्टि से जितने भी पुद्गल है चाहे वे परमाणु के रूप में हों चाहे स्कन्ध के रूप में सब एक समान है उनमें भेद या वर्गीकरण का अवकाश ही नहीं अतः हम कह सकते है कि द्रव्यदृष्टि से पुद्गल का केवल एक ही भेद है अथवा यों कहिए कि वह अभेद है

पुद्गल का अधिकतम प्रचलित और सरल वर्गीकरण किया जाता है अणु (परमाणु) और स्कन्ध के रूप में [३] हम यहाँ इन दोनों वर्गों का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत करेंगे

अणु

अणु और उसकी परिभाषा—अणु पुद्गल का वह सूक्ष्मतम अंश है जिसका पुनः अंश हो ही न सके [४] अणु का विभाजन नहीं किया जा सकता वह अविभाज्य है [५] अणु को पुद्गल का अविभाग प्रतिच्छेद भी कहा जाता है

अणु की मुख्य पाँच विशेषताएँ हैं—(क) सभी पुद्गल-स्कन्ध अणुओं से ही निर्मित है

(ख) अणु नित्य अविनाशी और सूक्ष्म है वह दृष्टि द्वारा लक्षित नहीं हो सकता इस बात का समर्थन वैज्ञानिकों द्वारा भी होता है जब हम किसी परमाणु का निरीक्षण करते है तो हर हालत में हम कोई-न-कोई बाहरी उपकरण उपयुक्त करते हैं यह उपकरण किसी-न किसी रूप में परमाणु को प्रभावित करता है और उसमें परिवर्तन ला देता है और हम यही परिवर्तित परमाणु देख पाते है वास्तविक परमाणु नहीं [६]

---

१ आस्रवनिरोधः संवरः। —तत्त्वार्थसूत्र [illegible]
कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः। —वही [illegible]
२ (१) अणवः स्कन्धाश्च। —वही [illegible]
( ) [illegible] पुद्गला [illegible] परमाणु [illegible]। —[illegible]
४ [illegible] —[illegible]
५ [illegible] —[illegible]
६ [illegible] —([illegible])
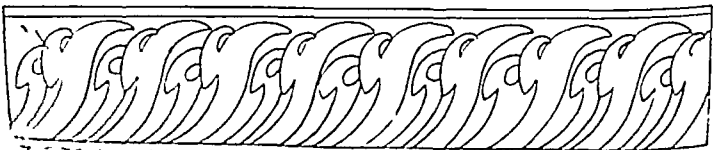
संयोग का कारण

यह सयोग क्यो होता है ? इस प्रश्न के दो उत्तर है जहा तक अनादि सयोग का प्रश्न है उसका कोई उत्तर नही जव से जीव का अस्तित्व है तभी से उसके साथ पुद्गल-परमाणुओ (कार्मणवर्गणाओ) का सयोग भी है जिस सुवर्ण को अभी खान से निकाला ही न गया हो उसके साथ धातु-मिट्टी आदि का सयोग कव से है, इसका कोई उत्तर नही जव से सोना है तभी से उसके साथ धातु-मिट्टी आदि का सयोग भी है यह बात दूसरी है कि सोने को उस धातु-मिट्टी आदि से मुक्त किया जा सकता है, उसी तरह जीव द्रव्य भी स्वय के पुरुषार्थ से अपने को कार्मणवर्गणा से मुक्त कर सकता है इधर, जहाँ तक सादि सयोग का प्रश्न है, इसका उत्तर दिया जा सकता है अनादि सयोग के वशीभूत होकर जीव नाना प्रकार का विकृत परिणमन करता है और इस परिणमन को निमित्त के रूपमे पाकर पुद्गल परमाणु अपने आप ही कार्मण वर्गणा के रूप मे परिवर्तित होकर तत्काल, जीव से सयुक्त हो जाते है[1] सयोग के वनने-मिटने की यह प्रक्रिया तव तक चलती रहती है जव तक जीव द्रव्य स्वयमेव अपने विकृत परिणमन से मुक्त नही हो जाता है

सयोग की विशेषता

जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य के सयोग की इस प्रक्रिया की यह विशेषता है कि वह सयुक्त होकर भी पृथक्-पृथक् होती है जीव की प्रक्रिया जीव मे और पुद्गल की प्रक्रिया पुद्गल मे ही होती है एक की प्रक्रिया दूसरे मे कदापि सम्भव नही इसी प्रकार एक की प्रक्रिया दूसरे के द्वारा भी सम्भव नही जीव की प्रक्रिया जीव के ही द्वारा और पुद्गल की प्रक्रिया पुद्गल के ही द्वारा सम्पन्न होती रहती है लेकिन इन दोनो प्रक्रियाओ मे ऐसी कुछ समता, एकरूपता रहती है कि जीव द्रव्य कभी पुद्गल की प्रक्रिया को अपनी और कभी अपनी प्रक्रिया को पुद्गल की मान वैठता है[2] जीव की यही भ्रान्त मान्यता मिथ्यात्व, मोह या अज्ञान कहलाती है

सयोग से आस्रव आदि तत्त्वो की सृष्टि

जीव और पुद्गल की इस सयोग-प्रक्रिया के फलस्वरूप ही जीव (Souls) और अजीव (Nonsouls, e g matters & Energies etc) पुद्गल आदि के अतिरिक्त शेष पाँच तत्त्वो की सृष्टि होती है जैन दर्शन मे स्वीकृत सात तत्त्व (principles) ये हैं[3]

(१) जीव Soul, a substence (२) अजीव (३) आस्रव (४) वन्ध (५) सवर (६) निर्जरा (७) और मोक्ष

आस्रव—जीव से पुद्गल द्रव्य के सयोग का मूल कारण है जीव की मनसा, वाचा और कर्मणा होनेवाली विकृत परिणति और इसी विकृत[4] परिणति का नाम आस्रव तत्त्व है[5]

बन्ध-आस्रव तत्त्व के परिणामस्वरूप जीव द्रव्य से पुद्गल द्रव्य का सयोग होता है, लोलीभाव होता है जिसे बन्ध तत्त्व कहते है[6]

बन्ध तत्त्व के अन्तर्गत यह ध्यान देने की बात है कि पुद्गल-परमाणु (कार्मणवर्गणायें) जीव द्रव्य मे प्रविष्ट हो जाते हैं,

---

१ जीवकृत परिणाम निमित्तमात्र प्रपद्य पुनरन्ये ।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गला कर्मभावेन । —आचार्य अमृतचन्द्र पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लो० १२

२ एवमय कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव ।
प्रतिभाति वालिशाना, प्रतिभास स खलु भववीजम् । —वही, श्लो० १४

३ जीवाजीवास्रव वन्ध सवर निर्जरा-मोक्षास्तत्त्वम् । —आचार्य उमास्वामी तत्त्वार्थसूत्र, अ० १, सूत्र ४

४ कायवाङ्मन कर्म योग । —वही, अ० ६, सू० १

५ स आस्रव । —वही, अ० ६, सू० ४

६ सकषायत्वाज्जीव कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स वन्ध । —वही, अ० ७, सू० २

परस्पर सम्बद्ध हो जाते हैं तब वे स्कन्ध कहलाने लगते हैं स्कन्ध का खण्ड भी स्कन्ध कहलाता है[1]

स्कन्धदेश—स्कन्ध का कोई भी अंश या खण्ड (part) जो अपने अंगी से पृथग्भूत न हो स्कन्धदेश कहा जाता है[2]

स्कन्धप्रदेश—स्कन्ध या स्कन्धदेश का एक परमाणु जो अपने अंगी से पृथग्भूत न हो स्कन्धप्रदेश कहलाता है[3] अथवा पुद्गल के परमाणु और स्कन्ध के रूप में दो भेद होते हैं लेकिन ग्राह्य और अग्राह्य के रूप में भी दो भेद सम्भव हैं

ग्राह्य पुद्गल—पुद्गल के जो परमाणु जीव द्रव्य से संयुक्त होते हैं उन्हें ग्राह्य कहा जाता है इन्हें हम कार्मण आदि वर्गणा भी कह सकते हैं

अग्राह्य पुद्गल—ग्राह्य पुद्गलों के अतिरिक्त शेष सभी अग्राह्य हैं उन्हें जीव ग्रहण नहीं करता जीव से उनका संयोग नहीं होता

तीन भेद—पुद्गल द्रव्य परिणमनशील है उसमें परिणमन स्वयमेव तो होता ही है जीव के संयोग से भी होता है इसी दृष्टि को लेकर उसके तीन भेद सम्भव हैं[4]

प्रयोग-परिणत (Organic matter)—ऐसे पुद्गलों को प्रयोग-परिणत कहते हैं जिन्होंने जीव के संयोग से अपना परिणमन किया है

विस्रसा-परिणत (Inorganic matter)—विस्रसा-परिणत ऐसे पुद्गलों को कहते हैं जो अपना परिणमन स्वतः किया करते हों जीव का संयोग ही जिनसे कभी न हुआ हो

मिश्र-परिणत—ये वे पुद्गल हैं जिनका परिणमन जीव के संयोग से और स्वयमेव दोनों प्रकार से एक-ही-साथ रहा होता है मिश्र-परिणत पुद्गल उन्हें भी कहा जा सकता है जिनका परिणमन कभी जीव के संयोग से हुआ हो लेकिन अब किन्हीं कारणों से जो स्वयमेव अपना परिणमन कर रहे हैं

चार भेद

पुद्गल के चार भेद किसी विशिष्ट दृष्टि से नहीं होते स्कन्ध के तीन भेद जिनका अध्ययन हमने अभी-अभी किया है और परमाणु का एक भेद मिलाकर पुद्गल के चार भेद कहलाने लगते हैं[5]

छह भेद

परमाणु और स्कन्ध के रूप में हमने पुद्गल का अध्ययन किया और हम देखेंगे कि उसका अध्ययन छह भेदों के रूप में भी हो सकता है[6] ये छहों भेद स्कन्ध को दृष्टि में रखते हुए किये गये हैं

---

१ भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते। —आचार्य उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र अ ५ सू २६
[illegible] —[illegible] अ १ सू २
२ [illegible] —वही अ १ सू १
४ तिविहा पोग्गला पण्णत्ता, पओगपरिणया, मीससापरिणया, वीससापरिणया। —भगवतीसूत्र श ८।१
५ [illegible] परमाणुपोग्गला। —वही ५।१।६६
६ (१) बादरबादर-बादर-बादरसुहुमं च सुहुमथूलं च।
सुहुमं च सुहुमसुहुमं धरादियं होदि छब्भेयं। —नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती : [illegible]
(२) [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

(ग) अणु मे कोई एक रस, एक गन्ध, एक वर्ण और दो स्पर्श (स्निग्ध अथवा रूक्ष और शीत अथवा उष्ण) होते है[1]

(घ) अणु के अस्तित्व का ज्ञान (अनुमान) उससे निर्मित पुद्गल-स्कन्धरूप कार्य से होता है

(ङ) अणु इतना सूक्ष्म होता है कि उसके आदि, मध्य और अन्त का प्रश्न ही नही उठता[2]

अणु और विज्ञान का तथाकथित 'एटम'—इन सभी विशेषताओ के बावजूद यह ध्यान देने की बात है कि आधुनिक रसायन-शास्त्र (Chemistry) मे जो 'एटम' (Atoms) माने गये है, उन्हे प्रस्तुत अणु का ही दूसरा रूप नही कहा जा सकता यद्यपि 'एटम' का मतलब पहले यही लिया गया था कि उसे विभाजित नही किया जा सकता लेकिन अब यह प्रमाणित हो चुका है कि 'एटम' (Atom) उद्युत्कण (Proton), निद्युत्कण (Neutrons) और विद्युत्कण (Electron) का एक पिण्ड है जबकि परमाणु वह मूल कण है जो दूसरो से मेल के बिना स्वय कायम रहता है

अणु और 'एटम' की इस विषमता को देखकर वैशेषिक दर्शन की यह मान्यता और भी हास्यास्पद लगने लगती है कि सूर्य के प्रकाश मे चलते-फिरते दिखने वाले धूलिकण परमाणु है

अणु का वर्गीकरण—अणु को चार वर्गों मे रखा जा सकता है —

(१) द्रव्य अणु अर्थात् पुद्गल-परमाणु,

(२) क्षेत्र अणु अर्थात् आकाश-प्रदेश,

(३) काल अणु अर्थात् 'समय'

(४) भाव अणु अर्थात् 'गुण'[3]

भाव अणु के भी चार मूल भेद[4] और सोलह उपभेद[5] होते है

स्कन्ध

स्कन्ध की परिभाषा—दो या दो से अधिक परमाणुओ का पिण्ड स्कन्ध कहलाता है

स्कन्ध का घनत्व—यह आवश्यक नही कि सभी स्कन्ध नेत्र द्वारा लक्षित हो सके एक स्कन्ध मे भी, जिसे हम सूक्ष्म-दर्शक यत्र से ही देख पाते हो—अनन्त परमाणु रहते हैं

जैनदर्शन का यह स्कन्धो के घनत्व का सिद्धान्त विज्ञान द्वारा खूब पुष्ट हुआ है एक औस पानी मे इतने स्कन्ध है कि यदि उन्हे ससार के तमाम स्त्री-पुरुष और बच्चे प्रति सेकण्ड पाँच की रफ्तार से गिनना शुरू कर दे तो पूरा गिनने मे चालीस अरब वर्ष का समय लग जावेगा[6] अभी-अभी सौरमण्डल मे एक ऐसे नक्षत्र का पता चला है जिसके एक घन इच का अश ६२० टन (१७३६० मन) के वजन का होता है[7]

स्कन्ध का वर्गीकरण—स्कन्धो को तीन वर्गों मे रखा जाता है[8] 'स्कन्ध' अनेक परमाणु जब एक समुदाय मे आकर

---

१ एक-रस-गन्ध-वर्णो द्विस्पर्श कार्यलिगश्च
कारणमेव तदन्त्य, सूक्ष्मो नित्यो भवेत् परमाणु । आचार्य अकलकदेव तत्वार्थराजवार्तिक, अ० २, सू० २५

२ सौक्ष्म्याद् य आत्मादि-रात्ममध्य-आत्मान्तश्च । —वही, अ० ५, सू० २५, वा० १

३ चउव्विहे परमाणू पण्णत्ते, त जहा, दव्वपरमाणू, खेत्तपरमाणू, कालपरमाणू, भावपरमाणू। —भगवतीसूत्र, २० । ५ । १०

४ वही, २० । ५ । १६

५ वही, २० । ५ । १

६ E N D Sc & Andrade D Sc Ph D The Machanism of Nature Page 37

७ Raby fa Bois F R A 'Arm Chair Science' London, July 1937

८ जे रूवी ते चउव्विहा पण्णत्ता, खधा, खधदेसा, खधपएसा, परमाणुपोग्गला —भगवती सुत्र, २। १०। ६६

परस्पर सम्बद्ध हो जाते है तब वे स्कन्ध कहलाने लगते हैं स्कन्ध का खण्ड भी स्कन्ध कहलाता है[1]

स्कन्धदेश—स्कन्ध का कोई भी अश या खण्ड (part) जो अपने अगी से पृथग्भूत न हो स्कन्धदेश कहा जाता है[2]

स्कन्धप्रदेश—स्कन्ध या स्कन्धदेश का एक परमाणु जो अपने अगी से पृथग्भूत न हो स्कन्धप्रदेश कहलाता है[3] अथवा पुद्गल के परमाणु और स्कन्ध के रूप में दो भेद होते हैं लेकिन ग्राह्य और अग्राह्य के रूप में भी दो भेद सम्भव है-

ग्राह्य पुद्गल—पुद्गल के जो परमाणु जीव द्रव्य से सयुक्त होते हैं उन्हें ग्राह्य कहा जाता है इन्हें हम कार्मण आदि वर्गणा भी कह सकते है

अग्राह्य पुद्गल—ग्राह्य पुद्गलों के अतिरिक्त शेष सभी अग्राह्य हैं उन्हें जीव ग्रहण नही करता जीव से उनका सयोग नही होता

तीन भेद—पुद्गल द्रव्य परिणमनशील है उसमे परिणमन स्वयमेव तो होता ही है जीव के सयोग से भी होता है इसी दृष्टि को लेकर उसके तीन भेद सम्भव है[4]

प्रयोग-परिणत (Organic matter)—ऐसे पुद्गलों को प्रयोग-परिणत कहते है जिन्होने जीव के सयोग से अपना परिणमन किया है

विस्रसा-परिणत (Inorganic matter)—विस्रसा-परिणत ऐसे पुद्गलो को कहते है जो अपना परिणमन स्वत किया करते हो जीव का सयोग ही जिनसे कभी न हुआ हो

मिश्र-परिणत—ये वे पुद्गल है जिनका परिणमन जीव के सयोग से और स्वयमेव दोनों प्रकार से एक-ही-साथ हुआ होता है मिश्र-परिणत पुद्गल उन्हे भी कहा जा सकता है जिनका परिणमन कभी जीव के सयोग से हुआ हो लेकिन अब किन्ही कारणो से जो स्वयमेव अपना परिणमन कर रहे है

चार भेद

पुद्गल के चार भेद किसी विशिष्ट दृष्टि से नही होते स्कन्ध के तीन भेद जिनका अध्ययन हमने अभी-अभी किया है और परमाणु का एक भेद मिलकर पुद्गल के चार भेद कहलाने लगते हैं[5]

छह भेद

परमाणु और स्कन्ध के रूप मे हमने पुद्गल का अध्ययन किया और हम देखेंगे कि उसका अध्ययन छह भेदों के रूप में भी हो सकता है[6] ये छहो भेद स्कन्ध को दृष्टि में रखते हुए किये गये हैं

---

१ भेदसङ्घातेभ्य उत्पद्यन्ते। —आचार्य उमास्वामी तत्त्वार्थसूत्र अ ५, सू २६
वस्तुनो पृथग्भूतो बुद्धिकल्पितोऽशो देश उच्यते। —जैनसिद्धान्तदीपिका प्र १ सू ११
३ निरशो देश प्रदेश कथ्यते। —वही प्र १ सू १२
४ तिविहा पोग्गला पण्णत्ता पओगपरिणया वीससापरिणया, मीसापरिणया। —भगवतीसूत्र श ८। १
५ जे रूवी ते चउव्विहा पण्णत्ता खधा खधदेसा खधपएसा परमाणुपोग्गला। —वही २।१ ।१९
६ (१ बादरबादर-बादर-बादरसुहुम च सुहुमथूल च।
सुहुम च सुहुमसुहुम धरादिय होदि छब्भेय। —नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती गोम्मटसार, जीवकाण्ड गा ६ २
( ) अइथूलथूल-थूल थूलसुहुम च सुहुमथूल च।
सुहुम अइसुहुम इदि धरादिय होदि छब्भेय।
भूपव्वदमादीया भणिदा अइथूलथूलमिदि खधा।
थूला इदि विण्णेया सप्पीजलतेल्लमादीया।

पुद्गल का यह वर्गीकरण, विश्व के अनन्त पुद्गल-परमाणुओ का यह पृथक्-पृथक् विभाजन, इतना वैज्ञानिक वन पडा है कि वह आधुनिक विज्ञान-वेत्ताओ के लिए आश्चर्य का विषय है इस वर्गीकरण मे हम कुछ उन तत्त्वो का भी अन्त-र्भाव करते चलेंगे जिनका आविर्भाव या आविष्कार इसी युग मे हुआ है

स्थूल-स्थूल [Solids]

लकडी पत्थर आदि जैसे ठोस पदार्थ इस वर्ग मे आते है

स्थूल [Liquids]

इस वर्ग मे जल, तेल आदि द्रव पदार्थ आते है

स्थूल-सूक्ष्म [Visible Energies]

प्रकाश, छाया, अन्धकार आदि जैसे दृश्य पदार्थ इस वर्ग मे लिए गये है, प्रकाश ऊर्जा [Energy] भी इसी वर्ग मे रखी जा सकती है

सूक्ष्म-स्थूल [Ulteravisible but intrasensual matters]

ऐसे पदार्थ इस वर्ग मे आते है जिन्हे हम नेत्र इन्द्रिय से तो नही जान पाते लेकिन शेष चारो मे से किसी-न-किसी इन्द्रिय द्वारा अवश्य जान सकते हैं इसके उहाहरण हैं उद्जन [Hydrogen], जारक [Oxygen] आदि वातियें [Gases] और ध्वनि ऊर्जा [Sound energies] आदि जैसी ऊर्जाये

सूक्ष्म [Ultravisible matter]

शास्त्रीय भाषा मे जिन्हे कार्मणवर्गणा कहते हैं, उन पुद्गलो को इस वर्ग मे रखा गया है ये वे सूक्ष्म स्कन्ध है जो हमारी विचार-क्रिया जैसी क्रियाओ के लिए अनिवार्य है हमारे विचारो और भावो का प्रभाव इन पर पडता है तथा इनका प्रभाव जीव-द्रव्य एव अन्य पुद्गलो पर पडता है

सूक्ष्म-सूक्ष्म—इस वर्ग मे सूक्ष्मतम स्कन्ध आते है ये नग्न नेत्र [Naked eye] से नही ही देखे जा सकते इसके उदा-हरणो मे विद्युदणु [Electrons] उद्यदणु [positrons], उद्युत्कण [protons] और विद्युत्कण [Neutrons] आदि आते है

तेईस भेद

एक अन्य दृष्टि से पुद्गल के २३ भेद भी किये जाते है [1] इन भेदो को शास्त्रीय शब्दो मे वर्गणाएँ कहते हैं उनमे से कुछ वर्गणाएँ हैं—आहार वर्गणा, भाषा वर्गणा, मनोवर्गणा कार्माण वर्गणा और तैजस् वर्गणा आदि इन वर्गणाओ के अनेक उपभेद भी होते है [2]

छायातवमादीया थूलेदरखंधमिदि वियाणाहि ।
सुहुमथूलेदि भणिया खन्धा चउरक्खविसया य ।
सुहुमा हवन्ति खधा पाओग्गा कम्मवग्गणस्स पुणो ।
तव्विवरीया खधा अइसुहुमा इदि परूवेंदि । —आचार्य कुन्दकुन्द नियमसार, गा० २१-२४

१ अणुसखासखेज्जाणता य अगेज्जगेहि अतरिया ।
आहारतेजभासामणकम्मइया धुवक्खन्धा ।
सातर निरन्तरेण य सुण्णा पत्तेयदेहधुवसुण्णा ।
बादरणिगोदसुण्णा सुहुम णिगोदा णभो महक्खन्धा । —आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती गो० जी०, गा० ५९३-९४

२ परमाणुवग्गणम्मि य, अवरुक्कस्सा च सेसगे अत्थि ।
गेज्झमहक्खन्धाण वरमहिय सेसग गुणिय । —वही०, गा० ५९५
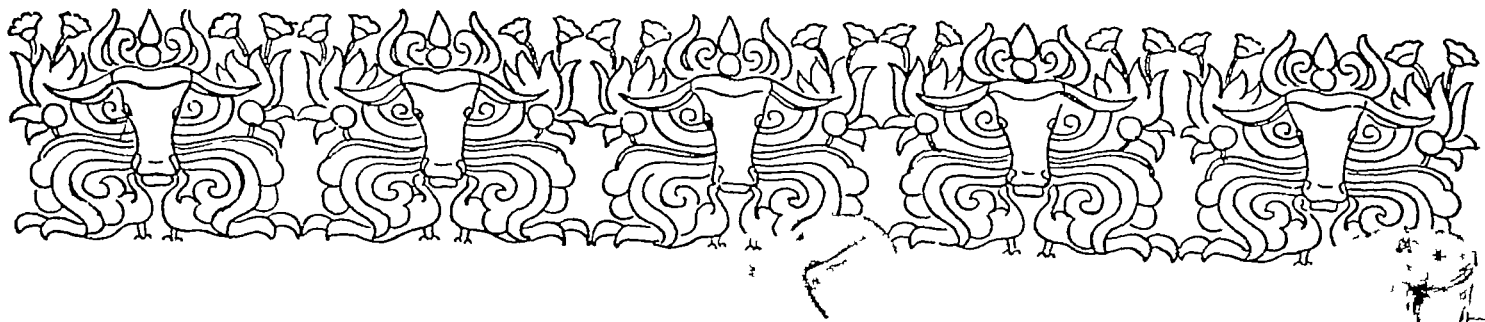
अनन्त भेद—पुद्गल द्रव्य की संख्या क्या परमाणु और क्या स्कन्ध सभी के रूप में अनन्त है एक पुद्गल दूसरे पुद्गल से स्पर्श रस आदि किसी-न-किसी कारण से भिन्न या असमान भी हो सकता है अतः हम कह सकते है कि पुद्गल भी अनन्त है [1]

वैज्ञानिक वर्गीकरण—विज्ञान ने सम्पूर्ण पुद्गल द्रव्य [Matters of Energies] को तीन वर्गो मे रखा है ठोस [Solids] द्रव [Liquids] और गैस [Gases] विज्ञान की यह भी मान्यता है कि ये तीनो वर्गो के पुद्गल सदा अपने-अपने वर्ग में ही नही रहे आते वे अपना वर्ग छोड़कर, रूप बदलकर दूसरे वर्गों में भी जा मिलते है

विज्ञान के इस सिद्धान्त से जैन दर्शन को कोई बाधा तो नही हो पहुँचती बल्कि उसकी पुष्टि ही होती है जैन दर्शन भी यह स्वीकार करता है कि जल जो द्रव [Liquid] पुद्गल है पौधे आदि के रूप में ठोस पुद्गल बन जाता है उद्जन [Hydrogen] आदि दो गसें [Gases] जल के रूप में तरल [Liquid] बन जाती है

पुद्गल का कार्य—प्रत्येक द्रव्य का अपना कार्य होता है शास्त्रीय भाषा मे इस कार्य को उपग्रह या उपकार कहते हैं यह उपग्रह पुद्गल द्रव्य अपने स्वय या अन्य पुद्गल द्रव्यों के प्रति तो करता ही है जीव द्रव्य के प्रति भी करता है

पुद्गल द्रव्य द्वारा किसी अन्य पुद्गल द्रव्य का उपग्रह होता है इसका उदाहरण साबुन और कपड़ा है साबुन कपडे को साफ कर देता है, दोना पुद्गल है एक पुद्गल ने दूसरे पुद्गल का उपग्रह किया यह स्पष्ट ही है.

पुद्गल—जीव द्रव्य का उपग्रह भी अनेक रूपो मे करता है यह जीव के परिणमन के अनुसार कभी शरीर तो कभी मन और कभी वचन तो कभी श्वासोच्छ्वास के रूप मे अपना स्वय का परिणमन करता हुआ उस परिणमन के माध्यम से जीव द्रव्य का उपग्रह करता रहता है सुख दुःख जीवन और मरण के रूप में भी पुद्गलद्रव्य जीवद्रव्य का उपग्रह करता है

पुद्गल द्रव्य के द्वारा जीव द्रव्य के उपग्रह का यह अर्थ कदापि नही कि पुद्गल-द्रव्य द्वारा जीव-द्रव्य मे कोई प्रक्रिया या परिणमन किया-कराया जाता है इसका अर्थ जैसा कि पहले कहा जा चुका है केवल यही है कि जीवद्रव्य का परिणमन जीवद्रव्य में और पुद्गल-द्रव्य का परिणमन पुद्गल-द्रव्य में होता है लेकिन सयोगवश दोनो के परिणमनो में स्वभावत ऐसी कुछ समानता या एकरूपता बन पड़ती है कि हमे—जीवद्रव्यको—लगता है कि यह परिणमन हममें—जीव द्रव्य मे हो रहा है

दोनो द्रव्यो के स्वतन्त्र परिणमन के सिद्धान्त का ही फल है कि एक ही वस्तु के उपभोग से अनेक भोगों-जीवों मे अनेक प्रकार की प्रतिक्रियाएँ होती हैं एक उदाहरण लीजिए किसी अत्यन्त रूपवती वेश्या का मृत शरीर पड़ा है एक साधु उसे देखकर सोचता है कि यदि इस वेश्या ने अपने शरीर के अनुरूप सुन्दर कार्य भी किये होते तो कितना कल्याण होता? *दूसरा एक व्यभिचारी उसे देखकर सोचता है—यदि जीवित होती तो इसे जीवन भर न छोड़ता ! कोई व्यक्ति उसे* देखकर सोचता है कि अच्छी मरी पापिन अपना पीछा छोड़ा है इसने ! एक उस वेश्या का रिश्तेदार है जो स्नेहवश फूट-फूटकर रो रहा है एक अजनबी उसे देखकर भी उसकी स्थिति पर कुछ विचार नही करता यहाँ जो वस्तुत जीवद्रव्य के अपने परिणमन की तारीफ है कि यह होता तो अपने आप है और लगता है कि पर-पुद्गल द्रव्य अथवा किसी अन्य जीव-द्रव्य के द्वारा कराया जा रहा है. वेश्या के मृत शरीर को देखकर होने वाला साधु का वैराग्य व्यभिचारी की सम्पटता असहिष्णु की घृणा रिश्तेदार का विलाप और अजनबी की मध्यस्थता यही सिद्ध करते हैं कि जीवद्रव्य का परिणमन उसके अपने उपादान या अन्तरग कारण [material cause] पर ही निर्भर है पुद्गल द्रव्य तो केवल निमित्त या बाह्य कारण [outer cause] है

---

१ आचार्य भट्टाकलक देव तत्त्वार्थराजवार्तिक, अ ५ सू ५ भा १
शरीरवाङ्मन-प्राणापाना पुद्गलानाम । —आचार्य उमास्वामी तत्त्वार्थसूत्र अ ५, सू १९

२ सुखदुःख जीवित मरणोपग्रहाश्च । —वही अ ५ सू ।
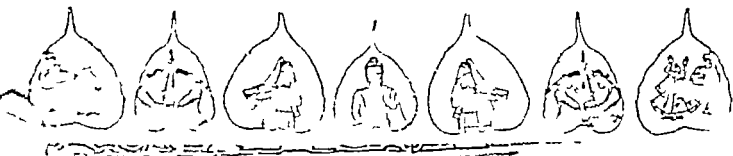
पुद्गल के पर्याय—किसी भी द्रव्य का स्वरूप ही यह है कि उसमे गुण और पर्याय हो पुद्गलो के गुणो का विश्लेपण हो चुका है पर्यायो की चर्चा यहाँ की जा रही है

यो तो पुद्गल द्रव्य के अन्य द्रव्यो की भाति, अनन्त पर्याय है तथापि कुछ प्रमुख एव हमारे दैनिक व्यवहार मे आने वाले पर्यायो की चर्चा यहा की जाती है

शब्द, वन्धन, सूक्ष्मता, स्थूलता, सस्थान [आकार], भेद [खण्ड], अधकार, छाया, आतप [धूप] और उद्योत [चादनी] पुद्गल के पर्याय है[1] सगीत, प्रदर्शन, आवागमन आदि भी इसी कोटि मे रखे जा सकते हैं

इन सबके अतिरिक्त, पुद्गल के कुछ पर्याय ऐसे भी है जो मानव-शरीर और विज्ञान मे सम्वन्ध रखते है इनका विश्लेषण यहाँ हम विशेष रूप से करेगे

शब्द

शब्द का स्वरूप—एक स्कन्ध के साथ दूसरे स्कन्ध के टकराने से जो ध्वनि उत्पन्न होती है वह शब्द हे[2] शब्द कर्ण या श्रोत्र इन्द्रिय का विषय है

शब्द और वैशेषिक दर्शन—वैशेपिक दर्शन मे शब्द को पुद्गल का पर्याय न मानकर आकाश द्रव्य का गुण माना है इस मान्यता के खण्डन मे अनेक तर्क दिये जा सकते है प्रथम और स्पष्ट तर्क तो यही है कि आकाश द्रव्य अमूर्तिक है, उसमे स्पर्श आदि कुछ भी नही होते, जबकि शब्द मूर्तिक है, उसमे स्पर्श आदि हैं, उमे छुआ-पकडा भी जाता है अमूर्तिक द्रव्य का गुण भी अमूर्तिक ही होना चाहिए, मूर्तिक नही द्वितीय, आकाश का गुण मानने के मोह मे यदि शब्द को अमूर्तिक ही माना जाय तो मूर्तिक इन्द्रिय उसे ग्रहण नही कर सकेगी अमूर्तिक विषय को मूर्तिक इन्द्रिय भला कैसे जानेगी? तृतीय तर्क यह है कि शब्द टकराता है, उसकी प्रतिध्वनि होती है यदि वह अमूर्तिक आकाश का गुण होता तो जैसे आकाश नही टकराता वैसे ही शब्द भी न टकराता चौथे-शब्द को रोका-बाधा भी जा सकता है, जबकि आकाश को, जिसका वह गुण कहा जाता है, रोकने-बाधने की चर्चा ही हास्यास्पद है पाँचवा तर्क है शब्द गतिमान है जबकि आकाश गति-हीन है, निष्क्रिय है और अन्तिम तर्क है विज्ञान की ओर से, शब्द ऐसे आकाश मे गमन नही कर सकता जहा किसी भी प्रकार का पुद्गल [matter] न हो यदि शब्द आकाश का गुण होता तो उसे आकाश के प्रत्येक कोने मे जा सकना चाहिए था क्योकि गुण अपने गुणी के प्रत्येक अश मे रहता है वहा पुद्गल के होने और न होने का प्रश्न ही न उठना चाहिए था

शब्द और विज्ञान—शब्द-सम्बन्धी जिन सिद्धान्तो की स्थापना जैनाचार्यो ने सदियो पहले की थी उन्ही का पुन स्थापन और विस्तार आज के वैज्ञानिको ने किया है उदाहरणार्थ-शब्द का वर्गीकरण ही ले लें जैनाचार्यो ने शब्द को भाषात्मक और अभाषात्मक, दो वर्गों मे रखा आज के वैज्ञानिको ने उन्ही को क्रमश सगीत ध्वनि [Musical sounds] और कोलाहल [Noises] नाम दे दिये इसी तरह जैनाचार्यों के भाषात्मक शब्दो के प्रभेदो को भी वैज्ञानिको ने ज्यो-का-त्यो वर्गीकृत कर दिया है शब्द की प्रकृति और गति के विषय मे भी जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान मे अद्भुत समानता है

शब्दो का वर्गीकरण—सक्षेप मे शब्दो को तीन वर्गों मे रखा जा सकता है, भाषात्मक, अभाषात्मक और मिश्र।

---

१ (१) शब्दबन्ध-सौक्ष्म्य स्थौल्य सस्थान भेद-तमश्छायातपोद्योतवन्तश्च । —आचार्य उमास्वामी तत्त्वार्थसूत्र, अ० ५, सू० २४
(२) सद्दो बधो सुहुमो थूलो सठाण-भेद तम-छाया ।
उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया ।—आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती द्रव्यसग्रह, गा० १६

२ सद्दो खधप्पभावो खधो परमाणुसगसघादो । पुट्ठेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादगो णियदो—पञ्चास्तिकाय, गा० ७१
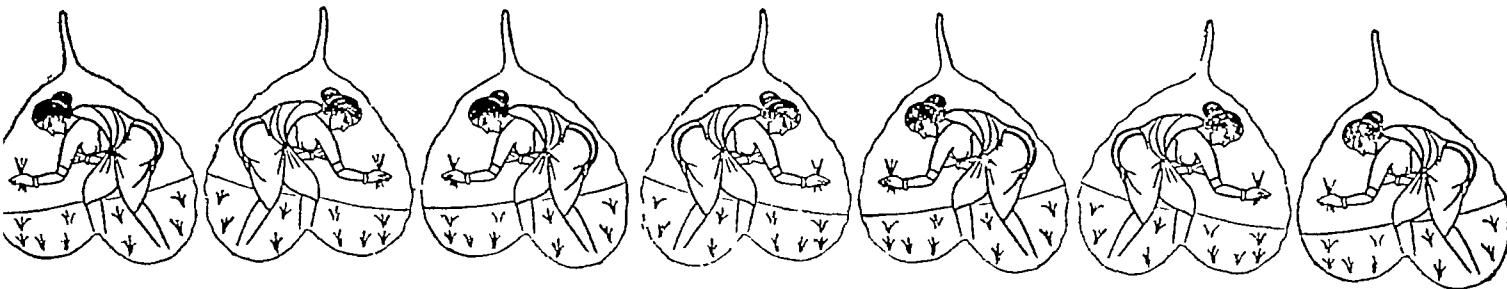
विस्तार से शब्द के मूलतः दो भेद होते हैं और दोनों के दो-दो प्रभेद तथा द्वितीय भेद के प्रथम प्रभेद के भी चार प्रभेद होते हैं[1] हम यहां प्रत्येक का परिचय देंगे

भाषात्मक—इस वर्ग में मानव और पशु-पक्षियों आदि की ध्वनियाँ आती हैं इसके दो भेद है

अक्षरात्मक—ऐसी ध्वनियाँ इस वर्ग में आती है जो अक्षरबद्ध की जा सकें–लिखी जा सकें

अनक्षरात्मक—इस वर्ग में रोने चिल्लाने खांसने-फुसफुसाने आदि की तथा पशु-पक्षियों आदि की ध्वनियाँ आती है इन्हे अक्षरबद्ध नही किया जा सकता

अभाषात्मक—शब्द के इस वर्ग में प्रकृतिजन्य और वाद्ययन्त्रों से उत्पन्न होने वाली ध्वनियाँ सम्मिलित हैं इसके भी दो वर्ग हैं—प्रायोगिक और वैस्रसिक वाद्ययन्त्रो से उत्पन्न होने वाली ध्वनियाँ प्रायोगिक शब्द है और इन्हे चार वर्गों में रखा जाता है

तत वर्ग में वे ध्वनियाँ आती है जो चर्म-तनन आदि झिल्लियो के कम्पन से उत्पन्न होती हो तबला ढोलक भेरी आदि से ऐसे ही शब्द उत्पन्न होते है

वितत शब्द वीणा आदि तन्त्र-यन्त्रो में तन्त्री के कम्पन से उत्पन्न होते हैं

घन शब्द वे है जो ताल घण्टा आदि घन वस्तुओं के अभिघात से उत्पन्न हों इसी वर्ग मे हारमोनियम आदि विद्युत यन्त्रो से उत्पन्न ध्वनियाँ भी आती है।

सौषिर वर्ग में वे शब्द आते है जो बांस शंख आदि में वायु प्रतर के कम्पन से उत्पन्न हों[2]

वैस्रसिक—मेघगर्जन आदि प्राकृतिक कारणों से उत्पन्न होनेवाले शब्द वैस्रसिक कहलाते है

बन्ध

बन्ध की परिभाषा—बन्ध शब्द का अर्थ है बंधना जुड़ना मिलना संयुक्त होना दो या दो से अधिक परमाणुओं का भी बन्ध हो सकता है और दो या दो से अधिक स्कन्धो का भी इसी तरह एक या एक से अधिक परमाणुओ का एक या एक से अधिक स्कन्धों के साथ भी बन्ध होता है पुद्गल परमाणुओं (कार्मण वर्गणाओं) का जीवद्रव्य के साथ भी बन्ध होता है

बन्ध की विशेषता— बन्ध की एक विशेषता यह है कि उसका विघटन या खण्डन या अन्त अवश्यम्भावी है क्योंकि जिसका प्रारम्भ होता है उसका अन्त भी अवश्यमेव होता है[3] एक नियम यह भी है कि जिन परमाणुओं या स्कन्धों या स्कन्ध परमाणुओं या द्रव्यों का परस्पर बन्ध होता है वे परस्पर सम्बद्ध रहकर भी अपना-अपना स्वतन्त्र अस्तित्व कायम रखते हैं एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के साथ दूध और पानी की भांति अथवा रासायनिक प्रतिक्रिया से सम्बद्ध होकर भी अपनी पृथक सत्ता नहीं खो सकता उसके परमाणु कितने ही रूपान्तरित हो जावें फिर भी उनका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व कायम रहता है

---

१ शब्दो द्वेधा भाषालक्षणविपरीतत्वात्।
भाषात्मक उभयथा अक्षरीकृतेतरविकल्पत्वात्।
अभाषात्मको द्वेधा प्रयोगविस्रसानिमित्तत्वात् तत्र वैस्रसिको
वलाहकादिप्रभवः प्रयोगात्मकश्चतुर्धा तत-वितत-घन-सौषिरभेदात्।
—आचार्य भट्टअकलंकदेव तत्त्वार्थराजवार्तिक अ ५ सू २४

२ चर्मतननिमित्तः पुष्कर-भेरी-दर्दुरादिप्रभवस्ततः। तन्त्रीकृतवीणा-सुघोषादिसमुद्भवो विततः। तालघण्टालालनाद्यभिघातजो घनः। वंशशंखादिनिमित्तः सौषिरः —आचार्य पूज्यपाद सर्वार्थसिद्धि अ ५ सू २४

३ समुत्पन्नं विनाशस्य नियतं हि निश्चयः। —आचार्यसोमदेव सूरि, यशस्तिलकचम्पू

बन्ध का कारण —पुद्गल का बन्ध जीव के साथ भी होता है और इसके कई कारण हैं

यह तो स्पष्ट है कि पुद्गल द्रव्य सक्रिय है और जो सक्रिय होता है उसका टूटते-फुटते रहना, जुडते-मिलते रहना-स्वभाविक ही है हाँ, उसमे कोई न कोई कारण निमित्त के रूप मे अवश्य होता है उदाहरणार्थ मिट्टी के अनेक कणो का बन्ध होने पर घडा बनता है, इसमे कुम्हार निमित्त कारण है द्रव्य की अपनी रासायनिक प्रक्रिया भी बन्ध का कारण बन जाती है, कपूर आदि के सम्मिलिन से बनी अमृतधारा और उद्जन (Hydrogen) आदि वातियो (Gases) के मिलने से बना हुआ जल ऐसी ही प्रक्रियाओ के प्रतिफल है

जीव-द्रव्य और पुद्गल द्रव्य के बन्ध मे मुख्य कारण है जीव का अपना भावनात्मक परिणमन और दूसरा कारण है पुद्गल की प्रक्रिया

बन्ध की प्रक्रिया —जैनाचार्यो ने बन्ध की प्रक्रिया का अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण किया है यद्यपि विज्ञान इस विश्लेषण को अपने प्रयोगो द्वारा पूर्णत सिद्ध नही कर सका है तथापि विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि इसकी वैज्ञानिकता मे सदेह नही परमाणु से स्कन्ध, स्कन्ध मे परमाणु और स्कन्ध से स्कन्ध किस प्रकार बनते हैं, इस विषय मे हम मुख्यत सात तथ्य पाते हैं

(१) स्कन्धो की उत्पत्ति कभी भेद से, कभी सघात से और कभी भेद-सघात से होती है स्कन्धो का विघटन अर्थात् कुछ परमाणुओ का एक स्कन्ध से विच्छिन्न होकर दूसरे स्कन्ध मे मिल जाना भेद कहलाता है दो स्कन्धो का सघटन या सयोग हो जाना सघात है और इन दोनो प्रक्रियाओ का एक साथ हो जाना भेद-सघात है [1]

(२) अणु की उत्पत्ति केवल भेदप्रक्रिया से ही सम्भव है [2]

(३) पुद्गल मे पाये जाने वाले स्निग्ध और रूक्ष नामक दो गुणो के कारण ही यह प्रक्रिया सम्भव है [3]

(४) जिन प्रमाणुओं का स्निग्ध अथवा रूक्ष गुण जघन्य अर्थात् न्यूनतम शक्तिस्तर पर हो उनका परस्पर बन्ध नही होता [4]

(५) जिन पमाणुओ या स्कन्धो मे स्निग्ध या रूक्ष गुण समान मात्रा मे अर्थात् सम शक्तिस्तर पर हो उनका भी परस्पर बन्ध नही होता [5]

(६) लेकिन उन परमाणुओ का बन्ध अवश्य होता है जिनसे स्निग्ध और रूक्ष गुणो की सख्या मे दो एकाको का अन्तर होता है जैसे चार स्निग्ध गुणयुक्त स्कन्ध का छह स्निग्ध गुण युक्त स्कन्ध के साथ बन्ध सम्भव है अथवा छह रूक्ष गुणयुक्त स्कन्ध से बन्ध सम्भव है [6]

(७) बन्ध की प्रक्रिया मे सघात से उत्पन्न स्निग्धता अथवा रूक्षता मे से जो भी गुण अधिक परिमाण मे होता है, नवीन स्कन्ध उसी गुण रूप मे परिणत होता है उदाहरण के लिए एक स्कन्ध, पन्द्रह स्निग्धगुणयुक्त स्कन्ध और तेरह रूक्ष गुण स्कन्ध से बने तो वह नवीन स्कन्ध स्निग्धगुणरूप होगा [7] आधुनिक विज्ञान के क्षेत्र मे भी हम देखते है कि यदि किसी अणु (Atom) मे से विद्युदणु (Electron ऋणाणु) निकाल लिया जाय तो वह विद्युत्प्रभृत (Positively charged) और यदि एक विद्युदणु जोड लिया जाय तो वह निद्युत्प्रभृत (Negatively charged) हो जाता है

१ भेदसघातेभ्य उत्पद्यन्ते —उमास्वामी तत्त्वार्थसूत्र अ० ५, सू० २६
२ भेदादणु । —वही अ० ५, सू० २७
३ स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्ध । —वही, अ० ५, सू० ३३
४ न जघन्यगुणानाम् । —वही अ० ५, सू० ३४
५ गुणसाम्ये सदृश्यानाम् । —वही, अ० ५, सू० ३ छ
६ द्वयधिकादिगुणाना तु । —वही, अ० ५, सू० ३६
७ बन्धाऽधिकौ पारिणामिकौ च । —वही, अ० ५, सू० ३७
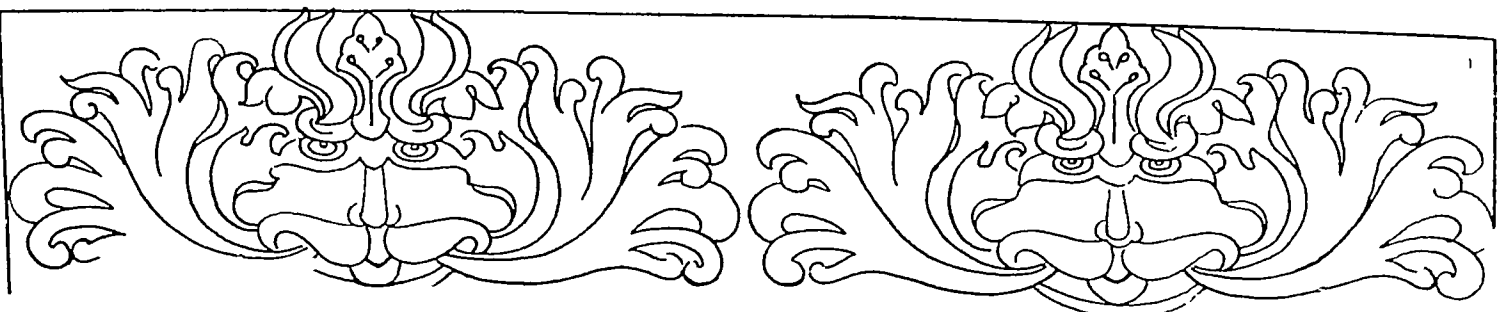
जीव और पुद्गल का बन्ध—जीव और पुद्गल के पारस्परिक बन्ध की एक विशिष्ट परिभाषा है जिसका विश्लेषण बहुत कुछ पहले किया जा चुका है

कषाय सहित होने अर्थात् रागद्वेषरूप भावनात्मक परिणमन करने के कारण जीव कार्मणवर्गणा के पुद्गल को ग्रहण करता है और इसी ग्रहण का नाम है बन्ध[१]

कर्मबन्ध का सिद्धान्त—जीव जैसा कर्म करता है उसे वैसा ही फल भोगना पड़ता है यही सत्य कर्म-सिद्धान्त की भूमिका है इस सिद्धान्त को जैन सांख्य योग नैयायिक वैशेषिक और मीमांसक आदि आत्मवादी दर्शन तो मानते ही है अनात्मवादी बौद्ध दर्शन भी मानता है इसी तरह ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी भी इस सिद्धान्त में प्रायः एकमत है

कर्मबन्ध का स्वरूप—जैन दर्शन मे कर्म केवल संस्कारमात्र ही नही है किन्तु एक वस्तुभूत पुद्गल पदार्थ है जो रागी द्वेषी जीव की क्रिया से आकृष्ट होकर जीव के साथ जा मिलता है अथवा यो कहिए कि राग-द्वेष से युक्त जीव की प्रत्येक मानसिक वाचनिक और शारीरिक क्रिया के साथ एक द्रव्य पुद्गलपरमाणु या कार्मणवर्गणा—जीव में आती है जो उसके राग-द्वेष रूप भावो का निमित्त पाकर जीव से बध जाता है और आगे चलकर अच्छा या बुरा फल देने लगता है[२]

कर्म के दो भेद है—द्रव्यकर्म और भावकर्म जीव से संयुक्त कार्मणवर्गणा द्रव्यकर्म और द्रव्यकर्म के निमित्त से होने वाले जीव के राग-द्वेष रूपभाव भावकर्म कहलाते है

कर्मबन्ध और वैदिक दर्शन—ईश्वर को जगत् का नियन्ता मानने वाले दर्शन जीव को कार्य करने में स्वतन्त्र किन्तु उसका फल भोगने म परतन्त्र मानते है[३] उनके मत से कर्म का फल ईश्वर देता है किन्तु जैन-दर्शन के अनुसार कर्म अपना फल स्वय देते है उनके लिए किसी न्यायाधीश की आवश्यकता नही होती शराब पीने से नशा होता है और दूध पीने से पुष्टि शराब या दूध पीने के बाद उसका फल देने के लिए किसी दूसरे शक्तिशाली नियामक की आवश्यकता नही होती इसी प्रकार जीव की प्रत्येक कायिक वाचिक और मानसिक प्रवृत्ति के साथ जो कर्मपरमाणु जीव द्रव्य की ओर आकृष्ट होते है और राग-द्वेष का निमित्त पाकर उस जीव से बध जाते है उन कर्मपरमाणुओ (कार्मण वर्गणाओ) म भी शराब और दूध की तरह अच्छा और बुरा प्रभाव डालने की शक्ति रहती है जो चैतन्य के सम्बन्ध से व्यक्त होकर जीव पर अपना प्रभाव डालती है और उसके प्रभाव से मुग्ध हुआ जीव ऐसे काम करता है जो सुखदायक या दुःखदायक होते है

कर्मबन्ध का वर्गीकरण—बन्ध या संयोग को प्राप्त होने वाली कार्मण वर्गणाओ म अनेक प्रकार का स्वभाव पड़ना प्रकृतिबन्ध है यह आठ प्रकार का होता है

(१) ज्ञानावरण कर्म (२) दर्शनावरण कर्म (३) वेदनीय कर्म (४) मोहनीय कर्म (५) आयु कर्म (६) नाम कर्म (७) गोत्र कर्म (८) अन्तराय कर्म[४]

---

१ सकषायत्वाज्जीव: कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्ध —तत्त्वा. अ ८ सू.
परिणमदि जदा अप्पा सुहम्मि असुहम्मि रागदोसजुदो ।
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहिं ।—आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसार, गाथा ९५

२ (१) [illegible] ।—[illegible] अ ४ श्लो २७ ।

( ) यथा [illegible] ।
[illegible] ।—महर्षि वेदव्यास महाभारत वनपर्व अ ३ श्लो २

४ आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः ।—आचार्य उमास्वामी तत्त्वार्थसूत्र अ ८ सू ४

स्थितिबन्ध—कार्मण वर्गणाओं में आत्मा के साथ बद्ध रहने की काल-मर्यादा पड़ना, स्थिति बन्ध है

अनुभागबन्ध—कार्मणवर्गणाओं में फल देने की न्यूनाधिक शक्ति उत्पन्न होना, अनुभाग बन्ध है

प्रदेशबन्ध—कार्मणवर्गणा के दलिकों की संख्या का नियत होना, प्रदेशबन्ध है

सूक्ष्मता—सूक्ष्मता का अर्थ है छोटापन यह दो प्रकार का है—अन्त्य सूक्ष्मता और आपेक्षिक सूक्ष्मता अन्त्यसूक्ष्मता परमाणुओं में ही पाई जाती है और आपेक्षिक सूक्ष्मता दो छोटी-बड़ी वस्तुओं में तुलनात्मक दृष्टि से पाई जाती है

स्थूलता—स्थूलता का अर्थ बड़ापन है वह भी दो प्रकार का है—अन्त्य स्थूलता जो महास्कन्ध में पाई जाती है और आपेक्षिक स्थूलता जो छोटी-बड़ी वस्तुओं में तुलनात्मक दृष्टि से पाई जाती है

संस्थान (आकार)—संस्थान का अर्थ है—आकार, रचनाविशेष संस्थान का वर्गीकरण दो प्रकार से देखने में आता है प्रथम प्रकार से उसके दो भेद हैं—इत्थं संस्थान, जिसे हम त्रिकोण, चतुष्कोण, गोल आदि नाम देते हैं और अनित्थं-संस्थान, जिसे हम अनगढ़ भी कह सकते हैं, उसको कोई खास नाम नहीं दिया जा सकता तथापि उसे छह खण्डों में विभक्त किया गया है—उत्कर, चूर्ण, खण्ड, चूर्णिका, प्रतर और अणुचटन संस्थान का द्वितीय प्रकार से वर्गीकरण मानव-शरीर को दृष्टिगत रखकर किया जाता है—समचतुरस्र, न्यग्रोध, परिमण्डल, स्वाति, कुब्जक, वामन और हुण्डक

भेद (खण्ड)—स्कन्धों का विघटन अर्थात् कुछ परमाणुओं का एक स्कन्ध से विच्छिन्न होकर दूसरे स्कन्ध में मिल जाना भेद कहलाता है

तम (अन्धकार)—जो देखने में बाधक हो और प्रकाश का विरोधी हो वह अन्धकार है[1]

कुछ अजैन दार्शनिकों ने अंधकार को कोई वस्तु न मानकर केवल प्रकाश का अभाव माना है पर यह उचित नहीं यदि ऐसा मान लिया जाय तो यह भी कहा जा सकेगा कि प्रकाश भी कोई वस्तु नहीं है, वह तो केवल तम का अभाव है विज्ञान भी अंधकार को प्रकाश का अभावरूप न मानकर पृथक् वस्तु मानता है विज्ञान के अनुसार अंधकार में भी उपरक्त किरणों (Infre-red heat rays) का सद्भाव है जिनसे उल्लू और बिल्ली की आँखें तथा कुछ विशिष्ट आचित्रीय पट (Photographic plates) प्रभावित होते हैं इससे सिद्ध होता है कि अंधकार का अस्तित्व दृश्य प्रकाश (visible light) से पृथक् है

छाया—प्रकाश पर आवरण पड़ने पर छाया उत्पन्न होती है[2] प्रकाश-पथ में अपारदर्शक कायों (opeque bodies) का आ जाना आवरण कहलाता है छाया को अंधकार के अंतर्गत रखा जा सकता है और इस प्रकार वह भी प्रकाश का अभावरूप नहीं अपितु पुद्गल की पर्याय सिद्ध होती है

विज्ञान की दृष्टि में अणुवीक्षों (Lenses) और दर्पणों के द्वारा निर्मित प्रतिबिम्ब दो प्रकार के होते हैं, वास्तविक और अवास्तविक इनके निर्माण की प्रक्रिया से स्पष्ट है कि ये ऊर्जा प्रकाश के ही रूपान्तर हैं ऊर्जा ही छाया (shadows) और वास्तविक (Real) एवं अवास्तविक (virtual) प्रतिबिम्बों (images) के रूप में लक्षित होती है व्यतिकरण पट्टियों (interference bands) पर यदि एक गणनायंत्र (Counting machine) चलाया जाय तो काली पट्टी (Dark Band) में से भी प्रकाश वैद्युत रीति से (photo electrically) विद्युदणुओं [Electrons] का निःसरित होना सिद्ध होता है तात्पर्य यह कि काली पट्टी केवल प्रकाश के अभावरूप नहीं, उसमें भी ऊर्जा होती है और इसी कारण उससे विद्युदणु निकलते हैं काली पट्टियों के रूप में जो छाया [shadows] होती है वह भी ऊर्जा का ही रूपान्तर है

---

१ तमो दृष्टिप्रतिबन्धकारणं प्रकाशविरोधि—आचार्य पूज्यपाद सर्वार्थसिद्धि, अ० ५, सू० २४

२ छाया प्रकाशावरणनिमित्ता।—वही, अ० ५, सू० २४

वर्गीकरण—प्रकाश-पथ मे दर्पणों [Mirrors] और अणुवीक्षों [Lenses] का आ जाना भी एक प्रकार का आवरण ही है इस प्रकार के आवरण से वास्तविक और अवास्तविक प्रतिबिम्ब बनते है ऐसे प्रतिबिम्ब दो प्रकार के होते है वर्णादिविकारपरिणत और प्रतिबिम्बमात्रात्मक [1] वर्णादिविकारपरिणत छाया म विज्ञान के वास्तविक प्रतिबिम्ब लिये जा सकते हैं जो विपर्यस्त [inverted] हो जाते है और जिनका प्रमाण [size] बदल जाता है ये प्रतिबिम्ब प्रकाश रश्मियो के वस्तुत [Actually] मिलन से बनते हैं और प्रकाश की ही पर्याय होने से स्पष्टत पौद्गलिक है प्रतिबिम्बमात्रात्मिका छाया के अतर्गत विज्ञान के अवास्तविक प्रतिबिम्ब [virtual images] रखे जा सकते है जिनमें केवल प्रतिबिम्ब ही रहता है प्रकाश-रश्मियों के मिलने से ये प्रतिबिम्ब नहीं बनते

प्रकार—जैन सूत्रकारो ने प्रकाश के आतप और उद्योत के रूप में दो विभाग किए हैं और उन्ही के रूप म उसका विवेचन किया है उनका यह विभाजन बड़ा ही वैज्ञानिक बन पड़ा है जैन सूत्रकारो की यह सूक्ष्मदृष्टि और भेदशक्ति [Discriminative Power] निस्सदेह आश्चर्यजनक है

प्रकाश का वैज्ञानिक विवेचन भी सम्भव है वह चाहे सूर्य का हो चाहे दीपक का निरन्तर गतिशील है वैज्ञानिको ने लोक [ब्रह्माण्ड] म घूमने वाले आकाशीय पिण्डों की गति दूरी आदि को मापने के लिये प्रकाश-किरण को ही अपना माप-दण्ड मान रखा है क्योकि उसकी गति सदा समान है प्रकाश में पहले भार नही माना गया था लेकिन अब यह सिद्ध हो चुका है कि वह एक शक्ति का भेद होते हुए भी भारवान् है वैज्ञानिकों ने यह भी पता लगाया कि प्रकाश विद्युत चुम्बकीय तत्त्व है वह एक वर्गमील क्षेत्र पर प्रतिमिनिट आधी छटाक गाजा मे सूर्य से गिरता है

आतप (धूप)—सूर्य आदि के निमित्त से होने वाले उष्ण प्रकाश को आतप कहते है इसम ऊर्जा का अधिकांश ताप किरणो [Heat Rays] के रूप में प्रकट होता है

उद्योत (चांदनी)—चन्द्रमा जुगनू आदि के शीत प्रकाश को उद्योत कहते हैं उद्योत में अधिकांश ऊर्जा प्रकाश-किरणों [Light-energy] के रूप मे प्रकट होती है

ताप—ताप को हम उष्णता कह कर समझ सकते है इस पुद्गल के उष्ण स्पर्श गुण की पर्याय कहा जाना चाहिए तभी ताप का विवेचन पूर्णत वैज्ञानिक दृष्टि से होगा

परमाणु में धनाणु और ऋणाणु निरन्तर गतिशील रहते है और इसी तरह अणु में स्वय परमाणु और अणु-गुच्छकों म अणु निरन्तर गतिशील रहते है यही आन्तरिक गति जब बहुत बढ जाती है और सूक्ष्मकण परस्पर टकराते हुए इधर-उधर दौड़ने लगते हैं तो वे ताप के रूप में दिखने लगते है

विद्युत (बिजली)—विद्युत् को हम साधारणत धन विद्युत् और ऋण-विद्युत् के दो रूपो में देखते हैं ये दोनों ही पुद्गल पर्याय है और दोनो का वैज्ञानिक मूलाधार एक ही है

वैज्ञानिक दृष्टि से विद्युत् के दो रूप है धन और ऋण धन का आधार उद्युत्कण [Proton] और ऋण का आधार विद्युत्कण [Electron] है सिद्धान्त के अनुसार विश्व का प्रत्येक पदार्थ विद्युन्मय है

रेडियो-क्रियात्त्व [Radio-activity]—जब किसी परमाणु [Atom] से किसी कारणवश उसके मूलभूत कण विद्युत्कण [Electron] और उद्युत्कण [proton] पृथक होते है तो बम फटने की तरह धडाके की आवाज होती है, साथ ही उसमे एक प्रकार की लौ निकलती है जो प्रकाश की तरह आगे-आगे बढ़ती चली जाती है इसी लौ के प्रसरण को रेडियो-क्रियात्त्व [Radio activity] या किरण प्रसरण [Radiation] कहते है

आधुनिक विज्ञान के १ २ तत्त्व—वैज्ञानिको ने पुद्गल के कुछ ऐसे पर्यायो का पता लगाया है जो अपनी एक स्वतन्त्र

१ सा द्वधा वर्णादिविकारपरिणता प्रतिबिम्बमात्रात्मिका चेति ।—वही अ ५ सू २४
भास्वर च्छायापरिनिमित्त उष्णप्रकाशवदातप । वही अ ५ सू २४
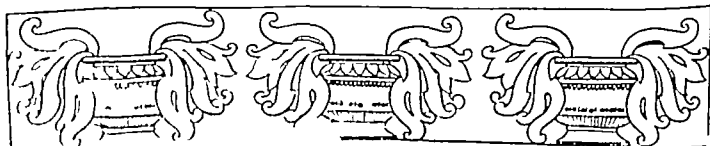
स्थितिबन्ध—कार्मण वर्गणाओ मे आत्मा के साथ बद्ध रहने की काल-मर्यादा पडना, स्थिति बन्ध है

अनुभागबन्ध—कार्मणवर्गणाओ मे फल देने की न्यूनाधिक शक्ति उत्पन्न होना, अनुभाग बन्ध है

प्रदेशबन्ध—कार्मणवर्गणा के दलिकों की सख्या का नियत होना, प्रदेशबन्ध है

सूक्ष्मता—सूक्ष्मता का अर्थ है छोटापन यह दो प्रकार का है—अन्त्य सूक्ष्मता और आपेक्षिक सूक्ष्मता अन्त्यसूक्ष्मता परमाणुओ मे ही पाई जाती है और आपेक्षिक सूक्ष्मता दो छोटी-बडी वस्तुओं मे तुलनात्मक दृष्टि से पाई जाती है

स्थूलता—स्थूलता का अर्थ बडापन है वह भी दो प्रकार का है—अन्त्य स्थूलता जो महास्कन्ध मे पाई जाती है और आपेक्षिक स्थूलता जो छोटी-बडी वस्तुओ मे तुलनात्मक दृष्टि मे पाई जाती है

सस्थान (आकार)—सस्थान का अर्थ है—आकार, रचनाविशेष सस्थान का वर्गीकरण दो प्रकार से देखने मे आता है प्रथम प्रकार से उसके दो भेद हैं—इत्थ सस्थान, जिसे हम त्रिकोण, चतुष्कोण, गोल आदि नाम देते है और अनित्थ-सस्थान, जिसे हम अनगढ भी कह सकते है, उसको कोई खास नाम नही दिया जा सकता तथापि उसे छह खण्डो मे विभक्त किया गया है—उत्कर, चूर्ण, खण्ड, चूर्णिका, प्रतर और अणुचटन सस्थान का द्वितीय प्रकार से वर्गीकरण मानव-शरीर को दृष्टिगत रखकर किया जाता है—समचतुरस्र, न्यग्रोध, परिमण्डल, स्वाति, कुब्जक, वामन और हुण्डक

भेद (खण्ड)—स्कन्धो का विघटन अर्थात् कुछ परमाणुओं का एक स्कन्ध मे विच्छिन्न होकर दूसरे स्कन्ध मे मिल जाना भेद कहलाता है

तम (अन्धकार)—जो देखने मे बाधक हो और प्रकाश का विरोधी हो वह अन्धकार है[1]

कुछ अजैन दार्शनिको ने अधकार को कोई वस्तु न मानकर केवल प्रकाश का अभाव माना है पर यह उचित नही यदि ऐसा मान लिया जाय तो यह भी कहा जा सकेगा कि प्रकाश भी कोई वस्तु नहीं है, वह तो केवल तम का अभाव है विज्ञान भी अधकार को प्रकाश का अभावरूप न मानकर पृथक् वस्तु मानता है विज्ञान के अनुसार अधकार मे भी उपरक्त किरणो (Infre-red heat rays) का सद्भाव है जिनसे उल्लू और बिल्ली की आँखे तथा कुछ विशिष्ट आचित्रीय पट (Photographic plates) प्रभावित होते हैं इससे सिद्ध होता है कि अधकार का अस्तित्व दृश्य प्रकाश (visible light) से पृथक् है

छाया—प्रकाश पर आवरण पडने पर छाया उत्पन्न होती है[2] प्रकाश-पथ मे अपारदर्शक कायो (opeque bodies) का आ जाना आवरण कहलाता है छाया को अधकार के अतर्गत रखा जा सकता है और इस प्रकार वह भी प्रकाश का अभावरूप नही अपितु पुद्गल की पर्याय सिद्ध होती है

विज्ञान की दृष्टि मे अणुवीक्षो (Lenses) और दर्पणो के द्वारा निर्मित प्रतिबिम्ब दो प्रकार के होते है, वास्तविक और अवास्तविक इनके निर्माण की प्रक्रिया से स्पष्ट है कि ये ऊर्जा प्रकाश के ही रूपान्तर है ऊर्जा ही छाया (shadows) और वास्तविक (Real) एव अवास्तविक (virtual) प्रतिबिम्बो (images) के रूप मे लक्षित होती है व्यतिकरण पट्टियो (interference bands) पर यदि एक गणनायत्र (Counting machine) चलाया जाय तो काली पट्टी (Dark Band) मे से भी प्रकाश वैद्युत रीति से (photo electrically) विद्युदणुओ [Electrons] का नि सरित होना सिद्ध होता है तात्पर्य यह कि काली पट्टी केवल प्रकाश के अभावरूप नही, उसमे भी ऊर्जा होती है और इसी कारण उससे विद्युदणु निकलते हैं काली पट्टियो के रूप मे जो छाया [shadows] होती है वह भी ऊर्जा का ही रूपान्तर है

---

१ तमो दृष्टिप्रतिबन्धकारण प्रकाशविरोधि—आचार्य पूज्यपाद सर्वार्थसिद्धि, अ० ५, सू० २४

२ छाया प्रकाशावरणनिमित्ता ।—वही, अ० ५, सू० २४

उपसंहार

यह विज्ञान का युग है प्रत्येक व्यक्ति की जिज्ञासा आज तीव्र हो उठी है उसे कोरे शास्त्रीय तर्कों से ही सन्तोष नहीं विज्ञान की तुला पर तोले बिना वह किसी भी सिद्धान्त से सहमत नहीं होता फलत सर्वोपरि सिद्धान्त-दर्शन आज वही माना जाने लगा है जो शास्त्र-सम्मत तो हो ही विज्ञान-सम्मत भी हो

आज की इसी प्रवृत्ति को लक्ष्य म रखकर मैने पुद्‌गल द्रव्य का यह विश्लेषण प्रस्तुत किया है विश्लेषण दर्शन और विज्ञान दोनो दृष्टियो से किया गया है पुद्‌गल द्रव्य के विषय में स्थान-स्थान पर दर्शन और विज्ञान की समता तो दिखाई ही गई है विषमता भी दिखाई गई है

इस निबन्ध में पुद्‌गल द्रव्य के लगभग सभी पहलुओ का विश्लेषण किया गया है—तुलनात्मक दृष्टि से भी और विवेचनात्मक दृष्टि से भी

विश्लेषण में शास्त्रीय भाषा का प्रयोग प्राय नहीं किया है ताकि जन-साधारण उसे सहज ही समझ सके इसी दृष्टि से यथास्थान अंग्रेजी पर्याय भी देता गया हूँ कथित विषय की पुष्टि के लिये सन्दर्भ-ग्रन्थों का हवाला भी दिया गया है

ऐसे ही विश्लेषण जीव द्रव्य धर्म द्रव्य अधर्म द्रव्य आकाश द्रव्य और काल द्रव्य के विषय मे आज अनिवार्यरूप से अपेक्षित है

जाति के होते हैं और जिनमे किसी अन्य जाति का मिश्रण स्वभावत नही होता ऐसी अमिश्रित जाति के पुद्गल-पर्यायो को ही विज्ञान मे तत्त्व कहा जाता है मौलिक दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि इन तत्त्वो के अन्वेषण की प्रेरणा वैदिक दर्शन के पञ्च महाभूतो वाले सिद्धान्त से मिली है तत्त्वो का अन्वेषण दिनोदिन होता ही चला गया और उनकी सख्या ९२ तक पहुँच गई अव तो, सुनते हैं कि यह सख्या १०३ तक पहुँच गई है भविष्य मे और भी अनेक तत्त्वो के अन्वेषण की सम्भावना है

जैन दर्शनकारो ने ७ तत्त्व और ६ द्रव्य ही माने हैं लेकिन उन्हे इस १०३ की सख्या से भी कोई आपत्ति नही उनका वर्गीकरण स्वय इतना युक्तिपूर्ण और वैज्ञानिक है कि आये दिन होते रहने वाले वैज्ञानिक अन्वेषणो से उनकी पुष्टि ही होती जाती है ये १०३ तत्त्व केवल पुद्गल द्रव्य के ही पर्याय हैं और उनका अन्तर्भाव इसी द्रव्य के स्थूल-स्थूल आदि ६ भेदो मे यथासम्भव किया जा सकता है जैनदर्शन मे परमाणुओ की जातियाँ भी मानी गई है और यह भी माना गया है कि एक जाति दूसरी जाति से अमिश्रित रह सकती है

अणु बम—पहले वैज्ञानिको की मान्यता थी कि उनका तथाकथित परमाणु टूटता नही, विच्छिन्न नही होता लेकिन धीरे-धीरे उनकी यह मान्यता खण्डित होती गई धीरे-धीरे यह भी अन्वेपण हुआ कि परमाणुओ के बीजाणुओ की इकाई मे अपार शक्ति भरी पडी है उन्होने यह अन्वेषण भी किया कि यूरेनियम नामक तत्त्व के परमाणुओका विकीरण हो सकता है, इन्ही सब अन्वेषणो के आधार पर अणु बम को जन्म मिला

कहना न होगा कि यूरेनियम तत्त्व, जिसके परमाणुओ के विकीरण से अणुविस्फोट होता है पुद्गल द्रव्य की पर्याय है, अत यह सब पुद्गल द्रव्य का ही चमत्कार है

उद्जन बम—उद्जन बम का सिद्धान्त अणु बम के सिद्धान्त से ठीक विपरीत है अणु बम अणुओ के विभाजन का परिणाम है जबकि उद्जन बम उनके सयोग का यह भी स्पष्टत पुद्गल का ही पर्याय है

रेडियो और टेलीग्राम आदि—रेडियो, ट्राजिस्टर, टेलीग्राम, टेलीफोन, टेलीप्रिंटर, बेतार-का-तार, ग्रामोफोन और टेप-रिकार्डर आदि अनेक यन्त्र आज विज्ञान के चमत्कार माने जाते है पर इन सबके मूलभूत सिद्धान्त पर दृष्टिपात करने से हम इसी निष्कर्ष पर आते है—यह सब शब्द की अद्भूत शक्ति और तीव्र गति का ही परिणाम है और शब्द पुद्गल का ही पर्याय है सचमुच, पुद्गल के खेल अद्भूत और अनन्त है

टेलीविजन—जैसे रेडियो यन्त्र-गृहीत शब्दो को विद्युत्प्रवाह से आगे बढाकर सहस्त्रो मील दूर ज्यो-का-त्यो प्रकट करता है वैसे ही टेलीविजन भी प्रसरणशील प्रतिच्छाया को सहस्त्रो मील दूर ज्यो-का-त्यो व्यक्त करता है

जैन शास्त्रो मे बनाया गया है कि विश्व के प्रत्येक मूर्त्त पदार्थ से प्रतिक्षण तदाकार प्रतिच्छाया निकलती रहती है और पदार्थ के चारो ओर आगे बढकर विश्वभर मे फैल जाती है जहाँ उसे प्रभावित करने वाले पदार्थों—दर्पण, जल आदि का योग होता है वहाँ वह प्रभावित भी होती है टेलीविजन का आविष्कार इसी सिद्धान्त का उदाहरण है अत टेलीविजन का अन्तर्भाव पुद्गल की छाया नामक पर्याय मे किया जाना चाहिए

एक्स-रेज़—एक्स-रेज़ भी विज्ञान-जगत् का एक महत्त्वपूर्ण एव चमत्कारमय आविष्कार है प्रकाश-किरणो की अबाध गति एव अत्यन्त सूक्ष्मता ही इस आविष्कार का मूल है अत एक्स-रेज़ को पुद्गल की प्रकाश नामक पर्याय के अन्तर्गत रखना ही उचित है

अन्य—विश्व मे जो कुछ भी छूने, चखने, सूघने, देखने और सुनने मे आता है वह सब पुद्गल की पर्याय है प्राणिमात्र के शरीर, इन्द्रिय और मन आदि पुद्गल से ही निर्मित है विश्व का ऐसा कोई भी प्रदेश—कोना नही है जहाँ पुद्गल द्रव्य किसी-न-किसी पर्याय मे विद्यमान न हो

आत्मा में क्रोध भाव उत्पन्न होने पर मुखाकृति का भयकर बनना भृकुटि चढ़ना चक्षुका लाल होना आदि इसी तरह हर्ष होने पर मुख का प्रफुल्लित होना भय होने पर शरीर का कापना कामभाव होने पर कामेन्द्रिय मे उत्तमना होना यह सब शरीर पर होने वाला आत्मा का असर है तथा बाल शरीर की अपेक्षा युवा शरीर में ताकत का अधिक होना वृद्धावस्था म ताकत का घट जाना व स्थूल शरीर वाले पुरुष को दौड़ने-कूदने में कठिनाई का अनुभव होना हाड मास मय एकसमान देह होते हुए भी स्त्री और पुरुष की भिन्न भिन्न आकांक्षा होना अर्थात् स्त्री को पुरुष से रमण करने की और पुरुष को स्त्री से रमण करने की इच्छा होना इत्यादि उदाहरण शरीर का असर आत्मा पर पड़ने के है

प्रश्न—अगर शरीर और आत्मा का इतना घनिष्ठ सबध है तो दोनों को भिन्न न मानकर शरीर को ही आत्मा क्यों न मान लिया जावे ?

उत्तर—दोनों का स्वरूप भिन्न भिन्न है एक चेतन है दूसरा अचेतन है अत दोनों एक नही माने जा सकते है अगर शरीर ही जीव हो तो मूर्छावस्था मे शरीर के रहते भी वह अचेत क्यों हो जाता है ? और निद्रावस्था में कर्ण रसना आदि इन्द्रियों के होते हुए भी वह विषय को ग्रहण क्यों नही करता है कोई मनुष्य शरीर और इन्द्रियां ज्यो-की त्या रहने पर भी पागल कैसे हो जाता है ? इससे प्रकट होता है कि शरीर और आत्मा ये दो भिन्न भिन्न चीजें है जीव का स्वरूप जैन शास्त्रों में निम्न गाथा मे कहा गया है—

जीवो उवओगमओ अमुत्तो कत्ता सदेहपरिमाणो
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ।

—द्रव्य संग्रह नेमिचन्द्र सिद्धात चक्रवर्ती

जीव चैतन्यमय है—जीता है उपयोगमय है यानी ज्ञाता द्रष्टा है अमूर्तिक यानी इन्द्रियों के अगोचर है अच्छे-बुरे कार्यों का करने वाला है, उसका आकार अपना देह प्रमाण है और वह सुख-दुख का भोक्ता है वह ससार में रह रहा है अर्थात् अनेक योनियों में जन्म मरण करता रहता है, मुक्त स्वरूप से सिद्ध के समान है और ऊर्ध्वगमन उसका स्वभाव है सब द्रव्यों में एक पुद्गल ही ऐसा द्रव्य है जो रूपी यानी दीखने में आता है शेष सब अरूपी है कुछ पुद्गल ऐसे भी होते है जो अपनी सूक्ष्मता से नेत्रगोचर नही भी होते है तथापि वे यत्रादि के द्वारा ग्रहण योग्य होने से रूपी ही माने जाते है जैसे गध शब्द हवा आदि कुछ ऐसे भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म पुद्गल होते है जो सभी इन्द्रियो के अगोचर होने पर भी पुद्गल की जाति के ही माने जाते है जैसे कार्मणवर्गणा जब कोई पुद्गल विशेष रूपी होकर भी अपनी सूक्ष्मता की वजह से नेत्रगोचर नही होता है तब जीवद्रव्य तो अरूपी है वह दृष्टिमें तो क्या अन्य किसी भी इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण न नही आ सकता है इसी से भ्रम में पड़कर कई लोग कहने लगते है कि यह शरीर ही जीव है शरीर से भिन्न कोई जीव नाम का द्रव्य नही है किन्तु ऐसा समझना मिथ्या है आत्मा सूक्ष्म अरूपी होने से भले ही आंखो आदि से ग्रहण मे नही आता है तथापि जो देखने जानने वाला है, किसी की इच्छा करता है और जिसको हर्ष सुख-दुख का अनुभव होता है वही आत्मा है आत्मा न होने से ही प्रत्येक प्राणी को उसके शरीर क छिन्न भिन्न करने से दुख होता है आत्मा के निकल जाने पर मुर्दा शरीर को काटने जलाने आदि से कोई पीड़ा नही होती है इससे जाहिर होता है कि आत्मा और शरीर दो भिन्न भिन्न चीजे है उसके अलावा स्मृति जिज्ञासा सशयादि ज्ञान विशेष आत्मा के गुण है उनका स्वसवेदन प्रत्यक्ष होने से उन गुणों वाला आत्मा भी प्रत्यक्ष है क्योकि गुण से गुणी भिन्न नही रहता है जहाँ गुण है वहाँ गुणी भी अवश्य होता है जैसे रूपादि गुण प्रत्यक्ष होने से उन गुणो का धारी घट भी प्रत्यक्ष है

प्रश्न—माना कि गुण और गुणी अभिन्न है किन्तु शरीर ही आत्मा होने से वही गुणी है और ज्ञान उस शरीर का गुण है ऐसा क्यो न मान लिया जाय ?

उत्तर—ऐसा कहना ठीक नही क्योकि घट की तरह शरीर मूर्तिमान् और चक्षुगोचर है वह अमूर्तिक ज्ञानादि गुणो का आधार गुणी नही हो सकता गुण और गुणी में अनुरूपता होती है—विरूपता नही अत ज्ञानादि गुण जिसमे है वह शरीर से भिन्न अन्य कोई अरूपी द्रव्य है और वही आत्मा है
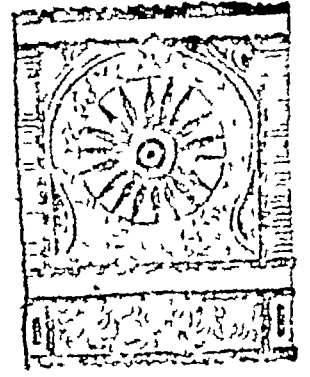
पं० मिलापचन्द कटारिया

जीवतत्त्व विवेचन

संसार अनादिकाल से छह द्रव्यों से परिपूर्ण है उनमें एक जीवद्रव्य भी है जीवों की संख्या सदा से ही अनन्तानन्त है वे जितने हैं उतने ही रहते हैं न घटते, न बढ़ते हैं कोई भी जीव नया पैदा नहीं होता है और न किसी का विनाश ही होता है अमुक प्राणी पैदा हुआ, अमुक मर गया, ऐसा जो कहा जाता है उसका अर्थ इतना ही है, कि किसी अन्य देह से निकलकर जीव इस देह में आया है बस इसे ही उसका जन्म होना कहते हैं और इस देह से निकलकर जीव अन्य देह में चला गया, बस यही उसका मरण कहलाता है तत्त्वत प्रत्येक जीव अजन्मा और अविनाशी है उन अनन्तानन्त जीवों में कई जीव अशुद्ध रूप में और कई शुद्ध रूप में पाये जाते हैं जो अशुद्ध रूप में हैं उन्हें संसारी जीव और शुद्ध रूप वालों को मुक्त जीव कहते हैं

सब द्रव्यों मे एक जीव द्रव्य ही चेतनामय है बाकी सब अचेतन-जड है संसार मे जो पदार्थ नेत्र आदि इन्द्रियो द्वारा ग्राह्य होते है वे सब पुद्गल द्रव्य है पुद्गलद्रव्य रूपी अर्थात् मूर्त्त होने से इन्द्रियगोचर है किन्तु जीव द्रव्य रूपी व मूर्त्तिक नही है अत वह किसी भी इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य नही है इसका अर्थ यह नही है कि वह शून्य रूप है जीव भी अपनी सत्ता अवश्य रखता है उसका भी कुछ न कुछ आकार रहता है संसार-अवस्था मे वह देह के आकार मे रहता है और मुक्त अवस्था मे उसके देह नही रहती, तथापि जिस देह को छोडकर वह मुक्त होता है उस देह के आकार मे (किंचित् न्यून) रहता है

जीव मे फैलने और सिकुडने की शक्ति विद्यमान है वह अगर अधिक से अधिक फैले तो अकेला ही सारी सृष्टि को व्याप्त कर सकता है किंतु उसे विभिन्न भवो मे जितने प्रमाण का देह मिलता है उतने ही प्रमाण का होकर रहना पडता है भवातर मे ही नही, किसी एक भव मे भी बाल्यावस्था के छोटे शरीर मे छोटा बनकर रहता है, युवावस्था के बडे शरीर मे बडा बनकर रहता है फिर वही शरीर वृद्धावस्था मे कृश हो जाता है तो उसमे कृश होकर रहने लगता है जैसे दीपक का प्रकाश छोटे बडे कमरे मे सिकुडता-फैलता है, वैसे ही जीव भी बडी-छोटी देह मे फैलता सिकुडता है प्रत्यक्ष मे यह भी देखा जाता है कि जब मनुष्य के दिल मे कामवासना पैदा होती है तो उसकी कामेन्द्रिय का प्रमाण बढ जाता है उसी के साथ उसके आत्मप्रदेश भी बढ जाते है और कामेन्द्रिय का सकोच होने पर उसके आत्मप्रदेश भी सकुचित हो जाते है

यहाँ शका की जा सकती है कि जैसे दीपक का ढक्कन हटा देने पर उसका प्रकाश फैल जाता है, उसी तरह मोक्ष मे जीव के साथ देह के न होने से वह लोक प्रमाण क्यो नही फैलता है ? इसका समाधान यह है कि जैसे कोई आदमी पाँच हाथ की लबी डोरी को समेट कर अपनी मुट्ठी मे बद कर ले फिर कालातर मे मुट्ठी खोल देने पर भी वह डोरी बिना किसी के फैलाये अपने आप नही फैलती है, उसी तरह मोक्ष मे देह के न रहने पर आत्मा के प्रदेश भी अपने आप नही फैलते हैं

जीव को देहप्रमाण कहने का अर्थ यह है कि शरीर के प्राय सभी अशो मे आत्मा के अश मिले हुए हैं जैसे दूध मे घृत के अश मिले रहते है शरीर और आत्मा के अश ऐसे कुछ घुलमिल जाते है कि उनकी सयुक्त क्रियाओ मे कही तो आत्मा का असर शरीर पर होता दिखाई देता है और कही शरीर का असर आत्मा पर पडा दिखाई देता है जैसे

प्रश्न—ज्ञानादि गुण शरीर के नही है ऐसा कहना प्रत्यक्ष विरुद्ध है सब पदार्थों का ज्ञान इन्द्रियो से होता है और इन्द्रियरूप ही शरीर है इन्द्रियाँ न हो तो कुछ भी ज्ञान नही होता

उत्तर—आत्मा को पदार्थ का ज्ञान इन्द्रियो के द्वारा होता है इसका अर्थ यह नही है कि आत्मा और इन्द्रियाँ अभिन्न है क्योकि चक्षु एव कर्ण के न रहने पर भी अर्थात् अधा बहरा हो जाने पर भी उनसे उत्पन्न पहिले का ज्ञान आत्मा को बना रहता है जैसे खिडकियो के द्वारा देखे हुए पदार्थो का बोध खिडकियाँ बन्द कर देने पर भी देवदत्त को रहता है अत देवदत्त खिडकियो से जुदा है वैसे ही आत्मा इन्द्रियो से जुदा है उसी तरह इन्द्रियो के रहने पर भी अगर आत्मा का उपयोग विषय-ग्रहण की ओर न हो तो पदार्थज्ञान नही होता है इसलिए इन्द्रियो के होने पर भी आत्मा को पदार्थ ज्ञान नही होता और इन्द्रियो के न होने पर भी पदार्थज्ञान रहता है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि देहादि से आत्मा कोई जुदी चीज है

इसके अतिरिक्त किसी दूसरे को इमली खाते देखकर मात्र उसका अनुभव करने से ही हमारे मुह मे पानी आ जाता है दूसरे का रुदन सुनकर या उसके कष्ट का अनुभव करने मात्र से ही हमारी आँखो मे अश्रु पैदा हो जाते है यहाँ अनुभव करने वाला शरीर से भिन्न कोई आत्मा ही हो सकता है एक इन्द्रिय से जानकारी हासिल करके दूसरी इन्द्रिय से कार्य करने, जैसे आख से घटको देखकर हाथ उसे उठाने इत्यादि रूप मे इन्द्रियो को सोच समझ कर काम मे लेनेवाला भी, इन्द्रियो से भिन्न ही कोई हो सकता है देवदत्त मकान की किसी एक खिडकी से किसी को देखकर दूसरी खिडकी मे मुह डालकर उसे बुलाता है यहाँ जैसे खिडकियो मे काम लेनेवाला देवदत्त खिडकियो से भिन्न है, उसी तरह इन्द्रियो को काम मे लेनेवाला आत्मा भी, इन्द्रियो से भिन्न है, जैसे थोडे ज्ञानवाले पाच पुरुषो से अधिक ज्ञान वाला छठा पुरुष भिन्न है, उसी तरह एक-एक विषय को ग्रहण करनेवाली पाचो इन्द्रियो से सभी विषयो को ग्रहण करने वाला छठा आत्मा भी, इन्द्रियो से भिन्न है एक सेठ अलग-अलग गुमास्ते रखकर उनसे अपनी इच्छानुसार अलग-अलग काम लेता है जैसे गुमास्तो से सेठ भिन्न है, उसी तरह इन्द्रियो से अपनी इच्छानुसार अलग-अलग विषय को ग्रहण करने वाला उनका अधिष्ठाता आत्मा भी, इन्द्रियो से भिन्न है जैसे रेल के डिब्बे इजन की गति विशेष के अनुसार चलते है, मुडते है, दौडते है, धीमे चलते है, उसी तरह इद्रियाँ भी आत्मा की प्रेरणा से कार्य करती है रेल के डिब्बो से इजन भिन्न है उसी प्रकार इद्रियो से आत्मा भिन्न है

इस प्रकार से जब स्वशरीर मे आत्मा की सिद्धि होती है तो उसी तरह परशरीर मे भी आत्मा है क्योकि जैसे स्व-शरीर मे आत्मा होने से इष्ट मे प्रवृत्ति देखी जाती है, तद्वत् परशरीर मे भी इष्ट अनिष्ट मे प्रवृति देखी जाती है अत परशरीर मे भी आत्मा है, यह प्रमाणित होता है इससे जीवो की अनेक सख्या सिद्ध होती है किन्तु सब ससारी जीवो मे ज्ञान की हीनाधिकता पाई जाने के कारण सब जीव सर्वथा एक समान नही है, यह भी सिद्ध होता है इस असमानता का कारण उनका अपना स्वभाव नही है किन्तु उन पर होने वाला पौद्गलिक कर्मवर्गणाओ का आवरण है

शरीर यद्यपि अचेतन है तथापि वह चेतन जीव द्वारा चलाये जाने के कारण चेतन सदृश ही दिखाई देता है जैसे कि बैलो द्वारा चलाया शकट बैलो की तरह ही चलता हुआ दिखाई देता है

प्रश्न—अगर आत्मा शरीर से भिन्न है तो वह जन्म के समय शरीर मे प्रवेश करते और मृत्यु के समय शरीर से निकलते किसी को क्यो नही दिखती है ? जैसे पुष्प से गध भिन्न नही, उसी तरह आत्मा भी शरीर से भिन्न नही है जैसे पुष्प के नाश होने से गध का विनाश हो जाता है उसी प्रकार देह के नाश होने से आत्मा का भी अभाव हो जाता है गर्भ मे शुक्रशोणित के सम्मिश्रण से शरीर का निर्माण होता है वही शनै-शनै बढने लगता है वहा अन्य स्थान से जीव आकर उसमे स्थान कर लेता है ऐसा कहना केवल कल्पना है

उत्तर—दूर से आया हुआ शब्द नेत्रो द्वारा नही देखा जाता वह कान द्वारा ही ज्ञात होता है फिर आत्मा तो सूक्ष्म अरूपी और अमूर्त्त है वह न नेत्रो के गोचर है और न अन्य इद्रियो के इसलिए जीव जन्म-मरण के समय आता-जाता
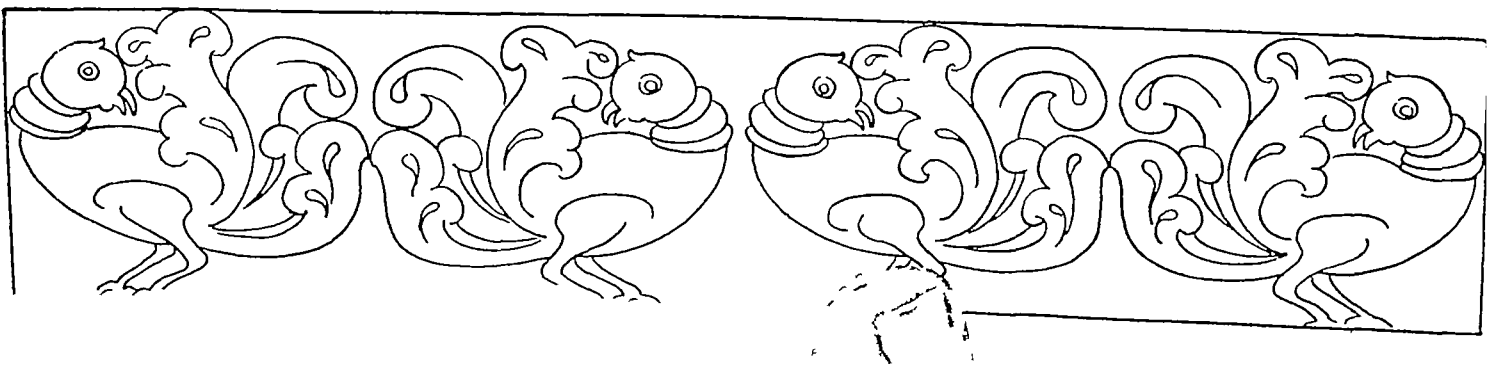
में कमी नहीं होती है अगर शरीर से भिन्न कोई जीव होता तो मरने पर शरीर का वजन कम होना चाहिये था

उत्तर—हवा भरी हुई मशक का जो वजन होता है वही वजन हवा निकालने के बाद भी उसमें रहता है जब हवा के निकल जाने पर भी मशक के वजन में कमी नहीं आती है तो आत्मा तो अरूपी और हवा से भी अति सूक्ष्म है उसके निकल जाने पर शरीर के वजन में कमी कैसे आ सकती है ?

प्रश्न—आंख ठीक हो तो दिखाई देता है कान ठीक हो तो सुनाई देता है दोनो ही में खराबी आजाने पर आत्मा न देख सकती है न सुन सकती है इससे क्या यह सिद्ध नहीं होता है कि देखने-सुनने वाला जो है वह इन्द्रिय रूप शरीर ही है कोई अलग आत्मा नहीं है

उत्तर—स्वप्नावस्था में मनुष्य अपनी इन्द्रियों को काम में लिये बिना भी देखता है सूंघता है खाता है पीता है यहां तक कि जिस मनुष्य को मरे कई वर्ष हो गये उसे भी प्रत्यक्ष देखता है इस प्रकार की बातें निश्चय ही शरीर से भिन्न आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करती है

प्रश्न—जीवो की उत्पत्ति भौतिक सम्मिश्रण के आधार पर होती है या तो माता पिता के रजोवीर्य के मिलने पर या इधर उधर के परमाणुओं से ही जीवोत्पत्ति हो जाती है जैसे आटे में जीव पड़ना बालों में जू पड़ना आदि अगर ये सब जीव भवान्तर से आकर पैदा होते है तो भवान्तर के शरीर को छोड़ते ही उनके लिये जैसा शरीर चाहिये वैसे ही शरीर का सयोग अपने आप कैसे बन जाता है ? जैसे किसी जीव को मनुष्य पर्याय में आना है तो उसके मरते ही कहीं अन्यत्र उसी समय पुरुष के और स्त्री के समागम से उत्पन्न शुक्रशोणित का मिश्रण भी तैयार रहना चाहिये ताकि वह उसमें आ सके इस प्रकार की तैयारी सदा ही अकस्मात् मिल जाना सम्भव नहीं है इससे तो यही क्यों न माना जाय कि भौतिक मिश्रणो से ही चैतन्य उत्पन्न हो जाता है यह नहीं कह सकते कि कोई जीव भवान्तर के शरीर से निकलने के बाद जब तक उसके योग्य शरीर की सामग्री का सयोग न मिले तब तक यों ही भटकता रहता है क्योंकि विग्रहगति मे अधिक से अधिक काल जैन सिद्धान्त में तीन समय मात्र बताया गया है चौथे समय में तो उसे जहाँ भी जन्म लेना है वहाँ अवश्य पहुँचना ही पड़ता है यह तीन समय का काल बहुत ही थोड़ा है जैन शास्त्रों में एक श्वास में ही असख्यात समय बताये है

उत्तर—जैन-शास्त्रों में जीवो का जन्म तीन तरह का माना है—सम्मूर्च्छन उपपाद और गर्भ इनमे से सम्मूर्छन जन्म के लिये तो कोई कठिनाई नहीं है यह जन्म रजोवीर्य के सयोग से नहीं होता है यह तो तीन लोक मे फैले हुये इधर उधर के पुद्गल परमाणुओं से हो हो जाता है अतः अगणित जीवों के इस जन्म के लिए तो हर समय लोक में सामग्री भरी पड़ी है उपपाद जन्म देव-नारकियों का होता है इस जन्म के लिए भी माता-पिता के सयोग की जरूरत नहीं है इस जन्म के लिये तो नियत स्थान बने हुये है और वे सदा तैयार मिलते है रहा गर्भजन्म उसके लिये अगर माता पिता के सयोग की जरूरत रहती है तो वह भी दुर्लभ नहीं है मैथुन कर्म करने वाले जीवो की लोक में कोई कमी नहीं है यह सयोग भी हर समय मिल ही जाता है मैथुन के अन्त में ज्यों ही रजोवीर्य का पतन होकर मिश्रण हो उसी समय भवान्तर से जीव आकर उसमें पैदा हो ऐसा भी कोई नियम नहीं है किसी के मत से रजोवीर्य के उस मिश्रण में सात दिन पश्चात् तक जीव का आना बताया गया है

इस तरह से जीवो के आवागमन की समस्या भी हल हो जाती है

कि उस वक्त तेज का प्रभाव होने से चेतना पैदा नही होती है और चेतना पैदा होने योग्य विशिष्ट वायु की उपलब्धि भी नही होती है, तो फिर यो ही क्यो न कहो कि वह तेज और विशिष्ट वायु आत्मतत्त्व के सिवाय अन्य कोई नही है ?

प्रश्न—जैसे मिट्टी जल आदि के सयोग से धान्य आदि पैदा होना प्रत्यक्ष देखते है, वैसे ही भूतो के सयोग से जीव पैदा होते है ऐसा मानना भी उचित ही है

उत्तर—धान्य के पैदा होने मे मिट्टी जलादिक उपादान कारण नही है उपादान कारण उनके बीच मे है. वे बीज मिट्टी जलादि से भिन्न हैं उसी तरह शरीर मे चेतना भूत समुदाय की नही है किन्तु भूत-समुदाय से भिन्न आत्मा की है जैसे एक वृद्ध पुरुष का ज्ञान युवावस्था के ज्ञान पूर्वक होता है और युवावस्था का ज्ञान बाल्यावस्था के ज्ञान पूर्वक होता है, उसी प्रकार बाल्यावस्था का ज्ञान भी उसके पूर्व की किसी अवस्था का होना चाहिये वह अवस्था उस जीव के पूर्व भव की ही सम्भव है जैसे जीव को वृद्धावस्था मे अनेक अभिलाषायें होती है उसके पूर्व युवावस्था मे भी होती थी और युवावस्था के पूर्व बाल्यावस्था मे होती हैं वैसे ही बाल्यावस्था के पूर्व भी कोई अवस्था होनी चाहिये ताकि इच्छाओ की परम्परा टूट न सके वह अस्वथा जीव का पूर्व जन्म ही हो सकती है इसी कारण मे तो जन्म लेते ही बछडा गाय का स्तन चूसने लगता है इससे यही सिद्ध होता है कि भवानर से जीव आकर शरीर को अपना आश्रय बनाता है वर्तमान मे भी समाचार-पत्रो मे पूर्व जन्म की घटनायें छपती रहती हैं अगर पूर्व जन्म नही है तो बिल्ली का चूहे से और मयूर का सर्प से स्वाभाविक वैर होने का क्या कारण है ?

प्रश्न—यदि प्रत्येक शरीर मे जीव भवातर से आता है तो इसका अर्थ यही हुआ कि इस जन्म के शरीर मे जो जीव है वही पूर्वजन्म के शरीर मे था शरीर बदला है जीव तो वही का वही है तो फिर सभी जीवो को पूर्व जन्म की बातें याद क्यो नही है ?

उत्तर—जैसे वृद्धावस्था मे किन्ही को अपनी बाल्या अवस्था की बातें याद रहती है और किन्ही को नही रहती है, इसी प्रकार किसी जीव को भवातर की बातें याद आजाती हैं, किसी को नही इसमे कारण जीव की धारणा शक्ति की हीनाधिकता है दूसरी बात यह है कि जिन बातो पर अधिक सूक्ष्म उपयोग लगाया गया हो वे सुदूरभूत की होने पर भी याद आ जाती हैं और जिन पर मामूली उपयोग लगाया गया हो, वे निकट भूत की भी स्मरण मे नही रहती हैं मनुष्य को अपनी गर्भावस्था का स्मरण इसीलिये नही रहता है कि वहा उसको किसी विषय पर गम्भीरता पूर्वक सोचने की योग्यता ही पैदा नही होती है इसके अतिरिक्त पूर्व शरीर को छोडकर अगले शरीर को धारण करने मे प्रथम तो बीच मे व्यवधान पड जाता है, दूसरे अगला शरीर पूर्व शरीर से भिन्न प्रकार का होता है और उसके विकसित होने मे भी समय लगता है चूकि जीव की ज्ञानोत्पत्ति मे शरीर और इद्रियो का बहुत बडा हाथ रहता है यदि पूर्व जन्म मे जीव असज्ञी रहा हो तो वहा किसी विषय का चिंतन ही न हो सका अतएव अगले जन्म मे याद आने का प्रश्न ही नही रहता है इत्यादि कारणो से प्रत्येक प्राणी को जाति स्मरण का होना सुलभ नही है

प्रश्न—एक लोहे की कोठी मे किसी प्राणी को बन्द कर दिया जाय और उस कोठी के सब छिद्रो को ढक दिया जाय तो प्राणी मर जाता है उस प्राणी की आत्मा उस कोठी से बाहर निकल जाती है मगर उस कोठी मे कही छिद्र नही होता है इससे सिद्ध होता है कि उस प्राणी का जो शरीर था वही जीव था

उत्तर—उस कोठी मे शख देकर किसी आदमी को बैठाया जावे और सब छिद्र बद कर दिये जावें फिर उस कोठी मे बैठा आदमी शख बजावे तो शख की आवाज कोठी के बाहर सुनाई देती है आवाज के निकलने से कोठी मे कही छेद हुआ नजर नही आता है फिर आत्मा तो आवाज से भी अत्यधिक सूक्ष्म है आवाज मूर्त्त है, आत्मा अमूर्त्त है आत्मा के निकलने पर कोठी मे छेद होने की क्या जरूरत है ?

प्रश्न—मरणासन्न मनुष्य को जीवित अवस्था मे तोला जाय और फिर मरने के पश्चात् तत्काल तोला जाय तो वजन

में कमी नही होती है अगर शरीर से भिन्न कोई जीव होता तो मरने पर शरीर का वजन कम होना चाहिये था

उत्तर—हवा भरी हुई मशक का जो वजन होता है वही वजन हवा निकालने के बाद भी उसमें रहता है जब हवा के निकल जाने पर भी मशक के वजन में कमी नही आती है तो आत्मा तो अरूपी और हवा से भी अति सूक्ष्म है उसके निकल जाने पर शरीर के वजन में कमी कैसे आ सकती है ?

प्रश्न—आख ठीक हो तो दिखाई देता है कान ठीक हो तो सुनाई देता है दोनों ही में खराबी आजाने पर आत्मा न देख सकती है न सुन सकती है इससे क्या यह सिद्ध नही होता है कि देखने-सुनने वाला जो है वह इन्द्रिय रूप शरीर ही है कोई अलग आत्मा नही है

उत्तर—स्वप्नावस्था में मनुष्य अपनी इद्रियों को काम म लिये बिना भी देखता है सूंघता है खाता है पीता है यहां तक कि जिस मनुष्य को मरे कई वर्ष हो गये उसे भी प्रत्यक्ष देखता है इस प्रकार की बातें निश्चय ही शरीर से भिन्न आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करती है

प्रश्न—जीवो की उत्पत्ति भौतिक सम्मिश्रणों के आधार पर होती है या तो माता पिता के रजोवीय के मिलने पर या इधर उधर के परमाणुओ से ही जीवोत्पत्ति हो जाती है जैसे आटे में जीव पड़ना बालों में जू पड़ना आदि अगर ये सब जीव भवांतर से आकर पैदा होते है तो भवान्तर के शरीर को छोड़ते ही उनके लिये जैसा शरीर चाहिये वसे ही शरीर का सयोग अपने आप कैसे बन जाता है ? जैसे किसी जीव को मनुष्य पर्याय में आना है तो उसके मरते ही कहीं अन्यत्र उसी समय पुरुष के और स्त्री के समागम से उत्पन्न शुक्रशोणित का मिश्रण भी तैयार रहना चाहिये ताकि वह उसमे आ सके इस प्रकार की तैयारी सदा ही अकस्मात् मिल जाना सम्भव नही है इससे तो यही क्यों न माना जाय कि भौतिक मिश्रणो से ही चैतन्य उत्पन्न हो जाता है यह नही कह सकते कि कोई जीव भवातर के शरीर से निकलने के बाद जब तक उसके योग्य शरीर की सामग्री का सयोग न मिले तब तक यों ही भटकता रहता है क्योंकि विग्रहगति मे अधिक से अधिक काल जैन-सिद्धात म तीन समय मात्र बताया गया है चौथे समय में तो उसे कहीं भी जन्म लेना है वहाँ अवश्य पहुँचना ही पड़ता है यह तीन समय का काल बहुत ही थोड़ा है जैन शास्त्रो में एक श्वास मे ही असख्यात समय बताये है

उत्तर—जैन-शास्त्रो म जीवो का जन्म तीन तरह का माना है—सम्मूर्च्छन उपपाद और गर्भ इनमे से सम्मूर्छन जन्म के लिये तो कोई कठिनाई नही है यह जन्म रजोवीर्य के संयोग से नही होता है यह तो तीन लोक में फैले हुये इधर उधर के पुद्गल पदार्थो से ही हो जाता है अत: अगणित जीवों के इस जन्म के लिए तो हर समय लोक में सामग्री भरी पड़ी है. उपपाद जन्म देव-नारकियो का होता है इस जन्म के लिए भी माता पिता के सयोग की जरूरत नही है इस जन्म के लिये तो नियत स्थान बने हुये है और वे सदा तयार मिलते है रहा गर्भजन्म उसके लिये अगर माता पिता के सयोग की जरूरत रहती है तो वह भी दुर्लभ नही है मैथुन कर्म करने वाले जीवो की लोक में कोई कमी नही है यह सयोग भी हर समय मिल ही जाता है मैथुन के अन्त मे ज्यो ही रजोवीय का पतन होकर मिश्रण हो उसी समय भवातर से जीव आकर उसमे पैदा हो ऐसा भी कोई नियम नही है किसी के मत से रजोवीर्य के उस मिश्रण में सात दिन पश्चात् तक जीव का आना बताया गया है

इस तरह से जीवा के आवागमन की समस्या भी हल हो जाती है

श्रीरतनलाल सघवी न्यायतीर्थ,

भारतीय दर्शनों में आत्मवाद

(१) ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि

भारतीय-विचार-जगत् के दार्शनिक क्षेत्र मे सुदीर्घ काल से अनुभूतिधारक तत्त्व अर्थात् 'आत्मा' के सम्बन्ध मे उत्सुकता-श्रद्धा एव विचारात्मक अनुसधान चला आ रहा है आर्यावर्त्त मे अब तक अनेक तीर्थंकर ऋषि-मुनि, तत्त्व-चितक, सन्यासी, ईश्वर-भक्त, सत एव मनीषा-निधि दार्शनिक पुरुष और सर्वोच्च कोटि के निर्मल चारित्र-सपन्न लोक-सेवक, नानाविध भौतिक एव आध्यात्मिक प्रगूढ समस्याओ का चिन्तन-मनन करते हुए इस विचार-मथन मे अनुरक्त रहे है कि इस महान् अज्ञात और अज्ञेय रहस्य वाले ब्रह्माण्ड मे मौलिकता तथा अमरता का कौन-सा तत्त्व है ?

यह दृश्यमान और अदृश्यमान अर्थात् प्रत्यक्ष एव परोक्ष रीति से विलोक्यमान लोक किन-किन वस्तुओ का वना हुआ है ? ऐतिहासिक और श्रद्धामय दोनो दृष्टियो से विचार किया जाय तो विदित होता है कि जब से मानव-जाति सुसस्कृत हुई है और जब से इसमे विचार-शक्ति तथा मानव-समाज रचने की दृष्टि उत्पन्न हुई है, तभी से चेतना गुण वाले तत्त्व मे आत्मा के सम्बन्ध मे ऊहापोह प्रारम्भ हो गया है तदनुसार अव तक यही अनुभव हुआ है कि इस अखिल विश्व मे दो तत्त्वो की ही मुख्यता है, जिनके आधार से इस विश्व का विस्तार है

इस प्रकार श्रद्धा-दृष्टि से आत्मवाद की विचारणा प्रथम तीर्थंकर प्रभु श्रीऋषभदेव से मानी जा सकती है और ऐतिहासिक दृष्टि से लगभग दस हजार वर्ष से कुछ अधिक काल से, मेधा-सपन्न दार्शनिको के मस्तिष्क मे यह समस्या उत्पन्न हुई कि 'अनुभूति अथवा ज्ञान-शक्ति,' एक विशिष्ट तत्त्व है जो कि ज्ञान-शून्य पदार्थों से अर्थात् पुद्गल तत्त्वसे सर्वथा ही भिन्न है. अनुभूतिशक्तिसपन्न तत्त्व के गुण, धर्म और पर्याय सर्वथा मौलिक, स्वतन्त्र, अनुपम, विलक्षण और असाधारण हैं, जब कि अनुभूतिशून्य तत्त्व, इससे सर्वथा विपरीत गुणो वाला है इसी चितन ने भारतीय साहित्यक्षेत्र मे अपना एक स्वतन्त्र विचार-विभाग प्रस्तुत किया जो कि दार्शनिक विचार-क्षेत्र कहलाया

इस प्रकार से उत्पन्न हुई यह दार्शनिक विचारणा की धारा शनै शनै विभिन्न कोटि के चिन्तको के मस्तिष्क मे प्रवाहित होने लगी और परिणाम स्वरूप नित्य नये-नये विचार और नई-नई व्यवस्थाएँ तथा अपूर्व-अपूर्व कल्पनाएँ इस अनुभूतिमय तत्त्व के सवध मे उपस्थित होने लगी

आज से लगभग पाच हजार वर्ष से कुछ समय पहिले यह विचारधारा मुख्यत दो क्षेत्रो मे विभाजित हो गई एक धारा मुख्यत वेद-ऋचाओ के निर्माताओ और तत्सबधी सप्रदाय के विचारको द्वारा प्रवाहित हुई, जो कि नैयायिक, साख्य आदि नामो से वैदिक दार्शनिक रूप मे प्रस्फुटित हुई दूसरी भगवान् पार्श्वनाथ से सम्बन्धित विचारधारा इन के समकालीन अथवा इनसे कुछ पूर्वकालीन आध्यात्मिक महापुरुषो द्वारा प्रवाहित हुई यह विचारधारा श्रमण दार्शनिक-विचारणा कही जा सकती है यो प्रज्ञाशील पुरुषो के मानस मे मीमासापूर्वक प्रगति करता हुआ यह आत्मवाद-विचारणा का सिद्धान्त लगभग चार-पाच हजार वर्षों के पूर्व काल से आज दिन तक वरावर अखण्ड रूप से चिन्तन-मनन के रूप मे अनुसधान का विषय रहा है

अव तक इस विषय मे हजारो ग्रन्थ लिखे गये, लाखो महापुरुषो द्वारा इसकी व्याख्या की गई और करोडो आध्यात्मिक पुरुषो द्वारा एकात मे, ध्यानावस्था मे, इस विलक्षण तत्त्व का चिन्तन मनन किया गया है

जहाँ तक अनुभूतिमय तत्त्व अर्थात् आत्मा के अस्तित्व का प्रश्न है, सभी दार्शनिको ने इसका अस्तित्व नि सकोच रूप

से स्वीकार किया है परन्तु उसके स्वरूप और निरयत्व आदि के विषय में भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ रही है कोई उसे परमाणु रूप मानता है कोई विश्व-व्यापी स्वरूप वाला मानता है कोई संकोच विस्तारमय प्रदेशों वाला मानता तो कोई उसे ईश्वरीय रूप वाला मानता है कोई नित्य कहता है तो कोई अनित्य ही बतलाता है. इस तत्त्व की अन्तिम दशा मुक्त रूप कही गई है परन्तु मोक्ष के स्वरूप के संबंध में भी विभिन्न मत है कोई उसे अनन्तकालीन कहते है तो कोई परिमितकालीन बतलाते हैं बौद्ध-दर्शन तो इस विषय में अवक्तव्य जैसी स्थिति में है और दृष्टान्त रूप में दीप-निर्वाण वत् कह कर छुटकारा पा लेता है

इन विविध दार्शनिक विवेचनाओं में भाषा भेद प्ररूपणा भेद कल्पना भेद और व्याख्या-भेद के होते हुए भी आत्मा के प्रति किसी की अस्वीकृति नहीं है इससे प्रमाणित होता है कि प्राय सभी दार्शनिक आत्मा को एक स्वतंत्र तत्त्व स्वीकार करते है

जब एक बार आत्मा का अस्तित्व स्वीकार कर लिया गया तो इसके बाद में उत्पन्न होने वाले जन्म मरण पाप पुण्य वासना संस्कार, मलीनता पुनीतता अधविमलत्व पूर्ण विमलत्व अज्ञानत्व ज्ञानत्व अमरत्व ईश्वरत्व आदि के विषय में उत्पन्न होने वाले प्रश्नों की भी विवेचना की गई इनका अपनी-अपनी शैली से तथा अपनी-अपनी भाषा पद्धति से समाधान किया गया और भारतीय दर्शन-क्षेत्र में समुच्चय रूप से यह एक ध्रुव सत्य स्थापित किया गया कि आत्मा अवश्यमेव है तथा अपरिमित शक्ति-संपन्न एवं अचिन्त्य स्वरूप वाले ईश्वर तत्त्व से इसका घनिष्ठ संबंध है इस घनिष्ठ सम्बन्ध के विषय में भी मुख्यत दो विचार धाराएँ प्रस्तुत हुई है नैयायिक वैशेषिक दर्शन आत्मा तथा ईश्वर दोनों को पृथक्-पृथक् मानते है जब कि वेदान्त एवं सांख्य आदि प्रमुख संप्रदाय आत्म तत्त्व में काल्पनिक भिन्नता बतलाते हुए मूलतः दोनों को एक ही तत्त्व बतलाते है

बौद्ध दर्शन आत्मतत्त्व और ईश्वरत्व के सम्बन्ध में विशेष समझने की आवश्यकता नहीं बतलाता हुआ भी इसके अस्तित्व को स्वीकार करता है यद्यपि पश्चात्वर्ती सुप्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् नागार्जुन तथा दिङ्नागादि आत्म-तत्त्व के सम्बन्ध में आश्चर्यजनक 'शून्यता' जैसी कल्पनाएं करते हुए पाये जाते है फिर भी प्रच्छन्न रूप से आत्मतत्त्व की स्वीकारोक्ति उनमें भी प्रतीत होती है

बौद्ध तार्किकों में सब प्रथम और प्रधान आचार्य नागार्जुन हुए इनका काल ईसा की दूसरी शताब्दी है ये महान् प्रतिभाशाली और प्रचण्ड तार्किक थे इन्होंने 'माध्यमिक-कारीका' नामक तर्क का प्रौढ एवं गम्भीर ग्रन्थ बनाया और बौद्ध साहित्य का मूल आधार 'शून्यवाद' निर्धारित किया इसके आधार पर शेष भारतीय दार्शनिक मान्यताओं का तथा तर्कों का प्रबल खण्डन किया दिङ्नागादि पश्चात्-तार्किकों ने इस विषय को विशेषरूप से आगे बढ़ाया और भारतीय तर्क-शास्त्र सम्बन्धी गहन साहित्य का गूढतम और गम्भीरतम रूप प्रस्तुत किया

जैनदर्शन में आत्मतत्त्व का स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है और आत्मतत्त्व की पूर्ण विकसित अवस्था को ही ईश्वरत्व माना गया है ईश्वरत्व प्राप्ति के बाद आत्मा पूर्ण रूप से कृतकृत्य तथा विमलतम स्थिति वाला हो जाने से जन्म मरण आदि रूप भौतिक हस्तक्षेप से एवं तज्जनित विविध संसारचक्र का परिणाम से सर्वथा और सदैव के लिये परिमुक्त हो जाता है

जीव तत्त्व को यह सांसारिक अवस्था कब और कैसे प्राप्त हुई ? इसका उत्तर यही है कि यह समस्या अनादि कालीन है और इसलिये इसका उत्तर यही हो सकता है कि सांसारिक अवस्था प्रत्यक्ष रूप से मलीन दिखाई दे रही है इसको पवित्र बनाने का ही विचार करो और यह मत पूछो कि यह आत्मा क्यों और कब से तथा कैसे मलीन हुई है ?

मूल स्वरूप में सभी आत्माएँ अरूपी है अजर है अनन्त-शक्ति सम्पन्न है रहित हैं और सभी प्रकार के क्लेशों से रहित है जैन-शास्त्रों में आत्मतत्त्व का लक्षण उपयोगमय ज्ञानमय अथवा अनुभूतिमय कहा गया है जड़-तत्त्व में ज्ञान अनुभव उपयोग और विवेक जैसी शक्ति का सर्वथा अभाव है यह अन्तर ही इन दोनों का असाधारण लक्षण है

प्रत्येक सासारिक आत्मा मे यह सहजात आत्म-धर्म-रूप शक्ति विद्यमान है कि वह अपने मूल सात्विक गुणो के बल से सासारिक अवस्था का उच्छेद करके 'ब्रह्म-ज्योति' के रूप मे अखण्ड, अगोचर, सर्वगुणमपन्न और सर्वशक्तिमान परमात्मा के रूप मे परिणत हो सकता है

जैन-दर्शन का विधान है कि प्रत्येक आत्मा मे ईश्वरत्व मौजूद है, केवल उसके विकास करने की आवश्यकता है अपने मे स्थित मूल गुणो का विकास करने मे, किसी भी आत्मा के लिये किसी भी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नही है

इस प्रकार जैन-दर्शन की 'आत्म-तत्त्व' के सबध मे यह मौलिक विचारधारा है, जो कि अपने आप मे विलक्षण स्वरूप वाली होती हुई परिपूर्ण रूप से सत्यमय एव श्रद्धेय स्वरूप वाली है

(४) आत्म-तत्त्व-मीमांसा

ससारावस्था मे अवस्थित आत्मतत्त्व के गुणावगुणो की अपेक्षा से जो अनेकानेक श्रेणियाँ दिखाई दे रही है, उनका कारण विकृति की न्यूनाधिकता ही है जिस आत्मा मे जितना सात्विक गुणो का विकास है, वह आत्मा उतनी ही ईश्वरत्व के समीप है और जिममे जितनी विकृति की अधिकता है, उतनी ही वह ईश्वरत्व से दूर है

आज दिन तक अनतानत आत्माओ ने अपने-अपने सत्-प्रयत्न द्वारा ईश्वरत्व प्राप्त किया है और आगे भी करती रहेगी ईश्वरत्व-प्राप्ति के पश्चात् ये आत्माएँ पूर्ण-रूपेण कृतकृत्य, 'वीतराग' अक्षय-अनन्त ज्योतिरूप हो जाती हैं, तत्पश्चात् ससार के प्रति इनका किसी भी प्रकार का कोई उत्तरदायित्व शेष नही रह जाता है ये अनन्त-शक्ति के रूप मे, परिपूर्ण विमल ज्ञान के रूप मे या साक्षात् पूर्ण ईश्वरत्व के रूप मे अवस्थित हो जाती हैं

जैन-दर्शन की यह मान्यता है कि इस प्रकार अनतानत आत्माएँ 'ज्योति मे ज्योति' के समान ईश्वरत्व-स्वरूप मे विससित होकर परमावस्था मे सदैव के लिये अवस्थित रहती हैं इनमे न तो स्थानान्तर ही होता है और न अवस्थातर ही, ये परस्पर मे अबाधित रूप से, अखण्ड-अविनाशी-ज्ञान-ज्योति के रूप मे स्थित होती हैं यही जैन-दर्शन का ईश्वरत्व है

वेदान्त-दर्शन का ब्रह्मतत्त्व, साख्य दर्शन का पुरुषतत्त्व और जैन-दर्शन का आत्मतत्त्व लगभग समान है उक्त तीनो दर्शनकारो की आत्मतत्त्व की विवेचन-प्रणाली भिन्न-भिन्न होती हुई भी सिद्धान्त समान है शब्द-भेद और विवेचन-शैली-भेद होने पर तात्पर्य-भेद उतना नही है जितना कि ऊपर से दिखलाई पडता है इस प्रकार अर्थ-भेद के अभाव मे तीनो दर्शनो का आत्मवाद लगभग एक-सा ही है

साराश यह है सपूर्ण विश्व का मूल आधार एव इसका उपादान कारण केवल दो तत्त्व ही हैं, प्रथम अचेतन तत्त्व और दूसरा चेतन तत्त्व इन्ही को वेदान्तदर्शन मे माया और ब्रह्म कहते हैं, जब कि इन्ही तत्त्वो का उल्लेख साख्य दर्शन मे प्रकृत्ति एव पुरुष के नाम से किया गया है

वेदान्तदर्शन उद्बोधित करता है कि माया तत्त्व के कारण ही ब्रह्म नामक आत्मतत्त्व अपने आपको बँधा हुआ समझता है यदि ब्रह्म तत्त्व अपने स्वरूप को पहचान ले तो तत्काल ही इसकी माया से मुक्ति हो जायगी और यह उसी क्षण ईश्वरीय स्वरूप को प्राप्त हो जायगा परिपूर्ण ईश्वरतत्त्व मे और तत्काल माया से मुक्त आत्मतत्त्व मे कोई अन्तर शेष नही रह जायगा, क्योकि वास्तव मे माया से परिबद्ध आत्म-तत्त्व की सज्ञा ब्रह्म ही है एव यह ब्रह्म भी उस परम-ज्योतिस्वरूप ब्रह्म का ही अश रूप है विश्व-प्रवृत्ति माया तत्त्व से जनित है, ब्रह्मतत्त्व से नही इस प्रकार स्थूल रूप से वर्णित उपरोक्त ब्रह्मवाद का तथा जैन-दर्शन के आत्मवाद का अन्तिम लक्ष्य एक ही है

साख्यदर्शन तत्त्व-चिन्तको के सम्मुख यह मान्यता प्रस्तुत करता है कि विश्व मे केवल दो ही मूलभूत पदार्थ है—पुरुष तथा प्रकृति पुरुषतत्त्व साक्षात् ईश्वर स्वरूप है परन्तु प्रकृति के सान्निध्य से वह अपने आप को बँधा हुआ मान बैठा है ज्यो ही पुरुषतत्त्व को यह स्फुरणा होती है कि यह सब खेल प्रकृति का है, प्रकृति के साथ पुरुष का कोई लगाव नही है, त्यो ही पुरुषतत्त्व परिमुक्त हो जाता है
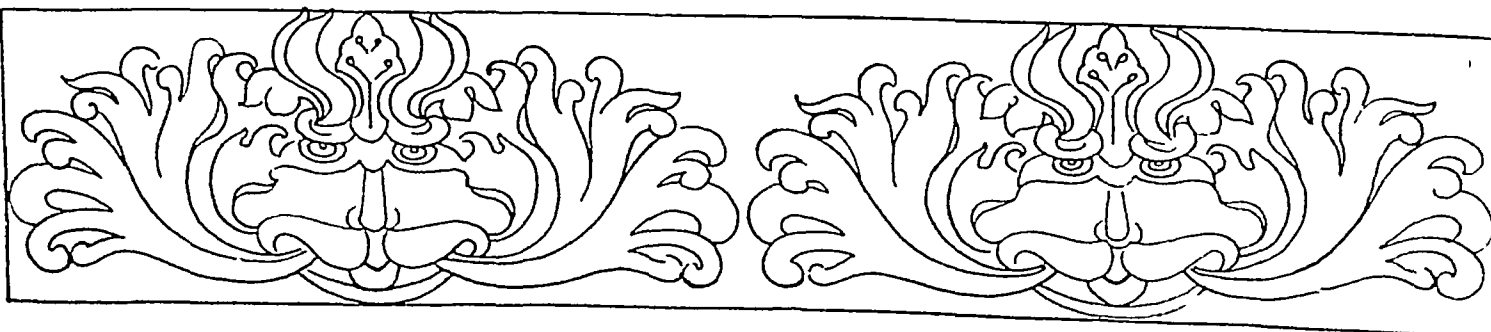
(५) आत्म-तत्त्व की मौलिकता

सभी आत्माएँ समान रूप से अनन्त गुणों की भंडार हैं एक आत्मा में जितने भी गुण हैं उतने ही तथा वैसे ही गुण शेष सभी आत्माओं में विद्यमान हैं ज्ञान दर्शन आनन्द अमरता सात्त्विकता आदि सभी गुण प्रत्येक आत्मा के मूल धर्म हैं इन गुणों को बाह्य पदार्थ से प्रेरित अथवा जनित नहीं समझना चाहिये अतएव ये वैभाविक नहीं हैं ये सभी स्वाभाविक हैं

इनमें विकास अविकास अल्पविकास विपरीत विकास जैसी नानाविध वैभाविक स्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं परन्तु इन गुणों का सर्वथा विनाश नहीं हो सकता है क्योंकि इन गुणों का और आत्मा का परस्पर में अभिन्न संबंध है इसे शास्त्रीय भाषा में तादात्म्यसम्बन्ध कहते हैं जैसे उष्णता और अग्नि शीतलता और जल किरण और सूर्य औषधि और उसकी प्रभाव-शक्ति आदि का परस्पर अभिन्न सम्बन्ध है वैसा ही उपरोक्त सभी गुणों का आत्मा के साथ सम्बन्ध जानना चाहिए

आत्मा चाहे निगोद तिर्यंच नरक आदि अवस्था में रहे चाहे देवगति या मनुष्यगति में रहे अथवा अरिहंत सिद्ध अवस्था में इन गुणों का विनाश कभी नहीं होता इन गुणों की स्थिति सांसारिक अवस्था में अविकसित अथवा अपूर्ण विकसित जैसी होती है जब कि अरिहंत सिद्ध अवस्था में ये गुण परिपूर्ण रूप से विकसित हो जाते हैं. संसार-अवस्था में आत्मतत्त्व के मौलिक गुण कर्म से आवृत रहते हैं परिमुक्त-अवस्था में अनावृत हो जाते हैं सिद्धान्त यह है कि स्वरूप स्वरूपी से कदापि पृथक् अथवा भिन्न नहीं हो सकता है

गुण कर्म वृत्ति और स्वभाव ये पारिभाषिक शब्द आत्मगत पर्यायों की स्थिति का परिचय कराते हैं अतः इन पर विचार करने की आवश्यकता है

जैन-दर्शन में आत्मतत्त्व की सर्वोत्तम तथा सर्वोच्च विकास-अवस्था तेरहवें चौदहवें गुणस्थान की प्राप्ति के समय में कही गई है आध्यात्मिकभाषा में इस स्थिति को अरिहंत-अवस्था कहते हैं और उस अवस्था में उत्पन्न होने वाली सर्वोच्च सात्त्विक विशेषताएँ ही स्वाभाविक गुण शब्द से व्यक्त की जाती हैं इन गुणों में अनन्त ज्ञान दर्शन निर्मलता अक्षयता अनिर्वचनीय आत्मिक आनंद सरलता संतोष निर्लोभता आदि विशेषताओं का अन्तर्भाव है ये आत्मिक गुण हैं इनका और आत्मतत्त्व का परस्पर में तादात्म्य सम्बन्ध है ये गुण ही आत्मा के धर्म कहलाते हैं

संसार में परिभ्रमण करते समय इन गुणों एवं धर्मों में जो ह्रास अथवा विकास होता है उसी को वृत्ति कहते हैं सांसारिक-अवस्था में वृत्ति का स्थान क्रियात्मक रूप से हृदय और मस्तिष्क माना गया है आत्म-तत्त्व से प्रेरित मानसिक-शक्ति का प्रभाव शरीर पर होता हुआ भी हृदय एवं मस्तिष्क पर विशेष रूप से जानना चाहिये मन यद्यपि शरीर-व्यापी ही है परन्तु उसका प्रमुख स्थान हृदय और मस्तिष्क है मन में जो अच्छे अथवा बुरे विचार उत्पन्न होते हैं तथा जो भली एवं बुरी भावनाएँ उत्पन्न होती हैं उन्हें ही वृत्ति संज्ञा दी गई है

ये वृत्तियाँ मुख्यतः तीन भागों में विभाजित हैं —(१) सात्त्विक (२) राजस और (३) तामस अच्छी वृत्तियों को भी श्रेष्ठ तथा हितावह विचारों को और उत्तम भावनाओं को सात्त्विक-वृत्तियाँ कहते हैं

सर्वोच्च विकास-शील अवस्था में अर्थात् अरिहंत-स्थिति में जो गुण हैं वे ही संसार-अवस्था में रहते हुए साधना-काल में सात्त्विक-वृत्तियों के नाम से परिलक्षित होते हैं निष्कर्ष यह है कि संसार-अवस्था में रहते हुए आत्मा के गुण-धर्मों में पर्याप्त रूप से उत्पन्न होने वाली विशिष्ट गुण-धारा ही वृत्ति है

(६) आत्मतत्त्व का सविकास

जब तक आत्मा का दृष्टिकोण बाह्यमुख और पुद्गलों में रहता है अर्थात् जब तक सांसारिकसुख सांसारिक लालसा इन्द्रिय भोग इन्द्रिय-पोषण धनसंग्रह, पद-लालसा और यशोलिप्सा आदि तामस वृत्तियों की ओर आत्मा लगी रहती

है, तब तक वह अन्तर्मुखं नही है इस स्थिति को 'वहिरात्म' स्थिति कहते है इसे मिथ्यात्व-अवस्था भी कहा गया है इसकी तीन श्रेणियाँ विचार-भेद से कही गई हैं, इनके पारिभाषिक नाम प्रथम, द्वितीय और तृतीय गुणस्थान हैं

इन गुण स्थानो की भी अवान्तर रूप से असख्यात श्रेणियाँ है, क्योकि इन गुणस्थानो मे पाई जाने वाली अनतानत आत्माएँ है, जिनकी विचार-श्रेणियाँ अथवा अध्यवसायस्थान अ सख्यात हैं, तदनुसार उपर्युक्त तीनो गुणस्थानो मे भी अवान्तर श्रेणियो की सख्या भी असख्यात प्रकार की हो सकती है

अनतानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, एव मिथ्यात्वमोहनीय कर्म की प्रकृतियो का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम होने पर आत्मा मे बाह्य-भावना के स्थान पर आतरिक भावना की जागृति होती है, ऐसी आत्माओ की श्रद्धा और रुचि ईश्वर, मोक्ष, ज्ञान, दर्शन, चारित्र की ओर होनी प्रारभ हो जाती है, सासारिक भोगो के प्रति उदासीनता हो जाती है, इस स्थिति को 'अन्तरात्मभाव' कहते है यह विकास की सीढी है, आध्यात्मिकता की नीव है इसे ही जैनदर्शन मे 'सम्यक्त्व' कहते है

यह स्थिति चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ होकर वारहवे गुणस्थान तक रहती है इस स्थिति मे विभिन्न आत्माओ की प्रगति विभिन्न प्रकार की होती है, क्योकि प्रत्येक आत्मा की विचार-धारा अलग-अलग होती है आध्यात्मिक-अध्यवसायो की श्रेणिया असख्यात प्रकार की है, तदनुसार चौथे गुणस्थान से वारहवे गुणस्थान तक के अवान्तर भेदो की सख्या भी असख्यात प्रकार की है, परन्तु फिर भी प्रमुख श्रेणिया दो प्रकार की कही गई है —

कुछ आत्माए ऐसी होती है जिनकी विचार-धारा भावुक मात्र होती है उनकी कषाय-भावनाए, विषम-वासनाए, धन-मूढता आदि तामस वृत्तिया मूल से क्षीण नही होती है, किन्तु वातावरण तथा कुछ बाह्य सयोगो से दब जाती है. इनका बीज तथा इनकी विशालता ज्यो की त्यो अव्यक्त रूप मे भीतर छिपी रहती है केवल बाह्य रूप से शाति दिखाई देती है इसे जैन-दर्शन मे "उपशम अवस्था" कहा गया है इस अवस्था के विपरीत जिन आत्माओ मे कषाय, वासना, मोह, मूढता आदि तामस तथा राजस वृत्तिया जड-मूल से क्षीण हो जाती हैं, जिनके पुन उदय होने की अथवा पुन विकसित होने की कोई सभावना नही रहती है, ऐसी आत्माएँ ही वास्तव मे पूर्ण विकास कर सकती है ऐसी स्थिति को जैन-दर्शन मे 'क्षय अवस्था' कहा गया है उपरोक्त दोनो प्रकार की अवस्थाओ के लिये पारिभाषिक सज्ञा क्रम से 'औपशमिक सम्यक्त्व' तथा 'क्षायिक सम्यक्त्व' है

क्षायिक सम्यक्त्व का उत्कृष्टतम विकास क्रमश बारहवें, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान मे होता है इस प्रकार अन्तरात्मभाव दो मार्गों से विकास को प्राप्त होता है, एक उपशममार्ग से और दूसरा क्षयमार्ग से उपशममार्ग से चलने वाली आत्मा अधिक से अधिक ग्यारहवें गुणस्थान तक जाकर लौट जाती है इस प्रकार उपशममार्गी आत्मा बहिरात्म-भाव तथा अन्तरात्म-भाव मे ही चक्कर लगाया करती है और आगे नही बढ पाती है, किन्तु क्षायिक मार्ग-गामी आत्मा अन्तरात्म-भाव द्वारा आगे विकास करती हुई अपने मूल स्वरूप की ओर बढती ही चली जाती है और 'परमात्म-भाव' को प्राप्त कर लेती है इस अवस्था को जैन-शास्त्रो मे तेरहवाँ तथा चौदहवाँ गुणस्थान कहा गया है इस अवस्था को प्राप्त आत्मा पूर्ण रूप से 'कृतकृत्य' हो जाता है और सदैव के लिए अपने परमध्येय ईश्वरत्व को प्राप्त कर लेता है जैन-दर्शन मे यही 'अरिहत' अवस्था कहलाती है यह अवस्था परिपूर्ण परमात्मतत्त्व की या सिद्ध-स्वरूप की ही पूर्ववर्ती पर्याय है भारतीय दर्शनो के अनुसार इसे ही 'आत्मा की पूर्णता' कहते हैं

इस प्रकार आत्मा की तीन स्थितियाँ बतलाई गई है, (१) वहिरात्म-भाव, (२) अन्तरात्म-भाव और (३) परमात्म-भाव अन्तरात्म-भाव से परमात्म-भाव की ओर वढते-बढते आत्मा को अनेक स्थितियो मे से गुजरना पढता है सवसे प्रथम तो मोह की जो दुर्भेद्य ग्रन्थि है, उसको तोडना पडता है इस ग्रथि को तोडे विना आगे आत्मा बढ ही नही सकता है इसे तोडने के लिए महान् आध्यात्मिक प्रयत्न करना पडता है ऐसी आत्मा को हृदय मे विकसित तामस एव राजस वृत्तियो से घोर सघर्ष करना पडता है जवर्दस्त रस्सा-कशी चलती है इस सघर्ष मे अनिष्ट वृत्तिया तो

आत्मा को सांसारिक भोगों की ओर खींचती हैं इन्द्रियों को तथा मन को ललचाती हैं और सात्त्विक वृत्तियाँ आत्मा को उच्च भावनाओं की ओर आकर्षित करती हैं इस समय में यदि आत्मा निर्बल हुई तो अनिष्ट वृत्तियों की जीत हो जाती है और उसका विकास रुक जाता है और यदि आत्मा प्रबल हुई तो सात्त्विक वृत्तियों की विजय होती है इस प्रकार के उतार चढ़ाव को आध्यात्मिक-साहित्य मे वृत्ति-संघर्ष अथवा भावना-युद्ध' कहते हैं

शैतान वृत्तियां म एव सात्त्विक वृत्तिया के पारस्परिक समय के बाद यदि सात्त्विक वृत्तियो की जीत हो जाती है तो यह घटना आत्मा के लिये परम सौभाग्य रूप मानी जाती है इसे जैन-शास्त्रों में अपूर्वकरण संज्ञा दी गई है

अनादि काल से परिभ्रमण करते हुए जीव के लिये यह प्रथम ही प्रसंग होता है और इसीलिये शास्त्रकारों ने इसका 'अपूर्वकरण' नाम प्रस्थापित किया है

अपूर्वकरण की स्थिति में अवस्थित आत्मा की भावना प्रशस्त हो जाती है और जब उसकी प्रगति विकास की ओर हो रही है तो उस विकासोन्मुख प्रवृत्ति के लिये जैनदर्शन मे यथा प्रवृत्ति-करण' नाम प्रदान किया गया है

जब आत्मा में 'अपूर्वकरण तथा 'यथाप्रवृत्तिकरण' का उदय हो जाता है तब आत्मा म रही हुई मोह की गांठ आत्यंतिक रूप स छूट जाती है शैतान वृत्तियों का नाश हो जाता है आत्मा की ऐसी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थिति के लिए जैनाचार्यों ने अनिवृत्तिकरण नाम निर्धारित किया है

ऊपर उल्लिखित अन्तरात्म भाव से परमात्म भाव तक पहुँचने के लिये किसी उत्तमोत्तम आत्मा को तो बहुत थोड़ा समय लगता है और किसी-किसी आत्मा को बहुत अधिक समय भी लग जाता है

मोक्षगामी एव मोक्षगत आत्माओं के इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण विद्यमान हैं जिनसे विदित होता है कि कोई-कोई भव्य आत्मा तो कुछ घन्टों महीनों अथवा वर्षों म ही परमात्म भाव को प्राप्त कर लेते हैं जब कि अनेक आत्मा संख्यात वर्षों म असंख्यात वर्षों में अथवा अनंत काल म परमात्म भाव को प्राप्त कर पाते हैं

गजसुकुमार मरुदेवी भरतचक्रवर्ती एलायचीकुमार, अर्जुनमाली आदि के दृष्टान्त जैन-आगमो म उपलब्ध हैं जो प्रथम बात का समर्थन करते हैं द्वितीय बात के समर्थन के लिये ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती आदि के उदाहरण देखे जा सकते हैं इस प्रकार आत्मवाद के विकास के सम्बन्ध म यह एक मननीय एवं चिंतनीय-सुबोध पाठ है

(७) आत्मवाद का तारतम्य

(१) चार्वाकदर्शन को छोड़ कर शेष सभी भारतीय-दर्शन आत्मा के अस्तित्व के विषय में एकमत हैं उसके स्वरूप वर्णन म एव उसकी व्याख्या करने मे भाषा भेद अवश्य पाया जाता है फिर भी उसके अस्तित्व से कोई इन्कार नही करता

(२) आत्मा के स्वरूप प्रदेशों तथा अमरता तथा पुनर्जन्म के सम्बन्ध में प्रयुक्त की गई विवेचनशैली में भिन्नता होने पर भी सभी भारतीय दर्शनों का आत्मवाद सम्बन्धी धरातल एक जैसा ही है

(३) आत्मा सांसारिक बंधनों से परिमुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करती है एव सम्पूर्ण ईश्वरीय शक्ति के रूप मे इसका संविकास होता है इस विषय मे भी सभी भारतीय दर्शनों में एकता दिखाई देती है

(४) ईश्वर-प्रश्न के सम्बन्ध में भारतीय-दर्शनों का दृष्टिकोण उलझा हुआ प्रतीत होता है यह अनेक तर्क कल्पनाओं से भरा हुआ है फिर भी ईश्वर की सत्ता का स्वीकार सभी भारतीय दर्शन करते हैं

(५) सभी भारतीय दर्शन प्रत्यक्ष रूप मे अथवा परोक्ष रूप मे यह वर्णन अवश्य करते हैं कि अज्ञेय स्वरूप वाले

है, तब तक वह अन्तर्मुखं नही है इस स्थिति को 'बहिरात्म' स्थिति कहते हैं इसे मिथ्यात्व-अवस्था भी कहा गया है इसकी तीन श्रेणियाँ विचार-भेद से कही गई हैं, इनके पारिभाषिक नाम प्रथम, द्वितीय और तृतीय गुणस्थान है

इन गुण स्थानो की भी अवान्तर रूप से असख्यात श्रेणियाँ है, क्योकि इन गुणस्थानो मे पाई जाने वाली अनतानत आत्माएँ है, जिनकी विचार-श्रेणियाँ अथवा अध्यवसायस्थान अ सख्यात हैं, तदनुसार उपर्युक्त तीनो गुणस्थानो मे भी अवान्तर श्रेणियो की सख्या भी असख्यात प्रकार की हो सकती है

अनतानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, सम्यक्त्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, एव मिथ्यात्वमोहनीय कर्म की प्रकृतियो का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम होने पर आत्मा मे बाह्य-भावना के स्थान पर आतरिक भावना की जागृति होती है, ऐसी आत्माओ की श्रद्धा और रुचि ईश्वर, मोक्ष, ज्ञान, दर्शन, चारित्र की ओर होनी प्रारभ हो जाती है, सासारिक भोगो के प्रति उदासीनता हो जाती है, इस स्थिति को 'अन्तरात्मभाव' कहते हैं यह विकास की सीढी है, आध्यात्मिकता की नीव है इसे ही जैनदर्शन मे 'सम्यक्त्व' कहते है

यह स्थिति चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ होकर बारहवे गुणस्थान तक रहती है इस स्थिति मे विभिन्न आत्माओ की प्रगति विभिन्न प्रकार की होती है, क्योकि प्रत्येक आत्मा की विचार-धारा अलग-अलग होती है आध्यात्मिक-अध्यवसायो की श्रेणिया असख्यात प्रकार की है, तदनुसार चौथे गुणस्थान से बारहवे गुणस्थान तक के अवान्तर भेदो की सख्या भी असख्यात प्रकार की है, परन्तु फिर भी प्रमुख श्रेणिया दो प्रकार की कही गई है —

कुछ आत्माए ऐसी होती है जिनकी विचार-धारा भावुक मात्र होती है उनकी कषाय-भावनाए, विषम-वासनाए, धन-मूढता आदि तामस वृत्तिया मूल से क्षीण नही होती हैं, किन्तु वातावरण तथा कुछ बाह्य सयोगो से दब जाती है. इनका बीज तथा इनकी विशालता ज्यो की त्यो अव्यक्त रूप मे भीतर छिपी रहती है केवल बाह्य रूप से शाति दिखाई देती है इसे जैन-दर्शन मे "उपशम अवस्था" कहा गया है इस अवस्था के विपरीत जिन आत्माओ मे कषाय, वासना, मोह, मूढता आदि तामस तथा राजस वृत्तिया जड-मूल से क्षीण हो जाती है, जिनके पुन उदय होने की अथवा पुन विकसित होने की कोई सभावना नही रहती है, ऐसी आत्माएँ ही वास्तव मे पूर्ण विकास कर सकती है ऐसी स्थिति को जैन-दर्शन मे 'क्षय अवस्था' कहा गया है उपरोक्त दोनो प्रकार की अवस्थाओ के लिये पारिभाषिक सज्ञा क्रम से 'औपशमिक सम्यक्त्व' तथा 'क्षायिक सम्यक्त्व' है

क्षायिक सम्यक्त्व का उत्कृष्टतम विकास क्रमश बारहवें, तेरहवें और चौदहवे गुणस्थान मे होता है इस प्रकार अन्तरात्मभाव दो मार्गों से विकास को प्राप्त होता है, एक उपशममार्ग से और दूसरा क्षयमार्ग से उपशममार्ग से चलने वाली आत्मा अधिक से अधिक ग्यारहवें गुणस्थान तक जाकर लौट जाती है इस प्रकार उपशममार्गी आत्मा बहिरात्म-भाव तथा अन्तरात्म-भाव मे ही चक्कर लगाया करती है और आगे नही बढ पाती है, किन्तु क्षायिक मार्ग-गामी आत्मा अन्तरात्म-भाव द्वारा आगे विकास करती हुई अपने मूल स्वरूप की ओर बढती ही चली जाती है और 'परमात्म-भाव' को प्राप्त कर लेती है इस अवस्था को जैन-शास्त्रो मे तेरहवाँ तथा चौदहवाँ गुणस्थान कहा गया है इस अवस्था को प्राप्त आत्मा पूर्ण रूप से 'कृतकृत्य' हो जाता है और सदैव के लिए अपने परमध्येय ईश्वरत्व को प्राप्त कर लेता है जैन-दर्शन मे यही 'अरिहत' अवस्था कहलाती है यह अवस्था परिपूर्ण परमात्मतत्त्व की या सिद्ध-स्वरूप की ही पूर्ववर्ती पर्याय है भारतीय दर्शनो के अनुसार इसे ही 'आत्मा की पूर्णता' कहते हैं

इस प्रकार आत्मा की तीन स्थितियाँ बतलाई गई हैं, (१) बहिरात्म-भाव, (२) अन्तरात्म-भाव और (३) परमात्म-भाव अन्तरात्म-भाव से परमात्म-भाव की ओर बढते-बढते आत्मा को अनेक स्थितियो मे से गुजरना पढता है सबसे प्रथम तो मोह की जो दुर्भेद्य ग्रन्थि है, उसको तोडना पडता है इस ग्रथि को तोडे विना आगे आत्मा बढ ही नही सकता है इसे तोडने के लिए महान् आध्यात्मिक प्रयत्न करना पडता है ऐसी आत्मा को हृदय मे विकसित तामस एव राजस वृत्तियो से घोर सघर्ष करना पडता है जबर्दस्त रस्सा-कशी चलती है इस सघर्ष मे अनिष्ट वृत्तिया तो
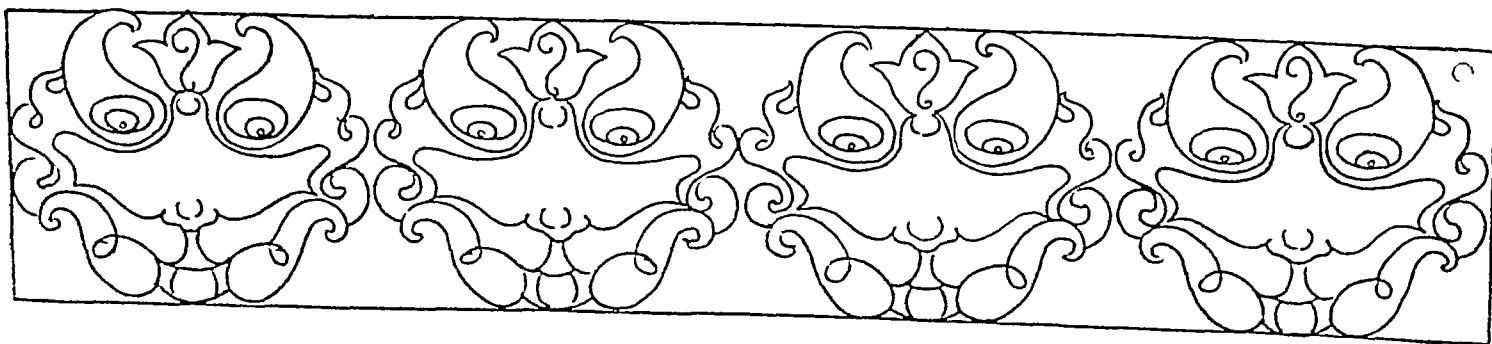
आत्मा को सांसारिक भोगों की ओर खींचती है इन्द्रियों को तथा मन को समझाती है और सात्त्विक वृत्तियाँ आत्मा को उच्च भावनाओं की ओर आकर्षित करती है इस समय में यदि आत्मा निर्बल हुई तो अनिष्ट वृत्तियों की जीत हो जाती है और उसका विकास रुक जाता है और यदि आत्मा प्रबल हुई तो सात्त्विक वृत्तियों की विजय होती है इस प्रकार के उतार चढ़ाव को आध्यात्मिक-साहित्य में वृत्ति-संघर्ष अथवा भावना-युद्ध' कहते हैं

शैतान वृत्तियों में एवं सात्त्विक वृत्तियों के पारस्परिक संघर्ष के बाद यदि सात्त्विक वृत्तियों की जीत हो जाती है तो यह घटना आत्मा के लिये परम सौभाग्य रूप मानी जाती है इसे जैन-शास्त्रों में अपूर्वकरण संज्ञा दी गई है

अनादि काल से परिभ्रमण करते हुए जीव के लिये यह प्रथम ही प्रसंग होता है और इसीलिये शास्त्रकारों ने इसका 'अपूर्वकरण नाम प्रस्थापित किया है

अपूर्वकरण की स्थिति में अवस्थित आत्मा की भावना प्रशस्त हो जाती है और जब उसकी प्रगति विकास की ओर हो रहती है तो उस विकासोन्मुख प्रवृत्ति के लिये जैनदर्शन में यथा प्रवृत्ति-करण' नाम प्रदान किया गया है

जब आत्मा में 'अपूर्वकरण' तथा 'यथाप्रवृत्तिकरण' का उदय हो जाता है तब आत्मा में रही हुई मोह की गांठ आत्यंतिक रूप से छूट जाती है शैतान वृत्तियों का नाश हो जाता है आत्मा की ऐसी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थिति के लिये जैनाचार्यों ने अनिवृत्तिकरण नाम निर्धारित किया है

ऊपर उल्लिखित अन्तरात्म भाव से परमात्म भाव तक पहुँचने के लिये किसी उत्तमोत्तम आत्मा को तो बहुत थोड़ा समय लगता है और किसी-किसी आत्मा को बहुत अधिक समय भी लग जाता है

मोक्षगामी एवं मोक्षगत आत्माओं के इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण विद्यमान हैं जिनसे विदित होता है कि कोई-कोई भव्य आत्मा तो कुछ घंटों महीनों अथवा वर्षों में ही परमात्म भाव को प्राप्त कर लेते हैं जब कि अनेक आत्मा संख्यात वर्षों में असंख्यात वर्षों में अथवा अनंत काल में परमात्म भाव को प्राप्त कर पाते हैं

गजसुकुमार मरुदेवी भरतचक्रवर्ती एवंतकुमार, अर्जुनमाली आदि के दृष्टान्त जैन-आगमों में उपलब्ध हैं जो प्रथम बात का समर्थन करते हैं द्वितीय बात के समर्थन के लिये ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती आदि के उदाहरण देखे जा सकते हैं इस प्रकार आत्मवाद के विकास के सम्बन्ध में यह एक मननीय एवं चिंतनीय-सुबोध पाठ है

(७) आत्मवाद का तारतम्य

(१) चार्वाकदर्शन को छोड़ कर शेष सभी भारतीय-दर्शन आत्मा के अस्तित्व के विषय में एकमत हैं उसके स्वरूप वर्णन में एवं उसकी व्याख्या करने में मात्रा भेद अवश्य पाया जाता है फिर भी उसके अस्तित्व से कोई इन्कार नहीं करता

(२) आत्मा के स्वरूप प्रमेया तथा अमरता तथा पुनर्जन्म के सम्बन्ध में प्रयुक्त की गई विवेचनशैली में भिन्नता होने पर भी सभी भारतीय दर्शनों का आत्मवाद सम्बन्धी धरातल एक जैसा ही है

(३) आत्मा सांसारिक बन्धनों से परिमुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करती है एवं सम्पूर्ण ईश्वरीय शक्ति के रूप में इसका संविकास होता है इस विषय में भी सभी भारतीय दर्शनों में एकता दिखाई देती है

(४) ईश्वर-स्वरूप के सम्बन्ध में भारतीय-दर्शनों का दृष्टिकोण उलझा हुआ प्रतीत होता है यह अस्पष्ट एवं कल्पनाओं से भरा हुआ है फिर भी ईश्वर की सत्ता का स्वीकार सभी भारतीय दर्शन करते हैं

(५) सभी भारतीय दर्शन प्रत्यक्ष रूप से अथवा परोक्ष रूप से यह वर्णन अवश्य करते हैं कि अक्षेय स्वरूप वाले
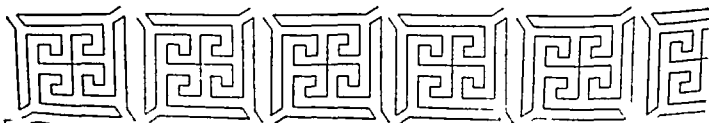
ईश्वर-तत्त्व के साथ आत्म-तत्त्व का किसी न किसी प्रकार से सम्बन्ध अवश्य है दोनो का पृथक्-पृथक् अस्तित्व होते हुए भी आश्चर्य है कि दोनो का मौलिक स्वरूप समान है

(६) सभी भारतीय दर्शनो ने आत्म-तत्त्व को चेतनामय, ज्ञानमय, और अनुभूति-शक्ति-सपन्न स्वीकार किया है इससे निश्चय होता है कि भारतीय दर्शन का चिन्तन मूल मे एक जैसा ही है

यह है भारतीय-दर्शनो मे आत्मवाद का सुन्दर सिद्धात 'सत्, चित् और आनन्द' की प्राप्ति करना ही इसका मूल ध्येय है तथा चिरतन सत्य का अनुसधान करते हुए आत्म-तत्त्व का जो 'शिव-स्वरूप' है उसके मधुर सदर्शन करने मे ही यह भारतीय दर्शन समूह अपने आप को कृतकृत्य मानता है

श्री राजकुमार जैन
दर्शनायुर्वेदाचार्य

कर्म स्वरूप और बंध

अपने मूलभूत सिद्धान्तों के वैशिष्ट्य के कारण जैनदर्शन भारतीय दर्शनों में अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है जैनदर्शन के अनुसार वेदों को पौरुषेय माना गया है तथा जैनदर्शन ईश्वर को सृष्टिकर्ता स्वीकार नहीं करता यही कारण है कि उस पर नास्तिकता का आरोप किया है जैनदर्शन के समान बौद्धदर्शन एवं चार्वाकदर्शन भी वेदों को प्रमाण स्वीकार नहीं करते अतः उनकी गणना भी नास्तिक दर्शनों में की गई है किन्तु जैनदर्शन में अनेक ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है जिनके आधार पर उसकी आस्तिकता स्वतः ही सिद्ध हो जाती है उन्हीं सिद्धान्तों में से एक 'कर्म सिद्धान्त' भी है वैसे तो कर्म-सिद्धान्त को अन्य षड्दर्शन के साथ बौद्धदर्शन ने भी स्वीकार किया है किन्तु अपनी विशेषताओं के कारण जैनदर्शन द्वारा प्रतिपादित 'कर्म सिद्धान्त' अपना विशेष महत्त्व रखता है जैन-ग्रन्थों में कर्म सिद्धान्त का जैसा सांगोपांग तर्कसंगत और वैज्ञानिक विवेचन मिलता है अन्यत्र कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता

कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी विषय इतना गहन एवं विस्तृत है कि एक छोटे से निबन्ध में उसका सम्पूर्णतः प्रतिपादन सम्भव नहीं है अतः सामान्यतः कर्म क्या है और उसका आत्मा के साथ कैसे और क्यों सम्बन्ध होता है ? इसका अत्यन्त संक्षिप्त स्वरूप प्रस्तुत लेख में प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है

जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक संसारी आत्मा कर्मों से बद्ध है कर्म के पाश में आत्मा वैसे ही बंधी हुई है जैसे जंजीरों से किसी को बांध दिया जाता है यह कर्मबन्धन आत्मा का किसी अमुक समय में नहीं हुआ अपितु अनादिकाल से है। *जैसे खान में सोना शुद्ध नहीं निकलता अपितु अनेक मलों (अशुद्धियों) से युक्त निकलता है वैसे ही संसारी आत्माएं* भी कर्मबन्धनों से जकड़ी हुई ही रही हैं यदि आत्माएं किसी मूलकाल में शुद्ध होतीं तो फिर उनके कर्म बन्धन नहीं हो सकता क्योंकि शुद्ध आत्मा मुक्त होता है आत्मा की मुक्ति के अनन्तर कर्मबन्धन सम्भव नहीं आत्मा के कर्मबन्धन के लिये आन्तरिक अशुद्धि आवश्यक है शुद्ध आत्मा के लिये अशुद्धि का प्रश्न ही नहीं उठता अशुद्धि के बिना कर्मबन्ध का भी प्रश्न नहीं उठता यदि अशुद्धि के बिना भी कर्म बन्धन होने लगे तो मुक्ति को प्राप्त आत्माओं को भी कर्म बन्धन का प्रसंग उपस्थित हो जायगा ऐसी अवस्था में आत्मा की मुक्ति के लिए प्रयत्न करना [illegible] हो जायगा

अनादि काल से आत्मा का कर्मबन्ध और उसका संसार की विविध गतियों में जन्म लेना इसका प्रतिपादन आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने 'पञ्चास्तिकाय' नामक ग्रन्थ में बड़े ही सुन्दर ढंग से किया है —

> जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो
> परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसु गदी।
> गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते
> तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा।
> जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि
> इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा।

अर्थात् जो जीव ससार मे स्थित है, अर्थात् जन्म और मरण के चक्कर मे पडा हुआ है, उसके राग रूप और परिणाम होते है उन परिणामो से नए कर्म बधते है कर्मो से विभिन्न गतियो मे जन्म लेना पडता है जन्म लेने से शरीर मिलता है शरीर मे इन्द्रियां होती है इन्द्रियो मे विषयो का ग्रहण होता है जीव विषयो को ग्रहण करने मे इष्ट विषयो मे राग और अनिष्ट विषयो मे द्वेष करता है. इस प्रकार ससार रूपी चक्रवाल मे पडे हुए जीव के भावो मे कर्मबन्ध और कर्मबन्ध से राग-द्वेष रूप भाव होते रहते है यह चक्र अभव्य जीव की अपेक्षा से अनादि अनन्त है और भव्य जीव की अपेक्षा से अनादि सान्त है

सामान्य रूप से जो भी कुछ किया जाता है वह कर्म कहलाता है इस ससार मे समस्त प्राणी क्रियाशील रहते है, मनुष्य भी अपने व्यक्तिगत दैनिक जीवन मे अनेक प्रकार की क्रियाओ को करता है विविध प्रकार की ये क्रियाए ही साधारणतया कर्म कहलाती है प्राणी जैसा कर्म करता है वह वैसे ही फल का भागी होता है कर्म के अनुसार फल को भोगना नियति का क्रम है कर्मसिद्धान्त को जैन, सांख्य, योग, नैयायिक, वैशेषिक और मीमासक आदि आत्मवादी दर्शन तो मानते ही है, किन्तु अनात्मवादी एव अनीश्वरवादी दोनो ही इस विषय मे एक मत है कर्म सिद्धान्त को स्वीकार करने मे यद्यपि चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त समस्त दर्शनो मे मतैक्य है, तथापि कर्म के फलस्वरूप एव उसके फल देने के सम्बन्ध मे ईश्वरवादी एव अनीश्वरवादी दोनो मे मौलिक मतभेद है

ऊपर कर्म के विषय मे सामान्य रूप से कहा जा चुका है कि जो कुछ किया जाता है, वह कर्म है इसके अन्तर्गत मनुष्य की व्यक्तिगत दैनिक क्रियाओ का भी समावेश हो जाता है जैसे खाना, पीना, उठना, बैठना सोचना, विचारना, हसना चलना, फिरना, बोलना, खेलना, कूदना, गाना, बजाना आदि मनुष्य जो भी राग या द्वेष के वशीभूत होकर करता है उसी के अनुसार उसे फल मिलता है परलोक मानने वाले दर्शनो के अनुसार मनुष्य द्वारा कर्म किये जाने के उपरात वे कर्म जीव के साथ अपना सस्कार छोड जाते है ये सस्कार ही भविष्य म प्राणी को अपने पूर्वकृत कर्म के अनुसार फल देते है पूर्वकृत कर्म के सस्कार, अच्छे कर्म का फल अच्छा एव बुरे कर्म का फल बुरा देते है पूर्वकृत कर्म अपना जो सस्कार छोड जाते है और उन सस्कारो द्वारा जो प्रवृत्ति होती है उसमे मूल कारण राग या द्वेष होता है किसी भी कर्म की प्रवृत्ति राग या द्वेष के अभाव मे असम्भावित है और जब सम्भव होती है तो कर्मबन्ध जनक नही होती है अत सस्कार द्वारा प्रवृत्ति एव प्रवृत्ति द्वारा सस्कार की परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है यह परम्परा अथवा चक्रवत् परिभ्रमण ही ससार कहलाता है कर्म, सस्कार एव प्रवृत्ति की परम्परा तथा ससार चक्र के विचारो का दिग्दर्शन हमे प्राय दर्शनो मे प्राप्त होता है किन्तु जैनदर्शन के विचार मे पूर्वोक्त विचारो से कुछ भिन्नता है

जैनदर्शन के अनुसार कर्म सस्कारमात्र ही नही है अपितु एक वस्तुभूत पदार्थ है जिसे कार्मणजाति के दलिक या पुद्‌गल माना गया है वे दलिक रागी, द्वेषी जीव की क्रिया से आकृष्ट होकर जीव के साथ दूध-पानी की तरह मिल जाते हैं यद्यपि वे दलिक भौतिक है, तथापि जीव के कर्म अर्थात् क्रिया द्वारा आकृष्ट होकर जीव के साथ एकमेक हो जाते है कहने का तात्पर्य यह है कि जो भी कर्म किया जाता है, वह जीव या आत्मा के साथ सयुक्त हो जाता है और तब तक सयुक्त रहता है जब तक कि वह अपना फल नही दे देता इस प्रकार प्राणी द्वारा किया गया कोई भी कर्म आत्मा से पृथक् नही रहता ससार मे कर्म से घिरे हुए आत्मा की स्थिति ठीक वैसी ही रहती है जैसे कि जाल मे फसी हुई मछली की अथवा लोहे के सीखचो वाले पिंजरे मे बन्द सिंह की

अन्य दर्शनो ने कर्म को क्षणिक मानकर उसके सस्कार को स्थायी माना है अत कर्म की सत्ता तो क्रिया करने के बाद ही समाप्त हो जाती है, किन्तु उसका सस्कार ही स्थायी रूप से आत्मा के साथ रहता है जैनधर्म मे यहाँ कुछ मतभेद है वस्तुस्थिति यह है कि कर्म एक वस्तुभूत पदार्थ है और वह राग द्वेष अथवा भाव से युक्त जीव द्वारा की गई क्रिया से आकृष्ट होकर उसमे (जीव मे) मिल जाता है कहने का तात्पर्य यह है कि राग, द्वेष से युक्त जीव की प्रत्येक मानसिक वाचनिक और कायिक क्रिया के साथ एक द्रव्य जीव मे आता है जो उसके रागद्वेष रूप भावो का निमित्त पाकर उससे

श्रीराजकुमार जैन
दर्शनायुर्वेदाचार्य

कर्म स्वरूप और बध

अपने मूलभूत सिद्धान्तो के वैशिष्ट्य के कारण जैनदर्शन भारतीय दर्शनो मे अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है जैनदर्शन के अनुसार वेदो को पौरुषेय माना गया है तथा जैनदर्शन ईश्वर को सृष्टिकर्ता स्वीकार नही करता यही कारण है कि उस पर नास्तिकता का आरोप किया है जैनदर्शन के समान बौद्धदर्शन एव चार्वाकदर्शन भी वेदो का प्रमाण स्वीकार नही करते अत उनकी गणना भी नास्तिक दर्शनो म की गई है किन्तु जैनदर्शन म अनेक ऐसे सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया गया है जिनके आधार पर उसकी आस्तिकता स्वत ही सिद्ध हो जाती है उन्ही सिद्धान्तों मे से एक 'कर्म सिद्धान्त' भी है वसे तो कर्म सिद्धान्त को अन्य षड्दर्शन के साथ बौद्धदर्शन ने भी स्वीकार किया है किन्तु अपनी विशेषताओं के कारण जैनदर्शन द्वारा प्रतिपादित 'कर्म सिद्धान्त' अपना विशेष महत्त्व रखता है जैन-ग्रथों मे कर्म सिद्धान्त का जैसा सागोपाग तर्कसगत और वैज्ञानिक विवेचन मिलता है अन्यत्र कही भी दृष्टिगोचर नही होता

कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी विषय इतना गहन एव विस्तृत है कि एक छोटे से निबध में उसका सम्पूर्णत प्रतिपादन सम्भव नही है अत सामान्यत कर्म क्या है और उसका आत्मा के साथ कैसे और क्यों सम्बन्ध होता है ? इसका अत्यन्त सक्षिप्त स्वरूप प्रस्तुत लेख मे प्रतिपादित करने का प्रयास किया गया है

जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक ससारी आत्मा कर्मों से बद्ध है कर्म के पाश म आत्मा वैसे ही बधी हुई है जैसे जजीरों से किसी को बाध दिया जाता है यह कर्मबन्धन आत्मा को किसी अमुक समय मे नही हुआ अपितु अनादिकाल से है जैसे—*खान से सोना शुद्ध नही निकलता अपितु अनेक मलो (अशुद्धियो) से युक्त निकलता है* वसे ही ससारी आत्माए भी कर्मबन्धनो मे जकडी हुई ही रही है यदि आत्माए किसी भूतकाल म शुद्ध होती तो फिर उनके कर्म बन्धन नही हो सकता क्योकि शुद्ध आत्मा मुक्त होता है आत्मा की मुक्ति के अनन्तर कर्मबन्धन सम्भव नही आत्मा के कर्मबन्धन के लिये आन्तरिक अशुद्धि आवश्यक है शुद्ध आत्मा के लिये अशुद्धि का प्रश्न ही नही उठता अशुद्धि के बिना कर्मबन्ध का भी प्रश्न नही उठता यदि अशुद्धि के बिना भी कर्म बन्धन होने लगे तो मुक्ति को प्राप्त आत्माओ को भी कर्म बन्धन का प्रसग उपस्थित हो जायगा ऐसी अवस्था में आत्मा की मुक्ति के लिए प्रयत्न करना हो जायगा

अनादि काल से आत्मा का कर्मबन्ध और उसका ससार की विविध गतियो में जन्म लेना इसका प्रतिपादन आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने 'पचास्तिकाय' नामक ग्रन्थ मे बडे ही सुन्दर ढग से किया है —

जो खलु ससारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसु गदी।
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इन्दियाणि जायते
तेहि दु विसयग्गहण तत्तो रागो वा दोसो वा।
जायदि जीवस्सेवं भावो ससारचक्कवालम्मि
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा।

अर्थात् जो जीव ससार मे स्थित है, अर्थात् जन्म और मरण के चक्कर मे पडा हुआ है, उसके राग रूप और परिणाम होते है उन परिणामो से नए कर्म बधते है कर्मों से विभिन्न गतियों मे जन्म लेना पडता है जन्म लेने से शरीर मिलता है शरीर मे इन्द्रियाँ होती है इन्द्रियो से विषयो का ग्रहण होना है जीव विषयो को ग्रहण करने से इष्ट विषयो मे राग और अनिष्ट विषयो मे द्वेष करता है. इस प्रकार ससार रूपी चक्रकाल मे पडे हुए जीव के भावो से कर्मबन्ध और कर्मबन्ध से राग-द्वेप रूप भाव होते रहते है यह चक्र अभव्य जीव की अपेक्षा से अनादि अनन्त है और भव्य जीव की अपेक्षा से अनादि सान्त है

सामान्य रूप से जो भी कुछ क्रिया जाता है वह कर्म कहलाता है इस ससार मे समस्त प्राणी क्रियाशील रहते है, मनुष्य भी अपने व्यक्तिगत दैनिक जीवन मे अनेक प्रकार की क्रियाओं को करता है विविध प्रकार की ये क्रियाए ही साधारणतया कर्म कहलाती है प्राणी जैसा कर्म करता है वह वैसे ही फल का भागी होता है कर्म के अनुसार फल को भोगना नियति का क्रम है कर्मसिद्धात को जैन, साख्य, योग, नैयायिक, वैशेषिक और मीमासक आदि आत्मवादी दर्शन तो मानते ही है, किन्तु अनात्मवादी एव अनीश्वरवादी दोनो ही इस विषय मे एक मत है कर्म सिद्धान्त को स्वीकार करने मे यद्यपि चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त समस्त दर्शनो मे मतैक्य है, तथापि कर्म के फलस्वरूप एव उसके फल देने के सम्बन्ध मे ईश्वरवादी एव अनीश्वरवादी दोनो मे मौलिक मतभेद है

ऊपर कर्म के विषय मे सामान्य रूप से कहा जा चुका है कि जो कुछ किया जाता है, वह कर्म है इसके अन्तर्गत मनुष्य की व्यक्तिगत दैनिक क्रियाओ का भी समावेश हो जाता है जैसे खाना, पीना, उठना, बैठना सोचना, विचारना, हसना चलना, फिरना, बोलना, खेलना, कूदना, गाना, बजाना आदि मनुष्य जो भी राग या द्वेप के वशीभूत होकर करता है उसी के अनुसार उसे फल मिलता है परलोक मानने वाले दर्शनो के अनुसार मनुष्य द्वारा कर्म किये जाने के उपरात वे कर्म जीव के साथ अपना सस्कार छोड जाते है ये सस्कार ही भविष्य मे प्राणी को अपने पूर्वकृत कर्म के अनुसार फल देते है पूर्वकृत कर्म के सस्कार, अच्छे कर्म का फल अच्छा एव बुरे कर्म का फल बुरा देते है पूर्वकृत कर्म अपना जो सस्कार छोड जाते है और उन सस्कारो द्वारा जो प्रवृत्ति होती है उनमे मूल कारण राग या द्वेप होता है किसी भी कर्म की प्रवृत्ति राग या द्वेप के अभाव मे असम्भावित है और जब सम्भव होती है तो कर्मबन्ध जनक नही होती है अत सस्कार द्वारा प्रवृत्ति एव प्रवृत्ति द्वारा सस्कार की परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है यह परम्परा अथवा चक्रवत् परिभ्रमण ही ससार कहलाता है कर्म, सस्कार एव प्रवृत्ति की परम्परा तथा ससार चक्र के विचारो का दिग्दर्शन हमे प्राय दर्शनो मे प्राप्त होता है किन्तु जैनदर्शन के विचार से पूर्वोक्त विचारो से कुछ भिन्नता है

जैनदर्शन के अनुसार कम सस्कारमात्र ही नही है अपितु एक वस्तुभूत पदार्थ है जिसे कार्मणजाति के दलिक या पुद्गल माना गया है वे दलिक रागी, द्वेपी जीव की क्रिया से आकृष्ट होकर जीव के साथ दूध-पानी की तरह मिल जाते है यद्यपि वे दलिक भौतिक है, तथापि जीव के कर्म अर्थात् क्रिया द्वारा आकृष्ट होकर जीव के साथ एकमेक हो जाते हैं कहने का तात्पर्य यह है कि जो भी कर्म किया जाता है, वह जीव या आत्मा के साथ सयुक्त हो जाता है और तब तक सयुक्त रहता है जब तक कि वह अपना फल नही दे देता इस प्रकार प्राणी द्वारा किया गया कोई भी कर्म आत्मा से पृथक् नही रहता ससार मे कर्म से घिरे हुए आत्मा की स्थिति ठीक वैसी ही रहती है जैसे कि जाल मे फसी हुई मछली की अथवा लोहे के सीखचो वाले पिंजरे मे बन्द सिंह की

अन्य दर्शनो ने कर्म को क्षणिक मानकर उसके सस्कार को स्थायी माना है अत कर्म की सत्ता तो क्रिया करने के बाद ही समाप्त हो जाती है, किन्तु उसका सस्कार ही स्थायी रूप से आत्मा के साथ रहता है जैनधर्म मे यहाँ कुछ मतभेद है वस्तुस्थिति यह है कि कर्म एक वस्तुभूत पदार्थ है और वह राग द्वेप अथवा भाव से युक्त जीव द्वारा की गई क्रिया से आकृष्ट होकर उसमे (जीव मे) मिल जाता है कहने का तात्पर्य यह है कि राग, द्वेप से युक्त जीव की प्रत्येक मानसिक वाचनिक और कायिक क्रिया के साथ एक द्रव्य जीव मे आता है जो उसके रागद्वेप रूप भावो का निमित्त पाकर उससे

बन्ध जाता है और आगे जाकर अच्छा या बुरा फल देता है इसी बात का स्पष्टीकरण निम्न रूप से किया गया है—

परिणमदि जदा अप्पा सुहम्मि असुहम्मि रागदोसजुदो
त पविसदि कम्मरय णाणावरणादिभावेहिं। —प्रवचनसार

अर्थात् जब राग द्वेष से युक्त आत्मा अच्छे या बुरे कामों में परिणत होता है तब कर्म रूपी रज ज्ञानावरणादि रूप से उसमें प्रवेश करती है

इससे यह स्पष्ट है कि कर्म एक मूर्तिक पदार्थ है जो जीव के साथ बंध जाता है यहाँ एक ऐसी आशंका उठ खड़ी होती है कि कर्म मूर्तिक है एवं आत्मा अमूर्तिक अत दोनों का बन्ध सम्भव नहीं मूर्तिक के साथ मूर्तिक का बंध तो हो सकता है किन्तु अमूर्तिक के साथ मूर्तिक का बन्ध कैसे हो सकता है ? इसका समाधान यही है कि अन्य दर्शनों की भांति जैनदर्शन भी जीव और कर्म के सम्बन्ध को अनादि मानता है ससारी जीव अनादि काल से मूर्तिक कर्मों से बँधा हुआ है और इसीलिए वह भी मूर्तिक हो रहा है जैसा कि द्रव्य सग्रह में स्पष्टत कहा है—

वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णिच्छया जीवे
णो सति अमुत्ति तदो ववहारा मुत्ति बधादो।

अर्थात् वास्तव में जीव म पाँचों रूप पाँचों रस दोनों गन्ध और आठो स्पर्श नहीं रहते इसलिए वह अमूर्तिक है जैन दर्शन म रूप रस गन्ध और स्पर्श गुण वाली वस्तु को मूर्तिक कहा है किन्तु अनादि कर्म बन्ध के कारण व्यवहार में जीव मूर्तिक है अत कथंचित् मूर्तिक आत्मा क साथ मूर्तिक कम द्रव्य का सम्बन्ध होता है

साराश यह है कि कम क दो भेद हैं—द्रव्यकम और भावकर्म जीव से सम्बन्ध कम पुद्गल को द्रव्य कर्म कहते हैं और द्रव्य कम के प्रभाव से होने वाले जीव क राग-द्वेष रूप भावों को भावकर्म कहते है द्रव्यकर्म भावकर्म का कारण है और भावकम द्रव्यकर्म का कारण है द्रव्यकम क बिना भावकर्म और भावकर्म के बिना द्रव्यकर्म—नहीं होते है इन कर्मों का बन्ध ही जीव के जन्म मरण एव विविध गतियो म परिभ्रमण का कारण है इस प्रकार आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि काल से शश्वत् चला आ रहा है

अर्थात् जो जीव ससार मे स्थित है, अर्थात् जन्म और मरण के चक्कर मे पड़ा हुआ है, उसके राग रूप और परिणाम होते है उन परिणामो से नए कर्म बधते है कर्मो से विभिन्न गतियो मे जन्म लेना पड़ता है जन्म लेने से शरीर मिलता है शरीर मे इन्द्रियाँ होती हैं इन्द्रियो से विषयो का ग्रहण होता है जीव विषयो को ग्रहण करने से इष्ट विषयो मे राग और अनिष्ट विषयो मे द्वेष करता है इस प्रकार ससार रूपी चक्रकाल मे पड़े हुए जीव के भावो से कर्मबन्ध और कर्मबन्ध से राग-द्वेष रूप भाव होते रहते है यह चक्र अभव्य जीव की अपेक्षा से अनादि अनन्त है और भव्य जीव की अपेक्षा से अनादि सान्त है

सामान्य रूप से जो भी कुछ किया जाता है वह कर्म कहलाता है इस ससार मे समस्त प्राणी क्रियाशील रहते हैं, मनुष्य भी अपने व्यक्तिगत दैनिक जीवन मे अनेक प्रकार की क्रियाओ को करता है विविध प्रकार की ये क्रियाए ही साधारणतया कर्म कहलाती है प्राणी जैसा कर्म करता है वह वैसे ही फल का भागी होता है कर्म के अनुसार फल को भोगना नियति का क्रम है कर्मसिद्धात को जैन, साख्य, योग, नैयायिक, वैशेषिक और मीमासक आदि आत्मवादी दर्शन तो मानते ही है, किन्तु अनात्मवादी एव अनीश्वरवादी दोनो ही इस विषय मे एक मत है कर्म सिद्धान्त को स्वीकार करने मे यद्यपि चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त समस्त दर्शनो मे मतैक्य है, तथापि कर्म के फलस्वरूप एव उसके फल देने के सम्बन्ध मे ईश्वरवादी एव अनीश्वरवादी दोनो मे मौलिक मतभेद है

ऊपर कर्म के विषय मे सामान्य रूप से कहा जा चुका है कि जो कुछ किया जाता है, वह कर्म है इसके अन्तर्गत मनुष्य की व्यक्तिगत दैनिक क्रियाओ का भी समावेश हो जाता है जैसे खाना, पीना, उठना, बैठना सोचना, विचारना, हसना चलना, फिरना, बोलना, खेलना, कूदना, गाना, बजाना आदि मनुष्य जो भी राग या द्वेष के वशीभूत होकर करता है उसी के अनुसार उसे फल मिलता है परलोक मानने वाले दर्शनो के अनुसार मनुष्य द्वारा कर्म किये जाने के उपरात वे कर्म जीव के साथ अपना सस्कार छोड जाते है ये सस्कार ही भविष्य मे प्राणी को अपने पूर्वकृत कर्म के अनुसार फल देते है पूर्वकृत कर्म के सस्कार, अच्छे कर्म का फल अच्छा एव बुरे कर्म का फल बुरा देते है पूर्वकृत कर्म अपना जो सस्कार छोड जाते है और उन सस्कारो द्वारा जो प्रवृत्ति होती है उसमे मूल कारण राग या द्वेष होता है किसी भी कम की प्रवृत्ति राग या द्वेष के अभाव मे असम्भावित है और जब सम्भव होती है तो कर्मबन्ध जनक नही होती है अत सस्कार द्वारा प्रवृत्ति एव प्रवृत्ति द्वारा सस्कार की परम्परा अनादिकाल से चली आ रही है यह परम्परा अथवा चक्रवत् परिभ्रमण ही ससार कहलाता है कर्म, सस्कार एव प्रवृत्ति की परम्परा तथा ससार चक्र के विचारो का दिग्दर्शन हमे प्राय दर्शनो मे प्राप्त होता है किन्तु जैनदर्शन के विचार मे पूर्वोक्त विचारो से कुछ भिन्नता है

जैनदर्शन के अनुसार कम सस्कारमात्र ही नही है अपितु एक वस्तुभूत पदाथ है जिसे कार्मणजाति के दलिक या पुद्गल माना गया है वे दलिक रागी, द्वेषी जीव की क्रिया से आकृष्ट होकर जीव के साथ दूध-पानी की तरह मिल जाते है यद्यपि वे दलिक भौतिक है, तथापि जीव के कर्म अर्थात् क्रिया द्वारा आकृष्ट होकर जीव के साथ एकमेक हो जाते है कहने का तात्पर्य यह है कि जो भी कर्म किया जाता है, वह जीव या आत्मा के साथ सयुक्त हो जाता है और तब तक सयुक्त रहता है जब तक कि वह अपना फल नही दे देता इस प्रकार प्राणी द्वारा किया गया कोई भी कर्म आत्मा से पृथक् नही रहता ससार मे कर्म से घिरे हुए आत्मा की स्थिति ठीक वैसी ही रहती है जैसे कि जाल मे फसी हुई मछली की अथवा लोहे के सीखचो वाले पिंजरे मे बन्द सिंह की

अन्य दर्शनो ने कर्म को क्षणिक मानकर उसके सस्कार को स्थायी माना है अत कर्म की सत्ता तो क्रिया करने के बाद ही समाप्त हो जाती है, किन्तु उसका सस्कार ही स्थायी रूप से आत्मा के साथ रहता है जैनधर्म मे यहाँ कुछ मतभेद है वस्तुस्थिति यह है कि कर्म एक वस्तुभूत पदार्थ है और वह राग द्वेष अथवा भाव से युक्त जीव द्वारा की गई क्रिया से आकृष्ट होकर उसमे (जीव मे) मिल जाता है कहने का तात्पर्य यह है कि राग, द्वेष से युक्त जीव की प्रत्येक मानसिक वाचनिक और कायिक क्रिया के साथ एक द्रव्य जीव मे आता है जो उसके रागद्वेष रूप भावो का निमित्त पाकर उससे

नही पाती सम्यक् दृष्टि वह है जो वस्तु म रुकती नही है जो रुक सकती है वही दृष्टि वस्तु से विमुख होने की सोच सकती है यह विज्ञान सिद्ध दृष्टि नही कहलायेगी बल्कि सीधे या उल्ट अथ म विमूढ दृष्टि समझी जायेगी वस्तु और व्यक्ति क बीच समीचीन सम्बन्ध को सिद्ध करने वाला होता है—अपरिग्रह वस्तु के डर स व्यक्ति को हीन और रहित बनाना उसका इष्ट नही है

सामन वह दीन और दरिद्र है वस्तु के नाम पर उसक आस पास अभाव ही अभाव है क्या आप उसको अपरिग्रही कह सकेगें ? नही उसको दीन और दरिद्र इसलिए कहना होता है कि बाहरी अभाव के कारण उसका मन वस्तु के प्रति और भी ग्रस्त और क्षुब्ध होता है ऊपर से नितान्त नग्न होते हुये भी वह भीतर से कातर और लोलुप हो सकता है. अपरिग्रह म वस्त का लोभ व भय भी समाप्त हो जाता है आत्म चेतना सर्वथा स्वय निर्भर हो जाती है उसमें से वस्तु क प्रति एक विमुता और इसलिए निश्चिन्तता प्राप्त होती है अधीनता और चिन्ता नही दूसरे शब्दों में अप रिग्रह अभावात्मक नही सद्भावात्मक भाव है अर्थात् अपरिग्रह मे वस्तु के प्रति रुष्ट विमुखता नही होती बल्कि प्रसन्न मुक्तता होती है वस्तु की अपेक्षा म जो अपने को दीन अनुभव करता है वह कभी अपरिग्रही नही हो सकता अपरिग्रही तो वह है जो आत्म सम्पन्नता म भरपूर हो

प्र —मनुष्य का कार्य वस्तु के द्वारा सम्पन्न होता है अर्थात् दैनिक कार्य चलाने के लिए वस्त की आवश्यकता होती है आवश्यकता है तो प्रयत्न भी करने होंगे क्या उस प्रयत्न को दीनता कहा जा सकता है ?

उ —हाँ समग्र दृष्टि यदि वस्तु में घिरी हो और प्रयत्न उसी पर केन्द्रित हो तो दैन्यभाव माना जायेगा

सास हम अनायास लेते है उसके लिए प्रयत्न करना पड़ता है तब सास का रोग कहलाता है प्राणवायु तो वहू ओर है लेकिन जब उसे भीतर लेने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है तो मानना चाहिए कि स्वास्थ्य निर्बल है और फेफड़े निरोग नही है

अन्तश्चैतन्य स युक्त और प्रवृत्त व्यक्ति की आवश्यकताए अनायास पूर्ण हो जाती है प्रयत्न-हीनता म से पूण नही होती प्रत्युत वह पुरुषार्थ वस्तु-मुखी नही होता है चित्प्रेरित और चिन्मुख होता है लाख प्रयत्न करने पर भी कोई इतना वस्तु-वभव नही पा सकता कि समवसरण की रचना कर सक वही तीर्थंकर क लिये अनायास प्रस्तुत हो जाता है यह महिमा प्रयत्न की नही है अपरिग्रह की है मैं नही मानता कि आत्मचैतन्य म से जगत् का लाभ नही होता है उस जगत्-लाभ या अर्थलाभ म यदि कुछ बाधा बनता है तो चीजो पर मुट्ठी को बाधने का लोभ बाधा बनता है अन्यथा जो सबका अपनी आत्मा को पा लेता है सारा ही वस्तुजगत् उसका अपना हो जाता है त्यागने मागने की वहीं जरूरत ही नही रह जाती है

प्रश्न—समवसरण के प्रसग म आपने जो कुछ कहा वह ठीक है तीर्थकर को उसके लिये कोई प्रयत्न नही करना होता सुना जाता है कि देवगण ही समवसरण की रचना करते है परन्तु तीर्थंकर के आदेश का उल्लघन कौन कर सकता है ? तब क्या वे देवताओ को समवसरण की रचना करने स इन्कार नही कर सकते थे ? जबकि समवसरण रचने में आडम्बर प्रत्यक्ष ही है

उत्तर—केवल्य प्राप्त होने से पहले साधक अवस्था म क्या वर्जनभाव रहा ही होगा वह आवश्यकता कैवल्य-लाभ क अनन्तर यदि निरस्त हो जाती हो तो विशेष विस्मय की बात नही है

प्रश्न यहा यह नही है कि क्या तीर्थंकर को समवसरण की रचना म देवताओ को वर्जित नही कर देना चाहिये था ? प्रश्न असल यह था है और इस उदाहरण के उल्लेख से जो मैं ध्यान करना चाहता हू वह इतना ही कि अपरिग्रह म स अनायास वस्तु की विभुता का लाभ हो जाता है मुक्तता उस विभुता का ही रूप है और अपरिग्रह सम्बन्ध में कोई अभावात्मक सज्ञा नहीं है

मान लीजिए कि तीर्थंकर समवसरण के निर्माण का मान लिये अस्वीकार कर देते है तो उसस यह तो सिद्ध होता है

श्रीजैनेन्द्रकुमार
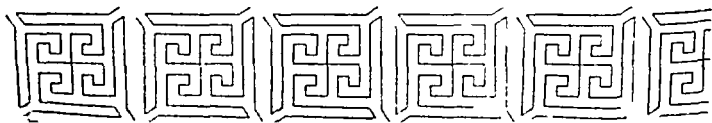
प्रश्नोत्तर : अपरिग्रह

प्रश्नकार—कुमार सत्यदर्शी

प्रश्न—आपकी परिभाषा के अनुसार परिग्रह क्या है ?

उत्तर—जो हमारी अन्तश्चेतना को पकडे और रोके, उस वस्तु रूप बाधा को परिग्रह कह सकते हैं.

प्र०—अन्तश्चेतना आप किसे कहते है ?

उ०—आदमी निश्चेतन तो है नही, और यदि चेतन है तो उसके चैतन्य का अधिष्ठान उससे बाहर कैसे माना जा सकता है ? 'अन्तश्चेतना' इसलिए कहा है कि चेतना के अनेक स्तर होते है अपने ही स्रोत से स्फूर्त हो, प्रतिक्रियात्मक न हो, इसलिए 'अन्तस्' का विशेषण है

प्र०—क्या आप बाह्य और आन्तरिक परिग्रह के भेद भी मानते है ?

उ०—भाव और द्रव्य का भेद मानने से समझ को सुभीता होता है पर सार सदा आन्तरिक है अर्थात् परिग्रह को मूर्छा-भाव मे मानना अधिक सार्थक होगा

प्र०—गृह-परिवार मे रहकर भी आप अपने को मूर्छा-स्वरूप परिग्रह से रहित मानते है ?

उ०—नही मैं अपरिग्रह का विश्वासी हूँ, अपरिग्रही पूरा नही लेकिन यह इस मकान के निमित्त से नही जगल मे बैठा रहू तो भी अन्दर से तृष्णार्त्त हुआ तो जगल मेरी मदद नही कर पायेगा पशु तो वहाँ ही रहता है, क्या वह अपरि-ग्रही है ?

प्र०—अपरिग्रही होने के लिए वस्तु का त्याग अपेक्षित नही है, तो अतीत मे जो ऋषि-मुनि हुए हैं, उन्होने जागतिक वस्तुओ से नाता तोड कर एकान्त मे रहना पसन्द किया था, क्या उनके लिए ऐसा करना अनिवार्य नही था ?

उ०—त्याग-तपस्या मे बाहुबली की कौन समता कर सकता है ? लेकिन मुक्ति उन्हे नही मिली, जब तक अन्दर मे शल्य बनी रही

वस्तु का नितान्त परिहार हो नही सकता वस्तु अपनी जगह है, उसका नाश सभव नही वस्तु से अगर हम अपने को बचाते है तो आखिर किस लिए ? इसीलिए न कि वस्तु हम पर हावी न हो और हमारी आत्मता को न ढके इस कोण से देखें तो वस्तु को लेने अथवा छोड देने, इन दोनो ही दृष्टियो मे वस्तु को प्रधानता मिल जाती है इसलिए त्याग-तपस्या मे अपने आप मे कोई मुक्ति समाविष्ट नही है वस्तु की निर्भरता से ऊपर उठने की दृष्टि से अमुक साधना या अभ्यास किया जा सकता है लेकिन अभ्यास साधना है, साध्य नही है

अपरिग्रह का नितान्त शुद्ध रूप है कैवल्य कैवल्य की स्थिति पर तीर्थंकर के लिए समवमरण की रचना हो जाती है समवसरण के ऐश्वर्य का क्या ठिकाना है ! लेकिन क्या उससे तीर्थंकर के कैवल्य मे कोई त्रुटि पडती है ? या अपरिग्रह पर कोई विकार आता है ?

व्यक्ति और वस्तु के बीच सर्वथा असम्बद्धता नही हो सकती सारा जगत् सामने पडा है, क्या अपरिग्रही उसको देखने से इकार करेगा ? देखना भी एक प्रकार का सम्बन्ध है दृष्टि सम्यक् वह नही है जो वस्तु-मय जगत् को देख

पं. चैनसुखदास न्यायतीर्थ

जैनधर्म में भक्तियोग

भक्ति एक प्रकार का योग है किन्तु 'भक्तियोग' शब्द का प्रयोग जैनशास्त्रों में देखने में नहीं आया जबकि भक्ति शब्द का प्रयोग यत्र-तत्र बहुलता से हुआ है कर्मयोग या निष्काम कर्मयोग की तरह भक्तियोग भी एक सिद्धान्त है और उसका औचित्य तर्कसिद्ध है

योग एवं भक्ति शब्द का अर्थ

योग[1] शब्द के अनेक अर्थ हैं यहां योग का अर्थ प्रयोग अथवा अप्राप्त की प्राप्ति है उपाय या रक्षा का साधन भी यहाँ योग शब्द का अर्थ लिया जा सकता है तब 'भक्तियोग' शब्द का अर्थ होगा आत्मशुद्धि के लिये भक्ति का प्रयोग अथवा भक्ति के द्वारा अप्राप्त को प्राप्त करना परमात्मा का सान्निध्य पाने के लिये भक्ति सर्वोत्कृष्ट उपाय है एवं यह बुराइयों से बचने का साधन भी है इसलिए यहाँ योग का अर्थ उपाय एवं सन्नहन अर्थात् कवच भी कर सकते हैं

भक्ति का अर्थ है भाव की विशुद्धि से युक्त अनुराग[2] जिस अनुराग में भाव की निर्मलता नहीं होती वह अनुराग (प्रेम) भक्ति नहीं कहला सकता सांसारिक अनुराग में वासना होती है इसलिए उसे भक्ति का रूप नहीं दिया जा सकता परमात्मा सन्त या शास्त्र आदि में होने वाले विशुद्ध प्रेम को ही भक्ति कहा जा सकता है भक्ति का भाव उत्पन्न होता है जिसकी भक्ति की जाती है उसमें पहले पूज्यबुद्धि उत्पन्न होती है उसका कारण है अपने इष्ट देवता आदि के वे गुण जिन्हें भक्त प्राप्त करना चाहता है

भक्ति का लक्ष्य

जैनभक्ति का लक्ष्य वैयक्तिक अर्थात् ऐहिक स्वार्थ नहीं है अपितु आत्मशुद्धि है आत्मा जब परमात्मा बनना चाहता है तब उसका प्रारम्भिक प्रयत्न भक्ति के रूप में ही होता है भक्ति आत्मा को परमात्मा बनाने के लिये एक सरल एवं पकड़ सकने योग्य मार्ग है खासकर गृहस्थ के लिये यह मार्ग विशेष रूप से उपादेय है. भक्ति शुभोपयोग का कारण है और शुभोपयोग से पुण्यबंध होता है यदि भक्ति में फलासक्ति न हो और वह पूर्णतया निष्काम हो तो अन्त में मनुष्य को शुद्धोपयोग की ओर आकृष्ट करने का कारण बन सकती है जो मुक्ति का साक्षात् कारण है

जैनधर्म गुण का उपासक है

जैनधर्म व्यक्ति का उपासक नहीं अपितु गुण का उपासक है व्यक्ति की उपासना का समर्थन तो करता है पर उसका कारण भी व्यक्ति के गुण ही हैं व्यक्ति स्वयं में कुछ नहीं है उसकी सारी महत्ता का कारण उसके गुण हैं और गुणों की उपासना का प्रयोजन भी गुणों की प्राप्ति है गुणों की प्राप्ति के लिये ही भक्त उपासक गुणवान् उपास्य को अपना

---

१ योगः सन्नहनोपाय ध्यानसंगतियुक्तिषु—अमरकोश तृतीय काण्ड नानार्थवर्ग, २२ श्लोक
योगोऽपूर्वार्थसम्प्राप्तौ संगति ध्यानयुक्तिषु वपुःस्थैर्ये प्रयोगे च विष्कम्भादिषु भेषजे विस्रम्भघातके द्रव्योपायसन्नहनेष्वपि कार्मणेऽपि च—मेदनी.

२ अर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनेषु भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः—सर्वार्थसिद्धि।

कि विभुता और भी बढी-चढी है और उनका अन्तरग इस विभूति-भाव से सर्वथा प्रकाशित और वस्तुनिरपेक्ष है हम जब अपरिग्रह को वस्तु के परिमाण के हिसाब मे नापते है तो कहना चाहिए कि आत्मा का मूल्य वस्तु की अपेक्षा मे आकते है पाच लाख का किसी ने मकान छोडा तो मानो पाच लाख अको की अपरिग्रहता प्राप्त कर ली अपरिग्रह की इस आकिक उपलब्धि के लिये जो वस्तु का त्याग जाहिर किया जाता है, हो सकता है वह अन्दर से यश-प्रतिष्ठा के परिग्रह का लोभ ही हो वस्तु से जब हम अहम् भाव से जुडे होते है तभी हम उसके वर्जन और त्यजन की भाषा मे बात किया करते है वस्तु के साथ सम्बन्ध मिथ्या-दृष्टि का न हो, यदि सम्यक्-दृष्टि का हो जाये तो वर्जन-तर्जन की दोनो भाषाए एक-सी विसगत हो जायेगी मुक्ति मे भी कही त्याग की सगति रह जाती है ? सीढी के हर डण्डे को छोडना पडता है, जब तक सीडी है छत पर आगए तब छोडने को रह क्या जायेगा ?

प्रश्न—कैवल्य प्राप्त होने के पश्चात् महावीर ने तीर्थ की स्थापना कर प्रवृत्ति कर्म का परिचय दिया था जब पूर्णत्व प्राप्त हो गया तब प्रवृत्ति की आवश्कता उन्हे क्यो पडी ? समाज सुधार के अन्य प्रयत्न वे अपने साधनाकाल के साडे बारह वर्षों मे भी कर सकते थे तीर्थंकरत्व प्राप्त होने के पश्चात् वे प्रवृत्ति के प्रपच मे क्यो पडे? यदि निवृत्तिके पश्चात् प्रवृत्ति का क्रम हो तो राजकुमार वर्द्धमान ही क्या, प्रत्येक मनुष्य का कर्म प्रवृत्ति मे है ही पहले निवृत्ति और फिर प्रवृत्ति, इससे अच्छा तो यही न है कि वह जो प्रवृत्ति करता है, करता चला जाये, क्योकि निवृत्ति-साधना कर लेने के पश्चात् भी अन्तत प्रत्येक साधक को प्रवृत्ति करनी पडती है इससे अच्छा तो यही है कि वह निवृत्ति के शून्यवाद मे ही न भटके

उत्तर—निवृत्ति-प्रवृत्ति के शब्दो की जोडी को आप अपने लिये वृथा झमेला न बनाये निवृत्ति जिसके अतरग मे नही वह प्रवृत्ति उतनी ही चचल और निष्फल होती है मैं इन दोनो शब्दो को परस्पर विरोध मे नही देखता हू, पहले पीछे की भाषा भी मुझे कुछ विशेष सगत मालूम नही होती है बाद मे यदि प्रवृत्ति आ गई हो तो शुरु मे ही निवृत्ति क्यो ? यह आपका प्रश्न इस भ्रम मे से बनता है कि ये दोनो परस्पर को काटने वाली सज्ञायें है और एक समय मे एक ही हो सकती है वस्तुत ऐसा नही है दुख की अनुभूति सब मे है इस अनुभूति को निवृत्तिपरक माना जायेगा अब इसी व्यथा-नुभूति मे से प्रवृत्ति निकलती है जितनी वह अपने निवृत्तिस्रोत मे सयुक्त हागी उतनी ही वह प्रवृत्ति फलदायक होगी निवृत्तिमय प्रवृत्ति मुक्तिदायक हो सकती है, और जितना उनमे वैमुख्य और वैपरीत्य होगा उतनी ही बधनकारक अपरिग्रही, अहिंसक, अनासक्त कर्म-सयुक्त होता है जो जितना वियुक्त है, अर्थात् आत्मव्यथा के स्वीकार मे से नही बल्कि अहकृत इकार मे से निकलता है वह उतना ही आसक्त ह्रस्व और व्यर्थ होता जाता है

तीर्थंकर की प्रवृत्ति शायद फल न लाती अगर उन्हे अन्तरग मे निवृत्ति ही सिद्ध न हुई होती यज्ञ-हिंसा के विरोध मे कही उनका अहभाव मिला होता तो क्या उसका उतना फल आ सकता था ? भीतर मे निवृत्त हो गये, शुद्ध करुणा की प्रेरणा मे से शब्द और कर्म उत्कृष्ट हुए इसी से परिणाम भी आमका होगा अन्यथा ऊपर से की जाने वाली प्रवृत्ति केवल अस्थिरता का दूसरा रूप हो जाता है उसमे तेजस्विता और अमोघता नही आती

प्रश्न—परार्थमूलक प्रवृत्ति का अर्थ क्या है ? परार्थमूलक प्रवृत्ति के द्वारा यदि उद्देश्य की उपलब्धि होती है तो वह भी एक स्वार्थ-प्रवृत्ति है स्वार्थमूलक प्रवृत्ति यदि एकान्त प्रवृत्ति है तो जब वह परार्थ के लिये होती है तब निवृत्तिमूलक कैसे हो जाती है ?

उत्तर—अब आप स्व-पर शब्द की जोडी के चक्कर मे पड गये व्यथा मे 'स्व' की सीमा घुल जाती है इसलिये उस सृजनकर्म से स्व-पर का अभेद सिद्ध होता है करुणा मूलक और अहम् मूलक प्रवृत्ति मे यही अन्तर है करुणामूलक कर्म मे उपकार, उद्धार या रक्षा की दृष्टि अर्थात्-परार्थ-दृष्टि उतनी नही होती स्वार्थ परार्थ के आगे मैं तीसरा शब्द सुझाता हूँ—परमार्थ यहाँ पर भेद मिट जाता है और स्वार्थ-परार्थ का परमार्थ मे समन्वय हो जाता है स्वार्थ अह-कृत होता है, उसी तरह परार्थ भी अहकृत हुआ करता है उपकार अधिकाश उसी भूल के कारण अत मे अपकार बन जाता है जो चाहिए वह अकर्म है, अर्थात् ऐसा कर्म जिसमे कर्तृत्व न हो उसी को दूसरे शब्दो मे निवृत्ति-मूलक कर्म कह दीजिए कर्मनिर्जरा कर्महीनता मे से नही वरन् प्रचण्ड पुरुषार्थ मे से ही फलित हो सकती है

पं. चैनसुखदास न्यायतीर्थ

जैनधर्म में भक्तियोग

भक्ति एक प्रकार का योग है किन्तु 'भक्तियोग' शब्द का प्रयोग जैनशास्त्रों में देखने में नहीं आया जबकि भक्ति शब्द का प्रयोग यत्र-तत्र बहुलता से हुआ है कर्मयोग या निष्काम कर्मयोग की तरह भक्तियोग भी एक सिद्धान्त है और उसका औचित्य तर्कसिद्ध है

योग एवं भक्ति शब्द का अर्थ

योग[1] शब्द के अनेक अर्थ हैं यहाँ योग का अर्थ प्रयोग अथवा अप्राप्त की प्राप्ति है उपाय या रक्षा का साधन भी यहाँ योग शब्द का अर्थ लिया जा सकता है. तब 'भक्तियोग' शब्द का अर्थ होगा आत्मशुद्धि के लिये भक्ति का प्रयोग अथवा भक्ति के द्वारा अप्राप्त को प्राप्त करना परमात्मा का सान्निध्य पाने के लिये भक्ति सर्वोत्कृष्ट उपाय है एवं यह बुराइयों से बचने का साधन भी है इसलिए यहाँ योग का अर्थ उपाय एवं संनहन अर्थात् कवच भी कर सकते हैं

भक्ति का अर्थ है भाव की विशुद्धि से युक्त अनुराग जिस अनुराग में भाव की निर्मलता नहीं होती वह अनुराग (प्रेम) भक्ति नहीं कहला सकता सांसारिक अनुराग में वासना होती है इसलिए उसे भक्ति का रूप नहीं दिया जा सकता परमात्मा[2] सन्त या शास्त्र आदि में होने वाले विशुद्ध प्रेम को ही भक्ति कहा जा सकता है भक्ति का भाव उत्पन्न होता है जिसकी भक्ति की जाती है उसमें पहले पूज्यबुद्धि उत्पन्न होती है उसका कारण है अपने इष्ट देवता आदि के वे गुण जिन्हें भक्त प्राप्त करना चाहता है

भक्ति का लक्ष्य

जैनभक्ति का लक्ष्य वैयक्तिक अर्थात् ऐहिक स्वार्थ नहीं है अपितु आत्मशुद्धि है आत्मा जब परमात्मा बनना चाहता है तब उसका प्रारम्भिक प्रयत्न भक्ति के रूप में ही होता है भक्ति आत्मा को परमात्मा बनाने के लिये एक सरल एवं पकड़ सकने योग्य मार्ग है खासकर गृहस्थ के लिये यह मार्ग विशेष रूप से उपादेय है. भक्ति शुभोपयोग का कारण है और शुभोपयोग से पुण्यबंध होता है यदि भक्ति में फलासक्ति न हो और वह पूर्णतया निष्काम हो तो अन्त में *मनुष्य को शुद्धोपयोग की ओर आकृष्ट करने का कारण बन सकती है जो मुक्ति का साक्षात् कारण है*

जैनधर्म गुण का उपासक है

जैनधर्म व्यक्ति का उपासक नहीं अपितु गुण का उपासक है व्यक्ति की उपासना का समर्थन तो करता है पर उसका कारण भी व्यक्ति के गुण ही हैं व्यक्ति स्वयं में कुछ नहीं है उसकी सारी महत्ता का कारण उसके गुण हैं और गुणों की उपासना का प्रयोजन भी गुणों की प्राप्ति है गुणों की प्राप्ति के लिये ही भक्त उपासक गुणवान् उपास्य को अपना

---

1 योग संनहनोपाय ध्यान संगति युक्तिषु—अमरकोश तृतीय काण्ड नानार्थवर्ग २२ श्लोक
अप्राप्त प्राप्ति ... योगः ... विशेषार्थ ... —
...
अर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनेषु भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः—सर्वार्थसिद्धि

आदर्श मानता है और जिस विधि से स्वय उपास्य ने गुण प्राप्त किये उसी विधि से उस मार्ग को अपनाकर भक्त भी उपास्य के गुणो को प्राप्त करना चाहता है यही भक्ति का वास्तविक ध्येय है इस सम्बन्ध मे निम्नाकित प्राचीन उल्लेख बडा ही महत्त्वपूर्ण है

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ,
ज्ञातार विश्वतत्त्वाना वन्दे तद्गुणलब्धये।

अर्थात् मैं मोक्ष मार्ग के नेता, कर्मरूपी पर्वतो के भेत्ता और विश्व तत्त्वो के ज्ञाता को उसके गुणो की प्राप्ति के लिये वदना करता हूँ यहाँ किसी खास व्यक्ति को प्रणाम नही है अपितु उन गुणो को धारण करने वाले व्यक्ति को प्रणाम है चाहे वह कोई भी क्यो न हो एक श्वेताम्बराचार्य भी यही कहते है—

भवबीजाकुरजलदा , रागाद्या क्षयमुपागता यस्य ,
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै।

भव-बीजाकुर के लिये मेघ के समान, रागादिक सपूर्ण दोप जिसके नष्ट हो गये है उसे मेरा प्रणाम है फिर चाहे वह ब्रह्मा हो या विष्णु अथवा महादेव हो या जिन

सुप्रसिद्ध तार्किक आचार्य अकलकदेव भी गुणोपासना के सम्बन्ध मे यही कहते हैं—

यो विश्व वेद वेद्य जननजलनिधेर्भंगिन पारदृश्वा ,
पौर्वापर्याऽविरुद्ध वचनमनुपम निष्कलकं यदीयम्।
तं वन्दे साधुवद्य निखिलगुणनिधि ध्वस्तदोषद्विषन्त ,
बुद्ध वा वर्द्धमान शतदलनिलयं केशव वा शिव वा।

जिसने जानने योग्य सब कुछ जान लिया है, जो जन्म रूपी समुद्र की तरगो के पार पहुँच गया है, जिसके वचन दोष-रहित, अनुपम और पूर्वापर विरोध रहित हैं, जिसने अपने सारे दोषो का विध्वस कर दिया है और इसीलिए जो सपूर्ण गुणो का भडार वन गया है तथा इसी हेतु से जो सतो द्वारा वदनीय है, मैं उसकी वदना करता हूँ चाहे वह कोई भी हो—बुद्ध हो, वर्द्धमान हो, ब्रह्मा हो, विष्णु हो अथवा महादेव हो

ये सब उदाहरण हमे यह बतलाते है कि भक्ति के स्थान गुण है, व्यक्ति नही इसलिए जैनदर्शन भक्ति का आधार गुणो को मानता है यदि परमात्मा की भक्ति करने से कोई परमात्मा नही बन सकता तो फिर उसकी भक्ति का प्रयोजन ही क्या है ? इस सम्बन्ध मे भक्ति के प्रधान आचार्य मानतुग ने ठीक ही कहा है —

नात्यद्भुत भुवनभूषण ! भूतनाथ !
भूतैर्गुणैर्भुवि भवन्तमभिष्टुवन्त ,
तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किंवा।
भूत्याश्रित य इह नात्मसम करोति।

हे जगत् के भूषण ! हे जगत् के जीवो के नाथ ! आपके यथार्थ गुणो के द्वारा आपका स्तवन करते हुए भक्त यदि आपके समान हो जाय तो हमे कोई अधिक आश्चर्य नही है ऐसा तो होना ही चाहिए क्योकि स्वामी का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने आश्रित भक्त को अपने समान वना ले अथवा उस मालिक से लाभ ही क्या है जो अपने आश्रित को वैभव से अपने समान नही वना लेता

किन्तु यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब परमात्मा रागद्वेप से विहीन है, तब उसकी भक्ति से लाभ ही क्या है ? राग न होने के कारण वह अपने किसी भी भक्त पर अनुग्रह नही करेगा और द्वेप न होने से किसी दुष्ट का निग्रह करने के लिये भी कैसे प्रेरित होगा ? क्योकि अनुग्रह और निग्रह मे प्रवृत्ति तो रागद्वेप की प्रेरणा से ही होती है जो शिष्टो पर अनुग्रह और दुष्टो का निग्रह करता है उसमे राग या द्वेप का अस्तित्व जरूर होता है किन्तु जैन इस

प्रकार के किसी ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते इस प्रश्न का उत्तर जैन स्तोत्रों में जो दिया गया है वह बड़ा ही मनोग्राही तर्कसमत एव आकर्षक है प्रख्यात तार्किक आचार्य समन्तभद्र इस प्रश्न का उत्तर देते हुए अपने स्वयंभूस्तोत्र' में वासुपूज्य तीर्थंकर का स्तवन करते हुए कहते है—

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चेतो दुरिताञ्जनेभ्य ।

हे नाथ ! आप तो वीतराग हैं आपको अपनी पूजा से कोई प्रयोजन नही है आप न अपनी पूजा करने वालों से खुश होते है और न निन्दा करने वालों स नाखुश क्योंकि आपने तो वैर का पूरी तरह वमन कर दिया है. तो भी यह निश्चित है कि आपके पवित्र गुणों का स्मरण हमारे चित्त को पापरूप कलकों से हटा कर पवित्र बना देता है इसका आशय है कि परमात्मा स्वय यद्यपि कुछ भी नही करता फिर भी उसके निमित्त से आत्मा में जो शुभोपयोग उत्पन्न हो जाता है उसी से उसके पाप का क्षय और पुण्य की उत्पत्ति हो जाती है.

महाकवि धनजय इसी का समर्थन करते हुए अपने विषापहार नामक स्तोत्र में क्या ही मनोग्राही वाणी म कहत हैं—

उपैति भक्त्या सुमुखः सुखानि त्वयि स्वभावात् विमुखश्च दुःखम्
सदावदातद्युतिरेकरूपस्तयोस्त्वमादर्श इवावभासि ।

हे भगवान् ! तुम तो निर्मल दर्पण की तरह सदा स्वच्छ हो स्वच्छता तुम्हारा स्वभाव है जो तुम्हें अपने निष्कपटभाव स देखता है वह सुख पाता है और जो तुमसे विमुख होकर बुरे भावों से तुम्हे देखता है वह दु ख पाता है ठीक ही है दर्पण में कोई अपना मुह सीधा करके देखता है तो उसे उसका मुह सीधा दिखता है और जो अपना मुह टेढा करके देखता है उसे टेढा दिखता है किन्तु दर्पण किसी का मुह न सीधा करता है और न टेढा इसी प्रकार रागद्वेष रहित परमात्मा स्वय न किसी को सुख देते है और न दु ख वह तो प्रकृतिस्थ है इस प्रकार के कार्यों में स्वयं उनका कोई भी प्रयत्न सभव नही है सुख अथवा दु ख तो मन की अपनी ही वृत्तियों का परिणाम है सजीव अथवा निर्जीव पदार्थ एवं अनुरक्त अथवा विरक्त व्यक्ति का दूसरे सजीव अथवा निर्जीव पदार्थों पर जो स्वयं प्रभाव पड़ता है वह मनुष्य के लिये नई चीज नही है यह तो प्रत्येक मनुष्य के अपने अनुभव की वस्तु है मनुष्य अपनी मनः प्रकृति के अनुसार दूसरों से प्रभावित होता है किसी स्त्री का मनोहर चित्र किसी भी रागी पुरुष के आकर्षण का कारण बन जाता है. किन्तु यह काम वह चित्र नही करता वह तो उसमे निमित्त मात्र है चित्र में न किसी के प्रति राग होता है और न किसी के प्रति द्वेष फिर भी यह आकर्षण चित्र का काम माना जाता है यही बात परमात्मा की भक्ति के विषय में भी है

भक्ति के सम्बन्ध में एकलव्य का उदाहरण ससार म अप्रतिम है वह मिट्टी के द्रोणाचार्य से स्वयं पढ़कर ससार का अद्वितीय धनुर्धारी बना था वह एक निष्ठ होकर मिट्टी के द्रोणाचार्य से पढ़ता रहा उसकी मन कल्पना में वह मिट्टी की मूर्ति साक्षात् द्रोणाचार्य थी कहने की आवश्यकता नही है कि एकलव्य को ससार का अप्रतिम धनुर्धारी बनने में मिट्टी के द्रोणाचार्य का स्वय कोई प्रयत्न नही था क्यों कि मिट्टी मे किसी प्रकार की आकांक्षा सम्भव ही नहीं है पर यह भी नही है कि मिट्टी का द्रोणाचार्य ही एकलव्य को ऐसा धनुर्धारी बना सका जिसकी धनु संचालन-कुशलता को देखकर द्रोणाचार्य का साक्षात् शिष्य अर्जुन भी दग रह गया

सस्कृत-भाषा मे एक प्रयोग आता है— कारीषोऽग्निरध्यापयति अर्थात् छात्रों को आग पढ़ा रही है एक गरीब छात्र के पास प्रकाश के लिये कुछ भी नही होने स जाड़े की रातों में आग के सहारे से पढ़ता है और कहता है कि यह आग ही मुझे पढ़ा रही है आग तो अध्यापक नही है फिर वह कैसे पढ़ा रही है ? उसमें इसलिये पढ़ाने का उपचार है कि अगर आग न हो तो वह छात्र पढ़ नही सकता पढ़ने और अग्नि में निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है इसी तरह *भक्त के आत्मोद्धार और भगवान् की भक्ति म निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है यद्यपि जैनदर्शन मानता है कि भक्ति* साक्षात् मुक्ति का कारण नहीं है क्योंकि उसमे 'अमोऽहम्' की भावना नष्ट नही होती तो भी भक्ति का महत्त्व

कम नही होता वह मनुष्य के सामने परमात्मा का आदर्श उपस्थित करती है यद्यपि उस आदर्श की प्राप्ति अभेद रत्नत्रय से होती है, भक्ति से कभी नही, किन्तु साधना की प्रथम भूमिका मे भक्ति का बहुत बडा उपयोग है इसका कारण यह है कि मन जब उपास्य की ओर आकृष्ट होता है तब वह उसके मार्ग का अनुसरण करना भी अपना कर्तव्य समझता है वह असत् प्रवृत्तियो से हटता है और सत् प्रवृत्तियो को अपनाता है अदया मे दया की ओर, अक्षमा से क्षमा की ओर तथा सक्षेप मे अधर्म से धर्म की ओर बढता है यदि भक्ति मे पाखण्ड न हो, किसी प्रकार का प्रदर्शन न हो और वह मानव-मन को अपने यथार्थ रूप मे छूने लगे तो भक्ति उसको मुक्ति की ओर ले जा सकती है यही कारण है कि अनेक जैन कवियो ने भक्ति को इतना अधिक महत्त्व दे दिया है कि उसे पढ कर आश्चर्य हुए बिना नही रहता

भक्ति तर्क को पसन्द नही करती, वह तो श्रद्धाप्रसूत है पर इसका अर्थ यह कदापि नही है कि भक्ति मे विवेक नही होता ऐसा हो तो वह भक्ति ही नही है ज्ञानी और अज्ञानी की भक्ति मे जो महान् अतर जैनाचार्यों ने बतलाया है उसका कारण विवेक का सद्भाव और असद्भाव ही तो है विवेक सहित भक्ति ही मनुष्य को अमरत्व की ओर ले जाती है जो साधक श्रमणत्व की ऊची भूमिका मे नही जा सकता उसके लिए भक्ति सबल है, मुक्तिमार्ग मे पाथेय है और साधक के लिये एक सहारा है इसलिये महाकवि वादिराज ने अपने एकीभाव स्तोत्र मे कहा है—

शुद्धे ज्ञाने शुचिनि चरिते सत्यपि त्वय्यनीचा,
भक्तिर्नो चेदनवधिसुखावचिका कुचिकेयम्,
शक्योद्घाट भवति हि कथ मुक्तिकामस्य पुसो,
मुक्तिद्वार परिदृढमहामोहमुद्राकपाटम् ।

अर्थात् शुद्ध ज्ञान और पवित्र चारित्र होने पर भी यदि असीम सुख देने वाली तुम्हारी भक्ति रूपी कुचिका न हो तो जिसके महामोह रूपी ताला लगा हुआ है ऐसा मुक्तिद्वार, मुक्ति की इच्छा रखने वाले के लिये कैसे खुल सकता है ? यहा कवि ने भक्ति की तुलना मे शुद्ध ज्ञान और पवित्र चारित्र को भी उतना महत्त्व नही दिया यह भक्ति की पराकाष्ठा है

भक्ति का फल

जैनाचार्यों ने भक्ति को एक निष्काम कर्म माना है यदि उसे लक्ष्य कर मनुष्य मे फलासक्ति उत्पन्न हो जाय तो भक्ति बिल्कुल व्यर्थ है जैनशास्त्रो मे निदान (फलाकाक्षा) को धार्मिक जीवन मे एक प्रकार का शल्य (काटा) बतलाया गया है भक्त के सामने सदा मुक्ति का आदर्श उपस्थित रहना है वह उससे कभी भटकता नही यदि भटक जाय तो उसे सच्चा भक्त नही कह सकते भक्ति का सच्चा फल वह यही चाहता है कि जब तक मुक्ति की प्राप्ति न हो तब तक प्रत्येक मानव जन्म मे उसे भगवद्भक्ति मिलती रहे इसी आशय को स्पष्ट करते हुए 'द्विसधान काव्य' के कर्त्ता महाकवि धनजय कहते हैं—

इति स्तुतिं देव विधाय दैन्याद्, वर न याचे त्वमुपेक्षकोऽसि ।
छाया तरु सश्रयत स्वत स्यात्, कश्छायया याचितयाऽऽत्मलोभ ।
अथास्ति दित्सा यदिवोपरोध, त्वय्येव सक्तां दिश भक्ति बुद्धि ।
करिष्यते देव तथा कृपा मे, को वात्मपोष्ये सुमुखो न सूरी ।

हे देव ! इस प्रकार आपकी स्तुति कर मैं आप से उसका कोई वर नही मागता, क्योकि किसी से भी कुछ मागना तो एक प्रकार की दीनता है सच तो यह है कि आप उपेक्षक (उदासीन) हैं आप मे न द्वेष है और न राग राग बिना कोई किसी की आकाक्षा पूरी करने के लिए कैसे प्रवृत्त हो सकता है ? तीसरी बात यह है कि छायावाले वृक्ष के नीचे बैठकर फिर उस वृक्ष से छाया की याचना करना तो बिल्कुल व्यर्थ है, क्योकि वृक्ष के नीचे बैठने वाले को तो वह स्वत ही प्राप्त हो जाती है

यह सब कुछ होने पर भी यदि आप स्तुति का कोई फल देना ही चाहें इतना ही नहीं इसके लिए आपका अनुरोध या आग्रह भी हो तो हे भगवान्! आप मुझे यही वर दीजिए जिससे आपकी भक्ति में ही मेरी बुद्धि लगी रहे यह कृपा मुझ पर जरूर कीजिये ऐसा कौन है जो अपने आश्रित के हित की ओर ध्यान न दे।

कल्याणमन्दिर स्तोत्र के कर्ता महाविद्वान् कुमुदचन्द्र भी इस संबंध में यही बात करते हैं —

यद्यस्ति नाथ भवदंघ्रिसरोरुहाणाम् भक्तेः फलं किमपि सन्तत संचितायाः
तन्मे त्वदेकशरणस्य शरण्यभूयाः स्वामी त्वमेव भुवनेऽत्र भवान्तरेऽपि।

हे शरण्य! आपके चरण-कमलों की सतत संचित भक्ति का यदि कोई फल हो तो वह यही होना चाहिए कि इस जन्म और अगले जन्म में आप ही मेरे स्वामी हों क्योंकि आप के अतिरिक्त मेरा कोई भी शरण नहीं हो सकता

किन्तु जैसा कि पहले कहा है, मनुष्य का चरम लक्ष्य मुक्ति है. इसलिए कोई भी भक्त जब तक मुक्ति नहीं मिले तब तक ही इस फलाकांक्षा का औचित्य समझता है इसलिए भगवान् की पूजा के अंत में जैन मंदिरों में जो शान्तिपाठ बोला जाता है उसमें इस अभिप्राय को अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया गया है—

तव पादौ मम हृदये मम हृदयं तव पदद्वये लीनम्
तिष्ठतु जिनेन्द्र! तावद् यावन्निर्वाणसम्प्राप्तिः।

हे भगवन्! जब तक निर्वाण की प्राप्ति न हो तब तक तुम्हारे चरण मेरे हृदय में लीन रहें और मेरा हृदय तुम्हारे चरणों में लीन रहे इन उद्धरणों से यह अच्छी तरह समझा जा सकता है कि जैन भक्ति का उद्देश्य परमात्मतत्त्व की ओर बढ़ना है किसी भी प्रकार का लौकिक स्वार्थ उसका लक्ष्य नहीं है जिसके जीवन में भक्ति की महत्ता अंकित हो जाती है उसकी दुनिया के क्षणभंगुर पदार्थों में आस्था नहीं होती और न उसके मन में किसी प्रकार के वैयक्तिक स्वार्थ की ही आकांक्षा होती है वास्तविक भक्त वह है जिसकी दुनिया के क्षणभंगुर सुखों में आस्था नहीं होती जिसको इस प्रकार की आस्था आसक्ति अथवा आकांक्षा होती है वह कभी परमात्मतत्त्व की ओर नहीं बढ़ सकता भक्तहृदय अहिंसक होता है इसलिए उसका कोई शत्रु भी नहीं होता है वह अपनी भक्ति के बीच में इस प्रकार की आकांक्षायें भी नहीं लाता जो द्वेषमूलक एवं हृदय को विकृत करनेवाली हों जैनदृष्टि से वे स्तोत्र अत्यन्त नीच स्तर के ही समझे जाने चाहिए जो मनुष्य को हिंसा एवं विकार की ओर प्रेरित करने वाले हों

हाँ जैन भक्ति एवं पूजा के प्रकरणों में भक्ति के फलस्वरूप ऐसी माँगें जरूर उपलब्ध होती हैं जो वैयक्तिक नहीं अपितु सार्वजनिक हैं फिर चाहे वे लौकिक ही क्यों न हों भगवान् की उपासना के बाद जो जैन उपासना-गृहों में शांतिपाठ बोला जाता है उसमें भक्त कहता है —

क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभवतु बलवान् धार्मिको भूमिपालः
काले काले च सम्यग् विकिरतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम्।
दुर्भिक्षं चौरमारी क्षणमपि जगतां मास्मभूज्जीवलोके
जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रभवतु सततं सर्वसौख्य—प्रदायि।

हे भगवन्! सारी प्रजा का कल्याण हो शासक बलवान् और धर्मात्मा हो समय-समय पर (आवश्यकतानुसार) पानी बरसे रोग नष्ट हो जाय नहीं न चोरी हो और न महामारी और और सारे सुखों के देनेवाला भगवान् जिनेन्द्र का धर्मचक्र शक्तिशाली हो

इसी प्रकार का एक उद्धरण और भी सुनिये —

संपूजकानां प्रतिपालकानाम् यतीन्द्रसामान्यतपोधनानाम्
देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञः करोतु शांतिं भगवान् जिनेन्द्रः।

जो भगवान् के भक्त है, जो दीन-हीनों के सहायक हैं, जो यतियों मे श्रेष्ठ है, जो तपोधन है उन सबको तथा देश, राष्ट्र, नगर और राजा को भगवान् जिनेन्द्र शान्ति प्रदान करे

ये सब उल्लेख स्पष्ट यह बतलाते है कि जैनो के वाड्मय का लक्ष्य आत्मशोधन के साथ-साथ लोकोपकार की भावना भी है उसका दृष्टिकोण सकुचित नही अपितु उदार, विशाल एव व्यापक है इसमे वसुधैवकुटुम्बकम् की 'उदात्त' तथा प्राजल भावना ओतप्रोत है इससे मानव को जो प्रेरणा मिलती है उससे उसकी पशुता निकल कर मानवता निखर जाती है जैन-भक्ति की एक विशेषता यह भी है कि इसमे किसी प्रकार के आडम्बर को स्थान नही मिलता आडम्बर भक्ति की विडम्बना है उससे कभी आत्मा का यथार्थ दर्शन नही होता उपास्य का जो वास्तविक स्वरूप है उसीकी उपासना पर जैनभक्ति मे बल दिया गया है भक्त भी उसी स्वरूप की प्राप्ति के लिये कृतसकल्प होता है जैन मदिरो मे वीतरागता के साधनो के अतिरिक्त जो बाह्य चीजें दीख पडती हैं, वे चाहे कितनी ही आकर्षक क्यो न हो, भक्ति मे उनका कोई महत्त्व नही जहाँ भक्ति के उच्च स्तर का वर्णन मिलता है वहाँ सोने-चाँदी आदि अत्यन्त बाह्य पदार्थो की कौन कहे, शरीराश्रित गुणो को भी कोई महत्त्व नही दिया गया वहाँ तो आत्माश्रित गुणो को ही भक्ति का आधार माना गया है क्योकि उन्ही की अभिव्यक्ति जीवन मे अपेक्षित है शरीर और उससे सम्बन्ध रखने वाले सभी बाह्य पदार्थ जड है जड के किसी भी गुण-धर्म की अभिव्यक्ति आत्मा को इष्ट नही है

मूर्तिपूजा और भक्ति

श्वेताम्बर जैनो के स्थानकवासी और तेरापथी एव दिगम्बर जैनो का तारणपथी सम्प्रदाय—यद्यपि मूर्तिपूजा को महत्त्व नही देते, फिर भी वे भक्ति का समर्थन करते है यद्यपि मूर्तिपूजा और भक्ति का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है तो ये दोनो चीजें एक नही हैं किन्ही दो पदार्थो मे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बनाना व्यक्तिगत प्रश्न है भक्ति के लिये भी कोई मूर्ति को अवलम्बन मानता है और कोई नही मानता है जो सप्रदाय मूर्ति या प्रतिमा को अवलम्बन नही मानते, वे भी भगवान् की भक्ति करते है भक्ति तो मनुष्य की मानसिक वृत्ति है वह मूर्तिरूप आलबन के बिना निरालबन भी हो सकती है वास्तव मे परमात्मा या भगवान् ही आलबन है उपास्य मे तो कोइ भेद है नही, भले ही उनकी मूर्ति बनाई जाय या न बनाई जाय बिना मूर्ति के भी परमात्मा या महात्माओ के गुणो मे अनुराग उत्पन्न कर उसमे पूजनीयता की आस्था स्थापित की जा सकती है भक्ति का रहस्य भी यही है इन तीनो सप्रदायो ने जो मूर्ति का विरोध किया है इसके ऐतिहासिक कारण है इससे किसी मे किसी की स्थापना करने की मानव-बुद्धि का विरोध नही होता मूर्तिपूजा का विरोध करना उन तीनो सम्प्रदायो का क्रान्तिकारी कदम था किन्तु वह भक्ति का विरोध कभी नही था जैनधर्म मे जो भक्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान है उसे जैनो के सभी सम्प्रदाय एक मत से स्वीकार करते है

भक्ति साहित्य

जैन वाड्मय मे भक्तिसाहित्य अथवा स्तोत्रग्रन्थो का उल्लेखनीय स्थान है तीर्थंकरो पचपरमेष्ठी एव अन्य देवी-देवताओ सम्बन्धी हजारो स्तोत्रग्रन्थ उपलब्ध होते है भक्तामरस्तोत्र, कल्याणमन्दिरस्तोत्र आदि स्तुतिपरक रचनाएँ बडी ही महत्वपूर्ण है जैन उपासक प्रतिदिन इन रचनाओ को भक्ति के भाव मे विभोर होकर अपनी आत्मशुद्धि के लिये पढते है तुलनात्मक दृष्टि से इन स्तुतिग्रन्थो की अनेक विशेषताए है इनका प्रत्येक पद्य एक मत्र माना जाता है और इन पर अनेक कथाए लिखी गई है जैनो के वैयक्तिक जीवन पर इन स्तोत्रो का बहुत प्रभाव है यह साहित्य इतना विशाल है कि इस पर विभिन्न दृष्टियो से अनुसधान किया जा सकता है जैनो के चोटी के आचार्यों ने अन्यान्य विषयो की रचना के साथ-साथ भक्तिसाहित्य को भी अपनी रचना का विषय बनाया है दार्शनिक साहित्यकारो ने भक्ति को तर्क की कसौटी पर कस कर अपने ग्रन्थो मे इसकी उपादेयता सिद्ध की है

भक्ति का समन्वय

संसार के सभी धर्मों में भक्ति का उल्लेखनीय स्थान है जो ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं और जो ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते उनका भक्ति तत्त्व अनेक दृष्टियों से समान नहीं है गीता का अध्ययन करने से पता चलता है कि ईश्वर की सत्ता स्वीकार करके भी गीताकार निष्काम भक्ति पर बहुत जोर देते हैं ऐसा ज्ञात होता है कि गीताकार पर ईश्वरवाद की कोई छाप ही नहीं है गीताकार की भक्ति और जैनभक्ति में अनेक दृष्टियों से साम्य है किन्तु उपास्य का स्वरूप दोनों में एक-सा नहीं है विभिन्न धर्मों में जो भक्तितत्त्व की व्याख्या मिलती है उसका अनेकान्तवाद के आधार पर समन्वय किया जा सकता है इस प्रकार के समन्वय की आज अत्यन्त आवश्यकता है अतः साम्य की सिद्धि के लिये उसका निष्कपट भाव से प्रयोग करना चाहिए, यही भक्तियोग की मर्यादा है

जो भगवान् के भक्त है, जो दीन-हीनो के सहायक है, जो यतियो मे श्रेष्ठ है, जो तपो रत है उन सबको तथा देश, राष्ट्र, नगर और राजा को भगवान् जिनेन्द्र शान्ति प्रदान करें

ये सब उल्लेख स्पष्ट यह् बतलाते है कि जैनो के वाड्मय का लक्ष्य आत्मशोधन के साथ-साथ लोकोपकार की भावना भी है उसका दृष्टिकोण सकुचित नही अपितु उदार, विशाल एव व्यापक है इसमे वसुधैवकुटुम्बकम् की 'उदात्त' तथा प्राजल भावना ओतप्रोत है इससे मानव को जो प्रेरणा मिलती है उससे उसकी पशुता निकल कर मानवता निखर जाती है जैन-भक्ति की एक विशेषता यह भी है कि इसमे किसी प्रकार के आडम्बर को स्थान नही मिलता आडम्बर भक्ति की विडम्बना है उससे कभी आत्मा का यथार्थ दर्शन नही होता उपास्य का जो वास्तविक स्वरूप है उसीकी उपासना पर जैनभक्ति मे बल दिया गया है भक्त भी उसी स्वरूप की प्राप्ति के लिये कृतसकल्प होता है जैन मदिरो मे वीतरा-गता के साधनो के अतिरिक्त जो बाह्य चीजें दीख पडती है, वे चाहे कितनी ही आकर्षक क्यो न हो, भक्ति मे उनका कोई महत्त्व नही जहाँ भक्ति के उच्च स्तर का वर्णन मिलता है वहाँ सोने-चाँदी आदि अत्यन्त बाह्य पदार्थों की कौन कहे, शरीराश्रित गुणो को भी कोई महत्त्व नही दिया गया वहाँ तो आत्माश्रित गुणो को ही भक्ति का आधार माना गया है क्योकि उन्ही की अभिव्यक्ति जीवन मे अपेक्षित है शरीर और इससे सम्बन्ध रखने वाले सभी बाह्य पदार्थ जड है जड के किसी भी गुण-धर्म की अभिव्यक्ति आत्मा को इष्ट नही है

मूर्तिपूजा और भक्ति

श्वेताम्बर जैनो के स्थानकवासी और तेरापथी एव दिगम्बर जैनो का तारणपथी सम्प्रदाय—यद्यपि मूर्तिपूजा को महत्त्व नही देते, फिर भी वे भक्ति का समर्थन करते है यद्यपि मूर्तिपूजा और भक्ति का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है तो ये दोनो चीजें एक नही है किन्ही दो पदार्थो मे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बनाना व्यक्तिगत प्रश्न है भक्ति के लिये भी कोई मूर्ति को अवलम्बन मानता है और कोई नही मानता है जो सम्प्रदाय मूर्ति या प्रतिमा को अवलम्बन नही मानते, वे भी भगवान् की भक्ति करते है भक्ति तो मनुष्य की मानसिक वृत्ति है वह मूर्तिरूप आलबन के बिना निरालबन भी हो सकती है वास्तव मे परमात्मा या भगवान् ही आलबन है उपास्य मे तो कोई भेद है नही, भले ही उनकी मूर्ति बनाई जाय या न बनाई जाय बिना मूर्ति के भी परमात्मा या महात्माओ के गुणो मे अनुराग उत्पन्न कर उसमे पूज-नीयता की आस्था स्थापित की जा सकती है भक्ति का रहस्य भी यही है इन तीनो सम्प्रदायो ने जो मूर्ति का विरोध किया है इसके ऐतिहासिक कारण है इससे किसी मे किसी की स्थापना करने की मानव-बुद्धि का विरोध नही होता मूर्तिपूजा का विरोध करना उन तीनो सम्प्रदायो का क्रान्तिकारी कदम था किन्तु वह भक्ति का विरोध कभी नही था जैनधर्म मे जो भक्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान है उसे जैनो के सभी सम्प्रदाय एक मत से स्वीकार करते है.

भक्ति साहित्य

जैन वाङ्मय मे भक्तिसाहित्य अथवा स्तोत्रग्रन्थो का उल्लेखनीय स्थान है तीर्थंकरो पचपरमेष्ठी एव अन्य देवी-देवताओ सम्बन्धी हजारो स्तोत्रग्रन्थ उपलब्ध होते है भक्तामरस्तोत्र, कल्याणमन्दिरस्तोत्र आदि स्तुतिपरक रचनाएँ बडी ही महत्त्वपूर्ण है जैन उपासक प्रतिदिन इन रचनाओ को भक्ति के भाव मे विभोर होकर अपनी आत्मशुद्धि के लिये पढते है तुलनात्मक दृष्टि से इन स्तुतिग्रन्थो की अनेक विशेषताए है इनका प्रत्येक पद्य एक मत्र माना जाता है और इन पर अनेक कथाए लिखी गई है जैनो के वैयक्तिक जीवन पर इन स्तोत्रो का बहुत प्रभाव है यह साहित्य इतना विशाल है कि इस पर विभिन्न दृष्टियो से अनुसधान किया जा सकता है जैनो के चोटी के आचार्यों ने अन्यान्य विषयो की रचना के साथ-साथ भक्तिसाहित्य को भी अपनी रचना का विषय बनाया है दार्शनिक साहित्यकारो ने भक्ति को तर्क की कसौटी पर कस कर अपने ग्रन्थो मे इसकी उपादेयता सिद्ध की है
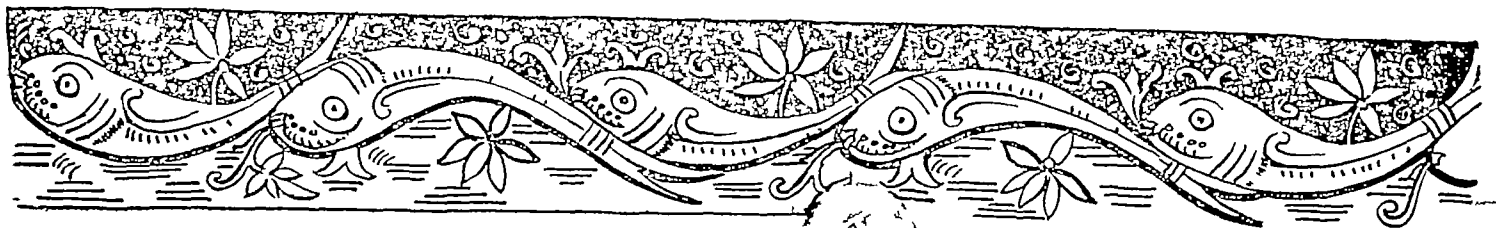
सामर्थ्य विवेक रचना जन्म और अर्थक्रियाकारितादि की हेतुता से महासत्ता महाचिति महाशक्ति महादृष्टि महाक्रिया महाउद्भव और महास्पन्द गति इत्यादि नामों से कही गई है सूर्यों के समान सब जगत् का परिवर्तन करती हुई—दैत्य इस प्रकार के क्रूर हैं देवता इस प्रकार शान्त हैं, नाग ऐसे हैं पर्वत ऐसे जड़ हैं इत्यादि रूप से कल्पपर्यन्त नियति अपने रूप में स्थित रहती है

× × ×

न शक्यते लंघयितुमपि रुद्रादिबुद्धिभिः । —२ ६२ २
सर्वज्ञोऽपि बहुज्ञोऽपि माधवोऽपि हरोऽपि च ।
अन्यथा नियतिं कर्तुं न शक्तः कश्चिदेव हि । —५,८९ २९
सर्गादौ या यथारूढा संविद्घनसंततिः ।
साऽद्याप्यचलिताऽन्येन स्थिता नियतिरुच्यते । —३ ५४ २२
आमहाकल्पपर्यन्तमिदमित्थमिति स्थिते ।
आतृणपद्मजस्पन्दं नियमान्नियतिः स्मृता । —६,३७ २१

अर्थात् रुद्रादि देवता भी नियति का उल्लंघन नहीं कर सकते माधव और हर के समान सर्वज्ञ और बहुज्ञ भी नियति के नियमों में व्यतिक्रम नहीं कर सकते वर्तमान विश्व के प्रारम्भ में नियति की जैसी कल्पना की गई थी उसी रूप में वह आज भी अचल भाव से स्थित है ब्रह्म से लेकर छोटे-से-छोटे तृण पर्यन्त नियति का ही नियमन-व्यापार सर्वत्र दिखलाई पड़ता है इस नियमन के कारण ही इसे नियति कहा गया है

योगवासिष्ठ में ही नियति की नटी के रूप में भी कल्पना की गई है—

नियतिर्नित्यमुद्वेगवर्जिता परिमार्जिता ।
एषा नृत्यति वै नृत्यं जगज्जालकनाटकम् । —प्रकरण ६ सर्ग ३७ श्लोक २१

अर्थात् यह नियति नित्य उद्वेगरहित तथा परिमार्जित रहते हुए जगज्जाल रूप नाटक रचती रहती है Rational Mysticism के लेखक ने भी नियति के प्रभुत्व को स्वीकार किया है— Individual man can modify the course of nature on the earth in many minor ways; but he can not alter the course of nature as a whole that is to say those cosmic happenings which are determind by a higher power or by higher powers —(Kingsland) Rational Mysticism p 354

अर्थात् बहुत से छोटे-मोटे रूपों में तो व्यक्ति प्रकृति के कार्य-व्यापार में रूपान्तर उपस्थित कर सकता है किन्तु कुल मिलाकर वह प्रकृति की पद्धति को बदल नहीं सकता अर्थात् विश्व की जो घटनाएँ किसी उच्चतर शक्ति अथवा उच्चतर शक्तियों द्वारा नियत कर दी जाती हैं उनमें परिवर्तन उपस्थित करना व्यक्ति के वश का रोग नहीं योगवासिष्ठकार के मतानुसार नियति विश्व की नियामिका शक्ति है जिसके अनुशासन को अखिल भुवन तथा चर और अचर सभी स्वीकार करते हैं एक छोटी-सी सभा के संचालन के लिये भी जब नियम बनाए जाते हैं तब इस विराट् ब्रह्माण्ड के लिये नियमों की कितनी अधिक आवश्यकता है इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है नियमों के अभाव में सर्वत्र धांधली और अव्यवस्था फैल जायगी कर्म-व्यवस्था के सम्बन्ध में वेद में भी कहा गया है—

'न [illegible] आपारा [illegible] न [illegible] समसाम [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] न [illegible] पवनार्दं पतः पुरातिथिः ।

अर्थात् कर्म-व्यवस्था में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं हो सकती आम का बीज डालने से जमीन में आम ही उगता है यह कारण-कार्यविधान विश्व में सर्वत्र लागू है यहां कार्य आधार या निर्धारित भी नहीं जाती और न यही सम्भव है कि किसी के साथ रति प्राप्त की जा सके किसी भी बाह्य कारण से हमारे इस कर्म-[illegible] में कोई घटा-बढ़ी नहीं

डा० कन्हैयालाल सहल
अध्यक्ष हिन्दी विभाग, बिडला आर्टस कॉलिज, पिलानी

नियति का स्वरूप
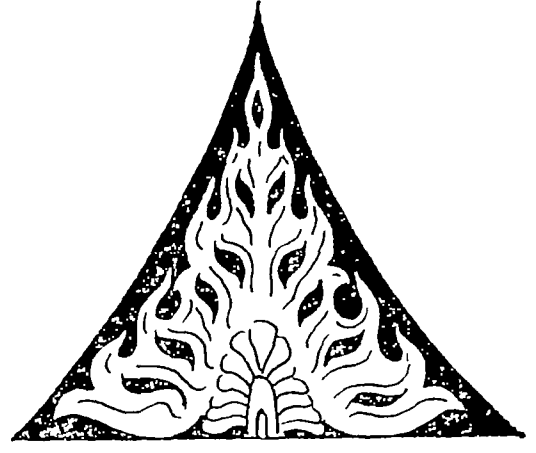
काव्यप्रकाशकार ने कवि-भारती का जयजयकार करते हुए 'नियतिकृतनियमरहिता' का प्रयोग किया है जिससे स्पष्ट है कि वे नियति[1] को नियम-समष्टि अथवा नियमन करने वाली शक्ति के रूप मे ग्रहण करते हैं 'नियति' शब्द का इस तरह का प्रयोग वैदिक 'ऋत' से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है जहाँ ऋत के कारण ही ससार मे नियम-चक्र चलता है तथा ब्रह्माण्ड मे व्यवस्था दृष्टिगोचर होती है[2]

वैज्ञानिक अध्ययन और प्रयोगो के परिणामस्वरूप अब यह तथ्य अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है कि यह विश्व कुछ ऐसे नियमो द्वारा सचालित है जो अकाट्य और अनुल्लघनीय है इस विचारधारा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति विश्व-शृखला की एक कडी मात्र है सस्कृत के अनेक प्राचीन ग्रथो मे नियति के स्वरूप की विवेचना की गई है उदाहरणार्थ योगवासिष्ठ के निम्नलिखित श्लोको को लीजिए—

> यथास्थित ब्रह्मतत्त्व सत्ता नियतिरुच्यते ।
> सा विनेतुर्विनेयत्व सा विनेयविनेयता । —प्रकरण २, सर्ग १० श्लोक १
> आदिसर्गे हि नियतिर्भाववैचित्र्यमक्षयम् ।
> अनेनेत्थ सदा भाव्यमिति सम्पद्यते परम् । —प्रकरण ३, सर्ग ६२, श्लोक ९
> महासत्तेति कथिता महाचितिरिति स्मृता ।
> महाशक्तिरिति ख्याता महादृष्टिरिति स्थिता ।१०।
> महाक्रियेति गदिता महोद्भव इति स्मृता ।
> महास्पन्द इति प्रौढा महात्मैकतयोदिता ।११।
> तृणानीत्र जगत्येवमिति दैत्या सुरा इति ।
> इति नागा इति नगा इत्याकल्प कृता स्थिति ।१२।

अर्थात् सर्वत्र सम रूप से स्थित जो व्यापक ब्रह्म की सत्ता है, उसी का नाम नियति है, वही कार्य-कारण के नियम्य और नियामक रूप से स्थित है कारण होने पर कार्य अवश्य होता है और कार्य होने पर उसका कोई कारण अवश्य होता है इसी नियम का नाम नियति है वही कारण आदि की नियामकता है और वही कार्य आदि की नियम्यता भी है

सृष्टि के प्रारम्भ मे ही अग्नि आदि की उष्णता और ऊर्ध्वज्वलन नियति के कारण है, पर ब्रह्म स्वय अपने सकल्प से पदार्थों की विचित्रतासहित अक्षय नियति का रूप धारण कर लेती है वही नियति सपूर्ण ब्रह्माण्डो की स्थिति, विस्तार,

---

१ नियम्यन्ते धर्मा अनया इति नियति ।

२ There is no error in the Eternal plan, All kings are working for the final good of man
—Wordsworth

सामर्थ्य विवक रचना जन्म और अर्थक्रियाकारितादि की हेतुता से महासत्ता महाचिति महाशक्ति महादृष्टि महा-क्रिया महाउद्भव और महास्पन्द गति इत्यादि नामों से कही गई है तृणों के समान सब जगत् का परिवर्तन करती हुई—दैत्य इस प्रकार के क्रूर है देवता इस प्रकार शान्त है, नाग ऐसे है पर्वत ऐसे जड़ हैं इत्यादि क्रम से कल्पपर्यन्त नियति अपने रूप म स्थित रहती है

× × ×

न शक्यते लंघयितुमपि रुद्रादिबुद्धिभः । —३ ६२ २
सर्वज्ञोऽपि बहुज्ञोऽपि माधवोऽपि हरोऽपि च ।
अन्यथा नियतिं कर्तुं न शक्तः कश्चिदेव हि । —५,८९ २९
सर्गादौ या यथारूढा संविस्फुरनर्तनति ।
साऽद्याप्यचलिताऽन्येन स्थिता नियतिरुच्यते । —३ ५४ २२
आमहारुद्रपर्यन्तमिदमित्थमिति स्थिते. ।
आतृणपद्मजस्पर्श नियमान्नियति स्मृता । —६ ३७ २१

अर्थात् रुद्रादि देवता भी नियति का उल्लंघन नही कर सकते माधव और हर के समान सर्वज्ञ और बहुज्ञ भी नियति क नियमो मे व्यतिक्रम नही कर सकते वर्तमान विश्व क प्रारम्भ में नियति की जैसी कल्पना की गई थी उसी रूप में वह आज भी अचल भाव से स्थित है रुद्र से लेकर छोटे-से-छोटे तृण पयन्त नियति का ही नियमन-व्यापार सर्वत्र दिखाई पड़ता है इस नियमन के कारण ही इसे नियति कहा गया है

योगवाशिष्ठ में ही नियति की नटी के रूप में भी कल्पना की गई है—

नियतिर्नित्यमुद्वेगवर्जिता परिमार्जिता ।
एषा नृत्यति यै नृत्य जगज्जालकनाटकम् । —प्रकरण ६, सर्ग ३७ श्लोक २१

अर्थात यह नियति नित्य उद्वेगरहित तथा परिमार्जित रहते हुए जगज्जाल रूप नाटक रचती रहती है Rational Mysticism के लेखक ने भी नियति के प्रभुत्व को स्वीकार किया है— Individual man can modify the course of nature on the earth in many minor ways; but he can not alter the course of nature as a whole that is to say those cosmic happenings which are determind by a higher power or by higher powers —(Kingsland) Rational Mysticism p 354

अर्थात् बहुत से छोटे-मोटे रूपों में तो व्यक्ति प्रकृति के कार्य-व्यापार मे रूपान्तर उपस्थित कर सकता है किन्तु कुल मिलाकर वह प्रकृति की पद्धति को बदल नही सकता अर्थात् विश्व की जो घटनाएँ किसी उच्चतर शक्ति अथवा उच्चतर शक्तियों द्वारा नियत कर दी जाती हैं उनमे परिवर्तन उपस्थित करना व्यक्ति के बस का रोग नही योग वाशिष्ठकार क मतानुसार नियति विश्व की नियामिका शक्ति है जिसक अनुशासन को अखिल भुवन तथा चर और अचर सभी स्वीकार करते है. एक छोटी-सी सभा के सचालन के लिये भी जब नियम बनाए जाते हैं तब इस विराट ब्रह्माण्ड क लिए नियमो की कितनी अधिक आवश्यकता है इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है नियमों के अभाव में गड़बड़ मच जायगी और अव्यवस्था फैल जायगी कर्म-व्यवस्था के सबन्ध में वद में भी कहा गया है—

न किल्बिषमत्र नाधारो अस्ति न यन्मित्रै समममान एति
अनूनं निहितं पात्रं न एतत् पक्तारं पक्वः पुनराविशाति ।

अर्थात कर्म-व्यवस्था मे किसी प्रकार की त्रुटि नही हो सकती आम का बीज डालने से जमीन में आम ही उगता है यह कार्य-कारणविधान विश्व मे सबत्र लागू है यहा कोई आधार या सिफारिश भी नही चलती और न यही सभव है कि मित्रो क साथ गति प्राप्त की जा सक किसी भी बाह्य कारण से हमारे इस कर्म-फल-पात्र में कोई घटा-बढ़ी नही

हुई जैसा और जितना हमने इसे भरा, वैसा और उतना ही यह सुरक्षित है पकाने वाले को पका पदार्थ फिर आ मिलता है अर्थात् कर्म-फल से छुटकारा नही मिलता

शैवागमो द्वारा किया गया नियति का निरूपण भी इस प्रसग मे उल्लेखनीय है नियति शैवागम दर्शन का एक विशिष्ट शब्द है जो उस तत्त्व के अर्थ मे प्रयुक्त होता है जिसके कारण प्रत्येक वस्तु की कारिका शक्ति नियत रहती है 'नियतिर्नियोजना धत्ते विशिष्टे कार्यमण्डले'

नियति के कारण ही सरसो के बीज से सरसो का अकुर फूटता है और अग्नि मे केवल जलाने की शक्ति है, नियति के कारण ही पवन मे जल को आन्दोलित करने की क्षमता पाई जाती है

बहुत से नियतिवादियो का तो कहना यह है कि ससार मे जो आपातत आकस्मिक और आश्चर्यमयी घटनाएँ घटित होती हुई दिखलाई पडती है, वे वस्तुत न आकस्मिक होती है और न आश्चर्यमयी आकस्मिकता और आश्चर्य की सत्ता तो उन लोगो के लिये है जो नियति के रहस्य को हृदयगम नही कर पाते नियति यदि विश्व की नियामिका शक्ति है, यदि यह कर्म-चक्र की सचालिका है, यदि नियति की प्रेरणा से ही यह गोलक, कर्म-चक्र की भाति घूम रहा है तो अवश्य ही यह सब किसी विधान के अन्तर्गत होता होगा

किन्तु इसके विपरीत एक विचारधारा ऐसी भी है जो भाग्य को अन्धा मान कर चलती है योरोपीय देशो के लोगो का विश्वास था कि कोई ऐसी शक्ति अवश्य है जो मनुष्य के जन्म के समय ही उसके सपूर्ण जीवन की गतिविधि निश्चित कर हमेशा के लिये उसके भाग्य का निपटारा कर देती है भाग्य, वह अवश्यभावी दैवी विधान है जिसके अनुसार प्रत्येक पदार्थ और विशेषत मनुष्य के सब कार्य-उन्नति, अवनति, नाश आदि पहले से ही निश्चित रहते हैं और जिसमे अन्यथा कुछ हो ही नही सकता अशिक्षितो मे से अधिकाश लोगो का यही विश्वास रहता है कि ससार मे जो कुछ होता है, वह सदा भाग्य से ही होता है और उस पर मनुष्य का कोई अधिकार नही होता साधारणत शरीर मे भाग्य का स्थान ललाट माना जाता है बहुत-से लोग यह मानते हैं कि छठी के दिन भाग्य की देवी शिशु के ललाट पर भाग्य का अकन कर जाती है जिसमे न राई घटती है, न तिल बढता है सामान्य लोगो की दृष्टि मे भाग्य अन्धा है और उसके द्वारा नियोजित कार्य-व्यापार मे कारण-कार्य की कोई श्रृखला नही दिखलाई पडती ग्रीस देश के दु खान्त नाटको मे भी किस्मत की जो कल्पना की गई है, उसके अनुसार वह एक ऐसी निरपेक्ष शक्ति है जिसके अनुशासन को सभी स्वीकार करते हैं किन्तु स्वय वह किसी भी प्रकार के प्राकृतिक अथवा नैतिक विधान को मानकर नही चलती

स्व० डॉ० अन्सारी किसी रोगी की चिकित्सा के सिलसिले मे रेल द्वारा यात्रा कर रहे थे डॉक्टर साहब उन महाभागो मे से थे, जो गाधीजी की भयकर-से-भयकर बीमारीकी खबर सुनते ही महात्माजी को सूचित किया करते थे कि मैं आपको मृत्यु के मुख से छुडा लाऊँगा किन्तु उन्ही डॉक्टर अन्सारी को रेल के डिब्बे मे ही जब हृद्रोग ने आ दबाया तो कहने लगे—'मैं मृत्यु के पद-चापो की निकटतम आती हुई ध्वनि को सुन रहा हूँ चाहता हू कि कभी विधि के विधान मे कुछ दिवस अपने लिये और सुरक्षित करवा लू किन्तु कोई उपाय नही, कोई चारा नही वे ही डॉक्टर साहब, जो किसी दूसरे को मृत्यु के भीषण मुख से निकालने जा रहे थे, स्वय कराल काल के गर्भ मे समा गये

डाण्टे के 'इन्फनो' तथा 'होमर' के 'ईलियड' और 'ओडीसी' से लेकर आधुनिक युग तक के लेखको ने भवितव्यता की प्रबलता को स्वीकार किया है किन्तु जो भवितव्य है, वह क्या पहले से नियत है? क्या वह किसी कारण-कार्य-परम्परा का अनुसरण करता है अथवा उनका सारा कार्य व्यापार अन्धवत्-प्रवृत्त होता है ? इस प्रकार के अनेक प्रश्न भवितव्यता के सम्बन्ध मे हमारे मन मे उठे बिना नही रहते दुनिया के मनीषियो ने इस विषय पर भिन्न-भिन्न विचार प्रकट किये है. चीन की एक कहावत मे कहा गया है कि बीमारी का इलाज हो जाता है, किन्तु भाग्य का नही अनेक बार ऐसा हुआ है कि भाग्य से बचने के लिये किसी ने जिस मार्ग का अनुसरण किया, उसी मार्ग मे वह अपने दुर्भाग्य का शिकार हो गया इस सम्बन्ध मे राबर्ट साऊदे का निम्नलिखित कथन उल्लेख्य है—

'The poor slaves must drag the car of Destiny wherever she drives inexorable and blind
जो हमारे भाग्य की गाड़ी चलती है, वह यदि अन्धी हो तो फिर इस जीवन का क्या ठिकाना है

उक्त विवेचन को पढ़ कर ऐसा लगता है कि यदि इस विश्व में सब कुछ पूर्वनिर्दिष्ट है तो क्या मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा शक्ति के लिये यहाँ कोई स्थान नहीं है ? दर्शन-शास्त्र का यह एक बड़ा जटिल प्रश्न है जिस पर गम्भीरता से विचार करना आवश्यक है

डा० राधाकृष्णन् ने शायद कहीं कहा था कि 'स्वतन्त्रः कर्त्ता' केवल पाणिनि का ही सूत्र नहीं वह हमारे देश का दार्शनिक सूत्र भी है प्राकृतिक जगत् की वस्तुओं की भांति मनुष्य वस्तु नहीं वह वस्तुओं को अपनी इच्छानुसार रूप देने वाला कर्त्ता है जब वैज्ञानिक किसी वस्तु का आविष्कार करता है तब वह उस वस्तु से अपने को अलग कर लेता है और तब उसके रहस्योद्घाटन का प्रयत्न करता है इससे स्पष्ट है कि जहाँ तक व्यक्ति का सम्बन्ध है, उसमें अपनी स्वतन्त्र इच्छा—शक्ति का तत्त्व सन्निहित है वह तत्त्व वस्तु-बाह्य अथवा आन्तरिक है इस तत्त्व की जब हम उपेक्षा करने लगते हैं तब हम अपने आप को मात्र वस्तु मान लेते हैं जड़ पदार्थों की भांति हम अपने आपको यंत्र का एक पुर्जा समझने लगते हैं और उस स्वतन्त्रता से अपने आपको वंचित कर लेते हैं—जो हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है

मनुष्य नियति के अधीन है अथवा कर्म करने में स्वतन्त्र है इस प्रश्न का वेदान्त ने स्पष्ट शब्दों में उत्तर दिया है वेदान्त के अनुसार जब तक मनुष्य अविद्या के वशीभूत रहता है, तब तक वह स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता मोक्ष अथवा स्वातन्त्र्य विद्या द्वारा ही सम्भव है जो मनुष्य इच्छा तृष्णा अथवा वासनाओं का शिकार है वह स्वतन्त्र नहीं माना जा सकता स्वतन्त्र बनने के लिए सतत साधना द्वारा उसे आत्म-साक्षात्कार करना होगा साथ ही यह भी सत्य है कि मनुष्य की मनुष्यता इस स्वातन्त्र्य-सिद्धि में ही है क्योंकि वही एक ऐसा प्राणी है जो साधना द्वारा आत्म-संस्कार कर सकता है पेड़-पौधों पशु-पक्षियों तथा जीव-जन्तुओं में यह शक्ति नहीं कि वे मनुष्य की भांति अपना संस्कार कर सकें वे अपनी सहज वृत्ति से ऊपर नहीं उठ सकते

दैववाद तथा स्वातन्त्र्यवाद के सम्बन्ध में जो विचार ऊपर प्रकट किए गये हैं वे हमारे देश की दार्शनिक विचारधारा के अनुरूप हैं किन्तु व्यावहारिकता की दृष्टि से हमारे जीवन में दैव तथा पौरुष दोनों का स्थान है माघ कवि के शब्दों में—

> नालम्बते दैष्टिकतां न निषीदति पौरुषे।
> शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते। —शिशुपालवध द्वितीय सर्ग श्लोक ८६

अर्थात् विद्वान् न तो केवल दैव का सहारा लेता है और न पौरुष पर ही स्थित रहता है जिस प्रकार सत्कवि शब्द और अर्थ दोनों का आश्रय ग्रहण करता है उसी प्रकार विद्वान् भी दैव और पौरुष दोनों को जीवन में आवश्यक समझता है गीताकार ने भी काम सिद्धि में अधिष्ठान कर्त्ता भिन्न-भिन्न प्रकार के कारण तथा विविध चेष्टाओं के साथ 'दैवं चैवात्र पंचमम्' कह कर दैव की भी सत्ता स्वीकार की है

एक बार हमारे प्रधानमन्त्री पं० नेहरू ने नियतिवाद और स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का तारतम्य बतलाते हुए लिखा था—"इस विश्व में नियतिवाद और स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति दोनों के लिये स्थान है इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है ब्रिज के खेल में प्रत्येक खिलाड़ी को जो ताश के पत्ते मिलते हैं उनमें खिलाड़ी की स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति का कोई हाथ नहीं रहता किन्तु उन्हीं पत्तों की सहायता से अपने अनुभव और बुद्धि-कौशल द्वारा चतुर खिलाड़ी जो खेल खेलता है उसमें उसकी स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति का पूरा योग है एक दूसरा उदाहरण लीजिए पिता के चुनाव में पुत्र स्वतन्त्र नहीं है किन्तु पुत्र रूप में अवतरित व्यक्ति अपनी स्वतन्त्र इच्छा शक्ति द्वारा अपने व्यक्तित्व का समुचित विकास कर सकता है धर्मक गार्गि-पुत्र होने की बात न कर जब सत्यकामा ने उनके मर्मस्थल पर चोट करनी चाही तो कर्ण ने कहा था—

हुई जैसा और जितना हमने इसे भरा, वैसा और उतना ही यह सुरक्षित है पकाने वाले को पका पदार्थ फिर आ मिलता है अर्थात् कर्म-फल से छुटकारा नही मिलता

शैवागमो द्वारा किया गया नियति का निरूपण भी इस प्रसग मे उल्लेखनीय है नियति शैवागम दर्शन का एक विशिष्ट शब्द है जो उस तत्त्व के अर्थ मे प्रयुक्त होता है जिसके कारण प्रत्येक वस्तु की कारिका शक्ति नियत रहती है 'नियतिर्नियोजना धत्ते विशिष्टे कार्यमण्डले'

नियति के कारण ही सरसो के बीज से सरसो का अकुर फूटता है और अग्नि मे केवल जलाने की शक्ति है, नियति के कारण ही पवन मे जल को आन्दोलित करने की क्षमता पाई जाती है

बहुत से नियतिवादियो का तो कहना यह है कि ससार मे जो आपातत आकस्मिक और आश्चर्यमयी घटनाएँ घटित होती हुई दिखलाई पडती हैं, वे वस्तुत न आकस्मिक होती है और न आश्चर्यमयी आकस्मिकता और आश्चर्य की सत्ता तो उन लोगो के लिये है जो नियति के रहस्य को हृदयगम नही कर पाते नियति यदि विश्व की नियामिका शक्ति है, यदि यह कर्म-चक्र की सचालिका है, यदि नियति की प्रेरणा से ही यह गोलक, कर्म-चक्र की भाति घूम रहा है तो अवश्य ही यह सब किसी विधान के अन्तर्गत होता होगा

किन्तु इसके विपरीत एक विचारधारा ऐसी भी है जो भाग्य को अन्धा मान कर चलती है योरोपीय देशो के लोगो का विश्वास था कि कोई ऐसी शक्ति अवश्य है जो मनुष्य के जन्म के समय ही उसके सपूर्ण जीवन की गतिविधि निश्चित कर हमेशा के लिये उसके भाग्य का निपटारा कर देती है भाग्य, वह अवश्यभावी दैवी विधान है जिसके अनुसार प्रत्येक पदार्थ और विशेषत मनुष्य के सब कार्य-उन्नति, अवनति, नाश आदि पहले से ही निश्चित रहते हैं और जिसमे अन्यथा कुछ हो ही नही सकता अशिक्षितो मे से अधिकाश लोगो का यही विश्वास रहता है कि ससार मे जो कुछ होता है, वह सदा भाग्य से ही होता है और उस पर मनुष्य का कोई अधिकार नही होता साधारणत शरीर मे भाग्य का स्थान ललाट माना जाता है बहुत-से लोग यह मानते हैं कि छठी के दिन भाग्य की देवी शिशु के ललाट पर भाग्य का अकन कर जाती है जिसमे न राई घटती है, न तिल बढता है सामान्य लोगो की दृष्टि मे भाग्य अन्धा है और उसके द्वारा नियोजित कार्य-व्यापार मे कारण-कार्य की कोई श्रृखला नही दिखलाई पडती ग्रीस देश के दु खान्त नाटको मे भी किस्मत की जो कल्पना की गई है, उसके अनुसार वह एक ऐसी निरपेक्ष शक्ति है जिसके अनुशासन को सभी स्वीकार करते हैं किन्तु स्वय वह किसी भी प्रकार के प्राकृतिक अथवा नैतिक विधान को मानकर नही चलती

स्व० डॉ० अन्सारी किसी रोगी की चिकित्सा के सिलसिले मे रेल द्वारा यात्रा कर रहे थे डॉक्टर साहब उन महाभागो मे से थे, जो गाधीजी की भयकर-से-भयकर बीमारीकी खबर सुनते ही महात्माजी को सूचित किया करते थे कि मैं आपको मृत्यु के मुख से छुडा लाऊँगा किन्तु उन्ही डॉक्टर अन्सारी को रेल के डिब्बे मे ही जब हृद्रोग ने आ दबाया तो कहने लगे—'मैं मृत्यु के पद-चापो की निकटतम आती हुई ध्वनि को सुन रहा हूँ चाहता हू कि कभी विधि के विधान मे कुछ दिवस अपने लिये और सुरक्षित करवा लू किन्तु कोई उपाय नही, कोई चारा नही वे ही डॉक्टर साहब, जो किसी दूसरे को मृत्यु के भीषण मुख से निकालने जा रहे थे, स्वय कराल काल के गर्भ मे समा गये

डाण्टे के 'इन्फर्नो' तथा 'होमर' के 'ईलियड' और 'ओडीसी' से लेकर आधुनिक युग तक के लेखको ने भवितव्यता की प्रबलता को स्वीकार किया है किन्तु जो भवितव्य है, वह क्या पहले से नियत है? क्या वह किसी कारण-कार्य-परम्परा का अनुसरण करता है अथवा उनका सारा कार्य व्यापार अन्धवत्-प्रवृत्त होता है ? इस प्रकार के अनेक प्रश्न भवितव्यता के सम्बन्ध मे हमारे मन मे उठे बिना नही रहते दुनिया के मनीषियो ने इस विषय पर भिन्न-भिन्न विचार प्रकट किये हैं. चीन की एक कहावत मे कहा गया है कि बीमारी का इलाज हो जाता है, किन्तु भाग्य का नही अनेक बार ऐसा हुआ है कि भाग्य से बचने के लिये किसी ने जिस मार्ग का अनुसरण किया, उसी मार्ग मे वह अपने दुर्भाग्य का शिकार हो गया इस सम्बन्ध मे राबर्ट साऊदे का निम्नलिखित कथन उल्लेख्य है—

The poor slaves must drag the car of Destiny wherever she drives inexorable and blind

जो हमारे भाग्य की गाड़ी चलाती है वह यदि अन्धी हो तो फिर इस जीवन का क्या ठिकाना है

उक्त विवेचन को पढ़ कर ऐसा लगता है कि यदि इस विश्व में सब कुछ पूर्वनिर्दिष्ट है तो क्या मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा शक्ति के लिये यहाँ कोई स्थान नहीं है ? दर्शन-शास्त्र का यह एक बड़ा जटिल प्रश्न है जिस पर गम्भीरता से विचार करना आवश्यक है

डा राधाकृष्णन् ने शायद कहीं कहा था कि 'स्वतन्त्र कर्ता' केवल पाणिनि का ही सूत्र नहीं यह हमारे देश का दार्शनिक सूत्र भी है प्राकृतिक जगत् की वस्तुओं की भांति मनुष्य वस्तु नहीं वह वस्तुओं को अपनी इच्छानुसार रूप देने वाला कर्ता है जब वैज्ञानिक किसी वस्तु का आविष्कार करता है तब वह उस वस्तु से अपने को अलग कर लेता है और तब उसके रहस्योद्घाटन का प्रयत्न करता है इससे स्पष्ट है कि जहाँ तक व्यक्ति का सम्बन्ध है, उसमें अपनी स्वतन्त्र इच्छा—शक्ति का तत्त्व सन्निहित है यह तत्त्व वस्तु-बाह्य अथवा आन्तरिक है इस तत्त्व की जब हम उपेक्षा करने लगते हैं तब हम अपने आप को मात्र वस्तु मान लेते हैं जड़ पदार्थों की भांति हम अपने आपको यन्त्र का एक पुर्जा समझने लगते हैं और उस स्वतन्त्रता से अपने आपको वंचित कर लेते हैं—जो हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है

मनुष्य नियति के अधीन है अथवा कर्म करने में स्वतन्त्र है इस प्रश्न का वेदान्त ने स्पष्ट शब्दों में उत्तर दिया है वेदान्त के अनुसार जब तक मनुष्य अविद्या के वशीभूत रहता है तब तक वह स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता मोक्ष अथवा स्वातन्त्र्य विद्या द्वारा ही सम्भव है जो मनुष्य इच्छा तृष्णा अथवा वासनाओं का शिकार है वह स्वतन्त्र नहीं माना जा सकता स्वतन्त्र बनने के लिए सतत साधना द्वारा उसे आत्म-साक्षात्कार करना होगा साथ ही यह भी सत्य है कि मनुष्य की मनुष्यता इस स्वातन्त्र्य सिद्धि में ही है क्योंकि वही एक ऐसा प्राणी है जो साधना द्वारा आत्म-संस्कार कर सकता है पेड़-पौधों पशु-पक्षियों तथा जीव-जन्तुओं में यह शक्ति नहीं कि वे मनुष्य की भांति अपना संस्कार कर सकें वे अपनी सहज वृत्ति से ऊपर नहीं उठ सकते

दैववाद तथा स्वातन्त्र्यवाद के सम्बन्ध में जो विचार ऊपर प्रकट किए गये हैं, वे हमारे देश की दार्शनिक विचारधारा के अनुरूप हैं किन्तु व्यावहारिकता की दृष्टि से हमारे जीवन में दैव तथा पौरुष दोनों का स्थान है माघ कवि के शब्दों में—

> 'नालम्बते दैष्टिकतां न निषीदति पौरुषे ।
> शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते । —शिशुपालवध द्वितीय सर्ग श्लोक ८६

अर्थात् विद्वान् न तो केवल दैव का सहारा लेता है और न पौरुष पर ही स्थित रहता है जिस प्रकार सत्कवि शब्द और अर्थ दोनों का आश्रय ग्रहण करता है उसी प्रकार विद्वान् भी दैव और पौरुष दोनों को जीवन में आवश्यक समझता है गीताकार ने भी कार्य सिद्धि में अधिकरण कर्ता भिन्न-भिन्न प्रकार के कारण तथा विविध चेष्टाओं के साथ 'दैवं चैवात्र पंचमम्' कह कर दैव की भी सत्ता स्वीकार की है.

एक बार हमारे प्रधानमन्त्री पं नेहरू ने नियतिवाद और स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का तारतम्य बतलाते हुए लिखा था—"इस विश्व में नियतिवाद और स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति दोनों के लिये स्थान है इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है ब्रिज के खेल में प्रत्येक खिलाड़ी को जो ताश के पत्ते मिलते हैं उसमें खिलाड़ी की स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति का कोई हाथ नहीं रहता किन्तु उन्हीं पत्तों की सहायता से अपने अनुभव और बुद्धि-कौशल द्वारा चतुर खिलाड़ी जो खेल खेलता है उसमें उसकी स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति का पूरा योग है एक दूसरा उदाहरण लीजिए पिता के चुनाव में पुत्र स्वतन्त्र नहीं है किन्तु पुत्र रूप में अवतरित व्यक्ति अपनी स्वतन्त्र इच्छा शक्ति द्वारा अपने व्यक्तित्व का समुचित विकास कर पाता है कर्ण के सारथि-पुत्र होने की बात कह कर जब अश्वत्थामा ने उसके मर्मस्थल पर चोट करनी चाही तो कर्ण ने कहा था—

सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम्,
दैवायत्त कुले जन्म, मदायत्त तु पौरुषम्।

कर्ण की इस ओजमयी उक्ति मे ही नियति और स्वातन्त्र्य का तत्त्व समाहित है

मंखलि गोशालक का नियतिवाद

इस प्रसग मे मक्खलि गोशाल के नियतिवाद की चर्चा करना भी अवांछनीय न होगी मक्खलि, आजीवको के सुप्रसिद्ध सिद्धात नियतिवाद के प्रवर्तक माने जाते है वे वहुत समय तक भगवान् महावीर के साथ रहे किन्तु फिर मतभेद के कारण उनसे पृथक् हो गये 'भगवती सूत्र' तथा आवश्यक सूत्र' की चूर्णि मे दोनो के पार्थक्य का विवरण उपलब्ध है कहा जाता है कि एक दूसरे से पृथक् होने पर ये दोनो १६ वर्षों तक अपने-अपने सिद्धान्तो का प्रचार करते रहे इस अवधि मे मक्खलि गोशाल की भी प्रतिष्ठा वढ गई और श्रावस्ती मे उनके अनेक अनुयायी हो गये उन्होंने अपने आपको तीर्थंकर भी घोषित कर दिया विद्वानो के मतानुसार भगवान् महावीर से उनका मौलिक मतभेद नियतिवाद के सम्बन्ध मे ही था जहाँ गोशाल एकात नियतिवादी थे, वहा श्रमण भगवान् महावीर अनेकान्तवाद के समर्थक थे 'श्रीमदुपासकदशाग-सूत्र' का निम्नलिखित प्रसग यहाँ उल्लेख्य है—

एक दिन सद्दालपुत्र 'आजीविकोपासक' वायु से कुछ सूखे हुए मिट्टी के कच्चे वरतनो को घर से बाहर निकाल कर धूप मे सुखा रहा था उस समय भगवान् महावीर ने उससे पूछा 'हे सद्दालपुत्र! ये मिट्टी के बरतन किस प्रकार वनते है ? सद्दालपुत्र ने उत्तर दिया 'हे भगवन्! प्रथम ये सब मिट्टी के रूप मे थे, उस मिट्टी को पानी मे भिगो कर उसमे राख और लीद मिलाते है, पीछे बहुत खूद करके उसको चाक पर चढाते है जिससे बहुत से करवे कुंजे आदि तैयार होते हैं

यह सुनकर श्रमण भगवान् ने फिर पूछा 'सद्दालपुत्ता, एसण कोलालभडे किं उट्ठाणेण जाव पुरिसक्कारपरक्कमेण कज्जति उदाहु अणुट्ठाणोण जाव अपुरिसक्कारपरक्कमेण कज्जति ?" अर्थात् हे सद्दालपुत्र! जो ये मिट्टी के बरतन बने है, ये सब उत्थान, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम से बने हैं या विना उत्थान, बल वीर्य और पुरुषकार-परा- क्रम से बने है ?

इस पर सद्दालपुत्र ने उत्तर दिया, 'भते! अणुट्ठाणेण जाव अपुरिसक्कारपरक्कमेण, नत्थि उट्ठाणे इ वा जाव पर-क्कमे इ वा, नियया सव्वभावा' अर्थात् हे भगवन्! विना उत्थान, बल, वीर्य और पराक्रम से बनते हैं इनके बनाने मे उत्थान, वल और पराक्रम की कुछ भी आवश्यकता नही है, क्योकि सब भाव नियत है

इस पर श्रमण भगवान् ने फिर पूछा, "सद्दालपुत्ता! जइ ण तुब्भ केइ पुरिसे वायाहय वा पक्केलय वा कोलालभड अवहरेज्जा वा विक्खिरेज्जा वा भिंदेज्जा वा अच्छिदेज्जा वा परिट्ठवेज्जा वा अग्गिमित्ताए वा भारियाए सद्धि विउलाइ भोगभोगाइ भुजमाणे विहरेज्जा, तस्स ण तुम पुरिसस्स किं दड वत्तेजासि ?"

अर्थात हे सद्दालपुत्र! यदि कोई पुरुष कच्चे मे से पके हुए तेरे वरतनो की चोरी कर ले जाय, बिखेर दे, फेंक दे, छेद करदे, फोड डाले या बाहर लेजाकर छोड दे अथवा तेरी अग्निमित्रा भार्या के साथ अनेक प्रकार से भोग, भोगे तो तू उस पुरुष को दड दे अथवा नही ?

यह सुनकर सद्दालपुत्र ने उत्तर दिया, "भते! अह ण त पुरिस आओसेज्जा वा हणेज्जा वा बधेज्जा वा महेज्जा वा तज्जेज्जा वा तालेज्जा वा निच्छोडेज्जा वा निब्भच्छेज्जा वा अकाले चेव जीविआओ ववरोवेज्जा"

अर्थात् हे भगवन्! मैं उस पुरुष पर आक्रोश करू, दडादिक से मारू, रस्सी से वाघ लू, तर्जना करू, तमाचा लगाऊ दाम वसूल करके तिरस्कार करू और उसके प्राण ले लू

यह सुन कर भगवान् महावीर ने कहा, "हे सद्दालपुत्र! तुम्हारे मतानुसार तो उत्थान, बल, वीर्य और पराक्रम कुछ नही है, सव भाव नियत ही हैं तो तेरे पके हुए मिट्टी के वरतनो को चोरने वाले या फोडने वाले तथा तुम्हारी भार्या
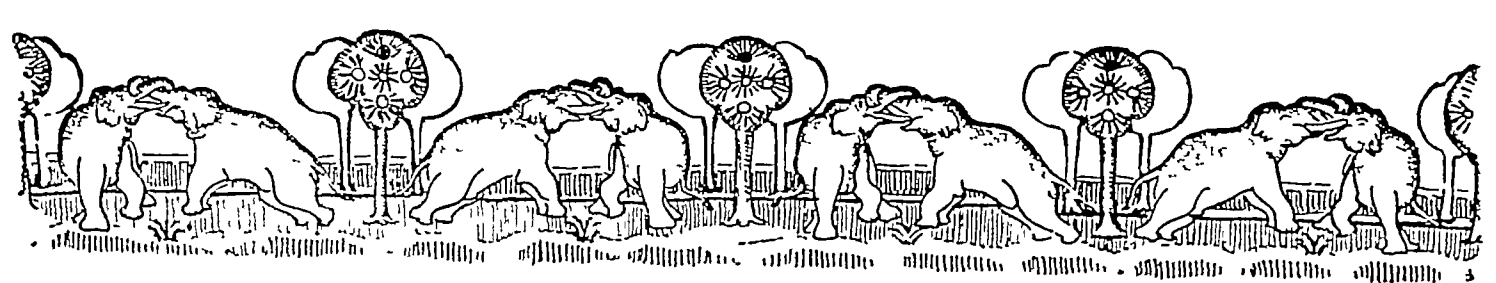
नियतिविषयक यह दृष्टिकोण अत्यन्त वैज्ञानिक है जिसकी तुलना वैदिक 'ऋत' तथा पाश्चात्य दार्शनिको के नियतवाद (Determinism) से की जा सकती है, यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि नियति सबन्धी यह धारणा अन्ध भाग्यवाद (Blind fatalism) की किसी भी प्रकार नही है—जहाँ भाग्य के देवता को अन्धा चित्रित किया गया है बबूल का पेड लगाने से बबूल का पेड ही उगता है, अन्य कोई पेड नही, इसका कारण नियति ही है, और कुछ नही नियति के विषय मे यही दृष्टिकोण काश्मीर शैवागमो मे भी गृहीत हुआ है मिट्टी से मिट्टी का घडा ही निर्मित होता है, स्वर्ण-घट नही, इसके मूल मे भी कार्यकारण की नियामिका शक्ति नियति ही वर्तमान है

मक्खलि गोशाल के नियतिवाद का वास्तविक रूप क्या था, यह प्रश्न सहज ही हमारे मन मे उपस्थित होता है 'उपासकदशाग सूत्र' मे श्रमण भगवान् महावीर के तथा मक्खलि गोशाल के अनुयायियो मे जिस प्रकार का वार्तालाप हुआ है, उससे मक्खलि भाग्यवादी, (Fatalist) सिद्ध होते है, गुणरत्नसूरी द्वारा प्रतिपादित नियतिवाद के मानने वाले नही यदि मक्खलि के अनुयायी गुणरत्नसूरी द्वारा प्रस्तुत नियतिवाद के मानने वाले होते तो वे श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के प्रश्नो का भली-भाति ऊत्तर दे सकते थे, उन्हे निरुत्तर होने की आवश्कता नही थी

मक्खलि गोशाल द्वारा किया हुआ नियतिवाद का स्वतत्र विवेचन यदि उपलब्ध हो तो मक्खलि के नियतिवाद का यथार्थ रूप समझने मे बडी सहायता मिलेगी श्रीपरशुराम चतुर्वेदी ने 'आजीवको का नियतिवादी सम्प्रदाय' शीर्षक अपने एक लेख मे लिखते है —

'छुट-पुट अवतरणो के सहारे भी यह अनुमान करते अधिक विलब नही लगता कि मक्खलि गोशाल के नियतिवाद मे सारतत्त्व की कमी नही है उनकी मान्यता की आधार-शिला यह प्रतीत होती है कि 'नियत' किसी सुव्यवस्था के सिद्धात का एक व्यापक एव सर्वग्राही नियम है जो प्रत्येक कार्य एव प्रत्येक दृश्य को मूलत शासित किया करता है, जिस कारण मनुष्य के कर्म स्वातत्र्य को कोई स्थान नही और न उसकी क्रियाशक्ति का ही कोई परिणाम सभव है वास्तव मे यह नियति एक प्रकार के किसी प्राकृतिक व विश्वात्मक नियम की प्रतीक है जिसके किसी न किसी रूप को स्वय भगवान् बुद्ध एव महावीर ने भी स्वीकार किया है उनके द्वारा उपदिष्ट कर्मवाद मे भी एक सर्व व्यापक नियम दृष्टिगोचर होता है जो सारे विश्व को नियत्रित एव शासित करता है, अन्तर केवल यही हो सकता है कि वहाँ पर अपवाद की भी सभावना है, इसी प्रकार साख्य दर्शन के परिणामवाद मे भी हमे नियतिवाद के तत्व दीख पडते है, किन्तु वहाँ पर भी आजीवको की जैसी कठोरता का पता नही चलता नियति की चर्चा करते समय मक्खलि गोशाल का कथन कुछ इस प्रकार का था कि 'जिस प्रकार कोई सूत से भरी रील फेंकने पर बराबर उभरती चली जाती है और वह उसकी पूरी लबाई तक एक ही प्रकार से बढती जाती है, उसी प्रकार चाहे कोई मूर्ख हो, चाहे कोई पडित ही क्यो न हो, सभी को ठीक एक ही नियम का अनुसरण कर अपने दु ख का अन्त करना है, मक्खलि गोशाल के इस नियतिवाद की धारणा को उनके दक्षिणी अनुयायियो ने कुछ और भी विकसित किया उन्होने, कदाचित् पकुध कच्चायन की मान्यता के अनुसार, नियति को 'अविचलितनित्यत्वम्' जैसा विशेषण अथवा नाम दिया जिसका भाव यह था कि वह सभी प्रकार से अपरिवर्तनशील है इस प्रकार नियति का रूप गतिशील न होकर सर्वथा 'नित्य स्थायी' (Static) सा बन जाता है जिसमे किसी प्रकार के काल (Time) की भी गुजायश नही रहती एक तमिल ग्रन्थ के अनुसार धन एव निर्धनता, पीडा और आनन्द, किसी एक देश का निवास और अन्य देशो मे भ्रमण-ये सभी पहले से ही गर्भ के भीतर निश्चित कर दिये गए रहते हैं और यह सारा जगत् किसी कठोर नियति द्वारा शासित और परिचालित है [1]

मक्खलि गोशाल के दक्षिणी अनुयायियो की विचारधारा को यदि एक बार छोड दें तो उक्त उद्धरण के आधार पर मक्खलि उस नियतिवाद के समर्थक जान पडते हैं जिसके अनुसार विश्व कार्यकारण के नियमो द्वारा सचालित है यह दृष्टिकोण 'उपासकदशाग सूत्र' मे प्रस्तुत किये हुए नियतिवादी दृष्टिकोण से भिन्न जान पडता है तथा श्री गुणरत्नसूरि

१ भारतीय साहित्य (जुलाई १९५८) पृ० २९-३०

नियतिविषयक यह दृष्टिकोण अत्यन्त वैज्ञानिक है जिसकी तुलना वैदिक 'ऋत' तथा पाश्चात्य दार्शनिको के नियतवाद (Deterominnsm) से की जा सकती है, यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि नियति सवन्धी यह धारणा अन्ध भाग्यवाद (Blind fatalism) की किसी भी प्रकार नही है—जहाँ भाग्य के देवता को अन्धा चित्रित किया गया है ववूल का पेड लगाने से ववूल का पेड ही उगता है, अन्य कोई पेड नही, इसका कारण नियति ही है, और कुछ नही नियति के विषय मे यही दृष्टिकोण काश्मीर शैवागमो मे भी गृहीत हुआ है मिट्टी से मिट्टी का घडा ही निर्मित होता है, स्वर्ण-घट नही, इसके मूल मे भी कार्यकारण की नियामिका शक्ति नियति ही वर्तमान है

मक्खलि गोशाल के नियतिवाद का वास्तविक रूप क्या था, यह प्रश्न सहज ही हमारे मन मे उपस्थित होता है 'उपासकदशाग सूत्र' मे श्रमण भगवान् महावीर के तथा मक्खलि गोशाल के अनुयायियो मे जिस प्रकार का वार्तालाप हुआ है, उससे मक्खलि भाग्यवादी, (Fatalist) सिद्ध होते हैं, गुणरत्नसूरी द्वारा प्रतिपादित नियतिवाद के मानने वाले नही यदि मक्खलि के अनुयायी गुणरत्नसूरी द्वारा प्रस्तुत नियतिवाद के मानने वाले होते तो वे श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के प्रश्नो का भली-भाति ऊत्तर दे सकते थे, उन्हे निरुत्तर होने की आवश्कता नही थी

मक्खलि गोशाल द्वारा किया हुआ नियतिवाद का स्वतत्र विवेचन यदि उपलब्ध हो तो मक्खलि के नियतिवाद का यथार्थ रूप समझने मे बडी सहायता मिलेगी श्रीपरशुराम चतुर्वेदी ने 'आजीवको का नियतिवादी सम्प्रदाय' शीर्षक अपने एक लेख मे लिखते हैं —

'छुट-पुट अवतरणो के सहारे भी यह अनुमान करते अधिक विलव नही लगता कि मक्खलि गोशाल के नियतिवाद मे सारतत्त्व की कमी नही है उनकी मान्यता की आधार-शिला यह प्रतीत होती है कि 'नियत' किसी सुव्यवस्था के सिद्धात का एक व्यापक एव सर्वग्राही नियम है जो प्रत्येक कार्य एव प्रत्येक दृश्य को मूलत शासित किया करता है, जिस कारण मनुष्य के कर्म स्वातत्र्य को कोई स्थान नही और न उसकी क्रियाशक्ति का ही कोई परिणाम सभव है वास्तव मे यह नियति एक प्रकार के किसी प्राकृतिक व विश्वात्मक नियम की प्रतीक है जिसके किसी न किसी रूप को स्वय भगवान् बुद्ध एव महावीर ने भी स्वीकार किया है उनके द्वारा उपदिष्ट कर्मवाद मे भी एक सर्व व्यापक नियम दृष्टिगोचर होता है जो सारे विश्व को नियत्रित एव शासित करता है, अन्तर केवल यही हो सकता है कि वहाँ पर अपवाद की भी सभावना है, इसी प्रकार साख्य दर्शन के परिणामवाद मे भी हमे नियतिवाद के तत्व दीख पडते है, किन्तु वहाँ पर भी आजीवको की जैसी कठोरता का पता नही चलता नियति की चर्चा करते समय मक्खलि गोशाल का कथन कुछ इस प्रकार का था कि 'जिस प्रकार कोई सूत से भरी रील फेंकने पर बरावर उभरती चली जाती है और वह उसकी पूरी लबाई तक एक ही प्रकार से बढती जाती है, उसी प्रकार चाहे कोई मूर्ख हो, चाहे कोई पडित ही क्यो न हो, सभी को ठीक एक ही नियम का अनुसरण कर अपने दु ख का अन्त करना है, मक्खलि गोशाल के इस नियतिवाद की धारणा को उनके दक्षिणी अनुयायियो ने कुछ और भी विकसित किया उन्होने, कदाचित् पकुध कच्चायन की मान्यता के अनुसार, नियति को 'अविचलितनित्यत्वम्' जैसा विशेषण अथवा नाम दिया जिसका भाव यह था कि वह सभी प्रकार से अपरिवर्तनशील है इस प्रकार नियति का रूप गतिशील न होकर सर्वथा 'नित्य स्थायी' (Static) सा वन जाता है जिसमे किसी प्रकार के काल (Time) की भी गुजायश नही रहती एक तमिल ग्रन्थ के अनुसार धन एव निर्धनता, पीडा और आनन्द, किसी एक देश का निवास और अन्य देशो मे भ्रमण-ये सभी पहले से ही गर्भ के भीतर निश्चित कर दिये गए रहते हैं और यह सारा जगत् किसी कठोर नियति द्वारा शासित और परिचालित है[१]

मक्खलि गोशाल के दक्षिणी अनुयायियो की विचारधारा को यदि एक वार छोड दें तो उक्त उद्धरण के आधार पर मक्खलि उस नियतिवाद के समर्थक जान पडते है जिसके अनुसार विश्व कार्यकारण के नियमो द्वारा सचालित है यह दृष्टिकोण 'उपासकदशाग सूत्र' मे प्रस्तुत किये हुए नियतिवादी दृष्टिकोण से भिन्न जान पडता है तथा श्री गुणरत्नसूरि

---

१ भारतीय साहित्य (जुलाई १९५८) पृ० २९-३०

मुनि श्रीसुशीलकुमार

भिक्षु जमाली और बहुरतदृष्टिवाद

भगवान् महावीरके युग मे, सत्य के सम्बन्ध मे वहुत कुछ सोचा गया वह एक चिन्तन-प्रधान युग था विचारकोने विचार की मौलिकता के नाते अपना एक विशिष्ट स्थान वना लिया था विचार एक वहुत वडी शक्ति है विचारको के वल से हम मनुष्य के सोचने के ढग को और सिद्धान्त स्थापित करनेवाले दृष्टिकोण को इस प्रकार व्यवस्थित कर देते है कि वुद्धि की सही समझ और स्फुरणा से उठे हुए भावावेग वास्तविकता का रूप ले लेते हैं जीवन और जगत् के प्रति जितनी हमारी धारणा है वह सब विचारको की देन है हमारे विश्वास और हमारी श्रद्धा हमे अपने सम्बन्ध मे और जगत् के सम्बन्ध मे स्वरूप निर्धारण करने मे एक मात्र सहायक होती है

भगवान् महावीरने आत्मा को और इस सारे जगत् को स्याद्वाद की दृष्टि से, नय और निक्षेपके वर्गीकरण से व भेद और अभेद दृष्टि से सोचा है इसी तरह भगवान् वुद्ध ने, पूर्ण काश्यप ने, प्रवुद्ध कात्यायन ने, मखली गोशाल ने और सजय वेलट्ठीपुत्त ने भी इस जगत् के सम्बन्ध मे अपने-अपने ढग से विचार किया है वह हमारे राष्ट्र का स्वर्ण-युग था उस काल मे मौलिक विचार और मौलिक दर्शन हमारी सपत्ति वन रहे थे विचारो की दृढता और आचार की निष्ठा उस युग की अस्मिता वन गई थी

जमाली उसी जमाने के ऋषि है भगवान् महावीर के वे अनन्यतम शिष्य थे सासारिक सम्बन्ध मे वे वहन के पुत्र होने के नाते भानजे लगते थे और स्वय भगवान् महावीर की सुपुत्री का परिणय भी उन्ही के साथ हुआ था, इस नाते भगवान् महावीर के जामाता भी थे वैराग्य-भाव के साथ जमाली ने ५०० राजकुमारो और सुदर्शना ने १००० सखियो के साथ भगवान् महावीर के पास दीक्षा धारण कर ली थी भगवान् महावीर के केवल-ज्ञान के चौदह वर्ष बाद श्रावस्ती के तँदुकवन मे यह चर्चा उठी थी, जिसको हम बहुरतदृष्टिवाद कहते है

जमाली, श्रमण भगवान् महावीर से अलग हो कर तैंदुकवन मे विश्रामार्थ गये तो उन्होने अपने शिष्यो से कहा, कि मेरा शरीर रुग्ण है, वहुत जल्दी मेरे शैयासन को बिछा दो दर्शन का प्रारम्भ जीवन की बहुत छोटी-छोटी घटनाओ से हो जाया करता है मालूम नही कब सत्य या सत्याभास हमे प्राप्त हो जाये और उसके पीछे हम अपना सर्वस्व लगा दें ऐसी ही स्थिति जमाली की हुई

आसन बिछाने की आज्ञा देने के बाद जमाली ने अपने शिष्यो से पूछा 'मेरा आसन बिछ गया?' शिष्यो ने कहा 'हा' उनकी स्वीकारोक्ति के बाद जमाली जब बडी अधीरता के साथ पहुँचे तो देखा कि आसन अभी बिछ रहा है जमाली ने कहा 'सत्य का व्रत लेने वाले साधक इतना असत्य नही बोल सकते आसन जब तक पूरी तरह बिछा नही, तब तक बिछे होने की बात कैसे कह सकते है ?' शिष्यो ने कहा "श्रमण भगवान् महावीर का यह सिद्धात है कि 'चलमाणे चलिए' और अन्त मे "निज्जरमाणे निज्जरिए" इसके अनुसार जिस काम को हम कर रहे हैं, उसको कर चुके, ऐसा हमे मानना चाहिए' जमाली कहने लगे 'जब तक काम पूरा न हो जाय, जब तक क्रिया उद्देश्य को परिपूरित न कर दे, तबतक हम
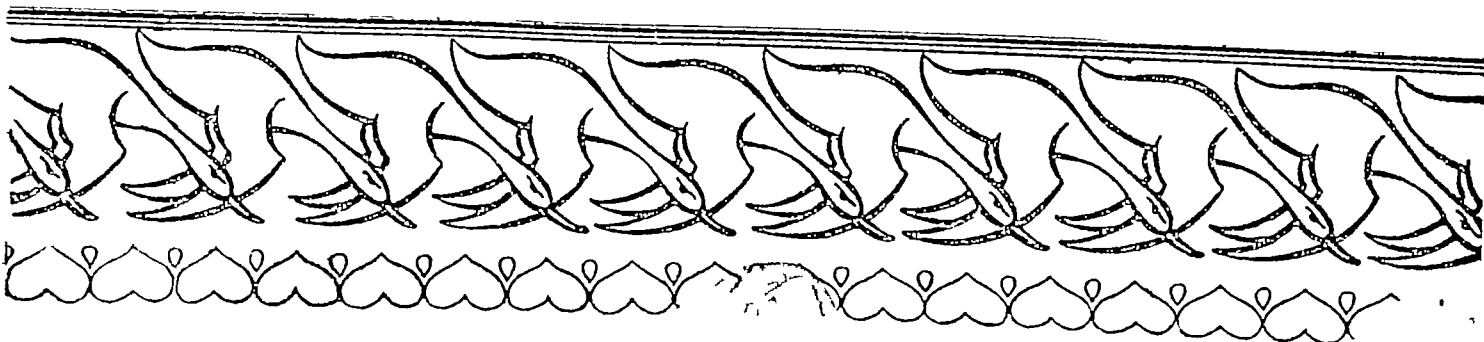
डा भुवनेश्वरनाथ मिश्र माधव
एम ए पी-एच० डी निदेशक बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना

धर्म का वास्तविक स्वरूप

धर्म के तत्त्व के सम्बन्ध में विभिन्न मत पंथ सम्प्रदायों में नाना प्रकार के वितंडावाद आज भी प्रचलित हैं और शायद सदा प्रचलित रहेंगे इसमें मुख्य हेतु कदाचित् यही है कि प्रत्येक मत-पंथ या सम्प्रदाय के व्यक्ति अपने-अपने मत पंथ या सम्प्रदाय के संकीर्ण दायरे से बाहर की बातें सोच समझ नहीं पाते या सोचना समझना नहीं चाहते इसी लिए धर्म के क्षेत्र में प्राय कूपमण्डूकता का ही बोल-बाला है और इसीलिए धर्म के नाम पर संसार में इतना अधर्म हो रहा है और इतिहास साक्षी है कि धर्म के नाम पर क्या-क्या अनाचार और रक्तपात नहीं हुए अस्तु, आश्चर्य नहीं कि आज के प्रगतिशील व्यक्ति धर्म का नाम सुन-सुन कर नाक भौंह सिकोड़ने लगते हैं और इसे अफीम की संज्ञा दे बैठते हैं उनकी दृष्टि में धर्म एक नशा है जिसका सेवन करने वाले धर्मांध हो कर सब कुकर्म करने पर उतारू हो जाते हैं और जीवन के सामान्य शिष्टाचार के नियमों से भी आँखें बन्द कर लेते हैं

धर्म शब्द का यथार्थ पर्यायवाची शब्द न अंग्रेजी भाषा में है न विश्व की किसी भी अन्य भाषा में है धर्म शब्द धृ धातु से बना है जिसका अर्थ है धारण करना पोषण करना वैशेषिक दर्शन के अनुसार धर्म की परिभाषा है यतोऽभ्युदयनि श्रेयस् सिद्धि सधर्म अर्थात् जिससे लौकिक अभ्युदय और पारलौकिक नि श्रेयस् (कल्याण अथवा मोक्ष) की सिद्धि हो वही धर्म है महर्षि जैमिनी धर्म की परिभाषा एक व्यापक परिवेश में करते हैं— 'चोदनालक्षणो धर्म अर्थात् श्रुतिस्मृति द्वारा बोधित अर्थ ही धर्म है सच तो यह है कि श्रुति स्मृति ही धर्म का प्राण है और इनके वचन ही धर्ममार्ग में अग्रसर होने की प्रेरणा देते रहते हैं

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्म-शास्त्रं तु वै स्मृतिः
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां हि धर्मो निर्बभौ।

परन्तु श्रुतियाँ भी अनेक हैं और स्मृतियाँ भी अनेक हैं और उनमें मतैक्य नहीं वे भिन्न भिन्न मतों का प्रतिपादन करती हैं ऐसी अवस्था में विचारक या धर्मसाधक क्या करें ? ऐसी अवस्था में 'महाजनो येन गतः स पन्था' जिस मार्ग से महापुरुष चलते हों वही निष्कंटक है यहाँ महापुरुष का अर्थ है श्रेष्ठजन आदर्श धर्मप्राण व्यक्ति जिसने अपने आप-परमात्मा का साक्षात्कार किया है जो मुक्त है या मोक्षार्थी है न कि लौकिक पद मर्यादा या मान प्रतिष्ठा के कारण महान् बन बैठा है ऐसे ही महापुरुष सूत्र बतला गये हैं जिनका पर्यालोचन मानवता को कल्याणपथ पर अग्रसर करता रहेगा वे कहते हैं

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्
आत्मनः प्रतिकूलानि न परेषां समाचरेत्।
विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत।
श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्।

अर्थात् धर्म का यह रहस्य सुनो और सुनकर हृदय में धारण करो जिस बात के लिए बुरा समझते हो उसे दूसरों के

कोई बलिष्ठ नवयुवक अपने बलिष्ठ हाथो से जब वस्त्र काटता है तो जमाली के अनुसार जब तक वह पूरा वस्त्र न काट ले तब तक वस्त्र काटा हुआ नही कहा जासकता किन्तु भगवान् महावीर कहते है कि वस्त्र काटने की प्रथम क्रिया जितनी हो चुकी है, जिसमे कितने तन्तु कट चुके और एक तन्तु मे कितने रेशे, और एक रेशे मे कितने रज-कण और हर रज मे कितने परमाणु प्रदेश, उन सबको काट कर के ही वह व्यक्ति उस वस्त्र के मध्य तक पहुँचा है अगर आप कहे कि पहला तन्तु जो उसने काटा और पहले तन्तु मे रहे हुए लक्ष्यावधि रजकणो को काटा, वह सब काटा हुआ नही माना जा सकता, तो समूचे वस्त्र का काटना भी आप कैसे मानेगे ? क्योकि वही क्रिया काटने की पहले समय भी हुई और अन्तिम समय मे भी वही काटने की क्रिया की गई कोटि-कोटि तन्तुओ के रजकणो को काटने को काटना हम नही माने और जिनको हम काट चुके हैं उनको हम काट रहे है, कहे तो क्या यह सत्य के निकट होगा ?[1] आप भोजन कर रहे है, लेकिन आप जो ग्रास खा चुके और उस एक ग्रास मे कितने बीज और उस बीज मे रहे हुए कितने रज-कण, हर रजकण मे कितने परमाणु-प्रदेश को खा चुकने पर भी आप खा रहे है यह कैसे कहेगे ? यही उदाहरण आप चलने पर घटाइये, अनुभव पर घटाइये, मरने पर घटाइये, छेदन करने मे, भेदन करने मे घटाइये अथवा किसी पर भी घटाइये आपको इस सत्य का दर्शन होगा कि आप जिसे काट रहे हैं, उसको काट चुके है, चल रहे है वो चल चुके है अनुभव कर रहे हैं, वो कर चुके हैं अगर इसे व्यवहार मे घटाना हो तो एक बडा सीधा उदाहरण है कोई व्यक्ति अपने घर से अमरीका के लिये चल पडता है, और थोडी देर बाद उसका कोई मित्र आकर पूछता है कि वह कहाँ गया ? आप कहते हैं—अमरीका गया बेशक वह अभी रास्ते मे ही हो, या चल रहा हो परन्तु इस बात को सुनने के बाद भी आपके कथन को कोई असत्य नही कहता जब कि उद्देश्य के नाते वह असत्य है

अमरीका जाने के निमित्त घर से चल पडने का नाम ही अमरीका जाना मान लिया, यह क्यो ? इसलिए कि यह एक व्यवहार है उद्देश्य के नाते यह कथन सर्वत्र असत्य नही है किन्तु कर्मवाद के क्षेत्र मे जब हम भगवान् महावीर के सिद्धान्त को घटायेंगे, केवल-ज्ञान की प्राप्ति और महा-परिनिर्वाण की अवस्था मे इसे लागू करेंगे तो हमे भगवान् महावीर के इस सिद्धान्त की सच्चाई का दर्शन होगा[2] जैसा कि भगवती सूत्र मे भगवान् ने कहा है कि प्रथम समय के चलित कर्म अथवा आदि समय मे चलित कर्मांश को उत्तर समय की अपेक्षा चलित मानना उदय मे आए हुए कर्म-दलिक के अनुभव को असख्यात समयवर्ती उत्तर समयो की अपेक्षा वेदित मानना भोगते हुए कर्मभोग को मुक्ति मानना जीव-प्रदेश हे कर्मांश को प्रहाण करते हुए प्रहीण मानना छेदन होते हुए कर्मांश को छिन्न, भेदन होते हुए कर्म के रसास्वाद को भिन्न, दग्ध होते हुए कर्मांश को दग्ध, नष्ट होते हुए आयुष कर्मांश को मृत और निर्जरित अर्थात् अपुन-र्भावि रूप मे क्षय करते हुए कर्मांश को निर्जरित मानना ही सिद्धान्त के अनुकूल है

सत्य की गहराई और कर्मबन्ध की विलक्षणता, केवलज्ञान की उत्पत्ति और निर्वाण की प्राप्ति के सारे पहलुओ को समझ लिया जाय तो हम इन एकार्थक और भिन्नार्थक वाक्यो की सचाई को सही रूप से जान सकते है अगर हम समय की सूक्ष्मता मे विश्वास करते हैं, क्रिया की तीव्रता को मानते है और स्कन्ध, देश, प्रदेश के सारे पदार्थगत सूक्ष्म तन्त्रात्मक, हिस्सो के अस्तित्व को स्वीकार करते है, तो भगवान् महावीर के सिद्धान्त को माने बिना किसी तरह भी सत्य हाथ नही लग सकता सत्य के प्रति तीर्थंकर भगवान् कितने जागरूक थे और कितनी गहराई से उन्होने हमारे सामने इस सत्य का प्रकाश अनाव्रत किया है, उसके लिये युग-युग तक हम उनके कृतज्ञ रहेगे यह स्वाभाविक है, किन्तु जमाली श्रमण के इस उपकार को हम नही भुला सकते कि अगर वह बहुरतदृष्टिवाद के आग्रही सिद्धान्त को स्थापित न करते तो हमे भगवान् महावीर के सत्य-सिद्धान्त को समझने मे अवश्य कठिनाई अनुभव होती ☆

---

१ अनुयोगद्वार सूत्र

२ चल माणे चलिए ?, उदीरिज्जमाणे उदीरिए ?, वेइज्जमाणे वेइए ?, पहिज्जमाणे पहीणे ?, छिज्जमाणे छिन्ने ?, भिज्जमाणे भिन्ने ?, उज्झमाणे दट्ढे ?, मिज्जमाणे मडे ?, निज्जरिज्जमाणे निज्जिण्णे ?

का अखण्ड अविच्छिन्न सूत्र हाथ लग जाता है और समस्त विनाशशीलों में अविनाशीतत्त्व— विनश्यत्सु अविनश्यन्त का स्वर्णसूत्र हाथ लग जाने पर मानव विश्वकल्याण की कामना से ओतप्रोत होकर इसका उद्घोष करता है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग् भवेत्।
दुर्जनः सज्जनो भूयात् सज्जनः शान्तिमाप्नुयात्
शान्तः मुच्येत् बंधेभ्यो मुक्तश्चान्यान् विमोचयेत्।

संसार में सभी जीवजन्तु कीट पतंग स्थावर जंगम सुखी हों सभी निरामय हों सभी कल्याण कामी मंगलवृत्तिसम्पन्न हों किसी को भी किसी प्रकार दुख न हो दुर्जनों में सज्जनता आ जाय सज्जनों को शान्ति प्राप्त हो जो शान्त हैं वे बन्धनों से मुक्त हो जाएँ और जो मुक्त हैं वे मायाबद्ध जीवों को मुक्त करें
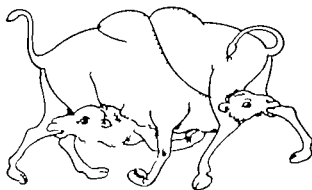
के लिए मत करो विद्वानों ने, सतो ने, और सदा रागद्वेष से मुक्त वीतराग पुरुषो ने जिसका सेवन किया है और जिसे हृदय ने मान लिया है वही धर्म है, उसे जानो करोडो ग्रथो मे जो कहा गया है उसे मैं आधे श्लोक मे कहूगा दूसरो का भला करने से पुण्य होता है और बुरा करने से पाप गोस्वामी तुलसीदासजी इसी को कहते है

परहित सरिस धरम नहिं भाई, परपीडा सम नहिं अधमाई ।

सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, आकाश, पृथ्वी, जल, हृदय, यम, दिन और रात साझ और सवेरा और स्वय धर्म मनुष्य के आचरण को जानते है, यानी मनुष्य अपना कार्य विचार या कर्म इन से छिपा नही सकता

'धर्मस्य तत्त्व निहित गुहाया' का उद्घाटन ऋषियो ने, सतो ने, मुनियो ने अपने अनुभूत आचरण और आचरित अनुभय के आधार पर यत्र तत्र किया है मनु ने चारो वर्णो के लिए बहुत ही सक्षेप मे धर्माचरण का सकेत किया है

अहिंसा सत्यमस्तेय शौचमिन्द्रिय निग्रह ,
एत सामासिक धर्म चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनु ।

हिंसा न करना, सत्य बोलना, चोरी न करना, पवित्रता का पालन करना, इन्द्रियो पर काबू रखना—मनुने चारो वर्ण के लिये थोडे मे यह धर्म कहा है अहिंसा का अर्थ केवल 'सिसा न करना' ही नही है उसका वास्तविक अर्थ है—'आत्मवत्सर्थभूतेषु" इसी प्रकार सत्य का अर्थ केवल सच बोलने तक ही सीमित नही, उसका अर्थ है सत्चित्आनन्द स्वरूप परमात्मा मे स्थित होकर आचरण करना इसी प्रकार अस्तेय, शौच और इन्द्रियनिग्रह भी व्याप्क अर्थों मे व्यवहृत हुये है परन्तु इन शब्दो का जो सामान्य भाव है उसी का अनुसरण करने पर विशिष्ट भावलोक के द्वार उन्मुक्त होगे जहा धर्म से वस्तुत साक्षात्कार होगा जो ज्ञानी और तत्त्वदर्शी है उनके चरणो मे आदर और भक्ति पूर्वक साष्टाग पणिपात द्वारा, उनकी अहैतुकी सेवा मे अपने को लीनकर के तथा अत्यन्त विनम्रतापूर्वक जिज्ञासुभाव से उनसे परिप्रश्न करके धर्म का तत्त्व जाना जा सकता है ऐसा गीता उपदेश करती है

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ,
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञान ज्ञानिनस्तत्वदर्शिन ।

श्वेम्बर उपनिषद् मे ईश्वरीय शक्ति से अनुप्राणित महर्षि ने विश्व के सामने खडे होकर उसी अमर सन्देश की घोषणा की

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा , आये धामानि दिव्यानि तस्थु ।
वेदाहमेत पुरुष महान्तम्, आदित्यवर्णं तमस परस्तात् ।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति, नान्य पथा विद्यतेऽयनाय ।

हे अमृतपुत्र ! अनादि पुरातन पुरुष को पहचानना ही अज्ञान एव माया से परे जाना है केवल उस पुरुष को जानकर ही लोग ज्ञानी बन सकते हैं, मृत्यु के चक्कर से छूट सकते है—और कोई मार्ग है नही यह निर्मल ज्ञान ही धर्म की आत्मा है सच तो यह कि ससार मे ज्ञान के सदृश पवित्र करने वाला तत्त्व नि सन्देह कुछ भी नही है, छान्दोग्य उपनिषद् मे इसी सत्य का समर्थन है

'सच एषोणिमा एतात्म्य मिद सर्वं तत्सत्य स आत्मा तत्वमसि—श्वेत केतो इति'

अपनी आत्मा को जानना पहचानना और उसी मे स्थित होकर आचरण करना—'स्वस्य च प्रियमात्मन' यही धर्माचरण का केन्द्र-बिन्दु है कठोपनिषद् मे उस पुरुष के स्वरूप के सम्बन्ध मे आया है

भयादग्निस्तपति भयात्तपति सूर्य , भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पचम ।

उसी के भय से अग्नि तपती है, उसी के भय से सूर्य प्रकाश देता है—उसी के भय से इन्द्र और वायु अपना काम करते हैं और उसी के भय से मृत्यु भी भयभीत है

इस प्रकार धर्म की आत्मा का जब साक्षात्कार हो जाता है तो सभी विभिन्न धर्मों, मतो, पथो, सम्प्रदायो मे उसी एक
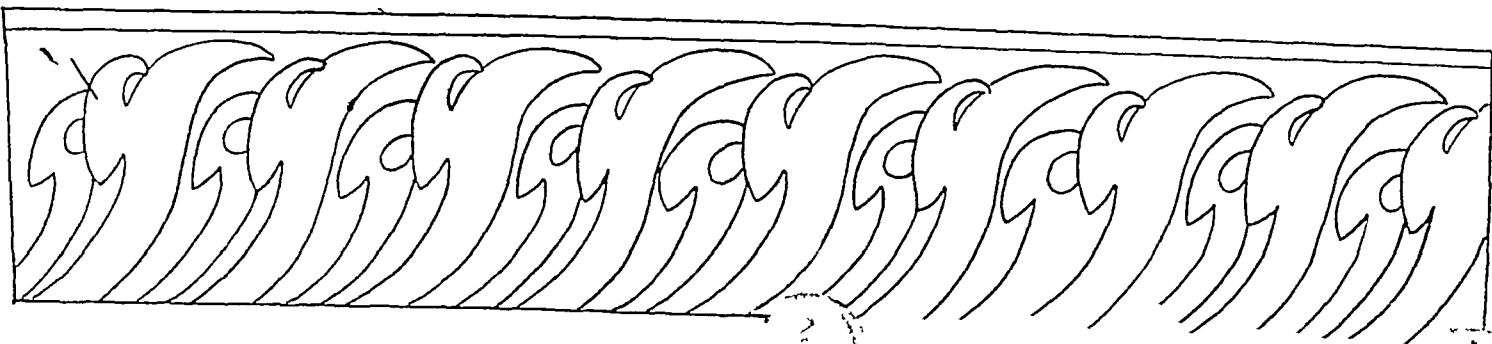
असंयतसम्यग्दृष्टि नामक चौथे गुणस्थान की प्राप्ति कहते हैं मिथ्यादृष्टि जीव आत्मसाक्षात्कार के होते ही प्रथम गुणस्थान से एक दम ऊंचा उठकर चतुर्थ गुणस्थानवर्ती बन जाता है

मिथ्यादृष्टि जीव के दर्शनमोहनीय कर्म अनादिकाल से अभी तक एक मिथ्यात्व के रूप में ही चला आ रहा था किन्तु करणलब्धि के प्रताप से उसके तीन खण्ड हो जाते हैं जिन्हें शास्त्रीय शब्दों में क्रमश मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति कहते हैं जीव को प्रथम बार जो सम्यग्दर्शन होता है उसे प्रथमोपशमसम्यक्त्व कहते हैं इसका काल अन्तर्मुहूर्तमात्र है इस काल के समाप्त होते ही यह जीव सम्यक्त्वरूप पर्वत से नीचे गिरता है उस काल में यदि सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का उदय आ जावे तो वह तीसरे गुणस्थान में पहुँचता है और यदि अनन्तानुबन्धी क्रोधादि किसी कषाय का उदय आजावे तो दूसरे गुणस्थान में पहुँचता है तदनन्तर मिथ्यात्वकर्म का उदय आता है और वह जीव पुन मिथ्यादृष्टि बन जाता है अर्थात् पहले गुणस्थान में आ जाता है इस सब के कहने का सार यह है कि दूसरे और तीसरे गुणस्थान जीव के उत्थान काल में नहीं होते किन्तु पतनकाल में ही होते हैं

(२) सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थान जैसा कि ऊपर बतलाया गया है इस गुणस्थान की प्राप्ति जीव को सम्यक्त्व दशा से पतित होते समय होती है सासादन का अर्थ सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन की विराधना है सम्यग्दर्शन के विराधक जीव को सासादनसम्यग्दृष्टि कहते हैं इसे सास्वादन सम्यग्दृष्टि भी कहते हैं जैसे कोई जीव मीठी खीर को खावे और तत्काल ही यदि उसे वमन हो जाय तो वमन करते हुए भी वह खीर की मिठास का अनुभव करता है इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव जब कर्मोदय की तीव्रता से सम्यक्त्व का वमन करता है तो उस वमन काल में भी उसे सम्यग्दर्शनकाल भावी आत्मविशुद्धि का आभास होता रहता है किन्तु जैसे किसी ऊंचे स्थान से गिरने वाले व्यक्ति का आकाश में अधर रहना अधिक काल तक सम्भव नहीं है इसी प्रकार सम्यग्दर्शन से गिरते हुए यह जीव दूसरे गुणस्थान में एक समय से लगाकर ६ आवली काल तक अधिक से अधिक रहता है तत्पश्चात् नियम से मिथ्यात्व कर्म का उदय आता है और जीव पहले गुणस्थान में आ पहुँचता है काल के सब से सूक्ष्म अंश को समय कहते हैं और असंख्यात समय की एक आवली होती है यह छह आवलीप्रमाण काल भी एक मिनट से बहुत छोटा होता है

(३) सम्यग्मिथ्यादृष्टि : चौथे गुणस्थान की असंयत सम्यग्दृष्टि दशा में रहते हुए जीव के जब मोहनीय कर्म की सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृति का उदय आता है तो यह जीव चौथे गुणस्थान से गिरकर तीसरे गुणस्थान में आ जाता है सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से तीसरे गुणस्थानवर्ती जीव के परिणाम न तो शुद्ध सम्यक्त्वरूप ही होते हैं और न शुद्ध मिथ्यात्वरूप ही होते हैं किन्तु उभयात्मक (मिश्ररूप) होते हैं जैसे दही और चीनी का मिला हुआ स्वाद न तो केवल दही रूप खट्टा ही अनुभव में आता है और न चीनी रूप मीठा ही किन्तु दोनों का मिला हुआ खट-मिट्ठारूप एक तीसरी ही जाति का स्वाद आता है इसी प्रकार तीसरे गुणस्थानवर्ती जीव के परिणाम न तो यथार्थ रूप ही रहते हैं और न अयथार्थरूप ही किन्तु यथार्थ-अयथार्थ के सम्मिश्रित परिणाम होते हैं इस गुणस्थान का काल भी अधिक से अधिक एक अन्तर्मुहूर्त ही है मुहूर्त का मतलब दो घड़ी या ४८ मिनट है उसमें एक समय कम काल को उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त कहते हैं एक समय अधिक आवली काल को जघन्य अन्तर्मुहूर्त कहते हैं आगे एक-एक समय की वृद्धि करते हुए उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त प्राप्त होने तक मध्यवर्ती काल को मध्य अन्तर्मुहूर्त कहते हैं इस मध्यम अन्तर्मुहूर्त के असंख्यात भेद होते हैं सो इस तीसरे गुणस्थान का काल यथासंभव मध्यम अन्तर्मुहूर्त जानना चाहिए इतना विशेष है कि इस गुणस्थान वाला जीव यदि सम्भल जावे तो तुरन्त चढ़कर चौथे गुणस्थान में पहुँच सकता है अन्यथा नीचे के गुणस्थानों में उसका पतन निश्चित ही है

(४) असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान : जैसा कि पहले बतलाया गया है, जीव को यथार्थदृष्टि प्राप्त होते ही चौथा गुणस्थान प्राप्त हो जाता है यह यथार्थ दृष्टि—जिसे कि सम्यग्दर्शन कहते हैं—तीन प्रकार की होती है—औपशमिक क्षायिक और क्षायोपशमिक दर्शनमोहनीय की मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन तीन प्रकृतियों तथा चारित्र मोहनीय कर्म की अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया और लोभ ये चार प्रकृतियाँ इस प्रकार सात प्रकृतियों के उपशम
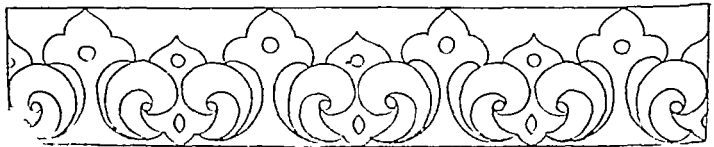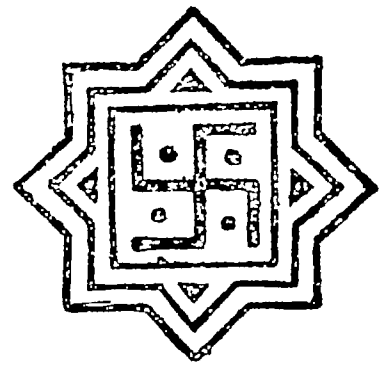
पं० हीरालाल जैन
सिद्धान्तशास्त्री, न्यायतीर्थ

गुणस्थान

अनादि काल से यह जीव अज्ञान के वशीभूत होकर विषय और कषाय मे प्रवृत्ति करता हुआ ससार मे परिभ्रमण करता चला आ रहा है, यद्यपि अपने इस परिभ्रमण काल मे जीव ने चौरासी लाख योनियो के अनन्त उतार-चढाव देखे है, पुण्य का उपार्जन कर मनुष्य और देवो के दिव्य सुखो को भी भोगा है और पाप का सचय कर नारको और पशु-पक्षियो के महान् दु खो का भी अनुभव किया है, तथापि आज तक अपने आत्म-स्वरूप का साक्षात्कार या यथार्थ ज्ञान नही हो सकने से भव-बन्धनो से मुक्ति पाने के लिये प्रयत्न करने पर भी वह सफल नही हो सका है आत्म-स्वरूप का दर्शन नही हो सकने के कारण इस जीव की दृष्टि अनादि से ही विपरीत हो रही है और उसी के कारण आत्मा से भिन्न परपदार्थों को यह अपना मानकर उन्ही की प्राप्ति के लिये अहर्निश प्रयत्न करता रहता है और इच्छानुसार उनके प्राप्त नही हो सकने से आकुल-व्याकुल रहता है जीव की इस विपरीत दृष्टि के कारण ही जैन शास्त्रकारो ने उसे मिथ्यादृष्टि या वहिरात्मा कहा है

वहिरात्मा अपनी मिथ्यादृष्टि को छोडकर किस प्रकार अन्तरात्मा या यथार्थ दृष्टिवाला समयग्दृष्टि बनता है और किस प्रकार आगे आत्म-विकास करते हुए परमात्मा बन जाता है, उसके इस क्रमिक विकास के सोपानो का नाम ही गुण-स्थान है वहिरात्मा ने परमात्मा बनने के लिये आत्मिक गुणो की उत्तरोत्तर प्राप्ति करते हुए इस जीव को जिन-जिन स्थानो से गुजरना पडता है उन्हे ही जैन-शास्त्रो मे 'गुणस्थान' कहा है गुणस्थानो के चौदह भेद है, जो इस प्रकार है

१ मिथ्यादृष्टि, २ सासादन सम्यग्दृष्टि, ३ सम्यग्मिथ्यादृष्टि, ४ अविरत-सम्यग्दृष्टि, ५ देशसयत, ६ प्रमत्तसयत, ७ अप्रमत्तसयत, ८ अपूर्वकरण सयत, ९ अनिवृत्तिकरण सयत, १० सूक्ष्मसाम्पराय सयत, ११ उपाशान्त कषाय सयत, १२ वीतरागछद्मस्थ सयत, १३ सयोगिकेवली गुणस्थान और १४ अयोगिकेवली गुणस्थान

(१) मिथ्यादृष्टि गुणस्थान जब तक जीव को आत्मस्वरूप का दर्शन नही होता तब तक वह मिथ्यादृष्टि कहलाता है ससार के बहुभाग प्राणी इसी प्रथम गुणस्थान की भूमिका मे रह रहे है ये मिथ्यादृष्टि जीव शरीर की उत्पत्ति को ही आत्मा की उत्पत्ति और शरीर के मरण को ही आत्मा का मरण मानते है शरीर की सुरूपता-कुरूपता और सबलता-निर्वलता को ही अपना स्वरूप मानते है पुण्य-पाप के उदय से होने वाली इन्द्रियजनित सुख-दुख की परिणति को ही आत्मस्वरूप मानते है और इसी कारण इष्ट-वियोग या अनिष्ट-सयोग के होने पर वे असीम दु खो का अनुभव करते रहते हैं

जब किसी सुगुरु के निमित्त से इस मिथ्यादृष्टि जीवको आत्म-स्वरूपका उपदेश प्राप्त होता है, तब इसकी कषाय मद होती है, आत्म-परिणामो मे विशुद्धि बढती है और यह आत्म स्वरूप को प्राप्त करने के लिये उद्यत होता है आत्म-परिणामो की विशुद्धि के कारण इसके अनादि काल से लगे हुए कर्मों का उदय भी मन्द होता है, नवीन कर्मों का बन्ध भी बहुत हलका हो जाता है और राग-द्वेष की परिणति भी धीमी पडती है ऐसे समय मे ही यह जीव करण-लब्धि के द्वारा अपने अनादिकालीन मिथ्यात्वरूप महामोह का अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभरूप तीव्र कषायो का उपशमन करके सच्ची आत्म-दृष्टि को प्राप्त करता है अर्थात् आत्म-साक्षात्कार करता है इस अवस्था को ही शास्त्रीय भाषा मे
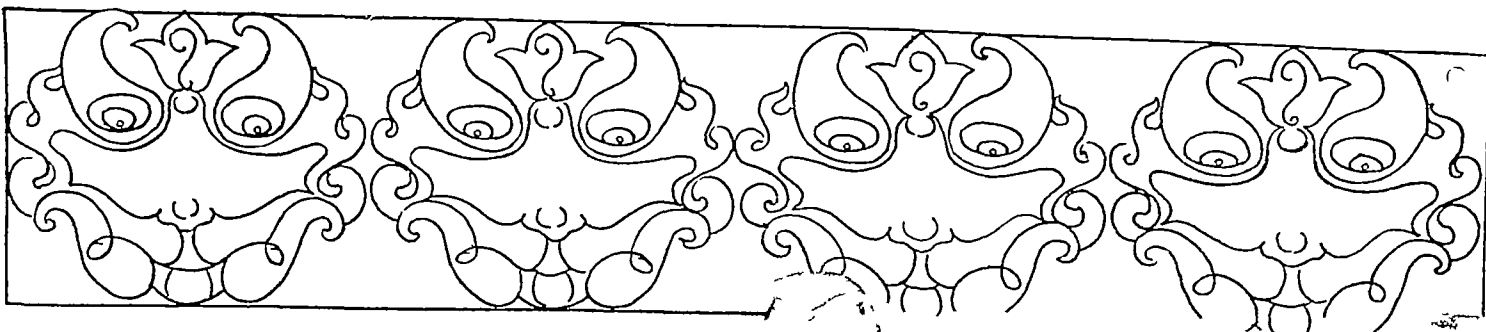
इस गुणस्थान का काल कम से कम अन्तर्मुहूर्त है और अधिक से अधिक आठ वर्ष और एक अन्तर्मुहूर्त से कम एक पूर्व कोटी वर्ष है जो कि कर्म भूमिज मनुष्य की उत्कृष्ट आयु वाले के ही सम्भव है

(६) प्रमत्तसंयत गुणस्थान : गृहस्थधर्म का पालन करते हुए भी जब यह जीव अनुभव करता है कि मैं कितनी ही सावधानी क्यों न रखूं, कुटुम्ब आदि के निमित्त से या धनोपार्जनादि के कारण मेरी आत्मिक शान्ति में बाधा पड़ती ही है, तब वह अपने परिवार से भी नाता तोड़ कर और घर-बार का भी परित्याग कर साधु बनने के लिये तैयार होता है, ऐसी दशा में वह हिंसादि पाँचों पापों का सर्वथा परित्याग कर यावज्जीवन के लिये अहिंसादि पंच महाव्रतों को अंगीकार करता है, घर में रहना छोड़कर साधुजनों के साथ निवास करता है और भिक्षावृत्ति से निरुद्दिष्ट आहार लेता हुआ अपने संयम की साधना में संलग्न हो जाता है यद्यपि यह संयम का पालन करता है अतः संयत है तथापि इसके जब तक प्रमाद का सद्भाव बना रहता है तब तक उसे प्रमत्तसंयत कहते हैं इस गुणस्थान का जघन्य और उत्कृष्ट काल भी अन्तर्मुहूर्त ही है इसलिए साधु के सदा प्रमत्तदशा नहीं रहती है किन्तु थोड़ी देर में वह सावधान होकर आत्मचिन्तन करता रहता है, जब वह आत्म चिन्तन करता है तब उसके अप्रमत्तदशा आ जाती है इस प्रकार वह सदा प्रमत्तदशा से अप्रमत्तदशा में और अप्रमत्तदशा से प्रमत्तदशा में आता जाता रहता है

संज्वलन कषाय और नव नोकषायों का उदय होने पर महाव्रतों के परिपालन में किन्हीं कारणों से जो अनुत्साह होता है उसे प्रमाद कहते हैं प्रमाद के १५ भेद परमागम में बतलाये हैं—चार कषाय (क्रोध मान माया और लोभ) चार विकथाएँ (स्त्रीकथा राजकथा आहारकथा और देशकथा) पाँच इन्द्रियों के विषयों की ओर झुकाव प्रणय (स्नेह) और निद्रा साधु सदा आत्म चिन्तन में निरत नहीं रह सकता है अतः उसकी प्रवृत्ति इन १५ प्रमादों में से किसी न किसी प्रमाद की ओर घड़ी-आध घड़ी के लिये होती रहती है जितनी देर उसकी प्रवृत्ति प्रमाद रूप रहती है उस समय उसकी प्रमत्त संज्ञा है और वह पाँचों पापों का यावज्जीवन के लिये सर्वथा त्याग कर चुका है अतः संयम-धारण करने के कारण संयत है इस प्रकार वह प्रमत्तसंयत कहा जाता है

(७) अप्रमत्तसंयत जैसा कि ऊपर बतलाया गया है साधु की सावधान-दशा का नाम ही सातवाँ गुणस्थान है जितनी देर आत्म-चिन्तन और उसके मनन में जागरूक रहता है उतनी देर के लिये ही वह सातवें गुणस्थान में पहुँचता है और किसी एक प्रमाद रूप परिणति के प्रकट होते ही छठे गुणस्थान में आ जाता है यद्यपि इन छठे और सातवें गुणस्थान का काल साधारणतः अन्तर्मुहूर्त बतलाया गया है तथापि छठे गुणस्थान से सातवें गुणस्थान का काल आधा है *इसका यह अर्थ है कि साधु आत्म चिन्तन में संलग्न रह कर जितनी देर अन्तर्मुख रहता है उससे अधिक काल तक वह बहिर्मुख रहता है*

यहाँ इतना विशेष ज्ञातव्य है कि जिन साधुओं की प्रवृत्ति निरन्तर बहिर्मुखी देखने में आती है जो निरन्तर खान-पान की ही चर्चा करते रहते हैं विकथाओं में व्यस्त और निद्रा में मस्त रहते हैं समझ लीजिए कि वे भावलिंगी साधु नहीं हैं व्याख्यान देते खान पान करते और चलते फिरते में भी भावलिंगी साधु सदा सावधान रहेगा और उक्त कार्यों के करते हुए भी बीच-बीच में उसे विचार आता होगा कि— आत्मन् तुम कहाँ भटक रहे हो ! यह बातचीत खानपान और गमनागमनादि तो तुम्हारा स्वभाव नहीं है फिर भी तुम अभी तक इनमें अपना अमूल्य समय व्यतीत कर आत्म स्वरूप से पराङ्मुख हो रहे हो ऐसा विचार आते ही वह आत्माभिमुख हो जायगा

वर्तमान काल में कोई भी साधु सातवें गुणस्थान से ऊपर के गुणस्थानों में नहीं चढ़ सकता है क्योंकि ऊपर चढ़ने के योग्य न तो उत्तम संहननादि आज है और न मनुष्यों में उतनी पात्रता ही है किन्तु जिस काल में सब प्रकार की पात्रता और साधन-सामग्री सुलभ होती है उस समय साधु ऊपर के गुणस्थानों में चढ़ता है

सातवें गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक का काल परम समाधि का है परम समाधि की दशा छद्मस्थ जीव के अन्तर्मुहूर्त काल से अधिक नहीं रह सकती है इसलिए सातवें आठवें आदि एक-एक गुणस्थान का काल भी अन्तर्मुहूर्त है और सबका सामूहिक काल भी अन्तर्मुहूर्त ही है ऐसा जानना चाहिए

से औपशमिक सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है. जीव को सर्वप्रथम इसी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, किन्तु इसका काल अन्तर्मुहूर्त ही है, अत उसके पश्चात् वह सम्यक्त्व से गिर जाता है फिर और मिथ्यादृष्टि बन जाता है पुन यह जीव ऊपर चढने का प्रयत्न करता है और बतलाई हुई सातो प्रकृतियो का क्षयोपशम करके क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि बनता है इस सम्यग्दर्शन का काल अन्तर्मुहूर्त से लगाकर ६६ सागर तक है अर्थात् किसी जीव को यदि क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन लगातार बना रहे—तो उसके देव और मनुष्यभव मे परिभ्रमण करते हुए लगातार ६६ सागर तक बना रह सकता है जब जिस जीव का ससार बिलकुल ही कम रह जाता है, तब वह क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव, उक्त सातो ही प्रकृतियो का क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि बनता है यह जीव ससार मे अधिक मे अधिक तीन भव तक रहता है उसके पश्चात् चौथे भव मे नियम से ही मुक्ति प्राप्त कर लेता है

इस गुणस्थानवर्ती जीव की बाहिरी क्रियाओ मे और मिथ्यादृष्टि की बाहिरी क्रियाओ मे कोई खास अन्तर दिखाई नही देता, पर अन्तरग की परिणति मे आकाश-पाताल जैसा अन्तर हो जाता है जहाँ मिथ्यादृष्टि की परिणति सदा मलीन और आर्त्तरौद्रध्यान-प्रचुर होती है, वहाँ सम्यग्दृष्टि की परिणति एकदम प्रशस्त, विशुद्ध और धर्मध्यानमय हो जाती है चारित्रमोहनीय कर्म के तीव्र उदय होने से यद्यपि चौथे गुणस्थान वाला जीव व्रत-शील-सयमादि का रच मात्र भी पालन नही करता है, इन्द्रियो के विषयों की प्रवृत्ति भी बराबर बनी रहती है तथापि मिथ्यादृष्टि दशा मे जो इन्द्रियो के विषय-सेवन मे उसकी तीव्र आसक्ति थी, वह एकदम घट जाती है वह अनासक्त रहता हुआ ही इन्द्रियो के विषयो का सेवन करता है, अन्यायपूर्वक आजीविका का परित्याग कर देता है और न्याय-नीति से ही धनादिक का उपार्जन करके अपना और अपने कुटुम्ब का भरणपोषण करता है जैसे जल मे रहते हुए भी कमल जल से अलिप्त रहता है, उसी प्रकार यह असयत सम्यग्दृष्टि जीव घर मे रहते हुए भी उससे अलिप्त रहता है—और इन्द्रियभोगो को भोगते हुए भी उनमे अनासक्त रहता है

(५) देशसयत गुणस्थान चौथे गुणस्थान मे रहते हुए जीव आत्मविकास की ओर अग्रसर होता है, तब उसे ऐसा विचार उत्पन्न होता है कि मैं जिन भोगो को भोग रहा हू ये भी कर्मबन्धन के कारण है, विनश्वर है और अन्त मे दु खो को ही देने वाले है, तब वह हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह इन पाँचो पापो का स्थूल त्याग करता है अर्थात् अब मैं किसी भी त्रसप्राणी का सकल्पपूर्वक घात नही करूगा, ऐसी प्रतिज्ञा करके अहिंसाणुव्रत को अगीकार करता है आज से मैं राज्य-विरुद्ध, समाज-विरुद्ध, देश-विरुद्ध और धर्म-विरुद्ध असत्य नही बोलूगा, इस प्रकार से स्थूल झूठ का परित्याग करके सत्याणुव्रत को स्वीकार करता है अब मैं बिना दिये किसी की वस्तु को नही लूगा मैं दायाद (भागीदार) का हक नही छीनूगा, राज्य के टैक्सो की चोरी नही करूगा, इस प्रकार से स्थूल चोरी का त्याग करके अचौर्याणुव्रत का पालन करता है अपनी विवाहिता स्त्री के अतिरिक्त ससार की स्त्रीमात्र को अपनी मा, बहिन और बेटी के समान समझ कर उन पर बुरे भाव से दृष्टिपात नही करूगा, इस प्रकार स्थूल कुशील का त्याग करके ब्रह्मचर्याणुव्रत को अगीकार करता है और अपनी आवश्यकताओ को सीमित रखता हुआ अनावश्यक परिग्रह के सग्रह का परित्याग कर परिग्रहपरिमाणाणुव्रत को स्वीकार करता है तथा इन ही पाँचो अणुव्रतो की रक्षा और वृद्धि के लिये तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत रूप सात शीलव्रतो को भी धारण करता है इस प्रकार वह सम्यग्दर्शन के साथ श्रावक के उक्त १२ व्रतो का पालन करते हुए आदर्श गृहस्थजीवन बिताता है मिथ्यादृष्टि जीव की अपेक्षा असयतसम्यग्दृष्टि जीव के परिणामो की विशुद्धि अनन्तगुणी अधिक होती है और अविरत सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा इस देशसयत जीव के परिणामो की विशुद्धि और भी अनन्तगुणी होती है इस गुणस्थान वाला ससार से उत्तरोत्तर विरक्त होते हुए अपने आरम्भ और परिग्रह को भी घटाता जाता है और श्रावक के प्रतिमारूप मे जो ग्यारह दर्जे शास्त्रो मे बतलाये गये है, उनको अगीकार करता हुआ अपने आत्मिक गुणो का विकास करता रहता है अन्त मे सर्व आरम्भ का त्यागकर, शुद्ध ब्रह्मचर्य को धारण कर अपनी स्त्री का भी परित्याग कर, तथा घर-बार को भी छोड कर या तो साधु बनने की ओर अग्रसर होता है या जीवन को अल्प समझकर सल्लेखना को धारण कर समाधिमरणपूर्वक अपने शरीर का परित्याग करता है

सातव गुणस्थान के दो भेद है—१ स्वस्थान-अप्रमत्त और २ सातिशय अप्रमत्त सातवे से छठे मे और छठे से सातवें गुणस्थान मे आना जाना स्वस्थान-अप्रमत्तसयत के होता है किन्तु जो साधु मोहनीय कर्म का उपशम या क्षय करने के लिए उद्यत होते है, सातिशय अप्रमत्तदशा उन्ही साधुओ की होती है उस समय ध्यान अवस्था मे ही मोहनीय कर्म के उपशमन या क्षपण के कारणभूत अध करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नाम वाले एक विशिष्ट जाति के परिणाम जीव मे प्रकट होते हैं, जिनके द्वारा यह जीव मोहनीय कर्म का उपशनम या क्षपण करने मे समर्थ होता है इनमे से अध करण रूप विशिष्ट परिणाम सातिशयअप्रमत्तसयत के अर्थात् सातवें गुणस्थान मे ही प्रकट होते हैं इन परिणामो के द्वारा वह सयत मोहकर्म के उपशम या क्षय के लिए उत्साहित होता है

आगे के गुणस्थानो का स्वरूप जानने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि आठवे गुणस्थान से दो श्रेणियाँ प्रारम्भ होती है—उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी उपशमश्रेणी के ४ गुणस्थान हैं—आठवाँ, नौवाँ, दशवाँ और ग्यारहवाँ क्षपकश्रेणी के भी ४ गुणस्थान हैं—आठवाँ, नौवाँ, दशवाँ और बारहवाँ क्षपकश्रेणी पर केवल तद्भवमोक्षगामी क्षायिक सम्यग्दृष्टि साधु ही चढ सकता है, अन्य नही किन्तु उपशमश्रेणी पर तद्भवमोक्षगामी और अतद्भवमोक्षगामी तथा औपशमिक सम्यग्दृष्टि और क्षायिक सम्यग्दृष्टि दोनो प्रकार के जीव चढ सकते है किन्तु इतना निश्चित जानना चाहिए कि उपशमश्रेणी पर चढने वाला साधु ग्यारहवें गुणस्थान मे पहुँच कर और अन्तर्मुहूर्त के लिए मोहनीयकर्म का पूर्ण उपशमन करके वीतरागता का अनुभव करने के पश्चात् भी नियम से नीचे गिरता है यदि वह सभलना चाहे तो छठे-सातवें गुणस्थान मे ठहर जाता है, अन्यथा नीचे के भी गुणस्थानो मे जा सकता है किन्तु जो तद्भवमोक्षगामी और क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव है, वे सातवें गुणस्थान मे पहुँच कर फिर भी मोहकर्म की क्षपणा के लिये प्रयत्न करते है और आठवें गुणस्थान मे पहुँचते है इसलिए आगे दोनो श्रेणियो के गुणस्थानो का स्वरूप एक साथ कहा जायगा

(८) **अपूर्वकरण-सयतगुणस्थान** जब कोई सातिशय अप्रमत्त सयत मोहकर्म का उपशमन या क्षपण करने के लिए अध करण परिणामो को करके इस गुणस्थान मे प्रवेश करता है, तब उसके परिणाम प्रत्येक क्षण मे अपूर्व-अपूर्व ही होते हैं प्रत्येक समय उसके परिणामो की विशुद्धि अनन्तगुणी होती जाती है इस गुणस्थान के परिणाम इसके पहले कभी नही प्राप्त हुए थे, अत उन्हे अपूर्व कहते है इस गुणस्थान मे अनेक जीव यदि एक साथ प्रवेश करें, तो उनमे से एक समयवर्ती कितने ही जीवो के परिणाम तो परस्पर समान होगे और कितने ही जीवो के परिणाम असमान रहेगे परन्तु आगे—आगे के समयो मे सभी जीवो के परिणाम अपूर्व और अनन्तगुणी विशुद्धि को लिए हुए होते है, इसीलिए इस गुणस्थान का नाम अपूर्वकरण है इस गुणस्थान का कार्य मोहकर्म के उपशमन या क्षपण की भूमिका तैयार करना है यद्यपि इस गुणस्थान मे मोहकर्म की किसी भी प्रकृति का उपशम या क्षय नही होता है, तथापि मोहकर्म के स्थिति-खण्डन अनुभाग आदि कार्य प्रारम्भ हो जाते है

(९) **अनिवृत्तिकरण-सयतगुणस्थान** आठवे गुणस्थान मे अन्तर्मुहूर्त काल रह कर और अपूर्व-अपूर्व विशुद्धि को प्राप्त हो, विशिष्ट आत्म-शक्ति का सचय करके यह जीव नौवें गुणस्थान मे प्रवेश करता है इस गुणस्थान के प्रत्येक समयवर्ती जीवो के परिणाम यद्यपि उत्तरोत्तर-अपूर्व और अनन्तगुणी विशुद्धि वाले होते है, किन्तु एक समयवर्ती जीवो के परिणाम सदृश ही होते हैं, उनमे निवृत्ति या विषमता नही पाई जाती है, अत उन परिणामो को अनिवृत्तिकरण करते हैं इस गुणस्थान मे होने वाले परिणामो के द्वारा आयुकर्म को छोडकर शेष सात कर्मों की गुणश्रेणी, निर्जरा, गुणसक्रमण, स्थिति खण्डन और अनुभागखण्डन होता है अभी तक जो करोडो सागरो की स्थिति वाले कर्म बधते चले आ रहे थे उनका स्थितिबन्ध उत्तरोत्तर कम-कम होता जाता है, यहाँ तक कि इस गुणस्थान के अन्तिम समय मे पहुँचने पर कर्मों की जो जघन्य स्थिति बतलायी गयी है, तत्प्रमाण स्थिति के कर्मों का बन्ध होने लगता है कर्मों के सत्व का भी बहुत परिमाण मे ह्रास होता है प्रतिसमय कर्मप्रदेशो की निर्जरा असख्यातगुणी बढती जाती है उपशमश्रेणी वाला जीव इस गुणस्थान मे मोहकर्म की एक सूक्ष्म लोभप्रकृत्ति को छोड कर शेष सर्वप्रकृतियो का उपशमन कर देता है और क्षपक श्रेणी वाला जीव उन्ही का क्षय करके दशवे गुणस्थान मे प्रवेश करता है यहाँ इतना विशेष ज्ञातव्य है कि क्षपकश्रेणी

वाला मोहकर्म की प्रकृतियों के साथ अन्य कर्मों की भी अनेक प्रकृतियों का क्षय करता है

(१०) सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थान : इस गुणस्थान में परिणामों की प्रकृष्ट विशुद्धि के द्वारा मोहकर्म की जो एक सूक्ष्म लोभप्रकृति शेष रह गई है वह प्रतिसमय क्षीण-शक्ति होती जाती है उसे उपशमश्रेणी वाला जीव तो अन्तिम समय उपशमन करके ग्यारहवें गुणस्थान में जा पहुँचता है और क्षपक श्रेणी वाला जीव क्षय करके बारहवें गुणस्थान में पहुँचता है जिस प्रकार धुले हुए कसुमी रंग के वस्त्र में लालिमा की सूक्ष्म आभा रह जाती है उसी प्रकार इस गुणस्थान के परिणामों द्वारा लोभकषाय क्षीण या शुद्ध होते हुए अत्यन्त सूक्ष्म रूप में रह जाता है अतः इस गुणस्थान को सूक्ष्म साम्पराय कहते हैं यहाँ साम्पराय का अर्थ लोभ है इतना विशेष ज्ञातव्य है कि क्षपक श्रेणी वाला इस गुणस्थान के अन्तिम समय में सूक्ष्मलोभ के साथ अन्य कर्मों की भी अनेक प्रकृतियों का क्षय करता है

(११) उपशान्तकषाय वीतरागछद्मस्थगुणस्थान : दसवें गुणस्थान के अन्त में सूक्ष्म लोभका उपशम होते ही समस्त कषायों का उपशमन हो जाता है और वह जीव उपशान्तकषायी बन कर ग्यारहवें गुणस्थान में आता है जिस प्रकार गन्दले-जल में कतक फल या फिटकरी आदि डालने पर उसका मलभाग नीचे बैठ जाता है और निर्मल जल ऊपर रह जाता है, उसी प्रकार उपशम श्रेणी में शुक्लध्यान से मोहनीयकर्म एक अन्तर्मुहूर्त के लिए उपशान्त कर दिया जाता है जिससे कि जीव के परिणामों में एक दम वीतरागता निर्मलता और पवित्रता आजाती है इसी कारण उसे उपशान्तमोह या वीतराग संज्ञा प्राप्त हो जाती है किन्तु अभी तक वह अल्पज्ञ ही है क्योंकि ज्ञान का आवरण करने वाला कर्म विद्यमान है अतः वह वीतराग होते हुए भी छद्मस्थ ही कहलाता है मोहकर्म का उपशम एक अन्तर्मुहूर्त काल के लिए ही होता है अतः उस काल के समाप्त होते ही इस जीव का पतन होता है और वह नीचे के गुणस्थानों में चला जाता है

(१२) क्षीणकषाय वीतरागछद्मस्थ गुणस्थान : क्षपक श्रेणी वाला जीव दसवें गुणस्थान के अन्त में सूक्ष्म लोभ का क्षय करके एकदम बारहवें गुणस्थान में आ पहुँचता है इस गुणस्थान में शुक्लध्यान का दूसरा भेद प्रकट होता है उसके द्वारा वह ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय और अन्तराय इन तीन घातिक कर्मों का क्षय करता है मोहकर्म का क्षय तो दसवें गुणस्थान के अन्त में ही हो चुका था इस प्रकार चारों घातिक कर्मों का क्षय होते ही वह केवलदशा को प्राप्त करता हुआ तेरहवें गुणस्थान में प्रवेश करता है

(१३) सयोगिकेवली गुणस्थान : बारहवें गुणस्थान तक ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म का सद्भाव रहने से जीव अल्पज्ञ ही रहता है अतः वहाँ तक के जीवों की छद्मस्थ संज्ञा है किन्तु बारहवें गुणस्थान के अन्त में उन कर्मों का एक साथ क्षय होते ही जीव विश्व के समस्त चराचर तत्त्वों को हस्तामलकवत् स्पष्ट देखने और जानने लगता है अर्थात् वह विश्वतत्त्वज्ञ और विश्वदर्शी बन जाता है इसे ही अरहन्त अवस्था कहते हैं केवल ज्ञान की प्राप्ति हो जाने के कारण उसे केवली भी कहते हैं योग अभी तक बना हुआ है अतः इस गुणस्थान का नाम सयोगीकेवली है इस गुणस्थान में चार घातिया कर्मों के नाश से अरहन्त भगवान् के नव केवल लब्धियाँ प्रकट हो जाती हैं ज्ञानावरण कर्म के क्षय से अनन्त ज्ञान दर्शनावरण के क्षय से अनन्त दर्शन मोहकर्म के क्षय से अनन्तसुख और क्षायिक सम्यक्त्व अन्तरायकर्म के क्षय से अनन्त दान लाभ भोग उपभोग और अनन्तवीर्य की प्राप्ति होती है केवल्य की प्राप्ति होने पर समवसरण विभूति और अष्ट महाप्रातिहार्य भी प्रकट होते हैं और अरहन्त भगवान् विहार करते हुए भव्य जीवों को अपने जीवनपर्यन्त मोक्षमार्ग का उपदेश देते रहते हैं इस गुणस्थान का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्टकाल आठ वर्ष एवं अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्वकोटी वर्ष है

जब तेरहवें गुणस्थान के काल में एक अन्तर्मुहूर्त मात्र समय शेष रह जाता है और केवली भगवान् की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयु से शेष अघातिया कर्मों की स्थिति अधिक रहती है तब उनकी स्थिति के समीकरण के लिए तीसरा शुक्लध्यान प्रकट होता है और भगवान् केवलीसमुद्घात करते हैं प्रथम समयमें चौदह राजुप्रमाण लम्बे दण्डाकार आत्म प्रदेश फैलते हैं दूसरे समय में कपाट के आकार के आत्मप्रदेश चौड़े हो जाते हैं तीसरे समय में प्रतर के आकार में

सातव गुणस्थान के दो भेद है—१ स्वस्थान-अप्रमत्त और २ सातिशय-अप्रमत्त सातवे से छठे मे और छठे से सातवे गुणस्थान मे आना जाना स्वस्थान-अप्रमत्तसयत के होता है किन्तु जो साधु मोहनीय कर्म का उपशम या क्षय करने के लिए उद्यत होते है, सातिशय अप्रमत्तदशा उन्ही साधुओ की होती है उस समय ध्यान अवस्था मे ही मोहनीय कर्म के उपशमन या क्षपण के कारणभूत अध करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नाम वाले एक विशिष्ट जाति के परिणाम जीव मे प्रकट होते हैं, जिनके द्वारा यह जीव मोहनीय कर्म का उपशनम या क्षपण करने मे समर्थ होता है इनमे से अध करण रूप विशिष्ट परिणाम सातिशयअप्रमत्तसयत के अर्थात् सातवें गुणस्थान मे ही प्रकट होते हैं इन परिणामो के द्वारा वह सयत मोहकर्म के उपशम या क्षय के लिए उत्साहित होता है

आगे के गुणस्थानो का स्वरूप जानने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि आठवे गुणस्थान से दो श्रेणियाँ प्रारम्भ होती है—उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी उपशमश्रेणी के ४ गुणस्थान हैं—आठवाँ, नौवाँ, दशवाँ और ग्यारहवाँ क्षपकश्रेणी के भी ४ गुणस्थान है—आठवाँ, नौवाँ, दशवाँ और बारहवाँ क्षपकश्रेणी पर केवल तद्भवमोक्षगामी क्षायिक सम्यग्दृष्टि साधु ही चढ सकता है, अन्य नही किन्तु उपशमश्रेणी पर तद्भवमोक्षगामी और अतद्भवमोक्षगामी तथा औपशमिक सम्यग्दृष्टि और क्षायिक सम्यग्दृष्टि दोनो प्रकार के जीव चढ सकते हैं किन्तु इतना निश्चित जानना चाहिए कि उपशमश्रेणी पर चढने वाला साधु ग्यारहवें गुणस्थान मे पहुँच कर और अन्तर्मुहूर्त के लिए मोहनीयकर्म का पूर्ण उपशमन करके वीतरागता का अनुभव करने के पश्चात् भी नियम से नीचे गिरता है यदि वह सभलना चाहे तो छठे-सातवे गुणस्थान मे ठहर जाता है, अन्याथा नीचे के भी गुणस्थानो मे जा सकता है किन्तु जो तद्भवमोक्षगामी और क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव है, वे सातवें गुणस्थान मे पहुँच कर फिर भी मोहकर्म की क्षपणा के लिये प्रयत्न करते है और आठवें गुणस्थान मे पहुँचते है इसलिए आगे दोनो श्रेणियो के गुणस्थानो का स्वरूप एक साथ कहा जायगा

(८) अपूर्वकरण-सयतगुणस्थान जब कोई सातिशय अप्रमत्त सयत मोहकर्म का उपशमन या क्षपण करने के लिए अध करण परिणामो को करके इस गुणस्थान मे प्रवेश करता है, तब उसके परिणाम प्रत्येक क्षण मे अपूर्व-अपूर्व ही होते है प्रत्येक समय उसके परिणामो की विशुद्धि अनन्तगुणी होती जाती है इस गुणस्थान के परिणाम इसके पहले कभी नही प्राप्त हुए थे, अत उन्हे अपूर्व कहते है इस गुणस्थान मे अनेक जीव यदि एक साथ प्रवेश करें, तो उनमे से एक समयवर्ती कितने ही जीवो के परिणाम तो परस्पर समान होगे और कितने ही जीवो के परिणाम असमान रहेगे परन्तु आगे—आगे के समयो मे सभी जीवो के परिणाम अपूर्व और अनन्तगुणी विशुद्धि को लिए हुए होते है, इसीलिए इस गुणस्थान का नाम अपूर्वकरण है इस गुणस्थान का कार्य मोहकर्म के उपशमन या क्षपण की भूमिका तैयार करना है यद्यपि इस गुणस्थान मे मोहकर्म की किसी भी प्रकृति का उपशम या क्षय नही होता है, तथापि मोहकर्म के स्थिति-खण्डन अनुभाग आदि कार्य प्रारम्भ हो जाते है

(९) अनिवृत्तिकरण-सयतगुणस्थान आठवें गुणस्थान मे अन्तर्मुहूर्त काल रह कर और अपूर्व-अपूर्व विशुद्धि को प्राप्त हो, विशिष्ट आत्म-शक्ति का सचय करके यह जीव नौवें गुणस्थान मे प्रवेश करता है इस गुणस्थान के प्रत्येक समयवर्ती जीवो के परिणाम यद्यपि उत्तरोत्तर-अपूर्व और अनन्तगुणी विशुद्धि वाले होते है, किन्तु एक समयवर्ती जीवो के परिणाम सदृश ही होते हैं, उनमे निवृत्ति या विषमता नही पाई जाती है, अत उन परिणामो को अनिवृत्तिकरण करते हैं इस गुणस्थान मे होने वाले परिणामो के द्वारा आयुकर्म को छोडकर शेष सात कर्मों की गुणश्रेणी, निर्जरा, गुणसक्रमण, स्थिति खण्डन और अनुभागखण्डन होता है अभी तक जो करोडो सागरो की स्थिति वाले कर्म बधते चले आ रहे थे उनका स्थितिबन्ध उत्तरोत्तर कम-कम होता जाता है, यहाँ तक कि इस गुणस्थान के अन्तिम समय मे पहुँचने पर कर्मों की जो जघन्य स्थिति बतलायी गयी है, तत्प्रमाण स्थिति के कर्मों का बन्ध होने लगता है कर्मो के सत्व का भी बहुत परिमाण मे ह्रास होता है प्रतिसमय कर्मप्रदेशो की निर्जरा असख्यातगुणी बढती जाती है उपशमश्रेणी वाला जीव इस गुणस्थान मे मोहकर्म की एक सूक्ष्म लोभप्रकृत्ति को छोड कर शेष सर्वप्रकृतियो का उपशमन कर देता है और क्षपक श्रेणी वाला जीव उन्ही का क्षय करके दशवें गुणस्थान मे प्रवेश करता है यहाँ इतना विशेष ज्ञातव्य है कि क्षपकश्रेणी

वाला मोहकर्म की प्रकृतियों के साथ अन्य कर्मों की भी अनेक प्रकृतियों का क्षय करता है

(१) सूक्ष्मसाम्परायगुणस्थान : इस गुणस्थान में परिणामों की प्रकृष्ट विशुद्धि के द्वारा मोहकर्म की जो एक सूक्ष्म लोभप्रकृति शेष रह गई है यह प्रतिसमय क्षीण-शक्ति होती जाती है उसे उपशमश्रेणी वाला जीव तो अन्तिम समय उपशमन करके ग्यारहवें गुणस्थान में जा पहुँचता है और क्षपक श्रेणी वाला जीव क्षय करके बारहवें गुणस्थान मे पहुँचता है जिस प्रकार धुले हुए कसूमी रंग के वस्त्र में लालिमा की सूक्ष्म आभा रह जाती है उसी प्रकार इस गुणस्थान के परिणामो द्वारा लोभकषाय क्षीण या शुद्ध होते हुए अत्यन्त सूक्ष्म रूप में रह जाता है अत इस गुणस्थान को सूक्ष्म साम्पराय कहते है यहाँ साम्पराय का अर्थ लोभ है इतना विशेष ज्ञातव्य है कि क्षपक श्रेणी वाला इस गुणस्थान के अन्तिम समय में सूक्ष्मलोभ के साथ अन्य कर्मो की भी अनेक प्रकृतियों का क्षय करता है

(११) उपशान्तकषाय वीतरागछद्मस्थगुणस्थान दसवें गुणस्थान के अन्तमें सूक्ष्म लोभका उपशम होते ही समस्त कषायों का उपशमन हो जाता है और वह जीव उपशान्तकषायी बन कर ग्यारहवें गुणस्थान मे आता है जिस प्रकार गन्दले-जल में कतक फल या फिटकरी आदि डालने पर उसका मलभाग नीचे बैठ जाता है और निर्मल जल ऊपर रह जाता है, उसी प्रकार उपशम श्रेणी में शुक्लध्यान से मोहनीयकर्म एक अन्तमुहूर्त के लिए उपशान्त कर दिया जाता है जिससे कि जीव के परिणामों में एक दम वीतरागता निर्मलता और पवित्रता आजाती है इसी कारण उसे उपशान्तमोह या वीतराग संज्ञा प्राप्त हो जाती है किन्तु अभी तक वह अल्पज्ञ ही है क्योकि ज्ञान का आवरण करने वाला कर्म विद्यमान है, अत वह वीतराग होते हुए भी छद्मस्थ ही कहलाता है मोहकर्म का उपशम एक अन्तर्मुहूर्त काल के लिए ही होता है अत उस काल के समाप्त होते ही इस जीव का पतन होता है और वह नीचे के गुणस्थानो मे चला जाता है.

(१२) क्षीणकषाय वीतरागछद्मस्थ गुणस्थान : क्षपक श्रेणी वाला जीव दसवें गुणस्थान के अन्त में सूक्ष्म लोभ का क्षय करके एकदम बारहवें गुणस्थान मे जा पहुँचता है इस गुणस्थान में शुक्लध्यान का दूसरा भेद प्रकट होता है उसके द्वारा वह ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय और अन्तराय इन तीन घातिक कर्मो का क्षय करता है मोहकर्म का क्षय तो दसवें गुणस्थान के अन्त में ही हो चुका था इस प्रकार चारों घातिक कर्मों का क्षय होते ही वह कैवल्यदशा को प्राप्त करता हुआ तेरहवें गुणस्थान में प्रवेश करता है

(१३) सयोगिकेवली गुणस्थान : बारहवें गुणस्थान तक ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म का सद्भाव रहने से जीव अल्पज्ञ ही रहता है अत वहाँ तक के जीवों की छद्मस्थ संज्ञा है किन्तु बारहवें गुणस्थान के अन्त में उन कर्मों का एक साथ क्षय होते ही जीव विश्व के समस्त चराचर तत्त्वों को हस्तामलकवत् स्पष्ट देखने और जानने लगता है अर्थात् वह विश्वतत्त्वज्ञ और विश्वदर्शी बन जाता है इसे ही अरहन्त अवस्था कहते है केवल ज्ञान की प्राप्ति हो जाने के कारण उसे केवली भी कहते हैं योग अभी तक बना हुआ है अतः इस गुणस्थान का नाम सयोगीकेवली है इस गुणस्थान मे चार घातिया कर्मो के नाश से अरहन्त भगवान् के नव केवल लब्धियाँ प्रकट हो जाती हैं ज्ञानावरण कर्म के क्षय से अनन्त ज्ञान दर्शनावरण के क्षय से अनन्त दर्शन मोहकर्म के क्षय से अनन्तसुख और क्षायिक सम्यक्त्व अन्तरायकर्म के क्षय से अनन्त दान लाभ भोग उपभोग और अनन्तवीर्य की प्राप्ति होती है कैवल्य की प्राप्ति होने पर समवसरण विभूति और अष्ट महाप्रतिहार्य भी प्रकट होते हैं और अरहन्त भगवान् विहार करते हुए भव्य जीवों को अपने जीवनपर्यन्त मोक्षमार्ग का उपदेश देते रहते हैं इस गुणस्थान का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्टकाल आठ वर्ष एव अन्तमुहूर्त कम एक पूर्वकोटी वर्ष है

जब तेरहवें गुणस्थान के काल में एक अन्तमुहूर्त मात्र समय शेष रह जाता है और केवली भगवान् की अन्तर्मुहूर्त प्रमाण आयु से शेष अघातिया कर्मों की स्थिति अधिक रहती है तब उनकी स्थिति के समीकरण के लिए तीसरा शुक्लध्यान प्रकट होता है और भगवान् केवलीसमुद्घात करते है प्रथम समयमें चौदह राजुप्रमाण लम्बे दण्डाकार आत्म प्रदेश फैलते हैं दूसरे समय में कपाट के आकार के आत्मप्रदेश चौड़े हो जाते हैं. तीसरे समय में प्रतर के आकार में

विस्तृत होते है और चौथे समय मे उनसे आत्मप्रदेश सारे लोकाकाश मे व्याप्त हो जाते है इसे लोकपूरण-समुद्घात कहते है इसी प्रकार चार समयो मे आत्मप्रदेश वापिस सकुचित होते हुए शरीर मे प्रविष्ट हो जाते है इस केवली-समुद्घात क्रिया से नाम, गोत्र और वेदनीय कर्म की स्थिति भी आयुकर्म के बराबर अन्र्मुहूर्त की रह जाती है तभी वे चौदहवें गुणस्थान मे प्रवेश करते हैं

(१४) अयोगिकेवली गुणस्थान इस गुणस्थान मे प्रवेश करते ही शुक्लध्यान का चौथा भेद प्रकट होता है और उसके द्वारा उनके योगो का निरोध होता है योग-निरोध के कारण ही उनको अयोगिकेवली कहा जाता है इस गुणस्थान का काल यद्यपि अन्तर्मुहूर्त कहा जाता है, तथापि वह 'अ इ उ ऋ लृ' इन पाँच ह्रस्व स्वरो के बोलने मे जितना समय लगता है, तत्प्रमाण ही है इस गुणस्थान के उपान्त्य या द्विचरम समय मे केवली भगवान् अघातिया कर्मों की ७२ प्रकृतियो का क्षय करते हैं और अन्तिम समय मे, यदि वे तीर्थकर है, तो १३ प्रकृतियो का, अन्यथा १२ प्रकृतियो का क्षय करते है और एक क्षण मे सर्व कर्मो से विप्रमुक्त होकर अयोगिकेवली भगवान् मुक्त या सिद्ध सज्ञा को प्राप्त करते हुए सिद्धालय मे जा विराजते है और सदा के लिये आवागमन से विमुक्त हो जाते है

उपसहार

कर्म-मलीमस यह ससारी जीव अपने पुरुषार्थ के द्वारा इन चौदह गुण-स्थान रूप नसैनी पर चढता हुआ लोकान्त मे अवस्थित सिद्धालय तक पहुँचता है और ससार के अनन्त दु खो से छूट कर अनन्त आत्मिक सुख का अनुभव करता है प्रारम्भ के तीन गुणस्थान वाले जीवो की बहिरात्मा सज्ञा है चौथे से लेकर बारहवें गुणस्थान वाले जीवो को अन्तरात्मा कहते है और तेरहवें चौदहवें गुणस्थान वाले जीव परमात्मा कहलाते है इस प्रकार बहिरात्मा से परमात्मा बनने के लिये गुणस्थानो पर चढकर उत्तरोत्तर आत्मविकास के लिये प्रत्येक तत्त्वज्ञ पुरुष का प्रयत्न होना चाहिए

मुनि श्रीमहेन्द्रकुमार द्वितीय
बी एस सी (Hons)

अनेकतत्वात्मक वास्तविकतावाद और जैनदर्शन

विश्व की चरम वास्तविकता एक नही अपितु अनेक है यह अनेकतत्वात्मक वास्तविकतावाद है विविध विचारधाराओं मे यदि कोई विचारधारा जैनदर्शन के अधिक निकट हो तो वह अनेकतत्वात्मक वास्तविकतावाद की है इस विचार धारा में भी तत्वों के स्वरूप सख्या आदि को लेकर अनेक अभिप्राय प्रस्तुत हुए हैं द्वैतवाद (Dualism) विश्व में दो तत्वो की सत्ता का प्रतिपादन करता है— जड़ और चेतन अनेकवाद अनेक प्रकार के तत्वों का प्रतिपादन करता है अनुभववाद जड और चेतन के अतिरिक्त तीसरे ही प्रकार के तत्वों को विश्व की वास्तविकता मानता है यहाँ पर हम केवल कुछ विशिष्ट दार्शनिकों और वैज्ञानिकों की विचारधारा की जैनदर्शन के साथ तुलनात्मक समीक्षा करेंगे

आधुनिक दार्शनिको में बर्ट्रेण्ड रसेल की विचारधारा म अनेक तत्वात्मक वास्तविकतावाद का प्रतिपादन हुआ है भौतिक पदार्थों के अस्तित्व को वे अनुभूति पर आधारित नही मानते रसेल ने सभी प्रकार की आदर्शवादी और ज्ञात सापेक्ष वादी विचारधाराओं का तार्किक ढग से खण्डन किया है बर्कले के अनुभववाद और प्लेटो के प्रत्ययों के सिद्धान्त की भी उन्होने तर्कपूर्ण रीति स धज्जिया उड़ाई हैं ज्ञान में मानसिक विश्लेषण की दृष्टि से रसल ने एक नये प्रकार के वास्तविकवाद को जन्म दिया है इसमें स्पष्ट रूप से माना गया है कि ज्ञेय पदार्थों का अस्तित्व ज्ञाता से सर्वथा स्वतन्त्र है जनदशन भी इस सिद्धान्त को स्वीकार करता है इस प्रकार पदार्थों के वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व को दोनों दर्शनो में स्वीकार किया गया है

बर्ट्रेण्ड रसेल जहाँ पदार्थों क वास्तविक अस्तित्व को स्वीकार करते है वहाँ चतन्य के अस्तित्व को भी स्वीकार करते है अत भौतिकवाद के भी वे विरोधी हैं यहा तक तो उनका दर्शन जैनदर्शन के साथ सामजस्य रखता है किन्तु इससे आगे वे मानते है कि विश्व की वास्तविकता अनुभय' अर्थात् जड और चेतन स परे तीसरे प्रकार के तत्व है, जिनको व घटनाए (Events) कहते हैं इस प्रकार उनके अनुसार विश्व के सभी पदार्थ घटनाओ के समूह है घटनाएं अपने आप में जड और चेतन दोनो से भिन्न है और आकाश काल के सीमित प्रदेश में स्थित हैं[1] इन घटनाओं को व स्वभावत गत्यात्मक (Dynamic) मानते है तथा एक दूसरे से सम्बन्धित भी 'घटना' के अर्थ को स्पष्ट करने के लिये उन्होने लिखा है जब मैं 'घटना' के विषय में कह रहा हूँ तो मेरा तात्पर्य किसी अनुभवातीत वस्तु से नही है बिजली की चमक का देखना एक घटना है मोटर के टायर को फटते सुनना अथवा सड़े अण्डे को सूघना या किसी मेढक के शरीर की शीतलता का अनुभव करना आदि घटनाएँ हैं इन घटनाओ के परस्पर सम्बन्ध भिन्न-भिन्न प्रकार के होते है जिनके कारण उनका कोई समूह जड कहलाता है और कोई चेतन इस प्रकार जड पदार्थों की घटनाओं के पारस्परिक सम्बन्ध चेतन पदार्थों की घटनाओ के सम्बन्धो से भिन्न है यद्यपि दोनों में विद्यमान घटनाओं का स्वरूप एक ही है[2]

---

[1] [illegible] पृ [illegible]
[illegible] पृ [illegible]
[2] [illegible] पृ [illegible]

अव यदि जैनदर्शन के द्रव्य गुणपर्यायवाद के साथ रसेल के इस 'घटनासिद्धान्त' की तुलना की जाये, तो इनके बीच रहे हुए सादृश्य-वैसदृश्य का पता हमे लग सकता है जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक द्रव्य, गुण और पर्यायो का आश्रय है[1] प्रतिक्षण प्रत्येक द्रव्य मे जो परिवर्तन होता है, उसे पर्याय कहा गया है.[2] जीव और पुद्गल, धर्मास्तिकाय, और अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल, सभी द्रव्यो मे प्रतिक्षण यह पर्याय का क्रम चलता रहता है अव जिसको रसेल 'घटना' कहते है, वह सम्भवत पर्याय का ही द्योतक लगता है रसेल पदार्थों को घटनाओ के समूह रूप मानते है जैनदर्शन 'पर्याय' प्रवाह के आधार को द्रव्य मानता है रसेल की घटनाए गत्यात्मक है और एक दूसरे से सम्बन्धित है, तो जैनदर्शन भी पर्यायो को सदा गतिमान और एक दूसरे से सम्बन्धित वताता है घटनाए और पर्याय दोनो हमारे अनुभय से परे नही है रसेल जहाँ घटनाओ को विविध सम्बन्धो से जड और चेतन मे विभाजित करते है और जड पदार्थों की घटनाओ के पारस्परिक सम्बन्ध को चेतन पदार्थों की घटनाओ के सम्बन्ध से भिन्न मानते है, वहाँ जैनदर्शन भी पुद्गल और जीव की पर्यायो को भिन्न-भिन्न मानता है अन्तर केवल इतना ही है कि रसेल प्रत्येक घटना को एक स्वतन्त्र तत्त्व-अनुभय मानते है, जव कि जैनदर्शन पर्याय को स्वतन्त्र तत्त्व के रूप मे स्वीकार नही करता यथार्थता की दृष्टि से देखने पर रसेल का यह अनुभय भी अन्तत तो द्वैतवाद मे ही परिणत हो जाता है क्योकि जहाँ पारस्परिक सम्बन्धो से वे घटनाओ को दो प्रकारो मे विभाजित करते हैं, वहाँ मौलिक तत्त्व घटनाए न रह कर जड और चेतन ही वन जाते है

जड चेतन की उत्पत्ति के लिये उत्तरदायी सम्बन्धो की परीक्षा करते हुए डा० स्टेस (Dr Stace) इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि ये सम्बन्ध अनुभयवाद को वस्तुत द्वैतवाद वना डालते है[3] वे कहते है कि यदि जड और चेतन का अन्तर उनके तत्त्वो के सम्बन्धो का अन्तर है, तो इसका मतलब है कि चेतन पदार्थ के तत्त्वो मे जो सम्बन्ध है, वह भौतिक पदार्थ के सम्बन्ध से विलकुल भिन्न है, अर्थात् वह भौतिक नही है यह भी निश्चित है कि वह अनुभय नही है, तो अवश्य ही मानसिक या चेतन होगा अनुभय नही होने का मतलब है कि जड और चेतन दोनो से भिन्न नही है, अर्थात् भौतिक या मानसिक है यह भी मालूम है कि भौतिक नही है इसलिए अवश्य ही मानसिक होगा इसी तरह यह दिखाया जा सकता है कि भौतिक पदार्थो के तत्त्वो मे विद्यमान सम्बन्ध भौतिक है अतएव अनुभय तत्त्वो से चेतन पदार्थ को उत्पन्न करने वाले सम्बन्ध सिर्फ चेतन है और भौतिक पदार्थ को उत्पन्न करने वाले सिर्फ भौतिक इसका मतलब है कि जड और चेतन की भिन्नता मौलिक या आधारिक है किन्तु ऐसा होने से उनका वास्तविक द्वैत सिद्ध हो जाता है इस द्वैत का परिहार नही हो सकता, क्योकि यह द्वैत सम्बन्धो का है और सम्बन्ध ही जड को जड और चेतन को चेतन बनाने वाले है[4] इस प्रकार यद्यपि रसेल ने घटनाओ को अनुभय तत्त्वो के रूप मे वताया है, पर वस्तुत तो उनके मूल मे जड या चेतन, कोई न कोई होता ही है[5]

यह तो जैन-दर्शन भी मानता है कि जितने भी चेतन तत्त्व है और परमाणु पुद्गल है वे सभी स्वतन्त्र वास्तविकताएँ हैं, और इस दृष्टि से विश्व के मूलतत्त्वो की सख्या तो अनन्त ही है जहाँ हम इन तत्त्वो को प्रकारो मे बाटते है, वहाँ हमारे सामने केवल दो भेद रह जाते है, जीव और पुद्गल[6] अस्तु रसेल का दर्शन पाश्चात्य जगत् का एक ऐसा दर्शन है जो सम्भवत जैनदर्शन के सबसे निकट माना जा सकता है

आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिको मे प्रो० हेनरी मार्गेनो की विचारधारा भी जैनदर्शन के साथ बहुत सादृश्य रखती है

---

१ गुणपर्यायाश्रयो द्रव्यम्, जैनसिद्धान्तदीपिका १–३
२ पूर्वोत्तराकारपरित्यागादान पर्याय । वही १–४४
३ दी फिलासोफी आफ वर्ट्रेण्ड रसेल, पी०ए० शिल्प द्वारा सम्पादित पृ०३५५-४००
४ दर्शनशास्त्र का रूपरेखा, पृ० १३३
५ रसेल ने स्वय अपने दर्शन को द्वैतवाद कहा है देखें दर्शन दिग्दर्शन पृ०३७१
६ धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय, ये तीन भी वास्तविक तत्त्व हैं, किन्तु इनकी सख्या एक एक है
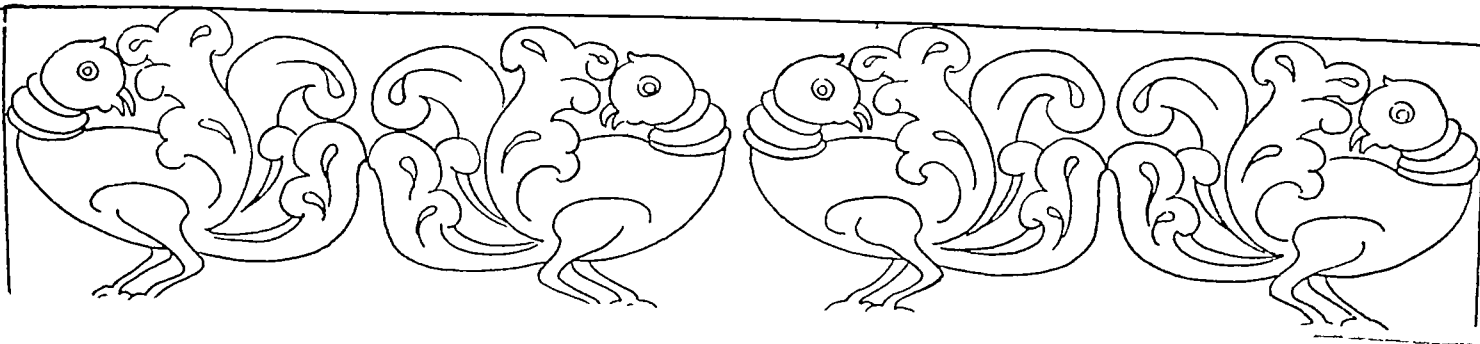
प्रो मार्गेनो ने कन्स्ट्रक्ट्स के सिद्धान्त का निरूपण करके यह बताया है कि ज्ञाता और ज्ञेय पदार्थ दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व है अलौकिक वास्तविकता को भी वे स्वीकार करते है

इस प्रकार जैन-दर्शन के साथ इनकी विचारधारा का काफी सामजस्य प्रतीत होता है मार्गेनो की विचारधारा में ज्ञान मीमांसिक विश्लेषण के द्वारा ज्ञाता और ज्ञेय पदार्थ की वास्तविकता के विषय में चिन्तन किया गया है और यह विचारधारा समीक्षात्मक वास्तविकतावाद (Critical realism) के निकट चली जाती है

समीक्षात्मक वास्तविकतावाद के अनुसार ज्ञान प्रक्रिया में तीन तत्त्व होते है

१ ज्ञाता (known of mind) २ ज्ञेय (object as it is) ३ ज्ञात पदार्थ (object as known)

ज्ञाता' ज्ञान करनेवाला है जिस वस्तु का ज्ञान होता है, उसी को 'ज्ञेय पदार्थ' कहते है मन या ज्ञाता की चेतना के समक्ष जो पदार्थ विद्यमान रहता है उसीको ज्ञात' पदार्थ कहते है उसे प्रदत्त (Datum) भी कहते है क्योंकि ज्ञाता को यही प्राप्त होता है वास्तविक वस्तु नही मिलती यह सिद्धांत वास्तविक वस्तु और ज्ञात वस्तु दोनों मे द्वैत या भिन्नता मानता है इसलिए इसे ज्ञान-शास्त्रीय-द्वैतवाद (Epigtemological dualism) कहते है[१] इस प्रकार इसके अनुसार ज्ञेय पदार्थ और ज्ञात पदार्थ में सख्यात्मक भिन्नता (Numerical duality) तो होती है किन्तु हम प्रदत्त के द्वारा यथार्थ वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है क्योंकि हम प्रदत्त को नही देखते बल्कि चश्मे की तरह उनके माध्यम से वस्तुओं को देखते है अब कहा जा सकता है कि जैनदर्शन की विचारधारा इसके समीप है जैन-दर्शन ज्ञेय पदार्थ को स्वतन्त्र वास्तविकता के रूप मे स्वीकार करता है ज्ञाता का भी स्वतन्त्र वास्तविक अस्तित्व मानता है ज्ञात पदार्थ ज्ञेय पदार्थ से सख्यात्मक भिन्नता रखता है ज्ञानप्रक्रिया में दो प्रकार के साधनो का उपयोग होता है— ऐन्द्रिय और अतीन्द्रिय ऐन्द्रिय साधनो द्वारा ज्ञात पदार्थ ज्ञेय पदार्थ से न केवल सख्यात्मक भिन्नता रखता है बल्कि इनमे स्वरूपात्मक भिन्नता भी होनी सभव है हाँ यह ज्ञात-पदार्थ ज्ञेय पदार्थ और ऐन्द्रिय उपकरणो के पारस्परिक सम्बन्धो के अनुरूप ही होता है गणित की भाषा में इसे कहे तो यदि 'अ' ज्ञेय पदार्थ है और क' ऐन्द्रिय साधनो द्वारा ज्ञात पदार्थ है तो क फ (अ ऐन्द्रिय सम्बन्ध)[२] होता है इस प्रकार हमारे ज्ञान में आने वाला विश्व वास्तविक विश्व में यह 'द्वैत' हो जाता है अब जहाँ अतीन्द्रिय साधनो द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है वहाँ ज्ञात पदार्थ और ज्ञेय पदार्थ में सख्यात्मक द्वैत तो रहता है किन्तु स्वरूपात्मक द्वैत तो नही रहता अर्थात् यदि 'क' अतीन्द्रिय साधनों द्वारा ज्ञात पदार्थ है तो 'क अ' होता है

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनदर्शन और समीक्षात्मक वास्तविकतावाद में बहुत कुछ सादृश्य है किन्तु थोडा अन्तर भी है दूसरा जहाँ प्रदत्त (Datum) और यथार्थ वस्तु में स्वरूपात्मक भिन्नता को स्वीकार नही करता वहा जैनदर्शन उसकी समता को स्वीकार करता है दूसरी बात यह है कि प्रदत्तों को जैन-दर्शन में कोई स्वतंत्र वास्तविकता के रूप में स्वीकार नही किया गया है किन्तु वह वस्तुत ज्ञाता का ही एक अग बन जाता है हाँ उसका स्वरूप 'ज्ञेय-पदार्थ पर आधारित अवश्य होता है ऐसा मानने से जो दोष समीक्षात्मक वास्तविकतावाद में आते है[३] जैन दर्शन की विचारधारा उनसे मुक्त रह जाती है

वैज्ञानिको मे अनेक ऐसे है जो वस्तुवादात्मक वास्तविकतावाद को स्वीकार करते है प्राचीन युग म न्यूटन ने स्पष्ट रूप से भूत और चलन के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार किया था आधुनिक युग म हाईसन बर्ग वही होकर आदि भी पदार्थ के वस्तुमापेक्ष अस्तित्व को स्वीकार करते है हाईसनबर्ग का स्थान वर्तमान वैज्ञानिको म प्रथम श्रेणी में है उन्होने अपने 'भौतिक विज्ञान और दर्शन' नामक ग्रन्थ म आधुनिक विज्ञान के दर्शन की भी चर्चा की है उसके

---

१ दर्शनशास्त्र की रूपरेखा पृ १४७

२ (फ़ फ़) (Function) का चिह्न है

३ विस्तार के लिए देखें, दर्शन-शास्त्र की रूपरेखा पृ १४०-१४८

आधार पर कहा जा सकता है कि उन्होंने भौतिक पदार्थों को वस्तुसापेक्ष वास्तविकता के रूप में माना है साथ ही चेतन तत्त्व की वास्तविकता को भी वे स्वीकार करते हैं. उन्होंने माना है कि चेतनतत्त्व को भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र और विकासवाद के सिद्धान्तों पर नहीं समझाया जा सकता[1] हाईसन वर्ग यह भी मानते हैं कि 'वास्तविकता' को समझने के लिये हमारी धारणाओं की सूक्ष्म परिभाषायें आवश्यक हैं[2] उनकी विचारधारा को हम आधुनिक प्रत्यक्षवाद (Modern Positivism) के अन्तर्गत मान सकते हैं उन्होंने स्वयं आधुनिक प्रत्यक्षवाद की चर्चा में यह कहा है कि 'पदार्थ अनुभूति' 'अस्तित्व' आदि की समीक्षात्मक परिभाषायें आवश्यक हैं[3]

अब जैन-दर्शन के साथ यदि उसकी तुलना की जाये तो कहा जा सकता है कि वैज्ञानिकों की दार्शनिक विचारधाराओं में हाईसन वर्ग की विचारधारा जैन-दर्शन के साथ बहुत सादृश्य रखती है दोनों ही भूत और चेतन के वास्तविक अस्तित्व को स्वीकार करते हैं ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्धी हाईसन वर्ग की दार्शनिक विचारधारा का विस्तृत विवेचन नहीं होने से, इतनी समीक्षा पर्याप्त मानी जा सकती है

हाईसन वर्ग के अतिरिक्त अन्य वैज्ञानिक भौतिक पदार्थों को और चेतन तत्त्व को भी वास्तविक मानते हैं किन्तु उनकी विचारधारा दर्शन के रूप में उपलब्ध होने से तुलनात्मक समीक्षा नहीं की जा सकती

१ फिजिक्स एण्ड फिलोसोफी, पृ० ९५
२ वही पृ० ८४
३ वही पृ० ७८

श्रीदेवनारायण शर्मा
एम ए साहित्यरत्न
रिसर्च स्कॉलर, प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान मुजफ्फरपुर बिहार

हिंदू तथा जैनसाधु परम्परा एव आचार

यह हमारी राष्ट्रीय विशेषता है कि जब भी हम किसी वस्तु के इतिहास का अन्वेषण करते है तो उसके मूल-स्रोत की जानकारी के लिये वेदो को अवश्य टटोलते है. और यह ठीक भी है क्योकि वेदों में बीजरूप म जो चिंतन है उसका सम्यक विकास आगे क साहित्य मे मिलता है वस्तुत यही बात साधु परम्परा के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है यद्यपि यह सत्य है कि आत्मा पुनर्जन्म और कर्मफलवाद के विषय में वैदिक ऋषियों ने अधिक नही सोचा था किन्तु इनका विकास आगे चलकर उपनिषदो में हुआ-सा लगता है आत्मा शरीर से भिन्न वस्तु है जो मरणोपरान्त परलोक को जाती है सिद्धान्त का आभास वैदिक ऋचाओं[1] में मिलता है यद्यपि वेदो का वातावरण आनन्द और उल्लास का है उसमें भय अथवा शोक की छाया नही है किन्तु इससे यह नही समझना चाहिए कि वैदिक जनता[2] इसी ससार पर भूली हुई थी और उसे सांसारिक जीवनोपरान्त आनेवाले पारलौकिक जीवन का ध्यान ही नही था ध्यान था और ऋषियों[3] न कभी कभी इस रहस्य पर विचार भी किया है

पर इसके बाद भी वेदो स यही स्पष्ट होता है कि उस समय के आर्यों में श्रेय की अपेक्षा प्रेय की भावना ही अधिक है प्रबल था प्रेय को छोड़कर श्रेय की ओर बढने की आतुरता उपनिषदो के समय जगी जब मोक्ष के सामने गृहस्थ जीवन निस्सार समझा जाने लगा एव लोग जीवन से आनन्द लेने के बजाय सन्यास[4] लेने लगे उपनिषदो ने मोक्ष का ससार का समाधान बतलाया और यह कहा कि मोक्ष का मार्ग ज्ञान है इस युग म ज्ञान की इतनी महिमा बढी कि वर्णाश्रम और यज्ञवाद दोनो बहुत पीछे छूट गये

चूंकि मोक्ष का सिद्धान्त निरूपित करने मे बार-बार सासारिक जीवन की दु खपूर्णता की चर्चा की गयी इस कारण समाज में एक तरह का निराशावाद फैलने लगा और लोग जीवन में उस उत्साह को खोने लगे जो वेदकालीन भारत वासियो की विशेषता थी वैदिक सभ्यता कर्मठ मनुष्य की सभ्यता थी जो सोचता कम काम अधिक करता था जिस मरने की चिन्ता नहीं सदा स्वर्ग का ही लोभ था जो जीवन को दु खो का आगार नही सुख और आनन्द का साधन मानता था मगर उपनिषदो न मानव जीवन क अनेक नये पहलू उघाड दिये और वह उनके सवालो के चक्कर म पड गया यह सृष्टि क्या है ? जीव सान्त है या अनन्त ? यह जन्म क पहले क्या था ? जीवन की स्थिति मरने के बाद क्या होगी ? क्या जीवन मरने के साथ ही समाप्त हो जायगा ? या मरने क बाद भी हमें स्वर्ग मिलेगा ? अगर हां तो इसका

---

1 [illegible]
[illegible]
2 [illegible]
3 [illegible]
4 [illegible]

आधार पर कहा जा सकता है कि उन्होने भौतिक पदार्थों को वस्तुसापेक्ष वास्तविकता के रूप मे माना है साथ ही चेतन तत्त्व की वास्तविकता को भी वे स्वीकार करते है. उन्होने माना है कि चेतनतत्त्व को भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र और विकासवाद के सिद्धांतो पर नही समझाया जा सकता [१] हाईसन वर्ग यह भी मानते है कि 'वास्तविकता' को समझने के लिये हमारी धारणाओ की सूक्ष्म परिभाषाये आवश्यक हैं [२] इनकी विचारधारा को हम आधुनिक प्रत्यक्षवाद (Modern Positivism) के अन्तर्गत मान सकते है उन्होने स्वय आधुनिक प्रत्यक्षवाद की चर्चा मे यह कहा है कि 'पदार्थ अनुभूति' 'अस्तित्व' आदि की समीक्षात्मक परिभाषाये आवश्यक है [३]

अब जैन-दर्शन के साथ यदि इसकी तुलना की जाये तो कहा जा सकता है कि वैज्ञानिको की दार्शनिक विचारधाराओ मे हाईसन वर्ग की विचारधारा जैन-दर्शन के साथ बहुत सादृश्य रखती है दोनो ही भूत और चेतन के वास्तविक अस्तित्व को स्वीकार करते है ज्ञाता-ज्ञेय सम्बन्धी हाईसन वर्ग की दार्शनिक विचारधारा का विस्तृत विवेचन नही होने से, इतनी समीक्षा प्रर्याप्त मानी जा सकती है

हाईसन वर्ग के अतिरिक्त अन्य वैज्ञानिक भौतिक पदार्थों को और चेतन तत्त्व को भी वास्तविक मानते है किन्तु उनकी विचारधारा दर्शन के रूप मे उपलब्ध होने से तुलनात्मक समीक्षा नही की जा सकती

१ फिजिक्स एण्ड फिलोसोफी, पृ० ६५
२ वही पृ० ८४
३ वही पृ० ७८

श्रीरञ्जनारायण शर्मा
एम ए साहित्यरत्न
रिसर्च स्कॉलर प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान मुजफ्फरपुर बिहार

हिंदू तथा जैनसाधु-परम्परा एव आचार

यह हमारी राष्ट्रीय विशेषता है कि जब भी हम किसी वस्तु के इतिहास का अन्वेषण करते है तो उसके मूल-स्रोत की जानकारी के लिये वेदो को अवश्य टटोलते है और यह ठीक भी है क्योकि वेदों म बीजरूप में जो चिंतन है उसका सम्यक् विकास आगे के साहित्य म मिलता है वस्तुत यही बात साधु परम्परा के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है यद्यपि यह सत्य है कि आत्मा पुनर्जन्म और कर्मफलवाद के विषय मे वैदिक ऋषियो ने अधिक नही सोचा था किन्तु इनका विकास आगे चलकर उपनिषदो में हुआ-सा लगता है आत्मा शरीर से भिन्न वस्तु है जो मरणोपरान्त परलोक को जाती है सिद्धान्त का आभास वैदिक ऋचाओं[1] में मिलता है यद्यपि वेदो का वातावरण आनन्द और उल्लास का है उसमें भय अथवा शोक की छाया नही है किन्तु इससे यह नही समझना चाहिए कि वैदिक जनता[2] इसी ससार पर भूली हुई थी और उसे सांसारिक जीवनोपरान्त आनेवाले पारलौकिक जीवन का ध्यान ही नही था ध्यान था और ऋषियों[3] न कभी कभी इस रहस्य पर विचार भी किया है

पर इसके बाद भी वेदो से यही स्पष्ट होता है कि उस समय के आर्यों में श्रेय की अपेक्षा प्रेय की भावना ही अधिक है प्रथम था प्रेय को छोडकर श्रेय की ओर बढने की आतुरता उपनिषदो के समय जगी जब मोक्ष के सामने गृहस्थ जीवन निस्सार समझा जाने लगा एव लोग जीवन से आनन्द लेने के बदले सन्यास[4] लेने लगे उपनिषदो ने मोक्ष का ससार का समाधान बतलाया और यह कहा कि मोक्ष का मार्ग ज्ञान है इस युग मे ज्ञान की इतनी महिमा बढी कि वर्णाश्रम और यज्ञवाद दोनो बहुत पीछे छूट गय

चूकि मोक्ष का सिद्धान्त निरूपित करने में बार-बार सासारिक जीवन की दु खपूर्णता की चर्चा की गयी इस कारण समाज में एक तरह का निराशावाद फैलने लगा और लोग जीवन में उस उत्साह को खोने लगे जो वेदकालीन भारत वासियो की विशेषता थी वैदिक-सभ्यता कर्मठ मनुष्य की सभ्यता थी जो सोचता कम काम अधिक करता था जिसे तत्त्व की चिन्ता नहीं सदा स्वयं का ही लोभ था जो जीवन को दु खो का आगार नही सुख और आनन्द का साधन मानता था मगर उपनिषदो म मानव जीवन के अनेक नये पट उघाड दिये और वह उनके सवालों के चक्कर मे पड गया यह सृष्टि क्या है ? जीव सान्त है या अनन्त ? यह जन्म के पहले क्या था ? जीवन की स्थिति मरने के बाद क्या होगी ? क्या जीवन मरने के साथ ही समाप्त हो जायगा ? या मरने के बाद भी हमें स्वर्ग मिलेगा ? अगर हाँ तो इसका

---

१ [illegible]
[illegible]
२ [illegible]
४ [illegible]
५ [illegible]

प्रमाण क्या है ? इन प्रश्नो ने मानव को स्थूल एव प्रत्यक्ष से सूक्ष्म तथा अनुमान की ओर अग्रसर होने को वाध्य किया और वे ऐसे धर्म की खोज मे लगे जो भोगप्रधान नही, योगप्रधान हो, वैराग्य-प्रधान हो मारांशत हम यही से साधु-परम्परा का सूत्रपात होता हुआ देखते है

वैदिकदर्शन मे वैराग्य की मनोभावना का आरम्भ उपनिषदो मे ही होता है और वह भावना बौद्ध तथा जैनदर्शनो मे अधिक प्रबल होती हुई दीखती है उपनिषदो से आत्म-विद्या और तपश्चर्या की जो परिपाटी चली उससे प्रेरित होकर लोग अधिक सख्या मे विरागी होने लगे इसका कारण यह था कि जो लोग यह समझते थे कि उन्हे आत्म-ज्ञान प्राप्त हो गया तथा वे जीवन्मुक्त हो गये है या जीवन्मुक्ति की राह पर हैं, वे ससार को छोडकर इसलिए सन्यासी या विरागी हो जाते थे कि कही गृहस्थाश्रम मे रहने से वे इस अवस्था से पतित न हो जाए ये सन्यासी और परिव्राजक सर्वत्र घूमते रहते थे पेडो के नीचे अथवा कुटियो मे उनका सोना होता था और वनो मे तपश्चर्या इन साधुओ की विशेषता यही थी कि यज्ञ मे इनका विश्वास नही था, कर्मकाण्ड को वे नही मानते थे और ऐहिक सुखो को वे मनुष्य का हीन उद्देश्य वतलाते थे उनका लक्ष्य मनुष्य के भीतर वैराग्य जगाकर उसे ईश्वर की ओर ले जाना था यद्यपि यह सन्यास मार्ग वैदिककाल मे ही प्रचलित हो चुका था, तो भी प्राय वह कर्मकाण्ड से आगे कदम नही बढा सका था स्मृति आदि ग्रन्थो मे सन्यास लेने की बात कही गयी है, परन्तु उसमे प्रधानत **पूर्वाश्रमो के कर्त्तव्यपालन**[1] का उपदेश दिया ही गया परन्तु यहाँ यह विचारणीय है कि जो कर्मकाण्ड अथवा यज्ञवाद इतनी प्रबलता से देश मे प्रचलित था और जिसका समर्थक प्रभावशाली पुरोहितवर्ग था, उसने भी इस उपनिषद्कालीन निवृत्ति-प्रधान धर्म के सामने घुटने टेक दिये इस आश्चर्यमय परिवर्तन को देखकर यह स्पष्ट कहना पड जाता है कि उसके अपदस्थ हो जाने के कुछ ऐसे प्रबल कारण अवश्य उपस्थित हुए, जिन्होने उसके मानने वालो पर तीव्र प्रतिक्रिया उत्पन्न की वास्तव मे इसमे से पहला एव प्रधान कारण जैन एव बौद्ध धर्मो का प्रचार-प्रसार है क्योकि इन्ही दोनो धर्मो ने प्राय चारो वर्णो के लिए सन्यासमार्ग का द्वार खोल दिया पर, इसका तात्पर्य यह कदापि नही कि भगवान् महावीर तथा बुद्ध के पूर्व इस देश मे वैरागी अथवा सन्यासी थे, ही नही थे, पर सन्यास अथवा वैराग्य-ग्रहण करने का अधिकार केवल ब्राह्मण-वर्ग को ही था, अन्य वर्गो को नही इस कारण ये वैरागी और सन्यासी इने गिने ही देखने को मिलते थे लेकिन इन दोनो श्रमण-सम्प्रदायो ने अपने आचारो एव निवृत्ति प्रधान उपदेशो से इस प्रकार देश की जनता को अपनी ओर आकृष्ट किया कि पुरोहित-धर्म जो चिरकाल से पोषित एव सत्कृत होने के कारण दृढमूल हो चुका था, उसकी जड सर्वथा हिल गयी

वस्तुत यह श्रमण वर्ग भी ब्राह्मण वर्ग के साथ ही इस देश मे विद्यमान रहा है भगवान् ऋषभदेव को जिन्हे श्रीमद्-भागवत म भगवदशावतार माना गया है, जैनलोग अपना आदि तीर्थंकर मानते है बौद्धो के कथानुसार सिद्धार्थ गौतम वास्तव मे अन्तिम बुद्ध हैं और त्रेतायुग के दाशरथी राम भगवान् बुद्ध के एक अवतार समझे जाते है हिन्दुओं के प्राचीन-ग्रन्थो मे यत्र-तत्र जैनो और बौद्धो के प्राचीन अस्तित्व के प्रमाण मिलते है इसलिए यह ठीक-ठीक कहना कठिन है कि ब्राह्मण और श्रमण-सम्प्रदायो मे कौन किसकी अपेक्षा अधिक प्राचीन है वेद मे वेदनिन्दको, नास्तिको और यज्ञ मे विघ्न डालने वाले दृश्यादृश्य सभी तरह के प्राणियो के विरुद्ध मन्त्र और निराकरण के साधन है इससे यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि इन दोनो सम्दाओ का रूप चाहे जो भी हो, पर इसमे सन्देह नही कि उपर्युक्त दोनो मतो के लोग वेद-मन्त्रो के रचना काल से पहले के ही है

ये श्रमण अवैदिक होते थे ब्राह्मण यज्ञपात्र को मानते थे, श्रमण उन्हे अनुपयोगी समझते थे सभी ब्राह्मण आस्तिक थे, किन्तु श्रमणो के भीतर आस्तिक और नास्तिक दोनो ही प्रकार के लोग थे अनुमान यह है कि योग और कृच्छ्राचार की परम्परा इस देश मे आर्यो के आगमन के पूर्व से ही विद्यमान थी और इस परम्परा का वर्द्धन एव पोषण सभवतया

---

१ मनु०अध्या० ६।१।२

यह श्रमण-धर्म ही करता आ रहा था किन्तु जबतक यज्ञयाग की प्रधानता रही श्रमणों का प्रभाव सीमित रहा उनका प्रभाव तबतक बढ़ा जब समाज में प्रबल वेग से मोक्ष का सिद्धान्त प्रचलित हुआ और लोग गृहस्थ की अपेक्षा संन्यासी को अधिक श्रेष्ठ समझने लगे

इसी प्रकार मूर्ति-पूजक वैरागियों की भी परम्परा आती है यद्यपि उपनिषदों में मूर्तिपूजा का प्रमाण नहीं मिलता किन्तु महामहोपाध्याय काणे विरचित धर्मशास्त्रों के इतिहास से ज्ञात होता है कि ईसा से पाँच सौ वर्ष पूर्व समाज में ऐसे पुरोहित थे जो मंदिरों में प्रतिमा-पूजन करवाते थे इस आधार पर यह स्वीकार कर लिया जा सकता है कि वैरागी कहलाने वाले भक्त-साधुओं की परम्परा का आरम्भ भी ई पूर्व ५ के लगभग हो चुका था इस तरह हम भारत की साधु-परम्परा का सामान्य अवलोकन कर लेने के बाद अब यहाँ उनके आचार का भी स्थूल रूप से दिग्दर्शन कर सकते हैं वस्तुत यह आचार शब्द धर्म का ही समानार्थक शब्द माना जाता रहा है मनु ने दशकं-धर्म-लक्षणम् के द्वारा आचार को ही विशेष स्पष्ट करने की चेष्टा की है जैन धर्म और बौद्धधर्म में तो इसका महत्त्व और भी अधिक है वहाँ यह आचार विविध रूपों में निरूपित किया गया है अहिंसा निष्कामता मनोनिग्रह आत्म-संयम जैसी सदाचरण-सम्बन्धी बातों की ओर उन्होंने विशेष ध्यान दिया है क्षमा शील प्रज्ञा मैत्री सत्य वीर्य आदि बोधिसत्त्व के आदर्श गुण माने गये हैं इसी तरह थोड़े से शब्द भेद के साथ प्रायः इन्हीं को अहिंसा सत्य अस्तेय शौच ब्रह्मचर्य अपरिग्रह संतोष तप स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान के नाम देकर योग-दर्शन ने भी अपने यहाँ यम नियमों के रूप में स्थान दे दिया है स्मृतियों ने तो आचार परमोधर्म इस कथन के द्वारा धर्म का स्पष्ट अर्थ ही आचार प्रधान कर्म निर्धारित कर दिया है हम देखते हैं कि जैनधर्म में भी 'अहिंसा परमो धर्म' इस कथन के द्वारा अहिंसा प्रधान कर्म को ही धर्म कहा गया है[1]

इस तरह इस निष्कर्ष पर हम आसानी से पहुँच सकते हैं कि अहिंसा अथवा आचार प्रधान कर्म को ही भारतीय परम्परा में धर्म की संज्ञा दी गई है जैनधर्म में अहिंसा के अतिरिक्त जो सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये चार अन्य व्रतों के भी नाम लिये गये हैं वस्तुत वे स्वतंत्र अथवा पृथक् सत्ता वाले नहीं हैं अपितु अहिंसा के ही पूरक हैं इसे यों भी कहा जा सकता है कि अहिंसा के पूर्ण-पालन के लिए ही इन व्रतों की साधना आवश्यक मानी गयी है

अब यह सिद्ध हो जाने के बाद कि आचार ही धर्म है अथवा आचार को ही धर्म कहते हैं यह समझने में भ्रम का कोई स्थान नहीं रह जाता कि किसी व्यक्ति समाज अथवा राष्ट्र के जीवन में आचार का कितना अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है हिन्दू और जैन दोनों ही परम्पराओं में जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं अहिंसा अमृषा अस्तेय अमैथुन और अपरिग्रह इन पंचव्रतों को ही धर्म का मूल स्तम्भ माना गया है इन व्रतों के स्वरूप पर विचार करने से एक तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इनके द्वारा मनुष्य की उन वृत्तियों का नियंत्रण करने का प्रयत्न किया गया है जो समाज में मुख्यरूप से वैर एवं विरोध का कारण हुआ करती हैं दूसरी यह बात ध्यान देने योग्य है कि आचरण का परिष्कार सरलतम रीति से कुछ निषेधात्मक नियमों के द्वारा ही किया जा सकता है हम देखते हैं कि व्यक्ति जो क्रियाएँ करता है वे मूलत स्वार्थ से प्रेरित होती हैं अब क्रियाओं में कौन सी क्रिया अच्छी है और कौन सी बुरी यह किसी मानदण्ड के निश्चित होने पर ही कहा जा सकता है हम यहाँ उसके मानदण्ड के रूप में स्पष्टत रख सकते हैं—समाज का हित एवं शान्ति की रक्षा हिंसा असत्य चोरी कुशील और परिग्रह ये सभी सामाजिक पाप हैं व्यक्ति जितने ही अंश में इनका परित्याग करेगा उतना ही वह सभ्य समाज हितैषी माना जायेगा और इस प्रकार जितने व्यक्ति इन व्रतों का पालन करेंगे उसी अनुपात में समाज शुद्ध सुखी और प्रगतिशील हो सकेगा

---

१ चरित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥ प्र रत्न कु क ॥ १७
धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो
देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो ।—दशवैकालिक सूत्र । अ १ गा १

यहाँ धर्माचार्यो ने प्रथम तो यह अनुभव किया कि सबके लिये सब अवस्थाओ मे इन व्रतों का पूर्ण परिपालन सभव नही है अतएव जैन-धर्म मे तो इन व्रतो के दो स्तर स्थापित किये गये—अणु और महत् अर्थात् एकदेश और सर्वदेश पश्चात् काल मे आवश्यकतानुसार इनके अतिचार भी निर्धारित हुए, जिससे सच्चे अर्थ मे (भावत) इन व्रतों का पालन हो सके इस प्रकार व्रतो के अणु और महत् इन दो विभागो के द्वारा जैनधर्म मे गृहस्थ और साधु-आचार के बीच भेद प्रकट करनेवाली स्पष्ट रेखा खींच दी गयी. प्राय इसी तरह की मिलती जुलती व्यवस्था हम हिन्दूधर्म मे भी पाते हैं जो व्यक्ति के जीवन व यथाक्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास-धारण की चतुर्विध आश्रम-व्यवस्था से प्रमाणित है वस्तुत व्यक्ति ब्रह्मचर्याश्रम से जिस जीवन का प्रारम्भ करता है उसकी परिसमाप्ति सन्यासाश्रम मे ही जाकर होती है, जबकि साधक उस गृह तथा परिवार को भी, जो उसके बाल्य और युवा दोनो अवस्थाओ मे आश्रय एव आकर्षण के स्थान रहे है, बन्धन का कारण समझता हुआ छोडकर चल पडता है और पुन उसकी ओर लौटकर देखता तक नही वस्तुत यह मानव-जीवन का एक महान् परिवर्तन एव चरम साधना है ऐसे साधु-आचार पर प्रकाश डालने वाले ग्रथ भी भारतीय साहित्य के अतर्गत अधिकाश एव शीर्ष-स्थानीय माने जाते है

यह साधु आचार विषयक साहित्य बहुत विशाल है इसकी विशालता का प्रधान कारण यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल से ही धर्म एव अध्यात्मचर्चा का प्रधान केन्द्र इस भारत मे प्राय जितने भी धार्मिक ग्रन्थ लिखे गए , उनमे शायद ही कोई ग्रथ बचा हो जो प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूप से साधु-आचार से सम्बद्ध न हो प्राय इन सभी ग्रथो मे मानव के चरित्र को निर्मल एव उज्ज्वल बनाने के यथासभव सभी प्रयत्न किये गए है, जिनमे उद्योतमान मणि-दीप के रूप मे अनिवार्य साधु-आचार भी वर्णित है इस प्रकार भारतीय परम्परा मे जो भी साहित्य धार्मिक क्षेत्र के अन्तर्गत आता है, उसे हम प्राय साधु-आचार विषयक भी मान सकते है, जिनकी सख्या सहस्त्रावधि ग्रथो से भी कही अधिक है पर यहा यह नही भूलना चाहिए कि यह साहित्य किन्ही एक या दो पन्थो अथवा सम्प्रदायो की सम्पत्ति हो,इनके अन्तर्गत तो सैकडो पन्थ और सम्प्रदाय आ जाते है किन्तु यहाँ निबन्ध की सीमा को देखते हुए मात्र हिन्दू और जैन साधु-आचार का सामान्य परिचय ही अभीष्ट है और इस मे भी हिन्दूपरम्परा से प्रतिनिधि ग्रथ के रूप मे मनुस्मृति और जैन परम्परा से मूलाचार इन दो को ही ग्रहण किया गया है, वह भी स्थूल-दृष्टि से सूक्ष्म-दृष्टि से नही क्योकि 'अरथ अमित अरु आखर थोरे' की उक्ति को चरितार्थ करने वाले इन धर्म ग्रथो का सूक्ष्म विवेचन स्वत एक महान् साहित्य रचे जाने की अपेक्षा रखता है

मनुस्मृति और साधु-आचार

मनुस्मृति मे साधु-आचार का वर्णन वैदिक एव वर्णाश्रम परम्परा पर आधारित है मनु ने ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास, इन चारो आश्रमो का क्रमानुसार पालन पर जोर देते हुए साधु के वानप्रस्थी और सन्यासी नामके दो विभाग किये हैं यही कारण है कि वानप्रस्थाश्रम मे प्रवेश करने से पूर्व स्नातक द्विज के लिये उन्होने विधिवत् **गृहस्थाश्रमी** होना आवश्यक बताया है इतना ही नही, मनु के मत से गृहस्थ जब **अतिवृद्ध हो जाए,** उनकी त्वचा शिथिल पड जाय, उसके बाल जब सफेद दिखने लगे और जब वह पौत्रवान् हो जाए तब सासारिक विषयो से स्वभावत विरत हुआ—वह वन का आश्रय ग्रहण करे

वानप्रस्थाश्रम स्वीकार कर लेने के बाद, साधक ग्राम्य आचार एव उपकरणो का भी **परित्याग** कर दे पत्नी की इच्छानुसार ही, वह उसे अपने साथ लेले अथवा पुत्र के सरक्षण मे ही रख दे पर, वन मे वानप्रस्थी श्रोत अग्नि तथा उससे सम्बन्धित साधन सुक, सुवा, आदि के साथ ही निवास करे वानप्रस्थी के लिये मुनिनिमित्तक अन्नो एव वन मे उत्पन्न पवित्र शाक, मूल, फलादि से गृहस्थो के लिये विहित **पचमहायज्ञो** का पालन करना मनु ने आवश्यक बतलाया है

---

१ देखिये मनु० अध्या ६

मुनि की वेश भूषा एवं रूप के सम्बन्ध में भी मनु के विचार बड़े स्पष्ट हैं उनकी राय में मुनि चाहे तो मृगचर्म धारण करे अथवा वल्कलवस्त्र पर उसे जटा दाढ़ी मूंछ एवं नख आदि रखने ही है

मुनि अपने भोजन में से यथाशक्ति बलि तथा भिक्षा प्रदान करे एवं आश्रम में आये हुए अतिथियों की जल कन्द मूल फलादि से अर्चना भी करे. तपस्वी को नित्यवेदाभ्यास दानशीलता निर्लोभ एवं सर्वहित में रत रहते हुए अमावस्या पूर्णिमा आदि पर्वों में शास्त्रानुसार किये जाने वाले यज्ञों का भी सम्पादन करना चाहिए उस मुनि को वन में उत्पन्न नीवार आदि से निर्मित यज्ञ के योग्य हवि को देवताओं को अर्पित कर शेष स्वयंकृत लवण के साथ ग्रहण करना चाहिए उसके लिये मधु मांस तथा भूमि में उत्पन्न पुष्प आदि सभी त्याज्य हैं मनु ने मुनिको आश्विनमास में सभी पूर्व संचित धान्यों शाक-मूल-फलों यहां तक कि शरीर में धारण किये गये जीर्ण-वस्त्रखण्ड को भी छोड़ देने का आदेश दिया है अफालकृष्ट भूमि के धान्य ही उनकी दृष्टि में तपस्वी के लिये ग्राह्य है फालकृष्ट भूमि से उत्पन्न अन्न वनान्तर्गत का भी यहां तक कि उत्सृष्ट भी ग्राह्य नहीं है भले ही इसके फलस्वरूप मुनि को भूखा ही क्यों न रह जाना पड़े सामर्थ्य के अनुसार प्राप्त अन्न को भी रात्रि अथवा दिन के चतुर्थ अथवा अष्टकाल में ही वानप्रस्थी ग्रहण करे यहां अन्य कालों का निषेध किया गया है तपस्वी उस अन्न को भी कृष्णपक्ष में एक-एक पिण्ड घटाता हुआ एवं शुक्लपक्ष में एक-एक पिण्ड बढ़ाता हुआ ग्रहण कर चान्द्रायणव्रत के द्वारा जीवन-यापन करे इसके विकल्प में कालपक्व तथा वृक्ष से गिरे हुए फल के खाने की व्यवस्था है वानप्रस्थी को जीवन धारण के योग्य भिक्षा वानप्रस्थ ब्राह्मणों से अथवा वनवासी गृहस्थ ब्राह्मणों से अथवा उपर्युक्त दोनों के अभाव में ग्रामवासियों से भी ग्रहण करनी चाहिए पर साथ ही यहां यह भी ध्यान देने योग्य है कि वह भिक्षा भी किसी के पात्र में नहीं अपितु पत्ते के दोने में कपाल खण्ड में अथवा हाथों में ही आठ ग्रास लेनी चाहिए

यहां जिस प्रकार आहार ग्रहण करने आदि के सबन्ध के कठोर नियम मनु ने बताये हैं उसी प्रकार मुनि की दिनचर्या भी सुकर नहीं गिनायी है तपस्वी के लिये भूमि पर लौटते हुए अथवा पैरों के अग्रभाग से दिन भर खड़ा रहना तथा प्रातः एवं मध्याह्न में स्नान करना तथा इनसे भी बढ़कर ग्रीष्म ऋतु में पंचाग्नि के बीच वर्षा में खुले आकाश के नीचे एवं हेमन्त ऋतु में आर्द्रवस्त्र धारण कर तप वृद्धि करने का विधान है इसके बाद भी तीनों कालों में स्नान-क्रियादि से निवृत्त होकर देवता ऋषि एवं पितरों का तर्पण व अन्यान्य उग्रतर व्रतों का पालन करते हुए अपने शरीर को कृश बनाना यह भी तपस्वी का धर्म बताया गया है

इस प्रकार इन नियमों का तथा शास्त्रोक्त अन्य नियमों का भी पालन करते हुए मुनि की विद्या तप आदि की वृद्धि शरीर की शुद्धि एवं ब्रह्मत्व की सिद्धि के लिये उपनिषदों में पढ़ी गयी विविध श्रुतियों का अभ्यास करना चाहिए असाध्य रोगों से आक्रान्त हो जाने की स्थिति में तपस्वी को शरीर निपातपर्यन्त जल तथा पवन का आहार करते हुए योगनिष्ठ होकर ईशान दिशा की ओर आगे बढ़ते चला जाना चाहिए, क्यों कि इस प्रकार शोकभय रहित शरीर-परित्याग करने वाला ही मोक्ष का अधिकारी होता है

उपर्युक्त प्रकार से वानप्रस्थी तपस्वी के आचार का वर्णन करने के पश्चात् मनु ने परिव्राजक साधुओं का आचार बतलाया है वस्तुतः यह जीवन का अंतिम पहलू है जिसके पश्चात् जीवन में और कुछ करने को नहीं रह जाता यही स्थिति वेदान्तियों के शब्दों में सोऽहमस्मि की अवस्था मानी जाती है जबकि वानप्रस्थी मुनि गृह का पूर्ण परित्याग कर पवित्र दण्ड कमण्डलु आदि के साथ पूर्णकाम एवं निरपेक्ष रूप से सन्यास धारण कर लेता है और अनग्नि एवं अनिकेत होकर मात्र भिक्षा के लिये ही ग्राम की शरण लेता है और अन्यथा नहीं वह इस अवस्था में शरीर की उपेक्षा करता हुआ स्थिर-बुद्धि होकर ब्रह्म चिन्तन में एकनिष्ठ भाव से अपने भिक्षापात्र के रूप में कपाल निवास के लिये वृक्ष की छाया एवं शरीर आवेष्टन के लिये जीर्णवस्त्र धारण कर लेता है साथ ही वह ब्रह्म युद्ध गमनोऽप्ताश्मर्यावन की भावना से मुक्त होता हुआ पूर्ण जीवन्मुक्त लक्षित होता है वह न जीने की ही कामना करता है और न मरने की ही वह मात्र एक आज्ञाकारी किंकर की तरह स्वामी काल के आदेश की प्रतीक्षा में रहता है वह सदा आंखों से

यहाँ धर्माचार्यो ने प्रथम तो यह अनुभव किया कि सबके लिये सब अवस्थाओ मे इन व्रतो का पूर्ण परिपालन सभव नही है अतएव जैन-धर्म मे तो उन व्रतो के दो स्तर स्थापित किये गये—अणु और महत् अर्थात् एकदेश और सर्वदेश पश्चात् काल मे आवश्यकतानुसार इनके अतिचार भी निर्धारित हुए, जिससे सच्चे अर्थ मे (भावत) उन व्रतो का पालन हो सके इस प्रकार व्रतो के अणु और महत् इन दो विभागो के द्वारा जैनधर्म मे गृहस्थ और साधु-आचार के बीच भेद प्रकट करनेवाली स्पष्ट रेखा खीच दी गयी. प्राय उसी तरह की मिलती जुलती व्यवस्था हम हिन्दूधर्म मे भी पाते है जो व्यक्ति के जीवन व यथाक्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास-धारण की चतुर्विध आश्रम-व्यवस्था मे प्रमाणित है वस्तुत व्यक्ति ब्रह्मचर्याश्रम से जिस जीवन का प्रारम्भ करता है उसकी परिसमाप्ति सन्यासाश्रम मे ही जाकर होती है, जबकि साधक उस गृह तथा परिवार को भी, जो उसके बाल्य और युवा दोनो अवस्थाओ मे आश्रय एव आकर्षण के स्थान रहे है, बन्धन का कारण समझता हुआ छोडकर चल पडता है और पुन उसकी ओर लौटकर देखता तक नही वस्तुत यह मानव-जीवन का एक महान् परिवर्तन एव चरम साधना है ऐसे साधु-आचार पर प्रकाश डालने वाले ग्रथ भी भारतीय साहित्य के अतर्गत अधिकाश एव शीर्ष-स्थानीय माने जाते है

यह साधु आचार विषयक साहित्य बहुत विशाल है इसकी विशालता का प्रधान कारण यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल से ही धर्म एव अध्यात्मचर्चा का प्रधान केन्द्र इस भारत मे प्राय जितने भी धार्मिक ग्रन्थ लिखे गए, उनमे शायद ही कोई ग्रथ बचा हो जो प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूप से साधु-आचार से सम्बद्ध न हो प्राय इन सभी ग्रथो मे मानव के चरित्र को निर्मल एव उज्ज्वल बनाने के यथासभव सभी प्रयत्न किये गए है, जिनमे उद्योतमान मणि-दीप के रूप मे अनिवार्य साधु-आचार भी वर्णित है इस प्रकार भारतीय परम्परा मे जो भी साहित्य धार्मिक क्षेत्र के अन्तर्गत आता है, उसे हम प्राय साधु-आचार विषयक भी मान सकते है, जिनकी सख्या सहस्त्रावधि ग्रथो से भी कही अधिक है पर यहा यह नही भूलना चाहिए कि यह साहित्य किन्ही एक या दो पन्थो अथवा सम्प्रदायो की सम्पत्ति हो,इनके अन्तर्गत तो सैकडो पन्थ और सम्प्रदाय आ जाते है ।किन्तु यहाँ निबन्ध की सीमा को देखते हुए मात्र हिन्दू और जैन साधु-आचार का सामान्य परिचय ही अभीष्ट है और इस मे भी हिन्दूपरम्परा से प्रतिनिधि ग्रथ के रूप मे मनुस्मृति और जैन परम्परा से मूलाचार इन दो को ही ग्रहण किया गया है, वह भी स्थूल-दृष्टि से सूक्ष्म-दृष्टि से नही क्योकि 'अरथ अमित अरु आखर थोरे' की उक्ति को चरितार्थ करने वाले इन धर्म ग्रथो का सूक्ष्म विवेचन स्वत एक महान् साहित्य रचे जाने की अपेक्षा रखता है

मनुस्मृति और साधु-आचार

मनुस्मृति मे साधु-आचार का वर्णन वैदिक एव वर्णाश्रम परम्परा पर आधारित है मनु ने ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास, इन चारो आश्रमो का क्रमानुसार पालन पर जोर देते हुए साधु के वानप्रस्थी और सन्यासी नामके दो विभाग किये है यही कारण है कि वानप्रस्थाश्रम मे प्रवेश करने से पूर्व स्नातक द्विज के लिये उन्होने विधिवत् **गृहस्थाश्रमी** होना आवश्यक बताया है इतना ही नही, मनु के मत से गृहस्थ जब **अतिवृद्ध** हो जाए, उनकी त्वचा शिथिल पड जाय, उसके बाल जब सफेद दिखने लगें और जब वह पौत्रवान् हो जाए तब सासारिक विषयो से स्वभावत विरत हुआ—वह वन का आश्रय ग्रहण करे

वानप्रस्थाश्रम स्वीकार कर लेने के बाद, साधक ग्राम्य आचार एव उपकरणो का भी परित्याग कर दे पत्नी की इच्छानुसार ही, वह उसे अपने साथ लेले अथवा पुत्र के सरक्षण मे ही रख दे पर, वन मे वानप्रस्थी श्रोत अग्नि तथा उससे सम्बन्धित साधन सुक, सुवा, आदि के साथ ही निवास करे वानप्रस्थी के लिये मुनिनिमित्तक अन्नो एव वन मे उत्पन्न पवित्र शाक, मूल, फलादि से गृहस्थो के लिये विहित **पचमहायज्ञो** का पालन करना मनु ने आवश्यक बतलाया है

१ देखिये मनु० अध्या ६

कही है इस कोटि का यति अपने पुत्र के आश्रय में ही रहकर भोजन वस्त्रादि जीविका की चिन्ता से मुक्त हुआ मोक्ष प्राप्ति का प्रयत्न करता है

मूलाचार और साधु आचार

आचार्य वट्टकेर ने मनु की तरह मुनि बनने के लिये न तो कोई आयु-सीमा ही निर्धारित की है और न उनके लिये मुनि बनने से पूर्व गृहस्थाश्रमी बनना ही आवश्यक माना है उनकी दृष्टि में जिस व्यक्ति के हृदय में कामभोग की अभिलाषा समाप्त हो चुकी हो जिसकी बुद्धि धर्माभिमुख हो वही विरक्त कर्मवीर पुरुष निर्माल्य पुष्प की तरह गृहवास त्याग कर साधु-धर्म स्वीकार कर सकता है अर्थात् जिस व्यक्ति में उपर्युक्त विशेषताएँ नही आ पाई है, वह चाहे किसी भी आयु का क्यो न हो वह यति-धर्म का अधिकारी अनगार नही कहला सकता

सत्य अहिंसा अदत्त-परिवर्जन ब्रह्मचर्य तथा त्रिगुप्तियों में नित्य प्रवृत्ति एव परिग्रह से निवृत्ति को आचार्य ने साधु के मूल गुण माने है मुनि के लिये मिथ्यात्व राग हास्य रति अरति भय जुगुप्सा आदि ग्रन्थियों से मुक्त होकर यथाजात रूप अर्थात् दिगम्बरत्व स्वीकार कर जिन प्रणीत धर्म में अनुरक्त रहना अनिवार्य बताया गया है उनकी राय मे साधु सदा निरीह निष्काम भाव से जीवन-यापन करते है एव उन्हे इस पच तत्त्व निर्मित अपने शरीर में किसी तरह की ममता नही रहती

आचार्य ने साधु के आवास-काल एव आवास-स्थान के सम्बन्ध में निम्नलिखित विचार व्यक्त किये है

साधु के लिए आश्रय लेने का समय सूर्यास्तकाल ही है वह वास जहा कही भी प्राप्त हो जाए पर ध्यान यह रहे कि वह आवास भी घर से बाहर हो घर में नही अनगारो के लिए ग्रामवास एव नगरवास की सीमा आचार्य ने क्रमश एक रात और पाच दिन निर्धारित की है मुनि की उपमा गन्धहस्ति से देते हुए उनके लिए एकान्तवासी होकर ही मुक्ति सुख का अनुभवन करना आवश्यक बताया गया है एकान्त स्थानों में सामान्यत गिरि-कन्दरा शून्य-गृह पर्वत श्मशानादि के नाम गिनाये गये है

मुनि की चर्या विहार भिक्षा आदि के सम्बन्ध में आचार्य वट्टकेर के निम्नलिखित आदेश है

मुनि पर्वत की गुफाओं में वीरासनादि से अथवा एकपार्श्वशायी रहकर रात्रि व्यतीत करे. उसे वायु की तरह मुक्त निरपेक्ष एव स्वच्छन्द होकर ग्राम नगर आदि से मण्डित इस पृथ्वी पर परिभ्रमण करना चाहिए पर विहार करते समय मुनि सतत सचेष्ट रहे कि कही उसकी असावधानी से किसी जीव को क्लेश न पहुचे उसे जीवों के प्रति अनुक्षण सतर्क एव दयार्द्र-दृष्टि रखनी चाहिए मुनि के लिए, जीवों के सभी पर्याय एव अजीव अर्थात् धर्म अधर्म आकाश काल आदि के स्वरूप सभेद पर्याय आदि का ज्ञान प्राप्त कर ही सावद्य वस्तुओं का त्याग एव अनवद्य का ग्रहण करना कर्त्तव्य है यति तृण वृक्ष छाल पत्र कन्द मूल फल आदि के छेदन करने तथा कराने दोनों ही से वसन रहे साधु को पृथ्वी का खनन उत्कीर्णन पूर्णन छेदन उत्कर्षण बीजन ज्वालन मथन आदि कार्यों से दूर रहना चाहिए इतना ही नही वह इन कार्यों को दूसरे से भी न करावे और न दूसरे के किये हुए का अनुमोदन ही करे.

श्रमण-साधुओ के लिये दण्डधारण का सर्वथा निषेध किया गया है वट्टकेर के मतानुसार साधु को शस्त्र दण्ड आदि का पूर्णत त्यागकर सभी प्राणियो में समभाव रखते हुए आत्म-चिन्तनशील होना चाहिए उसे छठे आठवें दसवें बारहवें आदि भक्तों पर पारणा करना चाहिए और वह भी दूसरो के घर भिक्षा के द्वारा प्राप्त अन्न से न कि अपने लिए बनाये बनवाये या बनाने की सहमति से प्राप्त अन्न से और वह पारणा भी रसास्वादन के लिये नही अपितु चरित्र साधना के लिये विहित है

आचार्य ने किसी के पात्र में या अपने हाथ से लेकर अथवा किसी तरह के दोष से युक्त भोजन मुनि के लिए सर्वथा

---

१ दण्डिरे मूल समयसारकाधिकार

देखकर पद-विक्षेप, वस्त्र से पवित्रकर जल ग्रहण सत्यमय वचन-प्रयोग एव वचन निषिद्ध सकल्प रहित मन के अनुसार आचरण करता है उस व्यक्ति मे दूसरो के कटु-वाक्यो को सह लेने की अपूर्व क्षमता, सबो को सम्मान देने की प्रवृत्ति एव विश्व मैत्री की हार्दिक अभिलाषा पाई जाती है वह क्रोधी के प्रति भी शान्ति एव निंदक के प्रति भी स्तुति की भावना से व्यवहार करता है वह सप्तद्वारावकीर्ण अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रिय एव मन तथा बुद्धि विषयक अनृत-बातो का परिहार कर ब्रह्म विषयक वाणी का ही प्रयोग करना अपेक्षित मानता है वह परिव्राजक ब्रह्मभाव मे लीन, योगासनस्थिति, निरपेक्ष, निरामिष एव आत्म-साहाय्य से ही मोक्ष-सुख की कामना रखता हुआ, इस ससार मे विचरण करता है

ब्रह्मलीन विरक्त साधु के लिये मनु ने भूकम्प आदि उत्पातो की सभावना, अगस्फुरण आदि के फल, सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार हस्तरेखा आदि के परिणाम, यहाँ तक कि शास्त्रोपदेश आदि के कथन द्वारा भी भिक्षा प्राप्ति करने की प्रवृत्ति की निन्दा की है

साधुओ को भिक्षा के लिये जाते समय सावधान करते हुए मनु ने स्पष्ट कह दिया है कि जिस दरवाजे पर अन्य तपस्वी, भोजनार्थी, ब्राह्मण, यहा तक कि पक्षी, कुत्ते अथवा क्षुद्रातिक्षुद्र कोई याचक भी खडा हो तो वहा कभी भी जाना उचित नही मुनि का भिक्षा पात्र तुम्बी, काष्ठ, मृत्तिका अथवा बास आदि के खण्ड मे निर्मित एव निश्छिद्र होना चाहिए विषयासक्ति से बचने के लिये साधु को दिन मे एक वार ही भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए

साधु के भिक्षा-ग्रहण-काल का स्पष्टीकरण करते हुए मनु ने साफ-साफ वतला दिया है कि जब रसोई की उष्णता समाप्त हो चुकी हो, मूसल कूटन का शब्द तक न सुनाई देता हो, रसोई की आग भी बुझ चुकी हो एव प्राय सब लोग भोजन भी कर चुके हो तब साधु को भिक्षा ग्रहण के लिये प्रस्थान करना चाहिए भोजन के मिल जाने पर तपस्वी प्रसन्न हो और न अप्राप्ति की स्थिति मे दुखी हो दाता मे ममत्व की प्रवृत्ति से बचने के लिये साधु सत्कार पूर्वक दी गई भिक्षा को स्वीकार न करे

तपस्वी को सदा जन्म-मरण, सुख-दु ख, जरा व्याधि आदि के कारणो पर विचार करते हुए, सभी प्राणियो मे समदृष्टि के साथ ही स्वधर्माचरण मे प्रवृत्त होना चाहिए उसे चाहिए कि अपने शरीर को क्लेश पहुँचाकर भी चीटी आदि क्षुद्र जन्तुओ की रक्षा के लिये दिन अथवा रात मे भी भूमि को देखकर विचरण करे पर, इसके बाद भी यदि उससे अज्ञान-वश हिंसा हो ही जाए, तो वह उसके प्रायश्चित-स्वरूप छ प्राणायाम करे सप्त व्याहृतियो एव प्रणवो से युक्त विधिवत किये गए तीन प्राणायाम भी ब्राह्मण का श्रेष्ठ तप जानना चाहिए यहा उस ब्रह्मलीन यति के लिए प्राणायाम के द्वारा रागादि दोषो का, ब्रह्मनिष्ठ मन की धारणा से पापो का, इन्द्रियो का निग्रह कर विषय-ससर्ग का एव ध्यान के द्वारा क्रोधादि अनीश्वर गुणो का दहन करना आवश्यक वतलाया गया है

पर यहा यह नही भूलना चाहिए कि सन्यासी के उपर्युक्त विशेष धर्म का विधान करते हुए भी मनु ने मनुष्य के साधारण धर्म धृति, क्षमा, दम, अस्तेय आदि की भी अपेक्षा वतलाया है यद्यपि मनु के विचार मे उपर्युक्त सभी उपाय मुनि को सम्यग्दर्शन प्राप्त कराने मे सहायक होने के ही कारण बाह्य है क्योकि कर्म-बन्धन से मुक्त होने का एकमात्र उपाय सम्यग्दर्शन ही है यदि सम्यग्दर्शन अर्थात् समत्वभाव की जागृति यति मे नही हुई तो अन्य सभी बाह्यआचार आडम्बर मात्र ही रह जायेंगे वे किसी भी स्थिति मे यति को मोक्ष की प्राप्ति कराकर धर्म के कारण नही हो सकते यही कारण है कि उपर्युक्त सभी मुनि के आचारो का स्पष्टीकरण करते हुए भी मनु ने ममत्व प्राप्ति पर ही अधिक जोर दिया है और उसके विना सभी परिश्रम व्यर्थ घोषित कर दिये हैं

इसी प्रकार मनु ने वहूदक, हस, परमहस कुटीचक सज्ञक सभी प्रकार के सन्यासियो के आचार एव नित्यचर्या आदि गिनाये है पर, इन सवो के सामान्य धर्म एव आचार मे कोई विशेष अन्तर नही रखा है अर्थात् ऊपर वर्णित परिव्राजक के आचार ही सामान्य रूप से सवो के लिये अनुकरणीय है ऐसा माना है केवल कुटीचक के सम्बन्ध मे कुछ विशेष बातें

कही है इस कोटि का मति अपने पुत्र के आश्रय में ही रहकर भोजन वस्त्रादि जीविका की चिन्ता से मुक्त हुआ मोक्ष प्राप्ति का प्रयत्न करता है

मूलाचार और साधु आचार

आचार्य वट्टकेर ने मनु की तरह मनि बनने के लिये न तो कोई आयु-सीमा ही निर्धारित की है और न उनके लिये *मुनि बनने से पूर्व गृहस्थाश्रमी बनना ही आवश्यक माना है उनकी दृष्टि मे जिस व्यक्ति के हृदय मे कामभोग की अभि*लाषा समाप्त हो चुकी हो जिसकी बुद्धि धर्माभिमुख हो वही विरक्त कर्मवीर पुरुष निर्मास्थि-पुण्य की तरह गृहवास त्याग कर साधु धम स्वीकार कर सकता है अर्थात् जिस व्यक्ति में उपयुक्त विशेषताएँ नही आ पाई है, वह चाहे किसी भी आयु का क्यो न हो वह यति धर्म का अधिकारी अनगार नही कहला सकता

सत्य अहिंसा अदत्त-परिवर्जन ब्रह्मचय तथा त्रिगुप्तियों में नित्य प्रवृत्ति एव परिग्रह से निवृत्ति को आचाय ने साधु के मूल गुण माने है मुनि के लिये मिथ्यात्व राग हास्य रति अरति भय जुगुप्सा आदि ग्रन्थियो से मुक्त होकर यथाजात रूप अर्थात् दिगम्बरत्व स्वीकार कर जिन प्रणीत धम म अनुरक्त रहना अनिवार्य बताया गया है उनकी राय में साधु सदा निरीह निष्काम भाव से जीवन-यापन करते है एव उन्हे इस पच तत्त्व निर्मित अपने शरीर में किसी तरह की ममता नही रहती

आचाय न साधु के आवास-काल एव आवास-स्थान के सम्बन्ध म निम्नलिखित विचार व्यक्त किये है

साधु क लिए आश्रय लेने का समय सूर्यास्तकाल ही है वह वास जहा कही भी प्राप्त हो जाए पर ध्यान यह रहे कि वह आवास भी घर से बाहर हो घर में नही अनगारो के लिए ग्रामवास एव नगरवास की सीमा आचाय ने क्रमश एक रात और पाच दिन निर्धारित की है मुनि की उपमा गन्धहस्ति से देते हुए उनके लिए एकान्तवासी होकर ही मुक्ति सुख का अनुभव करना आवश्यक बताया गया है एका त स्थानो मे सामान्यत गिरि-कन्दरा शून्य-गृह पर्वत श्मशानादि के नाम गिनाये गये है

मनि की चर्या विहार भिक्षा आदि के सम्बन्ध म आचार्य वट्टकेर के निम्नलिखित आदेश है

मुनि पवत की गुफाओ में वीरासनादि से अथवा एकपार्श्वशायी रहकर रात्रि व्यतीत करे उसे वायु की तरह मुक्त निरपेक्ष एव स्वच्छन्द होकर ग्राम नगर आदि से मण्डित इस पृथ्वी पर परिभ्रमण करना चाहिए पर विहार करते समय मनि सतत सचेष्ट रहे कि कही उसकी असावधानी से किसी जीव को क्लेश न पहुचे उसे जीवो के प्रति अनुकम्प सतर्क एव यथार्थ-दृष्टि रखनी चाहिए मुनि के लिए जीवों के सभी पर्याय एवं अजीव अर्थात् धर्म अधर्म आकाश काल आदि के स्वरूप सभेद पर्याय आदि का ज्ञान प्राप्त कर ही सावद्य वस्तुओं का त्याग एवं अनवद्य का ग्रहण करना कर्त्तव्य है यति तृण वृक्ष छाल पत्र कन्द मूल फल आदि के छेदन करने तथा कराने दोनों ही से अलग रहे साधु को पृथ्वी का खनन उत्कीर्णन चूर्णन सेचन उत्कर्षण वीजन ज्वालन मर्दन आदि कार्यों से दूर रहना चाहिए इतना ही नही वह इन कार्यों को दूसरे से भी न कराये और न दूसरे के किये हुए का अनुमोदन ही करे.

श्रमण-साधुओ के लिये दण्डधारण का सर्वथा निषेध किया गया है. वट्टकेर के मतानुसार साधु को वस्त्र दण्ड आदि का पूर्णत त्यागकर सभी प्राणियो मे समभाव रखते हुए आत्म-चिन्तनशील होना चाहिए उसे छठे आठवें दसवें बारहवें आदि भक्त पर पारणा करना चाहिए और वह भी दूसरों के घर भिक्षा के द्वारा प्राप्त अन्न से न कि अपने लिए बनाये बनवाये या बनाने की सहमति से प्राप्त अन्न से और वह पारणा भी रसास्वादन के लिये नही अपितु चारित्र साधना के लिये विहित है

आचार्य ने किसी के पात्र में या अपने हाथ से लेकर अथवा किसी तरह के दोष से मुक्त भोजन मुनि के लिए सर्वथा

१ दे० नो मूल अनगारभावनाधिकार
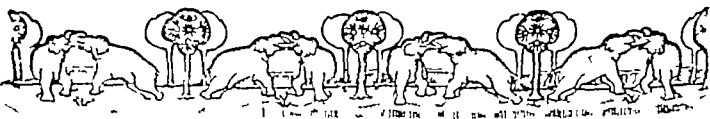
त्याज्य कहा है वह भोजन यदि परम विशुद्ध तथा सभी दोपो से मुक्त हो और वह भी अन्य के द्वारा पाणिपात्र मे ही दिया जाए तब मुनि उसे ग्रहण करे, ऐसा आचार्य का मत है

यति के द्वारा भिक्षा निमित्त हिंडन की ओर ग्रन्थकर्त्ता (आचार्य बट्टकेर) ने ध्यान आकृष्ट करते हुए यह स्पष्ट कह दिया है कि साधु विना यह जाने हुए अमुक स्थान मे गृहस्थ उसकी प्रतीक्षा कर रहे होगे, अत वहा उसका स्वागत होगा तथा अमुक दिशा मे उसकी उपेक्षा होगी, सामान्य रूप से घर के कतारो से उच्च-नीच, धनी, दरिद्र आदि को समान दृष्टि से देखता हुआ भिक्षा ग्रहण करे उसके लिये शीतल, उष्ण, रूक्ष, स्निग्ध आदि का विना विचार किये ही अस्वादपूर्वक भोजन स्वीकार करना कर्त्तव्य है क्योकि मुनि इस पचतत्त्व से निर्मित शरीर का धारण धर्म-पालन के निमित्त तथा धर्म पालन व मुक्ति-प्राप्ति-हेतु करता है अत भिक्षा-ग्रहण का एक मात्र लक्ष्य शरीर-धारण करना ही है और कुछ नही श्रमण मुनि न भिक्षा प्राप्त होने पर सतुष्ट और न उसकी अप्राप्ति की स्थिति मे असतुष्ट ही होता है उसके लिये ये दोनो ही स्थितियाँ समान है इस कारण वह सदा मध्यस्थ एव अनाकुल रूप से विहार करता है वह कभी भी किसी गृहस्थ से दीनतापूर्वक भिक्षा की याचना नही करता ऐसी स्थिति मे उसे खाली हाथ भी लौटना पड सकता है, पर वह निर्विकार चित्त कभी मौन भग नही करता वह भोजन स्वीकार करने के सम्वन्ध मे वडी सावधानी रखता है बासी, विवर्ण, तथा अप्रासुक अन्न उसे कभी ग्राह्य नही होता

साधु के उपर्युक्त प्रकार से भोजन, आचरणादि का वर्णन करते हुए आचार्य ने उसकी शास्त्रीय योग्यता पर भी जोर दिया है उनके अनुसार साधु को केवल भोजन आदि की ही शुद्धि नही अपितु ज्ञान की शुद्धि भी रखनी चाहिए विवेकी मुनि के लिये आचाराग, सूत्रकृताग, स्थानाग आदि का ज्ञान होना आवश्यक है वे यति के लिये, स्वभावत आचार्य उपाध्याय आदि के उपदेशो को धारण-ग्रहण करने मे समर्थ, तदनुसार अक्षरश आचरण करने वाला, वीजबुद्धि (अर्थात् किसी भी विषय को एकाध बीजरूप प्रधान अक्षरो को सुन लेने पर ही समस्त रूप से समझने वाला), और श्रुतो मे पारगामी विद्वान् होना अनिवार्य मानते है पर इस ज्ञान-गरिमा के बाद भी श्रमण को मान-रहित, अगर्वित, क्रोधरहित, मृदु स्वभावी, स्व-परसमयविद् एव विनीत होना चाहिए, आचार्य का लक्ष्य यहा तक है

साधु के लिए शरीर का सस्कार निषिद्ध है वह मुख, दात, नयन, पैर आदि तक नही धोते, अर्थात् किसी तरह का भी बाह्यमार्जन उनके लिए विहित नही यहा तक कि शरीर मे यदि किसी तरह की कष्टकर व्याधि भी हो जाए, तब भी श्रमण-साधु उसे मौनपूर्वक सहन ही कर ले, पर किसी तरह की चिकित्सा न करावे यह आचार्य का मत है

साधु अपनी पूर्वावस्था मे की गयी रति-क्रीडा अथवा धन-जन आदि के विविध भोगो का न स्मरण ही करे और न उसे दूसरो के प्रति कथन ही उसके द्वारा किसी भी स्थिति मे धर्म-विरोधी अथवा विनय-विहीन भापा का प्रयोग निन्द्य है साधु आँखो से देखता हुआ तथा कानो से सुनता हुआ भी मूक होकर विहार करे तथा कभी भी लौकिक कथाओ मे प्रवृत्त न हो, यह आचार्य की आज्ञा है

आचार्य मुनि के लिये कठोर तपस्या के पक्षपाती हैं वे सभवतया आत्मा के साक्षात्कार मे इस शरीर के प्रति अनुरक्ति को ही प्रधान बाधा मानते है इस कारण यथासभव तप के द्वारा इस स्थूल शरीर को जर्जरित करते रहना ही आत्म-बोध मे सहायक सिद्ध हो सकता है, इस ओर उनका सकेत है

अब उपर्युक्तरूप से साधु-आचार के सम्बन्ध मे राजर्षि मनु तथा आचार्य बट्टकेर के विचारो के अवलोकन के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दू तथा जैन दोनो ही सम्प्रदायो के साधु अन्त तथा बाह्य दोनो ही दृष्टियो से एक दूसरे के अत्यन्त सन्निकट है एव परस्पर प्रभावित भी है वस्तुत सदाचरण और सहानुभूति ही साधु-जीवन के आधार-स्तम्भ एव मानदण्ड हैं तार्किक बुद्धि के द्वारा शास्त्रज्ञ किसी तथ्य का केवल ऊहापोह करता है किन्तु उस ज्ञान को अपने जीवन मे उतारना वह नही जानता साधु उस ज्ञान को अपने जीवन का आदर्श बनाता है और अपना समग्र आचरण उसी भित्ति पर खडा करता है यही कारण है कि इन साधुओ मे वर्ग-भिन्नता रहने पर भी आचरण-भिन्नता केवल नाम मात्र की और ऊपरी ही होती है, वास्तविक नही

★

श्रीजुगलकिशोर मुख्तार युगवीर

सकाम धर्मसाधन

लौकिक-फल की इच्छाओं को लेकर जो धर्मसाधन किया जाता है उसे 'सकाम-धर्मसाधन' कहते है और जो धर्म वैसी इच्छाओं को साथ में न लेकर मात्र आत्मीय कर्तव्य समझकर किया जाता है उसका नाम निष्काम-धर्मसाधन है निष्काम धर्मसाधन ही वास्तव मे धर्मसाधन है और वही वास्तविक फल को फलता है सकाम-धर्मसाधन धर्म को विकृत करता है सदोष बनाता है और उससे यथेष्ट धर्मफल की प्राप्ति नही हो सकती प्रत्युत उससे अधर्म की और कभी-कभी घोर-पाप-फल की भी प्राप्ति होती है जो लोग धर्म के वास्तविक स्वरूप और उसकी शक्ति से परिचित नही जिनके अन्दर धैर्य नही श्रद्धा नही जो निर्बल है कमजोर है उतावले है और जिन्हे धर्म के फल पर पूरा विश्वास नही है ऐसे लोग ही फलप्राप्ति में अपनी इच्छाओं की टाँगे अड़ा कर धर्म को अपना कार्य करने नही देते उसे पगु और बेकार बना देते है और फिर यह कहते हुए नही लजाते कि धर्म-साधन से कुछ भी फल की प्राप्ति नही हुई है ऐसे लोगो के समाधानार्थ—उन्हे उनकी भूल का परिज्ञान कराने के लिये ही यह निबंध लिखा जाता है और इसमें आचार्य-वाक्यों के द्वारा ही विषय को स्पष्ट किया जाता है

श्रीगुणभद्राचार्य अपने 'आत्मानुशासन' ग्रन्थ मे लिखते है

संकल्प्यं कल्पवृक्षस्य चिन्त्यं चिंतामणेरपि ।
असंकल्प्यमसंचिन्त्यं फलं धर्मादवाप्यते ।

'फल के प्रदान मे कल्पवृक्ष संकल्प की और चिन्तामणि चिन्ता की अपेक्षा रखता है—कल्पवृक्ष बिना संकल्प किये और चिन्तामणि बिना चिन्ता किये फल नही देता परन्तु धर्म वैसी कोई अपेक्षा नही रखता—वह बिना संकल्प किये और बिना चिन्ता किये ही फल प्रदान करता है

जब धर्म स्वयं ही फल देता है और फल देने मे कल्पवृक्ष तथा चिन्तामणि की शक्ति को भी परास्त करता है तब फल प्राप्ति के लिये इच्छाएं करके—निदान बांधकर—अपने आत्माको व्यर्थ ही संक्लेशित और आकुलित करने की क्या जरूरत है ? ऐसा करने से तो उलटे फल प्राप्ति के मार्ग में कांटे बोये जाते है क्योंकि इच्छा फल प्राप्ति का साधन न होकर उसमे बाधक है

इसमें सन्देह नही कि धर्मसाधन से सब सुख प्राप्त होते है परन्तु तभी तो जब धर्मसाधन में विवेक से काम लिया जाय अन्यथा क्रिया के—बाह्य धर्माचरण के—समान होने पर भी एक को बन्धफल दूसरे को मोक्षफल अथवा एक को पुण्यफल और दूसरे को पापफल क्यो मिलता है ? देखिये कर्मफल की इस विचित्रता के विषय में श्रीशुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णव में क्या लिखते है

यत्र बालश्चरत्यस्मिन्पथि तत्रैव पंडितः ।
बालः स्वमपि बध्नाति मुच्यते तत्त्ववित् ध्रुवं । ७२१ ।

जिस मार्ग पर अज्ञानी चलता है उसी पर ज्ञानी दोनो का धर्माचरण समान होने पर भी, अज्ञानी अविवेक के कारण कर्म बाधता है और ज्ञानी विवेक द्वारा कर्म-बधन मे छूट जाता है

ज्ञानार्णव के निम्न श्लोक मे भी इसी बात को पुष्ट किया गया है

वेष्टयत्यात्मनात्मानमज्ञानी कर्मबन्धन ।
विज्ञानी मोचयत्येव प्रबुद्ध समयान्तरे । ७१७ ।

इससे विवेकपूर्ण आचरण का कितना बडा माहात्म्य है उसे बतलाने की अधिक जरूरत नही रहती

श्रीकुन्दकुन्दाचार्य ने, अपने प्रवनचनसार के चारित्राधिकार मे, इसी विवेक का—सम्यग्ज्ञान का—माहात्म्य वर्णन करते हुए बहुत स्पष्ट शब्दो मे लिखा है —

ज अण्णाणी कम्मं खवेदी भवसयसहस्सकोडीहिं ।
त णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण । ३८ ।

अर्थात्—अज्ञानी—अविवेकी मनुष्य जिस अथवा जितने ज्ञानावरणादिरूप कर्मसमूह को शतसहस्त्रकोटि भवो मे—करोडो जन्म लेकर-क्षय करता है उस अथवा उतने कर्मसमूह को ज्ञानी मनुष्य मन-वचन काय की क्रियाका निरोध कर अथवा उसे स्वाधीन कर स्वरूप मे लीन हुआ उच्छ्वासमात्रमे—लीलामात्र मे—नाश कर डालता है

इस से अधिक विवेक का माहात्म्य और क्या हो सकता है ? यह विवेक ही चारित्र को 'सम्यक्चारित्र' बनाता है और ससारपरिभ्रमण एव उसके दु ख-कष्टो से मुक्ति दिलाता है विवेक के विना चारित्र मिथ्या चारित्र है, कोरा कायक्लेश है और वह ससार-परिभ्रमण तथा दु ख परपरा का ही कारण है इसी मे विवेकपूर्वक अथवा सम्यग्ज्ञान के अनन्तर चारित्र का आराधन बतलाया गया है, जैसा कि श्री अमृतचन्द्राचार्य के निम्न वाक्य से प्रकट है

न हि सम्यग्व्यपदेश चारित्रमज्ञानपूर्वक लभते ।
ज्ञानानन्तरमुक्त चारित्राराधन तस्मात् । ३८ ।—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

अर्थात्—अज्ञान पूर्वक-विवेक को साथ मे न लेकर—दूसरो की देखा-देखी अथवा कहने सुननेमात्र से, जो चारित्र का अनुष्ठान किया जाता है वह 'सम्यक् चारित्र' नाम नही पाता—उसे 'सम्यक् चारित्र' नही कहते इसी से (आगम मे) सम्यग्ज्ञान के अनन्तर—विवेक हो जाने पर—चारित्र के आराधन का—अनुष्ठान का—निर्देश किया गया है—रत्नत्रयधर्म की आराधना मे, जो मुक्ति का मार्ग है, चारित्र की आराधना का इसी क्रम से विधान किया गया है

श्रीकुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार मे, 'चारित खलु धम्मो' इत्यादि वाक्य के द्वारा जिस चरित्र को—स्वरूपाचरण को—वस्तुस्वरूप होने के कारण धर्म बतलाया है वह भी यही विवेकपूर्वक सम्यक्चारित्र है, जिसका दूसरा नाम साम्यभाव है, और जो मोह क्षोभ अथवा मिथ्यात्व-रागद्वेष तथा काम-कोधादिरूप विभाव-परिणति से रहित आत्मा का निज परिणाम होता है [1]

वास्तव मे यह विवेक ही उस भाव का जनक होता है जो धर्माचरण का प्राण कहा गया है विना भावके तो क्रियाए फलदायक होती ही नही है कहा भी है

यस्मात् क्रिया प्रतिफलन्ति न भावशून्या [2] ।

तदनुरूप भाव के विना पूजनादिक की, तप-दान जपादिक की और यहाँ तक कि दीक्षाग्रहणादिक की सब क्रियाएँ भी ऐसी ही निरर्थक है जैसे कि बकरी के गले के स्तन (थन), अर्थात् जिस प्रकार बकरी के गले मे लटकते हुए स्तन देखने मे

१ चारित्त खलु धम्मो, धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो ।
मोह-क्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो । ७ ।

२ देखो कल्याण मन्दिर स्तोत्र का 'आकर्णितोऽपि' आदि पद्य
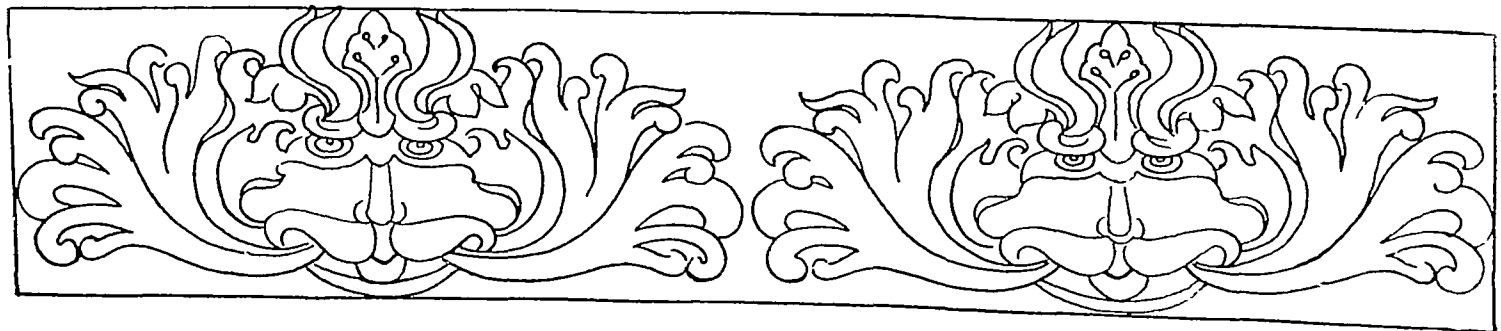
स्तनाकार होते हैं परन्तु वे स्तनों का कुछ भी काम नहीं देते—उनसे दूध नहीं निकलता—उसी प्रकार बिना तदनुकूल भाव के पूजा तप दान जपादिक सब क्रियाएं भी देखने की ही क्रियाएं होती हैं, पूजादिक का वास्तविक फल उनसे कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता[1]

ज्ञानी विवेकी मनुष्य ही यह ठीक जानता है कि किन भावों से पुण्य बंधता है—किन से पाप और किन से दोनों का बन्ध नहीं होता स्वच्छ, शुभ शुद्ध भाव किसे कहते हैं ? और अस्वच्छ, अशुभ अशुद्ध भाव किस का नाम है ? सांसारिक विषयसुख की तृष्णा अथवा तीव्र कषाय के वशीभूत होकर जो पुण्य कर्म करना चाहता है वह वास्तव में पुण्य कर्म का सम्पादन कर सकता है या कि नहीं और ऐसी इच्छा धर्म की साधक है या बाधक—यह खूब समझता है कि सकाम-धर्म साधन मोहक्षोभादि से घिरा होने के कारण धर्म की कोटि से निकल जाता है धर्म वस्तुका स्वभाव होता है और इसलिए कोई विभाव परिणति धर्म का स्थान नहीं ले सकती इसी से वह अपनी धार्मिक क्रियाओं में तद्रूपभाव की योजना द्वारा प्राण का संचार कर के उन्हें सार्थक और सफल बनाता है ऐसे ही विवेकी जनों के द्वारा अनुष्ठित धर्म को सब सुख का कारण बताया है विवेक की पुट बिना अथवा उसके सहयोग के अभाव में मात्र कुछ क्रियाओं के अनुष्ठान का नाम ही धर्म नहीं है ऐसी क्रियाएं तो जड़-मशीनें भी कर सकती हैं और कुछ करती हुई देखी भी जाती हैं फोनोग्राफ के कितने ही रिकार्ड खूब भक्ति रस के भरे हुए गान तथा भजन गाते हैं और शास्त्र पढ़ते हुए भी देखने में आते हैं और जो जड़ मशीनों से आप जो चाहें धर्म की बाह्य क्रियाएं करा सकते हैं इन सब क्रियाओं को करके जड़ मशीनें जिस प्रकार धर्मात्मा नहीं बन सकतीं और न धर्म के फल को ही पा सकती हैं उसी प्रकार अविवेकपूर्वक अथवा सम्यग्ज्ञान के बिना धर्म की कुछ क्रियाएं कर लेने मात्र से ही कोई धर्मात्मा नहीं बन जाता और न धर्म के फल को ही पा सकता है ऐसे अविवेकी मनुष्यों और जड़ मशीनों में कोई विशेष अन्तर नहीं होता—उनकी क्रियाओं को सम्यक्चारित्र न कह कर 'यान्त्रिक चारित्र' कहना चाहिए हां जड़ मशीनों की अपेक्षा ऐसे मनुष्यों में मिथ्याज्ञान तथा मोह की विशेषता होने के कारण वे उसके द्वारा पाप बन्ध करके अपना अहित जरूर कर लेते हैं—जब कि जड़ मशीनें वैसा नहीं कर सकतीं इसी यान्त्रिक चारित्र के भुलावे में पड़कर हम अक्सर भूले रहते हैं और यह समझते रहते हैं कि हमने धर्म का अनुष्ठान कर लिया ! इसी तरह करोड़ों जन्म निकल जाते हैं और करोड़ों वर्ष की बालतपस्या से भी उन कर्मों का नाश नहीं हो पाता जिन्हें एक ज्ञानी पुरुष त्रियोग के संसाधनपूर्वक क्षणमात्र में नाश कर डालता है

इस विषय में स्वामी कार्तिकेय ने अपने 'अनुप्रेक्षा' ग्रन्थ में अच्छा प्रकाश डाला है उनके निम्नवाक्य खास तौर से ध्यान देने योग्य हैं

> कम्मं पुण्णं पावं हेऊ-तेसिं च होंति सच्छिदरा ।
> मंदकसाया सच्छा तिव्वकसाया असच्छा हु ।
> जीवो वि हवइ पावं अइतिव्वकसायपरिणदो णिच्चं ।
> जीवो हवेइ पुण्णं उवसमभावेण संजुत्तो ।
> जो अहिलसदि पुण्णं सकसाओ विसयसोक्खतण्हाए ।
> दूरे तस्स विसोही विसोहिमूलाणि पुण्णाणि ।
> पुण्णासएण पुण्णं जदो णिरीहस्स पुण्णसंपत्ती ।
> इय जाणिऊण जइणो पुण्णे वि म आयरं कुणह ॥
> पुण्णं बंधदि जीवो मंदकसाएहिं परिणदो संतो ।
> तम्हा मंदकसाया हेऊ पुण्णस्स ण हि वंछा ॥ गाथा ९ ११ ४१ ४१२

---

१ भाव रहित पूजादि-व्यापार निरर्थकम् ।
[illegible]

जिस मार्ग पर अज्ञानी चलता है उसी पर ज्ञानी दोनो का धर्माचरण समान होने पर भी, अज्ञानी अविवेक के कारण कर्म बाधता है और ज्ञानी विवेक द्वारा कर्म-बधन मे छूट जाता है

ज्ञानार्णव के निम्न श्लोक मे भी इसी बात को पुष्ट किया गया है

वेष्टयत्यात्मनात्मानमाज्ञानी कर्मबन्धन ।
विज्ञानी मोचयत्येव प्रबुद्ध समयान्तरे । ७१७ ।

इससे विवेकपूर्ण आचरण का कितना बडा माहात्म्य है उसे बतलाने की अधिक जरूरत नही रहती

श्रीकुन्दकुन्दाचार्य ने, अपने प्रवनचनसार के चारित्राधिकार मे, इसी विवेक का—सम्यग्ज्ञान का—माहात्म्य वर्णन करते हुए बहुत स्पष्ट शब्दो मे लिखा है —

ज अण्णाणी कम्म खवेदी भवसयसहस्सकोडीहिं ।
त णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण । ३८ ।

अर्थात्—अज्ञानी—अविवेकी मनुष्य जिस अथवा जितने ज्ञानावरणादिरूप कर्मसमूह को शतसहस्रकोटि भवो मे—करोडो जन्म लेकर-क्षय करता है उस अथवा उतने कर्मसमूह को ज्ञानी मनुष्य मन-वचन काय की क्रियाका निरोध कर अथवा उसे स्वाधीन कर स्वरूप मे लीन हुआ उच्छ्वासमात्रमे—लीलामात्र मे—नाश कर डालता है

इस से अधिक विवेक का माहात्म्य और क्या हो सकता है ? यह विवेक ही चारित्र को 'सम्यक्चारित्र' बनाता है और ससारपरिभ्रमण एव उसके दु ख-कष्टो से मुक्ति दिलाता है विवेक के विना चारित्र मिथ्या चारित्र है, कोरा कायक्लेश है और वह ससार-परिभ्रमण तथा दु ख परपरा का ही कारण है इसी मे विवेकपूर्वक अथवा सम्यग्ज्ञान के अनन्तर चारित्र का आराधन बतलाया गया है, जैसा कि श्री अमृतचन्द्राचार्य के निम्न वाक्य से प्रकट है

न हि सम्यग्व्यपदेश चारित्रमज्ञानपूर्वक लभते ।
ज्ञानानन्तरमुक्त चारित्राराधन तस्मात् । ३८ ।—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

अर्थात्—अज्ञान पूर्वक-विवेक को साथ मे न लेकर—दूसरो की देखा-देखी अथवा कहने सुननेमात्र से, जो चारित्र का अनुष्ठान किया जाता है वह 'सम्यक् चारित्र' नाम नही पाता—उसे 'सम्यक् चारित्र' नही कहते इसी से (आगम मे) सम्यग्ज्ञान के अनन्तर—विवेक हो जाने पर—चारित्र के आराधन का—अनुष्ठान का—निर्देश किया गया है—रत्नत्रयधर्म की आराधना मे, जो मुक्ति का मार्ग है, चारित्र की आराधना का इसी क्रम से विधान किया गया है

श्रीकुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार मे, 'चारित खलु धम्मो' इत्यादि वाक्य के द्वारा जिस चरित्र को—स्वरूपाचरण को—वस्तुस्वरूप होने के कारण धर्म बतलाया है वह भी यही विवेकपूर्वक सम्यक्चारित्र है, जिसका दूसरा नाम साम्यभाव है, और जो मोह क्षोभ अथवा मिथ्यात्व-रागद्वेष तथा काम-क्रोधादिरूप विभाव-परिणति से रहित आत्मा का निज परिणाम होता है[1]

वास्तव मे यह विवेक ही उस भाव का जनक होता है जो धर्माचरण का प्राण कहा गया है विना भावके तो क्रियाए फलदायक होती ही नही है कहा भी है

यस्मात् क्रिया प्रतिफलन्ति न भावशून्या[2] ।

तदनुरूप भाव के विना पूजनादिक की, तप-दान जपादिक की और यहाँ तक कि दीक्षाग्रहणादिक की सब क्रियाएँ भी ऐसी ही निरर्थक है जैसे कि बकरी के गले के स्तन (थन), अर्थात् जिस प्रकार बकरी के गले मे लटकते हुए स्तन देखने मे

१ चारित्त खलु धम्मो, धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो ।
मोह-क्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो । ७ ।

२ देखो कल्याण मदिर स्तोत्र का 'आकर्णितोऽपि' आदि पद्य

विधीयमाना: शम-शील संयमाः श्रियं ममेमे वितरन्तु चिन्तिताम्
सांसारिकानेकसुखप्रवर्द्धिनीं निष्कांक्षितो नेति करोति कांक्षाम् । ७२।

अर्थात्—नि:कांक्षित अंग का धारक सम्यग्दृष्टि इस प्रकार की वांछा नहीं करता है कि मैंने जो शम-शील और संयम का अनुष्ठान किया है वह सब धर्माचरण मुझे उस मनोवांछित लक्ष्मी को प्रदान करे जो नाना प्रकार के सांसारिक सुखों में वृद्धि करने के लिये समर्थ होती है—ऐसी वांछा करने से उसका सम्यक्त्व दूषित होता है

इसी नि:कांक्षित सम्यग्दृष्टि का स्वरूप श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार में इस प्रकार दिया है

जो ण करेदि दु कंखं कम्मफले तह य सव्वधम्मेसु
सो णिक्कंखो चेदा सम्मदिट्ठी मुणेयव्वो । २४८ ।

अर्थात् जो धर्म कर्म करके उसके फल की—इन्द्रियविषय सुखादिक की इच्छा नहीं रखता है यह नहीं चाहता है कि मेरे अमुक कर्म का मुझे अमुक लौकिक फल मिले—और न उस फल साधन की दृष्टि से नाना प्रकार के पुण्य रूप धर्मों को ही इष्ट करता है—अपनाता है—और इस तरह निष्कामरूप से धर्म साधन करता है उसे नि:कांक्षित सम्यग्दृष्टि समझना चाहिए

यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि तत्त्वार्थ सूत्र में क्षमादि दश धर्मों के साथ में 'उत्तम' विशेषण लगाया गया है उत्तम क्षमा उत्तम मार्दवादि रूप से दश धर्मों का निर्देश किया है यह विशेषण क्यों लगाया गया है ? इसे स्पष्ट करते हुए श्रीपूज्यपाद आचार्य अपनी सर्वार्थसिद्धि टीका में लिखते हैं

दृष्टप्रयोजन-परिवर्जनार्थमुत्तमविशेषणम् ।

अर्थात्-लौकिक प्रयोजनों को टालने के लिये 'उत्तम' विशेषण का प्रयोग किया है इससे यह विशेषण पद यहाँ 'सम्यक्' शब्द का प्रतिनिधि जान पड़ता है और उसकी उक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि किसी लौकिक प्रयोजन को लेकर—कोई दुनियावी गर्ज साधने के लिये—यदि क्षमा मार्दव-आर्जव-सत्य-शौच-संयम-तप-त्याग-आकिंचन्य-ब्रह्मचर्य इन दस धर्मों में से किसी भी धर्म का अनुष्ठान किया जाता है तो वह अनुष्ठान धर्म की कोटि से निकल जाता है ऐसे सकाम धर्म साधन को वास्तव में धर्म-साधन ही नहीं कहते धर्म-साधन तो स्वरूपसिद्धि अथवा आत्म विकास के लिये आत्मीय कर्तव्य समझ कर किया जाता है और इसलिए वह निष्काम धर्म साधन ही हो सकता है

इस प्रकार सकाम-धर्म साधन के निषेध में आगम का स्पष्ट विधान और पूज्य आचार्यों की खुली आज्ञाएं होते हुए भी खेद है कि हम आजकल अधिकांश में सकाम धर्म साधन की ओर ही प्रवृत्त हो रहे हैं हमारी पूजा भक्ति-उपासना स्तुति वंदना प्रार्थना जप-तप-दान और संयमादिक का सारा लक्ष्य लौकिक फलों की प्राप्ति ही रहता है—कोई उसे करके धन धान्य की वृद्धि चाहता है तो कोई पुत्र की संप्राप्ति कोई रोग दूर करने की इच्छा रखता है, तो कोई शरीर में बल लाने की कोई मुकदमे में विजय लाभ के लिये उसका अनुष्ठान करता है तो कोई अपने शत्रु को परास्त करने के लिये कोई उसके द्वारा किसी ऋद्धि-सिद्धि की साधना में व्यग्र है, तो कोई दूसरे लौकिक कार्यों को सफल बनाने की ही धुन में मस्त कोई इस लोक के सुखों को चाहता है तो कोई परलोक में स्वर्गादिकों के सुखों की अभिलाषा रखता है और कोई-कोई तो तृष्णा के वशीभूत होकर यहाँ तक अपने विवेक को खो बैठता है कि श्रीवीतराग भगवान् को भी रिश्वत (घूस) देने लगता है—उनसे कहने लगता है कि हे भगवन् आपकी कृपा से यदि मेरा अमुक कार्य सिद्ध हो जायेगा तो मैं आपकी पूजा करूंगा सिद्ध चक्र का पाठ थापूंगा छत्र चमरादि भेंट करूंगा रथ-यात्रा निकलवाऊंगा गजरथ चलवाऊंगा अथवा मन्दिर बनवा दूंगा ये सब धर्म की विडम्बनाएं हैं. इस प्रकार की विडम्बनाओं से अपने को धर्म का कोई लाभ नहीं होता और न आत्मविकास ही सध सकता है जो मनुष्य धर्म की रक्षा करता है—उसके विषय में विशेष सावधानी रखता हुआ उसे विडम्बित या कलंकित नहीं होने देता—वही वास्तविक धर्म के फल को

इन गाथाओं मे बतलाया गया है कि—'पुण्य कर्म का हेतु स्वच्छ (शुभ) परिणाम है और पाप कर्म का हेतु अस्वच्छ (अशुभ या अशुद्ध) परिणाम मदकपायरूप परिणामो को 'स्वच्छपरिणाम' और तीव्र कपाय रूप परिणामो को 'अस्वच्छ परिणाम' कहते है जो जीव अति तीव्र-कपायपरिणाम से परिणत होता है, वह पापी होता है और जो उपशम भाव से कपाय की मदता से—युक्त रहता है वह पुण्यात्मा कहलाता है जो जीव कपाय भाव से युक्त हुआ विषय-सौख्य की तृष्णा से— इन्द्रिय विषय को अधिकाधिक रूप मे प्राप्त करने की इच्छा से–पुण्य करना चाहता है—पुण्यक्रियाओं के करने मे प्रवृत्त होता है—उससे विशुद्धि बहुत दूर रहती है और पुण्य कर्म विशुद्धि-मूलक-चित्त की शुद्धि पर आधार रखने वाले होते है अत उनके द्वारा पुण्य का सपादन नही हो सकता—वे अपनी उन धर्मके नाम से अभिहित होनेवाली क्रियाओ को करके पुण्य पैदा नही कर सकते चूकि पुण्यफलकी इच्छा रखकर धर्म क्रियाओ के करने से—सकाम-धर्म-साधन से—पुण्य की सप्राप्ति नही होती, बल्कि निष्काम रूपसे धर्म साधन करने वाले को ही पुण्य की सप्राप्ति होती है, ऐसा जान कर पुण्य मे भी आसक्ति नही रखना चाहिए वास्तव मे जो जीव मन्दकपाय से परिणत होता है वही पुण्य बाधता है इसलिए मदकपाय ही पुण्य का हेतु है, विपयवाछा पुण्य का हेतु नही—विपयवाछा अथवा विपयाशक्ति तीव्र कपाय का लक्षण है और उसका करने वाला पुण्य से हाथ धो बैठता है

इन वाक्यो से स्पष्ट है कि जो मनुष्य धर्म-साधना के द्वारा अपने विपयकपायो की पुष्टि एव पूर्ति चाहता है, उसकी कषाय मन्द नही होती और न वह धर्म के मार्ग पर ही स्थिर होता है इसलिए उसके द्वारा वीतराग भगवान् की पूजा-भक्ति-उपासना तथा स्तुतिपाठ, जप-ध्यान, सामायिक, स्वाध्याय, तप, दान और व्रत-उपवासादिरूप से जो भी धार्मिक क्रियाएँ बनती है—वे सब उसके आत्मकल्याण के लिये नही होती—उन्हे एक प्रकार की सासारिक दुकानदारी ही समझना चाहिए ऐसे लोग धार्मिक क्रियाए करके भी पाप उपार्जन करते है और सुख के स्थान मे उलटा दुख को निमन्त्रण देते है ऐसे लोगों की इस परिणति को श्रीशुभचद्राचार्य ने ज्ञानार्णव ग्रथ के २५ वें प्रकरण मे, निदान-जनित आर्त्तध्यान लिखा है और उसे घोर दु खों का कारण बतलाया है यथा

> पुण्यानुष्ठानजातैरभिलषति पद यज्जिनेन्द्रामराणा ,
> यद्वा तैरेव वाञ्छत्यहितकुलकुजच्छेदमत्यन्तकोपात ।
> पूजा-सत्कार-लाभ-प्रभृतिकमथवा याचते यद्विकल्पै ,
> स्यादार्तं तन्निदानप्रभवमिह नृणा दु खदावोऽग्रधाम ।

अर्थात—अनेक प्रकार के पुण्यानुष्ठानो को—धर्म कृत्यो को—करके जो मनुष्य तीर्थंकर पद तथा दूसरे देवो के किसी पद की इच्छा करता है अथवा कुपित हुआ उन्ही पुण्याचरणो के द्वारा शत्रुकुल रूपी वृक्षो के उच्छेद की वाछा करता है, अथवा अनेक विकल्पो के साथ उन धर्मकृत्यो को करके अपनी लौकिक पूजा-प्रतिष्ठा अथवा लाभादिक की याचना करता है, उसकी यह सब सकाम प्रवृत्ति 'निदानज' नामका आर्त्तध्यान है ऐसा आर्त्तध्यान मनुष्य के लिये दु ख-दावानल का अग्रस्थान होता है उससे महादु खो की परम्परा चलती है

वास्तव मे आर्त्तध्यान का जन्म ही सक्लेश-परिणामो से होता है, जो पापबध के कारण है ज्ञानार्णव के उक्त प्रकरणान्तर्गत निम्न श्लोक मे भी आर्त्तध्यान को कृष्ण-नील-कापोत ऐसी तीन अशुभ लेश्याओ के बल पर ही प्रकट होना लिखा है और साथ ही यह सूचित किया है कि आर्त्तध्यान पाप रूपीदावानल को प्रज्वलित करने के लिये ईंधन के समान है

> कृष्णनीलाद्यसल्लेश्याबलेन प्रविजृम्भते, इद दुरितदावार्चि प्रसूतेरिन्धनोपमम् । ४० ।

इसमे स्पष्ट है कि लौकिक फलो की इच्छा रखकर धर्म साधन करना धर्माचरण को दूषित और निष्फल नही बनाता, बल्कि उलटा पापबध का भी कारण होता है, और इसलिए हमे इस विषय मे बहुत ही सावधानी रखने की जरूरत है सम्यक्त्व के आठ अगो मे नि काक्षित नाम का भी एक अग है, जिसका वर्णन करते हुए श्रीअमितगति आचार्य उपासकाचार के तीसरे परिच्छेद मे स्पष्ट लिखते है
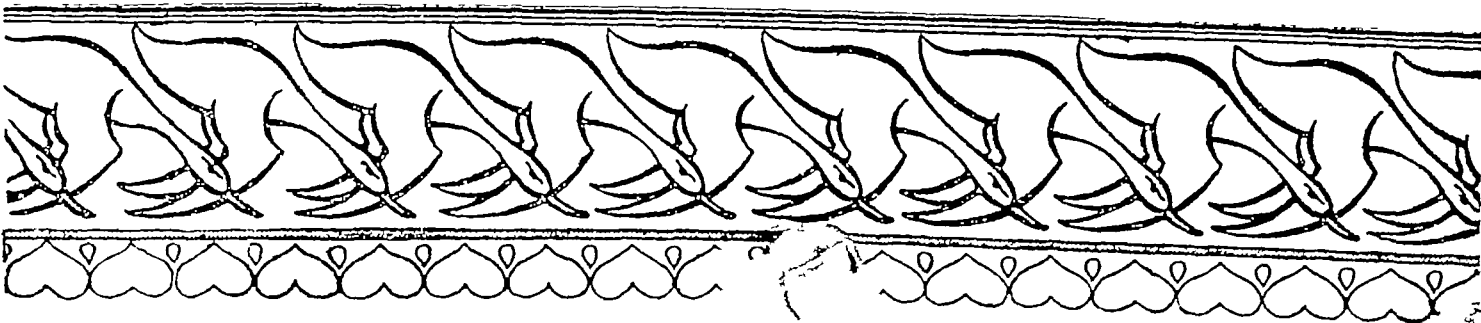
श्री दरबारीलाल जैन कोठिया
एम ए न्यायाचार्य शास्त्राचार्य हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी

जैनदर्शन में सलेखना का महत्त्वपूर्ण स्थान

[अद्यतन युग में जैन संस्कृति के मार्मिक तथ्यों को न समझने के कारण सल्लेखना जैसी जीवन की पवित्र क्रिया को भी आत्मघात की कोटि में ला खड़ा किया जाता है वस्तुतः आत्मघात और अनशन में स्पष्टतः महद् अन्तर है वह यह कि आत्मघात के लिये मनुष्य तब ही उत्प्रेरित होता है जब उसकी मनोवांछित विशिष्ट पौद्गलिक सामग्री प्रयत्न करने पर भी प्राप्त नहीं होती या कारणवश कषाय के वशीभूत होकर संसार से ऊब कर जीवन नष्ट कर डालना चाहता है अर्थात् नैराश्य-पूर्ण जीवन की अन्तिम अभिव्यक्ति मृत्यु में परिणत हो जाती है जब कि सल्लेखना अनशन ठीक इसके विपरीत तत्त्व है

मुमुक्षु आत्माओं के लिये देह की तब तक ही आवश्यकता मानी जाती है जब तक वह समतामूलक संयम की आराधना में सहायक है तदनन्तर अनाकांक्षीभाव से शरीर के प्रति तीव्र अनासक्तता के कारण जो शरीर-पात किया जाता है उसमें किसी भी प्रकार की स्वार्थपरक भावना या क्षोभ के अस्तित्वाभाव के कारण उसे आत्मघात की संज्ञा देना बुद्धि का अजीर्ण प्रकट करना है

प्रस्तुत प्रान्तरिष्ट दृष्टि का है न कि स्थूल देह का प्रत्येक संस्कृति का जीवन और अध्यात्म के प्रति अपना निजी दृष्टिकोण होता है —सम्पादक]

पृष्ठभूमि

जन्म के साथ मृत्यु का और मृत्यु के साथ जन्म का अनादि प्रवाह-सम्बन्ध है जो उत्पन्न होता है उसकी मृत्यु भी अवश्य होती है और जिसकी मृत्यु होती है उसका पुन जन्म भी होता है[1] इस प्रकार जन्म मरण का चक्र निरन्तर चलता रहता है और इसी चक्र मे आत्माओ को नाना क्लेश एव दु ख उठाने पड़ते है परन्तु कषाय और विषय-वासनाओ मे आसक्त व्यक्ति इस ध्रुव सत्य को नही समझते इसीलिए जब कोई पैदा होता है तो वे उसका 'जन्मोत्सव' मनाते तथा हर्ष प्रकट करते है लेकिन जब कोई मरता है तो उसकी मृत्यु पर कोई उत्सव नही किया जाता प्रत्युत शोक एव दु ख प्रकट किया जाता है

ससार-विरक्त व्यक्ति की वृत्ति इससे विपरीत होती है वह अपनी मृत्यु का 'उत्सव' मनाता है और उसपर प्रमोद व्यक्त करता है अतएव मनीषियो ने उसकी मृत्यु के उत्सव को 'मृत्युमहोत्सव' के रूप मे वर्णन किया है इस वैलक्षण्य को

---

1 जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।—गीता २ २७

2 संसारासक्तचित्तानां मृत्युर्भीत्यै भवेन्नृणाम् ।
मोदायते पुन सोऽपि ज्ञानवैराग्यवासिनाम् ।
ज्ञानिन् भय भवेत् कस्मात्प्राप्ते मृत्युमहोत्सवे ।
स्वरूपस्थ पुर याति देही देहान्तरस्थिति ।—मृत्युमहोत्सव श्लो १७ १

पाता है 'धर्मो रक्षति रक्षित' की नीति के अनुसार रक्षा किया हुआ धर्म ही उनकी रक्षा करता है—और उसके पूर्ण विकास को सिद्ध करता है

ऐसी हालत में सकाम धर्मसाधन को हटाने और धर्म की विडम्बनाओं को मिटाने के लिये समाज में पूर्ण आन्दोलन होने की जरूरत है, तभी समाज विकसित तथा धर्म के मार्ग पर अग्रसर हो सकेगा, तभी उसकी धार्मिक पोल मिटेगी और तभी वह अपनी पूर्वगौरव-गरिमा को प्राप्त कर सकेगा इसके लिये समाज के सदाचारनिष्ठ एवं धर्मपरायण विद्वानों को आगे आना चाहिए और ऐसे दूषित धर्माचरणों की युक्ति-पुरस्सर खरी-खरी आलोचना करके समाज को सजग तथा सावधान करते हुए उसे उसकी भूलों का परिज्ञान कराना चाहिए यह इस समय उनका खास कर्त्तव्य है और बड़ा ही पुण्य कार्य है ऐसे आन्दोलन द्वारा सन्मार्ग दिखलाने के लिये समाज के अनेक प्रमुख पत्रों को अपना-अपना—पवित्र कर्त्तव्य समझना चाहिए.

पड़ता पर शरीरान्त रूप जो तद्भवमरण है उसका कषायों एवं विषय-वासनाओं की न्यूनाधिकता के अनुसार आत्म परिणामों पर अच्छा या बुरा प्रभाव अवश्य पड़ता है इस तद्भवमरण को सुधारने और अच्छा बनाने के लिये ही सल्लेखना ली जाती है सल्लेखना से अनन्त संसार की कारणभूत कषायों का आवेग उपशान्त अथवा क्षीण हो जाता है तथा जन्ममरण का चक्र बहुत ही कम हो जाता है जैन लेखक आचार्य शिवार्य सल्लेखना धारण पर बल देते हुए कहते है कि[1] "जो जीव एक ही पर्याय में समाधिपूर्वक मरण करता है वह सात आठ पर्याय से अधिक संसार में परिभ्रमण नहीं करता उन्होंने सल्लेखना-धारक का महत्त्व बताते हुए यहां तक लिखा है[2] कि जो व्यक्ति अत्यन्त भक्ति के साथ सल्लेखनाधारक (क्षपक) के दर्शन-वन्दन सेवादि के लिये उनके निकट जाता है वह व्यक्ति भी देवगति के सुखों को भोग कर अन्त में उत्तम स्थान (निर्वाण) को प्राप्त करता है

तेरहवीं शताब्दी के प्रौढ़ लेखक पंडित आशाधरजी ने भी इसी बात को बड़े ही प्राञ्जल शब्दों में स्पष्ट करते हुए कहा है कि स्वस्थ शरीर पथ्य आहार और विहार द्वारा पोषण करने योग्य है और रुग्ण शरीर योग्य औषधों द्वारा उपचार के योग्य है परन्तु योग्य आहार-विहार और औषधोपचार करते हुए भी शरीर पर उनका अनुकूल असर न हो प्रत्युत व्याधि बढ़ती जाय तो ऐसी स्थिति में उस शरीर को दुष्ट की तरह छोड़ देना ही श्रेयस्कर है[3] वे असावधानी एवं आत्म घात के दोष से बचने के लिये कुछ ऐसी बातों की ओर भी संकेत करते है जिनके द्वारा शीघ्र और अवश्यमरण की सूचना मिल जाती है और उस हालत में व्रती को सल्लेखना में लीन हो जाना ही सर्वोत्तम है[4]

इसी प्रकार एक दूसरे विद्वान् ने भी प्रतिपादन किया है कि 'जिस शरीर का बल प्रतिदिन क्षीण हो रहा है भोजन उत्तरोत्तर घट रहा है और रोगादिक के प्रतीकार करने की शक्ति नष्ट हो गयी है वह शरीर ही विवेकी पुरुषों को बतलाता है कि उन्हें क्या करना चाहिए अर्थात् यथाख्यातचारित्र रूप सल्लेखना धारण कर लेना चाहिए[5]

मृत्युमहोत्सव-कार तो यहां तक कहते है कि समस्त श्रुताभ्यास तपश्चर्या और व्रताचरण की सार्थकता तभी है जब मुमुक्षु श्रावक अथवा साधु विवेक जागृत हो जाने पर सल्लेखनामरण समाधिमरण पण्डितमरण या वीरमरण पूर्वक शरीर त्याग करता है वे लिखते है

'जो फल बड़े-बड़े व्रती पुरुषों को कायक्लेश आदि तप अहिंसादि व्रत धारण करने पर प्राप्त होता है वह फल अन्त समय में सावधानीपूर्वक किये गए समाधिमरण से जीवों को सहज में ही प्राप्त हो जाता है अर्थात् जो आत्मविशुद्धि अनेक प्रकार के तपादि से होती है वह अन्त समय में समाधिपूर्वक शरीर त्यागने पर प्राप्त हो जाती है[6]

'बहुत काल तक किये गए उग्र तपों का पाले हुए व्रतों का और निरन्तर अभ्यास किये हुए शास्त्रज्ञान का एकमात्र फल

---

१ 'एगम्मि भवग्गहणे समाधिमरणेण जो मदो जीवो ।
ण हु सो हिंडदि बहुसो सत्तट्ठ भवे पमोत्तूण । —शिवार्य भगवती आराधना
सल्लेहणाए मूलं जो वच्चइ तिव्व भत्तिराएण ।
भोत्तूण य देव-सुहं सो पावदि उत्तमं ठाणं । —शिवार्य भगवती आराधना
३ कायः स्वस्थोऽनुवर्त्यः स्यात्प्रतिकार्यश्च रोगितः ।
उपकारं विपर्यस्यंस्त्याज्यः सद्भिः खलो यथा । —आशाधर सागारधर्मामृत-८-६
४ देहादिवैकृतैः सम्यङ्निमित्तैस्तु सुनिश्चिते ।
मृत्यावाराधनामग्नमतेर्दूरे न तत्पदम् ।—आशाधर सा ध ८-१
५ प्रतिदिवसं विजहद्बलमुज्झद्भुक्तिं त्यजत्प्रतीकारम् ।
वपुरेव नृणां निगदति चरमचरित्रोदयं समयम् । लेखक—आदर्श सल्लेखना पृष्ठ १६ (उद्धृत)
६ यत्फलं प्राप्यते सद्भिर्व्रतायासविडम्बनात् ।
तत्फलं सुखसाध्यं स्यान्मृत्युकाले समाधिना । —श्री जिनोपाल मृत्युमहोत्सव श्लो ११

समझना कठिन नही है यथार्थ मे सासारिक जन ससार (विषय-कषाय के पोषक चेतनाचेतन पदार्थो) को आत्मीय समझते हैं अत उनके छोडने मे उन्हे दु ख का अनुभव होता है और उनके मिलने मे हर्ष होता है परन्तु आत्मा तथा शरीर के भेद को समझने वाले ज्ञानी वीतरागी सत न केवल विषय-कषाय की पोषक बाह्य वस्तुओ को ही, अपितु अपने शरीर को भी बन्धन मानते है अत उसके छोडने मे उन्हे दु ख न होकर प्रमोद होता है वे अपना वास्तविक निवास स्थान-मुक्ति को समझते है तथा सद्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, त्याग, सयम आदि आत्मीय गुणो को अपना यथार्थ परिवार मानते है फलत साधुजन यदि अपने पार्थिव शरीर के त्याग को मृत्युमहोत्सव कहे तो कोई आश्चर्य नही है वे अपने रुग्ण, अशक्त, कुछ क्षणो मे जाने वाले और विपद्ग्रस्त जीर्ण-शीर्ण शरीर को छोडने तथा नये शरीर को ग्रहण करने मे उसी तरह उत्सुक एव प्रमुदित होते हैं जिस तरह कोई व्यक्ति अपने पुराने, जीर्ण, मलिन और काम न दे सकने वाले वस्त्र को छोडने मे तथा नवीन वस्त्र के परिधान मे अधिक प्रसन्न होता है[1]

इसी तथ्य को दृष्टि मे रखकर जैन श्रावक या साधु अपना मरण सुधारने के लिये शारीरिक विशिष्ट परिस्थितियो मे सल्लेखना (समाधिमरण) ग्रहण करता है वह नही चाहता कि शरीर-त्याग, रोते-बिलखते, लडते-झगडते, सक्लेश करते और रागद्वेष की भट्टी मे जलते हुए असावधान अवस्था मे हो, किन्तु दृढ, शान्त और उज्जवल परिणामो के साथ विवेकपूर्ण स्थिति मे वीरो की तरह उसका पार्थिव शरीर छूटे सल्लेखना मुमुक्षु श्रावक या साधु के इसी उद्देश्य की पूरक है प्रस्तुत लेख मे इसी के सम्बन्ध मे जैन दृष्टि से कुछ प्रकाश डाला जा रहा है

सल्लेखना का अर्थ

'सल्लेखन' शब्द जैनदर्शन का पारिभाषिक शब्द है इसका अर्थ है '*सम्यक्कायकषायलेखना सल्लेखना*'[2]—सम्यक् प्रकार से काय और कषाय दोनो को कृश करना सल्लेखना है जिस क्रिया मे बाहरी शरीर का और भीतरी रागादि कषायो का, उनके निमित्त कारणो को कम करते हुए प्रसन्नतापूर्वक विना किसी दबाब के स्वेच्छा से लेखन अर्थात् कृशीकरण किया जाता है, उस क्रिया का नाम सल्लेखना अथवा समाधिमरण है यह यावज्जीवन पालित एव आचरित समस्त व्रतो तथा चारित्र की सरक्षिका है, इसलिए इसे 'व्रतराज' कहा गया है श्रावक के द्वारा द्वादश व्रतो और साधु के द्वारा महाव्रतो के अनन्तर पर्याय के अन्त मे इसे ग्रहण किया जाता है[3]

सल्लेखना का महत्त्व और उसकी आवश्यकता

अपने परिणामो के अनुसार प्राप्त जिन आयु, इन्द्रियो और मन, वचन, काय, इन तीन बलो के सयोग का नाम जन्म है, उन्ही के क्रमश अथवा सर्वथा क्षीण होने को मरण कहा गया है यह मरण दो प्रकार का है—एक नित्यमरण और दूसरा तद्भवमरण प्रतिक्षण जो आयु आदि का ह्रास होता रहता है वह नित्यमरण है तथा शरीर का समूल नाश हो जाना तद्भव मरण है[4] नित्य मरण तो निरन्तर होता रहता है, उसका आत्मपरिणामो पर विशेष कोई प्रभाव नही

---

१ (क) जीर्णं देहादिक सर्वं नूतन जायते यत ।
स मृत्यु कि न मोदाय सता सातोत्थिर्यथा ॥—शान्तिसोपान, मृत्युमहोत्सव, श्लो० १५
(ख) वासासि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णति नरो पराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि सयाति नवानि देही ॥—गीता २ २२

२ सम्यक्कायकषाय लेखना सल्लेखना । कायस्य बाह्यस्याभ्यन्तराणा च कषायाणा तत्कारणहापनक्रमेण सम्यग्लेखना सल्लेखना ।
—सर्वार्थसिद्धि । ७-२२

३ मारणान्तिकी सल्लेखना जोषिता—त० सू० ७-२२

४ स्वायुरिन्द्रियबलसक्षयो मरणम् स्वपरिणामोपात्तस्यायुष इन्द्रियाणा बलाना च कारणवशात् सक्षयो मरणमिति मन्यन्ते मनीषिण मरण द्विविधम्, नित्यमरण तद्भवमरण चेति तत्र नित्यमरण समये समये स्वायुरादीना निवृत्ति तद्भवमरण भवान्तरप्राप्त्यनन्तरोपश्लिष्ट पूर्वभवनिगमनम् —भट्ट अकलकदेव, तत्त्वार्थराजवार्तिक ७–२२
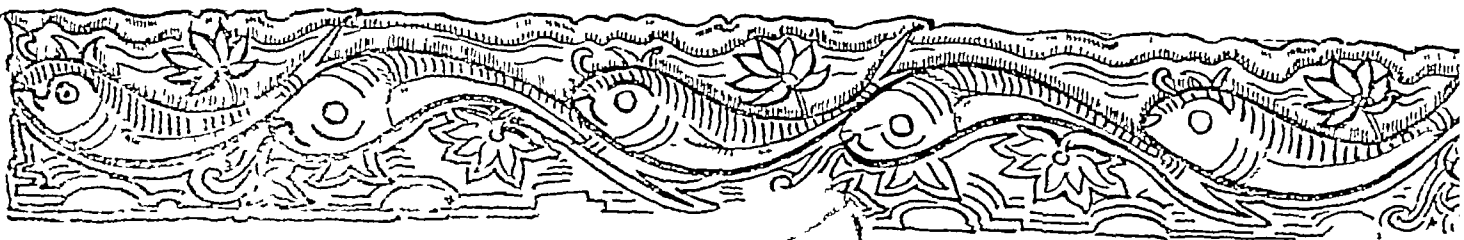
सच बात तो यह है कि इन उल्लिखित चार संकटावस्थाओं में—जो व्यक्ति को झकझोर देने तथा विचलित कर देनेवाली हैं—आत्मधर्म से च्युत न होना और हँसते-हँसते साम्यभावपूर्वक उसकी रक्षा के लिये अवश्य जाने वाले शरीर का उत्सर्ग कर देना साधारण पुरुषों का काम नहीं है. वह तो असाधारण व्यक्तियों तथा उनकी असाधारण साधना का फल है. अतः सल्लेखना एक असामान्य वस्तु है. हमें शरीर तथा आत्मा के मध्य देखना होगा कि कौन अस्थायी है और कौन स्थायी ? निश्चय ही शरीर अस्थायी है और आत्मा स्थायी. ऐसी स्थिति में अवश्य नाश होने वाले शरीर के लिये अभीष्ट फलदायी धर्म का नाश नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि शरीर के नाश हो जाने पर तो दूसरा शरीर पुनः मिल सकता है किन्तु नष्ट धर्म का पुनः मिलना दुर्लभ है.[1] अतएव जो शरीर-मोही नहीं होते वे आत्मा और अनात्मा के अन्तर को ठीक तरह से समझते हैं तथा आत्मा से परमात्मा की ओर बढ़ते हैं. जैन सल्लेखना में यही तत्त्व निहित है. इसी से प्रत्येक जैन देवोपासना के अन्त में प्रतिदिन यह पवित्र भावना करता है.[2]

'हे जिनेन्द्र मेरे दुःख का नाश हो, दुःख के कारण कर्म का भी नाश हो और कर्मनाश के कारण समाधिमरण का लाभ हो तथा समाधिमरण के कारणभूत सम्यग्बोध की प्राप्ति हो. ये चारों वस्तुएँ हे देव ! हे जगद्बन्धु ! आपके चरणों की शरण से मुझे प्राप्त हों.

जैन सल्लेखना का यही पवित्र उद्देश्य और प्रयोजन है, जो सांसारिक किसी कामना या वासना से सम्बद्ध नहीं है. सल्लेखना-धारक की संसार के किसी भोग या उपभोग व इन्द्रादि पद की प्राप्ति के लिये राग और अप्राप्ति के लिये द्वेष जैसी जघन्य इच्छाएँ नहीं होतीं. उसकी सिर्फ एक विदेह-मुक्ति की भावना रहती है जिसके लिये ही उसने जीवन भर व्रत-तपादिपालन का घोर प्रयत्न किया है और अन्तिम समय में भी वह उस प्रयत्न से नहीं चूकना चाहता है. अतएव क्षपक को सल्लेखना में कैसी प्रवृत्ति करना चाहिए और उसे लेने में किस प्रकार की विधि अपनाना चाहिए, इस सम्बन्ध में भी जैन शास्त्रों में विस्तृत और विशद विवेचन किया गया है.

आचार्य समन्तभद्र ने निम्न प्रकार सल्लेखनाविधि बतलाई है.[3]

सल्लेखना-धारक को सबसे पहले इष्ट वस्तुओं से राग, अनिष्ट वस्तुओं से द्वेष, स्त्रीपुत्रादि प्रिय जनों से ममत्व और धनादि में स्वामित्व की बुद्धि को छोड़ कर पवित्रमन होना चाहिए. उसके बाद अपने परिवार और अपने से सम्बन्धित व्यक्तियों से जीवन में हुए अपराधों को क्षमा कराये तथा स्वयं भी उन्हें प्रियवचन बोलकर क्षमा करे और इस तरह अपने अन्तःकरण को निष्कषाय बनाए.

---

१ नावश्यं नाशिने हिंस्यो धर्मो देहाय कामदः ।
देहो नष्टः पुनर्लभ्यो धर्मस्त्वत्यन्तदुर्लभः ॥—आशाधर, सागारधर्मामृत—८-७.

२ दुक्खखओ कम्मखओ समाहिमरणं च बोहिलाहो य ।
मम होउ जगदबंधव तव जिणवर चरणसरणेण ।—भारतीय ज्ञानपीठ, पूजाञ्जलि पृ. ८०

३ स्नेहं वैरं सङ्गं परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः ।
स्वजनं परिजनमपि च क्षान्त्वा क्षमयेत्प्रियैर्वचनैः ।
आलोच्य सर्वमेनः कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम् ।
आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निःशेषम् ।
शोकं भयमवसादं क्लेदं कालुष्यमरतिमपि हित्वा ।
सत्त्वोत्साहमुदीर्य च मनः प्रसाद्यं श्रुतैरमृतैः ।
आहारं परिहाप्य क्रमशः स्निग्धं विवर्धयेत्पानम् ।
स्निग्धं च हापयित्वा खरपानं पूरयेत्क्रमशः ।
खरपानहापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या ।
पञ्चनमस्कारमनास्तनुं त्यजेत्सर्वयत्नेन । समन्तभद्र, रत्नक. श्रा. ५. ३-७.

शान्ति के साथ आत्मानुभव करते हुए समाधिपूर्वक मरण करना है इसके विना उनका कोई फल नही है—केवल शरीर को सुखाना या ख्यातिलाभ करना है'[1]

विक्रम की दूसरी शताब्दी के विद्वान् स्वामी समतभद्र की मान्यतानुसार जीवन मे आचरित अनशनादिक विविध तपो का फल अन्त समय मे गृहीत सल्लेखना है अत अपनी पूरी शक्ति के साथ समाधिपूर्वक मरण के लिए प्रयत्न करना चाहिए[2]

आचार्य पूज्यपाद—देवनन्दि भी सल्लेखना के महत्त्व और आवश्यकता को वतलाते हुए लिखते है[3] कि मरण किसी को इष्ट नही है जैसे अनेक प्रकार के सोने, चादी, बहुमूल्य वस्त्रो आदि का व्यापार करने वाले किसी भी व्यापारी को अपने घर का विनाश कभी भी इष्ट नही हो सकता यदि कदाचित् उसके विनाश का कोई (अग्नि, बाढ, राज्यविप्लव आदि) कारण उपस्थित हो जाय तो वह उसकी रक्षा करने का पूरा उपाय करता है और जब रक्षा का उपाय सफल होता हुआ नही देखता तो घर मे रखे हुए उन सोना, चादी आदि बहुमूल्य पदार्थों को जैसे-बने-वैसे बचाता है तथा घर को नष्ट होने देता है उसी तरह व्रतशीलादि गुणरत्नो का सचय करने वाला व्रती—मुमुक्षु गृहस्थ अथवा साधु भी उन व्रतादि गुणरत्नो के आधारभूत शरीर की प्राणप्रण से सदा रक्षा करता है—उसका विनाश उसे इष्ट नही होता यदि कदाचित् शरीर मे रोगादि विनाश का कारण उपस्थित हो जाये तो उनका वह पूरी शान्ति के साथ परिहार करता है लेकिन जब असाध्य रोग, अशक्य उपद्रव आदि की स्थिति देखता है और शरीर का बचना असम्भव समझता है तो आत्मगुणो की रक्षा करता है तथा शरीर को नष्ट होने देता है"

इन उल्लेखो से सल्लेखना के महत्त्व और उसकी आवश्यकता पर पर्याप्त प्रकाश पडता है यही कारण है कि जैन-सस्कृति मे सल्लेखना पर बडा बल दिया गया है जैन लेखको ने अकेले इसी विषय पर अनेको स्वतत्र ग्रथ लिखे हैं आचार्य शिवार्य की **'भगवती आराधना'** इसी विषय का एक अत्यन्त प्राचीन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है इसी प्रकार **'मृत्युमहोत्सव'** आदि कृतियाँ भी लिखी गई है, जो इस विषय पर बहुत अच्छा प्रकाश डालती है

सल्लेखना का प्रयोजन, काल और विधि

यद्यपि ऊपर के विवेचन से सल्लेखना का प्रयोजन और काल ज्ञात हो जाता है फिर भी नीचे उसे और भी अधिक स्पष्ट किया जाता है स्वामी समन्तभद्र ने सल्लेखना-धारण की स्थिति और उसका स्वरूप निम्न प्रकार प्रतिपादित किया है—'जिसका उपाय न हो, ऐसे किसी भयकर सिंह आदि क्रूर वन्यजन्तुओ द्वारा खाये जाने आदि के उपसर्ग आजाने पर, जिसमे शुद्ध भोजन-सामग्री न मिल सके ऐसे दुर्भिक्ष के पडने पर, जिसमे धार्मिक एव शारीरिक क्रियायें यथोचित रीति से न पल सके ऐसे बुढापे के आजाने पर तथा किसी असाध्य रोग के हो जाने पर धम की रक्षार्थ शरीर के त्याग करने को **'सल्लेखना'** कहा गया है'[4]

---

१ तप्तस्य तपसश्चापि पालितस्य व्रतस्य च ।
पठितस्य श्रुतस्यापि फल मृत्यु समाधिना ।—शान्ति सो० मृत्युमहो० श्लोक २३

२ अन्त क्रियाधिकरणं तप फल सकलदर्शिन स्तुवते ।
तस्माद्यावद्विभव समाधिमरणे प्रयतितव्यम् ।—समन्तभद्र–रत्नकरण्ड श्रा० ५ २

३ "मरणस्यानिष्टत्वात् यथा वणिजो विविधपण्यदानादानसचयपरस्य स्वगृहविनाशोऽनिष्ट तद्विनाशकारणे च कुतश्चिदुपस्थिते यथाशक्ति परिहरति, दु परिहारे च पण्यविनाशो यथा न भवति तथा यतते एव गृहस्थोऽपि व्रतशालपण्यसचये प्रवर्तमानस्तदाश्रयस्य न पातमभिवाञ्छति तदुपप्लवकारणे चोपस्थिते स्वगुणाविरोधेन परिहरति दु परिहारे च यथा स्वगुणविनाशो न भवति तथा प्रयतते"
—सर्वार्थ सि० ७-२२

४ उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजाया च नि प्रतीकारे ।
धर्माय तनुविमोचनमाहु सल्लेखनामार्या । —समन्तभद्र–रत्नकरण्ड श्रा० ५-१

क्षपक की सल्लेखना में सहायक और उनका महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य

आराधक जब सल्लेखना ले लेता है तो वह उसमें बड़े आनन्द, प्रेम और श्रद्धा के साथ संलग्न रहता है तथा उत्तरोत्तर पूर्ण सावधानी के साथ आत्म-साधना में गति-शील रहता है. उसके इस पुण्य कार्य में जिसे एक 'महान् यज्ञ' कहा गया है पूर्ण सफलता मिले और वह अपने पवित्र पथ से विचलित न होने पाये इसके लिए अनुभवी मुनि-निर्यापकाचार्य उसकी सल्लेखना में सम्पूर्ण शक्ति एवं आदर के साथ उसे सहायता करते हैं और समाधिमरण में सुस्थिर रखते हैं. वे उसे सदैव तत्त्वज्ञान-पूर्ण मधुर उपदेशों द्वारा शरीर और संसार की असारता एवं नश्वरता बतलाते हैं जिससे वह उनमें मोहित न हो. 'भगवती आराधना' (गा ६५०-६७६) में समाधिमरण कराने वालों का बहुत ही सुन्दर वर्णन करते हुए लिखा है :

"क्षपक की सल्लेखना कराने वाले मुनियों को धर्मप्रिय, दृढश्रद्धानी, पापभीरु, परीषहजेता, देशकालज्ञाता, योग्यायोग्य विचारक, न्यायमार्गमर्मज्ञ, अनुभवी, स्व-पर-तत्त्वविवेकी, विश्वासी और परोपकारी होना चाहिए. उनकी संख्या उत्कृष्ट ४८ और कम-से-कम २ होना चाहिए।

"४८ मुनि क्षपक की इस प्रकार सेवा करें—४ मुनि क्षपक को उठाने बैठाने आदि रूप से शरीर की टहल करें. ४ मुनि धर्म श्रवण करायें. ४ मुनि भोजन और ४ मुनि पान करायें. ४ मुनि रक्षा-देखभाल करें. ४ मुनि शरीर के मल-मूत्रादि के क्षेपण में तत्पर रहें. ४ मुनि वसतिका के द्वार पर रहें जिससे अनेक लोग क्षपक के परिणामों में क्षोभ न कर सकें. ४ मुनि क्षपक की आराधना को सुन कर आये लोगों को सभा में धर्मोपदेश द्वारा सन्तुष्ट करें. ४ मुनि रात्रि में जागें. ४ मुनि देश की ऊँच-नीच स्थिति के ज्ञान में तत्पर रहें. ४ मुनि बाहर से आये गये लोगों से बातचीत करें और ४ मुनि क्षपक के समाधिमरण में विघ्न करने की सम्भावना से आये लोगों से वाद (शास्त्रार्थ द्वारा धर्मप्रभावना) करें. ये महाप्रभावशाली निर्यापक मुनि क्षपक की समाधि में पूर्ण यत्न से सहायता करते हैं और उसे संसार से पार करते हैं. भरत और ऐरावत क्षेत्र में काल की विचित्रता होने से यथानुकूल अवसर में जितनी विधि बन जाये और जितने गुणों के धारक निर्यापक मिल जाएँ उतने भी समाधि करायें, अति श्रेष्ठ है. पर निर्यापक एक नहीं होना चाहिए, क्योंकि अकेला एक निर्यापक क्षपक की २४ घंटे सेवा करने पर थक जायेगा और क्षपक की अच्छी तरह समाधि नहीं करा पायेगा."[1]

निर्यापक मुनि क्षपक को जो कल्याणकारी उपदेश देकर समाधिमरण में सुस्थिर रखते हैं उसका पंडित प्रवर आशाधर जी ने निम्न प्रकार वर्णन किया है :

"हे क्षपक ! लोक में ऐसा कोई पुद्गल नहीं जिसे तुमने एक से अधिक बार न भोगा हो, फिर भी वह तुम्हारा कोई हित न कर सका. पर-वस्तु क्या कभी आत्मा का हित कर सकती है ? आत्मा का हित तो ज्ञान, संयम और त्याग ये आत्मगुण ही कर सकते हैं. अतः बाह्य वस्तुओं में मोह को त्यागो और विवेक तथा संयम का आश्रय लो और सदैव यह विचारो कि मैं अन्य हूँ और पुद्गल अन्य है. मैं चेतन हूँ, ज्ञाता-द्रष्टा हूँ और पुद्गल अचेतन है, ज्ञानदर्शनरहित है. मैं आनन्द-घन हूँ और पुद्गल ऐसा नहीं है.

१. [illegible]

२. [illegible]

इसके पश्चात् वह जीवन मे किये, कराये और अनुमोदित समस्त हिंसादि पापो की निश्छल भाव से आलोचना (खेद प्रकाशन) करे तथा मृत्युपर्यन्त महाव्रतो का अपने मे आरोप करे

इसके साथ ही शोक,भय, खेद, ग्लानि (घृणा), कलुषता और आकुलता को भी छोड दे तथा वल एव उत्साह को जागृत करके अमृतोपम शास्त्रवचनो द्वारा मन को प्रसन्न रखे

इस प्रकार कषाय को कृश करने के उपरान्त शरीर को कृश करने के लिये सल्लेखनाधारी सल्लेखना मे सर्वप्रथम आहार (भक्ष्य पदार्थों) का त्याग करे और दूध, छाछ आदि पेय पदार्थों पर निर्भर रहे इसके अनन्तर उन्हे भी छोड कर काजी या गर्म जल पीने का अभ्यास करे

बाद मे उन्हे भी त्याग कर शक्तिपूर्वक उपवास करे इस प्रकार उपवास करते-करते एव परमेष्ठी का ध्यान करते हुए पूर्ण जाग्रत एव सावधानी मे शरीर का उत्सर्ग करे'

यह सल्लेखना की विधि है इस विधि से साधक (आराधक) अपने आनन्द-ज्ञान-धन आत्मा का साधन करता है और और भावी पर्याय को वर्तमान जीर्ण-शीर्ण नश्वर पर्याय से ज्यादा सुखी, शान्त, निर्विकार, नित्य, शाश्वत एव उच्च बनाने का सफल पुरुषार्थ करता है नश्वर से अनश्वर का लाभ हो तो उसे कौन विवेकी छोडने को तैयार होगा ? अतएव सल्लेखना-धारक उन पाँच दोषो से[1] भी अपने को बचाता है, जो उसकी पवित्र सल्लेखना को दूषित करते हैं वे पाँच दोष निम्न प्रकार है

सल्लेखना धारण करने के बाद जीवित बने रहने की आकाक्षा करना, शीघ्र मृत्यु की इच्छा करना, भयभीत होना, स्नेहियो का स्मरण करना और आगे की पर्याय मे सुखो की चाह करना, ये पाँच दोष हैं, जिन्हे अतिचार कहा है और जिनसे सल्लेखना-धारक को बचना चाहिए

सल्लेखना का फल

सल्लेखना-धारक धर्म का पूर्ण अनुभव और प्राप्ति करने के कारण नियम से नि श्रेयस् और अभ्युदय प्राप्त करता है स्वामी समन्तभद्र सल्लेखना का फल वतलाते हुए लिखते है कि "उत्तम सल्लेखना करने वाला धर्मरूपी अमृत को पान करने के कारण समस्त दु खो से रहित होता हुआ नि श्रेयस् और अभ्युदय के अपरिमित सुखो को प्राप्त करता है"[2]

विद्वद्वर प० आशाधरजी भी कहते हैं[3] कि 'जिस महापुरुष ने ससारपरम्परा के नाशक समाधिमरण को धारण किया है उसने धर्म रूपी महान् निधि को परभव मे जाने के लिये साथ ले लिया है जिससे वह उसी तरह सुखी रहे जिस प्रकार एक ग्राम से दूसरे ग्राम को जाने वाला व्यक्ति पास मे पर्याप्त पाथेय रखने पर निराकुल रहता है इस जीव ने अनन्त वार मरण किया, किन्तु समाधि-सहित पुण्यमरण कभी नही किया, जो सौभाग्य एव पुण्योदय मे अब प्राप्त हुआ है सर्वज्ञदेव ने इस समाधि सहित पुण्यमरण की वडी प्रशसा की है क्योकि समाधिपूर्वक मरण करनेवाला महान् आत्मा निश्चय से ससार-रूपी पिजडे को तोड देता है—उसे फिर ससार के बन्धन मे नही रहना पडता है'

---

१ जीवित-मरणाऽऽशसे भय मित्रस्मृति-निदाननामान ।
सल्लेखनातिचारा पच जिनेन्द्रै समादिष्टा ।—समन्तभद्र, र० क० श्रा० ५-८

२ नि श्रेयसमभ्युदय निस्तीर दुस्तर सुखाम्बुनिधिम् ।
नि पिवति पीतधर्मा सर्वैर्दु खैरनालीढ ।—समन्तभद्र, र०क०श्रा० ५-६

३ सहगामि कृत तेन धर्मसर्वस्वमात्मन ।
समाधिमरण येन भवविध्वसि साधितम् ।
प्राग्जन्तुनाऽमुनाऽनन्ता प्राप्तास्तद्भवमृत्यव ।
समाधिपुण्यो न पर परमाश्चरमक्षण ।
वर शसन्ति माहात्म्य सर्वज्ञाश्चरमक्षणे ।
यस्मिन्समाहिता भव्या भञ्जन्ति भवपञ्जरम् ।—आशाधर, सागारधर्मामृत ७-५८,८-२७,२८

सल्लेखना के भेद
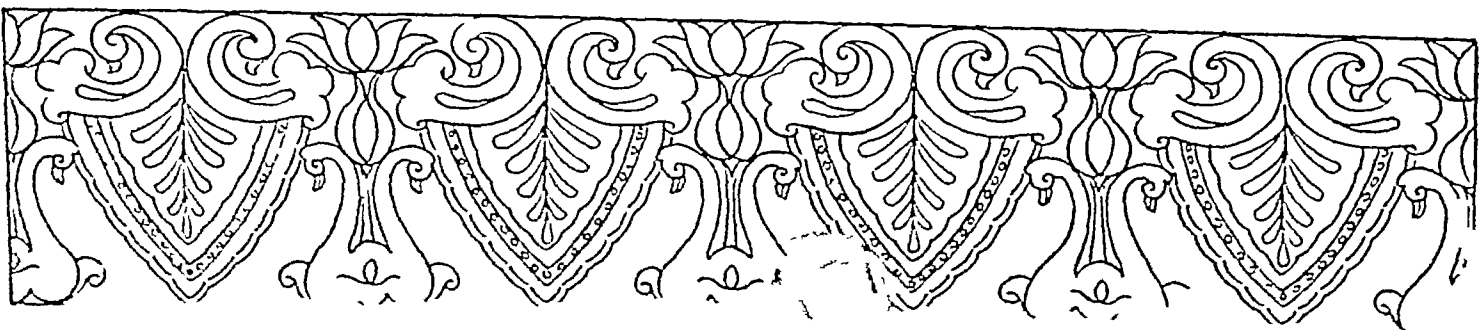
जैन शास्त्रों मे शरीर का त्याग तीन तरह से बताया गया है[1] १ च्युत २ च्यावित और ३ त्यक्त

१ च्युत —स्वत आयु पूर्ण होने पर शरीर छूटता है वह च्युत कहलाता है

२ च्यावितः—जो विष-भक्षण रक्तक्षय धातुक्षय शस्त्राघात सक्लेश अग्निदाह जलप्रवेश आदि निमित्त कारणों से शरीर छोड़ा जाता है वह च्यावित कहा गया है

३ त्यक्तः—जो रोगादि हो जाने और उनकी असाध्यता एव मरणान्त होने पर विवेक सहित सन्यास रूप परिणामों से शरीर छोड़ा जाता है वह त्यक्त है

तीन तरह के शरीरत्यागों म त्यक्त-शरीरत्याग सवश्रेष्ठ और उत्तम माना गया है क्योंकि त्यक्त अवस्था में आत्मा पूर्णतया जागृत एव सावधान रहता है तथा उसे कोई सक्लेश परिणाम नही होता

इस त्यक्त शरीरत्याग को ही समाधिमरण सन्यासमरण पण्डितमरण वीरमरण और सल्लेखनामरण कहा गया है यह सल्लेखनामरण (त्यक्त शरीरत्याग) तीन प्रकार का प्रतिपादन किया है[2] १ भक्तप्रत्याख्यान २ इगिनीमरण और ३ प्रायोपगमन

१ भक्तप्रत्याख्यान—जिसमें अन्न-पान का क्रमशः अभ्यास पूवक त्याग किया जाता है उसे भक्तप्रत्याख्यान या भक्त-प्रतिज्ञा सल्लेखना कहते है इसका काल—प्रमाण कम-से-कम अन्तमुहूर्त है और अधिक से-अधिक १२ वर्ष है मध्यम अन्तमुहूर्त स ऊपर और बारह वर्ष से नीचे का काल है इसम आराधक आत्मातिरिक्त समस्त परवस्तुओं से रागद्वेषादि छोड़ता है तथा अपने शरीर की टहल स्वय भी करता है और दूसरो स भी कराता है

२ इगिनीमरण[3]— में क्षपक अपने शरीर की सेवा—परिचर्या स्वय तो करता है पर दूसरे से नही कराता स्वयं उठेगा और स्वय बैठेगा और इस तरह अपनी सम्पूर्ण क्रियाएँ स्वय करेगा वह पूर्णतया स्वावलम्बन का आश्रय ले लेता है

३ प्रायोपगमन —म वह न अपनी सहायता लेता है और न दूसरे की आत्मा की ओर ही उसका सतत लक्ष्य रहता है और उसी के ध्यान में सदा रत रहता है इस सल्लेखना को साधक तब ही धारण करता है जब वह अन्तिम अवस्था म पहुँच जाता है तथा जिसका सहनन प्रबल होता है

इनम भक्तप्रत्याख्यान दो तरह का है—१ सविचार भक्तप्रत्याख्यान और २ अविचार भक्तप्रत्याख्यान सविचार भक्तप्रत्याख्यान म आराधक अपने सघ को छोड़कर दूसरे सघ में जाकर सल्लेखना ग्रहण करता है यह सल्लेखना बहुत काल बाद मरण होने तथा शीघ्र मरण न होने की हालत मे ग्रहण की जाती है इस सल्लेखना का धारी 'अर्ह' आदि अधिकारो के विचार पूवक उत्साह सहित इसे धारण करता है इसी से इसे सविचार भक्तप्रत्याख्यान सल्लेखना कहते है. पर जिस आराधक की आयु अधिक नही है और शीघ्र मरण होने वाला है तथा अब दूसरे सघ में जाने का समय नही है और न शक्ति है वह मुनि अविचार भक्तप्रत्याख्यान समाधिमरण धारण करता है इसके भी तीन भेद है १ निरुद्ध २ निरुद्धतर और ३ परमनिरुद्ध

१ निरुद्ध—दूसरे सघ में जाने की पैरो मे सामर्थ्य न रहे शरीर थक जाय अथवा घातक रोग व्याधि या उपसर्गादि आजायें और अपने सघ मे ही रुक जाय तो उस हालत म मुनि इस समाधिमरण को ग्रहण करता है इसलिए इसे निरुद्ध

---

१ देखिए नेमिचन्द्राचार्य गोम्मटसार कर्मकाण्ड ५६ ५७, ५८

देखिए नेमिचन्द्राचार्य —गो कर्म गा ५६ तथा भग आरा गा ६

३ देखिए नेमिचन्द्राचार्य —गो कर्म गा ६१

४ देखिए नेमिचन्द्राचार्य —गो कर्म गा ६ श्वेताम्बरपरम्परा के ग्रन्थ में इसे 'पादपोपगमन' या 'पादोपगमन' कहते है

"हे क्षपकराज ! जिस सल्लेखना को तुम अब तक धारण नही कर पाये थे, उसे धारण करने का सुअवसर तुम्हे आज प्राप्त हुआ है उस सल्लेखना मे कोई दोष मत आने दो तुम परीषह या वेदना के कष्ट से मत घबराओ वे तुम्हारे आत्मा का कुछ बिगाड नही सकते उन्हे तुम सहनशीलता एव धीरता से सहन करो और उनके द्वारा कर्मों की असख्यातगुणी निर्जरा करो"

"हे आराधक ! मिथ्यात्व का वमन करो, सम्यक्त्व का सेवन करो पचपरमेष्ठी का स्मरण करो और उनके गुणो मे अनुराग करो तथा अपने शुद्ध ज्ञानोपयोग मे लीन रहो अपने महाव्रतो की रक्षा करो कषायो को जीतो इन्द्रियो को वश मे करो सदैव आत्मा मे ही आत्मा का ध्यान करो मिथ्यात्व के समान दु खदायी और सम्यक्त्व के समान सुखदायी तीन लोक मे अन्य कोई वस्तु नही है देखो धनदत्त राजा का सघश्री मत्री पहले सम्यग्दृष्टि था, पीछे उसने सम्यक्त्व की विराधना की और मिथ्यात्व का सेवन किया, जिसके कारण उसकी आँखे फूटी और ससार-चक्र मे उसे घूमना पडा राजा श्रेणिक तीव्र मिथ्यादृष्टि था, किन्तु बाद मे सम्यग्दृष्टि बन गया, जिसके प्रभाव से अपनी बधी हुई नरक स्थिति को कम करके उसने तीर्थंकर प्रकृत्ति का बन्ध किया तथा भविष्यत्काल मे वह तीर्थंकर होगा"

"हे क्षपकराज ! तुमने आगम मे अनेक बार सुना होगा कि पद्मरथ नाम का मिथिला का राजा "वासुपूज्याय नम" कहता हुआ अनेक विघ्न-बाधाओ से पार हो गया था और भगवान् के समवसरण मे पहुँचा था वहाँ पहुँच कर उसने दीक्षा ले ली तथा भगवान् का शीघ्र गणधर बन गया था यह अर्हन्तभक्ति का ही इतना बडा प्रताप था सुभग नाम के ग्वाले ने 'नमो अरिहन्ताण' इतना ही कहा था, जिसके प्रभाव से वह सुदर्शन हुआ और अन्त मे मोक्ष को प्राप्त हुआ"

"इसी तरह हे क्षपक ! जिन्होने परिषहो को एव उपसर्गों को सहन करके महाव्रतो का पालन किया उन्होने अभ्युदय और मोक्ष प्राप्त किया सुकुमाल को देखो, वे जब तप के लिये वन मे गये और ध्यान मे मग्न थे, तो शृगालिनी ने उन्हे कितनी निर्दयता से खाया, परन्तु सुकुमाल स्वामी जरा भी अपने ध्यान से विचलित नही हुए और घोर उपसर्ग सहकर उत्तम गति को प्राप्त हुए शिवभूति महामुनि को भी देखो, उनके सिर पर आधी से उड कर घास का गाज आपडा था, परन्तु वे आत्म-ध्यान से तनिक भी नही डिगे और निश्चल वृत्ति से शरीर त्यागकर निर्वाण को प्राप्त हुए पाचो पाण्डव जब तपस्या कर रहे थे उस समय कौरवो के भानजे आदि ने पुरातन वैर निकालने के लिये गरम लोहे की साकलो से बाधा और कीलें ठोकी, किन्तु वे अडिग रहे और उपसर्ग सह कर उत्तम गति को प्राप्त हुए युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन मोक्ष गये तथा नकुल और सहदेव सवार्थसिद्धि को प्राप्त हुए विद्युच्चर ने कितना भारी उपसर्ग सहा और अन्त मे सद्गति पाई"

"अत हे आराधक ! तुम्हे इन महापुरुषो को अपना आदर्श बना कर धीरता-वीरता से सब कष्टो को सहन करते हुए आत्मलीन रहना चाहिए, जिससे तुम्हारी समाधि उत्तम प्रकार हो और अभ्युदय तथा निर्वाण प्राप्त करो जो जीव एक बार भी अच्छी तरह समाधिमरण करके शरीर त्यागता है वह ७-८ भव से अधिक ससार मे नही घूमता[1] अत हे क्षपक ! तुम्हे अपना यह दुर्लभ समाधिमरण पूर्ण धीरता-वीरता, सावधानी एव विवेक के साथ करना चाहिए, जिससे तुम्हे ससार मे फिर न घूमना पडे"

इस तरह निर्यापक मुनि क्षपक को समाधिमरण मे निश्चल और सावधान बनाये रखते है क्षपक के समाधिमरण रूप महान् यज्ञ की सफलता मे इन महान् निर्यापक साधुओ का प्रमुख एव अद्वितीय सहयोग होने से आगम मे उनकी प्रशसा करते हुए लिखा है[2]—"वे महानुभाव (निर्यापक मुनि) धन्य हैं, जो सम्पूर्ण आदर और शक्ति के साथ क्षपक को सल्लेखना कराते है"

---

१ शिवार्य भगवती आराधना

२ ते च्चिय महाणुभावा धण्णा जेहि च तस्स खवयस्स ।
सव्वादरसत्तीए उवहिदाराधणा सयला ।—शिवार्य, भ० आ० गाथा २०००

अविचार प्रत्याख्यान-सल्लेखना कहते है यह दो प्रकार का है—१ प्रकाश और २ अप्रकाश लोक मे जिनका समाधि-मरण विख्यात हो जाये वह प्रकाश है तथा जिनका विख्यात न हो वह अप्रकाश है

२ निरुद्धतर—सर्प, अग्नि, व्याघ्र, महिष, हाथी, रीछ, चोर, व्यन्तर, मूर्च्छा, दुष्ट पुरुषो आदि के द्वारा मारणान्तिक आपत्ति आने पर तत्काल आयु का अन्त जानकर निकटवर्ती आचार्यादिक के समीप अपनी निन्दा, गर्हा करता हुआ साधु शरीर-त्याग करे तो उसे निरुद्धतर-अविचार-भक्त-प्रत्याख्यान-सल्लेखना कहते है

३ परमनिरुद्ध—सर्प, व्याघ्रादि भीषण उपद्रवो के आजाने पर वाणी रुक जाय, बोल न निकल सके, ऐसे समय मे मन मे ही अरहन्तादि पच परमेष्ठियो के प्रति अपनी आलोचना करता हुआ साधु शरीर त्यागे उसे परम-निरुद्ध-भक्त प्रत्याख्यान-सल्लेखना कहते है

समाधिमरण की श्रेष्ठता

ये तीनो (भक्त प्रत्याख्यान, इगिनी और प्रायोपगमन) समाधिमरण उत्तम एव सर्वश्रेष्ठ माने गये है आचार्य शिवार्य ने (भगवती आराधना गाथा-२५ से ३० तक मे) सत्तरह प्रकार के मरणो का उल्लेख करके उनमे पांच[1] तरह के मरणो का वर्णन करते हुए तीन मरणो को प्रशसनीय बतलाया है वे तीनो मरण ये हैं[2]

'पडितपडितमरण, पडितमरण, और बालपडितमरण ये तीन मरण सदा प्रशसा के योग्य है'

आगे पाँच मरणो के सम्बन्ध मे कहा है[3] कि वीतराग केवली भगवान् के निर्वाण-गमन को 'पडित-पडितमरण' देशव्रती श्रावक के मरण को 'बालपडितमरण' आचाराग शास्त्रानुसार चारित्र के धारक साधु-मुनियो के मरण को 'पडितमरण'' अविरतसम्यग्दृष्टि के मरण को 'बालमरण' और मिथ्यादृष्टि के मरण को 'बाल-बालमरण कहा है भक्त-प्रत्याख्यान, इगिनी और प्रायोपगमन ये तीन पडित मरण के भेद है इन्ही तीन का ऊपर सक्षेप मे वर्णन किया गया है

आचार्य शिवार्य ने इस सल्लेखना के करने, कराने, देखने, अनुमोदन करने, उसमे सहायक होने, आहार-औषध-स्थानादि का दान देने तथा आदरभक्ति प्रकट करने वालो को पुण्यशाली बतलाते हुए बडा सुन्दर वर्णन किया है वे लिखते है,[4]

---

१ पडिदपडिदमरणं पडिदय बालपडिद चेव ।
बालमरण चउत्थ पचमय बालबाल च ।—भग० आराधना गा० २६

२ पडिदपडिदमरण च पडिद बालपडिद चेव ।
एदाणि तिण्णि मरणाणि जिणा णिच्च पससन्ति ।—भग० आराधना गा० २७

३ पडिदपडिदमरणे खीणकसाया मरन्ति केवलिणो ।
विरदाविरदा जीवा मरन्ति तदियेण मरणेण ।
पाओवगमणमरण भत्तपइण्णा य इगिणी चेव ।
तिविह पडिदमरण साहुस्स जहुत्तचरियस्स ।
अविरदसम्मादिट्ठी मरन्ति बालमरणे चउत्थम्मि ।
मिच्छादिट्ठी य पुणो पचमए बालबालम्मि ।—भग० आराधना गा० २८, २९, ३०

४ ते सूरा भयवन्ता आइच्चिऊण सघमज्झम्मि ।
आराधणा पडाया चउप्पयारा धिया जेहिं ।
ते धण्णा ते णाणी लद्धो लाभो य तेहि सव्वेहिं ।
आराधणा भयवदी पडिवण्णा जेहि सपुण्णा ।
किंणाम तेहि लोगे महाणुभावेहिं हुज्ज ण य पत्त ।
आराधणा भयवदी सयला आराधिदा जेहिं ।
ते चिय महाणुभावा धण्णा जेहिं च तस्स खवयस्स ।
सव्वादर - सत्तीए उववििहदाराधणा सयला ।

'वे मुनि धन्य हैं जिन्होंने संघ के मध्य में समाधिमरण ग्रहण कर चार प्रकार की आराधनारूपी पताका को फहराया
'वे ही भाग्यशाली हैं और ज्ञानी हैं तथा उन्होंने समस्त लाभ पाया है जिन्होंने दुर्लभ भगवती आराधना (सल्लेखना) को प्राप्त कर उसे सम्पन्न किया है

'जिस आराधना को संसार में महाप्रभावशाली व्यक्ति भी प्राप्त नहीं कर पाते उस आराधना को जिन्होंने पूर्णरूप से प्राप्त किया उनकी महिमा का वर्णन कौन कर सकता है ?

'वे महानुभाव भी धन्य हैं जो पूर्ण आदर और समस्त शक्ति के साथ क्षपक की आराधना कराते हैं

'जो धर्मात्मा पुरुष क्षपक की आराधना में उपदेश आहार-पान औषध व स्थानादि के दान द्वारा सहायक होते हैं वे भी समस्त आराधनाओं को निर्विघ्नपूर्ण करके सिद्धपद को प्राप्त होते हैं

'वे पुरुष भी पुण्यशाली हैं कृतार्थ हैं जो पापकर्म रूपी मैल को छुड़ाने वाले तीर्थ में सम्पूर्ण भक्ति और आदर के साथ *स्नान करते हैं अर्थात् क्षपक के दर्शन-वन्दन-पूजन में प्रवृत्त होते हैं*

'गिरि नदी आदि स्थान तपोधना से सम्बन्धित होने से तीर्थ कहे जाते हैं और उनकी सभक्ति वन्दना की जाती है तो तपोगुणराशि क्षपक तीर्थ क्यों नहीं कहा जायेगा' अवश्य कहा जायेगा उसकी वन्दना और दर्शन का भी वही *फल प्राप्त होता है जो तीर्थ-वन्दना का होता है*

'यदि पूर्व ऋषियों की प्रतिमाओं की वन्दना करने वाले के लिए पुण्य होता है तो साक्षात् क्षपक की वन्दना एवं दर्शन करने वाले पुरुष को प्रचुर पुण्य का संचय क्यों नहीं होगा ? अपितु अवश्य होगा
'जो तीव्र भक्ति सहित आराधक की सदा सेवा—वैयावृत्य करता है उस पुरुष की भी आराधना निर्विघ्न सम्पन्न होती है अर्थात् वह उत्तम गति को प्राप्त होता है

क्या जनेतर दर्शनों में यह महत्त्वपूर्ण विधान है ?

यह सल्लेखना जैनेतर जनताके लिए अज्ञात विषय है क्योंकि जैन साहित्यके सिवाय अन्य साहित्यमें उसका कोई वर्णन उपलब्ध नहीं होता हाँ ध्यान या समाधि का विस्तृत कथन मिलता है पर उसका अंत क्रिया से कोई संबंध नहीं है उसका संबंध केवल सिद्धियों को प्राप्त करने अथवा आत्म-साक्षात्कार से है वैदिक साहित्य में सोलह संस्कारों में एक अन्त्येष्टि संस्कार आता है जिसे ऐहिक जीवन के अंतिम अध्याय की समाप्ति कहा गया है[1] और जिसका दूसरा नाम मृत्यु-संस्कार है यद्यपि इस संस्कार का अन्त क्रिया से संबंध है किन्तु वह सामान्य गृहस्थों का किया जाता है सिद्ध—महात्माओं संन्यासियों या भिक्षुओं का नहीं जिनका परिवार से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता और न जिन्हें अन्त्येष्टि—क्रिया की आवश्यकता

ते उवविदि सम्मदरिसे आराधए तु भयवदस्स ।
संपज्जदि णिव्विग्घा सयला आराधणा तस्स ।
ते वि कदत्था धण्णा य हुन्ति जे पावकम्ममलहरणे ।
ण्हायन्ति खवयतित्थे सव्वादरभत्तिसंजुत्ता ।
गिरि णदियादिपदेसा तित्थाणि तवोधणेहिं जदि उसिदा ।
तित्थं कधं ण हुज्जो तवगुणरासी सयं खवओ ।
पुव्वरिसीणं पडिमाउ वंदमाणस्स होइ जदि पुण्णं ।
खवयस्स वंदओ किह पुण्णं विउलं ण पाविज्ज ।
जो ओलग्गदि आराधयं सदा तिव्वभत्तिसंजुत्तो ।
संपज्जदि णिव्विग्घा तस्स वि आराधणा सयला ।—भगवती आ० गा० १९९७—२००५

१ डा० राजबली पाण्डेय हिन्दू संस्कार पृ० ०
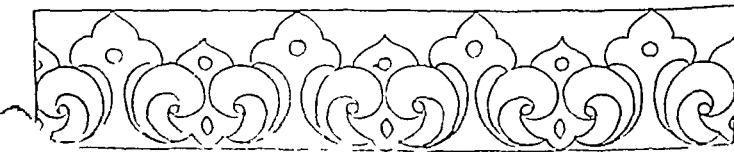
ही रहती है[1] इनके तो जल-निखात या भू-निखात के उल्लेख मिलते है[2] यह भी ध्यान देने योग्य है कि हिंदू धर्म मे अन्त्येष्टि की सम्पूर्ण क्रियाओ मे मृत-व्यक्ति के विषय-भोग तथा सुख-सुविधाओं के लिये प्रार्थनाए की जाती हैं हमे उसके आध्यात्मिक लाभ अथवा मोक्ष के लिए इच्छा का बहुत कम सकेत मिलता है जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति पाने के लिये प्रार्थना बहुत कम है[3] जब कि जैन सल्लेखना मे पूर्णतया आध्यात्मिक लाभ तथा मोक्ष की भावना निहित है लौकिक एषणाओ की उसमे कामना नही है एक बात यहाँ ज्ञातव्य है कि निर्णयसिंधुकार ने ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थ के अतिरिक्त आतुर अर्थात् मुमूर्षु (मरणाभिलाषी) और दु खित अर्थात् चौर व्याघ्रादि से भयभीत व्यक्ति के लिये भी सन्यास का विधान करने वाले कतिपय मतो को दिया है[4] इनमे बतलाया गया है कि सन्यास लेने वाला आतुर अथवा दु खित यह सकल्प करता है कि "मैंने जो अज्ञान प्रमाद या आलस्य दोष से बुरा कर्म किया उन सब का मैं त्याग करता हूँ और सब जीवो के लिये अभयदान देता हूँ तथा विहार करते हुए किसी जीव की हिंसा नही करूँगा" पर यह सब कथन सन्यासी के मरणान्त समय के विधि-विधान को नही बतलाता, केवल सन्यास लेते समय की जाने वाली चर्या का दिग्दर्शन कराता है स्पष्ट है कि यहाँ सन्यास का वह अर्थ विवक्षित नही है जो सल्लेखना का अर्थ है सन्यास का अर्थ है यहाँ साधु-दीक्षा, किंवा, कर्मत्याग या सन्यास नामक चतुर्थ आश्रम का स्वीकार है और सल्लेखना का अर्थ सन्यास के अन्तर्गत मरण समय मे होने वाली क्रिया विशेष[5] (कषाय एव काय का कृषीकरण करते हुए आत्मा को कुमरण से बचाना तथा आचरित धर्म की रक्षा करना) है अत सल्लेखना जैनदर्शन की एक अनुपम देन है, जो पारलौकिक एव आध्यात्मिक जीवन को उज्ज्वल बनाती है इस क्रिया मे रागादि कषाय से युक्त होकर प्रवृत्ति न होने के कारण सल्लेखना धारी को आत्मवध का भी दोष नही लगता

---

१ डा० राजबली पाण्डेय, हिन्दू सस्कार पृ० ३०३

२ डा० राजबली पाण्डेय, हिन्दू सस्कार पृ० ३०३ तथा कमलाकर भट्ट, निर्णयसिंधु पृ० ४४७

३ डा० राजबली पाण्डेय, हिदू सस्कार, पृष्ठ ३४६

४ सन्यसेद् ब्रह्मचर्याद्वा सन्न्यसेच्च गृहादपि ।
बनाद्वा प्रव्रजेद्विद्वानातुरो वा थ दु खित ।
उत्पन्ने सकटे घोरे चौरव्याघ्रादि गोचरे ।
भयभीतस्य सन्यासम गिरा मनुरब्रवीत् ।
यत्किंचि द्बाधक कर्म कृमाज्ञानतो मया ।
प्रमादालस्यदोषाय तत्तसत्यक्त वानहम् ।
एव सत्यज्य भूतेभ्य दद्याद भय दक्षिणाम् ।
पद्भ्या कराभ्या विहरन्नाह वाक्कायमानसै ।
करिष्ये प्राणिना हिंसा प्राणिन सन्तु निर्भया ।—कमलाकरभट्ट, निर्णयसिंधु पृ० ४४५.

५ वैदिक साहित्य में यह क्रिया विशेष भृगुपतन, अग्नि प्रवेश आदि के रूप में स्वीकृत है. (शिशुपाल वध ४ २३ की टीका विवद जैनसस्कृत में इसे लोक मूढता कहा है

श्रीरमेश उपाध्याय

सत्य शिव सुन्दरम्

मानवीय विचारों की एक परम्परागत अपौरुषेय शृंखला होती है अपौरुषेय इस अर्थ में कि परम्परा में आने पर विचार किसी एक व्यक्ति का नहीं रह जाता उसमें अनेक व्यक्तियों के विचारों का सार निहित रहता है कभी-कभी इन परम्परागत विचारों को सूत्र में बाँध लिया जाता है ऐसे सूत्र उन विचारों का प्रतिनिधित्व तो करते ही हैं नये विचारों की प्रेरणा भी देते रहते हैं.

'सत्य शिव सुन्दरम्' भी एक ऐसा ही सूत्र है जिसके पीछे दार्शनिक विचारों की एक लम्बी शृंखला है और जिसमें नये-नये विचारों की कड़ियाँ जुड़ने की अनेक सम्भावनाएं हैं

सूत्र के प्रथम पद 'सत्य' को पहचानने पाने और स्वरूप निर्धारण के प्रयत्न प्राचीनकाल से होते रहे हैं भारतीय दार्शनिकों ने ही नहीं सुकरात प्लेटो अरस्तु आदि विश्व के अन्य असंख्य सत्यान्वेषियों ने सत्य की व्याख्याएं की हैं और प्रयोग किये हैं निकट अतीत में गांधी का उदाहरण सत्यार्थी के रूप में दिया जा सकता है

कोई शब्द जितना अधिक सार्थक होता है उतनी ही कठिन उसकी व्याख्या होती है शब्दों का लचीलापन और उनकी व्यापकता दो ऐसे आयाम हैं जो व्याख्या का विशाल क्षेत्र प्रदान करते हैं यही कारण है कि सत्य की एक सीमित परिभाषा देना असम्भव है यों कोई परिभाषा वैसे भी स्वयं में पूर्ण नहीं होती—होनी भी नहीं चाहिए क्यों कि ऐसा होने पर चिन्तन की दिशा अवरुद्ध होने लगती है कहने को कह सकते हैं कि सत्य एक स्थिति है ऐसी स्थिति जिसके अस्तित्व के विषय में कोई संदेह नहीं किया जा सकता किन्तु विभिन्न दृष्टिकोणों से देखने पर उसके विभिन्न रूपाकार दृष्टिगोचर हो सकते हैं यही कारण है कि प्रत्येक युग में सत्य-सम्बन्धी मान्यताएँ बदलती रहती हैं एक उदाहरण द्वारा इस बात को स्पष्ट कर दूं

प्राचीन काल में 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' के आधार पर ईश्वर के अतिरिक्त प्रत्येक वस्तु असत्य या माया समझी जाती थी और नितान्त आधुनिक विचारों के लोग ठीक इसके विपरीत बात कहते हुए सुने जाते हैं कोई व्यक्ति निश्चित रूप से नहीं कह सकता कि यही अन्तिम सत्य है सत्य को एक सूक्ष्म अनुभूति के रूप में ही जाना जा सकता है उसको किसी आकार में ढालने पर उसकी सत्यता में संदेह होने लगता है मैं तो कहूँगा कि यह संदेह ही हमें सत्य की खोज के लिये प्रेरित किया करता है

साहित्य में सत्य एक स्थायी मूल्य है और अनिवार्य आवश्यकता है असत्य प्रतीत होने वाली कृतियां भी सत्य पर आधारित होती हैं भले ही उनकी सत्यता परिवेश के अनुसार उभर कर सामने आ सके साहित्यकार जिस दृष्टिकोण से चीजों को देखता है और ईमानदारी से उनके प्रभाव को अभिव्यक्ति देता है वह उसका अपना सत्य है वह सत्य बहुमत द्वारा मान्य भी हो सकता है और अमान्य भी बहुमत द्वारा अमान्य साहित्यिक सच्चाइयों को परखते समय

ही रहती है[1] इनके तो जल-निखात या भू-निखात के उल्लेख मिलते है[2] यह भी ध्यान देने योग्य है कि हिंदू धर्म मे अन्त्येष्टि की सम्पूर्ण क्रियाओ मे मृत-व्यक्ति के विपय-भोग तथा सुख-सुविधाओ के लिये प्रार्थनाए की जाती हैं हमे उसके आध्यात्मिक लाभ अथवा मोक्ष के लिए इच्छा का वहुत कम सकेत मिलता है जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति पाने के लिये प्रार्थना वहुत कम है[3] जव कि जैन सल्लेखना मे पूर्णतया आध्यात्मिक लाभ तथा मोक्ष की भावना निहित है लौकिक एपणाओ की उसमे कामना नही है एक वात यहाँ ज्ञातव्य है कि निर्णयसिंधुकार ने ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थ के अतिरिक्त आतुर अर्थात् मुमूर्षु (मरणाभिलापी) और दु खित अर्थात् चौर व्याघ्रादि से भयभीत व्यक्ति के लिये भी सन्यास का विधान करने वाले कतिपय मतो को दिया है[4] इनमे वतलाया गया है कि सन्यास लेने वाला आतुर अथवा दु खित यह सकल्प करता है कि "मैंने जो अज्ञान प्रमाद या आलस्य दोप से वुरा कर्म किया उन सव का मै त्याग करता हूँ और सव जीवो के लिये अभयदान देता हूँ तथा विहार करते हुए किसी जीव की हिंमा नही करूँगा" पर यह सव कथन सन्यामी के मरणान्त समय के विधि-विधान को नही वतलाता, केवल सन्यास लेते समय की जाने वाली चर्या का दिग्यदर्शन कराता है स्पष्ट है कि यहाँ सन्यास का वह अर्थ विवक्षित नही है जो सल्लेखना का अर्थ है सन्यास का अर्थ है यहाँ साधु-दीक्षा, किंवा, कर्मत्याग या सन्यास नामक चतुर्थ आश्रम का स्वीकार है और सल्लेखना का अर्थ सन्यास के अन्तर्गत मरण समय मे होने वाली क्रिया विशेप[5] (कपाय एव काय का कृपीकरण करते हुए आत्मा को कुमरण से वचाना तथा आचरित धर्म की रक्षा करना) है अत सल्लेखना जैनदर्शन की एक अनुपम देन है, जो पारलौकिक एव आध्यात्मिक जीवन को उज्जवल बनाती है इस क्रिया मे रागादि कपाय से युक्त होकर प्रवृत्ति न होने के कारण सल्लेखना धारी को आत्मवध का भी दोप नही लगता

१ डा० राजवली पाण्टेय, हिन्दू सस्कार पृ० ३०३

२ डा० राजवली पाण्टेय, हिन्दू सस्कार पृ० ३०३ तथा कमलाकर भट्ट, निर्णयसिंधु पृ० ४४७

३ डा० राजवली प्राण्डेय, हिदू सस्कार, पृष्ठ ३४६

४ सन्यसेद् ब्रह्मचर्याद्वा सन्येसच्च गृहादपि ।
बनाद्वा प्रव्रजेद्विद्वानातुरो वा थ दु खित ।
उत्पन्ने सकटे घोरे चौर-व्याघ्रादि गोचरे ।
भयभीतस्य सन्यासम गिरा मनुरब्रवीत् ।
यत्किचि द्वाधक कर्म कृमाज्ञानतो मया ।
प्रमादालस्यदोपाय तत्तसत्यक्त वानहम् ।
एव सत्यज्य भूतेभ्य दद्याद भय दक्षिणाम् ।
पभ्दया कराभ्या विहरन्नाह वाक्यायमानसै ।
करिष्ये प्राणिना हिंसा प्राणिन सन्तु निर्भया ।—कमलाकरभट्ट, निर्णयसिधु पृ० ४४५.

५ वैदकि साहित्य में यह क्रिया विशेष भृगुपतन, अग्नि प्रवेश आदि के रूप में स्वीकृत है. (शिशुपाल वध ४ २३ की टीका विवद जैनसस्कृत में इसे लोक मूढता कहा है

के सामञ्जस्य से उद्भूत विचारों के एक ही धक्के से उनकी मर्त्य सत्य मान्यताओं के प्रासाद भहराकर गिर पड़े सामञ्जस्य ! हां सत्य शिव सुन्दर का सामञ्जस्य अनिवार्य है इसके अभाव में संसार में स्थित कोई भी अस्तित्व अपूर्ण है वस्तु कर्म और विचार सभी में तीनों के सामञ्जस्य से श्रेष्ठता आती है

सुन्दरम् क्या है ?

झील के नीचे जल में तट के वृक्षों की परछाइयां परस्पर टकरा कर टूटती हुई लहरों में चमकती चांदनी घाट पर पड़े हुए पत्थरों में समय का संगीत दूर नीलाकाश से आता हुआ कोई अज्ञात आह्वान भयंकर भूडोल में भी क्षम की अनुभूति खुली धूप में स्वतन्त्रता और अंधकार में गुलामी का एहसास—यह सब क्या है ?

आपके घर में एक गुलाब का पौधा है उसके फूल और कलियां को देख-देख कर आप प्रसन्न होते हैं एकान्त के उदास क्षणों में आपका ध्यान अनायास ही कुम्हलाई पंखुरियों पर जा पड़ता है और आप उस गुलाब के पौधे से आत्मीयता अनुभव करने लगते हैं कांटा चुभता है तो जीवन के लिये शिक्षा ग्रहण करते हैं लेकिन जब आप अपने गमले में सूखते गुलाब के पौधे को बचाने के लिये सहानुभूति से प्रेरित होकर किसी वनस्पति-शास्त्री (Botanist) के पास जाते हैं तो आपकी सहानुभूति उसकी बात सुनकर एक शुष्क ज्ञान में परिणत हो जाती है घर लौट कर आप देखते हैं पौधा मर चुका है उखाड़ कर फेंकते तनिक भी दुःख नहीं होता गया पौधा नया लगे ऐसा क्यों होता है ?

अनुसंधान का उद्देश्य प्रकृति में मनुष्य का प्रवेश है पृथ्वी के आर-पार देख सकना सितारों को छू लेना पक्षियों और पशुओं की बोलियों को समझ लेना समय की गति-गति को पहचान लेना क्षण का अमर संगीत सुन सकना और आकाश-पाताल को अपनी सहानुभूति में समेट कर एक सुन्दर स्नेहमय संसार की रचना विज्ञान का उद्देश्य है किन्तु आज विज्ञान उस पथ को भूल गया है सत्य और शिव का निर्वाह तो वह जैसे तैसे कर लेता है किन्तु सौन्दर्य को अस्पृश्य मान कर छोड़ देता है यहीं आकर वह भटक जाता है और नीरस कारण-परिणामों को सूचित करने वाली तालिका मात्र बन जाता है यही कारण है कि सौन्दर्य के अभाव में सहानुभूति-शून्य होकर वह विध्वंसक होने लगता है

सौन्दर्य तो एक चेतना है जो स्वयं उद्भूत होती है मनुष्य में उसके रूप और आकृति में और उसकी शक्ति के प्रयोगों में हम अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण द्वारा कहीं न कहीं एक ऐसी झलक पा लेते हैं जो हमें अभिभूत कर जाती है यह चेतना न पुस्तकों से मिलती है न शिक्षकों से इस चेतना के अभाव में मनुष्य जीवन का आनन्द खो देता है

आज समाज में व्यक्ति का मूल्यांकन कैसे होता है ? अच्छा पति या अच्छी पत्नी आज्ञाकारी पुत्र या सुशीला पुत्री अच्छा नागरिक धनवान् व्यक्ति या सम्मानित महिला परन्तु यह मूल्यांकन सही नहीं है यह तो ऊपरी वेश भूषा का मूल्यांकन है मनुष्य का नहीं मनुष्य का मूल्यांकन करने के लिये उसका आंतरिक सौन्दर्य देखना पड़ता है उसकी आत्मा जाना पड़ता है स्वयं अपने हृदय में सौंदर्य से सहानुभूति की भावना जाग्रत करनी होती है सौंदर्य से सहानुभूति रखने वाला मन स्पंदनशील और भावुक होता है सौन्दर्य के किसी भी रूप को देखकर उसकी हृत्तन्त्री पर स्पन्दकम्पन होते हैं कम्पन जड़ता उल्लास हर्षातिरेक अधीरता संवेदना आदि का उत्स सौन्दर्य ही है

अतः सत्य और शिव सौन्दर्य के बिना फीके हैं सौन्दर्य हमें अस्तित्व के उद्गम का चिन्तन करने के लिये प्रेरित करता है प्रकृति के गोपन का उद्घोष सुन्दरम् के द्वारा होता है सौन्दर्य को पाकर जीवन का असंतोष मिटता है विश्रांति का अनुभव होता है किन्तु यह सन्तोष और विश्रान्ति जीवन को निष्क्रिय नहीं बनाते आगे बढ़ने का उत्साह और प्रेरणा प्रदान करते हैं प्रेम का उद्भव भी सौन्दर्य से ही होता है

राल्फ वाल्डो एमर्सन ने लिखा है

In the true mythology love is an immortal child and beauty leads him as guide nor can
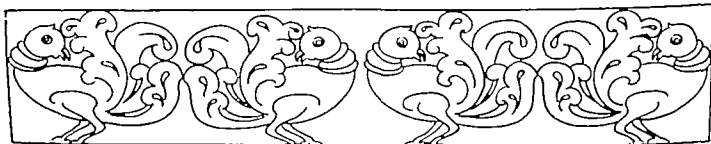
कृतिकार की सत्य के प्रति उसकी निजी पहुँच (Approach) की प्रक्रिया को ध्यान मे रखना अत्यत आवश्यक है अन्यथा कृति और और कृतिकार के प्रति अन्याय हो जाता है

परन्तु साहित्यिक कृति का सच होना ही उसकी पूर्णता नही है केवल यथार्थ पर दृष्टि रखने वाला कृतिकार या विचारक सत्य का सही सर्जक नही हो सकता कारण, कोरा सच मनुष्य को कोई दिशा दे सकता है न आनन्द यही कारण है कि जहा सत्य है वहा शिव और सुन्दर का होना भी अनिवार्य है 'सत्य शिव सुन्दरम्' के तीनो शब्द अन्योन्याश्रित एव एक सहज सगीत मे बधे है जहा सत्य है, वहा शिव और सौन्दर्य का होना अनिवार्य है शिव अर्थात् कल्याणकर होने के लिये सत्य और सुन्दर होना अपेक्षित ही है और सुन्दर तो कुछ हो ही नही सकता जो सत्य और शिव न हो इन तीनो शब्दो के क्रमागत रूप का भी एक निश्चित उद्देश्य है यह क्रम तीनो की क्रमागत वशिष्टता एव गुरुता को प्रदर्शित करता है तीनो की श्रेष्ठता मे भी सत्य श्रेष्ठतम, शिव श्रेष्ठतर एव सुन्दर श्रेष्ठ है परन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नही है कि तीनो मे किसी की महत्ता कम है तीनो की क्रमागत गुरुता स्वीकार न भी करें, किन्तु पारस्परिक सापेक्षता से तो इकार किया ही नही जा सकता

मानवता के आध्यात्मिक, भौतिक एव काल्पनिक जगत्-रूपो मे 'सत्य शिव सुन्दरम्' का क्रमिक रूप देखा जाय तब भी अच्छे परिणामो पर पहुचा जा सकता है सत्य तो आध्यात्मिक है ही क्योकि दर्शन के समस्त प्रश्न सत्यासत्य विवेक की जिज्ञासा लिये हुए होते है 'शिव' के अन्तर्गत ससार के लिये जो कुछ हितकर हैं, उपादेय है, वह सब आ जाता है हितकर और उपादेय चाहे वस्तु हो या कार्य तथा विचार मानवता के कल्याण के लिये जो हितकर एव उपादेय है, उसके निर्माण, सवर्द्धन एव सरक्षण के समस्त प्रयत्न 'शिव' से ही प्रेरित होते है और 'सुन्दरम्' मानव-कल्पना के आनन्द-दायक स्वरूप का सकेत है किसी वस्तु विशेष का अपना सौन्दर्य असौन्दर्य कुछ भी नही है वस्तु को सुन्दर-असुन्दर बनाने वाला हमारा मन है, हमारी कल्पना है अपने मानसिक सौंदर्य के कारण ही हम फूलो को हँसता देख सकते है, घटाओं को आँसू बहाते हुए महसूस कर सकते हैं जिनके काले रग और मोटे होठों को देखकर हम नाक-भौंह सिकोडने लगते है उनमे भी अफ्रीका-निवासी परम-सौन्दर्य की कल्पना करते हैं अत 'सुन्दरम्' हुआ मनुष्य के मानसिक जगत् का प्रतीक है

भौतिक जगत् मे हमे सभ्यताओ के विकास और ह्रास मिलते हैं अपनी भौतिकता मे मनुष्य अध्यात्म और कल्पना दोनो से आक्रात रहता है प्रगति के लिये सकेत मिलते है कल्पना से और प्रगति की दिशा निर्धारित करने के लिये अध्यात्म का अकुश काम आता है फिर भी जब सस्कृतिया गलत मोड ले लेती है और दर्शन एव कल्पना दोनो विकृत होने लगते है, तब 'शिव' की उपादेयता को महत्त्व देने वाली प्रवृत्ति दोनो मे या दोनो मे से एक मे क्राति ले आती है. उस क्राति द्वारा 'शिव' को सत्य और सुन्दर बनाने की प्रेरणा स्वत ही प्राप्त हो जाती है जब मनुष्य भौतिकता को ही सब कुछ मान लेता है और अध्यात्म एव कल्पना से पीछा छुडा लेना चाहता है तो वह अवनति की ओर जाने लगता है अत उसे कही न कही आध्यात्मिक दर्शन की ओर झुकना ही पडता है 'आत्मज्ञ हार्ययेद् भूतिकाम' मे भी यही भावना परिलक्षित होती है

आदर्शवाद और भौतिकवाद को देखते समय भौतिकवाद हमे अधिक आकर्षित करता है साहित्यिक रचनाओ मे भी हम देखते है कि आदर्शवादी विचार हमे उतना प्रभावित नही करते जितना भौतिक जगत् के नग्न यथार्थ को चित्रित करने वाले विचार करते है वैसे साहित्यिक क्षेत्र मे नितान्त यथार्थ अथवा कोरे आदर्श को प्रस्तुत करने वाली रचनाओ को खोज पाना असम्भव ही है क्योकि बिल्कुल यथार्थ लगने वाला विचार भी कही बहुत गहरेपन मे आदर्श से प्रभावित होता है और आदर्श की तो विवशता है कि उसे यथार्थ के पावो पर खडा होना पडता है

विश्व की राजनीतिक एव सामाजिक विचारधाराओ पर दृष्टिपात करने पर लगता है कि 'सत्य शिव सुन्दरम्' को लेकर न चलने वाली धाराए असमय ही उपेक्षा के मरुस्थल मे खो गयी जबतक उनके प्रवर्तक या कुछ दृढ अनुयायी रहे तब तक वे अपने विचारो को सत्य मानकर सुदृढ आस्था के स्तम्भो पर उनका भार ढोते रहे किन्तु सत्य, शिव और सुन्दर

श्री शिखरचन्द्र कोचर
बी ए० एल एल बी आर एच जे एस साहित्य शिरोमणि साहित्याचार्य

मनुष्य-जाति का सर्वोत्तम आहार शाकाहार

मनुष्य प्रकृति से ही शाकाहारी प्राणी है उसके शरीर की रचना दुग्धपेयी प्राणियों की शरीर रचना से मिलती जुलती है राष्ट्र पिता महात्मा गांधी ने लिखा है

'शरीर की रचना को देखने से ज्ञान पड़ता है कि कुदरत ने मनुष्य को वनस्पति खाने वाला बनाया है दूसरे प्राणियों के साथ अपनी तुलना करने से ज्ञान पड़ता है कि हमारी रचना फलाहारी प्राणियों से बहुत अधिक मिलती है अर्थात् बन्दरों से बहुत ज्यादा मिलती है बन्दर हरे और सूखे फल-फूल खाते हैं फाड़ खाने वाले शेर, चीते आदि जानवरों के दांत और दाढ़ों की बनावट हमसे और ही प्रकार की होती है उनके पंजे के सदृश हमारे पंजे नहीं हैं साधारण पशु मांसाहारी नहीं हैं जैसे गाय बैल हम इनसे कुछ-कुछ मिलते हैं परन्तु घास आदि खाने के लिये चारे जैसी आंतें उनकी हैं हमारी नहीं हैं इन बातों से बहुत से शोधक ऐसा कहते हैं कि मनुष्य मांसाहारी नहीं है रसायन-शास्त्रियों ने प्रयोग करके बतलाया है कि मनुष्य के निर्वाह के लिये जिन तत्वों की आवश्यकता है वे सब फलों में मिल जाते हैं जैसे नारंगी खजूर अंजीर सेब अनन्नास बादाम अखरोट मूंगफली नारियल आदि में तन्दुरुस्ती को कायम रखने वाले सारे तत्व हैं इन शोधकों का मत है कि मनुष्य को रसोई पकाने की कोई आवश्यकता नहीं है जैसे और प्राणी सूर्य-ताप से पकी हुई वस्तु पर तन्दुरुस्ती कायम रखते हैं वैसे ही हमारे लिये भी होना चाहिए

मनुष्य अनादि-काल से शैशवावस्था में मातृ-दुग्ध और उसके अभाव में गोदुग्ध-द्वारा पोषित होता रहा है इसी प्रकार मनुष्य-जाति अनादि-काल से ही शाकाहारी चली आ रही है संसार के प्रायः सभी धर्मों में अहिंसा को प्रधानता दी गई है जैन-धर्म का तो अहिंसा सिद्धान्त प्राण ही है अन्यान्य धर्मों में भी इस सिद्धान्त पर अत्यधिक बल दिया गया है श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः। —अ० ६ श्लोक १२

अर्थात् जो सभी जीवों को अपने समान समझता और उनके सुख एवं दुःख को अपने सुख-दुःख के समान समझता है वही परम-योगी है यथा

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्। —अ० १३ श्लो० २८

अर्थात् ज्ञानी पुरुष ईश्वर को सर्वत्र व्याप्त जानकर हिंसा नहीं करता क्योंकि वह जानता है कि किसी प्राणी की हिंसा करना आत्म हत्या करने के समान है इस प्रकार से वह सर्वोच्चगति को प्राप्त होता है

महात्मा बुद्ध ने भी कहा है

पाणे न हाने न चाघातये न चानुमञ्ञा हनतं परेसं।
सब्बेसु भूतेसु निधाय दण्डं ये थावरा ये च तसन्ति लोके।—सुत्तनिपात धम्मिक सुत्त

इसका भावार्थ यह है कि त्रस अथवा स्थावर जीवों को मारना या मरवाना नहीं चाहिए और न ही त्रस या स्थावर जीवों को मारने वाले का अनुमोदन ही करना चाहिए

we express a deeper sense than when we say, Beauty is the pilot of the young Soul.

(सच्ची पौराणिकता मे प्रेम एक अमर शिशु है और सौन्दर्य उसका पथ-प्रदर्शक है जब हम कहते हैं कि सौन्दर्य शिशु आत्मा का चालक है, तो इससे अधिक गहन अर्थ को अभिव्यक्त नही कर सकते)

प्रेम मानव मात्र की सीमाओ से परे सम्पूर्ण विश्व पर छाया हुआ है एकता एव सहकार की भावनाए प्रेम से उत्पन्न होती है और प्रेम-पाश फैकने वाले अदृश्य हाथ सौन्दर्य के होते है हमे भद्दी और कुरूप वस्तुओ से भी स्नेह क्यो हो जाता है क्योकि हम उस वस्तु की सतही आकृति के नीचे उसके अतराल मे झाकते है, जहा सौन्दर्य की विपुल सृष्टि हमारा आवाहन् करती है सोक्रेटीज या कौटिल्य की कुरूपता उनके आत्म सौन्दर्य को ढक नही सकी गाधी सत्य के पुजारी और मानवता के हितकारी होकर भी राम की मनोहर मूर्ति के उपासक थे क्योकि राम सौन्दर्य के प्रतीक भी थे—अपनी सम्पूर्ण मर्यादाओ के साथ कौटिल्य को युद्ध की वीभत्सता मे रण-देवी के तेजस्वी और सुन्दर स्वरूप के दर्शन होते थे क्योकि उनके अन्तर मे सौन्दर्य की व्यापक चेतना थी जो लोग कौटिव्य को नीरस-राजनीतिज्ञ और अर्थशास्त्री मानते है वे 'मुद्रा राक्षस' मे उनके हृदय की सौन्दर्य प्रियता के दर्शन करके अपनी भूल सुधार सकते है

'सत्य शिव सुन्दरम्' के विस्तृत विवेचन मे अनेक ग्रथ लिखे जा सकते है—लिखे भी जा चुके है आवश्यकता है इन्हे अपने जीवन मे समन्वित रूप से उतार लेने की मन, वचन, कर्म से इन्हे अपने आचरण मे उतार कर मानवता की सेवा के प्रयत्नो की सुदीर्घ परम्परा मे उज्ज्वल कडिया जोडते चलना मनुष्य का लक्ष्य भी है, और कर्तव्य भी
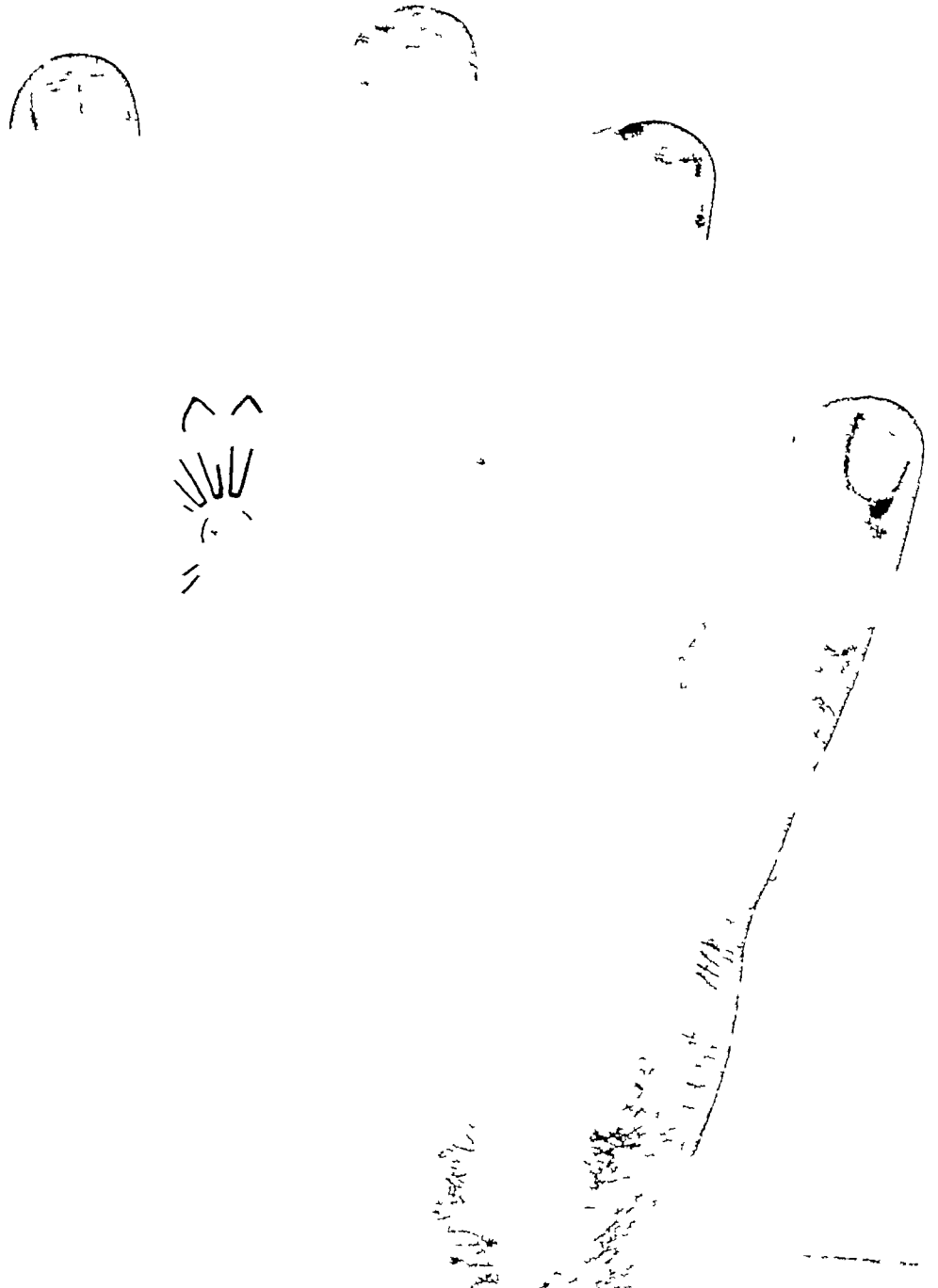
डा सत्यकाम वर्मा

वर्णों का विभाजन[1]

आज के भाषा विषयक अध्ययन की जो महत्त्वपूर्ण देन मानी जाती है उनमें से वर्णभागों या अल्लाफोन्स की स्वीकृति भी एक है वर्ण को आधुनिक परिभाषा में 'फोनीम' कहा जाता है जब कोई ध्वनि वर्ण की पूर्णस्थिति तक न जाकर बीच में ही रह जाती है उसे अल्लाफोन्स' के नाम से स्मरण किया जाता है आज जिसे वर्तमान भाषा विज्ञान की अपूर्व देन समझा जाता है यहाँ हम यह दिखाने का प्रयास करेंगे कि उसका अध्ययन कितनी गहराई के साथ प्राचीन भारतीय वैयाकरणों ने किया था

कुछ अपवेय परिभाषाएं—इस विषय में सबसे प्रथम सहायक परिभाषा हमें यास्क के निरुक्त में मिलती है धातुभिन्न किसी 'पदभाग' की केवल वर्णसाम्य के आधार पर उसने कल्पना की है पदेभ्यो पदान्तरार्धान् संचस्कार' (निरुक्त) पदान्तर या पदान्तरार्ध संज्ञा भाषा वैज्ञानिक महत्त्व की है इसी समय के प्रातिशाख्यों में एक नई परिभाषा 'अपिनिहिति' के रूप में सामने आई 'आत्मा' 'रम्य' आदि शब्दों में जहां भी सन्धि नियमों के विरुद्ध-कार्य होता दिखाई दिया (और बाद में अपभ्रंश आदि में उनका स्थानान्तरण किसी और वर्ण द्वारा हुआ) वहां ही उन्होंने अपिनिहिति' के रूप में एक अस्पष्टोच्चरित ध्वनि की अन्तर्वर्तिनी सत्ता को स्वीकार कर लिया यह पाणिनि के 'लोमश' या बीटो' से भिन्न स्थिति है पाणिनि ने ऐसी अपूर्ण स्थिति कुक टुक डमुट धुट् आदि आगमों की स्वीकार की है जिनके द्वारा आगत ध्वनियां सुनाई न देकर भी अपना प्रभाव छोड़ती दिखाई देती है.

परन्तु पाणिनि इस विषय में दो परिभाषाएँ ऐसी देते है, जिन पर विचार अत्यावश्यक हो जाता है ये हैं—ह्रस्वादेश और सवर्ण 'ह्रस्वादेश' से हमें केवल यही पता चलता है कि वर्ण अपनी स्थिति और मात्रा आदि बदल सकते है किन्तु सवर्ण' की परिभाषा हमें कुछ और ही संकेत करती है. आस्य और प्रयत्न की समानता के आधार पर सवर्ण (तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्) सिद्ध करने के बाद जब वे प्रत्येक व्यञ्जनवर्ग को सवर्ण (अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः) कहते है तब समस्या यह उठती है कि क्या क-ख-ग् घ-ङ आदि में भी कुछ वैसी ही समानता है जैसी अ-आ-अ आदि में पाई जाती है ? पाणिनि इसका उत्तर 'हाँ' में ही देते है तो क्या यह समानता केवल मुखगत उच्चारणसाम्य के कारण ही है ? सवर्ण का अर्थ है समान वर्ण अर्थात् इन तथाकथित सवर्णों में वर्णात्मक या ध्वन्यात्मक साम्य भी मूलतः निहित होता है तथाकथित वर्ग के पांचों वर्णों में 'क' की-सी ध्वनि का कुछ अंश अवश्य उपस्थित रहता है फिर यदि 'कण्ठ्य होने के कारण भी उनकी ध्वन्यात्मक समानता स्वीकार की जाए, तब भी उनमें 'ध्वनि-तरंगों' की कुछ अंश तक समानता स्वीकार करनी पड़ेगी उन सब की ध्वनि-तरंगे एक ही स्थान से जो उठती है !

परन्तु, सवर्णों और 'ह्रस्वादेशों' की इस समस्या को अधिक स्पष्ट करने का श्रेय पतञ्जलि को ही मिलता है उन्होंने ही हमें सर्वप्रथम 'वर्णैकदेश' और 'उत्तरपदभूयस्' जैसी वैज्ञानिक परिभाषाएँ दी ह्रस्वादेश हों सन्धिनियम हों सन्ध्यक्षरों

---

१ १ वें अन्तर्राष्ट्रीय प्राच्यविद्या-सम्मेलन में—लेखक द्वारा पढ़े गए एक लेख के आधार पर

२ इसकी विशद चर्चा देखें लेखक के लेख-वर्णमाला में 'भारतीय साहित्य' जनवरी—१९६१ ई

तथा
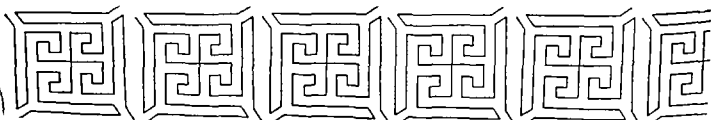
"अपरिमितैर्ग्यहामते कारणैर्मासं सर्वंभक्ष्यम् सर्वभूतात्म भूतानुयागन्तुमेनका सर्वं जन्तु प्राणिभूतसभूतभूनमास कथामिव भक्ष्य ॥" —लकावतार सूत्र ८०

अर्थात् सब प्रकार का मास दयावान् के लिए अगणित कारणो से अभक्ष्य है जो सर्व प्राणियो को अपने समान जानने वाला है, वह इन सब प्राणियो के वध से उत्पन्न हुए मास को कैसे भक्ष्य समझेगा

महात्मा ईसा मसीह ने भी कहा है कि "देखो मैने तुम्हे हरएक बीज तथा उपजाऊ वनस्पति दी है, जो पृथ्वी पर पैदा होती है, और हरएक वृक्ष भी दिया है जिस वृक्ष मे उपजाऊ बीज के फल लगे हैं, ये सब तुम्हारे लिए भोजन सामग्री हैं तुम न तो चर्बी और न खून खाओगे " —लेविटिक्स ३,५,२७

महात्मा जरथुस्त्र ने भी कहा है कि "प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्येक प्राणी का मित्र होना चाहिए . दुष्ट व्यक्ति जो अनुचित रूप मे पशुओ और भेडो तथा अन्य चौपायो की घोर हत्या करता है, उसके अवयव नष्ट किये जायेंगे
—आर्दविरफ १७४-१९२

पैगम्बर मुहम्मद साहब ने कहा है कि "हमने स्वर्ग से मेह बरसाया जिससे बाग पैदा हुए और अनाज की फसल उगी, और खजूरो से लदे हुए लम्बे वृक्ष उत्पन्न हुए, जो मनुष्य के लिये भोजन होगे —कुरानसूराकाफ ६,११

जो दूसरे के प्राणो की रक्षा करता है, वह गोया तमाम मानव-जाति के प्राणो की रक्षा करता है "—कुरान, ५

सिख धर्म के प्रवर्त्तक, गुरु नानक ने कहा है

"मास मास सब एक है, मुर्गी हिरनी गाय । आख देख नर खात है, ते नर नर कहिं जाय ॥"

महात्मा कबीर ने कहा है

"मास मछलिया खात हैं, सुरा-पान के हेत । ते नर नरकहिं जायगे, माता-पिता समेत ॥
तिलचर मछली खायके, कोटि गऊ दे दान । काशी करवत ले मरे, तो भी नरक निदान ॥"

शाकाहार का प्रचार एव प्रसार ससार के सभी देशो एव समस्त कालो मे रहा है ग्रीस-देश के प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वानो पिथागोरस, इम्पीडोक्लिस, प्लेटो, सोक्रेटिज, ओविड, सेनेका, पोर्फिरी, प्लूटार्क आदि ने तथा आरिजेन, टरट्यूलियन, क्रिसोस्टोम तथा अलेक्जेड्रिया के क्लीमेट जैसे ईसाई धर्म-गुरुओ ने भी शाकाहार का प्रतिपादन किया है भारतवर्ष के महान् सम्राट् अशोक ने अपने विशाल साम्राज्य मे स्थान-स्थान पर इस आशय के शिला-लेख उत्कीर्ण करवाये थे, कि कोई व्यक्ति किसी प्राणी की हत्या न करे महान् मुगल सम्राट् अकबर ने भी आदेश दिया था कि उसके साम्राज्य मे विशेष पर्वों के अवसरो पर किसी प्रकार का प्राणी-वध न किया जाय ससार के प्रसिद्ध विद्वान् स्वीडन बोर्ग, टालसटाय, वाल्टेयर, मिल्टन, वेस्ले, आइजक न्यूटन, बूथ, आइजक पिटमैन, बर्नडशा इत्यादि शाकाहारी थे, और उन्होने अपनी रचनाओ मे शाकाहार का पूर्ण रूपेण प्रतिपादन किया है मैं विस्तारभय से उनके विचारो को इस लेख मे उद्धृत करने मे असमर्थ हू मासाहार के पक्ष मे कुछ लोग यह युक्ति देते हैं कि मासाहार से शक्ति बढती है परन्तु यह युक्ति निस्सार है, क्योकि हम देखते है कि शाकाहारी हाथी किसी मासाहारी प्राणी से कम-शक्तिशाली नही होता ससार के अनेक डाक्टरो तथा वैज्ञानिको ने इस बात पर मतैक्य प्रकट किया है कि फलो तथा शाक-भाजी एव गो-दुग्ध मे मास की अपेक्षा अधिक पोषक तत्त्व विद्यमान रहते हैं, जिनके सेवन से मनुष्य की शक्ति, स्फूर्ति तथा बुद्धि की अभिवृद्धि होती है, और मास-सेवन से जो नाना प्रकार की हानिया होती है, उनका शाकाहार मे सर्वथा अभाव पाया जाता है शाकाहारी मनुष्य मे मासाहारी मनुष्य की अपेक्षा उदारता सहनशीलता, धैर्य, परिश्रम-शीलता इत्यादि गुणो का अधिक समावेश दृष्टि-गोचर होता है प्राचीन समय मे भारतवर्ष की सर्वांगीण उन्नति का प्रधान कारण भारतीय जनता का अहिंसा-धर्म का पूर्ण रूप से पालन ही था ससार मे शाति एव समृद्धि का सर्वोत्कृष्ट साधन अहिंसा ही है,और यदि हमे राष्ट्रो, के मध्य प्रेम शान्ति एव सौहार्द की स्थापना करनी अभीष्ठ है, तो हमे ससार के सभी धर्म-प्रवर्त्तको द्वारा समर्थित अहिसा एव शाकाहार को अपनाना ही पडेगा

पण्डित बंशीधर
शास्त्री व्याकरणाचार्य

जैनदृष्टि से मनुष्यों में उच्च-नीच व्यवस्था का आधार

जैन संस्कृति में समस्त संसारी अर्थात् नारक तिर्यञ्च मनुष्य और देव—इन चारों ही गतियों मे विद्यमान सभी जीवों को यथायोग्य उच्च और नीच दो भागों में विभक्त करते हुए यह बतलाया गया है कि जो जीव उच्च होते हैं उनके उच्च गोत्र कर्म का और जो जीव नीच होते है उनके नीचगोत्र कर्म का उदय विद्यमान रहा करता है

यद्यपि जैन संस्कृति के मानने वालों के लिये यह व्यवस्था विवाद या शंका का विषय नही होना चाहिए परन्तु समस्या यह है कि प्रत्येक संसारी जीव में उच्चता अथवा नीचता की व्यवस्था करने वाले साधनों का जब तक हमें परिज्ञान नही हो जाता तब तक यह कैसे कहा जा सकता है कि अमुक जीव तो उच्च है और अमुक जीव नीच है ?

यदि कोई कहे कि एक जीव को उच्च गोत्र कर्म के उदय के आधार पर उच्च और दूसरे जीव को नीच गोत्र कर्म के उदय के आधार पर नीच कहने में क्या आपत्ति है ? तो इस पर हमारा कहना यह है कि अपनी वर्तमान अल्पज्ञता की हालत में हम लोगों के लिये जीवों में यथायोग्य रूप से विद्यमान उच्चगोत्र-कर्म और नीचगोत्र-कर्म के उदय का परिज्ञान न हो सकने के कारण एक जीव को उच्चगोत्र-कर्म के उदय के आधार पर उच्च और दूसरे जीव को नीच गोत्र कर्म के उदय के आधार पर नीच कहना शक्य नही है

माना कि जैन संस्कृति के आगम-ग्रन्थों के कथनानुसार नरकगति और तिर्यग्गति में रहने वाले संपूर्ण जीवों में केवल नीच गोत्र कर्म का तथा देवगति में रहने वाले सम्पूर्ण जीवों में केवल उच्चगोत्र कर्म का ही सर्वदा उदय विद्यमान रहा करता है इसलिए यद्यपि संपूर्ण नारकियों और संपूर्ण तिर्यञ्चों में नीच गोत्र कर्म के उदय के आधार पर केवल नीचता का तथा संपूर्ण देवों में उच्च गोत्र कर्म के उदय के आधार पर केवल उच्चता का व्यवहार करना हम लोगों के लिये अशक्य नही है परन्तु उन्ही जैन आगम ग्रन्थों मे जब संपूर्ण मनुष्यों में से किन्ही मनुष्यों के तो उच्च गोत्र कर्म का और किन्ही मनुष्यों के नीच गोत्र कर्म का उदय होना बतलाया है तो जब तक संपूर्ण मनुष्यों मे पृथक्-पृथक् यथायोग्य रूप से विद्यमान उक्त उच्च तथा नीच दोनों ही प्रकार के गोत्र कर्मों के उदय का परिज्ञान नही हो जाता तब तक हम यह कैसे कह सकते है कि अमुक मनुष्यों में चूंकि उच्चगोत्र-कर्म का उदय विद्यमान है इसलिए उन्हें तो उच्च कहना चाहिए और अमुक मनुष्य में कि नीचगोत्र-कर्म का उदय विद्यमान है इसलिए उसे नीच कहना चाहिए ? इसके अतिरिक्त मनुष्यों में जब गोत्र-परिवर्तन की बात भी उन्ही आगम-ग्रन्थों मे स्वीकार की गयी है तो जब तक उनमें (मनुष्यों में) यथा समय रहने वाले उच्चगोत्र-कर्म तथा नीचगोत्र-कर्म के उदय का परिज्ञान हमें नही हो जाता तब तक यह भी एक समस्या है कि एक ही मनुष्य को कब तो हमे उच्चगोत्र-कर्म के उदय के आधार पर उच्च कहना चाहिए और उसी मनुष्य को कब हम नीचगोत्र-कर्म के उदय के आधार पर नीच कहना चाहिए ? एक बात और है. जैन संस्कृति की

अथवा सम्प्रसारणो की समस्या हो—पतजलि उन सब की व्याख्या 'वर्णैकदेश' की परिभाषा के द्वारा करते हैं वर्ण मे 'एकदेश' की स्वीकृति आज के 'अल्लाफोन्स' की वात को अधिक स्पष्ट करती है, 'उत्तरपदभूयस्' से भी इतना ही पता चलता है कि गुणस्वरो या वृद्धिस्वरो मे स्पष्टत 'उत्तरपद' और 'पूर्वपद' जैसी स्थिति खोजी जा सकती हैं

भर्तृहरि की चमत्कारी देन—किन्तु, भर्तृहरि ने अपने महान् ग्रन्थ 'वाक्यपदीय' मे इस समस्या को अत्यधिक वैज्ञानिक आधार पर लिया है उन्होने वहाँ जो चमत्कारपूर्ण परिभाषाएँ दी है, वे हैं—'वर्णभाग' और 'वर्णान्तर सरूप' उनकी इन परिभाषाओ को केवल काल्पनिक कहकर टाला नही जा सकता इनके प्रतिरूप ही वे पद-सम्बन्धी समानान्तर परिभाषाएँ भी देते हैं ये है—'पदभाग' और 'पदान्तरसरूप'

वर्णान्तरसरूपाश्च वर्णभागा अवस्थिता । पदान्तरसरूपाश्च वर्णभागा अवस्थिता ॥—वा० २ ११

'वर्णभाग' की वात को तो वे काफी विस्तार से उठाते हैं एक स्थान पर वे स्पष्ट कहते हैं

पदानि वाक्ये तान्येव, वर्णास्ते च पदे यदि । वर्णेषु वर्णभागाना भेद स्यात् परमाणुवत् ॥—वा० २ २८

भागानामनुपश्लेषान्नवर्णो न पद भवेत् । तेषामव्यपदेश्यत्वात्किमन्यदपदिश्यताम् ॥—वा० २ २९

'वर्ण' बनने के लिये स्पष्ट ही वर्णभागो के उपश्लेप की आवश्यकता है उनके उपश्लेप के विना वर्ण की स्थिति ही सम्भव नही इस धारणा का विरोध करने वाले कदाचित् भर्तृहरि के निम्न श्लोक को उद्धृत करेंगे

'पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च । वाक्यात्पदानामत्यन्त प्रविवेको न कश्चन ॥—वा० १ ७३

यहा वर्णावयवो की सत्ता का प्रत्यक्ष निषेध-सा दिखाई देता है परन्तु यही निषेध 'पदो' पर लागू होता है अर्थात् भर्तृहरि स्पष्ट घोषित करते हैं कि जिस प्रकार की स्थिति वाक्य मे पदो की है, उसी प्रकार की स्थिति पदो मे वर्णों की, और वर्णों मे वर्णभागो या वर्णावयवो की है वस्तुत वे उपरोक्त सभी प्रसगो मे अर्थ और वाक्यार्थ की अखण्डता की चर्चा कर रहे है उनका कथन यह है कि यदि वाक्य का विभाग पदो मे सम्भव है, तो पदो को वर्णों मे विभक्त मानना होगा और वर्णों को उन वर्णभागो से बना मानना होगा, जो परमाणुवत् अनन्त और सूक्ष्म हैं उनका वाक्यार्थ अविभाज्य है अत वे पदार्थों की पृथक् सत्ता मे विश्वास नही रखते परन्तु, इसका अर्थ यह नही कि 'सुप्तिडन्त पदम्' की पाणनि की परिभाषा व्यर्थ हो जाती है और पदो की सत्ता ही वाक्य मे सिद्ध नही होती यदि पदो की स्थिति वाक्य मे होने पर भी उसकी एकता और एकार्थता रक्षित रह सकती है, तब वर्णभागो की स्थिति रहने पर भी वर्ण की एकता कायम रह सकती है[1] और यदि आवश्यकता आ पडे तो

वाक्यार्थस्य तदेकोऽपि वर्ण प्रत्यायक क्वचित् ।—वा० २ ४५

दोनो में भेद—'वर्णान्तरसरूप' और 'वर्णभाग' सज्ञाओ को हमने पृथक् माना है भर्तृहरि ने भी इनका पृथक् उल्लेख किया 'वर्णभाग' को वर्तमान 'अल्लाफोन्स' का समकक्ष स्वीकार किया जा सकता है, जब कि 'वर्णान्तरसरूप' की उससे कुछ स्थूल स्थिति है इसमे कुछ वर्णभाग मिलकर 'सवर्णभाग' की-सी स्थिति मे आते है इस 'वर्णान्तरसरूपकता' के आधार पर ही सवर्णों का आविर्भाव सम्भव माना जाता है, जब कि वर्णभाग किसी भी वर्ण की शूक्ष्मतम विभाज्य स्थिति को ही सूचित करता है यही भर्तृहरि यह भी स्पष्ट करते है कि इन्हे स्पष्टत पहचाना नही जा सकता—**'प्रविवेको न कश्चन'**

भाषा विज्ञान—आज के भाषा-विज्ञानी भी इस स्थिति को स्वीकार करने लगे हैं विविध यन्त्रो के सहारे उन्होंने ध्वनि-तरगो और ध्वनिभागो को निश्चित करने का प्रयास किया है, पर इस विषय मे कुछ निश्चित विभाजक रेखाएँ नही खीच सके हैं 'अल्लाफोन्स' विषयक उनकी देन की चर्चा हो चुकी है प्रो० जोसुटाव्हाटमाऊ, पीटर साइमन और दूसरे कुछ अमरीकी भाषाविदो ने 'साउण्ड-वेव' अर्थात 'ध्वनि-तरगो' को भी पहचानने का प्रयास किया है पर अधिक अच्छा हो कि वे इन परिभाषाओ को विचार मे रखकर बढ़ें

---

१ विस्तृत चर्चा के लिये देखें लेखक के शोध-प्रबध—'भाषातत्त्व और वाक्यपदीय' के पृ० १७, तथा अनुच्छेद २४ (अ) एव ७१०

पण्डित बंशीधर
शास्त्री व्याकरणाचार्य

जैनदृष्टि से मनुष्यों में उच्च नीच व्यवस्था का आधार

जैन संस्कृति में समस्त संसारी अर्थात् नारक तिर्यंच मनुष्य और देव—इन चारों ही गतियों में विद्यमान सभी जीवों को यथायोग्य उच्च और नीच दो भागों में विभक्त करते हुए यह बतलाया गया है कि जो जीव उच्च होते हैं उनके उच्च गोत्र कर्म का और जो जीव नीच होते हैं उनके नीचगोत्र कर्म का उदय विद्यमान रहा करता है

यद्यपि जैन संस्कृति के मानने वालों के लिये यह व्यवस्था विवाद या शंका का विषय नहीं होना चाहिए परन्तु समस्या यह है कि प्रत्येक संसारी जीव में उच्चता अथवा नीचता की व्यवस्था करने वाले साधनों का जब तक हमें परिज्ञान नहीं हो जाता तब तक यह कैसे कहा जा सकता है कि अमुक जीव तो उच्च है और अमुक जीव नीच है ?

यदि कोई कहे कि एक जीव को उच्च गोत्र कर्म के उदय के आधार पर उच्च और दूसरे जीव को नीच गोत्र कर्म के उदय के आधार पर नीच कहने में क्या आपत्ति है ? तो इस पर हमारा कहना यह है कि अपनी वर्तमान अल्पज्ञता की हालत में हम लोगों के लिये जीवों में यथायोग्य रूप से विद्यमान उच्चगोत्र-कर्म और नीचगोत्र-कर्म के उदय का परिज्ञान न हो सकने के कारण एक जीव को उच्चगोत्र-कर्म के उदय के आधार पर उच्च और दूसरे जीव को नीच गोत्र कर्म के उदय के आधार पर नीच कहना शक्य नहीं है

माना कि जैन संस्कृति के आगम-ग्रन्थों के कथनानुसार नरकगति और तिर्यग्गति में रहने वाले संपूर्ण जीवों में केवल नीच गोत्र कर्म का तथा देवगति में रहने वाले सम्पूर्ण जीवों में केवल उच्चगोत्र कर्म का ही सर्वदा उदय विद्यमान रहा करता है इसलिए यद्यपि संपूर्ण नारकियों और संपूर्ण तिर्यंचों में नीच गोत्र कर्म के उदय के आधार पर केवल नीचता का तथा संपूर्ण देवों में उच्च गोत्र कर्म के उदय के आधार पर केवल उच्चता का व्यवहार करना हम लोगों के लिये अशक्य नहीं है परन्तु उन्हीं जैन आगम ग्रन्थों में जब संपूर्ण मनुष्यों में से किन्हीं मनुष्यों के तो उच्च गोत्र कर्म का और किन्हीं मनुष्यों के नीच गोत्र कर्म का उदय होना बतलाया है तो जब तक संपूर्ण मनुष्यों में पृथक्-पृथक् यथायोग्य रूप से विद्यमान उक्त उच्च तथा नीच दोनों ही प्रकार के गोत्र कर्मों के उदय का परिज्ञान नहीं हो जाता तब तक हम यह कैसे कह सकते हैं कि अमुक मनुष्यों में चूँकि उच्चगोत्र-कर्म का उदय विद्यमान है इसलिए उन्हें तो उच्च कहना चाहिए और अमुक मनुष्य में कि नीचगोत्र-कर्म का उदय विद्यमान है इसलिए उसे नीच कहना चाहिए ? इसके अतिरिक्त मनुष्यों में जब गोत्र-परिवर्तन की बात भी उन्हीं आगम-ग्रन्थों में स्वीकार की गयी है तो जब तक उनमें (मनुष्यों में) यथा समय रहने वाले उच्चगोत्र-कर्म तथा नीचगोत्र-कर्म के उदय का परिज्ञान हमें नहीं हो जाता तब तक यह भी एक समस्या है कि एक ही मनुष्य को कब तो हमें उच्चगोत्र-कर्म के उदय के आधार पर उच्च कहना चाहिए और उसी मनुष्य को कब हम नीचगोत्र-कर्म के उदय के आधार पर नीच कहना चाहिए ? एक बात और है. जैन संस्कृति की

मान्यता के अनुसार सातो नरको के सपूर्ण नारकियो मे परस्पर तथा एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक की सपूर्ण तिर्यग्-जातियो और इनकी उपजातियो मे रहने वाले सपूर्ण तिर्यंचो मे परस्पर उच्चता और नीचता का कुछ न कुछ भेद पाया जाने पर भी यदि सभी नारकी, नरकगति सामान्य की अपेक्षा और सभी तिर्यंच, तिर्यग्गति सामान्य की अपेक्षा नीच गोत्र-कर्म के उदय के आधार पर नीच माने जा सकते है तो, और इसी प्रकार भवनवासी व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक नाम की सपूर्ण देव जातियो और इनकी उपजातियो मे रहने वाले सम्पूर्ण देवो मे परस्पर उच्चता और नीचता का कुछ न कुछ भेद पाया जाने पर भी यदि सभी देव देवगति सामान्य की अपेक्षा, उच्चगोत्र कर्म के उदय के आधार पर उच्च माने जा सकते है तो, फिर मनुष्यगति मे रहने वाले सपूर्ण मनुष्यो मे भी मनुष्य-गति सम्बन्धी विविध प्रकार की समानता रहते हुए अन्य ज्ञात साधनो के अभाव मे केवल अज्ञात उच्चगोत्र-कर्म और नीचगोत्र-कर्म के उदय के आधार पर पृथक्-पृथक् क्रमश उच्चता और नीचता का व्यवहार कैसे किया जा सकता है ?

ये सब समस्याएँ है जिनका जब तक यथोचित समाधान प्राप्त नही हो जाता, तब तक जैन सस्कृति के अनुयायी होने पर भी हम लोगो के मस्तिष्क मे मनुष्यो को लेकर उच्चता और नीचता सबन्धी सदेह पैदा होते रहना स्वाभाविक ही है

षट्खण्डागम के सूत्र १३५ का आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी द्वारा किया गया जो व्याख्यान धवलाशास्त्र की पुस्तक १३ के पृष्ठ ३८८ पर पाया जाता है, उसे देखने से मालूम पडता है कि मनुष्यो की उच्चता और नीचता के विषय मे आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी के समय मे भी विवाद था इतना ही नही, आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी के उस व्याख्यान से तो यहा तक भी मालूम पडता है कि उनके समय के कोई-कोई विचारक विद्वान् मनुष्यगति मे माने गये उच्च और नीच उभयगोत्र कर्मों के उदय के सम्बन्ध मे निर्णयात्मक समाधान न मिल सकने के कारण उच्च और नीच दोनो भेद-विशिष्ट व समूचे गोत्र-कर्म के अभाव तक को मानने के लिये उद्यत हो रहे थे आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी का वह व्याख्यान निम्न प्रकार है

"उच्चैर्गोत्रस्य क्व व्यापार ? न तावद् राज्यादिलक्षणाया सम्पदि, तस्या सद्वेद्यत समुत्पत्ते नापि पचमहाव्रतग्रहण-योग्यता उच्चैर्गोत्रेण क्रियते, देवेष्वभव्येषु च तद्ग्रहण प्रत्ययोग्येषु उच्चैर्गोत्रस्योदयाभावप्रसगात् न सम्यग्ज्ञानोत्पत्तौ व्यापार स्यात्, तत्र सम्यग्ज्ञानस्य सत्त्वात् नादेयत्वे, यशसि, सौभाग्ये वा व्यापार, तेषा नामत समुत्पत्ते नेक्ष्वाकु-कुलाद्युत्पत्तौ, काल्पनिकाना तेषा परमार्थतोऽसत्त्वात् विड्ब्राह्मणसाधुष्वपि उच्चैर्गोत्रस्योदयदर्शनात् न सम्पन्नेभ्यो जीवोत्पत्तौ तद्व्यापार, म्लेच्छराजसमुत्पन्नपृथुकस्यापि उच्चैर्गोत्रोदयप्रसगात् नाणुव्रतिभ्य समुत्पत्तौ तद्व्यापार, देवेष्वौपपादिकेषु उच्चैर्गोत्रोदयस्यासत्वप्रसगात् नाभेयस्य नीचगोत्रतापत्तेश्च ततो निष्फलमुच्चैर्गोत्रम् तत एव न तस्य कर्मत्वमपि तदभावे न नीचैर्गोत्रमपि, द्वयोरन्योन्याविनाभावित्वात् ततो गोत्रकर्माभाव इति"

इस व्याख्यान मे प्रथम ही यह प्रश्न उठाया गया है कि जीवो मे उच्चगोत्र-कर्म का क्या कार्य होता है ? इसके आगे उच्चगोत्र कर्म के कार्य पर प्रकाश डालने वाली तत्कालीन प्रचलित मान्यताओ का निर्देश करते हुए उनका खण्डन किया गया है और इस तरह उक्त प्रश्न का उचित समाधान न मिल सकने के कारण अत मे निष्कर्ष के रूप मे गोत्र-कर्म के अभाव को प्रस्थापित किया गया है व्याख्यान का हिन्दी विवरण निम्न प्रकार है

"शका— जीवो मे उच्चगोत्र-कर्म का किस रूप मे व्यापार हुआ करता है ? अर्थात् जीवो मे उच्चगोत्र-कर्म का कार्य क्या है ?

१ समाधान—जीवो मे उच्चगोत्र कर्म का कार्य उनको राज्यादि सम्पत्ति की प्राप्ति होना है

खण्डन— यह समाधान गलत है क्योकि जीवो को राज्यादि सपत्ति की प्राप्ति उच्चगोत्र कर्म के उदय से न होकर सातावेदनीय कर्म के उदय से ही हुआ करती है

२ समाधान—जीवो मे पच महाव्रतो के ग्रहण करने की योग्यता का प्रादुर्भाव होना ही उच्चगोत्र-कर्म का कार्य है

खण्डन— यदि जीवों में उच्चगोत्र-कर्म के उदय से पंचमहाव्रतों के ग्रहण करने की योग्यता का प्रादुर्भाव होता है तो ऐसी हालत में देवों में और अभव्य जीवों में उच्चगोत्र-कर्म के उदय का अभाव स्वीकार करना होगा जबकि उन दोनों प्रकार के जीवों में जैन संस्कृति की मान्यता के अनुसार, उच्चगोत्र-कर्म के उदय का तो सद्भाव और पंचमहाव्रतों के ग्रहण करने की योग्यता का अभाव दोनों ही एक साथ पाये जाते हैं

३ समाधान—जीवों में सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति उच्चगोत्र कर्म के उदय से हुआ करती है

४ खण्डन—यह समाधान भी सही नहीं है क्योंकि जैन संस्कृति की मान्यता के अनुसार जीवों में सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति उच्चगोत्र कर्म का कार्य न होकर ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम की सहायता से सापेक्ष सम्यग्दर्शन का ही कार्य है दूसरी बात यह है कि जीवों में सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति को यदि उच्चगोत्र कर्म का कार्य माना जायगा तो फिर तिर्यंचों और नारकियों में भी उच्चगोत्र कर्म के उदय का सद्भाव मानने के लिये हमें बाध्य होना पड़ेगा जो कि अयुक्त होगा क्योंकि जैन शास्त्रों की मान्यता के अनुसार जिन तिर्यंचों और जिन नारकियों में सम्यग्ज्ञान का सद्भाव पाया जाता है उनमें उच्चगोत्र कर्म के उदय का अभाव ही रहा करता है

४ समाधान—जीवों में आदेयता यश और सुभगता का प्रादुर्भाव होना ही उच्चगोत्र-कर्म का कार्य है

खण्डन— यह समाधान भी इसीलिए गलत है कि जीवों में आदेयता यश और सुभगता का प्रादुर्भाव उच्चगोत्र कर्म के उदय का कार्य न होकर क्रमशः आदेय यशःकीर्ति और सुभग संज्ञा वाले नाम कर्मों का ही कार्य है

५ समाधान—जीवों का इक्ष्वाकु कुल आदि क्षत्रिय कुलों में जन्म लेना उच्चगोत्र-कर्म का कार्य है.[1]

खण्डन— यह समाधान भी उल्लिखित प्रश्न का उत्तर नहीं हो सकता है क्योंकि इक्ष्वाकु कुल आदि जितने क्षत्रिय कुलों को लोक में मान्यता प्राप्त है वे सब काल्पनिक होने से एक तो असद्रूप ही हैं दूसरे यदि इन्हें वस्तुतः सद्रूप ही माना जाय तो भी यह नहीं समझना चाहिए कि उच्चगोत्र-कर्म का उदय केवल इक्ष्वाकु कुल आदि क्षत्रिय कुलों में ही पाया जाता है कारण कि जैन सिद्धान्त की मान्यता के अनुसार उक्त क्षत्रिय कुलों के अतिरिक्त वैश्य कुलों और ब्राह्मण कुलों में भी तथा उक्त सभी तरह के कुलों के बन्धन से मुक्त हुए साधुओं में भी उच्चगोत्र कर्म का उदय पाया जाता है[2]

६ समाधान—सम्पन्न (धनाढ्य) लोगों से जीवों की उत्पत्ति होना ही उच्चगोत्र-कर्म का कार्य है

खण्डन— यह समाधान भी सही नहीं है क्योंकि सम्पन्न (धनाढ्य) लोगों से जीवों की उत्पत्ति को यदि उच्चगोत्र कर्म का कार्य माना जायगा तो ऐसी हालत में म्लेच्छराज से उत्पन्न हुए बालक में भी हमें उच्चगोत्र कर्म के उदय का सद्भाव स्वीकार करना होगा कारण कि म्लेच्छराज की सम्पन्नता तो राजकुलका व्यक्ति होने के नाते निर्विवाद है परन्तु समस्या यह है कि जैन सिद्धान्त में म्लेच्छ जाति के सभी लोगों के नियम से नीचगोत्र-कर्म का ही उदय माना गया है

७ समाधान—अणुव्रतों को धारण करने वाले व्यक्तियों से जीवों की उत्पत्ति होना उच्चगोत्र-कर्म का कार्य है

---

१ 'ण इक्खाकुकुलाद्युत्पत्तौ' का हिन्दी अर्थ षट्खण्डागम पुस्तक १३ में 'इक्ष्वाकुकुल आदि की उत्पत्ति में इसका व्यापार नहीं होता' किया गया है जो गलत है इसका सही अर्थ इक्ष्वाकु कुल आदि क्षत्रिय कुलों में जीवों की उत्पत्ति होना इसका व्यापार नहीं है होना चाहिए.

२ यहां पर षट्खण्डागम पुस्तक १३ में विड्ब्राह्मण साधुष्वपि वचन का हिन्दी अर्थ 'वैश्य और ब्राह्मण साधुओं में' किया गया है जो गलत है इसका सही अर्थ 'वैश्य' ब्राह्मण और साधुओं में होना चाहिए

मान्यता के अनुसार सातो नरको के सपूर्ण नारकियो मे परस्पर तथा एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक की सपूर्ण तिर्यग्-जातियो और इनकी उपजातियो मे रहने वाले सपूर्ण तिर्यंचो मे परस्पर उच्चता और नीचता का कुछ न कुछ भेद पाया जाने पर भी यदि सभी नारकी, नरकगति सामान्य की अपेक्षा और सभी तिर्यंच, तिर्यग्गति सामान्य की अपेक्षा नीच गोत्र-कर्म के उदय के आधार पर नीच माने जा सकते हैं तो, और इसी प्रकार भवनवासी व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक नाम की सपूर्ण देव जातियो और इनकी उपजातियो मे रहने वाले सम्पूर्ण देवो मे परस्पर उच्चता और नीचता का कुछ न कुछ भेद पाया जाने पर भी यदि सभी देव देवगति सामान्य की अपेक्षा, उच्चगोत्र कर्म के उदय के आधार पर उच्च माने जा सकते है तो, फिर मनुष्यगति मे रहने वाले सपूर्ण मनुष्यो मे भी मनुष्य-गति सम्वन्धी विविध प्रकार की समानता रहते हुए अन्य ज्ञात साधनो के अभाव मे केवल अज्ञात उच्चगोत्र-कर्म और नीचगोत्र-कर्म के उदय के आधार पर पृथक्-पृथक् क्रमश उच्चता और नीचता का व्यवहार कैसे किया जा सकता है ?

ये सव समस्याएँ है जिनका जब तक यथोचित समाधान प्राप्त नही हो जाता, तव तक जैन सस्कृति के अनुयायी होने पर भी हम लोगो के मस्तिष्क मे मनुष्यो को लेकर उच्चता और नीचता सवन्धी सदेह पैदा होते रहना स्वाभाविक ही है

षट्खण्डागम के सूत्र १३५ का आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी द्वारा किया गया जो व्याख्यान धवलाशास्त्र की पुस्तक १३ के पृष्ठ ३८८ पर पाया जाता है, उसे देखने से मालूम पडता है कि मनुष्यो की उच्चता और नीचता के विषय मे आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी के समय मे भी विवाद था इतना ही नही, आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी के उस व्याख्यान से तो यहा तक भी मालूम पडता है कि उनके समय के कोई-कोई विचारक विद्वान् मनुष्यगति मे माने गये उच्च और नीच उभयगोत्र कर्मों के उदय के सम्बन्ध मे निर्णयात्मक समाधान न मिल सकने के कारण उच्च और नीच दोनो भेद-विशिष्ट व समूचे गोत्र-कर्म के अभाव तक को मानने के लिये उद्यत हो रहे थे आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी का वह व्याख्यान निम्न प्रकार है

"उच्चैर्गोत्रस्य क्व व्यापार ? न तावद् राज्यादिलक्षणाया सम्पदि, तस्या. सद्वेद्यत समुत्पत्ते नापि पचमहाव्रतग्रहण-योग्यता उच्चैर्गोत्रेण क्रियते, देवेष्वभव्येषु च तद्ग्रहण प्रत्ययोग्येषु उच्चैर्गोत्रस्योदयाभावप्रसगात् न सम्यग्ज्ञानोत्पत्तौ व्यापार स्यात्, तत्र सम्यग्ज्ञानस्य सत्त्वात् नादेयत्वे, यशसि, सौभाग्ये वा व्यापार , तेषा नामत समुत्पत्ते नेक्ष्वाकु-कुलाद्युत्पत्तौ, काल्पनिकाना तेषा परमार्थतोऽसत्त्वात् विड्ब्राह्मणसाधुष्वपि उच्चैर्गोत्रस्योदयदर्शनात् न सम्पन्नेभ्यो जीवोत्पत्तौ तद्व्यापार , म्लेच्छराजसमुत्पन्नपृथुकस्यापि उच्चैर्गोत्रोदयप्रसगात् नाणुव्रतिभ्य समुत्पत्तौ तद्व्यापार , देवेष्वौपपादिकेषु उच्चैर्गोत्रोदयस्यासत्वप्रसगात् नाभेयस्य नीचगोत्रतापत्तेश्च ततो निष्फलमुच्चैर्गोत्रम् तत एव न तस्य कर्मत्वमपि तदभावे न नीचैर्गोत्रमपि, द्वयोरन्योन्याविनाभावित्वात् ततो गोत्रकर्माभाव इति"

इस व्याख्यान मे प्रथम ही यह प्रश्न उठाया गया है कि जीवो मे उच्चगोत्र-कर्म का क्या कार्य होता है ? इसके आगे उच्चगोत्र कर्म के कार्य पर प्रकाश डालने वाली तत्कालीन प्रचलित मान्यताओ का निर्देश करते हुए उनका खण्डन किया गया है और इस तरह उक्त प्रश्न का उचित समाधान न मिल सकने के कारण अत मे निष्कर्ष के रूप मे गोत्र-कर्म के अभाव को प्रस्थापित किया गया है व्याख्यान का हिन्दी विवरण निम्न प्रकार है

"शका— जीवो मे उच्चगोत्र-कर्म का किस रूप मे व्यापार हुआ करता है ? अर्थात् जीवो मे उच्चगोत्र-कर्म का कार्य क्या है ?

१ समाधान—जीवो मे उच्चगोत्र कर्म का कार्य उनको राज्यादि सम्पत्ति की प्राप्ति होना है

खण्डन— यह समाधान गलत है क्योकि जीवो को राज्यादि सपत्ति की प्राप्ति उच्चगोत्र कर्म के उदय मे न होकर सातावेदनीय कर्म के उदय से ही हुआ करती है

२ समाधान—जीवो मे पच महाव्रतो के ग्रहण करने की योग्यता का प्रादुर्भाव होना ही उच्चगोत्र-कर्म का कार्य है

शंका— तिर्यंचों में नीचगोत्र-कर्म की उदीरणा होती है यह बात तो आगम में सर्वत्र प्रतिपादित की गई है लेकिन इस प्रकरण में उनके उच्चगोत्र-कर्म की उदीरणा का भी प्रतिपादन किया गया है इसलिए आगम में पूर्वापर-विरोध उपस्थित होता है

समाधान— यह शंका ठीक नहीं क्योंकि संयमासंयम का पालन करने वाले तिर्यंचों में ही उच्चगोत्र की उपलब्धि होती है

शंका— यदि जीवों में देशसंयम और सकलसंयम के आधार पर उच्चगोत्र का सद्भाव माना जाय तो इस तरह मिथ्यादृष्टियों में उच्चगोत्र का अभाव मानना होगा जब कि जैन सिद्धान्त की मान्यता के अनुसार उनमें उच्चगोत्र का भी सद्भाव पाया जाता है

समाधान— यह शंका ठीक नहीं क्योंकि मिथ्यादृष्टियों में देशसंयम और सकलसंयम की योग्यता का पाया जाना तो सम्भव है ही इसीलिए उनकी उच्चगोत्रता के प्रति आगम का विरोध नहीं रह जाता है

यद्यपि धवला के उक्त शंका समाधान से तिर्यंगति में उच्चगोत्र की उदीरणा सम्बन्धी प्रश्न तो समाप्त हो जाता है परन्तु इससे एक तो देशसंयम और सकलसंयम को उच्चगोत्र-कर्म के उदय के सद्भाव में कारण मानने से पंचम गुणस्थान में जैन-दर्शन के कर्म-सिद्धान्त के अनुसार प्रतिपादित नीचगोत्र कर्म के उदय का सद्भाव मानना असंगत होगा और दूसरे मनुष्यगति की तरह तिर्यंगति में भी देशसंयम धारण करने की योग्यता का परिज्ञान अल्पज्ञों के लिये असम्भव रहने के कारण उच्चगोत्र-कर्म और नीचगोत्र-कर्म के उदय की व्यवस्था करना मनुष्यगति की तरह जटिल ही होगा

उक्त दोनों ही प्रश्न इतने महत्त्व के हैं कि जब तक इनका समाधान नहीं होता तब तक तिर्यंगति में भी उच्चगोत्र और नीचगोत्र की व्यवस्था सम्बन्धी समस्या का हल होना असंभव ही प्रतीत होता है विद्वानों को इस पर अपना दृष्टिकोण प्रगट करना चाहिए हमारा दृष्टिकोण निम्न प्रकार है :

प्रथम प्रश्न के विषय में हम ऐसा सोचते हैं कि आगम द्वारा तिर्यग्गति में उच्चगोत्र-कर्म की उदीरणा का जो प्रतिपादन किया गया है उसे एक अपवाद सिद्धान्त स्वीकार कर यही मानना चाहिए कि ऐसा कोई तिर्यंच—जो देशसंयम धारण करने की किसी विशेष योग्यता से प्रभावित हो—उसी के उक्त आगम के आधार पर उच्चगोत्र-कर्म का उदय रह सकता है इस तरह सामान्य रूप से देशसंयम को धारण करने वाला तिर्यंच नीचगोत्री ही हुआ करता है

दूसरे प्रश्न के विषय में हमारा यह कहना है कि नरकगति तिर्यंगति और देवगति के जीवों की जीवनवृत्तियों में समान रूप से प्राकृतिकता को स्थान प्राप्त है इसलिए तिर्यंचों में उच्चता और नीचताजन्य भेद का सद्भाव रहते हुए भी जीवनवृत्तियों की उस प्राकृतिकता के कारण नारकियों और देवों के समान ही सभी तिर्यंचों में परस्पर जीवन वृत्तिजन्य ऐसी विषमता का पाया जाना सम्भव नहीं है जिसके आधार पर उनमें यथायोग्य दोनों गोत्रों के उदय की व्यवस्था स्वीकार करने से व्यावहारिक गड़बड़ी पैदा होने की संभावना हो केवल मानव जीवन ही ऐसा जीवन है जहां जीवनवृत्ति के लिये अनिवार्य सामाजिक व्यवस्था की स्वीकृति के आधार पर गोत्र कर्म के उच्च तथा नीच रूप उभयभेद का व्यावहारिक उपयोग होता है तात्पर्य यह है कि नरकगति तिर्यग्गति और देवगति के जीवों की जीवन वृत्तियों में प्राकृतिकता का जैसा स्थान प्राप्त है वैसा स्थान मनुष्यों की जीवनवृत्तियों में प्राकृतिकता को प्राप्त नहीं है यही कारण है कि मनुष्य को सामान्य रूप से कौटुम्बिक संगठन ग्राम्य संगठन राष्ट्रीय संगठन और यहां तक कि मानव संगठन आदि के रूप में सामाजिक व्यवस्थाओं के अधीन रह कर ही पुरुषार्थ द्वारा अपनी जीवनवृत्ति का संचालन करना पड़ता है परन्तु यह सब तिर्यंचों के लिये आवश्यक नहीं है

यद्यपि हम मानते हैं कि भोगभूमिगत मनुष्यों की जीवनवृत्तियों में प्राकृतिकता के ही दर्शन होते हैं और यही कारण है कि उन मनुष्यों में सामाजिक व्यवस्थाओं का सर्वथा अभाव पाया जाता है अलावा इसके उनमें केवल उच्चगोत्र

खण्डन— यह समाधान भी निर्दोष नही है क्योकि अणुव्रतो को धारण करने वाले व्यक्ति से जीव की उत्पत्ति को यदि उच्चगोत्र-कर्म का कार्य माना जायगा तो ऐसी हालत मे देवो मे पुन उच्चगोत्र-कर्म के उदय का अभाव प्रसक्त हो जायगा जो कि अयुक्त होगा देवो मे एक ओर तो उच्चगोत्र-कर्म का उदय जैन-धर्म मे स्वीकार किया गया है तथा दूसरी ओर देवगति मे अणुव्रतो के धारण करने की असभवता के साथ-साथ मात्र उपपादशय्या पर ही देवो की उत्पत्ति स्वीकार की गई है जीवो की अणुव्रतियो से उत्पत्ति होना उच्चगोत्र कर्म का कार्य मानने पर दूसरी आपत्ति यह उपस्थित होती है कि इस तरह मे तो नाभिराज के पुत्र भगवान् ऋषभदेव को भी नीचगोत्री स्वीकार करना होगा क्योकि नाभिराज के समय मे अणुव्रत आदि धार्मिक प्रवृत्तियो का मार्ग खुला हुआ नही होने से जैन-सस्कृति मे उन्हे अणुव्रती नही माना गया है

इस प्रकार उच्चगोत्र-कर्म के कार्य पर प्रकाश डालने वाले उल्लिखित सातो समाधानो मे से जब कोई भी समाधान निर्दोष नही है तो इनके आधार पर उच्चगोत्र-कर्म को सफल नही कहा जा सकता है और इस तरह निष्फल हो जाने पर उच्चगोत्र-कर्म को कर्मो के वर्ग मे स्थान देना ही अयुक्त हो जाता है जिससे इसका (उच्चगोत्र-कर्म का) अभाव सिद्ध हो जाता है तथा उच्चगोत्र-कर्म के अभाव मे फिर नीचगोत्र-कर्म का भी अभाव निश्चित हो जाता है, कारण कि उच्च और नीच दोनो ही गोत्र-कर्म परस्पर एक-दूसरे से सापेक्ष होकर ही अपनी सत्ता कायम रक्खे हुए है इस प्रकार अतिम निष्कर्ष के रूप मे सपूर्ण गोत्र-कर्म का अभाव सिद्ध होता है

उक्त व्याख्यान पर बारीकी से ध्यान देने पर इतनी बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी के समय के विद्वान् एक तो जैन-सिद्धान्त द्वारा मान्य नारकियो और तिर्यंचो मे नीचता की व्यवस्था को तथा देवो मे उच्चता की व्यवस्था को निर्विवाद ही मानते थे लेकिन दूसरी तरफ मनुष्यो मे जैन शास्त्रो द्वारा स्वीकृत उच्चता तथा नीचता सबधी उभय रूप व्यवस्था को वे शकास्पद स्वीकार करते थे नारकियो और तिर्यंचो मे नीचता की व्यवस्था को और देवो मे उच्चता की व्यवस्था को निर्विवाद मानने का कारण यह जान पडता है कि सभी नारकियो और सभी तिर्यंचो मे सर्वदा नीचगोत्र-कर्म का तथा सभी देवो मे सर्वदा उच्चगोत्र-कर्म का उदय ही जैन आगमो द्वारा प्रतिपादित किया गया है और मनुष्यो मे उच्चता तथा नीचता उभय रूप व्यवस्था को शकास्पद मानने का कारण यह जान पडता है कि चूकि मनुष्यो मे नीचगोत्र-कर्म तथा उच्चगोत्र-कर्म का उदय छद्मस्थो (अल्पज्ञों) के लिये अज्ञात ही रहा करता है अत उनमे नीचगोत्र-कर्म के उदय के आधार पर नीचता का और उच्चगोत्र-कर्म के उदय के आधार पर उच्चता का व्यवहार करना हम लोगो के लिये शक्य नही रह जाता है

यद्यपि धवलाशास्त्र की पुस्तक १५ के पृष्ठ १५२ पर तिर्यंचो मे भी उच्चगोत्र-कर्म की उदीरणा का कथन किया गया है इसलिए मनुष्यो की तरह तिर्यंचो मे भी उच्चता तथा नीचता की दोनो व्यवस्थाये शकास्पद हो जाती है परन्तु वही पर यह बात भी स्पष्ट कर दी गई है कि तिर्यंचो मे उच्चगोत्र-कर्म की उदीरणा का सद्भाव मानने का आधार केवल उनके (तिर्यंचो के) द्वारा सयमासयम का परिपालन करना ही है वह कथन निम्न प्रकार है

'तिरिक्खेसु णीचागोदस्य चेव उदीरणा होदि त्ति सव्वत्थ परूविद, एत्थ पुण उच्चागोदस्स वि उदीरणा परूविदा तेणं पुण पुव्वावरविरोहो त्ति भणिदे, ण, तिरिक्खेसु सजमासजमपरिवालयतेषु उच्चागोत्तुवलभादो उच्चागोदे देससयलसजमणिबधणे सते मिच्छाइट्ठीसु तदभावो त्ति णासकणिज्ज, तत्थवि उच्चागोदजणिदसजमजोगतावेक्खाए उच्चागोदत्त पडि विरोहाभावादो'

यह व्याख्यान शका और समाधान के रूप मे है इसमे निर्दिष्ट जो शका है वह इसलिए उत्पन्न हुई है कि इस प्रकरण मे इस व्याख्यान के पूर्व ही तिर्यग्गति मे भी उच्चगोत्र-कर्म की उदीरणा का प्रतिपादन किया गया है[1] व्याख्यान का हिन्दी अर्थ निम्न प्रकार है—

---

१ तिरिक्ख गईए 'उच्चागोदस्य जहण्णट्ठिदि उदीरणा मखेज्जगुणा, जट्ठिदि० विसेसाहिया (धवला पुस्तक १५ पृष्ठ १५२)

को जैन संस्कृति में उच्चगोत्र संज्ञा स्वीकार की गयी है[1] तथा ऐसे कुलों में जीव के उत्पन्न होने के कारणभूत कर्म को भी जैन संस्कृति में उच्चगोत्र-कर्म के नाम से पुकारा गया है

इस समाधान में पूर्व प्रदर्शित दोषों में से कोई भी दोष सम्भव नहीं है क्योंकि इसके साथ उन सभी दोषों का विरोध है इसी उच्चगोत्र कर्म के ठीक विपरीत ही नीचगोत्र-कर्म है इस प्रकार गोत्रकर्म की उच्च और नीच ऐसी दो ही प्रकृतियाँ है.

आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी ने जीवों में उच्चगोत्र-कर्म का किस रूप में व्यापार होता है इस प्रश्न का समाधान करने के लिये जो ढंग अपनाया है उसका उद्देश्य उन सभी दोषों का परिहार करना है जिनका निर्देश ऊपर उद्धृत पूर्व पक्ष के व्याख्यान में आचार्य महाराज ने स्वयं किया है वे इस समाधान में यही बतलाते है कि दीक्षा के योग्य साधु-आचार वाले पुरुषों का कुल ही उच्चगोत्र या उच्चकुल कहलाता है और ऐसे गोत्र या कुल में जीव की उत्पत्ति होना ही उच्च गोत्रकर्म का कार्य है इस प्रकार मनुष्य-गति में दीक्षा के योग्य साधु-आचार के आधार पर ही जैन संस्कृति द्वारा उच्च गोत्र या उच्चकुल की स्थापना की गयी है इससे निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्यगति में तो जिन कुलों का दीक्षा के योग्य साधुआचार न हो वे कुल नीच-गोत्र या नीच कुल कहे जाने योग्य है. गोत्र शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ गोत्र शब्द के निम्न लिखित विग्रह के आधार पर होता है

गूयते-शब्द्यते अर्थात् जीवस्य उच्चता वा नीचता वा लोके व्यवह्रियते अनेन इति गोत्रम् !

इसका अर्थ यह है कि जिसके आधार पर जीवों का उच्चता अथवा नीचता का लोक में व्यवहार किया जाय वह गोत्र कहलाता है इस प्रकार जैन संस्कृति के अनुसार मनुष्यों की उच्च और नीच जीवनवृत्तियों के आधार पर निश्चय किये गए ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण तथा लुहार, चमार आदि जातियाँ—ये सब गोत्र कुल आदि नामों से पुकारने योग्य है इन सभी गोत्रों या कुलों में से जिन कुलों में पायी जाने वाली मनुष्यों की जीवनवृत्ति को लोक में उच्च माना जाए वे उच्चगोत्र या उच्च कुल तथा जिन कुलों में पायी जाने वाली मनुष्यों की जीवनवृत्ति को लोक में नीच माना जाए वे नीचगोत्र या नीच कुल कहे जाने योग्य है. इस तरह उच्चगोत्र या कुल में जन्म लेने वाले मनुष्यों को उच्च तथा नीच या कुल में जन्म लेने वाले मनुष्यों को नीच कहना चाहिए आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी के उल्लिखित व्याख्यान से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि उच्चगोत्र में पैदा होने वाले मनुष्यों के नियम से उच्चगोत्र-कर्म का तथा नीच गोत्र में पैदा होने वाले मनुष्यों के नियम से नीचगोत्र-कर्म का ही उदय विद्यमान रहा करता है अर्थात् बिना नीचगोत्र-कर्म के उदय के कोई भी जीव उच्च कुल में और बिना नीचगोत्र-कर्म के उदय के कोई भी जीव नीच कुल में उत्पन्न नहीं हो सकता है तत्त्वार्थसूत्र की टीका सर्वार्थसिद्धि में तत्त्वार्थसूत्र के आठवें अध्यायके 'उच्चैर्नीचैश्च' (सूत्र १२) सूत्र की टीका करते हुए आचार्य श्रीपूज्यपाद ने भी यही प्रतिपादन किया है कि

'यस्योदयाल्लोकपूजितेषु कुलेषु जन्म तदुच्चैर्गोत्रम्। यदुदयाद् गर्हितेषु कुलेषु जन्म तन्नीचैर्गोत्रम्।"

अर्थात् जिस गोत्र-कर्म के उदय से जीवों का लोकपूजित (उच्च) कुलों में जन्म होता है उस गोत्र कर्म का नाम उच्च गोत्र कर्म है और जिस गोत्र कर्म के उदय से जीवों का लोकगर्हित (नीच) कुलों में जन्म होता है उस गोत्र कर्म का नाम नीचगोत्र कर्म है

जैन संस्कृति के आचारशास्त्र (चरणानुयोग) और करणानुयोग से यह सिद्ध होता है कि सभी देव उच्चगोत्री और सभी नारकी और सभी तिर्यंच नीचगोत्री ही होते है परन्तु ऊपर जो उच्चगोत्र-कर्म की उदीरणा करने वाले तिर्यंचों का कथन किया गया है उसे इस नियम का अपवाद समझना चाहिए मनुष्यों में भी केवल आर्यखण्ड में बसने वाले कर्मभूमिज

---

१ [illegible] ऐसा अर्थ षट्खण्डागम पुस्तक १३ में किया गया है वह गलत है हमने जो अर्थ किया है उसे सही समझना चाहिए

कर्म का ही उदय सर्वदा विद्यमान रहता है इसलिए उनके जीवन मे व्यावहारिक विषमता को स्थान प्राप्त नही होता है लेकिन कर्मभूमिगत मनुष्यो की जीवनवृत्तियो मे जो अप्राकृतिकता स्वभावत पायी जाती है उसके कारण उनको अपनी जीवनवृत्ति की सम्पन्नता के लिये उक्त सामाजिक व्यवस्थाओ की अधीनता मे पुरुषार्थ का उपयोग करना पडता है और ऐसा देखा जाता है कि उनके द्वारा अपनी जीवनवृत्ति के सचालन के लिये अपनाये गये भिन्न-भिन्न प्रकार के पुरुषार्थो मे उच्चता और नीचता का वैषम्य स्वभावत हो जाता है जिसके कारण उनकी जीवन-वृत्तिया भी उच्च और नीच के भेद से दो वर्गो मे विभाजित हो जाती है यद्यपि कर्मभूमिगत मनुष्यो मे जीवनवृत्तियो की बहुत-सी विविधतायें पायी जाती है और जीवनवृत्तयो की इन्ही विविधताओ के आधार पर ही उनमे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णो की तथा इन्ही वर्णो के अन्तर्गत जीवनवृत्तियो के आधार पर ही यथायोग्य लुहार, चमार आदि विविध जातियो की स्थापना को जैन सस्कृति मे स्वीकार किया गया है परन्तु जीवनवृत्तियो के आधार पर स्थापित सभी वर्णो और उनके अन्तर्गत पायी जाने वाली उक्त प्रकार की सभी जातियो को भी जीवन-वृत्तियो मे पायी जाने वाली उच्चता और नीचता के अनुसार ही उच्च और नीच दो वर्गो मे सग्रहीत कर दिया गया है इस प्रकार उच्च और नीच दोनो प्रकार की जीवनवृत्तियो को ही क्रमश उच्चगोत्र कर्म और नीचगोत्र कर्म के उदय का जैन सस्कृति मे मापदण्ड स्वीकार किया गया है

जीवो मे उच्चगोत्र कर्म का किस रूप मे व्यापार होता है ? अथवा जीवो मे उच्चगोत्र कर्म का क्या कार्य होता है ? इस प्रश्न का जो समाधान आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी ने स्वय किया है और जिसे इन्होने स्वय ही निर्दोष माना है उसमे मनुष्यो की इसी पुरुषार्थप्रधान जीवनवृत्ति को आधार प्ररूपित किया है आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी का वह समाधानरूप व्याख्यान निम्न प्रकार है

'न, जिनवचनस्यासत्यत्वप्रसगात् तद्विरोधोऽपि तत्र तत्कारणाभावतोऽवगम्यते न च केवलज्ञानविषयीकृतेष्वर्थेषु सकलेष्वपि रजोजुषा ज्ञानानि प्रवर्तन्ते येनानुपलम्भाज्जिनवचनस्याप्रमाणत्वमुच्येत न च निष्फलमुच्चैर्गोत्रम्, दीक्षायोग्यसाध्वाचाराणा साध्वाचारै कृतसबन्धाना आर्यप्रत्ययाभिधानव्यवहारनिबन्धनाना पुरुषाणा सतान उच्चैर्गोत्रम् तत्रोत्पत्तिहेतु कर्माप्युच्चैर्गोत्रम् न चात्र पूर्वोक्तदोषा सभवन्ति, विरोधात् तद्विपरीत नीचैर्गोत्रम् एव गोत्रस्य द्वे एव प्रकृती भवत "

पहले जो समूचे गोत्रकर्म के अभाव की आशका इस लेख मे उद्धृत धवलाशास्त्र की पुस्तक १३ के पृष्ठ २८८ के व्याख्यान मे प्रगट कर आये हैं, उसी का समाधान करते हुए आगे वही पर ऊपर लिखा व्याख्यान आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी ने किया है उसका हिन्दी अर्थ निम्न प्रकार है

"गोत्रकर्म के अभाव की आशका करना ठीक नही है क्योकि जिनेन्द्र भगवान् ने स्वय ही गोत्रकर्म के अस्तित्व का प्रतिपादन किया है और यह बात निश्चित है कि जिनेन्द्र भगवान् के वचन कभी असत्य नही होते है असत्यता का जिनेन्द्र भगवान् के वचन के साथ विरोध है अर्थात् वचन एक ओर तो जिनेन्द्र भगवान् के हो और दूसरी ओर वे असत्य भी हो—यह बात कभी सभव नही है ऐसा इसलिए मानना पडता है कि जिन भगवान् के वचनो को असत्य मानने का कोई कारण ही दृष्टिगोचर नही होता है

जिन भगवान् ने यद्यपि गोत्रकर्म के सद्‌भाव का प्रतिपादन किया है किन्तु हमे उसकी (गोत्रकर्म की) उपलब्धि नही होती है, इसलिए जिन-वचन को असत्य माना जा सकता है, पर ऐसा मानना ठीक नही है, क्योकि केवलज्ञान के विषय-भूत सम्पूर्ण पदार्थो मे हम अल्पज्ञो के ज्ञान की प्रवृत्ति ही नही होती

इस प्रकार उच्चगोत्र-कर्म को निष्फल मानना भी ठीक नही है क्योकि जो पुरुष स्वय तो दीक्षा के योग्य साधु आचार वाले है ही तथा इस प्रकार के साधु आचार वाले पुरुषो के साथ जिन का सम्बन्ध स्थापित हो चुका है उनमे 'आर्य' इस प्रकार के प्रत्यय और 'आर्य' इस प्रकार के शब्द-व्यवहार की प्रवृत्ति के भी जो योग्य हैं, उन पुरुषो के सतान[1] अर्थात् कुल

१ सततिर्गोत्र जननकुलान्यभिजना न्वयौ वशोऽन्वाय मतान —अमर कोष ब्रह्म वर्ग

की जैन संस्कृति में उच्चगोत्र संज्ञा स्वीकार की गयी है[1] तथा ऐसे कुलों में जीव के उत्पन्न होने के कारणभूत कर्म को भी जैन संस्कृति में उच्चगोत्र-कर्म के नाम से पुकारा गया है

इस समाधान में पूर्व प्रदर्शित दोषो मे से कोई भी दोष सम्भव नही है क्योंकि इसके साथ उन सभी दोषों का विरोध है इसी उच्चगोत्र कर्म के ठीक विपरीत ही नीचगोत्र-कर्म है इस प्रकार गोत्रकर्म की उच्च और नीच ऐसी दो ही प्रकृतियाँ है

आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी ने जीवों में उच्चगोत्र-कर्म का किस रूप में व्यापार होता है इस प्रश्न का समाधान करने के लिये जो ढग अपनाया है उसका उद्देश्य उन सभी दोषों का परिहार करना है जिनका निर्देश ऊपर उद्धृत पूर्व पक्ष के व्याख्यान में आचार्य महाराज ने स्वयं किया है वे इस समाधान में यही बतलाते हैं कि दीक्षा के योग्य साधु-आचार वाले पुरुषों का कुल ही उच्चगोत्र या उच्चकुल कहलाता है और ऐसे गोत्र या कुल में जीव की उत्पत्ति होना ही उच्च गोत्रकर्म का कार्य है इस प्रकार मनुष्य-गति में दीक्षा के योग्य साधु-आचार के आधार पर ही जैन संस्कृति द्वारा उच्च गोत्र या उच्चकुल की स्थापना की गयी है इससे निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्यगति मे तो जिन कुलों का दीक्षा के योग्य साधुआचार न हो वे कुल नीच-गोत्र या नीच कुल कहे जाने योग्य हैं 'गोत्र' शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ गोत्र शब्द के निम्न लिखित विग्रह के आधार पर होता है

'गूयते-शब्द्यते अर्थात् जीवस्य उच्चता वा नीचता वा लोके व्यवह्रियते अनेन इति गोत्रम् ।"

इसका अर्थ यह है कि जिसके आधार पर जीवों की उच्चता अथवा नीचता का लोक मे व्यवहार किया जाय वह गोत्र कहलाता है इस प्रकार जन संस्कृति के अनुसार मनुष्यों की उच्च और नीच जीवनवृत्तियों के आधार पर निश्चित किये गए ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण तथा सुहार चमार आदि जातियाँ—ये सब गोत्र कुल आदि नामों से पुकारने योग्य हैं इन सभी गोत्रो या कुलो म से जिन कुलो में पायी जाने वाली मनुष्यों की जीवनवृत्ति को लोक में उच्च माना जाए वे उच्चगोत्र या उच्च कुल तथा जिन कुलो में पायी जाने वाली मनुष्यों की जीवनवृत्ति को लोक में नीच माना जाए वे नीचगोत्र या नीच कुल कहे जाने योग्य हैं इस तरह उच्चगोत्र या कुल मे जन्म लेने वाले मनुष्यों को उच्च तथा नीच या कुल में जन्म लेने वाले मनुष्यों को नीच कहना चाहिए आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी के उल्लिखित व्याख्यान से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि उच्चगोत्र में पैदा होने वाले मनुष्यों के नियम से उच्चगोत्र-कर्म का तथा नीच गोत्र म पैदा होने वाले मनुष्यो के नियम से नीचगोत्र-कर्म का ही उदय विद्यमान रहा करता है अर्थात् बिना नीचगोत्र-कर्म के उदय के कोई भी जीव उच्च कुल में और बिना नीचगोत्र-कर्म के उदय के कोई भी जीव नीच कुल में उत्पन्न नही हो सकता है तत्त्वार्थसूत्र की टीका सर्वार्थसिद्धि में तत्त्वार्थसूत्र के आठवें अध्यायके 'उच्चैर्नीचैश्च' (सूत्र १२) सूत्र की टीका करते हुए आचार्य श्रीपूज्यपाद ने भी यही प्रतिपादन किया है कि

'यस्योदयाल्लोकपूजितेषु कुलेषु जन्म तदुच्चैर्गोत्रम् । यदुदयाद् गर्हितेषु कुलेषु जन्म तन्नीचैर्गोत्रम् ।"

अर्थात् जिस गोत्र-कर्म के उदय से जीवो का लोकपूजित (उच्च) कुलों मे जन्म होता है उस गोत्र कर्म का नाम उच्च गोत्र कर्म है और जिस गोत्र कर्म के उदय से जीवों का लोकगर्हित (नीच) कुलों में जन्म होता है उस गोत्र कर्म का नाम नीचगोत्र कर्म है

जैन संस्कृति के आचारशास्त्र (चरणानुयोग) और करणानुयोग से यह सिद्ध होता है कि सभी देव उच्चगोत्री और सभी नारकी और सभी तिर्यंच नीचगोत्री ही होते हैं परन्तु ऊपर जो उच्चगोत्र-कर्म की उदीरणा करने वाले तिर्यंचों का कथन किया गया है उसे इस नियम का अपवाद समझना चाहिए मनुष्यों में भी केवल आर्यखण्ड में बसने वाले कर्मभूमिज

---

१ [illegible] यदि [illegible] दिया [illegible] पुस्तक ११ में [illegible] है [illegible] [illegible] समझना चाहिए

मनुष्य ही ऐसे हैं जिनमे उच्चगोत्री तथा नीचगोत्री दोनो प्रकार के वर्गो का सद्भाव पाया जाता है अर्थात् उक्त कर्म-भूमिज मनुष्यो मे से चातुर्वण्य व्यवस्था के अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णा और इन वर्णों के अन्तर्गत जातियो के सभी मनुष्य उच्चगोत्री ही होते है इनसे अतिरिक्त जितने शूद्र वर्ण और इस वर्ण के अन्तर्गत जातियो के मनुष्य पाये जाते है वे सब तथा चातुर्वण्य व्यवस्था से बाह्य जो शक, यवन, पुलिन्दादिक है, वे सब नीचगोत्री ही माने गये है. आर्यखण्ड मे बसने वाले इन कर्मभूमिज मनुष्यों को छोड कर शेष जितने भी मनुष्य लोक मे बतलाये गये है उनमे से भोगभूमि के सभी मनुष्य उच्चगोत्र तथा पांचो म्लेच्छखण्डो मे बसने वाले मनुष्य और अन्तर्द्वीपज मनुष्य नीचगोत्री ही हुआ करते हैं आर्यखण्ड मे बसने वाले शक, यवन, पुलिन्दादिक को तथा पाचो म्लेच्छखण्डो मे और अन्तर्दीपो मे बसने वाले मनुष्यो को जैन सस्कृति मे म्लेच्छ सज्ञा दी गयी है और यह बतलाया गया है कि ऐसे म्लेच्छो को भी उच्च-गोत्री समझना चाहिए जिनका दीक्षा के योग्य साधु आचार वालो के साथ सम्बन्ध स्थापित हो चुका हो और इस तरह जिनमे 'आर्य' ऐसा प्रत्यय तथा 'आर्य' ऐसा शब्द व्यवहार भी होने लगा हो इससे जैन सस्कृति मे मान्य गोत्रपरिवर्तन के सिद्धान्त की पुष्टि होती है गोत्रपरिवर्तन के सिद्धान्त को पुष्ट करने वाले बहुत से लौकिक उदाहरण आज भी प्राप्त है, जैसे—यह इतिहासप्रसिद्ध है कि जो अग्रवाल आदि जातिया पहले किसी समय मे क्षत्रिय वर्ण मे थी वे आज पूर्णत वैश्य वर्ण मे समा चुकी है जैन पुराणो मे अनुलोम और प्रतिलोम विवाहो का उल्लेख है वे उल्लेख स्त्रियो के गोत्र-परिवर्तन की सूचना देते हैं आज भी देखा जाता है कि विवाह के अनन्तर कन्या पितृपक्ष के गोत्र की न रह कर पति-पक्ष के गोत्र की हो जाती हैं इस सपूर्ण कथन का अभिप्राय यह है कि यदि परिवर्तित गोत्र उच्च होता है तो नीचगोत्र की बन जाती है और यदि परिवर्तित गोत्र नीच होता है तो उच्चगोत्र मे उत्पन्न हुई नारी भी नीचगोत्र की बन जाती है और परिवर्तित गोत्र के अनुसार ही नारी के यथायोग्य नीचगोत्र कर्म का उदय न रह कर उच्चगोत्र कर्म का उदय तथा उच्चगोत्र का उदय समाप्त होकर नीचगोत्र कर्म का उदय आरम्भ हो जाता है इसी प्रकार मनुष्यो मे जीवनवृत्ति का परिवर्तन न होने पर भी गोत्र परिवर्तन हो जाता है जैसा कि अग्रवाल आदि जातियो का उदाहरण ऊपर दिया गया है

पहले कहा चुका है कि आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी ने 'उच्चगोत्र कर्म का जीवो मे किस रूप मे व्यापार होता है' इस प्रश्न का समाधान करने के लिये जो ढग बनाया है उसका उद्देश्य उन सभी दोषो का परिहार करना है जिनका निर्देश पूर्व पक्ष के व्याख्यान मे किया गया है इससे हमारा अभिप्राय यह है कि आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी ने उच्चगोत्र का निर्वा-रण करके उसमे जीवो की उत्पत्ति के कारणभूत कर्म को उच्चगोत्र-कर्म नाम दिया है उन्होने बतलाया है कि दीक्षा के योग्य साधु आचार वाले पुरुषो का कुल ही उच्चगोत्र कहलाता है और ऐसे कुल मे जीव की उत्पत्ति होना ही उच्च-गोत्र-कर्म का कार्य है इसमे पूर्वोक्त दोषों का अभाव स्पष्ट है क्योकि इससे जैन सस्कृति द्वारा देवो मे स्वीकृत उच्चगोत्र कर्म के उदय का और नारकियो तथा तिर्यंचो मे स्वीकृत नीचगोत्र-कर्म के उदय का व्याघात नही होता है क्योकि इसमे उच्चगोत्र का जो लक्षण बतलाया गया है वह मात्र मनुष्यगति से ही सबन्ध रखता है और इसका भी कारण यह है कि उच्चगोत्र-कर्म के कार्य का यदि विवाद है तो वह केवल मनुष्यगति मे ही सभव है दूसरी गतियो मे याने देव, नरक और तिर्यक् नाम की गतियो मे, कहाँ किस गोत्र-कर्म का, किस आधार से उदय पाया जाता है, यह बात निर्विवाद है इस समाधान से अभव्य मनुष्यो के भी उच्चगोत्र कर्म के उदय का अभाव प्रसक्त नही होता है क्योकि अभव्यो को उच्च माने जाने वाले कुलो मे जन्म लेने का प्रतिबन्ध इससे नही होता है म्लेच्छखण्डो मे बसने वाले मनुष्यो के नीच-गोत्र-कर्म के उदय की ही सिद्धि इस समाधान से होती है क्योकि म्लेच्छखण्डो मे जैन सस्कृति की मान्यता के अनुसार धर्म-कर्म की प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव विद्यमान रहने के कारण दीक्षा के योग्य साधु आचार वाले उच्च कुलो का सद्भाव नही पाया जाता है इसी आधार पर अन्तर्द्वीपज और कर्मभूमिज म्लेच्छ के भी केवल नीचगोत्र-कर्म के उदय की ही सिद्धि होती है आर्यखण्ड के ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सज्ञा वाले कुलो मे जन्म लेने वाले मनुष्यो के इस समाधान से केवल उच्चगोत्र कर्म के उदय की ही सिद्धि होती है क्योकि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सज्ञा वाले सभी कुल दीक्षा योग्य साधु आचार वाले उच्चकुल ही माने गये हैं साधुवर्ग मे उच्च-गोत्र कर्म के उदय का व्याघात भी
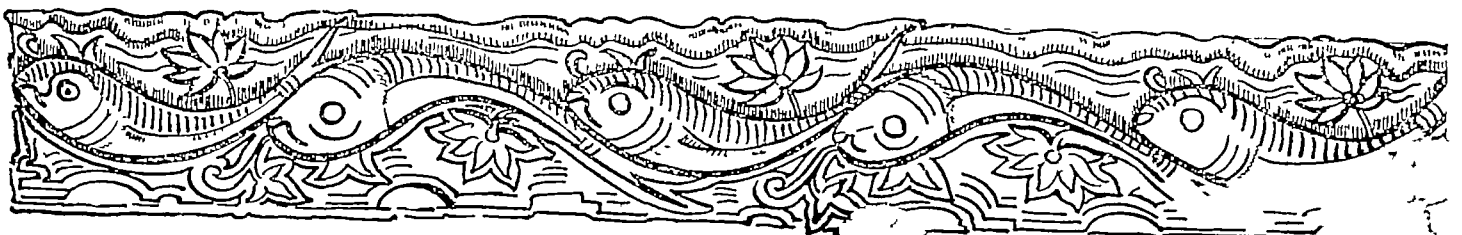
इस समाधान से सही होता है क्योंकि जहाँ दीक्षायोग्य साधु आचार वाले कुलों तक को उच्चता प्राप्त है वहाँ अब मनुष्य कुलव्यवस्था से भी ऊपर उठकर अपना जीवन आदर्शमय बना लेता है तो उसमें केवल उच्चगोत्र-कर्म के उदय का रहना ही स्वाभाविक है शूद्रों में इस समाधान से नीचगोत्र कर्म के उदय की ही सिद्धि होती है क्योंकि उनके कौलिक आचार को जैन संस्कृति में दीक्षायोग्य साधु आचार नहीं माना गया है यही कारण है कि पूर्व में उद्धृत धवलाशास्त्र की पुस्तक १३ के पृष्ठ ३८८ के 'विड्ब्राह्मणसाधुष्वपि उच्चर्गोत्रस्यादयदर्शनात्' वाक्य में वैश्यों ब्राह्मणों और साधुओं के साथ शूद्रों का उल्लेख आचार्य श्रीवीरसेन स्वामी ने नहीं किया है यदि आचार्यश्री को शूद्रों के भी वैश्य ब्राह्मण और साधु पुरुषों की तरह उच्चगोत्र के उदय का सद्भाव स्वीकार होता तो शूद्र शब्द का भी उल्लेख उक्त वाक्य में करने से वे नहीं चूक सकते थे उक्त वाक्य में क्षत्रिय शब्द का उल्लेख न करने का कारण यह है कि उक्त वाक्य उन लोगों की मान्यता के खण्डन में प्रयुक्त किया गया है जो लोग उच्चगोत्र कर्म का उदय केवल क्षत्रिय कुलों में मानना चाहते थे

यदि कोई यहाँ यह शंका उपस्थित करे कि भोगभूमि के मनुष्यों में भी तो जैन संस्कृति द्वारा केवल उच्चगोत्र-कर्म का ही उदय स्वीकार किया गया है लेकिन उपर्युक्त उच्चगोत्र का लक्षण तो उनमें घटित नहीं होता है क्योंकि भोगभूमि में साधुमार्ग का अभाव ही पाया जाता है अतः वहाँ के मनुष्य-कुलों को दीक्षा-योग्य साधु-आचार वाले कुल कैसे माना जा सकता है ? तो इस शंका का समाधान यह है कि भोगभूमि के मनुष्य उच्चगोत्री ही होते हैं यह बात हम पहले ही बतला आये हैं जैन-संस्कृति की भी यही मान्यता है इसलिये वहाँ मनुष्यों की उच्चता और नीचता का विवाद नहीं होने के कारण केवल कर्मभूमि के मनुष्यों को लक्ष्य में रखकर ही उच्चगोत्र का उपर्युक्त लक्षण निर्धारित किया गया है

इस प्रकार षट्खण्डागम की धवला टीका के आधार पर तथा सर्वार्थसिद्धि आदि महान् ग्रन्थों के आधार पर यह सिद्धान्त स्थिर हो जाता है कि उच्च गोत्रीमनुष्य के उच्चगोत्र-कर्म का और नीचगोत्री मनुष्यों के नीचगोत्र-कर्म का ही उदय रहा करता है लेकिन जो उच्चगोत्री मनुष्य कदाचित् नीचगोत्री हो जाता है अथवा जो नीचगोत्री मनुष्य कदाचित् उच्चगोत्री हो जाता है उसके यथायोग्य पूर्वगोत्र कर्म का उदय समाप्त होकर दूसरे गोत्रकर्म का उदय हो जाया करता है

षट्खण्डागम की धवला टीका के आधार पर दूसरा सिद्धान्त यह स्थिर होता है कि दीक्षा के योग्य साधु आचार वाले जो कुल होते हैं याने जिन कुलों का निर्माण दीक्षा के योग्य साधु आचार के आधार पर हुआ हो वे कुल ही उच्चकुल या उच्चगोत्र कहलाते हैं इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि कौलिक आचार के आधार पर ही एक मनुष्य उच्चगोत्री और दूसरा मनुष्य नीचगोत्री समझा जाना चाहिए गोम्मटसार कर्मकाण्ड में तो स्पष्ट रूप से उच्चाचरण के आधार पर एक मनुष्य को उच्चगोत्री और नीचाचरण के आधार पर दूसरे मनुष्य को नीचगोत्री प्रतिपादित किया है गोम्मटसार कर्मकाण्ड का यह वचन निम्न प्रकार है

> 'संताणकमेणागयजीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा।
> उच्चं णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं।१३।

जीव का संतानक्रम से अर्थात् कुलपरम्परा से आया हुआ जो आचरण है उसी नाम का गोत्र समझना चाहिए वह आचरण यदि उच्च हो तो गोत्र को भी उच्च ही समझना चाहिए और यदि वह आचरण नीच हो तो गोत्र को भी नीच ही समझना चाहिए

गोम्मटसार कर्मकाण्ड की उल्लिखित गाथा का अभिप्राय यही है कि उच्च और नीच दोनों ही कुलों का निर्माण कुलगत उच्च और नीच आचरण के आधार पर ही हुआ करता है यह कुलगत आचरण उस उस कुल की निश्चित जीवनवृत्ति के अलावा और क्या हो सकता है इसलिये कुलाचरण से तात्पर्य उस उस कुल की निर्धारित जीवनवृत्ति का ही लेना चाहिए कारण कि धर्माचरण और अधर्माचरण को उच्च और नीच गोत्रों का नियामक नहीं माना जा सकता है कि धर्माचरण करता हुआ भी जीव जैन-संस्कृति की मान्यता के अनुसार नीचगोत्री हो सकता है इस प्रकार
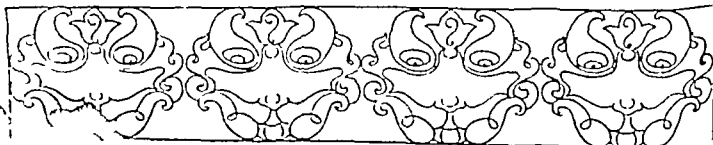
कर्मभूमि के मनुष्यो मे ब्राह्मणवृत्ति, क्षात्रवृत्ति और वैश्यवृत्ति को जैन-सस्कृति की मान्यता के अनुसार उच्चगोत्र की नियामक और शौद्रवृत्ति तथा म्लेच्छवृत्ति को नीचगोत्र की नियामक समझना चाहिए

एक बात और है कि वृत्तियो के सात्विक, राजस और तामस ये तीन भेद मानकर ब्राह्मणवृत्ति को सात्विक, क्षात्रवृत्ति और वैश्यवृत्ति को राजस तथा शौद्रवृत्ति और म्लेच्छवृत्ति को तामस कहना भी अयुक्त नही है जिस वृत्तिमे उदात्त गुण की प्रधानता हो वह सात्विकवृत्ति, जिस वृत्ति मे शौर्यगुण अथवा प्रामाणिक व्यवहार की प्रधानता हो वह राजस-वृत्ति और जिस वृत्ति मे हीनभाव अर्थात् दीनता या क्रूरता की प्रधानता हो वह तामसवृत्ति जानना चाहिए इस प्रकार ब्राह्मण वृत्ति मे सात्विकता, क्षात्रवृत्ति मे शौर्य, वैश्यवृत्ति मे प्रामाणिकता, शौद्रवृत्ति मे दीनता और म्लेच्छवृत्ति मे क्रूरता का ही प्रधानतया समावेश पाया जाता है इन तीन प्रकार की वृत्तियो मे से सात्विक वृत्ति और राजसवृत्ति दोनो ही उच्चता की तथा तामसवृत्ति नीचता की निशानी समझना चाहिए

इस लेख मे हमने मनुष्यो की उच्चता और नीचता के विषय मे जो विचार प्रगट किये है उनका आधार यद्यपि आगम है फिर भी यह विषय इतना विवादग्रस्त है कि सहसा समझ मे आना कठिन है अत विद्वानो से हमारा अनुरोध है कि वे भी इस विषय का चिन्तन करें और अपनी विचारधारा के निष्कर्ष को व्यक्त करें

यद्यपि इस विषय पर कर्मसिद्धान्त की दृष्टि से भी विचार किया जाना था परन्तु लेख का कलेवर इतना बढ चुका है कि प्रस्तुत लेख मे मैंने जो कुछ लिखा है उसमे भी सकोच की नीति से काम लेना पडा है अत अतिरिक्त विषय कभी प्रसगानुसार ही लिखने का प्रयत्न करूगा

श्री जयभगवान जैन
एडवोकेट

वेदोत्तरकाल मे ब्रह्मविद्या की पुनर्जागृति

जनमेजय की मृत्यु के बाद जब उत्तर के नागवंशी क्षत्रियो के आये दिन के हमलों ने कुरुक्षेत्र के कौरवों की राष्ट्रीय सत्ता को छिन्न भिन्न कर दिया और सप्तसिन्धु देश तथा मध्यदेश में पुन भारत के नागराज घरानों ने अपनी-अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को प्राप्त किया तो कौरव वंश की सरक्षकता के अभाव में वैदिक सस्कृति को बहुत धक्का पहुँचा गान्धार से लेकर विदेह तक समस्त उत्तर भारत में पहले के समान पुन श्रमणसस्कृति का उभार हो गया इसी ऐतिहासिक स्थिति की ओर सकेत करते हुए हिन्दू पुराणकारो ने लिखा है कि भारत का प्राचीन धर्म जो सतयुग से जारी रहता चला आया है तप और योगसाधना है त्रेतायुग में सबसे पहले यज्ञो का विधान हुआ द्वापर मे इनका ह्रास होना शुरु हो गया और कलियुग में यज्ञ का नाम भी शेष न रहेगा[1] मनुस्मृतिकार ने भी लिखा है कि सतयुग का मानवधर्म तप है, त्रेता का ज्ञान है द्वापर का यज्ञ है कलियुग का दान है[2] इस सम्बन्ध मे यह बात याद रखने योग्य है कि हिन्दू पुराणरचयिताओ तथा ज्योतिष ग्रन्थकारों की मान्यता के अनुसार कलियुग का आरम्भ महाराज युधिष्ठिर के राज्यारोहण दिवस से गिना जाता है[3] इस राज्यारोहण का समय लगभग १५ ई पूर्व माना जाता है[4]

इस तरह जनमेजय के बाद राष्ट्रीय सरक्षण उठ जाने के कारण और सास्कृतिक वैमनस्यों से ऊब कर जब वैदिक ऋषियो का ध्यान भारत की आध्यात्मिक सस्कृति की ओर गया तो वे उसके उच्च आदर्श गम्भीर विचार, सयमी जीवन और त्याग-तप-साधना से ऐसे आनन्द विभोर हुए कि उनमें आत्मज्ञान के लिये एक अदम्य जिज्ञासा की लहर जाग उठी[5] अब उन्हे जीवन और मृत्यु की समस्यायें विकल करने लगी अब उनके मानसिक व्योम मे प्रश्न उठने लगे—ब्रह्म अर्थात् जीवात्मा क्या वस्तु है ? इसका क्या कारण है ? यह जन्म के समय कहा से आता है ? यह मृत्यु के समय कहा चला जाता है ? कौन इसका आधार है ? कौन इसकी प्रतिष्ठा है ? यह किस के सहारे जीता है ? किस के सहारे बढ़ता है ? कौन इसका अधिष्ठाता है ? कौन इसे सुख दुख रूप वर्ताता है ? कौन इसे मारता और जिलाता है[6]

अब ऋक यजु साम अथर्व वैदिक सहितायें और शिक्षा कल्प व्याकरण निरुक्त छन्द ज्योतिष सम्बन्धी षट्क

---

१ महाभारत शान्ति पर्व अ २३२
२ तप परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते
द्वापरे यज्ञमेवाहु दानमेकं कलौ युगे । मनुस्मृति— ८६
३ महाभारत आदि पर्व ११ । महाभारत वन पर्व १४१-१८
आर्य भटीयम् प्रथम पाद श्लोक ३—(इस ग्रन्थ का रचयिता श्री आर्य भट ईसा की पाचवी सदी का महान् ज्योतिष है).
४ श्री जयचन्द्र विद्यालकार— 'भारत के इतिहास की रूपरेखा' —जिल्द १ १९३३ पृष्ठ २३१ ३३
५ अथातो ब्रह्मजिज्ञासा—ब्रह्मसूत्र १ १ १
६ किं कारणं ब्रह्म कुत स्म जाता जीवाम केन क्व च सप्रतिष्ठा
अधिष्ठिता केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥—श्वेताश्वतर उप १ १

विद्याएँ, जिन्हे वे अमूल्य निधि जानकर परम्परा से पढते और पढाते चले आये थे, उनको अपरा अर्थात् साधारण, लौकिक विद्याएँ भासने लगी [1] अब धन और सुवर्ण, गाय और घोडे, पुत्र और पौत्र, खेत और जमीन, राज्य व अन्य लौकिक सम्पदाये, जिनकी प्राप्ति, रक्षा तथा वृद्धि के लिये वे निरन्तर इन्द्र और अग्नि मे प्रार्थनाये किया करते थे, उनकी दृष्टि मे सब हेय तुच्छ और सारहीन वस्तुएँ दिखाई देने लगी अब उनके लिये आत्मविद्या ही परम विद्या बन गयी आत्मा ही देखने जानने और मनन करने योग्य परम सत्य हो गया [2]

अब उन्हे भासने लगा कि जो आत्मा से भिन्न सूर्य, इन्द्र, वायु अग्नि आदि देवो की उपासना करते हैं वे देवो के दास है, वे लद्दू पशुओ के समान देवो के भार को उठाने वाले वाहन हैं परन्तु जो आत्मा की अद्भुत विश्वव्यापी शक्तियो को जानकर आत्मा के उपासक है वे सर्वभू (सर्वान्तर्यामी), परिभू (विश्वव्यापी) स्वयम्भू (स्वतन्त्र) बन जाते है,[3] वे आत्मज्ञानी ही ससारपूजनीय हैं [4] यज्ञ याग आदि श्रौत कर्म ससारबन्धन का कारण है और ज्ञान मुक्ति का कारण कर्म करने से जीव बार-बार जन्म मरण के चक्कर मे पडता है परन्तु ज्ञान के प्रभाव से वह ससार-सागर से उभर अक्षय परमात्मपद को पा लेता है नासमझ आदमी ही इन कर्मो की प्रशसा करते हैं, इससे उन्हे बार-बार शरीर धारण करना पडता है [5] जो ज्ञान को त्याग कर वेदोक्त यज्ञ यजन कर्म करने वाले है, अथवा ऐहिक आकाक्षाओ से प्रेरित दान आदि पुण्य कर्म करने वाले है, वे सब पितृयान मार्ग के पथिक है, वे धूम, कृष्ण पक्ष, दक्षिणायन पथ से पितृलोक, चन्द्रलोक, स्वर्ग को जाते हैं, पुण्य-अवधि क्षीण होने पर पुन इसी मर्त्य-लोक मे आकर जन्म धारण करते हैं ज्ञानी जन द्वारा ये कर्म अपनाने योग्य नही हैं [6]

व्रात्यों के प्रति आदर—इस जिज्ञासा के फलस्वरूप उनका व्रात्यो और यतियो के प्रति आदर और सहिष्णुता का व्यवहार बढने लगा ब्राह्मण ऋषियो ने गृहस्थ लोगो के लिये यह नियम कर दिया कि जब कभी व्रात्य (व्रतधारी साधु) अथवा श्रमणजन घूमते-फिरते हुए आहार-पान के लिये उनके घर आवें तो उनके साथ अत्यन्त विनय का व्यवहार किया जावे, यहा तक कि यदि उनके आने के समय गृहपति अग्निहोत्र मे व्यस्त हो तो गृहपति को अग्निहोत्र का उपक्रम छोड कर उनका आतिथ्य सत्कार करना अधिक फलदायक है [7]

ब्रह्मविद्या की खोज—ज्ञान की इस अदम्य प्यास से व्याकुल हो अनेक प्रसिद्ध ऋषिकुलो के पूर्ण शिक्षा प्राप्त नवयुवक घर-बार छोड ब्रह्मविद्या की खोज मे निकल गये वे दूर-दूर की यात्राये करते हुए, जगलो की खाक छानते हुए, गान्धार से विदेह तक, पाचाल से यमदेश तक, विभिन्न देशो मे विचरते हुए, ब्रह्मविद्या के पुराने जानकार क्षत्रिय घरानो मे पहुचने लगे वे वहा शिष्य भाव से ठहर कर इन्द्रियसयम, ब्रह्मचर्य, तप, त्याग और स्वाध्याय का जीवन बिताने लगे

इनकी इस अपूर्व जिज्ञासा, महान् उद्यम और रहस्यमय सवादो के आख्यान भारतीय वाङ्मय के जिन ग्रथो मे सुरक्षित है वे उपनिषत् सज्ञा से प्रसिद्ध हैं यो तो ये उपनिषत् सख्या मे २०८ से भी अधिक है परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से ११ मुख्य

---

१ तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेद सामवेदोऽथर्ववेद शिक्षा कल्पो व्याकरण निरुक्त छन्दो ज्योतिष्मति अथ परा यथा तदक्षरमधिगम्यते
—मुण्डक उपनिषद् १ पृ० ५

२ आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य । (याज्ञवल्क्य द्वारा दिया हुआ उपदेश) बृहदारण्यक उपनिषद् २, ४, ५

३ बृहदारण्यक उपनिषत्—१, ४ ६, १०

४ तस्मादात्मज्ञ ह्यर्चयेद् भूतिकाम । —मुण्डक उप० ३-१ १०

५ मुण्डक उपनिषत् १, २, ७।१, २, १० महाभारत शान्ति पर्व अ० २४१, १ १०

६ (क) यास्काचार्य प्रणीत निरुक्त, परिशिष्ट २, ८, ६
(ख) छादोग्य उपनिषद् निरुक्त ५, १०, ३-७
(ग) प्रश्न उप० १-६
(घ) भगवद्गीता १-६, २०, २१

७ अथर्ववेद—काण्ड १५-सूक्त १ (११), १ (१२), १ (१३)

उपनिषद्—ईश केन कठ प्रश्न मुण्डक माण्डूक्य ऐतरेय तैत्तरीय छान्दोग्य बृहदारण्यक और श्वेताश्वतर अधिक प्रामाणिक हैं चूंकि इन उपनिषदों में महाभारत काल से लेकर बुद्ध महावीर काल तक की वैदिक और श्रमण दो मौलिक संस्कृतियों के सम्मेलन की कथा अंकित है[1] चूंकि इनमें जिज्ञासु ऋषियों की सरल विचारणा सत्यपरायणता और तत्कालीन आध्यात्मिक शिक्षा-दीक्षा के जीते-जागते चित्र दिए गए हैं चूंकि इन में प्राय ऋषियों के तत्त्वज्ञान का अंतिम निष्कर्ष दिया हुआ है जो वेदान्तदर्शन के नाम से प्रसिद्ध है चूंकि ये आधुनिक हिन्दू दर्शनशास्त्र के मूलाधार हैं इन्हीं का दोहन करके २ बी सी के लगभग युग काल में गीता का विकास हुआ है इन्हीं का दोहन करके २ बी सी के लगभग बादरायण ऋषि के नाम से ब्रह्मसूत्र की रचना की गई है इसलिये इनका भारतीय साहित्य में एक अमूल्य स्थान है बुद्ध और महावीर से पहले की भारतीय संस्कृति को जानने के लिये इनका अध्ययन बहुत ही आवश्यक है उस जमाने की शिक्षापद्धति के अनुसार इन उपनिषदों की कथनशैली आलंकारिक है तत्त्व-बोध के लिये नित्य अनुभव में आनेवाली प्राकृतिक वस्तुओं को प्रतीक रूप में (Symbols) प्रयुक्त किया गया है. जगह-जगह याज्ञिक परिभाषाओं को भी काम में लाया गया है आध्यात्मिक आख्यानों का रूपकों की (Parables) शक्ल में पेश किया गया है इस कारण पिछले आचार्यों को इन्हें अपने-अपने साम्प्रदायिक सांचे में ढालने के लिये इनकी व्याख्या करने में खींचातानी करने की बहुत सुविधा मिल गई है इस खींचातानी के कारण ही दार्शनिक युग में ब्राह्मण आचार्यों ने कितने ही नये वेदान्त दर्शनों को जन्म दिया है कुछ भी हो यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि उस जमाने के ऋषियों की कथनशैली दार्शनिक और वैज्ञानिक ढंग की न थी

उस समय ब्रह्मज्ञान के प्रसार में पिप्पलाद नारायण श्वेतकेतु, भृगु, वामदेव अंगिरस याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों के अलावा जिन क्षत्रिय राजाओं ने बड़ा भाग लिया है वे हैं कैकेयदेश के अश्वपति पांचाल देशके प्रवाहण जैवलि काशीके अजातशत्रु, विदेह के जनक और दक्षिण देशके वैवस्वत यम आदि इसके आख्यानों के कुछ नमूने यहां उद्धृत किये जाते हैं

प्रवाहण जयवलि की कथा—एक बार अरुणि-गौतम ऋषि का पुत्र श्वेतकेतु पांचाल देश के क्षत्रियों की सभा में गया तब पांचाल के राजा प्रवाहण जयवलि ने उस को कहा—हे कुमार ! क्या तुझे तेरे पिता ने शिक्षा दी है ? यह सुनकर उसने उत्तर दिया—हां भगवन् ! उसने मुझे शिक्षा दी है राजा ने कहा—हे श्वेतकेतु ! जिस प्रकार मर कर प्रजाएँ परलोक को जाती हैं क्या तू उसे जानता है ? उसने कहा—भगवन् ! मैं नहीं जानता

राजा ने कहा—जिस प्रकार से प्रजायें पुन जन्म लेती हैं क्या तू उसे जानता है ? उसने कहा—भगवन् ! मैं नहीं जानता राजा ने पूछा—क्या तू देवयान और पितृयान के मार्गों की विभिन्नता को जानता है ? उसने कहा—भगवन् ! मैं नहीं जानता उसके बाद राजा ने फिर पूछा—जिस प्रकार यह लोक और परलोक कभी जीवों से नहीं भरता क्या तू उसे जानता है ? उसने कहा भगवन् ! मैं नहीं जानता राजा ने फिर पूछा—जिस प्रकार गर्भ में पुरुषाकृति बन जाती है क्या तू उसे जानता है ? उसने कहा—भगवन् ! मैं नहीं जानता

तदनन्तर राजा ने कहा—जो मनुष्य इन प्रश्नों का उत्तर नहीं जानता वह किस भांति अपने को सुशिक्षित कह सकता है ? इस प्रकार प्रवाहण राजा से पराजित हो वह श्वेतकेतु अपने पिता अरुणि के स्थान पर गया और कहने लगा—आपने मुझे बिना शिक्षा दिये हुए ही यह कैसे कह दिया कि मुझे शिक्षा दे दी गई है ?

राजा ने मुझसे पांच प्रश्न पूछे परन्तु मैं उनमें से एक का भी उत्तर देने में समर्थ न हो सका तब अरुणि बोला—मैं भी इन प्रश्नों का उत्तर नहीं जानता यदि मैं इनका उत्तर जानता होता तो तुम्हें कैसे न बताता !

---

१ A Upnishads are the product of the Aryan and Dravidian intermixture of Cultures.
—Keith— Religion and Philosophy of the Vedas and Upnishads. Page 447

B D Winternitz—History of Indian Literature Vol I P 220-244.

छान्दोग्य उपनिषद् ५. ३ बृहदारण्यक उपनिषद् ६।

विद्याएँ, जिन्हे वे अमूल्य निधि जानकर परम्परा से पढते और पढाते चले आये थे, उनको अपरा अर्थात् साधारण, लौकिक विद्याएँ भासने लगी[1] अब धन और सुवर्ण, गाय और घोडे, पुत्र और पौत्र, खेत और जमीन, राज्य व अन्य लौकिक सम्पदाये, जिनकी प्राप्ति, रक्षा तथा वृद्धि के लिये वे निरन्तर इन्द्र और अग्नि मे प्रार्थनाये किया करते थे, उनकी दृष्टि मे सब हेय तुच्छ और सारहीन वस्तुएँ दिखाई देने लगी अब उनके लिये आत्मविद्या ही परम विद्या बन गयी आत्मा ही देखने जानने और मनन करने योग्य परम सत्य हो गया[2]

अब उन्हे भासने लगा कि जो आत्मा से भिन्न सूर्य, इन्द्र, वायु अग्नि आदि देवो की उपासना करते हैं वे देवो के दास हैं, वे लद्दू पशुओ के समान देवो के भार को उठाने वाले वाहन है परन्तु जो आत्मा की अद्भुत विश्वव्यापी शक्तियो को जानकर आत्मा के उपासक हैं वे सर्वभू (सर्वान्तिर्यामी), परिभू (विश्वव्यापी) स्वयम्भू (स्वतन्त्र) बन जाते हैं,[3] वे आत्मज्ञानी ही ससारपूजनीय हैं[4] यज्ञ याग आदि श्रौत कर्म ससारबन्धन का कारण है और ज्ञान मुक्ति का कारण कर्म करने से जीव बार-बार जन्म मरण के चक्कर मे पडता है परन्तु ज्ञान के प्रभाव से वह ससार-सागर से उभर अक्षय परमात्मपद को पा लेता है नासमझ आदमी ही इन कर्मों की प्रशसा करते है, इससे उन्हे बार-बार शरीर धारण करना पडता है[5] जो ज्ञान को त्याग कर वेदोक्त यज्ञ यजन कर्म करने वाले है, अथवा ऐहिक आकाक्षाओ से प्रेरित दान आदि पुण्य कर्म करने वाले है, वे सब पितृयान मार्ग के पथिक है, वे धूम, कृष्ण पक्ष, दक्षिणायन पथ से पितृलोक, चन्द्रलोक, स्वर्ग को जाते है, पुण्य-अवधि क्षीण होने पर पुन इसी मर्त्य-लोक मे आकर जन्म धारण करते है ज्ञानी जन द्वारा ये कर्म अपनाने योग्य नही हैं[6]

व्रात्यो के प्रति आदर—इस जिज्ञासा के फलस्वरूप उनका व्रात्यो और यतियो के प्रति आदर और सहिष्णुता का व्यवहार बढने लगा ब्राह्मण ऋषियो ने गृहस्थ लोगो के लिये यह नियम कर दिया कि जब कभी व्रात्य (व्रतधारी साधु) अथवा श्रमणजन घूमते-फिरते हुए आहार-पान के लिये उनके घर आवें तो उनके साथ अत्यन्त विनय का व्यवहार किया जावे, यहा तक कि यदि उनके आने के समय गृहपति अग्निहोत्र मे व्यस्त हो तो गृहपति को अग्निहोत्र का उपक्रम छोड कर उनका आतिथ्य सत्कार करना अधिक फलदायक है[7]

ब्रह्मविद्या की खोज—ज्ञान की इस अदम्य प्यास से व्याकुल हो अनेक प्रसिद्ध ऋषिकुलो के पूर्ण शिक्षा प्राप्त नवयुवक घर-बार छोड ब्रह्मविद्या की खोज मे निकल गये वे दूर-दूर की यात्रायें करते हुए, जगलो की खाक छानते हुए, गान्धार से विदेह तक, पाचाल से यमदेश तक, विभिन्न देशो मे विचरते हुए, ब्रह्मविद्या के पुराने जानकार क्षत्रिय घरानो मे पहुचने लगे वे वहा शिष्य भाव से ठहर कर इन्द्रियसयम, ब्रह्मचर्य, तप, त्याग और स्वाध्याय का जीवन बिताने लगे

इनकी इस अपूर्व जिज्ञासा, महान् उद्यम और रहस्यमय सवादो के आख्यान भारतीय वाङ्मय के जिन ग्रथो मे सुरक्षित हैं वे उपनिषत् सज्ञा से प्रसिद्ध है यो तो ये उपनिषत् सख्या मे २०८ से भी अधिक है परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से ११ मुख्य

---

१ तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेद सामवेदोऽथर्ववेद शिक्षा कल्पो व्याकरण निरुक्त छन्दो ज्योतिष्मति अथ परा यथा तदक्षरमधिगम्यते
—मुण्डक उपनिषद् १ पृ० ५

२ आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य । (याज्ञवल्क्य द्वारा दिया हुआ उपदेश) बृहदारण्यक उपनिषद् २, ४, ५

३ बृहदारण्यक उपनिषत्–१, ४ ६, १०

४ तस्मादात्मज्ञ ह्यर्चयेद् भूतिकाम । —मुण्डक उप० ३-१-१०

५ मुण्डक उपनिषत् १, २, ७।१, २, १० महाभारत शान्ति पर्व अ० २४१, १ १०

६ (क) यास्काचार्य प्रणीत निरुक्त, परिशिष्ट २, ८, ९
(ख) छान्दोग्य उपनिषद् निरुक्त ५, १०, ३-७
(ग) प्रश्न उप० १-९
(घ) भगवद्गीता १-९, २०, २१

७ अथर्ववेद—काण्ड १५–सूक्त १ (११), १ (१२), १ (१३)

(तिरहुत बिहार) में से घूमता हुआ काशीराज अजातशत्रु के पास आत्मचर्चा के लिये पहुँचा और कहने लगा कि मैं तुझे ब्रह्म की बात बताऊँगा अजातशत्रु ने कहा कि यदि तुम ब्रह्म की व्याख्या कर पाओगे तो मैं तुम्हें एक हजार गायें दक्षिणा में दूंगा गार्ग्य ने व्याख्या करनी चाही परन्तु वह सफल न हुआ उसका आज तक का शिक्षण आधिदैविक परम्परा में हुआ था अतः स्वभावतः उसकी दृष्टि बाह्यमुखी थी उसने बाह्य के महिमावान पदार्थों में ब्रह्म का साक्षात्कार करते हुए कहा—'यह जो सूर्यमण्डल में पुरुष है यह जो चन्द्रमण्डल में पुरुष है यह जो विद्युन्मण्डल में पुरुष है यह जो मेघमण्डल में पुरुष है यह जो आकाशमण्डल में पुरुष है यह जो वायुमण्डल में पुरुष है यह जो अग्निमण्डल में पुरुष है यह जो जलमण्डल में पुरुष है यह जो दर्पण में पुरुष है यह जो प्रतिध्वनि में पुरुष है यह जो छाया में पुरुष है इसी को मैं ब्रह्मरूप में उपासना करता हूँ यह जो शरीर है यह जो प्रज्ञा है यह जो दाहिने नेत्र में पुरुष है यह जो बायें नेत्र में पुरुष है इसी को मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ इतना कुछ कहने पर अजातशत्रु ने कहा कि क्या इतना ही तेरा ब्रह्मज्ञान है ? इस पर गार्ग्य ने कहा—हाँ इतना ही तब अजातशत्रु ने कहा कि तू वृथा ही मुझ से ब्रह्म का संवाद करने आया है इनमें से कोई भी ब्रह्म नहीं है ये सब तो उसके कर्म मात्र हैं इनका जो कर्ता है वह जानने योग्य है तदनन्तर हाथ में समिधा ले उसके पास जाकर बोला—'मैं तेरे पास शिष्य भाव से आया हूँ तू मुझे आत्मविद्या का उपदेश दे' तब अजातशत्रु ने उसे बताया कि जैसे क्षुरधान में क्षुर काष्ठ में अग्नि सर्वत्र व्याप्त है ऐसे ही शरीर में नख से शिखा तक आत्मा व्याप्त है उस साक्षी आत्मा का ये वाक् मन नेत्र कर्ण आदि सभी इन्द्रियाँ अनुगत सेवक की तरह अनुसरण करती हैं जैसे एक धनी पुरुष का उसके आश्रित रहने वाले स्वजन अनुवर्तन करते हैं सोते समय ये सभी शक्तियाँ आत्मा में लीन हो जाती हैं और उसके जागने पर अग्नि में से निकलने वाली चिनगारियों के समान ये समस्त शक्तियाँ निकल कर अपने अपने काम में लग जाती हैं

सनत्कुमार की कथा[1]—एक समय नारद महात्मा ने सनत्कुमार के पास जाकर कहा—'हे भगवन् ! मुझे ब्रह्मविद्या पढ़ाइये' सनत्कुमार ने उनको कहा—'पहले जो कुछ तू जानता है मेरे समीप बैठकर मुझे सुना दे उसके बाद मैं तुझे बताऊँगा' नारद ने कहा— भगवन् ! मैं ऋग्वेद को जानता हूँ यजुर्वेद को सामवेद को चौथे अथर्ववेद को पाँचवें इतिहास-पुराण को वेदों के वेद व्याकरण को पितृविज्ञान को गणित शास्त्र को भाग्यविज्ञान को निधिज्ञान को तर्कशास्त्र को नीतिशास्त्र को देवविद्या को भक्तिशास्त्र को भूतविद्या को धनुर्विद्या को ज्योतिष सर्पविद्या संगीत नृत्य विद्या को जानता हूँ हे भगवन् ! इन समस्त विद्याओं से सम्पन्न मैं मन्त्रवित् ही हूँ परन्तु आत्मा का ज्ञाता नहीं हूँ मैंने आप जैसे महापुरुषों से सुना है कि जो आत्मवित् होता है वह जन्म-मरण के शोक को तर जाता है परन्तु भगवन् ! मैं अभी तक शोक में डूबा हुआ हूँ मुझे शोक से पार कर दें' सनत्कुमार ने नारद से कहा—'तुमने आजतक जो कुछ अध्ययन किया है वह नाम मात्र ही है' इसके उपरान्त सनत्कुमार ने आत्मविद्या देकर नारद को सन्तुष्ट किया

वैवस्वत यम और नचिकेता की गाथा—कठ उपनिषद् में औद्दालकि आरुणि गौतम के पुत्र नचिकेता ऋषि की एक कथा दी गई है एक बार नचिकेता जो जन्म से ही बड़ा त्यागी और विचारशील था अपने पिता के संकुचित व्यवहार से रुष्ट होकर भाग गया वह आत्मिलाभ के लिए वैवस्वत यम के घर पहुँचा पर उस समय वैवस्वत बाहर गया हुआ था उसके बाहर जाने के कारण नचिकेता को तीन रात भूखा रहना पड़ा वापिस आने पर घर में भूखे अतिथि को देखकर यम को बड़ा खेद हुआ अपने पाप की निवृत्ति यम ने नचिकेता को तीन रात के कष्ट के बदले तीन वर मांगने के लिये कहा नचिकेता के मांगे हुए पहले दो वर यम ने उसे तुरन्त दे दिये फिर नचिकेता ने तीसरा वर इस प्रकार मांगा—'मर जाने के बाद मनुष्य के विषय में सन्देह है—कोई कहते हैं कि रहता है कोई कोई कहते हैं कि नहीं रहता यह क्या है मुझे समझाइये कि असल बात क्या है ? यही मेरा तीसरा वर है'

इस पर यम ने नचिकेता को उत्तर देते हुए कहा—'इस विषय में तो पुराने देवगण अर्थात् विद्वज्जन भी सन्देह करते रहे हैं इसका जानना

1. छा[illegible] उपनिषद् अ[illegible] ७ खण्ड १ ।

उसके बाद वह अरुणि गौतम उन प्रश्नो का उत्तर जानने के लिये राजा प्रवाहण के पास गया राजा ने उसे आसन दे पानी मगवाया और उसका अर्घ्य किया तत्पश्चात् राजा ने कहा—हे पूज्य गौतम ! मनुष्य योग्य धन का वर मागो यह सुनकर गौतम ने कहा—ह राजन् ! मनुष्य धन तेरा ही धन है, मुझे नही चाहिए मुझे तो वह वार्ता बता दे जो तूने मेरे पुत्र से कही थी

गौतम की यह प्रार्थना सुन राजा सोच मे पड गया सोच-विचार करने पर उसने ऋषि से कहा —यदि यही वर चाहिए तो चिरकाल तक व्रत धारण करके मेरे पास रहो नियत साधना करने पर राजा ने उसे कहा—हे गौतम ! जिस विद्या को तू लेना चाहता हे, उसे मैं अब देने को तैयार हू, परन्तु यह विद्या पूर्व काल मे तुझ से पहले ब्राह्मणो को प्राप्त नही होती थी, चूकि सारे देशो मे क्षत्रियो का ही शासन था क्षत्रिय क्षत्रियो को ही सिखाते थे[1] यह कहकर राजा ने पाच प्रश्नो का रहस्य गौतम को बताना शुरू कर दिया पण्डित जयचन्द विद्यालकार और डा० पार्जीटर के कथनानुसार पाचाल नरेश प्रवाहण जैवलि-जन्मेजय के पौत्र अश्वमेध दत्त अर्थात् पाण्डवपुत्र अर्जुन की पाचवी पीढी के समकालीन था[2] इस तरह उक्त वार्ता का समय लगभग १४ सौ ईसवी पूर्व होना चाहिए

कैकेय अश्वपति की कथा[3]—कैकेय देश का राजा अश्वपति परीक्षित और जन्मेजय का समकालीन था कैकेय देश (आधुनिक शाहपुर जेहलम गुजरात जिला) गान्धार से ठीक पूर्व मे सटा हुआ है कैकेय अश्वपति की कीर्ति उसकी सुन्दर राज्यव्यवस्था और उसके ज्ञान के कारण सब ओर फैली हुई थी[4]

एक बार का कथन है कि उपमन्यु का पुत्र, प्राचीन शाल, पुलुषि का पुत्र सत्ययज्ञ, मालवी का पुत्र इन्द्रद्युमन, शर्कराक्ष का पुत्र जन और अश्वतराश्वि का पुत्र बुडिल जो बडी-बडी शालाओ के अध्यक्ष थे और महाज्ञानी थे, आपस मे मिलकर विचारने लगे 'हमारा आत्मा कौन है ? ब्रह्म क्या वस्तु है?' उन्होने निश्चय किया कि इन प्रश्नो का उत्तर वरुण-वशीय उद्दालक ऋषि ही दे सकता है, वह ही इस समय आत्मा के ज्ञान को जानता है, चलो उसके पास चले

उन आगन्तुको को देख उद्दालक ऋषि ने विचार किया कि ये सभी ऋषि महाशाला वाले है और महाश्रोत्रिय हैं, उन को उत्तर देने के लिये मैं समर्थ नही हूँ उसने कहा कि इस समय कैकेय अश्वपति ही आत्मा का सब प्रकार ज्ञाता है, आओ उसके पास चलें वहा पहुँचने पर अश्वपति ने उनका सत्कार किया और कहा 'मेरे देश मे न कोई चोर है, न कृपण, न शराबी, न अग्निहोत्र रहित, न कोई अपढ है और न व्यभिचारी, व्यभिचारिणी तो होगी ही कहा से ?' आप इस पुण्य देश मे ठहरे मैं यज्ञ करने वाला हूँ आप उसमे ऋत्विज बने, मैं आपको बहुत दक्षिणा दूगा उन्होने कहा—हम आपसे दक्षिणा लेने नही आये है, हम तो आपसे आत्मज्ञान लेने आये हैं अश्वपति ने उन्हे अगले दिन सवेरे उपदेश देने का वायदा किया अगले दिन प्रात काल वे समिधाएँ हाथो मे लिये उसके पास पहुँचे और अश्वपति ने उन्हे आत्मज्ञान दिया

अजातशत्रु की कथा[5]—काशीनरेश अजातशत्रु, विदेह के राजा जनक उग्रसेन तथा कुरुराज जनमेजय के पुत्र शतानीक का समकालीन था वह अपने समय का एक माना हुआ आत्मज्ञानी था और ज्ञान की चर्चा मे अभिरुचि रखने वाले विद्वानो का भक्त था एक बार आत्मविद्याभिमानी गर्गगोत्रीय दृप्त बालाकि नाम वाला ब्राह्मण ऋषि उशीनर (बहावल पुर का प्रदेश) मत्स्य (जयपुर राज्य) कुरु (मेरठ जिला) पाचाल, (रुहेलखण्ड, आगरा का इलाका) काशी, विदेह,

१ 'सह कृच्छ्री बभूव त ह चिर वसेत्याज्ञापयाचकार त हो वाचयथा मा त्व गौतमावदो यथेय न प्राक् त्वत पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति तस्मात् सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति —छा० उप० ५-३-७

२ भारतीय इतिहास की रूपरेखा—जिल्द प्रथम, पृष्ठ २८६

३ छा० उप० ५-११, १२ महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ७७

४ भारतीय इतिहास की रूपरेखा जिल्द प्रथम पृ० २८६

५ (अ) बृहदारण्यक उपनिषत् २, १ (आ) कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषत् अध्याय ४
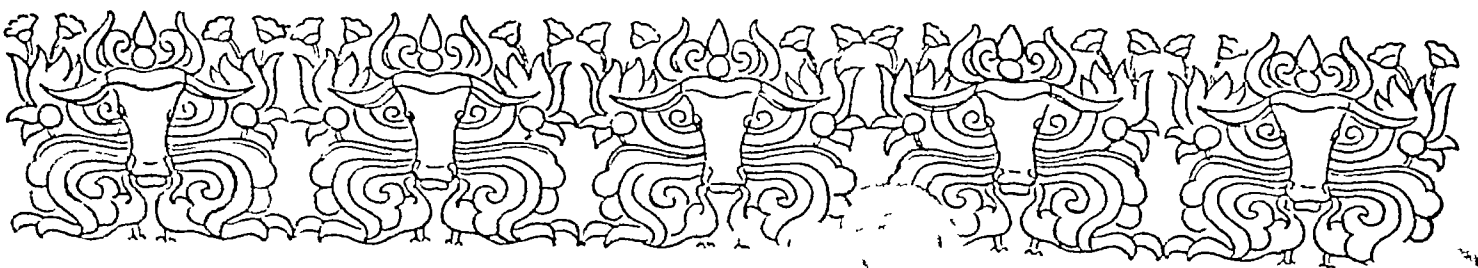
से किसी विशेष व्यक्ति का नाम न रहकर उस शाखा के राजाओं की उपाधि बन गई थी सूर्यवंशी क्षत्रियों की यह यम शाखा अपनी दान-दक्षिणा न्यायशीलता और ब्रह्मचर्या के लिये बहुत प्रसिद्ध थी इसी कारण इस शाखा का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण १३ ४ ३ ६[1] और ऋग्वेद के दसवें मण्डल के दसवें सूक्त तथा अथर्व १८ काण्ड के पहले सूक्त में भी भी मिलता है उक्त उल्लेखों से यम लोगों की ज्ञानलिप्सा व सभ्यता का पर्याप्त परिचय प्राप्त होता है. ईरान की धर्म पुस्तक जन्द अवस्ता (Zend Avesta) में यम को मित्र कहा गया है तथा यम को प्रथम राजा एवं धर्म और सभ्यता का संस्थापक बतलाया गया है वहां यह भी उल्लिखित है कि सदाचारी लोग मित्र के साथ अहुरमज्द (असुरमहत वृषभ) का भी दर्शन करते हैं वैदिक साहित्य के अनुरूप ही जन्द अवस्त में यम के पिता का नाम विमस्वत (विस्वत) दिया हुआ है और यमपुरी को धर्मात्मा लोगों की निवासभूमि बतलाया गया है

अध्यात्मविद्या की शिक्षा-दीक्षा पद्धति—उल्लिखित आख्यानों से यह स्पष्ट है कि भारत म अध्यात्म विद्या के वास्तविक जानकार क्षत्रिय लोग थे परम्परा से उन्हीं लोगों में अध्यात्म तत्त्वों का मनन होता चला आ रहा था और उन्हीं के महापुरुष घर-बार छोड़ भिक्षु बन जंगलों में रहते हुए तप ध्यान श्रद्धा द्वारा आत्म-साधना किया करते थे[1] उन्होंने यह विद्या उस समय तक ब्राह्मण लोगों को न दी जब तक उन्हें परीक्षा करके यह विश्वास न हो गया कि वे (ब्राह्मण) लोग शुद्ध बुद्धि नम्रभाव एवं शिष्य वृत्ति से इसे ग्रहण करने के लिये उत्सुक हैं

अध्यात्मबोध पाने के लिये परिग्रह से विरक्ति और मन वचन काय की शुद्धि की आवश्यकता होती है । इसी साधना के अर्थ पातञ्जलयोग दर्शन में यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधि रूप अष्टांग मार्ग की व्याख्या की गई है

अध्यात्मविद्या अनधिकारी के हाथों में पड़कर दूषित न हो जाय[3] इस विचार से अध्यात्मवादी क्षत्रियों का सदा यह नियम रहा है कि यह विद्या श्रद्धालु और शान्तचित्त शिष्यों के सिवाय किसी और को न दी जाय चाहे वह सागर से घिरी धनपूर्ण सम्पूर्ण पृथ्वी भी पुरस्कार में देने को तैयार हो[4] इसी कारण उपनिषदों में अध्यात्मविद्या को रहस्य विद्या व गुह्यविद्या कहा गया है. स्वयं उपनिषद् (उप+निषद्) शब्द का अर्थ है पूज्य पुरुषों के चरणों में रह कर उनके सान्निध्य से प्राप्त होने वाली विद्या अर्थात् वह रहस्य विद्या जो गुरु के निकट रह कर साक्षात् उनकी वाणी और जीवन से ग्रहण की जाती है इस प्रकार विनीत श्रद्धालु और अन्तेवासी शिष्यों को एकान्त में मौखिक रूप से आध्यात्मिक शिक्षा देने की प्रथा केवल उपनिषद्‌काल में ही प्रचलित न थी बल्कि यह प्रथा भारत के शैव शाक्त जैन बौद्ध आदि अध्यात्मवादी लोगों में आज तक भी प्रचलित है इसी प्रथा का फल है कि आज से पचास वर्ष पहले

---

१ यमो वैवस्वतो राजेत्याह तस्य—शत १३ ४ ३ ६ अर्थात् विवस्वत के पुत्र यम राजा ने कहा है
तप श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः ।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा । मुण्डक उप १ २ ११ ।

३ विभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति—महाभारत आदिपर्व १—२६७ । अर्थात् वेद अल्पज्ञ से डरता है कि कहीं यह मुझे बिगाड़ न दे

४ (अ) वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम् ।
नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्राय शिष्याय वा पुनः ।
यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ श्वेताश्वतर उप ६–२२–२३
(आ) इदं वाव तज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात् प्रणाय्याय वान्तेवासिने । नान्यस्मै कस्मैचन यद्यप्यस्मा इमामद्भिः परिगृहीतां धनस्य पूर्णां दद्यात् एतदेव ततो भूय इत्येतदेव ततो भूय इति—छान्दोग्य उप ३–११ ५–६
(इ) मुण्डक उपनिषद्—१ १ २, ११
(ई) आत्मानात्मप्रज्ञा विवेक १–२

सुगम नही है यह विषय बहुत सूक्ष्म है नचिकेता ! तुम कोई दूसरा वर माग लो, इसे छोड दो, मुझे बहुत विवश न करो'

इस पर नचिकेता ने कहा—'निश्चय से ही यदि देवो ने भी इसमे सन्देह किया है और आप स्वय भी इसे सुगम नही कहते तो आप जैसा इसका वक्ता दूसरा कौन मिल सकता है, इसके समान दूसरा वर भी क्या हो सकता है ?'

यम ने परीक्षार्थ यह जानने के लिये कि नचिकेता आत्मज्ञान का अधिकारी है या नही, उसे बहुत से प्रलोभन दिये हे नचिकेता ! तू सौ वर्ष की आयु वाले पुत्र और पौत्र माँग बहुत से पशु, हाथी, घोडे और सोना माग, भूमि का बहुत बडा भाग माग और जबतक तू जीना चाहे उतनी आयु का वर माग तू इस विशाल भूमि का राजा बन जा जो भी कामनाये तू इस लोक मे दुर्लभ समझ रहा है वे सभी जी खोलकर तू मुझ से माग रथो और बाजो सहित ये अलभ्य रमणिया तेरी सेवा के लिये देता हू इन सभी वस्तुओ को ले ले, परन्तु हे नचिकेता ! मरने के अनन्तर की बात मुझ से न पूछ'

पर नचिकेता इन प्रलोभनो से तनिक भी भ्रम मे न पडा वह बोला—'हे यम ! ये सब उपभोग के सामान दो दिन के हैं, ये सब इन्द्रियो का तेज नष्ट करने वाले है जीवन अल्पकाल तक ही रहने वाला है इसलिये ये सब नाच-गान, हाथी-घोडे मुझे नही चाहिए, धन से कभी तृप्ति नही होती मुझे तो वही वर चाहिए' नचिकेता की इस सच्ची लगन को देख यम विवश हो गया उसने अन्त मे जन्म-मरण सम्बन्धी आत्मज्ञान दे नचिकेता के छटपटाये हुए दिल को शान्ति दी

उपरोक्त कथा मे जिस नचिकेता का उल्लेख है वह कठ जाति का ब्राह्मण मालूम होता है प्राचीन काल मे यह जाति पजाब के उत्तर की ओर रावी नदी से पूर्व वाले देश मे, जिसे आजकल माझा (लाहौर, अमृतसर वाला देश) कहते हैं, रहा करती थी इसी कारण इस देश का पुराना नाम कठ है[1] उपर्युक्त कथा के समय यह जाति मध्यदेश अर्थात् आर्यखण्ड मे बसी हुई थी

यम और यमलोक—वैवस्वत यम, जिसके पास नचिकेता ज्ञान-प्राप्ति के लिये गया था, उस मगध देशवासी सूर्यवशी यम शाखा का एक क्षत्रिय राजा मालूम होता है, जिसने मध्यदेश के दक्षिण की ओर एक स्वतन्त्र जनपद कायम कर लिया था जैन परम्परा के अनुसार इस शाखा का मूल सस्थापक आदि ब्रह्मा वृषभ अपर नाम विवस्वत मनु का पुत्र बाहुबली था आदि ब्रह्मा ने प्रव्रज्या लेने से पहले भारतभूमि का बटवारा कर उत्तर भारत का राज्य अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को और दक्षिण का भाग बाहुबली को दे दिया था बाहुबली ने दक्षिण के अशमक (कर्णाटक) देश के पोदनपुर स्थान पर अपनी राजधानी बसा ली थी[2] बाहुबली पीछे से राज्य छोड त्यागी तपस्वी हो गया था और उसने एक साल पर्यन्त कायोत्सर्ग मुद्रा मे खडे रहकर मन वचन काय तथा समस्त इन्द्रियो के यमन द्वारा ऐसी घोर तपस्या की थी कि उसे देख कर देव, असुर, मनुष्य सभी लोग चकित हो गये थे उस तपस्या के द्वारा उसने यम व मृत्यु का सदा के लिये अन्त कर दिया था वह मृत्यु की मृत्यु बन गया था[3] इसलिये वह लोक मे यम नाम से प्रसिद्ध हुआ और पीछे से इस शाखा के राजा यम व जम के ही नाम से पुकारे जाने लगे इस तरह यह उनकी एक परम्परागत उपाधि बन गई और कर्णाटक देश यमलोक के नामसे प्रसिद्ध हुआ इसीलिए भारतीय अनुश्रुति मे दक्षिण का अधिष्ठाता देवता यम कहा गया है,[4] यम पीछे

---

१ जयचन्द विद्यालकार—भारतीय इतिहास को रूपरेखा प्रथम जिल्द पृ० ?९०

२ (क) विन्ध्यगिरि पर्वत का शिलालेख—लगभग शक स० ११०२ वाला जैन शिलालेख सग्रह प्रथम भाग पृ० १६१-१७५

(ख) नव सदी का श्रीगुणभद्राचार्य विरचित उत्तरपुराण

(ग) छठी सदी के पूज्यपाद स्वामी ने अपने निर्वाण भक्ति ग्रन्थ में विन्ध्यगिरि के पोदनपुर नगर का सिद्धतीर्थ के रूप में उल्लेख किया है

(घ) वि० स० १२८५ का श्रीमदनकीर्ति यति द्वारा रचित शासनचतुर्विंशिका ।२।

३ अथर्ववेद ८ १०, ४ ६, में यम को मृत्यु का आदि अन्तक कहा गया है और उसे पितरों में सबसे प्रमुख पित्र बताया गया है उसका स्वधा शब्द पूर्वक श्राद्ध करने को कहा गया है

४ बृहदारण्यक उपनिषत् ३ ९, २१

भी जिनका नाम मात्र प्रसगवश वैदिक वाङ्मय[1] में मिलता है और जिनका सविस्तार निर्देश जैन वाङ्मय[2] के १४ पूर्वो के कथन मे दिया हुआ है कोई लिखित साहित्य मौजूद नही है

श्रुति (श्रुति ज्ञान) की परम्परा वैदिक सूक्तों से भी अति प्राचीन है—वैदिक परम्परा में साधारणतया वेदसहिताओं ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषदों को श्रुति की सज्ञा दी जाती है और तदुपरान्त शेष हिन्दु साहित्य को जिसमें श्रौत सूत्र गृह्य सूत्र कल्पसूत्र स्मृतिग्रन्थ आदि सम्मिलित है उन सभी को स्मृति की सज्ञा दी जाती है परन्तु वास्तव में इनमें से कोई भी रचना श्रुति' कहलाने की अधिकारी नही है भारत की सभी प्राचीन वैदिक तथा श्रमण अनुश्रुतियों के अनुसार भारतीय जन की सदा ही यह अटूट धारणा रही है कि सभी ज्ञान विज्ञान और कला सम्बन्धी विद्याओं का मूल स्रोत आदि ब्रह्मा आदिपुरुष आदि प्रजापति स्वयभू ब्रह्मा है. आदि ब्रह्मा के भिन्न शिष्यों प्रशिष्यों की प्रणाली द्वारा ये विद्यायें हम तक पहुची हैं उनके अनुवर्तों का उल्लेख तत्-तत् विद्या सम्बन्धी सभी प्राचीन रचनाओं में भिन्न-भिन्न ढग से किया गया है[3] इन रचनाओ के अतिरिक्त आदि ब्रह्मा की वाणी के द्वारा कथित जीवन-जगत सम्बन्धी अनेक तात्त्विक धार्मिक पौराणिक और ऐतिहासिक तथ्य जो वैदिक आर्यजनों के आगमन के पूर्व यहाँ के दस्युजनों को प्राप्त थे जिन्हें वे स्वयम्भू-कथित होने से अक्षय मान कर कठस्थ किये हुये थे कालप्रवाह में बहते-बहते सन्तति-प्रसन्तति क्रम से आये मनीषियों को भी सुनने को मिले हों वेद सूक्तों के निर्माता ऋषियों ने अपने सूक्तों में गूथे हुए तथ्यों की प्रामाणिकता-पुष्टि मे स्थान-स्थान पर इन श्रुतियो की ओर सकेत करते हुए अनुश्रुतम्' आदि शब्दो का प्रयोग किया है

इन उदाहरणो से पता लगता है कि श्रुतिज्ञान वेदसहिताओ म सकलित सूक्तो से भी प्राचीन है ये श्रुतियाँ आप्त-वचन होने क कारण स्वत प्रमाण मानी जाती रही है और इन श्रुतियों पर आधारित होने के कारण वेद-सूक्तों को भी श्रुति कहा जाने लगा है

मान्यताओं का श्रेय—इस अभाव पर से कुछ विद्वानो ने यह मत निर्धारित कर लिया है कि औपनिषदिक काल से पहले भारतीय लोगों को आत्मविद्या का कोई बोध न था भारत में अध्यात्मविद्या का जन्म उपनिषदों की रचना के साथ साथ या उससे कुछ पहले से हुआ है उनका यह मत कितना भ्रमपूर्ण है यह ऊपर वाले विवेचन से भलीभाति सिद्ध है औपनिषदिक काल आत्मविद्या का जन्मकाल नही है आत्मविद्या तो वैदिक आर्यगण के आने से भी बहुत पहले बल्कि यों कहिए कि सिन्धु घाटी की ३ वर्ष ईसा पूर्व मोहनजोदडोकालीन आध्यात्मिक मे सस्कृति से भी पहले यहाँ के व्रात्य यति श्रमण जिन अतिथि हस आदि कहलाने वाले योगी जनो क जीवन प्रवृत्त में हो रही थी औपनिषदिक काल तो उस युग का स्मारक है जब ब्राह्मण विद्वानों की निष्ठा वैदिक त्रिविद्या (ऋक यजु साम) से उठकर आत्मविद्या की

---

१ अथर्व वेद १५ १ (६) ७-१२ गोपथब्राह्मण पर्व १ १ शतपथ ब्रा १४-५ ४ १ बृहदारण्यक उप २ ४ १ छान्दोग्य ७ १ २ शांखायन श्रौत सूत्र १६२ आश्वलायन श्रौत सूत्र १ ऋ. अथर्व वेद १५ ७-२४ शतपथ ब्रा १३ ४ ३ ३-१४

२ (अ) षट्खण्डागम-धवला टीका जिल्द १ अमरावती सन् १९३९ पृ १ ० १२४ (आ) समवायाग सूत्र (इ) स्थानांग (ई) नन्दीसूत्र (उ) पाक्षिक सूत्र (ऊ) आठवीं सदी के आचार्य जिनसेनाचार्यकृत हरिवशपुराण १ ११ १४१ ( ) आठवीं सदी के स्वामी जिनसेन कृत महापुराण २ ११ २११ १४ १९५ १४७
(ए) अंगपण्णत्ति शुभचन्द्राचार्य कृत (ऐ) तत्त्वार्थराजवार्तिक-भट्टाकलक सकलकीर्तिकृत

३ (क) ऋग्वेद १ १०-१
(ग) शतपथ ब्राह्मण अन्तर्गत वंश ब्राह्मण १४ ६ ४ १४ ५, ११ १२
(घ) बृहदारण्यक उपनिषद् २ ६ ६ ४
( ) छान्दोग्य उपनिषद् ३ ५१ ४ ८ १४ १
(च) मुण्डक उप १ १ १ १ १ ३
(छ) महा शान्ति पर्व ३ ६ ५ ३ भागवत १
( ) आव नन्दिसूत्र स्थान प्रथम अध्याय

तक अविनय के भय से जैन विद्वानो को अपना साहित्य दूसरो को दिखाना या उसे मुद्रित कराना तक भी सह्य न था इसी कारण जैन साहित्य का परिचय बाहर के विद्वानो को आज तक बहुत कम हो पाया है

प्रश्न हो सकता है कि ये जिज्ञासु ब्राह्मण विद्वान ब्रह्मविद्या सीखने के लिये उन वनवासी त्यागी तपस्वी यतियो के पास क्यो नही गये जो साक्षात् धर्ममूर्ति और ब्रह्मविद्या की निधि थे ? उन्हे छोड कर वे गृहस्थ क्षत्रिय राजाओ के पास क्यो गये ? इसका उत्तर सम्भवत यही हो सकता है कि ब्राह्मण जन उस समय ब्रह्मविद्या की खोज मे न केवल अध्यात्मधनी क्षत्रिय कुलो मे प्रत्युत यतियो के पास भी पहुच रहे थे, परन्तु जो जिज्ञासु यतियो के सम्पर्क मे आये, वे ब्रह्मविद्या के ज्ञानमात्र से सन्तुष्ट न होकर स्वय यतियो के समान आत्मसाधना मे लग गये उन्होने ब्रह्मविद्या के तत्त्वो को सकलन करने और साहित्यिक रूप मे पेश करने का कोई यत्न नही किया केवल वे विद्वान् ही जो क्षत्रिय-घरानो से ब्रह्मविद्या ग्रहण करने के बाद भी गृहस्थ जीवन विताते रहे, इन तत्त्वो को आख्यानो के रूप मे सुरक्षित रखने का परिश्रम करते रहे इस कारण उपनिषदो मे उनके आख्यान आज भी उपलब्ध है

लिपिबोध और लिखित साहित्य—सिन्ध और पजाब के मोहनजोदडो और हडप्पा आदि पुराने नगरो के खडहरो से प्राप्त मोहरो के अभिलेखो से यह सिद्ध है कि भारतीय लोग ईसा पूर्व ३००० वर्ष से भी पहले लिपिविद्या और लेखन-कला से भलीभाति परिचित थे, परन्तु जैसा कि अन्य प्रमाणो से सिद्ध है, वे इस लेखनकला का प्रयोग आध्यात्मिक तत्त्वो तथा पौराणिक गाथाओ के सकलन के हेतु न करके केवल मुद्राकन व लौकिक व्यवसाय के लिये ही करते थे[१] अध्यात्मविद्या के प्रचार और प्रसार के लिये वे मौखिक शब्दो से ही काम लेते थे और शिष्य-प्रशिष्य परम्परा से ही वह मौखिक ज्ञान अग्रसर होता जाता था

इसीलिए उस काल मे विविध विद्याओ तथा धार्मिक और पौराणिक तथ्यो का बोध श्रुति व श्रुतज्ञान के नाम से प्रसिद्ध था अथवा गुरु-शिष्य परम्परा से विद्याओ के पदो को बार-बार घोख कर जबानी याद रखा जाता था इसलिए अभ्यास द्वारा जबानी याद रखी हुई विद्या को आम्नाय कहा जाता था प्राचीन भारतीय साहित्य मे धर्मशिक्षण सम्बन्धी ग्रथलेखन व पठन का कोई उल्लेख नही मिलता—केवल प्रवचन और श्रवण का ही उल्लेख मिलता है (कठ० उप० २–२–२३) जो श्रोता सतो की सगत मे रहकर प्रवचन सुनने मे प्रर्याप्त समय विताते थे, वे दीर्घश्रुत व बहु-श्रुत कहलाते थे (छादो० १०–७–३२) दूसरी ईस्वी सदी के प्रसिद्ध जैन ग्रथ तत्त्वार्थ सूत्र ९–२५ तक मे स्वाध्याय के अगो का वर्णन करते हुए वाचना पृच्छा, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश का वर्णन किया गया है, पठन का नही. जैसा कि यूनानी दूत मैगास्थनीज के वृत्तान्तो से विदित है, ईसा से ३०० वर्ष पूर्व मौर्य शासनकाल तक भारतीय लोगो के पास अपने कोई लिखे कानून तक मौजूद न थे[२] इसी तरह बौद्ध आचार्यों ने यद्यपि अपने आगमसाहित्य को २४० ईसा पूर्व मे सकलित कर लिया था परन्तु इस समय के बहुत बाद तक भी वे लिखित साहित्य का सृजन न कर सके भारत मे सबसे पुराने धार्मिक अभिलेख, जो आज तक उपलब्ध हो पाये हैं वे है जो अशोक की धर्मलिपि के नाम से प्रसिद्ध हैं ये सम्राट् अशोक ने[3] अपने शासन काल मे तीसरी सदी ईस्वी पूर्व स्तम्भो व शिला-खण्डो पर अकित कराये थे लिखित साहित्य के अभाव के कई कारण हो सकते है एक तो योग्य लेखन सामग्री और खासकर कागज का अभाव, दूसरे विद्वानो की महत्त्वाकाक्षा और सकीर्णता कि कही दूसरे भी पढ लिख कर उन जैसे विद्वान् न बन जावें तीसरे शिक्षा-दीक्षा की प्राचीन पद्धति ऊपर वाले कारणो मे से तीसरा कारण ही इस अभाव का प्रमुख कारण माना जाता है शिक्षा-दीक्षा की इस प्राचीन पद्धति के कारण ही भारत के तत्त्ववेत्ता क्षत्रिय विद्वानो ने लिखित रचनायें करने का प्रयास नही किया अध्यात्मविद्या ही क्या, इतिहासविद्या, पुराणविद्या, सर्पविद्या, पिशाचविद्या, असुरविद्या, विश्वविद्या, अगिरसविद्या, भूतविद्य, पितृविज्ञान, ब्रह्मविद्या, शब्दोच्चारण विद्या, गाथा आदि भारत की अनेक पुरानी विद्याओ का

१ Dr winternitz—History of Indian Literature Vol I, Introduction pp 31-40
२ Ancient India as described by Megsthnees—by Macrindle, 1877, p 69
३ कुछ विद्वानों का यह मत है कि ये समस्त अभिलेख अशोक के नहीं बल्कि इनमें कुछ उसके पौत्र सम्राट् सम्प्रति के हैं
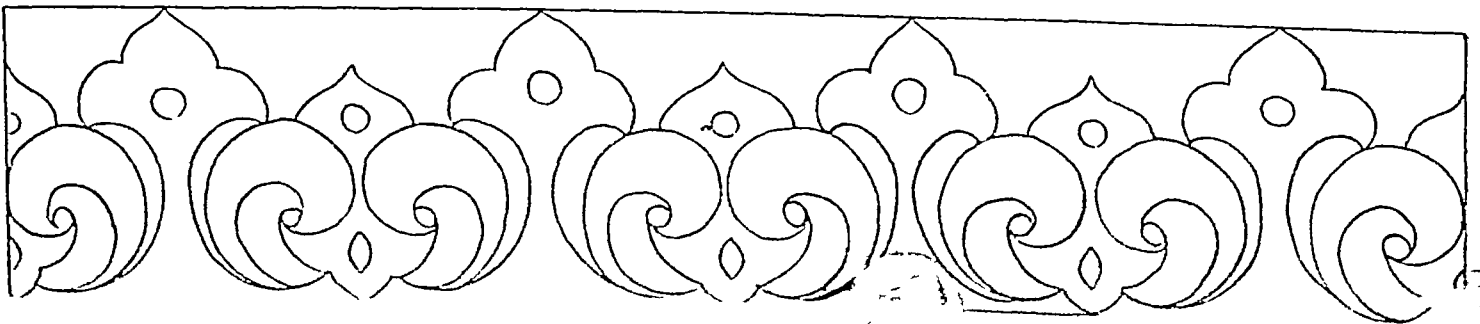
साध्वी श्रीनिर्मलाश्री
रिसर्च स्कॉलर, प्राकृत जैन विद्यापीठ मुजफ्फरपुर

जैनमतानुसार अभाव प्रमेयमीमांसा

प्रत्येक पदार्थ अपने लक्षण से ही ज्ञात होता है घट की सजातीय और विजातीय पदार्थों से व्यावृत्ति करके ज्ञाता उसका ज्ञान करता है यदि घट का ज्ञान करते समय सजातीय और विजातीय पदार्थों की व्यावृत्ति न की जाय तो घट के निश्चित रूप का ज्ञान नहीं हो सकता है अत सभी पदार्थ सदसदात्मक है उनमें सद् अंश को भाव या विधि कहा जाता है (विधि सदंश इति) और असद् अंश को प्रतिषेध अर्थात् अभाव कहा जाता है जैसे प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार[1] मे वादि-देवसूरि ने कहा है— प्रतिषेधोऽसदंश इति यदि पदार्थ को सदसदात्मक न माना जाय किन्तु केवल सद् रूप ही माना जाय तो किसी भी वस्तु के स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकेगा क्योंकि प्रत्येक वस्तु अभावरूप और व्यावृत्तिरूप होने पर ही स्वरूप-युक्त कही जाती है इसी तरह वस्तु को सर्वथा अभाव रूप माना जाय तो वस्तु का स्वरूप ही सिद्ध नही होगा अतएव प्रत्येक पदार्थ स्वरूप से सत् और पर रूप से असत् होने के कारण भाव और अभाव रूप है आचार्य श्रीहेमचन्द्र ने भी अपनी प्रमाणमीमांसा[2] में इसी बात का समर्थन किया है

सर्वमस्ति स्वरूपेण पर-रूपेण नास्ति च।
अन्यथा सर्वसत्त्वं स्यात् स्वरूपस्याप्यसंभवः।

प्रत्येक वस्तु स्व-स्वरूप से विद्यमान है और पर-स्वरूप से अविद्यमान है यदि वस्तु को पररूप से भी भावरूप स्वीकार किया जाय तो एक वस्तु के सद्भाव मे संपूर्ण वस्तुओं का सद्भाव मानना चाहिए, और यदि वस्तु को स्वरूप से भी अभावरूप माना जाय तो वस्तु को सर्वथा स्वभाव-रहित मानना चाहिए, जो कि वस्तुस्थिति से विपरीत है अर्थात् यदि वस्तु को अभावात्मक यानी सर्वथा शून्य ही माना जाय तो वाक्य का भी अभाव होने से—अभावात्मक तत्त्व—की स्वयं प्रतीति कैसे होगी ? तथा दूसरे को कैसे समझाया जायगा ? स्वप्रतिपत्ति का साधन है बोध तथा पर प्रतिपत्ति का उपाय है वाक्य इन दोनो के अभाव मे स्वपक्ष का साधन और पर-पक्ष का दूषण कैसे हो सकेगा ? इस तरह विचार करने से लोक का प्रत्येक पदार्थ भावाभावात्मक प्रतीत होता है

जो वादी वस्तु को पर-रूप मे असत् नही मानते है उन्हे घट को सर्वात्मक मानना चाहिए, क्योंकि घट जिस तरह स्वरूप से सत् है यदि उसी तरह पररूप से भी सत् हो तो घट किसी भी रूप से असत् न होने के कारण उस (घट) को सर्वात्मक मानना चाहिए, किन्तु वस्तुस्थिति वैसी नही है अत पररूप से असत् मानने से ही पदार्थ के निश्चित स्वरूप का भान हो सकता है स्व-सत्त्व को ही पर-असत्त्व नही कहा जा सकता क्योंकि विधि और प्रतिषेध दो विरोधी धर्म है यदि कहा जाय कि जैनसिद्धान्तानुसार भी एक ही जगह विधि और प्रतिषेध माना जाता है तो यह कथन भी उचित नही है क्योंकि जैन वस्तु के जिस अंश को सत् मानते है उसी अंश को असत् नही मानते है तथा उसके जिस अंश को असत् मानते है उसी अंश को सत् नही मानते है जैन सिद्धान्तानुसार वस्तु न सत् है न असत् पर सदसदात्मक

१ तृतीय परिच्छेद सूत्र ५७
२ १ १
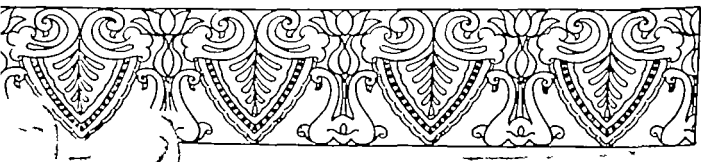
ओर झुकी और आत्मविद्या क्षत्रियो की सीमा से निकल कर ब्राह्मणो मे फैलनी शुरू हुई इस दिशा मे ब्राह्मण ऋषियो का श्रेय इस बात मे है कि उन्होंने सबसे पहले भारत के आध्यात्मिक दर्शन और उनके पौराणिक आख्यानो को उपनिषदो, ब्रह्मसूत्र, भिक्षुसूत्र, योगदर्शन व पुराणो की शकल मे सकलित व लिपिबद्ध करने का परिश्रम किया यदि इन के द्वारा सकलित की हुई अध्यात्मचर्चाए आज हमारे पास न होती तो बुद्ध और महावीर काल से पहले की आध्यात्मिक सस्कृति का साहित्यिक प्रमाण ढूढना हमारे लिये असम्भव था. जैन परम्परागत जो लिखित साहित्य आज उपलब्ध है उसका आरम्भ महावीरनिर्वाण के ५०० वर्ष बाद ईसा पूर्व की पहली सदी मे उस समय हुआ जब जैन आचार्यों को यह अच्छी तरह विदित हो गया कि अध्यात्मतत्त्व बोध दिनो दिन घटता जा रहा है और यदि इसे लिपिबद्ध न किया गया तो रहा सहा बोध भी लुप्त हो जायगा,[1]

अध्यात्मविद्या सभी लोगो में रहस्य विद्या बनकर रही है —भारत के सभी धर्मशास्त्रो मे जगह-जगह अधिकारी और अनधिकारी श्रोताओ के लक्षण देते हुए बतलाया गया है कि अध्यात्मविद्या का बखान उन्ही को किया जाय जो जितेन्द्रिय और प्रशान्त हो, हस के समान शुद्ध वृत्ति वाले हो, जो दोषो को टालकर केवल गुणो को ग्रहण करने वाले हो[2]

अध्यात्मविद्या को इस प्रकार अनधिकारी लोगो से सुरक्षित रखने का विधान केवल भारत के सन्तो तक ही सीमित नही रहा है भारत के अलावा जिन अन्य देशो मे आध्यात्मिक तत्त्वो का प्रसार हुआ है, वहाँ के आध्यात्मिक सन्तो ने भी इस विद्या को अनधिकारी लोगो से बचा रखने का भरसक यत्न किया है। आज से लगभग २००० वर्ष पूर्व जब पश्चमी एशिया के यहूदी लोगो मे प्रभु ईसा ने आध्यात्मिक तत्त्वो की विवेचना शुरू की तो बहुत विवेक और सावधानी से (parablas) रूपको द्वारा ही की थी[3] इस लिये कि कही वे अपनी नासमझी से इन तत्त्वो को बिगाडकर कुछ का कुछ अर्थ न लगा बैठें और फिर विरोध पर उतारू हो जायें इसीलिए प्रभु ईसा ने इस बात को कई स्थलो पर दोहराया है—जो बहुमूल्य और पवित्र तत्त्व हैं उन्हे श्वान और वराहवृत्ति वाले लोगो के सामने न रखा जाय, कही वे उन्हे पावो से रौंद कर तुम्हे ही आघात पहुँचाने को उद्यत न हो जाएँ[4]

---
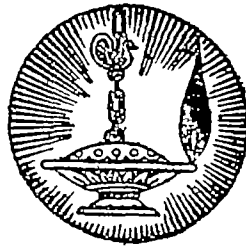
१. षट्खण्डागम भाग १—डा० हीरालाल द्वारा लिखित प्रस्तावना

२ (अ) महाभारत शान्तिपर्व अध्याय २४६

(आ) षट्खण्डागम, धवला टीका, जिल्द १ गाथा ६२-६३

३ (A) But without a parable spake he not unto them and when they were alone, he expounded all things to his desciples Bible—Mark IX 34

(B) I will open my mouth in parbles I will utter things which have been kept secret from the foundations of the world Bible-Matthew XIII 35

४ (A) It is not meet to take the children's bread and to cast it unto the dogs Bible Mark VII 27

(B) Give not that which is holy unto the dogs, neither cast your pearls before swine Lest they trample them under their feet and turn again and rend you Bible Matthew VII 6

इस अभाव प्रमेय को लेकर दार्शनिकों में काफी विचारविमर्श हुआ है प्रभाकर मीमांसक अभाव के सपूर्ण द्वेषी है, वे अभाव को नही मानते बौद्ध दार्शनिक भी अभाव को कल्पित पदार्थ मानते है. न्याय-वैशेषिक तथा वेदान्ती अभाव को भाव से भिन्न एक स्वतन्त्र पदार्थ स्वीकार करते है साख्य इसे अधिकरण स्वरूप मानते है जैनमतानुसार अभाव वस्तु का अभावांश है

इस अभाव प्रमेय के भेद को लेकर भी दार्शनिकों में मतभेद विद्यमान है वैशेषिक सम्प्रदाय में प्रागभावादि भेद से अभाव को चार प्रकार का माना गया है नव्य नैयायिक गगेश प्रभृति आचार्यों ने अभाव के चार प्रकार ही माने है प्राचीन नैयायिक उदयनाचार्य ने भी स्वरचित लक्षणावली मे अभाव के चातुर्विध्य का ही प्रतिपादन किया है वाचस्पति मिश्र ने भी इसी बात का समर्थन किया है किन्तु जयन्त भट्ट के मतानुसार अभाव द्विविध है—प्रागभाव और ध्वस वे अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव को स्वतन्त्र अभाव नही मानते किन्तु प्रागभाव को ही उक्त दोनो अभावों के स्थान में मानते है जैन सिद्धान्तानुसार भी अभाव चार प्रकार का है जैसे—प्रागभाव प्रध्वसाभाव अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव पदार्थ का पूर्व में अनस्तित्व ही प्रागभाव है अर्थात् जिसका विनाश होने पर कार्य की उत्पत्ति हो वह पदार्थ उस कार्य का प्रागभाव है जसे घट मृत्पिण्डविनाश के द्वारा उत्पन्न होता है अत मृत्पिण्ड घट का प्रागभाव है जैसाकि वादि-देव सूरि ने अपने प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार' में कहा है—'यन्निवृत्तावेव कार्यस्य समुत्पत्ति सोऽस्य प्रागभाव' कोई भी कार्य अपनी उत्पत्ति के पहले असत् होता है वह कारणो से उत्पन्न होता है कार्य का अपनी उत्पत्ति के पहले न होना ही प्रागभाव कहलाता है यह अभाव भावान्तर रूप होता है यह तो ध्रुव सत्य है कि किसी भी द्रव्य की उत्पत्ति नही होती द्रव्य तो अनादि-अनन्त है उत्पत्ति होती है पर्याय की द्रव्य अपने द्रव्यरूप से कारण होता है और पर्यायरूप से कार्य जो प्रथम उत्पन्न होने जा रहा है वह उत्पत्ति के पूर्व पर्याय रूप में नही था अत उसका जो अभाव वही प्रागभाव है यह प्रागभाव पूर्वपर्यायरूप होता है अर्थात् घट पर्याय जब तक उत्पन्न नही हुआ तब तक वह असत् है और जिस मिट्टी द्रव्य से वह उत्पन्न होने वाला है उस द्रव्य का घट से पहले का पर्याय घट का प्रागभाव कहा जाता है. अर्थात् वही पर्याय नष्ट होकर घटपर्याय बनता है अत वह पर्याय घट प्रागभाव है

इसी तरह अत्यन्त सूक्ष्म काल की दृष्टि से पूर्वपर्याय ही उत्तरपर्याय का प्रागभाव है और सन्तति की दृष्टि से यह प्रागभाव अनादि भी कहा जाता है पूर्वपर्याय का प्रागभाव तत्पूर्वपर्याय है तथा तत्पूर्वपर्याय का प्रागभाव उससे भी पूर्व का पर्याय होगा इस तरह सन्तति की दृष्टि से यह अनादि होता है यदि कार्य-पर्याय का प्रागभाव नही माना जाता है तो कार्यपर्याय अनादि हो जायगा और द्रव्य में त्रिकालवर्ती सभी पर्यायो का एक काल में प्रकट सद्भाव मानना होगा जो कि सर्वथा प्रतीति-विरुद्ध है

जिसकी उत्पत्ति से कार्य का अवश्य विनाश हो वह उस कार्यका प्रध्वसाभाव है जैसे कपाल-समुदाय की उत्पत्ति होने से नियमत घटका विनाश होता है अत कपालसमुदाय ही घट का प्रध्वसाभाव है जैसा कि वादि देवसूरिने कहा है—'यदुत्पत्तौ कार्यस्यावश्य विपत्ति सोऽस्य प्रध्वसाभाव'[1] द्रव्य का विनाश नही होता किन्तु विनाश होता है पर्याय का अत कारण पर्याय का नाश कार्यपर्यायरूप होता है कारण नष्ट होकर कार्यरूप बन जाता है कोई भी विनाश सर्वथा अभावरूप या तुच्छ न होकर उत्तर पर्यायरूप होता है घट पर्याय नष्ट होकर कपाल-पर्याय बनता है अत घट का विनाश कपालरूप ही फलित होता है

तात्पर्य यह है कि पूर्वपर्याय का नाश उत्तरपर्यायरूप होता है यदि प्रागभाव को न माना जाय तो कार्यभूत द्रव्य घट पटादि अनादि हो जायगा और अनादि पदार्थ का नाश नही होता है अत घट पटादि की नित्यत्वापत्ति होगी प्रध्वसा भाव को न स्वीकार करने पर कार्यभूत घट-पटादि अनन्त हो जायेंगे जैसा कि स्वामी समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा[2] में

---

१ तृतीय परिच्छेद सूत्र ५
प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार तृतीय परिच्छेद सूत्र ६।
२ कारिका १
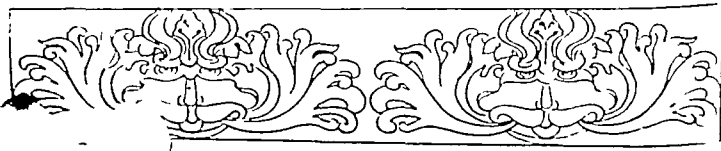
जात्यन्तर है वह स्वद्रव्य, क्षेत्र काल और भाव रूप से सत् है और पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप से असत् है अत विरोध के लिये कोई स्थान नही है

वस्तुस्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने के लिये भाव पदार्थ से अत्यन्त भिन्न अन्योन्याभाव नामक स्वतत्र पदार्थ मानने से ही काम चल सकता है, अत वस्तु को भावाभावात्मक मानने की आवश्यकता नही है—यह शका भी उचित नही, क्योकि यदि वस्तु को पर-रूप से अभावात्मक नही माना जाय, तो पट आदि के अभाव को घट नही कह सकने के कारण घट को पटरूप मानना पडेगा जैसे घटाभाव से भिन्न होने के कारण घट को घट कह सकते हैं, वैसे ही पट को भी घटाभाव से भिन्न होने के कारण घट मानना चाहिए

तात्पर्य यह है कि न्याय-वैशेषिक के अनुसार अन्योन्याभाव को दो पदार्थों की स्वतत्र स्थिति मे कारण माना जाता है, और यह भेद स्वय एक स्वतत्र पदार्थ है उसके अनुसार जहा घट का अभाव नही रहता वहा घट का निश्चय होता है पर यह मान्यता ठीक नही है न्याय-वैशेषिक के अनुसार पट आदि घट के अभावरूप नही हैं, इसलिए पट आदि के घट के अभाव से भिन्न होने पर पटादि मे भी घट का ज्ञान होना चाहिए जैन-सिद्धान्तानुसार घट को घट के अतिरिक्त सभी पदार्थो का अभावरूप-स्वीकार गया है अत घट-पटादि के भी अभाव स्वरूप होने से घट मे पट का ज्ञान नही हो सकता, इसलिए स्व-पररूप से सदसदात्मक सब पदार्थों को स्वीकार करना चाहिए, अन्यथा प्रतिनियत रूप व्यवस्था की अनुपपत्ति होगी **न्यायकुमुदचन्द्र**[1] मे आचार्य प्रभाचन्द्र ने कहा है—**'स्वपररूपाभ्या सदसदात्मका सर्वे भावा प्रतिपत्तव्या प्रतिनियतरूपव्यवस्थान्यथानुपपत्ते'** यदि कहा जाय कि प्रतिनियतरूप व्यवस्था की अनुपपत्ति नही होगी, क्योकि पूर्व-कथित इतरेतराभाव से उसकी व्यवस्था हो जायगी तो यहा प्रश्न उठता है कि यह इतरेतराभाव स्वतन्त्र है कि भाव का धर्म है ? इतरेतराभाव स्वतत्र नही हो सकता, क्योकि अपने स्वातत्र्य के लिये वह दूसरे इतरेतराभाव की अपेक्षा रखेगा और दूसरा तीसरे की, तीसरा चौथे की इत्यादि, और इस प्रकार अनवस्था होने के कारण इतरेतराभाव का स्वतत्र अस्तित्व ही सिद्ध नही हो सकेगा तब क्या वह भाव का धर्म है ? इतरेतराभावको भावपदार्थ का धर्म स्वीकार करने पर प्रश्न होगा—किस भाव का धर्म है ? घट का, भूतल का या उभय का ?—यदि इतरेतराभाव को घट रूप भावपदार्थ का धर्म माना जाय तो भी प्रश्न उठता है कि वह घटस्वरूप का निषेधक है या नही ? यदि उसे निषेधक माना जाय तो फिर प्रश्न होगा कि घट मे ही घटस्वरूप का वह निषेधक है या भूतल मे घटस्वरूप का ?

इतरेतराभाव को घट मे घटस्वरूप का निषेधक मानना उचित नही है, क्योकि ऐसा मानने पर घट की सत्ता ही असिद्ध हो जायगी और उस परिस्थिति मे वह इतरेतराभाव किस भाव पदार्थ का धर्म होगा ? और "भूतले घटो नास्ति" यह प्रतीति भी कैसे होगी ? क्योकि घट मे ही उस प्रतीति का प्रसग होगा यदि आप इतरेतराभाव को भूतल मे घटस्वरूप का निषेधक मानेंगे तो यह जैन मत स्वीकार करना होगा, कारण जैन-दर्शन के अनुसार घटाभाव घटधर्म होता हुआ ही भूतल मे घटस्वरूप का निषेधक होता है

यदि इतरेतराभाव को घटस्वरूप का अनिषेधक माना जाय तो भूतल मे भी घटस्वरूप का प्रसग होने से अभाव-कल्पना व्यर्थ हो जायगी भूतल का धर्म भी उसे नही मान सकते क्योकि 'घटोऽस्ति' इत्याकारक अस्तिता-प्रतीति के विषय-भूत 'अस्तिता' की तरह समान 'घटो नास्ति' इत्याकारक 'नास्तिता'-प्रतीति का विषयभूत नास्तिता-धर्म भी घट का ही धर्म है यदि नास्तित्व आधार(भूतलका) धर्म होकर भी आधेय (घटादि) के साथ समानाधिकरण हो सकता है तब तो,अस्तित्व को भी आधार का धर्म मान लेने मे कोई विरोध नही होना चाहिए और फलस्वरूप अस्तित्व तथा नास्तित्व इन दोनो धर्मो से शून्य होने के कारण घटपटादि द्रव्य खपुष्पवत् असत् हो जायेंगे इसी प्रकार 'नास्तित्व' आधार तथा आधेय—इन दोनो का धर्म भी नही हो सकता है क्योकि तब तो उपरोक्त युक्ति द्वारा अस्तित्व को भी उभय धर्म मानना पडेगा

---

१ प्रथम भाग, पृ० ३६७
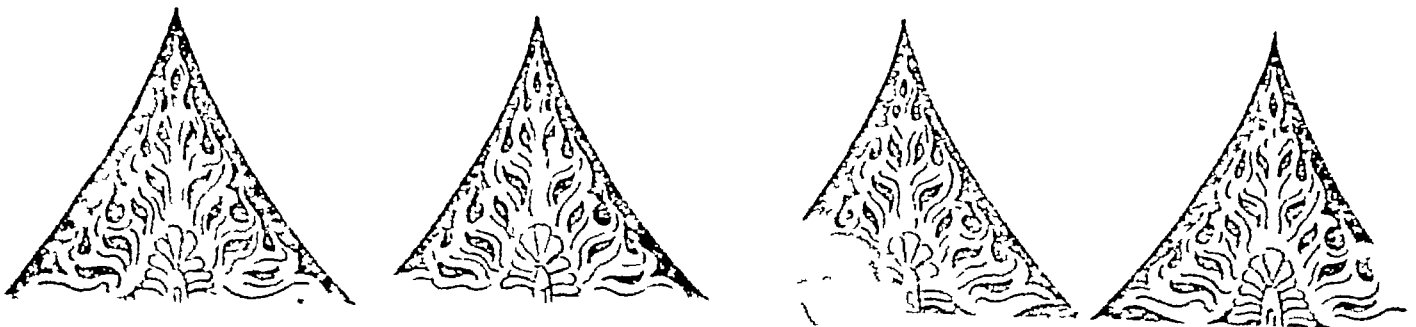
में समवाय है, उसका समवाय कभी भी पुद्गल मे नही हो सकता अत यह अत्यन्ताभाव कहलाता है यदि अत्यन्ताभाव का लोप कर दिया जाय तो किसी भी द्रव्य का कोई असाधारण स्वरूप नही रह जायगा सब द्रव्य सर्वात्मक हो जायेंगे

अत्यन्ताभाव के कारण ही एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप नही हो पाता द्रव्य चाहे सजातीय हो या विजातीय उसका अपना प्रतिनियत अखण्ड स्वरूप होता है एक द्रव्य दूसरे में कभी भी ऐसा विलीन नही होता जिससे कि उसकी सत्ता ही समाप्त हो जाय

इस सन्ध म हमने अभाव प्रमेय को लेकर विचार किया उसके ग्राहक प्रमाण के सम्बन्ध में विस्तृत विचार यहाँ इष्ट नही है अभावरूप प्रमेय के ग्राहक प्रमाण के बारे मे अनेक प्रकार क मत दार्शनिकों म पाये जाते है मीमासक कुमारिल के अनुसार अभाव प्रमेय अनुपलब्धिप्रमाण-ग्राह्य है बौद्ध अपने कल्पित अभावका ग्यारह प्रकार की अनुपलब्धियों द्वारा अनुमेय मानते है वेदान्तियो के मत में घटाभाव पटाभाव आदि अभावो के साथ इन्द्रियो का कोई सम्बन्ध संभव नही होने से प्रत्यक्ष के द्वारा अभाव का ग्रहण नही हो सकता है अत कुमारिल का अनुसरण करते हुए वे अभाव के ग्रहण के लिये अभाव या अनुपलब्धि नामक एक पृथक मानते हैं किन्तु नैयायिक अभाव ग्रहण का प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा ही मानते हैं और सांख्य ने भी उसको प्रत्यक्ष के अन्तर्गत ही माना है परन्तु उसके उपपादन का मार्ग भिन्न है जैन मतानुसार अभाव को प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा ग्राह्य माना गया है जैसा कि वादी देवसूरि ने स्याद्वाद-रत्नाकर में कहा है —'अभाव प्रमाण तु प्रत्यक्षादावेवान्तर्भवतीति स्थानाभाव के कारण इन मान्यताओं पर ऊहापोह करना प्रस्तुत प्रसग म सम्भव नही है
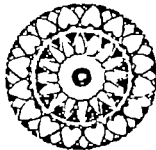
कहा है

कार्यद्रव्यमनादि स्यात् प्रागभावस्य निह्नवे, प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत् ।

और घट-पटादि अनन्त हो जाने पर सभी पर्यायो का सद्भाव युगपत् अनुभव मे आना चाहिए किन्तु वर्तमान मे तो एक ही पर्याय अनुभव मे आता है

यहा यह शका भी नही करनी चाहिए कि घटविनाश यदि कपालरूप है तो कपाल का विनाश होने पर, यानी घटविनाश का नाश होने पर, फिर घट को पुनरुज्जीवित हो जाना चाहिए, क्योकि विनाश का विनाश तो सदभावरूप होता है कारण का उपमर्दन करके कार्य उत्पन्न होता है, पर कार्य का उपमर्दन करके कारण नही उपादान का उपमर्दन करके उपादेय की उत्पत्ति ही सर्वजनसिद्ध है

प्रागभाव (पूर्वपर्याय) और प्रध्वसाभाव (उत्तरपर्याय) मे उपादान-उपादेय भाव है प्रागभाव का नाश करके प्रध्वस उत्पन्न होता है, पर प्रध्वस का नाश करके प्रागभाव पुनरुज्जीवित नही हो सकता जो नष्ट हुआ वह नष्ट हुआ नाश अनन्त है जो पर्याय गया वह अनन्त काल के लिये गया, वह फिर वापिस नही आ सकता 'यदतीतमतीतमेव तत्'—यह ध्रुव नियम है अत यदि प्रध्वसाभाव नही माना जाता है तो कोई भी पर्याय नष्ट नही होगा और सभी पर्याय अनन्त हो जायेंगे प्रध्वसाभाव प्रतिनियत पदार्थव्यवस्था के लिये नितान्त आवश्यक है

अन्य स्वभाव से अपने स्वभाव की व्यावृत्ति को इतरेतराभाव या अन्यापोह कहते हैं जैसे स्तम्भ-स्वभाव से कुम्भ-स्वभाव की व्यावृत्ति होती है आचार्य वादि-देवसूरि ने भी इसी बात को इस प्रकार कहा है—'स्वरूपान्तरात् स्वरूपव्यावृत्तिरितरेतराभाव इति '[1] एक पर्याय का दूसरे पर्याय मे जो अभाव है वह इतरेतराभाव है स्वभावान्तर से स्वस्वभाव की व्यावृत्तिको इतरेतराभाव कहते हैं प्रत्येक पदार्थ का अपना-अपना स्वभाव निश्चित है एक का स्वभाव दूसरे का स्वरूप नही होता यह जो स्वभावो की प्रतिनियतता है वही इतरेतराभाव है घटका पट मे और पट का घट मे वर्तमानकालिक अभाव है कालान्तर मे घट के परमाणु मिट्टी, कपास और तन्तु बनकर पट-पर्याय को धारण कर सकते है, पर वर्तमान मे तो घट-पट नही हो सकता यह जो वर्तमानकालीन परस्पर व्यावृत्ति है वह अन्योन्याभाव है

प्रागभाव और प्रध्वसाभाव से अन्योन्याभाव का कार्य नही चलाया जा सकता, क्योकि जिसके अभाव मे नियम से कार्य की उत्पत्ति हो वह प्रागभाव, और जिसके होने पर नियम के कार्य का विनाश हो वह प्रध्वसाभाव कहलाता है पर इतरेतराभाव के अभाव या भाव से कार्योत्पत्ति या विनाश का कोई सम्बन्ध नही है वह तो वर्तमान पर्यायो के प्रतिनियत स्वरूप की व्यवस्था करता है यदि यह इतरेतराभाव नही माना जाय, तो कोई भी प्रतिनियत पर्याय सर्वात्मक हो जायगा अर्थात् सब सर्वात्मक हो जायेंगे जैसाकि स्वामी समनभद्र ने आप्तमीमासा[2] मे कहा है—'सर्वात्मक तदेक स्यादन्यापोह-व्यतिक्रमे'

अतीतादि तीनो कालो मे तादात्म्य परिणाम की निवृत्ति को अत्यन्ताभाव कहा जाता है जैसे चेतन मे अचेतन के तादात्म्य भाव का अत्यन्त अभाव है, अर्थात् चेतन किसी काल मे अचेतन नही बनता इसी बात को वादिदेवसूरि ने प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार[3] मे इस प्रकार कहा है—'कालत्रयापेक्षिणी हि तादात्म्यपरिणामनिवृत्तिरत्यन्ताभाव' यदि अत्यन्ताभाव को स्वीकार न किया जाय तो घट-पटादि मे भी चेतनत्व की प्राप्ति हो जायगी जैसाकि स्वामी समतभद्र ने कहा है—'अन्यत्र समवायेन व्यपदिश्येत सर्वथा '[4] अत एक पदार्थ मे दूसरे पदार्थ का त्रैकालिक अभाव ही अत्यन्ताभाव है ज्ञान का आत्मा

१ प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार परिच्छेद, ३, सूत्र ६३
२ कारिका ११ (पूर्वार्ध)
३ तृतीय परिच्छेद, कारिका ६५
४ कारिका ११ (उत्तरार्ध)
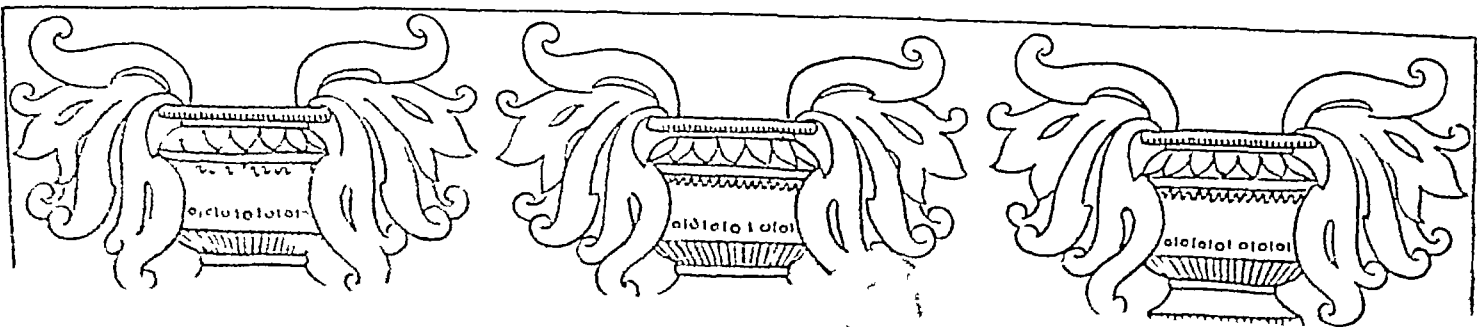
रहो यत्र तत्र साधुओ के अध्ययन और उन्हें पढ़ाने वाले वाचनाचार्य का वर्णन मिलता है अध्ययन करने वाले साधुओं की योग्यता तथा आवश्यक तपोनुष्ठान का विधान भी किया गया है किन्तु श्रावकों का निर्देश शास्त्राध्ययन के सम्बन्ध मे कही नही मिलता इस का दूसरा अर्थ श्रापाके' धातु के आधार पर किया जाता है इस धातु से संस्कृत रूप 'श्रापक' बनता है जिसका प्राकृत में 'सावय' हो सकता है किन्तु संस्कृत म श्रावक' शब्द के साथ इसकी संगति नही बैठती इस शब्द का आशय है वह व्यक्ति जो भोजन पकाता है इसके विपरीत साधु भिक्षा पर निर्वाह करते है, पकाते नही

श्रावक के लिये बारह व्रतों का विधान है उनमे से प्रथम पांच अणुव्रत या शीलव्रत कहे जाते है अणुव्रत का अर्थ है छोटे व्रत साधु हिंसा आदि का पूर्ण परित्याग करता है अत उसके व्रत महाव्रत कहे जाते है श्रावक उनका पालन मर्यादित रूप में करता है अत उसके व्रत अणुव्रत कहे जाते है शील का अर्थ है आचार अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच चरित्र या आचार की आधार शिला है इसीलिए इनको शील कहा जाता है बौद्ध साहित्य में भी इनके लिये यही नाम मिलता है योग दर्शन म इन्हें यम कहा गया है और अष्टाग योग की आधार शिला माना गया है और कहा गया है कि ये ऐसे व्रत है जो सार्वभौम है—व्यक्ति देश-काल तथा परिस्थिति की मर्यादा से पर है अर्थात् धर्माधर्म या कर्तव्या-कर्तव्य का निरूपण करते समय अन्य नियमों की जाच अहिंसा आदि क आधार पर करना चाहिए किन्तु इन्हे किसी दूसरे क लिये गौण नही बनाया जा सकता हिंसा प्रत्येक अवस्था मे पाप है उसक लिये कोई अपवाद नही है कोई व्यक्ति हो या कैसी ही परिस्थिति हो हिंसा पाप है अहिंसा धम है सत्य आदि के लिय भी यही बात है किन्तु इनका पूर्णतया पालन नही हो सकता है जहाँ सब प्रवृत्तिया बन्द हो जाती है हमारी प्रत्येक हलचल में सूक्ष्म या स्थूल हिंसा होती रहती है अत साधक के लिये विधान है कि उस लक्ष्य पर दृष्टि रखकर यथाशक्ति आगे बढता चला जाय साधु और स्म तक इसी प्रगति की दो कक्षाए हैं श्रावक के शेष सात व्रतों को शिक्षा-व्रत कहा गया है वे जीवन में अनुशासन लाते है इनमे से प्रथम तीन बाह्य अनुशासन के लिये है और हमारी व्यावसायिक हलचल दैनन्दिन रहन-सहन एव शरीर-संचालन पर नियत्रण करते है और शेष चार आतरिक शुद्धि क लिये है इन दोनो श्रेणियो म विभाजन करने के लिये प्रथम तीन को गुण व्रत और शेष चार को शिक्षा व्रत भी कहा जाता है

इन बारह व्रतो के अतिरिक्त पूर्व भूमिका के रूप में सम्यक्त्व-व्रत है जहा साधक की दृष्टि अन्तर्मुखी बन जाती है और वह आन्तरिक विकास को अधिक महत्त्व देने लगता है इसका निरूपण पहल किया जा चुका है बारह व्रतों का अनुष्ठान करता हुआ श्रावक आध्यात्मिक शक्ति का सचय करता जाता है उत्साह बढने पर वह घर का भार पुत्र को सौंप कर धर्म-स्थान म पहुच जाता है और सारा समय तपस्या और आत्म चिन्तन म बिताने लगता है उस समय वह ग्यारह प्रतिमायें स्वीकार करता है और उत्तरोत्तर बढता हुआ अपनी चर्या को मुनि के समान बना लेता है जब वह यह देखता कि मन मे उत्साह होने पर भी शरीर कृश हो गया है और बल क्षीण होता जा रहा है तो नही चाहता कि शारीरिक दुर्बलता मन को प्रभावित करे और आत्म चिन्तन के स्थान पर शारीरिक चिन्तायें होने लगे इस विचार के साथ वह शरीर का ममत्व छोड देता है आहार का परित्याग करके निरन्तर आत्म-चिन्तन में लीन रहता है जहाँ वह जीवन की इच्छा का परित्याग कर देता है वहाँ यह भी नही चाहता कि मृत्यु शीघ्र आ जाय जीवन और मृत्यु, निन्दा और स्तुति सुख और दु ख सबके प्रति समभाव रखता हुआ समय आने पर शान्तचित्त से स्थूल शरीर को छोड देता है. श्रावक की इस दिनचर्या का वर्णन उपासकदशाग के प्रथम आनन्द नामक अध्ययन म है अब हम सक्षेप में इन व्रतो का निरूपण करेंगे प्रत्येक व्रत का प्रतिपादन दो भागो में विभक्त है पहला भाग विधान के रूप मे है जहा साधक अपनी व्यवहार मर्यादा का निश्चय करता है उस मर्यादा को सकुचित करना उसकी अपनी इच्छा एव उत्साह पर निर्भर है किन्तु मर्यादा से आगे बढने पर व्रत टूट जाता है दूसरे भाग म उन दोषो का प्रतिपादन किया गया है जिनकी सभावना बनी रहती है और कहा गया है कि श्रावक को उन्हे जानना चाहिए किन्तु आचरण न करना चाहिए श्रावक के लिये दिनचर्या के रूप मे प्रतिक्रमण का विधान है उसमें वह प्रतिदिन इन व्रतो एवं सभावित दोषों को दोहराता है किसी
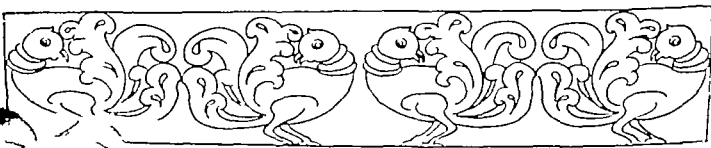
डॉ० इन्द्रचन्द्र शास्त्री
एम० ए० पी-एच० डी०, शास्त्राचार्य, वेदान्तवारिधि, न्यायतीर्थ

श्रावकधर्म

जैनधर्म के अनुसार साधना का उद्देश्य किसी बाह्य वस्तु की प्राप्ति करना नही, वरन् बाह्य प्रभाव के कारण आत्मा का जो शुद्ध स्वरूप छिपा हुआ है, उसे प्रकट करना है जब आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है तो वही परमात्मा बन जाता है परमात्मपद की प्राप्ति ही जैन साधना का लक्ष्य है इसकी प्राप्ति के लिये जीव अपने विकारो को दूर करता हुआ क्रमश आगे बढता है

जैनसघ मे गृहत्यागी और गृहस्थ दोनो वर्गों को स्थान दिया गया है अतएव स्वाभाविक है कि साधको के स्तरभेद के कारण उनकी साधना के स्तर मे भी भिन्नता हो यही कारण है कि जैनशास्त्रो मे मुनिधर्म और गृहस्थ-धर्म का पृथक्-पृथक् निरूपण किया गया है प्रस्तुत निबध मे गृहस्थधर्मसाधना पर ही प्रकाश डाला जाएगा

गृहस्थधर्म को सयमासयम, देशविरति, देशचारित्र आदि भी कहते हैं यह सर्वविदित है कि श्रमण-परम्परा मे त्याग पर अधिक बल दिया गया है

यहा विकास का अर्थ आन्तरिक समृद्धि है और यदि बाह्य सुख-सामग्री उसमे बाधक है तो उसे भी हेय बताया गया है फिर भी जैन-परम्परा ने आध्यात्मिक विकास की मध्यम श्रेणी के रूप मे एक ऐसी भूमिका को स्वीकार किया है जहाँ त्याग और भोग का सुन्दर समन्वय है बौद्धसघ मे केवल भिक्षु ही सम्मिलित किये जाते है, गृहस्थो के लिये स्थान नही है किन्तु जैनसघ मे दोनो सम्मिलित हैं जहाँ तक मुनि की चर्या का प्रश्न है जैन-परम्परा ने उसे अत्यन्त कठोर तथा उच्चस्तर पर रखा है बौद्ध-भिक्षु अपनी चर्या मे रहता हुआ भी अनेक प्रवृत्तियो मे भाग ले सकता है किन्तु जैन मुनि ऐसा नही कर सकता परिणामस्वरूप जहाँ तप और त्याग की आध्यात्मिक ज्योति को प्रज्वलित रखना साधु-सस्था का कार्य है, सघ के भरण-पोषण एव बाह्य सुविधाओ का ध्यान रखना श्रावक-सस्था का कार्य है

बौद्धधर्म मे भी साधना-मार्ग के रूप मे श्रावक-यान का निर्देश मिलता है वहा श्रावक शब्द का अर्थ है, वह साधक जो दूसरो से सुनकर ज्ञान प्राप्त करता है और साधना के पथ पर अग्रसर होता हुआ निर्वाण अवस्था मे पहुचता है इसकी तुलना मे वहाँ दो यान और है प्रत्येक बुद्धयान और बोधिसत्वयान प्रत्येक बुद्ध अपने आप ज्ञान प्राप्त करता है और बोधिसत्व अपने कल्याण के साथ दूसरो के कल्याण मे भी प्रवृत्त होता है इस प्रकार बोधिसत्व और शेष दो मे लक्ष्य का भेद है जैन परम्परा मे जो स्थान तीर्थंकर का है बौद्ध-परम्परा मे वही बुद्ध का है श्रावक और प्रत्येक बुद्ध मे ज्ञान-प्राप्ति की दृष्टि से भेद है जहाँ तक उनके शील या चरित्र का प्रश्न है कोई भेद नही है किन्तु जैन परम्परा मे श्रावक और मुनि मे मुख्य भेद चरित्र के स्तर का है

जैन-साहित्य मे श्रावक शब्द के दो अर्थ मिलते है—पहला, 'श्रि' धातु से बना है, जिसका अर्थ है सुनना जो शास्त्रो का श्रवण करता है और तदनुसार चलने का यथाशक्ति प्रयत्न करता है वह श्रावक है श्रावक शब्द से साधारणतया यही अर्थ ग्रहण किया जाता है प्रतीत होता है जैन परम्परा मे श्रावको द्वारा स्वय शास्त्राध्ययन की परिपाटी नही
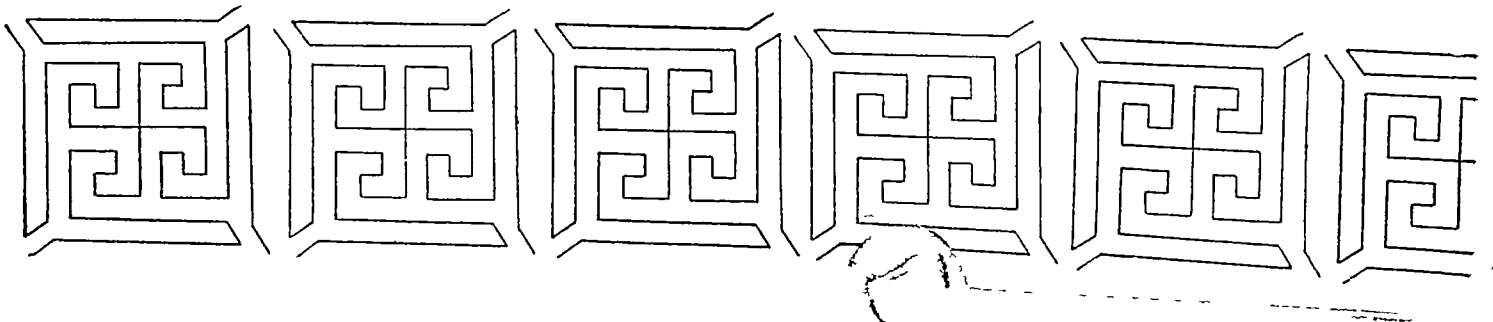
उमास्वाति ने अपने 'तत्त्वार्थसूत्र' में हिंसा की व्याख्या करते हुए कहा है—'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणम् हिंसा'। इस व्याख्या के दो भाग हैं पहला भाग है—'प्रमत्तयोगात्' योग का अर्थ है मन वचन और काया की प्रवृत्ति प्रमत्त का अर्थ है प्रमाद से युक्त वे पांच हैं

१ मद्य—अर्थात् ऐसी वस्तुएं जिनसे मनुष्य की विवेक-शक्ति कुण्ठित हो जाती है

२ विषय—रूप रस गन्ध आदि इन्द्रियों के विषय जिनके आकर्षण में पड़ कर मनुष्य अपने हिताहित को भूल जाता है

३ कषाय—क्रोध मान माया और लोभ आदि मनोवेग जो मनुष्य को पागल बना देते हैं

४ निद्रा—आलस्य या अकर्मण्यता

५ विकथा—स्त्रियों के सौन्दर्य देश विदेश की घटनाएं भोजन सम्बन्धी स्वाद तथा राजकीय व्यवस्था आदि विषयों को लेकर व्यर्थ की चर्चाएँ करते रहना प्रमाद की अवस्था में मन वचन और शरीर की ऐसी प्रवृत्ति करना जिससे दूसरे के प्राण पर आघात पहुंचे—हिंसा है इसका अर्थ है यदि हितबुद्धि से प्रेरित होकर कोई काम किया जाता है और उससे दूसरे को कष्ट पहुंचता है तो वह हिंसा नहीं है

उपरोक्त व्याख्या में प्राणशब्द अत्यन्त व्यापक है जैन-शास्त्रों में प्राण के दस भेद हैं—पांच इन्द्रियां मन वचन काया श्वासोच्छ्वास और आयु इनका व्यपरोपण दो प्रकार से होता है आघात द्वारा तथा प्रतिबन्ध द्वारा दूसरे को ऐसी चोट पहुंचाना जिससे देखना या सुनना बन्द हो जाय आघात है दूसरे को देखने या सुनने से रोकना उसकी स्वतन्त्र वृत्तियों में बाधा डालना प्रतिबन्ध है दूसरे के स्वतन्त्र चिन्तन भाषण अथवा यातायात में रुकावट डालना भी प्रतिबन्ध के अन्तर्गत है और यह हिंसा है दूसरे की खुली हवा को रोकना उसे दूषित करना श्वासोच्छ्वास पर प्रतिबन्ध है

यहाँ यह प्रश्न होता है कि एक नागरिक अपनी स्वतन्त्र प्रवृत्तियों के कारण दूसरे नागरिक के रहन-सहन एवं सुख सुविधा में बाधा डालता है उसके वैयक्तिक जीवन में हस्तक्षेप करता है चोरी डकैती तथा अन्य अपराधों द्वारा शान्ति भंग करता है क्या उस पर नियन्त्रण करना आवश्यक नहीं है ? यहीं साधु और श्रावक की चर्या में अन्तर हो जाता है साधु किसी पर हिंसात्मक नियन्त्रण नहीं करता वह अपराधी को भी उसके कल्याण की बुद्धि से उपदेश द्वारा समझाता है उसे किसी प्रकार का कष्ट नहीं देना चाहता इसके विपरीत श्रावक को इस बात की छूट रहती है वह अपराधी को दण्ड दे सकता है नागरिक जीवन में बाधा डालने वाले पर हिंसात्मक नियन्त्रण रख सकता है

साधु और श्रावक की अहिंसा में एक बात का अन्तर और है—जैन-धर्म के अनुसार पृथ्वी पानी अग्नि वायु तथा वनस्पतियों में भी जीव हैं और उन्हें स्थावर कहा गया है और चलने फिरने वाले जीवों को त्रस कहा गया है साधु अपने लिये भोजन बनाना पकाना मकान बनाना आदि कोई प्रवृत्ति नहीं करता वह भिक्षा पर निर्वाह करता है इसके विपरीत श्रावक अपनी आवश्यकता-पूर्ति के लिये मर्यादित रूप में प्रवृत्तियां करता है और उनमें पृथ्वी पानी अग्नि आदि स्थावर जीवों की हिंसा होती ही रहती है उस सूक्ष्म हिंसा का उससे त्याग नहीं होता वह केवल स्थूल अर्थात् त्रस जीवों की हिंसा का त्याग करता है इस प्रकार श्रावक की चर्या में दो छूटें हैं पहली अपराधी को दण्ड देने की और दूसरी सूक्ष्म हिंसा की इसी आधार पर श्रावक को देशविरत या सागारी अर्थात् छूट वाला कहा जाता है इसके विपरीत साधु को सर्वविरत या अनागार कहा जाता है

जीवनव्यवहार के सम्बन्ध में दो दृष्टिकोण मिलते हैं पहला दृष्टिकोण मनुस्मृति में आया है जहाँ कहा गया है— 'जीवो जीवस्य जीवनम्' एक जीव दूसरे जीव का जीवन है अर्थात् भोजन है इसमें यह प्रकट किया गया है कि प्राणियों का भोजन परस्पर हिंसा पर टिका हुआ है धार्मिक क्षेत्र में इसी हिंसा को पालन कहा जाता है और राजनीतिक क्षेत्र में अत्याचार जब उसका व्यवहार चोर डाकू आदि करते हैं तो उसे अपराध कहा जाता है दूसरा

प्रकार का दोष ध्यान मे आने पर प्रायश्चित्त करता है और भविष्य मे उनके निर्दोष पालन की घोषणा करता है इन सम्भावित दोषो को अतिचार कहा गया है

जैन शास्त्रो मे व्रत के अतिक्रमण की चार कोटिया बताई गई है

१ अतिक्रम-व्रत को उल्लघन करने का मन मे ज्ञात या अज्ञात रूप से विचार आना

२ व्यतिक्रम-उल्लघन करने के लिये प्रवृत्ति

३ अतिचार-व्रत का आशिक रूप मे उल्लघन

४, अनाचार-व्रत का पूर्णतया टूट जाना

अतिचार की सीमा वही तक है जब कोई दोष अनजान मे लग जाता है, जान-बूझ कर व्रतभग करने पर अनाचार हो जाता है

अहिसा-व्रत

अहिसा जैन-परम्परा का मूल है जैनधर्म और दर्शन का समस्त विकास इसी मूल तत्त्व को लेकर हुआ है आचाराग सूत्र मे भगवान् महावीर ने घोषणा की है कि जो अरिहन्त भूतकाल मे हो चुके है, जो वर्तमान मे है तथा जो भविष्य मे होगे उन सबका एक ही कथन है, एक ही उपदेश, एक ही प्रतिपादन है तथा एक ही उद्घोष है कि विश्व मे जितने प्राणि, भूत, जीव या सत्त्व है किसी को नही मारना चाहिए, किसी को नही सताना चाहिए, किसी को कष्ट या पीडा नही देनी चाहिए जीवन के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन समता के आधार पर करते हुए उन्होने कहा—जब तुम किसी को मारना, सताना या पीडा देना चाहते हो तो उसके स्थान पर अपने को रखकर सोचो, जिस प्रकार यदि कोई तुम्हे मारे या कष्ट देवे तो अच्छा नही लगता इसी सूत्र मे भगवान् ने फिर कहा है—अरे मानव, अपने आपसे युद्ध कर, बाह्य युद्धो से कोई लाभ नही

इस प्रकार भगवान् महावीर ने अहिसा के दो रूप उपस्थित किये एक बाह्य रूप जिसका अर्थ है किसी प्राणी को कष्ट न देना दूसरा आभ्यन्तर रूप है जिसका अर्थ है किसी के प्रति दुर्भावना न रखना, किसी का बुरा न सोचना

दशवैकालिक सूत्र मे धर्म को उत्कृष्ट मगल बताया है इसका अर्थ है जो आदि, मध्य तथा अत, तीनो अवस्थाओ मे मगल रूप हो वही धर्म है उसके तीन अग बताए गए है—१ अहिसा, २ सयम, ३ तप वास्तव मे देखा जाय तो सयम और तप अहिसा के दो पहलू है सयम का सम्बन्ध बाह्य प्रवृत्तियो के साथ है और तप का आन्तरिक मलिनताओ या कुसस्कारो के साथ उपर्युक्त अणुव्रतो तथा शिक्षाव्रतो का विभाजन इन्ही दो रूपो को सामने रखकर किया गया है सयम और तप की पूर्णता के रूप मे ही मुनियो के लिये एक ओर महाव्रत तथा समिति, गुप्ति आदि उनकी सहायक क्रियाओ का विधान है और दूसरी ओर बाह्य तथा आभ्यन्तर अनेक प्रकार की तपस्याओ का विधान है पाच महाव्रतो मे भी वस्तुत देखा जाय तो सत्य और अस्तेय, बाह्य अहिसा अर्थात् व्यवहार के साथ सम्बन्ध रखते है, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह आन्तरिक अहिसा अर्थात् विचार के साथ सम्बन्ध रखते है

व्यास ने पातञ्जल योग के भाष्य मे कहा है "अहिसा भूतानामनभिद्रोह " द्रोह का अर्थ है ईर्ष्या या द्वेष बुद्धि इसमे मुख्यतया विचारपक्ष को सामने रक्खा गया है, जैन-दर्शन विचार और व्यवहार दोनो पर बल देता है

जैन-दर्शन का सर्वस्व स्याद्वाद है वह विचारो की अहिसा है इसका अर्थ है व्यक्ति अपने विचारो को जितना महत्त्व देता है दूसरो के विचारो को भी उतना दे गलत सिद्ध होने पर अपने विचारो को छोडने पर तैयार रहे और वास्तविक सिद्ध होने पर दूसरे के विचारो का स्वागत करे जैन-दर्शन का कथन है कि व्यक्ति अपनी-अपनी परिस्थिति के अनुसार विभिन्न दृष्टिकोणो को उपस्थित करते है वे दृष्टिकोण मिथ्या नही होते किन्तु सापेक्ष होते हैं परिस्थिति तथा समय के अनुसार उनमे से किसी एक का चुनाव किया जाता है इस चुनाव को द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव इन शब्दो द्वारा प्रकट किया गया है

३ मुदिता—जो व्यक्ति विद्या त्याग अथवा किसी अन्य गुण के कारण आगे बढ़ा हुआ है उसे देख कर प्राय हमारे मन में असूया उत्पन्न होती है अर्थात् हम उसमे दोष निकालने का प्रयत्न करते है यदि वह त्यागी है तो उसे ढोंगी कहने लगते है यदि विद्वान है तो रट्टू इसी प्रकार समाज-सेवक नेता आदि प्रत्येक म कोई न कोई दोष निकालने की चेष्टा की जाती है यह एक प्रकार की असहिष्णुता है और छिपी हुई हिंसा का बाह्य रूप है इसे दूर करने के लिए गुणी को देखकर प्रसन्न होने की आदत होनी चाहिए उसे देखकर झुक जाना और उसके गुणों को अपने में लाना मुदिता है दोष और गुण प्रत्येक व्यक्ति में रहते है हमारा ध्यान गुणो की ओर जाना चाहिए, दोषों की ओर नहीं

४ उपेक्षा—जो व्यक्ति हमारे प्रतिकूल चलता है हमसे शत्रुता करता है हमें हानि पहुँचाने की चेष्टा करता है उसके प्रति भी द्वेष न कर के तटस्थ वृत्ति रखना उपेक्षा है

इन चार भावनाओं से क्रमश ईर्ष्या घृणा असूया और द्वेष पर विजय प्राप्त होती है ये सब आत्मा के मल है और उसे अशान्त बनाये रखते है

अहिंसा और कायरता

अहिंसा पर प्राय आक्षेप किया जाता है कि यह कायरता है शत्रु के सामने आने पर जो व्यक्ति संघर्ष की हिम्मत नहीं रखता वही अहिंसा को अपनाता है किन्तु यह धारणा ठीक नही है कायर वह होता है जो मन मे प्रतिकार की भावना होने पर भी प्रत्याक्रमण करने से डरता है ऐसे व्यक्ति का आक्रमण न करना या शत्रु के सामने झुक जाना अहिंसा नहीं है वह तो आक्रमण से भी बड़ी हिंसा है महात्मा गाधी का कथन है कि आक्रमक या क्रूर व्यक्ति विचारों मे परिवर्तन होने पर अहिंसक बन सकता है किन्तु कायर के लिये अहिंसक बनना असम्भव है अहिंसा की पहली शर्त शत्रु के प्रति मित्रता या प्रेम भावना है छोटा बालक बहुत-सी वस्तुएं तोड़-फोड़ डालता है माता को उससे परेशानी होती है किन्तु वह मुस्करा कर टाल देती है बालक के भोलेपन पर उसका प्रेम और भी बढ़ जाता है मित्रता या प्रेम की यह पहली शर्त है दूसरे के द्वारा हानि पहुँचाने पर क्षोभ न आना प्रत्युत उपस्थित किये गये कष्टों झंझटों तथा हानियों को सहन करने में अधिकाधिक आनन्द अनुभव करना अहिंसक शत्रु से डर कर शत्रु को क्षमा नही करता किन्तु उसकी भूल या दुर्बलता समझ कर क्षमा करता है।

अहिंसा की इस भूमि पर विरले ही पहुँचते है जो व्यक्ति पूर्णतया अपरिग्रही है अर्थात् जिन्हें धन-सम्पत्ति मान-अपमान तथा अपने शरीर म भी ममत्व नही है जो समस्त स्वार्थों को त्याग चुके है वे ही ऐसा कर सकते है दूसरों के लिये अहिंसा की दूसरी कोटि है कि निरपराध को दण्ड न दिया जाय किन्तु अपराधी का दमन करने के लिये हिंसा का प्रयोग किया जा सकता है उसमे भी अपराधी को सुधारने या उसके कल्याण की भावना रहनी चाहिए उसे नष्ट करने की नहीं द्वेषबुद्धि जितनी कम होगी व्यक्ति उतना ही अहिंसा की ओर अग्रसर कहा जायगा

भारतीय इतिहास में अनेक जैन राजा-मत्री सेनापति तथा बड़े-बड़े व्यापारी हो चुके है समस्त प्रवृत्तियां करते हुए भी वे जैन बने रहे

अहिंसा और जीवन निर्वाह

कुछ समय से यह प्रश्न उठा है कि भारत की जन-संख्या बहुत बढ़ गई है परिणाम स्वरूप खाद्य-सामग्री कम पड़ने लगी है अत सरकार की ओर से मछलियां पालने तथा उनके मांस को प्रोत्साहन दिया जा रहा है ऐसी स्थिति में एक जैन का क्या कर्तव्य है ?

खाद्य-सामग्री की कमी को दूर करने के अनेक उपाय हैं भारत के शासन का ध्यान इस ओर भी जाना चाहिए उपज बढ़ाना तथा जन-संख्या की वृद्धि को रोकना आदि अनेक उपाय काम मे लाये जा सकते है इन पर्वो म म जो कर हम खाद्य समस्या को काफी हद तक हल कर सकते है

दृष्टिकोण परस्पर सहयोग का है एक व्यक्ति को भोजन की आवश्यकता है और दूसरे को वस्त्र की भोजन तैयार करने वाला अपने भोजन का कुछ अंश वस्त्र तैयार करने वाले को दे देता है और उससे वस्त्र प्राप्त करता है इस प्रकार विनिमय के द्वारा बिना किसी हिंसा के दोनों की आवश्यकता पूर्ण हो जाती है श्रावक का जीवन परस्पर सहयोग के इसी सिद्धांत पर आधारित है

करण और योग

पहले बताया जा चुका है कि मनुष्य की प्रवृत्तियां साधनों की अपेक्षा से तीन प्रकार की होती हैं—मानसिक, वाचिक, और कायिक इन्हें जैन-परम्परा में योग कहा गया है इसी प्रकार क्रिया की अपेक्षा से भी उसके तीन प्रकार हैं—स्वयं करना, दूसरे से कराना और करने वाले का अनुमोदन करना इन्हें करण कहा गया है

अहिंसा का विध्यात्मक रूप

अहिंसा को जीवन में उतारने के लिए मैत्री-भावना का विधान किया गया है श्रावक प्रतिदिन घोषणा करता है—मैं सब जीवों को क्षमा प्रदान करता हूँ, सब जीव मुझे क्षमा प्रदान करें मेरी सबसे मित्रता है, किसीसे वैर नहीं है इस घोषणा में श्रावक सर्वप्रथम स्वयं क्षमा प्रदान करता है और कहता है कि मुझसे किसी को डरने की आवश्यकता नहीं है, मैं सबको अभय प्रदान करता हूं दूसरे वाक्य द्वारा वह अन्य प्राणियों से क्षमा-याचना करता है और स्वयं निर्भय होना चाहता है वह ऐसे जीवन की कामना करता है जहां वह न शोषक बने और न शोषित, न भयोत्पादक बने और न भयभीत, न शासक बने और न त्रस्त, न उत्पीड़क बने न पीड़ित तीसरे चरण में वह सबसे मित्रता की घोषणा करता है अर्थात् सबको समता की दृष्टि से देखता है मित्रता का मूल आधार है प्रतिदान की आशा न रखते हुए दूसरे को अधिक से अधिक प्रदान करने की भावना एक मित्र को दूसरे मित्र की सुख-सुविधा व आवश्यकता का जितना ध्यान रहता है, उतना अपना नहीं इसके विपरीत जब अपनी सुख-सुविधा के लिये दूसरे का हक छीनने की भावना आ जाती है, तभी शत्रुता का मिश्रण होने लगता है मित्रता की घोषणा द्वारा श्रावक अन्य सब प्राणियों का हितैषी एव रक्षक बनने की प्रतिज्ञा करता है चौथा चरण है—मेरा किसी से वैर नहीं है वह कहता है—ईर्ष्या, द्वेष, मनोमालिन्य आदि शत्रुता के जितने कारण है, मैं उन सब को धो चुका हूँ और शुद्ध एव पवित्र हृदय को लेकर विश्व के सामने उपस्थित होता हू जो व्यक्ति कम से कम वर्ष मे एक बार उस प्रकार घोषणा नही करता, उसे अपने आप को जैन कहने का अधिकार नही है यदि प्रत्येक व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र उस घोषणा को अपना लें तो विश्व की अनेक समस्याए सुलझ जाय

विभिन्न व्यक्तियो की दृष्टि से मैत्री के चार रूप बताये गये है इन्ही को बौद्ध धर्म मे ब्रह्मविहार के रूप मे कहा गया है और योग-दर्शन मे चित्त को प्रसन्न एव निर्मल बनाने के रूप मे

१ मैत्री— समस्त प्राणियो के साथ मित्रता तथा उनके सुख की कामना योग-दर्शन मे सुखसम्पन्न व्यक्तियो के प्रति मित्रता का निर्देश किया गया है जिस प्रकार हमे मित्र के सुख-सम्पत्ति तथा स्वास्थ्य से प्रसन्नता होती है इसी प्रकार सबकी उन्नति पर प्रसन्न होना सर्वमैत्री है इस भावना द्वारा व्यक्ति ईर्ष्या पर विजय प्राप्त करता है, अर्थात् दूसरो की उन्नति से उसके मन मे दु ख नही होता प्रत्युत प्रसन्नता होती है दूसरी ओर वह सकुचित स्वार्थ से ऊपर उठने लगता है और वैयक्तिक उन्नति के स्थान पर सबकी उन्नति चाहने लगता है

२ *करुणा*— दुखी को देखकर मन मे सहानुभूति तथा सवेदना होना, उसके दु ख को दूर करने के लिये प्रयत्नशील होना प्राय यह देखा गया है कि दूसरे को कष्ट या सकट मे देख कर सर्वसाधारण उससे घृणा करने लगता है सहयोगी तथा मित्रजन उससे कतराने लगते हैं इतना ही नही, उसकी विवशताओ से लाभ उठाने का प्रयत्न करते हैं यह एक प्रकार की हिंसा-वृत्ति है अहिंसा के साधक को दुखी का दु ख दूर करने तथा उसके कष्ट मे हिस्सा बटाने की भावना रखनी चाहिए

३ मुदिता—जो व्यक्ति विद्या त्याग अथवा किसी अन्य गुण के कारण आगे बढ़ा हुआ है उसे देख कर प्रायः हमारे मन में असूया उत्पन्न होती है अर्थात् हम उसमें दोष निकालने का प्रयत्न करते हैं यदि वह त्यागी है तो उसे ढोंगी कहने लगते हैं यदि विद्वान् है तो रट्टू इसी प्रकार समाज-सेवक नेता दानी आदि प्रत्येक में कोई न कोई दोष निकालने की चेष्टा की जाती है यह एक प्रकार की असहिष्णुता है और छिपी हुई हिंसा का बाह्य रूप है इसे दूर करने के लिए गुणी को देखकर प्रसन्न होने की आदत होनी चाहिए उसे देखकर झुक जाना और उसके गुणों को अपने में लाना मुदिता है दोष और गुण प्रत्येक व्यक्ति में रहते हैं हमारा ध्यान गुणों की ओर जाना चाहिए, दोषों की ओर नहीं

४ उपेक्षा—जो व्यक्ति हमारे प्रतिकूल चलता है हमसे शत्रुता करता है हमें हानि पहुँचाने की चेष्टा करता है उसके प्रति भी द्वेष न कर के तटस्थ वृत्ति रखना उपेक्षा है

इन चार भावनाओं से क्रमश ईर्ष्या घृणा असूया और द्वेष पर विजय प्राप्त होती है ये सब आत्मा के मल हैं और उसे अशान्त बनाये रखते हैं

अहिंसा और कायरता

अहिंसा पर प्राय आक्षेप किया जाता है कि यह कायरता है शत्रु के सामने आने पर जो व्यक्ति संघर्ष की हिम्मत नहीं रखता वही अहिंसा को अपनाता है किन्तु यह धारणा ठीक नहीं है कायर वह होता है जो मन में प्रतिकार की भावना होने पर भी प्रत्याक्रमण करने से डरता है ऐसे व्यक्ति का आक्रमण न करना या शत्रु के सामने झुक जाना अहिंसा नहीं है वह तो आक्रमण से भी बड़ी हिंसा है महात्मा गाधी का कथन है कि आक्रमक या क्रूर व्यक्ति विचारों में परिवर्तन होने पर अहिंसक बन सकता है किन्तु कायर के लिये अहिंसक बनना असम्भव है अहिंसा की पहली शर्त शत्रु के प्रति मित्रता या प्रेम भावना है छोटा बालक बहुत-सी वस्तुएं तोड़-फोड़ डालता है माता को उससे परेशानी होती है, किन्तु वह मुस्करा कर टाल देती है बालक के भोलेपन पर उसका प्रेम और भी बढ़ जाता है मित्रता या प्रेम की यह पहली शर्त है दूसरे के द्वारा हानि पहुँचाने पर क्रोध न आना प्रत्युत उपस्थित किये गये कष्टों झंझटों तथा हानियों से संघर्ष करने में अधिकाधिक आनन्द अनुभव करना अहिंसक शत्रु से डर कर शत्रु को क्षमा नहीं करता किन्तु उसकी भूल को दुर्बलता समझ कर क्षमा करता है.

अहिंसा की इस भूमि पर विरले ही पहुँचते हैं जो व्यक्ति पूर्णतया अपरिग्रही है अर्थात् जिन्हें धन-सम्पत्ति मान-अपमान तथा अपने शरीर से भी ममत्व नहीं है जो समस्त स्वार्थों को त्याग चुके हैं वे ही ऐसा कर सकते हैं दूसरों के लिये अहिंसा की दूसरी कोटि है कि निरपराध को दण्ड न दिया जाय किन्तु अपराधी का दमन करने के लिये हिंसा का प्रयोग किया जा सकता है उसमें भी अपराधी को सुधारने या उसके कल्याण की भावना रहनी चाहिए उसे नष्ट करने की नहीं द्वेषबुद्धि जितनी कम होगी व्यक्ति उतना ही अहिंसा की ओर अग्रसर कहा जायेगा

भारतीय इतिहास में अनेक जैन राजा-मन्त्री सेनापति तथा बड़े-बड़े व्यापारी हो चुके हैं समस्त प्रवृत्तियाँ करते हुए भी वे जैन बने रहे

अहिंसा और जीवन निर्वाह

कुछ समय से यह प्रश्न उठ रहा है कि भारत की जन-संख्या बहुत बढ़ गई है परिणाम स्वरूप खाद्य-सामग्री कम पड़ने लगी है अत सरकार की ओर से मछलियाँ पालने तथा उन्हें खाने को प्रोत्साहन दिया जा रहा है ऐसी स्थिति में एक जैन का क्या वक्तव्य है ?

खाद्य-सामग्री की कमी को दूर करने के अनेक उपाय हैं भारत के क्षेत्रफल को देखते हुए कमी नहीं होनी चाहिए उपज बढ़ाना तथा जन-संख्या की वृद्धि को रोकना आदि अनेक उपाय काम में लाये जा सकते हैं उन चर्चा में न जा कर हम खाद्य संकट का वास्तविक ज्ञान कर सकते हैं

जैन का अर्थ है वह व्यक्ति, जो जैन-सिद्धातो मे विश्वास रखता है जो व्यक्ति मासाहारी वेश्यागमन आदि को नही छोडता फिर भी जैन-सिद्धात मे अनुराग रखता है, उसे अपने आप को जैन कहने का अधिकार है, श्रावक, साधु तथा वीतराग की श्रेणियाँ उसके ऊपर है मासाहार बुरा होने पर भी करने या छोडने मात्र से कोई जैन या अजैन नही बनता यह बात प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा और उत्साह पर निभर है कि वह त्याग के मार्ग पर कितना आगे बढता है साधु प्राण-सकट आने पर भी दूसरे की हिंसा नही करता, उसकी चर्या निरपवाद है, किन्तु श्रावक को आवश्यकतानुसार छूट रहती है वह अपनी शक्ति और परिस्थिति के अनुसार ही व्रतो का पालन करता है यदि वह मासाहार को बुरा समझता है और प्राण-सकट आने पर भी उस ओर नही जाना चाहता तो वह उच्चादर्श है यदि इतनी शक्ति या साहस नही है तो हेय समझता हुआ भी वह उसका सेवन करेगा, किन्तु जब तक जैन-सिद्धातो पर उसका विश्वास अक्षुण्ण है तब तक उसे जैन ही कहा जायेगा

त्याग का सर्वोत्कृष्ट रूप तीन करण तीन योग मे है अर्थात् जहाँ साधक यह निश्चय करता है कि मैं किसी सावद्य प्रवृत्ति को मन, वचन और काया से न स्वय करूगा, न स्वय कराऊँगा, और न करने वाले का अनुमोदन करूगा इस प्रकार का त्याग साधु का ही होता है क्योकि वह सासारिक उत्तरदायित्व को छोडकर एकान्त आत्मचिन्तन मे लीन रहने लगता है परिवार या समाज से किसी प्रकार का लौकिक सम्बन्ध नही रखता, श्रावक का त्याग निम्न कोटि का होता है बहुत से कार्य वह अपने हाथ से नही करता किन्तु दूसरे से कराने की छूट रखता है बहुत से ऐसे हैं जो न करता कराता है किन्तु उनके अनुमोदन का त्याग नही करता त्याग की इन कोटियो को लक्ष्य मे रख कर शास्त्र मे ४९ भग किये गये है सबसे स्थूल त्याग है एक करण एक योग अर्थात् अपने हाथ से स्वय न करना इसी प्रकार एक करण दो योग, एक करण तीन योग, दो करण एक योग आदि भग बताये गये है श्रावक प्राय दो करण तीन योग से त्याग करता है अर्थात् मन वचन और काया से स्वय नही करता तथा दूसरे से नही कराता, उसे अनुमोदन करने का परित्याग नही होता

श्रावक अपने प्रथम अणुव्रत मे यह निश्चय करता है कि मैं निरपराध त्रस जीवो की हिंसा नही करूँगा अर्थात् उन्हे जान-बूझ कर नही मारूगा इस व्रत के पाँच अतिचार हैं जिनकी तत्कालीन श्रावक के जीवन मे सम्भावना बनी रहती थी वे इस प्रकार है—

१ बन्ध—पशु तथा नौकर चाकर आदि आश्रितजनो को कष्टदायी बन्धन मे रखना यह बन्धन शारीरिक, आर्थिक, सामाजिक आदि अनेक प्रकार का हो सकता है

२ वध—उन्हे बुरी तरह पीटना

३ छविच्छेद—उनके हाथ, पाव आदि अगो को काटना

४ अतिभार—उन पर अधिक बोझ लादना नौकरो से अधिक काम लेना भी अतिभार है

५ भक्तपानविच्छेद—उन्हे समय पर भोजन तथा पानी न देना नौकर को समय पर वेतन न देना जिससे उसे तथा घर वालो को कष्ट पहुँचे

सत्य-व्रत

श्रावक का दूसरा व्रत मृषावाद-विरमण अर्थात् असत्यभाषण का परित्याग है

उमास्वाति ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि 'असदभिधानमनृतम्' असदभिधान के तीन अर्थ है (१) असत् अर्थात् जो बात नही है उसका कहना (२) बात जैसी है उसे वैसी न कह कर दूसरे रूप मे कहना, एक ही तथ्य को ऐसे रूप मे भी उपस्थित किया जा सकता है जिससे सामने वाले पर अच्छा प्रभाव पडे उसी को बिगाड कर रखा जा सकता है जिससे सामने वाला नाराज हो जाय सत्यवादी का कर्त्तव्य है कि वस्तु को वास्तविक रूप मे रखे, उसे बनाने या बिगाडने का प्रयत्न न करे (३) इसका तीसरा अर्थ है असत्-बुराई या दुर्भावना को लेकर किसी से कहना यह

दुर्भावना दो प्रकार की है (१) स्वार्थसिद्धि-मूलक अर्थात् अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिये दूसरे को गलत बात बताना (२) द्वेषमूलक—दूसरे को हानि पहुँचाने की भावना

इस व्रत का मुख्य सम्बन्ध भाषण के साथ है किन्तु दुर्भावना से प्रेरित मानसिक चिन्तन तथा कायिक व्यापार भी इसमें आ जाते हैं

सत्य की श्रेष्ठता के विषय में उपनिषद् में कहा है— सत्यमेव जयते नानृतं अर्थात् सत्य की जीत होती है झूठ की नहीं दूसरा वाक्य जैन शास्त्रों में मिलता है— सच्चं लोगम्मि सारभूयं —अर्थात् सत्य ही दुनिया में सारभूत है इन दोनों में भेद बताते हुए काका कालेलकर ने लिखा है कि प्रथम वाक्य में हिंसा मिली हुई है जीत में हारने वाले की हिंसा छिपी हुई है अहिंसक मार्ग तो वह है जहाँ शत्रु और मित्र दोनों की जीत होती है हार किसी की नहीं होती दूसरा वाक्य यह बताता है कि सत्य ही विश्व का सार है उसी पर दुनिया टिकी हुई है जिस प्रकार गन्ने का मूल्य उसके सार अर्थात् रस पर आश्रित है इसी प्रकार जीवन का मूल्य सत्य पर आधारित है यहाँ जीत और हार का प्रश्न नहीं है

उपनिषदों में सत्य को ईश्वर का रूप बताया गया है और उसे लक्ष्य में रख कर अभय अर्थात् अहिंसा का उपदेश दिया गया है जैन धर्म आचारप्रधान है अत अहिंसा को सामने रख कर उस पर सत्य की प्रतिष्ठा करता है उपनिषदों में विश्व के मूलतत्त्वों की खोज अर्थात् दर्शनशास्त्र की प्रधानता है अतः वहाँ सत्य को आधार बनाकर अहिंसा का सन्देश दिया गया है इसी का दूसरा नाम एकता का दर्शन या अभेद का साक्षात्कार है वहाँ भेदबुद्धि ही हिंसा है

श्रावक अपने सत्य-व्रत में स्थूल-मृषावाद का त्याग करता है उस स्थूल-मृषावाद के जो रूप हैं यहाँ उनकी गणना की गई है

१ कन्यालीक—वैवाहिक सम्बन्ध के समय कन्या के विषय में झूठी बातें कहना उसकी आयु, स्वास्थ्य शिक्षा आदि के विषय में दूसरे को धोखा देना इस असत्य के परिणाम स्वरूप वर तथा कन्यापक्ष में ऐसी कटुता आ जाती है कि कन्या का जीवन दूभर हो जाता है

२ गवालीक—गाय भैंस आदि पशुओं का लेन-देन करते समय झूठ बोलना वर्तमान समय को लक्ष्य में रखकर कहा जाय तो क्रय विक्रय सम्बन्धी सारा झूठ इसमें आ जाता है

३ भूम्यलीक—भूमि के सम्बन्ध में झूठ बोलना

४ स्थापनमृषा—किसी की धरोहर या गिरवी रखी हुई वस्तु के लिये झूठ बोलना

५ कूटसाक्षी—न्यायालय आदि में झूठी साक्षी देना

उपरोक्त पाँचों बातें व्यवहारशुद्धि से सम्बन्ध रखती हैं और स्वस्थ समाज के लिये आवश्यक हैं इस व्रत के पाँच अतिचार निम्नलिखित हैं :

१ सहसाभ्याख्यान—बिना विचारे किसी पर झूठा आरोप लगाना

२ रहस्याभ्याख्यान—राग में आकर विनोद के लिये किसी पति-पत्नी अथवा अन्य स्नेहियों को अलग कर देना या किसी के सामने दूसरे पर दोषारोपण करना

३ स्वदारमन्त्रभेद—आपस में प्रीति टूट जाय इस ख्याल से एक-दूसरे की चुगली खाना या किसी की गुप्त बात को प्रकट कर देना

४ मिथ्योपदेश—सच्चा झूठा समझा कर किसी को उल्टे रास्ते डालना

५ कूटलेखक्रिया—मोहर हस्ताक्षर आदि द्वारा झूठी लिखा-पढ़ी करना तथा खोटा सिक्का चलाना आदि

तत्त्वार्थसूत्र में सहसाभ्याख्यान के स्थान पर न्यासापहार है उसका अर्थ है किसी की धरोहर रख कर इन्कार कर जाना

जैन का अर्थ है वह व्यक्ति, जो जैन-सिद्धांतों में विश्वास रखता है जो व्यक्ति मांसाहार वेश्यागमन आदि को नहीं छोड़ता फिर भी जैन-सिद्धांत में अनुराग रखता है, उसे अपने आप को जैन कहने का अधिकार है, श्रावक, साधु तथा वीतराग की श्रेणियां उसके ऊपर हैं मांसाहार बुरा होने पर भी करने या छोड़ने मात्र से कोई जैन या अजैन नहीं बनता यह बात प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा और उत्साह पर निर्भर है कि वह त्याग के मार्ग पर कितना आगे बढ़ता है साधु प्राण-संकट आने पर भी दूसरे की हिंसा नहीं करता, उसकी चर्या निरपवाद है, किन्तु श्रावक को आवश्यकतानुसार छूट रहती है वह अपनी शक्ति और परिस्थिति के अनुसार ही व्रतों का पालन करता है यदि वह मांसाहार को बुरा समझता है और प्राण संकट आने पर भी उस ओर नहीं जाना चाहता तो वह उच्चादर्श है यदि इतनी शक्ति या साहस नहीं है तो हेय समझता हुआ भी वह उसका सेवन करेगा, किन्तु जब तक जैन-सिद्धांतों पर उसका विश्वास अक्षुण्ण है तब तक उसे जैन ही कहा जायेगा

त्याग का सर्वोत्कृष्ट रूप तीन करण तीन योग से है अर्थात् जहाँ साधक यह निश्चय करता है कि मैं किसी सावद्य प्रवृत्ति को मन, वचन और काया से न स्वयं करूँगा, न स्वयं कराऊँगा, और न करने वाले का अनुमोदन करूँगा इस प्रकार का त्याग साधु का ही होता है क्योंकि वह सामाजिक उत्तरदायित्व को छोड़कर एकान्त आत्मचिन्तन में लीन रहने लगता है परिवार या समाज से किसी प्रकार का लौकिक सम्बन्ध नहीं रखता, श्रावक का त्याग निम्न कोटि का होता है बहुत से कार्य वह अपने हाथ से नहीं करता किन्तु दूसरे से कराने की छूट रखता है बहुत से ऐसे हैं जो न करता कराता है किन्तु उनके अनुमोदन का त्याग नहीं करता त्याग की इन कोटियों को लक्ष्य में रख कर शास्त्र में ४९ भंग किये गये हैं सबसे स्थूल त्याग है एक करण एक योग अर्थात् अपने हाथ से स्वयं न करना इसी प्रकार एक करण दो योग, एक करण तीन योग, दो करण एक योग आदि भंग बनाये गये हैं श्रावक प्रायः दो करण तीन योग से त्याग करता है अर्थात् मन वचन और काया से स्वयं नहीं करता तथा दूसरे से नहीं कराता, उसे अनुमोदन करने का परित्याग नहीं होता

श्रावक अपने प्रथम अणुव्रत में यह निश्चय करता है कि मैं निरपराध त्रस जीवों की हिंसा नहीं करूँगा अर्थात् उन्हें जान-बूझ कर नहीं मारूँगा इस व्रत के पाँच अतिचार हैं जिनकी तत्कालीन श्रावक के जीवन में सम्भावना बनी रहती थी वे इस प्रकार हैं—

१ बन्ध—पशु तथा नौकर चाकर आदि आश्रितजनों को कष्टदायी बन्धन में रखना यह बन्धन शारीरिक, आर्थिक, सामाजिक आदि अनेक प्रकार का हो सकता है

२ वध—उन्हें बुरी तरह पीटना

३ छविच्छेद—उनके हाथ, पाँव आदि अंगों को काटना

४ अतिभार—उन पर अधिक बोझ लादना नौकरों से अधिक काम लेना भी अतिभार है

५ भक्तपानविच्छेद—उन्हें समय पर भोजन तथा पानी न देना नौकर को समय पर वेतन न देना जिससे उसे तथा घर वालों को कष्ट पहुँचे

सत्य-व्रत

श्रावक का दूसरा व्रत मृषावाद-विरमण अर्थात् असत्यभाषण का परित्याग है

उमास्वाति ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि 'असदभिधानमनृतम्' असदभिधान के तीन अर्थ हैं (१) असत् अर्थात् जो बात नहीं है उसका कहना (२) बात जैसी है उसे वैसी न कह कर दूसरे रूप में कहना, एक ही तथ्य को ऐसे रूप में भी उपस्थित किया जा सकता है जिससे सामने वाले पर अच्छा प्रभाव पड़े उसी को बिगाड़ कर रक्खा जा सकता है जिससे सामने वाला नाराज हो जाय सत्यवादी का कर्त्तव्य है कि वस्तु को वास्तविक रूप में रखे, उसे बनाने या बिगाड़ने का प्रयत्न न करे (३) इसका तीसरा अर्थ है असत्-बुराई या दुर्भावना को लेकर किसी से कहना यह
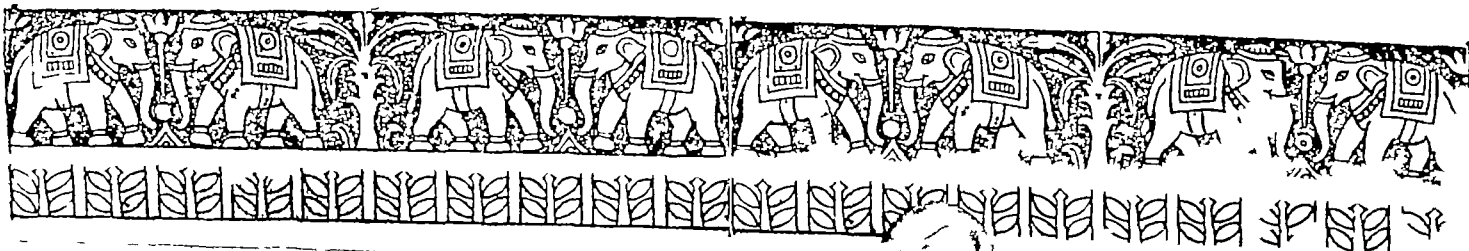
लिए साधु सम्पत्ति का सर्वथा त्याग करता है और भिक्षा पर जीवन निर्वाह करता है साधु वस्त्र—आदि उपकरणों की तरह अपने शरीर के प्रति भी ममत्व नहीं करता श्रावक भी उसी लक्ष्य को आदर्श मानता है किन्तु लौकिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये मर्यादित सम्पत्ति रखता है

आज मानव भौतिक विकास को अपना लक्ष्य मान रहा है वह 'स्व' के लिये सम्पत्ति के स्थान पर सम्पत्ति के लिये 'स्व' को मानने लगा है भौतिक आकांक्षाओं की पूर्ति के लिये समस्त आध्यात्मिक गुणों को तिलांजलि दे रहा है परिणाम-स्वरूप तथाकथित विकास विभीषिका बन गया है परिग्रह परिमाण व्रत इस बात की ओर संकेत करता है कि जीवन का लक्ष्य बाह्य सम्पत्ति नहीं है

इस व्रत का महत्त्व एक अन्य दृष्टि से भी है संसार मे सोना चादी भूमि अन्न वस्त्रादि सम्पत्ति कितनी भी हो पर वह अपरिमित नहीं है यदि एक व्यक्ति उसका अधिक संचय करता है तो दूसरे के साथ संघर्ष होना अनिवार्य है इसी आधार पर राजाओ और पूजीपतियो में परस्पर चिरकाल से संघर्ष चले आ रहे हैं जिनका भयकर परिणाम साधारण जनता भुगतती आ रही है वर्तमान युग म राजाओं और व्यापारियों ने अपने-अपने संगठन बना लिये हैं और उन संगठनों में परस्पर प्रतिद्वन्द्विता चलती रहती है यह सब ममत्व लालसा और सम्पत्ति पर किसी प्रकार की मर्यादा न रखने का परिणाम है इसी असन्तोष की प्रतिक्रिया के रूप में रूस ने राज्य क्रान्ति की और सम्पत्ति पर वैयक्तिक अधिकार को समाप्त कर दिया दूसरी ओर भूपतियो की सत्ता-लालसा और परिणामस्वरूप होने वाले भयकर युद्धो को रोकने वाले लोकतन्त्र भी शासन-पद्धति प्रयोग में लाई गई फिर भी समस्याए नहीं सुलझी जब तक व्यक्ति नहीं सुधरता संगठनो से अपेक्षित लाभ नहीं मिल सकता क्योकि संगठन व्यक्तियों के समूह का ही नाम है परिग्रहपरिमाण व्रत वैयक्तिक जीवन पर स्वेच्छा से अंकुश रखने के लिये कहता है इसमें नीचे लिखे नौ प्रकार के परिग्रह की मर्यादा का विधान है

१ क्षेत्र—(खेत) अर्थात् उपजाऊ भूमि की मर्यादा
२ वस्तु—मकान आदि
३ हिरण्य—चान्दी
४ सुवर्ण—सोना
५ द्विपद—दास दासी
६ चतुष्पद—गाय भैंस घोड़े आदि पशुधन
७ धन—रुपये पैसे सिक्के या नोट आदि
८. धान्य—अन्न गेहूँ चावल आदि खाद्य-सम्पत्ति
९ कुप्य या गाप्य—तांबा पीतल आदि अन्य धातुएं

कहीं कहीं हिरण्य मे सुवर्ण के अतिरिक्त शेष सब धातुए ग्रहण की गई है और कुप्य या गाप्य धन का अर्थ किया है हीरे, माणिक्य मोती रत्न आदि

इस व्रत के अतिचारो में प्रथम आठ को दो-दो की जोडी मे इकट्ठा कर दिया गया है और नवें को अलग लिया गया है इस प्रकार नीचे लिखे पाच अतिचार बताये गये है

१ क्षेत्र-वास्तु परिमाणातिक्रम
२ हिरण्य-सुवर्ण परिमाणातिक्रम
३ द्विपद चतुष्पदपरिमाणातिक्रम
४ धन-धान्यपरिमाणातिक्रम
५ कुप्यपरिमाणातिक्रम

अचौर्य-व्रत

श्रावक का तीसरा व्रत अचौर्य है वह स्थूल चोरी का त्याग करता है इसके नीचे लिखे रूप है

दूसरे के घर मे सेध लगाना, ताला तोडना या अपनी चाभी लगा कर खोलना, विना पूछे दूसरे की गाठ खोल कर चीज निकालना, यात्रियो को लूटना अथवा डाके मारना

इस व्रत के पाच अतिचार नीचे लिखे अनुसार है

१ स्तेनाहृत—चोर के द्वारा लाई गई चोरी की वस्तु खरीदना या घर मे रखना

२ तस्करप्रयोग—आदमी रख कर चोरी, डकैती, ठगी आदि कराना

३ विरुद्धराज्यातिक्रम—भिन्न-भिन्न राज्य वस्तुओ के आयात-निर्यात पर कुछ बन्धन लगा देते है अथवा उन पर कर आदि की व्यवस्था कर देते हैं राज्य के ऐसे नियमो का उल्लघन करना विरुद्धराज्यातिक्रम है

४ कूटतुला-कूटमान—नाप तथा तोल मे वेईमानी करना

५ तत्प्रतिरूपक व्यवहार—वस्तु मे मिलावट करना या अच्छी वस्तु दिखा कर बुरी वस्तु देना

सत्य तथा अचौर्य व्रत के अतिचारो का व्यापार तथा व्यवहार मे कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है, यह वताने की आवश्यकता नही

स्वदारसन्तोष-व्रत

श्रावक का चौथा व्रत ब्रह्मचर्य है इसमे वह परायी स्त्री के साथ सहवास का परित्याग करता है और अपनी स्त्री के साथ उसकी मर्यादा स्थिर करता है यह व्रत सामाजिक सदाचार का मूल है और वैयक्तिक विकास के लिये भी अत्यावश्यक है इसके पांच अतिचार निम्न हैं

१ इत्वरिक परिग्रहीतागमन—ऐसी स्त्री के साथ सहवास करना जो कुछ समय के लिये ग्रहण की गई हो भारतीय सस्कृति मे विवाह-सवन्ध समस्त जीवन के लिये होता है ऐसी स्त्री भोग और त्याग दोनो मे सहयोग देती है जैसा कि आनन्दादिक श्रावको की पत्नियो के जीवन से सिद्ध होता है इसके विपरीत, जो स्त्री कुछ समय के लिये अपनाई जाती है वह भोग के लिये होती है, वह जीवन के उत्थान मे सहायक नही हो सकती श्रावक को ऐसी स्त्री से गमन नही करना चाहिए

२ अपरिगृहीतागमन—वैश्या आदि के साथ सहवास

३ अनगक्रीडा—अप्राकृतिक मैथुन अर्थात् सहवास के प्राकृतिक अगो को छोडकर अन्य अगो से सहवास करना

४ परविवाहकरण—दूसरो का परस्पर सबन्ध कराना

५ कामभोगतीव्राभिलाष—विषय भोग तथा काम-क्रीडा मे तीव्र आसक्ति

परविवाहकरण अतिचार होने पर भी श्रावक के लिये उसकी मर्यादा निश्चित है अपनी सन्तान तथा आश्रित-जनो का विवाह करना उसका उत्तरदायित्व है इसी प्रकार पशु-धन रखने वाले को गाय, भैस आदि पशुओ का सवन्ध भी कराना पडता है, श्रावक को इसकी छूट है

अपरिग्रह परिमाण-व्रत

इसका अर्थ है श्रावक को अपनी धन-सम्पत्ति की मर्यादा निश्चित करनी चाहिए और उससे अधिक सम्पत्ति न रखनी चाहिए सम्पत्ति हमारे जीवन निर्वाह का एक साधन है साधन वही तक उपादेय होता है जहाँ तक वह अपने साध्य की पूर्ति करता है सपत्ति सुख के स्थान पर दुखो का कारण बन जाती है और आत्म-विकास को रोकती है अत हेय है इसी-

अनर्थदण्ड विरमण-व्रत
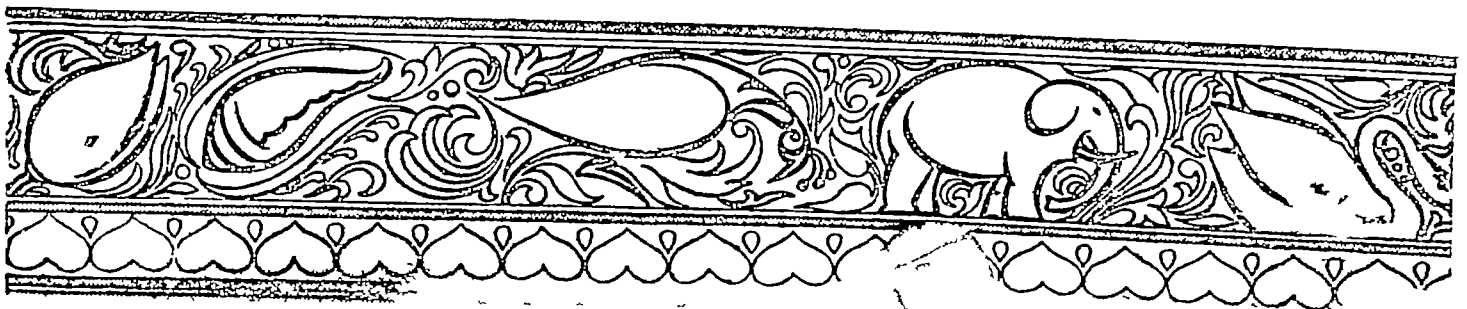
पाँचवें व्रत मे सम्पत्ति की मर्यादा की गई और छठे मे सम्पत्ति या स्वार्थमूलक प्रवृत्तियो की सातवें में प्रतिदिन व्यवहार म आनेवाली भाग्यसामग्री पर नियन्त्रण किया गया आठवें मे वयक्तिक हलचल या शारीरिक चेष्टाओं पर अनुशासन है श्रावक के लिये व्यर्थ की बातें करना शेखी मारना निष्प्रयोजन प्रवृत्ति करना वर्जित है इसी प्रकार उसे अपनी परन्तु वस्तुए व्यवस्थित रखनी चाहिए ऐसा कोई काय नही करना चाहिए जिससे लाभ कुछ भी न हो और दूसरे को कष्ट पहुँचे। अनर्थदण्ड अर्थात् निष्प्रयोजन हिंसा के चार रूप बताये गये है

१ अपध्यानाचरित—चिन्ता या क्रूर विचारों के कारण होने वाली हिंसा

धन सम्पत्ति का नाश पुत्र-स्त्री आदि प्रियजन का वियोग आदि कारणों से मनुष्य को चिन्तायें होती रहती है किन्तु उनसे लाभ कुछ भी नही वरन् अपनी ही आत्मा निर्बल हाती है इसी प्रकार क्रूर या द्वेषपूर्ण विचार रखने से भी कोई लाभ नही होता ऐसे विचारा को अपध्यानाचरित अनर्थदण्ड कहा गया है

२ प्रमादाचरित—आलस्य या असावधानी के कारण होने वाली हिंसा

घी तेल तथा पानी वाली खाद्य वस्तुओ को बिना ढँके रखना तथा अन्य प्रकार की असावधानी इस श्रेणी में आ जाती है यदि कोई व्यक्ति सड़क पर चलते समय यात्रा करते समय या अन्य व्यवहार में दूसरे का ध्यान नही रखता और ऐसी चेष्टाए करता है जिससे दूसरे को कष्ट पहुँचे तो यह सब प्रमादाचरित है

३ हिंस्रप्रदान—दूसरे व्यक्ति को शिकार खेलने आदि के लिये शस्त्रास्त्र देना जिससे स्वयं ही हिंसा के प्रति निमित्त बनना पड़े हिंसात्मक कार्यों क लिये आर्थिक या अन्य प्रकार की सभी सहायता इसमें आ जाती है

४ पापकर्मोपदेश—किसी मनुष्य या पशु को मारने पीटने या तग करने के लिये दूसरा को उभारना बहुधा देखा गया है कि बालक बिना किसी दुष्ट-बुद्धि के किसी भिखमगे या पागल-पशु को तग करने लगते है और पास में खड़े दूसरे मनुष्य तमाशा देखने के लिये उन्हे उकसाते है यह सब पापकर्मोपदेश है इसी प्रकार चोरी डकैती वेश्यावृत्ति आदि क लिये दूसरा को प्रेरित करना व ऐसी सलाह देनी भी इसी के अन्तर्गत है

इस व्रत के पाँच अतिचार निम्नलिखित है

१ कन्दर्प—कामोत्तजक चेष्टायें या बातें करना
२ कौत्कुच्य—भाडा क समान हाथ पैर पटकाना तथा नाक मुह आँख आदि से विकृत चेष्टायें करना
३ मौखर्य—मुखर अर्थात् वाचाल बनना बढ़-चढ़ कर बातें करना और अपनी शेखी मारना
४ सयुक्ताधिकरण—हथियारा एव हिंसक साधना की आवश्यकता क बिना ही जोड़ कर रखना
५ उपभोगपरिभोगातिरेक—भोग्य सामग्री का आवश्यकता से अधिक बढाना

वैभव प्रदर्शन क लिये मकान कपडे फर्नीचर आदि का आवश्यकता स अधिक संग्रह करना आदि इस अतिचार क अन्तगत है इसस दूसरा म ईर्ष्या वृत्ति उत्पन्न हाती है और अपना जीवन उन्ही की व्यवस्था म उलझ जाता है

सामायिक-व्रत

इन सातवें और आठवें व्रत मे व्यक्ति की बाह्य चेष्टाओ पर नियन्त्रण बताया गया नवें स लकर बारहवें तक चार व्रत आध्यात्मिक अभ्यास या शुद्धि क लिये है इनका अनुष्ठान साधना के रूप में अल्प समय के लिये किया जाता है

जिस प्रकार वैदिक परम्परा म सन्ध्या वन्दन तथा मुसलमानो में नमाज दैनिक कृत्य क रूप मे विहित है उसी प्रकार जैन परम्परा मे सामायिक और प्रतिक्रमण है सामायिक का अर्थ है जीवन में समता का उत्पन्न करने का अभ्यास साधु का सारा जीवन सामायिक रूप होता है अर्थात् उसका प्रत्येक कार्य समता का अनुष्ठान है श्रावक प्रतिदिन कुछ समय के

दिशा-परिमाण-व्रत

पाचवे व्रत मे सम्पत्ति की मर्यादा स्थिर की गई छठे दिशापरिमाण व्रत मे प्रवृत्तियो का क्षेत्र सीमित किया जाता है श्रावक यह निश्चय करता है कि ऊपर नीचे एव चारो दिशाओ मे निश्चित सीमा से आगे बढकर मैं कोई स्वार्थमूलक प्रवृत्ति नही करूगा साधु के लिये क्षेत्र की मर्यादा का विधान नही है क्योकि उसकी कोई प्रवृत्ति हिंसात्मक या स्वार्थमूलक नही होती वह किसी को कष्ट नही पहुचाता प्रत्युत धर्म-प्रचारार्थ ही घूमता है विहार अर्थात् धर्म-प्रचार के लिये घूमते रहना उसकी साधना का आवश्यक अग है किन्तु श्रावक की प्रवृत्तिया हिंसात्मक भी होती हैं अत उनकी मर्यादा स्थिर करना आवश्यक है

विभिन्न राज्यो मे होने वाले सघर्षों को रखकर विचार किया जाय तो इस व्रत का महत्त्व ध्यान मे आ जाता है और यह प्रतीत होने लगता है कि वर्तमान युग मे भी इस का कितना महत्त्व है यदि विभिन्न राज्य अपनी-अपनी राजनीतिक एव आर्थिक सीमाए निश्चत करले तो बहुत से सघर्ष रुक जाए श्रीजवाहरलाल नेहरू ने राष्ट्रो मे परस्पर व्यवहार के लिये पचशील के रूप मे जो आचार-सहिता बनाई थी उसमे इस सिद्धान्त को प्रमुख स्थान दिया है कि कोई राज्य दूसरे राज्य मे हस्तक्षेप नही करेगा

इस व्रत के पाच अतिचार निम्नलिखित हैं

१ ऊर्ध्व दिशा मे मर्यादा का अतिक्रमण

२ अधो दिशा मे मर्यादा का अतिक्रमण

३ तिरछी दिशा अर्थात् पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण मे मर्यादा का अतिक्रमण

४ क्षेत्रवृद्धि—अर्थात् असावधानी या भूल मे मर्यादा के क्षेत्र को बढा लेना

५ स्मृति-अन्तर्धान-मर्यादा का स्मरण न रखना

उपभोगपरिभोग-परिमाण-व्रत

सातवें व्रत मे वैयक्तिक आवश्यकताओ पर नियत्रण किया गया है उपभोग का अर्थ है भोजन-पानी आदि वस्तुए जो अनेक बार काम मे लाई जा सकती हैं उपभोग और परिभोग शब्दो का उपरोक्त अर्थ भगवती शतक ७ उद्देशा २ मे तथा हरिभद्रीयावश्यक अध्ययन ६ सूत्र ७ मे किया गया है उपासकदशाग सूत्र की अभयदेव टीका मे उपरोक्त अर्थ के साथ विपरीत अर्थ भी दिया गया है अर्थात् एक बार काम मे आने वाली वस्तु को परिभोग तथा बार-बार काम मे आने वाली वस्तु को उपभोग बताया गया है

इस व्रत मे दो दृष्टिया रखी गई है—भोग और कर्म भोग की दृष्टि को लक्ष्य मे रखकर २६ बातें गिनाई गई है जिनकी मर्यादा स्थिर करना श्रावक के लिये आवश्यक है, उनमे भोजन, स्नान, विलेपन, दन्तधावन, वस्त्र आदि समस्त वस्तुए आ गई हैं इस से ज्ञात होता है कि श्रावक के जीवन मे किस प्रकार का अनुशासन था, किस प्रकार वह अपने जीवन को सन्तोषमय और सादा बनाता है उनमे स्नान तथा दन्त-धावन आदि का स्पष्ट उल्लेख है अत जैनियो पर गन्दे रहने का जो आरोप लगाया जाता है वह मिथ्या है, अपने आलस्य या अविवेक के कारण कोई भी गन्दा रह सकता है—वह जैन हो या अजैन, उसके लिये धर्म को दोष देना उचित नही है दूसरी दृष्टि कर्म की अपेक्षा से है श्रावक को ऐसी आजीविका नही करनी चाहिए जिसमे अधिक हिंसा हो, जैसे—कोयले बनाना, जगल साफ करना, बैल आदि को नाथना या खस्सी करना आदि उसको ऐसे धन्धे भी नही करना चाहिए जिनसे अपराध या दुराचार की वृद्धि हो, जैसे—दुराचारिणी स्त्रियो को नियुक्त करके वैश्यावृत्ति कराना, चोर, डाकुओ को सहायता देना आदि इसके लिये १५ कर्मादान गिनाए गए हैं उपरोक्त २६ बातो तथा १५ कर्मादानो को विस्तृत रूप मे जानने के लिये उपासकदशाग सूत्र का प्रथम आनन्द-अध्ययन देखना चाहिए
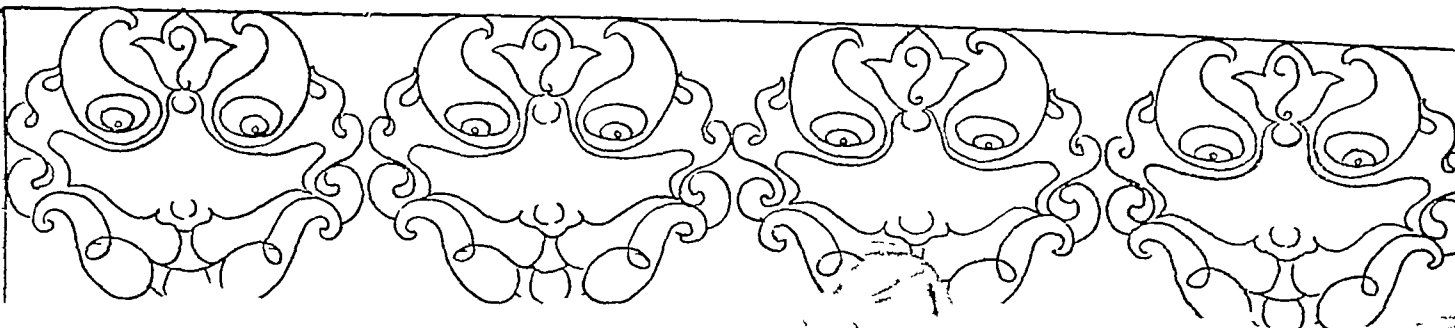
१० विलेपन—केसर चन्दन तेल आदि लेप किये जाने वाले द्रव्यों की मर्यादा
११ अब्रह्मचर्य—मैथुन सेवन की मर्यादा
१२ दिशि—ऊपर नीचे तथा चारो दिशाओं में यातायात तथा अन्य प्रवृत्तियों की मर्यादा
१३ स्नान—स्नानो की संख्या तथा जल की मर्यादा
१४ भक्त—चार प्रकार के आहार की मर्यादा
इस व्रत के निम्नलिखित पाँच अतिचार है
१ आनयनप्रयोग—मर्यादित क्षेत्र से बाहर की वस्तु मगाने के लिये किसी को भेजना
२ प्रेष्यप्रयोग—नौकर चाकर आदि को भेजना
३ शब्दानुपात—किसी प्रकार के शाब्दिक संकेत द्वारा बाहर की वस्तु मंगाना
४ रूपानुपात—हाथ आदि का इशारा करना
५ पुद्गलप्रक्षेप—कंकर पत्थर आदि फेंक कर किसी का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करना

पौषधोपवास व्रत

'पौषध' शब्द संस्कृत के उपवसथ शब्द से बना है इसका अर्थ है धर्माचार्य के समीप या धर्मस्थान में रहना उपवसथ अर्थात् धर्म स्थान मे निवास करते हुए उपवास करना पौषधोपवास व्रत है यह दिन रात अर्थात् आठ प्रहरों का होता है और अष्टमी चतुर्दशी आदि पर्व तिथियों पर किया जाता है

इस व्रत में नीचे लिखा त्याग किया जाता

१ भोजन पानी आदि चारो प्रकार के आहारों का त्याग
२ अब्रह्मचर्य का त्याग
३ आभूषणो का त्याग
४ माला तेल आदि सुगंधित द्रव्यो का त्याग
५ समस्त सावद्य अर्थात् दोषपूर्ण प्रवृत्तियो का त्याग

इसके पाँच अतिचार निवास स्थान की देखरेख एवं प्रमार्जन के साथ संबंध रखते है

अतिथिसंविभाग व्रत

संविभाग का अर्थ है अपनी सम्पत्ति एवं भोग्य वस्तुओं में विभाजन करना अर्थात् दूसरे को देना अतिथि के लिये किया जाने वाला विभाजन अतिथि संविभाग है वैदिक परम्परा में भी अतिथिसेवा गृहस्थ के प्रधान कर्त्तव्यों में गिनी गई है किन्तु जैन-परम्परा में अतिथि शब्द का विशिष्ट अर्थ है यहाँ निर्दोष जीवन व्यतीत करने वाले साधुओं को ही अतिथि माना गया है उन्हें भोजन पानी वस्त्र आदि देना अतिथि संविभाग व्रत है इसके नीचे लिखे पाँच अतिचार है

१ सचित्तनिक्षेप—साधु के ग्रहण करने योग्य निर्दोष आहार में कोई सचित्त वस्तु मिला देना जिससे वह ग्रहण न कर सके
२ सचित्तपिधान—देने योग्य वस्तु को सचित्त वस्तु से ढकना
३ कालातिक्रम—भोजन का समय व्यतीत होने पर निमंत्रित करना
४ परव्यपदेश—न देने की भावना से अपनी वस्तु को परायी बताना
५ मात्सर्य—मन मे ईर्ष्या या दुर्भावना रखकर दान देना

जैनधर्म में दान के दो रूप है—अनुकम्पादान और सुपात्र दान अनुकम्पा सम्यक्त्व का अंग है इसका अर्थ है प्रत्येक
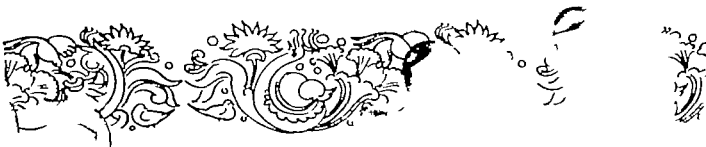
लिये उसका अनुष्ठान करता है समता का अर्थ 'स्व' और 'पर' मे समानता जैनधर्म का कथन है कि जिस प्रकार हम सुख चाहते हैं और दु ख से घबराते है, उसी प्रकार प्रत्येक प्राणी चाहता है हमे दूसरे के साथ व्यवहार करते समय उसके स्थान पर अपने को रखकर सोचना चाहिए, उसके कष्टो को अपना कष्ट, उसके सुख को अपना सुख मानना चाहिए समता के इस सिद्धान्त पर विश्वास रखने वाला व्यक्ति किसी की हिंसा नही करेगा किसी को कठोर शब्द नही कहेगा और न मन मे किसी का बुरा सोचेगा पहले बताया जा चुका है कि व्यवहार मे समता का अर्थ है अहिंसा जो जैनशास्त्र का प्राण है विचारो मे समता का अर्थ है स्याद्वाद, जो जैनदर्शन की आधारशिला है

प्रतिक्रमण का अर्थ है वापिस लौटना साधक अपने पिछले कृत्यो की ओर लौटता है उनके भले-बुरे पर विचार करता है, भूलो के लिये पश्चात्ताप करता है और भविष्य मे उनसे बचे रहने का निश्चय करता है श्रावक और साधु दोनो के लिये प्रतिक्रमण का विधान है इसका दूसरा नाम आवश्यक है अर्थात् यह एक आवश्यक दैनिक कर्त्तव्य है

श्रावक के व्रतो मे सामायिक का नवा स्थान है किन्तु आत्मशुद्धि के लिये विधान किये गए चार व्रतो मे इसका पहला स्थान है इसके पाच अतिचार निम्नलिखित है

१ **मनोदुष्प्रणिधान**—मन मे बुरे विचार आना
२ **वचनदुष्प्रणिधान**—वचन का दुरुपयोग, कठोर या असत्य भाषण
३ **कायदुष्प्रणिधान**—शरीर की कुप्रवृत्ति
४- **स्मृत्यकरण**—सामायिक को भूल जाना अर्थात् समय आने पर न करना
५ **अनवस्थितता**—सामायिक को अस्थिर होकर या शीघ्रता मे करना निश्चित विधि के अनुसार न करना

देशावकाशिक व्रत

इस व्रत मे श्रावक यथाशक्ति दिन-रात या अल्प समय के लिये धर्म के लिये साधु के समान चर्या का पालन करता है सामायिक प्राय दो घडी के लिये की जाती है और सारा समय धार्मिक अनुष्ठान मे लगाया जाता है खाना, पीना, नीद लेना आदि वर्जित है किन्तु इस व्रत मे भोजन आदि वर्जित नही है किन्तु उनमे अहिंसा का पालन आवश्यक है इस व्रत को देशावकाश कहा जाता है अर्थात् इसमे साधक निश्चित काल के लिये देश या क्षेत्र की मर्यादा करता है, उसके बाहर किसी प्रकार की प्रवृत्ति नही करता

श्रावक के लिये चौदह नियमो का विधान है अर्थात् उसे प्रतिदिन अपने भोजन, पान तथा अन्य प्रवृत्तियो के विषय मे मर्यादा निश्चित करना चाहिए इससे जीवन मे अनुशासन तथा दृढता आती है वे निम्नलिखित है

१ **सचित्त**— प्रतिदिन अन्न, फल, पानी आदि के रूप मे जिन सचित्त अर्थात् जीवसहित वस्तुओ का सेवन किया जाता है उनकी मर्यादा निश्चित करना यह मर्यादा सख्या, तोल एव वार के रूप मे की जाती है

२ **द्रव्य**—खाने, पीने सम्बन्धी वस्तुओ की मर्यादा, उदाहरण के रूप मे भोजन के समय अमुक सख्या से अधिक भोजन नही ग्रहण करूगा

३ **विगय**—घी, तेल, दूध, दही, गुड और पक्वान्न की मर्यादा
४ **पण्णी**— उपानह-(जूते, मोजे, खडाऊ आदि पैर मे पहनी जाने वाली वस्तुओ) की मर्यादा
५ **ताम्बूल**—पान, सुपारी, इलायची, चूर्ण, खटाई आदि की मर्यादा
६ **वस्त्र**—प्रतिदिन वस्त्रो के पहनने की मर्यादा
७ **कुसुम**—फूल, इत्र आदि सुगन्धित पदार्थों की मर्यादा
८ **वाहन**—सवारी की मर्यादा
९ **शयन**—शैय्या एव स्थान की मर्यादा
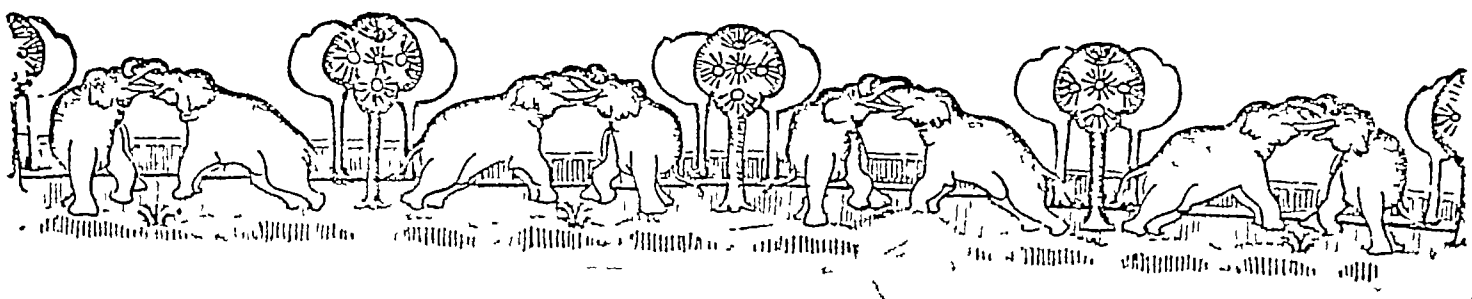
दुखी या अभावग्रस्त को देख कर उसके प्रति करुणा या सहानुभूति प्रगट करना और उसके दुख को दूर करने के लिये यथाशक्ति सहायता देना इससे आत्मा मे उदारता, मैत्री आदि सद्गुणो की वृद्धि होती है

साधु-साध्वी को दिया जाने वाला दान सुपात्र दान कहलाता है

ग्यारह प्रतिमायें

लम्बे समय तक व्रतो का पालन करता हुआ श्रावक पूर्ण त्याग की ओर अग्रसर होता है उत्साह वढने पर एक दिन कुटुम्ब का उत्तरदायित्व सन्तान को सौप देता है और पौपधशाला मे जाकर सारा समय धर्मानुष्ठान मे विताने लगता है उस समय वह उत्तरोत्तर साधुता की ओर वढता है कुछ दिनो तक अपने घर से भोजन मगाना है और फिर उसका भी त्याग करके भिक्षा पर निर्वाह करने लगता है, इन व्रतो को ग्यारह प्रतिमाओ के रूप मे प्रगट किया गया है प्रतिमा शब्द का अर्थ है सादृश्य जब श्रावक साधु के सदृश होने के लिये प्रयत्नशील होता है तो उसका आचार, प्रतिमा कहा जाता है इन की विस्तृत चर्चा के लिये उपासकदाश सूत्र का आनद अध्यन देखना चाहिए

सलेखना-व्रत

श्रमण परम्परा जीवन को अपने आप मे लक्ष्य नही मानती उसका कथन है कि साधना का लक्ष्य आत्मा का विकास है और जीवन उसका साधन मात्र है जिस दिन यह प्रतीत होने लगे कि शरीर शिथिल हो गया है, वह धर्म साधना मे सहायक होने के स्थान पर विघ्न-बाधाए उपस्थित करने लगा है तो उस समय यह उचित है कि उसका परित्याग कर दे इसी परित्याग को अतिम सलेखना व्रत कहा है इसमे श्रावक या साधु आहार का परित्याग करके धर्मचिंतन मे लीन हो जाता है, न जीवन की आकाक्षा करता है, न मृत्यु की, न यश की, न ऐहिक या पारलौकिक सुखो की धन, सम्पत्ति, परिवार, शरीर आदि सबसे अनासक्त हो जाता है इस प्रकार आयुष्य पूरा होने पर शान्ति तथा स्थिरता के साथ देह का परित्याग करता है

इस व्रत को आत्म-हत्या समझना भूल है व्यक्ति आत्म-हत्या तब करता है जब किसी कामना को पूरा नही कर पाता और वह इतनी वलवती हो जाती है कि उसकी पूर्ति के विना जीवन बोझ जान पडता है और उस बोझ को उतारे विना शाति असम्भव प्रतीत होती है आत्म-हत्या का दूसरा कारण उत्कट वेदना या मार्मिक आघात होता है दोनो परिस्थितिया व्यक्ति की निर्वलता को प्रगट करती है इसके विपरीत सलेखना त्याग की उत्कटता तथा हृदय की परम दृढता को प्रगट करती है जहाँ व्यक्ति विना किसी कामना के शान्तिपूर्वक अपने आप जीवन का उत्सर्ग करता है आत्म-हत्या निराशा तथा विवशता की पराकाष्ठा है, सलेखना वीरता का वह उदात्त रूप है जहा एक सिपाही हसते-हसते प्राणो का उत्सर्ग कर देता है सिपाही मे आवेश रहता है किन्तु सलेखना मे वह भी नही होता

इस व्रत के पाँच अतिचार निम्नलिखित है

१ धन, परिवार आदि इस लोक सम्बन्धी किसी वस्तु की आकाक्षा करना
२ स्वर्ग सुख आदि परलोक से सम्बन्ध रखने वाली किसी बात की आकाक्षा करना
३ जीवन की आकाक्षा करना
४ कष्टो से घबरा कर शीघ्र मरने की आकाक्षा करना
५ अतृप्त कामनाओ की पूर्ति के रूप मे काम-भोगो की आकाक्षा करना

उपसहार

सलेखना तक जिन व्रतो का यहाँ प्रतिपादन किया गया है वे एक आदर्श गृहस्थ की चर्या प्रगट करते है उपासक-दशाँग सूत्र के प्रथम अध्ययन मे इन सबका विस्तृत वर्णन है

मुनि श्रीसन्तबालजी
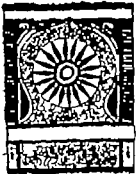
जनशासन और जिनशासन

'सव्वे जीव करुं शासनरसि ऐसी भावदया मन उलसी' इस प्रसिद्ध वाक्य का अर्थ स्पष्ट है कि जब सर्वांगीण और सच्चा आत्मज्ञान प्रकट होता है तब प्राणि मात्र को जिनका रसिक बनाने की भाव-दया अपने आप उत्पन्न हो जाती है परन्तु जिनशासन की इमारत जनशासन के दृढ़ पाये के बिना लम्बे समय टिक नहीं सकती इसी से उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है कि चार अंग मिलना दुर्लभ है उनमें मानवता सबसे पहला अंग है वह मूल गाथा इस प्रकार है

चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जन्तुणो
माणुसत्तं सुई सद्धा संजमम्मि य वीरियं।

मनुष्यत्व अथवा मानवता अर्थात् जनशासन की आधारशिला है !

भगवान ऋषभनाथ

इस अवसर्पिणी काल में इस क्षेत्र में सर्व प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभनाथ ने युगलिक धर्म का निवारण करके इसी कारण सुयोग्य जनशासन का बीजारोपण किया था उन्होंने स्वयं भव में स्वयं क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे तब जनता को रोजी-रोटी के लिये खेती पशुपालन व्यवहार के लिये कलम और सुरक्षा के लिये शस्त्रकला सीखने की प्रेरणा की थी भारत के इस आदि समाज के नेता ने लोगों को इतना कर्मठ एवं स्वावलम्बी बनाया कि जिससे व्यक्ति स्वातंत्र्य की रक्षा के साथ-साथ सामाजिक जीवन का आनन्द मिला करे और मानव जाति का विकास होता रहे क्योंकि मानव जाति निर्भय और शान्त हो तो ही संसार के छोटे मोटे सभी जीव निर्भयता और शान्ति अनुभव करने का सौभाग्य प्राप्त कर सकते हैं

ऋषभयुग में मानवबुद्धि और मानवहृदय का सुसमन्वय था भले ही कर्मठता कच्ची थी तत्पश्चात् विविध युग आये कालरात्रियां भी आईं और बीत गई इन युगों में हृदय और बुद्धि का समन्वय हुआ साथ ही कर्मठता का विकास हुआ और अपरंपार भौतिक विकास हुआ

भगवान् महावीर

भगवान् महावीर का काल एक ओर जहां विषम था दूसरी ओर चारित्र्य के चमत्कारों का भी था उस युग में जनशासन के पाये को मजबूत करने के लिये जो भगीरथ पुरुषार्थ हुये उनमें से नीचे लिखी दो तीन घटनाएं उस रहस्य को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त होंगी

[१]

रत्न-कम्बलों का एक विक्रेता निराश स्वर में गुन-गुनाता हुआ राह पर जा रहा है वह कहता है—मगध जैसे विशाल राज्य का और राजगृही जैसी राजधानी का राजा श्रेणिक भी यदि मेरा एक रत्न-कम्बल नहीं खरीद सकता तो मेरी दशा भी बद और बदतर होगी ? क्या मगध राज्य भी अब अकिंचन हो गया है ?

अटारी में खड़ी हुई भद्रा सेठानी इन उद्गारों को सुन कर व्यापारी को बुला कर समझाती है—'भाई, मगध राज्य

का-कोषागार समाप्त नही हो गया है किन्तु प्रजा का धन अन्त पुर के वैभव मे व्यय नही किया जा सकता, मगधराज को इससे परहेज है आपके पास जो कला है उसकी कद्र करने वाले हमारे जैसे मगध के नागरिक मौजूद है" इस प्रकार कह कर शालिभद्र की माताजी ने सोलह रत्न-कम्बल बीस लाख जितनी स्वर्ण-मुहर देकर पल भर मे खरीद ली और दूसरे सोलह कम्बलो की माग की कलाकार, दातो तले उगली दबा कर रह गया

× × ×

राज्य का अक्षय भडार राजा का नही, राजा तो केवल प्रजा का पालक है ! बत्तीस-बत्तीस रत्न-कम्बल क्रय करने वाले धनिको को धन का अभिमान नही ! उन्हे राष्ट्र का अभिमान है कला की कद्रदानी है

[२]

जिस शालिभद्र के पास इतना विशाल धनभडार था, जिसके घर मे देवो की समृद्धि ठिली पडी थी, उस शालिभद्र के पास श्रेणिक राजा स्वय पहुचता है शालिभद्र की माता भद्रा का हृदय आनन्द-पुलकित बन जाता है सत्ता स्वय जनता के सामने झुकने आती है, माता भद्रा विचार करती है—'राजा कैसा ही क्यो न हो आखिर प्रजा की सुरक्षा करने वाला पालक पिता सरीखा है' शालिभद्र को उससे मिलने के लिये नीचे बुलाया जाता है शालिभद्र भेट तो अवश्य करता है पर उसके मन मे क्या विचार उत्पन्न होता है ? 'सत्ता से सत्य महान् है सत्य साधना की सच्ची सत्ता तो भगवान् महावीर के पास है' और वह भगवान् महावीरके पास जाकर जैन साधुदीक्षा अगीकार कर लेता है

× × ×

मानवधन और देवधन की अपेक्षा साधुधन सर्वोपरि है विशाल समृद्धि और सत्ता की अपेक्षा वात्सल्य सत्ता महान् है

[३]

जिनशासन के एक दृढ स्तभ के सदृश पुणिया श्रमणोपासक के पास न कोई सम्पत्ति है और न कोई सत्ता ही है परिश्रम करके न्यायसम्पन्न आजीविका प्राप्त करने की परम आत्मिक सम्पत्ति ही उसके पास है और प्राणिमात्र के साथ 'सव्वभूयप्पभूयस्स' की महान् आत्मिक सम्पत्ति का वह स्वामी है इसी कारण राजा श्रेणिक एक बार याचक बन कर उसके आगन मे आकर याचना करता है—'पुणियाजी, आप अपनी एक सामायिक मुझे दे सकते है ?'

पुणिया कहता है – सामायिक आत्म-दशा है जो आपके पास ही है प्राणि-मात्र की हृदय गुफा मे वह प्रकाशित होती है वह लेने-देने की वस्तु नही है

श्रेणिक नरपति समझ गया

× × ×

इन तीन घटनाओ से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि पुणिया जैसे श्रावको और शालिभद्र जैसे साधुओ से जिनशासन की शोभा है भद्रामाता प्रजा और राज्य के प्रति अपना कर्तव्य पालती है पर श्रेणिक जैसा नृप समझ जाता है कि राजा की अपेक्षा प्रजा बडी है और प्रजा की अपेक्षा सत्य बडा है इस कारण अन्तत जिनशासन की अनुपम सेवा करके वह तीर्थंकर गोत्र उपार्जित कर लेता हैं

× × ×

आज पचम काल चल रहा है जिनशासन की इमारत डगमगा चुकी है क्योकि जनशासन का पाया हिल गया है परिणामस्वरूप दुनिया मे जैसे राज्यशासन का बोलबाला है, उसी प्रकार भारत मे भी बोलबाला होने लगा तब एक धर्मवीर पुरुष आगे आया उसका नाम था महात्मा गाधी

उसने ब्रिटिश शासन की सर्वोच्चता को चुनौती दी कहा—"स्वच्छद राज्य के कानून की और सेना की सत्ता महान्

नही प्रजा के नैतिक कानून की और प्रजा की सामुदायिक चारित्र की सत्ता महान् है आखिर ब्रिटिश शासन समाप्त हुआ अहिंसा-शक्ति वाली प्रजा की विजय हुई

गांधीजी गये एक शून्यता व्याप गई

सद्भाग्य से इसी अन्तराल में भालनलकांठा प्रयोग इसी अनुसंधान में शुरू हुआ और यह सूत्र गूंज उठा—'राज्य की अपेक्षा प्रजा महान् है प्रजा की अपेक्षा नैतिकता महान् है। और नैतिकता अध्यात्मलक्षी बनी रहे इसके लिये शान्तिप्रिय साधु साध्वियों का मार्गदर्शन अनिवार्य है

यद्यपि भालनलकांठा प्रदेश का विस्तार स्वल्प है वहां (१) शान्ति प्रिय साधु प्रेरणा (२) रचनात्मक कार्यकर्ताओं की संस्था का संचालन (३) नैतिक ग्राम संगठन (४) उसका कांग्रेस के साथ (सत्य अहिंसा के लक्ष्य को सुरक्षित रखते हुए) अनुसंधान के साथ सफलता प्राप्त की जा चुकी है, किन्तु गहराई के साथ यदि व्यापकता पर्याप्त प्रमाण में न आवे तो सम्पूर्ण सफलता की दिशा में आगे बढ़ने के बदले पीछे हटना कहलायगा इसी हेतु से जैसे पच्चीस वर्ष गुजरात के ग्रामों को दिये गये हैं उसी प्रकार अन्तिम लगभग ६ वर्ष से बम्बई जैसी महानगरी के साथ और इतर प्रान्तों के साथ मेल सम्पर्क साधने के लिये मैं और साथी श्रीनेमिमुनि प्रयत्नशील हैं इसी दृष्टि से नेमिमुनि ने मद्रास में चातुर्मास किया और लगभग आठ प्रान्तों का प्रवास किया इसीलिए हम दोनों ने दिल्ली में चातुर्मास किया और अब कलकत्ते की ओर प्रयाण करने का निश्चय किया है

× × ×

अब कांग्रेस का कायापलट हो रहा है कांग्रेस राज्य की अपेक्षा कांग्रेस का संस्था-संगठन महान् है इतनी बात उसने विधिपूर्वक स्वीकार करने की तैयारी की है किन्तु जब तक कांग्रेस ग्रामों महिलाजाति और पिछड़ी हुई जातियों के वर्गों की नैतिक संस्थाओं का मार्गदर्शन स्वीकार नहीं करती तब तक सच्ची कायापलट होना असंभव है

ऐसी परिस्थिति में यदि शान्तिप्रिय-साधु साध्वी अपना आध्यात्मिक बल ऊपरी दृष्टि से नाम मात्र के लिए बनी हुई ग्रामों और शहरों की जनसंस्थाओं को अर्पित करें—गांधीयुग के रचनात्मक कार्यकर्ता और उपर्युक्त साधु साध्वी के श्रद्धालु श्रावक-श्राविकाएं तथा संन्यासी भक्त जन अपना नैतिक बल संस्थारूप बन कर उन्हें प्रदान करें और जहां ऐसी संस्थाएं न हों वहां उन्हें खड़ी करने में लग जाएं तो कांग्रेस में कायापलट होना सुगम है अगर ऐसा हुआ तो भले ही ऐसे साधु साध्वी श्रावक श्राविका विरल मिलें परन्तु जनशासन के पाये पर निर्भर जिनशासन की इमारत सुदृढ़ बन जाएगी

सद्गत पूज्य श्रीहजारीमलजी महाराज के सत्पद को जब श्रद्धांजलि के रूप में यह स्मारक-ग्रन्थ अर्पित किया जा रहा है तब यदि जिनशासन के पाये जनशासन का ठिकाना न हो और सत्ता के सामने जनता जनसेवक और साधु-सन्त सन्नारी झुकते रहें जाएं तो यह अंजलि कैसे सार्थक बनेगी ? जब छठे आरे के अन्त तक भले ही छोटा सही चतुर्विध संघ रहना है तब पंचम आरे में यह महत्त्वपूर्ण काम क्या नहीं बन सकता ? अवश्य बनेगा

का-कोषागार समाप्त नही हो गया है किन्तु प्रजा का धन अन्त पुर के वैभव मे व्यय नही किया जा सकता, मगधराज को उससे परहेज है आपके पास जो कला है उसकी कद्र करने वाले हमारे जैसे मगध के नागरिक मौजूद हैं" इस प्रकार कह कर शालिभद्र की माताजी ने सोलह रत्न-कम्बल बीस लाख जितनी स्वर्ण-मुहर देकर पल भर मे खरीद ली और दूसरे सोलह कम्बलों की माग की कलाकार, दातों तले उगली दबा कर रह गया

× × ×

राज्य का अक्षय भडार राजा का नही, राजा तो केवल प्रजा का पालक है ! बत्तीस-बत्तीस रत्न-कम्बल क्रय करने वाले धनिकों को धन का अभिमान नही ! उन्हे राष्ट्र का अभिमान है कला की कद्रदानी है

[२]

जिस शालिभद्र के पास इतना विशाल धनभडार था, जिसके घर मे देवों की समृद्धि ठिली पडी थी, उस शालिभद्र के पास श्रेणिक राजा स्वय पहुचता है शालिभद्र की माता भद्रा का हृदय आनन्द-पुलिकित बन जाता है सत्ता स्वय जनता के सामने झुकने आती है, माता भद्रा विचार करती है—'राजा कैसा ही क्यों न हो आखिर प्रजा की सुरक्षा करने वाला पालक पिता सरीखा है' शालिभद्र को उससे मिलने के लिये नीचे बुलाया जाता है शालिभद्र भेंट तो अवश्य करता है पर उसके मन मे क्या विचार उत्पन्न होता है ? 'सत्ता से सत्य महान् है सत्य साधना की सच्ची सत्ता तो भगवान् महावीर के पास है' और वह भगवान् महावीर के पास जाकर जैन साधुदीक्षा अगीकार कर लेता है

× × ×

मानवधन और देवधन की अपेक्षा साधुधन सर्वोपरि है विशाल समृद्धि और सत्ता की अपेक्षा वात्सल्य सत्ता महान् है

[३]

जिनशासन के एक दृढ स्तभ के सदृश पुणिया श्रमणोपासक के पास न कोई सम्पत्ति है और न कोई सत्ता ही है परिश्रम करके न्यायसम्पन्न आजीविका प्राप्त करने की परम आत्मिक सम्पत्ति ही उसके पास है और प्राणिमात्र के साथ 'सव्वभूयप्पभूयस्स' की महान् आत्मिक सम्पत्ति का वह स्वामी है इसी कारण राजा श्रेणिक एक बार याचक बन कर उसके आगन मे आकर याचना करता है—'पुणियाजी, आप अपनी एक सामायिक मुझे दे सकते हैं ?'

पुणिया कहता है – सामायिक आत्म-दशा है जो आपके पास ही है प्राणि-मात्र की हृदय गुफा मे वह प्रकाशित होती है वह लेने-देने की वस्तु नही है

श्रेणिक नरपति समझ गया

× × ×

इन तीन घटनाओ से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि पुणिया जैसे श्रावको और शालिभद्र जैसे साधुओ से जिनशासन की शोभा है भद्रामाता प्रजा और राज्य के प्रति अपना कर्तव्य पालती है पर श्रेणिक जैसा नृप समझ जाता है कि राजा की अपेक्षा प्रजा बडी है और प्रजा की अपेक्षा सत्य बडा है इस कारण अन्तत जिनशासन की अनुपम सेवा करके वह तीर्थंकर गोत्र उपार्जित कर लेता हैं

× × ×

आज पचम काल चल रहा है जिनशासन की इमारत डगमगा चुकी है क्योकि जनशासन का पाया हिल गया है परिणामस्वरूप दुनिया मे जैसे राज्यशासन का बोलबाला है, उसी प्रकार भारत मे भी बोलबाला होने लगा तब एक धर्मवीर पुरुष आगे आया उसका नाम था महात्मा गाधी

उसने ब्रिटिश शासन की सर्वोच्चता को चुनौती दी कहा—"स्वच्छद राज्य के कानून की और सेना की सत्ता महान्

काका कालेलकर

सत्याग्रह और पशु

प्रश्न—अगर सत्याग्रह आत्म-शक्ति का प्रयोग है तो क्या सिंह आदि हिंस्र जानवरों के खिलाफ सत्याग्रह चल सकता है ?

जवाब—जिस अर्थ मे आप सत्याग्रह शब्द का उपयोग करते है उस अर्थ मे सिंह आदि पशुओं के प्रति सत्याग्रह का उपाय कारगर नही हो सकेगा पशुओं मे बुद्धिशक्ति परिमित पायी जाती है पशुओं मे अन्तर्मुख होकर सोचने की शक्ति हमारे देखने मे आयी नही

प्रथम आपका हिंस्र शब्द लीजिये गाय घास खाती है, बदर फल-पत्ते आदि खाता है, पक्षी धान्य भी खाते है और कीडे आदि जन्तुओं को भी खा जाते है, उसी तरह सिंह, बाघ और भेडिया पशुओं को मार कर खा जाते है उनका यह आहार ही है पशुओं का दु ख हम देख सकते है इसलिए उनको खानेवालो को हम हिंस्र कहते है इनमे भी सिंह बाघ भेडिया आदि से हमे भय है इसलिए हम उन्हे हिंस्र कहते है बिल्ली भी तो हिंस्र है साँप अजगर आदि सरीसृप भी हिंस्र है वे हमे काटते है लेकिन फाड नही खाते, इसलिए उनके बारे मे हिंस्र शब्द का प्रयोग देखने मे नही आता

हिंस्र शब्द केवल आपका अपनी दृष्टि से प्रेरित Re-action है, प्रतिक्रिया है जिसमे परिवर्तन लाने के लिये आप सत्याग्रह का प्रयोग करेगे उसके प्रति द्वेष, तिरस्कार आदि भावना हटाने की आपकी कोशिश होनी चाहिए पशु मे सुधार हो सकता है ऐसी आपकी भावना भी कहाँ तक है !

इस तरह सत्याग्रह का प्रभाव डालने की शक्ति आपके पास नही है और सत्याग्रह के असर के नीचे आने का माद्दा ही पशु मे नही है इसलिए मैंने तुरन्त स्पष्ट 'नही' का जवाब दिया लेकिन इस बारे मे जरा गहराई मे उतरना जरूरी है चन्द ईसाई मिशनरियो से बातचीत हो रही थी उन्होने कहा कि जानवरो को आत्मा नही होता उनमे जीव है, प्राण है किन्तु आत्मा नही है मैंने कहा कि इस भेद की चर्चा मैं नही करूगा आप हमेशा कहते है न कि परमात्मा प्रेमस्वरूप-God is Love है तो जिन प्राणियो मे प्रेम कमोवेश प्रकट होता है उनमे ईश्वरी अश आत्मा है ही प्राणी अपने बच्चो पर प्यार करते हैं उनको बचाने के लिये अपना प्राण तक दे देते है तो आप कैसे कह सकते है कि उनमे प्रेम का उत्कर्ष नही है ? आत्मा नही है ? जहां आत्मबलिदान का तत्त्व आया वहा आत्मशक्ति है ही पशु एक दूसरे के बच्चो को बचाने के लिये सगठित प्रयत्न भी करते हैं हमारी एक भैंस मर गई तो तब से दूसरी भैंस ने उसके बच्चे को अपना दूध देना शुरू किया उसके पहले उस पराये बछडे को वह पास भी आने नही देती थी ! यह सहानुभूति, करुणा, प्रेम आत्मा का ही आविष्कार है इसलिए यह कहते मुझे तनिक भी सकोच नही है कि योग्य साधुता जिसमे है वह पशुओ पर भी असर कर सकता है "अड्रोक्लीज और सिंह' की कथा तो आप जानते ही है मेरा ही एक छोटा अनुभव आपको कहूँ जब मैं अपने गाँव मे रहता था तब घर मे मेरी एक प्यारी बिल्ली थी हमारे बीच गहरी दोस्ती थी उसका वर्णन नही करता क्योकि बिल्ली का प्यार सब जानते ही है एक दिन जगल के नजदीक अपने बगीचे मे मैं गया था, मैंने एक खरगोश का बच्चा पाया मैंने सोचा—यहा तो कुत्ते आकर उसे फाडकर खा जाएगे मैं उसे उठाकर घर ले आया

'वन' के भीतर एक-एक विश्व एक-एक अश्वत्थ वृक्ष के समान है इस प्रकार के अनन्त अश्वत्थ उस सहस्रात्मा 'वन' नामक प्रजापति में हैं उसके केन्द्र की जो धारा सृष्ट्युन्मुख होकर प्रवृत्त होती है उसी मूलकेन्द्र से केन्द्रपरम्परा विकसित होती हुई पुरुष तक आती है केन्द्रों के इस वितान में पूर्वकेन्द्र की प्रतिमा या प्रतिबिम्ब उत्तर के केन्द्र में आता है इस प्रकार जो सहस्रात्मा प्रजापति है वही मूल से तूल में आता हुआ ठीक-ठीक अपने सम्पूर्ण स्वरूप के साथ इस पुरुष में अवतीर्ण होता है और हो रहा है वैदिक महर्षियों ने ध्यान योग्यतानुगत हो कर उस महान् तत्त्व का साक्षात्कार किया और सृष्टिपरम्परा का विचार करते हुए उन्हें यह साक्षात् अनुभव हुआ कि यह जो पुरुष है वह इसी सहस्रात्मा प्रजापति की सच्ची प्रतिमा है—पुरुषो वै सहस्रस्य प्रतिमा—शत ७ ५ २ १७

जो सहस्र प्रजापति है उसी के अनन्त अव्यक्त स्वरूप में किन्हीं अचिन्त्य अप्रतर्क्य बलों के सङ्घर्षण से या ग्रन्थिबन्धन से या स्पन्दन से सृष्टि की प्रक्रिया प्रवृत्त होती है किसी भी प्रकार की शक्ति या वेग हो उसके लिये बलग्रन्थि आवश्यक है बिना बलग्रन्थि के अव्यक्त व्यक्तभाव में अमूर्त मूर्तरूप में आ ही नहीं सकता शुद्ध रसरूप प्रजापति में अमित भाव की प्रधानता है उसमें जब तक मितभाव का उदय न हो तब तक सृष्टि की सम्भावना नहीं होती प्रजापति के केन्द्र से जिस रस का वितान या विस्तार होता है वह यदि बाहर की ओर ही फैलता जाये तो कोई ग्रन्थि-सृष्टि संभव नहीं वह जब परिधि की ओर फैल कर जब बल के रूप केन्द्र की ओर लौटता है, तब द्विविरुद्ध भावों की टक्कर से स्थिति और गति या गति और आगतिरूप स्पन्दन का चक्र जन्म लेता है स्पन्दन का नाम प्रजापति है स्पन्दन को वैदिक परिभाषा में छन्द कहते हैं जो छन्द है वही प्रजापति है किसी भी प्रकार की फड़कन का नाम छन्द है सारे विश्व में द्विविरुद्ध भाव से समुत्पन्न जहाँ-जहाँ छन्द या फड़कन है वहीं प्रजापति के स्वरूप का तारतम्य दृष्टिगोचर होता है अतएव एक महान् सत्य सूत्ररूप में इस प्रकार व्यक्त किया गया

प्रजापतिरेव छन्दो भवत् —शत ८ २ १ १

सृष्टि की महती प्रक्रिया में अनेक कोटों में अनेक स्तरों पर प्रजापति के इस छन्द की अभिव्यक्ति हो रही है उसी छन्दो वितान में सहस्रात्मा प्रजापति पुरुषरूप में अभिव्यक्त होता है सूर्य भी उसी केन्द्रपरम्परा का एक बिन्दु है ऐसे पूर्वयुग की कल्पना कर, जब सब कुछ तमोभूत था असत्‌ था और अप्रज्ञात था उस समय रस और बल के तारतम्य से जो शक्ति का संघर्षण होने लगा घर्षण उसी के फलस्वरूप ज्योतिष्मान् महान् आदित्यों का जन्म हुआ वैज्ञानिक भाषा में इसी को या भाषा और यहा जा सकता है कि आरम्भ में शक्ति के समान वितरण के फलस्वरूप एक शान्त समुद्र भरा हुआ था शक्ति के उस शान्त सागर में न कोई तरंग थी न क्षोभ था किन्तु न जाने कहाँ से कैसे क्यों और कब उसमें तरंगों का स्पन्दन आरम्भ हुआ और उस संघर्ष के फलस्वरूप जो शक्ति समरूप में फैली हुई थी उसमें केन्द्र या बिन्दु उत्पन्न होने लगे जो कि प्रकाश और तेज के पुञ्ज बन गए इस प्रकार के न जाने कितने सूर्य शक्ति की उस प्राक्तन शान्त अभिन्न अवस्था में उत्पन्न हुए वैदिक भाषा में ज्योति की संज्ञा हिरण्य है अव्यक्त अवस्था हिरण्यगर्भ अवस्था थी समभाव से बिखरी शक्ति की पूर्वावस्था वही हिरण्यगर्भ अवस्था थी जिसमें यह ज्योति हिरण्यभाव समाया हुआ था आगे का व्यक्तभाव उसी के पूर्व अव्यक्त में लीन था यदि सारे काल तक शक्ति की वही साम्यावस्था बनी रहती तो किसी प्रकार का व्यक्तभाव उत्पन्न हो न होता शक्ति के वैषम्य से ही महान् आदित्य जैसे केन्द्र या बिन्दु उस शान्तशक्ति समुद्र में उत्पन्न होने लगे पहली शान्त अवस्था के लिये वेद में सत्यनी शब्द है और दूसरी व्यक्तभावापन्न क्षुब्ध अवस्था के लिये अम्भांसि शब्द है सत्यनी शान्त आत्मा है अम्भसी क्षुभित आत्मा है शक्ति के उस समुद्र में जो क्षुभित केन्द्र उत्पन्न हुए उन्हीं की संज्ञा सूर्य हुई हमारे सौर-मण्डल का सूर्य भी उन्हीं में से एक है प्रत्येक आदित्य या सूर्य सहस्रात्मा प्रजापति का प्रतिमा है और यह भी ऐसी प्रतिमा है जो विश्वरूपी है जिसमें सब रूपों की समष्टि है जिसके मूल से सब रूपों का निर्माण होता है उसी के लिये कहा है

आदित्यं गर्भं पयसा समङ्‌ग्धि सहस्रस्य प्रतिमां विश्वरूपम् —यजु १३ ४१

शक्ति के शान्त महासमुद्र में जो आदित्य उत्पन्न हुआ वह प्रजापति का शिशुरूप था उसके पोषण के लिये पय या दुग्ध

श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल
काशी विश्वविद्यालय

पुरुष प्रजापति

भगवान् वेदव्यास का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वचन है, जो उनके समस्त ज्ञान-विज्ञान का मथा हुआ मक्खन कहा जा सकता है उन्होंने लिखा है

'गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि न हि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित्'

जो गुह्य तत्त्वज्ञान है, जो अव्यक्त ब्रह्म के समान सर्वोपरि और सर्वव्याप्त अनुभव है, वह मैं तुम से कहता हूं—मनुष्य से श्रेष्ठ और कुछ नहीं है सचमुच अनन्त शाखा-प्रशाखाओं के वेद का गुह्य सदेश यही है कि प्रजापति की सृष्टि में मनुष्य प्रजापति के निकटतम है शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट शब्दों में कहा है

पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्—शत० ४ ३ ४ ३.

पुरुष प्रजापति के निकटतम है निकटतम का तात्पर्य यही कि वह प्रजापति की सच्ची प्रतिमा है, प्रजापति का तद्वत् रूप है प्रजापति और उसके बीचमें ही ऐसा सान्निध्य और घनिष्ठ सम्बन्ध है, जैसा प्रतिरूप अर्थात् असल रूप और अनुकृति में होता है प्रजापति मूल है, तो पुरुष उसकी ठीक प्रतिकृति है, प्रजापति के रूप में देखना और समझना चाहे तो उसके सारे नक्शे को इस पुरुष में देख और समझ सकते हैं सत्य तो यह है कि पुरुष प्रजापति के इतना नेदिष्ठ या निकटतम या अतरग है कि विचार करने पर यही अनुभव होता है और यही मुह मे निकल पडता है कि पुरुष प्रजापति ही है

पुरुष. प्रजापति—शत० ६ २ १ २३.

जो प्रजापति के स्वरूप का ठाट या मानचित्र है, हूवहू वही पुरुष में आया है इसलिए यदि सूत्र रूप में पुरुष के स्वरूप की परिभाषा बनाना चाहें, तो वैदिक शब्दों में कह सकते हैं

प्राजापत्यो वै पुरुष—तैत्ति० २ १ ५ ३

किन्तु यहाँ एक प्रश्न होता है पुरुष साढे तीन हाथ परिमाण के शरीर में सीमित है, जिसे बाद के कवियों ने

अहुठ हाथ तन सरवर, हिया कवल तेहि माह

इस रूप में कहा है, अर्थात् साढे तीन हाथ का शरीर एक सरोवर के समान है, जो जीवन रूपी जल से भरा हुआ है, और जिसमें हृदयरूपी कमल खिला हुआ है जिस प्रकार कमल सूर्य के दर्शन से, सहस्ररश्मि सूर्य के आलोक से विकसित होता या खिलता है, उसी प्रकार पुरुष रूपी यह प्रजापति उस विश्वात्मा महाप्रजापति के आलोक से विकसित और अनुप्राणित है प्रजापति आतप है तो यह पुरुष उसकी छाया है जब तक प्रजापति के साथ यह सम्बन्ध दृढ है, तभी तक पुरुष का जीवन है प्रजापति के बल का ग्रथिबन्धन ही पुरुष या मानव के हृदय की शक्ति है जो समस्त विश्व में फैला हुआ है, विश्व जिसमें प्रतिष्ठित है और जो विश्व में ओतप्रोत है, उस महाप्रजापति को वैदिक भाषा में सकेत रूप से 'सहस्र' कहा जाता है वह सहस्रात्मा प्रजापति ही वैदिक परिभाषा में 'वन' भी कहलाता है उस अनन्तानन्त

'बन के भीतर एक-एक विल्व एक-एक अश्वत्थ वृक्ष के समान है इस प्रकार के अनन्त अश्वत्थ उस सहस्रात्मा बन' नामक प्रजापति में है उसके केन्द्र की जो धारा सृष्ट्युन्मुख होकर प्रवृत्त होती है उसी मूलकेन्द्र से केन्द्रपरम्परा विकसित होती हुई पुरुष तक आती है केन्द्रों के इस वितान में पूर्वकेन्द्र की प्रतिमा या प्रतिबिम्ब उत्तर के केन्द्र में आता है इस प्रकार जो सहस्रात्मा प्रजापति है वही मूल से तूल में आता हुआ ठीक-ठीक अपने सम्पूर्ण स्वरूप के साथ इस पुरुष में अवतीर्ण होता है और हो रहा है वैदिक महर्षियों ने ध्यान योग्यतानुगत हो कर उस महान् तत्त्व का साक्षात्कार किया और सृष्टिपरम्परा का विचार करते हुए उन्हें यह साक्षात् अनुभव हुआ कि यह जो पुरुष है वह इसी सहस्रात्मा प्रजापति की सच्ची प्रतिमा है—पुरुषो वै सहस्रस्य प्रतिमा—शत ७ ५ २ १७

जो सहस्र प्रजापति है उसी के अनन्त अव्यक्त स्वरूप में किन्हीं अचिन्त्य अप्रतर्क्य बलों के संघर्षण से या ग्रन्थिबन्धन से या स्पन्दन से सृष्टि की प्रक्रिया प्रवृत्त होती है किसी भी प्रकार की शक्ति या वेग हो उसके लिये बलग्रन्थि आवश्यक है बिना बलग्रन्थि के अव्यक्त व्यक्तभाव में अमूर्त मूर्तरूप में आ ही नहीं सकता शुद्ध रसरूप प्रजापति में अमित भाव की प्रधानता है उसमें जब तक मितभाव का उदय न हो तब तक सृष्टि की सम्भावना नहीं होती प्रजापति के केन्द्र से जिस रस का वितान या विस्तार होता है वह यदि बाहर की ओर ही फैलता जाये तो कोई ग्रन्थि-सृष्टि संभव नहीं वह इस परिधि की ओर फैल कर जब बल के रूप केन्द्र की ओर लौटता है तब द्विविरुद्ध भावों की टक्कर से स्थिति और गति या गति और आगतिरूप स्पन्दन का चक्र जन्म लेता है स्पन्दन का नाम प्रजापति है स्पन्दन को वैदिक परिभाषा में छन्द कहते हैं जो छन्द है वही प्रजापति है किसी भी प्रकार की फड़कन का नाम छन्द है सारे विश्व में द्विविरुद्ध भाव से समुत्पन्न जहाँ-जहाँ छन्द या फड़कन है वहीं प्रजापति के स्वरूप का तारतम्य दृष्टिगोचर होता है अतएव एक महान् सत्य सूत्ररूप में इस प्रकार व्यक्त किया गया

प्रजापतिरेव छन्दो भवत् —शत ८ २ ३ १

सृष्टि की महती प्रक्रिया में अनेक लोकों में अनेक स्तरों पर प्रजापति के इस छन्द की अभिव्यक्ति हो रही है उसी छन्दो वितान में सहस्रात्मा प्रजापति पुरुषरूप में अभिव्यक्त होता है सूर्य भी उसी केन्द्रपरम्परा का एक बिन्दु है ऐसे पूर्वयुग की कल्पना करें जब सब कुछ तमोभूत था अप्रलक्षण था और अप्रज्ञात था उस समय रस और बल के तारतम्य से जो शक्ति का संघर्षण होने लगा संघर्षण उसी के फलस्वरूप ज्योतिष्मान् महान् आदित्यों का जन्म हुआ वैज्ञानिक भाषा में इसी को यों कहा भी कहा जा सकता है कि आरम्भ में शक्ति के समान वितरण के फलस्वरूप एक शान्त समुद्र भरा हुआ था शक्ति के उस शान्त सागर में न कोई तरंग थी न क्षोभ था किन्तु न जाने कहाँ से कैसे क्यों और कब उसमें तरंगों का स्पन्दन आरम्भ हुआ और उस संघर्ष के फलस्वरूप जो शक्ति समरूप में फैली हुई थी उसमें केन्द्र या बिन्दु उत्पन्न होने लगे जो कि प्रकाश और तेज के पुञ्ज बन गए इस प्रकार के न जाने कितने सूर्य शक्ति की उस प्राक्कालीन गर्भित अवस्था में उत्पन्न हुए वैदिक भाषा में व्यक्त की संज्ञा हिरण्य है अव्यक्त अवस्था हिरण्यगर्भ अवस्था थी समभाव से विसरित शक्ति की पूर्वावस्था वही हिरण्यगर्भ अवस्था थी जिसमें यह व्यक्त हिरण्यभाव समाया हुआ था आगे का व्यक्तभाव उसी के पूर्व अव्यक्त में लीन था यदि सदा काल तक शक्ति की वही साम्यावस्था बनी रहती तो किसी प्रकार का व्यक्तभाव उत्पन्न ही न होता शक्ति के वैषम्य से ही महान् आदित्य जैसे केन्द्र या बिन्दु उस शान्तशक्ति समुद्र में उत्पन्न होने लगे पहली शान्त अवस्था के लिये वेद में सपती शब्द है और दूसरी व्यक्तभावापन्न क्षुब्ध अवस्था के लिये भन्दमी शब्द है सपती शान्त आत्मा है भन्दती क्षुभित आत्मा है शक्ति के उस समुद्र में जो क्षुभित केन्द्र उत्पन्न हुए, उनकी संज्ञा सूर्य हुई हमारे सौर-मण्डल का सूर्य भी उन्हीं में से एक है प्रत्येक आदित्य या सूर्य सहस्रात्मा प्रजापति की प्रतिमा है और वह भी ऐसी प्रतिमा है जो विश्वरूपी है जिसमें सब रूपों की समष्टि है जिसके मूलरूप से सब रूपों का निर्माण होता है उसी के लिये कहा है

आदित्य गर्भ पयसा समङ्धि सहस्रस्य प्रतिमां विश्वरूपम् —यजु १३ ४१

शक्ति के शान्त महासमुद्र में जो आदित्य उत्पन्न हुआ वह प्रजापति का शिशुरूप था उसके पोषण के लिये पय का दुग्ध

की आवश्यकता थी यह कौन-सा पय था, किसने उस आदित्य को पुष्ट किया ? ब्राह्मणो की परिभाषा के अनुसार प्राण ही वह पय या दुग्ध है, जिसमे आदित्यरूप उस शिशु का सवर्धन होता है विराट् प्रकृति मे सौरप्राणात्मक स्पन्दन या प्राणनक्रिया के द्वारा ही वह विश्वरूप आदित्य जीवनयुक्त है अर्थात्—स्वस्वरूप मे स्थित है. वह अपने से पूर्व की कारण-परम्पराओं का पूर्णतम प्रतिनिधि है इसीलिए उसे सहस्र की प्रतिमा कहा गया है हमारा जो दृश्यमान सूर्य है, वह उन्ही महान् आदित्यो की केन्द्र-परम्परा मे एक विशिष्ट केन्द्र है अथवा उनकी तुलना मे यह शिशुमात्र है इसीलिए वैदिक-भाषा मे 'द्रप्सश्चस्कन्द'

कहा जाता है अर्थात् शक्ति के उस पारावार-हीन महासमुद्र मे जो शक्ति का प्रज्वलित केन्द्र उत्पन्न हुआ, वह इस प्रकार था, जैसे बडे समुद्र से एक जलविन्दु चू पडा हो. वह महासमुद्र जो कि बाष्परूप मे था अथवा अव्यक्त था उसी मे से यह एक द्रप्स या बिन्दु व्यक्तभाव को प्राप्त हो गया है यही वैदिक काव्य की भाषा है और विज्ञान की भाषा है सब प्रकार की सीमाओ से ऊपर, सब प्रकार के गणितीय निर्देशो से परे जो शक्ति तत्त्व है, जहा किसी प्रकार के अको का सम्पर्क नही होता, जिसके लिये शून्य या पूर्ण ही एकमात्र प्रतीक है, उस अनन्त सज्ञक पूर्ण मे से यह प्रत्यक्ष आदित्यरूपी एक बिन्दु प्रकट हुआ है और इसकी सज्ञा भी पूर्ण है वह अदस् है, यह इदम् है वह भी पूर्ण है, यह भी पूर्ण है इस प्रकार की रहस्यमयी भाषा सृष्टि से प्राक्कालीन अचिन्त्य और अव्यक्त तत्त्वो के लिये विज्ञान और वेद दोनो मे समानरूप से प्रयुक्त होती है

प्रकृत मे हमारा लक्ष्य इसी पर है कि उस अनन्त प्रजापति के छन्द मे ही पुरुष का निर्माण हुआ है उस सहस्रात्मा प्रजापति की साक्षात् प्रतिमा पुरुष या मानव है रस और बल के तारतम्य से पुरुष, अश्व, गौ, अज, अवि ये पाँच मुख्य पशु प्रकृति मे प्राणदेवताओ के प्रतिनिधिरूप से चुन लिए गए है, यद्यपि समस्त पशुओ की सख्या अनन्तानन्त है वैदिक परिभाषा के अनुसार जो भूतसृष्टि है, उसी की सज्ञा पशु या प्रजा है यह भूतसृष्टि तीन प्रकार की है

१ असज्ञ—जैसे पाषाण आदि २ अन्त सज्ञ—जैसे वृक्ष आदि, ३ ससज्ञ—जैसे पुरुष,पशु आदि

इन तीनो मे यह प्रातिस्विक भेद क्यो है ? यह पृथक् विचार का विषय है, सक्षेप मे असज्ञ सृष्टि मे केवल अर्थमात्रा की अभिव्यक्ति है अन्त सज्ञ सृष्टि मे अर्थमात्रा और प्राणमात्रा दोनो की अभिव्यक्ति है, और ससज्ञ प्राणियो मे अर्थ या भूतमात्रा, प्राणमात्रा एव मनोमात्रा—इन तीनो की अभिव्यक्ति होती है इन्हे ही भूतात्मा, प्राणात्मा और प्रज्ञानात्मा भी कहते हैं प्रज्ञानात्मक जो सौर प्राण है, उसे ही इन्द्र कहते हैं मानव या मनुष्य मे इस सौर इन्द्रतत्त्व की सबसे अधिक अभिव्यक्ति है अन्त सज्ञ वृक्ष वनस्पतियो मे वह प्रज्ञानात्मा इन्द्र मूर्छित रहता है उनमे केवल प्राणात्मा या तैजस आत्मा का विकास होता है जहाँ तेज या प्राण है, वही विकास है बीज जब पृथ्वी मे जल, मिट्टी एव पृथिवी की उष्णता के सम्पर्क मे आता है, तत्क्षण उसमे विकास की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है अतएव उपनिषदो मे कहा गया है कि जो तैजस आत्मा है वह वृक्ष-वनस्पतियो मे भी है, किन्तु प्रज्ञानात्मा का विकास केवल मानव मे होता है इस दृष्टि से मानव समस्त विश्व मे अपना विशिष्ट स्थान रखता है जिस प्रकार प्रजा-पति वाक्, प्राण, मन की समष्टि है, वैसे ही मानव भी वाक्, प्राण और मन तीनो की समष्टि का नाम है अर्थ या स्थूल भूतमात्रा को वैदिक परिभाषा मे वाक् कहते है पचभूतो मे आकाश सबमे सूक्ष्म होने के कारण सबका प्रतीक है और वाक् आकाश का गुण है अतएव वाक् मे उपलक्षित स्थूल भूतमात्रा या अर्थमात्रा का ग्रहण किया जाता है मानव का शरीर यही भाग है इसके भीतर क्रिया रूप प्राणात्मा का निवास है और उसके भी अभ्यन्तर मे मनोमय प्रज्ञानात्मा का निवास है मन की ही सज्ञा प्रज्ञान है

इस प्रकार प्रजापति और मानव इन दोनो मे रूप-प्रतिरूप या बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव का सम्बन्ध है पुरुष प्रजापति की सच्ची प्रतिमा है, इसका यह अर्थ भी है कि जिस प्रकार प्रजापति त्रिपुरुष पुरुष है, उसी प्रकार यह मनुष्य भी है त्रिपुरुषपुरुष का तात्पर्य यह है कि प्रजापति नामक सस्थाका निर्माण अव्यय, अक्षर और क्षर इन तीन तत्त्वो की समष्टि के रूप मे होता है इनमे से अव्यय दोनो का आलम्बन या प्रतिष्ठारूप धरातल है अक्षर निमित्ति है और क्षर उपादान

है अव्यय प्रजापति से मन अक्षर से प्राण और क्षर से शरीरभाग का निर्माण होता है इस प्रकार जो प्रजापति है वही पुरुष है और पुरुष को प्राजापत्य कहना सर्वथा समीचीन है

वैदिक दृष्टि के अनुसार पुरुष दीन-हीन दासानुदास या परम्परागत प्राणी नही है वह है प्रजापति के निकटतम उसकी साक्षात् प्रतिमा महत्सात्मा प्रजापति का जो केन्द्र या उसी की परम्परा में पुरुष प्रजापति के केन्द्र का भी विकास होता है जो सहस्र के केन्द्र की महिमा की वही पुरुष के केन्द्र की भी है सहस्रात्मा मनसाक प्रजापति का केन्द्र प्रत्येक अश्वत्थ-सज्ञक प्रजापति मे होता है और वही विकसित होता हुआ प्रत्येक सूर्य में और प्रत्येक मानव में अभिव्यक्त होता है इसीलिए कहा जाता है कि जो पुरुष सूर्य मे है वही मानव में है वदिक भाषा में केन्द्र को ही हृदय कहते है केन्द्र को ही ऊर्ध्व और नाभि भी कहा जाता है केन्द्र ऊर्ध्व और उसकी परिधि अध है चक्र की नाभि उसका केन्द्र और उसकी नेमि उसका बाह्य या महिमा भाग है केन्द्र से चारों ओर रश्मियो का वितान होता है केन्द्र का उक्थ भी कहते है क्योकि उस केन्द्र से चारो ओर रश्मियाँ उत्पन्न होती और फैलती है इन रश्मियों को उक्थ की सापेक्षता से अर्क कहा जाता है जिस प्रकार सूर्य से सहस्र रश्मिया चारों ओर फैलती है और फिर एक-एक से सहस्र-सहस्र होकर बिखर जाती है यहां तक कि तनिक-सा भी स्थान उनसे विरहित या शून्य नही रह जाता और उनकी एक चादर—जैसी सारे विश्व में फैल जाती है वैसे ही पुरुष के केन्द्र या उक्थ से अर्क या रश्मियो का विकास होता है

सहस्रधा महिमान सहस्रम्

अर्थात् केन्द्र की महिमा सहस्ररूप से व्यक्त होती है और फिर उसकी रश्मियाँ सहस्र-सहस्र रूप से बट जाती है जहाँ केन्द्र और परिधि की संस्था है वहाँ सर्वत्र यही वज्ञानिक नियम कार्य करता है इस प्रकार जो पुरुष का आत्म केन्द्र हृदय है वह विश्वात्मा सहस्र या प्रजापति का ही अत्यन्त विलक्षण और रहस्यमय प्रतिबिम्ब है ऐसा यह पुरुष प्रजापति की महिमा स महान् है साढे तीन हाथ के शरीर मे परिमित होते हुए भी यह त्रिविक्रम विष्णु के समान विराट् है गीता में जो कहा है 'ईश्वर. सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' यह इसी तत्त्व की व्याख्या है वदिक दृष्टिकोण में संदेह और अनास्था का स्थान ही नही है यहा तो जो पूर्ण पुरुष है जो समस्त विश्व म भरा हुआ है वही पुरुष के केन्द्र या हृदय म भी प्रकट हो रहा है वह पुरुष वामन भी कहा जाता है विराट् प्राण की अपेक्षा सचमुच वह वामन है यह जो मानव के केन्द्र या हृदय म वामन-मूर्ति भगवान् है इसे ही व्यान प्राण भी कहा जाता है जो प्राण और अपान इन दोनो को संचालित करता और जीवन देता है इस व्यान प्राण की शक्ति बड़ी दुर्धर्ष है इसके ऊपर सौर जगत् के प्राण और पार्थिव जगत् के अपान इन दोनो का दबाव या आक्रमण निरन्तर होता रहता है किन्तु यह वामन मूर्ति विष्णु विराट् का प्रतीक है यह किसी तरह पराभूत नही होता यदि यह वामन या मध्यप्राण हमारे केन्द्र में न हो तो सौर और पार्थिव प्राण-अपान का प्रचण्ड धक्का न जाने हमारा किस प्रकार विश्लेषण कर डाले उपनिषद् में कहा है

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ

जिस केन्द्र या मध्यस्थ प्राण म ऊर्ध्वगति प्राण और अधोगति अपान दोनो की ग्रन्थि है उसकी पारिभाषिक संज्ञा व्यान है उसी को यहा साकेतिक भाषा में इतर कहा गया है प्राण-अपान दोनो उसी के आश्रय से संचालित होते हैं. और भी

'मध्ये वामनमासीन सर्वे देवा उपासते

यह केन्द्र या मध्यप्राण या वामन इतना सशक्त और बलिष्ठ है कि सष्टि के सब देवता इसकी उपासना करते है इसी दुरुपस्थिवामन या बल से इतर सब देवो के बल सन्तुलित होते है यह वामनरूपी मध्यप्राण ही समस्त विश्व में अपनी रश्मिया से क्रम कर विराट् या वैष्णवरूप धारण करता है विष्णुरूप महाप्राण ही हृदयस्थ वामन के रूप में सब प्राणियों के भीतर प्रतिष्ठित है इसी के लिये कहा जाता है

स हि मध्यात्मा यद् वामन' —शत ५ २ ५१

की आवश्यकता थी यह कौन-सा पय था, किसने उस आदित्य को पुष्ट किया ? ब्राह्मणो की परिभाषा के अनुसार प्राण ही वह पय या दुग्ध है, जिसमे आदित्यरूप उस शिशु का सवर्धन होता है विराट् प्रकृति मे सौरप्राणात्मक स्पन्दन या प्राणनक्रिया के द्वारा ही वह विश्वरूप आदित्य जीवनयुक्त है अर्थात्—स्वस्वरूप मे स्थित है वह अपने से पूर्व की कारण-परम्पराओ का पूर्णतम प्रतिनिधि है इसीलिए उसे सहस्र की प्रतिमा कहा गया है हमारा जो दृश्यमान सूर्य है, वह उन्ही महान् आदित्यो की केन्द्र-परम्परा मे एक विशिष्ट केन्द्र है अथवा उनकी तुलना मे यह शिशुमात्र है इसीलिए वैदिक-भाषा मे 'द्रप्सश्चस्कन्द'

कहा जाता है अर्थात् शक्ति के उस पारावार-हीन महासमुद्र मे जो शक्ति का प्रज्वलित केन्द्र उत्पन्न हुआ, वह इस प्रकार था, जैसे बडे समुद्र मे एक जलविन्दु चू पडा हो. वह महासमुद्र जो कि वाग्वरूप मे था अथवा अव्यक्त था उसी मे से यह एक द्रप्स या बिन्दु व्यक्तभाव को प्राप्त हो गया है यही वैदिक काव्य की भाषा है और विज्ञान की भाषा है सब प्रकार की सीमाओ से ऊपर, सब प्रकार के गणितीय निर्देशो से परे जो शक्ति तत्त्व है, जहा किसी प्रकार के अको का सस्पर्श नही होता, जिसके लिये शून्य या पूर्ण ही एकमात्र प्रतीक है, उस अनन्त सजक पूर्ण मे से यह प्रत्यक्ष आदित्यरूपी एक बिन्दु प्रकट हुआ है और इसकी सज्ञा भी पूर्ण है वह अदस् है, यह इदम् है वह भी पूर्ण है, यह भी पूर्ण है इस प्रकार की रहस्यमयी भाषा सृष्टि से प्राक्कालीन अचिन्त्य और अव्यक्त तत्त्वो के लिये विज्ञान और वेद दोनो मे समानरूप से प्रयुक्त होती है

प्रकृत मे हमारा लक्ष्य इसी पर है कि उस अनत प्रजापति के छन्द से ही पुरुष का निर्माण हुआ है उस सहस्रात्मा प्रजापति की साक्षात् प्रतिमा पुरुष या मानव है रस और वल के तारतम्य से पुरुष, अश्व, गौ, अज, अवि ये पाँच मुख्य पशु प्रकृति मे प्राणदेवताओ के प्रतिनिधिरूप से चुन लिए गए है, यद्यपि समस्त पशुओ की सख्या अनन्तानन्त है वैदिक परिभाषा के अनुसार जो भूतसृष्टि है, उसी की सज्ञा पशु या प्रजा है यह भूतसृष्टि तीन प्रकार की है

१ असज्ञ—जैसे पाषाण आदि २ अन्त सज्ञ—जैसे वृक्ष आदि, ३ ससज्ञ—जैसे पुरुष,पशु आदि

इन तीनो मे यह प्रातिस्विक भेद क्यो है ? यह पृथक् विचार का विषय है, सक्षेप मे असज्ञ सृष्टि मे केवल अर्थमात्रा की अभिव्यक्ति है अन्त सज्ञ सृष्टि मे अर्थमात्रा और प्राणमात्रा दोनो की अभिव्यक्ति है, और ससज्ञ प्राणियो मे अर्थ या भूतमात्रा, प्राणमात्रा एव मनोमात्रा—इन तीनो की अभिव्यक्ति होती है इन्हे ही भूतात्मा, प्राणात्मा और प्रज्ञानात्मा भी कहते है प्रज्ञानात्मक जो सौर प्राण है, उसे ही इन्द्र कहते है मानव या मनुष्य मे इस सौर इन्द्रतत्त्व की सबसे अधिक अभिव्यक्ति है अन्त सज्ञ वृक्ष वनस्पतियो मे वह प्रज्ञानात्मा इन्द्र मूर्छित रहता है उनमे केवल प्राणात्मा या तैजस आत्मा का विकास होता है जहाँ तेज या प्राण है, वही विकास है बीज जब पृथ्वी मे जल, मिट्टी एव पृथिवी की उष्णता के सम्पर्क मे आता है, तत्क्षण उसमे विकास की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है अतएव उपनिषदो मे कहा गया है कि जो तैजस आत्मा है वह वृक्ष-वनस्पतियो मे भी है, किन्तु प्रज्ञानात्मा का विकास केवल मानव मे होता है इस दृष्टि से मानव समस्त विश्व मे अपना विशिष्ट स्थान रखता है जिस प्रकार प्रजा-पति वाक्, प्राण, मन की समष्टि है, वैसे ही मानव भी वाक्, प्राण और मन तीनो की समष्टि का नाम है अर्थ या स्थूल भूतमात्रा को वैदिक परिभाषा मे वाक् कहते है पचभूतो मे आकाश सबसे सूक्ष्म होने के कारण सबका प्रतीक है और वाक् आकाश का गुण है अतएव वाक् मे उपलक्षित स्थूल भूतमात्रा या अर्थमात्रा का ग्रहण किया जाता है मानव का शरीर यही भाग है इसके भीतर क्रिया रूप प्राणात्मा का निवास है और उसके भी अभ्यन्तर मे मनोमय प्रज्ञानात्मा का निवास है मन की ही सज्ञा प्रज्ञान है

इस प्रकार प्रजापति और मानव इन दोनो मे रूप-प्रतिरूप या बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव का सम्बन्ध है पुरुष प्रजापति की सच्ची प्रतिमा है, इसका यह अर्थ भी है कि जिस प्रकार प्रजापति त्रिपुरुष पुरुष है, उसी प्रकार यह मनुष्य भी है त्रिपुरुषपुरुष का तात्पर्य यह है कि प्रजापति नामक सस्थाका निर्माण अव्यय, अक्षर और क्षर इन तीन तत्त्वो की समष्टि के रूप मे होता है इनमे से अव्यय दोनो का आलम्बन या प्रतिष्ठारूप धरातल है अक्षर निमित्ति है और क्षर उपादान

है अव्यय प्रजापति से मन अक्षर से प्राण और क्षर से शरीरभाग का निर्माण होता है इस प्रकार जो प्रजापति है वही पुरुष है और पुरुष को प्राजापत्य कहना सर्वथा समीचीन है

वैदिक दृष्टि के अनुसार पुरुष दीन-हीन दासानुदास या शरणागत प्राणी नही है वह है प्रजापति के निकटतम उसकी साक्षात् प्रतिमा सहस्रात्मा प्रजापति का जो केन्द्र था उसी की परम्परा में पुरुष प्रजापति के केन्द्र का भी विकास होता है जो सहस्र के केन्द्र की महिमा थी वही पुरुष के केन्द्र की भी है सहस्रात्मा मनसंज्ञक प्रजापति का केन्द्र प्रत्येक अश्वत्थ-संज्ञक प्रजापति में होता है और वही विकसित होता हुआ प्रत्येक सूर्य में और प्रत्येक मानव मे अभिव्यक्त होता है इसीलिए कहा जाता है कि जो पुरुष सूर्य में है वही मानव मे है वदिक भाषा में केन्द्र को ही हृदय कहते है केन्द्र को ही ऊक्थ और नाभि भी कहा जाता है केन्द्र ऊक्थ और उसकी परिधि अर्क है चक्र की नाभि उसका केन्द्र और उसकी नेमि उसका बाह्य या महिमा भाग है केन्द्र से चारों ओर रश्मियो का वितान होता है केन्द्र को उक्थ भी कहते है क्योकि उस केन्द्र से चारो ओर रश्मियाँ उत्पन्न होती और फैलती है इन रश्मियों को उक्थ की सापेक्षता से अर्क कहा जाता है जिस प्रकार सूर्य से सहस्रो रश्मिया चारों ओर फैलती हैं और फिर एक एक से सहस्र-सहस्र होकर बिखर जाती हैं यहा तक कि तनिक-सा भी स्थान उनसे विरहित या शून्य नही रह जाता और उनकी एक चादर—जैसी सारे विश्व में फैल जाती है वैसे ही पुरुष के केन्द्र या उक्थ से अर्क या रश्मियों का विकास होता है

सहस्रधा महिमान सहस्रम्

अर्थात् केन्द्र की महिमा सहस्ररूप से व्यक्त होती है और फिर उसकी रश्मियाँ सहस्र-सहस्र रूप से बंट जाती है जहाँ केन्द्र और परिधि की सस्था है वहाँ सर्वत्र यही वज्ञानिक नियम कार्य करता है इस प्रकार जो पुरुष का आत्म केन्द्र हृदय है, वह विश्वात्मा सहस्र या प्रजापति का ही अत्यन्त विलक्षण और रहस्यमय प्रतिबिम्ब है ऐसा यह पुरुष प्रजापति की महिमा से महान् है साढे तीन हाथ के शरीर मे परिमित होते हुए भी यह त्रिविक्रम विष्णु के समान विराट है गीता में जो कहा है 'ईश्वर सर्वभूताना हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' वह इसी तत्त्व की व्याख्या है वदिक दृष्टिकोण में सदेह और अनास्था का स्थान ही नही है यहा तो जो पूर्ण पुरुष है जो समस्त विश्व मे भरा हुआ है वही पुरुष के केन्द्र या हृदय म भी प्रकट हो रहा है वह पुरुष वामन भी कहा जाता है विराट् प्राण की अपेक्षा सचमुच वह वामन है यह जो मानव के केन्द्र या हृदय मे वामन मूर्ति भगवान् है इसे ही व्यान प्राण भी कहा जाता है जो प्राण और अपान इन दोनों को संचालित करता और जीवन देता है इस व्यान प्राण की शक्ति बड़ी दुर्धर्ष है इसके ऊपर सौर जगत् के प्राण और पार्थिव जगत् के अपान इन दोनो का बल या आक्रमण निरन्तर होता रहता है किन्तु यह वामन मूर्ति विष्णु विराट् का प्रतीक है यह किसी तरह पराभूत नही होता यदि यह वामन या मध्यप्राण हमारे केन्द्र में न हो तो सौर और पार्थिव प्राण-अपान का प्रचण्ड धक्का न जाने हमारा किस प्रकार विस्रंसन कर डाले उपनिषद् में कहा है

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ

जिस केन्द्र या मध्यस्थ प्राण म ऊर्ध्वगति प्राण और अधोगति अपान दोनो की ग्रन्थि है, उसकी पारिभाषिक सज्ञा व्यान है उसी को यहा सांकेतिक भाषा में इतर कहा गया है प्राण-अपान दोनों उसी के आश्रय से संचालित होते हैं और भी

'मध्ये वामनमासीन सर्वे देवा उपासते

यह केन्द्र या मध्यप्राण या वामन इतना सशक्त और बलिष्ठ है कि सृष्टि के सब देवता इसकी उपासना करते हैं इसी हृदयग्रन्थिबन्धन या बल मे इतर सब देवो के बल सन्तुलित होते हैं यह वामनरूपी मध्यप्राण ही समस्त विश्व में अपनी रश्मियो से फल कर विराट् या वैष्णवरूप धारण करता है विष्णुरूप महाप्राण ही हृदयस्थ वामन के रूप मे सब प्राणियों के भीतर प्रतिष्ठित है इसी के लिए कहा जाता है

स हि वैष्णवो यद् वामनः'—शत १ २ ५

हृदयस्थ वामनरूपी विष्णु किसी प्रकार अवमानना के योग्य नही है वही अविचाली सहज परिपूर्ण और स्वस्थभाव है जो मानव इस केन्द्रस्थभाव मे स्थिर रहता है, वही निष्ठावान् मानव है जिसका केन्द्र विचाली है, कभी कुछ कभी कुछ सोचता और आचरण करता है वही भावुक मानव है केन्द्र स्थिर हुए विना परिधि या महिमामण्डल शुद्ध बन ही नही सकता आत्मा, बुद्धि मन और शरीर इन चारो विभूतियो मे आत्मा और बुद्धि की अनुगत स्थिति का नाम निष्ठा है और मन एव शरीर की अनुगत स्थिति का नाम भावुकता है प्राय निर्बल सकल्प-विकल्प वाले मनुष्य मन और शरीरानुगत रहते हुए अनेक व्यापारो मे प्रवृत्त होते है जो बुद्धि मन को अपने वश मे कर लेती है, उसी को वैदिक भाषा मे मनीषा कहते है जिस अविचाली अटल बुद्धि मे पर्वत के समान ध्रुव या अटल निष्ठा होती है, उसे ही धिषणा कहते है वैदिक भाषा मे इसी अश्माखण प्राण के कारण इसे "धिषणा पार्वतेयी" कहा जाता है

वारम्वार यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि भारतीय मानव धर्मभीरु होते हुए भी सर्वथा अभिभूत क्यो है ? उसका ज्ञान और कर्म इस प्रकार कुण्ठित क्यो बना हुआ है ? इस प्रश्न का मानवोचित समाधान यही है कि भारतीय मानव अत्यन्त भावुक हो गया है उसने अपना प्राचीन निष्ठाभाव खो दिया है वह सारे विश्व के कल्याण के लिये सौम्यभाव से आकुल हो जाता है, किन्तु आत्मकेन्द्र की रक्षा नही करता उसका अन्त करण सौम्य होते हुए भी भावुक होने के कारण पिल्दमान या पिलपिला रहता है वह दृढ कर्म और विचारो मे सक्षम नही बन पाता उसमे धर्मभीरुता तो होती है, किन्तु आत्मसत्यरूपी धर्मात्मकता नही होती आत्मनिष्ठा पर अध्यारूढ होना सच्ची श्रद्धा है उसका भारतीय मानव मे अभाव हो गया है अतएव उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्त्व का विकास नही हो पाता वह जिस किसी के लिये भी अपनी आत्मा का समर्पण तो करता है, किन्तु निष्ठापूर्वक ग्रहण कुछ भी नही करता मनोगर्भिता बुद्धि से प्रवृत्त होने वाला मानव ही निष्ठावान् मानव है ऐसे मानव का स्वय केन्द्र विकसित होता है केन्द्रबिन्दु का नाम ही मनु है आत्मबीज का नाम ही मनु कहा जाता है वह मनुतत्त्व जिस मानव मे विकसित नही है, उसमे श्रद्धा का होना भी व्यर्थ है श्रद्धा तो मनु की पत्नी है अर्थात् श्रद्धा मनु के लिये अशिति या भोग्य है जिस समय आत्मकेन्द्र मनु तेजस्वी होता है, उस समय वह अपने ही आप्यायन या सवर्धन के लिये वाहर से श्रद्धारूपी अशिति या भोग्य प्राप्त करता है मनु श्रद्धा का भोग करके ही पूर्ण बनते हैं मनु और श्रद्धा की एक साथ परिपूर्ण अभिव्यक्ति ही सत्य का स्वरूप है, अर्थात् सर्वप्रथम मानव का आत्मकेन्द्र उद्बुद्ध होना चाहिए उसमे सौर प्राण या इन्द्रात्मक ज्योति का पूर्ण प्रकाश आना चाहिए, तभी वह सच्चा मनुपुत्र या मानव बनता है और इस प्रकार आत्मकेन्द्र के उद्बुद्ध होने के बाद आत्म-बीज के विकास के लिये वह सारे विश्व से अपने लिये ग्राह्य अश स्वीकार करता हुआ बढता है यही श्रद्धा द्वारा मनु का आप्यायन है वैदिक भाषा मे इसे ही यो भी कहा जाता है—अशीतिभिर्महदुक्थमाप्यायते

केन्द्र या मनु 'महदुक्थ' है उस महदुक्थ की तृप्ति या आप्यायन श्रद्धारूपी अशिति से होता है, जो उसे चारो ओर से प्राप्त होती है इस प्रकार एक ही बात को कई रीति से कहा गया है महदुक्थ और अशिति, मनु और श्रद्धा इन दोनो की एक साथ अभिव्यक्ति का नाम ही सत्य प्रतिष्ठातत्त्व है

सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्

सत्य स्वयप्रतिष्ठ होता है और सब कुछ सत्य का आधार पाकर प्रतिष्ठित बनता है सत्य आग्नेय तत्त्व है, और श्रद्धा ऋत या स्नेह्य या आपोमय पारमेष्ठ्य तत्त्व है सत्यपरायण बुद्धि सौर प्राण या इन्द्रतत्त्व को ग्रहण करती है सूर्य की सज्ञा ही इन्द्र या रुद्र भी है वेद की दृष्टि से अग्नि या शिव बड़े है, और सोम अग्नि का छोटा सखा सोम है की आहुति अग्नि मे पडती है, जिससे अग्नि सौम्य रहता है और अमृतधर्मा बनता है यही प्रक्रिया मानव मे भी निश्चित है भावुकता सौम्यता का रूप है और निष्ठा आग्नेय प्राणात्मक बुद्धि का धर्म है श्रद्धा का उद्गम मन मे और विश्वास का उद्गम बुद्धि मे होता है विश्वास सौर तत्त्व और श्रद्धा आपोमय है बुद्धि से भी परे और उससे भी उच्चतर तन्त्र का नाम आत्मा है

यो बुद्धे परतस्तु स ।

श्रद्धासमन्वित बुद्धि ही उस आत्मतत्त्व तक पहुँच सकती है

अलौकिक परिपूर्ण मानव ही मनुष्य जाति का युग-युगों में आदर्श रहा है गीता में इसी मानव को लक्ष्य करके 'पुरुषोत्तम' कहा है इसे ही अंग्रेजी में 'सुपरमैन' कहते हैं प्राकृत मानव और महामानव का जो अन्तर है वही मैन और सुपरमैन का है वेदव्यास ने जो

नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्

इस लोकोत्तर सत्य का उद्घोष किया है वह उसी महामानव अति-मानव या लोकोत्तरमानव के लिये है न कि सर्वा त्मना दीन हीन और अशक्त बने हुए निर्बल मानव के लिये जो परिस्थितियों के थपेड़ों से पराभूत होता हुआ इधर उधर लक्ष्यहीन कर्म करता रहता है इस प्रकार का जो बापरा मनुष्य है वह तो शोक का विषय है वस्तुतः मानव का उद्देश्य तो अपने उस स्वरूप की प्राप्ति है जिसमें विश्व का वैभव या समृद्धमानन्द और आत्मा का सहज स्वाभाविक उत्कर्ष या शान्त्यानन्द दोनों एक साथ समन्वित हुए हों जो मानव इस प्रकार की स्थिति इसी जन्म में यहीं रहते हुए प्राप्त करता है वही सफल श्रेष्ठतम मानव है महाभारत के समस्त पात्रों में दो प्रकार के चरित्र स्पष्ट लक्षित होते हैं एक वे हैं जो स्थिर धृति और दृढ़ निष्ठा से कभी च्युत नहीं होते और सदा दूसरों का उद्बोधन करते हुए देखे जाते हैं दूसरे वे हैं जो भावुक हैं और बार-बार उद्बोधन प्राप्त करने पर भी जो उसे विस्मृत कर देते हैं और असत् कर्म में प्रवृत्त होते हैं या निष्ठा से विपरीत केवल भावुकतापूर्ण कर्म करते हैं पहली कोटि के पात्रों में केवल चार की गिनती है—कृष्ण व्यास भीष्म और विदुर उनके अतिरिक्त युधिष्ठिर अर्जुन आदि धर्मपथ के पथिक भी अपनी भावुकता के कारण विषमभाव को प्राप्त हो जाते हैं और कर्तव्य-अकर्तव्य के ज्ञान से कुछ समय के लिये शून्य या विचलित हो जाते हैं इनके अतिरिक्त दुर्योधन दुःशासन शकुनि कर्ण—जैसे मानव तो एकदम असत् निष्ठा के लिये कर्म कर रहे थे उनका तो अन्त में विनाश निश्चित ही था महाभारत जैसी लोकोत्तर धर्म-संहिता का लक्ष्य दुर्योधन कर्ण आदि पात्र नहीं हैं क्योंकि वे अपने दुष्ट आग्रह को किसी भांति त्याग नहीं सकते थे महाभारत के लिये समस्याक्षम तो युधिष्ठिर और अर्जुन हैं जो धर्मपथ पर आरूढ़ होते हुए भी और धर्मपरायण निष्ठा रखते हुए भी बार-बार कर्तव्यपथ से च्युत होते हैं और विषम निष्ठा को प्राप्त हो जाते हैं और अपने ध्येय को भूल कर कुछ का कुछ करने के लिये उतारू हो जाते हैं कहाँ तो एक ओर अन्याय का प्रतिकार करने के लिये अर्जुन का युद्ध के लिये कृष्ण को सारथी बनाकर रणभूमि में आना कहाँ दूसरी ओर क्षणभर में ही युद्ध न करने के लिये भारी अवसाद को प्राप्त हो जाना ऐसे ही युधिष्ठिर भी कई अवसरों पर आत्महत्या के लिये या सब-कुछ छोड़ कर वैराग्य धारण करने के लिये तैयार हो जाते हैं जिस व्यक्ति की निष्ठा ठीक है जिसका आत्मकेन्द्र अविचलित है वह इस प्रकार की धर्मभीरु बातें नहीं कहेगा जैसी अर्जुन या युधिष्ठिर ने कही जो ऊपर से देखने में तो तर्कसंगत और पण्डिताऊ जान पड़ती हैं किन्तु जो आत्मनिष्ठ सत्य-धर्म की दृष्टि से नितान्त विरुद्ध है

जिसे महामानव या अतिमानव या पुरुषोत्तम या लोकोत्तर मानव कहा गया है, जो व्यक्ति समाज राष्ट्र और समस्त मानवजाति की दृष्टि से हमारा आदर्श है उस श्रेष्ठ मानव का इस विश्व में सच्चा स्वरूप क्या है ? उसका निर्माण कब हुआ है ? विराट विश्व के कौन-कौन से तत्त्व उसके निर्माण में समाविष्ट हुए हैं ? उसका केन्द्र और उसकी महिमा क्या है ? विश्वात्मा षोडशी प्रजापति और केन्द्र प्रजापति का क्या सम्बन्ध है ?

कहने के लिये तो मानव का निर्माण छोटी सी बात है किन्तु जैसा पहले कहा जा चुका है यह मानव सहस्र प्रजापति की प्रतिमा है अतएव मानव के स्वरूप का यथार्थज्ञान विश्वस्वरूप की मीमांसा के बिना अथवा सहस्रात्मा प्रजापति के स्वरूपपरिचय के बिना सम्भव नहीं है सृष्टि के आदि से सृष्टि के अन्त तक विश्व की कोई प्रक्रिया ऐसी नहीं है जिसका प्रतिबिम्ब मानव में न हो संक्षेप में इसका सूत्र यह है कि जो षोडशी प्रजापति है वही मानव के केन्द्र में बैठा हुआ मनुप्रजापति या आत्मबीज है षोडशी प्रजापति को ही त्रिपुरुष-पुरुष भी कहते हैं अव्यय अक्षर और क्षर ये ही सृष्टि के आधारभूत तीन पुरुष हैं और चौथा इन तीनों से परे रहने वाला परात्पर पुरुष कहलाता है जो
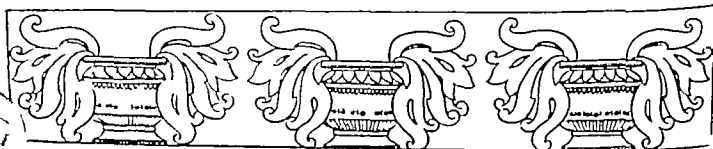
सर्वथा अव्यक्त और अमूर्त्त है, किन्तु जिसकी स्वाभाविकी ज्ञान, बल, क्रिया से यह सारा विश्व प्रवृत्त हो रहा है इस प्रकार त्रिपुरुष समन्वित परात्पर पुरुष ही षोडशी प्रजापति का दूसरा नाम है इन्ही तीनो की विशेषताओ को और भी अनेक शब्दो द्वारा प्रकट किया जाता है, क्योकि विश्व मे भी वस्तुत वे तीन ही नानाभावो को प्राप्त हो रहे हैं उदाहरण के लिए अव्यय, क्षर का ही विकास मन, प्राण और भूत है उन्हे ही जैसा पहले कहा गया है—प्रज्ञानात्मक, प्राणात्मा और भूतात्मा कहते हैं इन्ही तीनो से क्रमश भावसृष्टि और विकारसृष्टि का जन्म होता है इन तीनो मे से प्रत्येक की पाच-पाच कलाए है अर्थात् अव्यय की पाच कलाएँ, अक्षर की पाच कलाए और क्षर की पाच कलाए और इनसे अतिरिक्त स्वय परात्पर पुरुप—इस प्रकार षोडशी प्रजापति कहलाता है कहा है

पचधा त्रीणि त्रीणि तेभ्यो न ज्याय परमदन्यदस्ति, यस्तद् वेद स वेद सर्व सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति ।

क्षर, अक्षर और अव्यय इन तीनो मे शुद्ध आत्मा केवल अव्यय है वह प्रकृति सापेक्षता से ऊपर है प्रकृति के दो रूप हैं—अव्यक्त और व्यक्त व्यक्त रूप विश्व या क्षर है प्रकृति का अव्यक्त रूप अक्षर पुरुष कहा जाता है उसे ही वराप्रकृति कहते है उसकी तुलना मे क्षर सृष्टि अपरा प्रकृति है जो क्षर सृष्टि है वही भौतिक जगत् है भूत प्राणाधार पर प्रतिष्ठित रहता है प्राण के बिना भूत की स्थिति हो ही नही सकती प्राचीन और अर्वाचीन दोनो दृष्टियो से यही सत्य सिद्धान्त है प्रत्येक भूत या पिण्डात्मक अर्थ प्राणरूप शक्ति का ही व्यक्त रूप है भूत और प्राण इन दोनो से ऊपर इनके भीतर समाविष्ट अव्यय पुरुष है, जो विश्वसाक्षी, असग और अव्यक्त रूप है वैदिक परिभापाओ से प्राय परिचय न होने के कारण उनके सान्निध्य मे बुद्धि को व्यामोह होने लगता है किन्तु जिस प्रकार विज्ञान की परिभाषाए सुनिश्चित और सार्थक है, उसी प्रकार वैदिक सृष्टिविज्ञान ने भी अपने अभिधेय अर्थ का प्रकाश करने के लिये सुनिश्चित परिभाषा-शास्त्र का निर्माण किया था उन पारिभापिक शब्दो के द्वारा ही मन्त्रो मे, ब्राह्मणो मे और उपनिषदो मे सृष्टि सम्बन्धी नाना तत्त्वो को स्पष्ट किया गया है दुर्भाग्य से उस परम्परा से हम दूर हटते चले गए और ब्राह्मणग्रन्थो का पठन-पाठन भी केवल यज्ञीय कर्मकाण्डो तक सीमित रह गया वैसे तो ऋषियो की दृष्टि से उन्होने ब्राह्मणग्रन्थो मे प्राय इन अर्थों को आद्यन्त भर दिया है, किन्तु वे श्रौतग्रन्थ भी आज दुरूह बने हुए है

प्रजापति को चतुष्पात् कहा गया है ओकार सर्वोत्तम गुह्य सकेत है प्रणव भी चतुष्पात् है और प्रजापति की प्रतिमा मानव भी चतुष्पात् है विश्व, विश्वकर्त्ता, विश्वसाक्षी, विश्वातीत इन चारो की ही सज्ञा क्षरात्मा, अक्षरात्मा, अव्ययात्मा और परात्पर है और इन्हे ही म, उ, अ एव अर्धमात्रा युक्त प्रणव के प्रतीक से किया जाता है 'विश्व क्या है? यहा से प्रश्नसूत्र का वितान करते हुए समष्टि और व्यष्टि रूप मे पाच भौतिक विश्व के मूलकारण की जिज्ञासा और उसका समाधान किया गया है इसके उत्तर मे उपनिषदो की प्रसिद्ध अश्वत्थविद्या का निरूपण है जो वैदिक सृष्टिविद्या का ही दूसरा नाम है इस प्रसग मे कई प्राचीन परिभाषाए महत्त्वपूर्ण हैं जैसे महावनर्ण, परात्पर, अश्वत्थरूपी महावृक्ष अव्यय, इसे मायी महेश्वर भी कहते हैं

इस अश्वत्थविद्या मे अव्यय को अमृत, अक्षर को ब्रह्म और क्षर को शुक्र भी कहा गया है अव्यय अधिष्ठानकारण और भाव सृष्टि का हेतु है, अक्षर निमित्त कारण और गुणसृष्टि का हेतु है, एव क्षर उपादानकारण तथा विकारसृष्टि का हेतु है

मनुतत्त्व

अश्वत्थविद्या के अतिरिक्त दूसरा महत्त्वपूर्ण विषय मनुतत्त्व की व्याख्या है, जिसके कारण मानव मानव कहलाता है मनु-तत्त्व को ही अग्नि, प्रजापति, इन्द्र, प्राण और शाश्वतब्रह्म इन नामो से पुकारा जाता है, जैसा कि मनु के श्लोक मे प्रसिद्ध है, (मनु १२।१२३) अध्यात्मसस्था के अन्तर्गत चार प्रकार के मनस्तन्त्र है—श्वोवसीयस् मन, सत्त्वमन, सर्वेन्द्रियमन और इन्द्रिय मन ज्ञानशक्तिमय तत्त्व को मन कहते हैं इन चारो का सम्बन्ध चिदश से है उसी के कारण ये प्रज्ञात्मक बनते है इनमे सृष्टि की जो मूलभूत कामना या काम है (कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेत प्रथम यदासीत्) वही सर्वजगत् के मूल मे स्थित अतएव पुरुप के मूल मे भी सर्वोपरि विराजमान हृदय विश्वात्मा मन या हृदयभाव से युक्त

शरीर मे अपने ही जैसा उत्पन्न करने की एक शक्ति आती है, उसी का घनीभूत रूप रेत या बीज है. यही रेतोऽण्ड अवस्था है इस अवस्था को प्राप्त करते ही प्रत्येक शरीर क्षयोन्मुख होने लगता है यही अपक्षीयते-स्थिति है ये पांचो अण्ड व्यक्तभाव के ही परिणाम है अव्यक्त जब कभी व्यक्तभाव को प्राप्त करेगा उसे पाच भावविकारो की क्रमिक स्थिति प्राप्त करनी होगी शतपथब्राह्मण की यह अत्यन्त रहस्यमयी विद्या है यह विषय अत्यन्त गूढ और क्लिष्ट है, किन्तु सृष्टिव्यापिनी निर्माणप्रक्रिया को समझने के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भी है अर्वाचीन शती का मानव विश्व की पहेली को वैज्ञानिक दृष्टि से समझना चाहता है आधुनिक वैज्ञानिको के प्रयत्न विश्वरहस्यमीमासा को स्पष्ट करने मे लगे हुए हैं

सृष्टि का मौलिक तत्त्व क्या है? क्यो इसकी प्रवृत्ति होती है ? इसके मूल मे कौन-सी शक्ति है? उसका स्पन्दन किस कारण से हुआ और किन नियमो से आज वह प्रवृत्त है ? शक्ति की प्राणनक्रिया और स्थूल भौतिक पदार्थो मे परस्पर क्या सम्बन्ध है ? गति और स्थितिसज्ञक द्विविरुद्ध भावो का जन्म क्यो होता है और उनका स्वरूप क्या है ? इत्यादि एक से एक रोचक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न सृष्टिविद्या के सम्बन्ध मे हमारे सामने आ खड़े होते हैं उनके समाधान का सच्चा प्रयत्न आज के वैज्ञानिक कर रहे है नित्य नूतन प्रयोगो द्वारा वे विश्व की मूलभूत शक्ति के स्वरूप और रहस्य को जानने मे लगे हैं वैज्ञानिक तत्त्ववेत्ताओ ने इतना अब निश्चय पूर्वक जान पाया है कि स्थूल भौतिक सृष्टि जिसे हम भूतमात्रा, अर्थमात्रा या वैदिक परिभाषा मे वाक् कहते है, अन्ततोगत्वा शक्ति के स्पन्दन का ही परिणाम है विश्व के सब पदार्थ मूलभून शक्ति की रश्मियो के स्पन्दन से घनीभूत या व्यवस्थित हुए है यह शक्ति विश्व की प्राणनक्रिया है प्रत्येक भूत मे यह विद्यमान है बुद्धिमान् उसे हर एक भूत मे देखते और पहचानते है—

भूतेषु भूतेषु विचित्य धीरा

आज परमाणु के विशकलन ने यह सम्भव कर दिया है कि शक्ति के इस रहस्य की झाकी मानव को प्राप्त हो सकी है किन्तु भूतमात्रा और प्राणमात्रा के सदृश ही तीसरी प्रज्ञानमात्रा भी है, जो समस्त सृष्टि मे उसी प्रकार व्याप्त है जिस प्रकार भूतमात्रा और प्राणमात्रा लोष्ठ, पाषाण आदि असज्ञ वृक्ष-वनस्पति आदि अन्त सज्ञ एव पशु-मनुष्य आदि ससज्ञ भूतो मे सर्वत्र अव्ययात्मा का श्वोवशीयस्मन अवश्य ही व्याप्त है. सबके जन्म, स्थिति और लय के पीछे मूलभूत त्रिक का नियम एक समान है अवश्य ही विश्व मे वैचित्र्य और विज्ञान की अनेक कोटिया पाई जाती है जिनका स्पष्ट अन्तर कीट-पतग आदि की मानव से तुलना करने पर समझा जा सकता है प्रजापति का जो अमृत और अनिरुक्त स्वरूप है, उसकी भाषा को समझने की जो स्थिति हो सकती है विज्ञान भी शीघ्रता से उस ओर बढ रहा है और विश्वविज्ञान के तत्त्ववेत्ताओ की मौलिक चिन्तनप्रवृत्ति को देखते हुए कहा जा सकता है कि वह समय दूर नही है जब देश और काल के अतिरिक्त तीसरी सत्ता को भी मानने से ही विश्वनिर्माण की व्याख्या ठीक प्रकार करना सम्भव होगी एक समय था जब देश के आयतन पर आधारित ज्यामिति द्वारा भूतो के निर्माण की मीमासा की जाती थी

वैज्ञानिकप्रवर आइन्स्टाइन ने इस विचार मे महती क्राति की और देश के साथ काल को भी सृष्टिनिर्माण के मौलिक तत्त्व रूप मे सिद्ध किया गणित और भौतिक विज्ञान की उपपत्ति द्वारा यह तत्त्व सबके लिये मान्य हुआ देश और काल सृष्टि के निर्माण का अनिवार्य चौखटा है इसी साचे मे पडकर भूतसृष्टि ढल रही है देश और काल को ही नाम और रूप कहा गया है शतपथ के अनुसार नाम और रूप दोनो बडे यज्ञ हैं जिनके पारस्परिक विमर्द या सघर्ष से यह सब कुछ हो रहा है शक्ति की सक्षा ही यज्ञ है, किन्तु नाम और रूप दोनो अभ्व यक्ष कहे गये हैं, जो होकर भी नही है (भूत्वा न भवतीति) उसे अभ्व कहते हैं नामरूपात्मक सारा विश्व वैदिक दृष्टि से अभ्व ही है वैज्ञानिक की दृष्टि मे भी यह सारा विश्व शक्ति के मूल आधार पर तरगित नामरूप के अतिरिक्त कुछ नही है, जो देश और काल के टकराने से अस्तित्व मे आया है, आ रहा है और आता रहेगा वह जो मूलभूत शक्ति है उसके सम्बन्ध मे वैज्ञानिक को भी अभी बहुत कुछ जानना है विश्वरश्मिया (कास्मिक रेडियेशन कहाँ से आती है, उनका स्रोत क्या है ? शक्ति का जो समान वितरण इस समय हो रहा है, उसकी उल्टी प्रक्रिया भी क्या कभी सम्भव है कि जिसके कारण महासूर्य

जैसे ध्वस्त शक्ति-केन्द्रों का पुन निर्माण हो सके ? एक बार शक्ति का विलय हो जाने पर इसकी पुन प्रवृत्ति का क्या कोई हेतु और सम्भावना है ? इत्यादि प्रश्न विज्ञान के सप्रश्न है जिनका सकेत मानव का आह्वान उस ओर निश्चित रूप से कर रहा है जो विश्व का मूल कारण है और जिसके विषय मे सबसे बड़ा रहस्य यह है कि वह इस विश्व से बाहर रहता हुआ भी इसकी रचना करके इसी में समाया हुआ है

तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत

वैज्ञानिकों के सामने सुमेरु के समान दुरूप सृष्टि का सप्रश्न बना हुआ है जैसा मनीषिप्रवर मारिस मेटरलिंक ने कहा है सत्य तो यह है कि इतना अनुसन्धान और बौद्धिक मन्थन हो जाने के बाद भी अभी विश्व-मानव उस स्थिति म नहीं पहुँच पाया है जहाँ एक भी परमाणु एक भी भस्म काय या एक भी मानस का पूरा रहस्य या उसकी ग्रन्थियों का पूरा भेद हमें मिल पाया हो अभी तक चारों ओर रहस्य ही रहस्य भरा हुआ है किन्तु मानव प्रजापति का नेदिष्ठ रूप है उसे तत्त्व की प्राप्ति के बिना सन्तोष नहीं हो सकता शक्ति के स्वरूप और जीवन के स्रोत एव मन के स्वरूप को जान कर ही मानव के प्रश्न का समाधान हो सकेगा कहा जाता है कि विश्ववैज्ञानिक आइन्स्टाइन अपने जीवन के अन्तिम क्षणों म विश्व की गूढ पहेली को समझने मे अतिव्यस्त थे और उनके दृष्टिपथ म यह सत्य आने लगा था कि देश और काल के अतिरिक्त भी कोई शक्ति है जो सृष्टिप्रक्रिया में अनिवार्य अग के समान कार्य कर रही है और उसकी सत्ता को भी सम्भवत गणित की उपपत्तियों द्वारा व्यक्त करना सम्भव होगा यह भविष्य के प्रश्न है जिनके विषय म अधिक ऊहापोह सम्भव नहीं किन्तु वैदिक विज्ञान की जो सामग्री हमारे सामने है उसका जब बुद्धिगम्य विवेचन हम देखते है तो यह ध्रुव रूप निश्चित हो जाता है कि उस किसी सत् चित् आनन्द तत्त्व ने अपने विहृत् स्वरूप द्वारा इस सर्ग का वितान किया है और वह स्वय इसमें गूढ है वही अव्यक्त से व्यक्त भाव म आया है साथ ही समझने वालों को इतना भी आभास स्पष्ट मिलता है कि वैदिक—विज्ञान और अर्वाचीन विज्ञान इन दोनों की शब्दावली और परिभाषाओं म चाहे जितना भेद हो मूलतत्त्व की व्याख्या म बहुत कुछ सादृश्य है ऊपर कही हुई पचाण्ड विद्या उसका एक छोटा-सा उदाहरण है जन्म वृद्धि और ह्रास की मौलिक प्रक्रिया जो विज्ञान और दर्शन मे समानरूप से मान्य है वही पचाण्डविद्या का विषय है जिसे अग्रेजी मे न्यूक्लियस या आमण्डल कहते है वही अण्ड है एक अविशेष केन्द्र से तीन विशिष्ट केन्द्रों का विकास यही सृष्टि है त्रिकभाव का नाम ही विश्व है त्रिवृद् वा इद सर्वम् यह वेद की परिभाषा विज्ञान को भी मान्य है इसी त्रिवृत् भाव की सज्ञा मधु, प्राण वाक् है जिसकी बहुत प्रकार की व्याख्या वैदिकसाहित्य म पाई जाती है उस व्याख्या के भिन्न भिन्न स्तर है जैसे इस सृष्टि के विभिन्न क्षेत्र या स्तर है यह बात भी स्मरण रखनी चाहिए कि विज्ञान के नियम के समान ही मूलभूत वैदिक नियम भी अत्यन्त सरल है अध्यात्म अधिदैवत और अधिभूत के स्तरों पर उन नियमों को समझने का प्रयत्न ब्राह्मण ग्रन्थों में पाया जाता है वैदिक विज्ञान का एक कठिन पक्ष भी है वैदिक विज्ञान एक सूत्र या तन्तु नहीं पूरा पट है एक तन्तु को पकड़ते ही पूरे पट का सम्हालने का साहस यदि बुद्धि म न हो तो बुद्धि कातर हो जाती है और किंकर्तव्यविमूढ स्थिति में पड़ जाती है जिस दशा में वहाँ मति की गम्यता यह स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ता किन्तु यह ऐसी कठिनाई नहीं है जिसका परिहार न हो सके यह तो सृष्टि की ही विचित्रता है उसमें सब कुछ ओतप्रोत है एक सामान्यातिसामान्य अकुर समस्त विश्व का प्रतीक बना हुआ है उसका कृत्स्न ज्ञान कोई प्राप्त करना चाहे तो उसे एक ओर समस्त विज्ञान को और दूसरी ओर दर्शन के ज्ञान को मथना होगा ज्ञान और विज्ञान को आत्मसात् करके ही अन्तिम तत्त्व का दर्शन किया जा सकता है ज्ञान शिरोमूला दृष्टि है और विज्ञान पादमूला दृष्टि है वट में बीज का दर्शन और बीज मे वट का दर्शन ये दोनों ही आत्मसाधन के प्रकार है

शरीर मे अपने ही जैसा उत्पन्न करने की एक शक्ति आती है, उसी का घनीभूत रूप रेत या बीज है. यही रेतोऽण्ड अवस्था है इस अवस्था को प्राप्त करते ही प्रत्येक शरीर क्षयोन्मुख होने लगता है यही अपक्षीयते-स्थिति है ये पाँचो अण्ड व्यक्तभाव के ही परिणाम है अव्यक्त जब कभी व्यक्तभाव को प्राप्त करेगा उसे पाच भावविकारो की क्रमिक स्थिति प्राप्त करनी होगी शतपथब्राह्मण की यह अत्यन्त रहस्यमयी विद्या है यह विषय अत्यन्त गूढ और विलष्ट है, किन्तु सृष्टिव्यापिनी निर्माणप्रक्रिया को समझने के लिये अत्यन्त महत्त्वपूण भी है अर्वाचीन शती का मानव विश्व की पहेली को वैज्ञानिक दृष्टि से समझना चाहता है आधुनिक वैज्ञानिको के प्रयत्न विश्वरहस्यमीमासा को स्पष्ट करने मे लगे हुए हैं

सृष्टि का मौलिक तत्त्व क्या है? क्यो इसकी प्रवृत्ति होती है ? इसके मूल मे कौन-सी शक्ति है? उसका स्पन्दन किस कारण से हुआ और किन नियमो से आज वह प्रवृत्त है ? शक्ति की प्राणनक्रिया और स्थूल भौतिक पदार्थो मे परस्पर क्या सम्बन्ध है ? गति और स्थितिसज्ञक द्विविरुद्ध भावो का जन्म क्यो होता है और उनका स्वरूप क्या है ? इत्यादि एक से एक रोचक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न सृष्टिविद्या के सम्बन्ध मे हमारे सामने आ खडे होते हैं उनके समाधान का सच्चा प्रयत्न आज के वैज्ञानिक कर रहे है नित्य नूतन प्रयोगो द्वारा वे विश्व की मूलभूत शक्ति के स्वरूप और रहस्य को जानने मे लगे हैं वैज्ञानिक तत्त्ववेत्ताओ ने इतना अब निश्चय पूर्वक जान पाया है कि स्थूल भौतिक सृष्टि जिसे हम भूतमात्रा, अर्थमात्रा या वैदिक परिभाषा मे वाक् कहते है, अन्ततोगत्वा शक्ति के स्पन्दन का ही परिणाम है विश्व के सब पदार्थ मूलभूत शक्ति की रश्मियो के स्पन्दन मे घनीभूत या व्यवस्थित हुए है यह शक्ति विश्व की प्राणनक्रिया है प्रत्येक भूत मे यह विद्यमान है बुद्धिमान् उसे हर एक भूत मे देखते और पहचानते है—

भूतेषु भूतेषु विचित्य धीरा

आज परमाणु के विशकलन ने यह सम्भव कर दिया है कि शक्ति के इस रहस्य की झाकी मानव को प्राप्त हो सकी है किन्तु भूतमात्रा और प्राणमात्रा के सदृश ही तीसरी प्रज्ञानमात्रा भी है, जो समस्त सृष्टि मे उसी प्रकार व्याप्त है जिस प्रकार भूतमात्रा और प्राणमात्रा लोष्ठ, पाषाण आदि असज्ञ वृक्ष-वनस्पति आदि अन्त सज्ञ एव पशु-मनुष्य आदि ससज्ञ भूतो मे सर्वत्र अव्ययात्मा का श्वोवशीयस्मन अवश्य ही व्याप्त है. सबके जन्म, स्थिति और लय के पीछे मूलभूत त्रिक का नियम एक समान है अवश्य ही विश्व मे वैचित्र्य और विज्ञान की अनेक कोटिया पाई जाती है जिनका स्पष्ट अन्तर कीट-पतग आदि की मानव से तुलना करने पर समझा जा सकता है प्रजापति का जो अमृत और अनिरुक्त स्वरूप है, उसकी भाषा को समझने की जो स्थिति हो सकती है विज्ञान भी शीघ्रता से उस ओर बढ रहा है और विश्वविज्ञान के तत्त्व-वेत्ताओ की मौलिक चिन्तनप्रवृत्ति को देखते हुए कहा जा सकता है कि वह समय दूर नही है जब देश और काल के अतिरिक्त तीसरी सत्ता को भी मानने से ही विश्वनिर्माण की व्याख्या ठीक प्रकार करना सम्भव होगी एक समय था जब देश के आयतन पर आधारित ज्यामिति द्वारा भूतो के निर्माण की मीमासा की जाती थी

वैज्ञानिकप्रवर आइन्स्टाइन ने इस विचार मे महती क्राति की और देश के साथ काल को भी सृष्टिनिर्माण के मौलिक तत्त्व रूप मे सिद्ध किया गणित और भौतिक विज्ञान की उपपत्ति द्वारा यह तत्त्व सबके लिये मान्य हुआ देश और काल सृष्टि के निर्माण का अनिवार्य चौखटा है इसी साचे मे पडकर भूतसृष्टि ढल रही है देश और काल को ही नाम और रूप कहा गया है शतपथ के अनुसार नाम और रूप दोनो बडे यज्ञ है जिनके पारस्परिक विमर्द या सघर्ष से यह सब कुछ हो रहा है शक्ति की सक्षा ही यज्ञ है किन्तु नाम और रूप दोनो अभ्व यक्ष कहे गये हैं, जो होकर भी नही है (भूत्वा न भवतीति) उसे अभ्व कहते हैं नामरूपात्मक सारा विश्व वैदिक दृष्टि से अभ्व ही है वैज्ञानिक की दृष्टि मे भी यह सारा विश्व शक्ति के मूल आधार पर तरगित नामरूप के अतिरिक्त कुछ नही है, जो देश और काल के टकराने से अस्तित्व मे आया है, आ रहा है और आता रहेगा वह जो मूलभूत शक्ति है उसके सम्बन्ध मे वैज्ञानिक को भी अभी बहुत कुछ जानना है विश्वरश्मिया (कास्मिक रेडियेशन कहाँ से आती है, उनका स्रोत क्या है ? शक्ति का जो समान वितरण इस समय हो रहा है, उसकी उल्टी प्रक्रिया भी क्या कभी सम्भव है कि जिसके कारण महासूर्य

मुनि श्रीहजारीमल स्मृति-ग्रंथ

संस्कृति, समाज, इतिहास और पुरातत्त्व

तृतीय अध्याय

डॉ० मगलदेव शास्त्री
पूर्व उपकुलपति सस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

भारतीय संस्कृति का वास्तविक दृष्टिकोण

भारतीय सस्कृति के विषय मे आजकल जो विचार-विभ्रम फैला हुआ है उसको दूर ने के लिये, इस लेख मे हम भारतीय सस्कृति के विषय मे कुछ मौलिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन करते हुए उसके वास्तविक दृष्टिकोण को स्पष्ट करना चाहते हैं

सबसे पहले हम भारतीय सस्कृति स्वभावत प्रगतिशील है, इस सिद्धान्त को लेते हैं

भारतीय सस्कृति की प्रगतिशीलता

प्राचीन जातियो मे अपनी प्रथाओ, अपने आचार विचारो और अपनी सस्कृति को अत्यन्त प्राचीन काल से आने वाली अविच्छिन्न परम्परा के रूप मे मानने की प्रवृत्ति सर्वत्र देखने मे आती है अनेक धार्मिक या राजनैतिक प्रभाव वाले वशो की, यहा तक कि धार्मिक मान्यताओ से सबद्ध अनेक नदियो आदि की भी, दैवी या लोकोत्तर उत्पत्ति के मूल मे यही प्रवृत्ति काम करती हुई दीख पडती है

भारतवर्ष मे भी यह प्रवृत्ति अपने पूर्ण विस्तृत और व्यापक रूप मे चिरकाल से चली आ रही है

इसी के परिणामस्वरूप देश की साधारण जनता मे प्राय ऐसी भावना बद्धमूल हो गयी है कि उसकी धार्मिक और सास्कृतिक रूढिया सदा से एक ही रूप मे चली आयी है दूसरे शब्दो मे, साम्प्रदायिक दृष्टि के लोग भारतीय सस्कृति को, प्रगतिशील या परिवर्तनशील न मानकर, सदा से एक ही रूप मे रहने वाली स्थितिशील मानने लगे हैं

'सनातन धर्म' या 'शाश्वत धर्म' जैसे शब्दो के प्राय दुरुपयोग द्वारा उक्त भावना मे और भी दृढता लायी गयी है

परन्तु विज्ञान-मूलक ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर तत्काल यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि भारतीय सस्कृति की सूत्रात्मा चिरन्तन काल से चली आ रही है, वह अपने बाह्य रूप की दृष्टि से बराबर परिवर्तनशील और प्रगतिशील रही है

वैदिक तथा पौराणिक उपास्य देवो की पारस्परिक तुलना से हमारी देवता-विषयक मान्यताओ मे समय-भेद से होने वाला महान् परिवर्तन स्पष्ट हो जाता है

समय-भेद से ब्रह्म आदि की पूजा की प्रवृत्ति और उसके विलोप से भी यही बात स्पष्टतया सिद्ध होती है

इसी प्रकार के दो-चार अन्य निदर्शनो को भी यहा देना अनुपयुक्त न होगा

'यज्ञ' शब्द को लीजिए वैदिक काल मे इसका प्रयोग प्रायेण देवताओ के यजनार्थ किये जाने वाले कर्म-कलाप के लिये ही होता था पर कालान्तर मे अनेक कारणो से वैदिक कर्म-काण्ड के शिथिल हो जाने पर यही शब्द अधिक व्यापक अर्थों मे प्रयुक्त होने लगा इसी परिवर्तित दृष्टि के कारण भगवद्गीता,[1] मे वैदिक यज्ञो के साथ-साथ (जिनको

---

१ देखिए भगवद्गीता ४।२५-३०, ३२ तथा १०।४०-४३
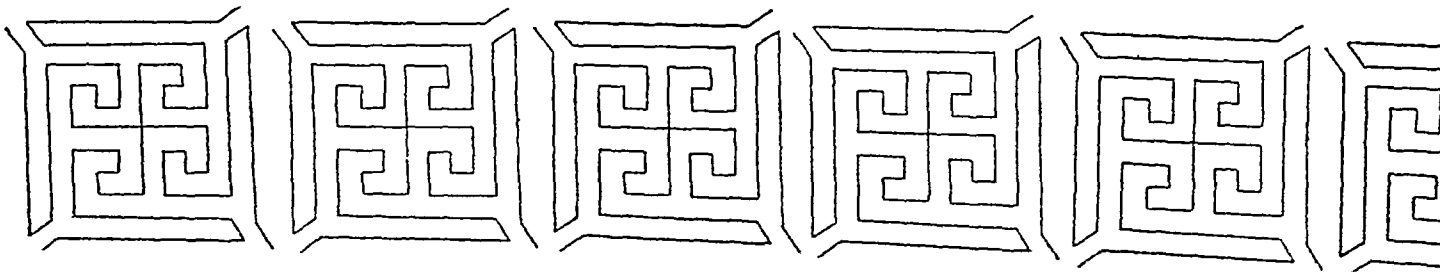
यह 'द्रव्य-यज्ञ' कहती है) तपोयज्ञ योगयज्ञ ज्ञानयज्ञ आदि का भी उल्लेख करती है स्वामी दयानन्द के अनुसार तो 'शिल्प-व्यवहार और पदार्थ-ज्ञान जो कि जगत् के उपकार के लिये किया जाता है उसको (भी) यज्ञ कहते हैं'[1] आचार्य विनोबा भावे का भूदान-यज्ञ तो आज सबकी जिह्वा पर है

इसी प्रकार 'ऋग्वेद' 'यजुर्वेद' 'आयुर्वेद' 'धनुर्वेद' आदि शब्दों में प्रयुक्त 'वेद' शब्द स्पष्टतया किसी समय सामान्येन विद्या या ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त होता था कालान्तर में यह अनेकानेक शाखाओं में विस्तृत मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वैदिक साहित्य के लिये ही प्रयुक्त होने लगा उन शाखाओं में से अनेकों का तो अब नाममात्र भी शेष नहीं है यही 'वेद' शब्द अब प्रायेण उपलब्ध वैदिक संहिताओं के लिए ही प्रयुक्त होने लगा है

इसी प्रकार 'वर्ण' शब्द के भी विभिन्न प्रयोगों में समय भेद से परिवर्तित होने वाली वर्ण-विषयक दृष्टियों का प्रभाव दिखाया जा सकता है

यज्ञ' आदि जैसे महत्त्व के शब्दों का समय-भेद से होने वाला भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग स्पष्टतया विचारों में घात प्रतिघात तथा सामयिक आवश्यकताओं के फलस्वरूप होने वाली भारतीय संस्कृति की प्रगति की ओर ही संकेत करता है

आचार-विचार की दृष्टि से भी अनेकानेक स्पष्ट उदाहरणों से भारतीय संस्कृति कभी स्थितिशील न होकर सदा प्रगतिशील या परिवर्तनशील रही है, इस सिद्धान्त की पुष्टि की जा सकती है

शूद्र अतिशूद्र कहलाने वाली भारतीय जातियों के प्रति हमारी कठोर दृष्टि और व्यवहार में सामयिक परिस्थितियों और सन्त महात्माओं के आन्दोलनों के कारण शनैः शनैः होने वाला विकासोन्मुख परिवर्तन भारतीय संस्कृति की प्रगतिशीलता का एक उज्ज्वल उदाहरण है 'न शूद्राय मतिं दद्यात्'[2] (शूद्र को किसी प्रकार का उपदेश न दे) तथा 'पद्यु ह वा एतच्छ्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्'[3] (शूद्र तो मानो चलता-फिरता श्मशान है इसलिए उसके समीप में वेदादि नहीं पढ़ना चाहिए, शूद्र के प्रति इस कठोर और अशोभन दृष्टि से चल कर उसको 'हरि+जन' मानने की दृष्टि में स्पष्टतया आकाश-पाताल का अन्तर है[4]

इसी प्रकार विभिन्न विदेशी जातियों को आत्मसात् (हम इसको 'शुद्धि' नहीं मानते) करने में विदेशों में भारतीय संस्कृति के संदेश को पहुँचाने में और वेद और शास्त्रों की दुरधिगम कोठरियों में बन्द उस सन्देश को जनता की भाषा में प्रायः जनता के ही सच्चे प्रतिनिधि सन्त-महात्माओं द्वारा सर्व साधारण के लिए सुलभ किये जाने में हमें उपर्युक्त प्रगतिशीलता का सिद्धान्त ही काम करता हुआ दीखता है

भारतीय संस्कृति के इतिहास के लम्बे काल में ऐसे स्थल भी अवश्य आते हैं जब कि उसके रूप में होने वाले परिवर्तन आपातत विकासोन्मुख प्रगति को नहीं दिखलाते तो भी वे उसकी स्थिति-शीलता को तो सिद्ध करते ही हैं साथ ही जैसे स्वास्थ्य-विज्ञान की दृष्टि से रोगावस्था अवांछनीय होने पर भी हमारे स्वास्थ्य विरोधी तत्त्वों को उभाड़ कर उनको नाश करके हमारे स्वास्थ्य में सहायक होती है उसी प्रकार आपातत अवांछनीय परिवर्तनों को समझना चाहिए कभी-कभी उन परिवर्तनों के मूल में हमारी जातीय आत्मरक्षा की स्वाभाविक प्रवृत्ति या सामयिक आवश्यकता भी काम करती हुई दीखती है इसलिए उन परिवर्तनों के कारण भारतीय संस्कृति की प्रगतिशीलता के हमारे उपर्युक्त सामान्य सिद्धान्त में कोई क्षति नहीं आती

---

१ स्वामी दयानन्द—कृत आर्योद्देश्यरत्नमाला से
२. मनुस्मृति ४ ८०
३ देखिए—'वेदान्त—शांकरभाष्य' १ ३ ३८
४ इस दृष्टि-कोण से विस्तृत इतिहास में एक प्रकार से भारतीय संस्कृति का सारा इतिहास प्रतिबिम्बित रूप में दिखाया जा सकता है हम इस पर स्वतन्त्र रूप से फिर कभी विचार करना चाहते हैं

डॉ० मगलदेव शास्त्री
पूर्व उपकुलपति सस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

भारतीय संस्कृति का वास्तविक दृष्टिकोण

भारतीय सस्कृति के विषय मे आजकल जो विचार-विभ्रम फैला हुआ है उसको दूर ने के लिये, इस लेख मे हम भारतीय सस्कृति के विषय मे कुछ मौलिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन करते हुए उसके वास्तविक दृष्टिकोण को स्पष्ट करना चाहते है

सबसे पहले हम भारतीय सस्कृति स्वभावत प्रगतिशील है, इस सिद्धान्त को लेते हैं

भारतीय सस्कृति की प्रगतिशीलता

प्राचीन जातियो मे अपनी प्रथाओ, अपने आचार विचारो और अपनी सस्कृति को अत्यन्त प्राचीन काल से आने वाली अविच्छिन्न परम्परा के रूप मे मानने की प्रवृत्ति सर्वत्र देखने मे आती है अनेक धार्मिक या राजनैतिक प्रभाव वाले वशो की, यहा तक कि धार्मिक मान्यताओ से सवद्ध अनेक नदियो आदि की भी, दैवी या लोकोत्तर उत्पत्ति के मूल मे यही प्रवृत्ति काम करती हुई दीख पडती है

भारतवर्ष मे भी यह प्रवृत्ति अपने पूर्ण विस्तृत और व्यापक रूप मे चिरकाल से चली आ रही है

इसी के परिणामस्वरूप देश की साधारण जनता मे प्राय ऐसी भावना बद्धमूल हो गयी है कि उसकी धार्मिक और सास्कृतिक रूढिया सदा से एक ही रूप मे चली आयी है दूसरे शब्दो मे, साम्प्रदायिक दृष्टि के लोग भारतीय सस्कृति को, प्रगतिशील या परिवर्तनशील न मानकर, सदा से एक ही रूप मे रहने वाली स्थितिशील मानने लगे है

'सनातन धर्म' या 'शाश्वत धर्म' जैसे शब्दो के प्राय दुरुपयोग द्वारा उक्त भावना मे और भी दृढता लायी गयी है

परन्तु विज्ञान-मूलक ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर तत्काल यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि भारतीय सस्कृति की सूत्रात्मा चिरन्तन काल से चली आ रही है, वह अपने बाह्य रूप की दृष्टि से बराबर परिवर्तनशील और प्रगतिशील रही है

वैदिक तथा पौराणिक उपास्य देवो की पारस्परिक तुलना से हमारी देवता-विषयक मान्यताओ मे समय-भेद से होने वाला महान् परिवर्तन स्पष्ट हो जाता है

समय-भेद से ब्रह्म आदि की पूजा की प्रवृत्ति और उसके विलोप से भी यही बात स्पष्टतया सिद्ध होती है

इसी प्रकार के दो-चार अन्य निदर्शनो को भी यहा देना अनुपयुक्त न होगा

'यज्ञ' शब्द को लीजिए वैदिक काल मे इसका प्रयोग प्रायेण देवताओ के यजनार्थ किये जाने वाले कर्म-कलाप के लिये ही होता था पर कालान्तर मे अनेक कारणो से वैदिक कर्म-काण्ड के शिथिल हो जाने पर यही शब्द अधिक व्यापक अर्थों मे प्रयुक्त होने लगा इसी परिवर्तित दृष्टि के कारण भगवद्गीता,[1] मे वैदिक यज्ञो के साथ-साथ (जिनको

[1] देखिए भगवद्गीता ४।२५-३०, ३२ तथा २।४२-४३

भारतीय संस्कृति की असांप्रदायिकता

संस्कृत में प्राचीन काल से एक कहावत चली आ रही है कि

श्रुतयो विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य मतं प्रमाणम् ।

अर्थात् श्रुतियों और स्मृतियों में परस्पर विभिन्न मत पाये जाते हैं यही बात मुनियों के विषय में भी ठीक है

इसका अभिप्राय यही है कि किसी भी सभ्य समाज में मतभेद और तन्मूलक सम्प्रदायों का भेद या बाहुल्य स्वाभाविक होता है इसका मूल कारण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्ति और रुचि में भेद का होना ही है कोई व्यक्ति स्वभाव से ही ज्ञान प्रधान कोई कर्म प्रधान और कोई भक्ति या भावना प्रधान होता है फिर समय भेद तथा देश भेद से भी मनुष्यों की प्रवृत्तियों में भेद देखा जाता है रेगिस्तान के शुष्क प्रदेश में रहने वालों के और बंगाल जैसे नमी प्रधान प्रदेश में रहने वालों के स्वभावों में अन्तर होना स्वाभाविक ही है

ऐसे ही कारणों से भारत वर्ष जैसे विशाल और प्राचीन परम्परा वाले देश में अनेकानेक सम्प्रदायों का होना बिल्कुल स्वाभाविक है

एक सीमा तक यह सम्प्रदाय भेद स्वाभाविक होने के कारण व्यक्तियों की सत्प्रवृत्तियों के विकास का साधक होता है यह तभी होता है जब कि उन विभिन्न सम्प्रदायों के लोगों के सामने कोई ऐसा उच्चतर आदर्श होता है जो उन सबको परस्पर संगठित और सम्मिलित रहने की प्रेरणा दे सकता हो परन्तु प्रायः ऐसा देखा जाता है कि साम्प्रदायिक नेताओं की स्वार्थ बुद्धि और धर्मान्धता या असहिष्णुता के कारण सम्प्रदायों का वातावरण दूषित संघर्षमय और विषाक्त हो जाता है उस दशा में सम्प्रदाय भेद अपने अनुयायियों के तथा देश के लिये भी अत्यन्त हानिकारक और घातक सिद्ध होता है

भारतीय संस्कृति की आंतरिक धारा में चिरन्तन से सहिष्णुता की भावना का प्रवाह चला आया है तो भी भारतवर्ष में सम्प्रदायों का इतिहास बहुत कुछ उपर्युक्त दोषों से युक्त हो रहा है आर्थिक और राजनीतिक स्वार्थों के कारण और कुछ अंशों में धर्मान्धता के कारण भी अपने-अपने नेताओं द्वारा सम्प्रदायों का और स्वभावतः जाति प्रधान पर भोली भाली और मूर्ख जनता का पर्याप्त दुरुपयोग किया गया है

साम्प्रदायिक वैमनस्य और अत्याचार का उल्लेख करने पर आजकल तत्काल हिन्दू-मुसलिम वैमनस्य या पिछली शताब्दियों में दक्षिण भारत में ईसाइयों द्वारा हिन्दू जनता पर किये अत्याचार सामने आ जाते हैं यह सब तो निस्सन्देह ठीक ही है पर साम्प्रदायिक असहिष्णुता और अत्याचार का विशुद्ध भारतीय सम्प्रदायों में अभाव रहा है यह न समझ लेना चाहिए

पौराणिक तथा धर्मशास्त्रीय संस्कृत साहित्य में वर्णित उन व्यक्तिगत अथवा सामूहिक अत्याचारों[1] के आख्यानों या विधानों को जो वास्तव में साम्प्रदायिक असहिष्णुता मूलक या उसके व्याज से राजनीतिक-मूलक थे जाने दीजिए हम उनका उल्लेख यहाँ नहीं करेंगे यहाँ कुछ अन्य निदर्शनों को देना पर्याप्त होगा

उदाहरणार्थ

'श्रमण-ब्राह्मणम्' (व्याकरण-महाभाष्य २४९) पद के आधार पर श्रमणों (अर्थात् जैन-बौद्धों) और ब्राह्मणों में सर्प और नकुल जैसी शत्रुता का उल्लेख किया जा सकता है ईसवी सदियों के प्रारम्भिक काल के आसपास इस शत्रुता ने भारतवर्ष के राजनीतिक तथा धार्मिक वातावरण में जो हलचल मचा रखी थी वह इतिहासकार से छिपी नहीं है

---

१ उदाहरणार्थ स्कन्द-पुराणान्तर्गत सूतसंहिता में शैव संप्रदाय के विरोधियों के ताडन और शिरश्छेदन का स्पष्टतया विधान किया है जैसे—
शिवकाधामताधा तु वापकात्ता तु ताडनम् । शिवमभिनिरिति प्रोक्ता ॥ भरमसाधन निष्पन्ना ... छेदम शिरसः ॥ (सूतसंहिता ४।२६।२६—१)। रामायण में भगवान् रामचन्द्र द्वारा शम्बूक (शूद्र) का वध प्रसिद्ध है। वेद सुनने मात्र के अपराध के लिए शूद्र के कानों में रांगा पिघलाने की चर्चा प्रसिद्ध ही है

यह प्रगतिशीलता या परिवर्तनशीलता का सिद्धात केवल हमारी कल्पना नही है हमारे धर्मशास्त्रो ने भी इसको मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है

धर्मशास्त्रो का कलि-वर्ज्य प्रकरण[1] प्रसिद्ध है इसमे प्राचीन काल मे किसी समय प्रचलित गोमेध, अश्वमेध, नियोग-प्रथा आदि का कलयुग मे निषेध किया गया है विभिन्न परिस्थितियो के कारण भारतीय सस्कृति के स्वरूप मे प्रगति या परिवर्तन होते रहे हैं इस बात का, हमारे धर्मशास्त्रो के ही शब्दो मे, इससे अधिक स्पष्ट प्रमाण मिलना कठिन होगा

इसके अतिरिक्त, प्रत्येक युग मे उसकी आवश्यकता के अनुसार 'धर्म' का परिवर्तन होता रहता है, इस सामान्य सिद्धात का प्रतिपादन भी धर्मशास्त्रो मे स्पष्टत मिलता है उदाहरणार्थ

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे युगे।
अन्ये कलियुगे नृणा युगरूपानुसारत ।
युगेष्वावर्तमानेषु धर्मोऽप्यावर्तते पुन. ।
धर्मेष्वावर्तमानेषु लोकोऽप्यावर्तते पुन ।
श्रुतिश्च शौचमाचारः प्रतिकाल विभिद्यते ।
नाना धर्मा प्रवर्तन्ते मानवानां युगे-युगे ।

अर्थात्, सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग मे युग के रूप या परिस्थिति के अनुसार 'धर्म' का परिवर्तन होता रहता है युग-युग मे मनुष्यो की श्रुति (धार्मिक मान्यता की पुस्तक या साहित्य), शौच (स्वच्छता का स्वरूप और प्रकार) और आचार (आचार-विचार या व्यवहार) सामयिक आवश्यकताओ के अनुसार बदलते रहते हैं

धर्मशास्त्रो की ऐसी स्पष्ट घोषणा के होने पर भी, यह आश्चर्य की बात है कि हमारे प्राचीन धर्मशास्त्री विद्वानो के भी मन मे 'भारतीय सस्कृति स्थितिशील है' यह धारणा बैठी हुई है गाधी-युग से पहले के साप्रदायिक विद्वानो के शास्त्रार्थ अब भी लोगो को स्मरण होगे उनमे यही निरर्थक तथा उपहासास्पद झगडा रहता था कि हमारा सिद्धात सनातन है या तुम्हारा अब भी यह धारणा हमारे देश मे काफी घर किये हुए है इसी के कारण साप्रदायिक कटु भावना तथा सकीर्ण विचार-धारा अब भी हमारे देश मे सिर उठाने को और हमारे सामाजिक जीवन को विषाक्त करने को सदा तैयार रहती है

इसलिए भारतीय सस्कृति की सबसे पहली मौलिक आवश्यकता यह है कि उसको हम स्वभावत प्रगतिशील घोषित करें उसी दशा मे भारतीय सस्कृति अपनी प्राचीन परम्परा, प्राचीन साहित्य और इतिहास का उचित सम्मान तथा गर्व करते हुए अपने अन्तरात्मा की सदेश-रूपी मानव-कल्याण की सच्ची भावना से आगे बढती हुई, वर्तमान प्रबुद्ध भारत के ही लिए नही, अपितु ससार भर के लिए उन्नति और शान्ति के मार्ग को दिखाने मे सहायक हो सकती है

यह कार्य 'हमारा आदर्श या लक्ष्य भविष्य मे है, पश्चाद्दर्शिता मे नही' यही मानने से हो सकता है भारतीय सस्कृति रूपी गगा की धारा सदा आगे ही बढती जाएगी, पीछे नही लोटेगी प्राचीन युग जैसा भी रहा हो, पुन उसी रूप मे लौट कर नही आ सकता, हमारा कल्याण हमारे भविष्य के निर्माण मे निहित है, हम उसके निर्माण मे अपनी प्राचीन जातीय सपत्ति के साथ-साथ नवीन जगत् मे प्राप्य सपत्ति का भी उपयोग करेंगे यही भारतीय सस्कृति की प्रगतिशीलता के सिद्धान्त का रहस्य और हृदय है

भारतीय सस्कृति का दूसरा सिद्धात उसका असाम्प्रदायिक होना है यहाँ हम उसी की व्याख्या करेंगे

---

१ देखिए—'अथ कलिवर्ज्यानि बृहन्नारदीये–समुद्रयातु स्वीकार कमण्डलुविधारणम् । देवराच्च सुतोत्पत्तिर्मधुपर्के च गोर्वध' । मासदान तथा श्राद्धे वानप्रस्थाश्रमस्तथा । नरमेधाश्वमेधकौ । गोमेधश्च तथा मख । इमान् धर्मान् कलियुगे वर्ज्यानाहुर्मनीपिण ॥ 'इत्यादि'''
—निर्णयसिन्धु, कलिवर्ज्यप्रकगरण

भारतीय संस्कृति की असाम्प्रदायिकता

संस्कृत में प्राचीन काल से एक कहावत चली आ रही है कि

> श्रुतयो विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्नाः नैको मुनिर्यस्य मतं प्रमाणम् ।

अर्थात् श्रुतियों और स्मृतियों में परस्पर विभिन्न मत पाये जाते हैं यही बात मुनियों के विषय में भी ठीक है

इसका अभिप्राय यही है कि किसी भी सभ्य समाज में मतभेद और तदनुसार सम्प्रदायों का भेद या बाहुल्य स्वाभाविक होता है इसका मूल कारण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्ति और रुचि में भेद का होना ही है कोई व्यक्ति स्वभाव से ही ज्ञान प्रधान कोई कर्म प्रधान और कोई भक्ति या भावना प्रधान होता है फिर समय भेद तथा देश भेद से भी मनुष्यों की प्रवृत्तियों में भेद देखा जाता है रेगिस्तान के शुष्क प्रदेश में रहने वालों के और बंगाल जैसे नमी प्रधान प्रदेश में रहने वालों के स्वभावों में अन्तर होना स्वाभाविक ही है

ऐसे ही कारणों से भारतवर्ष जैसे विशाल और प्राचीन परम्परा वाले देश में अनेकानेक सम्प्रदायों का होना बिल्कुल स्वाभाविक है

एक सीमा तक यह सम्प्रदाय भेद स्वाभाविक होने के कारण व्यक्तियों की सत्प्रवृत्तियों के विकास का साधक होता है यह तभी होता है जब कि उन विभिन्न सम्प्रदायों के लोगों के सामने कोई ऐसा उच्चतर आदर्श होता है जो उन सबको परस्पर संगठित और सम्मिलित रहने की प्रेरणा दे सकता हो परन्तु प्रायः ऐसा देखा जाता है कि साम्प्रदायिक नेताओं की स्वार्थ बुद्धि और धर्मान्धता या असहिष्णुता के कारण सम्प्रदायों का वातावरण दूषित संघर्षमय और विषाक्त हो जाता है उस दशा में सम्प्रदाय भेद अपने अनुयायियों के तथा देश के लिये भी अत्यन्त हानिकारक और घातक सिद्ध होता है

भारतीय संस्कृति की आन्तरिक धारा में चिरन्तन से सहिष्णुता की भावना का प्रवाह चला आया है तो भी भारतवर्ष में सम्प्रदायों का इतिहास बहुत कुछ उपर्युक्त दोषों से युक्त हो रहा है आर्थिक और राजनीतिक स्वार्थों के कारण और कुछ अंशों में धर्मान्धता के कारण भी अपने-अपने नेताओं द्वारा सम्प्रदायों का और स्वभावतः जाति प्रधान पर भोली भाली और मूक जनता का पर्याप्त दुरुपयोग किया गया है

साम्प्रदायिक वैमनस्य और अत्याचार का उल्लेख करने पर आजकल तत्काल हिन्दू-मुसलिम वैमनस्य या पिछली शताब्दियों में दक्षिण भारत में [illegible] द्वारा हिन्दू जनता पर किए अत्याचार सामने आ जाते हैं यह सब तो निस्सन्देह ठीक है पर साम्प्रदायिक असहिष्णुता और अत्याचार का विशुद्ध भारतीय सम्प्रदायों में अभाव रहा है यह न समझ लेना चाहिए

पौराणिक तथा धर्मशास्त्रीय संस्कृत साहित्य में वर्णित उन व्यक्तिगत अथवा सामूहिक अत्याचारों[1] के आख्यानों या विधानों का जो आधार में साम्प्रदायिक असहिष्णुता मूलक या उसके व्याज से राजनीतिक मूलक थे जाने दीजिए हम उनका उल्लेख यहाँ नहीं करते यहाँ कुछ अन्य निदर्शनों का देना पर्याप्त होगा

उदाहरणार्थ।

श्रमण-ब्राह्मणम् (व्याकरण-महाभाष्य २ ४ ९) पद के आधार पर श्रमणों (अर्थात् जैन-बौद्धों) और ब्राह्मणों में गौ और व्याघ्र जैसी शत्रुता का उल्लेख किया जा सकता है ईसवी शताब्दियों के प्रारम्भिक काल के आसपास इस शत्रुता ने भारतवर्ष के राजनीतिक तथा धार्मिक वातावरण में जो हलचल मचा रखी थी वह इतिहासकारों से छिपी नहीं है

---

1. [illegible] वैष्णवों के लिये [illegible] के वचन को [illegible] है जैसे— [illegible] (गुर्जरित [illegible]) [illegible]

आज की असाम्प्रदायिक भारत सरकार के विरुद्ध सम्प्रदाय-वादियो का आन्दोलन उसके सामने कुछ भी नही है

भगवान् मनु ने अपनी मनुस्मृति मे जैन जैसे सम्प्रदायो को नास्तिक ही नही कहा है, उनके धर्मग्रथो को भी 'कुदृष्टि' 'तमोनिष्ठ' (अज्ञानमूलक) और 'निष्फल' कहा है [1]

हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम् ।

(अर्थात् मदमत्त हाथी से पीछा किये जाने पर भी, जैन-मन्दिर मे न जाए) ऐसे वचनो से और दक्षिण भारत मे पूर्व-मध्य काल मे अनेकानेक जैन बौद्ध मन्दिरो को बलात् छीन कर पौराणिक मन्दिरो का रूप देने मे भी साप्रदायिक विद्वेप और अत्याचार के ही निदर्शन हमारे सामने आते हैं

इसके अतिरिक्त, नीचे लिखे उद्धरणो को भी देखिए

त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचरा ।

(वेदो के बनाने वाले भाड, धूर्त और निशाचर ये तीन थे),

धिग् धिक् कपाल भस्मरुद्राक्षविहीनम् । त त्यजेदन्त्य यथा ।

(भस्म और रुद्राक्ष से जिसका कपाल विहीन है उसका अन्त्यज के समान दूर से ही परित्याग कर दे),

भवव्रतधरा ये च ये च तान् समनुव्रता ।
पाषण्डिनस्ते भवन्तु सच्छास्त्रपरिपन्थिन । —भागवत ४ २ २८

(अर्थात्, शैवधर्म के अनुयायी वास्तव मे पाखण्डी और सच्छास्त्र के विरोधी हैं)

यथा श्मशानज काष्ठ सर्वकर्मसु गर्हितम् ।
तथा चक्राङ्कितो विप्र सर्वकर्मसु गर्हित ।

(अर्थात् श्मशान के काष्ठ के समान ही चक्राकित वैष्णव का सब कर्मो से बहिष्कार करना चाहिए)

इसी प्रकार हमारे अनेक धार्मिक ग्रथ, शैव, वैष्णव, जैन, बौद्ध आदि सप्रदायो के परस्पर विद्वेप के भावो से भरे पडे है इस साम्प्रदायिक विद्वेष भावना ने हमारे दार्शनिक ग्रन्थो पर भी कहा तक अवाछनीय प्रभाव डाला है, इसका अच्छा नमूना हमको 'माध्वमुखभग' 'माध्वमुखचपेटिक' दुर्जन-करि-पचानन' जैसे ग्रन्थो के नामो से ही मिल जाता है इन नामो मे विद्वज्जन सुलभ शालीनता का कितना अभाव है, यह कहने की बात नही है

दर्शनशास्त्र का विषय ऐसा है जिसका प्रारम्भ ही वास्तव मे साम्प्रदायिकता की सकीर्ण भावना की सीमा की समाप्ति पर होना चाहिए इसलिए दार्शनिक क्षेत्र मे विभिन्न सप्रदायो के लोग सकीर्णता से ऊपर उठ कर, सद्भावना और सौहार्द के स्वच्छ वातावरण मे एकत्र सम्मिलित हो सकते है

परन्तु भारतवर्ष मे दार्शनिक साहित्य का विकास प्रायेण साप्रदायिक सघर्ष के वातावरण मे ही हुआ था इसलिए उन-उन सम्प्रदायो से सपृक्त विभिन्न दर्शनो के साहित्य से भी प्राय साप्रदायिकता को प्रोत्साहन मिलता रहा है

न्याय-वैशेषिक दर्शनो का विकास शैव सम्प्रदाय से हुआ है [2] योग की परम्परा का भी झुकाव शैव सम्प्रदाय की ओर अधिक है रहे पूर्व—मीमासा, वेदान्त, बौद्ध और जैन-दर्शन—इनका तो स्पष्टतया घनिष्ठ सम्बन्ध वैदिक, वैष्णव, बौद्ध और जैन-सम्प्रदायो से ही रहा है एक साख्य-दर्शन ऐसा है जिसकी दृष्टि प्रारम्भ से ही विशुद्ध दार्शनिक रही है पर इसीलिए उसे वेदान्तसूत्र-शाकरभाष्य[3] आदि मे अवैदिक कह कर तिरस्कृत किया गया है

---

१ देखिए—'या वेदबाह्या स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टय । सर्वास्ता निष्फला प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ता स्मृता '—मनुस्मृति १२ ९५

२ इस विषय में राजशेखरसूरिकृत पड्दर्शन-समुच्चय, तथा हरिभद्रसूरिकृत पड्दर्शन-समुच्चय को भा देखिए

३ देखिए 'न तया श्रुतिविरुद्धमपि कापिल मत श्रद्धातु शक्यम्'—वेदान्तसूत्रशाकरभाष्य २ १ १
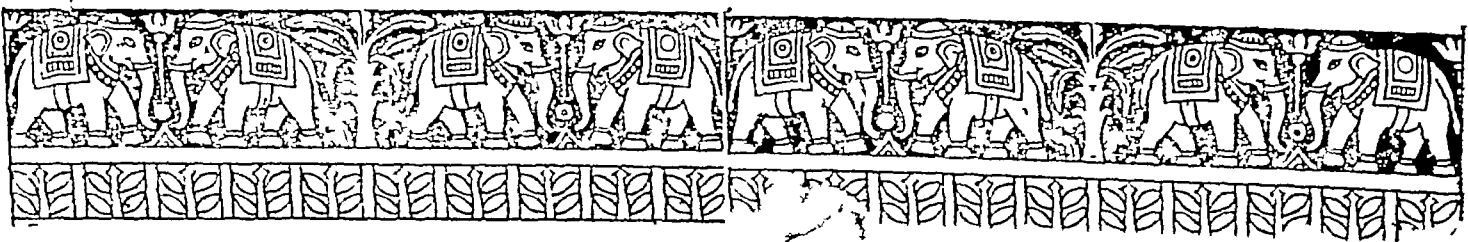
सांप्रदायिक भावना की तरह ही जाति-पांति का अनन्त भेद भी भारतीय समाज में वैषम्य का कारण रहा है अब भी नाना रूपों में हमारे समाज में फैला हुआ इसका विष हमारे अनेक कार्यकर्त्ताओं को 'अन्त शाक्ता बहि शैवा सभामध्ये च वैष्णवा' इस उक्ति का लक्ष्य बनाता रहता है

इस प्रकार चिरकाल से प्रायेण विचार-संकीर्णता और परस्पर संघर्ष की भावना से परिपूर्ण सम्प्रदायवाद तदभिभूत दार्शनिक साहित्य और जाति-पाँति के भेद भाव से जर्जरित भारतीय जनता में एक जातीयता के नवीन जीवन का सचार करने के लिये म नो एक उपास्य देव के रूप में एकमात्र प्रगतिशील तथा असाम्प्रदायिक भारतीय संस्कृति के आदर्श का ही आश्रय लिया जा सकता है

भारतीय संस्कृति असाम्प्रदायिक है इसका अभिप्राय यह नही है कि भारतीय संस्कृति का सम्प्रदाय-विशेष से कोई विरोध या झगड़ा है प्रत्युत नैतिकता तथा मानव हित की भावना की सीमा के अन्दर वह सम्प्रदायों का सम्मान करती है और किसी मुख्य धारा की सहायक नदियों के समान उनको अपना उपकारक और पूरक मानती है नैयायिकों की जाति प्रस व्यक्तियों से पृथक होते हुए भी उनसे पृथक नही रहती इसी प्रकार संस्कृति भारतीय सम्प्रदायों से पृथक अर्थात् स्वय असाम्प्रदायिक होते हुए भी उनसे पृथक नही है इसी कारण भारतीय संस्कृति के नाते से सम्प्रदायों का परस्पर सम्बन्ध आदरयुक्त और सौहार्द-पूर्ण होना चाहिए उनमे होड़ या स्पर्धा भी हो तो वह मानव हित और भारतीय संस्कृति के महत्त्व को बढाने वाली बातों में होनी चाहिए

इस प्रकार असाम्प्रदायिक भारतीय संस्कृति की भावना ही सम्प्रदायों में पारस्परिक संघर्ष की भावना को नष्ट कर उनको अपने विशुद्ध लक्ष्य-साधन के लिए प्रेरणा दे सकती है भारतीय संस्कृति का तीसरा सिद्धांत है

भारतीय संस्कृति की भारत के समस्त इतिहास में ममत्व भावना

भारतीय संस्कृति की सतत प्रवहण-शील धारा की तुलना भगवती गंगा की धारा से की जा सकती है जैसे गंगा की धारा म मूल किसी अज्ञात स्थान से निकल कर, अनेकानेक दुरधिगम तथा दुर्गम ऊँचे-नीचे पर्वतो और प्रदेशों म होती हुई अनेक विभिन्न धाराओं के जलप्रवाहो का आत्मसात् करती हुई, अन्त में सुन्दर रमणीक समतल प्रदेशों म प्रवेश कर नवीनतर गम्भीरता विस्तार और प्रवाह के साथ आगे की ओर ही बहती है ठीक उसी तरह भारतीय संस्कृति की धारा किसी प्रागैतिहासिक अज्ञात युग से प्रारम्भ होकर, अनुकूल तथा प्रतिकूल विभिन्न परिस्थितियों में स गुजरती हुई तथा विभिन्न प्रकार की विचार-धाराओं को आत्मसात् करती हुई शनै शनै अपने विशालतर और गम्भीरतर रूप म आगे बढ़ती हुई ही दिखायी देती है विशिष्ट स्थानों के विशिष्ट माहात्म्य के होने पर भी जैसे गंगा की समस्त धारा म हमारी मान्यता है इसी प्रकार भारतीय संस्कृति की दृष्टि से उसकी पूरी धारा में दूसरे शब्दों म भारत के समस्त इतिहास में हमारी ममत्व की भावना होनी चाहिए ऐसे किये बिना न तो 'भारतीय संस्कृति शब्द की ही कोई सार्थकता रहेगी और न देशव्यापी भारतीयत्व की भावना को ही हम जीवित रख सकेंगे

परन्तु दुर्भाग्य से अब तक हमारी स्थिति प्राय उक्त सिद्धात के प्रतिकूल ही रही है

साम्प्रदायिकता निराशावाद और तज्जनित पश्चाद्दृष्टि की भावना विभिन्न संकीर्ण स्वार्थों की क्षति और उनके प्राचीन काल के कुछ कल्पित और कुछ वास्तविक अभ्युदय की निराशाग्रस्त स्मृति इत्यादि अनेक कारणों से हम उक्त भाव र र सिद्धांत की प्राय अवहेलना करते रहे है और यह प्रवृत्ति अब तक हममें विद्यमान है

हमारे धर्मशास्त्रों में युगों के क्रम म धर्म के ह्रास का सिद्धांत पुराणों मे नन्दान्त क्षत्रियकुलम्' (अर्थात् नन्दों के राज्य के होने पर वैदिक परम्परा के पोषक जो क्षत्रिय' राजा थे उनका अन्त हो गया) यह कथन अथवा कलियुग के दुष्प्रभाव का वर्णन य सब उसी प्रवृत्ति के निदर्शन है

वैदिक परम्परा के उस अन्तिम युग के दिनों मे जब कि जन्मना जातिवाद खूब बढ़ गया था और हमारे धर्मों मे भी [illegible] हिंसा का रूप धारण कर लिया था साधारण जनता के हित की आवाज उठाने वाले बौद्ध और

जैनधर्मो के अभ्युदय से तथा प्राय उसी के फल-स्वरूप राजनीतिक प्राधान्य के दूसरो के हाथो मे चले जाने से, वैदिक सम्प्रदाय के नेताओ मे स्वभावत उत्पन्न होने वाली निराशा ने ही उपर्युक्त विचारो को जन्म दिया था

इसी साप्रदायिक (तथा राजनीतिक) प्रतिक्रिया के कारण हम देखते है कि उन शताब्दियो के तथा तदुत्तरकालीन सस्कृत साहित्य मे विश्व को चमत्कृत करने वाले बौद्ध-धर्म सम्बन्धी राजनीतिक तथा धार्मिक अभ्युदय की कुछ भी चर्चा नही है यदि आधुनिक ऐतिहासिक अनुसन्धान इसके उद्धार को अपने हाथ मे न लेता, तो भारतवर्ष के गौरव और गर्व के इस स्वर्ण-युग के इतिहास को हम सदा के लिये खो बैठते

अब भी, इस विद्या और ज्ञान के युग मे भी, हममे ऐसे सकीर्ण-दृष्टि वाले साप्रदायिको की कमी नही है जो समझते है कि महाभारत-काल के पश्चात् भारत का जो भी महत्त्व का इतिहास है, वह उनके लिये अरुचिकर न हो तो भी, उनके गर्व और गौरव की वस्तु नही है यहाँ तक कि कालीदास के ससार को मुग्ध करने वाले शाकुन्तल नाटक से, भक्ति-सुधा के प्रवाह-रूप भागवत से, या भारत की कोटिश जनता की धार्मिक अथवा आध्यात्मिक पिपासा को शान्त करने वाले सन्तो के साहित्य से भी कोई वास्तविक उल्लास या प्रसन्नता प्राप्त नही होती

इस प्रकार की एकागी या पक्षपात की दृष्टि मे न तो हम भारतीय सस्कृति के प्रवाह और परम्परा को ही समझ सकते है, और न हम उसके साथ न्याय ही कर सकते है

वास्तव मे भारतीय सस्कृति के प्रवाह और स्वरूप को समझने के लिये हमे जनता के विकास की दृष्टि से ही उसका अध्ययन करना होगा भारतीय इतिहास के विभिन्न कालो का महत्त्व भी हमे, किसी सम्प्रदाय या राजवश की दृष्टि से नही, किन्तु जनता की दृष्टि से ही मानना पडेगा इस प्रकार के अध्ययन से ही हमे प्रतीत होगा कि भारतीय सस्कृति की प्रगति मे वैदिक युग के समान ही बौद्ध-युग का या सन्त-युग का भी महत्त्व रहा है

राजवशो के इतिहास से ही किसी देश की सस्कृति का इतिहास समाप्त नही हो जाता राजवश तो किसी नगर के बाह्य प्राकार के ही स्थानीय होते है प्राकार के अन्दर प्रवेश करने पर ही प्रजा या जनता के वास्तविक जीवन का पता लग सकता है

इसलिए जनता के जीवन के अविच्छिन्न प्रवाह को या लोक-सस्कृति की प्रगति को समझने के लिये किसी देश के समस्त इतिहास से सम्बन्ध और सपर्क स्थापित करना आवश्यक होता है इसी को हमने ऊपर ममत्व-भावना शब्द से कहा है

इस ममत्व-भावना के होने पर ही हम अपनी सकीर्ण साप्रदायिक भावनाओ को पृथक् रख के, भारत के समस्त महान् व्यक्तियो मे, चाहे वे किसी सम्प्रदाय के या जाति के कहे जाते हो, ममत्व का, समादर का, श्रद्धा का और गर्व का अनुभव करेंगे आजकल इन महान् व्यक्तियो को साम्प्रदायिको ने अपने-अपने सम्प्रदायो की तग कोठरियो मे कैद कर रखा है हमारा कर्तव्य है कि हम उनको उस कैद से निकाल कर एक खुले असाप्रदायिक वातावरण मे लावें, जिससे उनके उपदेशामृत का लाभ समस्त देश को ही क्यो, सारे ससार को हो

असाम्प्रदायिक भारतीय-सस्कृति की भावना से ही यह हो सकता है भारतीय सस्कृति के सम्बन्ध मे अन्तिम सिद्धात है

भारतीय सस्कृति की अखिल-भारतीय भावना

भारत के समस्त इतिहास के ममत्व-भावना की व्याख्या करते हुए हमने भारतीय सस्कृति के ऐतिहासिक विकास और विस्तार की ओर सकेत किया है, उसी प्रकार भारतीय सस्कृति की अखिल भारतीय भावना का सकेत उसके देशकृत विस्तार की ओर है ऐतिहासिक विकास और विस्तार के समान ही उसके अखिल दैशिक विस्तार के साथ भी ममत्व-भावना की आवश्यकता है

इसको हमारे देश के प्राचीन नेताओ ने अच्छी तरह अनुभव किया था इसीलिए हमारे धार्मिक तीर्थस्थान देश के कोने-कोने मे, प्रत्येक प्रान्त मे, नियत किये गये थे कुम्भ जैसे धार्मिक मेले भी देश के विभिन्न प्रान्तो मे बारी-बारी से होते

है इसीलिए तत्तत् प्रान्तों में किसी का भी राज्य हो सब प्रान्तों के वासी धार्मिक यात्राओं में समस्त देश में आते थे सांस्कृतिक दृष्टि से वे समस्त भारत को अपना देश समझते थे भारतीय संस्कृति की अखिल भारतीय भावना ही प्रांतीय संघर्षों को बहुत-कुछ नियन्त्रण में रख सकती है

परन्तु इस सम्बन्ध में हमारा वक्तव्य केवल प्रान्तीय संघर्षों के प्रतिकार से ही समाप्त नहीं हो जाता हमारा उत्तरदायित्व इससे बहुत अधिक है आज के भारतवर्ष की एक बड़ी समस्या उसका साम्प्रदायिक संघर्ष तथा पिछड़ी जातियों का प्रश्न है भारतीय संस्कृति की अखिल भारतीय भावना का अभिप्राय मुख्यतः यह है कि हम उक्त समस्या का वास्तविक समाधान भारतीय संस्कृति की दृष्टि से कर सकें भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में ऊपर दिखलाये हुए सिद्धांतों को दृष्टि में रख कर बड़े उदार हृदय से साम्प्रदायिक तथा पिछड़ी जातियों की समस्या को हाथ में लेने से ही उसका समाधान हम कर सकेंगे सम्प्रदायों में परस्पर समादर और सम्मान की भावना स्थापित करने से ऐसे जातीय तथा ऋतु-सम्बन्धी पर्वों और विभिन्न सम्प्रदायों के मान्य महापुरुषों की जयन्तियों की स्थापना से जिनमें सब प्रेमपूर्वक भाग ले सकें तथा अधिक-से अधिक सद्भावना के साथ बौद्धिक नैतिक साहित्यिक और कला-सम्बन्धी संपर्क स्थापित करने से ही साम्प्रदायिक समस्या का समाधान हो सकता है

डा० गुलाबचन्द्र चौधरी
एम० ए०, पी-एच० डी०
प्रोफेसर, प्राकृत जैन रिसर्च इन्स्टीट्यूट, मुजफ्फरपुर

आर्यों से पहले की भारतीय संस्कृति
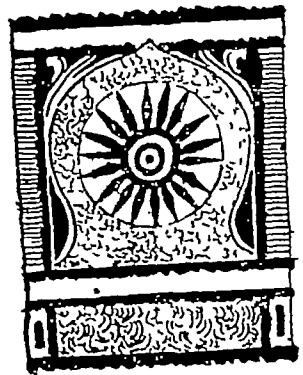
जब से सिन्धु घाटी की खुदाई हुई है और पुरातत्त्व विभाग ने एक विशिष्ट सभ्यता की सामग्री उपस्थित की है, तब से हमें आर्यों के आगमन से पूर्व की भारतीय स्थिति जानने की परम जिज्ञासा उत्पन्न हुई है और लगभग चार पीढियो से विद्वद्गण उस सुदूर अतीत को जानने के लिये प्रयत्नशील है भारतीय इतिहास का वैज्ञानिक अध्ययन जब शिशु अवस्था मे था, तभी विद्वानो ने इसके विवेचन का कुछ गलत तरीका अपना लिया था वे इस पृथ्वीतल पर डार्विन के प्राणि-विकासवाद के अनुसार वन्दर से मनुष्य की उत्पत्ति बतला कर भारत मे आदि सभ्यता का दर्शन वेदकाल से मानते थे यह सत्र था कि तब उनके पास इतिहास जानने के साधन ही कम थे तथा विश्व के सर्व प्रथम साहित्य के रूप मे वेद ही उनके सामने थे पर आज भारतवर्ष के वेदकालीन और उसके पश्चात् युग के सास्कृतिक इतिहास को जानने के लिये प्रचुर लिखित साहित्य ही नही बल्कि विशाल पुरातत्त्व सामग्री उपलब्ध है, तथा आर्यों के आगमन के पूर्व की प्राग्वैदिक भारतीय सस्कृति के ज्ञान के लिये भी विद्वानो ने अनेक साधन जुटा लिये है

आज विद्वान् लोग जिन साधनो का आश्रय ले कर उस सुदूर अतीत का चित्र उपस्थित करते है वे मुख्यत तीन है (१) **मानववश विज्ञान** (Anthropology), (२) **भाषाविज्ञान** (Philology), तथा (३) **पुरातत्त्व** (Archaeology) प्रथम **मानववश विज्ञान** द्वारा मनुष्य के शरीर का निर्माण तथा विशेषकर मुख-नासिका के निर्माण का अध्ययन कर विविध मानव शाखाओ की पहचान की गई है इस अध्ययन से यह निष्कर्ष निकला है कि आज ही नही बल्कि सुदूर अतीत मे भारत की जातियो का निर्माण अनेक मानव शाखाओ के समिश्रण से हुआ है यह समिश्रण वेदकाल से ही नही बल्कि सिन्धु घाटी की सभ्यता से भी प्राचीन काल से है द्वितीय **भाषा विज्ञान** ने भाषा के विविध अगो के विकास के अध्ययन के साथ विविध सस्कृतियो के प्रतिनिधि शब्दो को खोज निकाला है और उन सस्कृतियो के आदान-प्रदान तथा समिश्रण के इतिहास जानने की भूमिका प्रस्तुत की है भाषा विज्ञान से तत्कालीन समाज की विचारधारा और सास्कृतिक स्थिति का भी पता लगता है तृतीय **पुरातत्त्व** सामग्री, इतिहास का एक दृढ आधार है जहा अन्य ऐतिहासिक साधन मौन रह जाते है या धुधले दीखते है वहा इस पुरातत्त्व की गति है, यह अन्य निर्बल से दीखने वाले प्रमाणो मे सबलता प्रदान करता है इस पुरातत्त्व की प्रेरणा से हम भारतीय सस्कृति के आर्येतर आधारो को खोजने मे समर्थ हुए है

भारतीय इतिहास को जब हम विश्व-इतिहास का एक भाग मानकर अध्ययन करते हैं तथा विशेषकर निकट पूर्व (Near East) से सबधित कर वेदो का अध्ययन करते है तो मानव-इतिहास की अनेक समस्याएँ सहज मे सुलझ जाती है वेदो मे वर्णित घटनाओ का मतलब निकट पूर्व (Near East) की घटनाओ से मालूम होता है इन घटनाओ से विद्वानो ने सिद्ध किया है कि आर्य लोग भारत मे बाहर से आये हैं उन्हे बाहर से आने पर दो प्रकार के शत्रुओ से सामना करना पडा एक तो व्रात्य कहलाते थे जो कि सभ्य जाति के थे दूसरे थे **दास** और **दस्यु** जो कि आर्येतर जाति के थे ये नगरो मे रहने वाले लोग थे वेदो मे इनके बडे-बडे नगरो (पुरो) का उल्लेख है इनमे से जो व्यापारी थे वे **पणि** कहलाते थे , जिनसे आर्यों को अनेक अवसरो पर युद्ध करना पडा था ऋग्वेद मे **दिवोदास** और **पुरुकुत्स** का उन
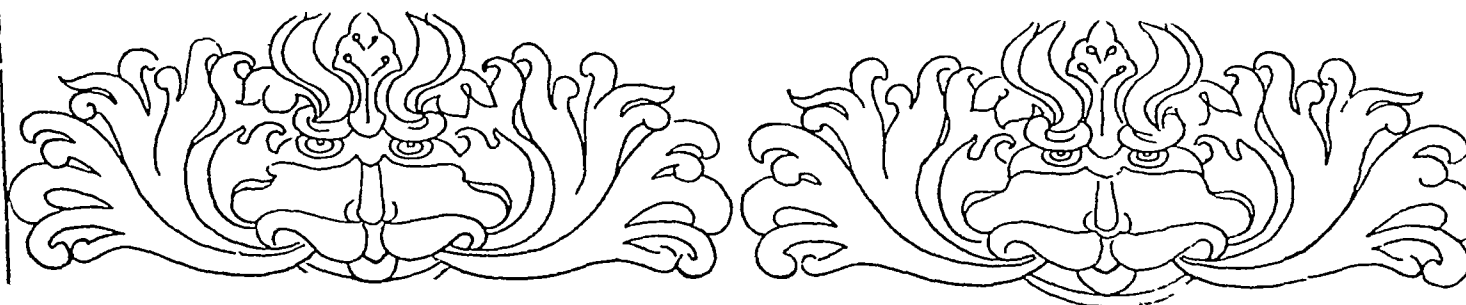
पुरो के स्वामियों से युद्ध का वर्णन है ऋग्वेद (७-१८) में दिवोदास के पौत्र सुदास द्वारा एक दस्युदल के पराजय का वर्णन है उसमें निम्नलिखित जातियो तुर्वसु मत्स्य भृगु द्रुह्यु पक्थ भलानस् अलिनस शिव विषाणिन् वैकर्ण अनु अज शिग्रु और यक्षु का उल्लेख है इन जातियों के सबन्ध में विद्वानों को बहुत कम मालूम है श्री हरित कृष्णदेव ने इनमें से बहुत कुछ जातियों की पहचान मिस्रदेशीय रिकार्डों से की है उनके कथनानुसार ये बारहवी शताब्दी ई पूर्व की मध्य एशिया की जातियां थी तथा कुछ द्रविड़ों की सजातीय और कुछ आर्यों की सजातीय थी

वेदरचना की पूर्ववर्ती तिथि यदि इन घटनाओ के आसपास मानी जाय तथा उत्तरवर्ती तिथि अवेस्ता के प्राचीन भागों की रचना सातवीं शता० ई० पूर्व और अखेमेनियन राजाओं के प्राचीन फारसी में लिखे गये अभिलेखों की जिनसे वैदिक भाषा का बहुत कुछ मिलान होता है—तिथि छठी शता ई पूर्व मानी जाय तो हम वेदरचना का समय दसवी ईसा पूर्व कह सकते हैं इसी समय आर्य लोग समूहों (ग्रामों) में भारत आये थे मिस्र और खाल्डिया के प्राग्इतिहास और इतिहास की घटना की तुलना म आर्यों के आने की घटना कोई बहुत प्राचीन नही बैठती कतिपय विद्वान आर्यो के आगमन की बात ज्योतिष गणना के अनुसार बहुत सुदूर प्राचीन काल में ले जाते है पर उस ज्योतिष गणना की व्याख्या वैज्ञानिक अनुसधानों के आधार पर की जाय तो आर्यो के आगमन का समय बहुत बाद बैठता है इसीलिए वैदिक काल की तिथि के निर्णय के लिये हमारे पास सुरक्षित पक्ष भाषाविज्ञान और पुरातत्त्व ही हैं कुछ विद्वान् आर्यो का भारत म बाहर से आना नही मानते वे इन्हे यही का निवासी मानते है पर उनका यह कथन अनुमानाश्रित है मानववंश विज्ञान और भाषाविज्ञान के अध्ययन से उनका यह मत पुष्ट नही होता

आर्यो के बाहर से आने की घटना कोई कल्पित नही है तथा उसका उल्लेख भी वेदों तक ही सीमित नही वह ऐसी घटना है जिसकी ध्वनि बाद के साहित्य म भी मिलती है सस्कृत पुराणों मे असुरो की उन्नत भौतिक सभ्यता का तथा बड़े-बड़े प्रासाद और नगर बनाने की कला का उल्लेख है ब्राह्मण उपनिषद् और महाभारत आदि परवर्ती साहित्य में असुरो की अनेक जातियो का उल्लेख है जैसे कालकेय नाग आदि ये सारे भारत म फैले थे इनके अनेक स्थानों पर बड़े बड़े किले थे युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का मण्डप इसी असुर जाति के मय नामक व्यक्ति ने बनाया था महाभारत और पुराणों मे ब्राह्मण-क्षत्रियो के साथ अनार्य नाग और दासों के विवाह के अनेक उल्लेख मिलते है ये शान्तिप्रिय उन्नतिशील और व्यापारी थे अपने इन उपायो से ये भौतिक सभ्यता में बहुत बढ़े चढ़ थे

इन पर भौतिक सभ्यता से पिछड़ी पर युद्धप्रिय एव उद्यमशील तथा समृद्ध भाषा से सम्पन्न आर्य जाति ने आक्रमण प्रारम्भ किया उन्ह भौतिक सभ्यता के वैभव सुख में पली सुकुमार अनार्य जाति को जीतना कठिन प्रतीत नही हुआ और बड़ी सरलता से उसे उन्होने वश में कर लिया आर्यो के भारत में प्रबल दो आक्रमण हुए ऐसा विद्वानो का अनु मान है आर्य लोग ग्राम झुण्डो (ग्रामो) म आये थे एव अपने साथ बड़ा पशुधन तथा आशुगामी अश्वो के रथ लाये थे वे प्रकृतिपूजक थे तथा उन्हे होम और यज्ञ के रूप में पशुबलि यव दूध मक्खन और सोम चढ़ाते थे वे अपनी पूर्व निवासभूमि—लघु एशिया (Asia minor) और असीरिया बाबुल से कुछ धार्मिक मान्यताए, कुछ कथा इतिहास (प्रलय कालीन जलप्लावन) आदि भी साथ में लाये थे उनका जातीय देवता इन्द्र था जो कि बाबुल के देवता मर्दुक से मिलता-जुलता है अपनी समृद्ध भाषा से अनार्यों को विशेष प्रभावित किया था

आर्यों ने यहां बसकर यहा के निवासियो को ही अपने म परिवर्तित नही किया बल्कि स्वय बहुत हदतक उनमें परिवर्तित हो गए आर्य सस्कृति के निर्माण मे आर्यों की अपेक्षा अनार्यों का अधिक भाग है जब अनार्य आर्यों मे सम्मिलित हुए तो उस जाति के समृद्ध कवियो ने आर्यभाषा मे अपने भी भाव व्यक्त किये पद रचनायें की उन्होंने अपने दार्शनिक धार्मिक सास्कृतिक ऐतिहासिक कथात्मक आख्यान आदि सामग्री को आर्य भाषा म प्रकट करना शुरू किया जैसे कि आज का भारतीय अपने साहित्य को अग्रेजी में प्रकट करता है उससे आर्य साहित्य में अनार्य संस्कृति का बहुत बड़ा भाग आ गया अनार्य साहित्यिको ने आर्यों की भाषा को सम्माना सुधारा दो प्रबल संस्कृतियो क सघर्ष का परिणाम ही यह होना है

डा० सुनीतिकुमार चटर्जी का कहना है कि 'आज की नूतन सामग्री और नवीन उद्धार कार्य बतलाते है कि भारतीय सभ्यता के निर्माण मे न केवल आर्यो को श्रेय है बल्कि उनसे पहले रहने वाले अनार्यों को भी है अनार्यों का इस सभ्यता के निर्माण मे बहुत बडा हिस्सा है अनार्यों के पास आर्यों से बहुत बढी-चढी भौतिक सभ्यता थी जब आर्य बेघरबार के लुटेरे थे तब अनार्य बडे-बडे नगरोमे रहते थे. भारतीय धर्म और सस्कृति की अनेक परम्पराए रीति-रिवाज, प्राचीन पुराण और इतिहास अनार्य भाषाओ से आर्य भाषा मे अनूदित किये है क्योकि आर्य भाषा ऐसी थी जो सर्वत्र छा गई थी तथापि उसकी शुद्धि कायम न रह सकी क्योकि उसमें अनेक अनार्य शब्द मिल गये है

मानव वश-विज्ञान के अध्ययन से भारत की भूमि पर प्रथम जिस अनार्य जाति का पता चला है, वह है **कृष्णाग** (Negrito) बन्दर से विकसित हो उत्पन्न होने वाली किसी जाति का यहा पता नही चला कृष्णागो की सन्तान आज भी अन्दमान द्वीपो मे पाई जाती है उनकी भाषा का विश्व की किसी भाषा-शाखा से सबध नही पहले ये अरब-सागर से चीन तक फैले हुए थे पर अब वे या तो खतम कर दिये गये या दूसरी मानव शाखा के लोगो ने उन्हे अपने मे पचा लिया यत्र-तत्र बिखरे शेष लोगो से उनकी सुदूर अतीत की सस्कृति का अनुमान लगाना सभव नही कहा जाता है कि उनके उत्तराधिकारी बलोचिस्तान मे पाये जाते हैं तथा दक्षिण भारत की मुख्य जगली जातियो मे उनका जातीय गुण मिलता है तिब्बत, बर्मा की नागा जाति के रूप मे भी उनका अस्तित्व है चूकि यह जाति बहुत प्राचीन युग की है इसलिए बाद की सभ्यता मे इसकी क्या देन रही है, यह कहना बडा कठिन है यह जाति अपने पीछे आने-वाली शक्ति-शालिनी मानव शाखाओ से अपनी सस्कृति को बहुत कम बचा सकी अजन्ता के एक चित्र मे **कृष्णांग** जाति का चिन्ह मिलता है

कृष्णांग जाति के बाद पूर्व की ओर से **आग्नेय** (Austric) जाति आई इनकी भाषा, धर्म और सस्कृति का रूप हिन्द चीन मे मिलता है इस जाति की सतानें और भाषा प्रशान्त महासागर के द्वीप-पुजो मे मिलती है ये असम से भारत भूमि पर आये और यहा आकर कुछ तो कृष्णाग जाति मे मिल गये और कुछ भारत के समृद्ध प्रदेशो मे अपने से पीछे आनेवाली जातियो द्वारा पचा लिये गये इस जाति का अवशेषरूप **खासी, कोल, मुण्डा, सथाल, मुन्दरी, कुर्कु और शबर** आदि जातिया है एक समय था जब कि इस जाति के लोग सारे उत्तर भारत, पजाब और मध्यभारत तक फैल गये थे तथा दक्षिण भारत मे भी घुस गये थे उत्तर भारत के विशाल नदियो के कछारो मे बस जाने मे इन्हे बडी सुविधा हुई **गगा** शब्द की व्युत्पत्ति आग्नेय भाषा के **खाग, काग** आदि नदीवाचक शब्दो से कही जाती है आर्यों की पद-रचना, ध्वनि और मुहावरो पर इनकी भाषा का बडा प्रभाव है आर्यों ने इनके सम्पर्क मे आकर अपनी भाषा के रूप को बदला है ये भौतिक सभ्यता मे बहुत बढकर थे इनकी सस्कृति के अनेक स्तर थे जो मध्यभारत की उच्च विषम भूमियो मे रहते थे या जो आर्यो के दबाव के फलस्वरूप भागे थे वे अब भी अविकसित हालत मे है पर जो उत्तर भारत के मैदानो मे रहते थे उनकी सस्कृति का अवशेष परिवर्तित आर्यीकरण के रूप मे अब भी विद्यमान है **आर्य-सस्कृति** और **आग्नेय सस्कृति** का आदान-प्रदान विशेषत. भारत के पूर्वीय प्रान्तो मे हुआ है आर्यों ने इनसे चावल की खेती करना सीखा नारियल, केला, ताम्बूल, सुपाडी, हलदी, अदरक, बैंगन, लौकी आदि का उपयोग आग्नेयो की देन है कोरी अर्थात् बीसी की गणना तथा चन्द्रमा से तिथि की गणना आग्नेय है वे अपने मृतको की पाषाण समाधि बनाते थे उनके यहाँ परलोक की मान्यता थी तथा वे विश्वास करते थे कि आत्मा अनेक पर्यायो (हालतो) मे जाती है उनकी इस विचारधारा से आर्यो को पुनर्जन्म का सिद्धान्त मिला डा० सुनीतिकुमार चटर्जी लिखते है कि आर्यो ने अनार्यो से 'कर्म तथा परलोक सिद्धान्त को, योगभावना, शिव, देवी के रूप मे परमात्मा को मानना, वैदिक होमविधि के मुकाबिले उनकी पूजाविधि अपनाई'

ईसा के हजारो वर्ष पूर्व, आर्यों के आने मे अवश्य बहुत प्राचीन काल मे पश्चिम भारत से द्रविड लोग आए यह जाति आजकल दक्षिण भारत के बहुभाग मे है पर आधुनिक खोजो मे सिद्ध है कि द्रविडो का मूल निवासस्थान पूरबी भूमध्यसागर के प्रदेश है लघु एशिया के एक अभिलेख मे वहा की जाति का नाम 'त्रमिल्ली' लिखा है जो तामिल
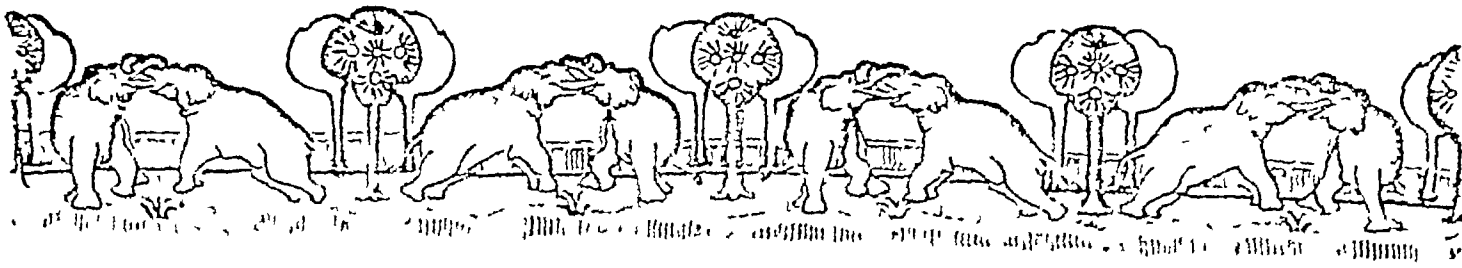
शब्द का प्राचीन रूप मालूम होता है द्रविड़ों का पुराना नाम द्रामिल भी है जो तामिल और द्रमिडखी का मूलरूप है इन लोगों की सभ्यता नगर-सभ्यता के रूप में विकसित हुई थी इनकी प्राचीन सभ्यता के अवशेष दजला-फुरात नदियों की घाटी से सिन्धु घाटी तक मिलते हैं द्रविड़ लोग व्यापार में सुदृढ़ थे तथा आदान प्रदान की वस्तुओं का निर्माण करते थे जौ गेहूँ और कपास की खेती करते थे कताई और बुनाई की कला का विकास चरमसीमा पर था वे हाथी ऊँट बैल और भैंस को रखते थे तथा घोड़े पर सवारी करना जानते थे पर वाहन के रूप में घोड़े के रथ की जगह बैलगाड़ी का विशेष प्रयोग करते थे उपलब्ध मिट्टी के खिलौनों और मूर्तियों से मालूम होता है कि उस समय दुर्गा शिव और लिंग की पूजा प्रचलित थी कितनी ही कायोत्सर्ग जनमूर्तियाँ भी उस काल की पुरातत्त्व सामग्री से निकली हैं वे अपने देवता की पूजा फल फूल चन्दन आदि से करते थे बलि नहीं चढ़ाते थे

जबकि आर्य बहुत बड़ी संख्या में आकर पंजाब में व्यवस्थित हो रहे थे तब द्रविड़ भारत में छोटे बड़े राज्यों में विभक्त थे आग्नेयों को पराक्रान्त कर इन्होंने मगध और कामरूप में राज्य बनाये तथा दक्षिण में कलिंग केरल चोल और पाण्ड्य देशों में द्रविड़ों ने बहुत पहले अपने जहाजी बेड़े का विकास किया था तथा दक्षिण भारत लंका और हिन्द द्वीपपुञ्ज में उपनिवेश स्थापित किये थे डा० कर्न का कहना है कि सुमात्रा को सबसे पहले उपनिवेश बनाने वाले द्रविड़ ही थे सिन्धु घाटी की खुदाई से जिस सभ्यता के अवशेष मिले हैं उसके विधाता द्रविड़ थे—ऐसा विद्वानों का मत है

आर्यों से ठीक पहले की जाति होने से वेदों में इनकी विविध जातियों का उल्लेख मिलता है सो कह चुके हैं इनसे ही सीधे संघर्ष होने की घटनाएँ वेद और पश्चात् कालीन साहित्य में हैं आर्यों ने वेदों में दस्यु अनास मृध्रवाक अयज्वन् अब्रह्मन अन्यव्रत आदि घृणा पूर्ण शब्दों से इन्हीं अनार्यों का उल्लेख किया है आर्यों ने इनसे पृथक बने रहने के लिए 'वर्णभेद' बनाया

वैदिक साहित्य सारे भारत के सांस्कृतिक इतिहास का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता क्योंकि वह एक देशीय अर्थात् विशेषकर पंजाब दिल्ली के आसपास का साहित्य है वह उस याज्ञिक संस्कृति के उपासकों की कृति है जो दूसरी संस्कृति के उत्कर्ष के प्रति अति असहिष्णु थे उन्होंने भारत के मध्यभाग और पूर्वभाग में प्रचलित अहिंसक संस्कृति श्रमणसंस्कृति को धक्का दिया श्रमण और याज्ञिक संस्कृति के संघर्ष के प्रकीर्णक उल्लेख ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रन्थों में मिलते हैं श्रमण-संस्कृति के सूचक अर्हन् श्रमण यतयः मुनयः वातरशनाः व्रात्य महाव्रात्य आदि शब्द वैदिक साहित्य में पाये जाते हैं श्रमणों के प्रतिनिधि ऋषभदेव अजितनाथ अरिष्टनेमि का उल्लेख भी वेदों में मिलता है अथर्ववेद के १५ वें अध्याय में व्रात्यों का विशेष वर्णन आया है सामवेद और कुछ श्रौतसूत्रों में व्रात्यस्तोमविधि द्वारा उन्हें शुद्ध कर वैदिक परम्परा में सम्मिलित करने का भी वर्णन है व्रात्य लोगों की संस्कृति व्रतमूलक थी वे यज्ञमूलक संस्कृति के परम विरोधी थे मनुस्मृति के दसवें अध्याय में लिच्छवि नाथ मल्ल आदि क्षत्रिय जातियों को व्रात्यों में गिनाया है इन का वर्णन समत्व या श्रम-तपस्या कायक्लेश आदि कर्म-क्षय करने पर आश्रित था

मालूम होता है कि इस श्रमण-संस्कृति के उपासक जन आर्यों के आगमन के पूर्व के द्रविड़ जाति या उसके पूर्व जाति के स्तर लोग रहे होंगे जिनकी पूजा उपासना दार्शनिक मान्यता कर्मसिद्धान्त पुनर्जन्म आत्मा की पर्यायें होना सम्भवतः के अंग अंग श्रमण-संस्कृति के प्रारम्भ रूप ही हैं यह संस्कृति चारों तरफ भारत में फैली थी तामिल भाषा के प्राचीन से प्राचीन साहित्य इससे प्रभावित थे अब तक उस संस्कृति की परिचायक पुरातत्त्वादि सामग्री का ठीक ठीक अनुसंधान नहीं हुआ है सिन्धु घाटी की खुदाई से जो कुछ प्रकाश पड़ा है तथा गंगाघाटी की खुदाई से जो प्रकाश पड़ने की सम्भावना है वे निःसंदेह ही आग्नेय द्रविड़ आदि द्वारा उपास्य श्रमण-संस्कृति पर प्रकाश डालेंगे

डा० सुनीतिकुमार चटर्जी का कहना है कि 'आज की नूतन सामग्री और नवीन उद्धार कार्य बतलाते है कि भारतीय सभ्यता के निर्माण मे न केवल आर्यों को श्रेय है बल्कि उनसे पहले रहने वाले अनार्यों को भी है अनार्यों का इस सभ्यता के निर्माण मे बहुत बडा हिस्सा है अनार्यों के पास आर्यों से बहुत बढी-चढी भौतिक सभ्यता थी जब आर्य बेघरबार के लुटेरे थे तब अनार्य बडे-बडे नगरोमे रहते थे. भारतीय धर्म और संस्कृति की अनेक परम्पराए रीति-रिवाज, प्राचीन पुराण और इतिहास अनार्य भाषाओ से आर्य भाषा में अनूदित किये है क्योकि आर्य भाषा ऐसी थी जो सर्वत्र छा गई थी तथापि उसकी शुद्धि कायम न रह सकी क्योकि उसमे अनेक अनार्य शब्द मिल गये है

मानव वश-विज्ञान के अध्ययन से भारत की भूमि पर प्रथम जिस अनार्य जाति का पता चला है, वह है कृष्णाग (Negrito) बन्दर से विकसित हो उत्पन्न होने वाली किसी जाति का यहा पता नही चला कृष्णागो की सन्तान आज भी अन्दमान द्वीपो मे पाई जाती है उनकी भाषा का विश्व की किसी भाषा-शाखा से सबध नही पहले ये अरब-सागर से चीन तक फैले हुए थे पर अब वे या तो खतम कर दिये गये या दूसरी मानव शाखा के लोगो ने उन्हे अपने मे पचा लिया यत्र-तत्र बिखरे शेष लोगो से उनकी सुदूर अतीत की सस्कृति का अनुमान लगाना सभव नही कहा जाता है कि उनके उत्तराधिकारी बलोचिस्तान मे पाये जाते हैं तथा दक्षिण भारत की मुख्य जगली जातियो मे उनका जातीय गुण मिलता है तिब्बत, बर्मा की नागा जाति के रूप मे भी उनका अस्तित्व है चूकि यह जाति बहुत प्राचीन युग की है इसलिए बाद की सभ्यता मे इसकी क्या देन रही है, यह कहना बडा कठिन है यह जाति अपने पीछे आने-वाली शक्ति-शालिनी मानव शाखाओ से अपनी सस्कृति को बहुत कम बचा सकी अजन्ता के एक चित्र मे कृष्णाग जाति का चिन्ह मिलता है

कृष्णाग जाति के बाद पूर्व की ओर से **आग्नेय** (Austric) जाति आई इनकी भाषा, धर्म और सस्कृति का रूप हिन्द चीन मे मिलता है इस जाति की सतानें और भाषा प्रशान्त महासागर के द्वीप-पुजो मे मिलती है ये असम से भारत भूमि पर आये और यहा आकर कुछ तो कृष्णाग जाति मे मिल गये और कुछ भारत के समृद्ध प्रदेशो मे अपने से पीछे आनेवाली जातियो द्वारा पचा लिये गये इस जाति का अवशेषरूप **खासी, कोल, मुण्डा, सथाल, मुन्दरी, कुकु** और **शबर** आदि जातिया हैं एक समय था जब कि इस जाति के लोग सारे उत्तर भारत, पजाब और मध्यभारत तक फैल गये थे तथा दक्षिण भारत मे भी घुस गये थे उत्तर भारत के विशाल नदियो के कछारो मे बस जाने मे इन्हे बडी सुविधा हुई **गगा** शब्द की व्युत्पत्ति **आग्नेय** भाषा के खाग, काग आदि नदीवाचक शब्दो से कही जाती है आर्यों की पद-रचना, ध्वनि और मुहावरो पर इनकी भाषा का बडा प्रभाव है आर्यों ने इनके सम्पर्क मे आकर अपनी भाषा के रूप को बदला है ये भौतिक सभ्यता मे बहुत बढकर थे इनकी सस्कृति के अनेक स्तर थे जो मध्यभारत की उच्च विषम भूमियो मे रहते थे या जो आर्यों के दबाव के फलस्वरूप भागे थे वे अब भी अविकसित हालत मे हैं पर जो उत्तर भारत के मैदानो मे रहते थे उनकी सस्कृति का अवशेष परिवर्तित आर्यीकरण के रूप मे अब भी विद्यमान है **आर्य-सस्कृति** और **आग्नेय सस्कृति** का आदान-प्रदान विशेषत. भारत के पूर्वीय प्रान्तो मे हुआ है आर्यों ने इनसे चावल की खेती करना सीखा नारियल, केला, ताम्बूल, सुपाडी, हलदी, अदरक, बैगन, लौकी आदि का उपयोग आग्नेयो की देन है कोरी अर्थात् बीसी की गणना तथा चन्द्रमा से तिथि की गणना आग्नेय है वे अपने मृतको की पाषाण समाधि बनाते थे उनके यहां परलोक की मान्यता थी तथा वे विश्वास करते थे कि आत्मा अनेक पर्यायो (हालतो) मे जाती है उनकी इस विचारधारा से आर्यों को पुनर्जन्म का सिद्धान्त मिला डा० सुनीतिकुमार चटर्जी लिखते हैं कि आर्यों ने अनार्यो से 'कर्म तथा परलोक सिद्धान्त को, योगसाधना, शिव, देवी के रूप मे परमात्मा को मानना, वैदिक होमविधि के मुकाबिले उनकी पूजाविधि अपनाई'

ईसा के हजारो वर्ष पूर्व, आर्यों के आने से अवश्य बहुत प्राचीन काल मे पश्चिम भारत मे द्रविड लोग आए यह जाति आजकल दक्षिण भारत के बहुभाग मे है पर आधुनिक खोजो से सिद्ध है कि द्रविडो का मूल निवासस्थान पूरबी भूमध्यसागर के प्रदेश है लघु एशिया के एक अभिलेख मे वहा की जाति का नाम 'त्रमिल्ली' लिखा है जो तामिल
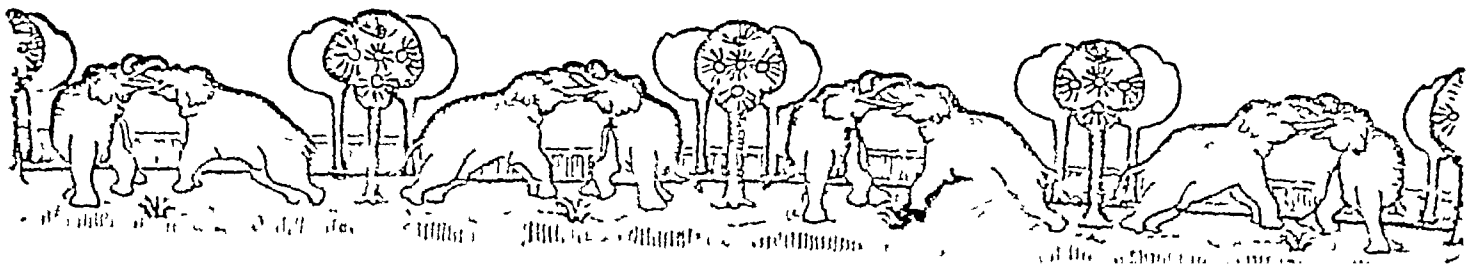
१ केवली अथवा पूर्णज्ञानी साधुओं की संख्या ७ की थी और इनका दर्जा सर्वश्रेष्ठ था ये भगवान् महावीर के मुकाबले के ज्ञानी थे महावीर ने इनकी पूर्ण स्वतन्त्रता को स्वीकार किया था ये आत्मध्यान करने के उपरान्त धर्मोपदेश भी देते थे

२ दूसरे दर्जे के साधु मनःपर्यवज्ञानी याने मनोवैज्ञानिक थे ये चित्तवृत्ति वाले प्राणियों के मानसिक भावों के ज्ञाता होते थे

३ अवधिज्ञानी—अथवा मर्यादित ज्ञानी साधु १३ ० थे

४ चतुर्दशपूर्वी सम्पूर्ण अक्षरज्ञान के पारगत होते थे और शिष्यों को शास्त्राध्ययन कराते थे

५ वैक्रियलब्धिक अथवा योगसिद्धि प्राप्त ७ साधु थे जो प्राय तपश्चर्या और ध्यान में मग्न रहते थे

६ वादी अथवा तर्क और दार्शनिक सिद्धान्तों की चर्चा करने वाले ४ साधु थे जो अन्य तीर्थिकों के साथ चर्चा व शास्त्रार्थ में उतरते और जैनदर्शन के ऊपर होने वाले आक्रमणों का उत्तर देते थे

७ इस विभाग में बाकी तमाम साधु थे जो विद्याध्ययन तपस्या ध्यान और विशिष्ट साधुओं की सेवा-चाकरी करते थे इस प्रकार महावीर का श्रमणसंघ योग्यता की दृष्टि से और व्यवस्था-पद्धति के अनुसार भिन्न भिन्न विभागों में विभक्त हो जाने से उनकी व्यवस्था-पद्धति बड़ी सुगम हो गयी थी यही कारण है कि महावीर के जीवनकाल में १४० जितना विशाल श्रमणसंघ एकाधीन था ३ वर्ष के अन्दर सिर्फ दो साधु इस विशाल समुदाय में से महावीर के सिद्धान्त विषय के सम्बन्ध में विरुद्ध हुए थे जो जमाली और 'तिष्यगुप्त' इन नामों से जैनशास्त्र में प्रसिद्ध हैं ये दोनों ही महावीर के श्रमण-संघ से बाहर किये गये थे

भगवान् महावीर करीब ३ वर्ष तक धर्म प्रचार करके ७२ वर्ष की अवस्था में निर्वाण प्राप्त हुए थे इनके ११ गणधरों में से ९ गणधर इनसे पहले ही मुक्ति-लाभ कर चुके थे गणधरों में सिर्फ 'इन्द्रभूति गौतम' और 'अग्निवैश्यायन सुधर्मा' ये दो ही जीवित थे इनमें से इन्द्रभूति गौतम को महावीर का निर्वाण हुआ उसी रात्रि के अंत में केवल ज्ञान हो जाने से वे निवृत्ति परायण हो गये थे इस कारण महावीर के निर्वाण के बाद सम्पूर्ण श्रमण-संघ के 'प्रमुख' सुधर्मा गणधर बने थे

यद्यपि महावीर के जीवनकाल में जैन शासन एकच्छत्र राज्य के ढंग पर ही चलता था पर उनके निर्वाण के बाद वह स्थिति नहीं रही

महावीर के निर्वाण के अनन्तर जैन श्रमणसंघ की व्यवस्था के लिए एक नवीन शासन-पद्धति स्थापित हुई थी जिसे 'स्थविरशासन' या युगप्रधानशासन' शासन-पद्धति कह सकते हैं प्रस्तुत लेख में हम इसी शासनपद्धति का निदर्शन करायेंगे

परिभाषा—शासन-पद्धति का निदर्शन कराने से पहले हम इसके पतिपय अधिकारियों की और उनके अधिकारों की परिभाषायें समझा दें क्योंकि इस शासन के अधिकारी सब स्थविर-युगप्रधान आचार्य उपाध्याय गणि प्रवर्तक गणावच्छेदक स्थविर इत्यादि नामों से प्रसिद्ध हैं और इनके अधिकार-पद-गण गण कुल आदि भी सुप्रसिद्ध हैं पर इन सबकी परिभाषा क्या है यह बहुत कम लोग जानते होंगे और जब तक इनकी परिभाषायें जानी नहीं गई तब तक इन अधिकारों या उनकी बनी हुई शासन-पद्धति को समझना कठिन है

१ कुल तक आचार्य का शिष्य-परिवार श्रमणपरिभाषा में कुल इस नाम से निर्दिष्ट होता था इस प्राचीन कुल का आधुनिक जैन परिभाषा में पर्याय ' ' कहना है

---

१ [illegible]

मुनि श्रीकल्याणविजयजी गणि

जैन श्रमणसंघ की शासनपद्धति

यद्यपि प्रस्तुत लेख मे हमे श्रमणसघ की शासन-पद्धति का ही मुख्यतया वर्णन करना है, तथापि इसके प्रारम्भ मे 'जिनशासनपद्धति' का निर्देश करना भी अनिवार्य है, क्योकि हमारी श्रमण-शासन-पद्धति भी इसी जिन-शासन-पद्धति का विस्तृत रूप है

जैन सूत्रो मे भगवान् महावीर को 'धर्मचक्रवर्ती' कहा है, और वास्तव मे वे धर्मचक्रवर्ती ही थे धार्मिक राज्य की व्यवस्था करने मे वे स्वतत्र और सार्वभौम सत्ताधारी पुरुष थे लाखो अनुयायियो पर उनका अखण्ड प्रभुत्व था अनुयायिगण बडी लगन के साथ उनके शासनो का अनुपालन करते थे उनके शासन भी साप्रदायिक वाडे मे ढकेलने वाले फतवे नही, किन्तु सर्वग्राह्य उपदेशात्मक होते थे

महावीर मनुष्यो के स्वभाव और उनकी परिस्थितियो के पूर्ण ज्ञाता थे, यही कारण है कि उनके उपदेशो मे कठिन से कठिन और सुगम से सुगम सभी तरह के नियमो के पालन का आदेश होता था इनके मत मे 'निर्ग्रन्थ साधु और मोक्ष मार्ग मे विश्वास मात्र रखने वाला गृहस्थ' दोनो जैन थे इस विशाल दृष्टि और उदारता का परिणाम यह था कि लाखो मनुष्य अपनी-अपनी श्रद्धा, भक्ति और शक्ति के अनुसार महावीर के धर्ममार्ग मे प्रवृत्ति कर रहे थे

धर्मचक्रवर्ती महावीर के धर्मसाम्राज्य की शासन-पद्धति का इतिहास बहुत बडा है अपने हजारो त्यागी और लाखो गृहस्थ शिष्यो की व्यवस्था के लिये महावीर ने जो नियम बनाये थे, वे आज भी जैन शास्त्रो मे सगृहीत हैं

एक धर्म-व्यवस्थापक अपने अनुयायियो के लिये कैसी सुन्दर व्यवस्था कर सकता है, इस बात को समझने के लिये महावीरप्रणीत 'सघ-व्यवस्थापद्धति' एक मननीय वस्तु है इस पद्धति का सविस्तार निरूपण करना हमारे इस लेख का विषय नही है यहा पर तो हम इसका दिग्दर्शनमात्र करा के आगे बढेंगे

महावीर के श्रमणगण—भगवान् महावीर के तमाम साधु नौ विभागो मे बँटे हुए थे ये विभाग 'गण' अथवा 'श्रमणगण' इस नाम से पहिचाने जाते थे इन गणो के अध्यक्ष महावीर के प्रथम दीक्षित इन्द्रभूति गौतम आदि ग्यारह शिष्य थे जो 'गणधर' कहलाते थे साधु-साध्वियो की कुल-व्यवस्था इन गणधरो के सुपुर्द थी

महावीर ने अपने जिम्मे धार्मिक उपदेश, अन्य तीर्थिक तथा अपने शिष्यो की शकाओ के समाधान और धार्मिक नियम बताना इत्यादि काम रखे थे शेष सब कार्य प्राय गणधरो के हवाले रहते थे

पूर्वोक्त नौ विभाग व्यवस्था-पद्धति के अनुसार बने हुए थे गुण की अपेक्षा से महावीर के साधु सात विभागो मे भी विभक्त थे, जो १—केवली, २ मन पर्यवज्ञानी, ३ अवधिज्ञानी, ४ वैक्रियर्द्धिक, ५ चतुर्दश पूर्वी, ६ वादी और ७ सामान्य साधु कहलाते थे
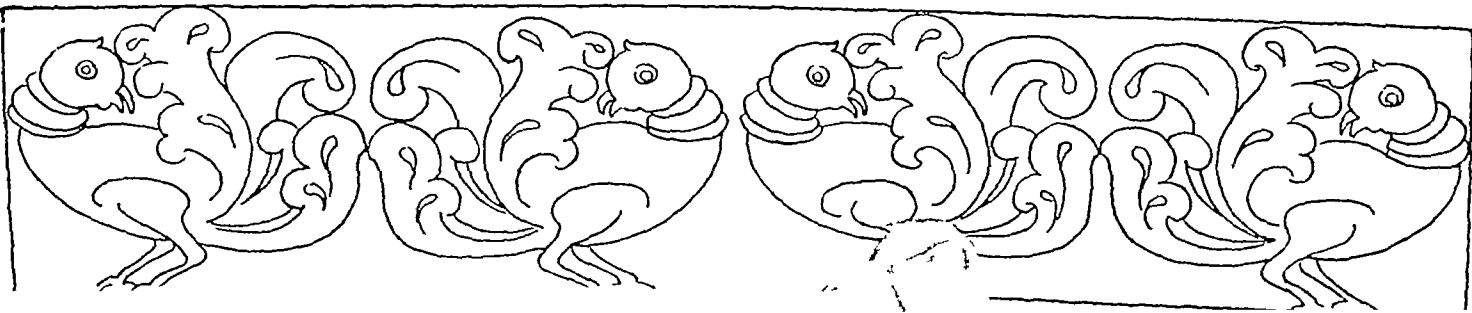
९ आचार्य—गच्छराज्य का सर्वोपरि शासक पुरुष आचार्य कहलाता था यह गच्छ का राजा माना जाता था प्रथमस्थविर ही आचार्य अथवा गच्छाचार्य कहलाता था

आचार्य संघस्थविर की व्यवस्थापिका सभा का सभासद् गिना जाता था अथवा यों कहिये कि विशाल राष्ट्र में एक देशपति राजा का जैसा दर्जा होता है वैसा ही दर्जा स्थविर राज्य में गच्छपति आचार्य का माना जाता था यह सब होते हुए भी इसकी सत्ता कानूनबद्ध थी हां कुछ अनियमित सत्ता भी इसे दी जाती थी कि जिसका उपयोग वह विशिष्ट अवसरों व प्रयोगों मे करता था

संघ और गच्छ के सामने आचार्य की पूरी जवाबदारी रहती थी यह कुछ अपराध करता तो सामान्य साधु से भी अधिक दण्ड पाता था

बार-बार कानून भंग करना गच्छ के प्रतिकूल चलना गच्छ की व्यवस्था करने में अयोग्य साबित होना इत्यादि कारणों से आचार्यों को अपने पद तक का त्याग करना पड़ता था

१ उपाध्याय—'उपाध्याय' वर्तमान आचार्य का उत्तराधिकारी माना जाता था इसको जैन शास्त्रों में 'युवराज' की उपमा दी गई है सचमुच ही यह पदाधिकारी युवराज की योग्यता रखता हुआ गच्छ के अनेक कार्यों मे आचार्य का हाथ बटाता था गच्छवासी विद्यार्थी साधुओं को सूत्र पढ़ाना यह उपाध्याय का मुख्य कर्तव्य होता था

११ गणि—'गणि' शब्द का प्रयोग कहीं आचार्य के और कहीं उपाध्याय के अर्थ में किया गया है और कहा गया है कि आचार्य अथवा उपाध्याय की गैरहाजिरी में उन दोनो के काय 'गणि' चलाता था यद्यपि गच्छ—व्यवस्थापिका सभा मे इसकी कोई खास बैठक नहीं थी फिर भी आचार्य और उपाध्याय के कार्यों का यह बड़ा सहायक था इतना ही नहीं बल्कि उनकी गैरहाजिरी मे यही आचार्य अथवा उपाध्याय माना जाता था इस पदधर को आचार्य उपाध्याय का खानगी मन्त्री कह सकते है

१२ प्रवर्तक—प्रवर्तक-गच्छ के बाह्य और आन्तरिक कार्यों का व्यवस्थापक मन्त्री था बाल वृद्ध और बीमार साधुओं की देखभाल रखना अनजान साधुओं को गच्छ और संघ के सामान्य नियमो से वाकिफ कराना और गच्छ मे वस्त्र-पात्र आदि जरूरी साधनो का प्रबन्ध करना आदि कार्य इस अधिकारी के सुपुर्द रहते थे इस पदधर को गच्छराज्य का मन्त्री कह सकते हैं

१३ स्थविर—स्थविर पदधर गच्छ का न्यायाधीश था गच्छ के भीतरी तमाम झगड़ों के फैसले इसी अधिकारी के द्वारा किये जाते थे गच्छ के सर्वोच्च शासक आचार्य तक को इसके फैसले मंजूर करने पड़ते थे संघस्थविर की सभा मे भी यही स्थविर गच्छाचार्य का प्रतिनिधि बनकर बहुधा जाया करता था

जो साधु न्यायशील होने के उपरान्त दण्डविधान (छेद) सूत्रो का अच्छा अभ्यासी होता उसी को यह 'स्थविर' पद दिया जाता था

१४ गणावच्छेदक—गणावच्छेदक का काय गण के भिन्न-भिन्न कुलो और शाखाओ के सम्बन्धों को व्यवस्थित रखना गण के साधुओ को भिन्न भिन्न टुकड़ियो मे बाटकर गीतार्थों की देखभाल में विहार कराना गीतार्थों और उनके आश्रित साधुओं की खबरगिरी करना इत्यादि कार्य गणावच्छेदक के अधिकार में रहते थे इस पदस्थ को हम गणराज्य का गृह-मन्त्री कह सकते है

व्यवस्था-पद्धति—श्रमण संघ की व्यवस्था-पद्धति कैसी होगी इसका कुछ आभास तो ऊपर दी हुई परिभाषाओं से ही हो जाता है फिर भी अधिक स्पष्टता के लिये हम यहा इस व्यवस्था-पद्धति का कुछ विवेचन करेंगे

जिस प्रकार एक विशाल राष्ट्र म अनेक देश और देशो म अनेक प्रान्त' होते है उसी प्रकार हमारे जैन-श्रमणसंघ म अनेक गण और गणो मे अनेक 'कुल' होते थे

२ कुल-स्थविर और उनके अधिकार—उपर्युक्त कुल का प्रमुख आचार्य 'कुलस्थविर' कहलाता था कुल की व्यवस्था और उस पर शासन करना इस स्थविर के अधिकार में रहता था

३ गण-समान आचार और क्रियावाले दो से अधिक कुलो की सयुक्त समिति को 'गण' कहते थे

४ गणस्थविर और उनके अधिकार—उक्त गण का प्रमुख आचार्य 'गणस्थविर' कहलाता था

गण के शासनविभाग के उपरान्त गण का न्यायविभाग भी इस स्थविर के हाथ मे रहता था अपने गण सम्बन्धी और कभी-कभी दो भागो के बीच होने वाले झगडो का निपटारा 'गण-स्थिविर' करते थे

कुल-स्थविरो के कामो पर निगरानी रखना, उनके दिए हुए फैसलो की अपीले सुनना, सघ-स्थविर की सभा मे हाजिर होकर उनमे सलाह देना इत्यादि गणस्थिवर के अधिकार के कार्य होते थे

५ सघ—उपर्युक्त लक्षण वाले सर्व गणो का सयुक्त मडल 'सघ' इस नाम से पहचाना जाता था

६ सघ-स्थविर और उसका अधिकार

उक्त सघ का प्रमुख आचार्य 'सघ-स्थविर' कहलाता था

प्रमुख की योग्यता से सघ की व्यवस्था करना, गण स्थिविरो के दिए हुए फैसलो की अपीलें सुनना और गणस्थविरो की सलाह से सघ की उन्नति के लिये उचित मर्यादा-नियमो का निर्माण करना इत्यादि कार्य सघ-स्थविर के अधिकार मे रहते थे

इनमे 'कुल-स्थविर' और 'गण-स्थविर' तो अपने कुलो और गणो की परम्परा के ही होते थे, परन्तु सघ-स्थविर के लिये ऐसा कोई नियम नही था किसी भी कुछ अथवा गण का हो, जो दीक्षापर्याय, शास्त्राभ्यास, स्थितिप्रज्ञता, न्याय-प्रियता माध्यस्थ्य आदि प्रमुखोचित गुणो से सबमे अधिक सम्पन्न होता उसी को सघ अपना प्रमुख बना लेता था

७ युग-प्रधान—जैन-समाज में 'युग-प्रधान' शब्द जितना प्रसिद्ध है उतना ही इसका वास्तविक अर्थ अप्रसिद्ध है हमारे बहुतेरे भाइयो का खयाल है कि 'युग-प्रधान' कोई लोकोत्तर पुरुष होता था जहाँ यह विचरता था वहा दुर्भिक्षादि उपद्रव नही होते थे उस भाग्यवान् के कई ऐसे शारीरिक अतिशय होते जो दूसरो मे नही पाये जाते थे पर वास्तव मे ऐसी कोई बात नही है भद्रबाहु, आर्यमहागिरि और वज्रस्वामी जैसे प्रसिद्ध महानुभाव आचार्यो के समय मे ऐसे दुष्कालादि उपद्रव हुए थे जिनका वर्णन करते लेखिनी कापती है फिर भी पूर्वोक्त महापुरुष युगप्रधान थे, यह बात हम सब मानते है

असल बात तो यह है कि जो आचार्य अपने समय के सर्व आगम-सूत्रो का ज्ञाता और अनुयोगधर होने के उपरान्त विविध देशो की भाषा और शास्त्रो का ज्ञाता, देश देशान्तरो मे भ्रमण किया हुआ और शान्ति, दाक्षिण्यादि गुण गण-विभूषित होता वही 'युगप्रधान' (अपने समय का श्रेष्ठ पुरुष) इस अन्वर्थक नाम से सबोधित होता था इस प्रकार के 'युगप्रधान' एक समय मे एक से अधिक भी होते थे, उनमे जो दीक्षापर्याय मे बडा होता उसे 'सघस्थविर' बनाया जाता था जब तक सघस्थविर कार्यक्षम होते हुए अपने अधिकार पर कायम रहता तब तक दूसरे युगप्रधान गणस्थविर अथवा कुलस्थविर के ही पद पर बने रहते थे, और वृद्ध सघस्थविर का स्वर्गवास होने पर उनमे जो पर्यायवृद्ध होता वह सघस्थविर बनाया जात था [1] इस प्रकार 'युगप्रधान' यह अपने समय के 'सर्वश्रेष्ठ पुरुष' का नाम है

८ गच्छ—यह 'गच्छ' शब्द पूर्वकाल मे ३-४ आदि से लेकर हजारो साधुओ की टुकडियो के अर्थ मे प्रचलित था पाच अधिकारियो से बने हुए तथा कालान्तर मे गण-व्यवस्थापकमण्डल के अर्थमे प्रचलित हुआ और फिर धीरे-धीरे यह गण का पर्याय बन गया है १२ वी शती की सूत्रटीकाओ मे उनके रचियिताओ ने 'गच्छ' का अर्थ 'कुलो का समूह' किया है जो तत्कालीन स्यिति के अनुरोध से ठीक कहा जा सकता है सिद्धान्त के अनुसार नही
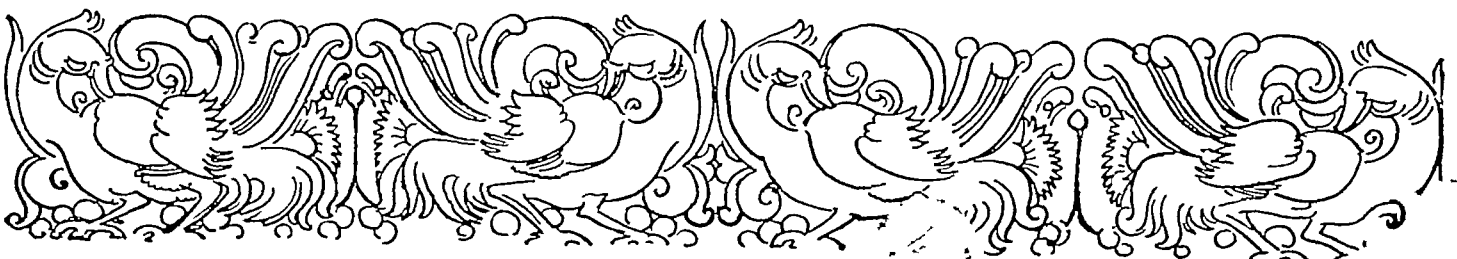
१ क्षेत्रस्वामित्व-मर्यादा २ सचित्तादि परिहार ३ गणान्तरोपसम्पदा ४ साधर्म्यवैधर्म्य निर्वाह.

१—क्षेत्रस्वामित्व का तात्पर्य यह है कि जिस क्षेत्र में जो कुल अथवा गण विचरता उस क्षेत्र पर उसी कुल अथवा गण का स्वामित्व माना जाता था उस समय उस क्षेत्र में क्षेत्र-स्वामी की आज्ञा के बिना दूसरा कुल अथवा 'गण' नहीं रह सकता था

इस क्षेत्र-स्वामित्व की काल मर्यादा वर्षा काल में श्रावण से कार्तिक तक चार मास की और शेष काल में एक मास की होती थी यदि इस काल मे मर्यादा के उपरान्त प्रथम का 'कुल 'गण' उस क्षेत्र में रह जाता तो भी उस क्षेत्र पर से उसका स्वामित्व हट जाता था और इस दशा में वहाँ दूसरा कुल गण आकर रह सकता था तथा वहाँ से उत्पन्न होने वाले सचित्त-अचित्त द्रव्य का हकदार बनता था

अपने-अपने क्षेत्रो से विहार कर श्रमण गण जहाँ जाते थे क्षेत्र यदि निर्वाह योग्य होते तो वहाँ मास-मास तक ठहरते हुए आगे जाते थे किसी के क्षेत्र पर अपना हक जमाने के वास्ते अथवा बड़ा क्षेत्र जानकर वहाँ अपना स्वामित्व स्थापित करने के विचार से योग्य क्षेत्रों का उल्लघन कर आगे जाने का किसी को भी अधिकार नही था

जिस गांव या नगर मे जो 'कुल या 'गण चातुर्मास्य रहना चाहता वह पहले वहां के मुखियों को अपना विचार कह देता था और फिर जहा कहीं 'सघसमवसरण' होता वहा भी वह अपना विचार प्रकट कर देता था कि हमने अमुक क्षेत्र मे चातुर्मास्य करने का विचार किया है' ऐसा करने से दूसरा कोई भी कुल गण या सघाडा वहाँ चातुर्मास्य करने को नही जाता था यदि किसी को खबर न होने से जाता भी तो वहा के गृहस्थ कह देते थे कि यहा पर अमुक गण अथवा कुल चातुर्मास्य करने वाला है.

जिन प्रतिष्ठा यात्रादि निमित्त अथवा सघ सम्बन्धी कार्य के निमित्त जिस क्षेत्र मे 'संघ-समवसरण' होता (सघ एकत्र होता) वह क्षेत्र साधारण माना जाता जब तक वहा रहता तब तक उस क्षेत्र पर किसी भी कुल या गण विशेष का स्वामित्व नहीं माना जाता था

२—सचित्तादि परिहार का अर्थ यह है कि जिस क्षेत्र में सचित्त-दीक्षा लेने वाला मनुष्य और अचित्त-वस्त्र पात्र आदि जो द्रव्य उत्पन्न होते उसका स्वामी क्षेत्र स्वामी होता था अन्य स्वामि के क्षेत्र में जाने वाला कोई भी अन्य साधु वहा उत्पन्न होने वाले सचित्तादि द्रव्यों का अधिकारी नही होता था

जिसके उपदेश से जो मनुष्य सम्यक्त्व (जैन दर्शन) प्राप्त करता वह यदि तीन वर्ष के भीतर साधु होना चाहता तो अपने प्राथमिकोपदेशक गुरु का ही शिष्य हो सकता था इसी प्रकार कोई साधु उत्प्रव्रजित हो गृहस्थाश्रम में जाकर फिर तीन वर्ष के अन्दर साधु होना चाहता तो अपने पहले गुरु के पास ही दीक्षा ले सकता था परन्तु तीन वर्ष के बाद उपर्युक्त दोनों प्रकार के पुरुषों के ऊपर से मूल गुरुओं का अधिकार रद्द हो जाता था और वह अपनी इच्छा के अनुसार चाहे जिसके पास दीक्षा ग्रहण कर सकता था

३—गणान्तरोपसपदा—का अर्थ है दूसरे गण का स्वीकार. सामान्यतया एक गण का साधु दूसरे गण में जा नहीं सकता था पर यदि वह ज्ञान दर्शन चारित्र की विशेष आराधना के लिये अथवा तपस्या तथा वैयावृत्य करने के निमित्त अन्यगण मे जाना चाहता तो पहले अपने गण के आचार्य की आज्ञा प्राप्त करता और फिर अभिप्रेत गण के आचार्य के पास जाकर अपने को गण मे लेने के लिए उनसे प्रार्थना करता

आगन्तुक साधु की प्रार्थना सुनने के बाद गण-स्थविर इस बात की जाँच करते कि आगन्तुक श्रमण वास्तव में अपने गुरु की आज्ञा प्राप्त करके आया है या नहीं और जिस कारण से वह आना आगमन बताता है वह कारण भी वास्तविक है या नहीं ? यदि इन बातों की परीक्षा मे गणस्थविर का सतोष मिल जाता तो वे आगन्तुक साधु को उपसंपदा देकर अपने गण मे दाखिल कर लेते थे

जैसे प्रान्त के हाकिम देश के हाकिमो के और देश के हाकिम राष्ट्रपति के मातहत होते है वैसे ही कुलो के स्थविर गणस्थविरो के और गणो के स्थविर सघस्थविर के मातहत होते थे

कुल—स्थविरो का कार्यप्रदेश सकुचित होता था इसलिए वे अकेले ही अपने कुल की व्यवस्था कर लेते थे, परन्तु गण-स्थविरो का कार्यप्रदेश वहुत विस्तृत था उन्हे अपने-अपने गणो की व्यवस्था तो करनी पडती ही थी, साथ ही सघ स्थविर की सभा मे हाजिर होकर अथवा प्रतिनिधि भेजकर सघ के कार्य मे भी भाग लेना पडता था इस वास्ते गण-स्थविर अपने गण की व्यवस्था के लिये एक व्यवस्थापिका सभा स्थापित करते थे जो 'गच्छ' कहलाती थी इसके निम्न-लिखित पाँच सभासद होते थे

१ आचार्य—अथवा प्रमुख
२ उपाध्याय—अथवा उपप्रमुख
३ प्रवर्तक—अथवा मत्री
४ स्थविर-अथवा न्यायाधीश
५ गणावच्छेदक—अथवा गृहमत्री

गण-सभा अथवा गच्छ के इन पाच अधिकारियो के जिम्मे क्या-क्या काय होते थे इसका निर्देश परिभाषा प्रकरण मे कर दिया गया है

गणों का पारस्परिक सम्बन्ध—सभी गण 'सघ' के 'प्रतिनिधि' होते थे यह वात पहले ही कही जा चुकी है, पर इन गणो का पारस्परिक सम्वन्ध कैसा होता था, इस वात का अभी तक विचार नही किया

जहा तक हम जानते हैं, महावीर के सभी श्रमणगण आपस मे एक दूसरे से सम्वन्धित थे वन्दन, भोजन, अध्ययन, प्रति-क्रमण, प्रतिलेखनादि सभी प्रकार के नित्य-नैमित्तिक-क्रिया-व्यवहार एक दूसरे के साथ होते थे और यह रीति आठवें सघस्थविर स्थूलभद्र तक वरावर चलती रही पर आर्य स्थूलभद्र के शिष्य आर्यमहागिरि और आर्यसुहस्ती के बीच भिक्षा-विधि के सम्वन्ध मे मतभेद होकर एक वार यह आपसी सम्बन्ध टूट गया था, और तब से अन्य गणो मे भी असा-भोगिक रीति का प्रचार हुआ उस समय के वाद समान आचार विचार और क्रिया सामाचारी वाले गण तो एक दूसरे के साथ भोजनादि सामान्य व्यवहार रखते थे पर जो गण समाचारी मे अपने से भिन्नता रखते उनके साथ दैनिक सामान्य व्यवहार नही रखते थे इस प्रकार का सभोग-भोजनादि व्यवहार जिन के साथ होता, वे गण कुल अथवा साधु एक दूसरे के 'सभोगिक' कहलाते थे और शेष 'असाभोगिक'

साभोगिक गण एकत्र मिलते तब एक परिवार की तरह सव तरह से एक होकर रहते थे अपने से वडो को सब वन्दन करते थे, एक मडल मे बैठकर भोजन करते थे और साथ ही पठन-पाठन तथा प्रतिक्रमणादि क्रियाए करते थे पर असाभोगिक गणो के साथ ऐसा नही होता था असाभोगिक गणो के एकत्र मिलने पर साधु एक दूसरे के गणस्थविर को वन्दन मात्र करते थे और वह भी अपने-अपने आचार्यों को पूछने के बाद हाँ, अस्वस्थ साधु की सेवा करने के सम्बन्ध मे यह 'असाभोगिता' की बाड किसी को रोक नही सकती थी बल्कि बीमार की सेवा के विषय मे तो यहाँ तक नियम बने हुए थे कि वीमार साधु अपने गण का हो चाहे दूसरे गण का उसकी बीमारी की खबर मिलते ही वैयावृत्त्य (सेवा) करने वाले साधुओ को उसकी सेवा भक्ति करने को जाना पडता था

गणों के आन्तर नियम—गणो के पारस्परिक सम्बन्ध कैसे होते थे, इसका सक्षिप्त परिचय ऊपर दिया गया है अब हमे यह देखना है कि माण्डलिक-राज्यो की भाँति एक दूसरे से सम्बन्धित इन गण-राज्यो के आन्तर नियम अथवा सधि विधान किस प्रकार के होते थे

यो तो गणो के बीच अनेक छोटी-मोटी नियम-मर्यादाए पाली जाती थी, पर उन सबका इस लेख मे वर्णन करना शक्य नहीं है यहाँ तो हम उन्ही स्थूल नियमो का उल्लेख करेंगे जो प्रत्येक गण को बडी सावधानी से पालने पडते थे ऐसे नियमो मे निम्नलिखित चार नियम मुख्य थे

बहुधा गणस्थविर देते थे अथवा 'कुलस्थविरों' के इन विषयों में दिए हुए फैसलों की अपील सुनते थे यदि गणस्थविर को कुलस्थविर के काम में पक्षपात अथवा रागद्वेष नजर आता तो तुरन्त वे उसको रद्द कर देते थे गणस्थविरों के इस व्यवहारविषयक फैसलों की अपील संघस्थविर नहीं सुनता था कारण कि प्रायश्चित्त-व्यवहार गणों का भीतरी काम माना जाता था संघस्थविर किसी भी गण के किसी भी प्रकार के भीतरी कार्य में तब तक दखल नहीं देता था जब तक कि ऐसा करने के लिए गण की तरफ से उसे अर्ज नहीं की जाती 'आभवद्व्यवहार' का कानून इससे कुछ भिन्न था इस व्यवहार के लिये कुल गण और संघ नामक क्रमश पहले दूसरे और तीसरे दर्जे के न्यायालय थे

एक ही कुल के दो सघाडों के बीच यदि हकदारी सम्बन्धी कुछ व्यवहार उपस्थित होता तो कुल स्थविर की तरफ से उसका निपटारा किया जाता था और एक गण की दो शाखा या दो कुलों के बीच कुछ व्यवहार खड़ा होता तो गणस्थविर उसका फैसला देता था

इसी प्रकार दो गणों के बीच व्यवहार उपस्थित होने पर किसी तीसरे गणस्थविर के द्वारा उसका निर्णय कराया जाता था पर मध्यस्थ गणस्थविर यदि मध्यस्थता खोकर किसी एक पक्ष की तरफ झुक जाता तो न्यायार्थी संघसमवाय' करने के वास्ते संघप्रधान' को अर्ज करता और संघप्रधान संघसमवाय सम्बन्धी उद्घोषणा करता संघसमवाय होने सम्बन्धी उद्घोषणा सुनकर सब संघप्रतिनिधि नियत स्थान और समय पर जाते और संघस्थविर भी वहां जाता और उपस्थित व्यवहार की सुनवाई में लग जाता पहले वह सभा में बैठकर मध्यस्थ गणस्थविर की कार्यवाही सुनता यहाँ मध्यस्थ स्थविर पक्षपात से शास्त्र विरुद्ध भाषण करता तो वहा उसे अन्यायिक से टोकता यदि वह स्थविर अपनी भूल को कबूल कर लेता तब तो उसे माफी दी जाती थी पर यदि वह अपना आग्रह नहीं छोड़ता अथवा वह ऐसा अपराध करता जो क्षमा योग्य नहीं होता तो उसकी दीक्षा काट दी जाती और उपस्थित व्यवहार का फैसला संघस्थविर देता जो सब संघ को मंजूर करना पड़ता था यदि व्यवहारच्छेदन के लिये एकत्र मिले हुए संघसमवाय में किसी कारणवश प्रतिवादी हाजिर नहीं होता तो उसे संघ की तरफ से बुलावा भेजा जाता पहले और दूसरे बुलावे पर यदि वह आ जाता तब तो ठीक नहीं तो तीसरी बार गणावच्छेदक उसे बुलाने के लिये जाता

प्रतिवादी के पास आने पर यदि गणावच्छेदक समझता कि प्रतिवादी भय का मारा नहीं आता है तो उसे समझाता— 'आर्य' संघ पारिणामिक बुद्धि का धनी है उसको न किसी का राग है, न द्वेष झगड़े की असलियत समझने के बाद विवादापन्न वस्तु पर किस का हक है सो संघ अपने निर्णय में बतायेगा

यदि प्रतिवादी औद्धत्य अथवा शठता के कारण संघसम्मेलन में आने से इन्कार करता तो वह संघ से बाहर कर दिया जाता था परन्तु प्रतिवादी अगर अपनी भूल अथवा शठता के बदले में पश्चात्ताप प्रकट करता हुआ संघ से माफी मागता हुआ आजीजी करता तो फिर भी संघ उसको माफ करके संघ में दाखिल कर लेता और तब वह प्रतिवादी संघ से कहता— संघ सर्व प्राणियों का विश्वासस्थान है भय भीतों के लिये संघ ही आश्वासन देने वाला है संघ माता पिता तुल्य होने से किसी पर विषमता नहीं करता संघ की सब के ऊपर समदृष्टि है संघ सब के लिये अपना पराया जैसी कोई चीज नहीं है संघ किसी का पक्षपात नहीं करता

इस प्रकार संघ के न्याय और तटस्थ्य पर प्रतिवादी के श्रद्धा प्रकट करने पर संघ उस झगड़े का फैसला देता था संघ का फैसला आखिरी होता था उसकी कहीं भी अपील नहीं हो सकती थी

उपसंहार—श्रमणसंघ की शासन-पद्धति का इतिहास बहुत लम्बा है इसका सम्पूर्ण निरूपण एक लेख में क्या एक ग्रन्थ में भी किया जाना अशक्य है फिर भी इसकी मौलिक बातों का दिग्दर्शन हमने इस लेख में करा दिया है पाठक गण देखेंगे कि हमारे प्राचीन श्रमणसंघ की शासनव्यवस्था का इतिहास कैसा मनोरंजक और अनुकरणीय है

आशा है हमारा आधुनिक 'श्रमणसंघ' अपने पूर्वाचार्यों की इस व्यवस्थित शासन-पद्धति का अनुसरण करके अपनी वर्तमान शासनप्रणाली को व्यवस्थित बनायेगा

पहले के कुल, गणो का सम्बन्ध विच्छेदकरण पूर्वक आगन्तुक साधु इस प्रकार की प्रतिज्ञा करता—'आज से ये कुल-गण मेरे ही कुल गण है और इन कुल गण के आचार्य उपाध्याय ही मेरे आचार्य उपाध्याय है '

उपसपद्यमान साधु की उक्त प्रतिज्ञा को ही 'उपसपदा' कहते थे इस उपसपदा की काल-मर्यादा जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद से क्रमश छह मास वारह वर्ष और जीवन पर्यन्त की होती थी

जघन्य और मध्यम काल की उपसपदा वाले साधु मियाद पूरी होने पर अपने पहले गुरु के पास चले जाते थे, पर उत्कृष्ट कालीन उपसपदा वाले श्रमण जीवन पर्यन्त उसी कुल गण मे रहते थे

गणान्तरोपसपदा लेने के वाद उस साधु को अपने पहले गुरु और गण की सामाचारी का त्याग और नये गण की सामाचारी का पालन करना पडता था

उपसपदा के विषय मे कई अपवाद भी रहते थे यदि कोई गण विल्कुल शिथिलाचार मे फस जाता और आचार्य उसका उद्धार नही करता अथवा आचार्य स्वय ही शिथिलविहारी हो जाता तो उस गण के जो सयमार्थी साधु होते, वे उस गण और गुरु का सम्वन्ध छोडकर दूसरे चारित्रधारी गण मे चले जाते थे और इस प्रकार शिथिलमार्ग को छोडकर आने वाले आत्मार्थी साधुओ को उनके मूल गुरु की आज्ञा के वगैर भी उपसपदा दे दी जाती थी

४—साधर्म्य वैधर्म्य निर्वाह का मतलव साभोगिक और असाभोगिक साधुओ की पारस्परिक रीतियो मे हैं

अपने क्षेत्र मे साभोगिक गण के साधुओ के आने पर उनके प्रति तीन दिन तक आतिथ्य व्यवहार किया जाता था, आगन्तुक साधुओ के लिये तीन दिन तक भिक्षा वगैरह क्षेत्री (स्थानिक) साधु लाते थे यदि आगन्तुक गण वडा होता और स्थानिक समुदाय छोटा होता अथवा ऐसा कोई कारण होता कि जिससे सर्व कार्य करना स्थानिक साधुओ के लिये कठिन हो जाता तो आगन्तुक गण मे जो युवा और समर्थ साधु होते उनकी भी थोडी मदद ली जाती थी, पर वाल और वृद्ध साधुओ से तो तीन दिन तक कुछ भी मेहनत का काम नही लिया जाता था

इसी प्रकार असाभोगिक गण के अपने क्षेत्र मे आने पर भिक्षाचर्या मे उनके साथ जाना, उनको स्थापना-कुल वगैरह का परिचय देना, आदि आवश्यक व्यवहार का निर्वाह करना पडता था

साभोगिक गणो मे तो एक सामाचारी होने से सामाचारी-भेद सम्वन्धी प्रश्न उपस्थित ही नही होते थे, पर असाभोगिक गणो की सामाचारी के सम्बन्ध मे कभी-कभी चर्चा चलती भी थी तो उस पर समभाव से विचार किया जाता था और जिस विषय मे जिस गण अथवा कुल का जो मन्तव्य होता उसका उसी रूप मे निर्देश करके शिष्यो को समझाया जाता कि 'इस विषय मे अमुक कुल अथवा गण वाले ऐसा मानते हैं' अथवा 'इस सम्वन्ध मे अमुक 'आचार्य का यह मत है '

व्यवहारछेदन—'व्यवहार' का अर्थ है 'मुकद्दमा' और 'छेदन' का तात्पर्य है फैसला'

श्रमणगणो मे दो प्रकार के व्यवहार होते थे—'प्रायश्चित्तव्यवहार' और 'आभवद्व्यवहार '

साधु लोग अपने मानसिक, वाचिक और कायिक अपराधो के बदले जो आचार्य द्वारा सजा (दण्ड) पाते थे उसका नाम 'प्रायश्चित्त-व्यवहार' है इस व्यवहार के महावीर के समय मे—१—आलोचना २—प्रतिक्रमण ३—मिश्र ४—विवेक ५—उत्सर्ग ६—तप ७—छेद ८—मूल ९—अनवस्थाप्य और १०—पाराञ्चित ऐसे दस प्रकार थे, जो आर्य भद्रबाहु पर्यन्त चलते रहे भद्रबाहु के स्वर्गवास के बाद प्रायश्चित्त का ९ वा और १०वा भेद वन्द कर दिया गया और तव से प्राथमिक ८ प्रायश्चित्तो का ही व्यवहार प्रचलित है

'आभवद्व्यवहार' का अर्थ है 'हकदारी का झगडा' इस व्यवहार के भी अनेक प्रकार होते थे जैसे सचित व्यवहार, अचित व्यवहार, मिश्र-व्यवहार, क्षेत्र व्यवहार, इत्यादि

उपर्युक्त दो प्रकारो मे से पहला व्यवहार तो वहुधा अपने-अपने स्थविरो के निकट ही चलता था कुल के साधु अपने-अपने कुल के स्थविर से प्रायश्चित्त लेकर शुद्धि कर लिया करते थे, पर छेद अथवा मूल जैसे मामलो का फैसला

एवं शोषण को समाप्त करने के लिये इन का उदय हुआ है ये सब वाद व्यक्ति के हित की अपेक्षा समाज एवं राष्ट्र के हित को प्रमुखता देते हैं अमीर-गरीब छोटे बड़े ऊंच-नीच स्वामी-सेवक आदि के भेदों को तथा देश में चलने वाले शोषण को समूलतः नष्ट करना चाहते हैं इन का मूल दृष्टिकोण यही है कि देश के सब व्यक्तियों को जीवन विकास के लिये समान साधन मिलें सब को सुख-शान्ति से रहने का अवसर मिले खाने के लिये पर्याप्त भोजन और पहनने के लिये वस्त्र मिलें देश में न कोई भूखा-नंगा रहे न कोई अभावग्रस्त हो किसी प्रकार की उत्पीड़ा न हो पीड़ाकारी न हो कोई पीड़ित न हो देश में ऐसी स्थिति न रहे कि एक ओर धन के अम्बार लगे हों सम्पत्ति के पहाड़ खड़े हों और दूसरी ओर अभावों का नंगा नाच हो एक वर्ग का हित और सुख दूसरे वर्ग का विरोधी न हो वर्गसंघर्ष का आधार ध्वस्त हो जाय और मानवजाति पारस्परिक सहयोग से प्रगति की ओर प्रयाण करे

जैन-संस्कृति के लिये यह स्वर नया नहीं है यदि हम सुदूर इतिहास की सरणियां न भी दोहरायें तो भी जैन-संस्कृति का पच्चीस सौ वर्ष का इतिहास हमारे सामने है उस का अवलोकन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन-संस्कृति मानव मानव के बीच भेद की दीवार को कतई नहीं मानती वह प्रत्येक मानव को भले ही वह किसी देश रंग लिंग प्रान्त वंश व जाति का क्यों न हो मानवता के नाते समान मानती है[1] वह जातिपूजा में नहीं गुणपूजा में विश्वास करती है और गुणों के आधार पर ही उच्चत्व-नीचत्व को स्वीकार करती है ![2]

उसके अनुसार सब को समान आत्म विकास करने का अधिकार है अतः किसी व्यक्ति का अपमान—तिरस्कार करना उसे विकास करने का अवसर नहीं देना उसका ही नहीं बल्कि अपना एवं समस्त मानव-जाति का तथा परमात्मा का अपमान करना है

जैन-संस्कृति निःश्रेयस् की प्रेरक है उसकी परिधि मानव तक ही नहीं प्राणी मात्र तक विस्तृत है वह प्राणी-मात्र का उदय हित और कल्याण चाहती है उसकी दृष्टि में विश्व के सभी प्राणी समान हैं अतः प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि उन्हें स्वतन्त्रता-पूर्वक जीने दे स्वतन्त्रता से अपना विकास करने दे

जैन-संस्कृति और साम्यवाद :—साम्यवाद के सिद्धांत जैन-संस्कृति से बहुत कुछ मिलते हुए हैं साम्यवाद समाज में चल रहे शोषण उत्पीड़न एवं वर्ग भेद को समाप्त करके राष्ट्र के सब व्यक्तियों का विकास करना चाहता है वह मनुष्य मनुष्य के बीच जातीय भेद की दीवार स्वीकार नहीं करता आर्थिक वैषम्य का सहन नहीं करता जैन-संस्कृति भी इस मन्तव्य को स्वीकार करती है फिर भी जैन-संस्कृति और साम्यवाद में मौलिक सिद्धान्तिक एवं कार्य पद्धति सम्बन्धी अन्तर है साम्यवाद भौतिकवाद पर आधारित है वह आत्मा अर्थात् व्यक्ति की सर्वथा उपेक्षा करता है एकान्ततः समाज की सत्ता स्वीकार करता है वह शस्त्र की ताकत को ही सर्वोपरि मानता है अतः तलवार की धार से या बम की विनाशक मार से समानता लाना चाहता है वह वर्गभेद को समाप्त करने के लिये पाशविक बल का प्रयोग करने के पक्ष में है परन्तु जैन-संस्कृति इस का समर्थन नहीं करती उसका मूल आधार भौतिकवाद नहीं अध्यात्मवाद है वह व्यक्ति और समाज के अधिकारों में सामंजस्य स्थापित करती है आत्मिक शक्ति को सर्वोपरि मानती है अतः वह स्वेच्छात्याग की उदात्त भावना के द्वारा विभेद की दीवारों को गिराना चाहती है वह अहिंसा प्रेम स्नेह क्षमा सहिष्णुता तप और त्याग द्वारा मानवजीवन में साम्य की सरस शीतल एवं मधुर सरिता बहाना चाहती है इस प्रकार जैन-संस्कृति हिंसा में नहीं प्रेम में विश्वास रखती है पशुबल में नहीं आत्मबल में विश्वास रखती है और प्रेम-स्नेह एवं त्याग के द्वारा स्थापित की गई समानता को स्थायी मानती है

जैन-संस्कृति और सर्वोदय :—आधुनिक युग में सर्वप्रथम गांधीजी द्वारा प्रयुक्त सर्वोदय शब्द भारतवर्ष के लिये नूतन नहीं

---

१ मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा—आचार्य जिनसेन

२ सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो न दीसइ जाइविसेस कोई —उत्तराध्ययन

साध्वी श्रीउमरावकुंवरजी

जैन-संस्कृति में समाजवाद

'सस्कृत' शब्द से व्युत्पन्न, 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु से निर्मित शब्द 'सस्कृति' का अर्थ है—'सस्कार-परिष्कार' अत सस्कारो का समुच्चय ही 'सस्कृति' है 'सस्कृति' इस छोटे से शब्द के अर्थ-कलेवर मे किसी जाति अथवा राष्ट्रविशेष की समस्त आध्यात्मिक—आधिभौतिक सिद्धिया एव तद्जन्य आस्था—विश्वास, साधना-भावना, आराधना-कामना समाहित हैं प्रकृतिविजय के निमित्त उठे मानव-जाति के जय-केतु के मध्य मे अकित रहने वाला शब्द 'सस्कृति' ही है, जो किसी राष्ट्र की मूल चेतना, धर्म-दर्शन, तत्त्वचिंतन, एव लौकिक-पारलौकिक एषणाओ को अपनी निजी विशेषताओ-मान्यताओ के साथ उद्घोषित करता है जिससे उसकी अपनी स्वतत्र सत्ता स्थिर होती है

चलते लोग सभ्यता और सस्कृति मे विशेष अन्तर नही करते किंतु दोनो मे बडा अन्तर है— ठीक वैसा ही जैसा कि 'इकाई' और 'समग्रता' मे यदि सभ्यता सचित जल-राशि है तो सस्कृति उस पर तरगायित वीचि-विलास की प्रेरक शक्ति 'लोचन मग रामहिं उर आनी, दीन्हे पलक कपाट सयानी' इस सिद्ध कवि तुलसी की इस अमृत-वाणी मे माता, है सीता व राम की जिस पुण्य-छवि को मन-मन्दिर मे प्रतिष्ठित कर पलक-कपाट मूद लेती है वह 'सस्कृति' एव 'सभ्यता' है राम का वह दैहिक रूप जो उसकी मुदी पलको के सम्मुख शेष रह जाता है वस्तुत 'सभ्यता' मधु-मक्खी का छता है तो सस्कृति उसमे निहित मधु सभ्यता वृन्तावारित कटकमय सदल पुष्प है तो सस्कृति केवल सौरभ-सुवास सभ्यता-शरीर है, सस्कृति आत्मा सभ्यता जीने का तरीका-सलीका, आचार-व्यवहार है तो सस्कृति रूहानियत-जिहानियत—'शाश्वत' चिंतन—सच्चिदानन्द समर्पित श्रद्धाजलि सुसस्कृत व्यक्ति निश्चित ही सुसभ्य होगा किंतु यह नही कहा जा सकता कि सभ्य व्यक्ति सुसस्कृत होगा ही

'सब प्राणी सुख चाहते हैं, दुख से बचना चाहते है, जीने की अभिलाषा रखते है, कोई कितना ही दु खी एव सन्तप्त क्यो न हो, मरना नही चाहता मृत्यु से हर प्राणी डरता है, दु खी होता है अत किसी भी प्राणी को दु ख नही देना चाहिए, कष्ट नही देना चाहिए, सन्ताप नहीं देना चाहिए, किसी भी प्राणी को गुलाम नही बनाना चाहिए और न किसी प्राणी का वध करना चाहिए 'जैन-सस्कृति अपने सुख के साथ दूसरे की सुख-शान्ति एव हित के अधिकार को सुरक्षित रखने की बात कहती है उस का यह वज्रघोष रहा है 'सुख से रहो और सुख से रहने दो' वस्तुत जैन सस्कृति अपने सुख को, अपने हित को, अपने स्वार्थ को और अपनी आकाक्षाओ को विस्तृत बनाने की, उसे विश्व-सुख, विश्व-शान्ति एव विश्व-हित मे परिणत करने की सस्कृति है यदि सही अर्थ मे देखा जाए तो जैन-सस्कृति, विश्व सस्कृति या मानव-सस्कृति का ही दूसरा नाम है क्योकि, इसमे प्रत्येक मानव का हित एव विकास निहित है

विश्व मे आज समाजवाद, साम्यवाद और सर्वोदयवाद की विशेष चर्चा है क्योकि सामन्तशाही एव पूंजीवादी उत्पीडन
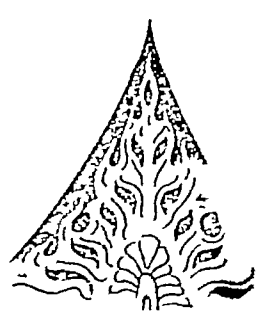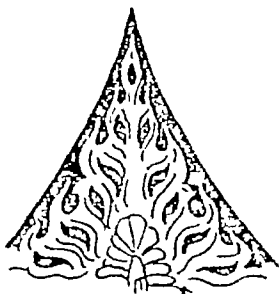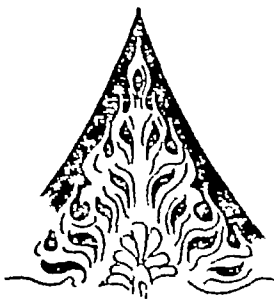
हैं और सब अपने आप में स्वतन्त्र एवं अनन्त शक्ति से सम्पन्न हैं अतः सब के समान अधिकार हैं और सब को प्रगति करने का अवसर मिलना चाहिए

जैन-संस्कृति में युग-युगान्तर से सर्वोदय का महत्त्व रहा है सम्पत्ति एवं सुखसाधनों के वितरण के लिये भी जैन विचारकों ने असंग्रह बुद्धि की भावना का पाठ पढ़ा है

भगवान् महावीर का यह जयघोष रहा है—असंविभागी न हु तस्स मोक्खो' जो व्यक्ति अपने साधनों का संविभाग नहीं करता वह मुक्ति का अधिकारी नहीं हो सकता इस का स्पष्ट अर्थ यह है कि जो अपने सुख एवं हित के साथ प्राणी-मात्र के हित और सुख का ख्याल रखता है और उन्हें आगे बढ़ने में सहयोग देता है वही मुक्ति पा सकता है यत्र-तत्र-सर्वत्र से समेट-समेट कर अपने भंडार भरने वाला तथा समस्त सुख-साधनों पर अपना एकाधिपत्य रखने का इच्छुक मुक्ति नहीं पा सकता मुक्ति लेने में नहीं देने में है जो अपने सुख को प्राणी-मात्र के सुख में परिणत कर देता है और अपने अहम् को सारे विश्व में फैला देता है वही पूर्ण सुख पा सकता है और उसी को शाश्वत एवं अखण्ड शान्ति का लाभ होता है

चिरपुरातन है जैन परम्परा के युगप्रवर्तक प्रतिभाशाली आचार्य समन्तभद्र ने अब से लगभग पन्द्रह सौ शताब्दी पूर्व इस शब्द का प्रयोग किया था

'सर्वोपदामन्तकर दुरन्त सर्वोदय तीर्थमिद त्वदीयम्' यहा आचार्य ने जिन तीर्थ को 'सर्वोदयतीर्थ' कह कर उसे ही समस्त विपत्तियो का अन्त करने वाला बतलाया है किन्तु आधुनिक युग मे सर्वप्रथम गाधीजी ने इस शब्द का प्रयोग किया उन्होने पाश्चात्य विचारक रस्किन की 'एन टू दिस लास्ट' पुस्तक का 'सर्वोदय' नाम से अनुवाद किया

सर्वोदय शब्द 'सर्व' और 'उदय' दो शब्दो के सयोग से बना है इसका अर्थ होता है—सब का उदय आचार्य समन्तभद्र ने और गाधीजी ने भी इसी अर्थ मे इस का प्रयोग किया था और इसका आधार अहिसा, प्रेम, त्याग एव सहिष्णुता को माना था

आज तो सर्वोदयसमाज का भी निर्माण हो गया है उसका कहना है कि विश्व दो वर्गो मे विभक्त है—उच्च वर्ग और निम्न वर्ग, या अमीर और गरीब आज सुख-साधनो एव सम्पत्ति के सभी स्रोतो पर प्रथम वर्ग का अधिकार है इस से उस के जीवन मे अहकार, निर्दयता, शोषण एव विलासिता आदि मनोविकारो की बाढ-सी आ गई है विकारो के ढेर के नीचे उस की आत्मा दब गई है और उस की मानवता को अमानवीय एव राक्षसी मनोवृत्तियो ने आवृत कर दिया है अत वह पतन की ओर फिसलता जा रहा है और द्वितीय वर्ग की दयनीय दशा तो सब के सामने स्पष्ट ही है इस वैषम्य की स्थिति मे सच्ची शान्ति की सस्थापना सभव नही है इसलिए सर्वोदय समाज चाहता है कि धनिक वर्ग का भी उदय हो और निर्धन वर्ग का भी धन वैभव के गुरुतर बोझ के नीचे दबी हुई पूजीपति की अन्तरात्मा मे मानवीय भावना का उदय हो, वह विकारो से ऊपर उठ कर दूसरे वर्ग के हित को भी सोचे-समझे और मानवजाति के हित को अखड मानकर उस के लिये कार्य करे प्रत्येक मानव विवेक पूर्वक कार्य करे, जिस मे सब का हित हो, किसी के स्वार्थ को आघात न लगे कोई किसी का अनिष्ट करने की भावना न रखे और न ऐसा कदम उठाए जिसमे दूसरे व्यक्ति के सुख मे बाधा उत्पन्न हो कदाचित् सघर्ष की स्थिति आजाय तो उसे हिंसात्मक रूप न देकर प्रेम-स्नेह एव मैत्री भावना को कायम रखते हुए दूर किया जाए

जैन-सस्कृति भी इस विचार को स्वीकार करती है दोनो की विचारधारा मे बहुत-कुछ समानता होने पर भी कुछ महत्त्वपूर्ण अन्तर है पाश्चात्य विचारक मानते है The greatest good for greatest number

इसके अनुसार अधिक लोगो का अधिकतम लाभ ही उनका आदर्श है सर्वोदय विचारधारा इससे एक डग आगे बढती है और मानती है कि मानव मात्र का उदय हो, मानव मात्र का हित हो, मानव मात्र का उन्नयन हो मानव मात्र को समान सुख-साधन उपलब्ध हो और सब को समान रूप से विकसित होने का अवसर मिले

परन्तु जैन-सस्कृति का सिद्धान्त इससे भी अनेक कदम आगे है जैन विचारक केवल मानव का ही नही, प्रत्युत प्राणीमात्र का उदय चाहते हैं जैन-सस्कृति की यह मान्यता है कि विश्व का प्रत्येक प्राणी स्वतन्त्र है और सुख की अभिलाषा रखता है अत किसी भी प्राणी के सुख मे, विकास मे बाधा उपस्थित न की जाए

जैन-सस्कृति की दृष्टि मे मनुष्य ही सब कुछ नही है उसके अतिरिक्त अन्य असख्य प्रकार के जो प्राणी विश्व मे हैं, वे भी हमारे ही वृहत् परिवार के सदस्य है उनकी उपेक्षा नही की जा सकती उनके अधिकारो को भी स्वीकार किया जाना चाहिए इसके विना सम्पूर्ण न्याय एव बन्धुता की प्रतिष्ठा सभव नही है जब तक मनुष्य, मनुष्येतर प्राणियो के प्रति बन्धुभाव स्थापित नही करेगा और उनका उत्पीडन करता रहेगा तब तक मनुष्य-मनुष्य के बीच भी उत्पीडन चालू रहेगा वस्तुत भगवान् महावीर का शासन 'सर्वोदय-शासन' है उन के शासन मे किसी एक के उदय का नही, प्रत्युत सब के अभ्युदय का, सब के नि श्रेयस् का पूरा खयाल रखा गया है उसमे नारी-पुरुष, अमीर-गरीब, बालक-वृद्ध, कीडी-कुजर आदि किसी के भी प्रति पक्षपात नही है आत्मविकास की दृष्टि से दुनिया की समस्त आत्माएँ एक समान
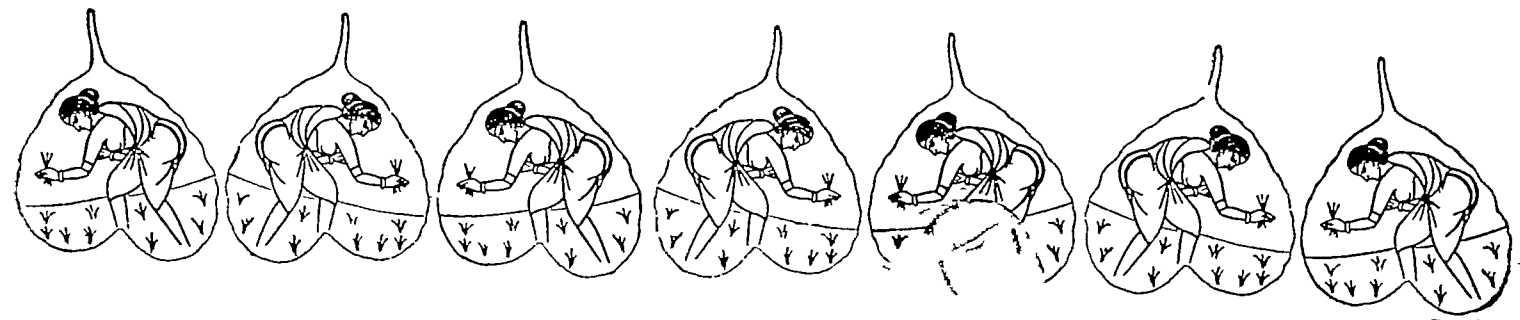
है 'कला' का अर्थ विद्या है विद्या ग्रहण के पूर्व जो उत्सव मनाया जाता था उसे 'उपनयन' कहा गया है[1] उपनयन के बाद माता पिता अपने पुत्र को कलाचार्य (विद्यागुरु) के साथ भेज देते थे

प्राय छात्र अपने आचार्यों के घर पर रहकर विद्याध्ययन किया करते थे कुछ धनी लोग नगर में भी छात्रों को भोजन तथा निवास देकर उनके अध्ययन में सहायक होते थे[2] छात्र तथा आचार्यों के सम्बन्ध कभी कभी वैवाहिक संबंधों के सुन्दर रूप में भी परिणत हो जाते थे[3]

अवकाश के समय आश्रम बन्द हो जाते थे अकाल-मेघों के आ जाने पर, गर्जन बिजली का चमकना अत्यधिक वर्षा कोहरा धूम के तूफान चन्द्र-सूर्य-ग्रहण आदि के समय प्राय· अवकाश हो जाया करता था दो सेनाओं अथवा दो नगरों में आपस में युद्ध द्वारा नगर की शान्ति भग हो जाने पर मल्लयुद्ध के समय तथा सम्मान्य नेता की मृत्यु हो जाने पर भी अध्ययन बन्द कर दिया जाता था कभी-कभी बिल्ली द्वारा चूहे का मारा जाना रास्ते में अण्ड का मिल जाना जिस जगह आश्रम है उस मुहल्ले मे बच्चे का जन्म होना आदि कारणों से भी विद्याध्ययन का कार्य बन्द कर दिया जाता था[4]

अध्ययन-काल—वैदिक युग में ब्रह्मचर्याश्रम का प्रारम्भ १२ वर्ष की अवस्था में होता था १२ वर्ष की अवस्था से लेकर जब तक वेदो का अध्ययन चलता रहता था तब तक विद्यार्थी पढते रहते थे बौद्ध सस्कृति में भी कोई गृहस्थ अपने कुटुम्ब का परित्याग करके (किसी भी अवस्था का होने पर भी) बुद्धसघ और बुद्ध की शरण में आकर विद्याध्ययन मे लग सकता था

शास्त्र के अनुसार बालक का अध्ययन कुछ अधिक आठ वर्ष से प्रारम्भ होता था और जब तक वह कलाचार्य के निकट सम्पूर्ण ७२ कलाओ का अथवा कुछ कलाओ का अध्ययन नही कर लेता था तब तक अध्ययन करता रहता था[5]

विद्या के अधिकारी—वैदिक काल मे जिन विद्यार्थियों की अभिरुचि अध्ययन के प्रति होती थी आचार्य प्राय उन्ही को अपनाते थे जिन विद्यार्थियो की प्रतिभा ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ होती थी उन्हे फाल और हल या ताने-बाने के काम मे लगना पडता था[6]

जैनाचार्यो ने विद्यार्थी की योग्यता के लिये उसका आचार्य-कुल मे रहना उत्साही विद्याप्रेमी मधुरभाषी तथा शुभकर्मा होना आवश्यक बतलाया है आज्ञा उल्लघन करने वाले गुरुजनो के हृदय से दूर रहने वाले शत्रु की तरह विरोधी तथा विवेकहीन शिष्य को 'अविनीत' कहा गया है[8] इसके विपरीत जो शिष्य गुरु की आज्ञा पालन करने वाला है गुरु के निकट रहता (अन्तेवासी) है तथा अपने गुरु के *इंगित-मनोभाव तथा आकार* का जानकार है उसे *'विनीत'* कहा गया है[9]

शिष्य के लिये वाचाल दुराचारी क्रोधी हसी-मजाक करने वाला कठोर वचन बोलने वाला बिना सोचे उत्तर देने वाला पूछने पर असत्य उत्तर देने वाला गुरुजनों से वैर करने वाला नही होना चाहिए[1] उत्तराध्ययन में शिष्य के

---

१ भगवती सूत्र ११ ११ ४२९ पृ ९९९—अभयदेव वृत्ति
२ उत्तराध्ययन टीका ८ पृ १२४
३ वही १ : पृ १४३
४ व्यवहारभाष्य ७. ८१ ११६
५ नायाधम्मकहाओ १ २ पृ २१
६ छान्दोग्य उपनिषद् ६ १
७ उत्तराध्ययन ११ १४
८ वही
९ वही १
१ वही १ ४ ६ १३ १४ १७.

डा० हरीन्द्रभूषण जैन
एम० ए०, पी-एच० डी, साहित्याचार्य

प्राचीन भारत की जैन शिक्षण-पद्धति

भारत मे प्राचीन काल से ही ज्ञान की अतिशय प्रतिष्ठा रही है व्यक्तित्व के विकास की दिशा मे ज्ञान को सदैव सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है मानव-जीवन की सफलता, मनुष्य के ज्ञान की मात्रा पर ही अवलम्बित होती है शतपथ ब्राह्मण मे ज्ञान की प्रतिष्ठा को प्रमाणित करते हुए कहा गया है कि 'स्वाध्याय और प्रवचन से मनुष्य का चित्त एकाग्र हो जाता है, वह स्वतन्त्र वन जाता है, उसे नित्य धन प्राप्त होता है, वह सुख से सोता है, उसका इन्द्रियो पर सयम होता है उसकी प्रज्ञा वढ जाती है और उसे यश मिलता है'

जैनागमो मे भी ज्ञान की महिमा स्वीकार की गई है उत्तराध्ययन मे निम्नलिखित सवाद से ज्ञान के महत्त्व पर प्रकाश पडता है शिष्य ने पूछा 'हे पूज्य ! ज्ञानसपन्नता से जीव को क्या लाभ होता है ?' गुरु ने उत्तर दिया 'हे भद्र ! ज्ञानसम्पन्न जीव समस्त पदार्थों का यथार्थभाव जान सकता है यथार्थभाव जानने वाले जीव को चतुर्गतिमय इस ससार रूपी अटवी मे कभी दु खी नही होना पडता जैसे धागेवाली सूई खोती नही है उसी प्रकार ज्ञानी जीव ससार मे पथभ्रष्ट नही होता और ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप तथा विनय के योग को प्राप्त होता है तथा स्वपरदर्शन को वरावर जानकर असत्यमार्ग मे नही फँसता'

ज्ञान की इस महत्त्वपूर्ण स्थिति के बाद यह आवश्यक था कि ज्ञान सर्वसाधारण को सुलभ हो इसके लिये भारत मे प्राचीन काल से ही शिक्षण-पद्धति पर विशेष ध्यान दिया गया है वैदिक, वौद्ध और जैन-तीनो सस्कृतियो मे शिक्षण की अपनी विशेष परम्पराएँ रही हैं आजकल के विद्वानो ने भी वैदिक और बौद्ध शिक्षण-पद्धतियो के विषय मे पर्याप्त लिखा है.

जैन शिक्षण-पद्धति के विषय मे हमे जैन-आगमो मे यत्र-तत्र अनेक उल्लेख प्राप्त होते है जैन-शिक्षण-पद्धति से सब-धित इन उल्लेखो को एकत्रित करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि नि सदेह भारतवर्ष मे प्राचीनकाल मे एक अत्यन्त सुव्यवस्थित जैन शिक्षण-पद्धति थी

जैन तथा बौद्ध शिक्षण-पद्धतियो मे प्राय साम्य है इसका प्रधान कारण यह है कि दोनो धर्मों मे ज्ञान का प्रसार करने का श्रेय उन मुनियो अथवा भिक्षुओ को है जो कि गृहस्थ-आश्रम से दूर रहकर अपना समस्त जीवन ज्ञान के दान और आदान मे ही व्यतीत किया करते थे, वौद्ध तथा जैनधर्म इन दोनो धर्मों के धार्मिक विचारो की निकटता भी दोनो शिक्षण-पद्धतियो की समानता का एक अन्य कारण हो सकती है

अब हम तुलनात्मक रीति से प्राचीन भारत की जैनशिक्षण-पद्धति पर विचार करते हैं

शिक्षा का उद्देश्य—प्राचीन भारत मे शिक्षा का उद्देश्य सदाचार की वृद्धि, व्यक्तित्व का विकास, प्राचीन सस्कृति की रक्षा तथा सामाजिक एव धार्मिक कर्त्तव्यो की शिक्षा देना था[1]

छात्र जीवन—ब्राह्मण सस्कृति के अनुसार बालक का विद्यार्थी-जीवन, उपनयन-सस्कार से प्रारम्भ होता था अग-शास्त्र मे भी उपनयन (उवणयण) सस्कार का वर्णन है टीकाकार अभयदेव ने उपनयन का अर्थ 'कलाग्रहण' किया

१ Education in Ancient India, by Altekar पृ० ३२६

मातंग की चर्चा आती है जो स्वयं ऋषि बन गया था और सभी गुणों से अलंकृत हुआ।[1] जैनशास्त्रों में यह बात स्पष्ट रूप से कही गई है कि वर्ण-व्यवस्था जन्मगत नहीं कर्मगत है 'कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र होता है।'[2]

आचार्य और उनका व्यक्तित्व—*ऋग्वैदिक आचार्य जिसके दिव्य प्रतीक अग्नि और इन्द्र हैं तत्कालीन ज्ञान और* आध्यात्मिक प्रगति की दृष्टि से समाज में सर्वोच्च व्यक्ति थे। आचार्य विद्यार्थी को ज्ञानमय शरीर देता था। वह स्वयं ब्रह्मचारी होता था और अपने ब्रह्मचर्य की उत्कृष्टता के बल पर असंख्य विद्यार्थियों को आकर्षित कर लेता था।[3]

जैन आचार्यों पर महावीर और उनके पूर्ववर्ती तीर्थंकरों की छाप रही है। वे अपना जीवन और शक्ति मानवता को सत्पथ दिखाने के प्रयत्न में ही लगा देते थे।[4] आचार्य के आदर्श व्यक्तित्व की जैन-संस्कृति में जो रूपरेखा बनी वह इस प्रकार थी *'वह सत्य को नहीं छिपाता था और न उसका प्रतिवाद करता था। वह अभिमान नहीं करता था और न वह यश की कामना करता था। वह कभी भी अन्यधर्मों के आचार्यों की निन्दा नहीं करता था। सत्य भी कठोर होने पर उसके लिये त्याज्य था। वह सदैव सद्विचारों का प्रतिपादन करता था। शिष्य को डांट डपट कर या अपशब्द कहकर वह काम नहीं लेता था। वह धर्म के रहस्य को पूर्णरूप से जानता था। उसका जीवन तपोमय था। उसकी व्याख्यानशैली* शुद्ध थी। वह कुशल विद्वान् और सभी धर्मों का पण्डित होता था।[5]

'रायपसेणिय सूत्र' में तीन प्रकार के आचार्यों का वर्णन है:

१—कलायरिय—कला के अध्यापक

२—सिप्पायरिय—शिल्प के अध्यापक

३—धम्मायरिय—धर्म के अध्यापक

यह विधान था कि प्रथम दो आचार्यों के शरीर पर तेल का मर्दन किया जाय, उन्हें पुष्प भेंट किये जाएं, उन्हें स्नान *कराया जाय, उन्हें सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित किया जाय, उन्हें सुस्वादु भोजन कराया तथा उन्हें योग्य पारिश्रमिक और* पारितोषिक दिया जाय। मगर धर्माचार्य की बात कुछ और तरह की है। भोजन पान आदि के द्वारा मान्य सम्मान करके उन्हें विविध प्रकार के उपकरणों से संतुष्ट किया जाता था।[1] वह भी बदला चुकाने के लिए नहीं, केवल भक्तिवश ही।

अध्ययन और उसके विषय—वैदिक शिक्षण के आदिकाल से ऋग्वेद का अध्ययन और अध्यापन सर्वप्रथम रहा है। वेद के अतिरिक्त वेदांग शिक्षा कल्प निरुक्त छन्द व्याकरण तथा ज्योतिष का महत्त्व भारतीय विद्यालयों में सदैव रहा है।

'भगवती सूत्र' में अध्ययन के विषय निम्न प्रकार बतलाए गए हैं

६ वेद, ६ वेदांग तथा ६ उपांग

६ वेद इस प्रकार हैं—१ ऋग्वेद २ यजुर्वेद ३ सामवेद ४ अथर्ववेद ५ इतिहास (पुराण) तथा ६ निघण्टु

६ वेदांग इस प्रकार हैं—१ संखाण (गणित) २ सिक्खाकप्प (स्वर-शास्त्र) ३ वागरण (व्याकरण) ४ छंद ५ निरुक्त (शब्दशास्त्र) तथा ६ जोइस (ज्योतिष)। ६ उपांगों में प्रायः वेदांगों में वर्णित विषयों का और अधिक विस्तार पूर्वक वर्णन था।

---

१ [illegible]

२ [illegible]

३ [illegible]

४ [illegible]

५ [illegible]

६ [illegible]

लिये निम्नप्रकार विधान बताया गया है—"शिष्य को गुरुजनो की पीठके पास अथवा आगे पीछे नही बैठना चाहिए उसे गुरु के इतने पास भी नही बैठना चाहिए कि जिससे अपने पैरो का उनके पैरो से स्पर्श हो शय्या पर लेटे-लेटे अथवा अपनी जगह पर बैठे-बैठे गुरु को कभी प्रत्युत्तर नही देना चाहिए गुरुजनो के समक्ष पैर पर पैर चढा कर, अथवा घुटने छाती से लगाकर तथा पैर फैलाकर कभी नही बैठना चाहिए यदि आचार्य बुलावे तो शिष्य को कभी भी मौन नही रहना चाहिए, प्रत्युत मुमुक्षु एव गुरु-कृपेच्छु शिष्य को तत्काल ही उनके पास जाकर उपस्थित होना चाहिए गुरु के आसन से जो आसन ऊचा न हो तथा जो शब्द न करता हो, ऐसे स्थिर आसन पर शिष्य को बैठना चाहिए आचार्य का कर्तव्य है कि ऐसे विनयी शिष्य को सूत्र और उनका भावार्थ उसकी योग्यता के अनुसार समझावे [1]

उत्तराध्ययन मे गुरु तथा शिष्य के परस्पर सबध पर भी प्रकाश डाला गया है 'जैसे अच्छा घोडा चलाने मे सारथि को आनन्द आता है वैसे चतुर साधक के लिये विद्यादान करने मे गुरु को आनन्द आता है और जिस तरह अडियल टट्टू को चलाते-चलाते सारथि थक जाता है वैसे ही मूर्ख शिष्य को शिक्षण देते-देते गुरु भी हतोत्साहित हो जाता है पापदृष्टि वाला शिष्य, कल्याणकारी विद्या प्राप्त करते हुए भी गुरु की चपतो तथा भर्त्सनाओ को वध तथा आक्रोश (गाली)मानता है सुशील शिष्य तो यह समझकर कि गुरु मुझको अपना पुत्र, लघुभ्राता अथवा स्वजन के समान मानकर ऐसा कर रहे है यह गुरु की शिक्षा (दण्ड) को अपने लिये कल्याणकारी मानता है पापदृष्टि रखने वाला शिष्य उस दशा मे अपने को दास मानकर दु खी होता है कदाचित् आचार्य क्रुद्ध हो जाएँ तो शिष्य अपने प्रेम से उन्हें प्रसन्न करे, हाथ जोडकर उनकी विनय करे तथा उनको विश्वास दिलावे कि वह भविष्य मे वैसा अपराध कभी नही करेगा [2]

योग्य छात्र वही था जो अपने आचार्य के उपदेशो पर पूर्ण ध्यान दे, प्रश्न करे, अर्थ समझे तथा तदनुसार आचरण करने का भी प्रयत्न करे [3] योग्य छात्र कभी भी गुरु की आज्ञा का उल्लघन नही करते थे, गुरु से असद्व्यवहार नही करते थे और झूठ नही बोलते थे

अयोग्य विद्यार्थी भी हुआ करते थे वे सदैव गुरु से हस्तताडन अथवा पाद-ताडन(खडुया, चपेडा)प्राप्त किया करते थे कभी वेत्रताडन भी प्राप्त किया करते थे तथा बडे कठोर शब्दो से सबोधित किए जाते थे अयोग्य विद्यार्थियो की तुलना दुष्ट बैलो से की गई है वे गुरु की आज्ञा का पालन नही करते थे कभी-कभी गुरु ऐसे छात्रो से थक कर उन्हे छोड भी देते थे [4]

छात्रो की तुलना पर्वत, घडा, चालनी, छन्ना, राजहस, भैंस, मेढा, मच्छर, जोक, बिल्ली, गाय, ढोल आदि पदार्थों से की गई है जो उनकी योग्यता और अयोग्यता की ओर सकेत करते हैं [5]

शूद्रो का विद्याधिकार—वैदिक काल मे आर्येतर जातियो द्वारा, आर्यभाषा और आर्य-सस्कृति मे निष्णात होकर वैदिक शिक्षा पर रोक प्रधानत स्मृतिकाल मे लगी उनके लिए सदा से ही पुराणो के अध्ययन की सुविधा थी जातक-काल मे ऐसे अनेक शूद्र और चाण्डाल हो चुके हैं जो उच्चकोटि के दार्शनिक और विचारक थे [6] सुत्तनिपात के अनुसार मातगनामक चाण्डाल तो इतना बडा आचार्य हो गया कि उसके यहा अध्ययन करने के लिए अनेक उच्चवर्ण के लोग आया करते थे

जैन-सस्कृति मे, चाण्डालो तक का दार्शनिक शिक्षा पाकर महर्षि बनना सम्भव था उत्तराध्ययन मे हरिकेशबल नामक

---

१ उत्तराध्ययन, १ १८-२३
२ वही, १ ३७-४१
३ आवश्यक निर्युक्ति (२२)
४ उत्तराध्ययन २७, ८, १३, १६
५ आवश्यक निर्युक्ति, १३९, आवश्यक चूर्णि पृ०१२१-१२५ बृहत्कल्पभाष्य, पृ० ३३४-
६. सतुजातक, ३७७

११ रसायनशास्त्र—इसमें सोना (सुवण्णपाग) चांदी (हिरण्ण) को बनाना तथा नकली धातुओं को असली हालत में परिवर्तित करना (सजीव) तथा असली धातु को नकली धातु बनाना (निज्जीव) सम्मिलित था

१२ गृह-विज्ञान—इसमें मकान बनाना (वत्थुविज्जा) नगरों तथा जमीन को मापना (नगरमाण खंधावारमाण) सम्मिलित थे

१३ युद्धविज्ञान—इसमें जुद्ध (युद्ध) निजुद्ध (कुश्ती) जुद्धातिजुद्ध (घोरयुद्ध) दिट्ठीजुद्ध (दृष्टि युद्ध) मुट्ठिजुद्ध (मुष्टि युद्ध) बाहुजुद्ध लयाजुद्ध मल्ल युद्ध इसत्थ (तीर विज्ञान) छरुप्पवाय (असिविज्ञान) धणुव्वेय (धनुर्विज्ञान) वूह (व्यूहविज्ञान) पडिवूह (प्रतिव्यूह विज्ञान) चक्कवूह (चक्रव्यूह विज्ञान) गरुडवूह (गरुडव्यूह विज्ञान) तथा सगड वूह (शकटव्यूह विज्ञान) सम्मिलित थे

शिक्षण विधि—वैदिक काल में प्रारम्भ से ही मन्त्रों को कण्ठाग्र करने की रीति थी उदात्त अनुदात्त तथा स्वरित की अभिव्यक्ति वाणी के साथ ही साथ हाथ की गति से भी की जाती थी वैदिक मन्त्रों को कण्ठस्थ करने के लिये तथा उनके पाठ में किसी प्रकार की त्रुटि न होने देने के लिये विविध प्रकार के पाठ होते थे जैसे-संहिता-पाठ पद-पाठ, क्रम-पाठ घन-पाठ जटा-पाठ आदि

जैन शिक्षण पद्धति का श्रेय महावीर को है महावीर ने कहा था कि 'जैसे पक्षी अपने शावकों को चारा देते है वैसे ही शिष्यों को नित्य प्रति दिन और रात शिक्षा देनी चाहिए' [1] यदि शिष्य संक्षेप में कुछ समझ नही पाता था तो आचार्य व्याख्या करके उसे समझाता था आचार्य अर्थ का अनर्थ नही करते थे वे अपने आचार्य से प्राप्त विद्या को यथावत् शिष्य को ग्रहण कराने में अपनी सफलता मानते थे वे व्याख्यान देते समय व्यर्थ की बातें नही करते थे [2]

परवर्ती युग में शास्त्रों के पाठ करने की रीति का प्रचलन हुआ विद्यार्थी शास्त्रों का पाठ करते समय शिक्षक से पूछ कर सूत्रों का ठीक-ठीक अर्थ समझ लेता था और इस प्रकार अपना सन्देह दूर करता था विद्यार्थी बार-बार आवृत्ति करके अपने पाठ को कण्ठस्थ कर लेता था फिर वह पढ़े हुए पाठ का मनन और चिन्तन करता था [3] प्रश्न पूछने से पहले विद्यार्थी आचार्य के समक्ष हाथ जोड़ लेता था [4]

जैन शिक्षण की वैज्ञानिक शैली के पाँच अंग थे—१ वाचना (पढ़ना) २ पृच्छना (पूछना) ३ अनुप्रेक्षा (पढ़े हुए विषय का मनन करना) ४ आम्नाय (कण्ठस्थ करना और पाठ करना) तथा ५ धर्मोपदेश [5]

अनुशासन—वैदिक युग में आचार्य विद्यार्थी को प्रथम दिन ही आदेश देता था कि अपना काम करो कर्मठता ही शक्ति है अग्नि में समिधा डालो अपने मन को अग्नि के समान ओजस्विता से समृद्ध करो सोओ मत [6]

जैन शिक्षण मे भिक्षुओं के लिये शारीरिक कष्ट का अतिशय महत्त्व बताया गया है व्रतभंग के प्रसंग साधु को मरना तक श्रेयस्कर बताया गया है जैन शिक्षण में शरीर की बाह्य शुद्धि को केवल व्यर्थ ही नही अपितु अनर्थ-कार्य बताया गया है शरीर का संस्कार करने वाले श्रमण 'शरीर बकुश' (चरित्रभ्रष्ट) कहलाते थे [7]

परवर्ती युग में विद्यार्थियों के लिये आचार्य की आज्ञा पालन करना डांट पड़ने पर उसे चुपचाप सह लेना भिक्षा मे स्वादिष्ट भोजन न लेना आदि नियम बनाये गये विद्यार्थी सूर्योदय के पहले जागकर अपनी वस्तुओं का निरीक्षण करते

---

१ आचारांग १ ६ १ १
२ सूत्रकृतांग, १ १४ ४ २७.
३ उत्तराध्ययन १ १८ तथा १ २२
४ उत्तराध्ययन १
५ स्थानांग ४६५
६ शतपथब्राह्मण ११ ५ ४ ५
७ स्थानांग ४४५ तथा ५५८

उत्तराध्ययन-टीका मे निम्न प्रकार १४ विद्यास्थान (अध्ययन के विषय) बताए गए है[1]—४ वेद, ६ वेदाग, मीमासा, नाय (न्याय), पुराण तथा धम्मसत्थ (धर्मशास्त्र)

कुछ ऐसे भी विषय थे जिनका पठन-पाठन की दृष्टि से निम्न स्थान था ऐसे विषय ससारत्यागी साधुजनो के लिये पाप-श्रुत कहे जाते थे स्थानाङ्ग सूत्र मे ऐसे पापश्रुतो का वर्णन है । उनकी सख्या नौ है[2]

१ उप्पाय (अपशकुन-विज्ञान) २ निमित्त (शकुन-विज्ञान) ३ मन्त (मन्त्र विद्या) ४ आइक्खिय (नीच-इन्द्रजालविद्या) ५ तेगिच्छिय (चिकित्सा-विज्ञान) ६ कला (कला-विज्ञान) ७ आवरण (गृह-निर्माण-विज्ञान) ८ अण्णाण (साहित्य-विज्ञान-काव्य-नाटकादि) ९ मिच्छापवयण (असत्य शास्त्र)

अग शास्त्र मे ७२ कलाओ का वर्णन मिलता है [3] यद्यपि सभी छात्र इन समस्त कलाओ मे निपुणता प्राप्त नही करते थे फिर भी अपनी शक्ति के अनुसार इन कलाओ मे दक्षता प्राप्त करना प्रत्येक छात्र का उद्देश्य होता था

ये कलाये १३ भागो मे विभक्त है

१ **पठनकला**—लेह (लेख) और गणित

२ **काव्यकला**—पोरेकव्व (कविता निर्माण) अज्जा (आर्या छन्द मे कविता या निर्माण), पहेलिया (प्रहेलिका का निर्माण), मागधिया (मागधी भाषा मे काव्यनिर्माण), गाथा (गाथाछन्द मे काव्य निर्माण) गीइय (गीतो का नर्माण) तथा सिलोय (श्लोको का निर्माण)

३ **मूर्तिनिर्माण काल**—रूव (रूप)

४ **सगीतविज्ञान**—नट्ट (नृत्य), गीय (सगीत), वाइय (वाद्य), सरगम, पुक्खरगय (ढोल वादन) तथा ताल

५ **मृत्तिकाविज्ञान**—दगमट्टिय

६ **द्यूतक्रीडा तथा गृह क्रीडा**—जुआ (द्यूत) जणवाय (अन्य प्रकारका जुआ)
पासय (पासो का खेल), अट्ठावय (शतरज) सुत्तखेट कठपुतली का नाच वत्थ (भोरे का खेल) तथा नालिकाखेड (अन्य प्रकार के पासो का खेल)

७ **स्वास्थ्य, शृङ्गार तथा भोजनविज्ञान**—अन्नविहि (भोजन विज्ञान), पाणविहि (पान), वत्यविहि (वस्त्र)' विलेवन (शृगार) सयण (शय्या विज्ञान), हिरण्ण जुत्ति (चादी के आभूषणो का विज्ञान) सुवण्ण (सोने के आभूषणो का विज्ञान), आभरणविहि (आभूषणो का विज्ञान), चुण्णजुत्ति (शृगारचूर्ण विद्या), तरूणी-पडिकम्म (तरुणियो के शरीर को सुन्दर बनाने की विधि), पत्तच्छेज्ज (पत्रो से सुन्दर आभूषण बनाना) तथा कडच्छेत्ता (भाल का सजाना)

८ **चिह्नविज्ञान-लक्षण**—इसमे चिह्नो के द्वारा स्त्री, पुरुष, घोडा, हाथी, गाय, मुर्गा, दासी, तलवार, रत्न तथा छत्र के भेद को जानना सम्मिलित था

शकुनि-विज्ञान—इसमे पक्षियो की बोलियो का ज्ञान आवश्यक था

१० **खगोलविद्या**—चार (ग्रहो के चलन) तथा पडिचार (प्रतिचलन) की विद्या

अन्य आचार्यों ने की इनमें तीर्थंकरों के यशोगान तथा श्रमण एव उपासकों के कर्त्तव्यों का वर्णन था बाद में सुलसा, याज्ञवल्क्य आदि ने अनार्यवेदों की रचना की ' आवश्यक चूर्णि, २१५

१ उत्तराध्ययन टीका, ३ पृ० ५६ अ०

२ स्थाना सूत्र, ९, ६७८

३ नायाम्धमकहाओ, १, २०, पृ० २१,

११ रसायनशास्त्र—इसमें सोना (सुवण्णपाग) चांदी (हिरण्ण) को बनाना तथा नकली धातुओं को असली हालत में परिवर्तित करना (सजीव) तथा असली धातु को नकली धातु बनाना (निज्जीव) सम्मिलित था

१२ गृह-विज्ञान—इसमें मकान बनाना (वत्थुविज्जा) नगरों तथा जमीन को नापना (नगरारमाण खन्धारमाण) सम्मिलित थे

१३ युद्धविज्ञान—इसमें युद्ध (युद्ध) नियुद्ध (कुश्ती) जुद्धातिजुद्ध (घोरयुद्ध) दिट्ठीजुद्ध (दृष्टि युद्ध) मुट्ठिजुद्ध (मुष्टि युद्ध) बाहुयुद्ध लयाजुद्ध मल्ल युद्ध इसत्थ (तीर विज्ञान) चरुप्पवाय (असिविज्ञान) धनुव्वेय (धनुविज्ञान) वूह (व्यूहविज्ञान) पडिवूह (प्रतिव्यूह विज्ञान) चक्कवूह (चक्रव्यूह विज्ञान) गरुडवूह (गरुडव्यूह विज्ञान) तथा सगड वूह (सकटव्यूह विज्ञान) सम्मिलित थे

शिक्षण विधि—वैदिक काल में प्रारम्भ से ही सूत्रों को कण्ठाग्र करने की रीति थी उदात्त अनुदात्त तथा स्वरित की अभिव्यक्ति वाणी के साथ ही साथ हाथ की गति से भी की जाती थी वैदिक मन्त्रों को कठस्थ करने के लिये तथा उनके पाठ में किसी प्रकार की त्रुटि न होने देने के लिये विविध प्रकार के पाठ होते थे जैसे-संहिता पाठ पद पाठ क्रम-पाठ घन-पाठ जटा-पाठ आदि

जैन शिक्षण पद्धति का श्रेय महावीर को है महावीर ने कहा था कि 'जैसे पक्षी अपने शावकों को चारा देते हैं वैसे ही शिष्यों को नित्य प्रति दिन और रात शिक्षा देनी चाहिए' [१] यदि शिष्य संक्षेप में कुछ समझ नहीं पाता था तो आचार्य व्याख्या करके उसे समझाता था आचार्य अर्थ का अनर्थ नहीं करते थे वे अपने आचार्य से प्राप्त विद्या को यथावत् शिष्य को ग्रहण कराने में अपनी सफलता मानते थे वे व्याख्यान देते समय व्यर्थ की बातें नहीं करते थे [२]

परवर्ती युग में शास्त्रों के पाठ करने की रीति का प्रचलन हुआ विद्यार्थी शास्त्रों का पाठ करते समय शिक्षक से पूछ कर सूत्रों का ठीक-ठीक अर्थ समझ लेता था और इस प्रकार अपना संदेह दूर करता था विद्यार्थी बार-बार आवृत्ति करके अपने पाठ को कठस्थ कर लेता था फिर वह पढ़े हुए पाठ का मनन और चिन्तन करता था [३] प्रश्न पूछने से पहले विद्यार्थी आचार्य के समक्ष हाथ जोड़ लेता था [४]

जैन शिक्षण की वैज्ञानिक शैली के पाच अंग थे—१ वाचना (पढ़ना) २ पृच्छना (पूछना) ३ अनुप्रेक्षा (पढ़े हुए विषय का मनन करना) ४ आम्नाय (कण्ठस्थ करना और पाठ करना) तथा ५ धर्मोपदेश [५]

अनुशासन—वैदिक युग में आचार्य विद्यार्थी को प्रथम दिन ही आदेश देता था कि 'अपना काम करो कर्मठता ही उचित है अग्नि में समिधा डालो अपने मन को अग्नि के समान ओजस्विता से समृद्ध करो सो जो मत [६]

जैन शिक्षण में भिक्षुओं के लिये शारीरिक कष्ट का अतिशय महत्त्व बताया गया है व्रतभंग के प्रसंग साधु को मरना तक श्रेयस्कर बताया गया है जैन शिक्षण में शरीर की बाह्य शुद्धि को केवल व्यर्थ ही नहीं अपितु अनर्थ-कारी बताया गया है शरीर का संस्कार करने वाले श्रमण 'शरीर बकुश' (चरित्रभ्रष्ट) कहलाते थे [७]

परवर्ती युग में विद्यार्थियों के लिये आचार्य की आज्ञा पालन करना डाट पड़ने पर उसे चुपचाप सह लेना भिक्षा में स्वादिष्ट भोजन न लेना आदि नियम बनाये गये विद्यार्थी सूर्योदय के पहले जागकर अपनी वस्तुओं का निरीक्षण करते

---

१ आचारांग, १ ६ ३ १
सूत्रकृतांग १ १४ २४ २६
३ उत्तराध्ययन २६ १८ तथा १ २३
४ उत्तराध्ययन १ २
५ स्थानांग ४६५
६ शतपथब्राह्मण ११ ५ ४ ५
७ स्थानांग ४४५ तथा १५८

थे और गुरुजनो का अभिवादन करते थे दिन के तीसरे पहर मे वे भिक्षा मागते थे. और रात्रि के तीसरे पहर मे सोते थे विद्यार्थी भूल मे किये गये अपराधो का प्रायश्चित्त करते थे[1]

जैन सस्कृति के विद्यार्थी ऊन, रेशम, क्षौम, सन, ताडपत्र आदि के बने हुए वस्त्रो के लिये गृहस्थ से याचना करते थे वे चमडे के वस्त्र या बहुमूल्य रत्न या स्वर्णजटित अलकृत वस्त्रो को ग्रहण नही करते थे हट्टे-कट्टे विद्यार्थी भिक्षु एक, और भिक्षुणिया चार वस्त्र पहिनती थी[2]

समावर्तन—वैदिक काल मे अध्ययन समाप्त हो जाने पर विद्यार्थी आचार्य की अनुमति से घर लौट जाते थे समावर्तन का अर्थ है 'लौटना' आश्रम छोडते समय आचार्य विद्यार्थी को कुछ ऐसे उपदेश देता था जो उसके भावी जीवन की प्रगति मे सहायक होते थे

जैन-सूत्रो मे भी समार्तन सस्कार का वर्णन मिलता है छात्र जब अध्ययन समाप्त कर घर वापस आता था तब अत्यन्त समारोह के साथ उसे ग्रहण किया जाता था 'रक्षित' जब पाटलिपुत्र से अध्ययन समाप्त कर घर वापस आया तो उसका राजकीय सम्मान किया गया सारा नगर पताकाओ और बन्दनवारो से सुसज्जित किया गया. रक्षित को हाथी पर विठाया गया तथा लोगो ने उसका सत्कार किया उसकी योग्यता पर प्रसन्न होकर लोगो ने उसे दास, पशु तथा स्वर्ण आदि द्रव्य दिया[3]

विद्या के केन्द्र—वैदिक काल मे प्राय प्रत्येक विद्वान् गृहस्थ का घर विद्यालय होता था,[4] क्योकि गृहस्थ के पाँच यज्ञो मे ब्रह्म-यज्ञ की पूर्ति के लिये गृहस्थ को अध्यापन कार्य करना आवश्यक था[5] जिन वनो, पर्वतो और उपनद प्रदेशो को लोगो ने स्वास्थ्य-सवर्धन के लिये उपयोगी माना वे स्थान आचार्यों ने अपने आश्रम और विद्यालयो के उपयोग के लिये चुने महाभारत मे कण्व, व्यास, भारद्वाज और परशुराम आदि के आश्रमो के वर्णन मिलते है[6] रामायण-कालीन चित्रकूट मे वाल्मीकि का आश्रम था[7]

जैन-सस्कृति की आचार्य परम्परा तीर्थङ्करो से प्रारम्भ होती है तीर्थङ्कर प्राय अनगार होते थे अतिम तीर्थङ्कर महावीर का दिगम्बर होना प्रसिद्ध है ऐसे तीर्थङ्करो की शाला का भवनो मे होना सभव नही था उनके शिष्यसघ आचार्यों के साथ ही, देश-देशान्तर मे पर्यटन करते थे महावीर के जो ग्यारह गणधर (शिष्य) थे वे सब आचार्य थे उनमे इन्द्रभूति, वायुभूति, व्यक्त तथा सुधर्मा के प्रत्येक के ५०० शिष्य थे, मण्डिक तथा मौर्यपुत्र के प्रत्येक के ३५० शिष्य थे और अकम्पित, अचलभ्राता, मेतार्य तथा प्रभास के प्रत्येक के ३०० शिष्य थे ये भ्रमण करते हुए सयोगवश महावीर से मिले तथा उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर अपने शिष्यो सहित उनके सघ मे सम्मिलित हो गये[8]

शनै शनै जैन मुनियो तथा आचार्यों के लिये गुफा-मन्दिर तथा तीर्थक्षेत्र के मन्दिर आदि बनने लगे इसके बाद राजधानियो, तीर्थस्थान, आश्रम तथा मन्दिर शिक्षा के केन्द्र बने राजा तथा जमीदार लोग विद्या के पोषक तथा सरक्षक थे समृद्ध राज्यो की अनेक राजधानियाँ बडे-बडे विद्या के केन्द्रो के रूप मे परिणत हुई

वनारस विद्या का विशाल केन्द्र था सखपुर का राजकुमार अगडदत, वहा विद्याध्ययन के लिये गया था वह अपने

---

१ उत्तराध्ययन, २६

२ आचाराग, सूत्र, २ ५ १ १

३ उत्तराध्ययन टीका, २ पृ० २२ अ०

४ छान्दोग्य उपनिषद्, ८ १५. १ ४ ६ १ तथा २ २३ १.

५ "अध्यापन ब्रह्मय १" मनुस्मृति, ३ ७०

६ आदिपर्व, ७०

७ रामायण, २ ५६ १६

८. कल्पसूत्र 'लिस्ट आफ स्थविराज' 'श्रमण भगवान् महावीर' पृ० २११-२२०
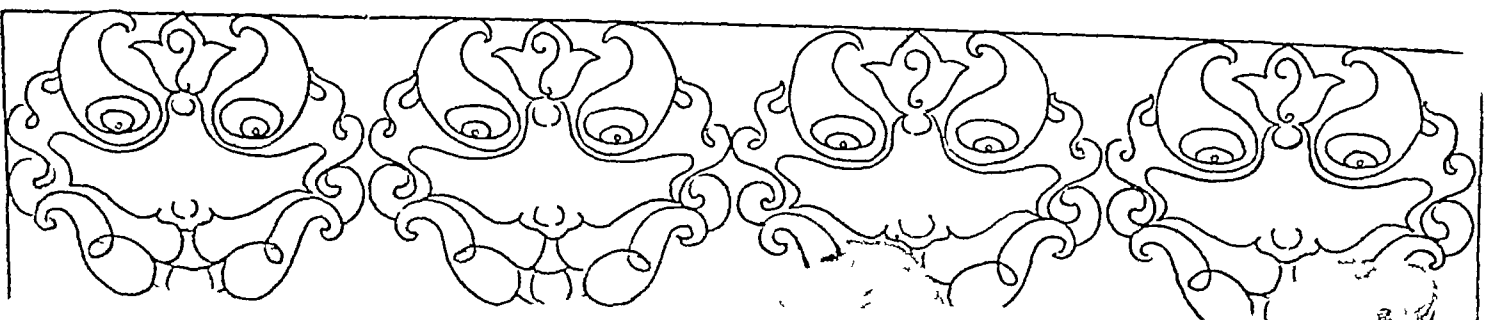
आचार्य के आश्रम में रहा और अपना अध्ययन समाप्त कर लौटा सावत्थी (श्रावस्ती) एक अन्य विद्या का केन्द्र था पाटलिपुत्र भी विद्या का केन्द्र था 'रक्खिय जब अपने नगर दशपुर में अध्ययन न कर सका तो वह उच्च शिक्षा के लिये पाटलिपुत्र गया प्रतिष्ठान' दक्षिण में विद्या का केन्द्र था बलभी' शिक्षा केन्द्र के रूप में ख्याति की चरम सीमा पर था यहीं पर जैन आगमों को संगृहीत करने के लिये नागार्जुनसूरि ने जैन-सन्तों की एक सभा बुलाई थी

साधुओं के निवास स्थान (वसति) तथा उपाश्रयों में भी विद्याध्ययन हुआ करता था ऐसे स्थानों पर वे ही साधु अध्यापन के अधिकारी थे जिन्होंने उपाध्याय के समीप रहकर प्राचीन शास्त्रों के अध्यापन की शिक्षा प्राप्त की है[१]

सत्य तथा ज्ञान के परीक्षण के लिये प्रायः वाद-विवाद हुआ करते थे वाद-विवाद करने के लिये बड़े-बड़े सभ (वाद पुरिसा) हुआ करते थे जहां जैन तथा अन्य साधु विशेषकर, बौद्ध साधु आकर सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विषयों पर वादविवाद किया करते थे यदि कोई व्यक्ति तर्क तथा न्याय में कमजोर पाया जाता था तो उसको किसी अन्य विद्या-केन्द्र में जाकर और अधिक अध्ययन के लिये प्रयत्न करना पड़ता था वहां से अध्ययन समाप्त कर वह लौटता और अपने विरोधी को पराजित कर धर्म का प्रचार करता था[२]

ऊपर कही गई शिक्षण-पद्धति पर विचार करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि भारतवर्ष में प्राचीन काल में वैदिक तथा बौद्ध शिक्षण-पद्धति के समान एक सुव्यवस्थित जैन शिक्षण-पद्धति भी थी आजकल भारत के बड़े-बड़े नगरों में जैनधर्म और जैनदर्शन के अध्यापन के लिये जो प्रतिष्ठान चल रहे हैं उन पर पूर्ण रूप से इस प्राचीन जैन शिक्षण-पद्धती का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है

१ लाइफ इन एन्सेन्ट इण्डिया पृ १७३ १७४
२ बृहत्कल्पभाष्य ४ ५४ ११ ५४ २१

डा० नथमल टाटिया
निदेशक, प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा-शोधसस्थान, मुजफ्फरपुर, विहार

'मोक्षमार्गस्यनेतारम्' के कर्ता पूज्यपाद देवनन्दि

पूज्यपाद देवनन्दिकृत सर्वार्थसिद्धि नामक तत्त्वार्थवृत्ति के प्रारम्भ मे निम्नाकित श्लोक उपलब्ध होता है

मोक्षमार्गस्य नेतार भेत्तारं कर्मभूभृताम्, ज्ञातार विश्वतत्त्वाना वन्दे तद्गुणलब्धये

इस श्लोक के कर्तृत्व के बारे मे कुछ वर्ष पहले ऊहापोह चला था और यह सिद्ध करने की चेष्टा की गई थी कि इसके कर्ता तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य उमास्वामी हैं[1] पर वस्तुस्थिति अन्यथा प्रतीत होती है (१) आप्तपरीक्षा मे आचार्य विद्यानन्द ने इस श्लोक के कर्ता के लिए सूत्रकार[2] और शास्त्रकार[3] ये दोनो शब्द प्रयुक्त किये है अतएव सशय होना स्वाभाविक था पर इन्ही विद्यानन्द के तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के प्रारम्भ मे की गई परापरगुरु-प्रवाह विषयक आध्यान की चर्चा से तथा आप्तपरीक्षा गत प्रयोगो से यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि सूत्रकार शब्द केवल आचार्य उमास्वामी के लिए ही प्रयुक्त नही होता था, इसका प्रयोग दूसरे आचार्यों के लिए भी किया जाता था- (२) उसी तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के अन्तर्गत तत्त्वार्थसूत्र के प्रथमसूत्र की अनुपपत्ति-उपस्थापन और उसके परिहार की चर्चा से भी यह स्पष्ट फलित होता है कि आचार्य विद्यानन्द के सामने तत्त्वार्थसूत्र के प्रारम्भ मे 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक नही था (३) अष्टसहस्री तथा आप्तपरीक्षान्तर्गत कुछ विशेष उल्लेखो से यह सिद्ध होता है कि आचार्य विद्यानन्द के मतानुसार इसी श्लोक के विषयभूत आप्त की मीमासा स्वामी समन्तभद्र ने अपनी आप्तमीमासा मे की है इन तीनो मुद्दो पर हम क्रमश विचार करेंगे

सूत्रकार-शास्त्रकार

परापरगुरुप्रवाह की चर्चा के प्रसग मे आचार्य विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के प्रारम्भ (पृ० १) मे अपरगुरु की व्याख्या इस प्रकार की है अपरगुरुर्गणधरादि **सूत्रकारपर्यन्त** यहा सूत्रकार शब्द से केवल आचार्य उमास्वामी का वोध अभिप्रेत नही हो सकता, पर वे तथा उनके पूर्व तथा पश्चाद्वर्ती अन्य आचार्य भी यहा अभिप्रेत है अन्यथा आचार्य उमास्वामी के बाद के आचार्यों को आध्यान का विषय बनाने की परम्परा असगत प्रमाणित होगी आचार्य विद्यानन्द स्वय अपनी अष्टसहस्री के प्रारम्भ मे स्वामी समन्तभद्र का जो अभिवन्दन करते हैं वह भी असगत ठहरेगा आचार्य वादिदेवसूरि अपने स्याद्वादरत्नाकर ग्रथ के आदि मे आचार्य विद्यानन्द के—एतेनापरगुरुर्गणधरादि **सूत्रकारपर्यन्तो** व्याख्यात[4]—इस वचन की प्रतिध्वनि इस प्रकार करते हैं—एतेनापरगुरुरपि गणधरादिरस्मद्गुरुपर्यन्तो व्याख्यात[5].

---

१ देखो—अनेकान्त, वर्ष ५, (किरण ६-७, ८-९ तथा १०-११)

२ आप्तपरीक्षा, पृ० १२—किं पुनस्तत्परमेष्ठिनो गुणस्तोत्र शास्त्रादौ सूत्रकारा प्राहु

३ वही, पृ० २—कस्मात्पुन परमेष्ठिन स्तोत्र शास्त्रादौ शास्त्रकारा प्राहु

४ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० १

५ स्याद्वादरत्नाकर, पृ० ५

अतएव उक्त प्रसंग में सूत्रकार शब्द से केवल आचार्य उमास्वामी अभिप्रेत न होकर तत्त्वोपदेशक सभी आचार्य अभिप्रेत हैं—यह निम्नलिखित से सिद्ध होता है. तत्त्वप्रतिपादक शास्त्र के प्रारम्भ में अखिल तत्त्वज्ञान के प्रभवस्थान परम गुरु तीर्थंकर तथा तत्त्वार्थनिर्णय में सहायभूत गणधरादि गुरुपरम्परा के प्रति कृतज्ञता निवेदन करना ही आख्यान है और वही शास्त्रसिद्धि का हेतु है. इस अपरगुरुप्रवाह के अन्तर्गत सूत्रकारों में आचार्य उमास्वामी का स्थान प्रमुख है. जैसा कि आचार्य हेमचन्द्र ने अपनी प्रमाणमीमांसा (पृ. १) में कहा है—'प्रेक्षस्व वाचकमुख्यविरचितानि सकलशास्त्र चूडामणिभूतानि तत्त्वार्थसूत्राणीति.' आप्तपरीक्षागत आचार्य विद्यानन्द की यह उक्ति भी इस स्थल पर मननीय है— 'न हि परम्परया मोक्षमार्गस्य प्रणेता गुरुपर्वक्रमाविच्छेदादविगततत्त्वार्थशास्त्रार्थोऽप्यस्मदादिभिः साक्षाद्विश्वतत्त्वज्ञतया समाश्रय साध्यते प्रतीतिविरोधात्. किं तर्हि साक्षान्मोक्षमार्गस्य सकलबाधकप्रमाणरहितस्य प्रणेता स एव भिरस्त तत्त्वज्ञताश्रय तत्त्वार्थसूत्रकारैरुमास्वामिप्रमुखैरिति प्रतिपाद्यते भगवद्भिः'[1] यहाँ तत्त्वार्थ शब्द और सूत्रकार शब्द— ये दोनों व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं. *अन्यथा प्रमुख शब्द निरर्थक होगा. कारण तत्त्वार्थ नामक ग्रंथ के सूत्रकार के* मूलरूप में केवल उमास्वामी ही प्रसिद्ध हैं, अन्य कोई आचार्य नहीं. हाँ तत्त्वार्थ के वृत्तिकार, वार्तिककार आदि के रूप में अन्य आचार्य भी प्रसिद्ध हैं. अतएव उक्त स्थल में अपने व्यापक अर्थ में ही सूत्रकार शब्द प्रयुक्त हुआ है—यह स्वतः सिद्ध है. तत्त्वार्थ शब्द भी यहाँ सामान्य अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, न कि ग्रंथविशेष के अर्थ में. अतएव सन्मतिप्रकरण आदि के कर्ता आचार्य सिद्धसेन दिवाकर आदि का समावेश भी तत्त्वार्थसूत्रकार शब्द में हो जाता है. सन्मतिप्रकरण सन्मतिसूत्र के नाम से प्रसिद्ध है. आप्तपरीक्षा के निम्नोक्त वाक्यों में भी सूत्रकार शब्द ऐसे ही व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं—'गुरुपर्वक्रमात् सूत्रकाराणां परमेष्ठिनः प्रसादात् ... श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिरभिधीयते' (पृ. ८) 'परमेष्ठिनः प्रसादात्सूत्रकाराणां श्रेयोमार्गस्य संसिद्धेर्युक्तं शास्त्रादौ परमेष्ठिगुणस्तोत्रम्' (पृ. ९)

प्रस्तुत प्रसंग में सूत्र और शास्त्र के स्वरूपविषयक आचार्य विद्यानन्द का निम्नोक्त उल्लेख विवेचनीय है—'वर्णात्मकं हि पदं पदसमुदायविशेषः सूत्रं सूत्रसमूहः प्रकरणं प्रकरणसमितिराह्निकम् आह्निकसंघातोऽध्यायः अध्यायसमुदायः शास्त्रमिति शास्त्रलक्षणम्.' तदध्यायीरूप सम्पूर्ण शास्त्र के कर्ता होने के कारण आचार्य उमास्वामी शास्त्रकार हैं और पदसमुदायविशेष रूप सूत्रों के कर्ता होने के कारण वे सूत्रकार भी हैं. इसी तरह दूसरे आचार्यों (उदाहरणार्थ आचार्य हेमचन्द्र, वादिदेवसूरि आदि) को भी पदसमुदायविशेष रूप सूत्रों के कर्ता के रूप में सूत्रकार और सम्पूर्ण ग्रन्थ के कर्ता रूप से शास्त्रकार कहा जा सकता है. इस प्रसंग में सूत्र का निम्नोक्त लक्षण भी ध्यान-योग्य है :

> अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम्।
> अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः।[2]

इन सारी बातों को ध्यान में रख कर ही आचार्य विद्यानन्द 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक के रचयिता को कभी तक *अखण्ड अर्थ के वाचक विशिष्ट पदसमुदाय रूप इसी श्लोक के कर्ता के रूप में सूत्रकार और कभी सम्पूर्ण तत्त्वार्थशास्त्र* के रचयिता रूप से शास्त्रकार कहते हैं. 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक के रचयिता को तत्त्वार्थशास्त्रकार कहने में भी कोई बाधा नहीं, कारण उमास्वामिरचित मूल तत्त्वार्थसूत्र की तरह उस पर स्वरचित वार्तिक तथा भाष्य व्याख्यान ग्रन्थ को भी शास्त्र कहना आचार्य विद्यानन्द को इष्ट है. उन्होंने स्पष्ट रूप से निम्नोक्त उद्धरण में यह बात कह भी दी है— 'तत्त्वार्थविषयत्वाद्धि तत्त्वार्थो ग्रन्थः प्रसिद्धः ... प्रसिद्धं च तत्त्वार्थस्य शास्त्रत्वं तद्वार्तिकस्य शास्त्रत्वं सिद्धमेव

---

[1] आप्तपरीक्षा पृ. १०-१ (वीरसेवा मंदिर) पण्डित श्री दरबारीलालजी कोठिया सम्पादित पाठ में 'तत्त्वार्थसूत्रकारैरुमास्वामिप्रमुखैरिति'—का अंश नहीं है तथा 'भगवद्भिः' के स्थान पर 'स्यात्' है. प्रस्तुत उद्धरण में आये हुए 'प्रमुख' आदि पाठ की दृष्टि से ... [illegible] ... के स्थान पर तत्त्वार्थसूत्रकारैरिति पाठ भी ... [illegible] ... भगवद्भिः पाठ का ... [illegible] ...
[illegible] । देखो न्यायदीपिका (... पृ. ४).

[2] मुक्तावलि पृ. १
... [illegible] ... (... पृ. ७०) में उद्धृत.

डा० नथमल टाटिया
निदेशक, प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा-शोधसंस्थान, मुजफ्फरपुर, बिहार

'मोक्षमार्गस्यनेतारम्' के कर्ता पूज्यपाद देवनन्दि

पूज्यपाद देवनन्दिकृत सर्वार्थसिद्धि नामक तत्त्वार्थवृत्ति के प्रारम्भ मे निम्नाकित श्लोक उपलब्ध होता है

मोक्षमार्गस्य नेतार भेत्तार कर्मभूभृताम्, ज्ञातार विश्वतत्त्वाना वन्दे तद्गुणलब्धये

इस श्लोक के कर्तृत्व के बारे मे कुछ वर्ष पहले ऊहापोह चला था और यह सिद्ध करने की चेष्टा की गई थी कि इसके कर्ता तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य उमास्वामी है[1] पर वस्तुस्थिति अन्यथा प्रतीत होती है (१) आप्तपरीक्षा मे आचार्य विद्यानन्द ने इस श्लोक के कर्ता के लिए सूत्रकार[2] और शास्त्रकार[3] ये दोनो शब्द प्रयुक्त किये है अतएव सशय होना स्वाभाविक था पर इन्ही विद्यानन्द के तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के प्रारम्भ मे की गई परापरगुरु-प्रवाह विषयक आध्यान की चर्चा से तथा आप्तपरीक्षा गत प्रयोगो से यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि सूत्रकार शब्द केवल आचार्य उमास्वामी के लिए ही प्रयुक्त नही होता था, इसका प्रयोग दूसरे आचार्यो के लिए भी किया जाता था. (२) उसी तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के अन्तर्गत तत्त्वार्थसूत्र के प्रथमसूत्र की अनुपपत्ति-उपस्थापन और उसके परिहार की चर्चा से भी यह स्पष्ट फलित होता है कि आचार्य विद्यानन्द के सामने तत्त्वार्थसूत्र के प्रारम्भ मे 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक नही था (३) अष्टसहस्री तथा आप्तपरीक्षान्तर्गत कुछ विशेष उल्लेखो से यह सिद्ध होता है कि आचार्य विद्यानन्द के मतानुसार इसी श्लोक के विषयभूत आप्त की मीमासा स्वामी समन्तभद्र ने अपनी आप्तमीमासा मे की है इन तीनो मुद्दो पर हम क्रमश विचार करेंगे

सूत्रकार-शास्त्रकार

परापरगुरुप्रवाह की चर्चा के प्रसग मे आचार्य विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के प्रारम्भ (पृ० १) मे अपरगुरु की व्याख्या इस प्रकार की है अपरगुरुर्गणधरादि सूत्रकारपर्यन्त यहा सूत्रकार शब्द से केवल आचार्य उमास्वामी का बोध अभिप्रेत नही हो सकता, पर वे तथा उनके पूर्व तथा पश्चाद्वर्ती अन्य आचार्य भी यहा अभिप्रेत है अन्यथा आचार्य उमास्वामी के बाद के आचार्यो को आध्यान का विषय बनाने की परम्परा असगत प्रमाणित होगी आचार्य विद्यानन्द स्वय अपनी अष्टसहस्री के प्रारम्भ मे स्वामी समन्तभद्र का जो अभिवन्दन करते है वह भी असगत ठहरेगा आचार्य वादिदेवसूरि अपने स्याद्वादरत्नाकर ग्रथ के आदि मे आचार्य विद्यानन्द के—एतेनापरगुरुर्गणधरादि सूत्रकारपर्यन्तो व्याख्यात[4]—इस वचन की प्रतिध्वनि इस प्रकार करते है—एतेनापरगुरुरपि गणधरादिरस्मद्गुरुपर्यन्तो व्याख्यात[5].

---

१ देखो—अनेकान्त, वर्ष ५, (किरण ६-७, ८-९ तथा १०-११)
२ आप्तपरीक्षा, पृ० १२—किं पुनस्तत्परमेष्ठिनो गुणस्तोत्र शास्त्रादौ सूत्रकारा प्राहु
३ वही, पृ० २—कस्मात्पुन परमेष्ठिन स्तोत्र शास्त्रादौ शास्त्रकारा प्राहु
४ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० १
५ स्याद्वादरत्नाकर, पृ० ५

शास्त्रप्रारम्भ में पर अपर परमेष्ठी की स्तुति मोक्षमार्गप्रणेतृत्वादि गुणों द्वारा करता है उक्त उद्धरणगत श्रोता और व्याख्याता शब्द द्वारा आचार्य विद्यानन्द ने यह स्पष्ट कर दिया है कि श्रोता तथा व्याख्याता दोनों शास्त्रश्रवण और शास्त्रव्याख्यान के पूर्व परापरपरमेष्ठी का गुणस्मरण करते हैं

उपरोक्त चर्चा का उद्देश्य केवल इतना ही सिद्ध करना है कि सूत्रकार शब्द का सब नियमेन तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वामी तक सीमित नहीं है पर प्रसंग की संगति के अनुरूप उसका अर्थ करना पड़ेगा उदाहरणार्थ आप्तपरीक्षा के निम्नोक्त पाठ में सूत्रकार शब्द आचार्य उमास्वामी के सिवाय और किसी आचार्य का बोधक नहीं माना जा सकता—'स गुप्ति समितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रेभ्यो भवति इति सूत्रकारमतम्'[1] 'पर-तत्त्वार्थसूत्रकारैरुमास्वामिप्रभृतिभिः'—इस प्रयोग मे सूत्रकार शब्द से केवल आचार्य उमास्वामी का बोध स्वीकार नहीं किया जा सकता

यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक है—यदि 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक आचार्य उमास्वामिविरचित तत्त्वार्थसूत्र के आदि में नहीं है तो उस श्लोक का कर्ता कौन है तथा आचार्य उमास्वामी का भगवद्गुणस्तोत्र कहाँ है ? और आचार्य विद्यानन्द द्वारा अपनी आप्तपरीक्षा में पुन: पुन आहृत सूत्रकारों द्वारा कहे गए गुणस्तोत्रविषयक निम्नोक्त कथनों का अभिप्राय क्या है ? उदाहरणार्थ

(क)— तस्मात्ते मुनिपुंगवा सूत्रकारादयः शास्त्रस्यादौ तस्य परमेष्ठिनो गुणस्तोत्रमाहु —(पृ ८)

(ख)—तत परमेष्ठिन प्रसादात्सूत्रकाराणां श्रेयोमार्गस्य संसिद्धेर्युक्त शास्त्रादौ परमेष्ठिगुणस्तोत्रम् (पृ ९)

इसका उत्तर यह है कि किसी सूत्रकार विशेष के गुणस्तोत्र-विशेष की विवक्षा यहां नहीं है शास्त्र के आदि में भगवद् गुणसंस्तवन के औचित्य मात्र का निर्देश है यदि किसी सूत्र के आदि मे गुणस्तोत्र उपलब्ध न हो तो समझना होगा कि वह शास्त्र में निबद्ध नहीं किया गया है आप्तपरीक्षाकार ने भी कहा है—'न च क्वचित् (भगवद्गुणसंस्तवनं) न क्रियत इति वाच्य तस्य शास्त्रे निबद्धस्यानिबद्धस्य मानसस्य वा वाचिकस्य वा विस्तरत संक्षेपतो वा शास्त्रकारैरवश्यं करणात् अर्थात् आचार्य उमास्वामी या अन्य किसी आचार्य विशेष की विवक्षा न रख कर शास्त्र के आदि में गुणस्तोत्र का सामान्य विधान यहां इष्ट है आप्तपरीक्षा कारिका ३ (मोक्षमार्गस्य नेतारम् श्लोक) के रूप मे वह गुणस्तोत्र-विशेष बताया गया है जिसे ध्यान में रखकर यह सामान्य विधान किया गया है, और वही आप्तपरीक्षा का आधारभूत सूत्र है इस श्लोक के प्रवक्ता का निर्देश शास्त्रादौ सूत्रकारा प्राहु. के द्वारा उत्थानिका में किया गया है पर श्लोकगत वन्दे पद के कर्ता का निर्देश करते हुए आचार्य विद्यानन्द लिखते हैं

'तस्मात् मोक्षमार्गस्य नेतार कर्मभूभृता भेत्तार विश्वतत्त्वानां ज्ञातार वन्दे इति शास्त्रकार' शास्त्रप्रारम्भे श्रोता तस्य व्याख्याता वा भगवन्त परमेष्ठिन परमपर वा मोक्षमार्गप्रणेतृत्वादिभिर्गुणै संस्तौति तत्प्रसादाच्छ्रेयोमार्गस्य संसिद्ध समर्थनात्' (पृ ११)

इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि वन्दे पद के कर्ता के रूप मे आप्तपरीक्षाकार को आचार्य उमास्वामी विवक्षित नहीं हैं किन्तु तत्त्वार्थशास्त्र के श्रोता अथवा व्याख्यातारूप शास्त्रकार इष्ट है ये शास्त्रकार और उक्त प्रवक्ता सूत्रकार यदि अभिन्न है तो सूत्रकार शब्द से आचार्य उमास्वामी का विवक्षित होना संभव नहीं

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकगत अनुपपत्ति-उपस्थापन तथा परिहार

उमास्वामिप्रणीत तत्त्वार्थसूत्र के किसी भी प्राचीन व्याख्याग्रन्थ के आदि में 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक की व्याख्या उपलब्ध नहीं है न पूज्यपाद देवनन्दि स्वय इसकी व्याख्या करते हैं न आचार्य अकलंक अपने तत्त्वार्थवार्तिक में इसका उल्लेख करते हैं न आचार्य विद्यानन्द ही अपने श्लोकवार्तिक मे

---

१ आप्तपरीक्षा पृ ६

तदर्थत्वात् तदनेन तव्याख्यानस्य शास्त्रत्व निवेदितम्[1] अतएव प्रस्तुत श्लोक जिस ग्रन्थ के आदि मे पाया जाता है वह भी तत्त्वार्थविषयक होने के कारण तत्त्वार्थशास्त्र है अर्थात् सर्वार्थसिद्धि को तत्त्वार्थशास्त्र तथा उसके रचयिता को तत्त्वार्थशास्त्रकार कहने मे कोई बाधा नही

'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक मे सूत्र के सभी लक्षण विद्यमान है तभी तो स्वामी समन्तभद्र जैसे श्रेष्ठ चिन्तक और आचार्य विद्यानन्द जैसे गभीर तार्किक इस श्लोक से प्रेरणा लेकर क्रमश आप्तमीमासा और आप्तपरीक्षा की रचना करते है अतएव इसे **सूत्र** और इसके रचयिता को **सूत्रकार** कहने मे कोई असगति लक्षित नही होती, चाहे वे आचार्य उमास्वामी हो या पूज्यपाद देवनन्दि ईश्वरकृष्ण प्रणीत साख्यकारिका प्रसिद्ध है इसकी प्राचीन टीका युक्तिदीपिका मे ईश्वरकृष्ण प्रणीत कई कारिकाशो को सूत्रसज्ञा दी गई है[2] आचार्य धर्मकीर्तिरचित प्रमाणवार्तिक दिग्नागकृत प्रमाण-समुच्चय की व्याख्या है[3] पर प्रमाणवार्तिक के टीकाकार कर्णगोमी ने प्रमाणवार्तिक के वाक्य को सूत्र[4] तथा धर्मकीर्ति को सूत्रकार[5] कहा है इस प्रसग मे आचार्य विद्यानन्द उद्धृत—सूत्र हि सत्य सयुक्तिक चोच्यते हेतुमत्तथ्यमिति सूत्रलक्षणवचनात्[6]—यह वचन भी स्मरणीय है

आचार्य उमास्वामी से भिन्न अन्य आचार्यो को **तत्त्वार्थसूत्रकार** कहा जा सकता है या नही ? हम देख चुके हैं, आचार्य विद्यानन्द को सूत्रकार शब्द से आचार्य उमास्वामी से अतिरिक्त अन्य तत्त्वोपदेशक आचार्य भी अभिप्रेत है अतएव अन्य आचार्यो को भी **तत्त्वार्थसूत्रकार** कहना असगत नही इस प्रकार आप्तपरीक्षा की—तत्त्वार्थसूत्रकारैरुमास्वामिप्रभृतिभि[7]—इस उक्ति की भी सगति बैठ जाती है पूज्यपाद देवनन्दि रचित सर्वार्थसिद्धि वृत्ति के महत्त्वपूर्ण सूत्रात्मक लक्षणवाक्यो की व्याख्या आचार्य अकलक ने अपने तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक) मे की है अतएव उसे तत्त्वार्थसूत्र तथा उसके कर्ता को सूत्रकार या तत्त्वार्थसूत्रकार कहने मे कोई बाधा नही होनी चाहिए

अब हम आप्तपरीक्षागत और एक उल्लेख पर विचार करेंगे आप्तपरीक्षा की द्वितीय कारिका के अन्वय के प्रसग मे कहा गया है—श्रेयसो मार्ग श्रेयोमार्ग तस्य ससिद्धि सम्प्राप्ति सम्यग् ज्ञप्तिर्वा, सा हि परमेष्ठिन प्रसादाद्-भवति मुनिपुगवाना यस्मात्तस्मात्ते मुनिपुगवा **सूत्रकारादय** शास्त्रस्यादौ तस्य परमेष्ठिनो गुणस्तोत्रमाहुरिति सम्बन्ध[8] इस उद्धरण मे सूत्रकारादय शब्द के अन्तर्गत आदि शब्द से कौन अभिप्रेत है? अर्थात् सूत्रकार शब्द द्वारा वृत्तिकार, वार्तिक-कार आदि का भी बोध यदि मान लें तब आदि शब्द से किसका ग्रहण इष्ट होगा ? यहाँ आदि शब्द से श्रोता को ले सकते है उपदेष्टा सूत्रकार शास्त्ररचना के पूर्व परापर परमेष्ठी की स्तुति करता है तो शिष्य श्रोता भी उपदेश ग्रहण के पूर्व परापरगुरुप्रवाह की गुणस्तुति अवश्य करता है अर्थात् प्रस्तुत प्रसग मे श्रोता और व्याख्याता द्वारा परमेष्ठि-गुणस्तोत्र की परम्परा विवक्षित है आप्तपरीक्षा का निम्नोक्त उद्धरण इस विषय पर प्रकाश डालता है—तस्मान्मोक्ष-मार्गस्य नेतार कर्मभूभृता भेत्तार विश्वतत्त्वाना ज्ञातार वन्दे इति **शास्त्रकार** शास्त्रप्रारम्भे **श्रोता तस्य व्याख्याता** वा भगवन्त परमेष्ठिन परमपर वा मोक्षमार्गप्रणतृत्वादिभिर्गुणै सस्तौति, तत्प्रसादाच्छ्रेयोमार्गस्य ससिद्धे समर्थनात्[9] यहाँ स्पष्टरूप से कहा गया है, 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' गुणस्तोत्र का कर्ता शास्त्रकार—श्रोता अथवा उसका व्याख्याता—

---

१ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० २
२ देखो—युक्तिदीपिका, पृ० २-३
३ देखो—कर्णगोमिकृत प्रमाणवार्तिकटीका, पृ० ४
४ वही, पृ० १२
५ वही, पृ० ८
६ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० ६
७ आप्तपरीक्षा, पृ० २६०, पादटिप्पण २
८ आप्तपरीक्षा, पृ० ७-८
९ आप्तपरीक्षा, पृ० १३

वे अपने इस अभिप्राय का स्पष्टीकरण आचार्य विद्यानन्द इस प्रकार करते हैं— *शास्त्रावतार रचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितमिदं शास्त्रं देवागमाभिधानमिति निर्णयः* (अष्टसती पृ० ३) अब अकलंकोक्त उक्त मंगलपुरस्सर-स्तव तथा स्वोक्त शास्त्रावतारचितस्तुति का समन्वय करते हुए आचार्य विद्यानन्द कहते हैं— मंगलपुरस्सरस्तवो हि शास्त्रावताररचितस्तुतिरुच्यते मंगलं पुरस्सरमस्येति मंगलपुरस्सरः शास्त्रावतारकालस्तत्र रचितः स्तवो मंगलपुरस्सरस्तव इति व्याख्यानात्' (अष्टसहस्री पृ० ३) शास्त्रावतार के समय मंगलाचरण किया जाता है अतएव 'मंगलपुरस्सर' शब्द का अर्थ हुआ शास्त्रावतारकाल। शास्त्रावतारकाल में रचित स्तव ही मंगलपुरस्सरस्तव है। अब प्रश्न उठता है वह कौन शास्त्र है जिसके अवतारकाल में वह स्तव किया गया है जिसमें आप्त की स्तुति की गई है ? इसका आनुषंगिक उत्तर आचार्य विद्यानन्द के इस वाक्य से मिलता है—'तदेव निःश्रेयसशास्त्रस्यादौ तन्निबन्धनतया मंगलार्थतया च मुनिभिः संस्तुतेन निरतिशयगुणेन भगवताप्तेन—(अष्टशती' पृ० ३) अर्थात् वह निःश्रेयसशास्त्र है जिसके आदि में प्रस्तुत स्तव किया गया है। यह निःश्रेयस-शास्त्र का अर्थ है मोक्षशास्त्र या तत्त्वार्थशास्त्र। इसी स्तव के बारे में आचार्य विद्यानन्द अपनी अष्टसती का उपसंहार करते हुए लिखते हैं—'शास्त्रारम्भेऽभिष्टुतस्याप्तस्य मोक्षमार्गप्रणेतृतया कर्मभूभृद्भेत्तृतया विश्वतत्त्वानां ज्ञातृतया च भगवदर्हत्सर्वज्ञस्यैवान्ययोगव्यवच्छेदेन व्यवस्थापरा परीक्षेयं विहिता इति स्वामिप्रेतार्थनिवेदन-माचार्याणामार्यैर्विचार्य प्रतिपत्तव्यम् (अष्टशती पृ० २९४)

अब हम आप्तपरीक्षागत उन दो पद्यों पर विचार करेंगे जिनमें 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक में प्रतिपादित आप्त की *मीमांसा स्वामी समन्तभद्र द्वारा किये जाने का तथा तत्त्वार्थशास्त्र के आदि में इस स्तव के पाये जाने का उल्लेख है* वे पद्यद्वय इस प्रकार हैं

> श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य ।
> प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत् ।
> स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितपृथुपथं स्वामि-मीमांसितं तत् ।
> विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्ध्यै ।
> इति तत्त्वार्थशास्त्रादौ मुनीन्द्र-स्तोत्र-गोचरा ।
> प्रणीताप्तपरीक्षेयं विवाद विनिवृत्तये[1] ।

प्रथम पद्य में श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्र की तुलना प्रकाशमान रत्नों के उद्भवस्थान समुद्र से की गई है यहाँ श्रीमत् शब्द मननीय है हम देख आये हैं तत्त्वार्थशास्त्र एवं तत्त्वार्थसूत्र शब्दों का प्रयोग आचार्य विद्यानन्द ने व्यापक अर्थ में किया है सम्भवतः उस व्यापक अर्थ के व्यवच्छेद के लिए यहाँ श्रीमत् विशेषण का प्रयोग किया गया है जिससे श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्र शब्द द्वारा आचार्य उमास्वामिविरचित तत्त्वार्थसूत्र का बोध हो सके यहाँ प्रोत्थान शब्द भी विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ है उत्थान शब्द का अर्थ है पुस्तक[2] अतएव प्रोत्थान शब्द का अर्थ हुआ प्रकृष्ट उत्थान अर्थात् वृत्ति या व्याख्यान[3] अतएव प्रोत्थानारम्भकाले का अर्थ हुआ 'व्याख्यानारम्भकाले' उक्त पद्य में 'स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितपृथुपथम्' द्वारा प्रशस्त मोक्षमार्ग को प्रकाशित करने वाले स्तोत्र (*मोक्षमार्गस्य नेतारम्* श्लोक) की तुलना उद्भासित-विस्तीर्ण-सोपानयुक्त तीर्थ से की गई है पद्यगत सलिलनिधि शब्द तथा विशिष्ट प्रोत्थान शब्द आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के निम्नोक्त स्तोत्रान्तर्गत महार्णव तथा उत्थान शब्द का स्मरण कराता है।

---

१ आप्तपरीक्षा पृ० ४१
२ [illegible]
[illegible]
[illegible]
३ [illegible]

अपितु आचार्य विद्यानन्द तत्वार्थसूत्र के प्रथमसूत्र की उपपत्ति सिद्ध करने के प्रसग मे, 'वार्तिक हि सूत्राणामनुपपत्तिचोदना तत्परिहारो विशेषाभिधान प्रसिद्धम्'[1]—वार्तिक के इस स्वीकृत लक्षण का अनुसरण करते हैं और अनुपपत्ति उपस्थापन प्रस्तुत करते हुए उसका उत्तर इस प्रकार देते हैं

ननु च तत्त्वार्थशास्त्रस्यादिसूत्र तावदनुपपन्न प्रवक्तृविशेषस्याभावेऽपि प्रतिपाद्यविशेषस्य च कस्यचित्प्रतिपित्सायामसत्यामेव प्रवृत्तत्वादित्यनुपपत्तिचोदनायामुत्तरमाह—

प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थे साक्षात्प्रक्षीणकल्मषे ।
सिद्धे मुनीन्द्रसस्तुत्ये मोक्षमार्गस्य नेतरि ।
सत्या तत्प्रतिपित्सायामुपयोगात्मकात्मन ।
श्रेयसा योक्ष्यमाणस्य प्रवृत्त सूत्रमादिमम् ।

तेनोपपन्नमेवेति तात्पर्यम्[2]

आचार्य विद्यानन्द के सामने यदि 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक उमास्वामिप्रणीत तत्त्वार्थसूत्र के आदि श्लोक के रूप मे रहता तो इस स्थल मे वे अवश्य उसकी ओर इगित करते और उसी के आधार पर उत्तर देते यहाँ यह बात ध्यानयोग्य है कि आचार्य विद्यानन्द के उक्त प्रश्नोत्तर के आधार पूज्यपाद देवनन्दि विरचित सर्वार्थसिद्धि के आदि मे उपलब्ध 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक उसी सर्वार्थसिद्धि तथा आचार्य अकलक प्रणीत तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक) के प्रारभिक वचन हैं, जो क्रमश निम्न प्रकार हैं

(क) कश्चिद् भव्य प्रत्यासन्ननिष्ठ प्रज्ञावान् स्वहितमुपलिप्सु निर्ग्रन्थाचार्यवर्यमुपसद्य सविनय पृच्छति स्म[3]

(ख) उपयोगस्वभावस्यात्मन श्रेयसा योक्ष्यमाणस्य प्रसिद्धौ सत्या तन्मार्गप्रतिपित्सोत्पद्यते[4] यह स्पष्टतया उद्धरण एक की तात्पर्य-व्याख्या है

यदि 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक आचार्य उमास्वामिविरचित होता तो इस प्रसग मे आचार्य विद्यानन्द उस बात का निर्देश आवश्य करते पर उसका मौन भाव सिद्ध करता है, यह श्लोक आचार्य उमास्वामिविरचित नही है

अष्टसहस्री तथा आप्तपरीक्षा के कुछ विशेष उल्लेख एवं आप्तमीमांसा

स्वामी समन्तभद्ररचित आप्तमीमासा पर आचार्य अकलक ने अष्टशती रची तथा अष्टशती पर आचार्य विद्यानन्द ने अष्टसहस्री की रचना की दो कारिकाओ मे मगलाचरण के समानन्तर आचार्य अकलक आप्तमीमासा के प्रथम श्लोक (देवागम-नभोयान) की उत्थानिक मे लिखते है—देवागमेत्यादि—मगलपुरस्सरस्तवविषयपरमाप्तगुणातिशयपरीक्षामुपक्षिपतैव स्वय श्रद्धागुणज्ञतालक्षण प्रयोजनमाक्षिप्त लक्ष्यते तदन्यतरापायेऽर्थस्यानुपपत्ते शास्त्रन्यायानुसारितया तथैवोपन्यासात् (पृ० २) इस वाक्य का विश्लेषण करते हुए आचार्य विद्यानन्द कहते हैं, यहाँ ग्रथ का प्रयोजन और साध्यसाधनसम्बन्ध बताये गये है ग्रथकारगत श्रद्धागुणज्ञतालक्षण 'प्रयोजन' है, तथा शास्त्रारम्भस्तवविषयाप्तगुणातिशयपरीक्षा 'साधन' है

ऐसा कह कर आचार्य विद्यानन्द अपनी अष्टसहस्री के मगलस्तवान्तर्गत—'शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमासितम्' —इस पद्याश को आचार्य अकलक की उक्ति का अनुवाद-मात्र सिद्ध करते हैं, अर्थात् आचार्य विद्यानन्द के मत मे आचार्य अकलक भी देवागम-शास्त्र (आप्तमीमासा) को शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्त की मीमासा करने वाला मानते

१ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० २
२ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० ४
३ सर्वार्थसिद्धि, पृ० १
४ तत्त्वार्थवार्तिक, पृ० १
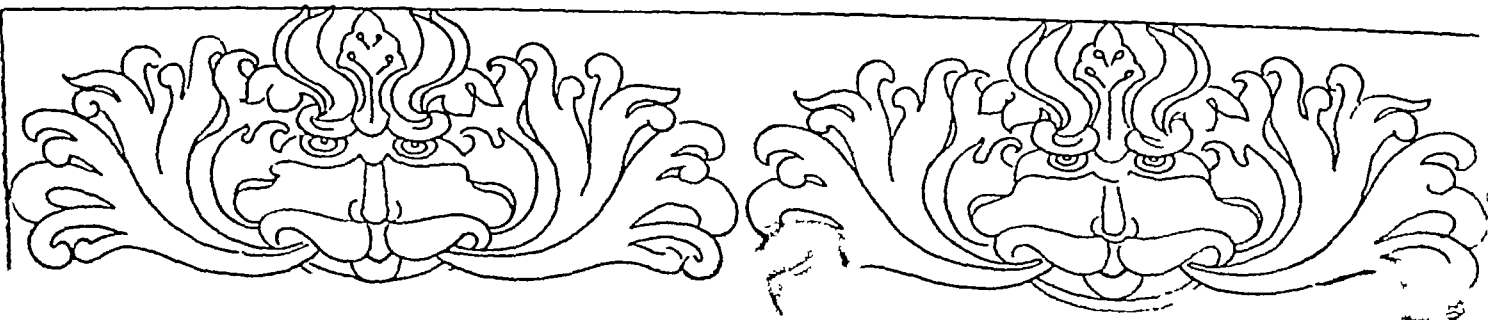
वे अपने इस अभिप्राय का स्पष्टीकरण आचार्य विद्यानन्द इस प्रकार करते हैं—'शास्त्रावतार रचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितमिदं शास्त्रं देवागमाभिधानमिति निर्णय' (अष्टशती पृ. १) अब अकलंकोक्त उस मंगलपुरस्सर-स्तव तथा स्वोक्त शास्त्रावताररचितस्तुति का समन्वय करते हुए आचार्य विद्यानन्द कहते हैं—'मंगलपुरस्सरस्तवो हि शास्त्रावताररचित स्तुतिरुच्यते मंगल पुरस्सरमस्येति मंगलपुरस्सर शास्त्रावतारकालस्तत्र रचित स्तवो मंगलपुरस्सरस्तव इति व्याख्यानात्' (अष्टसहस्री पृ. ३) शास्त्रावतार के समय मंगलाचरण किया जाता है अतएव 'मंगलपुरस्सर' शब्द का अर्थ हुआ शास्त्रावतारकाल शास्त्रावतारकाल में रचित स्तव ही मंगलपुरस्सरस्तव है अब प्रश्न उठता है वह कौन शास्त्र है जिसके अवतारकाल में वह स्तव किया गया है जिसमें आप्त की स्तुति की गई है ? इसका आनुषंगिक उत्तर आचार्य विद्यानन्द के इस वाक्य से मिलता है—'तदेव निःश्रेयसशास्त्रस्यादौ तन्निबन्धनतया मंगलार्थतया च मुनिभिः संस्तुतेन निरतिशय गुणेन भगवताप्तेन—(अष्टशती' पृ. १) अर्थात् वह निःश्रेयसशास्त्र है जिसके आदि में प्रस्तुत स्तव किया गया है यह निःश्रेयस-शास्त्र का अर्थ है मोक्षशास्त्र या तत्त्वार्थशास्त्र इसी स्तव के बारे में आचार्य विद्यानन्द अपनी अष्टशती का उपसंहार करते हुए लिखते हैं—'शास्त्रारम्भेऽभिष्टुतस्याप्तस्य मोक्षमार्गप्रणेतृतया कर्मभूभृद्भेतृतया विश्वतत्त्वानां ज्ञातृतया च भगवदर्हत्सर्वज्ञस्यैवान्ययोगव्यवच्छेदेन व्यवस्थापरा परीक्षेयं विहिता इति स्वाभिप्रेतार्थनिवेदन-मायायाणामार्यैर्विचार्य प्रतिपत्तव्यम (अष्टशती पृ. २१४)

अब हम आप्तपरीक्षागत उन दो पद्यों पर विचार करेंगे जिनमें 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक में प्रतिपादित आप्त की मीमांसा स्वामी समन्तभद्र द्वारा किये जाने का तथा तत्त्वार्थशास्त्र के आदि में इस स्तव के पाये जाने का उल्लेख है वे पद्यद्वय इस प्रकार है

> श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य ।
> प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैःकृतं यत् ।
> स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितपृथुपथं स्वामि-मीमांसितं तद् ।
> विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्ध्यै ।
> इति तत्त्वार्थशास्त्रादौ मुनीन्द्र-स्तोत्र-गोचरा ।
> प्रणीताप्तपरीक्षेयं विवाद-विनिवृत्तये[१] ।

प्रथम पद्य में श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्र की तुलना प्रकाशमान रत्नों के उद्भवस्थान समुद्र से की गई है यहाँ श्रीमत् शब्द मननीय है हम देख आये हैं तत्त्वार्थशास्त्र एवं तत्त्वार्थसूत्र शब्दों का प्रयोग आचार्य विद्यानन्द ने व्यापक अर्थ में किया है सम्भवतः उस व्यापक अर्थ के व्यवच्छेद के लिए यहाँ श्रीमत् विशेषण का प्रयोग किया गया है जिससे श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्र शब्द द्वारा आचार्य उमास्वामिविरचित तत्त्वार्थसूत्र का बोध हो सके यहाँ प्रोत्थान शब्द भी विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ है उत्थान शब्द का अर्थ है पुस्तक अतएव प्रोत्थान शब्द का अर्थ हुआ प्रकृष्ट उत्थान अर्थात् वृत्ति या व्याख्यान[२] अत एव प्रोत्थानारम्भकाले का अर्थ हुआ 'व्याख्यानारम्भकाले' उक्त पद्य में 'स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितपृथुपथम्' द्वारा प्रशस्तमोक्ष मार्ग का प्रकाशित करने वाले स्तोत्र ('मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक) की तुलना उद्भासित-विस्तीर्ण-सोपानयुक्त तीर्थ से की गई है पद्यगत सलिलनिधि शब्द तथा विशिष्ट प्रोत्थान शब्द आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के निम्नोक्त स्तोत्रान्तर्गत महार्णव तथा उत्थान शब्द का संस्मरण कराता है[३]

---

१ आप्तपरीक्षा पृ. २६

२ दे. तो आचार्य हेमचन्द्रविरचित अनेकार्थ संग्रह तृतीय काण्ड १८७-८

"उत्थान मन्ये पौरुषे तन्त्रे वृत्ति पुस्तके प्रमोदे प्रांगणे चैत्ये वास्तव्येऽङ्गने रणे ।

प्रांगणे — देखो — मेदिनी नान्तवर्ग ४० विश्वलोचन — नहरवर्गान्त, ५८

३ इस प्रसंग में उपलभ्यमान सूत्र १०६ का वोल शब्द विचारणीय है देखो सिद्धसेन व्याख्या तथा सर्वेन्द्रिय कृत बोध

सुनिश्चित न परतन्त्रयुक्तिपु स्फुरन्ति या. काश्चन सूक्तसम्पद ।
तवैव ता पूर्वमहार्णवोत्थिता जगत्प्रमाण जिनवाक्यविप्रुप ।

आप्तपरीक्षा से उद्धृत प्रथम पद्यान्तर्गत 'स्वामि-मीमासितम्' शब्द स्पष्ट रूप से स्वामी समन्तभद्र की आप्तमीमासा का निर्देश करता है

द्वितीयपद्यान्तर्गत तत्त्वार्थशास्त्र शब्द अविशिष्ट होने के कारण अपने व्यापक अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है अतएव इसका अर्थ आचार्य उमास्वामि द्वारा विरचित तत्त्वार्थसूत्र मानने की कोई आवश्यकता प्रतीत नही होती

उपसहार

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है, आचार्य विद्यानन्द की किसी भी उक्ति मे यह सिद्ध नही होता कि 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक के कर्त्ता आचार्य उमास्वामी है अपितु कही तो ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य उमास्वामी से भिन्न ही अन्य कोई आचार्य इसके कर्त्ता के रूप मे आचार्य विद्यानन्द को इष्ट है ऊहापोह से जो दूसरी महत्त्वपूर्ण बात फलित होती है, वह है स्वामी समन्तभद्र द्वारा 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' श्लोक को आधार बना कर आप्तमीमासा ग्रन्थ की रचना करना आचार्य विद्यानन्द केवल स्वय इस मत के पोषक नही, पर उनके मत मे आचार्य अकलक की भी यही मान्यता थी इस बात को आचार्य विद्यानन्द ने अष्टसहस्री के प्रारम्भ मे, जैसा कि हम ने ऊपर देखा, स्पष्ट कर दिया है अतएव सर्वार्थसिद्धि के प्रारम्भ मे उपलब्ध 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्, श्लोक को प्राचीन बाधक प्रमाण के अभाव मे पूज्य-पाद देवनन्दिकर्तृक ही मानना चाहिए तथा आप्तमीमासा के आधारभूत स्तोत्रविषयक आचार्य विद्यानन्द की मान्यता को ध्यान मे रखकर ही स्वामी समतभद्र के प्रादुर्भाव कालविषयक विचार प्रस्तुत करना उचित होगा

४, द्वात्रिंश०द्वात्रिंशिका, प्रथमद्वात्रिंशिका ३०

विद्याभूषण पं० के० भुजबली शास्त्री
सम्पादक 'गुरुदेव' मूडबिद्री

कर्णाटक के जैन शासक

दक्षिण भारत से जैनधर्म का सम्बन्ध सुप्राचीन काल से है भागवत के कथानुसार भगवान् ऋषभदेव का विहार कर्णाटक के कोंक बेंक कुटकादि प्रदेशों में भी हुआ था कोंक से वर्तमान कोंकण और कुटक से कोडगु का सम्बन्ध है इस बात को मै अन्यत्र[1] सप्रमाण सिद्ध कर चुका हूँ उधर बौद्धो के प्रामाणिक ग्रंथ महावंशादि से भी दक्षिण में जैनधर्म का अस्तित्व सुदीर्घ काल से सिद्ध होता है द्वारिका के नाश को पहले ही जानकर, भगवान् नेमिनाथ के पल्लव देश में जाने का उल्लेख जैनागमो में स्पष्ट अंकित है या तो ई पूर्व चौथी शताब्दी सम्बन्धी श्रुतकेवली भद्रबाहु की दक्षिणयात्रा की घटना को प्राय सभी इतिहासज्ञ स्वीकार करते है और अब प्रस्तुत विषय पर आएं

तमिलु प्रान्त में पाण्ड्यो की राजधानी मधुरा जैनो का केन्द्र रहा पाण्ड्य नरेश जैन धर्मानुयायी थे खारवेल के शिलालेख से विदित होता है कि उनके राज्याभिषेक के शुभावसर पर तत्कालीन पाण्ड्य नरेश ने घोड़ों से भरे हुए कतिपय जहाजो को भेंट रूप से उन्हे भेजा था इस पाण्ड्य वंश की एक शाखा दक्षिण कन्नड जिलान्तर्गत कारकूर मे भी राज्य करती रही तमिलु ग्रंथ नालडियार से ज्ञात होता है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ उत्तर से दक्षिण में जो एक विशाल मुनिसंघ आया था उस संघ के हजारों विद्वान् मुनि धर्मप्रचारार्थ इसी तमिलु प्रान्त मे आकर रह गये थे आचार्य पूज्यपाद के शिष्य वज्रनन्दी ने लगभग पांचवी शती में मधुरा में एक विशाल जैनसंघ को स्थापित किया था कतिपय विद्वानो की राय से सुप्रसिद्ध कुरल ग्रंथ के रचयिता जैनो के प्रातः स्मरणीय आचार्य कुन्दकुन्द ही है सर वाल्टर इलियट के मत से दक्षिण में कला-कौशल एवं साहित्य पर जैनो का काफी प्रभाव पड़ा है. काल्डवेल ने भी लिखा है कि—जैनो की उन्नति का युग ही तमिलु साहित्य का महायुग है एक जमाने में सारे दक्षिण भारत में जैनधर्म का गहरा प्रभाव था श्री शेषगिरिराव के अभिप्राय से वर्तमान विशाखपट्टण कृष्णा नेल्लूर आदि प्रदेशो मे जैनधर्म विशेष रूप से फैला था फिर भी कर्णाटक के इतिहास मे जैनधर्म का जो महत्त्वपूर्ण स्थान सुरक्षित है वह अन्यत्र कहीं नहीं है

कर्णाटक मे ई पू से ही जैनधर्म मौजूद था मान्य अन्वेषक विद्वानो की राय से श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ ही कर्णाटक में जैनधर्म का आगमन हुआ किन्तु कतिपय विद्वानो की यह भी राय है कि भद्रबाहु की यात्रा के पूर्व भी दक्षिण में जैनधर्म अवश्य रहा होगा अन्यथा श्रुतकेवलीजी का इतने बड़े संघ को इस सुदूर दक्षिण में लिवा लाने का साहस कभी नहीं होता अपने अनुयायी भक्तो के भरोसे पर ही उन्होने इस दुस्तर काम को किया होगा शिलालेखो से पता चलता है कि मौर्य और आन्ध्र वंश के पश्चात् कर्णाटक मे राज्य करने वाले कदंब और पल्लव वंश के शासक भी जैन धर्मावलंबी थे खासकर वनवासि के प्राचीन कदंब और पल्लवो के बाद सोमब (वर्तमान दक्षिण कन्नड जिला) मे राज्य करने वाले चामुण्ड नि सन्देह जैन धर्मानुयायी थे चामुण्डों ने अनेक देवालयो का दान दिया है

---

[1] देखो इसी ग्रंथ में संपादक का निबन्ध

गग शासक जैन धर्मावलबी थे इस वश के आदिम ऐतिहासिक पुरुष माधव और दडिग दोनो जैनाचार्य सिंहनदी के शिष्य थे सिंहनदी के ही द्वारा गगवाडि राज्य स्थापित हुआ था इस वश के शासको ने ई० सन् २५० से ९७५ तक राज्य किया था ई० सन् ४७५ मे राज्य करने वाले इस वश के शासक अविनीत के गुरु, जैन पण्डित विजयकीर्ति थे यह अविनीत विद्वान् था दुर्विनीत इसी का पुत्र था यह दुर्विनीत प्रसिद्ध जैनाचार्य पूज्यवाद का शिष्य रहा इस वश के शासको ने पल्लव, चोल और चालुक्यो को जीत कर कर्णाटक का दीर्घ काल तक वैभव पूर्वक शासन किया दुर्विनीत के पुत्र मुष्कर के नाम से धारवाड जिलातर्गत लक्ष्मेश्वर मे एक सुन्दर जिनमदिर निर्माण कराया गया था इसी वश के प्रतापी राजा मारसिंह ने चेर, चोल और पाण्ड्य राजाओ को पूर्णत हराया था यह जैनधर्म का पक्का अनुयायी था मारसिंह वैभवपूर्वक राज्य शासन कर अत मे राज्य को त्याग कर, जैनाचार्य गुरु अजितसेन के पादमूल मे जिनदीक्षा लेकर, धारवाड जिलातर्गत बकापुर मे, ई० सन् ९७५ मे, समाधि मरण पूर्वक स्वर्गवासी हुआ था

श्रवण वेटगोल मे विश्वविख्यात बाहुबली की मूर्ति को स्थापित करने वाला वीरमार्तण्ड चावुडराय इसी मारसिंह का मत्री एव सेनानायक था इसे त्रिभुवनवीर, सत्ययुधिष्ठिर, वीरमार्तण्ड आदि अनेक उपाधियाँ प्राप्त थी चावडराय सिद्धातचक्रवर्ती नेमिचन्द्रजी का शिष्य था इसके द्वारा गगराज्य और जैनधर्म दोनो की आशातीत उन्नति हुई थी चावुडराय सस्कृत, कन्नड आदि भाषाओ का बडा पण्डित था खैर, गगो का अस्तित्व कर्णाटक में सोलवी शताब्दी तक मौजूद था इस वश के अवसान के बाद कर्णाटक मे होय्सल शासकों ने जैनधर्म को आश्रय दिया

होय्सल वश के मूल पुरुष सल ने जैन-मुनि सुदत्त की सहायता से ही इस वश को स्थापित किया था. बाद मे इस वश के शासक विनयादित्य ने जैनाचार्य शातिदेव के आशीर्वाद से गगवडि का महामण्डलेश्वर हुआ इसने अपने शासनकाल में अनेक जिनमदिर और सरोवरो को निर्माण कराया था विनयादित्य का पुत्र युवराज एरेयग बडा वीर था इसने अपने श्रद्धेय गुरु आचार्य गोपनदी को, श्रमणवेल्गोलस्थ चद्रगिरि के जिनालयो के जीर्णोद्धार के लिये कतिपय ग्रामो को दान मे दे दिया था ये सब बाते श्रवणबेल्गोल के शिला लेखो में स्पष्ट अकित हैं विनयादित्य के उपरात बल्लाल शासक नियुक्त हुआ यह बल्लाल जब एक भयकर रोग से पीडित हुआ, तब श्रवणबेल्गोल के तत्कालीन मठाधीश चारकीर्तिजी ने ही उसे उस रोग से मुक्त किया था इसके उपलक्ष्य मे बल्लाल ने चारुकीर्तिजी को 'बल्लालजीवरक्षक' उपाधि से अलकृत किया था

बल्लाल के मामा दण्डनायक मरियण्ण ने सुखचद्राचार्य के नेतृत्व मे बेलेगेरे मे एक सुन्दर जिनमन्दिर निर्माणकारा कर वैभव-पूर्वक उसकी प्रतिष्ठा की थी कहा जाता है कि बल्लाल का उत्तराधिकारी विट्टिदेव रामानुजाचार्य के उपदेश से वैष्णव धर्मानुयायी हो गया था परन्तु अत तक उसे जैनधर्म पर बडी श्रद्धा रही इसके लिये एक-दो नही, अनेक उदाहरण दिये जा सकते है बिट्टिवर्धन की पटरानी शातला आचार्य श्रीप्रभाचन्द्र कीप क्की शिष्या रही इसने श्रवणबेल्गोल में 'सवतिगधवारणवसदि' नामक एक सुन्दर शिलामय जिनालय निर्माण कराकर, उसमे अपने नामानुकूल भगवान् श्री शातिनाथ की मूर्ति स्थापित की थी अत मे शातला ने सल्लेखना-द्वारा अपना शरीर त्याग किया था होय्सल राज्य मे एक-दो नही, प्रभावशाली अनेक जैन श्रावक उन्नताधिकार मे प्रतिष्ठित थे गगराज बिट्टिदेव का प्रधानमन्त्री एव सेना-नायक रहा यह गगराज श्रीशुभचन्द्र का शिष्य था इसने गोविन्दवाडि ग्राम को श्रीगोम्मटेश्वर की सेवा के लिये सादर एव सहर्ष समर्पित किया था गगराज ने चालुक्य नरेश त्रिभुवनमल्ल की प्रबल सेना को वीरता से जीतने के उपलक्ष्य में विट्टिदेव द्वारा बहुमान में प्राप्त परम ग्राम को मातापोचिकव्वे और पत्नी लक्ष्मी के द्वारा निर्मापित जिन-मन्दिर को समर्पित किया था

गगराज का बडा भाई बम्भ भी होय्सल राज्य का सेनापति था गगराज ने अपनी पूज्य माता की स्मृति में, श्रवण-बेल्गोल मे 'कत्तलेवसदि' के नाम से एक सुन्दर जिनालय निर्माण कराया था इसकी पत्नी लक्ष्मी के द्वारा भी श्रवणवेलगोल मे 'एरडुकट्टेवसदि' के नाम से एक मनोज्ञ जिनमन्दिर निर्माण हुआ था इस गगराज के पुत्र वोप्पण के द्वारा भी श्रवण-

बेल्गोल में एक जिनमन्दिर बनवाया गया था यह बोप्पण महाराजा विट्टिदेव का चतुर सेनापति था बोप्पण की पत्नी सेनानायक मरियण्ण एवं भरत की (ज्योति) छोटी बहन थी मरियण्ण और भरत ये दोनों प्रथम नरसिंह (ई सन् ११४१-११७१) के सेनानायक रहे इन सहोदरों ने सैकड़ो मन्दिर बनवाये और श्रवणबेल्गोल में चन्द्रगिरि पर भरत बाहुबली की मूर्तियाँ भी स्थापित की गण्डविमुक्त सिद्धान्तदेव इन सहोदरों के प्रथम गुरु थे इस होय्सल सेना में पुरुष ही नहीं अपने पूज्य पति सेनापति पुनीष के साथ जैन वीरांगना जक्कियब्बा भी सेनानायिका रही ये दोनों पति पत्नी श्रीअजितसेनाचार्य के शिष्य थे उपर्युक्त ये सभी बातें श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों में मौजूद हैं

जैनधर्म का परम श्रद्धालु हुल्ल होय्सल शासक विट्टिदेव नरसिंह और वीरबल्लाल इन तीनों के शासन काल में कोषाधिकारी था हुल्ल को शासन-कार्य एवं राज्यघटना के निर्माण में योगंधराय और राजनीति में बृहस्पति से भी प्रवीण बतलाया है यह महामण्डलाचार्य देवकीर्ति का शिष्य था इसने श्रवणबेल्गोल में शिलामय 'चतुर्विंशतितीर्थंकरबसदि' के नाम से एक सुन्दर जिन मन्दिर बनवाया था राजा नरसिंह जब यात्रार्थ श्रवणबेल्गोल गया तब इस मन्दिर की पूजा के लिये इसने सवणेरु नामक ग्राम को दान में दे दिया था हुल्ल की प्रार्थना से इस दान का समर्थन बल्लाल द्वितीय ने भी किया था इस प्रकार गंगराज हुल्ल और बोप्पण आदि श्रद्धालु जैन श्रावकों ने होय्सल शासकों से जैन धर्म की बड़ी-बड़ी सेवाएँ कराई हैं इन लोगों ने स्वयं भी जैनधर्म की अपार सेवा बजाकर, जैन इतिहास में अपना नाम अमर कर दिया है

अब राष्ट्रकूट राजवंश को लीजिए इस वंश के शासनकाल में भी कर्णाटक में जैनधर्म विशेष उन्नति पर था राष्ट्रकूट नृपति अमोघवर्ष प्रथम (ई सन् ८१४-७७) जैनधर्मानुयायी था इसकी राजधानी मलखेड़ या मान्यखेट थी इसके राज्य में कर्णाटक ही नहीं महाराष्ट्र का बहुभाग भी शामिल था अमोघवर्ष के गुरु आदि पुराण के रचयिता भगवज्जिनसेन थे इसे नृप तुंग और अतिशयधवल उपाधियाँ थी अमोघवर्ष ने वैभवपूर्वक राज्य शासन कर अंत में जिनदीक्षा ली थी अमोघवर्ष के शासनकाल में जैन वाङ्मय विशेष रूप से प्रवर्धमान हुआ जयधवला जयधवला शाकटायनव्याकरण की अमोघवृत्ति और गणितसार आदि बहुमूल्य कृतियाँ इसी के शासनकाल में रची गई राष्ट्रकूट शासकों में प्राय सभी शासक जैनधर्म के अनुयायी थे कृष्ण द्वितीय के गुरु आचार्य गुणभद्र थे इसी के शासनकाल में जैन वीरांगना जक्कियब्बे नागरखण्ड में दक्षता से राज्य करती रही राष्ट्रकूट के अंतिम शासक इन्द्र ने अन्त में श्रवणबेल्गोल जाकर ई सन् ९८४ में समाधिमरण स्वीकार किया था राष्ट्रकूट शासकों के सामंत जैन वीर बंकेय इसका सुयोग्य पुत्र लोकादित्य नागार्जुन आदि कर्णाटकीय राजनीति की उन्नति एवं संस्कृति के उत्थान में पूर्ण सहयोगी रहे

चालुक्यवंश जैन धर्मानुयायी नहीं था फिर भी इस वंश के शासक जैनधर्म से विशेष प्रभावित थे इस वंश के पुलकेशि द्वितीय के गुरु जैनाचार्य रविकीर्ति थे इसी प्रकार विनयादित्य के धर्मगुरु जैन विद्वान् निरवद्यदेव रहे विक्रमादित्य का विवाह तो जैन राजवंश से ही हुआ था इसकी रानी तथा इगमिगि प्रांत की शासिका जाकलदेवी के द्वारा वहाँ पर दो सुन्दर जिनमन्दिर निर्माण कराये गये थे चालुक्य शासकों ने जैन कवियों को भी सहर्ष आश्रय दिया था कन्नड आदिपुराण का कर्ता यशस्वी महाकवि पंप चालुक्य राज-सभा का भूषण था वद्दिग के द्वारा निर्मापित एक जिनालय के लिये अरिकेसरी ने सोमदेवसूरी को एक गाँव दान में दिया था रामस्वामी अय्यंगार के मत से कलचुरि राजवंश पक्का जैन धर्मानुयायी था इस बात को उन्होंने अपनी कृति में पुष्ट प्रमाणों से सिद्ध किया है

विजयनगर साम्राज्य के काल में भी जैन वीरों का साहस कुण्ठित नहीं हुआ था सेनानायक बैचण्ण वीर, दात दण्डनायक चमूप आदि जैन ही थे इन्हीं वीरों की मदद से हरिहर को सिंहासन मिला बुक्कराय के शासनकाल में भी दण्डनायक मुग्गप मल्लप्प और वैचप्प का पुत्र इरुगप्प आदि सम्मान पूर्वक अधिकारारूढ रहे इरुगप्प हरिहर द्वितीय का भी मंत्री था प्रथम देवराय की पत्नी भीमादेवी जैनधर्मावलम्बिनी थी इसने 'श्रवणबेल्गोलस्थ मंगायिबसदि' में भगवान् पार्श्वनाथ की मूर्ति स्थापित की थी देवराय ने भी विजयनगर में पार्श्वनाथबसदि का निर्माण कराया था विजयनगर के इन शासकों ने जैनधर्म से प्रभावित हो अनेक जिनालयों को दान भी दिया है इस वंश के प्रतापी सम्राट् बुक्कराय प्रथम

गग शासक जैन धर्मावलबी थे इस वश के आदिम ऐतिहासिक पुरुष माधव और दडिग दोनो जैनाचार्य सिंहनदी के शिष्य थे सिंहनदी के ही द्वारा गगवाडि राज्य स्थापित हुआ था इस वश के शासको ने ई० सन् २५० से ९७५ तक राज्य किया था ई० सन् ४७५ मे राज्य करने वाले इस वश के शासक अविनीत के गुरु, जैन पण्डित विजयकीर्ति थे यह अविनीत विद्वान् था दुर्विनीत इसी का पुत्र था यह दुर्विनीत प्रसिद्ध जैनाचार्य पूज्यवाद का शिष्य रहा. इस वश के शासको ने पल्लव, चोल और चालुक्यो को जीत कर कर्णाटक का दीर्घ काल तक वैभव पूर्वक शासन किया दुर्विनीत के पुत्र मुष्कर के नाम से धारवाड जिलातर्गत लक्ष्मेश्वर मे एक सुन्दर जिनमदिर निर्माण कराया गया था इसी वश के प्रतापी राजा मारसिंह ने चेर, चोल और पाण्ड्य राजाओ को पूर्णत हराया था यह जैनधर्म का पक्का अनुयायी था मारसिंह वैभवपूर्वक राज्य शामन कर अत मे राज्य को त्याग कर, जैनाचार्य गुरु अजितसेन के पादमूल मे जिनदीक्षा लेकर, धारवाड जिलातर्गत वकापुर मे, ई० सन् ९७५ मे, समाधि मरण पूर्वक स्वर्गवासी हुआ था

श्रवण वेटगोल मे विश्वविख्यात वाहुबली की मूर्ति को स्थापित करने वाला वीरमार्तण्ड चावुडराय इसी मारसिंह का मत्री एव सेनानायक था इसे त्रिभुवनवीर, सत्ययुधिष्ठिर, वीरमार्तण्ड आदि अनेक उपाधियाँ प्राप्त थी चावडराय सिद्धातचक्रवर्ती नेमिचन्द्रजी का शिष्य था इसके द्वारा गगराज्य और जैनधर्म दोनो की आशातीत उन्नति हुई थी चावुडराय सस्कृत, कन्नड आदि भाषाओ का बडा पण्डित था खैर, गगो का अस्तित्व कर्णाटक में सोलवी शताब्दी तक मौजूद था इस वश के अवसान के वाद कर्णाटक मे होय्सल शासको ने जैनधर्म को आश्रय दिया

होय्सल वश के मूल पुरुष सल ने जैन-मुनि सुदत्त की सहायता से ही इस वश को स्थापित किया था. बाद में इस वश के शासक विनयादित्य ने जैनाचार्य शातिदेव के आशीर्वाद से गगवडि का महामण्डलेश्वर हुआ इसने अपने शासनकाल में अनेक जिनमदिर और सरोवरो को निर्माण कराया था विनयादित्य का पुत्र युवराज एरेयग वडा वीर था इसने अपने श्रद्धेय गुरु आचार्य गोपनदी को, श्रमणवेल्गोलस्थ चद्रगिरि के जिनालयो के जीर्णोद्धार के लिये कतिपय ग्रामो को दान मे दे दिया था ये सब बातें श्रवणवेल्गोल के शिला लेखो में स्पष्ट अकित हैं विनयादित्य के उपरात बल्लाल शासक नियुक्त हुआ यह बल्लाल जब एक भयकर रोग से पीडित हुआ, तब श्रवणवेल्गोल के तत्कालीन मठाधीश चारकीर्तिजी ने ही उसे उस रोग से मुक्त किया था इसके उपलक्ष्य मे बल्लाल ने चारुकीर्तिजी को 'बल्लालजीवरक्षक' उपाधि से अलकृत किया था

बल्लाल के मामा दण्डनायक मरियण्ण ने सुखचद्राचार्य के नेतृत्व मे बेलेगेरे मे एक सुन्दर जिनमन्दिर निर्माणकारा कर वैभव-पूर्वक उसकी प्रतिष्ठा की थी कहा जाता है कि बल्लाल का उत्तराधिकारी बिट्टिदेव रामानुजाचार्य के उपदेश से वैष्णव धर्मानुयायी हो गया था परन्तु अत तक उसे जैनधर्म पर बडी श्रद्धा रही इसके लिये एक-दो नही, अनेक उदाहरण दिये जा सकते है बिट्टिवर्धन की पटरानी शातला आचार्य श्रीप्रभाचन्द्र कीप क्की शिष्या रही इसने श्रवणबेलगोल में 'सवतिगधवारणबसदि' नामक एक सुन्दर शिलामय जिनालय निर्माण कराकर, उसमे अपने नामानुकूल भगवान् श्री शातिनाथ की मूर्ति स्थापित की थी अत मे शातला ने सल्लेखना-द्वारा अपना शरीर त्याग किया था होय्सल राज्य मे एक-दो नही, प्रभावशाली अनेक जैन श्रावक उन्नताधिकार मे प्रतिष्ठित थे गगराज बिट्टिदेव का प्रधानमन्त्री एव सेना-नायक रहा यह गगराज श्रीशुभचन्द्र का शिष्य था इसने गोविन्दवाडि ग्राम को श्रीगौम्मटेश्वर की सेवा के लिये सादर एग सहर्ष समर्पित किया था गगराज ने चालुक्य नरेश त्रिभुवनमल्ल की प्रबल सेना को वीरता से जीतने के उपलक्ष्य में बिट्टिदेव द्वारा बहुमान में प्राप्त परम ग्राम को मातापोचिकव्वे और पत्नी लक्ष्मी के द्वारा निर्मापित जिन-मन्दिर को समर्पित किया था

गगराज का बडा भाई वम्भ भी होय्सल राज्य का सेनापति था गगराज ने अपनी पूज्य माता की स्मृति में, श्रवण-वेल्गोल मे 'कत्तलेवसदि' के नाम से एक सुन्दर जिनालय निर्माण कराया था इसकी पत्नी लक्ष्मी के द्वारा भी श्रवणवेल्गोल में 'एरडुकट्टेवसदि' के नाम से एक मनोज्ञ जिनमन्दिर निर्माण हुआ था इस गगराज के पुत्र बोप्पण के द्वारा भी श्रवण-

मुनि श्रीनथमलजी

उपनिषद्, पुराण और महाभारत में श्रमण संस्कृति का स्वर

श्रमण परम्परा आत्म विद्या की परम्परा है वह उतनी ही प्राचीन है जितनी प्राचीन आत्म-विद्या है भारतीय विद्याओं मे आत्म विद्या का स्थान सर्वोच्च है जो व्यक्ति आत्मा को नही जानता वह बहुत कुछ जानकर भी ज्ञानी नही बन पाता शौनक ने अंगिरा से पूछा—'भगवन् ! वैसा क्या है ? जिसे जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाय [1]

उपनिषदो में इसका उत्तर है—'आत्मा को जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है यह श्रमण-संस्कृति का प्रधान स्वर है

आत्म-विद्या क्षत्रिय परम्परा के अधीन रही है पुराणों के अनुसार क्षत्रियो के पूर्वज भगवान् ऋषभ है श्रीमद्भागवत कार के अभिमत म भगवान् ऋषभ मोक्षधर्म के प्रवर्तक अवतार है [3] भगवान् ऋषभ के सौ पुत्र थे उनमें नौ पुत्र वातरशन श्रमण बने वे आत्म-विद्या विशारद थे [4] भगवान् ऋषभ ने जिस आत्म विद्या और मोक्ष विद्या का प्रवर्तन किया वह सुदीर्घ काल तक क्षत्रियों के अधीन रही बृहदारण्यक और छान्दोग्य उपनिषद् में हम देख पाते है कि अनेक ब्राह्मण ऋषि क्षत्रिय राजाओ के पास आते है और आत्म विद्या का बोध लेते है [5]

विन्टरनित्स के मत मे दार्शनिक चिन्तन (अथवा आचरण) ब्राह्मण युग के पश्चात् नही पूर्व शुरु हो चुका था स्वयं ऋग्वेद म ही कुछ ऐसे सूक्त है जिनमे देवताओ म और पुरोहितो की अद्भुत शक्ति मे जनता के अन्धविश्वास के प्रति कुछ सन्देह स्पष्ट हो चुके है [6]

---

१ मुण्डकोपनिषद् १।१।३

२ (क) ब्रह्माण्ड पुराण पूर्वार्ध अनुषङ्गपाद अध्याय १४ श्लोक ६
ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः ।
(ख) वायुमहापुराण पूर्वार्ध अध्याय ३३ श्लोक ५
नाभिस्त्वजनयत् पुत्रं मरुदेव्यां महाद्युतिः ।
ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ।

३ श्रीमद्भागवत ११ । २।१६ (गीताप्रेस गोरखपुर प्रथम संस्करण)
तमाहुर्वासुदेवांशं मोक्षधर्मविवक्षया ।
अवतीर्णं सुतशतं तस्यासीद् ब्रह्मपारगम् ।

४ श्रीमद्भागवत ११।
नवाभवन् महाभागा मुनयो ह्यर्थशंसिनः ।
श्रमणा वातरशना आत्म-विद्या विशारदाः ।

५ छान्दोग्य उपनिषद् ५।३ ५।११ (१ संस्करण), बृहदारण्यक ६।२ ।१ (१ संस्करण)

६ प्राचीन भारतीय साहित्य, प्रथम भाग प्रथम खण्ड पृष्ठ ६८ (मोतीलाल बनारसीदास)

के ई० सन् १३६५ का एक लेख बहुत ही महत्त्वपूर्ण है यह लेख श्रवणबेलगोलस्थ 'भण्डारिबसदि' मे आज भी मौजूद है इस लेख मे लिखा है कि जैनधर्मावलम्बियो के द्वारा बुक्कराय से वैष्णवो की ओर से होने वाले अत्याचार की शिकायत की जाने पर बुक्कराय ने जैन और वैष्णव दोनो सम्प्रदायो के प्रभावशाली व्यक्तियो को एकत्रित कर जैन भक्तो का हाथ वैष्णवो के हाथ मे रख कर, दोनो मे मेल कराया साथ ही घोषणा की कि जैन और वैष्णव दोनो मत अभिन्न है दोनो एक ही शरीर के अग है

इसी प्रकार चेगाल्व, कोगाल्व, शातर आदि दक्षिण के कई जैन सामत शासक भी काफी प्रसिद्ध रहे खासकर तोलव [दक्षिण कन्नड] के बैररस, वग, अजिल, मूल, चौट, सेवत, विण्णाणि, कोन्न आदि कई सामत शासक, पक्के जैन-धर्मावलबी हो वैभवपूर्वक यहाँ पर शासन करते रहे इन सामतो मे से वैररस के द्वारा कारकलस्थ गोम्मट-मूर्ति और तिम्मण्ण अजिल के द्वारा वेणूरस्थ गोम्मट-मूर्ति समारोहपूर्वक स्थापित की गई थी इस प्रकार एक जमाने मे कर्णाटक में जैन-धर्म लिये के जैन शासको का बडा बल रहा वह जमाना जैनधर्म के लिये सुवर्ण-युग ही था

आप मुझे उस यथार्थ उपाय का उपदेश कीजिए जिसके अनुसार मैं धर्म का आचरण कर सकूं ?

पिता ने कहा—'बेटा ! द्विज को चाहिए कि वह पहले ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हुए सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन करे फिर गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर के पितरों की सद्‌गति के लिए पुत्र पैदा करने की इच्छा करे विधि-पूर्वक त्रिविध अग्निमा की स्थापना करके यज्ञों का अनुष्ठान करे तत्पश्चात् वानप्रस्थ-आश्रम में प्रवेश करे उसके बाद मौनभाव से रहते हुए सन्यासी होने की इच्छा कर

पुत्र ने कहा—'पिता ! यह लोक जब इस प्रकार से मृत्यु द्वारा मारा जा रहा है जरा अवस्था द्वारा चारों ओर से घेर लिया गया है दिन और रात सफलता पूर्वक आयुक्षय रूप काम कर के बीत रहे हैं ऐसी दशा में भी आप धीर की भांति कैसी बात कर रहे हैं ?

पिताने पूछा—'बेटा ! तुम मुझे भयभीत-सा क्यों कर रहे हो ? बताओ तो सही यह लोक किससे मारा जा रहा है किसने हमें घेर रखा है और यहां कौन से ऐसे व्यक्ति है जो सफलता पूवक अपना काम करके व्यतीत हो रहे है

पुत्र ने कहा— पिता ! देखिए यह सम्पूर्ण जगत् मृत्यु के द्वारा मारा जा रहा है बुढ़ापे ने इसे चारों ओर से घेर लिया है और ये दिन रात ही वे व्यक्ति है जो सफलता पूवक प्राणियों की आयु का अपहरण स्वरूप अपना काम करके व्यतीत हो रहे हैं इस बात को आप समझते क्यो नही ?

'ये अमोघ रात्रियां नित्य आती है और चली जाती है जब मै इस बात को जानता हू कि मृत्यु क्षणभर के लिये भी रुक नही सकती और मैं उसके जाल में फसकर ही विचर रहा हू तब मैं थोड़ी देर भी प्रतीक्षा कैसे कर सकता हू ?

'जब एक-एक रात बीतने के साथ ही आयु बहुत कम होती चली जा रही है तब छिछले जल मे रहनेवाली मछली के समान कौन सुख पा सकता है ?

जिस रात के बीतने पर मनुष्य कोई शुभ कर्म न करे उस दिन को विद्वान् पुरुष 'व्यर्थ ही गया' समझे मनुष्य की कामनाए पूरी भी नही होने पाती कि मौत उसके पास आ पहुचती है

जैसे घास चरते हुए भेड़े के पास अचानक व्याघ्री पहुच जाती है और उसे दबोचकर चल देती है उसी प्रकार मनुष्य का मन जब दूसरी ओर लगा होता है, उसी समय सहसा मृत्यु आ जाती है और उसे लेकर चल देती है इसलिए जो कल्याणकारी कार्य हो उसे आज ही कर डालिए, क्योकि जीवन निःसन्देह अनित्य है धर्माचरण करने से इहलोक में मनुष्य की कीर्ति का विस्तार होता है और परलोक में भी उसे सुख मिलता है

अत अब मैं हिंसा से दूर रहकर सत्य की खोज करूगा काम और क्रोध को हृदय से निकालकर दुःख और सुख में समान भाव रखूगा तथा सबके लिये कल्याणकारी बनकर देवताओं के समान मृत्यु के भय से मुक्त हो जाऊगा

मैं निवृत्ति परायण होकर शान्तिमय यज्ञ में तत्पर रहूगा मन और इन्द्रियो को वश मे रखकर ब्रह्म-यज्ञ में लग जाऊगा और मुनि वृत्ति से रहूगा उत्तरायण मार्ग से जाने के लिये मैं जप और स्वाध्याय रूप वाग्यज्ञ ध्यान रूप मनोयज्ञ और अग्निहोत्र एवं गुरुशुश्रूषादि रूप कर्म-यज्ञ का अनुष्ठान करूगा

पशुयज्ञैः कथं हिंस्रैर्मादृशो यष्टुमर्हति
अन्तवद्भिरिव प्राज्ञः क्षेत्रयज्ञैः पिशाचवत्

मर जैसा विद्वान् पुरुष नश्वर फल देनेवाले हिंसायुक्त पशुयज्ञ और पिशाचो के समान अपने शरीर के ही रक्त-मांस द्वारा किय जाने वाल तामसयज्ञो का अनुष्ठान कैसे कर सकता है ?

जिसकी वाणी और मन दोनो सदा भली भांति एकाग्र रहते हैं तथा जो त्याग तपस्या और सत्य से सम्पन्न होता है वह निश्चय ही सब कुछ प्राप्त कर सकता है

ससार म विद्या (ज्ञान) के समान कोई नेत्र नहीं है सत्य के समान कोई तप नही है राग के समान कोई दुःख नही है औ त्याग के समान कोई सुख नही है
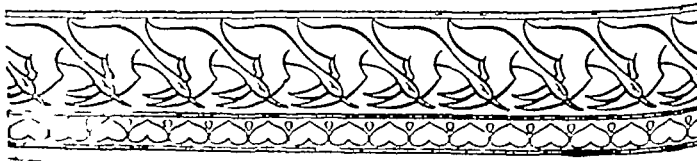
'भारत के इन प्रथम दार्शनिको को उस युग के पुरोहितो मे खोजना उचित न होगा, क्योकि पुरोहित तो यज्ञ को एक शास्त्रीय ढाचा देने मे दिलोजान मे लगे हुए थे   जबकि इन दार्शनिको का ध्येय वेद के अनेकेश्वरवाद को उन्मूलित करना ही था जो ब्राह्मण यज्ञो के आडम्बर द्वारा ही अपनी रोटी कमाते है उन्ही के घर मे ही कोई ऐसा व्यक्ति जन्म ले-ले जो इन्द्र तक की सत्ता मे विश्वास न करे, देवताओ के नाम से आहुतिया देना जिसे व्यर्थ नजर आए—बुद्धि नही मानती सो अधिक सभव नही प्रतीत होता कि यह दार्शनिक चिन्तन उन्ही लोगो का क्षेत्र था जिन्हे वेदो मे पुरोहितो का शत्रु अर्थात् अरि, कजूस, ब्राह्मणो को दक्षिणा देने से जी चुराने वाला—कहा गया है

उपनिषदो मे तो, और कभी-कभी ब्राह्मणो मे भी, ऐसे कितने ही स्थल आते है जहाँ दर्शन अनुचिन्तन के उस युग-प्रवाह मे क्षत्रियो की भारतीय सस्कृति को देन स्वत सिद्ध हो जाती है [1]

अपने पुत्र श्वेतकेतु से प्रेरित हो आरुणि पचाल के राजा प्रवाहण के पास गया   तब राजा ने उससे कहा—'मै तुम्हे जो आत्म-विद्या और परलोक-विद्या दे रहा हूँ, उस पर आज तक क्षत्रियो का प्रशासन रहा है आज पहली बार वह ब्राह्मणो के पास जा रही है [2]

परा और अपरा

माण्डूक्य उपनिषद् मे विद्या के दो प्रकार किए गए है, परा और अपरा [3] उसमे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिप—यह अपरा है   जिससे अक्षर-परमात्मा का ज्ञान होता है, वह परा है [4]

महर्षि बृहस्पति ने प्रजापति मनु से कहा—'मैंने ऋक्, साम और यजुर्वेद, अथर्ववेद, नक्षत्र-गति, निरुक्त, व्याकरण, कल्प और शिक्षा का भी अध्ययन किया है तो भी मैं आकाश आदि पाचो महाभूतो के उपादान कारण को न जान सका'[5] प्रजापति मनु ने कहा—'मुझे इष्ट की प्राप्ति हो और अनिष्ट का निवारण हो, इसी के लिये कर्मों का अनुष्ठान आरम्भ किया गया है इष्ट और अनिष्ट दोनो ही मुझे प्राप्त न हो, इसके लिये ज्ञानयोग का उपदेश दिया गया है वेद मे जो कर्मों के प्रयोग बताए गए है, वे प्राय सकाम भाव से युक्त है जो इन कामनाओ से मुक्त होता है, वही परमात्मा को पा सकता है नाना प्रकार के कर्म मार्ग मे सुख की इच्छा रखकर प्रवृत्त होने वाला मनुष्य परमात्मा को प्राप्त नही होता [6]

पिता-पुत्र सवाद

ब्राह्मण पुत्र मेधावी मोक्ष-धर्म के अर्थ मे कुशल था वह लोक-तत्त्व का अच्छा ज्ञाता था एक दिन उसने अपने स्वाध्याय परायण पिता से कहा

'पिता ! मनुष्यो की आयु तीव्र गति से बीती जा रही है यह जानते हुए धीर पुरुष को क्या करना चाहिए ? तात !

---

१ वही पृष्ठ १८३

२ छान्दोग्य उपनिषद् ५।३।७ पृष्ठ ४७६

यथा मा त्व गौतमावदो यथेय न प्राक् त्वत्त पुरा विद्या ब्राह्मणान्गच्छति तस्माद् सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति तस्मै होवाच

(ख) बृहदारण्यक ६।२।८ पृष्ठ १२८७

यथेय विद्येत पूर्व न कस्मिश्चन ब्राह्मण उवास ता त्वह तुभ्य वक्ष्यामि

३ १।१।४

४ १।१।५

५ महाभारत शान्तिपर्व २०१।८ (प्रकाशक—गीताप्रेस गोरखपुर)

६ महाभारत शान्तिपर्व २०१। १० ११
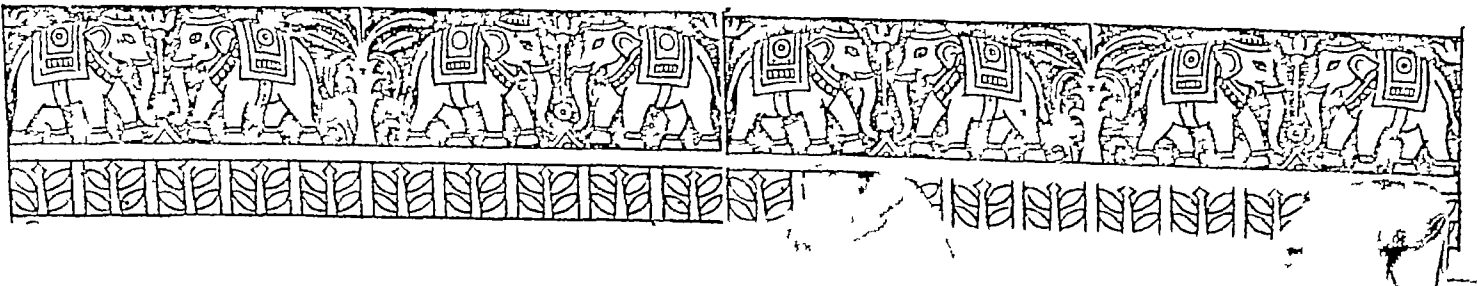
पिता की बाणी सुन सुमति कुछ नही बोला पिता ने अपनी बात को बार-बार दोहराया तब सुमति मुस्कान भरते हुए बोला — पिता आपने जो उपदेश दिया उसका म बहुत बार अभ्यास कर चुका हू अनेक शास्त्रों और शिल्पो का भी मैंने अभ्यास किया है मुझे मेरे अनेक पूर्व-जन्मों की स्मृति हो रही है मुझे ज्ञानबोध उत्पन्न हो गया है मुझे वेदो से कोई प्रयोजन नही है मैंने अनेक माता-पिता किये है [1]

ससार परिवर्तन के लम्बे वर्णन के बाद सुमति ने कहा — पिता ! ससार चक्र में भ्रमण करते-करते मुझे अब मोक्ष प्राप्ति कराने वाला ज्ञान मिल गया है उसे प्राप्त करने पर यह सारा ऋग् यजु और साम संहिता का क्रिया-कलाप मुझे विगुण सा भ्रम रहा है यह मुझे सम्यक प्रतिभासित नही हो रहा है बोध उत्पन्न हो गया है म गुरु-विज्ञान से तृप्त और निरीह हो गया हू मुझे वेदों से कोई प्रयोजन नही पिता ! म किंपाक फल के समान इस अपकर्षयुक्त त्रयीधर्म (ऋग् यजु साम-धर्म) को छोड़कर परमपद की प्राप्ति के लिये जाऊंगा [2]

पिता ने पूछा पुत्र ! यह ज्ञान तुझे कैसे सम्भव हुआ ? सुमति ने कहा— पिता मैं पूर्वजन्म में परमात्मलीन ब्राह्मण संन्यासी था आत्म विद्या में मुझे परानिष्ठा प्राप्त थी मैं आचार्य हुआ अन्त में मरते समय मुझे प्रमाद हो आया एक वर्ष का होते-होते मुझे पूर्व-जन्म की स्मृति हो आई मुझे जो जाति स्मरण ज्ञान हुआ है उसे त्रयी-धर्म का आश्रय लेने वाले नही पा सकते [3]

यज्ञ

सोलह ऋत्विक यजमान और उसकी पत्नी—ये अठारह यज्ञ के साधन है ये सब निकृष्ट कर्म के आश्रित और विनाशी है जो मूढ़ यही श्रेय है इस प्रकार इनका अभिनन्दन करते है वे बार-बार जरा-मरण को प्राप्त होते रहते है [4]

यज्ञ संस्था की उपयोगिता के प्रति सन्देह की भावना आरण्यक काल में भी उत्पन्न हो गई थी तत्त्वज्ञानी के लिये आध्यात्मिक यज्ञ का विधान होने लगा था तैत्तरीय आरण्यक में लिखा है ब्रह्म का साक्षात्कार पाने वाले विद्वान् संन्यासी के लिये यज्ञ का यजमान आत्मा है अन्त करण की श्रद्धा पत्नी है शरीर समिधा है हृदय वेदि है मन्यु रोष पशु है तप अग्नि है और दम दक्षिणा है [5]

ये स्वर इतिहास के उस काल म प्रबल हुए थे जब श्रमण विचार-धारा कर्मकाण्ड को आत्म-विद्या से प्रभावित कर रही थी

---

१ वही श्लोक १४-२१

२ मार्कण्डेय पुराण अध्याय १ श्लोक २७-२८ ३१
 एवं संसारचक्रेऽस्मिन्भ्रमता तात ! सङ्कटे ।
 ज्ञान मेतन्मया प्राप्त मोक्ष-सम्प्राप्ति कारकम् ।
 विज्ञाते यत्र सर्वोऽयं ऋग् यजु साम संहिता ।
 क्रिया कलापो विगुणो न सम्यक् प्रतिभाति मे ।
 तस्माद् यास्याम्यह तात त्यक्त्वेमां दुःखसन्ततिम् ।
 त्रयी-धर्मं मधर्माढ्यं किंपाकफलसन्निभम् ।

३ मार्कण्डेय पुराण अध्याय १ श्लोक ३४ ४२
 ज्ञानलाभ कृत ह्येतद्, यस्माति ज्ञात मम ।
 नैतद् प्राप्स्यते तात ! त्रयीधर्माश्रितैर्नरैः ।४२।

४ मुण्डकोपनिषद् १।२।७ पृष्ठ ३८

५ तैत्तरीय आरण्यक प्रपाठक १ अनुवाक ६४ भाग १ पृष्ठ ७७८

आत्मन्येवात्मना जात आत्मनिष्ठोऽप्रजाऽपिवा,
आत्मन्येव भविष्यामि न मा तारयति प्रजा

मैं संतान रहित होने पर भी आत्मा में ही आत्मा द्वारा उत्पन्न हुआ हूं और आत्मा में ही स्थित हूं आगे भी आत्मा में ही लीन हो जाऊंगा सन्तान मुझे पार नहीं उतारेगी.

नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं, यथैकता समता सत्यताच,
शीलस्थितिर्दण्डनिधानमार्जवं, ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः

परमात्मा के साथ एकता तथा समता, सत्य-भाषण, सदाचार, ब्रह्मनिष्ठा दण्ड का परित्याग (अहिंसा), सरलता तथा सब प्रकार के सकाम कर्मों से उपरति—इनके समान ब्राह्मण के लिये दूसरा कोई धन नहीं है

ब्राह्मण देव पिता ! जब आप एक दिन मर ही जायेंगे तो आपको इस धन से क्या लेना है अथवा भाई-बन्धुओं से आपका क्या काम है तथा स्त्री आदि से आप का कौन,सा प्रयोजन सिद्ध होने वाला है आप अपने हृदयरूपी गुफा में स्थित हुए परमात्मा को खोजिए सोचिए तो सही आपके पिता और पितामह कहां चले गए ?[1]

वैदिक विचार-धारा वह है, जो श्लोक में पिता ने पुत्र से कही मनुस्मृति में भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है वहां लिखा है—'जो ब्राह्मण वेद पढ़े बिना, सन्तान उत्पत्ति किए बिना तथा यज्ञों का अनुष्ठान किए (ऋषि, ऋण, पितृऋण और देव-ऋण से उऋण हुए) बिना सन्यास धारण की इच्छा करता है, वह नीच गति को प्राप्त होता है[2] इस मान्यता के विपरीत मेधावी ने अपने पिता से कहा वह अवैदिक विचारधारा है वह श्रमण-विचार धारा का मन्तव्य है[3]

पौराणिक धर्म कृष्ण के व्यक्तित्व को केन्द्र-बिन्दु मानकर विकसित हुआ है कृष्ण का धर्म वैदिक सिद्धान्तों से भिन्न था

कृष्ण का व्यक्तित्व उत्पत्ति में अवैदिक था[4] ऐसे अभिमत को पूर्वपक्ष के रूप में उद्धृत करते हुए लक्ष्मण शास्त्री ने लिखा है 'पौराणिक धर्म की एक विशेषता यह है कि उसके मुकाबले में यज्ञ-संस्था एकदम पिछड़ गई भागवत-धर्म में वेदविहित यज्ञों को दोषपूर्ण बतलाया गया है, उनकी निन्दा की गई है इसके आधार पर इतिहास के कई पण्डित यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि पौराणिक-संस्कृति तथा वेदों की संस्कृति में विरोध है और पौराणिक धर्म वास्तव में अवैदिकों के वेदपूर्व काल से चलते आए धर्म की वह नवीन व्यवस्था है जिसे वैदिकों ने बड़े समन्वय पूर्वक तैयार किया है उपपत्ति को सिन्ध प्रान्त में उत्खनन में पाए गए तीन हजार वर्षों के पूर्ववर्ती सांस्कृतिक अवशेषों से पुष्टि मिलती है यह अनुमान किया है कि उस उन्नत संस्कृति के लोगों में योग-विद्या तथा लिंगरूप शिव की पूजा तो अवश्य विद्यमान थी, परन्तु उनमें वेदों की याज्ञिक याने यज्ञ पर आधारित संस्कृति नहीं थी इस अनुमान के लिये पर्याप्त सामग्री इस उत्खनन में पाई गई है ध्यानस्थ शिव की मूर्ति तथा पूजनीय शिश्न-समान लिंग वहां उपलब्ध हुए हैं[5]

मार्कण्डेय पुराण में भी पिता और पुत्र का संवाद है पिता नाम भार्गव है और पुत्र का नाम है सुमति भार्गव ने सुमति से कहा—'पुत्र ! पहले वेदों को पढ़ो, गुरु सुश्रूषा में संलग्न रहो, भिक्षान्न खाओ, फिर गृहस्थ बनो, यज्ञ करो, सन्तान उत्पन्न करो, वनवासी बनो फिर परिव्राजक—इस क्रम से ब्रह्म की प्राप्ति करो'[6]

---

१ महाभारत शान्तिपर्व अध्याय १७५, श्लोक ५-१४, ३६ ३१-३८
२ मनुस्मृति ६-३७
अनधीत्य द्विजो वेदान्, अनुत्पाद्य तथा सुतान्,
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च, मोक्ष मिच्छन् व्रजत्यधः ।
३ उत्तराध्ययन १४
४ जर्नल आफ ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, भाग १२ भाग नं० ३, पृष्ठ २३२-२३७
५ वैदिक संस्कृति का विकास पृष्ठ १५४-५५ (साहित्य एकादमी दिल्ली की ओर से हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर प्रा० लि० द्वारा प्रकाशित)
६ मार्कण्डेय पुराण, अध्याय १०, श्लोक १०-१३ (श्री वेंकटेश्वर मुद्रणालय, बम्बई)

हिन्दुस्तान के ऐतिहासिक युग के उद्गमकाल के रूप में गिने जाने वाले इस युग के इतिहास के अभ्यासियों का ध्यान आकृष्ट करने की दृष्टि से प्रस्तुत लेख में जैनमतानुसार वैशाली के गणतन्त्रात्मक राज्य के राजा माने जाने वाले चेटक और उससे संबंधित राजाओं के विषय में जैन ग्रन्थों में प्राप्त सामग्री का सारात्मक अंश यहाँ प्रस्तुत किया जाता है

तीर्थंकर महावीर के वंश के साथ चेटक का सम्बन्ध

यह पहले ही कहा जा चुका है कि तीर्थंकर श्री महावीर की माता त्रिशला-क्षत्रियाणी चेटक राजा की बहन थी इसका सबसे प्राचीन प्रमाण जैन आगम आवश्यक-चूर्णि में प्राप्त होता है इस चूर्णि का रचनाकाल अभी तक अनिर्णीत ही है फिर भी यह विक्रम की आठवीं सदी से अधिक अर्वाचीन नहीं है यह निश्चित ही है आवश्यक सूत्र के टीकाकार हरिभद्र का समय विक्रम संवत् ८० के आस-पास मैंने निश्चित किया है (देखो जैन साहित्य संशोधक खण्ड १ अंक १ पृष्ठ ५३) आचार्य हरिभद्र ने अपनी संस्कृतटीका में इस चूर्णि से सैकड़ों उद्धरण लिये हैं इससे स्वतः प्रमाणित होता है कि चूर्णि का रचनाकाल हरिभद्र से पूर्व का है इसी चूर्णि में लिखा है कि महावीर की माता त्रिशला चेटक की बहन थी और त्रिशला के बड़े पुत्र 'नन्दिवर्द्धन' की पत्नी—महावीर की भौजाई चेटक की पुत्री होती थी पाठ यह है—'भगवतो माया चेडगस्स भगिणी भो (जा) यी चेडगस्स धूया भगवान् महावीर की माता चेटक की भगिनी[1] भौजाई चेटक की पुत्री' इस उल्लेख को ध्यान में रखकर बाद के ग्रन्थकारों ने भी कहीं-कहीं चेटक को महावीर के मातुल (मामा) होने का उल्लेख किया है *जैन आगमों में सबसे प्राचीन और प्रथम आगम आचारांग में महावीर* की कुछ जीवनी प्राप्त होती है—उसमें एक स्थान पर महावीर की माता का एक नाम 'विदेहदिन्ना' भी आता है जैसा कि—'समणस्स ण भगवओ महावीरस्स अम्मा वासिट्ठस्स गुत्ता तीसे ण तिण्णि नामधिज्जा एवमाहिज्जंति तंजहा—तिसला इ वा विदेहदिन्ना इ वा पियकारिणी इ वा (आचारांग आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित प ४२२) श्रमण महावीर की माता के जिसका वासिष्ठ गोत्र था इसके तीन नाम थे— एक त्रिशला[2] दूसरा विदेहदिन्ना और तीसरा प्रियकारिणी विदेहदिन्ना के व्युत्पत्यर्थ से यह जाना जाता है कि इनका जन्म विदेह के राजकुल में हुआ था माता के इस कुलसूचक नाम से महावीर का भी एक *नाम विदेहदिन्न था जिसका उल्लेख आचारांग सूत्र* के उपर्युक्त सूत्र के बाद तुरत ही आया है जैसा कि— 'समणे भगवं महावीरे नाए नायपुत्ते नायकुलनिव्वत्ते विदेहे विदेहदिन्ने विदेहजच्चे विदेहसूमाले' (पृ ४२२) ये दोनों अवतरण कल्पसूत्र में भी है वहाँ टीकाकार विदेहदिन्न की व्याख्या इस प्रकार करते है—'विदेहदिन्ना त्रिशला तस्या अपत्यं वैदेहदिन्नः' अब हम देखेंगे कि वैशाली विदेह का ही एक भाग था अतएव चेटक के वंश को विदेह-राजकुल कहा जाना स्वाभाविक ही है. इस प्रकार महावीर की माता त्रिशला विदेह राजकुल के चेटक की बहन होती थी यह आवश्यक चूर्णि एवं आचारांग सूत्र के उल्लेख से अधिक स्पष्ट हो जाता है

त्रिशला के बड़े पुत्र और महावीर के बड़े भाई नन्दिवर्द्धन की पत्नी चेटक की पुत्री थी यह मैं ऊपर कह आया हूँ इसका भी उल्लेख आवश्यकचूर्णि में आता है कि चेटक की किस लड़की ने किस राजा के साथ विवाह किया है इसके अनुसार चेटक की सात पुत्रियां थी जिनमें से छह के विवाह हो चुके थे और एक अविवाहित ही रही इस प्रसंग में ? की पुत्री ज्येष्ठा का विवाह नन्दिवर्द्धन के साथ हुआ था यह उल्लेख इस प्रकार है—'जेट्ठा कुंडग्गामे वद्धमाण सामिणो जेट्ठस्स नंदिवद्धणस्स दिण्णा' ज्येष्ठा (नाम की कन्या) को कुण्डग्राम में—वर्द्धमान (महावीर का मूल नाम) स्वामी के ज्येष्ठ (बन्धु) नन्दिवर्द्धन को दी थी इसका उल्लेख आचार्य हेमचन्द्र ने अपने महावीरचरित्र में भी किया है

---

१ देखो—आवश्यक चूर्णि ... २ ... मातुलस्स ... ३ ... पृ १४४
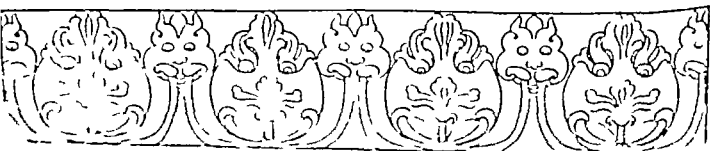
आचार्य मुनि श्रीजिनविजयजी

वैशालीनायक चेटक और सिंधुसौवीर का राजा उदायन

[विक्रम सवत् १९७९ मे आचार्य श्री जिनविजयजी ने 'पुरातत्त्व' पु० १ अ० ३ मे 'वैशालीना गणसत्ताक राज्यनो नायक राजा चेटक' नामक लेख लिखवाना प्रारम्भ किया था समग्र लेख एक पुस्तक ही बन जाता और तत्कालीन राजनैतिक इतिहास पर जैन-बौद्ध साहित्यिक सामग्री से नया प्रकाश पडता किन्तु दुर्भाग्य से वह अधूरा ही रह गया फिर भी इसमे चेटक और उदायन के सम्बन्ध मे नया प्रकाश उपलब्ध होता है और आज ४१ वर्ष के वाद भी वह लेख नवीन मालूम होता है अतएव हम उसका हिन्दी अनुवाद यहाँ दे रहे है —सम्पादक]

जैन-साहित्य मे वैशाली के राजा चेटक का नाम कई प्रकारो से प्रसिद्ध है महावीर के धर्म का महान् उपासक होने मात्र से ही यह प्रसिद्ध नही था किन्तु कई अन्य व्यावहारिक प्रसगो से भी इसकी प्रसिद्धि थी इसकी प्रसिद्धि के कई कारणो मे पहला कारण यह था कि इसका महावीर के वश के साथ दो प्रकार का सबध था एक महावीर की माता त्रिशला इसकी वहन होती थी और दूसरा महावीर के ज्येष्ठ भ्राता नदिवर्धन की पत्नी, जिसका नाम ज्येष्ठा था, इसकी पुत्री थी जिस प्रकार महावीर के वश के साथ इसका कौटुम्बिक सवन्ध था उसी प्रकार तत्कालीन भारत के प्रसिद्ध राजाओ के साथ भी इसका गाढ सम्बन्ध था सिन्धुसौवीर के राजा उदायन, अवती के राजा प्रद्योत, कौशाम्बी के राजा शतानीक, चपा के राजा दधिवाहन, और मगध के राजा बिम्बिसार इसके दामाद होते थे जैन-साहित्य मे कुणिक अथवा कोणिक एव बौद्ध साहित्य मे अजातशत्रु के नाम से प्रसिद्ध मगधसम्राट् और जैन, बौद्ध एव हिन्दु कथासाहित्य का ख्यातनाम पात्र वत्सराज उदयन इसके दौहित्र थे साथ ही भारत के तत्कालीन गणतत्रात्मक राज्यो मे से एक प्रधान राज्यतत्र का यह विशिष्ट नायक भी था जैन-परम्परा के अनुसार आर्यावर्त्त की सबसे वडी जनसहारक लडाई इसे लडनी पडी थी, जिसमे इसका प्रतिपक्षी इसी का नाती मगधराज अजातशत्रु था

जैन-साहित्य मे इतनी वडी प्रसिद्धि पाने वाले एव उस समय के भारत मे महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करने वाले, इस राजा के विषय मे जैन साहित्य के सिवा अन्यत्र कही भी उल्लेख नही मिलता इसी वजह से आज के ऐतिहासिको का ध्यान इस ओर आकर्षित नही हुआ है ब्राह्मण-साहित्य की ओर जब हम दृष्टिपात करते है तब उसमे कही-कही तत्कालीन भारत के मगध, कौसल, कौशावी और अवती जैसे राज्यतत्रात्मक राज्यो का उल्लेख अवश्य मिलता है, किन्तु वैशाली जैसे स्थान का, जिसमे गणतत्रात्मक पद्धति चलती थी, कही भी उल्लेख नही मिलता

बौद्ध साहित्य मे वैशाली और उस पर आधिपत्य रखने वाली 'लिच्छवी' नामक क्षत्रिय जाति का बहुत कुछ वर्णन आता है किन्तु इस स्थान और समाज पर सर्वोपरि अधिकार रखने वाले किसी खास व्यक्ति-विशेष का नाम बौद्ध साहित्य मे नही आता

कुण्डग्रामाधिनाथस्य नन्दिवर्द्धनभूभुज,
श्रीवीरनाथज्येष्ठस्य, ज्येष्ठा दत्ता यथारुचि ।[1]

श्री महावीर के बडे भ्राता का नाम नन्दिवर्धन था इसका स्पष्ट उल्लेख आचाराग और कल्पसूत्र जैसे मूल सूत्रों मे आया है यथा—'समणस्स भगवओ महावीरस्स जिट्ठे भाया नदिवद्धणे कासवगुत्तेण (आचाराग पृ० ४२२, कल्पसूत्र मे भी यही पाठ है)

(कुछ देशो और जातियो मे मामा की कन्या पर भानजे का प्रथम हक होता है. यह प्रथा बहुत समय पहले की है आज भी महाराष्ट्र की कुछ जातियो मे इस प्रथा का प्रचलन है आवश्यक सूत्र की टीका मे हरिभद्र सूरि ने 'देशकथा' के वर्णन मे एक पुरानी गाथा दी है जिसमे कहा गया है कि—देश--देश के रीति रिवाज अलग-अलग हुआ करते हैं एक देश मे जो वस्तु गम्य या स्वीकार्य होती है वही वस्तु दूसरे प्रदेश मे अगम्य या अस्वीकार्य हो जाती है जैसे—अग और लाट देश मे लोग मातुलदुहिता—मामा की लडकी को गम्य मानते है किन्तु गौड देश मे उसे बहन मान कर अगम्य समझते हैं वह गाथा यह है

छदो गम्मागम्म जह माउलदुहियमगलाडाण,
अन्नेसि सा भगिणी, गोलाईण अगम्मा उ ।

जिस प्रकार महावीर के मामा की पुत्री ने अपनी फूफी के लडके नन्दिवर्द्धन के साथ विवाह किया था उसी प्रकार खुद महावीर की पुत्री प्रियदर्शना ने भी अपनी सगी फूफी सुदर्शना के लडके जमालि नामक क्षत्रियकुमार से विवाह किया था इसका उल्लेख अनेक प्राचीन और अर्वाचीन ग्रन्थो मे है आवश्यक सूत्र के भाष्य टीका और चूर्णि मे भी यही बात मिलती है जैसा कि—'कुडलपुर नगर तत्थ जमाली सामिस्स भाइणिज्जो—तस्स भज्जा सामिस्स दुहिता' (हरिभद्रकृत आवश्यकसूत्र टीका पृ० ३१२)

भारत के दूसरे राजाओ के साथ चेटक का कौटुम्बिक सबध

मैं पहले ही कह आया हू कि चेटक की कुल सात पुत्रिया थी जिनमे से एक कुमारिका ही रही और शेष छहो ने अपने समय के ख्यातनाम राजाओ के साथ विवाह किया था, जिसका उल्लेख आवश्यकचूर्णि मे इस प्रकार है

'एतो य वेसालीए नगरीए चेडओ राया हेहयकुलसभूओ तस्स देवीण अण्णमण्णाण सत्त धूताओ पभावती, पउमावती, मिगावती, सिवा, जेट्ठा, सुजेष्ठा चेल्लण त्ति सो चेडओ सावओ परविवाहकरणस्स पच्चक्खात धूताओ ण देति कस्स त्ति ताओ माति सिस्सगाओ राय आपुच्छित्ता अण्णंमि अच्छितकाण सरिसगान देति पभावती वीतिभए उद्दायणस्स दिण्णा, पउमावती चपाए दविवाहणस्स, मिगावती कोसबीए सताणियस्स, सिवा उज्जेणीए पज्जोतस्स, जेट्ठा कुडग्गामे वद्धमाणसामिणो जेट्ठस्स णदिवद्धणस्स दिण्णा सुजेट्ठा चेल्लणाय देवकारिओ अच्छति'[2]

हैहय कुलोत्पन्न वैशाली के राजा चेटक की अलग-अलग रानियो से सात पुत्रिया हुई—प्रभावती, पद्मावती, मृगावती, शिवा, जेष्ठा सुजेष्ठा तथा चेलना राजा श्रावक था उसे परविवाहकरण का प्रत्याख्यान था इसलिए वह अपनी पुत्रियो का भी विवाह नही करता था तब रानियो ने राजा की अनुमति लेकर अपनी पुत्रियो के सदृश राजाओ के साथ उनका विवाह कर दिया इनमे प्रभावती का विवाह वीतिभय के राजा उदायन के साथ, मृगावती का कोशाबी के राजा शतानिक के साथ, शिवा का उज्जयिनी के राजा प्रद्योत के साथ, पद्मावती का चपा के राजा दधिवाहन के साथ और जेष्ठा का कुण्डग्रामवासी महावीर के जेष्ठ भ्राता नन्दिवर्धन के साथ हुआ था सुजेष्ठा और चेलना अभी कुवारी थी आचार्य हेमचन्द्र के महावीरचरित्र मे भी यही बात है

---

१ 'त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित्र' दसवा पर्व, पृ० ७७ (प्रकाशक भाव नगर जैनधर्म प्रसारक सभा)
२ आवश्यक चूर्णि, आवश्यक हरिभद्रीय टीका पृ० ६७६–७.
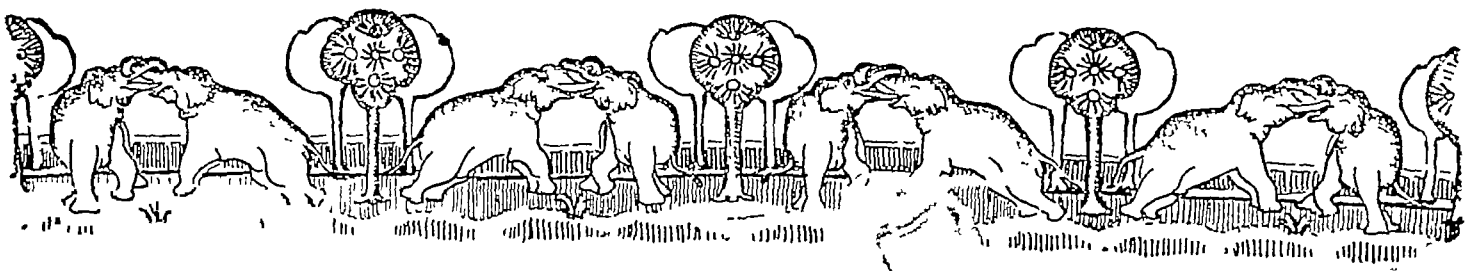
विशाल सेना के साथ उज्जैनी पर चढ़ाई करने के लिये चल पड़ा उस समय जेठ महीना चल रहा था मार्ग में पानी नहीं मिलने से उदायन की सेना को बहुत कष्ट उठाना पड़ा जब वह पुष्करणा प्रदेश में आया तब कहीं जाकर शांति मिली वहाँ कुछ समय तक विश्राम करने के बाद पूरी तैयारी के साथ उज्जैनी पर चढ़ाई कर दी इधर प्रद्योत ने भी अपनी तैयारी कर ली थी दोनो सेनाओं में घनघोर युद्ध होने लगा कुछ समय बाद दोनों राजाओं को ख्याल आया कि व्यर्थ ही प्रजा का नाश करने से क्या लाभ ? क्यों न हम दोनों ही परस्पर युद्ध करें ? दोनों ने एक दूसरे को दूत द्वारा सदेश भेजा दोनो इस बात पर राजी हो गये साथ ही दोनों ने रथ पर बैठ कर युद्ध करने का निश्चय किया किन्तु युद्ध के मैदान में प्रद्योत रथ के बजाय अपने प्रसिद्ध अनलगिरि हाथी पर बैठ कर लड़ने आया उदायन प्रद्योत की धूर्तता को पहचान गया अब दोनों में काफी समय तक युद्ध होता रहा उदायन ने अपने बाणो से हाथी के पैर को बींध दिया जिससे वह घायल होकर जमीन पर गिर पड़ा और प्रद्योत पकड़ा गया उदायन के सैनिक प्रद्योत को बन्दी बनाकर अपने शिविर में ले आये और दासीपति प्रद्योत शब्दों से उसका मस्तक अंकित कर दिया उदायन प्रद्योत को कैद करके वीतिभय लौट चला मार्ग में वर्षा ऋतु प्रारम्भ हो गई वर्षा का समय व्यतीत करने के लिये उदायन ने एक अच्छे स्थल पर अपनी छावनी डाल दी सेना को दस विभागों में विभक्त कर उसकी अलग अलग छावनियाँ बनाईं साथ ही सेना की सुरक्षा के लिये चारों ओर मिट्टी की दीवारें खड़ी कर दी उदायन जो भोजन करता था वह प्रद्योत को भी दिया जाता था पर्यूषण पर्व आया उस दिन रसोइये ने प्रद्योत से पूछा—महाराज आज आप क्या खायेगे ? प्रद्योत ने समझा कि आज मुझे भोजन में जहर दिया जाने वाला है तभी तो मुझे अकेले खाने का निमत्रण दिया जा रहा है उसने रसोइये से कहा— आज क्यों पूछ रहे हो उत्तर मिला आज पर्यूषण होने से उदायन राजा को उपवास है इसलिए आज आपके लिये ही भोजन बनेगा प्रद्योत ने कहा 'तो आज मेरा भी उपवास है' जब उदायन ने यह सुना तो वह प्रद्योत की धूर्तता पर बहुत हँसा उसने सोचा ऐसा पर्यूषण मनाने से क्या लाभ जिसमें हृदय की शुद्धता नहीं ? उदायन ने उसे अपने पास बुलाया और हृदय से उसे क्षमा दान दिया उसे उसका राज्य पुन लौटाकर मुक्त कर दिया और उसका मस्तक सुवर्णपट्ट से विभूषित कर उसे आदरपूर्वक विदा कर दिया वर्षाकाल के बीतने पर वहाँ से उदायन चल पड़ा और अपनी सेना के साथ वापिस अपने नगर लौट आया

उदायन ने जिस स्थल पर अपनी सेनाओं की दस विभागो में छावनियाँ डाल रक्खी थी वहाँ पर उन सेनाओं को रसद पहुँचाने के लिये आस पास के व्यापारियों ने भी अपने-अपने पडाव डाल रक्खे थे सेना के चले जाने के बाद वे व्यापारी गण वहीं स्थायी रूप से बस गये और वह स्थल दसपुर के नाम से प्रसिद्ध हुआ[1]

---

१ आवश्यक चूर्णि पृ ४६१

मध्य प्रदेश के मदसौर' शहर को दसपुर कहा जाता है मदसौर का नाम पुराने लेखो में 'दशपुर' लिखा जाता था दशपुर का नाम मदसौर कैसे पड़ा इस विषय में डा० फ्लीटने Corpus Inescriptionum indiarum नामक ग्रथ के तीसरे भाग में इस प्रकार लिखा है

'इस गाव को इन्दौर तक के और आस पास के ग्रामीण लोग मन्दसौर के बजाय 'दसोर' ही कहते है लगभग डेढ सौ वर्ष पूर्व लिखी गई अरबी और फारसी भाषा की सनदो मे भी 'दसोर' का ही प्रयोग किया है जिस प्रकार बेलगाव जिले के 'उमरगोल' और 'सपगाम' को पंडित लोग क्रमश 'नगरपुर' और 'अहिपुर' लिखते है वैसे ही यहाँ के पंडित दशपुर का ही प्रयोग करते है इनका मूल नाम सस्कृत मे था या मूल ग्रामीण नामो को पंडितो ने सस्कृत में बना डाला यह विवादास्पद ही है पहले इस स्थल पर पौराणिक राजा 'दशरथ' का नगर था ऐसा स्थानीय लोग कहते है

अगर यह कथन सत्य है तो इस गाव का नाम 'दसरथोर' होना चाहिए वस्तुत इसका सही अर्थ यह भी हो सकता है जैसे—इस समय इस नगर मे आस पास के खिलचीपुर, जनकुपुरा रामपुरिया चन्द्रपुरा आसामज आदि बारह तेरह गावो का समावेश हुआ है वैसा ही दस गावो (पुर) का समावेश होने से यह दशपुर के नाम से प्रसिद्ध हो गया हो

अपर नाम महासेन है उदायन ने महासेन पर किन कारणो से चढाई की थी, उसे किस प्रकार पराजित कर दसपुर ले आया था और दसपुर की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, उसका सारा वृतान्त आवश्यक चूर्णि मे है जिसका सारात्मक अश यह है

"एक समय कुछ मुसाफिर समुद्र की यात्रा करने थे उस समय मे जोरो का तूफान आया जिसके कारण जहाज डावा-डोल हो गया वह आगे बढता ही नही था इस अवस्था मे लोग घबरा गये लोगो की यह स्थिति देखकर एक देव के दिल मे उनके प्रति दया आई उसने जहाज को तूफान से निकाल कर एक सुरक्षित जगह पहुचा दिया देव ने स्वनिर्मित चन्दनकाष्ठ की प्रतिमा, जो काष्ठपेटिका मे बन्द थी, उन्हे दी और कहा—यह भगवान् महावीर की काष्ठ प्रतिमा है यह महाप्रभावशाली है इसके प्रभाव से आप लोग सही-सलामत समुद्रयात्रा पूरी कर सकेंगे इतना कह देव चला गया कुछ दिनो के बाद जहाज सिन्धुसौवीर के किनारे पर पहुँचा लोगो ने वह मूर्ति वीतिभय के राजा उदायन को भेट मे दी उदायन और उसकी रानी प्रभावती ने अपने ही महल मे मन्दिर का निर्माण कर उसमे वह मूर्ति स्थापित की और उसकी प्रतिदिन पूजा-भक्ति करने लगी राजा पहले तो तापसधर्मी था, धीरे-धीरे उसकी उस मूर्ति की ओर श्रद्धा बढने लगी एक दिन रानी प्रभावती मूर्ति के सामने नृत्य कर रही थी और उदायन वीणा बजाता था उस समय राजा नृत्य करती हुई रानी प्रभावती के देह को बिना मस्तक के देखकर अधीर हो उठा और उसके हाथ से वीणा का गज छूट गया वीणा बजनी बद हो गई सहसा वीणा को बन्द देखकर रानी क्रोध मे आकर बोली—'क्या मैं खराब नृत्य कर रही थी जो आपने वीणा बजाना ही बदकर दिया ? उदायन ने रानी के बार बार आग्रह से सत्य बात कह दी उदायन से यह बात सुन वह सोचने लगी—"अब मेरा आयुष्य अल्प है, अत मुझे अपना श्रेय करना चाहिए" उसने उदायन से दीक्षा लेने की आज्ञा मागी लेकिन रानी के प्रति अधिक अनुराग होने से उसने आज्ञा नही दी किन्तु रानी के उत्कट वैराग्य को देखकर अन्त मे एक शर्त के साथ उसे प्रव्रज्या की आज्ञा देदी वह शर्त यह थी कि 'अगर मेरे पहले ही स्वर्ग चली जाओ तो देव बन कर मुझे प्रतिबोधित करने के लिये अवश्य आना होगा उसने शर्त मान ली प्रभावती दीक्षित हो गई रानी मर कर देव बनी और उसने अपनी पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार राजा को सद्बोध दिया और राजा अधिक धर्मनिष्ठ बना

रानी की मृत्यु के बाद महावीर की मूर्ति की देखभाल और पूजा एक कुब्जा दासी करने लगी इस प्रतिमा की ख्याति दूर-दूर तक फैली हुई थी, और लोग दूर-दूर से उसके दर्शन के लिये आते थे

एक बार गधर्व देश का कोई श्रावक प्रतिमा के दर्शन के लिये आया दासी ने उस श्रावक की सेवा खूब की श्रावक दासी की भक्ति-भाव से एव सेवा शुश्रूषा से अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उससे सतुष्ट होकर उसे मनोवाछित फल देने वाली बहुत सी गोलियाँ दी गोलियो के भक्षण से दासी का कुबडापन मिट गया और उसे अपूर्व सौंदर्य मिला शरीर सोने की काति की तरह चमकने लगा सोने जैसा शरीर होने से इसे लोग सुवर्णगुटिका कहने लगे,—सुर्वर्णगुटिका के दैवी सौंदर्य की बात प्रद्योत के कानो तक पहुच गई वह उस पर मुग्ध हो गया

इधर दासी भी प्रद्योत से प्रेम करती थी उसने उज्जैनी के राजा प्रद्योत के पास एक दूत भेजा दूत ने प्रद्योत से जाकर कहा—सुवर्णगुटिका आपसे प्रेम करती है और आपको बुलाती है राजा प्रद्योत अवसर पाकर एक दिन अपने नलगिरि हाथी पर चढकर तुरन्त आया दोनो एक दूसरे को पाकर बहुत प्रसन्न हुए प्रद्योत सुवर्णगुटिका को और महावीर की प्रतिमा को लेकर रातोरात वापिस लौट गया दासी जाते समय वैसी ही एक दूसरी प्रतिमा तैयार करवाकर उसके स्थान पर रखती गई प्रात काल राजा के सिपाहियो ने देखा कि मार्ग पर नलगिरि हाथी की लीद और मूत्र पडे है जिसकी गध से नगर के हाथी उन्मत्त हो उठे हैं थोडी दूर चलने पर उन्हे नलगिरि के पदचिह्न दिखाई पडे इतने मे मालूम हुआ कि राजा की दासी लापता है और चन्दन की प्रतिमा के स्थान पर कोई दूसरी प्रतिमा रक्खी हुई है

यह समाचार जब राजा उदायन के पास पहुँचा तो उसे बहुत क्रोध आया उसने प्रद्योत के पास समाचार भेजा कि दासी की मुझे चिन्ता नही, तुम चन्दन की प्रतिमा लौटा दो परन्तु प्रद्योत प्रतिमा देने को तैयार नही हुआ उदायन अपनी
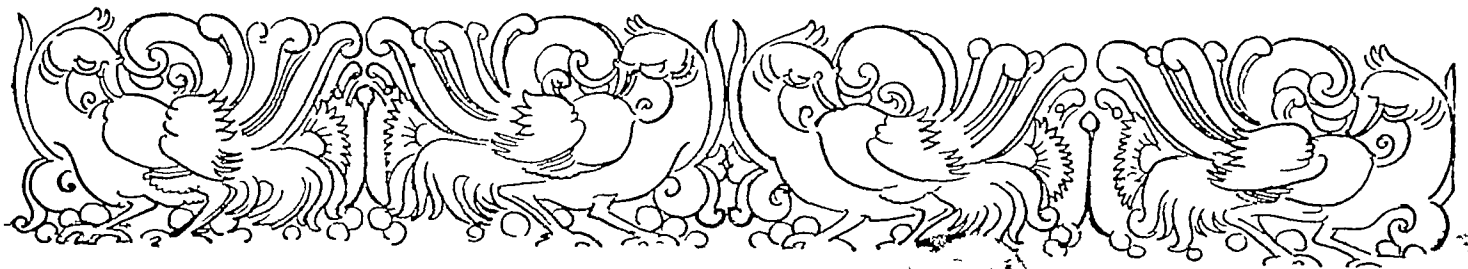
वयसी भयावसीय भवावसगा वीइमए चाउरंतसंसारकंतार अणुपरियट्टिस्सइ त मा णं खलु मे णियं अभीईकुमार रज्जे ठावेत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव पव्वइत्तए सेय खलु मे णियग भाइणेज्जं केसिकुमार रज्जे ठावेत्ता समणस्स भगवओ जाव पव्वइत्तए एवं संपेहेइ तए ण से केसीकुमार राया जाए महया जाव विहरति तए ण से उदायणे राया सयमेव पंचमुट्ठिय लोय जाव सव्व दुक्खप्पहीणे

तए णं तस्स अभीइस्स कुमारस्स अन्नया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि कुडुम्बजागरियं जागरमाणस्स अयमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था—एवं खलु अहं उदायणस्स पुत्ते पभावतीए देवीए अत्तए तए णं से उदायणे राया ममं अवहाय नियगं भाइणेज्जं केसिकुमार रज्जे ठावेत्ता समणस्स जाव पव्वइए इमेणं एयारूवेणं महया अप्पत्तिएणं मणोमाणसिएणं दुक्खेणं अभिभूए समाणे अंतपुर—परियालसपरिवुडे सभंडमत्तोवगरणमाए वीतीभयाओ नयराओ पडिनिक्खमति—जेणेव चंपा नयरी जेणेव कूणिए राया तेणेव उवागच्छति—कूणियरायं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ तए णं से अभीयी कुमारे समणोवासए यावि होत्था अभिगय जाव विहरइ—— (भगवती सूत्र पृ ११८२)

उदायन की मृत्यु

आवश्यक चूर्णि टीका आदि ग्रंथो में उदायन की मृत्युविषयक विवरण इस प्रकार है

उदायन राजा को दीक्षा लेने के बाद रूखे-सूखे आहार स शरीर मे व्याधि उत्पन्न हो गई वैद्यो ने उन्हें दही खाने को कहा इसके लिये वे व्रज मे ही रहने लगे एक समय वे वीतिभय गये वहा उनका भानजा केशीकुमार राज्य करता था यह राज्य इन्होने उसे दिया था केशीकुमार को उसके दुष्ट मन्त्रियो ने भरमा दिया कि 'यह उदायन भिक्षु-जीवन से ऊबकर अब पुनः राज्य प्राप्त करना चाहता है इस पर केशीकुमार ने कहा—अगर ऐसा ही है तो मैं उन्हें राज्य दे दूगा इस पर मन्त्रियों ने कहा—'मिला हुआ राज्य कही इस प्रकार दिया जाता है ? लम्बे समय तक मन्त्रियों ने उसे खूब समझाया और राज्य न देने के लिये राजी किया केशीकुमार ने मन्त्रियों से पूछा—तो अब क्या उपाय करना चाहिए ? मन्त्रिया ने कहा—जहर देकर इसे मार डालना चाहिए इस प्रकार केशीकुमार ने एक गोपालक के जरिये दही मे जहर डलवा कर उदायन को खिला दिया जिससे उदायन की मृत्यु हो गई

उदायन मुनि की इस प्रकार की मृत्यु से उनके एक मित्र देव को अत्यन्त क्रोध आया और साथ ही केशीकुमार की इस कृतघ्नता पर भी वह अत्यन्त क्षोभित हुआ उसने धूल बरसा कर सारे नगर को नष्ट कर दिया इस नगर प्रलय मे केवल एक कुम्भकार बचा जिसने राजाज्ञा की उपेक्षा कर उदायन मुनि को आश्रय दिया था देव ने इसे उठाकर सिनपल्ली नामक स्थान मे रख दिया बाद में इसी स्थल पर इसी के नाम का एक नगर बसा था वीतभय पत्तन धूलिप्रक्षेप के कारण छिप गया और आज भी वहा धूलि की बड़ी राशि मौजूद है[1]

---

१ आवश्यक सूत्र टीका पृ २३७—८ देखो प्राकृतकथासग्रहगत उदायन की कथा

आचार्य हेमचन्द्र ने महावीर के समय की घटित घटनाओ को तत्कालीन ग्रन्थों एव अनुश्रुतियों से सगृहीत कर महावीर चरित्र में व्यवस्थित किया है उदायन सम्बन्धी उल्लिखित सभी बाते लिखने के साथ-साथ उन्होने एक नई घटना का भी उल्लेख किया है वीतिभय पत्तन का देवकोप से नाश होने के बाद चन्दन की वह मूर्ति वही पर धूल के ढेर में दब गई थी उस मूर्ति का आचार्य हेमचन्द्र के उपदेश से कुमारपाल राजा ने उद्धार किया और पाटन में लाकर उसकी एक भव्य मन्दिर मे प्रतिष्ठा की इसी घटना से यह निश्चित हो जाता है कि वीतिभय का उद्ध्वस्त स्थान आचार्य हेमचन्द्र से अपरिचित नही था इस उद्ध्वस्त स्थान मे उन्हे एक मूर्ति मिली थी और उसकी प्रतिष्ठा पाटन में राजा कुमारपाल से करवाई थी इस घटना पर विश्वास करने से यह ऐतिहासिक तथ्य अवश्य प्रकट होता है इसी मूर्ति के प्रसग मे आचार्य हेमचन्द्र ने गुजरात की गौरवशाली राजधानी पाटन और कुमारपाल का जो आलंकारिक भाषा मे वर्णन किया है वह लम्बा होने पर भी अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा इस दृष्टि से यहां दिया जा रहा है—

इस प्रकार महासेन प्रद्योत को वीतभय के उदायन का आज्ञांकित माना जाता है

उदायन का पिछला जीवन

उदायन के राजकीय जीवन सम्बन्धी उल्लिखित सारी घटनाएँ वाद के जैन-ग्रंथो मे मिलती है भगवती जैसे मूल आगम मे उदायन के विषय मे केवल इतना ही वर्णन मिलता है

एक वार भगवान् महावीर वीतिभय पधारे उदायन राजा उनके दर्शन के लिये गया और उनका उपदेश सुनकर उसने प्रव्रज्या लेने का विचार किया प्रव्रज्या लेने के पूर्व उसके मन मे एक विलक्षण विचार आया उसने सोचा—'प्राय राज्यप्राप्ति होने पर लोग दुर्व्यसनी हो जाते है और दुर्व्यसनी लोग मर कर नरक मे जाते है कही मेरा पुत्र 'अभीति' राज्य पाकर दुर्व्यसनी न वन जाय और मर कर नरकवासी न हो जाय यह सोचकर उसने अपने पुत्र अभीतिकुमार को राज्य न देकर अपने भानजे केशीकुमार को राज्य दिया और प्रव्रज्या ग्रहण की पिता के इस व्यवहार से अभीतिकुमार वहुत क्रुद्ध हुआ और वह अपना सारा सामान लेकर मौसेरे भाई कोणिक के पास 'चपा' चला गया और वही रहने लगा पिता के साथ उसकी वैरवृत्ति आजीवन रही और वह वही मर गया इस विषयक भगवती सूत्र का पाठ यह है

'तए ण से उदायणे राया समणस्स भगवओ महावीरस्स अतियं धम्म सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठे उट्ठाए उट्ठेइ २ त्ता समणं भगव महावीर तिक्खुत्तो जाव नमसित्ता एव वयासी—एवमेय भते । तहमेय भते । जाव से जहेय तुज्झे वदहत्ति कट्टु ज नवर देवाणुप्पिया अह देवाणुप्पियाण अतिए मुडे भवित्ता जाव पव्वयामि तए ण तस्स उदायणस्स रन्नो अयमेयारूवे अब्भत्थिए जाव समुप्पज्जित्था एव खलु अभीई कुमारे मम एगे पुत्ते इट्ठे कते जाव किमग पुण पासणयाए ? त जति ण अह अभीइ कुमार रज्जे ठावित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अतिय मुडे भवित्ता जाव पव्वयामि तो ण अभीई कुमारे रज्जे य रट्ठे य जाव जणवए माणुस्सएसु य कामभोगेसु मुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोव-

---

किन्तु मदसौर नाम जो इस समय के नक्शो आदि मे प्रसिद्ध है, इसकी असलियत को अभी तक कोई समझ नही सका हा डाक्टर भगवानलाल इन्द्र जी ने एक वार मुझसे कहा था कि—'इसका नाम मद-दसपुर पडा होगा' 'मद' अर्थात् दुखी वना हुआ मुसलमानो ने इस शहर की और हिन्दू देवालयो की वडी दुर्दशा की थी इसी वजह से आज भी नागर ब्राह्मण यहाँ का पानी नही पीते

'एक वार मैंने यहाँ के एक पडित से इस गाव का असली नाम पूछा था तव उसने वताया था कि इस गाव का मन्न-दशौर' भी नाम था इस सम्बन्ध मे मि० एफ० एस० ग्राउक की सूचना भी काफी महत्त्व रखती है वे कहते हैं कि—मदसौर मे दो गावो का समावेश होता है एक 'मद्' और दूसरा 'दशौर' मद् जिसे आज 'अफझलपुर' कहते है, जो मदसौर से दक्षिण पूर्व मे ग्यारह मील दूरी पर है

ऐसा कहा जाता है कि—'मद्' गाव के हिन्दुदेवालयो को तोड कर उनके पत्थरो से यहाँ का किला वनाया गया था इसलिए मदसौर यह नाम पडा हो जो भी हो, सही वात का तो 'दशपुरमहात्म्य' नामक पुस्तक से ही पता लग सकता है यह पुस्तक मुझे देखने को नही मिली इस लेख के सिवा उषवदान के नाशिक के एक प्राचीन लेख की तीसरी पक्ति मे 'दशपुर' ऐसा सस्कृत नाम आया है (देखो आर्की० सर्वे० वैस्ट इ० पु० ४ पृ० ५१, ६६ पन्ने ५२, न० ५) तथा मदसोर के भी एक दूसरे लेखमे भी यही नाम देखने मे आता है इसकी तिथि विक्रम सवत् १३२१ (ई०स० १२६४-६५) गुरुवार भाद्रपद शुक्ला पचमी है

यह लेख किले के पूर्व तरफ के प्रवेशद्वार के अन्दर के दरवाजे के बाई ओर भीत पर चुने हुए एक श्वेत पत्थर पर अकित है तथा वृहद् सहिता १४, ११, १६ (देखो कर्ण का अनुवाद जर्न० रा० ऐ० सो० नॉ० स० पु० ५ पृ० ८३) के अवन्ति के साथ इसी नाम का उल्लेख किया है

समय महावीर के निर्वाण के बाद की द्वितीय शताब्दी बताती है ऐतिहासिक दृष्ट्या निर्युक्ति के कर्ता भद्रबाहु का समय इतना प्राचीन नही लगता हां टीकाकारों की अपेक्षा उनका समय अधिक प्राचीन है इस कारण टीकाकारो द्वारा लिखित उदायन की इस कथा का प्रचलन बहुत समय पहले था यह निश्चित है

मूर्तिविषयक वर्णन जो भी हो किन्तु जैन कथा और सूत्रों के आधार से इतना तो अवश्य माना जा सकता है कि महावीर के समय सिन्धुसौवीर नाम के देश में वीतिभय नामका नगर अवश्य था और वहां उदायन नाम का राजा राज्य करता था उसकी स्त्री का नाम प्रभावती था जो वैशाली के राजा चेटक की पुत्री होती थी अभीति उसका पुत्र था अभीति के पिता ने किसी कारण से उसे राज्य नही दिया और इसी वजह से वह चम्पा में कोणिक राजा के आश्रय में जाकर रहा राजा महासेन के साथ उदायन का युद्ध हुआ होगा और उसमें उदायन विजयी हुआ होगा [1]

होंगे जिस द्यूत का नल राजा भी त्याग नही कर सका उसका वह अपने समस्त राज्य में बहिष्कार करेगा कुक्कुटयुद्ध कपोतयुद्ध आदि नृशंस मनोरंजनों को वह अपने समस्त राज्य में बंद करा देगा निःसीम वैभववाला वह राजा प्रत्येक ग्राम में जिनमन्दिर बनवा कर सारे पृथ्वीमण्डल को जिनमन्दिरों से विभूषित करेगा समुद्रपर्यन्त प्रत्येक मार्ग और नगर में प्रतिमा की रथयात्रा का महोत्सव कराएगा द्रव्य के विपुल दान से वह अपने नाम का संवत्सर चलाएगा

ऐसा यह महान् प्रतापशाली राजा एक दिन गुरुमुख से कपिल मुनि द्वारा प्रतिष्ठित एवं पृथ्वी मे दबी हुई उस दिव्य प्रतिमा के विषय में बात सुनेगा बात सुनते ही विश्वपावनी उस मूर्ति को हस्तगत करने का विचार करेगा मन के उत्साह और शुभ निमित्त से उसे यह विश्वास हो जायगा कि मैं उस दिव्य प्रतिमा को प्राप्त कर सकूंगा तब वह गुरु की आज्ञा से योग्य पुरुषों को वीतिभय के उध्वस्त स्थल पर भेजेगा वे पुरुष वहां जाकर जमीन खोदेंगे उस समय राजा के सत्त्व से शासन देव भी वहां उपस्थित रहेंगे जमीन को थोड़ा खोदने पर वह दिव्य प्रतिमा निकलेगी उस प्रतिमा के साथ उदायन का आज्ञालेख भी मिलेगा वे पुरुष बड़ी भक्ति और श्रद्धा से उसका पूजन करेंगे स्त्रियां रास गाकर बाजे बजाकर भक्ति करेंगी उस प्रतिमा के सामने सतत नृत्य संगीत होता रहेगा वे दस पुरुष मूर्ति को रथ पर आसीन करके पाटन की सीमा पर ले आवेंगे प्रतिमा के आगमन की खबर सुन कर वह राजा चतुरंगी सेना और बड़े संघ के साथ उत्सव पूर्वक उसके सामने जायगा बाद में वह अपने हाथों से प्रतिमा को रथ से निकाल कर हाथी पर आरूढ करेगा और बड़े उत्सव के साथ नगरप्रवेश कराएगा उस प्रतिमा के लिये वह एक विशाल स्फटिक पाषाण का मन्दिर बनवाएगा वह मन्दिर अष्टापद पर्वत के मन्दिर की तरह अत्यन्त भव्य होगा उस में बड़े उत्सव के साथ प्रतिमा को प्रतिष्ठित करेगा इस प्रकार से स्थापित की गई प्रतिमा के प्रभाव से उस राजा की कीर्ति यश प्रभाव संपत्ति खूब बढ़ेगी गुरुभक्ति से वह राजा भारतवर्ष में तेरे पिता की तरह ही प्रभावशाली होगा त्रिषष्ठि पर्व दसवां पृ २२८-२३१

१ सुवर्णगुलिका के निमित्त चण्डप्रद्योत के साथ हुए युद्ध की किंवदन्ती मे भी प्राचीन प्रमाण है ऐसा एक सूत्र के सूचन के आधार पर अनुमान होता है भगवती सूत्र जितने ही प्राचीन सूत्र प्रश्नव्याकरण में जिन स्त्रियों के लिये युद्ध हुए थे उनके नाम दिये है उनमें सुवर्णगुलिका का भी एक नाम आता है वह पाठ यह है

मेहुणमूल च सुव्वए तत्थ-तत्थ वत्तपुव्वा संगामा जणक्खयकरा-सीयाए दोवईए कए रूप्पिणीए पउमावईए, ताराए कंचणाए रत्तसुभद्दाए अहिल्लियाए सुवण्णगुलियाए, किन्नरीए सुरूवविज्जुमतीए रोहिणीए अन्नेसुय एवमादिएसु बहवो महिलाकएसु सुव्वंति अइक्कन्ता संगामा.

अर्थ—मैथुन मूलक संग्राम जो विभिन्न शास्त्रो में सुने जाते है वो युद्ध नरसंहार करने वाले है जैसे सीता और द्रौपदी के लिए रुक्मिणी पद्मावती तारा कंचना रक्तसुभद्रा अहल्या सुवर्णगुलिका किन्नरी आदि के लिए युद्ध हुए है

मूल सूत्र में आये हुए उपर्युक्त उदाहरणों की व्याख्या टीकाओं मे संक्षेप में की है इन स्त्रियों के विषय में दूसरे ग्रंथों

उदायन की मृत्यु की यह परम्परा अति प्राचीन है—ऐसा लगता है क्योंकि आवश्यक सूत्र निर्युक्ति मे इस कथा का मूल उपलब्ध होता है इस सूत्र की नियुक्ति की रचना भद्रबाहु ने की है, ऐसा कहा जाता है, और परम्परा उनका

'अभयकुमार भगवान् से प्रश्न करता है—'भगवन् ! आपने कहा था कि यह प्रतिमा पृथ्वी मे दब जायगी तो कब प्रकट होगी ?' भगवान् बोले—'हे अभय ! सौराष्ट्र, लाट, और गुर्जर देश की सीमा पर अनहिलपुर नाम का एक नगर बसेगा वह नगर आर्यभूमि का शिरोमणि, कल्याण का स्थान और आर्हत धर्म का एक छत्र रूप तीर्थ होगा वहा के चैत्यो की रत्नमयी निर्मल प्रतिमाए नदीश्वर आदि स्थानो की प्रतिमाओं की सत्यता को बताने वाली होगी प्रकाशमान सुवर्णकलशो की श्रेणियो से जिनके शिखर अलकृत है ऐसे मानो साक्षात् सूर्य ही आकर विश्राम कर रहा हो ऐसा वह नगर सुशोभित होगा वहा के लोग प्राय श्रावक होगे और अतिथिसविभाग करके ही भोजन करेगे दूसरो की सपत्ति मे ईर्ष्या रहित, स्वसपत्ति मे सन्तुष्ट और सदा पात्रदान मे रत ऐसी वहा की प्रजा होगी अलकापुरी के यक्षो की तरह वहा के बहुत से श्रावक धनाढ्य होगे वे अहद्भक्त बन कर सातो क्षेत्रो मे धन का व्यय करेंगे. सुषमा काल की तरह वहा के लोग पर-धन और परस्त्री से विमुख होगे हे अभयकुमार ! मेरे निर्वाण के बाद सोलह सौ उनसत्तर वर्ष के बीतने पर उस नगर मे चौलुक्य वश मे चन्द्र के समान प्रचण्ड पराक्रमी अखण्ड शासन वाला कुमारपाल नाम का धर्मवीर, युद्धवीर, दानवीर राजा होगा वह महात्मा पिता की तरह प्रजा का पालक होगा और उन्हे समृद्धिशाली बनाएगा सरल होने पर भी अति चतुर, शान्त होने पर भी आज्ञा देने मे इन्द्र के समान, क्षमावान् होने पर भी अधृष्य, ऐसा वह राजा चिरकाल तक इस पृथ्वी पर राज्य करेगा जैसे उपाध्याय अपने शिष्यो को विद्वान् और शिक्षित बनाता है वैसा ही वह अपनी प्रजा को भी विद्वान् सुशिक्षित और धर्मनिष्ठ बनाएगा वह शरणार्थियो को शरण देने वाला होगा परनारियो के लिये वह सहोदर भाई होगा धर्म को प्राण और धन मे भी अधिक मानने वाला होगा पराक्रमी, धर्मात्मा, दयालु एव सभी पुरुषगुणो से श्रेष्ठ होगा उत्तर मे तुरुषक—तुर्कस्तान तक, पूर्व मे गगा नदी तक, दक्षिण मे विन्ध्यगिरि तक और पश्चिम मे समुद्र तक की पृथ्वी पर उसका अधिकार होगा

एक समय वह वज्र शाखा और चान्द्रकुल मे उत्पन्न हेमचन्द्र नाम के आचार्य को देखेगा उन्हे देखते ही वह इतना प्रसन्न होगा जैसे गरजते मेघ को देख कर मयूर प्रसन्न होते है वह उनके दर्शन के लिये जाने की शीघ्रता करेगा जब आचार्य चैत्य मे बैठकर धर्मोपदेश करते होगे, उस समय वह अपने मत्रीमण्डल के साथ उनके दर्शन के लिये आएगा प्रथम देव को वन्दन कर तत्त्व को नही जानता हुआ भी अत्यन्त शुद्ध सरल हृदय से आचार्य को नमस्कार करेगा प्रीतिपूर्वक आचार्य का उपदेश सुन कर सम्यक्त्वपूर्वक श्रावक के अणुव्रतो को स्वीकार करेगा तत्व का बोध प्राप्त कर वह श्रावक के आचार का पारगामी होगा राजसभा मे बैठा होने पर भी धर्मचर्चा ही करेगा प्राय निरन्तर ब्रह्मचर्य रखने वाला वह राजा अन्न, फल, शाक आदि के विषय मे भी अनेक नियमो को ग्रहण करेगा साधारण स्त्रियो का तो उसे त्याग ही रहेगा किन्तु अपनी रानियो तक को वह ब्रह्मचर्य का उपदेश करेगा जीव अजीव आदि तत्वो का जानकार वह राजा दूसरो को भी तत्व समझाएगा—सम्यक्त्वी बनाएगा अर्हद्धर्मद्वेषी ब्राह्मण भी उसकी आज्ञा से गर्भ-श्रावक बनेंगे देवपूजा और गुरुवन्दन करके वह राजा भोजन करेगा अपुत्र मरे हुए का धन वह कभी नही लेगा वस्तुत विवेक का यही सार है विवेकी व्यक्ति सदा तृप्त ही रहते है वह स्वय शिकार नही करेगा और उसकी आज्ञा से दूसरे राजागण भी शिकार छोड देगे उसके राज्य मे मृगया तो दूर रही, मक्खी मच्छर को भी कोई मारने की हिम्मत नही करेगा उसके अहिंसात्मक राज्य मे जगल के प्राणी मृग आदि एक दम निर्भीक होकर इधर उधर घूमा करेंगे उसके राज्य मे अमारी घोषणा होगी जो जन्म से मासाहारी होगे वे भी उसकी आज्ञा से दु स्वप्न की तरह मास खाना ही भूल जावेंगे अपने पूर्वजो के रिवाज के अनुसार जिस मद्य का श्रावक भी पूरी तरह से त्याग नही कर सके उसका वह अपने समस्त राज्य मे निषेध करेगा यहा तक कि कुम्भकार भी मद्य पात्र बनाना छोड देंगे मद्यपान से जिन लोगो की सपत्ति क्षीण हो गई है, ऐसे लोग भी मद्य-निषेध से उसके राज्य मे पुन सम्पत्तिमान्
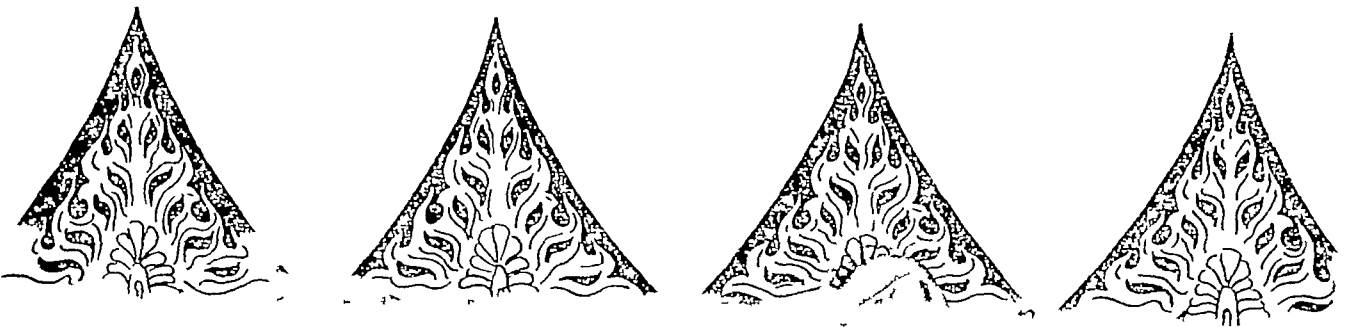
म नगर के बाहर निकला और उत्तर की ओर चला चलते चलते वह पिमा शहर पहुँचा और वहीं रहने लगा बाद में मूर्ति भी वहाँ से आकाश मार्ग से उड़कर इस शहर में आई वह व्यक्ति उस मूर्ति की पूजा करने लगा पुराने ग्रन्थों में लिखा है कि जब शाक्यधर्म का अन्त हो जाएगा तब यह मूर्ति नाग लोक में चली जाएगी आज भी 'हो लो लो किअ' शहर की जगह बहुत बड़ा मिट्टी का ढेर पड़ा हुआ है¹

यवनचंग और दिव्यावदान

यवनचग के द्वारा लिखी गई उपर्युक्त घटना का मूल क्या है यह मैं नहीं जान सका किन्तु दिव्यावदान मे कुछ घटनाएँ देखने को मिली यवनचग और दिव्यावदान इन दोनो की कथा का जैनग्रन्थों की उदायन कथा के साथ मिलान करने पर दोना में जो साम्य मुझे दिखाई दिया वह आश्चर्यजनक है पाठको की जानकारी के लिये दिव्यावदान के रुद्रायणावदान नामक प्रकरण में आई हुई वह कथा देता हूँ

राजा बिम्बिसार के समय जब भगवान् बुद्ध राजगृह में रहते थे तब दो महानगर प्रसिद्ध थे—एक पाटलिपुत्र और दूसरा रोरुक रोरुक नगर में रुद्रायण नामक राजा राज्य करता था उसकी चन्द्रप्रभा नामक की रानी थी शिखण्डी नामका पुत्र था और हिरु मिरु नामक के दो महामन्त्री थे राजगृह में बिंबिसार राजा था उसकी वैदेही नामक की रानी और अजातशत्रु नामका पुत्र था वर्षकार नामक उसका महामन्त्री था उस समय राजगृह के कुछ व्यापारी रोरुक नगर गये और वहाँ के राजा रुद्रायण से मिले बिम्बिसार से मैत्री बढाने की दृष्टि से राजा रुद्रायण ने व्यापारियों के साथ अपने राज्य के बहुमूल्य रत्न भेजे उसके जवाब मे राजा बिम्बिसार ने भी अपने यहाँ बनने वाले बहुमूल्य वस्त्रो की पेटियाँ भेजी एक बार रुद्रायण ने अपने राज्य के कुछ बहुमूल्य रत्न बिम्बिसार को भेजे बदले में उसने भगवान् बुद्ध का भव्य चित्र तैयार करवा कर रुद्रायण को भेजा साथ ही रुद्रायण को बौद्ध धर्मी बनाने के लिये महाकात्यायन नामक भिक्षुक व शैला नाम की भिक्षुणी को भेजा भिक्षु और भिक्षुणी रुद्रायण के महल में रहे और उसे बुद्धधर्म का उपदेश करने लगे राजा धीरे-धीरे बुद्ध का अनुयायी बन गया

राजा रुद्रायण वीणा बजाने में बहुत कुशल था और रानी नृत्य करने में एक दिन रानी नृत्य कर रही थी और राजा वीणा बजा रहे थे नृत्य करती हुई रानी में मृत्युकाल के कुछ चिह्न राजा को दिखाई पड़े राजा ऐसे चिह्न देख सहसा घबरा उठा और उसके हाथ से वीणा छूट गई वीणा के एकाएक बन्द हो जाने से रानी चौंक गई और राजा से बोली स्वामी— क्या मेरा नृत्य खराब था जिससे आपने वीणा बजाना ही बन्द कर दिया ? राजा ने कहा— ऐसी बात नहीं है किन्तु तुम्हारी शीघ्र मृत्यु के कुछ चिह्न देख कर मैं घबरा गया और वीणा हाथ से छूट गई आज से सातवें दिन तेरी मृत्यु होगी यह सुन रानी बोली—'अगर ऐसा ही है तो मैं भिक्षुणी बनना चाहती हूँ राजा ने इस शर्त पर भिक्षुणी बनने की आज्ञा दी कि—अगर तुम मर कर देव बनो तो मुझे आकर दर्शन देना रानी ने राजा की यह बात मान ली और वह शैला भिक्षुणी के पास प्रव्रजित हो गई सातवें दिन वह मरण सज्ञा की भावना करती हुई मरी और चातुर्महाराजिक देवलोक में देवकन्या के रूप में उत्पन्न हुई वह देवकन्या उसी रात्रि में राजा के शयनगृह में प्रकट हुई रानी को देखकर उसे आलिंगन करने के लिये राजा ने अपने दोनो हाथ आगे बढाये और पास आने का आग्रह किया तब देवकन्या बोली—'महाराज ! मैं मर कर देवकन्या बनी हूँ अगर आप मुझ से समागम करना चाहते हैं तो आप भी प्रव्रज्या ग्रहण करें मृत्यु के बाद जब आप देव बनेंगे तभी मुझ से समागम कर सकेंगे इतना कह कर वह देवकन्या अदृश्य हो गई देवकन्या के अदृश्य होने पर राजा विचार में पड़ गया उसने सारी रात संकल्प विकल्प में व्यतीत की अन्त में उसने प्रव्रज्या लेने का निश्चय किया प्रातः भगवान् बुद्ध के समीप प्रव्रज्या के लिये राजगृह की ओर चल पड़ा जाते समय उसने अपने पुत्र शिखण्डी को राज्यगद्दी पर बैठा दिया दोनो मन्त्रियों को राज्य की सारी व्यवस्था करने

१ [illegible]

एक विलक्षण परम्परासाम्य

जिस प्रकार जैन-ग्रथो मे वीतिभय के उदायन और चन्दन काष्ठ की मूर्ति विषयक वृतान्त मिलता है, उसी प्रकार बौद्ध ग्रथो मे भी कोशाम्बी के उदायन और बुद्ध मूर्ति विषयक वृतान्त मिलता है बौद्ध श्रमण यवनचक अथवा ह्वेतसग जब भारत मे आया था, उस समय यह कथा बौद्धो मे भी बहुत प्रचलित थी, उसने अपन प्रवासवृतान्त मे कोशाम्बी का वर्णन करते हुए लिखा है कि—'कोशाम्बी नगर मे एक पुराना महल है उसमे ६०० फीट ऊचा एव विहार है इस विहार मे चन्दनकाष्ठ की बुद्धप्रतिमा है उस बुद्धप्रतिमा पर पाषाण का बना हुआ छत्र है कहा जाता है कि यह कृति उदायन राजा की है, यह मूर्ति बडी प्रभावशालिनी है इसमे दैवी तेज रहा हुआ है और यह समय-समय पर प्रकाश देती रहती है इस मूर्ति को इस स्थान से हटाने के लिये राजाओ ने प्रयत्न किये थे और उठाने के लिये कई आदमी लगाये थे लेकिन उसे कोई हिला भी नही सका तब वे लोग उस मूर्ति की प्रतिकृति बनाकर पूजा करने लगे और उसमे मूल मूर्ति की-सी श्रद्धा रखने लगे '[1]

इसी लेखक ने अपने प्रदेश के पिमा शहर मे इसी प्रकार की एक अन्य मूर्ति का भी उल्लेख किया है वह लिखता है—'यहा—पिमा शहर मे भगवान् बुद्ध की खडी आकृति मे बनी हुई चन्दनकाष्ठ की एक विशालमूर्ति है, यह २० फीट ऊची है और बडी चमत्कारिक है इसमे से प्रकाश निकलता रहता है, रुग्ण जन अगर सोने के वरख मे उसकी पूजा करे तो उनका रोग मिट जाता है ऐसी यहा के लोगो की धारणा है जो लोग अन्त करण पूर्वक इसकी प्रार्थना करते है, उनका मनोवाछित सिद्ध हो जाता है यहा के लोग कहते है कि—जब बुद्ध जीवित थे उस समय कौशाम्बी के राजा उदायन ने इस मूर्ति को बनवाया था जब भगवान् बुद्ध का निर्वाण हो गया तब यह मूर्ति अपने आप आकाश मे उडकर इस राज्य के उत्तर मे आये हुए 'हो-लो लो-किय' नाम के शहर मे आकर रही यहाँ के लोग धनिक और बडे-वैभवशाली थे और मिथ्यामत मे अनुरक्त थे उनके मनमे किसी भी धर्म के प्रति मान-सम्मान नही था जिस दिन से यह मूर्ति आई उस दिन से देवी चमत्कार होने लगे, लेकिन लोगो का ध्यान इस मूर्ति की ओर नही गया

उसके बाद एक अर्हत् वहाँ आया और वन्दन कर उस मूर्ति की पूजा करने लगा उस अर्हत् की विचित्र वेष-भूषा देख कर लोग डर गये और उन्होने राजा को जाकर सूचना दी राजा ने आज्ञा दी कि उस पुरुष को धूल और रेती से ढक दो लोगो ने राजाज्ञा के अनुसार उस अर्हत् की बडी दुर्दशा की और उसे धूल और रेती के ढेर मे दबा दिया उसे अन्न जल भी नही दिया किन्तु एक व्यक्ति को, जो उस मूर्ति की पूजा करता था, लोगो पर बडा क्रोध आया, उसने छुप कर उस अर्हत् को भोजन दिया जाते समय अर्हत् उस व्यक्ति से बोला—'आज से सातवें दिन इस नगर पर रेती और धूल की वर्षा होगी जिससे सारा नगर रेती और धूल मे दब जायगा कोई भी व्यक्ति जीवित नही रह सकेगा अगर तुझे प्राण बचाना हो तो तू यहाँ से भाग जा यहाँ के लोगो ने मेरी जो दुर्दशा की है उसी के फलस्वरूप यह नगर भी धूलिवर्षा से नष्ट हो जायगा इतना कह कर अर्हत् अदृश्य हो गया तब वह आदमी शहर मे आकर अपने सगे सबधियो को कहने लगा कि आज से सातवें दिन यह नगर धूलिवर्षा से नष्ट हो जायगा इस बात पर लोग उसकी हँसी उडाने लगे दूसरे दिन एक बडी आँधी आई और वह नगर की सारी गन्दी धूल उडाकर आकाश मे ले गई बदले मे कीमती पत्थर आकाश से गिरे इस घटना से तो लोग उसकी और हँसी उडाने लगे

किन्तु उसे अर्हत् के वचन पर विश्वास था उसने गुप्त रूप से नगर मे बाहर निकलने के लिये रास्ता बनाया और वह जमीन मे छुपा रहा ठीक सातवें दिन धूल की भयकर वर्षा हुई और सारा नगर धूल मे दब गया वह व्यक्ति सुरग

मे जो भी परिचय मिला है, उसे उन्होंने अपनी टीका मे उद्धृत किया है उसमे सुवर्णगुलिका के लिये उदायन का चण्डप्रद्योत के साथ हुए युद्ध की परम्परा अति प्राचीन और सत्य पर आधारित है

१ ह्वेनत्सग भी अपने साथ इस मूर्ति की प्रतिकृति बनाके ले गया था देखो Beals Record of Western Countries, Book I, पृ० २३४ और प्रस्तावना पृ० २०
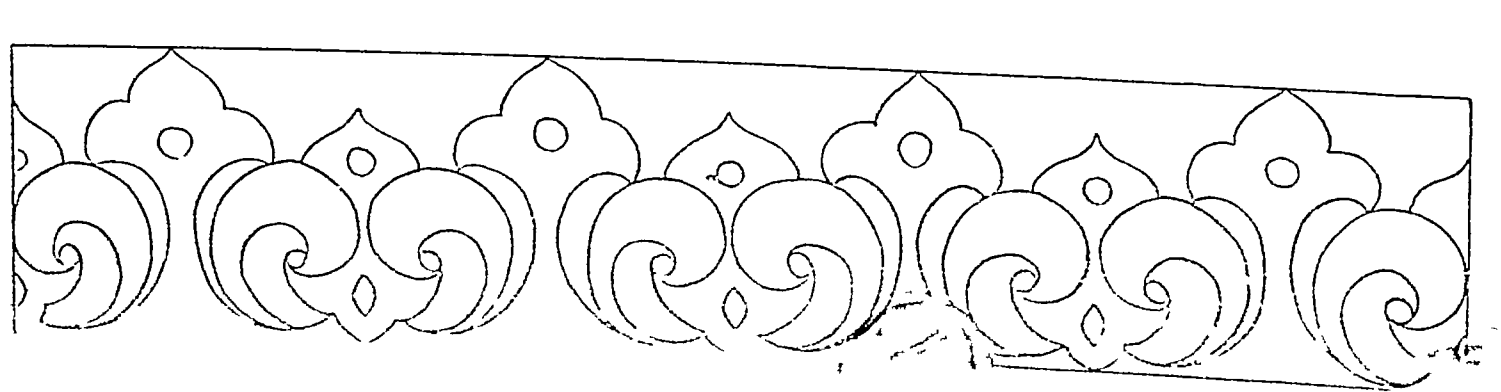
महाशय इसी नामका दूसरा उच्चारण इस प्रकार देते है Ragha or Ragham, or Perhaps ourgha और 'वाटर्स' महाशय उसका संस्कृत उच्चारण 'रुरुक' देते है किन्तु दोनो उच्चारणों की अपेक्षा दिव्यावदान का रोरुक उच्चारण ही भाषाशास्त्र की दृष्टि से अधिक संगत लगता है अतः ये दोनों नगर एक ही थे ऐसा उपयुक्त प्रमाणों से सिद्ध हो जाता है किन्तु यहाँ पर भौगोलिक प्रश्न उपस्थित होता है दीघनिकाये नामक पाली आगम के 'महागोविन्द सुत्तन्त' म और 'जातकट्ठकथा' मे रोरुक नगर को 'सौवीर' देश की राजधानी बताया है प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान्—हीस-डविड्स ने हिन्दुस्तान के नक्शे में सौवीर देश का स्थान कच्छ की खाड़ी के पास में बताया है जब कि हुएनसांग हो-लो-ला किया नगर को खोतान प्रदेश [मध्यप्रदेश] म बताते है प्रादेशिक दृष्टि से दोना के स्थान अलग-अलग होने से इन दोना नगरो का एक मानने में यह सबसे बडी बाधा उपस्थित होती है दीघनिकाय म जिस सोविर देश का उल्लेख आया है उसका अभी तक स्थान निश्चित नही हो पाया है बल्कि पुराणो एव जनग्रथों म सौवीर देश का नाम आता है जन ग्रथा म प्राय सिन्धु-सौवीर ऐसा जुडा हुआ नाम आता है यह सौवीर बुद्ध का ही सौवीर है तो यह सिन्धु नदी क आस-पास बसा हुआ होना चाहिए किन्तु जैन और बौद्धा का सौवीर एक ही है ऐसा मालूम नही होता क्योकि जैन सिन्धु सौवीर की राजधानी वीतिभय अथवा वीतभय मानते है जबकि बौद्ध ग्रथो में सौवीर की राजधानी रोरुक नगर बतलाई गई है बौद्ध ग्रथों में भी अलग-अलग वाचनाओं में इस शब्द के विषय म कई पाठान्तर है जैसे—जातकट्ठकथा में 'रोरुवनगर' अथवा 'रोरुवम नगर' ऐसे दो पाठ आते है 'दीघनिकाय' की सिंहली वाचना म 'रोरुक' और बरमी वाचना म रोरुण' पाठ आता है इतना ही नही देश के नामों मे भी पाठान्तर है जैसे दीघनिकाय में सौवीर' क स्थान पर सोविर' पाठ आता है और जातकट्ठकथा म सिविरट्ठे' पाठ है लिपिको के प्रमाद और अज्ञान स एसे अशुद्ध पाठों का लिखा जाना असंभव नही है एसे पाठभेदो से ऐतिहासिक तथ्य निकालने में कितनी बडी कठिनाई आती है यह तो पुरातत्त्वज्ञ ही जानते है तीबेटियन साधनो से तो रोरुक' नगर पालिसाहित्य प्रसिद्ध कोलिय क्षत्रियो का राम ग्राम' हो ऐसा राकहील' का अनुमान है [१] इससे यह पता लगता है कि सौवीर और रोरुक नगर का स्थान अभी तक निश्चित नही हो पाया है अगर निश्चित हुआ मान भी लें तो भी दिव्यावदान का 'रोरुक' और दीघनिकाय का रोरुक' दोनो अलग है ऐसा मानने में कोई बाधा भी नही है साथ ही दिव्यावदान वाला रोरुक हिन्दुस्तान के बाहर था ऐसे कई प्रमाण मिलते है रोरुक नगर का जब नाश हुआ था तब कात्यायन भिक्षु मध्यदेश म आने के लिए निकला मार्ग में लम्बाक स्यामाक और वोक्कणादि देशों को पार करता हुआ सिन्धु नदी क किनारे पर आया बाद म नदी का पार कर अनेक स्थलों पर घूमता घामता श्रावस्ती आ पहुँचा था पूर्वग्रथों मे लम्बाक-स्यामाक और वोक्कणादि प्रदेश हिन्दुस्तान क बाहर अनार्य प्रदेश माने जाते थे इनका सिन्धु नदी के उस पार होना भी उन प्रदेशों क अनार्य होने का सबल प्रमाण है दिव्यावदान की वार्ता के आधार पर स हम यह कहते है कि रोरुक नगर में रत्नो की पैदाइश अधिक होती थी और वस्त्रा की कम [२] इसके विपरीत भारत मे ऐसा कोई प्रदेश दृष्टिगोचर नही होता जहाँ केवल रत्न ही रत्न पैदा होते हो वस्त्र नही किन्तु मध्य एशिया में ऐसे भी प्रदेश थे जहा वस्त्र नही पैदा होते थ [१] इन कारणा स प्रमाणित होता है कि रोरुक नगर हिन्दुस्तान के बाहर था और वह हुएनसांग का वर्णित हो-लो-ला-किया' का ही दूसरा नाम था

बौद्ध और जन कथा में समानता

हुएनसांग और दिव्यावदान की कथा का साम्य हम ऊपर देख आये है किन्तु बौद्ध और जन कथा में जो साम्य मिलता है वह और भी आश्चर्यजनक है हुएनसांग और दिव्यावदान वर्णित कथा मे तो केवल रोरुक नगर के नाम का ही साम्य मिलता है किन्तु दिव्यावदान की कथा के साथ जन कथा का कई बातो में साम्य दृष्टिगोचर होता है जिसकी चर्चा अब हम करेंगे

---

१ देखे Rockhill L f of Buddha P 14.

२ [illegible] —दिव्यावदान पृ [illegible]

को कहा गया राजगृह पहुँच कर उसने भगवान् बुद्ध के समीप प्रव्रज्या ग्रहण कर ली और बुद्ध का शिष्य बन गया इधर शिखण्डी अपने दो दुष्ट मत्रियो की सगति से अनीति के मार्ग पर चलने लगा और प्रजा को भी सताने लगा उसने दो पुराने अच्छे मत्रियो को अलग कर दिया कुछ व्यापारियो से जब इस वृद्ध भिक्षु को अपने पुत्र के अन्याय का पता लगा तो वह उसे समझाने के लिये रोरुक नगर की ओर चल पडा जब दोनो दुष्ट मत्रियो को इस बात का पता चला तो उन्होने उसे मार्ग मे ही रोकना अच्छा समझा उन्होने शिखण्डी से कहा—'सुना है कि वृद्ध भिक्षु यहाँ आ रहा है' इस पर शिखण्डी ने कहा—'अब तो वह प्रव्रजित हो गया है, भले आये' इस पर मत्रियो ने कहा—जिस व्यक्ति ने एक दिन भी राज्यश्री का अनुभव कर लिया हो वह पुन राज्य पाने का लोभ सवरण नही कर सकता इस पर शिखण्डी ने कहा—अगर वे पुन राज्य प्राप्त करना चाहते है, तो मैं उन्हे अपना राज्य दे दूंगा मत्रियो ने उसे कहा—क्या प्राप्त राज्य को इस प्रकार खो देना बुद्धिमता है इस तरह मत्रियो ने कई तरह से समझा-बुझाकर वृद्ध को राज्य मे न आने देने के लिये शिखण्डी को राजी किया यहाँ तक कि दुष्ट मत्रियो की बातो मे आकर उसने कुछ घातक पुरुषो को भेज कर अपने पिता का शिरच्छेद करवा दिया

पिता की मृत्यु के बाद वह राजा प्रजा पर खूब अत्याचार करने लगा एक समय शिखण्डी अपनी मण्डली के साथ नगरपरिक्रमा के लिये निकला मार्ग मे उसे भिक्षु कात्यायन मिला कात्यायन भिक्षु को देखकर शिखण्डी अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और उसने उस पर एक-एक मुट्ठी धूल डालने की प्रजाजनो को आज्ञा दी राजाज्ञा से लोगो ने उस भिक्षु पर इतनी अधिक धूल डाली कि वह उसी मे दब गया

पुराने हिरु, भिरु नाम के मत्रियो को जब इस बात का पता चला तो वे उस भिक्षु के पास आये और उसे मिट्टी से बाहर निकाला भिक्षु ने मत्रियो से कहा—'अब इस नगर के विनाश का समय आ गया है आज से सातवें दिन धूलि-वृष्टि होगी जिससे सारा नगर नष्ट हो जायगा अगर तुम अपना बचाव करना चाहते हो तो अपने घर से नदी के तट तक एक सुरग बनवा लेना और नदी के तीर पर एक नाव भी तैयार रखना जब नगरप्रलय का समय आयगा उस समय तुम नाव पर बैठ कर अन्यत्र चले जाना नगरप्रलय मे प्रथम दिन बडी आधी आएगी वह आँधी नगर की सारी दुर्गन्धित धूलि को आकाश मे उडाकर ले जाएगी दूसरे दिन फूलो की वर्षा होगी तीसरे दिन वस्त्रो की वर्षा होगी चौथे दिन चादी बरसेगी पाँचवें दिन सोने की वर्षा होगी छठे दिन रत्न बरसेंगे और सातवें दिन धूल की वृष्टि होगी जिससे सारा नगर भूमिसात् हो जायगा'

कात्यायन की भविष्यवाणी के अनुसार सातवें दिन एक भयकर आधी आई जिससे सारे नगर की धूल उड गई मत्रियो को भिक्षु की भविष्यवाणी पर विश्वास हो गया उन्होने अपने घर से नदी तक सुरग बना ली छठे दिन जब रत्नो की वर्षा हुई तो उन्होने नाव को रत्नो से भर लिया और उसमे बैठकर अन्य देश चले गये वहा हिरु मत्री ने हिरुकच्छ और भिरु मत्री ने भिरुकच्छ नाम का देश बसाया कात्यायन भिक्षु नगर के नष्ट हो जाने पर लम्बकपाल, श्यमाक वोक्काण आदि देश होता हुआ सिन्धु नदी के किनारे पर आ पहुँचा वहा से मध्यदेश आया और श्रावस्ती नगरी मे, जहा भगवान् बुद्ध अपने सघ के साथ रहते थे, आकर उनके सघ मे मिल गया

जहा तक मुझे स्मरण है, यह कथा दक्षिण के हीनयान सम्प्रदाय के पाली साहित्य मे कही भी नही मिलती किन्तु उत्तर के महायान सम्प्रदाय के सस्कृत एव टिबेटियन साहित्य मे उपलब्ध होती है 'दिव्यावदान' के सिवा क्षेमेन्द्र के 'अवदान-कल्पलता' मे भी यह कथा आती है अस्तु, यहा इतना ही बताना अभिप्रेत है कि चीनी यात्री ह्वेएन सीग [ह्यूवत्सींग] द्वारा वर्णित 'हो-लो लो-किअ' नगर के नाश की और दिव्यावदान के 'रोरुक' नगर के नाश की कथा मे कही अतर दृष्टिगोचर नही होता इससे यह मालूम होता है कि इन दोनो कथाओ का मूल स्रोत एक ही है इतना ही नही, 'दिव्यावदान' के 'रोरुक' नगर का ही चीनी उच्चारण 'हो-लो-लो-किअ' हो ऐसा लगता है थोमसवाटर्स इस नाम की व्युत्पत्ति O-Lao-Lo-Ka (Rallaka?) इस प्रकार करते हैं 'बिल' महाशय Ho-Lo-Lo-Kia ऐसा करते है 'बिल'
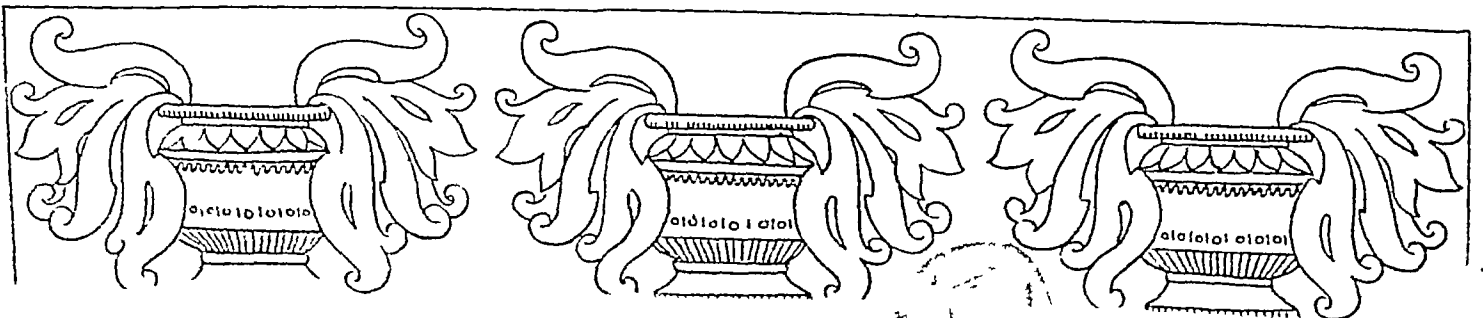
समयताऽनुजानामि यदि तावदयमस्य मत्क्लेशप्रहाणाय देव साक्षात्करोषि एषा एव तु कामतः मम सावशेषसकामना कार्यं कृत्वा एवेत्युपपद्यते एवमुक्तया ते ममापत्रपायितव्यमिति सा कथयति—देव एव मत्कृतेति (दिव्यावदान पृ ४०)

यही वर्णन आचार्य हेमचन्द्र के महावीरचरित्र में इस प्रकार है

तामन्यदार्थामर्थित्वा प्रमोदेन प्रभावती पत्या समेता सगीतमविगीतं प्रचक्रमे ।
तानोपानुगतमध्यं व्यक्तव्यंजनधातुकम् व्यग्रस्वर व्यक्तरागं राजा वीणामवादयत् ।
व्यक्तवर्णाहारकरणं सर्वांगाभिनयोज्ज्वलम् ननर्त देव्यपि प्रीता काम्य तावदपूर्वकम् ।
राजाम्यदा प्रभावत्या न ददर्श शिरः क्षणात्, नृत्यन्त तत्कबन्ध तु ददर्शाभिकबन्धवत् ।
अरिष्टदर्शनेन प्राक् क्षुभितस्य महीपतेः तद्गोपसर्पन्निमस्येनागलत् कम्बिका करात् ।
अकाण्डतायडवच्छेदकुपिता राज्ञमपावदत् तालच्युतास्मि किमहं बाह्नाद्विरतोऽसि यत् ।
इत्थं पुनःपुनः पृष्ट कम्बिकापातकारणम् ततथाऽन्यमहीपालो यथावान् स्त्रीग्रहः खलु ।
राज्ञ्यूचे दुर्निमित्तेनामुनाऽस्मायुरह्र प्रिय आजन्माऽर्हद्धर्मरगया मृत्युरप्यस्तु मास्मि भी ।
प्रत्युतानन्दहेतुर्मे दुर्निमित्तस्य दर्शनम् तज्ज्ञापनाय भवति परसर्वविरती मम ।
अनिमित्तहयाऽपानास्त्वायुषः समभाषित प्रव्रज्याग्रहणे मेऽद्य प्रत्यूह नाथ मा कृथा ।
एवमुक्तः मनिर्बन्धमस्य भाद्रसुभाषकः अनुतिष्ठ महादेवि यत्तुभ्यमभिरोचते ।
धर्ममाचरता देवि भाग्यमीयस्तयाम्यहम् स्वर्गमीयेऽप्यात्तरायेऽपि सोऽभ्यो ममस्व चराम् ।

उपरोक्त अवतरणों में जैन और बौद्ध लेखों में कितनी बड़ी अभिन्नता है यह स्पष्ट मालूम होता है मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि दिव्यावदान के रुद्रायण नाम के बदले में जैन नाम उद्रायण या जैन नाम उद्रायन के बदले में बौद्धनाम रुद्रायण लिपि या भ्रम का कारण ही है क्योंकि बौद्धों और जैनों के ग्रन्थों में इस नाम के कई पाठभेद मिलते हैं दिव्यावदान में रुद्रायण ही सर्वत्र प्रयुक्त हुआ है लेकिन कई प्रतियों में 'रुद्रायण' के स्थान में 'उद्रायण' का भी प्रयोग हुआ है इसी प्रति में एक जगह तो 'उद्रायण' ही पाठ आया है—

मुक्ता ग्रन्थरत्न पागरत्न शास्यनीपरशोभनया अयाप्युद्रायणो भिक्षु राजधर्मे मुष्यत ।—दिव्यावदान पृ ४८०

क्षेमेन्द्र के अवदानकल्पलता में सर्वत्र उद्रायण का ही प्रयोग हुआ है उदाहरणार्थ

बभूव समय तस्मिन् रौरुकाख्य पुर नृप श्रीमानुद्रायणो नाम यशश्चन्द्रमहोदधि ।
कदाचिदिन्दुपर्वणोर्ड कार्य कोबमाग्न्रमम् प्राहिणोद् बिम्बिसाराय भारमुद्रायणो नृपः ।
बिम्बिसारस्य दृश्नोऽम्बरेणामुद्रायणो नपः उद्रायणस्य नपतेराज्ञः कात्यायनोऽथ मा ।

—अवदानकल्पलता पृ० २४९

इन अवतरणों से यह स्पष्ट मालूम होता है कि बौद्धग्रन्थों में असली नाम रुद्रायण नहीं किन्तु 'उद्रायण' ही था यह नाम जैन परम्परा का भी सम्मत है भगवतीसूत्र और आवश्यक चूर्णि में 'उद्दायण' भी पाठ आता है जिसका संस्कृत रूप 'उदायन' होता है जैन संस्कृत टीकाकारों ने इसी शब्द को 'उदयन' के रूप में संस्कृत किया है

जैन और बौद्ध कथा में कितना बड़ा साम्य है यह हम ऊपर देख आये हैं इन विभिन्न साम्य का मूल स्रोत किसमें निहित है इस कथा को किसने किससे उधार लिया है ? या उस समय उदायन विषयक स्वतंत्र आख्यान को जैन व बौद्धों ने अपने रूप में ढालने का प्रयत्न किया है ? जिसका निर्णय करना हमारी शक्ति से बाहर है
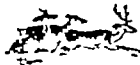
रोरुक नगर के नाश और जैन कथा मे वर्णित वीतिभय के नाश के वर्णन मे हुएनसांग, अवदान और जैन ग्रथ समान है तीनो ने नगरनाश का कारण धूलि-वर्षा ही बताया है जैन कथा मे 'उदायन' और दिव्यावदान मे 'उद्रायण' अथवा 'रुद्रायन' की मृत्यु का कारण उसका उत्तराधिकारी माना गया है जैन ग्रथकार इसकी मृत्यु विषप्रयोग से और बौद्ध कथाकार शस्त्रप्रयोग से दुष्ट अमात्यो द्वारा होना लिखते है जैन कथाकार उद्रायण का उत्तराधिकारी उसके भानजे केशीकुमार को मानते है जबकि बौद्ध कथाकार उसके पुत्र शिखण्डी को उसका उत्तराधिकारी मानते है

साथ ही शिखण्डी और उसके मत्रियो का आपस मे जो रुद्रायण विषयक वार्तालाप हुआ है और हेमचन्द्राचार्य की इसी कथा मे केशीकुमार और उनके मत्रियो के बीच उदायन विषयक हुए वार्तालाप मे जो भावसाम्य दृष्टिगोचर होता है, उसे समझने के लिये दोनो ग्रथो के कुछ उद्धरण दिये जाते है—

देव, श्रूयते वृद्धराजा आगच्छतीति स कथयति—प्रव्रजितोऽसौ किमथ तस्यागमनप्रयोजनमिति ? तौ कथयत देव, येनैकदिवसमपि राज्य कारितम्, स विना राज्येनाभिरस्यत इति कुत एतत् ? पुनरप्यसौ राज्य कारयितुकाम इति शिखण्डी कथयति—यद्यसौ राजा भविष्यति, अह न एव कुमार, कोऽनुविरोध इति ? तौ कथयत —देव, अप्रतिरूपमेतत् कथ नाम कुमारामात्यपौरजनपदैरञ्जलि—सहस्रैर्नमस्यमानेन राज्य कारयित्वा पुनरपि कुमारवासेन वस्तव्यम् ? वर देशपरित्यागो न तु कुमारवासेन वासम्——स ताभ्या विप्रलब्ध कथयति—किमत्र युक्तम् ? कथ प्रतिपत्तव्यमिति ? तौ कथयत —देव, प्रघातयितव्योऽसौ यदि न प्रघात्यते, नियत दुष्टामात्यविग्राहितो देव प्रघातयतीति स कथयति, कथ पितर प्रघातयामीति ? तौ कथयत —न देवेन श्रुतम् ?

पिता वा यदि वा भ्राता, पुत्रो वा स्वागनि सृत, प्रत्यनीकेषु वर्तेत कर्तव्या भूमिवर्धना (१)
(दिव्यावदान पृ० ४७८)

इन्ही भावो को आचार्य हेमचन्द्र ने निम्न शब्दो मे प्रकट किया है

ज्ञात्वोदायनमायात केश्यमात्यैर्भणिष्यते, निर्विण्णस्तपसामेष नियत तव मातुल ।
त्रद्द राज्य ह्यो न्द्रपद तत्त्वक्वानुशय दधात्, नूनं राज्यार्थमेवागाद्विश्वसीर्मा स्म सर्वथा ।
केशी वक्ष्यत्यसौ राज्य गृह्णात्वद्यापि कोऽस्म्यहम्, गोपालस्य हि क कोपो धन गृह्णाति चेद्धनी ।
वक्ष्यन्ति मत्रिण पुण्यैस्तव राज्यमुपस्थितम्, प्रदत्त न हि केनापि राजधर्मोऽपि नेदृश ।
पितुर्भ्रातुर्मातुलाद्वा सुहृदो वापरादपि, प्रसह्याप्याहरे प्राज्य तद्दत्त को हि मुञ्चति ।
तैरेवमुदितोऽत्यर्थं त्यक्त्वा भक्तिमुदायने, केशी प्रदास्यति किं कार्यं दापयिष्यन्ति ते विषम् ।

महावीरचरित्र पृ० १५८.

बौद्ध ग्रथो मे रुद्रायण की रानी का नाम चन्द्रप्रभा लिखा है जब कि जैनो ग्रथो मे प्रभावती नाम आता है दोनो मे भी 'प्रभा' शब्द का प्रयोग हुआ है जो अधिक ध्यान देने योग्य है इससे भी अधिक महत्त्व की बात यह है कि राजा का वीणा बजाना, रानी का नृत्य, नृत्य करती हुई रानी मे मृत्यु के चिह्न दिखाई देना, रानी की प्रव्रज्या, प्रव्रज्या की आज्ञा देने मे मृत्यु के बाद वापिस आने की शर्त राजा के द्वारा रखना, रानी की प्रव्रज्या और उसकी मृत्यु के बाद पुन राजा को उपदेश देने के लिये आना आदि घटनाओ का जो दोनो ग्रथो मे साम्य मिलता है, वह अधिक आश्चर्यजनक है दिव्यावदान और हेमचन्द्र के महावीर चरित्र मे इस विषय का जो वर्णन आया है, वह पाठसाम्य की दृष्टि से पाठको के सामने रखता हूँ

रुद्रायणो राजा वीणाया कृतावी, चन्द्रप्रभा देवी नृत्ये यावदपरेण समयेन रुद्रायणो राजा वीणा वादयति, चन्द्रप्रभा देवी नृत्यति तेन तस्या नृत्यन्त्या विनाशलक्षण दृष्टम् स तामितश्चामुतश्च निरीक्ष्य सलक्षयति-सप्ताहस्यात्ययात्काल करिष्यति तस्य हस्ताद्वीणा स्रस्ता, भूमौ निपतिता चन्द्रप्रभा देवी कथयति—देव मा, मया दुर्नृत्यम् ? देवी, न त्वया दुर्नृत्यम् अपि तु मया तव नृत्यन्त्या विनाशलक्षण दृष्टम्, सप्तमे दिवसे तव कालक्रिया भवतीति चन्द्रप्रभा देवी पादयोर्निपत्य कथयति-देव यद्येवम्, कृतोपस्थानाह देवस्य यदि देवो अनुजानीयात्, अह प्रव्रजेयमिति स कथयति चन्द्रप्रभे ।
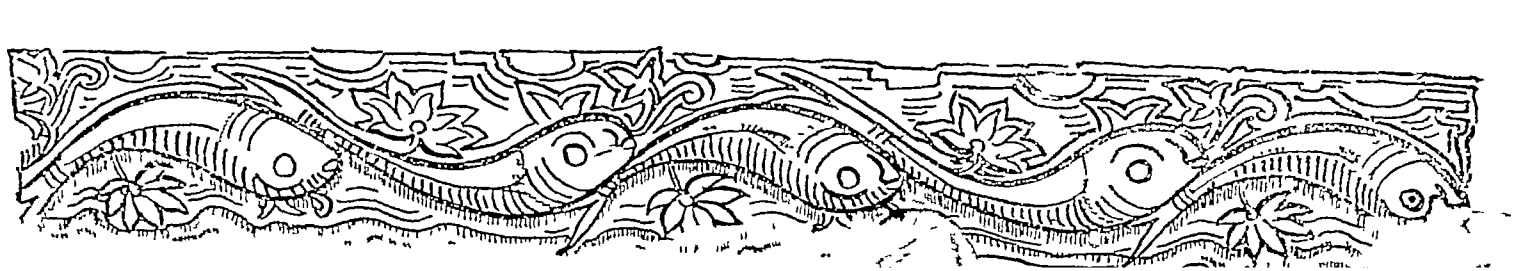
का गरल क्यो न पान करना पडे वह किसी से भी अपने पर दया करने की प्रार्थना न करेगा ज्यो-ज्यों दुख अपमान तिरस्कार और घृणा की लपटें उसे झुलसाने के लिये अग्रसर होंगी त्यों त्यों उसका जीवन वज्र के समान होता जायेगा क्या मजाल कि उसका मन पिघल जाए सत्व विचलित हो जाए वास्तव म सन्त स्वयं के लिए हिमालय की चट्टान के समान अडिग होता है किन्तु दूसरो के प्रति व्यवहार करने मे कुसुम के समान कोमल हो जाता है

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि

सन्त का कोमल हृदय दूसरा के दु ख के भार को वहन करने में सर्वथा असमर्थ होता है

सन्तों के प्रभाव के कतिपय उदाहरण

मानव के हृदय में रोग के जन्तु भर जाते हैं तो उसे डाक्टर के पास जाकर इंजेक्शन लेना पडता है सन्त भी एक डाक्टर है अत मानव के विकार एव पाप के जन्तुओ को दूर करने के लिये उनके पास आना चाहिए, उनके सम्पर्क से विषाक्त मानसिक वातावरण का नाश हो जाता है

१ समर्थ गुरु रामदास और शिवाजी

रामदास सचमुच समर्थ रामदास ही थे बचपन में उसका विवाह हो रहा था और वे लग्नमण्डप में बैठे हुए थे तब उन्होने जैसे ही 'सावधान' शब्द सुना वे सावधान हो गये और ऐसे सावधान हुए कि १२ वर्ष तक उनका पता नही लगा फिर वे सन्यासी हो गये और घर घर भिक्षा मागने लगे

स्वामी रामदास एक पहुँचे हुए सन्त थे उनका प्रभाव चारा ओर बिजली के समान फैल गया उस प्रभाव से महाराज शिवाजी भी प्रभावित हुए शिवाजी ने उन्हे अपना गुरु माना जब अपने गुरु को भिक्षा मागते हुए देखा तो सोचा—'मेरे गुरु और भिक्षा मांगे क्या मैं अकेला ही उनकी आवश्यकताएँ पूर्ण नही कर सकता हूँ ? उन्होने तत्काल पत्र लिखा ओर अपने नौकर को देते हुए कहा—'जब स्वामीजी आयें तो उनकी झोली में यह चिट्ठी डाल देना यथा-समय भिक्षार्थ रामदास आये तो नौकर ने वह पत्र उनकी झोली मे डाल दिया उसमें लिखा था—'महाराज मैं अपना सारा राज्य आपको सौपता हूँ आप भिक्षावृत्ति त्याग दें

सन्त रामदास ने उसे पढा और चुपचाप वहाँ से चल दिये दूसरे दिन वे शिवाजी के पास आये और बोले—'बेटा तुमने अपना सारा राज्य मुझे दे दिया है बोलो अब तुम क्या करोगे ?

शिवाजी ने कहा—'गुरुदेव जो आपकी आज्ञा हो सेवा में सदा तैयार हूँ !

रामदास ने कहा—'यह मेरी झोली उठाओ और मेरे साथ भीख मागने चलो.

शिवाजी बडे विस्मित हुए पर वचनबद्ध थ उन्होने झोली उठा ली और रामदास के साथ भिक्षा मॉगने चल पडे गुरु ने उन्हे सारे गाँव में भ्रमण कराया और अन्त में नदी के किनारे आकर सबके साथ भोजन कराया भोजनानन्तर गुरु ने शिवाजी से कहा—'बेटा तुमने सारा राज्य मुझे द दिया है लेकिन अब मैं यह राज्य तुम्हें वापस सौपता हूँ तुम राज-काज मेरा समझकर करना और यह मेरा भगवाँ वस्त्र भी साथ रखना जिससे तुम्हें इस राज्य के प्रति अनुरक्ति न हो महाराष्ट्र मे आज भी उस भगवे झण्डे का महत्त्व कायम है शिवाजी ने गुरु के कथनानुसार ही राज्य चलाया और उसके मालिक नही ट्रस्टी बनकर काम किया रामदास का शिवाजी पर ऐसा प्रभाव पड़ा

२ श्रेणिक और अनाथी मुनि :

मगधसम्राट् पर अनाथी मुनि का प्रभाव कैसा और किस प्रकार पडा इसका वर्णन भगवान् महावीर ने उत्तराध्ययन सूत्र के बीसवें अध्ययन मे किया है राजा श्रेणिक मण्डिकुक्ष नामक उद्यान में क्रीडार्थ गया वहाँ एक वृक्ष के नीचे ध्यानमुद्रा म स्थित अनाथी मुनि को देखा
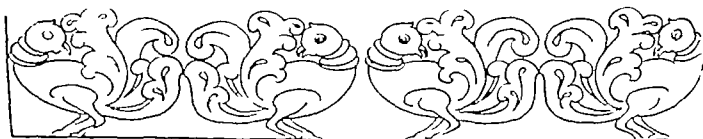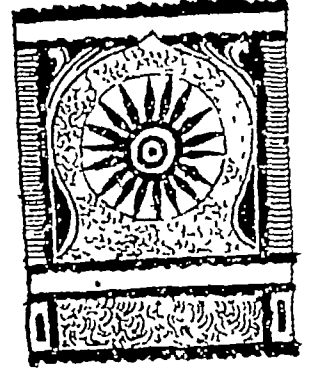
साध्वी श्रीकुसुमवतीजी सिद्धान्ताचार्या

भारतीय संस्कृति में संत का महत्त्व

भारतीय सस्कृति मे सन्त का स्थान प्रमुख है वही भारतीय सस्कृति का निर्माता है चिरकाल से सन्तो का जो अविच्छिन्न प्रवाह चला आ रहा है, सस्कृति उसी की घोर तपश्चर्या का सरस सुफल है सन्तजनो ने जगत् के लुभावने वैभव से विमुख होकर और अरण्यवास करके जो अमृत पाया, उसे जगत् मे वितीर्ण कर दिया उसी से सस्कृति की सस्थापना हुई, वृद्धि हुई समय-समय पर उस सस्कृति मे भी युगानुरूप सस्कार होते गए, किन्तु उसमे भी सन्तो की साधना का ही प्रमुख हाथ रहा यही कारण है कि भारतीय सस्कृति मे ऐसी प्रचुर विशेताएँ है जो विश्व के अन्य देशो मे दृष्टिगोचर नही होती सन्त का जीवन आत्मलक्षी होने पर भी जन-जन के कल्याणार्थ होता है उनका ज्ञान प्रसुप्त मानवजगत् को जागृत बनाने के लिये ही वे दीपक के समान स्वय भी प्रकाशमान है, और दूसरो को भी प्रकाश देते रहते है

सत के जीवन का लक्ष्य यद्यपि आत्मोत्थान होता है किन्तु उसके आत्मोत्थान की प्रक्रिया इस प्रकार की होती है कि उससे दूसरो का कल्याण अनायास ही होता रहता है परोपकार एव परोद्धार उसकी आत्म-साधना का ही एक अग होता है

सन्त के जीवन का क्षण-क्षण, शरीर का कण-कण और मन का अणु-अणु परहितार्थ ही होता है

सरवर तरुवर सन्त जन, चौथा वर्षे मेह ,
परोपकार के कारणे एता धारी देह ।

समुद्र अपने पास अथाह जलराशि सचय करके रखता है वह अपने लिये नही, किन्तु जगत् मे व्याप्त सताप को दूर करने और भूतल को शान्त करने के लिये ही वृक्ष मधुर-मधुर फलो एव फूलो से लदे रहते हैं, सो अपने लिये नही किन्तु दूसरो की क्षुधा को शान्त करने के लिये, दूसरो को सौन्दर्य और सुवास देने के लिये ही इसी तरह सन्तजन भी अपने जीवन को परहित के लिये ही धारण करते है

जिस प्रकार अगरबत्ती दूसरो को सुगन्ध प्रदान करने के लिये अपने आपको समर्पित कर देती है, अपने सम्पूर्ण शरीर को अग्निदेव की भेंट करके भी अन्य को खुशबू लुटाती रहती है, सन्त का जीवन भी ठीक इसी प्रकार का होता है- वे अपने दु खो एव कष्टो की परवाह न करते हुए पर-हितार्थ ही अपना सर्वस्व लुटा देते है

सन्त का हृदय मक्खन के समान कोमल होता है तुलसीदासजी ने कहा है

सत हृदय नवनीत समाना, कहा कविन पर कहिय न जाना ,
निज दुख द्रवहि सदा नवनीता, पर दुख द्रर्वहिं सन्त पुनीता ।

सन्त का हृदय मक्खन के समान कोमल है, यह कहना ठीक है, किन्तु स्वदु खकातर, बेचारा मक्खन परदु खकातर सन्त के हृदय का मुकाबला नही कर सकता अतएव मक्खन की उपमा सन्त के जीवन से सगत नही हो सकती

सन्त के प्राणो पर कैसा भी विषम सकट क्यो न आ पडे, सहस्रो पीडाए क्यो न उपस्थित हो, अपमान और तिरस्कार
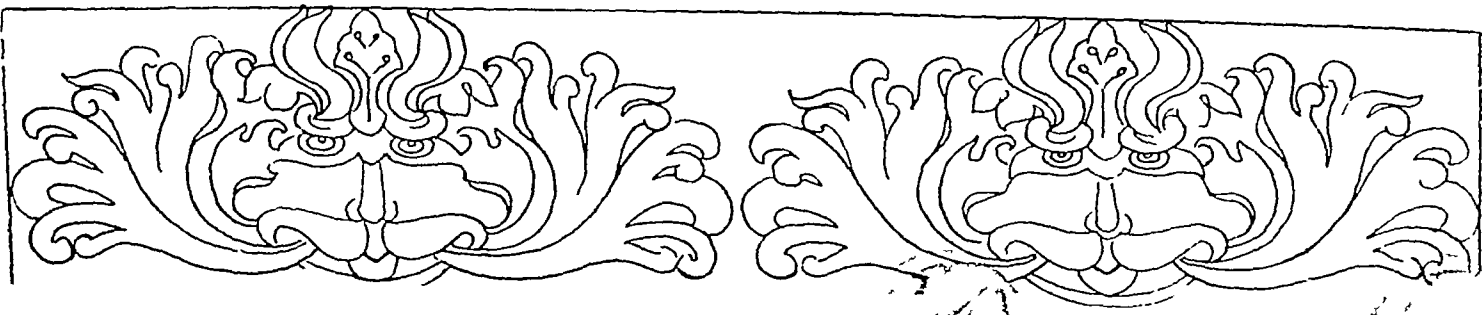
संत की विशेषता

संत पुरुष के जीवन में कितनी ही आपत्तियाँ क्यों न आ पड़े उसके चित्त में तनिक भी विकृति नहीं आती है सत्य यह है कि दुःख काल में सत्पुरुष का जीवन और अधिक निखरता है शंख को अग्नि में डाल दिया जाय तो भी वह अपनी शुभ्रता नहीं त्यागता

संत पुरुष मारणान्तिक संकट के अवसर पर भी घबराते नहीं हैं किन्तु उनके जीवन से तप-संयम का सौरभ निरंतर महकता रहता है

कुठार चन्दन के वृक्ष को काटता है उसका समूल नाश करता है फिर भी चन्दन तो कुठार के मुख को भी सुवासित करता है काटने वाले को भी सुगन्ध ही प्रदान करता है ऐसे ही साधु जन का चाहे कोई अपकार करे या उपकार, दोनों पर उस की दया-दृष्टि समान रहती है

साधु के लक्षण—*साधु पुरुष वह है जो अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को जीवन में धारण करके* अपनी इंद्रियों को निगृहीत कर लेते हैं सन्त पुरुष इन्द्रियों के दास नहीं होते किन्तु 'गोस्वामी' होते हैं वे सदा भिक्षा जीवी होते हैं और रसनेन्द्रियविजयी सहज रूप से जो भी निर्दोष रूखा-सूखा उपलब्ध हो जाय उसे ही अपने समभाव के साँचे में ढालकर अमृत बना लेते हैं रसनेन्द्रिय पर विजय प्राप्त करना बहुत ही दुष्कर है, किन्तु सच्चे संत के लिये कोई भी कार्य दुष्कर नहीं होता

क्रोध की आँधी सन्त पुरुष के मन-मानस में किंचित् भी क्षोभ उत्पन्न नहीं कर सकती मान रूप सर्प उस पर आक्रमण *नहीं कर सकता उनका अन्तःकरण निश्छल एवं सरल होता है लोभ रूप अजगर उन्हें ग्रसित नहीं कर सकता है* उनके जीवन में कषायों का प्राबल्य नहीं होता है वे जानते हैं कि कषायों का प्रशमन ही सन्तजीवन का सर्वोपरि लक्ष्य है. भावसत्य करणसत्य योगसत्य क्षमावान्, वैराग्यवान् मन समाधारणीय वचःसमाधारणीय कायसमाधारणीय ज्ञान सम्पन्नता दर्शनसम्पन्नता चारित्रसम्पन्नता वेदनाभ्यास मारणान्तिकसमाभ्यास आदि इन सत्ताईस गुणों से जो युक्त हो वे ही साधु पुरुष माने जाते हैं वे षट्निकाय जीवों की रक्षा करते हैं आठों मदों के त्यागी होते हैं नववाड़ सहित शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं दस प्रकार के यतिधर्म बारह प्रकार की तपस्या के और सत्रह प्रकार के संयम के पालन कर्त्ता होते हैं उनके जीवन में चाहे कितने ही परिषह उपस्थित हों कभी घबराते नहीं हैं बल्कि सहर्ष परिषह सहन करते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि कष्टों के साथ संघर्ष करना ही आत्मिक शक्ति की वृद्धि का रहस्य है]

संत की कष्टसहिष्णुता—संत अपने प्राण बचाने के लिये दूसरों को कष्ट की भट्टी में नहीं झोंकते वे समय आने पर अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी दूसरों की रक्षा ही करते हैं कहा है

> विपद्यपि गता सन्तः पाप कर्म न कुर्वते
> हंस कुक्कुटवत्कीट नाश्नाति क्षुधितोऽपि हि

हंस चाहे कितने ही दिन भूखा रह जाय कुक्कुट के समान कीट भक्षण नहीं करता ऐसे ही संतजन के जीवन में कितने ही घोर संकट क्यों न समुपस्थित हो जाय फिर भी पाप कर्म में उनकी प्रवृत्ति नहीं होती है

मेतार्य मुनि मिक्षार्थ नगर में घूम रहे थे बीच में एक स्वर्णकार का घर आता है और मुनि उसके यहाँ भी भिक्षार्थ पधारते हैं उस समय स्वर्णकार सोने के यव बना रहा था उनको वहीं पर छोड़कर मुनि को आहारदान देने के लिये वह रसोई घर में जाता है अचानक आकर एक कुक्कुट उन स्वर्ण-यवों को चुग जाता है स्वर्णकार मुनि को भिक्षा देकर बाहर आता है तो स्वर्णयव नहीं दिखाई देते स्वर्णकार को मुनि पर ही आशंका होती है वह मुनि से पूछता है किन्तु मुनि एकदम मौन रहते हैं मुनि को ज्ञात था कि स्वर्णयवों को कुक्कुट चुग गया है किन्तु उसे प्रकट कर देने से कुक्कुट को प्राणों से हाथ धोना पड़ेगा स्वर्णकार इस मौन का अर्थ समझता है कि स्वर्णयवों को चुराने वाला यही
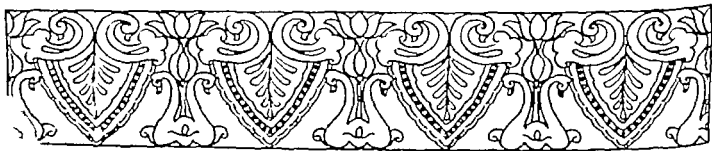
उनको देखकर ही राजा प्रभावित हो जाता है और कहता है—'अहो इन महात्मा की कमनीय कान्ति, अनुल रूप सम्पति, क्षमा, सौम्यभाव तथा निर्लोभता आदि गुण धन्य हैं! इनकी निस्संगवृत्ति प्रशंसनीय है'

मुनि ने ध्यान खोल कर राजा श्रेणिक को अनाथ-सनाथ का रहस्य समझाया विशदरूप में अपना जीवन कह कर उपदेश दिया राजा श्रेणिक अनाथी मुनि का उपदेश सुनकर इतना प्रभावित हुआ कि वह बौद्धधर्म को छोड कर जैन धर्मावलम्वी वन गया

३ अंगुलीमाल और महात्मा बुद्ध

'क्षणमपि सज्जनसंगतिरेका, भवति भवार्णवतरणे नौका'

सज्जन पुरुषो की एक क्षण की भी संगति महान् फलदायिनी होती है, वह संसार रूप समुद्र मे पार लगा देती है महात्मा बुद्ध की संगति का प्रभाव अंगुलीमाल पर ऐसा पडा कि वह घोर हिंसक भी अहिंसक वन गया

श्रावस्ती के जंगल मे एक लुटेरा रहता था वह मनुष्यो को लूट कर उनकी अंगुलियाँ काट लेता था और उनकी माला वना कर पहनता था अत वह 'अंगुलीमाल' के नाम से प्रख्यात हो गया था श्रावस्ती की सारी प्रजा उससे हैरान थी राजा भी उसको अपने वश मे नही कर सकता था यह वात सुनकर महात्मा बुद्ध उस जंगल की ओर गये अंगुलीमाल ने दूर से बुद्ध को आते हुए देखा तो सोचा—'इस जंगल मे कोई भी अकेला आने की हिम्मत नही करता यह मानव कैसे अकेला आ रहा है ? क्या इसे अपनी जान प्यारी नही है ?' वह बुद्ध के सामने आया और खडा होकर वोला—'ठहरो, आगे मत वढो' तव चलते-चलते ही महात्मा ने कहा—'मैं तो खडा हूँ, लेकिन तुम खडे रहो' यह सुनकर वह लुटेरा असमंजस मे पड गया और सोचने लगा—'यह कैसा मानव है, जो स्वयं चल रहा है फिर भी अपने को खडा कह रहा है और मैं खडा हूँ फिर भी मुझे कहता है—'खडे रहो'

बुद्ध ने उस दस्यु को उपदेश देते हुए कहा—'भाई, मैं तो प्रेम और मैत्री मे स्थिर हूँ, लेकिन तू अभी अस्थिर है अत स्थिर हो जा' महात्मा बुद्ध की वाणी का उस लुटेरे पर ऐसा प्रभाव पडता है कि वह उसी क्षण तथागत का शिष्य वन गया

४ हेमचन्द्राचार्य और कुमारपाल

परमशैव कुमारपाल पर हेमचन्द्राचार्य का ऐसा प्रभाव पडा कि वह परमार्हत वन गया

एक दिन हेमचन्द्राचार्य गोचरी (भिक्षा) लेकर आये ही थे कि कुमारपाल आचार्य के दर्शनार्थ आ पहुँचे राजा ने अपने गुरु आचार्य के पात्र मे मक्की की घाट (दलिया) देखी कुमारपाल ने कहा—'स्वामिन् ! आप मेरे गुरु होकर यह मक्की की घाट लाते हैं ? क्या आपको सुन्दर पौष्टिक आहार नही मिलता ?'

आचार्य ने कहा—'इस संसार मे वहुत ऐसे गरीव मानव है जिनको उदरपूर्ति करने को घाट भी प्राप्त नही होती है उनकी अपेक्षा तो मैं वहुत ही सुखी हूँ'

आचार्य के शरीर पर जीर्ण-शीर्ण वस्त्र देखकर कुमारपाल ने कहा—'आप मेरे जैसे राजा के गुरु होकर फटे हुए और मोटे वस्त्र क्यो धारण करते है ?' आचार्य ने उत्तर दिया—'राजन् ! मुझे ऐसे वस्त्र तो मिलते है किन्तु वहुत से गरीव लोगो को तो लज्जानिवारणार्थ फटे वस्त्र भी उपलव्ध नही होते है कलिकालसर्वज्ञ आचार्य से कुमारपाल वहुत ही प्रभावित हुए

५ हीरविजय सूरीश्वर और सम्राट् अकवर

अकवर पर सूरीश्वर का ऐसा प्रवल प्रभाव पडा कि आचार्य ने अकवर के जीवन मे अहिंसा की ज्योति जगा दी हीरविजय सूरि अकवर के राजदरवार मे जाकर उपदेश देते थे उससे प्रभावित होकर अकवर ने अपने राज्य मे 'अमारी' की घोषणा करवा दी सच्चे संत का प्रभाव विश्व पर ऐसा पडता है

श्रीकलावती जैन
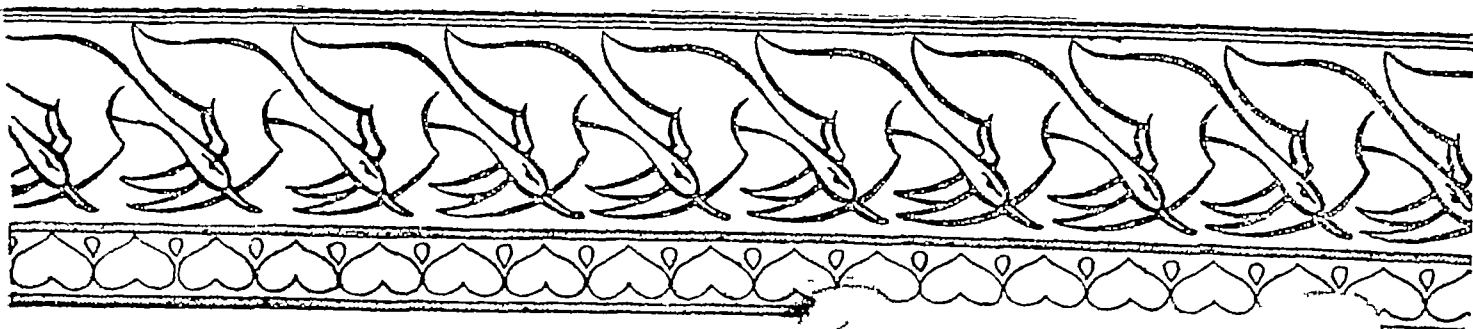
जैनागम और नारी

आगमसाहित्य में नारी का महत्त्व—समाजरचना में नारी और पुरुष दोनों का समान महत्त्व रहा है समाज का अर्थ है स्त्री और पुरुष उसका अर्थ न केवल पुरुष है और न केवल स्त्री समाज के विकास में दोनों का पृथक् अस्तित्व कोई मूल्य नहीं रखता मानो विश्वरथ के दो चक्र है उनमें न कोई छोटा न कोई बड़ा दोनों की समानता ही रथ की गति प्रगति है दोनों ही समाज या विश्व-व्यवस्था के सहज स्वाभाविक अनिवार्य एवं अभिन्न अंग है दोनों एक-दूसरे के परिपूरक है सहायक है सहयोगी है समाज राष्ट्र एवं विश्व के विकास में विश्व इतिहास को नई गति देने में पुरुष के साथ स्त्री का भी महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है इतिहास के पन्नों को पलट कर देखे आपको स्वर्णाक्षरों मे अंकित मिलेगा कि नारी ने हर युग मे विश्व को मानव जाति को नई ज्योति नई प्रेरणा एवं नई चेतना दी है इतिहास नारी के उज्ज्वल आदर्श एवं तप-त्याग निष्ठ जीवन का साक्षी है

श्रमण-संस्कृति में नारी का महत्त्व—श्रमण-संस्कृति समता और साम्यभाव की संस्कृति है वह आत्मविश्वास एवं गुण-विकास को महत्त्व देती है श्रमण संस्कृति के महान् उन्नायकों ने आत्म साधना के क्षेत्र में जाति भेद वर्ण भेद और रंग भेद आदि को कभी स्वीकार नहीं किया श्रमण भगवान् महावीर का यह स्पष्ट आघोष रहा है कि साधना करने का आत्म-विकास करने का मुक्ति प्राप्त करने का सबको समान रूप से अधिकार है आत्मस्वरूप की दृष्टि से विश्व की समस्त आत्माएँ एक-सी है जो अनन्त गुण युक्त आत्म-ज्योति पुरुष में है वैसी ही आत्म-ज्योति नारी में है अतः साधना के क्षेत्र मे नर-नारी के भेद का कोई मूल्य नहीं है मूल्य है राग-द्वेष पर, काम क्रोध पर, तृष्णा की आग पर विजय पाने का जो व्यक्ति भले ही स्त्री हो या पुरुष राग द्वेष क्षय कर देता है वही महान् है विश्व-वंद्य है

उस युग में जब कि वैदिकपरम्परा का जोर था और उसमें स्त्री एवं शूद्र को धर्म-साधना करने का वेद पढ़ने एवं सुनने का कोई अधिकार नहीं था श्रमण भगवान् महावीर ने नारी को अपने संघ में पुरुष के समान स्थान एवं समान अधिकार दिया और निर्भयता पूर्वक यह घोषित किया कि नारी भी साधना के द्वारा अपने जीवन का विकास कर सकती है आत्मा से परमात्मा मुक्ति को प्राप्त कर सकती है अनन्त शान्ति का साक्षात्कार कर सकती है उस युग में भगवान् महावीर की यह एक महान् क्रान्ति थी जिसके लिये उन्हें हजारों-हजार गालियाँ दी गई उनका प्रबल विरोध भी किया गया परन्तु वह सत्य एवं अहिंसा का अधिदेवता इससे डरा नहीं विचलित नहीं हुआ वह अविचल भाव से सत्य का नाद गुँजाता रहा और बिना किसी भेद भाव के सबको सत्य का साधना का पथ दिखाता रहा उसकी चरणसेवा में पुरुष आया तो उसे भी साधना का पथ दिखाया और जब नारी उसकी सेवा में पहुँची तो उसे

मुनि है आग बबूला होकर उसने मुनि के शरीर पर सिर से लगाकर पैर पर्यन्त गीला चमडा गाढ बन्धनो से बाध दिया ज्यो-ज्यो चमडा सुखता है, त्यो-त्यो मुनि के शरीर की नसो के जाल टूटने लगे ऐसे समय मे भी मुनि ने नही प्रकट किया कि कुक्कुट ने यव खाये हैं अपने प्राणो की आहुति देकर भी उन्होने उसकी जान बचाई

वहाँ काष्ठभारी डालने वाला आता है ज्यो ही वह काष्ठ की भारी को भूमि पर डालता है, जोर का शब्द होता है और उसके भय से कुक्कुट वीट करता है उसमे वे स्वर्णयव निकल आते हैं उन स्वर्णयवो को देखकर स्वर्णकार को अपनी अविचारित करनी पर महान् पश्चात्ताप होता है वह सोचता है—'हाय, निर्दोष मुनि की हत्या का पाप मैंने कर डाला' उसे इतना पश्चात्ताप होता है कि वह घर-बार छोडकर उसी समय मुनि बन जाता है

सत पुरुष के जीवन मे इस प्रकार की कष्टसहिष्णुता और दयालुता होती है

सत का आतरिक जीवन—भ० महावीर का कथन है कि आतरिक जीवन की पवित्रता के बिना कोई भी बाह्य आचार, कोई भी क्रियाकाण्ड या गम्भीर विद्वत्ता व्यर्थ है सख्या के बिना हजारो बिन्दुओ का कोई मूल्य नही है, धन राशि के बिना तिजोरी का कोई महत्त्व नही है, उसी प्रकार अन्त शुद्धि के बिना आध्यात्मिक दृष्टि से बाह्याचार का कोई मूल्य नही है जो क्रियाकाण्ड केवल काय से किया जाता है, और अन्तरतर से नही किया जाता है, उससे आत्मा पवित्र नही बनती आत्मा को निर्मल और पवित्र बनाने के लिये आत्मस्पर्शी आचार की अनिवार्य आवश्यकता है

सभी सन्त समान तो नही होते किन्तु विश्व मे अनेको ही ऐसी विरल विभूतियाँ भी आपको दिखाई देगी जो अत-शुद्धि पूर्वक बाह्य क्रियायें करती हैं ऐसे व्यक्ति अभिनन्दनीय हैं वे नि स्सन्देह परम कल्याण के भागी होते हैं

सत के जीवन मे प्रथम निश्चय भाव आता है और फिर व्यवहार भाव निश्चय का अभिप्राय है, अपने मन मे किसी आदर्श अथवा लक्ष्य को स्थापित करना जब मनुष्य, जीवन का लक्ष्य निर्धारित कर लेता है तो वह सोचने लगता है कि वह कौन से मार्ग पर आगे बढे, कौनसी प्रेरणा लेकर चले तो लक्ष्य को प्राप्त करले ? ऐसा मानव ही बुराइयो से लडेगा और अच्छाइयो को ग्रहण करेगा इस प्रकार निश्चय भाव पहिले और व्यवहार भाव बाद मे आता है

सतो का अतर्मानस सदा जागृत रहता है वह आतरिक जीवन मे कभी सोता नही है भले ही वे ऊपर-ऊपर से सोये हुए दिखाई दें किन्तु उनका अन्तार्जीवन निरन्तर जागरूक बना रहता है भगवान् महावीर ने फरमाया है—"सुत्ता अमुणी, मुणिणो सया जागरति" —आचाराग

सत के जीवन मे ज्ञान रूप ज्योति निरन्तर जगमगाती रहती है उनके जीवन से विश्व मे तप-सयम रूप सौरभ निरन्तर महकती रहती है उनके जीवन मे सम्यग्ज्ञान' सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र का अक्षय कोष भरा रहता है इस प्रकार सन्त का आन्तरिक जीवन तप, जप की ज्योति से जाज्वल्यमान होता हुआ विशुद्धि की ओर बढता चला जाता है
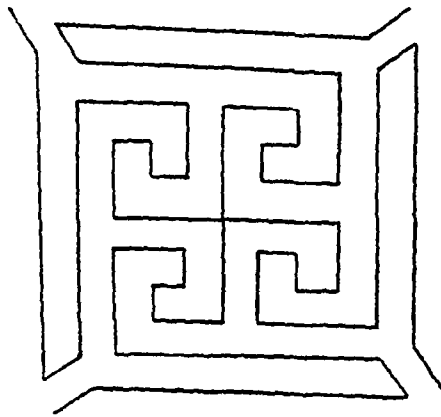
किया और इसमें वह पूर्णतया सफल हुई आगम में उपलब्ध संवाद से उसकी निर्भयता उसके संयम उसके ज्ञान और उसकी समझाने की अद्भुत शक्ति का बोध होता है

बाहुबली के अभिमान को चूर चूर करने वाली भगवान् ऋषभदेव की दो पुत्रियाँ—ब्राह्मी और सुन्दरी ही थी जो उनकी बहिनें थी उन साध्वियों द्वारा जगाई गई चेतना और दिया गया उपदेश एक राजस्थानी कवि के शब्दों में आज भी जन-जन की जिह्वा पर बसा हुआ है और अभिमान एवं अहंभाव के नशे से मदोन्मत्त बने मानव को निरहंकारी बनने की प्रेरणा देता है

'वीरा म्हारा गज थकी उतरो
गज चढ्यां केवल न होसी रे !

उत्तराध्ययन-सूत्र के चौदहवें अध्ययन में भृगु पुरोहित का वर्णन आता है भृगु पुरोहित अपने दो पुत्रों के वैराग्य से प्रभावित होकर अपनी पत्नी के साथ दीक्षा लेने को तैयार हुआ तो राजा ने उसके धन वैभव को अपने भंडार में लाकर जमा करने की आज्ञा दी जब राजा की पत्नी महारानी कमलावती को इसका संकेत मिला तो उसने राजदरबार में उप*स्थित होकर राजा को उपदेश दिया उसकी धन लिप्सा को दूर किया मोहनिद्रा को भंग किया और उसे प्रतिबोध* देकर अपने साधनापथ का पथिक बनाया

अन्तकृद्दशांग सूत्र में मगध के सम्राट श्रेणिक की महाकाली सुकाली आदि दस महारानियों का वर्णन है जिन्होंने श्रमण भगवान् महावीर के उपदेश से प्रतिबोध पाकर साधना-पथ स्वीकार किया जो महारानी राजप्रासादों में रहकर विभिन्न प्रकार के रत्नों के हार एवं आभूषणों से अपने शरीर को विभूषित करती थी वे जब साधना के पथ पर गतिशील हुई तो कनकावली रत्नावली आदि तपश्चर्या के हारों को धारण करके *अपनी आत्म-ज्योति को चमकाने लगी*

इस तरह आगम-साहित्य के अनेक पृष्ठों पर नारी के तप त्याग एवं संयमनिष्ठा आदर्श तथा ज्योतिर्मय जीवन की कहानी स्वर्णाक्षरों में अंकित है इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रमण-संस्कृति में आगमसाहित्य में नारी का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है नारी का यह महत्त्व उसके तप-त्याग सहिष्णुता क्षमा-करुणा वात्सल्य आदि गुणों के कारण रहा है भगवान् महावीर ने ही नहीं वर्तमान युग में महात्मा गांधी ने भी नारी की महत्ता को स्वीकार किया है बापू ने अंग्रेजी के 'हरिजन' *पत्र में नारी की परिभाषा देते हुए उसे अहिंसा की साकार मूर्ति कहा है —Woman is incarnation* of Ahimsa.

जैनाचार्यों ने भी नारी की गौरवगाथा गाई है आचार्य जिनसेन के साहित्य में नारी के आदर्श जीवन का उज्ज्वल चित्रण है एक जगह आचार्य ने लिखा है

'गुणवती नारी संसार में सर्व श्रेष्ठ पद को प्राप्त करती है उसका नाम अग्रिम पंक्ति में सबसे ऊपर अंकित रहता है

अस्तु, नारी का समाज के विकास में युग-युगान्तर से सहयोग रहा है उसकी तेजस्विता सहिष्णुता श्रद्धा-निष्ठा एवं तप-साधना सदा अद्भुत रही है देश समाज एवं धर्म की रक्षा के लिये वह अपना सर्वस्व न्योछावर करने में कभी पीछे नहीं रही अतः नारी को नगण्य समझना और उसके महत्त्व को अस्वीकार करना सत्य को झुठलाना है नारी श्रद्धा संयम समता-ममता एवं सहिष्णुता की सजीव मूर्ति है गृहदेवी है और प्रतिपल विश्ववाटिका को अपने वात्सल्य-पीयूष से सिंचित करती रहती है उसकी स्नेह धारा युग-युगान्तर से प्रवहमान रही है और-आज भी सतत गति से प्रवहमान है वह क्या है और उसका क्या कर्तव्य है इस सम्बन्ध में महाकवि जयशंकरप्रसाद का यह पद्य ही पर्याप्त है

'नारी तुम केवल श्रद्धा हो विश्वास रजत नग-पग तल में
पीयूष स्रोत-सी बहा करो जीवन के सुन्दर समतल में !

भी साधना की उसी ज्योति का दर्शन कराया उसकी साधना का द्वार सब के लिये खुला था उसने स्त्री का भी स्वागत किया और पुरुष का भी

तथागत बुद्ध भी भगवान् महावीर के समकालीन महापुरुष थे जाति-भेद की दीवार को तोडने एव हिंसक यज्ञो का विरोध करने मे भगवान् बुद्ध ने साहस का परिचय दिया उनके मन मे भी नारी के प्रति सम्मान और आदर के भाव थे उस युग की गणिकाओ के जीवन को बदलने के लिये उन्होने भी महत्वपूर्ण काम किया परन्तु उनके जीवन मे यह एक महान् कमजोरी थी कि वे नारी को अपने भिक्षुसघ मे स्थान नही दे सके जब कभी उनके प्रमुख शिष्य आनन्द ने उनके सामने नारी को श्रमणदीक्षा देने का प्रश्न रखा, तब उन्होने उसे टालने मे ही अपना हित समझा और वे अन्त तक उसे टालते ही रहे अन्त मे आनन्द एक बहिन को—जो भगवान् बुद्ध की परम शिष्या एव अनन्य भक्ता थी—ले आया और भगवान् बुद्ध से निवेदन किया कि यह बहिन आपके श्रमण-सघ मे प्रविष्ट होने के लिये सब तरह योग्य है और आपके उपदेश को जीवन मे साकार रूप देने के लिये सर्वथा उपयुक्त है, ऐसा मैंने देख लिया है अत इसे आप श्रमण-साधना का, भिक्षुणी बनने का उपदेश दें भगवान् बुद्ध इसके लिये तैयार नही थे परन्तु वे आनन्द के आग्रह को टाल न सके उन्होने आनन्द से इतना ही कहा 'हे आनन्द ! मैं यह कार्य केवल तुम्हारे प्रेम एव आग्रह को रखने के लिये कर रहा हूँ और तुम्हारे स्नेह के कारण ही यह खतरा उठा रहा हूँ मैं इसे भिक्षुणी बना रहा हूँ' उन्होने आनन्द के आग्रह को रखने के लिये भिक्षुणी-सघ की स्थापना की परन्तु उनके साथ यह स्पष्ट कर दिया कि—'हे आनन्द ! मेरा यह शासन एक हजार वर्ष चलता, वह अब पाच-सौ वर्ष ही चलेगा'

इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि तथागत बुद्ध के मन मे भय या डर था उन्हे व्यावहारिक भूमिका छू गई थी परन्तु भगवान् महावीर व्यावहारिक भूमिका से ऊपर उठ चुके थे उनके मन मे, उनके जीवन के किसी भी कोने मे भय एव डर को कोई स्थान नही था इसलिए साधना के क्षेत्र मे उन्होने स्त्री और पुरुष मे तत्त्वत कोई भेद नही रखा चतुर्विध-सघ मे श्रमणियो-साध्वियो को श्रमण-साधु के बराबर स्थान दिया और श्राविकाओ को श्रावक के समान उन्होने साधु-साध्वी श्रावक-श्राविका चारो को तीर्थ कहा और चारो को मोक्ष-मार्ग का पथिक बताया

आगमसाहित्य में नारी का स्थान—भगवान् महावीर की अभेद विचारधारा का ही यह प्रतिफल है कि उनके श्रमणसघ मे श्रमणो की अपेक्षा श्रमणियो की सख्या अधिक रही है और उपासक वर्ग मे भी श्रमणोपासको से श्रमणोपासिकाएँ सख्या मे द्विगुणाधिक थी श्रमण १४००० थे, तो श्रमणियां ३६००० थी, और आज भी साधुओ से साध्वियो की और श्रावको से श्राविकाओ की सख्या अधिक है यह सख्या इस बात का ज्वलन्त उदाहरण है कि भगवान् महावीर के शासन मे नारी का जीवन विकसित एव प्रगतिशील रहा है

आगम-साहित्य का अनुशीलन-परिशीलन करने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि अगाम-साहित्य मे नारी के ज्योतिर्मय जीवन की गौरवगाथा स्वर्णाक्षरो मे अकित है भगवतीसूत्र मे कौशाम्बी के शतानीक राजा की बहिन जयन्ती के चिन्तनशील उर्वर मस्तिष्क एव तर्कशक्ति का परिचय मिलता है वह निर्भय एव निर्द्वन्द्व भाव से भगवान् महावीर से प्रश्न पूछती है, और भगवान् महावीर उसके तर्कों का समाधान करते है इस विचार-चर्चा मे उसकी सूक्ष्म तर्कशक्ति का परिचय मिलता है और इससे यह परिज्ञात होता है कि इसके पीछे उसका विशाल अध्ययन, गहन चिन्तन एव सतत स्वाध्याय साधना का बल था

दशवैकालिक-सूत्र मे राजमती और रथनेमि का सवाद मिलता है राजमती जब भगवान् नेमिनाथ के दर्शनार्थ गिरनार पर्वत पर जा रही थी, तब मार्ग मे वर्षा से भीगे हुए वस्त्रो को सुखाने के लिये वह एक गुफा मे प्रविष्ट हुई वहाँ भगवान् नेमि-नाथ के लघु भ्राता रहनेमि ध्यान साधना मे सलग्न थे राजमती के सौन्दर्य को देखकर उनका मन विचलित हो उठा और वह साधना एव सयम के बाध को तोड कर भागने लगा रहनेमि ने राजमती के सामने भोग भोगने का प्रस्ताव रखा. उस समय सयमनिष्ठा राजमती ने पथ-भ्रष्ट एव वासना की ओर जाते हुए रहनेमि को साधना-पथ पर लगाने का प्रयत्न

उनकी अनेक देनों में सबसे महत्त्वपूर्ण देन 'जैन संकेतलिपि' के रूप में अमर रहेगी इस संकेतलिपि के आविष्कार की भूमिका अपने चरितनायक के ही शब्दों में हम नीचे उद्धृत कर रहे हैं

कई वर्षों से मेरे हृदय में यह तरंग उठ रही थी कि सब देशवासियों का एक ही भाषा में बोलना तो असम्भव है किन्तु सम्भव है कि लेखनप्रणाली में कुछ सफलता मिल जाय इससे प्रेरित होकर मैंने सोचा कि एक ऐसी लिपि का आविष्कार किया जाय कि जिसके संकेत इतने सरल और थोड़े हों जिनको किसी भी भाषा में किसी भी देश का रहनेवाला विद्वान् समझ सके और मात्र तीन या चार महीने के थोड़े से परिश्रम से सीख सके

इस लिपि के संकेत इतने व्यापक हों कि किसी भी देश की किसी भी भाषा का शब्द इसमें सरलता से अंकित किया जा सके लिखने में भी यह इतनी संक्षिप्त हो कि जिसको वक्ता की भाषा का थोड़ा बहुत भी ज्ञान हो वह वक्ता के मुंह से निकले हुए शब्दों को शीघ्रता से इस लिपि में नोट कर सके किन्तु मेरे हृदय में इस लिपि के लिये इतनी प्रबल उत्तेजना नहीं थी कि शीघ्र ही व्यवस्थित कर दी जाय

'इसे शीघ्र व्यवस्थित न करने में मुख्य आपत्ति यह थी कि इसका प्रत्येक संकेत चाहे कितने ही संकेतों में मिल जाने पर भी अपनी ही शक्ल का द्योतक बना रहे यानि दो संकेतों के मिल जाने पर भी तीसरे संकेत का सन्देह न हो जाय क्योंकि मेरी इच्छा थी कि प्रत्येक शब्द व वाक्य को अंकित करने में जहाँ तक हो कलम कम उठाई जाय

इन संकेतों के मिलान की आपत्ति ने ही मुझे विशेष झंझट में डाल दिया विलम्ब होने का मुख्य कारण यही था इन्हीं आपत्तियों पर विचार करते हुए जब कि श्रीमान् जैनाचार्य पूज्यवर मुनि श्रीजवाहिरलालजी महाराज के अपूर्व और विलक्षण प्रभावोत्पादक भाषणों को मैंने सुना तो मेरी यह इच्छा हो जाना स्वाभाविक ही थी कि ऐसा यत्न शीघ्र किया जाय जिससे हर एक मनुष्य उनके भावों का जिस समय भी चाहे मनन कर सके

'जब कि देश के प्रसिद्ध नेता पं० मदनमोहनजी मालवीय आदि विद्वानों ने भी उनके भाषणों की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है और यह भी सुनने में आया है कि इन्हीं पूज्य श्री की रचित 'धर्मव्याख्या' नामक पुस्तक की संसारप्रसिद्ध महात्मा गांधीजी ने भी प्रशंसा की है और उसका अनुवाद अंग्रेजी में होने की भी आवश्यकता बतलाई है तो फिर भला यदि मेरे हृदय में उनके अमूल्य उपदेशों का संग्रह करने के भाव जागृत हुए तो इसमें विशेषता ही क्या है ? इसी उद्देश्य से प्रेरित हो मैं इस उपरोक्त 'संकेतलिपि' की ओर विशेष लक्ष्यपूर्वक परिश्रम करने लगा हर्ष का विषय है कि मैं उपरोक्त सब आपत्तियों को निवारण करता हुआ गुरुकृपा से इस लिपि-आविष्कार के काम में सफल हुआ इस सफलता के उत्साह ने ही मुझे इस संकेतलिपि (शार्टहैण्ड) में सर्वप्रथम पुस्तक लिखने के लिये प्रेरित किया है

मनुष्य जब कुछ बोलता है तो वह वैज्ञानिक रूप से शब्द यानि आवाज करता है उन्हीं शब्दों के भिन्न-भिन्न संकेत होते हैं उन्हीं संकेतों से अनेक शब्द व वाक्य बनते हैं वे संकेत बहुत अधिक नहीं हैं अर्थात् थोड़े से हैं और यदि मनुष्य उन संकेतों को पहिचान ले तो फिर किसी भी भाषा में कोई क्या नहीं बोला हो उन शब्दों को लिपिबद्ध कर सकता है

मैंने इस पुस्तक में शब्दों की ध्वनि को संकेतबद्ध करने का प्रयत्न किया है और मैं समझता हूँ कि एक खास सीमा तक इसमें सफल भी हो गया हूँ पाठकों को उपरोक्त बातों से ज्ञान हो जायगा कि यह लिपि ध्वनि को लिपिबद्ध करने का साधन है और इसीलिए इसके द्वारा किसी भी भाषा की ध्वनि लिखी जा सकेगी लेकिन सिर्फ ध्वनि को लिखने से ही हमारा उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता यों तो सब भाषाओं की वर्णमालाएँ ही ध्वनियों को लिखने का साधन हैं परन्तु आवश्यकता है शार्टहैण्ड में उस विशेषता की कि वक्ता के बोले हुए शब्दों को शीघ्रता से अंकित कर उसके बाद ही दूसरा शब्द निकलने के पहले उसको ग्रहण करने के लिए समय पर तैयार हो जाने की इसके लिये बहुत थोड़े समय में मनुष्य को बहुत-सा कार्य करना पड़ता है इसलिए चिह्नों के सरल होने की अति आवश्यकता है ताकि शीघ्रता पूर्वक लिखे जा सकें इस लिपि के बद्ध करने में सरलता और शीघ्रता पूर्वक लिखे जाने वाले संकेतों की तरफ पूर्णतया लक्ष्य रखा गया है आश्चर्य नहीं कि इस संकेतलिपि से शीघ्रता से बोलने वाले विद्वान् थोड़े ही समय में सैकड़ों की संख्या में पैदा हो जावें

श्रीनथमल दूगड तथा श्रीगजसिंह राठौड

श्री एल०पी० जैन और उनकी संकेतलिपि

गहुआ वर्ण, ठिंगना कद, विचारशील मेधावी मस्तक, ब्रह्मचर्य के तेज से देदीप्यमान चौडा ललाट, छोटे पर तेजस्वी हल्के नीले नेत्रो वाले, सात भाषाओ के शॉर्टहैण्ड के प्रसिद्ध आविष्कारक श्री एल० पी० जैन का पूरा नाम 'श्रीलादूराम पूनमचन्द खिवेसरा' था, जो ब्यावर मे 'मास्टर साहब' के नाम से ज्यादा प्रसिद्ध थे

धर्म मे अविचल श्रद्धा रखने वाली यह त्यागमूर्ति ब्यावर मे अपने जीवन के अन्तिम चालीस वर्षों से शिक्षा के क्षेत्र में एक लगन से लगी रही एव अपनी निष्काम सेवा तथा त्याग के बल पर सैंकडो विद्यार्थियो के हृदयो मे पथ-प्रदर्शक आदरणीय गुरु के रूप मे पूज्य बन गई

प्रात चार बजे वे उठ जाते थे एक घटा ध्यान एव स्वाध्याय मे लगाते ठीक पाँच बजे प्रार्थना और उसके बाद मील डेढ मील टहलने एव अन्य शारीरिक कार्य से निवृत्ति के पश्चात् मुनिदर्शन का उनका निश्चित कार्यक्रम जीवन भर निर्द्वन्द्व गति से चलता रहा.

सन् १९३९ तक उनका अधिकाश समय धार्मिक शिक्षा एव व्यवस्था मे बीता, पर इसके बाद अधिकाश समय शास्त्र-पठन, स्वाध्याय एव आत्मचिन्तन-मनन मे, एव थोडा जैन सकेतलिपि के विकास एव प्रचार मे लगता था
वे 'धर्म-शिक्षा,' 'धर्म-शास्त्र' एव 'सकेतलिपि' इन तीन विषयो पर विस्तार से विचारविनियम करना पसन्द करते थे. अन्य किसी प्रश्न का वे उत्तर देना पसन्द नही करते थे शास्त्रस्वाध्याय की ओर उनकी गहरी रुचि थी कई शास्त्र इन्होने कण्ठस्थ कर लिये थे

उनका जन्म बैंगलोर मे हुआ और शिक्षाप्राप्ति के पश्चात् वे पैत्रिक व्यवसाय मे लग गए मगर परिस्थितियो ने उन्हे शीघ्र ही व्यवसाय-विमुख बना दिया ब्यावर मे सन्तसमागम बरावर बना रहते देखकर और शास्त्र-अध्ययन और स्वाध्याय के लिये उपयुक्त स्थान समझ कर सन् १९२१ के प्रारम्भ मे बैंगलोर से अपना समस्त कारोबार समेट कर वे ब्यावर आ गये बैंगलोर मे रहते समय ही उनकी इच्छा जैन श्रमणदीक्षा लेने की हो गई थी पर विधि का विधान कुछ और ही था

ब्यावर नगर और आसपास के स्थानो मे धार्मिक शिक्षण की कमी उन्होने देखी, साथ ही लोगो की जिज्ञासा भी देखी. इससे उनको कुछ स्फूर्ति मिली आये थे केवल अपना हित करने, पर करने लगे दूसरो के भी ज्ञानलाभ की बात धुन के पक्के थे ही तुरन्त अपना मार्ग निश्चित किया और एक 'जैन-पाठशाला' की स्थापना कर दी प्रौढ लोगो को धार्मिक शिक्षण देने के निमित्त एक रात्रिपाठशाला भी चलाने लगे फिर तो एक छात्रालय भी स्थापित हो गया और शिक्षा की सुन्दर व्यवस्था हो गई

शनै-शनै धार्मिक ज्ञान के लिये और प्रमुख रूप से उच्च धार्मिक ज्ञान के लिये सस्कृत भाषा का ज्ञान जरूरी समझा गया और इस हेतु जो छ माह का पाठ्यक्रम रखा गया था, उसे बदला गया और आठ वर्ष का किया गया इसके सचालन के लिये एक अलग सस्था का भी 'श्री जैन-वीराश्रम' के नाम से निर्माण किया गया इस मे सस्कृत पाली एव अर्द्धमागधी भाषा के ग्रन्थो के तथा दर्शन आदि विषयो के अध्यापन का प्रबन्ध किया गया
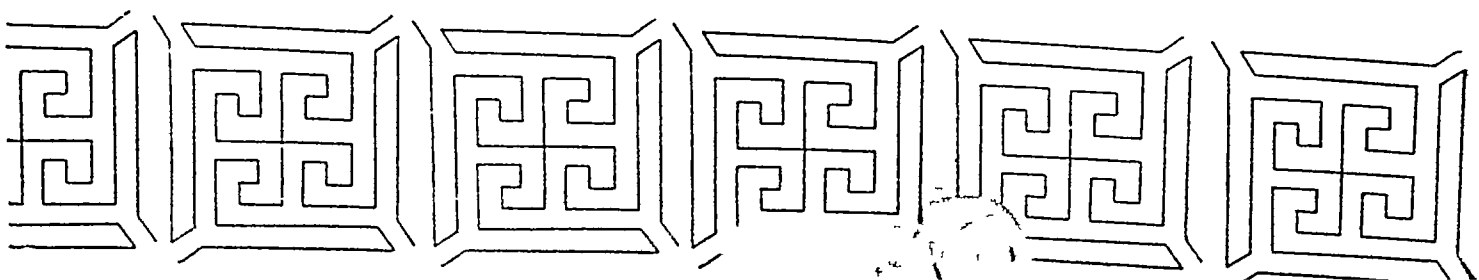
इस प्रकार, शास्त्रार्थ की विजय-दुन्दुभी निनादित करते हुए स्वामी समन्तभद्र ने करहाटक (सतारा) नगर पहुँचकर वहाँ के राजा को शास्त्रार्थ के लिये ललकारा था

स्वामी समन्तभद्र के रचे ग्रन्थों में—आप्तमीमांसा युक्त्यनुशासन स्वयम्भूस्तोत्र रत्नकरण्डक उपासकाध्ययन प्राकृत-व्याकरण गन्धहस्तिमहाभाष्य आदि प्रमुख है कहना न होगा कि इन वरेण्य आचार्यों ने दक्षिण-भारत में जैनधर्म का अमर प्रचार किया और जन-जन को जैनधर्म के माध्यम से जनधर्म का परिचय देकर उनके जीवन को सफल किया इसमें कोई संदेह नहीं कि जैनशास्त्रानुसार उत्तर-भारत की भाँति दक्षिण भारत के देशों में भी सर्वप्रथम भगवान् ऋषभदेव द्वारा ही सभ्यता और संस्कृति का प्रचार हुआ जब ऋषभदेव समूचे देश की धर्म-व्यवस्था करने लगे तब इन्द्र ने सारे देश को निम्नलिखित ५२ प्रदेशों में विभक्त किया

सुरामस अवन्ती पुण्ड्र उण्ड्र अश्मक रम्यक कुरु काशी कलिंग अंग वंग सुह्म समुद्रक कश्मीर, उशीनर आनर्त्त वत्स पंचाल मालव दशार्ण कच्छ, मगध विदर्भ कुरुजांगल करहाट महाराष्ट्र सुराष्ट्र आभीर, कोंकण वनवास आन्ध्र कर्णाट कोशल चोल केरल दारु अभिसार, सौवीर, शूरसेन अपरान्त विदेह सिन्धु, गान्धार, यवन चेदि पल्लव काम्बोज आरट्ट बाह्लीक तुरुष्क शक और केकय —(आदिपुराण पर्व १६)

उक्त प्रदेशों में अश्मक रम्यक करहाट महाराष्ट्र आभीर, कोंकण वनवास आन्ध्र कर्णाट चोल केरल आदि देश दक्षिण भारत में मिलते है इसमें स्पष्ट है कि भगवान् ऋषभदेव द्वारा इन देशों का अस्तित्व-निर्धारण और संस्कृति परिमार्जन हुआ था कहना न होगा कि दक्षिण भारत में जैनधर्म का ऐतिहासिक आरम्भ कर्मभूमि के आदिकाल से ही हुआ जो काल की दृष्टि से पौराणिक तथा ऐतिहासिक इन दो रूपों में लिपिबद्ध किया गया

कुछ विद्वानों की कल्पना है कि भगवान् ऋषभदेव के द्वितीय पुत्र सम्राट बाहुबली ही दक्षिण भारत के सर्वाग्रणी धर्म प्रवर्तक थे यह भी इस अनुमान पर कि बाहुबली के शासन-क्षेत्र अश्मक रम्यक तथा पोदनपुर दक्षिण-भारत में ही अवस्थित थे हालांकि पोदनपुर के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है पोदनपुर किसी के मत में तक्षशिला है और किसी के मत में दक्षिणापथ स्थित प्रदेश विशेष

आधुनिक सुधी शोधकों के मतानुसार दक्षिण भारत में जैनधर्म का प्रवेश अत्यन्त प्राचीनकालीन नहीं वरन् मौर्यकालीन है उनका कहना है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के गुरु श्रुतकेवली भद्रबाहु ने जब उत्तर भारत में भीषण अकाल की सम्भावना देखी तब वे संघ-सहित दक्षिण भारत चले गये और उन्होंने ही वहाँ की जनता को जैनधर्म से परिचित कराया ऐतिहासिक दृष्टि से प्राच्य और पाश्चात्य इतिहासविदों का इस विषय में ऐकमत्य है होना भी चाहिए क्योंकि परम्परा के आधार पर धर्म का मूल्यांकन निर्भ्रम नहीं हो सकता

परम्परावादी जैनों के विचार से यह बहुप्रचलित है कि दक्षिण भारत में खासकर वहाँ के प्राचीन तमिल (आन्ध्र)—राज्य में वैदिक और बौद्धधर्म के अतिरिक्त जैनधर्म भी प्राचीनकाल से प्रचलित था सन् ११८ ई में वहाँ अले क्जेन्ड्रिया के 'पेन्टनस' नाम का एक ईसाई पादरी आया था उसने लिखा है कि वहाँ उसने श्रमण (जैन साधु) ब्राह्मण और बौद्ध गुरुओं को देखा था जिनको भारतवासी बड़ी श्रद्धा से पूजते थे क्योंकि उक्त गुरुओं का जीवन बड़ा ही पवित्र था

तमिल के प्राचीन ग्रन्थों— मणिमेखलै 'शीलप्पधिकारम्' आदि—से पता चलता है कि जैन साधुओं का प्राचीन नाम 'श्रमण' था किन्तु कालक्रम से बौद्धों ने भी इस शब्द को अपना लिया किन्तु दक्षिण भारत के साहित्य-ग्रन्थों और शिला लेखों में श्रमण शब्द का प्रयोग जैनों के लिए ही हुआ है इससे यह भी प्रमाणित है कि श्रमणोपासकों की संख्या वहाँ प्राचीन काल में अत्यधिक थी

"इस लिपि मे शुद्धतापूर्वक लिखा हुआ लेख इसी लिपि का जानने वाला दूसरा विद्वान् भी भली भाँति पढ सकेगा दूसरे शार्टहैण्डो के सकेतो मे प्राय मोटाई और बारीकपन जरा कम ज्यादा हो जाने से मतलब कुछ का कुछ निकल आता है और वे सकेत इतने अधिक और कठिन होते हैं कि उनका पूर्णतया हर समय याद रखना दुष्कर हो जाता है और यदि चार छ महीने शार्टहैण्ड लिखने का अभ्यास न किया जाय तो उसे फिर कठिन प्रयास करना पडता है तब ही वह अपना कार्य उचित रूप से करने मे सफल हो सकता है इसके अतिरिक्त उन सकेतो के मोटे और पतलेपन के हेतु खास तौर का कीमती फाउन्टेन पैन रखने की आवश्यकता होती है परन्तु मैंने चिह्नो को सरल और थोडे बनाने का पूर्णतया यत्न किया है ताकि इस लिपि का जानने वाला दूसरा व्यक्ति भी इस लिपि के लेखक के लेख का अनुवाद कर सके और यदि कुछ समय तक कारणवश अभ्यास छूट भी जाय तो उन सकेतो को सिर्फ एक ही सप्ताह मे फिर से तैयार कर सके इसके लिखने मे सिर्फ बढिया नोकदार पैसिल ही काफी है

'उपरोक्त बातो के पढने से पाठको को यह भी भलीभाति विदित हो ही गया होगा कि इस लिपि को जानने के लिये न तो विशेष पाण्डित्य की ही आवश्यकता है, और न अधिक समय की ही इस लिपि के सकेतो पर एक साधारण पढा-लिखा यानि एक चौथी कक्षा उत्तीर्ण चतुर विद्यार्थी पूर्ण परिश्रम से सिर्फ ३ महीने के प्रयास ही से इस लिपि के सकेत पर अपना आधिपत्य प्राप्त कर सकता है और गति बढाने पर किसी भी हिन्दी वक्ता के शब्दो को शीघ्रतापूर्वक लिपिबद्ध करने मे समर्थ हो सकता है हमे आशा है कि यह लिपि कचहरी, आफिस वक्ताओ के नोट, अध्यापको के नोट और समाचारपत्रो के सवाददाताओ को, जहाँ भी शीघ्रता की आवश्यकता होगी, उन सबके लिये समय की बचत और सुचारु रूप से कार्य साधन करने मे अति लाभदायक सिद्ध होगी

'अन्त मे मैं उन महात्मा जैनाचार्य पूज्यवर मुनि श्रीजवाहरलालजी महाराज का परम कृतज्ञ हूँ कि जिनके मधुर और विद्वात्तापूर्ण भाषण ही इसके आविष्कार के प्रधान कारण थे और उनके भाषणो को लिपिबद्ध करने की आनन्दमय आशा ही सर्व कठिनाईयो को दूर करने मे मेरा आशामय प्रदीप था जो कि मुझे सफलता तक पहुँचा सका'

आज उनका यह प्रयास सफलता के शिखर पर पहुच गया है सैकडो की सख्या मे इस जैन सकेतलिपि से निष्णात लेखक देश भर मे फैले हुए हैं इस सकेत लिपि के लेखक मुख्यतया राजस्थान, मध्यप्रदेश, एव महाराष्ट्र, की विधानसभाओ मे प्रमुख रूप मे सरकारी रिपोर्टरो के पद पर कार्य कर रहे हैं वैसे देश भर के सरकारी एव गैरसरकारी कार्यालयो मे इनके जानकारो की भरमार है यह जैन सकेतलिपि इस देश मे प्रचलित समस्त सकेतलिपियो मे अधिक सरल और शीघ्रग्राह्य गिनी जाती है यही कारण है कि हर वर्ष सैकडो की सख्या मे इस देश के नवयुवक इस लिपि का अध्ययन करके भावी जीवन का निर्माण कर रहे है

सन् १६३१ मे इन्होंने जैन सकेतलिपि का निर्माण किया और जैन जगत् मे ही नही, देश मे वे अपनी एक अमर यादगार छोड गये आज उनकी यह सकेतलिपि हिन्दी, अग्रेजी, गुजराती, बगला, मराठी आदि देश की समस्त भाषाओ मे प्रचलित है समस्त भाषाओ मे इसका साहित्य छपा हुआ है आपने अपने जीवनकाल मे ही इस अविष्कार को सफल होते देख लिया, यह प्रसन्नता की बात है उस महान् कर्मवीर गृहस्थसत के प्रति हम श्रद्धा से नतमस्तक हैं वास्तव मे उनका समग्र जीवन आदर्श और अत्यन्त स्पृहणीय रहा न केवल जैन समाज ही प्रत्युत समग्र देश चिरकाल तक उनका आभारी रहेगा.

श्री श्रीरंजन सूरिदेव
बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना

दक्षिण भारत में जैनधर्म

[प्रस्तुत निबंध में लेखक ने आ. भद्रबाहु के सम्बंध में मागधीय दुष्काल के कारण दक्षिण गमन का जो उल्लेख किया वह दिगम्बर जैन मान्यतानुसार है, जबकि श्वे. परंपरा का अभिमन्तव्य है कि आचार्य श्री द्वादशवर्षीय दुष्कालनिवारणार्थ दक्षिण की ओर प्रस्थान कर नेपाल में आध्यात्मिक साधना करने में तल्लीन रहे —सम्पादक]

आदि तीर्थंकर ऋषभदेव द्वारा जैनधर्म का प्रचार दक्षिण भारत में हुआ ऐसा पौराणिक जैन इतिहास के अध्ययन से पता चलता है जैनशासन के प्रमुख दो भेद सर्वविदित है—श्वेताम्बर और दिगम्बर. तमिल के 'रत्नाकरशतक'[1] आदि प्राचीन काव्यों से स्पष्ट है कि उनके रचना-काल में दक्षिण भारत में दिगम्बर जैनधर्म ही प्रचलित था अर्वाचीन जैन आम्नाय का यह मत है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के गुरु श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ ही जैनधर्म का प्रवेश दक्षिण भारत में हुआ परन्तु जैनों की पारम्पर्य मान्यता यह है कि उत्तर भारत के जैनसंघ की तरह दक्षिण-भारतीय जैनसंघ भी प्राचीनतम है यही कारण था कि उत्तर में सुप्रसिद्ध द्वादशवर्षव्यापी घोर अकाल पड़ने पर धर्मरक्षा के विचार से भद्रबाहु स्वामी अपने संघ के साथ दक्षिण भारत गये थे उनका ही संघ ज्ञात रूप में दक्षिण का पहला दिगम्बर जैनसंघ था ऐसा कहा जाता है

कुछ भारतीयेतर विद्वान् डॉ. हार्नले आदि का कथन है कि अकाल पड़ने पर शाखाभेदरहित जैनसंघ के प्रधान स्थविर भद्रबाहु अपने जिस संघ के साथ मगध से कर्णाटक गये उसका रूप दिगम्बर हो रह गया और मगध के अवशिष्ट जैन सदस्य जिनके प्रधान स्थविर स्थूलभद्र थे श्वेताम्बर कहलाये श्वेताम्बर श्वेत परिधान के प्रेमी थे और दिगम्बरों के लिये दिशाएँ ही वसन थीं मगध में पुनः शान्ति की स्थापना के बाद जैनसंघ जब कर्णाटक से मगध लौटा तब उसने मगध के जैनसंघ से सम्बन्धविच्छेद कर अपना अलग सिद्धान्त चलाया
अस्तु दक्षिण का यह दिगम्बर जैनसंघ द्राविड़ों के बीच बहु आदृत था कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि द्राविड़ लोग प्रायः नागजाति के वंशज थे जिस समय नागराजाओं का शासन दक्षिण-भारत में था उस समय नाग लोगों के बहुत से रीति रिवाज और संस्कार द्राविड़ों में भी प्रचलित हो गये थे नागपूजा उनमें बहुत प्रचलित थी जैनतीर्थंकरों में से सुपार्श्वनाथ और पार्श्वनाथ की मूर्तियाँ नाग-मूर्तियों के सदृश थीं जैनों की सहज सरल पूजा प्रणाली को भी द्राविड़ों ने आसानी से अपना लिया

इतना तो स्पष्ट है कि दक्षिण भारत में दिगम्बर जैनधर्म की जनसमुदाय में विशेष मान्यता थी परन्तु दिगम्बर सिद्धान्त की बहुलता के बावजूद दक्षिण भारत में श्वेताम्बरों की भी पहुँच हुई थी श्वेताम्बरीय शास्त्रों से प्रकट है कि कालकाचार्य[2] पैठन के राजा के गुरु थे फलतः स्पष्ट है कि श्वेताम्बर जैन आन्ध्र-देश तक पहुँचे थे इसके बाद ईसवी पूर्व दूसरी सदी में श्वेताम्बरों के गुरु पादलिप्ताचार्य मलखेड़ तक गये थे परन्तु उन्होंने अपने धर्म के प्रचार में कहाँ

---

1. रत्नाकरशतक तथा इसके कर्ता कवि रत्नाकर के सम्बन्ध में देखिए मेरा लेख : मासिक 'जैनवाणी' (पटना), वर्ष १, अंक ७, सित. १९४९ ई.
   इस संदर्भ में विस्तृत विवरण के लिए देखिए मेरा लेख 'अपभ्रंश रत्नाकर : एक अध्ययन' : त्रैमा. 'साहित्य' (पटना), वर्ष १, अंक १
2. कालकाचार्य के सम्बन्ध में विशेष विवृति के लिए द्र. नन्दलाल दे कृत 'प्रबन्धचिन्तामणि'

डॉ० राजकुमार जैन
एम० ए०, पी-एच० डी०, साहित्याचार्य,
अध्यक्ष, सस्कृतविभाग आगरा कालेज, आगरा

वृषभदेव तथा शिव-संबंधी प्राच्य मान्यताएँ

वृपभदेव तथा शिव दोनो ही अति प्राचीन काल से भारत के महान् आराध्य देव है वैदिक काल से लेकर मध्य युग तक प्राच्य वाड्मय मे दोनो का देव देवताओ के विविध रूपो मे अकन हुआ है, वह अध्ययन का बडा मनोरजक विपय है प्रस्तुत लेख मे उन्ही मान्यताओ की विस्तारपूर्वक चर्चा की जा रही है

उपलब्ध भारतीय प्राच्य साहित्य के अध्ययन से स्पष्ट है कि भगवान् ऋषभदेव की जो मान्यता एव पूज्यता जैन परम्परा मे है, हिन्दू परम्परा मे भी वह उसी कोटि की है जिस प्रकार जैन परम्परा मे उन्हे मान्य एव सस्तुत किया गया है, हिन्दू शास्त्र एव पुराण भी उन्हे भगवान् के अवतार के रूप मे मान्य करते हैं

श्रीमद्भागवत[1] मे भगवान् वृषभदेव का बडा ही सुन्दर चरित अकित किया गया है इसमे भगवान् की स्वयभू मनु, प्रियव्रत, आग्नीध्र, नाभि तथा वृषभ—इन पाचो पीढियो की वशपरम्परा का वर्णन करते हुए लिखा है कि आग्नीध्र के पुत्र नाभिराजा के कोई पुत्र नही था अत उन्होने पुत्र की कामना से मरुदेवी के साथ यज्ञ किया भगवान् ने दर्शन दिये ऋत्विजो ने उनका सस्तवन किया और निवेदन किया कि राजर्षि नाभि का यह यज्ञ भगवान् के समान पुत्रलाभ की इच्छा से सम्पन्न हो रहा है भगवान् ने उत्तर दिया—'मेरे समान तो मै ही हूँ, अन्य कोई नही तथापि ब्रह्मवाक्य मिथ्या नही होना चाहिए अत मैं स्वय ही अपनी अशकला से आग्नीध्रनन्दन नाभि के यहाँ अवतार लूगा' इसी वरदान के फलस्वरूप भगवान् ने ऋषभ के रूप मे जन्म लिया

इसी पुराण मे आगे लिखा है—यज्ञ मे ऋषियो द्वारा प्रसन्न किये जाने पर विष्णुदत परीक्षित्त स्वय श्री भगवान् 'विष्णु' महाराज नाभि का प्रिय करने के लिये उनके अन्त पुर की महारानी मरूदेवी के गर्भ मे आये उन्होने इस पवित्र शरीर का अवतार वातरशना श्रमण ऋषियो के धर्मों को प्रकट करने की इच्छा से ग्रहण किया'[2]

भगवान् ऋषभदेव के ईश्वरावतार होने की मान्यता प्राचीनकाल मे इतनी बद्धमूल हुई कि शिव महापुराण मे भी उन्हें शिव के अट्ठाईस योगावतारो मे गिनाया गया[3] प्राचीनता की दृष्टि से भी यह अवतार रामकृष्ण के अवतारो से भी पूर्ववर्ती मान्य किया गया है इस अवतार का जो हेतु श्रीमद्भागवत मे दिखलाया गया है वह श्रमण धर्म की परम्परा को असदिग्ध रूप से भारतीय साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद से सयुक्त करा देता है ऋषभावतार का हेतु वातरशना श्रमण ऋषियो के धर्मों को प्रकट करना बतलाया है श्रीमद्भागवत मे ऋषभावतार का एक अन्य उद्देश्य भी

---

१ श्रीमद्भागवत ५, २-६
२ 'वर्हिपि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त भगवान् परमर्पिभि 'प्रसादितो नाभे प्रियचिकीर्पया तदवरोधायने मेरुदेव्या धर्मान्दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणाना ऋपीणाम् ऊर्ध्वमन्थिना शुक्लया तनुवाववतार'—श्रीमद्भागवत पन्चम स्कन्ध
३ शिव पुराण ७, २, ६

तक सफलता प्राप्त की, ठीक-ठीक नही कहा जा सकता तत्स्थानीय पाँचवी शती के एक ताम्रलेख मे पहले-पहल श्वेताम्बर जैनसघ का उल्लेख भी प्राप्त होता है

श्रीभद्रवाहु श्रुतकेवली के वहुप्रसिद्ध सघ के उपरान्त शास्त्रो मे दक्षिण-भारत के उस दिगम्बर जैनसघ का पता चलता है, जो श्रीधरसेनाचार्यजी के समय मे महिमानगरी मे सम्मिलित हुआ था यह नगरी वर्त्तमान सतारा जिले का 'महिमानगढ' प्रतीत होता है

जैनसघ के अन्तिम तीर्थकर भगवान् महावीर वर्द्धमान और गणधर गौतमस्वामी के उपरान्त कुन्दकुन्दाचार्य को स्मरण करने की परिपाटी प्रचलित है शिलालेखों मे इनका नाम कोण्डकुन्द लिखा मिलता है इस शब्द का मूल उद्गम द्राविड-भाषा से है, उसीका श्रुतिमधुर सस्कृत रूप कुन्दकुन्द प्रथित हुआ है कहा जाता है कि इनका यथार्थ नाम पद्मनन्दि था, परन्तु ये कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव, एलाचार्य और गृध्रपिच्छ नामो से भी प्रसिद्ध थे ये कुण्डकुन्द नामक स्थान के अधिवासी थे, इसीलिए ये कोण्डकुन्दाचार्य नाम से प्रसिद्ध हुए थे इन्होंने अनेक ग्रन्थो की प्राकृत मे तथा तमिल मे भी रचना की और जैनधर्म के जागरण का विजय-शख ध्वनित किया

तमिल के अपूर्व नीतिग्रन्थ 'कुरल' के विषय मे भी कहा जाता है कि यह श्रीकुन्दकुन्दाचार्य की रचना है तमिलवासी इस ग्रन्थ को अपना वेद मानते है कुरल मे कुल ८० परिच्छेद है पूरा ग्रन्थ उपदेशो और नीतिवाक्यो के साथ ही तीर्थंकरो की गुणगाथाओ और गौरव-गरिमा से परिपूरित है

कुन्दकुन्दाचार्य के वाद दक्षिणा जैनसघ मे भगवान् उमास्वामी या उमास्वाति (ई० प्रथम शती) के अस्तित्व का पता चलता है कुन्दकुन्दाचार्य की तरह उनकी भी मान्यता श्वेताम्वर और दिगम्वर दोनो मे है दिगम्बर जैनसाहित्य के अनुसार उमास्वाति कुन्दकुन्दाचार्य के वशज थे एव उनका दूसरा नाम गृध्रपिच्छाचार्य था श्वेताम्वरीय प्रसिद्ध ग्रन्थ 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' के भाष्य मे उमास्वाति के विषय मे जो प्रशस्ति मिलती है, उससे विदित होता है कि उनका जन्म 'न्यग्रोधिका' नामक स्थान मे हुआ था इनके पिता स्वाति और माता वात्सी थी इनका गोत्र कौभीषणि था इनके दीक्षागुरु श्रमण घोपनन्दि और विद्यागुरु वाचकाचार्य मूल थे इन्होने कुसुमपुर (पटना) नामक स्थान मे अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ तत्वार्थाधिगमसूत्र रचा था दोनो ही—श्वेताम्वर-दिगम्वर—सम्प्रदायो मे ये 'वाचक' की पदवी से अभिहित थे श्वेताम्वरो की मान्यता के अनुसार इन्होने पाच सौ ग्रन्थ रचे थे ये सभवत पहली शती के प्रसिद्ध दार्शनिक जैनविद्वान् थे

उमास्वाति के पश्चात् श्रीसमन्तभद्रस्वामी का नाम जैनधर्म के अग्रदूत के रूप मे लिया जाता है इन्होने दक्षिण-भारत के कदम्ब-वश को सुशोभित किया था इनके पिता फणिमण्डलान्तर्गत उरगपुर के क्षत्रिय राजा थे स्वामी समन्तभद्र का वाल्यकाल जैनधर्म के केन्द्रस्थान—उरगपुर मे व्यतीत हुआ था इन्होंने अपने-आपको धर्मार्थ अर्पण कर दिया था

श्रीसमन्तभद्रस्वामी जैनसिद्धान्त के मर्मज्ञ होने के अलावा तर्क, व्याकरण, छन्द, अलकार, काव्य, कोश आदि ग्रन्थो मे पूर्णत निष्णात थे ये विविध देश-पर्यटक भी थे निम्नलिखित श्लोक से पता चलता है कि ये देश-पर्यटन के सिलसिले मे धर्मप्रचारार्थ एव शास्त्रार्थ के हेतु पाटलिपुत्र [पटना][1] पधारे थे श्लोक इस प्रकार है

पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता,
पश्चान्मालवसिन्धुटक्क[2] विषये काचीपुरीवैदिशे ।
प्राप्तोऽहं करहाटक बहुभट विद्योत्कट सङ्कट ,
वादार्थी विचराम्यह नरपते । शार्दूलविक्रीडितम् ।

---

१ श्री डी० जी० महाजन के मतानुसार यह पाटलिपुत्र मगध का सुप्रसिद्ध पाटनगर (पटना) न होकर दक्षिण भारत का पाटलिपुत्र भी हो सकता है जैसा कि वर्णी अभिनन्दन ग्रथ पृ० ३१६-३२२ से विदित होता है —सम्पादक

२ टक्क (पजाव)

इस प्रकार बतलाया गया है

अयमवतारो रजसोपप्लुतकैवल्योपशिक्षणार्थम् ।

अर्थात् भगवान् का यह अवतार रजोगुणी जन को कैवल्य की शिक्षा देने के लिये हुआ था किन्तु उक्त वाक्य का यह अर्थ भी सम्भव है कि यह अवतार रज से उपप्लुत अर्थात् रजोधारण 'मल धारण करना' वृत्ति द्वारा कैवल्य की शिक्षा के लिये हुआ था जैन साधुओं के आचार में अस्नान अदन्तधावन तथा मलपरीषह आदि के द्वारा रजोधारण वृत्ति को संयम का एक आवश्यक अंग माना गया है बुद्ध के समय में भी रजोजल्लिक श्रमण विद्यमान थे तथागत ने श्रमणों की आचारप्रणाली में व्यवस्था लाते हुए एक बार कहा था[1]—

'नाहं भिक्खवे संघाटिकस्स संघाटिधारणमत्तेन सामञ्ञं वदामि अचेलकस्स अचेलकमत्तेन रजोजल्लिकस्स रजोजल्लिकमत्तेन जटिलकस्स जटाधारणमत्तेन सामञ्ञं वदामि

अर्थात्—हे भिक्षुओ मैं संघाटिक के संघाटी धारण मात्र से श्रामण्य नहीं कहता अचेलक के अचेलकत्व मात्र से रजोजल्लिक के रजोजल्लिक मात्र से और जटिलक के जटा धारणमात्र से भी श्रामण्य नहीं कहता

भारत के प्राचीनतम साहित्य के अध्ययन से स्पष्ट है कि उक्त वातरशना तथा रजोजल्लिक साधुओं की परम्परा बहुत प्राचीन परम्परा है ऋग्वेद में उल्लेख है[2]

'मुनयो वातरशना पिशङ्गा वसते मला
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत ।
उन्मादिता मौनेयेन वातां आतस्थिमा वयम्
शरीरेदस्माकं यूयं मर्तासो अभिपश्यथ ।

अतीन्द्रियार्थदर्शी वातरशना मुनि मल धारण करते है जिससे वे पिंगल वर्ण दिखाई देते हैं जब वे वायु की गति को प्राणोपासना द्वारा धारण कर लेते है तब वे अपने तप की महिमा से देदीप्यमान होकर देवता स्वरूप को प्राप्त होजाते है

वातरशना मुनि प्रकट करते है—समस्त लौकिक व्यवहार को छोड़कर हम मौनवृत्ति से उन्मत्तवत् 'परमानन्दसम्पन्न वायु भाव अशरीरी ध्यानवृत्ति' को प्राप्त होते है तुम साधारण मनुष्य हमारे बाह्य शरीरमात्र को देख पाते हो हमारे सच्चे आभ्यन्तर स्वरूप को नहीं

वातरशना मुनियो के वर्णन के प्रारम्भ में ऋग्वेद में ही 'केशी' की निम्नांकित स्तुति की गई है जो इस तथ्य की अभिव्यंजिका है कि 'केशी' वातरशना मुनियों के प्रधान थे केशी की वह स्तुति निम्न प्रकार है[3]

केश्यग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी
केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते ।

केशी अग्नि जल स्वर्ग तथा पृथ्वी को धारण करता है केशी समस्त विश्व के तत्त्वों का दर्शन कराता है और केशी ही प्रकाशमान 'ज्ञान ज्योति' कहलाता है अर्थात् केवल ज्ञानी कहलाता है

ऋग्वेद के इन केशी तथा वातरशना मुनियों की साधनाओं की श्रीमद्भागवत में उल्लिखित वातरशना श्रमण ऋषि और उनके अधिनायक ऋषभ तथा उनकी साधनाओं की पारम्परिक तुलना भारतीय आध्यात्मिक साधना और उसके प्रवर्तक के विषय पर ऐतिहासिक अध्याय को बड़ी सम्यकता के साथ प्रकाश में लाती है

---

१ अंगुत्तरनिकाय ४
२ ऋग्वेद १ । १३६ । २
३ ऋग्वेद १ । १३६ । १

डॉ० राजकुमार जैन
एम० ए०, पी-एच० डी०, साहित्याचार्य,
अध्यक्ष, सस्कृतविभाग आगरा कालेज, आगरा

वृषभदेव तथा शिव-संबंधी प्राच्य मान्यताएँ

वृषभदेव तथा शिव दोनो ही अति प्राचीन काल से भारत के महान् आराध्य देव है वैदिक काल से लेकर मध्य युग तक प्राच्य वाङ्मय मे दोनो का देव देवताओ के विविध रूपो मे अकन हुआ है, वह अध्ययन का बडा मनोरजक विषय है प्रस्तुत लेख मे उन्ही मान्यताओ की विस्तारपूर्वक चर्चा की जा रही है

उपलब्ध भारतीय प्राच्य साहित्य के अध्ययन से स्पष्ट है कि भगवान् ऋषभदेव की जो मान्यता एव पूज्यता जैन परम्परा मे है, हिन्दू परम्परा मे भी वह उसी कोटि की है जिस प्रकार जैन परम्परा मे उन्हे मान्य एव सस्तुत किया गया है, हिन्दू शास्त्र एव पुराण भी उन्हे भगवान् के अवतार के रूप मे मान्य करते हैं

श्रीमद्भागवत[1] मे भगवान् वृषभदेव का बडा ही सुन्दर चरित अकित किया गया है इसमे भगवान् की स्वयभू मनु, प्रियव्रत, आग्नीध्र, नाभि तथा वृषभ—इन पाचो पीढियो की वशपरम्परा का वर्णन करते हुए लिखा है कि आग्नीध्र के पुत्र नाभिराजा के कोई पुत्र नही था अत उन्होने पुत्र की कामना से मरुदेवी के साथ यज्ञ किया भगवान् ने दर्शन दिये ऋत्विजो ने उनका सस्तवन किया और निवेदन किया कि राजर्षि नाभि का यह यज्ञ भगवान् के समान पुत्रलाभ की इच्छा से सम्पन्न हो रहा है भगवान् ने उत्तर दिया—'मेरे समान तो मैं ही हूँ, अन्य कोई नही तथापि ब्रह्मवाक्य मिथ्या नही होना चाहिए अत मैं स्वय ही अपनी अशकला से आग्नीध्रनन्दन नाभि के यहाँ अवतार लूगा' इसी वरदान के फलस्वरूप भगवान् ने ऋषभ के रूप मे जन्म लिया

इसी पुराण मे आगे लिखा है—यज्ञ मे ऋषियो द्वारा प्रसन्न किये जाने पर विष्णुदत परीक्षित्त स्वय श्री भगवान् 'विष्णु' महाराज नाभि का प्रिय करने के लिये उनके अन्त पुर की महारानी मरूदेवी के गर्भ मे आये उन्होने इस पवित्र शरीर का अवतार वातरशना श्रमण ऋषियो के धर्मों को प्रकट करने की इच्छा से ग्रहण किया'[2]

भगवान् ऋषभदेव के ईश्वरावतार होने की मान्यता प्राचीनकाल मे इतनी बद्धमूल हुई कि शिव महापुराण मे भी उन्हे शिव के अट्ठाईस योगावतारो मे गिनाया गया[3] प्राचीनता की दृष्टि से भी यह अवतार रामकृष्ण के अवतारो से भी पूर्ववर्ती मान्य किया गया है इस अवतार का जो हेतु श्रीमद्भागवत मे दिखलाया गया है वह श्रमण धर्म की परम्परा को असदिग्ध रूप से भारतीय साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद से सयुक्त करा देता है ऋषभावतार का हेतु वातरशना श्रमण ऋषियो के धर्मों को प्रकट करना बतलाया है श्रीमद्भागवत मे ऋषभावतार का एक अन्य उद्देश्य भी

---

१ श्रीमद्भागवत ५, २-६

२. 'बर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त भगवान् परमर्षिभि 'प्रसादितो नाभे प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्या धर्मान्दर्शयितुकामो वातरशनाना श्रमणाना ऋषीणाम् ऊर्ध्वमन्थिना शुक्लया तनुवावततार '—श्रीमद्भागवत पन्चम स्कन्ध

३ शिव पुराण ७, २, ९

इस प्रकार बतलाया गया है

अयमवतारो रजसोपप्लुतकैवल्योपशिक्षणार्थम्।

अर्थात् भगवान् का यह अवतार रजोगुणी जन को कैवल्य की शिक्षा देने के लिये हुआ था किन्तु उक्त वाक्य का यह अर्थ भी सम्भव है कि यह अवतार रज से उपप्लुत अर्थात् रजोधारण 'मल धारण करना' वृत्ति द्वारा कैवल्य की शिक्षा के लिये हुआ था जैन साधुओं के आचार मे अस्नान अदन्तधावन तथा मलपरीषह आदि के द्वारा रजोधारण वृत्ति को सयम का एक आवश्यक अंग माना गया है बुद्ध के समय मे भी रजोजल्लिक श्रमण विद्यमान थे तथागत ने श्रमणों की आचारप्रणाली में व्यवस्था लाते हुए एक बार कहा था'—

'नाहं भिक्खवे सघाटिकस्स सघाटिधारणमत्तेन सामञ्ञ वदामि अचेलकस्स अचेलकमत्तेन रजोजल्लिकस्स रजोजल्लिकमत्तेन जटिलकस्स जटाधारणमत्तेन सामञ्ञ वदामि

अर्थात्—हे भिक्षुओ मैं सघाटिक के सघाटी धारण मात्र से श्रामण्य नही कहता अचेलक के अचेलकत्व मात्र से रजोजल्लिक के रजोजल्लिक मात्र स और जटिलक के जटा धारणमात्र से भी श्रामण्य नही कहता

भारत के प्राचीनतम साहित्य के अध्ययन से स्पष्ट है कि उक्त वातरशना तथा रजोजल्लिक साधुओं की परम्परा बहुत प्राचीन परम्परा है ऋग्वेद में उल्लेख है

मुनयो वातरशना पिशंगा वसते मला
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत।
उन्मादिता मौनेयेन वातां आतस्थिमा वयम्
शरीरे दस्माक यूयं मर्तासो अभिपश्यथ।

अतीन्द्रियार्थदर्शी वातरशना मुनि मल धारण करते है जिससे वे पिंगल वर्ण दिखाई देते हैं जब वे वायु की गति को प्राणोपासना द्वारा धारण कर लेते है तब वे अपने तप की महिमा से देदीप्यमान होकर देवता स्वरूप को प्राप्त होजाते है

वातरशना मुनि प्रकट करते है—समस्त लौकिक व्यवहार को छोड़कर हम मौनवृत्ति से उन्मत्तवत् 'परमानन्दसम्पन्न' वायु भाव अशरीरी ध्यानवृत्ति को प्राप्त होते हैं तुम साधारण मनुष्य हमारे बाह्य शरीरमात्र को देख पाते हो हमारे सच्चे आभ्यन्तर स्वरूप को नही

वातरशना मुनियो के वर्णन के प्रारम्भ में ऋग्वेद में ही 'केशी' की निम्नांकित स्तुति की गई है जो इस तथ्य की अभिव्यंजिका है कि 'केशी' वातरशना मुनियों के प्रधान थे केशी की वह स्तुति निम्न प्रकार है [२]

केश्यग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी
केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते।

केशी अग्नि जल स्वर्ग तथा पृथ्वी को धारण करता है केशी समस्त विश्व के तत्वों का दर्शन कराता है और केशी ही प्रकाशमान 'ज्ञान' ज्योति कहलाता है अर्थात् केवल ज्ञानी कहलाता है.

ऋग्वेद के इन केशी तथा वातरशना मुनियों की साधनाओं की श्रीमद्भागवत में उल्लिखित वातरशना श्रमणऋषि और उनके अधिनायक ऋषभ तथा उनकी साधनाओं की पारस्परिक तुलना भारतीय आध्यात्मिक साधना और उसके प्रवर्तक के निगूढ़ प्राक् ऐतिहासिक अध्याय का बड़ी सम्दरता से साथ प्रकाश में लाती है

---

१ मॉ।कमनिकाय ४
ऋग्वेद १ ।१३६ २ २
२ ऋग्वेद १ ।१३६ १

ऊपर के उल्लेखो से स्पष्ट है कि ऋग्वेद के वातरशना मुनि और श्रीमद्भागवत के "वातरशना श्रमण-ऋषि" एक ही परम्परा अथवा सम्प्रदाय के वाचक हैं सामान्यत केशी का अर्थ केशधारी होता है, परन्तु सायणाचार्य ने 'केश स्थानीय रश्मियो को धारण करने वाला' किया है और उससे सूर्य का अर्थ निकाला है, परन्तु प्रस्तुत सूक्त मे जिन वातरशना साधुओ की साधनाओ का उल्लेख है, उनसे इस अर्थ की कोई सगति नही बैठती केशी स्पष्टत वातरशना मुनियो के अधिनायक ही हो सकते है, जिनकी साधना मे मलधारण, मौनवृत्ति और उन्मादभाव (परमानन्द दशा) का विशेष उल्लेख है सूक्त मे आगे उन्हे ही :

"मुनिर्देवस्य देवस्य सौकृत्याय सखा हित '

देवदेवो के मुनि, उपकारी तथा हितकारी सखा बतलाया गया है वातरशना शब्द मे और मलरूपी वसन धारण करने मे उनकी नाग्न्य वृत्ति का भी सकेत है

श्रीमद्भागवत मे ऋषभ का वर्णन करते हुए लिखा है

"उर्वरित शरीरमात्र-परिग्रह उन्मत्त इव गगनपरिधान प्रकीर्णकेश आत्मन्यारोपिताहवनीयो ब्रह्मावर्तात् प्रवव्राज जडान्ध-मूक-बधिर-पिशाचोन्मादकवत् अवधूतवेषोऽभिभाष्यमाणोऽपि जनाना गृहीतमौन-व्रत तूष्णी बभूव परा-गवलम्बमान-कुटिल-जटिल-कपिश केशभूरिभारोऽवधूतमलिननिजशरीरेण ग्रहगृहीत इवादृश्यत "

अर्थात् ऋषभ भगवान् के शरीर मात्र का परिग्रह शेष रह गया था वे उन्मत्त के समान दिगम्बर वेशधारी, बिखरे हुए केशो सहित आहवनीय अग्नि को अपने मे धारण करके ब्रह्मावर्त देश से प्रव्रजित हुए वे जड, मूक, अन्ध, बधिर, पिशाचोन्माद युक्त जैसे अवधूत वेष मे लोगो के बुलाने पर भी मौनवृत्ति धारण किये हुए शान्त रहते थे, सब ओर लटकते हुए अपने कुटिल, जटिल, कपिश केशो के भारसहित अवधूत और मलिन शरीर के साथ वे ऐसे दिखलाई देते थे, जैसे उन्हे कोई भूत लगा हो

ऋग्वेद के तथोक्त, केशीसूक्त तथा श्रीमद्भागवत मे वर्णित श्री ऋषभदेव के चरित्र के तुलनात्मक अध्ययन से प्रतीत होता है कि वैदिक केशी सूक्त को ही श्रीमद्भागवत मे पल्लवित भाष्यरूप मे प्रस्तुत कर दिया गया है दोनो मे ही वातरशना अथवा गगन-परिधानवृत्ति, केश-धारण, कपिशवर्ण, मलधारण, मौन और उन्मादभाव समान रूप से वर्णित हैं

भगवान् ऋषभदेव के कुटिल केशो का अकन जैन मूर्तिकला की एक प्राचीनतम परम्परा है जो आज तक बराबर अक्षुण्ण-रूप से चली आरही है यथार्थत समस्त तीर्थंकरो मे केवल ऋषभदेव की ही मूर्तियो के शिर पर कुटिल केशो का रूप दिखलाया जाता है और वही उनका प्राचीन विशेष लक्षण भी माना जाता है ऋषभनाथ के केसरियानाथ नामान्तर मे भी यही रहस्य निहित मालूम देता है[1] केसर, केश और जटा-तीनो शब्द एक ही अर्थ के वाचक है जिस प्रकार सिंह अपने केशो के कारण केसरी कहलाता है, उसी प्रकार केशी और केसरियानाथ या ऋषभनाथ के वाचक प्रतीत होते हैं केसरियानाथ पर जो केशर चढाने की विशेष मान्यता प्रचलित है वह नामसाम्य के कारण उत्पन्न हुई प्रतीत होती है इस प्रकार ऋग्वेद के केशी और वातरशना मुनि एव श्रीमद्भागवत के ऋषभ तथा वातरशना श्रमण-ऋषि एव केसरियानाथ और ऋषभ तीर्थंकर तथा उनका निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय एक ही सिद्ध होते है

ऋग्वेद की निम्नाकित ऋचा से केशी और वृषभ अथवा ऋषभ के एकत्व का ही समर्थन होता है[2]

'ककर्दवे वृषभो युक्त आसीद्, अवावचीत् सारथिरस्य केशी।
दुधेर्युक्तस्य द्रवत सहानस, ऋच्छन्तिष्मा निष्पदो मुद्गलानीम्।

---

१ राजस्थान के उदयपुर जिले का एक तीर्थ 'केशरिया तीर्थ' के नाम से प्रसिद्ध है, जो दिगम्बर, श्वेताम्बर एव वैष्णव आदि सम्प्रदाय वालों को समान रूप से मान्य एव पूजनीय है तथा जिसमें भ० ऋषभदेव की एक अत्यन्त प्राचीन सातिशय मूर्ति प्रतिष्ठित है

२ ऋग्वेद, १०, १०२, ६

जिस सूक्त में यह ऋचा आई है उसकी प्रस्तावना में निरुक्त के जो मुद्‌गलस्य हृता गावः आदि श्लोक उद्धृत किये गये हैं उनके अनुसार मुद्‌गल ऋषि की गायों को चोर ले गये थे उन्हें लौटाने के लिये ऋषि ने केशी वृषभ को अपना सारथी बनाया जिसके वचनमात्र से वे गौएँ आगे को न भागकर पीछे की ओर लौट पड़ीं

प्रस्तुत ऋचा का भाष्य करते हुए सायणाचार्य ने पहले तो वृषभ तथा केशी का वाच्यार्थ पृथक बतलाया है किन्तु फिर उन्होंने प्रकारान्तर से कहा है

'अथवा अस्य सारथिः सहायभूत केशी प्रकृष्टकेशो वृषभोऽवावचीत् भृशमशब्दयत्' इत्यादि

सायण के इस अर्थ को तथा निरुक्त के उक्त कथाप्रसंग को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत गाथा का निम्न अर्थ प्रतीत होता है [1]

'मुद्‌गल ऋषि के सारथी (विद्वान् नेता) केशी वृषभ जो शत्रुओं का विनाश करने के लिये नियुक्त थे उनकी वाणी निकली जिसके फलस्वरूप जो मुद्‌गल ऋषि की गौएँ (इन्द्रियां) जुते हुए दुर्धर रथ (शरीर) के साथ दौड़ रही थीं वे निश्चल होकर मौद्‌गलानी (मुद्‌गल की स्वात्मवृत्ति) की ओर लौट पड़ीं

तात्पर्य यह कि ऋषि की जो इन्द्रियां पराङ्‌मुखी थीं वे उनके योगयुक्त ज्ञानी नेता केशी वृषभ के धर्मोपदेश को सुनकर अन्तर्मुखी हो गईं

वृषभदेव और वैदिक अग्निदेव—अग्निदेव की स्तुति में वैदिक सूक्तों में जिन विशेषणों का प्रयोग किया गया है उनके अध्ययन से स्पष्ट है कि यह अग्निदेव भौतिक अग्नि न होकर आदि प्रजापति वृषभदेव ही है—जातवेदस् [जन्मत-ज्ञान सम्पन्न] रत्नधरत्त [दर्शन ज्ञान चारित्र रूप रत्नों को धारण करनेवाला] विश्ववेदस् [विश्वतत्त्वों का ज्ञाता] मोक्ष नेता ऋत्विज् [धर्मस्थापक] होता हव्य यज्ञ सत्य यशवस इत्यादि [2]† वैदिक व्याख्याकारों ने भी लौकिक भ्रान्तियों का निग्रह करने के लिये स्थल-स्थल पर इस मत का समर्थन करते हुए लिखा है कि अग्निदेव वही है जिसकी उपासना मरुद्‌गण रुद्र नाम से करते हैं ‡ रुद्र शर्व पशुपति उग्र अशनि भव महादेव ईशान कुमार—रुद्र के ये नौ नाम अग्निदेव के ही विशेषण हैं [3] अग्निदेव ही सूर्य है परमविष्णु ही देवों [आर्यगण] की अग्नि है [4] इस मत की सर्वाधिक पुष्टि अथर्ववेद के ऋषभसूक्त से होती है जिसमें ऋषभ भगवान् की अनेक विशेषणों द्वारा स्तुति करते हुए उन्हें जातवेदस् [अग्नि] विशेषण से भी विशिष्ट किया गया है [5]

उपर्युक्त विवरणों तथा समस्त प्राचीन श्रुतियों के आधार पर स्तुत्य अग्नि शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए ब्राह्मण ऋषियों ने यह व्यक्त किया है कि उपास्य देवों के अग्र में उत्पन्न होने के कारण वह अग्रि अथवा अग्नि संज्ञा से प्रसिद्ध हुए

इन लेखों के प्रकाश में केवल यह तथ्य ही स्पष्ट नहीं होता कि वृषभदेव का ही अपर नाम अग्निदेव रहा अपितु यह भी सिद्ध है कि उपास्य देव के अर्थ में प्रयुक्त 'अग्नि' शब्द संस्कृत का न होकर अग्रि का लोकव्यवहृत प्राकृत अथवा

---

१ देखो डा० हीरालाल जैन का "आदि तीर्थंकर की प्राचीनता तथा उनके धर्म की विशेषता" शीर्षक लेख (अहिंसावाणी। वर्ष ७ अंक १२ १९५७)।

†२ ऋग्वेद ११ ११२ अथर्व ६ ४ ३ ऋग्वेद १ १=६ १

‡ 'यो वै स रुद्र सोऽग्निः' —शतपथब्राह्मण ५ ३ ४ ११

३ (अ) 'तान्येतानि अष्टौ रुद्र' शर्व पशुपतिः उग्र अशनि' भव महादेव ईशान' अग्निरूपाणि कुमारो नवम् वही ६, १ ३ १८

(आ) 'यानि वै देवामग्नीना नामानि रुद्रपशुपति भुवनपतिम् तस्य पति वही, १ ३ ३ ११

४ अग्निर्वै वही ५, ४

५ 'अग्निर्वै देवानाम् अवमो विष्णुपरम्' कौशल्य ब्राह्मण ७ १

६ अथर्व ६ ४ ३

७ (अ) स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत तस्मादग्रिरग्रि ह वै तमग्निरित्याचक्षते परोक्षम्—शतपथ ब्राह्मण ६ १ १ ११

(आ) 'यद्वा एनमेतदग्रे देवानां अजनयत् तस्मादग्निराग्रर्हवै नामैतद्यदग्निरिति —वही २ २ ४ २

ऊपर के उल्लेखो से स्पष्ट है कि ऋग्वेद के वातरशना मुनि और श्रीमद्‌भागवत के "वातरशना श्रमण-ऋषि" एक ही परम्परा अथवा सम्प्रदाय के वाचक हैं सामान्यत केशी का अर्थ केशधारी होता है, परन्तु सायणाचार्य ने 'केश स्थानीय रश्मियो को धारण करने वाला' किया है और उसमे सूर्य का अर्थ निकाला है, परन्तु प्रस्तुत सूक्त मे जिन वातरशना साधुओ की साधनाओ का उल्लेख है, उनसे इस अर्थ की कोई सगति नही बैठती केशी स्पष्टत वातरशना मुनियो के अधिनायक ही हो सकते है, जिनकी साधना मे मलधारण, मौनवृत्ति और उन्मादभाव (परमानन्द दशा) का विशेष उल्लेख है सूक्त मे आगे उन्हे ही

"मुनिर्देवस्य देवस्य सौकृत्याय सखा हित '

देवदेवो के मुनि, उपकारी तथा हितकारी सखा बतलाया गया है वातरशना शब्द मे और मलरूपी वसन धारण करने मे उनकी नाग्न्य वृत्ति का भी सकेत है

श्रीमद्‌भागवत मे ऋषभ का वर्णन करते हुए लिखा है

"उर्वरित शरीरमात्र-परिग्रह उन्मत्त इव गगनपरिधान प्रकीर्णकेश आत्मन्यारोपिताहवनीयो ब्रह्मावर्तात् प्रवव्राज जडान्ध-मूक-बधिर-पिशाचोन्मादकवत् अवधूतवेषोऽभिभाष्यमाणोऽपि जनाना गृहीतमौन-व्रत तूष्णी बभूव परा-गवलम्बमान-कुटिल-जटिल-कपिश केशभूरिभारोऽवधूतमलिननिजशरीरेण ग्रहगृहीत इवादृश्यत "

अर्थात् ऋषभ भगवान् के शरीर मात्र का परिग्रह शेष रह गया था वे उन्मत्त के समान दिगम्बर वेशधारी, बिखरे हुए केशो सहित आहवनीय अग्नि को अपने मे धारण करके ब्रह्मावर्त देश से प्रव्रजित हुए वे जड, मूक, अन्ध, बधिर, पिशाचोन्माद युक्त जैसे अवधूत वेप मे लोगो के बुलाने पर भी मौनवृत्ति धारण किये हुए शान्त रहते थे, सब ओर लटकते हुए अपने कुटिल, जटिल, कपिश केशो के भारसहित अवधूत और मलिन शरीर के साथ वे ऐसे दिखलाई देते थे, जैसे उन्हे कोई भूत लगा हो

ऋग्वेद के तथोक्त, केशीसूक्त तथा श्रीमद्‌भागवत में वर्णित श्री ऋषभदेव के चरित्र के तुलनात्मक अध्ययन से प्रतीत होता है कि वैदिक केशी सूक्त को ही श्रीमद्‌भागवत मे पल्लवित भाष्यरूप मे प्रस्तुत कर दिया गया है दोनो मे ही वातरशना अथवा गगन-परिधानवृत्ति, केश-धारण, कपिशवर्ण, मलधारण, मौन और उन्मादभाव समान रूप से वर्णित हैं

भगवान् ऋषभदेव के कुटिल केशो का अकन जैन मूर्तिकला की एक प्राचीनतम परम्परा है जो आज तक बराबर अक्षुण्ण-रूप से चली आरही है यथार्थत समस्त तीर्थंकरो मे केवल ऋषभदेव की ही मूर्तियो के शिर पर कुटिल केशो का रूप दिखलाया जाता है और वही उनका प्राचीन विशेष लक्षण भी माना जाता है ऋषभनाथ के केसरियानाथ नामान्तर मे भी यही रहस्य निहित मालूम देता है[1] केसर, केश और जटा-तीनो शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं जिस प्रकार सिंह अपने केशो के कारण केसरी कहलाता है, उसी प्रकार केशी और केसरियानाथ या ऋषभनाथ के वाचक प्रतीत होते हैं केसरियानाथ पर जो केशर चढाने की विशेष मान्यता प्रचलित है वह नामसाम्य के कारण उत्पन्न हुई प्रतीत होती है इस प्रकार ऋग्वेद के केशी और वातरशना मुनि एव श्रीमद्‌भागवत के ऋषभ तथा वातरशना श्रमण-ऋषि एव केसरियानाथ और ऋषभ तीर्थंकर तथा उनका निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय एक ही सिद्ध होते हैं

ऋग्वेद की निम्नाकित ऋचा से केशी और वृषभ अथवा ऋषभ के एकत्व का ही समर्थन होता है[2]

'ककर्दवे वृषभो युक्त आसीद्, अवावचीत् सारथिरस्य केशी।
दुधेर्युक्तस्य द्रवत सहानस, ऋच्छन्तिष्मा निष्पदो मुद्‌गलानीम्।

---

१ राजस्थान के उदयपुर जिले का एक तीर्थ 'केशरिया तीर्थ' के नाम से प्रसिद्ध है, जो दिगम्बर, श्वेताम्बर एव वैष्णव आदि सम्प्रदाय वालों को समान रूप से मान्य एव पूजनीय है तथा जिसमें भ० ऋषभदेव की एक अत्यन्त प्राचीन सातिशय मूर्ति प्रतिष्ठित है

२ ऋग्वेद, १०, १०२, ६

तमीडत महासाध (तुम उसकी स्तुति करो जो सर्वप्रथम मोक्ष का साधक है) अर्हत (सबपूज्य है) मारीविश्व उस्रः भुम्नसानम् (जिसने स्वय दारक म आनेवाली प्रजा को बल से समृद्ध करके) पुत्र भरत संप्रदान् (अपने पुत्र भरत को सौंप दिया) देवो ने उस हव्यदाता अग्नि (अग्नि देवता को) धारयन् (धारण कर लिया)[1]

स मातरिश्वा (वह वायु क समान निर्लेप और स्वतन्त्र है) पुरुवार पुष्टि (अभीष्ट वस्तुओं का परिष्कारक साधन है) उसने स्वर्वित (ज्ञान सम्पन्न हो कर) तनयाय (पुत्र के लिये) गात (विद्या) विवद (वेदी) वह विशांगोपा (प्रजाओं का संरक्षक है) पवितारोदसयो (अभ्युदय तथा नि श्रेयस का उत्पादक है) देवो ने उस हव्यदाता अग्नि (अग्रनेता को) ग्रहण कर लिया[2]

निर्वाण की पुण्य वेला म जब आदि प्रजापति ऋषभ ने विनश्वर शरीर का त्याग करके सिद्ध लोक को प्रस्थान किया तो उनके परम प्रशान्त रूप को आत्मसात् करने वाली अन्त्येष्टि अग्नि ही तत्कालीन जन के लिये उनके वीतराग रूप की एकमात्र सस्मारक बन कर रह गई जनता अब अग्नि दर्शन से ही अपने आराध्य के दर्शन पाने लगी उस समय मूर्तिकला का विकास नहीं हुआ था अत यह सप्तजिह्वा अग्नि ही उस महामानव का प्रतीक बन गई उपलब्ध प्राचीन अनुश्रुतिया से ज्ञात होता है कि भगवान् के प्रति जन-जन के हृदयों में स्वभावत उद्दीप्त होने वाले भक्तिभाव को सतुष्ट एव सतृप्त करने के लिये उनके ज्येष्ठ गणधर (मानस पुत्र) ने इस भौतिक अग्नि द्वारा आदि ब्रह्मा ऋषभ क उपासनार्थ हव्या पूजा एव अर्चना का मार्ग निकाला था वह याज्ञिक प्रक्रिया के प्रथम विधायक थे[3] उन्होने ही लोकमगल के लिये अभीष्टसिद्धि अनिष्टपरिहार एव रोग निवृत्तिकर आदि अनेक उपयोगी मन्त्र-तन्त्र विद्याओ का सवप्रथम प्रकाश किया था वह वैदिक परम्परा में ज्येष्ठ अथर्वन और जैन परम्परा में ज्येष्ठ गणधर के नाम से प्रसिद्ध है जैन परम्परा क अनुसार यह भगवान् ऋषभदेव के पुत्र ऋषभसेन थे भगवान् ने इन्हे ही समस्त विद्याओं में प्रधान ब्रह्मविद्या देकर लोक में अपना उत्तराधिकारी बनाया था[4]

इनके द्वारा तथा अन्य अथर्वना (गणधरो) द्वारा प्रतिपादित अनेक तान्त्रिक विधानों तथा ऋषभ के हिरण्यगर्भ जातवेदस् अन्य उग्र तपस्या सर्वज्ञता वेदना सिद्धलोकप्राप्ति सम्बन्धी अनेक रहस्यपूर्ण वार्ताओं तथा यति व्रात्य श्रमणों की आध्यात्मिक चर्चा का सकलन चौथे वेद मे हुआ है अत इसकी प्रसिद्धि अथर्ववेद के नाम से हुई

अथर्वन द्वारा प्रतिपादित प्रक्रिया क अनुसार अग्नि में हव्य द्रव्य की आहुति देकर सर्वप्रथम ऋषभ की पूजा उनके ज्येष्ठ पुत्र तथा भारत के आदि चक्रवर्ती भरत महाराज जो मनु के नाम से भी प्रसिद्ध थे ने की थी इसके पश्चात् *उनका अनुकरण करते हुए समस्त प्रजाजन भगवान् ऋषभदेव के प्रतीक रूप में अग्नि की पूजा में प्रवृत्त हुए*[5]

उक्त प्रक्रिया के अनुसार यह पूजा प्रात मध्याह्न और सायं तीनों काल होती थी अथर्ववेद अनड्वान सूक्त में इस पूजा का फल बतलाते हुए कहा है कि जो इस प्रकार प्रतिदिन तीनों समय भगवान् ऋषभ की पूजा करते है वे उन्हीं

---

१ ऋग्वेद १ ९६ ३
२ वही १ ९६ ४
३ (अ) सम्पादक मामचन्दी निरुक्तालोचन वि सं १९९१ पृ सं ९५
(आ) A. C. Das—Rigvedic Culture pp 113—115
(इ) Dr Winternitz—History of India Leterature Vol I 1927 P 120
(ई) 'अग्निर्जातो अथर्वणा —ऋग्वेद १ ८३ ५
४ (अ) ब्रह्मा देवाना प्रथम सम्बभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता ।
स ब्रह्मविद्या सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥—मुण्डकोपनिषद् १ १
(आ) 'ब्रह्मविद्या प्रधान विदु: ——— ७ ९१ ४
५ (अ) मनुर्हवा अग्ने यज्ञेन इज यदनुकृत्येमा प्रजा यजन्ते —शतपथ ब्राह्मण १५ १ ७.
(आ) जिनसेनकृत आदिपुराण पर्व ४० १११ १२१

अपभ्र श रूप है जो आर्यगण के भारत-आगमन से पूर्व ही आदिब्रह्मा वृषभ के लिये प्रयुक्त होता आ रहा था यही कारण है कि ब्राह्मण ऋषियो को वृषभ की अग्नि सज्ञा 'अग्नि' अर्थमूलक करने के लिये तत्सम्बधी श्रुतियो को आधार बनाकर उसकी व्युत्पत्ति 'अग्र' शब्द से करनी पडी अन्यथा सस्कृत भाषा की दृष्टि से अग्नि एव अग्नि शब्द मे अत्यन्त पार्थक्य है

आर्यजन के अग्निदेव और वृषभदेव की एकता

वैदिक अनुश्रुतियो से सिद्ध होता है कि अग्नि सज्ञा से वृषभ की उपासना करने वाले अधिकाश वे क्षत्रियजन थे, जो पञ्चजन के नाम से प्रसिद्ध थे[1] इनमे यदु, तुर्वसा, पुरु, द्रुह्यु, अनु नाम की क्षत्रिय जातिया सम्मिलित थी ये लोग ऋग्वैदिक काल मे कुरुक्षेत्र, पचाल, मत्स्यदेश और सुराष्ट्र देश मे बसे थे जब आर्यगण सप्त सिन्धु देश मे से होते हुए कुरुभूमि मे आबाद हुए और यहा पचजन क्षत्रियो की धार्मिक सस्कृति के सम्पर्क मे आये तो उससे प्रभावित होकर इन्होने भी उनके आराध्य देव वृषभ को 'अग्नि' सज्ञा से अपना आराध्य देव बना लिया यह ऐतिहासिक तथा कश्यपगोत्री मरीचिपुत्र ऋषि ने अग्निदेव की स्तुति करते हुए ऋग्वेद १-९ मे 'देवा अग्नि धारयन् द्रविणोदाम्' शब्दो द्वारा स्वय व्यक्त किया है

इस सूक्त के नौ मन्त्र है इनमे से पहले सात मन्त्रो के अन्त मे ऋषिवर ने उक्त शब्दो को पुन पुन दोहराया है इसका अर्थ है कि—देवा (अपने को देव सज्ञा से अभिवादन करने वाले आर्यगण ने) द्रविणो दा (धनैश्वर्य प्रदान करने वाले) अग्नि (अग्नि प्रजापति को) धारयन् (अपना आराधना-देव धारण कर लिया)

प्रस्तुत सूक्त ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है इसमे प्रथम तो भगवान् वृषभ की स्तुति मे गाये जाने वाले ऋक्, यजु, साम एव अथर्व सहिताओ मे सकलित स्तोत्रो से भी प्राचीन उन निविद अथवा निगद स्तोत्रो का उल्लेख है, जिनसे ध्वनित होता है कि भगवान् वृषभ आर्यगण के आने से पूर्व ही भारत के आराध्य देव थे. इसके अतिरिक्त इस सूक्त मे भगवान् वृषभ द्वारा मनुओ की सन्तानीय प्रजा को अनेक विद्याओ से समृद्ध करने, अपने पुत्र भरत को राज्य-भार सौंपने तथा अपने अन्य पुत्र वृषभसेन को, जो जैन मान्यता के अनुसार भगवान् के ज्येष्ठ गणधर अथवा मानसपुत्र थे, ब्रह्मविद्या देने का भी उल्लेख है इस सूक्त के निम्नाकित प्रथम चार मत्रो से उल्लिखित तथ्यो की स्पष्टत सपुष्टि होती है

'अपश्चमित्र (जो ससार का मित्र है) धिषणा च साधन (जो ध्यान द्वारा साध्य है), प्रत्नथा (जो पुरातन है), सहसा जायमान (जो स्वयभू है) सद्य काव्यानि वडधन्त विश्वा (जो निरन्तर विभिन्न काव्य स्तोत्रो को धारण करता रहता है, अर्थात् जिसकी सभी जन स्तुति करते रहते हैं), देवो अग्नि धारयन् द्रविणोदाम् (देवो ने उस द्रव्य-दाता अग्नि को धारण कर लिया)[2]

पूर्वया निविदा काव्यतासो (जो प्राचीन निविदो द्वारा स्तुति किया जाता है), यमा प्रजा अजन्यन् मनुनाम् (जिसने मनुओ की सन्तानीय प्रजा की व्यवस्था की) विवस्वता चक्षुषा द्याम पञ्च (जो अपने ज्ञान द्वारा द्यु और पृथ्वी को व्याप्त किये हुए है), देवो ने उस द्रव्यदाता को धारण कर लिया)[3]

(इ) खारवेल के शिलालेख (ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी) में भी ऋषभ जिन का उल्लेख अग्ग जिन के रूप में हुआ है (नन्दराजनीतान अगजिनस्)

(ई) 'प्रजापति देवतान सृज्यमान अग्निमेव देवाना प्रथममसृजत् '
तैत्तिरीय ब्राह्मण, २१, ६, ४

(उ) 'अग्निर्वै सर्वाद्यम् ।'—ताण्ड्य ब्राह्मण, ५, ६३

१ 'जना यदग्निमजयन्त पञ्च '—ऋग्वेद १०, ४५, ६

२ ऋग्वेद, १ ९, १

३ वही, १, ९, २

मध्य एशिया लघु एशिया उत्तर पूर्वीय अफरीका के सुमेर, बबीलोनिया सीरिया यूनान अरब ईरान मिस्र यूथोपिया आदि संसार के समस्त प्राचीन देशों में जहाँ भी पणि अथवा फणि और पुरु लोगों के विस्तार के साथ भारत से भगवान् वृषभ की श्रुतियाँ सूक्तियाँ और आख्यान पहुँचे हैं[1] वहाँ भगवान् असुर [असुर] ओसोरिस [असुरर्षि] अहुरमज्द [असुरमहत्] ईस्वर [ईश्वर] जहोव [यह्व महान्] गौड [गौर गौड] अल्ला [ईड्य स्तुत्य] I A M [अहमस्मि] सूयस् [सूय] रवि मिथ [मित्र] वरुण आदि अनेक लोक प्रसिद्ध नामों और विशेषणों द्वारा आराध्य देव ग्रहण कर लिये गये यही कारण है कि इन देशों के प्राचीन आराध्यदेव सम्बन्धी जो रहस्यपूर्ण आख्यान परम्परागत सुरक्षित हैं उनमें उपर्युक्त चार वृत्त 1 In Carnation 2 Suffering and Crucification 3 Ressurrection और 4 Ascent to Heaven के नाम से प्रसिद्ध हैं इस प्रकार उन सूक्तों और मन्त्रों के अतिरिक्त जिनमें स्पष्टतः ऋषभ वृषभ गौर तथा अनड्वान का उल्लेख है ऋक् यजु साम तीनों ही संहिताओं के प्रायः समस्त सूक्त जिनमें उपयुक्त सञ्ज्ञाओं और विशेषणों से स्तुति की गई है भगवान् वृषभ की ओर ही संकेत करते हैं

अथर्ववेद के इस तथ्य को व्यक्त करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार आप (जल) वात (वायु) और औषधि (वनस्पति)—तीनों एक ही भवन (पृथ्वी) के आश्रित हैं उसी प्रकार ऋक् यजु, साम—तीनों प्रकार के छन्दों की कवि जन 'पुरस्य दर्शत विश्व चक्षणम् [बहुरूप दिखलाई देने वाले एक विश्ववेदस् सहस्राक्ष सर्वज्ञ को लक्ष्य रखकर ही विचेतिरे [व्याख्या करते हैं][2]

ऋग्वेद के निम्नाङ्कित दो मन्त्रों में हम भगवान् वृषभदेव के तथोक्त रूपों एवं वृत्तों का वैसा ही इतिहास क्रमानुसारी वर्णन देख सकते हैं जैसा कि जैन परम्परा बिधान करती है वे मन्त्र निम्न प्रकार हैं[3]

दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निरस्मद् द्वितीयं परि जातवेदाः ।
तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रमिन्धान एनं जरते स्वाधीः ॥

अर्थात् अग्नि प्रजापति पहले देवलोक में प्रकट हुए द्वितीय बार हमारे बीच जन्मतः ज्ञान-सम्पन्न होकर प्रकट हुए तीसरा इनका वह स्वाधीन एवं आत्मवान् रूप है जब इन्होंने भव-सागर में रहते हुए निर्मल वृत्ति से समस्त कर्मेन्धन को जला दिया तथा—

विद्मा ते अग्ने त्रेधा त्रयाणि विद्मा ते धाम विभृता पुरुत्रा ।
विद्मा ते नाम परमं गुहा यद्विद्मा तमुत्सं यत आजगन्थ ॥[4]

अर्थात् हे अग्रनेता हम तेरे इन तीन प्रकार के तीन रूपों को जानते हैं इनके अतिरिक्त तेरे पूर्व के बहुत प्रकार से धारण किये हुए रूपों को भी हम जानते हैं इनके अतिरिक्त तेरा जो निगूढ़ परमधाम है उसको भी हम जानते हैं और उस धाम को भी हम जानते हैं जिससे तू हमें प्राप्त होता है

उक्त श्रुति से स्पष्टतः प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक काल में भगवान् वृषभ के पूर्व जातक लोक में पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे

वैदिक रुद्र के विकसित रूप

शतपथ ब्राह्मण[5] में रुद्र के जो—रुद्र शर्व पशुपति उग्र अशनि भव महादेव ईशान कुमार—ये नौ नाम हैं वे अग्नि

---

1 Dr H R Hall The ancient History of far East 104 77 168, 203, 367 40?
2 अथर्ववेद १८ १ १
3 ऋग्वेद १ ४५ १
4 वही ४५ २
5 तान्येतानि अष्टौ रुद्रः शर्वः पशुपतिः उग्रः अशनिः भवः ।
महान्देव ईशान अग्निरूपाणि कुमारो नवम् ॥ —शतपथ ब्राह्मण ६, १ ३ १८

के समान अविनाशी अमरपद के अधिकारी हो जाते हैं[1]

प्राचीन अनुश्रुतियो से ज्ञात होता है कि अथर्वन द्वारा बतलाई गई याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार अज (जौ),[2] अक्षत (चावल), तथा घृत—इनका प्रयोग आहुति के लिये किया जाता था और पूजा के समय भगवान् वृषभ का सान्निध्य बनाये रखने के लिए 'वषट्' शब्द का और उनके अर्थ आहुति देते समय उन द्वारा घोषित स्वात्म-महिमा को ध्यान मे रखने के लिये 'स्वाहा' शब्द का प्रयोग आवश्यक था क्योकि 'वषट्' उच्चारण द्वारा भौतिक अग्नि की स्थापना करते हुए उपासक जन वास्तव मे वृषभ भगवान् की ही स्थापना करते है और 'स्वाहा' शब्द द्वारा भौतिक अग्नि मे आहुति देते हुए भी अपनी आत्म-महिमा को ही जागृत करते है वषट् शब्द का उच्चारण किये बिना अग्नि की उपासना भौतिक अग्नि की ही उपासना है

जैन पूजाग्रथो तथा उनके दैनिक पूजा-विधानो मे वौषट् (इति आह्वाननम्) ठ ठ (इति स्थापनम्), और वषट् [इति सन्निधीकरणम्]—इन तीन शब्दो द्वारा भगवान् का आह्वान, स्थापन तथा सन्निधीकरण किया जाता है उक्त बीजमत्रो के कोष्ठको मे दिये गये अर्थ जैन परम्परा मे अत्यन्त प्राचीन काल से चले आ रहे है, जो भगवत्पूजा के लक्ष्य के सम्बन्ध मे भी भक्तजन को एक नवीन दृष्टि का दान करते है,

इस प्रकार अग्नि द्वारा पूजा-विधि की परम्परा उतनी ही प्राचीन निश्चित होती है जितना भगवान् वृषभ देव का काल

वृषभ के विविधरूप और इतिवृत्त

जैन परम्परा के अनुसार भगवान् ऋषभदेव अपने पूर्व जन्म मे सर्वार्थसिद्धि विमान मे एक महान् ऋद्धिधारी देव थे आयु के अत मे उन्होने वहा से चय कर अयोध्यानरेश नाभिराय की रानी मरुदेवी के गर्भ मे अवतरण किया इनके गर्भ मे आने के छह माह पूर्व मे ही नाभिराय का भवन कुबेर के द्वारा हिरण्य की वृष्टि से भरपूर कर दिया गया अत जन्म लेने के पश्चात् यह हिरण्यगर्भ के नाम से प्रसिद्ध हुए गर्भावतार के समय भगवान् की माता ने स्वप्न मे एक सुन्दर बैल को अपने मुख मे प्रवेश करते हुए देखा था, अत इनका नाम वृषभ रक्खा गया जन्म से ही यह मति, श्रुत, अवधि इन तीन ज्ञानो से विशिष्ट थे, अत इनकी जातवेदस् नाम से प्रसिद्धि हुई बिना किसी गुरु की शिक्षा के ही अनेक विद्याओ के ज्ञाता थे, इन्होने जन्म-मृत्यु से अभिव्याप्त ससार मे स्वय सत्, ऋत, धर्म एव मोक्षमार्ग का साक्षात्कार किया था, अत वह स्वयभू तथा मुक्त नामो से प्रसिद्ध हुए भोगयुग की समाप्ति पर इन्होने ही प्रजा को कृषि, पशुपालन तथा विविध शिल्प-उद्योगो की शिक्षा प्रदान की थी, अत यह विधाता, विश्वकर्मा एव प्रजापति नामो से विख्यात हुए ये ही अपनी अन्त प्रेरणा से ससार—शरीर तथा भोगो से निर्विण्ण हुए तथा सयम एव स्वाधीनता-पथ के पथिक बनकर प्रव्रजित हुए, अत वशी, यति एव व्रात्य नामो से प्रसिद्ध हुए

इन्होने अपनी उग्र तपस्या, श्रमसहिष्णुता और समवर्तना द्वारा अपने समस्त दोषो को भस्मसात् किया, अत यह रुद्र, श्रमण आदि सज्ञाओ से विख्यात हुए इन्होने अज्ञानतमस् का विनाश करके अपने अन्तस् मे सम्पूर्ण ज्ञान-सूर्य को उदित किया, भव्य जीवो को धार्मिक प्रतिबोध दिया और अन्त मे देह त्याग कर सिद्ध लोक मे अक्षय पद की प्राप्ति की

जैन परम्परा मे जो वृत्त गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण के नाम से प्रसिद्ध है और जिन्हे लोक-कल्याणी होने से कल्याणक की सज्ञा दी गई है वैदिक परम्परा मे वही [१] हिरण्यगर्भ, [२] जातवेदस्, अग्नि, विश्वकर्मा, प्रजापति, [३] रुद्र, पुरुष, व्रात्य, [४] सूर्य, आदित्य, अर्क, रवि, विवस्वत, ज्येष्ठ, ब्रह्मा, वाक्पति, ब्राह्मणस्पति, बृहस्पति, [५] निगूढपरमपद, परमेष्ठीपद, साध्यपद आदि संज्ञाओ से प्रसिद्ध है

---

१ अथर्ववेद ४, ११, १०

२ "अजैर्यष्टके"—जिनसेनकृत हरिवंशपुराण, २७, ३८, १६४

देव के ही विशेषण उल्लिखित किये गये हैं और 'वृषभदेव तथा वैदिक अग्निदेव' मे उपस्थित किये गये विवरण से स्पष्ट है कि भगवान् वृषभदेव को ही वैदिक काल मे अग्निदेव के नाम से अभिहित किया जाता था फलत रुद्र, महादेव, अग्निदेव, पशुपति आदि वृषभदेव के ही नामान्तर हैं

वैदिक परम्परा मे वैदिक रुद्र को ही पौराणिक तथा आधुनिक शिव का विकसित रूप माना जाता है, जब कि जैन परम्परा मे भगवान् ऋषभदेव को ही शिव, उनके मोक्ष-मार्ग को शिवमार्ग तथा मोक्ष को शिवगति कहा गया है यहाँ रुद्र के उन समस्त क्रम-विकसित रूपो का एक सक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है

ऋग्वेद मे रुद्र मध्यम श्रेणी के देवता है उनकी स्तुति मे तीन पूर्ण सूक्त कहे गये हैं[1] इसके अतिरिक्त एक अन्य सूक्त मे पहले मन्त्र छह रुद्र की स्तुति मे है और अन्तिम तीन सोम की स्तुति मे[2] एक अन्य सूक्त मे रुद्र और सोम का साथ स्तवन किया गया है[3] अन्य देवताओ की स्तुति मे भी जो सूक्त कहे गये हैं, उनमे भी प्राय रुद्र का उल्लेख मिलता है, इन सूक्तो मे रुद्र के जिस स्वरूप की वर्णना हुई है, उसके अनेक चित्र हैं और उनके विभिन्न प्रतीको के सम्बन्ध मे विद्वानो की विभिन्न मान्यताएँ हैं रुद्र का शाब्दिक अर्थ, मरुतो के साथ उनका सगमन, उनका बभ्रु वर्ण और सामान्यत उनका क्रूर स्वरूप इन सब को दृष्टि मे रखते हुए कुछ विद्वानो की धारणा है कि रुद्र झझावात के प्रतीक हैं जर्मन विद्वान् वेवर ने रुद्र के नामपर बल देते हुए अनुमानित किया है कि रुद्र झझावात के 'रव' का प्रतीक है[4] डाक्टर मेकडौनल ने रुद्र और अग्नि के साम्य पर दृष्टि रखते हुए कहा कि रुद्र विशुद्ध झझावात का नही, अपितु विनाशकारी विद्युत के रूप मे झझावात के विध्वसक स्वरूप का प्रतीक है[5] श्री भाण्डारकर ने भी रुद्र को प्रकृति की विनाशकारी शक्तियो का ही प्रतीक माना है[6] अग्रेज विद्वान् म्यूर की भी यही मान्यता है[7] विलसन ने ऋग्वेद की भूमिका मे रुद्र को अग्नि अथवा इन्द्र का ही प्रतीक माना है[8] प्रो० कीथ ने रुद्र को झझावात के विनाशकारी रूप का ही प्रतीक माना है, उसके हितकर रूप का नही[9] इसके अतिरिक्त रुद्र के घातक बाणो का स्मरण करते हुए कुछ विद्वानो ने उन्हे मृत्यु का देवता भी माना है और इसके समर्थन मे उन्होने ऋग्वेद का वह सूक्त प्रस्तुत किया है, जिसमे रुद्र का केशियो के साथ उल्लेख किया गया है

रुद्र की एक उपाधि 'कपर्दिन्' है,[10] जिसका अर्थ है, जटाजूटधारी और एक अन्य उपाधि है 'कल्पलीकिन्',[11] जिसका अर्थ है, दहकनेवाला दोनो की सार्थकता रुद्र के केशी तथा अग्निदेव रूप मे हो जाती है

अपने सौम्य रूपो मे रुद्र को 'महाभिषक्' बतलाया गया है, जिसकी औषधिया ठडी और व्याधिनाशक होती हैं रुद्र सूक्त मे रुद्र का सर्वज्ञ वृषभ रूप से उल्लेख किया गया है और कहा गया है.[12] 'हे विशुद्ध दीप्तिमान सर्वज्ञ वृषभ, हमारे ऊपर ऐसी कृपा करो कि हम कभी नष्ट न हो "

---

१ ऋग्वेद १, ११४, २, ३३, ७, ४६
२ ऋग्वेद १, ४३
३ वही ६, ७४
४ वेवर इण्डीश स्टूडीन, २, १९—२०
५ मेकडौनल वेदिक मायीथोलोजी, पृष्ठ स० ७८
६ भाण्डारकर वैष्णविज्म, शैविज्म
७ म्यूर ओरिजिनल सस्कृत टेक्स्ट्स
८ विल्सन ऋग्वेद, भूमिका
९ कीथ रिलिजन एण्ड माइथोलोजी आफ दी ऋग्वेद, पृष्ठ स० १४७
१० ऋग्वेद १, ११४, १ और ५
११ वही १, ११४, ५
१२ एव बभ्रो वृषभ चेकितान यथा देव न हृणीष न हसि ऋग्वेद २, ३३, १५
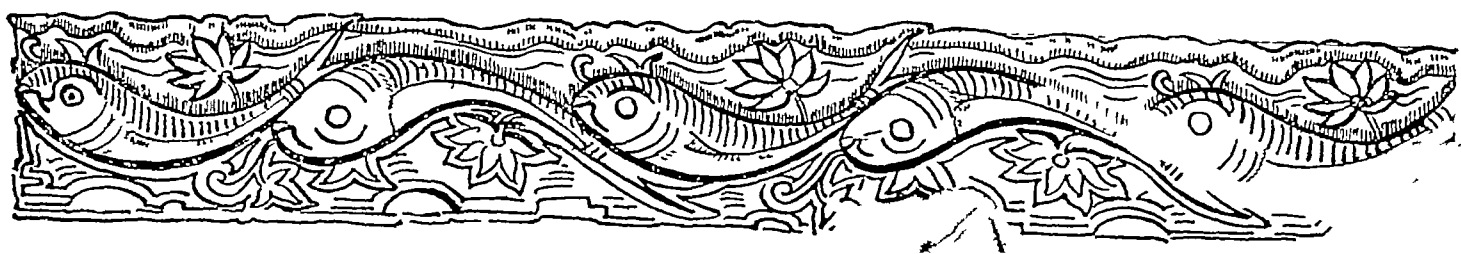
इसी सूक्त के अन्य मन्त्र में कहा है[1]—हे मरुतो तुम्हारी जो निर्मल औषधि है उस औषधि को हमारे पिता मनु (स्वयं भूपभनाथ) ने चुना था वही सुखकर और भयविनाशक औषधि हम चाहते हैं

विशुद्ध आत्म-तत्त्वज्ञान ही यह औषधि है जिसे प्राप्त कर रुद्रभक्त संसारजयी और सुखी होने की कामना करता है. प्रस्तुत सूक्त के तृतीय मन्त्र में उसकी जीवन-साधना देखिए वह प्रार्थना करता है[2]—

हे वज्रबाहु रुद्र तुम उत्पन्न हुए समस्त पदार्थों में सर्वाधिक सुशोभित हो सर्वश्रेष्ठ हो और समस्त बलशालियों में सर्वोत्तम बलशाली हो तुम मुझे पापों से मुक्त करो और ऐसी कृपा करो जिससे मैं संघर्षों तथा आक्रमणों से युद्ध करता हुआ विजयी रहूँ

एक सूक्त में रुद्र का सोम के साथ आह्वान किया गया है[3] और अन्यत्र सोम को वृषभ की उपाधि दी गई है[4] रुद्र को अनेक बार अग्नि कहा गया है[5] और एक स्थल पर उन्हें 'मेधापति' की उपाधि से भी विभूषित किया गया है[6] एक स्थान पर द्विबर्हा के रूप में भी उल्लेख किया गया है जिसका सायण ने अर्थ किया है— अर्थात् जो पृथ्वी तथा आकाश में परिवृद्ध हैं

ऋग्वेद के उत्तर भाग के एक सूक्त में कहा गया है कि रुद्र ने केशी के साथ विषपान किया इसी सूक्त के प्रथम मंत्र में कहा गया है कि केशी इस विष (जीवनस्रोत जल) को उसी प्रकार धारण करता है जिस प्रकार पृथ्वी और आकाश को[7] यद्यपि सायण ने केशी का अर्थ सूर्य किया है परन्तु केशी का शाब्दिक अर्थ जटाधारी होता है और इस सूक्त के दोसरे तथा बाद के मन्त्रों में केशी की तुलना उन मुनियों से की गई है जो अपनी प्राणोपासना द्वारा वायु की गति को रोक लेते हैं और मौनवृत्ति से उन्मत्तवत् (परमानन्द सहित) वायुभाव (अशरीरी वृत्ति) को प्राप्त होते हैं और सांसारिक मर्त्यजनों को जिनका केवल पार्थिव शरीर ही दिखलाई देता है[8]

अथर्ववेद में भी रुद्र का व्याधि-विनाश के लिए आह्वान किया गया है[9] कुछ मन्त्रों में रुद्र को सहस्राक्ष' भी कहा गया है[10] इसी वेद के पन्द्रहवें मण्डल में रुद्र का व्रात्य के साथ उल्लेख किया गया है और सूक्त के प्रारम्भ में ही कहा गया है कि 'व्रात्य महादेव बन गया व्रात्य ईशान बन गया है'[11] तथा यह भी लिखा है कि व्रात्य ने अपने पर्यटन में प्रजापति को शिक्षा और प्रेरणा दी[12]

सायण ने व्रात्य की व्याख्या करते हुए लिखा है

---

१ या वो भेषजा मरुतः शुचीनि या शन्तमा वृषणो या मयोभु
  यानि मनुरवृणीता पिता नस्ता शं च योश्च रुद्रस्य वश्मि —वही २ ३३ १३
२ श्रेष्ठो जातस्य रुद्र श्रियासि तवस्तमस्तवसां वज्रबाहो
  पर्षि णः पारमंहसः स्वस्ति विश्वा अभीती रपसो युयोधि—वही २ ३३ ३
३ ऋग्वेद ६ ७४
४ वही ६ ७३
५ वही १ ६१ ३ २
६ वही १ ४३ ४
७ वही १ १३४ ६
  ऋग्वेद १ १० १ १ ६४ [illegible]
८ ऋग्वेद १ १३६ ३
९ अथर्व ६ ४४ ३ ६ ५७ १ १ १ ६
१० वही ११ २
११ वही १५ १ ४ ५
१२ [illegible] अथर्व १५ १

कश्चिद्विद्वत्तम महाधिकार पुण्यशील विश्वसमान्य कर्मपरैर्ब्राह्मणैर्विद्विष्ट व्रात्यमनुलक्ष्य वचनमिति मन्तव्यम् अर्थात् वहाँ उस व्रात्य से मन्तव्य है, जो विद्वानो मे उत्तम, महाधिकारी, पुण्यशील और विश्वपूज्य है और जिससे कर्मकाण्डी ब्राह्मण विद्वेष करते है

इस प्रकार व्रतधारी एव सयमी होने के कारण ही इन्हे व्रात्य नही कहा जाता था, अपितु शतपथ ब्राह्मण के एक उल्लेख से प्रतीत होता है कि वृत्र (अर्थात् ज्ञान द्वारा सब ओर से घेर कर रहनेवाला सर्वज्ञ) को अपना इष्टदेव मानने के कारण भी यह जन व्रात्य के नाम से अभिहित किये जाते थे [1]

जर्मन विद्वान डाक्टर हौएर का मत है [2] कि यह व्रात्यो के योग और ध्यान का अभ्यास था जिसने आर्यो को आकर्षित किया, और वैदिक विचारधारा तथा धर्म पर अपना गहरा प्रभाव डाला है दूसरी ओर श्री एन० एन० घोष अपनी नवीन खोज के आधार पर इस निर्णय पर पहुँचे है [3] कि प्राचीन वैदिक काल मे व्रात्य जाति पूर्वी भारत मे एक महान् राजनीतिक शक्ति थी उस समय वैदिक आर्य एक नये देश मे अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिये लड रहे थे और उनको सैन्यबल की अत्यधिक आवश्यकता थी अत उन्होने बडी प्रसन्नता से व्रात्यो को अपने दल मे मिला लिया व्रात्यो को भी सभवत आर्यों के नैतिक और आध्यात्मिक गुणो ने आकृष्ट किया और वे आर्य जाति के अन्तर्गत होने के लिये तैयार हो गये और फिर इस प्रकार आर्यों मे मिल जाने पर उनकी सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित किया व्रात्य का निरन्तर पूर्व दिशा के साथ सम्बद्ध किया जाना, उसके अनुचरो मे 'पुश्चली' और "मागध" का उल्लेख होना (ये दोनो ही पूर्व देशवासी तथा आर्येतर जाति के है), आर्यो से पहले भी भारतवर्ष मे अतिविकसित और समृद्ध सभ्यताएँ होने के प्रमाणस्वरूप अधिकाधिक सामग्री का मिलना आदि तथ्य श्री एन० एन० घोष के निर्णय की ही पुष्टि करते है

वैदिक साहित्य के अनुशीलन से तथा लघु एशियाई पुरातत्त्व एव मोहनजोदडो तथा हडप्पा नगरो की खुदाई से प्राप्त सामग्री के आधार पर यह बात सुनिश्चित हो चुकी है कि वैदिक आर्यगण लघु एशिया तथा मध्य एशिया के देशो से होते हुए त्रेता युग के आदि मे लगभग ३००० ई० पूर्व मे इलावत और उत्तर पश्चिम के द्वार से पजाब मे आये थे उस समय पहले से ही द्राविड लोग गान्धार से विदेह तक तथा पाचाल से दक्षिण के मय देश तक अनेक जातियो मे विभक्त होकर विभिन्न जनपदो मे निवास कर रहे थे इनकी सभ्यता पूर्ण विकसित एव समुन्नत थी एव शिल्पकला इनके मुख्य व्यवसाय थे ये जहाजो द्वारा लघु एशिया तथा उत्तरपूर्वीय अफ्रीका के दूरवर्ती देशो के साथ व्यापार करते थे

ये द्राविड लोग सर्प-चिह्न का टोटका अधिक प्रयोग मे लाने के कारण नाग, अहि, सर्प, आदि नामो से विख्यात थे श्याम वर्ण होने के कारण 'कृष्ण' कहलाते थे अपनी अप्रतिम प्रतिभाशीलता तथा उच्च आचार-विचार के कारण ये अपने को दास व दस्यु (कान्तिमान) नामो से पुकारते थे व्रतधारी एव वृत्र का उपासक होने से व्रात्य तथा समस्त विद्याओ के जानकार होने से द्राविड नाम से प्रसिद्ध थे सस्कृत का विद्याधर शब्द 'द्रविड' शब्द का ही रूपान्तर है ये अपने इष्टदेव को अर्हन्, परमेष्ठी, जिन, शिव एव ईश्वर के नामो से अभिहित करते थे जीवनशुद्धि के लिये ये अहिंसा सयम एव तपोमार्ग के अनुगामी थे इनके साधु दिगम्बर होते थे और बडे-बडे बाल रखते थे अन्य लोग तपस्या एव श्रम के साथ साधना करके मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर लेते थे [4]

यजुर्वेद मे एक स्थल पर रुद्र का 'किवि' [5] (ध्वसक या हानिकर) के रूप मे उल्लेख किया गया है और अन्यत्र 'द्रौर्व्रात्य'

---

१ वृत्रो हवा इद मर्वं वृत्वा शिश्यो यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवीय यदिद सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्माद वृत्रो नाम "शतपथ ब्राह्मण ११, ३, ४

२ होएर दर व्रात्य (vratya)

३ एन०एन० घोष इण्डो आर्यन लिटरेचर एण्ड कल्चर (orgin) १९३४ ई०

४ "ये नातरन्भूतकृनोतिमृत्यु यमन्वविन्दन् तपसा श्रमेण "—अथर्ववेद ४, ३५

५ यजुर्वेद (वाजसनेयी सहिता) १०, २०

शब्द'[1] का प्रयोग किया गया है भाष्यकार महीधर ने जिसका अर्थ—'उच्च मास आचरण' किया है इसके अतिरिक्त उनके धनुष तथा तरकस को 'शिव' कहा गया है[२] उनसे प्रार्थना की गई है कि वह अपने भक्तों को मित्र के पथ पर ले चलें न कि भयकर समझे जाने वाले अपने पथ पर[३] भिषक रूप में उनका स्मरण किया है और मनुष्य तथा पशुओं के लिये स्वास्थ्यप्रद भेषज देने के लिये भी उनसे प्रार्थना की गई है[४] यहाँ रुद्र का 'पशुपति' रूप में भी उल्लेख मिलता है[५]

यजुर्वेद के 'त्र्यम्बक होम'[६] सूक्त में रुद्र के साथ एक स्त्री देवता अम्बिका' का भी उल्लेख किया गया है जो रुद्र की बहिन बतलाई गई है इन्हें 'कृत्तिवासा' कहा गया है और मृत्यु से मुक्ति तथा अमृतत्व की प्राप्ति के लिये प्रार्थना की गई है उनके विशेष वाहन मूषक का भी उल्लेख किया गया है तथा उन्हें यज्ञभाग देने के पश्चात् 'मूजवत' पर्वत से पार चले जाने का भी अनुरोध किया गया उपलब्ध होता है मूषक जैसे धरती के नीचे रहनेवाले जन्तु से उनका सम्बन्ध इस बात का द्योतक हो सकता है कि इस देवता को पर्वत-कन्दराओं में रहनेवाला माना जाता था तथा 'मूजवत' पर्वत से परे चले जाने का अनुरोध इस बात का व्यंजक हो सकता है कि इस देवता का वास भारतीय पर्वतों में माना जाता था 'कृत्तिवासा' उपाधि से प्रतीत होता है कि उनका अपना चर्म ही उसका वस्त्र था—अर्थात् वह दिगम्बर था

'शतरुद्रिय स्तोत्र'[७] में रुद्र की स्तुति में ६६ मंत्र हैं जो रुद्र के यजुर्वेदकालीन रूप के स्पष्ट परिचायक हैं रुद्र को यहाँ पहली बार 'शिव' 'शिवतर' तथा 'शंकर' आदि रूपों में उल्लिखित किया गया है 'गिरिशंत' 'गिरित्र' 'गिरिशा' 'गिरिचर' 'गिरिशय'—इन नवीन उपाधियों से भी उन्हें विभूषित किया गया है 'क्षेत्रपति' तथा 'वणिक' भी निर्दिष्ट किये गये हैं प्रस्तुत स्तोत्र के बीस से बाईस संख्या तक के मंत्रों में रुद्र के लिये कतिपय विचित्र उपाधियों का प्रयोग किया गया है जब तक रुद्र के माहात्म्य का गान करनेवाला स्तोता उन्हें इन उपाधियों से विभूषित करता है—स्तेनानां पति (चोरों का अधिराज) वंचक स्तायूनां पति (ठगों का सरदार) तस्कराणां पति मुष्णतां पति विकृन्तानां पति (गलकटों का सरदार) कुलुञ्चानां पति आदि इसके अतिरिक्त इसमें 'सभा' सभापति गण गणपति' आदि के रुद्र के उपासकों के उल्लेख के साथ व्रात 'व्रातपति' तक्षक रथकार, कुलाल कर्मकार, निषाद आदि का भी निर्देश किया गया है

ब्राह्मण ग्रन्थों के समय तक रुद्र का पद निश्चित रूप से अन्य देवताओं से ऊँचा हो गया था और वह 'महादेव' कहा जाने लगा था जैमिनीय ब्राह्मण में कहा गया है[८] कि देवताओं ने प्राणीमात्र के कर्मों का अवलोकन करने और धर्म के विरुद्ध आचरण करनेवाले का विनाश करने के उद्देश्य से रुद्र की सृष्टि की रुद्र का यह नैतिक उत्कर्ष ही था जिसके कारण उनका पद ऊँचा हुआ और जिसके कारण अन्त में रुद्र को परम परमेश्वर माना गया

श्वेताश्वतर उपनिषद् से स्पष्ट है कि ब्राह्मण ग्रन्थों के समय से रुद्र के पद में कितना उत्कर्ष हो चुका था इसमें उन्हें

---

१ वही : (वाजसनेयी संहिता) १६ १ तथा महीधर का भाष्य-तुर्य अवलनोपस्थनादि अन्न
२ वही (तैत्तिरीय संहिता) ४ ५ १
३ वही (तैत्तिरीय संहिता) १ ४
४ वही (तैत्तिरीय संहिता) १ १
५ वही (वाजसनेयी संहिता) १ १ १ १ १ ८ (तैत्तिरीय) १ १
६ यजुर्वेद (तैत्तिरीय संहिता) १ १ (वाजसनेयी) १ ५७, ६१
७ वही तैत्तिरीय संहिता) ४ ५ १
८ ब्राह्मण ३ १
९ जैमिनीय १ ६१ ६१

कश्चिद्विद्वत्तम महाधिकार पुण्यशील विश्वसमान्यं कर्मपरैर्ब्राह्मणैर्विद्विष्ट व्रात्यमनुलक्ष्य वचनमिति मन्तव्यम् अर्थात् वहाँ उस व्रात्य से मन्तव्य है, जो विद्वानो मे उत्तम, महाधिकारी, पुण्यशील और विश्वपूज्य है और जिससे कर्मकाण्डी ब्राह्मण विद्वेष करते है

इस प्रकार व्रतधारी एव सयमी होने के कारण ही इन्हे व्रात्य नही कहा जाता था, अपितु शतपथ ब्राह्मण के एक उल्लेख से प्रतीत होना है कि वृत्र (अर्थात् ज्ञान द्वारा सब ओर से घेर कर रहनेवाला सर्वज्ञ) को अपना इष्टदेव मानने के कारण भी यह जन व्रात्य के नाम से अभिहित किये जाते थे[1]

जर्मन विद्वान डाक्टर हौएर का मत है[2] कि यह व्रात्यो के योग और ध्यान का अभ्यास था जिसने आर्यो को आकर्षित किया, और वैदिक विचारधारा तथा धर्म पर अपना गहरा प्रभाव डाला है दूसरी ओर श्री एन० एन० घोप अपनी नवीन खोज के आधार पर इस निर्णय पर पहुँचे हैं[3] कि प्राचीन वैदिक काल मे व्रात्य जाति पूर्वी भारत मे एक महान् राजनीतिक शक्ति थी उस समय वैदिक आर्य एक नये देश मे अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिये लड रहे थे और उनको सैन्यबल की अत्यधिक आवश्यकता थी अत उन्होने बडी प्रसन्नता से व्रात्यो को अपने दल मे मिला लिया व्रात्यो को भी सभवत आर्यो के नैतिक और आध्यात्मिक गुणो ने आकृष्ट किया और वे आर्य जाति के अन्तर्गत होने के लिये तैयार हो गये और फिर इस प्रकार आर्यो से मिल जाने पर उनकी सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित किया व्रात्य का निरन्तर पूर्व दिशा के साथ सम्बद्ध किया जाना, उसके अनुचरो मे 'पुश्चली' और "मागध" का उल्लेख होना (ये दोनो ही पूर्व देशवासी तथा आर्येतर जाति के हैं), आर्यो से पहले भी भारतवर्ष मे अतिविकसित और समृद्ध सभ्यताएँ होने के प्रमाणस्वरूप अधिकाधिक सामग्री का मिलना आदि तथ्य श्री एन० एन० घोप के निर्णय की ही पुष्टि करते है

वैदिक साहित्य के अनुशीलन से तथा लघु एशियाई पुरातत्त्व एव मोहनजोदडो तथा हडप्पा नगरो की खुदाई से प्राप्त सामग्री के आधार पर यह बात सुनिश्चित हो चुकी है कि वैदिक आर्यगण लघु एशिया तथा मध्य एशिया के देशो से होते हुए त्रेता युग के आदि मे लगभग ३००० ई० पूर्व मे इलावत और उत्तर पश्चिम के द्वार से पजाब मे आये थे उस समय पहले से ही द्राविड लोग गान्धार से विदेह तक तथा पाचाल से दक्षिण के मय देश तक अनेक जातियो मे विभक्त होकर विभिन्न जनपदो मे निवास कर रहे थे इनकी सभ्यता पूर्ण विकसित एव समुन्नत थी एव शिल्पकला इनके मुख्य व्यवसाय थे ये जहाजो द्वारा लघु एशिया तथा उत्तरपूर्वीय अफ्रीका के दूरवर्ती देशो के साथ व्यापार करते थे

ये द्राविड लोग सर्प-चिह्न का टोटका अधिक प्रयोग मे लाने के कारण नाग, अहि, सर्प, आदि नामो से विख्यात थे श्याम वर्ण होने के कारण 'कृष्ण' कहलाते थे अपनी अप्रतिम प्रतिभाशीनता तथा उच्च आचार-विचार के कारण ये अपने को दास व दस्यु (कान्तिमान) नामो से पुकारते थे व्रतधारी एव वृत्र का उपासक होने से व्रात्य तथा समस्त विद्याओ के जानकार होने से द्राविड नाम से प्रसिद्ध थे सस्कृत का विद्याधर शब्द 'द्रविड' शब्द का ही रूपान्तर है ये अपने इष्टदेव को अर्हन्, परमेष्ठी, जिन, शिव एव ईश्वर के नामो से अभिहित करते थे जीवनशुद्धि के लिये ये अहिंसा सयम एव तपोमार्ग के अनुगामी थे इनके साधु दिगम्बर होते थे और बडे-बडे बाल रखते थे अन्य लोग तपस्या एव श्रम के साथ साधना करके मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर लेते थे[4]

यजुर्वेद मे एक स्थल पर रुद्र का 'किवि'[5] (ध्वसक या हानिकर) के रूप मे उल्लेख किया गया है और अन्यत्र 'द्रौव्रात्य'

---

१ वृत्रो ह्वा इद सर्वं वृत्वा शिश्यो यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवीय यदिद सर्वं वृत्वा शिश्ये तस्माद वृत्रो नाम "शपतथ ब्राह्मण ११, ३, ४

२ होएर दर व्रात्य (vratya)

३ एन०एन० घोप इण्डो आर्यन लिटेरेचर एण्ड कल्चर (orgin) १६३४ ई०

४ "ये नातरन्भूतक्नोतिमृत्यु यमन्वविन्दन् तपसा श्रमेण "—अथर्ववेद ४, ३५

५ यजुर्वेद (वाजसनेयी सहिता) १०, २०
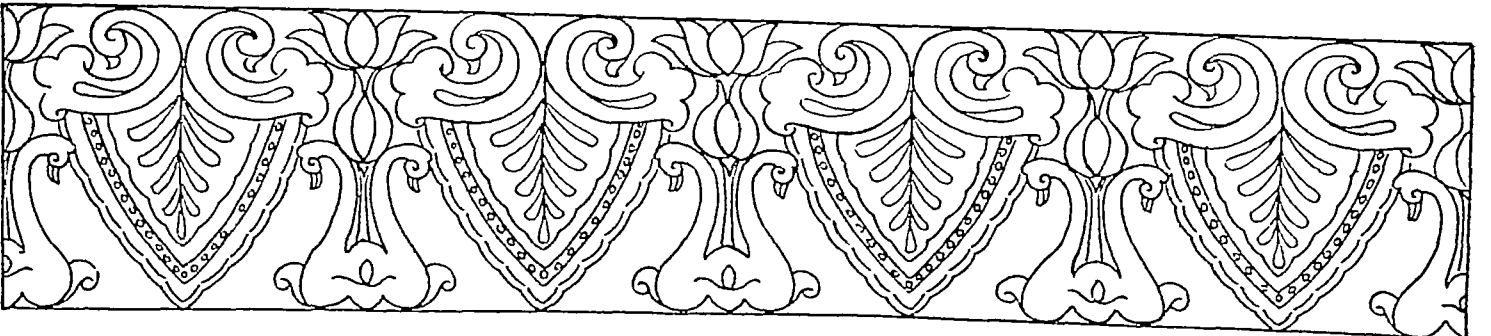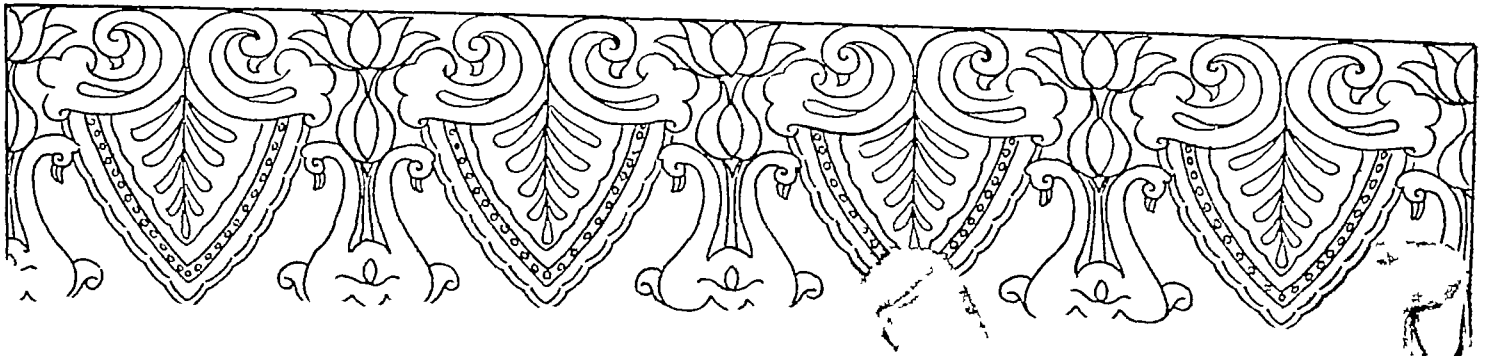
शब्द' का प्रयोग किया गया है भाष्यकार महीधर ने जिसका अर्थ—'उच्छ्रंखल आचरण' किया है इसके अतिरिक्त उनके धनुष तथा तरकस को 'शिव' कहा गया है[१] उनसे प्रार्थना की गई है कि वह अपने भक्तों का मित्र के पथ पर से चलें न कि भयंकर समझे जाने वाले अपने पथ पर[२] भिषज रूप में उनका स्मरण किया है और मनुष्य तथा पशुओं के लिये स्वास्थ्यप्रद भेषज देने के लिये भी उनसे प्रार्थना की गई है[३] यहाँ रुद्र का 'पशुपति' रूप में भी उल्लेख मिलता है.[४]

यजुर्वेद के 'त्र्यम्बक होम'[५] सूक्त में रुद्र के साथ एक स्त्री देवता 'अम्बिका' का भी उल्लेख किया गया है जो रुद्र की बहिन बतलाई गई है इन्हें कृत्तिवासा कहा गया है और मृत्यु से मुक्ति तथा अमृतत्व की प्राप्ति के लिये प्रार्थना की गई है उनके विशेष वाहन मूषक का भी उल्लेख किया गया है तथा उन्हें यज्ञभाग देने के पश्चात् 'मूजवत' पर्वत से पार चले जाने का भी अनुरोध किया गया उपलब्ध होता है मूषक जैसे धरती के नीचे रहनेवाले जन्तु से उनका सम्बन्ध इस बात का द्योतक हो सकता है कि इस देवता को पर्वत-कन्दराओं में रहनेवाला माना जाता था तथा 'मूजवत' पर्वत से परे चले जाने का अनुरोध इस बात का व्यंजक हो सकता है कि इस देवता का वास भारतीय पर्वतों में माना जाता था 'कृत्तिवासा' उपाधि से प्रतीत होता है कि उनका अपना चर्म ही उसका वस्त्र था—अर्थात् वह दिगम्बर था

'शतरुद्रिय स्तोत्र'[६] में रुद्र की स्तुति में ६६ मन्त्र हैं जो रुद्र के यजुर्वेदकालीन रूप के स्पष्ट परिचायक हैं रुद्र को यहां पहली बार 'शिव' 'शिवतर' तथा 'शंकर' आदि रूपों में उल्लिखित किया गया है 'गिरिशंत' 'गिरित्र' 'गिरिशा' 'गिरिचर' 'गिरिशय'—इन नवीन उपाधियों से भी उन्हें विभूषित किया गया है 'क्षेत्रपति' तथा 'वणिक' भी निर्दिष्ट किये गये हैं प्रस्तुत स्तोत्र के बीस से बाईस संख्या तक के मन्त्रों में रुद्र के लिये कतिपय विचित्र उपाधियों का प्रयोग किया गया है अब तक रुद्र के माहात्म्य का गान करनेवाला स्तोता उन्हें इन उपाधियों से विभूषित करता है—स्तेनानां पति (चोरों का अधिराज) वंचक स्तायूनां पति [ठगों का सरदार) तस्कराणां पति मुष्णतां पति विकृन्तानां पति (गलकटों का सरदार) कुलुंचानां पति आदि इसके अतिरिक्त इनमें सभा सभापति गण' गणपति' आदि के रुद्र के उपासकों के उल्लेख के साथ 'व्रात 'व्रातपति' तक्षक रथकार, कुलाल कर्मकार, निषाद आदि का भी निर्देश किया गया है

ब्राह्मण ग्रंथों के समय तक रुद्र का पद निश्चित रूप से अन्य देवताओं से ऊँचा हो गया था और वह महादेव कहा जाने लगा था[७] जैमिनीय ब्राह्मण में कहा गया है[८] कि देवताओं ने प्राणीमात्र के कर्मों का अवलोकन करने और धर्म के विरुद्ध आचरण करनेवाले का विनाश करने के उद्देश्य से रुद्र की सृष्टि की रुद्र का यह नैतिक उत्कर्ष ही था जिसके कारण उनका पद ऊँचा हुआ और जिनके कारण अन्त में रुद्र को परम परमेश्वर माना गया

श्वेताश्वतर उपनिषद् से स्पष्ट है कि ब्राह्मण ग्रन्थों के समय से रुद्र के पद में कितना उत्कर्ष हो चुका था इसमें उन्हें

---

१ वही (वाजसनेयी संहिता) १६ ६, तथा महीधर का भाष्य-कुर्वन् उज्जनोष्मणनादि क्रमम्
२ वही (तैत्तिरीय संहिता) ४ ५, १
३ वही (तैत्तिरीय संहिता) १ ४
४ वही : (तैत्तिरीय संहिता) १ ६
५ वही (वाजसनेयी संहिता) ३ १ ६ १ ६ ८ (तैत्तिरीय) १ ८ ६
६ यजुर्वेद : (तैत्तिरीय संहिता) ४ ८ १ (वाजसनेयी) १, ५७, ६१
७. वही (तैत्तिरीय संहिता) ४ ५ १
८ कौषीतकी १ १
९ जैमिनीय १ ६१ ६१

सामान्यत ईश, महेश्वर, शिव और ईशान कहा गया है[1] वह मोक्षाभिलापी योगियो के ध्यान के विषय है और उनको एक स्रष्टा, ब्रह्म और परमात्मा माना गया है[2] इस काल मे वह केवल जन सामान्य के ही देवता नही थे अपितु आर्यो के सबसे प्रगतिशील वर्गो के आराध्य देव भी बन चुके थे इस रूप मे उनका सम्बन्ध, दार्शनिक विचारधारा और योगाभ्यास के साथ हो गया था, जिसको उपनिषद् के ऋषियो ने आध्यात्मिक उन्नति का एक मात्र साधन माना था अपर वैदिक काल मे योगी, चिन्तक और शिक्षक के रूप मे जो शिव की कल्पना की गई है, वह भी इसी सम्बन्ध के कारण थी श्वेताश्वतर उपनिषद् मे रुद्र को ईश, शिव और पुरुष कहा गया है लिखा है कि प्रकृति, पुरुष अथवा परब्रह्म की शक्ति है, जिसके द्वारा वह विविध रूप विश्व की सृष्टि करता है[3] पुरुष स्वय स्रष्टा नही, अपितु एक बार प्रकृति को क्रियाशील बनाकर वह अलग हो जाता है और केवल प्रेक्षक के रूप मे काम करता है[4] इससे ज्ञात होता है कि इस समय तक रुद्र उन लोगो के आराध्य देव बन गये थे जो साख्य विचार-धारा का विकास कर रहे थे प्रश्नोपनिषद् मे रुद्र को परिरक्षिता कहा गया है और प्रजापति से उसका तादात्म्य प्रकट किया गया है[5] मैत्रायणी उपनिषद् मे रुद्र की 'शम्भु' [अर्थात् शान्तिदाता] उपाधि का पहली बार उल्लेख हुआ[6]

श्रौत-सूत्रो मे रुद्र की उपासना का वही स्वरूप उपलब्ध होता है जैसा ब्राह्मण ग्रथो मे यहाँ रुद्र का रूप केवल एक देवता का है और उनके रुद्र, भव, शर्व आदि अनेक नामो का उल्लेख है[7] महादेव, पशुपति, भूतपति आदि उपाधियो से भी विभूषित किया गया है[8] रुद्र से मनुष्यो और पशुओ की रक्षा के लिये प्रार्थना की गई है[9] उन्हे रोगनाशक औषधियो का दाता[10] और व्याधिनिवारक[11] कहा गया है गृह्य सूत्रो मे रुद्र की समस्त वैदिक उपाधियो का उल्लेख मिलता है,[12] यद्यपि इनके 'शिव' और शकर ये नवीन नाम अधिक प्रचलित होते जा रहे है[13] यहाँ उन्हे श्मशानो, पुण्यतीर्थो एव चौराहो जैसे स्थलो मे एकान्त विहारी के रूप मे चित्रित किया गया है[14]

सिन्धु घाटी के निवासियो का वैदिक आर्यों के साथ समिश्रण हो जाने पर रुद्र ने सिन्धु घाटी के पुरुष देवता को आत्मसात् कर लिया इसके फलस्वरूप सिन्धु घाटी की स्त्री देवता का रुद्र की पूर्वसहचरी अम्बिका के साथ तादात्म्य हो गया और उसे रुद्रपत्नी माना जाने लगा इस प्रकार भारतवर्ष मे देवी की उपासना आई और शक्तिमत का सूत्रपात हुआ इसके अतिरिक्त जननेन्द्रिय सम्बन्धी प्रतीको की उपासना, जो सिन्धुघाटी के देवताओ की उपासना का एक अग थी का भी रुद्र की उपासना मे समावेश हो गया इसके अतिरिक्त 'लिंग' रुद्र का एक विशिष्ट प्रतीक माना जाने लगा और इसी कारण उसकी उपासना भी प्रारम्भ हो गई परन्तु धीरे-धीरे लोग यह भूल गये कि प्रारम्भ मे यह एक जननेन्द्रिय सम्बन्धी प्रतीक था इस प्रकार भारत मे लिंगोपासना का प्रादुर्भाव हुआ, जो शैव-

---

१ श्वेताश्वतर उपनिषद् ३-११-४-१०-४, ११, ५, १६
२ वही ३, २४, ३, ७, ४, १०-२४
३ श्वेताश्वतर उपनिषद् ४, १
४ वही ४, ५
५ प्रश्नोपनिषद् २, ६
६ मैत्रायणी उपनिषद् १५, ८
७ शाखायन श्रौतसूत्र ४, १६, १
८ वही ४, २०, १४
९ वही ४, २०, १ आश्वलायन ३, ११, १
१० लाखायन श्रौतसूत्र ५, ३, २
११ शाखायन श्रौतसूत्र ३, ४, ८
१२ आश्वलायन गृह्यसूत्र ४, १०
१३ वही २, १, २
१४ मानवगृह्यसूत्र २, १३, ६, १४

सने का उल्लेख है।[1] प्रभासपुराण में भी ऐसा ही उल्लेख उपलब्ध होता है।[2]

विमलसूरि के 'पउमचरिउ' के मंगलाचरण के प्रसंग में एक 'जिनेन्द्र रुद्राष्टक' का उल्लेख हुआ है। यद्यपि इसे अष्टक कहा गया है परन्तु पद्य सात ही हैं। इसमें जिनेन्द्र भगवान् का रुद्र के रूप में स्तवन किया गया है। बताया गया है कि जिनेन्द्र रुद्र पाप रूपी अन्धकासुर के विनाशक हैं, काम, लोभ एवं मोहरूपी त्रिपुर के दाहक हैं, उनका शरीर तप रूपी भस्म से विभूषित है, संयमरूपी वृषभ पर वह आरूढ़ हैं, संसाररूपी करी (हाथी) को विदीर्ण करने वाले हैं, निर्मल बुद्धिरूपी चन्द्ररेखा से अलंकृत हैं, शुद्धभावरूपी कपाल से सम्पन्न हैं, व्रतरूपी स्थिर पर्वत (कैलाश) पर निवास करने वाले हैं, गुण-गण रूपी मानव-मुण्डों के मालाधारी हैं, दश धर्मरूपी खट्वांग से युक्त हैं, तप कीर्ति रूपी गौरी से मण्डित हैं, सात भय रूपी उद्दाम डमरू को बजानेवाले हैं अर्थात् वह सर्वथा भीतिरहित हैं, मनोगुप्ति रूपी सर्प परिकर से वेष्टित हैं, निरन्तर सत्यवाणी रूपी विकट जटा-कलाप से मण्डित हैं तथा हुंकारमात्र से भय का विनाश करने वाले हैं।[3]

आचार्य वीरसेन स्वामी ने धवला टीका में अर्हन्तों का पौराणिक शिव के रूप में उल्लेख किया है और कहा है कि अर्हन्त परमेष्ठी वे हैं जिन्होंने मोह रूपी वृक्ष को जला दिया है, जो विशाल अज्ञान रूपी पारावार से उत्तीर्ण हो चुके हैं, जिन्होंने विघ्नों के समूह को नष्ट कर दिया है, जो सम्पूर्ण बाधाओं से निर्मुक्त हैं, जो अचल हैं, जिन्होंने कामदेव के प्रभाव को दलित कर दिया है, जिन्होंने त्रिपुर अर्थात् मोह, राग, द्वेष को अच्छी तरह से भस्म कर दिया है, जो दिगम्बर मुनिव्रती अथवा मुनियों के पति अर्थात् ईश्वर हैं, जिन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र रूपी त्रिशूल को धारण करके मोह रूपी अन्धकासुर के कबन्ध-वृन्द का हरण कर लिया है तथा जिन्होंने सम्पूर्ण आत्मरूप को प्राप्त कर लिया है और दुर्नय का अन्त कर दिया है।[4]

पउमचरिउ में उल्लिखित 'रुद्राष्टक' इस तथ्य का द्योतक है कि इस रचना के समय तक वैदिककालीन रुद्र ने कापालिक एवं पौराणिक युग के लोकप्रचलित स्वरूप को अंगीकार कर लिया था जिसका जैन परम्परानुरूपी समन्वय उक्त 'अष्टक' के रचयिता ने अपनी रचना में करके अपनी परम्परागत रुद्रभक्ति का परिचय दिया। वीरसेन स्वामी द्वारा अर्हन्तों का पौराणिक शिव के रूप में किया गया चित्रण भी इसी तथ्य की ओर इंगित करता है।

स्वयं महाकवि पुष्पदन्त ने भी अपने महापुराण में एक स्थल पर भगवान् ऋषभदेव के लिये रुद्र की ब्रह्मा-विष्णु-महेश रूपी त्रिमूर्ति से सम्बन्धित अनेक विशेषणों का प्रयोग किया है। भगवान् का यह एक संस्तवन है जिसे उनके केवल ज्ञान

---

1. [illegible]
[illegible] —शिवपुराण ४ ४७-४८
[illegible] —प्रभासपुराण ४९

3. [illegible] जिणेन्द्रुद्द सदा कुणे ॥१॥
[illegible] जिणेन्द्रुद्द सदा कुणे ॥२॥
[illegible] जिणेन्द्रुद्द सदा कुणे ॥३॥
[illegible] जिणेन्द्रुद्द सदा कुणे ॥४॥
[illegible] जिणेन्द्रुद्द सदा कुणे ॥५॥
[illegible] जिणेन्द्रुद्द सदा कुणे ॥६॥
[illegible] ॥७॥

4. [illegible]
[illegible]
[illegible]
—धवला टीका—[illegible]

आकृति के सर्वथा विपरीत एव भयावह है वह हाथ मे कपाल लिये हैं[1] और लोकवर्जित श्मशान प्रदेश उनका प्रिय आवास है, जहा वह राक्षसो, वेतालो, पिशाचो और इसी प्रकार के अन्य जीवो के साथ विहार करते हैं[2] उनके गण को 'नक्तचर' तथा 'पिशिताशन' कहा गया है[3] एक स्थल पर स्वय शिव को मास भक्षण करते हुए तथा रक्त एव मज्जा का पान करते हुए उल्लिखित किया गया है[4]

अश्वघोष के बुद्धचरित मे शिव का 'वृषध्वज' तथा 'भव' के रूप मे उल्लेख हुआ है,[5] भारतीय नाट्यशास्त्र मे शिव को 'परमेश्वर' कहा गया है[6] उनकी 'त्रिनेत्र' 'वृषाक' तथा 'नटराज' उपाधियो की चर्चा है[7] वह नृत्यकला के महान् आचार्य हैं और उन्होने ही नाट्यकला को 'ताण्डव' दिया वह इस समय तक महान् योगाचार्य के रूप मे ख्यात हो चुके थे तथा इसमे कहा गया है कि उन्होने ही 'भरत-पुत्रो' को सिद्धि सिखाई[8] अन्त मे शिव के त्रिपुर-ध्वस का भी उल्लेख किया गया है और बताया गया है कि ब्रह्मा के आदेश से भरत ने 'त्रिपुरदाह' नामक एक 'डिम' (रूपक का एक प्रकार) भी रचा था और भगवान् शिव के समक्ष उसका अभिनय हुआ था[9]

पुराणो मे शिव का पद बडा ही महत्त्वपूर्ण हो गया है यहाँ वह दार्शनिको के ब्रह्म है, आत्मा है, असीम है और शाश्वत है[10] वह एक आदि पुरुष हैं परम सत्य हैं तथा उपनिषदो एव वेदान्त मे उनकी ही महिमा का गान किया गया है[11] बुद्धिमान् और मोक्षाभिलाषी इन्ही का ध्यान करते हैं[12] वह सर्वज्ञ हैं, विश्वव्यापी हैं, चराचर के स्वामी हैं तथा समस्त प्राणियो मे आत्मरूप से बसते है[13] वह एक स्वयभू हैं तथा विश्व का सृजन, पालन एव सहार करने के कारण तीन रूप धारण करते हैं[14] उन्हे 'महायोगी',[15] तथा योगविद्या का प्रमुख आचार्य माना जाता है[16] सौर[17]तथा वायु पुराण[18] मे शिव की एक विशेष योगिक उपासना विधि का नाम माहेश्वर योग है इन्हे इस रूप मे 'यती',[19] 'आत्म-सयमी' 'ब्रह्मचारी'[20] तथा 'ऊर्ध्वरेता'[21] भी कहा गया है शिवपुराण मे शिव का आदि तीर्थंकर वृषभदेव के रूप मे अवतार

---

१ वनपर्व वही १८८, ५० आदि
२ वही वनपर्व ८३, ३
३ द्रोण पर्व ५०, ४९
४ वही, अनुशासन पर्व, १५१, ७
५ बुद्धचरित १०, ३, १, ९३
६ नाट्यशास्त्र १, १
७ वही १, ४५, २४, ५, १०
८ वही १, ६०, ६५
९ वही ४, ५, १०
१० लिंग पुराण, भाग २, २१, ४९, वायुपुराण ५५, ३
११ सौरपुराण २९, ३१, ब्रह्मपुराण १२३, १९६
१२ वही २, ८३, ब्रह्मपुराण ११०, १००
१३ वायु पुराण ३०, २८३, ८४
१४ वही ६६, १०८, लिग पुराण भाग १, ११
१५ वही २४, १५६ इत्यादि
१६ ब्रह्मवैवर्तपुराण भाग १, ३, २०, ६, ४
१७ सौर पुराण अध्याय १२
१८. वायु पुराण अध्याय १०
१९ मत्स्यपुराण ४७, १३८,
२० वही, ४७, १३८, २६, वायु
२१ मत्स्यपुराण १३६, ५, मे

हो वैकुण्ठवासी विष्णु हो दामोदर हो तथा परवादियों की वासना को नष्ट करने वाले हो

महाकवि पुष्पदन्त के उल्लिखित सस्तवन के अध्ययन से प्रतीत होता है कि भगवान् ऋषभदेव के रूप में ही शिव के त्रिमूर्तिरूप तथा बुद्ध रूप को भी समन्वित कर लिया गया है यद्यपि समन्वय क्रिया पुष्पदन्त द्वारा जैनदृष्टि को सम्मुख रख कर की गई है परन्तु प्रतीत होता है कि तत्कालीन लोकप्रचलित शिव के एकेश्वरत्व ने भी प्रकारान्तर से उनके मस्तिष्क पर अवश्य प्रभाव डाला है पुष्पदन्त का युग जैनधर्म के उत्कर्ष तथा धार्मिक सहिष्णुता का युग था खजुराहो[1] के १ ईस्वी के शिलालेख नम्बर पाँच में शिव का एकेश्वर रूप में तथा 'विष्णु' 'बुद्ध' और 'जिन' का उन्हीं के अवतारों के रूप में उल्लेख किया जाना इसी तथ्य को पुष्ट करता है यद्यपि इससे पूर्व पौराणिक काल में धार्मिक संघर्ष ने उग्ररूप धारण किया और चार्वाक कौल तथा कापालिकों के साथ बौद्ध और जैनों को भी विधर्मी माना गया[2]

वृषभ तथा शिव-ऐक्य के अन्य साक्ष्य

कतिपय अन्य लोकमान्य साक्ष्य भी वृषभ तथा शिव—दोनों के ऐक्य के समर्थक हैं जो निम्न प्रकार हैं

शिव रात्रि तथा कैलाश

वैदिक मान्यता के अनुसार शिव कैलाशवासी हैं और उनसे सम्बन्धित शिवरात्रि पर्व का बड़ा महत्त्व है

जैन परम्परा के अनुसार भगवान् ऋषभदेव ने सर्वज्ञ होने के पश्चात् आर्यावर्त के समस्त देशों में विहार किया भव्य जीवों को धार्मिक देशना दी और आयु के अन्त में अष्टापद (कैलाश पर्वत) पहुँचे वहाँ पहुँच कर योगनिरोध किया और शेष कर्मों का क्षय करके माघ कृष्णा चतुर्दशी के दिन अक्षय शिवगति (मोक्ष) प्राप्त की[3]

भगवान् ऋषभदेव ने अष्टापद (कैलाश) से जिस दिन शिव-गति प्राप्त की उस दिन समस्त साधु-संघ ने दिन को उपवास तथा रात्रि को जागरण करके शिव-गति प्राप्त भगवान् की आराधना की जिसके फलस्वरूप यह तिथि रात्रि 'शिवरात्रि' के नाम से प्रसिद्ध हुई

उत्तरप्रान्तीय जैनेतर वर्ग में प्रस्तुत शिवरात्रि पर्व फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी को माना जाता है उत्तर तथा दक्षिण देशीय पंचांगों में मौलिक भेद ही इसका मूल कारण है उत्तरप्रान्त में मास का आरंभ कृष्ण-पक्ष से माना जाता है और दक्षिण में शुक्ल-पक्ष से प्राचीन मान्यता भी यही है जैनेतर साहित्य में चतुर्दशी के दिन ही शिवरात्रि का उल्लेख मिलता है ईशान[4] संहिता में लिखा है

> माघे कृष्णचतुर्दश्यामादिदेवो महानिशि ।
> शिवलिंगतयोद्भूतः कोटिसूर्यसमप्रभः ।
> तत्कालव्यापिनी ग्राह्या शिवरात्रिव्रते तिथिः ।

प्रस्तुत उद्धरण में यहाँ इस तथ्य का संकेत है कि माघकृष्णा चतुर्दशी को ही शिवरात्रि मान्य किया जाना चाहिए, वहाँ उसकी मान्यतामूलक ऐतिहासिक कारण का भी निर्देश है कि उक्त तिथि की महानिशा में कोटि सूर्य प्रभोपम भगवान्

---

१ एपिग्राफिका इंडिका भाग १ पृष्ठ सं० १४८

२ सौरपुराण ३८ ५४

३ 'माघस्स किण्हि चोद्दसि पुव्वण्हे णियय जम्मणक्खत्ते

(क) अट्ठावयम्मि उसहो अजुदेण समं गओज्जोमि । —तिलोयपण्णत्ती ।

(ख) — चउदसिदिवसम्मि माघमासम्मि ।

भुवणाणिकमलमत्तंडमीरि सिवगइ लिम्बाडि पुरिसमाडि ।—महापुराण ३७ ३

४ ईशान संहिता

होने के पश्चात् सौधर्म तथा ईशान इन्द्र ने प्रस्तुत किया है स्तवन मे भगवान् की जय मनाते हुए कहा गया है[1] कि वह दुर्मथ कामदेव का मन्थन करनेवाले हैं, दोष-रोष रूपी मास के लिये अग्नि के समान है, सम्पूर्ण विशुद्ध केवलज्ञान के आवास है, और मिथ्यामार्ग से सन्मार्ग प्राप्ति के विधारक हैं वह[2] ककाल, त्रिसूल, मनुष्य-कपाल, विषधर तथा स्त्री से रहित है, शान्त हैं, शिव है, अहिंसक हैं, राजन्यवर्ग उनके चरणो की पूजा करता है, परोपकारी है, भीति दूर करने-वाले हैं, परन्तु अपने अन्तरग रिपुवर्ग के लिये भयकर है, वामाविमुक्त [स्त्री रहित] है, परन्तु स्वय ससार के लिये वाम [प्रतिकूल] है, त्रिपुरहारी [जन्म जरा मृत्यु] अथवा मिथ्यादर्शन, ज्ञान चारित्र रूपी त्रिपुर के विनाशक है, हर हैं, धैर्यशाली हैं, निर्मल स्वय वुद्ध रूप से सम्पन्न है, स्वयभू है, सर्वज्ञ है, सुख तथा शान्तिकारी शकर हैं, चन्द्रधर है, सूर्य हैं, रुद्र हैं, उग्र तपस्वियो मे अग्रगामी है, ससार के स्वामी है, तथा उसे उपशान्त करने वाले हैं, महादेव है, महान् गुणगणो से यशस्वी हैं, महाकाल हैं, प्रलयकाल के लिये उग्रकाल हैं, गणेश [गणधरो के स्वामी] हैं, गणपतियो [वृषभसेन आदि गणधरो] के जनक है, ब्रह्म है, ब्रह्मचारी है, वेदागवादी [सिद्धान्तवादी] है, कमलयोनि है, पृथ्वी का उद्धार करने वाले आदिवराह है, सुवर्णवृष्टि के साथ गर्भ मे अवतीर्ण हुए है, दुर्भय के निवारक हैं, हिरण्यगर्भ हैं, [युगसृष्टा हैं] परमानन्तचतुष्टय [अनन्त-दर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख तथा अनन्तवीर्य] से सुशोभित है, अज्ञानान्धकार-हारी हैं, दिवसनाथ हैं, यज्ञपुरुष है, पशुयज्ञ के विनाशक है, ऋषि सम्मत अहिंसाधर्म के प्रकाशक है,[3] माधव (अन्तरगबहिरग लक्ष्मी के स्वामी) है, त्रिभुवन के माधवेश है, मद्यरूपी मधु को दूषित करने वाले मधुसूदन है, लोकदृष्टा परमात्मा हैं, गोवर्द्धन (ज्ञानवर्धक) हैं, केशव हैं और परमहस हैं इन्द्र कहते हैं—भगवान् को ससार मे केशव कहा जाता है जो रागी हो [य केशेषु रागवान् स 'केशव'[4] जो केशो मे अनुरागी हो उसे केशव कहते है], परन्तु तुम तो वीतरागी हो, अत तुम्हारे अन्दर वह केशवत्व कैसे आ सकता है ? 'केशव'[5] के अन्य प्रश्नमूलक शाब्दिक तात्पर्य को लेकर इन्द्र कहते हैं—भगवन्, वास्तव मे वे ही जड हैं जो तुम्हारा उपहास करते हैं और ऐसे जन का नरक-वास ही निश्चित है भगवन्, तुम काश्यप हो, जड-आचार से विहीन हो, एकाग्रचिन्तानिरोधपूर्वक ध्यानी हो, आकाश, अग्नि, चन्द्र, सूर्य, यजमान, पृथ्वी, पवन, सलिल—इन आठ शरीरो से युक्त महेश्वर हो, परमौदारिक शरीर से युक्त हो कलिकाल के समस्त पाप-पक से मुक्त[6] हो, सिद्ध हो, बुद्ध हो, शुद्धोदनि हो, सुगत हो, कुमार्गनाशक

---

१ जय दुम्महवम्महणिम्महण दोस-रोस पशु-पाम सिहि, जय सयलविमलकेवलणिलय हरण-करण-उद्धरणविहि ।

२ जय वक्कालसूलणरकदलविसहरविलयविरहिया, जय भगवत सत सिव सकिव णिवचियचरण परहिया ।
जय सुरुइ कहियणीसेसणाम भीमयण णियरिउवग्गभीम, वामाविमुक्क ससारवाम जय तिउरहारि हरहीरथाम ।
जय पयडियधुससयभुभाव जयजय मयभू परिगणिय भाव, जय सकर सकर विहियसति जय ससहर कुवलयदिण्णकति ।
जय रुद्द रउद्दतवग्गगामि जय जय भवमामि भवोवसामि, महण्व महागुणगणजमाल महकाल पलयकालुग्गकाल ।
जय जय गणेम गणवइजणेर जय वमपसाहिय वभचेर, वेयगवाइ जय कमलजोणि आई वराह उद्धरियखोणि ।
सहिरण्णविट्ठि पडिवण्णगब्भ जय दुण्णयणिहण हिरण्णगब्भ, जय परमाणेत चउक्कसोह भावधसारहर दिवमणाह ।
जय जण्णपुरिस पसुजण्णणासि रिसिसस अहिंसाधम्मभासि ॥

३ 'जय माहव तिहुवणमाहवेस महुसूयण दूसियमहुविसेस जय लोयणिओइय परमहस गोवद्धण केसव परमहस ।
जगि सो केसउ जो रायवत तुह णीरायहु, कहिं केसवत्तु —'महापुराण' १०, ५

४ देखिये, महापुराण १०, ५ को टिप्पणी

५ के सव ते सव जे पइ हसति जड पावपिंड रउरवि वसति, जय वासव का सवविहि तुमम्मि णेरतरू चिन्ति णिरोहु जम्मि ।
जय गयण हुयासणचद रवि जीवय महि मारुय सलिल, अट्ठगमहेसर जय सयल पक्खालिय कलिमलकलिल ॥—'महापुराण' १०, ५
तुलना कीजिये
या सृष्टि सृष्टराद्या वहति विधिहुत या हविर्या च होत्री ये द्वे सन्ध्ये विधत्त श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्व ।
यामाहु 'सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिन प्राणवन्त , प्रत्यक्षाभि 'प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीश ' ।
—अभिज्ञानशाकुन्तल १, १ तथा मालविकाग्निमित्र १, १

६ जय जय सिद्ध बुद्ध सुद्धोयणि सुगय कुमग्गणासण, जय वम्भुठ विट्ठु दामोयर हयपरवाइवासण ॥—'महापुराण' १०,६

हो वैकुण्ठवासी विष्णु हो दामोदर हो तथा परवादियों की वासना को नष्ट करने वाले हो

महाकवि पुष्पदन्त के उल्लिखित सस्तवन के अध्ययन से प्रतीत होता है कि भगवान् वृषभदेव के रूप में ही शिव के त्रिमूर्तिरूप तथा बुद्ध रूप को भी समन्वित कर लिया गया है यद्यपि समन्वय क्रिया पुष्पदन्त द्वारा जैनदृष्टि को सम्मुख रख कर की गई है परन्तु प्रतीत होता है कि तत्कालीन लोकप्रचलित शिव के एकेश्वरत्व ने भी अज्ञात उनके मस्तिष्क पर अवश्य प्रभाव डाला है पुष्पदन्त का युग जैनधर्म के उत्कर्ष तथा धार्मिक सहिष्णुता का युग था खजुराहो[1] के १ ईस्वी के शिलालेख नम्बर पाँच में शिव का 'एकेश्वर' रूप में तथा 'विष्णु' बुद्ध और 'जिन' का उन्हीं के अवतारों के रूप में उल्लेख किया जाना इसी तथ्य को पुष्ट करता है यद्यपि इससे पूर्व पौराणिक काल में धार्मिक संघर्ष न उग्ररूप धारण किया और चार्वाक कौल तथा कापालिकों के साथ बौद्ध और जैनों को भी विधर्मी माना गया[2]

वृषभ तथा शिव-ऐक्य के अन्य साक्ष्य

कतिपय अन्य लोकमान्य साक्ष्य भी वृषभ तथा शिव—दोनों के ऐक्य के समर्थक हैं जो निम्न प्रकार हैं

शिव रात्रि तथा कैलाश

वैदिक मान्यता के अनुसार शिव कैलाशवासी हैं और उनसे सम्बन्धित शिवरात्रि पर्व का वहाँ बड़ा महत्त्व है

जैन परम्परा के अनुसार भगवान् ऋषभदेव ने सर्वज्ञ होने के पश्चात् आर्यावर्त्त के समस्त देशों में विहार किया भव्य जीवों को धार्मिक देशना दी और आयु के अन्त में अष्टापद (कैलाश पर्वत) पहुँचे वहाँ पहुँच कर योगनिरोध किया और शेष कर्मों का क्षय करके माघ कृष्णा चतुर्दशी के दिन अक्षय शिवगति (मोक्ष) प्राप्त की[3]

भगवान् ऋषभदेव ने अष्टापद (कैलाश) से जिस दिन शिव-गति प्राप्त की उस दिन समस्त साधु-संघ ने दिन को उपवास तथा रात्रि का जागरण करके शिव-गति प्राप्त भगवान् की आराधना की जिसके फलस्वरूप यह तिथि रात्रि 'शिवरात्रि' के नाम से प्रसिद्ध हुई

उत्तरप्रान्तीय जैनेतर वर्ग में प्रस्तुत शिवरात्रि पर्व फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी को माना जाता है उत्तर तथा दक्षिण देशीय पंचांगों में मौलिक भेद ही इसका मूल कारण है उत्तरप्रान्त में मास का आरंभ कृष्ण-पक्ष से माना जाता है और दक्षिण में शुक्ल-पक्ष से प्राचीन मान्यता भी यही है जैनेतर साहित्य में चतुर्दशी के दिन ही शिवरात्रि का उल्लेख मिलता है ईशान संहिता में लिखा है

> माघे कृष्णचतुर्दश्यामादिदेवो महानिशि ।
> शिवलिंगतयोद्भूतः कोटिसूर्यसमप्रभः ।
> तत्कालव्यापिनी ग्राह्या शिवरात्रिव्रते तिथिः ।

प्रस्तुत उद्धरण में जहाँ इस तथ्य का संकेत है कि माघकृष्णा चतुर्दशी को ही शिवरात्रि मान्य किया जाना चाहिए, वहाँ उसकी मान्यतामूलक ऐतिहासिक कारण का भी निर्देश है कि उक्त तिथि की महानिशा में कोटि सूर्य प्रभोपम भगवान्

---

१ एपिग्राफिआ इण्डिका भाग १ पृष्ठ सं० १४८

२ सौरपुराण ६ । ५४

३ माघस्स किण्हि चोद्दसि पुव्वण्हे णियय जम्मणक्खत्ते

(क) अट्ठावयम्मि उसहो अयुदेण सम गओजोमि । —तिलोयपण्णत्ती ।

(ख) ... [illegible] ।

[illegible] ।—महापुराण ३७ । ३

४ ईशान संहिता

आदिदेव [वृषभनाथ] शिवगति प्राप्त हो जाने से 'शिव' इस लिंग [चिह्न] से प्रकट हुए—अर्थात् जो शिव पद प्राप्त होने से पहले 'आदिदेव' कहे जाते थे, वे अब शिवपद प्राप्त हो जाने से 'शिव' कहलाने लगे

उत्तर तथा दक्षिण प्रान्त की यह विभिन्नता केवल कृष्ण-पक्ष मे ही रहती है, पर शुक्ल-पक्ष के सम्बन्ध मे दोनो ही एक मत है जब उत्तर भारत मे फाल्गुन कृष्णपक्ष चालू होगा तब दक्षिण भारत का वह माघकृष्ण पक्ष कहा जायगा जैन-पुराणो के प्रणेता प्राय दक्षिण भारतीय जैनाचार्य रहे हैं, अत उनके द्वारा उल्लिखित माघकृष्णा चतुर्दशी उत्तर-भारतीय जन की फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी ही हो जाती है कालमाधवीय नागर खण्ड मे प्रस्तुत मासवैषम्य का निम्न प्रकार समन्वय किया गया है[1]

'माघ मासस्य शेषे या प्रथमे फाल्गुणस्य च ।
कृष्णा चतुर्दशी सा तु शिवरात्रि प्रकीर्तिता ।'

अर्थात् दक्षिणात्य जन के माघ मास के शेष अथवा अन्तिम पक्ष की और उत्तरप्रान्तीय जन के फाल्गुन के प्रथम मास की कृष्णा चतुर्दशी 'शिवरात्रि' कही गई है

गंगावतरण

उत्तरवैदिक मान्यता के अनुसार जब गगा आकाश से अवतीर्ण हुई तो दीर्घ काल तक शिवजी के जटा-जूट मे भ्रमण करती रही और उसके पश्चात् वह भूतल पर अवतरित हुई यह एक रूपक है, जिसका वास्तविक रहस्य यह है कि जब शिव अर्थात् भगवान् ऋषभ देव को असर्वज्ञदशा मे जिस स्वसवित्तिरुपी ज्ञान-गगा की प्राप्ति हुई उसकी धारा दीर्घकाल तक उनके मस्तिष्क मे प्रवाहित होती रही और उनके सर्वज्ञ होने के पश्चात् वही धारा उनकी दिव्य वाणी के मार्ग से प्रकट होकर ससार के उद्धार के लिये बाहर आई तथा इस प्रकार समस्त आर्यावर्त को पवित्र एव आप्लावित कर दिया

गगावतरण जैन परपरानुसार एक अन्य घटना का भी स्मारक है वह यह है कि जैन भौगोलिक मान्यता मे गगानदी हिमवान् पर्वत के पद्मनामक सरोवर से निकलती है वहाँ से निकल कर वह कुछ दूर तक तो ऊपर ही पूर्वदिशा की ओर बहती है, फिर दक्षिण की ओर मुड कर जहाँ भूतल पर अवतीर्ण होती है, वहाँ पर नीचे गगाकूट मे एक विस्तृत चबूतरे पर आदि जिनेन्द्र वृषभनाथ की जटाजूट वाली अनेक वज्रमयी प्रतिमाएँ अवस्थित हैं, जिन पर हिमवान् पर्वत के ऊपर से गगा की धारा गिरती है विक्रम की चतुर्थ शताब्दी के महान् जैन आचार्य यतिवृषभ ने त्रिलोकप्रज्ञप्ति मे[2] प्रस्तुत गगावतरण का इस प्रकार वर्णन किया है

'आदिजिणप्पडिमाओ ताओ जड-मउड-सेहरिल्लाओ ।
पडिमोवरिम्मि गगा अभिसित्तुमणा व सा पडदि ।'

अर्थात् गगाकूट के ऊपर जटारूप मुकुट से शोभित आदि जिनेन्द्र (वृषभनाथ भगवान्) की प्रतिमाए है प्रतीत होता है कि उन प्रतिमाओ का अभिषेक करने की अभिलाषा से ही गगा उनके ऊपर गिरती है

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने भी प्रस्तुत गगावतरण की घटना का निम्न प्रकार चित्रण किया है[3]

सिरिगिहसीसट्ठियअंबुजकण्णियसिंहासणं जडामण्डल ।
जिणमभिसित्तुमणा वा ओदिण्णा मत्थए गगा ।'

अर्थात् श्री देवी के गृह के शीर्ष पर स्थित कमल की कर्णिका के ऊपर सिंहासन पर विराजमान जो जटारूप मुकुट

१ कालमाधवीय नागर खण्ड
२ त्रिलोकप्रज्ञप्ति ४, २३०
३ त्रिलोक सार ५९०, गाथा सख्या

गामी जिनमूर्ति है उसका अभिषेक करने के लिये ही मानों गंगा उस मूर्ति के मस्तक पर हिमवान् पर्वत से अवतीर्ण हुई है

त्रिशूल

वैदिक परंपरा में शिव को त्रिशूलधारी बतलाया गया है तथा त्रिशूलांकित शिवमूर्तियाँ भी उपलब्ध होती हैं जैनपरंपरा में भी अर्हन्त की मूर्तियों को रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक् चारित्र) के प्रतीकात्मक त्रिशूलांकित त्रिशूल से सम्पन्न दिखलाया गया है आचार्य वीरसेन ने एक गाथा त्रिशूलांकित अर्हन्तों को नमस्कार किया है[1] सिन्धु उपत्यका से प्राप्त मुद्राओं पर भी कुछ ऐसे योगियों की मूर्तियाँ अंकित हैं जो दिगम्बर हैं जिनके शिर पर त्रिशूल है और कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यानावस्थित हैं कुछ मूर्तियाँ वृषभचिह्न से अंकित हैं मूर्तियों के ये दोनों रूप महान् योगी वृषभदेव से सम्बंधित हैं इस के अतिरिक्त खंडगिरि की जैन गुफाओं (ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी) में तथा मथुरा के कुषाणकालीन जैन आयागपट्ट आदि में भी त्रिशूलचिह्न का उल्लेख मिलता है[2] डा रोठ ने इस त्रिशूल चिह्न तथा मोहनजोदड़ो की मुद्राओं पर अंकित त्रिशूल में आत्यन्तिक सादृश्य दिखलाया है

ब्राह्मीलिपि तथा माहेश्वर सूत्र

जैसी कि जैन मान्यता है तथा पहले हमने महापुराण की पाँचवी सन्धि में देखा कि भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्र भरत आदि को सम्पूर्ण कलाओं में पारंगत किया और अपनी पुत्री ब्राह्मी को लिपिविद्या (अक्षर विद्या) तथा सुन्दरी को अंकविद्या सिखलाई भारत की प्राचीनतम लिपि ब्राह्मी लिपि है जैनपरम्परा में तथा उपनिषद् में भी भगवान् ऋषभदेव को आदि ब्रह्मा कहा गया है[3] अत ब्रह्मा से आई हुई लिपि ब्राह्मी कहलाई जा सकती है तथा ब्राह्मी से सम्बन्धित लिपि का नाम भी ब्राह्मी हो सकता है

दूसरी ओर पाणिनि ने अइउण् आदि सूत्रों (सूत्रबद्ध वर्णमाला) को 'माहेश्वर' बतलाया है,[4] जिसका अर्थ है महेश्वर से आये हुए वैदिक परंपरा में जहाँ शिव को महेश्वर कहा गया है[5] वहाँ जैनपरम्परा में भगवान् ऋषभदेव ही महेश्वर अथवा ब्रह्मा (प्रजापति) हैं इस प्रकार वृषभदेव द्वारा ब्राह्मी पुत्री को सिखाई गई ब्राह्मीलिपि की अक्षरविद्या तथा माहेश्वर सूत्रबद्ध वर्णमाला दोनों में जहाँ स्वरूपतः ऐक्य है वहाँ यह ऐक्य ही दोनों के प्रवर्तक संबंधी ऐक्य को इंगित करता है

वृषभ [बैल] का योग

वैदिक परम्परा में शिव का वाहन वृषभ (बैल) बतलाया गया है जैनमान्यतानुसार भगवान् वृषभदेव का चिह्न बैल है गर्भ में अवतरित होने के समय इनकी माता मरुदेवी ने स्वप्न में एक वरिष्ठ वृषभ को अपने मुख-कमल में प्रवेश करते हुए देखा था अत इनका नाम वृषभ रक्खा गया सिन्धु घाटी में प्राप्त वृषभांकित मूर्तियुक्त मुद्राएँ तथा वैदिक

---

१ तिरदल-तिशूलधारिय ... षट्खण्डागम १ ५२ ५२

(a) Kurtshe list of ancient monuments protected under Act VII of 1904 (Arch Survey of India New imperial series vol 4) Trisula in Anant gumpha P °73 and In Trisula Gumpha P °80

(b) Smith Jain stupa and other Antiquities of Mathura Ayegapata tablets pls. IX,X and XI

३ ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता। मुण्डकोपनिषद् १ १ १

४ अइउण् ... (...) इस अर्थ में ... द्वारा ब्रह्म शब्द की निष्पत्ति होती है

५ इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणादिसंज्ञार्थानि —सिद्धान्तकौमुदी पृ ... १

६ अथर्ववेद ११ ४ ... ११ ४२ ... ४ ... ऋग्वेद ४ ५८

आदिदेव [वृषभनाथ] शिवगति प्राप्त हो जाने से 'शिव' इस लिंग [चिह्न] से प्रकट हुए—अर्थात् जो शिव पद प्राप्त होने से पहले 'आदिदेव' कहे जाते थे, वे अब शिवपद प्राप्त हो जाने से 'शिव' कहलाने लगे

उत्तर तथा दक्षिण प्रान्त की यह विभिन्नता केवल कृष्ण-पक्ष मे ही रहती है, पर शुक्ल-पक्ष के सम्बन्ध मे दोनो ही एक मत है जब उत्तर भारत मे फाल्गुन कृष्णपक्ष चालू होगा तब दक्षिण भारत का वह माघकृष्ण पक्ष कहा जायगा जैन-पुराणो के प्रणेता प्राय दक्षिण भारतीय जैनाचार्य रहे हैं, अत उनके द्वारा उल्लिखित माघकृष्णा चतुर्दशी उत्तर-भारतीय जन की फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी ही हो जाती है कालमाधवीय नागर खण्ड मे प्रस्तुत मासवैषम्य का निम्न प्रकार समन्वय किया गया है[1]

'माघ मासस्य शेषे या प्रथमे फाल्गुणस्य च ।
कृष्णा चतुर्दशी सा तु शिवरात्रि प्रकीर्तिता ।'

अर्थात् दक्षिणात्य जन के माघ मास के शेष अथवा अन्तिम पक्ष की और उत्तरप्रान्तीय जन के फाल्गुन के प्रथम मास की कृष्णा चतुर्दशी 'शिवरात्रि' कही गई है

गंगावतरण

उत्तरवैदिक मान्यता के अनुसार जब गगा आकाश से अवतीर्ण हुई तो दीर्घ काल तक शिवजी के जटा-जूट मे भ्रमण करती रही और उसके पश्चात् वह भूतल पर अवतरित हुई यह एक रूपक है, जिसका वास्तविक रहस्य यह है कि जब शिव अर्थात् भगवान् ऋषभ देव को असर्वज्ञदशा मे जिस स्वसवित्तिरुपी ज्ञान-गगा की प्राप्ति हुई उसकी धारा दीर्घकाल तक उनके मस्तिष्क मे प्रवाहित होती रही और उनके सर्वज्ञ होने के पश्चात् वही धारा उनकी दिव्य वाणी के मार्ग से प्रकट होकर ससार के उद्धार के लिये बाहर आई तथा इस प्रकार समस्त आर्यावर्त को पवित्र एव आप्लावित कर दिया

गगावतरण जैन परपरानुसार एक अन्य घटना का भी स्मारक है वह यह है कि जैन भौगोलिक मान्यता मे गगानदी हिमवान् पर्वत के पद्मनामक सरोवर से निकलती है वहाँ से निकल कर वह कुछ दूर तक तो ऊपर ही पूर्वदिशा की ओर बहती है, फिर दक्षिण की ओर मुड कर जहाँ भूतल पर अवतीर्ण होती है, वहाँ पर नीचे गगाकूट मे एक विस्तृत चबूतरे पर आदि जिनेन्द्र वृषभनाथ की जटाजूट वाली अनेक वज्रमयी प्रतिमाएँ अवस्थित हैं, जिन पर हिमवान् पर्वत के ऊपर से गगा की धारा गिरती है विक्रम की चतुर्थ शताब्दी के महान् जैन आचार्य यतिवृपभ ने त्रिलोकप्रज्ञप्ति मे[2] प्रस्तुत गगावतरण का इस प्रकार वर्णन किया है

'आदिजिणप्पडिमाओ ताओ जड-मउड-सेहरिल्लाओ ।
पडिमोवरिम्मि गगा अभिसित्तुमणा व सा पडदि ।'

अर्थात् गगाकूट के ऊपर जटारूप मुकुट से शोभित आदि जिनेन्द्र (वृषभनाथ भगवान्) की प्रतिमाए हैं प्रतीत होता है कि उन प्रतिमाओ का अभिषेक करने की अभिलाषा से ही गगा उनके ऊपर गिरती है

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने भी प्रस्तुत गगावतरण की घटना का निम्न प्रकार चित्रण किया है[3]

सिरिगिहसीसट्ठियवुजकण्णियसिंहासण जडामउल ।
जिणमभिसित्तुमणा वा ओदिण्णा मत्थए गगा ।'

अर्थात् श्री देवी के गृह के शीर्ष पर स्थित कमल की कर्णिका के ऊपर सिंहासन पर विराजमान जो जटारूप मुकुट

१ कालमाधवीय नागर खण्ड
२ त्रिलोकप्रज्ञप्ति ४, २३०
३ त्रिलोक सार ५६०, गाथा सख्या

डॉ देवीलाल पालीवाल
एम० ए पी-एच डी

राजस्थान के प्राचीन इतिहास की शोध

राजस्थान का प्रथम क्रमबद्ध इतिहास सन् १८२९ मे अंग्रेजी भाषा मे इंगलैण्ड मे प्रकाशित हुआ था ग्रन्थ का नाम था 'एनल्स एण्ड एण्टिक्विटीज आफ राजस्थान' और लेखक थे कर्नल जेम्स टाड उस विश्वविख्यात ग्रन्थ का महत्व केवल इतना ही नही है कि उसमें यवन साम्राज्य के पतन के बाद से लेकर दिल्ली सल्तनत की स्थापना तक के राजपूत काल के प्रमुख राजवंशो का क्रमबद्ध इतिहास प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है बल्कि उसका महत्व इस बात में भी है कि उसने पश्चिम के सभ्य देशो को व्यापक रूप से भारतीय ज्ञान एव सभ्यता की उच्चता के सम्बन्ध में एक झलक दी और पूर्वीय ज्ञान के सम्बन्ध म शोध करने तथा पश्चिमी एव पूर्वीय ज्ञान के बीच समन्वय की एक नवीन धारा प्रवाहित की

राजस्थान का इतिहास लिखते समय कर्नल टाड की मन स्थिति एक ऐसे गोताखोर की तरह थी जिसे समुद्र में गोता लगाते हुए एक अमूल्य रत्न प्राप्त हो गया हो और जो उस रत्न को विश्व के सम्मुख प्रदर्शित करने का हर्ष अनुभव कर रहा हो ग्रन्थ की भूमिका के प्रारम्भ में टाड ने लिखा था 'यूरोप में इस बात पर अत्यन्त निराशा प्रकट की गई है कि भारतवर्ष में गम्भीर ऐतिहासिक चिन्तन का अभाव है सामान्य तौर पर लोग इस बात को स्वत सिद्ध मानते है कि भारतवर्ष का कोई राष्ट्रीय इतिहास नही है फ्रांस के एक प्रसिद्ध प्राच्य विद्या-विशारद ने उपर्युक्त धारणा के विरुद्ध यह सवाल उठाया है कि यदि भारतवर्ष का कोई राष्ट्रीय इतिहास नही था तो अबुलफजल को प्राचीन हिन्दू इतिहास की रूपरेखा तैयार करने के लिए सामग्री कहाँ से प्राप्त हुई ' वास्तव मे काश्मीर की इतिहास सम्बन्धी पुस्तक 'राजतरंगिणी' का अनुवाद कर विल्सन महोदय ने इस भ्रम को मिटाने म काफी योग दिया है- इससे यह प्रमाणित हो गया है कि नियमित इतिहास लिखने की परिपाटी का भारतवर्ष में अभाव नही था तथा ऐसी सामग्री आज से कही अधिक मात्रा मे उपलब्ध थी यद्यपि फ्रांस और जर्मनी के विद्वानो के साथ-साथ कोलब्रुक विलकिन्स विल्सन एव हमारे देश के अन्य विद्वानो ने भारतवर्ष के गुप्त विद्याभण्डार के कुछ विषयों को यूरोपवासियों के सम्मुख प्रकट किया है किन्तु अब भी इतना ही कहा जा सकता है कि हम अभी केवल भारतीय ज्ञान की ड्योढी तक पहुँचे है

कर्नल टाड ने ग्रन्थ की भूमिका मे मध्ययुग के दौरान में हुए भारतीय साहित्य एव कला के विनाश के सम्बन्ध में लिखते हुए कहा 'भारतवर्ष के विभिन्न भागो मे अब भी ऐसे बड़े-बड़े पुस्तकालय विद्यमान है जो इस्लाम धर्म के प्रवर्तको द्वारा विनष्ट होने से बच गये है उदाहरण के लिए जैसलमेर और पट्टन के प्राचीन साहित्य के संग्रह इस प्रकार के कई अन्य छोटे-छोटे संग्रहालय मध्य एव पश्चिमी भारत के प्रदेशों में विद्यमान है जिनमे से कुछ तो राजाओ की व्यक्तिगत सम्पत्ति है और कुछ जैनसम्प्रदाय के अधिकार मे है

कर्नल टाड का ग्रन्थ प्रकाश-स्तम्भ बन गया और उसकी रोशनी मे पश्चिमी देशो के पुरातत्ववेत्ता एव भारतीय विद्वान्
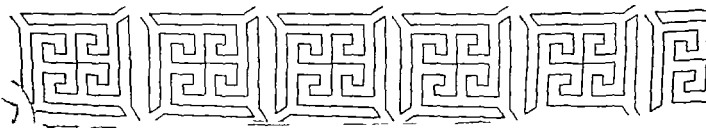
युक्तियाँ भी वृषभाकित वृषभदेव के अस्तित्व की समर्थक हैं इस प्रकार वृषभ का योग भी शिव तथा वृषभदेव के ऐक्य को सपुष्ट करता है,

भगवान् वृषभदेव तथा शिव दोनो का जटाजूटयुक्त[1] तथा कपर्दी रूपचित्रण भी इनके ऐक्य का समर्थक है भगवान् वृषभदेव के दीक्षा लेने के पश्चात् तथा आहार लेने के पूर्व एक वर्ष के साधक जीवन मे उनके केश बहुत बढ गये,[2] फलत उनके इस तपस्वी जीवन की स्मृति मे ही जटाजूटयुक्त मूर्तियो का निर्माण प्रचलित हुआ

१ वत्तीसुवण्म मुणीमरह कुडिला उच्चियकेम —महापुराणु ३७, १७ तथा यजुर्वेद, १६,५९

२ मस्कारविरहात् केशा 'जटीभूतास्तदा विभो', नून तेऽपि तम क्लेशमनुमोढु तथा स्थिता ।
मुनेर्मूर्ध्नि जटा दूर प्रमसु पवनोद्धता', ध्यानाग्निनेव तप्तस्य जीवस्वर्णस्य कालिका । —आदिपुराण १८, ७५-७६

चित्रित अतिप्राचीन ताड़पत्र के ग्रन्थ राजस्थान की भूमि से बाहर निकल कर ठेठ अमरीका पहुँचे हैं इनमें से ताड़पत्र पर चित्रित 'सप्तम पडिक्कमण सुत्त चुन्नी' नामक ग्रन्थ बोस्टन के संग्रहालय की भारतीय कला वीथिका में प्रदर्शित है और मेदपाट (मेवाड़) के आघाट या वर्तमान आहाड़ में चित्रित है यह १२६० ई० का गुहिल तेजसिंह के शासनकाल में कमलचन्द्र द्वारा लिखा गया था इसी प्रकार की अन्य कृतियाँ रास तथा कुमार स्वामी के संयुक्त संग्रह के ग्रन्थों में १४४७ ई० के कल्पसूत्र व कालकाचार्य कथानक नामक ग्रन्थ भी शामिल हैं सन् १४२२-२३ ई० में रचित महाराणा मोकल के काल का 'सुपासणाह चरियम्' नामक ग्रन्थ मेवाड़ में मिला है

इस भाँति शौर्य शक्ति और साहस के साथ राजस्थानी विद्या ज्ञान साहित्य चित्रकला स्थापत्य एवं मूर्तिकला आदि का भी अपना गौरवशाली पक्ष रहा है यही कारण है कि इस प्रदेश में ऐतिहासिक स्मारकों के समान प्राचीन पुस्तकालयों एवं कला-संग्रहों की संख्या भी बहुत है जिनमें से कोई तो इतने बड़े रहे हैं जिनकी टक्कर के भारत में अन्यत्र बहुत कम देखे गये हैं लगभग आठ सौ वर्षों तक जैन-सम्प्रदाय का प्रभाव इस प्रदेश पर रहने के कारण प्राचीन एवं मध्ययुगीन राजस्थानी साहित्य एवं कला पर उसकी छाप स्पष्ट रूप से प्रकट होती है उस काल में जैन विद्वानों द्वारा साहित्यिक कलात्मक एवं अन्य विषयों सम्बन्धी कई रचनायें तैयार की गईं इससे भी बड़ी सेवा जैन-सम्प्रदाय ने मध्ययुगीन बर्बरता एवं विध्वंस से प्राचीन साहित्य की रक्षा करने की है राजस्थान के विभिन्न इलाकों में जैन विद्वानों द्वारा गुप्त पुस्तकालयों का निर्माण किया गया मरुभूमि में स्थित जैसलमेर का जैन-ग्रन्थ भंडार इस प्रकार के पुस्तकालयों में सबसे बड़ा रहा है इन पुस्तकालयों में राजस्थान एवं भारत के इतिहास पर प्रकाश डालने वाले हस्तलिखित ग्रन्थ तो हैं ही परन्तु साहित्यकला का कोई अंग नहीं है जिस पर मूल्यवान् ग्रन्थ प्राप्त नहीं हों राजस्थान में प्राप्त विभिन्न पुस्तकसंग्रहों की एक विशेष बात यह है कि मुगल काल में राजस्थानी शासकों का देश के दूरस्थ प्रदेशों से सम्पर्क रहने के कारण इन संग्रहों में देश की विभिन्न भाषाओं के हस्तलिखित ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं उदाहरण के लिए जयपुर में यदि बंगाली भाषा के ग्रन्थ मिलेंगे तो बीकानेर में कन्नड़ के और उदयपुर में गुजराती भाषा के ग्रन्थ उपलब्ध हो जायेंगे

राजस्थान के विभिन्न पुस्तकालयों में प्राप्त होने वाली ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण लिपि के अलावा इस प्रदेश में कुछ ऐसी और साहित्यिक सामग्री रही है जो इतिहास पर थोड़ी-बहुत दृष्टि डालने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थी जिसके महत्त्व को सर्वप्रथम कर्नल टाड ने प्रकट किया उसमें भाटों और चारणों की वंशावलियाँ ख्यातें और रुहानियाँ मुख्य हैं प्राचीन पुस्तकों के नष्ट एवं लुप्त हो जाने के कारण भाटों आदि ने मध्यकाल में ऐसी कई राजस्थानी भाषा में पद्यमय ख्यातें वातें गीत आदि लिखे जिनमें उन्होंने इस देश पर राज्य करने वाले तत्कालीन राजवंशों के पिछले नाम जो उन्हें मिल सके दर्ज किये और पुराने नामों में से *भिन्न-भिन्न प्रसिद्ध राजाओं के नाम सुनने में आते थे वे लिखे* उन्होंने अपनी पुस्तकों को पुरानी बतलाने के लिये कल्पित नामों एवं असत्य संवतों का उपयोग भी किया उनकी ये पद्यमय एवं वीररसपूर्ण रचनाएँ एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक आकर अत्यधिक अतिशयोक्तिपूर्ण हो जाती थी कुछ इसी प्रकार के पद्यमय बड़े इतिहास-ग्रन्थों की रचनाएँ की गई हैं जो विभिन्न शोधकों द्वारा पिछले वर्षों में प्रकाश में लाई गईं ऐसी रचनाओं में पृथ्वीराज रासो बीसलदेवरासो हमीरायण हमीररासो रतनरासो विजयविलास सूर्यप्रकाश जगतविलास राजप्रकाश गुणरूपक जयसीया री ख्यात शिशोदवंशोत्पत्ति परमालरासो केसरीसिंहसमर, सुजानचरित छत्रप्रकाश हमीरहठ हिम्मतबहादुर प्रतापरूपी सामरसुत्त जाजउपुख बुद्धिविलास गुलालचरित भावदेव सूरिरास खामारासो रतनरासो जसवंत उद्योत रायमरासो अचलदासी की पैठी परमालखुम दर्पण राज रसनामृत छत्रराउ जैतसी वचनिका राठौड़ रतन सिंहजी री महेसदासोतरी महाराजा यशप्रकाश राजविलास उदयपुर री ख्यात अचलदास खींची री वात ज्यानखान रासो जगविलास भीमविलास राणारासो राजरत्न प्रकाश संगतरासो आदि प्रमुख हैं

उपर्युक्त सूचित एवं प्रकाशित रचनाओं के अतिरिक्त भी दिनानुदिन इस क्षेत्र में नव्य शोध एवं ऐतिहासिक

भारतीय इतिहास की खोज करने लगे समय समय पर कतिपय जर्मन, अग्रेज, इटालियन पुरातत्त्ववेत्ता एव विद्वान् भारत-वर्ष आये और उन्होने राजस्थान के विभिन्न स्थानो मे भ्रमण किया और उस बहुमूल्य सामग्री का सग्रह किया, जिसे सामान्यत भारतीय महत्त्वहीन मानते थे शोध के इन प्रयत्नो से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात जो प्रकाश मे आई, वह यह कि प्राचीन साहित्य सामग्री को सग्रहीत करने तथा समकालीन साहित्य की रचना करने की दृष्टि से जैन-सम्प्रदाय ने लम्बे काल तक इस प्रदेश की भारी सेवा की राजस्थान एव राजस्थान के बाहर मध्ययुग के दौरान मे जो भी पुस्तका-लय बनाये गये एव रक्षित किये गये, उनका सर्वाधिक श्रेय जैन विद्वानो को है

अग्रेजो द्वारा प्रारम्भ मे प्राय राजस्थान को शौर्य, सभ्यता एव ज्ञान की दृष्टि से एक महत्त्वहीन प्रदेश माना जाता रहा मराठो की शक्ति के अभ्युदय ने राजपूतो की शक्ति को क्षीण एव तहस-नहस कर दिया था, इसलिए राजपूतो की शक्ति, शौर्य एव प्रभाव के महत्त्व को समझ नही पाये थे उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे उत्तरी भारत के अपने विजय-प्रयाण के दौरान मे जब वे राजपूतो के सम्पर्क मे आये तो उनका एक नवीन प्रकार की शक्ति से सम्पर्क हुआ टाड ने सहसा कहा 'राजस्थान मे कोई छोटा राज्य भी ऐसा नही है, जिसमे थर्मोपोली जैसी रणभूमि न हो और शायद ही कोई ऐसा नगर मिले जहाँ सियोनिडास जैसा वीर पुरुष उत्पन्न न हुआ हो' विदेशी अग्रेज जाति के लिये यह बात एक बडा रहस्योद्घाटन थी राजस्थान के प्राचीन इतिहास की उत्कट वीरता, त्याग और वलिदान की बातो को सुनकर वे चकाचौंध-से हो गये और आगे वे राजपूत जाति को अपना मित्र एव हमदर्द बनाये रखने की आकाक्षा रखने लगे

पाँचवी शताब्दी से लेकर १२ वी शताब्दी का काल राजस्थान के इतिहास का बहुत महत्त्वपूर्ण युग रहा इसी काल मे बाह्य जातियाँ हूण, गूजर आदि बलूचिस्तान और सिन्ध के मार्ग से उत्तरी और पश्चिमी भारत मे आयी ऐसा माना जाता है कि उनमे से गूजर, सर्वप्रथम, जब कि वे दक्षिणी पजाब से खदेडे गये, राजस्थान मे आये यहाँ आने पर इन लोगो ने कई भागो मे बँटकर दक्षिणी राजस्थान के मारवाड प्रदेश के नागौर व भिन्नमाल तथा मेवाड, अजमेर आदि मे अपने राज्यो की स्थापना की गूजरो के बाद प्रतिहार, चालुक्य, चौहान, परमार, कछवाहा आदि इसी प्रकार अस्तित्व मे आये इन जातियो ने इस प्रदेश मे आबाद होने के बाद धीरे-धीरे अपने क्षेत्रो मे विभिन्न प्रकार की कलाओ एव साहित्य आदि का विकास किया, इस प्रदेश का प्राचीन इतिहास इस बात का साक्षी है कि यह प्रदेश प्राचीन काल मे न राजस्थान कहलाता था, न रायथान, न रजवाडा और न राजपूताना ८ वी से १० वी शताब्दी मे तो राजस्थान का समूचा या यो कहा जाय इसका अधिकाश भाग गूर्जरत्रा कहलाता था, जैसा कि चीनी यात्री ह्वानसाग के वर्णन से प्रतीत होता है वास्तव मे राजस्थान अथवा गुजरात नाम से पुकारे जाने वाले भू-क्षेत्र बाद मे बने, इसके पूर्व के गूर्जरत्रा प्रदेश मे राजस्थान का दक्षिणी भाग, मेवाड, मारवाड, वर्तमान मालवा तथा गुजरात क्षेत्र सम्मिलित थे

यद्यपि राजपूताना अथवा राजस्थान का नाम प्राचीन नही है और वह नाम भारत मे मुसलमानो के प्रवेश के बाद मे ही धीरे-धीरे प्रचलित हुआ, पर यह स्पष्ट है इस प्रदेश मे तब कई ऐसी जातियाँ बसी हुई थी जो बाद मे राजपूत कह-लाई, जिनमे प्रतिहार, गुहिलोत, चापोत्कट तथा चाहमाण प्रमुख थी गूर्जरत्रा काल मे इस क्षेत्र मे साहित्य एव कला का जो विकास हुआ उसका भारी ऐतिहासिक महत्त्व है गूर्जर प्रतिहारो द्वारा मूर्तिकला एव चित्रकला को प्रचुर मात्रा मे प्रोत्साहन दिया गया था मेवाड के जगत, डूगरपुर के अमझारा तथा गुजरात की शामलाजी की प्रतिमाएँ और हर्षनाथ सीकर व मारवाड के कई क्षेत्रो मे प्राप्त मूर्तियाँ गुप्त, पूर्व मध्यकाल तथा मध्यकाल की सुन्दर कला की परिचायिका हैं इस युग मे ताडपत्र पर चित्रमय ग्रथो की रचना की गई, जिनको ऊपर और नीचे ढँकने के लिए चित्रित लकडी की 'पटलियाँ' लगाई जाती थी इस प्रकार का वि० स० १२१६ का भद्रबाहु स्वामी रचित सचित्र कल्प-सूत्र जो ताडपत्र पर 'जैन ग्रथ भण्डार जैसलमेर' की निधि है,भारतवर्ष के पश्चिमी भाग का प्राचीन कलात्मक ग्रथ है इसी ग्रथभडार की वि० स० १२६६ की लिखी सचित्र कालकाचार्य कथा एक दूसरा ताडपत्र ग्रथ है नेमिचन्दसूरिकृत वि० स० १२९५ का प्रवचनसारोद्धार वृत्ति भी तत्कालीन चित्रकला का एक अमूल्य ग्रथ है यही नही, राजस्थान के

कृतियाँ उपलब्ध होती ही रहती हैं स्फुट पद्यात्मक वीररसमूलक अनेक चरित्रात्मक कृतियाँ ऐसी हैं जिनके रचयिता अज्ञात हैं इसी प्रकार की कतिपय पुस्तकों के सम्बन्ध मे, जो टाड ने जैसलमेर से ले जाकर रायल एशियाटिक सोसायटी को दी थी और जिनमे ७ से ८ शताब्दी पूर्व की कुछ जैन पाडुलिपियाँ सम्मिलित थीं, उन्होने बताया था कि–'इन पुस्तको मे लिखी गई कई बातो से, जिनका अभी तक निरीक्षण नही हुआ है, प्राचीन भारत के इतिहास पर नया प्रकाश पड़ेगा ' राजस्थान मे मध्यकाल मे सागा, प्रताप एव दुर्गादास जैसे शूरवीर योद्धा उत्पन्न हुए तो कुम्भा जैसे वीर किन्तु साहित्य एव कला प्रेमी शासक भी हुए, जिन्होंने अपने काल के साहित्य, शिल्प, स्थापत्य, सगीत एव चित्रकला को प्रोत्साहित ही नही किया अपितु उनपर अपनी छाप भी छोडी निस्सदेह समय की ही विध्वस आधी ने उस काल की अधिकाश मूल्यवान् सामग्री नष्ट कर दी, फिर भी उनमे से इतिहास के उपयोग की दृष्टि से यथेष्ट अवशेष बच गये है यही बात विभिन्न स्थानो पर प्राप्त शिलालेखो एव मन्दिरो आदि मे प्राप्त ताम्रपत्रों आदि के सम्बन्ध मे कही जा सकती है कर्नल टाड ने राजस्थानियो के समक्ष इस प्रकार की वस्तुओं का ऐतिहासिक महत्त्व प्रकट किया

बाद मे अग्रेजी काल मे राजस्थान के राजाओ मे प्राचीन इतिहास पर प्रकाश डालने वाली इस प्रकार की पुरातत्त्व सम्बन्धी सामग्री का सग्रह करने और अपने-अपने वश का क्रमबद्ध इतिहास तैयार कराने की प्रवृत्ति पैदा हुई, इस दृष्टि से उन्होंने पुरातत्त्व सग्रहालयो एव पुस्तकालयो का निर्माण किया कविराजा श्यामलदास द्वारा रचित 'वीरविनोद, एव महाकवि सूरजमल कृत 'वशभास्कर' नामक ऐतिहासिक ग्रन्थ उसी प्रवृत्ति के प्रतीक हैं

किन्तु राजस्थान के राजपूत शासकों के लिये पुरातत्त्व सम्बन्धी सामग्री का सग्रह करने एव ऐतिहासिक शोध करने की प्रवृत्ति नई नही थी मुस्लिम काल एव मराठा काल के निरन्तर विध्वस कार्य ने राजपूत राज्यो पर जो दुष्प्रभाव डाला उसका सर्वाधिक शिकार ज्ञान और शोध की प्रवृत्ति हुई काल ने ज्ञान के साधनो और ज्ञान की प्रवृत्ति दोनो पर दुष्प्रभाव डाला था इतिहास-प्रेम की दृष्टि से इस प्रदेश के मध्यकाल के शासकों मे महाराणा कुम्भा का नाम सर्वोपरि आता है महाराणा कुम्भा मेवाड के यशस्वी, विद्वान् एव विद्याप्रेमी शासक थे उन्हे सभी प्रकार की कलाओ एव विद्याओ के प्रति अगाध रुचि थी कुम्भा के समय उनके पूर्वजो की शुद्ध नामावली तथा उनका चरित्र उपलब्ध नही था, जिससे महाराणा ने अपने राज्य मे मिलने वाले अनेक प्राचीन शिलालेखो का सग्रह करवाया और उनके आधार पर अपनी वशावली ठीक की और यथासाध्य उनका वृत्तान्त भी एकत्र किया उन्होने एकलिंग माहात्म्य का 'राजवर्णन' नामक अध्याय अनेक प्राचीन शिलालेखो के आधार पर स्वय सग्रह किया उन्ही के समय की बडी प्रशस्ति की तीसरी शिला के आरम्भ मे जनश्रुति के आधार पर उनके पूर्वजों का वर्णन है, जिसके बाद 'राजवर्णन' प्राचीन प्रशस्तियो के आधार पर लिखा गया शिलावाले 'राजवर्णन' का अधिकाश भाग नष्ट हो गया है, किन्तु उसकी पूर्ति महाराणा के 'एकलिंग माहात्म्य' के 'राजवर्णन' अध्याय से हो जाती है। इस भाँति महाराणा कुम्भा को राजपूताने का सर्वप्रथम प्राचीन शोधक माना जाना चाहिए

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, राजपूताना के प्राचीन इतिहास की शोध एव रचना की दृष्टि से आधुनिक काल मे प्रथम क्रमबद्ध एव व्यवस्थित प्रयत्न अग्रेज अधिकारी कर्नल टाड द्वारा किया गया वे १७ वर्ष की आयु मे सन् १७९९ मे भारत आये थे पदोन्नति होने के कारण वे कुछ ही अर्से मे मराठा सरदार दौलतराव सिन्धिया के दरबार के ब्रिटिश राजदूत और रेजिडेन्ट मि० ग्रीम मर्सर के साथ रहने वाली सरकारी सेना की टुकडी के अध्यक्ष नियत हुए उस समय सिन्धिया का मुकाम मेवाड मे था इसी काल से टाड का कार्य शुरू होता है प्रारम्भ मे उन्होने मुख्यत पिंडारियो के दमन मे सहायता करने की दृष्टि से अग्रेजी सरकार के लिये पैमाइश करके राजपूताने का भौगोलिक नकशा तैयार किया राज-पूताने का सर्वप्रथम नकशा बनाने का श्रेय भी टाड को ही मिला सन् १८१८ मे पश्चिमी राजपूताने के राजाओ के साथ ब्रिटिश सरकार की सन्धि होने के साथ कर्नल टाड उदयपुर, जोधपुर, कोटा, बूदी, सिरोही और जैसलमेर राज्यो के पोलिटिकल एजट नियुक्त हुए १८२२ मे वे स्वदेश लौट गये

टाड को वीर जातियो के इतिहास से बडा प्रेम था। उन्होने राजपूतो के इतिहास की सामग्री का सग्रह करना प्रारम्भ
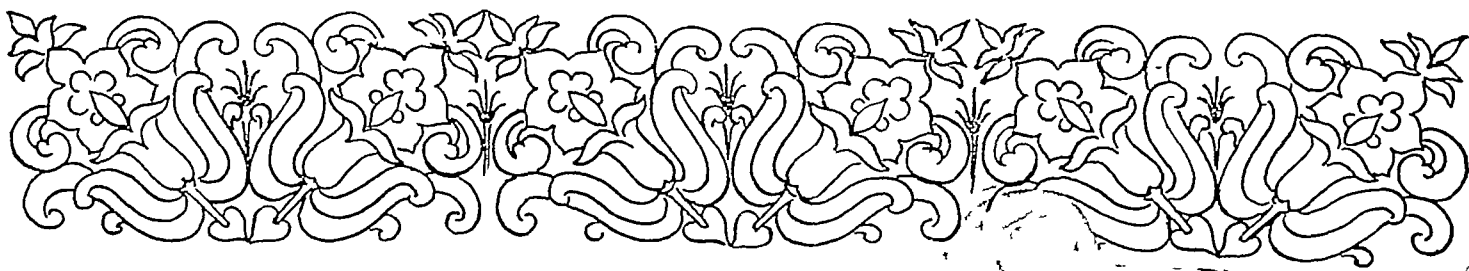
तथा श्री देवदत्त की बताई गई कई मूर्तियाँ आज यथास्थान नहीं मिलतीं पता नहीं कौन कहाँ ले गया भारत के प्रख्यात इतिहासकार सर यदुनाथ सरकार एवं मराठा इतिहासकार डा० जी एस सर देसाई ने जयपुर संग्रह के संबंध में मत व्यक्त करते हुये कहा था—यदि संग्रह के कागजातों की परीक्षा की जाय तो ऐसी मूल्यवान् जानकारी मिलने की संभावना है जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती प्रसन्नता की बात है कि राज्यसरकार ने राज्य का एक और पुरातत्त्व का विभाग अलग से खोला है जो प्रारम्भ में राजस्थान के प्रमुख इतिहासकार डाक्टर मथुरालाल शर्मा के निर्देशन में विकसित हुआ और श्री नाथूराम खड़गावत के संचालन में निरन्तर प्रगति कर रहा है और यह आशा की जा सकती है कि विभिन्न राज्यों के पुराने संग्रहालयों के व्यवस्थित होने पर वह न केवल राजस्थान बल्कि सम्पूर्ण भारतवर्ष के इतिहास के सम्बन्ध में कई नई बातें प्रकट करेगा और इतिहास के रिक्त स्थानों की पूर्ति करने में सहायक होगा

राजस्थान के प्राचीन साहित्य की खोज करने तथा उसको विश्व के सम्मुख उपस्थित करने की दृष्टि से एक अन्य विदेशी विद्वान् ने भी भारी सेवा की है उस विद्वान् ने सेवा ही नहीं की बल्कि उसने अपनी युवावस्था में ही इस कार्य के हेतु अपने जीवन का बलिदान भी कर दिया यह विद्वान् थे इटली के डा एल० पी टैसीटोरी वे अपने देश में रहते हुए राजस्थान के और उसके साहित्य के प्रेमी हो गये थे कहा जाता है कि उन्होंने राजस्थान में आकर अपना जीवन बिताना अपनी साध बना ली थी वे सन् १९१४ में भारत आये और बंगाल एशियाटिक सोसाइटी में बार्डिक एण्ड हिस्टोरिकल सर्वे ऑफ राजपूताना सुपरिन्टेन्डेन्ट के पद पर नियुक्त हुये उसी वर्ष आपने राजस्थान में काम शुरू किया और १९१९ में ३१ वर्ष की आयु में बीकानेर में आपका देहावसान हो गया इस काल में आप द्वारा किये गये शोध कार्य का विवरण एशियाटिक सोसाइटी ने प्रकाशित किया है जोधपुर और बीकानेर के डिंगल ग्रन्थों की आपके द्वारा तैयार की गई सूचियाँ भी सोसाइटी ने तीन भागों में प्रकाशित की हैं राजस्थानी इतिहास एवं साहित्य के बारे में बाद के पुस्तकलेखकों ने इस सारी सामग्री का तथा शिलालेखों मुद्राओं मूर्तियाँ आदि अन्य सामग्री का जो संकलन आपने बीकानेर में किया था उसका पूरी तरह उपयोग किया है डा टैसीटोरी का जीवन वृत्तान्त (अप्रैल १९५ के अंक में) छाप कर 'राजस्थान भारती' ने सराहनीय कार्य किया है क्योंकि डा टैसीटोरी की राजस्थानी साहित्य के प्रति सेवाओं के बावजूद वे बहुत कम प्रकाश में लाये गये थे

डा टैसीटोरी में एक महान् मानवीय गुण था वे पश्चिमी होते हुए भी भारत के प्रति महान् आदरभाव रखते थे जो उस काल में एक बड़े नैतिक साहस की बात थी उन्होंने स्वयं एक पत्र में लिखा था मैं भारत में इसीलिए आया हूँ क्योंकि मुझे भारत से लगाव व उसकी भाषा और साहित्य से प्रेम है मैं कोई अंग्रेज नहीं हूँ जो उन सब चीजों को हेठी निगाह से देखते हैं जो इंग्लैंड की या कम से कम यूरोप की नहीं हैं मेरे मन में भारतवासियों के प्रति उच्चतम आदर और सराहना के भाव हैं कर्नल टाड और टैसीटोरी में एक और बड़ी समानता थी दोनों को दो जैन विद्वानों से सहायता मिली थी और दोनों इनको अपना गुरु मानते थे टाड के सहायक मार्गदर्शक एवं गुरु थे जैन यति ज्ञानचन्द्र और टैसीटोरी के थे आचार्य विजयधर्म सूरि यह स्पष्ट है कि जैन सम्प्रदाय ने जो सेवा राजस्थानी साहित्य की रचना एवं सुरक्षा की की है उतनी ही उन्होंने बाद के काल में उसको व्यवस्थित ढंग से विश्व के सम्मुख प्रस्तुत कराने में भी की है यह भी संयोग और आश्चर्य की बात नहीं है कि आज भी प्राचीन साहित्य एवं इतिहास के संपादन आदि की दृष्टि से सर्वाधिक सेवाएँ मुनि जिनविजय मुनि कान्तिसागर आदि जैन विद्वान् कर रहे हैं

राजपूताना के साहित्य एवं इतिहास के सम्बन्ध में किये गये उपर्युक्त शोध-कार्य के अलावा कुछ अन्य अंग्रेज अधिकारियों ने भी इस कार्य में अपना योगदान दिया जिनमें अलेक्जेंडर किनलोक फार्ब्स ... कनिंघम फर्ग्युसन एवं गैरिक आदि प्रमुख हैं गुजरात के इतिहास 'रासमाला' नामक ग्रन्थ के रचयिता श्री फार्ब्स ने आबू के कई शिलालेखों की नकलें की और देलवाड़े के ... जैन मन्दिरों की कारीगरी का वृत्तान्त लिखा भारत सरकार के आर्कियोलोजिकल डिपार्टमेंट के तत्कालीन अध्यक्ष श्री कनिंघम ने राजपूताना के कई स्थानों का दौरा कर वहाँ के शिलालेखों एवं शिल्प

टाड ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ की भूमिका मे लिखा था, 'मैने इन की (भारत के इतिहास पर प्रकाश डालने वाली सामग्री की) जानकारी यूरोपीय विद्वानो को कराई है, परन्तु मुझे आशा है कि इससे अन्य लोगो को इस दिशा मे और आगे वढने की प्रेरणा मिलेगी ' टाड की आशा निष्फल नही गई १८७४ मे प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डा० वूल्हर प्राचीन ग्रन्थो की तलाश मे भारत आये और जैसलमेर भी गये उनके साथ जर्मनी के एक अन्य वडे विद्वान् हरमन याकोवी भी थे, जिन्होने राजस्थान की प्राचीन देशभाषा अपभ्र श के साहित्य का सर्वप्रथम वैज्ञानिक सशोधन एव प्रकाशन प्रारम्भ किया था वे कदाचित् यहाँ एक सप्ताह से अधिक नही रह सके उन्होने लिखा है, 'मरुधर प्रदेश के इस विकट भाग के इस विकट स्थान मे, जहाँ खराव पानी और नहारू के रोग कीप्रचु रता है, अल्पकाल के लिये भी ठहरना कम कष्टदायक नही है ' अतएव वे स्पष्ट ही इस विशाल भण्डार मे वहुत कम काम कर सके फिर भी डा० वूल्हर के इस प्रारम्भिक कार्य का यह महत्व है कि उन्होने राजस्थान के साहित्यसग्रह को सवमे पहले ससार के सन्मुख उपस्थित किया

जैसलमेर भण्डार को पूरी तरह प्रकाश मे लाने का श्रेय श्री श्रीधर रामकृष्ण भण्डारकर को है जो वम्वई सरकार की ओर से १९०५ मे राजस्थान के प्राचीन हस्तलिखित पुस्तक-सग्रहो का निरीक्षण करने भेजे गये थे जैसलमेर पहुँचने पर श्रीभाण्डारकर को ज्ञात हुआ कि यहाँ एक नही दस पुस्तक-सग्रह है आपने इनका विवरण प्रस्तुत किया और हर एक सग्रह की महत्वपूर्ण पुस्तक का भी उल्लेख किया कुछ पुस्तको का साराश भी आपने अपनी विवरणी मे दिया वहाँ पुस्तको की अवस्था वडी शोचनीय थी, श्रीभण्डारकर ने लिखा है कि 'इधर-उधर विखरे ताडपत्रो के ढेर और फटे हुए कागज-पत्रो के ढेर को देखकर यही कहा जा सकता है कि समय और असावधानता दोनो ने ही वहाँ विनाश का कार्य आरम्भ कर रखा है श्री वूल्हर को वहाँ की सवत् ११६० की पुस्तक प्राचीनतम मिली थी, किन्तु श्री भडार कर को उससे भी प्राचीन ग्रन्थ स० ९२४ का मिला उन्होने कुछ पुस्तको की नकल भी कराई श्रीभण्डारकर के वाद वडौदा सरकार की ओर से १९१५ मे एक सुयोग्य विद्वान श्री चिमनलाल दलाल ने जैसलमेर आकर वहाँ के मुख्य भण्डार के प्राय सभी ताडपत्रीय ग्रन्थो की सूची वनाई जो वाद मे 'गायकवाड ओरियण्ट सिरीज' मे प्रकाशित की गई

जैसलमेर सग्रह का नियमित एव विशेषरूप से व्यवस्थित निरीक्षण करने का श्रेय आचार्य श्री जिनविजयजी मुनि को प्राप्त है यहाँ आप १९४२ मे १०-१२ सुयोग्य लेखको के साथ लगभग पांच महीनो तक रहे मुनि श्री जिन-विजय जी की गिनती आज राजस्थान के अग्रगण्य पुरातत्ववेत्ताओ एव इतिहासज्ञो मे है, और आपके निरीक्षण मे राजस्थान के प्राचीन ग्रन्थो की शोध एव सम्पादन कार्य किया जा रहा है आपको जैसलमेर जाने की प्रेरणा जर्मनी मे जर्मन विद्वान् डा० हर्मन याकोवी से हुई प्रत्यक्ष मुलाकात से प्राप्त हुई थी पाँच महीनो मे श्रीमुनिजी ने अथक परिश्रम करके लगभग २०० ग्रन्थो की सम्पूर्ण प्रतिलिपियाँ कराईं, जिनमे सस्कृत, प्राकृत, अपभ्र श तथा प्राचीन देश्यभाषा मे ग्रथित न्याय, व्याकरण, आगम, कथा, चरित्र, ज्योतिष, वैद्यक, छन्द, अलकार, काव्य, कोष आदि विविध विषयो की रचनायें अन्तर्भूत है इनके पचासो फोटोप्लेट भी उतरवाये गये है मुनिजी ने वहाँ लोकागच्छीय उपाश्रय के ज्ञान भण्डार का प्रथम बार निरीक्षण किया तब से मुनिजी ग्रन्थो के सम्पादन एव प्रकाशन का कार्य राजस्थान पुरातत्व मदिर एव विद्याभवन वम्बई से कराते रहे है और कई मूल्यवान् एव अप्राप्त ग्रन्थ प्रकाश मे आये है प्रख्यात जैन विद्वान् मुनि श्रीपुण्यविजयजी ने भी जैसलमेर के ग्रन्थागारो को व्यवस्थित करने मे दीर्घकाल पर्यन्त घोर परिश्रम किया है। आपने ग्रन्थो की व्यवस्थित सूचियाँ तैयार की, जीर्णशीर्ण प्रतियो के चित्र उतरवाये और भविष्य की सुरक्षा का सुन्दर आयोजन किया।

जैसलमेर के अलावा उदयपुर, बीकानेर, जोधपुर, बू दी, किशनगढ, नागौर, अलवर, हनुमानगढ, राजगढ आदि विभिन्न स्थानो के राजकीय सग्रह भी ऐतिहासिक एव साहित्य तथा प्राचीन ज्ञान की दृष्टि से महत्वपूर्ण रहे है श्रीधर भण्डारकर ने इनमे से अधिकाश सग्रहालयो का निरीक्षण किया था श्रीधर के छोटे भाई श्री देवदत्त ने बाद मे राजस्थानी प्राचीन साहित्य की खोज के लिये उदयपुर, जोधपुर, जयपुर, कोटा, किशनगढ, सिरोही आदि राज्यो के दौरे किये आपने अपने शोधकार्य का विवरण सरकारी पुस्तको मे प्रकाशित कराया श्रीधर की सूची से कई पुस्तकें

तथा श्री देवन्त्र की बताई गई कई मूर्तियाँ आज यथास्थान नहीं मिलती पता नहीं कौन कहाँ से गया भारत के प्रख्यात इतिहासकार सर यदुनाथ सरकार एवं मराठा इतिहासकार डा जी एस सर देसाई ने जयपुर संग्रह के संबंध में मत व्यक्त करते हुये कहा था—"यदि संग्रह के कागजातों की परीक्षा की जाय तो ऐसी मूल्यवान् जानकारी मिलने की संभावना है जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती प्रसन्नता की बात है कि राज्यसरकार ने राज्य का एक और पुरातत्त्व का विभाग अलग से खोला है जो प्रारम्भ में राजस्थान के प्रमुख इतिहासकार डाक्टर मथुरालाल शर्मा के निर्देशन में विकसित हुआ और श्री नाथूराम खड़गावत के संचालन में निरन्तर प्रगति कर रहा है और यह आशा की जा सकती है कि विभिन्न राज्यों के पुराने संग्रहालयों के व्यवस्थित होने पर वह न केवल राजस्थान बल्कि सम्पूर्ण भारतवर्ष के इतिहास के सम्बन्ध में कई नई बातें प्रकट करेगा और इतिहास के रिक्त स्थानों की पूर्ति करने में सहायक होगा

राजस्थान के प्राचीन साहित्य की खोज करने तथा उसको विश्व के सम्मुख उपस्थित करने की दृष्टि से एक अन्य विदेशी विद्वान् ने भी भारी सेवा की है. उस विद्वान् ने सेवा ही नहीं की बल्कि उसने अपनी युवावस्था में ही इस कार्य के हेतु अपने जीवन का बलिदान भी कर दिया वह विद्वान् थे इटली के डा एल पी तैसीतोरी वे अपने देश में रहते हुए राजस्थान के और उसके साहित्य के प्रेमी हो गये थे कहा जाता है कि उन्होंने राजस्थान में आकर अपना जीवन बिताना अपनी साध बना ली थी वे सन् १९१४ में भारत आये और बंगाल एशियाटिक सोसाइटी में बार्डिक एण्ड हिस्टोरिकल सर्वे आफ राजपूताना सुपरिन्टेन्डेन्ट के पद पर नियुक्त हुये उसी वर्ष आपने राजस्थान में कार्य शुरू किया और १९१९ में ३१ वर्ष की आयु में बीकानेर में आपका देहावसान हो गया इस काल में आप द्वारा किये गये शोध कार्य का विवरण एशियाटिक सोसाइटी ने प्रकाशित किया है जोधपुर और बीकानेर के डिंगल ग्रन्थों की आपके द्वारा तैयार की गई सूचियाँ भी सोसाइटी ने तीन भागों में प्रकाशित की हैं राजस्थानी इतिहास एवं साहित्य के बारे में डा० के पुस्तकसंग्रह में इस सारी सामग्री का तथा शिलालेखों मुद्राओं मूर्तियों आदि अन्य सामग्री का जो संकलन आपने बीकानेर में किया था उसका पूरी तरह उपयोग किया है डा तैसीतोरी का जीवन वृत्तान्त (अप्रैल १९६ के अंक में) छाप कर 'राजस्थान भारती' ने सराहनीय कार्य किया है क्योंकि डा तैसीतोरी की राजस्थानी साहित्य के प्रति सेवाओं के बावजूद वे बहुत कम प्रकाश में आये थे

डा तैसीतोरी में एक महान् मानवीय गुण था वे परिश्रमी होते हुए भी भारत के प्रति महान् आदरभाव रखते थे जो उस काल में एक बड़े नैतिक साहस की बात थी उन्होंने स्वयं एक पत्र में लिखा था मैं भारत में इसीलिए आया हूँ क्योंकि मुझे भारत से उसकी भाषा और साहित्य से प्रेम है मैं कोई अंग्रेज नहीं हूँ जो उन सब चीजों को हेटी निगाह से देखता है जो इंग्लैंड की या कम से कम यूरोप की नहीं है मेरे मन में भारतवासियों के प्रति उच्चतम आदर और सराहना के भाव हैं कर्नल टाड और तैसीतोरी में एक और बड़ी समानता थी दोनों को दो जैन विद्वानों से सहायता मिली थी और दोनों उनको अपना गुरु मानते थे टाड के सहायक मार्गदर्शक एवं गुरु थे जैन यति ज्ञानचन्द्र और तैसीतोरी के थे आचार्य विजयधर्म सूरि. यह स्पष्ट है कि जैन सम्प्रदाय ने जो सेवा राजस्थानी साहित्य की रचना एवं सुरक्षा की की है उसकी ही उन्होंने बाद के काल में उसको व्यवस्थित ढंग से विश्व के सम्मुख प्रस्तुत कराने में भी की है यह भी संयोग और आश्चर्य की बात नहीं है कि आज भी प्राचीन साहित्य एवं इतिहास के संपादन आदि की दृष्टि से सर्वाधिक सेवायें मुनि जिनविजय मुनि कान्तिसागर आदि जैन विद्वान् कर रहे हैं

राजपूताना के साहित्य एवं इतिहास के सम्बन्ध में किये गये उपर्युक्त खोज-कार्य के अलावा कुछ अन्य अंग्रेज अधिकारियों ने भी इस कार्य में अपना योगदान दिया जिनमें अलेक्जेंडर किन्लोक फार्ब्स अलेक्जेंडर कनिंघम कार्लाइल एवं मैं आदि मुख्य हैं गुजरात के इतिहास 'रासमाला' नामक ग्रन्थ के रचयिता श्री फार्ब्स ने आबू के कई शिलालेखों की नकल की और देलवाड़े के दोनों जैन मन्दिरों की कारीगरी का वर्णन किया भारत सरकार के आर्कियालाजिकल डिपार्टमेंट के तत्कालीन अध्यक्ष श्री कनिंघम ने राजपूताना के कई स्थानों का दौरा कर वहां के शिलालेखों एवं शिल्प

आदि पर प्रकाश डाला अशोक के काल का वैराट (जयपुर राज्य) का लेख, महाराणा कुम्भा के चतुरस्र वडे सिक्को एव राजपूताने के कई पुराने सिक्को को प्रकाश मे लाने का श्रेय आपको है श्री कार्लाइल ने भी इस प्रदेश के कई शिलालेखो एव सिक्को का पता लगाया, मुख्यत शिवि जनपद की मध्यमिका (नगरी मेवाड) के सिक्के और मेवाड के प्रथम राजा गुहिल के सिक्के सबसे पहिले उन्ही को मिले थे श्री गैरिक ने भी इस प्रदेश का विस्तृत दौरा किया वे मुख्यत चित्तौड के कीर्तिस्तम्भ की बची हुई दो शिलाओ तथा रावल समरसिंह के समय के वि० स० १३३० के चित्तौड के शिलालेख का चित्र सर्वप्रथम प्रसिद्धि मे लाये

जर्मनी के डा० बूल्हर और इटली के डा० तैसीतोरी के अलावा उसी काल मे कुछ अन्य विदेशी विद्वानो ने भी इस प्रदेश के ऐतिहासिक शोधकार्य मे अपना योगदान दिया 'पतजलि के महाभाष्य' का सम्पादन करने वाले जर्मन विद्वान् डा० कीलहार्न (१८४०-१९०८) अग्रेज विद्वान् पीटर पिटर्सन (१८४७-१८९९) डा० वेब जिन्होने १८९३ मे "दी करेन्सीज आफ दी हिन्दू स्टेट्स आफ राजपूताना" नामक पुस्तक लिखी, डा० फ्लीट (१८४७-१९१७) एव सेसिल वेडाल नामक विद्वानो ने भी राजपूताना के इतिहास की कई बातो को प्रकाश मे लाने का कार्य किया।

अन्य भारतीय शोधकर्त्ताओ मे श्वेताम्बर समुदाय के जैनाचार्य श्री विजयधर्म सूरि (१८६८-१९२२) का नाम उल्लेखनीय है, जो सस्कृत और प्राकृत के प्रकाड पडित, दर्शनशास्त्री तथा जैन इतिहास के शोधक विद्वान् थे अपनी चतुर्मास यात्राओ के दौरान मे वे स्थान-स्थान पर प्राप्त शिलालेखो का सग्रह किया करते थे 'देवकुल पाटक' नामक पुस्तिका मे उन्होने उदयपुर के देलवाडा नामक स्थान तथा प्राचीन नागदा नामक स्थान से प्राप्त हुए जैन लेखो का सग्रह प्रकाशित किया, इसके अतिरिक्त उनके सग्रह किये हुए लगभग ५०० शिलालेखो का एक अलग ग्रन्थ "प्राचीन लेख सग्रह भाग १" के नाम से मुनिराज श्रीविद्याविजयजी ने १९२९ मे प्रकाशित कराया था

एक अन्य विद्वान् एव शोधक श्री मुशी देवीप्रसाद (१८४८-१९२३) ने भी राजपूताने के ऐतिहासिक शोध के कार्य मे महत्त्वपूर्ण योगदान दिया जोधपुर राज्य की सेवा मे काम करते हुए उन्होने मुगलकाल के अनेक फारसी ग्रथो का हिन्दी मे रूपान्तर किया और उदयपुर, जोधपुर, जयपुर, बीकानेर आदि के कई राजाओ के चरित्र भी हिन्दी और उर्दू मे प्रकाशित कराये मुशीजी ने स्थान-स्थान पर जाकर शिलालेखो की छापे तैयार कराई तथा प्रतिहार राजा बाउक और कक्कुक के शिलालेख और दधिमति माता के मन्दिर के गुप्त सवत् २८९ (ई० सन् ६०८) के तथा जालौर आदि के शिलालेखो को पुस्तकाकार प्रकाशित किया इसी काल मे कलकत्ते के इडियन म्युजियम के पुरातत्त्व विभाग के अध्यक्ष श्री राखालदास बनर्जी (१८८२-१९३०) ने, वेस्टर्न सर्कल से राजपूताने का सम्बन्ध होने से अजमेर, उदयपुर, बीकानेर, भरतपुर आदि राज्यो का दौरा कर अनेक स्थानो तथा वहाँ के शिलालेखो आदि का विवरण लिखा, जो राजपूताने के इतिहास के लिये उपयोगी सिद्ध हुआ इसी भाँति बगाल एशियाटिक सोसायटी की ओर से डिंगल भाषा के ग्रन्थो का अनुसधान करने वाले महामहोपाध्याय श्री हरप्रसाद शास्त्री (१८५६-१९३४) ने अपनी रिपोर्ट मे डिंगल साहित्य के अलावा राजस्थान की क्षत्रिय, चारण एव मोतीसर जातियो तथा शेखावाटी के इतिहास पर अच्छा प्रकाश डाला है

कर्नल टाड के बाद राजपूताने के इतिहास की क्रमबद्ध एव व्यवस्थित रचना की दृष्टि से जिस दूसरे व्यक्ति ने कार्य अपने हाथो मे लिया वह एक भारतीय एव राजस्थानी था, दधवाडिया गोत्र के चारण कविराजा श्यामलदास उदयपुर के महाराणा सज्जनसिंह के विश्वासपात्र व्यक्ति थे महाराणा शम्भूसिंह ने अपनी मृत्यु के पूर्व मेवाड के इतिहास पर एक ग्रन्थ रचना कराने का इरादा जाहिर किया था और योजना भी बनवाई थी, जिसको उनके विद्याप्रेमी उत्तराधिकारी महाराणा सज्जनसिंह ने पूरा किया उन्होंने इस कार्य के लिये एक लाख रुपया स्वीकृत कर राज्य के वृहद् इतिहास के प्रकाशन का उत्तरदायित्व कविराजा श्यामलदास को दिया इस महान् कार्य को सम्पन्न करने के लिये उदयपुर मे अग्रेजी, फारसी और सस्कृत जानने वाले विद्वानो को आमन्त्रित किया गया राज्य एव राज्य के बाहर के अनेक शिलालेखो की छापें तैयार कर मँगाई गई तथा भाटो एव चारणो आदि से बहुमूल्य सामग्री एकत्रित की गई यह वृहद्ग्रन्थ २७०० पृष्ठो का है और चार भागो मे प्रकाशित किया गया और उसका नाम "वीरविनोद" रखा गया
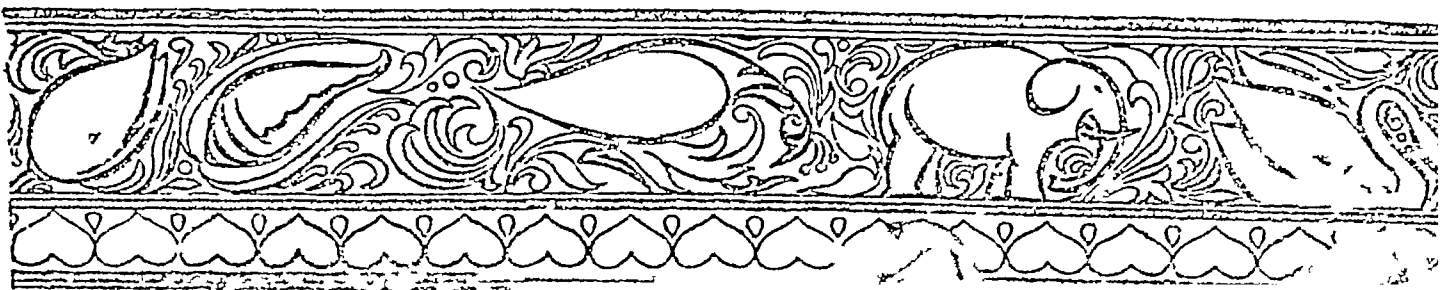
इस ग्रन्थ की एक विशेषता यह है कि उसमें कर्नल टाड की कई बातों को स्पष्ट एवं संशोधित किया गया है और टाड ग्रन्थ की समाप्ति के काल से आगे महाराणा सज्जनसिंह के शासनकाल अर्थात् १८८४ तक का मेवाड़ का इतिहास दिया गया है। दूसरी विशेषता यह है कि इसमें अनेक शिलालेखों, दानपत्रों, सिक्कों, राजकीय पत्र-व्यवहार, बादशाही फरमान आदि का बहुत अच्छा संग्रह हुआ है। तीसरी विशेषता यह है कि इसमें मेवाड़ के विस्तृत इतिहास के साथ-साथ राजपूताना तथा बाहर के अन्य राज्यों का जिनका किसी न किसी रूप में मेवाड़ के साथ सम्बन्ध रहा संक्षिप्त इतिहास भी लिखा गया है। ग्रन्थ की समाप्ति महाराणा फतहसिंह के काल में हुई जिन्होंने ग्रन्थ का प्रचलन उचित न मान कर, छप जाने के बाद भी प्रकाश में नहीं आने दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि विद्वान् इस महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी ग्रन्थ का लाभ बहुत काल बाद में उठा सके।

इसी काल में एक अन्य काव्यमय ऐतिहासिक ग्रन्थ 'वंशभास्कर' की रचना की गई। इसके लेखक बूंदी के कविराजा सूरजमल जो राजस्थानी साहित्य के पूर्व आधुनिक काल के सबसे बड़े कवि माने गये हैं। ये स्वभावसिद्ध कवि एवं षट् भाषाज्ञानी थे और न्याय, व्याकरण आदि अनेक विषयों में पारंगत थे। 'वंशभास्कर' डिंगल भाषा में रचा गया काव्य ग्रन्थ है जिसमें लगभग सवा लाख पद हैं। 'वीरविनोद' की भाँति यह ग्रन्थ भी बूंदी नरेश की सहायता से तैयार किया गया था किन्तु बाद में कवि ने अपनी स्वतन्त्र प्रकृति के कारण जब बूंदी-नरेश रावराजा रामसिंह के गुण-दोषों का वर्णन प्रारम्भ किया तो रावराजा सहमत नहीं हुए। इस पर कवि ने ग्रन्थ को अपूर्ण छोड़ दिया। चारण कवि का लिखा हुआ होने पर भी 'वंशभास्कर' पर्याप्तरूप से प्रामाणिक माना जाता है।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में राजपूताने के इतिहास की खोज, मनन एवं रचना की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रयास डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने किया। ओझाजी अपने काल के उत्कृष्ट विद्वान् एवं इतिहास के अद्वितीय ज्ञाता हुए हैं। विद्याध्ययन करने के बाद उनका सम्पूर्ण जीवन इतिहास की खोज में बीता। प्रारम्भ में उदयपुर में रहकर आपने 'वीरविनोद' जैसे महान् ग्रन्थ की रचना को पूर्ण करने में कविराजा श्यामलदास को अपनी सेवाएँ दीं। वे सन् १९ ८ में राजपूताना म्यूजियम अजमेर के क्यूरेटर बनाये गये जहाँ लगभग १ वर्षों तक काम करते रहे। श्री ओझा ने अथक खोज के आधार पर राजपूत वंशों की वंशावलियों में जो शृंखलाएँ टूटती थीं अथवा त्रुटियाँ थीं उन सबको पूरा एवं ठीक किया। आपने कई हस्तलिखित ग्रन्थ, प्राचीन सिक्के, शिलालेख एवं ताम्रपत्र आदि एकत्र किये जिनके आधार पर बाद में आपने राजपूताना के राज्यों का नवीन इतिहास तैयार किया। इस नवीन इतिहास में आपने कर्नल टाड द्वारा की गई भूलों को सुधारा, अनैतिहासिक किंवदन्तियों एवं गाथाओं को ठीक किया और इस प्रदेश के इतिहास को नवीन ढंग से वैज्ञानिक आधार पर तैयार किया। ओझाजी का राजपूताने का इतिहास अत्यधिक प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया गया और उसको इस प्रदेश के इतिहास लेखन की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण घटना माना गया। ओझाजी से लगभग १ वर्ष पूर्व कर्नल टाड ने राजपूताने के इतिहास के सम्बन्ध में जो ग्रन्थ तैयार किया उसको राजपूताने के इतिहास का कीर्तिस्तम्भ पुकारा गया था। श्री ओझा के नवीन इतिहास को राजपूताने के इतिहास का दूसरा भव्य 'कीर्तिस्तम्भ' कहा गया।

ओझाजी ने टाड कृत राजस्थान का सम्पादन कार्य भी प्रारम्भ किया था किन्तु वह कार्य अपूर्ण रहा। सन् १८९४ में आपने भारतीय प्राचीन लिपिमाला नामक अपूर्व ग्रन्थ की रचना की जिसके कारण आपको अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हुई। उस समय तक संसार की किसी भी भाषा में ऐसा अनूठा ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ था। १९१८ में इस ग्रन्थ पर आपको 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' भेंट किया गया। १९ ७ में आपने सोलंकियों का इतिहास लिखा जिस पर नागरी प्रचारिणी सभा ने आपको एक पदक देकर सम्मानित किया। १९२८ में आपने मध्यकालीन भारतीय संस्कृति पर प्रयाग की हिन्दुस्तानी एकाडमी में तीन व्याख्यान दिये जो पुस्तकाकार प्रकाशित किये गये। आपके ७ वें जन्मदिवस पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से आपको अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया गया जो 'भारतीय अनुशीलन' के नाम से प्रकाशित हुआ।

भारत के राष्ट्रीयता आन्दोलन के विकास ने भारतीयो को अपने देश के इतिहास की शोध एव रचना की दृष्टि से भारी प्रेरणा प्रदान की राजस्थान के इतिहास के सम्वन्ध मे भी यही बात कही जा सकती है स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व के वर्षों और वाद मे राजस्थान के विभिन्न राज्यो के अलग-अलग एव उनके अलग-अलग कालो पर कई शोधपूर्ण ग्रन्थो की रचना की गई है हरविलास शारदा कृत महाराणा कुम्भा एव महाराणा सागा ग्रन्थ, डा० मथुरालाल शर्मा कृत कोटा राज्य का इतिहास, डा० रघुवीरसिंह कृत पूर्व आधुनिक राजस्थान, रतलाम का प्रथम राज्य, मालवा मे युगान्तर अमर ग्रन्थ, पृथ्वीसिंह मेहता कृत 'हमारा राजस्थान', महामहोपाध्याय श्रीविश्वेश्वरनाथ रेउ कृत मारवाड का इतिहास, श्रीहनूमान शर्मा कृत 'जयपुर राज्य का इतिहास', श्री जगदीशसिंह गहलोत कृत 'मारवाडराज्य का इतिहास', राजपूताने का इतिहास भाग २, श्रीरामनारायण दुग्गड कृत राजस्थान रत्नाकर, राणासागा, पृथ्वीराज चरित्र, पडित रामकरण आसोपा द्वारा रचित एव सम्पादित विभिन्न ग्रन्थ आदि प्रमुख हैं इसके अतिरिक्त पिछले कुछ वर्षों मे मुगल काल, मराठा काल एव आधुनिक काल से सम्वन्धित राजस्थान के इतिहास के कतिपय शोध प्रवन्ध विभिन्न विद्वानो द्वारा तैयार किये गये हैं, जो विभिन्न विश्वविद्यालयो द्वारा स्वीकृत हैं

एक लम्वे अर्से से राजस्थान मे राजस्थान के प्राचीन इतिहास की शोध की दृष्टि से कई सग्रहालय अत्यधिक महत्त्वपूर्ण एव उपयोगी कार्य कर रहे हैं भूतपूर्व रियासतो मे नरेशो द्वारा स्थापित पुरातत्त्व सग्रहालयो एव पुस्तकालयो ने इस दिशा मे भारी प्रयास किया और आज भी उनमे से अधिकाश उपयोगी कार्य कर रहे है जिनमे विक्टोरिया म्यूजियम एव सरस्वती भडार उदयपुर, शार्दूल रिसर्च इस्टीट्यूट वीकानेर, अलवर्ट म्यूजियम जयपुर, अनूप सस्कृत लाइब्रेरी वीकानेर, अलवर म्यूजियम, जोधपुर म्यूजियम आदि प्रमुख हैं इन सभी सग्रहालयो मे शिलालेखो, सिक्को, ताम्र-पत्रो, शस्त्रास्त्रो एव हस्तलिखित पुस्तको आदि का सग्रह है राजस्थान का आर्कयोलोजिकल विभाग राज्य के विभिन्न भागो मे सर्वे एव खुदाई का कार्य कर रहा है और प्राचीन ऐतिहासिक खोज मे निरन्तर सलग्न है इस समय राजस्थान मे मुख्यत आहड, वीकानेर, भरतपुर, वैराट् आदि कतिपय स्थानो पर खुदाई आदि के काम हो रहे है, जिनसे प्रागैतिहासिक काल तथा बाद के काल की महत्त्वपूर्ण सामग्रियाँ उपलब्ध हुई है

इन सस्थाओ ने पिछले अर्से मे कई वहुमूल्य हस्तलिखित पुस्तको का सग्रह एव प्रकाशन कार्य किया है इनमे से कतिपय सस्थाओ द्वारा शोधपत्रिकाएँ भी प्रकाशित की जाती है, जैसे कि राजस्थान विद्यापीठ द्वारा प्रकाशित 'शोध पत्रिका' शार्दूल रिसर्च इन्स्टीट्यूट द्वारा प्रकाशित 'राजस्थान भारती', राजस्थानी शोध सस्थान की 'परम्परा', पिलानी का प्रकाशन 'मरु भारती' बिसाऊ की 'वरदा' ये पत्रिकाएँ राजस्थान मे हो रहे इतिहास के शोध कार्य का सही दिग्दर्शन कराती हैं और प्रेरणा देती है

इस समय राजस्थान मे प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थो की खोज, शोध एव प्रकाशन की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य मुनि जिनविजय के मार्गदर्शन मे जोधपुर स्थित एव राज्य सरकार द्वारा सचालित राजस्थान प्राच्य विद्याप्रतिष्ठान जोधपुर कर रहा है एक तरह से यह प्रतिष्ठान मुनि जिनविजय की ही कृति है और उनके सकल्प एव सयोजन के कारण आज उसने एक वृहद् रूप धारण कर लिया है पिछले काल मे उसने विभिन्न विषयो के कई हस्तलिखित ग्रन्थो के प्रकाशन एव सम्पादन का कार्य किया है मुनि जिनविजय सस्कृत और प्राकृत के वडे विद्वान् हैं जैन साधनो से उपलब्ध होने वाले प्राचीन इतिहास से उन्हें सदैव से बडा अनुराग रहा है आपने प्राचीन जैन लेखो की दो पुस्तकें प्रकाशित की, जिनमे से एक मे सुप्रसिद्ध जैन राजा खारवेल का लेख है दूसरी वृहत्काय पुस्तक मे गुजरात, काठियावाड, राजपूताना आदि से मिलने वाले ५५७ लेखो का सग्रह है इसके अतिरिक्त आपने शताधिक इतिहास सम्बन्धी ग्रन्थो का सपादन किया है दर्जनो ऐतिहासिक निबन्धों द्वारा पुरातात्त्विक जगत् की अनुकरणीय सेवा की

राजस्थान का इतिहास जितना लम्बा रहा है, ऐतिहासिक सामग्री भी उतनी ही विपुल रही है राजस्थान के प्राचीन इतिहास के शोध, मनन एव सम्पादन का कार्य जितना विशाल है, उतना ही परिश्रमपूर्ण एव कठिन भी है आज भी इस

क्षेत्र के कई विद्वान् इस जटिल एवं श्रमसाध्य कार्य के सम्पादन में जुटे हुए हैं जिनमें डा० वासुदेवशरण अग्रवाल डा दशरथ शर्मा डा सत्यप्रकाश मुनि श्री कान्तिसागर जी डा रघुवीर सिंह डा एच डी सांकलिया डा मथुरालाल शर्मा डा गोपीनाथ शर्मा श्रीगोपालनारायण बहुरा डा रामचरण राय श्री देवराज अधीना श्री अगरचन्द नाहटा डा मोतीलाल मेनारिया श्री विद्याधर शास्त्री श्री महावीर सिंह गहलोत श्री कन्हैयालाल सहल श्री रत्नचन्द अग्रवाल श्री परमेश्वर सिंह सोलंकी डा उमाकान्त प्रमानन्द शाह श्रीविजयशंकर श्रीवास्तव डा० पृथ्वीसिंह मेहता श्रीनारायण सिंह भाटी जैसे विद्वान् एवं परिश्रमी शोधक राजस्थान के इतिहास की शोध के पुनीत कार्य में संलग्न हैं

भारत के राष्ट्रीयता आन्दोलन के विकास ने भारतीयो को अपने देश के इतिहास की शोध एव रचना की दृष्टि से भारी प्रेरणा प्रदान की राजस्थान के इतिहास के सम्बन्ध मे भी यही बात कही जा सकती है स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व के वर्षों और बाद मे राजस्थान के विभिन्न राज्यो के अलग-अलग एव उनके अलग-अलग कालो पर कई शोधपूर्ण ग्रन्थो की रचना की गई है हरविलास शारदा कृत महाराणा कुम्भा एव महाराणा सागा ग्रन्थ, डा० मथुरालाल शर्मा कृत कोटा राज्य का इतिहास, डा० रघुवीरसिंह कृत पूर्व आधुनिक राजस्थान, रतलाम का प्रथम राज्य, मालवा मे युगान्तर अमर ग्रन्थ, पृथ्वीसिंह मेहता कृत 'हमारा राजस्थान', महामहोपाध्याय श्रीविश्वेश्वरनाथ रेउ कृत मारवाड का इतिहास, श्रीहनूमान शर्मा कृत 'जयपुर राज्य का इतिहास', श्री जगदीशसिंह गहलोत कृत 'मारवाडराज्य का इतिहास', राजपूताने का इतिहास भाग २, श्रीरामनारायण दुग्गड कृत राजस्थान रत्नाकर, राणासागा, पृथ्वीराज चरित्र, पडित रामकरण आसोपा द्वारा रचित एव सम्पादित विभिन्न ग्रन्थ आदि प्रमुख है इसके अतिरिक्त पिछले कुछ वर्षो मे मुगल काल, मराठा काल एव आधुनिक काल से सम्बन्धित राजस्थान के इतिहास के कतिपय शोध प्रबन्ध विभिन्न विद्वानो द्वारा तैयार किये गये हैं, जो विभिन्न विश्वविद्यालयो द्वारा स्वीकृत है

एक लम्बे अर्से से राजस्थान मे राजस्थान के प्राचीन इतिहास की शोध की दृष्टि से कई सग्रहालय अत्यधिक महत्त्वपूर्ण एव उपयोगी कार्य कर रहे है भूतपूर्व रियासतो मे नरेशो द्वारा स्थापित पुरातत्त्व सग्रहालयो एव पुस्तकालयो ने इस दिशा मे भारी प्रयास किया और आज भी उनमे से अधिकाश उपयोगी कार्य कर रहे है जिनमे विक्टोरिया म्यूजियम एव सरस्वती भडार उदयपुर, शार्दूल रिसर्च इस्टीट्यूट बीकानेर, अलबर्ट म्यूजियम जयपुर, अनूप सस्कृत लाइब्रेरी बीकानेर, अलवर म्यूजियम, जोधपुर म्यूजियम आदि प्रमुख हैं इन सभी सग्रहालयो मे शिलालेखो, सिक्को, ताम्र-पत्रो, शस्त्रास्त्रो एव हस्तलिखित पुस्तको आदि का सग्रह है राजस्थान का आर्कियोलोजिकल विभाग राज्य के विभिन्न भागो मे सर्वे एव खुदाई का कार्य कर रहा है और प्राचीन ऐतिहासिक खोज मे निरन्तर सलग्न है इस समय राजस्थान मे मुख्यत आहड, बीकानेर, भरतपुर, वैराट् आदि कतिपय स्थानो पर खुदाई आदि के काम हो रहे है, जिनसे प्रागैतिहासिक काल तथा बाद के काल की महत्त्वपूर्ण सामग्रियाँ उपलब्ध हुई है

इन सस्थाओ ने पिछले अर्से मे कई बहुमूल्य हस्तलिखित पुस्तको का सग्रह एव प्रकाशन कार्य किया है इनमे से कतिपय सस्थाओ द्वारा शोधपत्रिकाएँ भी प्रकाशित की जाती हैं, जैसे कि राजस्थान विद्यापीठ द्वारा प्रकाशित 'शोध पत्रिका' शार्दूल रिसर्च इन्स्टीट्यूट द्वारा प्रकाशित 'राजस्थान भारती', राजस्थानी शोध सस्थान की 'परम्परा', पिलानी का प्रकाशन 'मरु भारती' बिसाऊ की 'वरदा' ये पत्रिकाएँ राजस्थान मे हो रहे इतिहास के शोध कार्य का सही दिग्दर्शन कराती हैं और प्रेरणा देती है

इस समय राजस्थान मे प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थो की खोज, शोध एव प्रकाशन की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य मुनि जिनविजय के मार्गदर्शन मे जोधपुर स्थित एव राज्य सरकार द्वारा सचालित राजस्थान प्राच्य विद्याप्रतिष्ठान जोधपुर कर रहा है एक तरह से यह प्रतिष्ठान मुनि जिनविजय की ही कृति है और उनके सकल्प एव सयोजन के कारण आज उसने एक वृहद् रूप धारण कर लिया है पिछले काल मे उसने विभिन्न विषयो के कई हस्तलिखित ग्रन्थो के प्रकाशन एव सम्पादन का कार्य किया है मुनि जिनविजय सस्कृत और प्राकृत के बडे विद्वान् है जैन साधनो से उपलब्ध होने वाले प्राचीन इतिहास से उन्हे सदैव से बडा अनुराग रहा है आपने प्राचीन जैन लेखो की दो पुस्तकें प्रकाशित की, जिनमे से एक मे सुप्रसिद्ध जैन राजा खारवेल का लेख है दूसरी वृहत्काय पुस्तक मे गुजरात, काठियावाड, राजपूताना आदि से मिलने वाले ५५७ लेखो का सग्रह है इसके अतिरिक्त आपने शताधिक इतिहास सम्बन्धी ग्रन्थो का सपादन किया है दर्जनो ऐतिहासिक निबन्धो द्वारा पुरातात्त्विक जगत् की अनुकरणीय सेवा की

राजस्थान का इतिहास जितना लम्बा रहा है, ऐतिहासिक सामग्री भी उतनी ही विपुल रही है राजस्थान के प्राचीन इतिहास के शोध, मनन एव सम्पादन का कार्य जितना विशाल है, उतना ही परिश्रमपूर्ण एव कठिन भी है आज भी इस
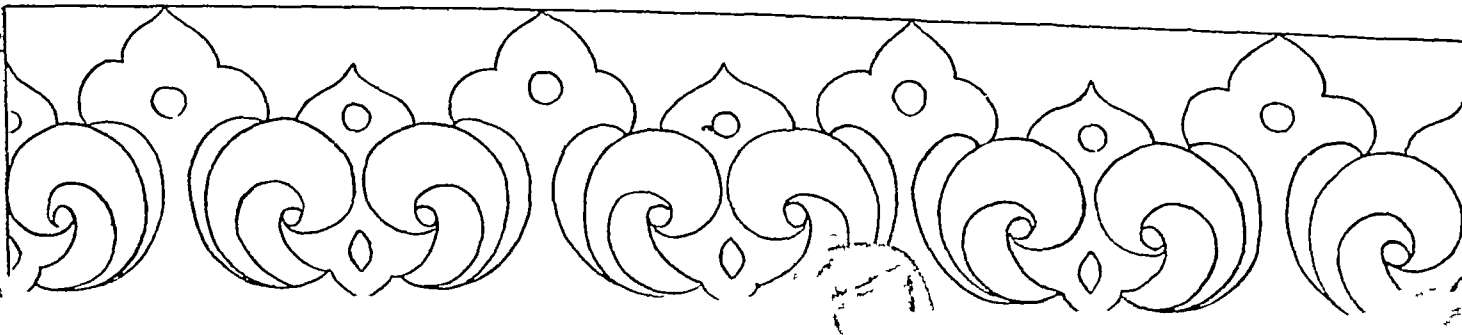
आज से बहुत पूर्व ११ वी शती में सोमदेव ने कथासरित्सागर की रचना की है उस समय सोमदेव को दो विक्रम होने का पूर्ण ज्ञान था यह ग्रंथ द्वितीय विक्रम के पश्चात् ही बना है उस समय यदि प्रथम विक्रम की ख्याति न होती तो वह एक ही का उल्लेख कर सकता था उसे काल्पनिक—भ्रमविस्तार की आवश्यकता क्यों होती ? इस कथाग्रंथ के रचना-काल में सोमदेव यह स्पष्ट जानता है कि उज्जैन का विश्रुत नरेश विक्रम है और पाटलिपुत्र का अन्य विक्रम भी है उक्त कथाग्रंथ के १८ वें लम्बक प्रथम तरंग मे स्पष्ट है—

(क) उज्जयिन्यां सुतः शूरो महेन्द्रादित्यभूपते ।
(ख) आक्रमिष्यति सद्वीपां पृथिवीं विक्रमेण यः ।
म्लेच्छसघान् हनिष्यति ।
(ग) भविष्यत एवैष विक्रमादित्यसज्ञकः ।

इस तरह विभिन्न स्थानों पर उज्जैन के विक्रम का उत्कृष्ट वर्णन किया है आगे इसी लम्बक के तृतीय तरंग में विक्रम की विजययात्रा से वापिस उज्जैन पहुँच जाने पर उनके सेनानी विक्रमशक्ति न उन अनेक राजाओं का जो स्वागतार्थ उपस्थित थे वर्णन किया है यह वर्णन तत्कालीन स्थिति जानने मे सहायक हो सकता है

गौड शक्ति कुमारोऽयम् कर्णाटोऽय जयध्वज ।
लाटो विजयवर्माऽयम् काश्मीरोऽयं सुनन्दन ।
गोपाल सिन्धुराजोऽयम् भिल्लो विन्ध्यबलोऽप्ययम् ।
निर्मूकः पारसीकोऽयम् नृप प्रणमति प्रभो ।

इन विविध देशीय नरेशो के प्रणाम-परिचय के पश्चात्—

सम्राट सम्मानयामास सामन्तान्सैनिकानपि ।

सम्राट् विक्रम ने सामन्तों और सैनिकों का सम्मान किया है इस प्रकार १८ वाँ लम्बक अवंतीपति के वर्णन से भरा हुआ है और उक्त ग्रंथ में चौथी तरंग एव सप्तम लम्बक में स्वतन्त्र रूप से लिखा है कि—'विक्रमादित्य इत्यासीद्राजा पाटलिपुत्रके' यानी पाटलिपुत्र में राजा विक्रम था यहा सम्राट्' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है तथा—'अस्ति पाटलिपुत्राख्यो भुवाऽलकरणपुरम् तत्र विक्रमतु गाख्यो राजा' आदि

इस प्रकार विक्रम के दो होने की जानकारी ११वी शती के सोमदेव को अवश्य थी क्षेमेन्द्र और गुणाढ्य भी यह जानते थे ये ग्रंथकार चन्द्रगुप्त द्वितीय के बाद हैं यदि एक मात्र चन्द्रगुप्त द्वितीय ही विक्रम होता तो इन्हें उज्जैन के और पाटलिपुत्र के दो विक्रमों की चर्चा करने की आवश्यकता नही रहती ये आज से सैकड़ों साल पहिले उत्पन्न ग्रंथकार है स्मिथ की भ्रान्ति इन्हे स्पर्श नही कर सकती है और इनके उल्लेख को महज कथा कहकर टाला नहीं जा सकता ऐसी स्थिति में स्मिथ हार्नेल कीथ आदि आधुनिकों की भ्रान्त धारणाओ का कोई मूल्य नहीं रहता विक्रमादित्य का केवल विदेशी विद्वानो की कसौटी पर नही नमाया जा सकता उसके तथ्यान्वेषण के लिये प्राचीन साहित्य का अनुशीलन आवश्यक है

संस्कृत के कथाग्रंथों काव्यवर्णनों की तरह ही जैन-साहित्य के अनेक ग्रंथों में जिनकी संख्या ५ से अधिक है स्वतन्त्र उज्जयिनीपति विक्रम की विभिन्न चर्चाएँ आई है कालक कथा आदि को केवल कथा-ग्रंथ कहकर हम उपेक्षित नहीं कर सकते इन सभी पर तथ्यान्वेषक दृष्टि से विचार किया जाना जरूरी है ये अपना महत्त्व रखते हैं तथा इतिहास और तथ्य पर आधारित है

श्रीसूर्यनारायण व्यास
पद्मविभूषण, ज्योतिषाचार्य, डी० लिट्०
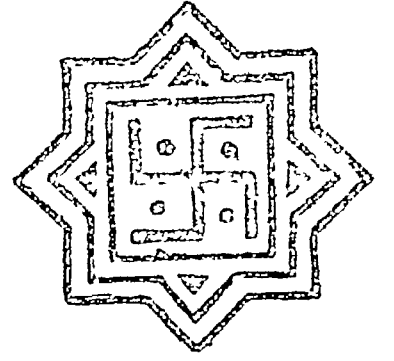
कालिदास और विक्रम पर एक विचार

अनेक विद्वानो की मान्यता के अनुरूप भास का काल चाणक्य और चन्द्रगुप्त का था नाट्य-कला के मार्गदर्शक होने के कारण भास की कीर्ति उस समय पर्याप्त रही होगी विदिशा के शुगो के शासन के समय से ही कवियो की वाणी और नाट्य-कला मे पर्याप्त विकास तथा भाषा मे सस्कार हो गया था भासकाल की अपेक्षा पर्याप्त विकास विदित होता है सस्कृत को तब लोकभाषा का सम्मान सुलभ हो गया था पाणिनि के प्रयोग उतने प्रचलित नही हो पाये थे नाट्यकला सुविकसित, नियमबद्ध नही हो पाई थी अभी तक भास के पूर्ववासियो के नाटक प्रकाश मे नही आये हैं परन्तु भास के नाटक विविध भेदो मे प्रकाश का विषय बन चुके थे इससे यह विदित हो सकता है कि इस कला मे वह काल कितना प्रगतिशील था

मेकडॉनल्ड, कीथ प्रभृति पडितो की यह मान्यता कि भरत मे ग्रीस की नाट्य-कला का अनुसरण हुआ है क्योंकि ई० स० पूर्व तीसरी शती मे भारत का ग्रीस से व्यवहार होता था सेल्यूकस ने अपनी लडकी चन्द्रगुप्त को दी थी टॉलमी का भी आवागमन बना रहता था तथा एक दूसरे के राजदूतो का व्यवहार जारी था आलक्जेण्डर के शासन से भृगु-कच्छ द्वारा-नर्मदा-पथ से स्थलमार्ग द्वारा उज्जैन से सम्बन्ध बना हुआ था विदिशा मे स्वय वहाँ का राजदूत हेलियो डोरस रहता था यही नही, उसने भागवत-धर्म भी स्वीकार कर लिया था, यह विदिशा का गरुड-स्तम्भ साक्षी दे रहा है ग्रीक इतिहास से प्रकट है कि ब्राह्मण लोग ग्रीस के साहित्य मे अनुराग भी रखते थे किन्तु भारत का नाट्य ग्रथ अधिक पुरातन है, भास के नाटको मे विशेष रूप से उनका अनुकरण प्रतीत होता है सम्भव है भास की उन्नति और कीर्ति ने कालिदास को स्पर्धा के लिये बाध्य किया हो और इसी के वश हो कालिदास ने अपने नाटको मे कला का पूर्ण परिपाक बतलाया हो सभवत कालिदास ने भास का इसी कारण नामोल्लेख कर नाट्यजगत् मे अभिनव प्रवेश मालविकाग्निमित्र के रूप मे किया हो अनेक अशो मे राजा, नायिका, उपनायिका, विदूषक चेटी आदि की जो समता भास और कालिदास मे मिलती है और उनका विकास जितनी सुन्दरता से कालिदास-कृति मे मिलता है, उतना भास मे नही वैसे भी भास—कालिदास के काल मे समता को लक्ष्य मे रखते हुए १००-१२५ वर्ष का ही अन्तर लक्षित होता है उसने अपने साहित्यिक जीवन का आरम्भ भास की कला को विकसित कर तथा अग्निमित्र जैसे अल्प प्रसिद्ध युवराज का आश्रय लेकर किया होगा और कीर्तिशाली बन गया होगा दिङ्नाग, प्रव्रज्या, भिक्षुणी आदि का उल्लेख बुद्धप्रभाव को प्रकट करता है शु ग-काल तक यह प्रभाव मध्य भारत मे रहा है वासवदत्ता के अपहरण के समय प्रच्छन्नवेष मे निर्ग्रन्थ भिक्षुओ का प्रवेश होने लग गया था, अन्यथा, विक्रम की समुन्नति से कालिदास की कला उल्लेखरहित नही रहती अस्तु, यहाँ हमारा अभिप्राय तर्कों और उदाहरणो से विस्तार करना नही है कालिदास की तरह ही विक्रम भी विद्वज्जनो की विचार-विश्लेषण की परिधि मे परिभ्रमण कर रहा है विक्रमादित्य के विषय मे भी दो विचारधाराएँ हैं प्रथम धारा विक्रम को ई० सन् पूर्व ५७ वर्ष मे स्वीकार करती है, और दूसरी द्वितीय चन्द्रगुप्त को ही एकाधिकार प्रदान करती है यह आज से नही शताब्दियो पूर्व से है पिछले विद्वानो को इस द्वैत का पूर्ण ज्ञान रहा है, किन्तु जो लोग स्मिथ को मील का पत्थर मानकर अपनी प्रज्ञा के प्रयास की परिधि केन्द्रित कर देते हैं उनके ज्ञान की परप्रेरितावस्था पर खेद प्रकट करना भी निरर्थक है ये द्वितीय चन्द्रगुप्त को छोडकर अपने ज्ञान की दौड को आगे का श्रम ही स्वीकार नही करते
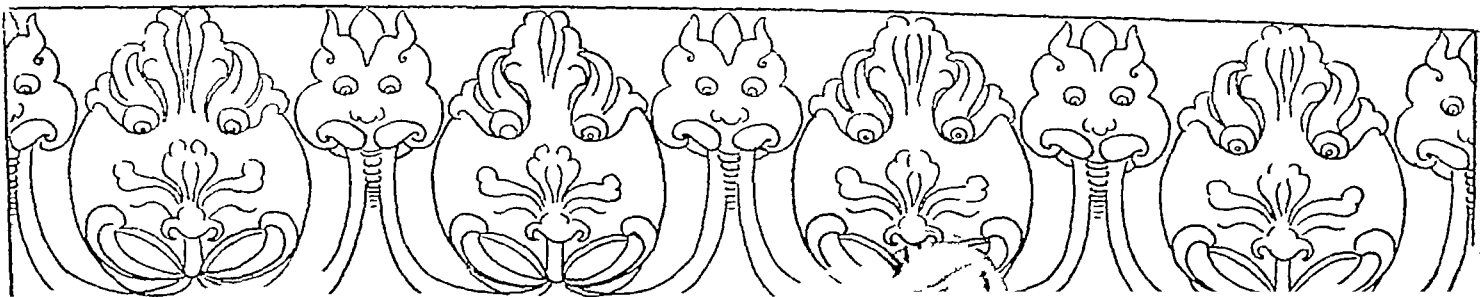
आज से बहुत पूर्व ११ वीं सदी में सोमदेव ने कथासरित्सागर की रचना की है उस समय सोमदेव को दो विक्रम होने का पूर्ण ज्ञान था यह ग्रंथ द्वितीय विक्रम के पश्चात् ही बना है उस समय यदि प्रथम विक्रम की ख्याति न होती तो वह एक ही का उल्लेख कर सकता था उसे काल्पनिक—भ्रमविस्तार की आवश्यकता क्यों होती ? इस कथाग्रंथ के रचना-काल में सोमदेव यह स्पष्ट जानता है कि उज्जैन का विभुत नरेश विक्रम है और पाटलिपुत्र का अन्य विक्रम भी है उक्त कथाग्रंथ के १८ वें लम्बक प्रथम तरंग में स्पष्ट है—

(क) उज्जयिन्यां सुतो शूरो महेन्द्रादित्यभूपतेः ।
(ख) आक्रमिष्यति सद्वीपां पृथिवीं विक्रमेण यः ।
म्लेच्छसंघान् हनिष्यति ।
(ग) भविष्यत एवैष विक्रमादित्यसंज्ञकः ।

इस तरह विभिन्न स्थानों पर उज्जैन के विक्रम का उत्कृष्ट वर्णन किया है आगे इसी लम्बक के तृतीय तरंग में विक्रम की विजययात्रा से वापिस उज्जैन पहुँच जाने पर उसके सेनानी विक्रमशक्ति ने उन अनेक राजाओं का जो स्वागतार्थ उपस्थित थे वर्णन किया है यह वर्णन तत्कालीन स्थिति जानने में सहायक हो सकता है

गौडः शक्ति कुमारोऽयम् कर्णाटोऽयं जयध्वज ।
लाटो विजयवर्माऽयम् काश्मीरोऽयं सुनन्दन ।
गोपाल सिन्धुराजोऽयम् भिल्लो विन्ध्यबलोऽप्ययम् ।
निर्मूकः पारसीकोऽयम् नृप प्रणमति प्रभो ।"

इन विविध देशीय नरेशों के प्रणाम-परिचय के पश्चात्—

सम्राट सम्मानयामास सामन्तान्सैनिकानपि ।

सम्राट् विक्रम ने सामन्तों और सैनिकों का सम्मान किया है इस प्रकार १८ वां लम्बक अवंतीपति के वर्णन से भरा हुआ है और उक्त ग्रंथ में चौथी तरंग एवं सप्तम लम्बक में स्वतंत्र रूप से लिखा है कि—'विक्रमादित्य इत्यासीद्राजा पाटलिपुत्रके' यानी पाटलिपुत्र में राजा विक्रम था यहां सम्राट्' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है तथा—'अस्ति पाटलिपुत्राख्या भुवोऽलंकरणपुरम् तत्र विक्रमतुङ्गाख्यो राजा' आदि

इस प्रकार विक्रम के दो होने की जानकारी ११वीं सदी के सोमदेव को अवश्य थी क्षेमेन्द्र और गुणाढ्य भी यह जानते थे ये ग्रंथकार चन्द्रगुप्त द्वितीय के बाद हैं यदि एक मात्र चन्द्रगुप्त द्वितीय ही विक्रम होता तो इन्हें उज्जैन के और पाटलिपुत्र के दो विक्रमों की चर्चा करने की आवश्यकता नहीं रहती ये आज से सैकड़ों साल पहिले उत्पन्न ग्रंथकार हैं स्मिथ की भ्रान्ति इन्हें स्पर्श नहीं कर सकती है और इनके उल्लेख को महज कथा कहकर टाला नहीं जा सकता ऐसी स्थिति में स्मिथ हार्नेस कीथ आदि आधुनिकों की भ्रान्त धारणाओं का कोई मूल्य नहीं रहता विक्रमादित्य को केवल विदेशी विद्वानों की कसौटी पर नहीं लगाया जा सकता उसके तथ्यान्वेषण के लिये प्राचीन साहित्य का अनुशीलन आवश्यक है

संस्कृति के कथाग्रंथों काव्यवर्णनों की तरह ही जैन-साहित्य के अनेक ग्रंथों में जिनकी संख्या ५ से अधिक है स्वतंत्र उज्जयिनीपति विक्रम की विभिन्न चर्चाएँ आई हैं कालक कथा आदि को केवल कथा-ग्रंथ कहकर हम उपेक्षित नहीं कर सकते इन सभी पर तथ्यान्वेषक दृष्टि से विचार किया जाना जरूरी है ये अपना महत्त्व रखते हैं तथा इतिहास और तथ्य पर आधारित है

मुनि श्रीनगराजजी
अणुव्रतपरामर्शक

महावीर और बुद्ध—जन्म व प्रव्रज्यायें

भगवान् महावीर की मौलिक जीवन-गाथा आचाराङ्ग सूत्र और कल्प-सूत्र, इन दो आगमो मे मिलती है टीका, चूर्णि, निर्युक्ति और काव्य ग्रथो मे वह पल्लवित होती रही है भगवान् बुद्ध का प्रारम्भिक जीवन-वृत्त मुख्यत "जातकनिदानकथा" मे मिलता है वैसे तो समग्र आगम व त्रिपिटक ही दोनो की जीवन-गाथा के पूरक है, पर 'जीवनचरित की शैली मे उनकी यत्किञ्चित् जीवन-गाथा उक्त स्थलो मे ही उपलब्ध है दोनो युग-पुरुषो के जन्म व दीक्षा के वर्णन परस्पर समान भी है और असमान भी वे समानताएँ जैन और बौद्ध सस्कृतियो के व्यवधान को समझने मे बहुत महत्त्वपूर्ण है इसके अतिरिक्त उन वर्णनो से तत्कालीन लोक-धारणाओ, सामाजिक-प्रथाओ और धार्मिक परम्पराओ पर भी पर्याप्त प्रकाश पडता है यहाँ आचाराग एव कल्पसूत्र तथा जातकनिदानकथा के आधार से ही दोनो धर्मनायको का जन्म से प्रव्रज्या तक का एक गवेषणात्मक अवलोकन प्रस्तुत किया जा रहा है

महावीर और बुद्ध—दोनो ही अपने प्राग्भव के अन्तिम भाग मे अपने अग्रिम जन्म को सोच लेते हैं दोनो के सोचने मे जो अन्तर है, वह यह कि—महावीर सोचते है 'मेरा जन्म कहाँ होने वाला है' और बुद्ध सोचते है—मुझे कहाँ जन्म लेना चाहिये '

महावीर का जम्बूद्वीप एक लाख योजन का है और बुद्ध का जम्बूद्वीप दस हजार योजन का

महावीर जम्बू-द्वीप के दक्षिण भारत मे उत्तर-क्षत्रियकुडपुर मे जन्म लेते है, बुद्ध जम्बू-द्वीप के 'मध्य देश' मे कपिलवस्तु नगर मे जन्म लेते है दोनो ही भूभाग बहुत निकट के है केवल अभिधाएँ भिन्न-भिन्न है महावीर ब्राह्मणकुल मे देवानन्दा के गर्भ मे जन्मते है इन्द्र सोचता है—अरिहन्त क्षत्रिय कुल को छोड ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र इन कुलो से न कभी उत्पन्न हुये, न होगे श्रेयस्कर है मुझे देवानन्दा का गर्भ हरण कर, भगवान् को त्रिशला क्षत्रियाणी के उदर मे स्थापित करना इन्द्र की आज्ञा से हरिणगमेषी देव वैसा कर देते हैं बुद्ध स्वय सोचते है—बुद्ध, ब्राह्मण और क्षत्रिय कुल मे ही जन्म लेते है, वैश्य और शूद्र कुल मे नही अत मुझे क्षत्रिय कुल मे ही जन्म लेना है

यहाँ इन्द्र ने केवल क्षत्रिय कुल मे ही तीर्थंकर का उत्पन्न होना माना है और बुद्ध ने क्षत्रिय और ब्राह्मण इन दो कुलो मे बुद्ध का उत्पन्न होना माना है

गर्भाधान के समय महावीर की माता सिंह, गज, वृषभ आदि चौदह स्वप्न देखती है, बुद्ध की माता केवल एक स्वप्न देखती हैं—हाथी का

स्वप्नपाठक प्रात महावीर के लिये चक्रवर्ती या जिन होने का और बुद्ध के लिये चक्रवर्ती या बुद्ध होने का फलादेश करते हैं
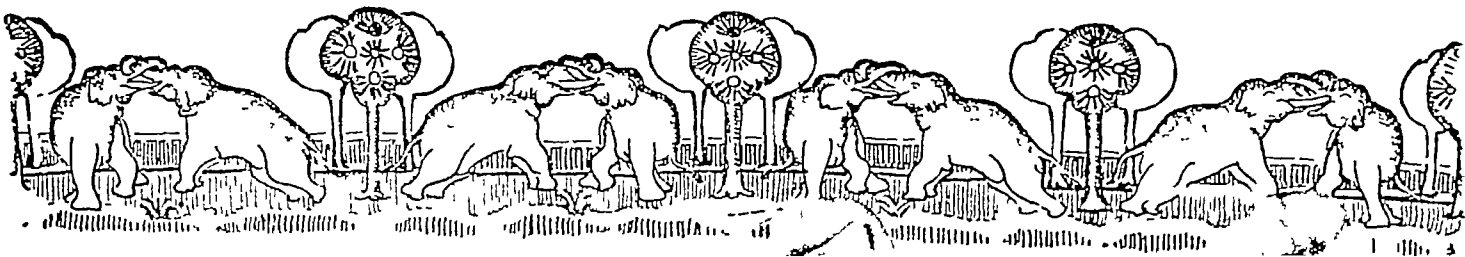
अग्रप्रसंग पर स्त्री का संसर्ग दोनों ही युगपुरुषों के बताया गया है। आचारांग और कल्पसूत्र का वर्णन अधिक विस्तृत और अधिक अतिशयप्रधान है अपेक्षाकृत जातक-अर्थकथा के। शुद्धोदन सद्य जात शिशु बुद्ध को 'काल-देवल' तपस्वी के चरणों में रखना चाहता है पर इसके पूर्व बुद्ध के चरण तपस्वी की जटाओं में लग जाते हैं इसलिये कि बुद्ध जन्म से ही किसी को प्रणाम नहीं किया करते। महावीर की जीवनचर्या में ऐसी कोई घटना नहीं घटती है पर नियम तीर्थंकरों का भी यही है कि वे किसी पुरुषविशेष को प्रणाम नहीं करते।

महावीर के अङ्कधाय, मज्जनधाय आदि पाँच धाएँ और बुद्ध का निर्दोष धाएँ लालन-पालन करती हैं।

जातक-अर्थ-कथा में प्रथमोपात्त बीजारोपण-समारोह का प्रेरक चित्रण किया है। वृक्षारोपण समारोह (वनमहोत्सव) अभी अभी भारतवर्ष में चला है। प्रधानमन्त्री, राष्ट्रपति या अन्य बड़े लोग एक बार पानी सींचकर वृक्षारोपण करते हैं। उस *चित्रण के अनुसार बीज रोपण समारोह में एक सहस्र हलवाहकों के साथ राजा, मंत्री आदि अपने हाथों से हल जोतते हैं।*

महावीर भोगसमर्थ होकर और बुद्ध १६ वर्ष के होकर दाम्पत्य-जीवन प्रारम्भ करते हैं। जातकअर्थकथायें शीत, ग्रीष्म, वर्षा इन तीनों ऋतुओं में पृथक्-पृथक् तीन प्रासाद बतलाती हैं। आचारांग व कल्पसूत्र पृथक् पृथक् ऋतुओं के पृथक्-पृथक् प्रासाद न कहकर वैभवशीलता व्यक्त करते हैं। अन्यान्य प्रकरणों से भी पता चलता है कि श्रीमन्त लोग पृथक्-पृथक् ऋतुओं के लिये पृथक्-पृथक् भवन बनाते हैं और ऋतु के अनुसार उनमें निवास करते हैं।

बुद्ध के मनोरञ्जन के लिये ४४ सहस्र नर्तिकाओं की नियुक्ति का वर्णन है।

शाला आदि में जाकर शिल्प व्याकरण आदि का अध्ययन न महावीर करते हैं और न बुद्ध। महावीर एक दिन के लिये शाला में जाते हैं और इन्द्र के व्याकरण सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर देकर अपनी ज्ञानगरिमा का परिचय देते हैं। बुद्ध एक दिन शिल्पविशारदों के बीच अपनी शिल्प-दक्षता का परिचय देते हैं।

प्रतिबोध के समय पर महावीर को लोकान्तिक देव आकर प्रतिबुद्ध करते हैं। बुद्ध को देव आकर वृद्ध, रोगी व मृत के रूप में क्रमशः प्रतिबुद्ध करते हैं।

दीक्षा से पूर्व महावीर वर्षीदान करते हैं। बुद्ध के लिये ऐसा उल्लेख नहीं है।

नगर प्रवास से बाहर होते ही 'मार' बुद्ध से कहता है— आज से सातवें दिन तुम्हारे लिये 'चक्ररत्न' उत्पन्न होगा अतः घर छोड़कर मत निकलो। चक्रवर्ती होने वालों के लिये 'चक्ररत्न' की परिकल्पना जैन परम्परा में भी मान्य है।

महावीर का दीक्षा-समारोह इन्द्र आदि देव व सिद्धार्थ आदि मनुष्य आयोजित प्रकार से मनाते हैं। वे भगवान् को अलंकृत करते हैं, शिबिकारूढ करते हैं, जुलूस निकालते हैं, यावत् दीक्षा-ग्रहण-विधि सम्पन्न कराते हैं। जिस रात को बुद्ध का महाभिनिष्क्रमण होता है उसी दिन इन्द्र के आदेश से बुद्ध के स्नानोत्तर काल में देव आते हैं और अन्य उपस्थितों से अदृष्ट रहकर ही बुद्ध की वेश-सज्जा करते हैं।

दोनों प्रकरणों को एक साथ देखने से लगता है कि आगमों की दीक्षा-शैली का अनुसरण 'जातक-अर्थ-कथा' में हुआ है। बुद्ध के रहस्यात्मक दीक्षा प्रकरण में देव-गमन को यथाशक्य ही जोड़ा जा सकता था, पर यह कमी भी बौद्ध कथाकार ने तब पूरी की जब बुद्ध रात्रि के नीरव वातावरण में अपने अश्व को बढ़ाये हुए चले जा रहे थे, वहाँ साठ-साठ हजार देवता आगे और हाथों में मशाल लिये चलते हैं।

महावीर ने दीक्षा-ग्रहण के समय पञ्चमुष्टिक लोच किया। बुद्ध ने अपना केश जूट तलवार से काटा। महावीर के केशों को इन्द्र ने ग्रहण कर क्षीर-समुद्र में विसर्जित किया। बुद्ध ने अपने कटे केश जूट को आकाश में फेंका। योजन भर ऊँचाई पर वह अधर में टिका। इन्द्र ने उस केशों को रत्नमय करण्ड में ग्रहण कर त्रायस्त्रिंश लोक में चूडामणि चैत्य का स्थापन किया। दीक्षित होने के पश्चात् पुनः न कभी केश न महावीर के बढ़ते हैं, न बुद्ध के। दोनों ही परम्पराओं में इसे अतिशय माना है।

जिस अश्व पर बुद्ध सवार होकर घर मे निकलते है, उसका नाम कन्थक था, वह गर्दन से लेकर पूंछ तक अट्ठारह हाथ लम्वा था

एक सहस्र कोटि हाथियो जितना वल बुद्ध मे वतलाया गया है जैन परम्पराओ के अनुमार चालीस लाख अष्टापद का वल एक चक्रवर्ती मे होता है और तीर्थंकर तो अनन्त वली होते हैं महावीर ने जन्मजात दशा मे ही मेरु को अगूठे मात्र से ही प्रकपित कर इन्द्रादि देवो को सदेहमुक्त किया बुद्ध के जीवन-चरित मे ऐसी कोई घटना नही मिलती, पर योग-वल से यदा-कदा वे नाना चामत्कारिक स्थितियाँ सम्पन्न करते हैं

महावीर और बुद्ध के जन्म और प्रव्रज्या प्रकरणो का यह एक अवलोकन मात्र है इतने मात्र से उनके पूर्ण अध्ययन की अपेक्षा पूरी नही हो जाती कहना चाहिए, वे प्रकरण शोध-सामग्री के अनूठे भडार हैं गवेषक अपनी जिज्ञासा के अनु-कूल वहुत कुछ पा सकता है

बद्रीप्रसाद पंचोली
एम० ए० (हिन्दी संस्कृत) साहित्यरत्न

महावीर द्वारा प्रचारित आध्यात्मिक गणराज्य और उसकी परम्परा

स्वतन्त्रता समता और भ्रातृत्व पर आधारित गणतन्त्र को आधुनिक संसार ने सबसे अधिक विकसित तथा जनकल्याण कारी व्यवस्था घोषित किया है इस प्रकार की व्यवस्था का परीक्षण प्राचीन भारत में हो चुका है वर्द्धमान महावीर और भगवान् बुद्ध के समय भारत में अनेक गणराज्य थे जिनके विषय में जैन और बौद्ध साहित्य से पर्याप्त सूचना मिलती है अवदानशतक में गणाधीन व राजाधीन राज्यों का उल्लेख मिलता है[1] आचारांगसूत्र में भी राजारहित गणशासित राज्यों का उल्लेख मिलता है[2] इसी काल की अन्य रचना पाणिनीय अष्टाध्यायी भी गणशासन के विषय में महत्त्वपूर्ण सूचना देती है महाभारत में गणराज्यों को नष्ट करने वाले पारस्परिक फूट आदि दोषों का बड़े विस्तार से वर्णन मिलता है[3] सारे भारतीय साहित्य में प्राप्त इसी तरह के उल्लेखों का अध्ययन करने से गणराज्यों की एक सुदृढ़ व विकसित परम्परा का पता चलता है जिसको महावीर स्वामी व महात्मा बुद्ध की महत्त्वपूर्ण देन है

आर्यजाति के प्राचीनतम वैदिक ग्रन्थों से गणजीवन के विकास के विषय में महत्त्वपूर्ण सूचना मिलती है ऋग्वेद में गण[4] गणपति[5] आदि ही नहीं जनराज्[6] शब्द भी प्रयुक्त हुआ है सांमनस्य सूक्त में स्वतन्त्र सहजीवन के विकास की ओर संकेत किया गया है जिसे विश्वव्यवस्था का आधार बनाया जा सकता है स्वराज्य सूक्त में[8] प्रजातान्त्रिक व्यवस्था के विषय में व्यापक जानकारी प्राप्त की जा सकती है इस सूक्त के ऋषि राहूगण गोतम हैं ऋषिवाची शब्द सर्वत्र ही मन्त्रिमन्त्रा के अर्थज्ञान की कुंजी होता है राहूगण गोतम नाम भी इसी तरह इस सूक्त के अर्थ पर प्रकाश डालता है रह (त्याग करना) धातु से रहू शब्द निष्पन्न है जिसका अर्थ है त्यागी यानी आत्मत्यागियों में श्रेष्ठ गिने जाने वाले व्यक्तियों का गण या समूह (राहूगण) ही स्वराज्य का निर्माण कर सकता है यही नहीं स्वराज्य के निर्माता गोतम-वंशजों में श्रेष्ठ भी होते हैं

यजुर्वेद में न केवल राष्ट्र के जागरूक व आदर्श नागरिक बनने की भावना[9] के ही दर्शन होते हैं वरन् प्रजातंत्र को साधुभाव भी कहा गया है—

---

1. केचिद् देशा गणाधीना केचिद्राजाधीना —अवदानशतक [illegible]
2. आचारांग सूत्र [illegible]
3. महाभारत शान्ति पर्व राजधर्मप्रकरण
4. ऋग्वेद [illegible] आदि
5. ऋग्वेद [illegible]
6. ऋग्वेद [illegible]
7. ऋग्वेद [illegible]
8. ऋग्वेद [illegible]
9. वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः —यजुर्वेद [illegible]

स्वराडसि सपत्नहा सत्रराडसि अभिमातिहा जनराडसि रक्षोहा सर्वराडसि अमित्रहा[1]

अथर्ववेद मे शासक के वरण व अभिषेक समय की मर्यादाओ का उल्लेख मिलता है ब्रह्मगवी[2] व ब्रह्मजाया[3] के नाम से राज्य की आध्यात्मिक शक्तियो का उल्लेख भी किया गया है, जिन्हे प्रजा की सामूहिक भावनायें राज्य मे निक्षिप्त करती हैं पृथिवीसूक्त मे सत्य, ऋत, दीक्षा, तप, ब्रह्म, यज्ञ और वृहत् राष्ट्र के आधारभूत तत्त्व कहा गया है[4] वैदिक राज्य-व्यवस्था का वर्णन करना यहाँ अभीष्ट नही है, केवल इतना स्वीकार किया जा सकता है कि गणव्यवस्था का आदर्श भी भारतीयो को वेदो से मिला है

ऋग्वेद मे दो प्रकार के गणो का वर्णन मिलता है जिनमे एक है ऋभुओ का गण और दूसरा मरुतो का गण प्रथम सारस्वतगण (Educational Republics) है और दूसरा सैनिक गण मरुत् देवताओ मे वैश्यवर्ण के कहे गये है अत इनका गण सैनिक गण होते हुए भी कृषि व गोपालन की समृद्धि पर निर्भर कहा जा सकता है ये दोनो प्रकार के देवगण भारतीय गणराज्यो के प्रेरणास्रोत कहे जा सकते है

ऋभुगण सुन्धवा के पुत्र[5] ऋभु, विभु और वाज का है इनका विस्तृत विवेचन स्वतत्र निवन्ध का विषय है इस विषय मे ज्ञातव्य सक्षेप मे इस पकार हैं—'ऋभु पहले मनुष्य थे वाद को ऋत का आश्रय लेकर उन्होने देवत्व प्राप्त किया[6] ऋत की साधना ऋभुगण का आदर्श है[7] देवत्व सदा से मनुष्यो का लक्ष्य रहा है ऋभुओ ने ऋतसाधना द्वारा देवत्व प्राप्त किया था ऋत की साधना के लिये त्रैत-भावना आवश्यक है साधक, सिद्ध व साध्य का त्रैत प्राचीन ग्रथो मे अनेक प्रकार से उल्लिखित है ऋभुत्रयी मे वाज है साधक, विभु सिद्ध और ऋभुत्व साध्य शिक्षणव्यवस्था मे वाज का सम्वन्ध विद्यार्थी से है विद्यार्जन वाजपेय (वाज को पेय बनाना या पीना) यज्ञ तथा विद्याप्राप्त स्नातक को वाजपेयी कहा जाता है विभु गुरु है और ऋभुत्व प्राप्त करने वाला ऋभु कहा जाता है विद्यार्जन की प्रक्रिया को नेम (अधूरे ज्ञान वाला) का भार्गव (तेजस्वी, ज्ञानसम्पन्न) हो जाना भी कहा जा सकता है इस विषय मे नेमभार्गवऋषिदृष्ट ऋग्वेद का सूक्त[8] विचारणीय है सामूहिक दृष्टि से वाज, विभु और ऋभु का एक गण वनता है ऋभुगण द्वारा सर्वदुघा गौ का निर्माण,[9] एक चमस के चार चमस कर देना[10] आदि बातो को यहाँ अप्रासगिक समझ कर छोड दिया जाता है

ऋभुवो के गण के आदर्श पर ऋत की साधना के केन्द्र शिक्षा-आश्रमो का विकास हुआ था जिन्हे सारस्वतगणराज्य[11] कहा जा सकता है सिकन्दर के समय कठो का गण वार्ताकृषि-उपजीवी सघ था युद्धकाल मे सिकन्दर का सामना करने के लिये यह आयुधजीवीसघ बन गया था । इसका प्रारम्भ सारस्वत गण के रूप मे हुआ था जिसमे यजुर्वेद की काठकसहिता का प्रवचन होता था काठकसहिता व कठोपनिषद् इस गण की चिन्तनपरम्परा के अवशेष हैं नैमिषारण्य के ऋषिगण की स्मृति धार्मिक कथाओ मे बनी हुई है बादरायण व्यास के विशाल पुराण-साहित्य को सुरक्षित बनाये रखने का श्रेय इसी गण को हैं, जिसके ८८हजार ऋषि आरण्यकजीवन बिताते हुए साहित्य व धर्म की चर्चा मे समय बिताया करते थे प्राप्य प्राचीन

---

१ यजुर्वेद ५।२४
२ अथर्ववेद ५।१८
३ अथर्ववेद ५।१७
४ अथर्ववेद १२।१।१
५ ऋग्वेद ४।३५।१
६ ऋग्वेद ३।६०।३, ३।६०।१, ४।३५।८, ४।३३।३, ४।३५।३, १।११०।४
७ ऋतेन भान्ति इति ऋभव —यास्क, निरुक्त ११।२।३, ऋग्वेद ४।३४।२
८ ऋग्वेद ८।१००
९ ऋग्वेद ४।३३।८, ४।३४।९, ४।३६।४
१०. ऋग्वेद ४।३५।२,५, ४।३६।४
११ सारस्वत गणराज्यों के लिये द्रष्टव्य लेखक का 'प्राचीन भारत के सारस्वत गणतन्त्र' नामक निवन्ध 'त्रिपथगा वर्ष ७ अक ११
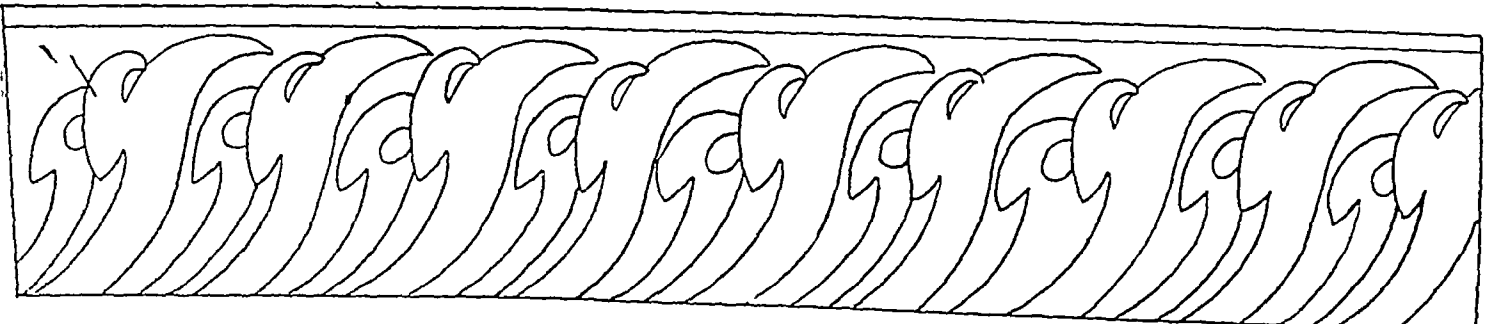
भारतीय साहित्य का रक्षण भी ऐसे ही गणों में हुआ है दक्षिण में संगम' परम्परा द्वारा तमिल साहित्य की अभिवृद्धि हुई है ये भी सारस्वतगण ही कहे जा सकते हैं राज्य के आवश्यक अंग प्रभुसत्ता समूहभावना (Civic Sense) और तन्त्र (व्यवस्था) के दर्शन इन शैक्षणिक संस्थाओं में होते हैं इसीलिए इन्हें गणराज्य कहना उपयुक्त है

तक्षशिला नालन्दा आदि प्रसिद्ध विद्या-केन्द्र भी गणतांत्रिक आदर्श पर संघटित हुए थे भारत के पश्चिमी द्वार की अर्गला खोल कर आक्रान्ता सिकन्दर का स्वागत करने वाला आम्भीक तक्षशिला के विद्रोही आचार्य चाणक्य या चन्द्रगुप्तादि छात्रों को जो प्रत्यक्ष रूप में गान्धारनरेश की नीति का विरोध कर रहे थे पकड़ नहीं सकता था दुष्यन्त वैखानसों से यह सूचना मिलने पर—'आश्रममृगोऽयं राजन् ! न हन्तव्यो न हन्तव्यः' आदेश से उपरत होकर आश्रम की प्रभुसत्ता के सम्मान में रथ से उतर गया था राज्यों में राजा स्वयं विद्वत्सभाओं की योजना करते थे जिन्हें प्रभुसत्ता के अभाव के कारण स्वायत्तसंस्था ही कहा जा सकता है गणराज्य नहीं

ऋग्वेद में मरुतों के देवगण का विस्तार से उल्लेख मिलता है मरुतों की संख्या ४९ है यजुर्वेद में इनके नाम भी मिलते हैं[1] ये सब एक ही पिता रुद्र के पुत्र हैं[2] गाएँ इनकी प्रभूत समृद्धि की द्योतक हैं अतः इनको 'पृश्निमातरः'[3] या गोमातरः[4] विशेषण भी दिये गए हैं ये सब भाई हैं न इनमें कोई ज्येष्ठ है न कनिष्ठ[5] ये सब समान विचार वाले हैं[6] और एक ही तरह से इनका पोषण हुआ है इनकी पैतृकपरम्परा [योनि] व नीड भी समान हैं[7] वे उत्तम पत्नियों वाले (भद्रजानय)[8] हैं प्रतिभाशाली हैं स्वयंदीप्त हैं रथों पर चलते हैं[9] अपरिमित शक्ति से सम्पन्न हैं[11] और बच्चों की तरह क्रीडालु[1] हैं मरुतों का एक अन्य विशेषण सिन्धुमातरः[13] है

मरुतों का कार्य वही है जो देवराज इन्द्र अग्रणी अग्नि या सम्राट् वरुण का है मरुतों के कार्य इन्द्रिय [इन्द्र के][14] व इन्द्र के कार्य मरुतों के [मरुत्वती][15] कहे गए हैं मरुत् दिव्यगामक हैं[16] अपने नाम द्वारा ही वे पर्वतों का भेदन करते हैं[17] और इन्द्र की शत्रुविजय की सामर्थ्य बढ़ा देते हैं[1] पुराणों से पता चलता है कि इन्द्र और मरुत् एक दूसरे के विरोधी भी रहे हैं ऋग्वेद के एक मंत्र से[19] इस वैमनस्य की सूचना मिलती है तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार मरुतों

१ यजुर्वेद १७।८०–८५
२ ऋग्वेद ८।९।१२ ५।५७।१ ५।५।१९, ५।७।५
३ ऋग्वेद ५।५७। २, १।५३।६, १।८५।२ १।२३।१ ८७।७ ८।७।३, ६।३४।५
४ ऋग्वेद १।८५।३
५ ऋग्वेद ५।६०।६ ५।७।५
६ ऋग्वेद ८।२।१
७ ऋग्वेद ७।५८।१
८ ऋग्वेद १।१६५।१ ७।५६।१
९ ऋग्वेद ५।७१।४
१ ऋग्वेद १।८८।१ ३।८७।१
११ ऋग्वेद ५।५ । १।१६७।६
१२ ऋग्वेद १।१६६। ७।५६।१६
१३ ऋग्वेद १ ।७८।६
१४ ऋग्वेद १।८५।
१५ ऋग्वेद १। ।४
१६ ऋग्वेद ५।६ ।८ ७।६६।१ ५।५७।५
१७ ऋग्वेद १। ८।
१८ ऋग्वेद २।३ ।६ १।८५।२ ५। ६। १।१६५।११ १।१ ।१
१९ ऋग्वेद १।१७०।१

ने इन्द्र का साथ छोड दिया था,[1] परन्तु इन्द्र को ऋग्वेद मे प्रधान माना गया है[2] वह सम्माननीय है और मरुद्गण उसके पुत्र के समान है[3]

मरुतो के देवगण के सक्षिप्त वर्णन से निम्न निष्कर्ष निकाले जा सकते है

(१) समान कुल-परम्परा, पैतृक सवध आदि के द्वारा गण मे एकता बनी रह सकती है

(२) सबको एक सूत्र मे बाधने वाली वस्तु धन-समृद्धि है द्रव्यादि का समान वितरण, पशुधन के प्रति पूज्यभाव एकता के अन्य कारण है

(३) मातृभूमि का प्रेम एकता को जन्म देता है मरुत एक ही सिन्धु-सिचित भूमि की सन्तान (सिन्धुमातर[4]) कहे गए हैं

(४) गणप्रमुखो तथा गणसदस्यो मे कोई बडा-छोटा नही होता, उनमे विचार वैभिन्य नही होता, सबको सन्तति के विकास के समान साधन उपलब्ध होते हैं

(५) गणसदस्यों की पत्नियाँ उत्तम व सहकर्मिणी होती हैं क्रीडा, उत्सव आदि की सम्यक् व्यवस्था भी एकता का कारण है

(६) राजा के होते हुए भी गणो की सत्ता रह सकती है वे अपनी शक्ति व एकता के स्वर से राजा की सामर्थ्य को शतगुणित कर दिया करते है महामात्य चाणक्य ने सघलाभ को राजा के लिये सर्वोत्तम लाभ माना है[5]

(७) गणो से सम्राट् का वैमनस्य भी हो सकता है, परन्तु गण राजा के पुत्र के समान हैं राजा को उन्हे नष्ट करने का प्रयत्न नही करना चाहिए

भारत मे गणो का विकास इन्ही मान्यताओ को लेकर हुआ था महाभारतयुद्ध के पहले तक भारत मे गणराज्य व राजतत्र साथ-साथ पनप रहे थे उग्रसेन के राज्य मे अन्धक व वृष्णि गणराज्य अपना स्वतत्र अस्तित्व रखते थे भारत मे धर्म को सर्वोपरि माना गया है जिसके प्रति राजा व गण दोनो ही उत्तरदायी है इस प्रकार यहाँ न राजा ही निरकुश थे और न गणतत्र ही राजा धर्म और प्रजा के प्रति इस सीमा तक उत्तरदायी था कि उसे सबसे अधिक पराधीन व्यक्ति कहा जा सकता है इसी तरह गणतत्र इतने स्वतत्र थे कि वह स्वतत्रता ही वन्धन बन कर उन्हे सयत बना दिया करती थी

महाभारत युद्ध के वाद भारत मे जिस युग का प्रारभ हुआ, उसमे सघशक्ति की प्रधानता (सघे शक्ति कलौ युगे) स्वीकार की गई है सच तो यह है कि भारत का कलियुग का ५ हजार वर्षों का इतिहास सघशक्ति के उत्थान, पतन व पुनरुत्थान का इतिहास कहा जा सकता है प्रबल व समर्थ राज्यो के विकास के वाद गणजीवन की ओर अभिरुचि का एक कारण महाभारत के भीषण युद्ध मे भारत के प्रतिष्ठित राजपरिवारो का नष्ट हो जाना भी है इसके पहले भी राजतत्र के साथ पनपने वाले गणतत्रो के पास राज्य के पारिभाषिक सभी अधिकार थे, परन्तु महाभारत के बाद ये गणसस्थाएँ राज्य के स्थानापन्न होकर विकसित हुई और उनकी सुव्यवस्था व सामर्थ्य का प्रमाण इस बात से मिलता है कि महाभारतपूर्व भारत पर आक्रमण करने वाले कालयवन के बाद सिकन्दर के समय तक भारत पर आक्रमण करने का दुस्साहस कोई विदेशी आक्रान्ता न कर सका

---

१ तैत्तिरीयब्राह्मण २।७।११।१
२ ऋग्वेद १।२३।८
३ ऋग्वेद १।१००।५
४ ऋग्वेद १०।७८।६
५ कौटिलीय अर्थशास्त्र ११।१।१
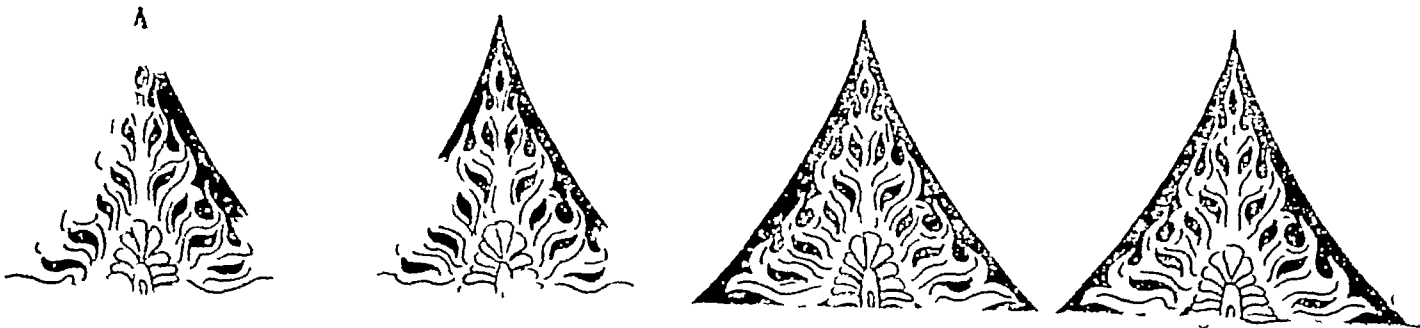
जैन और बौद्ध साहित्य में पूर्व के कुछ गणराज्यों के विषय में विस्तृत सूचना मिलती है शेष सारे भारत में फैले हुए गणराज्यों और उनके कार्यों के प्रति भारतीय साहित्य मौन है केवल कहीं-कहीं उनके नाम मात्र मिल जाते हैं महाभाष्य में एक स्थान पर क्षुद्रकों की महत्त्वपूर्ण विजय की ओर[1] महर्षि पतञ्जलि ने संकेत किया है सम्भवत यह विजय क्षुद्रकमालवों की संयुक्त सेना ने सिकन्दर पर प्राप्त की हो जिसका उल्लेख कुछ इतिहासकारों ने[2] किया है

आरट्ट (वाहीक) क्षुद्रक मालव वाटधान आभीर अपरीती (अफरीदी) कमसण्डिक (समरकन्द) कठ गान्धार, सिन्धु सौवीर ब्राह्मण राज्य मद्र तुषार दद पल्लव हारहूण शक केकय दशनामिक (दशनामी) काम्बोज दरोरक उम्बुर तामर, हसमार्ग, शिवि वसाति उरसा अम्बष्ठ यौधेय मत्स्य शाक्य लिच्छिवि आदि उत्तरी भारत के प्राचीन गणराज्यों के नाम हैं वर्द्धमान महावीर और गौतम बुद्ध के समय इनमें से कई गणराज्य बड़े ही प्रबल थे परन्तु सामान्यतया यह काल गणराज्यों के ह्रास का था जनपदों में राजतन्त्र शक्तिमान् हो रहे थे मगध के राज्य से आतंकित होकर उसके सीमावर्ती कई गणराज्यों ने मिल कर वज्जिसंघ की स्थापना की थी जिसकी राजधानी वैशाली थी इस संघ की प्रबलता का प्रमाण यह है कि तत्कालीन राजा संघ के विभिन्न गणों में विवाह करके उनकी मित्रता के आकांक्षी थे वत्सराज उदयन वैदेहिपुत्र कहा गया है बिम्बसार की रानी वासवी भी विदेहकुमारी थी शाक्य शुद्धोदन की माया और महामाया नामक स्त्रियाँ लिच्छिवि थीं कोसलराज प्रसेनजित की पत्नी शाक्य कन्या थी

महात्मा बुद्ध ने लिच्छिवियों के परिश्रम पारस्परिक-सम्मानभाव भ्रातृत्व शालीनता धार्मिकता धर्मपरिपालन निर्विलासिता निरलसता आदि गुणों की प्रभूत प्रशंसा की है परन्तु सारे गण ऐसे नहीं थे उनमें गणसदस्यों में मिथ्याभिमान आत्मीयपूरता की भावना विलासिता आलस्य धर्मविहीनता आदि दुर्गुण समाविष्ट हो रहे थे यही कारण था कि एक एक करके समस्त गणराज्य समाप्त हो रहे थे

महात्मा बुद्ध व महावीर स्वामी ने जिन नैतिक आन्दोलनों का समारम्भ किया वे मानवमात्र के लिये थे अतएव उनके लिए गणजीवन ही उत्तम माना जा सकता था इन दोनों ही महापुरुषों ने एक ओर तो गणों के दुर्गुणों की निन्दा की है और दूसरी ओर धर्म संघों की स्थापना करके आध्यात्मिक गणराज्य-परम्परा की नींव डाली है आध्यात्मिक-गणराज्य परम्परा के प्रवर्तक के रूप में बुद्ध व महावीर का योगदान मौलिक व युगान्तरकारी रहा है

वर्द्धमान महावीर काश्यप गोत्रीय ज्ञातृक क्षत्रिय कुल के थे[3] उन्हें सर्वोत्कर्षजित महावीर ज्ञातृपुत्र[4] कहा गया है ज्ञातृ वज्जिसंघ के अष्टकुलों (अट्ठकुल) में प्रमुख गिने जाते थे इनकी माता लिच्छिवि वंश की थी महावीर को गणपरम्परा का ज्ञान अपने परिवार में ही हो गया होगा अत कठोर तपस्या के बाद अर्हत्त्व प्राप्त करके उन्होंने *अपने अनुयायियों को संघ के रूप में प्रबोधित किया अतएव उनको बुद्ध के समय में ही गणी गणाचार्य आदि* नामों से अभिहित किया जाता था[5] कदाचित् प्रारम्भ में ऐसे धर्मसंघों का विरोध हुआ हो धम्मपद से इस प्रकार की सूचना मिलती है

अर्हतां शासनं सम्यु आर्याणां धर्मजीविनाम्
प्रतिक्रोशति दुर्मेधा दृष्टिं निश्रित्य पापिकाम् ।[6]

वैदिक समाज की नींव धर्म-संघ पर आधारित है जिसका रूप आश्रम-व्यवस्था के रूप में प्रतिष्ठित हुआ धर्म का

[illegible]

देवत्व, अमरत्व तथा इन्द्रपद का साधक माना गया है[1] जिसके विना देवता भी सहायता नही करते.[2] उसकी गणना ऋत, सत्य तथा तप जैसी आध्यात्मिक विभूतियो और राज्य, धर्म और कर्म जैसी पार्थिव शक्तियो के साथ की गई है[3] आश्रमव्यवस्था का ह्रास होने पर श्रम को जीवन मे पुन प्रतिष्ठित करने के लिये श्रमणवाद का उदय हुआ

व्यावहारिक जीवन मे श्रम मानवतावाद के विकास मे सहायक होता है व्यावहारिक जीवन की इस श्रम-साधना को जैन ग्रन्थो मे तप का मार्ग[4] कहा गया है यही श्रमसाधना सूक्ष्म शरीर मे जागृत होकर मोक्ष साधिका वनती है

भगवान् महावीर ने अपने सघ के चार वर्ग नियत किये थे—मुनि, आर्यिकागण, श्रावक तथा श्राविकाएँ, इनमे अन्तिम दो मे जैन शासन के अनुयायी ऐसे गृहस्थ स्त्री-पुरुष गिने जाते है जो केवल व्यावहारिक जीवन मे श्रम की प्रतिष्ठा के अनुरागी हो प्रथम दो, वे है जो वीतरागजीवन ग्रहण करके श्रम के व्यावहारिक रूप की प्रतिष्ठा 'शम' मे करें महावीर की तरह बुद्ध का ध्येय भी 'श्रम' की प्रतिष्ठा 'शम' मे करना ही रहा है

शमयिता हि पापाना श्रमण इति कथ्यते[5]

श्रम को शम से भिन्न मान कर जीवन-यापन करने वाले लोगो को महावीर ने 'मिथ्यादृष्टि अनार्यश्रमण'[6] कहा है

श्रम के प्रति बुद्ध और महावीर का यह दृष्टिकोण तत्कालीन परिस्थितियो मे नितान्त दूरदर्शितापूर्ण था उस समय भारतवर्ष मे गणव्यवस्था का पतन हो रहा था और भारत के पडोस मे फारस मे विशाल साम्राज्य जन्म ले रहा था किसी भी क्षण साम्राज्यवादी दृष्टि सम्पूर्ण भारत को आत्मसात् कर सकती थी केन्द्रीय शक्ति के अभाव मे पारस्परिक फूट, विलासिता और आलस्य से जर्जरित गण अपनी रक्षा मे समर्थ नही हो सकते थे अत समाज के कल्याण को अपनी दायाद्य मानने वाले ब्राह्मण विखरी हुई शक्तियो को राजतन्त्र द्वारा केन्द्रित करने का प्रयत्न करने लगे और दूसरी ओर श्रमण (श्रमजीवी) श्रम को ही तन्त्र (व्यवस्था) का आधार मान कर गणभक्ति छोड न सके

ब्राह्मण 'सोमोऽस्माक ब्राह्मणाना राजा' का उद्घोष करते हुए स्वय स्वतन्त्र रहकर केवल 'विश्' (साधारण प्रजा) के लिये राजा की व्यवस्था देते थे अत नितान्त स्वतन्त्रता के अभिलाषी लोगो को इसमे ब्राह्मणो की स्वार्थसिद्धि दिखाई दी और इस प्रकार दोनो विचारधाराओ के अनुयायियो के वीच भी खाई बढती गई यह श्रमण-ब्राह्मणो का शाश्वत विरोध विदेशी[7] आक्रान्ताओ को निमत्रित कर सकता था सचमुच ही एक बार फारसी साम्राज्य की सीमा सिन्धु तक आ पहुँची थी

बुद्ध और महावीर दोनो ने ही इस विरोध को दूर करने का प्रयत्न किया उन्होने श्रमणत्व और ब्राह्मणत्व को अभिन्न माना है महावीर ने कहा है

'जो ऐसे दान्त, मोक्षयोग्य और कायाव्युत्सृष्ट (ममतात्यागी) है, उन्हे ब्राह्मण कह सकते हैं, श्रमण, भिक्षु या निर्ग्रन्थ भी कह सकते है[8]

इस प्रकार इन दोनो ही युगदर्शी महापुरुषो ने सामाजिक क्षेत्र मे श्रम के प्रति जिस नवीन दृष्टिकोण को उपस्थित किया वह राष्ट्ररक्षा की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण था

---

१ ऋग्वेद ३।६०।२, १।११०।३, ३।६०।३, १।११०।४
२ ऋग्वेद ४।३४।४
३ अथर्ववेद ११।९।१७, ८।९।६
४ उत्तराध्ययनसूत्र—अध्याय १३
५ धम्मपद २०।१०
६ सूत्रकृतागसूत्र १।११।३६
७ येषा विरोध शाश्वतिक इत्यस्यावकाश श्रमण ब्राह्मणम् पातजल महाभाष्य २।४।९
८ सूत्रकृतागसूत्र १।११।३६

वैदिक प्रतीक-यज्ञ इस समय निरर्थक क्रियाकलाप मात्र रह गए थे उनकी सामाजिक उपयोगिता नगण्यप्राय थी जिस प्रकार के यज्ञ की जीवनप्रतिष्ठा वांछित थी वह महावीर के शब्दों में इस प्रकार है

'तप आग है, जीव ज्योतिस्थान (वेदी) है योग स्रुवा है शरीर सूखा गोबर है (कारिसंग) कर्म ईंधन है संयम की प्रवृत्ति शान्तिपाठ है ऐसा होम मैं करता हूँ ऋषियों के लिये यही होम प्रशस्त है'[1]

इस नवीन जीवन-दर्शन और नवीन सामाजिक दृष्टिकोण को लेकर महावीर ने अपने अनुयायियों को संगठित किया श्रम चाहे वह किसी भी प्रकार का हो समान महत्त्व रखता है इसलिए उसके आधार पर समाज मे प्रचलित ऊँच नीच की भावना को उन्होंने त्याज्य ठहराया उन्होंने कहा— ण वि देहो वन्दिज्जइ, ण वि य कुलो ण वि य जाइ संयुत्तो[2]—अर्थात् देह वन्दनीय नहीं होता कुल और जाति भी वन्दनीय नहीं होते

पारस्परिक साम्य पर आधारित महावीर का संघ गणपरम्परा पर आधारित था बौद्ध पिटकों में बौद्धसंघ की सभा व उसकी कार्यप्रणाली का स्वरूप देखा जा सकता है ठीक उसी तरह ज्ञप्ति अनुश्रावण और धारणा द्वारा सम्मति ग्रहण छन्दग्रहण आदि का निर्वाह जैनसंघ की सभाओं में भी होता था बौद्धसंघ मे स्थविर व स्थविराएँ ही भाग ले सकते थे परन्तु जैन संघ मे मुनि व आर्यिकाओं के अतिरिक्त सद्गृहस्थदम्पती भी भाग ले सकते थे अतः इसे अधिक उदार भावना पर संगठित कहा जा सकता है बौद्धसंघ के भारत से लुप्त हो जाने पर भी जैनसंघ के बने रहने का कारण उसका सार्वजनिक ग्राह्य रूप ही है

इस संघ की स्थापना में भगवान् महावीर के दो उद्देश्य थे पहला-समकालीन गणतंत्रों के समक्ष श्रम की प्रतिष्ठा पर आधारित आध्यात्मिक गणराज्य का स्वरूप उपस्थित करना तथा दूसरा श्रमण-ब्राह्मण भेद को दूर कर, श्रम का पर्यवसान धर्म' मे करने की प्रेरणा देकर मानवतावादी दृष्टिकोण का प्रसार करना

संघ को जैन लोगों ने गुणों का क्रीडासदन[3] परास्फूर्तिप्रदान करने वाला तथा पापहारी[4] कहा है इससे प्रकट है कि जैनसमाज मे भी संघभावना का महत्त्व बौद्धसमाज से कम नहीं था प्राचीन भारत के गणतंत्रों का विकास क्षेत्रीय सुविधाओं पर आधारित था परन्तु महावीर स्वामी द्वारा प्रचारित आध्यात्मिक गणराज्य में सम्पूर्ण भारत को ही नहीं मानव मात्र को संगठित करने की संभावना विद्यमान थी अतः अपने समय में यह युगान्तरकारी प्रयत्न था

समकालीन गणराज्यों ने महावीर की आध्यात्मिक गणराज्य सम्बन्धी विचारधारा को अपना लिया लिच्छवियों का तो यह राजधार्मिक धर्म[5] बन गया लिच्छवियों मे सबसे अधिक प्रभावशाली चेटक महावीर के मामा थे चेटक की पुत्री चेल्लना बिम्बसार को प्रभावती सिन्धु सौवीर के राजा उदायन को पद्मावती चम्पा के राजा दधिवाहन को मृगावती कौशाम्बी के शतानीक को शिवा अवन्ती के राजा चण्डप्रद्योत को ब्याही गई थी इन सम्बन्धों से जैन धर्म का व्यापक प्रचार हुआ महावीर के व्यापक प्रभाव की सूचना इस बात से मिलती है कि उनके निर्वाण के समय काशी और कौशल के १८ गणराज्यों ९ मल्लकों और ९ लिच्छवियों ने मिलकर प्रकाशोत्सव किया था[7] महावीर को मल्लराजा हस्तिपाल के प्रासाद में निर्वाण प्राप्त हुआ इससे मल्लों पर भी उनका प्रभाव लक्षित होता है

---

१ तवो जोई जीवो जोइठाणं जोगा सुया सरीरं कारिसंगं ।
कम्मेहा संजमजोग सन्ती होमं हुणामि इसिणं पसत्थं । उत्तराध्ययन सूत्र १२।४४
२ दर्शनपाहुड़ २७.
३ सोमप्रभाचार्य विरचित सूक्तिमुक्तावली श्लोकसंख्या १
४ उपयुक्त श्लोक २१
५ उपयुक्त श्लोक २१
६ हिन्दूसभ्यता डा. राधाकुमुद मुकर्जी-हिन्दी अनुवाद पृ. २१
७ भगवती सूत्र ४१
८ डा. राधाकुमुद मुकर्जी-हिन्दूसभ्यता पृ. २१

देवत्व, अमरत्व तथा इन्द्रपद का साधक माना गया है[1] जिसके विना देवता भी सहायता नही करते.[2] उसकी गणना ऋत, सत्य तथा तप जैसी आध्यात्मिक विभूतियो और राज्य, धर्म और कर्म जैसी पार्थिव शक्तियो के साथ की गई है[3] आश्रमव्यवस्था का ह्रास होने पर श्रम को जीवन मे पुन प्रतिष्ठित करने के लिये श्रमणवाद का उदय हुआ

व्यावहारिक जीवन मे श्रम मानवतावाद के विकास मे सहायक होता है व्यावहारिक जीवन की इस श्रम-साधना को जैन ग्रन्थो मे तप का मार्ग[4] कहा गया है यही श्रमसाधना सूक्ष्म शरीर मे जागृत होकर मोक्ष साधिका वनती है

भगवान् महावीर ने अपने सघ के चार वर्ग नियत किये थे—मुनि, आर्यिकागण, श्रावक तथा श्राविकाएँ, इनमे अन्तिम दो मे जैन शासन के अनुयायी ऐसे गृहस्थ स्त्री-पुरुष गिने जाते है जो केवल व्यावहारिक जीवन मे श्रम की प्रतिष्ठा के अनुरागी हो प्रथम दो, वे हैं जो वीतरागजीवन ग्रहण करके श्रम के व्यावहारिक रूप की प्रतिष्ठा 'शम' मे करें महावीर की तरह बुद्ध का ध्येय भी 'श्रम' की प्रतिष्ठा 'शम' मे करना ही रहा है

शमयिता हि पापाना श्रमण इति कथ्यते[5]

श्रम को शम से भिन्न मान कर जीवन-यापन करने वाले लोगो को महावीर ने 'मिथ्यादृष्टि अनार्यश्रमण'[6] कहा है

श्रम के प्रति बुद्ध और महावीर का यह दृष्टिकोण तत्कालीन परिस्थितियो मे नितान्त दूरदर्शितापूर्ण था उस समय भारतवर्ष मे गणव्यवस्था का पतन हो रहा था और भारत के पडोस मे फारस मे विशाल साम्राज्य जन्म ले रहा था किसी भी क्षण साम्राज्यवादी दृष्टि सम्पूर्ण भारत को आत्मसात् कर सकती थी केन्द्रीय शक्ति के अभाव मे पारस्परिक फूट, विलासिता और आलस्य से जर्जरित गण अपनी रक्षा मे समर्थ नही हो सकते थे अत समाज के कल्याण को अपना दायाद्य मानने वाले ब्राह्मण बिखरी हुई शक्तियो को राजतन्त्र द्वारा केन्द्रित करने का प्रयत्न करने लगे और दूसरी ओर श्रमण (श्रमजीवी) श्रम को ही तन्त्र (व्यवस्था) का आधार मान कर गणभक्ति छोड न सके

ब्राह्मण 'सोमोऽस्माक ब्राह्मणाना राजा' का उद्घोष करते हुए स्वय स्वतन्त्र रहकर केवल 'विश्' (साधारण प्रजा) के लिये राजा की व्यवस्था देते थे अत नितान्त स्वतन्त्रता के अभिलाषी लोगो को इसमे ब्राह्मणो की स्वार्थसिद्धि दिखाई दी और इस प्रकार दोनो विचारधाराओ के अनुयायियो के बीच भी खाई बढती गई यह श्रमण-ब्राह्मणो का शाश्वत विरोध विदेशी[7] आक्रान्ताओ को निमन्त्रित कर सकता था सचमुच ही एक बार फारसी साम्राज्य की सीमा सिन्धु तक आ पहुँची थी

बुद्ध और महावीर दोनो ने ही इस विरोध को दूर करने का प्रयत्न किया उन्होने श्रमणत्व और ब्राह्मणत्व को अभिन्न माना है महावीर ने कहा है

'जो ऐसे दान्त, मोक्षयोग्य और कायाव्युत्सृष्ट (ममतात्यागी) है, उन्हे ब्राह्मण कह सकते हैं, श्रमण, भिक्षु या निर्ग्रन्थ भी कह सकते है[8]

इस प्रकार इन दोनो ही युगदर्शी महापुरुषो ने सामाजिक क्षेत्र मे श्रम के प्रति जिस नवीन दृष्टिकोण को उपस्थित किया वह राष्ट्ररक्षा की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण था

---

१ ऋग्वेद ३।६०।२, १।११०।३, ३।६०।३, १।११०।४
२ ऋग्वेद ४।३४।४
३ अथर्ववेद ११।६।१७, ८।६।६
४ उत्तराध्ययनसूत्र—अध्याय १३
५ धम्मपद २०।१०
६ सूत्रकृतागसूत्र १।११।३६
७ येपा विरोध शाश्वतिक इत्यस्यावकाश श्रमण ब्राह्मणम् पातजल महाभाष्य २।४।६
८ सूत्रकृतागसूत्र १।११।३६

प्रो० राजाराम जैन
एम ए पी एच डी शास्त्राचार्य साहित्यरत्न

रइधू-साहित्य की प्रशस्तियों में
ऐतिहासिक व सांस्कृतिक सामग्री

भारतीय वाङ्मय के उन्नयन में जिन वरेण्य साधकों ने अनवरत श्रम एवं अथक साधना करके अपना उल्लेखनीय योगदान किया है उनमें महाकवि रइधू[1] अपना प्रमुख स्थान रखते हैं उन्होंने अपने जीवनकाल के सीमित समय में २१ से भी अधिक विशाल अपभ्रंश ग्रन्थों की रचना करके साहित्य-जगत् को आश्चर्यचकित किया है रचनाओं का विषय-वैविध्य संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश एवं हिन्दी आदि भाषाओं पर असाधारण पाण्डित्य इतिहास एवं संस्कृति का तलस्पर्शी ज्ञान समाज एवं राष्ट्र को साहित्य संगीत एवं कला के प्रति जागरूक कराने की क्षमता जैसी उक्त कवि में दिखाई पड़ती है वैसी अन्यत्र शायद ही कहीं मिलेगी

कवि की कवित्वशक्ति उसके वर्ण्य विषय में तो स्पष्ट दिखती ही है किन्तु समाज एवं राजन्यवर्ग के लोगों को भी उसने साहित्य एवं कलाप्रेमी बना दिया था यह कवि रइधू की अद्वितीय देन है ऐसी लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि लक्ष्मी एवं सरस्वती का सदा से वैरभाव चला आया है कई जगह यह उक्ति सत्य भी सिद्ध हुई लेकिन कवि ने उनका जैसा समन्वय किया-कराया वही उसकी विशिष्ट एवं अद्भुत मौलिकता है उदाहरणार्थ कवि की प्रशस्तियों में से २१ अत्यन्त मार्मिक प्रसंग उपस्थित किये जाते हैं जिनसे कवि प्रतिभा का चमत्कार स्पष्ट देखने को मिल जाता है

महाकवि रइधू की साधना भूमि गोपाचल (ग्वालियर) में कमलसिंह नामक एक नगरसेठ रहते थे जो अत्यन्त उदारवृत्ति से जीवन-यापन करते थे वे महाकवि के मित्र एवं परमभक्त भी थे राज्यपदाधिकारी होने से वे राज्य के कार्यों में ही व्यस्त रहते थे एक दिन वे उससे घबराकर महाकवि से भेंट करते हैं तथा निवेदन करते हैं

> सयवासव तवेरम तुरग भयमत्तचमर मामिचि रहंग ।
> कंचणधणकणयमरहमियकोस आयाइ अपाइ बहिय तोस ।
> तह पुण वरपरायरदेसगाम धणधण णायर जणणाहिराम ।
> सारयणभयपुरधणमाउ जं जं दीसइ धायाय सहाउ ।
> त त वि पहु पाविपइ सब्बु सम्माइ ण कव्व-माणिक्कु भव्बु ।
> पच्चु वि मइ इह विवसहिउ किंहु याव सुक्व कोवि दीसइ मणिट्ठ ।
> भो सिसुणि विपक्खव कहमि तुम्हु, रज्जमि ण किंपि थिय चित्त तुम्हु । —सम्मत्त १।७।१-७
>
> तहु पुणु कव्वरयण रयणायरु वायमित्त अम्हई वोहायरु ।
> तहु मइ सच्चउ पुण्य सहायउ मइ मणिच्छ पूरण भयरायउ । —सम्मत्त १।१४।८-९

---

१ महाकवि रइधू के जीवनवृत्त एवं साहित्य-परिचय के लिए 'आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रन्थ' में प्रकाशित मेरा निबन्ध देखिए—पृष्ठ १ १ ११५
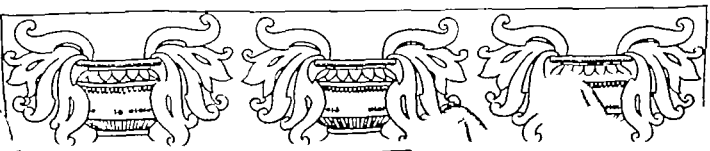
महावीर ने अपने जीवनकाल मे ही जैन-शासन को अधिक लोक प्रिय बनाने के लिए अपने प्रमुख ११ शिष्यो को गणधर नियुक्त किया ये जैन-शासन के सर्वोच्च व्याख्याता थे इन्होने ९ गणो को जैनशासन का उपदेश दिया

इन ११ गणधरो तथा महावीर स्वामी की वाणी का सकलन सिद्धान्त कहलाता है महावीर के निर्वाण के उपरान्त जैनसघ के प्रमुख सुधर्मा बने इनके बाद जम्बू स्वामी गणप्रमुख बने ३ गणप्रमुख और हुए लगभग १५० वर्षो के सुदीर्घ काल में जैन सघ में कोई उल्लेखनीय घटना नही हुई अन्तिम नन्दराजा के समय जैनसघ के दो प्रमुख सम्भूतिविजय और भद्रबाहु हुए इन दोनो ने जैन सिद्धान्तो का सकलन किया

जैनसघ की प्रारम्भिक सफलता का कारण समकालीन गणराज्यो मे पनपने वाली गणभावना तो थी ही, साथ ही जैन आचार्यो का उदार व उदात्त व्यक्तित्व भी था नैतिकता पर आश्रित गणव्यवस्था अधिक से अधिकतर रुचिकर होती गई थी कालान्तर मे जैनसघ का कार्यक्षेत्र तो बढता गया परन्तु सेवाभावी, उदात्तव्यक्तित्व वाले आचार्यों की सख्या कम होती गई सघभेद के कारण विभिन्न सम्प्रदायो मे स्पर्द्धा बढती गई और प्रचारकार्य कम हो गया गणराज्य समाप्त हो गए मौर्य व गुप्त शासको के युग मे राजतन्त्र की सफलता देख कर गणो पर से लोकविश्वास उठता गया जैनसघ के लोगो मे उद्देश्य गौण हो गया जिस मानवतावादी दृष्टिकोण को लेकर आध्यात्मिकगण की स्थापना महावीर ने की थी, उसी दृष्टिकोण से परिवर्तित रूप मे विकसित होने वाले ब्राह्मणधर्म मे सहयोग करने को जैनसघ तैयार न था यद्यपि हेमचन्द्र जैसे उदार विचारक अर्हत्, शिव, बुद्ध, ब्रह्म व विष्णु मे अभेद दर्शन करते थे[1] जिनप्रभसूरि जैसे विद्वान् 'गायत्रीरहस्य' जैसे भाष्य लिखते थे, आदिजिन की पूजा के लिए वैदिकमत्र[2] ग्रहण किये जा रहे थे सरस्वती की श्रुतदेवी के नाम से उपासना की जा रही थी, परन्तु पारस्परिक स्पर्द्धा कटुता मे बदलती जा रही थी पहले श्रावक के रूप मे कोई भी जैनमन्दिर मे जा सकता था, परन्तु अब ब्राह्मण-धर्मावलम्बी 'न गच्छेत् जैनमन्दिरम्' का नारा बुलन्द करने लगे इन सब बातो को जैनसघ की अवनति के कारणो के रूप मे उपस्थित किया जा सकता है

आधुनिक काल मे भी जैनसघ विभाजित है अब जैन विद्वान् अपने आपको अहिन्दू कहने मे गर्व अनुभव करते है पिछली जनगणना मे जैनो को हिन्दुओ से पृथक् लिखा गया है महावीर के तपोमार्ग तथा आर्यमार्ग[3] को किन्ही अनार्यपरम्पराओ का अवशेष सिद्ध किया जा रहा है महावीर आर्यदर्शन से दूर रहने वाले अनार्यों[4] की निन्दा करते थे, श्रमण, ब्राह्मण, भिक्षु या निर्ग्रन्थ मे कोई भेद नही मानते थे[5] उन्होने अपने मार्ग को सत्पुरुष आर्यो द्वारा पूर्व व्याख्यात कहा है[6] किन्तु विद्वान् पारस्परिक कटुता को जन्म देने वाली भेदकारी नीति से कब परिचित होगे कहा नही जा सकता

महावीर द्वारा प्रचारित परम्परा को 'पनपी और अवगति को प्राप्त हुई' इतना ही महत्त्व नही है उससे विगत दो सहस्राब्दियो के भारत के सबसे बडे लोकनायक आचार्य शकर ने प्रेरणा लेकर, सारे भारत की एक इकाई के रूप मे कल्पना करके आध्यात्मिक गणराज्य की भावना को और आगे बढाया उन्होने भारत के चारो कोनो मे चार मठो की स्थापना करके धार्मिक दृष्टि से भारत का सगठन किया थोथे मतो को उखाड फेंका आचार्य शकर के इन प्रयत्नो का ही फल था कि एक सहस्राब्द के विदेशी शासन मे भी भारत ने सास्कृतिक दृष्टि से किसी न किसी रूप मे अपने गौरव को सुरक्षित बनाए रक्खा दीवारो मे चुन जाने वाले, शिखा के पहले शिर कटा देने वाले वीरो को स्फूर्ति प्रदान करने का श्रेय शकराचार्य की धार्मिक गणपरम्परा को है, और इसीलिए इसका श्रेय अप्रत्यक्ष रूप से महावीर स्वामी को भी प्राप्त है. स्वतन्त्र भारतीय गणराज्य को भी महावीर की आध्यात्मिक गणपरम्परा से प्रेरणा प्राप्त होती रहेगी

---

१ य शैवा समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो, बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटव कर्तेति नैयायिका ।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरता कर्मेति मीमासका , सोऽय वो विदधातु वाञ्छितफल त्रैलोक्यनाथो हरि ॥

२ ओं चत्वार शृगा त्रयोऽस्यपादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तास्त्रिधा बद्धो वृषभो रौति महादेवो मर्त्य आवेशय स्वाहा—Jain Konography में पृ० ९६ पर प्रतिष्ठासारसग्रह से उद्धृत

३ सत्रकृतागसूत्र १।३।४ ४ उपर्युक्त २।५।१८ ५ उपर्युक्त १।१६।१ ६ उपर्युक्त २।५।१३

अवाइ हउ भसेसु पुरेसमि ज ज मग्गहु त त दसमि ।
पुत्त पुत्त पम तेरा तहिं मचिउ पुत्त तवोसु धवि सम्माविउ ।
पुत्त सुरिताय सीह विपसिच्छु सामिय धम्म विति मचिरच्छु ।
तहु भापसु विवेय पुत्त विपयउ कज्जहिं धम्म सहाउ पवियणउ ।
कमलसीहु ज तुम्ह भासइ तं तहु पविहिज्जहि सुसमासइ ।
मविवि पसाउ तेय पविवयाउ मज्झु सामि किमड हउ भयउ ।—सम्मत्त॰ १।११।६ २

अर्थात् 'हे सज्जनोत्तम जो भी पुण्यकार्य तुम्हे रुचिकर लगे उसे अवश्य ही पूरा करो । हे महाजन यदि धर्म-सहायक और भी कोई काय हो तो उन्हे भी पूरा करो अपने मन में किसी भी प्रकार की शका मत करो धम के निमित्त आप सतुष्ट रहे जिस प्रकार राजा वीसलदेव के राज्य में सौराष्ट्र (सोरट्ठि) में धर्म-साधना निर्विघ्न रूप से प्रतिष्ठित थी वस्तुपाल-तेजपाल नामक व्यापारियो ने हाथीदाँतो (?) से प्रवर तीर्थराज का निर्माण कराया था जिस प्रकार पेरोजसाहि (फीरोजशाह) की महान् कृपा से योगिनीपुर (दिल्ली) म निवास करते हुए सारग ने अत्यन्त अनुराग पूर्वक धमयात्रा करके ख्याति प्राप्त की थी उसी प्रकार हे गुणाकर धर्मकार्यो के लिये मुझसे पर्याप्त द्रव्य ले लो जो कार्य करना है उसे निश्चय ही पूरा कर लो यदि द्रव्य म कुछ कमी आ जाय तो मैं उसे पूर्ण कर दूँगा जो जो माँगोगे वही-वही (मुँह माँगा) दूँगा राजा ने बार-बार आश्वासन देते हुए कमलसिंह को पान का बीडा देकर सम्मानित किया राजा का आश्वासन एव सम्मान प्राप्त कर कमलसिंह अत्यन्त प्रसन्न हुए तथा राजा से इतना ही कह सके कि हे स्वामिन् आज आपका यह दास धन्य हो गया

महाकवि ने कमलसिंह की बात स्वीकार तो करली किन्तु फिर भी उसके मन में शका होती है कि सम्भवत दुर्जन उसके कार्यो में विघ्न बाधा उपस्थित करें, तब ? उस स्थिति में कमलसिंह का उत्साह प्रेरणा एव साहस भरा आश्वासन देखिये वे कहते है

सव्वाहिवय तालहु पव्वु भोक्खु पयास विसुमहि विरल ।
दुज्जया सज्जया ससहाव होंति भवगुण गुणाह ते सह जिविति ।
किह जयह सीय रवि सीस इयम्मि किम पयइ ण मेल्लहि पुत्त कहम्मि ।
पहु उज्जोय तसहसाहु तावि सो छंडइ किपय ठाहु ।
जइ पुरा विउलुणु दुक्खहेउ ता रवि सुपुवि किं किपय तेउ ।
अइ तक्कर माहुहु बउ सहेइ ता किं सोअम्मातउ रहेइ ।
जूवासपय कि कासिपछु, छंडइ मह तहु इच्छु जिपसच्छु ।—सम्मत्त १।१६।१-७

अर्थात् हे कविश्रेष्ठ मुनिये दुर्जन-सज्जन तो अपने-अपने स्वभाव से होते है । वे अवगुणों एव सद्गुणो के बल पर ही जीवित रहते है रवि एव शशि एक ही आकाश मे अपनी उष्णता एव शीतलता का क्या परित्याग कर देते है ? भूमि के कणो से आच्छादित हो जाने पर भी क्या चन्द्रमा अपने प्रकाश को देना छोड देता है राहु के द्वारा ग्रस्त हो जाने पर भी क्या सूय अपनी तेजस्विता छोड देता है यदि चोर साहूकार की उपस्थिति न चाहे तो क्या वह ससार मे रहना ही छोड दे यदि जुआरी व्यक्ति किसी वस्तु को दाँव पर लगा दे तो क्या उससे वह वस्तु अप्रशस्त हो जाती है तथा इससे दूसरा कोई अन्य सज्जन व्यक्ति उसकी चाह करना भी छोड दे अत हे कविवर आप निश्चिन्त मन होकर अपनी काव्य रचना करें

महाकवि क एक दूसरे सहयोगी भक्त थे हरिसिंह साहु उनकी तीव्र इच्छा थी कि उनका नाम चन्द्रविमान में लिखा जाय अत उन्होने कवि से सविनय निवेदन किया कि

महु साहुराय तहु मित्त जेम विपयत्ति मज्झु अवहारि तेम ।
महु णामु लिहहि चदहो विमाणु, सुय बयलु सुह विय चित्ति ठाहु ।—बलभद्र १।४।११–१२
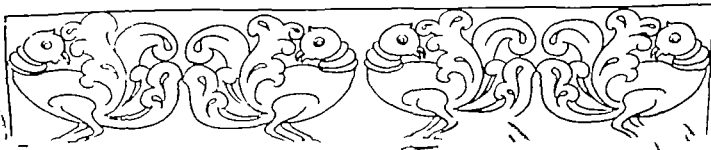
अर्थात् "हे कविवर, शयनासन, हाथी, घोडे, ध्वजा, छत्र, चमर, सुन्दर रानियाँ, रथ, सेना, सोना, धन-धान्य, भवन, सम्पत्ति, कोप, नगर, देश, ग्राम, बन्धु-बान्धव, सुन्दर सन्तान, पुत्र, भाई आदि सभी मुझे उपलब्ध है सौभाग्य से किसी भी प्रकार की भौतिक सामग्री की मुझे कमी नही है किन्तु इतना सब होने पर भी मुझे एक चीज का अभाव सदैव खटकता रहता है और वह यह कि मेरे पास काव्यरूपी एक भी सुन्दर मणि नही है इसके बिना मेरा सारा ऐश्वर्य फीका-फीका लगता है हे काव्यरूपी रत्नो के रत्नाकर, तुम तो मेरे स्नेही बालमित्र हो, तुम्ही हमारे सच्चे पुण्य-सहायक हो मेरे मन की इच्छा पूर्ण करनेवाले हो इस नगर मे बहुत से विद्वज्जन रहते है, किन्तु मुझे आप जैसा कोई भी अन्य सुकवि नही दिखता अत हे कविश्रेष्ठ, मैं अपने हृदय की गाँठ खोलकर सच-सच अपने हृदय की बात आपसे कहता हूँ कि आप एक काव्य की रचना करके मुझ पर अपनी महती कृपा कीजिये

महाकवि रइधू ने कमलसिंह सघवी की उक्त अत्यन्त विनम्र प्रार्थना स्वीकृत कर उत्तर मे कहा

सुसहाउ भव्व तुहु दिति णिरु, तुहु पुणु कमलायर होहि थिरु।
लइकरि चिंतियउ पइ, भालहिं पुण्हु णियय मइ।
मा चिंत करहिं सुपसण्ण मणा, भवि भवि लब्भहिं धण कणरयणा।
दुल्लहु जिणधम्मु जि होइ परा, त तुहु आयरहिं जि विणय परा।—सम्मत्त० १, ८, १३-१६

अर्थात् 'हे भाई कमलसिंह, तुम अपनी बुद्धि को स्थिर करो तुमने जो विचार प्रकट किये हैं वे तुम्हारे ही अनुरूप हैं अब चिंता करने की आवश्यकता नही, प्रसन्नचित्त बनो (मैं इच्छानुसार तुम्हे काव्यरचना कर दूंगा) जन्म-जन्मान्तर मे इसी प्रकार स्वर्ण धन-धान्य एव रत्नो से युक्त बने रहो तथा दुर्लभता से प्राप्त इस धर्म एव मानव-जीवन मे हितकारी उच्च कार्यों को सदा करते रहो।'

जब कवि की इस प्रकार की स्वीकारोक्ति सुनी तो कमलसिंह आनन्दविभोर हो उठे उन्होने अपने जीवन को सफल मान लिया तथा तुरन्त ही वे यह समाचार राजा डूँगरसिंह को देने के लिये राज-दरबार मे पहुँचते है तथा शिष्टाचार प्रदर्शन के बाद निवेदन करते हैं

"हे राजन्, मैने कुछ धर्मकार्य करने का विचार किया है, किन्तु उसे कर नही पा रहा हू, अत प्रतिदिन मैं यही सोचता रहता हूँ कि अब वह आपकी कृपापूर्ण सहायता एव आदेश से सम्पूर्ण करूँगा आपका यश एव कीर्ति अखण्ड एव अनन्त है मैं तो इस पृथ्वी पर एक दरिद्र एव असमर्थ हूँ, इस मनुष्य-पर्याय मे मैं क्या कर सकता[1] हूँ।" कमलसिंह का यह निवेदन सुनकर युवराज कीर्तिसिंह[2] अत्यन्त पुलकित हो उठे राजा डूँगरसिंह ने भी अत्यन्त प्रसन्नता के साथ कहा

वियसिवि जपिउ डूगरराए, कमलसीह वणिवर सवाए।
पुण्णु कज्जु ज तुव मणि रुच्चइ, त विरयहि साहु समुच्चइ।
जे पुणु अण्ण केवि सुसहायण, करहु करहु ते धम्म महायण।
किंपि सक मा किज्जहु चित्तहें, सतुट्ठउह धम्मणिमित्तहि।
जहि सोरट्ठि वीसल णिवरज्जहिं, धम्मु पविट्ठउ चिरु णिरवज्जहिं।
वच्छ तेयपालक्खवणिदहिं, पवर तिच्छ णिम्मिय गयदत्तहिं।
जिह पेरोजसाहि सुपसाय, जोइणिपुरि णिवसत अमाय।
सारग साहु णाम विक्खाय, पविहिय जत्त धम्म अणुराए।
तिह तुहु विरयहि एच्छु गुणायरु, लइ लइ पउरु दव्वु धम्मायरु।
न सु जेत्तडउ विरिअच्छइ, सो सयलु जिवेक्कउ कण्णि छइ।

१ दे० सम्मत्त० १।१।१-५

२ राजा डूगरसिंह का पुत्र, कई स्थानों पर इसका नाम 'करनसिंह' भी उपलब्ध होता है

अवाइ हउ असेसु पूरेसमि ज ज मग्गहु त त दसमि।
पुणु पुणु एम तेण तहि भणिउ पुणु तंबोलु देवि सम्माणिउ।
पुणु पुरिसाया सीहु विपमिच्चहु सामिय धम्म ठिदि मणिच्चहु।
तहु आएसु विवेय पुणु विस्साउ कज्जहिं धम्म सहाउ पडिण्णाउ।
कमलसीहु म तुम्ह भासइ त तहु पविहिज्जहि सुससामइ।
मणिवि पसाउ तेण पडिवण्णउ अज्जु सामि किंकरु हउ धण्णउ।—सम्मत्त १।११।६ २

अर्थात् 'हे सज्जनोत्तम जो भी पुण्यकार्य तुम्हें रुचिकर लगे उसे अवश्य ही पूरा करो। हे महाजन यदि धर्म-सहायक और भी कोई कार्य हो तो उन्हें भी पूरा करो अपने मन में किसी भी प्रकार की शंका मत करो धर्म के निमित्त आप सन्तुष्ट रहें जिस प्रकार राजा बीसलदेव के राज्य में सौराष्ट्र (सोरट्ठि) में धर्म-साधना निर्विघ्न रूप से प्रतिष्ठित थी वस्तुपाल-तेजपाल नामक व्यापारियों ने हाथीदांतों (?) से प्रवर तीर्थराज का निर्माण कराया था जिस प्रकार पेरोजसाहि (फीरोजशाह) की महान कृपा से योगिनीपुर (दिल्ली) मे निवास करते हुए सारंग ने अत्यन्त अनुराग पूर्वक धर्मयात्रा करके ख्याति प्राप्त की थी उसी प्रकार हे गुणाकर धर्मकार्यों के लिये मुझसे पर्याप्त द्रव्य ले लो जो कार्य करना है उसे निश्चय ही पूरा कर लो यदि द्रव्य में कुछ कमी आ जाय तो मैं उसे पूर्ण कर दूँगा जो जो माँगोगे वही-वही (मुँह माँगा) दूँगा राजा ने बार-बार आश्वासन देते हुए कमलसिंह को पान का बीड़ा देकर सम्मानित किया राजा का आश्वासन एवं सम्मान प्राप्त कर कमलसिंह अत्यन्त प्रसन्न हुए तथा राजा से इतना ही कह सके कि हे स्वामिन् आज आपका यह दास धन्य हो गया

महाकवि ने कमलसिंह की बात स्वीकार तो करली किन्तु फिरभी उसके मन में शंका होती है कि सम्भवतः दुर्जन उसके कार्यों में विघ्न बाधा उपस्थित करें तब ? उस स्थिति में कमलसिंह का उत्साह प्रेरणा एवं साहस-भरा आश्वासन देखिये वे कहते हैं

सयाहियय तासहु पउसु भाकइ पहाय विसुयाहि विरुत्त।
दुज्जण सज्जण ससहाव होंति अवगुण गुणाइ त सई जियंति।
किं चयइ सीय रवि सीम इत्थम्मि विय पयइ या मेल्लइ पुणु कहम्मि।
चंदहु उज्जोय तसइसासु, ताकि सा छंडइ वियय उसु।
जइ पुणु विछलियहु दुकराइउ ता रवि सुपवि किं विवय तेउ।
जइ तक्कर साहुहु यउ महेइ ता किं सोअग्गतउ रहेइ।
जुआसयया कि कोविअच्छु मुइइ भत्तु तसु इच्छु विपमच्छु।—सम्मत्त १।१६।१-७

अर्थात् हे कविश्रेष्ठ मुनिये दुर्जन-सज्जन तो अपने-अपने स्वभाव से होते हैं। वे अवगुणों एवं सद्गुणों के बल पर ही जीवित रहते हैं रवि एवं शशि एक ही आकाश में अपनी उष्णता एवं शीतलता का क्या परित्याग कर देते हैं ? पूर्णिमा के बादलों से आच्छादित हो जाने पर भी क्या चन्द्रमा अपने प्रकाश को देना छोड़ देता है राहु के द्वारा ग्रस्त हो जाने पर भी क्या सूर्य अपनी तेजस्विता छोड़ देता है यदि चोर साहूकार की उपस्थिति में चाहे तो क्या वह संसार में रहना ही छोड़ दे यदि जुआरी व्यक्ति किसी वस्तु को दाँव पर लगा दे तो क्या उससे वह वस्तु अप्रशस्त हो जाती है तथा उसमें दूसरा कोई अन्य सज्जन व्यक्ति उसकी चाह करना भी छोड़ दे अतः हे कविवर आप निश्चिन्त मन होकर अपनी काव्य रचना करें

महाकवि के एक दूसरे सहयात्री भक्त थे हरिसिंह साहू उनकी तीव्र इच्छा थी कि उनका नाम चन्द्रविमान में लिखा जाय अतः उन्होंने कवि से सविनय निवेदन किया कि

महु सानुराउ महु मित्त जेण रियसत्ति मग्गु अवहारि तेण।
महु णामु लिहहि चंदा विमाणु, तय वयणु सुह जिय चित्ति ठाणु।—बलभद्० १।७।११-१२

अर्थात् 'हे मित्र, मुझ पर अनुरागी बनकर मेरी विनती सुन लीजिये एव मेरे द्वारा इच्छित बलभद्र पुराण नामक रचना लिखकर मेरा नाम चन्द्रविमान मे अकित करा दीजिये'

हरिसिंह की उक्त प्रार्थना सुनकर कवि ने कई कारणो से अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए तथा रामचरित की विशालता का अनुभव करते हुए उत्तर दिया

घडएण भरइ को उवहि तोउ, को फणि सिरमणि पयडइ विणोउ।
पचाणण मुहि को खिवइ हत्थु, विणु सुत्तें महि को रयइ वत्थु।
विणु बुद्धिए तह कव्वह पसारु, विरएप्पिणु गच्छमि केम पारु। —बलभद्र० १।४।१–४

अर्थात् 'हे भाई, रामचरित (अपर नाम बलभद्र-चरित) का लिखना सरल कार्य नही, उसके लिखने के लिये महान् साधना, क्षमता एव शक्ति की आवश्यकता है आप ही बताइये भला घडे मे समस्त समुद्रजल को कौन भर सकता है ? साँप के सिर से मणि को कौन ले सकता है ? प्रज्वालित पञ्चाग्नि मे कौन अपना हाथ डाल सकता है ? बिना धागे से रत्नो की माला को कौन गूंथ सकता है ? बिना बुद्धि के इस विशाल काव्य की रचना करने मे मैं कैसे पार पा सकूंगा ?

उक्त प्रकार से उत्तर देकर कवि ने साहू की बात को सम्भवत टाल देना चाहा, किन्तु साहू साहब बडे ही चतुर थे. उन्होने ऐसे अवसर पर वणिक्बुद्धि से कार्य किया उन्होने कवि को अपनी पूर्व मैत्री का स्मरण दिलाते हुए कहा कि — 'कविवर, आप तो निर्दोष काव्य-रचना मे धुरन्धर है शास्त्रार्थ आदि मे निपुण है आपके श्रीमुख मे तो सरस्वती का वास है आप काव्य-प्रणयन मे पूर्ण समर्थ हैं अत इस (रामचरित) ग्रन्थ की रचना अवश्य ही करने की कृपा कीजिये'[1]

बस, कवि की सहृदय भावुकता को उकसाने के लिए इतना कथन मात्र पर्याप्त था अन्तत वह 'रामचरित' लिखने के लिये तैयार हो जाता है

अपनी विद्वत्ता एव सत्कवित्व के कारण कवि का समाज मे बहुत ही उच्च स्थान था सदाचरण, कार्यनिष्ठा, परदु ख-कातरता, एव परोपकारवृत्ति के कारण महाकवि रइधू ने क्या राजा और क्या रक, सभी के हृदयो पर एकच्छत्र शासन किया था यही कारण है कि यदि कवि क्वचित् कदाचित् किसी को कोई आदेश देता था तो उसे लोग अपने गौरव की बात मानते थे तथा उसे पूर्ण करने मे लोग अपना अहोभाग्य मानते थे एक समय की घटना है कि महाकवि को 'पासणाह चरिउ' की रचना करने की इच्छा जागृत हुई तथा उसके लिए उन्हे आर्थिक सहयोग की आवश्यकता पडी तब उन्होने साहू कुल शिरोमणि श्रीखेमसिंह को आदेश दिया कि 'तुम इस ग्रन्थ' (पासणाह चरिउ) 'रचना का भार वहन करो'[2] साहू खेमसिंह ने जब यह सुना तो वे गद्‌गद् हो उठे उनके शरीर मे रोमाच हो आया तथा इस प्रकार के कवि के आदेश से उन्होने अपने को गौरवान्वित समझकर उनका आभार माना[3] उन्होने अत्यन्त प्रसन्नता पूर्वक कवि से कहा

णियगेहि उवण्णउ कप्परुक्खु, तहु फलु को णउ वछइ ससुक्खु।
पुण्णेण पत्तु जइ कामधेणु, को णिस्सारइ पुणु विगयरेणु।
तह पइ पुणु महु किउ सइ पसाउ, महु जम्मु सयलु भो अज्जजाउ।
तुहुं धण्णु जासु एरिसउ चित्तु, कइयण गुणु दुल्लहु जेण पत्तु। —पासणाह० १।८।१–४

१ देखिये, बलभद्र० १।५।५–६

२ देखिये, पासणाह० १।७।१२

३ देखिये, पासणाह० १।७।१३–१४
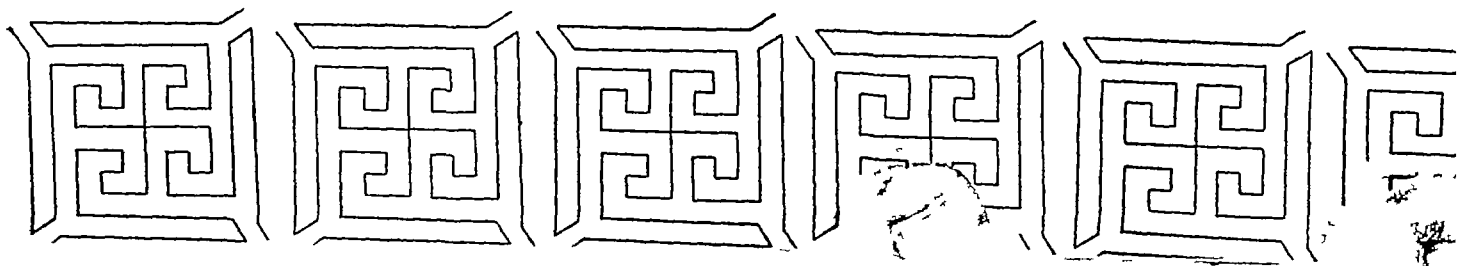
अर्थात् 'हे कविवर अपने ही घर में उत्पन्न हुए कल्पवृक्ष के सुखद फल को कौन नहीं खाना चाहेगा ? पुण्य से प्राप्त हुई कामधेनु को कौन शीघ्र ही नहीं दुहना चाहेगा ? आपने काव्य रचना की स्वत ही स्वीकृति देकर मुझ पर जो महती कृपा की है उससे मेरा समस्त जीवन ही सफल हो गया है आप धन्य हैं जिन्हें कविजनों को कुसम ऐसा सुन्दर एवं सरस हृदय प्राप्त हुआ है

इतना ही नहीं जब 'पासणाह चरिउ' की परिसमाप्ति हुई तथा कवि ने साहू खेमसिंह को उक्त रचना समर्पित की तो साहू साहब ने उसे अत्यन्त श्रद्धा भक्ति के साथ ग्रहण किया तथा अत्यन्त हर्ष विभोर होकर उन्होंने कवि को द्वीप द्वीपान्तरों से मँगवाये हुए वस्त्राभूषणादि उपहार स्वरूप भेंट किये जिससे कवि को भी बड़ी ही आत्म सन्तुष्टि हुई[1]

महाकवि रइधू के त्याग, तपस्या एवं साहित्य-साधना से उनके समकालीन ग्वालियर नरेश डूँगरसिंह एवं उनके पुत्र राजा कीर्तिसिंह भी बहुत ही अधिक प्रभावित थे डूँगरसिंह ने तो कवि को राजमहल म बैठकर ही साहित्य-साधना करने का निवेदन किया था जिसे कवि ने स्वयं ही इस प्रकार व्यक्त किया है

गोवग्गिरि दुग्गमि णिवसंतउ बहुसुहेण तहि ।
पयमंतउ गुरुपाय पायडतु णियसुत्त महि । —सम्मइ १।३।९-१

रइधू-साहित्य का पारायण करने से विदित होता है कि वे आदिनाथ प्रभु के परम भक्त थे किन्तु उनके मन में आदिनाथ प्रभु के प्रति जिस प्रकार की कल्पना थी तदनुरूप कोई भी प्रतिबिम्ब उनके आसपास म था तब उनके मन में यह इच्छा जागृत हुई कि ग्वालियर-दुर्ग म ही उसकी एक विशाल मूर्ति का निर्माण हो यह बात राजा डूँगरसिंह तथा वहाँ के अन्य लोगों के कानों में पहुँची ही थी कि यह काय ही प्रारम्भ हो गया फिर यह मूर्ति मामूली नहीं बनी महाराज डूँगरसिंह ने दूर-दूर से चतुर कलाकारों को बुलाकर ५७ फीट ऊँची ऐसी भव्य आदिनाथ की प्रतिमा का निर्माण करा दिया जो दक्षिण भारत के गोम्मटेश्वर का स्मरण कराती है उक्त मूर्ति के बाद ही मूर्तिकला का काय समाप्त नहीं हो गया तत्पश्चात् ही योजना का पुनर्विस्तार हुआ तथा राजा डूँगरसिंह के जीवनपर्यन्त तथा उनके बाद उनके पुत्र राजा कीर्तिसिंह के राज्य काल तक कुल लगातार तैंतीस वर्षों तक (वि सं १४९७-१५३० तक) यह काय चलता रहा जिसमें अगणित जैन-मूर्तियों का निर्माण हुआ कवि ने लिखा है

अगणिय अणपडिम को लक्खइ सुरगुरु ताह गणत ण सक्कइ । —सम्मत १।१३।१

उक्त प्रतिमाओं में से आदिनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा स्वयं कवि रइधू ने ही की थी इसी से यह भी विदित होता है कि वे प्रतिष्ठाचाय भी थे मूर्ति लेख निम्न प्रकार है—

संवत् १४९७ वर्षे वैशाख ७ शुक्ले पुनर्वसुनक्षत्रे श्री गोपाचल दुर्गे महाराजाधिराज राजा श्री डुंग (रसिंह) राज्य संवर्तमान श्री काष्ठासंघे माथुरगच्छे पुष्करगणे भ गुणकीर्ति देवा तत्पट्ट भ यश कीर्तिदेवा प्रतिष्ठाचार्य पण्डित रइधू तेषां आम्नाये अग्रोतवश गोयल गोत्रे साधु

राजा डूँगरसिंह एवं कीर्तिसिंह के राज्यकाल में निर्मित उक्त मूर्तियों ने इतिहास एवं कला के क्षेत्र में जैसा अद्भुत काय किया वह अनूठा है मध्यभारत का १४ १५ वीं सदी का जीता-जागता इतिहास इन मूर्तियों की आकृतियों से स्पष्ट भीरता प्रतीत होता है तत्कालीन मालव जनपद की राजनैतिक आर्थिक धार्मिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास की स्वणमयी रेखाएँ इन मूर्तियों म विद्यमान हैं अपनी विशिष्ट कला के कारण सदियों से इन मूर्तियों ने देशी-विदेशी सभी कलाकारों एवं पर्यटकों को आकर्षित किया है सम्राट बाबर, फादर मान्सेरात जनरल कनिंघम जेम्स फर्ग्युसन समरन एव श्री एम बी गर्दे डा रायचौधरी राजेन्द्रलाल मित्रा हरिहरनिवास द्विवेदी प्रभृति

---

1 देखिए सम्मत्त १ १ १-८
देखिए—अनेकान्त वर्ष १० किरण ५ पृष्ठ संख्या २१

अर्थात् 'हे मित्र, मुझ पर अनुरागी बनकर मेरी विनती सुन लीजिये एव मेरे द्वारा इच्छित बलभद्र पुराण नामक रचना लिखकर मेरा नाम चन्द्रविमान मे अकित करा दीजिये'

हरिसिंह की उक्त प्रार्थना सुनकर कवि ने कई कारणो से अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए तथा रामचरित की विशालता का अनुभव करते हुए उत्तर दिया

घडएण भरइ को उवहि तोउ, को फणि सिरमणि पयडइ विणोउ ।
पचाणण मुहि को खिवइ हत्थु, विणु सुत्तें महि को रयइ वत्थु ।
विणु बुद्धिएतह कव्वह पसारु, विरएप्पिणु गच्छमि केम पारु । —बलभद्र० १।४।१–४

अर्थात् 'हे भाई, रामचरित (अपर नाम बलभद्र-चरित) का लिखना सरल कार्य नही, उसके लिखने के लिये महान् साधना, क्षमता एव शक्ति की आवश्यकता है आप ही बताइये भला घडे मे समस्त समुद्रजल को कौन भर सकता है ? साँप के सिर से मणि को कौन ले सकता है ? प्रज्वालित पञ्चाग्नि मे कौन अपना हाथ डाल सकता है ? बिना धागे से रत्नो की माला को कौन गूँथ सकता है ? बिना बुद्धि के इस विशाल काव्य की रचना करने मे मैं कैसे पार पा सकूँगा ?

उक्त प्रकार से उत्तर देकर कवि ने साहू की बात को सम्भवत टाल देना चाहा, किन्तु साहू साहब बडे ही चतुर थे. उन्होने ऐसे अवसर पर वणिक्बुद्धि से कार्य किया उन्होने कवि को अपनी पूर्व मैत्री का स्मरण दिलाते हुए कहा कि — 'कविवर, आप तो निर्दोष काव्य-रचना मे धुरन्धर है शास्त्रार्थ आदि मे निपुण हैं आपके श्रीमुख मे तो सरस्वती का वास है आप काव्य-प्रणयन मे पूर्ण समर्थ है अत इस (रामचरित) ग्रन्थ की रचना अवश्य ही करने की कृपा कीजिये'[1]

बस, कवि की सहृदय भावुकता को उकसाने के लिए इतना कथन मात्र पर्याप्त था अन्तत वह 'रामचरित' लिखने के लिये तैयार हो जाता है

अपनी विद्वत्ता एव सत्कवित्व के कारण कवि का समाज मे बहुत ही उच्च स्थान था सदाचरण, कार्यनिष्ठा, परदुखकातरता, एव परोपकारवृत्ति के कारण महाकवि रइधू ने क्या राजा और क्या रक, सभी के हृदयो पर एकच्छत्र शासन किया था यही कारण है कि यदि कवि क्वचित् कदाचित् किसी को कोई आदेश देता था तो उसे लोग अपने गौरव की वात मानते थे तथा उसे पूर्ण करने मे लोग अपना अहोभाग्य मानते थे एक समय की घटना है कि महाकवि को 'पासणाह चरिउ' की रचना करने की इच्छा जागृत हुई तथा उसके लिए उन्हे आर्थिक सहयोग की आवश्यकता पडी तब उन्होंने साहू कुल शिरोमणि श्रीखेमसिह को आदेश दिया कि 'तुम इस ग्रन्थ' (पासणाह चरिउ) 'रचना का भार वहन करो'[2] साहू खेमसिंह ने जब यह सुना तो वे गद्गद् हो उठे उनके शरीर मे रोमाच हो आया तथा इस प्रकार के कवि के आदेश से उन्होने अपने को गौरवान्वित समझकर उनका आभार माना[3] उन्होंने अत्यन्त प्रसन्नता पूर्वक कवि से कहा

णियगेहि उवएणउ कप्परुक्खु, तहु फलु को णउ वछइ ससुक्खु ।
पुण्णेण पत्तु जइ कामधेणु, को णिस्सायइ पुणु त्रिगयरेणु ।
तह पइ पुणु महु किउ सइ पसाउ, महु जम्मु सयलु भो अज्जजाउ ।
तुहुँ धण्णु जासु एरिसउ चित्तु, कइयण गुणु दुल्लहु जेण पत्तु । —पासणाह० १।८।१–४

१ देखिये, बलभद्र० १।५।५–६
२ देखिये, पासणाह० १।७।१०.
३ देखिये, पासणाह० १।७।१३–१४
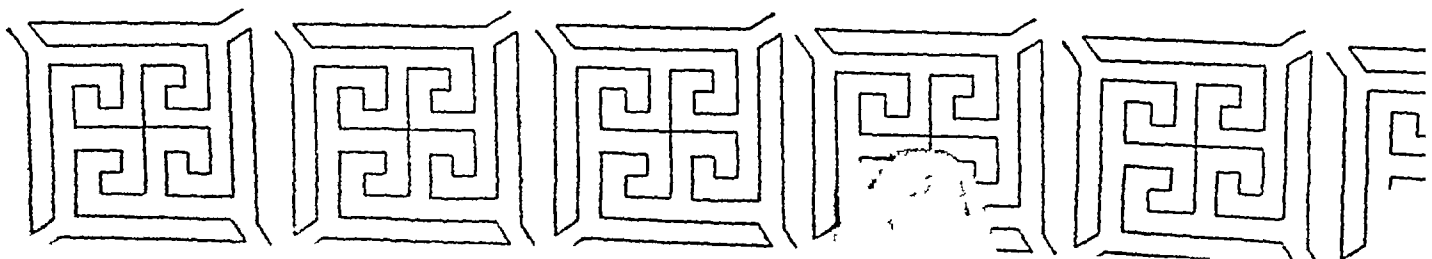
सामाजिक-दृष्टि से कवि ने तत्कालीन कई तथ्यों के साथ ही व्यक्तियों की प्रवृत्तियों पर सुन्दर प्रकाश डाला है रइधू द्वारा वर्णित व्यक्ति नैतिक-वातावरण मे पला-पुसा मिलता है वह निरालस्य उद्योगी धार्मिक दानशील परदु:खकातर, स्वाध्याय जिज्ञासु एवं साहित्य रसिक गुणीजनों के प्रति श्रद्धालु तथा दीर्घायुष्य था निरामिष सात्त्विक भोजिया का दीर्घायुष्य होना स्वाभाविक भी था कवि के समय मे मनुष्य के सौ वर्षों तक जीवित रहने की धारणा एक साधारण-सी बात थी रइधू का एक भक्त ससार स निर्विण्ण होकर कवि से कहता है कि 'मनुष्य की आयु सौ वर्ष मात्र की है उसमे से आधा जीवन तो सोने-मोने मे निकल जाता है'[1] भारत सरकार के इम्पीरियल गजेटियर के अनुसार भी मध्यभारत के जैनियो की आयु अपेक्षाकृत लम्बी देखी गई है

The age statistics show that the Jainas who are the richest and best mourished community are the longest while the Animists and Hindus show the gratest fecundity[2]

तत्कालीन समाज की जिनवाणी भक्ति एव साहित्य रसिकता के परिणामस्वरूप ही महाकवि रइधू तथा अन्य कवियों का अमूल्य विशाल साहित्य लिखा जा सका था उन लोगो के नि स्वार्थ एव निश्छल आश्रय मे रहकर कविगण मा भारती की अमूल्य सेवाए करते रहे कवियों ने भी अपने परमभक्त एव श्रद्धालु आश्रयदाताओ की भक्ति से प्रभावित होकर उनका स्वय का तथा उनकी ६ ६ ७-७ पीढियों तक की वशावलियाँ एव पारिवारिक इतिहास आदि को अपनी ग्रन्थ प्रशस्तियों के माध्यम से लिखकर उनके प्रति कृतज्ञता का परिचय देकर एक ओर जहाँ अपनी अमर कृतियो के साथ उन्हे अमर बना दिया वही दूसरी ओर भावी परम्पराओं के लिये एक अमूल्य सामाजिक एव सांस्कृतिक इतिहास भी तैयार कर दिया इस प्रकार अग्रवाल जैसवाल खण्डेलवाल पद्मावति-पुरवाल आदि जातियों से सम्बन्ध रखने वाले बहुमूल्य तथ्य इस साहित्य में उपलब्ध है

मालव जनपद की महिला-समाज से तो कवि इतना अधिक प्रभावित था कि उनके गुणों के वर्णन में कवि की लेखनी अबाधगति से दौडती थी कवि लिखता है कि 'वहाँ की नारियाँ दृढशीलव्रत से युक्त थी विविध प्रकार के दानों से पात्रों का सरक्षण करती थी ऐसा प्रतीत होता है मानो वहाँ नारी के रूप में साक्षात् लक्ष्मी ने ही अवतार ले लिया है वहाँ असुन्दर तो कोई दीखता ही न था प्रात काल क्रियाओ से निवृत्त होकर सुन्दर-सुन्दर मोती जडे वस्त्र भूषणादि धारणकर पूजा के निमित्त प्रमुदितमन से नारियाँ मन्दिरों की ओर जाती थी तथा देव एव गुरु के चरणों में माथा झुकाती थी सम्यग्दर्शन के पालन में प्रवीण थी पर पुरुषों को अपने भाई के समान मानती थीं मैं वहाँ के स्त्री पुरुषों के सम्बन्ध में अधिक क्या कहूँ जहाँ कि बच्चा-बच्चा भी सप्तव्यसनों का त्यागी था'[3] इस प्रकार महाकवि रइधू की नारी परमशीलवती पतिभक्ता धार्मिक गृहकार्यकुशल उदारचित्त परदु:खकातर, कामशीला परिवार-पोषक एव आलस्यविहीन है उसे अपने बच्चो के सुसस्कारो का सदा ध्यान रहता है उसकी देख रेख में बच्चो का स्वभाव ऐसा हो जाता है कि वे सप्तव्यसनो तथा अन्य अनैतिक-प्रवृत्तियो से सदा दूर रहकर परम आस्थावान बन जाते हैं. इसे ही माँ का सच्चा मातृत्व कहा जा सकता है रइधू ने नारी मे माँ के दर्शन करके ही उसे ऐसा चित्रित किया है इसलिए जहाँ उसे नारी-सौन्दर्य के वर्णन करने का अवसर मिला है वहाँ बस 'ग' हसजीव' (हंस की गति के समान चलने वाली) 'ललिय गिरा (सुन्दर मधुर वाणी बोलने वाली) जैसे विशेषण तक ही उन्होंने अपने को सीमित रखा है महाकवि केशव देव मतिराम या बिहारी अथवा अन्य शृंगार रस के रसिक पुरन्धर कवियों के समान वासना को उभाडने म व बहुत ही पीछे पड गये है उनकी इस सीमा को चाहे उनका दोष माना जाय अथवा गुण यह बहुत कुछ निष्पक्ष समालोचको के हाथो म ही है किन्तु वस्तुस्थिति यही है

---

१ देहि-न स्मरण ? १

See Imperial Gazetteer Vol IX Page 353

३ र्ध-म—गभगम ? १ ? १६

दर्शको एव इतिहास-मर्मज्ञो ने मुक्तकण्ठ से उक्त-मूर्तिकला की प्रशसा की है डा० रायचौधरी ने लिखा है [1]

"He (Dungarsen) was a great patron of the Jaina faith and held the Jainas in high esteem During his eventful reign the work of carving Jaina images on the rock of the fort of Gwalior was taken in hand, it was brought to completion during the reign of his successor Raja Karan Singh [2] All around the base of the fort the magnificent statues of the Jaina Pontiff of antiquity gaze from their tall niches like mighty guardians of the great fort and its surrounding landscape Babar was much annoyed by these Rock-sculptures as to issue orders for their destruction in 1557 A D

मुगलसम्राट् बाबर ने अपने 'बाबरनामा' मे इन्ही मूर्त्तियो के विषय मे लिखा था जिसका जनरल कनिंघम ने अग्रेजी अनुवाद[3] इस प्रकार किया है

They have hewn the solid rock of this Adiva and sculptured out of it idols of larger and smaller size On the south part of it is a large size which may be about 40ft in height These figures are perfectly naked, without even a rag to cover the parts of generation Adiva is far from being a mean place, on the contrary, it is extremely pleasent The greatest fault consists in the idol figures all about it "I directed these idols to be destroyed"

इसी प्रकार भारत सरकार के रेलवे विभाग ने ग्वालियर सम्बन्धी अपनी एक पुस्तिका[4] मे 'Rock-Giants" के नाम से उक्त मूर्त्तियो का परिचय निम्न प्रकार दिया है

Round the base of Gwalior Fort are several enormous figures of the Jaina Tirthamkaras or pontiffs which Vie in dignity with the colossal effigies of that greatest of all self advertisers Remses II who plastered Egypt with records of himself and his achievements These Jaina statues were excavated from 1440-1473 A D

इस प्रकार कविकुल दिवाकर रइधू को प्रेरणा से ग्वालियर के "दो नरेशो के राज्य मे जैन-साहित्य, सस्कृति एव कला को प्रश्रय मिला और उनके द्वारा मूर्तिकला का जो विकास हुआ उसकी ये भावमयी प्रतिमाएँ प्रतीक हैं ३३ वर्षों के थोडे समय मे ही कुरूप एव बेडौल चट्टानें महानता, शान्ति एव तपस्या की भाव-व्यजना से मुखरित हो उठी अब उक्त प्रमाणो से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि महाकवि रइधू ने सचमुच ही अपने महान् व्यक्तित्व एव कृतित्व से मालव जनपद मे एक नवीन सास्कृतिक चेतना जागृत की तथा लक्ष्मी एव सरस्वती के चिरवैर को दूरकर उनमे एक चमत्कार-पूर्ण समन्वय स्थापित किया अत. समन्वयवादी कवि के रूप मे रइधू भारतीय साहित्य मे सदा ही स्मरणीय रहेगे

रइधू-साहित्य मे उपलब्ध प्रशस्तियो मे अन्य जो विविध सूचनाएँ मिलती है वे भी कई दृष्टियो से अत्यन्त मूल्यवान् है सामाजिक एव आर्थिक परिस्थितियो का सुन्दर वर्णन, समकालीन राजाओ का परिचय, नगर-वर्णन आदि अपने विशेष ऐतिहासिक महत्त्व रखते हैं

---

१ देखिये—The Romance of the Fort of Gwalior 1931 Page 19-20
२ समग्र रइधू-साहित्य में "कीर्त्तिसिंह" यही नाम मिलता है
३ See Murry's Northen India Page 381-382
४ See "Gwalior" (Published by the ministry of Railways) Govt of India Delhi
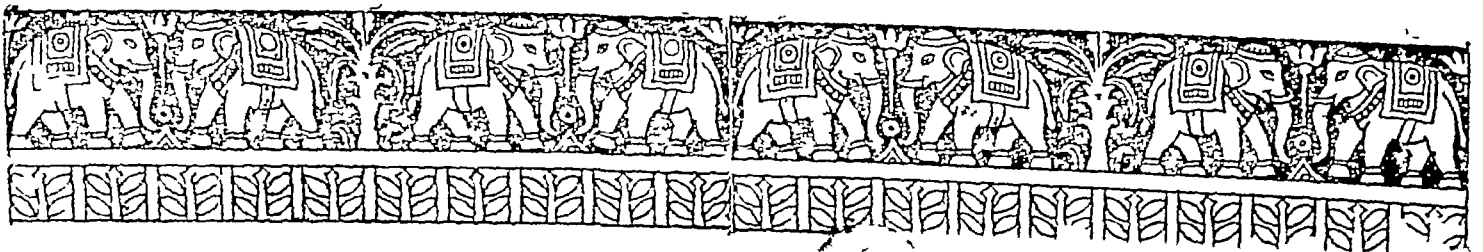
पण्डित श्रेष्ठ की सज्ञा देकर भी कवि को जब पूर्ण सन्तोष न हुआ तब उसने पुन उसे श्रेष्ठतमनगरों का गुरु भी उसे मान लिया[1]

कवि के उक्त नगर-वैभव के वर्णन की शैली एव परम्परा नगर के ऐतिहासिक तथ्य को व्यक्त करने की दृष्टि से तो अपना विशेष महत्त्व रखती ही है लेकिन इससे भी ज्यादा महत्त्व इस बात में है कि वह परवर्ती साहित्यकारो के लिये एक प्रेरणा का जनक बन गया जो सिद्धहस्त कवि थे वे उससे अनुप्राणित हुए तथा जो नवशिक्षित अथवा नव दीक्षित थे उसका उन्होने अन्धानुकरण किया महाकवि रइधू के लगभग ४ ५ वर्ष बाद ही एक माणिक्कराज (वि स १५७६) नाम के कवि हुए है जिन्होने अपभ्रंश में 'अमरसेन चरिउ' नामक काव्य लिखा था उसके प्रशस्ति-खण्ड में उन्होने भी नगर-वर्णन किया है उक्त कवि ने ४ ६ शब्द बदल कर महाकवि रइधू का ग्वालियर नगर वर्णन पूरा का पूरा आत्मसात कर लिया[2]

इसी प्रकार 'पण्डित श्रेष्ठ' गोपाचल की चरणरज लेकर अपने को पवित्र मानने वाली सुवर्णरेखा नदी का चमत्कार भी देखिये कवि ने इस प्रकार वर्णित किया है

> सोवण्णारेह वा उवहिं जाय वं सोमारिवन पुण्णवेय जाय।
> तहवि सोहिउ गोवायलवत्थु वा मज्ज समाया उं वाहु वत्थु। —पासणाह १।३।१५ १६
> सोवण्णरेख याइ जहिं सहए सग्गाउ ववरु व सा बहु वहए। —मेहेसर १।४।४

आजकल वही महाभागा सुवर्णरेखा नदी सूखकर मानों काँटा बन गई है नाम वही एक नदी के नाम पर बैलगाड़ी के रास्ते मात्र के रूप मे बची है[3]

To the eastside the denseness the houses is interested by the broad bed of the Suvernrekha or golden streak rivulet which being generally dry form some of the principal thorough fares of the city (of Lashkar) and is almost the only one passable by Carts

एक ओर ग्वालियर नगर जहाँ अर्थ एव कला के वैभव का धनी था दूसरी ओर वह प्रकृति का प्राङ्गण भी बना हुआ था वहाँ के नदी नद वन उपवन विशाल सरोवर हरे भरे मैदान सरोवरो में कूजने वाले कलहस वापिकाओ में जल क्रीड़ा करते वाले नर-नारी सभी के मनो को मोह लेते थे[4] एक जगह तो कवि ने बड़ी ही सुन्दर कल्पना की है उसके अनुसार नगर के 'भवन भवन नहीं राजा डूंगरसिंह की सन्तति परम्परा है[5] भी कवि का भाव देखिये कितना गूढ है एक तीर से दो लक्ष्यो की सिद्धि उसने की है भवनो की कलात्मक भव्यता का विदर्शन एव दूसरी ओर राजा राजा के यश का स्पष्टीकरण

महाकवि रइधू ने अपनी प्रशस्तियो मे अपने समकालीन दो राजाओ का उल्लेख किया है तोमरवंशी राजा डूंगरसिंह एवं उनके पुत्र राजा कीर्ति सिंह ग्वालियर राज्य के निर्माताओ में इनका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है डूंगरसिंह जैसा वीर-पराक्रमी धैर्यशाली प्रजावत्सल धार्मिक उदार, निष्पक्ष प्रगतिशील साहित्य रसिक एव कलाप्रेमी राजा दूसरा नहीं हुआ वह राज्य के सुख एव समृद्धि का जनक था वहाँ के रइधू कालीन जैन-साहित्य एव कला के विकास का सारा श्रेय उसीको है महाकवि रइधू के वर्णन के अनुसार डूंगरसिंह का समय 'सुवर्णकाल' ही था यह स्थिति उसे परम्परा से प्राप्त हुई हो ऐसी बात नही उसने काँटो से भरा-पूरा ताज अपने सिर पर रखा था मुगलो एव उनके पूर्व के शत्रु

---

१ देखिये—पासणाह १।३।१७-१

२ देखिये—डा कस्तूरचन्द जी कासलीवाल द्वारा सम्पादित प्रशस्ति-संग्रह (जयपुर १९५) पृष्ठ ८ –८१

३ Se Murrys Northern India Vol I pages 381 382

४ देखिये—सम्मत्त १।३। १

५ देखिये—मेहेसर १।४।५
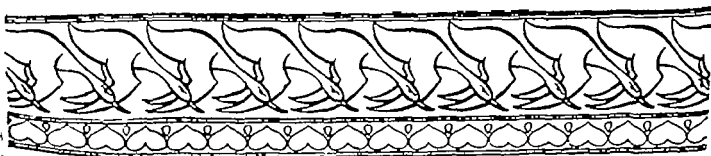
दाम्पत्य-जीवन की सार्थकता तभी मानी जाती थी, जब कि सुयोग्य सतति की प्राप्ति हो उसके अभाव मे उत्तराधिकार की एक विकट समस्या उठ खडी होती थी उसके अभाव मे कौन तो चल-अचल सम्पत्ति का सरक्षण करेगा, गृहस्थ-धर्म-नीति का प्रवर्तन कौन करेगा ? आश्रितो के आँसू पोछकर उनका लालन-पोषण कौन करेगा ?"[1] विशेषतया माँ का आधार तो पति की मृत्यु के बाद पुत्र ही है उसीको अपनी आशाओ का केन्द्र मानकर वह घर मे वास करती है[2]

आर्थिक स्थिति की दृष्टि से कवि ने प्रसगवश बहुत-सी बातो की चर्चा की है वस्तुत अर्थ-व्यवस्था किसी भी समाज या राष्ट्र की रीढ होती है उसकी पृष्ठभूमि में विभिन्न परम्पराएँ निर्मित होती है जन-जीवन का विकास तथा रीतिरिवाज भी उसी के आलोक मे प्रकाशित होते है मालवा का रइधू कालीन समय कई दृष्टियो से समृद्ध था समाज, सस्कृति एव साहित्य का जो अभूतपूर्व विकास वहाँ हुआ, उसका प्रमुख कारण वहाँ की शान्तिपूर्ण एव स्थिर राजनीति एव अर्थव्यवस्था ही थी कवि के सम्मुख आर्थिक सम्पन्नता का चित्रण करने के लिये इतनी सामग्री थी कि उसे वह अपने साहित्यरूपी विशाल क्षेत्र मे दोनो हाथो से उछाल-उछालकर बिखेरता चला है सामान्य-जन को उसका चुन सकना कठिन है कवि के अनुसार मालव जनपद सभी प्रकार के धन-धान्य से परिपूर्ण था[3] ऐसी कोई भी वस्तु न थी जिसका कि वहाँ अभाव हो[4] वहाँ का व्यापारी वर्ग न्यायपूर्वक सम्पत्ति का अर्जन करता था फिर भी उसका उपयोग भोगैश्वर्य में नही करता था लोग सदैव ही इस प्रकार सोचा करते थे कि 'ऐसी सम्पत्ति के अर्जन एव सचय से क्या लाभ जिससे दीन-दुखी एव आवश्यकता वाले लोगो की आवश्यकताएँ ही पूर्ण न हो'[5] 'पासणाहचरिउ" की रचना-समाप्ति के बाद कवि ने जब उसे अपने आश्रयदाता खेमसिंह साहू को समर्पित किया तो उन्होने कवि को द्वीप-द्वीपान्तरो से लाये गये विविध वस्त्राभूषणादि भेंट-स्वरूप प्रदान किये थे[6] इससे प्रतीत होता है कि साहू खेमसिंह तथा अन्य लोगो का व्यापार विदेशो मे भी चलता था तथा उच्चकोटि के कपडे तथा सोना-चाँदी हीरा-मोतियो आदि सामग्रियो का प्रर्याप्त मात्रा मे आयात-निर्यात किया जाता था

नगर-वर्णन की दृष्टि से महाकवि रइधू ने अपनी प्रशस्तियो मे ग्वालियर का बडा सुन्दर वर्णन किया है उसके समय मे वहाँ का वैभव अपने यौवन पर था वहाँ के कलापूर्ण भवन एव जिन मन्दिर जन-कोलाहल से परिपूर्ण सुन्दर सडकें, सोने-चाँदी एव हीरे मोतियो से भरे हुए बाजार, स्थान-स्थान पर निर्मित दान शालाएँ, चटशालाएँ आदि किसी के भी मन को मोह सकती थी समृद्ध व्यापारी-वर्ग धर्म एव साहित्य की सेवा मे सदैव आग्रगामी रहता था ग्वालियर मे विद्वानो, कवियो का निवास-स्थान था समाज मे उन्हे खूब प्रतिष्ठा एव सम्मान प्राप्त होता था नगरवधुएँ जब प्रभाती गीत एव पूजन-भजन के सुन्दर पद्य मधुर स्वर लहरी से गाती हुई निकलती तो नगर मे शान्ति का साम्राज्य छा जाता था इसे देखकर कवि स्वय ही आत्मविभोर हो उठता था सर्व गुण-सम्पन्न होने के कारण कवि को ग्वालियर के लिये 'पण्डित' की उपाधि देनी पडी वह कहता है कि—'पृथ्वी मण्डल मे प्रधान, देवेन्द्रो के मन मे भी आश्चर्य उत्पन्न कर देने वाला, विशाल तोरणो एव शिखरो से युक्त यह गोपाचल नगर ऐसा लगता है मानो पण्डित श्रेष्ठ गोपाचल हो'[7] आगे चलकर कवि ने ग्वालियर-नगर का बडा ही सुन्दर एव विशद वर्णन किया है[8] ग्वालियर को

---

१ देखिये—सुकौशल चरित ३-१८-११
२ देखिये—सुकौसल० ४।७।६
३ देखिये—मेहेसर० १।४।८
४ देखिये—मेहेसर० १।४।६
५ देखिये—पउमचरिउ १।३।१०
६ देखिये—पासणाह० ७।१०।५ ६
७ देखिये—पासणाह० १।२।१५-१६
८ देखिये—पासणाह० १।३।१-१४
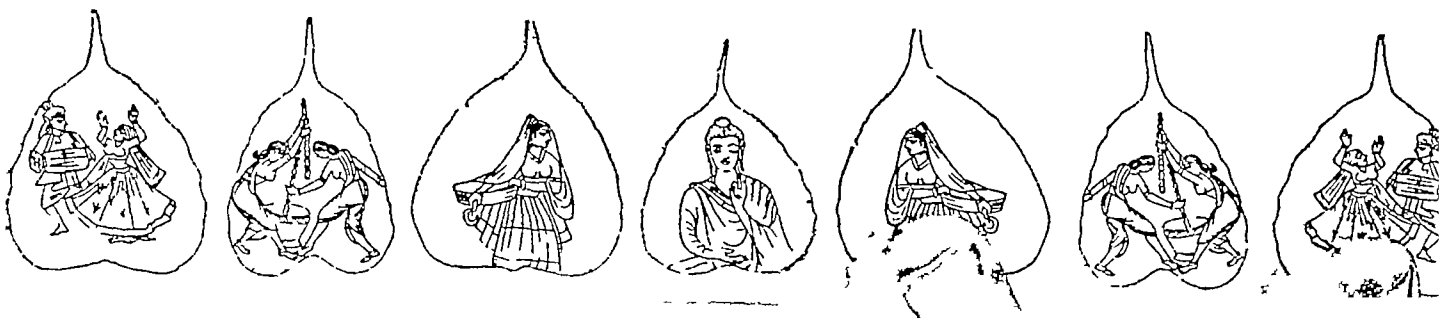
राजाओ ने अपने आक्रमणो से ग्वालियर को जर्जर कर दिया था. उसके समय मे चतुर्दिक अनिश्चित परिस्थितियो का वातावरण था ऐसी स्थिति मे राजा डूंगर सिंह को राजगद्दी मिली थी अनेको रात्रियां घोडे की पीठ पर ही काटने के बाद उस नरव्याघ्र ने अपने कुशल पराक्रम से शत्रुओं का बल नष्ट कर ग्वालियर के प्रजा-जीवन के इतिहास का एक नवीन अध्याय प्रारम्भ किया था रइधू-साहित्य मे इसके प्रचुर मात्रा मे उल्लेख मिलते है एक स्थान पर कवि ने लिखा है

तहिं तोमर कुलसिरि रायहसु, गुण गण रयणाहम लद्धसु ।
अग्गणाय णाय सासण पवीणु, पचग मत सत्यह पवीणु ।
अरिराय उरत्थलि दिण्ण दाहु, समरगणि पत्तउ विजयलाहु ।
खग्गग्गि डहिय जें मिच्छवसु, जस ऊरिय ऊरिय जे दिसतु ।
णिव पट्टालकिय विउल भालु, अतुलिय बल खलकुल पलयकालु ।
सिरि णिवगणेस णदणु पयडु, ण गोरक्खण विहिणउवसडु ।
सत्तग रज्ज भर दिण्ण खडु, सम्माणदाण तोसिय सवधु ।
करवाल पट्टि विप्फुरिय जीहु, पव्वत णिवइ गयदलण सीहु ।[1]

राजा डूगर सिंह का दरबार सभी के लिये समान रूप से खुला रहता था प्रजा का कोई भी धनी या गरीब व्यक्ति उनके सम्मुख जाकर अपने दु ख-सुख की बाते सुना सकता था पिछले एक स्थल पर सघपति कमल सिंह के साथ घटित एक घटना का उल्लेख किया ही जा चुका है उससे यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि वह केवल तलवार का धनी एव लडाकू मात्र ही न था अपितु पजा के सुख-दु ख का सच्चा सहभागी, सात्त्विक एव साहित्य प्रेमी भी था इससे भी बढ कर जो एक नवीन बात ज्ञात होती है वह यह कि—वह इतिहासवेत्ता भी था कल्पना कीजिये ५०० वर्ष पहले के युग की जब कि यातायात के आज जैसे सुविधाजनक एव शीघ्रगामी साधनो की उस समय कल्पना भी न थी फिर भी डूगर सिंह ने सैकडो मील दूर स्थित सोरठ, आबू तथा दिल्ली आदि के इतिहास की जानकारी प्राप्त की थी तथा उन-उन राज्यो के आदर्शो से प्रेरणाएँ लेता रहा यह कह सकना तो कठिन है कि महाकवि रइधू उनके गुरु थे किन्तु इतना तो निश्चित ही है कि वह रइधू का सम्मान करता था तथा उन्हे दुर्ग मे रहने के लिये सर्वसुख-सम्पन्न निवास स्थान दिया था जैसा कि पूर्व मे लिखा ही जा चुका है उनकी सत्सगति मे रहकर ही राजा ने आत्मिक एव बौद्धिक विकास के साथ ही यदि इतिहास की जानकारी भी प्राप्त की हो तो यह असम्भव नही कवि डूगर सिंह से स्वय ही अत्यन्त प्रभावित था उसकी नीतिमत्ता, कलाप्रेम पराक्रम एव एकच्छत्र राज्य की स्थापना का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है[2]

णीइ तरगिणी णावइ सायरु, सयल कलालउ णावि दोसायरु ।
वे पक्खुज्जलु णियपय पालउ, मिलच्छ णरिंद वस खय कालउ ।
एयच्छत्तु रज्जु रज्जु जिजो भुजई, मुणियण विंदह दाणें रजइ ।

डूगर सिंह की पट्टरानी का नाम था चदादे[3] उससे एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम था कीर्तिसिंह बल, पराक्रम एव धार्मिक-कार्यो मे वह अपने पिता से कम न था कवि ने उसके सम्बन्ध मे लिखा है

तहु णदणु णिरुवमु गुण णिहाणु, तेयग्गलु ण पचक्खु भाणु ।
ण णावउ णासकरु पुहमि जाउ, ज जय सिरीए पयडियउ भाउ ।
सिरि कित्तिसिंधु णामें गरिट्ठ, ण चदु कलायरु जय मणिट्ठ ।[4]

१ देखिये—पासणाह० १।४।१-१२
२ देखिये—मेहेसर० १।५।१-३
३ देखिये—पासणाह० १।५।१
४ देखिये—मेहेसर० १।५।३-५
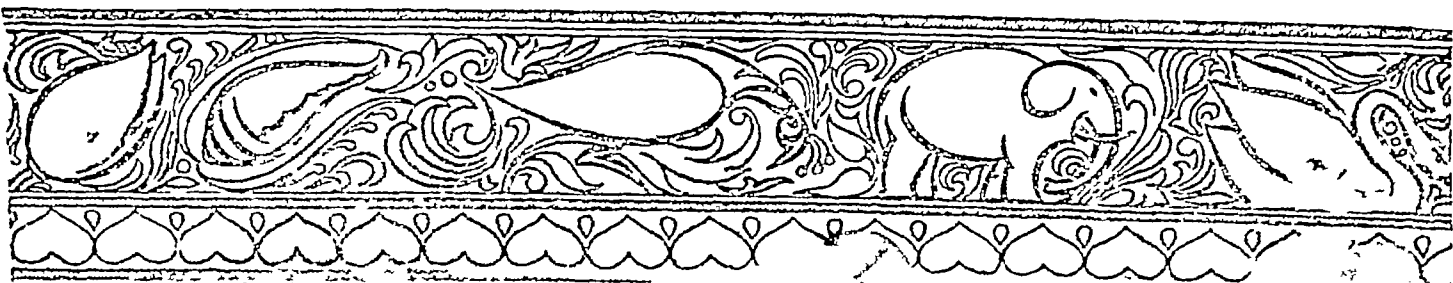
तोमर कुल कमल वियास मित्त दुव्वार वैरि संगर अजित्तु।
डूंगर णिव रज्ज धरा समत्थु वंदीयण समप्पिय भूरियत्थु।
चउराय विज्ज पालण समत्थु णिम्मल जसवल्ली भुवण कंतु।
कलि चक्कवट्टी पायड णिहाणु सिरि कित्तिसिंघु महिवइ पहाणु।[1]

श्री डा० हेमचन्द्रराय का इस विषय में कथन द्रष्टव्य है

Karan Singh[2] was a Vigorous rular as his father Raja Dungarsingh. He extended the boundaries of his Kingdom by fresh conquest and maintained cordial relations with the King of Delhi In 1465 A D he was attacked by Hussain, the Sharqui King of Jaunpur but a treaty of mutual friendship was soon concluded between them When Bahlol Lodi, the energetic Afghan King of Delhi took the offensive against Hussain in 1478 Karan Singh rendered valuable assistance to the later The arms of Bahlol Lodi-how ever triumphed and he annexed the Jaunpur kingdom He was deeply incensed against Karan Singh for having aided Hussain After the conquest of Jaunpur Bahlol attacked tha chief of Dhaulpur who purchased his safety by offering a Cash Nazar (नजर या नजराना) Bahlol now bore down on Gwalior with an army of two lacs well mounted and well armed Karan Singh could not muster a force of even one half the number of the invadors and was therefore obliged to follow the example of Dhaulpur to escape molestation However he shook off the yoke as soon as Bahlol was known to be busy elsewhere In 1479 A D Karan Singh passed away and was succeeded by Kalyan Singh who ruled for a period of 7 years.

भट्टारकों की परम्परा में रइधू ने अपनी रचनाओं की प्रशस्तियों में विजयसेन गुणकीर्ति (वि० सं० १४६८-७१) यशःकीर्ति (वि० सं० १४८६-९७) क्षेमकीर्ति हेमकीर्ति (वि० सं० १५११) कुमारसेन (१५ ६-१) कमलकीर्ति (वि० सं० १५ ६-१) तथा उनके शिष्य शुभचन्द्र (वि० सं० १५ ६-१) का उल्लेख किया है इनमें से भट्टारक यशःकीर्ति एवं भट्टारक शुभचन्द्र को कवि ने गुरुरूप में स्मरण किया है भ० शुभचन्द्र का परिचय देने के लिये कवि ने एक बड़ी ही ऐतिहासिक घटना का उल्लेख किया है वह यह कि उनके गुरु भ० कमलकीर्ति ने कनकाद्रि (सोनागिर म० प्र०) पर एक भट्टारकीय गद्दी की स्थापना की थी जिसका पट्टधर भ० शुभचन्द्र[3] को ही बनाया गया था कवि की इस सूचना से यह स्पष्ट है कि सोनागिर उस समय विद्या का बड़ा भारी केन्द्र बन गया था भ० यशःकीर्ति के सम्बन्ध में कवि ने लिखा है कि 'उन्होंने मुझे आशीर्वाद के साथ गुरुमन्त्र दिया जिसकी कृपा से मैं कवि बन गया'[4]

पूर्ववर्ती साहित्य एवं साहित्यकारों में कवि ने देवनन्दि एवं उनका जैनेन्द्र व्याकरण जिनसेन एवं उनका महापुराण रविषेण एवं उनकी रामायण पद्मसेन (जयसेन ?) एवं उनका षड्दर्शन सुरसेन (देवसेन ?) एवं उनका मेघेश्वर चरित दिनकरसेन एवं उनके अनंग चरित का उल्लेख करते हुए महाकवि स्वयम्भू चउमुह एवं पुष्पदन्त का अत्यन्त सम्मान पूर्वक स्मरण किया है कवि के उक्त उल्लेखों से दो बातों की सूचना स्पष्ट मिलती है प्रथम तो यह

---

१ दे० ज०—सम्मत्त गुण णिहाण कव्व प्रशस्ति.
२ दे० ग्र०—The Romance of the fort of Gwalior Page 10 ?0
३ कवि ने सिद्ध चक्र का दूसरा नाम चक्क सिद्ध है
४ दे० ग्र० चरित्र ११ १९-११
५ दे० ग्र० मेघेश्वर ११

कि कवि ने अपनी रचना के लेखन काल मे उक्त साहित्य एवं साहित्यकारो को अपने सम्मुख एक आदर्श के रूप मे रखा है तथा दूसरा यह कि कवि ने अपनी रचनाओं मे जो कुछ भी लिखा है वह सब उक्त परम्परा के अनुसार ही लिखा है आगम विरुद्ध नही

इस प्रकार उक्त सूचनाओं मे यह स्पष्ट ही विदित हो जाता है कि १४–१५ वी सदी (वि० स० १४५०–१५३६) के इस महाकवि ने साहित्य-जगत् मे कैसा अद्भुत कार्य किया है साहित्य के साथ इतिहास का समन्वय कर उसने साहित्य समाज एव राष्ट्र की बहुमुखी अमूल्य सेवा की है मध्य भारत के सम्बन्ध मे उसकी सूचनाएँ अत्यन्त नवीन एव मौलिक है उनके आधार पर वहाँ का एक सागोपाग, विशद एव प्रामाणिक राजनैतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक तथा मूर्ति, एव स्थापत्यकला का सुन्दर इतिहास तैयार हो सकता है विस्तार के भय से प्रस्तुत निबन्ध अत्यन्त सक्षेप मे लिखना पडा है इसीलिए इसमे पूर्ण सामग्री भी उपस्थित नही की जा सकी है यद्यपि कुछ विशेष दिक्कतो के कारण रइधू के सभी ज्ञात हस्तलिखित ग्रन्थो मे से कुछ ग्रथ भी मुझे उपलब्ध नही हो सके, किन्तु जो मिल गये उन्ही के आधार पर उक्त लेख एक बानगी के रूप मे सहृदय पाठको की सेवा मे प्रस्तुत किया गया है कवि की सभी रचनाएँ अप्रकाशित है तथा दुर्भाग्य से उनकी सभी प्रतिलिपियाँ एक ही स्थान पर सग्रहीत नही है, देश के विविध शास्त्र-भण्डारो मे इक्के-दुक्के यत्र-तत्र बिखरे पडे है वहाँ से आसानी से उपलब्ध कर उनका पूर्ण उपयोग किया जा सके ऐसी सुविधाएँ भी शोधको के लिए अभी सम्भव नही हो सकी उक्त कवि के साहित्य पर अभी किसी का विशेष ध्यान भी नही गया है अत प्राय सभी प्रकार के साधनो के अभावो मे भी यहा जो लिखा गया, यह एक साहसी प्रयास ही है आशा है साहित्य जगत् इसमे एक अप्रकाशित महाकवि का मूल्याकन शीघ्र ही करेगा

कि कवि ने अपनी रचना के लेखन काल मे उक्त साहित्य एव साहित्यकारो को अपने सम्मुख एक आदर्श के रूप मे रखा है तथा दूसरा यह कि कवि ने अपनी रचनाओ मे जो कुछ भी लिखा है वह सब उसने परम्परा के अनुसार ही लिखा है आगम विरुद्ध नही

इस प्रकार उक्त सूचनाओ से यह स्पष्ट ही विदित हो जाता है कि १४–१५ वी सदी (वि० स० १४५०–१५३६) के इस महाकवि ने साहित्य-जगत् मे कैसा अद्भुत कार्य किया है साहित्य के साथ इतिहास का समन्वय कर उसने साहित्य समाज एव राष्ट्र की बहुमुखी अमूल्य सेवा की है मध्य भारत के सम्बन्ध मे उनकी सूचनाएँ अत्यन्त नवीन एव मौलिक है इनके आधार पर वहाँ का एक सागोपाँग, विशद एव प्रामाणिक राजनैतिक, सास्कृतिक, धार्मिक तथा मूर्ति, एव स्थापत्यकला का सुन्दर इतिहास तैयार हो सकता है विस्तार के भय से प्रस्तुत निवन्ध अत्यन्त सक्षेप मे लिखना पडा है इसीलिए इसमे पूर्ण सामग्री भी उपस्थित नही की जा सकी है यद्यपि कुछ विशेष दिक्कतो के कारण रइधू के सभी ज्ञात हस्तलिखित ग्रन्थो मे से कुछ ग्रथ भी मुझे उपलब्ध नही हो सके, किन्तु जो मिल गये उन्ही के आधार पर उक्त लेख एक बानगी के रूप मे सहृदय पाठको की सेवा मे प्रस्तुत किया गया है कवि की सभी रचनाएँ अप्रकाशित है तथा दुर्भाग्य से उनकी सभी प्रतिलिपियाँ एक ही स्थान पर सग्रहीत नही है, देश के विविध शास्त्र-भण्डारो मे इक्के-दुक्के यत्र-तत्र बिखरे पडे है वहाँ से आसानी से उपलब्ध कर उनका पूर्ण उपयोग किया जा सके ऐसी सुविधाएँ भी शोधको के लिए अभी सम्भव नही हो सकी उक्त कवि के साहित्य पर अभी किसी का विशेष ध्यान भी नही गया है अत प्राय सभी प्रकार के साधनो के अभावो मे भी यहा जो लिखा गया, यह एक साहसी प्रयास ही है आशा है साहित्य जगत् इससे एक अप्रकाशित महाकवि का मूल्याकन शीघ्र ही करेगा

पंक्ति १८ श्री चण्डमहासेन प्रचण्डरिपुदर्प्पसातम स इह । धवलपुरीत्य[1] श्रमति (च)माहेटक कौतुकस्येन ॥ (१६) अ [ट] वी दृष्टा येयं कणीया रम्य–

१६ कुलगुणयोगात् । विषमतरदुर्गगहना प्रतिविमभिगाभ्मता तत्र ॥ (२०) शार्दूलसिंघशूकरवृकहरिणशिवाकुला भीमा । वा—

२० सन्न स्थित-सलिला योग्या देवालय—सदा ॥ (२१) सामतर कृत पुण्योदय समाज्जिताऽत्रेपाह्म्यनिचयन चण्डस्वामि निवेश [इच][2]

२१ म्नेन कृत प्रकाण्डेन ॥ (२२) वसुनवाष्टौवर्षा ( ) गतस्य कालस्य विक्रमाख्यस्य[3] वैशाखस्य सितायां रविवार युतद्वितीयायां ॥ (२३) चन्द्र रो—

२२ हिणीसयुक्ते लग्ने सिंघस्य शोभने योगे[4] चकसाकृतममलस्य श्रभूरप्रतिष्ठास्य भवनस्य ॥ (२४) गम्भीर विपुलं शुभासममलं

२३ सतापहृत्सेवित [।] बहुमा मनस प्रसादजनन सम्य शुभ निर्म्मल ॥ कौवेर्यां दिशि संस्थित च सुमहद् श्रेष्ठ तटाक तत वि–

२४ तस्येह सदा विभाति सदृश तेनैवे ततानितं ॥ (२५) यत्कीत्या जगति प्रकाशितमल तत्रोर शुभ्र म स [।] नानापक्षिगणा रवं श्रति–

२५ सुखश्रव्यस्य तदृगीयते पूर्व्वेणापि शिला च यं सुमटिरर्वेशा विशाला दृढा [।] वापी तस्य विभाति पुण्य मिश्रमस्या श्रोनिधि

२६ सास्वतः ॥ (२६) आम्रासी निम्बपक्तिर्भरवाकुलयुता चम्पका शिमुसज्ञा [।] सज्जाती मल्लिकानां सतत कुसुमिता पक्तय षट्पदस्य [।][5]

खेद है कि उपर्युक्त शिलालेख की आधुनिक स्थिति का कुछ भी पता नही है वास्तव में समूचे धौलपुर व भरतपुर क्षेत्र में पर्याप्त शोध-खोज-काय होना चाहिए तब ही उस क्षेत्र के प्रारंभिक पुरातत्त्व एव इतिहास का समुचित मूल्यांकन हो सकता है राजस्थान का यह प्रदेश अति महत्त्वपूर्ण है और इसके पुरातत्त्वीय स्थलों की खोज नितान्तावश्यक है

१ अर्थात् 'धौलपुर' इस नगरी का यह नाम दिया गया है
२ अर्थात् चण्डमहासेन का इष्टदेव 'चण्डस्वामी' का सूर्य मंदिर
३ अर्थात् विक्रम संवत्
४ यहाँ पर ठीक समय की गणना नहीं समाप्त होती है ११ की पंक्ति में शब्द के अंकों के स्थान पर अक्षरों में अंकित है (अर्थात् विक्रम संवत् ८६८–८९८ ई) सिंह के स्थान पर सिंघ शब्द का प्रयोग भी महत्त्वपूर्ण है
५ मलिलिपि में यत्र तत्र कुछ अशुद्धियाँ प्रतीत होती है इन्हें ठीक करना आवश्यक है

पंक्ति २ प्रतपति भुवने मोक्षधर्मार्थसारा. [।] भास्वान् पद्मालयाद सकलभूमितो मगल व प्रकुर्यात् ।। [१] विप्रा. समुनयो देवा सध्याया यमुपासते । स श्री—

३ चण्डमहासेन भास्करो व्याद्वारप्रद ।। [२] आसीदनेकगुणवृन्दनिवासभूमि सौम्यकृपालुरनघो विजितारिवर्ग । मानी शुचि प्रणयी पूरितचिन्ति

४. ताश श्री ईसुक कृतयुगानुकार स्वभाव [३] तस्यामुद्दानमानानघरणविजयोपर्ज्जिताशेषकीर्ति [१] विद्वन्मार्ग-प्रवृत्तो निजकुलतिलक. क्षीण—

५ निश्शेषशत्रु [१] धीमान् धीरो धराया प्रथितवहुगुणप्रीणिताशेपदेव [।] पुत्रो रामानुकारी जगति महिपराम स्वभावैर्व्विशालै ।। [४] तस्यासीद्विम—

६ ला प्रिया सुरुचिरा तन्मी मनोहारिणी [।] दौर्गत्योरुतमोगता जनानुता सौम्यालकारशुभा । सा श्रीका निजवश-शम्भुशिरश्चूडामणित्व गता

७ कण्हुल्ला नवचन्द्रमूर्तिसदृशी लावण्यकान्त्यावृता ।। [५] सा श्रीचण्डमहासेन पुत्र पुत्रार्थसाधक । प्रसूय भर्तृ-समेता प्रविश्याग्नौ दिव गता ।। [६] यस्त्यागास्थिर—

८ तादिभिर्गुणतोरकाधिवासकृता [।] य विद्वेपिगण प्रणम्य लभते पूर्वातिरिक्ता द्युति । स श्रीचण्डमहीपति-श्चिरमसौ न्यायेन रक्षन् क्षिति [अ] व्याज्जी—

९ वति जन पैशुन्यशून्य सुख ।। [७] श्यामशक्तियुतो विशालनयनो विश्रामभूमि सता [।] सव्य सगतवृद्धिद सुचरितै स्र्यातिगत सद्गुण । [प्र]—

१० ध्वस्तारिगण प्रतापनिकश मार्ग्गमता मस्थित । सादृश्य हरिणा पर स ह गत शीचण नामा नृप [८] आदौ तनुर्व्वितत‌र खलु मध्यदेशे [।] येनानवर्त्तनगु—

११ ण स्खलितोपि यायी [।] श्री चाहवाण वरभूपति चारुवशो गगाम्बुवाहसदृशो ननु माणतान्त ।। [९] प्रसाधन-विधौ येन विद्विप करपो [तर्कै] सको [चि] तास्व—

१२ कान्तानामलका इव लीलया ।। [१०] अनवरतलक्षहेमज [धूमाकुल] गगनमध्यपरिवर्त्तिमूह्यति पर स्वमार्गो भास्कर रथसारथी[1] यम्य ।। [११] राहू परो—

१३ धपर्व्वणि गोदशशत विप्रप्रदानेन ।। लक्ष्मी प्रवर्द्धतेऽल विधिना भुक्त इति परितुष्टा ।। [१२] सक्रान्तावयनदौ विप्रेभ्यो यद्ददाति तुष्टमना ।

१४ विस्मितहृदयो विधिरपि तेनास्ते किं पुनर्लोक ।। [१३] व्यत्पद्यन्ते यस्य प्रतिदिनमाभिनवरसा नवाम्याधिका । [अ] नोघविदा सम्य [क् प्रे] —क्षणके

१५ नित्ययुक्ताना ।। [१४] अभियुक्ततर द्विजवेदाध्ययन श्रवणभूरिभयभीत । मूर्खहृदयवत्पाप मढौकतो यस्य गृह-भूमौ ।। [१५] अन [व] र [त] वर तु [रगमवा]—

१६ हनलीला रसाहतोरुगिरि । उर्ध्वं गच्छन् जनयति[ ] शका रथ यस्य ।। [१६] चर्मण्वतीतटद्वय-सस्थित-म्लेच्छाधिपा प्रवर शूरा ईप्सितरणा

१७ प्रनता सेवा कुर्व्वन्ति यस्यानु ।। [१७] यस्य प्रतापसिद्धा पल्लीपतयो ह्यनिर्ज्जित प्रमुखा [।] गुरुभारक्रान्ता इव भ्रमन्ति नगरे विनमिताङ्गा [१८]

---

१ अथात् 'अरुण' सारथी चण्डमहासेन सूर्योपासक था इस शिलालेख में उसके लिए केवल 'चण्ड' शब्द का भी उपयोग किया गया है प्रथम पंक्ति में त्रैलेक्यदीप तो सूर्य का परिचायक है

जिस भूमि में बीज बोने से तीन दिन में अंकुर निकल जाय ऐसी समचौरस दीमक रहित बिना फटी हुई और शल्य रहित तथा पूर्व ईशान और उत्तर दिशा की तरफ नीची भूमि मकानादि बनाने के लिये प्रशस्त है. दीमक वाली भूमि व्याधिकारक है. ऊसर भूमि उपद्रवकारक है. अधिक फटी हुई भूमि मृत्युकारक और शल्यवाली भूमि दुःख कारक है. किसी भी प्राणी की हड्डी चाम आदि भूमि में रह जाना शल्य माना है. उसकी शुद्धि के लिये कम से कम तीन फुट भूमि गहरी खोदनी चाहिये. शास्त्र में लिखा है—मनुष्य की हड्डी का शल्य रह जाय तो मकान मालिक की मृत्यु हो. गधे की हड्डी का शल्य रह जाय तो राजदंड भोगना पड़े. कुत्ते का शल्य रह जाय तो बालक जीवे नहीं. बालक का शल्य रह जाय तो उस मकान में मालिक का निवास नहीं हो. गौ का शल्य रह जाय तो धन का विनाश हो इत्यादि अनेक बाद शास्त्र में लिखे हैं. इसकी शुद्धि के लिये समरांगणसूत्रधार वास्तुग्रंथ में लिखा है :

अखाम्त प्रस्तरान्तं वा पुरुषान्तमथापि वा।
क्षेत्रं संशोध्य चोद्धृत्य शल्यं सदनमारभेत्।

पानी आ जाय अथवा पाषाण आ जाय वहाँ तक अथवा एक पुरुष प्रमाण भूमि को खोद करके कोई शल्य होवे तो निकाल देना चाहिए तत्पश्चात् उस भूमि के ऊपर गृह बनाना चाहिए.

पीछे जैसे लड़के-लड़कियों के विवाह में राशि गण नाड़ी आदि का मिलान किया जाता है वैसे भूमि का क्षेत्रफल आय व्यय राशि गण नाड़ी आदि गृहस्वामी के साथ मिलाये जाते हैं. उसी के अनुसार अच्छे शुभ मुहूर्त में चन्द्रमा आदि का बल देख करके मकान तैयार किया जाता है. धन मीन मिथुन और कन्या इन सूर्य की राशियों में कभी भी गृह का आरंभ नहीं किया जाता.

गृहभूमि की लंबाई और चौड़ाई का गुणाकार करने से जो गुणनफल हो उसको क्षेत्रफल कहा जाता है. उसको आठ से भाग देने पर जो शेष बचे वह गृह का 'आय' होता है. क्षेत्रफल को फिर आठ से गुणा करके उसमें सत्ताईस से भाग देने पर जो शेष बचे वह गृह का नक्षत्र होता है. जो नक्षत्र की संख्या आवे उसको आठ से भाग देने से जो शेष बचे वह 'व्यय' माना जाता है. *आय के अंक से व्यय का अंक कम हो तो वह घर शुभदायक माना है.*

शाला अलिंद (तिबारा) दीवार स्तंभ मंडप जाली और गवाक्ष आदि के भेदों से अनेक प्रकार के गृह बनाये जाते हैं. शास्त्र में गृहों के सोलह हजार तीन सौ चौरासी भेद बतलाये हैं.

गृह के चारों दिशाओं के द्वारों के नाम अलग अलग हैं—पूर्व दिशा के द्वार का नाम विजयद्वार, दक्षिणदिशा के द्वार का नाम यमद्वार, पश्चिम दिशा के द्वार का नाम मकरद्वार और उत्तर दिशा के द्वार का नाम कुबेर द्वार है. इनमें से अपनी इच्छानुसार बना सकते हैं.

गृह का स्थान विभाग भी बतलाया गया है—गृह का जिस दिशा में द्वार हो उसको पूर्व दिशा मान करके विभाग बनाते हैं—द्वारवाली पूर्वदिशा में स्नानशाला, अग्निकोण में भोजन बनाने का स्थान, दक्षिण दिशा में शयन-गृह, नैर्ऋत्यकोण में निहार (शौच) स्थान, पश्चिम दिशा में भोजन करने का स्थान, वायु कोने में आयुध रखने का स्थान, उत्तर में धन रखने का स्थान और ईशान कोने में धर्मस्थान रखा जाता है.

गृह के प्रथम मंजिल तक की ऊँचाई चौदह से सात हाथ तक रखना लिखा है. गृह का विस्तार जितने हाथ का होवे उस संख्यातुल्य अंगुल में सा[illegible] अंगुल मिलाने से जितनी संख्या आए उतने अंगुल परिमित द्वार की ऊँचाई रखें और ऊँचाई से आधा चौड़ाई रखें. चौड़ाई कुछ बढ़ाना चाहें तो ऊँचाई का सोलहवाँ भाग चौड़ाई में मिला सकते हैं. गृह के सब द्वार गवाक्ष और जाली आदि का मथाला बराबर रखा जाता है.

---

१. [illegible]

पं० भगवानदास जैन, शास्त्री

प्राचीन वास्तुशिल्प

'वास्तुशिल्प' प्राचीन भारतीय सस्कृति का एक प्रधान अग है इस विषय के अनेक ग्रथ विद्यमान होने पर भी उनका अध्ययन न हाने से अधिक प्रचार नही हो सका है प्राचीन देवालयो, राजप्रासादो, दुर्गो, नगरो, गावो, कुवो, वावडियो और सरोवर आदि की मनोहर सुन्दर आकृति देखकर के अपना मन प्रफुल्लित हो जाता है यही प्राचीन वास्तुशिल्प है जैनागमो मे भी चक्रवर्तियो और देवो के भवनो का विस्तृत व सुदर वर्णन है इनको वनाने वाले को 'स्थपति' अथवा 'सूत्रधार' कहा जाता है, जो आधुनिक देवालय और मकान आदि के बनाने वाले, लकडी के काम करने वाले बढई और मिट्टी के बतन आदि बनाने वाले कुम्हार आदि के रूप मे विद्यमान है जैनागमो मे चक्रवर्ती के चौदह महारत्नो मे एक वार्धिकीरत्न भी होता है यह सूत्रधार है जो चक्रवर्ती की इच्छानुसार उनके मनपसद की इमारत शीघ्र ही तैयार कर देता है इसको 'विश्वकर्मा भी कहा गया है प्रचलित मे तो देवो के भवन आदि बनाने वालो को विश्वकर्मा कहते है ऐसे इमारती काम करनेवाले शिल्पियो की विश्वकर्मा के नामकी दक्षिण देश मे एक जाति भी विद्यमान है, इसलिए वास्तुशिल्प के काम करनेवाले को विश्वकर्मा के नाम से सबोधन किया जाय तो कोई अतिशयोक्ति नही है

प्राणियो के निवासस्थान को वास्तु कहा गया है उसकी उत्पत्ति के विषय मे वास्तुशिल्प के प्राचीन 'अपराजित पृच्छा' नामक बृहत् ग्रथ मे लिखा है कि—अधकासुर का विनाश करने के लिये महादेवजी को युद्ध करना पडा इसके परिश्रम से महादेवजी के कपाल से पसीने का एक बिंदु भूमि के ऊपर अग्निकुड मे गिरा इससे एक महाकाय भूत उत्पन्न हुआ उसे देवो ने औधा पटक दिया और उसके ऊपर पैंतालीस देव चढ बैठे और रहने लगे इन देवो का महाकाय भूत के ऊपर निवास होने से उसको वास्तुपुरुष माना गया इसलिए गृहादि के आरभ मे और समाप्ति मे इन देवो का पूजन प्रचलित हुआ जो वास्तुपूजन के नाम से प्रसिद्ध है

वास्तुशिल्प जानने के लिये अपराजितपृच्छा, समरागणसूत्रधार, प्रासादमडन, शिल्परत्नम्, मयमतम् और परिमाणमजरी आदि अनेक ग्रथ मुद्रित हुए हैं जैन वास्तुशिल्प के 'वत्थुसारपयरण' और 'जिनसहिता' आदि मुख्य ग्रथ हैं वत्थुसार-पयरण मे प्रथम गृहप्रकरण, दूसरा मूर्तिप्रकरण और तीसरा देवालयप्रकरण है जिनसहिता मे देवालय और मूर्तिनिर्माण का वर्णन है इसमे प्रासाद की चौदह जातियो मे से द्राविड जाति के प्रासाद का वर्णन है यह दाक्षिणात्य पद्धति का होने से सर्वदेशीय नही बन सका आचार्य श्री वसुनदी कृत प्रतिष्ठासार मे जो देवालय-निर्माण का वर्णन है, यह नागर जाति का होने से सर्वदेशीय है

महल, मकान और देवालय-निर्माण के समय प्रथम भूमिपरीक्षण किया जाता है वत्थुसारपयरण मे लिखा है

> 'दियतिग-बीअप्पसवा चउरसाऽवम्मिणी अफुट्टा अ ।
> असल्ला भू सुहया पुव्वेसाणुत्तरम्बुवहा ।
> वम्मइणी वाहिकरी ऊसरभूमीइ हवइ रोरकरी ।
> अइफुट्टा मिच्चुकरी दुक्खकरी तह अ ससल्ला ।'
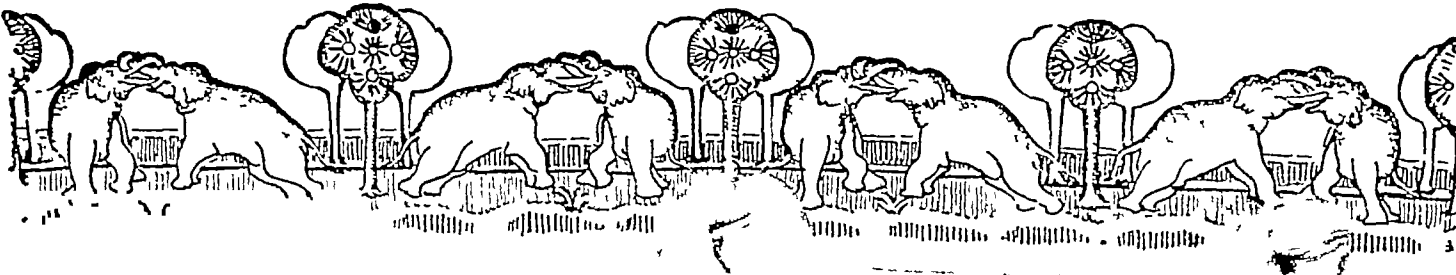
होता है कुआँ का वेध हो तो अपस्मार रोग हो शिव सूर्य आदि किसी देव का वेध हो तो गृहस्वामी का विनाश होता है स्तंभ का वेध हो तो स्त्री को कष्टदायक रहे ब्रह्मा के सामने द्वार हो तो कुल का विनाश हो गृह के समीप कांटेवाले वृक्ष हों तो शत्रु का भय रहता है दूधवाले वृक्ष हों तो लक्ष्मी का विनाश होता है और फलवाले वृक्ष होने से संतान वृद्धि नहीं होती यह बृहत्संहिता ग्रंथ में कहा है.

मकान में बिजोरा केला दाडिम नींबू अमरूद इमली बबूल बेर और पीलेफूल वाले वृक्ष इत्यादि वृक्ष नहीं होने चाहिए क्योंकि ये वृक्ष कुल के लिए हानिकारक माने जाते हैं

मकान में योगिनियों के नाट्यारम्भ महाभारत रामायण राजाओं के युद्ध ऋषियों और देवों के चरित्र संबंधी चित्र नहीं बनाना चाहिए परन्तु फलवाले वृक्ष पुष्पों की लताएं सरस्वती देवी नवनिधान युक्त लक्ष्मीदेवी कलश स्वस्तिक आदि मांगलिक चिह्न और अच्छे स्वप्नों की पंक्ति आदि के चित्र बनाना चाहिए

उपर्युक्त जो वेध आदि संबन्धी दोष बतलाते हैं वे दोनों के बीच में दीवार अथवा रास्ते का अन्तर होने पर दोष नहीं रहते

जिस मकान का द्वार बन्द करने के बाद अपने आप खुल जाय अथवा खोलने के बाद अपने आप बंद हो जाय तो वह अशुभ माना गया है

यहाँ वास्तुशिल्प कला के आधार पर गृह सम्बन्धी कुछ गुण दोष बतलाये हैं यह भारतीय प्राचीन संस्कृति है आधुनिक समय में शिल्पियों को इसका अभ्यास नहीं होने से नवीन पद्धति से मकान बनाने लगे हैं उनमें दोषों की संभावना होने से वे उन्नतिकारक नहीं हो सकते यह प्राचीन शिल्पविधान का अभिमत है
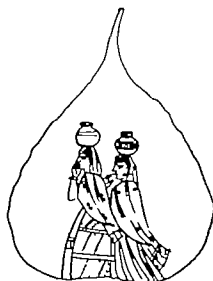
गृह मे प्रवेश करने के चार प्रकार वतलाये है

१ गृह का द्वार और प्रथम प्रवेश द्वार, ये दोनो एक ही दिशा मे वरावर सामने हो तो उसको 'उत्सग' नामका प्रवेश माना है यह सौभाग्यकारक, प्रजावृद्धिकारक और धनधान्य का वृद्धिकारक है

२ प्रवेश द्वार से प्रविष्ट होने के वाद वांयी ओर हो करके मुख्य गृह मे प्रवेश हो तो वह 'हीन वाहु' नाम का प्रवेश माना है यह स्वल्प धन वाला, स्वल्प मित्र वाला और रोगकारक माना है

३ प्रवेश द्वार से प्रविष्ट होने के वाद दाहिनी ओर होकर के मुख्य गृह मे प्रवेश होना 'पूर्ण वाहु' प्रवेश माना है यह धन-धान्य की और पुत्रपौत्र का वृद्धि कारक है

४ प्रथम गृह के पीछे की दीवार को देख करके पीछे प्रवेश होवे यह 'प्रत्यक्षाय' नाम का प्रवेश माना है, यह सर्वथा निंदनीय है

गृह की ऊँचाई चारो दिशाओ मे वरावर रखना चाहिए यदि आगे के भाग मे गृह ऊँचा हो और तीनो दिशाओ मे नीचा हो तो वह गृह धन का हानिकारक होता है दाहिनी ओर ऊँचा हो तो धन समृद्धि वढाने वाला माना है पीछे के भागमे ऊँचा हो तो समृद्धि वढाने वाला है और वांयी ओर ऊँचा हो तो वह गृह शून्य रहता है

गृह मे मुख्य सात प्रकार के वेध वतलाये है—जैसे

'तलवेह कोणवेह तालुयवेह कवालवेह च ।
तह थभ तुलावेह दुवारवेह च सतमय ।'

तलवेध, कोणवेध, तालुवेध, कपालवेध, स्तभवेध, तुलावेध और द्वारवेध-ये सात प्रकार के वेध है

१ गृह की भूमि सम विषम ऊंची नीची हो, द्वार के सामने घानी, अरहट, कोल्हू आदि हो और दूसरे के मकान का पानी का परनाला अथवा रास्ता हो तो यह तलवेध माना जाता है

२ मकान के चारो कोने समानान्तर न हो आगे पीछे हो तो वह कोणवेध है

३ मकान के एक ही खड मे ऊपर की छत की पट्टियाँ ऊँची नीची हो तो यह तालुवेध माना है

४ द्वार के ओतरग के मध्य भाग मे पाट आवे तो उसको कपालवेध कहते है

५ गृह के मध्य भाग मे एक स्तभ हो अथवा अग्नि और पानी का स्थान हो तो यह हृदयशल्य अथवा स्तभ वेध कहा जाता है

६ मकान के नीचे के और ऊपर के मजिल के पटिया न्यूनाधिक हो तो यह तुलावेध माना है

७ मकान के दरवाजे के सामने कोई वृक्ष, कुआँ, स्तभ, कोना और कील आदि हो तो यह द्वारवेध कहा जाता है परन्तु मकान की ऊँचाई से दुगुनी भूमि छोड करके उपर्युक्त कोई वेध हो तो दोष नही माना जाता

इन वेधो का फल वास्तुशास्त्र वत्थुसारपयरण मे इस प्रकार लिखा है—

'तलवेहि कुट्ठरोगा हवति उच्चेय कोणवेहम्मि ।
तालुयवेहेण भय कुलक्खय थभवेहेण ।
कापालु तुलावेहे धणनासो हवइ रोरभावो य ।
इश्र वेहफल नाउ सुद्ध गेह करेअव्व ।'

तलवेध से कुष्ठरोग, कोण वेध से उच्चाटन, तालुवेध से भय, स्तभ के वेध से कुलक्षय, कपाल और तुलावेध से धन का विनाश और दरिद्र भाव होता है

यह भी बतलाया गया है—दूसरे के मकान मे जाने के लिये अपने मकान मे से रास्ता हो तो विनाशकारक है वृक्ष का वेध हो तो सतात की वृद्धि न हो कीचड का वेध हो तो शोक हुआ करना है परनाले का वेध हो धन का विनाश

इस प्रकार बतलाया गया है

अयमवतारो रजसोपप्लुतकैवल्योपशिक्षणार्थम्।

अर्थात् भगवान् का यह अवतार रजोगुणी जन को कैवल्य की शिक्षा देने के लिये हुआ था किन्तु उक्त वाक्य का यह अर्थ भी सम्भव है कि यह अवतार रज से उपप्लुत अर्थात् रजोधारण मल धारण करना' वृत्ति द्वारा कैवल्य की शिक्षा के लिए हुआ था जैन साधुओं के आचार में अस्नान अदन्तधावन तथा मलपरीषह आदि के द्वारा रजोधारण वृत्ति को संयम का एक आवश्यक अंग माना गया है। बुद्ध के समय में भी रजोजल्लिक श्रमण विद्यमान थे तथागत ने श्रमणों की आचारप्रणाली में व्यवस्था लाते हुए एक बार कहा था'—

'नाहं भिक्खवे संघाटिकस्स संघाटिधारणमत्तेन सामञ्ञं वदामि अचेलकस्स अचेलकमत्तेन रजोजल्लिकस्स रजोजल्लिकमत्तेन जटिलकस्स जटाधारणमत्तेन सामञ्ञं वदामि

अर्थात्—हे भिक्षुओ मैं संघाटिक के संघाटी धारण मात्र से श्रामण्य नहीं कहता अचेलक के अचेलकत्व मात्र से रजोजल्लिक के रजोजल्लिक मात्र से और जटिलक के जटा धारणमात्र से भी श्रामण्य नहीं कहता

भारत के प्राचीनतम साहित्य के अध्ययन से स्पष्ट है कि उक्त वातरशना तथा रजोजल्लिक साधुओं की परम्परा बहुत प्राचीन परम्परा है ऋग्वेद में उल्लेख है[1]

मुनयो वातरशना पिशंगा वसते मला
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत।
उन्मदिता मौनेयेन वातां आतस्थिमा वयम्
शरीरे दस्माकं यूयं मर्तासो अभिपश्यथ।

अतीन्द्रियार्थदर्शी वातरशना मुनि मल धारण करते हैं जिससे वे पिंगल वर्ण दिखाई देते हैं जब वे वायु की गति को प्राणोपासना द्वारा धारण कर लेते हैं तब वे अपने तप की महिमा से देदीप्यमान होकर देवता स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं

वातरशना मुनि प्रकट करते है—समस्त लौकिक व्यवहार को छोड़कर हम मौनवृत्ति से उन्मत्तवत् 'परमानन्दसम्पन्न वायु भाव अशरीरी ध्यानवृत्ति को प्राप्त होते हैं तुम साधारण मनुष्य हमारे बाह्य शरीरमात्र को देख पाते हो हमारे सच्चे आभ्यन्तर स्वरूप को नहीं

वातरशना मुनियों के वर्णन के प्रारम्भ में ऋग्वेद में ही 'केशी' की निम्नांकित स्तुति की गई है जो इस तथ्य की अभिव्यंजिका है कि 'केशी' वातरशना मुनियों के प्रधान थे केशी की वह स्तुति निम्न प्रकार है[2]

केश्यग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी
केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते।

केशी अग्नि जल स्वर्ग तथा पृथ्वी को धारण करता है केशी समस्त विश्व के तत्त्वों का दर्शन कराता है और केशी ही प्रकाशमान 'ज्ञान' ज्योति कहलाता है अर्थात् केवल ज्ञानी कहलाता है

ऋग्वेद के इन केशी तथा वातरशना मुनियों की साधनाओं की श्रीमद्भागवत में उल्लिखित वातरशना श्रमणऋषि और उनके अधिनायक ऋषभ तथा उनकी साधनाओं की पारस्परिक तुलना भारतीय आध्यात्मिक साधना और उसके प्रवर्तक के विषय में [illegible] प्रकाश में लाता है

---

1 [illegible]
ऋग्वेद [illegible]
2 ऋग्वेद [illegible]

डॉ० राजकुमार जैन
एम० ए०, पी-एच० डी०, साहित्याचार्य,
अध्यक्ष, संस्कृतविभाग आगरा कालेज, आगरा

वृषभदेव तथा शिव-संबंधी प्राच्य मान्यताएँ

वृषभदेव तथा शिव दोनो ही अति प्राचीन काल से भारत के महान् आराध्य देव है वैदिक काल से लेकर मध्य युग तक प्राच्य वाड्मय मे दोनो का देव देवताओ के विविध रूपो मे अकन हुआ है, वह अध्ययन का बडा मनोरजक विषय है प्रस्तुत लेख मे उन्ही मान्यताओ की विस्तारपूर्वक चर्चा की जा रही है

उपलब्ध भारतीय प्राच्य साहित्य के अध्ययन से स्पष्ट है कि भगवान् ऋषभदेव की जो मान्यता एव पूज्यता जैन परम्परा मे है, हिन्दू परम्परा मे भी वह उसी कोटि की है जिस प्रकार जैन परम्परा मे उन्हे मान्य एव सस्तुत किया गया है, हिन्दू शास्त्र एव पुराण भी उन्हे भगवान् के अवतार के रूप मे मान्य करते हैं

श्रीमद्भागवत[1] मे भगवान् वृषभदेव का बडा ही सुन्दर चरित अकित किया गया है इसमे भगवान् की स्वयभू मनु, प्रियव्रत, आग्नीध्र, नाभि तथा वृषभ—इन पाचो पीढियो की वशपरम्परा का वर्णन करते हुए लिखा है कि आग्नीध्र के पुत्र नाभिराजा के कोई पुत्र नही था अत उन्होने पुत्र की कामना से मरुदेवी के साथ यज्ञ किया भगवान् ने दर्शन दिये ऋत्विजो ने उनका सस्तवन किया और निवेदन किया कि राजर्षि नाभि का यह यज्ञ भगवान् के समान पुत्रलाभ की इच्छा मे सम्पन्न हो रहा है भगवान् ने उत्तर दिया—'मेरे समान तो मैं ही हूँ, अन्य कोई नही तथापि ब्रह्मवाक्य मिथ्या नहीं होना चाहिए अत मैं स्वय ही अपनी अशकला से आग्नीध्रनन्दन नाभि के यहाँ अवतार लूगा' इसी वरदान के फलस्वरूप भगवान् ने ऋषभ के रूप मे जन्म लिया

इसी पुराण मे आगे लिखा है—यज्ञ मे ऋषियो द्वारा प्रसन्न किये जाने पर विष्णुदत परीक्षित्त स्वय श्री भगवान् 'विष्णु' महाराज नाभि का प्रिय करने के लिये उनके अन्त पुर की महारानी मरूदेवी के गर्भ मे आये उन्होने इस पवित्र शरीर का अवतार वातरशना श्रमण ऋषियो के धर्मों को प्रकट करने की इच्छा से ग्रहण किया '[2]

भगवान् ऋषभदेव के ईश्वरावतार होने की मान्यता प्राचीनकाल मे इतनी बद्धमूल हुई कि शिव महापुराण मे भी उन्हे शिव के अट्ठाईस योगावतारो मे गिनाया गया[3] प्राचीनता की दृष्टि से भी यह अवतार रामकृष्ण के अवतारो से भी पूर्ववर्ती मान्य किया गया है इस अवतार का जो हेतु श्रीमद्भागवत मे दिखलाया गया है वह श्रमण धर्म की परम्परा को असदिग्ध रूप से भारतीय साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद से सयुक्त करा देता है ऋषभावतार का हेतु वातरशना श्रमण ऋषियो के धर्मों को प्रकट करना बतलाया है श्रीमद्भागवत मे ऋषभावतार का एक अन्य उद्देश्य भी

---

१ श्रीमद्भागवत ५, २६

२ 'बर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त भगवान् परमर्षिभि 'प्रसादितो नाभे प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्या धर्मान्दर्शयितुकामो वातरशनाना श्रमणाना ऋषीणाम् ऊर्ध्वमन्थिना शुक्लया तनुवाववतार '—श्रीमद्भागवत पञ्चम स्कन्ध

३ शिव पुराण ७, २, ९

जिस सूक्त में यह ऋचा आई है उसकी प्रस्तावना में निरुक्त के जो मुद्गलस्य हृता गावः आदि श्लोक उद्धृत किये गये हैं उनके अनुसार मुद्गल ऋषि की गायों को चोर स गये थे उन्हें लौटाने के लिये ऋषि ने केशी वृषभ को अपना सारथी बनाया जिसके वचनमात्र से वे गौएँ आगे को न भागकर पीछे की ओर लौट पड़ी

प्रस्तुत ऋचा का भाष्य करते हुए सायणाचार्य ने पहले तो वृषभ तथा केशी का वाच्यार्थ पृथक बतलाया है किन्तु फिर उन्होंने प्रकारान्तर से कहा है

अथवा अस्य सारथि सहायभूत केशी प्रकृष्टकेशो वृषभोऽवावचीत् भृशमशब्दयत्' इत्यादि

सायण के इस अर्थ को तथा निरुक्त के उक्त कथाप्रसंग को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत गाथा का निम्न अर्थ प्रतीत होता है [1]

मुद्गल ऋषि के सारथी (विद्वान् नेता) केशी वृषभ जो शत्रुओं का विनाश करने के लिये नियुक्त थे उनकी वाणी निकली जिसके फलस्वरूप जो मुद्गल ऋषि की गौएँ (इन्द्रियाँ) जुते हुए दुर्धर रथ (शरीर) के साथ दौड़ रही थी वे निश्चल होकर मौद्गलानी (मुद्गल की स्वात्मवृत्ति) की ओर लौट पड़ी

तात्पर्य यह कि ऋषि की जो इन्द्रियाँ पराङ्मुखी थी वे उनके योगयुक्त ज्ञानी नेता केशी वृषभ के धर्मोपदेश को सुनकर अन्तर्मुखी हो गई

वृषभदेव और वैदिक अग्निदेव—अग्निदेव की स्तुति में वैदिक सूक्तों में जिन विशेषणों का प्रयोग किया गया है उनके अध्ययन से स्पष्ट है कि यह अग्निदेव भौतिक अग्नि न होकर आदि प्रजापति ऋषभदेव ही है—जातवेदस् [जन्मत ज्ञान सम्पन्न] रत्नधरतम [दर्शन ज्ञान चारित्र रूप रत्नों को धारण करनेवाला] विश्ववेदस् [विश्वतत्त्वों का ज्ञाता] मोक्ष नेता ऋत्विज् [धर्मस्थापक] होता हव्य यज्ञ सत्य व्रतवस इत्यादि [2]† वैदिक व्याख्याकारों ने भी लौकिक भ्रान्तियों का निग्रह करने के लिये स्थल-स्थल पर इस मत का समर्थन करते हुए लिखा है कि अग्निदेव वही है जिसकी उपासना मरुद्गण रुद्र संज्ञा से करते है ‡ रुद्र शर्व पशुपति उग्र अशनि भव महादेव ईशान कुमार—रुद्र के ये नौ नाम अग्निदेव के ही विशेषण है [3] अग्निदेव ही सूर्य है परमविष्णु ही देवों [आर्यगण] की अग्नि है [4] इस मत की सर्वाधिक पुष्टि अथर्ववेद के ऋषभसूक्त से होती है जिसमें ऋषभ भगवान् की अनेक विशेषणों द्वारा स्तुति करते हुए उन्हें जात वेदस् [अग्नि] विशेषण से भी विशिष्ट किया गया है [6]

उपर्युक्त विशेषणों तथा समस्त प्राचीन श्रुतियों के आधार पर स्तुत्य अग्नि शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए ब्राह्मण ऋषियों ने यह व्यक्त किया है कि उपास्य देवों के अग्र मे उत्पन्न होने के कारण वह अग्रि अथवा अग्नि संज्ञा से प्रसिद्ध हुए

इन लेखों के प्रकाश से केवल यह तथ्य ही स्पष्ट नहीं होता कि वृषभदेव का ही अपर नाम अग्निदेव रहा अपितु यह भी सिद्ध है कि उपास्य देव के अर्थ में प्रयुक्त 'अग्नि' शब्द संस्कृत का न होकर अग्रि का लोकव्यवहृत प्राकृत अथवा

---

१ देखो डा॰ हीरालाल जैन का 'आदि तीर्थंकर की प्राचीनता तथा उनके धर्म की विशेषता' शीर्षक लेख (अनेकान्त। वर्ष ७ अंक १२ १९५७)।

†२ ऋग्वेद ११ ११२ अथर्व ६ ४ १ ऋग्वेद १ १६१ १

‡ 'यो वै रुद्र सोऽग्निः' —शतपथब्राह्मण ५ २ ४ १३

३ (क) 'तान्येतानि अष्टौ रुद्रः शर्वः पशुपतिः उग्र अशनिः भव महादेव ईशान अग्निरूपाणि कुमारो नवम्' वही ६ १ ३ १८
(ख) 'एतानि वै तेषामग्नीनां नामानि यद्भुवपति भुवनपतिर्भूतानां पतिः' वही १ ३ ३ १९

४ अग्निर्वाऽऽर्कः वही, ६, १ ४

५ 'अग्निर्वै देवानाम् अवमो विष्णुः परमः' ऐतरेय ब्राह्मण ७, १

६ अथर्व ९ ४ ३

७ (क) स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत तस्मादग्रिरग्रिर्ह वै तमग्निरित्याचक्षते परोक्षम्—शतपथ ब्राह्मण ६ १ १ ११
(ख) 'यद्वा एनमेतदग्रे देवानां अजनयत् तस्मादग्निरग्रिर्ह वै नामैतद्यदग्निरिति —वही २ २, ४ २

ऊपर के उल्लेखो से स्पष्ट है कि ऋग्वेद के वातरशना मुनि और श्रीमद्भागवत के "वातरशना श्रमण-ऋषि" एक ही परम्परा अथवा सम्प्रदाय के वाचक है सामान्यत केशी का अर्थ केशधारी होता है, परन्तु सायणाचार्य ने 'केश स्थानीय रश्मियो को धारण करने वाला' किया है और उससे सूर्य का अर्थ निकाला है, परन्तु प्रस्तुत सूक्त मे जिन वातरशना साधुओ की साधनाओ का उल्लेख है, उनसे इस अर्थ की कोई सगति नही बैठती केशी स्पष्टत वातरशना मुनियो के अधिनायक ही हो सकते है, जिनकी साधना मे मलधारण, मौनवृत्ति और उन्मादभाव (परमानन्द दशा) का विशेष उल्लेख है सूक्त मे आगे उन्हे ही

"मुनिर्देवस्य देवस्य सौकृत्याय सखा हित '

देवदेवो के मुनि, उपकारी तथा हितकारी सखा बतलाया गया है वातरशना शब्द मे और मलरूपी वसन धारण करने मे उनकी नाग्न्य वृत्ति का भी सकेत है

श्रीमद्भागवत मे ऋषभ का वर्णन करते हुए लिखा है

"उर्वरित शरीरमात्र-परिग्रह उन्मत्त इव गगनपरिधान प्रकीर्णकेश आत्मन्यारोपिताहवनीयो ब्रह्मावर्तात् प्रवव्राज जडान्घ-मूक-बधिर-पिशाचोन्मादकवत् अवधूतवेषोऽभिभाष्यमाणोऽपि जनाना गृहीतमौन-व्रत तूष्णी बभूव परा-गवलम्बमान-कुटिल-जटिल-कपिश केशभूरिभारोऽवधूतमलिननिजशरीरेण ग्रहगृहीत इवादृश्यत"

अर्थात् ऋषभ भगवान् के शरीर मात्र का परिग्रह शेष रह गया था वे उन्मत्त के समान दिगम्बर वेशधारी, बिखरे हुए केशो सहित आहवनीय अग्नि को अपने मे धारण करके ब्रह्मावर्त देश से प्रव्रजित हुए वे जड, मूक, अन्ध, बधिर, पिशाचोन्माद युक्त जैसे अवधूत वेष मे लोगो के बुलाने पर भी मौनवृत्ति धारण किये हुए शान्त रहते थे, सब ओर लटकते हुए अपने कुटिल, जटिल, कपिश केशो के भारसहित अवधूत और मलिन शरीर के साथ वे ऐसे दिखलाई देते थे, जैसे उन्हे कोई भूत लगा हो

ऋग्वेद के तथोक्त, केशीसूक्त तथा श्रीमद्भागवत मे वर्णित श्री ऋषभदेव के चरित्र के तुलनात्मक अध्ययन से प्रतीत होता है कि वैदिक केशी सूक्त को ही श्रीमद्भागवत मे पल्लवित भाष्यरूप मे प्रस्तुत कर दिया गया है दोनो मे ही वातरशना अथवा गगन-परिधानवृत्ति, केश-धारण, कपिशवर्ण, मलधारण, मौन और उन्मादभाव समान रूप से वर्णित हैं

भगवान् ऋषभदेव के कुटिल केशो का अकन जैन मूर्तिकला की एक प्राचीनतम परम्परा है जो आज तक बराबर अक्षुण्ण-रूप से चली आरही है यथार्थत समस्त तीर्थंकरो मे केवल ऋषभदेव की ही मूर्तियो के शिर पर कुटिल केशो का रूप दिखलाया जाता है और वही उनका प्राचीन विशेष लक्षण भी माना जाता है ऋषभनाथ के केसरियानाथ नामान्तर मे भी यही रहस्य निहित मालूम देता है[१] केसर, केश और जटा-तीनो शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं जिस प्रकार सिह अपने केशो के कारण केसरी कहलाता है, उसी प्रकार केशी और केसरियानाथ या ऋषभनाथ के वाचक प्रतीत होते हैं केसरियानाथ पर जो केशर चढाने की विशेष मान्यता प्रचलित है वह नामसाम्य के कारण उत्पन्न हुई प्रतीत होती है इस प्रकार ऋग्वेद के केशी और वातरशना मुनि एव श्रीमद्भागवत के ऋषभ तथा वातरशना श्रमण-ऋषि एव केसरियानाथ और ऋषभ तीर्थंकर तथा उनका निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय एक ही सिद्ध होते है

ऋग्वेद की निम्नाकित ऋचा से केशी और वृषभ अथवा ऋषभ के एकत्व का ही समर्थन होता है[२]

'ककर्दवे वृषभो युक्त आसीद्, अवावचीत् सारथिरस्य केशी।
दुधेर्युक्तस्य द्रवत सहानस, ऋच्छन्तिष्मा निष्पदो मुद्गलानीम्।

---

१ राजस्थान के उदयपुर जिले का एक तीर्थ 'केशरिया तीर्थ' के नाम से प्रसिद्ध है, जो दिगम्बर, श्वेताम्बर एव वैष्णव आदि सम्प्रदाय वालों को समान रूप से मान्य एव पूजनीय है तथा जिसमें भ० ऋषभदेव की एक अत्यन्त प्राचीन सातिशय मूर्ति प्रतिष्ठित है

२ ऋग्वेद, १०, १०२, ६

तमीळत महामाम (तुम उसकी स्तुति करो जो सवप्रथम मोक्ष का साधक है) अर्हंतं (सवपूज्य है) आरीविशः उम्याः भुग्जसानम् (जिसने स्वय शरण में आनेवाली प्रजा को बल से सपृद्ध करके) पुत्र भरत सप्रदाम् (अपने पत्र भरत का सौंप दिया) दवों मे उस द्रव्यदाता अग्नि (अग्नि देवता को) धारयन् (धारण कर लिया)[1]

स मातरिश्वा (वह वायु के समान निर्लेप और स्वतन्त्र है) पुरुवार पुष्टि (अभीष्ट वस्तुओं का पुष्टिकारक साधन है) उसम स्वविद (ज्ञान सम्पन्न हो कर) तनयाय (पत्र के लिये) गातु (विद्या) विदद (देदी) वह विशामोपा (प्रजाओं का सरक्षक है) पवितारोदसयो (अभ्युदय तथा निःश्रयस का उत्पादक है) देवो मे उस द्रव्यदाता अग्नि (अग्रनेता को) ग्रहण कर लिया[2]

निर्वाण की पुण्य वेला म जब आदि प्रजापति ऋषभ ने विनश्वर शरीर का त्याग करके सिद्ध लोक को प्रस्थान किया तो उनके परम प्रशान्त रूप को आत्मसात् करने वाली अन्त्येष्टि अग्नि ही तत्कालीन जन के लिये उनके वीतराग रूप का एकमात्र सम्मारक बन कर रह गई जनता अब अग्नि दर्शन से ही अपने आराध्य के दर्शन पाने लगी उस समय मूर्तिकला का विकास नहीं हुआ था अत यह सप्तजिह्वा अग्नि ही उस महामानव का प्रतीक बन गई उपलब्ध प्राचीन अनुश्रुतियों स ज्ञात होता है कि भगवान् क प्रति जन-जन के हृदयों में स्वभावत उद्दीप्त होने वाले भक्तिभाव को सतुष्ट एव सतृप्त करने के लिये उनके ज्येष्ठ गणधर (मानस पत्र) न इस भौतिक अग्नि द्वारा आदि ब्रह्मा ऋषभ क उपासनार्थ इज्या पूजा एव अर्चना का मार्ग निकाला था वह याज्ञिक प्रक्रिया के प्रथम विधायक थे[3] उन्होंने ही मानवमात्र क लिये अभीष्टसिद्धि अनिष्टपरिहार एव रोग निवृत्तिकर आदि अनेक उपयोगी मन्त्र-तन्त्र विद्याओं का सर्वप्रथम प्रकाश किया था वह वैदिक परम्परा में ज्येष्ठ अथर्वन और जैन परम्परा में ज्येष्ठ गणधर के नाम से प्रसिद्ध है जैन परम्परा क अनुसार यह भगवान् ऋषभदेव के पुत्र वृषभसेन थे भगवान् ने इन्हें ही समस्त विद्याओं में प्रधान ब्रह्मविद्या देकर लोक में अपना उत्तराधिकारी बनाया था[4]

इनके द्वारा तथा अन्य अथर्वणों (गणधरों) द्वारा प्रतिपादित अनेक तान्त्रिक विधानों तथा ऋषभ के हिरण्यगर्भ पात्मवेदम् जन्म उग्र तपस्या सर्वज्ञता देशना सिद्धलोकप्राप्ति सम्बन्धी अनेक रहस्यपूर्ण वार्ताओं तथा यति व्रात्य श्रमणों की आध्यात्मिक चर्चा का सकलन चौथे वेद मे हुआ है अत इसकी प्रसिद्धि अथर्ववेद के नाम स हुई

अथर्वन द्वारा प्रतिपादित प्रक्रिया क अनुसार अग्नि में हव्य द्रव्य की आहुति देकर सर्वप्रथम ऋषभ की पूजा उनके ज्येष्ठ पुत्र तथा भारत क आदि चक्रवर्ती भरत महाराज जो मनु के नाम से भी प्रसिद्ध थे ने की थी इसके पश्चात् उनका अनुसरण करते हुए समस्त प्रजाजन भगवान् ऋषभदेव के प्रतीक रूप मे अग्नि की पूजा में प्रवृत्त हुए[5]

उक्त प्रक्रिया क अनुसार यह पूजा प्रात मध्याह्न और सायं तीनों काल होती थी अथर्ववेद अनड्वान सूक्त मे इस पूजा का फल बतलाते हुए कहा है कि जो इस प्रकार प्रतिदिन तीनों समय भगवान् ऋषभ की पूजा करते हैं वे उन्हीं

---

१ [illegible]
२ [illegible]
३ (क) [illegible]
(ख) A. C. Das—Rigvedic Culture pp. 113—115
(ग) Dr. Winternitz—History of India Leterature Vol. I 1927 P. 120
(घ) [illegible]
४ (क) [illegible]
[illegible] —मुण्डकोपनिषद् [illegible]
(ख) [illegible]
५ (क) [illegible]
(ख) [illegible]

अपभ्रश रूप है जो आर्यगण के भारत-आगमन मे पूर्व ही आदिब्रह्मा वृषभ के लिये प्रयुक्त होता आ रहा या यही कारण है कि ब्राह्मण ऋषियो को वृषभ की अग्नि सज्ञा 'अग्रि' अर्थमूलक करने के लिये तत्सम्बन्धी श्रुतियो को आधार बनाकर उसकी व्युत्पत्ति 'अग्र' शब्द से करनी पडी अन्यथा सस्कृत भाषा की दृष्टि से अग्रि एव अग्नि शब्द मे अत्यन्त पार्थक्य है

आर्यजन के अग्निदेव और वृषभदेव की एकता

वैदिक अनुश्रुतियो से सिद्ध होता है कि अग्नि सज्ञा से वृषभ की उपासना करने वाले अधिकाश वे क्षत्रियजन थे, जो पञ्चजन के नाम से प्रसिद्ध थे[1] इनमे यदु, तुर्वसा, पुरु, द्रुह्यु, अनु नाम की क्षत्रिय जातिया सम्मिलित थी ये लोग ऋग्वैदिक काल मे कुरुक्षेत्र, पचाल, मत्स्यदेश और सुराष्ट्र देश मे बसे थे जब आर्यगण सप्त सिन्धु देश मे से होते हुए कुरुभूमि मे आबाद हुए और यहा पचजन क्षत्रियो की धार्मिक सस्कृति के सम्पर्क मे आये तो उससे प्रभावित होकर इन्होंने भी उनके आराध्य देव वृषभ को 'अग्नि' सज्ञा से अपना आराध्य देव बना लिया यह ऐतिहासिक तथा कश्यपगोत्री मरीचिपुत्र ऋषि ने अग्निदेव की स्तुति करते हुए ऋग्वेद १-९ मे 'देवा अग्नि धारयन् द्रविणोदाम्' शब्दो द्वारा स्वय व्यक्त किया है

इस सूक्त के नौ मन्त्र है इनमे से पहले सात मन्त्रो के अन्त मे ऋषिवर ने उक्त शब्दो को पुन पुन दोहराया है इसका अर्थ है कि—देवा (अपने को देव सज्ञा से अभिवादन करने वाले आर्यगण ने) द्रविणो दा (धनैश्वर्य प्रदान करने वाले) अग्नि (अग्नि प्रजापति को) धारयन् (अपना आराधना-देव धारण कर लिया)

प्रस्तुत सूक्त ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है इसमे प्रथम तो भगवान् वृषभ की स्तुति मे गाये जाने वाले ऋक्, यजु, साम एव अथर्व सहिताओ मे सकलित स्तोत्रो से भी प्राचीन उन निविद अथवा निगद स्तोत्रो का उल्लेख है, जिनसे ध्वनित होता है कि भगवान् वृषभ आर्यगण के आने से पूर्व ही भारत के आराध्य देव थे इसके अतिरिक्त इस सूक्त मे भगवान् वृषभ द्वारा मनुओ की सन्तानीय प्रजा को अनेक विद्याओ से समृद्ध करने, अपने पुत्र भरत को राज्य-भार सौंपने तथा अपने अन्य पुत्र वृषभसेन को, जो जैन मान्यता के अनुसार भगवान् के ज्येष्ठ गणधर अथवा मानसपुत्र थे, ब्रह्मविद्या देने का भी उल्लेख है इस सूक्त के निम्नाकित प्रथम चार मन्त्रो से उल्लिखित तथ्यो की स्पष्ट सपुष्टि होती है

'अपश्चमित्र (जो ससार का मित्र है) धिषणा च साधन (जो ध्यान द्वारा साध्य है), प्रत्नथा (जो पुरातन है), सहसा जायमान (जो स्वयभू है) सद्य काव्यानि वडधत्त विश्वा (जो निरन्तर विभिन्न काव्य स्तोत्रो को धारण करता रहता है, अर्थात् जिसकी सभी जन स्तुति करते रहते हैं), देवो अग्नि धारयन् द्रविणोदाम् (देवो ने उस द्रव्य-दाता अग्नि को धारण कर लिया)[2]

पूर्वया निविदा काव्यतासो (जो प्राचीन निविदो द्वारा स्तुति किया जाता है), यमा प्रजा अजन्यन् मनुनाम् (जिसने मनुओ की सन्तानीय प्रजा की व्यवस्था की) विवस्वता चक्षुषा द्याप पञ्च (जो अपने ज्ञान द्वारा द्यु और पृथ्वी को व्याप्त किये हुए है), देवो ने उस द्रव्यदाता को धारण कर लिया)[3]

(इ) खारवेल के शिलालेख (ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी) में भी ऋषभ जिन का उल्लेख अग्ग जिन के रूप में हुआ है (नन्दराजनीतान अगजिनस)

(ई) 'प्रजापति देवतान सृज्यमान अग्निमेव देवाना प्रथममसृजत्'
तैत्तिरीय ब्राह्मण, २१, ६, ४

(उ) 'अग्निर्वं सर्वाधम् ।'—ताण्ड्य ब्राह्मण, ५, ९३.

१ 'जना यदग्निमजयन्त पञ्च'—ऋग्वेद १०, ४५, ६

२ ऋग्वेद, १ ९, १

३ वही, १, ९, २

मध्य एशिया, लघु एशिया, उत्तर पूर्वीय अफरीका के सुमेर, बबीलोनिया, सीरिया, यूनान, अरब, ईरान, मिस्र, सूबो पिया आदि संसार के समस्त प्राचीन देशों में जहाँ भी पणि अथवा फणि और पुरु लोगों के विस्तार के साथ भारत से भगवान् ऋषभ की मूर्तियाँ, सूक्तियाँ और आख्यान पहुँचे हैं।[1] वहाँ भगवान् असुर [असुर], ओसोरिस [असुरऋषि], अहुरमज्द [असुरमहत्], ईस्टर [ईश्वर], यहोव [यह्व महान्], गौड [गौर गौड], अल्ला [ईड्य स्तुत्य], I A M [अह मस्मि], सूर्यस् [सूर्य], रवि, मित्र [मित्र], वरुण आदि अनेक लोक-प्रसिद्ध नामों और विशेषणों द्वारा आराध्य देव ग्रहण कर लिये गये। यही कारण है कि इन देशों के प्राचीन आराध्यदेव सम्बन्धी जो रहस्यपूर्ण आख्यान परम्परागत सुरक्षित हैं, उनमें उपर्युक्त चार तत्त्व 1 In Carnation 2 Suffering and Crucification 3 Ressurrection और 4 Ascent to Heaven के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार उन सूक्तों और मन्त्रों के अतिरिक्त जिनमें स्पष्टतः ऋषभ, वृषभ, गौर तथा अनड्वान का उल्लेख है, ऋक्, यजु, साम तीनों ही संहिताओं के प्रायः समस्त छन्द, जिनमें उपयुक्त संज्ञाओं और विशेषणों से स्तुति की गई है, भगवान् वृषभ की ओर ही संकेत करते हैं।

अथर्ववेद के इस तथ्य को व्यक्त करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार आप (जल), वात (वायु) और औषधि (वनस्पति)—तीनों एक ही भवन (पृथ्वी) के आश्रित हैं, उसी प्रकार ऋक्, यजु, साम—तीनों प्रकार के छन्दों की कविजन 'पुरुरूप दर्शत विश्व चक्षणम्' [बहुरूप दिखलाई देने वाले एक विश्ववेदस् सहस्राक्ष सर्वज्ञ को लक्ष्य रखकर ही विवेचना [व्याख्या करते हैं]।[2]

ऋग्वेद के निम्नांकित दो मंत्रों में हम भगवान् वृषभदेव के तपोक्त रूपों एवं वृत्त का वैसा ही इतिहास क्रमानुसारी वर्णन देख सकते हैं, जैसा कि जैन परम्परा विधान करती है। वे मंत्र निम्न प्रकार हैं :[3]

> दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निरस्मद् द्वितीयं परि जातवेदाः ।
> तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रमिन्धान एनं जरते स्वाधीः ॥

अर्थात् अग्नि प्रजापति पहले देवलोक में प्रकट हुए, द्वितीय बार हमारे बीच जन्मतः ज्ञान-सम्पन्न होकर प्रकट हुए, तीसरा इनका वह स्वाधीन एवं आत्मवान् रूप है जब इन्होंने भव-सागर में रहते हुए निर्मल वृत्ति से समस्त कर्मेन्धन को जला दिया। तथा—

> "विद्मा ते अग्ने त्रेधा त्रयाणि विद्मा ते धाम विभृता पुरुत्रा ।
> विद्मा ते नाम परमं गुहा यद्विद्मा तमुत्सं यत आजगन्थ ॥"[4]

अर्थात् हे अग्रनेता ! हम तेरे इन तीन प्रकार के तीन रूपों को जानते हैं। इनके अतिरिक्त तेरे पूर्व के बहुत प्रकार से धारण किये हुए रूपों को भी हम जानते हैं। इनके अतिरिक्त तेरा जो निगूढ परमधाम है, उसको भी हम जानते हैं और उस मार्ग को भी हम जानते हैं जिससे तू हमें प्राप्त होता है।

उक्त श्रुति से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक काल में भगवान् वृषभ के पूर्व जन्म लोक में पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे।

वृषभ रुद्र के विकसित रूप

[illegible] ब्राह्मणों में रुद्र के आठ नाम—शर्व, पशुपति, उग्र, अशनि, भव, महादेव, ईशान, कुमार—ये जो नाम हैं वे अग्नि

1 Dr H R Hall The ancient History of far East 101 77 169 203 307 40
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

के समान अविनाशी अमरपद के अधिकारी हो जाते है[1]

प्राचीन अनुश्रुतियो से ज्ञात होता है कि अथर्वन द्वारा बतलाई गई याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार अज (जौ),[2] अक्षत (चावल), तथा घृत—इनका प्रयोग आहुति के लिये किया जाता था और पूजा के समय भगवान् वृषभ का सान्निध्य बनाये रखने के लिए 'वषट्' शब्द का और उनके अर्थ आहुति देते समय उन द्वारा घोषित स्वात्म-महिमा को ध्यान मे रखने के लिये 'स्वाहा' शब्द का प्रयोग आवश्यक था क्योकि 'वषट्' उच्चारण द्वारा भौतिक अग्नि की स्थापना करते हुए उपासक जन वास्तव मे वृषभ भगवान् की ही स्थापना करते हैं और 'स्वाहा' शब्द द्वारा भौतिक अग्नि मे आहुति देते हुए भी अपनी आत्म-महिमा को ही जागृत करते है वषट् शब्द का उच्चारण किये बिना अग्नि की उपासना भौतिक अग्नि की ही उपासना है

जैन पूजाग्रथो तथा उनके दैनिक पूजा-विधानो मे वौषट् (इति आह्वाननम्) ठ ठ (इति स्थापनम्), और वषट् [इति सन्निधीकरणम्]—इन तीन शब्दो द्वारा भगवान् का आह्वान, स्थापन तथा सन्निधीकरण किया जाता है उक्त बीजमत्रो के कोष्ठको मे दिये गये अर्थ जैन परम्परा मे अत्यन्त प्राचीन काल मे चले आ रहे है, जो भगवत्पूजा के लक्ष्य के सम्बन्ध मे भी भक्तजन को एक नवीन दृष्टि का दान करते हैं,

इस प्रकार अग्नि द्वारा पूजा-विधि की परम्परा उतनी ही प्राचीन निश्चित होती है जितना भगवान् वृषभ देव का काल

वृषभ के विविधरूप और इतिवृत्त

जैन परम्परा के अनुसार भगवान् ऋषभदेव अपने पूर्व जन्म मे सर्वार्थसिद्धि विमान मे एक महान् ऋद्धिधारी देव थे आयु के अत मे उन्होने वहा से चय कर अयोध्यानरेश नाभिराय की रानी मरुदेवी के गर्भ मे अवतरण किया इनके गर्भ मे आने के छह माह पूर्व मे ही नाभिराय का भवन कुवेर के द्वारा हिरण्य की वृष्टि से भरपूर कर दिया गया अत जन्म लेने के पश्चात् यह हिरण्यगर्भ के नाम से प्रसिद्ध हुए गर्भावतार के समय भगवान् की माता ने स्वप्न मे एक सुन्दर बैल को अपने मुख मे प्रवेश करते हुए देखा था, अत इनका नाम वृषभ रक्खा गया जन्म से ही यह मति, श्रुत, अवधि इन तीन ज्ञानो से विशिष्ट थे, अत इनकी जातवेदस् नाम से प्रसिद्धि हुई बिना किसी गुरु की शिक्षा के ही अनेक विद्याओ के ज्ञाता थे, इन्होने जन्म-मृत्यु से अभिव्याप्त ससार मे स्वय सत्, ऋत, धर्म एव मोक्षमार्ग का साक्षात्कार किया था, अत वह स्वयभू तथा मुक्त नामो से प्रसिद्ध हुए भोगयुग की समाप्ति पर इन्होने ही प्रजा को कृषि, पशुपालन तथा विविध शिल्प-उद्योगो की शिक्षा प्रदान की थी, अत यह विधाता, विश्वकर्मा एव प्रजापति नामो से विख्यात हुए ये ही अपनी अन्त प्रेरणा से ससार—शरीर तथा भोगो से निर्विण्ण हुए तथा सयम एव स्वाधीनता-पथ के पथिक बनकर प्रव्रजित हुए, अत वशी, यति एव व्रात्य नामो से प्रसिद्ध हुए

इन्होने अपनी उग्र तपस्या, श्रमसहिष्णुता और समवर्तना द्वारा अपने समस्त दोषो को भस्मसात् किया, अत यह रुद्र, श्रमण आदि सज्ञाओ से विख्यात हुए इन्होने अज्ञानतमस् का विनाश करके अपने अन्तस् मे सम्पूर्ण ज्ञान-सूर्य को उदित किया, भव्य जीवो को धार्मिक प्रतिबोध दिया और अन्त मे देह त्याग कर सिद्ध लोक मे अक्षय पद की प्राप्ति की

जैन परम्परा मे जो वृत्त गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण के नाम से प्रसिद्ध है और जिन्हे लोक-कल्याणी होने से कल्याणक की सज्ञा दी गई है वैदिक परम्परा मे वही [१] हिरण्यगर्भ, [२] जातवेदस्, अग्नि, विश्वकर्मा, प्रजापति, [३] रुद्र, पुरुष, व्रात्य, [४] सूर्य, आदित्य, अर्क, रवि, विवस्वत, ज्येष्ठ, ब्रह्मा, वाक्पति, ब्राह्मणस्पति, बृहस्पति, [५] निगूढपरमपद, परमेष्ठीपद, साध्यपद आदि संज्ञाओ से प्रसिद्ध है

१ अथर्ववेद ४, ११, १०
२ "अजैर्यष्टके"—जिनसेनकृत हरिवशपुराण, २७, ३८, १६४

आवंतीमवतीश्च सर्वमेवानुपश्यत[1]

२ महाभारत मे इस प्रदेश के दो राजाओ-विंद और अनुविंद-का उल्लेख आया है इनका सहदेव के साथ समर हुआ है ये कौरवो के पक्ष मे महाभारत मे लडे थे[2] द्रोणपर्व मे आया है कि अर्जुन ने इनको परास्त किया[3]

और उसके सम्बन्ध मे टी० आर० कृष्णाचार्य-सम्पादित महाभारत के उपोद्घात के साथ प्रकाशित वर्णानुक्रमणिका मे लिखा है

सेकापरसे कयोर्नर्मदायाश्च दक्षिणतो विद्यमानो मालवदेशान्तर्गतो देश ।

—वर्णानुक्रमणिका, (महाभारत), पृष्ठ १६

३ इनके अतिरिक्त कितने ही अन्य पुराणो मे अवन्ती नगर का उल्लेख है

(अ) अवन्ती नगरे रम्ये दीक्षिता ऋषिसत्तम , सत्कुलीन सदाचार शुभकर्मपरायण. ।

—शिवपुराण, ज्ञान स० २५ अ०

(आ) अवन्त्या तु महाकाल शिव मम्यमकेश्वरे। —शिवपुराण सनत्कुमार स० ३१ अ०

(इ) अवन्तीनगरी रम्या मुक्तिदा सर्वदेहिनाम्, शिप्रा चैव महापुण्या वर्तते लोकपावनी ।

—शिवपुराण, ज्ञान स० ४६ अ०

(ई) अवन्ती नगरी रम्या तत्रादृश्यत वै पुन —शिवपुराण, ज्ञान स० ४६ अ०

(उ) स्कदपुराण मे तो एक पूरा अवन्ती खड है उसमे आया है

अवन्तिकाया विहितावतार ।
अवन्ति पुण्यनगरी प्रतिकल्योद्भवा शुभा ।
अस्ति चोज्जयिनी नाम पुरी पुण्यफलप्रदा ।
यत्र देवो महाकाल सर्वदेवगुणै स्तुत ।

(ऊ) गरुड-पुराण मे इसकी गणना ७ तीर्थस्थानो मे की गई है

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका ।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिका ।

(ए) आज्ञा चक्र स्मृता काशी या बाला श्रुतिमूर्धनि ।
स्वधिष्ठान स्मृता काञ्ची मणिपूरमवन्तिका ।
नाभि देशे महा कालस्तन्नाम्ना तत्र वै हर ।

—वाराह पुराण

(ऊ) श्रीमद्भागवत मे सन्दीपनि के आश्रम के प्रसग मे आया है

अथो गुरुकुले वासमिच्छन्तावुपजग्मतु , काश्या सान्दीपनिं नाम ह्यवन्तीपुरवासिन ।

—श्रीमद्भागवत, द्वितीय भाग, दशम स्कध, अ० ४५, श्लोक ३१, पृष्ठ ४०३ (गोरखपुर)

---

१ श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण, किष्किधा काड,

२ विन्दानुविन्दावावन्त्यौ सैन्येन महतावृतौ ।
जिगाय समरे वीरावाश्विनेय प्रतापवान् ॥
—महाभारत, सभापर्व, अध्याय ३०, श्लोक ११, पृष्ठ ५०

महीपालो, महावीर्यैर्दक्षिणापथवासिभि ।
आवन्त्यौ च महापालौ महाबल-सुसवृतौ ।२५
—महाभारत, उद्योग पर्व, अध्याय १९, श्लोक २५, पृष्ठ २५.

३ विन्दानुविन्दावावन्त्यो विराट दशभि शिरै ।
आजन्वतु सुस क्रुद्धौ तव पुत्रहितैषिणौ ॥
—महाभारत, द्रोणपर्व, अध्याय ९३, श्लोक ४, पृष्ठ१४०

(आ) अत्थि अवन्ति नाम जणवओ । तत्थ उज्जेणी नाम नयरी रिद्धित्थिमियसमिद्धा ।

—वसुदेव हिंडी पृष्ठ, ४६

४. चण्डप्रद्योतनाम्नि नरसिंहे अवन्ति जनपदाधिपत्यमनुभवति तत्र कुत्रिकापण उज्जयिन्यामासीरन्

—वृहत्कल्पसूत्र सटीक भाग ४, पृष्ठ ११४५

ऐसा ही उल्लेख दिगम्बर ग्रन्थो मे भी आया है —

अवन्तिविषय सारो त्रियते जनसकुल. ।१।
जिनायतन सारण्र सौधापणविराजित. ।
तत्रास्ति कृतिसवामा श्रीमदुज्जयिनी पुरी ।२।

—हरिषेणाचार्य कृत वृहत्कथाकोष, पृष्ठ ३

इन प्रमाणो से स्पष्ट है कि अवन्ति देश की राजधानी उज्जयिनी थी और उसे राष्ट्र के नाम पर अवन्ति भी कहते थे[1] और उस अवन्ति देश मे ही, जो दक्षिणापथ मे था, तुम्बवन था, जिसका उल्लेख जैन, बौद्ध और हिन्दू सभी ग्रन्थो मे मिलता है

इसकी स्थिति अब पुरातत्त्व से निश्चित हो गई है प्राचीन काल के तुम्बवन का अर्वाचीन नाम तुमेन है यह स्थान गुना जिले मे है बीना-कोटा लाइन पर स्थित टकनेरी (जिसे पछार भी कहते हैं उसका वर्तमान नाम अशोक नगर है) मे ६ मील दूर दक्षिण पूव मे तुमेन स्थित है यह अशोक नगर वीना से ४६ मील और गुना से २८ मील दूर है. इस तुमेन मे एक शिलालेख मिला है, जिसमे तुम्बवन का उल्लेख है उसका जिक्र हम ऊपर कर आये है वहा एक और शिलालेख मिला है, जिसमे एक सती के दाह का और छत्री बनाये जाने का उल्लेख है[2]

आर्य वज्र

इसी तुम्बवन मे आर्यवज्र का जन्म हुआ था इनका चरित्र परिशिष्ट पर्व (सर्ग १२, पृष्ठ २७०-३५० द्वितीय सस्करण) उपदेशमाला सटीक (२०७-२१४), प्रभावक चरित्र (३-८), ऋषिमडल प्रकरण (१९२-२-१९९-१), कल्पसूत्र-सुबोधिका टीका आदि ग्रथो मे मिलता है

उनके पिता का नाम धनगिरि था उनके लिए इब्भपुत्र[3] लिखा है इब्भ शब्द का अर्थ हेमचन्द्र ने देशीनाममाला[4] मे लिखा है

इब्भो वणिए

इब्भ और वणिया दोनो समानार्थक है उनका गोत्र 'गौतम'[5] लिखा है धनगिरि धर्मपरायण व्यक्ति थे जब उनके विवाह की बात उठती तो वे कन्या वालो से कह आते कि मैं तो साधु होने वाला हू पर, धनपाल नामक एक श्रेष्ठी ने अपनी पुत्री सुनन्दा का विवाह धनगिरि से कर दिया अपनी पत्नी को गर्भवती छोडकर धनगिरि ने सिंहगिरि से दीक्षा ले ली कालान्तर मे जब बच्चे का जन्म हुआ तो अपने पिता के दीक्षा लेने की बात सुनकर वालक को जातिस्मरण ज्ञान हुआ

---

१ उज्जयिनी स्याद् विशालावन्ती पुष्पकरण्डिनी —अभिधानचिंतामणि, भूमिकाड श्लोक, ४२, पृष्ठ ३९०

२ ग्वालियर राज्य के अभिलेख, पृष्ठ ७१

३ उपदेशमाला सटीक, गाथा ११०, पत्र २०७, ऋषिमडल प्रकरण, गाथा ४२, पत्र १९२-१ परिशिष्ट पर्व, द्वादशसर्ग, श्लोक ४, पृष्ठ २७०

४ देशीनाममाला प्रथम वर्ग श्लोक ७९ पृष्ठ २८ (कलकत्ता विश्व०) अभिधानचिंतामणि में लिखा है—'इभ्य आढ्यो धनीश्वर. (मर्त्यकाड, श्लोक २१, पृष्ठ १४७) ऐसा ही उल्लेख पाइअ-लच्छीनाममाला में है— अड्ढा इब्भा धणिणो' (पृष्ठ १२)

५ अज्जवइरे गोयम सगुत्ते कल्प सू० सुबो० टी० पत्र ४९३

माता का मोह कम करने के लिये बालक दिन रात रोया करता एक दिन धनगिरि और समित भिक्षा के लिये जा रहे थे उस समय शुभ लक्षण देखकर उनके गुरु ने आदेश दिया कि जो भी भिक्षा में मिले ले लेना य दोनों साधु भिक्षा के लिये चले तो सुनन्दा ने (जो अपने बच्चे से ऊब गयी थी) बच्चे को धनगिरि को दे दिया उस समय बच्चे की उम्र ६ मास की थी धनगिरि ने बच्चे को झोली में डाल लिया और लाकर गुरु को सौंप दिया अति भारी होने के कारण गुरु ने बच्चे का नाम वज्र रख दिया[1] और पालन-पोषण के लिये किसी गृहस्थ को दे दिया श्राविकाओं और साध्वियों के सम्पर्क में रहने से बचपन में ही बच्चे को ग्यारह अंग कंठ हो गये

बच्चा जब तीन वर्ष का हुआ तो उसकी माता ने राजसभा में विवाद किया माता ने बच्चे को बड़े प्रलोभन दिखाए पर बालक उधर आकृष्ट नहीं हुआ और धनगिरि के निकट जा कर उनका रजोहरण उठा लिया

जब वज्र ८ वर्ष के थे तो गुरु ने उन्हें दीक्षा दे दी उसी कम उम्र में ही देवताओं ने उन्हें वैक्रिय लब्धि और आकाश गामिनी विद्या दे दी वज्र स्वामी ने उज्जयिनी में भद्रगुप्त से दस पूर्व की शिक्षा ग्रहण की

कालान्तर में आर्य वज्र पाटलिपुत्र गये वहाँ रुक्मिणी नामक एक श्रेष्ठि कन्या ने आर्य वज्र से विवाह करना चाहा पर आर्यवज्र ने उसे दीक्षा दे दी पाटलिपुत्र से आर्यवज्र पुरिका नगरी गये वहाँ के बौद्ध राजा ने जिन मन्दिरों में पुष्पों का निषेध कर दिया था अतः पर्युषणा में श्रावकों की विनती पर आकाशगामिनी विद्या द्वारा माहेश्वरीपुरी (वाराणसी) जाकर एक माली से पुष्प एकत्र करने को कहा और स्वयं हिमवत पर जाकर श्री देवी प्रदत्त हुताशनवन[2] से पुष्पों के विमान द्वारा पुरिका आये और जिन-शासन की प्रभावना की तथा बौद्ध राजा को भी जैन बनाया

एक दिन आर्य वज्र ने कफ के उपशमन के उद्देश्य से कान पर रखी सोंठ प्रतिक्रमण के समय भूमि पर गिर गयी इस प्रमाद से अपनी मृत्यु निकट आयी जानकर आर्य वज्र ने अपने शिष्यों को बुलाकर कहा— अब बारह वर्ष का दुष्काल पड़ेगा जिस दिन मूल्य वाला भोजन तुम्हें भिक्षा में मिले उससे अगले दिन सुबह ही सुभिक्ष हो जायेगा यह कहकर उन्होंने शिष्यों को अन्यत्र विहार करा दिया और स्वयं रथावर्त पर्वत पर जाकर अनशन करके देवलोक चले गये यह रथावर्त विदिशा के निकट था इसी का नाम गजाग्रपद गिरि और इन्द्रपद भी है[3] इसे राजेन्द्रसूरि ने अपने कल्प-सूत्रप्रबोधिनी में स्पष्ट कर दिया है[4] इससे स्पष्ट है कि रथावर्त विदिशा के ही निकट था निशीथचूर्णि में भी ऐसा ही लिखा है[5]

'जैन-परम्परा नो इतिहास' के लेखक[6] ने अपनी कल्पना मिला कर इसे मैसूर राज्य में लिख डाला और वहाँ

---

१ (अ) कक्षस्यपिण्डं भार शिशोरालोक्य सूरयः ।
  अभ्यधिषत श्रीवज्र इत्यस्या स्तुरग्गुरुः ॥ —परिशिष्ट प्रकरण श्लोक १४ पृष्ठ ११९-१

(आ) सो वि य भूमिपत्तो आ भासा तस्स सुरिला मविर्ष ।
  अम्हो कि वइरमिर्म व मारिय मम्मुअ्वार । ४४ —उपदेशमाला सटीक पत्र २०८

(इ) तत्सारमगुरुकरो गुरुस्तस्य सविस्मय ।
  नामो गु रूपभूपत्नमिद अनु तम्मते ॥५२॥ —परिशिष्ट पर्व सर्ग १२ पृष्ठ १०४

२ माहेश्वर्या नगर्या स्वनामसम्भवे

३ गजाग्रपदो नाम गजाग्रपदगिरिः—'बृहत्कल्पसूत्र सभाष्य विभाग ४ पृष्ठ १ १८-१२१२ गाथा ४८४१

४ अस्मो गिरि भावो दक्षिण मालवदेशे वा विदिशा (भिल्सा) समस्त निकटमीत् आकाशगामिनु यो रथावर्तनाम् तत्पुस्तेकत् आचराम निवु मिन रचिता अतएव श्री भद्रबाहु स्वामाति मन्यते तहि वज्रस्वामिन स्वर्गगमनस्यापि स गिरिरथावर्तनामसीतिमि स्वाध्येन —कल्पसूत्र प्रबोधिनी पृष्ठ २ २

५ निशीथचूर्णि पृष्ठ ६

६ पृष्ठ ३१७

(आ) अत्थि अवन्ति नाम जणवओ। तत्थ उज्जेणी नाम नयरी रिद्धित्थिमियसमिद्धा।
—वसुदेव हिंडी पृष्ठ, ४९.

४ चण्डप्रद्योतनाम्नि नरसिंहे अवन्ति जनपदाधिपत्यमनुभवति नव कुत्रिकापण उज्जयिन्यामासीरन
—वृहत्कल्पसूत्र सटीक भाग ४, पृष्ठ ११४५

ऐसा ही उल्लेख दिगम्बर ग्रन्थो मे भी आया है —

अवन्तिविषय सारो विद्यते जनसकुल ।१।
जिनायतन सागर सौधापणविराजित ।
तत्रास्ति कृतिसवासा श्रीमदुज्जयिनी पुरी ।२।
—हरिषेणाचार्य कृत वृहत्कथाकोष, पृष्ठ ३

इन प्रमाणो से स्पष्ट है कि अवन्ति देश की राजधानी उज्जयिनी थी और उसे राष्ट्र के नाम पर अवन्ति भी कहते थे[1] और उस अवन्ति देश मे ही, जो दक्षिणापथ मे था, तुम्बवन था, जिसका उल्लेख जैन, बौद्ध और हिन्दू सभी ग्रन्थो मे मिलता है

इसकी स्थिति अब पुरातत्त्व से निश्चित हो गई है प्राचीन काल के तुम्बवन का अर्वाचीन नाम तुमेन है यह स्थान गुना जिले मे है बीना-कोटा लाइन पर स्थित टकनेरी (जिसे पछार भी कहते है इसका वर्तमान नाम अशोक नगर है) से ६ मील दूर दक्षिण पूर्व मे तुमेन स्थित है यह अशोक नगर बीना से ४६ मील और गुना से २८ मील दूर है इस तुमेन मे एक शिलालेख मिला है, जिसमे तुम्बवन का उल्लेख है उसका जिक्र हम ऊपर कर आये है वहा एक और शिलालेख मिला है, जिसमे एक सती के दाह का और छत्री बनाये जाने का उल्लेख है[2]

आर्य वज्र

इसी तुम्बवन मे आर्यवज्र का जन्म हुआ था इनका चरित्र परिशिष्ट पर्व (सर्ग १२, पृष्ठ २७०-३५० द्वितीय सस्करण) उपदेशमाला सटीक (२०७-२१४), प्रभावक चरित्र (३-८), ऋषिमडल प्रकरण (१९२-२-१९९-१), कल्पसूत्र-सुबोधिका टीका आदि ग्रथो मे मिलता है

उनके पिता का नाम धनगिरि था उनके लिए इब्भपुत्र[3] लिखा है इब्भ शब्द का अर्थ हेमचन्द्र ने देशीनाममाला[4] मे लिखा है

इब्भो वणिए

इब्भ और वणिया दोनो समानार्थक है उनका गोत्र 'गौतम[5] लिखा है धनगिरि धर्मपरायण व्यक्ति थे जब उनके विवाह की बात उठती तो वे कन्या वालो से कह आते कि मैं तो साधु होने वाला हू पर, धनपाल नामक एक श्रेष्ठी ने अपनी पुत्री सुनन्दा का विवाह धनगिरि से कर दिया अपनी पत्नी को गर्भवती छोडकर धनगिरि ने सिंहगिरि से दीक्षा ले ली कालान्तर मे जब बच्चे का जन्म हुआ तो अपने पिता के दीक्षा लेने की बात सुनकर बालक को जातिस्मरण ज्ञान हुआ

---

१ उज्जयिनी स्याद् विशालावन्ती पुष्पकरण्डिनी —अभिधानचिंतामणि, भूमिकाड श्लोक, ४२, पृष्ठ ३९०

२ ग्वालियर राज्य के अभिलेख, पृष्ठ ७१

३ उपदेशमाला सटीक, गाथा ११०, पत्र २०७, ऋषिमडल प्रकरण, गाथा २, पत्र १९२-१ परिशिष्ट पर्व, द्वादशसर्ग, श्लोक ४, पृष्ठ २७०

४ देशीनाममाला प्रथम वर्ग श्लोक ७९ पृष्ठ २८ (कलकत्ता विश्व०) अभिधानचिंतामणि में लिखा है—'इभ्य आढ्यो धनीश्वरः (मर्त्यकाड, श्लोक २१, पृष्ठ १४७) ऐसा ही उल्लेख पाइअ-लच्छीनाममाला में है— अड्ढा इब्भा धणिणो' (पृष्ठ १२)

५ अज्जवइरे गोयम सगुत्ते कल्प सू० सुबो० टी० पत्र ४९३
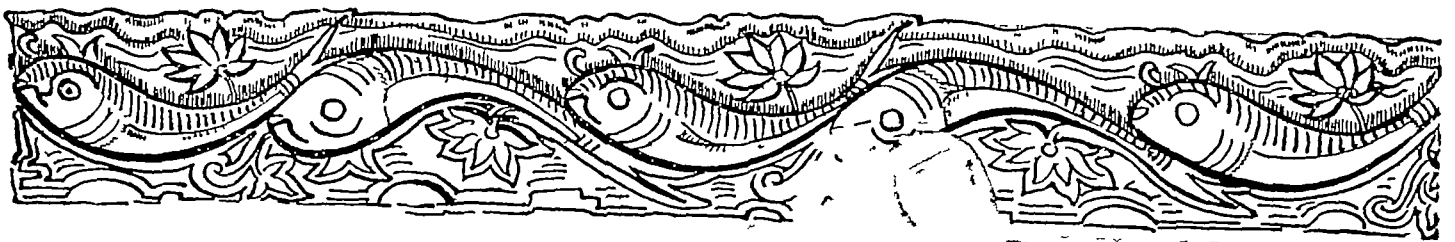
रत्नचन्द्र अग्रवाल
अध्यक्ष पुरातत्त्व संग्रहालय विभाग उदयपुर

देबारी के राजराजेश्वर मदिर की अप्रकाशित प्रशस्ति

मेवाड़नरेश महाराणा राजसिंह द्वितीय ने केवल सात वर्ष (संवत् १८१२ से १८१७) राज्य किया था उनके राज्य काल का संवत् १८१२ का लेख उदयपुर के साध्यगिरि मठ के पास शिवालय में लगा है और दूसरा लेख संवत् १८१७ का है जो उदयपुर के जगदीश मंदिर के पास एक सुरभि-स्तम्भ पर खुदा है (रिसर्चर राजस्थान पुरातत्त्व विभाग की पत्रिका वर्ष १,अंक १ पृ २६ १२) इसके बाद राजसिंह द्वितीय का ही भाई अरिसिंह द्वितीय शासक बना उसके राज्यकाल में राजसिंह द्वितीय की माता बख्तकँवरी (जो झाला वंश की थी) ने अपने पुत्र राजसिंह की मृत्यु हो जाने के कारण उसके मुक्ति हेतु उदयपुर नगर से ८ मील दूर देबारी (उदयपुर घाटी का प्रवेश) के द्वार के सामने ही राजराजेश्वर मंदिर, वापी तथा पास की धर्मशाला का निर्माण कराया था उसकी प्रतिष्ठा श्रावणादि वि सं १८१९ (चैत्रादि १८२) शक संवत् १६८५ वैशाख सुदी ८ गुरुवार (भीम) को होकर प्रशस्ति रची गई थी ९८ श्लोकों की यह बृहत् प्रशस्ति शिला पर अद्यावधि उत्कीर्ण न हो सकी उसकी एक प्रति की प्रतिलिपि मुझे स्वर्गीय पं गो ला व्यास जी के सौजन्य से प्राप्त हुई है यह राजसिंह की माता की कृतियों उसके मातृपक्ष के वंश इस और तत्कालीन इतिहास के लिये परम उपयोगी है माननीय ओझा जी ने इसकी एक प्रतिलिपि श्री विष्णुराम भट्ट मेवाड़ा के संग्रह म देख कर उसका सारांश भी उदयपुर राज्य के इतिहास' (भाग २ पृ ६६१) में प्रकाशित किया था प्रस्तुत निबन्ध में श्री व्यास[1] जी द्वारा प्राप्त प्रतिलिपि को तनिक विवेचनादि सहित विद्वद्वर्ग के अध्ययनार्थ सर्व प्रथम प्रकाशित किया जावेगा

इस बृहत् प्रशस्ति के कुल ९८ श्लोक है तथा भाषा संस्कृत है प्रारम्भ मे गणपति' वन्दना के उपरान्त प्रशस्तिकार 'सोमेश्वर' का उल्लेख है जिसने राजसिंह द्वितीय की माता के आदेशानुसार शिवालय व वापी की यह प्रशस्ति रची थी (श्लोक १) राजसिंहराज्याभिषेक काव्य की रचना भी भट्ट रूप जी के सुपुत्र इसी सोमेश्वर ने की थी (ओझा उपर्युक्त पृ १४४ पाद टिप्पण २) तदनन्तर मेवाड़ के उदयपुर नगर के संस्थापक (श्लोक ७) महाराणा उदयसिंह प्रथम से लेकर राजसिंह द्वितीय तक का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है आठवें श्लोक में उदयपुर को धनपुरी कहा है राणा प्रताप ने यवना (मुसलमानो) को मारा था (श्लोक ११) और अमरसिंह प्रथम ने राज्यलक्ष्मी की प्राप्ति की थी (श्लोक १२) उसका पुत्र कर्णसिंह था (श्लोक १३) उसके पुत्र जगतसिंह ने विष्णुमंदिर अर्थात् जगदीशमंदिर, षोडश महादान सम्पन्न कर माण्धातातीर्थ पर यश प्राप्त किया (श्लोक १४ १५) उसका पुत्र राजसिंह प्रथम था (श्लोक १६) जिसने समुद्र के समान बन्ध (अर्थात् राजसमुद्र बांध बनाया उसके पुत्र जयसिंह प्रथम ने भी तथैव बांध बनाया (अर्थात् जयसमुद्र श्लोक १७) उसके पुत्र अमरसिंह द्वितीय ने उदयपुर के राजप्रासादों में वृद्धि की

---

१ [illegible] संग्रहालय के संस्थापक व अध्यक्ष
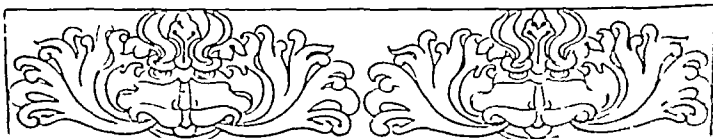
की बडी मूर्ति को वज्र स्वामी की मूर्त्ति बना दी इन शास्त्रीय उल्लेखो के रहते, रथावर्त को दक्षिण मे बताना और बाहुबलीकी मूर्ति को वज्रस्वामी की मूर्ति बताना दोनो ही बाते पूर्णत भ्रामक है दक्षिण वाली उस मूर्ति के लिये आचार्य जिनप्रभसूरि ने विविधतीर्थकल्प मे लिखा है

दक्षिणापथे गोमट देव श्री बाहुबलि[1]

इसी रथावर्त के निकट वासुदेव-जरासध मे युद्ध हुआ था और इसका उल्लेख महाभारत मे भी मिलता है[2]

इस वर्णन मे केवल नीचे लिखे नगर आर्य वज्र के जीवन से सम्बद्ध बताये गये है

तुम्बवन, उज्जयिनी, पाटलिपुत्र, पुरिका, हिमवत हुताशनवन, रथावर्त

यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि उक्त विहार-क्रम मे कही भी सिद्धाचल का वर्णन नही मिलता

आर्य शब्द का प्रयोग

पहिले के युगप्रधान आचार्यों के नामो के पूर्व आर्य शब्द का प्रयोग देखा जाता है. यह परम्परा आर्य वज्रसेन तक रही जिनका स्वर्गगमन वीरात् ६२० मे[3] हुआ

१ विविध तीर्थकल्प पृष्ठ ८५
२ आवश्यक चूर्णि, पूर्व भाग, पत्र २३५
३ जैन गुर्जर कविओ, भाग २, पृष्ठ ७०७

॥ श्री गणेशाय नमः ॥

विघ्नेश्वर सगिरीश गिरिजा समेत सोमेश्वरो द्विजवरा विबुधाश्च नरा ।
श्री राजसिंह जननीकृत शम्भूसद्म वापी प्रशस्ति रचना त्वममातनोति ॥ १

विष्णोर्नाभिसरोरुहा त उदितो वेधाविधायासिल विश्व स्थावरजङ्गमात्मकमसौ तत्रकामायाभूवत् ।
क्षत्र दुष्टनिवहृणाय च सता सरक्षणाय स्वय यतञ्जोवल समुत भगवतो नैसर्गिक जृम्भते ॥ २

तस्यान्ववायाविह सम्प्रसूतौ मन्वन्तर सूर्यनिशाकराभ्याम् ।
वशस्तयोर सुमतो विशेषा—दगुणगिरीयाति इस प्रदिष्टः ॥ ३

यत्रान्वये रघु भागीरथ यौवनाश्च मा धातृ-पार्थिववरा शतशोप्यमूवन् ।
सरयवृतः सकल गौर गुणाभिरामो रामो विभूपमति चरामशेषमेक ॥ ४

तदैन्मवन् राजपदाभिधाना पश्चादभवनदिति प्रसूता ।
तत पर रावसशब्दवाच्या राणा बभूवुस्तदनन्तर ते ॥ ५

राणास्ते सुचरिता मेदपाटदेशे राज्य तद्बुभुजरिहैकलिङ्गदत्तम् ।
तेषां को विहितपराक्रमानशेषान् दानादीन्वदि भुवि वर्णितु समर्थ ॥ ६

तत्र पूर्वममर्वाद्युद्धवी कीर्तिमानुदयसिंह भूपति ।
येन भूमिवलयकभूषणम् भूभृतोदयपुर विनिर्मित ॥ ७

सोय पुरी शक्रपुरीव नार्य समानरूपा सुरसुन्दरीभि ।
मुदा विमानावलि तुल्यरूपा नरामुरा भाति नृप सुरेश ॥ ८

सुरनरपुर गव सर्व तायाम् प्रभवति यत्सुरराजमेविताम्रि ।
निवसति भगवानिहैकलिङ्गो जनपद भूपति लोक रक्षणाय ॥ ९

प्रतापसिंहोस्य सुतोऽथ जज्ञे वीरा महीमण्डलमण्डन म ।
यस्य प्रतापानल दीप्तिवल्या अस्त्रै स्वदेहान् रिपव विपुपु ॥ १

अप्येकवीरो यवनानशेषान् जिग्ये जयानारिवलं समग्रम् ।
विदारयन् वैरिगज वज यो मुक्ताफलस्यभि यशोवितेन ॥ ११

तस्माभूवमरसिंहनरेश्वरोसौ वीरो वशी सकलशस्त्रभृता वरिष्ठ ।
क्षोणीभुजा विशदकीर्तियुता सर्वत्र रेमे रम बहुरिणा भुवि राज्यलक्ष्मी ॥ १२

कर्णसिंह इति तस्य भूपते—रात्मज सममवनाधिप ।
भगराज इव योऽमरोधिमा विस्मितार्थभविल व्यपूरयत् ॥ १३

ततो जगत्सिंह धराधिपोऽभवद् भाग्याधिपोऽस्त्रै जगतीतलेऽस्मिन् ।
राजायणादवतराव विष्णो[१] प्रासादमभ्रामिह तान् ॥ १४

समज य पोडशदानपद्धती मान्यातुलीर्वेग्जनिभूतकरीन्न ।
तस्थौ स्वय नर्मदा नीर पूज प्रनव महेशम् ॥ १५

---

१ जगन्नाथ जगदीश मन्दिर का निर्माता जगत्सिंह प्रथम ही था
१४ १५ श्लोक अशुद्धिपूर्ण है
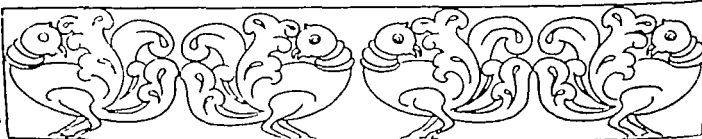
(श्लोक १८-१६) और उसके पुत्र सग्रामसिंह द्वितीय की ख्याति तो धर्मावतार के रूप मे ही थी—उसने सोने के तीन तुलादान सम्पन्न किए थे (श्लोक २२, ओझा, उपर्युक्त, पृ० ६२१) और औरगजेब के समय खण्डिताश जगदीश-मदिर का जीर्णोद्धार कराया (श्लोक २३) यहाँ सग्रामसिंह द्वितीय की पर्याप्त प्रशसा की गई है (श्लोक २० से २३) उसका पुत्र वीर जगत्सिंह द्वितीय (श्लोक २४-२७) था जिसने जगन्निवास नामक राजमहल का निर्माण कराया था (श्लोक २७, ओझा—पृ० ६३९) जिसकी प्रतिष्ठा सवत् १८०२ मे हुई थी उसका पुत्र प्रतापसिंह द्वितीय था (श्लोक २८-३१) जो अति प्रतापशाली था यह केवल अतिशयोक्ति नही है उसका एक मात्र पुत्र था राजसिंह द्वितीय (श्लोक ३२) जिसकी माता की यह प्रस्तुत प्रशस्ति है

श्लोक ३२ के उपरान्त राजराजेश्वर मदिर को बनाने वाली राजमाता बखतकुँवरी (झाला कर्ण की पुत्री व प्रतापसिंह द्वितीय की राणी) के पिता के वश का परिचय निम्नाकित है —पश्चिम समुद्र तट पर (काठियावाड मे) झालावाड देश मे रणछोडपुरी नाम की नगरी है (श्लोक ३३-३४), वहाँ का राजा झाला मानसिंह हुआ (श्लोक ३५) जिसके पीछे क्रमश चन्द्रसिंह, अभयराज, विजयराज, सहसमल्ल, गोपालसिंह और कर्ण हुए (श्लोक ३५ से ४२) कर्ण की पुत्री बखतकुँवरी थी (श्लोक ४३) जो मेवाड नरेश महाराणा प्रतापसिंह की पत्नी थी (श्लोक ४४) उसके पुत्र का नाम था राजसिंह द्वितीय (४५ तथा आगे)

माननीय ओझा जी (उपर्युक्त, पृ० ६६३) के अनुसार 'ऊपर लिखे राजाओ मे मानसिंह तो ध्रागधरा का स्वामी था उसके दूसरे पुत्र चन्द्रसिंह के चौथे पुत्र अभयसिंह (अक्षयराज) को बख्तर की जागीर मिली थी उसके पुत्र विजयराज ने रणछोड जी के भक्त होने के कारण अपनी राजधानी लख्तर का नाम रणछोडपुरी रक्खा—कालीदास देवशकर पडया, गुजरात, राजस्थान, पृ० ४७१-७२'

महाराणा राजसिंह द्वितीय ने राज्याभिषेक के समय स्वर्णतुलादान किया था (श्लोक ४७) वह उदारचित्त नरेश था वह प्रतापसिंह का पुत्र यशस्वी था (श्लोक ५१) और उसकी (राजसिंह की) पटरानी थी गुलाबकुमारी (श्लोक ५२), राजसिंह की छोटी रानी[1] थी फतेहकुमारी (श्लोक ५३) गुलाब कुमारी का रतलाम से सम्बन्ध था (श्लोक ५५) राजसिंह की माता तो हरि-भजन मे व्यस्त रहती थी (श्लोक ५६), वह झाला वश की पुत्री बखतकुँवरी थी (श्लोक ५७), राजमाता ने राजसिंह के पुण्यहेतु नगर के प्रवेश द्वार (अर्थात् देवारी द्वार के समक्ष) राजराजेश्वर का मदिर-वापी आदि का निर्माण कराया था (श्लोक ५९-६०) राजराजेश्वर शकर की पूजाहेतु ही वापी को बनवाया था (श्लोक ६१)

६२ वें श्लोक मे सवत्-मास-दिन-तिथि आदि अको व अक्षरो दोनो मे अकित हैं, यथा—विक्रम सवत् १८१९ शक सवत् १६८५ माधव (वैशाख) मास की शुक्ल (अमलतर) पक्ष की ८ वी तिथि पुष्यनक्षत्र मिथुन लग्न दिन वृहस्पतिवार आदि इस तिथि को मंदिर की प्रतिष्ठा विधिवत् सम्पन्न हुई थी उस समय प्रतिष्ठा का श्रेय द्विजवर 'नन्दराम' को प्राप्त था 'राजसिंहराज्याभिषेक[2]—काव्य' मे भी इस व्यक्ति का नाम अकित है प्रतिष्ठा के समय राजमाता ने ब्राह्मणो को गौ, सोना, हाथी, घोडे, रथ, जेवर, आदि बहुत सी चीजें दान मे दी थी (श्लोक ६५) आगे ६६-६७ श्लोको मे भी उसके दान का उल्लेख है ऐसा करने से तथा वापी-शिवालय निर्माण व विधिवत् प्रतिष्ठा द्वारा राजमाता ने चिरस्थायी पुण्य प्राप्त किया (श्लोक ६८, अन्तिम पक्ति)

स्वर्गीय श्री व्यास के सौजन्य से प्राप्त इस प्रशस्ति का निम्न स्वरूप तथैव प्रस्तुत किया जा सकता है यद्यपि इसमे कही-२ अशुद्धियाँ रह गई हैं

---

१ द्रष्टव्य ओझा, उपर्युक्त, पृ० ६४७ राजसिंहराज्याभिषेक काव्य में भी राजसिंह द्वितीय द्वारा सम्पन्न स्वर्णतुला का उल्लेख है. ओझा-उपर्युक्त, पृ० ६४४, पादटिप्पण

२ ओझा, उपर्युक्त, पृ० ६४५

तस्यात्मज सकलगौरगुणैरुदारः श्रीरामसिंह नृपति सवितेव जातः ।
यस्मिन्नुदारचरिते नृपतौ प्रजानां हृन्नेत्रपङ्कजकमलानि विकासमापु ॥ ३२

अस्ति पश्चिम तोयराशि तटभूदेशेषु देश' शिवो[1] म्लासावाड इति प्रथमभिगत सर्वार्थसम्पत्प्रद' ।
चातुर्वर्ण्यमयी प्रजानवरत धर्मं परस्त्रीमुदा देवापते विधिपूर्वके निवसत यस्मिन् सदाभिमया ॥ ३३

रत्नप्रोड पुरीति नामधेया विषये तत्र विभाति शोभना ।
सुरराजपुरी नरनारीभिरलं सुसेविता ॥ ३४

सक्रो य प्रतिपक्षपक्षदसने प्रौढ प्रतापानस' ज्योति—र्व्याप्तदिगन्तरा समभवत् तत्राथ पृथ्वीपति ।
भूरः सत्पुरुषः प्रियोद्युमकृताश—शरण्यसुधी कन्दर्पोपम दर्शनो—प्रगदतां श्रीमान्सिहाभिधः ॥ ३५

शूर सुरूप सुभगोऽभिमानी नेता नराणामरिवर्गजेता ।
बभूव तस्याथ सुतो विनीतो राजा रसज्ञो भुवि रायसिंह ॥ ३६

श्री विक्रमै पीडितशत्रुमर्मा सुरक्षित क्षत्रियधर्मवर्मा ।
सुपूर्णराकेश्वर तुल्यधामा तस्यात्मजोभूदथ चन्द्रसिंह ॥ ३७

सकलशास्त्रविचारविशारद सकलशास्त्रयुतामपि पूजित ।
सकलदानकरोऽस्य सुतोबना—बमयराज इति—भिता भवत् ॥ ३८

अमरराज सम इति उज्ज्वल ह्रिरवराज करामबृहद्भुज ।
मनुजराज समाजसमाश्रितो विजयराज नृपोऽस्य सुतोऽभवत् ॥ ३९

राजा सहस्रांश समानकीर्ति' सहस्र बाहुरिव तुल्यतेज ।
सहस्रमस्याधिक वीर्यसार' सहस्रमस्त्रोस्य सुतो बभूव ॥ ४

राजा प्रजापालन सत्त्ववर्ण्या भूप' स कासो नर लोकपाल ।
कन्या स्फुरद भव्य विक्रमन-सो गोपालसिंहोऽस्य सुतो बभूव ॥ ४१

आसीत् तनयो नृप' क्षितिभुजा मान्य मनस्वीरर्ज कर्म कर्म गत सतां मुलकरा य' कर्म एवापर ।
भूविख्यात यशाबरोव सुमती करमंमर्त सोपम कान्त कामदेव प्रतापवहन श्यामावलीर्वाद्धवतम् ॥ ४२

नृप विनय विवेक ज्ञान भक्ति प्रवीण प्रवहदमृतधारा निर्मलाशप्रचारा ।
प्रथम पुरुष पुण्यै पार्वतीवाद्रिभर्तु बसतकवरी भामनी कन्यकास्या विराशीत् ॥ ४३

तां भीष्मकस्येव सुता कुमारी कृष्णोऽमरै सेवितपादपीठम ।
भूभूमिपालार्चितपादपीठ प्रतापसिंहा विधिनोपेते ॥ ४४

तस्मादजायत् राजसिंहो नरेश सम्यक वेष पूजित श्रीमहेश' ।
विश्वव्याप्तकीर्तिर्यामिदूरीकृतार्थी विद्यास्फूर्ति र्मन्मथस्येव मूर्ति ॥ ४५

गुणीवररत्नसागर मजाद्यर्यां गुणाकर प्रतापपङ्कजभास्करो वसुन्धरा धुरंधर ।
विलासिनी मनस्मर' स्मरारि पूजनैरपर' यथा सराजसिंहजित् सुरेश्वरो नरेश्वरो ॥ ४६

पदाभिषेकोत्सवे एव तेन हेम्मन्तुलादानमुदार बुद्धि ।
यम्मु—र्द्वर्शयत्र नजामुपैति न कस्यचित् भूमिभुजोपि बुद्धि ॥ ४७

---

१ ३१ में श्लोक से राजसिंह डिण्डि की माता के पद का श्लोक महत्त्वपूर्ण है अर्थात् प्रशस्ति के पूर्वार्ध में मेवाड़ नरेशों का तथा उत्तरार्ध में भाभाभंशजों उनके वंश की पुत्री बल्लकुमारी (राजसिंह की माता) आदि का

राजराजास्य सुतो रसाया वीरो विडौजा इव राजसिंह ।
ताटकतुल्यो धरणीगृहिण्या सर समुद्रोपम भाव वन्ध[1] ।। १६

जयसिंह भरेश्वरस्ततोऽभून्नयनदकर शशीव लोके ।
स्वपितेव समुद्र तुल्य रूप प्रवर सोऽपि सरोवर ववन्ध ।। १७

तस्मादभूदमरसिंह नराधिराजो मूर्धन्यरापपदशेपधराधिपानाम् ।
दूरीचकार विदुषा द्रविणौघदाने भाग्येपु दुर्गतिलिपि विधिनापि सृष्टम् ।। १८

अमरपति समानरूपशीलो मरललना परिगीति शुद्धकीर्ति
अमरनरपतिश्चकार सौधा नमर विलाससमाख्यान् प्रसिद्धान् ।। १९

तदगजन्मा भुवनैकवीरो भूमडल भूपयति स्म राणा ।
सग्रामसिंह श्रुतशास्त्रधर्मा, धर्मावतार प्रथित पृथिव्याम् ।। २०

अशेषशस्त्रास्त्रविधौ समर्थो धनुर्धरो धैर्यधरोप्यरिण्याम् ।
विलाङ्घितानैव कदापि भूपै सकृस्त्र दत्तापि चिर पदाज्ञा ।। २१

हेम्नस्तुलाना ततयस्य कर्ता सग्रामसिंहो वसुधैकभर्ता ।
वभूव सर्वातिहर प्रजाना, त्रिनेत्रसेवारसिकोऽन्वह य ।। २२

निरन्तर त्र्यम्वकपादपद्म, पूजा फला वास समस्तकाम ।
देवालयस्योद्धरणाग्र वुद्धि, चक्रे जगन्नसुरे[2]श्वरस्य ।। २३

ततो जगत्कीर्तितसच्चरित्रो, वीरो जगतसिंह नरेश्वरो भूता ।
यश नया धाम महानुभावो, महीपतीना प्रवरो मनस्वी ।। २४

यश्चन्द्र स्मरऽभीकनिष्ठस्तत्पूजया प्राप्तसमस्तकाम ।
वुभोज भूमि विविधौ विलासै, वोढी नवोढामिव राज्यमानम् ।। २५

वलैरसख्यैर्भुवनानि अकम्पयत् सस्नौ स्वय पुष्करतीर्थराजे ।
दानान्यनेकानि च सुवृत्तानि, चकार भूप परमप्रभाव ।। २६

अन्तस्तडाग जगदीश राणो, जगन्निवास प्रतिमप्रभाव ।
जगन्निवासास्पद तुल्यरूप, जगन्निवासभुवन ससर्ज ।। २७

तस्माद् वभूव—वीर्य प्रतापसिंह, पृथिवीपतिर्य ।
पौरानशेपान् द्रविणौघहारीन् कारागार सजग्नहे समर्थ ।। २८

यस्मिन् मही शासति मेदिनीशे, चोराय गेया श्रुतिरेवमासीत् ।
सिंहात् कुरग इव यद् भयार्त्ता, भजुर्दिगन्तान् भुवि तस्कराद्या ।। २९

नासेहिरे यस्य पर प्रताप, प्रतापसिंहस्य सपत्नादया ।
गतीष्म—ध्येऽह्नि यस्योष्ण रश्मि स तापयामास बलादरातीन् ।। ३०

येनाराति-बधूविलोचनजलै स्सिञ्चिता मेदिनी, यन्नामन्नि स्मृत इव नीरिपुगणानिन्द्रात् भेर्जुनिशि ।
यस्योद्दाम मही ध्रुवुर्क शभुजस्तम्भैर्वराधारिता वीरोऽसौ नृपतिर्वभूव वसुधा चक्रे प्रतापाभिध ।। ३१

---

१ अर्थात् 'राजसमुद्र' का वन्धा जयसिंह प्रथम ने कालान्तर में 'जयसमुद्र' का निर्माण कराया था

२ अर्थात् 'जगन्नाथ-जगदीश'

पुष्यनक्षत्रे मिथुनाख्यसम्नसमये पूर्वेध यामेऽकरोत ।
रम्या शंकर मन्दिरस्य जननी राज्ञ प्रतिष्ठा विधिम् ॥ ६२

कृत मण्डपवितान तोरणै दीपिते द्विजवरास्तु मण्डपे ।
वेदपाठमथ होममाशु ते मन्त्रपूत हविषा समामृजत् ॥ ६३

तत्रान्वितो द्विजवरो नृपते पुरोधा श्री मन्त्रगम विदसौ विधिवच्चकार ।
वापी प्रतिष्ठमय शिवालय सम्प्रतिष्ठाम् श्री राजसिहनृपते र्बहुपुण्यहेतो ॥ ६४

गोभूहिरण्य गजवाजिरथांशुकानि रौप्या सुवर्णमणिमण्डितभूषणानि ।
तस्मिन् महोत्सवविधौ प्रददौ वयाणु श्री राजसिंह नृपते र्जननी द्विजेभ्य ॥ ६५

यज्ञोपवीतानि ददौ द्विजाति—बालेभ्य एवा सुतरां दयाशु ।
श्री राजसिंहस्य नृपस्य माता कन्या विवाहान् शतशश्चकार ॥६६

नित्यदापि खलु पर्व पर्वसु राजसिंह जननी मुहुर्मुहु ।
धेनुधान्य मणिकाञ्चनाग्रयो विप्रमोजनमनेकशोऽप्यदात् ॥ ६७

इत्थं तत्र चतुर्मुखं धगिरिजं सस्थाप्य नाम्ना शिवम्
प्रासादे हिमशैलशृंगसदृशे श्रीराजराजेश्वरम् ।
वापी पुण्यजला विधाय विधिवत् कृत्वा प्रतिष्ठा विधि
लेभे पुण्यमनतक जननी श्री राजसिंहप्रभो ॥ ६८

उपर्युक्त बृहत्प्रशस्ति में कतिपय त्रुटियाँ करके इसके विशद विवेचन की परम आवश्यकता है आशा है तत्कालीन इतिहास के विद्वान् इस कार्य को पूरा कर शीघ्र ही अधिक प्रकाश सामने का कष्ट करेंगे प्रस्तुत निबन्ध में तो उक्त प्रशस्ति का साराश ही प्रस्तुत किया गया है प्रस्तुत प्रशस्ति म तत्कालीन मेवाडनरेश अरिसिंह द्वितीय के नाम की अविद्यमानता खटकती ही है

शाश्वत सुधाशुरिव नेत्रयुगाभिराम कामो य मौक्तिकेसु सर्वजन पार्थव्याम् ।
आश्चर्यं मग्रहृदय स्वयमत्र चित्र विन्यस्त मूर्तिरिव यस्य ददर्श मूर्तिम् ।। ४८

शौर्यौदार्य-विवेक-धैर्य-गुरुता गाम्भीर्य विधादिभि । प्रौढैर्भूरिगुणोलकृत तन्स्ताराधिराजच्छवि ।
स्वच्छान्त करण स्वधर्मनिरत सत्यप्रतिज्ञोसता । शास्ता सत्पुरुष प्रियोवति पति श्रीराजसिंहोऽभवत् । ४९

गायन्ति यस्य चरितानि मनोहराणि नार्यो नराश्च मुदित क्षितिमण्डलोऽस्मिन् ।
स्मृत्वा सुचार्य मनसो अश्रुपरीत नेत्रा रोमाञ्च चिह्नित समग्र शरीरभागा ।। ५०

एव गुणो भूपित यो वभूव प्रतापसिहात्मज राजसिंह ।
दिवि क्षितौ दिक्षु रसातलोपि गायन्ति गौराणि यशासि यस्य ।। ५१

मधुमथनमिवे न्दिरानुरूप तमनुससार नरेश राजसिहम् ।
प्रणय परवशा स्वपट्टराज्ञी सपदि गुलावकुमारिका रसज्ञा ।। ५२

पतिव्रता प्राणसमापि यस्य प्रियवदा शंतिपरारसज्ञा ।
चन्द्रप्रभेवाऽनुससाह तन्वी फतेहकुमारी[1] नृप राजसिहम् ।। ५३

अजनृपतिमिवेन्दुमत्य वाप्राव्यतिलक भुवि राजसिंहदेवम् ।
परिणयन् विधौ स्ववश जाता सपदि गुलाव कुमारिकापरापि ।। ५४

रतलामपुरी[2] वपूर्नवोढा रतिरागेण च रुक्मणी कृष्णम् ।
समवा घर राजराजसिंह दमयन्तीव नल नराधिराजम् ।। ५५

श्री हरेश्चरण पकजार्चन, ध्यान कीर्तन विधूत कल्मषा ।
सत्कथा श्रवण केलमानसा, राजसिंह जननी विराजने ।। ५६

ईज हरि गुरु पूजा सक्त चित्ता नितान्त गुणगण परिपूर्ण पुण्यशीला या श्री ।
जगति विदित झाला शुद्ध वश प्रसूता, बखतकुवरि नाम्नी राजसिंहस्य माता ।। ५७

हिमशिखर नितम्व प्रस्रवज्जह्नुकन्या जलविमलविशुद्धाचार-पुण्यैरुदारा ।
सकलभुवन विश्व व्याप्त सत्कीर्तिपूरा बख्त कुवरि नाम्नी राजते राजमाता ।। ५८

सा राजसिंह जननी नगरप्रवेश द्वारे सुशीतमधुरामल पुण्य नीराम् ।
वापी चकार पथिपान्थजनाभिरामा श्री राजसिंहनृपतेर्बहु पुण्यहेतो ।। ५९

प्रासादमप्यत्र जनाभिरामम् शिवस्य विश्रन्ति निमित्त शालम् ।
श्रीराजसिंहस्य नृपस्य माता चक्रे स्वसूनो र्बहुपुण्यहेतो ।। ६०

श्री राजराजेश्वरपूजनार्थम् चकार पुण्यामिह पुष्पवाटीम् ।
यदीय पुण्यैश्च फलै सुपूजितो मनीषित यच्छति पूजकेभ्य ।। ६१

सवन्नन्दधराष्ट भूपरिमिते (१८१९) ब्दे बाणनागर्तुभूत ।
(१६८५) शाके मासे च माघवेऽ[3] मलतरेपक्षेऽष्टमी जीवयो ।[4]

---

१ सम्भवत इसी की ओर ओझा जी ने (उपर्युक्त, भाग २, पृ० ६४७) सकेत किया है-

२ रतलाम, मध्यप्रदेश

३ अर्थात् 'वैशाख' मास

४ जीव बृहस्पतिवार

प्रो० परमानन्द चोयल

राजस्थानी चित्रकला

कला मानव हृदय की मूर्तिमान अभिव्यक्ति है बाह्य जगत् से बिम्बित कला सृष्टि को ही जो महत्व देते है, अन्तर्मुखी कला का रसास्वादन वे नही कर पाते यही कारण है कि यथार्थ चश्मे से देखनेवाले लोग भारतीय कला का आनन्द नही ले सकते जबसे डाक्टर, आनन्द कुमार स्वामी ने भारतीय कला के पक्ष मे लेखनी उठाई, देश-विदेश के कला मर्मज्ञ भारतीय कला को आदर की दृष्टि से देखने लगे हैं अजनता, एलोरा, पाल गुजराती, बाघ, साइगिरिया सित्रनवासल, तुर्किस्तान, बामिया, कश्मीरी, मुगल, राजस्थानी व पहाडी चित्रकला का अध्ययन आज विद्वानो के लिये रुचि का विषय हो गया है

युगयुगीन भारतीय कला परम्परा मे (इस २००० वर्ष की भारतीय कला मे) राजस्थानी चित्रकला का अपना विशिष्ट स्थान है १७ वी शती के बौद्ध इतिहासकार तारानाथ ने लिखा है कि ७ वी शती मे राजस्थान, कला का मुख्य केन्द्र था जहाँ से भारत मे एक विशेष कला-धारा बही श्रगधर इसका प्रमुख चित्रकार था खेद है कि इस वर्णन के अतिरिक्त उससे पूर्व की राजस्थानी चित्रकला के विषय मे हमे कुछ भी ज्ञात नही है

राजस्थान मे चित्रो के तीन प्रकार दिखाई देते हैं भित्ति-चित्र, इकहरे पृष्ठ पर बने पुस्तक चित्र व वसली पर अकित छिन्न चित्र भित्ति-चित्रण की प्रथा अजन्ता युग से चली आई है, परन्तु अजन्ता की भूमि तैयार करने की विधि एव राजस्थानी विधान मे काफी अन्तर है शुद्ध फ्रेस्को प्रोसेज (भित्ति पर चित्र बनाने की विशेष विधि) राजस्थानी भित्ति-चित्रो मे ही पाया जाता है इस दृष्टिकोण से इटली के डेम्प प्रोसेज (गीली भूमि पर चित्र बनाने की प्रक्रिया) के समीप रक्खा जा सकता है सबसे प्राचीन राजस्थानी भित्ति-चित्र जयपुर के समीप बैराट् नामक स्थान मे पाये गये है राष्ट्रीय ललित कला अकादमी के आग्रह से श्रीकृपालसिह शेखावत ने कुछ वर्ष पूर्व इनकी कॉपी (अनुकृति) कर इस छिपे खजाने को ससार के सम्मुख लाने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया इन चित्रो के विषय वीर रस से ओतप्रोत हैं—इनका वर्ण-विधान समतल व स्थूल रग के इने गिने मदभूत, रेखाए घुमावदार एव गतिपूर्ण है १७ वी शती से १६ वी शती तक के राजस्थानी भित्ति-चित्रो से आज भी सैकडो प्राचीन इमारतें, हवेलियां व महल भरे पडे है कोटा की झाला की हवेली मे बने राग-रग व शिकार के चित्र कल्पना व रचना चातुर्य के अनुपम नमूने है लोक कथाएँ, दरबारी ठाठ बाट, शिकार के दृश्य, एकाकी छवि घोडे पर हुक्कामो के साथ, हुक्के की नली गुडगुडाते जागीरदार, ठाकुर या राजा की ओजपूर्ण आकृति, जनानखानो की रगरेलियां, नायक नायिकाओ की प्रेम भरी लीलाए, बारहमासा व रति रहस्य इत्यादि राजस्थानी भित्ति चित्रो के मुख्य विषय रहे है चूनामिट्टी गिर जाने से ऐसी चित्रित दीवारे अब बढती जा रही है इस तरह राजस्थानी चित्रकला का एक बडा अश शनै शनै लुप्त होता जा रहा है

सबसे पुराने पुस्तक चित्र भोजपत्र व ताल पत्रो पर बने मिलते हैं १२ वी शती मे कागज निर्माण के बाद जैन सचित्र पुस्तको की रचना आरम्भ हुई जिसका मुख्य केन्द्र गुजरात था सास्कृतिक एव राजनैतिक दृष्टि से गुजरात व दक्षिणी

के विशद राजनैतिक वतावारण मे भी मेवाड की चित्रकला उन्नतोन्मुख रही है श्री गोपीकृष्ण कनोडिया (कलकत्ता) के पास १६०५ शती का मेवाड कलम का बना रागमाला सेट है जो शायद चामुण्ड मे चित्रित किया गया था इसकी रेखाओ के कोणो व रगो की चटकदार वर्णिका मे जैन अथवा गुजराती शैली का क्षीण-सा प्रभाव झलकता है १६०५ मे मेवाड शैली मे ग्रामीणता व स्थूलता दिखाई देती है धीरे-धीरे-धीरे इसमे सुथरापन व परिपक्वता आने लगी पर साथ ही मुगल प्रभाव भी दीखने लगा १७वी शती के मध्य तक इस प्रभाव को मेवाड कलम ने आत्ममात कर अपने निजस्व को उभार लिया उस समय स्वामी वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित वैष्णव धर्म की भक्तिधारा समस्त उत्तरी भारत, गुजरात व राजस्थान को प्लावित कर रही थी अत मेवाड मे भी भागवत् पुराण की कई सचित्र प्रतिया बनी, साहबदी की बनाई १६४२ ईसवी की भागवत् पुराण की प्रति इस समय उदयपुर के सरस्वती भडार मे सुरक्षित है, इसकी एक प्रति सरस्वती भडार कोटा मे भी है भागवत् के कई सचित्र पन्ने राष्ट्रीय सग्रहालय, नई दिल्ली मे है १६५१ मे चित्तौड मे बनी रामायण की उक्त प्रति सरस्वती भडार, उदयपुर मे हैं व मनोहर द्वारा चित्रित एक प्रति 'प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूजियम बम्बई' मे है राष्ट्रीय सग्रहालय की जेम पेलेस रागमाला व बीकानेर सग्रहालयकी रसिकप्रिया (१७वी शति का मध्य) के चित्र मेवाड कलम के श्रेष्ठतम नमूने है गीतगोविन्द पर भी चित्र बनाए गये कवर सग्राम सिंह, नवलगढ के पास गीतगोविंद के कई छिन्न चित्र प्राप्य है लगभग १५६०-५१ के बने सूरसागर के कई चित्र भी गोपीकृष्ण कनोडिया के सग्रह मे हैं

मेवाडी चित्रो के रग शुद्ध व अत्यन्त चटकीले है पृष्ठभूमि मे रगो का समतल प्रयोग किया गया है स्त्रिया ठिंगनी पर सुदर व आकर्षक बनाई गई हैं प्रकृतिचित्रण मे अलकारण आ गया है कही-कही बाद के चित्रो मे मुगल प्रभाव के कारण हल्का-सा यथार्थ का पुट भी दिखाई देने लगता है पहाडियो व चट्टानो के आलेखन मे यह प्रभाव साफ पहचाना जा सकता है घुमावदार रेखाओ की आवृत्ति से नदी के बहाव को दर्शाने का प्रयत्न किया है, दृश्या का प्रयोग रूढिमात्र रह गया है विरोधी रगो के बीच घटनामूलक पात्रो को इस तरह की रग-बिरगी वेषभूषा मे चित्रित किया गया है कि आँखें अतिरिक्त उभार को देखकर टिकी-सी रह जाती है पशु-पक्षी का चित्रण अक्सर जैन अथवा गुजराती शैली-सा हुआ है—घोडो व हाथी के चित्रण मे मुगल शैली की यथार्थता के दर्शन होते है रात का चित्रण स्याह पृष्ठभूमि पर चाद तारे बनाकर किया गया है पुरुष वेषभूषा मे घेरदार जामे पटका (कमरबद) जहागीर अथवा शाहजहानुमा पगडिया व स्त्रियो मे लहगा, चोली, झीनी ओडनी इत्यादि बनाए गए हैं

मेवाड कलम के विषय नायक नायिका भेद, रागमाला, भागवत, पुराण व रामायण इत्यादि रहे है राधाकृष्ण को लेकर शृगारिक चित्रो की रचना की गई पर उनके आवरण मे तत्कालीन समाज का सच्चा अक्स प्रतिबिम्बित हो पाया है

१७वी शती का अत होते-होते मेवाड शैली का यह उज्ज्वल काल समाप्त हो गया चित्रो की बाढ आ गई, परन्तु शैली मे ढीलापन बढने लगा इस शैली का प्रचार इतना फैला कि छोटे-छोटे ठिकानेदार भी चित्रो के रसिक होगए व्यक्तिचित्र दरबार शिकार व सवारियो के दृश्य जनानखाने व रगरेलियो के दृश्य अब मेवाड कलम के विषय होने लगे भक्त रत्नावली, पृथ्वीराज रासो, दुर्गामाहात्म्य व पचतत्र इत्यादि पर इस काल मे सैकडो चित्र बने जिनमे कलात्मकता शनै शनै लुप्त होने लगी

मेवाड के बाद कला-क्षेत्र मे बू दी का स्थान आता है । भारत कला भवन की दीपक राग व म्यूनिसिपल म्यूजियम, इलाहाबाद की भैरव रागिनी इस कलम की सबसे प्राचीन प्राप्त रचनाएँ हैं इनमे मेवाड की-सी ग्रामीणता व अल्हडपन के साथ-साथ मुगली सुथरापन व कमनीयता भी दिखाई देती है इनके रग प्रभावोत्पादक तेज व चमकीले हैं पेड पौधो व पशु-पक्षी के चित्रण मे इतना सीधा व सच्चा निरीक्षण इन्हीं चित्रो मे पहले-पहल मिलता है चौडी आँखें, मोटी गढेदार ठुड्डी, पतली नुकीली नाक, भारी चेहरा इत्यादि १७वी शती के मेवाडचित्रो की याद दिला जाते हैं शैली-विलक्षणता देखकर मालूम होता है कि भैरवी रागिनी का चित्रण-काल १६२५ ईसवी के लगभग रहा होगा मेवाड

श्री परमानन्द जैन शास्त्री

मध्यभारत का जैन पुरातत्त्व

श्रमण संस्कृति का प्रतीक जैनधर्म प्रागैतिहासिक काल से चला आरहा है वह बौद्ध धर्म से अत्यन्त प्राचीन और स्वतन्त्र धर्म है वेदों और भागवत आदि हिन्दू धर्म-ग्रन्थों में उपलब्ध जैन धर्म सम्बन्धी विवरणों के सम्यक परिशीलन से विद्वानो ने उक्त कथन का समर्थन किया है प्राचीन काल में भारत में दो संस्कृतियों के अस्तित्व का पता चलता है श्रमणसंस्कृति और वैदिक संस्कृति मोहनजोदारो मे समुपलब्ध ध्यानस्थ योगियों की मूर्तियो की प्राप्ति से जैनधर्म की प्राचीनता निर्विवाद सिद्ध होती है वैदिक युग मे व्रात्यों और श्रमणों की परम्परा का प्रतिनिधित्व जैनधर्म मे ही किया था इस युग में जैन धर्म के आदिप्रवर्तक आदि ब्रह्मा आदिनाथ थे जो नाभिपुत्र के नाम से प्रसिद्ध है जिनकी स्तुति वेदो में की गई है इन्ही आदिनाथ के पुत्र भरत चक्रवर्ती थे जिनके नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष पडा है जैनधर्म के दर्शन साहित्य कला संस्कृति और पुरातत्व आदि का भारतीय इतिहास मे महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है

इतिहास में पुरातत्व का कितना महत्त्व है यह पुरातत्त्वज्ञ भलीभाति जानते है भारतीय इतिहास मे मध्य प्रदेश का जैन पुरातत्त्व भी कम महत्त्व का नही है वहाँ पर अवस्थित जैन स्थापत्य कलात्मक अलंकरण मन्दिर मूर्तियाँ शिलालेख ताम्रपत्र और प्रशस्तियां आदि मे जैनियों की महत्त्वपूर्ण सामग्री का अंकन मिलता है यद्यपि भारत में हिन्दुओ बौद्धो और जैनों के पुरातत्त्व की प्रचुरता दृष्टिगोचर होती है और ये सभी अलंकरण अपनी-अपनी धार्मिकता के लिये प्रसिद्ध हैं परन्तु उन सब मे कुछ ऐसे कलात्मक अलंकरण भी उपलब्ध होते है जो अपने-अपने धर्म की खास मौलिकता को लिये हुए है जैनो और बौद्धो मे स्तूप और आयागपट भी मिलते है अनेक जैन स्तूप भ्रान्ति से बौद्ध बतला दिये गये है आयागपट भी अपनी खास विशेषता को लिये हुए मिलते है जैसे कंकालीटीला मथुरा से मिले हैं ये सभी अलंकरण भारतीय पुरातत्त्व की अमूल्य देन हैं

मध्यप्रदेश के पुरातत्त्व पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि वहाँ अधिक प्राचीन स्थापत्य तो नही मिलते परन्तु कलचुरी और चन्देलकालीन सौन्दर्याभिव्यंजक अलंकरण प्रचुर मात्रा में मिलते है उससे पूर्व की सामग्री विरल रूप में पाई जाती है उस काल की सामग्री प्राय विनष्ट हो चुकी है और कुछ भूमिसात् हो गई है बौद्धों के सांची स्तूप और तद्गत सामग्री पुरानी है विदिशा की उदयगिरि गुफा में जैनियो के तेवीसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की प्रतिमा संलग्न अवस्थित थी परन्तु वहा अब केवल फण ही अवशिष्ट है मूर्ति का कोई पता नही चलता कि कहा गई परन्तु प्राचीन सामग्री के संकेत अवश्य मिलते है जिनसे जाना जाता है कि वहा मौर्य और गुप्त काल के अवशेष मिलने चाहिए कितनी ही पुरातन सामग्री भूगर्भ मे दबी पडी है और कुछ खण्डहरो मे परिणत हुई सिसकियां ले रही है किन्तु हमारा ध्यान अभी तक उसके समुद्धरण की ओर नही गया

जबलपुर के हनुमानताल के दिगम्बर जैन मन्दिर में स्थित एक कलात्मक मूर्ति शिल्प की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर और मूल्यवान है ऐसी मूर्तियाँ महाकौशल मे बहुत ही कम उपलब्ध होंगी उसमे कला की सूक्ष्म भावना उदात्त एवं

शेपमल का सुदर चित्र इसी कलाकार की रचना है

सावतसिंह [कवि नागरीदास] ने काव्यरचना १७२३ शती मे ही आरम्भ कर दी थी उसकी राधासौंदर्य की पराकाष्ठा थी उसका रूप अलौकिक था फिर भी अत्यन्त लौकिक किशनगढ कलम के चितेरो के लिये यह रूप आदर्श वन गया और इसी समय से यहा की कला मे एक क्रान्ति-सी उत्पन्न हो गई १७३५ से १७५७ शती तक किशनगढ कला का स्वर्णयुग था जब कि निहालचन्द व उससे प्रभावित कलाकार कवि नागरीदास के काव्य को साकार कर रहे थे राज-सिंह की कलाभिरुचि अन्य राजाओ जैसी ही थी—शबीह लगवाना, दरवार सवारी अथवा शिकार के दृश्य वनवाना इत्यादि इसमे भी सन्देह नही कि राधाकृष्ण की लीलाओ के चित्र राजस्थान मे उस समय तक वनने लगे थे, किन्तु जो भावात्मकता, कल्पना की सूक्ष्मता, लाक्षणिकता, मादकता, मनोवैज्ञानिक निरीक्षण, दृष्टि का पैनापन, व मानवरूप की पराकाष्ठा सावतसिंह के समय मे आई उसने सारे राजस्थान की कला मे ही जागृति की लहर दौडा दी उससे १८वी शती मे वह चित्र वने जो विश्व कला की निधि वन गए कवि नागरीदास की राधा, निहालचन्द द्वारा चित्रित वणी-ठणी ससार प्रसिद्ध [चित्रकार लिनार्डो डीविची] मोना लिसो के समक्ष आदरपूर्वक रखी जा सकती है

१७वी शती में चित्रकला के कई केन्द्र हो गये मेवाड, वूदी अजमेर बीकानेर इत्यादि अनेक स्थानो में श्रेष्ठ चित्र वनने लगे आमेर व जोधपुर मे भी इस समय चित्रो का इतिहास मिलता है परन्तु वह वहुत ही उथला है यहा के चित्र काफी आरम्भिक इस समय दीख पडते हैं १७वी शती के अन्त मे वीकानेर मे मुगल शैली से अत्यन्त प्रभावित एक स्थानीय शैली पनपती रही इस पर दक्षिणी शैली का भी प्रभाव पडा यहा की लम्बी आकृतियो व विशेष प्रकार के पेड पौधो व फूल पत्ती इत्यादि के चित्रण से यह वात स्पष्ट हो जाती है

१८वी शती मे चित्रो की वाढ-सी आ गई. एक-एक राज्य यहा तक कि छोटे से छोटे ठिकाने मे भी चित्र शालाएँ खुलने देगी. हजारो की सख्या मे चित्र वनने लगे जयपुर, जोधपुर, उदयपुर, बीकानेर इत्यादि इसके मुख्य केन्द्र बन गए जयपुर के रासमडल के चित्र जो पोथीखाने मे सग्रहित हैं, अत्यन्त गतिपूर्ण हैं उष्ण रगो व ओज की अव चित्रो मे कमी दीखने लगी ढेरो चित्र वने जिनमे से अच्छे चित्र उगलियो पर गिने जा सकते हैं १९वी शती मे चित्रो की वाढें उन्माद सी वढ गई १८५० शती के वाद के चित्रो मे कलात्मकता के स्थान पर केवल कारीगरी दिखाई देने लगी व धीरे-धीरे इसमे भी शिथिलता आने लगी उनकी कीमत अव वाजार के मोल तोल सी ही रह गई

१९वी शती के उत्तरार्ध व २०वी शती के आरम्भ मे प्राचीन चित्रो की अनुकृति करने वाले घटिया किस्म के यूरोपीय चित्रो व फोटोग्राफी से प्रेरित चितेरे यत्र तत्र वाजारो मे वैठे दिखाई देने लगे तभी वगाल मे श्री अवनीन्द्रनाथ टैगोर ने कला का पुनर्निर्माण कर समस्त भारत मे जागृति की एक नई लहर दौडा दी राजस्थान ने भी उसमे अपना योग-दान दिया श्री शैलेन्द्रनाथ डे की प्रेरणा से श्री रामगोपाल विजयवर्गीय ने राजस्थान की मृतप्राय कला मे फिर से चेतना पैदा की इस समय राजस्थान मे चित्रकला के तीन रूप प्रचलित है एक वह जिसके प्रवर्तक परम्परागत कला के पुन-र्निर्माण मे सलग्न हैं रामगोपाल विजयवर्गीय, गोवर्धन जोशी, रामनिवास वर्मा, देवकीनन्दन शर्मा आदि इस शैली के उल्लेखनीय कलाकार हैं दूसरे यथार्थ शैली मे परीक्षण करने वाले कलाकार है श्रीभूरसिंह शेखावत व श्री भवानीचरण गुई इस श्रेणी के स्मरणीय कलाकार हैं कला का तीसरा रूप वह है जिसमे आधुनिक कला की विभिन्न प्रवृत्तियो पर प्रयोगात्मक चित्र बनाने वाले कलाकार आते है इन पक्तियो का लेखक, श्री आर वी सखालकार, रणजीत सिंह व ज्योतिर्मान स्वरूप इत्यादि इसके गिने माने कलाकार है

पुनर्जागरण का अभी राजस्थान मे शैशवकाल ही है १८वी व १९वी शती की राजस्थानी कला ने विश्वकला में जो स्थान पाया उस पर आसीन होने के लिये राजस्थान को अभी कल की प्रतीक्षा है
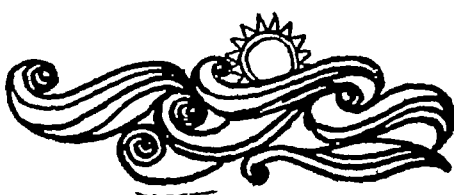
श्रीपरमानन्द जैन शास्त्री

मध्यभारत का जैन पुरातत्त्व

श्रमण संस्कृति का प्रतीक जैनधर्म प्रागैतिहासिक काल से चला आरहा है वह बौद्ध धर्म से अत्यन्त प्राचीन और स्वतन्त्र धर्म है वेदों और भागवत आदि हिन्दू धर्म-ग्रन्थों में उपलब्ध जैन धर्म सम्बन्धी विवरणों के सम्यक परिशीलन से विद्वानो ने उक्त कथन का समर्थन किया है प्राचीन काल मे भारत मे दो संस्कृतियों के अस्तित्व का पता चलता है श्रमणसंस्कृति और वैदिक संस्कृति मोहनजोदारो मे समुपलब्ध ध्यानस्थ योगियों की मूर्तियों की प्राप्ति से जैनधर्म की प्राचीनता निर्विवाद सिद्ध होती है वैदिक युग मे व्रात्यो और श्रमणों की परम्परा का प्रतिनिधित्व जैनधर्म ने ही किया था इस युग में जैन धर्म के आदिप्रवर्तक आदि ब्रह्मा आदिनाथ थे जो नाभिपुत्र के नाम से प्रसिद्ध है जिनकी स्तुति वेदो में की गई है इन्ही आदिनाथ के पुत्र भरत चक्रवर्ती थे जिनके नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा है जैनधर्म के दर्शन साहित्य कला संस्कृति और पुरातत्त्व आदि का भारतीय इतिहास मे महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है

इतिहास में पुरातत्त्व का कितना महत्त्व है यह पुरातत्त्वज्ञ भलीभांति जानते है भारतीय इतिहास में मध्य प्रदेश का जैन पुरातत्त्व भी कम महत्त्व का नहीं है वहाँ पर अवस्थित जैन स्थापत्य कलात्मक अलंकरण मन्दिर मूर्तियाँ शिलालेख ताम्रपत्र और प्रशस्तियों आदि मे जैनियो की महत्त्वपूर्ण सामग्री का अंकन मिलता है यद्यपि भारत में हिन्दुओं बौद्धो और जैनो के पुरातत्त्व की प्रचुरता दृष्टिगोचर होती है और ये सभी अलंकरण अपनी-अपनी धार्मिकता के लिये प्रसिद्ध हैं परन्तु उन सब मे कुछ ऐसे कलात्मक अलंकरण भी उपलब्ध होते है जो अपने-अपने धर्म की खास मौलिकता को लिये हुए है जैनों और बौद्धों मे स्तूप और आयागपट भी मिलते है अनेक जैन स्तूप गल्ती से बौद्ध बतला दिये गये है आयागपट भी अपनी खास विशेषता को लिये हुए मिलते है जैसे कंकालीटीला मथुरा से मिले है ये सभी अलंकरण भारतीय पुरातत्त्व की अमूल्य देन है

मध्यप्रदेश के पुरातत्त्व पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि वहाँ अधिक प्राचीन स्थापत्य तो नही मिलते परन्तु कलचुरी और चन्देलकालीन सौन्दर्याभिव्यञ्जक अलंकरण प्रचुर मात्रा में मिलते है उससे पूर्व की सामग्री विरल रूप में पाई जाती है उस काल की सामग्री प्राय विनष्ट हो चुकी है और कुछ भूमिसात् हो गई है बौद्धो के सांची स्तूप और तद्गत सामग्री पुरानी है विदिशा की उदयगिरि गुफा में जैनियो के तेवीसवे तीर्थंकर पार्श्वनाथ की प्रतिमा तत्र अवस्थित थी परन्तु वहा अब केवल फण ही अवशिष्ट है मूर्ति का कोई पता नही चलता कि कहा गई परन्तु प्राचीन सामग्री के संकेत अवश्य मिलते है जिनसे जाना जाता है कि वहा मौर्य और गुप्त काल के अवशेष मिलने चाहिए कितनी ही पुरातन सामग्री भूगर्भ मे दबी पड़ी है और कुछ खण्डहरों मे परिणत हुई सिसकियां ले रही है किन्तु हमारा ध्यान अभी तक उसके समुद्धरण की ओर नही गया

जबलपुर के हनुमानताल के दिगम्बर जैन मन्दिर में स्थित एक कलात्मक मूर्ति शिल्प की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर और मूल्यवान है वैसी मूर्तियाँ महाकोसल मे बहुत ही कम उपलब्ध होंगी उसमें कला की सूक्ष्म भावना उदात्त एव

गभीर विचार और वारीक छैनी का आभास उसके प्रत्येक अग से परिलक्षित होता है इसी तरह देवगढ का विष्णु-मन्दिर भी गुप्तकालीन कला का सुन्दर प्रतीक है और भी अनेक कलात्मक अलकरणो का यत्र तत्र सकेत मिलता है, जो तत्कालीन कला की मौलिक देन है इस तरह उक्त तीनो ही सम्प्रदायो की पुरातात्त्विक सामग्री का अस्तित्त्व जरूर रहा है, परन्तु वर्तमान मे वह विरल ही है

मध्यप्रदेश के पुरातात्त्विक स्थान और उनका सक्षिप्त परिचय

मध्यप्रदेश के खजुराहा, महोवा, देवगढ, अहार, मदनपुर, वाणपुर, जतारा, रायपुर, जवलपुर, सतना, नवागढ, ग्वालियर, भिलसा, भोजपुर, मऊ, धारा, वडवानी और उज्जैन आदि पुरातत्त्व की सामग्री के केन्द्रस्थान है इन स्थानो की कलात्मक वस्तुएँ चन्देल और कलचूरी कला का निदर्शन करा रही है यद्यपि मध्यप्रदेश मे जैन शास्त्रभडारो के सकलन की विरलता रही है ५-७ स्थान ही ऐसे मिलते है जहाँ अच्छे शास्त्रभडार पाए जाते है यद्यपि प्रत्येक मन्दिर मे थोडे वहुत ग्रन्थ अवश्य पाये जाते है पर अच्छा सकलन नही मिलता इसका कारण यह है कि वहा भट्टारकीय परम्परा का प्रभाव अधिक नही हो पाया है जहाँ-जहाँ भट्टारकीय गद्दिया और उनके विहार की सुविधा रही है वहा वहाँ अच्छा सग्रह पाया जाता है प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों का जैसा सकलन राजस्थान, गुजरात, दक्षिण भारत तथा पजाव के कुछ स्थानो मे पाया जाता है वैसा मध्य प्रदेश मे नही मिलता मध्य प्रदेश के जिन कतिपय स्थानो के नामो का उल्लेख किया गया है उन मे से कुछ स्थानो का यहाँ सक्षिप्त परिचय देना ही इस लेख का विषय है यद्यपि मालव प्रान्त भी किसी समय जैन धर्म का केन्द्रस्थल रहा है, और वहा अनेक साधु-सन्तो और विद्वानो का जमघट रहा है, खासकर विक्रम की १० वी शताव्दी मे १३ वी शताव्दी तक वहा दि० जैन साधुओ आदि का अध्ययन, अध्यापन तथा विहार होता रहा है, और वहाँ अनेक ग्रन्थो की रचना की गई है साथ ही अनेक प्राचीन उत्तुग मदिर और मूर्तियो का निर्माण भी हुआ है, परन्तु राज्यविप्लवादि और साम्प्रदायिक व्यामोह आदि से उनका सरक्षण नही हो सका है. अत कितनी ही महत्त्व की ऐतिहासिक और सास्कृतिक सामग्री विलुप्त हो गई है जो अवशिष्ट बच पाई है उसका सरक्षण भी दूभर हो गया है और वाद मे उन स्थानो मे वैसा मजवूत सगठन नही वन सका है, जिससे जैन सस्कृति और उसकी महत्वपूर्ण सामग्री का सकलन और सरक्षण किया जा सकता

खजुराहा—यह चन्देलकालीन उत्कृष्ट शिल्पकला का प्रतीक है यहा खजूर का वृक्ष होने के कारण 'खर्जुरपुर' नाम पाया जाता है खजुराहा जाने के दो मार्ग हैं एक मार्ग-झाँसी-मानिकपुर रेलवे लाइन पर हरपालपुर या महोवा से छतरपुर जाना पडता है और दूसरा मार्ग-झाँसी से वीना सागर होते हुए मोटर द्वारा छतरपुर जाया जाता है और छतरपुर से सतना जाने वाली सडक पर से वीस मील दूर वमीठा मे एक पुलिस थाना है, वहा से राजनगर को जो दश मील मार्ग जाता है उसके ७ वें मील पर खजुराहा अवस्थित है मोटर हरपालपुर से तीस मील छतरपुर और वहाँ से खजुराहा होती हुई राजनगर जाती है

यहाँ भारत की उत्कृष्ट सास्कृतिक स्थापत्य और वास्तुकला के क्षेत्र मे चन्देल समय की देदीप्यमान कला अपना स्थिर प्रभाव अकित किये हुए है चन्देल राजाओ की भारत को यह असाधारण देन है इन राजाओ के समय मे हिन्दू सस्कृति को भी फलने-फूलने का पर्याप्त अवसर मिला है उस काल मे सास्कृतिक कला और साहित्य के विकास को प्रश्रय मिला जान पडता है यही कारण है कि उस काल के कला-प्रतीको का यदि सकलन किया जाय, जो यत्र-तत्र बिखरा पडा है, उससे न केवल प्राचीन कला की रक्षा होगी वल्कि उस काल की कला के महत्त्व पर भी प्रकाश पडेगा और प्राचीन कला के प्रति जनता का अभिनव आकर्षण भी होगा, क्योकि कला कलाकार के जीवन का सजीव चित्रण है उसकी आत्म-साधना कठोर छैनी और तत्वस्वरूप के निखारने का दायित्व ही उसकी कर्तव्यनिष्ठा एव एकाग्रता का प्रतीक है भावो की अभिव्यजना ही कलाकार के जीवन का मौलिक रूप है, उससे ही जीवन मे स्फूर्ति और आकर्षक शक्ति की जागृति होती है उच्चतम कला के विकास से तत्कालीन इतिहास के निर्माण मे पर्याप्त सहायता मिलती है

बुन्देलखण्ड मे चन्देल और कलचुरी आदि राजाओं के शासनकाल में जैनधर्म का प्रभाव सर्वत्र व्याप्त रहा है और उस समय अनेक कलापूर्ण मूर्तियां तथा सैकड़ो मन्दिरों का निर्माण भी हुआ है खजुराहो की कला तो इतिहास मे अपना विशिष्ट स्थान रखती ही है यद्यपि खजुराहो मे कितनी ही खण्डित मूर्तियां पाई जाती है जो साम्प्रदायिक विद्वेष का परिणाम जान पड़ती है

यहाँ मन्दिरों के तीन विभाग है पश्चिमी समूह शिव-विष्णु-मन्दिरों का है इनमे महादेव का मन्दिर ही सबसे प्रधान है और उत्तरीय समूह म भी विष्णु के छोटे बडे मन्दिर है दक्षिण-पूर्वीय भाग जैन मन्दिरों के समूह से अलकृत है यहा महादेवजी की एक विशाल मूर्ति ८ फुट ऊची और तीन फुट से अधिक मोटी होगी वराह अवतार भी अतीव सुन्दर है उसकी ऊँचाई सम्भवत ३ हाथ होगी नंदेश्वर मन्दिर भी सुन्दर और उन्नत है काली का मन्दिर भी रमणीय है पर मूर्ति मे माँ की ममता का अभाव दृष्टिगत होता है उसे भयकरता से आच्छादित सा कर दिया है जिससे उसमें जगदम्बा की कल्पना का वह मातृत्व रूप नही रहा और न दया क्षमा ही को कोई स्थान प्राप्त है जो मानव जीवन के खास अग है यहाँ के हिन्दूमन्दिर पर जो निरावरण रमणियों के चित्र उत्कीर्ण देखे जाते है उनसे ज्ञात होता है कि उस समय विलासप्रियता का अत्यधिक प्रवाह बह रहा था इसी से शिल्पियों की कला में भी उसे यथेष्ट प्रश्रय मिला है खजुराहो की नन्दी मूर्ति दक्षिण के मन्दिरो मे अकित नन्दी मूर्तियो से बहुत कुछ साम्य रखती है यद्यपि दक्षिण की मूर्तियां आकार प्रकार मे कही उससे बडी है

वर्तमान में यहा तीन ही हिन्दू मन्दिर और तीन ही जैन मन्दिर हैं उनम सबसे प्रथम मदिर घंटाई का है यह मन्दिर खजुराहा ग्राम की ओर दक्षिण पूर्व की ओर अवस्थित है इसके स्तम्भो में घण्टियो की बेल बनी हुई है इसी से इसे घण्टाई का मन्दिर कहा जाता है इस मन्दिर की शोभा अपूर्व है

दूसरा मन्दिर आदिनाथ का है यह मन्दिर घण्टाई मन्दिर के हाते में दक्षिण उत्तर-पूर्व की ओर अवस्थित है यह मंदिर भी रमणीय और दर्शनीय है इस मन्दिर में पहले जो मूल नायक की मूर्ति स्थापित थी वह कहाँ गई, यह कुछ ज्ञात नही होता तीसरा मन्दिर पार्श्वनाथ का है यह मन्दिर सब मन्दिरो स विशाल है इसमे पहले आदिनाथ की मूर्ति स्थापित थी उसके गायब हो जाने पर इसमें पार्श्वनाथ की मूर्ति स्थापित की गई है इस मन्दिर की दीवालों के अलकरणो में वैदिक देवताओ की मूर्तिया भी उत्कीर्ण है यह मन्दिर अत्यन्त दर्शनीय है और सम्भवत दशवी शताब्दी का बना हुआ है इसके पास ही शातिनाथ का मन्दिर है इन सब मन्दिरो के शिखर नागर शैली के बने हुए है और भी जहा तहा बुन्देलखण्ड म मन्दिरो के शिखर नागर शैली के बने हुए मिलते है ये मंदिर अपनी स्थापत्यकला नूतनता और विचित्रता के कारण आकर्षक है यहा की मूर्तिकला अलकरण और अतुल रूपराशि मानव-कल्पना को आश्चर्य म डाल देती है इन अलकरणो एव स्थापत्य कला के नमूनो में मंदिरो का बाह्य और अन्तर्भाग-विभूषित है यहाँ कल्पना में सजीवता भावना मे विचित्रता तथा विचारो का विनय इन तीनो का एकत्र संचित समूह ही मूर्तिकला के आदर्शों का नमूना है जिननाथ मन्दिर के बाह्य द्वार पर संवत् १ ११ का शिलालेख अकित है जिससे ज्ञात होता है कि यह मंदिर चन्देल राजा धग के राज्यकाल म पूर्व बना है उस समय मुनि वासवचन्द के समय में पाहलवश के एक व्यक्ति पाहिल थे जो धंगराजा के द्वारा मान्य था उसने मंदिर को एक बाग भेंट किया था जिसमें अनेक वाटिकाएँ बनी हुई थी

शान्तिनाथ का मन्दिर—इस मन्दिर म एक विशाल मूर्ति जैनियो के १६वें तीर्थंकर भगवान् शान्तिनाथ की है, जो १४ फुट ऊँची है यह मूर्ति शान्ति का प्रतीक है इसकी कला देखते ही बनती है मूर्ति सागोपाग अपने दिव्य प्रशान्त रूप में स्थित है और ऐसी ज्ञात होती है कि शिल्पी ने अभी बनाकर तैयार की हो मूर्ति कितनी चित्ताकर्षक है यह लेखनी से परे की बात है शिल्पी की बारीक छैनी से मूर्ति का निखरा हुआ वह कलात्मक रूप दर्शक को आश्चर्य म डाल देता
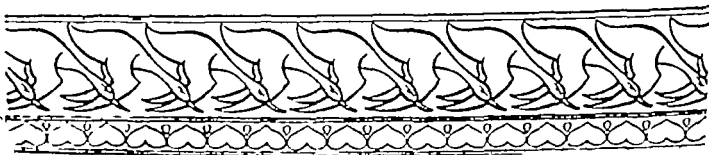
वर्ष (iix) मार्च १ १ गजवे । निगृन अध्याय दि—

गभीर विचार और बारीक छैनी का आभास उसके प्रत्येक अग से परिलक्षित होता है इसी तरह देवगढ का विष्णु-मन्दिर भी गुप्तकालीन कला का सुन्दर प्रतीक है और भी अनेक कलात्मक अलकरणो का यत्र तत्र सकेत मिलता है, जो तत्कालीन कला की मौलिक देन है इस तरह उक्त तीनो ही सम्प्रदायो की पुरातात्त्विक सामग्री का अस्तित्व जरूर रहा है, परन्तु वर्तमान मे वह विरल ही है

मध्यप्रदेश के पुरातात्त्विक स्थान और उनका सक्षिप्त परिचय

मध्यप्रदेश के खजुराहा, महोवा, देवगढ, अहार, मदनपुर, वाणपुर, जतारा, रायपुर, जबलपुर, सतना, नवागढ, ग्वालियर, भिलसा, भोजपुर, मऊ, धारा, वडवानी और उज्जैन आदि पुरातत्त्व की सामग्री के केन्द्रस्थान है इन स्थानो की कलात्मक वस्तुएँ चन्देल और कलचूरी कला का निदर्शन करा रही है यद्यपि मध्यप्रदेश मे जैन शास्त्रभडारो के सकलन की विरलता रही है ५-७ स्थान ही ऐसे मिलते है जहाँ अच्छे शास्त्रभडार पाए जाते है यद्यपि प्रत्येक मन्दिर मे थोडे वहुत ग्रन्थ अवश्य पाये जाते है पर अच्छा सकलन नही मिलता इसका कारण यह है कि वहा भट्टारकीय परम्परा का प्रभाव अधिक नही हो पाया है जहाँ-जहाँ भट्टारकीय गद्दिया और उनके विहार की सुविधा रही है वहा वहाँ अच्छा सग्रह पाया जाता है प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों का जैसा सकलन राजस्थान, गुजरात, दक्षिण भारत तथा पजाव के कुछ स्थानो मे पाया जाता है वैसा मध्य प्रदेश मे नही मिलता मध्य प्रदेश के जिन कतिपय स्थानो के नामो का उल्लेख किया गया है उन मे से कुछ स्थानो का यहाँ सक्षिप्त परिचय देना ही इस लेख का विषय है यद्यपि मालव प्रान्त भी किसी समय जैन धर्म का केन्द्रस्थल रहा है, और वहा अनेक साधु-सन्तो और विद्वानो का जमघट रहा है, खासकर विक्रम की १० वी शताब्दी मे १३ वी शताब्दी तक वहा दि० जैन साधुओ आदि का अध्ययन, अध्यापन तथा विहार होता रहा है, और वहाँ अनेक ग्रन्थो की रचना की गई है साथ ही अनेक प्राचीन उत्तुग मदिर और मूर्तियो का निर्माण भी हुआ है, परन्तु राज्यविप्लवादि और साम्प्रदायिक व्यामोह आदि से उनका सरक्षण नही हो सका है. अत कितनी ही महत्त्व की ऐतिहासिक और सास्कृतिक सामग्री विलुप्त हो गई है जो अवशिष्ट बच पाई है उसका सरक्षण भी दूभर हो गया है और वाद मे उन स्थानो मे वैसा मजबूत सगठन नही बन सका है, जिससे जैन सस्कृति और उसकी महत्त्वपूर्ण सामग्री का सकलन और सरक्षण किया जा सकता

खजुराहा—यह चन्देलकालीन उत्कृष्ट शिल्पकला का प्रतीक है यहा खजूर का वृक्ष होने के कारण 'खर्जुरपुर' नाम पाया जाता है खजुराहा जाने के दो मार्ग है एक मार्ग-झाँसी-मानिकपुर रेलवे लाइन पर हरपालपुर या महोवा से छतरपुर जाना पडता है और दूसरा मार्ग-झाँसी से बीना सागर होते हुए मोटर द्वारा छतरपुर जाया जाता है और छतरपुर से सतना जाने वाली सडक पर से वीस मील दूर बमीठा मे एक पुलिस थाना है, वहा से राजनगर को जो दश मील मार्ग जाता है उसके ७ वें मील पर खजुराहा अवस्थित है मोटर हरपालपुर से तीस मील छतरपुर और वहाँ से खजुराहा होती हुई राजनगर जाती है

यहाँ भारत की उत्कृष्ट सास्कृतिक स्थापत्य और वास्तुकला के क्षेत्र मे चन्देल समय की देदीप्यमान कला अपना स्थिर प्रभाव अकित किये हुए है चन्देल राजाओ की भारत को यह असाधारण देन है इन राजाओ के समय मे हिन्दू सस्कृति को भी फलने-फूलने का पर्याप्त अवसर मिला है उस काल मे सास्कृतिक कला और साहित्य के विकास को प्रश्रय मिला जान पडता है यही कारण है कि उस काल के कला-प्रतीको का यदि सकलन किया जाय, जो यत्र-तत्र बिखरा पडा है, उससे न केवल प्राचीन कला की रक्षा होगी बल्कि उस काल की कला के महत्त्व पर भी प्रकाश पडेगा और प्राचीन कला के प्रति जनता का अभिनव आकर्षण भी होगा, क्योकि कला कलाकार के जीवन का सजीव चित्रण है उसकी आत्म-साधना कठोर छैनी और तत्वस्वरूप के निखारने का दायित्व ही उसकी कर्तव्यनिष्ठा एव एकाग्रता का प्रतीक है भावो की अभिव्यजना ही कलाकार के जीवन का मौलिक रूप है, उससे ही जीवन मे स्फूर्ति और आकर्षक शक्ति की जागृति होती है उच्चतम कला के विकास से तत्कालीन इतिहास के निर्माण मे पर्याप्त सहायता मिलती है

माथुरान्वय गण तस्य पुत्र रत्नपाल प्रणमति नित्य ६— तत्पुत्रा साधुश्री रत्नपाल तस्य भार्या साधा पुत्र कीर्तिपाल अजयपाल वस्तुपाल तथा त्रिभुवनपाल अजितनाथाय प्रणमति नित्य[1] एक लेख में वि० सं० १२२४ आषाढ़ सुदी २ रवौ के दिन परमर्दि देव के राज्यराज का है उसमें चंदेलवंश के राजाओं के नाम दिये हुए हैं श्रावकों के नाम ऊपर दिये गये हैं इन सब उल्लेखों से महोबा जैन संस्कृति का कभी केन्द्र रहा था इसका आभास सहज ही हो जाता है

देवगढ़ का इतिहास
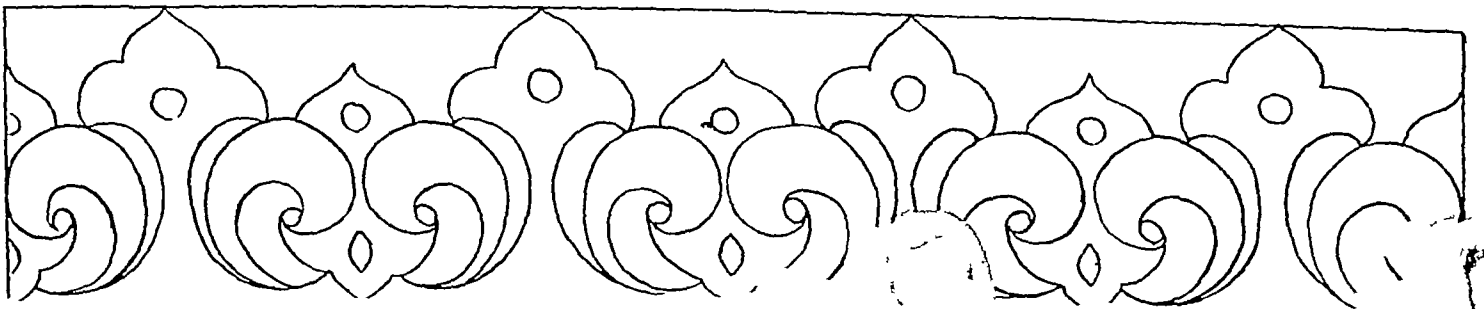
देवगढ़—दिल्ली से बम्बई जाने वाली रेलवे लाइन पर ललितपुर स्टेशन से १ मील की दूरी पर है इस नाम का एक छोटा-सा ऊजड़ ग्राम भी है इस ग्राम में आबादी बहुत थोड़ी सी है यह बेत्रवती (बेतवा) नदी के मुहाने पर नीची जगह बसा हुआ है यहाँ से १ फुट की ऊँचाई पर करनाली दुर्ग है जिसके पश्चिम की ओर बेतवा नदी कलकल निनाद करती हुई बह रही है पर्वत की ऊँचाई साधारण और सीधी है पहाड़ पर जाने के लिये पश्चिम की ओर एक मार्ग बना हुआ है प्राचीन सरोवर को पार करने के बाद पाषाणनिर्मित एक चौड़ी सड़क मिलती है जिसके दोनों ओर मंदिर (घर) और मार्ग के सघन छायादार वृक्ष मिलते हैं इसके बाद एक भग्न तोरण द्वार मिलता है जिसे कुंजद्वार भी कहते हैं यह पर्वत की परिधि को घेरे हुए कोट का द्वार है यह द्वार प्रवेशद्वार भी कहा जाता है इसके बाद दो जीर्ण कोटद्वार और भी मिलते हैं ये दोनों कोट जैनमन्दिरों को घेरे हुए हैं. इनके अन्दर देवालय होने से इसे देवगढ़ कहा जाने लगा है यद्यपि यह देवों का गढ़ था परन्तु यह इसका प्राचीन नाम नहीं है इसका प्राचीन नाम लुअच्छगिरि या लच्छगिरि था जैसा कि शान्तिनाथ मन्दिर के सामने वाले ग्राम के एक स्तम्भ पर शक संवत् ७८४ (वि० सं० ६१६) में उत्कीर्ण हुए गुर्जर प्रतिहार वत्सराज आम के प्रपौत्र और नागभट्ट द्वितीय या नागावलोक के पौत्र महाराजाधिराज परमेश्वर राजा भोजदेव के शिलालेख से स्पष्ट है उस समय यह स्थान भोजदेव के शासन में था इस लेख में बतलाया है कि शान्तिनाथमन्दिर के समीप श्री कमलदेव नाम के आचार्य के शिष्य श्रीदेव ने इस स्तम्भ को बनवाया था यह वि० सं० ६१६ आश्विन सुद १४ बृहस्पतिवार के दिन भाद्रपद नक्षत्र के योग में बनाया गया था

विक्रम की १२वीं शताब्दी के मध्य में इसका नाम कीर्तिगिरि रक्खा गया था पर्वत के दक्षिण की ओर दो सीढ़ियाँ हैं जिनको राजघाटी और नाहर घाटी के नाम से पुकारा जाता है वर्षा का सब पानी इन्हीं में चला जाता है ये घाटियाँ चट्टान में काटी गयी हैं जिन पर खुदाई की कारीगरी पायी जाती है राजघाटी के किनारे आठ पंक्तियों का छोटा सा सं० ११५४ का एक लेख उत्कीर्ण है[2] जिसे चंदेलवंशी राजा कीर्तिवर्मा के प्रधान अमात्य वत्सराज ने खुदवाया था

---

(१) [illegible] पृ० ७२ [illegible]

(२) १ (ओं) [illegible] परमेश्वर श्री [illegible]—
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

(३) [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

है और वह उसे अपनी ओर आकृष्ट करता हुआ उसे देखने की बार बार उत्कण्ठा उत्पन्न कर रहा है मूर्ति के अगल बगल मे अनेक सुन्दर मूर्तिया विराजित है जिनकी सख्या अनुमानत २५ से कम नही जान पडती यहा सहस्रो मूर्तिया खण्डित हैं सहस्रकूट चैत्यालय का निर्माण बहुत बारीकी के साथ किया गया है उस मदिर के दरवाजे पर एक चौतीसा यत्र है, जिसमे सब तरफ से अकोको जोडने पर उनका योग चौतीस होता है यह यत्र बडा उपयोगी है जब कोई बालक बीमार होता है तब उन यन्त्र को उसके गले मे बाध दिया जाता है ऐसी प्रसिद्धि है भगवान् शान्तिनाथ की इस मूर्ति के नीचे निम्न लेख अकित है, जिससे स्पष्ट है कि यह मूर्ति विक्रम की ११ वी शताब्दी के अन्तिम चरण की है

स १०८५ श्रीमान् आचार्यपुत्र श्रीठाकुर देवधर सुत श्री शिविश्रीचन्द्रेयदेवा श्री शान्तिनाथस्य प्रतिमा कारितेति"

खजुराहे की खडित मूर्तियो मे से कुछ लेख निम्न प्रकार है

१—स० ११४२ श्री आदिनाथाय प्रतिष्ठाकारक श्रेष्ठी बीवनशाह भार्या सेठानी पद्मावती

चौथे न० की वेदी मे कृष्ण पाषाण की हथेली और नासिका से खण्डित जैनियो के बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ की एक मूर्ति है उसके लेख से मालूम होता है कि यह मूर्ति विक्रम की १३ वी शताब्दी के प्रारम्भ मे प्रतिष्ठित हुई है लेख मे मूलसघ देशीगण के पडित नागनन्दी के शिष्य प० भानुकीर्ति और आर्यिका मेरुश्री द्वारा प्रतिष्ठित कराये जाने का उल्लेख किया गया है वह लेख इस प्रकार है 'स० १२१५ माघ सुदी ५ रवौ देशीयगणे पडित नाह [ग] नन्दी तच्छिष्य पडित श्री भानुकीर्ति आर्यिका मेरुश्री प्रतिनन्दतु'

इस तरह खजुराहा स्थापत्यकला की दृष्टि से अत्यन्त दर्शनीय है

महोबा—इसका प्राचीन नाम काकपुर,पाटनपुर और महोत्सव या महोत्सवपुर था इस राज्यका सस्थापक चदेलवशी राजा चन्द्रवर्मा था जो सन् ८०० मे हुआ है इस राज्य के दो राजाओ का नाम खूब प्रसिद्ध रहा है उनका नाम कीर्तिवर्मा और मदनवर्मा था ईस्वी सन् ६०० के लगभग राजधानी खजुराहा से महोबा मे स्थापित हो गई थी कनिघम ने अपनी रिपोर्ट मे इसका नाम 'जजाहूति' दिया है चीनी यात्री ह्वेनसाग ने भी अपने यात्राविवरण मे, 'जैनाभुक्ति' का उल्लेख किया है यहा की झीले प्रसिद्ध हैं यहा नगर मे हिन्दू और मुसलमानो के स्मारक भी मिलते है जैन सस्कृति की प्रतीक जैन मूर्तिया भी यत्र-तत्र छितरी हुई मिलती है कुछ समय पहले खुदाई करने पर यहा बहुत-सी जैन मूर्तियाँ मिली थी, जो सभवत स० १२०० के लगभग थी उनमे से एक ललितपुर क्षेत्रपाल मे और शेष बादा मे विराजमान है

यहा एक २० फुट ऊचा टीला है वहा से अनेक खण्डित जैन मूर्तिया मिली हैं महोबा के आस-पास के ग्रामो और नगरो मे भी अनेक ध्वस्त जैनमदिर और मूर्तिया उपलब्ध होती हैं उन खण्डित मूर्तियो के आसनो पर जो छोटे-छोटे लेख मिले हैं, उनमें से कुछ लेखो का सार निम्न प्रकार है

१—'सवत् ११६९ राजा जयवर्मा २—स० १२०३ ३—श्री मदनवर्मा देवराज्ये स० १२११ आषाढ सु० ३ शनौ देव श्रीनेमिनाथ, रूपकार लक्ष्मण ४—सुमतिनाथ स० १२१३ माघ सु० दू० गुरौ, ५—स० १२२० जेठ सुदी ८ रवौ

---

२ व्यमूर्तिस्व (शी) ल स (श) म दमगुणयुक्त सर्व
३ सत्वानुकपो (1X) स्वजनिततोषो धागराजेन
४ मान्य प्रणमति जिननाथोय भव्व (व्य) पाहिल (ल्ल)
५ नामा (11) १।। पाहिलवाटिका १ चन्द्रवाटिका
६ लघुचन्द्रवाटिका ३ स० (श) करवाटिका ४ पचाइ
७ तलुवाटिका ५ आम्रवाटिका ६ ध (घ) गवाडी ७ (11X)
८ पाहिलवसे (शे) तुक्षये क्षीणे अपरवंशो य कोपि
९ तिष्ठति (1X) तस्य दासस्य दासोय ममदत्तिस्तु पाल—
१० येत् ।। महाराज गुरु स्त्री (श्री) वासवचन्द्र (11X)
वेप (शा) प (ख) सुदि ७ सोमदिने

वर्तनो का कोई आभास नही था किन्तु दुर्दैव के कारण हमारी यह अवनत अवस्था हुई है अत तू अब भी समझ और सावधान हो

विन्ध्य पर्वतमालाकी सघन वनाच्छादित सुरम्य उपत्यका में यह पुण्यक्षेत्र भीवनदायिनी सलिला वेत्रवती से सटी हुई डेढ़ सौ मील लम्बी पहाडी के ऊपर एक चौकोर लम्बे मैदान के भाग में फैला हुआ पग पग पर अनुपम सांस्कृतिक जीवन कला की विभूतियो के मनमोहक दृश्य उपस्थित करता है जिसमें तल्लीन होकर एक बार दर्शक-हर्ष विषाद सुख दुःख मोह-मत्सर काम आदि के सस्कार रूपी बन्धनों से मुक्त होकर प्रकृति की गोद में विलीन सा हो जाता है और अपने सारे अहकारमय ऐहिक अस्तित्व को भूल कर अपने आप को न्यूनतम से न्यूनतम रजकण से भी तुच्छ पाता है प्रशस्त मूर्तिया वेदिका स्तम्भ तोरण दीवारें और अन्य कलात्मक अलकरण जो यशस्वी शिल्पियों द्वारा चमत्कारपूर्ण सामग्री निर्मित की गई है वह अपनी मूक प्रेरणा द्वारा भिन्न-भिन्न विचार-मुद्राओं में आध्यात्मिक जीवन की झांकी का सन्देश प्रस्तुत करती है कही चामत्कारिक मूर्ति निर्माणकला के छिटकते हुए सौदर्य से देदीप्यमान प्रतीकों तीर्थंकर पार्श्वनाथ की विशालकाय मूर्तियो और अगणित अर्हन्तो की विचारप्रेरक मुद्राओं वाले प्रतिबिम्ब उस वनस्थली की स्तब्ध शांति के मूक स्वर में आत्मविभोर दिखाई देते है और कही चक्रेश्वरी पद्मावती ज्वालामालिनी सरस्वती आदि जिनशासनरक्षिका देवियों की मुद्राए, अद्भुत भावप्रेरक अनेक देवियों के अलकृत अवयव अपनी भाव भंगियो से मानो सुषमा ही उडेल रहे है

गुप्तकालीन मदिर—किले के दक्षिण-पश्चिमी कोने पर वराह का प्राचीन मन्दिर खडितावस्था में मौजूद है उसके निर्माण के सम्बन्ध मे निश्चित कुछ नही कहा जा सकता नीचे के मैदान मे गुप्तकालीन विष्णुमन्दिर बना हुआ है, यह पूर्ण रूप से सुरक्षित है भारतीय कलाविद् इसके कारण ही देवगढ से परिचित है यह मन्दिर गुप्त काल के बाद किसी समय बना है कहा जाता है कि गुप्तकाल मे मदिरों के शिखर नही बनाये जाते थे परन्तु इसमे शिखर होने के चिह्न मौजूद है मालूम होता है कि इसका शिखर खडित हो गया है यह मदिर जिन पाषाणखण्डो से बना है वे अत्यन्त कलापूर्ण और सुन्दर है [1] इस मदिर की कला के सम्बन्ध मे प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान् स्मिथ साहब कहते है कि— देवगढ में गुप्तकाल का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और आकर्षक स्थापत्य है वह रेतमय का पत्थर का बना हुआ एक छोटा सा मदिर है यह ईसा छठी अथवा पाचवी शताब्दी का बना है इस मदिर की दीवारो पर जो प्रस्तरफलक लगे है उनमे भारतीय मूर्तिकला के कुछ बहुत ही बढिया नमूने अकित है

इस मदिर की खुदाई के समय जो मूर्तिया मिली उनमें से एक मे पचवटी का वह दृश्य अकित है जहां लक्ष्मण ने रावण की बहन शूर्पनखा की नाक काटी थी अन्य एक पाषाण में राम और सुग्रीव के परस्पर मिलन का अपूर्व दृश्य अकित है एक अन्य पत्थर में राम लक्ष्मण का शबरी के आश्रम मे जाने का दृश्य दिखाया गया है इसी तरह के अन्य दृश्य भी रहे होगे रामायण की कथा के यह दृश्य अन्यत्र मेरे अवलोकन में नही आये यही पर नारायण की मूर्ति है और एक पत्थर मे गजेन्द्रमोक्ष का दृश्य भी उत्कीर्ण है दक्षिण की ओर दीवार में शेषशायी विष्णु की मूर्ति है जो बड़े आकार के साथ पत्थर में खोदी गई है इससे यह मदिर भी अपना विशेष महत्त्व रखता है

जैन मन्दिर और मूर्तिकला— देवगढ मे इस समय ३१ जैन मन्दिर है जिनकी स्थापत्यकला मध्यभारत की अपूर्व देन है इनमे से न ४ के मन्दिर मे तीर्थंकर की माता सोती हुई स्वप्नावस्था में विचार-मग्न मुद्रा में दिखलाई गई है म

1 देखो भारत पुरातत्त्व की रिपोर्ट इलाहाबाद (?)
The most important and interesting stone temple of Gupta age is one of moderate dimensions at Deogarh which may be assigned to the first half of sixth or perhaps to the fifth Century The panels of the walls contain some of the finest specimens of Indian sculpture

यह बडा विद्वान् और पराक्रमी था इसने अपने शत्रुओ से इस प्रदेश-मण्डल को जीता था और इस दुर्ग का नाम 'कीर्तिगिरि' रक्खा था कीर्तिवर्मा चन्देलवश का प्रतापी शासक था और शत्रुकुल को दलित करने वाला वीर योद्धा था, जैसा कि प्रबोधचन्द्रोदय नाटक के निम्न पद्य से प्रकट है

नीता क्षय क्षितिभुजो नृपतेर्विपक्षा, रक्षावती क्षितिरभूनप्र थितैरमात्यै ।
साम्राज्यमस्य विहित क्षितिपालमौलि-मालार्चित भुवि पयोनिधिमेखलायाम् ॥३॥

दूसरी नाहरघाटी के किनारे भी एक छोटा ७ पक्तियो का अभिलेख अकित है यहा एक गुफा है, जिसे सिद्धगुफा भी कहा जाता है यह भी पहाड मे खुदी हुई है जिसका मार्ग पहाड पर से सीढियो द्वारा नीचे जाता है इसके तीन द्वार है, दो खभो पर छत भी अवस्थित है इस गुफा के अन्दर भी गुप्त समय का छोटा-सा लेख अकित है, जो सवत् ६०६ सन् ५५२ का बतलाया जाता है इसमे सूर्यवशी स्वामी भट्ट का उल्लेख है यह लेख गुप्तकालीन है एक दूसरा भी लेख है जिसमे लिखा है कि राजा वीर ने सवत् १३४२ मे तुण को जीता था

इस सब कथन पर से जाना जाता है कि इसका देवगढ नाम विक्रम की १२वी शताब्दी के अन्त मे या १३वी के प्रारम्भ मे किसी समय हुआ है यह स्थल अनेक राजाओ के राज्यकाल मे अवस्थित रहा है इस प्रान्त मे पहले सहरियो का राज्य था, पश्चात् गौड राजाओ ने अधिकार कर लिया था स्कन्दगुप्त आदि इस वश के कई राजाओ के शिलालेख अब तक देवगढ मे पाये जाते है इनके बाद कन्नौज के भोजवशी राजाओ ने इस प्रान्त को अपने अधिकार मे किया था इसके पश्चात् चदेल वशी राजाओ का इस पर स्वामित्व रहा सन् १२६४ ई० मे यह विशालनगर था उस समय यह बहुत सुन्दर और सूर्य के प्रकाश के समान देदीप्यमान था इसी वश ने दतिया के किले का निर्माण कराया था ललितपुर के आसपास इस वश के अनेक लेख उपलब्ध होते है, इस वश की राजधानी महोबा थी इनके समय जैन-धर्म को पल्लवित होने का अच्छा अवसर मिला था इस वश के शासन-समय की अनेक कलाकृतिया, मन्दिर और जैन मूर्तिया महोबा, अहार, टीकमगढ, मदनपुर, नावई और जखौरा आदि स्थानो पर पाई जाती है

महाराजा सिन्धिया की ओर से कर्नल वैयटिस्टि किलोज ने सन् १६२१ मे देवगढ पर चढाई की थी उसने तीन दिन बराबर लडकर उस पर अधिकार कर लिया चदेरी के बदले मे महाराज सिन्धिया ने देवगढ हिन्द-सरकार को दे दिया था हो सकता है कि किले की दीवार चदेलवशी राजाओ ने बनवाई हो, परन्तु यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता उसकी मोटाई १५ फुट की है जो बिना सीमेट के केवल पाषाण से बनी हुई है नदी की ओर की हदबदी की दीवाल बनी होगी, तो वह गिर गई होगी, या फिर वह बनवाई ही नही गई परन्तु ऊँचाई कही भी २० फुट से अधिक नही है उत्तरी पश्चिमी कोने से एक दीवार २१ फुट मोटी है, जो ६०० फुट तक पहाडी के किनारे चली गई है सभवत यह दीवार दूसरे किले की हो, जो अब विनष्ट हो चुका है

देवगढ का यह स्थान कितना सुरम्य और चित्ताकर्षक है, इसे बतलाने की आवश्यकता नही वेत्रवदी नदी के किनारे-किनारे दाहिनी तरफ मैदान अत्यन्त ढालू हो गया है पहाड की विकट घाटी मे उक्त सरिता सहसा पश्चिम की ओर मुड जाती है वहा की प्राकृतिक सुषमा और कलात्मक सौंदर्य दोनो ही अपनी अनुपम छटा प्रदर्शित करते है वहा दर्शको को वैभव की असारता के स्पष्ट दर्शन होते है जो स्पष्ट सूचित कर रहे है कि—हे पामर नर ! तू वैभव के अहकार मे इतना क्यो इठला रहा है ? एक समय था जब हम भी गर्व मे इठला रहे थे उस समय हमे भावी परि-

---

राजोडुमध्यगतचन्द्रनिभस्य यस्य, नून युधिष्ठिर-शिव-रामचन्द्र ।
एते प्रसन्नगुणरत्ननिधौ निविष्टा, यत्तद् गुणप्रकररत्नमये शरीरे ॥
तदीयामात्यमन्त्री दो रमणीपुरविनिर्गत । वत्सराजेति विख्यात श्रीमान्महीधरात्मज ॥
ख्यातो बभूव किल मन्त्रपदैकमात्रे, वाचस्पतिस्तदिह मन्त्रगुणैरुभास्याम् ॥
योऽय समस्तमपि मण्डलमाशु शत्रोराच्छिद्य कीर्तिगिरिदुर्गमिद व्यधत्ते ॥ संवत् ११५४ चैत्र वदि ७ बुधौ, (देवगढ शिलालेख)

५ का मदिर सहस्रकूट चैत्यालय है जिसकी कलापूर्ण मूर्तियाँ अपूर्व दृश्य दिखलाती हैं इस मन्दिर के चारो ओर १००८ प्रतिमाए खुदी हैं बाहर स० ११२० का लेख भी उत्कीर्णित है, जो सम्भवत इस मन्दिर के निर्माणकाल का ही द्योतक है न० ११ के मन्दिर मे दो शिलाओ पर चौवीस तीर्थंकरो की बारह-बारह प्रतिमाए अकित हैं ये सभी मूर्तिया प्रशान्त मुद्रा को लिये हुए हैं

इन सब मन्दिरो मे सबसे विशाल मन्दिर न १२ है, जो शातिनाथ मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध है. जिसके चारो ओर अनेक कलाकृतिया और चित्र अकित है इसमे शान्तिनाथ भगवान की १२ फुट उत्तुग प्रतिमा विराजमान है, जो दर्शक को अपनी ओर आकृष्ट करती है और चारो कोनो पर अम्बिका देवी की चार मूर्तिया है, जो मूर्तिकला के गुणो से समन्वित है इस मन्दिर की बाहरी दीवाल पर जो २४ यक्ष यक्षिणियो की सुन्दर कलाकृतियाँ बनी हुई है, इनकी आकृतियो से भव्यता टपकती है साथ ही १८ लिपियो वाला लेख भी बरामदे मे उत्कीर्णित है इन सब कारणो से यह मन्दिर अपनी सानी नही रखता

देवगढ के जैन मन्दिरो का निर्माण, उत्तर भारत मे विकसित आर्यनागर शैली मे हुआ है यह दक्षिण की द्रविड शैली से अत्यन्त भिन्न है नागर शैली का विकास गुप्तकाल मे हुआ है देवगढ मे तो उक्त शैली का विकास पाया ही जाता है किन्तु खजुराहो आदि के जैन मन्दिरो मे भी इसी कला का विकास देखा जाता है यह कला पूर्णरूप से भारतीय है और प्राग्मुस्लिमकालीन है इतना ही, नही, किन्तु समस्त मध्य प्रान्त की कला इसी नागर शैली से ओत-प्रोत है इस कला को गुप्त, गुर्जर प्रतिहार और चदेलवशी राजाओ के राज्य काल मे पल्लवित और विकसित होने का अवसर मिला है

देवगढ की मूर्तियो मे दो प्रकार की कला देखी जाती है प्रथम प्रकार की कला मे कलाकृतिया अपने परिकरो से अकित देखी जाती है, जैसे चमरधारी यक्ष यक्षणिया सम्पूर्ण प्रस्तराकार कृति मे नीचे तीर्थंकर का विस्तृत आसन और दोनो पार्श्वों मे यक्षादि अभिषेक-कलश लिए हुए दिखलाये गये है किन्तु दूसरे प्रकार की कला मुख्य मूर्ति पर ही अकित है, उसमे अन्य अलकरण और कलाकृतियाँ गौण हो गई है मालूम होता है इस युग मे साम्प्रदायिक विद्वेष नही था, और न धर्मान्धता ही थी, इसीसे इस युग मे भारतीय कला का विकास जैनो, वैष्णवो और शैवो मे निर्विरोध हुआ है प्रस्तुत देवगढ जैन और हिंदू सस्कृति का सन्धिस्थल रहा है तीर्थंकरमूर्तिया, सरस्वती की मूर्ति, पच परमेष्ठियो की मूर्तियाँ, कलापूर्ण मानस्तम्भ, अनेक शिलालेख, और पौराणिक दृश्य अकित हैं साथ ही बराह का मदिर, गुफा मे शिव-लिंग, सूर्य भगवान् की मुद्रा, गणेश मूर्ति, भारत के पौराणिक दृश्य, गजेन्द्रमोक्ष आदि कलात्मक सामग्री देवगढ की महत्ता की द्योतक है

भारतीय पुरातत्त्वविभाग को देवगढ से २०० शिलालेख मिले है जो जैन मन्दिरो, मूर्तियो और गुफाओ आदि मे अकित हैं इन मे साठ शिलालेख ऐसे हैं जिनमे समय का उल्लेख दिया हुआ है ये शिलालेख स० ६०९ से १८७६ तक के उपलब्ध है इनमे स० ६०९ सन् ५५२ का लेख नाहरघाटी से प्राप्त हुआ था, इसमे सूर्यवशी स्वामी भट्ट का उल्लेख हैं स० ९१९ का शिलालेख जैन सस्कृति की दृष्टि से प्राचीन है इस लेख मे भोज देव के समय पच महाशब्द प्राप्त महासामन्त विष्णुराम के शासन मे इस लुअच्छगिरि के शान्तिनाथ मदिर के निकट गोष्ठिक वजुआ द्वारा निर्मित मानस्तभ आचार्य कमलदेव के शिष्य आचार्य श्रीदेव द्वारा वि० स० ९१९ आश्विन १४ वृहस्पतिवार के दिन उत्तराभाद्रपद नक्षत्र मे प्रतिष्ठित किया गया था इसी तरह अन्य छोटे छोटे लेख भी जैन सस्कृति की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं इस तरह देवगढ मध्यप्रदेश की अपूर्व देन है

अहार क्षेत्र — बुदेलखण्ड मे खजुराहो की तरह अहार क्षेत्र भी एक ऐतिहासिक स्थान है देवगढ की तरह यहाँ प्राचीन मूर्तिया और लेख पाये जाते हैं उपलब्ध मूर्तियो के शिलालेखो से जान पडता है कि विक्रम की ११ वी से १३ वी शताब्दी तक के लेखो मे अहार की प्राचीन बस्ती का नाम 'मदनेशसागरपुर' था[1] और उसके शासक श्री मदनवर्मा

---

[1] स० १२०८ और १२३७ के लेखों में मदनेशसागरपुर का नामाकन हुआ है, देखो, अनेकान्त वर्ष ९ कि० १० पृष्ठ ३८५-६
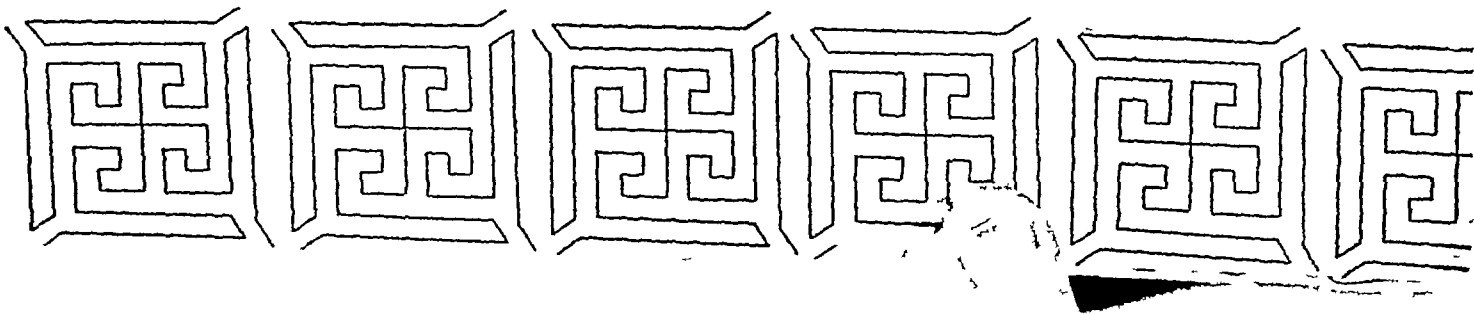
राजा डूगरसिंह और कीर्तिसिंह की आस्था जैनधर्म पर पूर्ण रूप से रही है तत्कालीन विद्वान् भट्टारकों का प्रभाव इन पर अंकित रहा है यद्यपि तोमर वंश के पूर्व भी कच्छवाह और प्रतिहार वंश के राजाओं के राज्यकाल मे भी ग्वालियर और पार्श्ववर्ती इलाको में जैन धर्म का सूर्य चमक रहा था परन्तु तोमर वंश के समय धर्म की विशेष अभिवृद्धि हुई राजा विक्रमसिंह या वीरमदेव के समय जैसवाल वंशी सेठ कुशराज उनके मंत्री थे जो जैन धर्म के अनुयायी और श्रावक के व्रतों का अनुष्ठान करते थे इनकी प्रेरणा और भट्टारक गुणकीर्ति के आदेश से पद्मनाभ कायस्थ ने जो जैन धर्म पर श्रद्धा रखता था यशोधरचरित्र की रचना की थी[१]

ग्वालियर और उसके आस-पास के जैन पुरातत्त्व और विद्वान् भट्टारकों तथा कवियों की ग्रन्थरचनाओं का अवलोकन करने से स्पष्ट पता चलता है कि यहां जैनधर्म उक्त समय में खूब पल्लवित रहा ग्वालियर उस समय उसका केन्द्र स्थल बना हुआ था यहाँ ३६ जातियां का निवास था पर परस्पर में विरोध नही था जैन जनता अपनी धार्मिक परिणति उदारता कर्तव्यपरायणता देव गुरु-शास्त्र की भक्ति और दानधर्मादि कार्यों म सोत्साह भाग लेती थी उसी का प्रभाव था कि जैन धर्म और उसकी अनुयायी जनता पर सबका वात्सल्य बना हुआ था उस समय अनेक जैन राजकीय उच्चपदो पर सेवाकार्य करते थे जो राज्य के संरक्षण पर सदा दृष्टि रखते थे वर्तमान मे भी जैनियों की यहाँ अच्छी संख्या है

खास कर राजा डूगरसिंह और कीर्तिसिंह के शासनकाल में (वि सं १४८१ से स १५३६ तक) ५५ वर्ष पर्यन्त किले मे जैन मूर्तियां की खुदाई का कार्य चला है पिता और पुत्र दोनों ने ही बड़ी आस्था से उसमे सहयोग दिया था अनेक प्रतिष्ठोत्सव सम्पन्न किये थे दोनों के राज्यकाल म प्रतिष्ठित मूर्तियाँ ग्वालियर म अत्यधिक पाई जाती है जिनमे स १४९७ से १५२५ तक के लेख भी अंकित मिलते है ग्रन्थ रचना भी उस समय अधिक हुई है देवभक्ति के साथ श्रुतिभक्ति का पर्याप्त प्रचार रहा है यहाँ के एक सेठ पद्मसिंह ने जहाँ अनेक जिनालयों मूर्तियों का निर्माण एवं प्रतिष्ठोत्सव सम्पन्न कराया था वह जिनभक्ति से प्रेरित होकर एक लक्ष ग्रन्थ लिखवाकर तत्कालीन जैन साधुओं और जैन मन्दिरो के शास्त्रभण्डारो को प्रदान किये थे ऐसा आदिपुराण की स १५२१ की एक लिपिप्रशस्ति से जाना जाता है इन सब कार्यों से उस समय की धार्मिक जनता के आचार विचारो का और सामाजिक प्रवृत्तियो का सहज ही परिज्ञान हो जाता है उस समय के कवि रइधू ने अपने पार्श्वपुराण की आद्यन्त प्रशस्ति में उस समय के जैनियो की सामाजिक और धार्मिक परिणति का सुन्दर चित्रण किया है

सन् १५३६ के बाद दुर्ग पर इब्राहीम लोदी का अधिकार हो गया मुसलमानो ने अपने शासनकाल मे उक्त किले को कैदखाना ही बना कर रक्खा पश्चात् दुर्ग पर मुगलो का अधिकार हो गया जब बाबर उस दुर्ग को देखने के लिये गया तब उसने उरवाही द्वार के दोनो ओर चट्टानो पर उत्कीर्ण की हुई उन नग्न दिगम्बर जैन मूर्तियों के विनाश करने की आज्ञा दे दी[२] यह उसका कार्य कितना नृशंस एवं घृणापूर्ण था इसे बतलाने की आवश्यकता नही

सन् १८११ मे दुर्ग पर मराठो का अधिकार हो गया तब से उन्ही का शासन रहा और अब स्वतंत्र भारत में मध्यप्रदेश का शासन चल रहा है

जैन मन्दिर और मूर्तियाँ —किले में कई जगह जैन मूर्तियाँ खुदी हुई है जो कला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है इस किले मे से शहर के लिये एक सड़क जाती है इस सड़क के किनारे दोनों ओर विशाल चट्टानो पर उत्कीर्ण हुई कुछ जैन मूर्तियां अंकित है ये सब मूर्तियाँ पाषाण की कर्कश चट्टानो को कोर कर बनाई गई हैं किले मे हाथी दरवाजा और सास-बहू के मन्दिरो के मध्य में एक जैन मन्दिर है जिसे मुगलशासनकाल मे एक मस्जिद के रूप में बदल दिया गया था खुदाई करने पर नीचे एक कमरा मिला है जिसम कई नग्न जैन मूर्तियाँ हैं और एक लेख भी सन् ११०८

१ देखो यशोधरचरित और पद्मनाभ कायस्थ नामक लेख-अनेकान्त वर्ष ।

२ देखो बाबर का आत्मचरित

ग्वालियर के किले का इतिहास—जैन साहित्य मे वर्तमान ग्वालियर का उल्लेख गोपायनु, गोपाद्रि, गोपगिरि, गोपाचल और गोपालगढ आदि नामो से किया गया है ग्वालियर की इस प्रसिद्धि का कारण जहाँ उसका पुरातन दुर्ग (किला) है, वहाँ भारतीय (हिन्दू, बौद्ध और जैनियो के) पुरातत्त्व की प्राचीन एव विपुल सामग्री की उपलब्धि भी है भारतीय इतिहास मे ग्वालियर का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है वहा पर प्राचीन अवशेषो की कमी नही है उसके प्रसिद्ध सूबो और क़िलो मे इतिहास की महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध होती है ग्वालियर का यह क़िला पहाड की एक चट्टान पर स्थित है यह पहाड डेढ मील लम्बा और ३०० गज चौडा है इसके ऊपर बलुआ पत्थर की चट्टानें हैं, उनकी नुकीली चोटियाँ निकली हुई हैं, जिनसे किले की प्राकृतिक दीवार बन गई है कहा जाता है कि इसे सूरजसेन नाम के राजा ने बनवाया था वहाँ 'ग्वालिय' नाम का एक साधु रहता था, जिसने राजा सूरजसेन के कुष्ट रोग को दूर किया था अत उसकी स्मृति मे ही ग्वालियर नाम प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ है पर इसमे कोई सन्देह नही कि ग्वालियर के इस किले का अस्तित्व विक्रम की छठी शताब्दी मे था, क्योकि ग्वालियर की पहाडी पर स्थित 'मात्रचेता' द्वारा निर्मापित सूर्यमन्दिर के शिलालेख मे उक्त दुर्ग का उल्लेख पाया जाता है दूसरे, किले मे स्थित चतुर्भुज मन्दिर के वि० स० ९३२-३३ के दो शिलावाक्यो मे भी उक्त दुर्ग का उल्लेख पाया जाता है हाँ, शिलालेखो से इस बात का पता जरूर चलता है कि उत्तर भारत के प्रतिहार राजा मिहिर भोज ने जीत कर इसे अपने राज्य कन्नोज मे शामिल कर लिया था और उसे विक्रम की ११ वी शताब्दी के प्रारम्भ मे कच्छपघट या कछवाहा वश के वज्रदामन् नाम के राजा ने, जिसका राज्य शासन १००७ से १०३७ तक रहा है और जो जैनधर्म का श्रद्धालु था, उसने स० १०३४ मे एक जैन मूर्ति की प्रतिष्ठा भी करवाई थी उस मूर्ति की पीठ पर जो लेख[1] अकित है उससे उसकी जैनधर्म मे आस्था होना प्रमाणित है इस वश के अन्य राजाओ ने जैन धर्मके सरक्षण, प्रचार एव प्रसार करने मे क्या कुछ सहयोग दिया, यह बात अवश्य विचारणीय है और अन्वेषणीय है कन्नोज के प्रतिहार वशी राजा से ग्वालियर को जीत कर उस पर अपना अधिकार कर लिया था इस वश के मगलराज, कीर्तिराज, भुवनपाल, देवपाल, पद्मपाल, सूर्यपाल, महीपाल, भुवनपाल और मधुसूदनादि अन्य राजाओ ने ग्वालियर पर लगभग दो-सौ वर्ष तक अपना शासन किया है, किन्तु बाद मे पुन प्रतिहार वश की द्वितीय शाखा के राजाओ का उस पर अधिकार हो गया था परन्तु वि० सवत् १२४९ मे दिल्ली के शासक अल्तमस ने ग्वालियर पर घेरा डाल कर दुर्ग का विनाश किया उस समय राजपूतो ने अपने शौर्य का परिचय दिया परन्तु मुट्ठी भर राजपूत उस विशाल सेना से कब तक लोहा लेते ? आखिर राजपूतो ने अपनी आन की रक्षा के हित युद्ध मे मर जाना ही श्रेष्ठ समझा, और राजपूतनियो ने 'जौहर' द्वारा अपने सतीत्व का परिचय दिया वे अग्नि की विशाल ज्वाला मे भस्म हो गईं और राजपूत अपनी वीरता का परिचय देते हुए वीरगति को प्राप्त हुए किले पर अल्तमस का अधिकार हो गया

सन् १३९८ (वि० स०१४५५) मे तैमूरलग ने भारत पर जब आक्रमण किया, तब अवसर पाकर तोमरवशी वीरसिंह नाम के एक सरदार ने ग्वालियर पर अधिकार कर लिया और वह उक्त वश के आधीन सन् १५३६ (वि० सवत् १५९३) तक रहा

इस क्षत्रिय वश के अनेक राजाओ ने (सन् १३९८ से १५३६ तक) ग्वालियर पर शासन किया है उनके नाम वीरसिंह उद्धरणदेव, विक्रमदेव (वीरमदेव), गणपतिदेव, डूगरसिंह, कीर्तिसिंह, कल्याणमल मानसिंह, विक्रमशाह, रामसाह, शालिवाहन और इनके दो पुत्र (श्यामसाह और मित्रसेन[2]) है लगभग दो सौ वर्ष के इस राज्यकाल मे जैनधर्म को फलने, फूलनेका अच्छा अवसर मिला है इन सभी राजाओकी सहानुभूति जैनधर्म, जैनसाधुओ और जैनाचार पर रही है

१ सवत् १०३४ श्री वज्रदाम महाराजाधिराज वइखास वदि पाचमि देखो, जनरल एशियाटिक सोसायटी आफ बगाल पृ० ४१०-५११

२ यह मित्रसेन शाह जलालुद्दीन के समकालीन थे इनका वि० स० १६८८ का एक शिलालेख बगाल एशियाटिक सोसायटी के जनरल भा० ८ पृ० ६९५ में रोहतास दुर्ग के कोथैटिय फाटक के ऊपर की परिया पर तोमर मित्रसेन का शिलालेख जिसे कृष्णदेव के पुत्र शिवदेव ने सकलित किया था
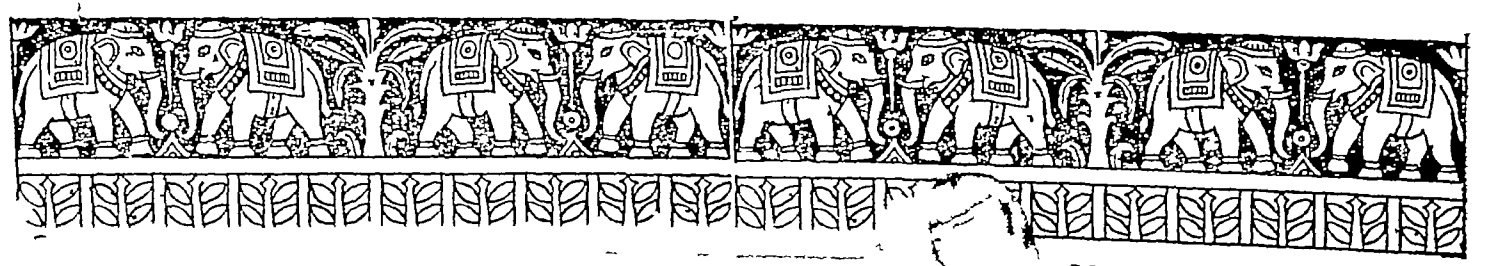
मस्तक हो हृदय में धारण करते थे[१] उक्त दूबकुण्ड में एक जैन स्तूप पर सं. ११५२ का एक और शिलालेख अंकित है जिसमें सं. ११५२ की वैशाख सुदी ५ को काष्ठासंघ के महान् आचार्य देवसेन की पादुका-युगल उत्कीर्ण है[२] यह शिलालेख तीन पंक्तियों में विभक्त है इसी स्तूप के नीचे एक नग्न मूर्ति उत्कीर्ण है जिस पर श्रीदेव लिखा है जो अधूरा नाम मालूम होता है पूरा नाम श्री देवसेन रहा होगा ग्वालियर में भट्टारकों की प्राचीन गद्दी रही है और उसमें देवसेन विमलसेन भावसेन सहस्रकीर्ति गुणकीर्ति यश कीर्ति मलयकीर्ति और गुणभद्रादि अनेक भट्टारक हुए हैं इनमें देवसेन यश कीर्ति गुणभद्र ने अपभ्रंश भाषा में अनेक ग्रन्थों की रचना की है

दूबकुण्ड का यह शिलालेख[३] बड़े महत्त्व का है कच्छपघट (कछवाहा) वंश के राजा विजयपाल के पुत्र विक्रमसिंह के राज्य में यह लेख लिखा गया है यह विजयपाल वही है जिनका वर्णन बयाना के वि. सं० ११ के शिलालेख में किया गया है बयाना दूब कुण्ड से ८ मील उत्तर में है इस लेख में जैन व्यापारी रिषि और दाहड़ की वंशावली दी है जायसवंश में सूर्य के समान प्रसिद्ध धनिक सेठ जासूक था जो सम्यग्दृष्टि था जिनेन्द्रपूजक था चार प्रकार के पात्रों को श्रद्धापूर्वक दान देता था उसका पुत्र जयदेव था वह भी जिनेन्द्रभक्त और निर्मल चरित्र का धारक था उसकी यशोमती नामक पत्नी से ऋषि और दाहड़ दो पुत्र हुए थे ये दोनों ही धनोपार्जन में कुशल थे इनमें ज्येष्ठ पुत्र ऋषि को राजा विक्रम ने श्रेष्ठी पद प्रदान किया था और दाहड़ ने उच्च शिखर वाला यह सुन्दर मन्दिर बनवाया था जिस में कूकेक सूर्पट देवधर और महीचन्द आदि विवेकी चतुर श्रावकों ने सहयोग दिया था और राजा विक्रमसिंह ने जिनमंदिर के संरक्षण पूजन और जीर्णोद्धार के लिये दान दिया था[४] यह लेख जसवाल जाति के लिये महत्त्वपूर्ण है

ग्वालियर स्टेट के ऐसे बहुत से स्थान हैं जिनमें जैनियों और बौद्धों तथा हिन्दुओं की पुरातन सामग्री पाई जाती है भेलसा (विदिशा) वेसनगर उदयगिरि, बडोह बरो (बड़नगर) मंदसौर नरवर ग्यारसपुर सुहानियाँ गूडर भीमपुर, पद्मावती जौरा चंदेरी मुरार आदि अनेक स्थान हैं इनमें से यहाँ उदयगिरि, नरवर और सुहानिया के सम्बन्ध में संक्षिप्त प्रकाश डाला जायगा

उदयगिरि :—भेलसा जिले में उदयगिरि नामका एक प्राचीन स्थान है भेलसा से ४ मील दूर पहाड़ी में कटे हुए मंदिर हैं पहाड़ी पौन मील के करीब लम्बी और ३ फुट की ऊंचाई को लिये हुए है यहां गुफाएँ हैं जिनमें प्रथम और २ वें नम्बर की गुफा जैनियों की है २ की गुफा जैनियों के तेवीसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ की है उसमें सन् ४२५ ४२६ का गुप्तकालीन एक अभिलेख है जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण है

'सिद्धों को नमस्कार श्रीसंयुक्त गुणसमुद्र गुप्तान्वय के सम्राट् कुमारगुप्त के वर्द्धमानराज्य शासन के १ ६ वें वर्ष और कार्तिक महीने की कृष्ण पंचमी के दिन गुहाद्वार में विस्तृत सर्पफण से युक्त शत्रुओं को जीतने वाले जिनश्रेष्ठ पार्श्वनाथ जिन की मूर्ति शम-दमवान शंकर ने बनवाई जो आचार्य भद्रान्वय के भूषण और आर्य कुलोत्पन्न आचार्य गोशर्म मुनि के शिष्य तथा दूसरों द्वारा अजेय रिपुघ्न मानी अश्वपति भट संघिल और पद्मावती के पुत्र शंकर इस नाम से लोक में विश्रुत तथा शास्त्रोक्त यतिमार्ग में स्थित था और वह उत्तर कुरुओं के सदृश उत्तर प्रान्त के श्रेष्ठ देश में उत्पन्न हुआ था उसके इस पावन कार्य में जो पुण्य हुआ हो वह सब कर्मरूपी शत्रु-समूह के क्षय के लिये हो वह मूल लेख इस प्रकार है

१ नमः सिद्धेभ्यः (॥) श्रीसंयुतानां गुणतोयधीनां गुप्तान्वयानां नृपसत्तमानाम्

---

१ श्रामोद्विपुद्रुमरवोपरिवर्ति निरोधसद्विनामसंधारिताय ।
श्रीनारायण मत्योन्नमोर्ण्णार्द्ध-मालिवव्रूपसिनो गुरवसेना ॥

२ सं. ११५२ वैशाख सुदि पञ्चम्यां श्री काष्ठासंघे महाचार्यवर्य श्री देवसेन पादुकायुगलम्

३ See Archaeological Survey of India V L. 2 P 10?

४ जैन शिलालेख संग्रह भाग २ पृष्ठ ३१ ८

(वि० म० ११६५) का है ये मूर्तियाँ कायोत्सर्ग तथा पद्मासन दोनो प्रकार की है उत्तर की वेदी मे सात फण सहित भगवान् श्रीपार्श्वनाथ की सुन्दर पद्मासन मूर्ति है दक्षिण की भीत पर भी पाच वेदियाँ है जिनमे से दो के स्थान रिक्त है जान पडता है कि उनकी मूर्तियाँ विनष्ट कर दी गई हैं उत्तर की वेदी मे दो नग्न कायोत्सर्ग मूर्तियाँ अभी भी मौजूद हैं और मध्य मे ६ फुट ८ इच लम्बा आसन एक जैन मूर्ति का है दक्षिणी वेदी पर भी दो पद्मासन नग्न मूर्तियाँ विराजमान है

दुर्ग की उर्वाही द्वार की मूर्तियो मे भगवान् आदिनाथ की मूर्ति सबसे विशाल है उसके पैरो की लम्बाई नौ फुट है और इस तरह पैरो से तीन चार गुणी ऊची है मूर्ति की कुल ऊचाई ५७ फीट से कम नही है श्वेताम्बरीय विद्वान् मुनि शीलविजय और सौभाग्यविजय ने अपनी-अपनी तीर्थमाला मे इस मूर्ति का प्रमाण बावन गज बतलाया है[1] जो किसी तरह भी सम्भव नही है और बाबर ने अपने आत्मचरित मे इस मूर्ति को करीब ४० फीट ऊचा बतलाया है, वह भी ठीक नही है कुछ खण्डित मूर्तियो की बाद मे सरकार की ओर से मरम्मत करा दी गई है, फिर भी उनमे की अधिकाश मूर्तियाँ अखण्डित मौजूद हैं

बाबा बावडी और जैन मूर्तियाँ —ग्वालियर से लश्कर जाने समय बीच मे एक मील के फासले पर 'बाबा बावडी' के नाम से प्रसिद्ध एक स्थान है सडक से करीब डेढ फर्लांग चलने और कुछ ऊचाई चढने पर किले के नीचे पहाड की विशाल चट्टानो को काट कर बहुत सी पद्मासन तथा कायोत्सर्ग मूर्तियाँ उत्कीर्ण की गई है ये मूर्तियाँ स्थापत्य कला की दृष्टि से अनमोल हैं इतनी बडी पद्मासन मूर्तियाँ मेरे देखने मे अन्यत्र नही आई बावडी के बगल मे दाहिनी ओर एक विशाल खड्गासन मूर्ति है उसके नीचे एक विशाल शिलालेख भी लगा हुआ है, जिससे मालूम होता है कि इस मूर्ति की प्रतिष्ठा वि० सवत् १५२५ मे तोमर वशीय राजा डूगरसिंह के पुत्र कीर्तिसिंह के राज्यकाल मे हुई है

खेद है कि इन सभी मूर्तियो के मुख प्राय खडित हैं यह मुस्लिमयुग के धार्मिक विद्वेष का परिणाम जान पडता है इन मूर्तियो की केवल मुखाकृति को ही नही बिगाडा गया किन्तु किसी किसी मूर्ति के हाथ-पैर भी खण्डित कर दिये गये हैं इतना ही नहीं किन्तु विद्वेषियो ने कितनी ही मूर्तियो को गारा-मिट्टी से भी चिनवा दिया था और सामने की विशाल मूर्ति को गारा मिट्टी से छाप कर उसे एक कब्र का रूप भी दे दिया था परन्तु सितम्बर सन् १८४७ के दगे के समय उनसे उक्त स्थान की प्राप्ति हुई है

सग्रहालय —ग्वालियर के किले मे एक अच्छा सग्रहालय है जिसमे हिन्दू, जैन और बौद्धो के प्राचीन अवशेषो, मूर्तियो, शिलालेखो और सिक्को आदि का सग्रह किया गया है इसमे जैनियो की गुप्तकालीन खड्गासन मूर्ति भी रक्खी हुई है, जो कलात्मक है और दर्शक को अपनी ओर आकृष्ट करती है इसी मे स० १३१८ का भीमपुर का महत्त्वपूर्ण शिलालेख भी है

ग्वालियर के आसपास उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री

दूब कुण्ड के शिलालेख —दूब कुण्ड का दूसरा नाम 'चडोभ' है यह स्थान किसी समय जैन सस्कृति का महत्त्वपूर्ण स्थान था यहाँ कच्छपघट (कछवाहा) वश के शासको के समय मे भी जैन मदिर मौजूद थे, और नूतन मन्दिरो का भी निर्माण हुआ था, साथ ही शिलालेख मे उल्लिखित लाड-बागड गण के देवसेन, कुलभूषण, दुर्लभसेन, अबरसेन और शातिषेण इन पाच दिगम्बर जैनाचार्यों का समुल्लेख पाया जाता है जो उक्त प्रशस्ति के लेखक एव शतिषेण के शिष्य विजयकीर्ति के पूर्ववर्ती हैं यदि इन पाचों आचार्यों का समय १२५ वर्ष मान लिया जाय, जो अधिक नही है, तो उसे ११४५ मे से घटाने पर देवसेन का समय १०२० के लगभग आ जाता है ये देवसेन अपने समय के प्रसिद्ध विद्वान् थे, और लाड-बागडगण के उन्नत रोहणाद्रि थे, विशुद्ध रत्नत्रय के धारक थे और समस्त आचार्य इन की आज्ञा को नत-

१ बावन गज प्रतिमा दीपती, गढ ग्वालेरि सदा सोभती ।।३।। —शीलविजय तीर्थमाला पृ० १११
गढ ग्वालेर बावन गज प्रतिमा वदू ऋषभ रगरोली जी ।। —सौभाग्यविनय तीर्थमाला १५-२-पृ० ६८

हुआ होगा स १३५५ के अभिलेख से ज्ञात होता है कि इसने चन्देरी के दुर्ग पर विजय प्राप्त की थी क्योंकि सं० १३५६ ५७ के सतीस्तम्भो में इसके राज्य का उल्लेख है जान पड़ता है कि मुसलमानो की विजयवाहिनी से चाहड़देव का वंश समाप्त हो गया

जैनत्व की दृष्टि से नरवर के किले में अनेक जैन मूर्तियां खंडित अखंडित अवस्था मे प्राप्त हैं किले में इस समय ४ मूर्तियां अखंडित है जिनपर १२११ से १३४८ तक के लेख पाये जाते है

१ 'स १२१३ असाढ सुदि ६ २ सं १३१६ ज्येष्ठ वदी ५ सोमे ३ स ११४ वैशाख वदी ७ सोमे ४ सं १३४८ वैशाखसुदी १५ शनौ'

ये सब मूर्तियां सफेद संगमर्मर पाषाण की है खंडित मूर्तियो की संख्या अधिक पाई जाती है नगर में भी अच्छा मन्दिर है और जैनियों की बस्ती भी है नगर के आस-पास के ग्रामो आदि में भी जैन अवशेष पाये जाते है जिससे वहां जैनियों के अतीत गौरव का पता चलता है

नरवर से ३ मील की दूरी भीमपुर नामका एक ग्राम है वहां जज्जपेल वंशी राजा आसल्लदेव के एक जैन सामन्त जैत्रसिंह रहते थे उन्होने जिनभक्ति से प्रेरित होकर वहां एक विशाल जैन मन्दिर बनवाया था और उस पर ३१ पद्यात्मक करीब ६ -७ श्लोको के परिमाण का लिये हुए विशाल शिलालेख लगवाया था जो अब ग्वालियर पुरातत्त्व विभाग के संग्रहालय में मौजूद है इस लेख में उक्त वंश के राजाओं का उल्लेख है जैत्रसिंह की धार्मिक परिणति का भी वर्णन है और नागदेव द्वारा उसकी प्रतिष्ठा के सम्पन्न होने का उल्लेख है स १३१८ का यह शिलालेख अभी तक पूरा प्रकाशित नही हुआ यह लेख जैनियो के लिये महत्त्वपूर्ण है पर ऐसे कार्यों में जैन समाज का योगदान नगण्य है

सुहानियां—यह स्थान भी पुरातन काल में जैन संस्कृति का केन्द्र रहा है और वह ग्वालियर से उत्तर की ओर २ मील तथा कटवर से १४ मील उत्तर पूर्व में अहसन नदी के उत्तरीय तट पर स्थित है कहा जाता है कि यह नगर पहले खूब समृद्ध था और बारह कोश जितने विस्तृत मैदान में आबाद था इसके चार फाटक थे,जिनके चिह्न मात्र भी उपलब्ध होते है सुना जाता है कि इस नगर को राजा सूरसेन के पूर्वजो ने बसाया था कनिंघम साहब को यहां वि स १ ११ १ १४ और १४६७ के मूर्तिलेख प्राप्त हुए थे

इस लेख में मध्यभारत के कुछ स्थानो के जैन पुरातत्त्व का दिग्दर्शन मात्र कराया गया है उज्जैनी धारा नगरी और इनके मध्यवर्ती भूभाग अर्थात् समूचे मालव प्रदेश का जो जैन संस्कृति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा है परिचय देने में एक बड़ा ग्रन्थ बन जायगा

२ राज्ये कुलस्याधि विवर्द्धमाने षड्भियुतैर्वर्षशतेथ मासे (।।) सुकार्तिके बहुल दिनेथ पचमे
३ गुहामुखे स्फटविकटोत्कटामिमा, जितद्विषो जिनवर पार्श्वसज्ञिका, जिनाकृति शम-दमवान
४ चीकरत् (।।) आचार्यभद्रान्वयभूषणस्य शिष्यो ह्यसावार्य्यकुलोद्गतस्य आचार्य गोश
५ र्म्म मुनेस्सुतास्तु पद्मवतावश्वपते र्भटस्य (।।) परैरजेयस्य रिपुघ्न मानिनस्स सघिल
६ स्येतिरयभिविश्रुतो भुवि स्वसज्ञया शकरनामशब्दितो विधानयुक्त यतिमार्गमन्यित (।।)
७ स उत्तराणा सदृशे कुरुणा उदग्दिशा देशवरे प्रसूत
८ क्षयाय कर्म्मारिगणस्य धीमान् यदत्र पुण्य तदपाससर्ज्ज (।।) —फ्लीट, गुप्त अभिलेख पृ० २५८

इस लेख मे उल्लिखित आचार्य भद्र और उनके अन्वय मे प्रसिद्ध मुनि गोशर्म, कहा के निवासी थे और उनकी गुरु-परम्परा क्या है ? यह कुछ मालूम नही हो सका

नरवर —एक प्राचीन ऐतिहासिक स्थान है नरवर को 'नलगिरि और नलपुर' भी कहा जाता था[1] इसका इतिवृत्त ग्वालियर दुर्ग के साथ सम्बन्धित रहा है विक्रम की १० वी शताब्दी के अन्त मे दोनो दुर्ग कछवाहा राजपूतो के अधिकार मे चले गए ये विक्रम ११८६ मे उस पर प्रतिहारो का अधिकार हो गया था लगभग एक शताब्दी शासन करने के बाद सन् १२३२ मे अल्तमश ने ग्वालियर को जीत लिया, तब प्रतिहारो ने नरवर के दुर्ग मे शरण ली विक्रम की १३ वी शताब्दी के अन्त मे दुर्ग को चाहडदेव ने प्रतिहारो से जीत लिया, जो नरवर के राजपूत कहलाते थे भीमपुर के वि० स० १३१८ के अभिलेख मे इस वश के सम्बन्ध मे कुछ सूचनाएँ की है और उसका यज्वपाल नाम सार्थक बतलाया है तथा कचेरी के स० १३३९ के शिलालेख मे जयपाल से उद्भूत होने से इस वश को 'जज्जपेल' लिखा है

नरवर और उसके आस-पास के उपलब्ध शिलालेखो और सिक्को से ज्ञात होता है कि चाहड देव के वश मे चार राजा हुए है चाहडदेव, नरवर्म देव, आसल्लदेव, गोपालदेव और गणपतिदेव चाहडदेव ने नलगिरि और अन्य बडे पुर शत्रुओ से जीत लिये थे नरवर मे इसके जो सिक्के मिले है उनमे स० १३०३ से १३११ तक की तिथि मिलती है चाहड के नाम का एक लेख स० १३०० का उदयेश्वर मन्दिर की पूर्वी महराब पर मिलता है, उसमे उसके दान का उल्लेख है नरवर्म देव भी बडा प्रतापी और राजनीतिज्ञ राजा था, जैसा कि उसके निम्न वाक्य से प्रकट है

'तस्मादनेकविधविक्रमलब्धकीर्ति पुण्यश्रुति स्समभवन्नरवर्मदेव '

वि० स० १३३८ के एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि नरवर्म देव ने धार (धारा नगरी) के राजा से चौथ वसूल की थी यद्यपि इस वश की परमारो से अनेक छेडछाड होती रहती थी, किन्तु उसमे नरवर्मदेव ने सफलता प्राप्त की थी नरवर्म देव के बाद इसका पुत्र आसल्लदेव गद्दी पर बैठा इसके राज्यसमय के दो शिलालेख वि०स० १३१८ और १३२७ के मिलते है आसल्लदेव के समय उसके सामन्त जैत्रसिंह ने भीमपुर मे एक जिनमदिर का निर्माण कराया था इस मदिर की प्रतिष्ठा सवत् १३१८ मे नागदेव द्वारा सम्पन्न हुई थी इसके समय मे भी जैन धर्म को पनपने मे अच्छा सहयोग मिला था जैत्रसिंह जैनधर्म का सपालक और श्रावक के व्रतो का अनुष्ठाता था आसल्लदेवका पुत्र गोपालदेव था इसके राज्य का प्रारम्भ स० १३३६ के बाद माना जाता है इसका चदेल वशी राजा वीरवर्मन के साथ युद्ध हुआ था, जिसमे इसके अनेक वीर योद्धा मारे गये थे

गणपति देव के राज्य का उल्लेख स० १३५० मे मिलता है यह स० १३४८ के बाद ही किसी समय राज्याधिकारी

---

१ अस्य प्रतापकनकैरमलैर्यशोभि—र्मुक्ताफलैरखिलभूपणविभ्रमाया ।
पादोनलक्षविषयक्षितिपद्मलाक्ष्या, मास्ते पुर नलपुर तिलकायमानम् ।। —भीमपुर शिलालेख १४
नलगिरि 'का उल्लेख कचेरी वाले अभिलेख में मिलता है यथा —
'तत्राभवन्नृपतिरुग्रतरप्रताप श्रीचाहडस्त्रिभुवनप्रथमानकीर्ति ।
दोर्दण्डचण्डिमभरेण पुर परेभ्यो येनाहृता नलगिरिप्रमुखा गरिष्ठा ।।' —देखो, कचेरी अभिलेख स० १३३९

हुआ होगा स० १२५५ के अभिलेख से ज्ञात होता है कि इसने चन्देरी के दुर्ग पर विजय प्राप्त की थी क्योंकि सं० १२५६ ५७ के सतीस्तम्भ मे इसके राज्य का उल्लेख है जान पड़ता है कि मुसलमानो की विजयवाहिनी से चाहडदेव का वश समाप्त हो गया

प्रमाण की दृष्टि से नरवर के किले में अनेक जैन मूर्तियाँ खडित-अखडित अवस्था में प्राप्त हैं जिस में इस समय ४ मूर्तियाँ अखडित है जिनपर १२१३ से १३४८ तक के लेख पाये जाते है

१ 'स १२१३ अषाढ सुदि ८ २ स १३१६ ज्येष्ठ वदी ५ सोमे ३ स १३४ वैशाख वदी ७ सोमे ४ स १३४८ वैशाखसुदी १५ शनौ'

ये सब मूर्तियाँ सफेद संगमरमर पाषाण की है खडित मूर्तियो की सख्या अधिक पाई जाती है नगर में भी अच्छा मन्दिर है और जैनियों की बस्ती भी है नगर के आस-पास के ग्रामो आदि में भी जैन अवशेष पाये जाते है जिससे वहा जैनियों के अतीत गौरव का पता चलता है

नरवर से ३ मील की दूरी भीमपुर नामका एक ग्राम है वहाँ यज्वपाल वशी राजा आसल्लदेव के एक जैन सामन्त जैत्रसिंह रहते थ उन्होने जिनभक्ति स प्रेरित होकर वहाँ एक विशाल जैन मन्दिर बनवाया था और उस पर २१ पद्यात्मक करीब ६ -७ श्लोकों के परिमाण को लिये हुए विशाल शिलालेख लगवाया था जो अब ग्वालियर पुरा तत्त्व विभाग के सग्रहालय मे मौजूद है इस लेख में उक्त वश के राजाओं का उल्लेख है जैत्रसिंह की धार्मिक परिणति का भी वर्णन है और नागदेव द्वारा उसकी प्रतिष्ठा के सम्पन्न होने का उल्लेख है स १३१९ का यह शिलालेख अभी तक पूरा प्रकाशित नही हुआ यह लेख जैनियों के लिये महत्त्वपूर्ण है पर ऐसे कार्यों में जैन समाज का योगदान नगण्य है

सुहानियां—यह स्थान भी पुरातन काल में जैन सस्कृति का केन्द्र रहा है और यह ग्वालियर से उत्तर की ओर २ मील तथा नरवर से १४ मील उत्तर पूर्व में अहसन नदी के उत्तरीय तट पर स्थित है कहा जाता है कि यह नगर पहले खूब समृद्ध था और बारह कोश जितने विस्तृत मैदान में आबाद था इसके चार फाटक थे जिनके चिह्न आज भी उपलब्ध होते है सुना जाता है कि इस नगर का राजा सूरसेन के पूर्वजो ने बसाया था कनिंघम साहब को यहाँ वि स १ १३ १ ३४ और १४६७ के मूर्तिलेख प्राप्त हुए थे

इस लेख में मध्यभारत के कुछ स्थानो के जन पुरातत्त्व का दिग्दर्शन मात्र कराया गया है उज्जैनी धारा नगरी और इनके मध्यवर्ती भूभाग अर्थात् समूचे मालव प्रदेश का जो जैन संस्कृति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा है परिचय देने में एक बड़ा ग्रन्थ बन जायगा

भाषा और साहित्य — चतुर्थ अध्याय

मुनि श्रीपुण्यविजयजी महाराज

जैन आगमधर और प्राकृत वाङ्मय

[प्रस्तुत निबन्ध के रचयिता मुनि श्रीपुण्यविजयजी महाराज जैनागमसाहित्य, इतिहास और पुरातत्त्व के साथ ही सस्कृत, प्राकृत भाषाओ के तलस्पर्शी विद्वान् हैं, यह महत्त्वपूर्ण जानकारी देने वाला निबन्ध सन् १९६१ में श्रीनगर (कश्मीर) मे हुई अखिल भारतीय प्राच्यविद्यापरिषद् के प्राकृत और जैनधर्म विभाग के अध्यक्ष पद से प्रस्तुत किया गया आपका अभिभाषण है जो अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ था मुनिश्री द्वारा किये गये कतिपय सशोधनो और परिवर्धनो के साथ वह यहा प्रकाशित किया जा रहा है —सम्पादक]

जैन आगमधर स्थविर और आचार्य

जैनागमो मे वर्त्तमान मे उपलभ्यमान द्वादश अगो की सूत्ररचना कालक्रम से भगवान् गणधर ने की वीर-निर्वाण के बाद प्रारम्भिक शताब्दियो मे इन आगमो का पठन-पाठन पुस्तको के आधार पर नही, अपितु गुरुमुख से होता था ब्राह्मणो के समान पढने-पढाने वालो के बीच पिता-पुत्र के सम्बन्ध की सम्भावना तो थी ही नही वैराग्य से दीक्षित होने वाले व्यक्ति अधिकाशतया ऐसी अवस्था मे होते थे, जिन्हे स्वाध्याय की अपेक्षा बाह्य तपस्या मे अधिक रस मिलता था अतएव गुरु-शिष्यो का अध्ययन-अध्यापनमूलक सम्बन्ध उत्तरोत्तर विरल होना स्वाभाविक था, जैन आचार की मर्यादा भी ऐसी थी कि पुस्तको का परिग्रह भी नही रखा जा सकता था ऐसी दशा मे जैनश्रुत का उत्तरोत्तर विच्छेद होना आश्चर्य की बात नही थी उसकी जो रक्षा हुई वही आश्चर्य की बात है इस आश्चर्यजनक घटना मे जिन श्रुतधर आचार्यों का विशेष योगदान रहा है, जिन्होने न केवल मूल सूत्रपाठो को व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया अपितु उन सूत्रो की अर्थवाचना भी दी, जिन्होने निर्युक्ति आदि विविध प्रकार की व्याख्याए भी की, एव आनेवाली सतति के लिए श्रुतनिधिरूप महत्त्वपूर्ण सम्पत्ति विरासत रूप से दे गये, उन अनेक श्रुतधरो का परिचय देने का प्रयत्न करूगा इन श्रुतधरो मे से कुछ तो ऐसे है जिनका नाम भी हमारे समक्ष नही आया है यद्यपि यह प्रयत्नमात्र है—पूर्ण सफलता मिलना कठिन है, तथापि मैं आपको कुछ नई जानकारी करा सका तो अपना प्रयत्न अशत सफल मानूगा

(१) सुधर्मस्वामी (वीर नि० ८ में दिवगत)—आचार आदि जो अग उपलब्ध हैं वे सुधर्मस्वामी की वाचनानुगत माने जाते है तात्पर्य यह है कि इन्द्रभूति आदि गणधरो की शिष्यपरम्परा अन्ततोगत्वा सुधर्मस्वामी के शिष्यो के साथ मिल गई है उसका मूल सुधर्मस्वामी की वाचना मे माना गया है भगवती जैसे आगमो मे यद्यपि भगवान् महावीर और इन्द्रभूति गौतम के बीच हुए सवाद आते है किन्तु उन सवादो की वाचना सुधर्मा ने अपने शिष्यो को दी जो परम्परा से आज उपलब्ध है—ऐसा मानना चाहिए, क्योकि आगमो के टीकाकारो ने एक स्वर से यही अभिप्राय व्यक्त किया है कि तत्तत् आगम की वाचना सुधर्मा ने जम्बू को दी

यद्यपि सुधर्मा की अगो की वाचना का अविच्छिन्न रूप आज तक सुरक्षित नही रहा है फिर भी जो भी सुरक्षित है उसका सम्बन्ध सुधर्मा से जोडा जाता है, यह निर्विवाद है गणधरो के वर्णनप्रसग मे सुधर्मा की जो प्रशसा आती है उसे स्वय सुधर्मा तो कर नही सकते, यह स्पष्ट है अतएव तत्तत् सूत्रो के प्रारम्भिक भाग की रचना मे आगमो के विद्यमान रूप के सकलनकर्त्ता का हाथ रहा हो तो कोई आश्चर्य नही

(२) शय्यंभव (वीर नि० ८१ में दिवंगत।)—अपने पुत्र मनक के लिए दशवैकालिक की रचना कर इन्होंने जैन श्रमणों के आचार का आचारांग के बाद एक नया सीमास्तम्भ बांधा है। इसकी रचना के बाद इसका महत्त्व बढ़ा कि जैन श्रमणों को प्रारम्भ में जो आचारांगसूत्र पढ़ाया जाता था उसके स्थान पर यही पढ़ाया जाने लगा (व्यवहारभाष्य० उ० ३ गा० १७६) इतना ही नहीं पहले जहाँ आचारांग के शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन के बाद श्रमण उपस्थापना का अधिकारी होता था वहाँ अब दशवैकालिक के चौथे षड्जीवनिकाय नामक अध्ययन के बाद उपस्थापना के योग्य समझा गया (वही गा० १७४) पहले जहाँ आचारांग के द्वितीय अध्ययन के पंचम उद्देशगत आमगंध सूत्र के अध्ययन के बाद श्रमण पिण्डकल्पी होता था वहाँ अब दशवैकालिक के पंचम पिण्डैषणा नामक अध्ययन की वाचना के बाद श्रमण पिण्डकल्पी होने लगा (वही गा० १७५)

दशवैकालिकसूत्र दिगम्बरों (सर्वार्थसिद्धि १.२०) एवं यापनीयों को भी बहुत समय तक समान रूप से मान्य रहा है यह भी इसकी विशेषता है

(३) प्रादेशिक आचार्य—जिनके नाम का तो पता नहीं किन्तु जो विभिन्न देशों में आगमों की प्रचलमान व्याख्याओं के प्रवर्तक रहे उनका परिचय तत्तद्देश प्रदेश से सम्बद्ध रूप से मिलता है अतएव मैंने उन्हें 'प्रादेशिक आचार्य' की संज्ञा दी है

सूत्रकृतांग की चूर्णि में (पत्र ९०) 'पूर्वदिग्निवासिनामाचार्याणामर्थं प्रतीच्या-ऽपरदिग्निवासिनस्त्वेवं कथयन्ति' इस प्रकार पौरस्त्य पाश्चात्य एवं दाक्षिणात्य आचार्यों का उल्लेख पाया जाता है

व्यवहारसूत्र की चूर्णि में 'एके आचार्या लाडा एवं ब्रुवतेऽहा—गविलग्ग चरणोवगस्स कीरति अपरे आचार्या दाक्षिणात्या ब्रुवते—युगल नियसाविस्मृति' इस प्रकार दाक्षिणात्य और लाटदेश में विचरने वाले आचार्यों का उल्लेख मिलता है कल्पचूर्णि एवं निशीथचूर्णि में (भाग २ पत्र १३४) भी लाटाचार्य का उल्लेख प्राप्त होता है यहाँ लाटदेश भगवान् महावीर के विहार में वर्णित लाढदेश नहीं किन्तु गुजरात में महानदी और दमण के बीच के प्रदेश को समझना चाहिए जिसके प्रमुख नगर भृगुकच्छ (भरूच) और दर्भावती (डभोई) आदि थे भारतीय विद्याभवन के आचार्य पद्मश्री मुनि जिनविजयजी सम्पादित पुस्तकप्रशस्ति संग्रह पृष्ठ १०७ प्रशस्तिक्रमांक ११ आदि में श्री श्रीपति लाटदेशमण्डले मही दमुनयोरन्तराले समस्तव्यापाराम् परिपन्थयति' इत्यादि उल्लेख भी पाये जाते हैं जिनागमविषमपदपर्याय म पंचकल्प के विषमपदपर्याय में "लाडपरिवाडीए लाटदेशचार्यानामित्यर्थ ऐसा उल्लेख है इसी प्रकार इसी ग्रन्थ में निशीथसूत्र के विषमपदपर्याय में लाडाचार्याभिप्रायात् माथुराचार्याभिप्रायेण परओ राईए विन्ताऽस्माकम्" इस तरह माथुराचार्य का भी उल्लेख पाया जाता है

इसी तरह षट्खण्डागम की धवला टीका में उत्तरप्रतिपत्ति व दक्षिणप्रतिपत्ति रूप से जो दो प्रकार की प्रतिपत्तियों का उल्लेख है वह भी मूलतः तत्तत्प्रदेश के आचार्यों को विशेष रूप से मान्य होने वाली परम्परा का ही निर्देश है (षट्खण्डागम भा० १ भूमिका-पृ० ५७ तथा भा० ३ भूमिका पृ० १५) धवलाकार ने इसका जो अर्थ किया है वह इस प्रकार है 'एसा दक्खिणपडिवत्ती। दक्खिण उज्जुव आयरियपरम्परागदमिदि एयट्ठो॥ ... एसा उत्तरपडिवत्ती, उत्तरमणुज्जुव आयरियपरम्पराए णागदमिदि एयट्ठो॥' —षट्खण्डागम धवला भा० ३, पृ० ९२ इससे प्रतीत होता है कि धवलाकार के समक्ष दक्षिणप्रतिपत्ति की मान्यता परम्परागत थी जब कि उत्तरप्रतिपत्ति परम्परागत नहीं थी

(४) पांच सौ आदेशों के स्थापक—स्थविर आर्य भद्रबाहुस्वामी ने आवश्यकनिर्युक्ति की १२३१ वीं गाथा में "पंच सयादेसवयणं च" इस गाथांश से पांच सौ आदेशों का निर्देश किया है आवश्यकचूर्णिकार श्री जिनदासमहत्तर तथा वृत्तिकार श्री हरिभद्रसूरि ने 'पांच सौ आदेश' के विषय में लिखा है 'अरिहण्णवगरी पंच आदेससयाणि ण वि जाणे ण वि दसंने पाडो अत्थि एव—मरुदेवा अणादि-वणस्सइकाइया अणंतरं उव्वट्टिता सिद्धति १। तहा सयंभूरमण मच्छाण पउमपत्ताण य सव्वसंठाणाणि वलयसंठाणं मोत्तु २। वरड-उक्करडा य कुणालाए एगे जवा तथा जवाभि-करट

मुनि श्रीपुण्यविजयजी महाराज

जैन आगमधर और प्राकृत वाङ्मय

[प्रस्तुत निबन्ध के रचयिता मुनि श्रीपुण्यविजयजी महाराज जैनागमसाहित्य, इतिहास और पुरातत्त्व के साथ ही सस्कृत, प्राकृत भाषाओ के तलस्पर्शी विद्वान् हैं, यह महत्त्वपूर्ण जानकारी देने वाला निबन्ध सन् १६६१ में श्रीनगर (कश्मीर) मे हुई अखिल भारतीय प्राच्यविद्यापरिषद् के प्राकृत और जैनधर्म विभाग के अध्यक्ष पद से प्रस्तुत किया गया आपका अभिभाषण है जो अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ था मुनिश्री द्वारा किये गये कतिपय सशोधनों और परिवर्धनो के साथ वह यहा प्रकाशित किया जा रहा है —सम्पादक]

जैन आगमधर स्थविर और आचार्य

जैनागमो मे वर्त्तमान मे उपलभ्यमान द्वादश अगो की सूत्ररचना कालक्रम से भगवान् गणधर ने की वीर-निर्वाण के बाद प्रारम्भिक शताब्दियो मे इन आगमो का पठन-पाठन पुस्तको के आधार पर नही, अपितु गुरुमुख से होता था ब्राह्मणो के समान पढने-पढाने वालो के बीच पिता-पुत्र के सम्बन्ध की सम्भावना तो थी ही नही वैराग्य से दीक्षित होने वाले व्यक्ति अधिकाशतया ऐसी अवस्था मे होते थे, जिन्हे स्वाध्याय की अपेक्षा बाह्य तपस्या मे अधिक रस मिलता था अतएव गुरु-शिष्यो का अध्ययन-अध्यापनमूलक सम्बन्ध उत्तरोत्तर विरल होना स्वाभाविक था, जैन आचार की मर्यादा भी ऐसी थी कि पुस्तको का परिग्रह भी नही रखा जा सकता था ऐसी दशा मे जैनश्रुत का उत्तरोत्तर विच्छेद होना आश्चर्य की बात नही थी उसकी जो रक्षा हुई वही आश्चर्य की बात है इस आश्चर्यजनक घटना मे जिन श्रुतधर आचार्यों का विशेष योगदान रहा है, जिन्होने न केवल मूल सूत्रपाठो को व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया अपितु उन सूत्रो की अर्थवाचना भी दी, जिन्होने निर्युक्ति आदि विविध प्रकार की व्याख्याए भी की, एव आनेवाली सतति के लिए श्रुतनिधिरूप महत्त्वपूर्ण सम्पत्ति विरासत रूप से दे गये, उन अनेक श्रुतधरो का परिचय देने का प्रयत्न करूगा इन श्रुतधरो मे से कुछ तो ऐसे है जिनका नाम भी हमारे समक्ष नही आया है यद्यपि यह प्रयत्नमात्र है—पूर्ण सफलता मिलना कठिन है, तथापि मैं आपको कुछ नई जानकारी करा सका तो अपना प्रयत्न अशत सफल मानूगा

(१) सुधर्मस्वामी (वीर नि० ८ में दिवगत)—आचार आदि जो अग उपलब्ध हैं वे सुधर्मस्वामी की वाचनानुगत माने जाते है तात्पर्य यह है कि इन्द्रभूति आदि गणधरो की शिष्यपरम्परा अन्ततोगत्वा सुधर्मस्वामी के शिष्यो के साथ मिल गई है उसका मूल सुधर्मस्वामी की वाचना मे माना गया है भगवती जैसे आगमो मे यद्यपि भगवान् महावीर और इन्द्रभूति गौतम के बीच हुए सवाद आते है किन्तु उन सवादो की वाचना सुधर्मा ने अपने शिष्यो को दी जो परम्परा से आज उपलब्ध है—ऐसा मानना चाहिए, क्योकि आगमो के टीकाकारो ने एक स्वर से यही अभिप्राय व्यक्त किया है कि तत्तत् आगम की वाचना सुधर्मा ने जम्बू को दी

यद्यपि सुधर्मा की अगो की वाचना का अविच्छिन्न रूप आज तक सुरक्षित नही रहा है फिर भी जो भी सुरक्षित है उसका सम्बन्ध सुधर्मा से जोडा जाता है, यह निर्विवाद है गणधरो के वर्णनप्रसग मे सुधर्मा की जो प्रशसा आती है उसे स्वय सुधर्मा तो कर नही सकते, यह स्पष्ट है अतएव तत्तत् सूत्रो के प्रारम्भिक भाग की रचना मे आगमो के विद्यमान रूप के सकलनकर्त्ता का हाथ रहा हो तो कोई आश्चर्य नही

तथा निशीथ को अलग स्थान दिया गया है इससे यह तो स्पष्ट होता है कि कल्प व्यवहार और निशीथ की अगबाह्य अर्थाधिकार की परम्परा चली आती थी

भद्रबाहुकृत कल्प-व्यवहार जिस रूप मे आज श्वेताम्बरपरम्परा म मान्य हैं उसी रूप में दिगम्बर परम्परा में उल्लिखित अगबाह्य कल्पादि मान्य थे या उससे भिन्न-यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है किन्तु उनका जो विषय बताया गया है वही विषय उपलब्ध भद्रबाहुकृत कल्पादि मे विद्यमान है दोनों परम्पराओ के मत से स्थविरकृत रचनाएं अगबाह्य मानी जाती रही है भद्रबाहु तक श्वेताम्बर दिगम्बर का मतभेद स्पष्ट नही था इन तथ्यो के आधार पर सभावना की जा सकती है कि कल्प-व्यवहार के जिन अर्थाधिकारो का उल्लेख धवला म है उन अर्थाधिकारो का सूत्रात्मक व्यवस्थित सकलन सर्वप्रथम आचाय भद्रबाहु ने किया और वह सघ को मान्य हुआ इस दृष्टि से धवला में उल्लिखित कल्प-व्यवहार और निशीथ तथा उपलब्ध कल्प-व्यवहार और निशीथ मे भेद मानने का कोई कारण नही है फिर भी दोनो की एकता का निश्चयपूर्वक विधान करना कठिन है

आचाय भद्रबाहु की जो विशेषता है वह यह है कि इन्होने अपने उक्त ग्रथो म उत्सग और अपवादो की व्यवस्था की है इतना ही नही किन्तु व्यवहारसूत्र में तो अपराधो के दण्ड की भी व्यवस्था की गई है ऐसी दण्डव्यवस्था एव आचार्य आदि पदवी की योग्यता आदि के निर्णय सवप्रथम इन्ही के ग्रथो में मिलते है सघ ने ग्रथों को प्रमाणभूत माना यह आचाय भद्रबाहु की महत्ता का सूचक है श्रमणो के आचार के विषय में दशवैकालिक के बाद दशा-कल्प आदि ग्रथ दूसरा सीमास्तम्भ है साथ ही एक बार अपवाद की शुरुआत होने पर अन्य भाष्यकारो व चूर्णिकारो ने भी उत्तरोत्तर अपवादो म वृद्धि की सभव है कि इसी अपवाद-माग को लेकर सघ में मतभेद की जड दृढ होती गई और आगे चल कर श्वेताम्बर-दिगम्बर का सम्प्रदाय भेद भी दृढ हुआ

बृहत्कल्प भाष्य भा ६ की प्रस्तावना मे मैंने अनेक प्रमाणो के आधार पर यह सिद्ध किया है कि उपलब्ध निर्युक्तियों के कर्ता श्रुतकेवली भद्रबाहु नही है किन्तु ज्योतिर्विद् वराहमिहिर के भ्राता द्वितीय भद्रबाहु है जो विक्रम की छठी शताब्दी म हुए है अपने इस कथन का स्पष्टीकरण करना यहाँ उचित है जब मैं यह कहता हू कि उपलब्ध निर्युक्तियाँ द्वितीय भद्रबाहु की है श्रुतकेवली भद्रबाहु की नही तब इसका तात्पय यह नही कि श्रुतकेवली भद्रबाहु ने निर्युक्तियों की रचना की ही नही मेरा तात्पय केवल इतना ही है कि जिस अन्तिम सकलन के रूप में आज हमारे समक्ष नियुक्तियाँ उपलब्ध है वे श्रुतकेवली भद्रबाहु की नही है इसका अथ यह नही कि द्वितीय भद्रबाहु के पूर्व कोई निर्युक्तियाँ थी ही नही निर्युक्ति के रूप मे आगमव्याख्या की पद्धति बहुत पुरानी है इसका पता हमें अनुयोगद्वार से लगता है वहा स्पष्ट कहा गया कि अनुगम दो प्रकार का होता है सुत्ताणुगम और निज्जुत्तिअणुगम इतना ही नही किन्तु नियुक्तिरूप से प्रसिद्ध गाथाए भी अनुयोगद्वार मे दी गई है पाक्षिकसूत्र में भी सनिज्जुत्तिए ऐसा पाठ मिलता है द्वितीय भद्रबाहु के पहले भी गोविन्द वाचक की निर्युक्ति का उल्लेख निशीथभाष्य व चूर्णि म मिलता है इतना ही नही किन्तु वदिकवाङ्मय म भी निरुक्त अति प्राचीन है अतएव यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि जैनागम की व्याख्या का निर्युक्ति नामक प्रकार प्राचीन है यह सभव नही कि विक्रम की छठी शताब्दी तक आगमो की कोई व्याख्या निर्युक्ति के रूप म हुई ही न हो दिगम्बरमान्य मूलाचार मे भी आवश्यक निर्युक्तिगत कई गाथाए है इससे भी पता चलता है कि श्वेताम्बर दिगम्बर सम्प्रदाय का स्पष्ट भेद होने के पूर्व भी निर्युक्ति की परम्परा थी ऐसी स्थिति म श्रुतकेवली भद्रबाहु ने नियुक्तियो की रचना की है—इस परम्परा को निर्मूल मानने का कोई कारण नही है अत यही मानना उचित है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु ने भी नियुक्तियो की रचना की थी और बाद में गोविन्द वाचक जैसे अन्य आचार्यों ने भी उसी प्रकार समय बढ़ते बढ़ते निर्युक्तियो का जो अन्तिम रूप हुआ वह द्वितीय भद्रबाहु का है अर्थात् द्वितीय भद्रबाहु ने अपने समय तक की उपलब्ध नियुक्ति-गाथाओ का अपनी नियुक्तियो मे सग्रह किया हो साथ ही अपनी ओर से भी कुछ नई गाथाए बना कर जोड दी यही रूप आज हमारे सामने निर्युक्ति के नाम से उपलब्ध है इस तरह क्रमश निर्युक्ति-गाथाए बढती गईं इसका एक प्रबल प्रमाण यह है कि दशवैकालिक की दोनों चूर्णियाँ

उवकरडाण निद्धमणमूले वसही, देवयाणुकपण, रुट्ठेसु पन्नरसदिवसवरिसण कुणालाणगरिविणासो, ततो नतियवरिसे साराए णगरे दोण्ह वि कालकरण, अहेसत्तमपुढविकालणरगगमण, कुणालाणगरिविणासकालाओ तेरसमे वरिसे महावीरस्स केवलनाणुप्पत्ती ३ एय अवद्ध" (आवश्यकचूर्णि भा० १ पृष्ठ ६०१, हरिभद्रवृत्ति पत्र ४६५) अर्थात् जिन हकीकतो का उल्लेख किसी अग या उपाग आदि मे नही मिलता है किन्तु जो स्थविर आचार्यों के मुखोपमुख चली आई है उनका सग्रह "पाच सौ आदेश" कहलाता है इन पाच सौ आदेशो का कोई सग्रह आज उपलब्ध नही है किन्तु आवश्यकचूर्णि, वृत्ति आदि इधर-उधर विप्रकीर्णरूप मे कुछ-कुछ आदेशो का उल्लेख पाया जाता है (पत्र ४६५ तथा बृहत्कल्पसूत्र-वृत्ति भा० १ पत्र ४४ टि०६)

(५) **सैद्धान्तिक, कार्मग्रन्थिकादि**—जैन आगमो की परम्परा को मानने वाले आचार्य सैद्धान्तिक कहलाते है कर्मवाद के शास्त्रो के पारम्पर्य को माननेवाले आचार्य कार्मग्रन्थिक कहे जाते है तर्कशास्त्र की पद्धति से आगमिक पदार्थों का निरूपण करने वाले स्थविर तार्किक माने गये है जैन आगम आदि शास्त्रो मे स्थान-स्थान पर इनका उल्लेख किया गया है

भिन्न-भिन्न कुल, गण आदि की परम्पराओ मे जो-जो व्याख्याभेद एव सामाचारीभेद अर्थात् आचारभेद थे उनका तत्तत् कुल, गण आदि के नाम से "नाइलकुलिच्चयाण आयाराओ आढवेत्ता जाव दमातो ताव णत्थि आयविल, णिव्वी-तिएण पढति" (व्यवहारचूर्णि) इस प्रकार देखा जाता है

(६) **भद्रबाहुस्वामी**—(वीर नि० १७० मे दिवगत)--अन्तिम श्रुतकेवली के रूप मे प्रसिद्ध ये आचार्य अपनी अन्तिम अवस्था मे जब ध्यान करने के लिए नेपालदेश मे गये थे तब वीर सवत् १६० मे श्रुत को व्यवस्थित करने का सर्व-प्रथम प्रयत्न पाटलीपुत्र मे हुआ था, ऐसी परम्परा है ग्यारह अगो के ज्ञाता तो सघ मे विद्यमान थे किन्तु बारहवें अग का ज्ञाता पाटलीपुत्र मे कोई न था अतएव सघ की आज्ञा शिरोधार्य कर आचार्य भद्रबाहु ने कुछ श्रमणो को बारहवें अग की वाचना देना स्वीकार किया, किन्तु सीखने वाले श्रमण श्रीस्थूलभद्र के कुतूहल के कारण बारहवा अग समग्रभाव से सुरक्षित न रह सका उसके चौदह पूर्वों मे से केवल दस पूर्वों की ही परम्परा स्थूलभद्र के शिष्यो को मिली इस प्रकार आचार्य भद्रबाहु के बाद कोई श्रुतकेवली नही हुआ किन्तु दस पूर्वों की परम्परा चली अर्थात् बारह अगो मे से चार पूर्व जितना अश विच्छिन्न हुआ यही से उत्तरोत्तर विच्छेदन की परम्परा बढी अन्ततोगत्वा बारहवा अग ही लुप्त हो गया, एव अगो मे केवल ग्यारह अग ही सुरक्षित रहे ग्यारह अगो मे से भी जो प्रश्नव्याकरणसूत्र अभी उप-लब्ध है वह किसी नई ही वाचना का फल है क्योकि समवायाग, नन्दी आदि आगमो मे इसका जो परिचय मिलता है उससे यह भिन्न ही रूप मे उपलब्ध है

आचार्य भद्रबाहु ने दशा, कल्प और व्यवहार इन तीन ग्रन्थो की रचना की, यह सर्वसम्मत है किन्तु इन्होने निशीथ की भी रचना की ऐसा उल्लेख केवल पचकल्प-चूर्णिकारने ही किया है फिर भी आज निशीथसूत्रकी खभात के श्रीशाति-नाथ ज्ञान-भण्डार की वि० स० १४३० मे लिखी हुई प्रति मे तथा वैसी अन्य प्रतियो मे इसके प्रणेता का नाम विशा-खगणि महत्तर बताया गया है वह उल्लेख इस प्रकार है

दसण-चरित्तजुत्तो गुत्तो गोत्तीसु सज्जणहिएसी ।
णामेण **विसाहगणी** महत्तरओ णाणमजूसा ॥१॥
कित्ती-कतिपिणद्धो जसपत्तपडहो (?) तिसागरणिरुद्धो ।
पुणरुत्त भमति महिं ससिव्व गगणगण तस्स ॥२॥
तस्स लिहिय जिसीह धम्मधुराधरणपवरपुज्जस्स ।
आरोगधारणिज्ज सिस्स-पसिस्सोवभोज्ज च ॥३॥

दिगम्बर परम्परा मे धवला के अनुसार १४ अगबाह्य अर्थाधिकार हैं इनमे कल्प और व्यवहार को एक माना गया है
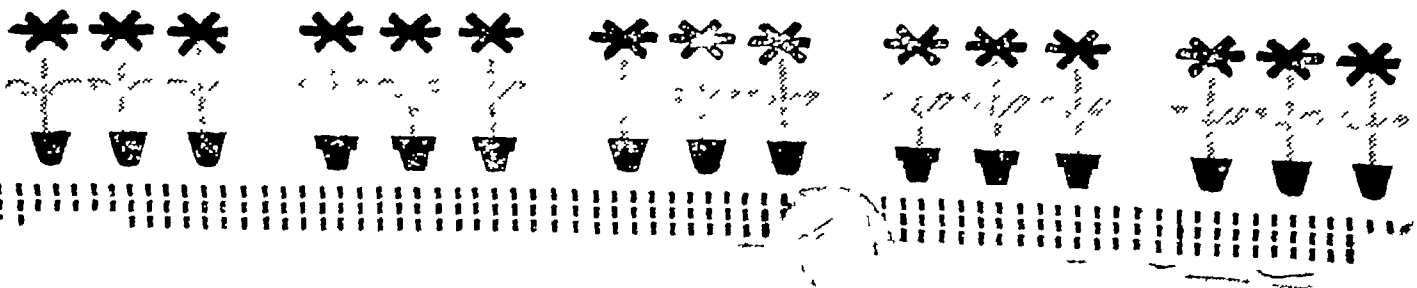
वृत्ति में इस वृत्ति के प्रणेता पादलिप्त को कहा है संभव है आचार्य मलयगिरि के पास कोई अलग कुल की प्रतियाँ आई हो जिनमें मूलसूत्र और वृत्ति का आदि अन्तिम भाग छूट गया हो जैसलमेर के ताडपत्रीय संग्रह की ज्योतिष्करण्डक मूलसूत्र की प्रति में इसका आदि और अन्त का भाग नहीं है आचार्य मलयगिरि को ऐसे ही कुल की कोई खंडित प्रति मिली होगी जिस से अनुसन्धान कर के उन्होंने अपनी वृत्ति की रचना की होगी इन आचार्य ने 'शत्रुञ्जयकल्प' की भी रचना की है नागार्जुनयोगी इनका उपासक था इसने इन्हीं आचार्य के नाम से शत्रुञ्जयमहातीर्थ की तलहटी में पादलिप्तनगर [पालीताणा] बसाया था ऐसी अनुश्रुति जैनग्रन्थों में पाई जाती है

(११) आर्यरक्षित (वीर नि ५८४ में दिवंगत)—स्थविर आर्य वज्रस्वामी इनके विद्यागुरु थे ये जैन आगमों के अनुयोग का पृथक्त्व भेद करनेवाले नयों द्वारा होने वाली व्याख्या के आग्रह को शिथिल करनेवाले और अनुयोगद्वारसूत्र के प्रणेता थे प्राचीन व्याख्यान-पद्धति को इन्होंने अनुयोगद्वारसूत्र की रचना द्वारा शास्त्रबद्ध कर दिया है ये ही दुर्बलिका पुष्यमित्र विन्ध्य आदि के दीक्षागुरु एवं शिक्षागुरु थे

यहाँ पर प्रसंगवश अनुयोग का पृथक्त्व क्या है इसका निर्देश करना उचित होगा

अनुयोगका पृथक्त्व

कहा जाता है कि प्राचीन युग में जैन गीतार्थ स्थविर जैन आगमों के प्रत्येक छोटे-बड़े सूत्रों की वाचना शिष्यों को चार अनुयोगों के मिश्रण से दिया करते थे उनका इस वाचना या व्याख्या का क्या ढंग था यह कहना कठिन है फिर भी अनुमान होता है कि उस व्याख्या में—(१) चरणकरणानुयोग—जीवन के विशुद्ध आचार (२) धर्मकथानुयोग—विशुद्ध आचार का पालन करनेवालों की जीवन कथा (३) गणितानुयोग—विशुद्ध आचार का पालन करनेवालों के अनेक भूगोल खगोल के स्थान और (४) द्रव्यानुयोग—विशुद्ध जीवन जीने वालों की तात्त्विक जीवन चिन्ता क्या व किस प्रकार की हो इसका निरूपण रहता होगा और वे प्रत्येकसूत्र की नया प्रमाण व नयजाल से व्याख्या कर उसके हार्दको कई प्रकार से विस्तृत कर बताते होंगे समय के प्रभाव से बुद्धिबल व स्मरणशक्ति की हानि होनेपर क्रमशः इस प्रकारके व्याख्यान में न्यूनता आती ही गई जिसका साक्षात्कार स्थविर आर्य कालक द्वारा अपने प्रशिष्य सागरचन्द्र को दिये गये धूलिपुंज के उदाहरणसे हो जाता है जैसे धूलिपुंज को एक जगह रखा जाय फिर उसको उठाकर दूसरी जगह रखा जाय इस प्रकार *उसी धूलिपुंज को उठा-उठाकर दूसरी-दूसरी जगह पर रखा जाय ऐसा करने पर पुंज का बड़ा धूलिपुंज अन्त में चुटकी में* भी न आवे ऐसा हो जाता है इसी प्रकार जैन आगमोंका अनुयोग अर्थात् व्याख्यान कम होते होते परम्परासे बहुत संक्षिप्त रह गया ऐसी दशामें बुद्धिबल एवं स्मरणशक्ति की हानि के कारण जब चतुरनुयोग का व्याख्यान दुर्घट प्रतीत हुआ तब स्थविर आर्यरक्षितने चतुरनुयोगके व्याख्यानके आग्रहका शिथिल कर दिया इतना ही नहीं उन्होंने प्रत्येक सूत्र की जो नया के आधार से तार्किक विचारणा आवश्यक समझी जाती थी उसे भी वैकल्पिक कर दिया श्रीआर्यरक्षित के शिष्य प्रशिष्यों का समुदाय सख्यामें बड़ा था उनमें जो विद्वान् शिष्य थे उन सबमें दुर्बलिका पुष्यमित्र अधिक बुद्धिमान् एवं स्मृतिशाली थे वे कारणवशात् कुछ दिन तक स्वाध्याय न करनेके कारण ११ अंग पूर्वशास्त्र आदिको और उनकी नयगर्भित चतुरनुयोगात्मक व्याख्या को विस्मृत करने लगे इस निमित्त को पाकर स्थविर आर्यरक्षित ने सोचा कि ऐसा बुद्धिस्मृतिसम्पन्न भी यदि इस अनुयोगको भूल जाता है तो दूसरेकी तो बात ही क्या ? ऐसा सोचकर उन्होंने चतुरनुयोग के स्थान पर सूत्रों की व्याख्या में उनके मूल विषय को ध्यान में रखकर किसी एक अनुयोग को ही प्राधान्य दिया और नयों द्वारा व्याख्या करना भी आवश्यक नहीं समझा वक्ता व श्रोता की अनुकूलता के अनुसार ही नयों द्वारा व्याख्या की जाय ऐसी पद्धति का प्रचलन किया तदनुसार विद्यमान आगमों के सूत्रों को उन्होंने चार अनुयोगों में विभक्त कर दिया जिससे तत्-तत् सूत्र की व्याख्या केवल एक ही अनुयोग का आश्रय लेकर हो जैसे आचार तथा छेदसूत्र आदि सूत्रों की व्याख्या में केवल चरणकरणानुयोग का ही आश्रय लिया जाय शेष का नहीं इसी प्रकार सूत्रों को कालिक-उत्कालिक विभाग में भी बांट दिया

मे प्रथम अध्ययन की केवल ५७ निर्युक्ति गाथाए है जब कि हरिभद्र की वृत्ति मे १५७ है इससे यह भी सिद्ध होता है कि द्वितीय भद्रबाहु ने निर्युक्तियो का अन्तिम सग्रह किया उसके बाद भी उसमे वृद्धि होती रही है इस स्पष्टीकरण के प्रकाश मे यदि हम श्रुतकेवली भद्रबाहु को भी निर्युक्तिकार मानें तो अनुचित न होगा

(७) श्यामाचार्य (वीर नि० ३७६ मे दिवगत)—इन्होने प्रज्ञापना उपागसूत्र की रचना की है प्रज्ञापनासूत्र के "वायगवरवसाओ तेवीसइमेण धीरपुरिसेण" इस प्रारभिक उल्लेख के अनुसार ये वाचकवश के २३ वे पुरुष थे

(८,६,१०) आर्य सुहस्ति (वी नि २९१) आर्यसमुद्र : (वी नि ४७०) और आर्य मगु (वी नि ४७०)—इन तीन स्थविरो की कोई खास कृति हमारे सामने नही है, किन्तु जैन आगमो मे, खासकर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि आदि मे नाम-स्थापना आदि निक्षेप द्वारा पदार्थमात्र का जो समग्रभाव से प्रज्ञापन किया जाता है इसमे जो द्रव्य-निक्षेप आता है इस विषय मे इन तीन स्थविरो की मान्यता का उल्लेख कल्पचूर्णि में किया गया है —

"किंच आदेसा जहा—अज्जमगू तिविह सख इच्छति, एगभविय बद्धाउय अभिमुहनाम-गोत्त च अज्जसमुद्दा दुविह, बद्धाउय अभिमुहनाम-गोत्त च अज्जसुहत्थी एग अभिमुहणाम-गोय इच्छति" ये तीन महापुरुष जैन आगमो के श्रेष्ठ ज्ञाता एव माननीय स्थविर थे

(११) पादलिप्ताचार्य (वीर नि ४६७ के आसपास)—इन आचार्य ने तरगवई नामक प्राकृत-देशी भाषामयी अति रसपूर्ण आख्यायिका की रचना की है यह आख्यायिका आज प्राप्त नही है किन्तु हारिजगच्छीय आचार्य यश (?) रचित प्राकृत गाथाबद्ध इसका सक्षेप प्राप्त है डा० अन्तर्स लॉयमान ने इस सक्षेप मे समाविष्ट कथाश को पढकर इसका जर्मन मे अनुवाद किया है यही इस आख्यायिका की मधुरता की प्रतीति है दाक्षिण्यक उद्योतनसूरि, महाकवि धनपाल आदि ने इस रचना की मार्मिक स्तुति की है इन्ही आचार्य ने ज्योतिष्करडकशास्त्र की प्राकृत टिप्पनकरूप छोटी सी वृत्ति लिखी है इसका उल्लेख आचार्य मलयगिरि ने अपनी सूर्यप्रज्ञप्तिवृत्ति मे (पत्र ७२ व १००) और ज्योतिष्करडक-वृत्ति मे (पत्र ५२, १२१,२३७) किया है यद्यपि आचार्य मलयगिरि ने ज्योतिष्करडक-वृत्ति को पादलिप्ताचार्यनिर्मित बतलाया है किन्तु आज जैसलमेर और खभात मे पद्रहवी शती मे लिखी गई मूल और वृत्ति सहित मूल की जो हस्तप्रतियाँ प्राप्त है उन्हे देखते हुए आचार्य मलयगिरि के कथन को कहाँ तक माना जाय, यह मै तज्ज्ञ विद्वानो पर छोड देता हूँ उपर्युक्त मूलग्रन्थ एव मूलग्रन्थसहित वृत्ति के अत मे जो उल्लेख हैं वे क्रमश इस प्रकार है —

कालण्णाणसमासो पुव्वायरिएहि वण्णिओ एसो ।
दिणकरपण्णत्तीतो सिस्सजणहिओ सुहोपायो ।।
पुव्वायरियकयाण करणाण जोतिसम्मि समयम्मि ।
पालित्तकेण इणमो रइया गाहाहि परिवाडी ।। —ज्योतिष्करण्डक प्रान्त भाग

कालण्णाणसमासो पुव्वायरिएहि नीणिओ एसो ।
दिणकरपण्णत्तीतो सिस्सजणहिओ पिओ ।।
पुव्वायरियकयाय नीतिसमसमएण ।
पालित्तएण इणमो रइया गाहाहि परिवाडी ।।

।। णमो अरहताण ।।

कालण्णाणस्सिणमो वित्ती णामेण चद [ ] त्ति ।
सिवनदिवायगेहिं तु रोयिगा जिणदेवगतिहेतूण (?) ।। ।। ग्र० १५८० ।।
—ज्योतिष्करडकवृत्ति प्रान्त भाग

इन दोनो उल्लेखो से तो ऐसा प्रतीत होता है कि—मूल ज्योतिष्करडकप्रकीर्णक के प्रणेता पादलिप्ताचार्य है और उसकी वृत्ति, जिसका नाम 'चन्द्र' है, शिवनन्दी वाचक की रचना है आचार्य मलयगिरि ने तो सूर्यप्रज्ञप्तिवृत्ति एव ज्योतिष्करडक-

के समयनिर्णय के लिए उपयुक्त होने की सम्भावना है. इस चूर्णि की प्रति जैसलमेर के जिनभद्रीय ज्ञानभण्डार में सुरक्षित है. इसका प्रकाशन प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी की ओर से मेरे द्वारा सम्पादित हो कर शीघ्र ही प्रकाशित होगा.

(११) संघदासगणि क्षमाश्रमण (वि० ५वीं शताब्दी)—ये आचार्य वसुदेवहिंडी—प्रथम खण्ड के प्रणेता संघदासगणि वाचक से भिन्न हैं एवं इनके बाद के भी हैं. इन्होंने कल्पलघुभाष्य और पंचकल्पमहाभाष्य की रचना की है. वे महाभाष्यकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के पूर्ववर्ती हैं.

(१२) जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण (वि० की ७वीं शती)—ये सैद्धान्तिक आचार्य थे. इनकी महाभाष्यकार एवं भाष्यकार के रूप में प्रसिद्धि है. दार्शनिक-गम्भीरचिन्तनपरिपूर्ण विशेषावश्यक महाभाष्य की रचना ने इन्हें बहुत प्रसिद्ध किया है. केवलज्ञान और केवलदर्शन विषयक युगपदुपयोगद्वयवाद एवं अभेदवाद को माननेवाले तार्किक आचार्य सिद्धसेन दिवाकर और मल्लवादी के मत का इन्होंने उपर्युक्त भाष्य एवं विशेषणवती ग्रन्थ में निरसन किया है. जीतकल्पसूत्र, बृहत्संग्रहणी, बृहत्क्षेत्रसमास, अनुयोगद्वारचूर्णिगत अंगुलपदचूर्णि और विशेषावश्यक-स्वोपज्ञवृत्ति षष्ठगणधरवाद व्याख्यान पर्यन्त—इनके इतने ग्रन्थ आज उपलब्ध हैं.

(१३) कोट्टार्यवादिगणी क्षमाश्रमण (वि० ७वीं के बाद)—इस आचार्य ने जिनभद्रगणि की स्वोपज्ञ वृत्ति को अपूर्ण रचना को पूर्ण किया है. इन्होंने अनुसन्धित अपनी इस वृत्ति में यह सूचित किया है : निर्माप्य षष्ठगणधर-व्याख्यानं किल दिवंगताः पूज्याः अर्थात् छठे गणधरवाद का व्याख्यान करके पूज्य जिनभद्रगणी स्वर्गवासी हुए. आगे की वृत्ति का अनुसन्धान इन्होंने किया है. इस रचना के अतिरिक्त इनकी अन्य कोई रचना नहीं मिली है. यह स्वोपज्ञ-वृत्ति ला० द० विद्यामन्दिर, अहमदाबाद की ओर से प्रकाशित होगी.

(१४) सिद्धसेनगणि क्षमाश्रमण (वि० छठी शती)—इनकी आज कोई स्वतन्त्र रचना प्राप्त नहीं है. इनके रचे हुए कुछ सन्दर्भ या नियुक्ति-भाष्य आदि के व्याख्यानरूप गाथासन्दर्भ हैं, निशीथचूर्णि व आवश्यकचूर्णि में मिलते हैं. निशीथचूर्णि में इनका नाम एवं गाथाएँ छः जगह उल्लिखित हैं जिनके भद्रबाहुकृत निर्युक्तिगाथाओं तथा पुरातनगाथाओं के व्याख्यानरूप होने का निर्देश है. आवश्यकचूर्णि में (विभाग २ पत्र २३३) इनके नाम के साथ दो व्याख्यान-गाथाएँ दी गई हैं. पंचकल्पचूर्णि में भी 'उक्तं च सिद्धसेनक्षमाश्रमणगुरुभिः' ऐसा लिख कर इनकी एक गाथा का उद्धरण दिया है. इन उल्लेखों से पता चलता है कि इनकी आगमिक व्याख्यानगर्भित कोई कृति या कृतियाँ अवश्य होनी चाहिए जो आज उपलब्ध नहीं हैं.

(१५) सिद्धसेनगणि (वि० स० छठी शती)—इनकी एक ही कृति प्राप्त हुई है. जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणकृत जीतकल्प पर रचित चूर्णि. उपर्युक्त सिद्धसेनगणी क्षमाश्रमण से ये सिद्धसेन गणि भिन्न हैं.

(१६) जिनदासगणी महत्तर (वि० ७वीं शताब्दी)—निशीथचूर्णि के प्रारम्भिक उल्लेखानुसार इनके विद्यागुरु प्रद्युम्न गणी क्षमाश्रमण थे. आज जो चूर्णियाँ उपलब्ध हैं इनमें से नन्दी, अनुयोगद्वार और निशीथ की चूर्णियाँ इन्हीं की रचनाएँ हैं.

(१७) गोपालिक महत्तर शिष्य (वि० ७वीं शताब्दी)—उत्तराध्ययनचूर्णि के रचयिता आचार्य ने अपने नाम का निर्देश न कर 'गोपालिकमहत्तरशिष्य' इतना ही उल्लेख किया है. इनकी अन्य कोई रचना उपलब्ध नहीं है.

(१८) जिनभट या जिनभद्र (वि० ८वीं शताब्दी)—ये हरिभद्र के विद्यागुरु थे. आवश्यक वृत्ति के अन्त में आचार्य हरिभद्र ने इनका नामोल्लेख किया है. तद्विषयक पुष्पिका इस प्रकार है : 'इति सिताम्बराचार्य जिनभट निगदानुसारिणो विद्याधरकुलतिलकाचार्यजिनदत्तशिष्यस्य धर्मतो याकिनीमहत्तरासूनोरल्पमतेराचार्यहरिभद्रस्य.' इस उल्लेख में 'जिनभटनिगदानुसारिणो' वाक्य विद्यागुरुत्व का सूचक है. प्रत्यन्तरों में 'जिनभट' के बजाय 'जिनभद्र' नाम भी मिलता है. गुरु रूप से स्थापित इन्हीं जिनभट का हरिभद्रसूरि ने अपनी कृतियों में इनके गुरुत्व का निर्देश किया है.

(१९) हरिभद्रसूरि (वि० ८वीं शताब्दी)—इनका उपनाम 'भवविरह' भी है. अपनी कृतियों में इन्होंने 'भवविरह'

गुरूण' इस वाक्य से बडे आदर के साथ किया गया है सम्भव है, चूर्णिकार का इन स्थविरो के साथ अनुयोगविषयक कोई खास घनिष्ठ सम्बन्ध होगा

(२६) गन्धहस्ती—आचार्य शीलाक के आचारागसूत्र की वृत्ति के प्रारम्भ मे "शस्त्रपरिज्ञाविवरणमतिबहुगहन च गन्धहस्तिकृतम्" इस उल्लेख से गन्धहस्ति आचार्य को आचारागसूत्र के प्रथम अध्ययन शस्त्रपरिज्ञा का विवरणकार बताया है हिमवतस्थविरावलि मे आचार्य गन्धहस्ति के विषय मे इस प्रकार का निर्देश है—

"तेषामार्यसिंहानां स्थविराणा मधुमित्रा-ऽऽर्यस्कन्दिलाचार्यनामानौ द्वौ शिष्यावभूताम् आर्यमधुमित्राणा शिष्या आर्यगन्धहस्तिनोऽतीवविद्वास प्रभावकाश्चाभवन् तैश्च पूर्वस्थविरोत्तसोमास्वातिवाचकविरचिततत्त्वार्थोपरि अशीतिसहस्रश्लोकप्रमाण महाभाष्य रचितम् एकादशाङ्गोपरि चार्यस्कन्दिलस्थविराणामुपरोधतस्तैर्विवरणानि रचितानि यदुक्त तद्रचिताऽऽचाराङ्गविवरणान्ते—

थेरस्स महुमित्तस्स सेहेहि तिपुव्वनाणजुत्तेहि ।
मुणिगणविवदिएहिं ववगयरागाइदोसेहिं ॥
बभद्दीवियसाहामउडेहिं गन्धहत्थिविबुहेहि ।
विवरणमेय रइय दोसयवासेसु विक्कमओ ॥"

हिमवतस्थविरावलि के इस अश मे आचार्य गन्धहस्ति को तत्त्वार्थगन्धहस्तिमहाभाष्य के प्रणेता एव ग्यारह जैन अग आगमो के विवरणकार बतलाया है जबकि आचार्य शीलाक ने इन्हे केवल आचाराङ्ग के प्रथम अध्ययन के रचयिता ही कहा है दूसरी बात यह है कि—इनकी ग्यारह अग की वृत्तियो के उद्धरण या नामोल्लेख भाष्य-चूर्णि-वृत्तियो मे कही भी दिखाई नही देते ऐसी स्थिति मे पट्टावलि के इस उल्लेख को कहा तक माना जाय, यह एक प्रश्न है यहाँ पर गन्धहस्ती, यह विशेषनाम है, विशेषण नही शीलाकाचार्यनिर्दिष्ट गन्धहस्ती हिमवतस्थविरावलिनिर्दिष्ट गन्धहस्ती ही है या अन्य, इसका निर्णय करना कठिन है स्थविरावली मे जो आचारागविवरण की अतिम प्रशस्ति का उद्धरण दिया गया है वह कहाँ तक ठीक है, यह कहना भी जरा कठिन है इस विशेष नाम के साथ रहे हुए गौरव को देखकर ही बाद मे इस नाम का उपयोग विशेषण के रूप मे होने लगा तत्त्वार्थसूत्रवृत्ति के प्रणेता सिद्धसेनाचार्य 'गन्धहस्ती' कहे जाते थे ये हिमवतस्थविरावलि द्वारा निर्दिष्ट गन्धहस्ती से अन्य ही है क्योकि इनका समय विक्रम आठवी के बाद का है, जबकि स्थविरावलिनिर्दिष्ट गन्धहस्ती का समय विक्रम २०० है श्रीयशोविजयजी उपाध्याय ने अपनी गुरुतत्त्वविनिश्चय की स्वोपज्ञवृत्ति मे सन्मतितर्क के प्रणेता सिद्धसेनाचार्य को भी 'गन्धहस्ती' लिखा है

(२७-२८) मित्तवायग-खमासमण व साधुरक्षितगणि क्षमाश्रमण—इन दोनो स्थविरो की मान्यता एव नाम का उल्लेख व्यवहारभाष्य गा० ४६२ की चूर्णि मे चूर्णिकार ने किया है

(२९) धम्मगणि खमासमण—इन क्षमाश्रमण के मतव्य का उल्लेख कल्पविशेषचूर्णि मे "अहवा धम्मगणिखमासमणा देसेण सव्वेसु वि पदेसु इमा सोही—थेराईसु अहवा० गाहाद्वयम्" इस प्रकार है

(३०) अगस्त्यसिंह (भाष्यकारों के पूर्व—ये स्थविर आर्य वज्र की शाखा मे हुए है इन्होने दशवैकालिकसूत्र पर चूर्णि की रचना की है यह चूर्णि दशवैकालिकसूत्र के विविध पाठ भेद एव भाषा की दृष्टि से बहुत महत्त्व की है इस चूर्णि मे भाष्यकार की गाथाओ का उल्लेख न होने से इसकी रचना भाष्यकारो के पूर्व की प्रतीत होती है इसमे कई उल्लेख ऐसे भी है जो चालू साम्प्रदायिक प्रणाली से भिन्न प्रकार के है आचार्य श्री हरिभद्र ने अपनी वृत्ति मे कही भी इस चूर्णि का उल्लेख नही किया है, इसका कारण यही प्रतीत होता है विद्वानो की भी ज्ञातिया होती है इसमे कल्कि-विषयक जो मान्यता चलती है और जिसका विस्तृत वर्णन तित्थोगालियपइण्णय मे पाया भी जाता है, इस विषय मे "अणागतमट्ठ ण णिद्धारेज्ज-जधा कक्की अमुको वा एव गुणो राया भविस्सइ "ऐसा लिखकर कल्किविषयक मान्यता को आदर नही दिया है इस चूर्णि मे "भणित च वररुचिणा—'अव फलाए मम दालिम पिय' [पृ० १७३] इस प्रकार वररुचि के कोई प्राकृत ग्रथ का उद्धरण मिल सकता है वररुचि का यह प्राकृत उद्धरण प्राकृतव्याकरणप्रणेता वररुचि

के समयनिर्णय के लिए उपयुक्त होने की सम्भावना है इस चूर्णि की प्रति जैसलमेर के जिनभद्रीय ज्ञानभण्डार में सुरक्षित है इसका प्रकाशन प्राकृत टैक्स्ट सोसाइटी की ओर से मेरे द्वारा सम्पादित हो कर शीघ्र ही प्रकाशित होगा

(११) संघदासगणि क्षमाश्रमण (वि ६वीं शताब्दी—ये आचार्य वसुदेवहिंडी—प्रथम खण्ड के प्रणेता संघदासगणि वाचक से भिन्न है एवं इनके बाद के भी है इन्होंने कल्पलघुभाष्य और पंचकल्पमहाभाष्य की रचना की है ये महाभाष्यकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के पूर्ववर्ती है

(१२) जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण (वि की ७ठी शती) —ये सद्धान्तिक आम्नाय मे इनकी महाभाष्यकार एव भाष्यकार के रूप म प्रसिद्धि है दार्शनिक-गम्भीरचिन्तनपरिपूर्ण विशेषावश्यक महाभाष्य की रचना न इन्हे बहुत प्रसिद्ध किया है केवलज्ञान और केवलदर्शन विषयक युगपदुपयोगद्वयवाद एव अभेदवाद को माननेवाले तार्किक आचार्य सिद्धसेन दिवाकर और मल्लवादी के मत का इन्होंने उपर्युक्त भाष्य एव विशेषणवती ग्रन्थ में निरसन किया है जीतकल्पसूत्र बृहत्संग्रहणी बृहत्क्षेत्रसमास अनुयोगद्वारचूर्णिगत अंगुलपदचूर्णि और विशेषावश्यक-स्वोपज्ञवृत्ति-षष्ठगणधरवाद व्याख्यान पर्यन्त—इनके इतने ग्रन्थ आज उपलब्ध है

(१३) कोट्टार्यवादिगणी क्षमाश्रमण (वि ८४ के बाद)—इन आचार्य ने जिनभद्रगणि की स्वोपज्ञ वृत्ति की अपूर्ण रचना को पूर्ण किया है इन्होंने अनुसन्धित अपनी इस वृत्ति म यह सूचित किया है 'निर्माप्य षष्ठगणधर-व्याख्यान किल दिवंगता पूज्या अर्थात् छठे गणधरवाद' का व्याख्यान करके पूज्य जिनभद्रगणी स्वर्गवासी हुए आगे की वृत्ति का अनुसन्धान इन्होंने किया है इस रचना के अतिरिक्त इनकी अन्य कोई रचना नही मिली है यह स्वोपज्ञ-वृत्ति ला द० विद्यामन्दिर अहमदाबाद की ओर से प्रकाशित होगी

(१४) सिद्धसेनगणि क्षमाश्रमण (वि छठी शती)—इनकी आज कोई स्वतन्त्र रचना प्राप्त नही है इनके रचे हुए कुछ सन्दर्भ जो निर्युक्ति भाष्य आदि के व्याख्यानरूप गाथासन्दर्भ है निशीथचूर्णि व आवश्यकचूर्णि में मिलते है निशीथचूर्णि म इनका नाम एव गाथाएँ छ जगह उल्लिखित है जिनके भद्रबाहुकृत निर्युक्तिगाथाओं तथा पुरातनगाथाओं के व्याख्यानरूप होने का निर्देश है आवश्यकचूर्णि म (विभाग २, पत्र २३३) इनके नाम के साथ दो व्याख्यान-गाथाएँ दी गई है पंचकल्पचूर्णि में भी 'उक्त च सिद्धसेनक्षमाश्रमणगुरुभिः' ऐसा लिख कर इनकी एक गाथा का उद्धरण किया है इन उल्लेखो से पता चलता है कि इनकी आगमिक व्याख्यानगर्भित कोई कृति या कृतियाँ अवश्य होनी चाहिए जो आज उपलब्ध नही है

(१५) सिद्धसेनगणि (वि स छठी शती)—इनकी एक ही कृति प्राप्त हुई है जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणकृत जीतकल्प पर रचित चूर्णि उपयुक्त सिद्धसेनगणी क्षमाश्रमण से ये सिद्धसेन गणि भिन्न है

(१६) जिनदासगणी महत्तर (वि ७वीं शताब्दी)—निशीथचूर्णि के प्रारम्भिक उल्लेखानुसार इनके विद्यागुरु प्रद्युम्न गणी क्षमाश्रमण थे आज जो चूर्णिया उपलब्ध है इनम से नन्दी अनुयोगद्वार और निशीथ की चूर्णिया इन्ही की रचनाए है

(१७) गोपालिक महत्तर शिष्य (वि ७वीं शताब्दी)—उत्तराध्ययनचूर्णि के रचयिता आचार्य ने अपने नाम का निर्देश न कर 'गोपालिकमहत्तरशिष्य' इतना ही उल्लेख किया है इनकी अन्य कोई रचना उपलब्ध नही है

(१८) जिनभट या जिनभद्र (वि ८वीं शताब्दी)—ये हरिभद्र के विद्यागुरु थे आवश्यक वृत्ति के अन्त मे आचार्य हरिभद्र ने इनका नामोल्लेख किया है एतद्विषयक पुष्पिका इस प्रकार है कृतिः सिताम्बराचार्य जिनभट निगदानुसारिणो विद्याधरकुलतिलकाचार्यजिनदत्तशिष्यस्य धर्मतो याकिनीमहत्तरासूनोरल्पमतेराचार्यहरिभद्रस्य इस उल्लेख में जिनभटनिगदानुसारिण वाक्य विद्यागुरुत्व का सूचक है प्रशस्तियो मे 'जिनभट' के बजाय 'जिनभद्र' नाम भी मिलता है "गुरवस्तु व्याचक्षते" ऐसा लिखकर कई जगह हरिभद्रसूरि ने अपनी कृतियों में इनके मन्तव्य का निर्देश किया है

(१९) हरिभद्रसूरि (वि ८वीं शताब्दी)—इनका उपनाम भवविरह भी है अपनी कृतियों में इन्होंने 'भवविरह'

स्थविर आर्य देवर्द्धिगणि ने वलभी मे सघसमवाय को एकत्रित कर जैन आगमो को व्यवस्थित किया व लिखवाया उस समय लेखन की प्रारम्भिक प्रवृत्ति किस रूप मे हुई इसका स्पष्ट उल्लेख कही भी नही मिलता सामान्यतया मुखोपमुख कहा जाता है कि वलभी मे हजारो की सख्या मे ग्रथ लिखे गये थे, किन्तु हमारे सामने शीलाकाचार्य, नवागवृत्तिकार अभयदेवसूरि आदि व्याख्याकार आचार्यो के जो विषादपूर्ण उल्लेख विद्यमान है उनसे तो यह माना नही जा सकता कि इतने प्रमाण मे ग्रथलेखन हुआ होगा

श्रीशीलाकाचार्य ने सूत्रकृताग की अपनी वृत्ति मे इस प्रकार लिखा है

इह च प्राय सूत्रादर्शेपु नानाविधानि सूत्राणि दृश्यन्ते, न च टीकासवादी एकोऽप्यादर्श समुपलब्ध, अत एकमादर्श-मङ्गीकृत्यास्माभिर्विवरण क्रियत इति, एतदवगम्य सूत्रविसवाददर्शनाच्चित्तव्यामोहो न विधेय इति'

[मुद्रित पत्र ३३६-१]

अर्थात् चूर्णिसमत मूलसूत्र के साथ तुलना की जाय ऐसी एक भी मूलसूत्र की हस्तप्रति आचार्य शीलाक को नही मिली थी

श्री अभयदेवाचार्य ने भी स्थानाग, समवायाग व प्रश्नव्याकरण—इन तीनो अग आगमो की वृत्ति के प्रारम्भ एव अन्त मे इसी आशय का उल्लेख किया है जो क्रमश इस प्रकार है

१ वाचनानामनेकत्वात्, पुस्तकानामशुद्धित ।
सूत्राणामतिगाभीर्याद् मतभेदाच्च कुत्रचित् ।।२।।

२ यस्य ग्रथवरस्य वाक्यजलधेर्लक्ष सहस्राणि च,
चत्वारिंशदहो ! चतुर्भिरधिका मान पदानामभूत् ।
तस्योच्चैश्चुलुकाकृति विदधत कालादिदोषात् तथा,
दुर्लेखात् खिलता गतस्य कुधिय कुर्वन्तु किं मादृशा ? ।।२।।

३ अज्ञा वय शास्त्रमिद गभीर, प्रायोऽस्य कूटानि च पुस्तकानि ।
सूत्र व्यवस्थाप्यमतो विमृश्य, व्याख्यानकल्पादित एव नैव ।।२।।

ऊपर उदाहरण के रूप मे श्री शीलाकाचार्य व श्री अभयदेवाचार्य के जो उल्लेख दिये है उनसे प्रतीत होता है कि वलभी मे स्थविर आर्य देवर्द्धिगणि, गधर्ववादिवेताल शान्तिसूरि आदि के प्रयत्न से जो जैन आगमो का सकलन एव व्यवस्थापन हुआ और उन्हे पुस्तकारूढ किया गया, यह कार्य जैन स्थविर श्रमणो की जैनआगमादि को ग्रथारूढ़ करने की अल्परुचि के कारण बहुत सक्षिप्त रूप मे ही हुआ होगा तथा निकट भविष्य मे हुए वलभी के भग के साथ ही वह व्यवस्थित किया हुआ आगमो का लिखित छोटा-सा ग्रथ-सग्रह नष्ट हो गया होगा परिणाम यह हुआ कि आखिर जो स्थविर आर्य स्कन्दिल एव स्थविर आर्य नागार्जुन के समय की हस्तप्रतिया होगी, उन्ही की शरण व्याख्याकारो को लेनी पडी होगी यही कारण है कि प्राचीन चूर्णिया एव व्याख्या-ग्रथो मे सैकडो पाठभेद उल्लिखित पाये जाते है जिनका उदाहरण के रूप मे मैं यहा सक्षेप मे उल्लेख करता हूँ

आचारागसूत्र की चूर्णि मे चूर्णिकार ने नागार्जुनीय वाचना के उल्लेख के अलावा 'पढिज्जइ य' ऐसा लिखकर उन्नीस स्थानो पर पाठभेद का उल्लेख किया है आचार्य श्रीशीलाक ने भी अपनी वृत्ति मे उपलब्ध हस्तप्रतियो के अनुसार कितने ही सूत्रपाठभेद दिये हैं

इसी प्रकार सूत्रकृतागचूर्णि मे भी नागार्जुनीय वाचनाभेद के अलावा 'पठ्यते च, पठ्यते चान्यथा सद्भि, अथवा, अथवा इह तु, मूलपाठस्तु, पाठविशेषस्तु, अन्यथा पाठस्तु, अयमपरकल्प, पाठान्तरम' आदि वाक्यो का उल्लेख कर केवल प्रथम-श्रुतस्कन्ध की चूर्णि मे ही लगभग सवा सौ जगह जिन्हे वास्तविक पाठभेद माने जाय ऐसे उल्लेखो की गाथा की गाथाए, पूर्वार्ध के पूर्वार्ध व चरण के चरण पाये जाते हैं द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पाठभेद तो इसमे शामिल ही नही किये गये हैं

स्थविर आर्य देवर्द्धिगणि ने वलभी मे सघसमवाय को एकत्रित कर जैन आगमो को व्यवस्थित किया व लिखवाया उस समय लेखन की प्रारम्भिक प्रवृत्ति किस रूप मे हुई इसका स्पष्ट उल्लेख कही भी नही मिलता सामान्यतया मुखोपमुख कहा जाता है कि वलभी मे हजारो की सख्या मे ग्रथ लिखे गये थे, किन्तु हमारे सामने शीलाकाचार्य, नवागवृत्तिकार अभयदेवसूरि आदि व्याख्याकार आचार्या के जो विषादपूर्ण उल्लेख विद्यमान हैं उनसे तो यह माना नही जा सकता कि इतने प्रमाण मे ग्रथलेखन हुआ होगा

श्रीशीलाकाचार्य ने सूत्रकृताग की अपनी वृत्ति मे इस प्रकार लिखा है

इह च प्राय सूत्रादर्शेषु नानाविधानि सूत्राणि दृश्यन्ते, न च टीकासवादी एकोऽप्यादर्श समुपलब्धः, अत एकमादर्श-मङ्गीकृत्यास्माभिर्विवरण क्रियत इति, एतदवगम्य सूत्रविसवाददर्शनाच्चित्तव्यामोहो न विधेय इति'

[मुद्रित पत्र ३३६-१]

अर्थात् चूर्णिसमत मूलसूत्र के साथ तुलना की जाय ऐसी एक भी मूलसूत्र की हस्तप्रति आचार्य शीलाक को नही मिली थी

श्री अभयदेवाचार्य ने भी स्थानाग, समवायांग व प्रश्नव्याकरण—इन तीनो अग आगमो की वृत्ति के प्रारम्भ एव अन्त मे इसी आशय का उल्लेख किया है जो क्रमश इस प्रकार है

१ वाचनानामनेकत्वात्, पुस्तकानामशुद्धित ।
सूत्राणामतिगाभीर्याद् मतभेदाच्च कुत्रचित् ॥२॥

२ यस्य ग्रथवरस्य वाक्यजलधेर्लक्ष सहस्राणि च,
चत्वारिंशदहो ! चतुर्भिरधिका मान पदानामभूत् ।
तस्योच्चैश्चुलुकाकृति विदधत कालादिदोषात् तथा,
दुर्लेखात् खिलता गतस्य कुधिय कुर्वन्तु किं मादृशा ? ॥२॥

३ अज्ञा वय शास्त्रमिद गभीर, प्रायोऽस्य कूटानि च पुस्तकानि ।
सूत्र व्यवस्थाप्यमतो विमृश्य, व्याख्यानकल्पादित एव नैव ॥२॥

ऊपर उदाहरण के रूप मे श्री शीलाकाचार्य व श्री अभयदेवाचार्य के जो उल्लेख दिये हैं उनसे प्रतीत होता है कि वलभी मे स्थविर आर्य देवर्द्धिगणि, गधर्ववादिवेताल शान्तिसूरि आदि के प्रयत्न से जो जैन आगमो का सकलन एव व्यवस्थापन हुआ और उन्हे पुस्तकारूढ किया गया, यह कार्य जैन स्थविर श्रमणो की जैनआगमादि को ग्रथारूढ करने की अल्परुचि के कारण बहुत सक्षिप्त रूप मे ही हुआ होगा तथा निकट भविष्य मे हुए वलभी के भग के साथ ही वह व्यवस्थित किया हुआ आगमो का लिखित छोटा-सा ग्रथ-सग्रह नष्ट हो गया होगा परिणाम यह हुआ कि आखिर जो स्थविर आर्य स्कन्दिल एव स्थविर आर्य नागार्जुन के समय की हस्तप्रतिया होगी, उन्ही की शरण व्याख्याकारो को लेनी पडी होगी यही कारण है कि प्राचीन चूर्णिया एव व्याख्या-ग्रथो मे सैकडो पाठभेद उल्लिखित पाये जाते है जिनका उदाहरण के रूप मे मैं यहा सक्षेप मे उल्लेख करता हूँ

आचारागसूत्र की चूर्णि मे चूर्णिकार ने नागार्जुनीय वाचना के उल्लेख के अलावा 'पढिज्जइ य' ऐसा लिखकर उन्नीस स्थानो पर पाठभेद का उल्लेख किया है आचार्य श्रीशीलाक ने भी अपनी वृत्ति मे उपलब्ध हस्तप्रतियो के अनुसार कितने ही सूत्रपाठभेद दिये हैं

इसी प्रकार सूत्रकृतागचूर्णि मे भी नागार्जुनीय वाचनाभेद के अलावा 'पठ्यते च, पठ्यते चान्यथा सद्भि , अथवा, अथवा इह तु, मूलपाठस्तु, पाठविशेषस्तु, अन्यथा पाठस्तु, अयमपरकल्प , पाठान्तरम्' आदि वाक्यो का उल्लेख कर केवल प्रथम-श्रुतस्कन्ध की चूर्णि मे ही लगभग सवा सौ जगह जिन्हे वास्तविक पाठभेद माने जाय ऐसे उल्लेखो की गाथा की गाथाए, पूर्वार्ध के पूर्वार्ध व चरण के चरण पाये जाते हैं द्वितीय श्रुतस्कन्ध के पाठभेद तो इसमे शामिल ही नही किये गये हैं

३	भवंतणागज्जुणिया तु पढंति	पृ	११३				
४	भन्तणागज्जुणिया		१२	वृत्तिपत्र	१६६	पृ	२
५	भवंतणागज्जुणिया पढंति	"	१३६		१८३	पृ	२
६	एत्थ सव्वो भन्न्तनागार्जुना		१५७		१६८	पृ	२
७	नागार्जुनीयास्तु		१६१		२ १	पृ	१
८	णागज्जुणीया		२ ७		२३६	पृ	१
९	भदन्त णागज्जुणा तु		२१६		२४५	पृ	१
१	णागज्जुणिया उ		२१६				
११	णागज्जुणा		२३२	वृत्तिपत्र	२५१	पृ	२
१२	णागज्जुणा तु		२३७		२५६	पृ	१
१३	णागज्जुणा		२८७				
१४	णागज्जुणा तु पढंति		१ २	वृत्तिपत्र	१ ३	पृ	१
१५	भदन्तनागार्जुनीया तु		३११				

यहां पर आचारांगचूर्णि और शीलांकाचार्य रचित वृत्ति के जो पृष्ठ-पत्रांक आदि दिये गये हैं वे आगमोद्धारक पूज्य आचार्य श्री सागरानन्दसूरि सम्पादित आवृत्ति के हैं

उपर्युक्त पंद्रह उल्लेखों में से पांच उल्लेख शीलांकीय वृत्ति में नहीं हैं बाकी के दस उल्लेख शीलांकाचार्य ने दिये हैं ये सभी उल्लेख आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की चूर्णि वृत्ति में ही हैं द्वितीय श्रुतस्कन्ध की चूर्णि-वृत्ति में नागार्जुनीय वाचना का कोई उल्लेख नहीं है

यहां आचारांग चूर्णि में से नागार्जुनीयवाचना के जो पंद्रह उल्लेख उद्धृत किये गये हैं उनमें सात जगह भक्ति पूज्यतासूचक 'भदन्त' विशेषण का प्रयोग किया गया है जो अन्य किसी चूर्णि-वृत्ति आदि में नहीं है इससे अनुमान होता है कि इस चूर्णि के प्रणेता जिनका नाम का उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता कम-से-कम नागार्जुनीय परंपरा के प्रति आदर रखने वाले थे

(२) सूत्रकृतांग की चूर्णि में नागार्जुनीय वाचना के जो उल्लेख मिलते हैं उन सभी स्थानों पर 'नागार्जुनीयास्तु' ऐसा लिखकर ही नागार्जुनीय वाचनाभेद का उल्लेख किया गया है जो प्रथम श्रुतस्कन्ध में चार जगह व दूसरे श्रुतस्कन्ध में दो जगह पाया गया है आचार्य शीलांक ने अपनी वृत्ति में 'नागार्जुनीयास्तु पठन्ति' लिखकर नागार्जुनीय-वाचना का उल्लेख चार जगह किया है संभव है पिछले जमाने में नागार्जुनीय वाचनाभेद का कोई खास महत्त्व रहा न होगा

प्रसंगवशात् एक बात की सूचना करना हम यहां उचित समझते हैं कि सूत्रकृतांगचूर्णिकार अणुत्तरनाणी-अणुत्तरदंसी अणुत्तरणाणदंसणधरो एतेण एकत्व णाण-दंसणाणं स्थापितं भवति' [श्रुत १ अध्य २ उ २ गा २२] इस उल्लेख से एकोपयोगवादी आचार्य सिद्धसेन के अनुयायी मालूम होते हैं

(४) उत्तराध्ययनसूत्र की चूर्णि में चूर्णिकार आचार्य ने पाँच स्थानों पर नागार्जुनीय वाचनाभेद का उल्लेख किया है पाइय-टीकाकार वादिवेताल शान्तिसूरिजी ने भी इन पाँच स्थानों पर नागार्जुनीय वाचनाभेद का उल्लेख किया है किन्तु सिर्फ एक स्थान पर नागार्जुनीय का नाम न लेकर पठ्यते च' ऐसा लिखकर नागार्जुनीय वाचनाभेद का उल्लेख किया है [पत्र २६४ १]

कुछ विद्वान् स्थविर आर्य देवर्द्धिगणि के आगम-व्यवस्थापन व आगम-लेखन को वालभी वाचनारूप से बतलाते हैं किन्तु ऊपर वालभी वाचना के विषय में जो कुछ कहा गया है उससे उनका यह कथन भ्रान्त सिद्ध होता है वास्तव में वालभी वाचना वही है जो माथुरीवाचना के ही समय में स्थविर आर्य नागार्जुन ने वलभीनगर में संघसमवाय एकत्र कर जैन आगमों का संकलन किया था

साहाय्य रहा होगा दिगंबराचार्य देवसेनकृत दर्शनसारनामक ग्रन्थ मे श्वेताम्बरो की उत्पत्ति के वर्णनप्रसग मे—

छत्तीसे वरिससए विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स ।
सोरट्ठे उप्पण्णो सेवडसघो हु वलहीए ॥५२॥
एक्क पुण सतिणामो सपत्तो वलहिणामणयरीए ।
वहुसीससपउत्तो विसए सोरट्ठए रम्मे ॥५६॥

इस प्रकार का उल्लेख है यद्यपि इस उल्लेख मे दिया हुआ सवत् मिलता नही है तथापि उपर्युक्त 'वालब्भसघकज्जे' गाथा मे निर्दिष्ट वालभ्यमघकार्य, शातिसूरि, वलभि आदि उल्लेख के साथ तुलना करने के लिये दर्शनसार का यह उल्लेख जरूर उपयुक्त है

देवर्धिगणि जो स्वय माथुरसघ के युगप्रधान थे, उनकी अध्यक्षता मे वलभीनगर मे एकत्रित सघसमवाय मे दोनो वाचनाओ के श्रुतधर स्थविरादि विद्यमान थे. इस सघसमवाय मे सर्वसम्मति से माथुरी वाचना को प्रमुख स्थान दिया गया होगा इसका कारण यह हो सकता है कि माथुरी-वाचना के जैनआगमो की व्यवस्थितता एव परिमाणाधिकता थी इसमे ज्योतिष्करडक जैसे ग्रन्थो को भी स्थान दिया गया जो केवल वालभी-वाचना मे ही थे इतना ही नही अपितु माथुरी-वाचना से भिन्न एव अतिरिक्त जो सूत्रपाठ एव व्याख्यान्तर थे उन सबका उल्लेख नागार्जुनाचार्य के नाम से तत्तत् स्थान पर किया भी गया आचाराग आदि की चूर्णिओ मे ऐसे उल्लेख पाये जाते हैं समझ मे नही आता कि जिस समय जैनआगमो को पुस्तकारूढ किया गया होगा उस समय इन वाचनान्तरो का सग्रह किस ढग मे किया होगा ? जैनआगम की कोई ऐसी हस्तप्रति मौजूद नही है जिसमे इन वाचनाभेदो का सग्रह या उल्लेख हो आज हमारे सामने इस वाचनाभेद को जानने का साधन प्राचीन चूर्णिग्रन्थो के अलावा अन्य एक भी ग्रन्थ नही है चूर्णियाँ भी सब आगमो की नही किन्तु केवल आवश्यक, नन्दी, अनुयोगद्वार, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचाराग, सूत्रकृताग, भगवती, जीवाभिगम, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, निशीथ, कल्प, पचकल्प, व्यवहार एव दशाश्रुतस्कन्ध की ही मिलती हैं

ऊपर जिन आगमो की चूर्णियो के नाम दिये गये हैं उनमे से नागार्जुनीय-वाचनाभेद का उल्लेख केवल आचाराग, सूत्रकृताग, उत्तराध्ययन व दशवैकालिक की चूर्णियो मे ही मिलता है अन्य आगमो मे नागार्जुनीय वाचना की अपेक्षा न्यूनाधिक्य या व्याख्याभेद क्या था, इसका आज कोई पता नही लगता वहुत सभव है, ये वाचनाभेद चूर्णि-वृत्ति आदि व्याख्याओ के निर्माण के वाद मे सिर्फ पाठभेद के रूप मे परिणत हो गये हो यही कारण है कि चूर्णिकार और वृत्तिकारो की व्याख्या मे पाठो का कभी-कभी वहुत अन्तर दिखाई देता है

(१) दशवैकालिकसूत्र को अनामकर्तृक मुद्रितचूर्णि के पृष्ठ २०४ मे "नागज्जुणिया तु एव पढति—एव तु गुणप्पेही अगुणाऽणविवज्जए" इस प्रकार एक ही नागार्जुनीय वाचना का उल्लेख पाया गया है यह उल्लेख पाठभेदमूलक नही अपितु व्याख्याभेदमूलक है माथुरी वाचना वाले "अगुणाण विवज्जए—अगुणाना विवर्जक" ऐसी सीधी व्याख्या करते हैं, जवकि नागार्जुनीय वाचना वाले "अगुणाऽणविवज्जए—अगुणरिण अकुव्वतो" अर्थात् 'अगुणरूप ऋण नही करते' ऐसी व्याख्या करते हैं इस चूर्णि मे नागार्जुनीय नाम का यह एक ही उल्लेख देखने मे आया है इसी दशवैकालिकसूत्र की स्थविर अगस्त्यसिंहकृत एव अन्य प्राचीन चूर्णि पाई गई है जो अभी प्राकृत-टेक्स्ट-सोसाइटी की ओर से छप रही है इसमे (पृ० १३६) इस स्थान पर उपर्युक्त वाचनाभेद का उल्लेख किया है किन्तु नागार्जुनीय नाम का उल्लेख नही है इससे भी यही प्रतीत होता है कि नागार्जुनीय पाठभेदादि केवल पाठान्तर व मतान्तर के रूप मे ही रह गये हैं प्राचीन वृत्तिकार आचार्य हरिभद्र भी अपनी वृत्ति मे कही पर भी नागार्जुनीय वाचना का नामोल्लेख करते नही है

(२) आचारागसूत्र की चूर्णि मे नागार्जुनीयवाचनाभेद का उल्लेख पद्रह जगह पाया जाता है—

१	भदन्त नागार्जुनीयास्तु पठति	पृ०	६२	वृत्तिपत्र	११८
२	णागज्जुणिया पढति	,,	६४		

(१३) कालिकाचार्य (वीर नि० ६०५ के आसपास)—पंचकल्पमहाभाष्य के उल्लेखानुसार ये आचार्य शालिवाहन के समकालीन थे इन्होंने जैनपरम्परागत कथाओं के संग्रहरूप प्रथमानुयोग नामक कथासंग्रह का पुनरुद्धार किया था इसके अतिरिक्त गंडिकानुयोग और ज्योतिषशास्त्रविषयक लोकानुयोग नामक शास्त्रों का भी निर्माण किया था जैन आगमग्रंथों की संग्रहणियों की रचना इन्हीं की है जैन आगमों के प्रत्येक छोटे-छोटे विभाग में जिन-जिन विषयों का समावेश होता था उनका बीजरूप संग्रह इन संग्रहणी-गाथाओं में किया गया है एक प्रकार से इसे जैन आगमों का विषयानुक्रम ही समझना चाहिए आज यह संग्रह व्यवस्थितरूप में देखने में नहीं आता है, तथापि संभव है कि भगवती, प्रज्ञापना, आवश्यक आदि सूत्रों की टीकाओं में टीकाकार आचार्यों ने प्रत्येक शतक, अध्ययन, प्रतिपत्ति, पद आदि के प्रारम्भ में जो संग्रहणी-गाथाएँ दी हैं वे यही संग्रहणी-गाथाएँ हों

(१४) गुणधर (वीर नि० ६१४-६८३ के बीच)—दिगम्बर आम्नाय में आगमरूप से मान्य कसायपाहुड के कर्ता गुणधर आचार्य हैं उनके समय का निश्चय यथार्थरूप में करना कठिन है प० हीरालालजी का अनुमान है कि ये आचार्य धरसेन से भी पहले हुए हैं,

(१५) आचार्य धरसेन, पुष्पदन्त व भूतबलि—(वीर नि० ६१४-६८३ के बीच ?) दिगम्बर आम्नाय में षट्खंडागम के नाम से जो सिद्धान्तग्रन्थ मान्य हैं उनका श्रेय इन तीनों आचार्यों को है जिस प्रकार भद्रबाहु ने चौदहपूर्व का ज्ञान स्थूलभद्र को दिया उसी प्रकार आचार्य धरसेन ने पुष्पदन्त और भूतबलि को श्रुत का लोप न हो, इस दृष्टि से सिद्धान्त पढ़ाया जिसके आधार पर दोनों ने षट्खण्डागम की रचना की इनका समय वीरनिर्वाण ६१४ व ६८३ के बीच है, ऐसी संभावना की गई है

(१६, १७) आर्य मंक्षु और नागहस्थि—कषायपाहुड की परम्परा को सुरक्षित रखने का विशेष कार्य इन आचार्यों ने किया और इन्हीं के पास अध्ययन करके आचार्य यतिवृषभ ने कसायपाहुड की चूर्णि की रचना की थी इन आचार्यों को नंदीसूत्र की पट्टावली में भी स्थान मिला है

नंदीसूत्रकार ने आर्य मंगु और नागहस्ति का वर्णन इस प्रकार किया है

> भणगं करगं झरगं पभावगं णाण-दंसण-गुणाणं ।
> वंदामि अज्जमंगुं सुयसागरपारगं धीरं ।।२८।।
> णाणम्मि दंसणम्मि य तव-विणए णिच्चकालमुज्जुत्तं ।
> अज्जाणंदिलखमणं सिरसा वंदे पसण्णमणं ।।२९।।
> वड्ढउ वायगवंसो जसवंसो अज्जणागहत्थीणं ।
> वागरण-करण-भंगिय-कम्मप्पगडीपहाणाणं ।।३०।।

नंदीसूत्र के आर्य मंगु ही आर्य मंक्षु हैं, ऐसा निर्णय किया गया है इससे विद्वानों का ध्यान इस ओर जाना आवश्यक है कि आज भले ही कुछ ग्रंथों को हम केवल श्वेताम्बरों के ही मानें और कुछ को केवल दिगम्बरों के किन्तु वस्तुतः एक-काल ऐसा था जब शास्त्रकार और शास्त्र का ऐसा साम्प्रदायिक विभाजन नहीं हुआ था

आर्य मंक्षु के विषय में एक खास बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि उनके कुछ विशेष मन्तव्यों के विषय में जयधवलाकार का कहना है कि ये परम्परा के अनुकूल नहीं (षट्खंडागम भा० ३ भूमिका पृष्ठ १५)

(१८) आचार्य शिवशर्म (वीर नि० ८२५ से पूर्व)—जैनधर्म की अनेक विशेषताओं में एक विशेषता है उसके कर्म-सिद्धान्त की जिस प्रकार षट्खण्डागम और कसायपाहुड विशेषतः कर्मसिद्धान्त के ही निरूपक हैं उसी प्रकार शिवशर्म की कम्मपयडी और शतक कर्मसिद्धान्त के ही निरूपक प्राचीन ग्रंथ हैं इनका समय भाष्य-चूर्णिकाल के पहले का अवश्य है

(१९, २०) स्कन्दिलाचार्य व नागार्जुनाचार्य (वीर नि० ८२७ से ८४०)—ये स्थविर क्रमशः माथुरी या स्कान्दिली और

पद का कई जगह प्रयोग किया है कही-कही इनकी कृतियो मे केवल 'विरह' पद का प्रयोग होने के कारण इन्हे विरहाङ्क भी कहते है ये अपने को अनेक ग्रन्थो की अन्तिम पुष्पिका मे 'धर्मतो याकिनीमहत्तरासूनु' के रूप मे भी लिखते है ये जैन आगमो के पारगत आचार्य थे एव दर्शनशास्त्रो के प्रखर ज्ञाता थे इन्होने १४४४ ग्रन्थो की रचना की ऐसा प्रघोष चला आता है इन्होने अपनी कृतियो मे अपनी जिन-जिन रचनाओ के नाम निर्दिष्ट किये है उनमे से भी बहुत से ग्रन्थ आज अप्राप्य है फिर भी प्राचीन ज्ञानभडारो को टटोलने से इनकी नई रचनाएँ प्राप्त होती है कुछ वर्ष पहले ही खभात के प्राचीन ताडपत्रीय भडार मे से इनका रचा हुआ योगशतक नामक ग्रन्थ प्राप्त हुआ था अभी हाल ही मे कच्छ-माडवी के खरतरगच्छीय प्राचीन ज्ञानभडार मे से इसी ग्रन्थ की स्वोपज्ञ टीका की वि० स० ११६४ मे लिखी हुई ताडपत्रीय प्रति भी प्राप्त हुई है

इसी प्रकार आज अपने पास जो लाखो की तादाद मे हस्तप्रतिया विद्यमान है जिनकी व्यवस्थित सूचिया अभी तक नही बनी है, उन्हे टटोला जाय तो बहुत सभव है कि अपनी कल्पना मे भी न हो ऐसी प्राचीन-प्राचीनतम अनेक कृतिया प्राप्त हो आचार्य हरिभद्र ने तत्त्वविचार और आचार के निरूपण मे समन्वयशैली को विशिष्टरूप से आदर दिया है, अत इनकी रचनाओ मे प्रचुर गाभीर्य आया है इनके विषय मे विद्वानो ने अनेक दृष्टियो से काफी लिखा है, तथापि प्रसगवश यहा कुछ कहना अनुचित न होगा इन्होने आवश्यक, नन्दी, अनुयोगद्वार, दशवैकालिक, प्रज्ञापना, जीवाभिगम और पिण्डनिर्युक्ति—इन जैन आगमो पर अप्रतिम एव मौलिक वृत्तियो का निर्माण किया है आवश्यकसूत्र पर तो इन्होने दो वृत्तियाँ लिखी थी इनमे से शिष्यहिता नामक २२००० श्लोक परिमित लघुवृत्ति ही प्राप्त है किन्तु दुर्भाग्य है कि दार्शनिक चिन्तनो के महासागर जैसी बृहद्वृत्ति अनुपलब्ध है इस वृत्ति का इन्होने अपनी शिष्यहिता-लघुवृत्ति के प्रारभ मे "यद्यपि मया तथान्यै कृताऽस्य विवृतिस्तथापि सक्षेपात्" इस प्रकार निर्देश किया है इसी बृहद्वृत्ति को लक्ष्य करके इन्होने नन्दीसूत्र की वृत्ति मे भी "साङ्केतिकशब्दार्थसम्बन्धवादिमतमप्यावश्यके विचारयिष्याम" इस प्रकार का उल्लेख किया है इस उल्लेख से पता लगता है कि इस बृहद्वृत्ति मे इन्होने कितने दार्शनिक वादो की गहरी समीक्षा की होगी इस बृहद्वृत्ति का प्रमाण मलधारी आचार्य हेमचन्द्र ने अपने आवश्यकहारिभद्री वृत्ति के टिप्पन मे (पत्र २-१) "यद्यपि मया वृत्ति कृता इत्येववादिनि वृत्तिकारे चतुरशीतिसहस्रप्रमाणाऽनेनैवावश्यकवृत्तिरपरा कृताऽऽसीदिति प्रवाद" इस उल्लेख द्वारा ८४००० श्लोक बतलाया है

आचार्य हरिभद्र अनेक विषयो के महान् ज्ञाता थे इनकी ग्रन्थरचनाओ का प्रवाह देखने से अनुमान होता है कि ये पूर्वावस्था मे साख्यमतानुयायी रहे होगे इन्होने उस युग के भारतीय दर्शनशास्त्रो का गहराई से अध्ययन करने मे कोई कमी नही रखी थी यही कारण है कि इन्होने अतिगभीरतापूर्वक समस्त दार्शनिक तत्त्वो का जैनदर्शन के साथ समन्वय करने का प्रयत्न किया है इन्होने धर्मसग्रहणी, पचवस्तुक, उपदेशपद, विंशतिविंशिका, पचाशक, योगशतक, श्रावकधर्मविधितत्र, दिनशुद्धि आदि शास्त्रो का तथा समराइच्चकहा, धूर्ताख्यान आदि कथाओ का प्राकृत भाषा मे निर्माण कर प्राकृतभाषा को समृद्ध किया है इन ग्रन्थो मे दार्शनिक, शास्त्रीय, ज्योतिष, योग, चरित्र आदि अनेक विषयो का सग्रह है इस प्रकार प्राकृतभाषा को इनकी बडी देन है इसी प्रकार सस्कृत मे भी इन्होने अनेकान्तवाद, अनेकान्तजयपताका, न्यायप्रवेश, शास्त्रवार्तासमुच्चय, षड्दर्शनसमुच्चय, अष्टकप्रकरण, षोडशकप्रकरण, धर्मबिन्दु, योगबिन्दु, योगदृष्टिसमुच्चय, लोकतत्त्वनिर्णय आदि ग्रन्थ बनाये है इस प्रकार सस्कृतभाषा को भी इनकी बडी देन है

(४०) कोट्याचार्य—(वि० ९ वी शताब्दी) इन्होने विशेषावश्यकमहाभाष्य पर टीका की है इसके अलावा इनकी अन्य कोई रचना नही मिली है

(४१) वीराचार्ययुगल—(१ वि० ९-१० शताब्दी और २ वि० १३ श०) आचार्य हरिभद्र उपर्युक्त पिण्डनिर्युक्तिवृत्ति को पूर्ण किये विना ही दिवगत हो गये थे इसकी पूर्ति वीराचार्य ने की थी वीराचार्य दो हुए हैं एक आचार्य हरिभद्र की अपूर्ण वृत्ति को पूर्ण करनेवाले और दूसरे पिण्डनिर्युक्ति की स्वतन्त्र वृत्ति बनाने वाले इन दूसरे वीराचार्य ने अपनी वृत्ति के प्रारम्भ मे इस प्रकार लिखा है

नूतनफलकम् ततोऽपरमपि शतकविवरणनामकम्, अन्यदप्यनुयोगद्वारवृत्तिसञ्ज्ञितम्, ततोऽपरमप्युपदेशमालासूत्रा-भिधानम्, अपर तु तद्वृत्तिनामकम्, अन्यच्च जीवसमासविवरणनामधेयम्, अन्यत्तु भवभावनासूत्रसञ्ज्ञितम् अपर तु तद्विवरणनाम-कम्, अन्यच्च झटिति विरचय्य तस्या सद्भावनामञ्जूषाया अङ्गभूत निवेशित नन्दिटिप्पनकनामधेय नूतन फलक एतैश्च नूतनफलकैर्निवेशितैर्वज्रमयीव सञ्जातासौ मञ्जूषा तेषा पापानामगम्या ततस्तैरतीवच्छलघातितया सञ्चूर्णयितुमारब्ध तद्वार-कपाटसम्पुटम् ततो मया ससम्भ्रमेण निपुण तत्प्रतिविधानोपाय चिन्तयित्वा विरचयितुमारब्ध तद्द्वारपिधान-हेतोर्विशेषावश्यकविवरणाभिधान वज्रमयमिव नूतनकपाटसम्पुटम् ततश्चाभयकुमारगणि-धनदेवगणि-जिनभद्रगणि-लक्ष्मणगणि-विबुधचन्द्रादिमुनिवृन्द-श्रीमहानन्द -श्रीमहत्तरा-वीरमतीगणिन्यादिसाहाय्याद् 'रे रे ! निश्चितमिदानी हता वय यद्येतन्निष्पद्यते, ततो धावत धावत गृह्णीत गृह्णीत लगत लगत' इत्यादि पूत्कुर्वता सर्वात्मशक्त्या प्रहरता हाहारव कुर्वता च मोहादिचरटाना चिरात् कथ कथमपि विरचय्य तद्द्वारे निवेशितमेतदिति " [पत्र १३५६]

इस उल्लेख मे आपने नन्दिटिप्पनक रचना का उल्लेख किया है जो आज प्राप्त नही है साथ मे यह भी एक बात है कि—इन्ही के शिष्य श्री श्रीचन्द्रसूरि ने प्राकृत मुनिसुव्रतस्वामिचरित्र के अन्त मे श्री हेमचन्द्र सूरि का जीवनचरित्र दिया है जिसमे इनकी ग्रन्थरचनाओ का भी उल्लेख किया है किन्तु उसमे नन्दीसूत्रटिप्पनक के नाम का निर्देश नही है, यह आश्चर्य की बात है मुनिसुव्रतस्वामिचरित्र का उल्लेख इस प्रकार है

जे तेण सय रइया गथा ते मपइ कहेमि ॥४१॥
सुत्तसुवएसमाला-भवभावणपगरणाणि काऊण ।
गथसहस्सा चउदस तेरस वित्ती कया जेण ॥४२॥
अणुओगदाराण जीवसमासस्स तह य सयगस्स ।
जेण छ सत्त चउरो गथसहस्सा कया वित्ती ॥४३॥
मूलावस्सयवित्तीए उवरि रइय च टिप्पण जेण ।
पच सहस्सपमाण विसमट्ठाणाववोधयर ॥४४॥
जेण विसेसावस्सयसुत्तस्सुवरिं सवित्थरा वित्ती ।
रइया परिप्फुडत्था अडवीस सहस्सपरिमाणा ॥४५॥
वक्खाणगुणपसिद्धि सोऊण जस्स गुज्जरनरिंदो ।
जयसिंहदेवनामो कयगुणिजणमणचमक्कारो ॥४६॥

इस उल्लेख मे श्रीहेमचन्द्र सूरि रचित सब ग्रन्थो के नाम और उनका ग्रन्थप्रमाण भी उल्लिखित है सिर्फ इसमे नन्दी-सूत्रटिप्पनक का नाम शामिल नही है सभावना की जाती है कि इस चरित की प्रारम्भिक नकल करने के समय प्राचीन काल से ही ४४ गाथा के बाद की एक गाथा छूट गई है अस्तु, कुछ भी हो, श्रीहेमचन्द्रसूरि महाराज ने आप ही अपनी विशेषावश्यकवृत्ति के अन्त मे "अन्यच्च झटिति विरचय्य तस्या सद्भावनामञ्जूषाया अङ्गभूत निवेशित नन्दि-टिप्पनकनामधेय फलकम्" ऐसा उल्लेख किया है, इससे यह बात तो निर्विवाद है कि—आपने नन्दिटिप्पनक की रचना अवश्य की थी, जो आज प्राप्त नही है आज जो नन्दिटिप्पनक प्राप्त है वह शीलभद्रसूरि एव धनेश्वरसूरि इन दो गुरु के शिष्य श्रीचन्द्रसूरि का रचित है जो प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी की ओर से छप कर प्रकशित होगा

(४७) आचार्य मलयगिरि (वि० १२-१३ श०)—इनके गुरु, गच्छ आदि के नाम का कोई पता नही लगता ये गुर्जरेश्वर चौलुक्यराज जयसिंहदेव के माननीय और महाराजा कुमारपालदेव के धर्मगुरु श्रीहेमचन्द्राचार्य के विद्या-आराधना के सहचारी थे आचार्य हेमचन्द्र के साथ इनका सम्बन्ध अति गहरे पूज्य भाव का था इसलिए इन्होने अपनी आवश्यक-वृत्ति मे आचार्य हेमचन्द्र की द्वात्रिंशिका का उद्धरण देते हुए "आह च स्तुतिषु गुरव' इस प्रकार उनके लिए अत्यादर-गर्भित शब्दप्रयोग किया है इन्होने नन्दीसूत्र, भगवती-द्वितीयशतक, राजप्रश्नीय, प्रज्ञापना, जीवाभिगम, सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, व्यवहारसूत्र, बृहत्कल्प, आवश्यक, पिण्डनिर्युक्ति एव ज्योतिष्करण्डक-इन जैन-आगमो पर सपादलक्ष श्लोक-

टिप्पन, विषमपदपर्याय आदि भिन्न भिन्न नामो वाली व्याख्याए लिखी हैं जो मूलसूत्रो का अर्थ समझने मे बडी सहायक है ये व्याख्याए प्राचीन वृत्तियो के अशो का शब्दश सग्रह रूप होने पर भी कभी-कभी इन व्याख्याओ मे पारिभाषिक सकेतो को समझाने के लिए प्रचलित देशी भाषा का भी उपयोग किया गया है कही-कही प्राचीन वृत्तियो मे 'सुगम' 'स्पष्ट' 'पाठसिद्ध' आदि लिखकर छोड दिये गये स्थानो की व्याख्या भी इनमे पाई जाती है. इस दृष्टि से इन व्याख्याकारो के भी हम बहुत कृतज्ञ हैं

प्राकृत वाङ्मय

भारतीय प्राकृत वाङ्मय अनेक विषयो मे विभक्त है सामान्यत इनका विभाग इस प्रकार किया जा सकता है

जैन आगम, जैन प्रकरण, जैन चरित-कथा, स्तुति-स्तोत्रादि, व्याकरण, कोष, छद शास्त्र, अलकार, काव्य, नाटक, सुभाषित आदि यहा पर इन सबका सक्षेप मे परिचय दिया जायगा

जैन आगम—जिस प्रकार वैदिक और बौद्ध साहित्य मुख्य और अवान्तर अनेक विभागो मे विभक्त है उसी प्रकार जैन आगम भी अनेक विभागो मे विभक्त है प्राचीन काल मे आगमो के अग आगम और अगबाह्य आगम या कालिक आगम और उत्कालिक आगम इस तरह विभाग किये जाते थे अग आगम वे है जिनका श्रमण भगवान् महावीर के ग्यारह गणधर-पट्टशिष्यो ने निर्माण किया है अगबाह्य आगम वे है जिनकी रचना श्रमण भगवान् महावीर के अन्य गीतार्थ स्थविरो, शिष्यो-प्रशिष्यो एव उनके परम्परागत स्थविरो की थी स्थविरो ने इन्ही आगमो के कालिक और उत्कालिक ऐसे दो विभाग किये है निश्चित किये गये समय मे पढे जाने वाले आगम कालिक हैं और किसी भी समय मे पढे जाने वाले आगम उत्कालिक है आज सैकडो वर्षो से इनके मुख्य विभाग अग, उपाग, छेद, मूल आगम, शेष आगम एव प्रकीर्णक के रूप मे रूढ हैं प्राचीन युग मे इन आगमो की सख्या नदीसूत्र और पाक्षिकसूत्र के अनुसार चौरासी थी परन्तु आज पैंतालीस है नदीसूत्र मे एव पाक्षिकसूत्र मे जिन आगमो के नाम दिये हैं उनमे से आज बहुत-से आगम अप्राप्य है जब कि आज माने जाने वाले आगमो की सख्या मे नये नाम भी दाखिल हो गये हैं जो बहुत पीछे के अर्थात् ग्यारहवी शताब्दी के प्रथम चरण के भी हैं आज माने जानेवाले पैंतालीस आगमो मे से बयासीस आगमो के नाम नदीसूत्र और पाक्षिकसूत्र मे पाये जाते हैं किन्तु आज आगमो का जो क्रम प्रचलित है वह ग्यारह अगो को छोडकर शेष आगमो का नदीसूत्र और पाक्षिकसूत्र मे नही पाया जाता नदीसूत्रकार ने अग आगम को छोडकर शेष सभी आगमो को प्रकीर्णको मे समाविष्ट किया है आगम के अग, उपाग, छेद, प्रकीर्णक आदि विभागो म से अगो के बारह होने का समर्थन स्वय अग ग्रथ भी करते है उपाग आज बारह माने जाते हैं किन्तु स्वय निरयावलिका नामक उपाग मे उपाग के पाच वर्ग होने का उल्लेख है छेद शब्द निर्युक्तियो मे निशीथादि के लिए प्रयुक्त है प्रकीर्णक शब्द भी नदीसूत्र जितना तो पुराना है ही किन्तु उसमे अगेतर सभी आगमो को प्रकीर्णक कहा गया है

अग आगमो को छोडकर दूसरे आगमो का निर्माण अलग-अलग समय मे हुआ है पण्णवणा सूत्र श्यामार्यप्रणीत है दशा, कल्प एव व्यवहार सूत्र के प्रणेता चतुर्दश पूर्वधर स्थविर आर्य भद्रबाहु है निशीथसूत्र के प्रणेता आर्य भद्रबाहु या विशाखगणि महत्तर हैं अनुयोगद्वारसूत्र के निर्माता स्थविर आर्यरक्षित है नदीसूत्र के कर्ता श्री देववाचक है प्रकीर्णको मे गिने जाने वाले चउसरण, आउर पच्चक्खाण, भत्तपरिण्णा और आराधनापताका के रचयिता वीरभद्रगणि है ये आराधनापताका की [प्रशस्ति के 'विक्कमनिवकालाओ अट्ठुत्तरिमे समासहस्सम्मि' और 'अट्ठत्तरिमे समासहस्सामि' पाठभेद के अनुसार विक्रम सवत् १००८ या १०७८ मे हुए है बृहट्टिप्पणिकाकार ने आराधनापताका का रचनाकाल 'आराधनापताका १०७८ वर्षे वीरभद्राचार्यकृता' अर्थात् स० १०७८ कहा है 'आराधनापताका' मे ग्रथकार ने 'आराहणाविहिं पुण भत्तपरिण्णाइ वण्णिमो पुव्विं' (गाथा ५१) अर्थात् 'आराधनाविधि का वर्णन हमने पहले भक्त परिज्ञा मे कर दिया है' ऐसा लिखा है इस निर्देश से यह ग्रथ इन्ही का रचा हुआ सिद्ध होता है आज के चउसरण एव आउरपच्चक्खाणके रचना-क्रम को देखने से ये प्रकीर्णक भी इन्ही के रचे हुए प्रतीत होते हैं वीरभद्र की यह आराधना

८ ओघनिर्युक्ति महाभाष्य कल्पलघुभाष्य एवं पंचकल्पमहाभाष्य के प्रणेता संघदासगणि क्षमाश्रमण हैं व विशेषावश्यक महाभाष्य के प्रणेता जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण हैं दूसरे भाष्य-महाभाष्यों के कर्त्ता कौन हैं इसका पता अभी तक नहीं लगा है संघदासगणि जिनभद्रगणि से पूर्ववर्ती हैं श्रीजिनभद्रगणि महाभाष्यकार के नाम से सम्प्रसिद्ध हैं जिन आगमों पर नियुक्तियों की रचना है उनके भाष्य मूल सूत्र व नियुक्ति को लक्ष्य में रखकर रचे गये हैं जिनकी नियुक्तियाँ नहीं हैं उनके भाष्य सूत्र को ही लक्षित करके रचे गये हैं उदाहरण रूप में जीतकल्पसूत्र और उसका भाष्य समझना चाहिए महाभाष्य के दो प्रकार हैं—पहला प्रकार *विशेषावश्यक महाभाष्य ओघनियुक्ति महाभाष्य आदि हैं* जिनके लघुभाष्य नहीं हैं वे सीधे नियुक्ति के ऊपर ही स्वतन्त्र महाभाष्य हैं दूसरा प्रकार लघुभाष्य को लक्षित करके रचे हुए महाभाष्य हैं इसका उदाहरण कल्पबृहद्भाष्य को समझना चाहिए यह महाभाष्य अपूर्ण ही मिलता है निशीथ और व्यवहार के भी महाभाष्य थे ऐसा प्रघोष चला आता है किन्तु आज वे प्राप्त नहीं हैं निशीथमहाभाष्य के अस्तित्व का उल्लेख बृहट्टिप्पनिकाकार—प्राचीन ग्रंथसूचीकार ने अपनी सूची में भी किया है

ऊपर जिन महाकाय भाष्य—महाभाष्य का परिचय दिया गया है उनके अलावा आवश्यक ओघनिर्युक्ति पिंडनिर्युक्ति दशवैकालिक सूत्र आदि के ऊपर भी लघुभाष्य प्राप्त होते हैं किन्तु इनका मिश्रण नियुक्तियों के साथ ऐसा हो गया है कि कई जगह नियुक्ति भाष्यगाथा कौन-सी एवं कितनी है ? इसका निर्णय करना कठिन हो जाता है इनमें से भी जब मैंने आवश्यकसूत्र की चूर्णि और हारिभद्री वृत्ति को देखा तब तो मैं असमंजस में पड़ गया चूर्णिकार कहीं भी 'भाष्यगाथा' नाम का उल्लेख नहीं करते हैं जबकि आचार्य हरिभद्र स्थान-स्थान पर 'भाष्य और मूलभाष्य' के नाम से अवतरण देते हैं आचार्य श्री हरिभद्र जिन गाथाओं को मूलभाष्य की गाथाएँ फरमाते हैं उनमें से बहुत-सी गाथाओं का उल्लेख उनपर चूर्णि चूर्णिकार ने की ही नहीं है यद्यपि उनमें से कई गाथाओं की चूर्णि पाई जाती है फिर भी चूर्णिकार ने कहीं भी उन गाथाओं का 'मूल भाष्य' के रूप में उल्लेख नहीं किया है प्रतीत होता है कि—आचार्य श्री हरिभद्र ने दशवैकालिकनियुक्ति की तरह इस वृत्ति में काफी गाथाओं का संग्रह कर लिया है

चूर्णि—विशेष चूर्णि—आचारांग सूत्रकृतांग भगवती सूत्र जीवाभिगम जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति प्रज्ञापनासूत्र दशा कल्प व्यवहार निशीथ पंचकल्प जीतकल्प आवश्यक दशवैकालिक उत्तराध्ययन पिंडनिर्युक्ति नन्दीसूत्र अनुयोगद्वार-अंगुल पदचूर्णि श्रावकप्रतिक्रमण ईर्यापथिकी आदि सूत्र—इन आगमों की चूर्णियाँ अभी प्राप्त हैं निशीथसूत्र की मात्र विशेष चूर्णि ही प्राप्त है कल्प की चूर्णि-विशेषचूर्णि दोनों ही प्राप्त हैं दशवैकालिकसूत्र की दो चूर्णियाँ प्राप्त हैं एक स्थविर अगस्त्यसिंह की और दूसरी अज्ञातकर्तृक है आचार्य श्री हरिभद्र ने इस चूर्णि का वृद्धविवरण नाम दिया है अनुयोग द्वार सूत्र में जो अंगुलपद है उस पर आचार्य श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने चूर्णि रची है चूर्णिकार श्री जिनदास गणि महत्तर और आचार्य श्री हरिभद्र ने अपनी अनुयोगद्वारसूत्र की चूर्णि-वृत्ति में भी जिनभद्र के नाम से इसी चूर्णि को अक्षरशः ले लिया है ईर्यापथिकी सूत्रादि की चूर्णि के प्रणेता यशोदेवसूरि हैं इसका रचनाकाल सं ११७४ से ११८ का है श्रावक प्रतिक्रमण चूर्णि श्री विजयसिंह सूरि की रचना है जो वि सं ११८२ की है

ज्योतिष्करंडक प्रकीर्णक पर शिवनंदी वाचक विरचित प्राकृत वृत्ति पाई जाती है जो चूर्णि में शामिल हो सकती है आम तौर से देखा जाय तो पिछले जमाने में प्राकृतवृत्तियों को 'चूर्णि' नाम दिया गया है फिर भी ऐसे प्रकरण हमारे सामने मौजूद हैं जिनसे पता चलता है कि प्राचीन काल में प्राकृत व्याख्याओं को 'वृत्ति' नाम भी दिया जाता था दशवैकालिकसूत्र के दोनों चूर्णिकारों ने अपनी चूर्णियों में प्राचीन दशवैकालिकव्याख्या का 'वृत्ति' के नाम से जगह जगह उल्लेख किया है

ऊपर जिन चूर्णियों का उल्लेख किया गया है उनमें से प्रायः बहुत-सी चूर्णियाँ महाकाय हैं। इन सब चूर्णियों के प्रणेताओं के नाम प्राप्त नहीं होते हैं फिर भी स्थविर अगस्त्यसिंह शिवनंदि वाचक जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण जिनदास महत्तर आचार्य हरिभद्र—इन चूर्णिकार आचार्यों के नाम मिलते हैं

निर्युक्तियाँ—स्थविर आर्य भद्रबाहु स्वामी ने दस आगमो पर निर्युक्तियाँ रची है, जिनके नाम इन्होने आवश्यक-निर्युक्ति मे इस प्रकार लिखे है—

आवस्सयस्स १ दसकालियस्स २ तह उत्तरज्झ ३ मायारे ४।
सूयगडे णिज्जुत्ति ५ वोच्छामि तहा दसाण च ६॥
कप्पस्स य णिज्जुत्ति, ववहारस्सेव परमनिउणस्स ८।
सूरियपण्णत्तीए ९ वोच्छ इसिभासियाण च १०॥

इन गाथाओ मे सूचित किया है तदनुसार इन्होने दस आगमो की निर्युक्तियाँ रची थी आगमो की अस्तव्यस्त दशा, अनुयोग की पृथक्ता आदि कारणो से इन निर्युक्तियो का मूल स्वरूप कायम न रहकर आज इनमे काफी परिवर्तन और हानि-वृद्धि हो चुके है इन परिवर्तित एव परिवर्द्धित निर्युक्तिओ का मौलिक परिमाण क्या था ? यह समझना आज कठिन है खास करके जिन पर भाष्य-महाभाष्य रचे गये उनका मिश्रण तो ऐसा हो गया है कि—स्वय आचार्य श्री मलयगिरि को बृहत्कल्प की वृत्ति (पत्र १) मे यह कहना पडा कि—'सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिर्भाष्य चैको ग्रथो जात' और उन्होने अपनी वृत्ति मे निर्युक्ति-भाष्य को कही भी पृथक् करने का प्रयत्न नही किया है

सूर्यप्रज्ञप्ति और ऋषिभाषितसूत्र की निर्युक्तियाँ उपलब्ध नही है उत्तराध्ययन, आचाराग, सूत्रकृताग, दशा इन आगमो की निर्युक्तियो का परिमाण स्पष्टरूप से मालूम हो जाता है आवश्यक, दशकालिक आदि की निर्युक्तियो का परिमाण भाष्यगाथाओ का मिश्रण हो जाने से निश्चित करना कठिन जरूर है, तथापि परिश्रम करने से इसका निश्चय हो सकता है किन्तु कल्प व व्यवहारसूत्र की निर्युक्तियो का परिमाण किसी भी प्रकार निश्चित नही किया जा सकता। हाँ, इतना अवश्य है कि—चूर्णि-विशेष-चूर्णिकारो ने कही-कही 'पुरातनगाथा, निर्युक्तिगाथा' इत्यादि लिखा है, जिससे निर्युक्तिगाथाओ का कुछ ख्याल आ सकता है तो भी सपूर्णतया निर्युक्तिगाथाओ का विवेक या पृथक्करण करना मुश्किल ही है

ऊपर जिन निर्युक्तिओ का उल्लेख किया है इनके अतिरिक्त ओघनिर्युक्ति, पिंडनिर्युक्ति और ससक्तनिर्युक्ति ये तीन निर्युक्तियाँ और मिलती है इनमे मे ओघनिर्युक्ति आवश्यकनिर्युक्ति मे से और पिंडनिर्युक्ति दशवैकालिक निर्युक्ति मे से अलग किये गये अश है ससक्तनिर्युक्ति वहुत वाद की एव विसगत रचना है

स्थविर आर्य भद्रबाहुविरचित निर्युक्तियो के अलावा भाष्य और चूर्णियो मे गोविंदनिज्जुत्ति का भी उल्लेख आता है, जो स्थविर आर्य गोविंद की रची हुई थी आज इस निर्युक्ति का पता नही है यह नष्ट हो गई या किसी निर्युक्ति मे समाविष्ट हो गई ? यह कहा नही जा सकता निशीथचूर्णि मे इस प्रकार का उल्लेख मिलता है—"तेण एगिंदिय-जीवसाहण गोविन्दनिज्जुत्ती कया" इनके अलावा और किसी निर्युक्तिकार का निर्देश नही मिलता है निर्युक्तियो की रचना मूलसूत्रो के अशो के व्याख्यान रूप होती है

सग्रहणिया—सग्रहणियो की रचना पचकल्प महाभाष्य के उल्लेखानुसार स्थविर आर्य कालक की है पाक्षिकसूत्र मे भी "ससुत्ते सअत्थे सगथे सनिज्जुत्तिए ससगहणिए" इस सूत्राश मे सग्रहणी का उल्लेख है इससे भी प्रतीत होता है कि सग्रहणियो की रचना काफी प्राचीन है आज स्पष्टरूप से पता नही चलता है कि—स्थविर आर्य कालक ने कौन से आगमो की सग्रहणियो की रचना की थी ? और उनका परिमाण क्या था ? तो भी अनुमान होता है कि—भगवती-सूत्र, जीवाभिगमोपाग, प्रज्ञापनासूत्र, श्रमणप्रतिक्रमणसूत्र आदि मे जो सग्रणियाँ पाई जाती है वे ही ये हो इससे अधिक कहना कठिन है

भाष्य-महाभाष्य—जैन सूत्रो के भाष्य-महाभाष्यकार के रूप मे दो क्षमाश्रमणों के नाम पाये जाते है—१ सघदास गणि क्षमाश्रमण और जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण जैन आगमो के महाकाय भाष्य-महाभाष्य निम्नोक्त आठ प्राप्य है—१ विशेषावश्यक महाभाष्य २ कल्पलघुभाष्य ३ कल्पबृहद्भाष्य ४ पचकल्प ४ व्यवहार भाष्य ६ निशीथभाष्य ७ जीतकल्पभाष्य
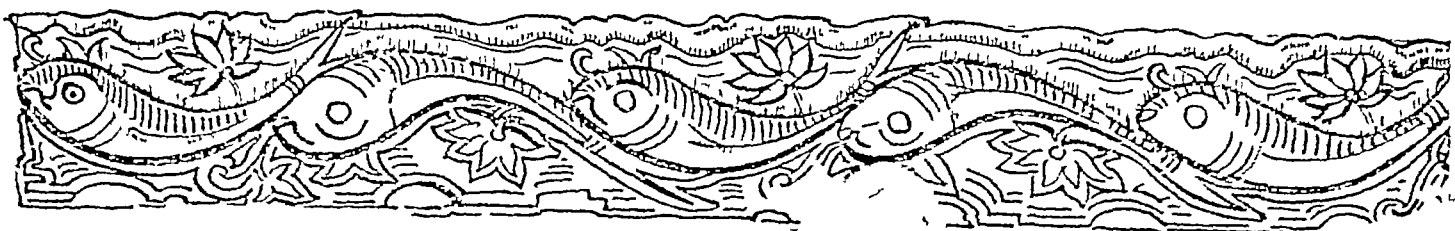
धर्मकथा साहित्य

जैनाचार्यों ने प्राकृत कथासाहित्य के विषय में भी अपनी लेखनी का उपयोग काफी किया है. जैनाचार्यों ने काव्यमय कथाएं लिखने का प्रयत्न विक्रम संवत् प्रारम्भ के पूर्व ही शुरू किया है. आचार्य पादलिप्त की तरंगवती, मलयवती, मगधसेना, संघदासगणि वाचक विरचित वसुदेवहिंडी, धूर्ताख्यान आदि कथाओं का उल्लेख विक्रम की पांचवी छट्ठी सदी में रचे गए भाष्यों में आता है. धूर्ताख्यान तो निशीथचूर्णिकार ने अपनी चूर्णि में [भा. २९६ पत्र १ २ १ ४] भाष्य गाथाओं के अनुसार संक्षेप में दिया भी है और आख्यान के अन्त में उन्होंने 'सेसं धुत्तक्खाणगाणुसारेण णेयमिति' ऐसा उल्लेख भी किया है. इससे पता चलता है कि—प्राचीनकाल में 'धूर्ताख्यान' नामक स्वतंत्र कथाग्रन्थ था. जिसका आधार लेकर आचार्य श्रीहरिभद्र ने प्राकृत धूर्ताख्यान की रचना की है. प्राचीन भाष्य आदि में जिन कथा-ग्रन्थों का उल्लेख पाया जाता है उनमें से मात्र सिर्फ एक श्रीसंघदासगणि का वसुदेवहिंडी ग्रन्थ ही प्राप्त है जो भी खण्डित है. दाक्षिण्यांक आचार्य श्रीउद्योतनसूरि ने अपनी कुवलयमाला कथा की [र. सं. शाके ७] प्रस्तावना में पादलिप्त, सातवाहन, पद्पणक, गुणाढ्य, विमलांक, देवगुप्त, रविषेण, भवविरह हरिभद्र आदि के नामों के साथ उनकी जिन रचनाओं का निर्देश किया है उनमें से कुछ रचनाएं प्राप्त हैं. किन्तु पादलिप्त की तरंगवती, पद्पर्णक के सुभाषित आदि रचनाएं, गुणाढ्य की पिशाच भाषामयी बृहत्कथा, विमलांक का हरिवंश, देवगुप्त का त्रिपुरुषचरित्र आदि कृतियां आज प्राप्त नहीं हैं. संघदास की वसुदेवहिंडी, धर्मसेन महत्तर का शौरसेनी भाषामय वसुदेव हिंडी द्वितीय खण्ड, विमलांक का पउमचरियं, हरिभद्रसूरि की समराइच्चकहा, शीलांक विमलमति का चउप्पन्न महापुरिसचरियं, भद्रेश्वर की कहावली आदि प्राचीन कथाएं आज प्राप्त हैं. ये सब रचनाएं विक्रम की प्रथम सहस्राब्दी में हुई हैं. इनके बाद में अर्थात् विक्रम की बारहवीं शताब्दी में चौबीस तीर्थंकरों के चरित्र आदि अनेक चरितों की रचना हुई है. जो अनुमानतः दो-तीन शताब्दियों में हुई है. वर्धमानसूरि—आदिनाथचरित्र और मनोरमा कहा. सोमप्रभाचार्य-सुमतिनाथ चरित और कुमारपालप्रतिबोध. गुणचन्द्रसूरि अपरनाम देवभद्रसूरि-पार्श्वनाथचरित, महावीरचरियं और कहारयणकोस. लक्ष्मणगणि—सुपासनाहचरियं. बृहद्गच्छीय हरिभद्रसूरि—चन्द्रप्रभचरित्र और नेमिनाहचरिउ अपभ्रंश. देवसूरि—पद्मप्रभचरित. मलधारी श्रीचन्द्रसूरि-श्रेयांसचरित. देवचन्द्रसूरि—शान्तिनाथचरित्र और मूलशुद्धिप्रकरणटीका. नेमिचन्द्रसूरि—अनन्तनाथचरित्र और महावीरचरित्र. श्रीचन्द्रसूरि—मुनिसुव्रतस्वामिचरित और कथुनाथचरित्र. पद्मप्रभसूरि-मुनिसुव्रतचरित्र. मलधारी हेमचन्द्रसूरि—अरिष्टनेमिचरित्र (भवभावनान्तर्गत). रत्नप्रभसूरि अरिष्टनेमिचरित. यशोदेवसूरि—चन्द्रप्रभचरित. चन्द्रप्रभोपाध्याय-वासुपूज्य चरित्र. चन्द्रप्रभसूरि-विजयचन्द्रकेवलिचरित्र. शान्तिसूरि-पृथ्वीचन्द्रचरित्र. विजयसिंहसूरि—भुवनसुन्दरी कहा. धनेश्वर-सुरसुन्दरीकहा आदि प्राकृत कथा चरितग्रन्थ प्रायः महाकाय ग्रन्थ हैं और विक्रम की ग्यारहवीं बारहवीं शताब्दी में ही रचे गये हैं. इनके अतिरिक्त दूसरी भी बहुत श्रावक चरित, वर्धमानदेशना, शालिभद्रादि चरित, ऋषिदत्ताचरित, जिनदत्ताख्यान, नर्मदासुंदरीचरियं, नरवरदेवकहा, सुलसकहा, मलयसुंदरीचरियं, सणंकुमारचरियं, तरंगवती संक्षेप, सीयाचरियं, सिरिवालकहा, कुम्मापुत्तचरियं, मौन एकादशीकहा, जम्बूसामीचरियं, कालिकाचार्यकथा, सिद्धसेनाचार्यादि प्रबन्ध आदि अनेक छोटी-मोटी प्राकृत रचनाएं प्राप्त होती हैं. ये स्वतन्त्र साधुचरित स्त्री-पुरुष के कथाचरित होने पर भी इनमें प्रसंग प्रसंग पर अवान्तर कथाएं काफी प्रमाण में आती हैं. इन महाकाय कथा चरितों की तरह संक्षिप्त कथाचरित के संग्रहरूप महाकाय कथाकोशों की रचना भी बहुत हुई है. वे रचनाएं भद्रेश्वरसूरि की कहावली, जिनेश्वरसूरि का कथाकोश, नेमिचन्द्र आम्रदेवसूरि का आख्यानकमणिकोश, धर्मदास का ऋषिमण्डलप्रकरण, भरतेश्वर-बाहुबलि स्वाध्याय आदि हैं.

अपभ्रंश में श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय में महाकवि धनपाल का सत्यपुरमहावीरस्तोत्र, धाहिल का पउमसिरिचरिउ, जिनप्रभसूरि का चन्द्रगामिचरिउ आदि छोटी छोटी रचनाएं बहुत पाई जाती हैं किन्तु बड़ी रचनाएं श्री सिद्धसेनसूरि अपरनाम साधारण रचित विलासवईकहा [प्र. ३६२ रचना सं. ११२३] और हरिभद्रसूरि का नेमिनाहचरिउ [प्रमाण ८ १२ रचना सं. १२१६] ये दो ही देखने में आती हैं. आचार्य श्री हेमचन्द्र ने सिद्धहेमचन्द्र व्याकरण के

चूर्णि निर्युक्तिओ की रचना पिछले जमाने मे वद हो गई, किन्तु सग्रहणी, भाष्य-महाभाष्य, चूर्णि की रचना का प्रचार वाद मे भी चालू रहा है सस्कृतवृत्तियो की रचना के वाद यद्यपि आगमो पर ऐसा कोई प्रयत्न नही हुआ है तो भी आगमो के विषयो को लेकर तथा छोटे-मोटे प्रकरणो पर भाष्य-महाभाष्य-चूर्णि लिखने का प्रयत्न चालू ही रहा है, यह आगे प्रकरणो के प्रसग मे मालूम होगा

यहाँ पर जैन आगम और प्राकृत व्याख्याग्रन्थो का परिचय दिया गया है ये बहुत प्राचीन एव प्राकृत भाषा के सर्वोत्कृष्ट अधिकारियो के रचे हुए है प्राकृतादि भाषाओ की दृष्टि से ये बहुत ही महत्त्व के है

प्रकरण

प्रकरण किसी खास विषय को ध्यान मे रखकर रचे गये है मेरी दृष्टि मे प्रकरणों को तीन विभागो मे विभक्त किया जा सकता है—तार्किक, आगमिक और औपदेशिक

तार्किक प्रकरण—आचार्य श्रीसिद्धसेन का सन्मतितर्क, आचार्य श्रीहरिभद्र का धर्मसग्रहणी प्रकरण, उपाध्याय श्री यशोविजयकृत श्रीपूज्यलेख, तत्त्वविवेक, धर्मपरीक्षा आदि का इस कोटि के प्रकरणो मे समावेश होता है यद्यपि ऐसे तार्किक प्रकरण बहुत कम हैं, फिर भी इन प्रकरणो का प्राकृत भाषा के अतिरिक्त तत्त्वज्ञान की दृष्टि से भी बहुत महत्त्व है

आगमिक प्रकरण—आगमिक प्रकरणो का अर्थ जैन आगमो मे जो द्रव्यानुयोग व गणितानुयोग के साथ सबन्ध रखने वाले विविध विषय हैं उनमे से किसी एक को पसद करके उसका विस्तृतरूप मे निरूपण करनेवाले या सग्रह करनेवाले ग्रथ प्रकरण हैं ऐसे प्रकरणो के रचनेवाले शिवशर्म, जिनभद्र क्षमाश्रमण, हरिभद्रसूरि, चन्द्रर्षि महत्तर, गर्गर्षि, मुनिचद्रसूरि, सिद्धसेनसूरि, जिनवल्लभ गणि, अभयदेवसूरि, श्रीचन्द्रसूरि, चक्रेश्वरसूरि, देवेन्द्रसूरि सोमतिलकसूरि, रत्नशेखरसूरि, विजयविमलगणि आदि अनेक आचार्य हुए है इनमे से आचार्य शिवशर्म, चन्द्रर्षि महत्तर, गर्गर्षि, जिनवल्लभगणि, देवेन्द्रसूरि आदि कर्मवादविषयक कर्मप्रकृति, पचसग्रह, प्राचीन कर्मग्रथ और नव्यकर्मग्रथ शास्त्रो के प्रणेता है. इनमे भी शिवशर्मप्रणीत कर्मप्रकृति और चन्द्रर्षि प्रणीत पचसग्रह, व इनकी चूर्णि-वृत्तियाँ महाकाय ग्रथ हैं ये दो शास्त्र आगमकोटि के महामान्य ग्रथ माने जाते है इनके अलावा आचार्य जिनभद्र के सग्रहणी-क्षेत्रसमास-विशेषणवती, हरिभद्रसूरिके पचाशक-विशतिविंशिका पचवस्तुक-उपदेशपद-श्रावकधर्मविधितत्र-योगशतक-सबोधप्रकरण आदि, मुनिचन्द्रसूरि के अगुलसप्तति, वनस्पतिसप्तति, आवश्यकसप्तति तथा सख्या बध कुलक आदि, सिद्धसेनसूरि का १६०६गाथा परिमित प्रवचनसारोद्धारप्रकरण, अभयदेव सूरि के पच निर्ग्रन्थी सग्रहणी, प्रज्ञापना तृतीय पदसग्रहणी, सप्ततिकाभाष्य, षट्स्थानक भाष्य, नवतत्त्व भाष्य, आराधनाप्रकरण श्रीचन्द्रसूरि का सग्रहणीप्रकरण, चक्रेश्वरसूरि के ११२३ गाथा परिमित शतकमहाभाष्य, सिद्धातसारोद्धार, पदार्थस्थापना, सूक्ष्मार्थसप्तति, चरणकरणसप्तति, सभापचक स्वरूप प्रकरण आदि, देवेन्द्रसूरि के देववदनादि भाष्यत्रय, नव्यकर्मग्रथपचक, सिद्धदण्डिका, सिद्धपचाशिका आदि, सोमतिलकसूरि का नव्य बृहत्क्षेत्रसमासप्रकरण, रत्नशेखरसूरि के क्षेत्रसमास, गुरुगुण षट्त्रिंशिका आदि प्रकरण हैं। यहाँ मुख्य मुख्य प्रकरणकार आचार्यो के नाम और उनके प्रकरणो का सक्षेप मे दिग्दर्शन कराया गया है। अन्यथा प्रकरणकार आचार्य और इनके रचे हुए प्रकरणो की सख्या बहुत बडी है इनमे कितनेक प्रकरणो पर भाष्य, महाभाष्य और चूर्णियाँ भी रची गई है

औपदेशिक प्रकरण— औपदेशिक प्रकरण वे है, जिनमे मानवजीवन की शुद्धि के लिए अनेकविध मार्ग दिखलाये गये है ऐसे प्रकरण भी अनेक रचे गये है आचार्य धर्मदास की उपदेशमाला, प्रद्युम्नाचार्य का मूलशुद्धिप्रकरण, श्री शान्तिसूरि का धर्मरत्नप्रकरण, देवेन्द्रसूरिका श्राद्धविधिप्रकरण, मलधारी हेमचन्द्रसूरि का भवभावना और पुष्पमाला प्रकरण, चन्द्रप्रभमहत्तर का दर्शनशुद्धिप्रकरण, वर्द्धमानसूरि का धर्मोपदेशमालाप्रकरण, यशोदेवसूरि का नवपदप्रकरण, आसड के उपदेशकदली, विवेकमजरी प्रकरण, धर्मघोषसूरि का ऋषिमडल प्रकरण आदि बहुत से औपदेशिक छोटे-छोटे प्रकरण है, जिनपर महाकाय टीकाये भी रची गई हैं, जिनमे प्राकृत-सस्कृत-अपभ्र श भाषा मे अनेक कथाओ का सग्रह किया गया है एक रीति से माना जाय तो ये टीकाए कथा-कोशरूप ही हैं

माध्यम मे प्राकृतादि भाषाओ के साथ अपभ्रंश भाषाओं को शामिल किया है फिर भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे अपभ्रंश भाषा का प्रयोग विशेष नही हुआ है

सामान्यतया श्वेताम्बर आचार्यो ने अपने ग्रन्थो मे सुभाषित और प्रसगागत कथाओं के लिए इस भाषा का उपयोग किया है मूलशुद्धिप्रकरणवृत्ति, भवभावनाप्रकरणवृत्ति, आख्यानकमणिकोशवृत्ति, उपदेशमाला दोघट्टिवृत्ति, कुमारपालप्रतिबोध आदि मे अपभ्रंश कथाए आती है, जो दो सौ—चार सौ श्लोक मे अधिक परिमाण वाली नही होती है

दिगम्बर जैन सम्प्रदाय मे इससे विपरीत बात है दिगम्बर आचार्यो ने धर्मकथाओ के लिए प्राकृत-मागध के स्थान मे अपभ्रंश भाषा का ही विशेषरूप से उपयोग किया है दिगम्बरसम्प्रदाय मे शास्त्रीय ग्रन्थो के लिए प्राचीन आचार्यो ने शौरसेनीभाषा का बहुत उपयोग किया है उन्होने अतिमहाकाय माने जाएँ ऐसे धवल, जयधवल, महाधवल शास्त्रों की रचना की है समयसार, पचास्तिकाय आदि सैकडो शास्त्र भी शौरसेनी मे लिखे गये हैं

जैनस्तुति स्तोत्रादि

जैनाचार्यो ने स्तुति-स्तोत्रादि साहित्य काफी लिखा है फिर भी प्रमाण की दृष्टि से देखा जाय तो प्राकृत भाषा मे वह बहुत ही कम है. आचार्य पादलिप्त, आचाय अभयदेव, देवभद्रसूरि, जिनेश्वरसूरि, जिनवल्लभ आदि का समग्र स्तुति-स्तोत्रादि साहित्य एकत्र किया जाय तो मेरा अनुमान है कि वह दो-चार हजार श्लोको से अधिक नही होगा इन स्तोत्रो मे यमक, समसस्कृत प्राकृत, षड्भाषामय स्तोत्रों का समावेश कर लेना चाहिए

व्याकरण व कोश

प्राकृतादि भाषाओं के व्याकरणो एव देशी आदि कोशों का विस्तृत परिचय प्राकृत भाषा के पारगत डॉ० पिशल ने अपने 'कम्पेरेटिव ग्रामर ऑफ दी प्राकृत लेंग्वेजेज' ग्रन्थ मे पर्याप्त मात्रा मे दिया है अत मैं विशेष कुछ नही कहता हू इस युग मे महत्त्वपूर्ण चार प्राकृत शब्दकोश जैन विद्वानो ने तैयार किये हैं

१ त्रिस्तुतिक आचार्य श्री राजेन्द्रसूरि का अभिधानराजेन्द्र

२ पडित हरगोविंददास का पाइयसद्दमहण्णवो

३ स्थानकवासी मुनिश्री रत्नचन्द्रजी का पाच भागो मे प्रकाशित अर्धमागधी कोश

४ श्री सागरानन्दसूरि का अल्पपरिचित सैद्धान्तिक शब्दकोश

काव्य और सुभाषित

प्राकृत भाषा मे रचित प्रवरसेन के सेतुबध महाकाव्य, वाक्पतिराज के गउडवहो, हेमचन्द्र के प्राकृत द्व्याश्रय महाकाव्य आदि से आप परिचित है ही सेतुबध महाकाव्य का उल्लेख निशीथ सूत्र की चूर्णि मे भी पाया जाता है महाकवि धनपाल ने (वि० ११वी शती) अपनी तिलकमजरी आख्यायिका मे सेतुबध महाकाव्य व वाक्पतिराज के गउडवहो की स्तुति—

> जित प्रवरसेनेन रामेणेव महात्मना, तरत्युपरि यत् कीर्तिसेतुर्वाङ्मयवारिधे ।
> दृष्ट्वा वाक्पतिराजस्य शक्ति गौडवधोद्धुराम्, बुद्धि साध्वसरुद्धेव वाच न प्रतिपद्यते ॥३१॥

इन शब्दो मे की है इसी कवि ने अपनी इस आख्यायिका मे—

> प्राकृतेषु प्रबन्धेषु रसनिष्यन्दिभि पदै ।
> राजन्ते जीवदेवस्य वाच पल्लविता इव ॥२४॥

इस प्रकार आचार्य जीवदेव की प्राकृत कृति का उल्लेख किया है जो आज उपलब्ध नही है

आचार्य दाक्षिण्याक श्रीउद्योतनकी कुवलयमालाकहा प्राकृत महाकाव्य की सर्वोत्कृष्ट रसपूर्ण रचना है.
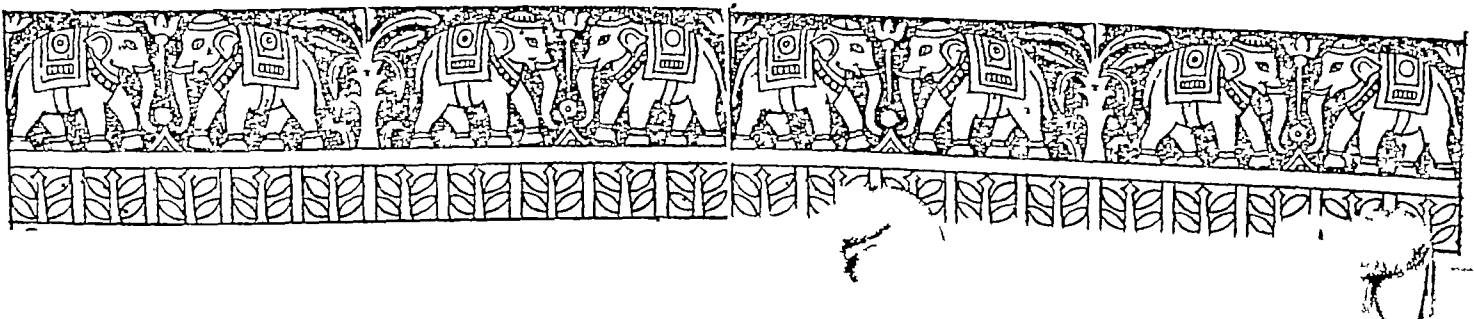
हाल कवि की गाथासप्तशती वज्जालग्ग आदि को सभी जानते हैं इसी प्रकार सदमण कवि का गाथाकोश भी उपलब्ध है समयसुन्दर का गाथाकोश भी मुद्रित हो चुका है बृहट्टिप्पनिकाकार ने सुभाकमलास्य सुभाषितकोष व रामचन्द्र कृत इस प्रकार श्रीहेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र के सुभाषितकोष का नामोल्लेख किया है जो आज अलभ्य है

ऊपर जिन कथा चरितादि ग्रंथों के नाम दिये हैं उन सबमें सुभाषितों की भरमार है यदि इन सबका विभागश संग्रह और संकलन किया जाय तो प्राकृत भाषा का अलंकार स्वरूप एक बड़ा भारी सुभाषित भण्डार तैयार हो सकता है

अलंकारशास्त्र

जैसलमेर के श्री जिनभद्रीय ताड़पत्र ज्ञानभंडार में प्राकृत भाषा में रचित अलंकारदर्पण नामक एक अलंकार ग्रंथ है जिसके प्रारंभ में ग्रंथकार ने —

सदरपयविण्णास विमलालंकाररेहिअसरीरं ।
सुइदेवि अ कव्वं च पणविअ पवरवण्णड्ढं ॥१॥

इस आर्या में 'श्रुतदेवता' को प्रणाम किया है इससे प्रतीत होता है कि—यह किसी जैनाचार्य की कृति है इसका प्रमाण १३४ आर्या है तथा यह हस्तप्रति विक्रम की तेरहवीं शताब्दी पूर्वार्ध में लिखी प्रतीत होती है

नाटक व नाट्य शास्त्र

राजा आदि उच्च वर्ग के व्यक्तियों को छोड़ कर नाटकों में शेष सभी पात्र प्राकृत भाषा का ही प्रयोग करते हैं यदि हिसाब लगाया जाय तो पता लगेगा कि— सब मिलाकर नाटकों में संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत अधिक नहीं तो कम भी प्रयुक्त नहीं हुई है अतएव प्राकृत भाषा के साहित्य की चर्चा में नाटकों को भुलाया नहीं जा सकता स्वतंत्ररूप से लिखे गये नाटकों से तो आप परिचित हैं ही किन्तु कथाग्रन्थों के अन्तर्गत जो नाटक आये हैं उन्हीं की विशेष चर्चा यहाँ अभीष्ट है प्रसंगवशात् यह भी कह दूँ कि—आवश्यकचूर्णि में प्राचीन जैन नाटकों के होने का उल्लेख है शीलांक के चउप्पन्न महापुरिसचरिय में (वि १ वीं शती) विबुधानंद नामक एकांकी नाटक है देवेन्द्रसूरि ने चन्द्रप्रभचरित में कल्याणयुध नाटक लिखा है आचार्य भद्रेश्वर ने कहावली में व देवचन्द्रसूरि ने कहारयणकोस में नाटकाभास नाटक दिये हैं ये सब कथाचरितान्तर्गत नाटक हैं

स्वतंत्र नाटकों की रचना भी जैनाचार्यों ने काफी मात्रा में की है आचार्य देवचन्द्र के चन्द्रलेखाविजयप्रकरण विलास वती नाटिका और मानमुद्राभंजन ये तीन नाटक हैं मानमुद्राभंजन अभी अप्राप्य है यशश्चन्द्र का मुद्रित कुमुदचंद्र और राजीमती नाटिका यशःपालका मोहराजपराजय जयसिंह सूरि का हम्मीरमदमर्दन रामभद्र का प्रबुद्धरौहिणेय मेघप्रभ का धर्माभ्युदय व बालचन्द्र का करुणावज्रायुध नाटक प्राप्त है रामचन्द्रसूरि के कौमुदीमित्राणंद नलविलास निर्भयभीमव्यायोग मल्लिकामकरंद रघुविलास व सत्य हरिश्चन्द्र नाटक उपलब्ध हैं राघवाभ्युदय यादवाभ्युदय यदुविलास आदि अनुपलब्ध हैं इन्होंने नाटकों के अलावा नाट्यविषयक स्वोपज्ञटीकायुक्त नाट्यदर्पण की भी रचना की है इसके प्रणेता रामचन्द्र व गुणचन्द्र दो हैं इन दोनों ने मिलकर स्वोपज्ञटीकायुक्त द्रव्यालंकार की भी रचना की है नाट्यदर्पण के अतिरिक्त रामचन्द्र का नाट्यशास्त्रविषयक 'प्रबंधशत' नामक अन्य ग्रंथ भी था जो अनुपलब्ध है यद्यपि कई विद्वान् 'प्रबंधशत' का अर्थ 'सिकीर्तित सौ ग्रंथ' ऐसा करते हैं किन्तु प्राचीन ग्रंथसूची में 'रामचन्द्रकृतं प्रबन्धशतं द्वादशरूपकनाटकादिस्वरूपज्ञापकम्' ऐसा उल्लेख मिलता है इससे ज्ञात होता है कि प्रबंधशत नामकी इनकी कोई नाट्यविषयक रचना थी

इसके अतिरिक्त ज्योतिष रत्नपरीक्षा शास्त्र अंगलक्षण आयुर्वेद आदि विषयक प्राकृत ग्रंथ मिलते हैं आयुर्वेदविषयक एक प्राकृत ग्रंथ मेरे संग्रह में है जिसका नाम 'योगनिधान' है व अनूपलाल के संग्रह में प्राकृतभाषा में रचित कामशास्त्र का मयणमउड नामक ग्रंथ भी है

यहाँ पर मैने आगम और उनकी व्याख्या से प्रारभ कर विविध विषयो के महत्त्वपूर्ण प्राकृत वाङ्मय का अतिसक्षिप्त परिचय देने का प्रयत्न किया है इससे आपको पता लगेगा कि—प्राकृत भाषा मे कितना विस्तृत एव विपुल साहित्य है और विद्वानो ने इस भाषा को समृद्ध करने के लिए क्या क्या नही लिखा ? अपने-अपने विषय की दृष्टि से तो इस समग्र साहित्य का मूल्य है ही, किन्तु उस वाङ्मय मे जो सास्कृतिक एव ऐतिहासिक विपुल सामग्री भरी पडी है, उसका पता सटीक बृहत्कल्पसूत्र, निशीथचूर्णि, अगविज्जा, चउपन्न महापुरिसचरिय आदि के परिशिष्टो को देखने से लग सकता है प्राकृत भाषा और उसके सर्वांगीण कोश की सामग्री इस वाङ्मय मे से ही पर्याप्तमात्रा मे प्राप्त हो सकती है पूर्वोक्त प्राकृत कोशो मे नही आये हुए हजारो शब्द इस वाङ्मय मे प्राप्त हो सकते हैं इसी तरह आचार्य हेमचद्र की 'देशी नाममाला' मे असगृहीत सैकडो देशी शब्द इस वाङ्मय मे दिखाई देते है इसके लिए विद्वानो को इसी वर्ष प्रकाशित डॉ० ए० एन० उपाध्ये द्वारा सपादित प्राकृत कुवलयमाला एव प० अमृतलाल भोजक द्वारा सपादित 'चउपन्नमहापुरिसचरिय' की प्रस्तावना एव शब्दकोशो का परिशिष्ट देखना चाहिए मेरा मत है कि—भविष्य मे प्राकृत भाषा के सर्वांगीण कोश के निर्माताओ को यह समग्र वाङ्मय देखना होगा यही नही अपितु सस्कृत भाषा के कोश के निर्माताओ को भी यह वाङ्मय देखना व शब्दो का सग्रह करना अति आवश्यक है इसका कारण यह है कि—प्राकृत व सस्कृत भाषा को अपनाने वाले विद्वानो का चिरकाल से अति नैकट्य रहा है इतना ही नही अपितु जो प्राकृत वाङ्मय के निर्माता रहे है वे ही सस्कृत वाङ्मय के निर्माता भी रहे है अत दोनो कोशकारो को एक-दूसरा साहित्य देखना आवश्यक है अन्यथा दोनो कोश अपूर्ण ही होगे

इस आगमादि साहित्य मे विद्वानो को आन्तरिक व बाह्य अथवा व्यावहारिक व पारमार्थिक जीवन के साथ सबध रखने वाले अनेक विषयो का ज्ञान प्राप्त हो सकता है यद्यपि भारतीय आर्य ऋषि, मुनि एव विद्वानो का मुख्य आकर्षण हमेशा धार्मिक साहित्य की ओर ही रहा है तथापि इनकी कुशलता यही है कि—इन्होने लोकमानस को कभी भी नही ठुकराया इसीलिए इन्होने प्रत्येक विषय को लेकर साहित्य का निर्माण किया है. साहित्य का कोई अग इन्होने छोडा नही है इतना ही नही अपितु अपनी धर्मकथाओ मे भी समय-समय पर साहित्य के विविध अगो को याद किया है. यही कारण है कि—अपनी प्राचीन धर्मकथाओ मे धार्मिक सामग्री के अतिरिक्त लोकव्यवहार को स्पर्श करने वाले अनेक विषय प्राप्त होते है उदाहरण के तौर पर कथा-साहित्य मे राजनीति, रत्नपरीक्षा, अगलक्षण, स्वप्नशास्त्र, मृत्युज्ञान आदि अनेक विषय आते है पुत्र-पुत्रियो को पठन, विवाह, अधिकारप्रदान, परदेशगमन आदि अनेक प्रसगो पर शिक्षा, राजकुमारो को युद्धगमन, राज्यपदारोहण आदि प्रसगो पर हितशिक्षा, पुत्र-पुत्रियो के जन्मोत्सव, झुलाने, विवाह आदि करने का वर्णन, ऋतुवर्णन, वनविहार, अनगलेख, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, अलकारशास्त्र, साहित्यचर्चा आदि विविध प्रसग, साहूकारो का वाणिज्य-व्यापार, उनकी पद्धति, उनके नियम, भूमि व समुद्र मे वाणिज्य के लिए जाना, भूमि व समुद्र के वाहन, व जहाज के प्रकार, तद्विषयक विविध सामग्री, जीवन के सद्गुण-दुर्गुण, नीति-अनीति, सदाचार-दुराचार आदि का वर्णन-इत्यादि सैकडो विषयो का इस साहित्य मे वर्णन है ये सभी सास्कृतिक साधन हैं

वसुदेव हिंडी प्रथम खड (पत्र १४५) मे चारुदत्त के चरित मे चारुदत्त की स्थल सबधी व सामुद्रिक व्यापारिक यात्रा का अतिरसिक वर्णन है जिसमे देश-विदेशो का परिभ्रमण, सूत्रकृताग की मार्गाध्ययन-निर्युक्ति मे (गा० १०२) वर्णित शकुपथ, अजपथ, लतामार्ग आदि का निर्देश किया गया है इसमे यात्रा के साधनो का भी निर्देश है परलोकसिद्धि, प्रकृति-विचार, वनस्पति मे जीवत्व की सिद्धि, मासभक्षण के दोष आदि अनेक दार्शनिक धार्मिक विषय भी पाये जाते हैं इसी वसुदेवहिंडी के साथ जुडी हुई धम्मिल्लहिंडी मे "अत्थसत्थे य भणिय—'विसेसेण मायाए सत्थेण य हतव्वो अप्पणो विवड्ढमाणो सत्तु' त्ति" (पृ० ४५) ऐसा उल्लेख आता है जो बहुत महत्त्व का है इससे सूचित होता है कि—प्राचीन युग मे अपने यहाँ प्राकृत भाषा मे रचित अर्थशास्त्र था श्रीद्रोणाचार्य ने ओघनिर्युक्ति मे "चाणक्कए वि भणिय—'जइ काइय न वोसिरइ तो अदोसो' त्ति" (पत्र १५२-२) ऐसा उल्लेख किया है यह भी प्राकृत अर्थशास्त्र होने की साक्षी देता है, जो आज प्राप्त नही है इसी ग्रथ मे पाकशास्त्र का उल्लेख भी है जिसका नाम पोरागमसत्थ दिया है

आज के युग में प्रसिद्ध प्रिन्स ऑफ वेल्स किंग मेरी क्वीन एलिजाबेथ आदि जहाजों के समान युद्ध विनोद भोग आदि सब प्रकार की सामग्री से संपन्न राजभोग्य एवं धनाढ्यों के योग्य समुद्र जहाजों का वर्णन प्राकृत श्रीपालचरित आदि में मिलता है। रत्नप्रभसूरिविरचित नेमिनाथचरित में अलंकारशास्त्र की विस्तृत चर्चा आती है। प्रहेलिकाएं, प्रश्नोत्तर चित्रकाव्य आदि का वर्णन तो अनेक कथाग्रन्थों में पाया जाता है। श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र की अर्थदीपिका वृत्ति में (पृ० १२७) मन्त्रीपुत्रीकथानक में किसी वादी ने मन्त्रीपुत्री को ५६ प्रश्नों का उत्तर प्राकृत भाषा में चार अक्षरों में देने का वादा किया है। मन्त्रीपुत्री ने भी 'परवाया' इन चार अक्षरों में उत्तर दिया है. ऐसी विशिष्टातिविशिष्ट पहेलियाँ भी इन कथाग्रन्थों में पाई जाती हैं।

संक्षेप में कहना यही है कि—प्राकृत के इस वाङ्मय में विपुल ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक सामग्री मिल सकती है। यदि इसका पृथक्करण किया जाय तो बहुत महत्त्व की सामग्री एकत्र हो सकती है।

प्राकृतादि भाषाएं

जहाँ आज तक पाश्चात्त्य और एतद्देशीय विद्वानों ने प्राकृत भाषा के विषय में पर्याप्त विचार किया हो विशेषतः प्राकृतादि भाषा के प्रकाण्ड विद्वान् डॉ॰ पिशल महाशय ने वर्षों तक इन भाषाओं का अध्ययन करके और चारों दिशाओं के तद्विषयक सैकड़ों ग्रन्थों का सर्वतोमुख अध्ययन परिशीलन चिन्तन आदि करके प्राकृत आदि भाषाओं का महाकाय व्याकरण तैयार किया हो वहाँ इस विषय में कुछ भी कहना एक दुस्साहस ही है। मैं कोई प्राकृतादि भाषाओं का पारंगत विद्वान् नहीं हूँ फिर भी प्राकृत आदि भाषा एवं साहित्य के अभ्यासी विद्यार्थी की हैसियत से मुझे जो तथ्य प्रतीत हुए हैं उनको मैं आपके सामने रखता हूँ।

प्राकृत आदि भाषाओं के विद्वानों ने १ प्राचीन व्याकरण २ प्राचीन ग्रन्थों में आने वाले प्राकृत भाषा के संक्षिप्त वचन और ३ प्राचीन ग्रन्थों में आने वाले प्राकृत भाषाओं के प्रयोगों को ध्यान में रख कर प्राकृतादि भाषाओं के विषय में जो विचार और निर्णय किया है वह पर्याप्त नहीं है। इसके कारण ये हैं—

१ व्याकरणकारों का उद्देश्य भाषा को नियमबद्ध करने का होता है। अतः वे अपने युग के प्रचलित सर्वमान्य तत्तद् भाषाप्रयोगों एवं तत्कालीन प्राचीन मान्य ग्रन्थों के प्रयोगों को अपनी दृष्टि से तुलना करके व्याकरण का निर्माण करते हैं। खास कर उनकी दृष्टि अपने युग की ओर ही रहती है। आज के व्याकरणों को देख कर हम इस नतीजे पर पहुँच सकते हैं। अतः इन व्याकरणों से प्राचीन युग की भाषा का पूरा पता लगाना असंभव है।

२ प्राचीन व्याख्याग्रन्थ आदि में अर्धमागधी आदि के जो एक-दो पंक्तियों में लक्षण पाये जाते हैं उनसे भी प्राकृत भाषाओं के वास्तविक स्वरूप का पता लगाना पर्याप्त नहीं है। डॉ॰ पिशल ने अर्धमागधी और मागधी के विषय में जैन व्याख्याकारों के अनेक उद्धरणों को देकर प्रमाणपुरस्सर विस्तृत चर्चा की है। उसमें मैं इतनी पूर्ति करता हूँ कि—स्वर-व्यञ्जनों के परिवर्तन और विभक्तिप्रयोग आदि के अतिरिक्त तत्कालीन भिन्न भिन्न प्रान्तीय (जहाँ भगवान् महावीर और उनके निर्ग्रन्थों ने विहार धर्मोपदेश आदि किया था) शब्दों का स्वीकार या मिश्रण भी अर्धमागधी का लक्षण होने की सम्भावना है। जैन निर्ग्रन्थों को विहार-पादभ्रमण भिक्षा धर्मोपदेश तत्तत्प्रान्तीय शिष्य प्रशिष्यों के अध्ययन अध्यापन आदि के निमित्त तत्तद्देशीय जनता के संपर्क में रहना पड़ता है। अतः इनकी भाषा में सहज ही भिन्न भिन्न प्रान्तीय भाषाओं के स्वर-व्यञ्जनादिनियम विभक्ति कारक आदि के प्रयोगों के साथ प्रान्तीय शब्दप्रयोग भी आ जाते। भाषा का इस प्रकार का प्रभाव प्राचीन युग की तरह आज भी जैन निर्ग्रन्थों की भाषा में भी [illegible] जाता है। [illegible] आगमों के निर्युक्ति भाष्य चूर्णि आदि में अनेक स्थानों पर [illegible] [illegible] और [illegible] भी [illegible] कि [illegible] भिन्न भिन्न [illegible] शिष्यों का मतिभ्रम न हो इसलिए [illegible] [illegible] [illegible] इस [illegible] प्रकार [illegible] कि—अर्धमागधी का स्वर-व्यञ्जनादि परिवर्तन आदि के अतिरिक्त [illegible] भाषाओं के [illegible] पर भी [illegible] प्रमुख [illegible]

यहाँ पर मैने आगम और उनकी व्याख्या से प्रारभ कर विविध विषयो के महत्त्वपूर्ण प्राकृत वाङ्मय का अतिसक्षिप्त परिचय देने का प्रयत्न किया है इसमे आपको पता लगेगा कि—प्राकृत भाषा मे कितना विस्तृत एव विपुल साहित्य है और विद्वानो ने इस भाषा को समृद्ध करने के लिए क्या क्या नही लिखा ? अपने-अपने विषय की दृष्टि से तो इस समग्र साहित्य का मूल्य है ही, किन्तु इस वाङ्मय मे जो सास्कृतिक एव ऐतिहासिक विपुल सामग्री भरी पडी है, उसका पता सटीक बृहत्कल्पसूत्र, निशीथचूर्णि, अगविज्जा, चउपन्न महापुरिसचरिय आदि के परिशिष्टो को देखने मे लग सकता है प्राकृत भाषा और उसके सर्वागीण कोश की सामग्री इस वाङ्मय मे से ही पर्याप्तमात्रा मे प्राप्त हो सकती है पूर्वोक्त प्राकृत कोशो मे नही आये हुए हजारो शब्द इस वाङ्मय मे प्राप्त हो सकते हैं इसी तरह आचार्य हेमचद्र की 'देसी नाममाला' मे असग्रहीत सैकडो देशी शब्द इस वाङ्मय मे दिखाई देते है इसके लिए विद्वानो को इसी वर्ष प्रकाशित डॉ० ए० एन० उपाध्ये द्वारा सपादित प्राकृत कुवलयमाला एव प० अमृतलाल भोजक द्वारा सपादित 'चउपन्नमहापुरिसचरिय' की प्रस्तावना एव शब्दकोशो या परिशिष्ट देखना चाहिए मेरा मत है कि—भविष्य मे प्राकृत भाषा के सर्वागीण कोश के निर्माताओ को यह समग्र वाङ्मय देखना होगा यही नही अपितु सस्कृत भाषा के कोश के निर्माताओ को भी यह वाङ्मय देखना व शब्दो का सग्रह करना अति आवश्यक है इसका कारण यह है कि—प्राकृत व सस्कृत भाषा को अपनाने वाले विद्वानो का चिरकाल से अति नैकट्य रहा है इतना ही नही अपितु जो प्राकृत वाङ्मय के निर्माता रहे है वे ही सस्कृत वाङ्मय के निर्माता भी रहे है अत दोनो कोशकारो को एक-दूसरा साहित्य देखना आवश्यक है अन्यथा दोनो कोश अपूर्ण ही होगे

इस आगमादि साहित्य से विद्वानो को आन्तरिक व बाह्य अथवा व्यावहारिक व पारमार्थिक जीवन के साथ सबध रखने वाले अनेक विषयो का ज्ञान प्राप्त हो सकता है यद्यपि भारतीय आर्य ऋषि, मुनि एव विद्वानो का मुख्य आकर्षण हमेशा धार्मिक साहित्य की ओर ही रहा है तथापि उनकी कुशलता यही है कि—इन्होंने लोकमानस को कभी भी नही ठुकराया इसीलिए इन्होने प्रत्येक विषय को लेकर साहित्य का निर्माण किया है साहित्य का कोई अग इन्होने छोडा नही है इतना ही नही अपितु अपनी धर्मकथाओ मे भी समय-समय पर साहित्य के विविध अगो को याद किया है. यही कारण है कि—अपनी प्राचीन धर्मकथाओ मे धार्मिक सामग्री के अतिरिक्त लोकव्यवहार को स्पर्श करने वाले अनेक विषय प्राप्त होते है उदाहरण के तौर पर कथा-साहित्य मे राजनीति, रत्नपरीक्षा, अगलक्षण, स्वप्नशास्त्र, मृत्युज्ञान आदि अनेक विषय आते है पुत्र-पुत्रियो को पठन, विवाह, अधिकारप्रदान, परदेशगमन आदि अनेक प्रसगो पर शिक्षा, राजकुमारो को युद्धगमन, राज्यपदारोहण आदि प्रसगो पर हितशिक्षा, पुत्र-पुत्रियो के जन्मोत्सव, झुलाने, विवाह आदि करने का वर्णन, ऋतुवर्णन, वनविहार, अनगलेख, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, अलकारशास्त्र, साहित्यचर्चा आदि विविध प्रसग, साहूकारो का वाणिज्य-व्यापार, उनकी पद्धति, उनके नियम, भूमि व समुद्र मे वाणिज्य के लिए जाना, भूमि व समुद्र के वाहन, व जहाज के प्रकार, तद्विषयक विविध सामग्री, जीवन के सद्गुण-दुर्गुण, नीति-अनीति, सदाचार-दुराचार आदि का वर्णन-इत्यादि सैकडो विषयो का इस साहित्य मे वर्णन है ये सभी सास्कृतिक साधन है

वसुदेव हिंडी प्रथम खड (पत्र १४५) मे चारुदत्त के चरित मे चारुदत्त की स्थल सबधी व सामुद्रिक व्यापारिक यात्रा का अतिरसिक वर्णन है जिसमे देश-विदेशो का परिभ्रमण, सूत्रकृताग की मार्गाध्ययन-निर्युक्ति मे (गा० १०२) वर्णित शकुपथ, अजपथ, लतामार्ग आदि का निर्देश किया गया है इसमे यात्रा के साधनो का भी निर्देश है परलोकसिद्धि, प्रकृति-विचार, वनस्पति मे जीवत्व की सिद्धि, मासभक्षण के दोष आदि अनेक दार्शनिक धार्मिक विषय भी पाये जाते हैं इसी वसुदेवहिंडी के साथ जुडी हुई धम्मिल्लहिंडी मे "अत्थसत्थे य भणिय—'विसेसेण मायाए सत्थेण य हतव्वो अप्पणो विवड्ढमाणो सत्तु' त्ति" (पृ० ४५) ऐसा उल्लेख आता है जो बहुत महत्त्व का है इससे सूचित होता है कि—प्राचीन युग मे अपने यहाँ प्राकृत भाषा मे रचित अर्थशास्त्र था श्रीद्रोणाचार्य ने ओघनिर्युक्ति मे "चाणक्कए वि भणिय—'जइ काइय न वोसिरइ तो अदोसो' त्ति" (पत्र १५२-२) ऐसा उल्लेख किया है यह भी प्राकृत अर्थशास्त्र होने की साक्षी देता है, जो आज प्राप्त नही है इसी ग्रथ मे पाकशास्त्र का उल्लेख भी है जिसका नाम पोरागमसत्थ दिया है

३ वास्तव मे प्राकृत भाषाओ के प्राचीन ग्रन्थ ही इन भाषाओ के पृथक्करण के लिये अकाट्य साधन हैं और सचमुच ही उपर्युक्त दो साधनो की अपेक्षा यह साधन ही अतिउपयुक्त साधन है इसका उपयोग डॉ० पिशल आदि विद्वानो ने अतिसावधानी से किया भी है, तथापि मैं मानता हूँ कि वह अपर्याप्त है क्योकि डॉ० पिशल आदि ने जिस विशाल साहित्य का उपयोग किया है वह प्राय अर्वाचीन प्रतियो के आधार पर तैयार किया गया साहित्य था जिससे भाषा के मौलिक स्वरूप आदि का काफी परिवर्तन हो गया है इसी साहित्य की प्राचीन प्रतियो को देखते है तब भाषा और प्रयोगो का महान् वैलक्षण्य नजर आता है खुद डॉ० पिशल महाशय ने भी इस विषय का उल्लेख किया है दूसरी बात यह है कि—डॉ० पिशल आदि विद्वानो ने ऐतिहासिक तथ्य के आधार पर जिनमे प्राकृत भाषाप्रवाहो के मौलिक अश होने की अधिक सभावना है और जो प्राकृत भाषाओ के स्वरूपनिर्णय के लिये अनिवार्य साधन की भूमिकारूप हैं ऐसे प्राचीनतम जैन आगमो का जो प्राचीन प्राकृतव्याख्या साहित्य है उसका उपयोग बिलकुल किया ही नही है ऐसा अति प्राचीन श्वेताबरीय प्राकृत व्याख्यासाहित्य जैन आगमो की निर्युक्ति-भाष्य-महाभाष्य-चूर्णियाँ हैं और इतर साहित्य मे कुवलयमालाकहा, वसुदेवहिंडी, चउप्पन्नमहापुरिसचरिय आदि है तथा दिगबरीय साहित्य मे धवल, जयधवल, महाधवल, तिलोयपण्णत्ती आदि महाशास्त्र है यद्यपि दिगबर आचार्यों के ग्रन्थ ऐतिहासिक तथ्य के आधार पर श्वेताबर जैन आगमादि ग्रन्थो की अपेक्षा कुछ अर्वाचीन भी हैं तथापि प्राकृत भाषाओ के निर्णय मे सहायक जरूर हैं मुझे तो प्रतीत होता है कि—प्राकृत भाषाओ के विद्वानो को प्राकृत भाषाओ को व्यवस्थित करने के लिये डॉ० पिशल के प्राकृतव्याकरण की भूमिका के आधार पर पुन प्रयत्न करना होगा

यहाँ पर जिस निर्युक्ति-भाष्य-चूर्णि-कथाग्रन्थ आदि श्वेताबर-दिगबर साहित्य का निर्देश किया है वह अतिविस्तृत प्रमाण मे है और इसके प्रणेता स्थविर केवल धर्मतत्त्वो के ही ज्ञाता थे ऐसा नही किन्तु वे प्राकृत भाषाओ के भी उत्कृष्ट ज्ञाता थे प्राचीन प्राकृत भाषाओ की इनके पास मौलिक विरासत भी थी

जैन आगमो की मौलिक भाषा अर्धमागधी कही जाती है उसके स्वरूप का पता लगाना आज शक्य नही है इतना ही नही किन्तु वल्लभी मे आगमो का जो अन्तिम व्यवस्थापन हुआ उस समय भाषा का स्वरूप क्या था, इसका पता लगाना भी आज कठिन है इसका कारण यह है कि—आज हमारे सामने उस समय की या उसके निकट के समय की जैन आगमो की एक भी प्राचीन हस्तप्रति विद्यमान नही है इस दशा मे भी आज हमारे सामने आचाराङ्ग, सूत्रकृताग, दशवैकालिक आदि आगमो की चूर्णियाँ और कुछ जैन आगमो के भाष्य-महाभाष्य ऐसे रह गये है जिनके आधार पर वलभीपुस्तकालेखन के युग की भाषा और उसके पहले के युग की भाषा के स्वरूप के निकट पहुँच सकते है क्योकि इन चूर्णियो मे मूलसूत्रपाठ को चूर्णिकारो ने व्याख्या करने के लिये प्राय अक्षरश प्रतीकरूप से उद्धृत किया है, जो भाषा के विचार और निर्णय के लिये बहुत उपयोगी है कुछ भाष्य महाभाष्य और चूर्णियाँ ऐसी भी आज विद्यमान है जो अपने प्राचीन रूप को धारण किये हुए है वे भी भाषा के विचार और निर्णय के लिये उपयुक्त हैं इसके अतिरिक्त प्राचीन चूर्णि आदि व्याख्याग्रन्थो मे उद्धरणरूप से उद्धृत जैन आगम और सन्मति, विशेषणवती, सग्रहणी आदि प्रकरणो के पाठ भी भाषा के विचार के लिये साधन हो सकते है

आचार्य श्री हेमचन्द्र ने प्राचीन प्राकृतव्याकरण एव प्राचीन प्राकृत वाङ्मय का अवलोकन करके और देशी धातुप्रयोगो का धात्वादेशो मे सग्रह करके जो अतिविस्तृत सर्वोत्कृष्ट प्राकृत भाषाओ के व्याकरण की रचना की है वह अपने युग के प्राकृत भाषा के व्याकरण और साहित्यिक भाषाप्रवाह को लक्ष्य मे रखकर ही की है यद्यपि उसमे कही-कही जैन आगमादि साहित्य को लक्ष्य मे रखकर कुछ प्रयोगो आदि की चर्चा की है तथापि वह बहुत ही अल्प प्रमाण मे है इस बात का निर्देश मैंने साराभाई नवाब-अहमदाबाद द्वारा प्रकाशित कल्पसूत्र की प्रस्तावना मे [पृ० १४-१५] किया भी है आचार्य श्रीहेमचन्द्र ने जैन आगम आदि की भाषा और प्रयोगो के विषय मे विशेष कुछ नही किया है तो भी उन्होने अपने व्याकरण मे जैन आगमो के भाष्य आदि मे आनेवाले कुछ व्यापक प्रयोगो का और युष्मद्-अस्मद् आदि शब्दो एव धातुओ के रूपो का सग्रह जरूर कर लिया है डॉ० पिशल ने कई रूप नही मिलने का अपने व्याकरण मे निर्देश किया
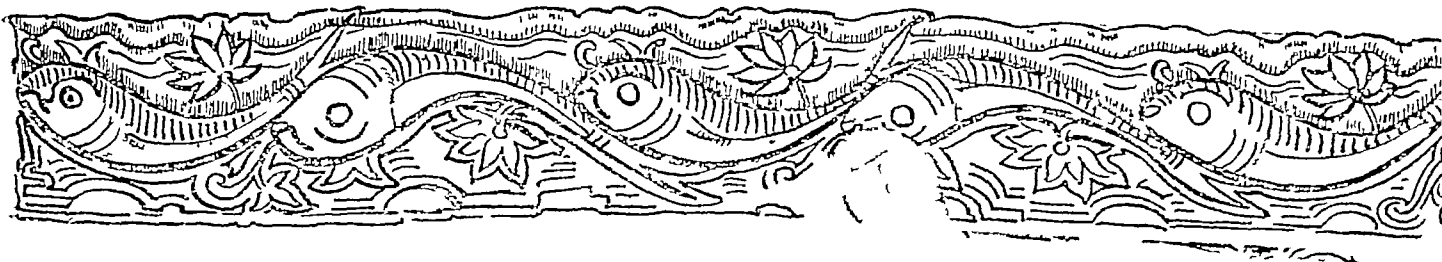
बर्लिन व कोलब्रुक द्वारा जैन-मन्दिरों के शिलालेखों पर भी अध्ययनात्मक विवरण प्रकाशित हुए हैं परन्तु सब पहली पुस्तक जिसके टाइटल पर 'जैन' शब्द अंकित हुआ है वह फ्रैंकलिन लिखित 'जैन और बौद्धमतों का संशोधन (Researches on the Tenets of the Jeynes & Boodhists) है जो १८२७ ई० में सामने आई विलसन अपने सविवरण सूची-पत्र में बहुत-सी जैन-पाण्डुलिपियों का विवरण दिया है जिनमें से कुछ उसकी निजी थी और कुछ कलकत्ता संस्कृत कालेज की थी १८२८ ई० में प्रकाशित मैकेन्जी संग्रह के कटभाग में उसने उन ४४ हस्तलिखित ग्रन्थों का भी विवरण दिया है जो लन्दन में ईस्ट इण्डिया कम्पनी में पहुँच चुके थे

कोलब्रुक ने आचार्य हेमचन्द्र कृत 'अभिधानचिन्तामणि' और कल्पसूत्रादि विषयक निबन्ध तो लिखे परन्तु इनके सुसम्पादित संस्करण उस समय न निकल सके और बाद में भी बीस वर्ष तक कोई मूलपाठ का संस्करण प्रकाशित नहीं हुआ अन्त में सैंटपीटर्सबर्ग से 'अभिधानचिन्तामणि' का मूललिंग (Bohtlingk) और रीउ (Rieu) कृत जर्मन अनुवाद १८४७ ई० में प्रकाशित हुआ तथा कल्पसूत्र एवं नवतत्त्व प्रकरण का अंग्रेजी अनुवाद स्टीवेंसन द्वारा १८४८ ई० में प्रकाश में आया प्राकृत आगम का अंग्रेजी में अनुवाद करने वाला स्टीवेन्सन ही प्रथम विद्वान् था बाद में वेबर (Weber) (१८२५ १६ १ ई० सन्) ने धनेश्वर सूरि कृत शत्रुञ्जय-माहात्म्य का सम्पादन करके विस्तृत भूमिका सहित लिपजिग (Leipzig) से सन् १८५८ ई० में प्रकाशित कराया इस विद्वान् का जैन-शास्त्रों के अध्ययन के परिणामस्वरूप यह प्रथम प्रयास था परन्तु आगे चलकर 'भगवतीसूत्र' पर जो कार्य वेबर ने किया वह चिर स्मरणीय रहेगा यह ग्रन्थ बर्लिन की विसेन्शाफ्टेन (Wissenchaften) अकादमी से १८६६ ६७ ई० में निकला था अब तो यह प्राय अप्राप्य हो गया है परन्तु जैन साहित्य के भाषा शास्त्रीय अध्ययन के क्षेत्र में एक युग प्रवर्तक ग्रन्थ समझा जाता है वेबर की 'जैनों का धार्मिक साहित्य' (Sacred Literature of the Jainas) का अंग्रेजी अनुवाद स्मिथ ने प्रकाशित किया था विण्डिश (Windisch) ने अपने इण्डो-आर्यन रिसर्च के विश्वकोश (Encyclopedia of Indo-Aryan Research) में इसका सविस्तर विवरण दिया है तदुपरान्त वेबर ने बर्लिन की रायल लाइब्रेरी में उपलब्ध जैन पाण्डुलिपियों का अध्ययन करके जिन मूलभूत सिद्धान्तों की स्थापना की है[1] वे जैन साहित्य और इतिहास के विवेचन में कभी भुलाए नहीं जा सकते उक्त पुस्तकालय में बाद में १९०४ ई० तक जो जैन ग्रन्थ खरीदे गए उनका सूचीपत्र वाल्टर शुब्रिङ् (Walther Schubring) ने तैयार किया है जो लिपजिग से प्रकाशित हुआ है इसमें ११२७ ग्रन्थों का विवरण है

बर्लिन में जो हस्तलिखित जैन ग्रन्थ पहुँचे हैं और जिनका विवरण वेबर ने अपने कैटलाग में किया है उनका मुख्य माध्यम ब्यूह्लर को मानना चाहिए उस विद्वान् को बम्बई के शिक्षा विभाग ने कुछ अन्य विद्वानों के साथ तत्तत् क्षेत्रों में दौरा करके निजी संग्रहों का विवरण तैयार करने तथा उपलब्ध हस्तलिखित ग्रन्थों को खरीदने के लिये तैनात किया था ऐसे ग्रन्थों के विषय में भण्डारकर, ब्यूह्लर (१८१७-९८ ई०) कीलहार्न पीटर्सन और अन्य विद्वानों की रिपोर्टें समय-समय पर प्रकाशित हुई हैं तथा निरीक्षित-परीक्षित ग्रन्थों के विवरण एवं उनके विषय में आवश्यक जानकारी भी उन रिपोर्टों में दी गई है इस प्रकार खरीदे हुए ग्रन्थ 'डेकन कालेज पूना' में एकत्र किए गए थे जो अब भाण्डारकर शोध संस्थान में सुरक्षित हैं ब्यूह्लर ने सरकारी शिक्षा-विभाग से यह अनुमति प्राप्त कर ली थी कि जिन ग्रन्थों की एकाधिक प्रतियाँ मिलें उनका वह विदेशी पुस्तकालयों के लिए भी खरीद सकेगा और यही कारण है कि बर्लिन तक अनेक महत्त्वपूर्ण जैन-ग्रन्थ पहुँच सके तथा वहाँ के अध्यवसायी विद्वानों द्वारा सुसम्पादित होकर उनके बहु प्रशंसित अद्वितीय संस्करण निकले जो उनके भाषाशास्त्रीय अध्ययन के प्रति संसार के अग्रणी विद्वानों को आकर्षित करने में समर्थ हुए यह भी मान लेने में संकोच नहीं करना चाहिए कि इस प्रकार के अध्ययनार्थ एतद्देशीय विद्वानों का मार्गदर्शन करने का श्रेय भी इन्हीं पाश्चात्य विद्वानों को है

---

१ Indische Studien Vol XVI & XVII 1883-9*

श्रीगोपालनारायण बहुरा

जैनवाङ्मय के योरपीय संशोधक

योरपनिवासी विद्वानो द्वारा जैन-साहित्य मे सशोधन होते प्राय डेढ सौ वर्षो से भी अधिक समय हो चुका है बुशनैन (Buchnan) ने मैसूर, कन्नड और मलाबार होते हुए मद्रास मे अपने दौरे का वृत्तान्त १८०७ ई० मे प्रकाशित कराया था, जिसमे उसने जगह-जगह जैनो का उल्लेख किया है उसने १८११-१२ ई० मे पटना और गया जिलो का भी सर्वेक्षण किया और उसके बारे मे भी अपने सस्मरण लिखता रहा व्ही० एच० जैक्सन द्वारा सम्पादित १९२५ ई० मे पटना से प्रकाशित उक्त वृतान्त मे लिखा है कि उसने महावीर के निर्वाणस्थल[1] की भी यात्रा की थी इसी प्रकार १८०७ ई० मे ही "एशियाटिक रिसर्चेज" के नवें अक मे "जैन वृत्तान्त" (Account of the Jains) के शीर्षक से तीन विवरण प्रकाशित हुए थे, जिनमे उक्त बुशनैन के अतिरिक्त लेफ्टिनण्ट कर्नल मैकेन्जी द्वारा अपनी १७९७ ई० की दैनन्दिनी के आधार पर सगृहीत वृत्तान्त थे बुशनैन के लेख किसी जैन विद्वान् की टिप्पणियो पर भी आधारित थे और बहुत कुछ कल्पनाधारित एव अशुद्ध भी थे जैसे, उसने लिखा है कि बुदेली, मेवाड, मारवाड, कुण्डेर, लाहौर, बीकानेर, जोधपुर आदि स्थानो के बहुत से राजपूत जैन थे जयपुर के राजा सवाई प्रतापसिंह, सवाई जयसिंह का पुत्र था और उससे पूर्व के सभी राजा जैन थे वास्तव मे, न सवाई प्रतापसिंह सवाई जयसिंह का पुत्र था, न जयपुर का कोई राजा जैन धर्मावलम्बी हुआ यह अवश्य है कि कितने ही राजाओ ने जैनो को प्रश्रय दिया था इसके बाद ही कोलब्रुक (१७६५-१८३७ ई० सन्) के विविध लेखो मे सगृहीत "जैनमत पर विचार-विमर्श"—परक निबन्ध प्रकट हुए[2] ये निबन्ध केवल विवरणात्मक न होकर पूर्वोक्त सशोधनो एव स्वय कोलब्रुक की सशोधनात्मक आलोचना पर आधारित थे

परन्तु, यह नही मान लेना चाहिए कि वैदेशिको द्वारा उपरिलिखित उल्लेख ही सर्वप्रथम उल्लेख है ईसा की पाँचवी शताब्दी मे हेसिचिओस (Hesychios) नामक ग्रीक कोशकार ने "जेनोई" (Genoi) शब्द का प्रयोग नग्न-दार्शनिको के अर्थ मे किया है बाद के विद्वानो ने इस "जेनोई" शब्द को जैनो से सम्बद्ध माना है

कर्नल मैकेन्जी के सग्रह का विलसन द्वारा सकलित सविवरण सूची-पत्र सर्व-प्रथम १८२८ ई० मे प्रकाशित हुआ था, उसमे श्रावको अथवा जैनो पर डेलामेन (Delamain) और बुशनैन के निबन्धो का सन्दर्भ अवश्य है तथा बाद मे

---

१ पोयपुरी (Pauyapury) के पास पोकोरपुर (Pokorpur) में महावीर का मदिर है मरण के अनन्तर उनके कुछ अवशेष वहीं पर रहे बाद में वहाँ पर मदिर का निर्माण कराया गया

२ Journal of Francis Buchnan, Ed V H Jackson, 1925, PP 102-103
Observations on the Sect of Jainas Royal Asiatic Society of Great Britain & Ireland, Vol I
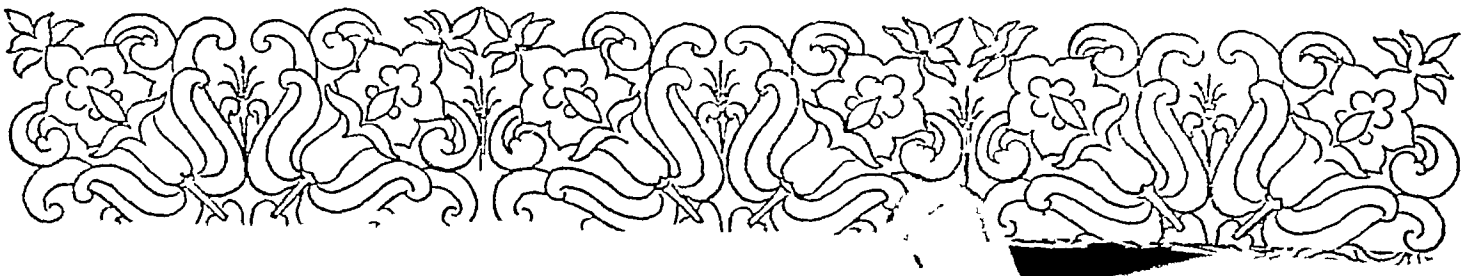
ने उस संकलन म से कोई २५ पृष्ठ नमूने के रूप में छपाए हैं[1] इसके बाद जैन-ग्रन्थों के सूचीकारों में ग्यूरिनाट (Guerinot) का नाम आता है जिसने अपना 'जैन ग्रन्थ-सूची पर निबन्ध' १९ ६ ई में प्रकाशित कराया इसी प्रकार जैन शिलालेखों पर भी अपना निबन्ध दो वर्ष बाद प्रकट किया तदनन्तर ल्युडर्स (Luders) ने भी अपने ब्राह्मी लेखों की सूची म जैन-पट्टावलि और परम्परा पर सम्यक प्रकाश डाला है[2]

जब जैन-साहित्य-संशोधन का प्रसंग आता है तो इस बात को भुलाया नहीं जा सकता कि जैन साहित्य के प्रति सर्व प्रथम आकृष्ट करने का श्रेय जार्ज ब्यूह्लर को है उसने बम्बई प्रसीडेन्सी की सेवा में रहते हुए भारतीय विशेषत जैन साहित्य के उद्धार की दिशा में १७ वर्षों तक बहुत बड़ा काम किया है इसके परिणाम-स्वरूप बहुत से ग्रन्थसंग्रहों के विवरण अज्ञात ग्रन्थों के मूलपाठ चूर्णिकायें आदि और अवचूरियाँ प्रकाश में आई और बहुत से विदेशी विद्वानों ने उन पर काम करके समीक्षात्मक निबन्ध लिखे और लिख रहे है श्रीमती एस स्टीवन्सन नाम की महिला गुजरातमें ईसाई धर्म की प्रचारिका होकर आई थी उन्होने 'The Heart of Jainism' नामक निबन्ध १९१५ मे प्रकट किया और उसमें दिगम्बर धाम्ना की पूर्ण समीक्षा की इससे पूर्व भी श्रीमती स्टीवेन्सन ने 'आधुनिक जैन धर्म' पर अपनी टिप्पणी १९१ ई म आक्सफोर्ड से प्रकाशित कराई थी ग्यूरिनॉट ने 'जैनों के धर्म' नामक पुस्तक १९२६ में लिखी और उसमें प्रस्तुत तथ्यों पर विद्वज्जगत् में खूब चर्चा रही इससे एक वर्ष पूर्व ग्लेसनेप (Glasenapp) लिखित Der Janismus Eine Indische Erlosungureligion नामक पुस्तक सन् १९२५ ई में प्रकाश में आ चुकी थी जिसमे जैन और अन्य भारतीय धर्मों का तुलनात्मक समीक्षण किया गया है इसी लेखक ने एक और पुस्तक लिखी है जिसमें जैन-साहित्य की प्रतिनिधि कृतियों पर मन्तव्य प्रकट किए गए है[3]

बहुत समय तक तो भारतीय जैनो को इस बात का पूरा पूरा पता ही नही चला अथवा बहुत कम पता चला कि उनके साहित्य पर विदेशा म कितना और क्या अनुसधान हो रहा है अथवा अधिक से अधिक उन्हे केवल अंग्रेजी में लिखित पुस्तकों और निबन्धो का ही किसी अंश तक परिचय प्राप्त हो सका जर्मन और अन्य पाश्चात्य भाषाओं में जो काम हुआ वह तो उनकी पहुँच के बाहर ही रहा परिणाम यह हुआ कि पाश्चात्यों द्वारा किए हुए श्रम का विवरण प्राय वही तक सीमित रहा उदाहरणार्थ जकोबी द्वारा किए गए काम का केवल वही अंश हमारी जानकारी में आया जो अग्रेजी म था और बहुत कुछ अपरिचित ही रहा परन्तु, जो कुछ सामग्री भारत में अवगत हो सकी वही जैकोबी साहब को १९१४ ई म 'जैनदर्शनदिवाकर' की पदवी प्राप्त कराने म पर्याप्त सिद्ध हुई प्राकृत साहित्य पर वैज्ञानिक ढग से काय करने वाला म प्रा जैकोबी का नाम सबसे आगे रहेगा

इसी प्रकार वर्तमान म जैन सशोधन के ख्यातनामा विद्वान् वाल्टर शुब्रिङ् ने भी "डाक्ट्रिन् आफ दी जैन्स" नामक पुस्तक लिखकर इस परम्परा में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है

इस संग द्वारा यह बतलाने का प्रयास किया गया है कि भारतीय-सस्कृति के पुनरुद्धार के लिए इन विदेशी विद्वानों ने सबसे प्रथम कदम उठाए और आगे आने वाले शोधकों के लिए आधारभूमि तैयार की यद्यपि इनके सभी कथन पूरी तरह से प्रमाणित नहीं है फिर भी शोध की जिस प्रणाली का सूत्रपात इन लोगों द्वारा हुआ है वह वैज्ञानिक और शुद्ध माना जा सकता है

Indian Antiquary P 23 169
[illegible]
3 Essai de Bibliographie Jaina Paris 1906

व्यूह्लर और वेवर ने अपनी रिपोर्टों, निवन्धो और स्वतत्र लेखो के द्वारा अनुवर्त्ती शोधविद्वानो को भी प्रोत्साहित किया जैकोबी सम्पादित 'कल्पसूत्र' के समीक्षात्मक सस्करण मे, जो सन् १८९७ ई० मे प्रकाशित हुआ, व्यूह्लर का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है इसी प्रकार लिउमैन (Leumann १८५९-१९३१ ई० सन्) के 'औपपातिक सूत्र' (१८८३) पर वेवर की स्पष्ट छाप है ये दोनो ही कृतियाँ प्राचीन भाषाशास्त्र की सर्वोत्तम निधियाँ है जैकोवी (१८६०-१९३७ ई०) ने कल्पसूत्र की जो भूमिका लिखी है वह तो प्राय अब तक हुए इस दिशा के अनुसधानो की पृष्ठभूमि ही बन गई है उसने जैन और बौद्धमतो की प्राचीनता के विषय मे सभी सन्देहो को निरस्त कर दिया है और यह निर्णय स्थापित किया है कि जैनमत बौद्धमत से वहुत पुराना है गौतम बुद्ध के समय से बहुत पहले ही जैन-मत का प्रादुर्भाव हो चुका था वर्द्धमान महावीर जैनमत के आदि प्रवर्तक नही थे वे तो पार्श्वनाथ के उपदेशो के परिष्कारक मात्र थे उसने यह भी बताया है कि पार्श्वनाथ महावीर से दो सौ पचास वर्ष पूर्व हो चुके थे और महावीर का निर्वाणकाल ४७७ ई० पू० था टोपरा के शिलालेख से विदित होता है कि अशोक महान् जैनो से 'निगण्ठ' नाम से परिचित था

योरप मे जैन सशोधन की प्रगति को देखते हुए पिशेल (Pischel) ने आशा व्यक्त की थी कि जैनशास्त्रो के मूलपाठो के सम्पादन एव प्रकाशन के निमित्त एक जैन-ग्रन्थ पाठ-प्रकाशन समिति की स्थापना हो सकेगी, परन्तु उनका यह स्वप्न पूरा न हो सका इतना अवश्य हुआ कि भारत के जैन-समाज मे चेतना आ गई और आगमोदय समिति आदि अनेक सस्थाओ ने इस दिशा मे कदम आगे बढाया अनेक जैन ग्रन्थो का सटिप्पण, सावचूरि एव निर्युक्ति सहित प्रकाशन हुआ इससे एक लाभ यह हुआ कि पहले जो मूल ग्रन्थ योरपीय विद्वानो के हाथ लगे थे वे बडी अस्तव्यस्त दशा मे थे और वे उनके पाठ को ठीक-ठीक समझ नही पाते थे विविध प्रतिलिपिकर्त्ताओ ने लम्बी प्रशस्तियाँ अथवा प्रचलित पाठ का सक्षिप्त रूप देकर उन्हे और भी दुर्गम्य बना दिया था ऐसी प्रतियो मे दिये हुए सकेतो को समझना जैन-विद्वानो की सहायता के विना सभव नही था व्यूह्लर ने अपनी रिपोर्ट मे लिखा है कि बहुत-सा जैन साहित्य तलघरो मे प्रच्छन्न अवस्था मे पडा है जिसके विषय मे स्वय जैनो को अथवा उन भण्डारो के सरक्षको तक को ठीक-ठीक पता नही है जैसलमेर के बडे भण्डार को देखने जब वह गये तो वहाँ ग्रन्थो की सख्या के विषय मे कुछ का कुछ बता दिया गया अस्तु—भारतीय जैन विद्वानो के आगे आने से योरपीय सशोधको का भी मार्ग बहुत कुछ सरल हो गया और वे इसमे अधिकाधिक रस लेने लगे इसके फलस्वरूप लिउमैन (Leumann) ने जैन-सिद्धान्तो का अध्ययन करके आवश्यक सूत्रो पर कार्य किया और जैन-कथाओ के विषय मे भी अपने अभिमत प्रकट किए हर्टेल (Hertel) ने कथाओ को लेकर, विशेषत गुजरात मे प्राप्त साहित्य के आधार पर, बहुत अध्ययन किया उसने इन कथानको के आधार पर भारतीयेतर साहित्य मे भी समानान्तर आधार-कथाओ का अन्वेषण किया[१] हर्टेल का कहना है कि जैन-कथाओ मे सस्कृत भाषा का जो रूप प्रयुक्त हुआ है वह साधारण बोलचाल की भाषा थी, जिसमे प्राकृत अथवा प्रातीय बोलियो के बहुत से शब्द स्वत सम्मिलित हो गये है यदि आज की भाषा मे कहे तो उन पर आचलिक छाप लगी हुई है, जो शास्त्रीय व्याकरण-सम्मत भाषा से भिन्न है वैसे भी, प्राकृत शब्दो, सस्कारित प्राकृत लोकभाषादि के शब्दो, विविध व्याकरणो से लिए हुए शब्दो और अज्ञातमूलक शब्दो का सभार[२] जैन-सस्कृत की विशिष्टता मानी जाती है

साहित्यिक और ऐतिहासिक अनुसधान मे ग्रन्थ-सूचियाँ बहुत काम की होती हैं यदि इनको अनुसधान-भित्ति की आधार-शिलाएँ भी कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी इस दिशा मे क्लाट (Klatt) ने पहल की थी उसने जैन-ग्रथकारो और ग्रथो की इतनी बडी अनुक्रमणिका तैयार की थी कि वह प्राय ११००-१२०० पृष्ठो मे मुद्रित होती परन्तु दैवदुर्विपाक से वह विद्वान् किसी गम्भीररोग के चक्कर मे पड गया और कार्य पूरा होने से पूर्व ही चल बसा वेबर और लिउमैन

---

१ History of Indian Literature by Winternitz, Pt II

२ Bloomfield
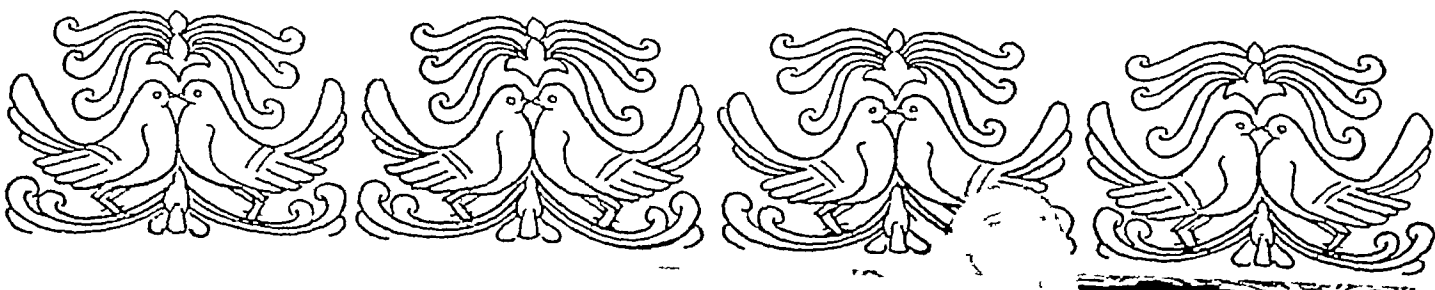
कुछ पूर्ण रूप से विस्तार से चरित उपस्थित करती है तो कुछ प्रसग विशेष को सक्षिप्त रूप में प्राप्त सभी रचनाओं का सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(१) दि ब्रह्म जिनदास रचित रामचरित काव्य ही राजस्थानी का सबसे पहिला रामकाव्य है इस रामायण की रचना स १५ ८ में हुई है इसकी हस्तलिखित प्रति डूगरपुर के दि जैन मदिर के शास्त्रभण्डार मे है देखिए—राष्ट्रभारती के दिस ६ में प्रकाशित मेरा लेख

(२) रामसीतारास (मास १२) जिनदास गुणकीर्ति नैनवा दि शास्त्रभण्डारस्थ गुटका प्राप्त हुआ है देखो राष्ट्र भारती फरवरी ६४ में प्रकाशित मेरा लेख

(३) इसके बाद के राजस्थानी रामकाव्य मे 'जैन गुर्जर कविओ' भाग १ के पृष्ठ १६ ९ में उपदेश गच्छीय उपाध्याय विनयसमुद्र रचित पद्मचरित का उल्लेख पाया जाता है यह रामकाव्य स १६ ४ के फाल्गुन में बीकानेर में रचा गया एव पद्मचरित्र के आधार से बनाया गया है विनयसमुद्र के पद्मचरित की प्रति गोडीजी भण्डार उदयपुर में भी है कवि के सम्बन्ध में राजस्थानभारती मे मेरा लेख दृष्टव्य है

(४) पिगलशिरोमणि-सुप्रसिद्ध कवि कुशललाभ ने जसलमेर के महाराजकुमार हरराज के नाम से यह मारवाडी भाषा का सर्वप्रथम छन्दग्रथ बनाया है इसमें उदाहरण रूप में रामकथा वर्णित है राजस्थानी शोध सस्थान जोधपुर से यह ग्रथ प्रकाशित हो चुका है

(५) सीताचउपई—यह ३२७ पद्यो की छोटी-सी रचना है इसमे सीता के चरित्र की प्रधानता है खरतरगच्छ के जिन प्रभ सूरि शाखा के सागरतिलक के शिष्य समयध्वज ने इसकी रचना सवत् १६११ में की श्रीमाल भरदुला गोत्रीय गूजर वशीय गढमल के पुत्र भीषण और दरगहमल के लिये इसकी रचना हुई है इसकी सवत् १७ २ में लिखित १६ पत्र की प्रति हसविजय लाइब्रेरी बडौदा मे है

(६) सीताप्रबध—यह ३४६ पद्यो में है १६२८ में रणथमोर के शाह चोखा के कहने से यह रचा गया 'जैनगुर्जर कविओ' भाग ३ पृष्ठ ७३३ में इसका विवरण मिलता है इसकी प्रति नाहर जी के संग्रह (कलकत्ता) मे भी है

(७) सीताचरित—यह सात सर्गो का काव्य पूर्णिमागच्छीय हेमरत्नरचित है महावीर जैन विद्यालय तथा अनन्तनाथ *भडार बम्बई एव बडौदा में इसकी प्रतियाँ है पद्मचरित्र के आधार से इसकी रचना हुई है रचनाकाल का उल्लेख* नही किया पर हेमरत्न सूरि के अन्य ग्रथ सवत् १६३६ ४५ मे (मारवाड मे) रचित मिलते है अत सीताचरित की रचना इसी के आसपास होनी चाहिए

रामसीतारास— तपागच्छीय कुशलवर्द्धन के शिष्य नगर्षि ने इसकी रचना १६४९ मे की हालाभाई भडार पाटण में इसकी प्रति है 'जैन गुर्जर कविओ' भाग १ पृष्ठ २१ मे इसकी केवल एक ही पक्ति उद्धृत होने से ग्रथ की पद्यसख्यादि परिमाण का पता नही चल सका

(९) लवकुशरास—पीपलगच्छ के राजसागर रचित इस रास में राम के पुत्र लव-कुश का चरित्र वर्णित है पद्य सख्या ५ ५ (ग्रथाग्र ९) है सवत् १६७२ के जेठ सुदि बुधवार को थिरपुर मे इसकी रचना हुई है उपर्युक्त हाला-भाई, पाटण भडार मे इसकी १२ पत्रो की प्रति है

(१) लवकुश छप्पय मा ७ म महीचन्द्र(डूगरपुर दि भ)

(११) सीताविरह लेख—इसमे ६१ पद्यो मे सीता के विरह का वर्णन (पत्रप्रेषण के रूप मे) किया गया है संवत् १६७१ की द्वितीय आषाढ पूर्णिमा को कवि अमरचन्द ने इसकी रचना की जैन गुर्जर कविओ भाग १ पृष्ठ ५ ८ में इसका विवरण मिलता है

श्रीअगरचन्द नाहटा

रामचरित सम्बन्धी राजस्थानी जैन साहित्य

जैनागमो के अनुसार मर्यादापुरुषोत्तम राम आठवें वलदेव और लक्ष्मण आठवें वासुदेव है रावण को प्रतिवासुदेव माना गया है इन सब की त्रेसठ शलाका महापुरुषो मे गणना होती है. समवायाग सूत्रादि मे राम का नाम 'पउम' मिलता है अत रामचरित सम्बधी प्राचीन ग्रन्थो का नाम 'पउमचरिय' पद्मचरित व पद्मपुराण पाया जाता है विमलसूरि रचित 'पउमचरिय' नामक प्राकृत चरितकाव्य सब से पहला ग्रथ है जिसमे जैनदृष्टिकोण से राम-कथा का निरूपण किया गया है प्राकृत मे मौलिक चरितकाव्यो का प्रारम्भ इसी ग्रथ से होता है प्रस्तुत ग्रथ मे उल्लेखानुसार इस ग्रथ की रचना वीर निर्वाण सवत् ५३० मे हुई थी अपभ्र श भापा के चरितकाव्य का प्रारम्भ भी रामकथा से ही होना है कवि स्वयभू का 'पउमचरिय' अपभ्र श का सर्वप्रथम विशिष्ट महाकाव्य है स्वयभू का ममय आठवी शताब्दी माना जाता है उपर्युक्त दोनो प्राकृत व अपभ्रश के रामकाव्य हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित हो चुके हैं प्राकृत पउमचरिय के आधार से आचार्य रविपेण ने सस्कृत पद्मचरित नामक (वि०स० १२०३) काव्य बनाया वह भी प्रकाशित हो चुका है अन्य भी कई रामचरित सम्बन्धी जैन ग्रथ छपे है अज्ञातकर्तृक 'सीताचरित' नामक प्राकृत काव्य अभी अप्रकाशित है 'चउपन्न महापुरुषचरिय' 'त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित' और 'महापुराण' मे भी रामकथा गुफित है ये सभी छप चुके है रामकथा के प्रधानतया दो रूपान्तर[1] जैन साहित्य मे प्राप्त होते हैं 'वसुदेवहिन्डी' नामक पाचवी शताब्दी के कथाग्रथ मे भी रामकथा सक्षेप मे प्राप्त होती है इस प्रकार रामचरित सम्बन्धी जैन साहित्य प्रचुर परिणाम मे प्राप्त है.

प्रस्तुत लेख मे राजस्थानी व हिन्दी की रामचरित सम्बन्धी जैन रचनाओ का ही सक्षिप्त विवरण प्रकाशित किया जा रहा है

राजस्थानी भाषा मे रामचरित सम्बन्धी रचनाओ का प्रारम्भ १६ वी शताब्दी से होने लगता है और २० वी के लगभग ४०० वर्ष तक उसकी परपरा निरतर चलती रही है उपलब्ध राजस्थानी भापा के रामचरित गद्य और पद्य दोनो मे प्राप्त हैं इसी प्रकार जैन और जैनेतर भेद से भी इन्हें दो विभागो मे बाँटा जा सकता है इनमे जैन रचनाओ की प्राचीनता व प्रधानता विशेष रूप से उल्लेखनीय है अत प्रस्तुत लेख मे राजस्थानी की रामकथा सम्बन्धी रचनाओ का ही विवरण दिया जाता है

रामचरित सम्बन्धी राजस्थानी जैन रचनाओ में से कुछ तो सीता के चरित को प्रधानता देती हैं, कुछ रामचरित को

---

१ देखो नाथूराम प्रेमी लि० पउमचरिय लेख

(१२) सीताराम चौपई—महाकवि समयसुन्दर की यह विशिष्ट कृति है रचनाकाल व स्थान का निर्देश नहीं है पर उसके प्रारम्भ मे कवि ने अपनी अन्य रचनाओं का उल्लेख करते हुए नलदमयंती रास का उल्लेख किया है जो कि सवत् १६७३ मे मेड़ते मे श्री राजमल के पुत्र अमीपाल नेतसी, नेतसी तेजसी, और राजसी के आग्रह से रचा गया है अत सीताराम चउपई सवत् १६७३ के बाद ही (इन्ही राजसी आदि के आग्रह से रचित होने के कारण मे) रची गई है इसके छठे खड की तीसरी ढाल मे कवि ने अपने जन्मस्थान साचोर मे उस ढाल को बनाने का उल्लेख किया है कविवर का रचित साचोर का महावीर स्तवन सवत् १६७७ के माघ मे रचा गया है सभव है, कि उसी के आस पास यह ढाल भी रची गई है सीताराम चउपई की सवत् १६८३ मे लिखित प्रति ही मिलती है अत इसका रचनाकाल सवत् १६७३ से १६८३ के बीच का निश्चित है

प्रस्तुत चउपई नवखड का महाकाव्य है नवो रसो का पोषण इसमे किया जाने का उल्लेख कवि ने स्वय किया है प्रसिद्ध लोकगीतो की देशियो (चाल) मे इस ग्रथ की ढालें बनाई गई है, उनका निर्देश करते हुए कवि ने कौनसा लोकगीत कहाँ कहाँ प्रसिद्ध है, इसका उल्लेख भी किया है जैसे—

(१) नोखारा गीत—मारवाड़ि ढूढाड़ि, माहे प्रसिद्ध छे

(२) सूमररा गीत—जोधपुर, मेड़ता, नागौर, नगरे प्रसिद्ध छे

(३) तिल्लीरा गीत—मेडतादिक देशे प्रसिद्ध छे

(४) इसी प्रकार "जैसलमेर के जादवा' आदि गीतो की चाल मे भी ढाल बनाई गई है

प्रस्तुत ग्रथ अब हमारे द्वारा सपादित रूप मे प्रकाशित होने को है अत विशेष परिचय ग्रथ को स्वय पढकर प्राप्त करें

(१३) रामयशोरसायन—विजयगच्छ के मुनि केशराज ने सवत् १६८३ के आश्विन त्रयोदशी को अन्तरपुर मे इसकी रचना की ग्रथ चार खण्डो मे विभक्त है ढाले ६२ है इसका स्थानकवासी और तेरहपथी सम्प्रदाय मे बहुत प्रचार रहा है उन्होने अपनी मान्यता के अनुसार इसके पाठ मे रद्दोबदल भी किया है स्थानकवासी समाज की ओर से इसके २-३ सस्करण छप चुके है पर मूल पाठ 'आनन्द काव्य महोदधि' के द्वितीय भाग मे ठीक से छपा है इसका परिमाण समयसुन्दर के सीताराम चौपाई के करीब का है इसकी दो हस्तलिखित प्रतिया हमारे सग्रह मे है

(१४) रामचन्द्र चरित्र—लोकागच्छीय त्रिविक्रम कवि ने सवत् १६६९ सावण सुदी ५ को हिसार पिरोजा ड्ग मे इसकी रचना की त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित्र के आधार से नवखण्डो एव १३५ ढालो मे यह रचा गया है इसकी १३० पत्रो की प्रति प्राप्त है, जिस के प्रारम्भ के २५ पत्र न मिलने से तीन ढालें प्राप्त नही हुई है इस शताब्दी के प्राप्त ग्रथो मे यह सब से बडा राजस्थानी रामकाव्य है.

१८ वीं शताब्दी

(१५) रामायण—खरतरगच्छीय चारित्रधर्म और विद्याकुशल ने सवत् १७२१ के विजयादशमी को सवालसदेस के लवणसर मे इसकी रचना की प्राप्त जैन राजस्थानी रचनाओ मे इसकी यह निराली विशेषता है कि कवि ने जैन होने पर भी इसकी रचना जैन रामचरित ग्रथो के अनुसार न करके, बाल्मीकि रामायण आदि के अनुसार की है—

वाल्मीक वाशिष्टरिसि, कथा कही सुभ जेह ।
तिण अनुसारे रामजस, कहिये धणे सनेह ।।

सुप्रसिद्ध वाल्मीकि—रामायण के अनुसार इसमे बालकाण्ड, उत्तरकाण्ड आदि सात काण्ड है. रचना ढालबद्ध है ग्रथ का परिमाण चार हजार श्लोक से भी अधिक का है सिरोही से प्राप्त इसकी एक प्रति हमारे सग्रह मे है

(१६) सीता आलोयणा—लोकागच्छीय कुशल कवि ने ९३ पद्यो मे सीता के बनवास समय मे की गई आत्मविचारणा
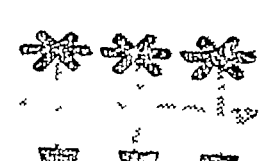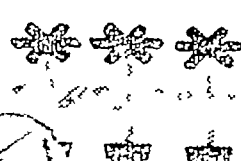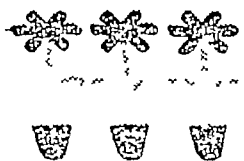
का इसम गफन किया है कवि की अन्य रचनाए सं १७४६ ८६ की प्राप्त होने से इसका रचनाकाल १८ वी शताब्दी निश्चित है

(१७) सीताहरण चौढालिया—इसम तपागच्छीय दौलतकीर्ति ने ४६ पद्यों एवं ४ ढालों में सीताहरण के प्रसग का वणन किया है रचना बीकानेर में सवत् १७८४ में बनाई गई है इसकी दो पत्रों की प्रति हमारे सग्रह में है

(१८) रामचन्द्र आख्यान—इसमें धर्मविजय ने ५५ छप्पय (कवित्तों) में रामकथा सक्षेप में वर्णन की है इसकी पांच पत्रों की प्रति (१६ वी शताब्दी के प्रारम्भ की लि) मोतीचन्द्र जी खजांची क सग्रह में है अतः रचना १८ वीं शताब्दी की होनी सभव है

ब जिनदास गुणकीर्ति महीचन्द्र के रामचरित को छोड कर उपर्युक्त सभी रचनाए श्वेताम्बर विद्वानो की हैं अन्य दिगम्बर रचनाओ में सवत १७१३ में रचित—

(१६) सीताचरित हिन्दी में है जो कवि रायचन्द द्वारा रचित है उसकी १४४ पत्रों की प्रति आमेर भंडार में है गोविंद पुस्तकालय बीकानेर मे भी इसकी एक प्रति है

(२) सीताहरण—वि जमसागर ने सवत् १७१२ में गधार नगर में इसकी रचना की भाषा गुजराती मिश्रित राजस्थानी है उसकी ११३ पत्रों की प्रति उपर्युक्त आमेर भडार म है

१६ वीं शताब्दी

(२१) रामयशोरसायन-रास—तपागच्छीय सुज्ञानसागर कवि ने सवत् १८२२ मगसिर सुदी १२ रविवार को इसकी उदयपुर में रचना की भाषा मे हिन्दी का प्रभाव भी है चरित्र काफी विस्तार से वर्णित है ग्रथ ६ खण्डो म विभक्त है इसकी प्रति सीकडी के ज्ञान भडार में १८१ पत्रा की है सभवत राजस्थानी जैन रामचरित्र ग्रथो मे यह सब से बडा है ग्रथकार की वैरागी एव सयमी से इनकी चौबीसी आदि रचनाए भी प्राप्त है

(२०) सीता चउपई—तपागच्छीय चतनविजय ने सवत् १८५१ क वैसाख सुदि १३ को बगाल के अजीमगंज में इसकी रचना की इनको अन्य रचनाओ की भाषा हिन्दी प्रधान है प्रस्तुत चौपाई की १८ पत्रों की प्रति बीकानेर के उ० जयचन्द्रजी क भडार व कलकत्ते के श्रीपूरणचन्द नाहर के सग्रह में है परिमाण मध्यम है

(२३) रामचरित—स्था ऋषि चौथमल ने इस विस्तृत ग्रथ की रचना की श्री मोतीचन्दजी खजांची के सग्रह में इसकी दो प्रतियां पत्र ६७ व ८४ की है जिनम से एक में अन्त के कुछ पत्र नही है और दूसरी में अन्त का पत्र होने पर भी चिपक जाने स पाठ नष्ट हो गया है इसका रचनाकाल सं १८६२ जोधपुर है. इनकी अन्य रचनाऋषिदत्ता चौपाई स १८६४ देवगढ (मेवाड) म रचित है प्रारम्भिक कुछ पद्यो को पढने पर ज्ञात हुआ कि समयसुन्दर की सीताराम चौपाई म कुछ पद्य तो इसम ज्यो क त्यो अपना लिये गये है

(२४) रामरासो—अथवा सीता वनवास चौपाई—ऋषि शिवलाल ने सवत् १८८२ के माघ वदि ६ को बीकानेर की नाहटो की गवाड़ी म इसकी रचना की इसम कथा सक्षिप्त है १२ पत्रों की प्रति स्व यति सुमन जी के सग्रह में देखी है

२० वीं शताब्दी

(२५) रामसीताराम-रास तपागच्छीय ऋषभविजय ने सवत् १६ ३ मिगसिर वदि २ बुधवार को सात ढालों में सक्षिप्त चरित्र वर्णन किया है भाषा गुजराती प्रधान है

(६) वागडी क उत्तराद्ध में समाचार ऋषि ने सीताचरित्र बनाया है वह मैंने देखा नही है पर उसकी भाषा भी हिन्दी प्रधान होगी

बीसवीं शती मे (२७) शुक्ल जैन रामायण स्था० मुनि—शुक्लचन्द जी

(२८) सरल जैन रामायण—कस्तूरचन्द्रजी

(२९) आदर्श जैन रामायण—चौथमल जी ने निर्माण की है

फुटकर 'सती सीतागीत' आदि तो कई मिलते है गद्य मे कई बालावबोध ग्रथो मे 'सीताचरित्र' सक्षेप मे मिलता है उसका यहा उल्लेख नही किया जा रहा है केवल एक मौलिक सीताचरित की अपूर्ण प्राचीन प्रति हमारे सग्रह मे है उसी का कुछ विवरण दिया जा रहा है—

(३०) सीताचरित्र भाषा—इसकी १८ पत्रो की अपूर्ण प्रति हमारे सग्रह मे है जो १६ वी या १७ वी के आरम्भ की लिखित है अत इसकी रचना १६ वी शताब्दी की होनी सम्भव है इसी तरह का एक अन्य सक्षिप्त सीताचरित्र (गद्य) मुनि जिनविजय जी सग्रह (भारतीय विद्याभवन, बम्बई) मे है

इस प्रकार रामकथा सम्बन्धी यथाज्ञात राजस्थानी—गुजराती व हिन्दी रचनाओ का सक्षिप्त विवरण दिया गया है खोज करने पर और भी मिलने सभव है

श्रीमहावीर कोटिया

जैन कृष्ण-साहित्य

श्रीकृष्ण भारत राष्ट्र की अन्यतम विभूति हैं उनका चरित-वर्णन व्यापक रूप से लोकरुचि का विषय रहा है. राष्ट्र की सभी धार्मिक विचारधाराओं व उनसे प्रभावित साहित्य में उनका (अपनी-अपनी मान्यतानुसार) वर्णन उपलब्ध है वैष्णव-साहित्य में उनका स्वयं भगवान् का रूप (कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्—भा पुराण १।३।२२) प्रमुख है पर इसके आवरण में महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों मे उनके वीरश्रेष्ठ स्वरूप की ही पूजा हुई है जैनों के निकट वे शलाका पुरुष वासुदेव है जो कि महान् वीर व श्रेष्ठ अर्ध चक्रवर्ती शासक होता है बौद्ध जातक-कथाओं[1] म भी उनका एक वीर शक्तिशाली व विजेता राजपुरुष के रूप म वर्णन हुआ है स्पष्ट है कि उक्त धार्मिक विचारधाराओं में चाहे श्रीकृष्ण सम्बन्धी मान्यता की दृष्टि से बाह्य विभिन्नता रही हो पर मूलत सभी में उनके वीरश्रेष्ठ स्वरूप का यशो-गान प्रमुख है

बताया जा चुका है कि जैन परम्परा मे श्रीकृष्ण की पुरुषशलाका वासुदेव के रूप म मान्यता है शलाका पुरुष से तात्पर्य है श्रेष्ठ (महापुरुष) ! शलाका पुरुष श्रेषठ कहे गये है तीर्थंकर २४ चक्रवर्ती १२ बलदेव ९, वासुदेव ९ तथा प्रति वासुदेव ९ जैन पुराण ग्रन्थो व चरित-काव्यो मे इन महापुरुषों का ही जीवन चरित वर्णित हुआ है श्रीकृष्ण नवमें (या अन्तिम) वासुदेव थ

वासुदेव श्रीकृष्ण एक शक्तिशाली वीर व अर्ध चक्रवर्ती शासक थे वैताढ्य गिरि (विन्ध्याचल) से लेकर सागर पर्यन्त सम्पूर्ण दक्षिण भारत के वे एक मात्र अधिपति बताये गये हैं[2] उत्तर भारत की राजनीति में भी उनका विशिष्ट स्थान था अपने शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी जरासन्ध व उसके सहायक कौरवों के पराभव के बाद हस्तिनापुर के राज्यसिंहासन पर पाण्डवो को प्रतिष्ठित कर उन्होने उत्तर भारत में भी अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित किया उत्तर भारत की अन्य बहुत सी राज-सभाओं के अत्याचारी शासकों का दमन कर उन्होने उनके उत्तराधिकारियों को उनके स्थान पर प्रति ष्ठित कर अपने प्रभाव व लोकप्रियता में वृद्धि की इस तरह जैन-साहित्य के अध्ययन से हमें पता चलता है कि श्रीकृष्ण भारत क ऐसे महापुरुष थे जिन्होने देश में बिखरी हुई राजनीतिक शक्तियो को एकत्रित किया और उसमें सफलता भी प्राप्त की

जैन कृष्ण-साहित्य के अध्ययन से भारतीय इतिहास के कई गुप्त तथ्य भी हमारे सामने उद्घाटित होते हैं इनमें से एक

---

[1] देखिये 'घतजातक'

[2] [illegible] —हरिवंशपुराण ११ ६

[illegible] —[illegible] १ ५

तथ्य है, उस समय के धार्मिक नेता अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) के साथ श्रीकृष्ण के पारिवारिक सम्बन्धो की जानकारी अरिष्टनेमि जैन-परम्परा के २२वें तीर्थंकर के रूप मे प्रतिष्ठित है महावीर स्वामी के अतिरिक्त जैन-परम्परा के अन्य २३ पूर्व तीर्थंकरो को अब तक अधिकाश लोग कपोल-कल्पना कहते रहे हैं, और बहुत से अब भी कहते है पर यह भ्रम विद्यालयो मे पढाये जाने वाले वर्तमान इतिहास का फैलाया हुआ है जहाँ तक अरिष्टनेमि की ऐतिहासिकता का प्रश्न है, भारत के महान् प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद (अ० ६ मन्त्र २५) यजुर्वेद तथा महाभारत आदि मे उनका उल्लेख उपलब्ध है

जैन-परम्परा से हमे ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण व अरिष्टनेमि चचेरे भाई थे[1] अरिष्ट नेमि के साथ इस सम्बन्ध के कारण जैन-साहित्य मे श्रीकृष्ण का एक विशिष्ट व्यक्तित्व रहा है एक श्रेष्ठ राज-नेता व अति पराक्रमी वीर पुरुष होने के साथ ही श्रीकृष्ण की धर्म के प्रति अभिरुचि भी प्रबल बताई गई है नेमिनाथ की अहिंसा-भावना का प्रभाव उनके जीवन मे स्पष्ट देखा जा सकता है उन्होने वैदिक-काल के हिंसापूरित यज्ञ का विरोध किया, तथा उस यज्ञ को उत्तम बताया जिसमे जीवहिंसा नही होती उन्होने यज्ञ की अपेक्षा कर्म को महान् बताया जैन-आगम ग्रन्थो मे[2] श्रीकृष्ण से सम्बन्धित ऐसे बहुत से प्रसग आये है, जब कि अरिष्टनेमि के द्वारिका आगमन पर श्रीकृष्ण सब राज्य-कार्यों को छोड सकुटुम्ब उनके दर्शन व उपदेश श्रवण को जाया करते थे वे दीक्षा-समारोह मे भी भाग लेते रहते थे स्वय उनके कुल के बहुत से सदस्यो ने, जिनमे उनकी अनेक रानियाँ व पुत्र आदि भी थे, अर्हत अरिष्टनेमि से दीक्षा ग्रहण की श्रीकृष्ण के बहुमुखी व्यक्तित्व के इस पहलू ने उन्हे, जैन-साहित्य मे अत्यधिक प्रमुख बना दिया है अरिष्ट-नेमि विषयक जितना भी जैन-साहित्य उपलब्ध है, उस सबमे श्रीकृष्ण का चरित-वर्णन अति महत्त्वपूर्ण रहा है, बहुतसी कृतियो मे तो वे अरिष्टनेमि से भी अधिक प्रमुख बन गये हैं इसके अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से भी उनके जीवन-चरित के विभिन्न प्रसगो का सविस्तार वर्णन हुआ है तथा पाण्डव-गण, गजसुकुमाल व प्रद्युम्नकुमार आदि से सम्बन्धित कृतियो मे भी उनका वर्णन अति प्रमुख रहा है इससे जैन-साहित्यकारो के श्रीकृष्ण-चरित के प्रति आकर्षण का पता लगता है विभिन्न भारतीय प्राचीन व अर्वाचीन भाषाओं—यथा प्राकृत,सस्कृत, अपभ्र श, हिन्दी, कन्नड, तामिल, तेलुगु तथा गुजराती आदि मे सैकडो की मात्रा मे कृष्ण-सम्बन्धी कृतियाँ उपलब्ध है प्रस्तुत लेख मे प्राकृत, सस्कृत, अपभ्र श तथा हिन्दी भाषा मे उपलब्ध जैन-कृष्ण-साहित्य का अति सक्षिप्त-सा परिचय दिया गया है आशा है यह परिचय जहाँ पाठक को कृष्ण-साहित्य सम्बन्धी नवीन जानकारी देगा, वही उसे जैन-साहित्य की विशालता का अनुमान कराने मे भी सहायक सिद्ध होगा

प्राकृत जैन-कृष्ण साहित्य—जैनधर्म के मूल ग्रथ आगम कहे गये है इनका प्ररूपण स्वय भगवान् महावीर ने किया था, परन्तु सकलन भगवान् के गणधरो [शिष्यो] ने किया प्राकृत-जैन कृष्ण साहित्य की दृष्टि से प्रथम स्थान आगम-ग्रथो का ही है आगमो का उपलब्ध सकलन ई० सन् की ६ठी शताब्दी का है आगम ग्रथो की सख्या ४६ है—अग १२, उपाग १२, छेदसूत्र ६, मूलसूत्र ४, प्रकीर्णक १०, चूलिका सूत्र २ कृष्णसाहित्य की दृष्टि से निम्न आगमग्रथ महत्त्वपूर्ण हैं .

[१] **स्थानाग**—इस सूत्र के आठवें अध्ययन मे श्रीकृष्ण की आठ पटरानियो [पद्मावती, गौरी, गान्धारी, लक्ष्मणा, सुसीमा, जाम्बवती, सत्यभामा, और रुक्मिणी] का वर्णन हुआ है

[२] **समवायाग**—इस सूत्र मे ५४ उत्तम पुरुषो के वर्णन-प्रकरण मे श्रीकृष्ण का वर्णन हुआ है श्रीकृष्ण वासुदेव थे वासुदेव का प्रतिद्वन्दी प्रतिवासुदेव होता है जो कि दुष्ट, आततायी तथा प्रजा को त्रास देने वाला होता है वासुदेव का पवित्र कर्तव्य उसका हनन कर पृथ्वी को भार-मुक्त करना है श्रीकृष्ण ने अपने प्रतिद्वन्दी प्रतिवासुदेव जरासन्ध का वध किया था

---

१ उत्तराध्ययन २२ २

२ अन्तगडदसा ३ २३, ५ १, ६ ८ (ज्ञातृधर्मकथा) १ ५ निरयावलिका ५ १२
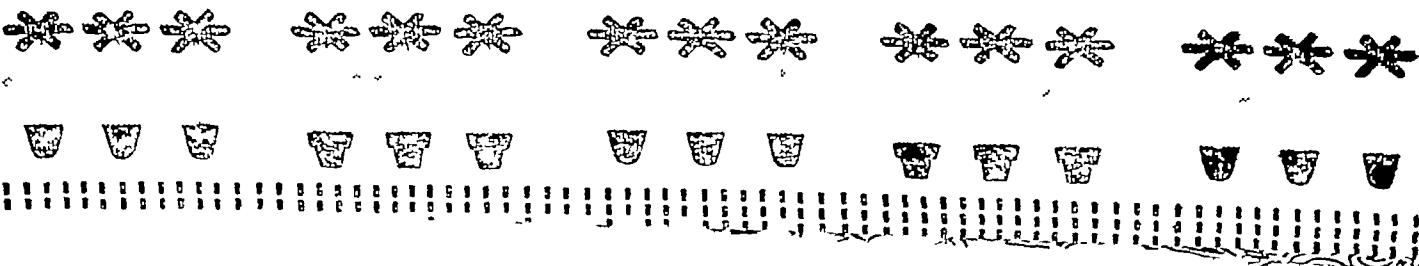
[३] ज्ञातृधर्मकथा—इस आगम के पहले स्कन्ध के पांचवें तथा सोलहवें अध्ययन में श्रीकृष्ण का वर्णन हुआ है पांचवें अध्ययन में अर्हत् अरिष्टनेमि का रैवतक पर्वत पर आगमन कृष्ण का दलबल सहित उनके दर्शन व उपदेशश्रवण को जाना तथा थावच्चापुत्र की प्रव्रज्या का वर्णन है सोलहवें अध्ययन में पाण्डवों का वर्णन है पाण्डवों की मां कुन्ती श्रीकृष्ण की बुआ थी

[४] अन्तकृद्दशा—इसमें अन्तकृत् केवलियों की कथाएँ हैं आठ वर्ग (अध्ययनों के समूह) हैं. इस ग्रंथ में कृष्णकथा के विभिन्न अंगों का स्थान-स्थान पर वर्णन हुआ है प्रथम वर्ग के पहले अध्ययन मे श्रीकृष्ण का द्वारिका के राजा के रूप में उल्लेख हुआ है तीसरे वर्ग के आठवें अध्ययन में कृष्ण के सहोदर गजसुकुमाल का प्रसिद्ध जैन आख्यान है पांचवें वर्ग के प्रथम अध्ययन में द्वारिकाविनाश व श्रीकृष्ण की मृत्यु का वर्णन है

[५] प्रश्नव्याकरण—उपलब्ध प्रश्नव्याकरण सूत्र के दो खण्ड हैं पहले में पांच आस्रवद्वारों का और दूसरे में पांच संवरद्वारों का वर्णन है प्रथम खण्ड के चौथे द्वार में श्रीकृष्ण के युद्ध करने और रुक्मिणी तथा पद्मावती को पाने का उल्लेख है

[६] निरयावलिका—इसके पांचवें उपांग वृष्णिदशा के १२ अध्ययन हैं जिनमें प्रथम अध्ययन में द्वारवती नगरी के राजा कृष्ण वासुदेव का वर्णन है अरिष्टनेमि विहार करते हुये रैवतक पर्वत पर पधारे कृष्ण वासुदेव हाथी पर सवार हो दल-बल सहित उनके दर्शन व उपदेशश्रवण को गये

[७] उत्तराध्ययन—कहा जाता है इसमें भगवान् महावीर के अंतिम चातुर्मास के समय दिये गये उपदेशों का संग्रह है इसमें ३६ अध्ययन है २२ वें अध्ययन में जैन-कृष्ण-कथा के एक महत्त्वपूर्ण प्रसंग का उल्लेख है यह प्रसंग है श्रीकृष्ण *द्वारा अरिष्टनेमि के विवाह का प्रबन्ध करना भोज के लिये इकट्ठे किये गए पशुओं की करुण पुकार सुन अरिष्टनेमि* को वैराग्य हो जाना तथा रैवतक पर्वत पर जाकर उनका तपस्या करना इस अध्ययन से श्रीकृष्ण का जन्म सोरियपुर में होना प्रतीत होता है

आगमेतर प्राकृत कृष्णसाहित्य—आगमेतर साहित्य में (आगम-व्याख्या साहित्य के अतिरिक्त) कृष्ण-कथा का वर्णन करने वाला प्रथम ग्रंथ 'हरिवंसचरिय' कहा जाता है इसके रचयिता विमलसूरि थे जिन्होंने चरित-साहित्य के प्रसिद्ध ग्रंथ 'पउमचरिय' की रचना की है परन्तु उक्त ग्रंथ अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है विमलसूरि का समय वि की प्रथम शताब्दी निश्चित किया जाता है[१]

[१] वसुदेवहिंडी—यह एक विशाल ग्रंथ है इसके पूर्वार्द्धभाग के रचयिता संघदास गणि तथा उत्तर भाग के रचयिता धर्मदास गणि कहे गये है संघदास गणि का समय ई सन् की लगभग पांचवीं शताब्दी कहा गया है[२] ग्रंथ का मुख्य *विषय श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव के भ्रमण (हिंडन) का वर्णन करना है* ग्रंथ के दूसरे *भाग पीठिया (पीठिका)* में श्रीकृष्ण की अग्रमहिषियों का परिचय रुक्मिणी से प्रद्युम्नकुमार का जन्म उसका अपहरण पूर्वभव माता-पिता से पुनः मिलना जाम्बवती से शम्बुकुमार का जन्म आदि का वर्णन मिलता है हरिवंश कुल की उत्पत्ति तथा वंश के पूर्वभवों का वर्णन भी मिलता है कौरव-पाण्डवों का उल्लेख भी मिलता है इस ग्रन्थ के पूर्वभाग में ११ हजार श्लोक तथा उत्तरभाग मे १७ हजार श्लोक है[२]

[२] चउप्पन महापुरिसचरिय—यह शीलाचार्य (शीलांकसूरि) की रचना है इस ग्रंथ में जैनधर्म के मान्य ५४ शलाका

१ जैन साहित्य और इतिहास—श्री नाथूराम प्रेमी, पृष्ठ ८७
प्राकृत साहित्य का इतिहास—डा. जगदीशचन्द्र जैन पृ. [illegible]
२ [illegible] की भूमिका—डा. [illegible] पृ. ११

तथ्य है, उस समय के धार्मिक नेता अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) के साथ श्रीकृष्ण के पारिवारिक
अरिष्टनेमि जैन-परम्परा के २२वें तीर्थंकर के रूप मे प्रतिष्ठित हैं महावीर स्वामी के
२३ पूर्व तीर्थंकरो को अब तक अधिकाश लोग कपोल-कल्पना कहते रहे हैं, और बहुत से
विद्यालयो मे पढाये जाने वाले वर्तमान इतिहास का फैलाया हुआ है जहाँ तक अरिष्टनेमि
प्रश्न है, भारत के महान् प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद (अ० ९ मन्त्र २५) यजुर्वेद तथा महाभारत
उपलब्ध है

जैन-परम्परा से हमे ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण व अरिष्टनेमि चचेरे भाई थे[1] अरिष्टनेमि
कारण जैन-साहित्य मे श्रीकृष्ण का एक विशिष्ट व्यक्तित्व रहा है एक श्रेष्ठ
होने के साथ ही श्रीकृष्ण की धर्म के प्रति अभिरुचि भी प्रबल बताई गई है नेमिनाथ
उनके जीवन मे स्पष्ट देखा जा सकता है उन्होने वैदिक-काल के हिंसापूरित यज्ञ
उत्तम बताया जिसमे जीवहिंसा नही होती उन्होने यज्ञ की अपेक्षा
श्रीकृष्ण से सम्बन्धित ऐसे बहुत से प्रसग आये है, जब कि अरिष्टनेमि के
कार्यो को छोड सकुटुम्ब उनके दर्शन व उपदेश श्रवण को जाया करते
थे स्वय उनके कुल के बहुत से सदस्यो ने, जिनमे उनकी अनेक रानियाँ
ग्रहण की श्रीकृष्ण के बहुमुखी व्यक्तित्व के इस पहलू ने उन्हे, जैन-साहित्य
नेमि विषयक जितना भी जैन-साहित्य उपलब्ध है, उस सबमे श्रीकृष्ण
कृतियो मे तो वे अरिष्टनेमि से भी अधिक प्रमुख बन गये हैं उनके
के विभिन्न प्रसगो का सविस्तार वर्णन हुआ है तथा पाण्डव-गण,
मे भी उनका वर्णन अति प्रमुख रहा है इससे जैन-साहित्य
लगता है विभिन्न भारतीय प्राचीन व अर्वाचीन भाषाओ—यथा
तथा गुजराती आदि मे सैकडो की मात्रा मे कृष्ण-सम्बन्धी कृतियाँ
तथा हिन्दी भाषा मे उपलब्ध जैन-कृष्ण-साहित्य का अति
जहाँ पाठक को कृष्ण-साहित्य सम्बन्धी नवीन जानकारी देगा,
मे भी सहायक सिद्ध होगा

प्राकृत जैन-कृष्ण साहित्य—जैनधर्म के मूल ग्रथ आगम
परन्तु सकलन भगवान् के गणधरो [शिष्यो] ने किया
का ही है आगमो का उपलब्ध सकलन ई० सन् की छठी
१२, छेदसूत्र ६, मूलसूत्र ४, प्रकीर्णक १०, चूलिका

[१] स्थानाग—इस सूत्र के आठवें अध्ययन मे श्रीकृष्ण
जाम्बवती, सत्यभामा, और रुक्मिणी] का वर्णन है

[२] समवायाग—इस सूत्र मे ५४ उत्तम पुरुषो
वासुदेव का प्रतिद्वन्दी प्रतिवासुदेव होता है
पवित्र कर्तव्य उसका हनन कर पृथ्वी को
वध किया था

त
ति
ा के
ाण्डवो
ष्ण का
व कृष्ण
ा निर्वाण
, कथारत्न-
चरितसाहित्य
२४ इसमे राम
है ६६ सर्गों में
रवश है ग्रन्थ के
सवत् ८४०) में

१ उत्तराध्ययन २२ २

२ अन्तगडदसा ३ २३, ५ २, ६ ८, ...

पूर्ण हुआ[१] इसके रचयिता पुन्नाटसंघीय आचार्य जिनसेन थे[२]
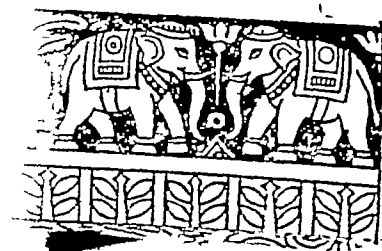
(२) महापुराण —यह भी जैन-कृष्ण-साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है इसके दो भाग है—प्रथम आदिपुराण द्वितीय उत्तर पुराण यह सम्पूर्ण ग्रन्थ ७६ पर्वों में समाप्त हुआ है इसकी श्लोकसंख्या २ हजार प्रमाण है इसके प्रथम ४२ पर्व (सर्ग) व ४३ वें पर्व के ३ पद्य आचार्य जिनसेन के लिखे हुए हैं ये जिनसेन हरिवंशपुराण के कर्ता से भिन्न है ये पञ्चस्तूपान्वय सम्प्रदाय के थे[३] शेष ग्रन्थ आचार्य के प्रकाण्ड पण्डित व सिद्धहस्त कवि शिष्य गुणभद्र ने पूरा किया उत्तरपुराण के ७१ ७२ व ७३ वें पर्व में कृष्ण-कथा का वर्णन हुआ है उत्तरपुराण की समाप्ति शक संवत ७७५ (वि संवत् ९१) के लगभग बताई जाती है[४]

(३) द्विसन्धान या राघव-पाण्डवीय महाकाव्य :—कवि धनञ्जय द्वारा लिखित यह एक अद्भुत महाकाव्य है इसके प्रत्येक पद्य से दो अर्थ प्रकट होते है जिनसे एक अर्थ में राम-कथा तथा द्वितीय में कृष्ण-कथा का सृजन होता है इसके १८ सर्ग है श्रीनाथूरामजी प्रेमी इस कवि का समय वि की आठवी शताब्दी के अन्तिम चरण से नवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक मानते है[५]

(४) प्रद्युम्नचरित :—लाट-बागट संघ के आचार्य महासेन इस ग्रन्थ के रचयिता है इसकी रचना का समय वि सं १ ३१ से १ ६६ के मध्य बताया जाता है[६] यह एक खण्डकाव्य है इसके नायक श्रीकृष्ण के प्रबल पराक्रमी पुत्र प्रद्युम्नकुमार है जिन्हे जैनपरम्परा में २१वां कामदेव माना गया है इसकी कथा का आधार जिनसेनकृत हरिवंश पुराण है यह प्रकाशित रचना है

(५) त्रिषष्टिशलाका-पुरुष चरित्र :—प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता 'कलिकालसर्वज्ञ' विरुद से विभूषित आचार्य हेमचन्द्र है डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल ने आचार्य हेमचन्द्र के लिए मध्यकालीन साहित्यसंस्कृति के चमकते हुये हीरे' का विशेषण प्रयुक्त किया है इनका समय वि संवत् ११४५ १२२९ निश्चित है इनकी प्रस्तुत कृति में जैन-परम्परा में मान्य ६३ शलाका-पुरुषों का चरित वर्णन हुआ है

(६) महापुराण :—इसके रचयिता मल्लिषेण सूरि है ये विविध विषयो के पण्डित तथा उभयभाषी के कवि थे महा पुराण म कुल दो हजार श्लोक है और इन्ही में त्रेसठ-शलाका पुरुषों की कथा संक्षेप में वर्णित हुई है यह वि संवत् ११ ४ की रचना है

(७) भट्टारक सकलकीर्ति व उसके ग्रन्थ :—१५ वी शताब्दी में भट्टारक सकलकीर्ति संस्कृत के अच्छे विद्वान् और कवि हुए जयपुर के विभिन्न ग्रन्थभण्डारों में इनके लिखे कई ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियां उपलब्ध है कृष्णसाहित्य की दृष्टि से इनके दो ग्रन्थ 'उत्तरपुराण' व 'प्रद्युम्नचरित' उल्लेखनीय है ये मूलसंघाम्नायी थे

(८) भट्टारक शुभचन्द्रकृत पाण्डवपुराण :—मूलसंघ के ही भट्टारक शुभचन्द्र अद्भुत विद्यारक विख्यात विद्वान् तथा प्रबल तार्किक थे इनके पाण्डवपुराण ग्रन्थ की प्रशस्ति में इनके द्वारा रचित २५ ग्रन्थों का उल्लेख हुआ है

---

१ शाकेष्वब्दशतेषु सप्तसु दिशं पञ्चोत्तरेषूत्तरां
पातीन्द्रायुधनाम्नि कृष्णनृपजे श्री वल्लभे दक्षिणाम् ।।
विशेष विवरण के लिये देखिये नाथूराम प्रेमी जैन साहित्य और इतिहास पृ ११४

३ देखिये महापुराण (भारतीय ज्ञान पीठ, काशी से प्रकाशित) का प्रास्ताविक डा हीरालाल व प न्मन उपाध्ये तथा जैन साहित्य और इतिहास—प्रेमी पृ १ ७

४ जैन सा और इतिहास—प्रेमी पृ १४

५ वही पृ १११ (द्वितीय संस्करण)

६ वही पृ ४

७ ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बई से प्रकाशित

८ ६३ शलाका पुरुष ग्रन्थ पृ ११

पुरुषो का वर्णन हुआ है ९ प्रतिवासुदेवो को अलग न गिनकर वासुदेवो के साथ ही गिन लिया गया है इस रचना का समय ई० सन् ८६८ बताया जाता है[1]

[३] भव-भावना—इसके कर्त्ता मलधारि हेमचन्द्र सूरि कहे गये है इन्होने वि० स० ११७० (सन् १२२३) मे उक्त ग्रन्थ की रचना की[2]

कृति मे १२ भावनाओ का वर्णन है कुल ५३१ गाथाएँ है हरिवश कुल का विस्तार से वर्णन हुआ है कस का वृत्तान्त, वसुदेवचरित, देवकी से वसुदेव जी का विवाह, कृष्ण-जन्म, कसवध, नेमिनाथ-चरित आदि का सुन्दर वर्णन हुआ है यह प्रकाशित रचना है

इन्ही कवि की एक अन्य कृति 'उपदेशमालाप्रकरण' है इसमे जैन-तत्त्वोपदेश से सम्बन्धित कितनी ही धार्मिक व लौकिक कथाएँ दी हुई है तपद्वार मे वसुदेव-चरित का वर्णन हुआ है यह भी प्रकाशित रचना है

[४] कुमारपाल-पडिबोह—इस कृति के रचयिता सोमप्रभ सूरि, आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य थे इसकी रचना वि० स० १२४१ मे हुई इस कृति मे उन शिक्षाओ का सग्रह है जो समय-समय पर आचार्य ने गुजरात के चालुक्यवशी राजा कुमारपाल को दी दृष्टान्त रूप मे ५४ कथाएँ भी दी गई है इस क्रम मे मद्यपान के दुर्गुण बताते हुये द्वारिकादहन की कथा तथा तप का महत्त्व बतलाते हुये रुक्मिणी की कथा आई है

[५] कण्हचरिय—प्रस्तुत कृति मे जैन-पुराणो मे वर्णित कृष्ण-कथा को ही प्रस्तुत किया गया है रचयिता तपागच्छीय देवेन्द्र सूरि हैं, जिन्हें जगच्चन्द्रसूरि का शिष्य बताया गया है देवेन्द्रसूरि का स्वर्गवास सन् १२७० मे हुआ[3] कृति के मुख्य विषय इस प्रकार है—वसुदेवचरित, कस की जन्मकथा, कृष्ण-बलदेव के पूर्वभव, कृष्ण-जन्म, नेमिनाथ जी के पूर्व भव व उनका जन्म, कसवध, द्वारिका नगरी का निर्माण, कृष्ण की अग्रमहिषियो का वर्णन, प्रद्युम्न-जन्म, पाण्डवो का वर्णन, जरासन्ध से श्रीकृष्ण का युद्ध, श्रीकृष्ण की विजय, नेमिनाथ-राजुल का कथानक, द्रौपदीहरण व श्रीकृष्ण का उसे वापिस लौटा लाना, गजसुकुमारचरित, थावच्चापुत्र का वृत्तान्त, यादवो की दीक्षा, द्वारिका-दहन, बलराम व कृष्ण का द्वारिका से प्रस्थान, श्रीकृष्ण की मृत्यु, बलदेव जी का विलाप व दीक्षा, पाण्डवो की दीक्षा व नेमिनाथ का निर्वाण आदि

प्राकृत की उक्त कृतियो के अतिरिक्त आगमो के व्याख्या-साहित्य तथा कथा-सग्रहो मे, यथा-कथाकोषप्रकरण, कथारत्न-कोष, आख्यानमणिकोष आदि में भी कृष्ण-कथा के विभिन्न प्रसग यत्र-तत्र वर्णित हुए हैं

संस्कृत का जैन-कृष्ण-साहित्य—जैनो का सस्कृत साहित्य विक्रम की प्रथम शताब्दी से ही उपलब्ध है चरितसाहित्य की दृष्टि से सस्कृतभाषा का प्रथम ग्रन्थ रविषेणाचार्यकृत पद्मपुराण है इसकी रचना सन् ६७६ में हुई[4] इसमें राम की कथा वर्णित है कृष्ण-कथा की दृष्टि से प्रथम कृति हरिवशपुराण है

(१) **हरिवशपुराण**—जैन-साहित्य में इस ग्रन्थ का एक विशिष्ट स्थान रहा है यह एक विशाल ग्रन्थ है ६६ सर्गों मे विभक्त १२ हजार श्लोक परिमित है ग्रन्थ का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय तीर्थंकर नेमिनाथ का वश हरिवश है ग्रन्थ के १८ वें सर्ग से लेकर ६३ वें सर्ग तक यादव कुल तथा श्रीकृष्ण का चरित वर्णन किया गया है

ग्रन्थ का रचनाकाल विक्रम की नवमी शताब्दी का मध्य भाग है यह ग्रन्थ शक सवत् ७०५ (वि० सवत् ८४०) में

१ प्राकृत और उसका साहित्य—डा० हरदेव बाहरी.

२ प्राकृत सा० का इतिहास—डा० जगदीशचन्द्र जैन पृ० ५०५

३ वही पृ० ५६१

४ जिनसेनकृत हरिवशपुराण की भूमिका—नाथूराम प्रेमी पृ० ३.
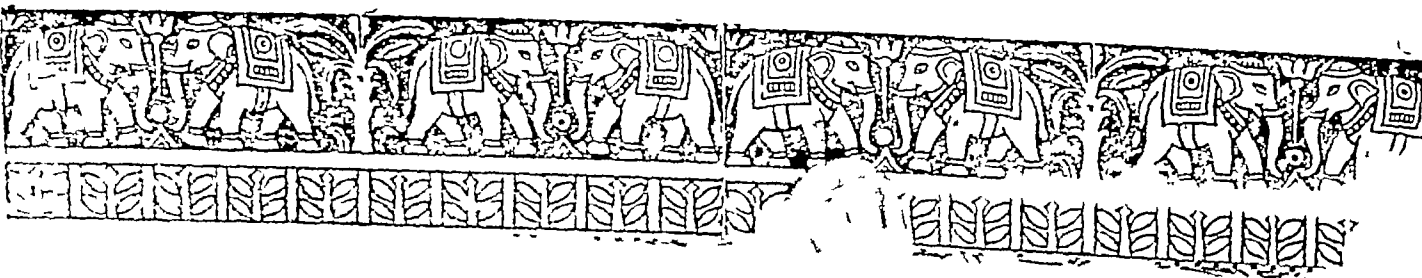
का सौन्दर्य है वह अन्यत्र दुर्लभ है भाषा पर उनका असाधारण अधिकार है उनके शब्दों का भण्डार विशाल है और शब्दालंकार व अर्थालंकार दोनों से उनकी कविता समृद्ध है'[१]

प्रस्तुत रचना एक महाकाव्य है इसमें १०२ सन्धियाँ है इसमें जैन-परम्परा म मान्य त्रेषठ शलाका पुरुषों का चरित वर्णन हुआ है ८१ स ९२ तक की सन्धियों में हरिवंशपुराण की प्रसिद्ध जैन-कथा को पद्यबद्ध किया गया है इसकी रचना ९५९ ९६५ ई म हुई[२]

(३) हरिवंशपुराण :—जयपुर के बड़े तेरापंथियों के मन्दिर में उपलब्ध कवि धवल कृत प्रस्तुत कृति कृष्ण-काव्य की दृष्टि से उल्लेखनीय है इसका कथानक जैन-परम्परागत है और मुख्यत: जिनसेन (प्रथम) कृत हरिवंशपुराण (संस्कृत) पर आधारित है इस ग्रन्थ म १२२ सन्धियाँ है यह १ वी शताब्दी की रचना है

(४) सकलविधिनिधान काव्य :—आमेर (राजस्थान) शास्त्रभण्डार में इसकी हस्तलिखित प्रति उपलब्ध है ग्रन्थ का प्रमुख विषय विधिविधानों एव आराधनाओं का उल्लेख व विवेचन है धार्मिक भावनाओं को व्यक्त करने के लिये प्राचीन कथाओं और उपाख्यानों का आश्रय लिया गया है ग्रन्थ मे ५८ सन्धियाँ है १६ वी सन्धि में महाभारत युद्ध का उल्लेख है इसके रचयिता नयनंदी है कृति का रचनाकाल ११ के लगभग अनुमान किया गया है[३]

(५) पज्जुण्णचरिउ :—प्रस्तुत कृति १५ सन्धियों की खण्डकाव्य कोटि की रचना है इसमें श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न का चरित वर्णन हुआ है इसके रचयिता कवि सिंह (१३ वी शता वि प्रारंभ) थे कुछ लोगो का अनुमान है कि मूलग्रन्थ सिद्ध नामक किसी कवि की रचना है क्योंकि ग्रन्थ की प्रथम आठ सन्धियों में कवि का नाम सिद्ध मिलता है बाद में सिंह संभव है सिंह कवि ने मूलग्रन्थ का उद्धार किया हो[४]

(६) णेमिणाहचरिउ :—णेमिणाहचरिउ एक खण्डकाव्य है इसमें ४ सन्धियां व ८३ कड़वक है ग्रन्थ का मुख्य विषय श्रीकृष्ण के चचेरे भाई तथा जैन-परम्परा क २२ वें तीर्थंकर नेमिनाथ का चरित है इस ग्रन्थ के रचयिता लखमदेव (लक्ष्मणदेव) है ग्रन्थ की रचना १५ वी शताब्दी के उत्तरकाल में हुई, क्योंकि वि स १५१ की लिखी एक हस्तलिखित प्रति उपलब्ध है कवि ने स्वयं रचनाकाल का कोई निर्देश नहीं किया है

(७) महाकवि यशःकीर्ति व उनके ग्रन्थ —यशःकीर्ति १५ वी शताब्दी के उत्तरकाल के कवि है कृष्ण-साहित्य की दृष्टि से उनके दो ग्रन्थ 'पाण्डवपुराण' व हरिवंशपुराण' उल्लेखनीय है इनमें पाण्डवपुराण को कवि ने कार्तिक शुक्ला अष्टमी बुधवार वि संवत् १४९७ मे समाप्त किया हरिवंशपुराण की समाप्ति भाद्रपद शुक्ला एकादशी गुरुवार वि संवत् १५ मे हुई पाण्डवपुराण मे ३४ सन्धियाँ तथा हरिवंशपुराण में १३ संधियां व २६७ कड़वक है काव्य दृष्टि स हरिवंशपुराण अच्छी रचना है[५]

(८) श्रुतकीर्ति का हरिवंशपुराण :—कवि श्रुतकीर्तिकृत हरिवंशपुराण की हस्तलिखित प्रतिलिपि जयपुर (आमेर) के शास्त्रभण्डार म उपलब्ध है यह कवि १६ वी शताब्दी के मध्य म हुए थे इनके दो ग्रन्थ अभी प्रकाश में आए है

(१) हरिवंशपुराण (२) परमेष्ठिप्रकाश हरिवंश मे ४४ सन्धियाँ है डॉ कोछड़ ने इसे महाकाव्यो में गिना है[६]

कृष्ण चरित का वर्णन करने वाले अपभ्रंश के उक्त काव्य ही अभी तक प्रकाश में आये है अपभ्रंश साहित्य की खोज के साथ और भी कुछ ग्रन्थ प्रकाश में आयें ऐसी पूरी संभावना है

---

१ नाथूराम प्रेमी—जैन सा और इतिहास पृ ४ ४
विस्तृत विवरण के लिये देखिये—डा कोछड़—अपभ्रंश साहित्य पृ ७१-८४
३ अपभ्रंश साहित्य—डा हरिवंश कोछड़ पृ १७
४ पं परमानन्द जैन का लेख—अनेकान्त वर्ष ११११ पृ १११
५ अपभ्रंश साहित्य—डा हरिवंश कोछड़ पृ ११८ १२१
६ वही पृ १ ८ २८
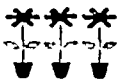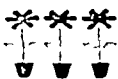
कृष्ण-साहित्य की दृष्टि से इनका पाण्डवपुराण बहुत ही उल्लेखनीय ग्रन्थ है इसी ग्रन्थ से प्रभावित होकर हिन्दी मे बुलाकीदास ने पाण्डवपुराण की रचना की यह ग्रन्थ वि० सवत् १६०८ मे समाप्त हुआ [1]

(९) हस्तिमल्ल व उनके नाटक :—दिगम्बर सम्प्रदाय के साहित्यकारो मे इनका अति महत्त्वपूर्ण स्थान है उपलब्ध जैन सस्कृत साहित्य मे ये ही ऐसे लेखक है, जिनके लिखे नाटक उपलब्ध है ये वत्सगोत्री ब्राह्मण थे तथा समन्तभद्र-कृत देवागमस्तोत्र मे प्रभावित होकर जैन हो गये थे हस्तिमल्ल इनका असली नाम नही था पर एक मस्त हाथी को वश मे करने के उपलक्ष्य मे इन्हे पाण्डय राजा ने यह नाम दिया था कृष्णसाहित्य की दृष्टि से इनकी 'विक्रान्तकौरव' तथा 'सुभद्रा' (अर्जुनराज) ये दो कृतिया उल्लेखनीय हैं इनका ई० सन् १२४० (वि० सवत् १३४७) मे होना निश्चित किया जाता है [2]

(१०) ग्रन्थ रचनाएँ —सस्कृत-जैन कृष्णसाहित्य १७ वी शताब्दी तक का उपलब्ध है कुछ उपलब्ध कृतियो के नाम इस प्रकार है

[अ]	पाण्डवचरित	देवप्रभसूरि	रचना सवत्	१२५७
[आ]	पाण्डवपुराण	भट्टारक श्रीभूषण	"	१६५७
[इ]	हरिवशपुराण	" "	"	१६७५
[ई]	प्रद्युम्नचरित	सोमकीर्ति	"	१५३०
[उ]	प्रद्युम्नचरित	रविसागर	"	१६४५
[ऊ]	" "	रतनचन्द	"	१६७१
[ए]	" "	मल्लिभूपण		१७ वी शताब्दी
[ऐ]	नेमिनिर्वाण काव्य	महाकवि वाग्भट	रचना सवत्	११७९ के लगभग
[ओ]	नेमिनाथपुराण	ब्रह्म नेमिदत्त	"	१५७५
[औ]	नेमिनाथचरित्र	गुणविजय [गद्य ग्रन्थ]	"	१६६८
[अ]	हरिवशपुराण	भट्टा० यशकीर्ति	"	१६७१

अपभ्रंश का जैन-कृष्ण-साहित्य —अपभ्रश-साहित्य की रचना मे जैनो का सर्वाधिक योग रहा है उपलब्ध अपभ्रश-साहित्य का करीब ८० प्रतिशत भाग जैनाचार्यो द्वारा लिखा गया है यद्यपि अपभ्रश का उल्लेख ई० पू० दूसरी शताब्दी मे [पातञ्जल महाभाष्य मे] मिलता है,[3] परन्तु इसका साहित्य आठवी शताब्दी से ही उपलब्ध होता है उपलब्ध साहित्य के प्रथम कवि स्वयभू है और कृष्ण साहित्य की दृष्टि से भी वही प्रथम कवि है

(१) महाकवि स्वयभू और उनका रिट्ठणेमिचरिउ[4] —स्वयभू वि० की आठवी शताब्दी के कवि हैं ये एक सिद्धहस्त कवि थे इनकी कविता अत्यन्त प्रौढ, पुष्ट व प्राजल है

कृष्ण-साहित्य की दृष्टि से रिट्ठणेमिचरिउ एक उल्लेखनीय कृति है यह महाकाव्य है इसमे ११२ सधिया तथा १९३७ कडवक है यह चार काण्डो मे विभाजित है—यादव, कुरु, युद्ध और उत्तर कृष्णजन्म, बाल-लीला, कृष्ण के विभिन्न विवाह, प्रद्युम्न, साम्ब आदि की कथा, नेमिजन्म आदि यादवकाण्ड मे वर्णित हुए है

(२) तिसट्ठि महापुरिस गुणालकार —यह अपभ्रश के सर्वश्रेष्ठ कवि पुष्पदन्त की रचना है पुष्पदन्त के काव्य के विषय मे प्रेमी जी का यह कथन उद्धृत करना ही पर्याप्त होगा—उनकी रचनाओ मे जो ओज, जो प्रवाह, जो रस और

१ देखिये—वाचस्पति गैरोला-सस्कृत सा० का इतिहास पृ० ३६१-६२ तथा प्रेमी-जैन सा० और इतिहास पृ० ३८३ ८४

२ विशेष विवरण के लिये देखिये—जैन सा० और इतिहास पृ० ३६४ ३७०

३ अपभ्रश साहित्य—डा० हरिवश कोछड पृ० १

४ विशेष विवरण के लिये देखिये—वही पृ० ६७ ७२ तथा नाथूराम प्रेमी-जैन सा० और इतिहास—पृ० १९८, १९९

जो सौन्दर्य है वह अन्यत्र दुर्लभ है। भाषा पर उनका असाधारण अधिकार है, उनके शब्दों का भण्डार विशाल है और शब्दालंकार व अर्थालंकार दोनों से उनकी कविता समृद्ध है।' [१]

प्रस्तुत रचना एक महाकाव्य है, इसमें १०२ सन्धियाँ हैं, इसमें जैन-परम्परा में मान्य श्रेष्ठ शलाका पुरुषों का चरित्र वर्णन हुआ है। ८१ से ९२ तक की सन्धियों में हरिवंशपुराण की प्रसिद्ध जैन-कथा को पद्यबद्ध किया गया है। इसकी रचना ९५९-९६५ ई० में हुई। [२]

(३) हरिवंशपुराण :—जयपुर के बड़े तेरापंथियों के मन्दिर में उपलब्ध कवि धवल कृत प्रस्तुत कृति कृष्ण-काव्य की दृष्टि से उल्लेखनीय है। इसका कथानक जैन-परम्परागत है और मुख्यतः जिनसेन (प्रथम) कृत हरिवंशपुराण (संस्कृत) पर आधारित है। इस ग्रन्थ में १२२ सन्धियाँ हैं, यह ११वीं शताब्दी की रचना है।

(४) सकलविधिविधान काव्य :—आमेर (राजस्थान) शास्त्रभण्डार में इसकी हस्तलिखित प्रति उपलब्ध है। ग्रन्थ का प्रमुख विषय विधिविधानों एवं आराधनाओं का उल्लेख व विवेचन है, धार्मिक भावनाओं को व्यक्त करने के लिये प्राचीन कथाओं और उपाख्यानों का आश्रय लिया गया है। ग्रन्थ में ५८ सन्धियाँ हैं, ३६वीं सन्धि में महाभारत युद्ध का उल्लेख है। इसके रचयिता नयनंदी हैं, कृति का रचनाकाल ११०० के लगभग अनुमान किया गया है। [३]

(५) पज्जुण्णचरिउ :—प्रस्तुत कृति १५ सन्धियों की खण्डकाव्य कोटि की रचना है, इसमें श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न का चरित्र वर्णन हुआ है, इसके रचयिता कवि सिंह (१३वीं शता० वि० प्रारम्भ) थे। कुछ लोगों का अनुमान है कि मूलग्रन्थ सिद्ध नामक किसी कवि की रचना है, क्योंकि ग्रन्थ की प्रथम आठ सन्धियों में कवि का नाम सिद्ध मिलता है, बाद में सिंह, सम्भव है सिंह कवि ने मूलग्रन्थ का उद्धार किया हो।

(६) णेमिणाहचरिउ :—णेमिणाहचरिउ एक खण्डकाव्य है, इसमें ४ सन्धियाँ व ८३ कड़वक हैं। ग्रन्थ का मुख्य विषय श्रीकृष्ण के चचेरे भाई तथा जैन-परम्परा के २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ का चरित्र है। इस ग्रन्थ के रचयिता लखमदेव (लक्ष्मणदेव) हैं। ग्रन्थ की रचना १५वीं शताब्दी के उत्तरकाल में हुई, क्योंकि वि० सं० १५१० की लिखी एक हस्तलिखित प्रति उपलब्ध है। कवि ने स्वयं रचनाकाल का कोई निर्देश नहीं किया है।

(७) महाकवि यशःकीर्ति व उनके ग्रन्थ :—यशःकीर्ति १५वीं शताब्दी के उत्तरकाल के कवि हैं। कृष्ण-साहित्य की दृष्टि से उनके दो ग्रन्थ 'पाण्डवपुराण' व 'हरिवंशपुराण' उल्लेखनीय हैं। इसमें पाण्डवपुराण को कवि ने कार्तिक शुक्ला अष्टमी बुधवार वि० संवत् १४९७ में समाप्त किया। हरिवंशपुराण की समाप्ति भाद्रपद शुक्ला एकादशी गुरुवार वि० संवत् १५०० में हुई। पाण्डवपुराण में ३४ सन्धियाँ तथा हरिवंशपुराण में १३ सन्धियाँ व २६७ कड़वक हैं। काव्य दृष्टि से हरिवंशपुराण अच्छी रचना है। [४]

(८) श्रुतकीर्ति का हरिवंशपुराण :—कवि श्रुतकीर्तिकृत हरिवंशपुराण की हस्तलिखित प्रतिलिपि जयपुर (आमेर) के शास्त्रभण्डार में उपलब्ध है। यह कवि १६वीं शताब्दी के मध्य में हुए थे। इनके दो ग्रन्थ अभी प्रकाश में आए हैं: (१) हरिवंशपुराण (२) परमेष्ठिप्रकाशसार। हरिवंश में ४४ सन्धियाँ हैं। डॉ. कोछड़ ने इन्हें महाकाव्यों में गिना है। [१]

कृष्ण-चरित्र का वर्णन करने वाले अपभ्रंश के उक्त काव्य ही अभी तक प्रकाश में आये हैं। अपभ्रंश साहित्य की खोज के साथ और भी कुछ ग्रन्थ प्रकाश में आयें ऐसी पूरी संभावना है।

---

१ [illegible]
[illegible]
२ [illegible]
३ [illegible]
४ [illegible]
५ [illegible]

हिन्दी-जैन-कृष्ण साहित्य —हिन्दी भाषा मे जैन-साहित्यकारो द्वारा रचित बहुत साहित्य उपलब्ध है और दिन-प्रतिदिन जैसे-जैसे जैन-भण्डारो की खोजबीन की जा रही है, नया-नया साहित्य प्रकाश मे आता जा रहा है पिछले कुछ ही वर्षों मे हिन्दी का जैन-साहित्य (विद्वानो के अथक परिश्रम के फलस्वरूप) बहुत बडे परिमाण मे प्रकाश मे आया है जहाँ तक हिन्दी के आदिकालिक साहित्य का प्रश्न है, इन खोजो के फलस्वरूप बहुत ही मजेदार परिणाम सामने आये है प्राय शुक्ल जी आदि हिन्दी के विद्वानो ने आदिकालिक हिन्दी साहित्य मे जिन कृतियो की गिनती की थी,[1] आधुनिक खोजो के आधार पर उनमे से कुछ को छोडकर सभी कृतिया सदिग्ध सिद्ध हो गई है तथा बहुत काल बाद की रचना बताई जाने लगी हैं उनके स्थान पर बहुत सी नवीन कृतियाँ आदिकालिक साहित्य मे प्रतिष्ठित हो रही है उनमे अधिकाश कृतिया जैन रचनाकारो की है

जहा तक हिन्दी के जैन-कृष्ण-साहित्य का प्रश्न है, यह विपुल मात्रा मे उपलब्ध है इस साहित्य की एक बडी विशेषता यह है कि यह अधिकाश मे प्रबन्धकाव्य की कोटि का है, जब कि जैनेतर हिन्दी-कृष्ण-साहित्य मुख्यत मुक्तक है पुन हिन्दी-जैन-कृष्ण-साहित्य मे कृष्ण के व्यक्तित्व का बडा भव्य चित्रण हुआ है जैनेतर हिन्दी साहित्य के कृष्ण जहाँ गोपीजनवल्लभ, राधाधर-सुधापान-शालि-बनमाली और 'होरी खेलन वाले लला' है, वहाँ हिन्दी जैन-कृष्ण-साहित्य के श्रीकृष्ण महान् पराक्रमी व शक्तिशाली राजा है वे वासुदेव है और अधम तथा आततायी पुरुषो के भार से पृथ्वी को मुक्त करने वाले है वे गोपियो के साथ यमुनातट पर रासलीला करने नही घूमते, वे तो निर्विकार पुरुष है त्रेसठ-शलाका पुरुषो मे उनका अन्यतम स्थान है

पिछले २-३ वर्षों से हिन्दी जैन कृष्ण-साहित्य की खोज के दौरान कोई आधा सैकडा हस्तलिखित पुस्तके उपलब्ध हुई हैं इनमे कुछ तो काव्य की दृष्टि से अति सुदर है तथा भाषा-शास्त्र की दृष्टि से भी उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है विशेषतया आदिकाल की कालावधि मे रचित पुस्तको का तो अपना ही महत्त्व है

हिन्दी-जैन-कृष्ण साहित्य पर स्वतत्र रूप से बहुत कुछ लिखा जा सकता है इस छोटे से लेख मे उसके विषय मे कुछ थोडा-सा उल्लेख भर दिया जा रहा है इस दृष्टि से कि पाठक को 'जैन-कृष्ण-साहित्य' का एक ही स्थान पर परिचय मिल सके प्रस्तुत लेख का कलेवर भी काफी बढ गया है, इसलिए हिन्दी-जैन-कृष्ण-साहित्य की विभिन्न कृतियो का विशेष रूप से उल्लेख न करते हुए सूची मात्र दे देना पर्याप्त होगा ग्रथ के नाम के साथ लेखक का नाम, रचना सवत् तथा उपलब्धि का स्थान भी दिया जा रहा है

क्रम स०	रचना का नाम	रचयिता	समय	उपलब्धि का स्थान
१	नेमिनाथरास	सुमतिगणि	वि०स० १२७०	हस्तलिखित प्रति जैसलमेर दुर्ग स्थित भण्डार मे उपलब्ध
२	गयसुकुमालरास	देल्हण	१३१५-२५	हस्तलिखित प्रति जैसलमेर दुर्ग स्थित बडे भण्डार मे उपलब्ध
३	पचपाण्डवचरितरास	शालिभद्रसूरि	१४१०	गुजर रासावली गा०ओ० सीरीज बडौदा, पृ०१-३४ तथा 'आदि काल के अज्ञात हिन्दी रास काव्य' पृ० १२६-५८ पर उपलब्ध
४	प्रद्युम्नचरित	सधारु	१४११	जैन शोध सस्थान, जयपुर से प्रकाशित,
५	बलभद्ररास	यशोधर	वि० स० १५८५	दि० जैन मन्दिर बडा, उदयपुर
६	नेमिजिनेश्वररासो	ब्रह्मरायमल्ल	१६१५	दि० जैन मन्दिर पटौदी
७	प्रद्युम्नरासो	,,	१६२८	दि० जैन मन्दिर लूणकरणजी पाड्या, जयपुर

१ (१) खुमाणरासो (२) बीसलदेवरासो (३) पृथ्वीराजरासो (४) जयचद प्रकाश (५) जयमयकजस चन्द्रिका (६) परमालरासो (७) रणमल छन्द (८) खुसरो की पहेलियाँ (९) विद्यापति की पदावली
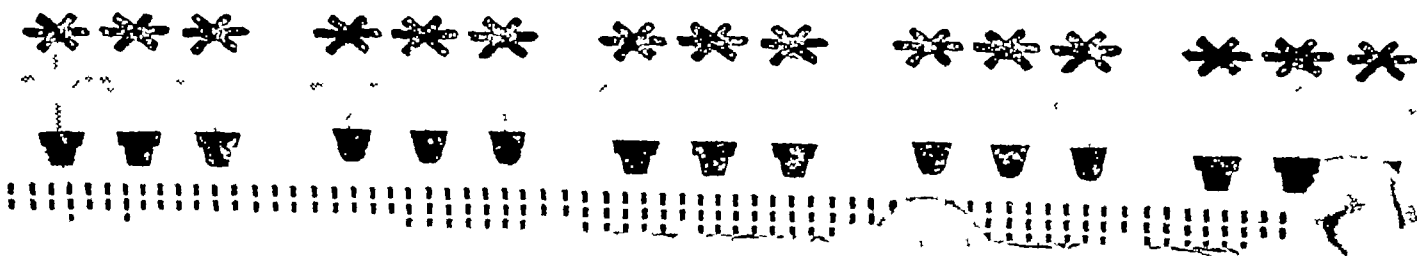
क्रम सं	रचना का नाम	रचयिता	समय	उपलब्धि का स्थान
८	प्रद्युम्न चौपई	कमलकेशर	१६२६	—
९	नेमिनाथ रासो	रूपचन्द	१६४३ के आस पास	
१	साम्ब प्रद्युम्नरास	समयसुन्दर गणि	१६५९	प्रतिलिपि आमेर शास्त्र भण्डार
११	हरिवंशपुराण	(हि गद्य)	१६७१	—
१२	हरिवंशपुराण (पद्य)	शालिवाहन	१६९५	दि जैन मन्दिर पल्लिवालों का धूलियागज आगरा।
१३	नेमिश्वर को रास	भाऊ कवि	१६९६	दि जैन मन्दिर भया बैराठियों का जयपुर
१४	नेमिनाथरास	रत्नकीर्ति	१६९६	"
१५	शाम्बप्रद्युम्नरास	ज्ञानसागर	१७ वीं शताब्दी	
१६	प्रद्युम्न प्रबन्ध	देवेन्द्रकीर्ति	१७२२	आमेर भण्डार जयपुर
१७	रुक्मणि कृष्णजी को रास	तिपरदास	१७३९ (प्र लि)	दि जैन मन्दिर गोधों का जयपुर
१८	पाण्डवपुराण	बुलाकीदास	१७५४ वि सं	आमेर शास्त्र भण्डार
१९	पाण्डव चरित्र	लाभवर्द्धन	१७६८	दि जैन मन्दिर लश्करी जयपुर
२०	नेमीश्वररास	नेमिचन्द्र	१७६९	आमेर शास्त्र भण्डार
२१	हरिवंशपुराण	खुशालचन्द काला	१७८	शास्त्रभण्डार सूणकरजी पाण्ड्या मन्दिर, जयपुर
२२	उत्तरपुराण		१७९९	सौगाणियों का दि जैन मन्दिर करौली
२३	नेमिनाथचरित्र	अजयराज पाटनी	१७९३	दि० जैन मन्दिर ठोलियों का जयपुर
२४	नेमिजी का चरित्र	आनन्द	१८ ४	दि जन मन्दिर, बीकनेर
२५	प्रद्युम्नरास	मायाराम	१८१८	—
२६	हरिवंशपुराण(हि गद्य)	दौलतराम	१८२९	प्रकाशित
२७	प्रद्युम्नचरित्र	भूलचन्द	१८४३	सेठ के कूचा का दि जैन मन्दिर दिल्ली
२८	शाम्बप्रद्युम्नरास	हर्षविजय	१८४५	—
२९	नेमिचन्द्रिका	मनरंगलाल	१८५७	दि जैन मन्दिर बड़ा तेरापन्थी जयपुर
३	देवकी की ढाल	लूणकरण कासलीवाल	१८८९ (लिपि संवत्)	दि जैन मन्दिर बसवा

उल्लिखित ग्रन्थों के अतिरिक्त २ वीं शताब्दी के हिन्दी गद्य में अनुवादित बहुत से ग्रंथ उपलब्ध हैं. कुछ नाम इस प्रकार है

(३१) नेमिपुराण भाषा—भागचन्द (३२) नमिपुराणभाषा—बखतावरमल (३) प्रद्युम्नचरित भाषा—ज्वालाप्रसाद बखतावरसिंह (३४) पाण्डवपुराण—पन्नालाल चौधरी (३५) राघवपाण्डवीय टीका—चरित्रवद्धन (३६) नेमिपुराण भाषा—उदयलाल (३७) नेमिनाथ चरित्र—काशीराम (३८) पाण्डवपुराण टीका—घनश्यामदास न्यायतीर्थ (३९) प्रद्युम्नचरित्र—शीतलप्रसाद (४) प्रद्युम्नकुमार (पद्यमय)—अमोलकऋषिजी महाराज (गद्यसंस्करण सोमाचन्द्र भारिल्लकृत) (४१) उत्तरपुराणवचनिका—पन्नालाल दूनी वाले (४२) प्रद्युम्नचरित—बखतावरमल रतनलाल (४३) प्रद्युम्नचरित वचनिका—मन्नालाल बैनाडा।

जैन-कवियों के कृष्ण सम्बन्धी पद भी बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध हैं इन कवियों में बनारसीदास द्यानतराम भैया भगवतीदास बुधजन भूधरदास प महाचन्द्र प्रभृति कवियों के सुन्दर पद मिलते हैं

डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल
शास्त्री, एम० ए०, पी-एच० डी०

राजस्थानी जैन संतों की साहित्य-साधना

भारतीय इतिहास मे राजस्थान का महत्त्वपूर्ण स्थान है एक ओर यहाँ की भूमि का कण-कण वीरता एव शौर्य के लिये प्रसिद्ध रहा है तो दूसरी ओर भारतीय साहित्य एव सस्कृति के गौरवस्थल भी यहाँ पर्याप्त सख्या मे मिलते है यदि राजस्थान के वीर योद्धाओ ने जन्मभूमि की रक्षार्थ हँसते-हँसते प्राणो को न्योछावर किया तो यहाँ होने वाले साधु-सतो, आचार्यो एव विद्वानो ने साहित्य की महती सेवा की और अपनी रचनाओ एव कृतियो द्वारा जनता मे देशभक्ति, कर्तव्यनिष्ठा एव नैतिकता का प्रचार किया यहाँ के रणथम्भौर कुम्भलगढ, चित्तौड, भरतपुर, माँडोर जैसे दुर्ग यदि वीरता देशभक्ति एव त्याग के प्रतीक है तो जैसलमेर, नागौर, बीकानेर अजमेर, जयपुर, आमेर, डूगरपुर, सागवाडा, टोडारायसिंह आदि कितने ही ग्राम एव नगर राजस्थानी ग्रथकारो, साहित्योपासको एव सन्तो के पवित्र स्थल है इन्होने अनेक सकटो एव झझावातो के मध्य भी साहित्य की अमूल्य धरोहर को सुरक्षित रखा वास्तव मे राजस्थान की भूमि पावन एव महान् है तथा उसका प्रत्येक कण वन्दनीय है

राजस्थान की इस पावन भूमि पर अनेको विद्वान् सत हुए जिन्होने अपनी कृतियो द्वारा भारतीय साहित्य के भण्डार को इतना अधिक भरा कि वह कभी खाली नही हो सकता यहाँ सन्तो की परम्परा चलती ही रही, कभी उसमे व्यवधान नही आया सगुण एव निर्गुण दोनो ही भक्ति की धाराओ के सत यहाँ होते रहे और उन्होने अपने आध्यात्मिक प्रवचनो, गीति-काव्यो एव मुक्तक छन्दो द्वारा जन-जागरण को उठाये रखा इस दृष्टि से मीरा, दादूदयाल, सुन्दरदास आदि के नाम उल्लेखनीय है इधर जैन सन्तो का तो राजस्थान सैकडो वर्षो तक केन्द्र रहा है डूगरपुर, सागवाडा, नागौर, आमेर, अजमेर, बीकानेर, जैसलमेर, चित्तौड आदि इन सन्तो के मुख्य स्थान थे, जहाँ से वे राजस्थान मे ही नही किन्तु भारत के अन्य प्रदेशो मे भी विहार करके अपने ज्ञान एव आत्मसाधना से जन-साधारण का जीवन ऊँचा उठाने का प्रयास करते ये सन्त विविध भाषाओ के ज्ञाता होते थे तथा भाषा-विशेष से कभी मोह नही रखते थे जिस किसी भाषा मे जनता द्वारा कृतियो की माग की जाती उसी भाषा मे वे अपनी लेखनी चलाते तथा उसे अपनी आत्मानुभूति से परिप्लावित कर देते कभी वे रास एव कथा कहानी के रूप मे तथा कभी फागु, वेलि, शतक एव बारहखडी के रूप मे पाठको को अध्यात्म-रस पान कराया करते सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश, हिन्दी, राजस्थानी एव गुजराती आदि सभी भाषाएँ इनकी अपनी भाषा रही प्रान्तवाद के झगडे मे वे कभी नही पडे, क्योकि इन सन्तो की साहित्य-रचना का उद्देश्य सदैव ही आत्म उन्नति एव जनकल्याण रहा लेखक का अपना विश्वास है कि वेद, स्मृति, उपनिषद् पुराण, रामायण एव महाभारत-काल के ऋषियो एव सन्तो के पश्चात् भारतीय साहित्य की जितनी सेवा एव उसकी सुरक्षा जैन सन्तो ने की है उतनी अधिक सेवा किसी सम्प्रदाय अथवा धर्म के साधुवर्ग द्वारा नही हो सकी है राजस्थान के इन सन्तो ने स्वय तो विविध भाषाओ मे सैकडो हजारो कृतियो का सर्जन किया ही किन्तु अपने पूर्ववर्ती आचार्यो, साधुओ, कवियो एव लेखको की रचनाओ को भी बडे प्रेम श्रद्धा एव उत्साह से सग्रह किया एक-एक ग्रथ की अनेकानेक प्रतियाँ लिखवा कर विभिन्न ग्रथ-भण्डारो मे विराजमान की और जनता को उन्हे पढने एव स्वाध्याय के लिये प्रोत्साहित किया राजस्थान के आज सैकडो हस्तलिखित ग्रथभण्डार उनकी साहित्य-सेवा के ज्वलत उदाहरण है जैन सन्त साहित्य-सग्रह की दृष्टि से कभी जातिवाद एव सम्प्रदाय के चक्कर मे नही पडे किन्तु जहाँ से भी अच्छा एव

कल्याणकारी साहित्य उपलब्ध हुआ वहीं से उसका संग्रह करके शास्त्र भण्डारों में संग्रहीत किया गया साहित्य-संग्रह की दृष्टि से इन्होंने स्थान-स्थान पर ग्रंथभण्डार स्थापित किये इन्हीं सन्तों की साहित्यिक सेवा के परिणामस्वरूप राजस्थान के जैन ग्रंथभण्डारों में १।। २ लाख हस्तलिखित ग्रंथ अब भी उपलब्ध होते हैं ग्रंथसंग्रह के अतिरिक्त इन्होंने जैनेतर विद्वानों द्वारा लिखित काव्यों एवं अन्य ग्रंथों पर टीकाएँ लिखी और उनके पठन-पाठन में सहायता पहुँचाई

राजस्थान के जैनग्रंथ भण्डारों में अकेले जैसलमेर के जैन ग्रंथ-संग्रहालय ही ऐसे संग्रहालय हैं जिनकी तुलना भारत के किसी भी प्राचीन एवं बड़े से बड़े ग्रंथ-संग्रहालय से की जा सकती है उनमें अधिकांश ताडपत्र पर लिखी हुई प्रतियाँ हैं और वे सभी राष्ट्र की अमूल्य संपत्ति हैं ताड़पत्र पर लिखी हुई इतनी प्राचीन प्रतियाँ अन्यत्र मिलना सम्भव नहीं है श्री जिनभद्र सूरि ने संवत् १४९७ मे बृहद् ज्ञानभण्डार की स्थापना करके साहित्य की सैकड़ों अमूल्य निधियों को नष्ट होने से बचाया जैसलमेर के इन भण्डारों को देखकर कर्नल टाड डा बूहलर, डा जेकोबी जैसे पाश्चात्य विद्वान् एवं भाण्डारकर, दलाल जैसे भारतीय विद्वान् आश्चर्यचकित रह गये द्रोणाचार्यकृत ओघनिर्युक्ति वृत्ति की इस भण्डार में सबसे प्राचीन प्रति है जिसकी संवत् ११९७ में पाहिल ने प्रतिलिपि की थी [1] जैनागमों एवं ग्रंथों की प्रतियों के अतिरिक्त वाग्भट कवि के काव्यादर्श की संवत् ११६१ की मम्मट के काव्य प्रकाश की संवत् १२१५ की रुद्रट कवि के काव्यालंकार पर नमि साधु की टीका सहित संवत् १२ ६ एवं कुंतक के वक्रोक्तिजीवित की १४वीं शताब्दी की महत्त्वपूर्ण प्रतियाँ संग्रहीत की हुई हैं विमल सूरि कृत प्राकृत के महाकाव्य पउमचरिय की संवत् १२ ४ की जो प्रति है वह संभवतः अब तक उपलब्ध प्रतियों में प्राचीनतम प्रति है इसी तरह उद्योतन सूरिकृत कुवलयमाला की प्रति भी अत्यधिक प्राचीन है जो संवत् १२९१ की लिखी हुई है कालिदास माघ भारवि हर्ष हलायुध भट्टी आदि महाकवियों द्वारा रचित काव्यों की प्राचीनतम प्रतियाँ एवं उनकी टीकाएँ यहाँ के भण्डारों के अतिरिक्त आमेर, अजमेर नागौर, बीकानेर के भण्डारों में भी संग्रहीत हैं न्यायशास्त्र के ग्रन्थों में सांख्यतत्त्वकौमुदी पातञ्जलयोगदर्शन न्यायबिन्दु न्याय कंदली खंडन-खण्डखाद्य गौतमीय न्यायसूत्रवृत्ति आदि की कितनी ही प्राचीन एवं सुन्दर प्रतियाँ जैन संतों द्वारा प्रतिलिपि की हुई इन भण्डारों में संग्रहीत हैं नाटक साहित्य में मुद्राराक्षस वेणीसंहार अनर्घराघव एवं प्रबोधचन्द्रोदय के नाम उल्लेखनीय हैं जैनसंतों ने केवल संस्कृत एवं प्राकृत साहित्य के संग्रह में ही रुचि नहीं ली किन्तु हिंदी एवं राजस्थानी रचनाओं के संग्रह में भी उतना ही प्रशंसनीय परिश्रम किया कबीरदास एवं उनके पंथ के कवियों द्वारा लिखा हुआ अधिकांश साहित्य आज आमेर शास्त्रभण्डार में मिलेगा इसी तरह पृथ्वीराज रासो बीसलदेव रासो की महत्त्वपूर्ण प्रतियाँ बीकानेर एवं कोटा के शास्त्र भण्डारों में संग्रहीत हैं कृष्ण-रुक्मणिवेलि रसिकप्रिया एवं बिहारीसतसई की तो गद्यपद्य टीका सहित कितनी ही प्रतियाँ इन भण्डारों में खोज करने पर प्राप्त हुई हैं

राजस्थान के ये जैन संत साहित्य के सच्चे साधक थे आत्मचिंतन एवं आध्यात्मिक चर्चा के अतिरिक्त इन्हें जो भी समय मिलता वे उसका पूरा सदुपयोग साहित्यरचना में करते थे वे स्वयं ग्रंथ लिखते दूसरों से लिखवाते एवं भक्तों को लिखवाने का उपदेश देते अपनी रचनाओं के अन्त में इस तरह के कार्य की अत्यधिक प्रशंसा करते इसके दो उदाहरण देखिये—

> १ जो पढइ पढावइ एक चित्तु सइ लिहइ लिहावइ जो णिरुत्तु ।
> आयण्णइ मण्णइ जो पसत्थु परिभावइ अहिणिसु एउ सत्थु ॥
> विग्घइ ण भमावहि इंदियाइँ ता विमइ ण सो पावंतियाइ ।
> तहो दुक्किय कम्मु पणसु जाइ मा वड्ढइ माणस सुक्खभावइ ॥—श्रीचन्द्रकृत रत्नकरण्ड

> २ समाहार प्रबन्ध ए गुण्यो करि विवेक ।
> ग्रंथ मन गुण सुभिकरी मन वन कुसुम अनेक ॥१ ॥

---

[1] संवत् ११९७ मगल महाश्री ॥६॥ पाहिलेन लिखितम् मंगलं महाश्री

डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल
शास्त्री, एम० ए०, पी-एच० डी०

राजस्थानी जैन संतों की साहित्य-साधना

भारतीय इतिहास मे राजस्थान का महत्त्वपूर्ण स्थान है एक ओर यहाँ की भूमि का कण-कण वीरता एव शौर्य के लिये प्रसिद्ध रहा है तो दूसरी ओर भारतीय साहित्य एव सस्कृति के गौरवस्थल भी यहाँ पर्याप्त सख्या मे मिलते है यदि राजस्थान के वीर योद्धाओ ने जन्मभूमि की रक्षार्थ हँसते-हँसते प्राणो को न्योछावर किया तो यहाँ होने वाले साधु-सतो, आचार्यों एव विद्वानो ने साहित्य की महती सेवा की और अपनी रचनाओ एव कृतियो द्वारा जनता मे देशभक्ति, कर्तव्यनिष्ठा एव नैतिकता का प्रचार किया यहाँ के रणथम्भौर कुम्भलगढ, चित्तौड, भरतपुर, माँडोर जैसे दुर्ग यदि वीरता देशभक्ति एव त्याग के प्रतीक हैं तो जैसलमेर, नागौर, बीकानेर अजमेर, जयपुर, आमेर, डूगरपुर, सागवाडा, टोडारायसिंह आदि कितने ही ग्राम एव नगर राजस्थानी ग्रथकारा, साहित्योपासको एव सन्तो के पवित्र स्थल है इन्होने. अनेक सकटो एव झझावातो के मध्य भी साहित्य की अमूल्य धरोहर को सुरक्षित रखा वास्तव मे राजस्थान की भूमि पावन एव महान् है तथा उसका प्रत्येक कण वन्दनीय है

राजस्थान की इस पावन भूमि पर अनेको विद्वान् सत हुए जिन्होने अपनी कृतियो द्वारा भारतीय साहित्य के भण्डार को इतना अधिक भरा कि वह कभी खाली नही हो सकता यहाँ सन्तो की परम्परा चलती ही रही, कभी उसमे व्यवधान नही आया सगुण एव निर्गुण दोनो ही भक्ति की धाराओं के सत यहाँ होते रहे और उन्होने अपने आध्यात्मिक प्रवचनो, गीति-काव्यो एव मुक्तक छन्दो द्वारा जन-जागरण को उठाये रखा इस दृष्टि से मीरा, दादूदयाल, सुन्दरदास आदि के नाम उल्लेखनीय है इधर जैन सन्तो का तो राजस्थान सैकडो वर्षो तक केन्द्र रहा है डूगरपुर, सागवाडा, नागौर, आमेर, अजमेर, बीकानेर, जैसलमेर, चित्तौड आदि इन सन्तो के मुख्य स्थान थे, जहाँ से वे राजस्थान मे ही नही किन्तु भारत के अन्य प्रदेशो मे भी विहार करके अपने ज्ञान एव आत्मसाधना से जन-साधारण का जीवन ऊँचा उठाने का प्रयास करते ये सन्त विविध भाषाओ के ज्ञाता होते थे तथा भाषा-विशेष से कभी मोह नही रखते थे जिस किसी भाषा मे जनता द्वारा कृतियो की माग की जाती उसी भाषा मे वे अपनी लेखनी चलाते तथा उसे अपनी आत्मानुभूति से परिप्लावित कर देते कभी वे रास एव कथा कहानी के रूप मे तथा कभी फागु, वेलि, शतक एव बारहखडी के रूप मे पाठको को अध्यात्म-रस पान कराया करते सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश, हिन्दी, राजस्थानी एव गुजराती आदि सभी भाषाएँ इनकी अपनी भाषा रही प्रान्तवाद के झगडे मे वे कभी नही पडे, क्योकि इन सन्तो की साहित्य-रचना का उद्देश्य सदैव ही आत्म उन्नति एव जनकल्याण रहा लेखक का अपना विश्वास है कि वेद, स्मृति, उपनिषद् पुराण, रामायण एव महाभारत-काल के ऋषियो एव सन्तो के पश्चात् भारतीय साहित्य की जितनी सेवा एव उसकी सुरक्षा जैन सन्तो ने की है उतनी अधिक सेवा किसी सम्प्रदाय अथवा धर्म के साधुवर्ग द्वारा नही हो सकी है राजस्थान के इन सन्तो ने स्वय तो विविध भाषाओ मे सैकडो हजारो कृतियो का सर्जन किया ही किन्तु अपने पूर्ववर्ती आचार्यों, साधुओ, कवियो एव लेखको की रचनाओ को भी बडे प्रेम श्रद्धा एव उत्साह से सग्रह किया एक-एक ग्रथ की अनेकानेक प्रतियाँ लिखवा कर विभिन्न ग्रथ-भण्डारो मे विराजमान की और जनता को उन्हे पढने एव स्वाध्याय के लिये प्रोत्साहित किया राजस्थान के आज सैकडो हस्तलिखित ग्रथभण्डार उनकी साहित्य-सेवा के ज्वलत उदाहरण है जैन सन्त साहित्य-सग्रह की दृष्टि से कभी जातिवाद एव सम्प्रदाय के चक्कर मे नही पडे किन्तु जहाँ से भी अच्छा एव

प्रसन्नता की बात है कि इधर १ १५ वर्षों से भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों में जैन साहित्य पर भी रिसर्च किया जाना प्रारम्भ हुआ है विद्यार्थियों का उधर और भी अधिक झुकाव हो सकता है यदि हम इन भण्डारों को शोधकेन्द्र (Research Centres) के रूप मे परिवर्तित कर दें और उनको अपने शोधप्रबन्ध लिखने में पूरी सुविधाएं प्रदान करें

अब यहा राजस्थान के कुछ प्रमुख सन्तो की भाषानुसार साहित्यिक सेवाओं पर प्रकाश डाला जा रहा है

प्राकृत अपभ्रंश साहित्य

जम्बूद्वीपपण्णत्ति के रचयिता आचार्य पद्मनंदि राजस्थानी सन्त थे इसमे २३८९ प्राकृत गाथाएं है जिनमें जम्बूद्वीप का वर्णन किया गया है प्रज्ञप्ति की रचना वारां [कोटा] नगर मे हुई थी उन दिनो मेवाड़ पर राजा शक्ति या शक्ति का शासन था और वारां मेवाड़ के अधीन था ग्रन्थकार ने अपने आपको वीरनंदि का प्रशिष्य एव बलनंदि का शिष्य लिखा है हरिभद्र सूरि राजस्थान के दूसरे सन्त थे जो प्राकृत एव संस्कृत भाषा के जबर्दस्त विद्वान् थे इनका सम्बन्ध चित्तौड़ से था आगमग्रन्थों पर उनका पूर्ण अधिकार था इन्होने अनुयोगद्वार सूत्र आवश्यक सूत्र दशवैकालिक सूत्र नन्दीसूत्र प्रज्ञापना सूत्र आदि आगम-ग्रन्थों पर संस्कृत में विस्तृत टीकाएं लिखी और उनके स्वाध्याय में रुचि की न्यायशास्त्र के ये प्रकाण्ड विद्वान् थे इन्होने अनेकान्त-जयपताका अनेकान्तवादप्रवेश जैसे दार्शनिक ग्रन्थों की रचना की समराइच्चकहा प्राकृतभाषा की इनकी सुन्दर कथाकृति है जो गद्य-पद्य दोनो में ही लिखी हुई है इसमें ९ प्रकरण है जिनमें परस्पर विरोधी दो पुरुषो के साथ-साथ चलने वाले ९ जन्मान्तरा का वर्णन किया गया है इसका प्राकृतिक वर्णन एव भावचित्रण दोनों ही सुन्दर है धूर्ताख्यान भी इनकी अच्छी रचना है हरिभद्र सूरि के योगबिन्दु एवं योग दृष्टिसमुच्चय भी दर्शनशास्त्र की अच्छी रचनाएं मानी जाती है

महेश्वर सूरि भी राजस्थानी सन्त थे इनकी प्राकृत भाषा की ज्ञानपञ्चमीकहा तथा अपभ्रंश की 'संयममंजरीकहा' प्रसिद्ध रचनाए है जैन दृष्टिकोण से लिखी गई दोनो ही कृतिया मे कितनी ही सुन्दर कथाएं है ज्ञानपञ्चमीकहा में जयसेन नद भद्रा वीर कमल गुणानुराग विमल धरण देवी और भविष्यदत्त की कथाए है कथाए सुन्दर, रोचक एव धाराप्रवाह मे वर्णित है तथा एक बार प्रारम्भ करने के पश्चात् उसे छोड़ने को मन नही चाहता

अपभ्रंश के प्रसिद्ध कवि हरिषेण भी चित्तौड़ के निवासी थे इनके पिता का नाम गोवर्द्धन था धक्कड़ उनकी जाति थी तथा भी उजपुर से उनका निकास हुआ था इन्होने अपनी कृति धम्मपरिक्खा संवत् १ ४४ में अचलपुर में समाप्त की थी धम्मपरिक्खा अपभ्रंश की सुन्दर कृति है जिसकी ११ संधियों में १ कथाओ का वर्णन किया गया है यह कथा-कृति जैन समाज में बहुत प्रिय रही राजस्थान में इसका विशेष प्रचार था इसलिए यहाँ के कितने ही ग्रन्थभण्डारा मे इस कृति की पाण्डुलिपिया मिलती है

धम्मपरिक्खा के अतिरिक्त राजस्थान के ग्रन्थ-संग्रहालयों में अपभ्रंश भाषा की १ से भी अधिक रचनाएं मिलती है स्वयम्भू पुष्पदन्त वीर नयनन्दि सिंह लक्ष्मण [लाखू] रइधू आदि कवियो की रचनाए राजस्थान में विशेष रूप से प्रिय रही है यहाँ के भट्टारको एव यतियो ने अपभ्रंश कृतियो की प्रतिलिपियाँ करवा कर भण्डारा मे स्थापित करने में विशेष रुचि ली और यह परम्परा १५ वी शताब्दी से १७ वी शताब्दी तक अधिक रही अपभ्रंश की इन कृतियों के लिये जयपुर आमेर एव नागौर के भण्डार विशेषत उल्लेखनीय है अपभ्रंश साहित्य का अधिकांश भाग इन्ही भण्डारा म संग्रहीत है

संस्कृत साहित्य

राजस्थान के अधिकाश सत संस्कृत के भी विद्वान् थे संस्कृत साहित्य से उनकी विशेष रुचि थी और इस भाषा मे उन्होने श्रावको के लिये पुराण काव्य चरित्र कथा स्तोत्र एव पूजा साहित्य का भी सृजन किया था १७ वी शताब्दी

१ धम्मपरिक्खा के परिचय के लिये देखिये लेखक द्वारा संपादित 'प्रशस्तिसंग्रह'

भवीयण गुणि कठि करो, एह अपूरव हार ।
घरि मगल लक्ष्मी घणी, पुण्य तणो नहिं पार ।।११।।
भणि भणाति साभलि, लिखि लिखावइ एह ।
देवेन्द्रकीर्ति गच्छपती कहि, स्वर्ग मुक्ति लहि तेह ।

—भ० देवेन्द्रकीर्ति कृत प्रद्युम्नप्रबन्ध

इसी तरह कवि सधारु ने तो ग्रथ के पढने पढाने लिखने और लिखवाने का जो फल बतलाया है वह और भी आकर्षक है

ऐहु चरितु जो वांचइ कोइ, सो नर स्वर्ग देवता होइ ।
हलुवइ धर्म्म खपइ सो देव, मुकति वरंगणि मागइ एम्ब ।।६९७।।
जो फुणि सुणइ मनह धरि भाउ, असुभ कर्म ते दूरि हि जाइ ।
जोर वखाणइ माणुसु कवणु, तहि कहु तूसइ देव परदवणु ।।
अरु लिखि जो लिखियावइ साधु, सो सुर होइ महागुण राधु ।
जोर पढावइ गुण किउ विलउ, सो नर पावइ कचण भलउ ।।६९८।।
यहु चरितु पुन भडारू, जो वरु पढइ सु नर मह सारु ।
तहि परदमणु तुही फल, देइ, सपति पुत्रु अवरु जसु होई ।।७००।।

ग्रथो की प्रतिलिपि करने मे बडा परिश्रम करना पडता था शुद्ध प्रतिलिपि करना, सुन्दर एव सुवाच्य अक्षर लिखना एव दिन भर कमर झुकाये ग्रथलेखन का कार्य प्रत्येक के लिये सभव नही था उसे तो सन्त एव सयमी विद्वान् ही सम्पन्न कर सकते थे इसलिये वे ग्रन्थ के अन्त मे कभी-कभी उसकी सुरक्षा के लिये निम्न शब्दो मे पाठको का ध्यान आकर्षित किया करते थे

भग्नपृष्टि कटिर्ग्रीवा, वक्रदृष्टिरधो मुखम् ।
कष्टेन लिखित शास्त्र, यत्नेन परिपालयेत् ।।

इन सतो के सुरक्षा के विशेष नियमो के कारण राजस्थान मे ग्रथो का एक विशाल सग्रह मिलता है कितने ही ग्रथ-सग्रहालय तो अब भी ऐसे है जिनकी किसी भी विद्वान् द्वारा छानबीन नही की गई है लेखक को राजस्थान के ग्रथ-भण्डारो पर शोध-निबन्ध लिखने के अवसर पर राजस्थान के १०० भी से अधिक भण्डारो को देखने का सौभाग्य प्राप्त हो चुका है

यदि मुस्लिमयुग मे धर्मान्ध शासको द्वारा इन शास्त्रभण्डारो का विनाश नही किया जाता एव हमारी ही लापरवाही से सैकडो हजारो ग्रथ चूहो, दीमक एव शीलन से नष्ट नही होते तो पता नही आज कितनी अधिक सख्या मे इन भण्डारो मे ग्रथ उपलब्ध होते ! फिर भी जो कुछ अवशिष्ट हैं उनका ही यदि विविध दृष्टियो से अध्ययन कर लिया जावे, उनकी सम्यक् रीति से ग्रथसूचिया प्रकाशित कर दी जावें तथा प्रत्येक अध्ययनशील व्यक्ति के लिये वे सुलभ हो सकें तो हमारे आचार्यों, साधुओ एव कवियो द्वारा की हुई साहित्य-साधना का वास्तविक उपयोग हो सकता है जैसलमेर, नागौर, बीकानेर,चुरू, आमेर, जयपुर, अजमेर, भरतपुर, कामा आदि स्थानो के सग्रहीत ग्रथभण्डारो की आधुनिक पद्धति से व्यवस्था होनी चाहिए उन्हे रिसर्च-केद्र बना दिया जाना चाहिये जिससे प्राकृत, अपभ्र श, सस्कृत, हिन्दी एव राजस्थानीय भाषा पर रिसर्च करने वाले विद्यार्थियो द्वारा उनका सही रूप से उपयोग किया जा सके क्योकि उक्त सभी भाषाओ मे लिखित अधिकाश साहित्य राजस्थान के इन भण्डारो मे उपलब्ध होता है यदि ताडपत्र पर लिखी हुई प्राचीनतम प्रतियाँ जैसलमेर के ग्रथ भण्डारो मे सग्रहीत हैं तो कागज पर लिखी हुई सवत् १३१९ की सबसे प्राचीन प्रति जयपुर के शास्त्रभण्डार मे सग्रहीत हैं अभी कुछ वर्ष पूर्व जयपुर के एक भण्डार मे हिन्दी की एक अत्यधिक प्राचीन कृति जिनदत्तचौपई (रचना काल स० १३५४) उपलब्ध हुई है जो हिन्दी भाषा की एक अनुपम कृति है

लिखी जाने लगी यद्यपि १७-१८ वीं शताब्दी तक अपभ्रंश में कृतियां लिखी जाती रहीं एवं संस्कृत ग्रंथों के पठन पाठन में जनता की उतनी ही रुचि बनी रही जितनी पहिले थी किन्तु १३-१४ वीं शताब्दी से ही जनसाधारण की रुचि हिन्दी रचनाओं की ओर बढ़ती गयी और उसमें नये-नये ग्रंथ लिखे जाते रहे और उन्हें शास्त्र भण्डारों में विराजमान किया जाता रहा. राजस्थान में हिन्दी का प्रथम सन्त कवि कौन था यह तो अभी खोज का विषय है और इसमें विद्वानों के विभिन्न मत हो सकते हैं लेकिन इतना अवश्य है कि यहाँ १३ वीं शताब्दी से अपभ्रंश रचनाओं के साथ साथ हिन्दी रचनायें भी लिखी जाने लगीं. राजस्थान में जैन सन्तों ने हिन्दी को उस समय अपनाया था जब इस भाषा में लिखना विद्वत्ता से परे माना जाता था तथा इसे संस्कृत के विद्वान् देशी भाषा कह कर सम्बोधित किया करते थे किन्तु जैन सन्तों ने उनकी कुछ भी परवाह नहीं की और जनसाधारण की इच्छा एवं अनुरोध को ध्यान में रख कर हिन्दी साहित्य का सृजन करते रहे. पहिले यह कार्य छोटी-छोटी रचनाओं से प्रारम्भ किया गया फिर रास, चरित्र, बेलि, फागु, पुराण एवं काव्य लिखे जाने लगे. १४ वीं शताब्दी में लिखा हुआ जिनदत्त चौपई हिन्दी का सुन्दर काव्य है जो कुछ ही समय पहले जयपुर के एक जैन भण्डार में उपलब्ध हुआ है. पद, स्तवन एवं स्तोत्र भी खूब लिखे जाने लगे. फिर व्याकरण, छंद, अलंकार, वैद्यक, गणित, ज्योतिष, नीति, ऐतिहासिक, औपदेशिक, संवाद आदि विषयों को भी नहीं छोड़ा गया और इनमें अच्छा साहित्य लिखा गया. हिन्दी एवं राजस्थानी भाषा का यह सारा साहित्य राजस्थान के शास्त्रभण्डारों में संगृहीत है. हिन्दी एवं राजस्थानी में लिखा हुआ इन सन्तों का साहित्य अभी अज्ञात अवस्था में पड़ा हुआ है और उस पर बहुत कम प्रकाश डाला जा सका है. राजस्थान में सैकड़ों जैन सन्त हुये हैं जिन्होंने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से साहित्य की महती सेवा की है लेकिन हम प्रमादवश उनकी अमूल्य सेवाओं को भुला बैठे हैं. अब साहित्य को शास्त्र भण्डारों में अथवा आलमारियों में बंद करके रखने का समय नहीं है किन्तु उसे बिना किसी डर अथवा हिचकिचाहट के विद्वानों एवं पाठकों के सामने रखने का है.

भरतेश्वर बाहुबलि रास संभवतः प्रथम राजस्थानी कृति है जो जैन सन्त शालिभद्र सूरि द्वारा १३ वीं शताब्दी में लिखी गयी. इसमें प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के पुत्र भरत एवं बाहुबली के जीवन का संक्षिप्त वर्णन है. भरत एवं बाहुबली के युद्ध का रोचक वर्णन है. इसके पश्चात् विजयसेन सूरि का रेवंतगिरिरास (सं० १२८८) सुमतिगणि का नेमिनाथ रास (सं० १२७०) विनयप्रभ का गौतमरास (सं० १४१२) आदि कितने ही रास लिखे गये.

१५ वीं शताब्दी से तो हिन्दी एवं राजस्थानी साहित्य में रचनाओं की एक बाढ़-सी आ गयी. भट्टारक सकलकीर्ति ने संस्कृत में रचनाएं निबद्ध करने के साथ-साथ कुछ रचनाएं राजस्थानी भाषा में भी लिखीं जिससे उस समय की साहित्यिक रुचि का पता लगता है. सकलकीर्ति की राजस्थानी रचनाओं में आराधना प्रतिबोधसार, मुक्तावलिगीत, णमोकारगीत, सारसिखामणिरास आदि के नाम उल्लेखनीय हैं. सकलकीर्ति के एक शिष्य ब्रह्म जिनदास ने ६० से भी अधिक रचनाएं लिखकर हिन्दी साहित्य में एक नया उदाहरण प्रस्तुत किया. इन रचनाओं में कितनी ही रचनायें तो तुलसीदास की रामायण से भी अधिक बड़ी हैं. इनकी राम-सीता के जीवन पर भी एक से अधिक रचनाएं हैं. ब्रह्म जिनदास की अबतक ३१ रास ग्रंथ, २ पुराण, ७ गीत एवं स्तवन, ६ पूजाएं एवं ७ स्फुट रचनाएं उपलब्ध हो चुकी हैं. इन रचनाओं में रामसीतारास, श्रीपालरास, यशोधररास, भविष्यदत्त रास, परमहंसरास, हरिवंशपुराण, आदिनाथ पुराण आदि के नाम उल्लेखनीय हैं. भट्टारक सकलकीर्ति की शिष्य-परम्परा में होने वाले सभी भट्टारकों ने हिन्दी भाषा में रचनाएं लिखने में पर्याप्त रुचि ली.

खरतर गच्छ के आचार्य जिनराजसूरि के शिष्य महोपाध्याय जयसागर १४-१५ वीं शताब्दी के विद्वान् थे. इन्होंने राजस्थानी भाषा में ३२ से भी अधिक रचनायें लिखीं जिनमें विनती, स्तवन एवं स्तोत्र आदि हैं. ऋषिवर्द्धन सूरि की नलदमयन्तीरास [सं० १५१२] प्रमुख रचना है. मतिसागर १६ वीं शताब्दी के विद्वान् थे. राजस्थानी भाषा में इनकी कितनी ही रचनाएं उपलब्ध हैं जिनमें धन्नारास [सं० १५१४] नेमिनाथ वसंत, मयणरेहारास, इलापुत्र चरित्र, नेमिनाथ गीत आदि के नाम उल्लेखनीय हैं.

तक सस्कृत रचनाओ को पढने की जनसाधारण मे विशेष रुचि रही, इसीलिए प्राकृत एव अपभ्रश ग्रथो पर भी सस्कृत मे टीकाएँ एव टिप्पण लिखे जाते रहे किसी विषय पर यदि नवीन रचनाओ का लिखा जाना सभव नही हुआ तो प्राचीन साहित्य की प्रतिलिपियाँ करवा कर भण्डारो मे रखी गयी राजस्थान के सिद्धर्षि सभवत. प्रथम जैन सत थे जिन्होंने उपदेशमाला पर सस्कृतटीका लिखी और 'उपमितिभवप्रपच कथा' को सवत् ९६२ मे समाप्त किया चन्द्रकेवलिचरित इनकी एक और रचना है जिसे इन्होने सवत् ९७४ मे पूर्ण किया था १२ वी शताब्दी मे होने वाले आचार्य हेमचन्द्र से भी राजस्थानी जनता कम उपकृत नही है इनके द्वारा लिखे हुये साहित्य का इस प्रदेश मे विशेष प्रचार रहा यही कारण है उनके द्वारा निबद्ध साहित्य दोनो ही सम्प्रदायो के शास्त्रभण्डारो मे समान रूप से पाया जाता है हेमचन्द्राचार्य सस्कृत के उद्‌भट विद्वान् थे और उन्होने जो कुछ इस भाषा मे लिखा वह प्रत्येक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है १५ वी शताब्दी मे राजस्थान मे भट्टारक सकलकीर्ति का उदय विशेष रूप से उल्लेखनीय है सकलकीर्ति सस्कृत के प्रकाड विद्वान् थे ये पहिले मुनि थे और बाद मे इन्होने अपने आपको भट्टारक घोषित किया था तथा सवत् १४९२ मे गलियाकोट मे एक भट्टारक गादी की स्थापना की इन्होने २८ से भी अधिक सस्कृत रचनायें लिखी जो राजस्थान के विभिन्न ग्रथभण्डारो मे उपलब्ध होती हैं सकलकीर्ति के पश्चात् उनकी परम्परा मे होने वाले भट्टारक भुवनकीर्ति, ब्रह्म जिनदास, भट्टारक ज्ञानभूषण, विजयकीर्ति शुभचन्द, सकलभूषण, सुमतिकीर्ति, वादिभूषण आदि अनेक शिष्य सस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् थे इन सन्तो ने सस्कृत भाषा के कितने ही ग्रथ लिखे, श्रावको से आग्रह करके ग्रथो की प्रतिलिपियाँ करवाई और शास्त्र-भण्डारो मे विराजमान की ब्रह्म जिनदास की १२ से अधिक रचनाएँ मिलती हैं जिनमे रामचरित [पद्मपुराण], हरिवशपुराण एव जम्बूस्वामीचरित के नाम उल्लेखनीय है

भट्टारक ज्ञानभूषण की अकेली तत्त्वज्ञानतरगिणी [स० १५६०] उनकी सस्कृत की विद्वत्ता को बतलाने के लिये पर्याप्त है शुभचन्द्र तो अपने समय के प्रसिद्ध भट्टारक थे इनकी सस्कृत रचनाएँ प्रारम्भ से ही लोकप्रिय रही है इनकी २४ सस्कृत रचनाएँ तो उपलब्ध हो चुकी हैं ये षट्‌भाषाकविचक्रवर्ती कहलाते थे तथा त्रिविध-विद्याधर [शब्दागम, युक्त्यागम तथा परमागम के ज्ञाता] थे इनकी प्रसिद्ध कृतियो मे चन्द्रप्रभचरित्र, करकुण्डचरित्र, कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा टीका, जीवन्धरचरित, पाडवपुराण, श्रेणिकचरित्र, चारित्रशुद्धिविधान आदि के नाम उल्लेखनीय हैं आचार्य सोमकीर्ति १५ वी शताब्दी के उद्‌भट विद्वान् थे ये काष्ठासघ मे होनेवाले ८७ वे भट्टारक थे तथा भीमसेन के शिष्य थे इन्होने सस्कृत भाषा मे सप्तव्यसनकथा, प्रद्युम्नचरित्र, एव यशोधरचरित्र रचनाएँ की तीनो ही लोकप्रिय रचनाएँ हैं और शास्त्रभण्डारो मे मिलती हैं हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान् ब्र० रायमल्ल ने भक्तामरस्तोत्र की वृत्ति लिखकर अपनी सस्कृत-विद्वत्ता का परिचय दिया ब्र० कामराज ने सकलकीर्ति के आदिपुराण को देखकर स० १५६० मे जयपुराण की रचना की सेनगण के प्रसिद्ध भट्टारक सोमसेन ने वैराट नगर मे शक सवत् १६५६ मे पद्मपुराण की रचना की आयुर्वेद के प्रसिद्ध ग्रथ योगचिन्तामणि के सग्रहकर्त्ता थे नागपुरीय तपोगच्छ के सत हर्षकीर्ति सूरि इस ग्रथ का दूसरा नाम वैद्यकसारसग्रह भी है इस ग्रथ की प्रतियाँ राजस्थान के बहुत से भण्डारो मे उपलब्ध होती हैं

१५ वी शताब्दी मे जिनदत्तसूरि ने जैसलमेर मे बृहद् ज्ञानभण्डार की स्थापना की ये सस्कृत के अच्छे विद्वान् थे इनके शिष्य कमलसयमोपाध्याय ने सवत् १५४४ मे उत्तराध्ययन पर सस्कृत टीका लिखी इनके अतिरिक्त जैसलमेर मे और भी कितने ही सन्त हुये जो सस्कृत के अच्छे विद्वान् थे इधर आमेर, जयपुर, श्रीमहावीरजी, अजमेर एव नागौर भी भट्टारको के केन्द्र रहे ये अधिकाश भट्टारक सस्कृत के विद्वान् होते थे इनके द्वारा लिखवाये बहुत से ग्रथ राजस्थान के कितने ही भण्डारो मे उपलब्ध होते है

हिन्दी व राजस्थानी साहित्य

राजस्थान मे हिन्दी एव राजस्थानी भाषा मे काव्यरचना बहुत पहिले से प्रारम्भ हो गई थी जनसाधारण की इस भाषा की ओर रुचि देखकर जैन सन्तो ने हिन्दी एव राजस्थानी भाषा को अपना लिया और इसमे छोटी रचनाएँ

लिखी जाने लगी यद्यपि १७-१८ वी शताब्दी तक अपभ्रंश में कृतियां लिखी जाती रही एवं संस्कृतग्रंथों के पठन पाठन में जनता की उतनी ही रुचि बनी रही जितनी पहिले थी किन्तु १३ १४ वी शताब्दी से ही जनसाधारण की रुचि हिन्दी रचनाओं की ओर बढ़ती गयी और उसमें नये-नये ग्रंथ लिखे जाते रहे और उन्हें शास्त्र भण्डारों में विराजमान किया जाता रहा राजस्थान में हिन्दी का प्रथम सन्त कवि कौन था यह तो अभी खोज का विषय है और इसमें विद्वानों के विभिन्न मत हो सकते है लेकिन इतना अवश्य है कि यहाँ १३ वी शताब्दी से अपभ्रंश रचनाओं के साथ साथ हिन्दी रचनाएं भी लिखी जाने लगी राजस्थान के जैन सन्तों ने हिन्दी को उस समय अपनाया था जब इस भाषा में लिखना विद्वत्ता से परे माना जाता था तथा इसे संस्कृत के विद्वान् देशी भाषा कह कर सम्बोधित किया करते थे किन्तु जैन सन्तों ने इनकी कुछ भी परवाह नहीं की और जनसाधारण की इच्छा एवं अनुरोध को ध्यान में रख कर हिन्दी साहित्य का सृजन करते रहे पहिले यह कार्य छोटी-छोटी रचनाओं से प्रारम्भ किया गया फिर रास चरित बेलि फागु, पुराण एवं काव्य लिखे जाने लगे १४ वी शताब्दी में लिखा हुआ जिनदत्त चौपई हिन्दी का सुन्दर काव्य है जो कुछ ही समय पहले जयपुर के एक जैन भण्डार में उपलब्ध हुआ है पद स्तवन एवं स्तोत्र भी खूब लिखे जाने लगे फिर व्याकरण छंद अलंकार, वैद्यक गणित ज्योतिष नीति ऐतिहासिक औपदेशिक संवाद आदि विषयों को भी नहीं छोड़ा गया और इनमें अच्छा साहित्य लिखा गया हिन्दी एवं राजस्थानी भाषा का यह सारा साहित्य राजस्थान के शास्त्रभण्डारों में संग्रहीत है हिन्दी एवं राजस्थानी में लिखा हुआ इन सन्तों का साहित्य अभी अज्ञात अवस्था में पड़ा हुआ है और उस पर बहुत कम प्रकाश डाला जा सका है राजस्थान में सैकड़ों जैन संत हुये है जिन्होंने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से साहित्य की महती सेवा की है लेकिन हम प्रमादवश उनकी अमूल्य सेवाओं को भुला बैठे है अब साहित्य को शास्त्र भण्डारों में अथवा आलमारियों में बंद करके रखने का समय नहीं है किन्तु उसे बिना किसी डर अथवा हिचकिचाहट के विद्वानों एवं पाठकों के सामने रखने का है

भरतेश्वर बाहुबलि रास सम्भवतः प्रथम राजस्थानी कृति है जो जैन सन्त शालिभद्र सूरि द्वारा १३ वी शताब्दी में लिखी गयी इसमें प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के पुत्र भरत एवं बाहुबली के जीवन का संक्षिप्त विवरण है भरत एवं बाहुबली में युद्ध का रोचक वर्णन है इसके पश्चात् विजयसेन सूरि का रेवंतगिरिरास (स १२८८) सुमतिगणि का नेमिनाथ रास (स १२७) विनयप्रभ का गौतमरास (सं १४१२) आदि कितने ही रास लिखे गये

१५ वीं शताब्दी में तो हिन्दी एवं राजस्थानी साहित्य में रचनाओं की एक बाढ़-सी आगयी भट्टारक सकलकीर्ति ने संस्कृत में रचनाएं निबद्ध करने के साथ-साथ कुछ रचनाएं राजस्थानी भाषा में भी लिखीं जिससे उस समय की साहित्यिक रुचि का पता लगता है सकलकीर्ति की राजस्थानी रचनाओं में आराधना प्रतिबोधसार मुक्तावलिगीत णमोकारगीत सारसिखामणिरास आदि के नाम उल्लेखनीय है सकलकीर्ति के एक शिष्य ब्रह्म जिनदास ने ६० से भी अधिक रचनाएं लिखकर हिन्दी साहित्य में एक नया उदाहरण प्रस्तुत किया इन रचनाओं में कितनी ही रचनायें तो तुलसीदास की रामायण से भी अधिक बड़ी है इनकी राम-सीता के जीवन पर भी एक से अधिक रचनाएं हैं ब्रह्म जिनदास की अबतक ३१ रासा ग्रंथ २ पुराण ७ गीत एवं स्तवन ६ पूजाएं एवं ७ स्फुट रचनाएं उपलब्ध हो चुकी है इन रचनाओं में रामसीतारास श्रीपालरास यशोधररास भविष्यदत्त रास परमहंसरास हरिवंशपुराण आदिनाथ पुराण आदि के नाम उल्लेखनीय है भट्टारक सकलकीर्ति की शिष्य परम्परा में होने वाले सभी भट्टारकों ने हिन्दी भाषा में रचनाएं लिखने में पर्याप्त रुचि ली

खरतर गच्छ के आचार्य जिनराजसूरि के शिष्य महोपाध्याय जयसागर १५ १६ वी शताब्दी के विद्वान् थे इन्होंने राजस्थानी भाषा में ३० से भी अधिक रचनायें लिखीं जिनमें विनती स्तवन एवं रास आदि है ऋषिवर्द्धन सूरि का नलदमयन्ती रास [स १५१२] प्रमुख रचना है मतिसागर १६ वी शताब्दी के विद्वान् थे राजस्थानी भाषा में इनकी कितनी ही रचनाएं उपलब्ध है जिनमें धन्नारास [स १५१४] नेमिनाथ वर्णन मदनरेहारास इलापुत्र चरित्र नेमिनाथ गीत आदि के नाम उल्लेखनीय है

ब्रह्म बूचराज १६ वी शताब्दी के प्रसिद्ध कवि थे मयण-जुज्झ इनकी प्रथम रचना थी जो इन्होने सवत् १५८४ मे समाप्त को थी इनके अन्य ग्रथो मे सन्तोष-तिलक जयमाल, चेतन पुद्गलधमाल आदि उल्लेखनीय रचनाए है ये दोनो ही रूपक रचनाए है जो नाटक साहित्य के अन्तर्गत आती है सन्त विद्याभूषण रामसेन परम्परा के यति थे इन्होने सोजत नगर मे भविष्यदत्त रास को सवत् १६०० मे समाप्त किया था धर्मसमुद्र गणि खतरगच्छीय विवेकसिह के शिष्य थे जिन्होने 'सुमित्र कुमाररास' को जालौर मे सवत् १५६७ मे तथा 'प्रभाकर गुणाकर चौपई' को सवत् १५७३ मे मेवाड प्रदेश मे समाप्त किया है शकुतला रास इनकी बहुत छोटी रचना है जो सभवत इस तरह की प्रथम रचना है पार्श्वचद्र सूरि अपने समय के प्रभावशाली सन्त कवि थे इन्होने ५० से अधिक रचनाए राजस्थानी भाषा को सर्मपित करके साहित्यसेवा का सुन्दर उदाहरण उपस्थित किया इनका जन्म सवत् १५३८ मे तथा स्वर्गवास सवत् १६१२ मे हुआ था राजस्थान के अन्य सन्त कवियो मे विनयसमुद्र, कुशललाभ, हरिकलश, कनकसोम, हेमरत्नसूरि आदि के नाम उल्लेखनीय हैं कुशललाभ खरतरगच्छ के सन्त थे इनके द्वारा लिखी हुई 'माधवानल चौपई' [स० १६१६] एव 'ढोला-मारवणरी चौपई' राजस्थानी भाषा की अत्यधिक प्रसिद्ध रचनाए है जो लोककथानको पर आधारित हैं इसी तरह हरिकलश भी इसी खरतरगच्छ के साधु थे जो अपने समय के प्रसिद्ध विद्वानो मे से थे इनका अधिकतर बिहार जोधपुर एव बीकानेर प्रदेश मे हुआ और अपने जीवन मे २७-२८ रचनाए लिखी सभी रचनाए राजस्थानी भाषा की है

१७ वी शताब्दी के प्रारम्भ मे ब्रह्मरायमल्ल एक अच्छे सत हुये जिनकी हनुमत चौपई, भविष्यदत्तकथा, प्रद्युम्नरास, सुदर्शनरास आदि अत्यधिक प्रसिद्ध एव लोकप्रिय रचनाए है इन्होने स्थान-स्थान पर घूम कर काव्यरचना की और जनसाधारण का इस ओर ध्यान आकृष्ट किया इन्होने गढहरसौर, गढ रणथम्भौर एव सागानेर आदि स्थानो का अपनी रचनाओ मे अच्छा वर्णन किया है आनन्दघन आध्यात्मिक सन्त थे इनकी आनन्दघन बहोत्तरी एव आनन्दघन चौबीसी उच्चस्तर की रचनाएँ है विद्वानो के मतानुसार इनका जन्म सवत् १६६० एव मृत्यु सवत् १७३० मे हुई थी ब्रह्म कपूरचद ने सवत् १६६७ मे पार्श्वनाथरासो को समाप्त किया था इनके कितने ही पद भी मिलते है इनका जन्म आनन्दपुर मे हुआ था हर्षकीर्ति भी १७ वी शताब्दी के प्रसिद्ध राजस्थानी कवि थे 'चतुर्गति वेलि' इनकी प्रसिद्ध रचना है जिसे इन्होने सवत् १६८३ मे समाप्त किया था इनकी अन्य रचनाओ मे षट्लेश्याकवित्त, पचमगति वेलि, कर्महिंडोलना, सीमधर की जकडी, नेमिनाथ राजमती गीत, मोरडा आदि उल्लेखनीय हैं इनके कितने ही पद भी मिलते हैं जो भक्ति एव वैराग्य रस से ओतप्रोत है

समयसुन्दर राजस्थानी भाषा के अच्छे विद्वान् थे श्री हजारीप्रसाद जी द्विवेदी के शब्दो मे कवि का ज्ञानपरिसर बहुत ही विस्तृत है वह किसी भी वर्ण्य विषय को विना आयास के सहज ही सम्भाल लेता है इन्होने सस्कृत मे २५ तथा हिन्दी राजस्थानी भाषा मे २३ ग्रथ लिखे इन्होने सात छत्तीसियो की भी रचना की कवि बहुमुखी प्रतिभा एव असाधारण योग्यता वाले विद्वान् थे इन्होने सिन्ध, पजाब, उत्तरप्रदेश राजस्थान, सौराष्ट्र, गुजरात आदि प्रान्तो मे विहार किया और उनमे विहार करते हुये विभिन्न ग्रथो की रचना भी की राजस्थान मे इन्होने सबसे अधिक भ्रमण किया और अपने समय मे एक साहित्यिक वातावरण-सा बनाने मे सफल हुये ये सगीत के भी अच्छे जानकार थे और अपनी रचनाओ को कभी-कभी गाकर भी सुनाया करते थे

राजस्थान का बागड प्रदेश गुजरात प्रान्त से लगा हुआ है इसलिए गुजरात मे होनेवाले बहुत से भट्टारक एव सन्त राजस्थान प्रदेश को भी पवित्र करते अपने चरण-कमलो से यहाँ साहित्य रचना करते एव अपने भक्तो को उनका रसास्वादन कराते इन सन्तो मे भ० रत्नकीर्ति, भ० कुमुदचन्द्र, भ० अभयचद्र, भ० अभयनदी, भ० शुभचन्द्र, ब्रह्म जयसागर, मुनि कल्याणकीर्ति, श्रीपाल, गणेश आदि सस्कृत हिन्दी एव राजस्थानी भाषा के अच्छे विद्वान् थे इनकी कितनी ही रचनाएँ रिखवदेव, डूगरपुर, सागवाडा एव उदयपुर के शास्त्रभण्डारो मे उपलब्ध हुई है रत्नकीर्ति के नेमिनाथ फाग, नेमिनाथ बारहमासा एव कितने ही पद उल्लेखनीय है उनके पदो मे मिठास एव भक्ति का रसास्वादन

करने को मिलता है नेमिराजुल के विवाह से सम्बन्धित प्रसग ही इनकी रचनाओं का एव पदों का मुख्य विषय है एक पद देखिये

राग-देशाख

सखि का मिलावो नेमि नरिंदा ॥
ता बिन तन मन यौवन रजत है, चारु चंदन अरु चन्दा ॥ सखि ॥
कानन भुवन मेरे जीया लागत दुसह मदन को फदा ।
तात मात अरु सजनी रजनी वे अति दुख को कन्दा ॥ सखि ॥
तुम तो सकर सुख के दाता करम काट किये मदा ।
रतनकीरति प्रभु परम दयालु सेवत अमर नरिंदा ॥ सखि ॥

कुमुदचन्द्र की साहित्य-साधना अपने गुरु रत्नकीर्ति से भी आगे बढ चुकी थी ये बारडोली के जैन सन्त के नाम से प्रसिद्ध थे इनकी अब तक कितनी ही रचनायें प्राप्त हो चुकी हैं इनकी बडी रचनाओं में आदिनाथ विवाहलो नेमीश्वर हमची एव भरतबाहुबलि छन्द है शेष रचनायें पद गीत एव विनतियों के रूप में हे इनके पद सजीव है उनमें कवि की अन्तरात्मा के दर्शन होने लगते हैं शब्दों का चयन एवं भव की सरसता उनमें स्पष्ट नजर आती है एक पद देखिये

मैं तो नरभव वादि गमायो
न कियो जप तप व्रत विधि सुन्दर काम भलो न कमायो ॥ मैं तो ॥१॥
विकट लोभ तें कपट कूट करी निपट विषै लपटायो ॥
विटल कुटिल शठ संगति बैठो साधु निकट विघटायो ॥ मैं तो ॥२॥
कृपण भयो कछु दान न दीनो दिन दिन दाम मिलायो ॥
जब जोवन जंजाल पड्यो तब परत्रिया तनु चित लायो ॥ मैं तो ॥३॥
अंत समय कोउ सग न आवत झूठहिं पाप लगायो ॥
कुमुदचन्द्र कहे चूक परी मोही प्रभु पद जस नहीं गायो ॥ मैं तो ॥४॥

इन भट्टारकों के शिष्य प्रशिष्य भी साहित्य के परमसाधक थे और उनकी कितनी ही रचनायें उपलब्ध होती है वास्तव में वह युग सतसाहित्य का युग था

इधर आमेर अजमेर एवं नागौर में भी भट्टारकों की गादियाँ थीं और वहाँ के भट्टारक अपने-अपने क्षेत्रों में साहित्य एवं सस्कृति की जागृति के लिये विहार किया करते थे दिल्ली के भट्टारकपट्ट से आमेर का सीधा सम्बन्ध था और वहीं से नागौर एवं ग्वालियर में भट्टारको के स्वतन्त्र पट्ट स्थापित हुये थे भ सुरेन्द्रकीर्ति [स १७०२] भ० जगत्कीर्ति [सं १७३३] एवं भ देवेन्द्रकीर्ति [स १७७] का पट्टाभिषेक आमेर मे ही हुआ था ये सब जैन सन्त थे और साहित्य के सच्चे उपासक थे आमेर शास्त्रभण्डार, नागौर एवं अजमेर के भट्टारकीय शास्त्रभण्डार इन्हीं भट्टारकों की साहित्य-सेवा का सच्चा स्वरूप हैं

संवत् १८ से आगे इन सन्तों मे विद्वत्ता की कमी आने लगी वे नवीन रचना करने के स्थान पर प्राचीन रचनाओं की प्रतियों को पुन लिखवा कर भण्डारों में सग्रहीत करने मे ही अधिक व्यस्त रहे यह भी उनकी साहित्योपासना की एक सही दिशा थी जिसके कारण बहुत से ग्रथो की प्रतियाँ हमें आज इन भण्डारों मे सुरक्षित रूप में मिलती हैं

इस प्रकार राजस्थान के इन जैन सन्तों ने भारतीय साहित्य की जो अपूर्व एव महती सेवा की वह इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठो म लिखने योग्य है उनकी इस सेवा की जितनी अधिक प्रशसा की जाएगी कम ही रहेगी

ब्रह्म बूचराज १६ वी शताब्दी के प्रसिद्ध कवि थे मयण-जुज्झ इनकी प्रथम रचना थी जो इन्होंने सवत् १५८४ मे समाप्त की थी इनके अन्य ग्रथो मे सन्तोष-तिलक जयमाल, चेतन पुद्गलधमाल आदि उल्लेखनीय रचनाए है ये दोनो ही रूपक रचनाए है जो नाटक साहित्य के अन्तर्गत आती हैं सन्त विद्याभूषण रामसेन परम्परा के यति थे इन्होंने सोजत नगर मे भविष्यदत्त रास को सवत् १६०० मे समाप्त किया था धर्मसमुद्र गणि खतरगच्छीय विवेकसिंह के शिष्य थे जिन्होने 'सुमित्र कुमाररास' को जालौर मे सवत् १५६७ मे तथा 'प्रभाकर गुणाकर चौपई' को सवत् १५७३ मे मेवाड प्रदेश मे समाप्त किया है शकुतला रास इनकी बहुत छोटी रचना है जो सभवत इस तरह की प्रथम रचना है पार्श्वचद्र सूरि अपने समय के प्रभावशाली सन्त कवि थे इन्होंने ५० से अधिक रचनाए राजस्थानी भाषा को समर्पित करके साहित्यसेवा का सुन्दर उदाहरण उपस्थित किया इनका जन्म सवत् १५३८ मे तथा स्वर्गवास सवत् १६१२ मे हुआ था राजस्थान के अन्य सन्त कवियो मे विनयसमुद्र, कुशललाभ, हरिकलश, कनकसोम, हेमरत्नसूरि आदि के नाम उल्लेखनीय हैं कुशललाभ खरतरगच्छ के सन्त थे इनके द्वारा लिखी हुई 'माधवानल चौपई' [स० १६१६] एव 'ढोला-मारवणरी चौपई' राजस्थानी भाषा की अत्यधिक प्रसिद्ध रचनाए है जो लोककथानकों पर आधारित हैं इसी तरह हरिकलश भी इसी खरतरगच्छ के साधु थे जो अपने समय के प्रसिद्ध विद्वानो मे से थे इनका अधिकतर विहार जोधपुर एव बीकानेर प्रदेश मे हुआ और अपने जीवन मे २७-२८ रचनाए लिखी सभी रचनाए राजस्थानी भाषा की है

१७ वी शताब्दी के प्रारम्भ मे ब्रह्मरायमल्ल एक अच्छे सत हुये जिनकी हनुमत चौपई, भविष्यदत्तकथा, प्रद्युम्नरास, सुदर्शनरास आदि अत्यधिक प्रसिद्ध एव लोकप्रिय रचनाए है इन्होंने स्थान-स्थान पर घूम कर काव्यरचना की और जनसाधारण का इस ओर ध्यान आकृष्ट किया इन्होने गढहरमीर, गढ रणथम्भौर एव सागानेर आदि स्थानो का अपनी रचनाओ मे अच्छा वर्णन किया है आनन्दघन आध्यात्मिक सन्त थे इनकी आनन्दघन बहोत्तरी एव आनन्दघन चौवीसी उच्चस्तर की रचनाएँ है विद्वानो के मतानुसार इनका जन्म सवत् १६६० एव मृत्यु सवत् १७३० मे हुई थी ब्रह्म कपूरचद ने सवत् १६६७ मे पार्श्वनाथरासो को समाप्त किया था इनके कितने ही पद भी मिलते है इनका जन्म आनन्दपुर मे हुआ था हर्षकीर्ति भी १७ वी शताब्दी के प्रसिद्ध राजस्थानी कवि थे 'चतुर्गति वेलि' इनकी प्रसिद्ध रचना है जिसे इन्होने सवत् १६८३ मे समाप्त किया था इनकी अन्य रचनाओ मे पट्लेश्याकवित्त, पचमगति वेलि, कर्महिडोलना, सीमधर की जकडी, नेमिनाथ राजमती गीत, मोरडा आदि उल्लेखनीय हैं इनके कितने ही पद भी मिलते है जो भक्ति एव वैराग्य रस से ओतप्रोत है

समयसुन्दर राजस्थानी भाषा के अच्छे विद्वान् थे श्री हजारीप्रसाद जी द्विवेदी के शब्दो मे कवि का ज्ञानपरिसर बहुत ही विस्तृत है वह किसी भी वर्ण्य विषय को बिना आयास के सहज ही सम्भाल लेता है इन्होने सस्कृत मे २५ तथा हिन्दी राजस्थानी भाषा मे २३ ग्रथ लिखे इन्होने सात छत्तीसियो की भी रचना की कवि बहुमुखी प्रतिभा एव असाधारण योग्यता वाले विद्वान् थे इन्होने सिन्ध, पजाब, उत्तरप्रदेश राजस्थान, सौराष्ट्र, गुजरात आदि प्रान्तो मे विहार किया और उनमे विहार करते हुये विभिन्न ग्रथो की रचना भी की राजस्थान मे इन्होने सबसे अधिक भ्रमण किया और अपने समय मे एक साहित्यिक वातावरण-सा बनाने मे सफल हुये ये सगीत के भी अच्छे जानकार थे और अपनी रचनाओ को कभी-कभी गाकर भी सुनाया करते थे

राजस्थान का वागड प्रदेश गुजरात प्रान्त से लगा हुआ है इसलिए गुजरात मे होनेवाले बहुत से भट्टारक एव सन्त राजस्थान प्रदेश को भी पवित्र करते अपने चरण-कमलो से यहाँ साहित्य रचना करते एव अपने भक्तो को उनका रसास्वादन कराते इन सन्तो मे भ० रत्नकीर्ति, भ० कुमुदचन्द्र, भ० अभयचद्र, भ० अभयनदी, भ० शुभचन्द्र, ब्रह्म जयसागर, मुनि कल्याणकीर्ति, श्रीपाल, गणेश आदि सस्कृत हिन्दी एव राजस्थानी भाषा के अच्छे विद्वान् थे इनकी कितनी ही रचनाएँ रिखबदेव, डूगरपुर, सागवाडा एव उदयपुर के शास्त्रभण्डारो मे उपलब्ध हुई है रत्नकीर्ति के नेमिनाथ फाग, नेमिनाथ बारहमासा एव कितने ही पद उल्लेखनीय है उनके पदो मे मिठास एव भक्ति का रसास्वादन

२ उत्तुप्पिय

प्रश्नव्याकरणसूत्र में तीसरे अधर्मद्वार में चौरिका के फलवर्णन में वधस्थान की ओर जाते समय चोरों की भयभीत दशा चित्रित करते कहा गया है

मरण-भउप्पन्न-सेद आयत-णेहुत्तुप्पिय-किलिन्न-गत्ता ।

'जिन के गात्र मरण भय से उत्पन्न स्वेद के सद्भाव स्नेह से लिप्त और भीगे हुए हैं'

यहाँ पर 'उत्तुप्पिय शब्द स्नेह लिप्त' 'चिकना' इस अर्थ में आया है विपाकसूत्र में भी इसका प्रयोग हुआ है ज्ञातधर्मकथा में कल्पसूत्र में गाथासप्तशती में 'चुपड़ा हुआ लिप्त' इस अर्थ मे ओघनिर्युक्ति भाष्य में स्निग्ध इस अर्थ में तथा 'सेतुबन्ध आदि में 'घी' इस अर्थ में तुप्प' शब्द प्रयुक्त है हेमचन्द्राचार्य ने देशीनाममाला में 'तुप्प' के 'म्रक्षित' 'स्निग्ध और कुतुप अर्थ दिए है अभिधानराजेन्द्रकोष में 'तुप्पग्ग' (जिसका अग्रभाग म्रक्षित है) और 'तुप्पोट्ठ' (जिसका ओष्ठ म्रक्षित है) दिए हैं अपभ्रंश साहित्य में तुप्प के कई प्रयोग मिलते है

'तुप्प' से नाम धातु 'उत्तुप्प बना और इसके कर्मणि भूतकृदंत 'उत्तुप्पिय का अर्थ है 'स्निग्ध पदार्थ से लिप्त' ऐसे 'उद्' लगाकर क्रियापद बनाने की प्रक्रिया प्राकृत 'उद्धूलिय (—उद्धूलित धूलिलिप्त) उद्धूविय (उद्धूपित) इत्यादि में है 'तुप्प' से इसी अर्थ में 'तुप्पलिय' (घृतलिप्त चिकना) बना है और गाथासप्तशती' में इसका प्रयोग है 'तुप्प' से सिद्ध मराठी 'तूप' शब्द 'घी' अर्थ में अभी प्रचलित है कन्नड में भी इसी अर्थ में 'तुप्प' शब्द व्यवहृत होता है मूल म्रक्षण वाचक तुप्प 'चोप्पड' और 'मक्खण' (सं म्रक्षण) शब्द बाद में 'घी' 'तेल' 'मक्खन' जैसे स्निग्ध पदार्थों के वाचक बन गए है

३ पयण

'नायाधम्मकहा' के 'शैलक' अध्ययन में अशुचि वस्त्र की शुद्धि क्रिया के वर्णन में कहा गया है कि ... के बाद वस्त्र को 'पयण' चढ़ाई

वृत्तिकार ने अर्थ दिया है 'पाकस्थाने चुल्ल्यादी आऽऽरोपयति' यह तो भावार्थ हुआ क्योंकि वस्त्र को पाकस्थान में अथवा चूल्हे पर चढ़ाने से 'पचन' का सामान्य अर्थ समझा जाता है चढ़ाने की क्रिया पर बल देने से लगता है कि यहां 'पयण' या पयग शब्द प्रक्रिया के अर्थ में नहीं पर भाजन के अर्थ में लेना उचित है 'पचन' 'पकाने का पात्र' चूल्हे पर कढ़ाही में गरम पानी में मलिन वस्त्र को उबालने से उसकी स्वच्छता सिद्ध होती है सूत्रकृतांगनिर्युक्ति में तथा जीवाजीवाभिगमसूत्र में 'पयण' या 'पयणग' का 'पचन-पात्र' के अर्थ में प्रयोग है ही अर्वाचीन भाषाओं में गुजराती 'पेणी' (कड़ाही) पेणा' (कड़ाहा) एवं नेपाली 'पैनी' (—मद्य निथारने का बरतन) मूलतः प्राकृत के 'पयण' से 'पचन' से निष्पन्न हुए है अर्वाचीन प्रयोग के आधार पर किसी ने संस्कृत में भी 'पचनिका' शब्द बना लिया है।

इस तरह आगम-ग्रन्थों के अनेक शब्दों के इतिहास की शृंखला प्रवर्तमान भाषाओं पर्यन्त अविच्छिन्न रूप में चली आई जान पड़ती है
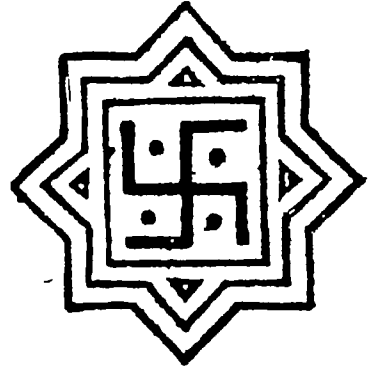
डा० हरिवल्लभ चुन्नीलाल भायाणी
एम० ए०, पी-एच० डी०, प्राध्यापक भारतीय विद्याभवन, बम्बई

तीन अर्धमागधी शब्दों की कथा

जैनधर्म और दर्शन के मूल-स्रोत होने के कारण तो जैन आगम-ग्रथ अमूल्य है ही इसके अतिरिक्त केवल ऐतिहासिक दृष्टि से भी आगमगत सामग्री का अनेक विध महत्त्व सर्व-विदित है. भारतीय आर्यभाषाओ के क्रम-विकास के अध्ययन के लिए आगमिक भाषा एक रत्न-भण्डार सी है इस दृष्टि से अर्धमागधी को लेकर बहुत-से विद्वानो ने विवरणात्मक, तुलनात्मक और ऐसिहासिक अनुसन्धान किया है मगर बहुत कुछ कार्य अब भी अनुसधायको की प्रतीक्षा कर रहा है. विशेष करके अनेक आगमिक शब्दो के सूक्ष्म अर्थ-लेश के विषय मे और उनके अर्वाचीन हिन्दी, गुजराती आदि भाषाओ के शब्दो से सवन्ध के विषय मे गवेषणा के लिए विस्तृत अवकाश है इस विषय का महत्त्व जितना अर्वाचीन भाषाओ के इतिहास की दृष्टि से है उतना ही अर्धमागधी को रसिक और परिचित वनाने की दृष्टि से भी है यहाँ पर तीन अर्धमागधी शब्दो की इस तौर पर चर्चा करने का इरादा है ये शब्द है—पिट्ठुडी—'आटे की लोई, उत्तुप्पिय—'चुपडा हुआ, 'चिकना' और पयण—'कडाही

१ पिट्ठुंडी

'नायाधम्मकहा अङ्ग के तीसरे अध्ययन 'अण्डक' मे मोरनी के अडो के वर्णन मे अडो को पुष्ट, निष्पन्न, व्रणरहित, अक्षत और 'पिट्ठुडीपडुर' कहा गया है इस विशेषण मे 'पिट्ठुडी' का अर्थ अभयदेवसूरि ने इस प्रकार किया है—'पिष्टस्य-शालिलोट्टस्य-उडी पिण्डी' फलस्वरूप उक्त विशेषण का अर्थ होगा 'चावल के आटे के पिण्ड जैसा श्वेत'

'पिट्ठुडी' शब्द पिट्ठ+उडी से बना है 'पिट्ठ'=स०'पिष्ट' 'पिष्ट' का मूल अर्थ है 'पीसा हुआ,' बाद मे उसका अर्थ हुआ 'चूर्ण' और फिर 'अन्न का चूर्ण' मराठी 'पीठ' (आटा), हिन्दी 'पीठी', गुजराती 'पीठी' आदि का सम्बन्ध इस 'पिष्ट'—'पिट्ठ' के साथ है 'नाज के चूर्ण' इस अर्थ वाले 'आटा' 'लोट'(गुजराती) और 'पीठ' इन तीनो शब्दो का मूल अर्थ केवल 'चूर्ण' था इनके प्राकृत रूप ये—'अट्ट', 'लोट्ट' और 'पिट्ठ'

शेष 'उडी' का अर्थ है 'पिण्डिका' या 'छोटा पिण्ड' जैसे यहाँ पर 'पिट्ठुड' मे 'उड' का प्रयोग 'पिट्ठ' के साथ हुआ है वैसे ओघनिर्युक्तिभाष्य मे 'उड' का विस्तारित रूप 'उडग' 'मस' के साथ (मसउडग) और विपाकश्रुत मे 'हियय' (हृदय) के साथ 'हिययउडय' हुआ है पिण्डनिर्युक्ति मे 'मसुडग' रूप मिलता है इसके अतिरिक्त नायाधम्मकहा के पद्रहवें अध्ययन मे 'भिच्छुड' शब्द 'भिखारी' अर्थ मे प्रयुक्त है इस मे 'भिक्षा+उड' ऐसे अवयव हैं और इनसे 'भिक्षा-पिण्ड पर निर्वाह करने वाला' ऐसा अर्थ प्रतीत होता है 'भिच्छुड' के स्थान पर 'भिक्खुड' और 'भिक्खोड' भी मिलते हैं सस्कृत मे 'उण्डुक' (शरीर का एक अवयव) और 'उण्डेरक' (पिष्टपिण्ड) के प्रयोग मिलते हैं

अर्वाचीन भाषाओ मे मराठी 'उडा' (—लोई) और उडी (—भात का पिण्ड), गुजराती 'ऊडल'(—'गुल्म-रोग') तथा सिंहली 'उण्डिय' (—गेंद) मे एव हिन्दी 'मसूडा' (—स० मासोण्डक, प्रा० मसुडय) मे 'उड' शब्द सुरक्षित है टर्नर के अनुसार "उड' मूल मे द्राविडी शब्द है तमिल मे 'उण्टै' मलयालम् मे 'उण्डा', और कन्नड मे 'उण्डे' ये शब्द 'गेंद' या 'गोल पिण्ड' के अर्थ मे प्रचलित है इन सब से 'पिट्ठुडी' का (चावल के) 'आटे की लोई' यह अर्थ समर्थित होता है

मल्लिषेणसूरि ने 'विद्यानुवाद' और 'भैरव पद्मावतीकल्प' जैसे बड़े ग्रंथ और आयशास्त्र का 'आयसद्भाव' और 'जगत् सुन्दरी प्रयोगमाला' जैसे तांत्रिक ग्रंथों की रचना की है यह उल्लेखनीय है कहा जाता है कि उनमें निर्दिष्ट मंत्र और विद्या 'विद्याप्रवाद' पूर्व में विद्यमान थी

जैनाचार्यों के रचे हुए कथा आदि अनेक ग्रन्थों में मन्त्रवादियों के प्रचुर वर्णन प्राप्त होते हैं 'कुवलयमाला' में जो एक सिद्ध पुरुष का उल्लेख मिलता है उस अंजन मंत्र तंत्र यक्षिणी योगिनी आदि देवियाँ सिद्ध थी 'आख्यानकमणिकोष' में भैरवानन्द का वर्णन 'पार्श्वनाथचरित्र' में भैरव का वर्णन 'महावीरचरित' में घोरशिव का वर्णन 'कथारत्नकोष' में जोगानन्द और बल वगैरह के वर्णन मिलते हैं ये सभी ही मंत्रविद्या के साधक पुरुष थे

'बृहत्कल्पसूत्र' विधान करता है कि—

'विज्जा-मंत-निमित्ते हेउसत्थट्ठदंसणट्ठाए ॥

अर्थात्—दर्शनप्रभावना की दृष्टि से विद्या मन्त्र निमित्त और हेतुशास्त्र के अध्ययन के लिये कोई भी साधु दूसरे आचार्य या उपाध्याय को गुरु बना सकता है

'निशीथसूत्र-चूर्णि' में तो आज्ञा दी है कि—

विज्जा उभय सेवे त्ति—उभयं णाम पासत्था गिहत्था ते विज्जा-मंत-जोगादिनिमित्तं सेवे। (१०)

अर्थात्—विद्या-मंत्र और योग के अध्ययनार्थ पासत्था साधु एवं गृहस्थों की भी सेवा करनी चाहिए

स्पष्ट है कि जैनशासन की रक्षा के लिये मंत्र तंत्र निमित्त जानना जरूरी था परन्तु उसका दुरुपयोग करने का निषेध था

आ० भद्रबाहुस्वामी को आर्य स्थूलिभद्र को पूर्वों का ज्ञान देते हुए उनके द्वारा किये गये विद्या के दुरुपयोग के कारण दण्डस्वरूप दूसरी विद्याएँ नहीं देने का निर्णय लेना पड़ा था यह तथ्य सूचन करता है कि विद्या को निरर्थक प्रकाश में रखने में खूब सावधानी रखी जाती थी और शिष्यों की योग्यता देख कर ये विद्याएँ केवल दर्शनप्रभावना की दृष्टि से ही दी जाती थी

जैनधर्म ने मन्त्रयान अपनाया तो भी उसने अपनी सैद्धान्तिक दृष्टि रखी ही है यह भूलना नहीं चाहिए यह पतनशील परिणामों से बिलकुल अछूता रह सका है यह उसकी विशेषता है जैनपरम्परा की दृष्टि से ऐसी कितनीक विशेषताएँ इस प्रकार मालूम पड़ती है

१ मिथ्यात्वी देवों से अधिष्ठित मन्त्रों की साधना नहीं करना
२ मन्त्र का उपयोग केवल दर्शनप्रभावना के लिए ही करना उसके सिवाय ऐहिक कामों के लिये नहीं करना
३ तांत्रिकपद्धति का स्वीकार नहीं करना
४ *शास्त्रों में जो ध्यानयोग अपनाया गया है उस पद्धति से पिण्डस्थ पदस्थ रूपस्थ और रूपातीत इन भावनाओं की* मर्यादा में रह कर मन्त्रयोग की साधना करना

दूसरी दृष्टि से देखें तो मन्त्रविद्या एक गहन विद्या है उसकी साधना के लिये अनेक बातों पर ध्यान देना पड़ता है सर्वप्रथम मन्त्रसाधक की योग्यता कैसी होनी चाहिये उसके विषय में मन्त्रशास्त्र खूब कठोर नियम बताता है

साधक में पूरा शारीरिक और मानसिक सामर्थ्य होना चाहिये मन में प्रविष्ट खराब विचारों को रोकने की और पवित्र भावना में रमण करने की शक्ति होनी चाहिये प्राणायाम के रेचक पूरक और कुंभक योग द्वारा मन को उस-उस स्थान में रोकने का अभ्यास होना जरूरी है मन्त्रसाधना करते हुये अनेक प्रकार के उपद्रव उपस्थित हों तो उसके सामने जूझने का सामर्थ्य होना चाहिये ऐसी योग्यता प्राप्त न की हो तो वह पागल सा बन जाता है या मरण के शरण होता है
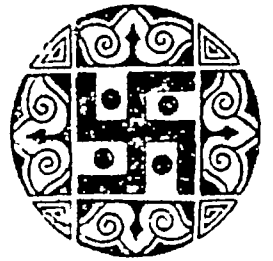
श्रीअम्बालाल प्रेमचन्द शाह

जैनशास्त्र और मंत्रविद्या

प्रत्येक व्यक्ति को ऐश्वर्य प्राप्त करने का आकर्षण बना रहता है उसे प्राप्त करने के लिए वह विविध बौद्धिक और शारीरिक परिश्रम करता रहता है विद्या, मन्त्र और योग की सिद्धियों के चमत्कार ऐसे ही प्रयत्न है

विद्या और मन्त्र मे थोडा फर्क है 'विद्या' कुछ तात्रिक प्रयोग और होम करने से सिद्ध होती है और उसकी अधिष्ठात्री स्त्री देवता होती है, जबकि 'मत्र' सिर्फ पाठ करने मे सिद्ध होता है और उनका अधिष्ठाता पुरुष देवता रहता है अथवा गुप्त सभाषण को 'मत्र' कहते हैं 'योग' अर्थात् किसी जादूई प्रयोग द्वारा आकर्षण, मारण, उच्चाटन, रोगशाति वगैरह या पैरो मे लेप लगाकर ऊँचे उडने की, पानी की सतह पर चलने की चामत्कारिक शक्ति आदि की प्राप्ति

जैनो मे मत्रविद्या का प्रचलन कब से हुआ, यह कहना मुश्किल है जैनो के आगम-साहित्य मे चामत्कारिक प्रयोगो के विषय मे अनेक निर्देश मिलते हैं ऐसा माना जाता है कि चौदह पूर्वो मे जो दसवाँ 'विद्यानुवाद' पूर्व था, उसमे अनेक मत्र प्रयोगो का वर्णन था, परन्तु वह पूर्व आज उपलब्ध नही है उसमे से कितनेक मत्र और उनके प्रयोग परम्परा मे चले आये, वे पिछले ग्रथो मे सग्रहीत देखने मे आते हैं 'मणि-मन्त्रौषधानामचिन्त्य प्रभाव' यह उक्ति भी जैनाचार्यों ने प्रामाणिक ठहराई है

आज जो आगमग्रथ मिलते हैं उनमे से 'बृहत्कल्पसूत्र' मे कोऊअ, भूइ, पसिण, पसिणापसिण, निमित्त जैसे जादूई विद्या के उल्लेख मिलते हैं

'भगवतीसूत्र' से जाना जाता है कि, गोशाल महानिमित्त के आठ अगो— १ भौम, १ उत्पात, ३ स्वप्न, ४ आतरिक्ष, ५ अग, ६ स्वर, ७ लक्षण और ८ व्यञ्जन मे पारगत था वह लोगो के लाभ-हानि, सुख-दुख, जीवन-मरण वगैरह की भविष्यवाणी कर सकता था

'स्थानागसूत्र' और 'समवायागसूत्र' मे इस महानिमित्तशास्त्र को पापश्रुत के अन्तर्गत बताया है, तो भी अनेक विद्याओ के निर्देश आगम के भाष्य, चूर्णि और टीका आदि साहित्य मे मिलते है लब्धि और लब्धिधारियो के उल्लेख भी पर्याप्त प्रमाण मे प्राप्त होते हैं जिसका नाम जानने मे नही आया ऐसे एक जैनाचार्य 'अगविज्जा' नामक विशालकाय (९००० श्लोकप्रमाण) ग्रन्थ की रचना करें, तब इस विद्या और शास्त्र का महत्त्व स्वय सिद्ध हो जाता है एक पट्टावली के उल्लेख से ज्ञात होता है कि राजगच्छीय अभयसिंहसूरि नामक जैनाचार्य दु साध्य 'अगविद्या' शास्त्र को अर्थ सहित जानते थे

लब्धिधारी या मात्रिको मे से कितनेक जैनाचार्यों के नाम सुप्रसिद्ध हैं ऐसी सिद्धियो के कारण उन्होने प्राभाविक आचार्यों के रूप मे प्रतिष्ठा प्राप्त की है याद रहे कि, जैनो मे जो आठ प्रकार के प्राभाविक कहे गये है उनमे निमित्त-वादी भी एक है आर्य सुरक्षित, सुप्रतिबुद्ध, सिद्ध रोहण, रेवतीमित्र, श्रीगुप्त, कालिकाचार्य, आर्य खपुटाचार्य, पादलिप्त-सूरि, सिद्धसेन दिवाकर वगैरह प्राचीन आचार्यों के नाम मत्रवादी के रूप मे मुख्य रूप से गिनाये जा सकते है

प्राचीन आचार्यों मे अज्ञातकर्तृक 'अगविज्जा' और 'जयपाहुड' इन निमित्त और चूडामणिनिमित्त शास्त्र के ग्रथो के सिवाय किसी ने मत्रशास्त्र की रचना की हो, ऐसा जानने मे नही आता नवी और दसवी शताब्दी के बाद हुए कितनेक श्वेताम्बर आचार्यों मे बप्पभट्टिसूरि, हेमचन्द्रसूरि, भद्रगुप्तसूरि, जिनदत्तसूरि, सागरचन्द्रसूरि, जिनप्रभसूरि, सिंहतिलकसूरि वगैरह आचार्यों के रचे हुए कितनेक मत्रमय स्तोत्र, कल्प और छोटी रचनाये मिलती है जब कि दिगम्बर जैनाचार्य
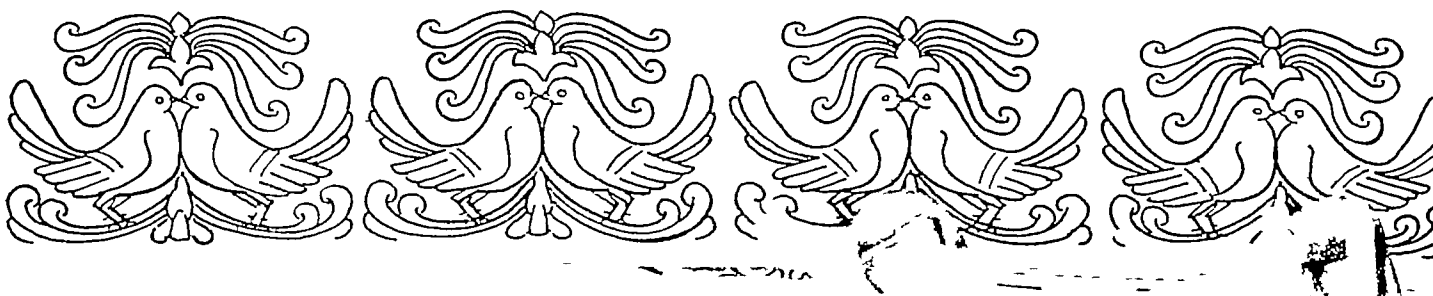
३ यक्ष—चौबीस तीर्थकरों म से किसी भी तीर्थंकर का जाप किया जाय तो उनके सेवक यक्ष और यक्षिणी सेवक बन कर साधक की मनोवांछित सिद्धि म सहायक होते है

२४ यक्ष—

'जक्खा गोमुह महजक्ख तिमुह जक्खेस तुबरु कुसुमो ।
मायगो विजयाजिय बभो मणुओ सुरकुमारो य ।
छम्मुह पयाल किन्नर गरुलो गधव्व तह य जक्खिदो ।
कुबेर वरुणो भिउडी गोमेहो पासमायगा ॥

अर्थात्—१ गोमुख २ महायक्ष ३ त्रिमुख ४ यक्षेश ५ तुबरु ६ कुसुम ७ मातग ८ विजय ९ अजित १० ब्रह्म ११ मनुज १२ सुरकुमार, १३ षण्मुख १४ पाताल १५ किन्नर, १६ गरुड १७ गन्धर्व १८ यक्षेन्द्र १९ कुबेर, २० वरुण २१ भृकुटि २२ गोमेध २३ पार्श्व और २४ मातग

२४ यक्षिणी—

'देवीओ चक्केसरि अजियादुरियारि कालि महकाली ।
अच्चुआ सता जाला सुतारयासोय सिरिवच्छा ॥
चडा विजयकुसी पन्नत्ती निव्वाणी अच्चुआ धरणी ।
वइरुट्टछुत्त गधारी अब पउमावई सिद्धा ॥

अर्थात्—१ चक्रेश्वरी २ अजिता ३ दुरितारि ४ काली ५ महाकाली ६ अच्युता ७ शाता ८ ज्वाला ९ सुतारका १० अशोका ११ श्रीवत्सा १२ चण्डा १३ विजया १४ अकुशा १५ प्रज्ञप्ति १६ निर्वाणी १७ अच्युता १८ धरणी वैरोट्या २० अच्युता २१ गन्धारी २२ अबा २३ पद्मावती और २४ सिद्धा

१६ विद्यादेवी—

'रक्खतु मम रोहिणि-पन्नत्ती वज्जसिखला य सया ।
वज्जकुसि चक्कसरि नरदत्ता कालि महकाली ॥
गोरी तह गधारी महजाला माणवी य वइरुट्टा ।
अच्छुत्ता माणसिआ महमाणसिआ उ देवीओ ॥

१ रोहिणी २ प्रज्ञप्ति ३ वज्रशृखला ४ वज्राकुसी ५ चक्रेश्वरी ६ नरदत्ता ७ काली ८ महाकाली ९ गौरी १० गाधारी ११ महाज्वाला १२ मानवी १३ वैरोट्या १४ अच्युता १५ मानसी और १६ महामानसी

इन रोहिणी वगैरह विद्याओ क प्रभाव म विद्याधर एसे मनुष्य देव समान सुख प्राप्त करते है विद्यादेवियों का ध्यान गुरु भक्ति स करना चाहिये

४ सकलीकरण—

ध्यान करने क पहिल सकलीकरण अर्थात् आत्मरक्षा करनी चाहिए सकलीकरण से विद्या की साधना में निर्विघ्न कार्य सिद्धि होती है

प्रथम स्नान करना चाहिए फिर जल म अमृत-मत्र बोलकर शरीर पर छिड़कना चाहिए फिर मंत्रस्नान करके शुद्ध धुले वस्त्र पहनकर एकान्त और निरपद्रवी स्थान मे (ब्रह्मचर्य आदि श्रावक क पाच व्रतो का पालन करते हुए) भूमि शुद्ध करके आसन शुद्ध बैठना चाहिए

१ ओ नमो अरहताण ह्रा शीर्ष रक्ष रक्ष स्वाहा ।
२ ओ नमो सिद्धाण ह्रीं वदन रक्ष रक्ष स्वाहा ।
३ ओ नमो आयरियाण ह्रू हृदय रक्ष रक्ष स्वाहा ।

इसके सिवाय इद्रियो पर कावू प्राप्त करने की शक्ति—ब्रह्मचर्य, मिताहार, मौन, श्रद्धा, दया, दाक्षिण्य आदि गुणो की आवश्यकता पर भार दिया गया है

इसके पीछे मत्रसाधक को साधनासमय मे नीचे वताई हुई प्रक्रिया मे से पार होना चाहिये

१ योग, २ उपदेश, ३ देवता, ४ सकलीकरण, ५ उपचार, ६ जप, ७ होम—उसमे जप करनेवाले को १ दिशा, २ काल, ३ मुद्रा, ४ आसन, ५ पल्लव, ६ मडल, ७ शान्ति आदि कर्मों के प्रकार जानकर जप और होम करना चाहिए

१ योग—मत्र के आदि अक्षर के साथ नक्षत्र, तारा, और राशि की अनुकूलता ज्योतिशास्त्र के साथ मिलान करे यदि किसी प्रकार का विरोध न हो तो ही मत्र सिद्ध होता है

इसी प्रकार साध्य आदि भेद को भी चकासने-परखने की आवश्यकता है साध्य और साधक का यदि मेल न वने तो मत्र आदि का आरावन करने, कराने मे अनेक विघ्न उपस्थित होते है और अत मे परिणाम अनिष्टकारक वनना है

साध्य आदि भेद चकासने की अनेक रीतियाँ देखने मे आती है उनमे मे १ भद्रगुप्ताचार्य ने अनुभव सिद्ध मन्त्रद्वात्रिंशिका मे जो रीति वतायी है वह इस प्रकार है—

'अ इ उ ए ओ' इन पाच स्वरो से आरम्भ कर 'ड ढ ण' वर्णो को छोडकर पांच सरीखी पक्तियो मे सर्व मातृकाक्षर लिखें पीछे साध्य नाम से गिनते हुए सावक का नाम जिस स्थान मे आवे उस स्थान का फल देने वाला मत्र है ऐसा समझना ये पाँच नाम इस प्रकार हैं—

१ साध्य, २ सिद्धि, ३ सुसिद्ध, ४ शत्रुरूप और ५ मृत्युदायी इन पाँच प्रकारो मे से आद्य तीन भेद क्रम से श्रेष्ठ, मध्य और स्वल्प फल देने वाले होने से शिष्य की योग्यता के अनुसार दे सकते है, परन्तु अतिम दो भेद शत्रुरूप और मृत्युदायी होने से किसी को भी देने योग्य नही है

उपर्युक्त प्रकारो का 'मातृकाचक्र' इस प्रकार है—

मातृका चक्र

१	२	३	४	५
अ	इ	उ	ए	ओ
आ	ई	ऊ	ऐ	औ
क	ख	ग	घ	ङ
च	छ	ज	झ	ञ
ट	ठ	त	थ	द
ध	न	प	फ	ब
भ	म	य	र	ल
व	श	ष	स	ह

२ उपदेश—मत्र पढ लेने के वाद मात्र जाप करना नही चाहिए परन्तु मत्र और विधि गुरु के पास से जानकर ही, गुरु के मुख से मत्र पाठ लेकर सावना करनी चाहिए

१ गोल—विद्वेषण और उच्चाटन कर्म में

इन तीन प्रकार के कुण्डों की गहराई और चौड़ाई एक हाथ प्रमाण होनी चाहिए उनमें तीन पालियाँ बांधी जाती हैं उनमें से पहली पाली का विस्तार और ऊंचाई पांच अंगुल दूसरी की चार अंगुल और तीसरी की तीन अंगुल रखनी चाहिए

होम करने वाले को सकलीकरण से अपने मन को शुद्ध कर, नयी धोती और चद्दर पहन कर पद्मासन से बैठना चाहिए होम में मुख्यतः पलाश की लकड़ी होनी चाहिए यदि पलाश न मिले तो दूधवाले वृक्ष अर्थात् पीपल आदि वृक्षों की लकड़ी (कीड़ा और जीव-जन्तु रहित) होम के लिये लानी चाहिये

उसके साथ श्वेत चन्दन लाल चन्दन शमी वृक्ष की लकड़ी भी होम के लिए लानी चाहिए

पत्ते पीपल और पलाश के होने चाहिए

होम में १ सेर दूध १ सेर घी और अष्टांग धूप आदि मिलाकर दो सेर वजन की होम सामग्री होनी चाहिए

लकड़ी भी उस-उस कृत्यकारित्व के अनुसार ही अमुक नाप की रखनी चाहिए जैसे—*वश विद्वेषण उच्चाटन में आठ* अंगुल लंबी पौष्टिक कर्म में नव अंगुल लंबी शांति आकर्षण वशीकरण स्तंभन में बारह अंगुल लंबी लानी चाहिए

शांति पुष्टि आदि शुभ कार्यों में उत्तम द्रव्यसामग्री से प्रसन्नचित्त से होम करना चाहिए और मारण उच्चाटन आदि अशुभ कार्यों में अशुभ द्रव्यों से आक्रोशपूर्वक होम करना चाहिए

जल चन्दन आदि अष्ट द्रव्यों से महामंत्र का जाप करते हुए अग्नि की पूजा करे पीछे दूध घी गुड़ और साथ में एक लकड़ी को अपने हाथों से होमकुंड में रखे और पीछे अग्नि स्थापन करके सबसे पहले आहुति देते हुए श्लोक बोले

पीछे लकड़ी को आहुति के द्रव्यों के साथ मिलाकर साध्य मंत्र का उच्चारण करते हुए आहुति दे

इस प्रकार होम की विधि शास्त्रों में बतायी गई है।

पांच कलशों की स्थापना करके होमविधि करनी चाहिए, जिससे संपूर्ण मंत्र विधि से मंत्र भली प्रकार साध्य हो सके

अब मंत्र की उपासना में दिशा काल मुद्रा पल्लव आदि प्रकार और मंत्र के कृत्यकारित्व के प्रकार संक्षेप में इस प्रकार हैं—[१] शांति [२] पौष्टिक [३] वशीकरण [४] आकर्षण [५] स्तंभन [६] मारण [७] विद्वेषण और उच्चाटन

१ शांति कर्म—पश्चिम दिशा अर्धरात्रि का समय ज्ञानमुद्रा पद्मासन 'नमः' पल्लव श्वेत वस्त्र श्वेत पुष्प पूरकयोग स्फटिक मणि की माला दाहिना हस्त मध्यमा अंगुली और जलमंडल से करे

२ पौष्टिक कर्म—नैऋत दिशा प्रातःकाल ज्ञानमुद्रा स्वस्तिक आसन 'स्वधा' पल्लव श्वेत वस्त्र श्वेत पुष्प पूरक योग मोतियों की माला मध्यमा अंगुली दाहिना हस्त और जलमंडल से करे

३ वशीकरण—उत्तरदिशा प्रातःकाल कमलमुद्रा पद्मासन 'वषट्' पल्लव लालवस्त्र लाल पुष्प पूरक योग प्रवालमणि की माला बाया हस्त अनामिका अंगुली और अग्निमंडल से करे

४ आकर्षण—दक्षिण दिशा प्रातःकाल अंकुशमुद्रा दंडासन 'वौषट्' पल्लव रक्तवस्त्र रक्तपुष्प पूरकयोग प्रवाल की माला कनिष्ठिका अंगुली बाया हस्त बाया वायु और अग्निमण्डल से करें

५ स्तम्भन कर्म—पूर्वदिशा प्रातःकाल शंखमुद्रा वज्रासन 'ठ ठ' पल्लव पीतवस्त्र पीतपुष्प कुंभक योग स्वर्ण की माला कनिष्ठिका अंगुली दाहिना हाथ दक्षिणवायु और पृथ्वीमंडल से करे

६ मारण कर्म—ईशानदिशा सन्ध्याकाल वज्रमुद्रा भद्रासन 'घे घे' पल्लव काला वस्त्र काले पुष्प रेचक योग पुत्र जीव मणि की माला तर्जनी अंगुली दाहिना हाथ और वायुमंडल से करें
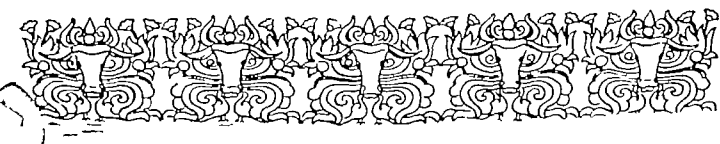
४ ओं णमो उवज्झायाण ह्रौं नाभि रक्ष रक्ष स्वाहा ।
५ ओं णमो लोए मव्वसाहूण ह्र पादौ रक्ष रक्ष स्वाहा ।

इस प्रकार अगन्यास करके पचाग रक्षा करनी चाहिये अथवा 'क्षिप ओ स्वाहा' इन बीजाक्षरो से मस्तक, मुख, हृदय, नाभि और पाँव अगो मे गुलटे-उलटे क्रम से न्यास करने मे पचाग रक्षा होती है

५ उपचार—सकली क्रिया करने के बाद पचोपचार पूजा के यन्त्र के अधिष्ठाता देव की पूजा नीचे बताई हुई विधि से करनी चाहिए वे पाच उपचार ये है—१ आह्वान, २ स्थापन, ३ सनिधीकरण, ४ पूजन, ५ विसर्जन मुद्रापूर्वक करना चाहिए उनके मत्र इस प्रकार है—

१ ओं ह्री नमोऽस्तु[1] एहि एहि सवौपट् । (आह्वान)
२ ओं ह्री नमोऽस्तु तिष्ठ तिष्ठ ठ ठ । (स्थापन)
३ ओं ह्री नमोऽस्तु मम मनिहिता भव भव वपट् । (मनिधीकरण)
४ ओं ह्री नमोऽस्तु गन्धादीन् गृहाण गृहाण नम । (अष्ट द्रव्यो से पूजन)
५ ओं ह्रीं नमोऽस्तु स्वस्थान गच्छ ज ज (विमर्जन)

आह्वान पूरक प्राणायाम से, स्थापन, मनिधीकरण और पूजन ये तीन कु भक प्राणायाम से और विमर्जन रेचक प्राणायाम से करना चाहिये

अत मे इस प्रकार बोलना चाहिये—

आह्वान नैव जानामि न च जानामि पूजनम् ।
विसजन न जानामि प्रसीद परमेश्वर ! ।।
"आज्ञाहीन क्रियाहीन मन्त्रहीन च यत् कृतम् ।
क्षमस्व देव ! तत् मर्वं प्रसीद परमेश्वर ! ।।"

६ जप—सामान्य रीति से मत्र के जाप की सख्या १०८ अथवा १००८ मानी गई है जप के भी तीन प्रकार है—(१) मानस जप, (२) उपाशुजप और (३) वाचिकजप सब मन्त्र मानस जप—मन मे जिह्वा से धीरे से शुद्ध बोलना चाहिये

जाप से मत्र अपनी शक्ति प्राप्त करता है और मन्त्र-चैतन्य स्फुरित होता है, और होम व पूजा आदि से मन्त्र का स्वामी तृप्त होता है

७ होम—एक तो स्वय अग्नि और उसमे यदि पवन की सहायता मिले तो वह क्या नही कर सकता इस प्रकार मन्त्र-जाप के पश्चात् होम करने से यथेष्ट फल प्राप्त हो सकता है

जाप के समय मत्र के अन्त मे कर्मानुसार पल्लवो का उपयोग होता है, क्योकि मत्रो का निवास ही पल्लव मे होता है जाप के समय मत्र के अन्त मे 'नम ' पल्लव और होम के समय 'स्वाहा' पल्लव लगाना चाहिए

मूल मत्र की जापसख्या से दशवे भाग का जाप होम के समय मे करना चाहिए अर्थात् एक हजार जाप को होम के साथ करे तब १०० सख्या का जाप करना चाहिए सामान्य जाप पूरा होते ही होम करना चाहिए

होमविधि—होमकुड तीन प्रकार के होते है—१ चतुष्कोण, २ त्रिकोण, ३ गोल

१ चतुष्कोण—शाति, पौष्टिक, स्तभन आदि कर्म मे
२ त्रिकोण—मारण, आकर्षण कर्म मे

---

१ इस रिक्त जगह में जिन देवता की आराधना करनी हो उन देवता का नाम बोलना चाहिये जैसे पद्मावती की आराधना करनी हो तो "भगवति पद्मावति देवि !"

श्रीबहादुरचन्द छाबड़ा
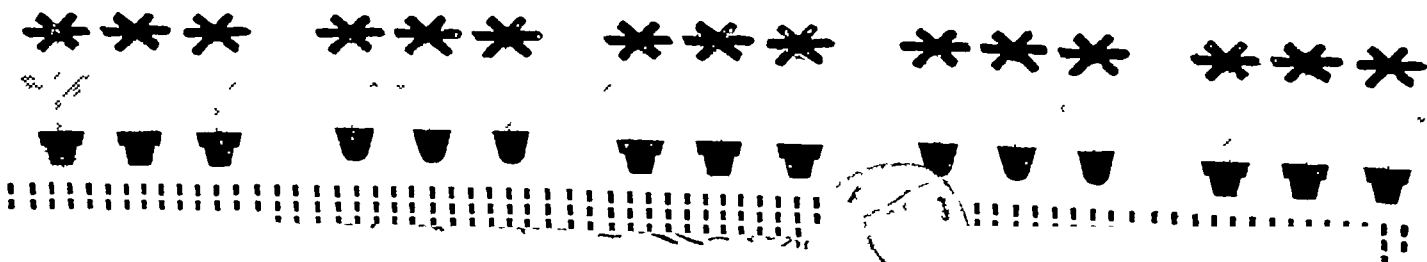
काहल शब्द के अर्थ पर विचार

जैन और बौद्ध साहित्य के संस्कृत ग्रंथों में ऐसे अनेक शब्द मिलते हैं जिनके अर्थ के विषय में प्रायः प्रकाशित कोषों द्वारा उतना प्रकाश नहीं पड़ता जितना कि प्रचलित देसी भाषाओं से पड़ता है ऐसे शब्दों में एक 'काहल' शब्द भी है 'प्रबन्धचिन्तामणि' सम्बद्ध पुरातन प्रबन्धसंग्रह में एक प्रसंग में इस शब्द का यूं प्रयोग मिलता है— गणिका ... कथापितम् यस्त्वं बलवानसि क्षत्रियोऽसि अहं वणिग्मात्रम् तत भावयाऽग्रयुद्धमस्तु सोऽस्मर्थं बलवान् दृष्ट सन् काहले गणिका सह प्रहर २ अभाषत'—इत्यादि डा सांडेसरा तथा श्री ठाकर इसका उल्लेख करते हुए काहल शब्द का अर्थ करते हैं—मृदु डरपोक ठग (Tender timid cunning[1]) साथ ही यह सुझाव देते हैं कि उक्त प्रसंग में अर्थ की दृष्टि से काहले के स्थान पर काहलेन पाठ होना चाहिए

हमारे विचार में यहां काहले पाठ ठीक ही प्रतीत होता है और इसका अर्थ होना चाहिए जल्दी में अधीरता में' अथवा 'उतावलेपन में' ध्यान रहे कि पंजाबी भाषा में यह शब्द आज भी प्रचलित है और बार-बार प्रयुक्त होता है एक मुहावरा है—काहल अग्गे टोए ते कम्म किम्थों होए अर्थात् जल्दीपने के आगे गड्ढे हों गड्ढे होते हैं तो काम क्योंकर संपन्न हो

वास्तव में काहल शब्द संज्ञापद भी है और विशेषण भी काहलस्य भाव काहलम् पंजाबी में इसीको काहल कहते हैं विशेषण में पंजाबी में काहला (पुंलिङ्ग) और काहली (स्त्रीलिङ्ग) शब्द 'अधीर' 'उतावला' (ली) 'जल्दबाज' आदि अर्थों में अतिप्रसिद्ध है

पाइअसद्दमहण्णवो नामक जैन प्राकृत कोष में भी काहल शब्द पठित है और वहां इसके अर्थों में 'अधीर' अर्थ भी दिया हुआ है सांडेसरा और ठाकर महोदय इस कोष का उल्लेख करते अवश्य हैं परन्तु वहां दिए काहल शब्द के 'अधीर' अथवा 'अधीरत्व' अर्थ को नहीं अपनाते

इधर चीवरवस्तु नामक बौद्ध ग्रंथ में भी काहल शब्द का सारगर्भित प्रयोग मिलता है वैशाली में राजा बिम्बिसार और गणिका आम्रपाली के वार्तालाप में राजा कहता है किं गच्छामि? तो गणिका उत्तर में कहती है—देव मा काहलो भव[2] यहां भी चीवरवस्तु के सम्पादक डा नलिनाक्षदत्त ने काहल शब्द का अर्थ निराश अथवा 'हताश' (Dejected) किया है यह संगत नहीं प्रतीत होता हमारे विचार में उक्त प्रसंग में भी काहल का अर्थ 'उतावला' अथवा 'अधीर' पंजाबी काहला ही युक्तियुक्त लगता है राजा कहता है—तो चला जाऊँ क्या? गणिका उत्तर देती है—महाराजा अधीर मत हो ओ! अर्थात् जल्दी क्या है उतावले क्यों होते हो इत्यादि

अन्त में हम विद्वानों का ध्यान पंजाबी की ओर विशेष रूप से आकर्षित करना चाहते हैं इसलिए कि ऐसे विवादास्पद शब्दों के अर्थनिर्णय में जैसे हिंदी गुजराती मराठी आदि प्रचलित देसी भाषाएँ सहायक होती हैं वैसे ही पंजाबी भी अत्यन्त उपकारक सिद्ध हो सकती है ●

---

1. *Lexicographical Studies in Jaina Sanskrit* by B J Sandesara and J P Thaker oriental Institute, Baroda १९६२ पृ १२
2. *Gilgit Manuscripts Vol III* part 2 edited by Dr Nalinakshadutt, Srinagar kashmir १९४२, पृ २

७ विद्वेषण कर्म—आग्नेयदिशा, मध्याह्नकाल, प्रवालमुद्रा, कुक्कुटासन 'हु' पल्लव, धूम्रवस्त्र, धूम्रपुष्प, रेचकयोग, पुत्रजीव मणि की माला, तर्जनी अगुली, दाहिना हाथ और वायु मडल से करें

८ उच्चाटन कर्म—वायव्यदिशा, तीसरा प्रहर, प्रवाल मुद्रा, कुक्कुटासन, 'फट्' पल्लव, धूम्रवस्त्र, धूम्रपुष्प, रेचक योग, काले मणिओ की माला, तर्जनी अगुली, दाहिना हाथ और वायु मडल से करे

मडल—चार प्रकार के यत्र-मडल इस प्रकार है—

१ पृथ्वीमण्डल—पीला, चतुष्कोण, पृथ्वीबीज 'ल' 'क्षि' चार कोनो मे लिखें और बीच मे मत्र स्थापन करें

२ जलमडल—श्वेत, कलश समान गोल, जलबीज 'व' 'प' चार कोने मे लिखें, और बीच मे मत्र स्थापन करना चाहिए

३ अग्निमण्डल—लाल, त्रिकोण, उसके तीन कोनो मे बाहर की ओर स्वस्तिक की आलेखना करें और अन्दर की ओर 'र' 'ओ' बीज लिखें बीज मे मत्र स्थापन करे

४ वायुमण्डल—काला, गोलाकार बनावें, वायुबीज 'य' 'स्वा' भीतर की ओर लिखें और बीच मे मत्र स्थापन करें

प्रत्येक मत्र के अन्त मे 'नम ' पल्लव लगाने से मारण आदि उग्र स्वभावी मत्र भी शात स्वभाव वाले बन जाते है और 'फट्' पल्लव लगाने से क्रूर स्वभाव वाले बन जाते है

दीपन आदि प्रकार—दीपन से शाति कर्म, पल्लव से वशीकरण, रोधन से बधन, ग्रथन से आकर्षण, और विदर्भण से स्तभन कार्य किये जाते हैं ये छ प्रकार प्रत्येक मत्र मे प्रयुक्त हो सकते हैं उनके सोदाहरण लक्षण नीचे लिखे अनुसार हैं—

१ मन्त्र के प्रारम्भ मे नाम स्थापन करना वह दीपन
उदाहरण—देवदत्त ह्रीँ

२ मत्र के अन्त मे नाम निर्देश करना वह
उदा०—ह्रीँ देवदत्त

३ मध्य मे नाम बताना वह सपुट
उदा०—ह्रीँ देवदत्त ह्रीँ

४ आदि और मध्य मे उल्लेख करना वह
उदा०—दे ह्रीँ व ह्रीँ द ह्रीँ त्त

५ एक मत्राक्षर, दूसरा नामाक्षर, तीसरा
उदा०—ह्रीँ दे ह्रीँ व ह्रीँ द ह्रीँ

६ मत्र के दो-दो अक्षरो के बीच मे
उदा०—ह्रीँ त्त ह्रीँ द ह्रीँ व ह्रीँ

यहा हमने ह्रीँ बीजाक्षर मत्र द्वारा
समझ लेना चाहिए

इन सब हकीकतो से साधक को मत्र की
तो उसका फल भी शुद्ध ही मिलता है मत्र
और यह विधि सरल बन

उत्पन्न कर दिए इसलिए जेम्स टाड के उक्त कथन के अंतिम भाग को इस प्रकार संशोधित करना सर्वथा उपयुक्त होगा—

और कदाचित् ही कोई ऐसा नगर हो जिसने लियोनिडास जैसा योद्धा तथा होमर जैसा कवि नहीं उत्पन्न किया हो

"राजस्थानी साहित्य" से अनेक तात्पर्य हो सकते हैं यथा—१ राजस्थानी भाषा में रचित साहित्य २ राजस्थान में रचित संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश ब्रज खड़ीबोली उर्दू और फारसी भाषाओं का साहित्य ३ राजस्थानियों का साहित्य फिर चाहे वह किसी भी भाषा में रचित हो ४ राजस्थान से सम्बन्धित साहित्य चाहे वह किसी भी विषय अथवा भाषा में रचित हो 'राजस्थानी साहित्य' से अभिप्राय उक्त परिभाषाओं में से प्रथम परिभाषा अर्थात् 'राजस्थानी भाषा में रचित साहित्य" मानना ही उपयुक्त होगा

राजस्थानी साहित्य का वर्गीकरण

राजस्थानी साहित्य का वर्गीकरण श्री नरोत्तमदास जी स्वामी और रामनिवास जी हारीत ने निम्नलिखित दो भागों में किया है —

१ डिंगल साहित्य

२ साधारण बोलचाल की राजस्थानी का साहित्य[1]

श्री नरोत्तमदास जी स्वामी ने शैलियों की दृष्टि से राजस्थानी साहित्य को तीन भागों में विभक्त किया है—

१ जैन-शैली २ चारणी-शैली ३ लौकिक-शैली[2]

डॉ हीरालाल माहेश्वरी ने राजस्थानी की साहित्य शैलियाँ चार मानी हैं—

१ जैन-शैली २ चारण-शैली ३ संत-शैली और ४ लौकिक-शैली[3]

श्री मोतीलालजी मेनारिया ने राजस्थानी साहित्य को निम्नलिखित चार भागों में विभक्त किया है—

१ जैन साहित्य २ चारण-साहित्य ३ भक्ति-साहित्य और ४ लोक-साहित्य

राजस्थानी साहित्य के उक्त सभी वर्गीकरण अपूर्ण हैं क्योंकि इनमें राजस्थानी साहित्य के कतिपय प्रमुख रूपों का समावेश नहीं हो पाता राजस्थानी साहित्य का वर्गीकरण निम्नलिखित सात भागों में करना सर्वथा समीचीन होगा—

१ जैन-साहित्य
२ डिंगल-साहित्य
३ पिंगल-साहित्य
४ पौराणिक एवं भक्ति-साहित्य
५ संत-साहित्य
६ लोक-साहित्य और
७ आधुनिक-साहित्य

हमारे देश में कालक्रमानुसार क्रमशः वैदिक (छान्दस) संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश नामक प्राचीन भाषाओं का प्रमुख स्थान रहा राजस्थानी भारतीय आर्य भाषा परिवार की एक आधुनिक भाषा मानी गई है राजस्थानी भाषा का

१ [illegible]
२ [illegible]
३ [illegible]

श्रीपुरुषोत्तमलाल मेनारिया
एम० ए०, साहित्यरत्न

राजस्थानी साहित्य मे जैन साहित्यकारों का स्थान

मध्यकालीन भारतीय इतिहास मे राजस्थान को परम गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है राजस्थानी वीर-वीरागनाओ ने अपने धर्म और मान-मर्यादा की रक्षाहेतु असीम त्याग और बलिदान किए है गौरवपूर्ण मृत्यु प्राप्त करना राजस्थानी जीवन का सदियो तक प्रधान उद्देश्य बना रहा और राजस्थानी वीर-वीरागनाओ ने सासारिक सुख-विलासो को तुच्छ समझते हुए मरण को महान् त्योहार के रूप मे अगीकृत किया मरणत्योहार के विषय मे कहा गया है—

> टह टह धुरे त्रमागला हूँ सिधव ललकार।
> चित्त कुकभ चेला चहे, आज मरण त्युहार ॥

अर्थात्—नक्कारे बज रहे है, सिंधुराग युक्त ललकार हो रही है और चित्त हाथियो से सामना करना चाहता है क्योकि आज मरण-त्योहार है

> आज घरे सासू कहे, हरस अचाणक काय।
> बहू बलेवा हुलसै, पूत मरेवा जाय ॥

अर्थात्—आज घर पर सास कहती है कि उसको अचानक हर्ष क्यो हो रहा है? इसलिए कि उसकी पुत्र-वधू सती होने के लिए उमगित हो रही है और पुत्र युद्धभूमि मे मरने जा रहा है!

> सुत मरियो हित देस रे, हरख्यो बधु समाज।
> मा नह हरखी जनम दे, जतरी हरखी आज ॥

अर्थात्—पुत्र देश-हित मारा गया तो बन्धुसमाज प्रसन्न हुआ मा पुत्र को जन्म देकर जितनी प्रसन्न नही हुई थी उतनी उसके मरने पर हुई है

इस प्रकार राजस्थान भारत देश की वीर-भूमि के रूप मे विख्यात हो गया है, जिसके विषय मे सुप्रसिद्ध इतिहासकार जेम्स टाड ने लिखा है—"राजस्थान मे एक भी छोटी रियासत ऐसी नही है जिसमे थर्मोपोली जैसी युद्ध-भूमि न हो और कदाचित् ही कोई ऐसा नगर हो जिसने लियोनिडास जैसा योद्धा नही उत्पन्न किया हो[1]

राजस्थान को वीर-भूमि बनाने का प्रधान श्रेय जहाँ राजस्थान के रणबाकुरे वीरो को है, वहा उसे वीरभूमि के रूप मे जगत्विख्यात करने का श्रेय साहित्य एव साहित्यकारो को है राजस्थान के साहित्यकार लेखनी के साथ ही तलवार के भी धनी रहते हुए स्वय युद्ध-भूमि मे वीरो के साथ मरने-मारने के लिए तत्पर रहे हैं ऐसे वीर-रसावतार कवियो की परम प्रभावशाली वाणी से प्रेरित होते हुए राजस्थान के अगणित वीरो और वीरागनाओ ने अपने प्राण सहर्ष ही

---

1 दी एनल्स एण्ड एन्टिक्विटीज आफ राजस्थान, क्रुक्स सस्करण, लदन, भूमिका, भाग १, १९२० ई०

उद्भव राजस्थान मे प्रचलित नागर-अपभ्रश से हुआ है[1]

राजस्थानी भाषा के उद्भव-काल के विषय मे विभिन्न मत प्रकट किये गये है महापण्डित राहुल साकृत्यायन ने राजस्थानी और अन्य भारतीय आधुनिक भाषाओ का उद्भव-काल वि० स० ८१७ निर्धारित किया है[2]

राजस्थानी भाषा-साहित्य का आरम्भ-काल वि० स० १०४५ भी लिखा गया है[3]

श्री नरोत्तमदास जी स्वामी ने राजस्थानी भाषा का उद्भव वि० स० ११५० लिखा है[4]

राजस्थानी भाषा-साहित्य की प्राचीनतम रचना के रूप मे 'पूपी' अथवा 'पुष्य कवि' द्वारा वि० स० ७०० मे रचित अलकार-ग्रन्थ का उल्लेख मात्र प्राप्त होता है[5]

यह कृति अद्यावधि अप्राप्य है अतएव इसके विषय मे निश्चितरूपेण मत नही व्यक्त किया जा सकता इसी प्रकार चित्तौड—नरेश खुमाण द्वितीय [वि० स० ८७०-९००] कृत 'खुमाण-रासो' का उल्लेख भी प्राप्त होता है किन्तु यह ग्रथ भी प्राप्य नही है[6] १८वी सदी मे दौलतविजय अपर नाम दलपतविजय रचित खूमाण-रासो और उक्त खूमाण रासो को एक ही कृति मान लेने के कारण विद्वानो मे एक विवाद अवश्य उठ खडा हुआ है[7] इस प्रकार राजस्थानी भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे उक्त ग्रथो को प्रमाण स्वरूप नही प्रस्तुत किया जा सकता.

उद्योतन सूरि द्वारा वि० स० ८३५ मे लिखे गये 'कुवलयमाला' कथाग्रन्थ से राजस्थानी भाषा के मरुदेशीय रूप का उल्लेख नाम सहित इस प्रकार प्राप्त होता है—

वके जडे य जड्डे वहु भोइ कठि(ढि)ण, पीण सू (थू) णगे।
अप्पा तुप्पा भणिरे अह पेच्छइ मारुए तन्तो ॥[8]

उक्त प्रमाण से प्रकट है कि राजस्थानी भाषा का उद्भव वि० स० ८३५ मे हो चुका था और उसके मरुदेशीय रूप की प्रतिष्ठा भी हो चुकी थी इसलिए उद्योतन सूरि ने देश की तत्कालीन अठारह उल्लेखनीय प्रमुख भाषाओ मे मरुदेशीय भाषा की गणना की इस प्रकार राजस्थानी भाषा-साहित्य का उद्भवकाल नवमी शताब्दी विक्रमीय मान लेने में कोई आपत्ति नही होनी चाहिए

नवी शताब्दी से आधुनिक काल तक राजस्थानी भाषा-साहित्य का निर्माण निरन्तर होता रहा है जिससे इस साहित्य की सम्पन्नता स्वत प्रकट होती है राजस्थान मे ब्राह्मण-पण्डितो, राजपूतो, चारणो, मोतीसरो, ब्रह्म भट्टो, ढाढ़ियो, जैनसाधु और साध्वियो, यतियो, निर्गुणी सतो आदि साहित्यानुरागियो द्वारा प्रचुर परिमाण मे राजस्थानी भाषा-साहित्य का निर्माण, सरक्षण, सवर्द्धन, अनुवाद, टीका आदि कार्य सुचारु रूप मे सम्पन्न हुआ राजस्थानी भाषा-साहित्य

---

१ राजस्थानी भाषा की उत्पत्ति और विकास के विषय में विशेष विवरण लेखक की एक पुस्तक "राजस्थानी भाषा की रूपरेखा" प्रकाशक—हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, बनारस में पृ० ७।२३ पर दृष्टव्य है

२ हिन्दी काव्यधारा, किताब महल, प्रयाग, प्रस्तावना पृ० १०

३ राजस्थानी भाषा और साहित्य, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग पृ० १०३

४ राजस्थानी भाषा और साहित्य, नवयुग ग्रन्थ कुटीर बीकानेर, पृ० ०२

५ (क) डा० रामकुमार वर्मा, 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', रामनारायणलाल इलाहाबाद, १९५८ पृ० ८९
(ख) प्रो० उदयसिंह भटनागर, हिन्दी साहित्य भाग २, भारतीय हिन्दी परिषद् प्रयाग, १९५९ पृ० ६२०

६ शिवसिंह सरोज, सातवा सस्करण, १९२६ पृ० ९

७ (क) रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', सातवा सस्करण, स० २००८ पृ० ३३
(ख) डा० रामकुमार वमा, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, रामनारायण लाल, इलाहाबाद, १९३८ पृ० १४४

८ (क) कुवलयमाला कथा, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, पद्मश्री मुनि जिनविजयजी, भारतीय विद्या भवन, बम्बई
(ख) अपभ्रश काव्यत्रयी, स० लालचन्द्र भगवानदास गाधी, गायकवाड़-ओरियन्टल सीरीज, ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ोदा पृ० ९०-९३

सत-साहित्य

राजस्थान प्राचीनकाल से ही अनेक सन्त-सम्प्रदायों का केन्द्र रहा है राजस्थानी वीरों के आश्रय में अनेक सन्त-सम्प्रदायों को प्रोत्साहन मिला राजस्थान में दादू, रामस्नेही निरञ्जनी बिश्नोई आदि सन्त-सम्प्रदायों का जन्म भी हुआ दादू, रज्जब रामचरणदास सुन्दरदास जसनाथ जैसे अनेक सन्तों की वाणी का राजस्थान में ही नहीं बाहर भी प्रचार है राजस्थानी सत-साहित्य में धार्मिक उदारता का प्रतिपादन हुआ है इसमें आत्मा और परमात्मा की एकता बताते हुए सभी वर्गों और जातियों के लिए मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया गया है [1]

लोक-साहित्य

जनता से मौखिक परम्परानुसार प्राप्त होने वाला साहित्य लोकसाहित्य कहा जाता है विद्वानों ने इस साहित्य को ग्राम-साहित्य और लोकवार्ता साहित्य भी कहा है राजस्थान का प्राकृतिक वातावरण अनेक विविधताओं से पूर्ण है तदनुसार राजस्थान का लोक-साहित्य भी विविध रूपों में उपलब्ध होता है राजस्थान में प्राचीनकाल से ही मौखिक साहित्य को लिपिबद्ध करने की परिपाटी रही है इसलिए हस्तलिखित ग्रंथों में भी अनेक लोककथाएं, लोकगीत कहावतें पहेलियाँ और मौखिक काव्यादि लिखित रूप में प्राप्त हो जाते हैं राजस्थानी भाषा में लोक साहित्य के अन्तर्गत हजारों की संख्या में लोकगीत लोककथाएं कहावतें मुहावरे पहेलियाँ पवाड़े और ख्याल (लोक-नाटक) प्रचलित हैं धार्मिक सिद्धान्तों के प्रचार के लिए अनेक जैन साहित्यकारों ने भी लोक साहित्य की विभिन्न शैलियों में अपनी रचनाएं लिखी हैं जिनमें उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है राजस्थानी लोक साहित्य मौखिक होने से लुप्त होता जा रहा है इसलिए इसको तुरन्त ही वैज्ञानिक विधियों से लिपिबद्ध करना आवश्यक है राजस्थानी भाषा में 'पाबू जी रा पवाड़ा' बगड़ावत और 'निहालदे' नामक महाकाव्य अभी तक मौखिक रूप में प्रचलित हैं आकार-प्रकार की दृष्टि से इनका महत्त्व महाभारत से कम नहीं माना जा सकता

आधुनिक-साहित्य

भारत में ब्रिटिश-शासन की स्थापना के पश्चात् नवीनता का सूत्रपात हुआ है इसी समय राजस्थानी साहित्य में भी नवीन विचारों और नवीन विधाओं का समावेश होने लगा राजस्थान में राजाओं और अंग्रेजों के दोहरे शासनकाल में प्रेस एवं प्रकाशन कार्यों पर कड़े प्रतिबन्ध लगाए गए जिनके परिणाम स्वरूप आधुनिक राजस्थानी साहित्य का प्रकाशन यथेष्ट मात्रा में नहीं हो सका तथापि शिवचन्दजी भरतिया रामकरणजी आसोपा गुलाबचन्दजी नागोरी डा गौरीशंकर जी हीराचन्द ओझा पुरोहित हरिनारायणजी प्रभृति अनेक समर्थ साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं से राजस्थानी साहित्य को समृद्धिशाली बनाया आधुनिक काल में मुनि जिनविजयजी अगरचन्दजी नाहटा नरोत्तमदासजी स्वामी डा मोतीलाल कन्हैयालालजी सहल मनोहरजी शर्मा सीतारामजी लालस डा तेस्सीतोरी डा ग्राम ग्रियर्सन डा एलम डा सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या प्रभृति विद्वानों ने राजस्थानी भाषा साहित्य का विशद अध्ययन किया और रानी लक्ष्मी कुमारीजी चूंडावत जैसे अनेक गद्यलेखक राजस्थानी साहित्य को समृद्ध करने में संलग्न हैं राजस्थानी कवियों में नारायण सिंह भाटी और कन्हैयालाल सेठिया की विविध विषयक रचनाएं चन्द्रसिंह और नानूराम की प्रकृति सम्बन्धी रचनाएँ मेघराज मुकुल और गजानन वर्मा के गीत रेवतदान चारण की ओजस्वी रचनाएं और विमलेश और बुद्धिप्रकाश की हास्यरसात्मक रचनाएं विशेष उल्लेखनीय हैं वर्तमान में सैकड़ों ही कवि और लेखक राजस्थानी भाषा को सम्पन्न करने में सचेष्ट हैं और इनकी रचनाओं का जनता में विशेष प्रचार प्रसार है

---

१ राजस्थानी सन्त-साहित्य पर विस्तृत विवरण लेखक के सन्त निबन्ध (श्री ... अभिनन्दन ग्रन्थ ४ ... हनुमान ...) में हिन्दी में प्रस्तुत किया गया है

और श्रृगार भी डिंगल कवियो के प्रिय विषय रहे है वीरता श्रृगार और भक्ति की त्रिवेणी मे स्नान कर मध्यकालीन राजस्थानी शूरवीर अनुपम वीरता और त्याग-भावना का परिचय दे सके हैं डिगल काव्यो से हमे स्वाधीनता, स्वाभिमान और आत्मरक्षा का अमर सदेश प्राप्त होता है

डिंगल साहित्य की उत्कृष्टता सभी विद्वानो ने स्वीकार की है, किन्तु डिंगल[1] शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध मे प्रकट किए गए मतो मे भिन्नता दृष्टिगोचर होती है इनमे से प्राय सभी मत अनुमानाश्रित है

डिंगल रचनाओ मे शिवदास चारण (१४७० वि० १४१४ ई०) कृत 'अचलदास खीची री वचनिका' दुरसा जी आढा (१५९२-१७१२ वि० १५३६-१६५६ ई०) की 'विरुद्ध छिहत्तरी' और मुक्तक गीत, ईसरदास जी बारहठ (१५९५ वि० १६७६ वि० स०) कृत 'हाला झाला रा कुडलिया' और हरिरस, महाराज पृथ्वीराज राठौड (वि० स० १६०६-१६५७, १५५० से १६०१ ई०) कृत 'वेलि क्रिसन रुकमणी री' 'साया जी झूला (१६३२ से १७०३ वि० स०) कृत 'रुकमिणीहरण' व 'नागदमण' कविया करणीदान जी (रचना काल सवत् १८०० लगभग) कृत 'सूरजप्रकाश' कविराजा बाकीदास (स० १८२८ से १८९०) कृत अनेक लघुकाव्य, महाकवि सूरजमल मिश्रण (१८७२ से १९२० वि० स०) कृत 'वीरसतसई, केसरीसिंह बारहठ (१९२९ से १९९८ वि० स०) कृत स्फुट पद्य और नाथूदान महियारिया (वर्तमान) कृत 'वीर सतसई' विशेष उल्लेखनीय हैं

पिंगल-साहित्य

पिंगल का अर्थ छन्दशास्त्र होता है राजस्थानी पिंगल साहित्य से तात्पर्य अनेक विद्वानो ने ब्रजभाषा लिया है किन्तु पिंगल का अर्थ ब्रजभाषा किसी भी कोष मे उपलब्ध नही होता राजस्थानी पिंगल साहित्य से तात्पर्य मुख्यत शौरसेनी प्रभावित राजस्थानी काव्यो के उन रूपो से है जिनकी रचनाए परम्परागत छन्दो मे हुई है शौरसेनी अथवा ब्रजभाषा का प्रभाव अनेक राजस्थानी काव्यो पर न्यूनाधिक मात्रा मे उपलब्ध होता है राजस्थानी पिंगल-रचनाओ मे महाकवि चन्द कृत 'पृथ्वीराज रासो [इसकी प्राचीनतम प्रति स० १६६४ मे लिखित उपलब्ध हुई है और राजस्थान प्राच्य-विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर के ग्रथागार मे सुरक्षित है], नरहरिदास बारहठ [वि० स० १६४८ से १७३३] कृत अवतारचरित्र, महाराजा बहादुरसिंह, किशनगढ [शा० का० १७४९-१७८२ वि० स०] कृत मुक्तक छन्द, गणेशपुरी [ज० स०१८८३] कृत 'वीर विनोद' [महाभारतगत प्रसग पर आधारित], महाराजा प्रतापसिंह, जयपुर [वि० १८२१-१८६०] महाराणा जवानसिंह उदयपुर [वि० १८५७-१८९५] राजकुमारी सुन्दरकुवरी, किशनगढ [वि० स० १७९१-१८५३] की रचनाए और स्वरूपदास कृत 'पाण्डव यशेन्दु चन्द्रिका [२०वी सदी] महत्त्वपूर्ण है

पौराणिक एवं भक्ति साहित्य

राजस्थानी भाषा मे पुराण-ग्रन्थो पर आधारित साहित्य भी विशाल परिमाण मे लिखा गया है इस प्रकार का साहित्य पद्य के साथ ही गद्य मे भी प्राप्त होता है इसलिए विशेष महत्त्वपूर्ण है राजस्थानी पौराणिक साहित्य मे राम, कृष्ण, शिव, दुर्गा आदि के साथ ही, हरिश्चन्द्र, उषा, अनिरुद्ध के चरित्रो का विस्तृत निरूपण हुआ है साथ ही ब्रह्माण्ड-पुराण, पद्मपुराण, श्रीमद्भागवत और सूर्यपुराण के टीका युक्त राजस्थानी अनुवाद भी मिलते हैं पौराणिक साहित्य मे सोढी नाथी [अमरकोट] कृत बालचरित्र [स० १७३१] और कसलीला [स० १७३१] सम्मन बाई कविया [अलवर] कृत कृष्ण-बाल लीला, भीमकवि कृत हरि लीला [र० का० स०१५४३] तथा श्रीमद्भागवत, हरिवंश पुराण और विष्णु-पुराण सम्बन्धी रचनाए उल्लेखनीय हैं

---

१ डा० हीरालाल माहेश्वरी, राजस्थानी भाषा और साहित्य, आधुनिक पुस्तक भवन ३०-३१ कलाकार स्ट्रीट, कलकत्ता ७, पृ० ६-१७

मतिसागर भरतेश्वर-सवाद दूत-बाहुबलिसवाद आदि—दूत-बाहुबलिसंवाद का एक उदाहरण निम्न है

दूत पभणइ दूत पभणइ बाहुबलि राउ
भरहेसर चक्क धर कहि म कवणि दूहवय कीजइ
वेगि सुवेगि बोलिइ संभलि बाहुबलि।
विण बंधव सवि सपइ ऊणी जिम विण लवण रसोई अलूणी।
तुम बसलि उत्कंठित राउ मितु नितु वाट जोइ भाउ॥

बाहुबली दूत को वीरतापूर्वक उत्तर देते हैं

राउ जंपइ राउ जंपइ सुणिन सुणि दूत।
जं विहि लिहीउं माल अछि तमि कोइ इह कोइ पामइ।
घरि रि देव म दामव महिमडलि मंडलीक मानव
काइ न जंपइ अहिया कहि कामहि अधिक न ओमा दहि।

इस रास में सेना-वर्णन दिग्विजय-वर्णन हाथी घोड़ों और सनिकों के अनेक वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण हैं किन्तु भाषा मे सर्वत्र प्रवाह और अनुप्रासो की छटा वर्तमान है वीर रसात्मक काव्यों में सेना-यात्रा के प्रसंग अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं भरतेश्वर बाहुबलि रास में सेनायात्रा का वर्णन इस प्रकार है—

ठवणि
प्रहि ऊगमि पूरब दिसिहिं पहिलउ चालिय चक्क।
धूजिय धरयल थरहरए, चलिय कुलाचल-चक्क॥१८॥
पूठि पियाणुं तउ दियए भुयबलि भरह नरिंदु तु।
पिडि पचायण परदल हैं हरिखिहि अमर सुरिंदु॥१९॥
वरिजय समहरि सचरिय सेनापति सामत
मिलिय महाधर मडलिय गाडिम गुण गज्जत॥२०॥

कवि साधारु ने संवत् १४११ वि (१३५४ ई) में 'प्रद्युम्नचरित्र' लिखा इस काव्य मे कृष्ण और रुक्मिणी के पुत्र प्रद्युम्नकुमार का चरित्र ७ पद्यो में वर्णित है

कवि छीहल का रचनाकाल स १५७४ [१५१७ ई] है जिन्होने 'पचसहेली रा दूहा' लिखा कवि ने अपना परिचय इस प्रकार दिया है

चउरासी अगलाइ सइ जु पन्नइ सवच्छर।
सुकल पख अष्टमी, मास कातिक गुरु वासर॥
हृदय ऊपनी बुद्धि नाम श्री गुरु को लीन्हउ।
सारद तणइ पसाइ कवित सपूरण कीन्हउ॥
नाल्हिग वसिनाथू सुतनु अगरवाल कुल प्रगट रवि॥
बावनी सुधा रवि विस्तरा कवि कव्वा छीहल कवि॥२१॥

१ आत्मप्रतिबोध जयमाल २ उदरगीत ३ पथीगीत और ४ छीहल बावनी या बावनी छीहल कवि की प्रसिद्ध रचनायें है

विनयसमुद्र बीकानेर के उपकेसगच्छीय वाचक हरसमुद्र के शिष्य थे जिनका समय स० १५८३ से १६१४ तक है इनकी रचनायें इस प्रकार है

१ हिन्दी काव्यधारा राहुल सांकृत्यायन पृ ४

जैन साहित्यकार

आधुनिक भारतीय भाषा के साहित्य मे प्राचीनतम रचनाए जैन साहित्यकारो द्वारा रचित ही उपलब्ध होती है जैन साहित्य का महत्त्व प्राचीनता के साथ ही गद्य की प्रचुरता, काव्यो की विविधरूपता और जीवन को उच्च उद्देश्य की ओर अग्रसर करने की क्षमता के कारण है जैन साहित्यकार सामान्य सासारिक जीव नही है वरन् वे जीवन के विस्तृत अनुभवो से युक्त और साधना के उच्च धरातल पर पहुँचे हुए ज्ञानी-महात्मा है अतएव जैन-साहित्य शुद्ध साहित्यिक तत्त्वो से युक्त होता हुआ भी उपदेश-तत्त्वो से पूर्ण है जैन-साहित्य मे शुद्ध साहित्यिक तत्त्वो के साथ ही उसकी उपयोगिता के तत्त्व भी उपलब्ध होते है

अनेक इतिहासकारो ने धार्मिक तत्त्व होने से जैन-साहित्य का समावेश अपने इतिहास-ग्रथो मे नही किया है वास्तव मे धार्मिक तत्त्वो से हीन साहित्य को साहित्य भी नही कहा जा सकता सूर और तुलसी जैसे अनेक साहित्यकारो का साहित्य पूर्णरूपेण धार्मिक है जिसका समावेश इन ग्रथो मे किया गया है इन इतिहासकारो ने, प्राचीनकाल मे अन्य रचनाए उपलब्ध नही हुई तब अवश्य ही काल-स्थापना के लिए जैन-रचनाओ का उल्लेख किया है

जैन साहित्यकारो ने वास्तव मे केवल धार्मिक विषयो पर ही नही लिखा, वरन् वैद्यक, कोष, नगर-वर्णन, काव्य-शास्त्र, इतिहास, भूगोल, वास्तु-विद्या आदि अनेक विषयो पर अधिकारपूर्वक यथातथ्य निरूपण करते हुए लिखा है

जैन-साहित्यकारो ने अनेक साहित्यिक विधाओ की सृष्टि की पद्य के अन्तर्गत प्रबन्ध, रास, रासो, भास, चउपई, फाग, बारहमासा, चउमासा, दूहा, गीत, धवल, गजल, सवाद, मात्रिका, स्तवन, सज्झाय, और मगल आदि विविध रूप जैन साहित्यकारो द्वारा विकसित हुए इसी प्रकार गद्य के अन्तर्गत वार्ता, कथा, टीका, टव्वा और बालावबोध आदि के रूप लिखे गये

जैन-साहित्यकारो ने प्राचीन साहित्य की रक्षा मे भी अपूर्व योग दिया है जैन-भण्डारो मे जैन और अजैन दोनो ही प्रकार के प्राचीन ग्रथ सुरक्षित रहे है जैन साहित्यकार प्राचीन ग्रथो की प्रतिलिपियाँ आज तक करते रहते है और इस प्रकार प्राचीन जीर्ण प्रतियो का पुनरुद्धार होता है प्राचीन ग्रथ-सुरक्षा की दृष्टि से जैसलमेर ग्रथ भण्डार का उदाहरण हमारे लिये आदर्श बना हुआ है

राजस्थानी जैन साहित्यकारो मे वज्रसेन सूरि का 'भरतेश्वर बाहुबलि घोर' राजस्थानी भाषा की प्राचीनतम रचना मानी जाती है इस रचना मे कवि ने ४६ पद्यो मे भरतेश्वर और बाहुबली का युद्धवर्णन किया है इस काव्य मे शात रस का भी समावेश है

राजस्थानी साहित्य के वीर-गाथाकाल के प्रधान कवि शालिभद्र सूरि हुए, जिन्होने वि० स० १२४१ मे 'भरतेश्वर बाहुबली रास' काव्य लिख कर रास परम्परा के अतर्गत वीर-रसात्मक काव्यो का श्रीगणेश किया मुहम्मदगोरी की पृथ्वीराज चौहान के विरुद्ध तराइन युद्ध (वि० स० १२४०, ई० ११७३) की विजय से जनता मे प्रबल प्रतिशोध की भावना उत्पन्न हुई और वीररस का सचार हुआ फलस्वरूप शालिभद्रसूरि जैसे कवि भी अपने आपको सम-सामयिक वीर-भावना से वचित न कर सके

सम-सामयिक वीर-भावना के परिणाम स्वरूप जैन-साहित्य मे भरतेश्वर और बाहुबलिविषयक काव्य-निर्माण की सुदीर्घ परम्परा प्रचलित हुई भरत और बाहुबली के मध्य हुए युद्ध के दृश्य अर्बुदाचल के सुप्रसिद्ध जैन-मदिर विमल-वसही मे सुन्दरतापूर्वक उत्कीर्ण किये हैं[1] यह रास वीररसपूर्ण होते हुए भी निर्वेदान्त है इसमे उत्साह, दर्प और स्वाभिमान-पूर्ण उक्तियो की काव्यात्मक पक्तियाँ विशेष पठनीय हैं अनेक स्थल नाटकीय सलापो से अलकृत है, यथा

---

१ भरतेश्वर—बाहुबलि रास, स० लालचन्द भगवानदास गाधी, प्राच्य विद्या मदिर वडौदा, प्रस्तावना पृ० ५३-५६

मतिसागर भरतेश्वर-सवाद दूत-बाहुबलिसवाद आदि—दूत-बाहुबलिसवाद का एक उदाहरण निम्न है

> दूत पभणइ दूत पभणइ बाहुबलि राउ
> भरहेसर चक्क धर कहि न कवणि दूहव्या कीजइ
> वेगि सुवेगि बोलिइ संभलि बाहुबलि ।
> *जिम संभव सवि सरइ ऊभी जिम जिय सबरा रसोई अखूटी ।*
> तुम बमथि उत्कठित राउ मितु नितु बाट जोइ भाउ ॥

बाहुबली दूत को धीरतापूर्वक उत्तर देते है

> राउ जपइ राउ जपइ सुणिन सुणि दूत ।
> जे जिहि जिहीउं भाव मनि तनि जोइ इह जोइ पामइ ।
> भरि रि देव न दानव महिमडलि मडलेव मानव
> काइ न खंपइ कहिया कहि जामहि अधिक न शोभा दहि ।

इस रास मे सेना-वर्णन दिग्विजय-वर्णन हाथी घोड़ों और सैनिकों के अनेक वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण हैं किन्तु भाषा में सर्वत्र प्रवाह और अनुप्रासों की छटा वर्तमान है वीर रसात्मक काव्यो म सेना-यात्रा के प्रसग अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते है भरतेश्वर बाहुबलि रास में सेनायात्रा का वर्णन इस प्रकार है—

> ठवणि
> अह डगमि पूरब दिसिहिं पहिलउ चालिय चक्क ।
> धूजिय धरयल थरहरए, चलिय कुलाचल-चक्क ॥१८॥
> पूठि पियाल तड दिपए भुयबलि भरह नरिंदु तु ।
> पिठि पंचायण परदल हैं हबिलचित्र चमर सुरिंदु ॥१६॥
> चडिअउ समहरि सचरिय सेनापति सामत
> मिलिय महाभर मडलिय गाजिय गुड गज्जत ॥२ ॥

कवि साधारु ने सवत् १४११ वि (१३५४ ई) में 'प्रद्युम्नचरित' लिखा इस काव्य में कृष्ण और रुक्मिणी के पुत्र प्रद्युम्नकुमार का चरित ७ पद्यो में वर्णित है

कवि छीहल का रचनाकाल स १५७४ [१५१७ ई] है जिन्होने 'पचसहेली रा दूहा' लिखा कवि ने अपना परिचय इस प्रकार दिया है

> चउरासी अगलइ सइ जु पन्नइ सवच्छर ।
> सुकल पख अष्टमी, मास कातिक गुरु वासर ॥
> हृदय ऊपनी बुद्धि नाम श्री गुरु का लीन्हउ ।
> नाल्हिग वसिनापु सुतनु अगरवाल कुल प्रगट रवि ॥
> बावनी सुधा रचि विस्तरी कवि कंकण छीहल कवि ॥२३॥

१ आत्मप्रतिबोध जयमाल २ उदरगीत ३ पंथीगीत और ४ छीहल बावनी या बावनी छीहल कवि की प्रसिद्ध रचनायें है

विनयसमुद्र बीकानेर के उपकेशगच्छीय वाचक हर्षसमुद्र के शिष्य थे जिनका समय सं १५८३ से १६१४ तक है इनकी रचनाये इस प्रकार है

---

१ हिन्दी काव्यधारा राहुल सांकृत्यायन पृ ४

१ विक्रम पचदड चोपाई २ अम्बड चौपाई (१५९९) ३ आराम शोभा चौपाई (१५८३) ४ मृगावती चौपाई (१६०२) ५ चित्रसेन पद्मावती रास (१६०४) ६ पद्म चरित्र (१६०४) ७ शील रास (१६०४) ८ रोहिणेय रास (१६०५) ६ सिंहासन बत्तीसी चौपाई, (१६११), १० नल दमयती रास (१६१४), ११ सग्राम सूरि चौपाई, १२ चदनबाला रास, १३ नमि राजर्षि सधि (१६३२) १४ माधु वदना (१६३६), १५ ब्रह्मचरि, १६ श्रीमधर स्वामी स्तवन, १७ शत्रुजय गिरि मडण श्री आदिश्वर स्तवन, १८ स्तम्भन पार्श्वनाथ स्तवन, १६ पार्श्वनाथ स्तवन, २० इलापुत्र रास

इनकी एक रचना का उदाहरण इस प्रकार है

ताहरइ दरसण दुरित -पुलाई, नव निधि सबि मदिर थाई, जाई रोग सबि दूरो।
समरण सकट सगला नासइ, बाध सग पुण नावइ पासइ, आपइ आणद पूरो।
वामेय वसुहानद दायक, तेज तिहुयण नायको।
धरणेन्द्र सेवत चरण अनुदिन, सयल वंछिय दायको।
थंभणाधीश जिणेश प्रभु तू, पास जिणवर सामिया।
वीनती विनइ पयोध जपइ, सयल पूरवि कामिया।

सोलहवी सदी के जैन कवियो मे खरतरगच्छीय कुशललाभ का स्थान महत्त्वपूर्ण है इनका जन्म स० १५८० के लगभग माना जाता है इन्होने 'माधवानल चोपाई' 'ढोलामारवणीरी चौपाई' और 'पिंगल शिरोमणि,' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो की रचनाएँ की इनकी अन्य स्फुट रचनाएँ भी उपलब्ध होती है

हीरकलश, खरतरगच्छीय सागरचन्द्र सूरि-शाखा के कवि हो गये है जिनका जन्म स० १५९५ माना जाता है हीर-कलश ज्योतिष के विशेष ज्ञाता थे इनका रचित साहित्य २८ रचनाओ मे उपलब्ध हो चुका है इनके मोती-कपासिया सवाद का उदाहरण इस प्रकार है

मोती — देव पूजउ गुरु त गति जिहा, मगल काजि विवाह।
आदर दीजइ अम्हा तणी, सवि ज करइ उछाह॥

कपासिया — सभलि तवइ कपासीउ, मोती म हूय गमार।
गरब न कीजइ बापड़ा, भला भली संसार॥

मोती — कहि मोती सुण काकडा, मइ तइ केहो साथ?
हु साव्हु कचण सरिस, तइ खल कूकस बाथ।
मइ सुर नरवर भेटिया, कीधां जीहा सिंगार।
तइ भेटीया गोधण वलद, जिहा कीधा आहार॥

कपासिया — उत्तर दीयइ कपासीयउ, अन्न आहार जोइ।
गाया गोरस नीपजइ, वलदे करसण होइ।
गोधण जदि वाटउ न हुइ, तदि वरतइ कतार।
धान वडइ तव वेचीयइ, सोवन मोती हार॥

हेमरत्न सूरि का समय अनुमानत स० १६१६ से १६७३ है इनकी स० १६४५ मे रचित 'गोरा वादल पदमिणी चऊपई' विशेष प्रसिद्ध है इस रचना मे अलाउद्दीन के चित्तौड—आक्रमण और गोरा वादल की वीरता का वर्णन है इस कृति मे कवि ने विभिन्न रसो का समावेश किया है

"वीरा रस सिणगार रस, हासा रस हित हेज।
साम-धरम रस साभलउ, जिम होवइ तन तेज॥"
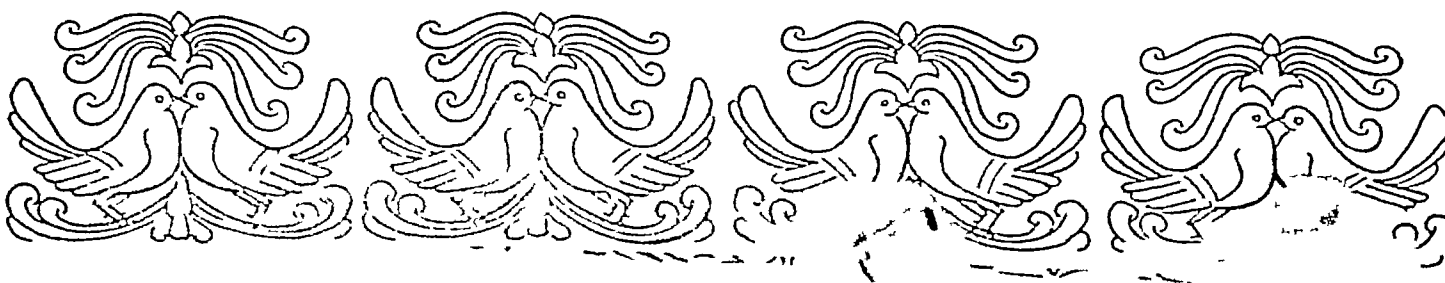
इनकी रचना का उदाहरण इस प्रकार है

> पांन पदारथ सुघड़ नर अणतोलीया बिकाई। जिम जिम पर भुइ संचरइ मोलि मुहगा थाइ।
> हंसा मइ सरवर घणां कुसुम केती भवराह। सापुरिसां मइ सज्जन घणा दूरि विदेस गयांह।

सत्रहवीं सदी के जैन साहित्यकारों में समयसुन्दर (सं १६२ से १७ २) का स्थान महत्त्वपूर्ण है इनकी रचनायें अनेक हैं जिनका प्रकाशन समयसुन्दर कृत 'कुसुमांजलि' में श्री अगरचन्द जी नाहटा द्वारा सपादित रूप में हो चुका है. इनके गीतों के विषय में प्रसिद्ध है

> 'समयसुन्दर रा गीतड़ा कुंभे राणे रा भींतड़ा।

अर्थात् जिस प्रकार महाराणा कुंभा द्वारा बनवाया हुआ चित्तौड़ का कीर्तिस्तम्भ कुंभस्याम का मन्दिर और कुंभसगढ़ प्रसिद्ध है उसी प्रकार समयसुन्दर के गीत प्रसिद्ध हैं

कवि उन्मराज जोधपुर नरेश उदयसिंह जी के समकालीन थे इनका (ज स १६३१ १५७४ ई) माना जाता है इनकी रचनाओं में भवनछत्तीसी और 'गुणबावनी महत्त्वपूर्ण है

जिनहर्ष का अपर नाम जसराज था इनकी रचनाओं में जसराज बावनी (स १७३८ वि में रचित) और नन्द बहोत्तरी (स १७१४ में रचित) प्रसिद्ध है

१८ वी शताब्दी में आनन्दघन नामक कवि ने 'चौबीसी' नामक रचना में तीर्थंकरों के स्तवन लिखे इनका देहान्त मारवाड़ में स १७३ वि मे हुआ इनका आध्यात्मिक चिंतन उच्चकोटि का था

> राम कहो रहमान कहो कोउ कान कहो महादेव री।
> पारसनाथ कहो कोउ ब्रह्मा सकल ब्रह्म स्वयमेव री॥
> भाजन-भेद कहावत नाना एक मृत्तिका रूप री।
> तैसे खण्ड कल्पना रोपित आप अखण्ड सरूप री॥
> निज पद रमे राम सो कहिए रहिम करे रहेमान री।
> कर्से करम कान से कहिए, महादेव निर्वाण री॥
> परसे रूप पारस सो कहिए ब्रह्म चीन्हें सो ब्रह्म री।
> इस विध साधो आप आनन्दघन चेतनमय नि:कर्म री॥

उत्तमचन्द और उदयचन्द भंडारी जोधपुर के महाराजा मानसिंह के मंत्री थे इनका रचनाकाल सं १८१३ से १८८६ तक है दोनों ही भंडारी बन्धुओं ने अनेक रचनाएँ की जिनसे इनके काव्यशास्त्रीय और आध्यात्मिक ज्ञान का परिचय मिलता है

जैन साहित्यकारों की संख्या सैकड़ों ही नहीं हजारों तक पहुँचती है प्रत्येक काल में साहित्यकारों की रचनाएँ विकसित अवस्था में और विविध रूपों में प्राप्त होती हैं जैन साहित्य मुख्यत राजस्थान और गुजरात में रचा गया क्योंकि प्राचीनकाल में जैन धर्म का प्रचार भी मुख्यत इन्हीं प्रदेशों में हुआ जैन साहित्यकारों ने सदा ही लोक-भाषा राजस्थानी और गुजराती में अपनी रचनाएँ लिखी जिससे इनका प्रचार समस्त जनता में सुदूर देहातों तक में हुआ संस्कृत और हिन्दी में रचित जैन साहित्य भी उपलब्ध होता है किन्तु अत्यधिक मात्रा में ही राजस्थानी भाषा में रचित जैन साहित्य राजस्थान ही नहीं वरन् विदेश के अनेक ग्रन्थ-भण्डारों में मिलता है राजस्थान के अनेक स्थानों में जैन साहित्य सम्बन्धी हजारों ही हस्तलिखित ग्रन्थ बिखरे हुए धूल-धूसरित और जीर्ण-शीर्ण अवस्था में पड़े हुए हैं इन ग्रन्थों के विधिवत् संग्रह सूचीकरण सपादन और प्रकाशन की अब अनिवार्य आवश्यकता है इस प्रकार के कार्यों के पूर्ण रूपेण सम्पादित होने पर ज्ञात होगा कि जैन साहित्यकारों का राजस्थानी साहित्य के निर्माण एवं विकास में महत्त्वपूर्ण योग रहा है

१ विक्रम पचदड चोपाई २ अम्बड चौपाई (१५६६) ३ आराम शोभा चौपाई (१५८३) ४ मृगावती चौपाई (१६०२) ५ चित्रसेन पद्मावती रास (१६०४) ६. पद्म चरित्र (१६०४) ७ शील रास (१६०४) ८ रोहिणेय रास (१६०५) ६ सिंहासन वत्तीसी चौपाई, (१६११), १० नल दमयती रास (१६१४), ११ सग्राम सूरि चौपाई, १२ चदनबाला रास, १३ नमि राजर्पि सधि (१६३२) १४ साधु वदना (१६३६), १५ ब्रह्मचरि, १६ श्रीमधर स्वामी स्तवन, १७ शत्रुजय गिरि मडण श्री आदिश्वर स्तवन, १८ स्तम्भन पार्श्वनाथ स्तवन, १६ पार्श्वनाथ स्तवन, २० इलापुत्र रास

इनकी एक रचना का उदाहरण इस प्रकार है

ताहरइ दरसण दुरित पुलाई, नव निधि सवि मदिर थाई, जाई रोग सवि दूरो।
समरण सकट सगला नासइ, वाध सग पुण नावइ पासइ, आपइ आणद पूरो।
वामेय वसुहानद दायक, तेज तिहुयण नायको।
धरणेन्द्र सेवत चरण अनुदिन, सयल वछिय दायको।
थंभणाधीश जिणेश प्रभु तू, पास जिणवर सामिया।
वीनती विनइ पयोध जपइ, सयल पूरवि कामिया।

सोलहवीं सदी के जैन कवियो मे खरतरगच्छीय कुशललाभ का स्थान महत्त्वपूर्ण है इनका जन्म स० १५८० के लगभग माना जाता है इन्होने 'माधवानल चोपाई' 'ढोलामारवणीरी चौपाई' और 'पिंगल शिरोमणि,' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो की रचनाएँ की इनकी अन्य स्फुट रचनाएँ भी उपलब्ध होती है

हीरकलश, खरतरगच्छीय सागरचन्द्र सूरि-शाखा के कवि हो गये हैं जिनका जन्म स० १५६५ माना जाता है हीरकलश ज्योतिष के विशेष ज्ञाता थे इनका रचित साहित्य २८ रचनाओ मे उपलब्ध हो चुका है इनके मोती-कपासिया सवाद का उदाहरण इस प्रकार है ·

मोती — देव पूजउ गुरु त गति जिहां, मगल काजि विवाह।
आदर दीजइ अम्हा तणी, सवि ज करइ उछाह॥

कपासिया — सभलि तवइ कपासीउ, मोती म हुय गमार।
गरव न कीजइ वापडा, भला भली ससार॥

मोती — कहि मोती सुण काकडा, मइ तइ केहो साथ?
हु साम्हु कचण सरिस, तइ खल कूकस वाथ।
मइ सुर नरवर भेटिया, कीधा जीहा सिंगार।
तइ भेटीया गोधण वलद, जिहा कीधा आहार॥

कपासिया — उत्तर दीयइ कपासीयउ, अह्म आहार जोइ।
गाया गोरस नीपजइ, वलदे करसण होइ।
गोधण जदि वाटउ न हुइ, तदि वरतइ कंतार।
धान वडइ तव वेचीयइ, सोवन मोती हार॥

हेमरत्न सूरि का समय अनुमानत स० १६१६ से १६७३ है इनकी स० १६४५ मे रचित 'गोरा बादल पदमिनी चऊपई' विशेष प्रसिद्ध है इस रचना मे अलाउद्दीन के चित्तौड—आक्रमण और गोरा बादल की वीरता का वर्णन है इस कृति मे कवि ने विभिन्न रसो का समावेश किया है

"वीरा रस सिणगार रस, हासा रस हित हेज।
साम-धरम रस सांभलउ, जिम होवइ तन तेज॥"

प० बेचरदास जीवराज दोशी

प्राचीन दिगम्बरीय ग्रन्थों में श्वेताम्बरीय आगमों के अवतरण

जैनधर्म के दिगम्बर और श्वेताम्बर भेदो को बहुत-बहुत गभीर विचार करने के बाद भी मैं समझ नही सकता, फिर भी हमारा समाज इन भेदो को मान कर चल रहा है, इसी दृष्टि से यहाँ इन भेदो का उल्लेख किया गया है

जैन आगमो मे तो स्पष्ट कहा गया है कि—'जो वि दुवत्थ-तिवत्थो बहुवत्थ अचेलगो व सथरइ, न हु ते हीलति पर सचे वि अ ते जिणाणाए'

—आचाराग द्वि श्रु० सूत्र २८६

तात्पर्य यह है कि कोई मुनि द्विवस्त्री हो अर्थात् केवल दो वस्त्र रखता हो, कोई तीन वस्त्र धारण करता हो, कोई बहुवस्त्री हो अथवा कोई अचेलक (चेल-वस्त्र से रहित) हो, और अपनी सयमसाधना कर रहा हो तो वे सब प्रकार के मुनि एक दूसरे की अवहेलना नही करते, क्योकि वे सब जिन भगवान् की आज्ञा के अनुसार चल रहे है

और भी कहा गया है—

ज पि वत्थ व पाय वा, कवल पायपु छण।
त पि सजमलज्जट्ठा धारेंति परिहरति य ॥

—दशवैकालिक अ० ६ गाथा १९

वस्त्र पात्र कबल और पादप्रोछनक-रजोहरण-को सयम की साधना के लिये ही मुनि ग्रहण करते है और सयम की साधना के लिये त्याग भी देते हैं इसका अभिप्राय यह है कि वस्त्रादि उपकरणो की अपेक्षा सयम की साधना के लिये ही है

उत्तराध्ययन सूत्र मे जो कहा गया, उसका तात्पर्य यह है कि श्री पार्श्वनाथ के शिष्य वस्त्र रखते थे और महावीर के शिष्य अचेलक भी रहते थे जब दोनो तीर्थंकरो का एक ही लक्ष्य था तो इस भेद का क्या कारण है?[1]

श्री पार्श्वनाथ की परम्परा के तत्कालीन आचार्य केशी के इस प्रश्न का उत्तर भ० महावीर की परम्परा के प्रधान आचार्य गौतम ने इस प्रकार दिया है—

'निर्ग्रंथो को लोग अमुक प्रकार से पहचानें और सयम-साधना की यात्रा चलती रहे, इसी हेतु से लिंग का—बाह्य वेशपरिधानादिक का प्रयोजन है और इसी उद्देश्य को लेकर वेशपरिधान विषयक नाना प्रकार की विकल्पना की गई है हम निर्ग्रन्थ मुनि जनो की प्रमुख प्रतिज्ञा तो जीते जी निर्वाण-सावना के सम्बन्ध मे है और ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र की

---

१ अचेलगो य जो धम्मो, जो इमो सन्तरुत्तरो।
देसियो वद्धमाणेण, पासेण य महामुणी ॥
एगकज्जपवन्नाण, विसेसे किं नु कारण ?।

—उत्तराध्ययन, अ० २३, गाथा० २९-३०
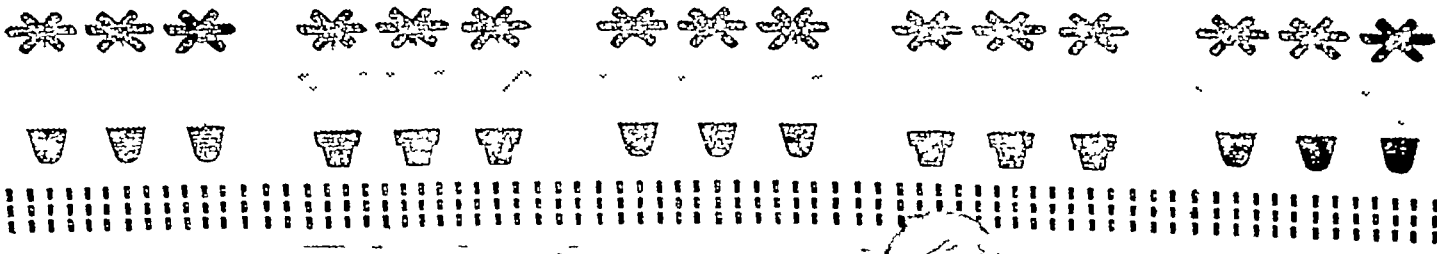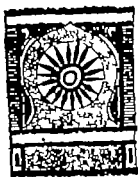
श्रीनेमिचन्द्र शास्त्री
पी-एच. डी. जैन कालेज आरा

संस्कृत-कोषसाहित्य को आचार्य हेम की अपूर्व देन

संस्कृत-कोशसाहित्य की परम्परा —संस्कृत भाषा में कोष-ग्रन्थ लिखने की परम्परा वैदिक युग से चली आ रही है निघण्टु —*निघण्टुओं की महत्त्वपूर्ण शब्दावली यास्क के निरुक्त के साथ उपलब्ध है विलुप्त कोष-ग्रन्थो में भागुरिकृत* कोष का नाम सर्वप्रथम आता है[1] अमरकोष की टीका में भागुरि के प्राचीन उद्धरण उपलब्ध होते है भानुजि दीक्षित ने अपनी अमरकोषटीका मे आचार्य आपिशलि का एक वचन उद्धृत किया है,[2] जिससे स्पष्ट है कि उन्होने भी कोई कोषग्रन्थ लिखा है उणादिसूत्र के वृत्तिकार उज्ज्वलदत्त द्वारा उद्धृत एक वचन से भी उक्त तथ्य की पुष्टि होती है आपिशलि वैयाकरण थे इनका स्थिति काल पाणिनि से पूर्व है

केशव ने नानार्थार्णव संक्षेप मे शाकटायन के कोशविषयक वचन उद्धृत किये है जिनसे इनके कोशकार होने की संभावना है[3] अभिधान चिन्तामणि आदि कोशग्रन्थों की विभिन्न टीकाओं मे व्याख्यात किसी विलुप्त कोष के उद्धरण मिलते है[4] कीथ ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास में नाममाला के कर्ता कात्यायन शब्दार्णव के रचयिता वाचस्पति और संसारावर्त के लेखक विक्रमादित्य का उल्लेख किया है[5]

उपलब्ध कोशग्रन्थो में सबसे प्राचीन और ख्यातिप्राप्त अमरसिंह का अमरकोश है डॉ हार्नले ने इसका रचनाकाल ६२५-९४० ई के बीच माना है यह समानार्थक शब्दों का संग्रह है और विषय की दृष्टि से इसका विन्यास तीन काण्डों मे किया गया है इसकी अनेक टीकाओ मे ग्यारहवी शताब्दी में लिखी गयी क्षीरस्वामी की टीका बहुत प्रसिद्ध है इसके परिशिष्ट के रूप मे संकलित पुरुषोत्तमदेव का त्रिकाण्डशेष है जिसमें उन्होने विरल शब्दों का संकलन किया है *कवि और वैयाकरण के रूप में ख्यातिप्राप्त हलायुध ने अभिधानरत्नमाला नामक कोशग्रन्थ ई सन् ९५ के लगभग* लिखा है इसमें पर्यायवाची समानार्थक शब्दो का संकलन है दाक्षिणात्य आचार्य यादव ने वैज्ञानिक पद्धति पर वैजयन्ती कोश लिखा है नवी शती के विद्वान् धनञ्जय ने नाममाला अनेकार्थनाममाला और अनेकार्थनिघण्टु ये तीन कोशग्रन्थ लिखे है, ये तीनो कोश छात्रोपयोगी सरल और सुन्दर शैली में लिखे गये है

कोश साहित्य की समृद्धि की दृष्टि से बारहवी शताब्दी महत्त्वपूर्ण है इस शती में केशवस्वामी ने नानार्थार्णवसंक्षेप एवं शब्दकल्पद्रुम महेश्वर ने विश्वप्रकाश अजयपाल ने नानार्थरत्नमाला और मंख कवि ने अनेकार्थकोष की रचना की है. इसी शताब्दी के महाविद्वान् आचार्य हेमचन्द्र ने अभिधानचिन्तामणि अनेकार्थसंग्रह एवं निघण्टुशेष की रचना की है

---

1. [illegible] भाग १ पृ २११
2. अमरटीका १।१।६६ पृ ६८
3. अभिधानचिन्तामणि—चौखम्बा संस्करण प्रस्तावना पृ ६
4. अभिधानचिन्तामणि १।५ [illegible] श्लो. ५
5. कीथ—संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ ४८६

प्रस्तुत पाठ कुछ खंडित-सा है, फिर भी विजयोदया के पाठ से बहुत कुछ समानता रखता है

विजयोदयावृत्तिकार आचारांग के और भी उद्धरण देते हैं, जैसे—आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कंध में वत्थेसणा (वस्त्रैषणा) प्रकरण आता है उसका निर्देश करते हुए विजयोदयावृत्तिकार लिखते हैं—'तथा वत्थेसणाए वुत्त' इत्यादि (पृ० ६११) इसी प्रकार 'पाएसणाए कथित' कह कर पात्रैषणा प्रकरण के पाठ का भी निर्देश करते हैं

आचारांगसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंधगत 'भावना' अध्ययन का भी 'भावनायां चोक्तम्' कहकर उल्लेख करते हैं

फिर 'तथा चोक्तम् आचारांगे' कह कर 'सुदं मे आउसंतो भगवदा एवमक्खादं' इत्यादि का निर्देश करते हुए विजयोदयाकार आचारांग के अवतरण को दिखाते हैं

उसके बाद "कारणमपेक्ष्य वस्त्रग्रहणम् इत्यस्य प्रमाणकम् आचारे विद्यते" ऐसा निर्देश करके जह पुण एवं जाणेज्ज उवातिक्कंते हेमंते (हमु) पडिवण्णे से अथ पडिज्जुण्णमुवधिं पदिट्ठवेज्जा' इति

यह पाठ कुछ अशुद्ध-सा है ठीक पाठ आचारांग के आठवें विमोह अध्ययन के चौथे उद्देशक में इस प्रकार है—'अह पुण एवं जाणेज्जा उवाइक्कंते खलु हेमंते, गिम्हे पडिवन्ने, अहापरिजुण्णाइं वत्थाइं परिट्ठवेज्जा'

इस प्रकार विजयोदयावृत्तिकार ने पृ० ६१० से ६१६ तक के मुद्रित पन्नों में कई जगह आचारांग का निर्देश करके कई अवतरण दिये हैं इनका अर्थ यह है कि वे आचारांग को प्रमाणरूप प्रतिष्ठित मानते थे इसी से पूर्वपक्ष करके भी इसके अवतरण उन्होंने दिए हैं इसी प्रकार उक्त पन्नों में सूत्रकृतांग सूत्र के पुंडरीक अध्ययन (द्वि० श्रुत०) तथा उत्तराध्ययन और दशवैकालिक के आचारप्रणिधि-अध्ययन का नाम लेकर अवतरण दिए हैं इस टीका में निषेध (निशीथ) तथा कल्प और आवश्यक सूत्र के भी बहुत-से अवतरण विद्यमान हैं

धवला टीका में (षट्खंडागम तीसरा भाग पृ० ३५) 'लोगो वादपदिट्ठिदो त्ति वियाहपण्णत्तिवयणादो' कह कर वियाहपण्णत्ति का प्रामाण्य स्वीकृत किया है 'लोक वातप्रतिष्ठित है' ऐसा वियाहपण्णत्ति का वचन है वर्तमान में प्राप्त वियाहपण्णत्ति में लोक वातप्रतिष्ठित कहा है यह वर्णन प्रथम शतक के छठे उद्देशक में २२४ वें प्रश्नोत्तर में है

इसके अतिरिक्त धवलाटीका में (षट्खंडागम प्र० भा० पृ० ५४) 'जम्सतिय' इत्यादि पद्य का अवतरण किया है वह पद्य दशवैकालिक सूत्र के नववें अध्ययन की बारहवीं गाथा है इसी प्रकार विजयोदयावृत्ति में षड् आवश्यक का विचार, दशकल्पविचार, उपधानविचार आदि अनेक चर्चाएँ सचेलक परम्परा के आगमों के अनुसार मिलती हैं किन्तु सचेलक परम्परा के साथ सम्बन्ध छूट जाने से कहीं-कहीं व्याख्या में अव्यवस्था हो गई है

अचेलक परम्परानुसारी लघुप्रतिक्रमण की लिखित प्रेसकापी मेरे पास है, जो मेरे मित्र श्री नाथूरामजी प्रेमी ने मुझे करीब तीस-चालीस वर्ष पहले दी थी उसमें 'करेमि भंते' सूत्र, लोगस्स सूत्र, तस्सुत्तरी सूत्र, अन्नत्थ ऊससिएण सूत्र, इरियावही सूत्र आदि कई सूत्र बराबर सचेलक परम्परा के सूत्रों के समान हैं प्रतिक्रमण की यह पद्धति अभी सचेलक परम्परा में प्रचलित है, यही अचेलक परम्परा में भी प्रचलित रही होगी इस लघु प्रतिक्रमण के पाठों से इस अनुमान का समर्थन होता है

अचेलक परम्परा के शास्त्रप्रेमियों ने 'प्रतिक्रमणग्रन्थत्रयी' नामक एक पुस्तक प्रकाशित की है उसमें दिया हुआ श्रमणसूत्र का पाठ सचेलक परम्परा के श्रमणसूत्र के पाठ से अत्यधिक साम्य रखता है उसकी वृत्ति के कर्त्ता श्रीप्रभाचन्द्र नामक कोई प्राचीन मनीषी हैं इस पुस्तक में प्रतिक्रमण का मूल पाठ नहीं दिया है वह दिया गया होता तथा सचेलक परम्परा से तुलना करके प्रकाशित किया गया होता तो अधिक उत्तम होता

अधिक अवतरण देकर लेख को लम्बा बनाने की आवश्यकता नहीं है इस लघुकाय लेख से भी यह तथ्य पूर्णरूप से समर्थित होता है कि आगमों का न विच्छेद हुआ है, न लोप समग्र जैन संघ आगमों को आर्ष तथा प्रमाणरूप स्वीकार करता था, चाहे वह अचेलकसंघ हो या सचेलकसंघ। इस तथ्य का दिग्दर्शन कराने का ही यहाँ किंचित् प्रयास किया गया है ❂

नाम	अमरकोश की पर्यायसंख्या	अभिधानचिन्तामणि की पर्यायसंख्या
सूर्य	३७	७२
किरण	११	३६
चन्द्र	२	३२
शिव	४८	७७
गौरी	१७	३२
ब्रह्मा	२	४
विष्णु	३६	७५
अग्नि	३४	५१

पर्यायवाची शब्दों की सख्याधिक्य के अतिरिक्त ऐसे नवीन शब्द भी समाविष्ट है जो सस्कृति और साहित्य के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण है इस कोष में जिसके वर्ण या पद लुप्त हों—जिसका पूरा-पूरा उच्चारण नही किया गया हो उस वचन का नाम 'ग्रस्तम्' और थूकसहित वचन का नाम अम्बूकृतम्' आया है शुभवाणी-कल्याणप्रद वचन का नाम 'कल्या' हर्ष क्रीडा से युक्त वचन के नाम 'चर्चरी और 'चमरी एव निन्दापूर्वक उपालम्भयुक्त वचन का नाम 'परि भाषण' आया है जले हुए भात के लिए भिस्सटा [३ ६] और दग्धिका नाम आये हैं गेहू के आटे के लिए समिता [३ ६६] और जौ के आटे के लिए चिक्कस [३ ६६] नाम आए है नाक की विभिन्न बनावट वाले व्यक्तियों के विभिन्न नामो का उल्लेख भी इस बात का सूचक है कि आचार्य हेम को मानवशास्त्र की कितनी अधिक जानकारी थी इन्होने चिपटी नाकवाले को नतनासिक अवनाट अवटीट और अवभ्रट चुकीली नाकवाले को खरणास छोटी नाक-वाले को नक्षुद्र और क्षुद्रनासिक खुर के समान बडी नाकवाले को खुरणस एव ऊची नाकवाले को उन्नस और उग्र नासिक कहा है नृतत्त्वविज्ञान का अध्ययन करनेवाले शरीर के अन्य अगोपागों के साथ नाक एव केशरचना को विशेष महत्त्व देते है यों तो मानवसमूहो के प्रजातीय वर्गीकरण के लिए शरीर के विभिन्न अंगो की मापजोख रक्तसमूह विश्लेषण मासपेशियो का गठन त्वचा आख और केश के रंग एव कद रचना का उपयोग करते है पर नाक और आख की बनावट प्रमुख स्थान रखती है हेम ने इस दृष्टि से मगोलॉयड काकेसायड अफीकी नीग्रॉयड मेलानेशियन और पालीनेशियन प्रजातियों के मानवों का चित्र उपस्थित कर दिया है अगोपागों के विभिन्न नामों के विवेचन से यह सहज म अवगत किया जा सकता है कि हेम को नृतत्त्वज्ञान की गहरी जानकारी थी

पति-पुत्र से हीन स्त्री के लिए निर्वीरा [३ १९४] जिस स्त्री को दाढी या मूछ के बाल हों उसको नरमालिनी [३ १९५] बडी साली के लिए कुली [३ २१८] और छोटी साली के लिए हाली मत्तवली और केलिकुञ्चिका [३ २१६] नाम आये है छोटी साली के इन नामो को देखने से अवगत होता है कि उस समय में छोटी साली के साथ हँसी-मजाक करने की प्रथा थी साथ ही पत्नी की मृत्यु के पश्चात् छोटी साली से विवाह भी किया जाता था इसी कारण इसे केलि कुञ्चिका कहा गया है

दाहिनी और बायी आँखो के लिए पृथक-पृथक शब्द इसी कोष मे आये है दाहिनी आख का नाम मानवीय और बायी आख का नाम सौम्य [३ २४] कहा गया है इसी प्रकार जीभ के मैल को कुलुकम् और दांत के मैल को पिप्पिका [३ २९६] कहा गया है मृगचर्म के पखे का नाम धविनम् कपडे के पखे का नाम आलावर्तम् एवं ताड के पंखे का नाम व्यजनम् [३ ३११ ३२] आया है नाव के बीचवाले डण्डो का नाम पोलिन्दा ऊपरवाले भाग का नाम मंग एवं नाव के भीतर जम हुए पानी को बाहर फेंकनेवाले चमडे के पात्र का नाम सेकपात्र या सेचन [३-५४२] बताया है ये शब्द अपने भीतर सांस्कृतिक इतिहास भी समेटे हुए है छप्पर छाने के लिए लगायी गई लकडी का नाम गोपानसी [४-७५] जिस

१ अभिधानचिन्तामणि ३।१९५

चौदहवी शताब्दी मे मेदिनिकर ने अनेकार्थशब्दकोश, हरिहर के मन्त्री इरुपद दण्डाधिनाथ ने नानार्थरत्नमाला और श्रीधरसेन ने विश्वलोचन कोश लिखा है सत्रहवी शती मे केशव दैवज्ञ ने कल्पद्रुम और अप्पय दीक्षित ने नामसग्रहमाला एव वेदागराय ने पारसीप्रकाश कोश की रचना की है इनके अतिरिक्त महिप का अनेकार्थतिलक, श्रीमल्लभट्ट का आख्यातचन्द्रिका, महादेव वेदान्ती का अनादिकोश, सौरभी का एकार्थनाममाला—द्वयक्षरनाममाला कोश, राघव कवि का कोशावतस, भोज का नाममाला कोश, शाहजी का शब्दरत्नसमुच्चय, कर्णपूर का संस्कृत-पारसीकप्रकाश एव शिवदत्त का विश्वकोश उपयोगी संस्कृत कोशग्रथ है

आचार्य हेम का महत्त्व और उनकी ऐतिहासिक सामग्री—हेमचन्द्र के संस्कृतकोशग्रथ साहित्य की अमूल्य निधि हैं इनके ग्रन्थो मे भाषा, विज्ञान, इतिहास, संस्कृति एव साहित्य सम्बन्धी महत्वपूर्ण सामग्री सकलित है अभिधानचिन्तामणि की स्वोपज्ञवृत्ति मे इन्होने अपने पूर्वकर्मी ५६ ग्रथकारो और ३१ ग्रथो का उल्लेख किया है यथा

अमर [५५-१७ तथा २१][1], अमरादि [२७६-२१,२६६-१४], अलकारकृत् [११२-१३], आगमविद् [७०-१४], उत्पल [७४-१४] कात्य [५६-१०,६२-८] कामन्दकि [५५०१४], कालिदास [४१३-२,'४४०-१६], कौटिल्य [७०-४,२६६-२], कौशिक [१६६- १३,१७०-२८] क्षीरस्वामी [३५०-६,४६१-१७[, गौड [३६-२६,५३-३], चाणक्य [३६४-५] चान्द्र [५२८-२५]दन्तिल[१२१-१२२,५६३-३], दुर्ग[५७-२८, १७४-२७],द्रमिल[१५१-७, २०६-२७], धनपाल[१-५,७६-२१], धन्वन्तरि [१६६-२८,२५६-७], नन्दी [५२-५३], नारद [३५७-१८, नैसक्त[१६४-१८, १८६-६], पदार्थविद्[२०८-२२], पालकाप्य [४६५-२७], पौराणिक [३७३-६| प्राच्य [२८-२६], बुद्धिसागर २४५-२५], बौद्ध [१०१-१७] भट्टतौत [२४-१७], भट्टि [५६३-२३], भरत [११७-६] भागुरि [६६-१४], भाष्कार [६६-२३], भोज [१५७-१७], मनु [६३-११], माघ [६२-१७], मुनि [१७१-१८] याज्ञवल्क्य -[३३६-२] याज्ञिक [१०३-६]' लौकिक [३७८-२३], वाग्भट [१६७-१], वाचस्पति [१-६], वासुकि [१-५], विश्वदत्त [४६-८], वैजयन्तीकार [१३१-२३], वैद्य [१६६-२८], व्याडि [१-५] शाब्दिक [४३-७], शाश्वत [६४-७], श्रीहर्ष [११८-७], श्रुतिज्ञ [३३२-२७], सभ्य [१३४-१], स्मार्त [२०६-२१०], हलायुध [१४४-१५] एव हृद्य [४५३-२७]

इन ग्रथकारो के अतिरिक्त अमरकोश [८-५], अमरटीका ४५-१३] [अमरमाला [४४०-३२], अमरशेप [१५३-२०], अर्थशास्त्र [२६७-२५] धातुपारायण [१-११], भारत [३३८-१३], महाभारत [८१-२३], वामनपुराण [४६-२६], विष्णु-पुराण [६६-१६], शाकटायन [२-१], एव स्मृति [३५-२७] आदि ३१ ग्रथो का भी उल्लेख किया है

जहा शब्दो के अर्थ मे मतभेद उपस्थित होता है, वहाँ आचार्य हेम अन्य ग्रथ तथा ग्रथकारो के वचन उद्धृत कर उस मतभेद का स्पष्टीकरण करते हैं फलत प्रसगवश अनेक ग्रथ और ग्रथकारो के सम्बन्ध मे पर्याप्त जानकारी की सामग्री वर्तमान है विलुप्त कोशकार भागुरी और व्याडि के सम्बन्ध मे अभिधान-चिन्तामणि से ही तथ्यो की जानकारी प्राप्त होती है

नवीन शब्दों का सकलन—अभिधानचिन्तामणि मे इस प्रकार के शब्द प्रचुर परिमाण मे आये है, जो अन्य कोशग्रथो मे नही मिलते अमरकोश मे सुन्दर के पर्यायवाची—सुन्दरम्, रुचिरम्, चारु , सुपमम्, साधु , शोभनम्,, कान्तम्, मनोरमम्, रुच्यम्, मनोज्ञम्, मजु और मजुलम् ये वारह शब्द आये है हेम ने इसी सुन्दरम् के पर्यायवाची चारु , हारि रुचिरम्, मनोहरम् वल्गु , कान्तम् अभिरामम्, बन्धुरम्, वामम्, रुच्यम्, शुषमम्, शोभनम्, मजुलम्, मजु , मनो-रमम्, साधु , रम्यम्, मनोरमम्, पेशलम्, हृद्यम्, काम्यम्, कमनीयम्, सौम्यम्, मधुरम् और प्रियम् ये २६ शब्द बतलाये है इतना ही नही हेम ने अपनी वृत्ति मे 'लडह' देशी शब्द को भी सौंदर्यवाची ग्रहण किया है अमरकोश के साथ तुलना करते हुए कुछ शब्दो के पर्यायो का निर्देश किया जाता है

---

१ अभिधानचिन्तामणि के भावनगर संस्करण के पृष्ठ और पंक्ति निर्दिष्ट हैं

पाजामा अगरखा या कुर्ता का नाम आप्रपदीन (३।३४२) आया है इससे स्पष्ट है कि प्रसाधनसामग्री में पजामा भी आ चुका था जालीदार कपड़े भी काम में लाये जाते थे इन्हें लाणी और गोणी (३।३४१) कहा है पैरों को मोजा या पैतावा पहनकर सजाया जाता था अतः मौजा का नाम अनुपदीना (३।५७१) आया है पुष्पों से भी शरीर का प्रसाधन किया जाता था इस प्रसाधन के भी अनेक नाम आये हैं गुलदस्ते भी उपयोग में लाये जाते थे हेम के गुच्छों के नामों में आया हुआ गुलुञ्छ (४।११२) शब्द गुलदस्ते का ही वाचक है

भाषाविज्ञानसम्बन्धी सामग्री—भाषाविज्ञान की दृष्टि से यह कोश बड़ा मूल्यवान् है आचार्य हेम ने इसमें जिन शब्दों का संकलन किया है उन पर प्राकृत अपभ्रंश एवं अन्य देशी भाषाओं के शब्दों का पूर्णत: प्रभाव लक्षित होता है उसके अनेक शब्द तो आधुनिक भारतीय भाषाओं में दिखलायी पड़ते हैं कुछ ऐसे शब्द हैं जो भाषाविज्ञान के समीकरण विषमीकरण आदि सिद्धान्तों से प्रभावित हैं यहाँ उदाहरणार्थ कुछ शब्द उद्धृत किये जाते हैं—

[१] पोलिका [३।६२]—गुजराती में पोणी ब्रजभाषा में पोनी और भोजपुरी में पिउनी तथा हिन्दी में पिउनी

[२] मोदको लड्डुकश्च [शेष ३।६४]—हिन्दी में लड्डू गुजराती में लाडु और राजस्थानी में लाडू

[३] चोटी [३।३३१]—हिन्दी में चोटी गुजराती में चोणी राजस्थानी में चोड़ी या चुणिका और भोजपुरी में चुटिया

[४] समौ कन्दुकगेन्दुकौ [३।३५३]—हिन्दी में गेंद ब्रजभाषा में गिन्द या गिंद और भोजपुरी में गिंद या गेंद

[५] हेरिको गूढपुरुषः [३।३९७]—ब्रजभाषा में हेर या हेरना-देखना गुजराती में हेर

[६] तरवारि [३।४४६]—ब्रजभाषा में तरवार राजस्थानी और पूर्वी बोलियों में तलवार तथा गुजराती में तरवार

[७] जगलो निर्मसः [४।११]—ब्रजभाषा हिन्दी और सभी देशी बोलियों में जगल

[८] सुरुगा तु सन्धिला स्याद् गूढमार्गो भुवोऽन्तरे [४।५१]—ब्रजभाषा हिन्दी गुजराती और सभी पूर्वी बोलियों में सुरंग

[९] निश्रेणी त्वधिरोहिणी [४।७९]—ब्रजभाषा में नसेनी गुजराती में नीसरणी भोजपुरी में सीढ़ी मगही में निसेनी तथा पाली में भी निसेनी रूप आया है

[१] चालनी तितउ [४।८४] ब्रजभाषा राजस्थानी और गुजराती में चालनी हिन्दी में चलनी या छननी

[११] पेटा स्यान्मञ्जूषा [४।८१]—राजस्थानी में पेटी गुजराती में पेटी या पेटो और ब्रजभाषा में पिटारी पेटी

[१२] परिवार परिग्रह [३।३७१]—हिन्दी में परिवार, पूर्वी बोलियों में परिवार और राजस्थानी में पखिवार या परिवार

व्युत्पत्तिमूलक विशेषताएँ—[१] मंक्यते मण्ड्यते वपुरनेन मुकुरः आत्मा दृश्यतेऽनेनात्मदर्शः आदृश्यते रूपमस्मिन्नादर्शः दृप्यन्त्येऽनेन सुवेषा इति दर्पणः [३।३४८]—जिसके द्वारा शरीर को सुशोभित किया जाय अर्थात् जिसमें अपनी प्रतिकृति का अवलोकन कर मण्डन—प्रसाधन किया जाय उसे मुकुर जिसमें अपना स्वरूप देखा जाय उसे आत्मदर्श पूर्ण रूप से अच्छी तरह जिसमें अपना रूप देखा जाय उसे आदर्श और जिसमें अपनी प्रतिकृति देखकर अपने वेष को सुसज्जित किया जाय तथा आकर्षक बनाया जाय उसे दर्पण कहते हैं दर्पण में अपनी वेष भूषा देखकर गौरवजन्य आनन्दानुभूति होती है यह दर्पण शब्द की व्युत्पत्ति से स्पष्ट है मुकुर आत्मदर्श आदर्श और दर्पण ये चारों दर्पण के पर्यायवाची शब्द हैं किन्तु व्युत्पत्ति की दृष्टि से इन शब्दों के अर्थ में मौलिक अन्तर है

(२) *नक्षति गच्छति नक्षत्रम् न क्षरति प्रभावमिति नक्षत्रम्, तरतीति तारका तरन्त्यनया तारा द्योतते ज्योतिः भाभि भं भा दिवतस्येति वा; ऋच्छति स्वमिति ऋक्षः गृह्यते इति ग्रहः पुष्यति प्रगल्भते निशीति धिष्ण्यम् अर्चति गच्छति च अर्चाषि तम इति वा* (२।२१)

मे बाधकर मथानी घुमायी जाती है, उस खम्भे का नाम विष्कम्भ [४-८९], सिक्का आदि रूप मे परिणत सोना-चादी, तावा आदि सब धातुओ का नाम रूप्यम्, मिश्रित सोना-चादी का नाम घनगोलक [४-११२-११३], कूआ के ऊपर रस्सी बाधने के लिए काष्ठ आदि की बनी हुई चरखी का नाम तत्रिका [४-१५७], घर के पास वाले बगीचे का नाम निष्कुट, गाव या नगर के बाहरवाले बगीचे का नाम पौरक [४-१७८], क्रीडा के लिए बनाये गए बगीचे का नाम आक्रीड या उद्यान [४-१७८], राजाओ के अन्त पुर के योग्य घिरे हुए बगीचे का नाम प्रमदवन [४-१७९], धनिको के बगीचे का नाम पुष्पवाटी या वृक्षवाटी [४-१७९] एव छोटे बगीचे का नाम क्षुद्राराम या प्रसीदिका [४-०१७९] आया है

प्रसाधनसामग्री सूचक शब्दावलि—अभिधानचिन्तामणि का जहाँ अनेक दृष्टियो से महत्त्व है, वहा प्राचीन भारत मे प्रयुक्त होने वाली विभिन्न प्रकार की प्रसाधनसामग्री की दृष्टि से भी इस कोश मे शरीर को सस्कृत करने को परिकर्म (३।२९९), उबटन लगाने को उत्सादन (३।२९९), कस्तूरी-कु कम का लेप लगाने को अगराग, चन्दन अगर, कस्तूरी और कु कुम के मिश्रण को चतु सम्म्, कर्पू र अगर, ककोल, कस्तूरी और चन्दनद्रव को मिश्रित कर बनाये गये लेपविशेष को यक्षकर्दम एव शरीरसस्कारार्थ लगाये जानेवाले लेप का नाम वर्ति या गात्रानुलेपनी कहा गया है मस्तक पर धारण की जाने वाली फूल की माला का नाम माल्यम्, बालो के बीच मे स्थापित फूल की माला का नाम गर्भ चोटी मे लटकनेवाली फूलो की माला का नाम प्रभ्रष्टकम्, सामने लटकती हुई पुष्पमाला का नाम ललामकम्, छाती पर तिर्छी लटकती हुई पुष्पमाला का नाम वैकक्षम्, कण्ठ से छाती पर सीधे लटकती हुई फूलो की माला का नाम प्रालम्बम्, शिर पर लपेटी हुई माला का नाम आपीड, कान पर लटकती हुई माला का नाम अवतस एव स्त्रियो के जूडे मे लगी हुई माला का नाम बालपाश्या आया है[1]

इसी प्रकार, कान, कण्ठ, गर्दन, हाथ, पैर, कमर आदि विभिन्न अगो मे धारण किये जाने वाले आभूषणो के अनेक नाम आये हैं[2] इन नामो से अवगत होता है कि शरीर को सजाने की प्रथा किस-किस रूप मे प्रचलित थी प्रसाधनसामग्री मे विभिन्न प्रकार के वस्त्राभूषणो साथ नाना प्रकार के सुगन्धित पदार्थ भी परिगणित थे रेशमी, सूती और ऊनी वस्त्रो के उपयोग करने के विभिन्न तरीके ज्ञात थे वस्त्र त्वक्-तीसी, सन आदि की छाल, फल-कपास, क्रिमि-रेशम के कीडे आदि एव रोम—भेडो की ऊन या ऊटो की ऊन से तैयार किये जाते थे[3] मृग-हरिण के रोम से भी वस्त्र तैयार किये जाते थे इस प्रकार के वस्त्रो को राकवम्[4] कहा है साडी के नीचे स्त्रिया साया—पेटीकोट भी पहनती थी, आचार्य हेम ने इस कोश मे धनिक और उत्तमकुल की महिलाओ के द्वारा साडी के नीचे धारण किये जाने वाले पेटीकोट के चण्डातकम् और चलनक ये दो नाम लिखे हैं[5] सामान्य परिवार की स्त्रिया जिस पेटीकोट को पहनती थी, उसका नाम चलनी कहा है[6] ब्लाउज भी अनेक प्रकार के उपयोग मे लाये जाते थे तथा इनके सीने के भी अनेक तरीके प्रचलित थे उनके चोल, कञ्चुलिका, कूर्पासक, अगिका एव कञ्चुक[7] नाम वस्त्रो की विविधता के साथ सीने के प्रकारो पर भी प्रकाश डालते है पलगपोश का रिवाज भी समाज मे था, सूती पलगपोश, जो कि गद्दे के ऊपर बिछाया जाता था, निचोल कहलाता (३।३४०) था साधारणत बिछाने के काम मे आनेवाली चादर प्रच्छदपट (३।३४०) कही जाती थी निचुल (३।३४०) उस पलगपोश का नाम है जो धनिक और सम्पन्न व्यक्तियो के यहाँ उपयोग मे लाया जाता था यह रेशमी होता था इसके ऊपर कारीगरी भी की जाती थी, साधारण और मध्यमकोटि के व्यक्ति जिस चादर का उपयोग करते थे, उसे उत्तरच्छद (३।३४०) कहा है

---

१ देखें—काण्ड ३ श्लोक ३१४-३२१
२ देखें—काण्ड ३ श्लोक ३२०-३२१
३ त्वक्फलक्रिमिरोमम्य सभवाच्चतुर्विधम्—३।३३२
४ अभिधात चिन्तामणि ३।३३३
५ वही ३।३३८
६ वही ३।३३८ ७ वही ३।३३८
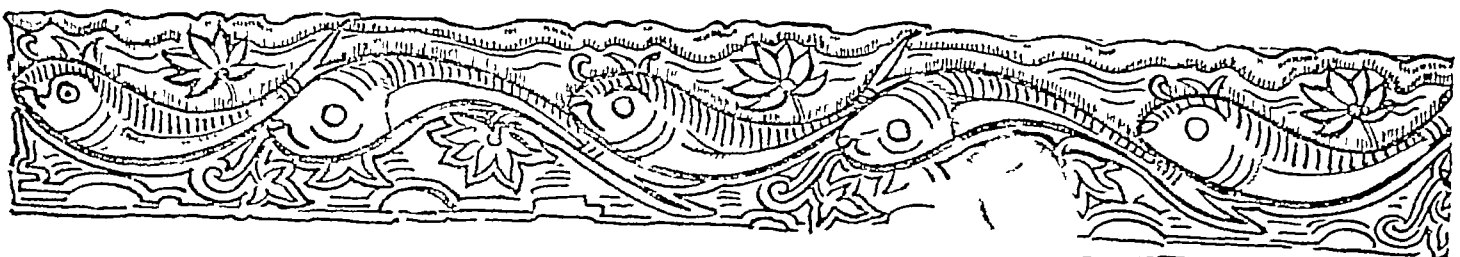
का ज्ञान प्राप्त किया जाय उसे ज्योतिष कहते हैं. वर्णागम वर्णलोप वर्णविकार आदि के द्वारा जिसका निर्वचन उपस्थित किया जाय उसे निरुक्ति कहते हैं

५ प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्य पश्चादीक्षणं अन्वीक्षा सा प्रयोजनमस्यामान्वीक्षिकी पुरापि न नवं पुराणम् (२।१६५ १६६) टीकयति गमयत्यर्थान् टीका सुगमासुगमायां च निरन्तर व्याख्या यस्यां स तथा पञ्चयन्ते व्यक्तीक्रियन्ते पदार्था अनया पञ्जिका पृषोदरादित्वात् अत्वे पञ्जिका अर्थात् विषमपदेषु पदानि भनक्ति पदभञ्जिका (२।१७) निबध्यते विशेषोऽस्मिन् निबन्धः (२।१७१) प्रहेलयति अभिप्रायं सूचयति प्रहेलिका (२।१७२)

प्रत्यक्ष और आगम के द्वारा अवगत कर लेने के पश्चात् तर्क आदि के द्वारा विषय को जानना अन्वीक्षा है और यह अन्वीक्षा जिसका प्रयोजन है उसे आन्वीक्षिकी विद्या कहा जाता है पुराण सदा ही पुरातन रहते हैं जिनका विषय प्राचीन समय में भी नया न रहे उसे पुराण कहते है किसी ग्रंथ के साधारण या असाधारण प्रत्येक शब्द की निरन्तर व्याख्या को टीका कहते हैं विषमपदों को स्पष्ट करने वाली व्याख्या का नाम पञ्जिका है जिसमें विशेष विषय को निबद्ध किया जाय उसे निबन्ध कहते है जिस पद्य का अर्थ पूर्वापर विरुद्ध प्रतीत होता हो परन्तु विशेष अनुसन्धान करने से अविरुद्ध अर्थ निकले उसे प्रहेलिका या पहेली कहते है

६ बध्नाति स्नेहैः बन्धु (३।२२९) विगृह्यते रोगादिभिरिति विग्रहः (२।२२०) ऊर्ध्वं मिलति धम्मिल्ल (३।२२४) कबरीं वेवे रचनायां कुवते कबरी (२।२३५) पचति याति श्वेतत्वं पाकात् पलित (३।२३२) भाल्यते परिभाल्यते शुभाशुभमत्र भालम् (३।२३७)

स्नेह के कारण जो बन्धन उत्पन्न करे उसे बन्धु कहते है बन्धु शब्द का व्युत्पत्तिमूलक यही अर्थ है कि जो स्नेहबन्ध का कारण है वही बन्धु है जो स्नेह उत्पन्न नही करता है वह बन्धु नही कहा जा सकता रोग आदि के द्वारा जो विकृत किया जाता है वह विग्रह अर्थात् शरीर कहलाता है शरीर को रोग आदि नित्य जीर्ण करते रहते हैं

७ धम्मिल्ल उस केशरचना का नाम है जो जटाजूट की तरह ऊपर की ओर मिलती है अर्थात् बालों को ऊपर की ओर एकत्र कर बाधना धम्मिल्ल है यह केशरचना अत्यन्त सावधानी पूर्वक की जाती है केशो को सजाकर वेणी के रूप मे बाधना कबरी है कबरी और धम्मिल्ल ये दोनो ही प्रकार केशरचना के है महिलाएँ इन दोनो प्रकार की केश रचनाएँ करती थी

८ पककर श्वेत हुए बालो को पलित केश कहा गया है जिस प्रकार धान की फसल पककर समाप्त हो जाती है उसी प्रकार समय के प्रभाव से केश भी श्वेत हो जाते है

९ भाल-मस्तक-ललाट उसे कहते हैं जिसके अध्ययन से शुभाशुभ को कहा जा सके हाथ पर और ललाट के अध्ययन से शुभाशुभ के फलप्रतिपादन की प्रणाली प्राचीन काल से भारत में प्रचलित है अत भाल-ललाट की व्युत्पत्ति आचार्य ने यह की है—यो तो 'ललतेऽत्रालकारो ललाटम् अर्थात् जहाँ अलकार सुशोभित हो उसे ललाट कहते है

१० ओष्ठ की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है— 'उष्यते तीक्ष्णाहारेण ओष्ठः' अर्थात्-तीक्ष्ण आहार से जो अवगत हो और उसकी अनुभूति जिसे निरन्तर होती रहे उसे ओष्ठ कहते है

११ भाष्यते भाषा २।११५—भाषण या कथन को भाषा कहते हैं सुष्ठु आ समन्तात् अधीयते स्वाध्यायः २।११६—अच्छी तरह अध्ययन करने को स्वाध्याय कहते हैं

१२ अवति विघ्नात् ओम् अव्ययम् २।१६४—विघ्नो से रक्षा करने वाला ओम् होता है यह ओम् अव्यय है

१३ न श्रियं जाति—अश्लीलम्—न श्रीरस्यास्तीति वा २।१८ —जिसके आचरण से कल्याण उत्पन्न न हो उसे अश्लील कहते है

नक्षत्र के नौ नामो का निरूपण करते हुए उनकी व्युत्पत्तियाँ देकर अर्थ सम्बन्धी सूक्ष्मताओ पर बहुत सुन्दर प्रकाश डाला गया है जो आकाश मे गमन करे अथवा जिनकी प्रभा—काति का सवरण कभी न हो वह नक्षत्र है जो आकाश मे तैरता है, वह तारका नक्षत्र है जिसके द्वारा आकाश का अतिक्रमण किया जाता है वह तारा है जिसमे प्रकाश विद्यमान है वह ज्योति, जिसमे काति हो अथवा जो चमकना या टिमटिमाता हो वह भ है आकाश मे उडने के कारण उडु, ग्रहण होने के कारण ग्रह, रात्रि मे प्रकाशित होने के कारण धिष्ण्य और सीधा गमन करने के कारण ऋक्ष अथवा अन्धकार का ध्वस करने से ऋक्ष कहा जाता है नक्षत्र के नामो की व्युत्पत्तियाँ अमरकोष की टीकाओं मे भी आयी है, किंतु आचार्य हेम ने ऋक्ष, नक्षत्र और भ की व्युत्पत्ति मे अपना एक नया दृष्टिकोण उपस्थित किया है

(३) वेवेष्टि व्याप्नोति विश्व विष्णु., हरति पाप हरि, हृषीकाणामिन्द्रियाणामीशो वशिता हृषीकेश, प्रशस्ता केशा सन्त्यस्य केशव, इन्द्रमुपगतोऽनुजत्वाद् उपेन्द्र, विष्वक् सर्वव्यापिनी विपूची वा सेनाऽस्य विष्वक्सेन, नरा आपो भूतानि वा तान्ययते नारायण, नरस्य अपत्य नारायण, अध. कृत्वाऽक्षाणीन्द्रियाणि जातोऽधोक्षज. अधोऽक्षाणा जितेन्द्रियाणा जायते प्रत्यक्षीभवति वा, अक्षज ज्ञानमधोऽस्येति वा, गा भुव विन्दति गोविन्द, मुञ्चति पापिनो मुकुन्द, माया लक्ष्म्या धवो भर्ता माधव मधोरपत्य वा, विश्व विभर्ति विश्वभर, जयति दैत्यान् जिन, त्रयो विशिष्टा क्रमा सृष्टिस्थितिप्रलयलक्षणा शक्तयोऽस्य त्रिविक्रम, त्रिषु लोकेषु विक्रम पादविन्यासोऽस्येति वा, जहाति मुञ्चति पादाङ्गुष्ठाद् गगामिति जह्नु, वनमालाऽस्त्यस्य वनमाली, पुण्डरीके इव अक्षिणी अस्य पुण्डरीकाक्ष. (२।१३०)

आचार्य हेम ने विष्णु के ७५ नाम बतलाये हैं और स्वोपज्ञवृत्ति मे सभी नामो की व्युत्पत्तिया अकित की गई है उपर्युक्त सन्दर्भ मे कुछ ही नामो की व्युत्पत्तिया दी जा रही है इन व्युत्पत्तियो के अनुसार जो ससार को व्याप्त करता है, वह विष्णु है पाप को नष्ट करने के कारण हरि, इन्द्रियो का विजयी होने के कारण हृषीकेश, प्रशस्त केशवाला होने से केशव, इन्द्र का अनुज होने से उपेन्द्र, विश्व-व्यापिनी सेना रखने के कारण विष्वक्सेन, जल मे रहने से नारायण, नर का पुत्र होने से नारायण, इद्रियज्ञान को तिरस्कृत कर अतीद्रिय, ज्ञान का धारी होने से अधोक्षज, पृथ्वी की रक्षा करने के कारण गोविंद, पाप को छुडाने से मुकुन्द, लक्ष्मी का पति होने से माधव, विश्व-ससार का भरण करनेवाला होने से विश्वभर, दैत्यो को जीतने के कारण जिन, सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय रूप तीनो शक्तियो से युक्त होने से त्रिविक्रम अथवा तीनो लोको मे पादन्यास करने से त्रिविक्रम, पैर के अगूठे से गगा नदी को प्रवाहित करने के कारण जह्नु, वनमाला गले मे रहने से वनमाली और पुण्डरीक के समान नेत्र होने से पुण्डरीकाक्ष विष्णु को कहा जाता है विष्णु के नामो की इन व्युत्पत्तियो मे इतिहास और सस्कृति की दृष्टि से अनेक नयी बातो का समावेश हुआ है

(४) शिक्ष्यते वर्णविवेकोऽनया शिक्षा कर्मणां सिद्धरूप प्रयोग कल्प्यतेऽवगम्यतेऽनेन कल्प व्याक्रियन्तेऽन्वाख्यायन्ते शब्दा अनेन व्याकरणम् छाद्यतेऽनेन प्रस्ताराद् भूरितिच्छन्द ज्योतिषा ग्रहाणा गतिज्ञानहेतुर्ग्रन्थो ज्योति ज्योतिषम् वर्णागमादिभिर्निर्वचन निरुक्ति निरुक्तम् (२।१६४)

षडग की व्युत्पत्तिया प्रस्तुत करते हुए आचार्य हेम ने षडग का स्वरूप कितने स्पष्ट और विस्तृत रूप से उपस्थित किया है, यह सहज मे जाना जा सकता है जिसके द्वारा वर्णविवेक—वर्णोच्चारण, वर्णो का स्थान, प्रयत्न आदि अवगत हो, उसे शिक्षा कहते हैं कर्मों का सिद्धस्वरूप जिनके द्वारा ज्ञात किया जाय वे कल्प हैं इससे स्पष्ट है कि कल्पसूत्रो की आधार-शिला कर्मकाण्ड है तथा हिन्दूधर्म के समस्त कर्म, सस्कार, निखिल अनुष्ठान और समस्त सस्कृति एव अशेष क्रियाकाड को समझने के लिए एकमात्र आधार ये कल्पग्रथ ही हैं प्रकृति और प्रत्यय के विभाग द्वारा शब्दो की व्याख्या करने को व्याकरण कहते हैं धातु और प्रत्यय के सश्लेषण एव विश्लेषण द्वारा भाषा के आन्तरिक गठन के विचार को भी इस व्युत्पत्ति मे समेट लिया गया है शब्दो की व्युत्पत्ति एव उनकी प्राणवन्त प्रकिया के रहस्य का उद्घाटन भी उक्त व्युत्पत्ति मे शामिल है जिसके प्रस्तार से पृथ्वी को आच्छादित किया जा सके, उसे छन्द कहते है इस व्युत्पत्ति मे पिंगलाचार्य की समस्त भूमण्डल को व्याप्त करनेवाली कथा भी आ गई है जिस ग्रथ से गहो की गति और स्थिति
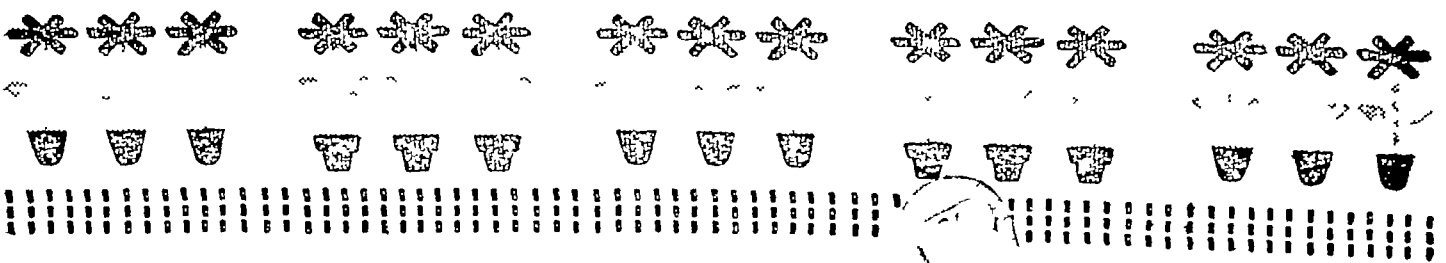
जैन संस्कृति और अभिधानचिन्तामणि :—अभिधानचिन्तामणि और धनञ्जयनाममाला ऐसे कोष हैं जिनमें संस्कृति के तत्त्व वर्तमान हैं अभिधानचिन्तामणि में उत्सर्पण और अवसर्पण काल के साथ तीर्थंकरों के वंश माता-पिता के नाम शासनदेवता उपासक के नाम एवं वर्ण बतलाये गये हैं कामदेव के पर्यायवाची द्वादश चक्रवर्तियों के पर्यायवाची नौ नारायण और नौ प्रतिनारायणों के पर्यायवाची शब्द संकलित हैं श्रेणिक और कुमारपाल के पर्यायवाची शब्द भी आये हैं- चालुक्य राजर्षि परमार्हत मृतस्व मोक्ता धर्मात्मा मारिवारक व्यसनवारक और कुमारपाल ये आठ नाम कुमारपाल के हैं पृथ्वीकायिक जलकायिक अग्निकायिक वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवों के भेद प्रभेद एवं उनके पर्याय संकलित हैं द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों के भेदों और पर्यायों का संकलन जैनागमानुसार किया है रत्नप्रभा शर्कराप्रभा बालुकाप्रभा पङ्कप्रभा धूमप्रभा तमःप्रभा और महातमःप्रभा इन सात नरकों में होने वाली वेदना एवं इन नरकों के बिलों का वर्णन जैन सिद्धान्तानुसार किया गया है घनोदधिवातवलय घनवातवलय एवं तनुवातवलय का विवेचन भी इस कोष के नरककाण्ड में विद्यमान है

प्रथम देवाधिदेव काण्ड में तीर्थंकरों के विभिन्न अतिशय आचार्य उपाध्याय और मुनि के नामों के विवेचन के अनन्तर यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार, ध्यान धारणा एवं समाधि का विवेचन किया है योग के उक्त अष्टांगों की परिभाषाएँ जैनागमानुसार अंकित की गयी हैं

देवकाण्ड में भवनवासी व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी देवों के भेद प्रभेद और उनके पर्यायवाची शब्द दिये गये हैं भवनवासी देवों के अन्त में जुड़े हुए कुमार शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है— 'कुमारवदेते कान्तदर्शनाः सुकुमाराः मृदुमधुरललितगतयः शृंगाराभिजातरूपविक्रियाः कुमारवच्चोद्धतवेषभाषाभरणप्रहरणावरणयानवाहनाः कुमारवच्चोल्बणरागाः क्रीडनपराश्चेत्यतः कुमार इत्युच्यन्ते" अर्थात्—ये देव कुमार के समान देखने में सुन्दर, मृदु, मधुर एवं ललित गतिवाले शृंगार-सुन्दर रूप एवं विकार वाले और कुमार के समान ही उद्धत वेष भाषा भूषण शस्त्र आभरण यान तथा वाहन वाले एवं क्रीडापरायण होते हैं अतएव ये कुमार कहे जाते हैं देवों के निवास का वर्णन करते हुए कहा है—

'भवनपतयोऽशीतिसहस्राधिकयोजनलक्षपिण्डाया रत्नप्रभायामूर्ध्वमधश्च योजनसहस्रमेकैकमपहाय जन्माऽऽसादयन्ति व्यन्तरास्तस्या एवोपरि यत्परित्यक्तं योजनसहस्रं तस्माच्च ऊर्ध्वमधश्च योजनशतमेकैकमपहाय मध्येऽष्टसु योजनशतेषु जन्म प्रतिलभन्ते ज्योतिष्कास्तु समतलाद् भूभागाद् सप्त शतानि नवत्यधिकानि योजनानामारुह्य दशोत्तरयोजनशत पिण्डे नभोदेशे लोकान्तात् किञ्चिन्न्यूने जन्म गृह्णन्ति वैमानिका रज्जुमध्यर्द्धमधिरुह्याऽऽ सौधर्मादिषु कल्पेषु सर्वार्थसिद्ध विमानपर्यवसानेषूत्पद्यन्ते'

प्रथम भवनवासी देव एक लाख अस्सी हजार योजन परिमित रत्नप्रभा में एक एक हजार योजन छोड़कर जन्म ग्रहण करते हैं व्यन्तरदेव उस रत्नप्रभा के ऊपर छोड़े गये एक हजार योजन के ऊपर तथा नीचे एक-एक सौ योजन छोड़कर बीचवाले आठसौ योजन में जन्म ग्रहण करते हैं ज्योतिष्क देव समतल भूभाग से सात सौ नब्बे योजन पिण्डवाले तथा लोकान्त से कुछ कम आकाश प्रदेश में जन्म ग्रहण करते हैं और वैमानिक देव डेढ़ रज्जु चढ़कर सर्वार्थसिद्धि विमान के अन्त तक सौधर्मादि कल्पों में जन्म ग्रहण करते हैं अपने-अपने नियत स्थानों में उत्पन्न भवनवासी आदि देव लवण समुद्र मन्दिर पर्वत वापार एवं जगलों में निवास तो करते हैं पर उनकी उत्पत्ति पूर्वोक्त नियत स्थानों के अतिरिक्त अन्य स्थानों में नहीं होती है अतएव निकाय शब्द का निवासार्थ या सहार्थ में प्रयोग किया गया है

आचार्य हेम ने जैन आचार-व्यवहार की शब्दावलि को प्रमुखता दी है अणुव्रत महाव्रत दशधर्म ध्यान एवं समिति गुप्ति आदि का भी विवेचन किया है इन्होंने पानी छानने के छनने के दो नाम लिखे हैं—गलक और कर्पट. स्वोपज्ञ वृत्ति में बताते शिरसि गलक 'कौचक' (उणा ३१) इत्यनेन निपात्यते गलतं गल इति वा इवद्रव्य येन पूयते तत् गलोऽस्य तत्तुल्येऽपि अस्मै प्रतीतो वर्तते कल्पते कर्पट पुल्लीलिंग दिव्यभिः (उणा १४२) इत्यट अतएव स्पष्ट है कि आचार्य हेम ने जैन संस्कृति की शब्दावलि को बड़े सुन्दर और सुव्यवस्थित ढंग से इस कोष में अंकित किया है

१४ नियत क्लान्तीन्द्रियाणि अस्या निद्रा २।२२७—जिसमे निश्चित रूप से इन्द्रियो को श्रान्ति—विश्राम मिले, वह निद्रा है

१५ पण्डते जानाति इति पण्डित, पण्डा बुद्धि सजाता अस्येति ३।५—जो हिताहित को जानता है अथवा जिसमे विवेक-बुद्धि उत्पन्न हो जाती है, वह पण्डित है

१६ छ्यति छिनत्ति मूर्खदुष्टचित्तानि इति छेक । विशेषेण मूर्खचित्त दहति इति १७ विदग्ध ३।७—जो मूर्ख की मूर्खता को दूर करता है, वह छेक है और जो विशेषरूप से मूर्खता को जलाता है, नष्ट करता है, वह विदग्ध है

१८ वाति गच्छति नर वामा यद्वा विपरीतलक्षणया शृंगारिखेदनाद्वा ३।१६८—जो नर-पुरुष को प्राप्त हो अथवा विपरीत लक्षणा के द्वारा जो शृगार द्वारा खेद को प्राप्त करे अर्थात् जो काम-सभोगादि मे प्रवीण हो, उसे वामा कहते है

१९ विगतो धवो भर्ता अस्या विधवा ३।१९४—जिसके पति का स्वर्गवास हो गया है अथवा जिसके सुख-काम-भोग के दिन व्यतीत हो गये हो, वह विधवा है

२० दधते बलिष्ठता दधि ३।७०—जो बल उत्पन्न करता है अथवा जिस के सेवन से बल प्राप्त होता है, वह दधि है

२१ वेव्यते वेष्ट्यते तृणपर्णादिभिरुटज ४।६०—तिनके और पत्तो से जिसे छाया जाय, वह उटज है

२२ वेश्याऽऽचार्य पीठमर्द—वेश्याऽऽचार्यो वेश्याना नृत्तोपाध्याय २।२४८—वेश्या को नृत्त सिखलाने वाला पीठमर्द है नृत्त उस नाच को कहते है, जिसमे नर्तक न गाता है और न बजाता है, केवल मुद्रा-भाव-भगिमाओ के द्वारा नृत्य प्रस्तुत करता है

अनेक पर्यायवाची शब्दो के बनाने का विधान ---आचार्य हेम ने भी धनञ्जय के समान शब्दयोग से अनेक पर्यायवाची शब्दो के बनाने का विधान किया है, किन्तु इस विधान मे उन्ही शब्दो को ग्रहण किया है, जो कविसम्प्रदाय द्वारा प्रचलित और प्रयुक्त है जैसे पतिवाचक शब्दो मे कान्ता, प्रियतमा, वधू, प्रणयिनी एव निभा शब्दो को या इनके समान अन्य शब्दो को जोड देने से पत्नी के नाम और कलत्रवाचक शब्दो मे वर, रमण, प्रणयी एव प्रिय शब्दो को या इनके समान अन्य शब्दो को जोड देने से पतिवाचक शब्द बन जाते हैं गौरी के पर्यायवाची बनाने के लिए शिव शब्द मे उक्त शब्द जोडने पर शिवकान्ता, शिवप्रियतमा, शिववधू एव शिवप्रणयिनी आदि शब्द बनते हैं निभा का समानार्थक परिग्रह भी है किन्तु जिस प्रकार शिवकान्ता शब्द ग्रहण किया जाता है, उस प्रकार शिवपरिग्रह नही यत कविसम्प्रदाय मे यह शब्द ग्रहण नही किया गया है

कलत्रवाची गौरी शब्द मे वर, रमण, प्रभृति शब्द जोडने से गौरीवर, गौरीरमण, गौरीश आदि शिववाचक शब्द बनते है जिस प्रकार गौरीवर शब्द शिव का वाचक है, उसी प्रकार गगावर शब्द नही यद्यपि कान्तावाची गगा शब्द मे वर शब्द जोड कर पतिवाची शब्द बन सकता है, तो भी कविसम्प्रदाय मे इस शब्द की प्रसिद्धि न होने से यह शिव के अर्थ मे ग्राह्य नही है आचार्य हेम ने अपनी स्वोपज्ञवृत्ति मे इन समस्त विशेषताओ को बतलाया है अत स्पष्ट है कि "कविरूढ्यासेयोदाहरणावलि" सिद्धान्तवाक्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण है इसके कई सुन्दर निष्कर्ष निकलते हैं कविसम्प्रदाय को परिगणित करने से अनेक दोषो से रक्षा हो गयी है अतएव शिव के पर्याय कपाली के समानार्थक कपालपाल, कपालधन, कपालभुक् कपालनेता एव कपालपति जैसे अप्रयुक्त और अमान्य शब्दो के ग्रहण से भी रक्षा हो जाती है यद्यपि व्याकरण द्वारा शब्दो की सिद्धि सर्वथा सभव है, पर कवियो की मान्यता के विपरीत होने से उक्त शब्दो को कपाली के स्थान पर ग्रहण नही किया जा सकता है

प्रो देवेन्द्रकुमार जैन
एम० ए पी-एच डी शास्त्री रायपुर

अपभ्रंश जैन-साहित्य

अपभ्रंश भाषा और साहित्य दोनों का अत्यन्त महत्त्व है भाषा-विकास की दृष्टि से अपभ्रंश मध्य भारतीय आर्य भाषाओं की अंतिम अवस्था का नाम है प्राकृत की अपेक्षा यह भाषा मधुर है राजशेखर ने संस्कृत-बन्ध को कठोर कहा है और प्राकृत को सुकुमार, लेकिन विद्यापति देशवचन को सबजन-मिट्ठा कहते हैं अपभ्रंश देशी भाषा के अधिक निकट है[1] महाकवि स्वयम्भू ने इसे ग्रामीण भाषा कहा है[2] साधारणत यह कहा जा सकता है कि मध्यभारतीय आर्य भाषाओं की मध्य भूमिका तथा नव्य भारतीय आर्यभाषाओं की आदिम भूमिका के मध्य का रूप अपभ्रंश है मुख्य रूप से यह पश्चिमी भाषा है राजशेखर ने भी इसका संकेत किया है उसने लिखा है कि उत्तर के कवि *संस्कृतप्रेमी* हैं मरुभूमि (मारवाड़) राजपूताना और—पंजाब के कवि अपभ्रंश में अधिक रुचि रखते हैं अवन्ति दशपुर और पारयात्र के कवि भूतभाषा प्रेमी होते हैं किन्तु मध्यदेश के कवि सभी भाषाओं में रुचि रखते हैं यही नहीं उसने इस बात पर भी बल दिया है कि संस्कृत प्राकृत कवियों के बाद ही राजदरबार में अपभ्रंश कवियों को पश्चिम दिशा में स्थान दिया जाय[3] भाषागत साम्य के आधार पर पंजाबी सिंधी और जूनी राजस्थानी के सम्बन्ध में यह कथन ठीक माना जा सकता है

प्राकृत में जैन और बौद्ध साहित्य ही प्रमुख है अपभ्रंश का अधिकांश साहित्य जैन साहित्य है सन्देश रासक तथा सिद्ध साहित्य (*बौद्ध चर्यापद गीति और दोहा*) को छोड़कर लगभग समूचा वाङ्मय जैन साहित्य है अपभ्रंश साहित्य हिंदी साहित्य से न्यून नहीं है हिन्दीसाहित्य के आदि काल की अनेक रचनाएं अपभ्रंश की गिनाई जाती हैं केवल इतना ही नहीं श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी इसे 'पुरानी हिन्दी' नाम देते हैं गुजराती इसे जूनी गुजराती और राजस्थानी 'पुरानी राजस्थानी' कहकर पुकारते हैं इससे भी अपभ्रंश की सामान्य आधार भूमिका का पता लगता है हिंदी के भक्ति और रीति काल के साहित्य से अपभ्रंश साहित्य अधिक विस्तृत है साहित्यिक दृष्टि से भी इसका विशेष स्थान है हिंदी साहित्य की अनेक प्रवृत्तियां अपभ्रंश-युग की देन हैं कथा की विविधता रचना-शैली परम्परागत काव्यात्मक वर्णन साहित्यिक रूढ़ियों का निर्वाह लौकिक और शास्त्रीय शैलियों का समन्वय वस्तु विधान प्रकृति-चित्रण रसात्मकता भक्ति और शृंगार का पुट आदि प्रवृत्तियां अपभ्रंश-साहित्य से ही परम्परागत रूप में हिंदी साहित्य को प्राप्त हुई हैं उपलब्ध अपभ्रंश जैन साहित्य में प्रबन्धकाव्यों की संख्या अधिक नहीं है फिर भी हिंदी प्रबन्धकाव्यों से अपभ्रंश प्रबन्धकाव्य

---

१ स्वयम्भू—पउमचरिउ प्रथम भाग १ १
  स्वयम्भू—पउमचरिउ प्रथम भाग १ १
३ देखिए काव्यमीमांसा दशम अध्याय
४ देखिये मेरा लेख 'सन्देशरासक और हिन्दी काव्यधारा' सप्तसिन्धु अप्रैल ५ का अंक

आधार मानकर यह चरितकाव्य रचा गया इसके वर्णन संवाद चौत्यकम प्रमोदक युद्धवर्णन प्रकृति चित्रण रस सयोजना अलकार-योजना आदि में उत्कृष्ट काव्य के तत्व विद्यमान हैं चौदहवी संधि में चित्रित जलक्रीडा और बसन्त वर्णन काव्य की अनूठी सम्पत्ति है संधि के अंत में लिखा भी है—जल क्रीडा में स्वयम्भू को गोग्रह-कथा में चतुर्मुख को और मत्स्य-भेदन म 'भद्र' को आज भी कवि लोग नही पा सकते महाकवि स्वयम्भू के पुत्र त्रिभुवन का यह कथन अक्षरश सत्य प्रतीत होता है समूचा वर्णन पढ़ कर चित्त खिल जाता है कहा जाता है कि 'पउमचरिउ' की नब्बे संधियो मे से अंतिम आठ त्रिभुवन की रचना की है परन्तु पुसिन्मट्ट की भांति उनकी रचना से काव्य-क्रम में कोई भेद नही लक्षित होता

रिट्ठणेमिचरिउ—यह भी स्वयम्भू की रचना है इसमें ११२ संधियाँ है इस ग्रंथ का प्रमाण १८ श्लोक कहा जाता है इसमें बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि या नेमिनाथ का चरित तथा जैन-परम्परानुसार कृष्ण और पाण्डवो की कथा वर्णित है प्रसिद्ध है कि इस काव्य की निन्यानवे संधि के बाद का अंश स्वयम्भू के पुत्र त्रिभुवन की रचना है इसी विषय को लेकर गोविन्द मद्र और चतुर्मुख के अपभ्रंश महाकाव्य प्रणयन का उल्लेख मिलता है. इन सभी रचनाओं का संबंध *हरिवंशपुराण से है जैन शास्त्रों में पद्मपुराण और 'हरिवंशपुराण' अत्यन्त ख्यातरत है जिनमें क्रमश* रामायण और महाभारत की मिलती-जुलती कथा प्राप्त होती है हरिवंशपुराण का विषय लेकर लिखी जाने वाली रचनाओं म यश कीर्ति का ३४ संधियो का पौराणिक काव्य पाण्डुपुराण का उल्लेख मिलता है इसका रचना-काल १५२३ ई कहा गया है[1] हरिवंशपुराण के आधार पर रची गई रचनायें अधिक है धवल कवि का 'हरिवंशपुराण' ११२ सन्धियो का काव्य है जिसका रचना काल ग्यारहवी सदी के पूर्व माना जाता है रइधू (सिंहसेन) का 'णेमिणाह चरिउ' १५ वी शताब्दी के लगभग की रचना है इसी प्रकार श्रुतकीर्ति का हरिवंश पुराण' १५५१ ई का कहा गया है लक्ष्मणदेव का 'णेमिणाह चरिउ' (संवत् १५१ से पूर्व) चार संधियों का है हरिभद्र के 'णेमिणाह चरिउ का भी उल्लेख प्राप्त होता है इसी प्रकार अमरकीर्तिगणि के णेमिणाह चरिउ' का पता लगा है यशःकीर्ति के हरिवंशपुराण का पता लगता है जो १५ वी सदी की रचना है इस परपरा में अभी अन्य रचनाओं का पता लगाना शेष है क्योकि भारतीय परम्परा मे रामायण और महाभारत की कथायें अत्यन्त लोकप्रिय तथा विविध रूपो में वर्णित है

'पद्मपुराण को आधार बनाकर लिखी जाने वाली रचनाओ में केवल रइधू के पद्मपुराण' का उल्लेख मिलता है

णायकुमारचरिउ—अपभ्रंश के दूसरे महाकवि पुष्पदन्त है उनका णायकुमारचरिउ एक रोमांटिक कथाकाव्य है इसमें नागकुमार के जीवनचरित्र का वर्णन है इसम वर्णित घटनायें अतिरंजित और प्रमोदकपूर्ण है कथा का प्रारम्भ स्वाभाविक विधि से हुआ है भाषा गम्य तथा प्रवाहपूर्ण है पढते ही रस-धारा बहने लगती है रोमान्टिक कथाकाव्य का यह उत्कृष्ट निदर्शन है इसकी रचना संवत १ २५ के लगभग कही जाती है

जसहरचरिउ—यह रचना भी पुष्पदन्त की है इसे धार्मिक कथाकाव्य कहा जा सकता है वस्तु-सयोजना म कसावट है कथानक का विकास नाटकीय ढग से होता है समूचा कथानक धार्मिक दार्शनिक उद्देश्यों से भरपूर है आध्यात्मिक गठन मिलन पर भी—रोमांटिक प्रवृत्ति जागरूक है शैली उत्तम पुरुष में होने के कारण रचना मे आत्मीय भाव अधिक है प्राय प्रबन्धकाव्य की सभी साहित्यिक रूढियाँ इस कथाकाव्य में दृष्टिगोचर होती हैं कवि ने अपनी रचना का धर्मकथानिबन्ध कहा है कुल मिलाकर य कथाकाव्य सुन्दर है

महापुराण—महाकवि पुष्पदन्त की यह तीसरी तथा सर्वोत्कृष्ट रचना है इस वृहत्काय ग्रंथ में ६३ महापुरुषों के जीवन चरित्र का वर्णन है इसका रचनाकाल ग १ १६—१ २२ है इस महापुराण में १ २ सन्धियां हैं इसका प्रमाण

---

[1] देखें [illegible]

[illegible]

साहित्यिक रचना-विधान मे उत्कृष्ट और परिमाण मे अधिक है अपभ्रंश के प्रकाशित जैन प्रबन्धकाव्य इस प्रकार है—पउमचरिउ, रिट्ठणेमिचरिउ, महापुराण, णायकुमारचरिउ, जसहर चरिउ,भविसयत्तकहा, करकंडुचरिउ, णेमिणाहचरिउ, पउमसिरीचरिउ, सनत्कुमार-चरित और सुदसणचरिउ आदि कुछ अप्रकाशित प्रबन्धकाव्यो के नाम ये है—हरिवंश-पुराण, पाडुपुराण, पद्मपुराण, सुकोशल चरिउ, मेघेश्वरचरिउ आदि इनमे से पुराणकाव्य और चरितकाव्य शुद्ध धार्मिक काव्य ग्रंथ है और णायकुमार-चरिउ, करकंडुचरिउ, और पउमसिरीचरिउ मुख्यत. रोमाटिक काव्य हैं इनके अतिरिक्त मुक्तक काव्यो मे रास, चर्चरी, कुलक, फागु, दोहा और गीति रचनाये है उपलब्ध अपभ्रंश साहित्य मे गद्य और दृश्य-काव्य नही के बराबर हैं लोकगीत अवश्य उस समय प्रचलित थे, जिनका आधार लोकप्रसिद्ध कथा होती थी महाराष्ट्र मे इसका प्रचलन अधिक व्यापक था खडकाव्य के नाम पर केवल 'सदेशरासक' प्राप्त हो सका है परन्तु अभी अपभ्रंश का विपुल साहित्य प्रकाशन की प्रतीक्षा मे है महाकवि स्वयम्भू तथा पुष्पदन्त के उल्लेखो से यही पता चलता है कि अपभ्रंश साहित्य सातवी सदी से प्राचीन है लगभग एक हजार वर्षो तक यह साहित्य भारत-भूमि पर पल्लवित-पुष्पित होता रहा भाषा ही नही, साहित्य मे भी यह प्राकृत साहित्य से मेल खाता है अभी तक समूचे प्राकृत साहित्य का आलोडन नही हो सका इसका कारण सस्कृत को अधिक बढावा देना है किंतु सस्कृत मे प्रभाव रूप से कई बातें प्राकृत और अपभ्रंश की मिलती हैं सस्कृत के कई छन्द प्राकृतछद हैं और अत्यानुप्रास की प्रवृत्ति अपभ्रंश साहित्य की देन है वस्तु-विवरण पद्धति भी दोनो मे समान है हिंदी मे बारहमासा की प्रवृत्ति, छद-विधान, अत्यानुप्रास, अलकार-योजना, प्रबन्ध-शिल्प, पद्धति-चित्रण आदि विधायें अपभ्रंश की देन है, न कि सस्कृत की

प्रो० हर्टर ने जैन कथासाहित्य के निम्न लिखित रूप निर्धारित किये है

१ धार्मिक आलोचना मे कहानिया
२ धार्मिक आख्यान
३ चरित-काव्य
४ पौराणिक कहानिया [राम, कृष्ण आदि]
५ प्रबध कहानिया [साधु, साध्वियो का जीवन-चरित]
६ कथा-काव्य

वस्तुत चरित-काव्य और कथा-काव्य मे मौलिक भेद नही है चरित-काव्य और पौराणिक काव्य मे अवश्य थोडा भेद है अपभ्रंश चरितकाव्यो के अन्तर्गत पउमचरिउ, णायकुमारचरिउ, पउमसिरीचरिउ, जसहरचरिउ करकडुचरिउ, रिट्ठणेमि चरिउ और भविसयत्तकहा आदि की गणना की जाती है चरितकाव्यो की परम्परा अत्यधिक प्राचीन ज्ञात होती है आगे चलकर इसी परम्परा मे रामचरितमानस, रामचद्रिका, पद्मावत प्रबन्धकाव्य रचे गये सस्कृत मे अवश्य पुराण-काव्यो की सर्वाधिक प्राचीनता का पता लगता है सम्भव है कि चरित काव्य की धारा के मूल रूपो का विकास पुराणो से हुआ हो पुराणकाव्यो मे अलौकिकता और विस्तार के साथ ही अवान्तर आख्यानो का बाहुल्य प्राप्त होता है इसके विपरीत चरित काव्यो मे लौकिकता, मुख्य कथाप्रेरक घटनायें और वस्तुसयोजना सक्षिप्त होती है पुराण काव्यो की भाति इनमें पौराणिक रूढियो और धार्मिक तत्त्वो का उल्लेख भी कम होता है रोमाटिक चरितकाव्यो में तो यह तत्त्व बहुत ही कम पाया जाता है किसी-किसी काव्य की कथावस्तु ऐतिहासिक व्यक्ति से भी सम्बन्ध रखती है 'जायसी का पद्मावत' इसी प्रकार का काव्य माना जा सकता है

पउमचरिउ—अपभ्रंश के आद्य महाकवि स्वयम्भू का यह प्रसिद्ध काव्य है जैसा कि नाम से स्पष्ट है यह एक चरित-काव्य है इसमें पाच काण्ड और ९० सधिया है प्रत्येक सधि में १२ से लेकर १४ तक कडवक है इस रचना का समय आठवी सदी का मध्य भाग माना जाता है इसकी भाषा मधुर, प्रवाहपूर्ण और ललित है भाषा पर कवि का जैसा अधिकार है, अन्यत्र विरल है इस ग्रथ में रामायण की कथा वर्णित है प्राकृत में इनके पूर्व विमलसूरि 'पउमचरिउ' काव्य लिख चुके थे सस्कृत में जिनसेन आचार्य ने भी 'आदिपुराण' की रचना कुछ समय पूर्व ही की थी इन्ही को
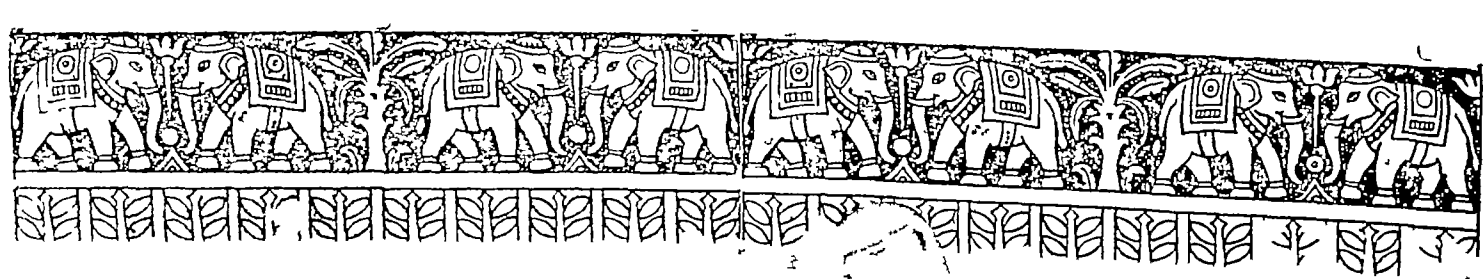
सन्धियों में राजा करकंडु की कथा है यह जैन साहित्य की प्रसिद्ध कथा कही जाती है इसमें धर्म और प्रेम साथ ही दृष्टिगोचर होता है युद्ध का वर्णन भी है पर वह नाम मात्र का है वर्णन की अपेक्षा कथाओं की योजना स्वाभाविक है इस काव्य में इतिवृत्तात्मकता के साथ सग्रहात्मकता भी है परन्तु इतिवृत्तात्मकता का निर्वाह पूर्णरूप से नहीं हो पाया श्रोता-वक्ता शैली को छोड़कर पौराणिक काव्य की शेष रूढ़ियों का पालन हुआ है आगे चलकर मूलकथा की गति में अवरोध दिखाई देता है इसके संवाद अवश्य उत्तम है इस पर कुछ नाटकीय प्रभाव भी लक्षित होता है

जम्बूस्वामीचरिउ —वीर कवि की यह कृति वि स १ ७६ की कही जाती है इस चरितकाव्य में अंतिम केवली जम्बू स्वामी के चरित का वर्णन है इसका उल्लेख डॉ हरिवंश कोछड़ ने अपने प्रबन्ध 'अपभ्रंश साहित्य' में किया है ऐसे अन्य भी अप्रकाशित चरित-काव्य है

सुदंसणचरिउ —यह नयनन्दी कविकृत चरितकाव्य है इसका रचनाकाल वि स ११ कहा गया है इसमें सुदर्शन के चरित के माध्यम से पंचनमस्कार मंत्र का माहात्म्य वर्णित है

पासचरिउ :—यह पद्मकीर्ति की सफल कृति है इसका उल्लेख अन्यत्र भी मिलता है इसमें तेवीसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जीवनचरित कहा गया है काव्यका रचना-काल वि सवत् ११३४ बताया जाता है बारहवीं शताब्दी के अनेक चरित काव्यों का उल्लेख मिलता है उनमें से कुछ इस प्रकार है—देवसेनगणि का सुलोयणाचरिउ इसमें भरत चक्रवर्ती के प्रधान सेनापति जयकुमार की धर्मपत्नी का जीवन चरित वर्णित है श्रीधर के पासणाहचरिउ सुकुमाल चरिउ और भविसयत्तचरिउ का उल्लेख प्राप्त होता है जिनमें क्रमश पार्श्वनाथ चरित सुकुमाल का पूर्व जन्म और श्रुतपंचमी का माहात्म्य वर्णित है

तेरहवीं सदी के चरितकाव्यों में सिंह कवि का पज्जुण्णचरिउ है जिसमें प्रद्युम्न का जीवन चरित चित्रित है हरिभद्र का सनत्कुमारचरित और रइधू के सुकोशलचरित मेघेश्वरचरित श्रीपालचरित सम्मतिनाथचरित है और हरिदेव का मयणपराजयचरिउ चरितकाव्यो में गिने जाते है इस काल में रचित काव्यों की एक लम्बी परंपरा ही दिखाई देती है आगे चलकर पन्द्रहवीं सदी में धनपाल के बाहुबलिचरित और लक्ष्मणदेव के णेमिणाहचरिउ का उल्लेख मिलता है

इस प्रकार अपभ्रंश जैन साहित्य में चरितकाव्यों की विशिष्ट परंपरा है पुराणकाव्यों की संख्या भी कम नहीं है स्थूल रूप से दोनों में स्वरूप और उद्देश्य की दृष्टि का ही भेद है मुक्तक काव्य में भी यही बात है मुक्तक रचनाकारों में जोइन्दु (योगीन्द्र) का स्थान श्रेष्ठ माना जाता है इसकी चार रचनाएँ है—परमात्मप्रकाश योगसार दोहापाहुड और श्रावक-धर्म-दोहा कवि का समय दसवी शताब्दी माना गया है इसके अतिरिक्त जिनदत्त सूरि की चर्चरी कालस्वरूप कुलक और उपदेशरसायन प्रसिद्ध रचनाएँ है इनका समय बारहवीं सदी कहा जाता है शालिभद्रसूरि का भरत बाहुबली रास' तेरहवीं सदी के रासक ग्रन्थों में सबसे बड़ी रचना कही गई है इसमें भरत-बाहुबली के युद्ध का विस्तृत वर्णन है रचना अनेक छन्दों में लिखी गई है परवर्ती रासग्रन्थों में इसी तरह के समरारास' 'कच्छुलीरास' पेथडरास आदि रचनाएँ लिखी गई फागु ग्रन्थ भी रचे गये श्री जिनपद्म सूरिका 'सिरि थूलिभद्द फागु' प्रसिद्ध रचना है इसका वर्णन अत्यन्त मनोहर है शब्द-विन्यास बहुत ही उत्तम है दोहों में आचार्य हेमचन्द्र के सिद्ध हेमशब्दानुशासन में शृंगार वीर नीति अन्योक्ति तथा अन्य प्रकीर्णक दोहे भी उपलब्ध होते है छंदों के परिचय के लिए स्वयम्भू का स्वयम्भूछन्द प्रसिद्ध रचना है

संक्षेप में —अपभ्रंश जैन साहित्य विपुल और विशद है इसमें महाकाव्य पुराण चरितकाव्य कथाकाव्य गीत उपदेश शृंगार सभी कुछ प्राप्त होता है यह अन्य नहीं है बराबर है ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय साहित्य और भाषा के मूल्यांकन के लिए यह साहित्य पूरक है इस साहित्य के बिना समूचा ऐतिहासिक मूल्यांकन अपूर्ण ही रहेगा इस साहित्य में भारतीय जीवन का पूर्ण चित्र अपनी स्वाभाविक दशा में प्रतिबिम्बित हुआ है इसलिए इसका महत्त्व और भी अधिक बढ़ गया है आशा है कि भविष्य में अन्य शोध कार्यों से इस सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी प्राप्त हो सकेगी

○

६३००० श्लोक कहा जाता है इसकी कुछ सन्धियो मे २६ कडवक है जैन शास्त्रो मे त्रेसठ शलाकापुरुषो का जीवन-चरित्र लिखने की एक परम्परा ही है शीलाचार्य का महापुरुषचरित प्राकृत भाषा मे निवद्ध है इस महापुराण का आधार आचार्य जिनसेन (स० ७८३ के लगभग) कृत आदिपुराण है इसी परम्परा मे आचार्य हेमचन्द्र विरचित त्रिषष्ठिशलाकापुरुष-चरित्र प्राप्त होता है

साहित्यिक दृष्टि से महापुराण का अत्यन्त महत्त्व है इसमे स्थान-स्थान पर कवित्वपूर्ण वणन, मधुर सवाद और गीतो की सुकोमल लडिया व्याप्त दिखाई देती है महाकवि ने इन गीतो को 'धवलगीत' की सज्ञा दी है अपभ्र श साहित्य मे इस कोटि का अन्य कोई ग्रथ नही है भाषा पूर्ण साहित्यिक है स्वयम्भू की भाषा से पुष्पदन्त की भाषा अधिक परिमार्जित, सुष्ठु और प्रौढ है भाषा-साहित्य की दृष्टि से भी यह अधिक मूल्यवान् है इसके वर्णन इतने सुन्दर है कि पढते ही मुग्ध हो आते है उपमाओ की तो कवि ऐसी झडी लगा देता है कि एक से एक अधिक सुन्दर और सटीक प्रतीत होती है, भाषा की स्वाभाविकता और—निसर्गसिद्ध वर्णन अनुपमेय है कही-कही उच्च कोटि के साहित्यिक गीत भी दृष्टिगत होते है वर्णन अत्यन्त सुन्दर, सजीव और सटीक है

भविसयत्तकहा—प्रसिद्ध कवि धनपाल की यह एक मात्र रचना है इसका समय दसवी शताब्दी कहा जाता है इसके दूसरे नाम भविसयतकहा या सुयपचमीकहा (श्रुतपचमीकथा) है इसमे कार्तिक शुक्ला पचमी (ज्ञानपचमी) के फल-वर्णन स्वरूप भविष्यदत्त की कथा का वर्णन है

आधुनिक युग मे सस्कृत प्राकृत व्याकरण के अध्ययन, मनन तथा अनुसधान के समय डा० पिशेल को (१८८६ के लगभग) पता लगा कि अपभ्र श भाषा का भी कोई व्याकरण है उन्होने अपभ्रश के व्याकरण का अध्ययन कर 'सिद्ध-हेमशब्दानुशासन' का भी सम्पादन किया परन्तु साहित्य का पता लगाने पर भी जब उन्हे कुछ प्राप्त नही हुआ तब अपभ्र श के सम्बन्ध मे उनकी यह मान्यता बन गई कि इस भाषा का सम्बन्ध लोक-जीवन से नही रहा, यह रूढ साहित्यिक भाषा मात्र थी परन्तु १९१४ ई० मार्च मे जर्मन विद्वान् प्रो० हरमन जेकोबी (Jacobi of Bonn Germany) ने भारत-यात्रा की और भ्रमणकाल मे अहमदाबाद मे किसी वैश्य के पास उक्त रचना प्राप्त कर हर्ष से पुलकित हो उठे स्वदेश लौटकर उन्होने बडे मनोयोग पूर्वक उसका सपादन किया और अपभ्र श भाषा की महत्ता प्रदर्शित की इसका महत्त्व है कि यह अपभ्र श का प्रथम प्रकाशित बृहत्काय ग्रथ है इसमे बाईस सन्धिया है डॉ० जेकोबी ने हरिभद्र के नेमिनाथचरित से भविसयतकहा की भाषा की तुलना की है धनपाल की भाषा मे देशीपन और लचक है कवि ने इस कथा को 'बिहि खडहिं बावीसहिं सन्धिहिं' (पृ० १४८) कहकर दो भागो मे विभक्त कही है परन्तु डा० हर्मन जेकोबी इसे तीन भागो मे मानते है, जो उचित ही है

अपभ्र श कथा-काव्यो मे भविसयत्तकहा का विशिष्ट स्थान है इसमे वर्णित भविष्यदत्त की कहानी करुण और यथार्थ है घटनाओ और पात्रो का चित्रण सहृदयता के साथ किया गया है घटनाओ मे कार्य-कारण की सयोजना पूरी तरह से मिलती है अवान्तर कथा मे भी सतुलन है अवान्तर कथा मुख्यकथा को गतिशील बनाने मे सहायक है इसके साथ ही घटनायें स्वाभाविक और प्रेमानुभूति से अतिरजित है स्थान-स्थान पर उनका सूक्ष्म विश्लेषण प्राप्त होता है समूचे रूप मे कथा स्वाभाविक और सवेदनीय है अनुभूतियो की गहनता पूरी रचना मे व्याप्त है वह मार्मिक भी है इसीलिए रसात्मकता से ओतप्रोत और स्पृहणीय है

पउमसिरीचरिउ —दिव्यदृष्टि कवि धाहिल की यह चार सधियो की अकेली रचना उपलब्ध है इस चरितकाव्य का रचनाकाल ११ वी सदी का मध्यभाग कहा जा सकता है इसमे पद्मश्री का जीवन-चरित वर्णित है इसकी कथावस्तु का आधार पारिवारिक घटनाएँ है दो अलौकिक घटनाओ और अवान्तर कथाओ से इसकी वस्तु-योजना बनी है फिर भी कथावस्तु स्वाभाविक है इस पर सामाजिक स्थिति की पूरी छाप है जीवन की व्यावहारिकता मानो इस काव्य मे सजीव हो उठी है रचना का उद्देश्य कथा के माध्यम से धर्म की ओर प्रेरित करना है

करकडुचरिउ —मुनि कनकामर की यह प्रसिद्ध रचना है मुख्य रूप मे यह रोमाटिक चरितकाव्य है इसमे दस
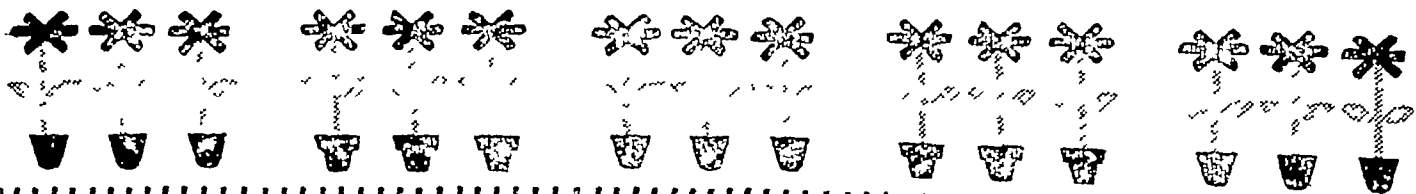
आगमों की भाषा

जैनागमों की भाषा अर्धमागधी के सम्बन्ध में दो विकल्प प्रसिद्ध हैं—

अर्धं मागध्याः—अर्थात् जिसका अर्धांश मागधी का हो वह अर्धमागधी कहलाती है जिस भाषा में आधे शब्द मगध के और आधे शब्द अठारह देशी भाषाओं के मिश्रित हों

अर्धं मगधस्य—अर्थात्—मगध के आधे प्रदेश की भाषा वर्तमान में उपलब्ध सभी आगमों की भाषा अर्धमागधी है यह श्रमणपरम्परा की परम्परागत धारणा है किन्तु आधुनिक भाषाविज्ञान की दृष्टि से आगमों की भाषा के सम्बन्ध में अध्ययन आवश्यक है

भाषा की दृष्टि से अध्ययनीय आगमांशः—[१] आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध और सभी शेष आगमों की भाषा [२] प्रश्नव्याकरण और ज्ञाताधर्म कथा [३] रायपसेणिय का सूर्याभवर्णन [४] जीवाभिगम का विजयदेववर्णन [५] उत्तराध्ययन और सूत्रकृतांग का पद्यविभाग [६] आचारांग द्वितीय श्रुतस्कंध और छेदसूत्रों की भाषा

आगमों की अर्धमागधी भाषा ही आर्यभाषा है

प्रज्ञापना के अनुसार जो अर्धमागधी भाषा बोलता है वह भाषा-आर्य है अर्थात् केवल भाषा की दृष्टि से आर्य है म्लेच्छ होते हुए भी जो अर्धमागधी बोलता है वह भाषा-आर्य है जिस प्रकार एक भारतीय अंग्रेजी खूब अच्छी तरह बोल लेता है वह जन्मजात भारतीय होते हुए भी भाषा—अंग्रेज है और जो अंग्रेज हिन्दी अच्छी तरह बोल लेता है वह जन्मजात अंग्रेज होते हुये भी भाषा भारतीय है प्रज्ञापना के कथन का यह अभिप्राय हो जाता है कि आर्यों की भाषा अर्धमागधी भाषा ही है

आर्यदेश साढ़े पच्चीस हैं उनमें भाषा अधिक हैं वे यदि अर्धमागधीभाषा बोलें अथवा [वर्तमान-अंग्रेजी भाषा की तरह] आर्यदेशों में अर्धमागधी भाषा का सर्वत्र व्यापक प्रचार व प्रसार रहा हो और यही राजभाषा रही हो तो प्रज्ञापना के इस कथन की संगति हो सकती है

क्या सभी तीर्थंकर अर्धमागधी भाषा में ही देशना देते थे ?

भगवान् महावीर मगध के जिस प्रदेश में पैदा हुये और बड़े हुये उस प्रदेश की भाषा[1] [अर्धमागधी] में भगवान् ने उपदेश दिया किन्तु शेष तीर्थंकर भारत के विभिन्न भागों के थे वे सब ही अपने प्रान्त की भाषा में उपदेश न करके केवल अर्धमागधी भाषा में ही प्रवचन करते थे यह मान्यता कहाँ तक तर्कसंगत है यह विचारणीय है

भगवान् ऋषभदेव से भगवान् महावीर तक [४२ हजार वर्ष कम कोड़ाकोड़ी सागरोपम] की इस लम्बी अवधि में मगधी भाषा में कोई परिवर्तन हुआ या नहीं ? जब कि भगवान् महावीर के निर्वाण के काल के पश्चात् केवल २४ वर्ष की अवधि में मगध की भाषा में कितना सीमित परिवर्तन हो गया है ?

आगमों के प्रति अगाध श्रद्धा

आगमसाहित्य ऐसा साहित्य है जिस पर मानव की अनन्य एवं अविचल श्रद्धा चिर काल से रही है और रहेगी मानव

---

१ सव्वभासाणुगामिणीए सरस्सईए जोयणणीहारिणा सरेणं अद्धमागहाए भासाए धम्मं परिकहेइ तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं अगिलाए धम्ममाइक्खइ साऽवि य णं अद्धमागहा भासा तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं अप्पणो सभासाए परिणामेणं परिणमइ —औपपातिक

[illegible]
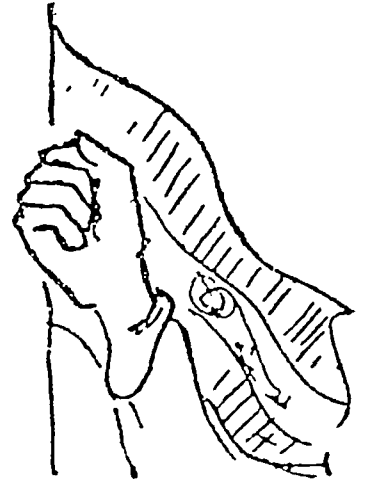
मुनि श्रीकन्हैयालालजी 'कमल' न्यायतीर्थ

आगम-साहित्य का पर्यालोचन

आगमसाहित्य का महत्त्व

आगमसाहित्य भारतीय साहित्य का प्राण तो है ही, आध्यात्मिक जीवन की जन्मभूमि एव आर्य सस्कृति का मूल्यवान् कोश भी है

विश्व के समस्त पथ, मत या सम्प्रदायो के अपने-अपने आगम है इनमे जैनागम साहित्य अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है जर्मनी के डा० हर्मन जेकोबी, डा० शुब्रिग' आदि अनेक प्रसिद्ध विदेशी विद्वानो ने जैनागमो का अध्ययन करके विश्व को यह बता दिया कि अहिसा, अनेकान्त, अपरिग्रह एव सर्वधर्मसमन्वय के चिंतन-मनन से परिपूर्ण एव आध्यात्मिक जीवन से आलोकित आगम यदि विश्व मे हैं तो केवल जैनागम हैं

आगमशब्द की व्याख्या—आ-उपसर्ग और गम् धातु से आगम शब्द की रचना हुई है आ-उपसर्ग का अर्थ 'समन्तात्' अर्थात् पूर्ण है, गम्-धातु का अर्थ गति—प्राप्ति है

आगम शब्द की व्युत्पत्ति—जिससे वस्तुतत्त्व [पदार्थरहस्य] का पूर्ण ज्ञान हो वह आगम है[1] जिससे पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो वह आगम है[2] जिससे पदार्थों का मर्यादित ज्ञान हो वह आगम है[3] आप्तवचन से उत्पन्न अर्थ [पदार्थ] ज्ञान आगम कहा जाता है उपचार से आप्त वचन भी आगम माना जाता है

अग आगम वीतरागवाणी है

जैनागमो [अगो] मे वीतराग भगवान् की वाणी है वीतरागता का अर्थ है रागरहित आत्मदशा जहा द्वेष वहा राग है जहा राग नही वहा द्वेष भी नही क्योकि राग और द्वेष अविनाभावी है किंतु इनकी व्याप्ति अग्नि और धूम की तरह की व्याप्ति है अत जहा राग है वहा द्वेप होता ही है जहा राग हो वहा द्वेष कभी नही भी होता है, इसलिए सर्वत्र 'वीतराग' शब्द का ही प्रयोग हुआ है वीतद्वेप शब्द का नही

सराग दशा रागद्वेष से युक्त आत्मदशा है, मायापूर्वक मृषा भाषण इस दशा मे ही होता है, इसलिए सरागदशा का कथन सर्वथा प्रामाणिक नही होता जैनागमो की प्रामाणिकता का मूलाधार यही है यद्यपि अग आगमो का अधिकाश भाग नष्ट हो गया है और जो है उसमे कतिपय अश पूर्ति रूप हैं, परिवर्धित है, फिर भी उसमे वीतरागवाणी सुरक्षित है जो पूर्ति रूप है, परिवर्धित है वह भी वीतराग वाणी से विपरीत नही है

---

१ आ-समन्ताद् गम्यते वस्तुतत्त्वमनेनेत्यागम

२ आगम्यन्ते मर्यादयाऽवबुद्ध्यन्तेऽर्था अनेनेत्यागम

३ आ-अभिविधिना सकलश्रुतविपयव्याप्तिरूपेण, मर्यादया वा यथावस्थितप्ररूपणारूपया गम्यन्ते—परिच्छिद्यन्ते अर्था येन स आगम

४ आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागम उपचारादाप्त वचन च

द्वादशांगों के नाम

१ आचारांग २ सूत्रकृतांग ३ स्थानांग ४ समवायांग ५ भगवतीसूत्र[१] ६ ज्ञाताधर्मकथा ७ उपासकदशा ८ अंतकृद्दशा ९ अनुत्तरोपपातिक दशा १० प्रश्नव्याकरण ११ विपाक श्रुत १२ दृष्टिवाद[२] (विलुप्त है)

द्वादश उपांगों के नाम

[१] औपपातिक [२] राजप्रश्नीय [३] जीवाभिगम [४] प्रज्ञापना [५] सूर्य प्रज्ञप्ति [६] चन्द्र प्रज्ञप्ति [७] जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति [८] (निरयावलिका) कल्पिका [९] कल्पावतंसिका [१०] पुष्पिका [११] पुष्प चूलिका [१२] वृष्णि दशा

पाँच मूल सूत्रों के नाम

[१] दशवैकालिक [२] उत्तराध्ययन [३] नन्दीसूत्र[३] [४] अनुयोग द्वार सूत्र [५] आवश्यक सूत्र

छह छेद सूत्रों के नाम

[१] बृहत्कल्प [२] व्यवहार [३] दशाश्रुत स्कन्ध [४] निशीथ [५] महानिशीथ[४] [६] पंचकल्प

प्रकीर्णकों के नाम

[१] चतुःशरण [२] आतुर प्रत्याख्यान [३] भक्त परिज्ञा [४] संस्तारक [५] तंदुल वैचारिक [६] चंद्रवेध्यक [७] देवेन्द्रस्तव [८] गणिविद्या [९] महा प्रत्याख्यान [१०] वीरस्तव [११] अजीवकल्प [१२] गच्छाचार [१३] मरणसमाधि [१४] सिद्ध प्राभृत [१५[तीर्थोद्गार, [१६] आराधनापताका [१७] द्वीपसागर प्रज्ञप्ति [१८] ज्योतिष करण्डक [१९] अंगविद्या [२०] तिथि प्रकीर्णक [२१] पिंड निर्युक्ति [२२] सारावली [२३] पर्यन्ताराधना [२४] जीवविभक्ति [२५] कवच [२६] योनि प्राभृत [२७] अंगचूलिका [२८] वंग चूलिका [२९[वृद्धचतुःशरण [३०] जम्बूपयन्ना

नियुक्तियों के नाम

१ आवश्यक २ दशवैकालिक ३ उत्तराध्ययन ४ आचारांग ५ सूत्रकृतांग ६ बृहत्कल्प ७ व्यवहार ८ दशाश्रुतस्कन्ध ९ कल्पसूत्र १० पिण्ड ११ ओघ १२ संसक्त[५]

शेष सूत्रों के नाम

१ कल्पसूत्र २ यति जीत कल्प ३ श्राद्ध जीत कल्प ४ पाक्षिक सूत्र ५ क्षामणा सूत्र ६ वंदित्त सूत्र ७ ऋषिभाषित सूत्र

वर्गीकरण—नन्दीसूत्र में ८४ आगमों का वर्गीकरण इस प्रकार है

कालिक ३७ उत्कालिक २९ अंग १२, दशा ५, आवश्यक १

वर्तमान में उपलब्ध ४५ आगमों के नाम

---

१ समवायांग-नन्दी सूत्र में भगवती सूत्र का 'विवाह' नाम दिया है विवाह का संस्कृत 'व्याख्या' होता है अनेक आगमों में 'वाहा पण्णत्ती' से भगवती सूत्र का 'पण्णत्ति' शब्द सूचित नाम सूचित किया है भगवती सूत्र का वास्तविक नाम 'वियाहपण्णत्ति' है टीकाकार इसका संस्कृत नाम 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' देते हैं 'भगवती सूत्र' यह नाम केवल महत्त्व (पूज्यता) सूचक है वास्तविक नहीं किन्तु जनसाधारण में यही नाम अधिक प्रसिद्ध है

२ वर्तमान में दृष्टि वाद के विलुप्त होने पर इसके स्थान में विशेषावश्यक भाष्य का नाम मिलाकर ४५ संख्या की पूर्ति कर ली गई है

३ नन्दीसूत्र और अनुयोगद्वार सूत्र को चूलिका सूत्र भी कहते हैं

४ छठा छेद सूत्र 'पंचकल्प' इस समय विलुप्त है

५ सूर्यप्रज्ञप्ति-नियुक्ति और ऋषिभाषित नियुक्ति वर्तमान में उपलब्ध नहीं है

की इस श्रद्धा का केन्द्रबिंदु है आगमो की प्रामाणिकता अतएव जैन और जैनेतर दार्शनिको ने आगम को सर्वोपरि प्रमाण माना है

विभिन्न परम्पराओं में आगम—वैदिक परम्परा वेदो को आगम मानती है वेद शब्द का अर्थ ज्ञान है, ज्ञान स्वय प्रकाशमान है, ज्ञान की सत्ता अखण्ड है, अतएव ज्ञान का निर्माण किसी पुरुषविशेष के द्वारा नही हो सकता ईश्वर भी ज्ञान का कर्त्ता नही हो सकता, क्योकि वह तो स्वय ज्ञानस्वरूप है अभिप्राय यह है कि ज्ञान साधन है, साध्य नही अपितु स्वय सिद्ध है इसलिए वेद अपौरुषेय हैं जैन दार्शनिको ने वेदो की अपौरुषेयता और नित्यता का निषेध किया है वह उसके शाब्दिक रूप को लेकर ही समझना चाहिए शब्दरचना कोई अनादि नही हो सकती है

जैन आगमो के समान वेदो के कुछ प्रमुख विषयविभाग है, जिन्हे जैन भाषा मे अनुयोग-विभाग कहा जा सकता है, यथा—ऋग्वेद ज्ञानकाण्ड, यजुर्वेद कर्मकाण्ड, सामवेद—उपासनाकाण्ड और अथर्ववेद-विज्ञानकाण्ड है

'अगानि चतुरो वेदा' चारो वेद अग हैं इनके उपाग शतपथ ब्राह्मण आदि ब्राह्मण ग्रथ,हैं जैनागमो के समान वैदिक परम्परा मे भी अगोपाग माने गये हैं भगवती शतक २ उद्देशक १ मे स्कदक परिव्राजक के वर्णन मे लिखा है कि 'चउण्ह वेदाण सगोवगाण,' स्कदक परिव्राजक सागोपाग चारो वेदो का ज्ञाता था अग उपाग मे साहित्य को विभाजित करने की पद्धति इतनी पुरानी है कि उसका इतिहास प्रस्तुत नही किया जा सकता

श्रुतपुरुष की तरह वेदपुरुष की कल्पना भी अति प्राचीन है यथा—

छन्द पादौ तु वेदस्य, हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयन चक्षु, निरुक्त श्रोत्रमुच्यते।
शिक्षा घ्राण च वेदस्य, मुख व्याकरण स्मृतम्।
तस्मात्सागमधीत्यैव, ब्रह्मलोके महीयते। —पाणिनीय शिक्षा

बौद्ध परम्परा त्रिपिटको को आगम मानती है पिटक पेटी को कहते हैं तीन पिटक अर्थात् तीन पेटिया विनयपिटक [आचारशास्त्र], सुत्तपिटक [बुद्ध के उपदेश] और अभिधम्मपिटक [तत्त्वज्ञान] पिटक साहित्य विशाल साहित्य है बिहार राज्य के पालीप्रकाशनमण्डल ने देवनागरी लिपि मे तीनो पिटको का ४० जिल्दो मे प्रकाशन किया है

अतिम बुद्ध गौतम बुद्ध ने और उनके पूर्ववर्ती अनेक बुद्धो ने जो कहा है उसी का इन पिटको मे सकलन है

कपिलवस्तु नाम का नगर बुद्ध की जन्मभूमि है उस युग मे वहा की जनभाषा पाली रही होगी उस भाषा मे बुद्ध ने उपदेश दिया और त्रिपिटिको की रचना भी उसी भाषा मे हुई है

जैनपरम्परा के आगम द्वादशाग गणिपिटक [आचार्य की ज्ञानमजूषा] है यह गणिपिटक ध्रुव, नित्य एव शाश्वत है इसकी नित्यता शब्दो की अपेक्षा से नही अपितु अर्थ [भाव] की अपेक्षा से है और वह भी महाविदेश क्षेत्र की अपेक्षा से है जो नित्य होता है वह अपौरुपेय है शाश्वत सत्य कभी पौरुषेय नही होता है पुन तीर्थंकर होते है और उस तिरोहित तथ्य को व्यक्त करते है यह क्रम अनादि काल से चल रहा है एव अनन्तकाल तक चलता रहेगा

आगमो की अधिकतम संख्या

भगवान् ऋषभदेव के समय मे अगोपागादि के अतिरिक्त चौरासी हजार प्रकीर्णक थे भगवान् अजितनाथ से भगवान् पार्श्वनाथ पर्यन्त प्रत्येक तीर्थंकर के समय मे सख्येय हजार प्रकीर्णक थे भगवान् महावीर के समय मे १४ हजार प्रकीर्णक थे

श्री देवर्धिगणी क्षमाश्रमण के समय मे आगमो की अधिकतर सख्या ८४ रह गई थी, वर्तमान मे केवल ४५ आगम उपलब्ध है, शेप सभी आगम विलुप्त हो गये है नन्दीसूत्र मे ८४ आगमो के नाम इस प्रकार है

अग ११, उपाग १२, मूल ४, छेद सूत्र ६, प्रकीर्णक १०, चूलिका सूत्र २

दिगम्बर परम्परा के आचार्य वर्तमान मे उक्त ८४ आगमो को विलुप्त मानते है श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य उपलब्ध ४५ आगमो के अतिरिक्त शेष आगमो को विलुप्त मानते हैं

स्थानकवासी और तेरहपथी परम्परा के आचार्य केवल ३२ आगमो को ही प्रामाणिक मानते हैं इनका माना हुआ क्रम इस प्रकार है

११ अग, १२ उपाग, ४ मूल सूत्र, ४ छेदसूत्र १ आवश्यक=योग ३२

द्वादशांगो के पद

सूत्र के जितने अश से अर्थ का बोध होता है उतना अश एक पद होता है[1] यहा द्वादशागो के पदो की सख्या समवायाग और नन्दी सूत्र के अनुसार उद्धृत की गई है

शास्त्र का नाम	पदपरिमाण
१ आचारांग[2]	१८ हजार
२ सूत्रकृताग[3]	३६ हजार
३ स्थानाग	७२ हजार
४ समवायाग	
५ भगवतीसूत्र[4]	
६ ज्ञाताधर्मकथा[5]	
७ उपासकदशा[6]	
८ अन्तकृद्दशा	
९ अनुत्तरोपपातिक	
१० प्रश्नव्याकरण	
११ विपाकश्रुत[7]	
१२ दृष्टिवाद[8]	

---

१ यत्राऽर्थोपलब्धिस्तत्पदम्—नन्दी० टीका

२ समवायाग और नन्दी सूत्र के अनुस[illegible] अध्ययनों के ही १८ हजार पद माने है [illegible] सख्या बहु (अधिक) होती है और नि[illegible]

३ पूर्व अगों से उत्तर उत्तर अगों में दुगुने [illegible] नन्दी टीका सूत्रकृतागनिर्युक्ति में भी [illegible]

४ समवायाग के अनुसार भगवती सूत्र के [illegible] सयसहस्सा, पयाण पवरवरणाणदसीहि[illegible] का उल्लेख हुआ होगा

[illegible] के ५ लाख ७६ हजार प[illegible] [illegible] का परिमाण दे[illegible] [illegible] और समवायाग [illegible] वर्णन

७ विप[illegible]

८ दृष्टिवा[illegible]

[illegible]

एकादशाङ्गों का उद्देशन काल[1]

क्रमांक	अंगसूत्रों के नाम	उद्देशन काल	क्रमांक	अंगसूत्रों के नाम	उद्देशन काल
१	आचारांग	८५	७	उपासक दशा	१०
२	सूत्रकृताङ्ग	३३	८	अन्तकृद्दशा	१०
३	स्थानांग	२१	९	अनुत्तरोपपातिकदशा	१
४	समवायांग[2]	१	१०	प्रश्नव्याकरण[5]	४५
५	भगवती[3]	६५	११	विपाकश्रुत	२
६	ज्ञाताधर्मकथा[4]	२९			१२९ दिन

उपांग छेदसूत्र मूलसूत्र आदि आगमों के उद्देशनकालों का कहीं उल्लेख नहीं मिलता है अतः इनका अध्ययन वाचनाचार्य के समीप न करके स्वतः करें तो कोई हानि नहीं है ऐसी मान्यता परम्परा से प्रचलित है
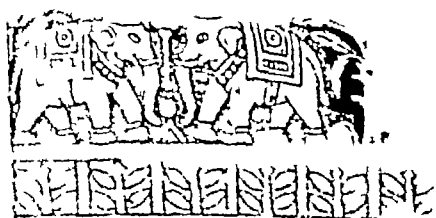
बहुश्रुत होने के लिए निर्धारित पाठ्यक्रम

कितने वर्ष के दीक्षापर्याय वाला श्रमण किस आगम के अध्ययन का अधिकारी होता है इसकी एक नियत मर्यादा बतलाई गई है वह इस प्रकार है—

तीन वर्ष के दीक्षापर्याय वाला आचार प्रकल्प (निशीथ सूत्र) के अध्ययन का अधिकारी माना गया है इसी प्रकार चार वर्ष के दीक्षापर्याय वाला सूत्रकृतांग के पाँच वर्ष वाला दशाश्रुतस्कन्ध कल्प एवं व्यवहार के आठ वर्ष वाला स्थानांग और समवायांग के दस वर्ष वाला भगवती के ग्यारह वर्षवाला क्षुल्लिकाविमान आदि पाँच आगमों के बारहवाला अरुणोपपात आदि पाँच आगमों के तेरह वर्ष वाला उत्थान श्रुतादि चार आगमों के चौदहवर्ष वाला आशीविषभावना के पन्द्रह वर्षवाला दृष्टिविषभावना सोलह वर्ष वाला चारणभावना सत्तरह वर्ष वाला महास्वप्न भावना के अठारह वर्ष वाला तेजोनिसर्ग के उन्नीस वर्ष वाला दृष्टिवाद के और बीस वर्ष के दीक्षापर्याय वाला सभी आगमों के अध्ययन के योग्य होता है[1]

—व्यवहार, उद्देशक १

उपाध्याय और आचार्य पद की योग्यता प्राप्त करने के लिए आगमों का निर्धारित पाठ्यक्रम

तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला श्रमण यदि पवित्र आचरण वाला शुद्ध संयमी अनुशासन में कुशल क्षमावान बहुश्रुत

---

१ [illegible] के अनुसार [illegible] के उद्देशन काल [illegible] समवायांग में ज्ञाताधर्मकथा के उद्देशन काल २९ [illegible] है और [illegible]

२ समवायांग का एक उद्देशन काल [illegible] है [illegible] विचारणीय है [illegible] आदि कई आगम समवायांग की अपेक्षा [illegible] है किन्तु उनके उद्देशन काल [illegible] में कम नहीं

३ [illegible] में [illegible] के उद्देशनकाल नहीं लिये—किन्तु [illegible] की प्रशस्ति में उद्देशनकालों की [illegible] है [illegible] लिए है

४ प्रथम के [illegible] में उद्देशकाल [illegible] नहीं है [illegible] अन्त में उद्देशनकालों का [illegible] है

५ प्रश्न [illegible] समवायांग [illegible] में लिए गये हैं किन्तु [illegible] है [illegible]

६ [illegible]

होगई यहाँ पहले अग का और उसके सामने उसके उपाग का उल्लेख किया जाता है—

१ आचारांग	औपपातिक सूत्र
२ सूत्रकृतांग	राजप्रश्नीय
३ स्थानाग	जीवाभिगम
४ समवयाग	प्रज्ञापना
५ भगवती सूत्र	जबूद्वीप प्रज्ञप्ति
६ ज्ञाताधर्मकथा	सूर्यप्रज्ञप्ति
७ उपासकदशा	चन्द्र प्रज्ञति
८ अतकृद्दशा	निरयावलिका कल्पिका
९ अनुत्तरोपपातिकदशा	कल्पावतसिका
१० प्रश्न व्याकरण	पुष्पिका
११ विपाकश्रुत	पुष्पचूलिका
१२ दृष्टिवाद	वृष्णिदशा

श्रुत-पुरुष की कल्पना एक अति सुन्दर कल्पना है प्राचीन भण्डारो मे श्रुतपुरुष के हस्तलिखित कल्पनाचित्र अनेक उपलब्ध होते हैं मानव-शरीर के अग-उपागो की सख्या के सम्बन्ध मे आचार्यों के अनेक मत हैं, किन्तु यहाँ श्रुतपुरुष के वारह अग और वारह उपाग ही माने गये हैं

स्थानाग और समवायाग आगम पुरुष की दो जाघे (पिण्डलिया) हैं जीवाभिगम और प्रज्ञापना ये दोनो इनके उपाग है किन्तु जाँघो के उपाग पुरुष की आकृति मे कौन से हैं ? इसी प्रकार उरू, उदर, पृष्ठ और ग्रीवा के उपाग कौन से हैं ? क्योकि शरीर-शास्त्र मे पैरो की अगुलियाँ पैरो के उपाग हैं इसी प्रकार हाथो के उपाग हाथो की अगुलियाँ, मस्तक के उपाग आँख, कान, नाक, और मुह हैं यदि इनके अतिरिक्त और भी उपाग होते है तो उनका निर्देश करके आगम पुरुष के उपागो के साथ तुलना की जानी चाहिए

अगो मे कहे हुए अर्थों का स्पष्ट वोध कराने वाले उपाग सूत्र[2] हैं प्राचीन आचार्यों के इस मन्तव्य से कतिपय अगो के उपागो की सगति किस प्रकार हो सकती है ? यथा—ज्ञातावर्मकथा का उपाग सूर्यप्रज्ञप्ति और उपासकदशा का उपाग चन्द्रप्रज्ञप्ति माना गया है इनमे क्या सगति है ?

"निरयावलियाओ" का शब्दार्थ है—नरकगामी जीवो की आवली अर्थात्—श्रेणी इस अर्थ के अनुसार एक "कप्पिया" नामक उपाग है निरयावलियाओ मे मानना उचित है श्रेणिक राजा के काल सुकाल आदि दश राजकुमारो का वर्णन इस उपाग मे है ये दश राजकुमार युद्ध मे मरकर नरक मे गये थे

कप्पिया नाम की अर्थसगति इस इकार है—

कल्प अर्थात् आचार-सावद्याचार और निरवद्याचार, ये आचार के प्रमुख दो भेद हैं, इस उपाग मे सावद्याचार के फल का कथन है इसलिए कप्पिया नाम सार्थक है किन्तु इस प्रकार की गई अर्थसगति को आधुनिक विद्वान् केवल कष्ट-कल्पना ही मानते हैं वे कहते है-कल्प-अर्थात् देव विमान और कल्पो मे उत्पन्न होने वालो का वर्णन जिसमे है वह उपाग कल्पिका है सम्भव है वह उपाग विलुप्त हो गया है

---

१ भगवती सूत्र का उपाग सूर्यप्रज्ञप्ति और ज्ञाताधर्मकथा का उपाग जवूद्वीप प्रज्ञप्ति है —सुवोधासमाचारी

२ 'अगार्थस्पष्टवोधविधायकानि उपागानि" औप० टीका

एकादशाङ्गों का उद्देशन काल[1]

क्रमांक	अंगसूत्रों के नाम	उद्देशन काल	क्रमांक	अंगसूत्रों के नाम	उद्देशन काल
१	आचारांग	८५	७	उपासक दशा	१०
२	सूत्रकृताङ्ग	३३	८	अन्तकृद्दशा	१०
३	स्थानांग	२१	९	अनुत्तरोपपातिकदशा	३
४	समवायांग[2]	१	१०	प्रश्नव्याकरण[3]	४५
५	भगवती[3]	६५	११	विपाकश्रुत	२०
६	ज्ञाताधर्मकथा	२९			१२९ दिन

उपांग छेदसूत्र मूलसूत्र आदि आगमों के उद्देशनकालों का कहीं उल्लेख नहीं मिलता है अतः इनका अध्ययन वाचनाचार्य के समीप न करके स्वतः करें तो कोई हानि नहीं है ऐसी मान्यता परम्परा से प्रचलित है

बहुश्रुत होने के लिए निर्धारित पाठ्यक्रम

कितने वर्ष के दीक्षापर्याय वाला श्रमण किस आगम के अध्ययन का अधिकारी होता है इसकी एक नियत मर्यादा बताई गई है वह इस प्रकार है—

तीन वर्ष के दीक्षापर्याय वाला आचार प्रकल्प (निशीथ सूत्र) के अध्ययन का अधिकारी माना गया है इसी प्रकार चार वर्ष के दीक्षापर्याय वाला सूत्रकृतांग के पाँच वर्ष वाला दशाश्रुतस्कन्ध कल्प एवं व्यवहार के आठ वर्ष वाला स्थानांग और समवायांग के दस वर्ष वाला भगवती के ग्यारह वर्षवाला क्षुल्लिकाविमान आदि पाँच आगमों के बारहवाला अरुणोपपात आदि पाँच आगमों के तेरह वर्ष वाला उत्थान श्रुतादि चार आगमों के चौदहवर्ष वाला आशिविषभावना के पन्द्रह वर्षवाला दृष्टिविषभावना सोलह वर्ष वाला चारणभावना सत्तरह वर्ष वाला महास्वप्न भावना के अठारह वर्ष वाला तेजोनिसर्ग के उन्नीस वर्ष वाला दृष्टिवाद के और बीस वर्ष के दीक्षापर्याय वाला सभी आगमों के अध्ययन के योग्य होता है[6]
—व्यवहार, उद्देशक १

उपाध्याय और आचार्य पद की योग्यता प्राप्त करने के लिए आगमों का निर्धारित पाठ्यक्रम

तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय वाला श्रमण यदि पवित्र आचरण वाला शुद्ध संयमी अनुशासन में कुशल क्षमावान बहुश्रुत

---

१ समवायांग और नन्दीसूत्र के अनुसार यहाँ ग्यारह अंगों के उद्देशन काल दिये हैं समवायांग में ज्ञाताधर्मकथा के उद्देशन काल २९ लिखे हैं और नन्दीसूत्र में १९ उद्देशन काल हैं

२ समवायांग का एक उद्देशन काल हो सकता है यह विचारणीय है क्योंकि व्याख्याप्रज्ञप्ति आदि कई आगम समवायांग की अपेक्षा लघुकाय हैं किन्तु उनके उद्देशन काल १ से कम नहीं

३ समवायांग और नन्दीसूत्र में भगवती सूत्र के उद्देशनकाल नहीं लिखे—किन्तु भगवतीसूत्र की प्रशस्ति में उद्देशनकालों की एक सूची है उसके अनुसार उद्देशनकाल लिखे हैं

४ प्रारम्भ के ६ अंगों के अन्त में उद्देशनकालों का उल्लेख नहीं है और अन्तिम ५ अंगों के अन्त में उद्देशनकालों का उल्लेख है

५ प्रश्नव्याकरण के ४५ उद्देशनकाल समवायांग और नन्दीसूत्र में लिखे गये हैं किन्तु वह विलुप्त हो गया है वर्तमान में उपलब्ध प्रश्नव्याकरण के अन्त में १० उद्देशन काल लिखे हैं

६ [illegible] पाठ्यक्रम में आचारांग ज्ञाताधर्मकथा उपासकदशा अन्तकृद्दशा अनुत्तरोपपातिकदशा प्रश्नव्याकरण विपाकश्रुत तथा [illegible] मूलसूत्रों के अध्ययन का उल्लेख नहीं है किन्तु आचारांग [illegible] गाथा में नवदीक्षित के लिए सर्वप्रथम [illegible] के अध्ययन कराने का उल्लेख है तथा दशवैकालिक उत्तराध्ययन नंदि आदि आगमों का अध्ययन भी नवदीक्षितों को कराने की परम्परा वर्तमान में प्रचलित है इन विभिन्न मान्यताओं का मूल क्या है ? यह अन्वेषणीय है

हो और कम से कम आचार प्रकल्प (निशीथ) का मर्मज्ञ हो तो वह उपाध्याय पद के योग्य होता है[1]

पाच वर्ष की दीक्षापर्याय वाला श्रमण यदि उक्त आध्यात्मिक योग्यता वाला हो और कम से कम दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प और व्यवहार सूत्र का ज्ञाता हो तो वह आचार्य और उपाध्याय पद के योग्य होता है

आठ वर्ष के दीक्षा पर्यायवाला श्रमण यदि उक्त आध्यात्मिक योग्यता वाला हो और कम से कम[2] स्थानाग समवायाग का ज्ञाता हो तो वह आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक स्थविर गणि और गणावच्छेदक पद के योग्य होता है

निर्धारित पाठ्यक्रम का अध्ययन करने योग्य[3] वय

सामान्यतया जिस श्रमण-श्रमणी के वगल मे वाल पैदा होने लगते है, वह (श्रमण, श्रमणी) आगमो के अध्ययन योग्य वय वाला माना गया है

अनुयोगो के अनुसार आगमो का वर्गीकरण

अनुयोगो के अनुसार आगमो का चार विभागो मे विभाजन किया गया है यथा—१ चरणकरणानुयोग, २ धर्मकथानुयोग ३ द्रव्यानुयोग, एव ४ गणितानुयोग यह विभाजन इस प्रकार है—

चरणकरणानुयोग—दशवैकालिक, बृहत्कल्प, व्यवहार, निशीथ, आवश्यक, प्रश्नव्याकरण, चउसरणपयन्ना, आतुर-प्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान भक्तपरिज्ञा, संस्तारक, गच्छाचार, मरणसमाधि, चन्द्रावेध्यक, पर्यंताराधना, पिंड विशोधि.

धर्मकथानुयोग—ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरोपपातिकदशा, विपाकश्रुत, निरयावलिका [कप्पिया] कप्पवडसिया, पुप्फिया, पुष्पचूलिका, वह्निदशा, ऋषिभाषित, जम्बूस्वामी अध्ययन, सारावली

द्रव्यानुयोग—प्रज्ञापना, नदीसूत्र

गणितानुयोग—चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, ज्योतिष्करण्डक, द्वीपसागर प्रज्ञप्ति, गणिविद्या, योनि प्राभृत, तिथि प्रकीर्णक[4]

आगम के दो भेद—मूलत आगमो के दो विभाग है १ अग प्रविष्ट[5] और २ अगवाह्य[6] जिन आगमो मे गणधरो ने तीर्थंकर भगवान् के उपदेश को ग्रथित किया है, उन आगमो को अगप्रविष्ट कहते है आचाराग आदि वारह अग अगप्रविष्ट है द्वादशागी के अतिरिक्त आगम अग वाह्य हैं

अङ्गबाह्य के दो भेद—आवश्यक और आवश्यकव्यतिरिक्त आवश्यक के ६ भेद हैं—१ सामायिक, २ चतुर्विंशतिस्तव, ३ वदना, ४ प्रतिक्रमण, ५ कायोत्सर्ग, ६ प्रत्याख्यान

---

१ कोई भी श्रमण उक्त आध्यात्मिक योग्यता के विना चाहे वह कितने ही आगमों का ज्ञाता हो—उपाध्याय आदि पदों का अधिकारी नहीं हो सकता—व्यव० उद्दे० ३

२ उक्त योग्यता से अल्प योग्यता वाला उपाध्याय आचार्य आदि पदों के अयोग्य होता है

३ उक्त योग्य वय वाले पात्र को निर्धारित पाठ्यक्रम का अध्ययन न कराना भी एक प्रकार का अपराध है निशी० उद्दे० १९.

४ शेष सभी आगमों में अनुयोगों का मिश्रण है किसी में दो किसी में तीन और किसी में चारों अनुयोगों का मिश्रण है

५ अग प्रविष्ट—नदीसूत्र 'अग प्रविष्ट' आगमों की सूची है उसमें वारह अगों के नाम हैं किन्तु 'प्रविष्ट' शब्द कुछ विशिष्ट अर्थ रखता है कुछ विद्वानों का यह अभिमत है कि स्थानाग में जिस प्रश्नव्याकरण का उल्लेख है वह विलुप्त हो गया है और उसके स्थान पर वर्तमान प्रश्न व्याकरण जो है वह अंग प्रविष्ट है इसी प्रकार विपाक, अन्तकृद्दशा, आचाराग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध और समवायाग का १०० वे समवाय के पीछे का भाग अग प्रविष्ट है

६ उपाग, मूल और सूत्रों के सम्बन्ध में प्राय ऐसे उल्लेख मिलते है कि—अमुक पूर्व में से अमुक आचार्य ने इस आगम को उद्धृत किया है चौदह पूर्व दृष्टिवाद के विभाग हैं और दृष्टिवाद वारहवा अग है किन्तु दृष्टिवाद में से उद्धृत आगमों को अग प्रविष्ट न मानकर अग वाह्य मानना विचारणीय अवश्य है

आवश्यक व्यतिरिक्त के २ भेद हैं—कालिक[1] और उत्कालिक इनकी सूची इस प्रकार है—

उत्कालिक सूत्र—१ दशवैकालिक २ कल्पिकाकल्पिक ३ चुल्ल (लघु) ३ कल्पसूत्र ४ महाकल्प सूत्र ५ औपपातिक ६ राजप्रश्नीय ७ जीवाभिगम ८ प्रज्ञापना ९ महाप्रज्ञापना १ प्रमादाप्रमादम् ११ नदीसूत्र १२ अनुयोगद्वार, १३ देवेन्द्रस्तव १४ तदुल वैचारिक १५ चन्द्रावेध्यक १६ सूर्य प्रज्ञप्ति[2] १७ पौरुषी मंडल १८ मंडल प्रवेश १९ विद्याचरणविनिश्चय २ गणिविद्या २१ ध्यानविभक्ति २२ मरणविभक्ति २३ आत्मविशोधि २४ वीतराग श्रुत २५ सलेखना श्रुत २६ विहारकल्प २७ चरणविधि २८ आतुरप्रत्याख्यान २९ महाप्रत्याख्यान इत्यादि

कालिक सूत्र—१ *उत्तराध्ययन*[3] २ *दशा [दशाश्रुतस्कन्ध] ३ कल्प [बृहद् कल्प] ४ व्यवहार, ५ निशीथ ६ महानिशीथ* ७ ऋषिभाषित ८ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति ९ द्वीपसागर प्रज्ञप्ति १० चन्द्र प्रज्ञप्ति ११ क्षुद्रिकाविमान प्रविभक्ति १२ महल्लिका प्रविभक्ति १३ अग चूलिका १४ वग चूलिका १५ विवाह चूलिका १६ अरुणोपपात १७ वरुणोपपात १८ गरुडोपपात १९ धरणोपपात २ वैश्रमणोपपात २१ वैलधरोपपात २२ देवेन्द्रोपपात २३ उत्थानश्रुत २४ समुत्थानश्रुत २५ नागपरिज्ञावलिका २६ निरयावलिका २७ कल्पिका २८ कल्पावतसिका २९ पुष्पिका ३० पुष्प चूलिका ३१ वृष्णिदशा ३२ आशिविष भावना ३३ दृष्टिविष भावना ३४ स्वप्न भावना ३५ महास्वप्न भावना ३६ तेजोग्नि निसग

आगम के दो भेद—लौकिक और लोकोत्तर

अनुयोगद्वार मे केवल आचारागादि द्वादशांगों को ही लोकोत्तर आगम माना है इसी प्रकार लोकोत्तर श्रुत भी आचा रांग आदि द्वादशाग ही माने गये हैं

आगम के दो भेद —गमिक और अगमिक गमिक[4]—दृष्टिवाद अगमिक[5]—कालिकसूत्र

आगम के तीन भेद—(१) सूत्रागम (२) अर्थागम (३) तदुभयागम

सूत्रागम—मूलरूप आगम को सूत्रागम कहते है

अर्थागम—सूत्र-शास्त्र के अर्थरूप आगम को अर्थागम कहते है

तदुभयागम—सूत्र और अर्थ दोनो रूप आगम को तदुभयागम कहते हैं —अनुयोगद्वारसूत्र १४१

आगम के और तीन भेद हैं—(१) आत्मागम (२) अनन्तरागम (३) परम्परागम

आत्मागम—गुरु के उपदेश बिना स्वयमेव आगमज्ञान होना आत्मागम है जैसे—तीर्थंकरों के लिए अर्थागम आत्मागम रूप है और *गणधरो के लिए सूत्रागम आत्मागमरूप है*

---

१ (क) कालिक और उत्कालिक वर्गीकरण का कारण क्या है यह अब तक दृष्टि पथ में नहीं आया
(ख) क्या उत्कालिक सूत्र २९ के नाम लिखे हैं किन्तु अन्त में 'इत्यादि' का कथन होने से अन्य नाम का होना भी सम्भव है
(ग) कालिक सूत्रों के अन्त में 'इत्यादि' का उल्लेख नहीं है अतः अन्य सूत्रों का परिगणन करना उचित नहीं माना जा सकता है

२ सूर्य प्रज्ञप्ति को उत्कालिक और चन्द्र प्रज्ञप्ति को कालिक मानने का क्या कारण है जबकि दोनों उपांग हैं और दोनों के मूल पाठों में पूर्ण साम्य है ?

३ उत्तराध्ययन यदि भ महावीर की अन्तिम अपृष्ट वागरणा है तो इसे अंगबाह्य कैसे कहा जा सकता है यह विचारणीय है क्योंकि सर्वज्ञ कथित और गणधरग्रथित आगम अंगप्रविष्ट माना जाता है

४ नन्दीसूत्र में निर्दिष्ट इस वर्गीकरण से एक आशंका पैदा होती है—कि क्या कालिक सूत्र गमिक हैं या अगमिक ? क्योंकि केवल कालिक सूत्र अगमिक हैं नदी सूत्र में कालिक और उत्कालिक ये दो भेद केवल अग बाह्य सूत्रों के है—अग प्रविष्ट अर्थात्—ग्यारह अग कालिक हैं या उत्कालिक यह ज्ञात नहीं होता ग्यारह अंग गमिक हैं या अगमिक ? यह भी निर्णय नहीं होता. परम्परा से ग्यारह अगों को अगमिक और कालिक मानते हैं किन्तु इसके लिए आगम प्रमाण का अन्वेषण आवश्यक है

५ अनुयोगद्वार में कालिक श्रुत को और दृष्टिवाद को भिन्न-भिन्न कहा है अतः दृष्टिवाद कालिक है या उत्कालिक ? यह भी विचारणीय है क्योंकि नंदी सूत्र में कालिक एव उत्कालिक की सूची में द्वादशांगों का निर्देश नहीं है

हो और कम से कम आचार प्रकल्प (निशीथ) का मर्मज्ञ हो तो वह उपाध्याय पद के योग्य होता है[1]

पाच वर्ष की दीक्षापर्याय वाला श्रमण यदि उक्त आध्यात्मिक योग्यता वाला हो और कम से कम दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प और व्यवहार सूत्र का ज्ञाता हो तो वह आचार्य और उपाध्याय पद के योग्य होता है

आठ वर्ष के दीक्षा पर्यायवाला श्रमण यदि उक्त आध्यात्मिक योग्यता वाला हो और कम से कम[2] स्थानाग समवायाग का ज्ञाता हो तो वह आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक स्थविर गणि और गणावच्छेदक पद के योग्य होता है

निर्धारित पाठ्यक्रम का अध्ययन करने योग्य[3] वय

सामान्यतया जिस श्रमण-श्रमणी के बगल मे बाल पैदा होने लगते है, वह (श्रमण, श्रमणी) आगमो के अध्ययन योग्य वय वाला माना गया है

अनुयोगो के अनुसार आगमो का वर्गीकरण

अनुयोगो के अनुसार आगमो का चार विभागो मे विभाजन किया गया है यथा—१ चरणकरणानुयोग, २ धर्मकथानुयोग ३ द्रव्यानुयोग, एव ४ गणितानुयोग यह विभाजन इस प्रकार है—

चरणकरणानुयोग—दशवैकालिक, बृहत्कल्प, व्यवहार, निशीथ, आवश्यक, प्रश्नव्याकरण, चउसरणपयन्ना, आतुर-प्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान भक्तपरिज्ञा, सस्तारक, गच्छाचार, मरणसमाधि, चन्द्रावेध्यक, पर्यताराधना, पिंड विशोधि.

धर्मकथानुयोग—ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरोपपातिकदशा, विपाकश्रुत, निरयावलिका [कप्पिया] कप्पवडसिया, पुप्फिया, पुष्पचूलिका, वह्निदशा, ऋषिभाषित, जम्बूस्वामी अध्ययन, सारावली

द्रव्यानुयोग—प्रज्ञापना, नदीसूत्र

गणितानुयोग—चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, ज्योतिष्करण्डक, द्वीपसागर प्रज्ञप्ति, गणिविद्या, योनि प्राभृत, तिथि प्रकीर्णक[4]

आगम के दो भेद—मूलत आगमो के दो विभाग है १ अग प्रविष्ट[5] और २ अगवाह्य[6] जिन आगमो मे गणधरो ने तीर्थंकर भगवान् के उपदेश को ग्रथित किया है, उन आगमो को अगप्रविष्ट कहते है आचाराग आदि बारह अग अगप्रविष्ट हैं द्वादशागी के अतिरिक्त आगम अग बाह्य हैं

अङ्गबाह्य के दो भेद—आवश्यक और आवश्यकव्यतिरिक्त आवश्यक के ६ भेद हैं—१ सामायिक, २ चतुर्विंशतिस्तव, ३ वदना, ४ प्रतिक्रमण, ५ कायोत्सर्ग, ६ प्रत्याख्यान

---

१ कोई भी श्रमण उक्त आध्यात्मिक योग्यता के बिना चाहे वह कितने ही आगमों का ज्ञाता हो—उपाध्याय आदि पदों का अधिकारी नहीं हो सकता—व्यव० उद्दे० ३

२ उक्त योग्यता से अल्प योग्यता वाला उपाध्याय आचार्य आदि पदों के अयोग्य होता है

३ उक्त योग्य वय वाले पात्र को निर्धारित पाठ्यक्रम का अध्ययन न कराना भी एक प्रकार का अपराध है निशी० उद्दे० १९.

४ शेष सभी आगमों में अनुयोगों का मिश्रण है किसी में दो किसी में तीन और किसी में चारों अनुयोगों का मिश्रण है

५ अग प्रविष्ट—नदीसूत्र 'अग प्रविष्ट' आगमों की सूची है उसमें बारह अगों के नाम हैं किन्तु 'प्रविष्ट' शब्द कुछ विशिष्ट अर्थ रखता है कुछ विद्वानों का यह अभिमत है कि स्थानाग में जिस प्रश्नव्याकरण का उल्लेख है वह विलुप्त हो गया है और उसके स्थान पर वर्तमान प्रश्न व्याकरण जो है वह अग प्रविष्ट है इसी प्रकार विपाक, अन्तकृद्दशा, आचाराग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध और समवायाग का १०० वें समवाय के पीछे का भाग अग प्रविष्ट है

६ उपाग, मूल और सूत्रों के सम्बन्ध में प्राय ऐसे उल्लेख मिलते हैं कि—अमुक पूर्व में से अमुक आचार्य ने इस आगम को उद्धृत किया है चौदह पूर्व दृष्टिवाद के विभाग हैं और दृष्टिवाद बारहवा अग है किन्तु दृष्टिवाद में से उद्धृत आगमों को अग प्रविष्ट न मानकर अग बाह्य मानना विचारणीय अवश्य है

उतने ही थे तो—उनके इतने ही पद हों यह कभी समव नहीं कहा जा सकता

नदी सूत्र में आगमों के जितने पद लिखे है उतने पद नहीं लिखे गये यदि यह पक्ष मान लिया जाय तो यह प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होता है

देवर्धि क्षमाश्रमण के समय कितने पद थे ? और जितने पद थे उतने पदों का उल्लेख क्यों नही किया गया ? उस समय जितने पद थे यदि उनका उल्लेख किया जाता तो इस समय तक कितने पद कम हुए यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता

देवर्धि क्षमाश्रमण के समय में दृष्टिवाद विलुप्त हो गया था और शेष आगमों के भी कतिपय अश विलुप्त हो गये थे इसलिये यह स्पष्ट है कि—नदी में प्रत्येक अंग के जितने पद माने हैं उतने पद तो देवर्धि क्षमाश्रमण के समय में नही थे

आगमों के कतिपय मूल पाठों की मतक्यता में कुछ बाधायें

आगमों की जितनी वाचनाएँ हुई उन सब मे प्रमुख वाचनाचार्यों के सामने पाठभेदों और पाठान्तरों की विकट समस्या समुपस्थित हुई थी विचारविमर्श के पश्चात् भी सम्मिलित सभी श्रुतधर अन्तिम वाचना के अन्त तक एक मत नही हो सके

फलस्वरूप सर्वज्ञ प्रणीत आगमों के मूल पाठों मे भी कुछ ऐसे पाठों का अस्तित्व रहा जिनके कारण प्रबल मत भेद पैदा हो गये और भ महावीर का सघ अनेक गच्छ-सम्प्रदायों मे विभाजित हो गया

परम योगीराज श्री आनन्दघन ने अनत जिनस्तुति मे सघ की वास्तविक स्थिति का नग्न चित्र इन शब्दों मे उपस्थित किया है

> गच्छना भेद बहु नयन निहालता तत्त्व नी बात करतां न लाजे
> उदरभरणादि निज काज करता थका मोह नडिया कलिकाल राजे

देवर्धि क्षमाश्रमण के समय में अग आगमो के जितने अध्ययन उद्देशे शतक आदि थे उतने ही वर्तमान मे हैं केवल प्रश्न व्याकरण में आमूल चूल परिवर्तन हुआ है भगवती और ज्ञाता के अध्ययन आदि में अवश्य कमी आई है शेष आगम तो ज्यो के त्यों है निष्कर्ष यह है कि लिपिबद्ध होने के पश्चात् आगम साहित्य का ह्रास इतना नहीं हुआ जितना देवर्धि क्षमाश्रमण के पूर्व हुआ यह सिद्ध करने के लिये यहाँ कतिपय ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत है

१ भद्रबाहु के युग मे उत्तर भारत में भयकर दुष्काल पड़ा दुर्भिक्ष के कारण जैन सघ इधर-उधर बिखर गया यह दुष्काल भ महावीर के *निर्वाण के पश्चात् दूसरी शताब्दी में हुआ था आचार्य स्थूलिभद्र की अध्यक्षता मे पाटलिपुत्र* मे श्रमण-सघ सम्मिलित हुआ इसमे ग्यारह अगों का सकलन किया गया

२ पाटलीपुत्र परिषद् के अनन्तर देश में दो बार बारह वर्षों के दुष्काल पड़े इनमे साधु सस्था और साहित्य का सग्रह छिन्न-भिन्न हो गया

३ विक्रम के ५ वर्ष बाद भारत में एक भयकर दुष्काल पड़ा उसमें फिर जैन धर्म का साहित्य इधर-उधर अस्त व्यस्त हो गया पाटलीपुत्र और माथुरी वाचना के बाद वल्लभी वाचना का यही समय था इस दुष्काल में अनेक श्रुतधर काल-धर्म को प्राप्त हो गये थे शेष बचे हुए साधुओं को वीर सवत् ९८ मे सघ के आग्रह से देवर्धि क्षमाश्रमण ने निमत्रित किया और वल्लभी में उनके मुख से—अवशेष रहे हुए खण्डित अथवा अखण्डित आगम-पाठो का सकलित किया

व्याख्या भेद—भ महावीर के सघ मे कुछ ऐसे प्रमुख आचार्य भी हुए जिन्होने अपनी मान्यतानुसार कतिपय मूल पाठों की व्याख्याएँ की इनसे पाक्षिक एव सावत्सरिक पर्व सम्बन्धी मतभेद जैन सघ में इतने दृढ—बद्धमूल हो गये हैं

इसलिये समस्त आगमो की सक्षिप्त वाचना का एक सस्करण तय्यार किया गया. इस वाचना मे—यत्र तत्र "जहा उववाइए" "जहा पन्नत्तीए" "जहा पन्नवणाए"—आदि लगा कर अनेक गमिक पाठ सक्षिप्त किये गये है अत इस वाचना को सक्षिप्त वाचना माना जाता है, कई विद्वानो की मान्यता है कि देवर्धि गणि क्षमाश्रमण ही इस वाचना के आयोजक थे

उस समय प्रत्येक श्रमण को यह लगन लगी थी कि आगमो की प्रतियाँ अल्प भार वाली बनें जिससे विहार मे हर एक श्रमण आगमो की कुछ प्रतियाँ साथ मे रख सकें इसलिये वे समान पाठो को बिन्दिया लगा कर लिखते थे यह भी एक सक्षिप्त वाचना के लिये उपक्रम था, किन्तु इसका परिणाम श्रमणो के लिये अच्छा नही हुआ नवदीक्षित श्रमण बिन्दी वाले पाठो की प्रतियो पर स्वाध्याय नही कर सके क्योकि किस अक्षर से कितना पाठ बोलना यह अभ्यास के बिना असभव था

यदि आगमो के आधुनिक विद्वान् विस्तृत और सक्षिप्त वाचनाओ के सस्करण तय्यार करे तो यह बहुत बडी श्रुत-सेवा होगी

उपलब्ध आगमो मे सक्षिप्त और विस्तृत वाचना के पाठ सम्मिलित है अत एक भी आगम ऐसा नही है जिसे विस्तृत या सक्षिप्त वाचना का स्वतत्र आगम कहा जा सके

अब एक और वाचना की आवश्यकता है

भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् ९८० वर्षों मे ३-४ वाचनायें हुई किन्तु देवर्धि क्षमाश्रमण के पश्चात् इन १५०० वर्षो मे सघ की ओर से सम्मिलित वाचना एक भी नही हुई इस लम्बी अवधि मे जैनसघ—श्वेताम्बर दिगम्बर, यतिवर्ग, लोकागच्छ, स्थानकवासी, तेरापथी आदि अनेक भागो मे विभक्त हो गया

दश वर्ष पश्चात् भ० महावीर को निर्वाण हुये २५०० वर्ष पूरे हो जायगे अर्थात् सार्ध द्विसहस्राब्दी की स्मृति मे श्वेताम्बर जैनो की समस्त शाखा-प्रशाखाओ की ओर से एक सम्मिलित आगमवाचना अवश्य होनी चाहिए और इसके लिये अभी से सयुक्त प्रयत्न होना चाहिए

आगमो के विलुप्त होने का इतिहास

वीर निर्वाण सवत् १७० मे अन्तिम चार पूर्वों का विच्छेद हुआ.
,, १००० मे पूर्व ज्ञान का सर्वथा विच्छेद हुआ
,, १२५० मे भगवती सूत्र का ह्रास हुआ
,, १३०० मे समवायाग का ह्रास हुआ
,, १३५० मे स्थानाङ्ग का ,,
,, १४०० मे बृहत्कल्प और व्यवहार का ह्रास हुआ
, १५०० मे दशाकल्प सूत्र का ,,
,, १९०० मे सूत्रकृताङ्ग का ,,

पश्चात् आचाराग आदि का ह्रास क्रम से होता गया

—तीर्थोद्गारिक प्रकीर्णक

वीरात् ९८० वर्ष पश्चात देवर्धिक्षमाश्रमण की अध्यक्षता मे सभी आगम लिख लिये गये थे, यह एक ऐतिहासिक सत्य है किन्तु नदी सूत्र मे आगमो के जितने पद लिखे हैं क्या वे सब लिखे गये थे ? यदि सब लिखे गये थे तो नदी सूत्र मे प्रत्येक अग के जितने अध्ययन, उद्देशक, शतक, प्रतिपत्ति, वर्ग आदि लिखे है उतने ही उस समय थे या उनसे अधिक थे ?

अधिक थे तो लिखे क्यो नही गये ?
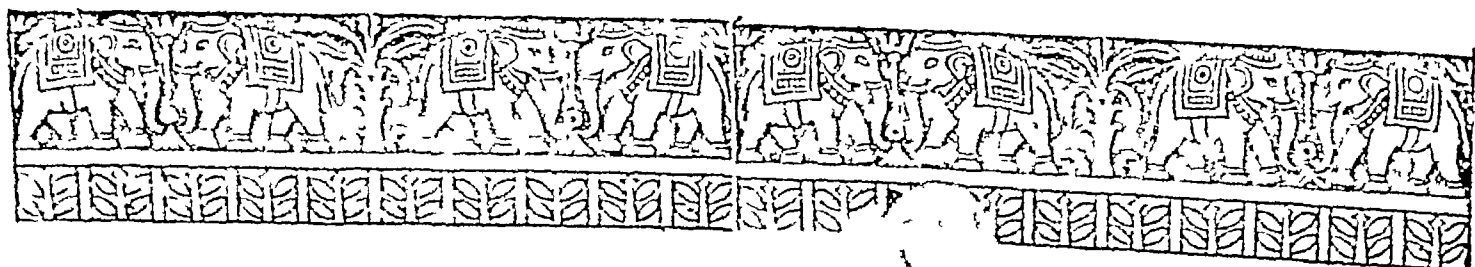
एक एक या दो आगमों के प्रकाशन तो कई जगह से हुए हैं किन्तु इनका व्यापक क्षेत्र नहीं बन सका क्योंकि साम्प्रदायिक दृष्टिकोण सबका प्रगति का बाधक बनता रहता है

भावी प्रकाशन—इस युग में आगमबत्तीसी के एक ऐसे संस्करण की आवश्यकता है जो सर्वश्रेष्ठ मुद्रण-कला से मुद्रित हो और पाकेट साइज में एक जिल्द में चार अनुयोगों में वर्गीकृत एवं पुनरुक्ति रहित हो

तमेव सच्चं णिस्संकं जं जिणेहिं पवेइयं—वही असंदिग्ध सत्य है जो जिन भगवान् ने कहा है. जैनागमों का यह संक्षिप्त पर्यालोचन जिस रूप में मैं चाहता था उस रूप में प्रस्तुत नहीं कर सका इसमें एक प्रमुख कारण था—पर्याप्त साहित्य सामग्री का अभाव

श्रद्धेय क्षमाश्रमण श्री हजारीमलजी महाराज सा. के श्री-चरणों में रहने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ है उनकी आदर्श आगम भक्ति की अमिट छाप मेरे हृदय पर अंकित है उनके श्रीमुख से तमेव सच्चं णिस्संकं जं जिणेहिं पवेइयं यह वाक्य सदा सर्वदा प्रस्फुरित होता रहता था वे मुझ से अनेक बार आगमों का स्वाध्याय सुनते यथाप्रसंग चिन्तन मनन का प्रसाद देते और जरा-जर्जरित देह से भी नियमित स्वाध्याय करते थे उनके पुनीत पाद-पद्मों की स्मृति में मेरा यह अल्प अर्घ्य सभक्ति समर्पित है

श्रमणोत्तम श्री हजारीमल जी महाराज की स्मृति में प्रकाशित यह स्मृतिग्रंथ शुद्ध सात्त्विक ज्ञानयज्ञ है स्मृतिग्रंथ के संपादकों की यह महान् श्रुतसेवा और दानदाताओं की ज्ञान भक्ति युग-युग तक अमर रहेगी साथ ही स्वाध्याय शील पाठकों की ज्ञान आराधना सदा सर्वदा सफल होती रहेगी

जिनका उन्मूलन अनेक मुनि सम्मेलनो के सगठित प्रयत्नो के पश्चत् भी नही हुआ

तीर्थंकर का वचनातिशय और कतिपय सन्देहजनक शब्द—तीर्थंकरो का एक अतिशय[1] ऐसा है कि जिसके प्रभाव से देव, दानव, मानव और पशु सभी अपनी अपनी भाषा मे जिनवाणी को परिणत कर लेते है जिनवाणी से श्रोताओ की शकाओ का उन्मूलन हो जाता है, किन्तु उपलब्ध अगादि आगमो मे मास, मत्स्य, अस्थिक, कपोत, मार्जार और जिन-पडिमा, चैत्य, सिद्धालय आदि शब्दो के प्रयोग सन्देहजनक हैं यद्यपि टीकाकारो ने इन भ्रान्तिमूलक शब्दो का समाधान किया है फिर भी इन शब्दो के सम्बन्ध मे यदा-कदा विवाद खडे हो ही जाते है

प्रश्न यह है कि सर्वज्ञकथित एव गणधर ग्रथित आगमो मे इन शब्दो के प्रयोग क्यो हुए ? क्योकि सूत्र[2] सदा असदिग्ध होते है

आगमों का लेखनकाल—स्थानकवासी समाज मे आगमो का लेखनकाल विक्रम की १६ वी शताब्दी है स्वाध्याय के लिए और ज्ञानभण्डारो के लिए आगमो की प्रतिलिपिया कराने वालो ने व्यवसायी लेखको को मूल, टीका, टब्बा आदि की जैसी प्रतियाँ दी वैसी ही प्रतिलिपियो का सर्वत्र प्रचार हुआ

इतिहास से यह निश्चित है कि १४ वी शताब्दी तक आगमो की जितनी प्रतिलिपियाँ हुईं वे सब चैत्यवासियो की देख-रेख मे हुई और आगमो के व्याख्या-ग्रन्थ भी इसी परम्परा के लिखे हुये थे आरम्भ मे स्थानकवासी परम्परा को आगमो की जितनी प्रतियाँ मिली वे सब चैत्यवासी विचारधारा से अनुप्राणित थी

लोकाशाह लिखित आगमो की प्रतिया—लोकाशाह लेखक थे और शास्त्रज्ञ भी थे वे प्रतिमा पूजा के विरोधी थे किन्तु उनके लिखे हुए आगमो की या उनकी मान्यता की व्याख्या करने वाले आगमो की प्रतिया किसी भी सग्रहालय मे आज तक उपलब्ध नही हुई हैं अत वादविवाद के प्रसगो मे स्थानकवासी मान्यता समर्थक प्राचीन प्रतियो का अभाव अखरता है

स्थानकवासी परम्परा के दीक्षा आदि पावन प्रसगो पर लेखको से जो आगमो की प्रतिया ली जाती हैं वे सब प्राय श्वेताम्बर मूर्तिपूजक मान्यता की व्याख्या वाली होती है वास्तव मे स्थानकवासी मान्यता की व्याख्या वाली प्रतियो के प्रचार व प्रसार के लिये सगठित प्रयत्न हुआ ही नही

आगमों की दरियापुरी प्रतिया—गुजरात की दरियापुरी प्रतियाँ प्राय सभी ज्ञानभण्डारो मे मिलती है किन्तु उनमे भी विवादास्पद स्थानो की स्थानकवासी मान्यता की व्याख्या नही मिलती, इसलिये आगामी मुनि-सम्मेलनो मे इस सबध मे विचार-विनिमय होना आवश्यक है

जैनागमों का मुद्रणकाल—स्थानकवासी समाज मे सर्वप्रथम आगमबत्तीसी (हिंदी अनुवाद सहित) का मुद्रण दानवीर सेठ ज्वालाप्रसाद जी ने करवाया

सम्पूर्ण बत्तीसी का हिंदी अनुवाद स्व० पूज्य श्री अमोलख ऋषि जी म० ने किया

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक समाज मे दानवीर सेठ धनपतराय जी ने सर्वप्रथम जैनागमो का मुद्रण करवाया

आचार्य सागरानन्द सूरि ने आगमोदय समिति द्वारा अधिक से अधिक आगमो की टीकाओ का प्रकाशन करवाया

पुप्फ भिक्खु द्वारा सम्पादित सुत्तागमे का प्रकाशन हुआ है किन्तु मास-परक और जिनप्रतिमा सम्बन्धी कई पाठो को निकाल देने से इस प्रकाशन की प्रामाणिकता नही रही है

---

१ तेईसवा अतिशय २ प्रश्नव्याकरण द्वितीय सवर द्वार, अनुयोगद्वार, व्याख्याप्रज्ञप्ति देखें
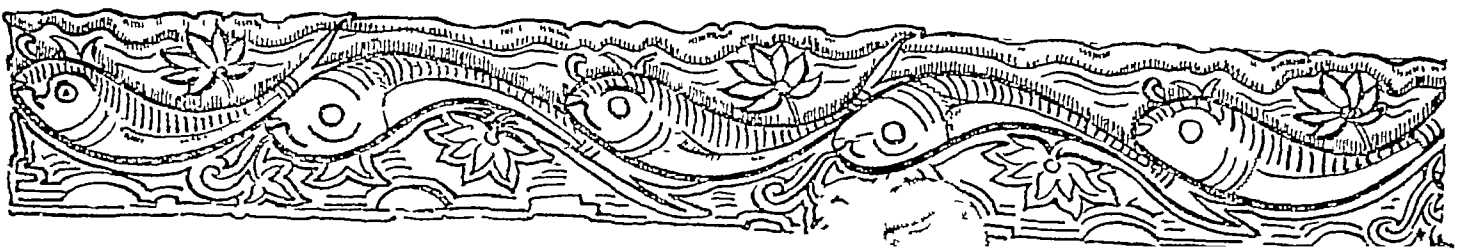
जितना श्रम किया था आश्रित कवि और चित्रकारों को प्रोत्साहित कर जो मूल्यवान् सांस्कृतिक ज्योति प्रज्वलित की उसके प्रकाश से आज भी हम प्रकाशित हो रहे हैं इस नगर की ख्याति हिन्दी साहित्य में केवल सतप्रवर नागरीदासजी-सावंतसिंह के कारण ही रही है पर अन्वेषण से सिद्ध हो गया है कि यहा की साहित्यिक परम्परा इससे भी प्राचीन और अधिक प्रेरक रही है नागरीदासजी के पूर्वजों ने जो साहित्यिक साधना की-करवाई उसका समुचित मूल्याकन आजतक हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहासकारों ने नही किया है वह सर्वथा निर्दोष नही है जैसा कि 'मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रिया' के छत्रकुंवरवाले प्रसग से प्रमाणित है नागरीदास का साहित्य 'नागर समुच्चय' में प्रकाशित है, पर शोध करने पर इनकी स्फुट रचना अन्य भी उपलब्ध है किशनगढ के ही एक मुस्लिम विद्वान् श्री फैयाजअली खा ने नागरीदास पर विशद अनुसधान कर शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किया है (यद्यपि यह रचना इन पंक्तियों के लेखक की दृष्टि मे नही आई)

जैन इतिहास के साधनों से पता चलता है कि किशनगढ का जैन दृष्टि से भी कम महत्त्व नही है जब से यह नगर बसा तभी से जैनों का इससे निकट का सबध रहा है राजकीय उच्चपदो पर जैन आरूढ रहे हैं इससे भी महत्त्व की बात यह है कि किशनगढ का राजकीय सरस्वतीभण्डार जैन साहित्य की दृष्टि से बहुत ही समृद्ध है उपाध्याय मेघविजयजी आचार्य श्री जिनरगसूरिजी आदि उद्भट मुनिपुगवों ने यहाँ निवास कर न केवल साहित्य-साधना ही की अपितु अपने उच्च विचारों स स्थानीय जन-मानस को भी अनुप्राणित किया राजकीय परिवार को भी उपकृत किया यद्यपि यहाँ का राजपरिवार परम वैष्णव रहा है तथापि वह पर-मतसहिष्णु था जब आचार्यों को विज्ञप्तिपत्र प्रेषित किये जाते थे उनमे राज-परिवार के मुख्य सदस्य के भी हस्ताक्षर अनिवार्य थ

लोंकागच्छीय प्रवृत्तियो का भी किशनगढ केन्द्र रहा है कई आचार्यों के स्वर्गवास आचार्य पद और चातुर्मास हुए हैं जिनका उल्लेख लेखक के 'लोंकाशाह परम्परा और उसका अज्ञात साहित्य' नामक निबंध में अन्यत्र किया जा चुका है आज भी लोकागच्छ के उपाश्रय-स्थानक में अवशिष्ट ज्ञान भडार है किसी युग में यहा उनके तीन ज्ञानभंडार थे पर असावधानी स उनका अभिमानात्मक अस्तित्व ही शेष रह गया जिसे जो कृति प्रति पसन्द आई वही उठाकर चलता बना तिजोरियों की चाभी सभालनेवालो की दृष्टि में ज्ञानमूलक सामग्री का महत्त्व ही क्या हो सकता है ?

अद्यावधि हिन्दी साहित्य के जितने भी इतिहास लिखे गये है वे तब तक पूर्ण नही कहे जा सकते—हो सकते जब तक हिन्दी क्षेत्र स सबद्ध सभी अचलो का वैज्ञानिक दृष्टि से साहित्यिक सर्वेक्षण न कर लिया जाय आज हमारे सम्मुख हिन्दी और ग्रथकारो के विषय मे जो भ्रान्तिया है इसका कारण भी इसी आचलिक सर्वेक्षण का अभाव ही है परिणामस्वरूप कई महत्त्वपूर्ण रचनाए और रचनाकार आजतक हमारे हिन्दी साहित्य के इतिहास के निर्माताओ की दृष्टि मे नहीं आ सके हैं परम पूज्य उपाध्याय श्री सुखसागरजी महाराज सा और साहित्यप्रेमी मुनिवर श्री मंगलसागरजी महाराज साहब की छत्रछाया मे जयपुर से अजमेर जाते हुए आचलिक साहित्यिक सर्वेक्षण का उथला-सा प्रयास किया तो मुझे कतिपय ऐसे विशिष्ट ग्रथ और ग्रथकार मिल गय जो हिन्दी भाषा और साहित्य की दृष्टि से बड़े महत्त्व के प्रमाणित हुए आज तक किसी भी हिन्दी शोधार्थी की निगाह नहा गई सूचित अचल के जो दो चार ग्रंथकार—जैसे राजसिंह व्रजदासी नागरीदास आदि—सामने आये उनकी रचनाए भी उपेक्षित रह गई और इस प्रकार वे सही मूल्याकन से वचित रह गये यहा उन ज्ञात रचनाकारो क अज्ञात ग्रथो का तथा सर्वथा अज्ञात रचनाकारों के अज्ञात ग्रंथों का विवरण प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है ज्ञात कृतिकारो म आचार्य श्री जिनरगसूरिजी महाराजा राजसिंह व्रजदासी—बाकावती विजयकीर्ति का समावेश होता है और अज्ञात रचनाकार हैं महाराजा रूपसिंह महाराजा मानसिंह महाराजा विरदसिंह महाराजा कल्याणसिंह महाराजा पृथ्वीसिंह तत्पुत्र जवानसिंह महाराजा मदनारायणसिंह कविवर मानिग पचायण जसराज भाट और प्रम या पत्रमुख

जो विज्ञप्ति-पत्र किशनगढ मे प्रेषित किये जाते रहे है उनका समावेश स्वतन्त्र कृतिकारो में नही किया है केवल उल्लेख मात्र कर दिया है यहा प्रसगत सूचित कर देना आवश्यक जान पडता है कि अजमेर समीपवर्ती रूपनगर, मरोठ

मुनि श्रीकान्तिसागर

अजमेर समीपवर्त्ती क्षेत्र के
कतिपय उपेक्षित हिन्दी साहित्यकार

भारतीय इतिहास के निर्माण मे अजयमेरु-अजयगढ-अजमेर की अपनी विशिष्ट देन रही है इस भूखड का अतीत अत्यन्त गौरवमय रहा है मध्यकाल आते-आते तो यह दिल्ली आगरा के साथ ही सम्पूर्ण भारतीय राजनीति और सस्कृति का प्रेरक केन्द्र हो गया धार्मिक दृष्टि से अजमेर का महत्त्व अक्षुण्ण है राजा अजयपाल, आचार्य श्री जिनदत्तसूरिजी और सूफी सत ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती से सबद्ध धर्ममूलक कथाए आज भी जनमानस मे अनुप्राणित है दरगाह ख्वाजा साहब और पुष्करजी मुसलमान और हिन्दुओ के पुण्य तीर्थस्थल स्थानीय धार्मिक विभूति के रूप मे मान्य है राजपूत सस्कृति और आर्यधर्म का गढ समझा जानेवाला यह भूखड सस्कृत एवम् हिन्दी साहित्यकारो की कर्मभूमि रहा है हिन्दी रासो साहित्य का आदि ग्रथ पृथ्वीराज रासो की प्रणयनभूमि एवम् अन्तिम आर्यसम्राट् चौहानकुलतिलक पृथ्वीराज की क्रीडास्थली के रूप मे अजमेर हिन्दी भाषा और साहित्य के इतिहास मे सर्वज्ञात रहा है किसी समय परम सारस्वतोपासको का यहा अच्छा सगम था, देश के दिग्गज विद्वान् शास्त्रार्थार्थ यहाँ आया करते थे स० १२३९ का खरतरगच्छीय श्री जिनपतिसूरि और पद्मप्रभ का सफल शास्त्रार्थ इतिहासविश्रुत है

प्राचीन जैन-सस्कृति की दृष्टि से सूचित भूखण्ड विशिष्ट महत्त्व रखता है प्रश्नवाहनकुलीय आचार्यों की परम्परा हर्षपुर से सबद्ध रही है जो बाद मे चद्रगच्छ या राजगच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुई प्रद्युम्नसूरि इस शाखा के ऐसे आचार्य हुए जिनने सपादलक्ष और त्रिभुवनगिरि के नरेशो को अपनी चारित्रिक और औपदेशिक शक्ति से प्रभावित कर जैन धर्मानुयायी बनाया इनकी परम्परा ने भारतीय तत्त्वज्ञान की गुत्थियें सुलझाने वाले दार्शनिक साहित्य की सृष्टि की जिसके प्रतीकसम 'वादमहार्णव' को उपस्थित किया जा सकता है यह हर्षपुर अजमेर मण्डल मे ही अवस्थित है कहा जाता है इसे राजा अल्लट की रानी ने बसाया था कहने का तात्पर्य है कि अजमेर जब नही बसा था इसके पूर्व से ही जैन सस्कृति का सबध इस भूमि से रहता आया है आगे चलकर यह सबध और भी घनिष्ठतर होता गया और मध्यकाल के बाद तो अजमेर जैन श्रद्धालुओ का केन्द्र ही बन गया यद्यपि आज इस नगर की विशेष ख्याति जैन समाज मे आचार्य श्रीजिनदत्तसूरिजी के निर्वाणस्थल के कारण ही है, पर यदि इसका समुचित वैज्ञानिक दृष्टि से पुनर्मूल्याकन किया जाय तो अनेक सास्कृतिक नव्य तथ्य उपलब्ध किये जा सकते हैं यद्यपि अजमेर पर स्व० हरविलास शारदा ने आग्ल भाषा मे एक कृति प्रस्तुत की है, पर आज नव्य शोध द्वारा जो नूतन सूचनाए प्राप्त हैं, उनके आधार पर परिमार्जन अपेक्षित है व्यापक दृष्टिकोण से इस नगर और तत्सन्निकटवर्त्ती भूभागो का तथ्यपूर्ण वर्णन अद्यतन शैली मे वाछनीय है सीमित अन्वेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि ज्ञात से भी अज्ञात महान् है यह तो मैं केवल साहित्यिक अपेक्षा से ही कह रहा हू, पुरातात्त्विक दृष्टि मे तो इस का और भी महत्त्व हो सकता है

अजमेर के समीप जयपुर मार्ग पर किशनगढ अवस्थित है वह लगभग तीन शताब्दियो से भारतीय सस्कृति, साहित्य और चित्रकला का अनुपम केन्द्र रहा है आगामी पक्तियो से स्पष्ट होगा कि वहा के नरेशो ने इनके विकास के लिये
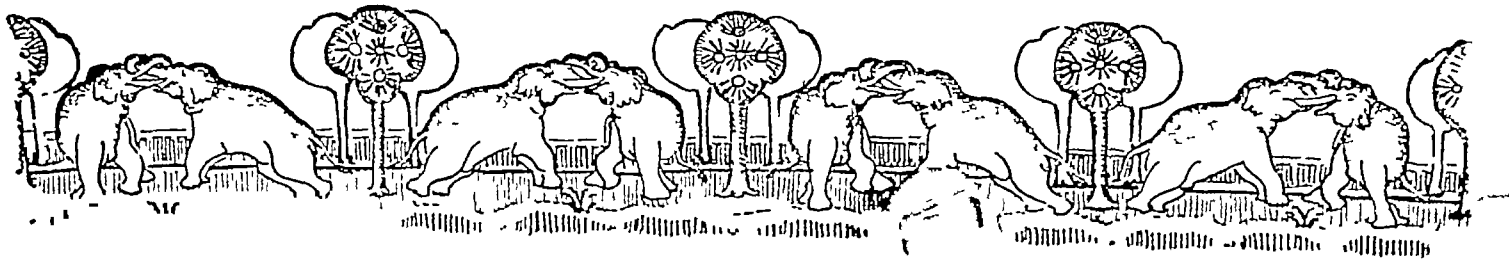
कीरति तेहनी विजय हुवइ धणउ सहुवइ छू सौभाग ।
साधु तणा गुण गावइ जे सदा मनमई आणी राग ।।
सवत सतरइ सईतीसैं समइ माइ पांचमी गुरुवार ।
मुकुलपक्ष श्रीकीशनगढ़ रच्यउ चरित भमउ सुखकार ।।
इति श्री दानाधिकारे श्रीधम्मदत्त चतुष्पदी समाप्ता ।।

सवत १७१८ वर्षे माघमासे कृष्णपक्षे दशम्या तिथौ उपाध्याय श्रीप्रीतिविजय गणि तत्शिष्य पडितप्रवर प्रीतिसुदरमुनि सहितेन प्रीतिसागरेनालेखि श्रीकृष्णगढ़ मध्ये लखक पाठकयोरिति ।।

(ग्रन्थ हस्ताक्षरों से)

श्रीबृहत्खरतरगच्छाधिपति भट्टारक श्रीजिनराजसूरिराजपट्टोदयाचल सहस्रकिरणावतार भट्टारक जिनरगसूरि विरचिता श्री धवलचन्द्र भूपाल श्रेष्ठि धर्मवराचुतपदी सपूर्णा जाता सा वाच्यमाना ज्ञानफलदा भवतु । श्रेय सदा भूयात् ।। —पत्र स ४६

किशनगढ़ राज-परिवार की हिन्दी साहित्य सेवा

महाराजा किशनसिंहजी ने स १६६६ में किशनगढ़ बसाया था प्रारम्भ से ही राज-परिवार का सबंध वल्लभकुल से रहा है कहा जाता है कि वल्लभाचाय का मूल चित्र आज भी किशनगढ़ के दुर्गस्थित मदिर मे श्रद्धा-केन्द्र बना हुआ है सगीत साहित्य और कला के उन्नयन मे राज-परिवार का उल्लेखनीय सहयोग रहा है कृष्णभक्ति का प्राबल्य होने से यहा एक समय उच्चकोटि के कवियों और विद्वानों का खासा जमघट था नरेश स्वयं केवल साहित्य और कला के पारखी ही नहीं अपितु कवि विद्वान् और चित्रकार भी थे हिन्दी भाषा के माध्यम से यहाँ के राज-परिवार ने कृष्ण भक्तिपरक साहित्य प्रचुर परिमाण मे रचा-रचवाया जिसका समुचित मूल्याकन आजतक नहीं हो पाया है. सच कहा जाय तो जिस नरेश या महारानी का साहित्य बाहर गया उससे तो तात्कालिक विद्वम्मडली प्रभावित हुई, पर जिनकी कृतिया राज-परिवार तक ही सीमित रही उनका उल्लेख अन्यत्र नही मिलता अद्यतन प्रकाशित हिन्दी राजस्थानी भाषा और साहित्य के इतिहासो में जहाँ प्रसगवश किशनगढ़ राज-परिवार की सास्कृतिक सेवाओं का उल्लेख किया गया है वहा केवल राजसिंह ब्रजवासी नागरीदास—सावतसिंह बनीठनी सदरकवरी और छत्रकुवरी को ही याद किया गया है अन्य कवि-नरेशो का नाम तक नही है मुझे अपनी गवेषणा के आधार पर कहना चाहिए कि जिन नरेशों की रचनाओं का उल्लेख सूचित कृतिया म किया गया है वह भी त्रुटिपूर्ण है कारण कि इनकी अन्य रचनायें उपलब्ध है जिनका साहित्यिक दृष्टि से विशिष्ट महत्त्व है अज्ञात रचनाकारो के सबध मे किंचित् भी न लिखे जाने का कारण यही जान पड़ता है कि ये अन्धकार मे रही नहीं कहा जा सकता कि ज्ञात से भी अभी और कितनी अज्ञात सामग्री दबी पड़ी होगी।

यहाँ पर किशनगढ़ीय राज-परिवार के उन व्यक्तियो की रचनाओं का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है जो ज्ञात साहित्यिक होते हुए भी जिनकी कृतिया अज्ञात है अज्ञात कवि-नरेशो की रचनाओ पर विचार अपेक्षित है ज्ञात रचनाकारो में महाराजा राजसिंह ब्रजदासी आदि है और अज्ञात कवियो मे रूपसिंहजी मानसिंहजी विरदसिंहजी कल्याणसिंहजी पृथ्वीसिंहजी जवानसिंहजी मदनसिंहजी और यज्ञनारायणसिंहजी प्रमुख हैं किशनगढ़ के आश्रित कवियो म अभी तक हम केवल व द से ही परिचित रहे है पर अन्वेषण करने पर विदित हुआ कि यहाँ और भी कवि रहा करते थे जिसम नागरि भी एक थे यदि तत्रस्थित राज्याश्रित कवियों पर विचार अनुशीलन किया जाय तो सरलता स एक स्वतन्त्र ग्रथ ही बन सकता है

महाराजा रूपसिंहजी — (राज्यकाल स १७ १५)

इन पक्तियो क लेखक के सग्रह में किशनगढ़ राज्य के महाराजाओ के बनाये हुए पद सग्रह' की एक पाण्डुलिपि

---

१ कुछ कम विद्वान मानते है कि नागरीदासजी सावतसिंह या मदन बाने के साथ कुशल चित्रकार भी थे

सिवाय मे भी कई ग्रंथ लिखे गये मिले हैं जिनका उल्लेख निबन्ध-विस्तारभय से यहा नही कर सका हूं. विशिष्ट नवोपलब्ध साहित्य और साहित्यकारो का संक्षेप मे परिचय इस प्रकार है

आचार्य श्री जिनरगसूरिजी—यह खरतरगच्छ के प्रभावशाली आचार्य थे इनका जन्म राजलदेसर मे हुआ, पर साहित्यिक दृष्टि से किशनगढ और अजमेर से घनिष्ठ सम्पर्क रहा है, बल्कि कहना चाहिए किशनगढ तो इनकी धार्मिक और सांस्कृतिक साधना का केन्द्र ही था। वर्षों वे वहा रहे और अपनी चारित्रिक सौरभ से जन-मानस को प्रभावित करते रहे आज भी किशनगढ में इनका उपाश्रय विद्यमान है जिसमे हस्तलिखित प्रतियो का अच्छा सग्रह है, इसकी तालिका बाफणा परिवार मे है वर्षों से ज्ञान-भडार न तो खुला है और न कभी किसी ने—यहाँ तक कि सरक्षक ने भी—देखने का कष्ट किया है नही कहा जा सकता है कि वह आज ग्रथो की दृष्टि से समृद्ध भी है या नही ?

इन आचार्य के समय मे किसी बात को लेकर आपसी वैमनस्य फैल गया था जिसका सतोषकारक समाधान अजमेर मे हुआ और वहीं पर इनको भट्टारक पद से अभिषिक्त किया गया इसमे खरतरगच्छीय मुनि रत्नसोम का प्रमुख हाथ रहा यद्यपि समझौता अधिक समय तक स्थायी नही रह सका कहा जाता है कि अजमेर के तात्कालिक शासन ने उन्हे एक आज्ञापत्र प्रदान किया था कि इनकी मान्यता ७ प्रान्तो मे बनी रहे

यह अच्छे कवि और प्रभावसम्पन्न वाग्मी थे इनकी 'रग बहुत्तरी' प्रबोध बावनी (रचनाकाल स० १७३१ मृगशीर्ष शुक्ल २ गुरुवार) नवतत्त्व बालावबोध एवम् स्तुतिपरक रचनाये उपलब्ध है दो रचनाओं का सम्बन्ध किशनगढ से रहा है सौभाग्य पचमी चौपाई का प्रणयन स० १७३८ मे किशनगढ मे किया गया था जिसका विवरण 'जैनगुर्जर कविओ' मे दिया गया है यहा पर इनकी एक अज्ञात और अन्यत्र अनुल्लिखित कृति का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है जिसका परिगुम्फन स० १७३७ माह शुक्ला ५ गुरुवार को किशनगढ मे हुआ था उस की मूलप्रति मेरे निजी सग्रह मे सुरक्षित है

धर्मदत्त चुतपदी

आदिभाग —

श्रीजिनाय नम

श्री आदीसर आदि जिन आदि सकल अवतार।
विघन हरण वाछित करण प्रणमु प्रभु पद सार ॥१॥

अन्त भाग—

श्रीखरतरगच्छ श्रीजिनदत्तजी युगप्रधान पद धार।
पचनदी साधी वाधा घणी कीरति करि विस्तार ॥
श्री जिनकुसलसूरीसर मन वरउ विरुद धरइ छइ जेह।
अटवी पाणी पावइ आविनइ अतिशय देषिउ एह ॥
पट्टानुक्रम तेहनइ देहनइ श्रीजिनचदसूरिद।
पातिशाह अकबर प्रतिबोधीयो महिमावत मुणिंद ॥
तसु पाटइ वाटइ सुरतरु समउ श्रीजिनसिंहसूरीस।
मनवछित फलदायक वायके सेवीजइ निसदीस ॥
पाट प्रभाकर साकर सारसी मीठी जेहनी वाणि।
श्रीजिनराजसूरीसर जाणीयइ पडित चतुर सुजाण।
तसु सीसई जिनरगइ रगसु कीधउ चरित मति सार।
सुणता भणता पहुइज्यो सदा श्रीसघनइ जयकार ॥

मिला है जिसक सग्राहक हैं कविवर वृन्द के सुपुत्र कवीश्वर वल्लभ ढाका में इसकी प्रतिलिपि की गई थी सूचित गुटके में महाराजा राजसिंह की कुमारावस्था में प्रणीत दोहे लिखे हैं जिसके उपरि भाग में इन शब्दों का उल्लेख है 'अथ दूहा महाराजि कवर श्री राजसिंह जी रा कहीया छ प्रतिलिपिकाल से इतना तो स्पष्ट ही है कि सं १७६० से पूर्व ही इनने कविता लिखना प्रारम्भ कर दिया था इनकी रचनाओं के एक बड़े थोपड़े में कुछ कवित्त मांजि साहिबां रा कहीया छै मांजी सा स तात्पर्य इनकी माता से ही होना चाहिए इनकी रचनाओं का विवरण इस प्रकार है

दूहे

श्रीगणेशाय नमः

अथ दूहा महाराजीकवार श्रीराजसिंघजी रा कहीया छै—
काम सुभट बादर कहै विरहुनि के उर दाह।
मंनाह बारि लै सिंधु तें भए सत त स्याह ॥१॥
बूंद बांद मनमद की चपला कर तरवार।
गाज अरावा साजि सें विरहुनिकूं सजि मार ॥२॥
घमनू चमकत दामनी धूवाधार सौ रात।
गाज अरावा छुटि सघन मार-मार के जात ॥३॥
रति मनोज तुम मैं कहू परयौ न अंतर ओट।
दुःखदाई आनें कहा मेरे जियकी चोट ॥४॥

× × ×

* मज्र विलास या रसपायमनायक १—रसपायमनायक इनकी अन्यत्र उल्लिखित कृति है मेरे संग्रह म इसकी जो प्रति है उसमें प्रारम्भ म तो रसपामनायक नाम आता है पर अन्त भाग में और मध्यवर्ती भाग में कई स्थानों पर इसका नाम 'व्रजविलास' आया है अत जब तक रसपायमनायक की अन्य प्रति सम्मुख न हो तब तक निश्चित नहीं कहा जा सकता है कि दोनों कृति एक ही है या भिन्न ? आलोचित कृति तीन भागों में विभक्त है प्रथम भाग म आवश्यक मंगलाचरण कवि वचन और विवेक-अविवेक के बाद कवि ने रुक्मिणीहरण कथा का विस्तार किया है इसे इतिहास की संज्ञा से अभिहित किया गया है दूसरे भाग म नायक और नायिका का वर्णन प्रस्तुत है तीसरे भाग म अन्य प्रासंगिक विषयों का स्फुट वर्णन है ग्रंथ में कवि न अपनी बात के समर्थन के लिए वृन्द के पुत्र वल्लभ रचित 'वल्लभ विलास' के पद्य उद्धृत किये हैं सम्भव राजसिंह के समय मे अपनी जवानी पर थे उन दिनों वह ढाका से लौट आये थे कवि ने इस रचना में इतिहास शब्द को इतना व्यक्त बना दिया है कि सामान्य वर्णन को भी इतिहास की संज्ञा दी गई है इस कृति का रचनाकाल इन शब्दों में लिपकर बाद म काट दिया है

सतरासै अरु ठ्यासिय सुदी समनी ससिवार।
वल्लमास पुरहूतपुर ग्रंथ भयौ अवतार ॥

इस कृति का आदि और अन्त भाग इस प्रकार है

श्रीगणेशाय नमः

दोहा

श्रीमोरार सहाय है महा रूपाति राज।
गुर गनपति सरस्वति सुनो देहु दिया वर आज ॥१॥
जानी हो चाहत कही नायक भेद अनूप।
ग्रंथ रीति बरनों कविन पर नायक रस भूप ॥२॥

सुरक्षित है इसमे कृष्णसिंहजी से लगाकर यज्ञनारायणसिंहजी तक के महाराजाओं के पदो का सुन्दर सकलन है महाराजा रूपसिंहजी के पूर्ववर्त्ती नरेशो के नाम के आगे स्थान रिक्त है इससे ज्ञात होता है कि इनकी रचनाए सग्रहीत नही हो सकी है, पर वे कवि अवश्य रहे होगे कम से कम अपने इष्टदेव की स्तुति तो रची ही होगी। इस सकलन मे महाराजा रूपसिंहजी के कृष्णभक्तिपरक ५ पद सुरक्षित है आगे छूटे हुए स्थान से कल्पना करनी पड़ती है कि और भी पद रहे होगे जिन्हे सग्रहकार न लिख सका या सूचित नरेश के पद भले ही साहित्यिक दृष्टि से विशेष महत्त्व न रखते हो, पर रचना की शृखला की एक कड़ी तो है ही एक पद उद्धृत किया जा रहा है—

> मैं कैसे आऊ दामिनि मोहि डरावन
> जब-जब गवन करो किमि प्रीतम चमकत चप चलावन
> वे चातुर आतुर अति सजनी रजनी सो विरमावन
> गावत गवन पवन चलि चचल अचल रहत न पावन
> सुनि पिय बचन चतुर चल आगे भामिनि सो मन भावन
> रूपसिंह प्रभु नगधर नागर मिलि मलार सुर गावन

महाराजा मानसिंह जी [राज्य काल—१७१५-१७६३]—ये स्वाभिमानी वीरपुगव और पूर्वजो के प्रति पूर्ण आस्थावान् थे भगवद्भक्ति के साथ परम व्यवहारकुशल और विद्वज्जनो के प्रति पूर्ण श्रद्धा रखते थे इन्ही की प्रेरणा से कवि-वर वृद सने स० १७६२ मे "व च नि का" की रचना की थी इनकी स्वतन्त्र रचना उपलब्ध नही है, पर १०० से अधिक स्फुट पद और ख्याल इन पक्तियो के लेखक के सग्रह मे सुरक्षित हैं कृष्णभक्तिमूलक गेय पद-साहित्य से पता चलता है, इन्हे साहित्य से गम्भीर अनुराग था, काव्यगत सौंदर्य इस बात का परिचायक है साम्प्रदायिक ग्रथो के अतिरिक्त अपने सम्प्रदाय के सूक्ष्म सिद्धातो से भी अभिज्ञ थे कही-कही पदो मे सिद्धातो की चर्चा है यह कहना व्यर्थ है कि ये परम सगीतज्ञ भी थे राजस्थानी और ब्रज भाषाओ पर इनका समान अधिकार था राजस्थान मे प्रचलित लोक-गीतो की देशियों या पदो मे आकस्मिक रूप से अच्छा सा सग्रह हो गया है

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि इन्हे पूर्वगौरव का बडा ख्याल रहता था पदसग्रह मे भक्तिमूलक पदो का धार्मिक और आध्यात्मिक मूल्य तो है ही, पर सबसे बड़ा आवश्यक अंग है—वल्लभाचार्य और उनके परवर्त्ती आचार्यो की ऐतिहासिक स्तुतिया इनका किस घराने से सम्बन्ध था, वल्लभाचार्य की भारत मे कहा-कहा कौन-सी शाखाए है और उनकी पट्टपरम्परा क्या रही है आदि बातो का विस्तार इतिहास के साधन की ओर सकेत करता है

यहा प्रसगवश सूचित कर देना आवश्यक जान पडता है कि महाराजा मानसिंह के समय मे किशनगढ की सास्कृतिक चेतना प्रबुद्ध व्यक्तियो को आकृष्ट किये हुए थी, बडे-बडे जैन विद्वान् उन दिनों यहाँ पर साहित्यिक रचनाए किया करते थे उपाध्याय मेघविजय जी का तो यह सारस्वत साधना-स्थान ही था राजसिह जी तक वह रहे मानसिंहजी से इनका वैयक्तिक सम्बन्ध था जैसा कि तत्रस्थ राजकीय चित्र से विदित होता है

महाराजा राजसिंह—[राज्य काल १७६३-१८०५] ये महाराजा मानसिंह के पुत्र और सुप्रसिद्ध राजर्षि सावतसिहजी—नागरीदास जी के पिता थे अभी तक इनकी तीन—बाहुविलास, राजप्रकाश और रसपायनायक रचनाओ का पता लगा है, साहित्यक इतिहासो मे इन्ही का उल्लेख मिलता है खोज करने पर इनकी और भी कृतिया उपलब्ध हुई है

राजसिह का जन्म स०-१७३० पौष सुदि १२ को हुआ था इनके समय मे किसनगढ सभी दृष्टियो से उन्नत और आकर्षण का केन्द्र था दूर-दूर तक ख्याति थी इनके कविताकाल पर प्रकाश नही पड सका है जिन इतिहासलेखको ने इनकी कृतियो का सकेत दिया है वे भी इन पर मौन ही है पर यह सच है कि इन्हे कविता से गहरी अभिरुचि थी इनकी कृतियो का रचना काल भी ज्ञात नही है, एक कृति मे, जिसका उल्लेख आगे की पक्तियो मे किया गया है, रचनाकाल स० १७८८ है, पर वह तो इनकी प्रौढावस्था का परिचायक है मुझे स० १७६० का एक हस्तलिखित गुटका
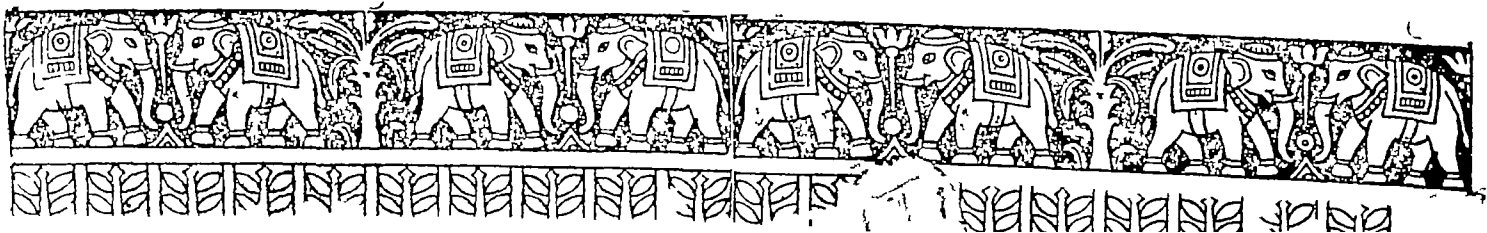
स्फुट कवित्त—इसम सदेह नही कि महाराजा राजसिंह मर्मिक कवि थ बाल्यकाल से ही कविता मे प्रवृत्ति रही है अत अनुमान था कि एक ओर जहा इनकी स्वतन्त्र रचनाएँ मिलती है वहां दूसरी ओर इनका स्फुट कवितादि का साहित्य भी मिलना चाहिए, क्योकि कवि हृदय और उर्वर मस्तिष्क सामान्य निमित्त पाकर भी फूट पड़ता है

शु द के वशज और अपने युग क किशनगढ के प्रतिभासम्पन्न कवि गुणराम या मगनीराम द्वारा स १८७८ में प्रतिलिपित उन्ही के पूवज एवम् राजसिंह क समकालीन कवि वल्लभ रचित 'वल्लभविलास की प्रति सुरक्षित है इसके अतिम भाग में ३ कवित्त आलेखित है जिनके शीर्ष स्थान पर श्री महाराजाधिराज श्री राजसिंघ जी रा कह्या कवित्त यह पक्ति लिखी है पर कवित्त म कही भी न तो इनका नाम है और न ही इनकी छाप है उदाहरण स्वरूप एक कवित्त उद्धृत करने का लोभ सवरण नही किया जा सकता है—

करो जिन सोर वह ठाढा चित चोर एरी पग पेम जोर जार करो चित चोर मैं ।
फिर कहू ओर यहही पोर गहो करा जोर पायो आज मोर पर्यो सघीन की जोर मैं ।।
मान कह्यो मार यह नन्द को किशोर जब भुजन धी जोर राधा भर मार मैं ।
देहू फोर को तुम्है कहत निहोर सखी कोरक मरोर याकी देघो नैन कोरमें ।।१।।

इसी गुटके म आगे २१ कवित्त और है जिनक आगे टिप्पणी है श्रीमाजी साहिबा रा कह्या दोहा" सभवत ये पद्य व्रजदासी क हो ?

व्रजदासी–बांकावती—महाराजा राजसिंह की धमपत्नी और कछवाहा सरदार बांकावत आनन्दसिंह की पुत्री थी इनका जन्म लगभग स १७६ में हुआ था बांकावत की पुत्री होने के कारण इन्हें बांकावतीजी भी कहते हैं यों तो इनने अपने आपको स्वरचनाओ म व्रजदासी के नाम से अभिहित किया है पर कतिपय पद्यों में 'बाकी' छाप भी पाई जाती है जैसा कि आगामी पक्तियो से फलित होगा इनका पाणिग्रहण संस्कार वृन्दावन में महाराजा राजसिंह के साथ स १७७८ म हुआ था जसा कि वह स्वय स्वकृति सामव युद्ध में इन शब्दो म स्वीकार करती है

वृन्दावन क माहि जहा बंसघाट की ठौर ।
पानिग्रहन तिहि ठा भयौ बाधि रीति सो मौर ।।१६२।।
गुप्त कृपा गुरु जानियें वहुरयौ पूरी प्रमान ।
पानिग्रहन शुभ ठौर भी सु भो सबै सुभाय ।।१६३।।

सामव युद्ध स्व-संग्रहस्थ प्रति से उद्धृत

हरिजन हरिको भक्त है रसना नाम महेस ।
श्रवन कथा सतसग मैं निज तन नम्र विसेस ।।२।।

अन्त भाग—

कुल मारग जा बड गति चलिये सोई चाल ।
मूठि-मूठि तजि जगत की सबै कृपाल गुपाल ।।११७।।
पच धुपनकी यह कथा सूछिम कही बनाय ।
मीनध्वज उर धारिये सो है सीस सहाय ।।११८।।
।। इति श्री पचम राजा अधम सपूर्ण ।

सवत १८८७ मागसर सुदि ३ चन्द्रवासरे लिपिकृत स्वेताम्बर नातिग ।। शुभं भवतु ।। श्री ।।
प्रतिलिपिकार नातिग स्वय कवि और सुलेखक थे इनके द्वारा प्रतिलिपित साहित्य किसनगढ के राजकीय सरस्वती भण्डार मे विद्यमान है

श्रोता सुनहु सुजान तुम, नायक कहत जताय ।
वीर धीर बिन छैल ता नायकता नही पाय ।।३।।

अन्त भाग—

चरन कमल नगधरन के रहो सदा मो सीस ।
राजसिंघ करि बीनती मागत है व्रज ईस ।।
व्रजविलास रन रग कौ दीजै दृग हिय ध्यान ।
जुगल सरूप अनूप छवि सुन्दर परम सुजान ।।
सरस रीति गिरिवर पुहमी, तरवर सघन तमाल ।
षट्‌रितु छाकै प्रेम रस रसमय जुगल रसाल ।।
गुन बरनन गोपाल कै रसमय वीर सिंगार ।
चित चचल निहचल करहु समुझौ यह सुषकार ।।

स्फुट भक्तिमूलक पद—राजसिंह कवित्व-प्रतिभा से मण्डित राजवी थे, एक ओर इनकी जहाँ स्वतन्त्र कृतिया मिलती है, तो दूसरी ओर कृष्णभक्तिमूलक स्फुट पद भी पाये जाते हैं ३१ पद तो एक ही गुटके मे प्रतिलिपित हैं जन्माष्टमी विजयादशमी, फूलडोल, होली, नृसिंह चतुर्दशी, दीपावली, राधाष्टमी, राम नवमी और गोवर्द्धन आदि प्रसगो को लक्षित कर इन पदो की रचना की गई है इनकी प्रतिभा को देखते हुए पता चलता है कि और पद होने चाहिए उपलब्ध पद-सग्रह से एक पद उद्धृत किया जा रहा है

चन्द तै इत गोकुल चन्दहि प्रगटत होड परी
उतहि चकोरी इतको गौरी तन मन लखि बिसरी
उतको भोगी इत ऋषि योगी महा मोद मन मानै
उत दै अमृत इत पचामृत लखो प्रगट नहि छानै
उत दुजराज इतै ब्रजराजा दोऊ सुर राज सुहाई
पाप कर्म वे धर्म कर्म ये निगम पुरानन गाई
गोपी ग्वाल तहाँ सब बालक दूध दही विस्तारे
राजसिंह प्रभु ब्रजकी जीवन भक्ति जगत निस्तारे

जिस गुटके मे महाराजा राजसिंह की कृतिया प्रतिलिपित हैं उसमे स० १७८७ की लिखी "राजा पचक कथा' भी आलेखित है पर उसमे कर्त्ता का नाम नही है केवल हाशिये पर "महाराजि राजसिंह कृत कथा" उल्लेख है जबतक इनकी दूसरी नामवाली प्रति नही मिल जाती तबतक इसे राजसिंह कृत मानना युक्ति सगत नही इस कृति मे पाच प्रकार के—धर्मपाल, सिद्ध सुभट, धनसचय, नारी कवच और अधम राजाओ की प्रकृति का वर्णन है, कथाओ का विस्तार औपदेशिक शैली का परिचायक है राजाओ को प्रजा का पालन किस प्रकार करना चाहिए और किन-किन परिस्थितियो मे राजा को क्या-क्या कदम उठाने चाहिये आदि बातो का विस्तार है भक्ति का पुट इतना लगा है जैसे कोई भक्ति—मूलक रचना ही हो विद्वानो से अनुरोध है कि इसकी और प्रति कही उपलब्ध हो तो प्रकाश डाले[1]

---

१ इसका विवरण इस प्रकार है—
आदि भाग—

दोहा

श्रीगुरु गनपति सारदा सदा सहाय गुपाल ।
दास भावसौं हरि भजै तिनके प्रभु प्रतिपाल ।।१।।

गुन अनन्त गोपाल के कोऊ न पावत पार ।
मैं मति अपनी समझ कछु कहू सभारि विचार ॥७॥

छप्पय

भए सिरी हरिव्यास अवतार प्रगट जग ।
लाल लाडिली प्रेम रग रस हिय मै जगमग ॥
सेवत कुवर गुपाल लाल महा रूप रसाला ।
निस दिन कान्ह सुजान हिये धार्यौ प्रतिपाला ॥
दुर गाहि ताहि दिच्छा दई किते पार करि करि दये ।
ब्रजदास दासी तुम सरन है श्रीहरिव्यास जय जय भए ॥८॥
परसराम गुरु महाधकस गोपाल सहायौ ।
श्रीसर्वेसुर नाम रहै हिय नित प्रति धायौ ॥
राम रौम की बात मूसि सुधि प्रेम रग मैं ।
मनफत जुगलकिशोर माधुरी अग अग मैं ॥
निहचै प्रतीति रस रीति सो रूपि सरबेसुर रस रसमे ।
अपमान मनी व्रज लाडली अरु गुपाल हिय में बसै ॥९॥

दोहा

तिनके पाट प्रसिद्ध महि जोति जगत हरिवस ।
रग रगे गोपाल के सुरगन करत प्रसंस ॥१ ॥
श्रीनारायनदेव जग प्रगट रसिक सिर मौर ।
लाल लाडिली रंग बिन हिय मै ध्यान न और ॥११॥
महा मदन जग के नृपति तिनके अकुस रिपिराज ।
करे साध परबोध करि यहु जग जगी अवाज ॥१२॥
काम क्रोध को दड है तजी लोभ की टेव ।
जय जय जग मैं सब भई जयत नरांइनदेव ॥१३॥

छप्पै

तिनके रिष रिषराज सिरी वृदावन प्रगटे ।
ज्यौ तिनु का धनसार तुही करि मनसु लपटै ॥
तन मन प्राण गुपाल नैन धन रूप रसालं ।
बच्यौ रहत नित नित चरन हरि प्रीत हि चालं ॥
सुभ ज्ञान ध्यान पूजन जुगति भगति भाव मन वच कियौ ।
तिम बेर तीन कलिजुग माहि सरबेसुर परचा दियौ ॥१४॥
बेद स्मृति जे अग बहुरि सासत्र सब गनियं ।
मनीय सबै पुरान सबै श्रम जुत नित भनियं ॥
सध्या गुमरन मन तत्र जो कछु चलि आवै ।
लाल सडैती रूप सुजस हित सौ हिय छावै ॥
जग जीव जिते उद्धार कौ श्रीव दावन अवतरे ।
बाके कृपाल गोपाल हरि प्रगट जगत मगने करे ॥१५॥

व्रजदासी किशनगढ की पारम्परिक सांस्कृतिक ज्योति की एक किरण थी उन्हे साहित्यिक अध्ययन मे उल्लेखनीय अभिरुचि थी किशनगढ के राजकीय सरस्वती भडार मे शताधिक हस्तलिखित प्रतिया है जिनकी पुष्पिकाओ मे सूचित किया गया है कि ये सब इन्ही के लिये लिखी गई है यद्यपि ऐसी कृतियो मे अधिकाशत धार्मिक है, पर नाइका भेद, चिकित्सा, लक्षण ग्रथ, पिंगल आदि विषयो का भी इनमे अन्तर्भाव हो जाता है भागवत और उज्वलनीलमणि, रामायण और भक्तमाला जैसी कृतियो को सुन्दर चित्रो मे सुसज्जित करवाया गया है जो उनकी कलात्मक अभिरुचि का प्रमाण है किशनगढी शैली के चित्रो का, राजस्थानी चित्रो मे अपना स्वतन्त्र स्थान है, बल्कि स्पष्ट कहा जाय तो सर्वाधिक आकर्षणशक्ति इसी शैली के चित्रो मे है वल्लभाचार्य और उनकी परम्परा के लगभग सभी आचार्यो, भक्तो और तदनुयायी सतो के प्रामाणिक और नयनाभिराम चित्रो का जैसा सग्रह किशनगढ मे है वैसा अन्यत्र दुर्लभ ही है जो चित्र व्रजदासी के लिए विशेष रूप से कलाकारो ने तैयार किये थे उन पर चित्र-काल और भावसूचक टिप्पणी विद्यमान है

व्रजदासी की साहित्यिक साधना के परिणाम स्वरूप अभी तक केवल भागवतानुवाद की ही चर्चा रही है मिश्रबधु विनोद, मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (ले० डा० सावित्री सिन्हा) और अन्य तथाकथित इतिहासो मे इनकी यही रचना स्थान पाती रही है हिन्दी कवयित्रियो मे यही प्रथम अनुवादिका है जिसने भागवत का अनुवाद गेय परम्परानुसार न कर प्रबन्धात्मक शैली को अपनाया है डा० सावित्री सिन्हा ने अपने शोधग्रथ मे व्रजदासी और भागवतानुवाद पर सक्षेप मे, पर सार गर्भित प्रकाश डाला है मथुरावासी प० जवाहरलालजी चतुर्वेदी ने भी "सम्मेलन पत्रिका" के वर्ष ४६, स० १, पृष्ठ ७५-८१ मे व्रजदासी भागवत पर विचार व्यक्त किये है पर चतुर्वेदीजी ने इस लहजे मे भागवतानुवाद का उल्लेख किया है जैसे सर्वप्रथम ही यह कृति प्रकाश मे आ रही है, पर बात ऐसी नही है इत पूर्व कई स्थानो मे उल्लिखित हो चुकी है सम्मेलनपत्रिका मे भागवत के अनुवादको की जो सूची दी है उसमे नागरीदास का नाम नही है, जब कि होना चाहिए था अस्तु

नव्य कृतियाँ—यहा व्रजदासी की अज्ञात कृतियो का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है इन पक्तियो के लेखक को अपनी साहित्यिक-शोधयात्रा मे सालव जुद्ध, आशीष सग्रह एवम् स्फुट कवित्त उपलब्ध हुए है सालव जुद्ध मे पौराणिक प्रसग को लेकर इनने अपनी काव्यप्रतिभा का प्रदर्शन किया है रचना भक्तिरस से ओतप्रोत है इससे पता चलता है कि वह न केवल सफल अनुवादिका ही थी अपितु स्वतन्त्र ग्रथकर्त्री भी थी सूचित कृति का विवरण इस प्रकार है—

श्रीगणेशायनम, श्रीराधेकृष्ण जयति, श्रीगुरुभ्यो नम

अथ सालवजुद्ध लिष्यते

गुरु दयाल कीजै कृपा निज आश्रम मो जानि ।
भई इच्छा जस कहन की जो हरि जसकी षानि ।।१।।
हरि गुन को कहिकै सकै कौन कहन सामर्थ ।
सैस महेस सुरेस हू अजहू लहत न अर्थ ।।२।।
पग चहत परबत चढ्यौ सूर दिव्य द्रग पाय ।
चुहा सिधु चाहत तिर्यौ हू जु चहत गुन गाय ।।३।।
जिहको जस चाहत कियौ सो अब होहू सहाय ।
गुरु मुष तै आज्ञा लहै तब हौ करौं उपाय ।।४।।
गवरी नद आनन्द जुत सिव सुत सिद्धि गनेस ।
जय जय सुरगन नमत हू जय जय सर्वे रिषेस ।।५।।
श्रीव्रषभांनकुमारी तुम नदलाल तुम प्रान ।
यह इच्छा पूरन करो मो मति मद हि जान ।।६।।
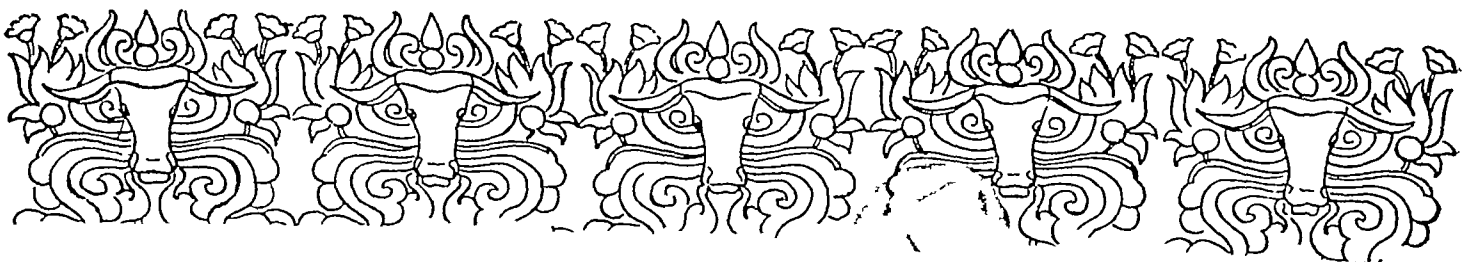
पढ़ै चारण भाट वाह उमार सहै नेग नेगी बिना वार पार ।
सुनी बात येह जब नवराय सबै मोकर्स हर्ष बाढ्यौ अथाह ॥
रणवास मुक्त बरसान आए भयौ चित्त चाह्यौ बजे है बधाए ।
जुथ-जुत्थ गोपी नृप द्वार आवै कर भेट लीन महा सोभ पावै ॥
बसै चाय चायं सुरखी सगाय चिर्त मोद छाई हसै औ हसाय ।
मिले नंद मान भए है पमासं मिस्यो मेस चाह्यौ रंगीम रसासं ॥
बरसांन मांनौ दुध मेह बर्षे धन्यं कीर्तिकु पेतिहु लोक हर्षे ।
दधि दूध की वाम ज्यों मांन ठामं रमैकं धमक करें येस धाम ॥
बड़े भाग नेमी मह चौस पायौ सखी ह्वै कुलंको कलस चढायौ ।
भई स्यांम त है सखी की सगाई सुनौ सासरे पीहर सोभ पाई ॥
भयौ जु बिवाह सखी भास केरो वृषभांनि हों सुकृत जन्म केरो ।

दोहा

अब यह दिन कब होय जब महारग की भीर ।
बैठ दपति सेज पै देषि रची तसबीर ॥

स्फुट कविता—सं १७८७ के गुटके में 'बाकी' छाप के कतिपय कवित्त प्रतिलिपित है
ये सब बाकावती के ही जान पड़ते है इनकी सख्या ६ है आगे स्थान छुटा हुआ है सभव है प्रतिलिपि करते समय छूट गये हो एक कवित्त उद्धृत किया जा रहा है—

नग पिया के सगे तित ही उतही मनसी मन आप करौंगी ।
काजर टीको करौं तिहुकी सपि सौतिन सौं कछु साजि करौंगी ॥
'बांकी' रहो सब ही जगसो लपि प्रीतम कौं नित चित्त ठरौंगी ।
चाहि रची सुरची हम हू होंती प्यारे की प्यारी सौ प्यार करौंगी ।

सु दरकु वरी बाई—ये उपर्युक्त बाकावती की पुत्री थी] इनका जन्म स १७९१ कार्तिक शुक्ला ९ को हुआ था यह भी अपने माता पिता के समान कवित्व प्रतिभा से मडित थी तात्कालिक राजकीय वैषम्य के कारण २१ वर्ष तक अविवाहित रही स १८१२ में इनका विवाह रूपनगर के खीचीवशीय राजकुमार बलवतसिंह के साथ सम्पन्न हुआ पर दुर्भाग्य ने इनका साथ नही छोड़ा पितृगृह तो क्लेश का स्थान था ही पर अब तो श्वसुर-गृह भी अशान्ति का केन्द्र बन गया कारण कि इनके (पति ?) सिंधिया सरदारा द्वारा बन्दी बना लिए थे बाद में मुक्त करवा दिये गये थे इनकी प्राप्त समस्त रचनाओ का विवरणात्मक परिचय डा सावित्री सिन्हा ने अपने 'मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ नामक शोध प्रबन्ध में दिया है वहाँ ग्रन्थ रचना काल विषयक कतिपय भ्रान्तियाँ हो गई है जिनका परिमार्जन प्रसगवश कर देना आवश्यक जान पड़ता है इसके पहिले मैं सूचित कर दू कि सन् १९५४ में जब ग्वालियर मे था तब वहाँ के साहित्यानुरागी श्री भास्करजी के संग्रह में एक बड़ा चौपड़ा देखने म आया था जिसमें सुन्दरकवरि बाई के समस्त ग्रंथ प्रतिलिपित थे मैंने उनका विवरण ले लिया उसी के आधार पर यहा सक्षेपत प्रस्तुत किया जा रहा है.

उपर्युक्त शोध प्रबन्ध में भावनाप्रकाश का रचनाकाल स १८४५ माना गया है जो ठीक नही जान पड़ता ग्वालियर वाली प्रति में प्रणयन समय स १८४९ बताया गया है—

सवत सह अर द नमै गुर्वधाम उरत ।
माह मगहमस पुनि चहरद सही गनंत ॥

अन्त —

दोहा

यह प्रसग ऐसो कह्यो मैं मो मति उपमान ।
कृष्ण सुजस कों कहि सकै ऐसो कौन सुजान ॥१६६॥
तामें मो मति मद है अरु अति चित्त अजान ।१७०॥
यह विचार कीनो सु मैं गुरु कृपा उर आंन ॥
कृपासिंधु तुम जुगल हो कीजै मो हिय वास ।
ब्रजदासी विनती करत यह धरि हिय मे आस ॥१७१॥
निगमवोद यमुना तटे उत्तर दिसि के ठाहि ।
यह पोथी कीनी लिखी इन्द्रप्रस्थ के माहि ॥१७२॥
सवत सतरा सै समैं वरस नियास्यौ मान ।
मगसर वदि एकादशी मास चैत सुभ जान ॥१७३॥
॥ इति श्री मालवजुद्ध सम्पूर्ण ॥

इसकी रचना स० १७८३ मे दिल्ली मे निगमवोध घाट पर हुई इस प्रतिलिपि का काल स० १७८७ है

आशीष सग्रह :

यह नाम मैंने दिया है वस्तुत इसका नाम क्या रहा होगा ? नही कहा जा सकता, कारण कि कृति अपूर्ण ही उपलब्ध हुई है इसमे विवाह के प्रसग पर भिन्न-भिन्न जातियों द्वारा दी जानेवाली आशीर्वादमूलक वचनावलियो का सग्रह है, इसीलिए यह नाम रख लिया गया है खण्डित प्रति मे मालनी, चित्रकार, चितेरी, गधी, गधिनी, नायण, दरजण, तबो-लण, ढाढी, ढाढण, ग्वालन, भाडण, रगरेजन, कुभारी, मनिहारन और मेहतरानी की आशीषो का सकलन है कतिपय पद्यो मे ब्रजदासी का नाम भी आया है—

ब्रजदासि प्रान किय वारनै,

× × ×

कहे जु ब्रजदासिय वसो जु ध्यान वासिय, —मालण की आशीस,

× × ×

भई वारनै कु वरि पद बार-बार ब्रजदासी, —चतेरा की देवा की आशीष,

× × ×

दासी निज सुन्दर मन, —ढाढण के देवा की आशीष,
ब्रजदासी पावै यहै जुगल भगति की चाही —ढाढी के पढवा की वशावली,

पाठको की जानकारी के लिए एक आशीष उद्धृत करना समुचित होगा—

अथ चतेरे की देवाकी आशीष

छद भुजगी

नृप भानकै आज उछव अपार भई है कु वार लडैती उदार ।
लजै मेघ ऐसे जबे है निसान तिहु लौक आनन्द छायो अमान ॥
बधाई बधाई बरसान छाई लली होत सोभा रवि वस पाई ।
दए दान ऐसे महाराज भान भए हैं कगाल नृपाल समान ॥
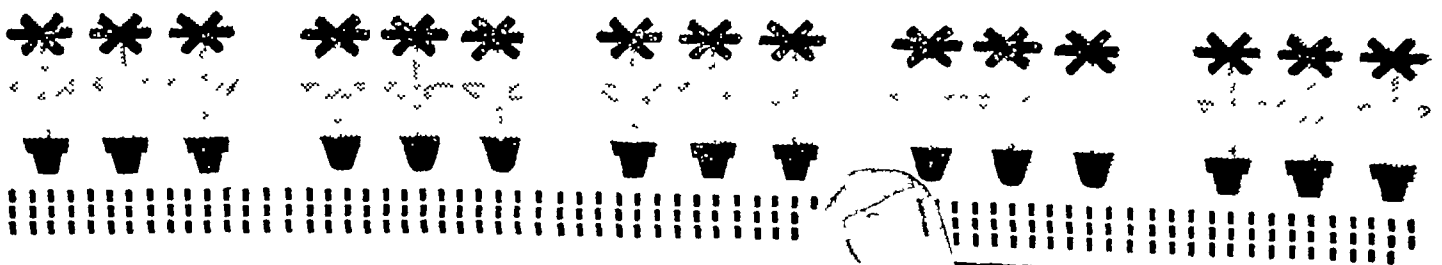
इससे विदित होता है कि पुरुष वर्ग वल्लभकुलीन था और नारी समुदाय सलेमाबाद स्थित निम्बार्क मही का उपासक था वैष्णव शाखा में यह परम्परा रही है कि पुरुष और नारियों का गुरु-घराना एक नहीं हो सकता

महाराजा बिड़दसिंहजी—(राज्य काल स १८३८ १८४५) इनके स्फुट पदों के अतिरिक्त गीतगोविंद की गद्य-पद्यात्मक टीका पाई जाती है ३ पत्रों की विशद् हिन्दी टीका के देखने से पता चलता है कि शायद ही कोई इतनी विशद वृत्ति हो इनके निर्माण में महाराजा ने तत्काल में यहाँ निवास करनेवाले बिहार प्रदेश के सुप्रसिद्ध विज्ञ और विवेचनकार श्री हरिचरणदास से पर्याप्त सहायता ली है एक रघुनाथ भट्ट का नाम भी आता है जो सम्भवतः गोविंद लीलामृत के प्रणता हों ?

बिड़दसिंह के समय में भी विद्वान् और कवि समादृत होते थे एक और इन्द के नरेशों का सास्कृतिक दृष्टि से किशनगढ़ में प्रमुख था तो दूसरी ओर बाहिर के विद्वान् भी आकर यहा निवास करने में अपने को गौरवान्वित समझते थे चाहे राजनैतिक उत्पात कितने ही आये हो पर साहित्यिक सरिता के प्रवाह में शैथिल्य नहीं आया खेद की बात इतनी ही है कि यहाँ के अन्य कवियों पर अन्वेषण नहीं हो पाया है यदि यहाँ का राजकीय सरस्वती भण्डार विशिष्ट दृष्टि से टटोला जाय तो संभव है यहाँ की सांस्कृतिक चेतना के दर्शन हो सकेंगे

कल्याणसिंहजी—(राज्य काल स १८५४ ६५) महामहोपाध्याय श्री विश्वेश्वरनाथ जी रेऊ रचित मारवाड़ के इतिहास' में प्रदत्त इनके काल में और मुन्शी देवीप्रसादजी कृत में राज रसनामृत' में सूचित समय में वैषम्य है पर उस पर विचार का यह स्थान नहीं कल्याणसिंहजी के स्फुट पद मिले हैं एक उद्धृत किया जा रहा है—

राग बसंत ताल धमार

रति पति दे सुख करि रतिपति सौ

तू तो मेरी प्यारी और प्यारे हू की प्यारी उठि चलि गजगति सौ
पूती के वचन सुनि-सुनि मुसक्यानी भूषन बसन सौंधो लियो बहो भाति सौ
कल्याण के प्रभु गिरधरन धरके जाय लई अति उर सौं

महाराजा पृथ्वीसिंहजी—(राज्यकाल स १८६७ १९३६) ये फतहगढ की शाखा से गोद आये थे इनका केवल एक ही पद प्राप्त है जिसमें वल्लभाचार्य की परम्परा का उल्लेख है महाराजा का विशद् वर्णन प्राप्त नहीं है पर अन्यान्य ऐतिहासिक एवं सामयिक साधनो से सिद्ध है कि उस समय राज-परिवार में ज्ञान की चेतना उन्नति के शिखर पर थी महाराज कुमारो को भी साहित्यिक शिक्षा दिलवाने का विशिष्ट प्रबन्ध था तभी तो यह आगे चलकर स्वतंत्र ग्रन्थकार प्रमाणित हुए महाराजा पृथ्वीसिंह का एक पद इस प्रकार है

वंशावली

श्रीमहाप्रभु वल्लभ प्रगट तिन सुत विठ्ठलनाथ ।
जिनके गिरधरजी प्रगट उनके गोपीनाथ ।
श्रीप्रभुजी जिनके भये विठ्ठलनाथ प्रमान ।
उन सुत वल्लभजी भये फिर श्री विठ्ठलनाथ ।
करि करुणा या करन मही मोक कियौ सनाथ ।
जिनके सुत रणछोडजी है कवरन सिरमौर ।
इनको वश बधो बहुत यह माथिप पढ कर जोर ।

जवानसिंहजी—यह उपर्युक्त महाराजा पृथ्वीसिंहजी के द्वितीय पुत्र थे इनका कविताकाल सं १९०२ ४६ समझना है ये परम कृष्ण भक्त राजवी थे इनकी तीन रचनाएं— रस तरंग 'नखशिख-शिखनख और जस्वये पहलसाह ग्रन्थ'—

माघ मासकें सुकल पष तिथ पचमि बुधवार ।
सपूरन यह ग्रथ किय सुन्दरकुवरि विचार ॥८३॥

सार सग्रह का रचनाकाल भी सूचित शोध प्रबन्ध मे स० १८४५ बताया गया है जब कि स्व० भालेरावजी की प्रति स० १८४७ सूचित किया है—

सवत सुभ पट वगुन सै सैंतालीस उपरत ।

प्रेम सपुट का निर्माण-काल भी डा० सावित्री सिन्हा ने स० १८४८ माना है जब कि वस्तुत इसका सृजन समय स० १८४५ है

सवत अठारह सै जु है पैंतालीसा जानू ।
साकै सत्रहसै रु दस सिद्धारथ सुप्रमान ॥५४॥
महा मास वैसाप सुद पूर्नवासि तिथ जास ।
वार मगलिय भौममो पूरन ग्रथ प्रकास ॥५५॥

छत्रकुवरि बाई—ये सुप्रसिद्ध सतप्रवर श्री नागरीदासकी पौत्री और सरदारसिहजी की पुत्री थी किशनगढ राज-परिवार की कृष्णकीर्त्तिगायिका कन्याओ मे इनका स्थान भी प्रमुख है प्रेमविनोद इनकी सुन्दर काव्य-कृति है डा० सावित्री सिन्हा ने इन पर भी आलोचनात्मक प्रकाश डाला है, परन्तु प्रमादवश सवतो मे ऐसी भ्रान्तियाँ घर कर गई है जिनका सशोधन आवश्यक है, वर्ना भ्रामक परम्परा आगे फैल सकती है बात यह है कि उक्त शोध प्रबन्ध पृ० १९८ पर इनका परिचय देते हुए सूचित किया है—

'छत्रकुवरि बाई नागरीदासजी के पुत्र सरदारसिह की पुत्री थी इनका विवाह स० १७३१ मे काठडे के गोपालसिह जी खीची से हुआ था विवाह मे इनकी आयु लगभग सोलह वर्ष की तो अवश्य रही ही होगी, अत इनका जन्म स० १७१५ के लगभग माना जा सकता है ' —मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ पृ० १९८

उपर्युक्त पक्तियो मे जो सवत् प्रयुक्त हुए है, सर्वथा असत्य है कारण इनका जन्म स०१७१५ मे कैसे माना जा सकता है उन दिनो तो महाराजा राजसिह का भी जन्म नही हुआ था जो नागरीदासजी के पिता थे राजसिह के स० १८०५ मे स्वर्गवासी हो जाने पर तो राजपरिवार मे सत्ता के लिए महान् सघर्ष छिड गया था, सरदारसिह का राज्यत्वकाल स० १८१२ से स० १८२३ तक का रहा है १७२५ और १७३१ मे राजसिह के पूर्ववर्त्ती महाराजा मानसिह का का शासन था सवतो की यह भूल विदुषी लेखिका से न जाने कैसे हो गई है सच बात तो यह जान पडती है कि १८ के स्थान पर सर्वत्र १७ अक लिख दिया है थोडी सी असावधानी से कितनी बडी भ्रान्ति फैल जाती है इसी भूल के परिणाम स्वरूप ही शोध-प्रबन्ध मे छत्रकुवरि रचित 'प्रेम विनोद' का रचना समय भी १७४५ दे दिया है जब कि होना चाहिए था स० १८४५, जैसा कि कवयित्री स्वय स्वीकार करती है—

सवत है नव दून सै पैंतालीस वढत ।
साकै सत्रह सै रु दस सिद्धारथ सु कहत ॥
मास असाढ सुकुल पष तीज ब्रहस्पतवार ।
सपूरन यह वारता कीनी मन अनुसार ॥

इन पक्तियो के ऊपर का भाग शोधप्रबन्ध मे उद्धृत किया गया है, यदि लेखिका स्वल्प ध्यान देती तो यह भ्रमपूर्ण बाते लिखने का अवसर न आता

यहाँ पर एक बात का स्पष्टीकरण आवश्यक जान पडता है कि यो तो किशनगढ का राज-परिवार वल्लभकुलीन रहा है पर महारानियो द्वारा रचित कृतियो मे सर्वत्र मगलाचरण मे निम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्यो के नाम आते रहे है

मौलिक और एक सग्रहात्मक—'धमार सग्रह' इन पक्तियो के लेखक के सग्रह मे सुरक्षित है रचनाओ मे कवि ने अपनी छाप नगधर' या 'नगधरदास' रखी है[1]

कविवर जवानसिहजी का अध्ययन अत्यन्त विशाल और तलस्पर्शी था जयलाल या जयकवि इनके मित्र और साहित्यिक सहयोगी थे यह स्वाभाविक ही है जब दो सहृदय कवि एकत्र होकर सारस्वतोपासना करने लगे तो उनम फल प्राप्त होते ही है सचमुच उन दिनो किशनगढ का साहित्यिक वातावरण कितना परिष्कृत और प्रेरणादायक रहा होगा ?

रसतरग—जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है इस मे कृष्णभक्तिमूलक रस की आध्यात्मिक तरगो का बाहुल्य है कवि हृदय की मार्मिक अनुभूतियो का सुदर और सहज परिपाक सूचित रचना मे हुआ है कवि ने आत्म निवेदन मे जिन भावो की सफल सृष्टि की है, वह अनुपम आनन्द का अनुभव कराती है, ऐसा प्रतीत होता है मानो अनन्त मानवो का स्वर एक कण्ठ से ध्वनित हो रहा हो शान्त, भक्ति और वात्सल्य रसो की धारा पूरे वेग मे प्रवाहित हो रही है भक्तिरस है या नही ? इसकी विवेचना यहा अप्रस्तुत है, पर इतना कहना पडेगा कि कृष्णभक्ति के मधुरोपासक कवियो ने इसे रस के रूप मे प्रतिष्ठित अवश्य किया है कोई भी भाव—चाहे स्थायी हो या व्यभिचारी—प्रगाढ अथवा प्रवृद्ध होने पर रस की कोटि मे आ जाता है भगवान् के गुणो का सततचिन्तन, श्रवण एवम् मनन करते रहने से आत्मा स्वाभाविक रूप से अन्तर्मुखी आनन्द का अनुभव करता है और इसका चारित्र के साथ सबध प्रवृद्ध होने पर तो तदाकार भी हो जाता है आलोच्य कृतिकार चाहे सत या भक्त कोटि मे न आते हो, पर उनकी अभिव्यक्ति भक्त की पूर्वपीठिका के सर्वथा अनुकूल है प्रेमभक्ति का प्रवाह रसतरग की अपनी निजी विशेषता है ग्रथ के अत परीक्षण से विदित होता है कि कवि ने केवल अपने सहज स्फुरित भावो को ही लिपिबद्ध नही किया, अपितु एतद्विषयक आवश्यक अध्ययन के अनन्तर शास्त्रीय परम्परा को ध्यान मे रखते हुए भावभूमि का सृजन किया है तभी तो वह इष्टदेव के प्रति पूर्ण समर्पण कर सका है

प्रस्तुत रसतरग को अध्ययन की सुविधा के लिये तीन भागो मे विभाजित करना होगा प्रथम भाग मे बधाइया जिनका सबध कृष्णचरित से है, द्वितीय भाग मे वे बधाइया आती हैं जो वल्लभाचार्य और उनके वशजो से सम्बद्ध है इसमे वल्लभाचार्य स्वय, विठ्ठलनाथजी, (कोटावाले) गोपीनाथजी दीक्षित, तीसरे गिरधरलालजी आदि आचार्यों का समावेश होता है तीसरे भाग मे कवि ने दीपावली, चीरहरण, होली आदि प्रसगो को लेकर भगवान् कृष्ण की जीवन-

---

१ इस की स्पष्टता कवि ने अन्यत्र कई स्थानों पर की ही है, पर इनकी रचना 'जल्वये शाहनशाह इश्क' की टीका में वृन्द के वशज कविवर जयलाल ने भी इस पर इस प्रकार प्रकाश डाला है—

कवि मनभाव वर्णन

नगधर लखि चित अटकि कैं पर्‌यो गिर्‌यो मधि फद ।
ज्यों बालक तट बावरो चहत खिलौना चन्द ।।३६।।

टीका

नगधर इति—यामैं कवि मन भाव वर्नन है, 'नग' जो गिरराज जिनके धारण करनेवाले जो प्रभू जिनकौ लखि देखिकैं मैं बीच फदा के पड गयौ, अथात् मेरो चित्त है सो पभून मैं आसक्त हुयो सो प्रभू जगदीश अचिन्त्यानद ब्रह्मा शिवादिक कौं ध्यानागम्य ऐसे प्रभू कहा, तहा पर दृष्टात जैसैं जो बालक चद्रमा कौ खिलौना करके मागैं, यह कहैं जू यह खिलौना माकौं लाय दो, वह खिलौना कैसैं आवैं, कहा तो बालक अरू कहा वह चन्द्रमा ऐसैं जानौं अरु यहा 'नगधर' पद हैं सो कवि को काव्य रचना को नाम भी है दृष्टात अलकार है

भाषा भूषन

जहा बिब प्रतिबिब सौं दुहू वाक्य दृष्टान्त ।

इति, यहा उपमेय वाक्य कवि मन फद में पडनौं प्रतिबिब अरु उपमा वाक्य बालक को चन्द्रमा खिलौंना मागनौं बिब है ।।३६।।

जल्वये शाहनशाह इश्क की टीका की निज सग्रहस्थ प्रति से उद्धृत, पत्र १०८-८,
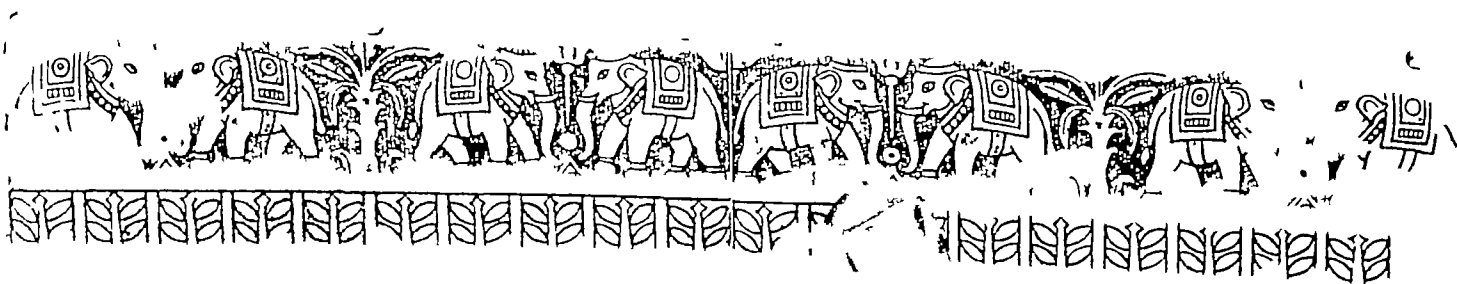
प्रस्तुत कृति कवि ने सं० १९४२ पत्र में तैयार की और उसी वर्ष वृद के वंशज कविवर जयलाल ने विस्तृत टीका—'इश्क प्रकाशिका' रची यहां इतना स्पष्टीकरण कर देना चाहिए कि कतिपय पद्यों की—जैसे अन्त सबधी—टीका स्वय जवानसिंहजी ने की है एक पद्य की उद्धृत टीका से ही इसकी उपादेयता समझ में आ सकती है टीका में स्वमत पोषणार्थ—गीतगोविंद भानुदत्त रचित रसतरंगिणी वात्स्यायन सूत्र की जयमंगला टीका बिहारी सतसई, नागरीदास का समस्त साहित्य हरिचरणदास का सभाप्रकाश उज्ज्वल नीलमणि गोवर्द्धन कृत सप्तशती सूरसागर परमानन्द सागर भागवत रसप्रबोध विदग्धमंडन अमरकोष ८४ वैष्णवन की वार्ता भाषाभूषण सुबोधिनी और मनुस्मृति आदि अनेक प्रामाणिक ग्रंथों से उद्धरण देकर कृति के सौंदर्य को निखार दिया है ऐसी मूल्यवान् रचना का प्रकाशन नितान्त वांछनीय है

इसका विवरण इस प्रकार है

सोरठा

ब्रज जन जीवन प्रान है इमाहि महबूब मित ।
कृष्ण कर जिहि ध्यान है अमीम जिनके सग ॥१॥
हरि राधा हित रीत मैं विप्रयोग रस सार ।
तहां प्रीत सोइ प्रेम है सोइ इश्क निर्धार ॥२॥

अन्त भाग —

पैंतालीस-उगनीस सैं प्रथम चैत्र कुजवार ।
ऋतु बसंत पून्यौ सु तिथि कीनो ग्रन्थ उचार ॥३७॥
इति श्रीमहाराज जवानसिंहजी कृत
जसवय शाहनशाह इश्क सपूर्ण ॥

नखशिख-शिखनख—हिन्दी साहित्य में कई कवियों ने नखशिख का भव्य वर्णन प्रस्तुत किया है जवानसिंह ने भी इस विषय के ग्रथ में अभिरुचि की है १ ४ पद्यों की कृति में भगवान् कृष्ण और उनके समीप रहनेवाले उपकरणों का विशद वर्णन भावपूर्ण भाषा में किया गया है इस रचना का महत्त्वपूर्ण अश है—हरिभक्त नाम माला—इस में वैष्णव सम्प्रदाय के सभी कृष्णभक्तों का नामोल्लेख है अन्वेषकों की सुविधा के लिए नामावली प्रस्तुत की जा रही है :

सूरदास परमानन्ददास कृष्णदास कुम्भनदास गोविन्दस्वामी छीतस्वामी नन्ददास चतुर्भुजदास गदाधर हरिदास हरिवंश बिहारिनदास श्रीभट्ट माधोदास वृन्दावनदास गोपालदास रामराय रामदास वनहरि घनश्याम राधीदास किशोरी दास विष्णुदास रघुनाथदास विट्ठल सूरकिशोर हरिवल्लभ हृषिकेश मानचन्द सूरदास मदनमोहन तुलसीदास वल्लभदास कृष्णजीवन लच्छीराम लालमन गोविन्ददास विट्ठलदास जगन्नाथ ठाकुरदास धन तिमाक चन्द्रगणी चिन्तामणि चतुरबिहारी दास हरनारायण स्वामीराम सगुणदास व्रजपति जगनाथ कविराय दामोदरदास गरीब दास धीरजप्रभु व्यास ध्रुवस्वामी हरिजीवन मुकुंद प्रभु कन्हदास राजाराम वल्लभदास लछमन रघुबीर मधु गोपाल वल्लभरसिक नामरतन लालमोन चौबे रूपसिंह (किशनगढ़ नरेश) ब्रजदासी (किशनगढ़ नरेश राजसिंह की रानी) सावंतसिंह-नागरीदास आनन्दघन जयराय सरदराय ख्वाजा मुरारि चाचीराम प्रेम रसिक जुगलदास रसिक किशोर अभिमानी ठिन मयूर विजयसखी बल्लाभिया नागरीदास दयासखी नरहरिदास रसिक गया आदि

नखशिख का विवरण इस प्रकार है

अथ श्रीराधा जयति

अथ नखशिख लिख्यते महाराजा श्री जवानसिंहजी कृत लिख्यते

के लिये सुरक्षित रख लिया जान पडता है राजस्थान मे भाट का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता रहा है भगवान् के भाट नागरीदासजी—सावतसिह हैं जिसने उनका यश चतुर्दिक् फैलाया कवि के ही शब्दो मे पढिए—

भाट वर्णन

भाट नागरीदास नृप इशक शानशा हेत ।
सब जग मय जाहिर किया इश्कचिमन रस केत ।।२२।।

भाट इति—यामैं भाट कौ वर्णन है इश्क जो शहनशाह राजाधिराज है ताके हेत कहियै, तिह के कारण नागरीदास नृप जो कृष्णगण के महाराज सावतसिहजी द्वितीय हरि सबध नाम नागरीदासजी सो भाट है, सो यह महाराज बडे महानुभाव परम भगवत् भक्त सो इनकी महिमा तो लघु पुस्तक मे लघु बुद्धि सौं कहा तक वर्नन करैं, अरू आपके कवित्व-छदादि तो बहुत है परन्तु तिन मे दोय प्राचीन छप्पय लिखते है—

सुत कौ दै युवराज आप वृदावन आये ।
रूपनगर पतिभक्त वृन्द बहु लाड लडाये ।।
सूर धीर गभीर रसिक रिझवार अमानी ।
सत चरनामृत नेम उदधि लौ गावत वानी ।।
नागरीदास जग विदित सो कृपाठार नागर ढरिम ।
सांवतसिंह नृप कलि विषै सत त्रैता विधि आचरिय[1] ।।१।।

पुन —

रग महल की टहल करत निज करन सुघर वर ।
जुगल रूप अवलोक मुदित आनद हियै भर ।।
ललितादिक जिहि समै रहत हाजर सुखरासी ।
तहाँ नागरीदास जुगल की करत खवासी ।।
श्रीलाड लडैती करि कृपा परिकर अपनौं जाँन किय ।
शक्रादि ईशहूकौं अगम सो वृदावन वास दिय ।।२।।

पद

कृष्ण कृपा गुन जात न गायो
मनहु न परस करि सकै सो सुख इन ही दृगनि दिखायो ।
गृह व्यौहार भुरट २ को भारो शिर पर तै उतरायो ।।
नागरिया कौ श्रीवृदाबन भक्त तख्त बैठायो ।।

ऐसे महाराज नागरीदासजी इश्क महाराज को सुयश बहुत बनर्न कियो है सोई उत्तरार्द्ध मे कह हैं सब जगमय कहियै सर्व ससार मैं "इश्कचिमन" नाम ग्रथ "रस केत" कहियै रस की ध्वजा जैसो जाहिर किया कहियै प्रगट कियो हैं इश्क महाराज को सुयश वर्णन कियो या तै भाट कहे "भा" नाम सोभा ताके अर्थ "अट" कहियै फिरै ताको नाम भाट है अरु भाट सौं जाति की उत्तमता अरु उत्पत्ति की शुद्धता जगत मैं जानी जाय है, तैसें "इश्कचिमन" सौं इश्क की उत्तमता, अरु इश्क को शुद्ध स्वरूप जान्यौं जाय हैं तातै भाट कहे

---

१ कहा जाता है कि नागरीदास का जो स्मारक वृदावन में बना है उस पर यह पद्य अकित है

२ राजस्थान के रेतीले प्रदेश में "भूरट" नामक काटेवाला खाद्य पदार्थ होता है

और उनकी कृति का सम्बन्ध भी अज्ञात किशनगढ से जान पड़ता है नाम के आगे श्वेताम्बर शब्द का प्रयोग भी इन्हें इसी भूखण्ड का प्रमाणित करता है आगामी पंक्तियों मे देखेंगे कि परवर्ती कवि पद्मारुण ने भी इस शब्द का उपयोग आत्माभिधान के आगे किया है पर यह जैन धर्मावलम्बी प्रतीत नहीं होते जैसा कि पद्यों की प्रशस्तियां से सिद्ध है

कवि मानिग की अज्ञात रचना है 'मजलिस शिक्षा' सभा-समितियों का व्यावहारिक ज्ञान इस में सचित है किस प्रकार की सभा में कैसे लोगों का प्रवेश होना चाहिए और कैसी मजलिस हो वैसा अपने को बनाने का प्रयत्न करने की ओर कवि का संकेत है समाजों के नियमों से अनभिज्ञ एक मोहणोत परिवार का सदस्य देवीदास [जो सम्भवत किशनगढ का ही निवासी हो] कवि के साथ ढाका की एक महफिल में सम्मिलित हुआ और बेअदबी से बातों का शिकार हो गया इस प्रसग पर कवि ने अपने बंगाल के अनुभवों का रोचक वर्णन किया है बंगाल की सामाजिक स्थिति का सुन्दर चित्र उपस्थित किया है बताया गया है बंगाल देश मे ढाका नाम के नगर में एक सुन्दर उपवन है जिसके मध्य में विशाल सरोवर है आलीशान मकान बने हुए हैं जिन पर चित्रों का काम राजस्थान के भवनों की चित्रकला का स्मरण कराते है

मजलिस शिक्षा के अन्त परीक्षण से पता चलता है कि सभवत कवि का वृन्द से या उनके पुत्र से अवश्य ही सम्बन्ध रहा होगा असभव नही उन्ही के साथ ढाका गया हो कारण कि वृन्दने अपनी सतसई वहाँ ही स० १७६१ में समाप्त की उन दिनों इनका पुत्र वल्लभ भी ढाका में ही था जैसा कि मेरे सग्रहस्थ एक उन्हीं के हाथ से प्रतिलिपित गुटके से प्रमाणित है मोहणोत परिवारीय व्यक्ति की चर्चा मानिग ने की है किशनगढ में उन दिनों यह परिवार उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित था जैसा कि स १७८९ के जैन विज्ञप्ति पत्र से सिद्ध है किशनगढ के राजकीय सरस्वती ज्ञान भण्डार में इनके हाथ से लिखे ग्रथो की सख्या पर्याप्त है

इनकी रचना का विवरण इस प्रकार है

गणेशाय नमः

अथ मजलस शिक्षा लिख्यते

दोहा

जै जै श्रीव्रजराज जै जै जै नन्दकुमार।
जै जै श्रीराधारवन जै ज मदन मुरार ॥१॥
जै ज श्रीगनपति सदा जै जै सरस्वति बानि।
जै जै श्रीगुरुदेव मम जै जै कवि जग आनि ॥२॥
सभा सिक्षा की वारता हो कछु कहत बनाय।
बुरो न मानहि सुघर नर, समझन भेद बताय ॥३॥
कवि मानिग ऐग कहै आता सुनहु सुजान।
बुरो जु मानों बात सों वे मूरख अज्ञान ॥४॥

अन्तः भाग—

मंगल मनरासै सिर मादव मास पुनीत।
लिखि चवदसि ससिवार को रच्यौ ग्रंथ शुभ मीत ॥१२८॥

इति श्रीमजलस सिक्षा कवि मानिग कृत सपूर्ण ॥ शुभ भवतु ॥ स १७९ में कवि ने कृति समाप्त की

पंचायण ये अजमेर के निवासी जान पडते है इनकी अज्ञात कृति मिली है मुहूर्त माला इस लघुतम रचना में सामान्य मुहूर्तों का परिचय दिया गया है कृति दिग्दर्शक कविता मे निबद्ध है

प्राचीन कई ऐसी रचनाए मिल जाती है उनका सम्बन्ध तो ज्ञान अपने विषय से रहता है पर कभी-कभी उनकी अन्य प्रशस्तियों मे ऐतिहासिक तथ्य बडे काम के मिल जाते है मुहूर्त माला यद्यपि ज्योतिष का ग्रन्थ है पर इसमे अन्त

दोहा
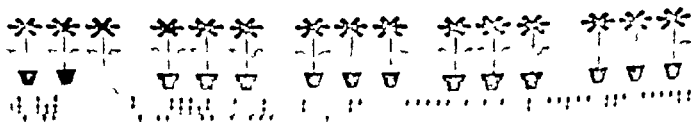
जय-जय मोहन मुरलिका अधर सुधाकर दान।
नखशिख को वनर्न करो धरिकै तेरो ध्यान॥

अन्त भाग —

अथ प्रशस्ति वर्णनम्

नगधर कवि बरनन कियो नखशिख-शिखनख लाग।
प्रति भूषन बरनन कियो मानहु उपमा बाग॥१०३॥
छियालीस उगनीस सै सवत आश्विन मास।
तिथि पून्यौं वनर्न कियो यह शृगार सुरास॥१०४॥

इति श्रीमन्महाराजाधिराज श्रीपृथ्वीसिंहजी तद्द्वितीय पुत्र महाराजा श्रीजवानसिंहजी कृत नखशिख-शिखनख वर्णन सपूर्णम्

सवत १९४६ का पोस मासे शुभे शुक्लपक्षे तिथौ ६ भृगुवासरे लिखित ब्राह्मण मथुरादासेन कृष्णगढ मध्ये श्रीरस्तु

धमार सग्रह—प्रस्तुत कृति का सकलन जवानसिंह ने किया है इस मे निम्न कवियो की १०० धमारें सकलित है

"कृष्णजीवन, गोकुलचन्द, चतुर्भुजदास, गोविन्दस्वामी, माधौदास, जगन्नाथ कविराज, मुमति, गदाधर भट्ट, जनकृष्ण, आसकरन, शिरोमणि परमानन्द, सूरदास, जनतिलोक, गोपालदास, छीतस्वामी, विठ्ठल, मुरारिदास, जन रसिकदास, कृष्णदास, राघौदास, जिस प्रकार जैनाचार्यो की पद्यमय पट्टावलियाँ पाई जाती है ठीक उसी प्रकार इनमे से कतिपय धमारो मे वल्लभ कुल की पट्टावली दी गई है इन मे से कतिपय तो वल्लभ कुल के क्रमिक इतिहास पर प्रकाश डालती है"

यज्ञनारायणसिंह जी—[राज्य काल स० १९८३ ९५]—ये किशनगढ की सास्कृतिक परम्परा के अतिम महाराजा थे इनके बाद राजवश मे कवित्व प्रतिभा का अन्त सा हो गया ये स्वय वडे अच्छे कवि और प्रतिभावान् व्यक्ति थे इनने कई स्फुट पद, रसिया और सवैया आदि लिखे है इनकी कृतियो मे केवल भक्तिपक्ष प्रधान नही है, साथ ही सैद्धातिक भावभूमि भी बहुत ही पुष्ट रही है वल्लभ वशावली इनकी सुन्दर और ज्ञातव्यपूर्ण कविता है सुना गया इनके समय मे उत्सवादि खूब हुआ करते थे, बाहर से भी कलाप्रेमियो को अपने यहा आमन्त्रित कर उनका समुचित आदर करते थे सगीत और साहित्य मे इनकी विशेष अभिरुचि रहा करती थी

इनके दो रसिया इस प्रकार है

डफ काहे को बजावै छैला घर नेरो
जब हौं मिलौंगी रसिया मोहि लरेगी कलह करेगी बहुतेरो।
सास ननद सुन लख पावेगी छैला भरम धरेगी॥
यज्ञ पुरुष प्रभु तिहारी मिलन मे बहुत परेगो उरझेरो॥

नेरो मोहि राख पलगवारे
आव जो पोढो मैं पाव पलोटो विधना ढोरू रतना रे।
अपने हाथन तुमहि जिमाऊ बीच झपट ले नन्दवारे॥
यज्ञ पुरुप वल्लभ यही सुख दे और लगत फीके सारे।

नानिग—इनका परिचय प्राप्त नही है केवल अनुमान लगाया जा सकता है कि ये किशनगढ के आश्रित या निवासी रहे होगे क्योकि इनने स० १७८७ मे किशनगढ नरेश राजसिंह कृत [?] "राजा पचानक कथा" की प्रतिलिपि की थी